आतरगुही (विविध)

आतरगुही प्राणी है, न कि वनस्पति, परतु इनके शरीर के भीतर केवल पोल होती है, कोई अवयव नही होता (देखे पृष्ठ ३११)। वैजनाथ वर्मा

१ एडवर्डसिया क्लापरदी, २ पीचिया हस्ताता, ३ जाइरैक्टिस पैलिदा, ४ गॉर्गोनिया कैवोलिनि की एक शाखा, ५ अनेमोनिया सुल्काटा, ६ फीलिया लिमिकोला, ७ लेप्टोसामिया प्रुवोती, ८ आरेलिआना रीगलिस, ९ वैलैनोफीलिया रीजिया, १० डेड्रोफीलिया कॉनिगेरा, ११ डक्टिलक्टिस आर्माटा के डिभ, १२ सीरिऐंथस सॉलिटेरियस।

हिंदी विश्वकोश

खंड १

अंक से इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी तक

नागरीप्रचारिणी सभा
वाराणसी

सपादक

धीरेंद्र वर्मा

भगवतशरण उपाध्याय गोरखप्रसाद

हिंदी विश्वकोश के सपादन एव प्रकाशन का सपूर्ण व्यय
भारत सरकार के शिक्षामत्रालय ने वहन किया

मूल्य

साधारण सस्करण—१२॥) विशेष सस्करण—१५)

संशोधित मूल्य, रु २५ ००, संशोधित मूल्य, रु. ३० ००,

प्रथम सस्करण

शकाब्द १८८२ स० २०१७ वि० १९६० ईसवी

भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी
मे मुद्रित

स्वतंत्र भारत

के

प्रथम राष्ट्रपति

डा० राजेन्द्र प्रसाद

को

उनकी अनुमति

से

सादर समर्पित

संपादकसमिति

परामर्शमंडल के सदस्य

वर्गीय संपादक

क. मानवशास्त्र (ह्यूमैनिटीज)

विषय	नाम
अर्थशास्त्र	डा० रामगोपाल सरीन, एम०ए०, पी-एच०डी०, अध्यक्ष, अर्थशास्त्र एव वाणिज्य विभाग, गवर्नमेंट कालेज, अजमेर।
इतिहास	डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०एस-सी०, अध्यक्ष, उत्तरप्रदेश हिंदी समिति, लखनऊ, भूतपूर्व वाइस-चासलर, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
	डा० रमाशकर त्रिपाठी, एम०ए०, पी-एच०डी०, भूतपूर्व प्रिंसिपल, आर्ट्स कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
दर्शन तथा धर्म	डा० गोपीनाथ कविराज, महामहोपाध्याय, एम०ए०, डी०लिट०, २-ए०, सिगरा, वाराणसी, भूतपूर्व प्रिंसिपल, सस्कृत कालेज, वाराणसी।
नृतत्वशास्त्र	डा० श्यामाचरण दुबे, अध्यक्ष, नृतत्वशास्त्र विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
पुरातत्व	श्री ब्रजवासीलाल, एम०ए०, डिप्टी डाइरेक्टर जनरल ऑव आर्कियालॉजी, कर्जन बैरक्स, नई दिल्ली।
भाषाशास्त्र	डा० बाबूराम सक्सेना, एम०ए०, डी०लिट०, आचार्य तथा अध्यक्ष, भाषाविज्ञान विभाग एव हिंदी ईरानी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (म० प्र०), भूतपूर्व अध्यक्ष, सस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।
मनोविज्ञान	डा० भीखन लाल आत्रेय, एम०ए०, डी०लिट०, आत्रेय निवास, लका, वाराणसी, भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, मनोविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
राजनीति	डा० ताराचद, एम०ए०, डी०फिल०, सदस्य, राज्यसभा, ८ तुगलक रोड, नई दिल्ली।
	डा० मुहम्मद हबीब, बी०ए०, डी०लिट०, एमेरिटस प्रोफेसर, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ।
ललित कला	डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट०, अध्यक्ष, ललित कला विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
वाणिज्य	डा० अमरनारायण अग्रवाल, एम०ए०, डी०लिट०, डीन, फैकल्टी ऑव कामर्स, अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
विधि	श्री सुरेंद्रकुमार अग्रवाल, एम०ए०, एल-एल०एम०, असिस्टेंट प्रोफेसर, विधि, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
शिक्षा	डा० सीताराम जायसवाल, एम०ए०, पी-एच०डी०, रीडर, शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
सगीत	श्री जयदेवसिंह, चीफ प्रोड्यूसर (सगीत), आकाशवाणी, नई दिल्ली।
सस्कृति	डा० राजबली पाडेय, एम०ए०, डी०लिट०, प्रिंसिपल, भारती महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
समाजशास्त्र	प्रो० राजाराम शास्त्री, प्रिंसिपल, काशी विद्यापीठ, वाराणसी।
साहित्य तथा सौंदर्यशास्त्र	डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डी०लिट०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ख. भाषा तथा साहित्य

अंग्रेजी तथा अन्य यूरोपीय भाषाएँ	डा० रामअवध द्विवेदी, एम०ए०, डी० लिट०, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
अरबी, फारसी, तुर्की, पश्तो और उर्दू	डा० अब्दुल अलीम, पी-एच०डी०, डाइरेक्टर, इस्लामिक स्टडीज, मुस्लिम युनिवर्सिटी, अलीगढ।

गुजराती और मराठी	श्री लक्ष्मणशास्त्री जोशी, तर्कतीर्थ, प्रधान संपादक, धर्मकोश, वाई, जिला उत्तरी सतारा।
चीनी, जापानी, कोरियाई, मंगोल, बर्मी	महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन, अध्यक्ष, दर्शन विभाग, विद्यालंकार विश्वविद्यालय, केलनिया (सीलोन)।
तमिल, तेलुगू, मलयालम और कन्नड	श्री मो० सत्यनारायण, सदस्य, लोकसभा, मंत्री, दक्षिण भारत हिंदीप्रचार सभा, त्यागरायनगर, मद्रास।
पालि, प्राकृत और अपभ्रंश	डा० हीरालाल जैन, एम०ए०, एल-एल०बी०, डी०लिट, डाइरेक्टर, प्राकृत जैन इंस्टिट्यूट, मुजफ्फरपुर।
बँगला, असमिया और उड़िया	डा० रामपूजन तिवारी, लेक्चरर, हिंदी विभाग, विश्वभारती युनिवर्सिटी, शांतिनिकेतन।
मिस्री, अक्कादी, असीरी, इब्रानी, क्रीती, खत्ती और मितन्नी	डा० प्राणनाथ, पी-एच०डी०, डी०एस-सी०, लंका, वाराणसी, भूतपूर्व अध्यक्ष, मध्यपूर्व पुरातत्व विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
रूसी, पोल, चेक, सर्वियाई और क्रोत	प्रो० पी० वारान्निकोव, स्कॉलर ऑव इंडॉलोजी, ओरिएंटल इंस्टिट्यूट, लेनिनग्राड, भूतपूर्व अटैची, सोवियत दूतावास, नई दिल्ली।
लातीनी, यूनानी, इतालीय और स्पेनी	डा० रामसिंह तोमर, एम०ए०, डी०फिल०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विश्वभारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन।
संस्कृत	प्रो० बलदेव उपाध्याय, एम०ए०, साहित्याचार्य, भूतपूर्व रीडर, संस्कृत पालि विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
हिंदी, पंजाबी और सिंधी	डा० धीरेंद्र वर्मा, प्रधान संपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिंदी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

ग. विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी

इंजीनियरिंग (साधारण, भवननिर्माण, मार्गनिर्माण, बिजली, यंत्र तथा सिंचाई)	श्री ब्रजमोहनलाल, रायबहादुर, एम०आई०ई०, रिटायर्ड चीफ इंजीनियर, ३/१७ ईस्ट पटेल नगर, नई दिल्ली।
उद्योग (छपाई, कपड़ा तथा अन्य)	श्री महादेवलाल श्राफ, ए०बी० आनर्स (कॉर्नेल), एम०एस० (एम०आई०टी०), एफ०आई०सी०, प्रोफेसर, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
कृषि	डा० सतबहादुर सिंह, एम०एस-सी०, पी-एच०डी० (कैंटब), रिटायर्ड डाइरेक्टर ऑव ऐग्रिकल्चर, यू०पी०, एक्स-ऐग्रिकल्चरल कमिश्नर, गवर्नमेंट ऑव इंडिया तथा ऐग्रिकल्चरल ऐडवाइजर टु गवर्नमेंट, यू०पी०, प्रिंसिपल, उदयप्रताप कालेज, वाराणसी।
गणित (अनुप्रयुक्त) और ज्योतिष	डा० चंद्रिकाप्रसाद, एम० एस-सी०, डी०फिल० (ऑक्सफोर्ड), अध्यक्ष, गणित विभाग, रुड़की विश्वविद्यालय, रुड़की।
गणित (शुद्ध)	डा० ब्रजमोहन, एम०ए०, एल-एल०बी०, पी-एच०डी०, रीडर, गणित विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
चिकित्सा विज्ञान	डा० मुकुंदस्वरूप वर्मा, बी०एस-सी०, एम०बी०बी०एस०, भूतपूर्व चीफ मेडिकल ऑफिसर तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
	मेजर डा० उमाशंकर प्रसाद, ए०एम०सी० (आर०), एम०बी०बी०एस०, डी०एम०आर०डी० (इंग्लैंड), डी०एम०आर०टी० (इंग्लैंड), जबलपुर मेडिकल कालेज, जबलपुर।
प्रौद्योगिकी और अनुप्रयुक्त रसायन	डा० गोपाल त्रिपाठी, एस०एम० (एम०आई०टी०, यू०एस०ए०), एम०एस०ई० (मिशि०, यू०एस०ए०), एस-सी०डी० (मिशि०, यू०एस०ए०), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, केमिकल इंजीनियरिंग तथा केमिकल टेक्नॉलॉजी विभाग, प्रिंसिपल, कॉलेज ऑव टेक्नॉलोजी तथा डीन ऑव दि फैकल्टी ऑव टेक्नॉलोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
प्राणिविज्ञान	डा० मुरलीधरलाल श्रीवास्तव, डी०एस-सी०, एफ०एन०ए०एस-सी०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, प्राणिविज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

भूविज्ञान	डा० विद्यासागर दुबे, एम० एस-सी०, पी-एच०डी० (लंदन), डी०आई०सी०, प्रोफेसर ऑव इकॉनॉमिक जिओलोजी (आनरेरी), काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
भूगोल	डा० रामलोचन सिंह, एम०ए०, पी-एच०डी० (लंदन), प्रोफेसर और अध्यक्ष, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
	डा० मुहम्मद यूनुस, एम०ए०, पी-एच०डी०, एल-एल०बी०, एफ०आर०जी०एस०, पी०ई०एस०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, भूगोल विभाग, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, नैनीताल।
भौतिकी, ऋतुविज्ञान तथा फोटोग्राफी	डा० निहालकरण सेठी, डी०एस-सी०, भूतपूर्व भौतिकी प्रोफेसर तथा प्रिंसिपल, आगरा कालेज, सिविल लाइंस, आगरा।
	डा० वाचस्पति, एम० एस-सी०, पी-एच०डी०, रीडर, भौतिकी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।
	डा० देवेंद्र शर्मा, एम० एस-सी०, डी०फिल०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
रसायन (कार्बनिक, अकार्बनिक तथा भौतिक)	डा० सत्यप्रकाश, डी०एस-सी०, एफ०ए०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
वनस्पति विज्ञान	डा० शिवकंठ पांडेय, एम०एस-सी० (पंजाब), डी०एस-सी० (लखनऊ), एफ०बी०एस०, एफ०एन०आई०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, वनस्पति विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।
सैन्य विज्ञान और खेलकूद	लेफ्टिनेंट कर्नल श्री गोविंद तिवारी, एम०ए०, एफ०एन०ए०एस-सी०, अध्यक्ष, सैन्य विज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
	श्री गोविंदवल्लभ पंत, नैशनल डिफेंस ऐकेडेमी, एम०ए०, एम०एस० (हावर्ड), ए०एम०आई०ई० (इंडिया), ए०एफ०आइ०ए०एस०, एफ०बी०आइ०एस०, रीडर और अध्यक्ष, गणित विभाग।

सहायक

श्री भगवानदास वर्मा, बी०एस-सी०, एल०टी०, भूतपूर्व अध्यापक, डेली (चीफ्स) कालेज, इंदौर, भूतपूर्व सहायक संपादक, इंडियन क्रॉनिकल।

श्री चंद्रचूडमणि, एम०ए०।

श्री प्रभाकर द्विवेदी, एम०ए०, भूतपूर्व सहायक संपादक, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी।

प्राक्कथन

भारतीय वाङमय मे सदर्भग्रथो, जैसे कोश, अनुक्रमणिका, निवध, ज्ञानसकलन आदि की परंपरा वहुत पुरानी है। किंतु भारतीय भापाओ मे सभवत पहला आधुनिक विश्वकोश श्री नगेद्रनाथ वसु द्वारा सपादित वँगला विश्वकोश था जो २२ खडो मे प्रस्तुत हुआ और जिसका प्रकाशन १९११ मे पूर्ण हुआ था। अनेक हिंदी विद्वानो के सहयोग से श्री वसु ने १९१६-३२ के वीच २५ भागो मे हिंदी विश्वकोश का भी प्रणयन किया जिसका मूलाधार उनका वँगला विश्वकोश था। प्रथम खड की भूमिका मे इस प्रयास के उद्देश्य तथा उपयोगिता के सवध मे उन्होने लिखा था कि "जिस हिंदी भापा का प्रचार और विस्तार भारतवर्ष मे उत्तरोत्तर वढता और जिसे राष्ट्रभाषा बनाने का उद्योग होता,—ईश्वर यह प्रयास सफल करे—उसी भारत की भावी राष्ट्रभापा मे ऐसे ग्रथ का न होना बडे दु ख और लज्जा का विषय है। यद्यपि वहुत दिन से हमारी प्रवल इच्छा थी कि हिंदी विश्वकोश के प्रकाशन मे हाथ लगाते, परतु कई कारण से वह सफल न हुई—हम हिंदीरसिको की आज्ञा पालन न कर सके। अब वार वार हिंदीप्रेमियो से अनुरुद्ध होने पर हमने इस वहुपरिश्रम और विपुल-व्यय-साध्य कार्य को चलाया है।"

मराठी विश्वकोश की रचना २३ खडो मे श्री श्रीधर व्यकटेश केतकर द्वारा हुई और उसका प्रकाशन महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश मडल लिमिटेड, पूना ने किया। इसके प्रारभिक पाँच खड एक प्रकार से गैजेटियर स्वरूप है। खड ६ से २२ तक की सामग्री अकारादि क्रम से नियोजित है। खड २३ मे सपूर्ण खड की अनुक्रमणिका है। महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश का एक गुजराती रूपातर भी डा० केतकर की देखरेख मे ही तैयार होकर प्रकाशित हुआ। इस कोश का हिंदी रूपातर भी डा० केतकर प्रकाशित करना चाहते थे, किंतु इसके एक या दो खड ही निकल सके। ये साहित्यिक एवं शास्त्रीय प्रयास वस्तुत १९वी सदी मे प्रवर्तित सास्कृतिक पुनरुत्थान के प्रवाह मे हुए।

१९४७ मे स्वराज्यप्राप्ति के अनतर भारतीय विद्वानो का ध्यान पुन आधुनिक भापाओ के साहित्यो के समस्त अगो को पूर्ण करने की ओर गया और परिणामस्वरूप आधुनिकतम विश्वकोशो की रचना के लिये कई भारतीय भाषाओ मे योजनाएँ निर्मित हुई। उदाहरण के लिये, १९४७ मे ही एक तेलुगू भापासमिति सगठित की गई जिसका प्रमुख उद्देश्य तेलुगू भाषा के विश्वकोश का प्रकाशन था। इसके लिये एक हजार पृष्ठो के १२ खडो की योजना बनाई गई। तेलुगू विश्वकोश के प्रत्येक खड का सवध एक विशिष्ट विषय अथवा विषयसमूह से है। १९५९ तक, अर्थात् गत १२ वर्षो मे, इसके चार खड प्रकाशित हुए है। तेलुगू विश्वकोश के साथ ही साथ एक तमिल विश्वकोश की भी योजना वनी थी। अव तक इसके पाँच खड निकल चुके हैं।

राष्ट्रभाषा हिंदी मे भी विश्वकोशप्रणयन की आवश्यकता प्रतीत हुई। हिंदी मे एक मौलिक तथा प्रामाणिक विश्वकोश के प्रकाशन की योजना नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी ने १९५४ मे प्रस्तुत कर भारत सरकार के विचारार्थ तथा आर्थिक सहायता के लिये भेजी। सभा की योजना सपूर्ण कृति को लगभग एक एक हजार पृष्ठो के ३० खडो मे प्रकाशित करने की थी। प्रस्तावित विश्वकोश के निर्माण तथा प्रकाशन मे दस वर्ष का समय तथा २२ लाख रुपया व्यय कूता गया था।

सभा के प्रस्ताव मे हिंदी विश्वकोश के निर्माण के उद्देश्य निम्नलिखित शब्दो मे वताए गए थे—"कला और विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो मे ज्ञान और वाङमय की सीमाएँ अव अत्यत विस्तृत हो गई है। नए अनुसधानो, वैज्ञानिक आविष्कारो तथा दूरगामी चिंतनो ने मानवज्ञान के क्षेत्र का विस्तार वहुत वढा दिया है। जीवन के विविध अगो मे व्यावहारिक एव साहसपूर्ण प्रयोगो द्वारा विचारो और मान्यताओ मे असाधारण परिवर्तन हुए है। इस महती और वर्धनशील ज्ञानराशि को देश की शिक्षित तथा जिज्ञासु जनता के सामने राष्ट्रभापा के माध्यम से सक्षिप्त एवं सुबोध रूप मे रखने का हमारा विचार पुराना है। प्रस्तावित विश्वकोश का यही ध्येय है।"

इस प्रश्न पर विचार करने के लिये भारत सरकार ने एक विशेषज्ञ समिति नियुक्ति की जिसकी पहली बैठक ११ फरवरी, १९५६ को हुई। पर्याप्त विचारविनिमय के उपरात विशेषज्ञ समिति ने यह सुझाव दिया कि हिंदी विश्वकोश अभी १० खडो मे प्रकाशित किया जाय तथा प्रत्येक खड मे केवल ५०० पृष्ठ हो। सपूर्ण कार्य पाँच से सात वर्षो के भीतर सपन्न करने का अनुमान किया गया। विशेषज्ञ समिति ने यह भी प्रस्ताव किया कि एक परामर्शमडल नियुक्त किया जाय जिसके तत्वावधान मे समस्त कार्य सपन्न हो, परामर्शमडल के निरीक्षण मे पाँच सदस्यो की सपादकसमिति विश्वकोश के कार्य का सचालन करे तथा भिन्न भिन्न विषयो के सवध मे सहायता प्रदान करने के लिये लगभग ५० वर्गीय सपादक भी नियुक्त किए जायँ।

विशेषज्ञ समिति की उपर्युक्त सस्तुति के परिणामस्वरूप केद्रीय शिक्षामत्रालय ने नागरीप्रचारिणी सभा को २४ अगस्त, १९५६ को सूचना भेजी जिसका सार नीचे दिया जाता है

भारत सरकार ने यह निश्चय किया है कि नागरीप्रचारिणी सभा के तत्वावधान मे हिंदी विश्वकोश की योजना को कार्यान्वित किया जाय। योजना वही रहेगी जो विशेषज्ञ समिति द्वारा निश्चित की गई है, किंतु इसमे निम्नलिखित परिवर्तन अपेक्षित है

१. यह कृति भारत सरकार का प्रकाशन होगी। २. इस योजना के लिये सभा को ६॥ लाख रुपए की सहायता दी जायगी। ३. पच्चीस सदस्यो के परामर्शमडल की रचना विशेषज्ञ समिति की सस्तुति के अनुसार होगी। ४. सपादक-समिति विश्वकोश के सपादन के लिये उत्तरदायी होगी। इस समिति के सदस्य प्रधान सपादक, दोनो सपादक, परामर्श-मडल के अध्यक्ष तथा मत्री होगे। ५. सभा इस विश्वकोश मे साधारणतया उस पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करेगी जो भारत सरकार द्वारा स्वीकृत हो चुकी है।

फलस्वरूप नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी मे हिंदी विश्वकोश के निर्माणकार्य का प्रारभ जनवरी, १९५७ मे हुआ। प्रथम वर्ष मे कार्यालय सगठित हुआ, एक निर्देशपुस्तकालय बना तथा समस्त उपलब्ध विश्वकोशो एव अन्य प्रमुख सदर्भग्रथो की सहायता से कार्डो पर शब्दसूची तैयार की गई। १९५८ मे शब्दसूची तैयार करने का कार्य समाप्त हुआ। प्रारभिक शब्दसूची मे लगभग ७०,००० शब्द थे। इनकी सम्यक् परीक्षा करने के उपरात इनमे से केवल ३०,००० शब्दो को विचारार्थ रखा गया। साल भर केवल एक सपादक डा० भगवतशरण उपाध्याय द्वारा यह सारा कार्य सपन्न हुआ। वर्षांत मे दूसरे सपादक डा० गोरखप्रसाद की नियुक्ति हुई और उन्होने विज्ञान तथा भूगोल के अनुभाग का कार्यभार सँभाला। १९५९ के मार्च मे प्रधान सपादक डा० धीरेंद्र वर्मा की नियुक्ति हुई जिन्होने अपने मुख्य कार्य के अतिरिक्त भाषा और साहित्य अनुभाग के कार्य को भी सँभाला। इस प्रकार अत्यत थोडे समय मे, वस्तुत डेढ साल मे, कर्मचारियो की लघुतम सख्या द्वारा विश्वकोश का यह पहला खड प्रस्तुत हुआ है। इस काल के लगभग अत मे सपादको के तीन सहायक भी नियुक्त हुए। कार्यालय मे सपादको और उनके तीन सहायको के अतिरिक्त चार लिपिक भी है।

१९५९ के प्रारभ मे यह निश्चय किया गया कि पहले प्रथम खड की पूरी तैयारी की जाय, अत स्वरो से प्रारभ होनेवाले १,४०० लेखो के शीर्षको को चुन लिया गया। ये समस्त शीर्षक लेखको को वितरित हो चुके थे। इनमे से अधिकाश लेख हिंदी मे प्राप्त हुए, किंतु कुछ अत्यधिक प्राविधिक (टेकनिकल) विषयो से सबधित लेख अग्रेजी मे भी आए जिनका हिंदी रूपातर करना आवश्यक हुआ। विश्वकोश का सग्रथन हिंदी वर्णमाला के अक्षरक्रम से हुआ है। विदेशी नामो मे जहाँ भ्रम की आशका है वहाँ उन्हे कोष्ठक मे रोमन मे भी दे दिया गया है। विदेशी व्यक्तियो और कृतियो के नाम यथासभव सबधित विदेशो मे उच्चरित विधि से लिखे गए है। उस दिशा मे प्रमाण वेब्स्टर शब्दकोश को माना गया है। जो नाम इस देश मे व्यवहृत होते रहे है उनका व्यवहृत उच्चारण ही रखा गया है। वर्तनी साधारणत नागरीप्रचारणी सभा की स्वीकृत वर्तनी के अनुकूल है।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना उचित होगा कि प्रस्तुत विश्वकोश के सामने एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका का आदर्श रहा है। अन्य विश्वकोशो से भी हम लोगो को सहायता मिली है। ब्रिटैनिका का प्रथम सस्करण केवल तीन भागो मे १७६८ मे प्रकाशित हुआ था। गत २०० वर्षो मे धीरे धीरे इसने वृहत् रूप धारण कर लिया है। इसके

वर्तमान सस्करण मे २४ भाग है जिनमे से प्रत्येक मे लगभग १००० पृष्ठ है। इसकी तुलना मे हिंदी विश्वकोश अभी एक प्रारभिक प्रयास है। वास्तव मे विश्वकोश एक सस्था बन जाता है और इसके समुचित विकास के लिये समय तथा स्थायी साधन अपेक्षित है। तो भी एक अर्थ मे यह विश्वकोश एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका से अपने प्रयत्न मे अधिक आस्थावान् सिद्ध होगा। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका मे प्राच्य ज्ञान उपेक्षित है, व्यास जैसे महापुरुषो के नाम तक उसमें नही है। इसका यथासभव निराकरण नई सामग्री द्वारा कर दिया गया है। उस महाकोश की अनेक भ्रातियाँ भी शुद्ध कर दी गई है। उदाहरणार्थ कराची के प्राय आठ वर्षो तक नवराष्ट्र पाकिस्तान की राजधानी बने रहने पर भी उस महाकोश मे उसे 'भारतीय पश्चिमी तट का नगर' बताया गया है।

सक्षिप्त आकार के कारण हमारी कठिनाई बहुत बढ गई है। विषयो के चुनाव का प्रश्न बडा विकट था। इस परिस्थिति मे प्रमुख विपय ही विश्वकोश के इस सस्करण के लिये चुने जा सके। यद्यपि प्रथम खड का प्रारभिक अश मई, १९५९ मे ही प्रेस भेज दिया गया था, किंतु गणित और भौतिकी के विशेष टाइप तथा कागज आदि की अनेक कठिनाइयो के कारण प्रारभ मे मुद्रण का कार्य तीव्र गति से नही चल सका। १९६० के प्रारभ से मुद्रणकार्य मे प्रगति हुई और हिंदी विश्वकोश का प्रथम खड अब प्रकाशित हो रहा है। साथ ही शेष खडो की सामग्री के चयन और सपादन का कार्य भी चल रहा है। आशा है, प्रथम खड की तैयारी और मुद्रण के अनुभवो के बाद आगे के खडो के प्रकाशन का कार्य अधिक शीघ्रता से हो सकेगा।

प्रारभ से ही नागरीप्रचारिणी सभा के सभापति और विश्वकोश की सपादकसमिति तथा परामर्शमडल के भी अध्यक्ष महामाननीय प० गोविदवल्लभ पंत का इस योजना मे व्यक्तिगत रूप से अत्यत अनुराग रहा है तथा उनसे निरतर प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलता रहा ह। भारत सरकार के शिक्षामत्री डा० कालूलाल श्रीमाली ने भी योजना मे वरावर रुचि रखी हे तथा सुझाव दिए है। शिक्षामत्रालय ने योजना की प्रगति से अपने को निरतर अवगत रखा है और यथासमय सहायता दी है। नागरीप्रचारिणी सभा के पदाधिकारी, विशेष रूप से इसके अवैतनिक मत्री डा० राजबली पाडेय इस योजना की प्रगति मे सक्रिय योग देते रहे है। भिन्न भिन्न विषयो के विद्वानो ने अपने अपने कार्यो मे व्यस्त रहते हुए भी हमारे अनुरोध से समय निकालकर हिंदी विश्वकोश के लिये लेख लिखने की कृपा की। इन सबके प्रति हम आभारी है। प्रथम खड के मुद्रण मे भार्गव भूषण प्रेस ने पूर्ण सहयोग प्रदान किया है जिसके लिये हम उसके सचालक श्री पृथ्वीनाथ भार्गव के विशेष कृतज्ञ है।

अनेक अधिकारियो तथा सस्थाओ के माध्यम से होनेवाले विश्वकोश जैसे कार्य से सबधित कठिनाइयो का अनुभव हम लोगो को गत तीन वर्षो मे हुआ। हमे सतोष है कि ये कठिनाइयाँ सफलतापूर्वक पार की जा सकी और विश्वकोश का मुद्रण और प्रकाशन प्रारभ हो गया है। राष्ट्रभाषा हिंदी के इस शालीन प्रयास का प्रथम खड पाठको को प्रदान करने मे हमे अतीव प्रसन्नता है। इस प्रथम प्रयास की त्रुटियो का ज्ञान हम लोगो को सबसे अधिक है। यह सब होते हुए भी हमारा विश्वास है कि हिंदी भापा और साहित्य के एक विशेष अभाव की पूर्ति इस ग्रथ से हो सकेगी। इसके आगे के सस्करण निरतर अधिक पूर्ण और सतोषजनक होते जायँगे, ऐसी हमारी आशा और कामना है।

संपादकगण

संकेताक्षर

अ०	अंग्रेजी
अ०	अक्षांश
ई०	ईसवी
ई० प०	ईसा पश्चात्
ई० पू०	ईसा पूर्व
उ०	उत्तर
उप०	उपनिषद्
किलो०	किलोग्राम
जि०	जिला
द०	दक्षिण
दे०	देशांतर
प०	पश्चात्
पू०	पूर्व
फा०	फारेनहाइट
मनु०	मनुस्मृति
महा०	महाभारत
याज्ञ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
सं०	संस्कृत
सं०ग्र०	संदर्भग्रंथ
सेंटी०	सेंटीग्रेड
सें०मी०	सेंटीमीटर
हिं०	हिंदी
हि०	हिजरी

प्रथम खंड के लेखक

अ० अ० — डा० अब्दुल अलीम डाइरेक्टर अरेबिक ऐंड इस्लामिक स्टडीज, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़। (अनलहक़)
डा० अमजद अली, एम०ए०, डी०फिल०, लेक्चरर, अरबी विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़। (अरबी संस्कृति)

अ० कि० ना० — डा० अवधकिशोर नारायण, एम०ए०, पी-एच० डी०, रीडर, पुरातत्व विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

अ० कु० वि० — श्री अवनींद्रकुमार विद्यालंकार, पत्रकार, इतिहास सदन, कनाट सर्कस, नई दिल्ली–१।

अ०जु०डि०को० — श्री अलेक्स जुवेनल डि कोस्टा, बी०ई०, सेक्रेटरी, इंडियन रोड्स कांग्रेस, जामनगर हाउस, मानसिंह रोड, नई दिल्ली।

अ० ना० अ० — डा० अमरनारायण अग्रवाल, एम०ए०, डी० लिट०, डीन, फैकल्टी ऑव कॉमर्स, प्रयाग विश्वविद्यालय।

अ० मो० — डा० अरविंदमोहन, एम०एस-सी, डी०फिल०, सहायक प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

अ० ला० लुं० — श्री अवतिलाल लुंबा, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, राजनीति विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

अ० श० आ० — श्री अनंतशयनम् आयंगर, अध्यक्ष, लोकसभा, नई दिल्ली।

आ० प्र० दी० — डा० आनंदप्रकाश दीक्षित, एम०ए०, पी-एच०डी०, सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय।

आर० आर० शे० — श्री रियाजुर्रहमान शेरवानी, एम०ए०, लेक्चरर, अरेबिक ऐंड इस्लामिक स्टडीज, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

आ० वे० — श्री आस्कर वेरक्रूसे, एस० जे०, एल० एस० एस०, प्रोफेसर ऑव होली स्क्रिप्चर, सेंट अल्बर्ट्स सेमिनरी, राँची (बिहार)।

आ० सिं० स० — मेजर आनंदसिंह सजवान, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, सैन्यविज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

आ० स्व० जौ० — श्री आनंद स्वरूप जौहरी, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

इ० ह० अ० — डा० इशरत हसन अनवर, एम०ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, दर्शन विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़।

उ० ना० सिं० — डा० उदितनारायण सिंह, एम०ए०, डी०फिल०, डी०एस-सी० (पेरिस), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, गणित विभाग, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा।

उ० श० प्र० — मेजर डा० उमाशंकरप्रसाद, ए०एम०सी० (आर०), एम०बी०बी०एस०, डी०एम० आर०डी० (इंग्लैंड), डी०एम०आर० टी० (इंग्लैंड), रीडर, मेडिकल कालेज, जबलपुर।

उ० शं० श्री० — डा० उमाशंकर श्रीवास्तव, एम०एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, प्राणिशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

उ० सिं० — डा० उजागर सिंह, एम०ए०, पी-एच०डी० (लंदन), लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

ए० हु० — देखिए सै० ए० हु०।

ओ० ना० उ० — श्री ओंकारनाथ उपाध्याय, एम०ए०, द्वारा डा० भगवतशरण उपाध्याय, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

क० और स० — श्रीमती कमला सद्गोपाल, और डा० सद्गोपाल, डी०एस-सी०, एफ०आर०आई०सी०, एफ०आई०सी०, डेप्युटी डायरेक्टर (केमिकल्स), इंडियन स्टैंडर्ड्स इंस्टिट्यूट, नई दिल्ली।

क० गु० — डा० कुमारी कमला गुप्त, एम०बी०बी०एस०, एम०एस, रीडर, आब्सटेट्रिक्स तथा गाइनेकॉलोजी, मेडिकल कालेज, जबलपुर।

क० न० उ० — डा० कटील नरसिंह उडुप, एम०एस०, एफ० आर०सी०एस०, एफ०ए०सी०एस०, सर्जन तथा सुपरिंटेंडेंट, सर सुंदरलाल हॉस्पिटल, सर्जरी प्रोफेसर तथा प्रिंसिपल, आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

कां०चं० सौ०, का० सो० — श्री कांतिचंद्र सौनरेक्सा, बी०ए०, भूतपूर्व पी० सी०एस, लेखक, चित्रकार तथा पत्रकार, सी० ४।२, रिवरबैंक कालोनी, लखनऊ।

का० ना० सिं० — श्री काशीनाथ सिंह, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

का० प्र० — श्री कार्तिकप्रसाद, बी०एस-सी०, सी०ई०, सुपरिंटेंडिंग इंजीनियर, पी०डब्ल्यू०डी० (उत्तर प्रदेश), मेरठ।

का० बु० — रेवरेंड कामिल बुल्के, एस०जे०, एम०ए०, डी० फिल०, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सेंट ज़ेवियर्स कालेज, मनरेसा हाउस, राँची।

कृ० द० भा० — श्री **कृष्णदयाल भार्गव**, एम०ए०, डाइरेक्टर ऑव आर्काइव्ज़, भारत सरकार, नई दिल्ली।

कृ० ना० मा० — डा० **कृष्ण नारायण माथुर**, प्रोफेसर, मेडिकल कालेज, आगरा।

कृ० ब० — डा० **कृष्णबहादुर**, एम०एस-सी०, डी०फिल०, डी०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

कें० जॉ० डॉ० — डा० **केंडनाड जॉन डॉमिनिक**, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, लेक्चरर, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

खा० अ० नि० — श्री **खालिक अहमद निजामी**, एम०ए०, एल०-एल०बी०, रीडर, इतिहास विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ।

गं० प्र० उ० — श्री **गंगाप्रसाद उपाध्याय**, एम०ए०, कला प्रेस, इलाहाबाद।

ग० प्र० श्री० — डा० **गणेशप्रसाद श्रीवास्तव**, एम०एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, भौतिकी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

गि० शं० मि० — डा० **गिरिजाशंकर मिश्र**, एम०ए०, पी-एच० डी०, सहायक प्रोफेसर, पाश्चात्य इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

गो० क० — महामहोपाध्याय **पं० गोपीनाथ कविराज**, एम० ए०, डी०लिट० (भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत गवर्नमेंट कालेज, वाराणसी) सिगरा, वाराणसी।

गो० ति० — देखिए **श्री० गो० ति०**।

गो० ना० ध० — डा० **गोपीनाथ धवन**, एम०ए०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर, राजनीति विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

गो० प्र० — डा० **गोरखप्रसाद**, डी०एस-सी० (एडिन०), (अवकाशप्राप्त रीडर, गणित तथा ज्योतिष, प्रयाग विश्वविद्यालय), संपादक, हिंदी विश्वकोश।

चं० अ० — श्री **चंद्रभान अगरवाला**, एम०ए०, एल-एल० बी०, भूतपूर्व जज, इलाहाबाद हाईकोर्ट, सीनियर ऐडवोकेट, सुप्रीम कोर्ट, नई दिल्ली।

चं० प्र० — डा० **चंद्रिकाप्रसाद**, डी०फिल० (ऑक्सफोर्ड), अध्यक्ष, गणित विभाग, रुडकी विश्वविद्यालय।

चं० ब० सिं० — श्री **चंद्रबली सिंह**, एम०ए०, प्राध्यापक, उदयप्रताप कालेज, वाराणसी, ४७।१ए०, रामापुरा, वाराणसी।

चं० भा० सिं० — डा० **चंद्रभान सिंह**, एम०बी०, एफ०आर०सी० एस० (इंग्लैंड), पी०एम०एस०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, सर्जरी विभाग, वरिष्ठ अधीक्षक, लाला लाजपतराय अस्पताल तथा प्रिंसिपल, जी०एस०वी० एम० मेडिकल कालेज, कानपुर, डीन, फैकल्टी आव मेडिसिन, लखनऊ विश्वविद्यालय।

चं० म० — श्री **चंद्रचूड मणि**, एम० ए०, लेखक एवं पुराविद्, साहित्य सहायक, हिंदी विश्वकोश, वाराणसी।

ज० कृ० — डाक्टर **जयकिशन**, बी०एस०-सी०, सी०ई० (ऑनर्स), पी-एच०डी०, (लंदन), एम०आई० ई० (इंडिया), मेंबर साइज्मोलॉजिकल सोसायटी (संयुक्त राज्य, अमरीका), फेलो, अमेरिकन सोसायटी ऑव सिविल इंजीनियर्स, प्रोफेसर, रुडकी विश्वविद्यालय।

ज० च० जै० — डा० **जगदीशचंद्र जैन**, एम०ए०, पी-एच०डी०, (प्रधान आचार्य, हिंदी विभाग, रामनारायण रूइया कालेज, बंबई,) २८ शिवाजी पार्क, बंबई—२८।

ज० च० मा० — श्री **जगदीशचंद्र माथुर**, आई०सी०एस०, डाइरेक्टर जनरल, आल इंडिया रेडियो, सूचना और प्रसारमंत्रालय, नई दिल्ली।

ज० ना० रा० — डा० **जगदीश नारायण राय**, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, लेक्चरर, वनस्पति विज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

ज० बि० ला० — डा० **जगराजबिहारी लाल**, एम०एस-सी०, डी०फिल०, लेक्चरर, हारकोर्ट बटलर टेक्नॉलोजिकल इंस्टिट्यूट, कानपुर।

ज० रा० सिं० — डा० **जयराम सिंह**, एम०एस-सी० (ए-जी०), पी-एच०डी०, लेक्चरर कृषि विद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

झ० ला० श० — डा० **झम्मनलाल शर्मा**, एम०ए०, डी०एस-सी०, (भूतपूर्व प्रिंसिपल, नालंदा कालेज, बिहार शरीफ) प्रिंसिपल, गवर्नमेंट डिग्री कालेज, ज्ञानपुर (वाराणसी)।

ता० चं० — डा० **ताराचंद**, एम०ए०, डी०फिल० आक्सफोर्ड, सदस्य, राज्य सभा, नई दिल्ली।

ता० म० — श्रीमती **तारा मदन**, एम०ए०, अध्यक्षा, राजनीतिशास्त्र विभाग, सावित्री गर्ल्स कालेज, अजमेर।

तु० ना० सिं० — डा० **तुलसीनारायण सिंह**, एम० ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

त्रि० पं० — श्री **त्रिलोचन पंत**, एम० ए०, लेक्चरर, इतिहास विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

द० मा० — श्री **दलसुख डी० मालवणिया**, न्यायतीर्थ, डाइरेक्टर, एल० डी० भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, पांकोर नाका, अहमदाबाद।

द० शं० दु० — श्री **दयाशंकर दुबे**, एम०ए०, एल-एल०बी० (भूतपूर्व लेक्चरर, अर्थशास्त्र विभाग, प्रयाग

विश्वविद्यालय) श्रीदुबे निवास, ८७३, दारागंज, इलाहाबाद।

द० स्व० डा० दयास्वरूप, पी-एच०डी० (शेफील्ड), एम० आइ०एम०, एम०आइ० ऐंड एस०आइ०, एफ० आइ०एस०, प्रिंसिपल, कालेज आँव माइनिंग ऐंड मेटलर्जी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

दा० वि० गो० डा० दामोदर विनायक गोगटे, एम०एस-सी०, पी-एच०डी० (लंदन), एफ०इन्स्ट०पी० (लंदन), एफ०ए०एस-सी०, वाइस प्रेसिडेंट, इंडियन फिजिकल सोसायटी, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ौदा।

दी० चं० डा० दीवानचंद, एम०ए०, डी०लिट० (भूतपूर्व वाइसचांसलर, आगरा विश्वविद्यालय), ६३, छावनी, कानपुर।

दी० द० गु० डा० दीनदयाल गुप्त, एम०ए०, एल-एल०बी०, डी० लिट०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिंदी तथा अन्य आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, ५१७, नया हैदराबाद, लखनऊ।

दे० र० भ० डा० देवीदास रघुनाथराव भवालकर, एम० एस-सी०, पी-एच०डी० (लंदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर।

दे० रा० डा० नंदकिशोर देवराज, एम०ए०, डी०फिल०, डी०लिट०, सहायक प्रोफेसर, दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

दे० श० डा० देवेंद्र शर्मा, एम०एस-सी०, डी०फिल०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय।

दे० सिं० डा० देवेंद्र सिंह, बी०एस-सी०, एम०बी०बी०एस०, एम०डी० (मेडिसिन), रीडर, मेडिसिन, गांधी मेडिकल कालेज तथा चिकित्सक, हमीदिया हॉस्पिटल, भूपाल।

धी० ना० म० स्व० डा० धीरेंद्रनाथ मजूमदार, भूतपूर्व अध्यक्ष, नृतत्वशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

नं० ला० सिं० डा० नंदलाल सिंह, डी०एस-सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, स्पेक्ट्रॉस्कोपी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

न०कि०प्र०सिं० श्री नवलकिशोरप्रसाद सिंह, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

न० प्र० श्री नर्मदेश्वरप्रसाद, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

न० ल०, न० ला० श्री नन्हेंलाल, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

न० ला० गु० श्री नरेंद्रलाल गुप्त, बी०एस-सी० (इंजीनियरिंग), एम०एस०एम०ई० (परड्यू, संयुक्त राज्य, अमरीका), ए०एम०ए०एस०एच०वी०ई०, ए०एम० आइ०ई०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष यांत्रिक इंजीनियरी विभाग, थापर इंजीनियरिंग कालेज, पटियाला।

ना० सिं० डा० नामवर सिंह, एम०ए०, पी-एच०डी०, भूतपूर्व लेक्चरर, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

ना० गो० श० डा० नारायण गोविंद शब्दे, डी०एस-सी० (नागपुर), डी०एस-सी० (एडिन०), एफ०-एन०ए०एस-सी०, एफ०आइ०ए०एस-सी०, (भूतपूर्व गणित प्रोफसर तथा प्रिंसिपल, महाकोशल महाविद्यालय, जबलपुर, विदर्भ महाविद्यालय, अमरावती, तथा सायंस कालेज, नागपुर), चेयरमन, एस०एस०सी० परीक्षा बोर्ड, बंबई राज्य।

ना० सिं० प० श्री नारायणसिंह परिहार, एम०एस-सी०, सहायक प्रोफसर, वनस्पति विज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

नि० गु० डा० नित्यानंद गुप्त, एम०डी० (मेडिसिन), एम० डी० (पैथॉलोजी), वातूमल स्कालर, संयुक्त-राज्य (अमरीका), रॉकफेलर फेलो, संयुक्त-राज्य (अमरीका) तथा युनाइटेड किंगडम, रीडर, मेडिसिन तथा फिजीशियन, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

नृ० कु० सिं० श्री नृपेंद्रकुमार सिंह, एम०एस-सी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

पं० म० डा० पंचानन महेश्वरी, डी०एस-सी०, एफ०एन० आइ०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, वनस्पति विज्ञान विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

प० उ० कुमारी पद्मा उपाध्याय, एम०ए०, प्रिंसिपल, ए०के०पी० इंटर कालेज, खुर्जा।

प० च० श्री परशुराम चतुर्वेदी, एम०ए०, एल-एल०बी०, वकील, बलिया (उत्तर प्रदेश)।

प० व० श्री परिपूर्णानंद वर्मा, शास्त्री, अध्यक्ष, अखिल भारतीय अपराध निरोधक समिति, बिहारी निवास, कानपुर।

प० श० डा० परमात्माशरण, एम०ए०, पी-एच०डी०, एफ०आर०एच०एस०, सहायक प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय।

पि० सिं० गि० डा० पियारासिंह गिल, एम०एस०, पी-एच० डी०, एफ०एन०आइ०, एफ०एन०ए०एस-सी०, फेलो, अमेरिकन फिजिकल सोसायटी, प्रोफेसर और अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय तथा डाइरेक्टर, गुलमर्ग रिसर्च ऑब्जर्वेटरी।

प्र० चं० गु० श्री प्रकाशचंद्र गुप्त, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

प्र० मा० डा० प्रभाकर बलवंत माचवे, एम०ए०, पी-एच०डी०, सहायक मंत्री, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।

प्र० कु० स० डा० प्रमोदकुमार सक्सेना, एम०ए०, पी-एच० डी०, सहायक प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

प्री० दा० डा० प्रीतम दास, प्रोफेसर, मेडिकल कालेज, कानपुर।

फी० ई० द० डा० फीरोज ईदुलजी दस्तूर, डी० लिट०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, अंग्रेजी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली–८।

फू० स० व० श्री फूलदेव सहाय वर्मा, एम०एस-सी०, ए०आइ० आइ०एस-सी०, (भूतपूर्व औद्योगिक रसायन प्रोफेसर एव प्रिंसिपल, कालेज ऑव टेक्नॉलोजी, काशी हिंदू विश्वविद्यालय), वोरिंग रोड, पटना।

ब० उ० श्री बलदेव उपाध्याय, एम०ए०, साहित्याचार्य, भूतपूर्व रीडर, सस्कृत-पालि-विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

ब० ना० प्र० डा० बद्रीनारायण प्रसाद, एफ०आर०एम०ई०, पी-एच०डी० (एडिन०), एम०एस-सी०, एम० बी०, डी०टी०एम०, (भूतपूर्व प्रोफेसर फार्माकॉलोजी तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, पटना, निर्देशक, औषध अनुसधान प्रतिष्ठान, पटना) अवुल आस लेन, पटना।

ब० पु० देखिए बै० पु०।

ब०वि०ला०स० डा० बलदेवविहारीलाल सक्सेना, एम०एस-सी०, डी०फिल०, एफ०एन०ए०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

ब० ला० कु० डा० बनारसीलाल कुलश्रेष्ठ, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, विज्ञान विशारद, एसोशिएट प्रोफेसर, भौतिक विज्ञान, बलवत राजपूत कालेज, आगरा।

ब० सिं० स्या० श्री बलवतसिंह स्याल, एम० एस-सी०, एल०टी०, ज्वाइंट डाइरेक्टर, एजुकेशन (उ०प्र०), इलाहाबाद।

बा० ना० श्री बालेश्वरनाथ, बी०एस-सी०, सी०ई० (आनर्स), एम०आई०ई०, सेक्रेटरी, सेंट्रल बोर्ड ऑव इरिगेशन ऐंड पावर, कर्जन रोड, नई दिल्ली।

बा० रा० स० डा० बाबूराम सक्सेना, एम०ए०, डी०लिट०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भाषाविज्ञान तथा हिंद ईरानी विभाग, सागर विश्वविद्यालय।

बा० शे० श्री बालकृष्ण शेषाद्रि, बी०एस-सी०, ए०आइ० आइ०एस-सी,० डी०आइ०सी०, एम०एस-सी० (इग्लैंड), एम०आइ०ई०, सेक्रेटरी, इस्टिट्यूशन ऑव इजीनियर्स (इंडिया), कलकत्ता।

बृ० मो० श्री बृजमोहनलाल साहनी, एम०ए०, (भूतपूर्व प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय), प्रोफेसर अंग्रेजी, आर्यमहिला विद्यालय, वाराणसी।

बै० पु० डा० बैजनाथ पुरी, एम०ए०, डी०लिट०, डी० फिल०, प्राच्य भारतीय इतिहास और पुरातत्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

ब्र० दा० श्री ब्रजरत्नदास, बी०ए०, एल-एल०बी०, वकील, सी० के० १५/४ बी०, मुडिया, वाराणसी।

ब्र० मो० डा० ब्रजमोहन, एम०ए०, एल-एल०बी०, पी-एच०डी०, रीडर, गणित विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

भ० दा० व० श्री भगवानदास वर्मा, बी०एस-सी०, एल०टी०, (भूतपूर्व अध्यापक, डेली (चीफ्स) कालेज, इंदौर, भूतपूर्व सहायक सपादक, इडियन क्रॉनिकल) विज्ञान सहायक, हिंदी विश्वकोश, वाराणसी।

भ० श० उ० डा० भगवतशरण उपाध्याय, एम०ए०, डी० फिल०, सपादक, हिंदी विश्वकोश, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

भि० ज० का० भिक्षु जगदीश काश्यप, एम०ए०, त्रिपिटकाचार्य प्रोफेसर और अध्यक्ष, पालि विभाग, सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, अवैतनिक सचालक नवनालद महाविहार एव प्रधान सपादक, पालि प्रकाशन, विहार सरकार, ४३, विष्णु भवन, लका, वाराणसी।

भी० ला० आ० डा० भीखनलाल आत्रेय, एम० ए०, डी०लिट०, दर्शनाचार्य (भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन, मनोविज्ञान, धर्म विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय), लका, वाराणसी।

भृ० ना० प्र० डा० भृगुनाथप्रसाद, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, लेक्चरर, प्राणि विज्ञान, सेंट्रल हिंदू कालेज, वाराणसी।

भो० ना० श० श्री भोलानाथ शर्मा, एम० ए०, अध्यक्ष, सस्कृत विभाग, बरेली कालेज, बरेली।

म० कु० गो० डा० महेंद्रकुमार गोयल, एम०एस०, रीडर, आर्थोपीडिक सर्जरी, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

म० ग० भा० डा० मधुकर गगाधर भाटवडेकर, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भौतिकी विभाग, राजस्थान कालेज, जयपुर।

म० ना० मे० श्री महाराजनारायण मेहरोत्रा, एम०एस-सी०, एफ०जी०एम०एस०, लेक्चरर, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

म० प्र० श्री० स्वर्गीय श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, बी०एस-सी०, एल०टी०, विशारद, सूर्यसिद्धात के विज्ञानभाष्य पर मगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता।

म० म० गो० डा० मदनमोहन मनोहरलाल गोयल, एम०एस-सी०, पी-एच०डी० (बंबई), एफ०ज़ेड०एस० (लदन), एफ०आर०एम०एस० प्रोफेसर, प्राणिविज्ञान, बरेली कालेज।

म० ला० श० डा० मथुरालाल शर्मा, एम०ए०, डी०लिट०, प्रोफेसर, इतिहास, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

म० सु० म० श० डा० महादेव सु० मणि शर्मा, एम०ए०, डी० एस-सी०, एफ०आर०ई०एस०, एफ०एल० एस०, डेप्युटी डाइरेक्टर, जूऑलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया, कलकत्ता।

मा० जा० श्रीमती माधुरी जायसवाल, बी०ए०, भूतपूर्व संयोजिका, मेंट्रल वेलफेयर बोर्ड, मध्यप्रदेश सरकार।

मु० अ० अं० डा० मुहम्मद अजहर असगर अंसारी, एम०ए०, डी०फिल०, सहायक प्रोफेसर, आधुनिक भारतीय इतिहास, प्रयाग विश्वविद्यालय।

मु० न० मुनिश्री नथमलजी, द्वारा, अणुव्रत समिति, ३ पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता।

मु० ला० श्री० डा० मुरलीधरलाल श्रीवास्तव, डी०एस-सी०, एफ०एन०ए०एस-सी०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, प्राणिविज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

मु०सु० मुनिश्री सुमेरमल जी, द्वारा अणुव्रत समिति, ३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता।

मु० स्व० व० डा० मुकुंदस्वरूप वर्मा, बी०एस-सी०, एम०बी० बी०एस०, भूतपूर्व चीफ मेडिकल आफिसर तथा प्रिंसिपल, मेडिकल कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

मु० ह० डा० मुहम्मद हबीब, बी०ए०, डी०लिट०, भूतपूर्व प्रोफेसर, इतिहास, राजनीति, अलीगढ विश्वविद्यालय, बदरबाग, अलीगढ।

मो० अ० अ० देखिए मु० अ० अ०।

मो० ला० गु० डा० मोहनलाल गुजराल, एम०बी०बी०एस० (पंजाब), एम०आर०सी०पी० (लंदन), डाइरेक्टर प्रोफेसर, उच्चस्तरीय फार्मकालोजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

य० उ० श्री यदुनंदन उपाध्याय, बी०ए०, ए०एम०एस०, वामनजी सीमजी चेयर के प्रोफेसर (चरक), रीडर, आयुर्वेद तथा आयुर्विज्ञान, वरिष्ठ चिकित्सक, आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

यू० वा० भ० डा० यू० वामन भट्ट, पी-एच०डी० (शेफील्ड), एम०आर० ऐट एम०आइ०, एम०आइ०एम०, (भूतपूर्व प्रोफेसर, भूविज्ञान विभाग) परीक्षा नियामक, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

यू० हु० खां० डा० यूसुफ हुसेन खां, डी० लिट० (पेरिस), प्रो-[illegible], मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ।

र० चं० क० डा० रमेशचंद्र कपूर, डी०एस-सी०, डी०फिल०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

र० च० मि० डा० रमेशचद्र मिश्र, एम०एस-सी०, पी-एच० डी०, प्रोफेसर तथा प्रधान अध्यापक, भूविज्ञान विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

र० ज० देखिए र० स० ज०।

र० जै० श्री रवींद्र जैन, एम० ए०, सहायक प्रोफेसर, नृतत्वशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

र० ना० दे० श्री रवींद्रनाथ देव, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, प्रयाग विश्वविद्यालय, हालैंड हाल, इलाहाबाद।

र० स० ज० श्रीमती रजिया सज्जाद जहीर, एम०ए०, (भूतपूर्व लेक्चरर, उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) वजीर मंजिल, वजीर हसन रोड, लखनऊ।

रा० अ० डा० राजेंद्र अवस्थी, एम०ए०, पी-एच०डी०, सहायक प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

रा० कु० डा० रामकुमार, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, रीडर, गणित विभाग, रुडकी विश्वविद्यालय।

रा० गो० स० डा० रामगोपाल सरीन, एम०ए०, पी-एच०डी०, अध्यक्ष, वाणिज्य विभाग, गवर्नमेंट कालेज, अजमेर।

रा० च० स० श्री रामचद्र सक्सेना, एम०एस-सी०, (भूतपूर्व लेक्चरर, जीवविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय) अस्सी, वाराणसी।

रा०च० डा० रामाचरण, बी०एस-सी०टेक० (शेफील्ड, इंग्लैंड), डा०टेक्नीक० (प्राहा, चेकोस्लोवेकिया), संयुक्त राज्य (अमरीका) का फुल-ब्राइट-यात्रा-अनुदान-प्राप्तकर्ता (भूतपूर्व प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, ग्लास टेकनॉलोजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय)।

रा० च० मे० डा० रामचरण मेहरोत्रा, एम०एस-सी०, डी० फिल० (इलाहाबाद), पी-एच०डी० (लंदन), एफ०आर०आई०सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, रसायन विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय।

रा० दा० ति० डा० रामदास तिवारी, एम०एस-सी०, डी० फिल०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

रा० ना० डा० राजनाथ, एम०एस-सी०, पी-एच०डी० (लंदन), डी०आइ०सी०, एफ०एन०आई०, एफ०एन०ए०एस-सी०, एफ०जी०एम०एस०, प्रोफेसर और अध्यक्ष, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय। (अतिनूतन युग, अवर प्रवालादि युग।)

रा० ना० डा० राजेंद्र नागर, एम०ए०, पी-एच०डी०, रीडर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्या-

लय । (अफजल खाँ, अभोरर्स, अमीचंद, अर्माडा, अहिल्यावाई होल्कर, आईन-ए-अकवरी, आगाखाँ, आल्वुकर्क आल्फोंजोथ, आल्पेड्दा थोम फासिस्कोय।)

रा० ना० मा० डा० राधिकानारायण माथुर, एम०ए०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

रा० प्र० त्रि० डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, एम० ए०, डी०एस-सी० (लदन), भूतपूर्व वाइसचांसलर, सागर विश्वविद्यालय, अध्यक्ष, परामर्शदात्री समिति, जिला गजेटियर तथा हिंदी समिति, उत्तर प्रदेश।

रा० पा० डा० रामचंद्र पांडेय, *व्याकरणाचार्य*, एम०ए०, पी-एच०डी०, लेक्चरर बौद्ध दर्शन और धर्म विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

रा० ब० पा० डा० राजबली पांडेय, एम०ए०, डी०लिट०, प्रिंसिपल, भारती महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

रा० वि० डा० रामविहारी, डी०एस-सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, गणित विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

रा० लु० श्री राममूर्ति लुवा, एम०ए०, एल-एल०वी०, सहायक प्रोफेसर, मनोविज्ञान तथा दर्शन विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

रा० लो० सिं० डाक्टर रामलोचन सिंह, एम०ए०, पी-एच०डी० (लदन), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

रा० सिं० तो० डा० रामसिंह तोमर, एम०ए०, डी०फिल०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिंदी विभाग, विश्व-भारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन।

रा० स्व० च० डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, एम०ए०, डी०फिल०, सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, प्रयाग विश्व-विद्यालय।

रु० म० सर रुस्तम पेस्तनजी मसानी, भूतपूर्व म्युनिसिपल कमिश्नर, ववई तथा वाइसचांस्लर, ववई, विश्वविद्यालय ४९, मेयरवेदर रोड, वबई—१।

ल०कि०सि०चौ० श्री ललितकिशोर सिंह चौधरी, एम०ए०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, भूगोल विभाग, सनातनधर्म कालेज, कानपुर।

ले० रा० सिं०, ले० रा० सिं० क० डा० लेखराज सिंह, एम०ए०, डी०फिल०, सहायक प्रोफेसर, भूगोल विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

वा० डा० वाचस्पति, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, रीडर, भौतिकी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

वा० श० अ० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, एम०ए०, पी-एच० डी०, डी०लिट०, अध्यक्ष, ललितकला तथा वास्तु विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

वि० वा० प्र० डा० विध्यवासिनी प्रसाद, एम०एस-सी०, पी-एच०डी०, लेक्चरर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

वि० ना० चौ० श्री विजयनारायण चौबे, एम०ए०, एम०एड०, सहायक अध्यापक, राजकीय जुबिली इंटर कालेज, लखनऊ।

वि० ना० पा० श्री विश्वम्भरनाथ पांडेय, मेयर, कार्पोरेशन, इलाहाबाद।

वि० प्र० सिं० डा० विजयप्रताप सिंह, एम०एस-सी०, पी-एच० डी०, लेक्चरर, वनस्पति विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

वि० मु० श्रीमती विभा मुखर्जी, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

वि० रा० श्री विक्रमादित्य राय, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर अंग्रेजी विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

वि० श० पा० डा० विश्वम्भरशरण पाठक, एम०ए०, पी-एच० डी०, सहायक प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय।

वि० श्री० न० डा० वी० एन० नरवणे, एम०ए०, डी०लिट०, सहायक प्रोफेसर, दर्शन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

वि० सा० दु० डा० विद्यासागर दुबे, एम०एस-सी०, पी-एच०डी० (लदन), डी०आई०सी०, प्रोफेसर, भूविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

वी० भा० भा० डा० वीरभानु भाटिया, एम०डी०, एफ०आर० सी०पी० (लदन), एम० एल० सी०, प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, मेडिसिन विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

श० ना० उ० डा० शंभुनाथ उपाध्याय, एम०ए०, एम०एड०, एड०डी०, सीनियर रिसर्च साइकोलॉजिस्ट, ब्यूरो ऑव साइकोलॉजी, इलाहाबाद।

श० ध० च० श्री शशधर चैटर्जी, एम०एस-सी०, लेक्चरर, प्राणिविज्ञान विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

श० ब० स० डा० शमशेर बहादुर समदी, एम०ए०, पी-एच०डी० (अरबी), डी०लिट० (फारसी), प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, अरबी, एवं सयोजक, वोर्ड ऑव ओरियंटल स्टडीज, अरेविक ऐंड पर्शियन, लखनऊ विश्वविद्यालय) अख्तर मंजिल, वारोरोड, लखनऊ।

शा० मo शा० देखिए स्न० मो० शा०।

शि० क० ख० डा० शिवनाथ खन्ना, एम०वी०वी०एस०, डी०पी० एच०, आयुर्वेद रत्न, आयुर्वेदिक कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

शि० म० सिं० श्री शिवमंगल सिंह, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

शि० श० मि० — डा० शिवशरण मिश्र, एम०डी० (ग्रानर्स), एफ० ग्रार०सी०पी० (लंदन), प्रोफेसर ग्रॉव क्लिनिकल मेडिसिन मेडिकल कालेज, लखनऊ।

श्या० दु० — डा० श्यामाचरण दुबे, एम०ए०, पी-एच०डी०, ग्रध्यक्ष, नृतत्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय।

श्या० ना० मे० — डा० श्यामनारायण मेहरोत्रा, एम०ए०, बी० एड०, डी०फिल०, उपसंचालक, शिक्षा, मेरठ।

श्या० सु० श० — श्री श्यामसुंदर शर्मा, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

श्री० ग्र० — श्री श्रीकृष्ण ग्रग्रवाल, बी०ए०, एल-एल०बी०, साहित्यरत्न, ऐडवोकेट, हाईकोर्ट, इलाहाबाद, ४ बी०, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद।

श्री० ग्र० डा० — श्री श्रीपाद ग्रमृत डांगे, संसदसदस्य, जनरल सेक्रेटरी, ग्रखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस, ४, ग्रशोक रोड, नई दिल्ली।

श्री० गो० ति० — लेफ्टिनेंट कर्नल श्रीगोविंद तिवारी, एम०ए०, एफ०एन०ए०एस-सी०, ग्रध्यक्ष, सैन्यविज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

श्री० ध० ग्र० — डा० श्रीधर ग्रग्रवाल, एम०बी०बी०एस०, एम० एस-सी० (पैथॉलोजी), रीडर, मेडिकल कालेज, जबलपुर।

श्री० स० — डा० श्रीकृष्ण सक्सेना, एम०ए०, पी-एच०डी०, ग्रध्यक्ष, दर्शन एवं मनोविज्ञान विभाग, सागर विश्वविद्यालय।

स० — डा० सद्गोपाल, डी०एस-सी०, एफ०ग्रार०ग्राइ० सी०, एफ० ग्राइ० सी०, उपनिर्देशक (रसायन), भारतीय मानक संस्था, मानक भवन, ६ मथुरा रोड, नई दिल्ली।

स० च० — श्रीमती सरोजिनी चतुर्वेदी, एम०ए०, द्वारा श्री सुभाषचंद्र चतुर्वेदी, पी०सी०एस०, डिप्टी कलेक्टर, एटा।

स० ना० प्र० — डा० सत्यनारायणप्रसाद, एम०एस-सी०, डी० फिल०, एफ०एन०ए०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, वनस्पतिविज्ञान विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

स० पा० गु० — डा० सत्यपाल गुप्त, एम०बी०बी०एस०, एफ० ग्रार०सी०एस० (एडिन०), डी०ग्रो०एम०एस० (लंदन), प्रोफेसर तथा ग्रध्यक्ष, ग्रॉफ्थैलमॉलोजी विभाग, चीफ ग्राई सरजन, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

स० प्र० — डा० सत्यप्रकाश, डी०एस-सी०, एफ०ए०एस-सी०, सहायक प्रोफेसर, रसायन विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय। (ग्रावर्त नियम तथा ग्रासवन)
डा० सरयूप्रसाद, एम०ए०, एम०एस-सी०, डी०एस-सी०, एफ०एन०ए०एस-सी०, एफ०ग्राइ० सी०, रीडर, रसायन विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय। (ग्रासमियम तथा इरिडियम)

स० प्र० गु० — डा० सत्यप्रकाश गुप्त, प्रोफेसर मेडिकल कालेज, लखनऊ।

स० प्र० चौ० — डा० सरयूप्रसाद चौबे, एम०ए०, एम०एड०, सहायक प्रोफेसर, शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

सि० रा० गु० — श्री सियाराम गुप्त, बी०एस-सी०, डेप्युटी सुपरिंटेंडेंट ग्रॉव पुलिस, ग्रगुलिचिह्न तथा वैज्ञानिक शाखा, सी०ग्राई०डी०, उ०प्र०, लखनऊ।

सी० च० — श्री सीताराम चतुर्वेदी, एम०ए०, बी०टी०, एल-एल०बी०, साहित्याचार्य, प्रिंसिपल, टाउन डिग्री कालेज, बलिया।

सी० रा० जा० — डा० सीताराम जायसवाल, एम०ए०, एम०एड०, पी-एच०डी०, रीडर, शिक्षा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

सी० बा० जो० — श्री सीताराम बालकृष्ण जोशी, इंजीनियर, जोशी वाडी, मनमाला टैंक रोड, माहिम, बंबई।

सुं० ला० — श्री सुंदरलाल, सेक्रेटरी, हिंदुस्तानी कल्चर सोसाइटी, ४० ए०, हनुमान लेन, नई दिल्ली।

सै० ए० हु० — श्री सैयद एहतेशाम हुसेन, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, फारसी ग्रौर उर्दू विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय।

स्कं० गु० — श्री स्कंदगुप्त, एम०ए०, सहायक प्रोफेसर, ग्रंग्रेजी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय।

स्व० मो० शा० — डा० स्वरूपचंद्र मोहनलाल शाह, एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट० (लंदन), एफ०एन० ग्राई०, एफ०ए०एस-सी०, प्रोफेसर तथा ग्रध्यक्ष, गणित विभाग, ग्रलीगढ विश्वविद्यालय।

ह० चं० गु० — डा० हरिश्चंद्र गुप्त, पी-एच०डी० (मैंनचेस्टर), पी-एच०डी० (ग्रागरा), रीडर, गणितीय सांख्यिकी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय।

ह० ब० — डा० हरिवंशराय बच्चन, एम०ए०, पी-एच०डी० (कैंटब), हिंदी विशेषज्ञ, विदेशमंत्रालय, नई दिल्ली।

ह० बा० मा० — डा० हरिबाबू माहेश्वरी, एम०बी०बी०एस०, एम० डी०, पैथॉलोजी विभाग, मेडिकल कालेज, लखनऊ।

ह० ह० सिं० — श्री हरिहर सिंह, एम०ए०, लेक्चरर, भूगोल विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय।

हा० गु० मु० — श्री हाफिज गुलाम मुस्तफा, एम०ए०, (ग्ररबी, फारसी, उर्दू), फाजिल ग्रौर कामिल, लेक्चरर, ग्ररबी ग्रौर इस्लामी ग्रध्ययन विभाग, मुस्लिम विश्वविद्यालय, ग्रलीगढ।

हृ० के० त्रि० — डा० हृषिकेश त्रिवेदी, टी०एम-सी०, डी० ग्रार०ई०, टी०मेट०, प्रिंसिपल, हारकोर्ट बटलर टेक्नोलॉजिकल इंस्टिट्यूट, कानपुर।

हे० जो० — डा० हेमचंद्र जोशी, डी०लिट०, लेखक, भूतपूर्व निरीक्षक संपादक, हिंदी शब्दसागर, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी।

फलक सूची

समुख पृष्ठ

संमुख पृष्ठ

मानचित्र

हिंदी विश्वकोश

अंक उन चिह्नों को कहते है जिनसे गिनतियाँ सूचित की जाती हैं, जैसे १, २, ३, । स्वय गिनतियो को सख्या कहते है। यह निर्विवाद है कि आदिम सभ्यता मे पहले वाणी का विकास हुआ और उसके बहुत काल पश्चात् लेखन कला का प्रादुर्भाव हुआ। इसी प्रकार गिनना सीखने के बहुत समय बाद ही सख्याओ को अकित करने का ढग निकाला गया होगा। वर्तमान समय तक बचे हुए अभिलेखो मे सबसे प्राचीन अक मिस्र (ईजिप्ट) और मेसोपोटेमिया के माने जाते है। इनका रचनाकाल ३,००० ई० पू० के आसपास रहा होगा। ये अक चित्रलिपि (हाइरोग्लिफिक्स) के रूप मे है। इनमें किसी अक के लिये चिडिया, किसी के लिये फूल, किमी के लिये कुदाल आदि बनाए जाते थे। केवल अक ही नही, शब्द भी चित्रलिपि मे लिखे जाते थे।

कुछ देशो मे अको के निरूपण के लिये खपच्चियो पर खाँचे बनाई जाती थीं, कही खडिया से बिंदियाँ बनाई जाती थी, कही खडी अथवा पडी लकीरो से काम लिया जाता था। प्राचीन मेसोपोटेमिया मे खडी रेखाओ का प्रयोग होता था, जो सभवत खडी अगुलियो की द्योतक है

। ॥ ॥।
१ २ ३

ब्राह्मी लिपि मे, जो प्राचीन भारत मे प्रचलित थी, इन्ही सख्याओ के लिये बेडी रेखाएँ प्रयुक्त होती थी।

पडित सुधाकर द्विवेदी का विचार था कि हमारे अधिकाश नागरी अको की आकृतियाँ पुष्पो से ली गई हैं। 'गणित का इतिहास' नामक अपनी पुस्तक मे उन्होने इन अको का उद्भव इस प्रकार बताया है जैसा पार्श्व के चित्र मे है।

परतु शिलालेखो मे ये रूप कही भी नही मिले है। इसलिये अको की यह उत्पत्ति केवल कल्पना ही जान पडती है। आगामी पृष्ठ की सारणी मे अको के वे रूप दिखाए गए है जो भारत के विविध शिलालेखो मे मिलते है। यूनानियो मे १ से ६ तक के लिये पहले खडी रेखाएँ प्रयुक्त होती थी। पीछे पाँच, दस आदि गिनतियो के लिये प्रयुक्त शब्दो के प्रथम अक्षर लिखे जाने लगे। तृतीय शताब्दी ई० पू० के लेखो मे यह प्रणाली मिलती है। तदनतर वर्णमाला के क्रम से लिए गए अक्षर ६ तक की क्रमागत सख्याओ के लिये प्रयुक्त होते थे, और १०, २० आदि ६० तक, और फिर १००, २०० आदि ६०० तक के लिये शेष अक्षर प्रयुक्त होते थे।

कुद (एक माघी फूल की कली) १
मुकुद (एक फूल जिसमे दो कलियाँ होती है) २
नील (तीन कलियोवाला फूल) ३
कच्छप (कछुआ) ४
मगर ५
खर्व (छोटा कमल) ६
पद्म (कुछ बडा कमल) ७
महापद्म (सबसे बडा कमल) ८
शख ९

पडित सुधाकर द्विवेदी के अनुसार अको की उत्पत्ति

रोमन पद्धति, जिसमे १, २, . के लिये I, II, III, IV, V, VI, .. लिखे जाते थे, आज तक भी थोडी बहुत प्रचलित है। सन् २६० ई० पू० मे यह पद्धति (कुछ हेर फेर के साथ) प्रचलित अवश्य थी, क्योकि उस समय के शिलालेखो मे यह वर्तमान है। रोम का साम्राज्य इतनी दूर तक फैला हुआ था और इतने समय तक शक्तिमान् बना रहा कि उसकी लेखनपद्धति का प्रभुत्व आश्चर्यजनक नही है। अपने समय की अन्य अकपद्धतियो से रोमन अकपद्धति अच्छी भी थी, क्योकि इसमे चार अक्षर V, X, L, और C तथा एक खडी रेखा से प्रतिदिन के व्यवहार की सभी सख्याएँ लिखी जा सकती थी। पीछे D तथा M के उपयोग से पर्याप्त बडी सख्याओ का लिखना भी सभव हो गया। एक, दो और तीन के लिये इतनी ही खडी रेखाएँ खीची जाती थी। V से पाँच का बोध होता था। मामसेन ने १८५० मे बताया कि V वस्तुत खुले पजे का चित्रीय प्रतीक है और एक उलटा तथा एक सीधा V मिलाने से दो पाँच अर्थात् दस (X) बना। इस सिद्धात से अधिकाश विद्वान् सहमत है। C सौ के लिये रोमन शब्द सेंटम का पहला अक्षर है और M हजार के लिये रोमन शब्द मिलि का पहला अक्षर है। बडी सख्या के बाई ओर छोटी सख्या लिखकर दोनो का अतर सूचित किया जाता था, जैसे IV=४। रोमन अको से बहुत बडी सख्याएँ नही लिखी जा सकती थी। आवश्यकता पडने पर (।) से १,०००, ((।)) से १०,०००, (((।))) मे १ लाख सूचित कर लिया जाता था, परतु जब उन्होने २६० ई०पू० मे कार्थेजीय लोगो पर अपनी विजय के लिये कीर्तिस्तभ बनाया और उसपर २३,००,००० लिखना पडा तो उन्हे (((।))) को २३ बार लिखना पडा।

युकाटान (मेक्सिको और मध्य अमरीका के प्रायद्वीप) मे प्राचीन मय सभ्यता अत्यत विकसित अवस्था मे थी। वहाँ एक, दो, तीन इत्यादि बिंदियो से १, २, ३, सूचित किए जाते थे, बेडी रेखा से ५, चक्र से २०, इत्यादि। इस प्रणाली मे लिखी गई कुछ सख्याएँ नीचे दिखाई गई हैं.

मय सभ्यता में अको का रूप

चीन मे प्राचीन काल से ही अको के लिये विशेष चिह्न थे।

यूरोप मे प्रचलित अको 1, 2, 3, की उत्पत्ति के लिये कई सिद्धात बने, परतु अब पाश्चात्य विद्वान् भी मानते हैं कि उनका मूल प्राचीन भारतीय पद्धति ब्राह्मी है, यद्यपि देशकाल की विभिन्नता से कई अको के रूप मे कुछ विभिन्नता आ गई है। 2 और 3 स्पष्ट रूप से ब्राह्मी के दो और तीन, अर्थात् = और ≡, के घसीटकर लिखे गए रूप है। इसके अतिरिक्त कई अन्य यूरोपीय अको के रूप ब्राह्मी अको से मिलते है। उदाहरणत 1, 4 और 6 अशोक के शिलालेखो के १, ४ और ६ से मिलते जुलते हैं, 2, 4, 6, 7 और 9 नानाघाट के अको से बहुत कुछ मिलते है, 2, 3, 4, 5, 6, 7 और 9 नासिक की गुफाओ के अको के सदृश है। परतु यूरोपीय लोगो ने इन अको को सीधे भारतीयो से नही पाया। उन्होने इन्हे अरबवालो से सीखा। इसीलिये ये अक यूरोप मे अरबी (अरेबिक) अक कहे जाते हैं। पूर्वोक्त प्रमाणो के आधार पर वैज्ञानिक अब उन्हे हिंदु-अरेबिक अक कहते हैं।

अशोक के शिलालेख तीसरी शताब्दी ई० पू० के हैं और नानाघाट के शिलालेख लगभग १०० वर्ष बाद के हैं। इनमे हमारे अको के प्राचीन रूप अब भी देखे जा सकते है। इनमे शून्य का प्रयोग नही मिलता। आठवी शताब्दी से भारत मे शून्य के प्रयोग का पक्का प्रमाण मिलता है।

आज ससार की अधिकाश भाषाओ में १ से ९ तक के अको के लिये स्वतत्र अक है। फिर १ में ० लगाकर १० बनाया जाता है। बाद के समस्त अक दस को आधार मानकर बनाए जाते हैं, जैसे

१३=१०+३, १७=१०+७,

इसी तथ्य को हम गणित की भाषा में इस प्रकार कहते हैं कि हमारी सख्यापद्धति दशाशिक है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि गिनने की आदिम पद्धति योगात्मक थी। दो लकीरों का अर्थ दो होता था और तीन लकीरों का तीन। किंतु आधुनिक सख्यापद्धति योगात्मक भी है और गुणनात्मक भी। देखिए

४५=४×१०+५,
६८=६×१०+८,
९१=९×१०+१।

स्पष्ट है कि ४५ में ४ का सख्यात्मक मान तो ४ ही है, किंतु अपनी स्थिति के कारण उसका मान ४० है। इस प्रकार ४० में ५ जोडने से ४५ प्राप्त होता है। स्थानो के मान इकाई, दहाई, सैकडा आदि प्रसिद्ध हैं। जब किसी स्थान में कोई अक नही रहता तब वहाँ शून्य (०) लिख दिया जाता है। जब तक शून्य का आविष्कार नही हुआ था तब तक स्थानिक मानो का प्रयोग भली भाँति नही हो पाता था। शून्य का आविष्कार प्राचीन भारतीयो ने ही किया था।

ब्राह्मी अक

	तीसरी शताब्दी ई० पू०	दूसरी शताब्दी ई० पू०	पहली तथा दूसरी शताब्दी ई०	दूसरी शताब्दी ई०	दूसरी से चौथी शताब्दी ई० तक	चौथी शताब्दी ई०
	अशोक के अभिलेख	नाना-घाट अभिलेख	कुषाण अभिलेख	क्षत्रप तथा अंध्र अभिलेख	क्षत्रप मुद्राएँ	जगयपेट अभिलेख तथा शिवस्कद वर्मन ताम्रपत्र
१		–	–	– –	- -	[illegible]
२		=	=	= =	=	[illegible]
३			≡ ≡	≡	≡	[illegible]
४	+	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
५			[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
६	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
७		[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
८			[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
९		[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]	

ब्राह्मी लिपि में अक

विविध अभिलेखो मे आए अको का सच्चा स्वरूप यहाँ दिखाया गया है।

शून्यरहित प्रणालियो में (जैसे रोमन पद्धति मे) बडी सख्याओ का लिखना बहुत कठिन होता है, और बडी सख्याओ को बडी सख्याओ से गुणा करना तो प्राय असभव हो जाता है।

स०ग्र०—विभूतिभूषण दत्त और अवधेशनारायण सिंह हिस्ट्री ऑव हिंदू मैथिमैटिक्स, भाग १ (लाहौर, १९३५) (इस पुस्तक का हिंदी अनुवाद प्रकाशन ब्यूरो, उत्तरप्रदेश सरकार, लखनऊ से छपा है), डी० ई० स्मिथ और एल० सी० कार्पिस्की दि हिंदू अरेबिक न्यूमरल्स (बोस्टन, १९११), डी० ई० स्मिथ हिस्ट्री ऑव मैथिमैटिक्स, भाग १,२ (बोस्टन, १९२३, १९५५)। [ब्र० मो०]

अंकगणित (अँग्रेजी मे अरिथमेटिक) गणित की वह शाखा है जिसमे केवल अको और सख्याओ से गणना की जाती है। इसमें न सकेताक्षरो का प्रयोग होता है और न ऋण सख्याओ का ही, किंतु अकगणित के नियमो की व्याख्या में सकेताक्षरो का प्रयोग होने लगा है। बहुधा ऐसा माना गया है कि अकगणित का विषयविस्तार अभिगणना (काम्प्यूटेशन) तक सीमित है और विषय के प्रतिपादन मे तर्क की विशेष महत्ता नही होती। अकगणित का तर्कयुक्त विवेचन एक अलग विषय है जिसे सख्यासिद्धात (थ्योरी ऑव नवर्स) कहते हैं। कुछ गणितज्ञ अब अकगणित और सख्यासिद्धात को समानार्थक मानने लगे हैं।

दो समूहो मे वस्तुओ की सख्या तब समान कही जाती है जब एक समूह की प्रत्येक वस्तु के लिये दूसरे समूह में एक जोडीदार वस्तु मिल सके। इस प्रकार यदि अनुक्रम १, २, ३, , **म** की प्रत्येक सख्या की जोडी किसी समूह की एक एक वस्तु से बनाई जा सके तो उस समूह मे वस्तुओ की सख्या **म** है। इस सख्या का ज्ञान प्राप्त करना वस्तुओ की गणना करना, अर्थात् गिनना, कहा जाता है। गिनने की विधि से जो सख्याएँ मिलती है उन्हे प्राकृतिक सख्याएँ अथवा पूर्ण सख्याएँ कहते है।

धन पूर्ण सख्या सबधी मूल नियम—यदि एक समूह में **क** वस्तुएँ और दूसरे समूह मे **ख** वस्तुएँ हैं तो दोनो समूहो में मिलकर **क+ख** वस्तुएँ है। **क+ख** को **क** और **ख** का योगफल, अथवा योग, कहते है। योगफल ज्ञात करने को जोडना कहते है। चिह्न + को धन कहते है। गिनने की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि योग के लिये निम्नलिखित मूल नियम ठीक है

१ योग का क्रमविनिमेय (कम्युटेटिव) नियम क+ख=ख+क,
२ योग का साहचर्य (ऐसोशिएटिव) नियम क+(ख+ग)=(क+ख)+ग।

यदि **च** कोई ऐसी धन पूर्ण सख्या है कि **क=ख+च**, तो कहा जाता है कि **क**, **ख** से बडी है (और इसे **क>ख** लिखते है), साथ ही **ख**, **क** से कम है (और इसे **ख<क** लिखते है)। इस प्रकार यदि **क** और **ख** कोई दो धन पूर्ण सख्याएँ हैं तो या तो **क=ख**, या **क>ख** या **क<ख**।

धन पूर्ण सख्याओ मे यह गुण है कि किन्ही दो या दो से अधिक ऐसी सख्याओ का योग धन पूर्ण सख्या ही होता है, अर्थात् यदि **क** और **ख** दो धन पूर्ण सख्याएँ है तो एक ऐसी धन पूर्ण सख्या **ग** अवश्य है कि **क+ख=ग**। स्पष्ट है कि **ग>क**।

यदि **क+ख=ग**, और सख्याएँ **क** और **ग** दी हुई है तो **ख** का मान **ग** से **क** को घटाकर ज्ञात किया जाता है। इस क्रिया को व्यवकलन कहते हैं और लिखते हैं **ख=ग−क**। चिह्न − को ऋण पढा जाता है।

पूर्वोक्त नियमो से स्पष्ट है कि एक से अधिक सख्याएँ चाहे जिस क्रम से जोडी जायँ, उनके योगफल मे कोई अतर नही पडता। अतएव ४+४+४ के समान पुनरागत योग को ४×३ लिख सकते है, जहाँ सख्या ३ यह बताती है कि ४ कितनी बार लिया गया है। इसे ४ गुणित ३ कहते है और इस क्रिया को गुणन, अर्थात् गुणा करना, कहते है। ४×३ के परिणाम को गुणनफल कहते है। इसमे सख्या ४, जो बार बार जोडी गई सख्या है, गुण्य है, और सख्या ३, अर्थात् जितनी बार ४ जोडा गया है, गुणक है।

यदि हम सख्याओ को सकेताक्षरो से प्रकट करे तो गुणनफल **क×ख** को प्राय **क ख** या केवल **कख** लिखा जाता है।

योग की भाँति ही गुणन क्रिया के लिये निम्नलिखित नियम ठीक है

१ गुणन का क्रमविनिमेय नियम क×ख=ख×क,
२ गुणन का साहचर्य नियम क(ख×ग)=(क×ख)ग।

१° नियम की सत्यता की जाँच के लिये क पक्तियो मे से प्रत्येक में ख गोलियाँ इस प्रकार रखें कि सब पक्तियो की पहली गोलियाँ एक सीध में हो, दूसरी गोलियाँ एक सीध में, इत्यादि। इस प्रकार ख स्तभ मिलेगे, जनमें से प्रत्येक मे क गोलियाँ है। स्तभो के हिसाब से कुल गोलियो की सख्या क×ख है और पक्तियो के हिसाब से ख×क, किंतु गोलियाँ कुल मिलकर दोनो वार उतनी ही है, इसलिये क×ख=ख×क।

दूसरे नियम की सत्यता की जाँच के लिये ख समूहो में से प्रत्येक में ग रहें और प्रत्येक स्तभ में क गोलियाँ। ये समूह एक के नीचे एक रखे गये। इस प्रकार ग स्तभ वनेंगे और प्रत्येक में क×ख गोलियाँ रहेगी। २ से प्रत्यक्ष है कि कुल गोलियो की सख्या (क×ख)×ग है। अव ये समूह इस प्रकार रखे जायँ कि इनकी पहली पक्तियाँ सव एक सीध मे रहे, उनके नीचे सव समूहो की दूसरी पक्तियाँ एक सीध में रहे, इत्यादि। इस प्रकार प्रत्येक पक्ति मे सव समूहो को मिलाकर ख×ग गोलियाँ रहेगी और उन गोलियो की ऐसी पक्तियाँ क होगी। इसलिये अव गोलियो की सख्या=क×(ख×ग)। गोलियों की सख्या वही रहती है, इसलिये क×(ख×ग)=(क×ख)×ग।

इन दो नियमो के अतिरिक्त गुणन क्रिया के लिये निम्नाकित नियम भी है

३ वितरण नियम (क+ख)ग = कग + खग,

इसकी सत्यता की जाँच गोलियो से पूर्ववत् की जा सकती है। अन्य नियम घात सवधी है। जिस प्रकार च वार पुनरागत योग क+क+ +क को चक लिखा जाता है, उसी प्रकार च वार पुनरागत गुणनफल क×क× ×क को $क^{च}$ लिखा जाता है। च को घाताक या केवल घात और क को आधार कहते हैं। परिभापा से घात सवधी निम्नलिखित नियमो की सत्यता स्पष्ट है

४ $क^{च} \times क^{छ} = क^{च+छ}$,

५ $(क^{च})^{छ} = क^{चछ}$,

६ $क^{च}ख^{च} = (कख)^{च}$।

यदि क और ख कोई दो धन पूर्ण सख्याएँ है तो क×ख भी कोई धन पूर्ण सख्या ग होगी। यदि ग ऐसी सख्या दी हुई है जो दो सख्याओ के गुणनफल के वरावर है और उनमे से एक सख्या क ऐसी ज्ञात है जो शून्य से भिन्न है, तो दूसरी सख्या ख का मान ग को क से विभाजित करने पर प्राप्त होता है। हम लिखते है

$$ख = ग \div क, \text{ अथवा } \frac{ग}{क}, \text{ अथवा } ग/क।$$

चिह्न ÷ को भाग का चिह्न कहते है और भाजित पढते है। चिह्न / को वटा या वटे पढते है। उदाहरणत, ८ भाजित ४ (अर्थात् ८÷४)=२, अथवा ८ वटे ४ (अर्थात् ८/४)=२।

विभाजन के लिये घात सवधी नियम यह है

७ $क^{म} \div क^{स} = क^{म-स}$, जहाँ म>स।

परिभापा से इसकी सत्यता की जाँच करना सरल है।

भाजक सिद्धात—यदि तीन धन पूर्ण सख्याओ क, ख, ग में सवध कख=ग है, तो क और ख को ग के भाजक अथवा गुणनखड कहते हैं। कभी कभी इतना कहना पर्याप्त समझा जाता है कि क, ग को विभाजित करता है। ग, क का अपवर्त्य अथवा गुणज कहलाता है, और क, ग का अपवर्तक। सख्या १ एकक कहलाती है और स्पष्ट है कि यह प्रत्येक पूर्ण सख्या का भाजक है तथा प्रत्येक सख्या स्वय अपना भाजक है। यदि ग=कख, और क तथा ख मे से प्रत्येक १ से वडी है, तो ग को सयुक्त सख्या कहते है, अन्यथा अभाज्य सख्या। उदाहरणत, २, ३, ५, ७, ११, १३, अभाज्य सख्याएँ है। यूक्लिड ने एलिमेंट्स, खड ९, साध्य २०, मे सिद्ध कर दिया है कि अभाज्य सख्याएँ गिनती में अनत हैं। उसने यह भी सिद्ध किया था कि प्रत्येक सयुक्त सख्या को अभाज्य सख्याओ के गुणनफल के रूप मे प्रदर्शित करने की, उनके क्रम में हेर फेर को छोडकर, केवल एक ही विधि है।

धन पूर्ण सख्याओ $क_1, क_2, \ldots, क_न$ के समान प्रत्येक परिमित सघ के लिये एक ऐसी सवसे वडी पूर्ण सख्या म रहती है जिससे सघ की प्रत्येक सख्या पूरी पूरी विभाजित हो सकती है। इस सख्या को महत्तम समापवर्तक (म० स०) कहते हैं। यदि म=१, तो सख्याएँ एक दूसरे के सापेक्ष अभाज्य कहलाती हैं। प्रत्येक सख्यासघ के लिये सवसे छोटी एक ऐसी सख्या भी होती है जो सघ की प्रत्येक सख्या से विभाज्य होती है। इस सख्या को लघुतम समापवर्त्य (ल०स०) कहते हैं। म०स० और ल०स० ज्ञात करने की एक विधि में सख्याओ को अभाज्य सख्याओ के गुणनफलो के रूप मे प्रकट करना होता है (विधि का वर्णन अकगणित की प्राय सभी पुस्तको मे मिल जायगा)। उदाहरण के लिये यदि सख्याएँ २५२, ४२०, ११७६ हो, तो $२५२=२^{२} \cdot ३^{२} \cdot ७$, $४२०=२^{२} \cdot ३ \cdot ५ \cdot ७$, $११७६=२^{३} \cdot ३ \cdot ७^{२}$। इसलिये इनका $म०स०=२^{२} \cdot ३ \cdot ७=८४$ है और $ल०स०=२^{३} \cdot ३^{२} \cdot ५ \cdot ७^{२}=$ १७,६४०। दो सख्याओ का, विना उनके गुणनखड किए, म०स० ज्ञात करने की एक विधि विभाजन की है। इसमें पहले छोटी सख्या से वडी सख्या को भाग दिया जाता है, फिर शेप से छोटी को, अर्थात् पूर्वगामी भाजक को, यही क्रम तव तक चलता रहता है जव तक शेप शून्य न आ जाय। अतिम भाजक अभीष्ट म०स० है। इस विधि का आविष्कार भी यूक्लिड ने किया था। उदाहरणार्थ, २५२, ४२० के लिये क्रिया यह होगी

```
२५२)४२०(१        १६८)२५२(१        ८४)१६८(२
    २५२              १६८              १६८
    ---              ---              ---
    १६८               ८४                ०
```

इस प्रकार अभीष्ट म०स० ८४ है। सक्षिप्त रूप मे इसे इस प्रकार लिख सकते है

```
२५२ | ४२० | १
१६८ | २५२ | १
 ८४ | १६८ | २
    | १६८ |
    ×
```

अतिम और प्रथम स्तभो मे क्रमानुसार भागफल और भाजक हैं।

दो सख्याओ का गुणनफल उनके म०स० और ल०स० के गुणनफल के वरावर होता है। म०स० ज्ञात होने पर, इस नियम से, उन सख्याओ का विना गुणनखड किए ल०स० ज्ञात किया जा सकता है।

साधारण भिन्न—भिन्न $\frac{१}{क}$ का अर्थ है वह सख्या जिसको क से गुणा करने पर १ प्राप्त होता है। यहाँ क कोई धन पूर्ण सख्या है। $ग \times \frac{१}{क}$ को $\frac{ग}{क}$ अथवा ग/क भी लिखते है। ग/क को साधारण भिन्न कहते हैं। इसे वह भागफल माना जा सकता है जो ग को क से भाग देने पर मिलता है। ग और क भिन्न के दो अवयव हैं। ग को अश (न्यूमरेटर) और क को हर (डिनामिनेटर) कहते हैं। जव ग<क, तो ग/क को उचित भिन्न कहते हैं, अन्यथा अनुचित भिन्न। जव ग और क परस्पर अभाज्य हो, अर्थात् ऐसी कोई सख्या न हो जो दोनो को विभाजित कर सके, तो भिन्न ग/क का रूप लघुतम पदोवाला कहा जाता है। भिन्नो के योग, व्यवकलन, गुणन, भाजन, आदि के लिये **भिन्न** शीर्षक लेख देखे।

अपरिमेय सख्याएँ—पूर्ण सख्याओ और साधारण भिन्नो को परिमेय सख्या कहते हैं। जो सख्या पूर्ण न हो और साधारण भिन्न के रूप मे प्रकट न की जा सके वह अपरिमेय सख्या कहलाती है, जैसे $\sqrt{२}$, π। इनका विवेचन **सख्या** नामक लेख मे मिलेगा।

दशमलव पद्धति—प्रचलित सख्यापद्धति को, जिसमे एक सौ तेईस को १२३ लिखा जाता है, दशमलव पद्धति कहते है। CXXIII दशमलव पद्धति में नही है, रोमन पद्धति मे है। दशमलव पद्धति अपनाने पर ही अकगणित की चारो क्रियाओ की सरल विधियाँ प्रयोग मे आने लगी। (इस पद्धति का, तथा अन्य पद्धतियो का, विवरण **संख्यांक पद्धतियाँ** शीर्षक लेख

में मिलेगा।) दशमलव पद्धति में संख्या को वस्तुतः १० के घातों की सहायता से व्यंजित किया जाता है। उदाहरणतः,

$$३४६७ = ३ \cdot १०^३ + ४ \cdot १०^२ + ६ \cdot १० + ७।$$

प्रत्येक घात का गुणांक ० से ९ तक (उन दस संख्याओं) में से कोई भी हो सकता है। बड़ी संख्याओं को एकक स्थान के अंक से आरंभ कर तीन तीन अंकों के आवर्तकों में बाँटने की प्रथा पाश्चात्य है। भारतीय प्रथा में एकक अंक से आरंभ कर पहले तीन अंकों का एक आवर्तक और बाद में दो दो अंकों के आवर्तक बनाए जाते हैं। उदाहरणतः, २३०६४७२ को पाश्चात्य प्रथा के अनुसार २,३०६,४७२ लिखते हैं, भारतीय प्रथा में २३,०६,४७२। ऐसा करने का कारण स्पष्ट है। भारतीय गणना में सौ हजार का एक लाख, सौ लाख का १ करोड़, इत्यादि होता है। पाश्चात्य प्रथा में १० लाख को एक मिलियन कहते हैं।

अमरीका और फ्रांस में हजार मिलियन (एक अरब) को बिलियन कहते हैं, परंतु इंगलैंड में मिलियन मिलियन (=दस खरब) को बिलियन कहते हैं।

इस दशमलव पद्धति के प्रयोग द्वारा वे भिन्नें भी लिखी जा सकती हैं जिनका हर १० का कोई घात हो, यथा

$$\frac{३५७०९४}{१००००} = ३५.७०९४$$

$$= ३५ + ७ \times १०^{-१} + ० \times १०^{-२} + ९ \times १०^{-३} + ४ \times १०^{-४},$$

अर्थात् दशमलव बिंदु के दाईं ओर के पहले अंक को $१०^{-१}$ से गुणा करके दशमलव के बाईं ओर की पूर्ण संख्या में जोड़ना होता है। दूसरे को $१०^{-२}$ से गुणा कर पहले के योग में जोड़ते हैं और इसी प्रकार अन्य अंकों को भी गुणा करके जोड़ना पड़ता है।

दशमलव में योग और व्यवकलन—दशमलव पद्धति में योग ज्ञात करने की निम्नांकित पद्धति अब प्रायः सर्वमान्य है। संख्याओं को एक के नीचे एक इस प्रकार लिखना चाहिए कि दशमलव बिंदु सब एक स्तंभ में अर्थात् एक के नीचे एक रहें। इस प्रकार एकक के सभी अंक एक स्तंभ में पड़ेंगे, दहाई के स्थानवाले अंक एक अन्य स्तंभ में, इत्यादि, उदाहरणतः ५३.७६, २३६.०८१, ४०८.३४६ का योग यों निकलेगा

```
 ५३.७६
२३६.०८१
४०८.३४६
───────
६९८.१८७
```

स्पष्ट है कि दशमलवों का योग साधारण जोड़ने के समान ही है। ऊपर की क्रिया वस्तुतः निम्नलिखित का संक्षिप्त रूप है

$$५ \times १० + ३ + ७ \times १०^{-१} + ६ \times १०^{-२}$$
$$२ \times १०^२ + ३ \times १० + ६ + ० \times १०^{-१} + ८ \times १०^{-२} + १ \times १०^{-३}$$
$$४ \times १०^२ + ० \times १० + ८ + ३ \times १०^{-१} + ४ \times १०^{-२} + ६ \times १०^{-३}$$
$$= ६ \times १०^२ + ८ \times १० + १७ + १० \times १०^{-१} + १८ \times १०^{-२} + ७ \times १०^{-३}$$
$$= ६ \times १०^२ + ९ \times १० + ८ + १ \times १०^{-१} + ८ \times १०^{-२} + ७ \times १०^{-३}$$

व्यवकलन के लिये पूर्वोक्त क्रिया को उलटना होता है। बड़ी संख्या को ऊपर और छोटी को नीचे इस प्रकार लिखना चाहिए जिसमें दशमलव बिंदु एक दूसरे के नीचे रहें, फिर साधारण रीति से घटाना चाहिए। शेष में दशमलव बिंदु को ऊपर लिखी संख्याओं के दशमलव बिंदुओं के ठीक नीचे रखना चाहिए, जैसा बगल में दिखाया गया है।

```
३२७.१
 ८०.२४
──────
२४६.८६
```

गुणा करने की विधि वितरण नियम पर आधारित है और अंकगणित की अधिकांश पुस्तकों में इसका वर्णन मिल जायगा।

यदि दो दशमलव संख्याओं का सन्निकट गुणनफल, मान लें २ दशमलव स्थानों तक शुद्ध, ज्ञात करना है, तो सुगमता इसमें है कि इनमें से एक संख्या का (जिसे गुणक कहेंगे) दशमलव बाईं ओर या दाहिनी ओर हटाकर उस संख्या को १ और १० के बीच में लाया जाय, फिर उतने ही स्थान विपरीत दिशा में दूसरी संख्या का (जिसे गुण्य कहेंगे) दशमलव भी हटाया जाय तब गुण्य के तीसरे दशमलव स्थान से गुणक के एककवाले अंक का गुणा आरंभ करना चाहिए। गुणक के दशमांशवाले अंक से गुण्य के दशमलव के दूसरे स्थान से गुणा आरंभ करना चाहिए, इत्यादि। जिस अंक से गुणा करना आरंभ किया जाय उसके दाहिनी ओरवाले अंक से गुणा करके हाथ लगनेवाली संख्या ले लेनी चाहिए। यह क्रिया निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी

$$४२४.३३६८३ \times १२.७३२ = ४२८३.३६८३ \times १.२७३२$$

```
४२८३.३६८३   गुण्य
   १.२७३२   गुणक
─────────
४२८३.३६८
 ८४८.६७३
 २९७.०३५
  १२.७३०
    .८६९
─────────
५४०२.६५
```

दशमलव बिंदु के बाद आनेवाले स्थान में १ हो तो वह वस्तुतः १/१० के बराबर है, उसके बादवाले स्थान में १ हो तो वह वस्तुतः १/१०० के बराबर है, इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि दशमलव अंक के बाद बहुत से अंकों के रखने की आवश्यकता व्यवहार में नहीं पड़ती, क्योंकि अंकों का मान उत्तरोत्तर शीघ्रता से घटता जाता है। इसीलिये बहुधा दशमलव के पश्चात् दूसरे, तीसरे या चौथे स्थान के बाद के सब अंक छोड़ दिए जाते हैं, परंतु यदि छोड़े हुए अंकों में से पहला अंक ५ या ५ से बड़ा हो तो रखे गए अंकों में से अंतिम अंक में १ जोड़ दिया जाता है, क्योंकि तब उत्तर अधिक शुद्ध हो जाता है।

एक पंक्ति में गुणन—जो व्यक्ति मौखिक योग में प्रवीण हो, वह एक पंक्ति में दो संख्याओं का गुणनफल निकाल सकता है। मान लें दशमलव पर ध्यान न देते हुए गुण्य में एकक के स्थान में अंक $क_१$ है, दहाई (दशक) के स्थान में $क_२$, इत्यादि, और गुणक में इन स्थानों के अंक क्रमानुसार $ख_१$, $ख_२$, इत्यादि हैं। मान लें

$$क_१ख_१ = १०ह_१ + ग_१,$$
$$क_१ख_२ + क_२ख_१ + ह_१ = १०ह_२ + ग_२,$$
$$क_१ख_३ + क_२ख_२ + क_३ख_१ + ह_२ = १०ह_३ + ग_३,$$

इत्यादि, जहाँ $ग_१$, $ग_२$, ... प्रत्येक १० से कम है, तो गुणनफल के एकक के स्थान में $ग_१$, दहाई के स्थान में $ग_२$, सैकड़े के स्थान में $ग_३$ ... होंगे। वास्तविक प्रक्रिया में सुगमता इसमें होती है कि गुणक को उलटकर लिख लिया जाय। तब समांतर रेखाओं में स्थित अंकों के मौखिक गुणनफलों का योग ज्ञात करना होता है।

उदाहरणतः ३४६०८ को ५३८७ से गुणा करने में क्रिया इतनी लिखी जायगी

```
   ३४६०८
  ७,८,३,५
──────────
१८६४३३२९६
```

यहाँ गुणनफल का अंक २ योग ७×६+८×०+३×८+ हासिल के ६ का एककवाला अंक है। अंत में गुणनफल में दशमलव इस प्रकार लगाया जाता है कि उसके दाहिनी ओर उतने ही अंक रहें जितने गुणक और गुण्य में मिलकर हों।

एक दशमलव संख्या में दूसरी संख्या का भाग देने में सुविधा इसमें होती है कि भाजक से दशमलव हटा दिया जाय और भाज्य में दशमलव को भी उतने ही स्थान तक दाईं ओर हटा दिया जाय। इसके बाद साधारण रीति से भाग की क्रिया की जाती है। भागफल में दशमलव उस अंक के बाद लगेगा जो भाज्य में एककवाले स्थान के अंक को उतारकर भाग देने पर मिलता है।

क्रिया निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी

$$६३.८०२ \div ७.३१ = ६३८०.२ \div ७३१$$

स्पष्ट है कि शेष में दशमलव बिंदु को एकक स्थान से उतने ही स्थान बाईं ओर हटकर लगाना चाहिए जितने दशमलव स्थान पर अंतिम उतारा हुआ अंक मूल भाज्य में था। यहाँ अंतिम उतारा हुआ अंक २ मूल भाज्य में दूसरे दशमलव स्थान पर था। अतएव शेष .२०५ है।

```
७३१)६३८०.२(८.७
    ५८४८
    ─────
     ५३२२
     ५११७
     ─────
      २०५
```

उपर्युक्त क्रिया मे भाज्य मे २ के आगे इच्छानुसार शून्य वढाकर भाग , इच्छानुसार दशमलवो तक ज्ञात किया जा सकता है।

वर्गमूल—वर्गमूल ज्ञात करने की क्रिया निम्नलिखित सूत्र पर ा रित है

$$(क+ख)^{२}=(क+२ख)क+ख^{२}$$

दी हुई सख्या के दशमलव ान से आरभ कर बाई ओर और ाहिनी ओर दो दो अको के जोडे ना ले। अव सख्या के वाएँ सिरे ;र प्रथम खड या तो एक पूरा ोडा होगा या केवल एक अक। १ से तक के वर्गो की सारणी से देखे क यह खड किन सख्याओ के वर्गो के ीच में है। छोटी सख्या को वर्गमूल मे लिखे। इसके वर्ग को खड से घटाएँ और शेप के आगे दूसरा खड उतारे, यह दूसरा भाज्य है। भाजक के लिये अव तक प्राप्त वर्गमूल का दूना लिखे और देखे कि उसके आगे दीर्घतम कौन सा अक ब बढाया जाय कि बढाने पर प्राप्त भाज्य का ब गुना दूसरे भाज्य से कम रहे। इस प्रकार वर्गमूल का दूसरा अक ब हुआ। इसी प्रकार अन्य अक ज्ञात करे। यह क्रिया ऊपर बगल मे दिखाए गए उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी जिसमें ३२५ ६४९ का वर्गमूल ज्ञात किया गया है।

```
    १) ३२५ ६४९०(१८ ०४
       १
  २८) २२५
       २२४
 ३६०)  १६४
         ०
३६०४) १६४९०
       १४४१६
        २०७४
```

इसके वाद हम २०७४०० को ३६०४ से भाग दे सकते है।

वर्गमूल निकालने की रीति से मिलती जुलती रीति द्वारा घनमूल भी ज्ञात किया जा सकता है, किंतु लघुगणको (लॉगैरिथ्म्स) के प्रयोग से सभी मूल सरलता से ज्ञात हो जाते हैं (नीचे देखे)। लघुगणक सारणी उपलब्ध न होने पर हार्नर या न्यूटन की विधि से भी मूल ज्ञात किए जा सकते है (देखें **समीकरण सिद्वात**)।

लघुगणक—यदि क तथा अ धन सख्याएँ है और $अ^{ल}$=क, तो ल को आधार अ के सापेक्ष क का लघुगणक कहते है, और क को ल का प्रतिलघुगणक। लिखते है ल=$लघु_{अ}$ क। जब अ=१० तव साधारण लघुगणक प्राप्त होते है, और यदि अ=ई(=२ ७१८२८.) तो नेपिरीय लघुगणक मिलते है। साधारण लघुगणको की मुद्रित सारणियाँ विकती है। सूत्र लघु (क×ख)=लघु क+लघु ख के प्रयोग से गुणनक्रिया योगक्रिया मे परिवर्तित हो जाती है, क्योकि यदि गुणनफल कख ज्ञात करना है तो लघु क और लघु ख के योग से लघु (कख) प्राप्त होता है और इसका प्रतिलघुगणक अभीष्ट गुणनफल कख है। यहाँ सव लघुगणको का आधार १० है। विशेष जानकारी के लिये **लघुगणक** शीर्षक लेख देखे।

ऐकिक नियम—यदि किसी प्रकार की एक वस्तु के लिये कोई राशि (तौल, मूल्य, आदि) ख हो, तो उसी प्रकार की क वस्तुओ के लिये यह राशि ख को क से गुणा करने पर प्राप्त होती है। विलोमत, इसी नियम से यदि क समान वस्तुओ के लिये समिलित राशि स हो तो प्रत्येक के लिये वह राशि स/क होगी। इन नियमो के आधार पर क वस्तुओ का मूल्य आदि ज्ञात रहने पर हम ख वस्तुओ का मूल्य आदि ज्ञात कर सकते हैं। इस क्रिया मे लगनेवाले नियमो को ऐकिक नियम कहते हैं। यह नाम इसलिये पडा कि इस रीति मे पहले एक वस्तु के लिये उपयुक्त राशि ज्ञात करनी होती है।

त्रैराशिक—यदि क वस्तुओ का मूल्य ख है तो ग वस्तुओ का मूल्य कितना होगा, ऐसे प्रश्नो को त्रैराशिक के नियम से भी हल किया जा सकता है। नियम का नाम त्रैराशिक इसलिये पडा कि इसमे क, ख, ग, ये तीन राशियाँ आती है। त्रैराशिक नियम का आविष्कार भारतीयो ने किया। ब्रह्मगुप्त तथा भास्कर ने ही वस्तुत इसको त्रैराशिक नाम दिया। शताब्दियो तक व्यापारियो के लिये यह अत्यत महत्त्वपूर्ण नियम रहा। अकगणित के यूरोपीय लेखक पहले पर्याप्त विस्तार से इस नियम की व्याख्या करते थे। यह नियम समानुपात के सिद्वात पर आश्रित है। इसे विस्तारपूर्वक समझाने के लिये यहाँ पर्याप्त स्थान नही है। केवल भास्कर की लीलावती से एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है

यदि ढाई पल केशर का मूल्य ३/७ निष्क है तो ९ निष्क कितनी केशर का मूल्य होगा? त्रैराशिक नियम से उत्तर=$९\times\frac{५}{२}/\frac{३}{७}=५२\frac{१}{२}$ पल।

भास्कर ने पचराशिक, सप्तराशिक आदि नियम भी बताए है।

अनुपात—भिन्न क/ख को क और ख का अनुपात, अथवा क का ख से अनुपात भी कह सकते हैं और अनुपात को क ख के रूप मे भी लिखते है। चार सख्याएँ क, ख, ग, घ तव समानुपात मे कही जाती है जब क ख= ग घ। समानुपात को क ख ग घ भी लिखते है। क, घ समानुपात के अतिम पद और ख, ग मध्य पद है। स्पष्ट है कि क×घ=ख×ग। तीन सख्याएँ क, ख, ग तब गुणोत्तर अनुपात मे कही जाती है जब क ख ख ग, अर्थात कग=$ख^{२}$।

गणनायत्र—अंकगणितीय अभिगणना के लिये अब भाँति भाँति के गणनायत्र बन गए है जिनसे जटिल अभिगणनाएँ भी शीघ्र हो जाती है। इनका विस्तृत विवरण **गणनायत्र** नामक लेख मे मिलेगा।

स०ग्र०—निकोमेकस ऑव गेरेसा इंट्रोडक्शन टु अरिथमेटिक, अनुवादक एम० एल० डी'ओग और एफ० ई० रॉबिस, एल० सी० कार्पिस्की स्टडीज इन ग्रीक अरिथमेटिक (यूनिवर्सिटी ऑव मिशिगन प्रेस) १९३८, डी० ई० स्मिथ ए सोर्स-बुक इन मैथिमैटिक्स, विभूतिभूषण दत्त और अवधेशनारायण सिंह हिस्ट्री ऑव हिंदू मैथिमैटिक्स, एच० डी० लारसेन अरिथमेटिक फॉर कॉलेजेज। [ह० च० गु०]

अंकारा

अंकारा तुर्की (टर्की) की राजधानी, स्थिति ३९° ५७' उ० अ० और ३२° ५३' पू० दे०। अकारा नगर तुर्की के मध्यवर्ती पठार के उत्तरी भाग के मध्य में, निकटवर्ती क्षेत्र से ५०० फुट ऊँची पहाडी पर, स्थित है। इस नगर का धरातल समुद्रतल से २,८५४ फुट की ऊँचाई पर है। यह सकरया नदी की सहायक अकारा नदी के बाएँ किनारे पर इस्तबूल से २२० मील पूर्व की ओर है। प्राचीन काल मे यह मध्य पठार के उत्तरी क्षेत्र की राजधानी था। सन् १९२२ मे मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व मे एक क्राति हुई और राजधानी इस्तबूल से अकारा लाई गई जो तुर्की के मध्य मे पडता है और सुरक्षा की दृष्टि से अपेक्षाकृत उत्तम स्थिति मे है। यह तुर्की का दूसरा बडा शहर है। १९५० के अत मे यहाँ की जनसख्या २,८९,७८१ थी। बगदाद-सधि-सगठनवाले देशो का प्रमुख कार्यालय भी अव यहाँ आ गया है।

अकारा रेलो का केंद्र है। रेल द्वारा यह तुर्की के अन्य प्रमुख नगरो से, उदाहरणत जान गुलडक, केसरी, अदाना, इस्तबूल तथा इजमिर से, मिला है। हवाई मार्ग इसे तेहरान, बेरुत और लदन से मिलाते है।

अकारा के आसपास के क्षेत्रो मे चाँदी, ताँवा, लिगनाइट, कोयला तथा नमक पाया जाता है। यह समीपस्थ जगलो, चरागाहो और खेतो की उपजो के व्यापार का प्रमुख केंद्र है। यहाँ के पठार का अगोरा बकरा जगत्प्रसिद्ध है। देश के औद्योगिक विकास के साथ साथ यहाँ भी कई नए कारखाने खुले है, जिनमे कपडे की मिले, ऊनी कालीन, इजीनियरिंग के सामान, हथियार, तवाकू तथा सिगरेट के कारखाने मुख्य है। अकारा एक बडा बाजार है। यहाँ ऊन, मोहेअर (अगोरा बकरे का ऊन), अनाज, फल, शहद, चमडा तथा कालीन का व्यापार होता है। [ल० कि० सि० चौ०]

अंकुशकृमि

अंकुशकृमि (हुकवर्म) वेलनाकार छोटे छोटे भूरे रग के कृमि होते है। ये अधिकतर मनुष्य के क्षुद्र अत्र (स्माल इटेस्टाइन) के पहले भाग मे रहते हैं। इनके मुँह के पास एक कँटिया सा अवयव होता है, इसी कारण ये अकुशकृमि कहलाते है। इनकी दो जातियाँ होती है, नेकटर अमेरिकानस और एन्क्लोस्टोम डुओडिनेल। दोनो ही प्रकार के कृमि सब जगह पाए जाते है। नाप में मादा कृमि १० से लेकर १३ मिलीमीटर तक लबी और लगभग ० ६ मिलीमीटर व्यास की होती है। नर (चित्र ६) थोडा छोटा और पतला होता है। मनुष्य के अत्र मे पडी मादा कृमि (चित्र ७) अडे देती है जो विष्ठा के साथ वाहर निकलते है। भूमि पर विष्ठा मे पडे हुए अडे (चित्र १) ढोलो (लार्वी) मे परिणत हो जाते है (चित्र २), जो केचुल बदलकर छोटे छोटे कीडे वन जाते है। किसी व्यक्ति का पैर पडते ही ये कीडे उसके पैर की अगुलियो के बीच की नरम त्वचा को या वाल के सूक्ष्म छिद्र को छेदकर शरीर मे प्रवेश कर जाते

है। वहाँ रुधिर या लसीका की धारा मे पडकर वे हृदय, फेफडे और वायु-प्रणाली में पहुँचते हैं और फिर ग्रसनलिका तथा आमाशय में होकर अँत-

अकुशकृमि का जीवन चक्र
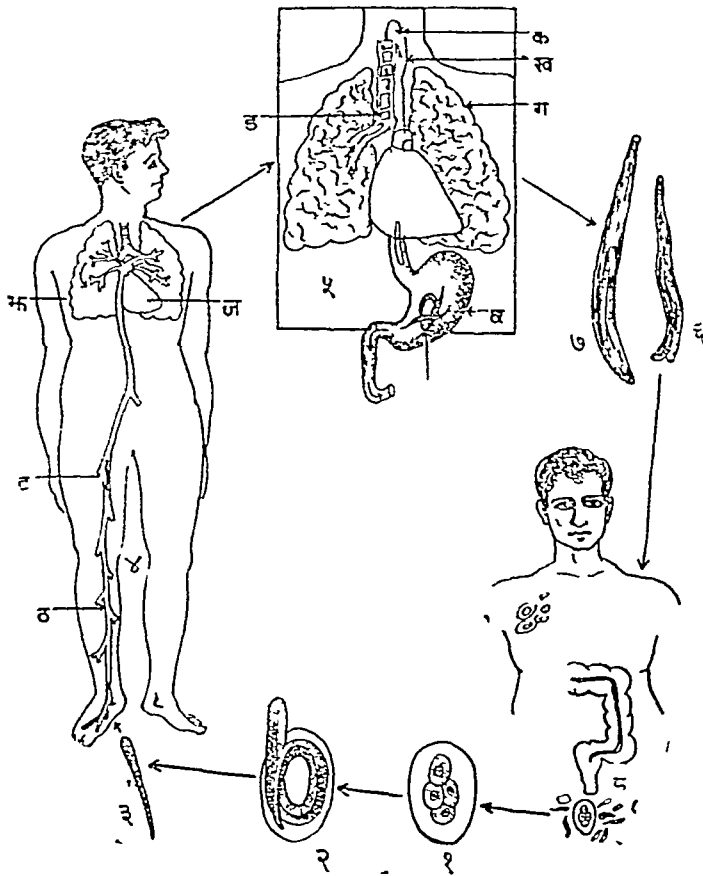
१ मनुष्य की विष्ठा में अडे, २ प्रत्येक अडे से छोटा कीडा निकलता है, ३ कुछ कीडे किसी मनुष्य के पैर की अँगुलियो के बीच की कोमल त्वचा को छेदकर उसके शरीर में घुसते है, ४-५ रुधिर या लसीका की धारा में पडकर वे फेफडे में पहुँचते है, और वहाँ से आमाशय में, ६-७ नर और मादा अकुशकृमि, ८ अडे विष्ठा के साथ बाहर निकलते है। क, ड रीढ, ख ग्रासनली, ग, झ फुफ्फुस, छ आमाशय, ज हृदय, ट, ठ धमनी।

डियो मे पहुँच जाते है (चित्र ४-५)। गदा जल पीने अथवा सक्रमित भोजन करने से भी ये कृमि अत्र मे पहुँच जाते है। वहाँ पर तीन या चार सप्ताह के पश्चात् मादा अडे देने लगती है। ये कृमि अपने अकुश से अत्र की भित्ति पर अटके रहते है और रक्त चूसकर अपना भोजन प्राप्त करते है। ये कई महीने तक जीवित रह सकते हैं। परतु साधारणत एक व्यक्ति मे वारवार नए कृमियो का प्रवेश होता रहता है और इस प्रकार कृमियो का जीवनचक्र और व्यक्ति का रोग दोनो ही चलते रहते है।

इस रोग का विशेष लक्षण रक्ताल्पता (ऐनीमिया) होता है। रक्त के नाश से रोगी पीला दिखाई पडता है। रक्ताल्पता के कारण रोगी दुर्बल हो जाता है। मुँह पर कुछ सूजन भी आ जाती है। थोडे परिश्रम से ही वह थक जाता और हाँफने लगता है। यदि कृमियो की सख्या कम होती है तो लक्षण भी हलके होते है। रोग वढ जाने पर हाथ पैर मे भी सूजन आ जाती है। यह सब रक्ताल्पता का परिणाम होता है। रोग का निदान ऊपर लिखित लक्षणो से होता है। रोगी के मल की जाँच करने पर मल में कृमि के अडे मिलते है जिससे निदान का निश्चय हो जाता है।

चिकित्सा—इस रोग के उपचार के लिये निम्नलिखित ओषधियाँ श्रेष्ठ है (१) टेट्राक्लोर एथिलीन और (२) हेक्साइल रिसोर्सिनोल। इसके अतिरिक्त थाइमोल एव आयल आव् चिनोपोडियम भी दिए जा सकते है। ये सब ओषधियाँ जुलाब से पेट खाली कराकर दी जाती है। यदि खुजली होती हो और फुसियाँ हो जायँ तो एथिल क्लोराइड की फुहार (स्प्रे) से लाभ होता है।

हमारे देश के देहातो मे लोग मलत्याग के लिये खेतो मे जाते है और अधिकतर ग्रामीण नगे पैर रहते है। इस कारण इस रोग से वचने के उपायो का भी प्रचार करना आवश्यक है। ये निम्नलिखित है

(१) लोगो को जूता पहनना चाहिए, (२) मलत्याग के लिये गहरे सडास, पूतिकुड (सेप्टिक टैंक) या मल वहाने के नल का प्रवध करना चाहिए, (३) रोगग्रस्त व्यक्तियो के पूर्ण उपचार का प्रवध होना चाहिए और लोगो मे रोग उत्पन्न होने तथा फैलने के कारणो का ज्ञान कराना चाहिए। [हृ० वा० मा०]

अंग १ एक प्राचीन जनपद जो विहार राज्य के वर्तमान भागलपुर और मुगेर जिलो का समवर्ती था। अग की राजधानी चपा थी। आज भी भागलपुर के एक मुहल्ले का नाम चपानगर है। महाभारत की परपरा के अनुसार अग के वृहद्रथ और अन्य राजाओ ने मगध को जीता था, पीछे विविसार और मगध की वढती हुई साम्राज्यलिप्सा का वह स्वय शिकार हुआ। राजा दशरथ के मित्र लोमपाद और महाभारत के अगराज कर्ण ने वहाँ राज किया था। वौद्ध ग्रथ 'अगुत्तरनिकाय' मे भारत के वुद्धपूर्व सोलह जनपदो मे अग की गणना हुई है। [भ० श० उ०]

२ व्युत्पत्ति के अनुसार 'अग' शब्द का अर्थ उपकारक होता है। अत जिसके द्वारा किसी वस्तु का स्वरूप जानने मे सहायता प्राप्त होती है, उसे भी 'अग' कहते है। इसीलिये वेद के उच्चारण, अर्थ तथा प्रतिपाद्य कर्मकाड के ज्ञान मे सहायक तथा उपयोगी शास्त्रो को वेदाग कहते है। इनकी सख्या छह है। १ शब्दमय मत्रो के यथावत् उच्चारण की शिक्षा देनेवाला अग 'शिक्षा' कहलाता है, २ यज्ञो के कर्मकाड का प्रयोजक शास्त्र 'कल्प' माना जाता है जो श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र के भेद से तीन प्रकार का होता है, ३ पद के स्वरूप का निर्देशक 'व्याकरण', ४ पदो की व्युत्पत्ति वतलाकर उनका अर्थनिर्णायक 'निरुक्त', ५ छदो का परिचायक 'छद', तथा ६ यज्ञ के उचित काल का समर्थक 'ज्योतिष'। [व० उ०]

अंगद किष्किधा के वानरराज वालि और तारा का पुत्र जो रामायण के परपरानुसार वानर था और राम की ओर से रावण से लडा था। उसने रावण की सभा मे चरण रोपकर प्रतिज्ञा की थी कि यदि रावण का कोई योद्धा मेरा चरण हटा देगा तो मैं सीता को हार जाऊँगा। वहुत प्रयत्न करने पर भी रावण के योद्धा उसका चरण न हटा सके। इसी कथा से 'अगद का चरण', न डिगनेवाली प्रतिज्ञा के अर्थ मे, मुहावरा वन गया। [भ० श० उ०]

अंगराग शरीर के विविध अगो का सौंदर्य अथवा मोहकता वढाने के लिये या उनको स्वच्छ रखने के लिये शरीर पर लगानेवाली वस्तुओ को अगराग (कॉस्मेटिक) कहते है, परतु सावुन की गणना अगरागो मे नही की जाती।

इतिहास—सभ्यता के प्रादुर्भाव से ही मनुष्य स्वभावत अपने शरीर के अगो को शुद्ध, स्वस्थ, सुडौल और सुदर तथा त्वचा को सुकोमल, मृदु, दीप्तिमान् और कातियुक्त रखने के लिये सतत प्रयत्नशील रहा है। इसमे कोई सदेह नही कि शारीरिक स्वास्थ्य और सौंदर्य प्राय मनुष्य के आतरिक स्वास्थ्य और मानसिक शुद्धि पर निर्भर हैं। तथापि यह सत्य है कि किसी के व्यक्तित्व को आकर्षक और सर्वप्रिय वनाने में अगराग और सुगध विशेष रूप से सहायक होते है। ससार के विविध देशो के साहित्य और सास्कृतिक इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि भिन्न-भिन्न अवसरो पर प्रगतिशील नागरिको द्वारा अगराग और गधशास्त्र सवधी कलाओ का उपयोग शारीरिक स्वास्थ्य और त्वचा की सौंदर्यवृद्धि के लिये किया जाता रहा है।

भारत युगयुगातर से धर्मप्रधान देश रहा है। इसलिये अगराग और सुगध की रचना और उपयोग को मनुष्य की तामसिक वासनाओ का उत्तेजक न मानकर समाजकल्याण और धर्मप्रेरणा का साधन समझा जाता रहा। आर्य सस्कृति मे अगराग और गधशास्त्र का महत्व प्रत्येक सद्गृहस्थ के दैनिक जीवन मे उतना ही आवश्यक रहा है जितना पचमहायज्ञ और वर्णाश्रम

र्म की मर्यादा का पालन। वैदिक साहित्य, महाभारत, वृहत्सहिता, निघटु, सुश्रुत, अग्निपुराण, मार्कडेय पुराण, शुक्रनीति, कौटिल्य-अर्थशास्त्र, शार्ङ्गधर-पद्धति, वात्स्यायन-कामसूत्र, ललितविस्तर, भरत-नाटचशास्त्र, अमरकोश इत्यादि मे नानाविध अगरागो और गधद्रव्यो का रचनात्मक और प्रयोगात्मक वर्णन पाया जाता है। सद्गोपाल और पी० के० गोडे के अनुसधानो के अनुसार इन ग्रथो मे शरीर के विविध प्रसाधनो मे से विशेषतया दर्पण की निर्माणकला, अनेक प्रकार के उद्वर्तन, विलेप, धूलन, चूर्ण, पराग, तैल, दीपवर्ति, धूपवर्ति, गधोदक, स्नानीय चूर्णवास, मुखवास इत्यादि का विस्तृत विधान किया गया है। गगाधरकृत 'गधसार' नामक ग्रथ के अनुसार तत्कालीन भारत मे अगरागो के निर्माण मे मुख्यतया निम्निलिखित ६ प्रकार की विधियो का प्रयोग किया जाता था

१ भावन क्रिया—चूर्ण किए हुए पदार्थो को तरल द्रव्यो से अनुविद्ध करना।

२ पाचन क्रिया—क्वाथन द्वारा विविध पदार्थो को पकाकर सयुक्त करना।

३ वोध क्रिया--गुणवर्धक पदार्थो के सयोग से पुनरुत्तेजित करना।

४ वेध क्रिया—स्वास्थ्यवर्धक और त्वचोपकारक पदार्थो के सयोग से अगरागो को चिरोपयोगी वनाना।

५ धूपन क्रिया—सौगधिक द्रव्यो के धुओ से सुवासित करना।

६ वासन क्रिया—सौगधिक तैलो और तत्सदृश अन्य द्रव्यो के सयोग से सुवासित करना।

रघुवश, ऋतुसहार, मालतीमाधव, कुमारसभव, कादवरी, हर्षचरित और पालि ग्रथो मे वर्णित विविध अगरागो मे निम्निलिखित द्रव्यो का विस्तृत विधान पाया जाता है

मुखप्रसाधन के लिये विलेपन और अनुलेपन, उद्वर्तन, रजकचक्रिका, दीपवर्ति इत्यादि, सिर के वालो के लिये विविध प्रकार के तैल, धूप और केशपटवास इत्यादि, आँखो के लिये काजल, सुरमा और प्रसाधन-शलाकाएँ इत्यादि, ओष्ठो के लिये रजकशलाकाएँ, हाथ और पाँव के लिये मेहदी और आलता, शरीर के लिये चदन, देवदारु और अगुरु इत्यादि के विविध लेप, स्नानीय चूर्णवास और फेनक इत्यादि तथा मुखवास, कक्षवास और गृहवास इत्यादि। इन अगरागो और सुगधो की रचना के लिये अनुभवी शास्त्रज्ञो तथा प्रयोगादि के लिये प्रसाधको तथा प्रसाधिकाओ को विशेष-रूप से शिक्षित और अभ्यस्त करना आवश्यक समझा जाता था।

अगरागशास्त्र की वैज्ञानिक कला द्वारा उन सभी प्रसाधन द्रव्यो का रचनात्मक और प्रयोगात्मक विधान किया जाता है जिनके उपयोग से मनुष्यशरीर के विविध अगोपागो और त्वचा को स्वस्थ, निर्दोष, निर्विकार, कातिमान् और सुदर रखकर लोककल्याण सिद्ध किया जा सके। भारत मे पुरातन काल से अगराग सवधी विविध प्रसाधन द्रव्यो का निर्माण प्राकृतिक और मुख्यतया वानस्पतिक ससाधनो द्वारा होता रहा है। किंतु वर्तमान युग मे आधुनिक विज्ञान की उन्नति से अगरागो की रचना और प्रयोग मे आनेवाले ससाधनो की सख्या का विस्तार इतना वढ गया है कि अन्य वैज्ञानिक विषयो की तरह इस विषय का ज्ञानार्जन भी विशेष प्रयत्न द्वारा ही सभव है।

आधुनिक काल में अगराग—आधुनिक काल मे विशेष प्रकार के सावुनो तथा अगरागो का विस्तार और प्रचार शारीरिक सौदर्यवृद्धि के लिये ही नही अपितु शारीरिक दोपोपचार के लिये भी वढ रहा है। अत अगराग के ऐसे औपचारिक प्रसाधनो को औषधियो से अलग रखने की दृष्टि से अमरीका तथा अन्य विदेशो मे इन पदार्थो की रचना और विक्री पर सरकारी कानूनो द्वारा कडा नियत्रण किया जा रहा है। आजकल के सर्वसमत सिद्धात के अनुसार निम्नलिखित पदार्थ ही अगराग के अतर्गत रखे जा सकते है

१ वे पदार्थ जिनका उपयोग शरीर की सौदर्यवृद्धि के लिये हो, न कि इन प्रसाधनो के उपकरण। इस दृष्टि से कघी, उस्तरा, दाँतो और वालो के वुरुश इत्यादि अगराग नही कहे जा सकते।

२ अगराग के प्रसाधनो मे वाल धोने के तरल फेनक (शैंपू), दाढी वनाने का सावुन, विलेपन (क्रीम) और लोशन इत्यादि तो रखे जा सकते हैं, किंतु नहाने के सावुन नही।

३ अगराग के प्रसाधनो मे ऐसे औपचारिक पदार्थों को भी रखा जाता है जो औषध के समान गुणकारक होते हुए भी मुख्यत शरीरशुद्धि के लिये ही प्रयुक्त होते है, जैसे पसीना कम करनेवाले प्रसाधन इत्यादि।

४ वे पदार्थ जो अनिवार्य रूप से मनुष्य के शरीर पर ही प्रयुक्त होते हैं, वासगृह और आमोद प्रमोद के स्थानो इत्यादि को सुगधित रखने के लिये नही।

वर्गीकरण—ऊपर लिखे आधुनिक सिद्धात के अनुसार मनुष्यशरीर के अगोपाग पर प्रयोग की दृष्टि से विविध प्रसाधनो का शास्त्रीय वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से करना चाहिए

१ त्वचासवधी प्रसाधन—चूर्ण (पाउडर), विलेपन (क्रीम), साद्र और तरल लोशन, गधहर (डिओडोरैंट), स्नानीय प्रसाधन (बाथ प्रिपेरेशन्स), शृगार प्रसाधन (मेक-अप) जैसे आकुकुम (रूज्ह), काजल, ओष्ठरजक शलाका (लिपस्टिक) तथा सूर्यसस्कारक प्रसाधन (सन-टैन प्रिपेरेशन्स) इत्यादि।

२ वालो के प्रसाधन—शैंपू, केशबल्य (हेयर टॉनिक), केशसभारक (हेयरड्रेसिग्स) और शुभ्रक (व्रिलियटाइन), क्षौरप्रसाधन (शेविग प्रिपेरेशन्स), विलोमक (डिपिलेटरी) इत्यादि।

३ नखप्रसाधन—नखप्रमार्जक (नेल पॉलिश) और प्रमार्ज अपनयक (पॉलिश रिमूवर), नख-रजक-प्रसाधन (मैनिक्योर प्रिपेरेशन्स) इत्यादि।

४ मुखप्रसाधन—मुखधावक (माउथ वाश), दतशाण (डेटि-फ्रिस), दतलेपी (टूथपेस्ट) इत्यादि।

५ सुवासित प्रसाधन—सुगध, गधोदक (टॉयलेट वाटर और कोलोन वाटर), गधशलाका (कोलोन स्टिक) इत्यादि।

६ विविध प्रसाधन—हाथ और पाँव के लिये मेहदी और आलता इत्यादि, कीट प्रत्यपसारी (इन्सेक्ट रिपेलेंट) इत्यादि।

अगरागो के निर्माण के लिये कुटीर उद्योग और वडे वडे कारखानो, दोनो रूपो मे निर्माणशाला सगठित की जा सकती है। इस शास्त्र की विविध विरचनाओ की लोकप्रियता और सफलता के लिये निर्माणकर्ता को न केवल रसायन का पडित होना चाहिए वल्कि शरीरविज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, कीट और कृषिविज्ञान इत्यादि विषयो का भी गहरा अध्ययन होना आवश्यक है।

त्वचा पर अगरागो का प्रभाव—मनुष्य की त्वचा से एक विशेप प्रकार का स्निग्ध तरल पदार्थ निकला करता है। दिन रात के २४ घटो मे निकले इस स्निग्ध तरल पदार्थ की मात्रा दो ग्राम के लगभग होती है। इसमे वसा, जल, लवण और नाइट्रोजनयुक्त पदार्थ रहते हैं। इसी वसा के प्रभाव से वाल और त्वचा स्निग्ध, मृदु और कातिवान रहते है। यदि त्वग्वसा ग्रथियो मे से पर्याप्त मात्रा मे वसा निकलती रहे तो त्वचा स्वस्थ और कोमल प्रतीत होती है। इस वसा के अभाव मे त्वचा रूखी सूखी और प्रचुर मात्रा मे निकलने से अति स्निग्ध प्रतीत होती है। साधारणतया शीतप्रधान और समशीतोष्ण स्थलो के निवासियो की त्वचाएँ सूखी तथा अयनवृत्त (ट्रॉपिक्स) स्थित निवासियो की त्वचाएँ स्निग्ध पाई जाती है। शारीरिक त्वचा को स्वच्छ, स्वस्थ, सुदर, सुकोमल और कातियुक्त वनाए रखने के लिये शारीरिक व्यायाम और स्वास्थ्य परम सहायक हैं। तथापि इस स्वास्थ्य को स्थिर रखने मे विविध अगरागो का सदुपयोग विशेप रूप से लाभप्रद होता है। शारीरिक त्वचा की स्वच्छता और मृत कोशिकाओ का उत्सर्जन, स्वेदग्रथियो को खुला और दुर्गधरहित करना, धूप, सरदी और गरमी से शरीर का प्रतिरक्षण, त्वचा के स्वास्थ्य के लिये परमावश्यक वसा को पहुँचाना, उसे मुहाँसे, झुर्रियो और काले तिलो जैसे दागो से वचाना, त्वचा को सुकोमल और कातियुक्त वनाए रखना, उसे वुढापे के आक्रमणो से वचाना और वालो के सौदर्य को वनाए रखना इत्यादि अगरागो के प्रभाव से ही सभव है। शास्त्रीय विधि से निर्मित अगरागो का सदुपयोग मनुष्यजीवन को सुखी वनाने मे अत्यत लाभप्रद सिद्ध हुआ है।

वैनिशिग क्रीम—अर्वाचीन अगरागो मे से वैनिशिग क्रीम नामक मुखराग का व्यवहार वहुत लोकप्रिय हो गया है। मुँह की त्वचा पर

थोडा सा ही मलने से इस विलेपन (क्रीम) का अतर्धान होकर लोप हो जाना ही इसके नामकरण का मूल कारण जान पडता है (वैनिशिंग—लुप्त होनेवाला)। यह वास्तव मे स्टीयरिक ऐसिड अथवा किसी उपयुक्त स्टीयरेट और जल द्वारा प्रस्तुत पायस (इमलशन) है। सोडियम हाइड्रॉक्साइड, सोडियम कार्वोनेट और सुहागे के योग से जो विलेपन बनता है, वह कडा और फीका सा होता है। इसके विपरीत पोटैसियम हाइड्रॉक्साइड और पोटैसियम कार्वोनेट के योग से बने विलेपन नरम और दीप्तिमान् होते हैं। अमोनिया के योग के कारण विलेपन की विशिष्ट गध और रग के बिगडने की आशका रहती है। मोनोग्लिसराइडो और ग्लाइकोल स्टीयरेटो के योग से अच्छे विलेपन बनाए जा सकते हैं। एक भाग सोडियम और नौ भाग पोटैसियम हाइड्रॉक्साइड मिश्रित साबुनो की अपेक्षा सोडियम और पोटैसियम हाइड्रॉक्साइड के समिश्रण में ट्राई-इथेनोलेमाइन के यौगिक भी उपयोगी सिद्ध हुए हैं। कार्बोनेटो के उपयोग के समय अधिक ध्यान देना आवश्यक है क्योंकि कार्बन डाइआक्साइड नामक गैस निकलने से योगरचना के लिये दुगुना बडा वर्तन रखना और गैस को पूरी तरह निकाल देना परमावश्यक है। वैनिशिंग-क्रीम की आधारभूत रचना मे विशुद्ध स्टीयरिक ऐसिड, क्षार, जल और ग्लिसरीन का ही मुख्यतया प्रयोग किया जाता है। दृष्टात के लिये दो योग-रचनाएँ नीचे दी जाती है

यौगिक पदार्थ	सूत्र १ (भाग)	सूत्र २ (भाग)
१ स्टीयरिक ऐसिड (विशुद्ध)	२०	२५
२ पोटैसियम हाइड्रॉक्साइड (विशुद्ध)	१ (पोटै० कार्वोनेट विशुद्ध)	१२
३ ग्लिसरीन	५	१०
४ जल	७४	६३ ८
५ सुगध (१०० किलो० क्रीम के लिये)	२५०-४०० ग्राम तक	

योगविधि—(क) यौगिक स० १ को पिघला लीजिए और (ख) यौगिक स० २ और ३ को ४ मे घोलकर ८५° सेटीग्रेड तक गरम कर लीजिए। फिर धीरे धीरे लगातार हिलाते हुए (ख) घोल को (क) मे छोडते जाइए। इस कार्य के लिये काच, ऐल्युमीनियम, इनैमल अथवा स्टेनलेस स्टील के बरतनो और करछुलो का ही उपयोग करना चाहिए। दूसरी योगरचना मे गैस को पूरी तरह निकालना आवश्यक है। जब कुल पानी का घोल इस प्रकार स्टीयरिक ऐसिड मे मिल जाय तो इस पायस को ठढा होने के लिये एक दिन तक अलग रख दीजिए। तब इसमें उपयुक्त सुगध उचित मात्रा मे छोडकर आठ दस दिन तक मिश्रण को परिपक्व होने दिया जाय। फिर एक बार खूब हिलाकर शीशियो में भरकर रख दिया जाय। साधारण जल के स्थान पर विशुद्ध गुलाबजल अथवा अन्य सौगधिक जलो के उपयोग से और उत्तम क्रीम बनता है।

कोल्ड क्रीम—लोकप्रिय मुखरागो मे से कोल्ड क्रीम का उपयोग मुँह की त्वचा को कोमल तथा कातिवान् रखने के लिये किया जाता है। यह वास्तव मे 'तेल-मे-जल' का पायस होने से त्वचा मे वैनिशिंग क्रीम की तरह अतर्धान नही हो पाता। समाग, कातिमय, न बहुत मुलायम और न बहुत कडा होने के अतिरिक्त यह आवश्यक है कि किसी भी ठीक बने कोल्ड क्रीम मे से जलीय और तैलीय पदार्थ विलग न हो और क्रीम फटने न पाए, न सिकुडने ही पाए। शीतप्रधान और समशीतोष्ण देशो मे उपयोग के लिये नरम कोल्ड क्रीम और उष्णप्रधान देशो मे उपयोग के लिये कडे क्रीम बनाए जाते हैं। दृष्टात के लिये एक योगरचना निम्नलिखित है

मधुमक्खी का मोम (विशुद्ध)	१५ भाग
बादाम का तैल अथवा मिनरल आयल (६५/७५)	५५ भाग
जल	२९ भाग
सुहागा	१ भाग

साधारणतया मोम की मात्रा १५-२० प्रति शत रहती है। अन्य मोम को उपयोग मे लाते समय मधुमक्खी के मोम का अश उतना ही कम करना आवश्यक है। कडा क्रीम बनाने के लिये सिरेसीन और स्पर्मसेटी के मोम बहुत उपयोगी सिद्ध होते हैं। क्रीम बनाते समय सर्वप्रथम तेल में मोम को गरम करके इसे पिघला लिया जाता है। फिर उबलते हुए जल मे सुहागे का घोल बनाकर तेल-मोम के गरम मिश्रण मे धीरे धीरे हिलाकर मिलाया जाता है। इस समय मिश्रण का ताप लगभग ७०° सेंटी० रहना चाहिए। कुल पदार्थ मिल जाने पर इस पायस को एक दिन तक अलग रख दिया जाता है और फिर लगभग ½ प्रति शत सुगध मिलाकर श्लेपाभ पेषणी (कोलायड मिल) मे दो एक बार पीसकर शीशियो मे भर दिया जाता है।

फेस पाउडर का नुसखा—मुखप्रसाधनो मे फेस पाउडर, सर्वाधिक लोकप्रिय और सुविधाजनक होने के कारण, अत्यत महत्वपूर्ण अगराग हो गया है। अच्छे फेस पाउडर मे मनमोहक रग, अच्छी सरचना, मुखप्रसाधन के लिये सुगमता, सलागिता (चिपकने की क्षमता), सर्पण (स्लिप), विस्तार (वल्क), अवशोषण, मृदुलक (ब्लूम), त्वग्दोप-पूरक-क्षमता और सुगध इत्यादि गुणो का होना आवश्यक है। इन गुणो के पूरक मुख्य पदार्थ निम्नलिखित हैं

१ अवशोषक तथा त्वग्दोपपूरक पदार्थ—जिंक आक्साइड, टाइटेनियम डाइआक्साइड, मैगनीशियम आक्साइड, मैगनीशियम कार्वोनेट, कोलायडल केओलिन, अवक्षिप्त चॉक और स्टार्च इत्यादि।

२ सलागी (चिपकनेवाले)—जिंक, मैगनीशियम और ऐल्युमीनियम के स्टीयरेट।

३ सृप्र (फिसलानेवाले) पदार्थ—टैल्कम।

४ मृदुलक (त्वग्विकासक) पदार्थ—अवक्षिप्त चॉक और बढिया स्टार्च।

५ रग—अविलेय पिगमेट और लेक रग। ओकर, कास्मेटिक यलो, कास्मेटिक ब्राउन और अबर इत्यादि।

६ सुगध—इसके लिये साधारणत एक भाग टैल्कम को कृत्रिम ऐबर्ग्रिस के एक भाग के साथ उचित घोलक द्रव्य, जैसे बेजिल बेजोएट, के ३ भाग मे मिलाना आवश्यक है। घोलक के मिश्रण को गरम करके ७० भाग हलकी अवक्षिप्त (लाइट प्रेसिपिटेटेड) चॉक मिला दी जाय और फिर टैल्कम मिलाकर कुल तौल १००० भाग कर लिया जाय। इस क्रिया को पूर्वसस्कार कहते हैं और इस प्रकार से बनाए टैल्कम को साधारण टैल्कम की तरह ही उपयोग मे ला सकते हैं।

योगरचना के नुसखे और विधि—फेस पाउडर विविध अवसरो और पसदो के लिये हलके, साधारण और भारी, कई प्रकार के बनाए जाते है। अपेक्षित सभी यौगिक द्रव्यो को खूब अच्छी प्रकार से मिलाकर इच में १०० छेदवाली चलनी मे से छान लेते हैं और अत मे रग और सुगध डालकर, फिर अच्छी तरह मिलाकर डिब्बा बद कर दिया जाता है। दृष्टात के लिये कुछ नुसखे नीचे दिए जाते हैं

यौगिक पदार्थ	हलके पाउडर भाग			साधारण पाउडर भाग			भारी पाउडर भाग		
१ जिंक आक्साइड	१५	—	७½	२०	—	१०	३०	—	१५
२ टाइटेनियम डाई-आक्साइड	—	५	२½	—	७	३½	—	९	५
३ टैल्कम	७५	८०	७५	६५	७८	७१½	५६	७५	६४
४ जिंक स्टीयरेट	५	७	७	५	७	७	४	६	६
५ अवक्षिप्त चॉक	५	८	८	१०	८	८	१०	१०	१०

लिपस्टिक—किसी साद्रित और स्निग्ध आधार (पदार्थ) मे थोडे से घुले हुए और मुख्यतया आलवित (सस्पेंडेड) रजक द्रव्य की ओष्ठ-रजक-शलाका का नाम लिपस्टिक है। एक बार प्रयोग मे लाने से इसके रग और स्निग्धता का प्रभाव ६ से ८ घटे तक बना रहता है। रग का असमान मिश्रण, शलाका का टूटना या पसीजना इत्यादि दोषो से इसका रहित होना अत्यत आवश्यक है। लगभग २ ग्राम की एक शलाका २५० से ४०० बार प्रयोग मे लाई जा सकती है। साधारणत लिपस्टिको की रचना मे ब्रोमो ऐसिड २ प्रति शत और रगीन लेक १० प्रति शत को

ी उपयुक्त आधारक द्रव्य में मिलाया जाता है। घोलको मे से एरड तेल और व्यूटिल स्टीयरेट, सलागियो में से मधुमक्खी का मोम, दीप्ति लिये २०० श्यानता का मिनरल आयल, कडा करने के लिये ओजोकेराइट ६°/८०° सेटी०, सिरेसीन मोम और कारनौबा मोम, साद्रित आधारक के तौर पर ककाओ बटर और उत्तम आकृति के लिये अडिसाइलिक सिड इत्यादि द्रव्यो का उपयोग किया जाता है। दो योग (नुसखे) नाल खत हैं

		भाग
(क)	ट्रफ पेट्रोलेटम	२५
	सिरेसीन ६४°	२५
	मिनरल आयल २१०/२२०	१५
	मधुमक्खी का मोम	१५
	लैनोलीन (अजल)	५
	ब्रोमो ऐसिड	२
	रगीन लेक	१०
	कारनौबा मोम	३
(ख)	अवशोषण आधारक द्रव्य	२८
	सिरेसीन ६४°	२५
	मिनरल आयल २१०/२२०	१५
	कारनौबा मोम	५
	मधुमक्खी का मोम	१५
	ब्रोमो ऐसिड	२
	रगीन लेक	१०

रचनाविधि--सर्वप्रथम ब्रोमो ऐसिड को घोलक द्रव्यो मे मिला लिया जाता है और सभी मोमो को भली भाँति पिघलाकर गरम कर लिया जाता है। वाकी वसायुक्त पदार्थो को पतला करके उनमे रगीन लेक और पिगमेट मिलाकर श्लेपाभ पेषणी (कोलायड मिल) से पीसकर एकरस कर लिया जाता है। तव ब्रोमो ऐसिड के घोल मे सभी पदार्थ धीरे धीरे छोडकर खूब हिलाया जाता है ताकि वे आपस मे ठीक ठीक मिल जायँ। जव जमने के ताप से ५°-१०° सेटी० ऊँचा ताप रहे तभी इस मिश्रण को मिल में से निकालकर लिपस्टिक के साँचो मे ढाल लिया जाता है। इन साँचो को एकदम ठढा कर लेना आवश्यक है।

अगरागो का व्यापार--भारत मे प्रति वर्ष कितने का माल वनता है और कितने का विदेशो से आता है, इस सवध के आँकडे प्राप्त करना सभव नही है। अभी तक अगरागो के सवध मे इस प्रकार के आँकडे एकत्र नही किए जा रहे हैं। पिछले दो वर्षो (१९५७, १९५८) मे लगाए गए आयात सवधी वधनो के कारण लगभग सभी प्रकार के अगरागो का विदेशो से आना वद सा है। इसलिये स्वदेशी अगरागो का निर्माण और उनकी खपत कई गुना वढ गई है।

इग्लैड और अमरीका मे अगरागो का व्यापार और उद्योग कितने महत्व का है, यह जानना लाभप्रद होगा। इग्लैड मे सभी प्रकार के अगरागो के निर्माण और विक्री के विस्तृत आँकडे सुलभ है। १९५१ मे सभी प्रकार के अगरागो की कुल विक्री ३,०६,०१,००० पाउड की हुई और इसका मूल्य १९५४ मे वढकर ३,७८,१३,००० पाउड हो गया। इसी प्रकार अमरीका मे अगरागो की विक्री के आँकडे निम्नलिखित हैं

अगरागो के प्रकार	१९४७ मे	१९५४ मे
	(अमरीकी डालरो मे मूल्य)	
१ केशराग	६,२२,६८,०००	२२,०४,२२,०००
२ दत प्रसाधन	६,३०,८३,०००	१३,०७,८६,०००
३ सौगधिक जल और स्नानीय वार्स	५,०३,२२,०००	७,७०,४१,०००
४ विविध अगराग	२२,६८,४१,०००	३१,६२,२६,०००
सर्वयोग	४६,५५,४४,०००	७४,४४,८१,०००

ऊपर के विदेशी आँकडो से यह स्पष्ट है कि अगरागो के उद्योग का क्षेत्र भारत मे विशाल है और इसका भविष्य अत्यत उज्वल है।

स०ग्र०--एडवर्ड सैगेरिन द्वारा सपादित कॉस्मेटिक्स सायस ऐड टेकनॉलाँजी, न्यूयार्क, १९५७, मेसन जी० डी० नवर्रे दि केमिस्ट्री ऐड मैन्युफैक्चर ऑव कॉस्मेटिक्स, न्यूयार्क, १९४६, ई० जी० टॉमसन मॉडर्न कॉस्मेटिक्स, न्यूयार्क, १९४७, डब्ल्यू० ए० पोशे परफ्यूम्स, कॉस्मेटिक्स ऐड सोप्स, ३ भाग, लदन, १९४१, राल्फ जी० हैरी मॉडर्न कॉस्मेटिकॉलॉजी, दो भाग, लदन, १९४४, ए० ई० हैकल दि व्यूटी-कल्चर हैंडवुक, १९३५, एवरेट जी० मैकडनफ ट्रुथ अवाउट कॉस्मेटिक्स, न्यूयार्क, गिल्वर्ट वेल ए हिस्ट्री ऑव कॉस्मेटिक्स इन अमेरिका न्यूयार्क, १९४७, अज्ञात टेकनीक ऑव व्यूटी प्रॉडक्टस, लदन, १९४९, हेयर ड्रेसिग ऐड व्यूटी कल्चर, लदन, १९४८।

[क० और स०]

अंगारा प्रदेश भूविज्ञान के अनुसार एशिया के उत्तरी भाग के प्राचीनतम स्थलखड को अगारा प्रदेश कहते है। इसका राजनैतिक महत्व नही है, परतु भौगोलिक दृष्टि से इसका अध्ययन वहुत उपयोगी है। इस प्रदेश की भूवैज्ञानिक खोज अभी अपेक्षाकृत कम हुई है। रूसी भूवैज्ञानिको ने अपने अन्वेपणात्मक कार्यो द्वारा इसे वहुत अशो मे लारेगिया तथा वाल्टिक प्रदेश के सदृश वताया है। इस प्रदेश की पृष्ठतलीय चट्टाने (फाउडेशन रॉक्स) कैंब्रियनपूर्व की है जिनमे अति प्राचीन गिरि-निर्माण-सरचना प्राप्य है और इनमे प्रचुर मात्रा मे परिवर्तन हुआ है। इन तलीय चट्टानो के ऊपर कैंब्रियन युग से लेकर अतर्युगीन (पैलिओजोइक, मेसोजोइक और केनोजोइक) चट्टानो का जमाव मिलता है।

कोवर ने रूसी विद्वानो के सदृश ही इसे यनीसी नदी के मुहाने से क्रासनोयार्स्क को मिलाती हुई रेखा द्वारा दो प्रमुख भागो मे वाँटा है। यनीसी नदी का पश्चिमवर्ती भाग निम्नस्तरीय मैदान है जिसपर अगत तृतीय कल्पिक अवसाद (टर्शियरी सेडिमेंट्स) मिलते हैं और जो उत्तरी महासागर तल से मिल जाता है। यूराल पर्वत की ओर समुद्री जुरासिक, क्रिटेशस एव पूर्वकालिक तृतीय कल्पिक (टर्शियरी) चट्टाने मिलती है। यनीसी नदी का पूर्वी भाग वहुत अशो मे भिन्न है। इस भाग मे पुराकल्पयुगीन (पैलियोजोइक) चट्टानो का विकास महाद्वीपीय स्तर पर हुआ है। ये चट्टाने प्राय क्षैतिज हैं तथा इनमे दो प्राचीन उद्वर्ग (हॉर्स्ट), अनावर और येनीसे, प्रमुख हैं।

इस प्रदेश की पश्चिमी सीमा का निर्धारण कठिन है, परतु इसका बृहत्तम फैलाव यूराल पर्वतश्रेणियो तक मिलता है। तमिर अतरीप का विरगा नामक पहाड इसकी उत्तरी सीमा निर्धारित करता है और इन पहाडो मे समित भजित (नार्मल फोल्ड) सरचना मिलती है। सभवत ये कैलिडोनियन युग के है। लीना नदी के पूर्व स्थित वरखोयान्स्क पहाड से इसकी पूर्वी सीमा और क्रास्नोयार्स्क से वैकाल भील तथा यार्कुन्स्क को मिलानेवाली रेखा द्वारा इसकी दक्षिणी सीमा निर्धारित होती है। मध्य (मेसोजोइक) तथा तृतीय कल्पिक (टर्शियरी) चट्टानो से आच्छादित होने के कारण दक्षिण-पश्चिम मे इसका सीमानिर्धारण कठिन है।

वैकाल भील के पास चतुर्दिक् पर्वतश्रेणियो से घिरा हुआ इरकुटस्क एक बृहत् रगमडल (ऐम्फीथिएटर) सा जान पडता है। इसके पश्चिम मे सयान पर्वत और पूरव मे वैकाल भील की श्रेणियाँ फैली हुई है। इस क्षेत्र के विकास के विपय मे विद्वानो मे गहरा मतभेद है। स्वेस के अनुसार यह क्षेत्र साइवेरियन शील्ड का प्राचीनतम स्थल भाग है जिसके चारो ओर अतरकालीन विकास हुआ। रूसी विद्वानो के नए अन्वेषणो ने इस विचार से असहमति प्रकट की है। तात्जो के अनुसार तुरीय युग के प्रारभिक काल मे स्वेस का यह तथाकथित प्राचीनतम स्थल क्षेत्र केवल निम्नस्तरीय परतु दृढ भाग था जिसमे चौडी उथली घाटियाँ और अगणित भीले थी। अत तात्जो ने इस क्षेत्र को नवनिर्मित स्थलीय भाग माना है और वह इसका उद्भवकाल मानवकाल के पूर्व नही मानता। देलाने के विचार से भी कुछ विद्वान् सहमत हैं। इसके अनुसार यह प्राचीन भाग कैलिडोनियन युग का पुनरुत्थित क्षेत्र है जिसमे कैंब्रियन एव साइलूरियन युगो की भजित चट्टाने मिलती है।

साइवेरिया के पूर्वी मैदानी भाग मे परमियन युग की वैसाल्ट चट्टानें पाई जाती है। प्रस्तुत लावा प्रवाह तथा पुराकल्पीय एव अतरयुगीन

चट्टानो का अवसाद (सेडिमेंटेशन) इस प्रदेश के पृष्ठतलीय चट्टानो को ढके हुए हैं, इस कारण यह प्रदेश स्वजातीय बाल्टिक तथा कनाडियन प्रदेशो से भिन्न प्रतीत होता हे। यहाँ अन्य स्वजातीय प्रदेशो के सदृश चारो ओर भजित (फोल्डेड) श्रेणियाँ फैली हुई है। [नृ० कु० सिं०]

अंगिरा दस प्रजापतियो और सप्तर्पियो में गिने जाते है। अथर्ववेद का प्रारभकर्ता होने के कारण इनको अथर्वा भी कहते है। अगिरा की वनाई 'आगिरमी श्रुति' का महाभारत में उल्लेख हुआ हे (महा० ८,६९-८५)। ऋग्वेद के अनेक सूक्तो के ऋपि अगिरा हैं। इनकी वनाई एक स्मृति भी प्रसिद्ध है।

[च० म०]

अंगुइला (द्वीपसमूह) ब्रिटिश वेस्ट इडीज़ में है, स्थिति १८° १२' उत्तर अक्षाश तथा ६३° पश्चिम देशातर। यह द्वीपसमूह वेस्ट इडीज के छोटे ऐटलीज ग्रूप में लीवर्ड द्वीपसमूह के अतर्गत और ब्रिटेन के अधिकार मे है। ये द्वीप मूँगो की चट्टानो से वने हैं। इस समूह का सवसे वडा द्वीप अगुइला है। इसका क्षेत्रफल ३५ वर्गमील है। शेप द्वीप वहुत ही छोटे है। अगुइला द्वीप में न समुद्रतट के मैदान है और न कोई उल्लेखनीय नदी है। कम ढालू तथा चपटे भाग मे खेती होती हे जिसमे गन्ना, कपास तथा फल पैदा होते हैं। समुद्र के किनारे नारियल के वाग हैं। इस द्वीपसमूह का शासनप्रवध सेंट क्रिस्टोफर प्रेसीडेंसी के अतर्गत होता है। १९११ के अत मे अगुइला द्वीप की जनसख्या ४०७५ थी और आवादी का घनत्व ११६.४ मनुष्य प्रति वर्ग मील था। [ल० कि० सि० चौ०]

अंगुत्तरनिकाय बौद्ध पालित्रिपिटक के अतर्गत सुत्तपिटक का चौथा ग्रथ है। इसमें ११ निपात हैं, जैसे एककनिपात, दुकनिपात इत्यादि। एक एक वात के विषय में उपदेश दिए गए सुत्तो का सग्रह एकक‌निपात में, दो दो बातो के विपय में उपदेश दिए गए सुत्तो का सग्रह दुकनिपात मे, इसी प्रकार ग्यारह ग्यारह बातो के विपय में उपदेश दिए गए सुत्तो का सग्रह एकादसनिपात मे है।

[भि० ज० का०]

अंगुलि छाप हल चलाए खेत की भाँति मनुष्य के हाथो तथा पैरो के तलवो मे उभरी तथा गहरी महीन रेखाएँ दृष्टिगत होती है। वैसे तो ये रेखाएँ इतनी सूक्ष्म होती है कि सामान्यत इनकी ओर ध्यान भी नही जाता, किंतु इनके विशेष अध्ययन ने एक विज्ञान को जन्म दिया है जिसे अगुलि-छाप-विज्ञान कहते है। इस विज्ञान मे अगुलियो के ऊपरी पोरो की उन्नत रेखाओ का विशेप महत्व है। कुछ सामान्य लक्षणो के आधार पर किए गए विश्लेपण के फलस्वरूप, इनसे बननेवाले आकार चार प्रकार के माने गए है (१) शख (लूप), (२) चक्र (व्होर्ल), (३) शुक्ति या चाप (आर्च) तथा (४) मिश्रित (कपोजिट)। इनकी विशेपताएँ वगल के चित्रो से प्रकट होगी।

ऐसा विश्वास किया जाता है कि अगुलि-छाप-विज्ञान का जन्म अत्यत प्राचीन काल में एशिया मे हुआ। भारतीय सामुद्रिक ने उपर्युक्त शख, चक्र तथा शुक्तियो का विचार भविष्यगणना मे किया है। दो हजार वर्ष से भी पहले चीन मे अगुलि छापो का प्रयोग व्यक्ति की पहचान के लिये होता था। किंतु आधुनिक अगुलि-छाप-विज्ञान का जन्म हम १८२३ ई० से मान सकते हैं, जब ब्रेसला (जर्मनी) विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री पर्राकिजे ने अगुलिरेखाओ के स्थायित्व को स्वीकार किया। वर्तमान अगुलि-छाप-प्रणाली का प्रारभ १८५८ ई० मे इडियन सिविल सर्विस के सर विलियम हरशेल ने वगाल के हुगली जिले में किया। १८९२ ई० मे प्रसिद्ध अग्रेज वैज्ञानिक सर फ्रासिस गाल्टन ने अगुलि छापो पर अपनी एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमे उन्होने हुगली के सब-रजिस्ट्रार श्री रामगति वद्योपाध्याय द्वारा दी गई सहायता के लिये कृतज्ञता प्रकट की। उन्होने उन्नत रेखाओ का स्थायित्व सिद्ध करते हुए अगुलि छापो के वर्गीकरण तथा उनका अभिलेख रखने की एक प्रणाली बनाई जिससे सदिग्ध व्यक्तियो की ठीक से पहचान हो सके। किंतु यह प्रणाली कुछ कठिन थी। दक्षिण प्रात (वगाल) के पुलिस के इस्पेक्टर जनरल सर ई० आर० हेनरी ने उक्त प्रणाली में सुधार करके अगुलि छापो के वर्गीकरण की एक सरल प्रणाली निर्धारित की। विश्वास यह किया जाता है कि इसका वास्तविक श्रेय श्री अजीजुल हक, पुलिस सव-इस्पेक्टर, को है, जिन्हें सरकार ने ५००० रु० का पुरस्कार भी दिया था। इस प्रणाली की अचूकता देखकर भारत सरकार ने १८९७ ई० में अगुलि छापो द्वारा पूर्वदडित व्यक्तियो की पहचान के लिये विश्व का प्रथम अगुलि-छाप-कार्यालय कलकत्ता में स्थापित किया।

शुक्ति या चाप — शख — चक्र — मिश्रित
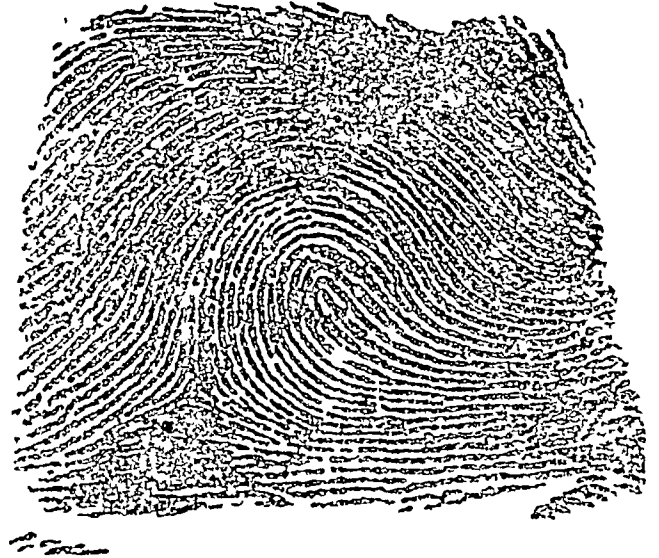
पूर्वोक्त शख (लूप) का एक विस्तृत फोटो

रेखाओ का ध्यान से निरीक्षण करने पर उनमे निजी विशेपताएँ रेखातो (एंडिंग) तथा द्विशाखाओ (वाइफर्केशन) के रूप मे दिखाई देती है।

अगुलि छाप द्वारा पहचान दो सिद्धातो पर आश्रित है, एक तो यह कि दो भिन्न अगुलियो की छापे कभी एक सी नही हो सकती, और दूसरा यह कि व्यक्तियो की अगुलि छापे जीवन भर ही नही अपितु जीवनोपरात भी नही वदलती। अत किसी भी विचारणीय अगुलि छाप की किसी व्यक्ति की अगुलि छाप से तुलना करके यह निश्चित किया जा सकता है कि विचारणीय अगुलि छाप उसका है या नही। अगुलि छाप के अभाव मे व्यक्ति की पहचान करना कितना कठिन है, यह प्रसिद्ध भवाल सन्यासी वाद (केस) के अनुशीलन से स्पष्ट हो जायगा।

अगुलि-छाप-विज्ञान तीन कार्यो के लिये विशेष उपयोगी हे, यथा

१ विवादग्रस्त लेखो पर के अगुलि छापो की तुलना व्यक्तिविशेष की अगुलि छापो से करके यह निश्चित करना कि विवादग्रस्त अगुलि छाप उस व्यक्ति की है या नही,

२ ठीक नाम और पता न बतानेवाले अभियुक्त की अगुलि छापो की तुलना दडित व्यक्तियो की अगुलि छापो से करके यह निश्चित करना कि वह पूर्वदडित है अथवा नही, और

३. घटनास्थल की विभिन्न वस्तुओ पर अपराधी की अकित अगुलि छापो की तुलना सदिग्ध व्यक्ति की अगुलि छापो से करके यह निश्चित करना कि अपराध किसने किया है।

अनेक अपराधी ऐसे होते है जो स्वेच्छा से अपनी अगुलि छाप नही देना चाहते। अत कैदी पहचान अधिनियम (आइडेटीफिकेशन ऑव प्रिजनर्स ऐक्ट, १९२०) द्वारा भारतीय पुलिस को बदियो की अगुलियो की छाप लेने का अधिकार दिया गया है। भारत के प्रत्येक राज्य मे एक सरकारी अगुलि-छाप-कार्यालय है जिसमे दडित व्यक्तियो की अगुलि छापो के अभिलेख रखे जाते है तथा अपेक्षित तुलना के उपरात आवश्यक सूचना दी जाती है। इलाहाबाद स्थित उत्तरप्रदेश के कार्यालय मे ही लगभग तीन लाख ऐसे अभिलेख है। १९५६ ई० मे कलकत्ता मे एक केंद्रीय अगुलि-छाप-कार्यालय की भी स्थापना की गई है। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे विशेषज्ञ है जो अगुलि छापो के विवादग्रस्त मामलो मे अपनी समतियाँ देने का व्यवसाय करते है।

अगुलि छापो का प्रयोग पुलिस विभाग तक ही सीमित नही है, अपितु अनेक सार्वजनिक कार्यो मे यह अचूक पहचान के लिये उपयोगी सिद्ध हुआ है। नवजात बच्चो की अदला बदली रोकने के लिये विदेशो के अस्पतालो मे प्रारभ मे ही बालको की पद छाप तथा उनकी माताओ की अगुलि छाप ले ली जाती है। कोई भी नागरिक समाजसेवा तथा अपनी रक्षा एव पहचान के लिये अपनी अगुलि छाप की सिविल रजिस्ट्री कराकर दुर्घटनावश या अन्यथा क्षतविक्षत होने या पागल हो जाने की दशा मे अपनी तथा खोए हुए बालको की पहचान सुनिश्चित कर सकता है। अमरीका मे तो यह प्रथा सर्वसाधारण तक मे प्रचलित हो रही है।' [सि० रा० गु०]

अंगुलिमाल बौद्ध अनुश्रुतियो के अनुसार एक सहस्र मनुष्यो को मारकर अपना व्रत पूरा करनेवाला यह ब्राह्मणपुत्र दस्यु था, जिसका उल्लेख बौद्ध त्रिपिटक मे आता है। वह जिसे मारता उसकी अँगुली काटकर माला मे पिरो लेता था, इसीलिये उसका नाम अगुलिमाल पडा। उसका पूर्वनाम 'अहिसक' था। बुद्ध ने उसे धर्मोपदेश दिया जिससे उसे धर्मचक्षु उत्पन्न हो गया। उसने बुद्ध से भिक्षु की दीक्षा ग्रहण की। वह क्षीणाश्रव अर्हतो मे एक हुआ, ऐसा बौद्ध विश्वास है। [भि० ज० का०]

अंगूर (अग्रेजी नाम ग्रेप, वानस्पतिक नाम वाइटिस विनिफेरा, प्रजाति वाइटिस, जाति विनिफेरा, कुल वाइटेसी) एक लता का फल है। इस कुल मे लगभग ४० जातियाँ है जो उत्तरी समशीतोष्ण कटिबध मे पाई जाती है। अगूर का परपरागत इतिहास उतना ही प्राचीन हे जितना मनुष्य का। बाइबिल से ज्ञात होता है कि नोआ ने अगूर का उद्यान लगाया था। होमर के समय मे अगूरी मदिरा यूनानियो के दैनिक प्रयोग की वस्तु थी। इसका उत्पत्तिस्थान काकेशिया तथा कैस्पियन सागरीय क्षेत्र से लेकर पश्चिमी भारतवर्ष तक था। यहाँ से एशियामाइनर, यूनान तथा सिसिली की ओर इसका प्रसार हुआ। ई० पू० ६०० मे यह फ्रास पहुँचा।

अगूर बहुत स्वादिष्ट फल है। इसे लोग बहुधा ताजा ही खाते है। सुखाकर किशमिश तथा मुनक्का के रूप मे भी इसका प्रयोग किया जाता है। रोगियो के लिये ताजा फल अत्यत लाभदायक है। किशमिश तथा मुनक्के का प्रयोग अनेक प्रकार के पकवान, जैसे खीर, हलवा, चटनी इत्यादि, तथा ओषधियो मे भी होता है। अगूर मे चीनी की मात्रा लगभग २२ प्रति शत होती है। इनमे विटामिन बहुत कम होता है, परतु लोहा आदि खनिज पर्याप्त मात्रा मे पाए जाते है। भारतवर्ष मे इसकी खेती नही के बराबर है। यहाँ इसकी सबसे उत्तम खेती बबई राज्य मे होती है। अगूर उगानेवाले मुख्य देश फ्रास, इटली, स्पेन, सयुक्त राज्य अमरीका, तुर्की, ग्रीस, ईरान तथा अफगानिस्तान है। ससार मे अगूर की जितनी उपज होती है उसका ८० प्रतिशत मदिरा बनाने मे प्रयोग किया जाता है।

अगूर

अगूर प्रधानत समशीतोष्ण कटिबध का पौधा है, परतु उष्णकटिबधीय प्रदेशो मे भी इसकी सफल खेती की जाती है। इसके लिये अधिक दिनो तक मध्यम से लेकर उष्ण तक का ताप और शुष्क जलवायु अत्यत आवश्यक है। ग्रीष्म ऋतु शुष्क तथा शीतकाल पर्याप्त ठढा होना चाहिए। फूलने तथा फल पकने के समय वायुमडल शुष्क तथा गरम रहना चाहिए। इस बीच वर्षा होने से हानि होती है। बलूचिस्तान मे ग्रीष्म ऋतु मे ताप १००° से ११५° फा० तक पहुँचता है, जो अगूर के लिये लाभप्रद सिद्ध हुआ है। बबई मे अगूर जाडे मे होता है। दोनो स्थानो मे भिन्न भिन्न जलवायु होते हुए भी फल के समय ऋतु गरम तथा शुष्क रहती है। यही कारण है कि अगूर की खेती दोनो स्थानो मे सफल हुई है, यद्यपि जलवायु मे बहुत भिन्नता है। सुपुप्तिकाल मे पाले से अगूर की लता को कोई हानि नही होती, परतु जब फल लगनेवाली डाले बढने लगती हैं उस समय पाला पडे तो हानि होती है। पौधे के इन जलवायु सबधी गुणो मे अगूर की किस्मो के अनुसार न्यूनाधिक परिवर्तन हो जाता है। अगूर की सफल खेती के लिये वही मिट्टी सर्वोत्तम है जिसमे जल निकास (ड्रेनेज) का पूर्ण प्रबध हो। रेतीली दुमट इसके लिये सबसे उत्तम मिट्टी है।

अगूर की अनेक किस्मे है। विभिन्न देशो मे सब मिलाकर लगभग २०० किस्मे होगी। व्यावसायिक अभिप्राय के अनुसार इन सबका वर्गीकरण किया गया है। इस आधार पर इन्हे चार भागो मे विभाजित करते है। (१) सुरा अगूर इसमे मध्यम मात्रा में चीनी तथा अधिक अम्ल होता है। इस वर्ग के अगूर मदिरा बनाने के लिये प्रयुक्त होते है। (२) भोज्य अगूर इसमे चीनी की मात्रा अधिक तथा अम्ल कम होते है। इस वर्ग के अगूरो के पके फल खाए जाते है, इसलिये इसका रग, रूप तथा आकार चित्ताकर्षक होना आवश्यक है। यदि फल बीजरहित (बेदाना) हो तो अति उत्तम है। (३) शुष्क अगूर इनमे चीनी की मात्रा अधिक तथा अम्ल कम होता है। इनका बीजरहित होना विशेष गुण है।

इन्हे सुखाकर किशमिश तथा मुनक्का बनाते है। (४) सरस अगूर इनमे मध्यम चीनी, अधिक अम्ल तथा सुगध होती है। इनसे पेय पदार्थ वनाए जाते हे। भारतवर्ष मे कृषि योग्य किस्में अग्रलिखित है 'मोकरी' ववई में, 'द्रक्षाई' तथा 'पचाई' मद्रास मे, 'बगलोर ब्ल्यू' तथा 'औरगाबाद' मैसूर में, और 'सहारनपुर नवर १' या 'बेदाना', 'सहारनपुर नवर २', 'मोतिया', 'ब्लैक कार्निकान' तथा 'रोज़ आँव पेन' इत्यादि, जो सहारनपुर राजकीय उद्यान मे उपजाई जाती है।

अगूर के नए पौधे कृत्त (कटिंग) द्वारा प्राप्त होते है। व्यावसायिक उद्यान के लिये यही सबसे उत्तम विधि है। दिसबर जनवरी मे काट छाँट की गई डालियो में से परिपक्व टुकडे कृत्तो के लिये चुन लिए जाते है। अगूर के पौधे दाब (लेयरिंग) तथा कलम (ग्राफ्टिंग) द्वारा भी उत्पन्न किए जा सकते है। इस प्रकार तैयार किए गए पौधे एक वर्ष बाद स्थायी स्थान पर लगा दिए जाते हैं। दो दो फुट के गड्ढे दस दस फुट की दूरी पर अप्रैल या मई मे खोद दिए जाते हे। फिर मिट्टी मे बराबर परिमाण मे खाद मिलाकर वर्षा ऋतु मे इन गड्ढो को भर दिया जाता है। मिट्टी भली भाँति बैठ जाने पर जखीरा (नर्सरी) से तैयार पौधे लाकर इन गड्ढो मे लगा दिए जाते हैं। ये लता के रूप में किसी आधार के सहारे ऊपर चढकर फैलते हैं। इन लताओ के उचित आकार तक बढने तथा फलने के लिये इनकी कटाई छँटाई तथा प्रशिक्षण (प्रूनिंग तथा ट्रेनिंग) अत्यत आवश्यक है। ये दोनो क्रियाएँ एक दूसरे से सबद्ध हे। इनकी अनेक विधियाँ है जो स्थानीय जलवायु, किस्म विशेष तथा उद्यान के स्वामी के सुविधानुसार प्रयोग की जाती है। व्यवहृत प्रमुख विधियाँ ये है (१) एकस्तभ विधि अगूर की लता को एक स्तभ के सहारे ऊपर चढाते हैं। (२) शीर्ष विधि इसमे तथा एकस्तभ विधि में अतर केवल इतना है कि इस विधि मे तना छोटा (३-४ फुट का) रखा जाता है। लगाने के पाँच या छ वर्ष बाद जब तना पुष्ट तथा बलवान हो जाता है तब किसी सहारे की आवश्यकता नही रहती। (३) टीला विधि पहले खाई खोदते है, फिर उसमें भिन्न-भिन्न स्थान पर टीले बनाते हे। इन्ही टीलो के पास अगूर के पौधे लगाए जाते है जिनकी लताएँ टीलो पर चढती और फैलती हे। (४) कुज या पडाल विधि एक वृत्ताकार चबूतरे के चारो ओर खभे गाडकर उन्ही के सहारे अगूर की लताएँ चढाते हैं। ऊपर ढाँचे पर लता फैलती है। (५) जालिका विधि लकडी या लोहे के खभो मे तार बाँधकर जालीनुमा ढाँचा (ट्रेलिस) बनाते हैं। इसी के ऊपर अगूर की लताएँ चढाते हैं। (६) निफेन (Kniffen) विधि लोहे के तार भूमि के समातर स्तभो के सहारे तानते हे। ये तार एक दूसरे के ऊपर कई पक्ति मे होते है। पहला तार भूमि से तीन फुट पर तथा इसके ऊपर के प्रत्येक तार डेढ डेढ फुट पर रहते ह, इन्ही पर लताएँ चढती है।

इन्ही विधियो के अनुसार आकारविशेष के लिये तदनुरूप कटाई छँटाई की जाती हे। प्रति वर्ष जाडे में, जब लता सुपुप्त अवस्था में रहती है, छँटाई भली प्रकार करनी चाहिए। ऐसा करने से नई डालियाँ निकलती है जो अच्छी फसल के लिये आवश्यक होती हे।

अगूर की लता की अच्छी वृद्धि तथा उत्तम फसल के लिये प्रति वर्ष, जनवरी में छँटाई करते समय प्रति पौधा १५-२० सेर गोबर की सडी हुई खाद या कपोस्ट देना चाहिए। यदि मछली की खाद मिल सके तो एक या डेढ सेर पर्याप्त है। परतु खाद की मात्रा तथा देने का समय भिन्न भिन्न स्थानो मे वहाँ की मिट्टी की उर्वरता तथा जलवायु पर निर्भर है। वर्षा के बाद जाडे मे कही कही लोग सिंचाई की आवश्यकता नही समझते, परतु दो तीन सिंचाई कर देना लाभदायक है, विशेषत ऐसे स्थानो मे जहाँ पाले का भय हो। ग्रीष्म ऋतु मे आवश्यकतानुसार प्रति सप्ताह सिंचाई की जाती है, परतु कुछ लोगो का मत है कि फल लगते तथा पकते समय सिंचाई करने से फल की मिठास कम हो जाती है।

लगाने के चार वर्ष बाद अगूर की लता फल देना आरभ कर देती हे। यो तो दूसरे ही वर्ष फूल फल आने लगते है, पर वे अच्छे नही होते तथा पर्याप्त मात्रा में भी नही आते। उत्तरप्रदेश मे मार्च अप्रैल मे लताएँ फूलने लगती हैं और जून के मध्य से जुलाई तक फल पकते रहते है। वर्षा के कारण जूताईवाले फल फट जाते हैं और सडने लगते हैं। जलवायु की विभिन्नता के कारण सदैव भारतवर्ष के किसी न किसी भाग मे अगूर अवश्य फूलते फलते रहते हैं जिससे वर्ष भर फल मिलता रहता है। फल जब पकने लगे तो उचित अवस्था मे पहुँचने पर पके हुए फल के गुच्छो को कैंची से काट लेना चाहिए। सडे गले तथा रोगग्रस्त फलो को गुच्छे से अलग कर देना चाहिए। स्वस्थ फलो के गुच्छों को साधारणत छोटे छोटे लकडी के बक्सा में या टोकरियो मे सवेष्टित (पैक) करके विक्रय के लिये भेजा जाता है। अगूर की उपज प्रति एकड १०० मन से २०० मन तक होती है। इसके फल को सुखाकर किशमिश तथा मुनक्का तैयार किया जाता है।

अगूर की लताओ को निम्नलिखित कीडो तथा रोगो से हानि पहुँच सकती है (१) फाइलाक्सेरा यह पौधो की जडो में लगता है जिससे पौधे मर जाते है। जिस क्षेत्र की मिट्टी में इनका सक्रमण (इनफेक्शन) हो जाता है उस क्षेत्र में अगूर की सफलता असभव है। ऐसे क्षेत्र के लिये ऐसी किस्मो का चुनाव करना चाहिए जिनपर इनका प्रभाव न पडता हो। (२) लताभृग (एरीथ्रोनिउरा कोमीज) यह एक छोटा काले रग का कीडा होता है जो पत्तियो में छेद कर देता है तथा कोमल कलियो को खा जाता है। इनको पकडकर मार डालना चाहिए अथवा लेड या कैल्सियम आर्सिनेट का छिडकाव करना चाहिए। (३) काकचेफर ये पत्तियो पर आक्रमण करते हैं। कभी कभी लता को एकदम पर्णरहित कर देते हैं। लेड आर्सिनेट या बोर्डो मिक्सचर का छिडकाव करने से नियत्रण होता है। (४) गर्डलिंग कीडा यह डालियो पर घेरा या मेखला सा बनाता है। ऐसी डालियाँ नष्ट हो जाती हैं। कीडो को ढूँढकर मार डालना चाहिए तथा सूखी डालियो को जला डालना चाहिए। (५) लीफ रोलर यह कीडा पत्तियो को लपेटकर बेलनाकार बना लेता है तथा पत्ती के हरे पदार्थ को खाता है। लेड आर्सिनेट अथवा डी० डी० टी० का छिडकाव करने से इसका नियत्रण होता है। (६) ग्रेप थ्रिप्स ये कीडे पत्तियो का रस चूसते हैं। इन्हें नष्ट करने के लिये तबाकू के पत्ते के अर्क का घोल बनाकर छिडकाव करना चाहिए। (७) पाउडरी मिल्ड्यू यह एक फगस जनित रोग है जो अगूर के प्रत्येक भाग पर आक्रमण करता है, यहाँ तक कि फूल तथा फल पर भी। बोर्डो मिक्सचर या गधक के सूक्ष्म चूर्ण का छिडकाव करने से इसका नियत्रण होता है। (८) डाउनी मिल्ड्यू यह भी फगस है। इसका आक्रमण, प्रभाव तथा उपचार उसी प्रकार होता है जैसे पाउडरी मिल्ड्यू का।

अगूर से तैयार होनेवाली वस्तुएँ ये हैं किशमिश, मुनक्का, सरक्षित रस, मदिरा, सिरका तथा जेली। प्रथम दोनो वस्तुओ की माँग भारतवर्ष में अधिक है। पके फल अधिक समय तक साधारण ताप पर नही टिकते, परतु ३२° फा० ताप पर शीतक सरक्षण (कोल्ड स्टोरेज) मे वे अधिक समय तक ताजे रखे जा सकते है।

स०ग्र० पी०—वियाला और वी० वर्मोरे नेत जनरा द वितिकुल्तूर आपेलोग्रफी (१९०९), कार्ल म्यूलर वाइनबाउ-लेक्सिकन (१९३०)।

[ज० रा० सि०]

अंगोला पश्चिमी अफ्रीका के उस भाग मे स्थित कुछ प्रदेशो को कहते हैं जो भूमध्यरेखा के दक्षिण में हैं और पहले पुर्तगाल के अधीन थे। स्थिति ६° ३०' द० अ० से १७° द० अ०, १२° ३०, पू० दे० से २३° पू० दे०, क्षेत्रफल ४,८१,३५१ वर्गमील, जनसख्या ४१,११,७९६ (१९५० मे), सीमा उत्तर में बेलजियम कागो, पश्चिम मे दक्खिनी अधमहासागर, दक्षिण मे दक्षिणी अफ्रीका सघ तथा पूर्व मे रोडेशिया। अगोला पहले पुर्तगाल के अधीन था, पर अब सयुक्त राष्ट्रसघ की देखरेख मे है। अगोला का अधिकाश भाग पठारी है, जिसकी सागरतल से औसत ऊँचाई ५,००० फुट है। यहाँ केवल सागरतट पर ही मैदान है। इनकी चौडाई ३० से लेकर १०० मील तक है। यहाँ की मुख्य नदी कोयजा हे। पठारी भाग की जलवायु शीतोष्ण है। सितबर से लेकर अप्रैल तक के बीच ५० इच से ६० इच तक वर्षा होती है। उष्ण कटिबधीय वनस्पतियाँ यहाँ अपने पूर्ण वैभव मे उत्पन्न होती हैं जिनमे से मुख्य नारियल, केला और अनेक अतर-उष्ण-कटिबधीय लताएँ हैं। उष्ण कटिबधीय पशुओ के साथ साथ यहाँ पर आयात किए हुए घोडे, भेडे तथा गाएँ भी पर्याप्त सख्या मे हे। हीरा, कोयला, ताँबा, सोना, चाँदी, गधक आदि खनिज यहाँ मिलते हैं।

कृपीय उपज चीनी, कहवा, सन, मक्का, चावल तथा नारियल है। स, तवाकू, लकडो तथा मछली सवधी उद्योग यहाँ उन्नति पर है। चूना, कागज तथा रवर सवधी उद्योगो का भविष्य उज्वल है। इस उपनिवेश मे १,४४२ मील लवी रेले तथा २२,७०८ मील लवी सडके है। सन् १९४६ में यह ५ प्रातो तथा १६ प्रशासकीय जनपदो में बाँटा गया था।

यहाँ के निवासियो मे से अधिकतर वतू नीग्रो जाति के हैं जो कागो जनपद मे शुद्ध नीग्रो लोगो से समिश्रित है। [शि० म० सि०]

अंग्कोरथोम, अंग्कोरवात

प्राचीन कवुज की राजधानी और उसके मदिरो के भग्नावशेष का विस्तार। अग्कोरथोम और अग्कोरवात सुदूर पूर्व के हिंदचीन मे प्राचीन भारतीय सस्कृति के अवशेष हैं। ईसवी सदियो के पहले से ही सुदूर पूर्व के देशो मे प्रवासी भारतीयो के अनेक उपनिवेश वस चले थे। हिंदचीन, सुवर्णद्वीप, यवद्वीप, मलाया आदि मे भारतीयो ने कालातर मे अनेक राज्यो की स्थापना की। वर्तमान कवोडिया के उत्तरी भाग मे स्थित कवुज राज्य ऐसा ही उपनिवेश था जिसको सभवत पूर्व सागरवर्ती प्रवासी भारतीयो ने वसाया था। परतु जैसा 'कवुज' शब्द से व्यक्त होता है, कुछ विद्वान् भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर वसनेवाले कवोजो का सवध भी इस प्राचीन भारतीय उपनिवेश से बताते है। अनुश्रुति के अनुसार इस राज्य का सस्थापक कौडिन्य ब्राह्मण था जिसका नाम वहाँ के एक सस्कृत अभिलेख मे मिला है। नवी शताब्दी ईसवी में जयवर्मा तृतीय कवुज का राजा हुआ और उसी ने लगभग ८६० ईसवी में अग्कोरथोम (थोम का अर्थ राजधानी है) नामक अपनी राजधानी की नीव डाली। राजधानी प्राय ४० वर्षो तक वनती रही और ९०० ई० के लगभग तैयार हुई। उसके निर्माण के सवध मे कवुज के साहित्य मे अनेक किंवदतियाँ प्रचलित है।

पश्चिम के समीपवर्ती थाई लोग पहले कवुज के ख्मेर साम्राज्य के अधीन थे परतु १४वी सदी के मध्य उन्होने कवुज पर आक्रमण करना आरभ किया और अग्कोरथोम को वारवार जीता और लूटा। तव लाचार होकर ख्मेरो को अपनी वह राजधानी छोड देनी पडी। फिर धीरे धीरे वॉस के वनो की वाढ ने नगर को सभ्य जगत् से सर्वथा पृथक् कर दिया और उसकी सत्ता अधकार मे विलीन हो गई। नगर भी अधिकतर टूटकर खडहर हो गया। १९वी सदी के अत मे एक फ्रासीसी वैज्ञानिक ने पाँच दिनो की नौकायात्रा के वाद उस नगर और उसके खडहरो का पुनरुद्धार किया। नगर तोन्ले साप नामक महान् सरोवर के किनारे उत्तर की ओर सदियो से सोया पडा था जहाँ पास ही, दूसरे तट पर, विशाल मदिरो के भग्नावशेष खडे थे।

आज का अग्कोरथोम एक विशाल नगर का खडहर है। उसके चारो ओर ३३० फुट चौडी खाईं दौडती है जो सदा जल से भरी रहती थी। नगर और खाई के बीच एक विशाल वर्गाकार प्राचीर नगर की रक्षा करती है। प्राचीर मे अनेक भव्य और विशाल महाद्वार वने है। महाद्वारो के ऊँचे शिखरो को त्रिशीर्ष दिग्गज अपने मस्तक पर उठाए खडे हे। विभिन्न द्वारो से पाँच विभिन्न राजपथ नगर के मध्य तक पहुँचते है। विभिन्न आकृतियोवाले सरोवरो के खडहर आज अपनी जीर्णावस्था मे भी निर्माणकर्ता की प्रशस्ति गाते है। नगर के ठीक वीचोवीच शिव का एक विशाल मदिर है जिसके तीन भाग है। प्रत्येक भाग मे एक ऊँचा शिखर है। मध्य शिखर की ऊँचाई लगभग १५० फुट है। इन ऊँचे शिखरो के चारो ओर अनेक छोटे छोटे शिखर वने है जो सख्या मे लगभग ५० है। इन शिखरो के चारो ओर समाधिस्थ शिव की मूर्तियाँ स्थापित हैं। मदिर की विशालता और निर्माणकला आश्चर्यजनक है। उसकी दीवारो को पशु, पक्षी, पुष्प एव नृत्यागनाओ जैसी विभिन्न आकृतियो से अलकृत किया गया है। यह मदिर वास्तुकला की दृष्टि से विश्व की एक आश्चर्यजनक वस्तु है और भारत के प्राचीन पौराणिक मदिर के अवशेषो मे तो एकाकी है। अग्कोरथोम के मदिर और भवन, उसके प्राचीन राजपथ और सरोवर सभी उस नगर की समृद्धि के सूचक है।

१२वी शताब्दी के लगभग सूर्यवर्मा द्वितीय ने अग्कोरवात मे विष्णु का एक विशाल मदिर वनवाया। इस मदिर की रक्षा भी एक चतुर्दिक् खाई करती है जिसकी चौडाई लगभग ७०० फुट है। दूर से यह खाई झील के समान दृष्टिगोचर होती है। मदिर के पश्चिम की ओर इस खाई को पार करने के लिये एक पुल वना हुआ है। पुल के पार मदिर मे प्रवेश के लिये एक विशाल द्वार निर्मित है जो लगभग १,००० फुट चौडा है। मदिर वहुत विशाल है। इसकी दीवारो पर समस्त रामायण मूर्तियो मे अकित है। इस मदिर को देखने से ज्ञात होता है कि विदेशो मे जाकर भी प्रवासी कलाकारो ने भारतीय कला को जीवित रखा था। इनसे प्रकट है कि अग्कोरथोम जिस कवुज देश की राजधानी था उसमे विष्णु, शिव, शक्ति, गणेश आदि देवताओ की पूजा प्रचलित थी। इन मदिरो के निर्माण मे जिस कला का अनुकरण हुआ है वह भारतीय गुप्त कला से प्रभावित जान पडती है। अग्कोरवात के मदिरो, तोरणद्वारो और शिखरो के अलकरण मे गुप्त कला प्रतिविवित है। इनमे भारतीय सास्कृतिक परपरा जीवित रखी गई थी। एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि यशोधरपुर (अग्कोरथोम का पूर्वनाम) का सस्थापक नरेश यशोवर्मा "अर्जुन और भीम जैसा वीर, सुश्रुत जैसा विद्वान् तथा शिल्प, भाषा, लिपि एव नृत्यकला मे पारगत था।" उसने अग्कोरथोम और अग्कोरवात के अतिरिक्त कवुज के अनेक अन्य स्थानो मे भी आश्रम स्थापित किए जहाँ रामायण, महाभारत, पुराण तथा अन्य भारतीय ग्रथो का अध्ययन अध्यापन होता था। अग्कोरवात के हिंदू मदिरो पर वाद मे वौद्ध धर्म का गहरा प्रभाव पडा और कालातर मे उनमे वौद्ध भिक्षुओ ने निवास भी किया।

अग्कोरथोम और अग्कोरवात मे २०वी सदी के आरभ मे जो पुरातात्विक खुदाइयाँ हुई है उनसे ख्मेरो के धार्मिक विश्वासो, कलाकृतियो और भारतीय परपराओ की प्रवासगत परिस्थितियो पर वहुत प्रकाश पडा है। कला की दृष्टि से अग्कोरथोम और अग्कोरवात अपने महलो और भवनो तथा मदिरो और देवालयो के खडहरो के कारण ससार के उस दिशा के शीर्षस्थ क्षेत्र वन गए है। जगत् के विविध भागो से हजारो पर्यटक उस प्राचीन हिंदू-वौद्ध-केंद्र के दर्शनो के लिये वहाँ प्रति वर्ष जाते है।

सं० ग्र०—ई० अमोन्ये ल कवोज, ए० एच० मुहोत ट्रैवेल्स इन इडोचाइना। [प० उ०]

अंग्रेज

इग्लैड अथवा ब्रिटेन मे वसनेवाली जाति साधारणत अग्रेज कहलाती है। जातिशास्त्रीय दृष्टि से इग्लैड की वर्तमान जनसख्या मे पर्याप्त विभिन्नता मिलती है। इस जनसख्या की सरचना एक दूसरे से पृथक् दूरस्थ क्षेत्रो से आए प्रजातीय तत्वो के मिश्रण से हुई है। किंतु इनमे नार्दिक (उत्तरीय जाति) तत्व की प्रधानता है। इग्लैड की जनता के प्रमुख शारीरिक लक्षणो का सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है

उनके रगाणु प्रधानत हल्के और मिश्रित है। उनकी त्वचा गौरवर्ण है और वाहिनीयुक्त (वास्क्यूलर) होने के कारण प्रकाश और वायु के प्रभाव से शीघ्र रक्तिम हो जाती है। वालो का रग हल्का भूरा है और आँखें नीली या हल्की भूरी है। औसत कद १७२ सें० मी० के लगभग है। जनसख्या मे दीर्घकपाल अधिक हैं और इस लक्षण मे अग्रेजो की तुलना केवल स्कैंडिनेविया के निवासियो से की जा सकती है। इनकी औसत कापालिकदेशना (सेफैलिक इडेक्स) ७७ और ७९ के वीच है जिसकी निम्न और उच्च सीमाएँ क्रमश ६६ और ८७ है। मुख की चौडाई सामान्य कही जायगी, यद्यपि लवाई औसत यूरोपीय चेहरे से अधिक है। ललाट और जवडे का व्यास अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण मुखाकृति समातरभुजीय प्रतीत होती है। सव मिलाकर चेहरे का नक्शा नार्दिक ही कहा जायगा।

ब्रिटिश द्वीपसमूह का प्रजातीय इतिहास उतना सरल नही है जितना साधारणत समझा जाता है। जनसख्या की सरचना मे श्वेत प्रजाति की प्राय सभी शाखाओ का योगदान हुआ है। इनमे पुरापाषाणकालीन मानव के एक या अधिक अपरिवर्तित प्रकार, पिंगल भूमध्यसागरीय (ब्रूनेट) प्रजाति के दो प्रकार, लौहयुगीन नार्दिक प्रजाति के दो प्रमुख प्रकार, आद्रियातिक (दिनारिक) अथवा अर्मनी पृथुकपाल (ब्रैकीसेफल) प्रकार तथा प्रागैतिहासिक वीकर (वीकर-प्ररूप मिट्टी के वर्तनो के निर्माता) प्रजातीय प्रकार मुख्य है। वर्तमान ब्रिटिश जनसख्या की शारीरिक सरचना पर अन्य आक्रमणकारियो की अपेक्षा नार्दिक जाति के उन केल्टो का प्रभाव अधिक है जो लौहयुग मे वडी सख्या मे इग्लैड मे आकर वस गए थे। ब्रिटेन पर रोमन आधिपत्य के कारण वहाँ की प्रजातीय सरचना पर विशेष प्रभाव

नही पडा। अनुवर्ती ऐंग्ल या सैक्सन, जूट, डेन और नार्वेई आक्रमणकारी मिश्रित जाति के थे, यद्यपि इन सभी में नार्दिक प्रजातीय स्कध का प्राधान्य था। नार्मन विजय के कारण इग्लैंड की जनसख्या में स्कैडिनेवियाई अभिजात तत्वो का समिश्रण हुआ। फ्लेमिग, वालून, जर्मन, उगनो (Huguenot), यहूदी आदि छोटे समूहो के अभियानो का प्रभाव ब्रिटिश जनसख्या के शारीरिक लक्षणो की अपेक्षा मुख्यत इस द्वीपसमूह की सस्कृति पर अधिक स्पष्ट हुआ है।

[वी० ना० म०]

अंग्रेजी भाषा

अंग्रेजी का इतिहास एक ऐसी भाषा का इतिहास है जिसका आदि अकिंचन है, पर जो विकसित होते होते ससार की किसी भी अन्य भाषा की अपेक्षा विश्वभाषा बन जाने के समीप आ पहुँची है। भारत-यूरोपीय (इडो-यूरोपियन) भाषा-परिवार की जर्मन शाखा की बोलियो के एक समूह के रूप में इसका जन्म हुआ। आधुनिक डच तथा फ्रीजियाई भाषाओं के अनेक रूपो से इसका घनिष्ट सबध था। डेनमार्क, नार्वे और स्वीडन में बोली जानेवाली भाषाओं के प्रारभिक रूप इसके निकट के नातेदार थे और आधुनिक जर्मन के पूर्व रूप से भी इसका दूर का सबध न था। ऐंग्ल, सैक्सन तथा जूट नामक जर्मन कबीलो के आक्रमण के साथ यह भाषा ईसा की पाँचवी तथा छठी शताब्दी में ब्रिटेन पहुँची। इन कबीलो ने ब्रिटेन के आदिवासियो को भगा दिया या गुलाम बना लिया, और वे स्वय देश में बस गए। मूल ब्रिटेन वासियो की केल्टी बोली को हटाकर विजेताओ की इग्लिश भाषा स्थानापन्न हुई और उसी के नाम से देश का नाम भी बदलकर इग्लैड पड गया।

विजेताओ की तीन प्रमुख बोलियो मे से पश्चिमी सैक्सन नामक बोली की कालातर में प्रधानता हो गई। उस युग की अंग्रेजी को हम आज प्राचीन अंग्रेजी (ओल्ड इग्लिश) अथवा ऐंग्लो-सैक्सन कहते है। प्राचीन अंग्रेजी की सभी बोलियाँ आज की अंग्रेजी से दो तीन महत्वपूर्ण बातो में भिन्न थी। आधुनिक अंग्रेजी की अपेक्षा प्राचीन अंग्रेजी की व्याकरण सबधी गठन कही अधिक जटिल थी। सज्ञा के अनेक रूप बनते थे और कारक भी अनेक होते थे जिनका एक दूसरे से भेद विविध सयोगात्मक रूपो से जाना जाता था। निस्सदेह यह सस्कृत भाषा के रूपविधान की भाँति जटिल नही था, फिर भी पर्याप्त क्लिष्ट था। इसके विपरीत आधुनिक अंग्रेजी में रूपात्मक जटिलता बहुत कम पाई जाती है और उसका गठन फारसी की सरलता के समीप है।

प्राचीन और अर्वाचीन अंग्रेजी के रूपो मे एक और अतर है जो भारत-यूरोपीय परिवार की भाषाओं मे समानत प्रतिबिबित है। भारत-यूरोपीय परिवार की अनेक भाषाओं में आज भी आधुनिक अंग्रेजी के प्राकृतिक लिंगभेद के विपरीत व्याकरणीय लिंगभेद वर्तमान है। यह व्याकरणीय लिंगभेद प्राचीन अंग्रेजी में भी विद्यमान था। उदाहरणार्थ प्राचीन अंग्रेजी में लिंग का निर्धारण पुरुषवाचक या स्त्रीवाचक शब्द के आधार पर नही किया जाता था, जैसा आज की अंग्रेजी मे किया जाता है, बल्कि शब्द के रूप अथवा रूपात्मक प्रत्यय के आधार पर होता था, जैसे आधुनिक अंग्रेजी शब्द 'वाइफ' (पत्नी) का प्राचीन अंग्रेजी रूप 'विफ' (wif) नपुसकलिंग था, जब कि इसी शब्द का पूर्ण रूप 'विफमन' (wifman), जिसका आधुनिक अंग्रेजी रूप 'वुमन' (स्त्री) है, पुलिंग माना जाता था। इसी प्रकार 'मोना' (mona), आधुनिक 'मून' (चद्रमा), पुलिंग था, लेकिन 'सन्न' (sunne), आधुनिक 'सन' (सूर्य), स्त्रीलिंग था।

प्राचीन अंग्रेजी और उसकी वशज आधुनिक अंग्रेजी में तीसरा भेद शब्दावली की प्रकृति का है। प्राचीन अग्रेजी का शब्दभाडार अपेक्षाकृत अमिश्रित था, जब कि आधुनिक का अतिमिश्रित है। यह सच है कि प्राचीन अंग्रेजी मे जर्मन शब्दो के अतिरिक्त अन्य उद्गमो के भी कुछ शब्द थे। उदाहरणार्थ ऐंग्लो-सैक्सन जातियो के पूर्वजो ने अपने यूरोपीय निवासकाल में कतिपय लातीनी शब्द ले लिए थे। तदुपरात ब्रिटेन में बसने पर कुछ और लातीनी शब्द अपना लिए गए थे, क्योंकि चार शताब्दियो तक ब्रिटेन रोमन साम्राज्य के अधीन रह चुका था। ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने के बाद तो लातीनी शब्दो की सख्या और भी अधिक बढ गई। आदिवासी ब्रिटेनो की बोली के भी लगभग एक दर्जन केल्टी शब्द प्राचीन अंग्रेजी में प्रविष्ट हो गए थे। आठवी शताब्दी के बाद से ब्रिटेन मे स्कैंडिनेवियाइयो की सख्या में यथेष्ट वृद्धि होती रहने के कारण प्राचीन अंग्रेजी के इतिहास के उत्तरार्ध मे डेनी तथा नार्वेई भाषाओं के शब्द भी आ मिले थे।

आठवी शताब्दी के बाद से अंग्रेजो के ही भाई बधु डेनमार्क तथा नार्वे के निवासियो ने उनकी नवीन मातृभूमि इग्लैड पर आक्रमण करना प्रारभ कर दिया और अत में सन् १०१७ से १०४२ ई० तक उन्होंने उसपर अपना प्रभुत्व जमा लिया। फिर भी प्राचीन अंग्रेजी के सपूर्ण शब्दकोश में सब मिलाकर भी विशेष योग इन ऐतिहासिक परिवर्तनो के फलस्वरूप नही हुआ, क्योकि आज के जर्मनो की भाँति ऐंग्लो-सैक्सन भी अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करने के प्रतिकूल थे, और अपने आज के वशजो की अपेक्षा वे कही अधिक अपनी भाषा के मूल स्रोतो पर निर्भर रहते थे। जब कभी कोई नवीन विचार अथवा अभिनव अनुभव अभिव्यक्ति की अपेक्षा करता था, तब वे विदेशी शब्द उधार लेने के स्थान पर अधिकतर अपनी ही मूल भाषा की सामग्री के आधार पर शब्द गढ लेते थे। इसके विपरीत आधुनिक अंग्रेजी अपने शब्दकोश में विदेशी शब्दो का स्वागत करती है। यह कहना अतिशयोक्ति नही होगा कि इसके फलस्वरूप आज अंग्रेजो के शब्दकोश में प्रति चार शब्दो मे लगभग तीन शब्द विदेशी उद्गम के हैं। गणना करने से विदित हुआ है कि आज की अंग्रेजी मे लगभग १५ प्रति शत शब्द ही प्राचीन अंग्रेजी के रह गए है।

जिस प्राचीन अंग्रेजी की चर्चा हम करते आए है, उसका काल लगभग सन् ४५० से ११०० ई० तक रहा, क्योकि १०६६ में इग्लैड में नार्मन विजयी हुए। इसके फलस्वरूप भाषा के गठन और शब्दभाडार दोनो में प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष रूप से विलक्षण परिवर्तन हुए। इस भाषा के इतिहास ने अब एक नए युग मे प्रवेश किया। यह स्थिति प्राय १५०० ई० तक रही। सुविधानुसार इसे मध्य अंग्रेजी (मिडिल इग्लिश) काल कहा जाता है। इसी काल मे भाषा मे वे विशेषताएँ विकसित हुई जिनसे अब वह प्राचीन अंग्रेजी से स्पष्ट रूप से भिन्न हो गई।

नार्मन विजय के फलस्वरूप इग्लैड पर फ्रास के राजनीतिक, सास्कृतिक तथा भाषा सबधी प्रभुत्व के एक सुदीर्घ युग का सूत्रपात हुआ। इग्लिश चैनल पार के विदेशियो द्वारा इग्लैड के राजदरबार, गिरजाघर, स्कूल, न्यायालय आदि सभी दीर्घ काल तक शासित रहे। इस विजय का भाषा सबधी तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी सैक्सन को हटाकर फ्रेंच ही शासन और सभ्यता की भाषा बन बैठी। पराजित तथा तिरस्कृत ऐंग्लो-सैक्सन जाति की मातृभाषा अपनी समस्त बोलियो के साथ इस प्रकार अपदस्थ होकर जनसाधारण की 'वर्नाक्युलर' मानी जाने लगी। बहुत समय तक इसका उपयोग न तो फ्रासीसी शासको ने किया और न उनके घनिष्ट सपर्क में रहनेवाले इग्लैड निवासियो ने। शासक और शासकीय वर्ग केवल फ्रेंच बोलते थे, फ्रेंच लिखते थे, अथवा इसके उस रूप का प्रयोग करते थे जिसे ऐंग्लो-फ्रेंच अथवा ऐंग्लो-नार्मन कहते है। पराजित होने के कारण अंग्रेजी में लिखना पूर्ण रूप मे बद नही हुआ, किंतु यह अकिंचन स्वदेशवासियो तक ही सीमित रहा। उनके पाठक भी लेखको के समान ही अकिंचन थे। इसके अतिरिक्त यह लिखना प्रधानतया पश्चिमी सैक्सन में नही होता था, बल्कि प्रत्येक लेखक अपने अपने क्षेत्र की बोली मे लिखता था।

किंतु शासकीय अल्पवर्ग की भाषा पर शासित बहुसख्यक लोगो की स्वदेशी भाषा की विजय देर सबेर अवश्यभावी थी। १३वी शताब्दी के प्रारभ (१२०६) मे इग्लैड के फ्रासीसी प्रभु नार्मडी हार गए, और सन् १२४४ ई० में फ्रासीसियो की इग्लैड स्थित कुल जागीरें और सपत्ति जब्त कर ली गई। इन राजनीतिक घटनाओं के फलस्वरूप देश के स्वदेशी एव विदेशी दोनो ही वर्ग मिलकर एक हो गए। शीघ्र ही वह समय आ गया जब अंग्रेजी न बोल सकनेवाले हीन और घृणित समझे जाने लगे। यह सही है कि बहुत समय तक फ्रेंच न जाननेवाले को गँवार समझा जाता था और फ्रेंच ही सस्कृति की भाषा बनी रही। महत्वपूर्ण बात तो यह है कि १४वी शताब्दी के मध्य तक यह स्थिति आ पहुँची कि अनेक सामत भी फ्रेंच नहीं जानते थे, किंतु अंग्रेजी सभी जानते थे। लहर धीरे धीरे पलट रही थी। इस शताब्दी के अत तक, अंग्रेजी फिर से विद्यालयो में अधिकाश शिक्षा का

माध्यम बन गई और सम्भ्रात कुलो के बच्चो ने भी फ्रेंच पढना छोड दिया। जब यह सब हो रहा था उसी समय एक महान् प्रतिभा ने अंग्रेजी मे साहित्य-सृजन आरभ किया जिसका प्रभाव उसके समकालीन लेखको पर ही नही बल्कि भावी साहित्यकारो पर भी एक शताब्दी तक रहा। इस महान् लेखक का नाम ज्योफ्रे चॉसर था जो 'कैटरबरी टेल्स' के अमर कवि के रूप मे सुविख्यात हुआ। यह अमर काव्य अंग्रेजी की पूर्वी मध्यदेशी बोली में लिखा गया जिससे सहज ही इस बोली और अंग्रेजी को अपूर्व गौरव प्राप्त हुआ और इसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई।

जिस पूर्वी मध्यदेशी (मिडलैंड) बोली मे चॉसर ने अपने काव्य की सृष्टि की, वही सयोग से लदन, आक्सफर्ड और केंब्रिज मे भी बोली जाती थी। आक्सफर्ड और केंब्रिज मे ही उस समय इग्लैंड के मात्र दो विश्वविद्यालय थे। अत कालातर में यही बोली साहित्यिक अभिव्यक्ति की मान्य भाषा हुई। यह सत्य है कि अगली कई शताब्दियो तक अंग्रेज जनसाधारण अपनी-अपनी स्थानीय बोलियाँ बोलते रहे, और वे इसकी चिता नही करते थे कि उनकी बोली भाषा के किसी मान्य आदर्श के अनुरूप है अथवा नही। किंतु १६वी शताब्दी तक यह मान्यता प्रतिष्ठित हो गई थी कि जो बोली लदन और उसके पडोस मे बोली जाती है, वही समस्त साहित्यिक रचना के लिये टकसाली भाषा है। तब से अब तक बहुत थोडे से हेर फेर के बाद यही बोली अंग्रेजी भाषा का सर्वाधिक प्राजल रूप मानी जाती है। किंतु १४वी शताब्दी की चॉसर की अंग्रेजी नवी शताब्दी के राजा अल्फ्रेड की अंग्रेजी से बहुत भिन्न थी। आधुनिक अंग्रेजी से वह जितनी भिन्न है, उससे कही अधिक वह प्राचीन अंग्रेजी से भिन्न थी। निस्सदेह उसका गठन शेक्सपियर अथवा शा की भाषा की तुलना मे अधिक सयोगात्मक था, किंतु अल्फ्रेड, एल्फ्रिक अथवा प्राचीन अंग्रेजी के अन्य लेखको की तुलना मे कम सयोगात्मक था। उसका शब्दसमूह नार्मन विजय से पूर्व की अंग्रेजी के प्राय विशुद्ध शब्दभाडार की अपेक्षा आज के ही बहुमिश्रित शब्दकोश की ओर झुकता हुआ था।

अंग्रेजी भाषा के शब्दकोश और गठन के इन परिवर्तनो पर नार्मन विजय का प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रभाव विस्तृत रूप से पडा। सयोगात्मक गठन के ह्रास मे यह परोक्ष रूप से सहायक हुई और आगे चलकर अधिकाश सयोगात्मक रूपो का लोप हो गया। सयोगात्मक गठन का अतत विग्रह अवश्यभावी था, और वास्तव में वह प्राचीन अंग्रेजी के उत्तरार्धकाल मे ही प्रारभ हो चुका था। परतु यदि नार्मन विजयी न होते तो यह विग्रह न इतना अधिक होता और न इतना शीघ्र। पश्चिमी सैक्सन की सुप्रतिष्ठित साहित्यिक परपरा का नाश और अंग्रेजी को अपदस्थ कर इस विजय ने उन सभी रूढियो का उन्मूलन कर दिया जो भाषा को उसके प्राचीन रूप के निकट रखती है। भाषा में सरलता तथा एकरूपता लानेवाली प्रवृत्तियो को पूर्ण रूप मे विकसित होने का अवसर मिल गया। विजय के फलस्वरूप जो अतर्जातीय मिश्रण हुआ, उसने भी सयोगात्मक रूपो के उच्छेदन मे योग दिया क्योकि एक ओर तो विजयी विदेशियो द्वारा नई भाषा के प्रयोग मे उसके रूप और व्यवहार की पकड और समझ मे कमी हुई और दूसरी ओर देशवासियो की ओर से प्रयत्न हुआ कि उन्हे अपनी बात समझाने के लिये अपनी भाषा को सरल करे, किंतु केवल इतनी सरल कि उसका अर्थ लुप्त न हो जाय। फलस्वरूप सयोगात्मक रूपो की जटिलता का अधिक से अधिक परित्याग किया गया। उपर्युक्त दोनो कारणो से सयोगात्मक रूप घटते गए, और व्याकरण भी सरल होता गया।

नार्मन विजय ने शीघ्रतापूर्वक अंग्रेजी भाषा के सयोगात्मक रूपो को कम करके उसके गठन को सरल बनाया। साथ ही, इस विजय के बिना भाषा के शब्दकोश में भी क्रातिकारी परिवर्तन न होता। लगभग दो शताब्दियो तक निरतर फ्रेंच प्रभुत्व के कारण ही मूल अंग्रेजी के सैकडो प्रचलित शब्द निकाल फेके गए, साथ ही हजारो फ्रेंच शब्द नवीन विचारो को अभिव्यक्त करने और नई नई वस्तुओ तथा वस्तुस्थितियो का नामकरण करने के निमित्त प्रचलित कर दिए गए। आज अंग्रेजी के भाषाभाडार मे न्याय, शासन तथा सेना, अभिजात उच्चवर्ग तथा फैशन, कला एव साहित्य सबधी जो अनेक प्रचलित शब्द है, उनमे से अधिकतर फ्रेंच भाषा के ही हैं। प्रति दिन के व्यवहार मे आनेवाले सबधबोधक तथा अन्य शब्द, जैसे मैडम, मास्टर, सर्वेंट, अकिल, एयर, सेकड आदि भी फ्रेंच है। गणना के अनुसार ऐसे फ्रासीसी शब्दो की सख्या लगभग दस हजार है जिनमे साढे सात हजार शब्द आज इस प्रकार प्रचलित हो गए है कि उनका विदेशी बाना बिलकुल नही पहचाना जाता, क्योकि अंग्रेजी ने उन्हे अपनी बोली और उच्चारण के अनुसार आत्मसात् कर लिया है।

विदेशी शब्दो का यह प्रवेश इतना गहरा और विस्तृत है कि फ्रेंच उद्गम के शब्दो का प्रयोग किए बिना अधिकतर विषयो पर अभिव्यक्ति प्राय असभव हो गई है। यही नही, अन्य भाषाओ से शब्द ग्रहण करना अंग्रेजी का विशेष गुण हो गया। क्योकि फ्रासीसी प्रभुत्व काल मे गृहीत अधिकाश फ्रेंच शब्दो का मूल लातीनी था, इसलिये सीधे लातीनी से शब्द लेने का द्वार प्रशस्त हो गया। 'ज्ञान के पुनर्जागरण काल' (रिवाइवल ऑव लर्निंग) मे अनेक लातीनी तथा यूनानी शब्द अंग्रेजी भाषा मे प्रविष्ट हुए। सन् १६६० ई० में इग्लैंड में राजतत्र के पुन स्थापन (दि रेस्टोरेशन) के पश्चात् फ्रेंच शब्दो की दूसरी बाढ चार्ल्स द्वितीय के फ्रेंच प्रवास से स्वदेश पुनरागमन के साथ आई, क्योकि उसने अपने राजदरबार को फ्रासीसी रग मे रँग दिया। १९वी शताब्दी में फिर फ्रासीसी, लातीनी और यूनानी शब्दो के बडे बडे समूह अंग्रेजी मे आकर मिले। किंतु आधुनिक अंग्रेजी के शब्दभाडार मे वृद्धि करनेवाली केवल ये ही भाषाएँ नही है। यूरोपीय भाषाओ मे से शब्द देनेवाली अन्य उल्लेखनीय भाषाएँ डच, जर्मन, इतालीय, स्पेनी और पुर्तगाली है। एशिया की भाषाओ में चीनी, जापानी, फारसी, अरबी, मलयालम, सस्कृत तथा उसकी वशज आधुनिक भारतीय भाषाओ, द्रविड तथा पोलीनेशियाई भाषाओ को भी यह गौरव प्राप्त है।

इस वृहत् शब्दकोश से भाषा के मुहावरे की शुद्धता दूषित होने लगी जिसके कारण कितने ही वर्गो की ओर से स्वाभाविक विरोध उठ खडा हुआ। पुनर्जागरण काल मे (१५वी शताब्दी के यूरोप में वह युग जिसमे कला तथा साहित्य का पुनर्जन्म हुआ और जिससे मध्ययुगीन यूरोपीय सभ्यता का अत तथा आधुनिक सभ्यता का आरभ हुआ) ऐसे भी विशुद्धतावादी थे जो लातीनी शब्दो को भारी सख्या मे ग्रहण करने के विरोधी थे। १७वी सदी के उत्तरार्ध तथा १८वी शताब्दी मे निरतर अनेक आलोचको तथा साहित्यकारो को शिकायत थी कि शब्दो और भाषा के मुहावरो के साथ खिलवाड किया जा रहा है। वास्तव मे १८वी शताब्दी में ही भाषा को प्राजल तथा परिमार्जित करके उसे अपरिवर्तनशील और टकसाली बनाने के सतत प्रयत्न किए गए। कतिपय समानित लेखको ने तो भाषा के विकास पर नजर रखने और उसको नियत्रित करने के लिये फ्रेंच अकादमी की ही भाँति एक अकादमी स्थापित करने के पक्ष मे आवाज उठाई। इस काल मे प्रथम बार यथेष्ट सख्या मे जो शब्दकोश और व्याकरण प्रकाशित हुए, वे भाषा को नियत्रित करने मे बहुत कुछ सहायक हुए, किंतु उसे अपरिवर्तनशील बनाने के सभी प्रयत्न विफल हुए।

विशेष रूप से १९वी शताब्दी मे ब्रिटिश शक्ति तथा प्रभाव के फलस्वरूप सभी भागो से न केवल अनेक शब्द ही अंग्रेजी में प्रविष्ट हुए, वरन् ससार के विभिन्न भागो मे अंग्रेजी के नवीन रूपो का प्रादुर्भाव भी होने लगा। फलस्वरूप आज अंग्रेजी भाषा के इग्लिश रूप के अतिरिक्त अमरीकी, आस्ट्रेलियाई तथा भारतीय आदि रूप भी है।

समस्त ससार की भाषाओ से शब्द लेकर बनी अंग्रेजी की मिश्रित शब्दराशि ने सम्यक् रूप से इस भाषा को अत्यत सपन्न बना दिया है और इसे वह लोच और शक्ति प्रदान की है जो उसे अन्यथा उपलब्ध नही होती। उदाहरणार्थ अंग्रेजी मे आज अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते है जिनके परस्पर अर्थो मे बारीक भेद है, यथा ब्रदरली और फ्रैटरनल, हार्टी और कॉर्डियल, लोनली और सॉलिटरी। अनेक उदाहरण वर्णसकर शब्दो के भी है जिनका एक अग अंग्रेजी है तो दूसरा लातीनी या फ्रासीसी, जैसे ईटेबिल या श्रिकेज, (shrinkage) जिनमे मूल शब्द देशी हैं, और प्रत्यय विदेशी। इसके विपरीत ब्यूटीफुल या कोर्टली जैसे शब्दो में मूल शब्द विदेशी है और प्रत्यय देशी। विशुद्धतावादियो ने समय समय पर इस प्रकार के शब्दनिर्माण का और देशी शब्दो के स्थान पर विदेशी शब्दो को ग्रहण करने की प्रवृत्ति का भी विरोध किया, जैसे हैंडबुक के स्थान पर मैनुअल अथवा लीचक्राफ्ट (leachcraft) के स्थान पर मेडिसिन का प्रयोग करना। यद्यपि यह अवश्य सच है कि अंग्रेजी भाषा ने समस्त पद बनाने एव धातु से शब्द निर्माण करने की अपनी उस सहजता को बहुत कुछ खो दिया जो इसके

जर्मन वंशज होने का एक विशेष गुण थी, तथापि विविध स्रोतो से अपना शब्दकोश संपन्न करने के फलस्वरूप इसे अत्यधिक लाभ भी हुआ है।

चीनी भाषा के बाद आज अंग्रेजी ही दूसरी ऐसी भाषा है जो सर्वाधिक व्यक्तियों द्वारा बोली जाती है। विगत डेढ सौ वर्षो मे ही इसका प्रयोग दस गुना बढ गया है, और विस्तार की दृष्टि से यह ससार मे चीनी से भी अधिक भूभागो में बोली जाती है। इस प्रकार अंग्रेजी किसी भी अन्य भाषा की अपेक्षा अंतर्राष्ट्रीय भाषा होने के निकट है। उसका साहित्य ससार में सर्वाधिक संपन्न है, और यह निश्चय ही प्रथम श्रेणी का है। इसका व्याकरण अत्यत सरल है। इसकी विपुल शब्दराशि विश्वव्यापी है।

साथ ही इसमे भी कोई सदेह नही कि यदि कोई विदेशी इस भाषा में पारगत होना चाहता है तो इसके शब्दो का अराजक वर्णविन्यास, जिसके सबध मे उच्चारण पर कम से कम भरोसा किया जा सकता है, और इसके मुहावरो की बारीकी उसके मार्ग में रोडे बनकर सामने आती है। फिर भी अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और सपर्क के निमित्त सार्वभौमिक माध्यम के रूप मे अधिक से अधिक लोग अंग्रेजी भाषा सीखने के लिये आकर्षित हो रहे हैं और भविष्य मे भी होते रहेंगे।

सं०ग्रं०—एच० ब्रैडले दि मेकिंग ऑव इंग्लिश (लदन, १९०४), ओ० जेस्पर्सन ग्रोथ ऐंड स्ट्रक्चर ऑव दि इंग्लिश लैंग्वेज (लाइप्जिग, १९१९), एस० पॉटर आवर लैंग्वेज (पेंग्विन बुक्स), ए० सी० बी ए हिस्ट्री ऑव इंग्लिश लिटरेचर (न्यूयार्क, १९३५), ई० क्लैसेन आउटलाइन ऑव दि हिस्ट्री ऑव दि इंग्लिश लैंग्वेज (मैंचेस्टर, १९१९), एच० सी० वील्ड ए शार्ट हिस्ट्री ऑव इंग्लिश (लदन, १९१४), एच० सी० वील्ड दि ग्रोथ ऑव इंग्लिश (लदन, १९३४), सी० एल० रेन दि इंग्लिश लैंग्वेज (लदन, १९४९), जी० एच० मैकनाइट इंग्लिश इन दि मेकिंग (न्यूयार्क, १९२८), एस० राबर्टसन और एफ० जी० कैसिडी दि डेवेलपमेंट ऑव माडर्न इंग्लिश (न्यूजर्सी, द्वितीय संस्करण, १९५७), बी० ग्रूम ए शार्ट हिस्ट्री ऑव इंग्लिश वर्ड्स (लदन, १९२६), मेरी सरजीस्टन ए हिस्ट्री ऑव दि फारेन वर्ड्स इन इंग्लिश (लदन, १९३५), जे० ए० शीयर्ड दि वर्ड्स वी यूज़ (लदन, १९५४)
[फी० ई० द०]

अंग्रेजी विधि

प्राचीनतम अंग्रेजी कानून केंट के राजा एथेलबर्ट के है जो सन् ६०० ई० के लगभग प्रकाशित हुए। ऐसा अनुमान है कि एथेलबर्ट के कानून केवल अंग्रेजी में ही नही वरन् समस्त ट्यूतनी भाषाओ मे लिपिबद्ध किए जानेवाले सर्वप्रथम कानून थे। बेडा के मतानुसार एथेलबर्ट ने अपने कानूनो को रोम के आदर्शो पर ही लिपिबद्ध किया था। धर्म सबधी प्रनियम ही सभवत उपर्युक्त कानून के आधार थे। सन् ६८० ई० मे ह्लोथर और ईड्रिक ने तथा सन् ७०० ई० के लगभग विदरीड ने उनमें वृद्धि की। सन् ६९० ई० मे राजा आइन ने विज्ञजनो की मत्रणा से कुछ कानून प्रकाशित किए। तदुपरात दो शताब्दियो तक कोई नया कानून नही बना। इस दीर्घ अतराल के पश्चात् सन् ८९० ई० मे अलफ्रेड के कानून का सृजन हुआ। इस समय से कानून की अविच्छिन्न शृखला का प्रारभ हुआ जो ११वी शताब्दी तक बनी रही तथा जिसमे एडवर्ड दि एल्डर, ऐथेल्स्टन, एडमड, एडगर और एथेलरेड ने योग दिया। कानून की इस परपरा की इति डेनी राजा कैन्यूट के काल मे हुई जिसको कानून का विशद एव विस्तृत सग्रह प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त है।

ऐंग्लोसैक्सन कानून निरतर कई शताब्दियो तक पाडुलिपि के आँचल में छिपे पडे रहे। १६वी शताब्दी मे उनको खोज निकाला गया और सन् १५६८ ई० में लैंबर्ड ने उनको 'आरकायोनोमिया' नाम से प्रकाशित किया। सन् १८४० मे उनका आधुनिक अंग्रेजी भाषा मे अनुवाद 'एशेंट लाज़ ऐंड इंस्टिट्यूट्स ऑव इग्लैंड' शीर्षक से प्रकाशित हुआ।

नार्मन विजय अंग्रेजी कानून के इतिहास में सर्वोपरि महत्व की घटना है। १२वी शताब्दी में अंग्रेजी कानून तीन विभिन्न शाखाओ में विभाजित हो गया—वेस्ट-सैक्सन, अमरीकी तथा डेनी। नार्मन लोगो के पास अपनी कोई सुव्यवस्थित विधिप्रणाली नही थी और जो कुछ उनका अपना कहने को था भी वह अंग्रेजी विधिप्रणाली के समक्ष नगण्य था। अतएव नार्मन कानून अंग्रेजी कानून को अवक्रमित न कर सका। फलस्वरूप अंग्रेजी विधिप्रणाली के स्वरूप एव क्रियाशीलता मे कोई परिवर्तन नही हुआ। विजयी विलियम ने अंग्रेजी कानून की पुष्टि की, यही सन् ११०० ई० मे हेनरी प्रथम ने किया। विधिज्ञो ने एडवर्ड के कानूनो की समालोचना की जिसके फलस्वरूप कानून के तीन सकलन प्रकाशित हुए। इनमे 'लेगिस ह्यूरिसाइ प्राइमि' अत्यत महत्वपूर्ण है। दूसरी महत्व की बात यह थी कि नार्मन विजेताओ ने भूमि के सबध मे उन्ही विधिनियमो को अपनाया जिनका प्रयोग अंग्रेज भस्वामी किया करते थे। इसका प्रमाण प्रसिद्ध ग्रथ 'डूम्सडे बुक' तथा नार्मन सम्राटो के घोषणापत्रों में मिलता है। फिर भी नार्मन विचारधारा का समुचित प्रभाव अंग्रेजी कानून पर पडा। न्यायालयो मे फ्रेंच भाषा का प्रयोग होने लगा। कानूनी पुस्तको की रचना तथा विधिप्रतिवेदन भी कई शताब्दियो तक फ्रेंच मे ही होता रहा। हेनरी द्वितीय को अंग्रेजी कानून के इतिहास में विशिष्ट स्थान प्राप्त है। वह महान् शासक और विधाननिर्माता था। उसके कई विधिनियम तथा समयादेश प्राप्त हुए है।

ऐंग्लोसैक्सन कानून में धर्म सबधी मामलो को छोडकर अन्य किसी दिशा मे रोमन न्यायशास्त्र का प्रभाव देखने में नही आता। निस्सदेह रोमन न्यायप्रणाली ब्रिटेन मे जड नही पकड सकी परतु रोमन परपराओ का समुचित प्रभाव उसपर पडा। कानून के विकास में जिस प्रमुख शक्ति ने कार्य किया वह चर्च (धर्म) कैथोलिक मतावलबी होने के नाते रोमन प्रभाव से आच्छादित था। उदाहरणार्थ इच्छापत्र रोम की देन था जिसका प्रचलन चर्च (धर्म) के प्रभाव से हुआ। इसके अतिरिक्त, धर्म सबधी न्यायालय केवल धार्मिक मामलो में ही हस्तक्षेप नही करते थे वरन् उनका क्षेत्राधिकार विवाह, रिक्थपत्र आदि जीवन के अन्य महत्वपूर्ण अगो पर भी था।

११वी शताब्दी में लोगो का ध्यान एक बार पुन विधिग्रथो की ओर आकृष्ट हुआ। सन् ११४३ ई० मे आर्चबिशप थियोबाल्ड की छत्रछाया में वकेरियस नाम के एक वकील ने इंग्लैंड मे रोमन विधिप्रणाली पर व्याख्यान दिए जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव हेनरी के सुधारो में मिलता है। हेनरी के शासनकाल से न्यायाधिकरण का महत्व उत्तरोत्तर क्षीण होता गया और सम्राट् का निजी न्यायालय सभी व्यक्तियो एव वादो के लिये प्रथम न्यायालय बन गया। इसके परिणामस्वरूप साम्राज्य-विधि-प्रणाली का विकास हुआ।

सन् ११६६ ई० मे क्लैरेंडन के निषेधादेश द्वारा, जो सन् १११६ ई० मे सशोधनो सहित पुन प्रकाशित हुआ, हेनरी ने दड-प्रक्रिया-प्रणाली में अनेक महत्वपूर्ण सुधार किए तथा न्यायसभ्य द्वारा अन्वेषण प्रणाली का सूत्रपात किया। सन् ११८१ ई० मे आयुधनिषेधादेश द्वारा प्राचीन सैनिक शक्ति को मान्यता दी गई। सन् ११८४ ई० मे एक अन्य निषेधादेश द्वारा राजा के वन सबधी अधिकारो की परिभाषा की गई। तदनतर एक व्यवस्थित करप्रणाली चालू की गई।

हेनरी के काल की विधिक्रियाशीलता के दृष्टात दो प्रमुख ग्रथो में मिलते है। प्रथम ग्रथ का नाम है 'दायोलोगस दि स्कैकेरियो' जिसकी रचना रिचर्ड फिट्ज नील द्वारा हुई। दूसरा ग्रथ, जिसकी रचना रैनल्फ ग्लानविल ने की, अंग्रेजी न्यायप्रणाली का प्रथम प्राचीन ग्रथ है जिसमें राजकीय न्यायालय की कार्रवाई का सही चित्रण किया गया।

हेनरी के पश्चात्, रिचर्ड के काल मे भी न्याय प्रशासन का कार्य मुख्यतया राजा के निजी न्यायालय द्वारा होता रहा। परतु राजा की अनुपस्थिति मे प्रशासन कार्य न्यायाधीशो द्वारा सपन्न होने लगा और समस्त कार्रवाई के शासकीय अभिलेख रखे जाने लगे। हेनरी तृतीय के समय मे महाधिकारपत्र प्रकाशित हुआ जिससे अंग्रेजी अनुविधि प्रणाली का सूत्रपात हुआ। सन् १२२५ ई० के महाधिकारपत्र (मैग्ना कार्टा) को अनुविधि पुस्तक में प्रथम स्थान मिला और हेनरी चतुर्थ के काल तक उसकी निरतर पुष्टि होती रही।

हेनरी तृतीय के राज्यकाल मे सामान्य विधिप्रणाली को निश्चित रूपरेखा मिली और सपूर्ण साम्राज्य मे उसका विस्तार हुआ। न्यायाधीशो के समक्ष विभिन्न प्रकार के वाद प्रस्तुत होते थे और उनके निर्णय के लिये नए नए उपायो की खोज होती थी। इस प्रकार वादजनित विधि

का सूत्रपात हुआ। न्यायाधीश निर्मित कानूनों की सत्ता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। ब्रैक्टन की पुस्तक में, जिसकी रचना सन् १२५०-१२६० ई० के मध्य में हुई, प्राय: पाँच सौ निर्णयों का उल्लेख है।

अंग्रेजी कानून के इतिहास में एडवर्ड प्रथम के राज्यकाल का (१२७२-१३०७) अद्वितीय स्थान है। उसके समय में सार्वजनिक कानून में तो अनेक महत्वपूर्ण नियमों का समावेश हुआ ही, साथ साथ निजी कानूनों में भी महान् परिवर्तन हुए। एडवर्ड की दो अनुविधियाँ आज भी भूमि संबंधी कानून का स्तंभ बनी हुई हैं। इसके अतिरिक्त, उसके राज्यकाल में कानूनी व्यवसाय ने भी निश्चित रूप ग्रहण किया और विधि-निर्माण पर उसका शक्तिशाली प्रभाव पड़ने लगा। १४वीं तथा १५वीं शताब्दी में अंग्रेजी अनुविधि प्रणाली की प्रगति धीमी पड़ गई परंतु विधि-प्रतिवेदन का कार्य निरंतर होता रहा। 'इयर बुक' तथा 'इन्स आव कोर्ट' इस काल की प्रमुख देन है।

साधारण वादों के निमित्त न्यायालयों के होते हुए भी अवशेष न्यायप्रशासन की शक्ति राजा में निहित रही। उसके अंतर्गत राजा के विचारपति (चांसरी) न्यायप्रार्थी के मामलों का असाधारण रीति से निर्णय करने लगे। विचारपति के समक्ष प्रक्रिया संक्षिप्त होती थी और वह किसी विधि नियम का पालन करने के लिये बाध्य नहीं था, उसका निर्णय केवल आत्मप्रेरणा के आधार पर होता था। [श्री० अ०]

अंग्रेजी साहित्य

आदियुग के अंग्रेजी साहित्य के तीन स्पष्ट आयाम हैं ऐंग्लो-सैक्सन, नार्मन-विजय से चॉसर तक, चॉसर से पुनर्जागरण काल तक।

ऐंग्लो-सैक्सन—इंग्लैंड में बसने के समय ऐंग्लो-सैक्सन कबीले बर्बरता और सभ्यता के बीच की स्थिति में थे। आखेट, समुद्र और युद्ध के अतिरिक्त उन्हें कृषिजीवन का भी अनुभव था। अपने साथ वे अपने वीरों की कथाएँ भी लेते आए। ट्यूटन जाति के सारे कबीलों में ये कथाएँ सामान्य रूप से प्रचलित थीं। वे देशों की सीमाओं में नहीं बँधी थीं। इन्हीं गाथाओं से सातवीं शताब्दी में कविता के रूप में अंग्रेजी साहित्य का प्रारंभ हुआ। इसलिये डब्ल्यू० पी० कर के शब्दों में "ऐंग्लो-सैक्सन साहित्य पुरानी दुनिया का साहित्य है।" लेकिन इस समय तक ऐंग्लो-सैक्सन लोग ईसाई बन चुके थे। इन गाथाओं के रचयिता भी आम तौर से पुरोहित हुआ करते थे। इसलिये इन गाथाओं में वर्णित शौर्य और पराक्रम पर धार्मिक रहस्य, विनय, करुणा, सेवा इत्यादि के भाव भी आरोपित हुए। ऐंग्लो-सैक्सन कविता का शुद्ध धर्मविषयक अंश भी इन गाथाओं के रूप से प्रभावित है।

इन गाथाओं में शौर्य के साथ शैली का भी अतिरंजन है। ऐंग्लो-सैक्सन भाषा काफी अनगढ़ थी। गाथाओं में कवि उसे अत्यंत कृत्रिम बना देते थे। छंद के आनुप्रासिक आधार के कारण भरती के शब्दों का आ जाना अनिवार्य था। मुखर व्यंजनों की प्रचुरता से संगीत या लय में कठोरता है। विषयों और शैली की संकीर्णता के बीच अंग्रेजी कविता का विकास असंभव था। नार्मन-विजय के बाद इसका ऐसा कायाकल्प हुआ कि अनेक विद्वानों ने इसमें और बाद की कविता में वंशगत संबंध जोड़ना अनुचित कहा है।

दूसरी ओर अंग्रेजी गद्य में जिसका उदय कविता के बाद हुआ, विकास की क्रमिक और अटूट परंपरा है। ईसाई संसार की भाषा लातीनी थी और इस काल का प्रसिद्ध गद्यलेखक बीड इसी भाषा में लिखता था। ऐंग्लो-सैक्सन में गद्य का प्रारंभ अलफ्रेड के जमाने में लातीनी के अनुवादों तथा उपदेशों और वार्ताओं की रचना से हुआ। गद्य की रचना शिक्षा और ज्ञान के लिये हुई थी। इसलिये इसमें ऐंग्लो-सैक्सन कविता की कृत्रिमता और अन्य शैलीगत दोष नहीं हैं। उसकी भाषा लोकभाषा के अधिक समीप थी। ऐंग्लो-सैक्सन कविता की तरह बादवाले युगों से उसका संबंधविच्छेद करना असंभव है। लेकिन इस युग के पूरे साहित्य में लालित्य का अभाव है।

नार्मन-विजय से चॉसर तक—चॉसर-पूर्व मध्यदेशीय अंग्रेजी काल न केवल इंग्लैंड में ही बल्कि यूरोप के अन्य देशों में भी फ्रांस के साहित्यिक नेतृत्व का काल है। १२वीं से लेकर १४वीं शताब्दी तक फ्रांस ने इन देशों को विचार, संस्कृति, कल्पना, कथाएँ और कविता के रूप दिए। धर्मयुद्धों के इस युग में सारे ईसाई देशों की बौद्धिक एकता स्थापित हुई। यह सामंती व्यवस्था तथा शौर्य और औदार्य की केंद्रीय मान्यताओं के विकास का युग है। नारी के प्रति प्रेम और पूजाभाव, साहस और पराक्रम, धर्म के लिये प्राणोत्सर्ग, असहायों के प्रति करुणा, विनय आदि ईसाई नाइटों (सूरमाओं) के जीवन के अभिन्न अंग माने गए। इसी समय फ्रांस के चारणों ने प्राचीनकालीन पराक्रमगाथाओं (chansons de geste) और प्रेमगीतों की रचना की, तथा लातीनी, ट्यूटनी, केल्टी, अपरी, कॉर्नी और फ्रेंच गाथाओं का व्यापक उपयोग हुआ। फ्रांस की गाथाओं में कर्म की, ब्रिटेन की गाथाओं में भावुकता और शृंगार की और लातीनी गाथाओं में इन सभी तत्वों की प्रधानता थी। साहित्य में कोमलता, माधुर्य और गीति पर जोर दिया जाने लगा।

इस युग में अंग्रेजी भाषा ने अपना रूप सँवारा। उसमें रोमांस भाषाओं, विशेषत: फ्रेंच के शब्द आए, उसने कविता में कर्णकटु आनुप्रासिक छंद-रचना की जगह तुकों को अपनाया, उसके विषय व्यापक हुए—संक्षेप में, उसने चॉसर-युग की पूर्वपीठिका तैयार की।

गद्य के लिये भाषा के मँजे मँजाए और स्थिर रूप की आवश्यकता होती है। पुरानी अंग्रेजी के रूप में विघटन के कारण इस युग का गद्य पुराने गद्य जैसा संतुलित और स्वस्थ नहीं है। लेकिन रूपगत अस्थिरता के बावजूद इस युग के धार्मिक और रोमानी गद्य ने विचारों की दृष्टि से ऐंग्लो-सैक्सन गद्य की परंपरा को विकसित किया।

चॉसर से पुनर्जागरण तक—चॉसर ने इस युग की काव्यपरंपरा को आधुनिक युग से संबद्ध किया। उसने फ्रेंच कविता से लालित्य और इटली की समकालीन कविता से 'आधुनिक बोध' लिया। कविता में यथार्थवाद को जन्म देकर उसने अंग्रेजी कविता को यूरोप की कविता से भी आगे कर दिया। इसलिये उसे समझने के लिये पुरानी ऐंग्लो-सैक्सन दुनिया और उसकी कविता की जगह मध्ययुगीन फ्रांस और आधुनिक इटली की साहित्यिक हलचल को जान लेना जरूरी है। उसके बाद और एलिज़ाबेथ-युग से पहले कोई बड़ा कवि नहीं हुआ।

इस युग में लातीनी और फ्रेंच साहित्य के अनुवादों और मौलिक रचनाओं के माध्यम से गद्य का रूप निखर चला। लेखकों ने लातीनी और फ्रेंच गद्य की वाक्यरचना और लय को अंग्रेजी गद्य में उतारा। १३६२ में अंग्रेजी को राजभाषा का सम्मान मिला और धर्म के घेरे को तोड़कर गद्य का रुख आम लोगों की ओर हुआ। गद्य ने विज्ञान, दर्शन, धर्म, इतिहास, राजनीति, कथा और यात्रावर्णन के द्वारा विविधता प्राप्त की। १५वीं शताब्दी के अंत तक आते आते मैंडेविल, चॉसर, विक्लिफ, फार्टेस्क्यू, कैक्स्टन और मैलोरी जैसे प्रसिद्ध गद्यनिर्माताओं ने अंग्रेजी गद्य की नींव मजबूत बना दी।

१५वीं शताब्दी अंग्रेजी नाटक का शैशव काल है। धर्मोपदेश और सदाचारशिक्षा की आवश्यकता, नगरों के विकास और शक्तिशाली श्रेणियों (गिल्ड) के उदय के साथ नाटक गिरजाघर के प्राचीरों से निकलकर जनपथ पर आ खड़ा हुआ। इन नाटकों का संबंध बाइबिल की कथाओं (मिस्ट्रीज़) कुमारी मेरी और संतों की जीवनियों (मिरैकिल्स), सदाचार (मॉरैलिटीज़) और मनोरंजक प्रहसनों (इंटरल्यूड्स) से है। धर्म के संकुचित क्षेत्र में रहनेवाले और रूप में अनगढ़ इन नाटकों को एलिज़ाबेथ-युग के महान् नाटकों का पूर्वज कहा जा सकता है।

पुनर्जागरण—विचारों और कल्पना के अविराम मंथन, विधाओं में प्रयोगों की विविधता और कृतित्व की प्रौढ़ता की दृष्टि से पुनर्जागरण काल अंग्रेजी साहित्य का स्वर्ण युग है। सांस्कृतिक दृष्टि से यह युग आधिभौतिकता के विरुद्ध भौतिकता, मध्ययुगीन सामंती अंकुशों के विरुद्ध मननशील व्यक्तिवाद, अंधविश्वास के विरुद्ध विज्ञान के संघर्ष का युग है। पुनर्जागरण ने इंग्लैंड को इटली, फ्रांस, स्पेन और जर्मनी के काफी बाद आंदोलित किया। १५०० से १५८० तक का समय मानवतावाद के विकास और प्राचीन यूनान तथा इटली के साहित्यिक आदर्शों को आत्मसात् करने का है। लेकिन १५८० और १६६० के बीच कविता, नाटक और गद्य में अद्भुत उत्कर्ष हुआ। १५८० के पूर्व महान् व्यक्तित्व केवल चॉसर का है। १५८० के बाद स्पेंसर, शेक्सपियर, बेकन और मिल्टन की महान् प्रतिभाओं से कुछ ही नीचे स्तर पर नाटक में मार्लो, बेन जॉन्सन और वेब्स्टर, गद्य में हूकर, बर्टन और टॉमस

ब्राउन, कविता में बेन जॉन्सन और डन हैं। शैली और वस्तु में चित्र-विचित्रता की दृष्टि से नाटकों में लिली, पील और ग्रीन की 'दरबारी कामेडी', शेक्सपियर की रोमानी कामेडी, बोमाट और फ्लेचर की ट्रेजी-कामेडी और बेन जॉन्सन की यथार्थवादी कामेडी, कविता में अनेक कवियो के प्रेम संबंधी कथाबद्ध सॉनेट, स्पेंसर की रोमानी कविता, डन और अन्य 'आध्यात्मिक' (मेटाफिजिकल) कवियों की दुरूह कल्पनापूर्ण कविताएँ, बेन जॉन्सन और दरबारी कवियो के प्राजल गीत तथा मिल्टन के भव्य और उदात्त महाकाव्य, गद्य में इटली और स्पेन से प्रभावित लिली और सिडनी की अलंकृत शैली की रोमानी कथाएँ तथा नैश और डेलोनी के साहसिकतापूर्ण यथार्थवादी उपन्यास, बेकन के निबंध (एसे), बाइबिल का महान् अनुवाद, बर्टन का मनोवैज्ञानिक, सूक्ष्म किंतु सुहृद सा अतरंग गद्य, सिडनी और बेन जॉन्सन की गद्य आलोचनाएँ, मिल्टन का ओजपूर्ण और आक्रोशपूर्ण प्रलंबित वाक्यो का भव्य गद्य, टॉमस ब्राउन का चिंतनपूर्ण किंतु संगीततरल गद्य इस युग की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ हैं। मानव-बुद्धि और कल्पना की तरह ही यह युग अभिव्यक्ति के महत्वाकाक्षी प्रसार का युग है।

१६६० और शताब्दी के अंत के बीचवाले वर्ष बुद्धिवाद के अंकुरण के है। पुनर्जागरण का प्रभाव शेष रहता है, उसके अंतिम और महान् कवि मिल्टन के महाकाव्य १६६० के बाद ही लिखे गए, स्वयं ड्राइडन मे मानवतावादी प्रवृत्तियाँ है। लेकिन एक नया मोड सामने है। बुद्धिवाद के अतिरिक्त यह चार्ल्स द्वितीय के पुनर्राज्यारोहण के बाद फ्रेंच रीतिवाद के उदय का युग है। फ्रेंच रीतिवाद तथा 'प्रेम' और 'सम्मान' (लव ऐंड ऑनर) के दरबारी मूल्यो से प्रभावित इस युग का नाटक अनुभूति और अभिव्यक्ति मे निर्जीव है। दूसरी ओर मध्यवर्गीय यथार्थवाद से प्रभावित विकर्ली और कांग्रीव के सामाजिक प्रहसन अपनी सजीवता, स्वाभाविक किंतु पैनी भाषा और तीखे व्यंग्य में अद्वितीय हे। ऊँचे मध्यवर्ग के यांत्रिक बुद्धिवाद और अनैतिकता के विरुद्ध निम्न मध्यवर्गीय नैतिकता और आदर्श का प्रतीक जॉन बन्यन का रूपक उपन्यास 'दि पिल्ग्रिम्स प्रोग्रेस' है। आलोचना मे रीतिवाद का प्रभाव शेक्सपियर के रोमानी नाटको के विरुद्ध राइमर की आलोचना से स्पष्ट है। उस युग की सबसे महत्वपूर्ण आलोचना कृति मानवतावादी स्वतंत्रता और रीतिवाद के समन्वय पर आधारित ड्राइडन का नाटक-काव्य-संबंधी निबंध है। वर्णन मे यथार्थवादी गद्य के विकास में सैमुएल पेपीज़ की डायरी की भूमिका भी स्मरणीय है। संक्षेप मे, १७वी शताब्दी के इन अंतिम वर्षो के गद्य और पद्य मे स्वच्छता और संतुलन है, लेकिन कुल मिलाकर यह महानता-विरल-युग है।

१८वी शताब्दी रीतिवादी युग—यह शताब्दी तर्क और रीति का उत्कर्षकाल है। लायबनीज, दकार्त और न्यूटन ने कार्य कारण की पद्धति द्वारा तर्कवाद और यांत्रिक भौतिकवाद का विकास किया था। उनके अनुसार सृष्टि और मनुष्य नियमानुशासित थे। इस दृष्टिकोण मे व्यक्तिगत रुचि के प्रदर्शन के लिये कम जगह थी। इस युग पर हावी फ्रेंच रीतिकारो ने भी साहित्यिक प्रक्रिया को रीतिबद्ध कर दिया था।

इस युग ने धर्म को धर्म की जगह रखा और मनुष्य के साधारण सामाजिक जीवन, राजनीति, व्यावहारिक नैतिकता इत्यादि पर जोर दिया। इसलिये इसका साहित्य काम की बात का साहित्य है। इस युग ने बात को साफ सुथरे, सीधे, नपे तुले, पैने शब्दो मे कहना अधिक पसंद किया। कविता मे यह पोप और प्रायर के व्यंग्य का युग है।

तर्क की प्रधानता के कारण १८वी शताब्दी को गद्ययुग कहा जाता है। सचमुच यह आधुनिक गद्य के विकास का युग है। दलगत संघर्षो, कॉफी-हाउसों और क्लबों मे अपनी शक्ति के प्रति जागरूक मध्यवर्ग की नैतिकता ने इस युग में पत्रकारिता को जन्म दिया। साहित्य और पत्रकारिता के समन्वय ने एडिसन, स्टील, डिफो, स्विफ्ट, फील्डिंग, स्मॉलेट, जॉनसन और गोल्डस्मिथ की शैली का निर्माण किया। इससे कविता के व्यामोह से मुक्त, रचना के नियमो में दृढ, बातचीत की आत्मीयता लिए हुए छोटे छोटे वाक्यो के प्रवाहमय गद्य का जन्म हुआ। जहर में बुझे तीर की तरह स्विफ्ट के गद्य को छोडकर अधिकाश लेखकों में व्यंग्य की उदार शैली है।

आलोचना मे पहली बार चॉसर, स्पेंसर, शेक्सपियर, मिल्टन इत्यादि को विवेक की कसौटी पर कसा गया। रीति और तर्क की पद्धति रोमैंटिक साहित्यकारो के प्रति अनुदार हो जाया करती थी, लेकिन आज भी एडिसन, पोप और जॉन्सन की आलोचनाओ का महत्व है। गद्य मे शैली की अनेक-रूपता की दृष्टि से इस युग ने ललित पत्रलेखन मे चेस्टरफील्ड और वालपोल, संस्मरणों में गिबन, फैनी बर्नी और बॉजवेल, इतिहास मे गिबन, दर्शन में बर्कले और ह्यूम, राजनीति मे बर्क, और धर्म मे बटलर जैसे प्रसिद्ध शैलीकार पैदा किए।

यथार्थवादी दृष्टिकोण के विकास ने आधुनिक अंग्रेजी उपन्यासो को चार प्रसिद्ध धुरियाँ दी—डिफो, रिचर्ड्सन, फील्डिंग और स्मॉलेट। उपन्यास मे यही युग स्विफ्ट, स्टर्न, जेन ऑस्टिन और गोल्डस्मिथ का है। अंग्रेजी कथा साहित्य को यथार्थवाद ने ही, गोल्डस्मिथ और शेरिडन के माध्यम से, कृत्रिम भावुकता के दलदल से उबारा। किंतु यह युग मध्यवर्गीय भावुक नैतिकता से भी अछूता न था। इसके स्पष्ट लक्षण भावुक कामेडी और स्टर्न, जेन ऑस्टिन इत्यादि के उपन्यासो मे मौजूद है। शताब्दी के अंतिम वर्षो में रोमैंटिक कविता की जमीन तैयार थी। ब्लेक और बर्न्स इस युग की स्थिरता मे आँधी की तरह आए।

१९वी शताब्दी रोमैंटिक युग—पुनर्जागरण के बाद रोमैंटिक युग में फिर व्यक्ति की आत्मा का उन्मेषपूर्ण और उल्लसित स्वर सुन पडता है। प्राय रोमैंटिक साहित्य को रीतियुग (क्लासिसिज्म) की प्रतिक्रिया कहा जाता है और उसकी विशेषताओ का इस प्रकार उल्लेख किया जाता है—तर्क की जगह सहज गीतिमय अनुभूति और कल्पना, अभिव्यक्ति मे साधारणीकरण की जगह व्यक्तिनिष्ठता, नगरो के कृत्रिम जीवन से प्रकृति और एकात की ओर मुडना, स्थूलता की जगह सूक्ष्म आदर्श और स्वप्न, मध्ययुग और प्राचीन इतिहास का आकर्षण, मनुष्य मे आस्था, ललित भाषा की जगह साधारण भाषा का प्रयोग, इत्यादि। निश्चय ही इनमें से अनेक तत्व रोमानी कवियो मे मिलते है, लेकिन उनकी महान् सांस्कृतिक भूमिका को समझने के लिये आवश्यक है कि १९वी शताब्दी मे जर्मनी, फ्रांस, स्पेन, इटली, इंग्लैड, रूस और पोलैंड मे जनवादी विचारो के उभार को ध्यान मे रखा जाय। इस उभार ने सामाजिक और साहित्यिक रूढियो के विरुद्ध व्यक्तिस्वातंत्र्य का नारा लगाया। रूसो और फ्रांसीसी क्रांति उसकी केंद्रीय प्रेरणा थे। इंग्लैंड में १९वी शताब्दी के पूर्वार्ध के कवि—वर्ड्स्वर्थ, कोलरिज, शेली, कीट्स, और बायरन—इसी नए उन्मेष के कवि है। लैब, हंट और हैजलिट के निबंधो, कीट्स के प्रेमपत्रो, स्कॉट के उपन्यासो, डी क्विंसी के 'कन्फेशंस ऑव ऐन ओपियम' ईटर में गद्य को भी अनुभूति, कल्पना और अभिव्यक्ति का वही उल्लास प्राप्त हुआ। आलोचना में कोलरिज, लैब, हैजलिट और डी क्विसी ने रीति से मुक्त होकर शेक्सपियर और उसके चरित्रो की आत्मा का उद्घाटन किया। लेकिन व्यक्तित्व आरोपित करने के स्वभाव ने नाटक के विकास मे बाधा पहुँचाई।

विक्टोरिया के युग मे जहाँ एक ओर जनवादी विचारो और विज्ञान का अटूट विकास हो रहा था, वहाँ अभिजात वर्ग क्रातिभीरु भी हो उठा। इसलिये इस युग मे कुछ साहित्यकारो मे यदि स्वस्थ सामाजिक चेतना है तो कुछ में निराशा, संशय, अनास्था, समन्वय, कलावाद, वायवी आशावाद की प्रवृत्तियाँ भी है। व्यक्तिवाद शताब्दी के अंतिम दशक तक पहुँचते-पहुँचते कैथॉलिक धर्म, रहस्यवाद, आत्मरति या आत्मपीडन मे इस तरह लिप्त हो गया कि इस दशक को 'खल' दशक भी कहते है। जनवादी, यथार्थवादी और वैज्ञानिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व मॉरिस ने कविता मे, रस्किन ने गद्य में और ब्राटे बहनो, थैकरे, डिकेन्स, किंग्सली, रीड, जॉर्ज इलियट, टॉमस हार्डी, बटलर आदि ने उपन्यास मे किया। निराशा और पीडा के बीच भी इनमे मानव के प्रति गहरी सहानुभूति और विश्वास हे। शताब्दी के अंतिम वर्षों मे विक्टोरिया युग के रिक्त आदर्शो के विरुद्ध अनेक स्वर उठने लगे थे।

२०वीं शताब्दी—१९वी शताब्दी के अंतिम वर्षो मे मध्यवर्गीय व्यक्तिवाद के उभरते हुए अंतर्विरोध २०वी शताब्दी मे संकट की स्थिति में पहुँच गए। यह इस शताब्दी के साहित्य का केंद्रीय तथ्य हे। इस शताब्दी के साहित्य को समझने के लिये उसके विचारो, भावो और रूपो को प्रभावित करनेवाली शक्तियो को ध्यान मे रखना आवश्यक है। वे शक्तियाँ है नीत्शे, शॉपेनहार, स्पिनोजा, कर्कगार्ड, फ्रायड और मार्क्स, इब्सन, चेखव, फ्रेंच अभिव्यंजनावादी और प्रतीकवादी, गोर्की, सार्त्र और इलियट, दो हो चुके

युद्ध और तीसरे की आशका, फासिज्म, रूस की समाजवादी क्राति,नए देशो मे समाजवाद की स्थापना और पराधीन देशो के स्वातत्र्य सग्राम, प्रकृति पर विज्ञान की विजय से सामाजिक विकास की अमित सभावनाएँ और उनके साथ व्यक्ति की सगति की समस्या।

२०वी शताब्दी में व्यक्तिवादी आदर्श का विघटन तेजी से हुआ है। शा, वेल्स और गाल्सवर्दी ने शताब्दी के प्रारभ में विक्टोरिया युग के व्यक्तिवादी आदर्शो के प्रति सदेह प्रकट किया और सामाजिक समाधानो पर जोर दिया। हार्डी की कविता मे भी उसके विघटन का चित्र है। लेकिन किसी तरह पहले युद्ध के पहले कविता ने विक्टोरिया युग के पैस्टरल आदर्शो को जीवित रखा। दो युद्धो मे व्यक्तिवाद समाज से बिल्कुल टूटकर अलग हो गया। अपनी ही सीमाओ मे सकुचित साहित्यिक ने प्रयोगो का सहारा लिया। टी० एस० इलियट के 'वेस्टलैंड' मे व्यक्ति की कुठा और दीक्षागम्य कविता का जन्म हुआ और आज भी व्यक्तिवाद से प्रभावित अंग्रेजी कवि उसका नेतृत्व स्वीकार करते है। १९३० के बाद मार्क्सवादी विचारधारा और स्पेन के गृहयुद्ध ने अंग्रेजी कविता को नई स्फूर्ति दी। लेकिन दूसरे युद्ध के बाद तीव्र सामाजिक सघर्षो के बीच इस काल के अनेक कवि फिर व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के उपासक हो गए। साथ ही, ऐसे कवियो का भी उदय हुआ जो अपनी व्यक्तिगत मानसिक उलझनो के बावजूद युग की मानव आस्था को व्यक्त करते रहे।

आदर्शवाद के टूटने के साथ ही उपन्यासो मे व्यक्ति की मानसिक गुत्थियो, विशेषत यौन कुठाओ के विरुद्ध भी आवाज उठी। लॉरेंस, जेम्स ज्वॉयस और वर्जीनिया वुल्फ इसी धारा की प्रतिनिधि है। नाटको के क्षेत्र मे भी यथार्थवादी प्रवृत्तियो का विकास हुआ है। नाटको मे काव्य और रोमानी क्रातिकारी विचारो को व्यक्त करने मे सबसे अधिक सफलता अंग्रेजी मे लिखनेवाले आयरलैंड के नाटककारो को मिली है। आलोचना मे शोध से लेकर व्याख्या तक का बहुत बडा कार्य हुआ। प्रयोगवादी साहित्यकारो के प्रधान शिक्षक टी० एस० इलियट, रिचर्ड्स, एम्पसन और लिविस है। इन्होने जीवन के मूल्यो से अधिक महत्व कविता की रचना की प्रक्रिया को दिया है। साधारणतया कहा जा सकता हे कि २०वी शताब्दी के साहित्य मे विचारो की दृष्टि से चिता, भय और दिशाहीनता की और रूप की दृष्टि से विघटन की प्रधानता है। उसमे स्वस्थ तत्व भी हे और उन्ही पर उसका आगे का विकास निर्भर है।

स०ग्र०—कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इग्लिश लिटरेचर, लेगुइ ऐंड कजामिया हिस्ट्री ऑव इग्लिश लिटरेचर। [च० व० सि०]

गद्य

अंग्रेजी गद्य ने अंग्रेजी कविता, नाटक और उपन्यास के समान ही अंग्रेजी साहित्य को समृद्ध किया है। बाइबिल के अनेक वाक्य अंग्रेजी राष्ट्र के मानस पर सदा के लिये गहरे अकित हो गए हे। इसी प्रकार शेक्सपियर, मिल्टन, गिबन, जॉन्सन, न्यूमैन, कार्लाइल और रस्किन के वाक्य अंग्रेज जाति की स्मृति मे गूँजते हे। अंग्रेजी गद्य अनेक साहित्यिक विधाओ द्वारा समृद्ध हुआ हे। इनमे उपन्यास, कहानी और नाटक के अतिरिक्त निबध, जीवनी, आत्मकथा, आलोचना, इतिहास, दर्शन और विज्ञान भी समिलित है।

अंग्रेजी गद्य का सगीत अनेक शताब्दियो से पाठको को मोहता रहा है। यह सगीत बहुधा रोमासवादी और भावनाप्रधान रहा हे। इस गद्य में काव्य का गुण प्रचुर मात्रा मे मिलता है। अंग्रेजी गद्य की तुलना मे फ्रेंच गद्य की गति अधिक सतुलित और सयत रही हे। एक आलोचक का कहना है कि कविता भावना को भाषा देती है, किंतु गद्य विवेक और बुद्धि की वाणी हे।

अंग्रेजी गद्य ऐंग्लो-सैक्सन साहित्य की परपरा का ही विकास है। मध्य युग के बीड (६७२-७३५) अंग्रेजी गद्य के पितामह कहे जा सकते हैं। बीड की 'एक्लेजिएस्टिकल हिस्ट्री' जूलियस सीजर के आक्रमण से लेकर ७३१ई०तक के इग्लैंड का प्राय आठ सौ वर्षो का इतिहास प्रस्तुत करती हे। अंग्रेजी गद्य का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण ग्रथ सर जॉन मैंडेविल की यात्राएँ हे। यात्रावर्णन के रूप मे यह पुस्तक वास्तव मे काल्पनिक गाथा है। सन् १३७७ मे मूल फ्रासीसी से अनूदित होकर यह अंग्रेजी मे प्रकाशित हुई। अंग्रेजी कविता के जनक चॉसर (१३४०-१४००) का गद्य साहित्य भी परिमाण मे काफी है। उनकी 'कैंटरबरी टेल्स' में दो कहानियाँ गद्य में लिखी है।

अंग्रेजी गद्य को विक्लिफ (१३२४-१३८४) की रचनाओ से बहुत प्रेरणा मिली। विक्लिफ अधविश्वासो पर कठोर आघात करता हे। उसने सर्वप्रथम बाइबिल का अनुवाद अंग्रेजी मे किया। इसी के आधार पर बाद मे बाइबिल का सन् १६११ का विख्यात सस्करण तैयार हुआ। विक्लिफ धर्म के क्षेत्र मे स्वतत्र विचारक था। उसके गद्य मे बडी शक्ति है।

१५वी शताब्दी तक इग्लैंड के लेखक लातीनी गद्य मे ही लिखना पसद करते थे और शक्ति तथा प्रतिभा से सपन्न कम गद्य अंग्रेजी मे लिखा गया। ऐसे लेखको मे सर जॉन फॉर्टेस्क्यू (१३९४-१४७६) का नाम उल्लेखनीय है। इन्होने अंग्रेजी विधान की प्रशसा मे एक पुस्तक 'दि गवर्नेन्स ऑव इग्लैंड' लिखी। अंग्रेजी गद्य के इतिहास मे कैक्सटन (१४२१–९१) का नाम विशेष महत्वपूर्ण हे। उन्होने १४७६ मे मुद्रण कार्य आरभ किया और अंग्रेजी गद्य को स्थानीय बोलियो के प्रभाव से मुक्त करके एक निश्चित रूप देने मे बडी मदद की। कैक्सटन ने मध्य युग के अनेक रोमास अंग्रेजी गद्य मे अनुवाद करके प्रकाशित किए। उन्होने फ्रेंच गद्य को अपना आदर्श बनाया और अंग्रेजी गद्य के विकास मे बडा हिस्सा लिया। कैक्सटन के महत्वपूर्ण प्रकाशनो मे सर टॉमस मैलोरी का 'मार्त द' आर्थर' भी था। मैलोरी की पुस्तक अंग्रेजी गद्य के इतिहास मे एक स्मरणीय मील-स्तभ है।

अंग्रेजी पुनर्जागरण के पहले बडे लेखक सर टॉमस मोर (१४७८-१५३५) है। उनकी पुस्तक 'युटोपिया' विश्वविख्यात है, किंतु दुर्भाग्य से इस पुस्तक को उन्होने लातीनी मे लिखा। अंग्रेजी मे उनकी केवल कुछ मामूली रचनाएँ है। उन्ही के बाद इलियट, चीक, ऐस्कम और विल्सन ने अपनी शिक्षासबधी पुस्तके लिखी।

विलियम टिंडेल (१४८४-१५३६) ने सन् १५२२ से बाइबिल का अनुवाद अंग्रेजी मे करना शुरू किया। इस प्रशसनीय कार्य के बदले टिंडेल को निर्वासन और मृत्युदड मिला।

एलिजाबेथ के युग का गद्य कविता के स्तर का ही है। इसके उदाहरण लिली (१४५४-१६०६) और सर फिलिप सिडनी (१५५४-८६) की रचनाओ मे हम पाते है। लिली की 'यूफुइस' और सिडनी की 'आर्केडिया' काव्य के गुणो से समन्वित रचनाएँ है। सिडनी की 'डिफेंस ऑव पोएजी' अंग्रेजी आलोचना की पहली महत्वपूर्ण पुस्तक है।

अंग्रेजी गद्य के विकास मे अगला कदम ग्रीन, लॉज, नैश, डेलूनी आदि के उपन्यासो का प्रकाशन है। इन लेखको ने आत्मकथाएँ और अनेक विवादपूर्ण पुस्तके भी लिखी। उदाहरण के लिये ग्रीन के 'कन्फेशस' का उल्लेख हो सकता है। ओवरबरी और अर्ले नाम के लेखको ने चारित्रिक स्केच लिखे, जिसकी प्रेरणा उन्हें ग्रीक लेखक थियोफ्रॉस्तस से मिली।

अंग्रेजी गद्य साहित्य का एक महत्वपूर्ण अग हमे एलिजाबेथ-कालीन नाटको मे मिलता है। भावना के गहरे क्षणो मे शेक्सपियर के पात्र गद्य मे बोलने लगते है। ग्रीन, जॉन्सन, मार्लो आदि के नाम भी अंग्रेजी गद्य के इतिहास मे महत्वपूर्ण है।

अंग्रेजी गद्य के महान् लेखको मे पहला बडा नाम रिचर्ड हूकर (१५५४-१६००) का है। उनकी पुस्तक 'दि लॉज ऑव एक्लेजिएस्टिकल पॉलिटी' अंग्रेजी गद्य की उन्नायक है। इसी समय (१६११) बाइबिल का सुप्रसिद्ध अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। बाइबिल की भाषा अंग्रेजी गद्य को अनुपम साँचो में ढालती है। वास्तव में यह गद्य काव्य के सगीत से अनुप्राणित है। फ्रासिस बेकन (१५६१-१६२६) अंग्रेजी निबध के जनक तथा इतिहास और दर्शन के गभीर लेखक थे। उनकी रचनाओ में 'दि ऐडवासमेंट ऑव लर्निंग', 'दि न्यू ऐटलैंटिस', 'हेनरी सेवेंथ', 'दि एमेज नोवम् ऑर्गानम' आदि सुप्रसिद्ध हैं। बेकन की भाषा ठोस, गभीर और सूत्र शैली की है।

रिचर्ड बर्टन (१५७६-१६४०) की पुस्तक 'दि एनाटॉमी ऑव मेलैंकली' अंग्रेजी गद्य के इतिहास मे एक विख्यात रचना है। इसका पाडित्य अपूर्व है और एक गहरी उदासी पुस्तक भर में छाई हुई है। इस

युग के एक महान् गद्य लेखक सर टॉमस ब्राउन (१६०५-८२) है। इनके गद्य का सगीत पाठकों को शताब्दियों से मुग्ध करता रहा है। इनकी महत्वपूर्ण रचनाओं मे 'रिलीजिओ मेडिसी' और 'हाइड्रोटैफिया' उल्लेखनीय हैं। जेरेमी टेलर (१६१३-७७) प्रसिद्ध धर्मशिक्षक और वक्ता थे। उनकी उपमाएँ बहुत सुदर होती थी, उनका गद्य कल्पना और भावना से अनुरजित है। उनकी पुस्तकों मे 'होली लिविंग' और 'होली डाइग' प्रसिद्ध हैं।

इस काल के लेखकों मे मिल्टन का नाम अग्रगण्य है। तीस से पचास वर्ष की आयु तक मिल्टन ने केवल गद्य लिखा और तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विवादो में जमकर भाग लिया। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एरोपाजिटिका' मे वे विचारो की अभिव्यक्ति की स्वतत्रता के प्रश्न को ऊँचे धरातल पर उठाते हैं और आज भी उनके विचारो में सत्य की गूँज है। मिल्टन के गद्य मे शक्ति और ओज का अद्भुत सयोग है। १७वी शताब्दी के गद्यलेखकों मे अन्य उल्लेखनीय नाम फुलर (१६०८-६१) और वाल्टन (१५९३-१६८३) के हैं। फुलर धार्मिक विषयो पर लिखते थे। उनकी पुस्तक, 'दि वर्दीज ऑव इग्लैंड' प्रसिद्ध है। वाल्टन की पुस्तक, 'दि कम्प्लीट ऐंग्लर' अग्रेजी साहित्य की अमर रचनाओं मे से है।

ड्राइडन (१६३१-१७००) अग्रेजी के प्रमुख गद्यकारो मे थे। उनकी आलोचना शैली सुलझी हुई और सुव्यवस्थित थी। उनकी गद्य शैली भी फ्रेंच परपरा के निकट है। वह चिंतन को सहज और तर्कसगत अभिव्यक्ति देते है। ड्राइडन की भूमिकाओ के अतिरिक्त उनकी पुस्तक, 'एसे ऑन ड्रैमेटिक पोएजी' सुप्रसिद्ध है। हॉब्स (१५८८-१६७९) के राजनीतिक विचारो का ऐतिहासिक महत्व हे और उनकी पुस्तक 'दि लेवायथान' अग्रेजी भाषा की एक सुप्रसिद्ध रचना हे। पेपीज (१६३२-१७०४) और एवलिन (१६३२-१७०६) की डायरियाँ अग्रेजी साहित्य की निधि हैं। हॉब्स के समान ही लॉक (१६२३-१७०४) के राजनीतिक विचारो का भी ऐतिहासिक महत्व बहुत है।

१८वी शताब्दी मे अग्रेजी गद्य जीवन की गति के सबसे अधिक निकट आया। इसका कारण फ्रेंच साहित्य का बढता हुआ प्रभाव था। स्विफ्ट (१६६७-१७४५) अपनी अमर कृति 'गुलिवर्स ट्रैवेल्स' में अपने समय के मानवीय व्यापारो पर कठोर व्यग करते हैं। उनके गद्य मे बडा ओज और बल है। उनकी अन्य प्रसिद्ध रचनाओं में 'ए टेल ऑव ए टब' और 'दि बैटिल ऑव दि बुक्स' भी उल्लेखनीय हैं। १८वी शताब्दी का साहित्य उठते हुए मध्यवर्ग की भावनाओ को व्यक्त करता है और इसके गद्य की शैली भी इस वर्ग की आवश्यकताओं के अनुरूप सरल और स्पष्ट है। इस युग के सफल गद्यकारो मे डिफो, एडिसन और स्टील है। डिफो (१६६०-१७३१) का उपन्यास 'रॉबिन्सन क्रूसो' अग्रेजी भाषा की विशेष लोकप्रिय रचनाओ मे से है। उनके अन्य उपन्यास 'मॉल फ्लैंडर्स', 'ए जर्नल ऑव दि प्लेग ईयर' आदि यथार्थवादी शैली में ढले हैं। एडिसन (१६७२-१७१९) और स्टील (१६७२-१७२९) मुख्यत निबधकार हैं। उन्होने 'दि टैटलर' और 'दि स्पेक्टेटर' नाम के पत्र निकालकर अग्रेजी साहित्य मे उच्च कोटि की पत्रकारिता की भी नीव रखी।

अग्रेजी साहित्य के इतिहास में डा० जॉन्सन (१७०९-८४) का नाम अविस्मरणीय रहेगा। वे इतिहासकार, निबधकार, आलोचक, कवि और उपन्यासकार थे। उन्होंने एक कोश की भी रचना की। इनकी गद्य कृतियो में 'लाइव्ज ऑव दि पोएट्स', 'रासेलस' और 'प्रीफेमेज़ टु शेक्सपियर' अत्यत महत्वपूर्ण हैं। जॉन्सन की बातचीत भी, जो बॉज़वेल लिखित जीवनी में सकलित है, उनके लेखन से कम महत्व की नही होती थी।

१८वी शताब्दी में अग्रेजी उपन्यास का अपूर्व विकास हुआ। इस काल के उपन्यासकारो मे गोल्डस्मिथ (१७२८-१७७४) भी थे जिन्होने जल के समान तरल गति का गद्य लिखा और अनेक सुदर निबधो की रचना की। इनकी रचनाओ मे 'दि सिटिजन ऑव दि वर्ल्ड', 'दि विकार ऑव वेकफील्ड' आदि सुविख्यात हे। इतिहासकारो में ह्यूम, रॉबर्टसन और गिबन के नाम महत्वपूर्ण हैं। गिबन (१७३७-१७९४) अग्रेजी गद्य के इतिहास में अमर है। शैली और निर्माण शक्ति की दृष्टि से उनका ग्रथ 'डिक्लाइन ऐड फाल ऑव दि रोमन एम्पायर' एक स्मरणीय कृति है। इसी श्रेणी मे प्रसिद्ध विचारक और वक्ता बर्क (१७२९-१७९७) का नाम भी आता है। उनके गद्य में बडी प्रवहमान शक्ति थी। उनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रिफ्लेक्शस ऑन दि फ्रेंच रिवल्यूशन' है।

फ्रासीसी क्राति से प्रभावित रोमैंटिक साहित्य मे मूलत कविता प्रमुख है। रोमैटिक कवियो ने अपने कृतित्व के बचाव मे भूमिकाएँ आदि लिखी। उनमें सबसे महत्वपूर्ण वक्तव्य वर्ड्स्वर्थ का 'प्रीफेस टु दि लिरिकल बैलड्स' कोलरिज की 'बायोग्रैफिया लिटरेरिया' और शैली की पुस्तक 'ए डिफेंस ऑव पोएट्री' है। रोमैटिक युग का गद्य भावना और कल्पना से अनुरजित है।

समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र पर जेरेमी बेथम, रिकार्डो और ऐडम स्मिथ ने ग्रथ लिखे। १९वी शताब्दी में 'एडिनबरा रिव्यू', 'क्वार्टर्ली' और 'ब्लैकवुड' के समान पत्रिकाओ का जन्म हुआ जिन्होंने गद्य साहित्य के बहुमुखी विकास में मदद की। १९वी शताब्दी के प्रमुख निबधकारो और आलोचको में लैंब, हैज़लिट, ली हट और डी क्विसी के नाम अग्रगण्य हैं। लैंब (१७७५-१८३४) अग्रेजी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ निबधकार हैं। उनके निबध 'एसेज ऑव इलिया' के नाम से प्रकाशित हुए। हैज़लिट (१७७८-१८३०) उच्च कोटि के निबधकार और आलोचक थे। डी क्विसी (१७८५-१८५९) की पुस्तक 'कन्फ़ेशस ऑव ऐन ओपियम-ईटर' अग्रेजी साहित्य का अनुपम रत्न है।

विक्टोरिया-युग के प्रारभ से अग्रेजी साहित्य अधिक सतुलन और सयम की ओर अग्रसर होता है और गद्य की शैली भी अधिक सयत हो जाती है, यद्यपि कार्लाइल और रस्किन के से गद्यकारो की रचना में हम रोमैंटिक शैली का प्रभाव फिर देखते हैं।

मिल (१८०६-१८७३) ने अनेक ग्रथ लिखकर दार्शनिक गद्य को समृद्ध किया। इतिहासकारो मे मैकाले (१८००-१८५९) का गद्य बहुरगी और सबल था। उनके ऐतिहासिक निबध बहुत ही लोकप्रिय है। साहित्यालोचन के क्षेत्र में मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२-८८) का कार्य विशेष महत्व का है। आर्नल्ड का चिंतन सुस्पष्ट था और यही स्पष्टता उनकी गद्य शैली की भी विशेषता है। विचारो के क्षेत्र में भी डारविन, हक्सले और हर्बर्ट स्पेंसर की कृतियाँ अग्रेजी गद्य को महत्वपूर्ण देन हैं।

१९वी शताब्दी के गद्यकारो में कार्लाइल, न्यूमैन और रस्किन का उल्लेख अनिवार्य है। इनके लेखन में हमे अग्रेजी गद्य की सर्वोच्च उडानें मिलती है। कार्लाइल (१७९५-१८८१) इतिहासकार और विचारक थे। उनके ग्रथ 'दि फ्रेंच रिवल्यूशन', 'पास्ट ऐंड प्रेज़ेंट', 'हिरोज ऐंड हिरो-वर्शिप' अग्रेजी साहित्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। उनकी आत्मकथा अग्रेजी गद्य का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करती है। रस्किन कलात्मक और सामाजिक प्रश्नो पर विचार करते हैं। उनकी कृतियो में 'मॉडर्न पेटर्स', 'दि सेविन लैंप्स ऑव आर्किटेक्चर', 'दि स्टोन्स ऑव वेनिस', 'अटू दिस लास्ट', आदि विख्यात है।

सन् १८९० के लगभग अग्रेजी साहित्य एक नया मोड लेता है। इस युग के पितामह पेटर (१८३९-९४) थे। उनके शिष्य ऑस्कर वाइल्ड (१८५६-१९००) ने कलावाद के सिद्धात को विकसित किया। उनका गद्य सुदर और भडकीला था और उनके अनेक वाक्य अविस्मरणीय होते थे। इस युग के लेखक इतिहास मे ह्रासवादी कहे जाते है।

आयरिश गद्य के जनक येट्स (१८६५-१९३९) थे। उनका गद्य अनुपम साँचो मे ढला है। उनके अनुगामी सिंज की देन भी महत्वपूर्ण है। नाटक के क्षेत्र में इन दोनो का बडा महत्व है। येट्स उच्च कोटि के कवि और चिंतक भी थे।

२०वी शताब्दी युद्ध, आर्थिक सकट और विद्रोही विचारधाराओ की शताब्दी है। विद्रोही स्वरो मे सबसे सशक्त स्वर इस युग के प्रमुख नाटककार बर्नार्ड शा (१८५६-१९५०) का था। शा और वेल्स (१८६६-१९४६) दोनो को ही समाजवादी कहा गया है। इनके विपरीत चेस्टरटन (१८७४-१९३६) और बेलॉक (१८७०-१९५३) वैज्ञानिक दर्शन के विरुद्ध खडे हुए। ये दोनो ही उच्च कोटि के निबधकार और आलोचक थे।

आधुनिक अग्रेजी गद्य अनेक दिशाओ में विकसित हो रहा है। उपन्यास, नाटक, आलोचना, निबध, जीवनी, विविध साहित्य, विज्ञान और दर्शन, सभी क्षेत्रो में हम जागृति और प्रगति के लक्षण देखते है। लिटन

स्ट्रैची (१८८०-१९३२) के समान जीवनीलेखक और टी०एस० इलियट (१८८८–) के समान आलोचक और चितक आज अंग्रेजी गद्य को नई तेजस्विता और शक्ति प्रदान कर रहे हे। आज के प्रमुख निबधकारो मे ए० जी० गार्डिनर, ई० वी० ल्यूकस और रॉबर्ट लिड विशेष उल्लेखनीय है। अनेक कहानीकार भी आधुनिक अंग्रेजी गद्य को भरा पूरा बना रहे हैं। अंग्रेजी का आधुनिक गद्य सुस्पष्ट, निर्मल और सुगठित है।

स० ग्रं०—लेगुई ऐड कजामिया ए हिस्ट्री ऑव इग्लिश लिटरेचर, क्रेक इग्लिश प्रोज राइटर्स, सेट्सबरी इग्लिश प्रोज रिद्म। [प्र०च०गु०]

उपन्यास

अंग्रेजी उपन्यास विश्व के महान् साहित्य का विशिष्ट अग है। फील्डिग, जेन ऑस्टिन, जार्ज इलियट, मेरेडिथ, टॉमस हार्डी, हेनरी जेम्स, जॉन गाल्सवर्दी और जेम्स ज्वॉयस के समान उत्कृष्ट कलाकारो की कृतियो ने उसे समृद्ध किया है। अंग्रेजी उपन्यास जीवन पर मर्मभेदी दृष्टि डालता है, उसकी समुचित व्याख्या करता है, सामाजिक अनाचारो पर कठोर आघात करता है और जीवन के मर्म को ग्रहण करने का अप्रतिम प्रयास करता है। अंग्रेजी उपन्यास ने अमर पात्रो की एक लबी पक्ति भी विश्वसाहित्य को दी है। वह इग्लैंड के सामाजिक इतिहास की एक अपूर्व झाँकी प्रस्तुत करता है।

अंग्रेजी उपन्यास की प्रेरणा के स्रोत मध्यकालीन ऐंग्लो-सैक्सन रोमास थे, जिनकी अद्भुत घटनाओ और कथाओ ने परवर्ती कथाकारो की कल्पना को उडने के लिये पख दिए। यह रोमास जीवन की वास्तविकताओ के अतिरजित चित्र थे और अलेक्सादर अथवा ट्रॉय आदि के युद्धो से सबद्ध होते थे। ऐसे प्राचीन रोमास आगे चलकर गद्य रूप मे भी प्रस्तुत हुए। इनमे सर टॉमस मैलरी का 'मौर्त द'आर्थर' (१४८४) विशेष उल्लेखनीय है। गद्य मे कथा कहने का इग्लैड मे यह पहला प्रयास था। अंग्रेजी उपन्यास के इतिहास में इसी प्रकार की अन्य कृतियाँ सर टॉमस मोर की 'यूटोपिया' (१५१६) और सर फिलिप सिडनी की 'आर्केडिया' (१५९०) थी।

कुछ इतिहासकार जॉन लिली (१५५४-१६०६) के उपन्यास 'यूफुइस' (१५८०) को पहला अंग्रेजी उपन्यास कहते है। किस रचना को पहला अंग्रेजी उपन्यास कहा जाय, इस सबध मे बहुत कुछ मतभेद सभव है, किंतु अंग्रेजी उपन्यास के इतिहास में 'युफुइस' का उल्लेख अनायास ही आता है। इस उपन्यास की भाषा बहुत कुछ कृत्रिम और आलकारिक है तथा अंग्रेजी गद्य के विकास पर इस शैली का बहुत प्रभाव पडा था। अंग्रेजी दरबारी जीवन का इस उपन्यास मे सजीव और यथार्थ चित्रण है।

एलिज़ाबेथ के युग मे शेक्सपियर के पूर्ववर्ती लेखको ने अनेक उपन्यास लिखे, जिनमे से कुछ ने शेक्सपियर को उनके नाटको के कथानक भी प्रदान किए। ऐसी रचनाओ मे रॉबर्ट ग्रीन (१५६२-९२) की 'पैंडोस्टो' और टॉमस लॉज (१५५८-१६२५) की 'रोजेलिंड' उल्लेखनीय है। टॉमस नैश (१५६७-१६०१) पहले अंग्रेजी कथाकार थे जिन्होने यथार्थवाद और व्यग को अपनाया। उनके उपन्यास 'दि अन्फार्चुनेट ट्रैवेलर ऑर दि लाइफ ऑव जैक विल्टन' मे जीवन के बहुरगी चित्र है। कथा का नायक विल्टन देश विदेशो मे घूमता फिरता है और कथानक घटनाओ के विचित्र जाल मे गुँथा हे। एलिजाबेथ-युगीन लेखको मे टॉमस डेलूनी (१५४३-१६००) को भी उपन्यासकार कहा गया है। उनके उपन्यास 'जैक आव न्यूबरी' में एक तरुण जुलाहे का वर्णन है जो अपने स्वामी की विधवा से विवाह करके समृद्ध जीवन बिताता है।

१७वी शताब्दी मे रोमास का पुनरुत्थान हुआ, ऐसी कथाओ का जिनका उपहास 'डॉन क्विग्जोट' मे किया गया है। अंग्रेजी उपन्यास की इन रचनाओ का कोई विशेष महत्व नही है। अंग्रेजी उपन्यास मे एक महत्वपूर्ण कदम जॉन बन्यन (१६२८-१६८८) का उपन्यास 'दि पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' था। यह कथारूपक है जिसमे कथानायक क्रिश्चियन अनेक बाधाओ का सामना करता हुआ अपने लक्ष्य तक पहुँचता है।

डिफो (१६६१-१७३१) की रचनाओ का अंग्रेजी उपन्यास के विकास पर बहुत प्रभाव पडा। उन्होने यथार्थवादी शैली को अपनाया, और जीवन की गति की भाँति ही उनके उपन्यासो की गति थी। उनका उपन्यास 'रॉबिन्सन क्रूसो' अत्यत लोकप्रिय हुआ। इसके अतिरिक्त भी उन्होने अनेक महत्वपूर्ण रचनाओ की सृष्टि की।

स्विफ्ट (१६६७-१७४५) अपने उपन्यास 'गुलिवर्स ट्रैवेल्स' मे मानव जाति पर कठोर व्यगप्रहार करते है, यद्यपि उस व्यग को अनदेखा करके अनेक पीढियो के पाठको ने उनकी कथाओ का रस लिया है।

१८वी शताब्दी मे इग्लैंड मे चार उपन्यासकारो ने अंग्रेजी उपन्यास को प्रगति का मार्ग दिखाया। रिचर्डसन (१६८९-१७६१) ने अपने उपन्यासो से मध्यम वर्ग के नए पाठको को परितोष प्रदान किया। इनके तीन उपन्यासो के नाम है—'पैमेला', 'क्लैरिसा हार्लो' और 'सर चार्ल्स ग्रान्डीसन'। रिचर्डसन की रचनाएँ भावुकता से भरी थी और उनकी नैतिकता निम्न कोटि की थी। इन त्रुटियो की आलोचना के लिये फील्डिग (१७०७-१७५४) ने अपने उपन्यास, 'जोजेफ ऐंड्रूज', 'टाम जोस', 'एमिलिया' और 'जोनेथन वाइल्ड' लिखे। इन रचनाओ ने अंग्रेजी उपन्यास को दृढ धरातल और विकास के लिये ठोस परपरा प्रदान की। १८वी शताब्दी में जिन चार उपन्यासकारो ने अंग्रेजी उपन्यास को विशेष समृद्ध किया उनमे दो अन्य नाम स्मॉलेट (१७२१-१७७१) और स्टर्न (१७१३-१७६८) के है। इस शताब्दी का एक और महत्वपूर्ण उपन्यास था गोल्डस्मिथ (१७२८-१७७४) का 'दि विकार ऑव वेकफील्ड'।

सर वाल्टर स्कॉट (१७७१-१८३२) और जेन आस्टिन (१७७५-१८१७) की कृतियाँ अंग्रेजी उपन्यास की निधि है। स्कॉट ने अंग्रेजी इतिहास का कल्पनारजित और रोमानी चित्रण अपने उपन्यासो मे किया। स्काटलैड के जनजीवन का अनुपम अकन भी हमे उनकी कृतियो मे मिलता है। स्कॉट इग्लैड के सबसे सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार है। उनकी रचनाओ मे 'आइवानहो', 'केनिलवर्थ' और 'दि टैलिस्मान' की बहुत ख्याति है। जेन आस्टिन मध्यवर्गीय नारीजीवन की कुशल कलाकार है। वे व्यग और निर्ममता से पात्रो को प्रस्तुत करती है। बाह्य जीवन का इतना सजीव अकन साहित्य मे दुर्लभ है। जेन ऑस्टिन की रचनाओ मे 'प्राइड ऐंड प्रेजुडिस', 'एमा' और 'पर्सुएशन' की विशेष ख्याति है।

१९वी शताब्दी मे अंग्रेजी उपन्यास प्रगति के शिखर पर पहुँचा। यह डिकेन्स (१८१२-१८७०) और थैकरे (१८११-१८६३) का युग है। इस युग के अन्य महान् उपन्यासकार जॉर्ज इलियट, जॉर्ज मेरेडिथ, ट्रोलोप, हेनरी जेम्स आदि हैं। डिकेन्स इग्लैड के सबसे अधिक लोकप्रिय उपन्यासकार है। उन्होने पिकविक के समान अमर पात्रो की सृष्टि की जो अंग्रेजी के पाठकवर्ग की स्मृति मे सदा के लिये घर कर चुके है। डिकेन्स ने अपने काल की कुरीतियो पर भी अपने साहित्य मे कठोर प्रहार किया। उन्होने बच्चो की वेदना को अपनी कृतियो मे मार्मिक अभिव्यक्ति दी। कानून की उलझनो, सरकारी दफ्तरो के चक्र, फैक्ट्रियो मे मजदूरो के कष्ट आदि विषयो का भी डिकेन्स की कृतियो मे सशक्त अकन है। उनके उपन्यासो मे 'पिकविक पेपर्स', 'ऑलिवर ट्विस्ट', 'ओल्ड क्यूरिऑसिटी शॉप', 'डेविड कॉपरफील्ड', 'ए टेल ऑव टू सिटीज', 'ग्रेट एक्सपेक्टेशन्स,' आदि विशेष महत्वपूर्ण है।

डिकेन्स के समकालीन थैकरे ने अपने युग के महत्वाकाक्षी और पाखडी लोगो पर अपनी कृतियो में कठोर प्रहार किए। थैकरे का साहित्य परिमाण मे अपेक्षाकृत कम है, किंतु आधे दर्जन स्मरणीय उपन्यासो मे उन्होने बेकी शार्प और विट्रिक्स जैसे पात्रो की विफलता का मार्मिक अकन किया। थैकरे के उपन्यासो मे गहरी वेदना छिपी है। ससार उन्हे एक विराट् मेला प्रतीत होता था। उनके उपन्यासो मे 'वैनिटी फेयर,' 'हेनरी एस्मड', 'पेन्डेनिस' तथा 'दि न्यूकम्स' विशेष महत्व के है।

विक्टोरिया-युग मे अनेक महत्वपूर्ण कलाकारो ने अंग्रेजी उपन्यास को समृद्ध किया। डिजरेली (१८०४-१८८१) ने राजनीतिक उपन्यास लिखे, बुलवर लिटन (१८०३-१८७३) ने 'दि लास्ट डेज आव पापेई' के से सफल ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। चार्ल्स किंग्सली (१८१९-१८७५) ने 'वेस्टवर्ड हो' और 'हिपैशिया' के से उत्कृष्ट ऐतिहासिक उपन्यास अंग्रेजी को दिए। इसी प्रकार चार्ल्स रीड (१८१४-१८८४), चार्लेट ब्रौन्टे (१८१६-१८५५), ऐमिली ब्रौन्टे (१८१८-१८४८), मिसेज गैस्केल (१८१०-१८६५), विल्की कॉलिन्स (१८२४-१८८९) आदि के नाम अंग्रेजी उपन्यास के इतिहास मे स्मरणीय है।

जॉर्ज इलियट (१८१९-१८८०) की गणना इग्लैंड के महान् उपन्यासकारो में है, यद्यपि काल के प्रवाह ने आज उनकी कला का मूल्य कम कर दिया है। उनके विशेष सफल उपन्यासो मे 'साइलस मार्नर', 'ऐडम बीड', 'दि मिल ऑन दि फ्लास' और 'रामोला' के नाम है। ऐन्टनी ट्रौलोप (१८१५-८२) ने बारसेट नाम के क्षेत्र का अतरग चित्रण अपने उपन्यासो मे किया और स्थानीय रग का महत्व उपन्यास साहित्य मे प्रतिष्ठित किया। मेरेडिथ (१८२८-१९०९) ने अपने पात्रो की मानसिक उलझनो की विशद व्याख्या अपने उपन्यासो मे प्रस्तुत की। इनमें 'इगोइस्ट' की बहुत ख्याति हुई। मनोवैज्ञानिक गुत्थियो को सुलझाने का प्रयास हेनरी जेम्स (१८४३-१९१६) की कला मे उपन्यास को अतर्मुखी रूप देता है। टॉमस हार्डी (१८४०-१९२८) विश्व के विधान पर कठोर आघात करते हैं और मनुष्य को जीवन-शक्तियो के असहाय शिकार के रूप मे प्रस्तुत करते हैं। हार्डी ने अंग्रेजी उपन्यास को गाढे क्षेत्रीय रग में भी रँगा। उनके उपन्यासो में 'दि रिटर्न ऑव दि नेटिव', 'दि मेयर ऑव कैस्टरब्रिज', 'टेस,' और 'ज्यूड दि आब्सक्योर' महत्वपूर्ण है।

आधुनिक काल मे एक ओर तो मनोविश्लेषणवाद का महत्व वढा जिसके कारण अंग्रेजी उपन्यास मे 'चेतना के प्रवाह' नाम की प्रवृत्ति का उदय हुआ, दूसरी ओर जीवन के सूक्ष्म किंतु व्यापक रूप को समझने के प्रयास का भी विकास हुआ। जेम्स ज्वॉयस (१८८२-१९४२) रचित 'यूलिसीज' उपन्यास मन के सूक्ष्म और गहन व्यापारो का अध्ययन प्रस्तुत करता है। उन्ही के समान वर्जिनिया वुल्फ (१८८२-१९४१) और डॉरोथी रिचर्डसन भी 'चेतना के प्रवाह' की शैली को अपनाती हैं। एच० जी० वेल्स (१८६६-१९४६), आर्नल्ड बेनेट (१८६७-१९३१) और जॉन गाल्सवर्दी (१८६७-१९३३) की कृतियाँ अंग्रेजी उपन्यास की आधुनिक शक्ति का अनुभव पाठक को कराती हैं। वेल्स सामाजिक और वैज्ञानिक समस्याओं को अपनी रचनाओ मे उठाते है। आर्नल्ड बेनेट यथार्थवादी दृष्टि से इग्लैंड के 'पाँच नगर' शीर्षक क्षेत्र का सूक्ष्म चित्रण करते हैं। गाल्सवर्दी इग्लैंड के उच्च मध्यवर्गीय जीवन की व्यापक झाँकी फोर्साइट नाम के परिवार के माध्यम से देते है। डी० एच० लॉरेन्स (१८८५-१९३०) और आल्डस हक्सले (१८९४–) आज के प्रमुख अंग्रेजी उपन्यासकारो मे उल्लेखनीय हैं। इसी श्रेणी में ई० एम० फोर्स्टर (१८७९–), ह्यू वालपोल (१८८४-१९४१), जे० बी० प्रीस्टले (१८९४–) और सामरसेट मॉम (१८७४-१९५८) भी हैं।

स० ग्र०—सेंट्सबरी दि इग्लिश नॉवेल, क्रास डेवेलपमेंट ऑव दि इग्लिश नॉवेल। [प्र० च० गु०]

कहानी

कहानी की जडे हजारो वर्ष पूर्व धार्मिक गाथाओ और प्राचीन दत-कथाओ तक जाती हैं, किंतु आज के अर्थ मे कहानी का आरभ कुछ ही समय पूर्व हुआ। अंग्रेजी साहित्य में चॉसर की कहानियाँ अथवा जुलाहो के जीवन से सबधित डेलूनी की कहानियाँ पहले भी मिलती है, किंतु वास्तव में कहानी की लोकप्रियता १९वी शताब्दी मे वढी। पत्रपत्रिकाओ की स्थापना और आधुनिक जीवन की भाग दौड के साथ कहानी का विकास हुआ। १८वी शताब्दी मे निबध के साथ हमें कहानी के तत्व लिपटे हुए मिलते हैं। इस प्रकार की रचनाओं में सर रॉजर डि कवर्ली से सबद्ध स्केच उल्लेखनीय है। १९वी शताब्दी मे हमे पूर्णत विकसित कहानी मिलती है।

कहानी जीवन की एक झाँकी मात्र हमे देती है। उपन्यास से सर्वथा अलग इसका रूप है। कहानी की सबसे सफल परिभाषा 'जीवन का एक अश' है। स्कॉट और डिकेन्स ने कहानियाँ लिखी थी। डिकेन्स ने अपना साहित्यिक जीवन ही 'स्केचेज बाइ बौज' नाम की रचना से शुरू किया था, यद्यपि इनकी वास्तविक देन उपन्यास के क्षेत्र में है। ट्रोलोप और मिसेज गैस्केल ने भी कहानियाँ लिखी थी, किंतु कहानी के सर्वप्रथम बडे लेखक वाशिंगटन अर्विंग, हॉथॉर्न, ब्रेट हार्ट और पो अमरीका मे हमे मिलते है। अरविंग (१७८३-१८५९) की 'स्केच बुक' अपूर्व कहानियो का भाडार है। इनमे सबसे सफल 'रिप वान विंकिल' थी। हॉथॉर्न (१८०४-६४) की कहानियाँ हमे परीलोक के स्वप्न दिखाती हैं। ब्रेट हार्ट (१८३९-१९०२) की कहानियो मे अमरीका की पश्चिम की बस्तियो के अव्यवस्थित जीवन का दिग्दर्शन है। पो (१८०९-१८४९) विश्व के सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखक कहे जाते हैं। उनकी कहानियाँ भय, आतक और आश्चर्य से पाठक को अभिभूत कर डालती है।

इग्लैंड में स्टीवेन्सन (१८५०-१८९४) ने कहानी को प्रौढता प्रदान की। उनकी 'मार्खेइम', 'विल ओ' दि मिल' और 'दि बाटल इम्प' आदि कहानियाँ सुप्रसिद्ध हैं। हेनरी जेम्स (१८४३-१९१६) उपन्यासो के अतिरिक्त कहानी लिखने मे भी बहुत कुशल थे। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में उनकी सफलता अपूर्व थी। ऐंब्रोज बीयर्स (१८४२-१९१३) कोमल और सश्लिष्ट भावनाओ को व्यक्त करने में अत्यत कुशल थे। कैथरीन मैन्सफील्ड (१८८९-१९२३) सुकुमार क्षणो का चित्रण व्यग के हल्के आघातो के समान करती हैं।

२०वी शताब्दी के सभी बडे उपन्यासकारो ने कहानी को अपनाया। यह १९वी सदी की परपरा मे ही एक आगे बढा हुआ कदम था। टॉमस हार्डी की 'वेसेक्स टेल्स' के समान एच० जी० वेल्स, कॉनरड, आर्नल्ड बेनेट, जॉन गाल्सवर्दी, डी०एच० लॉरेन्स, आल्डस हक्स्ले, जेम्स ज्वॉयस, सॉमरसेट मॉम आदि ने अनेक सफल कहानियाँ लिखी।

एच० जी० वेल्स (१८६६-१९४६) वैज्ञानिक विषयो पर कहानी लिखने मे सिद्धहस्त थे। उनकी 'स्टोरीज ऑव टाइम ऐंड स्पेस' बहुत ख्याति पा चुकी है। कॉनरड (१८५७-१९२४) पोलैंड निवासी थे, किंतु अंग्रेजी कथासाहित्य को उनकी अद्भुत देन है। आर्नल्ड बेनेट (१८६७-१९३१) पाँच कस्बो के क्षेत्रीय जीवन से सबधित कहानियाँ जैसे 'टेल्स ऑव दि फाइव टाउन्स' लिखते थे। जॉन गाल्सवर्दी (१८६७-१९३३) की कहानियाँ गहरी मानवीय सवेदना में डूबी हैं। उनका कहानी सग्रह, 'दि कैरवन' अंग्रेजी मे कहानी के अत्यत उच्च स्तर का हमे परिचय देता है। डी० एच० लॉरेन्स (१८८५-१९३०) की कहानियो का प्रवाह धीमा है और वे उलझी मानसिक गुत्थियो के अध्ययन प्रस्तुत करती है। उनका कहानी सग्रह 'दि वूमन हू रोड अवे' सुप्रसिद्ध है। आल्डस हक्सले (१८९४–) अपनी कहानियो मे मनुष्य के चरित्र पर व्यगभरे आघात करते है। उन्हें जीवन मे मानो श्रद्धा के योग्य कुछ भी नही मिलता। जेम्स ज्वॉयस (१८८२-१९४१) अपनी कहानियो 'डब्लिनर्स' मे डब्लिन के नागरिक जीवन की यथार्थवादी झाँकियाँ पाठक को देते है। सॉमरसेट मॉम (१८७४–१९५८) अपनी कहानियो मे ब्रिटिश साम्राज्य के दूरस्थ उपनिवेशो का जीवन व्यक्त करते हैं। आज की अंग्रेजी कहानी मानव चरित्र के निकृष्टतम रूपो पर ध्यान केंद्रित करती है। इसके कारण युद्ध का सकट, पाश्चात्य जीवन की विशृंखलता, और मानवीय मूल्यो का विघटन है। शिल्प की दृष्टि से आज कहानी का पर्याप्त परिमार्जन हो चुका है, किंतु साथ ही उसके भीतर निहित मूल्यो का ह्रास भी हुआ है।

स०ग्र०—लेगुई ऐंड कजामिया ए हिस्ट्री ऑव इग्लिश लिटरेचर, बार्कर दि शार्ट स्टोरी। [प्र० च० गु०]

कविता

आदिकाल (६५०-१३५०ई०)—बहुत समय तक १४वी सदी के कवि चॉसर को ही अंग्रेजी कविता का जनक माना जाता था। अंग्रेजी कविता की केंद्रीय परपरा की दृष्टि से यह धारणा सर्वथा निर्मूल भी नही है। लेकिन वशानुगतिकता के आधार पर अब चॉसर के पूर्व की सारी कविता का अध्ययन आदिकाल के अतर्गत किया जाने लगा है।

नार्मन-विजय ने इग्लैंड की प्राचीन ऐंग्लो-सैक्सन सस्कृति पर गहरा प्रभाव डाला और उसे नई दिशा दी। इसलिये आदिकाल के भी दो स्पष्ट विभाजन किए जा सकते हैं—उद्भव से नार्मन-विजय तक (६५०-१०६६ ई०), और नार्मन-विजय से चॉसर के उदय तक (१०६६-१३५० ई०)। भाषा की दृष्टि से हम इन्हे क्रमश ऐंग्लो-सैक्सन या प्राचीन अंग्रेजी काल और प्रारंभिक मध्यदेशीय अंग्रेजी (मिडिल इग्लिश) काल भी कह सकते हैं।

प्राचीन अंग्रेजी कविता—लगभग ५०० वर्षो तक प्राचीन अंग्रेजी में कविताएँ लिखी जाती रही लेकिन आज उनका अधिकाश केवल चार हस्त-लिखित प्रतियो में प्राप्त है। उस काल की सारी कविता का ज्ञान इनके अतिरिक्त दो चार और रचनाओ तक ही सीमित है।

की गाथा और 'दि रोमास ऑव दि रोज' पर आधारित है। पहली मे चरित्र-चित्रण की सूक्ष्म दृष्टि और प्रकृति के असाधारण रूपो और स्थितियो के प्रति मोह व्यक्त होता है और दूसरी रचना अवसादपूर्ण कोमल भावनाओ और रहस्यानुभूति से ओतप्रोत है।

चॉसर की मृत्यु और पुनर्जागरण के बीच का समय अर्थात् पूरी १५वी शताब्दी कविता की दृष्टि से अनुर्वर है। चॉसर के अनेक और लैंगलैड के कुछ अनुयायी इग्लैड और स्कॉटलैंड मे हुए। लेकिन उनमे से अधिकाश की कविता निर्जीव है। ऑक्लीव, लिडगेट, हॉज, वार्कले और स्केल्टन जैसे अग्रेज अनुयायियो से कही अधिक शक्तिशाली स्कॉटलैड के अनुयायी रावर्ट हेनरीसन, विलियम डनवर और जेम्स प्रथम थे, क्योकि उन्होने अपनी वोली, अपनी भूमि के प्राकृतिक सौदर्य और अनुभूतियो की सच्चाई का अधिक ध्यान रखा।

इस शताव्दी की महत्वपूर्ण रचनाओ मे धर्म, प्रेम तथा पराक्रम सवधी गीतो और वैलडो का उल्लेख किया जा सकता है। व्यग्य और विनोदपूर्ण कविताएँ भी लिखी गई।

पुनर्जागरण युग—मध्ययुगीन सस्कृति के अवशेषो के वावजूद १६वी शताब्दी इग्लैड मे पुनर्जागरण के मानवतावाद का उत्कर्ष काल है। यह मानवतावाद सामती व्यवस्था के धर्म, समाज, नैतिकता और दर्शन के विरुद्ध व्यापारी पूँजीपतियो के नए वर्ग की विचारधारा था। इसी वर्ग की प्रेरणा से धर्म-सुधार-आदोलन (रिफार्मेशन) हुआ, ज्योतिष और विज्ञान मे क्राति-कारी अनुसधान हुए, धन और नए देशो की खोज मे साहसिक सामुद्रिक यात्राएँ हुई। मानवतावाद ने व्यक्ति के ज्ञान और कर्म की अमित सभावनाओ के साथ साथ साहित्य मे प्रयोगो और कल्पना की मुक्ति की घोषणा की।

१६वी शताव्दी—इग्लैड मे इटली, फ्रास, स्पेन और जर्मनी के काफी वाद आने के कारण यहाँ का पुनर्जागरण इन देशो, विशेषत इटली, से अत्यधिक प्रभावित हुआ। पुनर्जागरण के प्रथम दो कवियो में सर टॉमस वायट (१५०३-४२) और अर्ल ऑव् सरे (१५१७-४७) हैं। वायट ने पेत्रार्क के आधार पर अग्रेजी मे सॉनेट लिखे और इटली से अनेक छद उधार लिए। सरे ने सॉनेट के अतिरिक्त इटली से अतुकात छद लिया। इन कवियो ने प्राचीन यूनानी साहित्य और पेत्रार्क इत्यादि की पैस्टरल कविता की रूढियो को अग्रेजी मे आत्मसात् किया तथा अनेक सुदर और तरल गीत लिखे।

इस तरह उन्होने एलिजावेथ के शासनकाल के अनेक वडे कवियो के लिये जमीन तैयार की। इनमे सवसे पहले एडमड स्पेसर (१५५२-६६) और सर फिलिप सिडनी उल्लेखनीय हैं। मृत्यु के वाद प्रकाशित सिडनी की रचना 'ऐसट्रोफेल ऐंड स्टेला' (१५६१) ने कथावद्ध सॉनेट की परपरा को जन्म दिया। इसके पश्चात् तो ऐसे सॉनेटो की एक परपरा चल निकली और डेनियल, लॉज, ड्रेटन, स्पेसर, शेक्सपियर और अन्य कवियो ने इसे अपनाया। इनमे रूढियो के कारण वास्तविक और काल्पनिक प्रेमी प्रेमिकाओ का भेद करना आसान नही, लेकिन सिडनी और कई अन्य कवियो, जैसे ड्रेटन, स्पेसर और शेक्सपियर का प्रेम केवल वायवी प्रेम नही है। सिडनी ने लिखा 'फूल', सेड माइ म्यूज टु मी, 'लुक इन दाइ हार्ट ऐंड राइट।'

विचारो मे सस्कार तथा चारुता और काव्य मे व्यापकता और विविधता की दृष्टि से स्पेसर को इग्लैड मे पुनर्जागरण का प्रतिनिधि कवि कहा जा सकता है। उसने प्राचीन यूनान से लेकर आधुनिक यूरोप की साहित्यिक और सास्कृतिक परपरा को अपने युग के सास्कृतिक और साहित्यिक जागरण से समन्वित किया। उदाहरण के लिये, उसकी प्रसिद्ध रचना 'दि फेयरी क्वीन' का कथानक मध्ययुगीन है, लेकिन उसकी आत्मा मानवतावाद की है। गोपगीत (पैस्टरल), मर्सिया (एलेजी), व्यग्य और विद्रूप, सॉनेट, रूपक, प्रेमकाव्य, महाकाव्य जैसे अनेक रूपो से उसने अग्रेजी कविता की सीमाओ का विस्तार किया। उसने भाषा को इद्रियबोध, सगीत और चित्रमयता दी। छदो के प्रयोग मे भी वह अद्वितीय है। इसीलिये उसे 'कवियो का कवि' कहा जाता है।

एलिजावेथ के शासनकाल मे गीति की परपरा और भी विकसित हुई। एक ओर ओविद के अनुकरण पर शृगारपूर्ण गीतो, जैसे मार्लो के 'हीरो ऐंड लियडर' और शेक्सपियर के 'वीनस ऐंड अडॉनिस' और 'रेप ऑव लुक्रीस' की रचना हुई, तो दूसरी ओर वैलडो और लोकगीतो की परपरा में ऐसे गीतो की जिनमें उस काल के अनेक पक्ष—युद्ध और प्रेम से लेकर तवाकू तक—प्रतिविवित हुए। इनपर इटली के सगीत का प्रभाव स्पष्ट है। ऐसे मस्ती भरे, सरल, मधुर और सुघर गीत लिली, पील, ग्रीन, डेकर और शेक्सपियर के नाटको के अतिरिक्त विलियम वर्ड, टॉमस मार्लो, टॉमस कैंपियन, लॉज, राली, ब्रेटन, वाट्सन, नैश, इन और कामटेविल की रचनाओ में वडी सख्या मे प्राप्त होते है। इन कवियो ने अग्रेजी कविता मे 'वैतालिक पखेरुओ का घोसला' वनाया।

१६वी शताब्दी की महत्वपूर्ण उपलब्धियो में अतुकात छद का विकास भी है। मार्लो और शेक्सपियर ने अर्द्धचरणात वाक्यों द्वारा इसमें आर्केस्ट्रा के सगीत-अनुच्छेद की शैली का विकास किया। मार्लो ने यदि इसे प्रपात का वेग और उच्चस्वरता दी तो शेक्सपियर ने यतियो की विविधता से इसे सूक्ष्म चिंतन से लेकर साधारण वार्तालाप तक की क्षमता दी। सक्षेप में १६वी सदी के कवियो मे आत्मविश्वास का स्वर है। उनकी कविता निसर्ग ('नेचर') की तरह नियमवद्ध किंतु उन्मेषपूर्ण, शब्दो और चित्रो में उदार और अलकृत, सगीत, लय और ध्वनि में मुखर, तुको और छदो में व्यवस्थित और रूप, रस और गध मे प्रवुद्ध है।

१७वीं सदी पूर्वार्ध—एलिजावेथ के वाद का समय धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक क्षेत्र मे सघर्ष और सशय का था। कवि अपने परिवेश की अतिशय वौद्धिकता और अनुदारता से त्रस्त जान पडते है। स्पेंसर के शिष्य ड्रमड, डेनियल, चैंपमन और ग्रेविल भी इससे अछूते नही हैं। इस सदी के पूर्वार्ध मे कविता का नेतृत्व वेन जॉन्सन (१५७२-१६३७) और जॉन डन (१५७२-१६३१) ने किया। उनकी काव्यधाराओ को क्रमश 'कैवेलियर' (दरवारी) और 'मेटाफिजिकल' (अध्यात्मवादी) कहा जाता है। इस विभाजन के वावजूद उनमें वौद्धिकता, कविताओ और गीतो की लघुता, रति और शृगार, ईश्वर के प्रति भक्ति और उससे भय इत्यादि समान गुण हैं। एलिजावेथ युग की कविता के औदार्य के स्थान पर उनमे घनत्व है।

वेन जान्सन इग्लैड का प्रथम आचार्य कवि है। उसने कविता को यूनानी और लातीनी काव्यशास्त्र के साँचे मे ढाला। उसकी कविता में वुद्धि और अनुभूति के सयम के अनुरूप नागरता, रचनासतुलन और प्राजलता है। इसी प्रवृत्ति से वेन जॉन्सन की सतुलित, स्वायत्त और सूक्तिप्रधान दशवर्णी द्विपदी (हिरोइक कपलेट) का जन्म हुआ, जो चॉसर की द्विपदी से विलकुल भिन्न प्रकार की है और जो १८वी शताव्दी की कविता पर छा गई। उसके प्रसिद्ध 'आत्मजो' में रॉवर्ट हेरिक, टॉमस केरी, जॉन सकलिंग और रिचर्ड लवलेस हैं। इनकी कला और अनुभूति में भी मूलत वही आदर्शवादी और व्यक्तिवाद से पराड्मुखी स्वर है।

मेटाफिजिकल कविता की प्रवृत्ति व्यक्तिगत अनुभव और अभिव्यक्ति के अन्वेषण की है। डन के शब्दो में यह 'नग्न चिंतनशील हृदय' की कविता है। डा० जॉन्सन के शब्दो में इसकी विशेषताएँ परस्पर विरोधी विचारो और विंवो का सायास सयोग और वौद्धिक सूक्ष्मता, मौलिकता, व्यक्तीकरण और दीक्षागम्य ज्ञान है। लेकिन आधुनिक युग ने उसका अधिक सहानुभूतिपूर्ण मूल्याकन करते हुए उनकी इन विशेषताओ पर अधिक जोर दिया है—गभीर चिंतन के साथ कटाक्ष और व्यग्यपूर्ण कल्पना, विचार और अनुभूति की अन्विति, आतरिक तनाव और सघर्ष, अलकृत विंवो के स्थान पर अनुभूति या विचारप्रसूत मार्मिक विंवो की योजना और ललित अभिव्यक्ति के स्थान पर यथार्थवादी अभिव्यक्ति।

१७वी शताब्दी के कवियो मे जॉन मिल्टन (१६०८-७४) का व्यक्तित्व ऊँचे शिखर की तरह है। उसके लिये चिंतन और कर्म, कवि और नागरिक अभिन्न थे। पूर्ववर्ती पुनर्जागरण और परवर्ती १८वी शताव्दी की राजनीतिक और दार्शनिक स्थिरता से वचित, सक्राति काल का कवि होते हुए भी मिल्टन ने मानव के प्रति असीम आस्था व्यक्त की। इस तरह वह ईसाई मानवतावादियो मे सबसे अतिम और सवसे वडा कवि है। मध्ययुगीन अकुशो के विरुद्ध नई मान्यताओ के लिये उसने कविता के अतिरिक्त केवल गद्य मे लगातार वीस वर्षो तक सघर्ष किया और अपनी आँखें भी खो दी।

मिल्टन के अनुसार कविता को 'सरल, सरस और आवेगपूर्ण' होना चाहिए। अपनी प्रारभिक रचनाओ—'आन दि मार्निंग ऑव क्राइस्ट्स

नेटिविटी' 'ल' एले 'इलग्रो, पेन्सेरोसो','कोमस' और 'लिसिडास'—में वह बेन जॉन्सन और मुख्य रूप से स्पेसर से प्रभावित रहा, किंतु लबे विराम के बाद लिखी हुई तीन अंतिम रचनाओ, 'पैराडाइज लॉस्ट', 'पैराडाइज रीगेंड' और 'सैम्सन एगनाइस्टीज़' मे उसकी चिंतनशक्ति और काव्यप्रतिभा का उत्कर्ष है। अपनी महान् कृति 'पैराडाइज लॉस्ट' मे उसने अंग्रेजी कविता को होमर, वर्जिल और दाते का उदात्त स्वर दिया। उसमे उसने अंग्रेजी कविता मे पहली बार महाकाव्य के लिये अतुकात छद का प्रयोग किया और भाषा, लय और उपमा को नई भगिमा दी।

१६६०ई०से लेकर शताब्दी के अंत की अवधि का सबसे बडा कवि जॉन ड्राइडन (१६३१–१७००) है। यह अंग्रेजी कविता में प्रखर कल्पना और अनुभूति की जगह काव्यशास्त्रीय चेतना, तर्क और व्यवहारकुशल सामाजिकता के उदय का युग है। इस नए मोड के पीछे काम करनेवाली शक्तियो मे उस युग के राजनीतिक दलो के सघर्ष, फ्रास के रग मे रँगे हुए चार्ल्स द्वितीय का दरबार, फ्रास के नए रीतिकारो के आदर्श, कॉफी-हाउसो और मनोरजन-गृहो का उदय और नागरिक जीवन का महत्व इत्यादि है। स्वभावत, इस युग की कविता का आदर्श सरल, स्पष्ट, सतुलित, सूक्तिप्रधान, फलयुक्त अभिव्यक्ति है। ड्राइडन की व्यग्यपूर्ण कविताओ—'ऐबसेलम ऐंड आर्कीटोफेल', 'मेडल्' और 'मैक्फ्लेक्नो' में ये गुण प्रचुरता से है। नीति की कविता मे वह अद्वितीय है। ड्राइडन मे गीतिकाव्य की परपरा के भी तत्व है। लेकिन कुल मिलाकर उसकी कविता बुद्धिवादी युग की पूर्वपीठिका ही है। ड्राइडन को छोडकर यह युग छोटे कवियो का है जिनमे सबसे उल्लेखनीय, प्रसिद्ध और लोकप्रिय व्यग्यकृति 'हुडिब्राज़' का कवि सैमुएल बटलर है।

१८वीं शताब्दी . तर्क या रीतिपधान युग—१८वी शताब्दी अपेक्षाकृत राजनीतिक और सामाजिक स्थिरता का काल है। इसमे इग्लैड के साम्राज्य, वैभव और आतरिक सुव्यवस्था का विस्तार हुआ। इस युग के दार्शनिको और वैज्ञानिको के अनुसार यत्र की तरह नियमित सृष्टि तर्क और गणितगम्य है और धर्म की 'डीइस्ट'(प्रकृति-देववादी) विचारधारा के अनुसार धर्म श्रुतिसमत न होकर नैसर्गिक और बुद्धिगम्य है। साहित्य मे यह तर्कवाद रीति के आग्रह के रूप मे प्रकट हुआ। कवियो ने अपने ढग से यूनान और रोम के कवियो का अनुकरण करना अनिवार्य समझा। इसका अर्थ था कविता मे तर्क, नीर-क्षीर-विवेक और सतुलित बुद्धि की स्थापना। काव्य मे शुद्धता को उन्होने अपना मूलमत्र बनाया। इस शुद्धता की अभिव्यक्ति विषयवस्तु मे सार्वजनीनता (ह्वाट ऑफ्ट वाज थॉट बट नेवर सो वेल एक्सप्रेस्ड) भाषा मे पदलालित्य, छद में दशवर्णी द्विपदी मे अत्यधिक सतुलन और यतियो मे अनुशासन के रूप मे हुई।

इस कविता का पौरोहित्य अलेक्जेडर पोप (१६८८-१७४४) ने किया। उसके आदर्श रोम के जुवेनाल और होरेस, फ्रास के ब्वालो (Boileau) और इग्लैड के ड्राइडन थे। काव्यसिद्धातो पर लिखी हुई अपनी पद्यरचना 'एसे ऑन क्रिटिसिज्म' में उसने प्रतिभा और रुचि तथा इन दोनो को अनुशासित रखने की आवश्यकता बतलाई। उसकी अधिकाश कृतियाँ व्यग्य और विद्रूपप्रधान है और उनमे सबसे प्रसिद्ध 'दि रेप ऑव दि लॉक' और 'डसियड' है जिनमे उसने कृत्रिम उदात्त (मॉक हिरोइक) शैली का अनुसरण किया। उसके काव्यो की समता बरछी की नोक से की जाती है। उसकी रचना 'एसे ऑन मैन' मानव जीवन के नियमो का अध्ययन है। इसपर उसके बुद्धिवादी युग की छाप स्पष्ट है।

उसके युग के अन्य व्यग्यकारो मे प्रायर, गे, स्विफ्ट और पारनेल है। इस बुद्धिवादी और व्यग्यप्रधान युग मे ही ऑलिवर गोल्डस्मिथ, लेडी विंचेल्सिया, जेम्स टाम्सन, टॉमस ग्रे, विलियम कॉलिस, विलियम कूपर, एडवर्ड यग आदि प्रसिद्ध कवि हुए जिनमे से अनेक ने स्पेसर और मिल्टन की परपरा को कायम रखा और प्रकृति, एकात जीवन, भग्नावशेषो और समाधिस्थलो के सबध मे अवसाद और चिंतनपूर्ण अनुभूति के साथ लिखा। इन्हें १९वी शताब्दी की रोमानी कविता का अग्रदूत कहा जाता है। रहस्यवादी कवि विलियम ब्लेक और किसान कवि रॉबर्ट बर्न्स मे भी प्रधान तत्व रोमानी प्रवृत्तियाँ और गीति है। इन दोनो का स्वर विद्रोह और मुक्ति का है।

रोमैंटिक युग—१८वी शताब्दी के कुछ कवियो मे अनेक रोमानी तत्वो के अकुरो के बावजूद रोमैंटिक युग का प्रारभ १७९८ मे विलियम वर्ड्स्वर्थ (१७७०-१८५०) और सैमुएल टेलर कोलरिज (१७७२-१८३४) के सयुक्त सग्रह 'लिरिकल बैलड्स' के प्रकाशन से माना जाता है। अंग्रेजी कविता के इस सबसे महान् युग के साथ पर्सी बिशी शेली (१७९२-१८२२), जॉन कीट्स (१७९५-१८२१), जॉर्ज गॉर्डन बायरन (१७८८-१८२४), अलफ्रेड टेनिसन (१८०९-९२), रॉबर्ट ब्राउनिग (१८१२-८९) और मैथ्यू आर्नल्ड (१८२२-८८) के नाम भी जुडे हुए है।

पूर्वार्ध—१९वी सदी के पूर्वार्ध की कविता उस युग की चेतना की उपज है और उसपर फ्रासीसी दार्शनिक रूसो और फ्रासीसी क्राति का गहरा असर है। इसलिये इस कविता की विशेषताएँ मानव मे आस्था, प्रकृति से प्रेम और सहज प्रेरणा के महत्व की स्वीकृति है। इस युग ने रीति के स्थान पर व्यक्तिगत प्रतिभा, विश्वजनीनता के स्थान पर व्यक्तिगत रुचि तथा अनुभव, तर्क और विकल्प के स्थान पर सकल्पात्मक कल्पना और स्वप्न, अभिव्यक्ति मे स्पष्टता के स्थान पर लाक्षणिक वक्रता पर अधिक जोर दिया। इस युग की कविता मे गीति का स्वर प्रधान है।

वर्ड्स्वर्थ प्रकृति का कवि है और इस क्षेत्र में वह बेजोड है। उसने बडी सफलता के साथ साधारण भाषा मे साधारण जीवन के चित्र प्रस्तुत किए। प्रकृति के प्रति उसका सर्वात्मवादी दृष्टिकोण अंग्रेजी कविता के लिये नई चीज है। उसके साथी कोलरिज ने प्रकृति के असाधारण पक्षो का चित्र खीचा। वह चिंतनप्रधान, सशय और अवसाद से भरे मन के दिवास्वप्नो का कवि है। शेली मानव जीवन की व्यथा और उसके उज्वल भविष्य का क्रातिकारी स्वप्नद्रष्टा कवि है। वह अपने सगीत और सूक्ष्म किंतु प्रखर कल्पना के लिये प्रसिद्ध है। कीट्स इस युग का सबसे जागरूक कवि है। उसमे इद्रियबोध की अद्भुत क्षमता है। इसलिये वह सौंदर्य का कवि माना जाता है और उसके भाव चित्रो के माध्यम से व्यक्त होते है। बायरन रोमानी कविता की अवसादपूर्ण और नाटकीय आत्मरति का कवि है। इस प्रवृत्ति से जुडकर उसके आकर्षक विद्रोही व्यक्तित्व ने यूरोप के अनेक कवियो को प्रभावित किया। किंतु आज उसकी प्रसिद्धि १८वी शताब्दी से प्रभावित उसके व्यग्यकाव्य पर टिकी है।

इस काल के अन्य उल्लेखनीय कवियो मे रॉबर्ट सदी, टॉमस मूर, टॉमस कैबेल, टॉमस हुड, सैवेज लैडर, बेडोज, ली हट इत्यादि है।

विक्टोरिया-युग—रोमैंटिक कविता का उत्तरार्ध विक्टोरिया के शासनकाल के अतर्गत आता है। विक्टोरिया के युग मे मध्यवर्गीय प्रभुत्व की असगतियाँ उभरने लगी थी और उसकी शोषणव्यवस्था के विरुद्ध आदोलन भी होने लगे। वैज्ञानिक समाजवाद के उदय के अतिरिक्त यह काल डार्विन के विकासवाद का भी है जिसने धर्म की भीतें हिला दी। इन विषमताओ से बचने के लिये ही मध्यवर्गीय उपयोगितावाद, उदारतावाद और समन्वयवाद का जन्म हुआ। समन्वयवादी टेनिसन इस युग का प्रतिनिधि कवि है। उसकी कविता मे अतिरजित कलावाद है। ब्राउनिग ने आशावाद की शरण ली। अपनी कविता के अनगढपन मे वह आज की कविता के समीप है। आर्नल्ड और क्लफ सशय और अनास्थाजन्य विषाद के कवि है।

इस तरह विक्टोरिया-युग के कवियो मे पूर्ववर्ती रोमैंटिक कवियो की क्रातिकारी चेतना, अदम्य उत्साह और प्रखर कल्पना नही मिलती। इस युग मे समय बीतने के साथ 'कला कला के लिये' का सिद्धात जोर पकडता गया और कवि अपने अपने घोसले बनाने लगे। कुछ ने मध्ययुग तथा कीट्स के इंद्रियबोध और अलस सगीत का आश्रय लिया। ऐसे कवियो का दल प्री-रैफेलाइट नाम से पुकारा जाता है। उनमे प्रमुख कवि डी० जी० रॉजेटी, स्विनबर्न, क्रिश्चियाना रॉजेटी और फिट्जेराल्ड है। विलियम मॉरिस (१८३४-९६) का नाम भी उन्ही के साथ लिया जाता है, किंतु वास्तव मे वह पृथ्वी पर स्वर्ग की कल्पना करनेवाला इग्लैड का प्रथम साम्यवादी कवि है। धर्म की रहस्यवादी कल्पना मे पलायन करनेवालो मे प्रमुख कावेंट्री पैटमोर, एलिस मेनेल और जेरॉर्ड मैनली हॉप्किस (१८४४-८९) है। हॉप्किस अत्यत प्रतिभाशाली कवि है और छद मे 'स्प्रग रिदम्' का जन्मदाता है। मेरेडिथ (१८२८-१९०९) प्रकृति का सूक्ष्मदर्शी कवि है। शताब्दी के अतिम दशक मे ह्रासशील प्रवृत्तियाँ पराकाष्ठा पर पहुँच गई। इनमे आत्मरति, आत्मपीडन और सतही भावुकता है। ऐसे कवियो मे डेविडसन, डाउसन, जेम्स टाम्सन, साइमस, ऑस्टिन डॉब्सन, हेनली इत्यादि के नाम लिए जा सकते है।

इसी प्रकार किपलिंग की अव राष्ट्रवादिता और ऊँचे स्वरो के बावजूद १६वी शताब्दी के अंतिम भाग की कविता व्यक्तिवाद के सकट की कविता है। २०वी शताब्दी मे वह सकट और भी गहरा होता गया।

२०वी शताब्दी—२०वी शताब्दी का प्रारभ प्रश्नचिह्नो से हुआ, लेकिन उसकी प्रारभिक कविता मे, जिसे जॉर्जियन कविता कहते है, १६वी शताब्दी के आदर्शो का ही प्रक्षेपण है। जॉर्जियन कविता मे प्रकृतिप्रेम, अनुभवो की सामान्यता और अभिव्यक्ति मे स्वच्छता और कोमलता पर अधिक जोर है। इसीलिये उसपर अंतरहीनता का आक्षेप किया जाता है। इस शैली के महत्वपूर्ण कवियो मे रॉवर्ट व्रिजेज (१८४४-१६३०), मेसफील्ड (१८७८-) वाल्टर डी ला मेयर, डेवीज, डी० एच० लारेंस, लारेस बिन्यन, हॉजसन, रॉवर्ट वेन, रुपर्ट ब्रुक, सैसून, एडमड ब्लडन, रॉवर्ट ग्रेव्स, अबरक्रूवी इत्यादि उल्लेखनीय हैं। निश्चय ही, इनमे से अनेक मे विशिष्ट प्रतिभा है, सभी उथले भावो के कवि नही है।

इस शताब्दी के कवियो मे येट्स (१८६५-१६३६), हार्डी (१८४०-१६२८) और हाउसमन (१८५६-१६३६) का स्थान बहुत ऊँचा है। येट्स में रहस्यभावना, प्रतीकयोजना और सगीत की प्रधानता है। हार्डी मे स्वरो की रुक्षता और नियति की दारुण चेतना उसे जॉर्जियन युग से अलग करती हे। हाउसमन हार्डी की कोटि का कवि नही, उससे मिलता जुलता कवि है। वह अपनी रचना 'ए श्रॉपशायर लैंड' के लिये प्रसिद्ध है।

आधुनिकता के रग मे रँगी कविता का प्रारभ १६१३ मे इमेजिस्ट (बिंववादी) आदोलन से प्रारभ होता है। इसके पूर्व भी इस तरह की कविताएँ लिखी गई थी, कितु १६१३ मे एफ०एस०फ्लिट और एजरा पाउड (१८८५-) ने उसके सिद्धातो की स्थापना की। इनके अनुसार कविता का लक्ष्य था 'वस्तु' को कविता मे सीधे उतारना, अभिव्यक्ति मे अधिक से अधिक सक्षिप्ति और सगीत-अनुशासित वाक्यरचना। पाउड के अनुसार "बिंव वह है जो बौद्धिक और भावात्मक सश्लिष्टता को उसकी क्षणिकता मे प्रस्तुत करता है।" बिंववादी कविता कठोर और पारदर्शी अभिव्यक्ति पसद करती है। इसी के साथ मुक्त छद की लोकप्रियता भी वढी। इसी शैली के कवियो मे सवसे प्रसिद्ध एजरा पाउड और एडिथ सिटवेल (१८८७-) हे।

प्रथम युद्ध के वाद टी० एस० इलियट (१८८८-) की प्रसिद्ध रचना 'वेस्ट लैंड' ने आधुनिक अग्रेजी कविता पर गहरा असर डाला। इस रचना में पूँजीवादी सभ्यता की ऊसर भूमि मे पथहीन और प्यासे व्यक्ति का चित्र है। इसमे कवि ने रोमानी परपरा को छोडकर डन का आँचल पकडा। इसमे फ्रेंच प्रतीकवादियो का प्रभाव भी स्पष्ट है। इसने कविता मे दीक्षा-गम्यता की नीव रखी। यह केवल अनुभवो की नही वल्कि अभिव्यक्तियो की भी अभिशप्त भूमि है। इस अभिशप्त भूमि से अग्रेजी कविता को निकालने का प्रयास १६३० के वाद मार्क्सवाद से प्रभावित ऑडेन (१६०७-) लिविस, स्पेडर सेसिल डे और मेकनीस ने किया।

टी०एस० इलियट के वाद सबसे महत्वपूर्ण कवि डीलन टामस (१६१४-५३) है जो अत्यत नवीन होते हुए भी अत्यत मानवीय है। उसमें यौन-प्रतीको, धार्मिकता तथा जीवन और मृत्यु सवधी चितन का विचित्र योग हे। उसकी कविता गीति और बिंवप्रधान है और वहुत अशो मे उसने अग्रेजी कविता की रोमानी परपरा का भी निर्वाह किया है।

२०वी शताब्दी के अन्य उल्लेखनीय कवियो मे हर्वर्ट रीड, जॉर्ज वार्कर, एडविन म्योर, केज, अलन लिविस, कीथ डगलस, लारेंस ड्यूरेल, रॉय फुलर, डेविड गैसक्वॉयन, राइडलर, रोजर्स, वर्नर्ड स्पेसर, टेरेंस टिलर, डी० जे० एनराइट, टॉम गन, किंग्सले आमिस, जॉन वेन और अलवैरीज है।

आधुनिक युग को पश्चिम के बुद्धिजीवी चिता और भय का युग कहते है। इसमे सदेह नही कि भाषा, बिंव और छद के क्षेत्र मे इस युग ने अनेक प्रयोग किए है, किंतु ऐसा जान पडता है कि अधिकाश कवियो मे जीवन और उसके यथार्थ को समझने की क्षमता नही है।

स०ग०—डब्ल्यू० जे० कोर्टहोप हिस्ट्री ऑव इग्लिश पोएट्री, केंव्रिज हिस्ट्री ऑव इग्लिश लिटरेचर, लेगुई ऐंड कजामिया ए हिस्ट्री ऑव इग्लिश लिटरेचर, डब्ल्यू०पी० कर इग्लिश लिटरेचर, मेडीवल, वी० डी० मोलापिंटो दि इग्लिश रेनेसॉ, १५१०-१६८८, एस०जे० सी० गियर्सन क्रॉस करेंट्स् इन इग्लिश लिटरेचर ऑव दि सेवेन्टीन्थ सेंचुरी, एडमड गॉस हिस्ट्री ऑव एट्टीन्थ सेंचुरी लिटरेचर, सी० एच० हरफर्ड दि एज ऑव वर्ड्स्वर्थ, वी० आइफर इवन्स इग्लिश पोएट्री इन दि लेटर नाइन्टीथ सेंचुरी, एफ० आर० लिविस न्यू वेयरिंग्स इन इग्लिश पोएट्री।

[च० व० सि०]

नाटक

उदय—यूनान की तरह इग्लैंड मे भी नाटक धार्मिक कर्मकाडो से अकुरित हुआ। मध्ययुग मे चर्च (धर्म) की भाषा लातीनी थी और पादरियो के उपदेश भी इसी भाषा मे होते थे। इस भाषा से अनभिज्ञ साधारण लोगो को वाइविल और ईसा के जीवन की कथाएँ उपदेशो के साथ अभिनय का भी उपयोग कर समझाने मे सुविधा होती थी। वडे दिन और ईस्टर के पर्वो पर ऐसे अभिनयो का विशेष महत्व था। इससे धर्मशिक्षा के साथ मनोरजन भी होता था। पहले ये अभिनय मूक हुआ करते थे, लेकिन नवी शताब्दी मे लातीनी भाषा मे कथोपकथन होने के भी प्रमाण मिलते है। कालातर मे वीच वीच मे लोकभाषा का भी प्रयोग किया जाने लगा। अग्रेजी भाषा १३५० मे राजभाषा के रूप मे स्वीकृत हुई। इसलिये आगे चलकर केवल लोकभाषा ही प्रयुक्त होने लगी। इस प्रकार आरभ से ही नाटक का सवध जनजीवन से था और समय के साथ वह और भी गहरा होता गया। ये सारे अभिनय गिरजाघरो के भीतर ही होते थे और उनमे उनसे सवद्ध साधु, पादरी और गायक ही भाग ले सकते थे। नाटक के विकास के लिये जरूरी था कि उसे कुछ खुली हवा मिले। परिस्थितियो ने इसमे उसकी सहायता की।

१४वो शताब्दी से १६वी शताब्दी तक मिस्ट्री और मिरैकिल नाटक—विशेष मनोरजक होने के कारण इन अभिनयो को देखने के लिये लोग गिरजाघरो के भीतर उमडने लगे। विवश होकर चर्च के अधिकारियो ने इनका प्रवध गिरजाघरो के मैदानो मे किया। लेकिन सडको पर या बाजार मे इन अभिनयो के लिये अनुमति न थी। प्रार्थना भवन से बाहर आते ही अभिनयो का रूप वदलने लगा और उनमे स्वच्छदता की प्रवृत्ति बढने लगी। इस स्वच्छदता ने गिरजाघर के भीतर के अभिनयो को भी प्रभावित करना आरभ किया। इसलिये ईसा के सदेह स्वर्गारोहण के दृश्य के अतिरिक्त प्रार्थना भवन मे और अभिनय नियम बनाकर रोक दिए गए। बाजारो मे और सडको पर ऐसे अभिनय करना 'पाप' घोषित कर दिया गया। पादरियो और चर्च के अन्य सेवको पर लगे इस नियत्रण ने अभिनय को गिरजाघरो की चहारदीवारियो से बाहर ला खडा किया। नगरो की श्रेणियो (गिल्ड्स) ने इस काम को अपने हाथ मे लिया। यही से मिस्ट्री और मिरैकिल नाटको का उदय और विकास हुआ।

मिस्ट्री नाटको मे वाइविल की कथाओ से विषय चुने जाते थे और मिरैकिल नाटको मे सतो की जीवनियाँ होती थी। फ्रास मे यह भेद स्पष्ट था, लेकिन इग्लैंड मे दोनो मे कोई विशेष अतर नही था। १४वी शताब्दी के प्रारभ मे नाटक मडलियाँ अपना सामान बैलगाडियो पर लादकर अभिनय दिखाने के लिये देश भर मे भ्रमण करने लगी। स्पष्ट है कि ऐसे अभिनयो मे दृश्यो का प्रवध नही के बराबर होता था। लेकिन वेशभूषा का काफी ध्यान रखा जाता था। अभिनेता प्राय अस्थायी होते थे और कुछ समय के लिये अपने स्थायी काम धधो से छुट्टी लेकर इन नाटको मे अभिनय करके पुण्य और पैसा दोनो ही कमाते थे। धीरे धीरे जनरुचि को ध्यान मे रखकर गभीरता के वीच प्रहसन खड भी अभिनीत होने लगे। यही नही, हजरत नूह की पत्नी, शैतान और क्रूर हेरोद के चरित्रो को हास्यात्मक ढग से प्रस्तुत किया जाने लगा। विभिन्न नगरो की नाटक मडलियो ने अपनी अपनी विशिष्टताएँ भी विकसित की—धार्मिक शिक्षा, प्रहसन, तीव्र अनुभूति और यथार्थवाद विभिन्न अनुपातो मे मिश्रित किए जाने लगे। इसमे सदेह नही कि इन नाटको मे विषय और रूपगत अनेक दोष थे, लेकिन अग्रेजी नाटक के भावी विकास की नीव इन्होने ही रखी।

मोरैलिटी नाटक—इस विकास का अगला कदम था मिस्ट्री और मिरैकिल नाटको के स्थान पर मोरैलिटी (नैतिक) नाटको का उदय। ये नाटक सदाचार शिक्षा के लिये लिखे जाते थे। इन नाटको पर मध्ययुगीन साहित्य के भाववाद और प्रतीक या रूपक की शैली का स्पष्ट प्रभाव है। इनमें उपदेश के अतिरिक्त पात्रो के नाम तक गुणो या दुर्गुणो से लिए

जाते थे, जैसे सिन (पाप), ग्रेस (प्रभुदया), फेलोशिप (सौहार्द), एन्वी (ईर्षा), आइडिलनेस (प्रमाद), रिपेंटेस (पश्चात्ताप) इत्यादि। इन नाटको की केंद्रीय कथावस्तु थी मानव (एव्रीमैन) का पापो द्वारा पीछा तथा आत्मा और ज्ञान द्वारा उसका उद्धार। इस प्रकार इन नाटको ने मनुष्य के आतरिक सघर्षो के चित्रण की महत्वपूर्ण परपरा को जन्म दिया। ऐसे नाटको मे सबसे प्रसिद्ध 'एव्रीमैन' है जिसकी रचना १५वी शताब्दी के अत मे हुई।

मोरैलिटी नाटक पहलेवाले नाटको से ज्यादा लबे होते थे और पुनर्जागरण के प्रभाव के कारण उनमे से कुछ का विभाजन सेनेका के नाटको के अनुकरण पर अको और दृश्यो में भी होता था। कुछ नाटक सामतो की हवेलियो मे खेले जाने के लिये भी लिखे जाते थे। इनमे से अधिकाश का अभिनय पेशेवर अभिनेताओ द्वारा होने लगा। इनमे व्यक्तिगत रचना के लक्षण भी दिखाई पडने लगे।

इटरल्यूड—प्रारभ मे मोरैलिटी और इटरल्यूड नाटको की विभाजक रेखा बहुत धुँधली थी। बहुत से मोरैलिटी नाटको को इटरल्यूड शीर्षक से प्रकाशित किया जाता था। कोरे उपदेश से पैदा हुई ऊब को दूर करने के लिये मोरैलिटी नाटको मे प्रहसन के तत्वो का भी समावेश कर दिया जाता था। ऐसे ही खडो को इटरल्यूड कहते थे। बाद मे ये मोरैलिटी नाटको से स्वतत्र हो गए। ऐसे नाटको मे सबसे प्रसिद्ध हेवुड का 'फोर पीज' है। इन नाटको मे आधुनिक भाड (फार्स) और प्रहसन के तत्व थे। इनमे से कुछ ने बेन जॉन्सन की यथार्थवादी कॉमेडी के लिये भी जमीन तैयार की। प्रसिद्ध मानवतावादी चितक सर टॉमस मोर ने भी ऐसे नाटक लिखे।

इसी युग मे आगे आनेवाली प्रहसन और प्रेमयुक्त दरबारी रोमैंटिक कॉमेडी के तत्व मेडवाल की कृतियो 'फुल्जेंस ऐंड लूक्रीस' और 'कैलिस्टो ऐंड मेलेबिया' मे और रोमानी प्रवृत्तियो से सर्वथा मुक्त कॉमेडी के तत्व यूडाल की रचना 'राल्फ रवायस्टर डवायस्टर' और मिस्टर एस की रचना 'गामर गर्टस नीडिल' मे प्रकट हुए। ऐतिहासिक नाटको का भी प्रणयन तभी हुआ।

१६वी शताब्दी के मध्य तक आते आते पुनर्जागरण के मानवतावाद ने अंग्रेजी नाटक को स्पष्ट रूप से प्रभावित करना शुरू किया। १५८१ तक सेनेका अंग्रेजी मे अनूदित हो गया। सैकविल और नॉर्टन कृत अंग्रेजी की पहली ट्रैजेडी 'गॉरबोडक' का अभिनय एलिजाबेथ के सामने १५६२ में हुआ। कामेडी पर प्लाटस और टेरेंस का सबसे गहरा असर पडा। लातीनी भाषा के इन नाटककारो के अध्ययन से अंग्रेजी नाटको के रचनाविधान मे पाँच अको, घटनाओ की इकाई और चरित्रचित्रण मे सगतिपूर्ण विकास का प्रयोग हुआ।

इस विकास की दो दिशाएँ स्पष्ट हैं। एक ओर कुछ नाटककार देशज परपरा के आधार पर ऐसे नाटको की रचना कर रहे थे जिनमे नैतिकता, हास्य, रोमास इत्यादि के विविध तत्व मिले जुले होते थे। दूसरी ओर लातीनी नाट्यशास्त्र के प्रभाव मे विद्वद्वर्ग के नाटककार कॉमेडी और ट्रैजेडी मे शुद्धतावाद की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे। अंग्रेजी नाटक के स्वर्णयुग के पहले ही अनेक नाटककारो ने इन दोनो तत्वो को मिला दिया और उन्ही के समन्वय से शेक्सपियर और उसके अनेक समकालीनो के महान् नाटको की रचना हुई।

इस स्वर्णयुग की यवनिका उठने के पहले की तैयारी मे एक बात की कमी थी। वह १५७६ में शोरडिच मे प्रथम सार्वजनिक (पब्लिक) रगशाला की स्थापना से पूरी हुई। उस युग की प्रसिद्ध रगशालाओ मे थियेटर, रोज, ग्लोब, फार्चुन और स्वॉन हैं। सार्वजनिक रगशालाएँ लदन नगर के बाहर ही बनाई जा सकती थी। १६वी शताब्दी के अत तक केवल एक रगशाला ब्लैकफ्रायर्स मे स्थित थी और वह व्यक्तिगत (प्राइवेट) कहलाती थी। सार्वजनिक रगशालाओ मे नाटको का अभिनय खुले आसमान के नीचे, दिन मे, भिन्न भिन्न वर्गो के सामाजिको द्वारा घिरे हुए प्राय नग्न रगमच पर होता था। एलिजाबेथ और स्टुअर्ट-युग के नाटको मे वर्णनात्मक अशो, कविता के आधिक्य, स्वगत, कभी कभी फूहड मजाक या भँडैती, रक्तपात, समसामयिक पुट, यथार्थवाद इत्यादि तत्वो को समझने के लिये इन रगशालाओ की रचना और उनके सामाजिको का ध्यान रखना आवश्यक है। व्यक्तिगत रगशालाओ मे रगमच कक्ष के भीतर होता था जहाँ प्रकाश, दृश्य आदि का अच्छा प्रबध रहता था और उसके सामाजिक अभिजात होते थे। इन्होंने भी १७वी शताब्दी मे अंग्रेजी नाटक के रूप को प्रभावित किया। इन रगशालाओ ने नाटको के लिये केवल व्यापक रुचि ही नही पैदा की बल्कि नाटको की कथावस्तु और रचनाविधान को भी प्रभावित किया, क्योकि इस युग के नाटककारो का रगमच से जीवित सबध था और वे उसकी सभावनाओ और सीमाओ को दृष्टि मे रखकर ही नाटक लिखते थे।

एलिजाबेथ और जेम्स प्रथम का युग—एलिजाबेथ का युग अंग्रेजो के इतिहास मे राष्ट्रीय एकता, अदम्य उत्साह, मानवतावादी जागरूकता के उत्कर्ष और महान् प्रयत्नो का था। इसका प्रभाव साहित्य की अन्य विधाओ की तरह नाटक पर भी पडा। शेक्सपियर ससार को उस युग की सबसे बडी साहित्यिक देन है, लेकिन उसके अतिरिक्त यह अनेक बडी प्रतिभाओ का कृतित्वकाल है। उस महान् युग की भूमिका तैयार करने मे विश्वविद्यालयो मे शिक्षित होने और लेखन को व्यवसाय बनाने के कारण 'यूनिवर्सिटी विट्स' कहलानेवाले रॉबर्ट ग्रीन (१५५८-९२), जॉन लिली (१५४२-१६०६), टॉमस किड (१५५८-९४) और टॉमस मार्लो (१५६४-९३) का विशेषत बहुत बडा हाथ है। ग्रीन और लिली ने गीतिमय प्रेम और उदार प्रहसन, किड ने प्रतिहिंसात्मक ट्रैजेडी और मार्लो ने महत्त्वाकाक्षा और नैतिकता के सघर्ष से पैदा हुई विषमता की ट्रैजेडी को जन्म दिया। लातीनी और देशज परपराओ के मिश्रण से उन्होने नाटक को कलात्मकता दी। जॉर्ज पील (१५५७-१५९६) और ग्रीन ने नाटकीय अतुकात कविता का विकास किया और मार्लो ने उनसे आगे बढकर उसे उच्चकठ और वेगवान बनाया। मार्लो के नाटको मे कथासूत्र शिथिल है लेकिन वह भयकर अतर्द्वंद्वो की गीतिमय अकृत्रिम अभिव्यक्ति और भव्य चित्रयोजना मे शेक्सपियर का योग्य गुरु है। मार्लोकृत 'टैंबरलेन', 'डाक्टर फास्टस्' और 'दि ज्यू ऑव माल्टा' के नायक अपने अबाध व्यक्तिवाद के कारण आध्यात्मिक मूल्यो से टकराते और टूट जाते हैं। इस प्रकार व्यक्ति और समाज के बीच सघर्ष को चित्रित कर मार्लो पहले पहल पुनर्जागरण की वह केंद्रीय समस्या प्रस्तुत करता है जो शेक्सपियर और अन्य नाटककारो को भी आदोलित करती रही। मार्लो ने अंग्रेजी नाटक को स्वर्णयुग के द्वार पर खडा कर दिया।

विलियम शेक्सपियर (१५६४-१६१६) का प्रारंभिक विकास इन्ही परपराओ की सीमाओ मे हुआ। उसके प्रारंभिक नाटको मे कला मे सिद्धहस्तता प्राप्त करने का प्रयत्न है। इस प्रारंभिक प्रयत्न के माध्यम से उसने अपने नाटककार के व्यक्तित्व को पुष्ट किया। कथानक, चरित्रचित्रण, भाषा, छद, चित्रयोजना, और जीवन की पकड मे उसका विकास उस युग के अन्य नाटककारो की अपेक्षा अधिक श्रमसाध्य था, लेकिन १६वी शताब्दी के अतिम और १७वी शताब्दी के प्रारंभिक वर्षो मे उसकी प्रतिभा का असाधारण उत्कर्ष हुआ। इस काल के नाटको मे पुनर्जागरण की सारी सास्कृतिक और रचनात्मक क्षमता प्रतिबिंबित हो उठी। इस तरह शेक्सपियर ने हाल और हॉलिनशेड के इतिहास ग्रथो से इग्लैंड और स्कॉटलैंड के राजाओ की और प्लुतार्क से रोम के शासको की कथाएँ ली, लेकिन उनमे उसने मानवतावादी युग का बोध भर दिया। प्रारंभिक सुखात नाटको मे उसने लिली और ग्रीन का अनुकरण किया, लेकिन 'ए मिडसमर नाइट्स ड्रीम' (१५९६) और उसके बाद की चार ऐसी ही रचनाओ 'दि मरचेंट ऑव वेनिस', 'मच ऐडो अबाउट नथिंग', 'ट्वेल्फ्थ नाइट' और 'ऐज यू लाइक इट' मे उसने अंग्रेजी साहित्य मे रोमैंटिक कॉमेडी को नया रूप दिया। इनका वातावरण दरबारी कॉमेडी से भिन्न है। वहाँ एक ऐसा लोक है जहाँ स्वप्न और यथार्थ का भेद मिट जाता है और जहाँ हास्य की बौद्धिकता भी हृदय की उदारता से आर्द्र है। 'मेजर फॉर मेजर' और 'आल्ज वेल दैट एड्स वेल' मे, जो उसके अतिम सुखात नाटक हैं, वातावरण घने बादलो के बीच छिपते और उनसे निकलते हुए सूरज का सा है। दु खात नाटको मे प्रारंभिक काल की रचना 'रोमियो ऐंड जूलिएट' मे नायक नायिका की मृत्यु के बावजूद पराजय का स्वर नही है। लेकिन

१६वी शताब्दी के वाद लिखे गए 'हैमलेट', 'लियर', 'ग्रायेलो', मैकवेथ', 'ऐटनी ऐड क्लियोपेट्रा' और 'कोरियोलेनस' में उस युग के षड्यत्रपूर्ण दूषित वातावरण में मानवतावाद की पराजय का चित्र है। लेकिन उसके बीच भी शेक्सपियर की अप्रतिहत आस्था का स्वर उठता है। अत मे अनुभूतियो से मुक्ति पाने के लिये उसने 'पेरिक्लीज', 'सिंवेलीन', 'दि विंटर्स टेल' और 'टैपेस्ट' लिखे जिनमे प्रारभिक दुर्घटनाओ के वावजूद अत सुखद होते है। जीवन के विशद ज्ञान और काव्य एव नाट्य सौदर्य मे शेक्सपियर ससार की इनी गिनी प्रतिभाओ मे हे।

वेन जॉन्सन (१५७२-१६३७) अग्रेजी नाटक मे 'विकृत' प्रहसन (कामेडी ऑव 'ह्यूमर्स')का जन्मदाता है। उसके दीक्षागुरु प्लाटस और होरेस थे, इसलिये वह आचार्य नाटककार है और उसने शेक्सपियर इत्यादि की रोमैंटिक कॉमेडी मे विरोधी तत्वों के समन्वय का विरोध किया। उसकी 'विकृति' का अर्थ था किसी चरित्र के दोपविशेष को अतिरजित रूप मे चित्रित करना। उसकी प्रायमिक रचनाओ 'एव्रीमैन इन हिज ह्यूमर' और 'एव्रीमैन आउट ऑव हिज़ ह्यूमर' मे इसी तरह का प्रहसन है। जॉन्सन के अनुसार कॉमेडी का कर्तव्य 'अपने युग का चित्र प्रस्तुत करना' और मानव चरित्र की मूर्खताओ से 'क्रीडा' करना था। इस तरह उसने विद्रूपपूर्ण यथार्थवादी प्रहसन नाटक को भी जन्म दिया जिसमे उसकी प्रसिद्ध रचनाएँ 'वॉल्पोन' और आलकेमिस्ट' है। जॉन्सन का प्रहसन गुदगुदाता नही, डक मारता है।

जेम्स प्रथम के शासनकाल मे समाज मे बढती हुई अस्थिरता और निराशा तथा दरवार मे बढती हुई कृत्रिमता ने नाटक को प्रभावित किया। शेक्सपियर के परवर्ती वेव्स्टर, टर्नर, मिडिलटन, मार्स्टन, चैपमैन, मैसिजर और फोर्ड के दु खात नाटको मे व्यक्तिवाद अस्वाभाविक महत्वाकाक्षाओ, भयकर रक्तपात और क्रूरता, आत्मपीडा और निराशा में प्रकट हुआ। वेव्स्टर के शब्दो मे, इनका केद्रीय दर्शन 'फूल के पौधो के मूल मे नरमुड' की अनिवार्यता है।

कॉमेडी में मिडिलटन (१५८०-१६२७) और मैसिजर(१५८३-१६३९)जॉन्सन की परपरा मे थे,लेकिन उनमें स्थूल प्रहसन और अश्लीलता की भी वृद्धि हुई। जॉन फ्लेचर (१५७९-१६२५)और फ्रासिस वोमाट (१५८४।५-१६१६) में कॉमेडी का पतन स्वस्थ रोमास या प्रहसन की जगह दु खपूर्ण घटनाओ, नायक नायिकाओ के काल्पनिक जीवन, अत्यधिक अलकृत और रूढिप्रिय भाषा तथा अस्वाभाविक घटनाओ के रूप मे दीख पडा। दरवार की प्रेरणा से ही इसी युग मे मास्क (*Masque*) का भी जन्म हुआ जिसमे भव्य दृश्यो और साजसज्जा तथा सगीत की प्रधानता थी। इसी समय भावी विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण पारिवारिक समस्या-मूलक दु खात नाटको मे सबसे प्रसिद्ध 'आर्डेन ऑव फीवरशैम' (१५९२) है, जो लिखा पहले गया था पर प्रकाशित पीछे हुआ।

इस तरह दरवार के प्रभाव मे नाटक जनता से दूर हो रहा था। वास्तव मे वोमाट और फ्लेचर की ट्रैजी-कॉमेडी का अभिनय 'प्राइवेट' रगशालाओ मे मुख्यत अभिजातवर्गीय सामाजिको के सामने होता था। अगर नाटक का जनता से जीवित सवध था तो जॉन्सन की शिष्यपरपरा के नाटको के द्वारा या शेक्सपियर के परवर्ती दु खात नाटको के द्वारा, जिनका अभिनय 'पब्लिक' रगशालाओ मे होता था।

अग्रेजी नाटक के विकास की शृखला सहसा १६४२ मे टूट गई जब कामनवेल्थ युग मे प्यूरिटन सप्रदाय के दवाव से सारी रगशालाएँ वद कर दी गई। उसका पुनर्जन्म १६६० मे चार्ल्स द्वितीय के पुनर्राज्यारोहण के साथ हुआ।

पुनर्राज्यारोहण काल—फ्रास मे लुई चतुर्दश के दरवार मे शरणार्थी की तरह रह चुके चार्ल्स द्वितीय के लिये सस्कृति का आदर्श फ्रास का दरवार था। उसके साथ यह आदर्श भी इग्लैड आया। फ्रेंच रीतिकार और नाटककार अग्रेजी नाटककारो के आदर्श बने। चार्ल्स के लौटने पर ड्रूरी लेन और डॉर्सेट गार्डेन की रगशालाओ की स्थापना हुई। रग-शालाओ पर स्वय चार्ल्स और ड्यूक ऑव यॉर्क का नियत्रण था। इन रगशालाओ के सामाजिक मुख्यत दरवारी, उनकी प्रेमिकाएँ, छैल छवीले और कुछ आवारागर्द होते थे। अब नाटक वहुसख्यको की जगह अल्प-सख्यको का था, इसलिये इस युग मे दो तरह के नाटको का उदय और विकास हुआ—एक, ऐसे नाटक जिनकी 'हिरोइक' दु खात कथावस्तु दरवारियों की रुचि के अनुकूल 'प्रेम' और 'आत्मसमान' थी, दूसरे, ऐसे प्रहसन जिनमे चरित्रहीन किंतु कुशाग्रबुद्धि व्यक्तियो के सामाजिक व्यवहारो का चित्रण होता था (कॉमेडी ऑव मैनर्स)। रगशालाओ मे दृश्यो, प्रकाश इत्यादि के प्रबध के कारण कानो से ज्यादा आँखो के माध्यम से काम लिया जाने लगा, जिससे एलिजावेथ युग के नाटको की शुद्ध कविता की अनिवार्यता जाती रही। स्त्रियो ने भी रगमच पर आना शुरु किया जिसकी वजह से कथानको मे कई कई स्त्री पात्रो को रखना सभव हुआ।

'हिरोइक' ट्रैजेडी का नेतृत्व ड्राइडन (१६३१-१७००) ने किया। ऐसे नाटको की विशेषताएँ थी—असाधारण क्षमता और आदर्शवाले नायक, प्रेम मे असाधारण रूप से दृढ और अत्यत सुदर नायिका, प्रेम और आत्म-समान के बीच आतरिक सघर्ष, शौर्य, तुकात कविता, ऊहात्मक भाव एव अभिव्यक्ति तथा तीव्र और सूक्ष्म अनुभूति की कमी। ड्राइडन का अनुकरण औरो ने भी किया, लेकिन उनको नगण्य सफलता मिली।

इस काल मे अतुकात छदो मे भी दु खात नाटक लिखे गए और उनमें हिरोइक ट्रैजेडी की अपेक्षा नाटककारो को अधिक सफलता मिली। ये भी आम तौर पर प्रेम के विपय में थे। लेकिन इनकी दुनिया एलिज़ावेथ युग के नाटको के भीपण अतर्द्वद्वो से भिन्न थी। यहाँ भी प्रधानता ऊहात्मक भावुकता की ही थी। ड्राइडन के अतिरिक्त ऐसे नाटककारो में केवल टॉमस ऑटवे ही उल्लेखनीय है।

इस युग ने नाटक के रूप को एक नई देन 'ऑपेरा' के रूप मे दी, जिसमे कथोपकथन के अतिरिक्त सगीत भी रहता था।

'कॉमेडी ऑव मैनर्स' के विकास ने अग्रेजी प्रहसन नाटक का पुनरुद्धार किया। इसके प्रसिद्ध लेखको मे विलियम विकर्ली (१६४०-१७१६), विलियम काग्रीव (१६७०-१७२९), जॉर्ज इथरेज (१६३४-१६९०), जॉन व्हॉनब्रुग (१६६६-१७४६) और जॉर्ज फर्कुहार (१६७८-१७०७) है। इन्होने जॉन्सन के यथार्थवादी ढग से चार्ल्स द्वितीय के दरवारियो जैसे आमोदप्रिय, प्रमद, प्रेम के लिये अनेक दुरभिसधियो के रचयिता, नैतिकता और सदाचार के प्रति उदासीन और साफ सुथरी किंतु पैनी वोलीवाले व्यक्तियो का नग्न चित्र तटस्थता के साथ खीचा। उपदेश या समाज-सुधार उनका लक्ष्य नही था। इसके कारण इन लेखको पर अश्लीलता का आरोप भी किया जाता है। इन नाटको मे जॉन्सन के चरित्रो की मानसिक विविधता के स्थान पर घटनाओ की विविधता है। इन्होने जॉन्सन की तरह चरित्रो को अतिरजन की शैली से एक एक दुर्गुण का प्रतीक न वनाकर उन्हे उनके सामाजिक परिवेश मे देखा। उनका सबसे बडा काम यह था कि उन्होने अग्रेजी कॉमेडी को वोमाट और फ्लेचर की कृत्रिम रोमानी भावुकता से मुक्त कर उसे सच्चे अर्थो मे प्रहसन वनाया। साथ ही जॉन्सन की परपरा भी शैडवेल और हॉवर्ड ने कायम रखी।

१८वी शताब्दी—यह शताब्दी गैरिक और श्रीमती सिडस जैसे अभिनेता और अभिनेत्री की शताब्दी थी, लेकिन नाटकरचना की दृष्टि से इस युग मे केवल दो वडे नाटककार हुए रिचर्ड ब्रिसले शेरिडन (१७५१-१८१६) और ऑलिवर गोल्डस्मिथ (१७२८-७४)। इस शताब्दी की मध्यवर्गीय नैतिकता ने इस युग मे भावुक (सेटिमेटल) कॉमेडी को जन्म दिया, जिसमें प्रहसन से अधिक जोर सदाचार पर था। पारिवारिक सुख, आदर्श प्रेम और हृदय की पवित्रता की स्थापना के लिये अक्सर मध्यवर्गीय चरित्रो को ही चुना जाता था। ऐसे नाटककारो मे सवसे प्रसिद्ध सिवर, स्टील, केली, और कवरलैंड है। शेरिडन और गोल्डस्मिथ ने ऐसे अश्रु-सिंचित सुखात नाटको के स्थान पर शुद्ध प्रहसन को अपना लक्ष्य वनाया। इन्होने रोमानी तत्वो के स्थान पर जॉन्सन और काग्रीव के यथार्थवाद, व्यग्य, चुभती हुई भाषा और चरित्रचित्रण मे अतिरजन का अनुसरण किया। गोल्डस्मिथ-कृत 'शी स्टूप्स टु काकर' और शेरिडन कृत 'दि स्कूल फॉर स्कैडल' अग्रेजी प्रहसन नाट्य की सर्वोत्तम कृतियो मे गिने जाते है।

इस शताब्दी मे कईलेखको ने दु खात नाटक लिखे, लेकिन उनमे एडि-सन का 'कैटो' ही उल्लेखनीय हे। पैंटोमाइम, जो एक तरह से शुद्ध भँडैती था, और वैलड-ऑपेरा (गीति नाट्य) भी इस युग मे काफी लोकप्रिय थे। गे का गीतिनाट्य 'दि वेगर्स ऑपेरा' तो योरप के कई देशो मे अभिनीत

हुआ। एडवर्ड मूर का पारिवारिक समस्यामूलक नाटक 'गेम्सटर' ऐसे नाटकों में सबसे अच्छा है।

१९वीं शताब्दी—रोमैंटिक युग का पूर्वार्ध नाटक की दृष्टि से प्राय शून्य है। सदी, कोलरिज, वर्ड्‌स्वर्थ, शेली, कीट्स, बायरन, लैंडर और ब्राउनिंग ने नाटक लिखे, लेकिन अधिकतर वे केवल पढने लायक हैं। शताब्दी के उत्तरार्ध मे इब्सन के प्रभाव से अंग्रेजी नाटक को नई प्रेरणा मिली। पारिवारिक जीवन को लेकर रॉबर्टसन, जोन्स और पिनरो ने इब्सन की यथार्थवादी शैली के अनुकरण पर नाटक लिखे। उनमे इब्सन की प्रतिभा नही थी, लेकिन नाटकीयता और आधुनिक शैली के द्वारा उन्होने आगे का मार्ग सरल कर दिया।

२०वीं शताब्दी—इब्सन के प्रचार ने अंग्रेजी नाटक को नई दिशा दी। उसके नाटको की कुछ विशेषताएँ ये थी—समाज और व्यक्ति की साधारण समस्याएँ, पुरानी नैतिकता की आलोचना, बाहरी सघर्षो के स्थान पर आतरिक सघर्ष, रगमच पर यथार्थवाद, विवरणात्मक साजसज्जा, स्वगत का बहिष्कार, बोलचाल की भाषा से निकटता, प्रतीकवाद। इब्सन के नाटक समस्या नाटक हैं। २०वीं शताब्दी के प्रारभिक नाटककारो पर इब्सन के अतिरिक्त चेखव का भी गहरा असर पडा। ऐसे नाटककारो मे सबसे प्रमुख शॉ और गाल्सवर्दी के अतिरिक्त ग्रैनविल बार्कर, सेट जॉन हैकिन, जॉन मेसफील्ड, सेट जॉन अर्विन, आर्नल्ड बेनेट इत्यादि हैं।

इस युग मे कॉमेडी ऑव मैनर्स की परपरा भी विकसित हुई है। १९वीं शताब्दी के अत मे ऑस्कर वाइल्ड ने इसको पुनरुज्जीवित किया था। २०वीं शताब्दी में इसके प्रमुख लेखको मे शॉ, मॉम, लासडेल, सेट अर्विन, मुनरो, नोएल काअर्ड, ट्रैवर्स, रैटिगन इत्यादि हैं।

समस्या नाटको की परपरा भी आगे बढी है। उनके लेखको मे सबसे प्रसिद्ध ओ' कैसी के अतिरिक्त शेरिफ, मिल्न, प्रीस्टले और जॉन व्हॉन ड्रूटेन हैं।

इस युग के ऐतिहासिक नाटककारो मे सबसे प्रसिद्ध ड्रिंकवाटर, बैक्स और जेम्स ब्रिडी हैं।

काव्य नाटको का विकास भी अनेक लेखको ने किया है। उनमे स्टीफेन फिलिप्स, येट्स, मेसफील्ड, ड्रिंकवाटर, बाम्ली, फ्लेकर, अबरक्रूबी, टी० एस० इलियट, ऑडेन, ईशरवुड, क्रिस्टोफर फ्राई, डकन, स्पेंडर इत्यादि हैं।

आधुनिक अंग्रेजी नाटक मे आयरलेंड के तीन प्रसिद्ध नाटककारो, येट्स, लेडी ग्रेगरी और सिंज की बहुत बडी देन है। यथार्थवादी शैली के युग में उन्होने नाटक मे रोमानी और गीतिमय कल्पना तथा अनुभूति को कायम रखा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि २०वीं शताब्दी मे अंग्रेजी नाटक का बहुमुखी विकास हुआ है। रगमच के विकास के साथ साथ रूपो मे भी अनेक परिवर्तन हुए हैं। समसामयिकता के कारण मूल्याकन मे अतिरजन हो सकता है, लेकिन जिस युग मे शॉ, गाल्सवर्दी, ओ'कैसी, येट्स और सिंज जैसे नाटककार हुए हैं उसकी उपलब्धियो का स्थायी महत्व है।

स० ग्र०—अलरडाइस निकल दि थियरी ऑव ड्रामा, ब्रिटिश ड्रामा, और दि डेवेलपमेंट ऑव दि थियेटर, ई०के०चैम्बर्स दि एलिजाबेथन स्टेज, ए० एच० थार्नडाइक इंग्लिश कॉमेडी, जे० सी० ट्रेविन दि थियेटर सिंस १९००, और ड्रैमेटिस्ट्स ऑव टुडे, एलिस फर्मर आयरिश ड्रामा।

[च० व० सि०]

अंजन नेत्रों की रोगो से रक्षा अथवा उन्हे सुदर श्यामल करने के लिये चूर्णद्रव्य, नारियो के सोलह सिंगारो में से एक। प्रोषितपतिका विरहिणियों के लिये इसका उपयोग वर्जित है। 'मेघदूत' में कालिदास ने विरहिणी यक्षी और अन्य प्रोषितपतिकाओ को अजन से शून्य नेत्रवाली कहा है। अजन को शलाका या सलाई से लगाते हैं। इसका उपयोग आज भी प्राचीन काल की ही भाँति भारत की नारियो मे प्रचलित है। पजाब, पाकिस्तान के कबीलई इलाको, अफगानिस्तान तथा बिलोचिस्तान मे मर्द भी अजन का प्रयोग करते हैं। प्राचीन वेदिका स्तभो (रेलिगो) पर बनी नारी मूर्तियाँ अनेक बार शलाका से नेत्र मे अजन लगाते हुए उभारी गई हैं।

अंजार एक छोटा नगर है जो कच्छ मे बबई राज्य के अतर्गत अपने ही नाम के ताल्लुके का प्रधान कार्यालय है (स्थिति २३° १०' उ०अ० और ७०° ४' पू० दे०)। यह कच्छ की खाडी से १० मील दूर है। निकटवर्ती क्षेत्र मरुस्थल और सूखा है। पानी की समस्या कुओ से पूरी होती है। पास के क्षेत्र मे बाजरा, गेहूँ, जौ और कपास पैदा होते हैं। बाँधो और कुओ से सिंचाई का अच्छा प्रबध है। १९५१ के अत में यहाँ की जनसख्या १६,३०४ थी।

१६ जून १८१९ में यह नगर भयकर भूचाल से बहुत नष्ट हो गया। धन जन की भी पर्याप्त हानि हुई थी। यह नगर भारत के भूकप के 'बी' जोन मे पडता है। यहाँ हल्के भूचाल कई बार आ चुके हैं।

अजार पहले रेल द्वारा टूना, भुज तथा काडला से मिला था। अक्टूबर १९५२ मे राष्ट्रपति डा० राजेंद्रप्रसाद ने काडला-दीसा मीटर गेज रेलवे लाइन का उद्‌घाटन किया। इस प्रकार अब इस नगर का सीधा सबध उत्तरी गुजरात तथा दक्षिणी-पश्चिमी राजपूताना से हो गया है। यह निकटवर्ती क्षेत्र का भौगोलिक केंद्र भी है। [ल० कि० सि० चौ०]

अंजीर (अंग्रेजी नाम फिग, वानस्पतिक नाम फिकस-कैरिका, प्रजाति फिकस, जाति कैरिका, कुल मोरेसी) एक वृक्ष का फल है जो पक जाने पर गिर जाता है। पके फल को लोग खाते हैं। सुखाया फल बिकता है। सूखे फल को टुकडे टुकडे करके या पीसकर दूध और चीनी के साथ खाते हैं। इसका स्वादिष्ट जैम (फल के टुकडो का मुरब्बा) भी बनाया जाता है। सूखे फल मे चीनी की मात्रा लगभग ६२ प्रति शत तथा ताजे पके फल मे २२ प्रति शत होती है। इसमे कैल्सियम तथा विटामिन 'ए' और 'बी' काफी मात्रा मे पाए जाते हैं। इसके खाने से कोष्ठबद्धता (कब्जियत) दूर होती है।

अजीर

अजीर का वृक्ष छोटा तथा पर्णपाती (पतझडी) प्रकृति का होता है। तुर्किस्तान तथा उत्तरी भारत के बीच का भूखड इसका उत्पत्तिस्थान माना जाता है। भूमध्यसागरीय तटवाले देश तथा वहाँ की जलवायु मे यह अच्छा फलता फूलता है। निस्सदेह यह आदिकाल के वृक्षो मे से एक है और प्राचीन समय के लोग भी इसे खूब पसद करते थे। ग्रीसवासियो ने इसे कैरिया (एशिया माइनर का एक प्रदेश) से प्राप्त किया, इसलिये इसकी जाति का नाम कैरिका पडा। रोमवासी इस वृक्ष को भविष्य की समृद्धि का चिह्न मानकर इसका आदर करते थे। स्पेन, अल्जीरिया, इटली, तुर्की, पुर्तगाल तथा ग्रीस मे इसकी खेती व्यावसायिक स्तर पर की जाती है।

अजीर की खेती भिन्न भिन्न जलवायुवाले स्थानो मे की जाती है, परतु भूमध्यसागरीय जलवायु इसके लिये अत्यत उपयुक्त है। फल के विकास तथा परिपक्वता के समय वायुमडल का शुष्क रहना अत्यत आवश्यक है। पर्णपाती वृक्ष होने के कारण पाले का प्रभाव इसपर कम पडता है। यो तो सभी प्रकार की मिट्टी मे इसका वृक्ष उपजाया जा सकता है, परतु दोमट अथवा मटियार दोमट, जिसमें उत्तम जलनिकास (ड्रेनेज) हो, इसके लिये सबसे श्रेष्ठ मिट्टी है। इसमे प्राय खाद नही दी जाती, तो भी अच्छी फसल के लिये प्रति वर्ष प्रति वृक्ष २०-३० सेर सडे हुए गोबर की खाद या कपोस्ट जनवरी फरवरी मे देना लाभदायक है। इसे अधिक सिंचाई की भी आवश्यकता नही पडती। ग्रीष्म ऋतु मे फल की पूर्ण वृद्धि के लिये एक या दो सिंचाई कर देना अत्यत लाभप्रद है।

अजीर कई प्रकार का होता है, परतु मुख्य प्रकार चार हैं (१) कैप्री फिग, जो सबसे प्राचीन है और जिससे अन्य अजीरो की उत्पत्ति हुई

है, (२) स्माइर्ना, (३) सफेद सैनपेद्रू, ग्रोर (४) साधारण ग्रजीर। भारत में मार्सेलीज़, ब्लैक इस्चिया, पूना, बंगलोर तथा ब्राउन टर्की नाम की किस्मे प्रसिद्ध है। ग्रजीर के नए पौधे मुख्यत कृत्तो (कटिंग) द्वारा प्राप्त होते है। एक वर्ष की ग्रवस्था की डाल का इस कार्य के लिये प्रयोग किया जाता है। कृत्त जनवरी मे लगाए जाते है ग्रौर एक वर्ष वाद इस प्रकार तैयार हुए पौधो को स्थायी स्थान पर पद्रह पद्रह फुट की दूरी पर लगाते है। प्रति वर्ष सुपुप्ति काल मे इसकी कटाई छँटाई करनी चाहिए क्योकि ग्रच्छे फल पर्याप्ति मात्रा में नई डालियो पर ही ग्राते है। फल ग्रप्रैल से जून तक प्राप्त होते है। लगाने के तीन वर्ष वाद वृक्ष फल देने लगता हे ग्रौर एक स्वस्थ, प्रौढ वृक्ष से लगभग ४०० फल मिलते है। पत्तियो के निचले भाग में एक प्रकार का रोग लगता है जिसे मडूर (रस्ट) कहते है, परन्तु यह रोग विशेप हानिकारक नही है।

स०ग्र०——आइसन गुस्टाव दि फिग (यूनाइटेड स्टेट्स डिपार्टमेट ग्रॉव ऐग्रिकल्चर, १९०१)। [ज० रा० सिं०]

अंटार्कटिक महाद्वीप

दक्षिणी ध्रुवप्रदेश में स्थित विशाल भूभाग को ग्रटार्कटिक महाद्वीप ग्रथवा ग्रटार्कटिका कहते है। इसे ग्रधमहाद्वीप भी कहते है। झझावातो, हिमशिलाग्रो तथा ऐल्वैट्रॉस नामक पक्षीवाले भयानक सागरो से घिरा हुग्रा यह एकात प्रदेश उत्साही मानव के लिये भी रहस्यमय रहा है। इसी कारण वहुत दिनो तक लोग सयुक्त राज्य ग्रमरीका तथा कैनाडा के समिलित क्षेत्रफल की वरावरी करनेवाले इस भूभाग को महाद्वीप मानने से भी इनकार करते रहे।

खोजो की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि——१७वी शताब्दी से ही नाविको ने इसकी खोज के प्रयत्न प्रारभ किए। १७६९ ई० से १७७३ ई० तक कप्तान कुक ७१°१०′ दक्षिण ग्रक्षाश, १०६ ५४′ प० देगातर तक जा सके। १८१९ ई० मे स्मिथ शेटलैड तथा १८३३ ई० मे केप ने केपलैड का पता लगाया। १८४१-४२ ई० में रॉस ने उच्च सागरतट, उगलते ज्वालामुखी इरेवस तथा शात माउट टेरर का पता पाया। तत्पश्चात् गरशेल ने १०० द्वीपो का पता लगाया। १९१० ई० में पाँच शोधक दल काम मे लगे थे जिनमे कप्तान स्काट तथा ग्रमुडसेन के दल मुख्य थे। १४ दिसवर को ३ बजे अमुडसेन दक्षिणी ध्रुव पर पहुँचा ग्रौर उस भूभाग का नाम उसने सम्राट् हक्कन सप्तम पठार रखा। ३५ दिनो वाद स्काट भी वहाँ पहुँचा ग्रौर लौटते समय मार्ग मे वीरगति पाई। इसके पश्चात् माउसन शैकल्टन ग्रौर वियर्ड ने शोधयात्राएँ की। १९५० ई० मे ब्रिटेन, नार्वे ग्रौर स्वीडन के शोधक दलो ने मिलकर तथा १९५०-५२ मे फ्रासीसी दल ने ग्रकेले शोधकार्य किया। नववर, १९५८ ई० मे रूसी वैज्ञानिको ने यहाँ पर लोहे तथा कोयले की खानो का पता लगाया। दक्षिणी ध्रुव १०,००० फुट ऊँचे पठार पर स्थित है जिसका क्षेत्रफल ५०,००,००० वर्ग मील है। इसके अधिकाश भाग पर वर्फ की मोटाई २,००० फुट है ग्रौर केवल १०० वर्ग मील को छोडकर शेप भाग वर्ष भर वर्फ से ढका रहता है। समतल शिखरवाली हिमशिलाएँ इस प्रदेश की विशेषता है।

यह प्रदेश 'पर्मोकार्वोनिफेरस' समय की प्राचीन चट्टानो से बना है। यहाँ की चट्टानो के समान चट्टाने भारत, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका तथा दक्षिणी ग्रमेरिका मे मिलती है। यहाँ की उठी हुई वीचियाँ क्वाटरनरी समय में धरती का उभाड सिद्ध करती है। यहाँ हिमयुगो के भी चिह्न मिलते है। ऐंडीज़ एव ग्रटार्कटिक महाद्वीप मे एक सी पाई जानेवाली चट्टाने इनके सुदूर प्राचीन काल के सवध को सिद्ध करती है। यहाँ पर 'ग्रेनाइट' तथा 'नीस' नामक शैलो की एक ११०० मील लवी पर्वतश्रेणी है जिसका धरातल वलुग्रा पत्थर तथा चूने के पत्थर से बना है। इसकी ऊँचाई ८,००० से लेकर १५,००० फुट तक है।

जलवायु——ग्रीष्म में ६०° दक्षिण ग्रक्षाश से ७८° द० ग्र० तक ताप २८° फारेनहाइट रहता है। जाडे मे ७१° ३०′ द० ग्र० मे ४५° ताप रहता है ग्रौर ग्रत्यत कठोर शीत पडती है। ध्रुवीय प्रदेश के ऊपर उच्च वायुभार का क्षेत्र रहता हे। यहाँ पर दक्षिण-पूर्व वहनेवाली वायु का प्रति चक्रवात उत्पन्न होता है। महाद्वीप के मध्यभाग का ताप — १००° फा० से भी नीचे चला जाता है। इस महाद्वीप पर अधिकतर वर्फ की वर्षा होती है।

वनस्पति तथा पशु——दक्षिणी ध्रुव महासागर मे पौधो तथा छोटी वनस्पतियो की भरमार हे। लगभग १५ प्रकार के पौधे इस महाद्वीप में पाए गए है जिनमे से तीन मीठे पानी के पौधे है, शेप धरती पर होनेवाले पौधे, जैसे काई ग्रादि।

ग्रध महाद्वीप का सवसे वडा दुग्धपायी जीव ह्वेल है। यहाँ तेरह प्रकार के सील नामक जीव भी पाए जाते है। उनमे से चार तो उत्तरी प्रशात महासागर मे होनेवाले सीलो के ही समान है। ये फर-सील है तथा इन्हें सागरीय सिंह ग्रथवा सागरीय गज भी कहते है। वडे ग्राकार के किंग पेंगुइन नामक पक्षी भी यहाँ मिलते है। यहाँ पर विश्व मे ग्रन्यत्र ग्रप्राप्य ११ प्रकार की मछलियाँ होती है। दक्षिणी ध्रुवीय प्रदेश में धरती पर रहनेवाले पशु नही पाए जाते।

उत्पादन——धरती पर रहनेवाले पशुग्रो ग्रथवा पुष्पोवाले पौधो के न होने के कारण इस प्रदेश का ग्रायस्रोत एक प्रकार से नगण्य है। परतु पेगुइन पक्षियो, सील, ह्वेल तथा हाल में मिली लोहे एव कोयले की खाना से यह प्रदेश भविष्य मे सपत्तिशाली हो जायगा, इसमें सदेह नही। यहाँ की ह्वेल मछलियो से प्रति वर्ष ४,५०,००,००० रुपए का माल मिलता है। वायुयानो के वर्तमान युग मे यह महाद्वीप विशेप महत्व का होता जा रहा है। यहाँ पर मनुष्य नही रहते। ग्रतर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष में सयुक्त राष्ट्र (ग्रमरीका), रूस ग्रौर ब्रिटेन तीनो की इस महाद्वीप के प्रति विशेप रुचि परिलक्षित हुई है ग्रौर तीनो ने दक्षिणी ध्रुव पर ग्रपने ग्रपने झडे गाड दिए है। [शि० म० सिं०]

अंडमान द्वीपसमूह

वगाल की खाडी के वीच उत्तर दक्षिण (१०° १३′ उ० ग्र० से १३° २०′ उ० ग्र० तक) फैला हुग्रा कुछ द्वीपो का पुज है जो भारत सरकार के ग्रतर्गत है। भारत सरकार इनका शासन केद्र द्वारा करती है। ग्रडमान में छोटे वडे मिलाकर कुल २०४ द्वीप है। हुगली नदी के मुहाने से लगभग ५९० मील ग्रौर वर्मा के नेग्राइस ग्रतरीप से यह १२० मील की दूरी पर है। इस द्वीपपुज की पूरी लवाई २१९ मील है, तथा ग्रधिकतम चौडाई ३२ मील ग्रौर कुल भूभाग का क्षेत्रफल २,५०८ वर्ग मील हे। नीकोवार द्वीपपुज ग्रडमान के दक्षिण मे ७५ मील की दूरी पर स्थित है। इसके द्वीपो की सख्या १९ ग्रौर कुल भूमि का क्षेत्रफल ७३५ वर्ग मील है।

ग्रडमान का मुख्य भूभाग पाँच प्रधान द्वीपो से बना है जो एक दूसरे के सनिकट स्थित है। इन द्वीपसमूहो को 'वृहत् ग्रडमान' कहते है। वृहत् ग्रडमान के दक्षिण में लघु ग्रडमान ग्रौर पूर्व में रिची द्वीपपुज स्थित है। दक्षिण के द्वीपो मे मैनर्स स्ट्रेट है जो ग्रडमान के समुद्री व्यवसाय का मुख्य मार्ग है। इसके पूर्व भाग मे पोर्ट व्लेयर नामक नगर स्थित हे जो ग्रडमान की राजधानी ग्रौर प्रधान वदरगाह हे। ग्रडमान का समुद्रतट वहुत ही कटा हुआ है जिसके कारण भूभाग के भीतर कई मील तक ज्वारभाटा ग्राता हे। इसलिये यहाँ कई प्राकृतिक वदरगाह हे। इनमें से पोर्ट व्लेयर, पोर्ट कार्नवालिस ग्रौर स्टिवार्ट प्रसिद्ध है।

कहा जाता है कि इन द्वीपो की माला वर्मा की ग्राराकान योमा नामक पर्वतश्रेणी का ही विस्तार है जो ईयोसीन युग मे वनी थी। इनमे छोटे छोटे सर्पेटाइन तथा चूना पत्थर के भाग दिखाई देते है। सभवत ये माइग्रोसिन युग की देन है। इन द्वीपमालाग्रो के पूर्वी भाग मे स्थित मर्तबान की खाडी के भीतर छोटे छोटे ग्राग्नेय द्वीप भी दिखाई देते है। इन्हे नारकोनडाम ग्रौर वैरन द्वीपपुज कहते है। ग्रडमान के सभी समुद्रतटो पर मूंगे (प्रवाल) की प्राचीरमाला दिखाई देती है।

वृहत् ग्रडमान का भूभाग कुछ पहाडियो से बना है जो ग्रत्यत सकीर्ण उपत्यकाग्रो का निर्माण करती है। ये पहाडियाँ, विशेषकर पूर्वी भाग मे, काफी ऊपर तक उठी हुई है ग्रौर पूर्वी ढाल पश्चिमी ढाल की ग्रपेक्षा ग्रधिक खडी है। ग्रडमान की पहाडियो का सर्वोच्च शिखर उत्तरी ग्रडमान मे है जो २,४०० फुट ऊँचा है। इसे सैडल पीक कहते है। छोटा ग्रडमान प्राय समतल है। इन द्वीपो मे कही भी नदियाँ नही है, केवल छोटे मौसमी नाले दिखाई देते है। ग्रडमान का प्राकृतिक दृश्य बहुत ही रमणीक है।

ग्रडमान की जलवायु भारतवर्ष की दक्षिण-पश्चिम मानसूनी जलवायु ग्रौर पूर्वी द्वीपसमूह की विपुवतरेखीय जलवायु के वीच की है। यहाँ का

ताप सालभर लगभग बराबर रहता है जिसका औसत मान ८५° फा० है। पर्याप्त वर्षा होती है जिसकी औसत मात्रा १००'' के ऊपर है। जून से नितंबर तक वर्षा अधिक होती है और शेष महीने शुष्क होते हैं। बंगाल की खाड़ी तथा हिंदमहासागर की ऋतु का पूर्वानुमान करने के लिये अंडमान की स्थिति बहुत ही लाभदायक है। इस कारण पोर्टब्लेयर में १८६८ में एक बड़ा ऋतुकेंद्र खोला गया था। यह केंद्र आज भी इन समुद्रों में चलनेवाले जहाजों को तूफानों की दिशा तथा तीव्रता का ठीक संवाद देता रहता है।

अंडमान के कुछ घने आबाद स्थानों को छोड़कर शेष भाग अधिकतर उष्णप्रदेशीय जंगलों से ढका है। भारत सरकार के निरंतर प्रयत्न से जंगलों को साफ करके आबादी के योग्य काफी स्थान बना लिया गया है जिसमें पूर्वी बंगाल (पाकिस्तान) से आए हुए शरणार्थियों को बसाने का प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है, भविष्य में भारत को इससे पर्याप्त आर्थिक लाभ होगा।

अंडमान की प्रधान उपज यहाँ की जंगली लकड़ियाँ हैं जिनमें अंडमान की लाल लकड़ियाँ प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त नारियल तथा रबर के पेड़ भी अच्छी तरह उगते हैं। आजकल यहाँ मैनिला हेंप तथा सीसल हेंप नामक सूत्रोत्पादक पौधों को उगाने की चेष्टा हो रही है। आयात सामग्री में चाय, कहवा, कोको, सन, साल आदि प्रमुख हैं। यहाँ सुंदर पेड़ोंवाले दलदल अधिक हैं। ये पेड़ ईंधन के काम में आते हैं। अंडमान के निज जंतु अपेक्षाकृत कम हैं। दुग्धपायी जंतुओं की जातियाँ भी बहुत कम हैं। बड़े जंतुओं में सुअर और बनबिलार मुख्य हैं।

अंडमान के प्राचीन निवासी असभ्य थे, जिसके फलस्वरूप यहाँ की सभ्यता बहुत ही पिछड़ी हुई है। सन् ८५१ के अरबी लेखों में इन लोगों को नरभक्षक बताया गया है, जो जहाजों को ध्वस किया करते थे। परंतु यह पूर्णरूपेण सत्य नहीं है। यहाँ के आदिवासी हँसमुख, उत्साही तथा क्रीडाप्रिय प्रकृति के हैं। परंतु क्रुद्ध हो जाने पर भयंकर रूप धारण कर लेते हैं और सब प्रकार के कुकृत्य करने पर उतारू हो जाते हैं। इसलिये इनपर विश्वास करना बहुत ही कठिन है। वैज्ञानिकों का मत है कि ये संभवत वामन (पिगमी) जाति के वंशज हैं जो कभी एशिया के दक्षिणी-पूर्वी भागों तथा उसके बाहरी टापुओं में बसी थी। यद्यपि अंडमान के आदिवासी सब एक ही वंश के हैं, परंतु इनमें कई जातियाँ तथा उपजातियाँ पाई जाती हैं जिनकी भाषाएँ, रहन सहन, निवासस्थान तथा आदतें भिन्न भिन्न हैं। भूत प्रेत आदि पर इनका विश्वास है और इनकी धारणा है कि मनुष्य मरने के पश्चात् भूत हो जाते हैं। इनका प्रधान अस्त्र तीर धनुष है। ये अपना स्थान छोड़कर कहीं नहीं जाते। नक्षत्रादि से दिशा निर्णय करने का ज्ञान संभवत इनमें नहीं है। इनके बाल चमकदार, काले तथा घुँघराले होते हैं। पुरुषों का शरीर सुंदर, सुगठित तथा बलिष्ठ होता है, परंतु नारियाँ उतनी सुंदर नहीं होतीं। विवाहादि भी इनमें निर्धारित नियमों के अनुसार संपन्न होते हैं।

अंडमान अंग्रेजों के समय में भारतीय कैदियों के आजीवन या दीर्घकालीन कारावास का स्थान था। भारतीय दंडविधान के अनुसार इन कैदियों के देशनिष्कासन की आज्ञा रहती थी। सन् १८५७ में भारत के स्वतंत्रता संग्राम के प्रथम प्रयास के बाद से अंडमान भेजे जानेवाले कैदियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। सन् १८७२ में वाइसराय लार्ड मेयो का, जब वे अंडमान देखने गए हुए थे, निधन हुआ। इस घटना से अंग्रेजों के हृदय में एक गहरी छाप पड़ गई। अंग्रेजों के समय से यहाँ कैदियों के बसाने की पर्याप्त व्यवस्था की गई है। यहाँ की रक्षा के हेतु सेनाएँ भी रखी जाती हैं। भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व यहाँ की समस्त व्यवस्था अंग्रेज अफसरों द्वारा होती थी। जिन कैदियों का जीवन उचित ढंग का प्रतीत होता था उन्हें २०-२५ वर्ष बाद छोड़ भी दिया जाता था। १९२१ से आजीवन कारावास का दंड उठा दिया गया है। तब से यहाँ के कैदियों की संख्या घटती गई है। इसके पूर्व यहाँ की कुल कैदी संख्या १२,००० थी। द्वितीय महायुद्ध में यह जापान द्वारा अधिकृत हो गया था (१९४२) और युद्ध समाप्त होने तक उसी के अधिकार में रहा।

१९३१ के गणनानुसार यहाँ की जनसंख्या १९,२२३ थी (पुरुष १४,२५८ और नारियाँ ४,९६५)। सारे द्वीपों में सबसे घनी आबादी पोर्ट ब्लेयर में है। इसका कारण यह है कि पुराने समय से ही पोर्ट ब्लेयर को केंद्र मानकर अंडमान की नई आबादी बसनी शुरू हुई थी। १९४१ में जनसंख्या २१,४८३ थी।

अंडमान की उन्नति के लिये भारत सरकार विशेष प्रयत्नशील है। उद्देश्य यह है कि पूर्वी पाकिस्तान से आए हुए शरणार्थियों को यहाँ बसाया जाय। भारत के साथ अंडमान का संबंध यहाँ की साप्ताहिक डाक तथा बेतार द्वारा भली भाँति स्थापित है। [रा० लो० सिं०]

अंडलूशिया स्पेन का एक प्रदेश है। क्षेत्रफल ३३,७११ वर्ग मील। जनसंख्या ५७,३०,८२४ (सन् १९४८ में)। अंडलूशिया अत्यंत उपजाऊ, प्राकृतिक सौंदर्य से ओतप्रोत, मूर संस्कृति के स्मारकों से भरा, दक्षिणी स्पेन का एक विभाग है।

इसके उत्तरी भाग में लोहे, ताँबे, सीसे, कोयले की खानोंवाला सियरा-मोरेना पर्वत तथा दक्षिण में हिमाच्छादित सियरा-नेवादा है। मध्य के उपजाऊ मैदान में गेहूँ, जौ, शहतूत, नारंगी, अंगूर और मधु प्रचुर मात्रा में उत्पन्न होते हैं। यहाँ घोड़े, गाय तथा भेड़ें पाली जाती हैं और ऊन, रेशम तथा चमड़े का काम होता है। यहाँ मस्जिदों की प्रचुर संख्या प्राचीन काल के ठोस अरब प्रभाव का द्योतक है। अरबों ने सन् ७११ में सर्वप्रथम इस प्रदेश में पदार्पण किया था। यहाँ की भाषा, संस्कृति एवं जनता पर प्रचुर अरब प्रभाव है। [शि० म० सिं०]

अंडा उस गोलाभ वस्तु को कहते हैं जिसमें से पक्षी, जलचर और सरीसृप आदि अनेक जीवों के बच्चे फूटकर निकलते हैं। पक्षियों के अंडों में, मादा के शरीर से निकलने के तुरंत बाद, भीतर केंद्र पर एक पीला और बहुत गाढ़ा खाद्य पदार्थ होता है जो गोलाकार होता है। इसे 'योक' कहते हैं। योक पर एक वृत्ताकार, चिपटा, छोटा, बटन सरीखा भाग होता है जो विकसित होकर बच्चा बन जाता है। इन दोनों के ऊपर सफेद अर्धतरल भाग होता है जो ऐल्ब्युमेन कहलाता है। यह भी विकसित हो रहे जीव के लिये आहार है। सबके ऊपर एक कड़ा खोल होता है जिसका अधिकांश भाग खड़िया मिट्टी का होता है। यह खोल रध्रमय होता है जिससे भीतर विकसित होनेवाले जीव को वायु से आक्सिजन मिलता रहता है। बाहरी खोल सफेद, चित्तीदार या रंगीन होता है जिससे अंडा दूर से स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता और अंडा खानेवाले जंतुओं से उसकी बहुत कुछ रक्षा हो जाती है।

आरंभ में अंडा एक प्रकार की कोशिका (सेल) होता है और अन्य कोशिकाओं की तरह यह भी कोशिकाद्रव्य (साइटोप्लाज्म) और केंद्रक (न्यूक्लियस) का बना होता है परंतु उसमें एक विशेषता होती है जो और किसी प्रकार की कोशिका में नहीं होती, और वह है प्रजनन की शक्ति। संसेचन के पश्चात्, जिसमें मादा के डिंब और नर के शुक्राणु-कोशिका का समेकन होता है, और कुछ जंतुओं में बिना संसेचन के ही, डिंब विभाजित होता है और बढ़ता है और अंत में जिस जंतुविशेष का वह अंडा रहता है उसी के रूप, गुण और आकार का एक नया प्राणी बन जाता है।

अंडे में प्रजनन की क्षमता से संबद्ध कुछ विशेष गुण होते हैं। अधिकांश जंतु अपने अंडों को शरीर से बाहर निकालने के पश्चात् किसी उपयुक्त स्थान पर रख छोड़ते हैं, जहाँ अंडों का विकास होता है। ऐसे अंडों के कोशिकाद्रव्य योक (पीतक) खाद्य पदार्थ से भरे होते हैं यह साधारणत पीला होता है। योक के अतिरिक्त और भी बहुत से पदार्थ अंडे में होते हैं, जैसे वसा (फैट), विटैमिन, एनजाइम इत्यादि। जिन जंतुओं के अंडों में योक की मात्रा कम होती है उनमें अंडविकास की क्रिया अंतिम श्रेणी तक नहीं पहुँचती। भ्रूण विकास के लिये आवश्यक शक्ति अंडे में निस्सादित (डिपॉज़िटेड) योक की रासायनिक प्रतिक्रिया से उत्पन्न होती है और इस कारण जब अंडे में योक पर्याप्त मात्रा में नहीं होता तो शरीर निर्माण की क्रिया बीच ही में रुक जाती है। कुछ प्राणियों के अंडों में ऐसी ही अवस्था होती है तथा इनका अंडा बढ़कर डिंभ (लारवा) बनता है। डिंभ अपना खाद्य स्वयं खोजता और खाता है जिससे इसके शरीर का पोषण तथा वर्धन होता है और अंत में डिंभ का रूपांतरण होता है। परंतु जिन जंतुओं के अंडों में योक पर्याप्त मात्रा

मे उत्सर्जित होता है उसमे स्थानान्तरण नही होता। कुछ ऐसे भी जतु होते है जिनमें अडनिषेचन शरीर के बाहर नही बल्कि मादा के शरीर के भीतर होता है। ऐसे जतुओ के अडो में योक नही होता।

अडा प्रोटोजोआ से उच्चवर्गीय शारीरिक सगठनवाले सब जतुसमूहो मे पाया जाता है। निम्न श्रेणी के जतुओ के अडो में भी योक होता है और अधिकाश में कडा खोल भी, जिसे कवच कहते है। किरीटिन (रोटिफेरा) के अडो में एक विचित्रता पाई जाती है। अडे सब एक समान नही, प्रत्युत् तीन प्रकार के होते है। ग्रीष्म ऋतु के अडे दो प्रकार के होते है, छोटे तथा बडे। इन अडो का विकास बिना ससेचन के ही होता है। बडे अडो के विकास से मादा उत्पन्न होती है और छोटो से नर। हेमत काल के अडे मोटे कवच से घिरे होते है और इनके विकास के लिये ससेचन आवश्यक होता है। ये अडे हेमत ऋतु के अत मे विकसित होते है।

केंचुआ वर्ग (ओलिगोकीटा) में केंचुओ के ससेचित अडे कुछ ऐल्व्युमेन के साथ (कोकूनकोश मे) वद रहते है। ये भूमि मे दिए जाते है और मिट्टी मे ही इनका विकास होता है।

जोंको में भी अडे योक तथा शुक्रपुटी (स्पर्माटोफोर्म) के साथ कोकून-कोश में बद रहते है। ये कोकूनकोश गीली मिट्टी मे दिए जाते है।

कीटो के अडो मे भी योक एव वसा अधिक मात्रा मे होती है। अडे कई भित्तियो मे घिरे होते है। अधिकाश कीटो के अडे बेलनाकार होते है, परतु किसी किसी के गोलाकार भी होते है।

कठिनिवर्ग (क्रस्टेशिआ) में से किसी किसी के अडे एकत पीती (एक ओर योकवाले, टीलोलेसियाल) होते है और कुछ केद्रपीती (बीच मे योकवाले, सेंट्रोलेसिथाल)। कुछ क्लोमपादा (ब्रैकिओपोडा) तथा अगाडिलाग अनुवर्ग (ऑस्ट्राकोडा) में अडे बिना ससेचन के विकसित होते है। जलपिशु प्रजाति (डैफनिआ) मे ग्रीष्म ऋतु के अडे बिना ससेचन के ही विकसित हो जाते है, परतु हेमत काल में दिए हुए अडो के लिये ससेचन आवश्यक होता है। चिचडियो के अडे गोलाकार होते है और उनमे पीतक पर्याप्त मात्रा मे होता है। मकडियो के अडे भी गोलाकार होते है और इनमें भी पीतक होता है। ये कोकूनकोश के भीतर दिए जाते है और वही विकसित होते है।

उदरपाद चूर्णप्रावार (उदर-वर्ग, गैस्ट्रोपोडा मोलस्क) ढेरियो मे अडे देते है जो श्लेष्मक (जेली) में लिपटे रहते है। इन ढेरियो के भाँति भाँति के आकार होते है। अधिकाश लबे, वेलनाकार अथवा पट्टी की तरह के या रस्सी के रूप के होते है। उन प्रकार की कई रस्सियाँ आपस में लिपटकर बडी रस्सी भी बन जाती है। प्रसरक्लोम-गण (प्रोसोब्रैंकिआ) में अडे श्वेत रंग के चपटे सपुट (कैप्सूल) में बद रहते है। इस प्रकार के सपुट बहुधा किसी चट्टान अथवा समुद्री घास से सटे पाए जाते है।

ऐसा भी होता है कि सपुट के भीतर के भ्रूणो मे से केवल एक ही विकसित होता है और शेष भ्रूण उसके लिये खाद्य पदार्थ बन जाते है। स्थलचर फुप्फुस-मथर-गण (पलमोनेटा प्राणी) मे प्रत्येक अडा एक चिपचिपे पदार्थ से ढका रहता है और कई अडे एक दूसरे से मिलकर एक शृ खला बनाते है जो पृथ्वी पर छिद्रो मे रखे जाते है। निकचुक (वैजिन्युला) में उस ऐल्व्युमिनी ढेर का, जिसके भीतर अडा रहता है, ऊपरी तल कुछ समय मे कडा हो जाता है और चूने के कवच के समान प्रतीत होता है।

शीर्षपादा (सेफालोपोडा) के अडे बडी नाप के होते है और इनमे पीतक की मात्रा भी अधिक होती है। प्रत्येक अडा एक अडवेष्ट कला (झिल्ली) से युक्त होता है। अनेक अडे एक श्लेपी पदार्थ अथवा चम सदृश पदार्थ मे समावृत होते है और या तो एक शृ खला मे क्रम से लगे होते है या एक समूह में एकत्रित रहते है।

समुद्रतारा (स्टार फिश) के अडो का ऊपरी भाग स्वच्छ काच के समान होता है और केद्र मे पीला अथवा नारगी रग का योक होता है।

हलक्लोम वर्ग (एलास्मोब्राकिआइ) के ससेचित अडे एक आवरण के भीतर वद रहते है जो किरेटिन का बना होता है। ऐसा अडावरण कुठतुड वर्ग (हॉलोसेफालि) मे भी पाया जाता है। स्पृशतुड प्रजाति (कैलोरिकस) में इनकी लबाई लगभग २५ सेंटीमीटर होती है। रश्मिपक्षा (ऐक्टिनोप्लेरिगिआइ) के अडे इन मछलियो के अडो से छोटे होते है और विरले ही कभी आवरण मे वद होते है। मछलियाँ लाखो की सख्या मे अडे देती है। कुछ के अडे पानी के ऊपर तैरते है, जैसे स्नेहमीनिका (हैडक), कटपृथा (टरबट), चिपिटा (सोल) तथा स्नेहमीन (कॉड) के। कुछ के अडे पानी में डूबकर पेंदी पर पहुँच जाते है, जैसे वहुला (हेरिंग), मृदुपक्षा (सैमन) तथा कर्बुरी (ट्राउट) के। कभी कभी अडे चट्टानो के ऊपर सटा दिए जाते है। फुप्फुस-मत्स्या (डिप्नोइ) के अडे एक श्लेपीय आवरण में रहते है जो पानी के सपर्क से फूल उठते है।

विपुच्छ गण (ऐन्यूरा) ढेरियो मे अडे देते है। प्रत्येक अडे का ऊपरी भाग काला और नीचे का श्वेत होता है और वह एक ऐल्व्युमिनी आवरण में वद रहता है। एक वार दिए गए समस्त अडे एक ऐल्व्युमिनी ढेर में लिपटे रहते है। अडे एक ओर योकवाले (टीलोलेसिथाल) होते है।

अधिकाश सरीमृप (रेप्टाइल्स) अडे देते है, यद्यपि कुछ वच्चे भी जनते है। अडे का कवच चर्मपत्र सदृश अथवा कैल्सियममय होता है। अडे अधिकाश भूपृष्ठ के छिद्रों में रखे जाते है और सूर्य के ताप से विकसित होते है। मादा घडियाल अपने अडो के समीप ही रहती और उनकी रक्षा करती है।

पक्षियो के अडे वडे होते है और पीतक से भरे रहते है। जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) पीतक के ऊपर एक छोटे से भ्रूणीय विंव (जरमिनल डिस्क) के रूप में होता है। अडे का सबसे वाहरी भाग एक कैल्सियममय कवच होता है। इसके भीतर एक चर्मपत्र सदृश कवचकला होती है। यह कला द्विगुण होती है। वाह्य और आतरिक पर्दो के वीच, अडे के चौडे अत पर, एक रिक्त स्थान होता है जिसे वायुकूप कहते है। कवचकला अडे के
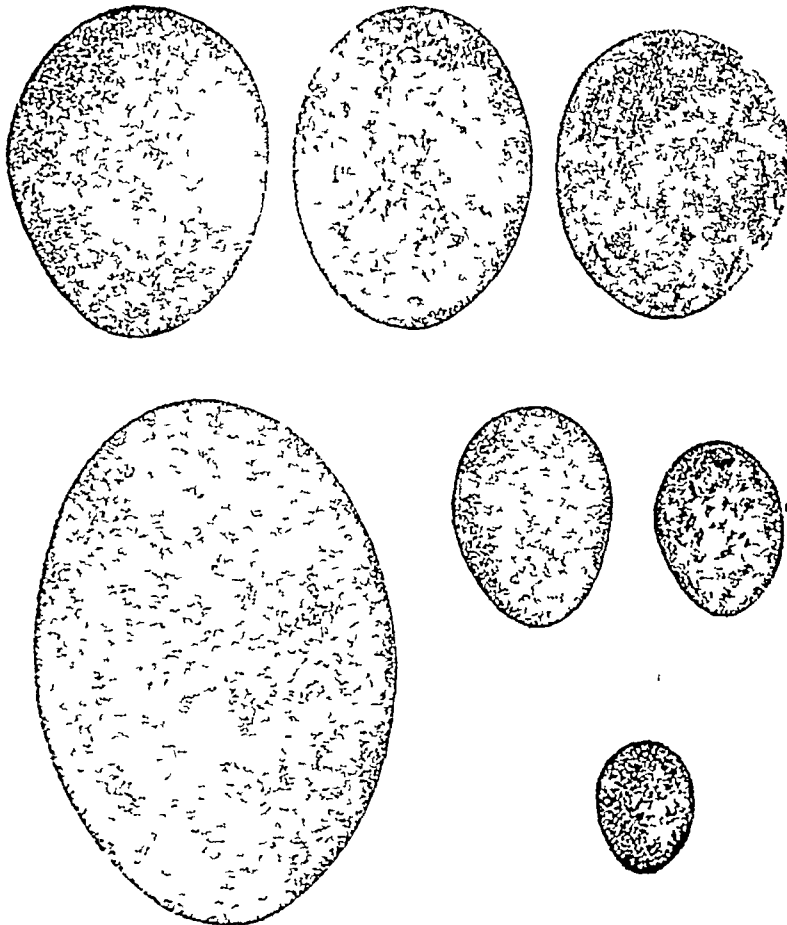
कुछ पक्षियो के अडे

क्रमानुसार ये निम्नलिखित पक्षियो के अडे है तीतर, वाज, कौआ, वगुला, रॉविन, अग्रेजी गौरैया और इग्लैंड की घरेलू रेन।

आतरिक तरल भाग को चारो ओर से घेरे रहती है। तरल पदार्थ का बाहरी भाग ऐल्व्युमेनमय होता है जिसके स्वय दो भाग होते हैं। इनका बाह्य भाग स्थूल तथा श्यान (विस्कस्) होता है और इसके दोनो सिरे रस्सी के समान वटे होते है जिन्हे श्वेतक रज्जु (कालेजा) कहते है। भीतरी ऐल्व्युमेन अधिक तरल होता है। जैसा पहले बताया गया है, अडे का केंद्रीय भाग योक कहलाता है।

कवच तीन स्तरो का बना होता है। इसके बाहरी तल पर एक स्तर होता है जिसे उच्चर्म कहते हैं। कवच अनेक छिद्रो तथा कुल्यिकाओ से विद्ध होता है। इन छिद्रो में एक प्रोटीन पदार्थ होता है जो किरेटिन से अधिक कोलाजेन के सदृश होता है। (कोलाजेन सरेस के समान एक पदार्थ है जो शरीर के ततुओ मे पाया जाता है।)

सबसे छोटे अडे प्रकूज पक्षी (हमिंग बर्ड) के होते है और सबसे बडे विवावी (मोआ) तथा तुगविहग प्रजाति (ईपिओर्निस) के।

ऊपर कहा जा चुका है कि अडे के ऐल्व्युमेन के तीन स्तर होते है। इनकी रासायनिक सरचना भिन्न भिन्न होती है जैसा निम्नलिखित सारणी से प्रतीत होता है

अंडे के ऐल्व्युमेन के प्रोटीन

	आतरिक सूक्ष्म स्तर	मध्य स्थूल स्तर	वाह्य सूक्ष्म स्तर
अडश्लेष्म (ओवोम्यूसिन)	१ १०	५ ११	१ ६१
अडावर्तुलि (ओवोग्लोवुलिन)	६ ५६	५ ५६	३ ६६
अड ऐल्व्युमेन (ओवोऐल्व्युमेन)	८६ २६	८६ १६	६४ ४३

इन तीनो स्तरो के जल की मात्रा मे कोई विभिन्नता नही होती। श्यानता में अवश्य विभिन्नता होती है, परतु यह एक कलिलीय (कलायडल) घटना समझी जाती है। अड ऐल्व्युमेन मे चार प्रकार के प्रोटीनो का होना तो निश्चित रहता है—अडश्वेति (अड-ऐल्व्युमेन), सम-श्वेति (कोनाल्व्युमेन), अडश्लेष्माभ (ओवोम्यूकॉएड) तथा अड-श्लेष्मि, परतु अडावर्तुलि का होना अनिश्चित है। अडश्वेति में प्रस्तुत भिन्न भिन्न प्रोटीनो की मात्रा निम्नलिखित सारणी में दी गई है

अडश्वेति	७७ प्रति शत
समश्वेति	३ ,,
अडश्लेष्माभ	१३ ,,
अडश्लेष्मि	७ ,,
अडावर्तुलि	लेशमात्र

कहा जाता है कि अडश्वेति का कार्वोहाइड्रेट वर्ग क्षीरीवु (मैनोज़) है। अन्य अनुसधान के अनुसार यह एक वहुशर्करिल (पॉलीसैकाराइड) है जिसमें २ अणु (मॉलेक्यूल) मधुम-तिक्ती (ग्लुकोसामाइन) के है, ४ अणु क्षीरीवु के और १ अणु किसी अनिर्धारित नाइट्रोजनमय सघटक का है। अडश्लेष्माभ में कार्वोहाइड्रेट की मात्रा अधिक होती है (लगभग १० %)। सयुक्त वहुशर्करिल मधुम-तिक्ती तथा क्षीरीवु का समाण्विक (इक्विमॉलेक्यूलर) मिश्रण होता है। किस हद तक ये प्रोटीन जीवित अवस्था मे वर्तमान रहते है, यह कहना अति कठिन है।

मुर्गी के अडे का केंद्रीय भाग पीला होता है, उसपर एक पीला स्तर विभिन्न रचना का होता है। इन दोनो पीले भागो के ऊपर श्वेत स्तर होता है जो मुख्यत ऐल्व्युमेन होता है। इसके ऊपर कडा छिलका होता है। योक का मुख्य प्रोटीन आडपीति (विटेलिन) है जो एक प्रकार का फास्फोप्रोटीन है। दूसरी श्रेणी का प्रोटीन लिवेटिन है जो एक कूट-आवर्तुलि (स्युडोग्लोवुलिन) है जिसमें ० ०६७ % फासफोरस होता है। तीसरा प्रोटीन आडपीति-श्लेष्माभ (विटेलोम्युकाएड) है जिसमे १० % कार्वोहाइड्रेट होता है। योक मे क्लीव वसा, भास्वीयेय, तथा सांद्रव (स्टेरोल) भी पर्याप्त मात्रा मे होते है। ५५ ग्राम के एक अडे मे ५ ५८ ग्राम क्लीव वसा तथा १ २८ ग्राम फास्फेट होता है, जिसमे ० ६८ ग्राम अडपीति (लेसिथिन) होता है। अडपीति के वसाम्ल (फैटी ऐसिड) अधिकाश स-तालिक (आइसोपामिटिक), अक्षिक (ओलेइक), आतसिक (लिनोलेइक), अदतमीनिक (क्लुपानोडोनिक) तथा ६ १०—षोडशीन्य (हेक्साडेकानोइक) अम्ल हैं। तालिक तथा वसा अम्ल कम मात्रा में होते हैं। अडे में मास्तिष्कि (सेफालिन) भी होती है, तथा १ ७५ % पित्तसाद्रव (कोलेस्टेरोल)।

अडे के पीले तथा श्वेत दोनो ही भागो मे विटैमिन पाए जाते है, किंतु पीले भाग में अधिक मात्रा मे, जैसा निम्नलिखित सारणी मे दिया गया है -

विटैमिन	पीले भाग में	श्वेत भाग में
ए	+	—
वी१	+	—
वी२	+	+
पी-पी	+	—
सी	—	—
डी	+	—
ई	+	—

आहार में अंडे—पक्षियो के अडे, विशेपकर मुर्गी के अडे, प्राचीन काल से ही विभिन्न देशो मे वडे चाव से खाए जाते रहे हैं। भारत में

एक साथ दिए जानेवाले अंडों के समूह

१ वुक्सीनम अडेटम के अडप्रावर (एग-कैप्स्यूल्स), २ नेप्चूनिया ऐंटीका के अडप्रावर, ३ नैटिका का अडौघ (स्पॉन), ४ सामान्य अष्टवाहु (ऑक्टोपस वलगैरिस) के अडप्रावर, ५ नीपिया एलिगैन्स के अंडप्रावर, ६ वोल्युटा म्यूज़िका का अडौघ।

प्रश्न की मात्रा कम है क्योंकि अधिकांश हिंदू अंडा खाना धर्मविरुद्ध समझते हैं। अंडों में उत्तम आहार के अधिकांश अवयव प्रचुर रूप में विद्यमान रहते हैं, उदाहरणार्थ ए विटामिन और फास्फोरस, जिनकी आवश्यकता शरीर की वृद्धि के पोषण में पड़ती है, लोहा, जो रुधिर के लिये आवश्यक है, अन्य लवण, प्रोटीन, वसा इत्यादि, अंडे में ये सभी रहते हैं। कार्बोहाइड्रेट अंडे में नहीं रहता, इसलिये चावल, दाल, रोटी के आहार के साथ अंडों की विशेष

मुर्गी के अंडे की रचना

१ वायुकोष्ठ, २ और ४ चिमड़ी झिल्ली, ३ और ९ श्वेति (ऐल्ब्युमेन), ५ बाहरी कड़ा खोल, ६ पीतक, ७ और ८ निभाग (कालेज़ा), १० विणक (सिकाट्रिकिल), जो बढ़कर भ्रूण बनता है।

उपयोगिता है, क्योंकि चावल आदि मे प्रोटीन की बडी कमी रहती है। अंडा पूर्ण रूप से पच जाता है—कुछ सिट्ठी नहीं बचती। इसलिये आहार में अधिक अंडा रहने से कोष्ठबद्धता (कब्ज) उत्पन्न होने का डर रहता है। विदेशों मे अधिकांश प्रकार के भोजनों में अंडा डाला जाता है। सूप, जेली, शीरी आदि को स्वच्छ करने में, कुरकुरी आहार वस्तुओं के ऊपर चिपकानेवाली तह चढ़ाने के लिये, टिकिया आदि को खस्ता बनाने के लिये, भोजन के रूप में, केक बनाने में, आइसक्रीम मे, पूआ और गुलगुला बनाने मे अंडों का बहुत प्रयोग होता है। रोग के बाद दुर्बल व्यक्तियों के लिये कच्चे अंडे या अंडे के पेय का प्रयोग होता है। देर तक उबाले कडे अंडे कठिनता से पचते हैं। भारत में उबले अंडे, घी या मक्खन में आधे तले हुए (हाफ फ्राइड) अंडे और अंडे के आमलेट का अधिक चलन है।

[मु० ला० श्री०]

अंतपाल कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' से हमें अंतपाल नामक राजकर्मचारियों का पता चलता है जो सीमांत के रक्षक होते थे और जिनका वेतन कुमार, पौर, व्यावहारिक, मंत्री तथा राष्ट्रपाल के बराबर होता था। अशोक के समय अंतपाल ही अंतमहामात्र (देखिए प्रथम स्तंभलेख) कहलाने लगे। गुप्तकाल में अंतपाल 'गोप्ता' कहलाने लगे थे। 'मालविकाग्निमित्र नाटक' में वीरसेन तथा एक अन्य अंतपाल का उल्लेख हुआ है। वीरसेन नर्मदा के किनारे स्थित अंतपाल दुर्ग का अधिपति था। अंतपालों का कार्य महत्वपूर्ण था, ग्रीक कर्मचारी 'स्त्रातेगस' से इन पदाधिकारियों की तुलना की जा सकती है। अंतपाल शब्द साधारणतया सीमांत प्रदेश के शासक या रक्षक का निर्दिष्ट करता है। यह शासक सैनिक, असैनिक दोनों ही प्रकार का होता था।

[च० म०]

अंतरपणन (आर्बिट्रेज) किसी प्रतिभूति, वस्तु या विदेशी विनिमय को सस्ते बाजार में खरीदना और साथ ही साथ तेज बाजार में बेचना अंतरपणन कहलाता है। इसका उद्देश्य विभिन्न व्यापारिक केंद्रों में प्रचलित मूल्यों के अंतर से लाभ उठाना होता है। अंतरपणन इस कारण संभव होता है कि किसी भी समय विभिन्न बाजारों में उसी प्रतिभूति, वस्तु या विदेशी चलन के भिन्न भिन्न मूल्य होते हैं, और इसका परिणाम समस्त बाजारों के मूल्यों में समानता स्थापित करना होता है। अंतरपणन के लिये यह आवश्यक है कि संदेशवहन के शीघ्र साधन विद्यमान हों और स्थानीय बाजारों में तुरत ही आदेशपालन करने का समुचित प्रबंध हो। अंतरपणनकर्ता चाहे तो प्रतिभूति, वस्तु या विदेशी चलन भेज दे और बदले में आवश्यक धनराशि मँगा ले, चाहे वह उस राशि को बाजार में जमा रहने दे जिससे भविष्य मे उस बाजार में क्रय होने पर वह काम आ सके।

सोने का अंतरपणन करने के लिये यह आवश्यक होता है कि विभिन्न देशों के बाजारों मे सोने के मूल्य की बराबर जानकारी रखी जाय जिससे वह जहां भी सस्ता मिले वहां से खरीदकर अधिक मूल्यवाले बाजार मे बेच दिया जाय। सोना खरीदते समय क्रयमूल्य मे निम्नलिखित व्यय जोडे जाते हैं (१) क्रय का कमीशन, (२) सोना विदेश भेजने का किराया, (३) बीमे की किस्त, (४) पैंकिंग व्यय, (५) कासुली बीजक (कासुलर इनवायस) लेने का व्यय, तथा (६) भुगतान पाने तक का व्याज। साथ मे, सोना बेचकर जो मूल्य मिले उसमे से निम्नलिखित मद घटाए जाते है (१) सोना गलाने का व्यय (यदि आवश्यक हो), (२) आयात कर और आयात सबधी अन्य व्यय, तथा (३) बैंक कमीशन। इन समायोजनाओं के पश्चात् यदि विक्रयराशि क्रयराशि से अधिक हुई, तभी लाभ होगा। सामान्यत लाभ की दर बहुत कम होती है, और उपर्युक्त अनुमानो तथा गणनाओ में तनिक भी त्रुटि होने से लाभ हानि मे परिवर्तित हो सकता है। इसके अतिरिक्त दो देशो के चलनपरिवर्तन की दर में, जिसे विनिमय दर कहते हैं, घटबढ होती रहती है, और उसमें तनिक भी प्रतिकूल घटबढ हानि का कारण बन सकती है। अत अंतरपणनकर्ता को उपर्युक्त समस्त बातो का ज्ञान होना चाहिए, उसमें तुरत निर्णय करने की योग्यता और भविष्य का यथार्थ अनुमान लगाने की सामर्थ्य भी होनी चाहिए। इतना होने पर भी कभी कभी जोखिम का सामना करना पडता है।

विदेशी चलन तथा प्रतिभूतियो में भी अंतरपणन इसी प्रकार किया जाता है। विदेशी चलन मे अंतरपणन बहुधा दो से अधिक बाजारो को समिलित करके होता है जिसमें मूल्यो के अंतर से पर्याप्त लाभ उठाया जा सके। हाल में ही विभिन्न देशों में विनिमय-समकरण-कोश स्थापित कर दिए गए हैं और उनके अधिकारी विनिमय दरो को स्थिर कर देते हैं। फलस्वरूप अंतरपणन से लाभ उपार्जित करने के अवसर प्राय समाप्त हो जाते हैं। प्रतिभूतियों में अंतरपणन बहुधा विषम होता है और उसमें जोखिम भी अधिक होती है।

अंतरपणन के द्वारा प्रतिभूतियो, वस्तुओं या विदेशी विनिमय के मूल्य ससार भर मे लगभग समान हो जाते हैं। अनेक अंतरपणनकर्ताओं की क्रियाओं के फलस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय बाजार स्थापित हो जाते हैं और बने रहते हैं जिससे क्रेताओं तथा विक्रेताओं को बहुत सुविधा होती है। जहाँ तक वस्तुओं का सबध है, अंतरपणन के द्वारा वस्तुओं का निर्यात अधिपूर्ति के देश से अभाव के देशो मे होता रहता है जिससे आवश्यक वस्तुओं का यथोचित वितरण ससारव्यापी आधार पर हो जाता है।

[अ० ना० अ०]

अंतरावंध (स्किज़ोफ्रीनीया) कई मानसिक रोगों का समूह है जिनमें बाह्य परिस्थितियों से व्यक्ति का सबध असाधारण हो जाता है। कुछ समय पूर्व लक्षणों के थोडा बहुत विभिन्न होते हुए भी रोग का मौलिक कारण एक ही माना जाता था। किंतु अब प्राय सभी सहमत हैं कि अंतरावध जीवन की दशाओं की प्रतिक्रिया से उत्पन्न हुए कई प्रकार के मानसिक विकारो का समूह है। अंतरावध को अंग्रेजी में डिमेंशिया प्रीकॉक्स भी कहते हैं।

इस रोग के प्राय चार रूप पाए जाते हैं (१) सामान्य रूप में व्यक्ति अपनी चारो ओर की परिस्थितियों से अपने को धीरे धीरे खीच लेता है, अर्थात् अपने सुहृदो, मित्रो तथा व्यवसाय से, जिनसे वह पहले प्रेम करता था, उदासीन हो जाता है। (२) दूसरे रूप में, जिसको यौवनमनस्कता (हीबे फ्रीनिक) कहते है, रोगी के विचार तथा कर्म भ्रम पर आधारित होते है। यह रोग साधारणत यौवनावस्था मे होता है। (३) तीसरे रूप में उसके मस्तिष्क का अंग-सचालक-मडल विकृत हो जाता है। या तो उसके अंगो की गति अत्यत शिथिल हो जाती है, यहाँ तक कि वह मूढ और निश्चेष्ट सा पडा रहता है, या वह अति प्रचड हो जाता है और भागने, दौडने, लडने, आक्रमण करने या हिंसात्मक क्रियाएँ करने लगता है।

(४) चौथा रूप अधिक आयु मे प्रकट होता है और विचार सबधी होता है। रोगी अपने को बहुत वडा व्यक्ति मानता है, या समझता है कि वह किसी के द्वारा सताया जा रहा है। कितनी ही वार रोगी मे एक से अधिक रूप मिले हुए पाए जाते हैं। न केवल यही, प्रत्युत अन्य मानसिक रोगो के लक्षण भी अतरावध के लक्षणो के साथ प्रकट हो जाते है।

अतरावध की गणना बडे मनोविकारो मे की जाती है। मानसिक रोगो के अस्पतालो मे ५५ प्रति शत इस रोग के रोगी पाए जाते हैं और प्रथम वार आनेवालो मे ऐसे रोगी २५ प्रति शत से कम नही होते। इस रोग की चिकित्सा मे वहुत समय लगने से इस रोग के रोगियो की सख्या अस्पतालो मे उत्तरोत्तर वढती रहती है। यह अनुमान लगाया गया है कि साधारण जनता मे दो से तीन प्रति शत व्यक्ति इस रोग से ग्रस्त होते हैं। पुरुषो मे २० से २४ वर्ष तक और स्त्रियो मे ३५ से ३९ वर्ष तक की आयु मे यह रोग सवसे अधिक होता है। अस्पतालो मे भर्ती हुए रोगियो मे से ४० प्रति शत शीघ्र ही नीरोग हो जाते हैं। शेष ६० को जीवनपर्यत या बहुत वर्षो तक अस्पताल ही मे रहना पडता है।

रोग के कारण के सबध मे वहुत प्रकार के सिद्धात बनाए गए जो शारीरिक रचना, जीवरसायन अथवा मानसिक विकृतियो पर आश्रित थे। किंतु अव यह सर्वमान्य मत है कि इस रोग का कारण व्यक्ति की अपने को सासारिक दशाओ तथा चारो ओर की परिस्थितियो के समानुकूल वनाने की असमर्थता है। व्यक्ति मे शैशव काल से ही कोई हीनता या दीनता का भाव इस प्रकार व्याप्त हो जाता है कि फिर जीवन भर उसको वह दूर नही कर पाता। इसके कारण शारीरिक अथवा मानसिक दोनो होते हैं। बहुतेरे विद्वान् यह मानते हैं कि व्यक्ति के जीवन के आरभिक वर्षो में पारिवारिक सवध इस दशा का कारण होते हैं, विशेषकर माता का शिशु के साथ कैसा व्यवहार होता है उसी के अनुसार या तो यह रोग होता है या नही होता। शिशु की ऐसी धारणा बनना कि कोई उससे प्रेम नही करता या वह अवाछित शिशु है, रोगोत्पत्ति का विशेष कारण होता है। कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि शरीर मे उत्पन्न हुए जीवविष (टॉक्सिन) मनोविकार उत्पन्न करने के बहुत बडे कारण होते है। वे शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार के कारणो को मौलिक कारण समझते हैं।

पहले रोग की चिकित्सा आशाजनक नही समझी जाती थी। किंतु अव मनोविश्लेषण से चिकित्सा मे सफलता की आशा होने लगी है। ऐसे रोगियो के लिये विशेष चिकित्सालयो और मनोवैज्ञानिको की आवश्यकता होती है। ओषधियो का भी प्रयोग होता है। इस्युलिन तथा विद्युत् द्वारा आक्षेप उत्पन्न करना भी उपयोगी पाया गया है। विशेष आवश्यकता इसकी रहती है कि रोगी को पुरानी परिस्थितियो से हटा दिया जाय। विशेष व्यायाम तथा ऐसे काम धधो का भी, जिनमे मन लगा रहे, उपयोग किया जाता है। रोग जितने ही कम समय का और हलका होगा उतने ही शीघ्र रोग से मुक्ति की आशा की जा सकती है। चिरकालीन रोगो मे रोगमुक्ति कठिन होती है। [मु० स्व० व०]

अंतरा बिन शद्दाद

का सबध कबील अवस से था। इसकी माता हब्शी दासी थी इसलिये यह दास के रूप मे अपने पिता के ऊँटो को चराया करता था। इसने दाहिस के युद्ध मे विशेष ख्याति पाई। यह अपनी चचेरी वहिन अब्ला से प्रेम करता था, जिससे विवाह करने की इसने प्रार्थना की। अरवो के प्रथानुसार सवसे अधिक स्वत्व अब्ला पर इसी का था, परतु इसके दासीपुत्र होने के कारण वह स्वीकार नही किया गया। इसके अनतर इसके पिता ने इसे स्वतत्र कर दिया। ९० वर्ष की लवी आयु पाकर यह अपने पडोसी कवीले तैई से हुए एक झगडे मे मारा गया। अतरा भी उसी अज्ञानयुग के कवियो मे है जो असहाब मुअल्लकात कहलाते हैं। उसके दीवान मे डेढ सहस्र के लगभग शेर हैं। यह बैरुत मे कई वार प्रकाशित हो चुका है। इसमे अधिकतर दर्प, वीरता तथा प्रेम के शेर हैं। कुछ शेर प्रशसा तथा शोक के भी हैं। इसकी कविता बहुत मार्मिक है पर उसमे गभीरता नही है। उसका वातावरण युद्धस्थल का है और युद्धस्थल के ही गीतो का उस पर प्रभाव भी है। इसकी मृत्यु सन् ५१५ हि० तथा सन् ५२५ हि० के वीच हुई। [मार० आर० शे०]

अंतरिक्ष किरणें

(कॉस्मिक रेज) प्रधानत: अत्यधिक ऊर्जा (एनर्जी) वाले आवेशयुक्त कण होती हैं। प्राथमिक अतरिक्ष किरणे परमाण्वीय नाभिको (ऐटोमिक न्यूक्लिआई) की धारा हैं, जो बाहरी आकाश से आती हैं। कणो की यह धारा आकाश मे लगभग समदिक् (आइसोट्रोपिक) एव समयाचर (कॉन्स्टैंट इन टाइम) रहती है। पृथ्वी के वायुमडल के वाहर अतरिक्ष किरण के प्राय: दो कण ही एक वर्ग सेंटीमीटर पर प्रति मिनट सघात करते हैं। प्राथमिक अतरिक्ष किरणो की ऊर्जा २×१०^{९} से $१०^{१३}$ अथवा $१०^{१८}$ इलक्ट्रान-वोल्ट प्रति कण तक होती है। भूमध्यरेखा पर आनेवाली अतरिक्ष किरण की औसत ऊर्जा लगभग ३×१०^{१०} इलेक्ट्रान-वोल्ट प्रति कण होती है। (एक इलेक्ट्रान-वोल्ट उतनी ऊर्जा के बरावर होता है जितनी एक इलेक्ट्रान एक वोल्ट के विभवातर (पोटेंशियल डिफरेंस) को पार करने पर प्राप्त करता है)। इस प्रकार, जितनी ऊर्जा कॉसमोट्रान अथवा वीवाट्रान जैसे प्रयोगशाला के आधुनिक यत्रो द्वारा एक आवेशयुक्त कण को दी जा सकती है, उसकी लगभग एक करोड गुनी ऊर्जा सबसे अधिक ऊर्जावाली अतरिक्ष किरण के कण की होती है। जितनी ऊर्जा पृथ्वी पर अतरिक्ष-किरणो से प्राप्त होती है, लगभग उतनी ही ऊर्जा उतने ही समय मे तारो के प्रकाश से मिलती है।

अतरिक्ष किरणो का पता वर्तमान शताब्दी के आरभ मे वायु की चालकता पर सावधानी से किए गए प्रयोगो के फलस्वरूप लगा। जब हवा के कुछ नमूने पर सावधानी के साथ विकिरण का आना बद कर दिया गया, तो भी वह हवा कुछ न कुछ चालकता दिखाती ही रही। इस हवा के कक्ष को सब ओर सीसे से ढकने पर आयनीकरण कम तो हो गया, किंतु इसका अत नही हुआ। इसका अर्थ यह निकाला गया कि कोई छेदक विकिरण अनुसधानक यत्र मे प्रवेश कर रहा है। इन विकिरणो का कुछ अश उन रेडियमधर्मी पदार्थो से आता था जो कक्ष की दीवारो मे, हवा मे और पृथ्वी मे विद्यमान थे। शेष भाग पृथ्वी के वायुमडल के बाहर से आता हुआ जान पडा। यह परिणाम वी० एफ० हेस के उन प्रयोगो पर आधारित था जिनमे उसने अपने अनुसधानक यत्र को गुब्बारो द्वारा पृथ्वी की सतह से ५,००० मीटर की ऊँचाई तक भेजा था। ज्यो ज्यो ऊँचाई वढी, विकिरण की मात्रा भी वढती गई।

प्रारभ मे ऐसी धारणा थी कि अतरिक्ष किरणें बहुत छोटी तरग-दैर्घ्यवाली केवल गामा किरणें ही हैं जिनकी छेदन शक्ति अत्यधिक है। छेदन शक्ति मे इन नई किरणो की तुलना दूसरे ज्ञात विकिरणो से निम्नाकित प्रकार से की जा सकती है

साधारण प्रकाश अपारदर्शी पदार्थो की केवल महीन चादर का, जैसे कागज के वर्क का, अथवा उससे कही अधिक महीन धातु के आवरण का, छेदन कर सकता है। इसकी अपेक्षा एक्स-रश्मियो की छेदन शक्ति इतनी अधिक होती है कि वे हमारे हाथ अथवा सारे शरीर से भी होकर निकल सकती हैं, जिसके फलस्वरूप शल्यचिकित्सक हमारी हड्डियो का फोटो ले सकता है। किंतु कुछ ही मिलीमीटर मोटी धातु इन एक्स-रश्मियो को पूर्णतया रोक सकती है। गामा-किरणें कुछ सेंटीमीटर मोटी धातु का छेदन कर सकती हैं। किंतु यह नया विकिरण कई मीटर मोटे सीसे (धातु) का छेदन कर सकता है और पानी की एक हजार मीटर गहराई तक घुस सकता है।

मिलिकन के अनुसार अतरिक्ष किरणो की उत्पत्ति का कारण अतस्तारकीय आकाश मे द्रव्य का नष्ट होना है। मिलिकन की इस कल्पना ने अतरिक्ष किरणो के अध्ययन को और अधिक प्रोत्साहन दिया।

अतरिक्ष किरणो की प्रकृति के बारे मे जानकारी अक्षाशप्रभाव से प्राप्त हुई। इसका आविष्कार क्ले ने १९२७ ई० मे और उसके वाद और अधिक गहनता से कापटन ने किया था। अक्षाशप्रभाव की व्याख्या हम इस तरह कर सकते हैं कि अतरिक्ष किरणो के प्राथमिक कण आवेशयुक्त कण हैं जो कई हजार मील तक आकाश मे फैले हुए पृथ्वी के चुवकत्व क्षेत्र से प्रभावित हुए हैं। जितनी कम इन कणो की ऊर्जा होती है उतना ही अधिक उनके पथ चाप के रूप मे झुक जाते हैं। अतरिक्ष किरणो की तीव्रता भूमध्यरेखा पर सबसे कम है और ध्रुवो की ओर वढती जाती है। समुद्रतल की अपेक्षा अक्षाशप्रभाव ऊँचाई पर बहुत अधिक होता है।

अंतरिक्ष किरणों के बारे में और अधिक जानकारी १९२७ ई० में स्कोबेल्टसिन ने दी जब उसने एक मेघकक्ष में उच्च ऊर्जावाले आवेशयुक्त कणों के उर्ध्वाधर पथचिह्न देखे। १९२८ में बोटे और कोलहार्स्टर ने अंतरिक्ष किरणों के अनुसंधान की एक नई रीति अपनाई, जिसमें दो गाइगर-म्युलर-गणक एक साथ संबद्ध रहते थे। इस प्रयोग द्वारा उन्होंने सिद्ध किया कि अंतरिक्ष किरणें आवेशयुक्त कण हैं।

जैसे ही अंतरिक्ष किरणों के कण पृथ्वी के वायुमडल में प्रवेश करते हैं, वैसे ही हवा के नाभिकों के साथ उनकी पारस्परिक क्रिया होती है, जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के मूल कण पैदा हो जाते हैं। इनमें से कुछ कण ऐसे होते हैं जो अन्य किसी रीति से प्रकृति में उत्पन्न नहीं होते। ये कण रेडियमधर्मी होते हैं, जिनमें से कुछ $१०^{-६}$ सेकेंड में समाप्त हो जाते हैं और कुछ $१०^{-८}$ अथवा $१०^{-१४}$ सेकेंड में।

आगे दी हुई सारणी में सब स्थायी कणों के नाम, उनका द्रव्यमान (इलेक्ट्रान के द्रव्यमान, इ,ड, को एकक मानकर), उनकी समाप्ति का क्रम और उनके औसत जीवनकाल (सेकेंडों में) दिए गए है

सारणी

कण का नाम	द्रव्यमान (एकक इलेक्ट्रान का द्रव्यमान)	समाप्ति-क्रम	औसत जीवनकाल (सेकेड)
म्यू$^+$	२१०	इ$^+$ + २ न्यू	२×$१०^{-६}$
म्यू$^-$	२१०	इ$^-$ + २ न्यू	"
पाई$^+$	२७६	म्यू$^+$ + न्यू	$१०^{-८}$
पाई$^-$	२७६	म्यू$^-$ + न्यू	"
पाई^0	२६६	२ गामा	$१०^{-११}$ से कम
हाइपेरॉन लैंब्डा^{0}	२१८१	पी + पाई$^-$	३ ७×$१०^{-१०}$
सिगमा$^+$	२३२७	एन + पाई$^+$ पी + पाई^0	$१०^{-१०}$ —
सिगमा^{0}	२३२३	लैंब्डा^{0} + गामा	$१०^{-१०}$ से कम
सिगमा$^-$	२३२०	एन + पाई$^-$	२×$१०^{-१०}$
कसाई$^-$	२५८१	लैंब्डा^{0} + पाई$^-$	$१०^{-१०}$
के-मेसॉन थीटा$_1^0$	सब कैपा$^+$, कैपा^{0} के द्रव्यमान लगभग ९६६—१० हैं	पाई$^+$ + पाई$^-$	१ ७×$१०^{-१०}$
थीटा$_2^0$		? + ? + ?	
टा$^{+'}$		२ पाई$^+$ + पाई$^-$	सब कैपा$^+$ मेसॉनों का जीवन काल १×$१०^{-८}$+२०% प्रति शत है।
टा$^+$		२ पाई^0 + पाई$^+$	
कैपा$^+$ पाई$_2$		पाई$^+$ + पाई^0	
कैपा$^+$ म्यू$_2$		म्यू$^+$ + न्यू	
कैपा$^+$ म्यू$_3$		म्यू$^+$ + न्यू + पाई^0	
कैपा$^+$ इ$_3$		इ$^+$ + न्यू + पाई^0	

वायुमडल मे अतरिक्ष किरणो के प्रवेश करने पर जो क्रियाएँ होती हैं उनका सामान्य रूप स्पष्ट है। वायुमडल की ऊपरी तहो में प्राथमिक अतरिक्ष किरणो के प्रोटान और अधिक भारी नाभिको का अवशोषण हो जाता है, जिसके फलस्वरूप द्वितीयक प्रोटान और न्यूट्रान, पाई-मेसान और अधिक भारी मेसान बनते हैं। आवेशरहित पाई-मेसान के विघटन (डिसोसिएशन) से प्रकाश के दो क्वांटम बनते हैं, जिनसे धनात्मक और ऋणात्मक इलेक्ट्रान पैदा होते हैं। जैसे ही ये इलेक्ट्रान नाभिको के पास पहुँचते हैं, ये फोटान बन जाते हैं और इस प्रकार यह क्रिया बढती जाती है। इलेक्ट्रानो और फोटानो के कोमल घटक (कॉम्पोनेंट) की तीव्रता पहले वायुमडल में गहराई के साथ तेजी से बढती है और फिर, जैसे जैसे इन बौछार पैदा करनेवाले कणो का अवशोषण होता है, घटती है। समुद्रतल के पास कोमल घटक के इस अश की तीव्रता बहुत कम हो जाती है।

आवेशयुक्त पाई-मेसानो के विघटन से म्यू-मेसान बनते हैं। म्यू-मेसान की नाभिको के साथ अधिक क्रिया प्रतिक्रिया नही होती। नाभिको के साथ अत्यत दुर्बल क्रिया प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उनमें बहुत अधिक छेदनशक्ति दिखाई पडती है। वे पृथ्वी में बडी गहराई तक प्रवेश कर सकते हैं। अत वे अतरिक्ष किरणो के तीव्र घटक होते हैं। म्यू-मेसान नष्ट होने पर इलेक्ट्रान उत्पन्न करते हैं। टकराने से भी इलेक्ट्रान पैदा होते हैं। समुद्रतल के पास ये इलेक्ट्रान तथा इनके द्वारा उत्पन्न हुई इलेक्ट्रान-फोटान की बौछारो से कोमल घटक का मुख्य अश बनता है।

पाई-मेसान के कारण नाभिक-विघटन होते हैं, जिन्हे तारक (स्टार) कहते हैं। लघु-ऊर्जा-प्रदेश में तारक न्यूट्रान के कारण उत्पन्न होते हैं। अत्यधिक ऊर्जावाले कण बडी 'वायु-बौछारें' पैदा करते हैं। एक एक वायु-बौछार मे दस करोड से भी अधिक कण मिले हैं। कणो के बीच की दूरी एक ही वायु-बौछार मे हजार मीटर से भी अधिक पाई गई है।

अतरिक्ष किरणो की तीव्रता में प्रेक्षणस्थल पर की परिस्थितियो से परिवर्तन होता है। उनकी तीव्रता वायु की दाब, ताप एव पृथ्वी के चुबकत्व-क्षेत्र के साथ बदलती है। प्रेक्षणस्थल के ऊपर हवा की मोटाई और उसकी अवशोषणशक्ति में परिवर्तन को इसका कारण बताया जा सकता है। अतरिक्ष किरणो मे सामयिक परिवर्तन भी होते हैं। जैसे, लबे समयवाले परिवर्तन, २७ दिनवाले परिवर्तन, सौर समय के अनुसार होनेवाले परिवर्तन, और बहुत कम मात्रा मे नाक्षत्र समय के अनुसार होनेवाले परिवर्तन।

ये सामयिक परिवर्तन बहुत कम मात्रा में होते है, प्रति शत के केवल दो-चार दसवें भाग तक। पृथ्वी के वायुमडल के बाहर अतरिक्ष किरणो की तीव्रता और सामयिक परिवर्तनो के बीच सबध जोडने के लिये प्रेक्षणो को ताप और दाब के लिये सही करना पडता है। सौर समय के अनुसार तीव्रता में दैनिक परिवर्तन होने की खोज बहुतेरे अनुसधानकर्ताओं ने की है। उनके विश्वविस्तृत स्वरूप को फोरबुश ने सिद्ध किया। परिवर्तन की मात्रा, पश्चात् मध्याह्न दो बजे के आसपास, जो अधिकतम तीव्रता का समय है, लगभग ० २ प्रति शत होती है।

तीव्रता में सामयिक परिवर्तनो के अतिरिक्त असामयिक प्रभाव भी होते हैं। सबसे अधिक महत्ववाला प्रभाव चुबकीय तूफानो से सबधित है, जिसके विश्वविस्तृत रूप को फोरबुश ने अतरिक्ष किरणो की तीव्रता का अध्ययन करके दिखाया है। ये विश्वविस्तृत परिवर्तन इस मत का एक और प्रमाण है कि अतरिक्ष किरणो का उत्पत्तिस्थान पृथ्वी के बाहर है।

समुद्र की सतह पर अतरिक्ष किरणो की तीव्रता के पृथ्वी के चुबकत्व पर निर्भर होने का अर्थ यह है कि पृथ्वी के चुबकीय क्षेत्र में परिवर्तनो के साथ अतरिक्ष किरणो की तीव्रता मे परिवर्तन होते है। अतरिक्ष किरणो और पृथ्वी के साधारण चुबकीय उच्चावचन (घट बढ) में कोई घनिष्ठ सबध नही मिलता, अर्थात् शात दिनो में पृथ्वी के साधारण चुबकीय प्रभाव का अतरिक्ष किरणो से कोई सार्थक सबध नही है। यह देखा गया है कि विश्वविस्तृत अतरिक्ष किरणो की तीव्रता का पृथ्वी के चुबकत्व क्षेत्र के क्षैतिज घटक के परिवर्तनो से घनिष्ठ सबध है। चुबकीय तूफानो के समय अतरिक्ष किरणो की तीव्रता में बहुत स्पष्ट परिवर्तन होता है। कुछ चुबकीय तूफानो का प्रभाव अतरिक्ष किरणो की तीव्रता पर नहीं देखा जाता, किंतु जब क्षैतिज चुबकत्व एक प्रति शत कम होता है तो अतरिक्ष

किरणो की तीव्रता मे साधारणत पाँच प्रति शत से अधिक कमी हो जाती है।

अतरिक्ष किरणो की तीव्रता मे इन सामयिक परिवर्तनो की समस्या, इन परिवर्तनो की उत्पत्ति, तथा पृथ्वी और ब्रह्माड के भौतिक तथ्यो के साथ इनका सबध, ये सभी बडे जटिल प्रश्न है। इन परिवर्तनो के अध्ययन को कुछ वर्षो से नया महत्व मिला है। इन परिवर्तनो द्वारा उन भौतिक अवस्थाओ का अन्वेषण किया जा सकता है जो सूर्य पर तथा अतर्ग्रहीय माध्यमो में है।

अतर्राष्ट्रीय भू-भौतिकी वर्ष (१९५८-५९) के अतर्गत जो न्यास (आँकडे) इकट्ठे किए जा रहे है उनसे इन परिवर्तनो के समझने में सहायता मिलेगी। अतरिक्ष किरणो और ऋतुविज्ञान के तत्वो, पृथ्वी-भौतिकी, सौर-भौतिकी एव ब्रह्माड-भौतिकी के बीच जो सबध है उसकी स्थापना में इन अध्ययनो से सहयाता मिलेगी।

भौतिकी-वैज्ञानिको के लिये अतरिक्ष किरणो के अध्ययन का बहुत ही बडा महत्व है, विशेषकर उस ज्ञान के कारण जो इससे प्राप्त होता है।

अधिकतर ज्ञात मूल कणो का आविष्कार अतरिक्ष किरणो के अध्ययन द्वारा हुआ है, और इसी अध्ययन से नाभिकीय बलो के विषय मे भी जानकारी प्राप्त हुई है। उच्चतम ऊर्जावाले कणो की भौतिकी का अध्ययन केवल अतरिक्ष किरणो द्वारा ही हो सकता है, क्योकि इतनी उच्च ऊर्जा के कण प्रयोगशाला में अभी तक उत्पन्न नही किए जा सके है।

अतरिक्ष किरणो की उत्पत्ति के विषय मे कई मत है, नवीन और सभवत सही मत यह है कि इन उच्च ऊर्जावाले कणो की उत्पत्ति की मुख्य रीति कदाचित् सास्थिकीय है। इस मत के अनुसार पृथ्वी तक पहुँचनेवाला अतरिक्ष विकिरण हमारी ही मदाकिनी (गैलैक्सी) मे उत्पन्न होता है और इसका कारण छोटे और बडे तारो के फटने पर तेजी से छूटे अत्यत त्वरित तारकीय वायुमडल के कण हैं। लघु ऊर्जावाले कणो का एक बहुत छोटा भाग, लगभग एक प्रति शत, सौर धब्बो से सबद्ध सूर्य की लपटो द्वारा उत्पन्न होता है। [पि० सिं० गि०]

अंतर्दर्शन (इंट्रास्पेक्शन)

अतर्दर्शन का तात्पर्य अदर देखने से है। इसे आत्मनिरीक्षण या आत्मचेतनता भी कहा जाता है। मनोविज्ञान की यह एक पद्धति है। इसका उद्देश्य मानसिक प्रक्रियाओ का स्वय अध्ययन कर उनकी व्याख्या करना है। इस पद्धति के सहारे हम अपनी अनुभूतियो के रूप को समझना चाहते है। केवल आत्मविचार (सेल्फ-रिफ्लेक्शन) ही अतर्दर्शन नही है। अतर्दर्शन तो प्रत्यक्ष आत्मचेतनता का एक विकसित रूप है। अतर्दर्शन के विकास में तीन सीढियो का होना आवश्यक है—(१) किसी बाह्य वस्तु के निरीक्षणक्रम मे अपनी ही मानसिक क्रिया पर विचार करना, (२) अपनी ही मानसिक क्रियाओ के कारणो पर विचार करना, और (३) अपनी मानसिक क्रियाओ के सुधार के बारे में सोचना।

इस पद्धति के अनुसार एक ही मानसिक प्रक्रिया के बारे मे लोग विभिन्न मत दे सकते है। अत यह पद्धति अवैज्ञानिक है। वैयक्तिक होने के कारण इससे केवल एक ही व्यक्ति की मानसिक दशा का पता चल सकता है।

अतर्दर्शन की सहायता के लिये बहिर्दर्शन पद्धति आवश्यक है। अतर्दर्शन पद्धति का सबसे बडा गुण यह है कि इसमें निरीक्षण की वस्तु सदा हमारे साथ रहती है और हम अपने सुविधानुसार चाहे जब अतर्दर्शन कर सकते हैं। [स० प्र० चौ०]

अंतर्दह इंजन

ऐसे इजन को अतर्दह इजन (इटर्नल कबश्चन एजिन) कहते है जिसमे ऊर्जा-उत्पादक ईधन इजन के भीतर (वस्तुत इजन के सिलिडर के भीतर) जलता है। जिन इजनो में इजन को चलानेवाला पदार्थ इजन के बाहर तप्त किया जाता है, जैसे वाष्प इजनो (स्टीम एजिन) मे, उन्हें बाह्यदह इजन (एक्स्टर्नल कबश्चन एजिन) कहते है। मोटरकार, हवाई जहाज आदि में, अपने हलकेपन के कारण, अतर्दह इजनो का ही प्रयोग होता है। सुविधा के कारण ऐसे इजनो का प्रयोग खेतो पर, औद्योगिक कारखानो मे, जहाजो आदि मे भी बहुत होता है। ईधनो के लिये पेट्रोल, गाढे मिट्टी के तेल (डीज़ल ऑयल), ऐल्कोहल, अथवा प्राकृतिक या कृत्रिम गैस इत्यादि का प्रयोग होता है, परतु साधारणत पेट्रोल और गाढे मिट्टी के तेल का ही उपयोग होता है।

अतर्दह इजन दो सिद्धातो पर काम करते है चतुर्घात चक्र और द्विघात चक्र।

चतुर्घात चक्र का इंजन—प्रत्येक इजन मे एक खोखला बेलन होता है, जिसे सिलिंडर कहते है (चित्र १)। सिलिंडर के भीतर एक पिस्टन चलता है, जिसे हम मुषली कह सकते है। इस पिस्टन का काम ठीक वही होता है
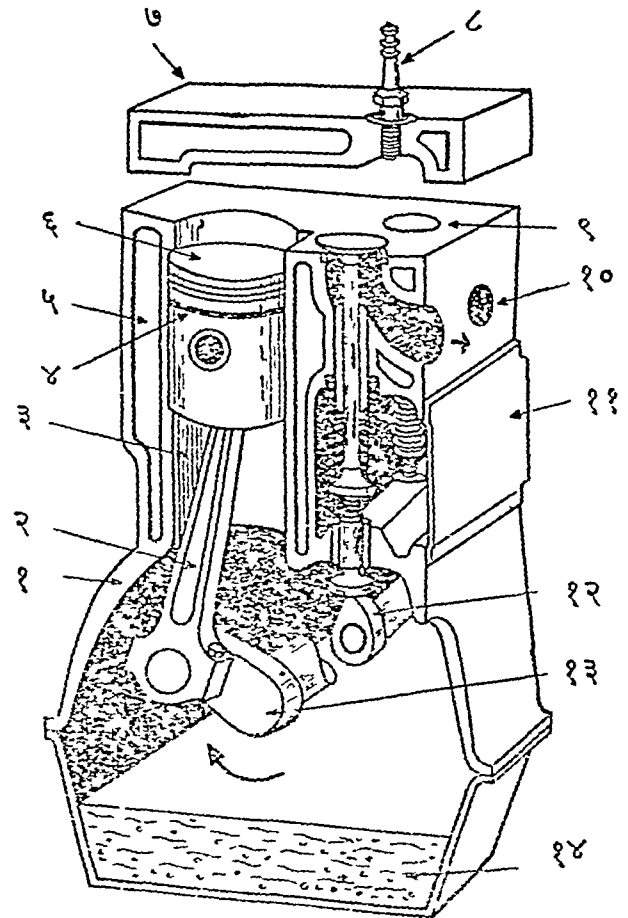
चित्र १. अतर्दह इजन के मुख्य भाग

१ इष्टिका (ब्लॉक), २ सबंधक दड (कनेक्टिंग रॉड), ३ सिलिंडर, ४ पिस्टन का छल्ला (पिस्टन रिंग), ५ ठढा करने का पानी, ६ पिस्टन, ७ सिलिंडर का माथा (हेड), ८ स्पार्क प्लग, ९ कपाट (वाल्व), १० निष्कास मार्ग, ११ ढक्कन, १२ कैम, १३ क्रैक धुरी, १४ तेल का कडाहा (ऑयल पैन)।

जो बच्चो की रग खेलने की पिचकारी के भीतर चलनेवाली डाट का। पिस्टन ऐल्युमिनियम या इस्पात का बनता है और इसमे इस्पात की कमानीदार चूडियाँ (रिंग्स) लगी रहती है, जिससे वायु, या गैस, पिस्टन के एक ओर से दूसरी ओर नही जा सकती। सिलिंडर का माथा (हेड) बद रहता है, परतु इसमे दो कपाट (वाल्व) रहते है। एक के खुलने पर वायु, या वायु और पेट्रोल दोनो, भीतर आ सकते है। दूसरे के खुलने पर सिलिंडर के भीतर की वायु या गैस बाहर निकल सकती है। माथे मे एक स्पार्क प्लग भी लगा रहता है जिसके सिरे पर दो तार होते है। उचित समयो पर इन दोनो तारो के बीच बिजली की चिनगारी निकलती है, जिसका नियत्रण इजन के चलते रहने पर अपने आप होता रहता है। चिनगारी बिजली के कारण उत्पन्न होती है, जो साधारणत एक बैटरी या अन्य विद्युत्यत्र से निकलती है।

पिस्टन इजन की धुरी से सबधक-दड (कनेक्टिंग रॉड) द्वारा सबधित रहता है। धुरी सीधी न रहकर एक स्थान पर चिमटे की तरह टेढी होती है। इस प्रबध को क्रैक कहते है। क्रैक के कारण पिस्टन के आगे पीछे चलने पर इजन की धुरी घूमती है। ईधन के बार बार जलने से पिस्टन बहुत गरम न हो जाय इस विचार से सिलिंडर की दीवारे दोहरी होती है

और [illegible] पानी प्रवाहित होता रहता है। मोटरकार आदि में [illegible], छ या आठ सिलिंडर रहते हैं और लोहे की जिस [illegible] में ये [illegible] रहते हैं उसे ब्लॉक कहते हैं।
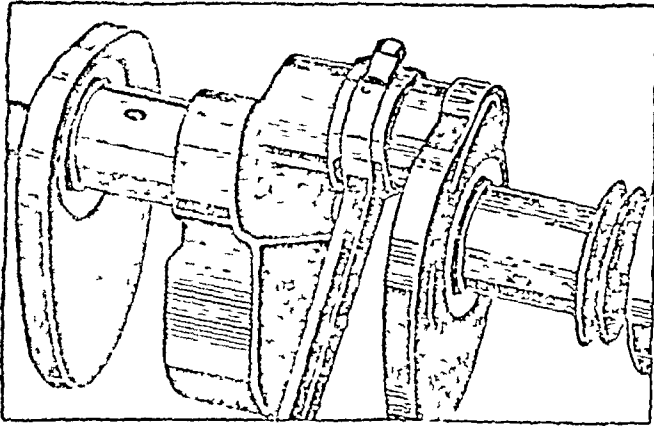
चित्र २ क्रैंक
[illegible] का काम है पिस्टन के आगे-पीछे चलने की गति को धुरी के अक्षघूर्णन में बदलना।
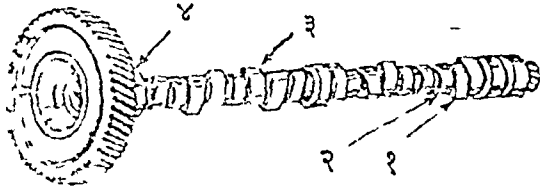
चित्र ३ कैम धुरी
१, २, ३ विविध कैम, ४ सचालक चक्र।

ऊपर बताए गए वाल्व, कमानी के कारण चिपककर, वायु आदि के मार्ग को बद रखते हैं, परन्तु प्रत्येक वाल्व कैम द्वारा उचित समय पर उठ जाता है, जिससे वायु या गैस के आने का मार्ग खुल जाता है। कैम जिस धुरी पर जड़े रहते हैं उसको कैम-धुरी (कैम-शैफ्ट) कहते है। यह धुरी
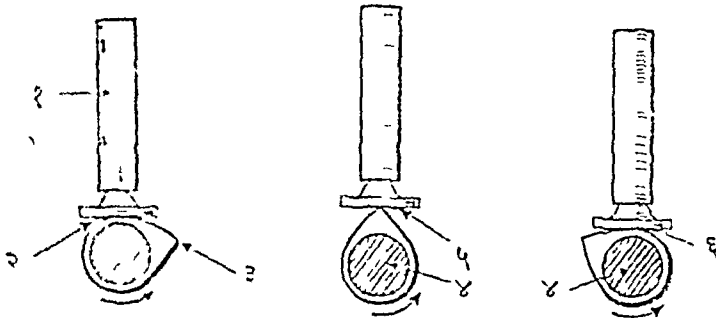
चित्र ४ कैम का कार्य
इस चित्र में दिखाया गया है कि कैम किस प्रकार वाल्व [illegible] ऊपर नीचे चलाता है। १ दड, २ नीचे पहुँचने पर स्थिति, ३ कैम की नोक, ४ कैमधुरी, ५ ऊँचे पहुँचने पर स्थिति, ६ फिर नीचे पहुँचने पर स्थिति। वक्राकार बाण से कैम के घूमने की दिशा दिखाई गई है।

[illegible] घूमती रहती है और वाल्वों को उचित समयो पर खोलती रहती है। (कैम [illegible] के टुकड़े होते हैं, जिनका रूप कुछ कुछ पान की आकृति का होता है, जब कैम का चौड़ा भाग वाल्व के तने (स्टेम) के नीचे रहता है तो वाल्व बद रहता है, जब इसका लबा भाग घूमकर वाल्व के तने के नीचे आ जाता है तो वाल्व उठ जाता है।)

इजन की विभिन्न नलियों को, जहाँ एक पुरजा दूसरे पर घूमता या [illegible] रहता है, बराबर तेल से तर रखना नितात आवश्यक है। इसीलिये सर्वत्र स्नेहक तेल (ल्यूब्रिकेटिंग ऑयल) पहुँचाने का प्रबध रहता है। मोटरकारो में इजन का निचला हिस्सा बहुधा थाल के रूप में होता है जिसमें तेल डाल दिया जाता है। प्रत्येक चक्कर मे क्रैंक तेल मे डूब जाता है और छीटे उडाकर सिलिडर को भी तेल से तर कर देता है। अन्य स्थानो में तेल पहुँचाने के लिये पप लगा रहता है।

चित्र १ मे इजन को काटकर उसके विविध भाग दिखाए गए है।

चतुर्घात-चक्रवाले इजन का कार्यकरण—चतुर्घात-चक्र (फोर स्ट्रोक साइकिल) के अनुसार काम करनेवाले इजनो मे पिस्टन के चार बार चलने पर (दो बार आगे, दो बार पीछे चलने पर) इसके कार्यक्रम का एक चक्र पूरा होता है। ये चार घात निम्नलिखित हैं

(क) सिलिंडर में पिस्टन माथे से दूर जाता है, इस समय अतर्ग्रहण-वाल्व (इन-टेक वाल्व) खुल जाता है और वायु, तथा साथ मे उचित मात्रा में पेट्रोल (या अन्य ईंधन), सिलिंडर के भीतर खिंच आता है, (चित्र ५)। इसे अतर्ग्रहण-घात कहते है। (ख) जब पिस्टन लौटता है तो अतर्ग्रहण-वाल्व बद हो जाता है, दूसरा वाल्व भी (जिसे निष्कास-वाल्व कहते हैं) बद रहता है। इसलिये वायु-और-पेट्रोल-मिश्रण को बाहर निकलने के लिये कोई मार्ग नही रहता। अत वह सपीडित (कप्रेस्ड) हो जाता है। इसी कारण इसे सपीडन-घात (कप्रेशन स्ट्रोक) कहते है।
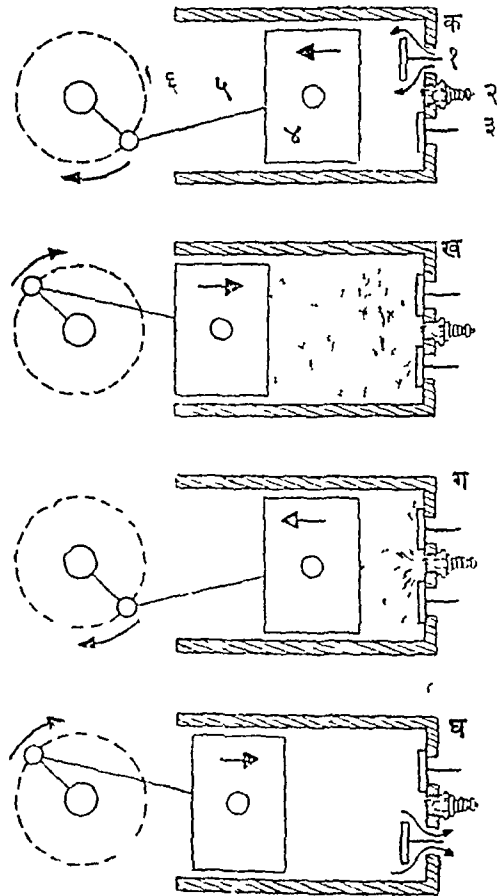
चित्र ५. चतुर्घात अतर्दह इजन का सिद्धात
क अतर्ग्रहण घात, जिससे सिलिंडर मे ईंधन और हवा आती है, १ अतर्ग्रहण वाल्व, २ स्पार्क प्लग, ३ निष्काम वाल्व, ४ पिस्टन, ५ सबधक दड (कनेक्टिंग रॉड), ६ फ्लाई-व्हील। ख सपीडन घात, जिससे ईंधन और वायु का मिश्रण सपीडित होता है। ग शक्ति घात, जिसमे ईंधन जल उठता है और पिस्टन को बलपूर्वक ठेलता है। घ निष्कास घात, जिससे जला ईंधन बाहर निकल जाता है।

ज्यो ही पिस्टन लौटने लगता है, स्पार्क प्लग से चिनगारी निकलती है और सघनित पेट्रोल-वायु-मिश्रण जल उठता है। इसमे इतनी गरमी और दाब बढ़ती है कि पिस्टन को जोर का धक्का लगता है और पिस्टन हठात्

माथे मे हटता है। इस हटने मे पिस्टन और उनसे संबद्ध प्रधान धुरी (मेन शैफ्ट) भी बलपूर्वक चलते हैं और बहुत सा काम कर सकते हैं। पेट्रोल के जलने की ऊर्जा इसी प्रकार धुरी के घूमने में परिवर्तित होती है। धुरी पर एक भारी चक्का जडा रहता है जिसे फ्लाईव्हील कहते हैं। यह भी अब वेग से चलने लगता है।

फ्लाईव्हील की झोंक से पिस्टन जब फिर माथे की ओर चलता है तो दूसरा वाल्व खुल जाता है। इस वाल्व को निष्कास-वाल्व (एग्जॉस्ट वाल्व) कहते हैं। इसके खुले रहने के कारण और पिस्टन के चलने के कारण, पेट्रोल के जलने से उत्पन्न सब गैसे बाहर निकल जाती है।

अब फ्लाईव्हील की झोंक से फिर पिस्टन वायु और पेट्रोल चूसता है (चूषण-घात), उसे संपीडित करता है (संपीडन-घात), ईंधन जलकर शक्ति उत्पन्न करता है (शक्ति-घात) और जली गैसे बाहर निकलती है (निष्कास-घात)। यही क्रम तब तक चालू रहता है जब तक स्विच बंद करके चिनगारियों को बंद नहीं कर दिया जाता।

इंजन को चालू करने के लिये इसकी प्रधान धुरी मे हैंडिल लगाकर घुमाना पडता है, या बैटरी द्वारा संचालित विद्युन्मोटर से (जिसे सेल्फ-स्टार्टर कहते हैं) उसे घुमाना पडता है। एक बार फ्लाईव्हील मे शक्ति आ जाने पर इंजन चलने लगता है।

डीजल इंजनों मे चूषण-घात मे पिस्टन केवल हवा खींचता है, ईंधन नही, ईंधन को शक्ति-घात के आरंभ में सिलिंडर मे सूक्ष्म नली द्वारा, पंप की सहायता से, बलपूर्वक छोडा जाता है और वह, संपीडित वायु के तप्त रहने के कारण, बिना चिनगारी लगे ही, जल उठता है।

यद्यपि कार्यकरण पदार्थ (ईंधन-वायु-मिश्रण) का घनत्व विभिन्न इंजनों में विभिन्न होता है, तो भी हम दाब द और आयतन आ का संबंध चित्र ६ के अनुसार निरूपित कर सकते हैं। चूषण-घात मे अंतर्ग्रहण वाल्व खुला रहता है। इसलिये हम कल्पना कर सकते हैं कि सिलिंडर मे दाब वही है जो वायुमंडल की है। चित्र ६ मे रेखा ०-१ इस दशा को निरूपित करती है। संघनन घात मे दाब और आयतन का संबंध रेखा १-२ से निरूपित है, आयतन कम होता है और दाब बढती है। संघनन आइसेंट्रॉपिक होता है, अर्थात् संपीडन इतना शीघ्र संपन्न होता है कि हम मान सकते हैं कि कोई गरमी बाहर नही जाने पाती और भीतरी गैसो की ऊर्जा मे कोई कमी नही होने पाती। ईंधन के जलने से दाब एकाएक बढ जाती है और यह रेखा २-३ से निरूपित है, आयतन उतना ही रह जाता है। अब शक्ति-घात मे जलने से उत्पन्न गैसे पिस्टन को ढकेलती हुई प्रसरित होती हैं। यह रेखा ३-४ से निरूपित है। निष्कास-वाल्व के खुलने पर दाब घटकर वायुमंडलीय दाब के बराबर हो जाती है। यह रेखा ४-१ से निरूपित है। निष्कास-घात मे दाब उतनी ही रह जाती है, परन्तु आयतन घटता है। यह रेखा १-० से निरूपित है। इसके बाद कार्यचक्र की आवृत्ति होती है।
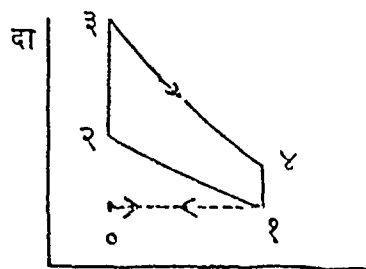
चित्र ६ — चतुर्घात इंजन मे आयतन (आ) और दाब (दा) का संबंध।
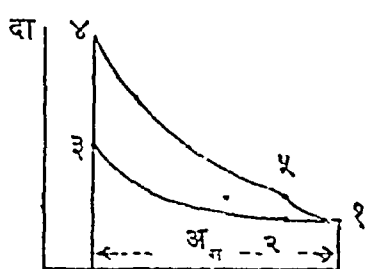
चित्र ७ — द्विघात इंजन मे आयतन और दाब का संबंध।

द्विघात-चक्र—ऊपर बताए गए इंजन मे निष्कास-घात का एकमात्र उद्देश्य है सिलिंडर को खाली करना, जिसमे ईंधन और वायु फिर एक बार चूसी जा सके। परंतु शक्ति-घात के अंतिम खंड मे ही जली गैसो के निकालने का प्रबंध किया जा सकता है। जली गैसे बाहर निकालने की क्रिया को तब समार्जन (स्कैवेंजिंग) कहते हैं। इस व्यवस्था मे पिस्टन के दो घातों मे ही इंजन के कार्यक्रम का एक चक्र पूरा हो जाता है। इसलिये इस चक्र को द्विघातचक्र (टू स्ट्रोक साइकिल) कहते हैं। चित्र ७ मे इसकी क्रिया दिखाई गई है। बिंदु ३ पर संपीडन की क्रिया समाप्त हो चुकी है। जलने के कारण दाब बढती है (रेखा ३-४)। अब जली गैसो का प्रसार होता है (जिससे प्रधान धुरी और फ्लाईव्हील में ऊर्जा पहुँचती है)। यह रेखा ४-५ से निरूपित है। पिस्टन के अपनी दौड के अंत तक पहुँचने के पहले ही निष्कास-वाल्व खुल जाता है और सिलिंडर मे वायु, या वायु तथा ईंधन का मिश्रण, प्रवाहित कर जली गैसे निकाल दी जाती हैं (रेखा ५-१)। अब पिस्टन माथे की ओर लौटता है, परंतु निष्कास-वाल्व तुरंत नही बंद होता। इस विलंब का उद्देश्य यह है कि जली गैसो के निकलने के लिये अपेक्षित समय मिल जाय। चित्र के बिंदु २ पर निष्कास-वाल्व बंद होता है। तब दाब बढने लगती है।

चतुर्घात-चक्र मे प्रधान धुरी के दो चक्करो मे एक शक्ति-घात होता है; द्विघात-चक्र के प्रत्येक चक्कर मे एक शक्ति-घात होता है। तो भी नाप मे अपने ही बराबर चतुर्घात-इंजन की अपेक्षा दुगुनी ऊर्जा उत्पन्न करने के बदले द्विघात-इंजन केवल ७० % से ९० % तक अधिक ऊर्जा उत्पन्न करता है। कारण ये हैं (१) अपूर्ण समार्जन, (२) दी हुई नाप के सिलिंडर मे अपेक्षाकृत कम ही ईंधन-वायु-मिश्रण का पहुँच पाना, (३) ईंधन का अधिक मात्रा मे बिना जला रह जाना, (४) समार्जन के लिये वायु को संपीडित करने मे कुछ शक्ति का व्यय हो जाना और (५) निष्कास-वाल्व के शीघ्र खुल जाने से दाब का क्षय।

एकदिश और उभयदिश-सक्रिय इंजन—अंतर्दह इंजनो मे (और आगे पीछे चलनेवाले पिस्टन युक्त अन्य इंजनो में भी) दो जातियाँ होती हैं, एकदिग-सक्रिय (सिंगल-ऐक्टिंग) इंजन और उभयदिश-सक्रिय (डबल-ऐक्टिंग) इंजन। एकदिश-सक्रिय इंजनो मे कार्यकरण पदार्थ (पेट्रोल, डीजल तेल, आदि) पिस्टन के केवल एक ओर रहता है, उभयदिश-सक्रिय इंजनो मे दोनो ओर। उनमे सिलिंडर लंबा रहता है और पिस्टन के दोनो ओर के भागो मे चूषण, संपीडन इत्यादि होता रहता है। अधिकांश अंतर्दह-इंजन एकदिश-सक्रिय होते हैं। उदाहरणत, मोटरकारो के इंजन इसी प्रकार के होते हैं। परंतु बहुतेरे बडे इंजन उभयदिश-सक्रिय बनाए जाते हैं। एकदिश-सक्रिय इंजन की अपेक्षा उभयदिश-सक्रिय इंजन मे लगभग दुगुनी ऊर्जा उत्पन्न होती है और नाप मे नाम-मात्र ही वृद्धि होती है। परंतु उभयदिश-सक्रिय इंजनो के निर्माण मे कई यांत्रिक कठिनाइयाँ पडती हैं। इसलिये केवल बडी नाप के इंजनो मे ही उभयदिश-सक्रिय इंजन लाभदायक होते हैं। दूसरी ओर, वाष्प-इंजन और वायु-संपीडक साधारणत उभयदिश-सक्रिय बनाए जाते हैं, यद्यपि यह अनिवार्य नियम नही है।
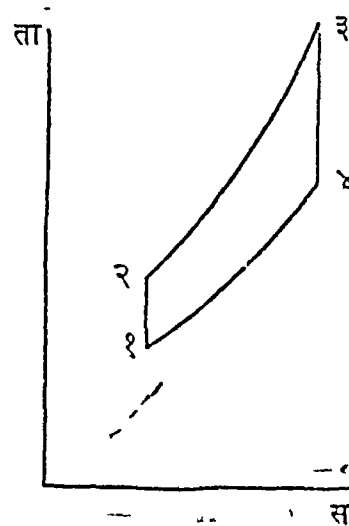
चित्र ८ (क) — आदर्श ओटो चक्र मे समऊर्जा और ताप मे संबंध
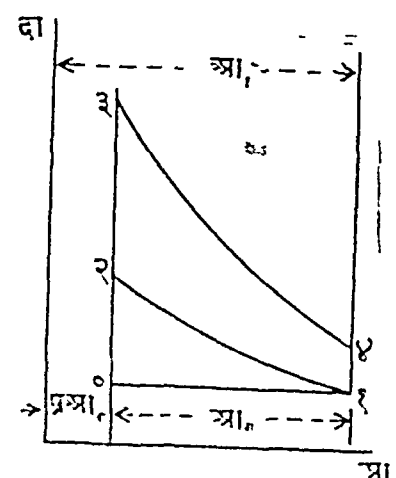
चित्र ८ (ख) — आदर्श ओटो चक्र में आयतन और दाब का संबंध

ओटो चक्र—आज के अधिकांश अंतर्दह इंजन ओटो चक्र (ओटो साइकिल) के सिद्धांत पर बनते हैं। गणना की सरलता के लिये हम कल्पना कर सकते हैं कि चक्र मे दो क्रियाएँ समऊर्जिक (आइसेंट्रॉपिक) और दो स्थिर-आयतनिक (ऐट कॉन्स्टैंट वॉल्यूम) होनी हैं (चित्र ८)।

कल्पित चक्र के विश्लेषण में सुगमता के लिये मान लिया जाता है कि कार्यकरण पदार्थ केवल वायु है। यह भी मान लिया जाता है कि न तो चूषण-घात होता है और न निष्कास-घात। इस विश्लेषण को वायु-प्रामाणिक विश्लेषण कहते हैं। वास्तविक इजन मे गैसो का निष्कास होता है। उसके बदले माना जाता है कि स्थिर आयतन पर गैसें ठढी हो जाती हैं (चित्र ८ मे रेखा ४-१)। कर्म का उतना ही होता है (घर्षण की उपेक्षा करने पर), चाहे गैसो का निष्कास किया जाय, चाहे उन्हे ठढा किया जाय। प्रत्येक दशा में ईंधन के जलने से उत्पन्न उष्मा उतनी ही रहती है, मान ले $उ_{प}$। इसलिये चक्र के ऊर्जा-समीकरण (एनर्जी इक्वेशन), अर्थात्

$$उ_{प} - उ_{त} = का$$

से स्पष्ट है कि तिरस्कृत ऊर्जा $उ_{त}$ भी दोनो दशाओ में समान होगी।

विशिष्ट उष्मा (स्पेसिफिक हीट) को स्थिर मानने पर हम देखते हैं कि

$$उ_{प} = क\, वि_{आ} (ता_{३} - ता_{२}) \text{ बी० टी० यू०},$$

$$उ_{त} = क\, वि_{आ} (ता_{१} - ता_{४})$$

$$= -क\, वि_{आ} (ता_{४} - ता_{१}) \text{ बी० टी० यू०},$$

जहाँ क पिस्टन मे घुसे वायु की तौल है, $वि_{आ}$ स्थिर आयतन पर विशिष्ट उष्मा है और $ता_{१}, ता_{२},$ चित्र के विंदु १, २, . पर ताप (टेम्परेचर) हैं। (बी० टी० यू० बोर्ड ऑव ट्रेड यूनिट के लिये लिखा गया है।) विशुद्ध (नेट) कर्म $का = \sum उ$। इसलिये

$$का = क\, वि_{आ} (ता_{३} - ता_{२}) - क\, वि_{आ} (ता_{४} - ता_{१}) \text{ बी०टी० यू०।}$$

उष्मीय दक्षता (थर्मल एफिशेन्सी) $द = का\; उ_{प}$

$$= \frac{क\, वि_{आ} (ता_{३} - ता_{२}) - क\, वि_{आ} (ता_{४} - ता_{१})}{क\, वि_{आ} (ता_{३} - ता_{२})},$$

अर्थात्
$$द = १ - \frac{ता_{४} - ता_{१}}{ता_{३} - ता_{२}}।$$

मान लें $वि_{दा}/वि_{आ} = नि$, जहाँ नि स्थिर दाब और स्थिर आयतन पर विशिष्ट उष्माओ की निष्पत्ति है। तो

$$ता_{४}/ता_{३} = (आ_{३}/आ_{४})^{नि-१}$$

और $ता_{१}/ता_{२} = (आ_{२}/आ_{१})^{नि-१}$।

परतु $आ_{३} = आ_{२}$ और $आ_{४} = आ_{१}$। इसलिये

$$ता_{४} = ता_{३}\left(\frac{आ_{३}}{आ_{४}}\right)^{नि-१} = ता_{३}\left(\frac{आ_{२}}{आ_{१}}\right)^{नि-१},$$

और
$$ता_{१} = ता_{२}\left(\frac{आ_{२}}{आ_{१}}\right)^{नि-१}।$$

द के मान में $ता_{४}$ और $ता_{१}$ के इन मानो को रखने पर हम देखते हैं कि

$$द = १ - \frac{ता_{३} (आ_{२}/आ_{१})^{नि-१} - ता_{२} (आ_{२}/आ_{१})^{नि-१}}{ता_{३} - ता_{२}}$$

$$= १ - (आ_{२}/आ_{१})^{नि-१}।$$

मान ले स्थिरोष्म (अडायावैटिक) सपीडन-अनुपात, अर्थात् $आ_{१}/आ_{२}$ अक्षर ष से निरूपित किया जाता है। तो

द = ओटो चक्र की कल्पित वायु-प्रामाणिक दक्षता

$$= १ - \frac{१}{ष^{नि-१}}।$$

तुलना के लिये काल्पनिक इजन—ऊपर की गणना से ओटो-चक्र का एक महत्वपूर्ण लक्षण प्रत्यक्ष होता है, अर्थात् नि के दिए हुए मान के लिये इस चक्र की दक्षता केवल सपीडन-अनुपात पर निर्भर है। वास्तविक इजन मे कार्यकरण पदार्थ वायु के बदले एक जटिल मिश्रण होता है और जलने में उसका सघटन बदल जाता है। इस कारण लोगो में इस बात पर मतभेद है कि कार्यकरण पदार्थ को काल्पनिक सरल इजन में क्या माना जाय। जब नि का मान १४ समझ लिया जाता है—और साधारण वायु के लिये यही मान उचित है—तो जो परिणाम निकलता है उसे शीतल-वायु-मानक (कोल्ड-एअर स्टैंडर्ड) कहा जाता है।

चित्र ९ सपीडन-अनुपात

परतु वास्तविक इजन में $वि_{आ}$, $वि_{दा}$ और नि के मान बहुत अधिक घटते बढते रहते हैं, क्योंकि ताप में कई हजार डिगरी का परिवर्तन होता है। तप्त वायु के लिये नि का मान औसतन १४ से बहुत कम होता है। जब नि का मान १४ से कम लिया जाता है तो हमें तप्त-वायु-मानक मिलता है। नि का औसत मान ईंधन, ईंधन-वायु-अनुपात आदि पर निर्भर रहता है।
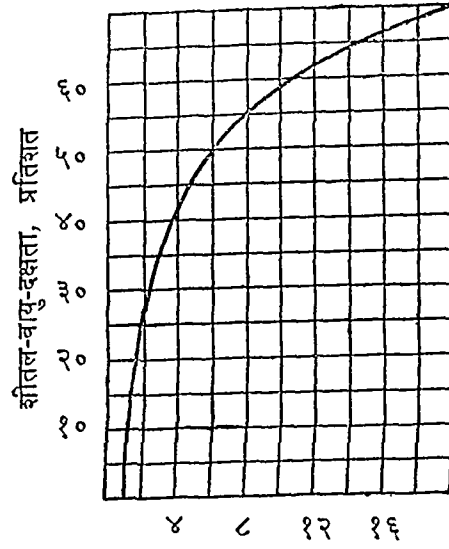
आजकल अतर्दह इजन का वास्तविक ईंधन-मिश्रण-प्रमाप के अनुसार विश्लेषण करना कोई असाधारण बात नही है। इस विश्लेषण में ईंधन और वायु का ऐसा मिश्रण लिया जाता है जो वास्तविक मिश्रण से मिलता जुलता है। ताप के अनुसार विशिष्ट उष्मा के घटने बढने पर भी विचार कर लिया जाता है। अधिक सूक्ष्म विश्लेषण मे उच्च ताप पर अणुओ के विघटन (डिसोसिएशन) पर भी ध्यान दिया जाता है।

छूट-आयतन—सपीडन-अनुपात को बदलने के लिये सिलिंडर के माथे की ओर के उस भाग की लबाई को घटाया बढाया जाता है जिसमें पिस्टन पहुँच नही पाता। इस भाग के आयतन को छूट-आयतन (क्लियरैन्स वॉल्यूम) कहते हैं। वस्तुत, अतर्दह इजन में 'छूट-आयतन' दहन-कोष्ठ के उस समय के आयतन को कहते हैं जब पिस्टन माथे की ओर महत्तम दूरी तक पहुँचा रहता है, और इसमे उन सब गलियो (पैसेजेज) का आयतन भी समिलित कर लिया जाता है जो दोनो वाल्वो के बद रहने पर सिलिंडर के माथे की ओर खुली रहती हैं। ओटो चक्र के चित्र मे इसे $आ_{२}$ से सूचित किया गया है (चित्र ८ ख)।

साधारणत, छूट-आयतन को पिस्टन द्वारा स्थानातरित आयतन (डिसप्लेसमेण्ट) के प्रति शत के रूप मे व्यजित किया जाता है। इस प्रति शत को हम प्र से सूचित करेंगे और इसे हम प्रतिशत छूट या केवल छूट (क्लियरैंस) कहेंगे।

इस प्रकार यदि स्थानातरित आयतन $आ_{स}$ है तो छूट $प्रआ_{स}$ होगी। सपीडन-अनुपात ष

$$= \frac{आ_{१}}{आ_{२}} = \frac{आ_{स} + प्रआ_{स}}{प्रआ_{स}} = \frac{१ + प्र}{प्र}।$$

सपीडन-अनुपात ज्ञात रहने पर इस सूत्र द्वारा छूट की गणना हो सकती है, और छूट ज्ञात रहने पर सपीडन-अनुपात की।

दा
२ ३
४
१
०
आ
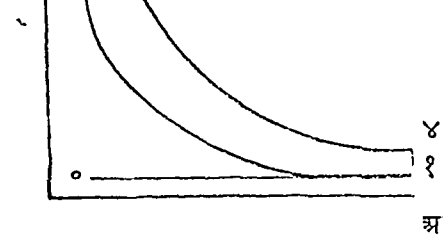
चित्र १० (क) डीजल इजन में आयतन और ताप का सबध।

डीजल चक्र—रुडोल्फ डीजल चाहता था कि वह ऐसा अतर्दह इजन बनाए जिसमे कोयला जले। उसने कल्पना की कि सिलिंडर मे केवल वायु खीची जाय (चित्र १० (क) मे रेखा ०-१), फिर वायु को पूर्णतया या

लगभग पूर्णतया सम-ऊर्जिक रीति से सपीडित किया जाय (रेखा १-२) और इस सपीडन में वायु इतनी तप्त हो जाय कि ईंधन जल उठे। इस प्रकार ईंधन को जलाने के लिये चिनगारी की आवश्यकता न रहेगी। ईंधन इस दर से सिलिंडर में प्रविष्ट किया जाय कि शक्ति-उत्पादक घात में सिलिंडर की दाब लगभग स्थिर रहे (रेखा २-३) और तब जलने से उत्पन्न गैसों को प्रसरित होने दिया जाय (रेखा ३-४) और ओटो चक्र की भाँति इनका निष्कासन किया जाय (४-१ और १-०)। डीज़ल इंजन चतुर्घात और द्विघात दोनों प्रकार से चल सकता है। चाहे एक प्रकार का इंजन हो, चाहे दूसरे प्रकार का, पूर्वोक्त विधि से काम करनेवाले इंजन के वायु-प्रमाप (एअर-स्टैंडर्ड) की दक्षता उतनी ही प्राप्त होगी (चित्र ११)। जैसा ओटो चक्र के लिये पहले

चित्र १० (ख) डीज़ल इंजन में समऊर्जा और ताप में संबंध

दिखाया गया है, निष्कासित उष्मा की गणना हम यह मानकर कर सकते
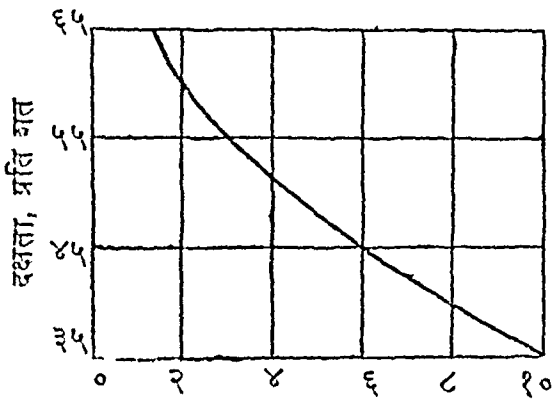
चित्र ११ ईंधन-काट-अनुपात

हैं कि जली गैसों को स्थिर आयतन पर ठंढा किया जाता है (रेखा ४-१, चित्र १०)। यदि विशिष्ट उष्माओं को स्थिर मानें तो हम देखते हैं कि

$$\text{उ}_{\text{ग}} = \text{क}\,\text{वि}_{\text{दा}}\,(\text{ता}_{३} - \text{ता}_{२})\ \text{बी० टी० यू०},$$

$$\text{उ}_{\text{नि}} = \text{क}\,\text{वि}_{\text{आ}}\,(\text{ता}_{१} - \text{ता}_{४}) = -\text{क}\,\text{वि}_{\text{आ}}\,(\text{ता}_{४} - \text{ता}_{१})\ \text{बी० टी० यू०}$$

$$\text{का} = \Sigma\,\text{उ} = \text{क}\,\text{वि}_{\text{दा}}(\text{ता}_{३} - \text{ता}_{२}) - \text{क}\,\text{वि}_{\text{आ}}(\text{ता}_{४} - \text{ता}_{१})\ \text{बी०टी०यू०}$$

$$\text{द} = \frac{\text{का}}{\text{उ}_{\text{ग}}} = १ - \frac{\text{वि}_{\text{आ}}(\text{ता}_{४} - \text{ता}_{१})}{\text{वि}_{\text{दा}}(\text{ता}_{३} - \text{ता}_{२})} = १ - \frac{\text{ता}_{४} - \text{ता}_{१}}{\text{नि}(\text{ता}_{३} - \text{ता}_{२})}\ ।$$

यदि ताप का लोप कर दिया जाय तो हमें इससे कहीं अधिक सुविधाजनक और ज्ञानवर्धक सूत्र प्राप्त होता है। यह मानकर कि कार्यकरण पदार्थ आदर्श गैस (पर्फेक्ट गैस) है, हम ऊपर के तापों में से तीन को चौथे के पदों में व्यंजित कर सकते हैं। उदाहरणतः, रेखा १-२ पर

$$\text{ता}_{२}/\text{ता}_{१} = (\text{आ}_{१}/\text{आ}_{२})^{\text{नि}-१}\ ।$$

परंतु परिभाषा के अनुसार $\text{आ}_{१}/\text{आ}_{२}$ स्थिरोष्म सपीडन-अनुपात प है।

इसलिये $\text{ता}_{२} = \text{ता}_{१}\,(\text{आ}_{१}/\text{आ}_{२})^{\text{नि}-१} = \text{ता}_{१}\,\text{प}^{\text{नि}-१}$ ।

स्थिर दाबवाली रेखा २-३ पर चार्ल्स का नियम लागू होता है और

$$\text{ता}_{३}/\text{ता}_{२} = \text{आ}_{३}/\text{आ}_{२}\ ।$$

मान लें कि $\text{आ}_{३}/\text{आ}_{२} = \text{ट}$, तो ट एक अनुपात है जिसे "ईंधन-काट-अनुपात" (फ्युएल कट-ऑफ रेशियो) कहते हैं। अब हम देखते हैं कि

$$\text{ता}_{३} = \text{ता}_{२}(\text{आ}_{३}/\text{आ}_{२}) = \text{ता}_{१}\,\text{प}^{\text{नि}-१}\,\text{ट}\ ।$$

समोष्मा-क्रिया (रेखा ३-४) के लिये

$$\text{ता}_{४}/\text{ता}_{३} = (\text{आ}_{३}/\text{आ}_{४})^{\text{नि}-१}\ ।$$

परंतु रेखा २-३ पर $\text{आ}_{३} = (\text{ता}_{३}/\text{ता}_{२})\,\text{आ}_{२} = \text{ट}\,\text{आ}_{२}$ ।

इन मानों तथा सपीडन-अनुपात के प्रयोग से हमें निम्नलिखित संबंध मिलता है

$$\text{ता}_{४} = \text{ता}_{३}(\text{आ}_{३}/\text{आ}_{४})^{\text{नि}-१} = \text{ता}_{१}\,\text{ट}^{\text{नि}}\ ।$$

अंत में, इन मानों को दक्षतावाले व्यंजन में रखने पर, हम देखते हैं कि

$$\text{द} = १ - \frac{\text{ता}_{१}\,\text{ट}^{\text{नि}} - \text{ता}_{१}}{\text{नि}(\text{ता}_{१}\,\text{प}^{\text{नि}-१}\,\text{ट} - \text{ता}_{१}\,\text{प}^{\text{नि}-१})}$$

$$= १ - \frac{१}{\text{प}^{\text{नि}-१}}\left\{\frac{\text{ट}^{\text{नि}} - १}{\text{नि}(\text{ट} - १)}\right\}$$

ध्यान दें कि डीज़ल-चक्र की दक्षता के लिये इस व्यंजक और ओटो-चक्र के लिये पहले प्राप्त व्यंजक में अंतर केवल इतना ही है कि अब वह गुणक भी है जो कोष्ठकों में लिखा हुआ है। यह गुणक सदा १ से बड़ा होता है, क्योंकि ट सदा १ से बड़ा होता है। इस प्रकार, किसी विशिष्ट सपीडन-अनुपात प के लिये ओटो-चक्र अधिक दक्ष होता है, परंतु यदि ओटो-इंजन में सपीडन-अनुपात बहुत अधिक रखा जाय तो इंजन में ठोकर (नॉक) उत्पन्न होने लगती है, जिसका कारण यह है कि ईंधन अपने आप, उचित समय के पहले ही, जल उठता है। दूसरी ओर, डीज़ल इंजन में केवल वायु को सपीडित किया जाता है, इसलिये सपीडन-अनुपात को बहुत बड़ा मान दिया जा सकता है। यह भी देखा जा सकता है कि ट के बढ़ने से कोष्ठकोंवाला गुणनखंड बढ़ता है और दक्षता घटती है। इसलिये उत्तम उष्मा-दक्षता के लिये छोटा ईंधन-काट-अनुपात वांछनीय है। ईंधन कटने का क्षण विरले ही इंजनों में पिस्टन की दौड़ के १० प्रति शत से अधिक बाद में आता है, साधारणतः यह बहुत पहले ही आता है। अंत में, हम देखते हैं कि ऐसा कार्यकरण पदार्थ लाभदायक होता है जिसके लिये नि का मान अधिक हो, क्योंकि नि के बढ़ने से दक्षता बढ़ती है। दुर्भाग्य की बात है कि वास्तविक गैसों के लिये ताप बढ़ने पर नि का मान घटता है।

जैसा ओटो-चक्र के लिये माना जाता है, उसी तरह डीज़ल-चक्र के लिये भी शीतल-वायु-प्रमाप में माना जाता है कि नि=१.४। तप्त-वायु-मानक के लिये इससे छोटे मान, लगभग १.३५, का प्रयोग किया जाता है। अधिक अच्छा तुलना-मानक वह है जिसमें इंजन में प्रयुक्त वास्तविक मिश्रण का विश्लेषण किया जाय और विशिष्ट ताप के घटने बढ़ने पर भी ध्यान रखा जाय।
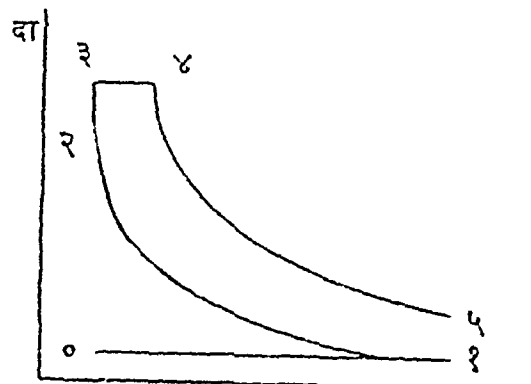
चित्र १२ (क)
द्विदह इंजन में आयतन और दाब का संबंध।

द्विदह इंजन—मंद गति से चलनेवाले डीज़ल इंजन में दहन के लिये पर्याप्त समय रहता है। दहन में अनुपेक्षणीय समय लगता है और ऐसा प्रबंध किया जा सकता है कि जलती गैसों का प्रसार स्थिर दाब पर हो। परंतु आधुनिक तीव्रगति डीज़ल इंजन में पिस्टन के अपने घात के उच्चतम बिंदु तक पहुँचने के पहले ही ईंधन-प्रवृष्टि का आरंभ कर देना पड़ता है। अल्प-तीव्र-गति इंजनों में यह काम ७° से १०° पहले आरंभ किया जाता है, अर्थात् ईंधन-प्रवृष्टि आरंभ करने के क्षण से प्रधान धुरी के ७° से १०° तक घूमने के बाद पिस्टन अपनी दौड़ की ऊपरी सीमा तक पहुँचता है। आधुनिक अति-तीव्र-गति इंजनों में ईंधन-प्रवृष्टि का आरंभ ३५° से ४०° पहले तक होना
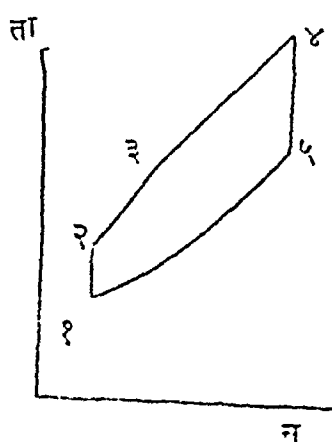
चित्र १२ (ख)
द्विदह इंजन में समऊर्जा और ताप में संबंध।

है। पहले ही ईंधन-प्रवृष्टि करने से पर्याप्त मात्रा मे स्थिर आयतन पर दहन होता है, और थोडा ऐसा दहन भी होता है जो मोटे हिसाव से स्थिर दाब पर होता है। मद गति से जलनेवाले ईंधनो से चालित पेट्रोल इजनो मे भी इसी प्रकार के दहन-लक्षण होते है। इसलिये स्वाभाविक है कि द्विदहन, (डुअल कवश्चन) अथवा समिश्रदहन (कपाउड कवश्चन) चक्रवाले इजन वनाने का प्रस्ताव हो। ऐसे चक्र के सरलतम इजन का कार्य चित्र १२ मे दिखाया गया है। इजन या तो द्विघात या चतुर्घात हो सकता है।

गणना द्वारा दिखाया जा सकता है कि ऐसे इजन की दक्षता द

$$=१-\frac{१}{ष^{नि-१}}\left\{\frac{ठ\, क^{नि}-१}{ठ-१+ठ\, नि\, (क-१)}\right\},$$

जहाँ ख=दा$_3$/दा$_२$, अर्थात् दहन के स्थिर आयतन खड मे दाव-अनुपात है। द्विदहन तप्त-वायु-प्रमाप के लिये नि का मान १ ३४ लेना उचित होगा।

अतर्दह इजनो का वर्गीकरण—अतर्दह इजनो के वर्गीकरण की कई रीतियाँ हैं। निम्नलिखित रीतियाँ सुझाव मात्र हैं

(१) वास्तविक इजन की तुलना मे प्रयुक्त काल्पनिक चक्र के अनुसार तीन प्रधान काल्पनिक चक्र हैं (क) ओटो-चक्र, (ख) डीजल-चक्र, (ग) द्विदह चक्र।

(२) पिस्टन के उन घातो की सख्या के अनुसार जिनसे चक्र पूर्ण होता है। इजन चतुर्घात अथवा द्विघात हो सकता है।

(३) इजन की एकदिश सक्रियता अथवा उभयदिश सक्रियता के अनुसार।

(४) ईंधन के अनुसार, जैसे गैस, पेट्रोल या गाढा खनिज तेल।

(५) प्रयोग के अनुसार, उदाहरणत, मोटरकार, समुद्री, स्थिर अथवा उठौआ इजन।

(६) सिलिडरो के क्रम, स्थिति और सख्या के अनुसार। सिलिडरो के अक्ष ऊर्ध्वाधर, क्षैतिज अथवा तिरछे हो सकते है। वहुसख्यक सिलिडर-वाले इजन मे सिलिडर अगल बगल रह सकते हैं, अथवा उनको एक सीध मे (छोर से छोर मिलाकर) रखा जा सकता है, अथवा वे त्रिजीय (रेडि-यल), अर्थात् एक केंद्र से बाहर जाती हुई रश्मियो की तरह, रखे जा सकते हैं (जैसे वायुयान के अधिकाश इजनो मे), अथवा वे दो या अधिक समतलो में रह सकते है, जैसे वी-जाति के (V) इजनो मे।

अन्य लक्षण भी हैं जो विविध इजनो मे विभिन्न होते है और जिनकी आवश्यकता इजन के वर्णन मे पडती है। उदाहरणत, वेगनियत्रण की रीति, दहनकोष्ठ मे ईंधन प्रविष्ट करने की रीति, दहनकोष्ठ का विशिष्ट आकार, वाल्वो का स्थान, इत्यादि।

सामर्थ्य और कर्म के एकक—जिस दर से ऊर्जा कर्म मे रूपातरित होती है उसे सामर्थ्य कहते है, यह समय के एक एकक मे कर्म की मात्रा है। वह कर्म जो आगे पीछे चलनेवाले पिस्टन युक्त इजन के पिस्टन पर किया जाता है, निर्दिष्ट कर्म (इडिकेटेड वर्क) कहलाता है और निर्दिष्ट कर्म के अनुसार गणना किया हुआ सामर्थ्य निर्दिष्ट अश्व-सामर्थ्य (इडिकेटेड हॉर्स-पावर) कहलाता है। इजन की धुरी तक जितना कर्म पहुँचता है वह धुरी-कर्म (शैफ्ट वर्क) अथवा ब्रेक-कर्म (ब्रेक वर्क) कहलाता है और इस कर्म के अनुसार उत्पन्न सामर्थ्य को ब्रेक-अश्वसामर्थ्य (ब्रेक हॉर्स-पावर) कहते हैं। सामर्थ्य के लिये इस देश मे प्रचलित एकक अश्व-सामर्थ्य (सक्षेप मे असा, अग्रेजी मे एच०पी०) और किलोवाट (सक्षेप मे किल्वा, के०डब्ल्यू०) हैं। परिभाषा और ऊर्जा तथा समय के एकको के सबध से

१ असा =३३,००० फुट-पाउड/मिनट
=५५० फुट-पाउड/सेकड
=२५४५ बी० टी० यू०/घटा
=४२ ४२ बी० टी० यू०/मिनट।

निश्चित समय तक एक अश्व-सामर्थ्य का उत्पन्न होते रहना कर्म की एक निश्चित मात्रा निरूपित करता है। उदाहरणत १ अश्व-सामर्थ्य का १ मिनट तक काम करना=३३,००० फुट-पाउड। इसी प्रकार, १ असा-घटा=२५४८ वी० टी० यू०। असा-मिनट और विशेषकर असा-घटा वहुधा कर्म अथवा ऊर्जा नापने के लिये सुविधाजनक एकक होते है। एक किलोवाट पर्याप्त सूक्ष्मतापूर्वक १ ३४१ अश्व-सामर्थ्य के बराबर माना जा सकता है, अथवा १ अश्व-सामर्थ्य=० ७४६ किलोवाट। इसलिये

१ किल्वा=३४१३ वी० टी० यू० प्रति घटा
और १ किल्वा-घटा=३४१३ वी० टी० यू०।

उदाहरणत, ओटो-चक्र से उत्पन्न सामर्थ्य नापने के लिये हमे यह ज्ञात होना चाहिए कि प्रति मिनट (अथवा अन्य किसी समय-एकक में) कितने शक्ति-घात होते हैं। मान ले प्रत्येक मिनट मे **स** शक्ति-घात पूरे होते हैं (और यह आवश्यक नही हैं कि यह सख्या इजन के चक्कर प्रति मिनट के वरावर हो)। फिर, मान लें, प्रत्येक घात मे **म** फुट-पाउड कर्म होता है। तब कर्म प्रति मिनट **स म** फुट-पाउड प्रति मिनट है और

अश्व-सामर्थ्य=**स म**/३३,०००।

निर्धारित सामर्थ्य—किसी अतर्दह-इजन से कितना सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है इसे निर्धारित करने के लिये कई आधार लिए जा सकते हैं। मोटरकार-इजन वनानेवाले अपने विज्ञापनो मे अपने इजन का महत्तम सामर्थ्य बताते हैं, जो तव प्राप्त होता है जब समस्त परिस्थितियाँ महत्तम रूप से अनुकूल होती है। परतु औद्योगिक इजन का निर्माता अपने इजनो का सामर्थ्य साधारणत लगभग महत्तम उष्मीय दक्षता पर उत्पन्न होनेवाले सामर्थ्य के अनुसार निर्धारित करता है। औद्योगिक इजनो का सामर्थ्य इसी प्रकार निर्धारित करना उत्तम भी है। कारण यह है कि यदि इजन निर्धारित सामर्थ्य पर चलाए जायँगे तो ईंधन का खर्च न्यूनतम होगा और फिर आवश्यकता होने पर कुछ समय तक वे अधिक सामर्थ्य पर भी काम कर सकेंगे।

कर (टैक्स) लगाने के लिये सरकार यह मानकर गणना करती है कि पिस्टन पर प्रति वर्ग इच ६७ २ पाउड औसत कार्यकारी दाव (एम० इ० पी०) है, पिस्टन का वेग १००० फुट प्रति मिनट है और इजन चतुर्घात-चक्र पर चलता है। इन कल्पनाओ के आधार पर अश्व-सामर्थ्य का सनिकट मान निम्नाकित सूत्र से निकाला जा सकता है

अश्व-सामर्थ्य=**स**×**व्या**^{2}/२ ५,

जहाँ **स** सिलिडरों की सख्या है, और **व्या** सिलिडर का व्यास इचो में है। ध्यान देने योग्य बात है कि इजन-निर्माता ऐसे इजन बनाने मे सफल हुए है जिनका वास्तविक सामर्थ्य सरकारी कर के लिये परिकलित सामर्थ्य के दुगुने से भी अधिक होता है।

सुपरचार्जर—प्रत्येक अतर्दह इजन मे प्राप्त सामर्थ्य इसपर निर्भर रहता है कि पिस्टन की एक दौड में जितना ईंधन-वायु-मिश्रण सिलिडर मे प्रविष्ट होता है उसकी तौल क्या है। इसलिये जिन कारणो से यह तौल घटेगी उनसे इजन का सामर्थ्य घटेगा। वास्तविक इजन मे ईंधन-वायु-मिश्रण को घटाने बढानेवाले पत्र से, जिसे प्ररोध (थ्रॉटल) कहते हैं, तथा अतर्ग्रहण और निष्कास-वाल्वो से मिश्रण की गति मे कुछ बाधा पडती है। इसलिये मिश्रण को चूसते समय सिलिडर मे दाब वायुमडलीय दाब से कम ही रह जाती है। फलत उतना मिश्रण नही घुस पाता जितना सैद्धातिक गणना मे माना जाता है। सैद्धातिक गणना में तो मान लिया जाता है कि सिलिडर के भीतर मिश्रण की दाब वायुमडलीय दाब के बराबर है। फिर, सिलिडर का भीतरी पृष्ठ, तथा मिश्रण-मार्ग अपेक्षाकृत तप्त रहते है। इसलिये सिलिडर मे पहुँचने पर ईंधन-मिश्रण गरम हो जाता है। आयतन-ताप-दाब नियम के अनुसार ताप बढने के कारण सिलिडर में मिश्रण की तौल उस तौल की अपेक्षा कम होती है जो ठढे रहने पर होती। फिर, वास्त-विक इजन मे सिलिडर के छूट-स्थान (क्लियरैंस स्पेस) मे, निष्कास-घात के पूर्ण हो जाने पर भी, गैसे आदि वायुमडलीय दाब से अधिक दाव पर रह जाती है और चूषण घात के आरभ मे वे सिलिडर मे फैल जाती हैं। इनकी दाब वायुमडलीय दाव के बराबर हो जाने के बाद ही चूषण का आरभ होता है। इससे भी सिद्धातानुसार निकली मात्रा से कम ही मिश्रण सिलिडर मे प्रवेश करता है। अत मे, इजन समुद्रतल से जितनी ही अधिक ऊँचाई पर काम करेगा वहाँ वायुमडलीय दाव उतनी ही कम होगी। इसलिये तौल के अनुसार जितना मिश्रण सिलिडर मे समुद्रतल पर प्रविष्ट हो

सकेगा उससे कम ही मिश्रण ऊँचे स्थलो मे प्रविष्ट हो पाएगा। ग्रायतनीय दक्षता $द_{\text{ग्रा}}$ के लिये निम्नलिखित सूत्र है

$$द_{\text{ग्रा}} = \frac{\text{सिलिडर मे वस्तुत प्रविष्ट मिश्रण का भार}}{\text{पिस्टन की दौड के ग्रनुसार } दा_{\text{वा}} \text{ ग्रौर } ता_{\text{वा}} \text{ पर प्रविष्ट मिश्रण का भार}}$$

जहाँ $दा_{\text{वा}}$ ग्रौर $ता_{\text{वा}}$ क्रमानुसार वायुमडलीय दाव ग्रौर ताप है।

ग्रतर्दह इजन की ग्रायतनीय दक्षता केवल ऊँचाई वढने पर ही नही घटती, वह इजन की चाल (स्पीड) वढने पर भी घटती है। इसलिये दौड-प्रतियोगिता में प्रयुक्त इजनो ग्रौर ग्रधिक ऊँचाई पर काम करनेवाले इजनो में वहुधा सुपरचार्जर लगा दिया जाता है। इस यत्र मे एक छोटा सा सेंट्रीफ़ुगल पखा (ब्लोग्रर) रहता है जो ईधन-वायु-मिश्रण को सिलिडर में वायुमडलीय दाव से कुछ ग्रधिक दाव पर ठूँस देता है। सुपरचार्जर लगाने से ग्रायतनीय दक्षता वढ जाती है, यहाँ तक कि यह १ से ग्रधिक भी हो जा सकती है।

सपीडन-ग्रनुपात ग्रौर ओटो-इंजनों में ग्रधिस्फोटन—ग्रोटो-चक्र के विश्लेषण मे यह दिखाया जा चुका है कि सपीडन-ग्रनुपात वढाने से दक्षता वढती है। वास्तविक इजनो मे भी यही प्रवृत्ति दिखाई पडती है। ग्रोटो-चक्र के ग्रनुसार काम करनेवाले इजनो में चूषण-घात मे वायु के साथ ही ईंधन भी घुसता है ग्रौर इसलिये सपीडन-घात मे भी वह वर्तमान रहता है। जव सपीडन-ग्रनुपात वहुत वडा रखा जाता है तो सपीडन के एक नियत मात्रा से ग्रधिक होते ही ईधन-मिश्रण मे ग्रधिस्फोट होता है, ग्रर्थात् ईधन स्वय, विना स्पार्क प्लग से चिनगारी ग्राए, जल उठता है। फिर, यदि ऐसा न भी हुग्रा, तो स्पार्क-प्लग की चिनगारी से जलना ग्रारभ होने पर सपीडन-लहरे उठती है, जो चिनगारी के पास जलते हुए मिश्रण के ग्रागे ग्रागे चलती हैं। इन सपीडन-लहरो के कारण चिनगारी से दूर का मिश्रण स्वय जल उठ सकता है, जो ग्रवाछनीय है। फिर, सिलिडर मे कही पेट्रोल ग्रादि के जले ग्रवशेष के दहकते रहने से, ग्रथवा पिस्टन के भीतर बढे किसी ग्रवयव की तप्त नोक से भी ईंधन-मिश्रण समय के पहले जल सकता है। जव कभी सपीडित मिश्रण समय से पहले जल उठता है तो उसका यह जलना ग्रधिस्फोटक (डिटोनेटिग) होता है। यह कान से सुनाई पडता है—जान पडता हे कि किसी धातु को हथौडे से ठोका जा रहा है। शीघ्रतापूर्वक जलने-वाले ईधनो मे ग्रधिस्फोट की ग्राशका ग्रधिक रहती हे। पिछली कुछ दशाव्दियो मे कई नवीन खोजे हुई हैं, जिनसे विना ग्रधिस्फोट हुए सपीडन-ग्रनुपात ग्रधिक वडा रखा जा सकता है। उदाहरणत, (१) ऐसे ईधन वनाए गए है जो ग्रधिक धीरे धीरे जलते है, जसे वेजोल ग्रौर पेट्रोल के मिश्रण, पॉलीमेराइज किया हुग्रा पेट्रोल ग्रौर ऐसा पेट्रोल जिसमे थोडी मात्रा में टेट्रा-एथिल-लेड मिला रहता है, (२) दहन-कक्ष के उस भाग को जो पिस्टन के ऊपर रहता है, ऐसा नवीन रूप दिया गया है कि ग्रधिस्फोट कम हो, (३) दहन-कक्ष से उष्मा के निकलने का वेग वढा दिया गया है। यह काम इजन के माथे को पहले से पतला ग्रौर ग्रधिक दृढ धातुग्रो का (जैसे ऐल्युमिनियम की सकर धातु या काँसे का) वनाया गया है, जो उष्मा के ग्रधिक ग्रच्छे चालक (कडक्टर) हैं। साथ ही पिस्टन भी ऐसे पदार्थो का वनता हे जो उष्मा के ग्रच्छे चालक होते है, (४) दहन-कक्ष के भीतरी भाग को ग्रधिक चिकना वनाया जाता है, जिससे कोई ऐसे दाने नही रहने पाते जो तप्त होकर लाल हो जायँ ग्रौर ईधन-मिश्रण का जलना ग्रारभ कर दें, तथा दहनकक्ष के ग्रासपास के भागो को (जैसे स्पार्क प्लग, वाल्व-मुड ग्रादि को) ग्रधिक ठढा रखने का प्रवध किया गया है। सन् १९२०-२५ के लगभग मोटरकार के इजनो मे सपीडन-ग्रनुपात लगभग ४ ५ रहता था, कभी कभी तो यह ३ ५ ही रहता था। वर्तमान समय मे यह ग्रनुपात ६ ५ या कुछ ग्रधिक रहता है, कुछ इजनो में तो यह ग्रनुपात ७ ५ तक होता हे।

काँसे (ब्रॉन्ज) के माथे वनाने से सपीडन-ग्रनुपात के वहुत ग्रधिक रहने पर भी इजन विना ग्रधिस्फोट के चलते है, इसका कारण यह है कि काँसा उष्मा का वहुत ग्रच्छा चालक हे। इसलिये उष्मा सिलिडर से शीघ्रता से दूर होती रहती है। परतु, वहुत शीघ्रता से उष्मा का दूर होना भी ग्रवगुण है, क्योंकि इससे ग्रधिक सपीडन के उद्देश्य की पूर्ति नही हो पाती। हमारा उद्देश्य सदा यह रहता है कि उष्मीय दक्षता वढे। परतु कुछ इजनो में इतनी उष्मा इधर उधर चली जाती हे कि उष्मीय दक्षता वढने के वदले घट जाती है। ऐल्युमिनियम के माथे में भी कभी कभी यही दोप देखा जाता हे।

ग्रतर्दह इजनों की त्वरा—इजनो की त्वरा (चाल, स्पीड) साधारणत चक्कर प्रति मिनट (च० प्र० मि०, ग्रार० पी० एम०, रेवोल्यूशस पर मिनट) मे वताई जाती है। मद-गति, मध्यम-गति, तीव्र-गति इजनो का उल्लेख किया तो जाता है परतु यह निर्धारित नही है कि कितने चक्कर प्रति मिनट रहने पर इजन को इनमे से किस विशेष वर्ग मे रखा जाय। इसके ग्रतिरिक्त तीव्र-गति वाष्प-इजन मे जितने चक्कर प्रति मिनट होते है, वे ग्रत्यत मद-गति ग्रतर्दह इजन के चक्कर प्रति मिनट के वरावर होते हैं। ग्रौद्योगिक मोटरकार इजनो मे प्रति मिनट ४००० या कुछ ग्रधिक चक्कर का वेग रहता है, परतु दौड की प्रतियोगिता के लिये वने इजनो मे चक्कर प्रति मिनट ६००० के ग्रासपास होते हैं। वे डीजल इजन जिनमे चक्कर प्रति मिनट लगभग १००० होते हैं तीव्र-गति डीजल कहलाते हैं। वडी नाप के सिलिडरवाले इजन छोटे सिलिडरोवाले इजनो की ग्रपेक्षा मद गति से चलते हैं, क्योकि वडे पिस्टन भारी होते हैं ग्रौर उनके चलन की दिशा वदलते समय इतना झटका लगता है कि उसे सँभालना कठिन होता है।

पिस्टन का वेग उसका ग्रौसत वेग होता हे ग्रौर उसकी गणना निम्नाकित सूत्र से होती है

पिस्टन का ग्रौसत वेग = २ × पिस्टन की दौड × चक्कर प्रति मिनट।

पिस्टन का वेग भी इजनो की गति की सीमा निर्धारित करता है, क्योकि पिस्टन का वेग वहुत वढाने से इजन घिसकर शीघ्र नष्ट हो जाता है। मोटरकार के इजनो मे पिस्टन-वेग ग्रव २,८०० फुट प्रति मिनट या इससे भी कुछ ग्रधिक रखा जाता है। डीजल इजनो मे पिस्टन का ग्रौसत वेग १,००० ग्रौर १,२०० फुट प्रति मिनट के वीच रहता है।

इजन की नाप—इजनो की नाप सिलिडर के व्यास ग्रौर पिस्टन की दौड से वताई जाती है। उदाहरणत, १२ × १८ इच के इजन का ग्रर्थ यह है कि सिलिडर का व्यास १२ इच है ग्रौर पिस्टन की दौड १८ इच हे।

ग्राधुनिक मोटरकार इजनो मे ग्रपने उसी नाप के वीस तीस वर्ष पहले के पूर्वजो की ग्रपेक्षा कही ग्रधिक सामर्थ्य रहता है। सामर्थ्य निम्नलिखित कारणो से वढा है (१) वाल्वो का ग्रधिक ऊँचाई तक उठना ग्रौर ग्रतर्ग्रहण छिद्र का वडा होना, जिससे ईधन-मिश्रण के ग्राने मे कम द्रव-घर्षण उत्पन्न होता है ग्रौर इसलिये सिलिडर मे घुसनेवाले मिश्रण की तौल ग्रधिक होती है, (२) निष्कासक-वाल्व का कुछ शीघ्र खुल जाना, जिससे पिस्टन पर उल्टी दाव नही पडती ग्रौर ऋण कर्म नही करना पडता, (३) निष्कासक वाल्व का कुछ देर मे वद होना, जिसके कारण जली गैसो को वाहर निकलने के लिये पर्याप्त समय मिल जाता है ग्रौर वे ग्रपने ही झोके से सिलिडर से लगभग पूर्णत निकल जाती है, (४) ग्रतर्ग्रहण-वाल्व का कुछ वाद मे वद होना, जिससे सपीडन-घात के पश्चात् पिस्टन के चल पडने पर भी ग्रानेवाला ईधन-मिश्रण ग्रपनी झोक (इर्नाशया) से ग्राता रहता है ग्रौर इस प्रकार तीव्र-गति इजनो मे पहले की ग्रपेक्षा ग्रव ग्रधिक मिश्रण सिलिडरो मे घुस पाता है, (५) ग्रधिक ग्रच्छी ग्रतर्ग्रहण नलिकाएँ, जिनसे विविध सिलिडरो मे ग्रधिक वरावरी से ईधन-मिश्रण पहुँचता है ग्रौर पहले की ग्रपेक्षा प्रत्येक सिलिडर मे ग्रधिक मिश्रण पहुँचता है, (६) चल भागो का वढिया ग्रासजन (फिट) ग्रौर ग्रधिक ग्रच्छी यात्रिक रचना, जिससे घर्षण ग्रौर घरघराहट दोनो मे कमी होती है, (७) ग्रधिक तीव्रगति इजन, जिसका वनना ग्रधिक शुद्ध निर्माण ग्रौर चल भागो के ग्रधिक उत्तम सतुलन से सभव हो सका है।

ओटो-इजनों में वायु-ईंधन-मिश्रण—सिद्धातत, एक पाउड पेट्रोल को पूर्णतया जलाने के लिये कम से कम लगभग १५ पाउड हवा चाहिए। परतु यदि ठीक १५ पाउड ही हवा दी जाय तो सव पेट्रोल जल नही पाता ग्रौर कुछ पेट्रोल कच्चा ही या ग्रधजले रूप मे इजन के वाहर निकल जाता है। पूर्ण दहन के लिये ग्रधिक वायु की ग्रावश्यकता होती है। प्रयोगो से देखा गया है कि सिद्धातानुसार ग्रावश्यक मात्रा से ग्रधिक मात्रा में वायु देने पर एक सीमा तक दक्षता वढती है, फिर घटने लगती है। साधारणत प्रत्येक जाति के पेट्रोल इजन मे एक पाउड पेट्रोल के लिये १६ से १९ पाउड तक वायु देने पर महत्तम दक्षता ग्राती है। जव वायु-ईधन-ग्रनुपात १९ से वढता है तो दक्षता शीघ्रता से घटती है ग्रौर इजन का सामर्थ्य घटता हे। दूसरे शब्दो मे, ग्रव मिश्रण वहुत पतला हो गया है। यदि मिश्रण को ग्रौर पतला किया जाय तो मिश्रण जल ही नही पाता। दूसरी ग्रोर, १५ १ से

अधिक समृद्ध मिश्रण से अधिक सामर्थ्य प्राप्त होता है। महत्तम सामर्थ्य पेट्रोल में १२ या १३ गुनी वायु मिलाने पर प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि मोटरकार के कारब्युरेटर को महत्तम दक्षता और महत्तम सामर्थ्य के लिये समजित करना दो विभिन्न बाते है। इसके अतिरिक्त, रुकी गाडी में इजन के मद गति से और बिना झटका खाए चलने के लिये मिश्रण को पर्याप्त समृद्ध होना चाहिए। इसके दो कारण है (१) मदगति से चलने के लिये पेट्रोल और वायु दोनो को बहुत कुछ रोक दिया जाता है, परतु पिस्टन पहले के ही समान चूसने की चेष्टा करता रहता है। इसलिये अतर्ग्रहण तत्र में लगभग १७ इच पारे का शून्य रहता है, अत सूक्ष्म सधियो द्वारा वायु खिंच आती है, जिससे मिश्रण क्षीण हो जाता है, और

चित्र १३ सरल कारब्युरेटर

कारब्युरेटर का काम है पेट्रोल को झीसी के रूप मे बदलना और वायु मे उचित मात्रा में इस झीसी को मिलाना, १ बाहु, जो अधिक पेट्रोल आने पर पेट्रोल में तैरती हुई डिब्बी के उठने से पेट्रोल के आने का मार्ग बद कर देती है, २ कारब्युरेटर मे पेट्रोल आने का मार्ग, ३ इजन में पेट्रोल जाने के मार्ग को न्यूनाधिक खोलने का पेच, ४ वायु आने का द्वार, ५ अतिरिक्त वायु आने का मार्ग, ६ इजन मे पेट्रोल-वायु-मिश्रण घुसने का मार्ग, ७ थ्रॉटल-पट्ट (इसी के न्यूनाधिक घूमने से इजन मे न्यूनाधिक मात्रा मे पेट्रोल मिश्रण घुसता है और इजन की चाल बदलती है), ८ तुड (नॉजल), ९ कारब्युरेटर का उदर (इसी मे पेट्रोल नियत्रित मात्रा मे पहले पहल आता है)।
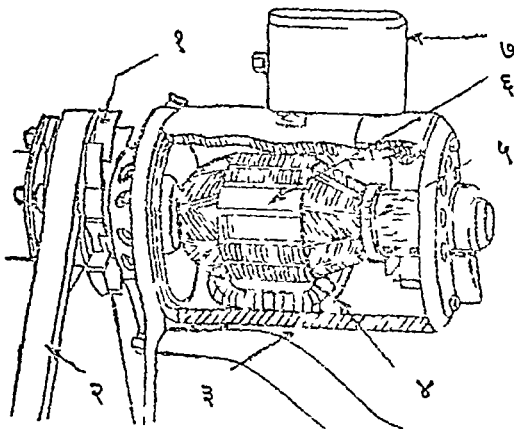
चित्र १४ विद्युज्जनक (जेनरेटर)

१ विद्युज्जनक को ठढा रखने के लिये वायु खीचनेवाली पखी, २ पट्टा (बेल्ट), ३ विद्युज्जनक की बाहरी खोल (केसिंग), ४ क्षेत्र कुडली (फील्ड कॉयल), ५ कॉम्यूटेटर, ६ आरमेचर, ७ वोल्टता नियत्रक।

(२) वायु-ईंधन-मिश्रण इतनी कम मात्रा मे आता है कि वह जली गैसो के अवशेष से, जो सिलिडर में कुछ न कुछ रह ही जाता है, अपेक्षाकृत बहुत क्षीण हो जाता है।

कारब्युरेटर—पेट्रोल आदि उडनशील ईंधनवाले इजनो में एक कारब्युरेटर रहता है, जिसका कार्य यह है कि यथासभव प्रत्येक वेग पर और प्रत्येक भार (लोड) पर वायु और ईंधन का उचित मिश्रण दे। एक से अधिक सिलिडरवाले इजनो मे यह आवश्यक है कि कारब्युरेटर ईंधन को अत्यत महीन झीसी (फुहार) के रूप में कर दे और इसे यत्र में से होकर जानेवाली वायु में खूब अच्छी तरह मिला दे, क्योकि यदि बहुमुखी नली (मैनीफोल्ड) मे किसी मुख पर पहुँचने के पहले ही ईंधन-वायु-मिश्रण
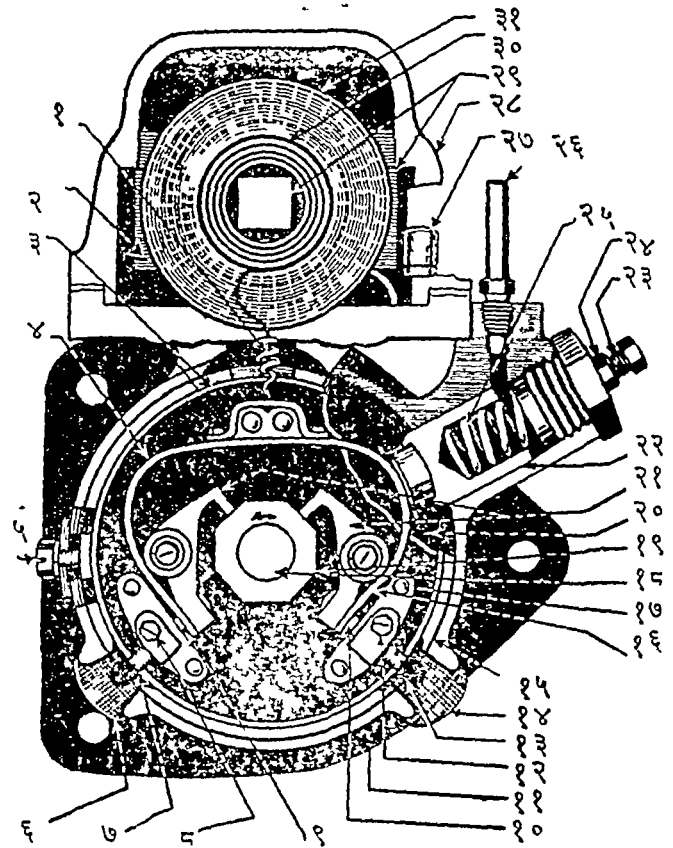
चित्र १५ वितरक (डिस्ट्रिब्यूटर)

वितरक का कार्य है उचित समयो पर विद्युद्धारा को काट देना। इससे स्पार्क-प्लगो मे बारी बारी से चिनगारी उत्पन्न होती है। १ प्राथमिक कुडली (प्राइमरी) का सस्पर्श (कॉनटैक्ट), २ उच्च वोल्टतावाले बुरुश से सबद्ध सिरा, ३ स्थिरकारी छल्ला (लॉकिंग रिंग), ४ धारा तोडक बाहु की कमानी, ५ चिनगारी का समय बदलनेवाला पेच, ६ रबड की डाट, ७ तोडक विंदुओ के बीच अतर घटाने-बढानेवाला पेच, ८ पूर्वोक्त पेच को स्थिर करने का पेच (लॉक स्क्रू), ९ धारातोडक विंदु (ब्रेकर प्वाइट्स), १० धारातोडक विंदु, ११ वितरक-उदर, १२ अग्रोक्त पेच को स्थिर करने का पेच, १३ तोडक विंदुओ के बीच अतर घटाने-बढानेवाला पेच, १४ रबड की डाट, १५ चिनगारी का समय बदलनेवाले पेच का घर, १६ तोडक बाहु से सबद्ध विद्युत्-चालक, १७ तोडक पट्ट (ब्रेकर प्लेट), १८ वितरक-धुरी, १९ कैम, २० नियत्रक पट्ट (गवर्नर प्लेट), २१ तोडक बाहु, २२ वैक्युअम-ब्रेक का पिस्टन, २३ वैक्युअम-ब्रेक-नियत्रक पेच, २४ स्थिरकारी ढिबरी, २५ वैक्युअम ब्रेक की कमानी, २६ अतर्ग्राही बहुमुखी (इनटेक मैनीफोल्ड) को जानेवाली वैक्युअम नली, २७ सिरे की ढिबरी (टर्मिनल नट), २८ ज्वालक कुडली (इगनिशन कॉयल), २९ कुडली का हीर (कोर), ३० प्राथमिक लपेटे (तार), ३१ द्वैतीयिक लपेटे।

जिनमें प्राथमिक और परवर्ती तार लिपटे रहते हैं (चित्र १५) और प्रत्येक सिलिंडर के लिये एक स्पार्क प्लग (चित्र १६)।

उपसंहार—डीजल इजनो के व्योरे अन्यत्र मिलेगे (देखें डीजल इजन)। उन उद्योगों में जहाँ इजन की आवश्यकता केवल विशेष ऋतुओं में पडती है, जैसे कपास ओटने, आटा पीसने, ईख पेरने, वर्फ बनाने आदि के लिये, अन्तर्दह इजन विशेष उपयोगी होते हैं, क्योकि जब ये इजन बद रहते है तब
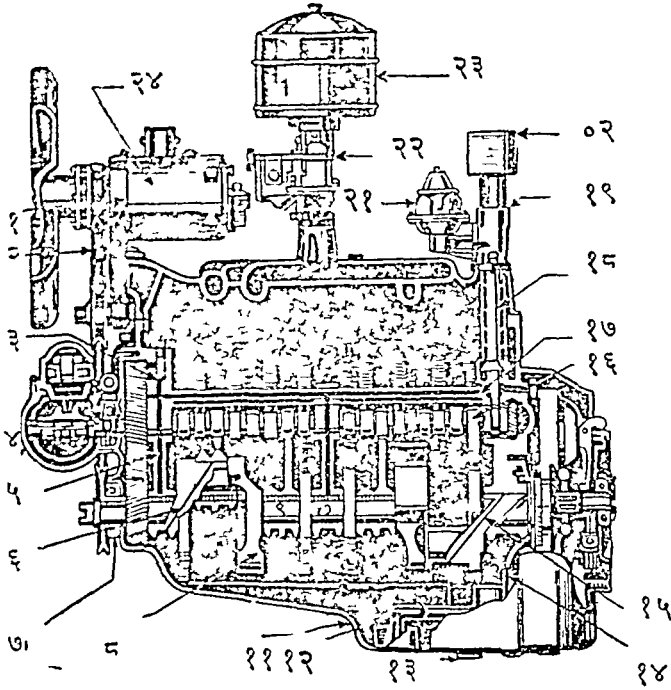
चित्र १८. फोर्ड वी-एट इंजन की अनुदैर्घ्य काट

१ विद्युज्जनक (जेनरेटर) का आधार, २ पखा चलानेवाला पट्टा (वेल्ट), ३ तैल दाव के अधिक होने पर खुलनेवाला वाल्व, ४ वितरक, ५ प्रधान धुरी तक तेल पहुँचानेवाला मार्ग, ६ सवद्धक दड तक तेल पहुँचानेवाला मार्ग, ७ पैकिंग, ८ क्रैंक धुरी, ९-१० तेल, ११ तेल का कडाहा, १२ तेल चूसनेवाली नली, १३ गदा तेल निकालने की डाट, १४ तेल का पप, १५ तेल का मार्ग, १६ कैमधुरी, १७ प्रधान धुरी, १८ श्वास-नलिका, १९ तेल का छनना, २० वायु-आवागमन-मुख, २१ पेट्रोल पप, २२ कारव्युरेटर, २३ वायु-स्वच्छकारी, २४ विद्युज्जनक (जेनरेटर)।

उनकी देखभाल पर बहुत कम व्यय होता है। इसी कारण वाष्प-इजनो से चलनेवाले कारखानो में बहुधा फालतू इजन डीजल इजन होते हैं। इनका प्रयोग तब होता है जब वाष्प इजन कभी विगड जाता है। अन्तर्दह इजन बहुत शीघ्र चालू किए जा सकते हैं और शीघ्र ही अपने पूरे सामर्थ्य से काम करने लगते हैं। वाष्प-इजनो मे ये गुण नही होते।

स०ग्र०—डी० आर० पाई दि इटर्नल कवश्चन एजिन (१९३१), एच० आर० रिकर्डस दि इटर्नल कवश्चन एजिन (१९२३)।

[न० ला० गु०]

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय

सयुक्त राष्ट्रसघ का न्याय सवधी प्रमुख अग है जिसकी स्थापना सयुक्त राष्ट्रसघ के घोषणापत्र के अतर्गत हुई है। इसका उद्घाटन-अधिवेशन १८ अप्रल, १९४६ ई० को हुआ था। इसके निमित्त एक विशेष सविधि–'स्टैच्यूट ऑव इटरनेशनल कोर्ट ऑव जस्टिस'–बनाई गई और इस न्यायालय का कार्यसचालन उसी सविधि के नियमो के अनुसार होता है।

इतिहास—स्थायी अतर्राष्ट्रीय न्यायालय की कल्पना उतनी ही सनातन है जितनी अतर्राष्ट्रीय विधि, परतु कल्पना के फलीभूत होने का काल वर्तमान शताब्दी से अधिक प्राचीन नही है। सन् १८९९ ई० मे, हेग में, प्रथम शातिसमेलन हुआ और उसके प्रयत्नो के फलस्वरूप स्थायी विवाचन न्यायालय की स्थापना हुई। सन् १९०७ ई० मे द्वितीय शातिसमेलन हुआ और अतर्राष्ट्रीय पुरस्कार न्यायालय (इटरनेशनल प्राइज कोर्ट) का सृजन हुआ जिससे अतर्राष्ट्रीय न्यायप्रशासन की कार्यप्रणाली तथा गतिविधि में विशेष प्रगति हुई। तदुपरात ३० जनवरी, १९२२ ई० को लीग ऑव नेशस के अभिसमय के अतर्गत अतर्राष्ट्रीय न्यायालय का विधिवत् उद्घाटन हुआ जिसका कार्यकाल राष्ट्रसघ (लीग ऑव नेशस्) के जीवनकाल तक रहा। अत मे वर्तमान अतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना सयुक्त राष्ट्रसघ की अतर्राष्ट्रीय न्यायालय-सविधि के अतर्गत हुई।

साधारण—अतर्राष्ट्रीय न्यायालय मे न्यायाधीशो की कुल सख्या पद्रह है, गणपूर्ति सख्या नौ है। न्यायाधीशो की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा होती हैं। पद धारण करने की कालावधि नौ वर्ष है। *न्यायालय* द्वारा सभापति तथा उपसभापति का निर्वाचन और रजिस्ट्रार की नियुक्ति होती है। न्यायालय का स्थान हेग मे है और इसका अधिवेशन छुट्टियो को छोड सदा चालू रहता है। न्यायालय के प्रशासनव्यय का भार सयुक्त राष्ट्रसघ पर है। (देखिए, अतर्राष्ट्रीय न्यायालयसविधि–अनुच्छेद २—३३)।

क्षेत्राधिकार—अतर्राष्ट्रीय न्यायालयसविधि मे समिलित समस्त राज्य अतर्राष्ट्रीय न्यायालय मे वाद प्रस्तुत कर सकते है। इसका क्षेत्राधिकार सयुक्त राष्ट्रसघ के घोषणापत्र अथवा विभिन्न सधियो *तथा अभिसमयों में परिगणित समस्त मामलो पर है।* अतर्राष्ट्रीय न्यायालयसविधि मे समिलित कोई राज्य किसी भी समय विना किसी विशेष प्रसविदा के किसी ऐसे अन्य राज्य के सवध मे, जो इसके लिये सहमत हो, यह घोषित कर सकता है कि वह *न्यायालय* के क्षेत्राधिकार को अनिवार्य रूप मे स्वीकार करता है। उसके क्षेत्राधिकार का विस्तार उन समस्त विवादो पर है जिनका सवध सधिनिर्वचन, अतर्राष्ट्रीय-विधि-प्रश्न, अतर्राष्ट्रीय आभार का उल्लघन तथा उसकी क्षतिपूर्ति के प्रकार एव सीमा से है। (अतर्राष्ट्रीय न्यायालयसविधि, अनुच्छेद ३४—३८)।

अतर्राष्ट्रीय न्यायालय को परामर्श देने का क्षेत्राधिकार भी प्राप्त है। वह किसी ऐसे पक्ष की प्रार्थना पर, जो इसका अधिकारी है, किसी भी विधिक प्रश्न पर अपनी समति दे सकता है। (अतर्राष्ट्रीय न्यायालय-सविधि, अनुच्छेद ६५—६८)।

प्रक्रिया—अतर्राष्ट्रीय न्यायालय की प्राधिकृत भाषाएँ फ्रेंच तथा अग्रेजी है। विभिन्न पक्षो का प्रतिनिधित्व अभिकर्ता द्वारा होता है, वकीलो की भी सहायता ली जा सकती है। न्यायालय मे मामलो की सुनवाई सार्वजनिक रूप से तव तक होती है जब तक न्यायालय का आदेश अन्यथा न हो। सभी प्रश्नो का निर्णय न्यायाधीशो के बहुमत से होता है। सभापति को निर्णायक मत देने का अधिकार है। न्यायालय का निर्णय अतिम होता है, उससे अपील नही हो सकती किंतु कुछ मामलो मे पुनर्विचार हो सकता है। (अतर्राष्ट्रीय *न्यायालयसविधि*, अनुच्छेद ३९—६४)।

स०ग्र०—जे० डब्ल्यू० गारनर टैगोर लॉ लेक्चर्स, के० आर० आर० शास्त्री स्टडीज इन इटरनेशनल लॉ, स्टैच्यूट ऑव इटरनेशनल कोर्ट ऑव जस्टिस।

[श्री० अ०]

अंतर्राष्ट्रीय विधि, निजी

परिभाषा—निजी अतर्राष्ट्रीय कानून से तात्पर्य उन नियमो से है जो किसी राज्य द्वारा ऐसे वादो का निर्णय करने के लिये चुने जाते हैं जिनमे कोई विदेशी तत्व होता है। इन नियमो का प्रयोग इस प्रकार के वादविषयो के निर्णय में होता है जिनका प्रभाव किसी ऐसे तथ्य, घटना अथवा सव्यवहार पर पडता है जो किसी अन्यदेशीय विधिप्रणाली से इस प्रकार सवद्ध है कि उस प्रणाली का अवलवन आवश्यक हो जाता है।

अतर्राष्ट्रीय कानून, निजी एव सार्वजनिक—"निजी अतर्राष्ट्रीय कानून" नाम से ऐसा बोध होता है कि यह विषय अतर्राष्ट्रीय कानून की

ही शाखा है। परतु वस्तुत ऐसा है नही। निजी और सार्वजनिक अतर्राष्ट्रीय कानून मे किसी प्रकार की पारस्परिकता नही है।

इतिहास—रोमन साम्राज्य मे वे सभी परिस्थितियाँ विद्यमान थी जिनमें निजी अतर्राष्ट्रीय कानून की आवश्यकता पडती है। परतु पुस्तको से इस बात का पूरा आभास नही मिलता कि रोम-विधि-प्रणाली मे उनका किस प्रकार निर्वाह हुआ। रोम साम्राज्य के पतन के पश्चात् स्वीय विधि (पर्सनल लॉ) का युग आया जो प्राय १०वी शताब्दी के अत तक रहा। तदुपरात पृथक् प्रादेशिक विधिप्रणाली का जन्म हुआ। १३वी शताब्दी मे निजी अतर्राष्ट्रीय कानून को निश्चित रूपरेखा देने के लिये आवश्यक नियम बनाने का भरपूर प्रयत्न इटली मे हुआ। १६वी शताब्दी के फ्रासीसी न्यायज्ञ ने सविधि सिद्धात (स्टैच्यूट-थ्योरी) का प्रतिपादन किया और प्रत्येक विधिनियम में उसका प्रयोग किया। वर्तमान युग में निजी अतर्राष्ट्रीय कानून तीन प्रमुख प्रणालियो मे विभक्त हो गया—(१) सविधि प्रणाली, (२) अतर्राष्ट्रीय प्रणाली, तथा (३) प्रादेशिक प्रणाली।

साधारण—निजी अतर्राष्ट्रीय कानून इस तत्व पर आधारित है कि ससार मे अलग अलग अनेक विधिप्रणालियाँ हैं जो जीवन के विभिन्न विधिसबधो को विनियमित करनेवाले नियमो के विषय मे एक दूसरे से अधिकाशत भिन्न हैं। यद्यपि यह ठीक है कि अपने निजी देश मे प्रत्येक शासक सपूर्ण-प्रभुत्व-सपन्न है और देश के प्रत्येक व्यक्ति तथा वस्तु पर उसका अनन्य क्षेत्राधिकार है, फिर भी सभ्यता के वर्तमान युग मे व्यावहारिक दृष्टि से यह सभव नही है कि अन्यदेशीय कानूनो की अवहेलना की जा सके। बहुधा ऐसे अवसर आते है जब एक क्षेत्राधिकार के न्यायालय को दूसरे देश की न्यायप्रणाली का अवलबन करना अनिवार्य हो जाता है, जिसमें अन्याय न होने पाए तथा निहित अधिकारो की रक्षा हो सके।

अन्यदेशीय कानून तथा विदेशी तत्व—निजी अतर्राष्ट्रीय कानून के प्रयोजन के लिये अन्यदेशीय कानून से तात्पर्य किसी भी ऐसे भौगोलिक क्षेत्र की न्यायप्रणाली से है जिसकी सीमा के बाहर उस क्षेत्र का स्थानीय कानून प्रयोग मे नही लाया जा सकता। यह स्पष्ट है कि अन्यदेशीय कानून की उपेक्षा से न्याय का उद्देश्य अपूर्ण रह जायगा। उदाहरणार्थ, जब किसी देश मे विधि द्वारा प्राप्त अधिकार का विवाद दूसरे देश के न्यायालय मे प्रस्तुत होता है तब वादी को रक्षाप्रदान करने के पूर्व न्यायालय के लिये यह जानना नितात आवश्यक होता है कि अमुक अधिकार किस प्रकार का है। यह तभी जाना जा सकता है जब न्यायालय उस देश की न्यायप्रणाली का परीक्षण करे जिसके अतर्गत वह अधिकार प्राप्त हुआ है।

विवादो मे विदेशी तत्व अनेक रूपो मे प्रकट होते है। कुछ दृष्टात इस प्रकार हैं (१) जब विभिन्न पक्षो मे से कोई पक्ष अन्य राष्ट्र का हो अथवा उसकी नागरिकता विदेशी हो, (२) जब कोई व्यवसायी किसी एक देश मे दिवालिया करार दिया जाय और उसके ऋणदाता अन्यान्य देशो मे हो, (३) जब वाद किसी ऐसी सपत्ति के विषय मे हो जो उस न्यायालय के प्रदेशीय क्षेत्राधिकार मे न होकर अन्यान्य देशो मे स्थित हो।

एकीकरण—निजी अतर्राष्ट्रीय कानून प्रत्येक देश मे अलग अलग होता है। उदाहरणार्थ फ्रास और इँग्लैड के निजी अतर्राष्ट्रीय कानूनो मे अनेक स्थलो पर विरोध मिलता है। इसी प्रकार अग्रेजी और अमरीकी नियम बहुत कुछ समान होते हुए भी अनेक विषयो मे एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। उपर्युक्त बातो के अतिरिक्त विवाह सबधी प्रश्नो मे प्रयोज्य विभिन्न न्यायप्रणालियो के सिद्धातो मे इतनी अधिक विषमता है कि जो स्त्री पुरुष एक प्रदेश में विवाहित समझे जाते है, वही दूसरे प्रदेश मे अविवाहित।

इस विषमता को दो प्रकार से दूर किया जा सकता है। पहला उपाय यह है कि विभिन्न देशो की विधिप्रणालियो मे यथासभव समरूपता स्थापित की जाय, दूसरा यह कि निजी अतर्राष्ट्रीय कानून का एकीकरण हो। इस दिशा मे अनेक प्रयत्न हुए परतु विशेष सफलता नही मिल सकी। सन् १८९३, १८९४, १९०० और १९०४ ई० मे हेग नगर में इसके निमित्त कई समेलन हुए और छह विभिन्न अभिसमयो द्वारा विवाह, विवाहविच्छेद, अभिभावक, निषेध, व्यवहारप्रक्रिया आदि के सबध मे नियम बनाए गए। इसी प्रयोजनपूर्ति के लिये विभिन्न राज्यो मे व्यक्तिगत अभिसमय भी सपादित हुए। निजी अतर्राष्ट्रीय कानून के एकीकरण की दिशा मे अतर्राष्ट्रीय न्यायालय का योग विशेष महत्वपूर्ण है।

सं०ग्र०—चेशायर प्राइवेट इटरनेशनल लॉ, जॉन वेस्टलेक ए ट्रीटीज ग्रान प्राइवेट इटरनेशनल लॉ। [श्री० अ०]

अंतर्राष्ट्रीय विधि, सार्वजनिक

परिभाषा—अतर्राष्ट्रीय कानून उन विधिनियमो का समूह है जो विभिन्न राज्यो के पारस्परिक सबधो के विषय मे प्रयुक्त होते हैं। यह एक विधिप्रणाली है जिसका सबध व्यक्तियो के समाज से न होकर राज्यो के समाज से है।

इतिहास—अतर्राष्ट्रीय कानून (विधि) के उद्भव तथा विकास का इतिहास निश्चित कालसीमाओ मे नही बाँटा जा सकता। प्रोफेसर हालैंड के मतानुसार पुरातन काल मे भी स्वतत्र राज्यो से मान्यताप्राप्त ऐसे नियम थे जो दूतो के विशेषाधिकार, सधि, युद्ध की घोषणा तथा युद्धसचालन से सबध रखते थे (देखिए—"लेक्चर्स ऑन इटरनेशनल लॉ"—हालैड)। प्राचीन भारत में भी ऐसे नियमो का उल्लेख मिलता है (रामायण तथा महाभारत)। यहूदी, यूनानी तथा रोम के लोगो मे भी ऐसे नियमो का होना पाया जाता है। १४वी-१३वी सदी ई० पू० मे खत्ती रानी ने मिस्री फराऊन को दोनो राज्यो मे परस्पर शाति और सौजन्य बनाए रखने के लिये जो पत्र लिखे थे वे अतर्राष्ट्रीय दृष्टि से इतिहास के पहले आदर्श माने जाते हैं। वे पत्र खत्ती और फराऊनी दोनो अभिलेखागारो मे सुरक्षित रखे गए जो आज तक सुरक्षित है। मध्य युग में शायद किसी प्रकार के अतर्राष्ट्रीय कानून की आवश्यकता ही न थी क्योकि समुद्री दस्यु समस्त सागरो पर छाए हुए थे, व्यापार प्राय लुप्त हो चुका था और युद्ध मे किसी प्रकार के नियम का पालन नही होता था। बाद मे जब पुनर्जागरण एव धर्मसुधार का युग आया तब अतर्राष्ट्रीय कानून के विकास मे कुछ प्रगति हुई। कालातर मे मानव सभ्यता के विकास के साथ आचार तथा रीति की परपराएँ बनी जिनके आधार पर अतर्राष्ट्रीय कानून आगे बढा और पनपा। १९वी शताब्दी मे उसकी प्रगति विशेष रूप से विभिन्न राष्ट्रो के मध्य होनेवाली सधियो तथा अभिसमयो द्वारा हुई। सन् १८९९ तथा १९०७ ई० मे हेग में होनेवाले शातिसमेलनो ने अतर्राष्ट्रीय कानून के रूप को मुखरित किया और अतर्राष्ट्रीय विवाचन न्यायालय की स्थापना हुई।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रसघ (लीग ऑव नेशन्स्) ने जन्म लिया। उसके मुख्य उद्देश्य थे शाति तथा सुरक्षा बनाए रखना और अतर्राष्ट्रीय सहयोग मे वृद्धि करना। परतु १९३७ ई० मे जापान तथा इटली ने राष्ट्रसघ के अस्तित्व को भारी धक्का पहुँचाया और अत मे १९ अप्रैल, सन् १९४६ ई० को सघ का अस्तित्व ही मिट गया।

द्वितीय महायुद्ध ने मनुष्यता के नाम पर काला धब्बा लगाया और मानव प्राण शाति तथा सुरक्षा के लिये आकुल हो उठे। द्वितीय महायुद्ध के विजेता राष्ट्र ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका तथा सोवियत रूस का अधिवेशन मास्को नगर में हुआ और एक छोटा सा घोषणापत्र प्रकाशित किया गया। तदनतर अनेक स्थानो मे अधिवेशन होते रहे और एक अतर्राष्ट्रीय सगठन के विषय मे विचारविनिमय होता रहा। सन् १९४५ ई० मे २५ अप्रैल से २६ जून तक, सैन फ्रासिस्को नगर मे एक समेलन हुआ जिसमे पचास राज्यो के प्रतिनिधि समिलित हुए। २६ जून, १९४५ ई० को सयुक्त राष्ट्रसघ तथा अतर्राष्ट्रीय न्यायालय का घोषणापत्र सर्वसमति से स्वीकृत हुआ, जिसके द्वारा निम्नलिखित उद्देश्यो की घोषणा की गई

(१) अतर्राष्ट्रीय शाति एव सुरक्षा बनाए रखना,

(२) राष्ट्रो मे पारस्परिक मैत्री बढाना,

(३) सभी प्रकार की आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक तथा मानवीय अतर्राष्ट्रीय समस्याओ को हल करने में अतर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना,

(४) सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिये विभिन्न राष्ट्रो के कार्यकलापो मे सामजस्य स्थापित करना।

इस प्रकार सयुक्त राष्ट्रसघ और विशेषतया अतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना से अतर्राष्ट्रीय कानून को यथार्थ रूप मे विधि (कानून) का

पद प्राप्त हुआ। सयुक्त राष्ट्रसघ ने अतर्राष्ट्रीय-विधि-आयोग की स्थापना की जिसका प्रमुख कार्य अतर्राष्ट्रीय विधि का विकास करना है।

अतर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण—कानून के संहिताकरण से तात्पर्य है समस्त नियमो को एकत्र करना, उनको एक सूत्र में क्रमानुसार बाधना तथा उनमें सामजस्य स्थापित करना। १८वी तथा १९वी शताब्दी में इस ओर प्रयास किया गया। 'इस्टिट्यूट ऑव इटरनेशनल लॉ' ने भी इसमें समुचित योग दिया। हेग सम्मेलनो ने भी इस कार्य को अपने हाथ में लिया। सन् १९२० ई० में राष्ट्रसघ ने इसके लिये समिति बनाई। इस प्रकार पिछली तीन शताब्दियो में इस कठिन कार्य को पूरा करने का निरतर प्रयास होता रहा। अत में, २१ नवबर, १९४७ ई० को सयुक्त राष्ट्रसघ ने इस कार्य के निमित्त सविधि द्वारा अतर्राष्ट्रीय-विधि-आयोग स्थापित किया।

अतर्राष्ट्रीय विधि के विषय—अतर्राष्ट्रीय कानून का विस्तार असीम तथा इसके विषय निरतर प्रगतिशील हैं। मानव सभ्यता तथा विज्ञान के विकास के साथ इसका भी विकास उत्तरोत्तर हुआ और होता रहेगा। इसके विस्तार को सीमाबद्ध नही किया जा सकता। अतर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख विषय इस प्रकार हैं

(१) राज्यो की मान्यता, उनके मूल अधिकार तथा कर्तव्य, (२) राज्य तथा शासन का उत्तराधिकार, (३) विदेशी राज्यो पर क्षेत्राधिकार तथा राष्ट्रीय सीमाओ के बाहर किए गए अपराधो के सबध में क्षेत्राधिकार, (४) महासागर एव जलप्रागण की सीमाएँ, (५) राष्ट्रीयता तथा विदेशियो के प्रति व्यवहार, (६) शरणागत अधिकार तथा सधि के नियम, (७) राजकीय एव वाणिज्यदूतीय समागम तथा उन्मुक्ति के नियम, (८) राज्यो के उत्तरदायित्व सबधी नियम, तथा (९) विवाचनप्रक्रिया के नियम।

अतर्राष्ट्रीय विधि के आधार—अतर्राष्ट्रीय कानून के नियमो का सूत्रपात विचारको की कल्पना तथा राष्ट्रो के व्यवहारो में हुआ। व्यवहार ने धीरे धीरे प्रथा का रूप धारण किया और फिर वे प्रथाएँ परपराएँ बन गई। अत अतर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य आधार परपराएँ ही है। अन्य आधारो मे प्रथम स्थान विभिन्न राष्ट्रो मे होनेवाली सधियो का है जो परपराओं से किसी भी अर्थ मे कम महत्वपूर्ण नही है। इनके अतिरिक्त राज्यपत्र, प्रदेशीय ससद द्वारा स्वीकृत सविधि तथा प्रदेशीय न्यायालय के निर्णय अतर्राष्ट्रीय कानून की अन्य आधारशिलाएँ हैं। बाद में विभिन्न अभिसमयो ने तथा निर्वाचन न्यायालय, अतर्राष्ट्रीय पुरस्कार न्यायालय एव अतर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयो ने अतर्राष्ट्रीय कानून को उसका वर्तमान रूप दिया।

अतर्राष्ट्रीय विधि के काल्पनिक तत्व—अतर्राष्ट्रीय विधि कतिपय काल्पनिक तत्वो पर आधारित है जिनमें प्रमुख ये हैं

(क) प्रत्येक राज्य का निश्चित राज्यक्षेत्र है और निजी राज्यक्षेत्र में उसको निजी मामलो मे पूर्ण स्वतत्रता प्राप्त है।

(ख) प्रत्येक राज्य को कानूनी समतुल्यता प्राप्त है।

(ग) अतर्राष्ट्रीय विधि के अतर्गत सभी राज्यो का समान दृष्टिकोण है।

(घ) अतर्राष्ट्रीय विधि की मान्यता राज्यो की समति पर निर्भर है और उसके समक्ष सभी राज्य एक समान है।

अतर्राष्ट्रीय विधि का उल्लघन—अतर्राष्ट्रीय विधि की मान्यता सदैव राज्यो की स्वेच्छा पर निर्भर रही है। कोई ऐसी व्यवस्था या शक्ति नही थी जो राज्यो को अतर्राष्ट्रीय नियमो का पालन करने के लिये बाध्य कर सके अथवा नियमभजन के लिये दड दे सके। राष्ट्रसघ की असफलता का प्रमुख कारण यही था। ससार के राजनीतिज्ञ इसके प्रति पूर्णतया सजग थे। अत सयुक्त राष्ट्रसघ के घोषणापत्र मे इस प्रकार की व्यवस्था की गई है कि कालातर में अतर्राष्ट्रीय कानून को राज्यो की ओर से ठीक वैसा ही समान प्राप्त हो जैसा किसी देश की विधिप्रणाली को अपने देश में शासकवर्ग अथवा न्यायालयो मे प्राप्त है। सयुक्त राष्ट्रसघ अपने समस्त सहायक अगो के साथ इस प्रकार का वातावरण उत्पन्न करने मे प्रयत्नशील है। सयुक्त राष्ट्रसघ की सुरक्षा समिति को कार्यपालिका शक्ति भी दी गई है।

स०ग्र०—जे० डब्ल्यू० गारनर टैगोर लॉ लेक्चर्स, १९२२, रॉस ए टेक्स्ट बुक ऑव इटरनेशनल लॉ, डब्ल्यू० ई० हाल इटरनेशनल लॉ, के० आर० आर० शास्त्री स्टडीज इन इटरनेशनल लॉ। [श्री० अ०]

अंतर्राष्ट्रीय विवाचन

जब किन्ही दो राज्यो के विवादग्रस्त मामलो का निपटारा पचनिर्णय द्वारा होता है तब उसको अतर्राष्ट्रीय विवाचन कहते हैं। अतर्राष्ट्रीय विवाद तीन अन्य प्रकार से भी निपटाया जा सकता है—(१) आपसी समझौते से, (२) किसी तीसरे व्यक्ति की सहायता से, तथा (३) मध्यस्थता द्वारा।

इतिहास—प्राचीन यूनान के नगरराज्यो के आपसी सबधो मे मध्यस्थ-निर्णय का विशेष महत्व था। हमे ज्ञात है कि वहाँ सात शताब्दियो के भीतर इस प्रकार अस्सी से अधिक महत्वपूर्ण पचनिर्णय हुए। मध्ययुग मे भी विवाचन के उदाहरण हमें बराबर मिलते हैं। परतु विवाचन का प्रचलन विशेषत १८वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे हुआ। सन् १७९४ ई० मे सयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन के मध्य एक सधि हुई जो "जे" सधि के नाम से प्रसिद्ध हैं। उस समय से शातिपूर्वक निपटारे की भावना निरतर प्रगति करती गई, यद्यपि अनेकानेक बाधाएँ भी आई। सन् १७९४ तथा १९१३ ई० के बीच दो सौ से अधिक पचाट हुए जिनमें सन् १८७२ का "अलबामा" पचाट मुख्यत उल्लेखनीय है।

प्रारभ मे विवाचन पक्षो की इच्छा पर निर्भर करता था। किसी विवादग्रस्त मामले मे विभिन्न पक्षो द्वारा स्वेच्छापूर्वक किए गए प्रसविदा पर ही विवाचन आधारित होता था। बाद मे यह प्रयास हुआ कि विवाचन अनिवार्य कर दिया जाय और प्रसविदा इस प्रकार की हो जिसके अतर्गत विभिन्न पक्ष भविष्य में होनेवाले विवादो का निपटारा विवाचन द्वारा कराने के लिये बाध्य हो। साथ ही यह भी प्रयत्न हुआ कि पहले की अनेक व्यक्तिगत सधियो को हटाकर एक व्यापक सामूहिक सधि हो जो सभी व्यक्तिगत सधियो का स्थान ग्रहण कर ले। सन् १८९९ तथा १९०७ ई० के हेग-सम्मेलनो में इस दिशा मे प्रयत्न हुए। सन् १८९९ ई० के अभिसमय का प्रयोजन था कि समस्त अतर्राष्ट्रीय विवादो का निपटारा मैत्रीपूर्ण ढग से हो और इस कार्य के निमित्त विवाचन न्यायालय की एक स्थायी सस्था स्थापित की जाय जो सभी की पहुँच के भीतर हो। इस अभिसमय में ६१ अनुच्छेदो द्वारा मध्यस्थता, अतर्राष्ट्रीय परिपृच्छा आयोग, स्थायी विवाचन न्यायालय तथा विवाचन प्रक्रिया की व्यवस्था की गई। सन् १९०७ ई० में प्रथम अभिसमय पर पुर्नविचार हुआ और अनुच्छेदो की सख्या ६१ से बढकर ९६ हो गई। किंतु अनिवार्य विवाचन की योजना असफल रही और प्रथम महायुद्ध ने इस योजना का अत कर दिया। फिर भी, व्यक्तिगत सधियो द्वारा विवाचन की परपरा मे विकास हुआ और सन् १९०२ से १९३२ ई० तक हेग विवाचन न्यायालय ने बीस पचाट दिए।

राष्ट्रसघ (लीग ऑव नेशस्) के अभिसमय मे ऐसा कोई नियम नही था जिससे सदस्य राज्य अनिवार्य विवाचन के लिये बाध्य हो। अतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना से अनिवार्य क्षेत्राधिकार की सभावना का मार्ग प्रशस्त हुआ परतु वास्तविक रूप मे विवाचन से इसका प्रयोजन न था। सन् १९२८ ई० में लीग ऑव नेशस की जेनरल असेंबली ने अतर्राष्ट्रीय विवादो का शातिपूर्वक निपटारा करने के लिये जो सविधि बनाई उसमें केवल राजनीतिक विवादो का विवाचन द्वारा निपटारा अनिवार्य था। सन् १९२९ मे अमेरिकी राज्यो की एक सामूहिक सधि हुई जिसके द्वारा सर्वांगपूर्ण अमरीकी विवाचन की व्यवस्था की गई। इसके अतिरिक्त विवाचन की सस्था व्यक्तिगत सधियो पर ही आधारित रही।

मध्यस्थ न्यायाधिकरण—प्रारभ में बहुधा किसी अन्यदेशीय राज्य के प्रमुख को विवाचक चुन लिया जाता था। नियमानुसार राज्यप्रमुख को यह अधिकार था कि वह विवाचन कार्य अन्य किसी के सुपुर्द कर दे। परिणाम यह हुआ कि विवाचन कार्य राज्य के अधिकारीगण करते थे और विवाचन में निर्णय वस्तुत कानूनी आधार पर न होकर राजनीति के रग में रँगी हुई मध्यस्थता का रूप ग्रहण करने लगा। अतएव प्रक्रिया के इस रूप का अत हो गया।

वर्तमान पद्धति मे एक न्यायाधिकरण बना दिया जाता है जिसमें प्रत्येक पक्ष द्वारा चुने गए विवाचको की सख्या बराबर होती हैं। विवाचक-

गए मुख्य विवाचक का निर्वाचन करते हैं। न्यायाधिकरण की कार्रवाई मुख्य विवाचक की अध्यक्षता मे होती है। मुख्य विवाचक के निर्वाचन में यदि विवाचको मे मतभेद हो जाता है तो निर्वाचन की कार्रवाई विशेष नियमो के अनुसार होती है।

विवाचको, विशेषकर मुख्य विवाचक, के निर्वाचन मे प्राय कठिनाई होती है जिसके कारण विवाचन के निर्देशन मे विलब हो जाता है और कभी कभी तो निर्देशन हो ही नही पाता। इस कठिनाई को दूर करने के लिये सन् १८९९ ई० मे स्थायी विवाचन न्यायालय (पर्मानेंट कोर्ट ऑव इटरनेशनल जस्टिस) की स्थापना हुई। यह न्यायालय वास्तव मे उन व्यक्तियो की सूची मात्र है जो विवाचन कार्य के योग्य है तथा उसके लिये सहमत हैं। साथ मे कुछ नियम बने हुए है जिनके अनुसार विभिन्न पक्ष व्यक्तिगत मामलो मे उपर्युक्त सूची से विवाचक चुनकर मध्यस्थ न्यायाधिकरण की रचना कर सकते हैं। प्रशासन कार्य के लिये न्यायालय से सलग्न एक कार्यालय तथा स्थायी समिति है। सन् १९२० ई० मे स्थायी अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना हुई परतु विवाचन न्यायालय बना रहा।

विवाचन प्रक्रिया—जब कोई दो राज्य किसी विवाद का विवाचन के निमित्त निर्देशन करते है तब निर्देशन का प्रविपय तथा शर्तें सधिपत्र अथवा तदनुरूप अन्य लेखपत्र द्वारा निश्चित हो जाती है। यदि सधिपत्र मे किसी नियम या सिद्धात का उल्लेख नही होता तो विवाचन की कार्रवाई व्यवहार-विधि-नियमो के अनुसार होती हैं। सन् १८९९ ई० मे प्रक्रिया सबधी बहुत से नियम बना दिए गए थे परतु उनका प्रयोग तभी होता है जब सधिपत्र मे आवश्यक नियम न लिखे हो। इस प्रकार प्रक्रिया सबधी सभी बाते पक्षो द्वारा स्वय निश्चित की जा सकती है।

प्रक्रिया के नियम—(क) विवाचन प्रक्रिया दो भागो मे विभाजित है—लिखित परिप्रश्न तथा मौखिक कार्रवाई, (ख) परक्रामण की कार्रवाई नियमित रूप से गुप्त रखी जाती हैं, (ग) निजी क्षमता सबधी प्रश्नो का निर्णय करने की शक्ति न्यायाधिकरण को प्राप्त है, (घ) न्यायाधिकरण के विमर्श गोपनीय होते हैं, (ङ) निर्णय बहुमत से होता है, (च) पचाट का उद्देश्यपूर्ण होना आवश्यक है, (छ) पचाट अतिम निर्णय है परतु उससे केवल विवादवाले पक्ष ही बाध्य होते हैं।

विवाचन तथा कानूनी निर्णय—मध्यस्थ न्यायाधिकरण के निर्णय प्राय कानून के प्रति समान की भावना से प्रेरित नही होते जिस प्रकार न्यायालय के निर्णय होते हैं। मध्यस्थ न्यायाधिकरण बहुधा पक्षो को सतुष्ट करने की इच्छा से प्रभावित होते है, न कि वस्तुत कानूनी नियमो का पालन करने की उद्भावना से। न्यायाधिकरणो के निर्णय मे प्राय उन युक्तियो का उल्लेख नही होता जिनपर उनके निर्णय आधारित होते हैं और न वे अपने को पूर्ववर्ती दृष्टात (नजीर) मानने के लिये बाध्य समझते है।

दोषपूर्ण विवाचन—जब न्यायाधिकरण निर्देशन मे दी गई अधिकार-सीमा का उल्लघन करता है या प्रत्यक्ष रूप से न्याय के विपरीत कार्य करता है अथवा यह सिद्ध हो जाता है कि अमुक पचाट छल, कपट या भ्रष्टाचार द्वारा प्राप्त किया गया है या पचाट के निबधन अस्पष्ट है, तब विवाचन निर्णय दोषपूर्ण समझा जाता है और उस दशा मे विभिन्न पक्ष उसको मान्यता देने के लिये बाध्य नही होते। सन् १८३१ ई० मे हालैड के सम्राट् का पचाट इस आधार पर अमान्य ठहराया गया था कि उसमे अधिकारसीमा का उल्लघन हुआ था। इसी प्रकार सन् १९०९ मे बोलीविया ने आरजेटिना के राष्ट्रपति का पचाट अमान्य ठहराया था।

सं०ग्र०—जे० डब्ल्यू० गारनर टैगोर लॉ लेक्चर्स, १९२२, रॉस ए टेक्स्ट बुक ऑव इटरनेशनल लॉ, डब्ल्यू० ई० हाल इटरनेशनल लॉ।

[श्री० अ०]

अंतर्राष्ट्रीय श्रमसंघ (इटरनेशनल लेबर ऑर्गेनाइजेशन, आई० एल० ओ०, अ० श्र० स०) एक त्रिदलीय अंतर्राष्ट्रीय सस्था है जिसकी स्थापना १९१९ ई० की शातिसधियो द्वारा हुई और जिसका लक्ष्य ससार के श्रमिक वर्ग की श्रम और आवास सबधी अवस्थाओ मे सुधार करना है। यद्यपि अ०श्र०स० की स्थापना १९१९ई० मे हुई,तथापि उसका इतिहास औद्योगिक क्राति के प्रारभिक दिनो से ही आरभ हो गया था, जब नवोत्थित औद्योगिक सर्वहारा वर्ग (प्रोलेतारियत) ने समाजकी उत्क्रातिमूलक शक्तिमान् सस्था के रूप मे तत्कालीन समाज के अर्थशास्त्रियो के लिये एक समस्या उत्पन्न कर दी थी। यह औद्योगिक सर्वहारा वर्ग के कारण न केवल तरह तरह के उद्योग धधो के विकास मे अतीव मूल्यवान सिद्ध हो रहा था, बल्कि श्रम की व्यवस्थाओ और व्यवसायो के तीव्र गतिक केद्रीकरण के कारण असाधारण शक्तिसपन्न होता जा रहा था। फ्रासीसी राज्यक्राति, साम्यवादी घोषणा (कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो) के प्रकाशन, प्रथम और द्वितीय 'इटरनेशनल' की स्थापना और एक नए सघर्पनिरत वर्ग के अभ्युदय ने विरोधी शक्तियो को इस सामाजिक चेतना से लोहा लेने के लिये सगठित प्रयत्न करने को विवश किया। इसके अतिरिक्त कुछ औपनिवेशिक शक्तियो ने, जिन्हे दास श्रमिको की बडी सख्या उपलब्ध थी, अन्य राष्ट्रो से औद्योगिक विकास मे बढ जाने के सकल्प से उनमे अदेशा उत्पन्न कर दिया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि ससार के बाजार पर उनका एकाधिकार हो जायगा। ऐसी स्थिति मे अंतर्राष्ट्रीय श्रम के विधान की आवश्यकता स्पष्ट हो गई और इस दिशा मे तरह तरह के समझौतो के प्रयत्न समूची १९वी शताब्दी भर होते रहे। १८८९ ई० में जर्मनी के सम्राट् ने बर्लिन-श्रम-समेलन का आयोजन किया। फिर १९०० मे पेरिस मे श्रम के विधान के लिये एक अंतर्राष्ट्रीय सघ की स्थापना हुई। इसके तत्वावधान मे बर्न मे १९०५ एव १९०६ मे आयोजित समेलनो ने श्रम सबधी प्रथम नियम बनाए। ये नियम स्त्रियो के रात मे काम करने के और दियासलाई के उद्योग मे श्वेत फास्फोरस के प्रयोग के विरोध मे बनाए गए थे, यद्यपि प्रथम महायुद्ध छिड जाने से १९१३ ई० मे बने समेलन की मान्यताये जोर न पकड सकी।

शक्तिशाली ट्रेड यूनियनो के उदय, यूरोप के व्यावसायिक केद्रो मे होनेवाली बडी हडतालो और १९१७ की बोल्शेविक क्राति ने श्रम की समस्याओ को विस्फोट की स्थिति तक पहुँचने से रोकने और उन्हे नियत्रित करने की आवश्यकता सिद्ध कर दी। इस सुझाव के परिणामस्वरूप १९१९ के शातिसमेलन ने अंतर्राष्ट्रीय श्रमविधान के लिये एक ऐसा जॉच कमीशन बैठाया जो अंतर्राष्ट्रीय श्रमसघ तथा विश्व-श्रम-चार्टर का निर्माण सभव कर सके। कमीशन के सुझाव कुछ परिवर्तनो के साथ मान लिए गए और पूँजीवादी जगत् मे श्रम के उत्तरोत्तर बढते हुए झगडो को ध्यान मे रखकर इस सघ को शीघ्रातिशीघ्र अपना कार्य आरभ कर देने का निर्णय कर लिया गया। शीघ्रता यहाँ तक की गई कि अक्तूबर १९१९ मे ही वाशिगटन डी०सी० मे प्रथम श्रमसमेलन की बैठक हो गई जब अभी सधि की शर्ते भी सर्वथा मान्य नही हो पाई थी।

भारत अ० श्र० स० के सस्थापक सदस्य राष्ट्रो मे है और १९२२ से उसकी कार्यकारिणी मे ससार की आठवी औद्योगिक शक्ति के रूप मे वह अवस्थित रहता आ रहा है। १९५९ मे अ० श्र० स० के बजट मे भारत का योगदान ३ ३२ प्रति शत है जो सयुक्त राज्य अमरीका, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत सघ, फ्रास, जर्मनी के सघ प्रजातत्र तथा कनाडा के बाद सातवे स्थान पर है।

द्वितीय महायुद्ध के परवर्ती काल मे अ० श्र० स० सयुक्त राष्ट्रसघ की एक विशिष्ट सस्था बन गई है—उसकी आर्थिक एव सामाजिक परिषद् के अतर्गत प्राय स्वतत्र।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम सघ मे तीन सस्थाएँ है—साधारण समेलन (जेनरल कान्फ्रेंस), शासी निकाय (गवर्निंग बॉडी) और अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय। साधारण समेलन अंतर्राष्ट्रीय श्रम समेलन के नाम से अधिक विख्यात है। शासी निकाय सघ की कार्यकारिणी के रूप मे काम करता है। अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय का स्थायी सचिवालय है।

अ० श्र० स० के वर्तमान विधान के अनुसार सयुक्त राष्ट्रसघ का कोई भी सदस्य अ० श्र० स० का सदस्य बन सकता है, उसे केवल सदस्यता के साधारण नियमो का पालन स्वीकार करना होगा। यदि सार्वजनिक समेलन चाहे सयुक्त राष्ट्रसघ की परिधि से बाहर के देश भी इसके सदस्य बन सकते हैं। आज अ० श्र० स० के सदस्य राष्ट्रो की सख्या ७९ है जिनकी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ विभिन्न प्रकार की हैं।

अ० श्र० स० की समूची शक्ति अंतर्राष्ट्रीय श्रमसमेलन के हाथो में है। उसकी बैठक प्रति वर्ष होती है। इस समेलन मे प्रत्येक सदस्य राष्ट्र चार प्रतिनिधि भेजता है। परतु इन प्रतिनिधियो मे दो राजकीय प्रतिनिधि सदस्य राष्ट्रो की सरकारो द्वारा नियुक्त होते हैं, तीसरा उद्योगपतियो का और चौथा श्रमिको का प्रतिनिधित्व करता है। इनकी नियुक्ति भी सदस्य सरकारें ही करती है। सिद्धातत ये प्रतिनिधि उद्योगपतियो और श्रमिको की प्रधान प्रतिनिधि सस्थाओ से चुन लिए जाते है। उन सस्थाओ के प्रतिनिधित्व का निर्णय भी उनके देश की सरकारे ही करती है। परतु प्रत्येक प्रतिनिधि को व्यक्तिगत मतदान का अधिकार होता है।

समेलन का काम अंतर्राष्ट्रीय श्रम नियम एव सुझाव सबधी मसविदा बनाना है जिसमे अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक और श्रम सबधी निम्नतम मान आ जायँ। इस प्रकार यह एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय मच का काम करता है जिसपर आधुनिक औद्योगिक समाज के तीनो प्रमुख अगो—राज्य, सगठन (व्यवस्था, मैनेजमेंट) और श्रम—के प्रतिनिधि औद्योगिक सबधो की महत्वपूर्ण समस्याओ पर परस्पर विचारविनिमय करते है। दो तिहाई बहुमत द्वारा नियम और बहुमत द्वारा सिफारिश स्वीकृत होती है परतु स्वीकृत नियमो या सिफारिशो को मान लेना सदस्य राष्ट्रो के लिये आवश्यक नही। हाँ, उनसे ऐसी आशा अवश्य की जाती है कि वे अपने देशो की राष्ट्रीय ससदो के समक्ष १८ महीने के भीतर उन विषयो को विचारार्थ प्रस्तुत कर दे। सुझावो के स्वीकरण पर विचार इतना आवश्यक नही है जितना नियमो को कानून का रूप देना। सघ राज्यो के विषय में ये नियम सुझाव के रूप मे ही ग्रहण करने होते है, विधान के रूप में नही। जब कोई सरकार नियम को मान लेती है और उसका व्यवहार करना चाहती है उसे अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय में इस सबध का एक वार्षिक विवरण भेजना पडता है।

शासी निकाय (गवर्निंग बॉडी) भी एक तीन अगो वाली सस्था है। यह ३२ सदस्यो से निर्मित है जिनमें १६ सरकारी तथा आठ आठ उद्योगपतियो और श्रमिको के प्रतिनिधि होते है। इन १६ सरकारी स्थानो में से आठ उन देशो के लिए हैं जो प्रधान औद्योगिक देश मान लिए गए है। शेष आठ प्रति तीसरे वर्ष सरकारी प्रतिनिधियो द्वारा निर्वाचित होते हैं जिनके निर्वाचन का अधिकार कार्यकारिणी मे समिलित उन आठ देशो को भी प्राप्त होता है जो प्रधान औद्योगिक देश होने के कारण उसके पहले से ही सदस्य है। इसका निर्णय भी कार्यकारिणी परिषद् द्वारा ही होता है कि आठ प्रधान औद्योगिक देश कौन से हो। कार्यकारिणी नीति और कार्यक्रम निर्धारित करती है, अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय का सचालन और समेलन द्वारा नियुक्त अनेक समितियो और आयोगो (कमीशनो) के कार्यों का निरीक्षण करती है। कार्यालय के प्रमुख सचालक (डाइरेक्टर जेनरल) का निर्वाचन कार्यकारिणी ही करती है और वही समेलन का कार्यक्रम (एजेंडा) भी प्रस्तुत करती है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय समेलन तथा कार्यकारिणी का स्थायी सचिवालय है। सयुक्त राष्ट्रसघ के कर्मचारियो की ही भाँति श्रम कार्यालय के कर्मचारी भी अंतर्राष्ट्रीय सिविल सर्विस के कर्मचारी होते है जो उस अंतर्राष्ट्रीय सस्था के प्रति उत्तरदायी होते हैं। श्रमकार्यालय का काम अ० श्र० स० के विविध अगो के लिये कार्यविवरण, कागज पत्र आदि प्रस्तुत करना है। सचिवालय के इन कार्यों के साथ ही वह कार्यालय अंतर्राष्ट्रीय श्रम अनुसधान का भी केंद्र है जो जीवन और श्रम की परिस्थितियो को अंतर्राष्ट्रीय ढग से मान्यता प्रदान करने के लिये उनसे सबधित सभी विषयो पर मूल्यवान् सामग्री एकत्र करता तथा उनका विश्लेषण और वितरण करता है। सदस्य देशो की सरकारो और श्रमिको से वह निरतर सपर्क रखता है। अपने सामयिक पत्रो और प्रकाशनो द्वारा वह श्रम विषयक सूचनाएँ देता रहता है। श्रम कार्यालय बराबर विवरण, सावधि सामाजिक समस्याओ का अध्ययन, प्रधान साधारण समेलन के अधिवेशनो तथा विविध समितियो और तकनीकी समेलनो के विवरण, सदर्भ ग्रथ, श्रम के आँकडो की वार्षिक पुस्तकें, सयुक्त राष्ट्रसघ के सामने उपस्थित किए गए अ० श्र० स० के विवरण तथा विशेष पुस्तिकाएँ प्रकाशित करता रहता है। प्रकाशित पत्रो में 'दि इटर्नेशनल लेबर रिव्यू' सघ विषयक सामान्य व्याख्यात्मक निबधो और आँकडो का मासिक पत्र है, 'इडस्ट्री ऐड लेबर' श्रम अनुसधान का विवरण प्रकाशित करनेवाला पाक्षिक है, 'लेजिस्लेटिव सिरीज' विभिन्न देशो के श्रम कानूनो का विवरण प्रस्तुत करनेवाला द्विमासिक है, 'ऑक्यूपेशनल सेफटी ऐंड हेल्थ' तथा 'दि बिब्लियोग्राफी ऑव इडस्ट्रियल हाइजिन' त्रैमासिक है। इनमे से अधिकाश पत्र विभिन्न भाषाओ मे छपते है।

तीन प्रमुख अगो अर्थात् समेलन, कार्यकारिणी और कार्यालय के अतिरिक्त अ० श्र० स० के अन्य कई अग है, जैसे प्रादेशिक समेलन, औद्योगिक समितियाँ तथा विशेष आयोग (कमीशन), जो प्रदेश विशेष अथवा उद्योग विशेष की विशिष्ट समस्याओ पर विचार करते है।

अंतर्राष्ट्रीय श्रम समेलन द्वारा कुल स्वीकृत नियम (कन्वेंशन) १९५८ के अत तक १०९ रहे है और विधान के रूप मे स्वीकृत विभिन्न देशीय विधानो की सख्या, जो श्रम कार्यालय द्वारा प्राप्त हो चुके थे, १८०८ है। १९५८ के अत तक भारत ने २३ नियम माने है। कुछ देशो ने शर्तो के साथ नियम स्वीकार किए है, अधिकाश ने अनेक महत्व के नियम स्वीकृत नही किए है। नियमो को स्वीकार करने की गति मद है यद्यपि अधिकतर देशो ने अनेक महत्व के नियम स्वीकृत नही किए हैं, तथापि अल्पतम मान स्थापित करने का नैतिक वातावरण अंतर्राष्ट्रीय श्रम सघ ने उत्पन्न कर दिया है। उसी का यह परिणाम है कि एक ऐसे अंतर्राष्ट्रीय श्रम कानून का विकास हो चला है जिसमें उसके स्वीकृत अनेक नियमो एव सुझावो का समावेश है। इनमें काम के घटो, विश्रामकाल, वेतन सहित वार्षिक छुट्टियो, मजदूरी का भाव, उसकी रक्षा, अल्पतप मजदूरी की व्यवस्था, समान कामो का समान पारिश्रमिक, नौकरी पाने की अल्पतम आयु, नौकरी के लिये आवश्यक डाक्टरी परीक्षा, रात के समय स्त्रियो, बच्चो एव अल्पायु युवक तथा युवतियो की नियुक्ति, जच्चा की रक्षा, औद्योगिक सुरक्षा एव स्वास्थ्य, औद्योगिक कल्याण, बेकारी का बीमा, कार्यकालिक चोट की क्षतिपूर्ति, चिकित्सा की व्यवस्था, सगठित होने और सामूहिक माँग करने का अधिकार आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न सुलझाए गए है और इनके लिये सामान्य अंतर्राष्ट्रीय न्यूनतम मान निर्धारित हो गए है। इन अंतर्राष्ट्रीय न्यूनतम मानो का प्रभाव प्रत्यक्ष नियमस्वीकरण द्वारा अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नैतिकता के प्रभाव से विभिन्न देशो के श्रमविधान पर पडा है, क्योकि उनमे सतत् परिवर्तनशील समय की आवश्यकताएँ प्रतिबिंबित होती रही है। [श्री० अ० डा०]

अंतर्वेद से अभिप्राय गगा और यमुना के बीच के उस विस्तृत भूखड से था जो हरद्वार से प्रयाग तक फैला हुआ है। इस द्वाब मे वैदिक काल से बहुत पीछे तक निरतर यज्ञादि होते आए हैं। वैदिक काल में वहाँ उशीनर, पचाल तथा वत्स अथवा वश बसते थे। इसी से पूर्व की ओर लगे कोसल तथा काशी जनपद थे। अंतर्वेद की पश्चिमी तथा दक्षिणी सीमाओ पर कुरु, शूरसेन, चेदि आदि का आवास था। ऐतिहासिक युग मे इस प्रदेश में कई अश्वमेध हुए जिनमे समुद्रगुप्त का बडे महत्व का था।

गुप्तकालीन शासनव्यवस्था के अनुसार अंतर्वेद साम्राज्य का 'विषय' या जिला था। स्कदगुप्त के समय उसका विषयपति शर्वनाग स्वय सम्राट् द्वारा नियुक्त किया गया था। [च०म०]

अंतर्वेशन (इटरपोलेशन) का अर्थ है किसी गणितीय सारणी में दिए हुए मानो के बीचवाले मानो को ज्ञात करना। अंग्रेजी शब्द "इटरपोलेशन" का शाब्दिक अर्थ है "बीच मे शब्द बढाना"।

मान लीजिए, निम्नलिखित सारणी दी हुई है

य	लघु य	य	लघु य
७०	० ८४५०९८	७४	० ८६९२३२
७१	० ८५१२५८	७५	० ८७५०६१
७२	० ८५७३३२	७६	० ८८०८१४
७३	० ८६३३२३	७७	० ८८६४९१

प्रश्न यह है कि य के सारणीबद्ध मानो के बीच के किसी मान के लिये (जैसे य=७ १५२ के लिये) लघु य का मान किस प्रकार निकाला जाय।

इस प्रश्न का उत्तर अतर्वेशन सिद्धात द्वारा मिलता है। अतर्वेशन के विकसित सिद्धात से किसी सारणी द्वारा निर्दिष्ट फलन का अवकल गुणक (डिफरेंशियल कोइफिशेंट) अथवा दो सीमाओ के बीच का अनुकल (इनटेग्रल) निकालना भी सभव है। अतर्वेशन के लिये एक महत्वपूर्ण सूत्र यह है

$$\text{र} = \text{फ}(\text{क}) + \text{य}\,\text{अ}\,\text{फ}(\text{क}) + \text{य}(\text{य}-१)\,\text{अ}^{२}\,\text{फ}(\text{क}) + \\ + \frac{\text{य}(\text{य}-१)\quad(\text{य}-\text{स}+१)\,\text{अ}^{\text{स}}\,\text{फ}(\text{क})}{\text{स}!},$$

जिसमे $\text{अ}\,\text{फ}(\text{क}) = \text{फ}(\text{क}+\text{कि}) - \text{फ}(\text{क})$ प्रथम अतर है, $\text{अ}^{२}\,\text{फ}(\text{क}) = \text{अ}\,\text{फ}(\text{क}+\text{कि}) - \text{अ}\,\text{फ}(\text{क})$ द्वितीय अतर है...।

इस सूत्र को ग्रेगरी-न्यूटन सूत्र कहते है।

अतर्वेशन का एक अन्य महत्वपूर्ण सूत्र लैग्राज सूत्र है

$$\text{फ}(\text{य}) = \frac{\text{फ}(\text{क}_{०})(\text{य}-\text{क}_{१})(\text{य}-\text{क}_{२})\,..\,(\text{य}-\text{क}_{\text{स}})}{(\text{क}_{०}-\text{क}_{१})(\text{क}_{०}-\text{क}_{२})\ldots(\text{क}_{०}-\text{क}_{\text{स}})} \\ + \frac{\text{फ}(\text{क}_{१})(\text{य}-\text{क}_{०})(\text{य}-\text{क}_{२})\ldots(\text{य}-\text{क}_{\text{स}})}{(\text{क}_{१}-\text{क}_{०})(\text{क}_{१}-\text{क}_{२})\ldots(\text{क}-\text{क}_{\text{स}})} + \ldots \\ + \frac{\text{फ}(\text{क}_{\text{स}})(\text{य}-\text{क}_{०})(\text{य}-\text{क}_{१})\ldots(\text{य}-\text{क}_{\text{स}-१})}{(\text{क}_{\text{स}}-\text{क}_{०})(\text{क}_{\text{स}}-\text{क}_{१})\ldots(\text{क}_{\text{स}}-\text{क}_{\text{स}-१})}।$$

स्पष्ट है कि इस सूत्र मे फ(य) घात अ के वहुपद से निरूपित है जिसके मान $\text{य} = \text{क}_{०}, \text{क}_{१}, \text{क}_{२},\ \ \text{क}_{\text{स}}$ के लिये क्रमश $\text{फ}(\text{क}_{०}), \text{फ}(\text{क}_{१}),\ \ \text{फ}(\text{क}_{\text{स}})$ है।

एक प्रकार का प्रश्न यह है

मान लीजिए निम्नलिखित सारणी दी है

य	१४	१७	३१	३५
फ(य)	६८७	६४०	४४०	३९१

यदि य=२७ तो फ(य) का मान निकालो।

उत्तर फ(२७)=लगभग ४९३१७।

स०ग्र०—व्हिटकर और राविन्सन कैलक्युलस ऑव आवजर्वेशन्स।
[ना० गो० श०]

अंतलिखित (अतलिकिद, अतिआल्किदस्) तक्षशिला का हिंदू-ग्रीक राजा। वेसनगर (मध्य प्रदेश) के स्तभलेख के अनुसार इस राजा ने अपने दूत दिय-के-पुत्र हेलियोदोरस को शुगवश के राजा अथवा भागभद्र के दरवार मे भेजा था। यह भागभद्र शुगराज ओद्रक अथवा भागवत मे से कोई हो सकता है। इस अभिलेख में अतलिखित को तक्षशिला का राजा और उसके ग्रीक दूत को विष्णुभक्त 'भागवत' कहा गया है। अतलिखित के सिक्के भी अन्य हिंदू-ग्रीक राजाओ की भाँति ही ग्रीक और भारतीय दोनो भापाओ मे खुदे मिलते है। उसकी मुद्राएँ उसे विजेता भी प्रमाणित करती हैं। अतलिखित का शासनकाल निश्चित रूप से तो नही वताया जा सकता, पर सभवत वह ईसवी सन् की प्रथम शती मे हुआ। वह वाख्त्री के राजा युक्रातिद के राजकुल का अफगानिस्तान और पश्चिमी पजाव का राजा था। [भ० श० उ०]

अंतश्चेतना शब्द अग्रेजी के 'इनर काशसनेस' का पर्यायवाची है। कभी कभी यह सहज ज्ञान या प्रमा (इटचूशन) के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है। सत जोन या गाधी जी प्राय अपनी 'भीतरी आवाज' या 'आत्मा की आवाज' का हवाला देते थे। कई रहस्यवादियो मे यह अतश्चेतना अधिक विकसित होती है। परतु सर्वसाधारण मे भी 'मन की आँखे' तो होती ही है। यही मनुष्य का नीति अनीति से परे सदसद्विवेक कहलाता है। दार्शनिको का एक सप्रदाय यह मानता है कि जीव स्वभावत 'शिव' है और इस कारण किसी अशिक्षित या असस्कृत कहलानेवाले व्यक्ति में भी अच्छे वुरे को पहचानने की अतश्चेतना पशु से अधिक विद्यमान रहती है। भौतिकवादी अतश्चेतना को जन्मत उपस्थित जैविक गुण नही मानते वल्कि सभ्यता के इतिहास से उत्पन्न,चेतना का वाह्य आवरण मानते है, जैसे फ्रायड उसे "सुपर ईगो" कहता है। अरविंद के दर्शन मे यह शब्द उभरकर आया है। यदि भौतिक जड जगत् और मानवी चैतन्य के भीतर एक सी विकासरेखा खोजनी हो, या मृण्मय मे चिन्मय वन नेकी सभावनाएँ हो तो इस अतश्चेतना का किसी न किसी रूप मे पूर्व अस्तित्व मनुष्य मे मानना ही होगा। योग इसी को आत्मिक उन्नति भी कहता है। योगी अरविंद की परिभाषा मे यही चैत्य पुरुप या 'साइकिक वीइग' कहा गया है। [प्र० मा०]

अंतिओक पश्चिमी एशिया मे इस नाम के अनेक नगर लघुएशिया तक वसते चले गए थे। इनमे सवसे महत्व का नगर सीरिया मे था, लेवनान और तोरस पर्वतमालाओ के वीच, सागर से प्राय २० मील दूर ओरोतीज नदी के वाएँ तीर पर वसा। लघुएशिया, फरात की उपरली घाटी, मिस्र और फिलिस्तीन से आनेवाली सारी राहे यही मिलती थी और यही उन सवके व्यापार का केंद्र था। यह सिकदर के साम्राज्य की सेल्यूकस के हिस्से की राजधानी था। सेल्यूकस ने ही इस नगर को वस्तुत वसाया भी था जिसके निर्माण का आरभ उसी के शत्रु अतिगोनस ने किया था। धीरे धीरे नगर का विस्तार होता गया था और चौथी सदी ईसवी मे इसकी जनसख्या प्राय ढाई लाख हो गई थी। वाद मे रोमनो ने इसे जीत लिया। इसका वर्तमान नाम अताक्या है। आज के इस तुर्की नगर की भापा भी तुर्की है। [भ० श० उ०]

अंत:करण (कांशेंस) यह पारिभाषिक शब्द है। इसका तात्पर्य उस मानसिक शक्ति से है जिससे व्यक्ति उचित और अनुचित का निर्णय करता है। सामान्यत लोगो की यह धारणा होती है कि व्यक्ति का अत करण किसी कार्य के औचित्य और अनौचित्य का निर्णय करने मे उसी प्रकार सहायता कर सकता है जैसे उसके कर्ण सुनने मे, अथवा नेत्र देखने में सहायता करते है। व्यक्ति मे अत करण का निर्माण उसके नैतिक नियमो के आधार पर होता है। अत अत करण व्यक्ति की आत्मा का वह क्रियात्मक सिद्धात माना जा सकता है जिसकी सहायता से व्यक्ति द्वद्वो की उपस्थिति मे किसी निर्णय पर पहुँचता है। 'शाकुतल' (१,१९) मे कालिदास कहते है

सता हि सदेहपदेपु वस्तुपु

प्रमाणमन्त करणप्रवृत्तय। [स० प्र० चौ०]

अंत:पुर प्राचीन काल में हिंदू राजाओ का रनिवास अत पुर कहलाता था। यही मुगलो के जमाने मे जनानखाना या हरम कहलाया। अत पुर के अन्य नाम भी थे जो साधारणत उसके पर्याय की तरह प्रयुक्त होते थे, यथा—'शुद्धात' और 'अवरोध'। 'शुद्धात' शब्द से प्रकट है कि राजप्रासाद के उस भाग को, जिसमे नारियाँ रहती थी, वडा पवित्र माना जाता था। दापत्य वातावरण को आचरण की दृष्टि से नितात शुद्ध रखने की परपरा ने ही नि सदेह अत पुर को यह विशिष्ट सज्ञा दी थी। उसके शुद्धात नाम को सार्थक करने के लिये ही महल के उस भाग को वाहरी लोगो के प्रवेश से मुक्त रखते थे। उस भाग के अवरुद्ध होने के कारण अत पुर का यह तीसरा नाम 'अवरोध' पडा था। अवरोध के अनेक रक्षक होते थे जिन्हे प्रतीहारी या प्रतीहाररक्षक कहते थे। नाटको मे राजा के अवरोध का अधिकारी अधिकतर वृद्ध ही होता था जिससे अत पुर शुद्धात वना रहे और उसकी पवित्रता मे कोई विकार न आने पाए। मुगल और चीनी सम्राटो के हरम या अत पुर मे मर्द नही जा सकते थे और उनकी जगह खोजे या क्लीव रखे जाते थे। इन खोजो की शक्ति चीनी महलो में इतनी वढ गई थी कि वे रोमन सम्राटो के प्रीतोरियन शरीररक्षको और तुर्की जनीसरी शरीररक्षको की तरह ही चीनी सम्राटो को वनाने विगाडने मे समर्थ हो गए थे। वे ही चीनी महलो के सारे पड्यत्रो के मूल मे होते थे। चीनी सम्राटो के समूचे महल को 'अवरोध' अथवा 'अवरुद्ध नगर' कहते थे और उसमे रात मे सिवा सम्राट् के कोई पुरुष नही सो सकता था। क्लीवो की सत्ता गुप्त राजप्रासादो मे भी पर्याप्त थी।

जैसा सस्कृत नाटको से प्रकट होता है, राजप्रासाद के अत पुरवाले भाग मे एक नजरवाग भी होता था जिसे प्रमदवन कहते थे और जहाँ राजा अपनी अनेक पत्नियो के साथ विहार करता था। सगीतशाला, चित्रशाला आदि भी वहाँ होती थी जहाँ राजकुल की नारियाँ ललित कलाएँ सीखती थी। वही उनके लिये क्रीडास्थल भी होता था। सस्कृत नाटको मे वर्णित अधिकतर प्रणयपड्यत्र अत पुर मे ही चलते थे।

स० ग्र०—शार्ङ्गधरपद्धति, उपवनविनोद, भगवतशरण उपाध्याय इडिया इन कालिदास। [भ० श० उ०]

अंतःस्राव विद्या (एडोक्राइनॉलोजी) आयु-विज्ञान की वह शाखा है जिसमे शरीर मे अत स्राव या हारमोन उत्पन्न करनेवाली ग्रथियो का अध्ययन किया जाता है। उत्पन्न होनेवाले हारमोन का अध्ययन भी इसी विद्या का एक अश है। हारमोन विशिष्ट रासायनिक वस्तुएँ है जो शरीर की कई ग्रथियो मे उत्पन्न होती है। ये हारमोन अपनी ग्रथियो से निकलकर रक्त में या अन्य शारीरिक द्रवो में, जैसे लसीका आदि मे, मिल जाते है और अगो मे पहुँचकर उनसे विशिष्ट क्रियाएँ करवाते है। हारमोन शब्द ग्रीक भाषा से लिया गया है। सबसे पहले सन् १६०२ मे बेलिस और स्टार्लिग ने इस शब्द का प्रयोग किया था। सभी अत स्रावी ग्रथियाँ हारमोन उत्पन्न करती है।

इतिहास—सबसे पहले कुछ ग्रीक विद्वानो ने शरीर की कई ग्रथियो का वर्णन किया था। तभी से इस विद्या के विकास का इतिहास प्रारभ होता है। १६वी और १७वी शताब्दी मे इटली के शारीरवेत्ता वेजेलियस और आक्सफोर्ड के टामस वेजेलियस, टामस व्हार्टन और लोवर नामक विद्वानो ने इस विद्या की अभिवृद्धि की। सूक्ष्मदर्शी द्वारा इन ग्रथियो की रचना का ज्ञान प्राप्त होने से १६वी शताब्दी मे इस विद्या की असीम उन्नति हुई। अब भी अध्ययन जारी है और अन्य कई विधियो द्वारा अन्वेषण हो रहे है।

यकृत और अडग्रथियो का ज्ञान प्राचीन काल से था। अरस्तू ने डिबग्रथि का वर्णन 'काप्रियाका' नाम से किया था। अवटुका (थॉइरायड) का पहले पहल वर्णन गैलेन ने किया था। टॉमस व्हार्टन (१६१४-१६४५) ने इसका विस्तार किया और प्रथम वार इसे थाइराएड नाम दिया। इसकी सूक्ष्म रचना का पूर्ण ज्ञान १६वी शताब्दी मे हो सका। विपूचिका (पिट्यूटैरी) ग्रथि का वर्णन पहले गैलेन और फिर वेजेलियस ने किया। तत्पश्चात् व्हार्टन और टामस विल्ली (१६२१-१६७५) ने इसका पूरा अध्ययन किया। इसकी सूक्ष्म रचना हैनोवर ने १८१४ में ज्ञात की।

अधिवृक्क ग्रथियो का वर्णन पहले पहल गैलेन ने और फिर सूक्ष्म रूप से बार्थोलियस यूस्टेशियस (१६१४-१६६४) ने किया। सुप्रारीनल कैप्स्यूल शब्द का प्रयोग प्रथम बार जान रियोलान (१५८०-१६५७) ने किया। इसकी सूक्ष्म रचना का अध्ययन ऐकर (१८१६-१८८४) और आर्नाल्ड (१८६६) ने प्रारभ किया।

पिनियल ग्रथि का वर्णन गैलेन ने किया और टामस व्हार्टन ने इसकी रचना का अध्ययन किया। थाइमस ग्रथि का वर्णन प्रथम शताब्दी में रूफास द्वारा मिलता है। अग्न्याशय के अत स्रावी भाग का वर्णन लैंगरहैंस ने १८६८ मे किया जो उसी के नाम से लैंगरहैंस की द्वीपिकाएँ कहलाती है। विक्टर सैंडस्टॉर्म ने १८८० में परा-अवटुका (पैराथाइरॉयड) का वर्णन किया। अब उसकी सूक्ष्म रचना और क्रियाओ का अध्ययन हो रहा है।

यद्यपि इन ग्रथियो की स्थिति और रचना का पता लग गया था, फिर भी इनकी क्रिया का ज्ञान बहुत पीछे हुआ। हिप्पोक्रेटीज और अरस्तू अडग्रथियो का पुरुषत्व के साथ सवध समझते थे और अरस्तू ने डिबग्रथियो के छेदन के प्रभाव का उल्लेख भी किया है, किंतु पूर्वोक्त ग्रथियो की क्रिया के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान उन्हे नही हो सका था। इस क्रिया का कुछ अनुमान कर सकनेवाला प्रथम व्यक्ति टामस विलिस था। इसी प्रकार पीयूषिका ग्रथि का स्राव सीधे रक्त मे चले जाने की बात रिचार्ड लोवर ने सर्वप्रथम कही थी। अवटुका के सवध में इसी प्रकार का मत टामस रूयश ने प्रगट किया।

इस सबध मे जान हटर (१७२३-९३) के समय से नया युग आरभ हुआ। अन्वेषण-विधि का उसने रूप ही पलट दिया। ग्रथि की रचना, उसकी क्रिया (फिजियोलॉजी), उसपर प्रयोगो से फल तथा उससे सबद्ध रोग-लक्षणो का समन्वय करके विचार करने के पश्चात् परिणाम पर पहुँचने की विधि का उसने अनुसरण किया। श्री हटर प्रथम अन्वेषणकर्ता थे जिन्होने प्रयोग प्रारभ किए और प्रजनन ग्रथियो तथा यौन सवधी लक्षणो—पुरुषो में छाती पर वाल उगना, दाढी मूँछ निकलना, स्वर की मद्रता आदि—का घनिष्ट सवध प्रदर्शित किया। सन् १८२७ मे ऐस्ले कूपर ने प्रथम अवटुका-छेदन किया। इसके पश्चात् अत स्राव के मत को विद्वानो ने स्वीकार कर लिया, और सन् १८५५ मे क्लोडबार्ड, टॉमस ऐडिसन और ब्राउन सीकर्ड के प्रयोगो से अत स्राव का सिद्धात सर्वमान्य हो गया। ब्राउन सीकर्ड ने जो प्रयोग यकृत पर किए थे उनके आधार पर उसने यह मत प्रकाशित किया कि शरीर की अनेक ग्रथियाँ, जैसे यकृत, प्लीहा, लसीका ग्रथियाँ, पीयूषिका, थाइमस, अवटुका, अधिवृक्क, ये सव दो प्रकार से स्राव वनाती है। एक अत स्राव, जो सीधा वही से शरीर मे शोषित हो जाता हे, और दूसरा वहि स्राव, जो ग्रथि से एक नलिका द्वारा वाहर निकलता है तथा शरीर की आतरिक दशाओ और क्रियाओ का नियत्रण करता है। उसने यह भी समझ लिया कि ये ग्रथियाँ तत्रिकातत्र (नर्वस सिस्टम) के अधीन है। एक वर्ष के पश्चात् उसने प्रथम अधिवृक्क-छेदन (ऐड्रिनेलैक्टोमी) किया। इसी वर्ष टामस ऐडिसन ने 'अधिवृक्क-सपुट के रोग' नामक लेख प्रकाशित किया जिससे अत स्राव के सिद्धात भली भाँति प्रमाणित हो गए।

यद्यपि हिप्पोक्रेटीज के समय से विद्वानो ने इन ग्रथियो के विकारो से उत्पन्न लक्षणो का वर्णन किया है, तथापि 'ऐडिसन का रोग' प्रथम अत स्रावी रोग था जिसकी खोज और विवेचना पूर्णतया की गई। अवटुका के रोगो का वर्णन चार्ल्स हिल्टन, फाग, विलियम गल आदि ने किया। प्रयोगशालाओ मे ग्रथियो से उनका सत्व तथा हारमोन पृथक् किए गए और उनको मुंह से खिलाकर तथा इजेक्शन द्वारा देकर उनका प्रभाव देखा गया। सन् १६०१ मे अधिवृक्क से ऐड्रिनैलिन पृथक् किया गया। कैंडल ने अवटुका से थाइरॉक्सीन और वैटिंग तथा वेस्ट ने पक्वाशय से इस्यूलिन पृथक् किया। ऐलेन ने ईस्ट्रिन और कॉक ने टेस्टोस्टेरोन पृथक् किए। इन रासायनिक प्रयोगो से इन वस्तुओ के रासायनिक सघटन का भी अध्ययन किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि रसायनज्ञो ने इन वस्तुओ को प्रयोगशालाओ में तैयार कर लिया। इन कृत्रिम प्रकार से वनाए हुए पदार्थो को 'हारमोनॉएड' नाम दिया गया है। आजकल इन्ही का वहुत प्रयोग होता है।

इन अत स्रावी ग्रथियो को पहले एक दूसरे से पृथक् समझा जाता था, किंतु अब ज्ञात हुआ है कि ये सव एक दूसरे से सवद्ध है और पीयूषिका ग्रथि तथा मस्तिष्क का मैलेमस भाग उनका सवध स्थापित करते है। अत मस्तिष्क ही अत स्रावी तत्र का केंद्र है।

शरीर मे निम्नलिखित मुख्य अत स्रावी ग्रथियाँ है पीयूषिका (पिट्यूइटैरी), अधिवृक्क (ऐड्रीनल), अवटुका (थाइरॉयड), उपावटुका (पैराथाइरॉयड), अडग्रथि (टेस्टीज़), डिवग्रथि (ओवैरी), पिनियल, लैंगरहैंस की द्वीपिकाएँ और थाइमस।

अत स्रावी ग्रथियाँ

१ पिनियल, २ पिट्यूइटैरी, ३ पैराथाइरॉयड, ४ थाइरॉयड, ५ थाइमस, ६ अधिवृक्क (ऐड्रिनल), ७ अग्न्याशय (पैनक्रियस) ८ (केवल स्त्रियोमे) डिवाशय (ओवैरी), ९ (केवल पुरुषो में) वृषण (टेस्टीज़)।

पीयूषिका—मनुष्य के शरीर मे यह एक मटर के समान ग्रथि मस्तिष्क के अग्र भाग के नल से एक वृत (डठल) सरीखे भाग द्वारा लगी और नीचे को लटकती रहती हे। इसमे तीन भाग है—अग्रिम, मध्य और पश्च खडिकाएँ (लोव)। अग्रिम खडिका मे वननेवाले हारमोनो के नाम ये है (१) बीज-पुटक-उत्तेजक (एफ० एस० एस०), (२) ल्यूटीनिकारक (एल० एस०), (३) अधिवृक्क-आतस्था-पोपक (ए० सी० टी० एच०), (४) अवटुकापोषक (टी० एच०), (५) वर्धक (शोथ हारमोन)। मध्यखडिका मध्यनी (इटर मिडिल) हारमोन वनाती है। पश्चखडिका पिट्यूटरीन हारमोन बनाती है। इसमे दो हारमोन होते है। एक गर्भाशय का सकोच वढाता है और दूसरे से रक्तवाहिनियाँ सकुचित होती है। यदि इस ग्रथि की क्रिया बढ जाती है तो प्रजनन अगो की अत्यत वृद्धि होती है और यदि शरीर का वृद्धिकाल समाप्त नही हो चुका रहता है तो दीर्घकायता उत्पन्न हो जाती है जिसमे शरीर की अतिवृद्धि होती है। परतु यदि वृद्धिकाल समाप्त हो चुका रहता है तो पीयूपिका की अतिशय

क्रियाशीलता का परिणाम ऐक्रोमेगैली नामक दशा होती है, जिसमे मुख, अँगुलियो, कठ आदि मे सूजन आ जाती है।

अग्रिम खडिका के अर्वुद (ट्यूमर) से कशिंग का रोग उत्पन्न होता है। पीयूषिका के क्रियाह्रास से मथुनी असमर्थता, शिशुता (इनफैंटाइलिज्म), शरीर में वसा की अतिवृद्धि तथा मूत्रवाहुल्य, य सव दशाएँ उत्पन्न होती हैं। पूर्वखडिका की क्रिया के अत्यत ह्रास से रोगी कृश हो जाता है और मैथुनशक्ति नष्ट हो जाती है। इसे साइमड का रोग कहते हैं।

अधिवृक्क (ऐड्रिनल्स)—ये दो त्रिकोणाकार ग्रथियाँ हैं जो उदर के भीतर दाहिनी ओर या वाएँ वृक्क के ऊपरी गोल सिरे पर मुर्गे की कलगी की भाँति स्थित रहती है। ग्रथि मे दो भाग होते है, एक वाहर का भाग, जो वहिस्था (कॉर्टेक्स) कहलाता है और दूसरा इसके भीतर का अतस्था (मैडुला)। वहिस्था भाग जीवन के लिये अत्यत आवश्यक है। लगभग दो दर्जन रासायनिक पदार्थ (स्वेदार स्टिअराइड,) इस भाग से पृथक् किए जा चुके हैं। उनमे से कुछ ही शारीरिक क्रियाओ से सवद्ध पाए गए हैं। वहिस्था भाग का विद्युद्विश्लेष्यो (इलेक्ट्रोलाइट्स) के चयापचय और कारवोहाइड्रेट के चयापचय से घनिष्ठ सवध है। वृक्को की क्रिया, शारीरिक वृद्धि, सहनशक्ति, रक्तचाप और पेशियो का सकोच, ये सव वहुत कुछ वहिस्था भाग पर निर्भर हैं। इस भाग में जो हारमोन वनते है उनमे कार्टिसोन, हाइड्रोकार्टिसोन, प्रेडनीसोन और प्रेडनीसोलोन का प्रयोग चिकित्सा मे वहुत किया जाता है। वहुत से रोगो मे उनका अद्भुत प्रभाव पाया गया है और रोगियो की जीवनरक्षा हुई है। विशेष वात यह है कि ये हारमोन अत स्रावी ग्रथियो के रोगो के अतिरिक्त कई अन्य रोगो मे भी अत्यत उपयोगी पाए गए हैं। कहा जाता है कि यदि क्षयजन्य मस्तिष्कावरणार्ति (ट्यूवर्क्यूलर मेनिन्जाइटिस) की चिकित्सा मे अन्य ओषधियो के साथ कार्टिसोन का भी प्रयोग किया जाय तो लाभ या रोगमुक्ति निश्चित है।

मध्यस्था भाग जीवन के लिये अनिवार्य नही है। उसमे ऐड्रिनैलिन तथा नौर ऐड्रिनैलिन नामक हारमोन वनते हैं।

वहिस्था की अतिक्रिया से पुरुषो मे स्त्रीत्व के से लक्षण प्रगट हो जाते हैं। उसकी क्रिया के ह्रास का परिणाम ऐडिसन का रोग होता है जिसमे रक्तदाव का कम हो जाना, दुर्वलता, दस्त आना और त्वचा मे रग के कणो का एकत्र होना विशेष लक्षण होते हैं।

अवटुका ग्रथि (थाइरॉयड)—यह ग्रथि गले मे श्वासनाल पर टेटुवे से नीचे घोडे की काठी के समान स्थित है। इसके दोनो खड नाल के दोनो ओर रहते हैं और वीच का, उन दोनो को जोडनेवाला, भाग नाल के सामने रहता है। इस ग्रथि मे थाइरॉक्सीन नामक हारमोन वनता है। इसको प्रयोगशालाओ मे भी तैयार किया गया है। इसका स्राव पीयूषिका के अवटुकापोषक हारमोन द्वारा नियत्रित रहता है। यह वस्तु मौलिक चयापचय गति (वेसल मेटावोलिक रेट, वी०एम०आर०), नाडीगति तथा रक्तदाव को वढाती है। इस ग्रथि की अतिक्रिया से मौलिक चयापचय गति तथा नाडी की गति वढ जाती हे। हृदय की धडकन भी वढ जाती हे। नेत्र वाहर निकलते हुए से दिखाई पडते है। ग्रथि मे रक्त का सचार अधिक हो जाता है। ग्रथि की क्रिया के कम होने से वालको मे वामनता (क्रेटिनिज्म) की और अधिक आयुवालो मे मिक्सोडीमा की दशा उत्पन्न हो जाती है। वामनता मे शरीर की वृद्धि नही होती। १८-२० वर्ष का व्यक्ति सात आठ वर्ष का सा दिखाई पडता है। वुद्धि का विकास भी नही होता। पेट आगे को वढा हुआ, मुख खुला हुआ और उससे राल चूती हुई तथा वुद्धि मद रहती है। मिक्सोडीमा मे हाथ तथा मुख पर वसा (चर्वी) एकत्र हो जाती है, आकृति भारी या मोटी दिखाई देती है। ग्रथि के सत्व (एक्सट्रैक्ट) खिलाने से ये दशाएँ दूर हो जाती हैं।

उपावटुका (पैराथाइरॉयड)—ये चार छोटी छोटी ग्रथियाँ होती हैं। अवटुकाग्रथि के प्रत्येक खड के पृष्ठ पर ऊपर और नीचे के ध्रुवो के पास एक एक ग्रथि स्थित रहती है और उससे उसका निकट सवध रहता है। इन ग्रथियो का हारमोन कैल्सियम के चयापचय का नियत्रण करता है। कैल्सियम के स्वागीकरण के लिये यह हारमोन आवश्यक है। इसकी प्रतिक्रिया से कैल्सियम, फास्फेट के रूप मे, मूत्र द्वारा अधिक मात्रा मे निकलने लगता है जिससे अस्थियाँ विकृत हो जाती हैं और औस्टिटाइटिस फाइव्रोसा नामक रोग हो जाता है। इसकी क्रिया कम होने पर टेटैनी रोग होता है।

प्रजनन ग्रंथियाँ—प्रजनन ग्रथियाँ दो हैं, अडग्रथि (टेस्टीज) और डिवग्रथि (ओवैरी)। पहली ग्रथि पुरुष मे होती है और दूसरी स्त्री मे।

अडग्रंथि—अडकोष मे दोनो ओर एक एक ग्रथि होती है। इस ग्रथि की मुख्य क्रिया शुक्राणु उत्पन्न करना है जिससे सतानोत्पत्ति हो और वश की रक्षा हो। ये वीर्य के साथ एक वाहनी नलिका द्वारा ग्रथि से वाहर निकलकर और स्त्री के डिंव से मिलकर गर्भोत्पत्ति करते हैं। इसी ग्रथि मे दूसरा एक अत स्राव वनता है जो टेस्टॉस्टेरोन कहलाता है। यह स्राव सीधा शरीर मे व्याप्त हो जाता है, वाहर नही आता। यह शुक्राणुओ की उत्पत्ति के लिये आवश्यक है। पुरुष मे पुरुषत्व के लक्षण यही उत्पन्न करता है। पुरुष की जननेद्रियो की वृद्धि इसी पर निर्भर रहती है। पीयूषिका के अग्रखड मे का स्राव इस हारमोन की उत्पत्ति को वढाता है।

डिवग्रथि—डिवग्रथियाँ स्त्रियो के उदर के निचले भाग मे, जिसे श्रोणि कहते हैं, होती हैं। प्रत्येक ओर एक ग्रथि होती है। इनका मुख्य कार्य डिव उत्पन्न करना है। डिव और शुक्राणु के सयोग से गर्भ की स्थापना होती है। इसमे से जो अत स्राव वनता है वह स्त्रियो मे स्त्रीत्व के लक्षण उत्पन्न करता है। स्त्रियो के रजोधर्म का भी यही कारण होता है। किंतु यह क्रिया निश्चित कालातर से होती है, समय आने पर ग्रथि तथा अन्य जननेद्रियो के रूप मे तथा उनकी क्रिया मे भी अतर आ जाता है।

लैंगरहैंस की द्वीपिकाएँ—अग्न्याशय ग्रथि मे कोशिकाओ के समूह कई स्थानो मे पाए जाते हैं। इन समूहो का वर्णन सवसे पहले लैंगरहैंस ने किया था। इसी कारण ये समूह लैंगरहैंस की द्वीपिकाएँ कहलाते हैं। यद्यपि इनकी कोशिकाएँ अग्न्याशय ग्रथि मे स्थित होती है तो भी स्वय ग्रथि की कोशिकाओ से ये आकार तथा रचना मे भिन्न होती हैं। इनके द्वारा उत्पन्न हारमोन इस्यूलीन कहलाता है जो कारवोहाइड्रेट के चयापचय का नियत्रण करता है। इस हारमोन की कमी से मधुमेह रोग (डायाविटीज़) हो जाता है।

इसी प्रकार अड तथा अग्न्याशय और कुछ अन्य ग्रथियो मे भी अत तथा वहि दोनो प्रकार के स्राव वनते है।

थाइमस—यह ग्रथि वक्ष के अग्र अतराल मे स्थित है। युवावस्था के प्रारभ तक यह ग्रथि वढती रहती है। उसके पश्चात् इसका ह्रास होने लगता है। इस ग्रथि की क्रिया अभी तक नही ज्ञात हो सकी है।

[शि० श० मि०]

अंत्यज

'अत्य' का मूल भौगोलिक अर्थ सीमापरवर्ती (दिशामन्त = दिशा का अत, वृहदारण्यक उप० १।३।१०) था। सीमा के वाहर रहनेवालो को 'अत्यज' कहा जाता था। इनको अत्यावसायी, वाह्य तथा निर्वसित भी कहते थे। अत्यज का सामान्य अर्थ है ऐसे लोग अथवा जनसमूह जो आर्य वस्तियो की सीमा के वाहर रहते थे और सस्कृति अथवा जाति मे भी भिन्न होते थे। अधिकाश मे जगली और पर्वतीय जातियाँ इनमे समिलित थी। जब धीरे धीरे वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना हो गई तव वहुत सी ऐसी जातियाँ जो इस व्यवस्था के अतर्गत नही आई, वे चतुर्थ और अतिम वर्ण शूद्र के भी परे अत्यज मानी जाने लगी। इनमे पडोसी विदेशियो (म्लेच्छ), चाडाल, पौल्कस, विदलकार, आदि की गणना थी। कुछ शास्त्रकारो ने इनमे क्षत्रि, वैदेहिक, मागध और आयोगव आदि वर्णसकर जातियो को भी समाविष्ट किया है (अगिरस्, याज्ञ० ३।२६५ पर मिताक्षरा द्वारा उद्धृत)। कही कही उनको पचम वर्ण भी माना गया है। परतु कुछ स्मृतियो ने दृढता के साथ कहा है कि पचम वर्ण हो ही नही सकता (चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति पचम। मनु०१०।४), अत्यज के समाजीकरण का क्रम था अतिशूद्र, शूद्र और सच्छूद्र। अत्यजो के साथ सवर्णो के भोजन, विवाह आदि सामाजिक सवध निषिद्ध थे। वास्तव मे अत्यज की परिगणना विभिन्न स्तर की जातियो और समूहो के समिश्रण की प्राथमिक अवस्था थी। परस्पर सपर्क, व्यवहार एव सवध से यह अवस्था प्राय लुप्त हो रही है। शिक्षा, व्यवसाय तथा उन्नयन की समान सुविधा एव विधिक मान्यता से इस अवस्था का अत निश्चित है। अत्यज की कल्पना केवल भारत मे ही नही पाई जाती। आज भी यह अमरीका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया आदि देशो मे अपने उग्र रूप मे वर्तमान है, यद्यपि इसके विरुद्ध वहाँ भी आदोलन चल रहे हैं (देखिए अस्पृश्य)।

[रा० व० पा०]

अंत्याक्षरी प्राचीन काल से चला आता स्मरण शक्ति का परिचायक एक खेल जिसमें कहे हुए श्लोक या पद्य के अंतिम अक्षर को लेकर दूसरा व्यक्ति उसी अक्षर से आरंभ होनेवाला श्लोक या पद्य कहता है, जिसके उत्तर में फिर पहला व्यक्ति दूसरे के कहे श्लोक या पद्य के अंतिम अक्षर से आरंभ होनेवाला श्लोक या पद्य कहता है। इसी प्रकार यह खेल चलता है और जब अपेक्षित व्यक्ति की स्मरण शक्ति जवाब दे जाती है और उससे पद्यमय उत्तर नहीं बन पाता तब उसकी हार मान ली जाती है। यह खेल दो से अधिक व्यक्तियों के बीच भी वृत्ताकार रूप में खेला जाता है। विद्यार्थियों में यह आज भी प्रचलित है और अनेक संस्थाओं में तो इसकी प्रतियोगिता का आयोजन भी होता है। अंत्याक्षरी के उदाहरणार्थ 'रामचरितमानस' से तीन चौपाइयाँ नीचे दी जाती हैं जिनमें अगली चौपाई पिछली के अंत्याक्षर से आरंभ होती है

बोले रामहिं देइ निहोरा । बचौ बिचारि बंधु लघु तोरा ॥
रामचरितमानस एहि नामा । सुनत स्रवन पाइअ बिस्रामा ॥
मातु समीप कहत सकुचाहीं । बोले समय समुझि मन माहीं ॥

[भ० श० उ०]

अंत्याधार (अबटमेंट) पुल के छोरों पर ईंट, सीमेंट आदि की बनी उन भारी संरचनाओं को कहते हैं जो पुलों की दाब या प्रतिक्रिया सहन करती हैं। बहुधा चारों ओर दीवारें बनाकर बीच में मिट्टी भर दी जाती है। ऊर्ध्वाधर भार सहने के अतिरिक्त अंत्याधार पुल को आगे पीछे खिसकने से और एक बगल बोझ पड़ने पर पुल की ऐंठने की प्रवृत्ति को भी रोकते हैं। ईंटें चुनकर, या सादे कंक्रीट से, या इस्पात की छड़ों से सुदृढ़ किए (रिइन्फोर्स्ड) कंक्रीट से ये बनते हैं। अंत्याधार कई प्रकार के होते हैं, जैसे सीधे अंत्याधार, सुदृढ़ की गई कंक्रीट की दीवारें, सुदृढ़ किए गए सीमेंट के पुश्ते (काउंटरफोर्ट रिटेनिंग वाल्स) और सुदृढ़ किए गए सीमेंट के कोष्ठमय खोखले अंत्याधार (सेलुलर हॉलो अबटमेंट)। बगली दीवारें (विंग वाल्स) और जवाबी दीवारें (रिटर्न वाल्स) कभी अलग बना दी जाती हैं, कभी अंत्याधार में जुड़ी हुई बनाई जाती हैं। संरचना को इतना भारी और दृढ़ होना चाहिए कि पुल की दाब से वह उलट न जाय और ऐसा न हो कि वह अपनी नींव पर या बीच के किसी रद्दे पर खिसक जाय। ध्यान रखना चाहिए कि संरचना अथवा नींव के किसी भी स्थान पर महत्तम स्वीकृत बल से अधिक बल न पड़े। दाब आदि की गणना करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि पुल पर आती जाती गाड़ियों के कारण बल कितना अधिक बढ़ जायगा। जहाँ अगल बगल पक्की दीवारें बनाकर बीच में मिट्टी भरी जाती है, वहाँ ऐसा विश्वास किया जाता है कि लगभग १० फुट लंबी सुदृढ़ किए कंक्रीट की पाटन (स्लैब) डाल देने से मिट्टी के खिसकने का डर नहीं रहता। अगल बगल की दीवारों पर मुक्के (छेद) छोड़ देने चाहिए जिसमें मिट्टी में घुसे पानी को बहने का मार्ग मिल जाय और इस प्रकार मिट्टी की दाब के साथ पानी की अतिरिक्त दाब दीवारों पर न पड़े। साधारणतः समझा जाता है कि दीवार के किसी बिंदु पर तनाव नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि वे केवल संपीडनजनित बल ही सँभाल सकती हैं, परंतु यदि सुदृढ़ीकृत कंक्रीट से तनाव सह सकनेवाली ऐसी दीवार बनाई जाय जिसमें संपीडनजनित बल को केवल कंक्रीट (न कि उसमें पड़ा इस्पात) अपनी पूरी सीमा तक सहन करता है, तो खर्च कम पड़ता है।

अंत्याधार की दीवारों की परिकल्पना (डिजाइन) में या तो यह माना जाता है कि ऊपर उनको पुल का पाट सँभाले हुए है और नीचे नींव, या यह माना जाता है कि वे तोड़ा (कैंटिलीवर) हैं। बड़े पुलों के भारी अंत्याधारों की परिकल्पना स्थिर करने के पहले वहाँ की मिट्टी की जाँच सावधानी से करनी चाहिए। यदि आवश्यकता प्रतीत हो तो खूँटे (पाइल) या कूप (खोखले खंभे) गाड़कर उनपर नींव रखनी चाहिए।

पुल बनाने में अंत्याधारों पर भी बहुत खर्च हो जाता है। इस खर्च को कम करने के लिये निम्नलिखित उपायों का उपयोग किया जा सकता है

(क) पुल पर आनेवाली सड़क की मिट्टी पुल के इतने पास तक डाली जाय कि पुल का अंतिम पाया मिट्टी में डूब जाय और फिर वहाँ से भराव ढालू होता हुआ नदी तल तक पहुँचे। ढालू भराव ढोके या गिट्टी का हो, या कम से कम ढोके और गिट्टी की तह से सुरक्षित हो और भूमि के पास नाटी दीवार (टो वाल) बनाई जाय।

(ख) पुल के अंतिम बयाँग (स्पैन) बहुत छोटे हों, जिसमें उनको सँभालने के लिये छिछले अंत्याधारों की आवश्यकता पड़े।

यहाँ उन अंत्याधारों का उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा जो पुलों के तोड़ेदार छोरों (कैंटिलीवर एंड्स) को स्थिर करने के लिये प्रयुक्त होते हैं, या झूला पुलों को दृढ़ करनेवाले गर्डरों के सिरों को स्थिर करने के लिये प्रयुक्त होते हैं।

पुलों के पायों में से बीच में पड़नेवाले उन पायों को अंत्याधार पाया कहते हैं जो आसपास के बयाँगों के भारों को सँभाल सकने के अतिरिक्त केवल एक ओर के बयाँग के कुल अचल बोझ को पूर्णतया सँभाल सकते हैं। मेहराबों से बने पुलों में साधारणतः प्रत्येक चौथा या पाँचवाँ पाया अंत्याधार पाया मानकर अधिक दृढ़ बनाया जाता है, जिसका उद्देश्य यह होता है कि एक बयाँग के टूटने पर सारा पुल ही न टूट जाय। [सी० वा० जो०]

अंधक (१) कश्यप और दिति का पुत्र एक दैत्य, जो पौराणिक कथाओं के अनुसार हजार सिर, हजार भुजाओंवाला, दो हजार आँखों और दो हजार पैरोंवाला था। शक्ति के मद में चूर वह आँख रहते अंधे की भाँति चलता था, इसी कारण उसका नाम अंधक पड़ गया था। स्वर्ग से जब वह पारिजात वृक्ष ला रहा था तब शिव द्वारा वह मारा गया, ऐसी पौराणिक अनुश्रुति है।

(२) क्रोष्टी नामक यादव का पौत्र और युधाजित का पुत्र, जो यादवों की अंधक शाखा का पूर्वज तथा प्रतिष्ठाता माना जाता है। जैसे अंधक से अंधकों की शाखा हुई, वैसे ही उसके भाई वृष्णि से वृष्णियों की शाखा चली। इन्हीं वृष्णियों में कालांतर में वार्ष्णेय कृष्ण हुए। महाभारत की परंपरा के अनुसार अंधकों और वृष्णियों के अलग अलग गणराज्य भी थे, फिर दोनों ने मिलकर अपना एक संघराज्य (अंधक-वृष्णि-संघ) स्थापित कर लिया था। [भ० श० उ०]

अंधता या अंधापन देख न सकने की दशा का नाम है। जो बालक अपनी पुस्तक के अक्षर नहीं देख सकता, वह इस दशा से ग्रस्त कहा जा सकता है। दृष्टिहीनता भी इसी का नाम है। प्रकाश का अनुभव कर सकने की अशक्यता से लेकर ऐसे कार्य करने तक की अशक्यता जो देखे बिना नहीं किए जा सकते, अंधता कही जाती है।

कारण—अनुमान किया जाता है कि हमारे देश में ३०,००,००० अंधे हैं। इस दशा के निम्नलिखित विशेष कारण होते हैं (१) पलकों में रोहे या कुकड़े (ट्रैकोमा), (२) चेचक या माता, (३) पोषणहीनता (न्यूट्रिशनल डेफीशिएंसी), (४) रतिज रोग, जैसे प्रमेह (गोनोरिया) और उपदंश (सिफिलिस), (५) संमलबाई (ग्लॉकोमा), (६) मोतियाबिंद, और (७) कुष्ठ रोग।

हमारे देश के उत्तरी भागों में, जहाँ धूल की अधिकता के कारण रोहे बहुत होते हैं, यह रोग अधिक पाया जाता है। देशवासियों की आर्थिक दशा भी, बहुत बड़ी सीमा तक, इस रोग के लिये उत्तरदायी है। उपयुक्त और पर्याप्त भोजन न मिलने से नेत्रों में रोग हो जाते हैं जिनका परिणाम अंधता होती है।

(१) **रोहे या कुकड़े** (ट्रैकोमा)—यह रोग अति प्राचीन काल से अंधता का विशेष कारण रहा है। हमारे देश के अस्पतालों के नेत्र विभागों में आनेवाले ३३ प्रति शत अंधता के रोगियों में अंधता का यही कारण पाया जाता है। यह रोग उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार तथा बंगाल में अधिक होता है। विशेषकर गाँवों में स्कूल जानेवाले तथा उससे भी पूर्व की आयु के बच्चों में यह रोग बहुत रहता है। इसका प्रारंभ बचपन से भी हो जाता है। गरीब व्यक्तियों के रहने की अस्वास्थ्यकर गंदगीयुक्त परिस्थितियाँ रोग उत्पन्न करने में विशेष सहायक होती हैं। इस रोग के उपद्रव रूप में कार्निया (नेत्रगोलक के ऊपरी स्तर) में व्रण (घाव) हो जाता है जो उचित चिकित्सा न होने पर विदार (छेद, पर्फोरेशन) उत्पन्न कर देता है, जिससे आगे चलकर अंधता हो सकती है।

इस रोग का कारण एक वाइरस है जो रोहों से पृथक् किया जा चुका है।

लक्षण और चिह्न—रोहे पलको के भीतरी पृष्ठो पर हो जाते है। प्रत्येक रोहा एक उभरे हुए दाने के समान, लाल, चमकता हुआ, किंतु जीर्ण हो जाने पर कुछ धूसर या श्वेत रग का होता है। ये गोल या चपटे और छोटे वडे कई प्रकार के होते हैं। इनका कोई क्रम नही होता। इनसे पैनस (अपारदर्शक ततु) उत्पन्न होकर कार्निया के मध्य की ओर फैलते है। इसका कारण रोगोत्पादक वाइरस का प्रसार है। यह दशा प्राय कार्निया के ऊपरी अर्धभाग मे अधिक उत्पन्न होती है।

रोग के सामान्य लक्षण—पलको के भीतर खुजली और दाह होना, नेत्रो से पानी निकलते रहना, प्रकाशासह्यता और पीडा इसके साधारण लक्षण है। सभव है, आरभ मे कोई भी लक्षण न हो, किंतु कुछ समय पश्चात् उपर्युक्त लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। पलक मोटे पड जाते हैं। पलको को उलटकर देखने से उनपर रोहे दिखाई देते हैं।

अवस्थाएँ—इस रोग की चार अवस्थाएँ होती है। पहली अवस्था मे श्लेष्मिक कला (कजक्टाइवा) एक समान शोथयुक्त और लाल मखमल के समान दिखाई पडती है, दूसरी अवस्था मे रोहे वन जाते हैं। तीसरी अवस्था मे रोहो के अकुर जाते रहते है और उनके स्थान मे सौत्रिक धातु वनकर कला मे सिकुडन पड जाती है। चौथी और अतिम अवस्था मे उपद्रव (काप्लिकेशन) उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका कारण कार्निया मे वाइरस का प्रसार और पलको की कला का सिकुड जाना होता है। अन्य रोगो के सक्रमण (सेकडरी इनफेक्शन) का प्रवेश बहुत सरल है और प्राय सदा ही हो जाता है।

इन रोगो के परिणामस्वरूप श्लेष्मकला (कजक्टाइवा), कार्निया तथा पलको मे निम्नलिखित दशाएँ उत्पन्न हो जाती हैं (१) परवाल (एट्रोपियन, ट्रिकिएसिस)—इसमे ऊपरी पलक का उपासिपट्ट (टार्सस) भीतर को मुड जाता है, इससे पलको के वाल भीतर की ओर मुडकर नेत्रगोलक तथा कार्निया को रगडने लगते है जिससे कार्निया पर व्रण बन जाते है, (२) एक्ट्रोपियन—इसमे पलक की छोर बाहर मुड जाती है। यह प्राय नीचे की पलक मे होता है, (३) कार्निया के व्रणो के अच्छे होने में बने ततु तथा पैनस के कारण कार्निया अपारदर्शी (ओपेक) हो जाती है, (४) कार्निया के व्रणो का विदार, (५) स्टैफीलोमा हो जा सकती है, जिसमे कार्निया बाहर उभड आती है, इससे आशिक या पूर्ण अधता उत्पन्न हो सकती है, (६) जीरोसिस, जिसमे श्लेष्मकला सकुचित और शुष्क हो जाती है एव उसपर शल्क से बनने लगते है, (७) यक्ष्मपात (टोसिस), जिसमे पेशी-सूत्रो के आक्रात होने से ऊपर की पलक नीचे भुक आती है और ऊपर नही उठ पाती, जिससे नेत्र बद सा दिखाई पडता है।

हेतुकी (ईटियोलॉजी)—रोहे का सक्रमण रोगग्रस्त बालक या व्यक्ति से अँगुली, अथवा तौलिया, रूमाल आदि वस्त्रो द्वारा स्वस्थ बालक मे पहुँचकर उसको रोगग्रस्त कर देता है। अस्वच्छता, अस्वस्थ परिस्थितियाँ तथा बलवर्धक भोजन के अभाव से रोगोत्पत्ति मे सहायता मिलती है। रोग फैलाने मे धूल विशेष सहायक मानी जाती है। इस कारण गाँवो मे यह रोग अधिक होता है। उपयुक्त चिकित्सा का अभाव रोग के भयकर परिणामो का बहुत कुछ उत्तरदायी है।

चिकित्सा—ओपधियो और शस्त्रकर्म दोनो प्रकार से चिकित्सा की जाती है। ओषधियो मे ये मुख्य हैं (१) सल्फोनेमाइड की ६ से ८ टिकिया प्रति दिन खाने को। प्रतिजीवी (ऐंटिवायोटिक्स) ओषधियो का नेत्र मे प्रयोग, नेत्र मे डालने के लिये बूँदो के रूप मे तथा लगाने के लिये मरहम के रूप मे, जिसकी क्रिया अधिक समय तक होती रहती है।

पेनिसिलीन से इस रोग मे कोई लाभ नही होता, हाँ, अन्य सक्रमण उससे अवश्य नष्ट हो जाते है। इस रोग के लिये ऑरोमायसीन, टेरामायसीन, क्लोरमायसिटीन आदि का बहुत प्रयोग होता है। हमारे अनुभव मे सल्फासिटेमाइड और नियोमायसीन दोनो को मिलाकर प्रयोग करने से सतोपजनक परिणाम होते हैं। आईमाइड-मायसिटीन को, जो इन दोनो का योग हे, दिन मे चार बार छ से आठ सप्ताह तक, लगाना चाहिए। साथ ही जल मे वोरिक ऐसिड, जिंक और ऐड्रिनेलीन के घोल की बूँदे नेत्र में डालते रहना चाहिए। यदि कार्निया का व्रण भी हो तो इनके साथ ऐट्रोपीन की बूंदे भी दिन मे दो बार डालना और बोरिक घोल से नेत्र को धोना तथा ऊष्म सेक करना उचित है।

शस्त्रोपचार—शस्त्रोपचार केवल उस अवस्था मे करना होता है जब उपर्युक्त चिकित्सा से लाभ नही होता।

श्लेष्मकला को ऐनीथेन से चेतनाहीन करके प्रत्येक रोहे को एक चिमटी (फॉरसेप्स) से दबाकर फोडा जाता है। इस विधि का बहुत समय से प्रयोग होता आ रहा है और यह उपयोगी भी है। श्लेष्मकला का छेदन केवल दीर्घकालीन रोग मे कभी कभी किया जाता है। एट्रोपियन, एक्ट्रोपियन और कार्निया की श्वेताकता की चिकित्सा भी शस्त्रकर्म द्वारा की जाती है। श्वेताक जब मध्यस्थ या इतना विस्तृत होता है कि उसके कारण दृष्टि रुक जाती है तो कार्निया मे एक ओर छेदन करके उसमे से आयरिस के भाग को बाहर खीचकर काट दिया जाता है, जिससे प्रकाश के भीतर जाने का मार्ग बन जाता है। इस कर्म को ऑप्टिकल आइरिडेक्टामी कहते है।

पैनस के लिये विटामिन-बी$_2$ (राइबोफ्लेवीन) १० मिलीग्राम, अत-पेशीय मार्ग से छः या सात दिन तक नित्यप्रति देना चाहिए। नेत्र को प्रक्षालन द्वारा स्वच्छ रखना आवश्यक है।

प्रतिषेध—प्रतिषेध, विशेषतया स्कूलो, बोर्डिंग हाउसो तथा बैरको मे, बहुत आवश्यक है। इन सस्थाओ अथवा परिवारो मे किसी के रोगग्रस्त होने पर वहाँ के बालको तथा अन्य रहनेवालो को रोग फैलने के कारणो का ज्ञान करा देना चाहिए। रोगग्रस्त बालक की उपयुक्त चिकित्सा का प्रवध करना तथा सब बालको को स्वच्छता का महत्व समझाना और उसके लिये आवश्यक आयोजनो का ज्ञान कराना अत्यावश्यक है।

रोगग्रस्त बालक का पता लगाने के लिये समय समय पर सब बालको की डाक्टरी परीक्षा आवश्यक है।

(२) **नवजात शिशु का अक्षिकोप** (ऑप्थैल्मिया नियोनोटेरम)—इस रोग का कारण यह है कि जन्म के अवसर पर माता के सक्रमित जनन-मार्ग द्वारा शिशु का सिर निकलते समय उसके नेत्रो मे सक्रमण पहुँच जाता है और तब जीवाणु श्लेष्मकला मे शोथ उत्पन्न कर देते हैं। इस रोग के कारण हमारे देशवासियो की बहुत बडी सख्या जन्म भर के लिये आँखो से हाथ धो बैठती है। यह अनुमान लगाया गया है कि ३० प्रति शत व्यक्तियो में गोनोकोक्कस, ३० प्रति शत मे स्टैफिलो या स्ट्रेप्टोकोक्कस और शेष मे बैसिलस तथा वाइरस के सक्रमण से रोग उत्पन्न होता है। पिछले दस वर्षो मे यह रोग पेनिसिलीन और सल्फोनेमाइड के प्रयोग के कारण बहुत कम हो गया है।

लक्षण—जन्म के तीन दिन के भीतर नेत्र सूज जाते हैं और पलको के बीच से श्वेत मटमैले रग का गाढा स्राव निकलने लगता है। यदि यह स्राव चौथे दिन के पश्चात् निकले तो समझना चाहिए कि सक्रमण जन्म के पश्चात् हुआ है। पलको के भीतर की ओर से होनेवाले स्राव की एक बूंद शुद्ध की हुई काच की शलाका से लेकर काच की स्लाइड पर फैलाकर रजित करने के पश्चात् सूक्ष्मदर्शी द्वारा उसकी परीक्षा करवानी चाहिए। किंतु परीक्षा का परिणाम जानने तक चिकित्सा को रोकना उचित नही है। चिकित्सा तुरत प्रारभ कर देनी चाहिए।

प्रतिषेध तथा चिकित्सा—रोग को रोकने के लिये जन्म के पश्चात् ही बोरिक लोशन से नेत्रो को स्वच्छ करके उनमे पेनिसिलीन के एक सी०सी० मे २,५०० एकको (यूनिटो) के घोल की बूँदे डाली जाती हैं। यह चिकित्सा इतनी सफल हुई है कि सिल्वर नाइट्रेट का दो प्रति शत घोल डालने की पुरानी प्रथा अब बिलकुल उठ गई है। पेनिसिलीन की क्रिया सल्फोनेमाइड से भी तीव्र होती है।

चिकित्सा भी पेनिसिलीन से ही की जाती है। पेनिसिलीन के उपर्युक्त शक्ति के घोल की बूँदे प्रति चार या पाँच मिनट पर नेत्रो मे तब तक डाली जाती हैं जब तक स्राव निकलना बद नही हो जाता। एक से तीन घटे मे स्राव बद हो जाता है। दूसरी विधि यह है कि १५ मिनट तक एक एक मिनट पर बूँदे डाली जायँ और फिर दो दो मिनट पर, तो आध घटे मे स्राव निकलना रुक जाता है। फिर दो तीन दिनो तक अधिक अतर से बूँदे डालते रहते हैं। यदि कार्निया मे व्रण हो जाय तो ऐट्रोपीन का भी प्रयोग आवश्यक है।

(३) **चेचक** (बडी माता, स्मॉल पॉक्स) इस रोग मे कार्निया पर चेचक के दाने उभर आते हैं, जिससे वहाँ व्रण बन जाता हे। फिर वे दाने

फूट जाते हैं जिससे अनेक उपद्रव उत्पन्न हो सकते हैं। इनका परिणाम अधता होती है।

दो बार चेचक का टीका लगवाना रोग से बचने का प्राय निश्चित उपाय है। कितनी ही चिकित्सा की जाय, इतना लाभ नही हो सकता।

(४) **किरेटोमेलेशिया**—यह रोग विटामिन ए की कमी से उत्पन्न होता है। इस कारण निर्धन और अस्वच्छ वातावरण मे रहनेवाले व्यक्तियों को यह अधिक होता है। हमारे देश मे यह रोग भी अधता का विशेष कारण हे।

यह रोग बच्चो को प्रथम दो वर्षों तक अधिक होता है। नेत्र की श्लेष्मकला (कजक्टाइवा) शुष्क हो जाती है। दोनो पलको के बीच का भाग धुंधला सा हो जाता है और उसपर श्वेत रग के धब्बे बन जाते हैं जिन्हे बिटौट के धब्बे कहते हैं। कानिया में व्रण हो जाता है जो आगे चलकर विदार मे परिवर्तित हो जाता है। इन उपद्रवो के कारण बच्चा अधा हो जाता है।

ऐसे बच्चो का पालन पोषण प्राय उत्तमतापूर्वक नही होता, जिसके कारण वे अन्य रोगो के भी शिकार हो जाते हैं और बहुत अधिक सख्या मे अपनी जीवनलीला शीघ्र समाप्त कर देते हैं।

चिकित्सा—नेत्र मे विटैमिन ए या पेरोलीन डालकर श्लेष्मिका को स्निग्ध रखना चाहिए। कानिया मे व्रण हो जाने पर ऐट्रोपीन डालना आवश्यक हे।

रोगी की साधारण चिकित्सा अत्यत आवश्यक है। दूध, मक्खन, फल, शार्क-लिवर या काड-लिवर तैल द्वारा रोगी को विटामिन ए प्रचुर मात्रा में देना तथा रोग की तीव्र अवस्थाओ मे इजेक्शन द्वारा विटामिन ए के ५०,००० एकक रोगी के शरीर मे प्रति दिन या प्रति दूसरे दिन पहुँचाना इसकी मुख्य चिकित्सा है। रोग के आरभ में ही यदि पूर्ण चिकित्सा प्रारभ कर दी जाय तो रोगी के रोगमुक्त होने की अत्यधिक सभावना रहती है।

(५) **कुष्ठ**—हमारे देश मे कुष्ठ (लेप्रोसी) उत्तर प्रदेश, बगाल और मद्रास मे अधिक होता है और अभी तक यह भी अधता का एक विशेष कारण था। किंतु इधर सरकार द्वारा रोग के निदान और चिकित्सा के विशेष आयोजनो के कारण इस रोग मे अब बहुत कमी हो गई है और इस प्रकार कुष्ठ के कारण हुए अधे व्यक्तियो की सख्या घट गई है।

कुष्ठ रोग दो प्रकार का होता है। एक वह जिसमें तन्त्रिकाएँ (नर्व) आक्रात होती हैं। दूसरा वह जिसमे चर्म के नीचे गुलिकाएँ या छोटी छोटी गाँठे बन जाती हैं। दोनो प्रकार का रोग अधता उत्पन्न कर सकता है। पहले प्रकार के रोग मे सातवी या नवी नाडी के आक्रात होने से ऊपरी पलक की पेशियो की क्रिया नष्ट हो जाती है और पलक बद नही होता। इससे श्लेष्मिका तथा कानिया का शोथ उत्पन्न होता है, फिर व्रण बनते हैं। उनके उपद्रवो से अधता हो जाती है। दूसरे प्रकार के रोग में श्लेष्मिका और श्वेतपटल (स्क्लीरा) मे शोथ के लक्षण दिखाई देते हैं। भौंह के बाल गिर जाते हैं और उसमे गाँठे सी बन जाती हैं। कानिया पर श्वेत चूने के समान बिंदु दिखाई देने लगते हैं। पैनस भी बन सकता है। कानिया मे भी शोथ (इटर्स्टिशियल किरैटाइटिस) हो जाता है और आयरिस भी आक्रात हो जाता है (जिसे आयराइटिस कहते हैं)। इसके कारण वह अपने सामने तथा पीछे के अवयवो से जुड जाता है।

चिकित्सा—कुष्ठ के लिये सल्फोन समूह की विशिष्ट ओषधियाँ ह। शारीरिक रोग की चिकित्सा के लिये इनको पूर्ण मात्रा में देना आवश्यक है। साथ ही नेत्ररोग की स्थानिक चिकित्सा भी आवश्यक हे। जहाँ भी कानिया या आयरिस आक्रात हो वहाँ ऐट्रोपीन की बूँदो या मरहम का प्रयोग करना अत्यत आवश्यक है। आवश्यक होने पर शस्त्रकर्म भी करना पडता है।

(६) **उपदश (सिफिलिस)**—इस रोग के कारण नेत्रो मे अनेक प्रकार के उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं, जिनका परिणाम अधता होती है। निम्नलिखित मुख्य दशाएँ हैं

क इर्टस्टिशियल किरैटाइटिस,
ख स्क्लीरोजिग किरैटाइटिस,
ग आयराइटिस और आइरोडोसिक्लाइटिस,
घ सिफिलिटिक कॉरोइडाइटिस,
ङ सिफिलिटिक रेटिनाइटिस,
च दृष्टितत्रिका (ऑप्टिक नर्व) की सिफिलिस। यह दशा निम्नलिखित रूप ले सकती है

१ दृष्टिनाडी का शोथ (आप्टिक न्यूराइटिस)
२ पैपिलो-ईडिमा
३ गमा
४ प्राथमिक दृष्टिनाडी का क्षय (प्राइमरी ऑप्टिक ऐट्रोफी)

चिकित्सा—सिफिलिस की साधारण चिकित्सा विशेष महत्व की है। (१) पेनिसिलीन इसके लिये विशेष उपयोगी प्रमाणित हुई है। अतर्पेशीय इजेक्शन द्वारा १० लाख एकक प्रति दिन १० दिन तक दी जाती है। (२) इसके पश्चात् आर्सनिक का योग (एन० ए० बी०) के साप्ताहिक अतपशीय इजेक्शन ८ सप्ताह तक और उसके बीच बीच में बिस्थम-सोडियम-टारटरेट (बिस्मथ क्रीम) के साप्ताहिक अतर्पेशीय इजेक्शन।

स्थानिक—(१) गरम भीगे कपडे से सेक, (२) कार्टिसोन, एक प्रति शत की बूँदे या १० मिलीग्राम कार्टिसोन का श्लेष्मकला के नीचे इजेक्शन, (३) ऐट्रोपीन, १० प्रति शत की बूँदें नेत्र मे डालना।

(७) **महामारी जलशोथ (एपिडेमिक ड्रॉप्सी)**—इसको साधारणतया जनता मे बेरीबेरी के नाम से पुकारा जाता है। सन् १६३० मे यह रोग महामारी के रूप मे बगाल में फैला था और बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, सबको समान रूप से हुआ था। इस रोग का एक विशेष उपद्रव समलवाय (ग्लॉकोमा) था। इस रोग में नेत्र के भीतर दाब (टेंशन), बढ जाती है और दृष्टिक्षेत्र (फील्ड ऑव् विज़न) क्षीण होता जाता है, यहाँ तक कि कुछ समय मे वह पूर्णतया समाप्त हो जाता है और व्यक्ति दृष्टिहीन हो जाता है। अत में दृष्टि-नाडी-क्षय (ऑप्टिक ऐट्रोफी) भी हो जाता हे। बाहर से देखने मे नेत्र सामान्य प्रकार के दिखाई पडते हैं, किंतु व्यक्ति को कुछ भी दिखाई नही पडता।

चिकित्सा—रोग होने पर, नाडी-क्षय के पूर्व, महामारी-शोथ की सामान्य चिकित्सा के अतिरिक्त कानिया और श्वेतपटल के सगम स्थान (कानियो-स्क्लीरल जकशन) पर एक छोटा छेद कर दिया जाता है। इसे ट्रिफाइनिग कहते हैं। इससे नेत्रगोलक के पूर्वकोष्ठ से द्रव्य बाहर निकलता रहता है और श्वेतकला द्वारा सोख लिया जाता है। इस प्रकार नेत्र की दाब बढने नही पाती।

(८) **समल्वाय (ग्लॉकोमा)**—अधता का यह भी बहुत बडा कारण हे। इस रोग मे नेत्र के भीतर की दाब बढ जाती है और दृष्टि का क्षय हो जाता है।

यह रोग दो प्रकार का होता है, प्राथमिक (प्राइमरी) और गौण (सेकडरी)। प्राथमिक को फिर दो प्रकारो मे बाँटा जा सकता है, सभरणी (कजेस्टिव) तथा असभरणी (नॉन-कजेस्टिव)। सभरणी प्रकार का रोग उग्र (ऐक्यूट) अथवा जीर्ण (क्रॉनिक) रूप मे प्रारभ हो सकता है। इसके विशेष लक्षण नेत्र मे पीडा, लालिमा, जलीय स्राव, दृष्टि की क्षीणता, आँख के पूर्वकोष्ठ का उथला हो जाना तथा नेत्र की भीतरी दाब का बढना है। अधिकतर, उग्र रूप मे पीडा और अन्य लक्षणों के तीव्र होने पर ही रोगी डाक्टर की सलाह लेता है। यदि डाक्टर नेत्ररोगो का विशेषज्ञ होता है तो वह रोग को पहचानकर उसकी उपयुक्त चिकित्सा का आयोजन करता है, जिसमे रोगी अधा नही होने पाता। किंतु जीर्ण रूप में लक्षणो के तीव्र न होने के कारण रोगी प्राय डाक्टर को तब तक नही दिखाता जब तक दृष्टिक्षय उत्पन्न नही हो जाता, परतु तब लाभप्रद चिकित्सा की आशा नही रहती। इस प्रकार के रोग के आक्रमण रह रहकर होते हैं। आक्रमणो के बीच के काल मे रोग के कोई लक्षण नही रहते। केवल पूर्वकोष्ठ का उथलापन रह जाता हे जिसका पता रोगी को नही चलता। इससे रोग के निदान मे बहुधा भ्रम हो जाता है।

भ्रम उत्पन्न करनेवाला दूसरा रोग मोतियाबिद है जो साधारणत अधिक आयु मे होता हे। जीर्ण प्राथमिक समलवाय भी इसी अवस्था मे होता है। इस कारण धीरे धीरे बढता हुआ दृष्टिह्रास मोतियाबिद का परिणाम समझा जा सकता हे, यद्यपि उसका वास्तविक कारण समलवाय होता है जिसमे शस्त्रकर्म से कोई लाभ नही होता।

अंधो की ब्रेल लिपि में हिंदी पुस्तक और उसे पढने का ढग

जायसवाल स्टूडियो

ये अक्षर उभरे विंदुओ से बनते है (देखे पृष्ठ ५७)। चित्र मे साकेत नामक पुस्तक के एक पृष्ठ का एक अंग दिखाया गया है। अँगुली के ऊपर की पक्ति मे लिखा है "क ल प भ ए द ह र इ च र इ त स उ ह आ य ए। भ आ त इ अ न ए क म उ न ई स न ग आ य ए", अर्थात् कल्प भेद हरि चरित सुहाये। भाँति अनेक मुनीसन गाये।
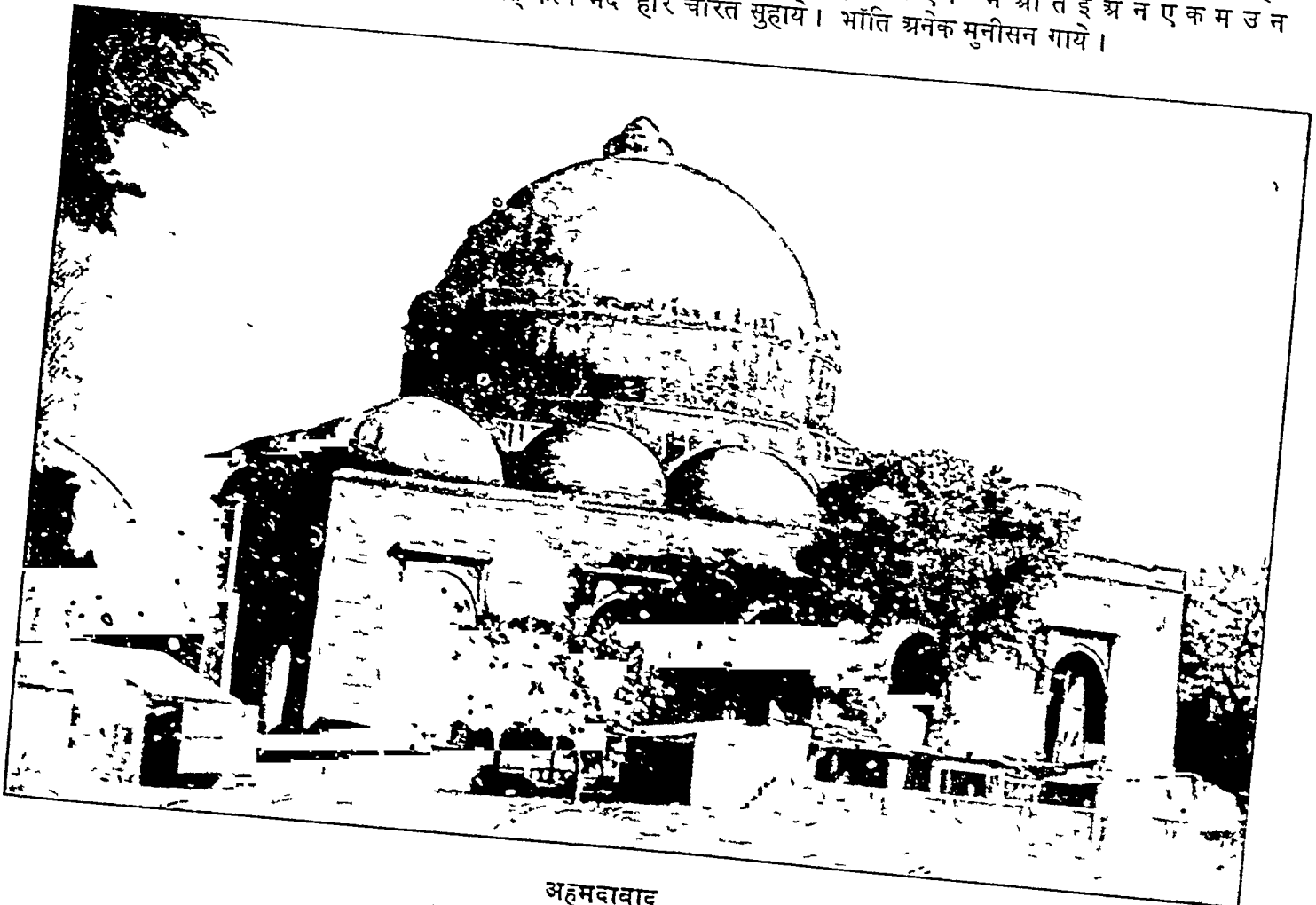
अहमदाबाद

दरियाखाँ का मकबरा (पृष्ठ ३०५)।

जायसवाल स्टूडियो

आम की मजरी
(देखें पृष्ठ ३६६।)

आतिशबाजी
(देखे पृष्ठ ३४५।)

वृद्धावस्था में दृष्टिह्रास होने पर रोगी की परीक्षा सावधानी से करना आवश्यक है। समलवाय के प्रारभ मे ही छेदन करने से दृष्टिक्षय रोका जा सकता है।

(६) **मोतियाबिंद**—यह प्राय वृद्धावस्था का रोग है। इसमें नेत्र के भीतर आइरिस के पीछे स्थित ताल (लेंस) कडा तथा अपारदर्शी हो जाता है (देखें मोतियाबिंद)। [स० पा० गु०]

अंधविश्वास

आदिम मनुष्य अनेक क्रियाओ और घटनाओ के कारणो को नही जान पाता था। वह अज्ञानवश समझता था कि इनके पीछे कोई अदृश्य शक्ति है। वर्षा, बिजली, रोग, भूकप, वृक्षपात, विपत्ति आदि अज्ञात तथा अज्ञेय देव, भूत, प्रेत और पिशाचो के प्रकोप के परिणाम माने जाते थे। ज्ञान का प्रकाश हो जाने पर भी ऐसे विचार विलीन नही हुए, प्रत्युत ये अधविश्वास माने जाने लगे। आदिकाल मे मनुष्य का क्रियाक्षेत्र सकुचित था। इसलिये अधविश्वासो की सख्या भी अल्प थी। ज्यो ज्यो मनुष्य की क्रियाओ का विस्तार हुआ त्यो त्यो अधविश्वासो का जाल भी फैलता गया और इनके अनेक भेदप्रभेद हो गए। अधविश्वास सार्वदेशिक और सार्वकालिक हैं। विज्ञान के प्रकाश मे भी ये छिपे रहते हैं। इनका कभी सर्वथा उच्छेद नही होता।

अधविश्वासो का सर्वसमत वर्गीकरण सभव नही है। इनका नामकरण भी कठिन है। पृथ्वी शेषनाग पर स्थित है, वर्षा, गर्जन और बिजली इद्र की क्रियाएँ हैं, भूकप की अधिष्ठात्री एक देवी है, रोगो के कारण प्रेत और पिशाच हैं, इस प्रकार के अधविश्वासो को प्राग्वैज्ञानिक या धार्मिक अधविश्वास कहा जा सकता है। अधविश्वासो का दूसरा बडा वर्ग है मत्र-तत्र। इस वर्ग के भी अनेक उपभेद हैं। मुख्य भेद हैं रोगनिवारण, वशीकरण, उच्चाटन, मारण आदि। विविध उद्देश्यो के पूर्त्यर्थ मत्र-प्रयोग प्राचीन तथा मध्य काल मे सर्वत्र प्रचलित था। मत्र द्वारा रोग-निवारण अनेक लोगो का व्यवसाय था। विरोधी और उदासीन व्यक्ति को अपने वश मे करना या दूसरो के वश मे करवाना मत्र द्वारा सभव माना जाता था। उच्चाटन और मारण भी मत्र के विषय थे। मत्र का व्यवसाय करनेवाले दो प्रकार के होते थे—मत्र मे विश्वास करनेवाले, और दूसरो को ठगने के लिये मत्रप्रयोग करनेवाले।

जादू, टोना, शकुन, मुहूर्त, मणि, तावीज आदि अधविश्वास की सतति हैं। इन सबके अतस्तल मे कुछ धार्मिक भाव हैं, परतु इन भावो का विश्लेषण नही हो सकता। इनमें तर्कशून्य विश्वास है। मध्ययुग मे यह विश्वास प्रचलित था कि ऐसा कोई काम नही है जो मत्र द्वारा सिद्ध न हो सकता हो। असफलताएँ अपवाद मानी जाती थी। इसलिये कूपिरक्षा, दुर्गरक्षा, रोगनिवारण, सततिलाभ, शत्रुविनाश, आयुवृद्धि आदि के हेतु मत्रप्रयोग, जादू टोना, मुहूर्त और मणि का भी प्रयोग प्रचलित था।

मणि धातु, काष्ठ या पत्ते की बनाई जाती है और उसपर कोई मत्र लिखकर गले या भुजा पर बाँधी जाती है। इसको मत्र से सिद्ध किया जाता है और कभी कभी इसका देवता की भाँति आवाहन किया जाता है। इसका उद्देश्य है आत्मरक्षा और अनिष्टनिवारण।

योगिनी, शाकिनी और डाकिनी सबधी विश्वास भी मत्रविश्वास का ही विस्तार है। डाकिनी के विषय मे इग्लैंड और यूरोप मे १७वी शताब्दी तक कानून बने हुए थे। योगिनी भूतयोनि मे मानी जाती है। ऐसा विश्वास है कि इसको मत्र द्वारा वश मे किया जा सकता है। फिर मत्र-पुरुष इससे अनेक दुष्कर और विचित्र कार्य करवा सकता है। यही विश्वास प्रेत के विषय मे प्रचलित है।

फलित ज्योतिष का आधार गणित भी है। इसलिये यह सर्वांशत अधविश्वास नही है। शकुन का अधविश्वास में समावेश हो सकता है। अनेक अधविश्वासो ने रूढियो का भी रूप धारण कर लिया है।

स०ग्र०—अथर्ववेद, मत्रमहोदधि, मत्रमहार्णव।

[म० ला० श०]

अंधों का प्रशिक्षण और कल्याण

जिन व्यक्तियो की दृष्टि बिलकुल नष्ट हो जाती है, या इतनी क्षीण हो जाती है कि वे दृष्टि की सहायता से किए जानेवाले कार्य करने मे असमर्थ हो जाते हैं, उनको अधा कहा जाता है।

हमारे देश मे अधो की सख्या तीस लाख के लगभग है। ससार के सब देशो की अपेक्षा, केवल मिस्र देश को छोड, हमारे देश मे अधिक अधे हैं। किंतु शिक्षा, चिकित्सा के साधन तथा स्वच्छता के प्रचार से इस सख्या मे कमी हो रही है। जैसा अन्यत्र वर्णित अधता के कारणो से ज्ञात होगा (देखें अधता), ६० प्रति शत अधता रोकी जा सकती है। जीवन के स्तर की उन्नति, शिक्षाप्रचार, पौष्टिक आहार, रोहे (कुकडे) नामक रोग की रोकथाम और टीका द्वारा चेचक के उन्मूलन से यह सख्या शीघ्र ही बहुत कम हो सकती है (देखें रोहे)। अधता कम करने के लिये सरकार की ओर से विशेष आयोजनाएँ की गई हैं। मोतियाबिंद के, जो अधता का दूसरा बडा कारण है, शस्त्रकर्म के लिये विशेष केंद्र खोले गए हैं। नवीन प्रतिजीवी ओषधियो (ऐंटीबायोटिक्स) के प्रयोग से नेत्रसक्रमण का रोकना भी अब सरल हो गया है। इस प्रकार आशा की जाती है कि शीघ्र ही दृष्टिहीनता की दशा में बहुत कुछ कमी हो जायगी।

अधो की देखभाल करने तथा उनके जीवन को कष्टरहित और समाज के लिये उपयोगी बनाने का उत्तरदायित्व सरकार पर है। यह दृष्टिहीनो का अधिकार है कि सरकार या समाज की ओर से उनकी देखभाल की जाय, उनको शिक्षित किया जाय, उनके जीवन की आवश्यकताएँ पूरी की जायँ और उनको समाज मे उपयुक्त स्थान प्राप्त हो, न कि वे समाज की दया के पात्र बने रहें।

छोटे अधे बच्चे के लिये उसका घर ही सबसे उत्तम स्थान है जहाँ माता-पिता का प्रेमयुक्त व्यवहार उसको उपलब्ध हो और उसकी देखभाल प्रेमपूर्वक की जा सके। जब बच्चा चलने लगता है तो उसको गिरने या टकरा जाने से बचाने की आवश्यकता होती है। किंतु वह शीघ्र ही अपना रास्ता ज्ञात कर लेता और वहाँ की परिस्थितियो से परिचित हो जाता है। उसके लिये ऐसे खिलौने नही चुनने चाहिए जिनमें उभरे हुए कोने या नोकें हों, इनसे उसको चोट लग सकती है। कुछ देशो मे ऐसे स्कूल हैं जहाँ दो वर्ष की आयु से अधे बच्चो को रखा जाता है।

छ वर्ष की आयु प्राप्त करने पर बच्चे की शिक्षा का प्रश्न उठता है। उस समय उसे किसी ऐसे स्कूल मे रखना उत्तम है जहाँ उसके रहने का भी प्रबध हो। ऐसे स्कूलो मे प्रत्येक बच्चे के अनुकूल शिक्षा का प्रबध रहता है और उसे कोई दस्तकारी सिखाई जाती है या उच्चतर शिक्षा के लिये तैयार किया जाता है। वहाँ का वातावरण विशेष रूप से मनोरजक और चित्ताकर्षक रखा जाता है। सगीत, नृत्य और शारीरिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता है। पढने और लिखने के लिये केवल ब्रेल विधि का प्रयोग किया जाता है। इस विधि को ब्रेल नाम के एक फ्रास-निवासी ने निकाला और उसी के नाम से यह विधि ससार के सभी देशो मे प्रचलित हो गई है। इसमें कागज पर उभरे हुए बिंदु बने रहते हैं जिनको उँगलियो से छूकर बालक पढना सीख जाता है। प्रत्येक अक्षर के लिये बिंदुओ की सख्या अथवा उनका क्रम भिन्न होता है। ससार की सभी भाषाओ मे इस प्रकार की पुस्तकें छापी गई हैं जिनके द्वारा अधे बालको को शिक्षा दी जाती है। जितना ही शीघ्र शिक्षा का आरभ किया जा सके उतना ही उत्तम है। शीघ्र ही बालक उँगलियो से पुस्तक के पृष्ठ पर उभरे हुए बिंदुओ को स्पर्श करके उसी प्रकार पढने लगता है जैसे अन्य बालक नेत्रो से देखकर पढते हैं। ग्रामोफोन के रेकार्डो तथा टेप-रेकार्डरो मे भी ऐसी पुस्तकें उपलब्ध हैं जिनका उपयोग अधे बालको की शिक्षा के लिये किया जा सकता है।

दृष्टिहीन बालक के लिये औद्योगिक अथवा व्यावसायिक शिक्षा अत्यत आवश्यक है। उसमें स्वावलबी बनने, अपने पावो पर खडे होने तथा स्वाभिमान उत्पन्न करने के लिये आवश्यक है कि उसे किसी ऐसे व्यवसाय की शिक्षा दी जाय जिससे वह अपना जीविकोपार्जन करने मे समर्थ हो। अध सस्थाओ मे ऐसी शिक्षा का, विशेषकर बुनने, जाल बनाने, हाथ करघे (हैंडलूम) पर कपडा बुनने, चटाई बुनने, दरी बुनने, तथा ब्रुश बनाने आदि व्यवसायो की शिक्षा का विशेष प्रबध रहता है। अधे टाइपिस्ट का काम भी अच्छा कर लेते हैं, मैनेजर चिट्ठी आदि को टेप-रेकार्डर मे बोल देता है और तब अधा टेप-रेकार्डर को सुनता चलता और टाइप करता जाता है। विशेष प्रतिभाशाली बालक, शिक्षा मे जिनकी विशेष रुचि होती है, कालेज की उच्च शिक्षा प्राप्त करके बडी बडी डिग्री ले सकते हैं और शिक्षक अथवा वकील बनकर इन व्यवसायो को जीविको-

पार्जन का माधन बना सकते हैं। हमारे देश मे मगीत दृष्टिहीनो का एक अति प्रिय व्यवसाय है। गायन तथा वाद्य सगीत की उत्तम शिक्षा प्राप्त करके वे सगीतज्ञ बन जाते हैं और यश तथा अर्थ दोनो के भाजन बनते हैं।

व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अंधो को काम पर लगाने का प्रश्न आता है। यह समाजसेवी सस्थाओं का क्षेत्र है। ऐसी सस्थाएँ होनी चाहिए जो दृष्टिहीन शिक्षित व्यक्तियो को काम पर लगाने में सहायता कर सकें और उनकी बनाई हुई वस्तुओ को बाजार में बिकवाने का प्रबध कर सके। अधे ऐसे कारखानो में काम करने के योग्य नही होते जहाँ पग पग पर दुर्घटना का भय रहता है। जहाँ बडी बडी मशीनें, भट्ठियाँ, खराद या चक्के चलते हो वहाँ तनिक सी भूल से अंधे का जीवन सकट में पड सकता है। परतु खुले हुए कारखानो में, जहाँ चलने फिरने की अधिक स्वतत्रता रहती है, वे भली प्रकार काम कर सकते हैं। कुछ दृष्टिहीन बडे मेधावी होते हैं और शिक्षको, वकीलो, सगीतज्ञो तथा व्यवसायियो मे प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने मे सफल होते हैं। किंतु उनको उनके व्यवसाय स्थान तक ले जाने और वहाँ से लाने के लिये किसी सहायक की आवश्यकता होती है। यह काम कुत्तो से लिया जा सकता है। विदेशो मे कुत्तो को इस काम के लिये विशेष रूप से तैयार किया जाता है। वे अपने मालिक को नगर के किसी भी भाग में ले जा सकते और निर्विघ्न लौटा ला सकते हैं।

जो व्यक्ति युवा या प्रौढावस्था मे अपने नेत्र गँवा देते हैं उनका प्रश्न कुछ भिन्न होता है। प्रथम तो उनको इतना मानसिक क्षोभ होता है कि उससे उबरने और चारो ओर की परिस्थितियो के अनुकूल बनने मे बहुत समय लगता है। उनको समाजसेवी सस्थाएँ बहुत सहायता पहुँचा सकती है। अधो को स्वावलबी बनाने मे ये सस्थाएँ बहुत कुछ कर सकती हैं।

जो वृद्धावस्था में नेत्रो से वचित हो जाते हैं उनका प्रश्न सबसे टेढा है। इस अवस्था में अपने को नवीन परिस्थितियो के अनुकूल बनाना उनके लिये दूभर हो जाता है। जिनके लिये अपने घर पर ही अच्छा प्रबध नही हो सकता उनके लिये समाज और सरकार की ओर से ऐसी सस्थाएँ होनी चाहिए जहाँ इन वृद्धो को समान और प्रेम सहित, शारीरिक अपूर्णता-जनित कठिनाइयो से मुक्त करके, रखा जा सके और अपने जीवन के अत तक वे सतोष और आत्मीयता का अनुभव कर सके। जाति, समाज और सरकार सबका यह कर्तव्य है। [कृ० ना० मा०]

अंध्र, अंध्रभृत्य

दक्षिण भारत का प्रसिद्ध राजवश, जिसका उल्लेख पुराणो—ब्रह्माड, मत्स्य, विष्णु, वायु तथा श्रीमद्भागवत् में मिलता है। सस्कृत साहित्य में अन्यत्र भी कही कही पर अध्रो का विवरण उपलब्ध है। प्रसिद्ध भौगोलिक तालेमी ने भी पुलुमावि और उसके राज्य का उल्लेख किया है। शिलालेखो और मुद्राओ में शातवाहन और शातकर्णि तथा उनके वशजो के नाम मिलते हैं जो पुराणो की अध्र-वशजो की तालिका से मिलते जुलते हैं। इस आधार पर विद्वानो ने अध्र, आध्र, शातकर्णि, सातकर्णि तथा सातवाहन, शातवाहन और शालिवाहन को एक ही वश के भिन्न भिन्न नाम माने हैं। पुराणो ने उस वश को अध्र अथवा अध्रभृत्य सज्ञा देकर विद्वानो के समुख एक समस्या रख दी है। बारनेट के मतानुसार इनका आदिस्थान वर्तमान तेलगाना जिला था। सुक्यकर ने शातवाहनो का मूल स्थान सतहरथ (वेलारी जिला, मैसूर राज्य) माना है। रायचौधरी का कथन है कि शातवाहन सम्राटो के लिये अध्र वश का प्रयोग उस समय हुआ जब उत्तरी और पश्चिमी भाग से उनका आधिपत्य जाता रहा।

ऐतरेय ब्राह्मण ने अध्र, पुड्र, शबर तथा पुलिंद जातियो को दस्यु श्रेणी मे रखा है और उनको विश्वामित्र के परित्यक्त पुत्रो की सतान माना है। बाण ने 'कादबरी' मे शबरो को विध्य के जगलो का निवासी बताया है। अशोक ने अपने १३वें शिलालेख में आध्रो तथा पुलिंदो को अपनी प्रजा माना है। कलिंग के सम्राट् खारवेल के हाथीगुफा लेख में चेदि सम्राट् द्वारा पश्चिम दिशा मे स्थित शातकर्णि के विरुद्ध सेना भेजने का उल्लेख है। इन प्रमाणो से यह प्रतीत होता है कि इस वश का नामकरण भौगोलिक आधार पर नही हुआ और न इसका मूल स्थान अध्र देश या कृष्णा और गोदावरी के मुहाने पर की विरलभूमि (डेल्टा) थी।

पुराणो के मतानुसार अध्रवश के सिमुक अथवा शिशुक ने अतिम कण्व सम्राट् सुशर्मन् का वध कर राज्य की बागडोर अपने हाथ में ले ली। इस प्रकार मौर्यों के बाद क्रम से शुग, काण्व तथा अध्र राजाओ ने राज किया। इनमें से कोई भी वश दूसरे का समकालीन नही था। मौर्य वश का अत ईसा पूर्व १८५ के लगभग हुआ। फिर अन्य दो वशो ने क्रमश ११२ और ४५ (योग १५७) वर्षो तक राज किया। इस आधार पर अध्रवश के प्रथम नरेश की तिथि ईसा पूर्व २८ मानी गई है। अन्य विद्वानो ने इसके विपरीत अध्र वश के प्रारभिक राजाओ को अतिम मौर्य तथा शुग राजाओ का समकालीन माना है। बारनेट के मतानुसार अशोक की मृत्यु के बाद साम्राज्य मे अराजकता फैली और निकटवर्ती राजाओ ने अपने अपने राज्यो की सीमाएँ बढाने का प्रयास किया। उनमे से सिमुक भी एक था और इसने ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी के अतिम भाग में शातवाहन अथवा शातकर्णि वश की स्थापना की और तेलगू देश मे लगभग पाँच शताब्दियो तक इस वश ने राज किया। पुराणो के अनुसार इस वश में ३० राजा हुए और उन्होने ४५० वर्षो तक राज किया। अभिलेखो मे प्रारभिक सम्राट् सिमुक अथवा शिशुक, उसके भाई कृष्ण तथा पुत्र शातकर्णि और गौतमीपुत्र शातकर्णि, वासिष्ठीपुत्र श्रीपुलुमावि तथा यज्ञश्री के नाम मिलते हैं। इनके सिक्के भी मिले हैं। खारवेल के हाथीगुफा तथा नानाघाट के लेखो और उनकी लिखावट से प्रतीत होता है कि प्रारभिक सम्राट् मौर्यकाल के अतिम समय में रहे होगे। तीसरा सम्राट् शातकर्णि खारवेल का समकालीन था जिसकी तिथि कुछ विद्वानो ने लगभग ईसा पूर्व १७० रखी है। बाद के तीन सम्राटो की तिथि उषवदात तथा शकक्षत्रप चष्टन और उसके पौत्र रुद्रदामन् के लेखो से ज्ञात होती है। नासिक, कार्ले तथा जूनागढ के लेखो से ज्ञात होता है कि ये अध्र शातवाहन सम्राट् इन क्षत्रपो के केवल समकालीन ही नही थे वरन् इनमे सघर्ष भी होता रहा। गौतमीपुत्र ने शक, यवन तथा पहलवो को हराया और क्षहरात वश का नाश किया। रुद्रदामन् ने पुलुमावि को हराया। यज्ञश्री ने अपने वश की खोई प्रतिष्ठा पुन प्राप्त की। रुद्रदामन् की तिथि ईसवी सन् १५० है। अत इन तीन सम्राटो को ईसवी सन् ११० से १६० तक के अतर्गत रख सकते हैं।

इस अध्र वश के राजाओ का उल्लेख करते हुए पुराणो मे लिखा है कि अध्रवश के राज्यकाल में ही उनके भृत्य या कर्मचारी वश के सात राजा राज करेगे। ('अध्राना सस्थिते वशे तेषा भृत्यान्वये पुन, सप्तैवाध्रा भविष्यन्ति दशभीरास्ततो नृपा।—ब्रह्माण्ड)। मत्स्य मे 'वशे' के स्थान पर 'राज्ये' पाठ है। कुछ विद्वानो ने अध्र वश और अध्रभृत्य वश को एक दूसरे से भिन्न माना है। रामकृष्ण गोपाल भडारकर के मतानुसार पहले इस वश के कुमार पाटलिपुत्र सम्राट् के अधीन रहे होगे, इसीलिये उन्हें 'भृत्य' कहकर सबोधित किया गया। इसके बाद वे स्वतत्र हो गए। स्मिथ ने अपने इतिहास मे अध्रभृत्य शब्द का प्रयोग ही नही किया। रैप्सन ने भी स्पष्ट रूप से अपना मत नही प्रगट किया। उनका कथन है कि अध्रवश को अध्रभृत्य और सातवाहन कहकर भी सबोधित किया गया है और चीतलद्रुग मे मिले सिक्के कदाचित् उनके अधीन राजाओ द्वारा चलाए गए होगे जिन्होने यज्ञश्री के बाद पश्चिम और दक्षिण के प्रातो पर अपना राज्य स्थापित कर लिया था। भडारकर ने अध्रभृत्य को कर्मधारय समास मानकर सपूर्ण अध्र राजाओ को भृत्य श्रेणी मे रखा, किंतु अन्य विद्वानो ने इसे तत्पुरुष समझकर अध्र राजाओ के दो वश माने—एक अध्रो का वश दूसरा उनके भृत्यो का। वास्तव में समस्त अध्र सम्राटो को भृत्य की श्रेणी में रखना उचित नही। पुराणो मे काण्व वश को शुगभृत्य कहकर सबोधित किया गया है (चत्वार शुगभृत्यास्ते काण्वायना द्विजा—ब्रह्माण्ड)।

ऐसी परिस्थिति मे अध्रसम्राटो को न तो मौर्य अथवा शुग सम्राटो का भृत्य ही मान सकते हैं और न इन दोनो वशो का पृथक् अस्तित्व ही दिखा सकते है। पुराणो मे अध्रभृत्य सम्राटो का नाम नही मिलता। कृष्णराव के मतानुसार अध्र राजवश के पतन के पश्चात् दक्षिणापथ में आभीरो और चुटु कुल के राजाओ ने अपना आधिपत्य जमाया और यह चुटु सम्राट् ही पुराणो मे उल्लिखित अध्रभृत्य हैं। अध्र अथवा अध्रभृत्य वश के सम्राटो की तिथि, इतिहास आदि का सपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये अभी और सामग्री का मिलना आवश्यक है (देखिए 'सातवाहन')।

स०ग्र०—बारनेट, एल डी कैब्रिज हिस्ट्री ऑव इडिया, खड १ (दक्षिण भारत का इतिहास सबधी अध्याय), बारनेट सातवाहन और

शातकर्णि (वी० एस० ओ० एस०, खड ६, भाग २), बोस, जी० एस० रिकास्ट्रक्टिंग ऑव आध्र क्रानालोजी (जे० आर० ए० एस० बी० लेटर्स, खड ५, १९३९), कृष्णराव ए हिस्ट्री ऑव दि अर्ली डाइनेस्टीज ऑव अध्र देश, श्रीनिवास आयगर, पी०टी० मिसकसेप्शस एवाउट दि अध्राज, आई० ऐ०, १९१३, सुक्थनकर, वी० एस० होम ऑव दि आध्र किंग्स, ऐनल्स ऑव भ० ओ० रि० ३०, खड १। [वैं० पु०]

अंबपाली बुद्धकालीन वैशाली की लिच्छवि गणिका जो बुद्ध के प्रभाव से उनकी शिष्या हुई और जिसने वौद्ध सघ का अनेक प्रकार के दानो से महत् उपकार किया। महात्मा वुद्ध राजगृह जाते या लौटते समय वैशाली मे रुकते थे जहाँ एक वार उन्होने अवपाली का भी आतिथ्य ग्रहण किया था। वौद्ध ग्रथो में वुद्ध के जीवनचरित पर प्रकाश डालनेवाली घटनाओ का जो वर्णन मिलता है उन्ही मे से अवपाली के सवध की एक प्रसिद्ध और रुचिकर घटना है। कहते है, जब तथागत एक बार वैशाली मे ठहरे थे तब जहाँ उन्होने देवताओ की तरह दीप्यमान लिच्छवि राजपुत्रो की भोजन के लिये प्रार्थना अस्वीकार कर दी वही उन्होने गणिका अवपाली की निष्ठा से प्रसन्न होकर उसका आतिथ्य स्वीकार किया। इससे गर्विणी अवपाली ने उन राजपुत्रो को लज्जित करते हुए अपने रथ को उनके रथ के वरावर हाँका। उसने सघ को आमो का अपना वगीचा भी दान कर दिया था जिससे वह अपना चौमासा वहाँ विता सके।

इसमे सदेह नही कि अवपाली ऐतिहासिक व्यक्ति थी; यद्यपि कथा के चमत्कारो ने उसे असाधारण वना दिया है। सभवत वह अभिजात-कुलीना थी और इतनी सुदरी थी कि लिच्छवियो की परपरा के अनुसार उसके पिता को उसे सर्वभोग्या वनाना पडा। सभवत उसने गणिका जीवन भी विताया था और उसके कृपापात्रो मे शायद मगध का राजा विविसार भी था। विंविसार का उससे एक पुत्र होना भी वताया जाता है। जो भी हो, वाद मे अवपाली वुद्ध और उनके सघ की अनन्य उपासिका हो गई थी और उसने अपने पाप के जीवन से मुख मोडकर अर्हत् का जीवन विताना स्वीकार किया। [ओ० ना० उ०]

अंबर (वर्तमान आमेर) राजस्थान की एक प्राचीन विध्वस्त नगरी है जो १७२८ ई० तक अवर राज्य की राजधानी थी। यह राजस्थान की वर्तमान राजधानी जयपुर के उत्तर लगभग ५ मील की दूरी पर स्थित है। इसके पुराने इतिहास का ठीक ठीक पता नही चलता। कहा जाता है, इस नगरी की स्थापना मीनाओ द्वारा हुई थी। ९६७ ई० मे यह बहुत समृद्धिशाली थी। मीनाओ ने सुरक्षा की दृष्टि से इस स्थान को उन विपत्तियो के दिनो मे वडी बुद्धिमानी से चुना था। यह नगरी अरावली की एक घाटी मे वसी है जो लगभग चारो ओर से पर्वतो द्वारा घिरी हुई है। कई दिनो की लडाई के पश्चात् राजपूतो ने इसे १०३७ ई० मे मीनाओ के राजा से जीत लिया और अपनी शक्ति को यही केंद्रित किया। तभी से यह राजपूतो की राजधानी वनी और राज्य का नाम भी अवर राज्य पड़ा। १७२८ मे जव इस राज्य की सत्ता सवाई जयसिंह द्वितीय के हाथ मे गई, तो उन्होने राजधानी को जयपुर मे स्थानातरित किया और इस कारण तव से अवर की प्रसिद्धि घटती गई।

अवर का प्राकृतिक सौंदर्य वहुत ही उच्च कोटि का है। दर्शनीय स्थानो मे राजपूतो का प्रासाद सुविख्यात है। इस प्रासाद को १६०० ई० मे राजा मानसिंह ने वनवाया था। इसकी ऊँची मजिल से चारो ओर का दृश्य अवर्णनीय रम्य चित्र उपस्थित करता है। यहाँ का दीवानेआम भी दर्शनीय भवन है। इसे मिर्जा राजा जयसिह ने वनवाया था। इसके खभो की शिल्पकला इतिहासप्रसिद्ध है।

वर्तमान अवर नगरी में कुछ पुराने आकर्षक ऐतिहासिक खडहरो के अतिरिक्त और कुछ उल्लेखनीय नही है। यह नगरी इस समय लगभग उजाड हो चुकी है। वडी वडी इमारते ध्वसोन्मुख है और काल के कराल ग्रास मे इतिहासप्रसिद्ध अवर अव प्राय एक स्मृति मात्र रह गई है। अवर मे नगरपालिका है। १९५१ मे इसकी जनसख्या ६,४०७ थी। [वि० मु०]

अंबरनाथ (अथवा अमरनाथ) ववई राज्य के थाना जिले के कल्याण तालुका का एक नगर है (१९°१२' उ० अ० तथा ७३° १०' पू० दे०) जो ववई नगर से ३८ मील की दूरी पर स्थित है। यह मध्य रेलवे का एक स्टेशन भी है जो नगर से लगभग एक मील पूर्व दिशा मे स्थित है। यहाँ से एक मील से भी कम की दूरी पर पूर्व की ओर एक प्राचीन हिंदू देवालय है जो प्राचीन हिंदू शिल्पविद्या का एक ज्वलत उदाहरण है। परतु अव यह खडहर सा हो गया है। इसके अतर्गत १०६० ई० का एक प्राचीन शिलालेख पाया गया है। यहाँ की मुख्य मूर्तियो मे एक त्रैमस्तकी मूर्ति, जिसके घुटनो पर एक नारी भी उपविष्ट है, मुख्य है। सभवत यह मूर्ति शिव पार्वती को निरूपित करने के हेतु निर्मित की गई थी। यहाँ पर माघ मास (फरवरी-मार्च) मे शिवरात्रि के पर्व पर एक मेला लगता है। यहाँ पर दियासलाई का एक कारखाना भी है। क्षेत्रफल २६ वर्ग मील, जनसख्या ४८५ (१९०१ मे) तथा २१,४९८ (१९५१ मे)। [न० ला०]

अंबरीष इक्ष्वाकु से २८ वी पीढी मे हुआ अयोध्या का सूर्यवशी राजा। वह प्रशुश्रक का पुत्र था। पुराणो मे उसे परमवैष्णव कहा गया है। इसी के कारण विष्णु के चक्र ने दुर्वासा का पीछा किया था। 'महाभारत', 'भागवत' और 'हरिवश' मे अवरीष को नाभाग का पुत्र माना गया है। 'रामायण' की परपरा उसके विपरीत है। उस कथा के अनुसार जब अवरीप यज्ञ कर रहे थे तब इद्र ने वलिपशु चुरा लिया। पुरोहित ने तव वताया कि अव उस प्रनष्ट यज्ञ का प्रायश्चित्त केवल मनुष्य-वलि से किया जा सकता है। फिर राजा ने ऋषि ऋचीक को बहुत धन देकर वलि के लिये उसके कनिष्ठ पुत्र शुन शेप को खरीद लिया। 'ऋग्वेद' मे उस बालक की विनती पर विश्वामित्र द्वारा उसके वधनमोक्ष की कथा सूक्तवद्ध है। [भ० श० उ०]

अंबष्ठ सस्कृत और पालि साहित्य मे अवष्ठ जाति तथा देश का उल्लेख अनेक स्थलो पर मिलता है। इनके अतिरिक्त सिकदर के इतिहास से सवधित कतिपय ग्रीक और रोमन लेखको की रचनाओमे भी अवष्ठ जाति का वर्णन हुआ है। दिओदोरस, कुर्तियस, जुस्तिन तथा ताँलेमी ने विभिन्न उच्चारणो के साथ इस शब्द का प्रयोग किया है। प्रारभ मे अवष्ठ जाति युद्धोपजीवी थी। सिकदर के समय (३२७ ई० पू०) उसका एक गणतत्र था और वह चिनाव के दक्षिणी तट पर निवास करती थी। आगे चलकर अवष्ठो ने सभवत चिकित्साशास्त्र को अपना लिया, जिसका परिज्ञान हमे मनुस्मृति से होता है (मनु० १०,१५)। [च० म०]

अंबा काशिराज इद्रद्युम्न की तीन कन्याओ मे सवसे बडी, जिसकी छोटी वहिने अविका और अवालिका थी। 'महाभारत' की कथा के अनुसार भीष्म ने अपने भाई विचित्रवीर्य के लिये स्वयवर मे तीनो को जीत लिया। अवा राजा शाल्व से विवाह करना चाहती थी इससे भीष्म ने उसे राजा के पास भेज दिया, परतु शाल्व ने उसे ग्रहण नही किया। तव भीष्म से वदला लेने के लिये वह तप करने लगी। शिव को तप द्वारा प्रसन्न कर उसने चितारोहण किया। शिव के वरदान से, उस कथा के अनुसार, अगले जन्म मे वह शिखडी हुई जिसने भीष्म का महाभारतयुद्ध मे वध किया। [भ० श० उ०]

अंबाला भारत के पजाव राज्य का एक जिला तथा उसके प्रधान नगर का नाम है। अवाला जिला अक्षाश २९° ४९' उ० से ३१°१२' उ० तक तथा देशातर ७६° २२' पू० से ७७° ३९' पू० तक स्थित है। इसका क्षेत्रफल लगभग २,५७० वर्ग मील है और जनसख्या ६,४३,७३४ (१९५१) है। इसके उत्तर-पूर्व मे हिमालय, उत्तर मे सतलज नदी, पश्चिम मे पटियाला और लुधियाना जिले तथा दक्षिण मे कर्नाल जिला और यमुना नदी है।

अवाला नगर समुद्रतट से १,०४० फुट की ऊँचाई पर, एक खुले मैदान मे, घग्घर नदी से तीन मील दूर, अक्षाश ३०° २१' २५'' उ०, देशातर ७६° ५२' १४'' पू० पर, स्थित है। यह शहर लगभग १४वी शताब्दी मे अवा राजपूतो द्वारा वसाया गया था। अग्रेजी अधिकार के पहले इसका कोई विशेष महत्व नही था। १८२३ मे राजा गुरुवशसिंह की पत्नी दयाकौर के देहात के वाद यह नगर अग्रेजो के कब्जे मे आया तथा सतलज के उस पारवाले राज्य का प्रवध करने के लिये पोलिटिकल एजेट की नियुक्ति हुई। सन् १८४३ मे नगर के दक्षिण की ओर सैनिक छावनी वनी और १८९९ मे, जव पजाव अग्रेजो के राज्य मे ममिलित हो गया, यह जिले का केंद्रीय नगर वना।

आधुनिक अवाला नए तथा पुराने दो भागो मे बँटा है। पुराने भाग के रास्ते वहुत ही पतले, टेढे मेढे और अधकारमय है। नया भाग सैनिक छावनी के आसपास विकसित हुआ है। इसकी सडकें चौडी तथा स्वच्छ है और मकान भी अच्छे ढग से वने है।

व्यापार की दृष्टि से अवाला की स्थिति महत्वपूर्ण है। इसके एक ओर यमुना और दूसरी ओर सतलज वहती है। पजाव के दिल्ली जानेवाले रेलमार्ग यहाँ से होकर जाते है और ग्रैंड ट्रक रोड भी इस नगर से होकर जाती है। भारत सरकार की ग्रीष्मकालीन राजधानी शिमला के पास होने के कारण इसका महत्व और भी वढ गया है। शिमला पहाड यहाँ से अस्सी मील दूर है। पहाडी अचल के लिये यह एक प्रधान व्यवसाय केंद्र है। इस जिले मे उत्पन्न अनाजो के व्यवसाय के लिये यहाँ एक वडा वाजार है। यहाँ रुई, मसाले तथा इमारती लकडी का व्यवसाय होता है। उद्योगो मे डेयरी उद्योग, आटा पीसना, खाद्य पदार्थ तैयार करना, वस्त्र की सिलाई और लकडी तथा वाँस की वस्तुएँ वनाना उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त काच, वैज्ञानिक यत्र तथा कलपुरजे तैयार करने के कुछ कारखाने भी है। कालीन वनाना यहाँ का प्रधान उद्योग है और यह पर्याप्त मात्रा में वाहर भेजा जाता है।

अवाला नगर की आवादी ५२,६८५ है(१९५१)। [वि० मु०]

अंबालिका काशिराज इद्रद्युम्न की सवसे छोटी कन्या और अवा तथा अविका की भगिनी। भीष्म ने स्वयवर मे इसे जीतकर अपने भाई विचित्रवीर्य से व्याह दिया था। विधवा होने पर व्यास ने नियोग द्वारा उससे पाडवो के पिता पाडु को उत्पन्न किया। [भ०श०उ०]

अंबासमुद्रम् मद्रास राज्य के तिरुनेलवेली जिले का एक तालुका तथा नगर है (स्थिति ८° ४२' उ० अ० तथा ७७° २७' पू० दे०) जो ताम्रपर्णी नदी के वाएँ किनारे पर तिरुनेलवेली नगर से २० मील की दूरी पर स्थित है। यह दक्षिणी रेलवे का एक स्टेशन भी है। यहाँ के स्थानीय कार्यो का प्रवध पचायत सघ द्वारा होता है। यहाँ पर एक हाई स्कूल है। जनसख्या. २०,३५६ (१९५१)। [न० ला०]

अंबिका काशिराज की तीन कन्याओ मे मँझली जिसे जीतकर भीष्म ने विचित्रवीर्य से व्याह दिया था। पति के मरने पर उस विधवा से व्यास ने नियोग द्वारा कौरवो के पिता धृतराष्ट्र को उत्पन्न किया। [भ० श० उ०]

अंशशोधन यदि थर्मामीटर की नली का भीतरी व्यास सर्वत्र समान न हो तो बरावर बरावर दूरी पर डिगरी के चिह्न लगाने से त्रुटियाँ उत्पन्न होगी। फलत ताप की सच्ची नाप के लिये यह जानना आवश्यक होता है कि प्रत्येक चिह्न पर कितनी त्रुटि है। इसी प्रकार प्रत्येक मापक यत्र के लिये यह जानना आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक चिह्न (अश) पर कितनी त्रुटि है। इसी को अशशोधन (कैलिब्रेशन) कहते है। यत्र चाहे कितनी भी सावधानी से क्यो न वनाए जायँ, बनने पर सूक्ष्म जाँच से अवश्य ही कही न कही कुछ त्रुटि पाई जाती है। फिर, समय बचाने के लिये यत्रनिर्माता बहुधा पूर्ण शुद्धता लाने की चेष्टा भी नही करते। इसलिये सूक्ष्म नापो में अशशोधन महत्वपूर्ण होता है।

अतर्राष्ट्रीय विज्ञान सघ ने मौलिक तथा उद्भूत राशियो की परिभाषाएँ दे रखी हैं और उनकी इकाइयाँ भी निश्चित कर दी है। इनके मापन के लिये प्रामाणिक उपकरण बनाए गए है। यदि कोई नवीन मापक यत्र बनाया जाता है तो उसका अशशोधन उन्ही प्रामाणिक यत्रो के अशो की तुलना से किया जाता है।

उदाहरण—सेटीग्रेड तापमापक का अधोविदु शुद्ध जल का हिमाक माना गया है और ऊर्ध्वविदु क्वथनाक। हिमाक और क्वथनाक जल की अशुद्धियो और न्यूनाधिक वायुदाव के कारण बदल जाते है। अत निम्नलिखित भौतिक परिस्थितियाँ भी निर्धारित कर दी गई है जल शुद्ध होना चाहिए और वायुदाव ७६ सें०मी० पारद-स्तभ के बरावर होना चाहिए। नया तापमापक बनाते समय नली की घुडी (वल्व) मे पारा भरकर इन दो विंदुओ का स्थान नली मे पहले अकित किया जाता है। फिर इनके वीच के स्थान को १०० वरावर भागो मे वाँट दिया जाता है।

किसी वस्तु का ताप ज्ञात करते समय, मान लीजिए, पारे की सतह ४० अश पर पहुँची, तो ४०° तभी शुद्ध पाठ होगा जब नली का प्रस्थच्छेद (क्रॉस-सेक्शन) सर्वत्र एक समान हो और ०° से १००° के चिह्न ठीक ठीक दूरी पर लगाए गए हो। किंतु नली का प्रस्थच्छेद आदर्श रूप में सर्वत्र समान नही होता और अशाकन में भी त्रुटियाँ हो सकती है। इन्ही कारणो से अशशोधन की आवश्यकता पडती है। इसके लिये नए तापमापक के पाठो की तुलना एक प्रामाणिक तापमापक से की जाती है जो उसी के साथ समान परिस्थिति मे रखा रहता है,।

प्रस्थच्छेद की समानता की जाँच नली मे पारे का लगभग एक इच लवा स्तभ रखकर और उसे विविध स्थानो मे खिसकाकर की जा सकती है। यदि प्रस्थच्छेद सर्वत्र समान होगा तो पारे के स्तभ की लवाई सर्वत्र समान होगी। इसी प्रकार दो स्थिर दूरसूक्ष्मदर्शियो के वीच पडनेवाले अशचिह्नो को कई स्थानो में देखकर स्थिर किया जा सकता है कि नली पर सव चिह्न वरावर दूरियो पर लगे है या नही। अव यदि प्रस्थच्छेद एक समान है और चिह्न वरावर दूरियो पर है तो दूसरा शोधन हमें अधोविंदु और ऊर्ध्वविंदु के लिये करना पडता है। इनका निशान अप्रामाणिक परिस्थितियो में लगाया गया है। जल मे अशुद्धि हो सकती है और वायुदाव भी ठीक ७६ सें०मी० नही रहता। इन कारणो से जल का हिमाक और क्वथनाक बदल जाता है। अत प्रस्तुत परिस्थितियो मे तापमापक के अधोविंदु तथा ऊर्ध्वविंदु के पाठ लिए जाते है और प्रामाणिक तापमापक के पाठो से तुलना कर दोनो विंदुओ के सशोधन का मान निकाला जाता है। फिर तापमापक के अश य-रेखा पर और सशोधन र-रेखा पर अकित कर लेखाचित्र (ग्राफ) वना लिया जाता है (चित्र १)। इस लेखाचित्र
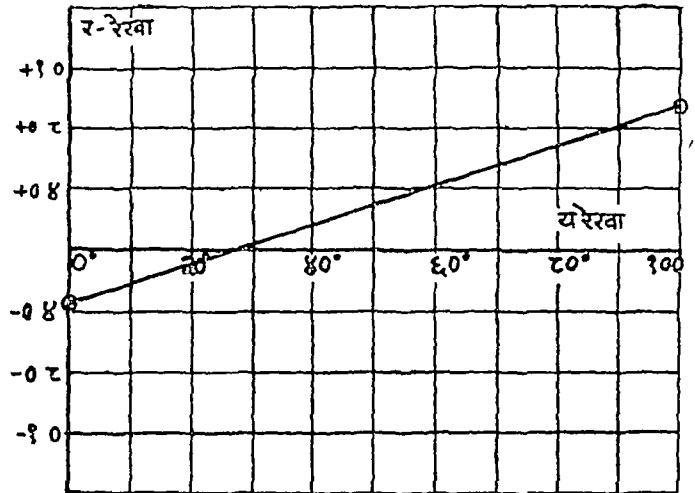
चित्र १ ताप और सशोधन का संवध
तापमान के पाठ का सशोधन ज्ञात करने मे उपयोगी।

द्वारा प्रस्तुत परिस्थितियो मे तापमापक के किसी पाठ का सशोधित मान ज्ञात होता है।

स्पेक्ट्रोस्कोप का अशशोधन—स्पेक्ट्रोस्कोप मे प्राय एक त्रिपार्श्व (प्रिज्म) होता है। अधिक विस्तरण और विभेदकता के लिये दो अथवा तीन त्रिपार्श्वो का भी उपयोग किया जाता है। स्पेक्ट्रोस्कोप के भागो को साधकर वर्णपट (स्पेक्ट्रम) का निरीक्षण दूरदर्शी (टेलिस्कोप) से किया जाता है और वर्णपट की विभिन्न रेखाओ से सबधित दूरदर्शी के विभिन्न स्थानो को वृत्ताकार मापनी (स्केल) पर पढा जाता है। हमारा उद्देश्य इन रेखाओ का तरगदैर्घ्य वृत्ताकार मापनी के पाठ से ज्ञात करना होता है। इसके लिये हम किसी परिचित प्रकाशस्रोत, जैसे सोडियम ज्वालक (फ्लेम) अथवा पारद आर्क के प्रकाश को स्पेक्ट्रोस्कोप की झिरी (स्लिट) पर फोकस करते है। सोडियम की पीली रश्मियो का अथवा पारद की पीली और हरी रश्मियो का तरगदैर्घ्य हमें ज्ञात रहता है। दूरदर्शी को घुमाकर इन रश्मियो की रेखाओ को स्वस्तिकसूत्र पर लाते है और इन परिचित तरगदैर्घ्यो के अनुकूल वृत्ताकार मापनी पर पाठ पढ लेते है। अब वृत्ताकार मापनी के पाठो और इन तरगदैर्घ्य के मानो के वीच सवध दिखानेवाला

लेखाचित्र बना लेते है तथा इस लेखाचित्र द्वारा वृत्ताकार मापनी के सभी अशो का शोधन तरगदैर्घ्य मे हो जाता है। किसी अपरिचित रश्मि की रेखा को दूरदर्शी के स्वस्तिकसूत्र पर लाकर वृत्ताकार मापनी के तत्सबधी पाठ से उस रश्मि का तरगदैर्घ्य हम लखाचित्र से ज्ञात कर सकते है।

अशाकित अमीटर का अशशोधन —अमीटर का अशाकन व्यावहारिक एकक अपियर मे किया रहता है। शुद्ध प्रयोग के लिये अमीटर के पाठो का शोधन कर लेना आवश्यक होता है। इसकी कई विधियाँ है, उनमे से केवल एक विधि का विवरण उदाहरण के लिये यहाँ दिया जाता है

विद्युद्धारा **धा** का मान परम एकको मे टैनजेट गैलवैनोमीटर से निकाला जा सकता है, किंतु टैनजेट गैलवैनोमीटर सर्वत्र सुविधाजनक नही होता। यह ज्ञात है कि टैनजेट गैलवैनोमीटर मे

$$\text{धा (अपियर)} = \frac{\text{१० त्रि क्षै}}{\text{२ π सं}} \text{स्प थ}$$

होता है जिसमे **त्रि** वेष्टन का अर्धव्यास, **सं** वेष्टन में तार के फेरो की सख्या और **क्षै** पृथ्वी के चुबकीय क्षेत्र की क्षैतिज तीव्रता है। अमीटर के अशशोधन के लिये चित्र २ के अनुसार अमीटर और टैनजेट गैलवैनोमीटर विद्युत्कुडली मे बैटरी और अवरोधक के साथ श्रेणीक्रम मे लगाए जाते हैं। गैलवैनोमीटर के स्थिराक क का मान स्थानीय शुद्ध **क्षै** के मान तथा **त्रि** और **स** के मान से ज्ञात किया जाता है। धारा प्रवाहित कर अमीटर का पाठ और गैलवैनोमीटर का विक्षेप देखा जाता है। विक्षेप कोण की स्पर्शज्या (टैनजेट) किसी सारणी से देखकर धारा का यथार्थ मान निकाला जाता है और इसकी तुलना अमीटर के पाठ से की जाती है। फिर अवरोधक से
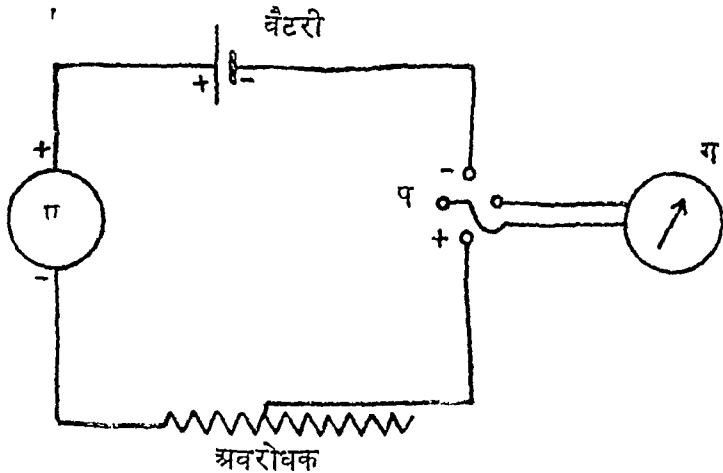
चित्र २. विद्युत्कुंडली
अमीटर के अशशोधन के लिये।

धारा घटा बढाकर अमीटर के अन्य पाठो की तुलना गैलवैनोमीटर द्वारा ज्ञात किए हुए मानो से करके अमीटर के विभिन्न पाठो के लिये सशोधन ज्ञात किया जाता है और उनके बीच लेखाचित्र बना लिया जाता है। अन्य प्रयोग मे जो कुछ पाठ अमीटर मे आता है उसमे लेखाचित्र द्वारा प्राप्त सशोधन जोडकर धारा का शुद्ध मान निकाला जाता है।

स०ग्रं०—एल० वी० जडसन कैलिब्रेशन ऑव ए डिवाइडेड स्केल (नैशनल ब्यूरो ऑव स्टैंडर्ड्स, वाशिंगटन, १९२७), ए० टी० पीन्कोस्की साइंटिफिक पेपर, एस ५२७ (नैशनल ब्यूरो ऑव स्टैंडर्ड्स, वाशिंगटन, १९२६)।
[न० ला० सिं०]

अंशुमान

अयोध्या के सूर्यवशी राजा जो सगर के पौत्र और असमजस के पुत्र थे। पुराणो की कथा के अनुसार सगर के अश्वमेध का जो घोडा चोरी हो गया था उसे अशुमान ही खोज लाए थे और उन्होने ही महर्षि कपिल के क्रोध से भस्मीभूत सगर के साठ हजार पुत्रो के अवशेष एकत्र किए थे। [भ० श० उ०]

अंशुवर्मन्

नेपाल के ठाकुरी राजकुल का प्रतिष्ठाता और पहला नृपति। अशुवर्मन पहले लिच्छविनरेश शिवदेव का मत्री था, परतु जिस प्रकार अभी हाल तक नेपाल मे अधिकतर राजनैतिक अधिकार मंत्री के हाथ मे रहा है, तब भी उसी प्रकार अशुवर्मन राज्य का यथार्थत स्वामी था। शक्ति सपूर्णत हाथ आ जाने पर उसने राजमुकुट भी धारण कर लिया और पुराने राजकुल का अत कर उसने ठाकुरी कुल की प्रतिष्ठा की। उसने एक सवत् भी चलाया जिसका प्रारभ ५९के ई० से माना जाता है। अशुवर्मन ने अपनी कन्या का विवाह तिब्बत के प्रसिद्ध सम्राट् साग-त्सान्-गपो के साथ किया। हिंदू होते हुए भी उसे इस प्रकार के विवाह से परहेज न था। अशुवर्मन ने सभवत ४० वर्ष राज किया। [भ० श० उ०]

अंसारी, मुख्तार अहमद

(१८८०–१९३०ई०), यूसुफपुर, जिला गाजीपुर मे पैदा हुए। प्रारभ की शिक्षा गाजीपुर और उच्च शिक्षा देहली मे हुई। सन् १८९१ ई० से लेकर १८९६ ई० तक मद्रास मेडिकल कॉलेज मे डाक्टरी की शिक्षा ली, फिर विलायत गए। लदन मे चेरिंग क्रास अस्पताल से सबद्ध हुए। आप पहले हिंदुस्तानी थे जिसको चेरिंग क्रास अस्पताल मे काम करने का अवसर दिया गया था। सन् १९१२ ई० मे ये रेडक्रास मिशन के साथ बालकन गए, फिर स्वदेश लौटकर काग्रेस में शामिल हो गए और स्वतत्रता के आदोलन मे हिस्सा लेने लगे। सन् १९२७ ई० मे ४२वे काग्रेस अधिवेशन के सभापति हुए जिसकी बैठक मद्रास मे हुई थी। इस अधिवेशन के अवसर पर अध्यक्ष पद से बोलते हुए इन्होंने हिंदू-मुस्लिम-एकता पर विशेष बल दिया था। १९२८ ई० मे लखनऊ में होनेवाले सर्वदलीय समेलन का इन्होने सभापतित्व किया था। उसमे 'डोमीनियन स्टेटस' के सबध मे प्रस्तुत 'मोतीलाल नेहरू रिपोर्ट' पासकर अंग्रेज सरकार की भारतीय समिलित माँग की चुनौती स्वीकार की गई थी। उसी समेलन मे पूर्ण स्वराज्य का एक प्रस्ताव भी पास हुआ था जिसके विशेष समर्थक जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचद्र बोस थे। डॉ० असारी अत्यत सुसस्कृत व्यक्ति थे। डाक्टरी वे सर्वथा मानवीय दृष्टि से करते थे। [र० ज०]

अ

यह सस्कृत तथा भारत की समस्त प्रादेशिक भाषाओ की वर्णमाला का प्रथम अक्षर है। इब्रानी भाषा का अलेफ्, यूनानी का अल्फा और लातिनी, इतालीय तथा अंग्रेजी का ए इसके समकक्ष है। पाणिनि के अनुसार इसका उच्चारण कठ से होता है। उच्चारण के अनुसार सस्कृत मे इसके अठारह भेद है

१	सानुनासिक	ह्रस्व	उदात्त	अनुदात्त	स्वरित
		दीर्घ	उदात्त	अनुदात्त	स्वरित
		प्लुत	उदात्त	अनुदात्त	स्वरित
२	निरनुनासिक	ह्रस्व	उदात्त	अनुदात्त	स्वरित
		दीर्घ	उदात्त	अनुदात्त	स्वरित
		प्लुत	उदात्त	अनुदात्त	स्वरित

हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओ मे अ के प्राय दो ही उच्चारण ह्रस्व तथा दीर्घ होते है। केवल पर्वतीय प्रदेशो मे, जहाँ दूर से लोगो को बुलाना या सबोधन करना होता है, प्लुत का प्रयोग होता है। इन उच्चारणो को क्रमश अ, अ२ तथा अ३ से व्यक्त किया जा सकता है। दीर्घ करने के लिये अ के आगे एक खडी रेखा ा जोड देते है जिससे उसका आकार आ हो जाता है। सस्कृत तथा उससे सबद्ध सभी भाषाओ के व्यजन मे अ समाहित होता है और उसकी सहायता से ही उनका पूर्ण उच्चारण होता है। उदाहरण के लिये, क=क्+अ, ख=ख्+अ, आदि। वास्तव मे सभी व्यजनो को व्यक्त करनेवाले अक्षरो की रचना में अ प्रस्तुत रहता है। अ का प्रतीक खडी रेखा 'ा' है जो व्यजन के दक्षिण, मध्य या ऊपरी भाग मे वर्तमान रहती है, जैसे क (∽+ा) में मध्य मे है, ख (ख़+ा), ग (ग+ा), घ (घ+ा) मे दक्षिण भाग मे तथा ड (ड+ा), छ (छ+ा), ट (ट+ा) आदि में ऊपरी भाग मे है।

अ स्वर की रचना के बारे मे 'वर्णोद्धारतंत्र' मे उल्लेख है। एक मात्रा से दो रेखाएँ मिलती है। एक रेखा दक्षिण ओर से घूम कर ऊपर सकुचित हो जाती है, दूसरी बाई ओर से आकर दाहिनी ओर होती हुई मात्रा से मिल जाती है। इसका आकार प्राय इस प्रकार सगठित हो सकता है।

चौथी शती ई०पू० की ब्राह्मी से लेकर नवीं शती ई० की देवनागरी तक इसके निम्नांकित रूप मिलते हैं

३ शती ई०पू०	१श०प०	१-२श०प०	२-३श०प०
मौर्य	शक	आंध्र	कुषण
२-३श०प०	४श०प०	६श०प०	७-९ श०
जग्गयपेट	आदि गुप्त	उत्तर गुप्त	मध्ययुग

अ का प्रयोग अव्यय के रूप में भी होता है। नञ् तत्पुरुष समास में नकार का लोप होकर केवल अकार रह जाता है, 'अऋणी' को छोडकर स्वर के पूर्व अ का अन् हो जाता है। नञ् तत्पुरुष में अ का प्रयोग निम्नलिखित छह विभिन्न अर्थों में होता है

(१)	सादृश्य–	अब्राह्मण	इसका अर्थ है ब्राह्मण को छोडकर उसके सदृश दूसरा वर्ण, क्षत्रिय, वैश्य आदि।
(२)	अभाव–	अपाप	पाप का अभाव।
(३)	अन्यत्व–	अघट	घट छोडकर दूसरा पदार्थ, पट, पीठ आदि।
(४)	अल्पता–	अनुदरी	छोटे पेटवाली।
(५)	अप्राशस्त्य–	अकाल	बुरा काल, विपत्काल आदि।
(६)	विरोध–	असुर	सुर का विरोधी, राक्षस आदि।

इसी तरह अ का प्रयोग संबोधन (अ!) विस्मय (अ), अधिक्षेप (तिरस्कार) आदि में होता है।

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्व तदल्पता।
अप्राशस्त्य विरोधश्च नञर्था षट् प्रकीर्तिता॥

अ (पु० स०) अर्थ मे विष्णु के लिये प्रयुक्त होता है। कही कही अकार से ब्रह्मा का भी बोध होता है। तंत्रशास्त्र के अनुसार अ में ब्रह्मा, विष्णु और शिव तथा उनकी शक्तियाँ वर्तमान हैं। तंत्र में अ के पर्याय सृष्टि, श्रीकठ, मेष, कीर्ति, निवृत्ति, ब्रह्मा, वामाद्यज, सारस्वत, अमृत, हर, नरकारि, ललाट, एकमात्रिक, कठ, ब्राह्मण, वागीश तथा प्रणवादि भी पाए जाते हैं। प्रणव के (अ+उ+म) तीन अक्षरो में अ प्रथम है। योगसाधना में प्रणव (ओ३म्) और विशेषत उसके प्रथम अक्षर अ का विशेष महत्व है। चित्त एकाग्र करने के लिये पहले पूरे ओ३म् का उच्चारण न कर उसके बीजाक्षर अ का ही जप किया जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसके जप से शरीर के भीतरी तत्व कफ, वायु, पित्त, रक्त तथा शुक्र शुद्ध हो जाते हैं और इससे समाधि की पूर्णावस्था की प्राप्ति होती है।

[रा० ब० पा०]

अइयास यूनानी योद्धा। यह सलामिस (ग्रीस) के राजा तालमान का पुत्र था। यूनान के पौराणिक साहित्य में यह अपने विक्रम के लिये प्रसिद्ध है। ट्रोजनो को युद्ध मे हराकर इसने एकिलीज़ का शरीर प्राप्त किया था। सारे सलामिस देश मे इसकी पूजा होती थी और 'ऐतिया' नामक उत्सव इसकी अभ्यर्थना के लिये मनाया जाता था।

[च० म०]

अकबर तीसरे प्रसिद्ध मुगल सम्राट अकबर का जन्म अमरकोट (सिंध) के किले में १५ अक्टूबर, सन् १५४२ को हुआ। उसकी माता हमीदाबानू बेगम और पिता हुमायूँ था। कधारतक तो हुमायूँ उसे ले जा सका किंतु वहीं छोडकर उसे फारस भागना पडा। अकबर काबुल के किले में अपने चाचा कामरान की देखरेख में रहा। हुमायूँ ने फारस से लौटकर कधार और काबुल जीत लिए। उस समय अकबर तीन वर्ष का था। अकबर को पढने लिखने का तो नही, किंतु सवारी, अस्त्र शस्त्र चलाने और युद्धकला सीखने का शौक था।

जब हुमायूँ ने भारत पर आक्रमण किया तब अकबर उसके साथ था। पिता की आज्ञा से उसने दो युद्धो में भाग भी लिया। दिल्ली जीतने के छ महीने के पश्चात् हुमायूँ अपने पुस्तकालय की सीढी से गिरकर मर गया (जनवरी २०, सन् १५५६)। अकबर की आयु केवल तेरह वर्ष चार महीने की थी जब वह अपने शिक्षक बैरमखाँ की सहायता से कलानोर के फौजी पडाव मे सिंहासन पर बिठाया गया। बैरम खाँ अभिभावक और वकील बनकर अकबर के नाम से शासन करने लगा।

मुगलो को अफगान सेना के नेता हेमू (हेमराज) से भय था। अपने स्वामी आदिलशाह के लिये अनेक युद्ध जीतता हुआ हेमू आगरा पहुँचा। पानीपत के मैदान मे उसका मुगलो से युद्ध हुआ। उसके दुर्भाग्य से सहसा उसकी आँख मे तीर लगा जिससे वह मूर्छित हो गया। फलत हारती हुई मुगल सेना को विजय प्राप्त हुई (५ नवबर, १५५६)।

अकबर के सरदार प्रबल थे और शासन की बागडोर बैरम खाँ ने मजबूती से पकड रखी थी जिससे वह सर्वेसर्वा हो गया था। अकबर को नाम मात्र के लिये सम्राट् कहलाने से सतोष न हुआ। बैरम खाँ से छुटकारा पाने के लिये आगरा से वह देहली चला गया और वहाँ से उसने उसको पदच्युत कर दिया। बैरम ने युद्ध की ठानी किंतु कैद कर लिया गया। अकबर ने उसको क्षमा करके मक्का जाने की अनुमति दे दी।

अकबर के सामने दो विकट समस्याएँ थी। एक तो उद्दड सरदारो का दमन, दूसरी राज्य का सवर्धन। पहली समस्या के हल करने में उसे लगभग सात वर्ष लगे। उसने अदहम खाँ को, जिसने अकबर के वजीर की हत्या की थी, प्राणदड दिया (१५६२)। इसके बाद उसने सीस्तानी सरदारो का दमन कर उनके नेता खानजमाँ और अब्दुल्ला खाँ को युद्ध मे परास्त किया। खानजमाँ तो खेत रहा और अब्दुल्ला का वध कर दिया गया (१५६७)। प्रबल और उद्दड सरदारो की दुर्दशा देखकर फिर अकबर का सामना करने का साहस किसी को न हुआ।

यद्यपि सरदारो के दमन मे अकबर दत्तचित्त था, फिर भी उसकी सेना राजपूताना और मालवा में कुछ सफलता प्राप्त करती रही। सन् १५६१ में मालवा, १५६२ मे आमेर, १५६४ मे जोधपुर तक उसकी सेनाएँ बढ गई थी और राजपूताने में आतक फैल गया। अकबर की नीति राजपूतो को हराकर केवल अपना राज्य बढाना मात्र न थी। वह उनसे मित्रता बढाकर उन्हे अपना तथा साम्राज्य का हितैषी भी बनाना चाहता था। उनको उसने वचन दिया कि यदि वे उसका प्रभुत्व स्वीकार कर ले, साम्राज्य को निश्चित सैनिक सहायता के रूप मे उपहार दें, बिना सम्राट् की आज्ञा के आपस मे न लडें और सम्राट् की आज्ञा लेकर राजगद्दी पर बैठें तो उनके धर्म, राज्य, शासनविधान, सामाजिक जीवन आदि मे वह हस्तक्षेप न करेगा। अपनी उदार नीति के प्रमाणस्वरूप अकबर ने युद्ध के कैदियो को गुलाम बनाने की प्रथा (१५६२ ई०), तीर्थो पर यात्रियो से कर लेना और हिंदुओ से जिजिया लेना गैरकानूनी घोषित कर दिया (१५६३-६४ ई०)।

जयपुर और जोधपुर के राज्यो ने अकबर की शर्तें मान ली। उन्होने सम्राट् तथा राजकुमारो से अपने घराने की लडकियाँ देकर वैवाहिक सबध भी जोड लिए। किंतु अधिकाश राजा इस प्रतीक्षा मे थे कि मेवाड के महाराणा की, जिनका राजपूताने में सबसे अधिक समान था, क्या नीति होती है। महाराणा उदयसिंह ने अकबर की ओर रुख करना तो दूर रहा, उसके अफगान शत्रुओ पर वरद कर रख दिया और सम्राट् की अवहेलना की। ऐतिहासिक महत्व के कारण चित्तौड के महाराणा राजपूताने पर आधिपत्य अपना जन्मजात अधिकार समझते थे। वे महाराणा कुभा तथा राणा साँगा के उत्तराधिकारी थे। अकबर भी बाबर का पौत्र होने के कारण अपने को महाराणा या किसी अन्य राज्याधिपति से कम नही समझता था। दोनो की लागडाँट बिना युद्ध द्वारा निर्णय के शात होती न दिखाई दी। अत सन् १५६७ मे अकबर ने चित्तौड तथा रणथभौर के किलो को घेर लिया। कई महीनो की मारकाट के बाद अकबर ने चित्तौड और रणथभौर के किले सर कर लिए। अकबर का महत्व स्पष्ट हो गया जिससे कालिंजर, मारवाड और बीकानेर के राज्यो ने भी उसका प्रभुत्व

मान लिया। बगाल के अफगान सुल्तान सुलेमान कर्रानी ने भी उसका नाम खुतबा और सिक्के मे रख दिया।

चित्तौड पर अधिकार जमने से मालवा पर भी अकबर का पजा कस गया और गुजरात जाने का रास्ता, जो राजनीतिक और व्यापारिक महत्व रखता था, खुल गया। अकबर के पिता हुमायूँ ने मालवा, गुजरात और बगाल पर अपना प्रभुत्व एक बार स्थापित किया था। उसी नाते तथा साम्राज्यविस्तार के आदर्श से प्रेरित होकर अकबर ने गुजरात के सरदारो के एक नेता का वहाँ शातिस्थापन करने का निमत्रण स्वीकार कर लिया और गुजरात पर चढाई कर दी। बगाल और विहार के अफगान शासक ने जब मुगल सीमा पर आक्रमण किया तब उनपर प्रत्याक्रमण करके उन प्रातो को भी उसने जीत लिया (१५७२-७४)।

साम्राज्य अब इतना वडा हो गया था कि उसके सगठन मे अकबर को सात आठ वर्ष लगे। सारे साम्राज्य की इलाही गज से पैमाइश कराके तथा भूमि की उपज का ध्यान रखकर पैदावार का एक तिहाई लगान निश्चित किया गया। देश के प्रचलित शासन मे बहुत कुछ सुधार किए गए। निष्पक्ष और उदार धार्मिक नीति तथा सामाजिक सुधार के लिये देश के प्रमुख धर्मो का अध्ययन किया गया। विविध धर्मो के विद्वानो को 'इबादतखाने' मे एकत्रित कर अकबर उनके शास्त्रार्थ सुनता। जहाँ तक सभव हो सका, सब धर्मो को सहानुभूति अथवा सहायता दी गई। अत मे उसने 'दीन इलाही' नाम की एक सस्था स्थापित की जिसका किसी भी मत का व्यक्ति सदस्य बनाया जा सकता था। इस सस्था के मुख्य सिद्धात थे (१) ईश्वर मे दृढ विश्वास, (२) सम्राट् की भक्ति, (३) यथासभव हत्या या मासभोजन का त्याग, (४) स्त्रीसहवास मे सयम और शुद्धता, (५) समय समय पर भोज और दान। दीक्षित किए हुए सदस्य सम्राट् का एक छोटा चित्र अपनी पगडी मे रखते और आपस मे जब मिलते तो 'अल्लाहो अकबर' और उत्तर मे 'जल्लेजलालहू' कहकर अभिवादन करते। अकबर की धारणा सभवत यह थी कि उसका मत मानने मे किसी धर्मावलबी को आपत्ति न होनी चाहिए। उसके मत के सबध मे लोगो के विभिन्न विचार थे। कोई उसको नया धर्मप्रवर्तक समझता और उसकी नीयत पर सदेह करता और कोई उसे जगद्गुरु कहलाने के लिये उत्सुक समझता। सदस्यों को सम्राट् स्वय चुनता और दीक्षित करता। सदस्य बनाने के लिये लोभ, बलप्रयोग, आग्रह अथवा पदोन्नति का उपयोग सम्राट् ने कभी नही किया।

अकबर ने अरबी और सस्कृत ग्रथो के, जैसे कुरान, मजमउलबल्दान, भगवद्गीता, महाभारत, अथर्ववेद आदि के सरल फारसी मे अनुवाद कराए जिससे हिंदू मुसलमान लोग एक दूसरे के धर्म, इतिहास और सस्कृति को समझ सके। हिंदी को उच्च स्थान देने के लिये उसने 'कविराज' का पद दरबार मे प्रचलित किया था। विवाह की आयु अनिवार्यत लडकियो की १४ वर्ष तथा लडको की १६ वर्ष कर दी। जबर्दस्ती तथा डर से सती हो जाने का निषेध करके विधवाविवाह को कानून के अनुकूल घोषित कर दिया।

अकबर की धार्मिक नीति से हिंदू, सिक्ख और उदार मुसलमान तो प्रसन्न थे किंतु कट्टर मुसलमानो मे असतोष और रोष फैला। सेना के सगठन से सैनिको और जागीरदारो मे विरोध की भावना फैली। फलत बगाल, विहार और मालवा मे विद्रोह की आग भडक उठी। विद्रोहियो ने अकबर के भाई हकीम को, जो अफगानिस्तान मे शासन कर रहा था, आगरे का साम्राज्य लेने के लिये बुलाया। अकबर ने सब कठिनाइयो का धैर्य और वीरता से सामना किया और उनपर पूर्ण विजय पाई। यद्यपि उसे अपने सुधारो में कुछ हेरफेर तथा उनकी तीव्र गति को कुछ धीमा करना पडा, तथापि उसने अपने आदर्शो, नीति और विधानो को कार्यान्वित करने से मुँह नही मोडा।

अपने भाई मिर्जा हकीम की गतिविधि तथा मध्य एशिया के शासक अब्दुल्लाखाँ उजबक की साम्राज्यविस्तार की नीति के कारण अकबर ने भारत की पश्चिमी सीमाओ को सुदृढ बनाने का सकल्प किया। धीरे धीरे उसने काश्मीर, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान तथा सिंध पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अत मे मुगल साम्राज्य की सीमा हिंदूकुश की पर्वतमाला निश्चित हो गई।

दक्षिण मे भी समस्याएँ उठ खडी हुई। पुर्तगालियो का अरब सागर पर प्रभुत्व होने से व्यापार तथा हजयात्रा मे भारतवासियो के लिये अनेक असुविधाएँ पैदा हो गई। उन्होंने एक बार सम्राट् की बेगमो की यात्रा मे भी अड्चन डाली। इस विदेशी समुद्री शक्ति का तभी दमन हो सकता था जब दक्षिण के राज्य सम्राट् का नेतृत्व स्वीकार कर पूरा सहयोग देते। इसके सिवा वे राज्य आपस मे लडते और धार्मिक झगडो मे दिलचस्पी लेते, जिससे धार्मिक वातावरण दूषित होता था। अकबर ने उनको समझाने और मिलाने के निष्फल प्रयत्न किए। अत मे युद्ध छिड गया जिससे खानदेश और अहमदनगर पर भी कुछ अधिकार स्थापित हो गया।

अकबर जब दक्षिण के युद्ध मे लगा हुआ था तब उसे समाचार मिला कि उसका सबसे बडा पुत्र सलीम लोगो के बहकाने से विद्रोह कर इलाहाबाद मे डटकर राज्य करने लगा है। अकबर दक्षिण से लौटा और सभव था कि बाप बेटे मे युद्ध हो जाता, किंतु सलीम का साहस छट गया और आगरा आकर उसने क्षमा माँग ली (१६०३)। लगभग ५० वर्ष राज करने के अनतर १६ अक्तूबर, सन् १६०५ को उदररोग से अकबर की मृत्यु हो गई। अकबर भारत के मुसलमान सम्राटो मे सबसे प्रतापी, उदार, गभीर और दूरदर्शी राज्यनिर्माता था।

अकबर का शरीर गठीला और सुडौल था। उसे सवारी, शिकार तथा अस्त्र-शस्त्र-सचालन का शौक था। पहले वह बडे पैमाने पर सामूहिक शिकार करता जिसमे हजारो शिकारी जानवरो को घेरकर सैकडो की सख्या मे मार डालते थे। आगे चलकर उसने उस हत्याकाड का परित्याग कर दिया। यद्यपि वह स्वस्थ और बलिष्ठ था तथापि उसके पेट मे कभी कभी शूल उठा करता था। सभव है, अपने विचारो के बदलने के अलावा उदररोग के कारण भी उसने सुरापान, अफीम सेवन और आहार विहार को परिमित और नियत्रित कर दिया हो। दिन मे एक ही बार वह स्वल्प भोजन करता और, जहाँ तक हो सकता था, मास खाने से बचता था।

सेनासचालन और किलो पर घेरा डालकर उन्हे जीतने की कला मे वह दक्ष था। कठिन से कठिन समस्या उपस्थित होने पर भी वह घबराता न था और उसके समाधान का ढग निकाल लेता था। किसी काम मे वह तब तक हाथ न लगाता था जब तक उसकी पूरी तैयारी न कर लेता। आवश्यकता पडने पर लबी लबी यात्रा वह थोडे दिनो मे ही समाप्त कर लेता था। इसी कारण उसका आतक दूर तक फैला रहता था। बदूको और तोपो के निर्माण मे वह असाधारण रुचि रखता जिससे उस कौशल में उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी।

अकबर की स्मरणशक्ति जैसी जबर्दस्त थी वैसी ही उसकी बुद्धि भी सूक्ष्म एव कुशाग्र थी। इसीलिये स्वय पढने लिखने का काम न करने पर भी केवल सुनकर ही उसने आश्चर्यजनक ज्ञानराशि एकत्र कर ली थी जिसके बल पर शासन ही नही, काव्य, दर्शन, इतिहास आदि के सूक्ष्म तत्वो को भी समझने की शक्ति उसने प्राप्त कर ली थी। मितभाषी होने के कारण उसके वाक्य और विचार सारगर्भित होते थे। उसकी मुद्रा गभीर, रोबीली, आदरणीय तथा प्रभावशालिनी थी।

स०ग्र०—वी० ए० स्मिथ · अकबर (सशोधित सस्करण), आक्सफोर्ड, १९१९, त्रिपाठी सम ऐस्पेक्ट्स ऑव मुस्लिम ऐडमिनिस्ट्रेशन।

[रा० प्र० त्रि०]

अकबर, सैय्यद अकबर हुसेन (१८४६-१९२१ ई०) इलाहाबाद (उ० प्र०) के वर्तमान काल के सुप्रसिद्ध उर्दू कवि। थोडी शिक्षा प्राप्त करने के बाद १८६७ मे मुख्तारी की परीक्षा पास की, १८६९ ई० मे नायब तहसीलदार हुए। कुछ समय बाद हाई कोर्ट की वकालत पास की और मुनसिफ हो गए, फिर क्रमश उन्नति करते करते सेशन जज हुए जहाँ से १९३० ई० मे उन्होने अवकाश प्राप्त किया। १९२१ ई० मे प्रयाग मे उनका देहात हुआ।

अकबर ने १८६० ई० के लगभग काव्यरचना आरभ की और अपनी कविताएँ प्रयाग के सूफी कवि 'वहीद' को दिखाने लगे। अधिकतर गजल लिखते थे पर जब लखनऊ से 'अवध पच' निकला तो अकबर ने भी हास्यरस को अपनाया और थोडे ही समय मे इस रग के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाने लगे। इस क्षेत्र मे कोई उनसे ऊँचा न उठ सका। अकबर के काव्य मे व्यग्य भी है और वह व्यग्य अधिकतर पश्चिमी सभ्यता के आक्रमण के

चित्र है जो शासन और विशेष रूप से मुसलमानो की शिक्षा, संस्कृति, और जीवन का बदल रही थी। व्यग्य और हास्य की आड में वह विदेशी राज्य पर कड़ी चोटें करते थे। वे समाज मे हर ऐसे अच्छे बुरे परिवर्तन के विरुद्ध थे जो अंग्रेजी प्रभाव से प्रेरित था। उनकी विशेष रचनाएँ ये है 'कुल्लियाते अकबर' ४ भाग, 'गाधीनामा', पत्रो का सग्रह।

स०ग्र०—अकबर तालिब इलाहाबादी, अकबरनामा, अब्दुल माजिद दरियाबादी। [सै० ए० हु०]

अकलंक जैन न्यायशास्त्र के अनेक मौलिक ग्रथो के लेखक आचार्य अकलक का समय ई० ७२०-७८० है। अकलक ने भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति और उनके अनेक टीकाकारो के मतो की समालोचना करके जैन न्याय को सुप्रतिष्ठित किया है। उनके बाद होनेवाले जैन आचार्यो ने अकलक का ही अनुगमन किया है। उनके ग्रथ निम्नलिखित है १ उमास्वाति तत्वार्थ सूत्र की टीका तत्वार्थवार्तिक जो राजवार्तिक के नाम से प्रसिद्ध है। इस वार्तिक के भाष्य की रचना भी स्वय अकलक ने की है। २ आप्तमीमासा की टीका अष्टशती। ३ प्रमाणप्रवेश, नयप्रवेश और प्रवचनप्रवेश के सग्रहरूप लघीयस्त्रय। ४ न्यायविनिश्चय और उनकी वृत्ति। ५ सिद्धिविनिश्चय और उसकी वृत्ति। ६ प्रमाण सग्रह। इन सभी ग्रथो मे जैनसमत अनेकातवाद के आधार पर प्रमाण और प्रमेय की विवेचना की गई है और जैनो के अनेकातवाद को सुदृढ भूमि पर सुस्थित किया गया है। विशेष विवरण के लिये देखिए, 'सिद्धिविनिश्चय टीका' की प्रस्तावना। [द० मा०]

अकलुष इस्पात (स्टेनलेस स्टील) मिश्रधातुओ के उन समूहो का प्रतिनिधि है जो वायुमडल तथा कार्बनिक और अकार्बनिक अम्लो से कलुषित (खराब) नही होते हैं। साधारण इस्पात की अपेक्षा ये अधिक ताप भी सह सकते हैं। इस्पात में ये गुण क्रोमियम मिलाने से उत्पन्न होते है। क्रोमियम इस्पात के बाह्य तल को निष्क्रिय बना देता है। प्रतिरोधी शक्ति की वृद्धि के लिये इसमें निकल भी मिलाया जाता है। निकल के स्थान पर अशत या पूर्णत मैंगनीज़ का भी उपयोग किया जाता है। अकलुष इस्पात के निर्माण में लोहे मे कभी कभी ताम्र, कोबाल्ट, टाइटेनियम, नियोबियम, टैंटालियम, कोलबियम, गधक और नाइट्रोजन भी मिलाया जाता है। इनकी सहायता से विभिन्न रासायनिक, यात्रिक और भौतिक गुणो के अकलुष इस्पात बनाए जा सकते है।

सन् १८७२ ई० में वुड्स और क्लार्क ने लोगो का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि लौह और क्रोमियम की कुछ मिश्र धातुओं में न तो जग (मुरचा) लगता है और न अम्ल के प्रभाव से उनपर कोई विकार होता है। पेरिस मे आयोजित सन् १९०० ई० की प्रदर्शनी मे इस्पात के कुछ नमूने थे जिनकी सरचना आधुनिक अकलुष इस्पात के समान थी। सन् १९०३ ई० मे लौह, क्रोमियम और निकल की मिश्र धातुओ को इग्लैंड मे पेटेंट कराया गया। इन मिश्र धातुओ में क्रोमियम की मात्रा २४ से ५७ प्रति शत और निकल की मात्रा ५ से ६० प्रति शत तक थी। सयुक्त राज्य अमरीका में निकल और फेरोक्रोम (अर्थात् क्रोमियम-मिश्रित लोहे) को मूषा (घरिए) मे पिघलाकर थर्मोकपल बनाने योग्य इस्पात की रचना की गई। सन् १९०५ ई० मे लौह मे निकल, क्रोमियम और कोबाल्ट की मिश्र धातु से मोटरकारो के स्पार्क प्लगो मे चिनगारी देनेवाले तार बनाए गए। सन् १९१० ई० मे उच्चतापमापी नलिकाओ के लिये जर्मनी ने इस्पात, क्रोमियम और निकल की मिश्रधातु का और सन् १९१२ ई० के लगभग इग्लैंड ने बदूक की नाल बनाने के लिये क्रोमियम और इस्पात की मिश्रधातु का उपयोग किया और चाकू, छुरी आदि बनाने के लिये इसे पेटेंट कराया। बाद मे केवल निकल या निकल और क्रोमियम को इस्पात मे मिलाकर बनाई गई मिश्र धातुओ के विभिन्न मिश्रण सयुक्त राज्य अमरीका, इग्लैंड और जर्मनी मे पेटेंट कराए गए। इन प्रारभिक मिश्रणो के आधार पर ऐल्युमीनियम, सेलीनियम, मालिबडीनम, सिलिकन, ताम्र, गधक, टग्स्टन और कोलबियम को क्रोमियम और क्रोमियम इस्पात मे मिलाकर श्रेष्ठ गुणधर्मवाले अकलुष इस्पात बनाने के आविष्कार हुए। जर्मनी में निकल का अभाव होने के कारण सन् १९३५ ई० मे एक ऐसे प्रकार के अकलुष इस्पात का निर्माण हुआ जिसमे निकल के स्थान पर मैंगनीज का प्रयोग किया गया और मिश्र धातु बनाने के लिये सहायक के रूप मे नाइट्रोजन प्रयुक्त हुआ।

क्षयरोधक और तापरोधक आधुनिक अकलुष इस्पातो को पाँच वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है

(१) जिनमें क्रोमियम का उपयोग मुख्य धातु-मिश्रणकारी के रूप में किया गया हो।

(२) जिनमे क्रोमियम और इस्पात की मिश्र धातु के गुणो में परिवर्तन के लिये पर्याप्त मात्रा में ऐल्यूमीनियम, ताम्र, मोलिबडीनम, गधक, सिलिकन, सेलीनियम या टग्स्टन का उपयोग किया गया हो।

(३) जिनमे क्रोमियम, निकल और इस्पात के मिश्रणो मे पूर्वोक्त अनुच्छेद मे दी गई धातुओ मे से दो, एक या अधिक का उपयोग अकलुष इस्पात के गुणो मे थोडा सा परिवर्तन लाने के लिये किया गया हो।

(४) जिनमे क्रोमियम और निकल का उपयोग प्रमुख धातु-मिश्रणकारी के रूप मे किया गया हो।

(५) जिनमें निकल के स्थान पर प्रमुख धातु-मिश्रणकारी के रूप मे मैंगनीज का उपयोग किया गया हो और वैसा ही अकलुष इस्पात बनाया गया हो जैसा अनुच्छेद (३) और (४) मे वर्णित है।

कार्बन की मात्रा या धात्वीय सरचना की दृष्टि से भी इस्पात का वर्गीकरण किया जा सकता है। इनमे से प्रत्येक रीति मे इस्पात का तीन वर्गो मे विभाजन किया जाता है। कार्बन के अनुसार वर्गीकरण करने पर इस्पात न्यून, मध्यम और उच्च कार्बनवाले इस्पात कहलाते हैं। सरचना की दृष्टि से भी इस्पात को तीन वर्गो मे बाँटते है

(१) फेरिटिक इस्पात, जो कडे किए ही नही जा सकते। इनमें १५ प्रति शत से ३० प्रति शत तक क्रोमियम रहता है, और कार्बन की मात्रा बहुत कम (०.०८ से ०.२० प्रति शत तक) रहती है।

(२) मारटेसिटिक इस्पात, जो तप्त करके पानी मे बुझाने पर कडे हो जाते है। इनमे १० प्रति शत से १८ प्रति शत तक क्रोमियम रहता है और ०.०८ प्रति शत से १.१० प्रति शत तक कार्बन।

(३) आस्टेनिटिक इस्पात, जो बिना बुझाए ही कडा किया जा सकता है। इसमें १६ प्रति शत से २६ प्रति शत तक क्रोमियम और ६ प्रति शत से २२ प्रति शत तक निकल रहता है।

परलैटिक इस्पात कठोर किया जा सकता है और ऐसा करने पर उसकी सरचना मारटेसिटिक के समान हो जाती है।

क्रोमियम इस्पात मे क्षय-प्रतिरोध-शक्ति बाह्य तल पर लौह-क्रोमियम आक्साइड की पतली स्थायी परत बन जाने के कारण उत्पन्न होती है। यह पतली परत अपने नीचे स्थित इस्पात के क्षय को रोकती है। यदि रासायनिक क्रिया या रगड से यह तह नष्ट हो जाती है तो अविलब उसके नीचे ऐसी ही दूसरी तह का निर्माण हो जाता है। उच्च ताप पर भी यह तह दृढता से चिपकी रह जाती है और आक्सीकरण को रोकती है। लौह को निष्क्रिय बनाने के लिये क्रोमियम की न्यूनतम मात्रा १२ प्रति शत है। धातु-मिश्रणकारी के रूप में क्रोमियम और निकल अथवा क्रोमियम और मैंगनीज मिलाकर बने अकलुष इस्पातो के गुण 'फेरिटिक' और साधारण क्रोमियम-इस्पात से भिन्न होते हैं। ये इस्पात तार खीचने योग्य, अचुबकीय और ठढी विधि को छोड अन्य विधियो से कठोर न होनेवाले वर्ग मे आते है। सरचना मे ये आस्टेनिटिक इस्पात के समान हैं। क्षयनिरोधकता की दृष्टि से क्रोमियम-मैंगनीज इस्पात की मिश्र धातु क्रोमियम-निकल-इस्पात की मिश्र धातु से निर्बल, किंतु उतने ही क्रोमियमवाले इस्पात की मिश्र धातु से सबल होती है। भारत में क्रोमियम और मैंगनीज की बहुलता की दृष्टि से यह तथ्य औद्योगिक महत्व का है।

प्रयोगात्मक रूप से लगभग सपूर्ण अकलुष इस्पात बिजली की भट्ठी मे बनाया जाता है। थोडा सा भाग प्रवर्तन भट्ठियो (इडक्शन फर्नेसेज) और आर्क-भट्ठियो में बनाया जाता है। कच्चे लोहे के टुकडे भट्ठी में पिघलाए जाते हैं और आक्सिजन की सहायता से शोधित कर लिए जाते हैं। इसमें क्रोमियम डालने के लिये कार्बन की कम मात्रावाली लौह-क्रोमियम मिश्र धातु पिघले लौह मे मिलाई जाती है। फिर उसमे निकल

या मैंगनीज़ मिलाया जाता है। अन्य धातुएँ भी आवश्यकतानुसार भट्ठी में मिला दी जाती हैं। तब पिघले हुए, शोधित और विधिवत् निर्मित मिश्र धातु की सिलें ढाल ली जाती हैं। इन सिलों को पीटकर या बेलकर छड़ो के रूप में बना लिया जाता है। अन्य प्रकार के इस्पातों की अपेक्षा अकलुष इस्पात मे निर्माण की क्रियाएँ, यथा बाह्य तल का नियंत्रण, घिसना, रेतना, बाह्य तल पर आक्सीकरण रोकने के लिये पुन गरम करना, अर्धनिर्मित वस्तुओं पर रेत की धार मारना और अम्ल से स्वच्छ करना आदि क्रियाएँ, अधिक मात्रा में की जाती हैं। इसके अतिरिक्त अकलुष इस्पात के उपकरणों के ऊपरी पृष्ठ को लोग विभिन्न अवस्थाओ मे चाहते हैं, यथा मृदु, कठोर, चमकरहित से लेकर श्रेष्ठ पालिशवाले तक और खुरदुरे से लेकर पूर्णतया सुचिक्कण तक।

जहाँ निम्नलिखित अवस्थाओं मे से एक या अधिक अवस्थाओं का निर्वाह सफलतापूर्वक करना पड़ता है वहाँ अकलुष इस्पात की आवश्यकता पड़ती है प्रतिकूल ऋतु, धूल, खट्टा या नमकीन भोजन, रासायनिक पदार्थ, धातुओं को हानि पहुँचानेवाले जीवाणु, जल, घर्षण, आघात और अग्नि। इसका उपयोग वहाँ भी किया जाता है जहाँ बाह्य तल को स्वास्थ्य की दृष्टि से स्वच्छ, सुंदर या सुचिक्कण रखना होता है। जहाँ मजबूती की आवश्यकता होती है वहाँ भी इसका प्रयोग किया जाता है।

अकलुष इस्पात को चमकदार रखने के लिये साधारण पालिश या बिजली की कलई की आवश्यकता नही होती, केवल समय समय पर साधारण सफाई ही पर्याप्त होती है। अकलुष इस्पात की विशेषता उसमे जग न लगने, क्षय न होने और रग में विकृति न होने के कारण है। साधारणत प्रतिरोध शक्ति क्रोमियम अंश के अनुसार बदलती है। "आस्टेनिटिक" १८-८ वाले अकलुष इस्पात मे (जिसमें १८ प्रति शत क्रोमियम और ८ प्रति शत निकल रहता है) ऋतुक्षय से बचने और भोजनालय के, कपडा धोने के तथा दुग्धशाला के बरतनो और अन्य साधारण उपयोगों के निमित्त उत्तम प्रतिरोध शक्ति रहती है। इसके गुण १४-१८ क्रोमियम-इस्पात के समान होते हैं जिनमे कार्बन की मात्रा ०.१२ प्रति शत से अधिक नही होती। निकलवाला अकलुष इस्पात साधारण अकलुष इस्पात से कुछ ही महँगा पडता है। क्रोमियम-निकल अकलुष इस्पात में मोलिबडीनम मिलाने से लवणो और तेजाबो के प्रति प्रतिरोध शक्ति बढ जाती है। इससे इसका उपयोग समुद्रतटवर्ती अथवा लवण के सपर्क में आनेवाले उपादानो मे विशेष रूप से होता है।

क्रोमियम-निकल अकलुष इस्पात को ४५०° से ६००° सेंटीग्रेड के तापों के बीच उपयोग करने अथवा पीटने से उसकी प्रतिरोध शक्ति कम हो जाती है। इस दोष को दूर करने के लिये उसे १,०००° से उच्च ताप पर गरम करके पुन शीघ्रता से शीतल कर लिया जाता है। क्रोमियम-निकल और केवल क्रोमियमवाले अकलुष इस्पात, जिनमें कार्बन की मात्रा ०.०३ प्रति शत से ०.०८ प्रति शत तक होती है और जिनको थोडा सा कोलंबियम, नियोबियम या टाइटेनियम मिलाकर स्थायी किया जाता है, इस प्रभाव से मुक्त रहते हैं।

अकलुष इस्पात के रासायनिक शत्रु हैं क्लोराइड, ब्रोमाइड और आयोडाइड। यदि धातु को समय समय पर जल से स्वच्छ कर लिया जाता है और हवा मे सूखने दिया जाता है तो वह अच्छा काम देती है। यदि धातु पर धूल अथवा अन्य पदार्थो की तह जम जाती हे जिससे धातु से वायु का सपर्क नही हो पाता और धूल की तह लवणमय जल से तर हो जाती है तो ऐसे स्थानो पर गड्ढे पड जाते हैं। इसे रोकने के लिये निम्नलिखित उपाय करने चाहिए

(१) बर्तनो की सधियाँ गहरी और तीक्ष्ण न रहें। उन्हे गोल रखा जाय।

(२) क्षयात्मक प्रयोगो मे आनेवाले उपादानो को भली भाँति चिकना करके पालिश कर ली जाय, विशेषकर वेल्ड की गई सधियो को।

(३) छनने और जालीदार टोकरियो को विशेष रूप से स्वच्छ किया जाय जिससे जालियो के बीच गर्द न जमने पाए।

(४) निर्माण के समय लगे हुए लौहकण और पपडियाँ घिसकर साफ कर दी जायँ।

(५) क्षयकारी वातावरण मे गरम किए जानेवाले सामानो के बनाने में इस बात का ध्यान रखा जाय कि उनके विभिन्न अवयवो के प्रसार के लिये पर्याप्त स्थान रहे।

चाप सहनेवाले वाल्व, पप और नल की फिटिंग, जिन्हें ५५०° सेंटीग्रेड से ऊँचे ताप पर काम में लाना होता है, विश्वसनीय मजबूती के लिये अकलुष इस्पात के बनाए जाते हैं। भट्ठियो के भागो में, दाहक कक्षो मे, चिमनियो के अस्तर में और इसी प्रकार के अन्य कार्यो मे अकलुष इस्पात का उपयोग किया जाता है। साधारण इस्पात पर जमी आक्साइड की परत सरलता से छूट पडती है, पर अकलुष इस्पात की आक्साइड की परत इसकी तुलना में स्थायी होती है और नीचे की धातु की रक्षा करती रहती है।

बहुत ठढी करने पर अधिकाश धातुएँ चुरमुरी हो जाती हैं, किंतु क्रोमियम-निकलवाले इस्पात द्रव आक्सिजन के ताप तक दृढ, तार खीचने योग्य, और आघातसह बने रहते हैं। इसलिये उद्योगो मे इस श्रेणी के निम्न ताप पर इसी धातु का प्रयोग किया जाता है।

अन्य धातुओ की अपेक्षा अकलुष इस्पात को बहुधा कम खर्च मे ही सूक्ष्म एवं दृढ रूप दिया जा सकता है। इसके तार उसी सुगमता से खीचे जा सकते हैं जिस सुगमता से ताम्र या पीतल के, पर यह साधारण इस्पात से अधिक दृढ होते हैं। अपनी इस दृढता के कारण अकलुष इस्पात के उपादानो को रूप देने में अधिक शक्ति, बडे यत्रो और अधिक श्रम की आवश्यकता होती है। यदि अत्यधिक दृढ उपादान निर्मित करना हो तो इस्पात को बीच बीच मे मृदु बनाने की क्रिया करनी पडती है। अकलुष इस्पात से विविध सामग्री बनाने मे की जानेवाली प्रमुख क्रियाएँ ये हैं: मोडना, गोल करना, तार खीचना, पीटना, ऐंठना, तानना और नली बनाना।

यदि सावधानी से कार्य किया जाय तो अकलुष इस्पात के लिये व्यावसायिक वेल्डिंग की सभी प्रचलित रीतियाँ काम मे लाई जा सकती हैं। पिघलाकर जोडने (वेल्ड करने) मे आपसे आप बन जानेवाली गोलियो को घिसकर अत्यत चिकना कर लिया जाता है जिससे जोड देखने मे सुंदर लगे और स्वास्थ्य के लिये हितकर रहे। सुनिर्मित, स्वचालित, निष्क्रिय गैसो से सरक्षित, 'आर्क' भट्ठी पर वेल्ड किए हुए अकलुष इस्पात बिजली द्वारा पालिश कर देने से साधारणत पर्याप्त चिकने हो जाते हैं। सभी प्रकार के क्रोमियम-निकल अकलुष इस्पात वेल्डिंग के ताप पर उत्पन्न होनेवाले विकृतिकारी प्रभावो के होते हुए भी तार खीचने योग्य रहते हैं। वेल्ड करते समय सधि के आसपास बनी गोलियाँ भी मृदु, पुष्ट और पिट सकने योग्य रहती हैं। यदि ऐसिटिलीन वेल्डिंग ठीक से न की जाय तो सधि में कार्बन का समावेश हो जाने से पुष्टता और क्षय-निरोधकता में कमी आ जाती है।

कठोर बनाने योग्य अकलुष इस्पातो की भी वेल्डिंग की जा सकती है, किंतु उन्हें विशेष क्रियाओं द्वारा जोडा जाता है, जिससे वे चिटक न जायँ। ऐसे इस्पातो को, जिनमे कार्बन की मात्रा ०.२० प्रति शत से अधिक हो, पहले २६०° सें० तक गरम कर लिया जाता है, फिर उन्हे उसी ताप पर वेल्ड करके मृदु बना लिया जाता है। यदि वेल्डिंग के पश्चात् तुरत ही धातु को कठोर करना और उसपर पानी चढाना हो तो मृदु बनाने की क्रिया छोडी जा सकती है। साधारणत ऐसे पुरजो को वेल्डिंग द्वारा नही जोडना चाहिए जिनपर बहुत ठोक पीट या कटाई करनी हो।

अकलुष इस्पात के टुकडे साधारणत टक्करी जोड (बट वेल्डिंग) से जोडे जाते हैं। पतली वस्तुएँ एक के ऊपर एक चढाकर वेल्डिंग द्वारा जोडी जाती हैं। टैंक और रेफ्रिजरेटर आदि की जोडाई सीम वेल्डिंग से की जाती है।

अकलुष इस्पात को जोडने में राँगे-सीसे के टाँके का उपयोग कदापि न करना चाहिए। अकलुष इस्पात को दूसरी धातुओं से जोड़ने के लिये चाँदी का टाँका लगाया जाता है, किंतु यदि यह क्रिया शीघ्र सपन्न न की जा सके तो इसमे मालिबडीनम आदि पडे सुस्थिर अकलुष का ही उपयोग करना चाहिए।

अधिकाश प्रामाणिक अकलुष इस्पातो को खरादने आदि मे बडी

कठिनाई पडती है। धातु के निकाले गए अश लबे लबे चिमडे टुकडो में निकलते हैं जिनमे परेशानी होती है। गधक अथवा सेलीनियम की कुछ अधिक मात्रा अकलुप इस्पात में मिलाकर इस दोष से मुक्त करकर धातु का निर्माण किया जा सकता है।

तप्त करके किसी भी प्रकार के अकलुप इस्पात को ठोक पीटकर इच्छित आकार दिया जा सकता है। यद्यपि अकलुप इस्पात को ढाला जा सकता है, फिर भी पतली या मोटी चादरें जोडकर ही विभिन्न वस्तुएँ बनाने की प्रथा अधिक प्रचलित है। यदि अकलुप इस्पात से सूक्ष्म यत्र बनाने हो तो इसके लिये विशेष प्रकार के दाबनेवाले साँचो का उपयोग किया जाता है।

क्षयनिरोधक छनने और इसी प्रकार के अन्य नियत्रित रध्रोवाले यत्र बनाने के लिये चूर्ण अकलुप इस्पात को विशेष ढग के साँचो में अत्यत अधिक दाब से दबाया जाता है।

पेंच, मिटकिनी, रिविट आदि को, जिनका उपयोग अकलुप इस्पात की वस्तुओं के सयोग के लिये किया जाय, अकलुप इस्पात का बनाना चाहिए।

क्रोमियम-निकल अकलुप इस्पात को अत्यधिक कठोर बनाया जा सकता है। मृदु किए गए सब प्रकार के अकलुप इस्पात साधारण इस्पात से अधिक मजबूत होते हैं। कठोर करने पर वे और भी मजबूत हो जाते हैं। ठढी अवस्था में ही बेलने या तार खीचने से १८-८ वाले अकलुष इस्पात की मजबूती प्रति वर्ग इच कई सौ टन होती है। ठढी दशा मे तनाव देकर बनाए गए क्रोमियम-निकल अकलुप इस्पात की चद्दरो को स्पॉट-वेल्डिंग द्वारा जोडकर ऐसी धरनें बनाई जा सकती है जिनका उपयोग अन्य हलकी सकर धातुओ के स्थान पर यातायात उद्योग अथवा ऐसे निर्माण कार्यो में लाभ के साथ हो सकता है जहाँ हलकी धातु का उपयोग नितात आवश्यक होता है।

नीचे दी हुई तालिका विभिन्न प्रकार के अकलुप इस्पात और उनके उपयोगो को व्यक्त करती है

(१)	१२ प्रति शत क्रोमियम	साधारण कामो के लिये, कोयले के क्षेत्र मे, प्रयुक्त यत्रादि में, पप, वाल्व आदि मे।
(२)	१७ प्रति शत क्रोमियम	
	(क) तप्त करके कठोर हो सकनेवाला	छूरी, काँटा आदि, शस्त्रचिकित्सा के औजार, बाल बेयरिंग आदि में।
	(ख) कठोर न हो सकनेवाला	गृहनिर्माण (आतरिक), मोटर-कार, दाहक कक्ष मे।
(३)	१८-८ क्रोमियम-निकल	भोजन, भोजनागार, गृहो के बाहरी दरवाजो या दीवारो में।
(४)	१८-८ क्रोमियम-निकल-मालिबडीनम	लवणमय जल, वस्त्रनिर्माण के यत्र, कागज निर्माण के यत्र, या फोटोग्राफी में।
(५)	क्रोमियम-मैंगनीज	भोजनागार, गृह के बाहरी उपकरण, और बाह्य दीवारो में।

सुचिक्कण अकलुप इस्पात सबसे अच्छा क्षयनिरोधी है। अकलुप इस्पात के बने पात्रो के भीतरी कोने गोल रखे जाते हैं। सर्वाधिक क्षयप्रतिरोध-शक्ति प्राप्त करने के लिये अकलुप इस्पात को २०-४० प्रति शत शोरे के अम्ल मे ५५° सें० से ७०° सें० तक ताप पर कम से कम आधे घटे तक डुबाकर रखा जाता है।

स०ग्र०—जे० एच० जी० मनीपेनी स्टेनलेस आयरन ऐंड स्टील, २ खड (लदन, १९५१)। [ह० के० त्रि०]

अकशक उत्तरी सुमेर (अब दक्षिण-पूर्वी ईराक) का उत्तरतम नगर (३४° उत्तरी अ० तथा ४४° पूर्व दे०)। अति प्राचीन प्रागैतिहासिक काल में यह नगर दजला के तीर अथेम नदी के मुहाने पर बसा था। इसे साधारणत जेनोफन द्वारा उल्लिखित ओपिस माना जाता है, यद्यपि रॉलिन्सन ने बगदाद के निकट दियाला के दक्षिण एक स्थान को ओपिस माना है। [भ० श० उ०]

अकादमी मूलत प्राचीन यूनान के एथेस नगर मे स्थित एक स्थानीय वीर अकादेमस के व्यक्तिगत उद्यान का नाम था। कालातर मे यह वहाँ के नागरिको को जनोद्यान के रूप मे भेंट कर दिया गया था और उनके लिये खेल, व्यायाम शिक्षा और चिकित्सा का केंद्र बन गया था। प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातून (प्लेटो) ने इसी जनोद्यान में एथेस के प्रथम दर्शन विद्यापीठ की स्थापना की। आगे चलकर इस विद्यापीठ को ही अकादमी कहा जाने लगा। एथेस की यह एक ही ऐसी सस्था थी जिसमे नगरवासियो के अतिरिक्त बाहर के लोग भी समिलित हो सकते थे। इसमें विद्यादेवियो (म्यूज़ेज़) का एक मदिर था। प्रति मास यहाँ एक सहभोज हुआ करता था। इसमें सगमरमर की एक अर्धवृत्ताकार शिला थी। कदाचित् इसी पर से अफलातून और उनके उत्तराधिकारी अपने सिद्धातो और विचारो का प्रसार किया करते थे। गभीर सवाद एव विचारविनिमय की शैली में वहाँ दर्शन, गणित, नीति, शिक्षा और धर्म की मूल धारणाओ का विश्लेषण होता था। एक, अनेक, सख्या, असीमता, सीमावद्धता, प्रत्यक्ष, बुद्धि, ज्ञान, सशय, ज्ञेय, अज्ञेय, शुभ, कल्याण, सुख, आनद, ईश्वर, अमरत्व, सौर मडल, निस्सरण, सत्य और सभाव्य, ये उदाहरणत कुछ प्रमुख विषय है जिनकी वहाँ व्याख्या होती थी। यह सस्था नौ सौ वर्षो तक जीवित रही और पहले धारणावाद का, फिर सशयवाद का और उसके पश्चात् समन्वयवाद का सदेश देती रही। इसका क्षेत्र भी धीरे धीरे विस्तृत होता गया और इतिहास, राजनीति आदि सभी विद्याओ और सभी कलाओ का पोषण इसमे होने लगा। परतु साहसपूर्ण मौलिक रचनात्मक चिंतन का प्रवाह लुप्त सा होता गया। ५२९ ई० में सम्राट् जुस्तिनियन ने अकादमी को बद कर दिया और इसकी सपत्ति जब्त कर ली।

फिर भी कुछ काल पहले से ही यूरोप में इसी के नमूने पर दूसरी अकादमियाँ बनने लग गई थी। इनमे कुछ नवीनता थी, ये विद्वानो के सघो अथवा सगठनो के रूप मे बनी। इनका उद्देश्य साहित्य, दर्शन, विज्ञान अथवा कला की शुद्ध हेतुरहित अभिवृद्धि था। इनकी सदस्यता थोडे से चुने हुए विद्वानो तक सीमित होती थी। ये विद्वान् बडे पैमाने पर ज्ञान अथवा कला के किसी सपूर्ण क्षेत्र पर, अर्थात् सपूर्ण प्राकृतिक विज्ञान, सपूर्ण साहित्य, सपूर्ण दर्शन, सपूर्ण इतिहास, सपूर्ण कला क्षेत्र आदि पर दृष्टि रखते थे। प्राय यह भी समझा जाने लगा कि प्रत्येक अकादमी को राज्य की ओर से यथासभव सस्थापन, पूर्ण अथवा आशिक आर्थिक सहायता, एव सरक्षण के रूप में मान्यता प्राप्त होनी ही चाहिए। कुछ यह भी विश्वास रहा है कि विद्या के क्षेत्रो मे उच्च स्तर की योग्यता बहुत थोडे व्यक्तियो मे हो सकती है, और इसका समाज के धनी और वैभवशाली अगो से मेल बना रहना स्वाभाविक तथा आवश्यक भी है। पिछले दो सहस्र वर्षो मे बहुत से देशो मे इन नवीन विचारो के अनुसार बनी हुई कई कई अकादमियाँ रही है। अधिकाश अकादमियाँ विज्ञान, साहित्य, दर्शन, इतिहास, चिकित्सा अथवा ललित कला मे से किसी एक विशेष क्षेत्र में सेवा करती रही हैं। कुछ की सेवाएँ इनमे से कई क्षेत्रो मे फैली रही है।

लोकतत्रवादी विचारो और भावनाओ की प्रगति से अकादमी की इस धारणा मे वर्तमान काल में एक नया परिवर्तन आरभ हुआ है। आज की कुछ अकादमियाँ जनजीवन के निकट रहने का प्रयत्न करने लगी हैं, जनता की रुचियो, विचार धाराओ और कलाओ को अपनाने लगी है और अन्य प्रकार से जनप्रिय बनने का प्रयास करने लगी है। भारत में राष्ट्रीय सस्कृति ट्रस्ट द्वारा स्थापित ललित कला अकादमी, सगीत नाटक अकादमी और साहित्य अकादमी इस परिवर्तन की प्रतीक है। भविष्य ही दिखाएगा कि इस प्रकार की अकादमियाँ अपने क्षेत्रो मे कहाँ तक साहसपूर्ण मौलिक रचनाएँ अथवा नवीन उपलब्धियाँ कर सकती है। [रा० लु०]

अकादमी रायल लडन की दि रॉयल ऍकैडेमी ऑव आर्ट्स जार्ज तृतीय के राजाश्रय मे सन् १७६८ में स्थापित हुई। इसके द्वारा समकालीन चित्रकारो की कलाकृतियों की

प्रदर्शनियाँ प्रति वर्ष की जाती हैं। ललित कला का एक विद्यालय भी जनवरी २, १७६८ को इस सस्था द्वारा स्थापित किया गया। पहली वार महिला छात्राएँ १८६० मे भरती की गई। उनके द्वारा चित्रकला, शिल्पकला और स्थापत्य की उन्नति इस सस्था का प्रधान उद्देश्य था। पहली चित्रकला की प्रदर्शनी २६ अप्रैल,१७६८ को हुई। सर जोशुआ रेनॉल्ड्स इसके १७६८ से १७६२ ई० तक प्रथम अध्यक्ष (प्रेसिडेट) थे। आजकल १६४४ से सर अल्फ्रेड मनिग्ज प्रेसिडेट है। इस सस्था मे ११,००० ग्रथो का सग्रहालय है। इनमे कई ग्रथ वहुत दुर्लभ हैं। इस सस्था द्वारा कई ट्रस्ट फड चलाए जाते है, यथा दि टनर फड, दि क्रेस्विक फड, लैंडमियर फड, आर्मिटेज फड, एडवर्ड स्काट फड। पहले यह सस्था सामरसेट हाउस मे थी, बाद मे नैशनल गैलरी मे और अव १८६६ ई० से वार्लिग्टन हाउस मे है। इस अकादमी के सदस्यो की सख्या चालीस होती है। अकादमी द्वारा कष्टपीडित कलाकारो को आर्थिक सहायता भी दी जाती है। [प्र० मा०]

अकालकोट ववई राज्य के शोलापुर जिले का एक नगर है जो १७° ३१' उ० अक्षाश तथा ७६° १५' पू० दे० पर स्थित है। यहाँ की जनसख्या १८,११२ है (१६५१)। इसके समीप खुला तथा वनरहित प्रदेश है। यहाँ की मिट्टी काली, जलवायु ठढी तथा वर्षा साल मे लगभग ३० इच होती है। मई मे ताप ४२ २° सें०, जनवरी मे २२ २° सें० तथा औसत ताप २९ ४° सें० रहता हैं। यहाँ की मुख्य उपज वाजरा, ज्वार, चावल, चना, गेहूँ, कपास तथा गन्ना है। यहाँ का मुख्य उद्योग सूती कपडे तथा साडियाँ वुनना है। [न० ला०]

अकाली अकाल शब्द का शब्दार्थ है कालरहित। भूत, भविष्य तथा वर्तमान से परे, पूर्ण अमरज्योति ईश्वर, जो जन्ममरण के वधन से मुक्त है और सदा सच्चिदानद स्वरूप रहता है, उसी का अकाल शब्द द्वारा बोध कराया गया है। उसी परमेश्वर में सदा रमण करनेवाला अकाली कहलाया। कुछ लोग इसका अर्थ काल से भी न डरनेवाला लेते हैं। परतु तत्वत दोनो भावो मे कोई भेद नही है। सिक्ख धर्म मे इस शब्द का विशेष महत्व है। सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानक देव ने परमपुरुष परमात्मा की आराधना इसी अकालपुरुष की उपासना के रूप मे प्रसारित की। उन्होने उपदेश दिया कि हमें सकीर्ण जातिगत, धर्मगततथा देशगत भावो से ऊपर उठकर विश्व के समस्तधर्मो के माननेवालो से प्रेम करना चाहिए। उनसे विरोध न करके मैत्रीभाव का आचरण करना चाहिए, क्योकि हम सब उसी अकालपुरुष की सतान हैं। सिक्ख गुरुओ की वाणियो से यह स्पष्ट है कि सभी सिक्ख सतो ने अकालपुरुष की महत्ता को और दृढ किया और उसी के प्रति पूर्ण उत्सर्ग की भावना जागृत की। प्रत्येक अकाली के लिये जीवननिर्वाह का एक वलिदानपूर्ण दर्शन वना जिसके कारण वे अन्य सिक्खो मे पृथक् दिखाई देने लगे।

इसी परपरा मे सिक्खो के छठे गुरु हरगोविंद ने अकाल वुगे की स्थापना की। वुगे का अर्थ है एक वडा भवन जिसके ऊपर गुबज हो। इसके भीतर अकाल तख्त (अमृतसर मे स्वर्णमदिर के समुख) की रचना की गई और इसी भवन मे अकालियो की गुप्त मत्रणाएँ और गोष्ठियाँ होने लगी। इनमे जो निर्णय होते थे उन्हें 'गुरुमता' अर्थात् गुरु का आदेश नाम दिया गया। धार्मिक समारोह के रूप मे ये समेलन होते थे। मुगलो के अत्याचारो से पीडित जनता की रक्षा ही इस धार्मिक सगठन का गुप्त उद्देश्य था। यही कारण था कि अकाली आदोलन को राजनीतिक गतिविधि मिली। वुगे से ही 'गुरुमता' को आदेश रूप से सब ओर प्रसारित किया जाता था और वे आदेश कार्यरूप मे परिणत किए जाते थे। अकाल वुगे का अकाली वही हो सकता था जो नामवाणी का प्रेमी हो और पूर्ण त्याग और विराग का परिचय दे। ये लोग बडे शूर वीर, निर्भय, पवित्र और स्वतत्र होते थे। निर्वलो, वूढो, वच्चो और अवलाओ की रक्षा करना ये अपना धर्म समझते थे। सवके प्रति इनका मैत्रीभाव रहता था। मनुष्य मात्र की सेवा करना इनका कर्तव्य था। अपने सिर को हमेशा ये हथेली पर लिए रहते थे।

३० मार्च, सन् १६६६ को गुरुगोविद सिंह ने खालसा पथ की स्थापना की। इस पथ के अनुयायी अकाली ही थे। औरगजेव के अत्याचारो का मुकावला करने के लिय अकाली खालसा सेना के रूप मे सामने आए। गुरु ने उन्हे नीले वस्त्र पहनने का आदेश दिया और पाँच ककार (कच्छ, कडा, कृपाण, केश तथा कघा) धारण करना भी उनके लिये अनिवार्य हुआ। अकाली सेना की एक शाखा सरदार मानसिंह के नेतृत्व मे निहग सिही के नाम से प्रसिद्ध हुई। फारसी भाषा मे निहग का अर्थ मगरमच्छ है जिसका तात्पर्य उस निर्भय व्यक्ति से है जो किसी अत्याचार के समक्ष नही झुकता। इसका सस्कृत अर्थ निसर्ग है अर्थात् पूर्ण रूप से अपरिग्रही, पुत्र, कलत्र और ससार से विरक्त पूरा पूरा अनिकेतन। निहग लोग विवाह नही करते थे और साधुओ की वृत्ति धारण करते थे। इनके जत्थे होते थे और उनका एक अगुआ जत्थेदार होता था। पीडितो, आर्तो और निर्वलो की रक्षा के साथ साथ सिख धर्म का प्रचार करना इनका पुनीत कर्तव्य था। जहाँ भी ये ठहरते थे, जनता इनका आदर करती थी। जिस घर मे ये प्रवेश पाते थे वह अपने को परम सौभाग्यशाली समझता था। ये केवल अपने खाने भर को ही लिया करते थे और यदि न मिला तो उपवास करते थे। ये एक स्थान पर नही ठहरते थे। कुछ लोग इनकी पक्षीवृत्ति देखकर इन्हे विहगम भी कहते थे। सचमुच ही इनका जीवन त्याग और तपस्या का जीवन था। वीर ये इतने थे कि प्रत्येक अकाली अपने को सवा लाख के वरावर समझता था। किसी की मृत्यु की सूचना भी यह कहकर दिया करते थे कि 'वह चढाई कर गया', जैसे मृत्यु लोक मे भी मृत प्राणी कही युद्ध के लिये गया हो। सूखे चने को ये लोग वदाम कहते थे और रुपए और सोने को ठीकरा कहकर अपनी असग भावना का परिचय देते थे। पश्चिम से होनेवाले अफगानो के आक्रमणो का मुकावला करना और हिंदू कन्याओ और तरुणियो को पापी आततायियो के हाथो से उवारना इनका दैनिक कार्य था।

महाराज रणजीतसिह के समय अकाली सेना अपने चरम उत्कर्ष पर थी। इसमे देशभर के चुने सिपाही होते थे। मुसलमान गाजियो का ये डटकर सामना करते थे। मुल्तान, कश्मीर, अटक, नौशेरा, जमशेद, अफगानिस्तान आदि तक इन्ही के सहारे रणजीतसिंह ने अपना साम्राज्य वढाया। अकाल सेना के पतन का कारण कायरो और पापियो का छद्म वेश मे सेना के निहगो मे प्रवेश पाना था। इससे इस पथ को बहुत धक्का लगा।

अग्रेजो ने भी अकालियो की वीरता से भयभीत होकर हमेशा उन्य दवाने का प्रयास किया। इधर अकाली इतिहास मे एक नया अध्याहे आरभ हुआ। जो गुरुद्वारे और धर्मशालाएँ दसो सिक्ख गुरुओ ने धर्मप्रचार और जनता की सेवा के लिये स्थापित की थी और जिन्हे सुदृढ रखने के लिये महाराज रणजीतसिंह ने वडी वडी जागीरे लगवा दी थी वे अग्रेजी राज्य के समय अनेक नीच आचरणवाले महतो और पुजारियो के अधिकार मे पहुँच गई थी। उनमे सब प्रकार के दुराचरण होने लगे थे। उनके विरोध मे कुछ सिक्ख तरुणो ने गुरुद्वारो के उद्धार के लिये अक्तूवर, सन् १६२० मे अकालियो की एक नई सेना एकत्रित की। इसका उद्देश्य अकालियो की पूर्वपरपरा के अनुसार त्याग और पवित्रता का व्रत लेना था इन्होने कई नगरो मे अत्याचारी महतो को हटाकर मठो पर अधिकार कर लिया। इस समय गुरुनानक की जन्मभूमि ननकाना साहब (जिला शेखूपुरा, वर्तमान पाकिस्तान मे) के गुरुद्वारे पर महत नारायणदास का अधिकार था। उससे मुक्त करने के लिये भी गुरुमता (प्रस्ताव) पास किया गया। सरदार लक्ष्मणसिह ने २०० अकालियो के साथ चढाई की, परतु उनका तथा उनके साथियो का वडी निर्दयता के साथ वध कर दिया गया और उन्हे नाना प्रकार की क्रूर यातनाएँ दी गई। और भी वहुत से मठो को छीनने मे अकालियो को अनेक वलिदान करने पडे। ब्रिटिश सरकार ने पहले महतो की भरपूर सहायता की परतु अत मे अकालियो की जीत हुई। सन् १६२५ तक समस्त गुरुद्वारे, शिरोमणि गुरुद्वारा कमेटी के अतर्गत धारा १६५ के अनुसार आ गए। अकालियो की सहायता मे महात्मा गाधी ने वडा योग दिया और भारतीय काग्रेस ने अकाली आदोलन को पूरा पूरा सहयोग दिया।

सन् १६२५ से गुरुद्वारा ऐक्ट वनने के पश्चात् इसी के अनुसार गुरुद्वारा प्रवधक समिति का पहला निर्वाचन २ अक्तूवर, १६२६ को हुआ। अव शिरोमणि गुरुद्वारा समिति का निर्वाचन प्रति पाँचवे वर्ष होता है। इस समिति का प्रमुख कार्य गुरुद्वारो की देखभाल, धर्मप्रचार, विद्या का प्रसार इत्यादि है। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रवधक समिति के अतिरिक्त

एक केंद्रीय शिरोमणि अकाली दल भी अमृतसर में स्थापित है। इसके अधीन हर जिले में यथाशक्ति गुरुद्वारों का प्रबंध और जनता की सेवा करते हैं। [व० सिं० स्या०]

अकीवा (सन् ५०-१३२ ई०)। फिलस्तीन का यहूदी रब्बी और जाफा के रब्बानी विद्यालय का मुख्य अध्यापक। कहा जाता है, उसके २४ हजार शिष्य थे जिनमें प्रमुख रब्बी मेअर था। सन् १३२ ई० में फिलस्तीन के यहूदियों ने अपने धर्म और अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये जी तोड़ प्रयत्न किया। इस संग्राम का नेता बरकोकबा था। धर्माचार्य अकीवा ने बरकोकबा को यहूदियों का मसीहा घोषित किया। तीन वर्ष के संग्राम के बाद रोमन सेना विजयी हुई। जेरूसलम के एक एक बच्चे का कत्ल हुआ और शहर की समस्त भूमि पर हल चलवाकर उसे बराबर करवा दिया गया। अकीवा की जीवित खाल खिंचवा ली गई किंतु उसने हँसते हँसते मृत्यु का आलिंगन किया। यहूदी जिन दस शहीदों को अब तक प्रार्थना के समय याद करते हैं उनमें से एक शहीद अकीवा भी है। [वि० ना० पा०]

अकोट बंबई राज्य के अकोला जिले में अकोट ताल्लुके का प्रमुख नगर है (स्थिति २१° ६' उ० अक्षांश एवं ७७° ६' पूर्वी देशांतर)। इस नगर की स्थिति बागों के बीच होने के कारण अत्यंत सुरम्य है। यह नगर कपास का बड़ा बाजार है जो शेगावँ, अकोला आदि को भेजी जाती है। यहाँ की सूती दरियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं और यहाँ कपास से बिनौले निकालने एवं स्वच्छ करने के कई कारखाने हैं। रस्सी बनाने का उद्योग भी यहाँ महत्वपूर्ण है। यहाँ से इमारती लकड़ी का भी व्यापार होता है। १९०१ ई० में यहाँ की जनसंख्या १८,२५२ थी जो १९२१ ई० में घटकर १६,८८७ रह गई, पर पुन: क्रमश: बढ़ते बढ़ते १९५१ ई० में २४,२५५ हो गई। इस नगर के निकटवर्ती क्षेत्रों में कृषि अधिक होती है और नगर के ५८ % से भी अधिक लोग कृषि कार्यों में लगे हैं। [का० ना० सिं०]

अकोला विदर्भ प्रदेश (बंबई राज्य) का एक जिला तथा नगर है। यह नगर पुरना की सहायक मुरना नदी के पश्चिमी किनारे पर २०° ४२' उ० अ० तथा ७७° २' पू० दे० पर स्थित है। यह बंबई से ३८३ मील तथा नागपुर से १५७ मील दूर है और रुई के व्यापार का मुख्य केंद्र है। यहाँ पर इसकी गाँठें तैयार करने के कई कारखाने हैं। नगर में एक राजकीय कालेज तथा औद्योगिक संस्था भी है। यहाँ की जनसंख्या ८६,६०६ है (१९५१)।

अकोला जिला १९° ५०' उ० अ० से २१° १६' उ० अ० तथा ७६° ४५' पू० दे० से ७७° ५२' पू० दे० रेखाओं के बीच स्थित एक समतल प्रदेश है। इसका क्षेत्रफल ४,०९३ वर्ग मील तथा जनसंख्या ९,५०,९९४ है (१९५१)। यहाँ पर पुरना (ताप्ती की सहायक) नदी अपनी सहायक नदियों के साथ बहती है। इसके उत्तर में सतपुड़ा की पहाड़ियाँ फैली हुई हैं। यहाँ का औसत ताप ३५° सें० है तथा वर्षा साल में लगभग ३० इंच होती है। पुरना घाटी में सब जगह काली चिकनी मिट्टी पाई जाती है। यहाँ के लगभग पूरे भूभाग में खेती होती है और मुख्य फसलें ज्वार, कपास, दाल तथा गेहूँ हैं। २२ लाख एकड़ भूमि में कृषि होती है जिसके $\frac{1}{3}$ भाग में कपास तथा $\frac{1}{3}$ भाग में खरीफ की फसलें बोई जाती हैं। [न० ला०]

अकोस्ता, जोज़ेद (ल० १५३९-१६००) स्पेनी लेखक, जन्म मेदीना देल कांपो में। बड़ी छोटी उम्र में अकोस्ता जेसुइत पादरी हो गया और १५७१ में मिशन की सेवा के लिये पेरू गया। १५८२ में लिमा की परिषद् का वह धार्मिक सलाहकार चुना गया। अगले साल जो पुस्तक उसने प्रकाशित की वह पेरू में छपनेवाली पहली पुस्तक थी। सालामांका के जेसुइत कालेज का वह १५९८ में रेक्टर बना, पर इसके दो साल बाद ही मर गया। [ओ० ना० उ०]

अक्काद ईरान का प्राचीन प्रदेश और नगर, उत्तरी बाबुल (बाबिलोनिया) से अभिन्न, निचले मेसोपोतामिया का वह भाग जो प्राचीन काल में सुमेर और अक्काद कहलाता था। सुमेर-अक्काद सम्मिलित भूप्रसार का अक्काद वह प्रदेश था जहाँ दजला और फरात नदियाँ अपने मुहानों पर एक दूसरे के अत्यंत समीप आ गई हैं। इसी प्रदेश में बाबिलोनिया के प्राचीन नगर कीश, बाबुल, सिप्पर, बोरसिप्पा, कुथा और ओपिस बसे थे।

अक्काद के भग्नावशेषों की सही पहचान में विद्वानों में मतभेद है। सर ई० ए० वालिस बज ने १८९१ में तेल-एल-दीर को खोदकर उसके खंडहरों को अक्काद माना। उधर लैंगडन ने सिप्पर-याखुरु को अक्काद घोषित किया है। उत्तरी बाबुल में अक्काद चाहे जहाँ भी रहा हो, यह प्राचीन काल (ल० २५००-२४०० ई० पू०) का अति ऐश्वर्यशाली नगर था जो अपने नाम के विस्तृत साम्राज्य की राजधानी बन गया। पुराविदों की राय में इतिहास का पहला साम्राज्य इसी अक्काद के राजाओं ने स्थापित किया। पहले वहाँ अशेमी सुमेरियों का राज था, बाद को कीश के एक शेमी परिवार के विजेता सारगोन ने सुमेरी शक्ति नष्ट कर अपना साम्राज्य स्थापित किया। उसने अक्काद को अपनी राजधानी बनाया जिससे बाइबिल की पुरानी पोथी और प्राचीन इतिहास में उसकी 'अक्काद का सारगोन' (अक्कादीय सारगोन) संज्ञा प्रसिद्ध हुई। [भ० श० उ०]

अक्कोरांबोनी वित्तोरिया (१५५७-१५८५) अपने सौंदर्य, गुणों और करुण इतिहास के लिये प्रसिद्ध इटालियन महिला। १५७३ में फ्रासेस्को पेरेती से विवाह। रोम के अनेक गण्यमान्य पुरुष उसके प्रशंसक थे जिनमें ब्रासियानो का ड्यूक भी था। ड्यूक ने वित्तोरिया के भाई मार्सेलो के साथ मिलकर पेरेती की हत्या कर दी। शीघ्र ही विधवा वित्तोरिया और ड्यूक का विवाह हो गया। ड्यूक पर हत्या का संदेह हुआ। बचने के लिये नवदंपति वेनिस भाग गए। वहीं १५८५ में ड्यूक की मृत्यु हो गई। उसकी अपार संपत्ति की स्वामिनी बनी वित्तोरिया। दु:खिनी विधवा पादुआ में अपना जीवन बिताने लगी पर शीघ्र ही लुदविको ओरसिनो ने धन के लालच में उसका वध कर दिया। [स० च०]

अक्याब बर्मा में अराकान प्रदेश का एक जिला है जो १९° ४७' उ० अक्षांश से २०° २७' उ० अ० तथा ९२° ११' पू० दे० से ९३° ५८' पू० दे० में फैला है। यह बंगाल की खाड़ी के उत्तर-पूर्वी तट पर स्थित है और इसकी जनसंख्या ७,६०,७०५ है (१९५१)। इसका क्षेत्रफल ५,१३६ वर्ग मील है। इस जिले का मुख्य नगर अक्याब (स्थिति २०° ८' उ० अ०, ९२° ५८' पू० दे०) मियू, कालादान तथा लेमरो नदियों के संगम पर स्थित है। यहाँ का अधिकतम ताप ८९° फा० तथा न्यूनतम ७४° फा० है। वार्षिक वर्षा प्राय: १०० इंच से भी अधिक होती है। तटीय प्रदेश में चावल पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होता है तथा बाहर भेजा जाता है। मुख्य उद्योग सूती तथा रेशमी कपड़े बुनना, बरतन बनाना, सोने चाँदी का काम तथा जूता तैयार करना है। [न० ला०]

अक्रा गिनी की खाड़ी के तट पर ५° ३१' उ० अ० तथा ०° १२' प० दे० पर स्थित एक मुख्य बंदरगाह तथा घाना की राजधानी है। १९४८ की जनगणना के अनुसार इसकी जनसंख्या १,३३,१९२ थी। जलवायु प्राय: शुष्क है तथा वर्षा साल में लगभग २९ इंच होती है। यहाँ के मुख्य मार्ग, बैंक तथा व्यापारिक केंद्र होली ट्रिनिटी गिरजाघर से आरंभ होकर एक सीधी पंक्ति में चले गए हैं। विक्टोरियावर्ग में मुख्य अफसरों के निवासस्थान हैं। यहाँ पर घुड़दौड़ का एक मैदान है। मत्स्य विभाग का प्रधान कार्यालय भी यहाँ है। नारियल यहाँ का मुख्य निर्यात है। [न० ला०]

अक्रियावाद बुद्ध के समय का एक प्रख्यात दार्शनिक मतवाद। महावीर तथा बुद्ध से पूर्व के युग में भी इस मत का बड़ा बोलबाला था। इसके अनुसार न तो कोई कर्म है, न कोई क्रिया और न कोई प्रयत्न। इसका खंडन जैन तथा बौद्ध धर्मों ने किया, क्योंकि ये दोनों प्रयत्न, कार्य, बल तथा वीर्य की सत्ता में विश्वास रखते हैं। इसी कारण इन्हें कर्मवाद या क्रियावाद के नाम से पुकारते हैं। बुद्ध के समय पूर्णकश्यप नामक आचार्य इस मत के प्रख्यात अनुयायी बतलाए गए हैं (द्रष्टव्य ब्रह्मजालसुत्त)। [व० उ०]

अक्रूर यादववंशी कृष्णकालीन एक मान्य व्यक्ति। ये सात्वत वंश में उत्पन्न वृष्णि के पौत्र थे। इनके पिता का नाम श्वफल्क था जिनके साथ काशी के राजा ने अपनी पुत्री गांदिनी का विवाह किया था। इन्हीं

दोनो की संतान होने से अक्रूर 'श्वाफल्कि' तथा 'गादिनीनंदन' के नाम से भी प्रसिद्ध थे। मथुरा के राजा कंस की सलाह पर ये बलराम तथा कृष्ण को वृदावन से मथुरा लाए (भागवत १०।४०)। स्यमतक मणि से भी इनका बहुत संबंध था। अक्रूर तथा कृतवर्मा द्वारा प्रोत्साहित होने पर शतधन्वा ने कृष्ण के श्वसुर तथा सत्यभामा के पिता सत्राजित् का वध कर दिया, फलत क्रुद्ध होकर श्रीकृष्ण ने शतधन्वा को मिथिला तक पीछा कर मार डाला, पर मणि उसके पास नहीं निकली। वह मणि अक्रूर के ही पास थी जो डरकर द्वारिका से बाहर चले गए थे। उन्हें मनाकर कृष्ण मथुरा लाए तथा अपने बधुवर्गो मे बढनेवाले कलह को उन्होने शात किया (भागवत १०।५७)। [व० उ०]

अक्रे ब्राज़ील की एक नदी है जो बोलिविया तथा ब्राज़ील को अलग करती है। ८° ४५' द० अ० पर यह पुरुस नदी में जाकर मिल जाती है।

अक्रे ब्राज़ील का एक प्रदेश भी है जो उत्तरी बोलिविया तथा दक्षिण-पूर्वी पेरू के बीच में पडता है। पहले यह बोलिविया के अधीन था तथा यहाँ पर ५६,१३६ वर्ग मील क्षेत्र में रबर के वृक्षो का बाहुल्य था। बाद मे ब्राज़ील सरकार ने इसपर आक्रमण किया और अनेक वर्षो तक दोनो देशो मे झगडा चलता रहा। १८९९ ई० में अक्रे ने अपने को स्वतत्र घोषित कर दिया। १९०३ ई० में ब्राज़ील ने बोलिविया को १,००,००,००० डालर की क्षतिपूर्ति देकर अक्रे को अपने मे समिलित कर लिया। अक्रे की राजधानी रिओब्राको है, जिसकी जनसख्या १,१६,१२४ है(१९५०)। [न० ला०]

अक्रोन ओहायो (सयुक्त राज्य, अमरीका) का एक नगर है, जो छोटी कुयाहिगो नदी पर स्थित है। इसकी स्थापना पहले पहल सन् १८१८ में हुई, १८६५ मे यह नगर हो गया। इसका क्षेत्रफल २५ ३ वर्ग मील तथा जनसख्या २,९९,०९९ है (१९५६)। रबर टायर बनाने का यह बहुत बडा केंद्र है। यहाँ पर रासायनिक पदार्थ, पत्थर के सामान, चीनी मिट्टी के बरतन, सगमरमर के खिलौने, जहाज और मछली फँसाने के उपकरण तैयार किए जाते है। यहाँ का विश्वविद्यालय १९१३ में बना। लगभग ४७५ एकड भूमि मे यहाँ पर २६ प्रमोदवन (पार्क) है। [न० ला०]

अक्रोपोलिस इसका शाब्दिक अर्थ 'नगर का ऊर्ध्व भाग' है। प्राचीन यूनानियो ने रक्षा की दृष्टि से नगरो की रचना अधिकतर ऊँची खडी पहाडियो पर की थी। कालातर मे ये ही स्थल बडे नगरो के केद्र बन गए। नगरो का विस्तार उन्ही के चारो ओर और नीचे होता चला गया। पहले इस शब्द का प्रयोग केवल एथेंस, अरगोस, थीबिज़, कोरिंथ आदि के लिये होता था, पर बाद मे ऐसे सभी नगरो के लिये होने लगा। इनमें सबसे अधिक ख्याति एथेंस के अक्रोपोलिस की है (देखिए, एथेस)। [ओ० ना० उ०]

अक्लूज बबई राज्य के शोलापुर जिले के मलसिरा ताल्लुका का एक प्रसिद्ध नगर है जो नीरा नदी पर मलसिरा से छ मील उत्तर-पूर्व दिशा में स्थित है। पहले यह नगर सूत के व्यापार के लिये बहुत प्रसिद्ध था, परतु अब यह व्यापार कम हो गया है। यहाँ पर एक डाकघर तथा एक जीर्ण दुर्ग है। प्रति सोमवार को यहाँ साप्ताहिक हाट लगती है। क्षेत्रफल २ ५२ वर्ग मील है और जनसख्या २०,२६२ (१९५१) है। [न० ला०]

अक्षक्रीड़ा जूए का खेल अक्षक्रीडा या अक्षद्यूत के नाम से विख्यात है। वेद के समय से लेकर आज तक यह भारतीयो का अत्यत लोकप्रिय खेल रहा है। ऋग्वेद के एक प्रख्यात सूक्त (१०।३४) मे कितव (जुआडी) अपनी दुर्दशा का रोचक चित्र खीचता है कि जूए मे हार जाने के कारण उसकी भार्या तक उसे नही पूछती, दूसरो की बात ही क्या? वह स्वय शिक्षा देता है—अक्षै र्मा दीव्य कृपिमित् कृषस्व (ऋ० १०।३४।१३)। महाभारत जैसा प्रलयकारी युद्ध भी अक्षक्रीडा के परिणामस्वरूप ही हुआ। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा काशिका के अनुशीलन से अक्षक्रीडा के स्वरूप का पूरा परिचय मिलता है। पाणिनि उसे 'आक्षिक' कहते है (अष्टा० ४।४।२)। पतजलि ने सिद्धहस्त द्यूतकर के लिये 'अक्षकितव' या 'अक्षधूर्त' शब्दो का प्रयोग किया है।

वैदिक काल मे द्यूत की साधन सामग्री का निश्चित परिचय नही मिलता, परतु पाणिनि के समय (पचम शती ई० पू०) में यह खेल 'अक्ष' तथा 'शलाका' से खेला जाता था। अर्थशास्त्र का कथन है कि द्यूताध्यक्ष का यह काम है कि वह जुआडियो को राज्य की ओर से खेलने के लिये अक्ष और शलाका दिया करे (३।२०)। किसी प्राचीन काल मे अक्ष से तात्पर्य बहेडा (बिभीतक) के बीज से था। परतु पाणिनि काल मे अक्ष चौकोनी गोटी और शलाका आयताकार गोटी होती थी। इन गोटियो की सख्या पाँच होती थी, ऐसा अनुमान तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।७।१०) तथा अष्टाध्यायी से भली भाँति लगाया जा सकता है। ब्राह्मणो के ग्रथो में इनके नाम भी पाँच थे—अक्षराज, कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलि। काशिका इसी कारण इस खेल को 'पचिका द्यूत' के नाम से पुकारती है (अष्टा० २।१।१० पर वृत्ति)। पाणिनि के 'अक्षशलाका सख्या परिणा' (२।१।१०) सूत्र में उन दशाओ का उल्लेख है जिनमें गोटी फेकनेवाले की हार होती थी और इस स्थिति की सूचना के लिये अक्षपरि, शलाकापरि, एकपरि, द्विपरि, त्रिपरि तथा चतुष्परि पदो का प्रयोग सस्कृत मे किया जाता था।

काशिका के वर्णन से स्पष्ट है कि यदि उपर्युक्त पाँचो गोटियाँ चित्त गिरें या पट्ट गिरें, तो दोनो अवस्थाओ मे गोटी फेंकनेवाले की जीत होती थी (तत्र यदा सर्वे उत्तान पतन्ति अवाच्यो वा, तदा पातयिता जयति। तस्यैवास्य विघातोऽन्यथा पाते जायते—काशिका २।१।१० पर)। अर्थात् यदि एक गोटी अन्य गोटियो की अवस्था से भिन्न होकर चित्त या पट्ट पडे, तो हार होती थी और इसके लिये एकपरि शब्द प्रयुक्त होता था। 'अक्षपरि' तथा 'शलाकापरि' एकपरि के लिये ही प्रयुक्त होते थे। इसी प्रकार दो गोटियो से होनेवाली हार को 'द्विपरि' तीन से 'त्रिपरि' तथा चार की हार को 'चतुष्परि' कहते थे। जीतने का दावँ 'कृत' और हारने का दावँ 'कलि' कहलाता था। बौद्ध ग्रथों मे भी कृत तथा कलि का यह विरोध सकेतित किया गया है (कलि हि धीरान, कट मुगान)।

जूए मे बाजी भी लगाई जाती है और इस द्रव्य के लिये पाणिनि ने 'ग्लह' शब्द की सिद्धि मानी है (अक्षेपु ग्लह, अष्टा० ३।३।७०)। महाभारत के प्रख्यात जुआडी शकुनि का यह कहना ठीक ही है कि बाजी लगाने के करण ही जूआ लोगो मे इतना बदनाम है। महाभारत, अर्थशास्त्र आदिग्रथो सेपता चलता है कि जुआ 'सभा' में खेला जाता था। स्मृति ग्रथो में जुआ खेलने के नियमो का पूरा परिचय दिया गया है। अर्थशास्त्र के अनुसार जुआडी को अपने खेल के लिये राज्य को द्रव्य देना पडता था। बाजी लगाए गए धन का पाँच प्रति शत राज्य को कर के रूप मे प्राप्त होता था। राज्य की ओर से इतना नियमन था, फिर भी धोखाधडी करनेवालो की कमी नही थी। पचम शती में उज्जयिनी मे इसके विपुल प्रचार की सूचना मृच्छकटिक नाटक से हमें उपलब्ध होती है। द्यूतक्रीडा के विविध शब्दो का अध्ययन भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विशेष महत्वशाली है।

सं०ग्रं०—वैदिक इडेक्स, भाग १, १९५८, वासुदेवशरण अग्रवाल· पाणिनिकालीन भारत, काशी, १९५६। [ब० उ०]

अक्षपाद न्यायसूत्र के रचयिता आचार्य। प्रख्यात न्यायसूत्रो के निर्माता का नाम पद्मपुराण (उत्तर खड, अध्याय २६३), स्कदपुराण (कालिका खड, अ० १७), गाधर्वतत्र, नैषधचरित (१७ सर्ग) तथा विश्वनाथ की न्यायवृत्ति मे महर्षि गोतम (या गौतम) ठहराया गया है। इसके विपरीत न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, तात्पर्यटीका तथा न्यायमजरी आदि विख्यात न्यायशास्त्रीय ग्रथो मे 'अक्षपाद' इन सूत्रो के लेखक माने गए है। महाकवि भास के अनुसार न्यायशास्त्र के रचयिता का नाम 'मेधातिथि' है (प्रतिमा नाटक, पचम अक)। इन विभिन्न मतो की एकवाक्यता सिद्ध की जा सकती है। महाभारत (शातिपर्व, अ० २६५) के अनुसार 'गौतम मेधातिथि' दो विभिन्न व्यक्ति न होकर एक ही व्यक्ति है (मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थित)। 'गौतम' (या गोतम) स्पष्टत वशबोधक आख्या है तथा 'मेधातिथि' व्यक्तिबोधक सज्ञा है। 'अक्षपाद' का शब्दार्थ है 'पैरो मे आँखवाला'। फलत इस नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिये अनेक कहानियाँ गढ ली गई है जो सर्वथा कल्पित, निराधार और प्रमाणशून्य है।

न्यायसूत्रो मे पाँच अध्याय है और ये ही न्यायदर्शन (या आन्वीक्षिकी) के मूल आधार ग्रथ हैं। इनकी समीक्षा से पता चलता है कि न्यायदर्शन आरभ में 'अध्यात्मप्रधान' था अर्थात् आत्मा के स्वरूप का यथार्थ निर्णय करना ही इसका उद्देश्य था। तर्क तथा युक्ति का यह सहारा अवश्य लता था, परतु आत्मा के स्वरूप का परिचय इन साधनो के द्वारा कराना ही इसका मुख्य तात्पर्य था। उस युग का सिद्धात था कि जो प्रक्रिया आत्मतत्व का ज्ञान प्राप्त करा सकती है वही ठीक तथा मान्य है। उससे विपरीत मान्य नही होती

यया यया भवेत् प्रसा व्युत्पत्ति प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रिया साध्वी विपरीता ततोऽन्यथा ।।

परतु आगे चलकर न्यायदर्शन मे उस तर्कप्रणाली की विशेषत उद्भावना की गई जिसके द्वारा अनात्मा से आत्मा का पृथक् रूप भली भाँति समझा जा सकता है और जिसमे वाद, गल्प, वितडा, छल, जाति आदि साधनो का प्रयोग होता है। इन तर्कप्रधान न्यायसूत्रो के रचयिता 'अक्षपाद' प्रतीत होते हैं। वर्तमान न्यायसूत्रो मे दोनो युगो के चितनो की उपलब्धि का स्पष्ट निर्देश है। न्यायदर्शन के मूल रचयिता गौतम मेधातिथि है और उसके प्रतिसस्कर्ता—नवीन विपयो का समावेश कर मूल ग्रथ के सशोधक—अक्षपाद है। आयुर्वेद का प्रख्यात ग्रथ 'चरकसहिता' भी इसी 'सस्कारपद्धति' का परिणत आदर्श है। मूल ग्रथ के प्रणेता महर्पि अग्निवेश है, परतु इसके प्रतिसस्कर्ता चरक माने जाते हैं। न्यायसूत्र भी इसी प्रकार अक्षपाद द्वारा प्रतिसस्कृत ग्रथ है।

स०ग्र०—डॉ० विद्याभूषण हिस्ट्री ऑव इडियन लॉजिक, कलकत्ता, तर्कभापा (आचार्य विश्वेश्वर की व्याख्या और भूमिका), काशी, स० २०१०। [ब० उ०]

अक्षयकुमार देवसेनानी स्कद अथवा कार्तिकेय का नाम है। वे महादेव के पुत्र थे, कृत्तिका ने उनका पालन किया था। कालिदास ने 'कुमारसभव' में पार्वतीपरिणय तथा कुमारोत्पत्ति का विशद वर्णन किया है। [च० म०]

अक्षयतृतीया वैशाख के शुक्लपक्ष की तृतीया अक्षयतृतीया कहलाती है। हिंदुओ के अनेक धार्मिक पर्वो की तरह इस तिथि का भी स्नान, दान सबधी माहात्म्य है, परतु कृपको के लिये यह एक वडा पर्व इसलिये है कि इसी दिन वे विधि पूर्वक बीजारोपण का काम प्रारभ करते है। [च० म०]

अक्षयनवमी कार्तिक शुक्लपक्ष की नवमी अक्षयनवमी कहलाती है। यो सारे कार्तिक मास मे स्नान का माहात्म्य है, परतु नवमी को स्नान करने से अक्षय पुण्य होता है, ऐसा हिंदुओ का विश्वास है। इस दिन अनेक लोग व्रत भी करते हैं और कथा वार्ता मे दिन बिताते है। [च० म०]

अक्षयवट पुराणो मे वर्णन आता है कि कल्पात या प्रलय मे जब समस्त पृथ्वी जल में डूब जाती है उस समय भी वट का एक वृक्ष वच जाता है जिसके एक पत्ते पर ईश्वर बालरूप मे विद्यमान रहकर सृष्टि के अनादि रहस्य का अवलोकन करते है। यह वट का वृक्ष प्रयाग मे त्रिवेणी के तट पर आज भी अवस्थित कहा जाता है। अक्षयवट के सदर्भ कालिदास के 'रघुवश' तथा चीनी यात्री युवान्-च्वाग के यात्रा विवरणो में मिलते हैं। [च० म०]

अक्षर 'अक्षर' शब्द का धात्वर्थ तो "क्षर अथवा क्षय न होनेवाला", "अपरिवर्तनीय" आदि है, किंतु यहाँ इसका प्रयोग लिखित अथवा अकित ध्वनिसकेत के अर्थ मे किया गया है, ससार की विभिन्न भाषाओ की विविध ध्वनियो को व्यक्त करनेवाले चिह्नो को अक्षर कहते हैं। प्राचीन सस्कृत साहित्य मे 'अक्षर' शब्द का प्रयोग ध्वन्यात्मक (उच्चरित) और सकेतात्मक (लिखित) दोनो अर्थों में मिलता है, 'वर्ण' शब्द केवल सकेतात्मक चिह्न के अर्थ मे ही मिलता है, क्योकि वर्ण की व्युत्पत्ति मूल धातु 'वर्ण' (रँगने या बनाने) से है। प्रत्येक अक्षर किसी ध्वनिविशेष का प्रतिनिधित्व करता है। किंतु कोई अक्षर किसी ध्वनि को मोटे तौर पर ही व्यक्त कर सकता है, क्योकि ध्वनियाँ अनत हैं और अक्षर सीमित। जिस प्रकार भापाएँ मानव विचारो और भावो को पूर्ण रूप से व्यक्त नही कर सकती उसी प्रकार अक्षर भी भापा का पूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व नही कर सकते। अक्षर बहुत विकसित किंतु कृत्रिम लेखनकला है। अक्षर और ध्वनि का सबध परपरागत मान्य है, वास्तविक नही।

प्रतीक एवं संकेत

लेखनकला और अक्षर को विकास की कई सीढियो से होकर गुजरना पडा है। जब आदिम मनुष्य वर्बरता से सभ्यता की ओर वढा तव उसे अपने ज्ञान को स्थायी रूप देने की आवश्यकता पडी। इसके लिये कई उपायो का अवलबन किया गया। प्राथमिक उपाय प्रतीकात्मक अथवा सकेतात्मक थे। कहा जाता है, शको ने अपने शत्रु पारसीको के पास सदेश में "एक पक्षी, एक चूहा, एक मेढक और पाँच बाण" भेजे। इसका अर्थ यह था कि "यदि वे पक्षी की तरह उड नही सकते, चूहे की तरह छिप नही सकते और मेढक की तरह दलदल में उछल नही सकते तो उन्हे युद्ध नही करना चाहिए, अन्यथा वे बाण से पराजित होंगे।" इसी प्रकार रस्सी या तागे मे गाँठो और छडी मे कटाव आदि से स्मृति को सजीव रखा जाता था। वर्तमान आदिम जातियाँ अभी तक इसका उपयोग करती हैं। वास्तव मे ये सब गर्भस्थ लेखनकलाएँ थी। सचमुच लेखनकला का प्रारभ मूर्तिलिपि से होता है। इसमे पदार्थो की अर्धखचित प्रतिकृति पाई जाती है, जिससे स्मृति पर स्थायी छाप पडती है। विकास का दूसरा चरण-चित्रलिपि थी जिसमे पदार्थो की अस्पष्ट प्रतिकृति मिलती है। पापाणकालीन गुहाओ मे इस प्रकार के अनेक उदाहरण पाए जाते हैं। लिपि के विकास का तीसरा चरण विचारलिपि थी। यह एक प्रकार का चित्रण था जो किसी ध्वनि या शब्द को न प्रकट कर विचार को प्रकट करता था। जैसे, आँख और उससे गिरते हुए आँसू का चित्र "शोक" का प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे शब्दो मे, यह चित्रकथानक था, परतु अभी तक उच्चरित शब्द और खचित चित्र मे कोई सीधा सबध नही था। विकास के चौथे चरण मे चित्र और अक्षर के बीच का सक्रमण काल आया जिसमे चित्र का अगविशेप सक्षिप्त होकर किसी पदार्थ के नाम अथवा उसके प्रथम अक्षर की ध्वनि से सयुक्त होने लगा। सुमेर, मिस्र, सिधुघाटी, चीन, क्रीट आदि के लेखो में इसके उदाहरण मिलते हैं। ध्वन्यात्मक अक्षरो का विकास सवसे अत मे हुआ जिसमे ध्वनिसमूह अथवा एक ध्वनि के लिये एक चिह्न निश्चित रूप से मान लिया गया।

अ—चित्रात्मक अक्षर

ससार मे प्रचलित लेखनकला के कई परिवार हैं। उनमे से प्रमुख का परिचय नीचे दिया जा रहा है

१ **कीलाक्षर** (३५०० ई० पू०—१०००ई० पू०)—प्राचीनतम उत्कीर्ण लेख दजला और फरात नदियो के बीच मेसोपोतामिया मे पाए जाते हैं। किश से उपलब्ध शिलालेख मे, जो इस समय ऐशमोलियन सग्रहालय, आक्सफोर्ड में सुरक्षित है, मानव शिर, हाथ, पावँ, शिश्नादि प्रतीको और चिह्नो से भाव व्यक्त किए गए हैं। यह एक प्रकार की चित्रलिपि थी। क्योकि यहाँ पर लेखन का माध्यम नरम मिट्टी की तख्तियाँ थी अत लिखने की कठिनाई के कारण चित्रलिपि क्रमश कीलाक्षरो में परिवर्तित हो गई। ये अक्षर आकार मे कील (काँटो) के समान है, अत इन्हें कीलाक्षर कहते हैं। सबसे पहले सुमेर निवासियो ने इस लिपि का उपयोग किया। कहा जाता है, ये लोग सामी जाति से भिन्न थे और अपनी लेखनकला कही बाहर समुद्रमार्ग से लाए थे। इनसे बाबुली, असुर, इलामी, कस्सी, खत्ती, मित्तनी, पारसीक आदि लोगो ने कीलाक्षरो को ग्रहण किया, यद्यपि विभिन्न प्रदेशो मे इसके विविध रूप थे।

२ **मिस्री अक्षर** (३००० ई० पू०—५०० ई०पू०)—चित्रलिपि से इसका विकास हुआ। इसके तीन विभाग किए जा सकते हैं (१) (पवित्र) चित्राक्षर (हीरोग्लिफिक)। पदार्थों के चित्र से शब्द अथवा शब्दखड का बोध इसमे होता था। स्मारको के ऊपर प्राय इसका प्रयोग किया जाता था। (२) पुरोहितीय (हीरेटिक) का उपयोग धार्मिक ग्रथो के लेखन मे होता था। (३) लेखकीय (डिमॉटिक) का उपयोग साधारण लेखको द्वारा सामान्य दैनिक
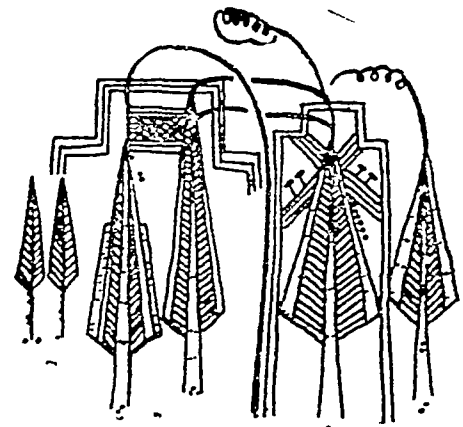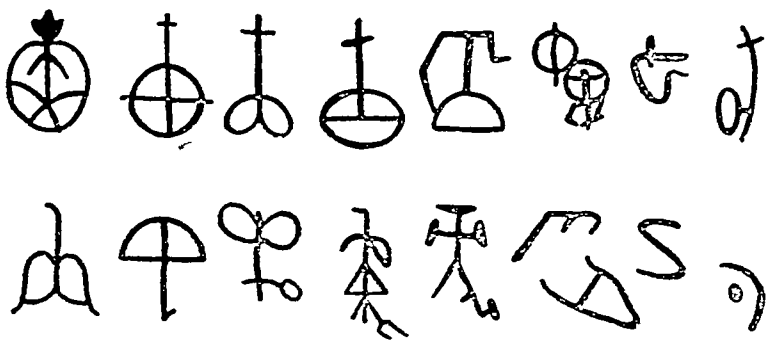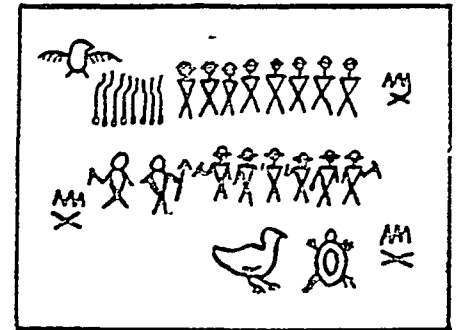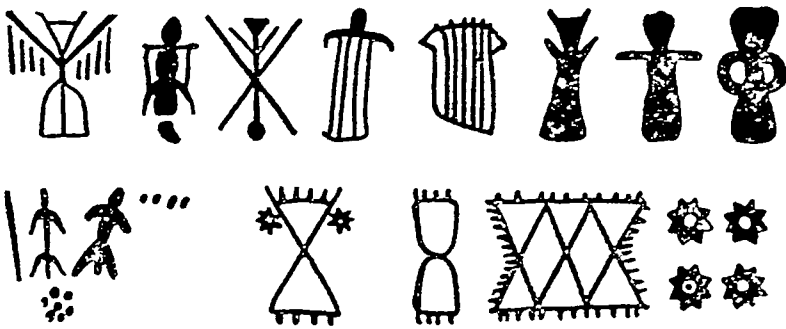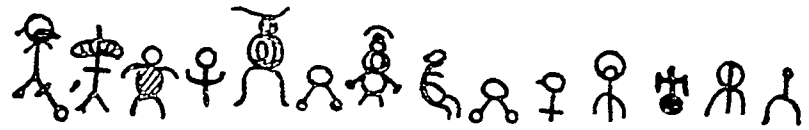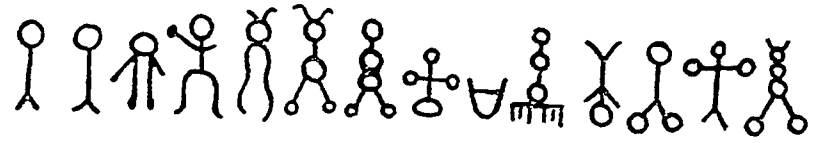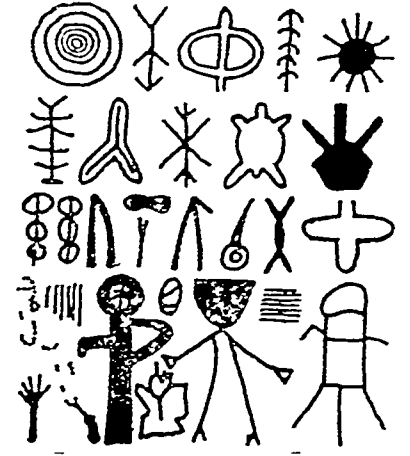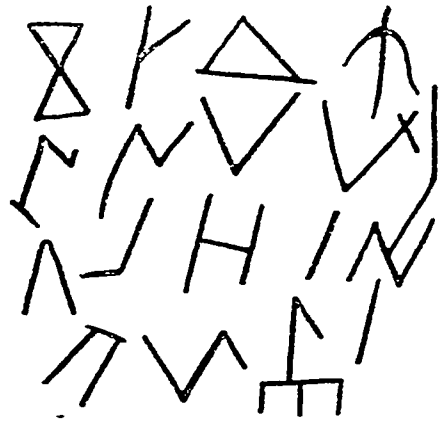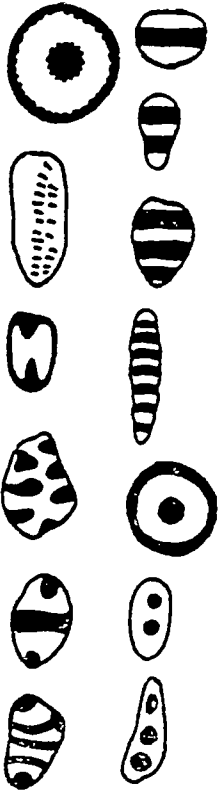
अक्षरो का विकास

१ प्रारभिक प्रतीक, सकेत, चिह्न आदि (देखें पृष्ठ ७०)
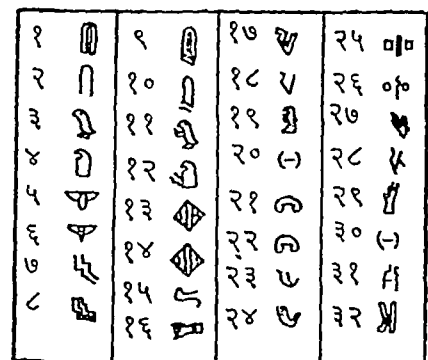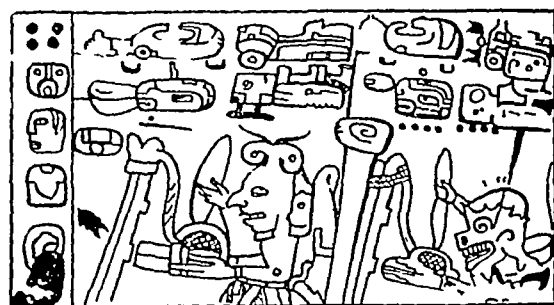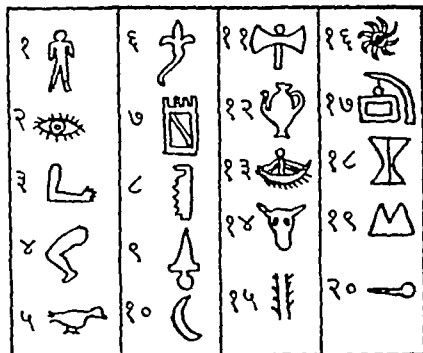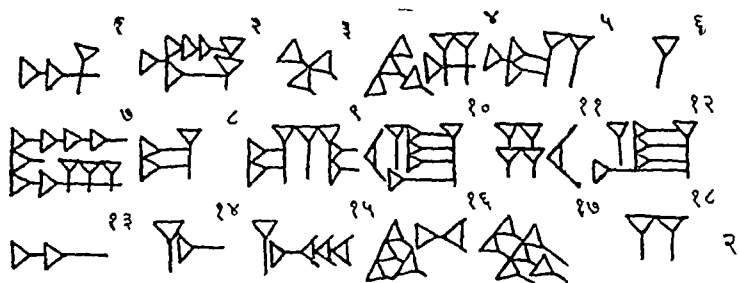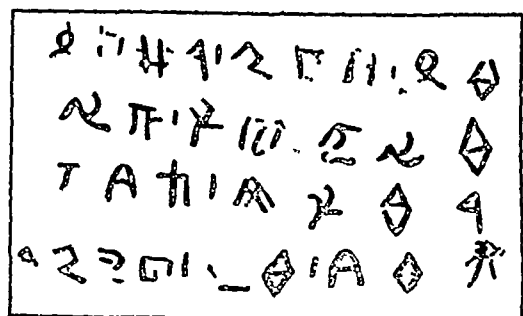
अक्षरो का विकास

२ कीलाक्षर ३ मिस्री चित्रलिपि ४ क्रीटीय ५ मध्य अमरीकी ६ सिधुघाटी के अक्षर ७ खत्ती (हिताइत) ८ चीनी
९ शब्द खडात्मक तथा अर्धवर्णात्मक

व्यवहार में किया जाता था। अंतिम दो प्रथम के ही घसीट रूप थे। ध्वन्यात्मक दृष्टि से इनके तीन वर्ग किए जा सकते है (१) शब्द-चिह्न (एक पूरे शब्द के लिये एक चिह्न), (२) ध्वन्यकन तथा ध्वन्यात्मक पूरक चिह्न और (३) निर्धारक चिह्न (पदार्थों के भेद को प्रकट करनेवाले चिह्न)। परवर्ती सामी अक्षरो के ही समान मिस्री अक्षरों में भी केवल व्यजन होते थे, स्वर नही। इनमे एक-व्यजनात्मक और द्विव्यजनात्मक दोनो प्रकार के चिह्न थे। द्वि-व्यजनात्मक चिह्नो की सख्या पचहत्तर थी जिनमे से पचास का उपयोग अधिक होता था।

३ **सिंधुघाटी लिपि (३५०० ई० पू०–२००० ई० पू०)**—हडप्पा और मोहेंजोदडो के उत्खनन से लगभग आठ सौ मुद्राएँ और तख्तियाँ (पत्थर और ताँबे की) मिली थी जिनपर ये अक्षर अकित है। इनमे विभिन्न कालो के लिपिचिह्न समिलित है। अत इनमे चित्रलिपि, सक्रमण-लिपि एव ध्वन्यात्मक लिपि तीनो का समावेश है। चिह्नो की सख्या लगभग ५०० है। परतु इनमे मूल और व्युत्पन्न सभी चिह्न मिले हुए हैं। विश्लेषण करने पर मूल चिह्नो की सख्या क्रमश कम होती जा रही है। इस लिपि का सुमेर की लिपि से साम्य है। इन दोनो के पौर्वापर्य के सबध मे निश्चित रूप से कहना कठिन है। परतु यदि सुमेर मे लिपि बाहर से गई तो यह स्रोत सिंधुघाटी भी हो सकती है। परवर्ती भारतीय लिपि ब्राह्मी से सिंधुघाटी की लिपि का सबध जोडने मे पहले पुरातत्वज्ञ हिचकते थे। तुलना करने पर ब्राह्मी के आठ अक्षर सिंधुघाटी मे अपने स्वतत्र रूप मे वर्तमान हैं। सयुक्त अक्षरो मे कई अन्य अक्षरो के रूप दिखाई पडते है। अत दोनो का सबध क्रमश स्पष्ट होता जा रहा है।

४ **मिनोन की लिपि (२००० ई० पू० १००० ई० पू०)**—यूनान मे यवन सभ्यता के उदय के पूर्व क्रीट के निवासियो मे एक ऊँची सभ्यता का विकास हो चुका था जिसे ईजियन अथवा 'मिनोन' कहते है। क्रीट के निवासियों ने लिपि का भी आविष्कार किया था जो अभी तक पढी नही जा सकी है। परतु इसका बाह्य अध्ययन इस प्रकार से हो सकता है (१) चित्रात्मक वर्ग अ, (२) चित्रात्मक वर्ग आ, (३) रेखात्मक वर्ग अ, (४) रेखात्मक वर्ग आ। प्रथम दो स्मारकात्मक और अतिम दो घसीट है। इस लिपि का उद्गम ढूँढना बहुत कठिन है किंतु इसका सबध मिस्र की प्रारभिक लिपि से जोडा जा सकता है।

५ **खत्ती चित्रलिपि (१५००-७०० ई०पू०)**—खत्ती लोग एशिया माइनर और उत्तरी सीरिया में रहते थे। ये भारोपीय भाषापरिवार के थे। सुमेर के कीलाक्षरो से मिलती जुलती लिपि के अतिरिक्त ये चित्रलिपि का भी उपयोग करते थे। इस लिपि का मेल मिनोअन लिपि से पाया जाता है।

६ **चीनी विचारलिपि (२०० ई० पू०)**—यह एक प्रकार की विश्लेषणात्मक विचार-ध्वनि-लिपि है। यद्यपि ससार की जनसख्या का पाँचवाँ भाग इसका उपयोग करता है, तथापि गत चार हजार वर्षो से इसमें कोई आतरिक एव मौलिक विकास नही हुआ। इस लिपि मे कई हजार चिह्नो का प्रयोग होता था। केवल इनके बाह्य रूपो और वर्गीकरण मे थोडा बहुत परिवर्तन हुआ। सपूर्ण चिह्नो को छ वर्गो मे विभक्त किया जा सकता है (१) चित्राकन, (२) भावाकन, (३) सूक्ष्म विचारात्मक, (४) बाह्य विच्छेद और अतरभेद, (५) समनामाकन तथा (६) ध्वन्यात्मक समास। अतिम वर्ग के चिह्नो की सख्या सबसे अधिक है। इनके मुख्यत दो अग हैं (१) ध्वन्यात्मक, जिससे शब्द की ध्वनि का ज्ञान होता है और (२) निर्धारणात्मक, जिससे शब्द का अर्थ निर्धारित होता है। यह लिपि ऊपर से नीचे को लववत् लिखी जाती है। इसके स्तभ पृष्ठ के दक्षिण पार्श्व से प्रारभ होते है।

७ **कोलबसपूर्व अमरीकी लिपि (१००-१२५० ई०)**—मध्य अमेरिका और मेक्सिको मे प्रथम सहस्राब्दी के पूर्वार्ध मे मय और दूसरी सहस्राब्दी के पूर्वार्ध मे ऐजटेक जातियो ने अपना आधिपत्य जमाया और सभ्यता का विकास किया। मय जाति एक सुदर चित्र-लिपि का प्रयोग करती थी जो अलकृत स्तभो, बरतनो, धातु एव प्रस्तरखडो और हस्तलिखित ग्रथो मे पाई जाती है। यह लिपि भी अभी असदिग्ध रूप से पढी नही जा सकी है। ऐजटेक जाति मय लिपि के विकृत रूप का प्रयोग करती थी, क्योकि इसमें विचारलिपि और ध्वन्यात्मक शब्दखडो का मिश्रण पाया जाता है जो वर्ण के सक्रमण-काल का द्योतक है।

८ **ईस्टर द्वीप लिपि (१५०० ई०)**—प्रशात महासागर मे चिली समुद्र-तट के पश्चिम २५०० मील दूर ईस्टर द्वीप क्षेत्रफल में ७० वर्ग मील है। यहाँ पर प्राचीन सभ्यता के अवशेष पाए गए है। इनमें लकडी की कुछ तख्तियाँ भी है, जिनपर चित्रलिपि मे अभिलेख अकित हैं। इस लिपि मे मनुष्य, पशु, पक्षी, मछली आदि की आकृतियाँ पाई जाती है। इनमें से कुछ चिह्नो की आकृतियाँ शैलीबद्ध जान पडती है। ये लख बलीवर्द गति (बाउस्ट्रोफेडन) से लिखे गए है।

आ—ध्वन्यात्मक अक्षर

शब्दखडीय अक्षर और वर्णप्राय अक्षर के कतिपय उदाहरण लेखन-कला के इतिहास मे पाए जाते हैं। इस लेखनपद्धति मे एक चिह्न एक ध्वनिसमूह के लिये प्रयुक्त होता है और कई ध्वनिसमूह मिलकर एक शब्द को व्यक्त करते है। यदि कोई शब्द स्वय खडात्मक है तो उसका बोध एक चिह्न से भी हो सकता है। जिस भाषा के एक शब्दखड मे कई व्यजन पाए जाते है उसमे शब्दखड लेखनकला बहुत दुरूह हो जाती है। उदाहरण के लिये 'इद्र' शब्द को इसमे "इ-न-द-र" लिखना पडेगा। अग्रेजी शब्द "स्ट्रेंग्थ" को "से-टे-रे-ने-गे-थ" लिखना होगा।

शब्दखडीय अक्षर के प्रयोग का प्रमुख उदाहरण जापानी भाषा मे मिलता है, यद्यपि इसमे व्यजनसमूह और बद शब्दखड का प्राय अभाव है। इसका विकास प्राचीन चीनी लिपि से हुआ है। शब्दखडीय अक्षरो के अन्य प्रमुख उदाहरण निम्नाकित हैं (१) असीरिया के कीलाक्षर, (२) उत्तरी सीरिया की अर्ध चित्रलिपि, (३) साइप्रस की प्राचीन लिपि और (४) पश्चिमी अफ्रीका, उत्तरी अमरीका, चीन आदि देशो की वर्तमान लिपियाँ। वर्णप्राय अक्षरो के नमूने प्राचीन पारसीक कीलाक्षरो और दक्षिणी मिस्र की मीरोई लिपि मे पाए जाते है।

इ—वर्णात्मक अक्षर

वर्णात्मक अक्षरो का आविष्कार लेखनकला का उच्चतम विकास था। इसमे एक चिह्न अथवा प्रतीक एक ध्वनि को व्यक्त करता है, एक चिह्न कई ध्वनियो को नही। इस दृष्टि से अरबी, रोमन अथवा अग्रेजी अक्षर अभी अपूर्ण हैं। इसके श्रेष्ठतम उदाहरण देवनागरी अक्षर है, जिनमे एक अक्षर एक ध्वनि का ही प्रतिनिधित्व करता है। वर्णात्मक अक्षर मे ध्वनि और अक्षर के बीच कोई आकृतिमूलक वास्तविक सबध नही होता, केवल परपरामानित ध्वन्यात्मक मूल्य का बोध चिह्न से होता है। द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० से वर्णात्मक अक्षरो के उदाहरण पाए जाते हैं और अब प्राय सभी सभ्य देशो मे (चीन को छोडकर) इसी का प्रयोग होता है।

सामी शाखा

वर्णात्मक अक्षरो की उत्पत्ति और मूल उद्गम के सबध मे अभी तक बहुत मतभेद है। यूनानी, रोमन अथवा अग्रेजी का "अलफाबेट" शब्द स्पष्टत सामी उद्गम का है। अत बहुतो की मान्यता है कि इनके अक्षरो का उद्गम भी सामी ही है। वे सामी अक्षरो के मूल मे नही जाना चाहते। फीनिशियाई और सुमेरी लोगो का उद्गम फीनिशिया और सुमेर के बाहर था जो सिंधुघाटी और भारत की ओर सकेत करता है। अक्षरो का मूल उद्गम मिस्र, सुमेर, क्रीट आदि प्रदेशो मे ढूँढा जाता रहा है। इधर बहु-प्रचलित स्थापना के अनुसार उत्तरी सामी अक्षरो से ही सभी वर्णात्मक अक्षर उत्पन्न माने जाते हैं। द्वितीय सहस्राब्दी ई० पू० से इनकी चार शाखाएँ विकसित हुई (१) कनानी—(अ) इब्रानी और (आ) फीनिशियाई, (२) आरामाई (उत्तरी सामी), (३) दक्षिणी सामी (अरबी) और (४) यूनानी।

उनमें से सबसे अधिक प्रसार अरबी और यूनानी का हुआ। अरबी अक्षरों का विकास बडी शीघ्रता से हुआ। चौथी शती में इसका उदय हुआ और दो शतियों के भीतर ही प्राय इसके सभी अक्षरो के रूप बदल गए। सातवी शती में इसके दो रूप थे—(१) कूफी और (२) नसखी। पहला भारी, पुष्ट, सुदर एव स्मारकात्मक था। दूसरा गोलाकार और घसीट था। आगे चलकर पहले का प्रचार सीमित और दूसरे का अधिक विस्तृत हो गया। इस्लाम के प्रचार के साथ अरबी अक्षर सीरिया, मिस्र, फारस, तुर्की, बाल्कन प्रायद्वीप, दक्षिणी रूस, मध्य एशिया, उत्तरी अफ्रीका आदि में पहुँचे। ये अधिकाश सामी भाषाओं के माध्यम बने। यूरोपीय भाषाओं में स्लाव, ईरानी, स्पेनिश, हिंदुस्तानी (उर्दू), तातारी, तुर्की आदि के लिये भी इनका प्रयोग होने लगा। मलय-पालीनेशियाई और बर्बर, स्वाहिली, सूदानी आदि अफ्रीकी भाषाओं ने भी अरबी अक्षरो को अपनाया। अरबी अक्षर दाएँ से बाएँ लिखे जाते हैं। ध्वनि की दृष्टि से अरबी अक्षर दुरूह और अधूरे थे, अत फारस और भारत मे आने पर उनमे नई ध्वनियो के लिये नए अक्षर जोडे गए। छापे की दृष्टि से भी वे दोषपूर्ण हैं।

भारतीय शाखा

भारतीय अक्षरपरिवार बहुत प्राचीन और विस्तृत है। अक्षरो के विकास में इसका विशिष्ट स्थान है। इसका अपना स्वतत्र और मनोरजक इतिहास है। इसकी मूल लिपियाँ दो हैं (१) ब्राह्मी और (२) खरोष्ठी। पहली बाएँ से दाएँ और दूसरी दाएँ से बाएँ लिखी जाती है। इन दोनो के उद्गम और विकास के सबध में यूरोपीय विद्वानो ने अद्भुत प्रस्थापनाएँ की हैं। ब्यूलर आदि कतिपय पुराविदो ने दोनो की उत्पत्ति आरामाई अक्षरो से मानी है और इनका उद्भवकाल आठवी शती ई० पू० निश्चित किया है। किंतु प्राचीन वैदिक साहित्य के अध्ययन और सिंधुघाटी की लिपि का पता लग जाने के पश्चात् उपर्युक्त प्रस्थापनाएँ निर्मूल जान पडती हैं। ब्राह्मी लिपि शुद्ध भारतीय है जिसका आविष्कार 'ब्रह्म' अथवा वेद आदि पवित्र ग्रथो को लिखने के लिये ब्राह्मणो ने किया था। इसकी उत्पत्ति सिंधुघाटी के चित्राक्षरो तथा अन्य भारतीय चित्रलिपियो से हुई थी। सस्कृत भाषा की विविध ध्वनियो को व्यक्त करने की इसमें पूर्ण क्षमता है जो किसी भी सामी अथवा अन्य पश्चिमी अक्षरपरिवार मे नही है। खरोष्ठी अक्षरो का आविष्कार भी भारतीय वर्णमाला लिखने के लिये हुआ था। इसके उदाहरण भारत एव भारत से प्रभावित पश्चिमोत्तर पडोसी प्रदेशों में पाए जाते हैं। खरोष्ठी अक्षर सामी सपर्क के कारण दाहिने से बाएँ लिखे जाते थे।

ब्राह्मी अक्षरो के विकास और भारत मे उनके प्रसार एव व्यवहार मे उनकी चार प्रमुख शाखाओं का उल्लेख किया जा सकता है (१) **प्रारभिक ब्राह्मी**—इसका उपयोग छठी शती ई० पू० से चौथी शती ई० पू० तक भारत के विभिन्न भागो मे होता था। इसकी प्रमुख आठ स्थानीय शैलियाँ थी मौर्यपूर्व, पूर्वमौर्य, उत्तरमौर्य, शुग, कलिंग (द्राविड), शातवाहन (आध्र), उत्तर भारतीय अक्षरो के पूर्वरूप और दक्षिण भारतीय अक्षरो के पूर्वरूप। (२) **उत्तर भारतीय अक्षरपरिवार**—इसका विकास चौथी शती ई० पू० से १४ वी शती ई० पू० तक हुआ। इसकी सात प्रमुख शाखाएँ थी गुप्त शैली, मध्यएशियाई शैली, तिब्बती, सिद्धमातृका, शारदा, सर्वप्रसिद्ध देवनागरी आदि। (३) **उत्तर भारत का आधुनिक अक्षरपरिवार**—इसका विकास १४ वी शती के पश्चात् हुआ। इसमें असमिया, बगाली, उत्कल, हिंदी या देवनागरी (और इसकी उपशाखाएँ-मैथिली, बिहारी, कैथी, महाजनी, मोडी आदि), पश्चिमी हिंदी (टाकरी, लडा, गुरुमुखी आदि), गुजराती और मराठी समिलित हैं। (४) **दक्षिण भारतीय अक्षरपरिवार**—चौथी शती के पश्चात् इसका विकास प्रारभ हो जाता है। इसमे तेलगु, कन्नड, मलयालम, तामिल, तुलु आदि का समावेश है। इस परिवार की कलिंग, ग्रथ और वट्टेलुट्टु आदि लिपियाँ लुप्त हो चुकी हैं। सिंहली, मालद्वीपीय आदि अक्षरो की गणना भी इसी परिवार में की जा सकती है।

वृहत्तर भारतीय शाखा—(ल० ३०० ई० पू०—१००० ई० पू०) ई० पू० कुछ शताब्दियो से लेकर प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० तक भारतीय जनता और सस्कृति का प्रसार दक्षिण-पूर्व एशिया, मध्य एव उत्तर एशिया मे हुआ। विशेषकर दक्षिण-पूर्व एशिया मे ब्राह्मण और बौद्ध सभी गए और बडे बडे उपनिवेशो और राज्यो की स्थापना की। चपा, कबुज और जावा तथा बाली मे पहले ब्राह्मण गए। पीछे लका, बर्मा, कबुज, स्याम, कोचीन–चीन, मलय, सुमात्रा, आदि मे ब्राह्मण और बौद्ध दोनो गए। उनके साथ उनकी भाषाएँ (सस्कृत, पाली) और अक्षर (ब्राह्मी), ग्रथ और उनके विविध रूप भी गए और प्रचलित हुए।

सबसे प्राचीन उत्कीर्ण लेख चपा में मिले हैं जो तृतीय शती के हैं। इनकी भाषा सस्कृत और अक्षर ग्रथाक्षर हैं। बर्मा के मोन एव प्यू अभिलेख १२वी शती के हैं। इनके अक्षर दाक्षिणात्य ब्राह्मी से लिए गए हैं। इन दोनो के ऊपर बर्मी लोगो का आधिपत्य १२वी शती में स्थापित हुआ। इन्होने लका का पालि बौद्धधर्म अपनाया और उसके माध्यम लका की ब्राह्मी से उत्पन्न लिपि को भी। स्याम (थाईलैंड) मे सबसे पुराना लेख सुखोताई (सुखोदय) मे मिला था। इसपर १२१४ शकाब्द अकित है। जावा की मूल भाषा को भाषा और लिपि को कवि कहा जाता था। यहाँ पर प्राचीनतम उत्कीर्ण लेख दिनय मे प्राप्त ६८२ शकाब्द का है। सुमात्रा, मलय, सेलिबीज, बाली, फिलिपाइन्स आदि मे कवि–अक्षरो के विविध रूप प्रयुक्त होते थे। जावा, मलय आदि मे आजकल अरबी और रोमन अक्षरो का भी प्रयोग होने लगा है। सबसे पूर्वोत्तर में कोरिया के अक्षर भी भारतीय लिपि से लिए गए हैं।

यूनानी (यूरोपीय) शाखा (प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० से)

अक्षरो के विकास मे यूनानी शाखा का बहुत बडा महत्व है। यूरोप तथा यूरोप से उपनिवेशित सभी देशो के अक्षर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से यूनानी अक्षरो से उत्पन्न और प्रभावित हैं। यद्यपि यूनानी अक्षर यूनान की मौलिक कृति नही है, तथापि यूनानियो ने उनका परिष्कार और विकास कर उनको ज्ञान की अभिव्यक्ति का पुष्ट और सफल माध्यम बनाया जो गत तीन सहस्र वर्षो से सभ्य ससार के बहुत बडे भाग की सेवा कर रहा है। यूनानी लोगो ने लगभग नवी शती ई० पू० मे फीनिशियाई लोगो से इन अक्षरो को ग्रहण किया, ऐसा अधिकाश विद्वानो का मत है। इस सबध मे एक प्रश्न विचारणीय है। फीनिशियाई अक्षर दाएँ से बाएँ लिखे जाते थे, किंतु यूनानी अक्षर बाएँ से दाएँ लिखे जाने लगे। इसका क्या कारण है? एक दूसरी लिपि जो बाएँ से दाएँ लिखी जाती है, ब्राह्मी है। अत यूनानी और ब्राह्मी का उद्गम कही उभयनिष्ठ होना चाहिए। फीनिशियाई लोग त्राय मे विदेशी थे। इनके मूल स्थान का अभी ठीक निश्चय नही हुआ है। क्या ये वैदिक पणि नही जो सामी जातियो से घिरे होने के कारण अपनी दक्षिणगामिनी लिपि को दाएँ से बाएँ लिखने लगे, परतु यूनानियो ने उसे ग्रहण कर आर्यपरपरा के अनुसार उसे पुन दक्षिणगामिनी बना लिया?

समय समय पर यूनानी अक्षरो मे परिवर्तन होते गए। इसके दो मुख्य उद्देश्य थे (१) सौदर्य, और (२) त्वरा। स्मारकात्मक लेखो में बडे सुदर अक्षरो का प्रयोग होता था। किंतु धीरे धीरे त्वरा के कारण घसीट अक्षरो का प्रयोग बढता गया जिनसे आठवी शती मे ग्रथलेखन के लिये उपयुक्त अक्षरो का निर्माण हुआ। यूनानी अक्षरो से एक ओर इत्रुस्की और लातिनी (इटली) मे और दूसरी ओर साइरिलिक (पूर्वी यूरोप मे) अक्षरो का प्रादुर्भाव हुआ जिनसे आधुनिक यूरोप की सभी लिपियो और अक्षरो का विकास हुआ। यूनानी अक्षरो से ही कोप्ती (अरबपूर्व मिस्र), मेसापियाई (इटली का एड्रियाटिक समुद्रतट) तथा गॉथिक (बलगेरिया) की उत्पत्ति हुई। प्रथम सहस्राब्दी ई० में इत्रूस्की का प्रसार प्रारभ हुआ। इसी से रूनी (उत्तर जर्मनी प्रथम शती ई० पू० —७०० ई० प०), आगहैम (ब्रिटिश द्वीपसमूह, प्रथम सहस्राब्दी ई० प०) आदि अक्षर उत्पन्न हुए। वास्तव में इत्रुस्की से ही लातिनी का भी विकास हुआ। ई० पू० से रोमन साम्राज्य के साथ लातिनी लिपि का भी प्रचार हुआ। प्रथम शती ई० पू० में इसकी वर्णमाला स्थिर हुई। इसके पश्चात् व्यक्तिगत लातिनी अक्षरो के बाह्य रूप में ही आवश्यकतानुसार परिवर्तन होते रहे जिसके कारण थे त्वरा, लेखनसामग्री और उपयोगिता। इमी विकासक्रम के मध्ययुग मे यूरोपीय साम्राज्य और

ईसाई धर्म के प्रचार द्वारा लातीनी अथवा रोमन अक्षरों का प्रचार ससार के विभिन्न देशों मे हुआ। यूरोपीय व्यापार और विज्ञान भी इसमें सहायक हुए है।

अक्षरों के प्रदर्शक फलक :

१—प्रारभिक प्रतीक, सकेत, चिह्न आदि
२—कीलाक्षर
३—मिस्री चित्रलिपि (पुरोहितीय तथा लेखकीय)
४—क्रीटीय
५—मध्य अमरीकी
६—सिंधुघाटी के अक्षर
७—खत्ती (हिताइत)
८—चीनी तथा अन्य विचारलिपियाँ
९—शब्दखडात्मक तथा अर्धवर्णात्मक
१०—सामी अक्षर (१) प्राचीन
(२) आधुनिक (इब्रानी और अरबी)
११—भारतीय अक्षर (१) प्राचीन (ब्राह्मी तथा खरोष्ठी)
(२) आधुनिक भारतीय वर्णमाला
(३) बृहत्तर भारतीय
१२—यूरोपीय अक्षर (१) यूनानी तथा तद्भव।
(अ) प्राचीन
(आ) आधुनिक
(२) लातीनी (रोमन-इग्लिश)

स०ग्रं०—एच०एन०ह्वेस दि ओरिजिन ऐंड प्रोग्रेस ऑव दि आर्ट ऑव राइटिंग, लडन १८५३, आइ० टेलर दि अलफावेट (द्वि० स०) लडन, १८९९, इ क्लाड दि स्टोरी ऑव दि अलफावेट (द्वि०स०) न्यूयार्क, १९३८, इ० एफ० स्ट्रेज अलफावेट्स, लडन १९०७, डब्ल्यू० ए० मेसन ए हिस्ट्री ऑव दि आर्ट ऑव राइटिंग, न्यूयार्क १९२०, टी० थापसन दि ए०बी०सी० ऑव आवर अलफावेट्स, न्यूयार्क, ए० सी० मूरहाउस राइटिंग ऐंड दि अलफावेट, लडन, १९४६, डेविड डिरिंजर दि अलफावेट (द्वि० स०) लडन १९४८, ब्यूलर इडियन पैलियोग्राफी (फ्लीट द्वारा अग्रेजी अनुवाद, इडियन ऐंटिक्वेरी, १९०४), म० म० गौरीशकर हीराचद ओझा प्राचीन भारतीय लिपिमाला, अजमेर, १९१९, डा० राजवली पाडेय इडियन पैलियोग्राफी (भाग–१), बनारस १९५२, 'नागरी अक्षरोका विकास इसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, अमेरिकाना आदि ग्रन्थ ग्रथ। [रा० व० पा०]

अक्षौहिणी भारतीय गणना के अनुसार सेना की सबसे बडी इकाई। 'अक्षौहिणी' शब्द का अर्थ है रथो के समूह से युक्त सेना (अक्ष=रथ, ऊहिनी=समूह से युक्त)। परपरा के अनुसार भारतवर्ष में सेना के चार विभाग या अग माने जाते थे—रथ, हाथी, घोडा और पैदल (पदाति)। इस चतुरगिणी सेना की सबसे छोटी इकाई का नाम था पत्ति, जिसमें एक रथ, एक हाथी, तीन घोडे तथा पाँच पैदल सैनिक सम्मिलित माने जाते थे। पत्ति, सेनामुख, गुल्म, वाहिनी, पृतना, चमू, अनीकिनी, अक्षौहिणी सेना के ये ही क्रमश बढनेवाले रूप थे जिनमें अतिम को छोडकर शेष अपने पूर्व की सख्या से तिगुने होते थे। अर्थात् पत्ति से तिगुना होता था सेनामुख, तीन सेनामुख मिलकर एक गुल्म होता था। तीन गुल्म की एक वाहिनी, तीन वाहिनियों की एक पृतना, तीन पृतनाओं की एक चमू और तीन चमू की एक अनीकिनी होती थी। १० अनीकिनी की एक अक्षौहिणी होती थी जिसमे २१, ८७० रथ तथा इतने ही हाथी (२१, ८७०) होते थे, रथ मे जुते घोडो के अतिरिक्त घोडो की सख्या रथो से तिगुनी होती थी (६५, ६१०), और पैदल सैनिकों की सख्या रथ से पँचगुनी (१०९३५०)। इस प्रकार अक्षौहिणी की पूरी सख्या दो लाख, अठारह हजार, सात सौ (२१८७००) होती थी। इस गणना का निर्देश महाभारत के आदिपर्व में हुआ है। [द० उ०]

अक्सकोव, सर्जी तिमोफियेविच सुप्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार और सस्मरणकार। अक्सकोव का जन्म ऊफा (ओरेन्बर्ग) में २० सितबर, १७९१ को हुआ था और प्रारभ से ही उसे प्राकृतिक दृश्यो के प्रति सहज आकर्षण था। वह कजान विश्वविद्यालय का स्नातक था। साहित्य के क्षेत्र में उसे गोगोल से अधिक सहायता मिली जिनके विषय मे उसने सस्मरण लिखे हैं। अक्सकोव के कुछ वर्ष यूराल के चरागाहों (स्टेपीज) में भी बीते थे जहाँ दस वर्ष तक उसने कृषि कार्य अपना रखा था, किंतु उस क्षेत्र में उसे सफलता न मिली और आगे चलकर वह मास्को चला आया जहाँ गोगोल से मिलकर (१८३२ई०) उसने एक साहित्यिक सस्था का सगठन किया। अक्सकोव रूसी जीवन का अभिचित्रण करने मे बडा सफल हुआ है। उसके विषय मे एक लेखक ने यहाँ तक लिखा है कि टॉलस्टाय के 'युद्ध और शाति' (वार ऐंड पीस) में जिस तरह का सुदर चित्रण पाया जाता है उससे किसी प्रकार कम सफलता अक्सकोव को उसकी रचनाओं में नही मिली है। अक्सकोव की कुछ प्रसिद्ध रचनाएँ इस प्रकार है—क्रानिकिल्स ऑव ए रशियन फेमिली (१८५६, एम० सी० बेवर्ली का अग्रेजी रूपातर), रिकलेक्शस ऑव गोगोल। [च० म०]

अक्सब्रिज अक्सब्रिज इग्लैंड के मिडिलसेक्स जनपद का एक नगर है जो लदन से १५½ मील दूर है। यहाँ लकडी के सामान बनाने के बहुत से कारखाने हैं। आटा पीसने की मिलें तथा इजीनियरिंग के सामान बनाने के भी बडे बडे कारखाने हैं। यह व्यवसायी नगर है। यहाँ दो प्रसिद्ध मेले भी लगते हैं। नगर की जनसख्या ४२,८०० हैं।

अक्सब्रिज अमरीका—सयुक्त राज्य, अमरीका, के मासाचूसेट्स राज्य का एक नगर है। यह नगर २५६ फुट की ऊँचाई पर ब्लैकस्टोन नदी के किनारे वरसेस्टर से १५ मील दक्षिण-पूर्व की ओर स्थित है। रेलवे लाइनो से यह देश के सभी प्रमुख भागों से सबद्ध है। जलविद्युत् के विकास से नगर में पर्याप्त औद्योगिक उन्नति हुई है। १९३० ई० मे यहाँ की जनसख्या ६,२८५ थी, किंतु १९५० ई० मे ७,००७ हो गई। [ह० ह० सिं०]

अखरोट गधयुक्त विशाल सुदर पतझडीय वृक्ष है जिसकी सुगध अपने ढग की निराली होती है। इसकी ऊँचाई १३-३३ मीटर और तने की परिधि ३-६ मीटर तक होती है। इसका छत्र फैला हुआ होता है। बडे वृक्ष की छाल भूरी, खुरदुरी तथा लबी लबी दरारो से युक्त होती है। जाडो में पेड पत्रहीन हो जाता है और नई पत्तियाँ फरवरी मे आती हैं। इसकी सयुक्त पत्तियाँ १५ से ३० सेंटीमीटर तक लबी होती है और तने पर एकातरत लगी रहती हैं। अखरोट फरवरी मे अप्रैल तक फूलता है। इसके फूल हरे रग के तथा एकलिंगी होते हैं, लेकिन उसी वृक्ष पर नर और मादा दोनो प्रकार के फूल आते हैं। कई नर फूल एक लटकती हुई मजरी (कैटकिन) मे और मादा फूल शाखाओं के सिरो पर १ से ३ तक लगे रहते हैं। इसके फल जुलाई से सितबर तक पकते हैं। इसका गुठलीदार फल (ड्रूप) अडाकार और पाँच सेंटीमीटर तक लबा होता है। इसमे एक हरा, मोटा, मासल छिलका होता है जिसके अदर कडा कठफल (नट) रहता है। फल में केवल एक बीज होता है। बीज का भक्ष्य भाग या गिरी दो झुर्रीदार बीजपत्रो का बना होता है।

वनस्पतिशास्त्री अखरोट को जूगलैंस रीजिया कहते है और इसका समावेश इसी वृक्ष को आदर्श मानकर इसी के नाम पर "अक्षोट कुल" या "जूगलैंडेसी" में करते है। अग्रेजी में इसे वालनट, हिंदी एव बँगला मे अखरोट, और सस्कृत मे अक्षोट या अक्षोड कहते हैं। इग्लैंड में बाजार मे बिकनेवाले अखरोट को फारसी अखरोट (पर्शियन वालनट) कहते हैं। इसी को अमरीकावाले कभी फारसी अखरोट और कभी अग्रेजी अखरोट कहते हैं। अखरोट का मूलस्थान हिमालय, हिंदूकुश, उत्तरी ईरान और बाकेशिया है। इसके वृक्ष भारत में हिमालय के उच्च पर्वतीय क्षेत्रों, जैसे कश्मीर, कुमायूँ, नेपाल भूटान सिक्किम इत्यादि में समुद्रतल से २१३५ से ३,०५० मीटर तक की ऊँचाई पर जगली रूप से उगे हुए पाए जाते हैं, परन्तु ९१५ से २१३५ मीटर तक से उत्तम तरह का फलों के लिए उगाए जाते हैं।

अखरोट के वृक्ष को प्रकाश की अधिक आवश्यकता होती है और नाद-

युक्त दोमट मिट्टी इसके लिये सबसे अधिक उपयुक्त है। अमरीका मे वृक्षो को प्रति वर्ष हरी खाद दी जाती है और कई बार सींचा भी जाता है। सामान्यत अखरोट के पौधे बीजो से उगाए जाते हैं। पौद तैयार करने के लिये बीजो को पकने के मौसम मे ताजे पके फलो से एकत्र कर तुरत बो देना चाहिए, क्योकि बीजो को अधिक दिन रखने पर उनकी अकुरण शक्ति घटती जाती है। एक वर्ष तक गमलो में लगाकर बाद में पौधों को निश्चित स्थानो पर लगभग पचास पचास फुट के अतर पर रोपना चाहिए। अमरीका में अब अच्छी जातियो की कलमे लगाई जाती हैं या चश्मे (बड) बाँधे जाते हैं।

अखरोट के पेड की महत्ता उसके बीजो, पत्तियो तथा लकडी के कारण है। इसकी लकडी हलकी परतु मजबूत होती है। यह कलापूर्ण साजसज्जा की सामग्री (फर्नीचर) बनाने, लकडी पर नक्काशी करने और बदूक तथा राइफल के कुदो (गन स्टॉक) के लिये सर्वोत्तम समझी

अखरोट

जाती है। इसका औसत भार २० ५३ किलोग्राम प्रति वर्ग फुट है। इसके फल के बाहरी छिलके से एक प्रकार का रग तैयार किया जाता है जो लकडी रँगने और कच्चा चमडा सिझाने के काम मे आता है। बीज की स्वादिष्ट गिरी बडे चाव से खाई जाती है। गिरी से तेल भी निकाला जाता है जो खाया, जलाया तथा चित्रकारो द्वारा काम मे लाया जाता है। अखरोट के वृक्ष की छाल, पत्तियाँ, गिरी, फल के छिलके इत्यादि चिकित्सा मे भी काम आते हैं। आयुर्वेद के अनुसार इसकी गिरी में कामोद्दीपक गुण होते हैं और यह अम्लपित्त (हार्ट बर्न), उदरशूल (कॉलिक), पेचिश इत्यादि मे लाभकर समझी जाती है। गिरी का तेल रेचक, पित्त के लिये गुणकारी तथा पेट से कृमि निकालने मे भी उत्तम समझा जाता है। पेड की छाल में कृमिनाशक, स्तभक तथा शोधक गुण होते हैं। पत्ती एव छाल का क्वाथ त्वचा की अनेक बीमारियो, जैसे अग्नियासन (हरपीज), उकवत (एक्जीमा), गडमाला तथा व्रणों मे लाभ पहुँचाता है। इसकी पत्तियाँ उत्तम चारे का काम देती हैं।

कैलिफोर्निया (अमरीका) मे अखरोट बहुत अधिक मात्रा मे उगाया जाता है। वहाँ लगभग ५०,००० एकड भूमि मे अखरोट की खेती होती है और लगभग दो करोड रुपए का फल प्रति वर्ष पैदा होता है।

[ना० सिं० प०]

अगरतला २३° ५१′ उ० अ० तथा ९१° २१′ पू० दे० रेखाओ पर स्थित त्रिपुरा की राजधानी है। यहाँ का प्राचीन नगर हाओरा नदी के बाएँ तथा नवीन नगर दाहिने किनारे पर बसा हुआ है। प्राचीन नगर मे राजभवन के समीप एक छोटा देवालय है जिसे त्रिपुरानिवासी अत्यत सम्मान तथा श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। इसमें स्वर्ण तथा अन्य धातुजटित चतुर्दश देवो की मूर्तियाँ हैं जो यहाँ के निवासियो के सरक्षक माने जाते हैं। १८७४-७५ ई० में यहाँ नगरपालिका की स्थापना हुई। यहाँ के आर्ट्स कालेज, शिल्प सस्थान, औषधालय तथा बदीगृह प्रसिद्ध हैं। यहाँ के विभिन्न वर्षो की जनगणना देखने से पता चलता है कि यह उन्नतिशील नगर है। जनसख्या १९०१ में ६,४१५, १९३१ में ९,५८०, १९४१ में १७,६९३ तथा १९५१ में ४२,५९५ थी। इस नगर का क्षेत्रफल लगभग ४ वर्ग मील है।

[न० ला०]

अगस्तिन, संत (३५४-४३० ई०)। उत्तरी अफ्रिका के हिप्पो नामक बदरगाह के बिशप तथा ईसाई गिरजे के महान् आचार्य। इनका पर्व २८ अगस्त को मनाया जाता है। माता पिता में से इनकी माता मोनिका ही ईसाई थी, उन्होने अपने पुत्र को यद्यपि कुछ धार्मिक शिक्षा दी थी, फिर भी अगस्तिन ३३ साल की उम्र तक गैर-ईसाई बने रहे। अगस्तिन की आत्मकथा से पता चलता है कि साहित्यशास्त्र का अध्ययन करने के उद्देश्य से कार्येज पहुँचकर भी इन्होने काफी समय भोगविलास में बिताया। २० वर्ष की अवस्था के पूर्व ही इनको रखेली से एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। कार्येज में ये नौ वर्ष तक गैर-ईसाई मनि सप्रदाय के सदस्य रहे किंतु इन्हे उसके सिद्धातो से सतोष नही हुआ और ये पूर्णतया अज्ञेयवादी बन गए। ३८३ ई० में अगस्तिन रोम आए और एक वर्ष बाद उत्तरी इटली के मिलान शहर में साहित्यशास्त्र के अध्यापक नियुक्त हुए। इसी समय इनकी माता विधवा होकर उनके यहाँ चली आईं। मिलान में अगस्तिन वहाँ के बिशप अब्रोस के सपर्क में आए, इससे इनके मन में धार्मिक प्रवृत्तियाँ पनपने लगी यद्यपि अभी तक इनकी विषयवासना प्रबल थी। इन्होने अपनी आत्मकथा में उस समय के आत्मसघर्ष का मार्मिक वर्णन किया है। अततोगत्वा इन्होने ३८७ ई० में बपतिस्मा (ईसाई दीक्षा) ग्रहण किया और नवीन जीवन प्रारभ करने के उद्देश्य से अपनी माता मोनिका, अपने पुत्र और कुछ घनिष्ट मित्रो के साथ अफ्रिका लौटने का सकल्प किया। इस यात्रा मे इनकी माता का देहात हो गया।

अपने जन्मस्थान पहुँचकर अगस्तिन अध्ययन और साधना मे अपना समय बिताने लगे। एक वर्ष बाद इनका पुत्र १७ वर्ष की आयु में चल बसा। अगस्तिन के तपोमय जीवन तथा उनकी विद्वत्ता की ख्याति धीरे धीरे बढने लगी। ३९१ ई० मे ये पुरोहित बन गए, चार साल बाद इनका बिशप के रूप में अभिषेक हुआ और ३९६ ई० में ये हिप्पो के बिशप नियुक्त हुए। मरण पर्यत इसी छोटे से नगर में रहते हुए भी इन्होने अपने समय के समस्त ईसाई ससार पर गहरा प्रभाव डाला। इनके २२० पत्र, २३० रचनाएँ तथा बहुत से प्रवचन सुरक्षित हैं। ये लातिनी भाषा के महत्तम लेखको में से हैं। इनकी सूक्तियो में समाहार शैली की पराकाष्ठा है। मानव हृदय को स्पर्श करने तथा उसमे धार्मिक भाव जागृत करने की जो शक्ति सत अगस्तिन में है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ये दार्शनिक भी थे और धर्मतत्वज्ञ भी। वास्तव में इन्होने नव-अफलातूनवाद तथा ईसाई धर्मविश्वास का समन्वय करने का प्रयास किया।

इनकी आत्मकथा 'कन्फेशस' (स्वीकारोक्ति) का विश्वसाहित्य में अपना स्थान है। उसमे इन्होने अपनी युवावस्था तथा धर्मपरिवर्तन का वर्णन किया है। इनकी दो अन्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। एक का शीर्षक दे त्रिनिताते (त्रित्व) है, इसमें ईश्वर के स्वरूप का अध्ययन है। दूसरी दे सिविताते देई (ईश्वर का राज्य) मे सत अगस्तिन ने विश्व इतिहास के रहस्य तथा काथलिक गिरजे के स्वरूप के विषय मे अपने विचार प्रकट किए हैं। इसके लिखने मे १३ वर्ष लगे थे।

स०ग्र०—जे० जी० पिलकिंगटन कनफेशस ऑव सेंट ऑगस्टिन, न्यूयार्क, १९२७, यू० माटगोमरी सेंट ऑगस्टिन, लदन १९१४, ओ० बार्डी सेंट ऑगस्टिन।

[का० बु०]

अगस्तिन, संत कैंटरबरी के प्रथम आर्चबिशप तथा दक्षिण इग्लैंड मे ईसाई धर्म के सस्थापक। अगस्तिन या आगस्तिन बेनेदिक्तिन सघ के सदस्य थे। ५९५ ई० में पोप ग्रेगोरी प्रथम ने उनको अपने सघ के चालीस मठवासियो के साथ इग्लैंड भेज

दिया। केंट के राजा इथलबेर्ट ने उनका ५६७ ई० मे स्वागत किया तथा उनको धर्मप्रचार करने की आज्ञा दी। राजा स्वय ईसाई बन गए जिससे अगस्तिन के धर्मप्रचार की सफलता और बढ गई। ६०१ ई० में वह कैंटरबरी के प्रथम आर्चबिशप नियुक्त हुए। उनका देहात सभवत ६०४ ई० में हुआ। [का० बु०]

अगस्त्य १. प्रख्यात ऋषि। वैदिक साहित्य तथा पुराणो मे इनके जीवन की विशिष्ट रूपरेखा अकित की गई है। मित्र-वरुण ने अपना तेज कुभ (घडे) के भीतर डाल रखा था जिससे इनका जन्म हुआ और इसीलिये ये मैत्रावरुणि तथा कुभयोनि के नाम से भी अभिहित हैं। वसिष्ठ ऋषि इनके अनुज थे। अगस्त्य ने विदर्भ देश की राजकुमारी लोपामुद्रा के साथ विवाह किया था जिनसे इन्हे दो पुत्र उत्पन्न हुए—दृढस्यु और दृढास्य। अगस्त्य के अलौकिक कार्यो मे तीन विशेष महत्व रखते हैं—वापाति राक्षस का सहार, समुद्र का पी जाना तथा विध्याचल की बाढ को रोक देना। दक्षिण भारत मे आर्य सभ्यता के विस्तार का श्रेय ऋषि अगस्त्य को ही दिया जाता है। बृहत्तर भारत मे भी भारतीय सस्कृति और सभ्यता के प्रसार का महनीय कार्य अगस्त्य के ही नेतृत्व मे सपन्न हुआ था। इसीलिये जावा, सुमात्रा आदि द्वीपो में अगस्त्य की अर्चना मूर्ति के रूप मे आज भी की जाती है।

२ तमिल भाषा का आद्य वैयाकरण। यह कवि शूद्र जाति मे उत्पन्न हुए थे इसलिये यह शूद्र वैयाकरण के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह ऋषि अगस्त्य के ही अवतार माने जाते हैं। ग्रथकार के नाम पर यह व्याकरण 'अगस्त्य व्याकरण' के नाम से प्रख्यात है। तमिल विद्वानो का कहना है कि यह ग्रथ पाणिनि की अष्टाध्यायी के समान ही मान्य, प्राचीन तथा स्वतत्र कृति है जिससे ग्रथकार की शास्त्रीय विद्वत्ता का पूर्ण परिचय उपलब्ध होता है। [व० उ०]

अगाथोक्लीज़ यह सिराकूज का निरकुश शासक था। पहले यह ३२५ ई० पू० के गृहयुद्धो के बाद एक जनतात्रिक नेता बना। ३१७ ई० पू० मे निरकुश हो इसने गरीबो को मिलाने और सेना को मजबूत करने की कोशिश की। अपनी शक्तिसमृद्धि के सिलसिले मे इसका सघर्ष सिसली के यूनानियो और कार्थेज से हुआ। प्रारभ मे कुछ सफलता मिली, पर अतत कार्थेज के लोगो ने इसे मार भगाया और वह सिराकूज मे बद हो गया। बाद मे इसने अपनी हार का बदला अफ्रीका मे कार्थेज को हराकर लेना चाहा पर उसमे भी इसे विशेष सफलता नही मिली। इटली मे भी इसने कई लडाइयाँ लडी। इसके जीवन का अतिम काल भयानक पारिवारिक अशाति मे बीता। इसने अपनी वसीयत मे वशगत उत्तराधिकार की निंदा कर सिराकूज को पुन स्वतत्रता दी। पश्चिमी यूनानियो मे यही अकेला हेलेनिक राजा था। [अ० कि० ना०]

अगामेम्नान होमरीय वीर जो सभवत ऐतिहासिक व्यक्ति था। 'इलियद' मे उसे यूनान के एकियाई और मिकीनी राज्यो का स्वामी कहा गया है। स्पार्ता मे उसकी पूजा ज्यूस अगामेम्नान के नाम से होती थी। यह अत्रियस और इरोप का पुत्र और मेनेलास का भाई था। पिता की हत्या के बाद भाइयो ने स्पार्ता के राजा की शरण ली, फिर वहाँ के राजा की सहायता से अगामेम्नान ने पिता का राज्य पुन प्राप्त कर उसे बटाया और ग्रीस के राजाओ मे प्रधान बन गया। स्पार्ता के राजा तिंदेरस की कन्याएँ इन दोनो भाइयो से ब्याही थी। पश्चात् मेनेलास तिंदेरस का उत्तराधिकारी हुआ और यह उसका सहायक। भाई की पत्नी हेलेन के त्राय के पेरिस द्वारा अपहरण के प्रतिकार मे यूनानी राजाओ को निमत्रित कर अगामेम्नान ने त्राय के युद्ध का नेतृत्व किया। त्राय विजय के बाद स्वदेश लौटने पर उसकी पत्नी के प्रेमी आगस्तस ने इसकी हत्या कर दी। उसकी कब्र मिकीनी के खडहरो मे दिखाई जाती है, जिसे त्राय का पुनरुद्धार करनेवाले पुराविद् श्लीमान ने खोद निकाली थी। पर उस कब्र की सत्यता प्रमाणित नही। [ओ० ना० उ०]

अगेसिलास द्वितीय स्पार्ता का राजा। यह यूरिपोंतिद परिवार का,आर्किदामस् का पुत्र और अगीस का सौतेला भाई था। अगीस को औरस सतान न होने से ४०१ ई० पू० मे यह गद्दी पर बैठा। इसका जीवन यूनानी राज्यो और फारस के साथ युद्ध मे बीता। ३९६ ई० पू० मे इसने पारसीक आक्रमण के विरुद्ध ८००० समिलित सेना का नेतृत्व किया। फ्रीगिया और लीदिया पर उसने हमले किए, पर इसी बीच गृहयुद्ध की सूचना पा वह वापस लौटा। जलयुद्ध मे पारसीको से उसकी हार हुई पर कोरिंथ का युद्ध जीतकर वह स्पार्ता लौट गया। ई० पू० ३८६ की सधि के बाद बोएतिया पर उसने आक्रमण किया, पर हार गया। ई० पू० ३६१ मे मिस्र के विद्रोही क्षत्रप की फारस के विरुद्ध उसने सहायता की। वहाँ से लौटते समय ८४ वर्ष की अवस्था मे मार्ग में ही उसकी मृत्यु हो गई। [ओ० ना० उ०]

अगेस्सो, हेनरी फ्रांस्वा, द फ्रास के चासलर जो लीमोगीज मे २७ नवबर, १६६८ को पैदा हुए। फ्रास्वा ने कानून की शिक्षा जाँ दोमा से ली। १७०० से १७१७ तक प्रधान मजिस्ट्रेट (प्रोकूरातो) रहे। इसी पद पर रहकर उन्होने गैलीकन गिरजा के अधिकार की रोम के गिरजाघर के विरुद्ध सहायता की।

१७१७ मे उन्हे चासलर बनाया गया। परतु एक वर्ष पश्चात् जाला की आर्थिक नीति का विरोध करने के दड मे उन्हे इस्तीफा देना पडा। १७२० मे उनको फिर उसी पद पर बिठाया गया। उन्होने फ्रास के लिये एक कानून सग्रह तैयार करने का प्रयत्न भी किया। कुछ सुधार करने के कारण उनको फ्रास के प्रशासको मे सर्वप्रथम स्थान मिला।

फ्रास्वा के लेखो का एक सग्रह १६ जिल्दो मे १८१८ मे प्रकाशित हुआ। रूम के अतिरिक्त उन्होने अपने पिता की जीवनी भी लिखी है जिसमे शिक्षा के सबध मे भी बाते लिखी है। [मो० अ० अ०]

अगोरा का शाब्दिक अर्थ है 'एकत्रित होना' या 'आपस मे मिलना'। इसका प्रयोग विशेषकर युद्ध या अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये लोगो को एकत्रित करने के अर्थ मे होता है। क्लीस्थेनीज ने एथेस की पूरी आबादी को जिन दस जातियो मे बाँटा था उनमे से प्रत्येक जाति पुन कुछ दीमिजो मे बँटी थी। 'अगोरा' से तात्पर्य विभिन्न दीमिजो के बाजार से था। यूनान मे नागरिको का आपस मे मिलना सदैव अनिवार्य समझा जाता था। ऐसे समेलन के लिये एक सार्वजनिक स्थान की आवश्यकता थी, इस दृष्टि से नगर का बाजार या अगोरा सबसे उपयुक्त था। बाजार केवल क्रय विक्रय का ही स्थान नही था वरन् वह ऐसा मिलनस्थल भी था जहाँ लोग घूमने जाते, नगर के नवीन समाचार प्राप्त करते तथा राजनीतिक समस्याओ पर विचार करते। यही जनमत का रूप निर्धारित होता था। इस प्रकार 'अगोरा' सरकार के निर्णयो पर विचार करने के लिये जनता की सर्वागीण सभा (असेंब्ली) का उपयुक्त स्थल बन गया। ऐसे समेलनो का नाम भी अगोरा पडा, यहाँ तक कि सैन्य शिविरो मे भी अगोरा की आवश्यकता रहती थी। त्रोजन युद्ध के समय ऐसा ही एक अगोरा था जहाँ से एकियन युद्धनेता अपनी घोषणाएँ तथा न्याय की व्यवस्था करते थे। अगोरा इतना आवश्यक समझा जाता था कि होमर ने अगोरा का न होना ही कीक्लोप दैत्यो की बर्बरता का प्रमुख लक्षण बताया तथा हेरोदोतस् ने यूनानियो और ईरानियो मे सबसे बडा अतर इसी बात मे देखा कि ईरानियो के यहाँ कोई अगोरा नही था।

सैकडो नगरोवाले यूनान मे इस सस्था के विभिन्न स्वरूप थे। थिसाली के जनतत्रीय नगरो मे अगोरा को 'स्वतत्रता का स्थान' कहते थे। इन नगरो मे अगोरा की सदस्यता सभी के लिये न होकर केवल विशिष्ट लोगो के लिये ही थी। जनतत्रीय नगरो में प्राचीन अगोरा जब जनसख्या के बढने के कारण सार्वजनिक सभा की बढती हुई सदस्यता के लिये छोटा पडने लगा तब लोग अन्य स्थान पर एकत्रित होने लगे। उदाहरणार्थ ई० पू० पाँचवी शताब्दी मे एथेंसवासियो की सभा प्निक्स की पहाडी पर होती थी और केवल कुछ विशिष्ट अवसरो के अतिरिक्त अगोरा या बाजार में एकत्रित होना बद हो गया। इस स्थानातरित सभा का नाम भी अगोरा न होकर एक्लेसिया पडा। त्राय मे अगोरा का अधिवेशन राजभवन और अपोलो तथा एथिनी के मदिरो के निकट एक्रोपोलिस मे होता था। समुद्रतट पर बने नगरो, यथा पीलोस, स्केरिया आदि मे उसका स्थान पोसिदोन के किसी मदिर के समुख बदरगाह के निकट वृत्ताकार होता था।

चुनाव सबंधी कार्य के अतिरिक्त दीमिज के प्रशासन सबंधी सभी महत्वपूर्ण निर्णय अगोरा में ही होते थे।

स०ग्र०—ग्लॉज, जी० दि ग्रीक सिटी ऐंड इट्स इन्स्टिटयूशस, लदन, १९५०, ग्रीनिज, ए० एच० जे० ए हैंडबुक ऑव ग्रीक कास्टिट्यूशनल हिस्ट्री, लदन, १९२०, मायर्स, जे० एल० दि पोलिटिकल आइडियाज़ ऑव दि ग्रीक्स, लदन, १९२७। [रा० अ०]

अगोरानोमी

नामक मडियो के अध्यक्षो के पद ग्रीक नगरो में १२० से भी अधिक विद्यमान थे। सामान्यतया इनका चुनाव पत्रक या गुटिका द्वारा हुआ करता था। एथेंस में इन अध्यक्षो की सख्या १० थी जिनमे से पाँच मुख्य नगर के लिये और पाँच पिरेयस् नामक एथेंस् के बदरगाह के लिये चुने जाते थे। इनका कर्तव्य हाट बाजार में व्यवस्था रखना, नापतौल और पण्य वस्तुओ के गुणावगुण की देखभाल और हाटशुल्क सचय करना था। सामान्य नियमो का उल्लघन करनेवाले अर्थदड के भागी होते थे तथा इस धन से हाट के भवनो का विस्तार एव जीर्णोद्धार हुआ करता था। अधिक गभीर अपराधो के मामलो को यह न्यायालयो में भेज दिया करते थे और इन अभियोगो की अध्यक्षता भी यही करते थे। [भो० ना० श०]

अग्नि

रासायनिक दृष्टि से अग्नि जीवजनित पदार्थो के कार्बन तथा अन्य तत्वों का आक्सिजन से इस प्रकार का सयोग है कि गरमी और प्रकाश उत्पन्न हो। अग्नि की बडी उपयोगिता है जाडे मे हाथ पैर सेकने से लेकर ऐटम बम द्वारा नगर का नगर भस्म कर देना, सब अग्नि का ही काम है। इसी से हमारा भोजन पकता है, इसी के द्वारा खनिज पदार्थो से धातुएँ निकाली जाती है और इसी से शक्ति-उत्पादक इजन चलते है। भूमि मे दबे अवशेषो से पता चलता है कि प्राय पृथ्वी पर मनुष्य के प्रादुर्भाव काल से ही उसे अग्नि का ज्ञान था। आज भी पृथ्वी पर बहुत सी जगली जातियाँ है जिनकी सभ्यता एकदम प्रारभिक है, परतु ऐसी कोई जाति नही है जिसे अग्नि का ज्ञान न हो।

आदिम मनुष्य ने पत्थरो के टकराने से उत्पन्न चिनगारियो को देखा होगा। अधिकाश विद्वानो का मत है कि मनुष्य ने सर्वप्रथम कडे पत्थरो को एक दूसरे पर मारकर अग्नि उत्पन्न की होगी।

घर्षण (रगडने की) विधि से अग्नि बाद मे निकली होगी। पत्थरो के हथियार बन चुकने के बाद उन्हे सुडौल, चमकीला और तीव्र करने के लिये रगडा गया होगा। रगडने पर जो गर्मी उत्पन्न हुई होगी उसी से मनुष्य ने अग्नि उत्पन्न करने की घर्षणविधि निकाली होगी।

घर्षण तथा टक्कर इन दोनो विधियो से अग्नि उत्पन्न करने का ढग आजकल भी देखने मे आता है। अब भी आवश्यकता पडने पर इस्पात और चकमक पत्थर के प्रयोग से अग्नि उत्पन्न की जाती है। एक विशेष प्रकार की सूखी घास या रुई को चकमक के साथ सटाकर पकड लेते हैं और इस्पात के टुकडे से चकमक पर तीव्र प्रहार करते हैं। टक्कर से उत्पन्न चिनगारी घास या रुई को पकड लेती है और उसी को फूंक फूंककर और फिर पतली लकडी तथा सूखी पत्तियो के मध्य रखकर अग्नि का विस्तार कर लिया जाता है।

घर्षणविधि से अग्नि उत्पन्न करने की सबसे सरल और प्रचलित विधि लकडी के पटरे पर लकडी की छड रगडने की है।

एक दूसरी विधि मे लकडी के तख्ते में एक छिछला छेद रहता है। इस छेद पर लकडी की छडी को मथनी की तरह वेग से नचाया जाता है। प्राचीन भारत मे भी इस विधि का प्रचलन था। इस यत्र को "अरणी" कहते थे। छडी के टुकडे को "उत्तरा" और तख्ते को "अधरा" कहा जाता था। इस विधि से अग्नि उत्पन्न करना भारत के अतिरिक्त लका, सुमात्रा, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका मे भी प्रचलित था। उत्तरी अमरीका के इडियन तथा मध्य अमरीका के निवासी भी यह विधि काम मे लाते थे। एक बार चार्ल्स डारविन ने टाहिटी (दक्षिणी प्रशात महासागर का एक द्वीप जहाँ *स्थानीय आदिवासी ही बसते हैं*) *मे देखा कि वहाँ के निवासी* इस प्रकार कुछ ही सेकेंड मे अग्नि उत्पन्न कर लेते हैं, यद्यपि स्वय उसे इस काम में सफलता बहुत समय तक परिश्रम करने पर मिली। फारसी के प्रसिद्ध ग्रथ शाहनामा के अनुसार हुसेन ने एक भयकर सर्पाकार राक्षस से युद्ध किया और उसे मारने के लिये उन्होने एक बडा पत्थर फेका। वह पत्थर उस राक्षस को न लगकर एक चट्टान से टकराकर चूर हो गया और इस प्रकार सर्वप्रथम अग्नि उत्पन्न हुई।

उत्तरी अमरीका की एक दतकथा के अनुसार एक विशाल भैंसे के दौडने पर उसके खुरो से जो टक्कर पत्थरो पर लगी उससे चिनगारियाँ निकली। इन चिनगारियो से भयकर दावानल भडक उठा और इसी से मनुष्य ने सर्वप्रथम अग्नि ली।

अग्नि का मनुष्य की सास्कृतिक तथा वैज्ञानिक उन्नति मे बहुत बडा भाग रहा है। लैटिन मे अग्नि को प्यूरस अर्थात् 'पवित्र' कहा जाता है। सस्कृत में अग्नि का एक पर्याय 'पावक' भी है जिसका शब्दार्थ है 'पवित्र करनेवाला'। अग्नि को पवित्र मानकर उसकी उपासना का प्रचलन कई जातियो में हुआ और अब भी है।

सतत अग्नि—अग्नि उत्पन्न करने मे पहले साधारणत इतनी कठिनाई पडती थी कि आदिकालीन मनुष्य एक बार उत्पन्न की हुई अग्नि को निरतर प्रज्वलित रखने की चेष्टा करता था। यूनान और फारस के लोग अपने प्रत्येक नगर और गावँ में एक निरतर प्रज्वलित अग्नि रखते थे। रोम के एक पवित्र मदिर मे अग्नि निरतर प्रज्वलित रखी जाती थी। यदि कभी किसी कारणवश मदिर की अग्नि बुझ जाती थी तो बडा अपशकुन माना जाता था। तब पुजारी लोग प्राचीन विधि के अनुसार पुन अग्नि प्रज्वलित करते थे। सन् १८३० के बाद से दियासलाई का आविष्कार हो जाने के कारण अग्नि प्रज्वलित रखने की प्रथा मे शिथिलता आ गई। दियासलाइयो का उपयोग भी घर्षणविधि का ही उदाहरण है, अतर इतना ही है कि उसमे फास्फोरस, शोरा आदि के शीघ्र जलनेवाले मिश्रण का उपयोग होता है।

प्राचीन मनुष्य जगली जानवरो को भगाने, या उनसे सुरक्षित रहने के लिये अग्नि का उपयोग बराबर करता रहा होगा। वह जाडे मे अपने को अग्नि से गरम भी रखता था। वस्तुत जैसे जैसे जनसख्या बढी, लोग अग्नि के ही सहारे अधिकाधिक ठढे देशो मे जा बसे। अग्नि, गरम कपडा और मकानो के कारण मनुष्य ऐसे ठढे देशो मे रह सकता है जहाँ शीत ऋतु मे उसे सरदी से कष्ट नही होता और जलवायु अधिक स्वास्थ्यप्रद रहती है।

विद्युत्काल में अग्नि—मोटरकार के इजनो में पेट्रोल जलाने के लिये बिजली की चिनगारी का उपयोग होता है, क्योकि ऐसी चिनगारी अभीष्ट क्षणो पर उत्पन्न की जा सकती है। मकानो मे कभी कभी बिजली के तार में खराबी आ जाने से आग लग जाती है। ताल (लेन्ज) तथा अवतल (कॉनकेव) दर्पण से सूर्य की रश्मियो को एकत्रित करके भी अग्नि उत्पन्न की जा सकती है। ग्रीस तथा चीन के इतिहास मे इन विधियो का उल्लेख है।

अग्नि से क्षति—प्रत्येक वर्ष समाचारपत्रो में पढने मे आता है कि अग्नि से इतने घर जल गए, या इतने लाख रुपए की क्षति हुई, या इतने व्यक्ति मरे। अग्नि से कभी कभी विशेष विस्तृत क्षेत्र में हानि हो जाती है। सन् १९४४ मे बबई के बदरगाह मे एक जहाज में विस्फोट हुआ जिससे बदरगाह और पास के मकान जल गए। लगभग ३० करोड रुपए की हानि हुई। सन् १६६६ मे लदन में जो आग लगी थी वह लगातार तीन दिन तक जलती ही रह गई और तेरह हजार मकान, सेंट पाल का बडा गिरजाघर, ९३ साधारण गिरजाघर, बहुत से सरकारी भवन, अस्पताल, लाइब्रेरी, जेलखाने आदि और चार पत्थर के पुल नष्ट हो गए। सस्ती का समय था, तो भी आँका गया कि १५ करोड रुपए की हानि हुई थी। पिछले विश्वयुद्ध में जर्मनी के ऊपर आग लगानेवाले बम बहुत अधिक सख्या मे छोडे गए। जर्मनी के भवन ऐसे बने थे कि एक के जलने पर पडोस के भवनो मे आग नही लगती थी। तो भी १९४३ में २७-२८ जूलाई के बीच अधिक बम छोडे जाने के कारण हजारो मकान एक साथ जलने लगे और सत्तर अस्सी हजार व्यक्तियो की जानें गई। तीन बार के अग्निबम-आक्रमण मे तीन लाख से अधिक मकान जल गए। १९४५ मे जर्मनी के ड्रेस्डेन नगर मे इसी प्रकार *बमो से आग लगाई गई थी। हजारो भवनो के एक साथ जलने* से जो लपटे उठी, उनसे सडको की हवा बडे वेग से खिंच रही थी, जान पडता था मानो वेगवती आँधी आ गई है। इस आग से लगभग तीन लाख व्यक्तियों की जानें गई। प्राय सभी देशो मे कभी न कभी अग्नि से भारी क्षति हुई है।

अग्नि से रक्षा—व्यक्तिगत रक्षा के लिये अग्नि से सदा सावधान रहना चाहिए। ऐसा प्रबंध रहना चाहिए कि बच्चे आग तक न पहुँच सकें। दीए और लालटेन आदि को वे छू न सकें। जाड़े में रुईदार कपड़े के बदले ऊनी कपड़ा पहनने से आग लगने की आशंका कम हो जाती है। आँचल से बटलोई या कड़ाही पकड़कर आँच पर से उतारने की आदत कुछ स्त्रियों में रहती है, यह बुरा है। स्टोव या आग की लौ के पास जाते समय साड़ी पर ध्यान रखना चाहिए कि उसमें आग न लग जाय। मकान यथासंभव अग्निसह हो (देखें **अग्निसह भवन**)। यदि फूस की छाजन हो तो उसे काफी ऊँची रहनी चाहिए। यदि रसोई घर में फूस की छाजन या फूस की दीवारें हों तब तो विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। तप्त तेल या घी में तरकारी आदि छौंकते समय बहुधा अचानक लपटें निकल पड़ती हैं। इस प्रकार की लपटों से हजारों अग्निकांड हो चुके हैं। बिजली के तारों की जाँच साल दो साल पर होती रहनी चाहिए और आवश्यक सुधार करते रहना चाहिए। घरों में से भाग सकने के लिये अगवाड़े और पिछवाड़े दोनों ओर प्रबंध रहना चाहिए। कोठे पर से उतरने के लिये दो सीढ़ियाँ हों तो अच्छा है।

बीमा—किसी व्यक्ति के घर या दूकान में आग लग जाने से वह पूर्णतया निर्धन हो जा सकता है। इससे बचने के लिये मकान, विशेष कर दूकान, का बीमा करा लेना अच्छा होता है। वास्तव में बीमा करानेवाला प्रत्येक व्यक्ति अग्नि से उत्पन्न क्षति को थोड़ी थोड़ी मात्रा में सहन करता है और इस प्रकार व्यक्तिविशेष अपनी संपत्ति के विनाश से निर्धन नहीं होने पाता। बीमा कंपनी केवल प्रबंधकर्ता है, लोगों से प्रीमियम (मासिक या वार्षिक धन) एकत्रित करना और उसमें से क्षतिग्रस्त व्यक्ति को धन पहुँचाना ही उसका कार्य है।

आग बुझाना—आग बुझाने के लिये साधारणत सबसे अच्छी रीति पानी उड़ेलना है। बालू या मिट्टी डालने से भी छोटी आग बुझ सकती है। दूर से अग्नि पर पानी डालने के लिये रुकावदार पंप अच्छा होता है। छोटी मोटी आग को थाली या परात से ढककर भी बुझाया जा सकता है। आग लगने पर घबड़ाने से काम बिगड़ जाता है। शांति से, परंतु घटपट, उपाय करना चाहिए। कारखानों में यदि पहले से अभ्यास करा दिया जाय कि आग लगने पर क्या क्या करना चाहिए और किधर से भागना चाहिए तो अच्छा है।

अग्निशामक
ऊपर की घुंडी को ठोकने से भीतर अम्ल (तेजाब) की शीशी फूट जाती है जो बरतन के भीतर भरे सोडा के घोल से प्रतिक्रिया करके कार्बन डाइआक्साइड गैस बनाती है। इस गैस की दाब से घोल की वेगवती धार निकलती है।

रुकावदार पंप
इसके मुँह को पानी भरी बालटी में डालकर और रुकाव को पैर से दबाकर हैंडल चलाने पर तुंड (टोटी) से पानी की धार निकलती है जो दूर से ही आग पर डाली जा सकती है।

आरंभ में आग बुझाना सरल रहता है। आग बढ़ जाने पर उसे बुझाना कठिन हो जाता है। प्रारंभिक आग को बुझाने के लिये यंत्र मिलते हैं। ये लोहे की चादर के बरतन होते हैं, जिनमें सोडे (सोडियम कारबोनेट) का घोल रहता है। एक शीशी में अम्ल रहता है। बरतन में एक खूँटी रहती है। ठोकने पर वह भीतर घुसकर अम्ल की शीशी को तोड़ देती है। तब अम्ल सोडे के घोल में पहुँचकर कार्बन डाइआक्साइड गैस उत्पन्न करता है। इसकी दाब से घोल की धार बाहर वेग से निकलती है और आग पर डाली जा सकती है।

अधिक अच्छे आग बुझानेवाले यंत्रों से साबुन के झाग (फेन) की तरह झाग निकलता है जिसमें कारबन डाइआक्साइड गैस के बुलबुले रहते हैं। यह जलती हुई वस्तु पर पहुँचकर उसे इस प्रकार छा लेता है कि आग बुझ जाती है।

गोदाम, दूकान आदि में स्वयंचल सावधानक (ऑटोमैटिक अलार्म) लगा देना उत्तम होता है। आग लगने पर घंटी बजने लगती है। जहाँ टेलीफोन रहता है वहाँ ऐसा प्रबंध हो सकता है कि आग लगते ही अपने आप अग्निदल (फायर ब्रिगेड) को सूचना मिल जाय। इससे भी अच्छा वह यंत्र होता है जिसमें से, आग लगने पर, पानी की फुहार अपने आप छूटने लगती है।

प्रत्येक बड़े शहर में सरकार या म्युनिसिपैलिटी की ओर से एक अग्निदल रहता है। इसमें वैतनिक कर्मचारी नियुक्त रहते हैं जिनका कर्तव्य ही आग बुझाना होता है। सूचना मिलते ही ये लोग मोटर से अग्निस्थान पर पहुँच जाते हैं और अपना कार्य करते हैं। साधारणत आग बुझाने का सारा सामान उनकी गाड़ी पर ही रहता है, उदाहरणत पानी से भरी टंकी, पंप, कैनवस का पाइप (होज), इस पाइप के मुँह पर लगनेवाली टोंटी (नॉज़ल), सीढ़ी (जो बिना दीवार का सहारा लिए ही तिरछी खड़ी रह सकती है और इच्छानुसार ऊँची, नीची या तिरछी की तथा घुमाई जा सकती है), बिजली की तेज रोशनी और लाउडस्पीकर आदि। जहाँ पानी का पाइप नहीं रहता वहाँ एक अन्य लारी पर केवल पानी की बड़ी टंकी रहती है। कई विदेशी शहरों में सरकारी प्रबंध के अतिरिक्त बीमा कंपनियाँ आग बुझाने का अपना निजी प्रबंध भी रखती हैं। जहाँ सरकारी अग्निदल नहीं रहता वहाँ बहुधा स्वयंसेवकों का दल रहता है जो वचनबद्ध रहते हैं कि मुहल्ले में आग लगने पर तुरंत उपस्थित होंगे और उपचार करेंगे। बहुधा सरकार की ओर से उन्हें शिक्षा मिली रहती है और आवश्यक सामान भी उन्हें सरकार से उपलब्ध होता है।

आग लगने पर तुरंत अग्निदल को सूचना भेजनी चाहिए (हो सके तो टेलीफोन से), और तुरंत स्पष्ट शब्दों में बताना चाहिए कि कहाँ आग लगी है। रात के समय देख भाल के लिये चौकीदार रखना अच्छा है।

सं०ग्रं०—राबर्ट एस० मोल्टन (संपादक) हैंडबुक ऑव फायर प्रोटेक्शन, नैशनल फायर प्रोटेक्शन ऐसोसिएशन (१९४८, इंग्लैंड), जे० डेविडसन फायर इंश्योरेंस (१९२३)। [आ० सि० स०]

अग्नि देवता

संसार के मान्य धर्मों में अग्नि की उपासना प्रतिष्ठित देवता के रूप में अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित है। यूनान तथा रोम में भी अग्नि की पूजा राष्ट्रदेवी के रूप में होती थी। रोम में अग्नि 'वेस्ता' देवी के रूप में उपासना का विषय थी। उसकी प्रतिकृति नहीं बनाई जाती थी, क्योंकि रोमन कवि 'ओविद' के कथनानुसार अग्नि इतना सूक्ष्म तथा उदात्त देवता है कि उसकी प्रतिकृति के द्वारा कथमपि बाह्य अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती थी। पवित्र मंदिर में अग्नि सदा प्रज्वलित रखी जाती थी और उसकी उपासना का अधिकार पावनचरित श्वेतांगी कुमारियों को ही था। जरथुस्त्री धर्म में भी अग्नि का पूजन प्रत्येक ईरानी आर्य का मुख्य कर्तव्य था। अवेस्ता में अग्नि दृढ़ तथा विकसित अनुष्ठान का मुख्य केंद्र थी और अग्निपूजक ऋत्विज् 'अथ्रवन्' वैदिक अथर्वरण के समान उस धर्म में श्रद्धा और प्रतिष्ठा के पात्र थे। अवेस्ता में अग्निपूजा के प्रकार तथा प्रयुक्त मंत्रों का रूप ऋग्वेद से बहुत अधिक साम्य रखता है। पारसी धर्म में अग्नि इतना पवित्र, विशुद्ध तथा उदात्त

देवता माना जाता हे कि कोई अशुद्ध वस्तु अग्नि मे नही डाली जाती। इस प्रकार वैदिक आर्यो के समान पारसी लोग शवदाह के लिये अग्नि का उपयोग नही करते, मरी हुई अशुद्ध वस्तु को वे अग्नि मे डालने की कल्पना तक नही कर सकते। अवेस्ता के अनुसार आतरो (अग्नि) दिव्य प्रकाश का पार्थिव स्वरूप हे। अग्नि 'अहुरमज्द' का ही रूप है जिससे पुन रूप में जरथुस्त्र का जन्म हुआ। अवेस्ता मे अग्नि पाँच प्रकार का माना जाता है।

परतु अग्नि की जितनी उदात्त तथा विशद कल्पना भारतीय वैदिक धर्म मे है उतनी अन्यत्र नही है। वैदिक कर्मकाड का—श्रौत भाग और गृह्य का—मुख्य केद्र अग्निपूजन ही है। वैदिक देवमडल मे इद्र के अनतर अग्नि का ही दूसरा स्थान है जिसकी स्तुति लगभग दो सौ सूक्तो मे वर्णित है। अग्नि के वर्णन में उसका पार्थिव रूप ज्वाला, प्रकाश आदि वैदिक ऋषियो के सामने सदा विद्यमान रहता है। अग्नि की तुलना अनेक पशुओ से की गई है। प्रज्वलित अग्नि गर्जनशील वृपभ के समान है। उसकी ज्वाला सौर किरणो के तुल्य, उषा की प्रभा तथा विद्युत् की चमक के समान है। उसकी आवाज आकाश के गर्जन जैसी गभीर है। 'अग्नि' के लिये विशेष गुणो को लक्ष्य कर अनेक अभिधान प्रयुक्त किए जाते हैं। 'अग्नि' शब्द का सबध लातीनी 'इग्निस्' और लिथुएनियाई 'उग्निस्' के साथ कुछ अनिश्चित सा है, यद्यपि प्रेरणार्थक अज् धातु के साथ भाषाशास्त्रीय दृष्टि से असभव नही है। प्रज्वलित होने पर धूमशिखा के निकलने के कारण 'धूमकेतु' इस विशिष्टता का द्योतक एक प्रख्यात अभिधान है। अग्नि का ज्ञान सर्वातिशायी हे और वह उत्पन्न होनेवाले समस्त प्राणियो को जानता है। इसलिये वह 'जातवेदा' के नाम से विख्यात है। अग्नि कभी द्यावापृथिवी का पुत्र और कभी द्यौ का सूनु (पुत्र) कहा गया है। उसके तीन जन्मो का वर्णन वेदो मे मिलता है जिनके स्थान हैं—स्वर्ग, पृथ्वी तथा जल, स्वर्ग, वायु तथा पृथ्वी। अग्नि के तीन सिर, तीन जीभ तथा तीन स्थानो का बहुल निर्देश वेद मे उपलब्ध होता हे। अग्नि के दो जन्मो का भी उल्लेख मिलता है—भूमि तथा स्वर्ग।

अग्नि के आनयन की एक प्रख्यात वैदिक कथा ग्रीक कहानी से साम्य रखती है। अग्नि का जन्म स्वर्ग मे ही मुख्यत हुआ जहाँ से मातरिश्वा ने मनुष्यो के कल्याणार्थ उसका इस भूतल पर आनयन किया। अग्नि प्रसगत अन्य समस्त वैदिक देवो मे प्रमुख माना गया है। अग्नि का पूजन भारतीय आर्यसस्कृति का प्रमुख चिह्न है और वह गृहदेवता के रूप मे उपासना और पूजा का प्रधान विषय है। इसलिये अग्नि 'गृह्य', 'गृहपति' (घर का स्वामी) तथा 'विश्पति' (जन का रक्षक) कहलाता है। शतपथ ब्राह्मण (१।४।१।१०) मे गोतम राहूगण तथा विदेघ माथव के नेतृत्व में अग्नि का सारस्वत मडल से पूरब की ओर जाने का वर्णन मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो आर्य संस्कृति सहिता काल मे सरस्वती के तीरस्थ प्रदेशो तक सीमित रही, वह ब्राह्मण युग मे पूरबी प्रातो मे भाँफैल गई। इस प्रकार अग्नि की उपासना वैदिक धर्म का नितात आवश्यक अग है। पुराणो मे अग्नि के उदय तथा कार्य विषयक अनेक कथाएँ मिलती है। अग्नि की स्त्री का नाम 'स्वाहा' है तथा उसके तीन पुत्रो के नाम 'पावक', 'पवमान' और 'शुचि' है।

स०ग्र०—मैकडॉनेल वैदिक माइथालोजी (स्ट्रासवर्ग), कीथ रिलीजन ऐड फिलॉसफी ऑव वेद ऐड उपनिषद् (हारवर्ड), दो भाग, अरविंद हिम्स टु दि मिस्टिक फायर (पॉण्डीचेरी), बलदेव उपाध्याय वैदिक साहित्य और सस्कृति (काशी), मराठी ज्ञानकोश (दूसरा खण्ड, पूना)। [ब० उ०]

अग्निपरीक्षा भारत तथा भारतेतर देशो मे अग्नि द्वारा स्त्रियो के सतीत्व का तथा अपराधियो के निर्दोष होने का परीक्षण अत्यत प्राचीन काल से प्रचलित रहा है। इसे ही 'अग्निपरीक्षा' कहा जाता है। परीक्षा का मूल हेतु यह है कि अग्नि जैसे तेजस्वी पदार्थ के सपर्क मे आने पर जो वस्तु या व्यक्ति किसी प्रकार का विकार नही प्राप्त करता, वह वस्तुत विशुद्ध, दोषरहित तथा पवित्र होता है। भारतवर्ष मे भगवती सीता की अग्निपरीक्षा इस विषय का नितात प्रख्यात दृष्टात है। स्त्रियो के सतीत्व की अग्निपरीक्षा का प्रकार यह है कि सदिग्ध चरित्रवाली स्त्री को हलका लोहे का फार आग मे खूब गरमकर जीभ से चाटने के लिये दिया जाता था। यदि उसका मुहँ जल जाता, तो वह असती, दुष्टा तथा हीनचरित्र मानी जाती थी। यदि उसका मुहँ नही जलता, तो वह सती समझी जाती थी। प्राचीन भारत के समान यूरोप में भी चोरो के दोषादोष की परीक्षा आग के द्वारा की जाती थी। अग्रेजी में इसे 'आरडियल' कहते है तथा सस्कृत में 'दिव्य'।

स्मृतियो में दिव्यो के अनेक प्रकार निर्दिष्ट किए गए है जिनमें अग्निपरीक्षा अन्यतम प्रकार है। इसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—पश्चिम से पूरब की ओर गाय के गोबर से नौ मडल बनाना चाहिए जो अग्नि, वरुण, वायु, यम, इद्र, कुवेर, सोम, सविता तथा विश्वेदेव के निमित्त होते है। प्रत्येक चक्र १६ अगुल के अर्धव्यास का होना चाहिए और दो चक्रो का अतर १६ अगुल होना चाहिए। प्रत्येक चक्र को कुश से ढकना चाहिए जिसपर शोध्य व्यक्ति अपना पैर रखे। तब एक लोहार ५० पल वजनवाले तथा आठ अगुल लबे लोहे के पिंड को आग में खूब गरम करे। परीक्षक न्यायाधीश शोध्य व्यक्ति के हाथ पर पीपल के सात पत्ते रखे और उनके ऊपर अक्षत तथा दही डोरो से बाँध दे। तदनतर उसके दोनो हाथो पर तप्त लौह पिंड सँडसी मे रखे जायँ और प्रथम मडल से लेकर अष्टम मडल तक धीरे धीरे चलने के बाद वह उन्हें नवम मडल के ऊपर फेंक दे। यदि उसके हाथों पर किसी प्रकार की न तो जलन हो और न फफोला उठे, तो वह निर्दोष घोषित किया जाता था। अग्निपरीक्षा की यही प्रक्रिया सामान्य रूप से स्मृति ग्रथो मे दी गई है। [ब० उ०]

अग्निपुराण पुराण साहित्य में अपनी व्यापक दृष्टि तथा विशाल ज्ञानभाडार के कारण विशिष्ट स्थान रखता है। साधारण रीति से पुराण को 'पचलक्षण' कहते है, क्योकि इसमें सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (सहार), वश, मन्वतर तथा वशानुचरित का वर्णन अवश्यमेव रहता है, चाहे परिमाण मे थोडा न्यून ही क्यो न हो। परतु अग्निपुराण इसका अपवाद है। प्राचीन भारत की परा और अपरा विद्याओं का तथा नाना भौतिक शास्त्रो का इतना व्यवस्थित वर्णन यहाँ किया गया है कि इसे वर्तमान दृष्टि से हम एक विशाल विश्वकोश कह सकते है। आनदाश्रम से प्रकाशित अग्निपुराण में ३८३ अध्याय तथा ११,४५७ श्लोक है परतु नारदपुराण के अनुसार इसमें १५ हजार श्लोको तथा मत्स्यपुराण के अनुसार १६ हजार श्लोको का सग्रह बतलाया गया है। बल्लाल सेन द्वारा 'दानसागर' में इस पुराण के दिए गए उद्धरण प्रकाशित प्रति में उपलब्ध नही है। इस कारण इसके कुछ अशो के लुप्त और अप्राप्त होने की बात अनुमानत सिद्ध मानी जा सकती है।

अग्निपुराण मे वर्ण्य विषयो पर सामान्य दृष्टि भी डालने पर उनकी विशालता और विविधता पर आश्चर्य हुए बिना नही रहता। आरभ मे दशावतार (अ० १–१६) तथा सृष्टि की उत्पत्ति (अ० १७-२०) के अनतर मत्रशास्त्र तथा वास्तुशास्त्र का सूक्ष्म विवेचन है (अ० २१-१०६) जिसमें मदिर के निर्माण से लेकर देवता की प्रतिष्ठा तथा उपासना का पुखानुपुख विवेचन है। भूगोल (अ० १०७-१२०) ज्योति शास्त्र तथा वैद्यक (अ० १२१-१४६) के विवरण के बाद राजनीति का विस्तृत वर्णन किया गया है जिसमें अभिषेक, साहाय्य, सपत्ति, सेवक, दुर्ग, राजधर्म आदि आवश्यक विषय निर्णीत है (अ० २१९-२४५)। धनुर्वेद का विवरण बडा ही ज्ञानवर्धक है जिसमे प्राचीन अस्त्रशस्त्रो तथा सैनिक शिक्षापद्धति का विवेचन विशेष उपादेय तथा प्रामाणिक हे (अ० २४९-२५८)। अतिम भाग मे आयुर्वेद का विशिष्ट वर्णन अनेक अध्यायो मे मिलता है (अ० २७९-३०५)। छद शास्त्र, अलकारशास्त्र, व्याकरण तथा कोश विषयक विवरणो के लिये अनेक अध्याय लिखे गए है। [ब० उ०]

अग्निमित्र शुग वश का दूसरा प्रतापी सम्राट् जो सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र था और उसके पश्चात् १५५ ई० पू० मे राजसिंहासन पर बैठा। पुष्यमित्र के राजत्वकाल मे ही यह विदिशा का गोप्ता बनाया गया था और वहाँ के शासन का सारा कार्य यही देखता था।

अग्निमित्र के विषय मे जो कुछ ऐतिहासिक तथ्य सामने आए है उनका आधार पुराण तथा कालिदास की सुप्रसिद्ध रचना मालविकाग्निमित्र और उत्तरी पचाल (रुहेलखड) तथा उत्तरकोशल आदि से प्राप्त मुद्राएँ है।

मालविकाग्निमित्र से पता चलता है कि विदर्भ की राजकुमारी मालविका से अग्निमित्र ने विवाह किया था। यह उसकी तीसरी पत्नी थी। उसकी पहली दो पत्नियाँ धारिणी और इरावती थी। इस नाटक से यवन शासको के साथ एक युद्ध का भी पता चलता है जिसका नायकत्व अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र ने किया था।

पुराणो मे अग्निमित्र का राज्यकाल आठ वर्ष दिया हुआ है। यह सम्राट् साहित्यप्रेमी एव कलाविलासी था। कुछ विद्वानो ने कालिदास को अग्निमित्र का समकालीन माना है, यद्यपि यह मत ग्राह्य नही है। अग्निमित्र ने विदिशा को अपनी राजधानी बनाया था और इसमे सदेह नही कि उसने अपने समय मे अधिक से अधिक ललित कलाओ को प्रश्रय दिया।

जिन मुद्राओ मे अग्निमित्र का उल्लेख हुआ है वे प्रारभ मे केवल उत्तरी पचाल मे पाई गई थी जिससे रैप्सन और कनिंघम आदि विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला था कि वे मुद्राएँ शुगकालीन किसी सामत नरेश की होगी, परतु उत्तर कोशल मे भी काफी मात्रा में इन मुद्राओ की प्राप्ति ने यह सिद्ध कर दिया है कि ये मुद्राएँ वस्तुत अग्निमित्र की ही है।

स०ग्र०—पार्जिटर डायनस्टीज ऑव दि कलि एज, कनिंघम एशेट इडियन क्वाइस, रैप्सन क्वाइस ऑव एशेट इडिया, कालिदास मालविकाग्निमित्रम्, तथा पुराण साहित्य। [च० म०]

अग्निष्टोम यजुष् और अथर्वन् की यज्ञपद्धति में 'अग्निष्टोम' का 'अग्न्याधान', 'वाजपेय' आदि की तरह ही महत्व है। इसे 'ज्योतिष्टोम' भी कहते है। यह पाँच दिनो तक मनाया जाता है। प्राय राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञो के कर्ता इस यज्ञ का प्रतिपादन आवश्यक समझते थे। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन अभिलेखो (आध्र) में भी हमे इस यज्ञ का उल्लेख मिलता है। [च० म०]

अग्निसह ईंट (फायर ब्रिक अथवा रिफैक्टरी ब्रिक) ऐसी ईंट को कहते है जो तेज आँच मे भी नही पिघलती, चटकती या विकृत होती। ऐसी ईंटे अग्निसह मिट्टियो से बनाई जाती हैं (देखे **अग्निसह मिट्टी**)। अग्निसह ईंट उसी प्रकार साँचे मे डालकर बनाई जाती है जैसे साधारण ईंट। अग्निसह मिट्टी खोदकर बेलनो (रोलरो) द्वारा खूब बारीक पीस ली जाती है, फिर पानी में सानकर साँचे द्वारा उचित रुप मे लाकर, सुखाने के बाद, भट्ठी मे पका ली जाती है। अग्निसह ईंट चिमनी, अँगीठी, भट्ठी इत्यादि के निर्माण मे काम आती है।

अच्छी अग्निसह ईंट करीब २,५०० से ३,००० डिगरी सेंटीग्रेड तक की गर्मी सह सकती है, अत कारखानो मे बडी बडी भट्ठियो की भीतरी सतह को गर्मी के कारण गलने से बचाने के लिये भट्ठी के भीतर इसकी चुनाई कर दी जाती है। उदाहरण के लिये लोहा बनाने के ब्लास्ट फर्नेस की भीतरी सतह इत्यादि पर इसका प्रयोग किया जाता है।

मामूली ईंट तथा पलस्तर अधिक गरमी अथवा ताप से चिटक जाते है, अत अँगीठियो इत्यादि की रचना मे भी, जहाँ आग जलाई जाती है, अग्निसह ईंट अथवा अग्निसह मिट्टी के लेप (पलस्तर) का प्रयोग किया जाता है। [का० प्र०]

अग्निसह भवन ऐसे भवन को कहते है जिसके भीतर रखे या आसपास बाहर रखे सामान मे आग लगने पर भवन स्वय जलने नही पाता। सौभाग्य की बात है कि भारतवर्ष मे अधिकाश घरो की दीवारे अग्निसह होती हैं, कही कही केवल छत, जब तक विशेष प्रबध न किया जाय, अग्निसह नही होती, परतु यूरोप आदि ठढे देशो मे, ठढ से बचने के लिये, फर्श, छत और दीवारे भी बहुधा लकडी की बनती हैं या उनपर लकडी की तह चढी रहती है। इसलिय वहाँ आग से बहुधा भारी क्षति हो जाती है। जिन भवनो को वे लोग पहले अदह्य (फायरप्रूफ) कहते थे, उनमे भी आग लग जाने पर गहरी हानि हुई। उदाहरणत सन् १९४२ मे अमरीका के एक नाइटक्लब (मदिरापान-गृह) में आग लग जाने पर ४६१ व्यक्तियो की मृत्यु हो गई, यद्यपि भवन अदह्य श्रेणी मे गिना जाता था। इसलिये अब अदह्य के बदले अग्निसह (फायर रेजिस्टैंट) शब्द का अधिक प्रयोग होता है।

किसी भवन को अग्निसह बनाने के लिये उसके निर्माण मे ऐसी वस्तुओ का ही प्रयोग करना चाहिए जो अग्निसह हो। वैसे तो ससार मे ऐसी कोई वस्तु नही है जिसपर ताप का घातक प्रभाव न पडता हो, तो भी साधारणत ऐसी वस्तुओ को जो अग्नि अथवा ताप के प्रभाव से सुगमता तथा शीघ्रता से नष्ट नही होती, हम अग्निसह कहते है। देखा गया है कि मकान मे आग लगने पर आग का ताप ७०० डिग्री सेटीग्रेड से ९०० डिग्री से० तक रहता है। अत भवननिर्माण मे यदि ऐसी वस्तुएँ प्रयोग मे लाई जायँ जिनपर इस ताप का घातक प्रभाव न पडे, तो भवन को हम अग्निसह कह सकते है। इस प्रकार ईंट, कक्रीट तथा पकाई अथवा कच्ची मिट्टी इत्यादि अग्निसह पदार्थो की सूची मे आती है।

जलते भवनो मे लोहा पिघलता तो नही पर फैलता और नरम हो जाता है। अत्यधिक विस्तार (एक्सपैशन) अथवा नरमी के कारण वह झुक जाता है। इसलिये वह अग्निसह पदार्थो की सूची मे नही रखा जा सकता, परतु यदि वह कक्रीट के भीतर दबा हो, जैसा रिइन्फोर्स्ड कक्रीट में होता है, तब वह पर्याप्त अग्निसह हो जाता है। अत अग्निसह भवन के निर्माण के लिये मिट्टी, ईंट तथा कुछ मात्रा मे कक्रीट और रिइन्फोर्स्ड कक्रीट उपयुक्त है।

लकडी लगभग २५० सेटीग्रेड के ताप पर सुगमता से आग पकड लेती है। अत अग्निसह भवन के लिये लकडी उपयुक्त नही है। कुछ विशेष रासायनिक द्रवो के लेप से लकडी भी एक सीमा तक अग्निसह बनाई जा सकती है। इसकी कुछ विधियाँ इस प्रकार है

(१) १०० किलोग्राम अमोनियम फास्फेट, १० किलोग्राम बोरिक ऐसिड और १,००० लिटर पानी के घोल मे लकडी डुबोने से वह बहुत कुछ अग्निसह हो जाती है।

(२) द्रव सोडियम सिलिकेट (लीक्विड सोडियम सिलिकेट) १,००० भाग, सफेदा (म्यूडन ह्वाइट,) ५०० भाग, सरेस १,००० भाग को मिलाने से जो लेप तैयार होता है उसे लकडी पर लगाने से वह बहुत कुछ अग्निसह हो जाती है।

(३) क—ऐल्यूमिनियम सल्फेट २० भाग, पानी १,००० भाग,
ख—सोडियम सिलिकेट ५० भाग, पानी १,००० भाग। इन दोनो घोलो को मिलाएँ तथा लकडी पर लगाएँ।

(४) सोडियम सल्फेट ३५० भाग, बारीक ऐस्बेस्टस ३५० भाग, पानी १,००० भाग। इन सबको मिलाकर लकडी पर कई बार लेप करना चाहिए।

(५) लकडी पर चूने की सफेदी कई बार करने से भी वह एक सीमा तक अग्निसह हो जाती है।

लकडी की दीवारो पर निम्नलिखित अग्निसह घोल भी लगाया जा सकता है

खडिया ९० भाग, सफेद डेक्स्ट्रीन ११ भाग, प्लास्टर ऑव पेरिस ११ भाग, फिटकिरी ४ भाग, खानेवाला सोडा २ भाग। सबको बारीक पीसकर अच्छी तरह मिलाना चाहिए। फिर इसके चार भाग को ३ भाग खौलते पानी मे मिलाने पर लेप तैयार होगा जिसको दीवार पर पोतना चाहिए।

यह लेप पानी तथा आग दोनो के प्रभाव को कम करता है।

इसी प्रकार छतो पर पोतने (पेंट करने) के लिये निम्नलिखित अग्निसह योग उपयोगी है

महीन बालू १ भाग, छानी हुई लकडी की राख २ भाग तथा चूना ३ भाग। सबको तेल मे फेटकर बुरुश से पेंट करे। यह योग सस्ता है और लकडी की छतो को पर्याप्त सीमा तक अग्निसह बना देता है।

भवनो में जहाँ आग जलाई जानेवाली हो, जैसे अँगीठी, चूल्हे या भट्ठीवाले स्थानो मे, वहाँ अग्निसह मिट्टी या अग्निसह ईंट ही लगानी चाहिए। इसी प्रकार छत और फर्श मे मिट्टी या पकी मिट्टी की टाइलो का प्रयोग उपयोगी होता है। फूस, लकडी, कपडा, कैनवस तथा अन्यान्य ऐसी वस्तुओ का प्रयोग नही करना चाहिए जो सुगमता से आग पकड लेती हैं। लोहे के गर्डर के बदले रिइन्फोर्स्ड कक्रीट, अथवा उससे भी अच्छा रिइन्फोर्स्ड ब्रिकवर्क, ईंट या ईंट की डाट का प्रयोग करना चाहिए। पत्थर काफी मात्रा तक अग्निसह है, पर उतना नही जितनी ईंटे। अधिक गरम होने के बाद शीघ्रता से ठढा किये जाने पर पत्थर चिटक जाता है।

ऐस्वेस्टस बहुत ही अच्छी अग्निसह वस्तु है और अग्निसह भवन के निर्माण मे इसका प्रयोग प्रचुरता से करना चाहिए। ऐस्वेस्टस सीमेंट की पनालीदार चादरें छत डालने के लिये उपयुक्त होती हैं। इसी प्रकार कुछ कंपनियाँ ऐसवेस्टस पेंट बनाती हैं जिसका प्रयोग लाभदायक है।

एक से अधिक मजिल के अग्निसह भवन मे कम से कम दो सीढियाँ एक दूसरी से पर्याप्त दूरी पर बनानी चाहिए। तब आग लगने पर, यदि मकान का एक हिस्सा आग की लपेट मे आ जायगा तो दूसरे सिरे पर आग पहुँचने के पहले उधर की सीढी से ऊपर का मजिल खाली कराया जा सकेगा।

अग्निसह भवन बनाते समय समस्त खिडकी दरवाजो की स्थितियो पर भी ध्यान देना चाहिए, ऐसा न हो कि अग्नि की लपटे उनमे से निकलकर पास की या कोठे की कोठरियो मे आग लगा दें। विशेषकर इसका ध्यान रखना चाहिए कि वे सीढी की ओर न खुले, नही तो भागने का रास्ता ही बद हो जा सकता है। गोदामो मे एक बडा कमरा (हॉल) रखने के बदले उन्हें अग्निसह दीवारो और दरवाजो से कई टुकडो में बाँट देना अच्छा है। परदो का प्रयोग बुरा है, क्योकि इनमे आग शीघ्र फैलती है। प्लाइवुड भी बहुत शीघ्र जलता है।

अस्पतालो, सिनेमाघरो और कारखानो आदि मे, जहाँ बहुत से व्यक्ति एक साथ रहते या काम करते है, आग लगने पर लोगो के भाग निकलने का विशेप प्रबध रहना चाहिए। बाहर जानेवाले दरवाजो को बाहर की ओर खुलना चाहिए, नही तो लोग घबराहट में उनपर ऐसी भीड लगा देते हैं कि वे खुल ही नही सकते। भागने के मार्ग (गलियारो) को सदा साफ रखना चाहिए। कम से कम दो ओर दरवाजे रहें, जिसमें एक ओर आग लगने पर दूसरी ओर निकल भागने का मार्ग रहे। बडे भवनो में दरवाजे इतने चौडे हो (कम से कम साढे तीन फुट) कि दो या तीन व्यक्ति एक साथ निकल सकें। जब लोग भवन के भीतर रहे तो बाहर निकलने के दरवाजो मे ताला न बद रहे।

बिजली के तारो मे खराबी आ जाने से भी बहुधा मकान मे आग लग जाती है। इसके लिये यह आवश्यक है कि फ्यूज का तार आवश्यकता से अधिक मोटा न हो। यदि दीवार के भीतर छिपाकर बिजली के तार लगाए जायँ तो आग लगने की आशका कम रहेगी। [का० प्र०]

अग्निसह मिट्टी एक विशेष प्रकार की मिट्टी को, जो बिना पिघले अथवा कोमल हुए अत्यधिक ताप सहन कर सकती है, अग्निसह मिट्टी कहते है।

भिन्न भिन्न स्थानो मे पाई जानेवाली अग्निसह मिट्टी की रचना एक दूसरी से थोडी बहुत भिन्न होती है, पर मुख्यत इनकी रासायनिक रचना इस प्रकार की होती है

सिलिका	५६ से ९६	प्रति शत
ऐल्युमिना	२ से ३६	प्रति शत
लौह आक्साइड	२ से ५	प्रति शत

इनके अतिरिक्त सूक्ष्म मात्रा मे चूना, मैगनीशिया, पोटाश तथा सोडा भी पाया जाता है। ऐल्युमिनियम आक्साइड (ऐल्युमिना) और बालू (सिलिका) अनुपात मे जितनी अधिक मात्रा मे रहेंगे उतनी ही मिश्रण में अग्नि सहने की शक्ति अधिक होगी।

यदि लोहे के आक्साइड अथवा चूना, मैगनीशिया, पोटाश या अन्य क्षारीय पदार्थ की मात्रा अधिक होगी तो ये गरमी पाने पर मिट्टी के पिघलने में सहायता करेंगे, अत जब ये वस्तुएँ मिट्टी में अधिक मात्रा मे रहती हैं तो मिट्टी अग्निसह नही होती। परतु जब ये वस्तुएँ एक सीमा से कम मात्रा मे रहती हैं तो वे मिट्टी के कणो को आपस मे बाँध नही पाती। इसलिये मिट्टी कमजोर हो जाती है।

इसी प्रकार मिट्टी के कणो की मापे भी उसके अग्नि सहने के गुण पर प्रभाव डालती हैं। एक सीमा तक मोटे कणोवाली मिट्टी अधिक अग्निसह होती है।

अच्छी अग्निसह मिट्टी महीन तथा चिकनी होती है और उसका रग सफेद होता है। यह कोयले की खानो के पास पाई जाती है।

उपयोग—अग्निसह मिट्टी अँगीठी, भट्ठी तथा चिमनी इत्यादि के भीतर, जहाँ आग की गरमी अत्यधिक होने से साधारण मिट्टी की ईटें अथवा पलस्तर के चटक जाने की आशका रहती है, ईंट अथवा लेप के रूप में काम में लाई जाती है। [का० प्र०]

अग्निहोत्र वैदिक काल मे अग्निहोत्र का बडा महत्व था। प्रात कालीन, और सायकालीन सध्याओ के उपरात अग्निहोत्र करके पूजा से उठने का विधान है। वैदिक समय में यज्ञ के लिये जगल से समिधा लाकर शुल्वसूत्र (ज्यामिति) के अनुसार यज्ञ की वेदी का निर्माण कर अग्निहोत्र करने की प्रथा थी जो अद्यावधि चली आ रही है। [च० म०]

अग्न्याशय (पैनक्रिऐस) शरीर की एक बडे आकार की ग्रथि है जो उदर में आमाशय के निम्न भाग के पीछे की ओर रहती है। इस कारण स्वाभाविक अवस्था मे यह आमाशय और वपा (ओमेंटम) से ढकी रहती है। इसका दाहिना बडा भाग, जो सिर कहलाता हे, पक्वाशय की मोड के भीतर रहता है। इस ग्रथि का दूसरा लबा भाग, जो *गात्र* कहलाता है, सिर से आरभ होकर पृष्ठवश (रीढ) के सामने से होता हुआ दाहिनी ओर से बाईं ओर चला जाता है। वहाँ वह पतला हो जाता है और पुच्छ कहलाता है। बाईं ओर यह प्लीहा तक पहुँच जाता है और उससे लगा रहता है।

इस ग्रथि का रग धूसर या मटमैला होता है। उसपर शहतूत के दानो के समान दाने से उठे रहते हैं। इस ग्रथि में रक्तसचार अधिक होता है। प्लीहा की धमनी की बहुत सी शाखाएँ इसमें रस पहुँचाती हैं। यदि इसका व्यवच्छेदन किया जाय तो इससे एक मोटी श्वेत रग की नलिका पुच्छ से आरभ होकर सिर के दाहिने किनारे तक जाती दिखाई देगी। ग्रथि के भिन्न भिन्न भागो से अनेक सूक्ष्म नलिकाएँ आकर इस बडी
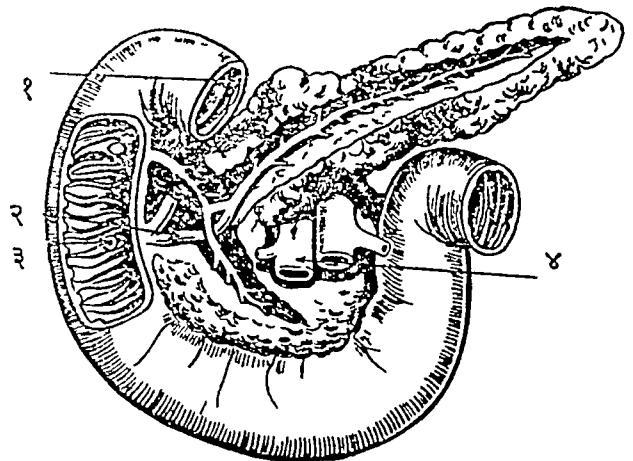
अग्न्याशय

१ पित्ताशय धमनी, २ अग्न्याशय नलिका, ३ पक्वाशय के भीतर नलिकाओ के मुख, ४ आत्र की धमनी और शिरा।

नलिका मे मिल जाती हैं और वहाँ उत्पन्न *अग्न्याशयिक* रस को नलिका मे पहुँचाती हैं। यह नलिका सारी ग्रथि में होती हुई दाहिने किनारे पर पहुँचती है। फिर यह वहाँ की नलिका से मिल जाती है, जिससे सयुक्त पित्तनलिका बनती है। यह नलिका पक्वाशय की भित्ति को भेदकर उसके भीतर एक छिद्र द्वारा खुलती है। इस छिद्र से होता हुआ, समस्त ग्रथि मे बना हुआ, अग्न्याशयिक रस पक्वाशय मे पहुँचता है, वहाँ यह रस आमाशय से आए हुए आहार के साथ मिल जाता है और उसके अवयवो पर प्रबल पाचक क्रिया करता है।

इस ग्रथि मे दो भाग होते हैं। एक भाग पाचक रस बनाता है जो नलिका मे होकर पक्वाशय मे पहुँच जाता है। दूसरे सूक्ष्म भाग की कोशिकाओ के द्वीप प्रथम भाग की कोशिकाओ के ही बीच मे स्थित रहते हैं। ये द्वीप एक वस्तु उत्पन्न करते है जिसको इन्स्यूलीन कहते हैं। यह एक रासायनिक पदार्थ अथवा हारमोन है जो सीधा रक्त में चला जाता है, किसी नलिका

द्वारा बाहर नही निकलता। यह हारमोन कार्वोहाइड्रेट के चयापचय का नियत्रण करता है। इसकी उत्पत्ति वद हो जाने या कम हो जाने से मधुमेह (डायाविटीज, वस्तुत डायाविटीज मेलिटस) उत्पन्न हो जाता है। इन द्वीपो को लैंगरहैंस ने १८७० के लगभग खोज निकाला था। इस कारण ये लैंगरहैंस के द्वीप कहलाते हैं। पशुओ के अग्नाशय से सन् १९२१ में प्रथम वार वैंटिंग तथा वेस्ट ने इन्स्युलीन तैयार की थी, जो मधुमेह की विशिष्ट ओषधि है और जिससे असख्य व्यक्तियो की प्राणरक्षा होती है। [मु० स्व० व०]

अग्न्याशय के रोग अन्य अगो की भाँति अग्न्याशय मे भी दो प्रकार के रोग होते हैं। एक जीवाणुओ के प्रवेश या सक्रमण से उत्पन्न होनेवाले और दूसरे स्वय ग्रथि मे वाह्य कारणो के बिना ही उत्पन्न होनेवाले। प्रथम प्रकार के रोगो मे कई प्रकार की अग्न्याशयार्तियाँ होती हैं। दूसरे प्रकार के रोगो मे अश्मरी, पुटी (सिस्ट), अर्वुद और नाडीव्रण या फिस्चुला है।

अग्न्याशयार्ति (पैंक्रिएटाइटिस) दो प्रकार की होती है, एक उग्र और दूसरी जीर्ण। उग्र अग्न्याशयार्ति प्राय पित्ताशय के रोगो या आमाशय के व्रण से उत्पन्न होती है, इसमे सारी ग्रथि या उसके कुछ भागो मे गलन होने लगती है। यह रोग स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो मे अधिक होता है और इसका आरभ साधारणत २० और ४० वर्ष के वीच की आयु में होता है। अकस्मात् उदर के ऊपरी भाग मे उग्र पीडा, अवसाद (उत्साहहीनता) के से लक्षण, नाडी का क्षीण हो जाना, ताप अत्यधिक वा अति न्यून, ये प्रारभिक लक्षण होते हैं। उदर फूल आता है, उदरभित्ति स्थिर हो जाती है, रोगी की दशा विपम हो जाती है। जीर्णरोग के लक्षण उपर्युक्त के ही समान होते हैं किंतु वे तीव्र नही होते। अपच के से आक्रमण होते रहते हैं। इसके उपचार में वहुधा शस्त्रकर्म आवश्यक होता है। जीर्ण रूप मे औपधोपचार से लाभ हो सकता है। अश्मरी, पुटी, अर्वुद और नाडीव्रणो मे केवल शस्त्रकर्म ही चिकित्सा का साधन है। अर्वुदो मे कैंसर अधिक होता है। [मु० स्व० व०]

अग्रवाल यह वैश्य वर्ण के अतर्गत एक वृहत् समुदाय या जातिविशेष की सज्ञा है। लोक मे इस शब्द का उच्चारण अगरवाल भी किया जाता है। अग्रवाल जाति का घना सनिवेश दक्षिणपूर्वी पजाव, उत्तरी राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के भौगोलिक क्षेत्रो मे पाया जाता है। व्यापार वाणिज्य या अन्य कारणो से देश के दूसरे भागो मे भी इस जाति का प्रसार हुआ है, किंतु प्रसार के इतिहासगत सूत्रो को पीछे की ओर टटोलने से इस बात के स्पष्ट सकेत मिलते हैं कि पजाव, राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश से ही इस जाति के विशिष्ट परिवार पिछले एक सहस्र वर्षो मे अन्यत्र फैलते गए हैं।

अग्रवालो की जातीय अनुश्रुति भी ऊपर के तथ्य की ओर सकेत करती है। इनके चारण विवाह के अवसर पर जो शाखोच्चार करते हैं एव उनके पास जो जातीय परपरा के अनुश्रुतिगत तथ्य सुरक्षित हैं उनसे विदित होता है कि अग्रवाल जाति के मूल पुरुप राजा अग्रसेन थे। उन अग्रसेन के १८ पुत्र थे। उनसे १८ गोत्रो का आरभ हुआ। अग्रसेन की राजधानी अगरोहा नगरी थी। इस अनुश्रुति के मूल मे ऐतिहासिक तथ्य आशिक रूप से ही खोजा जा सका है और पुरातत्व के अर्वाचीन उत्खनन से इस इतिहास को समर्थन प्राप्त हुआ है। इस इतिहास का निर्विवाद अश यह है कि अग्रवाल जाति का मूलस्थान अग्रोदक नगर मे था जिसे इस समय अगरोहा कहा जाता है। दक्षिण पूर्वी पजाव के हिसार जिले मे फतेहाबाद से सिरसा (शैरीषक) को जानेवाली सडक पर अगरोहा की वस्ती है जिसके पास ही दूर तक पुराने टीले फैले हुए हैं। भारतीय पुरातत्व विभाग ने वहाँ खुदाई कराई थी। उसमे कुछ पुराने ताँवे के सिक्के मिले थे। उनपर यह लेख पढा गया है—'अगोदके अगाच जनपदस'—अर्थात् अगोदक स्थान मे अगाच जनपद की मुद्राएँ। अगोदक स्पष्ट ही सस्कृत अग्रोदक का प्राकृत रूप है। जैसे पजाव के ही दूसरे स्थान पृथूदक का लोकप्रचलित रूप पीहोवा हो गया वैसे ही अग्रोदक अव अगरोहा कहलाता है। अग्रोदक राजधानी थी और उसके चारो ओर एक जनपद राज्य था। सिक्के पर इस जनपद का नाम अगाच दिया हुआ है। इसका सस्कृत रूप अग्रत्य या अग्र होना चाहिए। अग्र जनपद और अग्रोदक मे जो जन निवास करता था उसका राजनैतिक सगठन जनपद के युग मे पनपनेवाले अन्य जनपदो के समान ही रहा होगा।

अग्रवाल जाति के मूल पुरुप अग्रसेन के सवध मे निश्चित ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध नही है। यह जनपद युग की समत प्रथा थी कि प्रत्येक जाति अपने नाम के अनुरूप मूल पुरुप की कल्पना कर लेती थी। इन जातियो के राजनैतिक सगठन को श्रेणी कहते थे। श्रेणियाँ मूलत शस्त्रोपजीवी जातियाँ थी। अग्र जनपद की श्रेणी भी इसी प्रकार के राजनैतिक सविधान को माननेवाली थी। श्रेणी के सगठन की इकाई कुल था। प्रत्येक कुल मे उसका वृद्ध पुरुष मूर्धाभिपिक्त होता था। अग्रश्रेणि के परमश्रेष्ठ कुलपुरुप अग्रसेन के रूप मे प्रसिद्ध हुए। शासन की दृष्टि से यह श्रेणी अपने जनपद मे उसी प्रकार सघ आदर्श से प्रेरित थी जैसे पाणिनिकालीन अन्य सघराज्य थे। अग्र जनपद के अकलक्षण और मुद्रा उसके निजी प्रभुत्व की द्योतक थी। अनुश्रुति राजा अग्रसेन को क्षत्रिय मानती है। इसकी सगति यह है कि मूलत यह श्रेणी शस्त्रोपजीवी थी। कालक्रम से कितनी ही श्रेणियाँ या जातियाँ कृषि, वाणिज्य आदि वृत्तियो मे लग गई। इस कारण उन्हे वार्ताशस्त्रोपजीवी सघ या श्रेणी कहा जाने लगा था। अर्थशास्त्र मे इस प्रकार के सघो का उल्लेख आया है। यह अनुमान सगत जान पडता है कि अग्रवाल जाति ने अपने विकास के आरभ में ही वार्ता अर्थात् कृपि, पशुपालन और वाणिज्य को प्रधान रूप से अपना लिया था। भारतीय इतिहास मे अग्रवाल जाति का उल्लेख लगभग १३वी शताब्दी से मिलने लगता है। इनमे उसे अग्रोतकान्वय अर्थात् अग्रोतकवशी कहा गया है। अग्रोतक नाम भी प्राचीन अग्रोदक का सूचक है। अग्रोदक से वाहर फैलते हुए जो अग्रवाल राजस्थान की ओर गए वे मारवाडी कहलाए और जो मध्यदेश मे आ वसे वे देस्य या देसी कहलाए।

स०ग्र०—सत्यकेतु विद्यालकार अग्रवाल जाति का इतिहास। [वा० श० अ०]

अग्रिकोला, ग्नायस यूलियस, (३७–९३ ई०) रोमन जेनरल, इतिहासकार तासितस का श्वसुर। सिनेटर पिता की हत्या हो जाने पर मस्सीलिया मे माता के सरक्षण मे रहा। यही से सेना मे नियुक्त हो ब्रिटेन गया। ६१ ई० मे स्वदेश लौटकर एक सभ्रात महिला से विवाह किया। इसके बाद के काल मे इसने ६३ ई० से, ७० ई० तक, एशिया मे क्वेस्तर, त्रिव्यून, पीतर, और ब्रिटेन मे २०वी सेना के सेनापति पद तक उन्नति की। सात वर्ष वह ब्रिटेन का शासक रहा। इसी वीच उसने अपने प्रदेश का रोमनीकरण भी किया जो सदेह की दृष्टि से देखा गया और वापस बुलाकर उसे प्रोकाउसल का पद दिया गया, पर उसने उसे लेने से इनकार कर अवकाश ग्रहण कर लिया। ९३ ई० मे उसकी मृत्यु सभवत विषपान द्वारा हुई। [ओ० ना० उ०]

अग्रिकोला, जॉर्ज, जर्मन वैज्ञानिक, का जन्म २४ मार्च, १४९० को सैक्सनी मे ग्लाउखाउ स्थान मे हुआ। आपकी उच्च शिक्षा लाइपत्सिग विश्वविद्यालय मे हुई। १५१७ मे आपने यही से वी० ए० की डिग्री प्राप्त की। तत्पश्चात् आप स्विकाउ मे म्युनिसिपल स्कूल मे कार्य करने लगे। १५२४ मे आपने ओपधि विज्ञान का अध्ययन आरभ किया और इटली के विश्वविद्यालय से डिग्री प्राप्त की। सन् १५२७ मे आपकी नियुक्ति जोआचिमस्थल (वोहेमिया) मे नगर डाक्टर के पद पर हो गई। १५३० मे आप केम्नित्स चले आए।

प्रारभ से ही आपकी रुचि खनिज विज्ञान के अध्ययन की ओर थी। केम्नित्स (जर्मनी) जैसे खनन केंद्र में पहुँचने पर आपको और भी प्रोत्साहन मिला। आपके ग्रथो मे 'दे रि मेतालिका' सवसे अधिक प्रसिद्ध है। यह १२ भागो मे है। इस ग्रथ के अतर्गत भौमिकी, खनन तथा धातवकी तीनो विषय आ जाते हैं। यह ग्रथ मूलत लातीनी में प्रकाशित हुआ था, पर इसका अनुवाद अग्रेजी, जर्मन तथा इटालियन भापाओ मे भी हुआ।

आपकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति है 'दे नातुरा फासिलियम'। दस भागो मे प्रकाशित इस ग्रथ मे खनिजो तथा उनके वर्गीकरण का वर्णन

है। १५४६ में आपका भौमिकी विषयक ग्रंथ 'दे ओर्तु एत कोसिस सबतेरानिओरम' प्रकाशित हुआ। भौतिक भौमिकी पर यह पहला वैज्ञानिक ग्रंथ है। इनके अतिरिक्त आपकी अन्य महत्वपूर्ण रचनाएँ निम्नलिखित हैं 'बरमैनस' तथा 'दोमिनातोरेस साक्सोनिकी आ प्रिमा ओरिजिने अद हाउक ईतात्यूर'। केम्नित्स में ही आपकी मृत्यु २१ नववर, १५५५ को हुई। [म० ना० मे०]

अग्रिपा सदेहवादी ग्रीक दार्शनिक। इसका समय ठीक प्रकार से ज्ञात नही है, पर सभवत यह इनेसिदेमस् के पश्चात् हुआ था। इसने निर्भ्रांत सुनिश्चित ज्ञान की सभाव्यता के विरुद्ध उसके विषय मे सदेह करने के पाँच आधार या हेतु बतलाए है जो (१) वैमत्य, (२) अनतविस्तार, (३) सापेक्षिकता, (४) उपकल्पना (हाइपॉथेसिस) और (५) परस्पराश्रित अनुमान है। अग्रिपा का उद्देश्य यह था कि उसके ये पाँच हेतु इनेसिदेमस् इत्यादि प्राचीन सदेहवादियो के दस हेतुओ का स्थान ग्रहण कर ले। [भो० ना० श०]

अग्रिपा, मार्कस विप्सानिअस (६३-१२ ई० पू०) यह प्रसिद्ध रोमन सम्राट् ओगुस्तस का परम मित्र और सेनापति था तथा उसका प्रिय सलाहकार भी। इन दोनो का उल्लेख मिस्र की रानी क्लियोपात्रा के सबध मे हुआ है। इससे ओगुस्तस की बेटी भी व्याही थी, यद्यपि उसकी उम्र सम्राट् के बराबर ही थी और दोनो ने एक साथ ही यूनान में अध्ययन किया था। अग्रिपा अत तक अपने मित्र सम्राट् के साथ रहा था और निरतर उसने उसके कार्य सपन्न किए। ३७ ई० पू० मे वह रोम का कौसल हुआ। रोम की नौसेना का अध्यक्ष होने के नाते उसने उस महान् नगर के बदरगाह का सुदर प्रबध किया और नौसेना को नए ढग से सगठित किया। रोम नगर की प्रधान इमारतो का जीर्णोद्धार कराया और नई इमारते, नालियाँ, स्नानगृह उद्यान आदि बनवाए। उसने ललित कलाओ को अपना सरक्षण दिया और जो यह कहा जाता है कि "ओगुस्तस ने पाया रोम नगर जो ईंट का था, पर छोडा उसे सगमरमर का बनाकर" वस्तुत सम्राट् के पक्ष मे उतना सही नही है जितना अग्रिपा के पक्ष में और उस दिशा मे जो कुछ भी सम्राट् कर सका वह अग्रिपा की कार्यशीलता से। मार्क आतोनी के विरुद्ध आक्तियन की लडाई सम्राट् के लिये अग्रिपा ने ही जीती थी और परिणामस्वरूप अपनी भतीजी मारसेला का विवाह उसने अग्रिपा से कर दिया था। २३ ई० पू० मे अग्रिपा पूर्व का गवर्नर बनाकर भेजा गया। वहाँ से लौटने पर सम्राट् ने अपनी मित्रता उसके साथ दृढ करने के लिये उससे पत्नी को तलाक दिलाकर उसे अपनी बेटी व्याह दी। कुछ काल बाद उसे फिर पूर्व जाना पडा और वहाँ उसने अपनी न्यायप्रियता और सुशासन से लोगो का हृदय जीत लिया। पनोनिया का विद्रोह बिना रक्तपात के दबाकर उसने और भी लोकप्रियता अर्जित की। ५१ वर्ष की उम्र मे अग्रिपा की कपानिया मे मृत्यु हुई। वह लेखक भी था। उसने भूगोल पर काफी लिखा है। उसने अपनी आत्मकथा भी लिखी थी जो अब नही मिलती। [ओं० ना० उ०]

अग्रिपा, हेरोद प्रथम (१० ई० पू०-४४ ईस्वी) अरिस्तिबोलुस का पुत्र और हेरोद महान् का पौत्र, ल० १० ई० पू० मे पैदा हुआ। उसका वास्तविक नाम मार्कस यूलिअस अग्रिपा था। अपने शैशव और युवा काल में वह रोम के सम्राट् तिबेरिअस के दरबार मे रहा। वहाँ उसके ऊपर काफी ऋण हो गया तो उसके चचा ने उसे 'ऐगोरानोमस' अर्थात् मडियो का ओवरसियर बनवा दिया और उपहार में उसे बहुत सा द्रव्य दिया। सन् ३७ ई० में रोम के सम्राट् केलीगुला ने प्रसन्न होकर उसे बताती और कोनितिस का शासक बनाया। सन् ४१ ईस्वी में जब क्लादिअस रोम का सम्राट् बना तो अग्रिपा हेरोद जूदा का शासक बना दिया गया। यहूदी उसके शासन से बहुत सतुष्ट थे। उसने जरूसलम की चहारदीवारियो को मजबूत बनाया और अपने सामत शासको को अनुशासन में रखा। सन् ४४ ई० में उसकी हत्या कर दी गई। उसकी हत्या के पश्चात् रोम के सम्राट् ने जूदा के राजपद को समाप्त कर दिया। [वि० ना० पा०]

अघोरपंथ अघोर मत या अघोरियो का सप्रदाय जिसके प्रवर्तक स्वय अघोरनाथ शिव माने जाते है। रुद्र की मूर्ति को श्वेताश्वतरोपनिषद् (३-५) मे 'अघोरा' वा मगलमयी कहा गया है और उनका 'अघोर मत्र' भी प्रसिद्ध है। विदेशो में, विशेषकर ईरान में, भी ऐसे पुराने मतो का पता चलता है तथा पश्चिम के कुछ विद्वानो ने उनकी चर्चा भी की है। हेनरी बालफोर की खोजो से विदित हुआ है कि इस पथ के अनुयायी अपने मत को गुरु गोरखनाथ द्वारा प्रवर्तित मानते है, किंतु इसके प्रमुख प्रचारक मोतीनाथ हुए जिनके विषय मे अभी तक अधिक पता नही चल सका है। इसकी तीन शाखाएँ (१) औघड, (२) सरभगी एव (३) घुरे नामो से प्रसिद्ध है जिनमें से पहली मे कल्लूसिंह वा कालूराम हुए जो बाबा किनाराम के गुरु थे। कुछ लोग इस पथ को गुरु गोरखनाथ के भी पहले से प्रचलित बतलाते है और इसका सबध शैव मत के पाशुपत अथवा कालामुख सप्रदाय के साथ जोडते है। बाबा किनाराम अघोरी वर्तमान बनारस जिले के समगढ गावँ मे उत्पन्न हुए थे और बाल्यकाल से ही विरक्त भाव में रहते थे। इन्होने पहले बाबा शिवाराम वैष्णव से दीक्षा ली थी, किंतु वे फिर गिरनार के किसी महात्मा द्वारा भी प्रभावित हो गए। उस महात्मा को प्राय गुरु दत्तात्रेय समझा जाता है जिनकी ओर इन्होने स्वय भी कुछ सकेत किए है। अत मे ये काशी के बाबा कालूराम के शिष्य हो गए और उनके अनतर 'क्रमिकुड' पर रहकर इस पथ के प्रचार मे समय देने लगे। बाबा किनाराम ने 'विवेकसार', 'गीतावली', 'रामगीता' आदि की रचना की। इनमे से प्रथम को इन्होने उज्जैन मे शिप्रा के किनारे बैठकर लिखा था। इनका देहात स० १८२६ में हुआ।

'विवेकसार' इस पथ का एक प्रमुख ग्रथ है जिसमे बाबा किनाराम ने 'आत्माराम' की वदना और अपने आत्मानुभव की चर्चा की है। उसके अनुसार सत्य पुरुष वा निरजन है जो सर्वत्र व्यापक और व्याप्य रूपो मे वर्तमान है और जिसका अस्तित्व सहज रूप है। ग्रथ मे उन अगो का भी वर्णन है जिनमें से प्रथम तीन मे सृष्टिरहस्य, कायापरिचय, पिंडब्रह्माड, अनाहतनाद एव निरजन का विवरण है, अगले तीन मे योगसाधना, निरालब की स्थिति, आत्मविचार, सहज समाधि आदि की चर्चा की गई है तथा शेष दो मे सपूर्ण विश्व के ही आत्मस्वरूप होने और आत्मस्थिति के लिये दया, विवेक आदि के अनुसार चलने के विषय में कहा गया है। बाबा किनाराम ने इस पथ के प्रचारार्थ रामगढ, देवल, हरिहरपुर तथा क्रमिकुड पर क्रमश चार मठो की स्थापना की जिनमें से चौथा प्रधान केंद्र है। इस पथ को साधारणत 'औघडपथ' भी कहते है। इसके अनुयायियो मे सभी जाति के लोग, मुसलमान तक, है। विलियम क्रुक ने अघोरपथ के सर्वप्रथम प्रचलित होने का स्थान राजपुताने के आबू पर्वत को बतलाया है, किंतु इसके प्रचार का पता नेपाल, गुजरात एव समरकद जैसे दूर स्थानो तक भी चलता है और इसके अनुयायियो की सख्या भी कम नही है। जो लोग अपने को अघोरी वा औघड बतलाकर इस पथ से अपना सबध जोडते है उनमे अधिकतर शवसाधना करना, मुर्दे का मास खाना, उसकी खोपडी मे मदिरा पान करना तथा घिनौनी वस्तुओ का व्यवहार करना भी दीख पडता है जो कदाचित् कापालिको का प्रभाव हो। इनके मदिरादि सेवन का सबध गुरु दत्तात्रेय के साथ भी जोडा जाता है जिनका मदकलश के साथ उत्पन्न होना भी कहा गया है। अघोरी कुछ बातो में उन बेकनफटे जोगी 'औघडो' से भी मिलते जुलते है जो नाथपथ के प्रारभिक साधको मे गिने जाते है और जिनका अघोर पथ के साथ कोई भी सबध नही है। इनमें निर्वाणी और गृहस्थ दोनो ही होते है और इनकी वेशभूषा मे भी सादे अथवा रगीन कपडे होने का कोई कडा नियम नही है। अघोरियो के सिर पर जटा, गले मे स्फटिक की माला तथा कमर मे घाँघरा और हाथ मे त्रिशूल रहता है जिससे दर्शको को भय लगता है।

इसकी 'घुरे' नाम की शाखा के प्रचारक्षेत्र का पता नही चलता किंतु सरभगी शाखा का अस्तित्व विशेषकर चपारन जिले मे दीखता है जहाँ पर भिनकराम, टेकमनराम, भीखनराम, सदानद बाबा एव बालखडी बाबा जैसे अनेक आचार्य हो चुके है। इनमे से कई की रचनाएँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है और उनसे इस शाखा की विचारधारा पर भी बहुत प्रकाश पडता है।

अजंता

ऊपर—अजंता की गुफाओं का विहगम दृश्य (भारत सरकार, पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)।
नीचे—राजकीय जुलूस का भित्तिचित्र, देखे पृष्ठ ८३ (भारत सरकार के पब्लिकेशन्स डिवीज़न के सौजन्य से)।

अजता
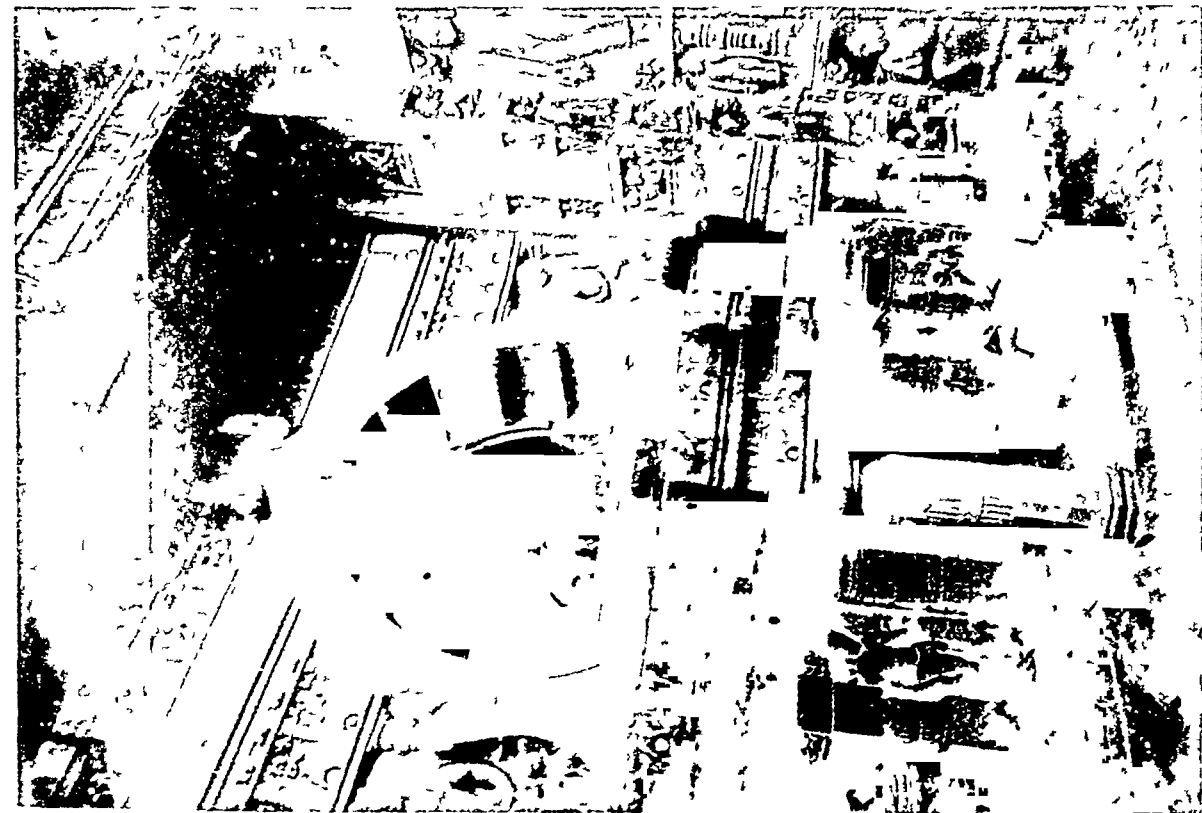
वाईं ओर अजता, गुफा स० १९ का चैत्यद्वार , दाहिनी ओर प्रसाधन का भित्तिचित्र, देखे पृष्ठ ८३ (भारत सरकार के पब्लिकेशस डिवीजन के सौजन्य से)।

अजंता

बाईं ओर यशोधरा का भित्तिचित्र, दाहिनी ओर पद्मपाणि अवलोकितेश्वर का भित्तिचित्र, देखें पृष्ठ ८३ (भारत सरकार के पब्लिकेशंस डिवीजन के सौजन्य से)।

फलक ११

अजता

आकाशगामी विद्याधर-विद्याधरियो का रेखाकन, देखे पृष्ठ ८३ (भारत सरकार के पब्लिकेशस डिवीजन के सौजन्य से)।

सं०ग्र०—व्रिग्स गोरखनाथ ऐंड दि कनफटा योगीज (१६३८ ई०), रामदास गौड 'हिंदुत्व' (स० १९९५), परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की मतपरपरा (स० २००८), डा० कल्याणी मल्लिक सप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओर साधन प्रणाली (१६५० ई०)। [प० च०]

अचलपुर ववई राज्य मे अमरावती जिले की एक तहमील तथा प्रसिद्ध नगर है जो २९°१६' उ० अ० तथा ७७°३३' पू० दे० रेखाओ पर, समुद्रतट से लगभग १,२०० फुट की ऊँचाई पर और अमरावती से लगभग ३० मील उ० प० दिशा में स्थित हे। वरनी के कथनानुसार १३वी शताब्दी मे यह दक्षिण के प्रसिद्ध नगरो मे से एक था। १३१८ ई० तक यह हिंदू शासनाधिपत्य मे रहकर मुसलमानो के अधिकार मे चला गया था। १८६९ ई० मे यहाँ नगरपालिका वनी। पहले यह सूती तथा रेशमी उद्योग का प्रसिद्ध केंद्र था तथा यहाँ सूत एव वनपदार्थो का प्रचुर मात्रा मे व्यापार होता था। अव भी यहाँ का सूत का व्यापार वहुत प्रसिद्ध है। यह अमरावती तथा चिकालदा से अच्छे राजमार्गो द्वारा सवद्ध है। नगर का क्षेत्रफल तीन वर्ग मील तथा जनसख्या ३५,७१२ (१६५१) है। [न० ला०]

अचेतन जो चेतन न हो। मनोविश्लेषण मे अचेतन वह है जिसको दमन (रिप्रेशन) के द्वारा चेतना से हटा दिया जाता है तथा जिसमे दमन की हुई इच्छाएँ और कल्पनाएँ गतिशील रूप मे वर्तमान रहती है। चेतना साधारण रीति से यहाँ तक नही पहुँच पाती, यद्यपि यह अज्ञात रूप से स्वप्न, लक्षणात्मक कार्यो आदि के द्वारा व्यवहार मे प्रकट होती रहती है और चेतन व्यवहार को निरतर प्रभावित करती रहती है। [श्या० ना० मे०]

अजंता इटारसी से ववई जानेवाली रेल लाइन पर जलगावँ स्टेशन से फरदापुर गावँ होकर अजता जाने का मार्ग है। यहाँ सह्याद्रि पर्वत के उत्सग मे २९ गुफाएँ उत्कीर्ण हैं। नीचे वागुरा नदी की पारिजात वृक्षो से भरी हुई द्रोणी है। ये गुफाएँ अपनी शिल्पसपत्ति और, विशेषत, चित्रकला के लिये विख्यात हैं। १–१८ सख्यक गुफाएँ दक्षिणमुखी और शेष पूर्वमखी हैं। गुफा ९,१०,१९,२६ चैत्यमदिर, शेप विहार हैं। चैत्यगुहा १० और उसके साथ की विहार गुहा १२,१३ सवसे प्राचीन, लगभग दूसरी शती ई० पू० की हैं। उसी वर्ग मे चैत्यगुहाएँ और विहारगुहा ८ आध्र-सातवाहन-युग की हैं। इसके वाद लगभग दो शती तक अजता मे निर्माण कार्य स्थगित रहकर गुप्त-वाकाटक-युग मे यह केंद्र महायान प्रभाव मे पुन वैभव को प्राप्त हुआ। पहली गुफाएँ हीनयान प्रभाव की द्योतक है। इस वार वुद्धमूर्ति को केंद्र मे रखकर शिल्प और चित्रो का ताना वाना पूरा गया। विहारगुहा ११, ७, ६ का उत्खनन पाँचवी शती के पूर्वार्ध में हुआ। पाँचवी शती के अतिम भाग मे विहारगुहा १५, १६, १७, १८, २० और चैत्यगुहा १९ का निर्माण हुआ। विहारगुहा १६ वाकाटक नरेश हरिपेण (४७५-५०० ई०) के सचिव वराहदेव ने वनवाई। उसके लेख म गुहा के भीतर यतींद्र वुद्ध के चैत्यमदिर, एव गवाडा, निर्यूह, वीथि, वेदिका और अप्सराओ के अलकरणो का वर्णन है। विहारगुहा १७ भी हरिषेण के समय की है। उसके लेख मे उसे एकाश्मक मडपरत और गुहा १९ को गधकुटी कहा गया है। तदनतर विहारगुहा २१–२५ और चैत्यगुहा २६ का निर्माण छठी शती के उत्तरार्ध मे ओर विहारगुहा १–२ का निर्माण सप्तम शती के पूर्वार्ध मे हुआ ज्ञात होता है। नरसिंहवर्मन पल्लव द्वारा पुलिकेशी द्वितीय की पराजय (६४२ ई०) के वाद चैत्य और विहारो का काम रुक गया और कुछ अधूरे ही रह गए।

चैत्यगुहा १० और ९ का आकार वृत्तायत है, अर्थात् पिछला भाग अर्धवृत्ताकार और अगला आयताकार है। उनके वीच मे मडप और दो ओरप्रदक्षिणा मार्ग हैं। महायान युग के चैत्यमदिरो—गुहा १९, २६—का स्थापत्य विन्यास ऐसा ही हे, पर उनमे अनेक बुद्धमूर्तियाँ और वुद्ध के जीवन की घटनाएँ उत्कीर्ण हैं। गुहा १९ का मुखपद अति भव्य हे। उसका कीर्तिमुख (चैत्यवातायन) अति विशाल और अलकृत हे। गवाक्षजालो से झाँकते हुए स्त्रीपुरुषो के मस्तको की शोभापट्टियाँ चारो ओर फैली हैं। विहारगुहाएँ वौद्ध भिक्षुओ के निवास के लिये सघाराम थे। उनके वीच मे विशाल मडप और चारो ओर कोठरियाँ वनी हुई हैं। गुफाओ की छतें विविध अलकरणो से विभूषित स्तभो पर टिकी हुई हैं।

अजता गुफाओ की कीर्ति उनके चित्रो की विशिष्ट समृद्धि और सुदरता पर आश्रित है। ये भित्तिचित्र खुरदुरे पत्थर पर धवलित भूमि तैयार करके धातुराग या गेरू की वर्तिका या लेखनी से आकारजनिका रेखा खीचकर लिखे गए थे। तत्पश्चात् रक्त, पीत, नील, हरित और कृष्ण वर्णो से इनके रग भरे गए। गुफा १० में छदत की कथा चित्रित हे। स्त्रीपुरुषो की आकृतियाँ और सज्जा भरहुत और साँची के शिल्पाकन के सदृश है। चित्रो का रेखासौष्ठव उनके आलेखनकौशल का प्रमाण देता है। गुहा की भित्तियो पर अनेक पुरुषो के चित्र लिखे हैं। वास्तविक चित्रसमृद्धि गुप्त-वाकाटक-युग की चैत्यगुहा १९ और विहारगुहा १६,१७ की भित्तियो पर पाई जाती है। इन गुफाओ के विशाल मडप, जो ५० फुट से अधिक लवे चौडे है, की छतें स्तभभित्तियो आदि सर्वांग मे चित्रो से मडित थी। छतो मे शतपत्र और सहस्रपत्र कमलो के वडे वडे फुल्ले शोभा के विशिष्ट उदाहरण है। कमलो के चारो ओर फुल्लावली रत्न तथा और भी अलकरण है, जैसे गुहा २ की छत मे फुल्लावली, मणिरत्नखचित वक्तव्य, माया मेघमाला एव पत्रपुष्प की महावल्ली दर्शनीय है। कमल की उडती हुई लतर, हसो के शावक या उडते हुए जोडे, किलोल करती हुई समुद्रधेनु, जलतुरग, जलहस्ती, मालाधारी विद्याधारी, क्रीडा करते हुए माणवक एव भाँति भाँति की पत्रावली, अलकरण के अनेक विधान उपलब्ध होते हैं। अजता के भित्तिचित्र स्वर्णयुग के सास्कृतिक जीवन के प्रतिनिधि चित्र है। वुद्ध का महान् धर्म उनका मध्यवर्ती प्रेरक विंदु है जिसके लिये राजकीय अत पुरो के जीवन एव लोक-जीवन की विविध साधनाएँ समर्पित है। अनुत्तरज्ञानावाप्त, सर्वसत्वो का हितसुख एव करुणात्मक कर्मजनित ध्रुवगाति का वातावरण इन चित्रो का विशेष गुण है। भारतीय स्वर्णयुग के सास्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन की अक्षय्य सामग्री इन भित्तिचित्रो मे प्राप्त हे।

विहारगुहा १६ मे वुद्ध के जीवनदृश्य, नदसुदरी कथानक एव छदत कथानक के दृश्य लिखित हैं। गुहा १७ की भित्तियो पर सप्तमानुषी वुद्ध, भवचक्र, सिंहावलोकन और वुद्ध के कपिलवस्तु के प्रत्यावर्तन के दृश्यो के अतिरिक्त कही जातककथाओ के भी चित्र अकित है। इनमे विश्वतर-जातक, शिविजातक, छदतजातक और हसजातक के चित्र अपनी अगाध करुणा और अविचल धर्मनिष्ठा की अभिव्यक्ति के कारण स्थायी आकर्षण की वस्तु है। इस गुहा मे मानव आकृतियाँ अपेक्षाकृत छोटे परिमाण की है। चैत्यगुहा १९ मे वुद्ध का कपिलवस्तु प्रत्यावर्तन एव अनेक वुद्धमूर्तियो के चित्र हैं। विहारगुहा १ की भित्तियो पर पद्मपाणि अवलोकितेश्वर के महान् चित्र हैं जिन्हे एशिया महाद्वीप की कला मे सवसे अधिक ख्याति प्राप्त है। इनके अतिरिक्त वुद्ध के मारधर्पण का भी एक अत्यत ओजस्वी चित्र यहाँ है जिससे उस युग की धार्मिक साधना की दुर्धर्ष शक्ति का परिचय मिलता हे। इसी गुहा मे महाजनक जातक और शिविजातक के विशाल कथात्मक अकन भी उल्लेखनीय है। वर्णो की आढ्यता और नतोन्नत सपुजन या वर्तना की दृष्टि से विहारगुहा २ के चित्र अतिश्रेष्ठ हैं। उनमे शातिवादी जातक और मैत्रीवल जातक के दृश्यो का आलेखन एव श्रावस्ती मे वुद्ध के सहस्रात्मक स्वरूप के दर्शन का चित्रण भी श्लाघनीय हे। वास्तु, शिल्प और चित्र इन तीनो कलाओ का सतुलित विकास अजता की शिल्पकृतियो मे उपलब्ध होता है। यहाँ के चित्रशिल्पी लगभग चौथी से सातवी सदी तक अत्यत आकर्षक और प्रभविष्णु रूपसत्व का निर्माण करते रहे।

स०ग्र०—जे० ग्रिफिथ्स अजता के वौद्ध गुहामदिरो के चित्र, दो भाग, लदन, १८९६–९७, श्रीमती हैरिंघम अजता भित्तिचित्र (अजता फ्रेस्कोज़), लदन, १९१५, गुलाम यज़दानी अजता, ४ भाग, टेक्स्ट और प्लेट, वालासाहव पतप्रतिनिधि अजता, १९३२। [वा० श० अ० [

अज उत्तर कोशल के इक्ष्वाकुवशी काकुत्स्थ राजाओ में रघु के पुत्र अज वडे प्रतापी थे। उनकी पत्नी का नाम इदुमती तथा पुत्र का दशरथ था। ऐक्ष्वकु परपरा के अनुसार उन्होने मगध, अग, अनूप, मथुरा आदि के राजाओ को युद्ध मे पराजित किया था। कालिदास ने अपने सुप्रसिद्ध काव्य 'रघुवश' मे 'इदुमती स्वयवर' तथा 'अजविलाप' प्रसगो का वडा मार्मिक और विशद चित्रण किया है।

[च० म०]

अजगर अजगर (पाइथॉन) एक जाति का सांप है जो बहुत बडा होता है और गरम देशो में पाया जाता है। प्राचीन यूनानी ग्रंथो में एक विशालकाय सर्प का उल्लेख मिलता है जिसका वध अपोलो (यवन सूर्यदेवता) ने डेल्फी में किया था। आधुनिक प्राणिविज्ञान में यह सर्प बोइडी वंश एव पाइथॉनिनी उपवश के अतर्गत परिगणित होता है। इनकी विभिन्न जातियाँ पुरातन जगत् के समस्त उष्णकटिबंध प्रदेशो में पाई जाती हैं। सर्पो के इस वर्ग में कुछ तो तीस फुट या इससे भी अधिक लबे मिलते हैं। अधिकाश अजगर वृक्षो पर रहते है, परतु कुछ जल के आसपास पाए जाते हैं, जहाँ वे जल में डूबे या उतराए पडे रहते हैं।

अजगरो मे पश्चपादो के अवशेष मिलते हैं। इनकी श्रोणिमेखला (पेलविक गर्डिल) की सरचना जटिल होती है तथा वह कछुओ की श्रेणिमेखला के समान पसलियो के भीतर एक विचित्र स्थिति मे रहती है। पश्चपाद एक छोटी हड्डी के रूप में दिखाई पडता है जिसे उरु-अस्थि कहते हैं। पश्चपाद के बाहरी भाग, उरु-अस्थि के अत मे स्थित एक या दो अस्थिग्रथिकाओ एव अवस्कर (क्लोएका) के दोनो ओर शल्क (स्केल) से बाहर निकले हुए नखर (क्लॉ) के रूप मे, दिखाई पडते हैं। ये नखर लैंगिक भिन्नता के भी सूचक हैं, क्योकि नर मे मादा की अपेक्षा ये अधिक बडे होते हैं। ये पर्याप्त चलिष्णु होते है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि मैथुन के समय ये मादा को उत्तेजित करते हैं।

समस्त पृष्ठवशी प्राणियो मे कशेरुको (वर्टिब्रे) की सर्वाधिक सख्या अजगरो में ही पाई जाती है, यहाँ तक कि एक जाति के अजगर मे तो इनकी सख्या ४३५ तक बताई गई है। इनके जबडो के पार्श्ववर्ती शल्को में सवेदक कोशो (सेंसरी पिट्स) की शृखला रहती है। ये कोश तापग्राही

अफ्रीका का राज अजगर

अजगर पेडो पर चुपचाप पडा रहता है और शिकार के पास आते ही उसपर कूद पडता है तथा गला घोटकर उसे निगल जाता है।

माने जाते है, क्योकि रात के समय उष्ण रुधिरवाले जतुओ पर प्रहार करने में ये सहायक सिद्ध होते हैं। अजगर विषरहित होते हैं। अपने शिकार पर ये वृक्षो पर से गिरकर उसे अपने शरीर के एक या अधिक कुडलो से जकड लेते हैं और फिर अपनी सशक्त मासपेशियों की दाब डालकर उसे कसना आरभ कर देते हैं तथा साथ साथ सिर का प्रहार भी करते जाते हैं। परिणाम यह होता है कि शिकार श्वासरोध से मर जाता है। उसे निगलते समय इसके मुँह से बहुत सी लार निकलती है। अपना मुख काफी फैला
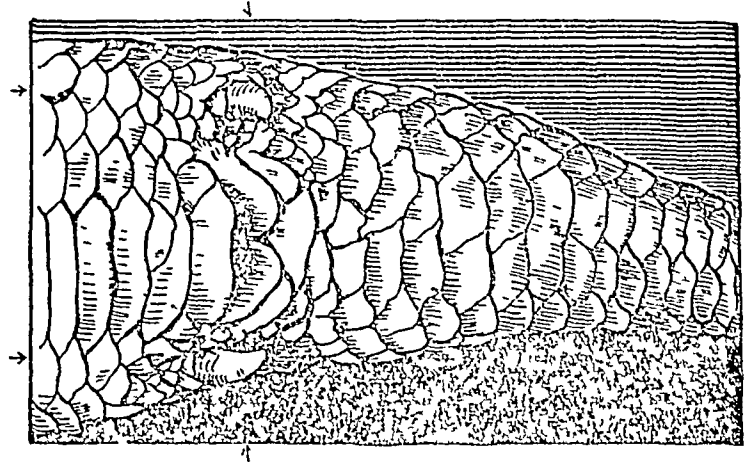
भारतीय अजगर के नखर (पश्चपाद-अवशेष)

दोनो नखरो की स्थिति तीरो से बताई गई है। पेडो पर चढने मे ये नखर अजगर को सहायता पहुँचाते हैं।

सकने के कारण ये शिकार को समूचा ही निगल जाते हैं, परतु मुख का फैलाव इतना नही होता कि सामान्य सुअर से अधिक बडे जतु समूचे निगले जा सके। अजगरो द्वारा घोडो या अन्य चौपायो को निगले जाने की कथाएँ विश्वसनीय नही हैं।

ये अपने अडो की देखभाल बहुत सावधानी से करते हैं। मादा अजगर एक समय मे सौ या इससे अधिक अडे देती है और बडी सावधानी से उनकी रक्षा करती हे। वह उनके चारो ओर कुडली मारकर बैठ जाती है तथा उन्हे सेती रहती है। यह क्रिया कभी कभी चार महीने या इससे भी अधिक समय तक चलती रहती है जिसके मध्य इसके शरीर का ताप सामान्य ताप से कई अश अधिक हो जाता है।

इसकी सबसे बडी जाति मलय प्रदेश मे पाई जाती है जिसे जालवत् अजगर (पाइथन रेटिक्युलेटस) कहते हैं। यह अजगर कभी कभी तैंतीस फुट से भी अधिक लबा और लगभग सवा दो मन तक भारी होता है। अपने देश मे पाया जानेवाला अजगर (पाइथन मोलूरस) तीस फुट तक लबा होता है। अफ्रीका महाद्वीप का चट्टानी अजगर (पा० सेबी) लगभग पचीस फुट और ऑस्ट्रेलिया का हीरक अजगर (पा० स्पाइलोटिस) बीस फुट लबा होता हे। अजगर की दो जातियाँ अमरीका मे भी मिलती हैं, किंतु
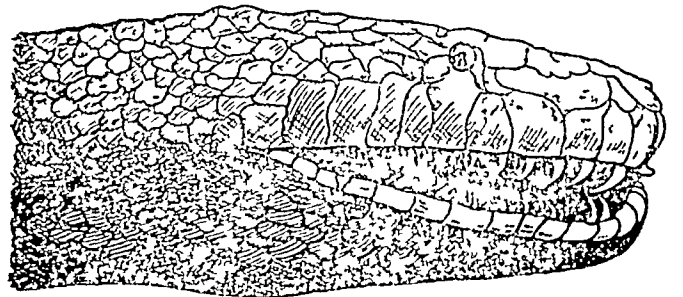
राज अजगर का सिर

अजगर के दाँतो में विष नही होता।

केवल पश्चिमी मेक्सिको मे ही। इतिहास मे एक पचहत्तर फुट लबे रोमन तथा दो सौ फुट लबे ट्यूनीसियाई अजगरो का उल्लेख मिलता है जो केवल दतकथाओ पर ही आधारित प्रतीत होता है।

अजगर कुछ छोटे जानवरो की अत्यधिक वृद्धि रोकने मे उपयोगी सिद्ध होते हैं। पकडकर बदी बनाए जाने पर वे कभी कभी आहार का त्याग भी

करते देखे गए हैं। इनका सामान्य जीवनमान लगभग तेईस वर्ष का होता है। [म० म० गो०]

अजमल खाँ, हकीम, राष्ट्रीय मुस्लिम विचारधारा के समर्थक थे तथा भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के इतिहास मे महत्वपूर्ण स्थान रखते है। ये सन् १८६३ ई० मे दिल्ली मे पैदा हुए। फारसी अरबी के बाद हकीमी पढी। १८९२ ई० मे रामपुर राज्य मे खास हकीम नियुक्त हुए। यहाँ दस साल तक रहने और हकीमी करने से इनकी प्रसिद्धि बहुत बढ गई। सन् १९०२ ई० मे वहाँ से नौकरी छोडकर ये इराक गए। वापसी पर दिल्ली में रहकर मदरसे तिब्बिया की नीव डाली जो अब तिब्बिया कालेज हो गया है। फिर काग्रेस मे शामिल हुए। सन् १९२० मे 'जामिया मिल्लिया' नामक सस्था स्थापित करने मे हिस्सा लिया। काग्रेस के ३३वें अधिवेशन (१९१८ ई०) की स्वागतकारिणी के वे अध्यक्ष थे। १९२१ ई० मे काग्रेस के अहमदाबाद वाले अधिवेशन के सभापति हुए। इसी साल खिलाफत कानफ्रेस की भी अध्यक्षता की। १९२४ ई० में ये अरब गए। १९२७ ई० मे यूरोप से दिल्ली वापस आए। २९ दिसबर, १९२७ को इनकी मृत्यु हुई। हकीम साहब का आजीवन प्रयत्न यह रहा कि हिंदू मुसलमानो में मेल रहे। आप स्वभाव के अत्यत कोमल किंतु साथ ही दृढसकल्प व्यक्ति थे। हिकमत का इतना बडा आचार्य और पारगत हिंदुस्तान मे दूसरा नही हुआ। [र० ज०]

अजमेर राजस्थान के अजमेर जिले का मुख्य नगर है, जो अरावली पर्वतश्रेणी की तारागढ पहाडी की ढाल पर स्थित है। यह नगर १४५ ई० मे अजयपाल नामक एक चौहान राजा द्वारा बसाया गया था जिसने चौहान वश की स्थापना की। सन् १३६५ मे मेवाड के शासक, १५५६ मे अकबर और १७७० से १८८० तक मेवाड तथा मारवाड के अनेक शासको द्वारा शासित होकर अत मे १८८१ मे यह अग्रेजो के आधिपत्य मे चला गया।

नगर के उत्तर मे अनासागर तथा कुछ आगे फ्वायसागर नामक कृत्रिम झीले है। मुख्य आकर्षक वस्तु प्रसिद्ध मुसलमान फकीर मुइनुद्दीन चिश्ती का मकबरा है जो तारागढ पहाडी की तलहटी मे बना है। यह लोगो मे दरगाह के नाम से प्रसिद्ध है। एक प्राचीन जैन मदिर, जो १२०० ई० मे मस्जिद मे परिवर्तित कर दिया गया था, तारागढ पहाडी की निचली ढाल पर स्थित है। इसके खडहर अब भी प्राचीन हिंदू कला की प्रगति का स्मरण दिलाते है। इसमे कुल ४० स्तभ हैं और सब मे नए नए प्रकार की नक्काशी है, कोई भी दो स्तभ नक्काशी मे समान नही हैं। तारागढ पहाडी की चोटी पर एक दुर्ग भी है।

आधुनिक नगर (जनसख्या १९५१ में १,९६,६३३) एक प्रसिद्ध रेलवे केंद्र भी है। यहाँ पर नमक का व्यापार होता है जो साँभर झील से लाया जाता है। यहाँ खाद्य, वस्त्र तथा रेलवे के कारखाने हैं। तेल तैयार करना भी यहाँ का एक प्रमुख व्यापार है। [न० ला०]

अजमेर मेरवाड़ा राजस्थान का एक छोटा जिला था जो ब्रिटिश राज्य के अतर्गत था। वस्तुत अजमेर और मेरवाडा अलग अलग थे और उनके बीच कुछ देशी राज्य पडते थे, परतु शासन की सुविधा के लिये उनको एक मे माना जाता था (स्थिति २५° २४' उ० अ०–२६° ४२' उत्तर अ० तथा ७३° ४५' पू० दे०–७५° २४' पूर्व दे०)। १ नवबर, १९५६ को यह भारत मे मिला लिया गया। यह अजमेर तथा मेरवाडा (क्षेत्रफल २,५९९ वर्ग मील) दो जिलो को मिलाकर बना था। अरावली पर्वतश्रेणी यहाँ की मुख्य भौगोलिक विशेषता है, जो अजमेर तथा नासिराबाद के बीच फैली हुई प्रमुख जलविभाजक है। इसके एक ओर होनेवाली वर्षा चबल नदी मे होकर बगाल की खाडी मे तथा दूसरी ओर लूनी नदी से होकर अरब सागर मे चली जाती है। अजमेर एक मैदानी भाग तथा मेरवाडा पहाड़ियो का समूह है। यहाँ की जलवायु स्वास्थ्यप्रद है। गरमी मे बहुत गरमी तथा शुष्कता एव जाडे मे बहुत ठढ रहती है। अधिकतम ताप ३७ ७° सेंटीग्रेड तथा न्यूनतम ४४° सेंटीग्रेड है। वर्षा साल भर मे लगभग २० इच होती है। यहाँ की भूमि मे चट्टानो की तहे पाई जाती है। उपजाऊ भूमि तालाबो के किनारे मिलती है। यहाँ की मुख्य फसले ज्वार, बाजरा, कपास, मक्का (भुट्टा), जौ, गेहूँ तथा तेलहन हैं। कृत्रिम तालाबो से सिंचाई काफी मात्रा में होती है। अभी तक हिंदुओ मे राजपूत यहाँ के भूमिस्वामी तथा जाट और गूजर कृषक थे। जैन यहाँ के व्यापारी तथा महाजन हैं। रुई तैयार करने के कई कारखाने यहाँ है। बीवर और केकरी यहाँ के मुख्य व्यापारिक केंद्र हैं। जनसख्या १९५१ में २,९७,६७४ थी। [न० ला०]

अजमोद अजवायन (कैरम कॉप्टिकम) की जाति का एक पौधा है जो तीन फुट तक ऊँचा होता है। इसके पत्ते सयुत और प्रत्येक भाग कँगूरेदार तथा कटे हुए किनारेवाला होता है। इसमे सफेद रग के छोटे छोटे फूल लगते हैं और इन्ही से दाने मिलते है जिन्हे अजमोद कहते हैं। भारतवर्ष मे इसका पौधा प्राय सभी प्रदेशो मे होता है। बगाल, बिहार इत्यादि में इसकी खेती की जाती है तथा बीज शीतकाल के प्रारभ मे बोए जाते हैं। इसके बीज तरकारी तथा आहार की अन्य वस्तुओ मे मसाले के काम आते हैं।

इसकी जड़ तथा बीज दोनो का आयुर्वेदिक ओषधि मे प्रयोग होता है। दोनो अत्यधिक लार तथा पाचक रस उत्पन्न करनेवाले होते है और पाचन सबधी रोगो मे लाभकारी हैं। इसके तेल और अर्क मे एक ग्लुकोसाइड पदार्थ होता है। अत्यधिक खाने से गर्भस्रावक हो सकता है, इसलिये गर्भवती तथा दूध पिलानेवाली स्त्रियो के लिये हानिकारक समझा जाता है। अजीर्ण, सग्रहणी, शरीर की पीडा इत्यादि को दूर करने में इसका प्रयोग किया जाता हैं। [भ० दा० व०]

अजयगढ़ मध्य प्रदेश के पन्ना जिले की एक तहसील तथा नगर है, जो २४° ५४' उत्तर अक्षाश तथा ८०° १८' पूर्व देशातर पर पुराने किले के पास स्थित है। पहले यह एक देशी राज्य था जो दो अलग अलग प्रातो मे बँटा था—एक अजयगढ तथा दूसरा मैहर के आसपास। यह विंध्याचल पर्वत की मध्यश्रेणियो के बीच पडता है। इसके आसपास सागौन तथा तेंदू के वृक्षो के घने जगल है। यहाँ की मुख्य नदियाँ केन तथा उसकी सहायक बैरमा है। सामान्य वार्षिक वर्षा ४५ इच है। यहाँ की लगभग ४० प्रति शत जनता कृषि पर निर्भर है। गेहूँ, चावल, जौ, चना, कोदो, ज्वार तथा कपास मुख्य उपज हैं। परिवहन के साधनो की कमी तथा भौगोलिक स्थिति के कारण यहाँ पर कोई व्यापार नही हो पाता। मुख्य बोली बुदेलखडी है तथा निवासियो की जातियाँ बुदेला राजपूत, ब्राह्मण, काछी, चमार, लोधा, अहीर तथा गोड हैं। यहाँ का किला (जयपुर दुर्ग) समुद्रतल से १,७४४ फुट की ऊँचाई पर केदार पर्वत के ऊपर स्थित है। यह नवी शताब्दी में बनाया गया था। इसमे अब केवल सुदर नक्काशी के मदिरो के कुछ अग बच गए है। इस पहाड की चोटी पर स्वच्छ पानी के कई तालाब भी हैं। [न० ला०]

अजयराज यह शाकभरी (साँभर) के अग्निकुलीय चौहान वश के प्रारभिक नरेशो मे से था। राज्यविस्तार के लिये तो अजयराज विशेष प्रसिद्ध नही है, पर उसकी ख्याति अजमेर के निर्माण के कारण काफी है। १२वी सदी के आरभ मे अपने नाम पर उसने अजयमेरु का विशाल नगर निर्मित कराया और उसे सुदर महलो और मदिरो से भर दिया। तभी से चौहान राजा साँभर और अजमेर दोनो के अधिपति माने जाने लगे। उसी आधार से उठकर बाद मे उन्होंने गहडवालो से दिल्ली छीन ली थी। [ओ० ना० उ०]

अजरबैजान एक प्रदेश है जिसका कुछ भाग ईरान मे और कुछ रूस में। दोनो भाग एक ही नाम से पुकारे जाते हैं। ईरान का यह उत्तर-पश्चिमी प्रात है जिसे रूसी भाग से आरस नदी अलग करती है। यह पठारी प्रदेश है जिसकी ऊँचाई ४,००० फुट से कुछ अधिक और क्षेत्रफल लगभग ३०,००० वर्ग मील है। इसकी घाटियाँ बहुत उपजाऊ हैं और इन्ही मे इस प्रदेश की मुख्य बस्तियाँ पाई जाती हैं। गेहूँ, जौ, कपास, फल तथा तबाकू यहाँ की मुख्य फसले हैं और जस्ता, गधक, ताँबा, मिट्टी का तेल, विभिन्न रग के सगमर्मर इत्यादि खनिज पदार्थ मिलते हैं।

ईरानी प्रात की आबादी लगभग २० लाख है जिसमे ईरानी, तुर्क, कुर्द, असीरी और आर्मीनी मुख्य जातियाँ हैं। तुर्की भाषा साधारणतया बोली जाती है। यहाँ के निवासी अच्छे सैनिक होते हैं। इस प्रदेश का

मुख्य नगर तेब्रिज है। १८,००० फुट ऊँचा ज्वालामुखी पर्वत अराराट इसी प्रदेश में है। इसी प्रदेश में ऊरुमिदा की खारे पानी की झील की द्रोणी (बेसिन) भी है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अजरबैजान में विशेष राजनीतिक उथल पुथल हुई। सन् १९४५ में रूसी सेनाओं ने इस ईरानी प्रदेश पर अधिकार कर लिया था, किंतु बाद में फिर ईरान का अधिकार हो गया।

रूसी अजरबैजान आरस नदी के उत्तर तथा आर्मीनिया और जार्जिया के पूर्व में स्थित है। इसका क्षेत्रफल ३३,२०० वर्ग मील तथा जनसंख्या ३३,७२,८०० है। यहाँ का जनतंत्रीय शासन रूस के जनतंत्र के अधीन है। [हि० ह० सिं०]

अजवायन तीन भिन्न प्रकार की वनस्पतियों को कहते हैं। एक केवल अजवायन (कैरम कॉप्टिकम), दूसरी खुरासानी अजवायन तथा तीसरी जंगली अजवायन (सेसेली इंडिका) कहलाती है।

अजवायन—इसकी खेती समस्त भारतवर्ष में, विशेषकर बंगाल में होती है। मिस्र, ईरान तथा अफगानिस्तान में भी यह पौधा होता है। अक्तूबर, नवंबर में यह बोया जाता है और डेढ़ हाथ तक ऊँचा होता है। सका बीज अजवायन के नाम से बाजार में बिकता है।

अजवायन को पानी में भिगोकर आसवन करने पर आसुत (अर्क, डिस्टिलेट) के रूप में एक प्रकार का तेल मिलता है। अर्क को अंग्रेजी में, ओमम वाटर कहते हैं जो ओषधियों में काम आता है। तेल में एक सुगंधयुक्त,उड़नशील पदार्थ, जिसे अजवायन का सत (अंग्रेजी में थाइमोल) कहते हैं, होता है।

आयुर्वेद के अनुसार अजवायन पाचक, तीक्ष्ण, गरम, हलकी, पित्तवर्धक और चरपरी होती है। यह शूल, वात, कफ, कृमि, वमन, गुल्म, प्लीहा और बवासीर इत्यादि रोगों में लाभदायक है। इसमें कटु, वायुनाशक और अग्निदीपक तीनों गुण हैं। पेट के दर्द, वायुगोला और अफरा में यह बहुत लाभदायक है।

अजवायन का पौधा

कुछ पत्तियाँ स्पष्टता के लिये बड़ी दिखाई गई हैं तथा नीचे बाईं ओर इसका बीज चौगुना बड़ा दिखाया गया है।

पिपरमेंट का सत और अजवायन का सत समान मात्रा में तथा असली कपूर की दूनी मात्रा मिलाकर शीशी में काग (कार्क) बंद कर रख देने पर सब द्रव हो जाता है। वैद्यों के अनुसार इससे अनेक व्याधियों में लाभ होता है, जैसे हैजा, शूल तथा सिर, डाढ़, पसली, छाती और कमर के दर्द तथा संधिवात में। इस द्रव को बिच्छू, बर्र, भौंरा, मधुमक्खी आदि के दंश पर रगड़ने से पीड़ा कम हो जाती है।

अजवायन खुरासानी—इसके वृक्ष काश्मीर से गढ़वाल तथा कुमायूँ तक और पश्चिमी तिब्बत में ८,००० से ११,००० फुट तक की ऊँचाई पर होते हैं। यह अजवायन वर्ग का न होकर क्षुप जाति या सालेनेसेई वर्ग का वृक्ष है जिनमें बेलाडोना, धतूरा आदि हैं। इसमें तीव्र सुगंध होती है। पत्ते कटे और कँगूरेदार तथा फूल पीलापन लिए, कहीं कहीं बैंगनी रंग की धारियोंवाले, होते हैं।

इसके बीज काम में आते हैं। बीज श्वेत, काले और लाल तीन प्रकार के होते हैं जिनमें श्वेत उत्तम माना जाता है। यह अजवायन उपशामक, विरेचक, पेट के अफरे को दूर करनेवाली तथा निद्राकारक मानी जाती है। श्वास के रोगों में भी यह लाभदायक है। इसके पत्ते कफ निकालनेवाले होते हैं तथा इनके जल से कुल्ला करने पर दाँत के दर्द और मसूड़ों से खून जाने में लाभ होता है।

अजवायन जंगली—इसके पौधे देहरादून से गोरखपुर तक हिमालय की तराई में तथा बिहार, बंगाल, आसाम, इत्यादि में पाए जाते हैं। पौधा सीधा, झाड़ी के समान, बारहमासी होता है। शाखाएँ एक फुट तक लंबी, फैली और घनी तथा पत्ते तीन भागों में विभक्त होते हैं। प्रत्येक भाग कटा और नोकदार होता है। फूल छत्तेदार, श्वेत या हल्के गुलाबी रंग के तथा फल गोल, बारीक, हल्के पीले रंग के होते हैं। इसके बीज विशेषकर चौपायों के रोगों में काम आते हैं। आयुर्वेद के अनुसार यह उत्तेजक, शूलनाशक, आँतों को बल देने और पेट के अफरे को दूर करनेवाला तथा आँतों की कृमियों को नष्ट करनेवाला है। मात्रा एक माशे से चार माशे तक है। इस अजवायन के फूल इत्यादि से सैंटोनिन नाम का पदार्थ एक रूसी वैज्ञानिक ने निकाला था जो पेट के कीड़े मारने के लिये दिया जाता है। [भ० दा० व०]

अजातशत्रु (प्राय ४९५ ई० पू०) मगध का एक प्रतापी सम्राट् और बिंबिसार का पुत्र जिसने बौद्ध परंपरा के अनुसार पिता को मारकर राज्य प्राप्त किया। उसने अंग, लिच्छवि, वज्जी, कोसल तथा काशी जनपदों को अपने राज्य में मिलाकर एक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना की।

पालि ग्रंथों में अजातशत्रु का नाम अनेक स्थलों पर आया है, क्योंकि वह बुद्ध का समकालीन था और तत्कालीन राजनीति में उसका बड़ा हाथ था। गंगा और सोन के संगम पर पाटलिपुत्र की स्थापना उसी ने की थी। उसका मंत्री वस्सकार कुशल राजनीतिज्ञ था जिसने लिच्छवियों में फूट डालकर साम्राज्य का विस्तार किया था। कोसल के राजा प्रसेनजित् को हराकर अजातशत्रु ने राजकुमारी वजिरा से विवाह किया था जिससे काशी जनपद स्वत यौतुक रूप में उसे प्राप्त हो गया था। इस प्रकार उसकी इस 'विजिगीषु नीति' से मगध शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। परंतु पिता की हत्या करने के कारण इतिहास में वह सदा अभिशप्त रहा। प्रसेनजित् का राज्य कोसल के राजकुमार विडूडभ ने छीन लिया था। उसके राजत्वकाल में ही विडूडभ ने शाक्य प्रजातंत्र का ध्वंस किया था।

अजातशत्रु के समय की सबसे महान् घटना बुद्ध का 'महापरिनिर्वाण' थी (४६४ ई०पू०)। उस घटना के अवसर पर बुद्ध की अस्थि प्राप्त करने के लिये अजातशत्रु ने भी प्रयत्न किया था और अपना अंश प्राप्त कर उसने राजगृह की पहाड़ी पर स्तूप बनवाया। आगे चलकर राजगृह में ही वैभार पर्वत की सप्तपर्णी गुहा से बौद्ध संघ की प्रथम संगीति हुई जिसमें सुत्तपिटक और विनयपिटक का संपादन हुआ। यह कार्य भी इसी नरेश के समय में संपादित हुआ। (देखिए 'जनक विदेह')।

सं०ग्रं०—त्रिपिटक (दीघनिकाय, महापरिनिब्बान सुत्तंत, संयुत्तनिकाय), जातक, सुमंगल विलासिनी, आर्य मंजुश्री मूलकल्प, ए डिक्शनरी ऑव पालि प्रॉपर नेम्स् (मलालसेकर)। [चं० म०]

अजातिवाद गौडपादाचार्य ने माडूक्यकारिका में सिद्ध किया है कि कोई भी वस्तु कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकती। अनुत्पत्ति के इसी सिद्धांत को अजातिवाद कहते हैं। गौडपादाचार्य के पहले उपनिषदों में भी इस सिद्धांत की ध्वनि मिलती है। माध्यमिक दर्शन में तो इस सिद्धांत का विस्तार से प्रतिपादन हुआ है।

उत्पन्न वस्तु उत्पत्ति के पूर्व यदि नहीं है तो उस अभावात्मक वस्तु की सत्ता किसी प्रकार संभव नहीं है क्योंकि अभाव से किसी की उत्पत्ति नहीं होती। यदि उत्पत्ति के पहले वस्तु विद्यमान है तो उत्पत्ति का कोई प्रयोजन नहीं। जो वस्तु अजात है वह अनंत काल से अजात रही है अत उसका स्वभाव कभी परिवर्तित नहीं हो सकता। अजात वस्तु अमृत है अत वह जात होकर मृत नहीं हो सकती। इन्हीं कारणों से कार्य-कारण-भाव को भी असिद्ध किया गया है। यदि कार्य और कारण एक हैं तो कार्य के उत्पन्न होने पर कारण को भी उत्पन्न होना होगा, अत सांख्यानुमोदित नित्य-कारण-भाव सिद्ध नहीं होता। असत्कारण से असत्कार्य उत्पन्न नहीं

हो सकता, न तो सत्कार्यज असत्कार्य को उत्पन्न कर सकता है। सत् में असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती और असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतएव कार्य न तो अपने आप उत्पन्न होता है और न किसी कारण द्वारा उत्पन्न होता है।

सं०ग्रं०—गौडपाद माडूक्यकारिका, नागार्जुन मूल माध्यमिक कारिका। [रा० पा०]

अजामिल कान्यकुब्ज का एक ब्राह्मण जो अपनी पापलिप्सा के लिये कुख्यात था। ऐसी पौराणिक कहानी है कि उसने अपने अंतिम समय में अपने पुत्र को, जिसका नाम नारायण था, समीप बुलाया जिसमे नामस्मरण मात्र से उसे सद्गति प्राप्त हो गई। [च० म०]

अजाव (एजॉव) दक्षिणी यूरोपीय रूस मे अजाव जनपद का एक नगर है जो रास्टोव के दक्षिण-पश्चिम डैन्यूब नदी के मुहाने से सात मील पहले स्थित है। पहले यह एक छोटा बदरगाह था, किंतु नदी मे बालू के अधिक अवसाद से यह बदरगाह नहीं रह सका। अब यह मछली पकडने का एक प्रसिद्ध स्थान है। शहर की स्थापना ई० पूर्व तीसरी शताब्दी मे हुई मानी जाती है। तुर्कों ने कुछ काल के लिये यहाँ अपना अधिकार जमा लिया था, किंतु अब यह प्रदेश सोवियत सघ का एक स्वतत्र जनपद है। इस नगर मे सडको तथा रेलो का जकशन है। इसकी जनसख्या १९,००० है।

अजाव सागर—यह कृष्ण सागर (ब्लैक सी) का एक बाहर की ओर निकला हुआ भाग है जो क्रीमिया, पूर्वी यूक्रेन तट तथा उत्तरी काकेशस पहाड से घिरा हुआ है। यह सागर पूर्व से पश्चिम २२६ मील लबा तथा उत्तर से दक्षिण ११० मील चौडा है, इसका क्षेत्रफल १४,५२० वर्ग मील है। सागर छिछला तथा चौरस तलहटी का है। यहाँ प्रति वर्ग मील की गणना से मछलियाँ ससार में सबसे अधिक पाई जाती है। यह रूस का दूसरा सबसे प्रसिद्ध मछली पकडने का केंद्र है। इस सागर की प्रधान व्यापारिक वस्तुएँ कोयला, लोहा, नमक, इमारती सामान तथा मछलियाँ है। जनवरी फरवरी के महीने मे न्यून ताप होने के कारण सागर जम जाता है। कभी कभी तूफान भी आ जाते है। इस सागर मे कुछ मछलियाँ कैस्पियन सागर की जाति की है, अत यह अनुमान लगाया जाता है कि पूर्व-ऐतिहासिक काल में यह कैस्पियन सागर से जुटा हुआ था। [हृ०हृ०सिं०]

अजित केशकंबली भगवान् बुद्ध के समकालीन एव तरह तरह के मतो का प्रतिपादन करनेवाले जो कई धर्माचार्य मडलियो के साथ घूमा करते थे उनमे अजित केशकबली भी एक प्रधान आचार्य थे। इनका नाम था अजित और केश का बना कवल धारण करने के कारण वह केशकवली नाम से विख्यात हुए। उनका सिद्धात घोर उच्छेदवाद का था। भौतिक सत्ता के परे वह किसी तत्व मे विश्वास नही करते थे। उनके मत मे न तो कोई कर्म पुण्य था और न पाप। मृत्यु के बाद शरीर जला दिए जाने पर उसका कुछ शेष नही रहता, चार महाभूत अपने तत्व मे मिल जाते है और उसका सर्वथा अत हो जाता है—यही उनकी शिक्षा थी। [भि० ज० का०]

अजीगर्त एक ऋषि, जिन्होने अपने द्वितीय पुत्र शुन शेप को यज्ञ में बलि के लिये दे डाला था। शुन शेप की कहानी ब्राह्मण ग्रथो मे दी हुई है, जिसका रामायण मे थोडा अवातर पाया जाता है। कहते है, शुन शेप ने विश्वामित्र के बतलाए कुछ मत्र सुनाकर यज्ञ में उपस्थित इद्र और वरुण को प्रसन्न कर अपने को मुक्त कर लिया था। [च० म०]

अजोर्स उत्तरी अटलांटिक महासागर मे लिस्बन से ७५० मील पश्चिम स्थित टापुओ का एक समुदाय है। विस्तार ३६° ५०′ उ० अक्षाश से ३९° ४४′ उ० अक्षाश तक तथा २५° १०′ प० दे० से ३१° १६′ पश्चिमी देशातर के बीच मे, क्षेत्रफल सपूर्ण द्वीपसमूह का ८९० वर्ग मील, जनसख्या ३,१८,६८६ (१९५०)। यहाँ की अधिकाश जनता पुर्तगाली है। यहाँ की राजकीय भाषा पुर्तगाली है। पूरा द्वीप-समूह तीन जनपदो मे बँटा हुआ है। इनकी राजधानियाँ द्वीपसमूह के तीन प्रसिद्ध बदरगाह है। इनके नाम पाटा देलगादा (जनसख्या २१,०४८), हाटी (८,१८४) तथा अगाडी हिरोशिमा (९,४३५) है।

शीतोष्ण जलवायु तथा उपजाऊ भूमि होने के कारण यहाँ गेहूँ, मक्का, गन्ना, आलू तथा फल पर्याप्त पैदा होते है। मास, दूध, पनीर, अडे तथा शराब पर्याप्त तैयार होती है। यहाँ कपडे बनाने की मिलें तथा अन्य छोटे-मोटे बहुत से उद्योग धधे भी होते है। इन टापुओ पर १४३२ ई० मे पुर्तगालवालो का अधिकार हुआ, किंतु कुछ टापुओ पर अब अमरीकन लोगो का भी अधिकार है। [हृ० हृ० सिं०]

अज्ञातवास पाडवो के जीवन मे अज्ञातवास का समय बडे महत्व का था। 'अज्ञातवास' का अर्थ है बिना किसी के द्वारा जाने गए किसी अपरिचित स्थान मे रहना। द्यूत मे पराजित होने पर पाडवो को बारह वर्ष जगल मे तथा तेरहवाँ वर्ष अज्ञातवास मे बिताना था। अपने असली वेश में रहने पर पाडवो के पहचाने जाने की आशका थी, इसीलिये उन लोगो ने अपना नाम बदलकर मत्स्य जनपद की राजधानी विराटनगर (आधुनिक बैराट) मे विराटनरेश की सेवा करना उचित समझा। युधिष्ठिर ने कक नामधारी ब्राह्मण बनकर राजा की सभा मे द्यूत आदि खेल खिलाने (सभास्तार) का काम स्वीकार किया। भीम ने बल्लव नामधारी रसोइए का, अर्जुन ने बृहन्नला नामधारी नृत्यशिक्षक का, नकुल ने ग्रथिक नाम से अश्वाध्यक्ष का तथा सहदेव ने ततिपाल नाम से गोसख्यक का काम अगीकार किया। द्रौपदी ने रानी सुदेष्णा की सैरध्री बनकर केशसस्कार का काम अपने जिम्मे लिया। पाडवो ने यह अज्ञातवास बडी सफलता से बिताया। राजा का श्यालक कीचक द्रौपदी के साथ दुर्व्यवहार करने के कारण भीम के द्वारा एक सुदर युक्ति से मार डाला गया (महाभारत, विराटपर्व)। [ब० उ०]

अज्ञान वस्तु के ज्ञान का अभाव। अज्ञान दो प्रकार का हो सकता है—एक वस्तु के ज्ञान का अत्यत अभाव, जैसे सामने रखी वस्तु को न देखना, दूसरा वस्तु के वास्तविक स्वरूप के स्थान पर दूसरी वस्तु का ज्ञान। प्रथम अभावात्मक और दूसरा भावात्मक ज्ञान है। इद्रियदोष, प्रकाशादि उपकरण, अनवधानता आदि के कारण अज्ञान उत्पन्न होता है।

न्यायदर्शन मे अज्ञान आत्मा का धर्म माना गया है। सौत्रातिक वस्तु के ऊपर ज्ञानाकार के आरोपण को अज्ञान कहते है। माध्यमिक दर्शन मे ज्ञान मात्र अज्ञानजनित है।

भावात्मक अज्ञान सत्य नही है क्योकि उसका बोध हो जाता है। यह असत्य भी नही है क्योकि रज्जु में सर्पादि ज्ञान से सत्य भय उत्पन्न होता है। अतएव वेदात मे अज्ञान अनिर्वचनीय कहा गया है।

सासारिक जीवन के अज्ञान के अतिरिक्त भारतीय दर्शन मे अज्ञान को सृष्टि का आदिकारण भी माना गया है। यह अज्ञान प्रपच का मूल कारण है। उपनिषदो मे प्रपच को 'इद्र' की 'माया' का नाना 'रूप' माना गया है। माया के आवरण को भेदकर आत्मा या ब्रह्म का सद्ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। बौद्धदर्शन मे भी अविद्या अथवा अज्ञान से 'प्रतीत्य समुत्पन्न' ससार की उत्पत्ति बतलाई गई है। अद्वैत-वेदात मे अज्ञान को आत्मा के प्रकाश का बाधक माना गया है। यह अज्ञान जान बूझकर नही उत्पन्न होता, अपितु बुद्धि का स्वाभाविक रूप है। दिक्, काल और कारण की सीमा मे सचरण करनेवाली बुद्धि अज्ञानजनित है, अत बुद्धि के द्वारा उत्पन्न ज्ञान वस्तुत अज्ञान ही है। इस दृष्टि से अज्ञान न केवल वैयक्तिक सत्ता है अपितु यह एक व्यक्तिनिरपेक्ष शक्ति है, जो नामरूपात्मक जगत् तथा सुखदु खादि प्रपच को उत्पन्न करती है। बुद्धि से परे होकर तत्साक्षात्कार करने पर इस अज्ञान का विनाश सभव है।

सं० ग्रं०—ब्रह्मसूत्र, शाकरभाष्य भूमिका। [रा० पा०]

अज्ञेयवाद (एग्नॉस्टिसिज्म) ज्ञानमीमासा का विषय है, यद्यपि उसका कई पद्धतियो मे तत्वदर्शन से भी सबध जोड़ दिया गया है। इस सिद्धात की मान्यता है कि जहाँ विश्व की कुछ वस्तुओ का निश्चयात्मक ज्ञान सभव है, वहाँ कुछ ऐसे तत्व या पदार्थ भी है जो अज्ञेय है, अर्थात् जिनका निश्चयात्मक ज्ञान सभव नही है। अज्ञेयवाद सदेहवाद से भिन्न है, सदेहवाद या सशयवाद के अनुसार विश्व के किसी भी पदार्थ का निश्चयात्मक ज्ञान सभव नही है।

भारतीय दर्शन के सभवत किसी भी सप्रदाय को अज्ञेयवादी नही कहा जा सकता। वस्तुत भारत मे कभी भी सदेहवाद एव अज्ञेयवाद का

व्यतिरेकेन प्रतिपादन नहीं हुआ। नैयायिक सर्वज्ञेयवादी है, और नागार्जुन तथा श्रीहर्ष जैसे युक्तिवादी भी पारिभाषिक अर्थ में संशयवादी अथवा अज्ञेयवादी नहीं कहे जा सकते।

यूरोपीय दर्शन में जहाँ संशयवाद का जन्म यूनान में ही हो चुका था, वहाँ अज्ञेयवाद आधुनिक युग की विशेषता है। अज्ञेयवादियों में पहला नाम जर्मन दार्शनिक कांट (१७२४-१८०४) का है। कांट की मान्यता है कि जहाँ व्यवहार जगत् (फिनामिनल वर्ल्ड) बुद्धि या प्रज्ञा की धारणाओं (कैटेगोरीज ऑव अंडरस्टैंडिंग) द्वारा निर्णीय, अतएव ज्ञेय है, वहाँ परमार्थ जगत्, ईश्वर, आत्मा, अमरता, उस प्रकार ज्ञेय नहीं है। तत्वदर्शन द्वारा अतींद्रिय पदार्थों का ज्ञान संभव नहीं है। फ्रेंच विचारक काम्ट (१७९८-१८५७) का भी, जिसने भाववाद (पाजिटिविज्म) का प्रवर्तन किया, यह मत है कि मानव ज्ञान का विषय केवल गोचर जगत् है, अतींद्रिय पदार्थ नहीं। सर विलियम हैमिल्टन (१७८८-१८५६) तथा उनके शिष्य हेनरी लाग्यूविल मैंसेल (१८२०-१८७१) का मत है कि हम केवल सकारण अर्थात् कारणों द्वारा उत्पादित अथवा सीमित एवं सापेक्ष पदार्थों को ही जान सकते हैं, असीम, निरपेक्ष एवं कारणहीन (अनकंडिशंड) तत्वों को नहीं। तात्पर्य यह कि हमारा ज्ञान सापेक्ष है, मानवीय अनुभव द्वारा सीमित है, और इसीलिये निरपेक्ष असीम को पकड़ने में असमर्थ है। ऐसा ही मंतव्य हर्बर्ट स्पेंसर (१८२०-१९०३) ने भी प्रतिपादित किया है। सब प्रकार का ज्ञान संबंधमूलक अथवा सापेक्ष होता है, ज्ञान का विषय भी संबंधोंवाली वस्तुएँ हैं। किसी पदार्थ को जानने का अर्थ है उसे दूसरी वस्तुओं से तथा अपने से संबंधित करना, अथवा उन स्थितियों का निर्देश करना जो उसमें परिवर्तन पैदा करती हैं। ज्ञान सीमित वस्तुओं का ही हो सकता है। चूँकि असीम तत्व संबंधहीन एवं निरपेक्ष है, इसलिये वह अज्ञेय है। तथापि स्पेंसर का एक ऐसी असीम शक्ति में विश्वास है जो गोचर जगत् को हमारे सामने उत्क्षिप्त करती है। सीमा की चेतना ही असीम की सत्ता का प्रमाण है। यद्यपि स्पेंसर असीम तत्व को अज्ञेय घोषित करता है, फिर भी उसे उसकी सत्ता में कोई संदेह नहीं है। वह यहाँ तक कहता है कि बाह्य वस्तुओं के रूप में कोई अज्ञात सत्ता हमारे समुख अपनी शक्ति की अभिव्यंजना कर रही है। 'एग्नास्टिसिज्म' शब्द का सर्वप्रथम आविष्कार और प्रयोग सन् १८७० में टॉमस हेनरी हक्सले (१८२५-१८९५) द्वारा हुआ।

सं०ग्रं०—जेम्स वार्ड नैचुरैलिज्म ऐंड एग्नास्टिसिज्म, आर० पिलट एग्नास्टिसिज्म, हर्बर्ट स्पेंसर फर्स्ट प्रिंसिपल्स। [दे० रा०]

अटक पश्चिम पाकिस्तान में पेशावर से ४७ मील दक्षिण-पूर्व स्थित एक नगर है जो अपनी सीमावर्ती स्थिति तथा ऐतिहासिक दुर्ग के लिये प्रसिद्ध है। इस प्राचीन दुर्ग को अकबर महान् ने १५८१ ई० में बनवाया था। यहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य अनुपम है। यहाँ पर १८८३ ई० में नदी पर एक लौह पुल बना दिया गया, जिसपर से उत्तर-पश्चिमी रेलवे पेशावर तक जाती है। अफगानिस्तान तथा अन्य प्रदेशों से व्यापार के मार्ग में स्थित यह नगर अवश्य ही निकट भविष्य में उन्नति करेगा। नगर की आबादी १,५७४ है तथा इसी नाम के जनपद की जनसंख्या ६,७५,८७५ (१९४१ ई०) है। [ह० ह० सिं०]

अटलस पर्वत (अंग्रेजी में ऐटलैस) पर्वत कई पहाड़ों का समूह है जो उत्तर-पश्चिम तथा उत्तर अफ्रीका में है। अटलस नाम यूनान के एक पौराणिक देवता के आधार पर पड़ा जिनका निवासस्थान अनुमानतः इसी पर्वत पर था। यह पर्वत बर्बर जाति के लोगों का वासस्थान है। इसके अगम्य भागों के निवासियों का जीवन सदा स्वतंत्र रहा है।

अटलस पर्वत के अंतर्गत शृंखलाओं की दिशा उत्तर-पश्चिमी अफ्रीका के समुद्रतट के लगभग समानांतर है। ये शृंखलाएँ १,५०० मील लंबी हैं जो पश्चिम में जूबी अंतरीप से आरंभ होकर पूर्व में गेब्स की खाड़ी तक मोरक्को, अलजीरिया और ट्यूनीशिया में फैली हैं। इनकी उत्तरी और दक्षिणी सीमाएँ क्रमशः रूमसागर और सहारा मरुस्थल हैं। इनके दो मुख्य उपविभाग हैं (१) समुद्रतटीय श्रेणी—क्यूटा से बोन अंतरीप तक, (२) अंतरस्थ श्रेणी, जो नॉन अंतरीप से आरंभ होती है और समुद्रतटीय श्रेणी के दक्षिण ओर फैली हुई है। इन दोनों के बीच शाट्स का उच्च पठारी प्रदेश है।

अटलस पर्वत की अंतरस्थ श्रेणी, जिसे महान् अटलस भी कहते हैं, मोरक्को में स्थित है। यह सबसे लंबी और ऊँची श्रेणी है। इसकी औसत ऊँचाई ११,००० फुट है। इसकी उत्तरी ढाल पर जलसिंचित उपजाऊ घाटियाँ हैं जिनमें छोटे छोटे खेतों में बर्बर लोग खेती करते हैं। यहाँ बाँझ (ओक), चीड़, कार्क, सीडार इत्यादि के घने वन पाए जाते हैं।

भूगर्भविज्ञान—अटलस पर्वत का निर्माण ऐल्प्स पर्वत के लगभग साथ ही हुआ। भूपर्पटी की उन गतियों का आरंभ जिनसे अटलस पर्वत बना महाशरट (जुरैसिक) युग के अंत में हुआ। ये गतियाँ उत्तरखटी (अपर क्रिटेशस) युग में पुनः क्रियाशील हुई और इनका क्रम मध्यनूतन (माइओसीन) युग तक चलता रहा। यहाँ पूर्वकाल में भी भंजनक्रिया के प्रमाण मिलते हैं। [रा० ना० मा०]

अटलांटा संयुक्त राज्य अमरीका में जार्जिया प्रांत का सबसे बड़ा नगर है, जो फुल्टन तथा डीकाल्ब विभाग में बर्मिंघम से १६८ मील पूर्व स्थित है। प्रारंभ में नगर का नाम मार्थ्सविल था, किंतु १८४५ ई० में इसका नाम बदलकर अटलांटा हो गया। यह नगर रेलवे का बहुत बड़ा जंकशन है, तथा दक्षिण-पूर्वी संयुक्त राज्य, अमरीका, का सबसे बड़ा व्यापारिक केंद्र है। १८६८ ई० में यह जार्जिया की राजधानी हो गया। सड़कों से यह देश के प्रायः सभी मुख्य स्थानों से संबद्ध है। यहाँ एक बहुत बड़ा हवाई अड्डा भी है। अब यह नगर एक व्यापारिक, व्यावसायिक तथा सांस्कृतिक केंद्र भी हो गया है। १८५० ई० में यहाँ की जनसंख्या केवल २,५७२ थी, किंतु १९५० ई० में यहाँ ३,३१,३१४ लोग रहते थे। [ह० ह० सिं०]

अटलांटिक महासागर अथवा अंध महासागर, उस विशाल जलराशि का नाम है जो यूरोप तथा अफ्रीका महाद्वीपों को नई दुनिया के महाद्वीपों से पृथक् करती है।

इस महासागर का आकार लगभग अंग्रेजी अक्षर S के समान है। लंबाई की अपेक्षा इसकी चौड़ाई बहुत कम है। उत्तर में बेरिंग जलडमरूमध्य से लेकर दक्षिण में कोट्सलैंड तक इसकी लंबाई १२,८१० मील है। आर्कटिक सागर, जो बेरिंग जलडमरूमध्य से उत्तरी ध्रुव होता हुआ स्पिट्सबर्जेन और ग्रीनलैंड तक फैला है, मुख्यतः अंधमहासागर का ही अंग है। इसी प्रकार दक्षिण में दक्षिणी जार्जिया के दक्षिण स्थित वैडल सागर भी इसी महासागर का अंग है। इसका क्षेत्रफल (अंतर्गत समुद्रों को लेकर) ४,१०,८१,०४० वर्ग मील है। अंतर्गत समुद्रों को छोड़कर इसका क्षेत्रफल ३,१८,१४,६४० वर्ग मील है। विशालतम महासागर न होते हुए भी इसके अधीन विश्व का सबसे बड़ा जलप्रवाह क्षेत्र है।

नितल की संरचना—अटलांटिक महासागर के नितल के प्रारंभिक अध्ययन में जलपोत "चैलेंजर" (१८७३-७६) के अन्वेषण-अभियान के ही समान अनेक अन्य वैज्ञानिक महासागरीय अन्वेषणों ने योग दिया था। अटलांटिक महासागरीय विद्युत् केबुलों की स्थापना के हेतु आवश्यक जानकारी की प्राप्ति ने इस प्रकार के अध्ययनों को विशेष प्रोत्साहन दिया।

इसका नितल इस महासागर के एक कूट द्वारा पूर्वी और पश्चिमी द्रोणियों में विभक्त है। इन द्रोणियों में अधिकतम गहराई १६,५०० फुट से भी अधिक है। पूर्वोक्त समुद्रांतर कूट काफी ऊँचा उठा हुआ है और आइसलैंड के समीप से आरंभ होकर ५५° दक्षिण अक्षांश के लगभग स्थित बोवे द्वीप तक फैला है। इस महासागर के उत्तरी भाग में इस कूट को डालफिन कूट और दक्षिण में चैलेंजर कूट कहते हैं। इस कूट का विस्तार लगभग १०,००० फुट की गहराई पर अटूट है और कई स्थानों पर कूट सागर की सतह के भी ऊपर उठा हुआ है। अजोर्स, सेंट पॉल, असेंशन, ट्रिस्टाँ द कुन्हा, और बोवे द्वीप इसी कूट पर स्थित हैं। निम्न कूटों में दक्षिणी अटलांटिक महासागर का वालफिश कूट और रियो ग्रैंड कूट, तथा उत्तरी अटलांटिक महासागर का वाइविल-टामसन कूट उल्लेखनीय है। ये तीनों निम्न कूट मुख्य कूट से लंब दिशा में फैले हैं।

ई० कोसना (१९२१) के अनुसार इस महासागर की औसत गहराई, अतर्गत समुद्रो को छोडकर, ३,९२६ मीटर, अर्थात् १२,८३९ फुट है। इसकी अधिकतम गहराई, जो अभी तक ज्ञात हो सकी है, ८,७५० मीटर अर्थात् २८,६१४ फुट है और यह गिनी स्थली की पोर्टोरिको द्रोणी मे स्थित है।

नितल के निक्षेप—(अतर्गत समुद्रो सहित) अटलाटिक महासागर की मुख्य स्थली का ७४% भाग तलप्लावी निक्षेपो (पेलाजिक डिपाजिट्स) से ढका है, जिसमे नन्हे नन्हे जीवो के शल्क (जैसे ग्लोबिजराइना, टेरोपॉड, डायाटम आदि के शल्क) है। २६ प्रति शत भाग पर भूमि पर उत्पन्न हुए अवसादो (सेडिमेंट्स) का निक्षेप है जो मोटे कणो द्वारा निर्मित है।

पृष्ठधाराएँ—अब महासागर की पृष्ठधाराएँ नियतवाही पवनो के अनुरूप बहती है। परतु स्थलखड की आकृति के प्रभाव से धाराओ के इस क्रम मे कुछ अतर अवश्य आ जाता है। उत्तरी अटलाटिक महासागर की धाराओ मे उत्तरी विषुवतीय धारा, गल्फस्ट्रीम, उत्तरी अटलाटिक प्रवाह, कैनैरी धारा और लैब्रोडोर धाराएँ मुख्य है। दक्षिणी अटलाटिक महासागर की धाराओ मे दक्षिणी विषुवतीय धारा, ब्राजील धारा, फाकलैड धारा, पछवाँ प्रवाह और बैंगुला धाराएँ मुख्य है।

लवणता—उत्तरी अटलाटिक महासागर के पृष्ठजल की लवणता अन्य समुद्रो की तुलना मे पर्याप्त अधिक है। इसकी अधिकतम मात्रा ३ ७ प्रति शत है जो २०°-३०° उत्तर अक्षाशो के बीच विद्यमान है। अन्य भागो मे लवणता अपेक्षाकृत कम है। [रा० ना० मा०]

अट्टालक (टॉवर, मीनार) ऐसी सरचना को कहते है जिसकी ऊँचाई उसकी लबाई तथा चौडाई के अनुपात मे कई गुनी हो, अर्थात् ऊँचाई ही उसकी विशेषता हो। प्राचीन काल मे अट्टालको का निर्माण नगर अथवा गढ की सुरक्षा के विचार से किया जाता था, जहाँ से प्रहरी आते हुए शत्रु को दूर से ही देख सकता था। अट्टालको का निर्माण वास्तुकला की भव्यता तथा प्रदर्शन के विचार से भी किया जाता था। अत इस प्रकार के अट्टालक अधिकतर मदिरो तथा महलो के मुखद्वार पर बनाए जाते थे। मुखद्वार पर बने अट्टालक 'गोपुर' कहे जाते है।

मैसोपोटेमिया मे ईसा से २,७७० वर्ष पूर्व सैनिक आवश्यकताओ के लिये अट्टालको के निर्माण के चिह्न मिलते है। मिस्र मे भी ऐसे अट्टालको का आभास मिलता है, परतु ग्रीस मे इसका प्रचलन बहुत कम था। इसके विपरीत रोम मे अट्टालको का निर्माण प्रचुर मात्रा मे किया जाता था, जैसा पौपेई, औरेलियन तथा कुस्तुनतुनिया के ध्वस्त अवशेषो से पता चलता है।

भारतवर्ष मे भी अट्टालको का प्रचलन प्राचीन काल से था। गुप्तकालीन मदिरो के ऊँचे ऊँचे शिखर एक प्रकार के अट्टालक ही है। देवगढ के दशावतार मदिर का शिखर ४० फुट ऊँचा है। नरसिह गुप्त बालादित्य ने नालदा मे एक बडा विशाल तथा सुदर मदिर बनवाया जो ३०० फुट ऊँचा था।

चीन मे भी ईट अथवा पत्थर के ऊँचे ऊँचे अट्टालक नगर सीमा के द्वारो पर शोभा तथा सौदर्य के लिये बनाए जाते थे, जैसे चीन की बृहद्भित्ति (ग्रेट वाल ऑव चाइना) पर अब भी स्थित है। इसके अतिरिक्त वहाँ के अट्टालक 'पैगोडा" के रूप मे भी बनते थे।

गॉथिक काल मे जो अट्टालक या मीनारे बनी वे पहले से भिन्न थी। पुराने अट्टालको मे एक छोटा सा द्वारा होता था और वे कई मजिल के बनते थे। इनमे छोटी छोटी खिडकियाँ रहती थी। गॉथिक काल की मीनारो मे खिडकियाँ लबी कर दी गई और साथ मे कोने पर के पुश्ते (बटरेस वाल्स) भी खूब ऊँचे अथवा लबे बनाए जाने लगे, जिनमे छोटे छोटे बहुत से खसके डाल दिए जाते थे। अधिकाश अट्टालको के ऊपर नुकीले शिखर रखे जाते थे, पर कुछ मे ऊपर की छत चिपटी ही रखी जाती थी तथा कुछ का आकार अठपहला भी रख दिया जाता था।

इग्लैड का सबसे सुदर गौथिक नमूने का अट्टालक कैंटरबरी गिरजा है, जो सन् १४९५ मे बना था।

अट्टालको का निर्माण केवल सैनिक उपयोग अथवा धार्मिक भवनो तक ही नही सीमित है। बहुत से नगरो मे घडी लगाने के लिये भी अट्टालक बनाए जाते है, जैसा भारत के भी बहुत से नगरो मे देखा जा सकता है। दिल्ली के प्रसिद्ध चाँदनी चौक के घटाघर का अट्टालक अभी हाल मे, बनने के लगभग १०० वर्ष बाद, अचानक गिर पडा था। एक अन्य प्रसिद्ध मीनार इटली देश मे पीसा नगर की झुकी हुई मीनार है जो १२वी शताब्दी मे बनी थी। यह १७९ फुट ऊँची है और एक ओर १६ फुट झुकी हुई है।

मध्यकालीन युग में, अर्थात् १०वी शताब्दी के लगभग, सैनिक उपयोग के लिये ऊँचे ऊँचे अट्टालको के बनाने की प्रथा बहुत फैल गई थी, जैसे ११वी सदी का लदन टावर। जैसे जैसे बदूक तथा तोप के गोले का प्रचार बढता गया वैसे वैसे सैनिक काम के लिये अट्टालको का प्रयोग कम होता गया।

राजपूत तथा मुगलो के समय मे भारतवर्ष में ऊँची ऊँची मीनारे बनाने की प्रथा थी। दिल्ली की प्रसिद्ध कुतुबमीनार को १३वी सदी मे कुतुबुद्दीन ने अपने राज्यकाल मे बनवाना आरभ किया था जिसे इल्तुतमिश ने पूरा किया। आगरे के प्रसिद्ध ताजमहल के चारो कोनो पर चार बडी बडी मीनारे भी बनी है जो उसकी शोभा बढाती है। इन मीनारो के भीतर ऊपर जाने के लिये सीढियाँ भी बनी है। राजपूती वास्तुकला का एक सुदर नमूना चित्तौड का विजयस्तभ है। इसमे खूबी यह है कि जैसे जैसे ऊँचाई बढती जाती है उसी अनुपात मे अट्टालक के खडो की लबाई चौडाई भी बढती जाती है, परिणामस्वरूप नीचे से देखने पर उसके भागो का आकार छोटा नही जान पडता।

अधिकाश हिंदू मदिरो अथवा अन्य अट्टालको मे बहुत सुदर मूर्तियाँ तथा नक्काशियाँ खुदी है। मदुरा (१७वी शताब्दी) तथा काजीवरम् के मदिर इस प्रकार के काम के बहुत सुदर उदाहरण है। विजयस्तभो मे भी मूर्तियाँ खुदी है, परतु इतनी बहुतायत से नही जितनी दक्षिण के मदिरो मे।

आधुनिक काल के अट्टालको मे पेरिस का ईफेल टावर है जिसे गस्टीव ईफल नामक इजीनियर ने सन् १८८९ मे निर्मित किया था। यह लोहे का अट्टालक है और ९८४ फुट ऊँचा है। इसपर लोग बिजली के लिफ्ट द्वारा ऊपर जाते है। पर्यटको की सुविधा के लिये ऊपर जलपानगृह (रेस्तराँ) का भी प्रबध है।

लदन-स्थित वेस्टमिन्स्टर गिरजे का शिखर २८३ फुट ऊँचा है और ससार के प्रसिद्ध अट्टालको मे से है। यह सन् १८९५-१९०३ मे बना था।

रिइन्फोर्स्ड कक्रीट का बना हुआ नोटरडेम का अट्टालक भी काफी प्रसिद्ध है। यह सन् १९२४ मे बना था।

अन्य आधुनिक अट्टालक निम्नलिखित है जर्मनी का आइस्टाइन टावर, पोट्सडाम वेधशाला, अमरीका का क्लीवलैड मेमोरियल टावर, प्रिस्टन विश्वविद्यालय टावर (१९१३) तथा येल विश्वविद्यालय का हार्कनेस मेमोरियल टावर, स्वीडन मे स्टॉकहोम नामक शहर के हाल का अट्टालक, इत्यादि।

किसी महान् व्यक्ति अथवा घटना की स्मृति मे अट्टालक बनाने की प्रथा भी प्रचलित रही है और बहुत से अट्टालक इसी उद्देश्य से बने है। आधुनिक स्थापत्यकला मे बडे बडे भवनो के निर्माण मे इमारत की भव्यता बढाने के विचार से बहुत से स्थानो पर छोटे बडे अट्टालक लोगो ने बनवा दिए है, उदाहरणार्थ हरिद्वार का राजा बिडला टावर।

अट्टालको के निर्माण मे नीव को पर्याप्त चौडा रखना पडता है, जिससे वहाँ की भूमि अट्टालक के पूरे भार को सहन कर सके। इस प्रकार के क के लिये या तो रिइन्फोर्स्ड कक्रीट की बेडानुमा नीव (रफ्ट फाउडेशन) दी ज सकती है या जालीदार नीव (ग्रिलेज फाउडेशन)।

अट्टालक के ऊँचा होने के कारण इसपर वायु की दाब बहुत पडती है इसलिये अट्टालको की आकल्पना (डिजाइन) मे आँधी से पडनेवाली द का ध्यान अवश्य रखा जाता है। [का० प्र०

अट्ठकथा अट्ठकथा (अर्थकथा) पालि ग्रथो पर लिखे गए भाष्य है मूल पाठ की व्याख्या साफ करने के लिये पहले उससे सब कथा का उल्लेख कर दिया जाता है, फिर उसके शब्दो के अर्थ बताए ज

है। त्रिपिटक के प्रत्येक ग्रंथ पर ऐसी अट्ठकथा प्राप्त होती है। अट्ठकथा की परपरा मूलत कदाचित् लका में सिहल भाषा में प्रचलित हुई थी। आगे चलकर जब भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा तब लका से अट्ठकथा लाने की आवश्यकता हुई। इसके लिये चौथी शताब्दी मे आचार्य रेवत ने अपने प्रतिभाशील शिष्य बुद्धघोष को लका भेजा। बुद्धघोष ने विसुद्धिमग्ग जैसा प्रौढ ग्रथ लिखकर लका के स्थविरो को सतुष्ट किया और सिहली ग्रथो के पालि अनुवाद करने में उनका सहयोग प्राप्त किया। आचार्य बुद्धदत्त और धम्मपाल ने भी इसी परपरा मे कतिपय ग्रथो पर अट्ठकथायें लिखी। [भि० ज० का०]

अडिलेड नगर दक्षिणी आस्ट्रेलिया की राजधानी है जो टोरेंस नदी पर समुद्रतट से १४० फुट की ऊँचाई पर अडिलेड बदरगाह से ७ मील दक्षिणपूर्व तथा मेलबोर्न से उत्तर-पश्चिम दिशा मे ५०६ मील की दूरी पर स्थित है। यह १८३६ ई० में बसाया गया था। इसके पूर्व एव दक्षिण की ओर माउट लॉफ्टी की पहाडियाँ समुद्रतट तक फैली हुई है, परतु उत्तर की ओर समुद्रतट से होता हुआ उपजाऊ, समतल मैदान इसके पृष्ठप्रदेश में बहुत दूर तक फैला हुआ है। पास की उपजाऊ भूमि,उद्यान, खनिज पदार्थो के बाहुल्य एव सुहावनी जलवायु के कारण यह नगर अत्यत उन्नतिशील हो गया है। इसका स्थान अब ससार के सुदरतम नगरो मे है। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा २१ २२ इच, गर्मी का औसत ताप ७२ ९° फारेनहाइट तथा जाडे का औसत ताप ५३ १° फारेनहाइट है।

अडिलेड नगर उत्तर और दक्षिण दो भागो में विभक्त किया जा सकता है। उत्तरी भाग में निवासस्थानो का बाहुल्य तथा दक्षिण में औद्योगिक आवासो की अधिकता है। परिवहन की सुलभता के लिये टोरेंस नदी पर पुल बना दिया गया है। यहाँ के दर्शनीय स्थल ससद-भवन, प्रादेशिक राज्य विभाग, अजायबघर, वनस्पति उद्यान (बोटैनिकल गार्डेन) तथा अडिलेड विश्वविद्यालय हैं।

यहाँ के मुख्य उत्पादन मिट्टी के बरतन, लोहे, चमडे, तथा लकडी के सामान एव धातु उद्योग है। निर्यात की मुख्य वस्तुएँ मक्खन, ताँबा, आटा, फल एव कच्चा शीशा है। चमडा, चाँदी, शराब एव ऊन का भी यह एक वितरण केंद्र है। [वि० मु०]

अड़ूसा के पौधे भारतवर्ष मे सर्वत्र होते है। ये पौधे ४,००० फुट की ऊँचाई तक पाए जाते हैं और चार से आठ फुट तक ऊँचे होते है। पूर्वी भारत में अधिक तथा अन्य भागो मे कुछ कम मिलते है। कही कही इनसे वन भरे पडे है और कही खाद के काम में लाने के लिये इनकी खेती भी होती है। इनके पत्ते लबे, अमरूद के पत्तो के सदृश होते है। ये पौधे दो प्रकार के, काले और सफेद, होते है। श्वेत अडूसे के पत्ते हरे और श्वेत धब्बेवाले होते है। फूल दोनो के श्वेत होते हैं, जिनमे लाल या बैंगनी धारियाँ होती है।

अडूसे का पौधा

इसकी जड, पत्ते और फूल तीनो ही ओषधि के काम आते है। प्रामाणिक आयुर्वेद ग्रथो मे खाँसी, श्वास, कफ और क्षय रोग की इसे अनुभूत ओषधि कहा गया है। इसके पत्तो की सिगरेट बनाकर पीने से दमा शात होता है। रासायनिक विश्लेषण से इसमे वासिसिन नामक ऐल्कालाइड (क्षार) तथा ऐट्रोडिक नामक अम्ल पाए गए है। [भ० दा० व०]

अणु द्रव्य के उस सूक्ष्मतम कण को जो स्वतत्र अवस्था में रह सकता है और जिसमें द्रव्य के सब गुण विद्यमान रहते हैं अणु (मौलिक्यूल) कहते है। अणु में साधारणत दो या अधिक परमाणु (ऐटम) रहते हैं। अणु की परिकल्पना के पूर्व परमाणु को ही तत्वों तथा यौगिकों दोनों का सूक्ष्मतम कण माना जाता था। डाल्टन और बर्जीलियस ने तब यह कल्पना की थी कि समान ताप तथा दाब पर सब गैसो के एक निश्चित आयतन मे उपस्थित परमाणुओ की सख्या समान होती है। इस कल्पना से जब गे-लूसाक के गैस आयतन सबधी नियम को समझाने का प्रयत्न किया गया तब कठिनाई उपस्थित हुई। इसी कठिनाई को हल करने के लिये इटली के वैज्ञानिक अमीडिओ आवोगाड्रो (१७७६-१८५६) ने अणुओ की कल्पना की।

डाल्टन ने यौगिको के सूक्ष्मतम कणो को "यौगिक परमाणु" नाम दिया था। इस परिभाषा के अनुसार "यौगिक परमाणु" किसी विशेष यौगिक के गुणो को प्रदर्शित करनेवाला सबसे सूक्ष्म कण तो अवश्य था, परतु तत्वो के परमाणुओ की भाँति अविभाज्य नही था। किसी यौगिक परमाणु के विभाजन पर सयुक्त तत्वो के परमाणु प्राप्त किए जा सकते थे। यौगिक परमाणुओ की विभाज्यता को देखते हुए आवोगाड्रो ने उन्हें 'परमाणु' कहना अनुचित समझा और "यौगिक परमाणुओ" को 'अणु' नाम दिया। आधुनिक विज्ञान मे उपर्युक्त प्रकार के अणु को 'भौतिक अणु' कहते है। साथ ही, 'रासायनिक अणु' यौगिक के उस सूक्ष्मतम अश को कहते हैं जो किसी रासायनिक क्रिया मे भाग ले सकता है और जिसके द्वारा उस यौगिक की रचना को स्पष्टतया व्यक्त किया जा सकता है। उदाहरणत, मणिभीय ठोस पोटैसियम क्लोराइड मे रासायनिक अणु पोक्लो (KCl) है, परतु उसके लिये भौतिक अणु का कोई अस्तित्व नही है जब तक कि कुल मणिभ को ही एक अणु न मान लिया जाय। इसके विपरीत कार्बन डाइऑक्साइड जैसे गैसीय यौगिको के लिये रासायनिक तथा भौतिक अणु दोनो ही काओ$_2$ (CO_2) है। इसके अतिरिक्त आवोगाड्रो ने तत्वो के, स्वतत्र अवस्था मे रह सकनेवाले, सूक्ष्मतम कणो को भी 'अणु' नाम दिया। तत्व के अणु उसी तत्व के एक या एक से अधिक परमाणुओ से मिलकर बनते है। तत्वो तथा यौगिको के अणुओ मे यही विशेष भेद है कि तत्व के अणुओ में उपस्थित परमाणु एक से होते हैं, परतु यौगिक के अणुओ में उपस्थित परमाणु एक दूसरे से भिन्न होते है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भौतिक अणु केवल गैसीय पदार्थो के अग होते है। गैसो के गत्यात्मक सिद्धात का आधार ही अणुओ की उपस्थिति है, इन्ही के वेग और पारस्परिक तथा अन्य भौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण द्वारा उपर्युक्त सिद्धात के सब निष्कर्ष निर्धारित होते है। अवाष्पशील द्रवो तथा ठोस पदार्थो के लिये द्रव तथा ठोस अवस्था में भौतिक अणुओ का अस्तित्व नही होता, परतु यदि ये पदार्थ किसी विलायक मे विलेय हो तो विलीन अवस्था मे उपस्थित उनके सूक्ष्मतम कण को अणु कह सकते है और ये विलीन अणु अधिकाश गुणो मे गैसीय अणुओ से समानता प्रदर्शित करते है (वैंट हॉफ का तनु विलयनो का सिद्धात)।

गैसो तथा विलयनो के गुणो को समझने के प्रयास में अणुओ की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ, परतु दीर्घ काल तक इनका अस्तित्व काल्पनिक ही रहा। १९वी शताब्दी के अत मे रेडियो-सक्रिय पदार्थो से निश्चित सख्या मे सूक्ष्म कणो की प्राप्ति तथा एक्स-रे और इलेक्ट्रान-विकिरण द्वारा द्रव्य की असतत प्रकृति के अध्ययन ने अणुओ की उपस्थिति के विचार की पुष्टि की। परतु अणुओ तथा उनकी गति का सबसे प्रत्यक्ष प्रमाण ब्राउनीय गति (ब्राउनियन मूवमेंट) मे मिलता है। स्वय अणुओ का आकार तो इतना सूक्ष्म (लगभग १०$^{-८}$ सेंटीमीटर) है कि इनको अच्छे से अच्छे सूक्ष्मदर्शी से भी प्रत्यक्ष देखना सभव नही हो पाया है। यदि इनके साथ साथ किसी माध्यम मे सूक्ष्मदर्शी द्वारा दिखाई पड सकनेवाले इतने सूक्ष्म कण विद्यमान हो, जिनमे इन अति-सूक्ष्म अणुओ की टक्करो से पर्याप्त गति उत्पन्न हो सके, तो इन दृष्टिगोचर सूक्ष्म कणो द्वारा अणुओ की गति तथा उनकी सख्या का अनुमान लगाया जा सकता है। सौभाग्यवश इस श्रेणी के सूक्ष्म कण कोलायड विलयनो के रूप में प्राप्त हैं और इन्ही की सहायता मे पेराँ नामक फ्रासीसी वैज्ञानिक ने अनेक पदार्थों के एक ग्राम-अणु-भार मे उपस्थित अणुओ की सख्या ज्ञात की, जो लगभग ६ ०६×१०^{२३} निकली। आवोगाड्रो सिद्धात के अनुसार भी प्रत्येक गैसीय पदार्थ के एक ग्राम-अणु-भार में उपस्थित अणुओ की सख्या ६ ०६×१०^{२३} ही होगी। इस सख्या को 'आवोगाड्रो सख्या' नाम दिया गया है। [रा० च० मे०]

अणुवाद दर्शन में प्रकृति के अल्पतम अंश को अणु या परमाणु कहते हैं। अणुवाद का दावा है कि प्रत्येक प्राकृत पदार्थ अणुओं से बना है और पदार्थों का बनना तथा टूटना अणुओं के संयोग वियोग का ही दूसरा नाम है। प्राचीन काल में अणुवाद दार्शनिक विवेचन का एक प्रमुख विषय था, परंतु वैज्ञानिकों ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसके विपरीत, आधुनिक काल में दार्शनिक इसकी ओर से उदासीन रहे हैं, परंतु भौतिकी के लिये अणु की बनावट और प्रक्रिया अध्ययन का प्रमुख विषय बन गई है (देखे अणु, परमाणु)। भारत में वैशेषिक दर्शन ने अणु पर विशेष विचार किया है।

प्राचीन दार्शनिक विचार--प्रकृति के विभाजन में अणु परम या अंत है, विभाजन इससे आगे जा नहीं सकता। दिमाक्रीतस के अनुसार प्रत्येक अणु परिमाण और आकृति रखता है, परंतु इनमें किसी प्रकार का जातिभेद नहीं। यही ल्युसिप्पल का भी मत था। एपिदोक्लीज ने पृथिवी, जल और अग्नि के अणुओं में जातिभेद देखा। अणुओं का संयोग वियोग गति पर निर्भर है, और गति शून्य में ही हो सकती है। अभाज्य अणुओं के साथ प्राचीन अणुवाद ने शून्य के अस्तित्व को भी स्वीकार किया।

आधुनिक विज्ञान और अणु--१९वीं शताब्दी के आरंभ में जॉन डाल्टन ने अणुवाद का सबल समर्थन किया। उसे उचित रूप से आधुनिक अणुवाद का पिता कहा जाता है। अणुवाद की पुष्टि में कई हेतु दिए जाते हैं जिनमें दो ये हैं : (१) प्रत्येक पदार्थ दबाव के नीचे सिकुड़ जाता है और दबाव दूर होने पर फैल जाता है। गैसों की हालत में यह संकोच और फैलाव स्पष्ट दीखते हैं। किसी वस्तु का संकोच उसके अणुओं का एक दूसरे के निकट आना है, उसका फैलना अणुओं के अंतर का अधिक होना ही है। (२) गुणित अनुपात का नियम (लॉ ऑव मल्टिपुल प्रोपोर्शंस) अणुवाद की पुष्टि करता है। जब दो भिन्न अणु रासायनिक संयोग में आते हैं, तो उनमें एक के अचल मात्रा में रहने पर, दूसरा अणु २,३,४ इकाइयों में ही उससे मिलता है, $2\frac{1}{2}$, $3\frac{3}{4}$ आदि मात्राओं में नहीं मिलता। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि अणु का $\frac{1}{2}$ या $\frac{3}{4}$ अंश कहीं विद्यमान ही नहीं।

वैशेषिक का अणुवाद--वैशेषिक दर्शन का उद्देश्य मौलिक 'पदार्थों' या परतम-जातियों का अध्ययन है। इन पदार्थों में प्रथम स्थान 'द्रव्य' को दिया गया है। नौ द्रव्यों में पहले पाँच द्रव्य पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश हैं। इसका अर्थ यह है कि सभी प्राकृत अणु सजातीय नहीं, अपितु उनमें जातिभेद है। इस विचार में वैशेषिक दिमाक्रीतस से नहीं अपितु एपिदोक्लीज से मिलता है। अणुओं में जातिभेद प्रत्यक्ष का विषय तो है नहीं, अनुमान ही हो सकता है। ऐसे अनुमान का आधार क्या है? वैशेषिक के अनुसार, कारण के भाव से ही कार्य का भाव होता है। हमारे संवेदनों ('सेंसेशंस्') में मौलिक जातिभेद है--देखना, सुनना, सूँघना, चखना, छूना एक दूसरे में बदल नहीं सकते। इस भेद का कारण यह है कि इन बोधों के साधक अणुओं में भी जातिभेद है।

अणुओं का संयोग वियोग निरंतर होता रहता है। समता की हालत में संयोग का आरंभ 'सृष्टि' है, पूर्ण वियोग 'प्रलय' है। अणु नित्य है, इसलिये सृष्टि, प्रलय का क्रम भी नित्य है। [दी० च०]

अणुव्रत अणुव्रत का अर्थ है लघुव्रत। जैनधर्म के अनुसार श्रावक अणुव्रतों का पालन करते हैं। महाव्रत साधुओं के लिये बनाए जाते हैं। यही अणुव्रत और महाव्रत में अंतर है, अन्यथा दोनों समान हैं। अणुव्रत इसलिये कहे जाते हैं कि साधुओं के महाव्रतों की अपेक्षा वे लघु होते हैं। महाव्रतों में सर्वत्याग की अपेक्षा रखते हुए सूक्ष्मता के साथ व्रतों का पालन होता है, जबकि अणुव्रतों में उन्हीं व्रतों का स्थूलता से पालन किया जाता है।

अणुव्रत पाँच होते हैं--(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) ब्रह्मचर्य और (५) अपरिग्रह। (१) जीवों की स्थूल हिंसा के त्याग को अहिंसा कहते हैं। (२) राग-द्वेष-युक्त स्थूल असत्य भाषण के त्याग को सत्य कहते हैं। (३) बुरे इरादे से स्थूल रूप से दूसरे की वस्तु अपहरण करने के त्याग को अस्तेय कहते हैं। (४) परस्त्री का त्याग कर अपनी स्त्री में संतोषभाव रखने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। (५) धन, धान्य आदि वस्तुओं में इच्छा का परिमाण रखते हुए परिग्रह के त्याग को अपरिग्रह कहते हैं।

सं०ग्रं०--उवासगदसाओ, तत्वार्थसूत्र मूल और टीकाएँ, समतभद्र : रत्नकरंड श्रावकाचार, अभिधानराजेंद्र कोश, १ (१९१३)। [ज०च०जै०]

अतिचालकता कुछ विशिष्ट दशाओं में धातुओं की वैद्युत् चालकता (देखे विद्युत्चालन) इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह सामान्य विद्युतीय नियमों का पालन नहीं करती। इस चालकता को अतिचालकता (सुपर कंडक्टिविटी) कहते हैं।

जब कोई धातु किसी उपयुक्त आकार में, जैसे बेलन अथवा तार के रूप में, ली जाती है, तब वह विद्युत् के प्रवाह में कुछ न कुछ प्रतिरोध अवश्य उत्पन्न करती है। किंतु सर्वप्रथम सन् १९११ में केमरलिंग ओन्स ने एक सनसनीपूर्ण खोज की कि यदि पारे को ४° (परम ताप) के नीचे ठढा कर दिया जाय तो उसका विद्युतीय प्रतिरोध अकस्मात् नष्ट होकर वह पूर्ण सुचालक बन जाता है। लगभग २० धातुओं में, जिनमें राँगा, पारा, सीसा इत्यादि प्रमुख हैं, यह गुण पाया जाता है। जिस ताप के नीचे यह दशा प्राप्त होती है उस ताप को संक्रमण ताप (ट्रैंज़िशन टेंपरेचर) कहते हैं और इस दशा की चालकता को अतिचालकता। संक्रमण ताप न केवल भिन्न भिन्न धातुओं के लिये पृथक् पृथक् होते हैं, अपितु एक ही धातु के विभिन्न समस्थानिकों के लिये भी विभिन्न होते हैं। पैलेडियम-ऐंटीमनी जैसे कई मिश्र धातुओं में भी अतिचालकता गुण पाया जाता है। संक्रमण ताप को साधारणत $ता_स$ से सूचित किया जाता है।

परमाणु में इलेक्ट्रान अंडाकार पथ में परिक्रमा करते हैं और इस दृष्टि से वे चुंबक जैसा कार्य करते हैं। बाहरी चुंबकीय क्षेत्र से इन चुंबकों का घूर्ण (मोमेंट) कम हो जाता है। दूसरे शब्दों में, परमाणु विषम चुंबकीय प्रभाव दिखाते हैं। यदि ताप $ता_स$ पर किसी पदार्थ को उपयुक्त चुंबकीय क्षेत्र में रखा जाय तो उस सुचालक का आंतरिक चुंबकीय क्षेत्र नष्ट हो जाता है--अर्थात् वह एक विषम चुंबकीय पदार्थ जैसा कार्य करने लगता है। तलपृष्ठ पर बहनेवाली विद्युद्धाराओं के कारण आंतरिक क्षेत्र का मान शून्य ही रहता है। इसे माइसनर का प्रभाव कहते हैं। यदि अतिचालक पदार्थ को धीरे धीरे बढ़नेवाले चुंबकीय क्षेत्र में रखा जाय तो क्षेत्र के एक विशेष मान पर (जिसे देहली मान [थ्रेशोल्ड वैल्यू] कहते हैं) इसका प्रतिरोध पुन अपने पूर्व मान के बराबर हो जाता है।

धातु को एक बंद कुंडली के रूप में लेकर और उसे पहले चुंबकीय क्षेत्र में रखकर तथा बाद में ताप को $ता_स$ से कम करके और फिर क्षेत्र को बदलने से, उसमें एक प्रेरित विद्युद्धारा का प्रवाह होता है। इस विद्युद्धारा धा का मान सर्वसाधारण नियम $धा = धा_० ई^{-प्र त/ल}$ के अनुसार घटते जाना चाहिए। किंतु जब तक ताप $ता_स$ से कम रहता है तब तक यह धारा घटती नहीं, निरंतर बढ़ती ही रहती है। यह तभी हो सकता है जब प्र, अर्थात् प्रतिरोध, शून्य के बराबर हो। विद्युत् की यह अक्षय धारा उस धातु के गुणों पर निर्भर न होकर चुंबकीय क्षेत्र के परिवर्तन पर निर्भर रहती है।

अतिचालक पदार्थ चुंबकीय परिरक्षण का भी प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। इन सबका ताप-वैद्युत्-बल शून्य होता है और टामसन-गुणांक बराबर होता है। संक्रमण-ताप पर इनकी विशिष्ट उष्मा में भी अकस्मात् परिवर्तन हो जाता है।

यह विशेष उल्लेखनीय है कि जिन परमाणुओं में बाह्य इलेक्ट्रानों की संख्या ५ अथवा ७ है उनमें संक्रमण ताप उच्चतम होता है और अतिचालकता का गुण भी उत्कृष्ट होता है।

अतिचालकता के सिद्धांत को समझाने के लिये कई सुझाव दिए गए हैं। किंतु इनमें से अधिकांश को केवल आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई है। वर्तमान काल में बार्डीन, कूपर तथा श्रीफर द्वारा दिया गया सिद्धांत पर्याप्त संतोषप्रद है। इस सिद्धांत के अनुसार चालकता के इलेक्ट्रान-सिद्धांत में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। इसका मूल विचार है इलेक्ट्रान तथा परमाणु के कंपनों की पारस्परिक क्रिया। यहाँ यह परिकल्पना बनाई गई है कि कुछ इलेक्ट्रानों की ऐसी जोड़ियाँ बन जाती हैं जिनमें दोनों इलेक्ट्रानों का संवेग तो एक सा होता है, किंतु उनका आभ्रमण (स्पिन) एक दूसरे के विरुद्ध होता है। जब संवेग शून्य नहीं होता तभी धातु में अतिचालकता की सब प्रधान विशेषताएँ (माइसनर का प्रभाव, विशिष्ट उष्मा का परिवर्तन, इत्यादि) प्रकट हो जाती हैं। [म० ग० भा०]

अतिथि अतिथि के प्रति पूज्य भावना की सत्ता वैदिक आर्यो मे अत्यत प्राचीन काल से है। ऋग्वेद मे अनेक मत्रो मे अग्नि से अतिथि की उपमा दी गई है (८।७४।३-४)। अतिथि वैश्वानर का रूप माना जाता था (कठ० १।१।७) इसीलिये जल के द्वारा उसकी शाति करने का आदेश दिया गया है। **अतिथिर्नमस्य** (अतिथि पूज्य है)—भारतीय धर्म का आधारपीठ है जिसका पल्लवन स्मृति ग्रथों में बडे विस्तार से किया गया है। उनमें अतिथि के लिये आसन, अर्घ तथा मधुपर्क का विधान हुआ है। महाभारत का कथन है कि जिस घर से अतिथि भग्नमनोरथ होकर लौटता है उसे वह अपना पाप देकर तथा उसका पुण्य लेकर चला जाता है। अतिथि-सत्कार को पचमहायज्ञो में स्थान दिया गया है। [ब० उ०]

अतिनूतन युग भूवैज्ञानिको ने पृथ्वी के आदि से आज तक के समय को मोटे हिसाब से पाँच कल्पो (कल्प=ईरा) मे बाँटा है। इनके नाम है आदि (आरकियोज़ोइक), सुपुरा (प्रोटेरोज़ोइक), पुरा (पैलियोज़ोइक), मध्य (मेसोज़ोइक) और नूतन (सीनोज़ोइक)। इनमे आदि कल्प सबसे प्राचीन और नूतन कल्प सबसे नवीन है। समय का इन कल्पो मे विभाजन भूपृष्ठ पर होनेवाले महत्त्व-पूर्ण परिवर्तनो और अन्य भू-क्रांतियो के आधार पर किया गया है। इन कल्पो

कल्प		युग	अवधि वर्षों में	प्रमुख जीव	लाक्षणिक जीव
नूतन	तुरीय	अभिनव	१०,०००	मनुष्य	
		पातिनूतन	१०,००,०००		
	तृतीयक	अतिनूतन	६०,००,०००	स्तनधारी	
		मध्यनूतन	१,२०,००,०००		
		आदिनूतन	१,६०,००,०००		
		प्रादिनूतन	२,००,००,०००		
		पुरानूतन	५०,००,०००		
मध्य	खटीयुत		६,५०,००,०००	उरग	
	महासरट		३,५०,००,०००		
	रक्ताश्म		३,५०,००,०००		
पुरा	गिरि		२,५०,००,०००	जलस्थलचर	
	कार्बनप्रद		८,५०,००,०००		
	मत्स्य		५,००,००,०००	मत्स्य	
	प्रवालादि		४,००,००,०००		
	अवर प्रवालादि		८,५०,००,०००	अपृष्ठवशी	
	कैंब्रियन		७,००,००,०००		
सुपुरा	उत्तर कैंब्रियन पूर्व		६५,००,००,०००	आदि बहुकोशीय रूप	
आदि	अवर कैंब्रियन पूर्व		६५,००,००,०००	एककोशीय रूप	× ३००

भूवैज्ञानिक कल्प और युग

में आदि कल्प की अवधि पैंसठ करोड वर्ष की है। अवधि सुपुरा कल्प को छोड अन्य तरुणतर कल्पो मे कम होती जाती है, यहाँ तक कि सबसे तरुण नूतनकल्प की अवधि लगभग छ करोड वर्ष की है। प्रत्येक कल्प कई युगो (युग=पीरियड) मे विभक्त है और प्रत्येक की एक निश्चित अवधि है। कल्पो और युगो के नाम और उनकी अवधि साथ के चित्र में दिखाई गई है।

नूतन कल्प को दो भागो, तृतीयक (टरशिअरी) और तुरीय (क्वाटर-नरी) में विभक्त किया गया है। इनमें से तृतीयक क्रमश पाँच युगो अर्थात् पुरानूतन (पैलियोसीन), प्रादिनूतन (इओसीन), आदिनूतन (आलि-गोसीन), मध्यनूतन (मायोसीन) और अतिनूतन (प्लायोसीन) में बाँटा गया है, जिनमे पुरानूतन सबसे प्राचीन और अतिनूतन सबसे नवीन है। प्लायोसीन शब्द की उत्पत्ति ग्रीक धातुओ (प्लाइआन=अधिक, कइनास=नूतन) से हुई है जिसका तात्पर्य यह है कि मध्यनूतन की अपेक्षा, इस युग मे पाए जानेवाले जीवो की जातियाँ और प्रजातियाँ आज भी अधिक सख्या में जीवित है। सन् १८३३ ई० मे प्रसिद्ध भूवैज्ञानिक लायल महोदय ने इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया था।

यूरोप मे इस युग के शैल इग्लैड, फ्रास, बेल्जियम, इटली आदि देशो में पाए जाते है। अफ्रीका मे इस युग के शैल कम मिलते है और जो मिलते है वे समुद्रतट पर पाए जाते है। आस्ट्रेलिया मे इस युग के स्तरो का निर्माण मुख्यत नदियो और झीलो मे हुआ। अमरीका मे भी इस युग के शैल पाए जाते है।

इस युग मे कई स्थानो मे भूमि समुद्र से बाहर निकली। उत्तरी और दक्षिणी अमरीका, जो इस युग के पहले अलग अलग थे, बीच मे भूमि उठ आने के कारण जुट गए। इस युग मे उत्तरी अमरीका यूरोप से जुडा था। इस युग के आरभ मे भूमध्यसागर (मेडिटरेनियन समुद्र) यूरोप के निचले भागो मे चढ आया था, परतु युग के अत मे वह फिर हट गया और भूमि की रूपरेखा बहुत कुछ वैसी हो गई जैसी अब है। आरभ में लदन के पडोस की भूमि समुद्र के भीतर थी, परतु इस युग के अत मे समुद्र हट गया। कई अन्य स्थानो में भी थोडी बहुत उथल पुथल हुई। इन सबका ब्योरा यहाँ देना सभव नही है। कई स्थानो में समुद्र का पेदा धँस गया, जिससे पानी खिच गया और किनारे की भूमि से समुद्र हट गया।

तृतीयक युग मे जो दूसरी मुख्य घटना घटित हुई, वह भारत, आस्ट्रे-लिया, अफ्रीका और दक्षिण अमरीका का पृथक्करण है। मध्य कल्प (मेसोजोइक एरा) तक ये सारे देश एक दूसरे से जुडे हुए थे, परतु जिस समय हिमालय का उत्थान प्रारभ हुआ उसी समय भूगतियो ने इन देशो को एक दूसरे से पृथक् कर दिया।

भारतवर्ष में अतिनूतन युग का प्रतीक सिवालिक तत्र (सिस्टम) में मिलता है। उच्च सिवालिक तत्र के टेट्राट और पिंजर नामक भाग ही अतिनूतन के अधिकाश भाग के समकालिक है। हरिद्वार के समीप प्रसिद्ध सिवालिक पर्वतमाला के ही आधार पर इस तत्र का नाम सिवालिक तत्र पडा है। अतिनूतन युग के शैल सिंध तथा बलूचिस्तान मे, पजाब, कुमाऊँ तथा आसाम के हिमालय की पाद-मालाओ मे और बरमा मे पाए जाते है।

शैल निर्माण की दृष्टि से हमारे देश मे अतिनूतन युग के शैल अधिकाशत बालुकाश्म है जिनकी मोटाई लगभग ६,००० और ९,००० फुट के बीच में है। इन शैलो के देखने से यह पता लग जाता है कि ये ऐसे प्रकार के जलोढ (अलूवियल) अवसाद है जिनका निर्माण पर्वतो के अपक्षरण से हुआ। ये अवसाद हिमालय से निकलनेवाली अनेक नदियो द्वारा आकर उसके पाद पर निक्षेपित हुए।

हमारे देश के अतिनूतन युग के शैलो में पृष्ठवशियो, विशेषत स्तन-धारियो के जीवाश्म प्रचुरता से मिलते है। यही कारण है कि वे समस्त विश्व में प्रसिद्ध हो गए है। इस युग में बसनेवाले जीव, जिनके जीवाश्म हमको इस युग के शैलो मे मिलते है, उन जगलो और महापको में रहते थे जो नवनिर्मित हिमालय पर्वत की बाहरी ढाल मे थे। इन जीवो की करोटियाँ (खोपडियाँ) और जबडे जैसे अति टिकाऊ भाग पर्वतो से नीचे बहकर आनेवाली नदियो द्वारा बहा लाए गए और अततोगत्वा अति शीघ्र सचित होनेवाले अवसादो में समाविस्थ हो गए। इस प्रकार प्रतिरक्षित जीवाश्मो के आधार पर उस समय में रहनेवाले अनेक प्रकार के जीवो के विषय में हमको सुगमता से पता लग जाता है। इनमें से कुछ प्रकार के हाथी, जिराफ, दरियाई घोडा, गैंडा आदि उल्लेखनीय है।

स०ग्र०—डी० एन० वाडिया रिपोर्ट, एट्टीथ इटरनैशनल जिओलॉ-जिकल काग्रेस (१९५१), डी० एन० वाडिया जिऑलोजी ऑव इडिया। अन्य सामग्री के लिये देखे भूविज्ञान शीर्षक लेख। [ग० ना०]

अतियथार्थवाद (सर्रियलिज्म), कला और साहित्य के क्षेत्र मे प्रथम महायुद्ध के लगभग प्रचलित होनेवाली शैली और आदोलन। चित्रण और मूर्तिकला मे तो (चित्रपट के चित्रो मे भी) यह आधुनिकतम शैली और तकनीक है। इसके प्रचारको और कलाकारो मे प्रधान चिरिको, दाली, मीरो, आर्प, व्रेतो, मासो आदि है। कला मे इस दृष्टि का दार्शनिक निरूपण १९२४ मे आँद्रे व्रेतो ने अपनी 'अतियथार्थवादी घोषणा' (सर्रियलिस्ट मैनिफेस्टो) मे किया।

अति यथार्थवाद का सिद्धात इसके प्रवर्तको द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ अतियथार्थ यथार्थ से, दृश्य-श्रव्य-जगत् से परे है। यह वह परम यथार्थ है जो अवचेतन मे निहित होता है, सुषुप्त, तद्रित, स्वप्निल अवस्था मे असाधारण कल्पित, अकल्पित, अप्रत्याशित अनुभूतियो के रूप मे अनायास आवेगो द्वारा मानस के चित्रपट पर चढता उतरता रहता है। जो विषय अथवा दृश्य साधारणत तर्कत परस्पर असबद्ध लगते है वास्तव मे उनमे अलक्षित सबध है जिसे मात्र अतियथार्थवाद प्रकाशित कर सकता है। अतियथार्थवादियो की प्रतिज्ञा है कि हमारे सारे कार्यो का उद्गम अवचेतन अतर है। वही हमारे कार्यो को गति और दिशा भी देता है और उस उद्गम से प्रस्फुटित होनेवाले मनोभावो को दृष्टिगम्य, स्थूल, रससिक्त आकृति दी जा सकती है।

अतियथार्थवाद के प्रतीक और मान दैनदिन जीवन के परिमाणो, प्रतिबोधो से सर्वथा भिन्न होते है। अतियथार्थवादियो की अभिरुचि अलौकिक, अद्भुत, अकल्पित और असगत स्थितियो की अभिव्यक्ति मे है। ऐसा नही कि उस अवचेतन का साहित्य अथवा कला मे अस्तित्व पहले न रहा हो। परियो की कहानियाँ, असाधारण की कल्पना, जैसे 'एलिस इन दि वडरलैंड' अथवा सिदवाद की कहानियाँ, बच्चो अथवा अर्धविक्षिप्त व्यक्तियो के चित्राकन साहित्य और कला दोनो क्षेत्रो मे अतियथार्थवाद की इकाइयाँ प्रस्तुत करते है। अतियथार्थवादियो की स्थापना है कि हम पार्थिव दृश्य जगत् को भेदकर, उसके तथोक्त यथार्थ का अतिक्रमण करके वास्तविक परमयथार्थ के जगत् मे प्रवेश कर सकते है। अकन को आकृतियो के प्रतिनिधान की आवश्यकता नही, उसे जीवन के गहन तत्वो को समझना और समझाना है, जीवन के प्रति मानव प्रतिक्रियाओ का आकलन करना है, और ये तथ्य नि सदेह दृश्य जगत् के परे के है। अकन को मनोरजन अथवा आनद का साधन मानना अनुचित है। स्थूल नेत्रो की सीमाएँ और प्रत्यक्ष की रिक्तता तो घनवादी कला ने ही प्रमाणित कर दी थी, इससे आवश्यकता प्रतीत हुई दृष्टि से अतीत परोक्ष से साक्षात्कार की, जो अवचेतन है, युक्तिसगत यथार्थ के परे का अयुक्तियुक्त अतियथार्थ।

इस प्रकार अतियथार्थवाद मानस के अतराल को, अवचेतन के तमाविष्ट गह्वरो को आलोकित करता है। घनवाद से भी एक पग आगे दादावाद गया और दादावाद से भी आगे अतियथार्थवाद। अतियथार्थवाद की जडे दादावाद की जमीन मे ही लगी है। स्वय दादावाद ने क्रियात्मक कल्पना की भूमि छोड निर्बंध अवचेतन की आराधना की थी, अब उसके उत्तरवर्ती अतियथार्थवाद ने अवचेतन और दृश्य जगत् को परस्पर सर्वथा स्वतत्र और पृथक् माना। मानवीय चेतनता और पार्थिव यथार्थ अथवा कायिक अनुभूति मे उसके विचार से कोई सबध नही। उन्होने आत्माध्ययन, जीवन के परम तथ्य की खोज और दृश्य से भिन्न एक अतर्जगत् की पहचान को अपना लक्ष्य बनाया। उन्होने कहा कि सावयवीय सपूर्णता के भीतर स्थूलत लक्षित होनेवाले परस्पर विरोधी पर वस्तुत अनुकूल तथ्यो, जैसे 'जीवन और मृत्यु, भूत और भविष्य, सत्य और काल्पनिक' को एकत्र करना होगा। अतियथार्थवादी घोषणाकार आद्रे व्रेतो ने लिखा 'मेरा विश्वास है कि भविष्य में दोनो परस्पर विरोधी लगनेवाली स्वप्न और सत्य की स्थितियाँ परम यथार्थ, अतियथार्थ मे लय हो जायँगी।'

चित्रण की प्रगति मे अतियथार्थवाद ने परपरागत कलाशैली को तिलाजलि दे दी। उसके आकलन और अभिप्रायो ने, चित्रादर्शो ने सर्वथा नया मोड लिया, परवर्ती से अतरवर्ती की ओर। अवचेतन की स्वप्निल स्थितियो, विक्षिप्तावस्था तक, को उसने 'शुद्ध प्रज्ञा' का स्वच्छद रूप माना। साधारणत अतियथार्थवाद के दो भेद किए जाते है (१) स्वप्नाभिव्यक्ति और (२) आवेगाकन। उनमे पहली शैली का विशिष्ट कलाकार साल्वादोर दाली है और दूसरी का जोआन मीरो। दोनो स्पेन के है। अवचेतन के उपासक अतियथार्थवाद को फिर भी आकलन के क्षेत्र मे राग और रेखा की दृष्टि से सर्वथा उच्छृखल भी नही समझना चाहिए। यह सही है कि अभिप्राय अथवा अकित विपय के सबध मे अतियथार्थवाद अप्रत्याशित का आकलन करता है, पर जहाँ तक अकन की तकनीक की बात है उसके आयामपरिमाण सर्वथा सयत, स्पष्ट और श्रमसिद्ध होते है। दाली के चित्र तो इस दिशा मे उच्च चित्राचार्यो की कला से होड करते है। अप्रत्याशित यथार्थ का उदाहरण ऐसे चित्र से दिया जा सकता है जिसका सारा वातावरण तो चिकित्सालय के शल्यकक्ष (आपरेशन थियेटर) का हो पर आपरेशन की मेज पर, जहाँ मरीज के होने की आशा की जा सकती है, वहाँ वस्तुत चित्रित होती है सिलाई की मशीन! या नारी का ऊर्ध्वार्ध अकित करनेवाले चित्र मे जहाँ ऊपर मुहँ होने की अपेक्षा की जाती है वहाँ वस्तुत मेज की दराज बनी रहती है। अतियथार्थवाद कला की, सामाजिक यथार्थवाद के अतिरिक्त, नवीनतम शैली है और इधर, मनोविज्ञान की प्रगति से प्रभावित, प्रभूत लोकप्रिय हुई है।

स०ग्र०—आद्रे व्रेतो सर्रियलिस्ट मैनिफेस्टो, १९२४, स्कीरा माडर्न पेंटिग। [भ० श० उ०]

अतिवृद्धि किसी भी अग या आशय की रोगयुक्त वृद्धि को अतिवृद्धि कहा जाता है। जब किसी अवरोध के कारण आशय अपने भीतर की वस्तु को पूर्णतया बाहर नही निकाल पाता तो उसकी भित्तियो की वृद्धि हो जाती है। हृदय एक खोखला अग है। जब कपाटिकाओ के रुग्ण हो जाने से वह रक्त को पूर्णतया बाहर नही निकाल पाता तो उसकी अतिवृद्धि होकर उसका आकार बढ जाता है और उसके पश्चात् प्रसार होता है। जब किसी अग को दूसरे अग का भी कार्य करना पडता है (जैसे वृक्क या फुफ्फुस को), या एक भाग को दूसरे भाग का, तो उसकी सदा अतिवृद्धि हो जाती है। [मु० स्व० व०]

अतिसार अतिसार (डायरिया) उस दशा का नाम है जिसमे आहार का पक्वावशेष आत्रनाल मे होकर असामान्य द्रुतगति से प्रवाहित होता है। परिणामस्वरूप पतले दस्त, जिनमे जल का भाग अधिक होता है, थोडे थोडे समय के अतर से आते रहते है। यह दशा उग्र तथा जीर्ण दोनो प्रकार की पाई जाती है।

उग्र—उग्र (ऐक्यूट) अतिसार का कारण प्राय आहारजन्य विप, खाद्यविशेष के प्रति असहिष्णुता या सक्रमण होता है। कुछ विपो से भी, जैसे सखिया या पारद के लवण से, दस्त होने लगते है।

जीर्ण—जीर्ण (क्रॉनिक) अतिसार बहुत कारणो से हो सकता है। आमाशय अथवा अग्न्याशय ग्रथि के विकास से पाचन विकृत होकर अतिसार उत्पन्न कर सकता है। आत्र के रचनात्मक रोग, जैसे अर्वुद, सकिरण (स्ट्रिक्चर) आदि, अतिसार के कारण हो सकते है। जीवाणुओ द्वारा सक्रमण तथा जैवविषो (टौक्सिनो) द्वारा भी अतिसार उत्पन्न हो जाता है। इन जैवविपो के उदाहरण है रक्तविपाक्तता (सेप्टिसीमिया) तथा रक्तपूरिता (यूरीमिया)। कभी नि स्रावी (एडोक्राइन) विकार भी अतिसार के रूप मे प्रकट होते है, जैसे ऐडीसन के रोग और अत्यवटुकता (हाइपर थाइरॉयडिज्म)। भय, चिता तथा मानसिक व्यथाएँ भी इस दशा को उत्पन्न कर सकती है। तब यह मानसिक अतिसार कहा जाता है।

अतिसार का मुख्य लक्षण, और कभी कभी अकेला लक्षण, विकृत दस्तो का बार बार आना होता है। तीव्र दशाओ मे उदर के समस्त निचले भाग मे पीडा तथा बेचैनी प्रतीत होती है अथवा मलत्याग के कुछ समय पूर्व मालूम होती है। धीमे अतिसार के बहुत समय तक बने रहने से, या उग्र दशा मे थोडे ही समय मे, रोगी का शरीर कृश हो जाता है और जलह्रास (डिहाइड्रेशन) की भयकर दशा उत्पन्न हो सकती है। खनिज लवणो के तीव्र ह्रास से रक्तपूरिता तथा मूर्छा (कॉमा) उत्पन्न होकर मृत्यु तक हो सकती है।

चिकित्सा के लिये रोगी के मल की परीक्षा करके रोग के कारण का निश्चय कर लेना अत्यावश्यक है, क्योकि चिकित्सा उसी पर निर्भर है। कारण को जानकर उसी के अनुसार विशिष्ट चिकित्सा करने से लाभ हो सकता है। रोगी को पूर्ण विश्राम देना तथा क्षोभक आहार बिलकुल रोक

देना आवश्यक है। उपयुक्त चिकित्सा के लिये किसी विशेषज्ञ चिकित्सक का परामर्श उचित है। [शि० श० मि०]

अतिसूक्ष्मदर्शी (अल्ट्रा-माइक्रॉस्कोप) एक ऐसा उपकरण है जिसकी सहायता से बहुत छोटे छोटे कण, जो लगभग अणु के आकार के होते हैं और साधारण सूक्ष्मदर्शी से नही दिखाई देते, देखे जा सकते हैं। वास्तव मे यह कोई नवीन उपकरण नही है, केवल एक अच्छा सूक्ष्मदर्शी ही है, जिसको विशेष रीति से काम में लाया जाता है। जब साधारण सूक्ष्मदर्शी साधकर पारगमित (ट्रैंसमिटेड) प्रकाश से वस्तुओ को हम देखते हैं, तो वे प्रकाश के मार्ग मे पडकर प्रकाश को रोक देती है, जिससे वे प्रकाशित पृष्ठभूमि पर काले चित्रो के रूप मे दिखाई देती हैं। परतु बहुत छोटे कणो को पारगमित प्रकाश द्वारा देखना असभव है, क्योकि जितना प्रकाश एक छोटा कण रोकता है उससे बहुत अधिक प्रकाश उस कण के चारो ओर के बिदुओ से आँख में पहुँच जाता है। इससे उत्पन्न चकाचौंध के कारण कण अदृश्य हो जाता है। यदि सूक्ष्मदर्शी का प्रबध इस प्रकार किया जाय कि कणो को किसी पारदर्शक द्रव मे डाल दिया जाय, जिसमे वे घुलें नही, और फिर इन कणो पर बगल से प्रकाश डाला जाय तो प्रकाश कणो से टकराकर ऊपर रखे हुए एक सूक्ष्मदर्शी मे प्रवेश कर सकता है। यदि इस स्थिति मे रखे हुए सूक्ष्मदर्शी से कणो को अब देखा जाय तो वे पूर्णत काली पृष्ठभूमि पर चमकते हुए बिदुओ के रूप मे दिखाई देने लगते है, क्योकि द्रव के कण पारदर्शी होने के कारण प्रकाशित नही हो पाते। यही अतिसूक्ष्मदर्शी का सिद्धात है।

नीचे दिए हुए चित्रो मे साधारण सूक्ष्मदर्शी और अतिसूक्ष्मदर्शी दोनो की रीतियाँ दिखाई गई है
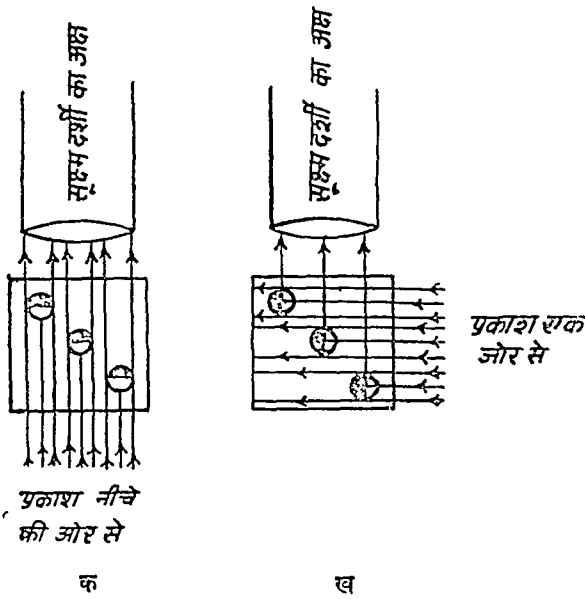
साधारण सूक्ष्मदर्शी और अतिसूक्ष्मदर्शी में अतर

अतिसूक्ष्मदर्शी मे कणो को किसी पारदर्शक द्रव मे डालकर और प्रकाश को बगल से आने देकर देखा जाता है। (क) साधारण सूक्ष्मदर्शी, (ख) अतिसूक्ष्मदर्शी।

चित्र (क) में प्रकाश की किरणें किसी द्रव में आलबित (सस्पेंडेड) कणो पर नीचे से पड रही हैं और प्रकाश सीधा सूक्ष्मदर्शी मे प्रवेश कर रहा है, जिससे द्रष्टा उन कणो को प्रकाशित पृष्ठभूमि पर काले काले बिंदुओ के रूप मे देख रहा है। चित्र (ख) मे प्रकाश दाहिनी ओर से आकर कणो पर पड रहा है और कणो से बिखरकर सूक्ष्मदर्शी में पहुँच रहा है, जिससे द्रष्टा उन कणो को पूर्णत काली पृष्ठभूमि पर चमकदार बिंदुओ के रूप में देख रहा है।

अतिसूक्ष्मदर्शी द्वारा कणो को देखने की जो रीति प्रारभ मे (सन् १९०० के लगभग) काम मे लाई गई थी वह नीचे के चित्र मे दी हुई है
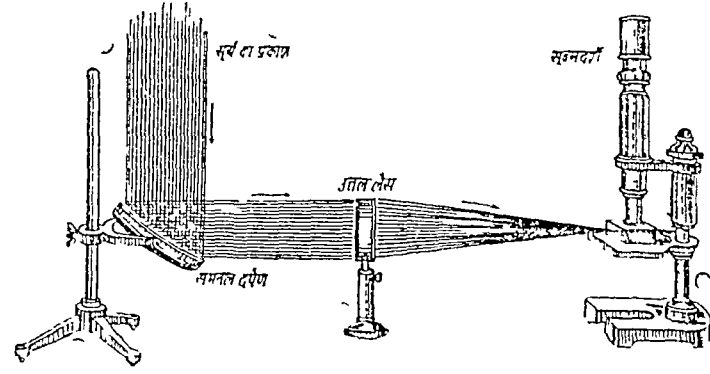
सूर्य से आनेवाला तीव्र प्रकाश एक समतल दर्पण पर पड रहा है। वहाँ से परावर्तित होकर प्रकाश की किरणें एक उत्तल ताल (लेंज) पर पडती है जो उनको एकत्रित करके उन कणो पर डाल देता है जिनकी परीक्षा सूक्ष्मदर्शी से की जा रही है।

आर० जिगमौडी और एच० सीडेटौफ ने अतिसूक्ष्मदर्शी की रीति मे बहुत सुधार किए जिससे अत्यत सूक्ष्म कणो का देखना सभव हो गया है। अब सूर्य के प्रकाश के स्थान पर साधारणत पॉइंटोलाइट लैंप का तीव्र प्रकाश काम मे लाया जाता है। इस लैंप मे धातु का एक सूक्ष्म गोला अति तप्त होकर श्वेत प्रकाश देता है।

प्रकाश की किरणें सघनक (कडेंसर) स द्वारा एकत्र करके बर्तन ब मे भरे हुए द्रव पर डाली जाती हैं और सूक्ष्मदर्शी से उसे देखा जाता है (चित्र देखें)।

सूक्ष्मदर्शी के सिद्धात के अनुसार सूक्ष्मदर्शी की विभेदन क्षमता (रिजॉल्विग पावर) की भी एक सीमा है, अर्थात् यदि कणो का आकार हम छोटा करते चले जायँ तो एक ऐसी अवस्था आ जायगी जिससे अधिक छोटा होने पर कण अपने वास्तविक रूप मे पृथक् दिखाई नही देगा। सूक्ष्मदर्शी के अभिदृश्य ताल (ऑब्जेक्टिव) का मुखव्यास (अपर्चर) जितना ही अधिक होगा और जितने ही कम तरगदैर्घ्य का प्रकाश कणो को देखने के लिये प्रयुक्त किया जायगा, उतनी ही अधिक विभेदन क्षमता प्राप्त होगी। दूसरे शब्दो मे, हम यह कह सकते है कि किसी सूक्ष्मदर्शी की विभेदन क्षमता उसके अभिदृश्य ताल के मुखव्यास की समानुपाती और प्रयुक्त प्रकाश के तरगदैर्घ्य की प्रतिलोमानुपाती होती है। साधारण सूक्ष्मदर्शी चाहे कितना ही बढिया बना हो, वह कभी किसी ऐसी वस्तु को वास्तविक रूप मे नही दिखा सकता जिसका व्यास प्रयुक्त प्रकाश के तरगदैर्घ्य के लगभग आधे से कम हो। परतु अतिसूक्ष्मदर्शी की सहायता से, अनुकूल परिस्थितियो में, इतने छोटे छोटे कण देखे जा सकते हैं जिनका व्यास प्रकाश के तरगदैर्घ्य के १/१०० भाग के बराबर हो। इन कणो को अतिसूक्ष्मदर्शीय कण कहते हैं। यदि इन कणो को साधारण रीति से सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखने का प्रयत्न किया जाय तो वे दिखाई नही देते, जिसका कारण पहले बताया जा चुका है। दिन के समय आकाश मे तारे न दिखाई देने का भी कारण यही है।

यदि पहले बताई गई रीति से अति सूक्ष्म कणो पर एक दिशा से तीव्र प्रकाश डाला जाय और सूक्ष्मदर्शी के अक्ष को उससे लब रखकर उन कणो को देखा जाय तो अति सूक्ष्म होने के कारण प्रत्येक कण प्रकीर्णन (स्कैटरिंग) द्वारा प्रकाश को आँख मे भेज देगा। तब वह चमकती हुई वृत्ताकार विवर्तन धारियो (डिफ्रैक्शन बैंड्स) से घिरा हुआ होने के कारण प्रकाशित गोल चकती की भाँति दिखाई देने लगेगा। इन चकतियो का आभासी व्यास कणो के वास्तविक व्यास से बहुत बडा होता है। इसलिये इन चकतियो के व्यास से हम कणो के आकार के विषय मे कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त नही कर सकते, परतु फिर भी उनसे कणो के अस्तित्व को समझ सकते हैं, उनकी सख्या गिन सकते है और उनके द्रव्यमानो तथा गतियो का पता लगा सकते है।

अतिसूक्ष्मदर्शी जिस सिद्धांत पर काम करता है उसका उदाहरण हम अपने दैनिक जीवन में उस समय देखते हैं जब सूर्य प्रकाश की किरणें किसी छिद्र से कमरे में प्रवेश करती हैं और हवा में उड़ते हुए असख्य अतिसूक्ष्म कणों के अस्तित्व का ज्ञान कराती हैं। यदि आनेवाली किरणों की ओर आँख करके हम देखें तो ये अतिसूक्ष्म कण दिखाई नहीं देंगे।

सन् १८९९ ई० में लॉर्ड रैले ने गणना से सिद्ध कर दिया कि जो कण अच्छे से अच्छे सूक्ष्मदर्शी द्वारा साधारण रीति से पृथक् पृथक् नहीं देखे जा सकते उनको अधिक तीव्र प्रकाश से प्रकाशित करके अतिसूक्ष्मदर्शी की रीति से हम देख सकते हैं, यद्यपि इस रीति से हम उनके वास्तविक आकार का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते।

अतिसूक्ष्मदर्शी द्वारा बहुत से विलयनों (सोल्यूशंस) की परीक्षा से पता चलता है कि उन विलयनों के भीतर या तो ठोस के छोटे छोटे कण कलिलीय अवस्था (कलॉयडल स्टेट) में तैरते रहते हैं या ठोस पूर्णरूप से विलयन में मिला रहता है। उसकी सहायता से कलिलीय विलयनों में ब्राउनियन गति का भी अध्ययन किया जाता है।

यदि काच की पट्टी पर थोड़ा सा काबोज (गैंबूज) रगड़कर उसपर पानी की दो बूंदें डाल दी जायँ और तब अतिसूक्ष्मदर्शी से पानी की परीक्षा की जाय तो असख्य छोटे छोटे कण बड़ी शीघ्रता से भिन्न भिन्न दिशाओं में इधर उधर दौड़ते हुए दिखाई देंगे। इस गति को सबसे पहले सन् १८२७ ई० में आर० ब्राउन ने देखा था, इसलिये उनके नाम पर इसे ब्राउनियन गति कहते हैं।

यदि बिजली से हवा में चाँदी का आर्क जलाया जाय तो उससे भी चाँदी के कलिलीय कण प्राप्त होते हैं, जिनको पानी में डालकर ब्राउनियन गति देखी जा सकती है। इस गति में कण आश्चर्यजनक वेग से इधर उधर भागते हुए दिखाई देते हैं जिनकी तुलना धूप में भनभनाते हुए एक मच्छर-समुदाय से की जा सकती है।

अतिसूक्ष्मदर्शी द्वारा दिखाई देनेवाले कणों की सूक्ष्मता प्रकाश की तीव्रता पर निर्भर रहती है। प्रकाश की तीव्रता जितनी अधिक होगी उतने ही अधिक सूक्ष्म कण दिखाई देने लगेंगे।

स०ग्र०—आर० जिग्मौडी "कलॉएड्स ऐंड दि अल्ट्रामाइक्रोस्कोप", जे० अलेक्जैंडर द्वारा अनुवादित (विली), ई० एफ० बर्टन "फिजिकल प्रॉपर्टीज ऑव कलॉएडल सोलूशन्स" (लॉगमैन्स ग्रीन ऐंड क०)।

[ब० ला० कु०]

अतिसूक्ष्म रसायन

(अल्ट्रा-माइक्रोकेमिस्ट्री) उन रासायनिक विधियों को कहते हैं जिनके द्वारा रासायनिक विश्लेषण तथा अन्य क्रियाएँ पदार्थों की अतिसूक्ष्म मात्रा से सपन्न की जा सकती हैं। साधारण रासायनिक विश्लेषण में १/१० ग्राम मात्रा पर्याप्त मानी जाती थी, सूक्ष्म रसायन में द्रव्य के १/१००० ग्राम से काम चल जाता है और अतिसूक्ष्म रसायन का अवलबन तब करना पड़ता है जब पदार्थ का केवल माइक्रोग्राम (१/१०,००,००० ग्राम) उपलब्ध रहता है।

अतिसूक्ष्म रसायन का प्रारभ सन् १९३० में कोपेनहेगेन की कार्ल्सबर्ग प्रयोगशाला में हुआ, वहाँ के० लिडरस्ट्रॉम-लैंग तथा सहयोगियों ने इसका उपयोग एनजाइमों, जीवप्रेरकों और पौधों तथा पशुओं से प्राप्त पदार्थों की अति सूक्ष्म मात्रा के विश्लेषण में किया। सन् १९३३ से कैलिफोर्निया में पॉल एल० कर्क ने इन विश्लेषण-विधियों को अधिक उन्नत किया और साथ ही साथ उन्होंने अन्य सब प्रकार की भौतिक तथा रासायनिक क्रियाओं का अध्ययन भी अतिसूक्ष्म मात्राओं में आरभ किया। जीव तथा वनस्पति रसायन के अतिरिक्त तीव्र रेडियोसक्रिय पदार्थों के अध्ययन में ये विधियाँ विशेष रूप से उपयोगी सिद्ध हुई हैं। इन रेडियोसक्रिय पदार्थों के अध्ययन में साधारणतया अतिसूक्ष्म मात्राओं का ही उपयोग किया जाता है। इसका कारण इनकी कम मात्रा में उपलब्धि के अतिरिक्त यह भी है कि कम मात्रा से निकलनेवाली हानिकारक रेडियो-किरणों की तीव्रता कम रहती है, जिससे कार्य सपन्न करने में सुविधा रहती है।

अतिसूक्ष्म रसायन में मुख्यत निम्नलिखित विधियों का उपयोग किया जाता है

(क) **द्रवों की अनुमापन विधि**—अतिसूक्ष्म रसायन में सर्वप्रथम आयतनों के मापन पर आधारित विधियों का ही उपयोग हुआ। इन क्रियाओं में प्रयुक्त सभी उपकरण, जैसे परीक्षण नलियाँ, बीकर, पिपेट तथा ब्यूरेट, केश-नलिकाओं (कपिलरीज) से ही बनाए जाते हैं और इनकी सहायता से $१०^{-४}$ से $१०^{-८}$ लिटर तक के आयतन सुगमता से नापे जा सकते हैं। इन विधियों का सर्वप्रथम उपयोग जीवरसायन में हुआ। उदाहरणार्थ, प्राय रोगग्रस्त बालकों के रक्त का परीक्षण एक सूक्ष्म बूँद से ही करना पड़ता है। इसके लिये रक्त के सूक्ष्म आयतन को नापने, उससे प्रोटीन पृथक् करके उबालने तथा अकार्बनिक तत्वों को पृथक् करने की समस्त पद्धतियों को अतिसूक्ष्म परिमाण में ही करना होता है।

(ख) **गैसमितीय विधियाँ**—इन विधियों का उपयोग अतिसूक्ष्म रसायन में मुख्यत जीवकोषों या सूक्ष्म जीवों की श्वासगति या उससे सबधित क्रियाओं के अध्ययन में होता है। कर्क और कनिंघम के बाद द्वितीय महायुद्ध के समय शोलेंदर तथा उसके सहयोगियों ने इस विधि को इतना उन्नत किया कि अब गैसीय मिश्रणों के माइक्रो-लिटर आयतनों को भी पूर्णतया विश्लेषित करना सभव हो गया है।

(ग) **भारमापन विधियाँ**—यद्यपि २०वीं शताब्दी में बहुत अच्छी भार-तुलाओं का निर्माण हुआ है, तथापि १९४२ में कर्क, रोडरिक क्रेग तथा गुलबर्ग नामक वैज्ञानिकों द्वारा क्वार्ट्ज़ तुला की खोज से इस ओर विशेष प्रगति हुई है। इस नई तुला की सहायता से ० ००५ माइक्रोग्राम के अंतर सुगमता से नापे जा सकते हैं।

(घ) **अन्य विविध विधियाँ**—अतिन्यून मात्राओं के साथ कार्य करने के लिये अन्य सभी कार्यविधियों में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। उदाहरणार्थ छानने के स्थान पर अपकेंद्रण (सेंट्रीफ्युगेशन) विधि का उपयोग किया जाता है। प्राय सपूर्ण रासायनिक क्रिया सूक्ष्मदर्शी के ही नीचे सपन्न की जाती है, जिससे सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन भी देखा जा सके। इन सूक्ष्म मात्राओं के लिये उपयोगी विश्लेषण-पद्धतियों में वर्णक्रमीय (स्पेक्ट्रॉस्कोपिक) पद्धतियाँ विशेषतया उल्लेखनीय हैं और आधुनिक रेडियो-रसायन की पद्धतियों ने तो विश्लेषण की इस चरम सीमा को सहस्रों गुना सूक्ष्म कर दिया है। आज प्रयोगशाला में सश्लेषित नवीन तत्वों के कुछ इने गिने परमाणुओं को इनके द्वारा पहचानना ही नहीं वरन् उनके तथा उनके यौगिकों के गुणों का अध्ययन भी इन सूक्ष्म मात्राओं से, चाहे कुल उपलब्ध मात्रा लगभग $१०^{-२०}$ ग्राम ही हो, सभव हो रहा है। [रा० च० मे०]

अत्तिला

(ल० ४०६-४५३ ई०), इतिहासप्रसिद्ध विध्वसक हूण राजा जिसे पश्चात्कालीन इतिहासकारों ने 'भगवान् का कोड़ा' कहा। उसके पिता का नाम मुदजुक था। उसके जन्म से कुछ पहले ही कास्पियन सागर के उत्तरवर्ती प्रदेशों के हूण दानूब नद की घाटी में जा बसे थे। अत्तिला के पिता का परिवार भी उन्हीं हूणों में से था। चाचा रुआस के मरने पर अपने भाई ब्लेदा के साथ अत्तिला दानूबतटीय हूणों का सयुक्त राजा बना। रुआस का शासनकाल हूणों के यूरोप में विशेष उत्कर्ष का था। उसने जर्मन और स्लाव जातियों पर आधिपत्य कर लिया था और उसका दबदबा कुछ ऐसा बढ़ा कि पूर्वी रोमन सम्राट् उसे वार्षिक कर देने लगा। चाचा के ऐश्वर्य का अत्तिला ने प्रभूत प्रसार किया और आठ वर्षों में वह कास्पियन और बाल्टिक सागर के बीच के समूचे राज्यों का, राइन नदी तक, स्वामी बन गया।

४५०ई० के पश्चात् अत्तिला पूर्वी साम्राज्य को छोड़ पश्चिमी साम्राज्य की ओर बढ़ा। पश्चिमी साम्राज्य का सम्राट् तब वालेंतीनियन तृतीय था। सम्राट् की भगिनी जुस्ता ग्राता होनोरिया ने अपने भाई के विरुद्ध सहायता के अर्थ अत्तिला को अपनी अँगूठी भेजी थी। इसे विवाह का प्रस्ताव मान हूणराज ने सम्राट् से भगिनी के यौतुक में आधा राज्य माँगा और अपनी सेना लिए वह गाल को रौंदता, मेत्स को लूटता, ल्वार नदी के तट पर बसे ऑर्लियाँ जा पहुँचा, पर रोमन सेना ने पश्चिमी गोथों और नगरवासियों की सहायता से हूणों को नगर का घेरा उठा लेने को मजबूर किया। फिर दो महीने बाद जून, ४५१ में इतिहास की सबसे भयकर खूनी लड़ाइयों में से एक लड़ी गई, जब दोनों सेनाएँ सेन नदी के तट पर त्रॉय के निकट परस्पर मिलीं। भीषण युद्ध हुआ और जीवन में बस एक बार हारकर अत्तिला को भागना पड़ा।

पर अत्तिला चुप बैठनेवाला आदमी न था। अगले साल सेना लेकर शक्ति के केंद्र स्वय इटली पर उसने धावा बोल दिया और देखते देखते उसका उत्तरी लोंबार्दी का प्रात उजाड डाला। उखडे, भागे हुए लोगो ने आद्रियातिक सागर पहुँच वहाँ के प्रसिद्ध नगर वेनिस की नीव डाली। सम्राट् वालेंतीनियन ने भागकर रावेना मे शरण ली। पर पोप लिओ प्रथम ने रोम की रक्षा के लिये मिंचिओ नदी के तीर पडाव डाले अत्तिला से प्रार्थना की। कुछ पोप के अनुनय से, कुछ हूणो के बीच प्लेग फूट पडने से अत्तिला ने इटली छोड देना स्वीकार किया। इटली से लौटकर उसने बर्गडी की राजकुमारी इल्दिको को व्याहा पर अपनी सुहागरात को ही वह रक्तचाप से मस्तिष्क की नली फट जाने के कारण पानोनिया मे मर गया।

अत्तिला ने पश्चिमी रोमन साम्राज्य की रीढ तोड दी। उसके और हूणो के नाम से यूरोपीय जनता थरथर काँपने लगी। हगरी मे बसकर तो उन्होने उस देश को अपना नाम दिया ही, उनका शासन नार्वे और स्वीडेन तक चला। चीन के उत्तर-पूर्वी प्रात कासू से उनका निकास हुआ था और वहाँ से यूरोप तक हूणो ने अपना खूनी आधिपत्य कायम किया। उन्ही की धाराओ पर धाराओ ने दक्षिण बहकर भारत के गुप्त साम्राज्य की भी कमर तोड दी।

स०ग्र०—ब्रिओन, एम० अत्तिला, दि स्कोर्ज ऑव गॉड, न्यूयार्क १९२९, टाम्सन, ई० ए० हिस्ट्री ऑव अत्तिला ऐड दि हूस, न्यूयार्क, १९४८। [भ० श० उ०]

अत्तुर मद्रास राज्य के सलेम जिले का एक ताल्लुका तथा नगर है। नगर ११° ३५′ उ० अक्षाश तथा ७८° ३७′ पू० देशातर रेखाओ पर वसिष्ठ नदी के किनारे स्थित है। नगर के उत्तर प्राचीन दुर्ग है जहाँ पर ब्रिटिश सेनाएँ रखी गई थी। सन् १७६८ ई० मे अग्रेजो का इसपर पूरा अधिकार हो गया था। यहाँ पर पहले नील तैयार की जाती थी। यह नगर यहाँ के बने हुए छकडो (बैलगाडियो) के लिये भी प्रसिद्ध है। जनसख्या २२,८४४ है (१९५१)। [न० ला०]

अत्रि दस प्रजापतियो एव सप्तर्षियो मे गिने गए है। वे वैदिक मत्रो के भी रचयिता थे। उनकी बनाई हुई अत्रिसहिता प्रसिद्ध है। उत्तर वैदिक काल मे राम के समय मे एक अत्रि का उल्लेख हुआ है जो अनसूया के पति थे और जिन्होने चित्रकूट के दक्षिण मे आश्रम बना रखा था। पुराणो के अनुसार अत्रि सोम (चद्रमा), दत्तात्रेय और दुर्वासा के पिता थे। [च० म०]

अथर्वन् निरुक्त (११।२।१७) के अनुसार 'अथर्वन्' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है चित्तवृत्ति के निरोधरूप समाधि से सपन्न व्यक्ति (थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेध)। ऋग्वेद मे अथर्वन् शब्द का प्रयोग अनेक मत्रो मे उपलब्ध होता है। भृगु तथा अगिरा के साथ अथर्वन् वैदिक आर्यो के प्राचीन पूर्वपुरुषो की सज्ञा है। ऋग्वेद के अनेक सूक्तो (१।८३।५, ६।१५।१७, १०।२१।५) मे कहा गया है कि अथर्वन् लोगो ने अग्नि का मथन कर सर्वप्रथम यज्ञमार्ग का प्रवर्तन किया। इस प्रकार अथर्वन् ऋत्विज् शब्द का ही पर्यायवाची है। अवेस्ता मे भी अथर्वन् 'अथ्रवन्' के रूप मे व्यवहृत होकर यज्ञकर्ता ऋत्विज् का ही अर्थ व्यक्त करता है और इस प्रकार यह शब्द भारत-पारसीक-धर्म का एक द्युतिमान् प्रतीक है। अगिरस् ऋषियो के द्वारा दृष्ट मत्रो के साथ समुच्चित होकर अथर्वदृष्ट मत्रो का महनीय समुदाय 'अथर्वसहिता' में उपलब्ध होता है। अथर्वण मत्रो की प्रमुखता के कारण यह चतुर्थ वेद 'अथर्ववेद' के नाम से प्रख्यात है। कुछ पाश्चात्य विद्वानो के अनुसार अथर्वन् उन मत्रो के लिये प्रयुक्त होता हे जो सुख उत्पन्न करनेवाले शोभन यातु (जादू टोना) के उत्पादक होते हैं। और इसके विपरीत 'आगिरस' से उन अभिचार मत्रो की ओर सकेत है जिनका प्रयोग मारण, मोहन, उच्चाटन आदि अशोभन कृत्यो की सिद्धि के लिये किया जाता है। परतु इस प्रकार का स्पष्ट पार्थक्य 'अथर्ववेद' की अतरग परीक्षा से नही सिद्ध होता। [ब० उ०]

अथर्ववेद अथर्ववेद चारो वेदो मे से अतिम है। इस वेद का प्राचीनतम नाम 'अथर्वागिरस' है जो स्वय अथर्ववेद के पाठ मे प्राप्य हे और जो हस्तलिपियो के आरभ मे भी लिखा मिला है। इस शब्द मे अथर्वन् और अगिरस् दो प्राचीन ऋषिकुलो के नाम समाविष्ट है। इससे कुछ पडितो का मत है कि इनमे से पहला शब्द अथर्वन् पवित्र दैवी मत्रो से सबध रखता है और दूसरा टोना टोटका आदि मोहन मत्रो से। बहुत दिनो तक वेदो के सबध मे केवल 'त्रयी' शब्द का उपयोग होता रहा और चारो वेदो की एक साथ गणना बहुत पीछे हुई, जिससे विद्वानो का अनुमान है कि अथर्ववेद को अन्य वेदो की अपेक्षा कम पवित्र माना गया। धर्मसूत्रो और स्मृतियो मे स्पष्टत उसका उल्लेख अनादर से किया गया है। आपस्तब धर्मसूत्र और विष्णुस्मृति दोनो ही इसकी उपेक्षा करती है और विष्णुस्मृति मे तो अथर्ववेद के मारक मत्रो के प्रयोक्ताओ को सात हत्यारो मे गिना है।

अनुमानत अथर्ववेद को यह अस्पृहणीय स्थान उसके अभिचारी विषयो के कारण ही मिला। यह सत्य है कि उस वेद का एक बडा भाग ऋग्वेद से जैसा का तैसा ले लिया गया है परतु उसके उस भाग मे, जो केवल उसका निजी है, मारण, पुरश्चरण, मोहन, उच्चाटन, जादू, झाड फूँक, भूत पिशाच, दानव-रोग-विजय सबधी मत्र अनेक है। ऐसा नही कि उसमे ऋग्वैदिक देवताओ की स्तुति मे सूक्त या मत्र न कहे गए हो, पर नि सदेह जोर उसके विषयसकलन का विशेषत इसी प्रकार के मत्रो पर है जिनकी साधुता धर्मसूत्रो तथा स्मृतियो ने अमान्य की है। सभवत इसी कारण अथर्ववेद की गणना वेदो मे दीर्घ काल तक नही हो सकी थी। परतु इसमे सदेह नही कि उस दीर्घकाल का अत भी शतपथ ब्राह्मण के निर्माण के पहले ही हो गया था क्योकि उस ब्राह्मण के अतिम खडो तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण और छादोग्य उपनिषद् मे उसका उल्लेख हुआ है। वैसे अथर्ववेदसहिता का निर्माण महाभारत की घटना के बाद ही हुआ होगा। यह न केवल इससे ही प्रमाणित है कि उसके प्रधान सपादक भी और तीनो वेदो की ही भाँति वेदव्यास ही है, वरन् इस कारण भी कि उसमे परीक्षित, जनमेजय, कृष्ण आदि महाभारतकालीन व्यक्तियो का उल्लेख हुआ है।

अथर्ववेद सावधि सस्कृति, धर्म, विश्वास, रोग, ओषधि, उपचार आदि का विश्वकोश है। विषयो की अगणित विविधता उसकी सी अन्य किसी वेद मे नही है। यह सही हे कि उसमे जादू, झाड फूँक के मत्र, शत्रु, दैत्य, रोग आदि के निवारण के लिये प्रभूत मात्रा मे सकलित है, परतु इनके अतिरिक्त उसका प्रचुर विस्तार उन सारे विषयो से सबधित है जिन्हे आज विज्ञान का पद मिला हुआ है। ज्योतिष, गणित और फलित, रोगनिदान और चिकित्सा, स्वास्थ्य विज्ञान, यात्रानिदान, राज्याभिषेक आदि पर तो वह पहला प्रामाणिक ग्रथ है, न केवल भारत का बल्कि ससार का। शत्रुदमन और राज्याभिषेक पर उसमे जो मत्र हे वे पिछले काल तक हिंदू राजाओ के राजतिलक के समय व्यवहृत होते रहे है। उसी वेद मे वह प्रसिद्ध पृथिवीसूक्त भी है जिसमे स्वदेश के प्रति मानव ने पहली बार अपने उद्गार व्यक्त किए है।

अथर्ववेदसहिता बीस 'काडो' मे सकलित है। उसमे ७३० सूक्त और लगभग ६,००० मत्र है। इन मत्रो मे से प्राय १,२०० ऋग्वेद से जैसे के तैसे, अथवा कुछ परिवर्तन के साथ, ले लिए गए है। स्वाभाविक ही ऋग्वेद से लिए गए मत्रो मे से अनेक देवस्तुतियो, दानस्तुतियो, कर्मकाड आदि से सबध रखते है। परतु, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अथर्ववेद का प्रयास कर्मकाड आदि के व्यवहार मे इतना नही जितना जीवन के उचित अनुचित, ऊँच नीच, जनविश्वासो और प्रवृत्तियो को प्रकट करने मे है। इस दृष्टि से इतिहासकार के लिये सभवत वह अन्य तीनो वेदो से कही अधिक महत्व का है। पुराण, इतिहास, गाथा आदि का पहले पहल उल्लेख उसी मे हुआ है और ऐसी अनेक परपराओ की ओर भी वह वेद सकेत करता है जो न केवल ऋग्वेद के विषयकाल से प्राचीनतर है वरन् वस्तुत अति प्राचीन है।

कुछ पडितो का मत है कि ऋग्वेद की विषयपरिधि से बचे हुए सारे मत्र अथर्ववेद में एकत्र कर लिए गए, कुछ का कहना है कि विषयो के वितरण के सबध मे दो दृष्टियो का उपयोग किया गया। एक के अनुसार ऋग्वेद आदि तीनो वेदो में कर्मकाड आदि सबधी उच्चस्तरीय मत्र एकत्र कर लिए गए और बचे हुए मारण-मोहन-उच्चाटन आदि पार्थिव तथा नीचस्तरीय मत्र, दूसरी दृष्टि से, अथर्ववेद मे सकलित हुए।

यदि शतपथ ब्राह्मण के प्रणयन का काल आठवी सदी ई० पू० माने तो प्रमाणत उसमे उल्लिखित होने के कारण अथर्ववेद का सहिता-निर्माणकाल उससे पहले हुआ। आठवी सदी ई० पू० उसकी निचली सीमा हुई

और ऊपरी सीमा उसमे सौ वर्ष पूर्व के भीतर ही इस कारण रखनी होगी कि उसमें महाभारत के व्यक्तियों का उल्लेख हुआ है, और कि उसके सहिताकार वेदव्यास हैं, जो स्वय महाभारतकाल के पूर्वतर पुरुषो में से हैं। यह तो हुआ अथर्ववेद के सहिताकाल का अनुमान, पर उसके मत्रो का निर्माणकाल तो कुछ अश में, एक वर्ग के विद्वानो के अनुसार, ऋग्वेद के मत्रो से भी पहले रखना होगा। वैसे ऋग्वेद के जो मत्र अथर्ववेद मे लिए गए हैं उनका निर्माणकाल तो उस चौथे वेद के उस अश को ऋग्वेद के समानाश के समवर्ती ही कर देता है। फिर यह भी निश्चयपूर्वक कह सकना कठिन है कि अथर्ववेद के वे मत्र ऋग्वेद मे ही लिए गए। कुछ अजब नही कि दोनो के उद्गम वे समान मत्र रहे हो जो सर्वत्र ऋषिकुलो मे प्रचलित थे और जिनमे से कुछ में स्थान-उच्चारण-भेद के कारण सकलन के समय पाठभेद भी हो गए। इन पाठभेदों का प्रमाण स्वय अथर्ववेद है। अथर्ववेद की दो शाखाएँ आज उपलब्ध हैं। एक का नाम पप्पलाद शाखा है, दूसरी का शौनक।

स०ग्र०—एस० पी० पडित अथर्ववेद सहिता, १८९५, मैक्सम्यूलर ए हिस्ट्री ऑव एशेंट सस्कृत लिटरेचर, १८६०, ए० ए० मैक्डॉनेल ए हिस्ट्री ऑव सस्कृत लिटरेचर, विंटरनित्स, एफ० ए० हिस्ट्री ऑव इडियन लिटरेचर। [भ० श० उ०]

अथर्वांगिरस वैदिक ऋषि अथर्वा या अगिरा के अनुवर्ती अथर्वांगिरस के नाम से विख्यात हैं। उनका कार्य यज्ञ यागादि के अनुष्ठानो में अथर्ववेद के विधिवत् पालन की ओर ध्यान देना था। इनमे से कई मत्रो के रचयिता या 'मत्रद्रष्टा' ऋषि भी थे। वैदिक साहित्य से पता चलता है कि स्वर्ग जाने के लिये आदित्यो के साथ इनकी स्पर्धा रहा करती थी। [च० म०]

अथानासियस महान् (ल० २९५-३७३ ई०)—सत अथानासियस का जन्म सभवत सिकदरिया मे हुआ था। व्यक्तिगत साधना के अतिरिक्त ये दो अन्य कारणो—(१) आरियस के विरोध तथा (२) सम्राट् के हस्तक्षेप से गिरजे की धार्मिक स्वतत्रता की रक्षा—से चिरस्मरणीय हैं। ३२५ ई० में यह नीकिया की महासभा मे उपस्थित थे, जहाँ आरियस की शिक्षा को दूषित ठहराया गया था (दे० आरियस)। ३२८ ई० में ये सिकदरिया के बिशप नियुक्त हुए, किंतु आरियस तथा उनके अनुयायियो के षड्यत्रो के फलस्वरूप उनको उस नगर से पाँच बार निर्वासित किया गया। उनकी सौम्यता, उदारता तथा शातिप्रियता के कारण आरियस के बहुत से अनुयायी काथलिक एकता मे लौटे। [का० बु०]

अथाबस्कन भाषा अथाबस्कन (डेने, टिन्नेह अथवा अथापस्कन), उत्तर अमरीकी इडियन समूहो का एक विशाल भाषापरिवार है। इस महादेश की इडियन भाषाओ मे अथाबस्कन परिवार की भाषाओ का प्रचार सबसे अधिक है। यह उत्तर-पश्चिमी कनाडा, अलास्का, प्रशात-महासागर-तट के कतिपय भागो, न्यू मेक्सिको, एरीजोना और टेक्सास के इडियन समूहो मे प्रचलित है।

यह भाषापरिवार सभवत चीनी-तिब्बती (साइनिटिक) शाखा से सबधित है। इस परिवार की विभिन्न उपभाषाओ में अनेक मूलभूत समानताएँ दृष्टिगत होती हैं। अथाबस्कन-भाषी इडियन समूहो मे सामान्यत अपने क्षेत्र के अन्य परिवारो की भाषाएँ बोलनेवाले इडियन समूहो की सस्कृति अपना ली गई है, परतु अन्य सस्कृतियो के स्वीकरण के बाद भी उनकी अपनी भाषा के स्वरूप मे कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ। अथाबस्कन परिवार की भाषाएँ बोलनेवाले इडियन समूहो मे भाषा के अतिरिक्त सस्कृति के अन्य पक्षो में बडा अतर है।

स०ग्र०—मेंडलबाम, डेविड जी० (सपादक) सिलेक्टेड राइटिंग्ज ऑव एडवर्ड सेपिर इन लैंग्वेज, कल्चर ऐंड पर्सनालिटी, बर्कले, युनिवर्सिटी ऑव कैलिफोर्निया प्रेस, १९४९, पृष्ठ १६९-१७८। [श्या० दु०]

अथीना (अथवा अथाना, अथेने या अथेना)—यह अत्तिका प्रदेश एव बियोतिया प्रदेश मे स्थित एथेन्स् नामक नगरो की अधिष्ठात्री देवी थी। इसकी माता मेतिस् (स० मति) ज्यूस् की प्रथम पत्नी थी। मेतिस् के गर्भवती होने पर ज्यूस् को यह भय हुआ कि मेतिस् का पुत्र मुझसे अधिक बलवान् होगा और मुझे मेरे पद से च्युत कर देगा, अतएव वह अपनी गर्भवती पत्नी को निगल गया। इसके उपरात प्रोमेथियस ने कुल्हाडी से उसकी खोपडी को चीर डाला और उसमे से अथीना पूर्णतया शस्त्रास्त्रो और कवच से सुसज्जित सुपुष्ट अगागो सहित निकल पडी। अथीना और पोसेइदॉन में अत्तिका प्रदेश की सत्ता प्राप्त करने के लिये द्वद्व छिड गया। देवताओ ने यह निर्णय किया कि उन दोनो मे से जनता के लिय जो भी अधिक उपयोगी वस्तु प्रदान करेगा उसको ही इस प्रदेश की सत्ता मिलेगी। पोसेइदॉन् ने अपने त्रिशूल से पृथ्वी पर प्रहार किया और पृथ्वी से घोडे की उत्पत्ति हुई। दूसरे लोगो का यह कहना है कि भूविवर से खारे जल का स्रोत फूट निकला। अथीना ने जैतून के पेड को उत्पन्न किया जिसको देवताओ ने अधिक मूल्यवान् आँका। तभी से एथेस् मे अथीना की पूजा चल पडी। इसका नाम पल्लास् अथीने और अथीना पार्थेनॉस् (कुमारी) भी है। एक बार हिफ़ाएस्तस् ने इसके साथ बलात्कार करना चाहा, पर उसको निराश होना पडा। उसके स्खलित हुए वीर्य से एरैक्थियस् का जन्म हुआ और उसको अथीना ने पाला।

अथीना को आधुनिक आलोचक प्राक्-हेलेनिक देवी मानते है, जिसका सबध क्रीत और मिकीनी की पुरानी सभ्यता से था। एथेस् मे उसका मदिर अक्रोपौलिस् मे था। अन्य स्थानो पर भी उसके मदिर और मूर्तियाँ थी। यद्यपि अथीना को युद्ध की देवी माना जाता है एव उसके शिरस्त्राण, कवच, ढाल और भाले इत्यादि को भी देखकर यही धारणा पुष्ट होती है, तथापि वह युद्ध मे भी क्रूरता नही प्रदर्शित करती। इसके अतिरिक्त वह सुमति और सद्बुद्धि की भी देवी है। ग्रीक लोग उसको अनेक कला कौशल की भी अधिष्ठात्री मानते थे। दुर्गासप्तशती मे दुर्गा के जैसे विविध गुण वर्णन किए गए हैं वैसे ही विविध गुण अथीना में भी माने जाते थे। अथीना के सबध मे अनेक उत्सव भी मनाए जाते थे। इनमे से पानाथेनाइया सबसे महान् उत्सव होता था, जो देवी का जन्ममहोत्सव था। यह जुलाई अगस्त मास में हुआ करता था। प्रत्येक चौथे वर्ष यह उत्सव अत्यधिक ठाट बाट के साथ मनाया जाता था। अथीना स्वय कुमारी थी और उसकी पूजा तथा उत्सवो मे कुमारियो का महत्वपूर्ण भाग रहता था। उसके वस्त्र भी कुमारियाँ ही बुना करती थी। ई० पू० ४३८ मे एथेस् के श्रेष्ठ मूर्तिकार फिदियास् ने अथीना की एक विशाल मूर्ति कोरी। यह मूर्ति स्वर्ण और हाथीदाँत की थी और ४० फुट ऊँची थी। यह यूनानी मूर्तिकला का सर्वोत्कृष्ट निदर्शन थी। इसी मूर्तिकार ने अथीना की एक कास्यमूर्ति भी बनाई जो ३० फुट ऊँची थी।

सं०ग्रं०—फार्नेल् कल्ट्स् ऑव दि ग्रीक स्टेट्स्, १९२१, एडिथ् हैमिल्टन् माइथोलॉजी, १९५४, रॉबर्ट ग्रेव्ज् दि ग्रीक मिथ्स्, १९५५। [भो० ना० श०]

अदन अरब का एक बदरगाह है (स्थिति १२° ४५′ उत्तरी अक्षाश ४५° ४′ पूर्वी देशातर), जो बाबुलमदब जलप्रणाली से १०० मील पूर्व एक शात ज्वालामुखी के मुखद्वार पर बसा हुआ है। यह करमुक्त बदरगाह (फ्री पोर्ट) है। जलवायु गरम (औसत वार्षिक ताप १००° फा०) तथा वार्षिक वर्षा २ इच मात्र है। यहाँ पर दो बदरगाह हैं—एक बाह्य, जो नगर की ओर मुखाकित और सिरिह द्वीप से सुरक्षित है तथा दूसरा आतरिक, जो 'अदन बैंक बे' या अरबो द्वारा 'बदर तवाइह' कहलाता है। १८६९ मे स्वेज नहर के बन जाने से यह एक प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र बन गया है। यह जहाजो के कोयला तथा तेल लेने के लिये ठहरने का प्रमुख स्थान भी है। अदन सिगरेट तथा नमक उत्पन्न करता है। जनसख्या ९९,२८५ है (१९५५)।

अदन उपनिवेश—क्षेत्रफल १०८ वर्ग मील, जनसख्या १,३८,४४१ (१९५५)। इसके अतर्गत पेरिम द्वीप (क्षेत्रफल ५ वर्ग मील, जनसख्या २,३४६) तथा कुरिया मुरिया द्वीप (क्षेत्रफल २८ वर्ग मील, जनसख्या २,२००) भी सम्मिलित हैं। ईसा से १,२०० वर्ष पहले से लेकर ५वीं शताब्दी तक यहाँ यमन का अधिकार रहा। १८३९ से १९३२ तक बबई सरकार ने यहाँ पर शासन किया। अत मे १९३७ में यह ब्रिटिश कामनवेल्थ का एक अलग उपनिवेश बन गया। मुख्य आयात तेल, खाद्य पदार्थ तथा तैयार वस्त्र और निर्यात नमक, पेट्रोल, जहाजी सामान, कपास तथा कहवा है।

अदन प्रोटेक्टोरेट—अदन उपनिवेश के पूर्व, पश्चिम तथा उत्तर में

अदन प्रोटेक्टोरेट स्थित है। यहाँ की भाषा अरबी है और धर्म इसलाम। क्षेत्रफल १,१२,००० वर्ग मील और जनसंख्या ६,५०,००० है (१९५५)। [न० ला०]

अदह (ऐस्बेस्टस) कई प्रकार के खनिज सिलीकेटो के समूह को, जो रेशेदार तथा अदह्य होते हैं, कहते हैं। इसके रेशे चमकदार होते हैं। इकट्ठा रहने पर उनका रग सफेद, हरा, भूरा या नीला दिखाई पड़ता है, परतु प्रत्येक अलग रेशे का रग चमकीला सफेद ही होता है। इस पदार्थ मे अनेक गुण हैं, जैसे रेशेदार बनावट, आतनन-बल, कड़ापन, विद्युत् के प्रति असीम रोधशक्ति, अम्ल मे न घुलना और अदहता। इन गुणों के कारण यह बहुत से उद्योगो मे काम आता है।

रासायनिक गुण तथा प्राप्तिस्थान—अदह को साधारण रूप से निम्नलिखित दो जातियो में बाँटा जा सकता है

(१) रेशेदार सरपेंटाइन या क्राइसोटाइल,

(२) ऐंफीबोल समूह के रेशेदार खनिज पदार्थ, जैसे क्रोसिडोलाइट, ट्रेमोलाइट, ऐक्टीनोलाइट तथा ऐंथोफिलाइट आदि।

अदह की सबसे अधिक उपयोग होनेवाली जाति क्राइसोटाइल है। यह पदार्थ सर-पेंटाइन की शिलाओ की पतली धमनियो में पाया जाता है और रासायनिक दृष्टि से साधारण मैगनीशियम सिलीकेट होता है। इन धमनियो मे सफेद या हरे रग का मणिभ रेशमी रेशा पाया जाता है। इस प्रकार के अदह का ७० प्रति शत भाग कैनाडा की क्विवेक खदानों से निकाला जाता है। क्राइसोटाइल-युक्त चट्टान में क्राइसोटाइल-अदह की मात्रा भारानुसार ५ से १० प्रति शत होती है। इस मेल के रेशे बहुत अच्छे, मजबूत, लचीले और आतनन बलवाले होते हैं। इनको आसानी से सूत की तरह कपडो के रूप में बुना जा सकता है। ऐंफीबोल समूह की अपेक्षा इनकी (क्रोसीडोलाइट को छोड़-कर) उष्मारोधी शक्ति कम होती है तथा अम्ल में घुलनशीलता अधिक। भारतवर्ष में उपयुक्त मेल के अदह हिमाचल प्रदेश (शिमला के पास शाली की पहाड़ियो में), मध्य प्रदेश (नरसिंहपुर), आंध्र प्रदेश (कडप तथा करनूलु) तथा मैसूर (शिनगोरा) में पाए जाते हैं।

रेशो को खदान मे से खोदकर और अदहयुक्त पत्थर को मशीन ड्रिलो के द्वारा निकाला जाता है, तत्पश्चात् यांत्रिक विधियो से रेशो को अलग कर लिया जाता है। इसके लिये पत्थर को पहले तोडा तथा सुखाया जाता है, फिर क्रमानुसार घूमनेवाली चक्कियो (क्रशर्स), बेलनो (रोलर्स), कुट्टको (फाइबराइज़र्स), पखो तथा अधोपाती कक्षो (सेटलिंग चेंबर्स) में पहुँचाया जाता है और अंत में रेशो को इकट्ठा कर लिया जाता है।

ऐंफीबोल अदह—इस प्रकार का अदह रेशो के पुज के रूप में पाया जाता है, परतु रेशे बहुधा अनियमित क्रम के होते हैं।

इन धमनियो की लबाई कभी कभी कई फुट तक होती है। इस प्रकार के अदह निम्नलिखित उपजातियो के पाए जाते हैं

(१) ऐंथोफिलाइट—जो लोहे और मैगनीशियम का सिलीकेट होता है। इसमें आतनन बल कम होता है, परतु यह क्राइसोटाइल की अपेक्षा अम्ल में कम घुलता है और इसकी उष्मारोधक शक्ति अधिक होती है। यह बहुत भजनशील होता है और इसलिये इसको कातना बहुत कठिन होता है।

(२) क्रोसीडोलाइट—जो लोहे और सोडियम का सिलीकेट है। यह हलके नीले रग का और रेशम की तरह चमकीला होता है। इसमें आतनन बल पर्याप्त होता है।

(३) ट्रेमोलाइट—जो कैलसियम मैगनीशियम सिलीकेट होता है।

(४) ऐक्टिनोलाइट—जो मैगनीशियम, कैलसियम और लोहे का मिला हुआ सिलीकेट है।

पिछली दोनो उपजातियो के अदह का रग सफेद से हल्का हरा तक होता है। रग का गाढापन लोहे की मात्रा के ऊपर निर्भर है। इनके रेशो में अधिक लोच नही होती, अत ये बुनने के काम में नही आ सकते। ये कठिनता से पिघलते और अम्ल में बहुत कम घुलते है। इनको अम्ल छानने और विद्युत्-उपकरण बनाने के काम में लाया जाता है।

भारतवर्ष में अदह की ऐक्टिनोलाइट तथा ट्रेमोलाइट उपजातियाँ ही बहुतायत से पाई जाती है। इनके मिलने की जगहें निम्नलिखित है

उत्तर प्रदेश (कुमाऊँ तथा गढवाल), मध्य प्रदेश (सागर तथा भडारा), बिहार (मुगेर, बरवाना तथा भानपुर), उडीसा (मयूरभज), सरायकेला, मद्रास (नीलगिरि तथा कोयबटूर) और मैसूर (बैंगलोर, मैसूर तथा हसान)।

खान से निकालना—अदह की खाने मिट्टी की सतह के नीचे मिलती हैं। ५०० से ६०० फुट नीचे तक पाए जानेवाले अदह को खुली खदान विधि से निकाला जाता है। इससे और अधिक गहराई मे पाए जानेवाले अदह के निकालने में वे ही विधियाँ प्रयुक्त होती है जो अन्य धातुओ के लिये अपनाई जाती हैं। भारतवर्ष मे अदह हाथ-बरमी से छेदकर और विस्फोटक पदार्थ तथा हथौडो द्वारा फोडकर निकाले जाते है, परतु दूसरे देशो, जैसे दक्षिणी अमरीका और सयुक्त राष्ट्र (अमरीका) मे, वायुचालित बरमो का प्रयोग किया जाता है। अदह को छेदते समय जल का प्रयोग नही किया जाता, क्योकि पानी के साथ मिलने पर स्पजी (बहुछिद्रमय) मिश्रण बन जाता है, जिसमे से इसको अलग निकालना कठिन हो जाता है। कच्चे अदह को छानने के पश्चात् हथौडो से खूब पीटा जाता है। इससे अदह के रेशो मे लगे हुए पत्थर के टुकडे तथा अन्य वस्तुएँ दूर हो जाती हैं। इसके बाद इसे कुचलनेवाली चक्की मे डाला जाता है। बाद मे रेशो को हवा के झोके से अलग कर लिया जाता है। अत मे हिलते हुए छनने पर डालकर उनके द्वारा शोषक पपो से हवा चूसकर धूलि पूर्णतया खीच ली जाती है। इसके उपरात अदह का मूल्याकन होता है। अदह के निम्नलिखित चार मेल बाजार मे भेजे जाते हैं

(१) एकहरा माल (सिगिल स्टॉक)

(२) महीन माल (पेपर स्टॉक)

(३) सीमेट मे मिलाने योग्य (सीमेंट स्टॉक)

(४) चूरा (शॉर्ट्‌स)

अदह का मूल्याकन इसको जलाने के बाद बची हुई राख के आधार पर किया जाता है।

अदह की उपजाति	जलने के बाद बची हुई राख, प्रति शत
क्रोसिडोलाइट	३ ८
ट्रेमोलाइट	२ ३
एथोफिलाइट	२ २३
एकटिनोलाइट	१ ९९
क्राइसोटाइल	१४ ५

क्षेत्र-परीक्षण—यदि अच्छे अदह को उँगलियो के बीच रगडा जाय तो उससे रेशमी डोर जैसी वस्तु बन जाती है जो खीचने पर शीघ्र टूटती नही। घटिया मेल के अदह के छोटे छोटे टुकडे हो जाते है, वह कठोर भी होता है।

अच्छे अदह के पतले पुज को यदि अँगूठे के नख से धीरे धीरे खीचा जाय तो लचीले तथा अच्छे आतननवाले रेशे मिलते है अथवा वे महीन रेशो में विभाजित हो जाते है, परतु निम्न कोटि के अदह के रेशे बिलकुल टूट जाते हैं। उत्तम कोटि के अदह के रेशो को मसलने से कोमल गोलियाँ बनाई जा सकती है, परतु घटिया अदह के रेशे टूट जाते हैं।

अदह के उपयोग—अदह को सभी प्रकार के विद्युत्‌रोधक अथवा उष्मा-रोधक (इस्युलेटर) बनाने के काम में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त इन्हें अम्ल छानने, रासायनिक उद्योग तथा रग बनाने के कारखानो में इस्तेमाल किया जाता है। लबे रेशो को बुन या बटकर कपडा तथा रस्सी आदि बनाई जाती है। इनसे अग्निरक्षक परदे, वस्त्र और ऐसी ही अन्य वस्तुएँ बनाई जाती है।

भारत में अदह का मुख्य उपयोग अदहयुक्त सीमेंट तथा तत्सबधी वस्तुएँ, जैसे स्लेट, टाइल, पाइप और चादरें बनाने में किया जाता है। १९५२ तथा १९५३ में भारत में अदह का उत्पादन क्रमानुसार ८६५ तथा ७१८ टन था। इन अदह को केवल अवरोधक उपकरण बनाने के काम में ही लाया जा सका, क्योकि वह भजनशील तथा दुर्बल था। भारत को अन्य वस्तुएँ बनाने के लिये अदह का आयात करना पडता है। १९५५, १९५६ तथा १९५७ में क्रमानुसार १३,००० टन, १५,१६० टन और १३,९२२ टन अदह बाहर से आया था। भारत को इसके लिये प्रति वर्ष लगभग दो करोड रुपया देना पडता है। [ज० वि० ला०]

अदाद बाबुली-असूरी देवपरिवार का तूफान का देवता रम्मान। 'रम्मान' नाम इस देवता का बाबुल में प्रचलित था और 'अदाद' असूरिया में। अनुकूल रहने पर वह जल बरसाकर भूमि उर्वर करता है, पर साथ ही क्रुद्ध होने पर वह तूफान चलाकर विध्वंस भी करता है। मूर्तियों मे उसके हाथ में वज्र या बिजली होती है। अदाद का उल्लेख अभिलेखो मे प्राय सूर्यदेवता शमाश के साथ ही हुआ है। अदाद की पत्नी का नाम शाला है। [भ० श० उ०]

अदालत अरबी भाषा का शब्द जिसका समानार्थवाची हिंदी शब्द 'न्यायालय' है। सामान्यतया अदालत का तात्पर्य उस स्थान से है जहाँ पर न्याय-प्रशासन-कार्य होता है, परतु बहुधा इसका प्रयोग न्यायाधीश के अर्थ मे भी होता है। बोलचाल की भाषा मे अदालत को कचहरी भी कहते है।

भारतीय न्यायालयो की वर्तमान प्रणाली किसी विशेष प्राचीन परपरा से सबद्ध नही है। मुगल काल मे दो प्रमुख न्यायालयो का उल्लेख मिलता हे . 'सदर दीवानी अदालत' तथा 'सदर निजाम-ए-अदालत', जहाँ क्रमश व्यवहारवाद तथा आपराधिक मामलो की सुनवाई होती थी। सन् १८५७ ई० के असफल स्वातत्र्ययुद्ध के पश्चात् अग्रेजी न्याय-प्रशासन-प्रणाली के आधार पर विभिन्न न्यायालयो की सृष्टि हुई। इग्लैड मे स्थित "प्रिवी काउसिल" भारत की सर्वोच्च न्यायालय थी। सन् १९४७ ई० में देश स्वतत्र हुआ और तत्पश्चात् भारतीय सविधान के अतर्गत सपूर्ण-प्रभुत्व-सपन्न गणराज्य की स्थापना हुई। उच्चतम न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) देश का सर्वोच्च न्यायालय बना।

न्यायालयो को उनके भेदानुसार विभिन्न वर्गों मे बाँटा जा सकता है, जैसे उच्च तथा निम्न न्यायालय, अभिलेखन्यायालय तथा वे जो अभिलेखन्यायालय नही है, व्यावहारिक, राजस्व तथा दडन्यायालय, प्रथम न्यायालय तथा अपील न्यायालय और सैनिक तथा अन्यान्य न्यायालय।

उच्चतम न्यायालय देश का सर्वोच्च अभिलेखन्यायालय है। प्रत्येक राज्य मे एक अभिलेख उच्च न्यायालय है। राज्य के समस्त न्यायालय उसके अधीन है। राजस्व पार्षद (बोर्ड ऑव रेवेन्यू) राजस्व सबधी मामलो का प्रादेशिक सर्वोच्च अभिलेखन्यायालय है। कतिपय मामलो को छोडकर उपर्युक्त न्यायालयो को अपील सबधी क्षेत्राधिकार है।

जिले मे प्रधान न्यायालय जिला न्यायाधीश का है। अन्य न्यायालय कार्यक्षेत्रानुसार इस प्रकार है (१) व्यावहारिक न्यायालय, जैसे सिविल जज तथा मुसिफ के न्यायालय और लघुवादन्यायालय (कोर्ट ऑव स्माल काजेज), (२) दडन्यायालय, जैसे जिलादडाधिकारी (डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट), अन्य दडाधिकारियो के न्यायालय तथा सत्रन्यायालय (कोर्ट ऑव सेशस), (३) राजस्वन्यायालय, जैसे जिलाधीश (कलक्टर) तथा आयुक्त (कमिश्नर) के न्यायालय।

पचायती अदालतें—ये सीमित क्षेत्राधिकारवाले ग्रामन्यायालय है। [श्री० अ०]

अदिति ऋग्वेद की मातृदेवी, जिसकी स्तुति मे उस वेद मे बीसो मत्र कहे गए है। वह मित्रावरुण, अर्यमन्, रुद्रो, आदित्यो, इद्र आदि की माता है। इद्र और आदित्यो को शक्ति अदिति से ही प्राप्त होती है। उसके मातृत्व की ओर सकेत अथर्ववेद (७, ६, २) और वाजसनेयिसहिता (२१, ५) मे भी हुआ है। इस प्रकार उसका स्वाभाविक स्वत्व शिशुओ पर हे और ऋग्वैदिक ऋषि अपने देवताओ सहित बारबार उसकी शरण जाता है एव कठिनाइयो मे उससे रक्षा की अपेक्षा करता है (ऋ० १०, १००, १, ६४, १५)।

अदिति अपने शाब्दिक अर्थ मे बधनहीनता और स्वतत्रता की द्योतक है। 'दिति' का अर्थ 'बँधकर' और 'दा' का 'बाँधना' होता है। इसी से पाप के बधन से रहित होना भी अदिति के सपर्क से ही सभव माना गया हे। ऋग्वेद (१, १६२, २२) मे उससे पापो से मुक्त करने की प्रार्थना की गई है। कुछ अर्थों मे उसे 'गो' का भी पर्याय माना गया है। ऋग्वेद का वह प्रसिद्ध मत्र (८, १०१, १५)—"मा गा अनागा अदिति वधिष्ट"—गाय रूपी अदिति को न मारो'—जिसमे गोहत्या का निषेध माना जाता है—इसी अदिति से सबध रखता है। इसी मातृदेवी की उपासना के लिये किसी न किसी रूप मे बनाई मृण्मूर्तियाँ प्राचीन काल मे सिंधुनद से भूमध्यसागर तक बनी थी। [भ० श० उ०]

अदीस अबाबा (ऐडिस अबाबा) समुद्रतल से ८,००० फुट की ऊँचाई पर (९°१' उत्तर अ०, ३८° ५६' पूर्व दे०) स्थित इथिओपिया की राजधानी है। यहाँ पर अधिकतम तथा न्यूनतम ताप का औसत अतर ७३° फा० तथा औसत वार्षिक वर्षा ५० इच है। यह रेल (लबाई ४८६ ५ मील) द्वारा जीबुती से सबद्ध है। यहाँ की अनुमानित जनसख्या लगभग ४,००,००० है (१९५५)।

इसकी मुख्य दूकाने, कार्यालय तथा कारखाने नगर के मध्य मे स्थित है। यहाँ का राजप्रासाद 'गेबी' नाम से प्रसिद्ध है। इस नगर की स्थापना मेनेलिक द्वितीय द्वारा १८८७ मे अबिसीनिया की नई राजधानी के रूप मे हुई, जिसका अदीस अबाबा (अर्थ 'नया फूल') नामकरण उसकी पत्नी ने किया। इटली देश के अधिकारकाल (१९३६-४१) मे यहाँ पर अनेक मोटर मार्ग बनाए गए।

यहाँ पर दस माध्यमिक विद्यालय है, जिनमे एक महिलाओ के लिये है। इनके अतिरिक्त औद्योगिक, व्यावसायिक तथा शिल्प सस्थाएँ एव इजीनियरिंग कालेज भी है। विश्वविद्यालय की स्थापना १९५० ई० मे हुई थी। इसके समीप ही होलेटा मे सैनिक कालेज है।

इथिओपिया देश मे जो थोडे बहुत उद्योग धधे है उनमे से अधिकाश इस नगर मे या इसके निकट ही पाए जाते है। यहाँ पर आटा, रुई, बर्फ तथा मशीने तैयार करने के कारखाने है। [न० ला०]

अदोनी आध्र प्रदेश के कर्नूलु जिले का एक ताल्लुका तथा नगर है। नगर १५°३८' उ० अक्षाश तथा ७७°१७' पूर्वी देशातर पर, मद्रास से ३०७ मील दूर, बैंगलोर से सिकदराबाद जानेवाले राजमार्ग पर स्थित है तथा गुटकल जकशन से रेलमार्ग द्वारा सबद्ध है। यहाँ पर १४वी शताब्दी के विजयनगर नरेशो का एक प्रसिद्ध दुर्ग चट्टानी पहाडो के ऊपर स्थित है। १५६८ ई० मे बीजापुर के सुल्तान ने इसको अपने अधीन कर लिया। तब से यह मुसलमानो के आधिपत्य मे रहा तथा सन् १८०० ई० मे अग्रेजो के अधिकार मे चला गया। इस प्रसिद्ध दुर्ग के अवशेष पाँच पहाडियो पर स्थित है तथा पर्याप्त क्षेत्रफल घेरे हुए है। इन पाँच मे से दो पहाडियो के नाम क्रमश बाराखिला तथा तालीबदा है। बाराखिला के शिखर पर प्राचीन शस्त्रो के रखने का स्थान तथा एक अद्भुत शिलातोप है। इस दुर्ग के नीचे अदोनी नगर बसा हुआ है। यह एक औद्योगिक केंद्र हे तथा यहाँ पर कपास-अन्वेषण-शाला भी है।

अदोनी अपने जिले मे कपास के व्यापार का प्रधान केंद्र है। यहाँ रुई तैयार करने के पाँच कारखाने है। सूत कातने तथा रेशम बुनने के भी प्रसिद्ध उद्योग यहाँ है। यहाँ के सूती कालीन अपने रग तथा टिकाऊपन के लिये बहुत प्रसिद्ध है। १८६७ ई० मे यहाँ नगरपालिका स्थापित हुई। यह दक्षिणी रेलवे पर एक स्टेशन भी है। जनसख्या ५३,५८३ है (१९५१)। [न० ला०]

अदृष्ट नैयायिको के अनुसार कर्मों द्वारा उत्पन्न फल दो प्रकार का होता है। अच्छे कार्यो के करने से एक प्रकार की शोभन योग्यता उत्पन्न होती है जिसे 'पुण्य' कहते है। बुरे कामो के करने से एक प्रकार की अशोभन योग्यता उत्पन्न होती है जिसे 'पाप' कहते है। पुण्य और पाप को ही 'अदृष्ट' कहते है, क्योकि यह इद्रियो के द्वारा देखा नही जा सकता। इसी अदृष्ट के माध्यम से कर्मफल का उदय होता है। जड अदृष्ट का प्रेरक होने से न्यायमत में ईश्वर की सिद्धि माना जाता है। [ब० उ०]

अद्वय द्वित्व भाव से रहित। महायान बौद्ध दर्शन मे भाव और अभाव की दृष्टि से परे ज्ञान को 'अद्वय' कहते है। इसमें अभेद का अवस्थान नही होता। इसके विपरीत अद्वैत भेदरहित सत्ता का बोध कराता हे। 'अद्वैत' में ज्ञान सत्ता की प्रधानता होती है और 'अद्वय' मे चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' ज्ञान की प्रधानता मानी जाती है। माध्यमिक दर्शन अद्वयवादी और शाकर वेदात तथा विज्ञानवाद अद्वैतवादी दर्शन माने जाते है।

स०ग्र०—भट्टाचार्य, विधुशेखर आगमशास्त्र, मूर्ति, टी० आर० वी० सेंट्रल फिलासफी ऑव बुद्धिज्म'। [रा० पा०]

अद्वैतवाद (ऐव्सोल्यूटिज्म) दर्शन की वह धारा जिसमे एक तत्व को ही मूल माना जाता है। वेद तथा उपनिषदो में एक पुरुष या एक ब्रह्म का सर्वप्रथम प्रतिपादन मिलता है। गीता तथा पुराणों में इस सिद्धात का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। वादरायणकृत ब्रह्मसूत्र में भी कुछ व्याख्याताओं के अनुसार अद्वैतवाद प्रतिपादित है। बौद्धदर्शन का महायान प्रस्थान यद्यपि अद्वयवादी कहा जाता है, किंतु अद्वयवाद और अद्वैतवाद में भेद नगण्य है। गौडपाद (७ वी शताब्दी) अद्वैतवाद के सर्वप्रथम ज्ञानप्रतिपादक है, जिन्होने तार्किक दृष्टि से अद्वैतसिद्धात का प्रतिपादन किया। भर्तृहरि तथा मडन मिश्र ने भी गौडपाद का अनुसरण किया। अद्वैतवाद के इतिहास मे शकराचार्य का नाम सर्वोच्च माना जाता है। उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर आचार्य शकर ने अद्वैतवाद को अत्यत दृढ भूमिका प्रदान की। शकर के वाद वार्तिककार सुरेश्वर, भामतीकार वाचस्पति, पद्मपाद, अप्पय्य दीक्षित, श्रीहर्ष, मधुसूदन सरस्वती आदि ने शाकर अद्वैतवाद की अनेक कारिकाएँ प्रस्तुत की। केवल वैदिक परपरा मे ही नही, अवैदिक परपरा में भी अद्वैतवाद का विकास हुआ। शैव और शाक्त तत्रो मे से अनेक तत्र अद्वैतवादी हैं। महायान दर्शन को आधार मानकर चलनेवाले सिद्ध योगी सरहपाद आदि अद्वैतवादी ही हैं।

पश्चिम में अद्वैतवाद का आभास सर्वप्रथम सुकरात के दर्शन में मिलता है। अफलातून (प्लेटो) के दर्शन में अद्वैतवाद बहुत स्पष्ट हो जाता है। मध्ययुगीन नव्य अफलातूनी दर्शन तथा ईसाई सतो के विचारो से परिपुष्ट होता हुआ अद्वैतवाद इमानुएल काट के दर्शन के रूप मे विकसित होता है। काट ने ही अद्वैतदर्शन को वैज्ञानिक तर्क से पुष्ट किया और हीगेल ने काट द्वारा निर्मित भूमिका पर अद्वैतवाद का सुदृढ भवन खडा किया। हीगेल के वाद ब्रैडले, वोसाके, ग्रीन आदि ने अद्वैत को अनेक दृष्टियो से परखा। अव भी पश्चिम में अद्वैतवादी विचारक विद्यमान हैं।

वर्तमान युग के भारतीय विचारको मे स्वामी विवेकानद, श्री अरविंद घोष प्रभृति चिंतको ने अद्वैतवाद का ही परिपोषण किया है।

यद्यपि देश काल के भेद से तथा मनोवैज्ञानिक कारणो से अद्वैतवाद के नाना रूप मिलते हैं, तथापि उनमे प्राय गौण विवरणो के सिवाय वाकी सारी वातें समान हैं। यहाँ विभिन्न अद्वैतवादो में पाई जानेवाली समान विशेषताओ का ही उल्लेख सभव है।

अनुभव से हम नाना रूपात्मक जगत् का ज्ञान करते हैं। हमारा अनुभव सर्वदा सत्य नही होता। उसमें भ्रम की सभावना वनी रहती है। भ्रम सर्वदा दोष से उत्पन्न होता है। यह दोष ज्ञाता और ज्ञेय दोनो मे से किसी मे रह सकता है। ज्ञातागत दोप या अज्ञान विषय के वास्तविक ज्ञान का वाधक है। हमारे अनुभव का प्रसार दिक्काल की परिधि मे ही होता है। दिक्काल से परे वस्तु का ज्ञान सभव नही है। अत ज्ञाता वस्तु को दिक्कालसापेक्ष देखता है, वस्तु को अपने आपमे (थिंग-इन-इटसेल्फ) वह नही देख पाता। इस दृष्टि से सारा ज्ञान अपूर्ण है। ज्ञेय वस्तु भी सर्वदा स्वतत्र रूप से नही रह सकती। एक वस्तु दूसरी वस्तु पर आधारित है, अत वस्तु की निरपेक्ष सत्ता सभव नही। सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, अत वे अपनी सत्ता के लिये अपने कारणो पर निर्भर करती हैं और वे कारण अपने उत्पादको पर निर्भर हैं। इसलिये वस्तु का ज्ञान भी ज्ञेय की दृष्टि से अधूरा है।

सापेक्ष तत्व एक दूसरे के सहारे नही रह सकते। उनकी स्थिति के लिये एक निरपेक्ष आधार की आवश्यकता है। ज्ञाता की दृष्टि से यह आधार दिक्काल की परिधि से परे हो और ज्ञेय की दृष्टि से कारणातीत हो। यदि ऐसा कोई आधार सभव है तो उसे हम जान नही सकते, क्योकि हमारा ज्ञान दिक्काल तक ही सीमित है। साथ ही वह आधार कारणातीत है, वह स्वय वस्तु का कारण वनकर कार्यसापेक्ष नही हो सकता। अत उससे किसी कार्य की उत्पत्ति भी नही होगी। ऐसे निरपेक्ष तत्व अनेक नही हो सकते, क्योकि अनेकता भी एकसापेक्ष है, अत अनेकता मानने पर निरपेक्षता नष्ट हो जायगी।

यदि हम तर्क के द्वारा ऐसे तत्व की कल्पना तक पहुँचते हैं जो अज्ञेय और कारणातीत है तो उस तत्व का इस ससार से कोई सवध न होना चाहिए। किंतु कारणातीत होते हुए भी उस तत्व को ससार का मूल इसलिये माना गया है कि वही तो एक निरपेक्ष आधार है जिसपर सापेक्ष ससार की सृष्टि होती है। उस आधार के विना ससार का अस्तित्व असभव है। ज्ञाता और ज्ञेय उस एक तत्व के ही सीमित से दिखलाई देनेवाले रूप हैं। इनसे यदि ससीमता हटा दी जाय तो ये परस्पर भदरहित होकर एकाकार हो जायँगे। इनकी ससीमता ही इनके उत्पादन और विनाश का कारण है। सीमा का यह आवरण भी कोई सत्य आवरण नही है। यह 'अधो के हाथ' की तरह एकदेशीय और असत् है। इस सीमा में आग्रह का विनाश होना ही तत्व के आवरण का नाश होना है।

आवरण का नाश सत्कर्मों के अनुष्ठान से, योग द्वारा चित्तशुद्धि से अथवा ज्ञानमात्र से होता है। इस दृष्टि से अनेक मार्ग प्रचलित होते हैं। इन मार्गो का उद्देश्य एक है और वह है वस्तु की ससीमता में आग्रह का विनाश। आग्रह के नाश के वाद वस्तु वस्तु के रूप में नही रहेगी और ज्ञाता ज्ञाता के रूप मे नही होगा। सव एक तत्व होगा जिसमें ज्ञाता ज्ञेय, स्व पर का भेद किसी प्रकार सभव नही है। इस अभेद के कारण ही उस अवस्था को वाणी और मन से परे कहा गया है। 'नेति नेति' कहने से केवल ससीम वस्तुओ की ससीमता का अभावप्रख्यापन मात्र सभव है।

इस तत्व को सत्ता, ज्ञान या आनद की दृष्टि से देखने के कारण सत्, चित् या आनदात्मक ब्रह्म या शिव कहते हैं। सकल प्रपच की आधारभूता शक्ति की दृष्टि से देखने पर यही शिवा या शक्ति नाम से अभिहित है। मन वाणी से परे होने के कारण शून्य, ज्ञान का चरम आधार होने के कारण विज्ञप्ति, वाक् और अर्थ का प्रतिष्ठापक होने के कारण स्फोट या शब्दतत्व, समग्र प्रपच मे अनुस्यूत होकर निवास करने के कारण पूर्ण (ऐब्सोल्यूट) इसी एक तत्व के दृष्टिभेद से अनेक नाम हैं। यह भी विडवना ही है कि नाम-रूप-जाति से परे वर्तमान तत्व को भी नाम दिया जाता है। किंतु यह नाम भी शब्दव्यवहार का सहायक होने के कारण सापेक्ष अत मिथ्या है। अद्वैतवाद का चरम दर्शन मौन है।

स०ग्र०—उपनिषद् ब्रह्मसूत्र, शाकर भाष्य, नागार्जुन मूलमाध्यमिक कारिका, भर्तृहरि वाक्यपदीय, अभिनवगुप्त परमार्थसार, प्लेटो पारमेनाइडीज, काट क्रिटीक ऑव प्योर रीज़न, हीगल कम्प्लीट वर्क्स ऑव हीगेल, ब्रैडले अपियरेंस ऐंड रियलिटी, डा० राधाकृष्णन् वेदात ऑव शकर ऐंड रामानुज, अरविंद लाइफ डिवाइन। [रा० पा०]

अध:शैल पृथ्वी का अभ्यतर पिघले हुए पाषाणो का आगार है। ताप एव ऊर्जा का सकेंद्रण कभी कभी इतना उग्र हो उठता है कि पिघला हुआ पदार्थ (मैग्मा) पृथ्वी की पपडी फाडकर दरारो के मार्ग से वाहर निकल आता है। दरारो मे जमे मैग्मा के इन शैलपिंडो को 'नितुन्न शैल' (इट्रूसिव) कहते हैं। उन विराट् पर्वताकार नितुन्न शैलो को, जिनका आकार गहराई के साथ साथ वढता चला जाता है और जिनके आधार का पता ही नही चल पाता है, अध शैल (वैथोलिथ) कहते हैं।

पर्वतनिर्माण की घटनाओ से अध शैलो का गभीर सवध है। विशाल पर्वतशृखलाओ के मध्यवर्ती अक्षीय भाग मे अध शैल ही अवस्थित होते हैं। हिमालय की केंद्रीय उच्चतम श्रेणियाँ ग्रेनाइट के अध शैलो से ही निर्मित हैं।

अध शैलो का विकास दो प्रकार से होता है। ये पूर्वस्थित शैलो के पूर्ण रासायनिक प्रतिस्थापन (रिप्लेसमेंट) एव पुन स्फाटन (री-क्रिस्टैलाइज़ेशन) से निर्मित होते हैं और इसके अतिरिक्त अधिकाश छोटे मोटे नितुन्न शैल पृथ्वी की पपडी फाडकर मैग्मा के जमने से वनते हैं।

अध शैलो की उत्पत्ति के विषय में स्थान का प्रश्न अति महत्वपूर्ण है। क्लूस, इडिंग्स आदि विशेषज्ञो का मत है कि पूर्वस्थित शैल आरोही मैग्मा द्वारा ऊपर एव पार्श्व की ओर विस्थापित कर दिए गए हैं, परतु डेली, कोल एव वैरल जैसे विद्वानो का मत है कि आरोही मैग्मा ने पूर्वस्थित शैलो को सशरीर घोलकर आत्मसात् कर लिया या क्रमश कुतर कुतरकर सरदन (कोरोज़न) द्वारा अपने लिये मार्ग वनाया। [र० च० मि०]

अधिकार अधिनियम, अधिकारपत्र अंग्रेजी सविधान के विकास में 'मैग्ना कार्टा' के वाद सवसे अधिक महत्व की मजिल। यह अधिनियम

ब्रिटिश पार्ल्यमेंट (नमद) द्वारा १६ दिसंबर, १६८६ को पास हुआ और विलियम तथा मेरी ने तत्काल इसे अपनी राजकीय स्वीकृति देकर संविधान का अधिनियम बना दिया। इस अधिनियम का पूरा शीर्षक मूल में इस प्रकार दिया हुआ है—प्रजा के अधिकारों और स्वतंत्रता की घोषणा तथा सिंहासन का उत्तराधिकार व्यवस्थित करनेवाला अधिनियम। ब्रिटिश लोकसभा द्वारा नियुक्त एक समिति ने 'अधिकार की घोषणा' नामक जो पत्रक प्रस्तुत किया था और जिसे राजदपति ने १६ फरवरी, १६८६ को अपनी स्वीकृति दी थी वही घोषणा इस अधिनियम की पूर्ववर्ती थी और इसकी धाराएँ प्राय पूर्णत उसके अनुरूप थी। 'अधिकार की घोषणा' में उन शर्तों का भी परिगणन था जिनके अनुसार राजदपति को उत्तराधिकार मिला था और जिन्हें पालन करने की उन्होंने शपथ ली थी। इन दोनों अधिनियमों का प्रधान महत्व अंग्रेजी संविधान में राजकीय उत्तराधिकार निश्चित करने में है।

अधिकार अधिनियम वस्तुत उन अधिकारों का परिगणन करता है जिनकी अभिप्राप्ति के लिये अंग्रेज जनता मैग्ना कार्टा (१२१५ ई०) की घोषणा के पहले से ही संघर्ष करती आई थी। इस अधिनियम की धाराएँ इस प्रकार हैं

पार्लमेंट (संसद) की अनुमति के बिना विधिनियमों या कानून का निलंबन अथवा अनुपयोग अवैध होगा।

पार्लमेंट की अनुमति के बिना आयोग न्यायालयों का निर्माण, परराधिकार अथवा राजा की आवश्यकता के नाम पर कर लगाना और शांतिकाल में स्थायी सेना की भरती के कार्य अवैध होंगे।

प्रजा को राजा के यहाँ आवेदन करने और, यदि वह प्रोटेस्टेंट हुई तो स्वरक्षा के लिये, उसे हथियार बाँधने का अधिकार होगा।

पार्लमेंट के सदस्यों का निर्वाचन निर्बाध होगा तथा संसद में उन्हें भाषण की स्वतंत्रता होगी और उस भाषण के संबंध में पार्लमेंट के बाहर कोई प्रश्न नहीं उठाया जा सकेगा, न वक्ता पर किसी प्रकार का मुकदमा चलाया जा सकेगा।

इस अधिनियम ने जमानत और जुरमाने के बोझ को कम किया और इस संबंध की अत्यधिक रकम को अनुचित ठहराया। साथ ही इसने क्रूर दंडों की निंदा की और घोषित किया कि प्रस्तुत सूची में दर्ज नामवाले जूरर ही जूरी के सदस्य हो सकेंगे और देशद्रोह के निर्णय में भाग लेनेवाले सदस्यों के लिये तो भूमि का 'कापीराइट' (स्वामित्व) होना भी अनिवार्य होगा।

इस अधिनियम ने अपराध सिद्ध होने के पूर्व जुरमाने की रीति को अवैध करार दिया और कानून की रक्षा तथा राजनीतिक कष्टों के निवारण के लिये पार्लमेंट के त्वरित अधिवेशन की व्यवस्था की।

अधिकार अधिनियम अथवा अधिकारपत्र शब्द का प्रयोग संयुक्त राज्य, अमरीका के संविधान में भी हुआ है। यह उन नियमों की ओर संकेत करता है जिनका संबंध जनता के आधारभूत अधिकारों से है और जो व्यक्ति-राज्य तथा संघ दोनों को समान रूप से प्रतिबंधित करते हैं।

सं०ग्रं०—डब्ल्यू० स्टब्स दि कांस्टिट्यूशनल हिस्ट्री ऑव इंग्लैंड, १९२६, जी० एन० क्लार्क दि लेटर स्टुअर्ट्स, १६६०-१७१४, १९३४, डी० एल० कीर कांस्टिट्यूशनल हिस्ट्री ऑव मार्डन ब्रिटेन, १४८५–१९३७, १९५०। [भ० श० उ०]

अधिरथ अंग का राजा था जिसने कर्ण का पालन किया था, उसके जाति का सूत (रथकार) होने के कारण कर्ण भी अपने को सूतपुत्र समझता था। महाभारत के एक संस्करण के अनुसार वह धृतराष्ट्र का सारथि था। ऐसा अनुमान होता है कि वह धृतराष्ट्र का सामंत था। [च० म०]

अधिराजेंद्र चोड यह चोड राजा वीरराजेंद्र चोड का पुत्र था, जो ल० १०७० ई० के उसके मरने पर चोडमंडल का राजा हुआ। तीन वर्ष वह युवराज के पद पर रहा था और युवराज का पद चोडों में बड़ी कार्यशीलता का था। वह राजा का निजी सचिव भी होता था और सर्वत्र उसका प्रतिनिधान करता था। अधिराजेंद्र चोड का शासनकाल बहुत थोड़ा रहा। राज्य में काफी उथल पुथल थी और अपने संबंधी (बहनोई) विक्रमादित्य षष्ठ की सहायता के बावजूद वह राज्य की स्थिति न सँभाल सका और मारा गया। [भ० श० उ०]

अधिवक्ता (ऐडवोकेट)—ऐडवोकेट के अनेक अर्थ हैं, परंतु हिंदी में उसका प्रयोग 'अधिवक्ता' के लिये होता है। ऐडवोकेट का तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जिसको न्यायालय में किसी अन्य व्यक्ति की ओर से उसके हेतु या वाद का प्रतिपादन करने का अधिकार प्राप्त हो। भारतीय न्यायप्रणाली में ऐसे व्यक्तियों की दो श्रेणियाँ हैं (१) ऐडवोकेट तथा (२) वकील। ऐडवोकेट के नामांकन के लिये भारतीय 'बार काउंसिल' अधिनियम के अंतर्गत प्रत्येक प्रादेशिक उच्च न्यायालय के अपने अपने नियम हैं। उच्चतम न्यायालय में नामांकित ऐडवोकेट देश के किसी भी न्यायालय के समक्ष प्रतिपादन कर सकता है। वकील उच्चतम या उच्च न्यायालय के समक्ष प्रतिपादन नहीं कर सकता। ऐडवोकेट जेनरल अर्थात् महाधिवक्ता शासकीय पक्ष का प्रतिपादन करने के लिये प्रमुखतम अधिकारी है। [श्री० अ०]

अधिहृषता (ऐलर्जी) शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वान पिरकेट ने बाह्य पदार्थ से शरीर की प्रतिक्रिया करने की शक्ति में हुए परिवर्तन के लिये किया था। कुछ लेखक इस पारिभाषिक शब्द को हर प्रकार की अधिहृषता से संबंधित करते हैं, किंतु दूसरे लेखक इसका प्रयोग केवल संक्रामक रोगों से संबंधित अधिहृषता के लिये ही करते हैं। प्रत्येक अधिहृषता का मूलभूत आधार एक ही है, इसलिये अधिहृषता शब्द का प्रयोग विस्तृत क्षेत्र में ही करना चाहिए।

यदि किसी गिनीपिग की अधस्त्वचा में घोड़े का सीरम (रुधिर का द्रव भाग, जो जमनेवाले भागों के जम जाने पर अलग हो जाता है) प्रविष्ट किया जाय और दस दिन बाद उसी गिनीपिग को उसी सीरम की पहले से बड़ी मात्रा दी जाय, तो उसके अंगों में कंपन उत्पन्न हो जाता है (अर्थात् उसे पेशी-तंतु-संकुचन की बीमारी अकस्मात् हो जाती है)। यह साधारण प्रयोग यह सिद्ध करता है कि गिनीपिग की ऊतियों (टिशू) में पहले इंजेक्शन के बाद घोड़े के सीरम के लिये अधिहृषता उत्पन्न हो जाती है। सीरम उतनी ही मात्रा में यदि एक अहर्षित गिनीपिग को दिया जाय तो उसपर कुछ भी कुप्रभाव नहीं पड़ेगा। संक्रामक जीवाणुओं के प्रति विशेष अधिहृषता अनेक रोगों का लक्षण है। प्रतिक्रिया की तीव्रता के अनुसार मनुष्यों की अधिहृषता तात्कालिक और विलंबित दो प्रकार की होती है। तात्कालिक प्रकार में उद्दीप्त करनेवाले कारकों (फैक्टर्स) के संपर्क में आने के कुछ ही क्षणों बाद प्रतिक्रिया होने लगती है। सीरम में बहते हुए प्रतिजीव (ऐंटीबॉडीज) दर्शाए भी जा सकते हैं। यह क्रिया संभवत हिस्टैमाइन नामक पदार्थ के बनने से होती है।

विलंबित प्रकार में प्रतिक्रियाएँ विलंब से होती हैं। प्रतिजीव सीरम में दर्शाए नहीं जा सकते। इन प्रतिक्रियाओं में कोशिकाओं को हानि पहुँचती है और हिस्टैमाइन उत्पन्न होने से उसका संबंध नहीं होता। विलंबित प्रकार की अधिहृषता संस्पर्ग त्वचार्ति (छूत से उत्पन्न त्वक्प्रदाह) और तपेदिक जैसे रोगों में होती है।

कुछ व्यक्तियों में संभवत जननिक कारकों (जेनेटिक फैक्टर्स) के फलस्वरूप कई प्रोटीन पदार्थों के प्रति अधिहृषता हो जाती है। इस प्रकार की अधिहृषता ऐटोपी कहलाती है। इसके कारण परागज ज्वर (हे फीवर) और दमा जैसे रोग होते हैं (देखें दमा)। [श्री० ध० अ०]

अध्यक्ष आधुनिक रूप में अध्यक्ष (स्पीकर) के पद का प्रादुर्भाव मध्य युग (१३वीं और १४वीं शताब्दी) में इंग्लैंड में हुआ था। उन दिनों अध्यक्ष राजा के अधीन हुआ करते थे। सम्राट् के मुकाबले में अपने पद की स्वतंत्र सत्ता का प्रयोग तो उन्होंने धीरे धीरे १७वीं शताब्दी के बाद ही आरंभ किया और तब से ब्रिटिश लोकसभा (हाउस ऑव कामन्स) के मुख्य प्रतिनिधि और प्रवक्ता के रूप में इस पद की प्रतिष्ठा और गरिमा बढ़ने लगी। इस प्रकार ब्रिटिश संसद् में अध्यक्ष के मुख्य कृत्य (क) सभा की बैठकों का सभापतित्व करना, (ख) सम्राट् और लार्ड सभा ('हाउस ऑव लार्ड्स') इत्यादि के प्रति इसके प्रवक्ता और प्रतिनिधि का काम करना और (ग) इसके अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षा करना है।

अन्य देशों ने भी ग्रेट ब्रिटेन के नमूने पर नमदीय प्रणाली अपनाई और उन सबमें थोड़ा बहुत ब्रिटिश अध्यक्ष के ढंग पर ही अध्यक्ष पद कायम किया

गया। भारत ने भी स्वतंत्र होने पर संसदीय शासनपद्धति अपनाई और संसदीय प्रथा में परंपरागत रीति व्यवस्था की। किंतु भारत में अध्यक्ष का पद बहुत पुराना है और सन् १९२१ से चला आ रहा है। उस समय इसको (विधानसभा अधिकारी) विधानसभा का 'प्रधान' (प्रेसिडेंट) कहा जाता था। १९१९ के संविधान के अंतर्गत पुरानी केंद्रीय विधानसभा का सबसे पहला प्रधान सर फ्रेडरिक ह्वाइट को, संसदीय प्रक्रिया और पद्धति में उनके विशेष ज्ञान के कारण, मनोनीत किया गया था, किंतु उनके बाद श्री विट्ठलभाई पटेल और उनके बाद के सब 'प्रधान' सभा द्वारा निर्वाचित किए गए थे। इन अधिष्ठाताओं ने भारत में संसदीय प्रक्रिया और कार्यप्रणाली की नींव डाली, जो अनुभव के अनुसार बदली गई और जिसे वर्तमान संसद् ने अपनाया।

लोकसभा (भारतीय संसद् का अवर सदन, 'लोअर हाउस') का अध्यक्ष सामान्य निर्वाचनों के बाद प्रत्येक नई संसद् के आरभ में सदस्यों द्वारा अपने में से निर्वाचित किया जाता है। वह दुबारा निर्वाचन के लिये खड़ा हो सकता है। सभा के अधिष्ठाता के रूप में उसकी स्थिति बहुत ही अधिकारपूर्ण, गौरवशाली और निष्पक्ष होती है। वह सभा की कार्रवाई को नियंत्रित करता है और प्रक्रिया सबधी नियमों के अनुसार इसके विचार-विमर्श को आगे बढ़ाता है। वह उन सदस्यों के नाम पुकारता है जो बोलना चाहते हों और भाषण का क्रम निश्चित करता है। वह औचित्य प्रश्नों (पाइंट्स ऑव ऑर्डर) का निर्णय करता है और आवश्यकता पड़ने पर उनके बारे में विनिर्णय (रूलिंग्स) देता है। ये निर्णय अंतिम होते हैं और कोई भी सदस्य उनको चुनौती नहीं दे सकता। वह प्रश्नों, प्रस्तावों और संकल्पों, वस्तुत उन सभी विषयों की ग्राह्यता का भी निर्णय करता है जो सदस्यों द्वारा सभा के समक्ष लाए जाते हैं। उसे वादविवाद में असगत और अवांछनीय बातों को रोकने की शक्ति है और वह अव्यवस्थापूर्ण आचरण के लिये किसी सदस्य का 'नाम' ले सकता है। वह सभा और उसके सदस्यों के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों का भी रक्षक है और उसे इनके विशेषाधिकारों को भग करनेवाले किसी भी व्यक्ति को दड देने की शक्ति है। वह विभिन्न संसदीय समितियों के कार्य की देखभाल करता है और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें निर्देश देता है। सभा की शक्ति, कार्रवाई और गरिमा के संबंध में वह सभा का प्रतिनिधि होता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह सब प्रकार की दलबदी और राजनीति से अलग रहे। सभा में अध्यक्ष सर्वोच्च अधिकारी होता है। किंतु उसे लोकसभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित सकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है।

राज्यसभा (उत्तर सदन, अपर हाउस) के अधिष्ठाता को सभापति कहते हैं, किंतु वह उसका सदस्य नहीं होता। अध्यक्ष और सभापति के कार्य में उनकी सहायता करने के लिये क्रमश उपाध्यक्ष और उपसभापति होते हैं। भारत में राज्य-विधान-मडल भी थोड़े बहुत इसी ढग पर बनाए गए हैं, उनमें अतर केवल यह है कि उत्तर सदन के सभापति उनके सदस्यों में से निर्वाचित किए जाते हैं। [अ० श० आ०]

अध्यात्मरामायण

वेदात दर्शन पर आधारित रामभक्ति का प्रतिपादन करनेवाला रामचरितविषयक सस्कृत ग्रथ। इसे 'अध्यात्मरामचरित' (१-२-४) तथा 'आध्यात्मिक रामसंहिता' (६-१६-३३) भी कहा गया है। यह उमा-महेश्वर-सवाद के रूप में है और इसमें सात काड एव ६५ अध्याय हैं जिन्हें प्राय व्यासरचित और 'ब्रह्मांडपुराण' के 'उत्तरखड' का एक अश भी बतलाया जाता है, किंतु यह उसके किसी भी उपलब्ध सस्करण में नहीं पाया जाता। 'भविष्यपुराण' (प्रतिसर्ग पर्व) के अनुसार इसे किसी शिवोपासक राम शर्मन् ने रचा जिसे कुछ लोग स्वामी रामानद भी समझते हैं, किंतु यह मत सर्वसम्मत नहीं है। इसका रचनाकाल ईस्वी १४वीं सदी से पहले का नहीं माना जाता और साधारणत यह १५वीं सदी ठहराया जाता है। इसपर अद्वैत मत के अतिरिक्त योगसाधना एव तत्रों का भी प्रभाव लक्षित होता है। इसे रामभक्तों के लिये बहुत महत्वपूर्ण कहा गया है। इसमें राम, विष्णु के अवतार होने के साथ ही, परब्रह्म या निर्गुण ब्रह्म भी माने गए हैं और सीता को योगमाया कहा गया है। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' इसके द्वारा बहुत प्रभावित है। [प० च०]

अध्यात्मवाद

उस विचारधारा का नाम है जिसमें आत्मा को ही सबका मूल माना जाता है। उपनिषदों तथा महाभारत में अध्यात्म शब्द का प्रयोग 'शरीर' के अर्थ में हुआ है, किंतु कालातर में चैतन्य आत्मतत्व के अर्थ में यह शब्द रूढ हो गया। पश्चिम में ग्रीक दार्शनिक अफलातून ने सर्वप्रथम इस विषय पर विचार किया। उसने ससार के मूल में अभौतिक तत्व की स्थिति मानी और उसे 'ईदिया' (आइडिया) नाम दिया। उसके बाद उन सभी दर्शनों के लिये आइडियलिज्म शब्द का व्यवहार होने लगा जिनके अनुसार भौतिक जगत् का मूल अभौतिक तत्व है। अध्यात्मवाद और आइडियलिज्म समानार्थक शब्द हैं।

ज्ञान जीव को जड से पृथक् करता है। ज्ञान के लिये ज्ञान का विषय, ज्ञाता और विषय तथा ज्ञाता का सबध (ज्ञान) होना आवश्यक है। इनमें से एक के भी अभाव में ज्ञान सभव नहीं है। फिर भी तीनों में से ज्ञाता का स्थान महत्वपूर्ण है, क्योंकि ज्ञाता के अभाव में विषय और सबध का कोई अर्थ नहीं। यथार्थवादी दार्शनिक ज्ञान को विषय और ज्ञाता के सबध से उत्पन्न गुण मानते हैं। किंतु जब विषय जड है और ज्ञाता (आत्मा) चेतन है तब इन दोनों में स्वभावभेद होने के कारण कार्य-कारण-भाव सबध कैसे हो सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में कुछ दार्शनिक आत्मा को भी पृथ्वी, जल आदि की तरह द्रव्य मान लेते हैं और कुछ आत्मा की चेतनता की रक्षा करने के लिये विषय को आत्मा से अभिन्न मानते हैं। किंतु ज्ञाता यदि पृथ्वी आदि की तरह एक पदार्थ है तथा ज्ञान उसका गुण मात्र है तो वह ज्ञाता अपने आपमें पत्थर की तरह चेतनाशून्य तत्व होगा। साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि ज्ञाता स्वय ज्ञान का विषय होता है या नहीं। ज्ञाता को भी ज्ञान का विषय मान लेने पर ज्ञाता को जाननेवाले एक अलग ज्ञाता की स्थिति माननी पड़ेगी। इस तरह अलग ज्ञाता मानने का कोई अत न होगा। यदि ज्ञाता स्वय को नहीं जानता तो 'मैं जानता हूँ', इस अनुभव का क्या होगा? इसलिये ज्ञाता को चेतनस्वरूप मानना चाहिए, चेतना और ज्ञाता में गुणगुणी-सबध तर्क की दृष्टि से असगत है।

चेतन आत्मा सभी ज्ञान का मूलाधार है। पर इस आत्मा का जड विषय के साथ सबध कैसे सभव है? अध्यात्मवाद में इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये विषय को ज्ञाता से अपृथक् माना गया है। ज्ञान में प्रतिभासित विषय सर्वदा बौद्धिक होता है, पदार्थ अपने भौतिक रूप में ज्ञान के विषय नहीं होते। मानो एक ही आत्मा ज्ञाता और ज्ञेय के रूप में द्विधा विभक्त होकर ज्ञान की उत्पत्ति करती है।

विषय और ज्ञाता को एक तत्व के ही दो रूप मान लेने पर स्वभावत बाह्य जगत् का अस्तित्व स्वप्नवत् मानना पड़ेगा। किंतु स्वप्न और जाग्रत् का अतर सर्वानुभवसिद्ध है। योगाचार बौद्ध दर्शन तथा गौडवाद के मत में स्वप्न और जगत् के अनुभव में वास्तविक भेद नहीं है। अतएव अध्यात्मवाद के मूल सिद्धांतों में सत्ता के दो या तीन स्तर स्वीकार किए गए हैं। व्यावहारिक रूप से हम जाग्रत् अवस्था के अनुभवों को स्वप्नावस्था से पृथक् मानते हैं। इस भेद का मूल कारण है स्वप्न का मिथ्यात्व। वस्तु का जो रूप अनुभूत होता है, कालातर में उसका अपलाप हो जाता है इसलिये उसका अनुभवगम्य रूप ही मिलता है। स्वप्न में अनुभूत विषय इसी कारण जाग्रत् अवस्था में मिथ्या कहे जाते हैं। अतएव स्वप्न के विषयों को पारमार्थिक दृष्टि से 'स्वभावशून्य' कहा जा सकता है। मिथ्यात्व के इस लक्षण को जाग्रत अनुभव में आनेवाले विषयों पर भी लागू किया गया है। इसीलिये माध्यमिक दर्शन तथा परवर्ती अद्वैत वेदात में विशद रूप से जाग्रत् अनुभव के विषयों को उनकी नश्वरता के कारण स्वप्न के विषयों की तरह मिथ्या माना गया है।

मिथ्यात्व के इस लक्षण के आधार पर यह भी कहा गया है कि जो तत्व अपने आपमें पूर्ण होगा, जिसे अपनी स्थिति के लिये दूसरे की आवश्यकता न होगी, वही तत्व सत्य है। अनुभवगम्य विषय सापेक्ष होते हैं अत वे पूर्ण सत्य की परिभाषा में नहीं आ सकते। साथ ही, पूर्णता और असीमता पर्यायवाची शब्द हैं। सापेक्षता या द्वैत भावना पूर्णता का विनाश करती है। अत चरम तत्व नित्य, अनत और द्वितीयरहित अद्वय तत्व ही हो सकता है। यह अद्वय तत्व चेतन है, क्योंकि चेतन के बिना जड की स्थिति, ससार का निर्माण, असभव है। अत अध्यात्मवाद में आत्मा को ही परमार्थ एक तत्व माना गया है।

यदि आत्मा ही तत्व है तो उसका इस जगत् से कैसा सबंध हो सकता है? अध्यात्मवाद में इसी प्रश्न को लेकर कई अवातर वाद उत्पन्न हुए हैं। अद्वैत वेदात में 'माया' को आत्मा और जगत् के बीच की कडी माना गया है। माया के कारण ही एक आत्मा जड और चेतन के रूप मे प्रकट होती है अत ससार मायानिर्मित एव आत्मा की दृष्टि से असत् कहा जाता है। किंतु आत्मा इस ससार के मूल में है इसलिये यह आत्मा से अलग भी नही है। इस दृष्टि से यद्यपि ससार की वस्तुएँ पृथक् पृथक् आत्मा का वास्तविक रूप नहीं प्रकट कर पाती, फिर भी वे किसी हद तक आत्मा का अपूर्ण प्रतीक हैं। ब्रैडले और हीगेल जैसे पाश्चात्य दार्शनिक तत्व के समग्र रूप में स्तर का भेद मानते हैं।

यदि वस्तु आत्मा का अपूर्ण रूप और सापेक्ष सत्ता है तो वस्तु को अपने आपमें नही जाना जा सकता। चूँकि असत् से सत् की उत्पत्ति सभव नही है अत ससार के मूल में किसी सत्ता की स्थिति भी आवश्यक है। इन दोनो दृष्टियो को मिलाने पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि यद्यपि वस्तु अपने आपमें क्या है, यह नही कहा जा सकता (अनिर्वचनीयतावाद), तथापि वस्तु का मूल सत्य मे निहित है। ज्ञान की सीमाओ (कैटेगरीज) के भीतर पडनेवाली सापेक्ष, अनित्य, दिक्कालावच्छिन्न वस्तुओ का परिशीलन करनेवाली प्रज्ञा विषयनिरपेक्ष, दिक्कालातीत तत्व का साक्षात्कार करने मे असमर्थ है अत उस तत्व का आभास मात्र होता है। तत्व का वास्तविक ज्ञान साक्षात्कार के बिना सभव नही। और साक्षात्कार ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की 'त्रिपुटी' से परे होने पर भी सभव है, अत सत्य के साक्षात्कार का अर्थ है सत्यमय हो जाना।

स०ग्रं०—(भारतीय) उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य, भामती, वेदातपरिभाषा, खडन-खड-खाद्य (श्रीहर्ष), चित्सुखी, विज्ञप्ति-मात्रता-सिद्धि, मूल माध्यमिक कारिका, बौद्ध दर्शन और वेदात (डा० चद्रधर शर्मा)। (पाश्चात्य)—प्लेटो के ग्रथ. ए क्रिटीक ऑव प्योर रीजन, काट, हीगल के ग्रथ अपियरेंस ऐंड रियलिटी—ब्रैडले, आइडियलिज्म ए क्रिटिकल सर्वे ईविंग, कटेपररी आइडियलिज्म इन अमेरिका (बैरेट), प्लेटोनिक ट्रैडिशन इन ऐंग्लो सक्सन फिलासफी (मूरहेड)। [रा० पा०]

अध्यारोपापवाद अद्वैत वेदात में आत्मतत्व के उपदेश की वैज्ञानिक विधि। ब्रह्म के यथार्थ रूप का उपदेश देना अद्वैत मत के आचार्य का प्रधान लक्ष्य है। ब्रह्म है स्वय निष्प्रपच और इसका ज्ञान बिना प्रपच की सहायता के किसी प्रकार भी नही कराया जा सकता। इसलिये आत्मा के ऊपर देहधर्मों का आरोप प्रथमत करना चाहिए अर्थात् आत्मा ही मन, बुद्धि, इद्रिय आदि समस्त पदार्थ है। यह प्राथमिक विधि अध्यारोप के नाम से प्रसिद्ध है। अब युक्ति तथा तर्क के सहारे यह दिखलाना पडता है कि आत्मा न तो बुद्धि है, न सकल्प विकल्परूप मन है, न बाहरी विषयो को ग्रहण करनेवाली इद्रिय है और न भोग का आयतन यह शरीर है। इस प्रकार आरोपित धर्मो को एक एक कर आत्मा से हटाते जाने पर अतिम कोटि मे उसका जो शुद्ध सच्चिदानद रूप बच जाता है वही उसका सच्चा रूप होता है। इसका नाम है अपवाद विधि (अपवाद=दूर हटाना)। ये दोनो एक ही पद्धति के दो अश हैं। किसी अज्ञात तत्व के मूल्य और रूप जानने के लिये इस पद्धति का उपयोग आज का बीजगणित भी निश्चित रूप से करता है। उदाहरणार्थ यदि क²+२ क=२४ इस समीकरण मे अज्ञात क का मूल्य जानना होगा, तो प्रथमत दोनो ओर सख्या १ जोड देते हैं (अध्यारोप) जिससे दोनो पक्ष पूर्ण वर्ग का रूप धारण कर लेते हैं और अत मे आरोपित सख्या को दोनो ओर से निकाल देना पडता है, तब अज्ञात क का मूल्य ४ निकल आता है

समीकरण की पूरी प्रक्रिया इस प्रकार होगी ।

	क²+२ क=२४
इसलिये	क²+२ क+१=२४+१ (अध्यारोप)
अर्थात्	(क+१)²=(५)²
अत	(क+१)=५
अतएव	(क+१)−१=(५)−१ (अपवाद)
इसलिये	क=४

[ब० उ०]

अध्यास अद्वैत वेदात का पारिभाषिक शब्द है। एक वस्तु में दूसरी वस्तु का ज्ञान अध्यास कहलाता है। रस्सी को देखकर सर्प का ज्ञान इसका उदाहरण है। यहाँ पर रस्सी सत्य है, किंतु उसमे सर्प का ज्ञान मिथ्या है। मिथ्या ज्ञान बिना सत्य आधार के सभव नही है, अत अध्यास के दो पक्ष माने जाते हैं। सत्य और अनृत या मिथ्या का 'मिथुनीकरण' अध्यास का मूल कारण है। ब्रह्म सत्य है, प्रपच मिथ्या है, इन दोनो का सबध होने पर 'यह मेरा है' ऐसा लोकव्यवहार चलता है।

इस मिथुनीकरण में एक के धर्मों का दूसरे मे आरोप होता है। रस्सी की वक्रता का सर्प मे आरोप होता है, अत सर्प का ज्ञान सभव है। साथ ही यह धर्मारोप कोई व्यक्ति जान बूझकर नही करता। वस्तुत अनजाने मे ही यह आरोप हो जाता है, इसलिये सत्य और अनृत मे अध्यासावस्था मे परस्पर विवेक नही हो पाता। विवेक होते ही अध्यास का नाश हो जाता है। जिन दो वस्तुओ के धर्मों का परस्पर अध्यास होता है वे वस्तुत एक दूसरी से अत्यत भिन्न होती हैं। उनमे तात्विक साम्य नही होता किंतु औपचारिक धर्मसाम्य के आधार पर यथाकथचित् दोनो का मिथुनीकरण होता है।

शाकर भाष्य मे अध्यास का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि एक वस्तु मे तत्सदृश किसी पूर्वदृष्ट वस्तु का स्मरण होता है। यह स्मृतिरूप ज्ञान ही अध्यास कहलाता है। परतु पूर्वदृष्ट वस्तु का स्मरण मिथ्या नही होता। किसी को देखकर, 'यह वही व्यक्ति है', ऐसा उत्पन्न ज्ञान सत्य है। इसलिये 'स्मृतिरूप' शब्द का विशेष अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। स्मृत वस्तु के रूप की तरह जिसका रूप हो उस वस्तु का उससे भिन्न स्थान पर ज्ञान होना अध्यास का सर्वमान्य लक्षण माना गया है। रस्सी को देखकर सर्प का स्मरण होता है और तदनतर सर्प का ज्ञान होता है। यह सर्पज्ञानस्मृति सर्प से भिन्न वस्तु है। वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' मे कहा है—'सर्पादिभाव से रस्सी आदि का अथवा रक्तादि गुण से युक्त स्फटिक आदि का ज्ञान न होता हो, ऐसी बात नही है, किंतु इस ज्ञान से रस्सी आदि सर्प हो जाते हैं या उसमें सर्प का गुण उत्पन्न होता है, यह भी असगत है। यदि ऐसा होता तो मरुप्रदेश मे किरणो को देखकर "उछलती तरगो की माला से सुशोभित मदाकिनी आ गई हैं" ऐसा ज्ञान होता और लोग उसके जल से अपनी पिपासा शात करते। इसलिये अध्यास से यद्यपि वस्तु सत् जैसी लगती है, फिर भी उसमे वास्तविक सत्यत्व की स्थिति मानना मूर्खता है।

यह अध्यास यदि सत्यता से रहित हो तो वध्यापुत्र आदि की तरह इसका ज्ञान नही होना चाहिए। किंतु सर्पज्ञान होता है, अत यह अत्यत असत् नहीं है। साथ ही अध्यास ज्ञान को सत् भी नही कह सकते, क्योकि सर्प का ज्ञान कथमपि सत्य नही है। सत् और असत् परस्पर विरोधी हैं अत अध्यास सदसत् भी नही है। अतत अध्यास को सदसत् से विलक्षण अनिर्वचनीय कहा गया है। "इस क्रम से अध्यस्त जल वास्तविक जल की तरह है, इसीलिये वह पूर्वदृष्ट है। यह तो मिथ्याभूत अनिर्वचनीय (शब्दव्यापार से परे) है।"

अध्यास दो प्रकार का होता है। अर्थाध्यास मे एक वस्तु का दूसरी वस्तु मे ज्ञान होता है—जैसे, मै मनुष्य हूँ। यहा मै आत्मतत्व है और मनुष्यत्व जाति है। इन दोनो का 'मिथुनीकरण' हुआ है। ज्ञानाध्यास अर्थाध्यास से प्रेरित अभिमान का नाम है।

स०ग्रं०—ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य (अध्यासभाष्य), वाचस्पति भामती, १,१,१,। [रा० पा०]

अध्वर्यु वैदिक कर्मकाड के चार मुख्य ऋत्विजो मे अन्यतम ऋत्विज्। 'अध्वर्यु' का अर्थ ही है 'यज्ञ करनेवाला'। वह अपने मुख से तो यज्ञमत्रो का उच्चारण करता जाता है और अपने हाथ से यज्ञ की सब विधियो का सपादन भी करता चलता है। अध्वर्यु का अपना वेद 'यजुर्वेद' है, जिसमे गद्यात्मक मत्रो का विशेष सग्रह किया गया है और यज्ञ के विधानक्रम को दृष्टि मे रखकर उन मत्रो का वही क्रम निर्दिष्ट किया गया है। [ब० उ०]

अध्वा जगत् या सृष्टि की तात्रिकी सज्ञा। तत्रो के अनुसार अध्व दो प्रकार का होता है—शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध अध्वा सात्विक जगत् का तात्पर्य है, जिसका उपादान कारण महामाया है। शिव व

परिग्रह शक्ति अचेतन और परिणामशालिनी मानी जाती है। वही 'विंदु' कहलाती है। शुद्ध विंदु का नाम 'महामाया' है जो सत्वमय जगत् की उत्पत्ति में उपादान कारण बनती है। अशुद्ध विंदु का नाम 'माया' है जो प्राकृत जगत् का उपादान कारण होती है। महामाया के क्षोभ से शुद्ध जगत् (शुद्धाध्वा) की सृष्टि होती है और माया के क्षोभ से अशुद्ध प्राकृत जगत् (मायाध्वा) की उत्पत्ति होती है। [व० उ०]

अनंत शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'इनफिनिटी' लैटिन भाषा के इन् (अन्) और फिनिस (अंत) की संधि है। यह शब्द उन राशियों के लिये प्रयुक्त किया जाता है जिनकी माप अथवा गणना उनके परिमित न रहने के कारण असंभव है। अपरिमित सरल रेखा की लंबाई सीमाविहीन और इसलिये अनंत होती है।

गणितीय विश्लेषण में प्रचलित 'अनंत', जिसे ∞ द्वारा निरूपित करते हैं, इस प्रकार व्यक्त किया गया है

यदि य कोई चर है और फ(य) कोई य का फलन है, और यदि जब चर य किसी संख्या क की ओर अग्रसर होता है तब फ(य) इस प्रकार बढ़ता ही चला जाता है कि वह प्रत्येक दी हुई संख्या ण से बड़ा हो जाता है और बड़ा ही बना रहता है, चाहे ण कितना भी बड़ा हो, तो कहा जाता है कि य$\rightarrow$क के लिये फ(य) की सीमा अनंत है।

भिन्नों की परिभाषा से (देखें संख्या) स्पष्ट है कि भिन्न ब/स वह संख्या है जो स से गुणा करने पर गुणनफल ब देती है। यदि ब, स में से कोई भी शून्य न हो तो ब/स एक अद्वितीय राशि का निरूपण करता है। फिर स्पष्ट है कि ०/स सदैव समान रहता है, चाहे स कोई भी सांत संख्या हो। इसे परिमेय (रैशनल) संख्याओं का शून्य कहा जाता है और गणनात्मक (कार्डिनल) संख्या ० के समान है। विपरीतत, ब/० एक अर्थहीन पद है। इसे अनंत समझना भूल है। यदि क/य में क अचर रहता है, और य घटता जाता है, और क, य दोनों धनात्मक हैं, तो क/य का मान बढ़ता जायगा। यदि य शून्य की ओर अग्रसर होता है तो अंततोगत्वा क/य किसी बड़ी से बड़ी संख्या से भी बड़ा हो जायगा। हम इस बात को निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त करते हैं

$$\lim_{\text{य} \rightarrow 0} \frac{\text{क}}{\text{य}} = \infty \text{।}$$

इसी परिणाम के आधार पर अवैज्ञानिक रीति से लोग कहते हैं कि फ/०$=\infty$।

कैंटर (१८४५-१९१८) ने अनंत की समस्या को दूसरे ढंग से व्यक्त किया है। कैंटरीय संख्याएँ, जो अनंत और सांत के विपरीत होने के कारण कभी कभी अतीत (ट्रैंसफाइनाइट) संख्याएँ कही जाती हैं, ज्यामिति और सीमा सिद्धांत में प्रचलित अनंत की परिभाषा से भिन्न प्रकार की हैं। कैंटर ने लघुतम अतीत गणनात्मक संख्या (ट्रैंसफाइनाइट कार्डिनल* नंबर) अ_0 (अकार शून्य, अलिफ-ज़ीरो) की व्याख्या प्राकृतिक संख्याओं १, २, ३, के संघ (सेट) की गणनात्मक संख्या से की है। यह सिद्ध हो चुका है कि $\text{अ}_0+\text{स}=\text{अ}_0$, जिसमें स कोई सांत पूर्ण संख्या है। कैंटर ने केवल अकार शून्य के ही नहीं, अनेक अकार संख्याओं, अ_0, अ_1, .. के सिद्धांत को भी विकसित किया है। हार्डी ने गणनात्मक संख्या अ_1 वाले विंदुओं के संघ की रचना करने की विधि बताई है। संख्या स ($=2^{\text{अ}_0}$) प्रतान (कंटिनुअम) की, अर्थात् वास्तविक संख्याओं के संघ की, गणनात्मक संख्या है। एकैकी रूपांतर (वन टु वन ट्रैंसफॉर्मेशन) द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि अंतराल (इंटरवल) (०, १) में भी विंदुओं के संघ की गणनात्मक संख्या स होती है।

वास्तविक संख्याओं १, २, ३, . के संघ से संबद्ध अतीत क्रमिक संख्या को औ (ओमेगा, ω) लिखते हैं और इसे प्रथम अतीत क्रमिक संख्या (ट्रैंसफाइनाइट ऑर्डिनल नंबर) कहते हैं। किसी दिए हुए अंतराल का खा में वा_1, वा_2, वा_3, . विंदुओं के एक अनुक्रम पर, जो वृद्धिमय

का| वा_1 वा_2 वा_3 $\text{वा}_{\text{न}}$ ... $\text{वा}_{\text{औ}}$ $\text{वा}_{\text{औ}+1}$ $\text{वा}_{\text{औ}+2}$ $\text{वा}_{\text{औ}2}$ |खा

संख्याओं क_1, क_2, क_3, . के अनुक्रम को व्यक्त करता है, विचार करें। इस अनुक्रम का एक सीमाविंदु (लिमिटिंग पॉइंट) होगा जो इन समस्त विंदुओं के दाहिनी ओर होगा, इसे हम $\text{वा}_{\text{औ}}$ द्वारा निरूपित कर सकते हैं। अब कल्पना करें कि विंदु $\text{वा}_{\text{औ}}$ के उपरांत अन्य विंदु ऐसे भी हैं जिन्हें हम वा_1, . वा_2, $\text{वा}_{\text{न}}$, $\text{वा}_{\text{औ}}$ वाले संघ से संबद्ध मानना चाहेंगे, तब इन विंदुओं को हम $\text{वा}_{\text{औ}+1}$, $\text{वा}_{\text{औ}+2}$, . द्वारा व्यक्त करेंगे। यदि $\text{वा}_{\text{औ}}$, $\text{वा}_{\text{औ}+1}$, $\text{वा}_{\text{औ}+2}$, . नामक विंदुओं के संघ का कोई अंतिम विंदु न हो और ये सब का खा के अंतर्गत स्थित हों तो इस संघ का एक सीमाविंदु होगा जिसे हम $\text{वा}_{\text{औ}+\text{औ}}$ या $\text{वा}_{\text{औ}2}$ द्वारा व्यक्त कर सकते हैं, इत्यादि। अत हमें क्रम संख्याएँ १, २, ३, . , औ, औ+१, औ+२ क ..औ २, औ २+१,.. , औ ३,.. औ^2, . प्राप्त होती हैं।

गणितीय विश्लेषण में हम बहुधा अनंत की ओर अग्रसर होनेवाले अनुक्रमों (या फलनों) की वृद्धि की तुलना करते हैं। लांडाऊ ने O, o, $\sim$ नामक संकेतलिपि प्रचलित की है, जिसकी व्याख्या इस प्रकार है यदि फ(य) और फा(य) अऋणात्मक हों और यदि समस्त $\text{य} > \text{य}_0$ के लिये फ(य)/फा(य) < एक अचल राशि त हो, तो य के अनंत की ओर अग्रसर होने पर फ(य)$=$O{फा(य)} होता है। यदि समस्त $\text{य} > \text{य}_0$ के लिये फा(य)/फा(य) < ट हो, जिसमें ट कोई इच्छानुसार छोटी संख्या है, तो य के अनंत की ओर अग्रसर होने पर फ(य)$=$o{फा(य)} होता है, और यदि य के अनंत की ओर अग्रसर होने पर फ(य)/फा(य)$\rightarrow$१ अथवा कोई अन्य सांत संख्या, तो हम य$\rightarrow\infty$ पर फ(य) $\sim$ फा(य) लिखते हैं। अत जब स$\rightarrow\infty$ तो $\text{स}^2+\text{२०स}+\text{१०००}\sim\text{स}^2$। सामान्यतया दोनों अनुक्रम अनंत की ओर अग्रसर होते हैं और उनकी वृद्धि लगभग समान रहती है। पॉल दु बोइस-रैमों और जी० एच० हार्डी ने फलनों के अनुक्रमों की वृद्धि में तुलना करने के लिये 'अनंत मापनियों' (स्केल्स ऑव इनफिनिटी) की व्याख्या की है।

स०ग्रं०—ए० एन० व्हाइटहेड प्रिंसिपिल्स ऑव नैचुरल नॉलेज, भाग ३ (१९१९), बर्ट्रंड रसेल इंट्रोडक्शन टु मैथेमैटिकल फिलॉसफी (१९१९), ई० डब्ल्यू० हॉब्सन थ्योरी ऑव फंक्शंस ऑव ए रियल वेरिएबिल, खंड १ (१९२७), जी० एच० हार्डी ऑर्डर्स ऑव इनफिनिटी (१९२४)। [शा० म० शा०]

अनंत गुणनफल फ_1, फ_2, फ_3, को एक विशेष क्रम में गुणा करने पर जो व्यंजक $\text{फ}_1\text{फ}_2\text{फ}_3$ बनता है उसे अनंत गुणनफल (इनफिनिट प्रॉडक्ट) कहते हैं। यदि फ_1, फ_2, फ_3, इन खंडों में से कोई खंड, मान लें $\text{फ}_{\text{न}}$, शून्य हो तो गुणनफल का मान शून्य होगा। अत हम मान लेंगे कि कोई भी खंड शून्य नहीं है। अब हम $\text{फ}_1 \text{फ}_2 \text{फ}_3 \ldots \text{फ}_{\text{न}}$ के लिये $\text{गु}_{\text{न}}$ लिखा करेंगे। यदि जब स$\rightarrow\infty$, तब $\text{गु}_{\text{न}}$ किसी ऐसी सीमा के लिये अग्रसर होता है जो न तो अनंत (∞) है और न शून्य, तो कहा जाता है कि अनंत गुणनफल $\text{फ}_1\text{फ}_2\text{फ}_3$ .. अभिसारी (कॉनवर्जेंट) है, अन्यथा उसे अनभिसारी (नॉन-कॉनवर्जेंट) अथवा अपसारी (डाइवर्जेंट) कहा जाता है। उदाहरणार्थ,

$$\left(1+\frac{1}{2}\right)\left(1+\frac{1}{2^2}\right)\left(1+\frac{1}{2^3}\right) \ldots \text{ अनंत तक}$$

एक अभिसारी गुणनफल है, क्योंकि यहाँ $\text{गु}_{\text{न}}$ की सीमा न अनंत है और न शून्य, परंतु गुणनफल

$$\left(\frac{1}{2^2}\right)\left(\frac{2^2}{3^2}\right)\left(\frac{3^2}{4^2}\right)\left(\frac{4^2}{5^2}\right) . \text{ अनंत तक}$$

* एक, दो, तीन इत्यादि कार्डिनल संख्याएँ हैं, प्रथम, द्वितीय, तृतीय इत्यादि ऑर्डिनल संख्याएँ हैं।

एक अपसारी गुणनफल है, क्योंकि यहाँ प्रथम स खडो का गुणनफल $१/(स+१)^२$ है, जो स के अनत की ओर अग्रसर होने पर शून्य की ओर अग्रसर होता है। कोशी के अभिसरण नियम के अनुसार, गुणनफल के अभिसरण के लिये यह आवश्यक और पर्याप्त है कि किसी इच्छानुसार छोटी सख्या इ के दिए रहने पर, हम सदा एसी सख्या $स_०(इ)$ पा सके कि $स > स_०(इ)$ के लिये और श=१, २, ३,... के लिये,

$$| फ_{स+१} फ_{स+२} \ldots फ_{स+श} - १ | < इ ।$$

विशेषत, यह आवश्यक है कि $सीमा_{स\to\infty}\ फ_स = १$ ।

अत, यदि हम $फ_स$ के वदले $१+क_स$ लिखा करे तो अनत गुणनफल का सामान्य रूप

$$(१+क_१)(१+क_२)(१+क_३)\ldots$$

होगा, और यदि गुणनफल अभिसारी होगा तो

$$सीमा_{स\to\infty}\ क_स = ० ।$$

अभिसरण की जांच—अनत गुणनफल के अभिसरण की जाँच की दो सरल विधियाँ निम्नलिखित है

(क) यदि प्रत्येक स के लिये $क_स > ०$ तो गुणनफल

$$\prod (१+क_स)$$

तभी अभिसारी होगा जव श्रेणी $\Sigma क_स$ अभिसारी होगी, क्योंकि अनुक्रम (सीक्वेन्स)

$$\prod_{१}^{स} (१+क_ट)$$

एकस्विनी वृद्धिमय (मोनोटोनिक इनक्रीज़िंग) है और

$$\sum_{ट=१}^{स} क_ट < \prod_{ट=१}^{स} (१+क_ट)$$
$$= \prod_{ट=१}^{स} घात\ लघु\ (१+क_ट)$$
$$= घात \sum_{ट=१}^{स} लघु\ (१+क_ट)$$
$$< घात \sum_{ट=१}^{स} क_ट ।$$

अत, यदि अ > ० तो अनत गुणनफल

$$\prod_{१}^{\infty} \left(१+\frac{१}{स^{अ}}\right)$$

अभिसारी होगा, यदि $अ \leqslant १$, तो पूर्वोक्त गुणनफल अपसारी होगा।

(ख) यदि प्रत्येक स के लिये $० \leqslant क_स < १$, तो गुणनफल

$$\prod_{१}^{\infty} (१-क_स)$$

तभी अभिसारी होगा जव अनत श्रेणी

$$\sum_{१}^{\infty} क_स$$

अभिसारी होगी।

निरपेक्ष अभिसरण—गुणनफल $\Pi(१+क_स)$ को निरपेक्षत अभिसारी (ऐव्सोल्यूटली कॉनवर्जेट) तव कहा जाता है जव गुणनफल $\Pi(१+|क_स|)$ अभिसारी होता है। अत उपरिलिखित नियम (क) से यह निष्कर्प निकलता है कि गुणनफल $\Pi(१+क_स)$ तभी निरपेक्षत अभिसारी होगा जव $\Sigma क_स$ निरपेक्षत अभिसारी होगा।

यदि कोई श्रेणी $\Sigma क_स$ निरपेक्षत अभिसारी हो तो अवश्य ही वह अभिसारी भी होगी, और ऐसी श्रेणीका अभिसरण अपने पदो के क्रमपर निर्भर नही रहेगा। इसी प्रकार हम यह भी कह सकते है कि यदि $\Pi(१+क_स)$ निरपेक्षत अभिसारी हो, तो गुणनफल अभिसारी होगा और गुणनफल एक ऐसे मान की ओर अभिसारी होगा जो गुणनखडो के क्रम पर निर्भर नही है। फिर, यदि कोई श्रेणी अनिरपेक्षत अभिसारी हो तो हम जानते है कि उपयुक्त पुनर्विन्यास (रिअरेंजमेंट) द्वारा वह किसी भी योग की ओर अभिसारी होनेवाली अथवा अपसारी अथवा प्रदोली (ऑसिलेटिंग) वनाई जा सकती है। इसी प्रकार प्रत्येक अनिरपेक्षत अभिसारी अनत गुणनफल भी, खडो के क्रम मे परिवर्तन करने से, किसी निश्चित मान की ओर अभिसारी या अपसारी या प्रदोली वनाया जा सकता है।

अभिसरण सवंधी अन्य नियम—अव हम $\Pi(१+क_स)$ की ससृति पर विचार करेंगे, जिसमे $क_स$ कोई वास्तविक सख्या है। अनत गुणनफल के अभिसरण के निमित्त $क_स$ को, स के अनत की ओर अग्रसर होने पर, शून्य की ओर प्रवृत्त होना चाहिए, अत हम कल्पना कर सकते है कि आवश्यकतानुकूल खडो की एक परिमित सख्या को छोडकर, $स \geqslant १$ के लिये, $|क_स| < १$ है। अव यदि व धनात्मक है तो

$$० < व - लघु(१+व) < \tfrac{१}{२}व^२,$$

और यदि $० > व > -१$, तो

$$० < व - लघु(१+व) < \tfrac{१}{२}व^२/(१+व) ।$$

अत हम निम्नलिखित निष्कर्प निकालते है

(ग) यदि श्रेणी $\Sigma क_स^२$ अभिसारी हो तो अनत गुणनफल $\Pi(१+क_स)$ तभी अभिसारी होगा, जव श्रेणी $\Sigma क_स$ अभिसारी होगी, अथवा अनत की ओर अपसारी होगा, जव $\Sigma क_स$ अनत की ओर अपसारी होगी, अथवा शून्य की ओर अपसारी होगा, जव $\Sigma क_स$ ऋण अनत की ओर अपसारी होगी, अथवा दोलित होगा, जव $\Sigma क_स$ दोलित होगी।

यदि $\Sigma क_स^२$ अपसारी हो और $\Sigma क_स$ अभिसारी हो या परिमित रूपसे दोलित हो, तो गुणनफल $\Pi(१+क_स)$ शून्य की ओर अपसारी होगा।

इस उपयोगी नियम का अपवाद तव उत्पन्न होता है, जव $\Sigma क_स^२$ अपसारी रहता है और $\Sigma क_स$ भी अपसारी रहता है, या अनत रूपसे दोलित रहता है। ऐसी दशामे गुणनफल अपसारी अथवा अभिसारी हो सकता है।

सामान्यत अनत गुणनफल की अभिसरणसमस्या सदैव अनत श्रेणी की अभिसरणसमस्या से निम्नलिखित साध्य द्वारा सवद्ध की जा सकती है

(घ) अनत गुणनफल $\Pi(१+क_स)$ तभी अभिसारी होगा जव श्रेणी $\Sigma लघु(१+क_स)$ अभिसारी होगी। यदि हम समस्त लघुगणको के मुख्य मानो (प्रिंसिपल वैल्यूज) को ही ले तो यह साध्य सकर (कॉम्प्लेक्स) $क_स$ के लिये भी ठीक है।

फलनो के गुणनफल—अनत गुणनफल

$$\prod_{स=१}^{\infty} \{१+क_स(ल)\}$$

के एकरूप (यूनीफॉर्म) अभिसरण की व्याख्या, जव इसके पद वास्तविक चलराशि के या सकर चलराशि ल के फलन हो, श्रेणी $\Sigma क_स(ल)$ की भाँति की जा सकती है। ऐसे गुणनफल का एकरूप अभिसरण तभी सभव है जव

$$\prod_{र=१}^{स} \{१+क_र(ल)\},$$

ल के मानो के किसी क्षेत्रविशेष मे, एकरूपत ऐसी सीमा की ओर अभिसारी हो जो कभी शून्य नही होती।

कुछ विशेष गुणनफल—हम ज्या ग्ल को निम्नलिखित गुणनफल से व्यक्त कर सकते है

$$\left\{\left(१-\frac{ल}{\pi}\right)ई^{ल/\pi}\right\}\left\{\left(१+\frac{ल}{\pi}\right)ई^{-ल/\pi}\right\}\left\{\left(१-\frac{ल}{२\pi}\right)ई^{ल/२\pi}\right\}\times \left\{\left(१+\frac{ल}{\pi}\right)ई^{-ल/२\pi}\right\} \ldots ।$$

विशेपत, यदि $ल=\frac{१}{२}$, तो हमे वैलिस का सूत्र प्राप्त होता है, जो निम्नलिखित है

$$\frac{१}{२}\pi=\frac{२\times२\times४\times४\times६\times६\times\ldots}{१\times३\times३\times५\times५\times७\times७\times\ldots} ।$$

गामा फलन $\Gamma(ल)$ भी एक ऐसा फलन है जो सरलता से अनत गुणनफल द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। यदि स कोई धनात्मक पूर्ण सख्या हो तो $स!$ का अर्थ सभी जानते हैं। परतु यदि स धनात्मक पूर्ण सख्या न हो तो $स!$ की परिभाषा हम यह दे सकते है कि

$$स! = \Gamma(स+१) ।$$

$ल=०, -१, -२,$ को छोड ल के समस्त मानो के लिये $\Gamma(ल)$ को हम निम्नलिखित सूत्र से परिभाषित कर सकते है

$$\Gamma(ल) = \frac{ई^{-आल}}{ल\prod_{१}^{\infty}\left\{\left(१+\frac{ल}{स}\right)ई^{-ल/स}\right\}}$$

जिसमें आ एक अचर है जिसे आयलर अचर (ऑयलर कॉन्स्टेंट) कहते है। इस सूत्र द्वारा हम सिद्ध कर सकते है कि

$$\Gamma(ल+१)=ल\Gamma(ल),\ \Gamma(१)=१,$$
$$\Gamma(ल)\Gamma(१-ल)=\pi \text{ व्युज्या } \pi ल ।$$

सख्या-विभाजन-सिद्धात के अतर्गत हमें निम्नलिखित प्रकार के गुणनफल मिलते है

$$\left(१-य^{स_१}\right)\left(१-य^{स_२}\right)\left(१-य^{स_३}\right)\ldots,$$
$$\left(१+य^{स_१}\right)\left(१+य^{स_२}\right)\left(१+य^{स_३}\right)\ldots,$$

जिनमें $स_१<स_२<स_३<\ldots$। यदि स की विभाजन-सख्या गु(स) से निरूपित की जाय तो गु(स) का जनक फलन, आयलर के अनुसार, फा(य) होगा, जहाँ

$$फा(य)=\frac{१}{(१-य)(१-य^२)(१-य^३)\ldots}$$
$$=१+\sum_{१}^{\infty} गु_स य^स ।$$

यदि फी(स) उन धनात्मक पूर्ण सख्याओ की सख्या को व्यक्त करे जो स से कम और स के प्रति रूढ (प्राइम) है तो

$$फी(स)=स\prod_{ग|स}\left(१-\frac{१}{ग}\right)$$

जिसमें $ग|स$ का अर्थ है स के रूढ खडो से बना गुणनफल।

यदि जी(प) रीमान का ज़ीटा फलन है तो $प>१$ के लिये

$$जी(प)=\prod_{ग}\left(१-ग^{-प}\right)^{-१},$$

जिसमे ग समस्त रूढ सख्याओ पर व्याप्त है।

स०ग्र०—टी० जे० ब्रॉमविच ऐन इट्रोडक्शन टु दि थ्योरी ऑव इनफिनिट सीरीज (१९२६), के० क्नॉप थ्योरी ऐंड ऐप्लिकेशन ऑव इनफिनिट सीरीज (१९२८)। वायर्स्ट्रास के खड-साध्य, गामा फलन, रीमान के ज़ीटा फलन, सख्या-विभाजन-सिद्धात और अकगणितीय फलनो के लिये ई० सी० टिशमार्श थ्योरी ऑव फकशस (१९३९) देखें, ई० टी० कॉप्सन थ्योरी ऑव फकशस ऑव ए कम्प्लेक्स वेरिएबल (१९३५) और हार्डी तथा राइट थ्योरी ऑव नबर्स (१९४५) भी द्रष्टव्य है। [स्व० मो० शा०]

अनंतचतुर्दशी भादो शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी अनतचतुर्दशी कहलाती है। इसमें अनत (विष्णु) की पूजा का विधान है। कट्टर वैष्णवों के लिये इससे बडा अन्य पर्व नहीं है। व्रत तथा स्नान के अतिरिक्त इस दिन 'विष्णुपुराण' और 'भागवत' का पाठ किया जाता है तथा हल्दी में रँगकर कच्चे सूत का अनत पहनते हैं। [च० म०]

अनंतपुर भारतीय सघ में स्थित मद्रास प्रात के अनतपुर जनपद का एक नगर है। यह नगर बेलारी से ६२ मील दक्षिण पूर्व दिशा में स्थित है। अनतपुर जिले का क्षेत्रफल ६,७३८ वर्ग मील है। इसका दक्षिणी भाग पर्वतीय तथा शेष पठारी है। नगर में दाल, चावल तथा आटा की मिलें, कपास के गट्ठे बनाने के कारखाने एव तेल तथा चमडे के व्यवसाय मुख्य है। अनतपुर दक्षिण रेलवे का स्टेशन है तथा सडको द्वारा अन्य स्थानो से सबद्ध है। नगर की जनसख्या ३१,९५२ है (१९५१ ई०) जिसमें १७,०२५ पुरुष तथा १४,९२७ स्त्रियाँ हैं। [हृ० हृ० सि०]

अनंतमूल को सस्कृत में सारिवा, गुजराती में उपलसरि, कावरबेल इत्यादि, हिंदी, बँगला और मराठी में अनतमूल तथा अंग्रेजी में इंडियन सारसापरिला कहते है।

यह एक बेल है जो लगभग सारे भारतवर्ष में पाई जाती है। लता का रग कालामिश्रित लाल तथा इसके पत्ते ३-४ अगुल लबे, जामुन के पत्तों के आकार के, पर श्वेत लकीरोवाले होते है। इनके तोडने पर एक प्रकार का दूध सा द्रव निकलता है। फूल छोटे और श्वेत होते हैं। इनपर फलियाँ लगती है। इसकी जड गहरी लाल तथा सुगधवाली होती है। यह सुगध एक उडनशील सुगधित द्रव्य के कारण होती है, जिसपर इस ओषधि के समस्त गुण अवलबित प्रतीत होते है। ओषधि के काम में जड ही आती है।

आयुर्वेदिक रक्तशोधक ओषधियो में इसी का प्रयोग किया जाता है। काढे या पाक के रूप में अनतमूल दिया जाता है। आयुर्वेद के मतानुसार यह सूजन कम करती है, मूत्ररेचक है, अग्निमाद्य, ज्वर, रक्तदोष, उपदश, कुष्ठ, गठिया, सर्पदश, वृश्चिकदश इत्यादि में उपयोगी है। [भ० दा० व०]

अनंतवर्मन् चोड गग कलिंग के गग राजकुल का प्रधान नरेश था। उसने अपने कुल का यश दूरदूर तक फैलाया। उसकी माता राजसुदरी चोलनरेश राजेंद्र चोड की कन्या थी। अनतवर्मन् ने सभवत १०७७ से ११४७ ई० तक, लगभग ७० वर्ष, राज्य किया। उसने उत्कलो को जीतकर गोदावरी और गगा के बीच के देशो से कर ग्रहण किया, परतु पालनरेश रामपाल के सामने सभवत उसे एक बार झुकना पडा। अनतवर्मन् ने ही पुरी के विख्यात जगन्नाथ जी के मंदिर का निर्माण कराया था, जो, यद्यपि कला की दृष्टि से तो विशेष महत्वपूर्ण नही है, तथापि भारत के आज के समृद्धतम मदिरो में से है। सेनराज विजयसेन ने उसके पुत्रो के समय कलिंग पर आक्रमण किया था। [भ० श० उ०]

अनंत श्रेणियाँ एक ऐसी श्रेणी, जिसके पदो की सख्या परिमित न हो, अनत श्रेणी (इनफिनिट सीरीज) कहलाती है। जैसे—

$$१-\frac{१}{२}+\frac{१}{३}-\frac{१}{४}+\ldots$$

एक अनत श्रेणी है। अनत श्रेणियाँ परिमित सख्याओ के बराबर होती है कि नही, और यदि होती है तो अनत श्रेणियो के साथ जोडने, घटाने, गुणन तथा विभाजन आदि की क्रियाएँ किस प्रकार की जा सकती है और अनत श्रेणियों का क्या महत्व एव उपयोग है, इन प्रश्नो के समुचित उत्तर देने के लिये हमे गणित के कुछ सकेतो तथा विशेष धारणाओ की आवश्यकता होगी। इनका पहले उल्लेख कर देना ठीक है।

अनुक्रम—गिनती गिनने के क्रम मे जो सख्याएँ आती है, जैसे १, २, ३, ..., उनको प्राकृतिक सख्याएँ कहते है। प्राकृतिक सख्याओ के समुदाय मे कोई अतिम अथवा सबसे बडी सख्या नही है, क्योकि किसी भी

प्राकृतिक सख्या मे १ जोडने से पहली से बडी एक दूसरी प्राकृतिक सख्या प्राप्त की जा सकती है। अत प्राकृतिक सख्याओ की सख्या परिमित नही है, दूसरे शब्दो मे, उनकी सख्या अनंत है। गिनने के क्रम मे क्रमागत सख्याओ का परिमाण भी पूर्वागत सख्याओ के परिमाण से अधिक होता जाता है और उनके परिमाण के इस प्रकार बढने के प्रक्रम का कही अत नही है। इस परिस्थिति को यह कहकर व्यक्त किया जाता है कि "प्राकृतिक सख्याओ का परिमाण अनत की ओर बढता जाता है।" अनत का प्रतीक ∞ है। एक अनिर्धारित प्राकृतिक सख्या को हम अक्षर प से व्यक्त करेगे। यदि प का मान इस तरह परिवर्तित हो रहा हो कि वह किसी भी प्राकृतिक सख्या से अधिक हो सकता है तो हम कहते है कि 'प अनत की ओर अग्रसर है।' प्रतीको मे इसे प $\rightarrow \infty$ से व्यक्त करते है (देखिए सीमा तथा अनंत)। |प| से किसी भी सख्या प का निरपेक्ष मान व्यक्त किया जाता है जैसे $|-2|=|2|=2$। यदि प का मान इस तरह परिवर्तित हो रहा हो कि वह किसी भी ऋण सख्या से कम हो सकता है तो हम कहते है कि प $\rightarrow -\infty$। $-\infty <$ ल $< \infty$ का अर्थ है कि ल एक परिमित सख्या है।

यदि सख्याओ (वास्तविक या सकर) का एक समूह इस प्रकार नियोजित हो कि प्रत्येक प्राकृतिक सख्या उस समूह की एक, और एक ही, सख्या की सगति मे लगाई जा सके तो सख्याओ के उस समूह को सख्या-अनुक्रम या केवल अनुक्रम (सीक्वेंस) कहते है। जैसे, $1, \frac{1}{2}, \frac{1}{3}, \ldots, 1/प,$ ... एक अनुक्रम है। इस अनुक्रम का पवाँ पद १/प है। $क_1, क_2, क_3, \ldots, क_प, \ldots$ एक सामान्य अनुक्रम है जिसका पवाँ पद $क_प$ है। सक्षेप में, इसको सकेत $\{क_प\}_1^\infty$ अथवा $\{क_प\}$ या केवल $क_प$ से व्यक्त करते है। अनुक्रम के लिये यह आवश्यक नही है कि उसका पवाँ पद सूत्र रूप मे लिखा जा सके, पर यह आवश्यक है कि उसका प्रत्येक पद ज्ञेय हो। अभाज्य सख्याओ से एक अनुक्रम बनता है, किंतु पवी अभाज्य सख्या को सूत्र रूप मे नही लिखा जा सकता। अनुक्रम मे एक ही सख्या बार बार भी आ सकती है, जैसे, १, २, १, २, १, २, ... एक अनुक्रम है। $क_प \rightarrow 0$ का अर्थ है कि $क_प$ ह्रासमान है, तथा जब प $\rightarrow \infty$ तो इसकी सीमा ० है।

अनत श्रेणियाँ, उनका अभिसरण तथा अपसरण—यदि $क_1, क_2, \ldots, क_प, \ldots$ कोई अनुक्रम हो तो, जैसा ऊपर बताया गया है, $क_1 + क_2 + \ldots + क_प + \ldots$ को अनत श्रेणी कहते है। इस अनत श्रेणी का सामान्य पद अथवा पवाँ पद $क_प$ है। सक्षेप मे इस श्रेणी को इस प्रकार लिखते है

$$\sum_{=1}^{\infty} क_प \text{ या } \sum क_प ।$$

यदि कुछ दी हुई सख्याओ की सख्या परिमित हो तो उनका योगफल भी एक परिमित सख्या होती है, पर अनत श्रेणियो के योगफल का क्या अर्थ है? कुछ अनत श्रेणियो का भी योगफल अवश्य होता है और उनके योगफल निकालने की विधि इस प्रकार है। यदि किसी अनत श्रेणी के प्रथम प पदो का योगफल $ज_प$ से व्यक्त करे, अर्थात्

$$ज_प = क_1 + क_2 + \ldots + क_प = \sum_{र=1}^{प} क_र$$

तो $ज_1, ज_2, \ldots, ज_प, \ldots$ एक अनुक्रम बन जाता है। यदि प के ∞ की ओर अग्रसर होने पर अनुक्रम $ज_प$ की सीमा एक परिमित सख्या ज है, अर्थात् यदि

$$\lim_{प \to \infty} ज_प = ज,$$

(सीमा)

तो ऐसी अनत श्रेणी को अभिसारी श्रेणी (कॉनवर्जेंट सीरीज़) कहते है और उसका योगफल सख्या ज के बराबर माना जाता है। ऐसी श्रेणियाँ जो अभिसारी नही होती अनभिसारी अथवा अपसारी (नॉन-कॉनवर्जेंट) होती है। जैसे

$$\frac{1}{2} + \frac{1}{2^2} + \frac{1}{2^3} + \ldots$$

अभिसारी है और इसका योगफल १ है, क्योकि

$$ज_प = \frac{1}{2} + \frac{1}{2^2} + \frac{1}{2^3} + \ldots + \frac{1}{2^प} = \frac{1/2 - 1/2^प}{1/2} \rightarrow 1 ।$$

फिर, $1 + 2 + 2^2 + \ldots$

अपसारी है, क्योकि $ज_प = \dfrac{2^प - 1}{1} \rightarrow \infty$।

अपसारी श्रेणियाँ दो प्रकार की होती है। यदि $ज_प \rightarrow \pm \infty$, तो श्रेणी पूर्ण अपसारी होती है और यदि $ज_प$ का मान दो सख्याओ (परिमित अथवा अनत) के बीच दोलित होता रहता है तो श्रेणी प्रदोली (ऑसिलेटरी) कहलाती है। $1 - 1 + 1 - 1 + 1 - \ldots$ प्रदोली श्रेणी है।

जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, अभिसारी श्रेणियो के साथ ही गणित की प्रधान क्रियाएँ सभव है। अत किसी दी हुई अनत श्रेणी के सबध मे सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक हो जाता है कि वह अभिसारी है या नही। इसके लिये एक आवश्यक और पर्याप्त प्रतिबध यह है कि सीमा $(ज_प - ज_फ) = 0$, जब एक दूसरे से स्वतत्र रहकर प $\rightarrow \infty$, फ $\rightarrow \infty$। यह प्रतिबध व्यवहार मे बहुत लाभकर नही सिद्ध होता, किंतु इसके आधार पर कई उपयोगी निष्कर्ष निकाले जा सकते है, जैसे प्रत्येक अभिसारी श्रेणी के लिये यह आवश्यक है कि $क_प \rightarrow 0$। इस परीक्षा के अनुसार $\sum$ कोज्या (१/प) अभिसारी श्रेणी नही है।

धन श्रेणियाँ—ऐसी श्रेणी जिसके सभी पद धन सख्याएँ हो धन श्रेणी कहलाती है। यदि न एक से बडी कोई सख्या है तो श्रेणी

$$1 + \frac{1}{2^न} + \frac{1}{3^न} + \ldots + \frac{1}{प^न} + \ldots$$

अभिसारी होती है और यदि न $\leqslant 1$ तो श्रेणी अपसारी होती है। इस प्रकार श्रेणी $1 + \frac{1}{4} + \frac{1}{9} + \frac{1}{16} + \ldots$ अभिसारी है। इसका योगफल $= \frac{1}{6}\pi^2$, जहाँ $\pi = 3.14\ldots$। $1 + \frac{1}{2} + \frac{1}{3} + \ldots$ अपसारी है। धन श्रेणियो के अभिसरण तथा अपसरण की कुछ परीक्षाएँ नीचे दी जाती है। जिन श्रेणियो का उल्लेख यहाँ होगा वे सभी धन श्रेणियाँ है।

१ यदि $क_प \leqslant ग_प$ और $\sum ग_प$ अभिसारी है, तो $\sum क_प$ भी अभिसारी है। यदि $क_प \geqslant ग_प$ और $\sum ग_प$ अपसारी है तो $\sum क_प$ भी अपसारी है।

२ **तुलना परीक्षा**—यदि सीमा $क_प/ग_प =$ ल, $0 <$ ल $< \infty$, तो $\sum क_प$ और $\sum ग_प$ साथ साथ ही अभिसारी अथवा अपसारी होगी।

३ **अनुपात परीक्षा (दलाँबेर की)**—मान ले कि सीमा $क_प/क_{प+1} =$ ल। यदि ल < 1 तो $\sum क_प$ अभिसारी होगी और यदि ल < 1 तो अपसारी होगी। यदि ल $= 1$ तो कुछ नही कहा जा सकता और नीचे की परीक्षा का प्रयोग करना चाहिए।

४ **राबे की परीक्षा**—यदि सीमा प$(क_प/क_{प+1} - 1) =$ ल और ल > 1, तो श्रेणी अभिसारी है और यदि ल < 1 तो अपसारी है। यदि ल $= 1$, तो नीचे की परीक्षा का उपयोग करना चाहिए।

५ मान ले, जब प $\rightarrow \infty$, तब

$$\text{लघु} \left\{ प\left(\frac{क_प}{क_{प+1}} - 1\right) - 1 \right\} \rightarrow \text{ल} ।$$

यदि ल > 1, तो श्रेणी अभिसारी होगी और यदि ल < 1, तो अपसारी होगी।

६ **कोशी की मूल परीक्षा**—मान ले $(क_प)^{1/प} \rightarrow$ ल। यदि ल < 1, तो श्रेणी अभिसारी होगी और यदि ल > 1 तो, अपसारी होगी। मूल परीक्षा सिद्धातत अनुपातपरीक्षा से अधिक शक्तिपूर्ण है, किंतु व्यवहार मे अनपात परीक्षा अधिक उपयोगी है।

७ **समाकल परीक्षा** (मैक्लारिन की)—यदि $म_प$ ह्रासमान हो और $क_प$=फ(प), तो

$$ज_प - \int_1^प फ(य) तय$$

की सीमा एक परिमित संख्या होती है और परिणामस्वरूप समाकल

$$\int_1^\infty फ(य) तय \text{ तथा श्रेणी } \sum क_प$$

एक साथ ही अभिसारी तथा अपसारी होते हैं। इस परीक्षा से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि (१+$\frac{1}{2}$+$\frac{1}{3}$+ . . +१/प—लघु प) की सीमा एक परिमित संख्या है। इस संख्या को ऑयलर का अचर कहते हैं और इसका मान ०.५७७२१५६६ . . है।

इनके अतिरिक्त कोशी की संघननपरीक्षा तथा गाउस की परीक्षा आदि भी हैं। स्थानाभाव से उनका उल्लेख नहीं किया जा रहा है (देखें संदर्भ ग्रंथ)।

सामान्य श्रेणियाँ और परम अभिसरण—ऐसी श्रेणी, जिसके कोई दो क्रमिक पद भिन्न चिह्नों के हों (एक + और दूसरा —), **एकांतर श्रेणी** कहलाती है। यदि $क_प \to ०$ तो श्रेणी $क_1 - क_2 + क_3 - क_4 + ..$ अभिसारी होती है। जैसे १—$\frac{1}{2}$+$\frac{1}{3}$—$\frac{1}{4}$+ . . अभिसारी है, इसका योग लघु २ है।

यदि धन और ऋण दोनों प्रकार के पदोंवाली श्रेणी $\sum क_प$ ऐसी हो कि श्रेणी $\sum |क_प|$ अभिसारी है, तो यह कहा जाता है कि श्रेणी $\sum क_प$ **परम अभिसारी** है। जैसे, १—$\frac{1}{4}$+$\frac{1}{9}$—$\frac{1}{16}$+ . . परम अभिसारी है, किंतु १—$\frac{1}{2}$+$\frac{1}{3}$—$\frac{1}{4}$+ . . परम अभिसारी नहीं है। प्रत्येक परम अभिसारी श्रेणी अवश्यमेव अभिसारी होती है, किंतु प्रत्येक अभिसारी श्रेणी परम अभिसारी नहीं होती। १—$\frac{1}{2}$+$\frac{1}{3}$—$\frac{1}{4}$+ . . अभिसारी है, किंतु परम अभिसारी नहीं है। ऐसी श्रेणी को **सप्रतिबंध अभिसारी** (कंडिशनली कॉनवर्जेंट) कहते हैं। स्पष्ट है कि प्रत्येक अभिसारी धन श्रेणी परम अभिसारी होती है। परम अभिसारी श्रेणी के पदों के क्रम में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करने से श्रेणी के योगफल में अंतर नहीं पड़ता और वह परम अभिसारी बनी रहती है। इसके विपरीत, सप्रतिबंध अभिसारी श्रेणी के पदों के क्रम में हेर फेर करने से श्रेणी के आचरण और उसके योग दोनों में अंतर पड़ सकता है। जैसे १—$\frac{1}{2}$+$\frac{1}{3}$—$\frac{1}{4}$+ . . =लघु २, किंतु १+$\frac{1}{3}$—$\frac{1}{2}$+$\frac{1}{5}$+$\frac{1}{7}$—$\frac{1}{4}$+ . . =$\frac{3}{2}$ लघु २।

जर्मन गणितज्ञ रीमान (१८२६-१८६६) ने यह सिद्ध किया है कि किसी सप्रतिबंध अभिसारी श्रेणी के पदों के क्रम में उचित हेरफेर करके उसका योग किसी भी संख्या के बराबर किया जा सकता है अथवा उसको हर प्रकार की अपसारी श्रेणी का रूप दिया जा सकता है। परम अभिसारी श्रेणियों तथा सप्रतिबंध अभिसारी श्रेणियों के आचरण के इस मौलिक अंतर का मूल कारण यह है कि परम अभिसारी श्रेणी के धन पदों और ऋण पदों द्वारा अलग अलग दो अभिसारी श्रेणियाँ बनती हैं तथा इसके विपरीत सप्रतिबंध अभिसारी श्रेणी के धनपदों और ऋणपदों द्वारा अलग अलग दो अपसारी श्रेणियाँ बनती हैं।

अनंत श्रेणियाँ और प्रधान क्रियाएँ—यदि क= $\sum क_प$ और ग= $\sum ग_प$ दो अभिसारी श्रेणियाँ हों, तो $\sum (क_प \pm ग_प)$ भी अभिसारी होती है और इसका योग=क ± ग, अर्थात् दो अभिसारी श्रेणियों के संगत पद जोड़ने और घटाने से बनी श्रेणियाँ भी अभिसारी होती हैं, किंतु गुणनफल के संबंध में यह बात सर्वथा ठीक नहीं है। दो श्रेणियों $\sum क_प$ और $\sum ग_प$ का गुणनफल श्रेणी

$$\sum क_प ग_र, \quad प=१, २, ३, . . \quad र=१, २, ३, . .$$

से व्यक्त किया जाता है। परम अभिसरण की धारणा का महत्व दो श्रेणियों के गुणनफल के संबंध में अत्यंत स्पष्ट हो जाता है। यदि क= $\sum क_प$ और ग= $\sum ग_प$ परम अभिसारी हों, तो $\sum क_प ग_प$ प्रत्येक दशा में परम अभिसारी होती है तथा इसका योग कग होता है। श्रेणियों $\sum क_प$ और $\sum ग_प$ का एक विशेष गुणनफल, जिसको कोशी गुणनफल कहते हैं, श्रेणी $\sum ख_प$ से व्यक्त किया जाता है, जिसमें $ख_प = क_1 ग_प + क_2 ग_{प-1} + . . . + क_प ग_1$। कोशी गुणनफल के संबंध में कुछ महत्वपूर्ण प्रमेय निम्नलिखित हैं :

१ **कोशी प्रमेय**—यदि क= $\sum क_प$ तथा ग= $\sum ग_प$ दो परम अभिसारी श्रेणियाँ हों तो श्रेणी $\sum ख_प$ भी परम अभिसारी होगी और इसका योग कग होगा।

२ **मर्टेन प्रमेय**—यदि क= $\sum क_प$ परम अभिसारी हो तथा ग= $\sum ग_प$ केवल अभिसारी हो, तो $\sum ख_प$ भी अभिसारी होगी और इसका योग कग होगा।

३ **आबेल प्रमेय**—यदि क= $\sum क_प$ और ग= $\sum ग_प$ ये दोनों श्रेणियाँ केवल अभिसारी हों और $\sum ख_प$ भी अभिसारी हो, तो $\sum ख_प$=कग।

एकसमान अभिसरण—अभी तक हमने अचर पदोंवाली श्रेणियों की ही चर्चा की है। मान लीजिए कि श्रेणी

$$\sum_{प=1}^{\infty} क_प(य),$$

जिसका प्रत्येक पद $क_प(य)$ अंतराल (त, थ) में चर य का फलन है, य के प्रत्येक मान के लिये अभिसारी है। श्रेणी का योगफल क(य) भी य का एक फलन होगा। यदि घ कोई स्वेच्छ धन अचर हो और $य_1, य_2, य_3$, . . अंतराल (त, थ) की संख्याएँ हों, तो इनसे संगत क्रमश: $प_1, प_2, प_3$ ऐसी प्राकृतिक संख्याएँ होंगी कि $|क_प(य_1) - क(य_1)| <$ घ, जहाँ $प > प_1$, $|क_प(य_2) - क(य_2)| <$ घ, जहाँ $प > प_2$, आदि। यदि य के सभी मानों के लिये एक ही प्राकृतिक संख्या म ऐसी हो कि $|क_प(य) - क(य)| <$ घ जब $प \geq म$, तो हम कहते हैं कि श्रेणी $\sum क_प(य)$ अंतराल (त, थ) में एकसमानत: अभिसारी (यूनिफॉर्मली कॉनवर्जेंट) है। स्पष्ट है कि एकसमानत: अभिसारी श्रेणी अवश्यमेव अभिसारी होती है।

एकसमान अभिसरण के लिये कई परीक्षाएँ हैं, किंतु उनमें सबसे सरल और अत्यंत उपयोगी परीक्षा, जिसको जर्मन गणितज्ञ वायर्स्ट्रास ने सिद्ध किया था, इस प्रकार है : यदि $\sum म_प$ धन अचर पदों की एक ऐसी अभिसारी श्रेणी हो कि य के सभी मानों के लिये $|क_प(य)| \leq म_प$, प=१, २, . ., तो श्रेणी $\sum क_प(य)$ एकसमानत: अभिसारी होगी। जैसे, श्रेणी १+य+$य^2$+ . . अंतराल (०, ग), ०≤ग<१, में एकसमानत: अभिसारी है। श्रेणी

$$ज्या(य) + \frac{ज्या(२य)}{४} + \frac{ज्या(३य)}{९} + \ldots$$

य के सभी मानों के लिये एकसमानत: अभिसारी है। एकसमान अभिसरण का महत्व नीचे के प्रमेयों से स्पष्ट हो जाता है :

१ यदि किसी एकसमानत: अभिसारी श्रेणी का प्रत्येक पद य का सतत फलन हो, तो एकसमान अभिसरण के अंतराल में उस श्रेणी का योगफल भी य का सतत फलन होगा।

२ यदि $\sum क_प(य)$ अंतराल (त, थ) में एकसमानत: अभिसारी हो तथा उसका योग ज(य) हो, तो

$$\int_त^थ ज(य) तय = \sum \int_त^थ क_प(य) \text{ तय।}$$

३ यदि ज(य)= $\sum क_प(य)$ एकसमानत: अभिसारी हो और अवकलित श्रेणी $\sum क_प'(य)$ भी सतत पदों की एकसमानत: अभिसारी श्रेणी हो, तो ज'(य)= $\sum क_प'(य)$। यहाँ प्राइम अवकलन का द्योतक है।

संमिश्र श्रेणियाँ—ऐसी श्रेणी $\sum क_प$ जिसका प्रत्येक पद $क_प = ग_प + श्र\, द_प$, श्र=$\sqrt{(-1)}$ (देखें **संमिश्र संख्याएँ**), एक संमिश्र संख्या

हो, **समिश्र श्रेणी** कहलाती है। श्रेणी $\sum$क$_प$ तब, और केवल तब, अभिसारी कही जाती है जब दोनों श्रेणियाँ **ग**$=\sum$ **ग**$_प$ और **द**$=\sum$ द$_प$ अभिसारी हों। $\sum$ क$_प$ का योग **ग**+**अद** माना जाता है। यदि

$$\sum क_प = \sum \sqrt{(ग_प^२ + द_प^२)}$$

भी अभिसारी हो, तो कहा जाता है कि $\sum$क$_प$ परम अभिसारी है। $\sum$क$_प$ के परम अभिसरण के लिये यह आवश्यक और पर्याप्त है कि प्रत्येक श्रेणी $\sum$ग$_प$ और $\sum$द$_प$ परम अभिसारी हो। इस प्रकार समिश्र श्रेणियों का अध्ययन वास्तविक श्रेणियों के अध्ययन मे रूपातरित किया जा सकता है, किंतु स्वतत्र रूप मे उनका अध्ययन पर्याप्त सरल और शिक्षाप्रद होता है।

घात श्रेणियाँ—श्रेणी

$$\sum_{=०}^{\infty} क_प (य-त)^प,$$

जिसमें **क**$_प$ तथा **त** अचर है, और **य** चर (वास्तविक अथवा समिश्र), **घात श्रेणी** कहलाती है। यदि **त** को शून्य मान ले तो श्रेणी का रूप होगा $\sum$ **क**$_प$ **य**^{प}। घात श्रेणियो से परम अभिसरण तथा एकसमान अभिसरण के बहुत सुदर उदाहरण मिल सकते है। प्रत्येक घात श्रेणी $\sum$ **क**$_प$ **य**^{प} के लिये एक ऐसी अद्वितीय वास्तविक धनसख्या **त्र** होती है, $० \leqslant$ **त्र** $\leqslant \infty$, कि **य** के ऐसे सभी मानो के लिये जिनके लिये $|य| <$ त्र, श्रेणी अभिसारी होती है, और उन मानो के लिये श्रेणी अपसारी होती है जिनके लिये $|य| >$ त्र। **त्र** को श्रेणी की **अभिसरण-त्रिज्या** कहते है और वृत्त (अथवा अतराल) $|य| <$ त्र को श्रेणी का **अभिसरण वृत्त** (अथवा अतराल) कहते है।

प्रत्येक घात श्रेणी के लिये

$$त्र = (सीमा\ |क_प|^{१/प})^{-१}।$$

यदि सीमा $|क_प|/|क_{प+१}|$ एक निश्चित सख्या है तो **त्र** का मान उसके बराबर होता है। श्रेणियो

$$१+य+२^२य^२+३^३य^३+\ldots,\quad १+य+य^२+\ldots,$$

तथा

$$१+य+\frac{य^२}{२!}+\frac{य^३}{३!}+\ldots$$

की अभिसरण त्रिज्याएँ क्रमश ०, १ और ∞ है। प्रत्येक घात श्रेणी अभिसरण वृत्त के भीतर परम अभिसारी तथा एकसमानत अभिसारी होती है, और उसका योग अभिसरण वृत्त के भीतर एक वैश्लेषिक फलन होता है (देखे **फलन** तथा **टेलर श्रेणी**)।

अनत श्रेणियों की सकलनीयता—कुछ ऐसी विधियाँ है जिनकी सहायता से कतिपय अपसारी श्रेणियो के साथ भी योगफल की धारणा का सनिवेश किया जा सकता है। १८वी शताब्दी के जर्मन गणितज्ञ ऑयलर ने अपसारी श्रेणी १ − १ + १ − १ + . . का योग $\frac{१}{२}$ माना था और इसका सफलतापूर्वक उपयोग भी किया था। किंतु अपसारी श्रेणियो के उपयोग से प्राय परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकलने लगे। इसलिये कोशी, आबेल आदि ने उपपत्तियो मे अपसारी श्रेणियो के प्रयोग को अनुचित बताया। १९वी शताब्दी मे चेज़ारो, बोरेल आदि ने सकलन की ऐसी विधियाँ निकाली जिनके द्वारा सकलनीय अपसारी श्रेणियो को भी वही प्रतिष्ठा मिली जो अभिसारी श्रेणियो को मिली थी। स्थानाभाव से यहाँ केवल चेजारो की एक विधि का उल्लेख किया जाता है। यदि ज$_प$ श्रेणी $\sum$ क$_प$ के **प** पदो का जोड है तो मान ले

$$स_प = \frac{ज_१+ज_२+\ldots+ज_प}{प}।$$

यदि सीमा स$_प$ एक निश्चित परिमित सख्या **स** के बराबर है तो यह कहा जाता है कि श्रेणी $\sum$ क$_प$ चेजारो की विधि से संकलनीय है और उसका योगफल **स** है। इस प्रकार १ − १ + १ − १ + . संकलनीय है और इसका योगफल $\frac{१}{२}$ है। प्रत्येक अभिसारी श्रेणी इस विधि से सकलनीय होती है और उसका योगफल बदलता नही।

सं॰ग्रं॰—ब्रॉमविच ऐन इट्रोडक्शन टु दि थ्योरी ऑव इनफिनिट सीरीज, क्नॉप थ्योरी ऐंड ऐप्लिकेशन ऑव इनफिनिट सीरीज, हार्डी: डाइवर्जेंट सीरीज। [उ॰ ना॰ सिं॰]

अनईकट्टू अग्रेजी शब्द 'ऐनीकट' तमिल भाषा के मूल शब्द 'अनई-कट्टू' का अपभ्रश है। इसका मूल अर्थ बाँध है। ऐसे बाँध नदी के मार्ग के अनुप्रस्थ (आरपार) बना दिए जाते है, जिससे बाँध के पूर्व नदी तल ऊँचा हो जाता है। तब इसकी बगल मे बनी नहरो मे पानी
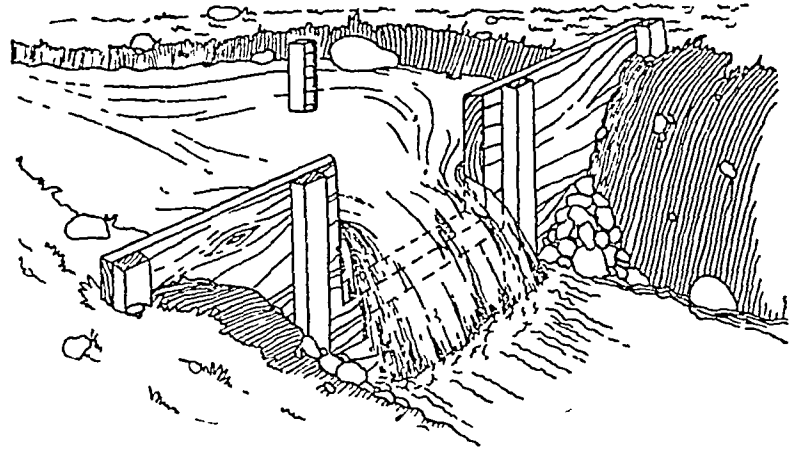
छोटा अनईकट्टू (उद्रोध)

नदी नालो मे जल के मार्ग को बाँध से छोटा कर देने पर बाँध के पूर्व जल का स्तर ऊँचा हो जाता है, जिससे कई प्रकार की सुविधाएँ होती है।

भेजा जा सकता है। उत्तर भारत में 'अनईकट्टू' या 'ऐनीकट' शब्द का प्रयोग नही होता (देखे उद्रोध)। कभी कभी जलाशयो के ऊपर, अतिरिक्त जल की निकासी के लिये, जो बाँध या पक्की दीवार बनाई जाती है उसे भी अनईकट्टू कहते है। अनईकट्टू बहुधा पत्थर या ईंट की पक्की
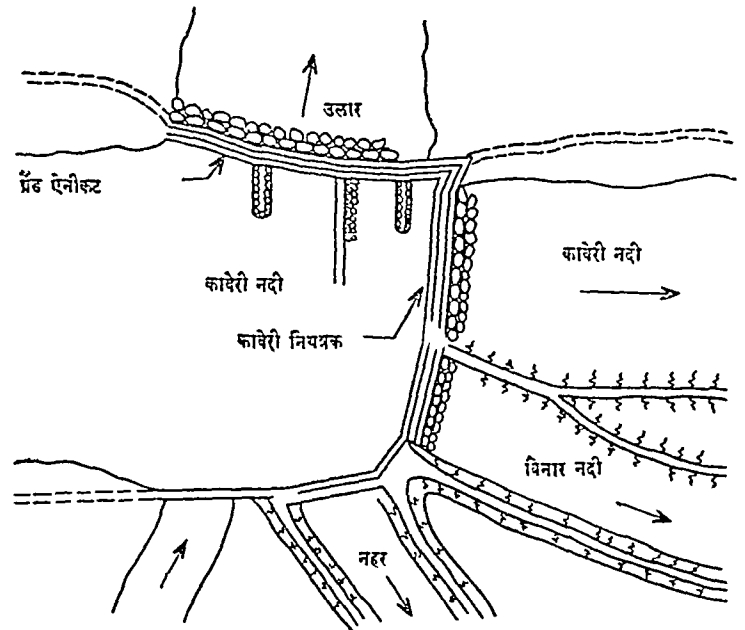
कावेरी नदी पर बना ग्रैंड ऐनीकट

चुनाई मे बनाए जाते है और इसकी मोटाई की गणना इजीनियरी के सिद्धातो पर की जाती है, क्योकि दुर्बल अनईकट्टू पानी के अधिक वेग अथवा बाढ से टूट जाते है और आवश्यकता से अधिक दृढ बनाने मे व्यर्थ अधिक धन लगता है। सबसे महत्वपूर्ण अनईकट्टू दक्षिण भारत मे "ग्रैंड ऐनीकट" है जो कावेरी नदी पर शताब्दियो पूर्व चोला राजाओ के समय का बना हुआ है। इससे कई नहरे निकाली गई है। [वा॰ ना॰]

अनकापल्लि आंध्र प्रदेश के विशाखपत्तनम जिले का एक नगर है, जो १७° ४२' उ॰ अक्षाश तथा ८३° २' पू॰ देशातर रेखाओ पर शारदा नदी के किनारे विशाखपत्तनम से लगभग २० मील पश्चिम, एक उपजाऊ क्षेत्र मे स्थित है। यह एक उन्नतिशील कृषिकेंद्र है तथा ताँबे

और लोहे के पात्रों के लिये प्रसिद्ध है। १८७८ ई० में यहाँ नगरपालिका बनी। मद्रास से यह स्थान ४८४ मील दूर है। यहाँ एक रेलवे स्टेशन भी है। जनसख्या ४०,१०२ है (१९५१)। [न० ला०]

अनक्सागोरस एक यूनानी दार्शनिक जो एशिया-माइनर के क्लॅजोमिनया नामक स्थान मे ५००ई०पू०में पैदा हुआ, किंतु जिसकी ज्ञानपिपासा उसे यूनान खीच लाई। वह प्रसिद्ध यूनानी राजनीतिज्ञ पेरीक्लीज़ तथा कवि यूरिपिदिज़ का अन्यतम मित्र था। कुछ विद्वान् उसे सुकरात का शिक्षक बताते हैं, किंतु यह कथन पर्याप्त प्रामाणिक नही है।

इयोनिया से दर्शन और प्राकृतिक विज्ञान को यूनान लाने का श्रेय अनक्सागोरस को ही है। वह स्वय अनक्ज़ामिनस, इमपिदोक्लीज़ तथा यूनानी अणुवादियो से प्रभावित था, अत उसके दर्शन की प्रमुख विशेषता विश्व की यात्रिक भौतिकवादी व्याख्या है। उसने इस तत्कालीन यूनानी आस्था का कि सूर्य चद्रादि देवगण है, खडन कर यह प्रस्थापित किया कि सूर्य एक तप्त लौह द्रव्य एव चद्र तारागण पाषाणसमूह है जो पृथ्वी की तेज गति के कारण उससे छिटककर दूर जा पडे है। वह इस विचारधारा का भी विरोधी था कि वस्तुएँ 'उत्पन्न' तथा 'विनष्ट' होती है। उसके अनुसार प्रत्येक वस्तु प्रागैतिहासिक अति सूक्ष्म द्रव्यो के—जिन्हे वह 'बीज' कहता है और जो मूलत अगणित एव स्वविभाजित थे—'सयोग' तथा 'विभाजन' का परिणाम है। वस्तुओ की परस्पर भिन्नता 'बीजो' के विभिन्न परिमाण में 'सयोग' के फलस्वरूप है। अनक्सागोरस के अ नुसार इन मूल 'बीजो' का ज्ञान तभी सभव है जब उन्हे जटिल सपृक्त समूहो से "बुद्धि" की क्रिया द्वारा पृथक् किया जाय। 'बुद्धि' स्वय सर्वत्र सम, स्वतत्र एव विशुद्ध है।

तत्कालीन यूनानी धार्मिक दृष्टिकोण से मतभेद तथा पेराक्लीज की मित्रता अनक्सागोरस को महँगी पडी। पेराक्लीज के प्रतिद्वद्वियो ने उसपर 'अधार्मिकता' और 'असत्य प्रचार' का आरोप लगाया, जिसके कारण उसे केवल ३० वर्ष बाद ही एथेंस छोडकर एशिया-माइनर लौट जाना पडा, जहाँ ७२ वर्ष की आयु मे उसकी मृत्यु हो गई।

स०ग्र०—अनक्सागोरस के बिखरे विचारो का सकलन शोबाक् तथा शोर्न द्वारा (क्रमश लाइपजिग, १८२७ एव बॉन, १८२९ मे), गोमपर्ज़ ग्रीक थिकर्ज, जिल्द १, विडलबेड 'हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी', बरनेट ईजी ग्रीक फिलॉसफी, स्टेस क्रिटिकल हिस्ट्री ऑव ग्रीक फिलॉसफी। [श्री० स०]

अनग्रदंत (ईडेंटेटा), जैसा नाम से ही स्पष्ट है, वे जतु है जिनके अग्रदत नही होते। हिंदी का 'अनग्रदत' शब्द अग्रेजी के ईडेंटेटा का समानार्थक माना गया हे। अग्रेजी के 'ईडेंटेटा' शब्द का अर्थ है 'जतु जिनको दाँत होते ही नही'। अग्रेजी का ईडेंटेटा नाम कुवियर ने उन जरायुज, स्तनधारी जतुओ के समुदाय को दिया था जिनके सामने के दाँत (कर्तनक दत) अथवा जबडे के दाँत नही होते। इस समुदाय के अतर्गत दक्षिण अमरीका के चीटीखोर (ऐंटईटर्स), शाखालबी (स्लॉथ), वर्मी (आर्माडिलोज) और पुरानी दुनिया के आर्डवार्क तथा वज्रकीट (पैंगोलिन) आते है। इनमे वज्रकीट तथा चीटीखोर बिलकुल दतविहीन होते है। अन्यो में केवल सामने के कर्तनक दत नही होते, परतु शेष दाँत ह्रास की अवस्था में, बिना दतवल्क (इनैमल) तथा मूल (रूट) के, होते है और किसी किसी मे दाँतो के पतनशील पूर्वज पाए जाते है।

स्तनधारी प्राणियो के वर्गीकरण में पहले अनग्रदतो का एक वर्ग (ऑर्डर) माना गया था और इसके तीन उपवर्ग थे (क) जिनार्था, (ख) फोलिडोटा तथा (ग) टयूबुलीडेंटेटा, किंतु अब ये तीनो उपवर्ग स्वय अलग अलग वर्ग बन गए है। इस प्रकार ईडेंटेटा वर्ग का पृथक् अस्तित्व विलीन होकर उपर्युक्त तीन वर्गो मे समाहित हो गया है।

वर्ग जिनार्था—यह प्राय दक्षिण तथा मध्य अमरीकी प्राणियो का समुदाय है, यद्यपि इसके कुछ सदस्य उत्तरी अमरीका मे भी प्रवेश कर गए है। प्रारूपिक (टिपिकल) अमरीकी अनग्रदत अथवा जिनार्था की विशेषता यह है कि अतिम पृष्ठीय तथा सभी कटिकशेरुकाओ में अतिरिक्त सधिमुखिकाएँ (फैसेट) अथवा असामान्य सधियाँ पाई जाती है। इनमे दाँत हो भी सकते है और नही भी। जब होते है तब सभी दाँत बराबर होते है अथवा एक सीमा तक विभिन्न होते है। शरीर का आवरण मोटे बालो अथवा अस्थिल पट्टियो का रूप ले लेता हे अथवा छोटे या बडे बालो का सम्मिश्रण होता है।

यह वर्ग तीन कुलो मे विभक्त है। इनमें पहला है ब्रैडीपोडिडी, जिसके उदाहरण त्रि-अगुलक शाखालबी (स्लॉथ) तथा द्वि-अगुलक शाखालबी है। दूसरा है मिरमेकोफेजिडी, जिसके उदाहरण है बृहत्काय चीटीखोर (जाएट ऐंटईटर्स) तथा त्रि-अगुलक चीटीखोर (थ्रीटोड ऐंट ईटर्स)। तीसरा है डेसीपोडाइडी, जिसके उदाहरण है टेक्सास के वर्मी (आर्माडिलोज़) तथा बृहत्काय वर्मी (जाएट आर्माडिलोज)।

शाखालबी—शाखालबी का सिर गोल और लघु, कान का लोर छोटा, पावँ लबे एव पतले होते है। स्तनपायी जानवरो में अन्य किसी भी समुदाय के अग वृक्षवासजीवन के इतने अनुकूल नही है जितने शाखालबियो मे। इनमे अग्रपाद पश्चपादो की अपेक्षा अधिक बडे होते है। अँगुलियाँ लबी, भीतर की ओर मुडी हुई और अकुश सदृश होती है, जिनसे उनको वृक्षो पर चढने तथा उनकी शाखाओ को पकडकर लटके रहने मे सुविधा होती है। त्रि-अगुलक शाखालबी के अग्र तथा पश्च दोनो ही पादो में तीन तीन अँगुलियाँ होती है, किंतु द्वि-अगुलक शाखालबी के अग्रपाद मे दो और पश्चपाद मे तीन अगुलियाँ होती है। इनकी पूँछ प्राथमिक अवस्था में अथवा अल्पविकसित होती है। इनका शरीर लबे तथा मोटे बालो से आच्छादित रहता है। आर्द्र जलवायु के कारण इन बालो पर एक प्रकार की हरी काई जैसी वस्तु 'ऐल्जी' उत्पन्न होती है जिससे इन जानवरो के रोम हरे प्रतीत होते है। इसी से जब ये जानवर हरी हरी डालियो पर लटके रहते है तब ऐसा भ्रम होता है कि ये उस वृक्ष की शाखा ही है। उस समय ध्यान से देखने पर ही इन जतुओ का अलग अस्तित्व ज्ञात होता है।

शाखालबी
यह जतु वृक्षो की शाखाओ से लटका हुआ चलता है। मदगामी होने के कारण इसे अग्रेज़ी मे स्लॉथ कहते है (स्लॉथ=आलस्य)।

शाखालबियो के शरीर की लबाई २० इच से २८ इच तक और पूँछ लगभग २ इच लबी होती है। ये अपना जीवन वृक्षो पर बिताते है, भूमि पर उतरते नही, यदि कभी उतरते भी है तो अग्रपाद तथा पश्चपादो की लबाई की असमता के कारण बडी कठिनाई से चल पाते है। ये बदर की भाँति उछलकर एक पेड से दूसरे पेड पर नही जाते, बल्कि हवा के झोके से झुकी डालियो को पकडकर जाते है। ये अपना जीवननिर्वाह पत्तियो, कोमल टहनियो तथा फलो पर करते है। इनके अग्रपाद डालियो को खीचकर मुख की पहुँच के भीतर लाने मे सहायक होते है, किंतु पत्तियो को मुख में ले जाने का काम नही करते। सोते समय शाखालबी अपने शरीर को गेंद की भाँति लपेट लेते है। ये निशिचर, शात प्रकृति के, अनाक्रामक एव एकातवासी होते है। इनकी मादा एक बार मे प्राय एक ही बच्चा जनती है।

चीटीखोर (ऐंटइटर)—यह मिरमेकोफेजिडी कुल का सदस्य है। इसका थूथन नुकीला होता है, जिसके छोर पर छिद्र के समान एक मुखद्वार होता है। आँखे छोटी तथा कान का लोर किसी में छोटा और किसी मे बडा होता है। प्रत्येक अग्रपाद में पाँच अँगुलियाँ होती है। इनमें तीसरी अँगुली मे प्राय बडा, मुडा हुआ और नोकीला नख होता ह, जिससे हाथ कार्यक्षम तथा निपुण खोदनेवाला अवयव सिद्ध होता है। पश्चपादो मे ४-५ छोटी बडी अँगुलियाँ होती है, जिनमे साधारण आकार के नख होते है। अग्रपाद की अँगुलियाँ भीतर की ओर मुडी होती है, जिससे चलते समय शरीर का भार अग्रपाद की दूसरी, तीसरी तथा चौथी अँगुलियो की ऊपरी सतह पर तथा पाँचवी की छोर की एक गद्दी पर और पश्चपादो के पूरे पजो पर पडता है। सभी चीटीखोरो में पूँछ बहुत लबी होती है। किसी किसी की पूँछ परिग्राही होती है। शरीर लबे बालो से

अनलहक यह सूफियो की एक इत्तला (सूचना) है जिसके द्वारा वे आत्मा को परमात्मा की स्थिति मे लय कर देते है। सूफियो के यहाँ खुदा तक पहुँचने के चार दर्जे हैं। जो व्यक्ति सूफियो के विचार को मानता है उसे पहले दर्जे से क्रमश चलना पडता हे—शरीयत, तरीकत, मारफत और हकीकत। पहले सोपान मे नमाज, रोजा और दूसरे कामो पर अमल करना होता है। दूसरे सोपान मे उसे एक पीर की जरूरत पडती हे—पीर से प्यार करने की और पीर का कहा मानने की। फिर तरीकत की राह मे उसका मस्तिष्क आलोकित हो जाता है और उसका ज्ञान बढ जाता है, मनुष्य ज्ञानी हो जाता है (मारफत)। अतिम सोपान पर वह सत्य की प्राप्ति कर लेता है और खुद को खुदा मे फना कर देता है। फिर 'दुई' का भाव मिट जाता है, 'मैं' और 'तुम' मे अतर नही रह जाता। जो अपने को नही सँभाल पाते वे 'अनलहक' अर्थात् 'मै खुदा हूँ' पुकार उठते हैं। इस प्रकार का पहला व्यक्ति जिसने 'अनलहक' का नारा दिया वह मसूर-विन-हल्लाज था। इस अधीरता का परिणाम प्राण दड हुआ। मुल्लाओ ने उसे खुदाई का दावेदार समझा और सूली पर लटका दिया। [अ० अ०]

अनसूया दक्ष की कन्या तथा अत्रि की पत्नी, जिन्होने राम, सीता और लक्ष्मण का अपने आश्रम मे स्वागत किया था। उन्होने सीता को उपदेश दिया था और उन्हे अखड सौदर्य की एक ओषधि भी दी थी। सतियो मे उनकी गणना सबसे पहले होती है। कालिदास के 'शाकुतलम्' मे अनसूया नाम की शकुतला की एक सखी भी कही गई है। [च० म०]

अनाक्रिओन (जन्म, लगभग ५६० ई० पू०), एशिया माइनर के तिओस नगर का निवासी। ईरानी सम्राट् कुरुप् के आक्रमण से अन्य नगरवासियो के साथ थ्रेस भागा। फिर वह सामोस के राजा पोलिक्रातिज् का अध्यापक बना। वह प्राचीन ग्रीक भाषा का महान् गेय (लिरिक) कवि था। उसने अपने इस सामोस के सरक्षक पर अनेक कविताएँ लिखी। अपने सरक्षक की मृत्यु के बाद एथेस के राजा हिपार्चस् के आवाहन पर वह वहाँ पहुँचा। वहाँ अपने सरक्षक की हत्या के बाद वह मित्रकवि सिमोनीदिज के साथ नगर नगर घूमता अपने जन्म के नगर तिओस पहुँचा जहाँ प्राय ८५ वर्ष की आयु मे वह मरा। वह लोकप्रिय जनकवि था और एथेस् मे उसकी मूर्ति स्थापित हुई। हाथ मे तत्री लिए सिंहासन पर बैठी उसकी सगमरमर की एक मूर्ति १८३५ ई० मे पाई गई थी। तिओस नगर के अनेक सिक्को पर उसकी तत्रीधारिणी आकृति ढली मिली है।

अनाक्रिओन मधुर गायक था, ऐसा लिरिक कवि जिसे प्रसिद्ध लातीनी कवि होरेस ने अपना आदर्श माना है। अनाक्रिओन की अनक पूर्ण-अपूर्ण कविताएँ सकलित हुई जिनकी सत्यता की सदिग्धता उसके गौरव को बढा देती है। उसने अधिकतर कविताएँ सुरा, दियोनिसस् आदि पर लिखी। [भ० श० उ०]

अनागामी निर्वाण के पथ पर अर्हत् पद के पहले की भूमि अनागामी की होती है। जब योगी समाधि मे सत्ता के अनित्य-अनात्म-दु ख स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है तब उसके भवबधन एक एक कर टूटने लगते है। जब सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रतपराभास, कामछद और व्यापाद्—य पाँच बधन नष्ट हो जाते है तब वह अनागामी हो जाता है। मरने के बाद वह ऊपर की भूमि मे उत्पन्न होता है। वही उत्तरोत्तर उन्नत होते हुए अविद्या का नाश कर अर्हत् पद का लाभ करता है। वह इस लोक मे फिर जन्म नही ग्रहण करता। इसीलिये वह अनागामी कहा जाता है। [भि० ज० का०]

अनात्मवाद दर्शन मे दो विचारधाराएँ होती है (१) आत्मवाद, जो आत्मा का अस्तित्व मानती है, (२) अनात्मवाद, जो आत्मा का अस्तित्व नही मानती। एक तीसरी विचारधारा नैरात्मवाद की भी है, जो आत्म अनात्म से परे नैरात्मा को देवता की तरह मानती है (दे० महायान, शून्यवाद आदि)। कुछ दर्शनो मे आत्मवाद और अनात्मवाद का समन्वय भी पाया जाता है, यथा जैन दर्शन मे। आत्मवाद ब्राह्मण परपरा या श्रौतदर्शन माना जाता हे, अनात्मवाद के अतर्गत चार्वाक के लोकायत और श्रमण परपरा के बौद्ध दर्शन का समावेश होता है। पुद्गल प्रतिषेधवाद और पुद्गल नैरात्मवाद भी इसके निकटतम दर्शनाम्नाय है।

चार्वाक दर्शन मे परमात्म तथा आत्म दोनो तत्वो का निषेध है। वह विशुद्ध भौतिकवादी दर्शन है। किंतु समन्वयार्थी बुद्ध ने कहा कि रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान ये पाँच स्कध आत्मा नही हैं। पाश्चात्य दर्शन मे ह्यूम की स्थिति प्राय इसी प्रकार की है, वहाँ कार्य-कारण-पद्धति का प्रतिबध है और अतत सब क्षणिक सवेदनाओ का समन्वय ही अनुभव का आधार माना गया है। आत्मा स्कधो से भिन्न होकर भी आत्मा के ये सब अग कैसे होते है, यह सिद्ध करने मे बुद्ध और परवर्ती बौद्ध नैयायिको ने बहुत से तर्क प्रस्तुत किए है। बुद्ध कई अतिम प्रश्नो पर मौन रहे। उनके शिष्यो ने उस मौन के कई प्रकार के अर्थ लगाए। थेरवादी नागसेन के अनुसार रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार और विज्ञान का सघात मात्र आत्मा है। उसका उपयोग प्रज्ञप्ति के लिये किया जाता है। अन्यथा वह अवस्तु है। आत्मा चूँकि नित्य परिवर्तनशील स्कध है, अत आत्मा इन स्कधो की सतानमात्र है। दूसरी ओर वात्सीपुत्रीय बौद्ध पुद्गलवादी हैं, इन्होने आत्मा को पुद्गल या द्रव्य का पर्याय माना है। वसुबधु ने 'अभिधर्मकोश' मे इस तर्क का खडन किया और यह प्रमाण दिया कि पुद्गलवाद अतत पुन शाश्वतवाद की ओर हमे घसीट ले जाता है, जो एक दोप है। केवल हेतु प्रत्यय से जनित धर्म है, स्कध, आयतन और धातु हैं, आत्मा नही है। सर्वास्तिवादी बौद्ध सतानवाद को मानते हैं। उनके अनुसार आत्मा एक क्षण-क्षण-परिवर्ती वस्तु है। हेराक्लीतस के अग्नितत्व की भाँति यह निरतर नवीन होती जाती हे। विज्ञानवादी बौद्धो ने आत्मा को आत्मविज्ञान माना। उनके अनुसार बुद्ध ने, एक ओर आत्मा की चिर स्थिरता ओर दूसरी ओर उसका सर्वथा उच्छेद, इन दो अतिरेकी स्थितियो से भिन्न मध्य का मार्ग माना। योगाचारियो के मत से आत्मा केवल विज्ञान है। यह आत्म-विज्ञान विज्ञप्ति मात्रता को मानकर वेदात की स्थिति तक पहुँच जाता है। सौत्रातिको ने—दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने—आत्मविज्ञान को ही सत् और ध्रुव माना, किंतु नित्य नही।

पाश्चात्य दार्शनिको मे अनात्मवाद का अधिक तटस्थता से विचार हुआ, क्योकि दर्शन और धर्म वहाँ भिन्न वस्तुएँ थी। लाक के सवेदनावाद से शुरू करके काट और हेगेल के आदर्शवादी परा-कोटि-वाद तक कई रूप अनात्मवादी दर्शन ने लिए। परतु हेगेल के बाद मार्क्स, रोगेतस आदि ने भौतिकवादी दृष्टिकोण से अनात्मवाद की नई व्याख्या प्रस्तुत की। परमात्म या अशी आत्मतत्व के अस्तित्व को न मानने पर भी जीवजगत् की समस्याओ का समाधान प्राप्त हो सकता है। आत्म अनात्म भी युग के अनुसार एक सार्वजनिक अवचेतन पूर्वग्रह तो नही? यह सशयवादी दर्शन तार्किक स्वीकारवाद तक हमे ले आया है।

स०ग्र०—राहुल साकृत्यायन दर्शनदिग्दर्शन, आचार्य नरेंद्रदेव बौद्धधर्म दर्शन, भरतसिंह उपाध्याय बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, डा० देवराज भारतीय दर्शन, बर्ट्रेंड रसेल हिस्ट्री ऑव वेस्टर्न फिलासफी, एम० एन० राय हिस्ट्री ऑव वेस्टर्न मटीरियालिज्म। [प्र० मा०]

अनादिर रूस राज्य के सुदूर प्राच्य प्रदेश की एक नदी, पहाड, बदरगाह तथा खाडी का नाम है। अनादिर खाडी उत्तर के चूकची अतरीप से दक्षिण के नावारिन अतरीप तक विस्तृत है। यह लगभग २५० मील चौडी है और बेरिंग सागर का एक भाग है। अनादिर नदी कोलाइमा, अनादिर तथा कमचटका पर्वतश्रेणियो के मध्य से लगभग ६७° उ० अक्षाश तथा १७३° पू० देशातर से निकली है। यहाँ पर इसे इवाश्की अथवा इवाशनो नाम से पुकारते हैं। आगे चलकर यह चूकची प्रदेश मे पहुँचती है तथा पहले दक्षिण-पश्चिम की ओर और फिर पूर्व की ओर मुडकर लगभग ५०० मील आगे चलकर अनादिर की खाडी मे गिरती है। चूकची प्रदेश टुड्रा के अचल मे है, अत यह गर्मी मे दलदली हो जाता है।

बेहरिंग जलडमरूमध्य (स्ट्रेट) के पास एस्किमो जाति के लोग बसते है, परतु इनके अलावा चूकची जाति के लोग भी यहाँ पाए जाते है। चूकची जाति के लोग रेनडियर नामक हरिण पालते हैं और गर्मी के दिनो में इन्हें साथ लेकर समुद्र उपकूल के पास चले जाते है। इन स्थानो मे रेनडियर के चमडे का व्यवसाय प्रमुख है। यह कहा जाता है कि कमचटका तथा अनादिर खाडी के सलग्न प्रदेशो मे पाए जानेवाले हरिणो की सख्या सोवियत राज्य के कुल हरिणो की सख्या की आधी है। जाडे के दिनो में अनादिर खाडी का पानी जम जाता है जिसके कारण समुद्री मार्ग पूर्णतया

तथा स्वय प्रहार करने के काम आते है। यह जीव मद गति से किंतु परिपुष्ट मांद निर्मित करता है। चीटियो तथा दीमको के घरो को खोदकर यह अपनी लार से तर, चिकनी, लसीली और वडी जीभ की सहायता से उन क्षुद्र जतुओं को खा जाता है। वज्रकीट के आमाशयो में प्राय पत्थर के टुकडे पाए गए है। ये पत्थर या तो चिडियो की भाँति पाचन के हेतु निगले जाते है अथवा कीटभोजन के साथ सयोगवश निगल लिए जाते है। नियमत वज्रकीट निशिचर होता है और दिन में या तो चट्टानो की दरारो मे अथवा स्वय-निर्मित मांदो में छिपा रहता है। यह एकपत्नीधारी होता है और इसकी मादा एक वार में केवल एक या दो वच्चे ही पैदा करती है।

वज्रकीट को कारावास (वदी अवस्था) मे भी पाला जा सकता है और यह शीघ्र पालतू भी हो जाता है, किंतु इसे भोजन खिलाना कठिन होता है। इसमें अपने शरीर को झुका रखकर पिछले पैरो पर खडे होने की विचित्र आदत होती है।

वर्ग ट्यूवुलीडेंटाटा—इस वर्ग के अतर्गत दक्षिण अफ्रीका का भूशूकर (आर्डवार्क या ऑरिक्टिरोपस) आता है। भूशूकर का शरीर मोटी खाल से ढका होता है और उसपर यत्र तत्र वाल होते है। इसके सिर के आगे थूथन होता है, परतु सिर और थूथन इस प्रकार मिले होते हैं कि पता नही चलता कि कहाँ सिर का अत और थूथन का आरभ है। मुख छोटा और जीभ लवी होती है। मुख में खूंटी के समान चार या पाँच दाँत होते है, जिनकी वनावट विचित्र होती है। दाँतो मे दतवलक नही होता, वैसोडेंटीन होता है, जिसपर एक प्रकार के सीमेंट का आवरण होता है। वसोडेंटीन की मज्जागुहा (पल्प कैविटी) नलिकाओ द्वारा छिद्रित होती है, जिसके कारण इस वर्ग का नाम नलीदार दतधारी (ट्यूवुलीडेंटाटा) पडा है।

भूशूकर के अग्रपाद छोटे तथा मजवूत होते है और प्रत्येक मे चार अँगुलियाँ होती है। चलते समय इनकी हथेलियाँ और पैर के तलवे पृथ्वी को स्पर्श करते है। पश्चपादो मे पाँच पाँच अँगुलियाँ होती है। लवाई मे ये जीव छ फुट तक पहुँच जाते है।

भूशूकर का जीवननिर्वाह दीमको से होता है।
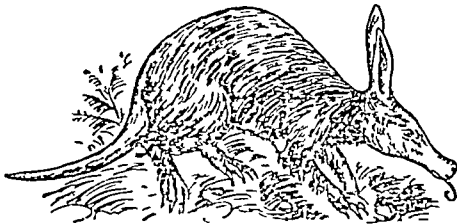
भूशूकर (आर्डवार्क)

अफ्रीका में पाया जानेवाला जतु जो पूंछ लेकर पाँच फुट तक लवा होता है और दीमक खाकर जीवननिर्वाह करता है।

स०ग्र०—आर० ए० स्टर्नडेल नैचुरल हिस्ट्री ऑव इडियन मैमेलिया (१८८४), फ्रैकफिन स्टर्नडेल्स मैमेलिया ऑव इडिया (१६२६), पार्कर ऐंड हैसवेल टेक्स्टवुक ऑव जूलाजी (१६५१), फैकाइ वोर लिरे दि नैचुरल हिस्ट्री ऑव मैमल्स (१६५५)। [भृ० ना० प्र०]

अनन्नास

अनन्नास का अग्रेजी नाम पाइनऐपल, वानस्पतिक नाम अनानास कॉस्मॉस, प्रजाति अनानास, जाति कॉस्मॉस और कुल ब्रोमेलिएसी है। इसका उत्पत्तिस्थान दक्षिणी अमेरिका का ब्राजील प्रात है। यह एक-वीजपत्री कुल का पौधा है तथा स्वादिष्ट फलो में इसका विशेष स्थान है। इसकी खेती के लिये हवाई द्वीप, क्वीसलैंड तथा मलाया विशेष प्रसिद्ध हैं। भारत मे इसकी खेती मद्रास, मैसूर, ट्रावनकोर, आसाम, वगाल तथा उत्तर प्रदेश के तराईवाले भागो मे होती है। इस फल में चीनी १२ प्रति शत तथा अम्लत्व ०६ प्रति शत होता है। विटामिन ए, वी तथा सी भी इसमें अच्छी मात्रा मे पाए जाते है। इसमे कैल्सियम, फास्फोरस, लोहा इत्यादि पर्याप्त मात्रा मे रहता है तथा ब्रोमेलीन नामक किण्वज (एनजाइम) भी होता है जो प्रोटीन को पचाता है। इसका शरवत, कैंडी तथा मार्मलेड वनता है। इसे डिब्वो में वद करके सरक्षित भी करते है।
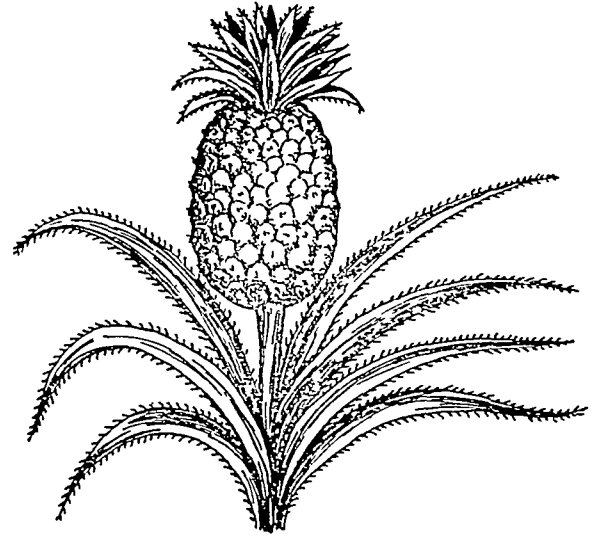
अनन्नास

फल अति स्वादिष्ट, सुगधमय और कुछ खट्टापन लिए हुए मीठा होता है।

अनन्नास उष्ण कटिबधीय पौधा है। इसकी सफल खेती उस स्थान में हो सकती है जहाँ ताप ६०° और ६०° फा० के वीच हो। इसके लिये आर्द्र वातावरण चाहिए। तीक्ष्ण धूप तथा घनी छाया हानिप्रद है। बलुई दोमट मिट्टी में यह सुखी रहता है। जलोत्सारण का प्रवध अच्छा होना अनिवार्य है। यह आम्लिक मिट्टी मे अच्छा पनपता है। इसकी अनेक जातियाँ होती है, पर क्वीन, मारीशस तथा स्मूथकेयने प्रमुख है। इसका प्रसारण वानस्पतिक विधियो (क्राउन, डिस्क तथा स्लिप्स) द्वारा होता है, परतु मुख्य साधन भूस्तारी (सकर्स) है, अर्थात् पुरान पौधो की जडो से निकले छोटे छोटे पौधो को अलग कर अन्यत्र रोपने से नए पौधे तैयार किए जाते है। वर्षा ऋतु में पेडो पर २×५ फुट की दूरी पर भूस्तारी लगाते है। एक वार का लगाया पौधा २०-२५ वर्ष तक फल देता है, परतु तीन या चार फसल लेने के वाद नए पौधे लगाना ही अच्छा होता है। प्रति वर्ष लगभग ४०० मन प्रति एकड सडे गोवर की खाद या कपोस्ट अवश्य देना चाहिए। जाडे मे तीन चार वार तथा ग्रीष्म ऋतु मे प्रति सप्ताह सिचाई करनी चाहिए। एक एकड में लगभग १०० से २०० मन तक फल पैदा होता है। [ज० रा० सिं०]

अनवरी, औहदुद्दीन अबीवर्दी

अनवरी का जन्म खुरासान के अतर्गत खावराँ जगल के पास अवीवर्द स्थान मे हुआ था। इसने तूस के जाम मसूरिय में शिक्षा प्राप्त की और अपने समय की वहुत सी विद्याओ का विद्वान् हो गया। शिक्षा पूरी होने पर यह कविता करने लगा और इसे सेलजुकी सुलतान सजर के दरवार मे प्रश्रय मिल गया। आरभ मे खावराँ के सवध से पहले इसने 'खावरी' उपनाम रखा, फिर 'अनवरी'। जीवन का अतिम समय इसने एकात मे विद्याध्ययन करने मे वलख मे व्यतीत किया। इसकी मृत्यु के सन् के सवध में विभिन्न मत पाए जाते है, पर रूसी विद्वान् जुकोव्स्की की खोज से इसका प्रामाणिक मृत्युकाल सन् ५८५ हि० तथा सन् ५८७ हि० (सन् ११८६ ई० तथा सन् ११६१ ई०) के वीच जान पडता है।

अनवरी की प्रसिद्धि विशेषकर इसके कसीदो ही पर है, पर इसने दूसरे प्रकार की कविताएँ, जैसे गजल, रुवाई, हजो आदि की भी रचना की है। इसकी काव्यशैली वहुत क्लिष्ट समझी जाती है। इसकी कुछ कविताओ का अग्रेजी में अनुवाद भी हुआ है। [आर० आर० शे०]

कारक आपस में दिक्परिवर्तित होते हों। यदि वे दिक्परिवर्तित नही होते तो उनकी प्रवधिनियाँ (मैट्रिसेज़) एक साथ विकर्ण नहीं बनाई जा सकतीं ["क्वाटम यान्त्रिकी", समी० (४३) के बाद का परिच्छेद देखें]। इसका भौतिक अर्थ यह है कि एक राशि की नाप दूसरी राशि की नाप के साथ व्यतिक्रम (इंटरफियर) करेगी। किसी कण की स्थिति, य, और उसके संवेग, व, को निरूपित करनेवाले कारकों का दिक्परिवर्तन नियम यह होता है

$$\text{यव} - \text{वय} = \text{अह}, \qquad (२)$$

जहाँ $\text{अ} = \sqrt{(-१)}$ [देखे 'क्वाटम यान्त्रिकी', समी० (४२ ग)]

इससे स्पष्ट है कि य और व को एक साथ नाप सकना सभव नही है।

उपर्युक्त विचारपद्धति पर क्वाटम यान्त्रिकी के गहन प्रभाव का विश्लेषण नील्स बोर ने अपने बहुत से लेखों और व्याख्यानो मे किया है (सदर्भ ग्रथ देखें)। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि अनिश्चितता सिद्धात का स्पष्ट कारण परमाणु जगत् के पदार्थों और नापने के यत्रो के बीच अतर-प्रभाव (इटरैक्शन) को दूर कर सकने की असभवता है। इसके बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। यदि हम य-अक्ष पर किसी इलेक्ट्रान की स्थिति सूक्ष्मदर्शी से जानना चाहें तो उसे देखने के लिये हमें प्रकाश का प्रयोग करना पडेगा। विवर्तन (डिफ्रैक्शन) के प्रभावों के कारण हम इस इलेक्ट्रान की स्थिति को

$$\Delta \text{य} \approx \frac{\text{दं}}{\text{ज्या अ}}$$

त्रुटि के साथ ही जान सकते हैं। यहाँ दं प्रकाश का तरगदैर्घ्य है और इलेक्ट्रान प पर ताल (लेंज) के सम्मुख कोण २अ बनता है (चित्र देखें)। प्रकाशकण का संवेग ह/दं है और, यदि वह इलेक्ट्रान से प्रकीर्णित (स्कैटर) होकर अपनी आदि दशा से कोण अा बनाए तो वह काम्प्टन प्रभाव के अनुसार इलेक्ट्रान को संवेग $\text{व}_\text{य} \approx \text{ह}/\text{दं}$ ज्या आ देगा। ताल-व्यास की सीमा तक प्रकाश कहीं से भी सूक्ष्मदर्शी के भीतर आ सकता है, अत आ का मान कोण अ की सीमा तक कुछ भी हो सकता है। फलस्वरूप इलेक्ट्रान का संवेग भी
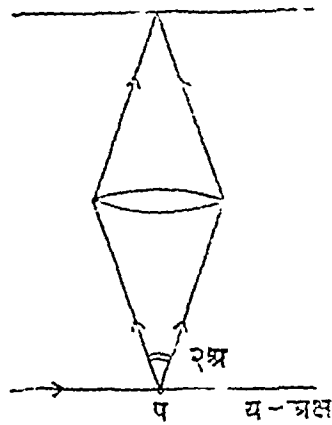
$$\Delta \text{व}_\text{य} \approx (\text{ह}/\text{दं})\ \text{ज्या अ} \qquad (४)$$

के भीतर अनिश्चित हो जायगा। (३) और (४) का गुणनफल अनिश्चितता-सिद्धात (१) के अनुकूल है।

आइनस्टाइन द्वारा क्वाटम यान्त्रिकी मे प्रायिकता के उपयोग की तीव्र आलोचना ने नाप-प्रक्रम के सिद्धात का स्पष्टीकरण करने मे बहुत प्रेरणा दी है (सदर्भ ग्रथ देखें)। इन वादविवादो ने भौतिकी मे विचार-प्रयोगों (थॉट एक्सपेरिमेंट) को एक विशेष स्थान दिया है। पर नाप-प्रक्रम के सिद्धात अब भी पूर्णतया सतोषजनक नही हैं और उनके गभीर अध्ययन की अभी बहुत आवश्यकता है।

अनिर्धार्यता सिद्धात का यह सूत्र निरतर स्मरणीय है कि नए अनुभवों के आधार पर हमें अपनी विचारपद्धति बदलने को सदा तैयार रहना चाहिए। नील्स बोर ने कई बार बताया है कि ससार मे अनिर्धार्यता की स्थिति केवल भौतिकी में ही नही, मनुष्य के अन्यान्य अनुभवक्षेत्रो मे भी पाई जाती है, जैसे मनोविज्ञान मे। इसलिये इन क्षेत्रों की व्याख्या करते समय क्वाटम और अनिर्धार्यता सिद्धातो का अनुकरण फलदायी हो सकता है।

सं०ग्र०—एन० बोर लेक्चर ऐट दि इटरनैशनल फिजिकल काग्रेस, कोमो, १९२७, पुन प्रकाशित, 'नेचर' मे, १२१, ७८ और ५८० (१९२८), सॉल्वे फिजिक्स काग्रेसेज, ब्रुसेल्ज, १९२७, १९३०, १९३३, इटरनैशनल काग्रेस ऑन लाइट थेरापी, कोपेनहेगेन, १९३२, पुन प्रकाशित, 'नेचर' मे, १३१, ४२१, ४५७ (१९३३), फि० रि०, ४८, ६९६ (१९३५), एरोकेटनिग, ६, २९३ (१९३७), फिलॉसॉफी ऑव साइस, ४, २८९ (१९३७), न्यू थियोरीज़ इन फिजिक्स, पैरिस (१९३८), ऐडेस ऐट दि न्यूटन टरसेंटेनरी सेलिब्रेशन, दि रॉयल सोसायटी, लदन (जुलाई, १९४६), लेक्चर ऐट दि फिलाडेलफिया सिंपोजियम ऑव दि नैशनल अकेडेमी ऑव साएसेज, अक्टूबर २१, १९४६, पुन प्रकाशित प्रो० ऐ० फिल० सो०, ९१, १३७ (१९४७), डाएलेक्टिका, १, ३१२ (१९४८), साएस, १११, ५१ (१९५०), प्रो० रिडबर्ग सेंटेनियल कॉन्फरेन्स ऑव ऐटॉमिक स्पेक्ट्रॉस्कोपी, ल्यूनिगलिसे फिजिओग्रैफिस्का साल्सकैपेट्स हैंड-लिंगर, एन० एफ०, जिल्द ६५, स० २१, यूनिवर्सिटाज, ६, ५४७ (१९५१), डिस्कशन्स विद आइन्स्टाइन ऑन एपिस्टमॉलॉजिकल प्रॉब्लेम्स इन ऐटॉमिक फिजिक्स, ऐल्बर्ट आइन्स्टाइन, फिलॉसॉफर साएटिस्ट, पी० ए० शिल्प (सपादक), ट्यूडर पब्लिशिंग क०, न्यूयार्क, द्वितीय सस्करण (१९५१), इजेनिरेन, सख्या ४१, ८१० (अक्टूबर, १९५५), साएटिफिक मथली, ८२, ८५ (१९५६), डेडालस, प्रोसीडिंग्स ऑव दि अकडमी ऑव आर्ट्स ऐंड साएसेज़, ८७, १९४ (१९५८), ऐल्बर्ट आइन्सटाइन, बी० पोडोल्स्की तथा एन० रोजेन, फि० रि०, ४७, ७७७ (१९३५), ऐल्बर्ट आइन्सटाइन, जरनल फ्रैंकलिन इन्स्टिट्यूट, २२१, ३४९ (१९३६), डब्ल्यू० हाइसेनबर्ग, जेड० फिजीक, ४३, १७२ (१९२७), दि फिजिकल प्रिन्सिपल्स ऑव क्वाटम मिकेनिक्स (यूनिवर्सिटी ऑव शिकॉगो, १९३०)। [बा०]

अनिवार्य भरती

राष्ट्र के एक विशेष आयुवर्ग के व्यक्तियो को किसी भी निश्चित सख्या से विधान के बल पर सैनिक बनाने के लिये बाध्य करना अनिवार्य भरती (अग्रेजी मे कॉन्स-क्रिप्शन) कहलाता है। जब किसी राष्ट्र को युद्ध की आशका या इच्छा होती है तो उसे शीघ्रातिशीघ्र अपनी सैन्य शक्ति बढानी होती है। यदि स्वेच्छा से लोग पर्याप्त मात्रा मे भरती न हुए तो विशेष राजकीय आज्ञा से राष्ट्र के युवावर्ग को भरती के लिये बाध्य किया जाता है। साधारणत ऐसी परिस्थिति कम जनसख्यावाले राष्ट्रो मे ही उत्पन्न होती है। अधिक जनसख्यावाले राष्ट्रो मे स्वेच्छा से ही अधिक सख्या मे लोग भरती हो जाते हैं और अनिवार्य भरती के साधनो का प्रयोग नही करना पडता।

अनिवार्य भरती का सिद्धात अति प्राचीन है। भारतवर्ष मे क्षत्रिय वर्ग अवसर पडने पर अस्त्रशस्त्र धारण करने के लिये धर्मबद्ध था। यूनान तथा रोम के सभी स्वस्थ व्यक्ति युद्ध के लिये कर्त्तव्यबद्ध समझे जाते थे। "अनिवार्य भरती" की प्रथा सर्वप्रथम फ्रास मे सन् १७९८ ई० मे चली। इसी वर्ष फ्रास मे अनिवार्य भरती का सिद्धात विधान के बल पर स्थायी रूप से लागू हुआ। इसका श्रेय जनरल कोनारडिन को है। इस कानून के प्रचलित होने से फ्रासीसी राज्य के पास एक ऐसी शक्ति आ गई जिससे वह इच्छानुसार अपनी सैन्य शक्ति को बढा सकता था। नेपोलियन की विजयों का अधिकाश श्रेय इसी नीति को है। फ्रास की इस क्षमता से प्रेरित होकर उसने सन् १८०५ ई० मे गर्व से कहा था "मैं तीस हजार नवीन सैनिको को प्रति मास युद्धक्षेत्र मे झोंक सकता हूँ।" आवश्यकतावश और फ्रास की क्षमता से प्रभावित होकर पश्चिम के सभी राष्ट्रो ने धीरे धीरे इस नीति को अपना लिया।

अनिवार्य भरती का प्रचलन फ्रास मे सर्वप्रथम अधिकाश लोगो की इच्छा के विरुद्ध हुआ था। फिर भी यह सफल रहा और धीरे धीरे कानून के रूप मे परिणत हो गया, क्योंकि परिस्थिति और वातावरण इसके अनुकूल थे। अनिवार्य भरती सबधी विधान बनने के पहले सैनिक जीवन के लिये आकर्षण कम था और सन् १७८९ की फ्रासीसी क्राति के समय तक पश्चिमी देशो की सेनाओ का काफी पतन हो चुका था। इस क्राति में राजकीय सेनाएँ कट पिट गई और प्रश्न उठा कि राष्ट्र की रक्षा कैसे हो। इस क्राति का सिद्धात था कि राष्ट्र के सभी व्यक्ति बराबर हैं, इसलिये नियम बनाया गया कि जो स्वेच्छा से सेना मे भरती होंगे वे तो होंगे ही, उनके अतिरिक्त १८ और ४० वर्ष के बीच की आयु के सभी अविवाहित पुरुष सेना मे अनिवार्य रूप से भरती किए जा सकेंगे। शेष व्यक्ति सेना मे तो नही भरती किए जायँगे, परतु वे अपने अपने नगरों की रक्षा के लिये राष्ट्रीय सरक्षक का कार्य करेंगे। प्रारम्भ मे अधिकाश जनमत के विरुद्ध होने के कारण इसमें किसी प्रकार की सख्ती नही की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि जितने सैनिक अपेक्षित

बंद हो जाता है। गर्मी के दिनो मे बर्फ के पिघलने से खाडियाँ खुल जाती है और जहाज आयात की भिन्न भिन्न वस्तुओ को लेकर यहाँ आते है तथा हरिण के चमडे यहाँ से ले जाते है। चूकची जाति मे से कुछ लोग घर बनाकर भी बसते है तथा जाडे के दिनो मे शिकार करके और गर्मी के दिनो में मछली पकडकर जीवननिर्वाह करते है। यहाँ पर सामन मछली प्रचुर मात्रा मे पाई जाती है। इन लोगो में कुत्ते भारवाही पशु के रूप मे काम आते है।

बेरिंग जलडमरूमध्य के पास सोना, चाँदी, जस्ता, सीसा तथा कृष्ण सीस (ग्रैफाइट) की खाने है। अनादिर नदी की घाटी मे तथा अनादिर बंदरगाह के दक्षिण मे कोयला भी निकाला जाता है जो उत्तरी सागर में आने जानेवाले जहाजो के काम मे आता है। [वि० मु०]

अनाम (अनैम, ऐनैम) दक्षिण-पूर्वी एशिया मे फ्रेंच इंडोचीन प्रोटेक्टरेट के भीतर एक देश था। इसके उत्तर मे टॉनकिन, पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व मे चीन सागर, दक्षिण-पश्चिम मे कोचीन चीन और पश्चिम मे कबोडिया एव लाओस प्रदेश है। अनाम की लबाई लगभग ७५०-८०० मील तथा क्षेत्रफल लगभग ५६,००० वर्ग मील है।

यहाँ के आदिवासी अनामी टागकिग तथा दक्षिणी चीन की गायोची जाति को अपना पूर्वपुरुष मानते है। कुछ औरो के विचार से ये अनामी आदिवासी चीन राजवश के उत्तराधिकारी है। इनके राज्य के बाद एक दूसरा वश यहाँ आकर जमा जिसके समय मे चीन राज्य ने अनाम पर आक्रमण किया। बादमे डिन-बो-लान्ह के वशधरो ने यहाँ राज्य किया। उनके समयमे चाम नामक एक जाति बडे पैमाने मे यहाँ आ पहुँची। ये लोग हिंदू थे और इनके द्वारा बनी कई अट्टालिकाएँ आज भी इसका प्रमाण है। सन् १४०७ ई० मे अनाम पर चीनी लोगो का पुन आक्रमण हुआ, परतु १४२८ मे लीलोयी नामक एक अनामी सेनाध्यक्ष ने इसे चीनियो के हाथ से मुक्त किया। लीलोयी के बाद गुयेन नामक एक परिवार ने इनपर १८वी शताब्दी तक राज्य किया। इसके पश्चात् अनाम फ्रासीसियो के अधिकार मे चला गया। वे पिनो द बहे नामक एक पादरी (बिशप) की सहायता से इस देश मे आए थे। गुयेन परिवार के गियालग नामक एक विद्रोही ने इस पादरी के साथ मिलकर फ्रासीसी सेना को अनाम मे बुलाया था। सन् १७८७ ई० मे गियालग ने फ्रास के राजा १६वे लूई के साथ सधि कर ली और उसके वशज कुछ समय तक राज्य करते रहे। टु ड्यू अनाम का अतिम स्वाधीन राजा था। १८५६ मे फ्रास तथा स्पेन ने अनाम पर आक्रमण किए। अनाम के राजा ने चीन सम्राट् के पास सहायता के लिये प्रार्थना की परतु चीन के साथ फ्रासीसियो ने समझौता कर लिया। सन् १८८४ मे अनाम फ्रेंच प्रोटेक्टरेट हो गया और एक रेजिडेट सुपीरियर अनाम के राजकार्य-परिदर्शन के लिये रखे गए। इस प्रबध मे बाओ दाई यहाँ के अतिम राजा रहे।

द्वितीय महायुद्ध के समय १६४१ मे विची सरकार पर जापानी सेना ने आक्रमण किया और १६४५ मे फ्रासीसी अफसरो को पदच्युत करके बाओ डाई को वियेतनाम (अर्थात् टॉनकिन, अनाम, कोचीन चीन) का शासनकर्ता बनाया। इसके बाद से वियेतनाम की राजनीतिक परिस्थिति बहुत दिनो तक ढीली ढाली रही। १६५१ के आसपास साम्यवादी प्रभाव प्रबल हो उठा और झगडा उत्तरोत्तर बढता गया। अत मे यह देश १७° अक्षाश रेखा के द्वारा दो भागो मे विभाजित किया गया—उत्तरी भाग 'वियेत मिन' तथा दक्षिणी भाग 'वियेत नाम' प्रसिद्ध हुआ। प्रधान मत्री गो डिन डियेम ने बाउ दाई को पदच्युत करके दक्षिणी वियेतनाम जनतत्र स्थापित किया तथा स्वय इसका पहला राष्ट्रपति बना।

अनाम के उत्तर से दक्षिण तक अनामीज कारडिलेरा पर्वतश्रेणी फैली हुई है। यह श्रेणी लाओस के पार्वत्य भाग से दक्षिण की ओर आकर पूर्वी ओर ठीक वैसे ही मुड जाती है जैसे बर्मा का पहाड पश्चिम की ओर मुडता है। इन दोनो पहाडो ने अपने बीच मे कबोडिया के पठार को घेर रखा है। इस पार्वत्य प्रदेश की रीढ प्रधानत ग्रैनाइट शिला से बनी हुई है जिसके आसपास अपक्षरण से पुरानी शिलाएँ निकल पडी है। कही कही पर अपेक्षाकृत बाद मे बनी हुई शिलाएँ, जैसे कार्बोनिफेरस युग के चूने के पत्थर, भी दिखाई पडते है। ये शिलाएँ विशेषकर पूर्वी किनारो पर ही मिलती है। यह रीढ नदियो द्वारा कटी फटी है, इसलिये किनारे के पास पहाड तथा घाटी एक के बाद एक पडते है। इस क्षेत्र का उत्तरी भाग पहाडी तथा दक्षिणी भाग पठारी है और पहाडो मे पूहक (६,५६० फुट), पुग्रटबट (८,२०० फुट), मदर ऐड चाइल्ड (६,८८८ फुट) आदि पर्वतशिखर है। पश्चिम की अपेक्षा पूर्व की ओर की ढाल अधिक खडी है। कई दर्रों द्वारा उपकूल भाग देश के भीतरी भाग से मिला हुआ है, जिनमें से उत्तर का आसाम गेट (३६० फुट), बीच का को द नुग्राग (१,५४० फुट) तथा दक्षिण का डियोका (१,३१० फुट) विशेष महत्व के है। इस उपकूल भाग मे टूरेन की खाडी सबसे अच्छा और एकमात्र पोताश्रय (बदरगाह) है।

यहाँ की जलवायु मानसूनी है। दक्षिण-पश्चिम मानसून मध्य अप्रैल से अगस्त के अत तक चला करता है, परतु यह स्थल के ऊपर से होकर चलने के कारण शुष्क रहता है। इस समय का ताप ८२°-८६° फा० रहता है। यहाँ की वर्षा सितबर से अप्रैल तक चलनेवाली उत्तर-पूर्वी मानसूनी वायु द्वारा होती है, जो चीन सागर के ऊपर से बहती है। इस समय का ताप लगभग ७३° फा० रहता है। समुद्र के तूफान यहाँ प्राय आते रहते है।

चावल यहाँ की मुख्य उपज है जो उपकूल प्रदेश मे तथा छोटी छोटी नदियो के मुहानो पर पर्याप्त परिमाण मे पैदा होता है। चावल के अतिरिक्त मक्का, चाय, तबाकू, रुई, मसाले और गन्ना आदि यहाँ उपजाए जाते है। दक्षिण की ओर कुछ भूभाग में रबड की खेती होती है और पहाडी क्षेत्रो में शहतूत के पेडो पर रेशम के कीडे पाले जाते है। रेशम तैयार करना यहाँ का पुराना कारबार है और पुराने ढग से ही चलता है। अनाम पर्याप्त परिमाण मे रेशम बाहर भेजता है। अन्य पुराने व्यवसायो मे नमक बनाना तथा मछली पकडना यहाँ बहुत प्रचलित है। बगालियो की भाँति मछली और चावल इनके मुख्य खाद्य है। परिवहन (यातायात) की असुविधा के कारण इस देश का आभ्यतरीय व्यवसाय नही के बराबर है। उपकूल भाग का १,२०० किलोमीटर लबा रास्ता यहाँ के यातायात का मुख्य साधन है जो बडे बडे शहरो को मिलाता है। रेल की लाइन इसी सडक के समातर है और अनाम की सारी लबाई पार करती है। यह पहाडो को छोडती हुई बहुधा समुद्रतट के पास से जाती है।

टूरेन यहाँ का सबसे बडा शहर तथा सबसे बडा बदरगाह है। यह बदरगाह सूत, चाय, खनिज तेल तथा तबाकू आयात करता है। इसका निर्यात चीनी, चावल, रुई, रेशम तथा दारचीनी है। टूरेन के पास नगसन नामक स्थान पर कोयले की खान है। पहाडी इलाके मे सोना, चाँदी, ताँबा, जस्ता, सीसा, लोहा तथा दूसरे खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा मे मिलते है। [वि० मु०]

अनामलाई पहाड़ियाँ दक्षिण भारत के मद्रास प्रात के कोयबटूर जिले तथा केरल राज्य में स्थित एक पर्वतश्रेणी है जो अक्षाश १०° १३′ उ० से १०° ३१′ उ० तथा देशातर ७६°५२′ पू० से ७७° २३′ पू० तक फैली है। 'अनामलाई' शब्द का अर्थ है 'हाथियो का पहाड', क्योकि यहाँ पर पर्याप्त सख्या में जगली हाथी पाए जाते है। पर्वतो की यह श्रेणी पालघाट दर्रे के दक्षिण मे पश्चिमी घाट का ही एक भाग है। अनाईमुडी इसका सर्वोच्च भाग है (८,६५० फुट)। इसके शिखरो मे तगाची (८,१४७ फुट), काठुमलाई (८,४०० फुट), कुमारिकल (८,२०० फुट) और करिनकोला (८,४८० फुट) उल्लेखनीय है। इन शिखरो को छोडकर इस पर्वतमाला को ऊँचाई की दृष्टि से हम दो भागो मे बाँट सकते है—उच्च श्रेणी और निम्न श्रेणी। उच्च श्रेणी की पहाडियाँ ६,००० से लेकर ८,००० फुट तक ऊँची है और अधिकतर घासो से ढकी है। निम्न श्रेणी की पहाडियाँ लगभग २,००० फुट ऊँची है जिनपर मूल्यवान् इमारती लकडियाँ, जैसे सागौन (टीक), काली लकडी, (आबनूस, डलबर्गिया लैटिफोलिया) और बाँस पर्याप्त मात्रा मे पाए जाते है। इमारती लकडियो का सरकारी जगल ८० वर्ग मील मे है। इन लकडियो को हाथी तथा नदी के सहारे मैदान पर लाया जाता है। कोयबटूर तथा पोतनूर जकशनो से रेलमार्ग द्वारा काफी मात्रा मे ये लकडियाँ अन्यत्र भेजी जाती है। अनामलाई शहर मे भी इसका एक बडा बाजार है। इन लकडियो को ढोने के लिये इन पहाडो पर पाए जानेवाले हाथी तथा पालघाट के रहनेवाले मलयाली महावत बडे काम के है। इन हाथियो को बडी चतुरता से ये लोग इस कार्य के लिये शिक्षित करते है। इस पर्वतश्रेणी से बहनेवाली तीन नदियाँ—खुनडाली, तोराकदावु और कोनालार भी लकडी नीचे लाने के

ग. कुछ प्राणियों में अनिषेक जनन द्वारा उत्पन्न संतुओं में केंद्रकसूत्रों की संख्या द्विगुण अथवा बहुगुण होती है। यह दो विधि से होता है

(१) स्वतस्सेचक (ऑटोमिक्टिक) अनिषेक जनन में नियमित रूप से केंद्रक सूत्रों का युग्मानबंध (सिनैप्सिस) तथा ह्रास होता है और केंद्रक सूत्रों की संख्या अंडों में आधी हो जाती है। परंतु केंद्रक सूत्रों की मात्रा, दो अर्धकेंद्रकों (न्यूक्लियाई) के संमेलन (फ्यूज़न) से पुन स्थापित (रेस्टिट्यूटेड) केंद्रक के निर्माण अथवा अंतर्भाजन (एंडोमाइटोसिस) द्वारा, पुन बढ़ जाती है।

(२) असंयुती (एपोमिक्टिक) अनिषेक जनन में न तो केंद्रक सूत्रों की मात्रा में ह्रास होता है और न अर्धक अनिषेक जनन में अंडों में केंद्रक सूत्रों का युग्मानबंध और ह्रास होता है। ऐसे अंडों का यदि संसेचन होता है तो वे विकसित होकर मादा बन जाते हैं और यदि संसेचन नहीं होता तो वे नर बनते हैं। इस कारण एक ही मादा के अंडे विकसित होकर नर भी बन सकते हैं और मादा भी। अर्धक अनिषेक जनन का फल इस कारण सदा ही वैकल्पिक एवं पुंजनन (ऐरिनॉटोकस) होता है।

[मु० ला० श्री०]

अनीश्वरवाद दर्शन का वह सिद्धांत जो जगत् की सृष्टि करनेवाले, उसका संचालन और नियंत्रण करनेवाले किसी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता (दे० ईश्वरवाद)। अनीश्वरवाद के अनुसार जगत् स्वयंसचालित और स्वयंशासित है। ईश्वरवादी ईश्वर के अस्तित्व के लिये जो प्रमाण देते हैं अनीश्वरवादी उन सबकी आलोचना करके उनको काट देते हैं और संसारगत दोषों को बतलाकर निम्नलिखित प्रकार के तर्कों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि ऐसे संसार का रचनेवाला ईश्वर नहीं हो सकता।

ईश्वरवादी कहते हैं कि मनुष्य के मन में ईश्वरप्रत्यय जन्म से ही है और वह स्वयंसिद्ध एवं अनिवार्य है। यह ईश्वर के अस्तित्व का द्योतक है। इसके उत्तर में अनीश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वरभावना सभी मनुष्यों में अनिवार्य रूप से नहीं पाई जाती और यदि पाई भी जाती हो तो केवल मन की भावना से बाहरी वस्तुओं का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। मन की बहुत सी धारणाओं को विज्ञान ने असिद्ध प्रमाणित कर दिया है।

जगत् में सभी वस्तुओं का कारण होता है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। कारण दो प्रकार के होते हैं—एक उपादान, जिसके द्वारा कोई वस्तु बनती है, और दूसरा निमित्त, जो उसको बनाता है। ईश्वरवादी कहते हैं कि घट, पट और घड़ी की भाँति समस्त जगत् भी एक कार्य (कृत घटना) है अतएव इसके भी उपादान और निमित्त कारण होने चाहिए। कुछ लोग ईश्वर को जगत् का निमित्त कारण और कुछ लोग निमित्त और उपादान दोनों ही कारण मानते हैं। इस युक्ति के उत्तर में अनीश्वरवादी कहते हैं कि इसका हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है कि घट, पट और घड़ी की भाँति समस्त जगत् भी किसी समय उत्पन्न और आरंभ हुआ था। इसका प्रवाह अनादि है, अत इसके स्रष्टा और उपादान कारण को ढूंढने की आवश्यकता नहीं है। यदि जगत् का स्रष्टा कोई ईश्वर मान लिया जाय तो अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, यथा, उसका सृष्टि करने में क्या प्रयोजन था? भौतिक सृष्टि केवल मानसिक अथवा आध्यात्मिक सत्ता कैसे कर सकती है—कैसे उसका उपादान हो सकती है? यदि इसका उपादान कोई भौतिक पदार्थ मान भी लिया जाय तो वह उसका नियंत्रण कैसे कर सकता है? वह स्वयं भौतिक शरीर अथवा उपकरणों की सहायता से कार्य करता है अथवा बिना उसकी सहायता के? सृष्टि के हुए बिना वे उपकरण और वह भौतिक शरीर कहाँ से आए? ऐसी सृष्टि रचने से ईश्वर का, जिसको उसके भक्त सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और कल्याणकारी मानते हैं, क्या प्रयोजन है, जिसमें जीवन का अंत मरण में, सुख का अंत दुःख में, संयोग का वियोग में और उन्नति का अवनति में हो? इस दुःखमय सृष्टि को बनाकर, जहाँ जीव को खाकर जीव जीता है और जहाँ सब प्राणी एक दूसरे को खाता है और आपस में सब प्राणियों में संघर्ष होता है, भला क्या लाभ हुआ है? इस जगत् की दुर्दशा का वर्णन योगवासिष्ठ के एक श्लोक में भली भाँति मिलता है, जिसका आशय निम्नलिखित है—

कौन सा ऐसा स्थान है जिसमें त्रुटियाँ न हों, कौन सी ऐसी दिशा है जहाँ दुःखों की अग्नि प्रज्वलित न हो, कौन सी ऐसी वस्तु उत्पन्न होती है जो नष्ट होनेवाली न हो, कौन सा ऐसा व्यवहार है जो छलकपट से रहित हो? ऐसे संसार का रचनेवाला सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और कल्याणकारी ईश्वर कैसे हो सकता है?

ईश्वरवादी एक युक्ति यह दिया करते हैं कि इस भौतिक संसार में सभी वस्तुओं के अंतर्गत, और समस्त सृष्टि में, नियम और उद्देश्यसार्थकता पाई जाती है। यह बात इसकी द्योतक है कि इसका संचालन करनेवाला कोई बुद्धिमान् ईश्वर है। इस युक्ति का अनीश्वरवाद इस प्रकार खंडन करता है कि संसार में बहुत सी घटनाएँ ऐसी भी होती हैं जिनका कोई उद्देश्य, अथवा कल्याणकारी उद्देश्य नहीं जान पड़ता, यथा अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अकाल, बाढ़, आग लग जाना, अकालमृत्यु, जरा, व्याधियाँ और बहुत से हिंसक और दुष्ट प्राणी। संसार में जितने नियम और ऐक्य दृष्टिगोचर होते हैं उतनी ही अनियमितता और विरोध भी दिखाई पड़ते हैं। इनका कारण ढूँढना उतना ही आवश्यक है जितना नियमों और ऐक्य का। जैसे, समाज में सभी लोगों को राजा या राज्यप्रबंध एक दूसरे के प्रति व्यवहार में नियंत्रित रखता है वैसे ही संसार के सभी प्राणियों के ऊपर शासन करनेवाला और उनको पाप और पुण्य के लिये यातना, दंड और पुरस्कार देनेवाले ईश्वर की आवश्यकता है। इसके उत्तर में अनीश्वरवादी यह कहता है कि संसार में प्राकृतिक नियमों के अतिरिक्त और कोई नियम नहीं दिखाई पड़ते। पाप और पुण्य का भेद मिथ्या है जो मनुष्य ने अपने मन से बना लिया है। यहाँ पर सब क्रियाओं की प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं और सब कामों का लेखा बराबर हो जाता है। इसके लिये किसी और नियामक तथा शासक की आवश्यकता नहीं है। यदि पाप और पुण्य के लिये दंड और पुरस्कार का प्रबंध होता तथा उनको रोकने और करानेवाला कोई ईश्वर होता, और पुण्यात्माओं की रक्षा हुआ करती तथा पापात्माओं को दंड मिला करता तो ईसामसीह और गांधी जैसे पुण्यात्माओं की नृशंस हत्या न हो पाती।

इस प्रकार अनीश्वरवाद ईश्वरवादी युक्तियों का खंडन करता है और यहाँ तक कह देता है कि ऐसे संसार की सृष्टि करनेवाला यदि कोई माना जाय तो बुद्धिमान् और कल्याणकारी ईश्वर को नहीं, दुष्ट और मूर्ख शैतान को ही मानना पड़ेगा।

पाश्चात्य दार्शनिकों में अनेक अनीश्वरवादी हो गए हैं, और हैं। भारत में जैन, बौद्ध, चार्वाक, सांख्य और पूर्वमीमांसा दर्शन अनीश्वरवादी दर्शन हैं। इन दर्शनों में दी गई युक्तियों का सुंदर संकलन हरिभद्र सूरि लिखित षड्दर्शन समुच्चय के ऊपर गुणरत्न के लिखे हुए भाष्य, कुमारिलभट्ट के श्लोकवार्तिक, और रामानुजाचार्य के ब्रह्मसूत्र पर लिखे गए श्रीभाष्य में पाया जाता है।

सं०ग्रं०—हरिभद्र सूरि षड्दर्शन समुच्चय (गुणरत्न, की टीका), रामानुज श्रीभाष्य वेदांतसूत्री (सूत्र प्रथम, १-३), हैकेल दि रिडिल ऑव दि यूनिवर्स, हाकिंग टाइप्स ऑफ फिलासफी; नेचुरलिज्म, इन्साइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स (हेस्टिंग्ज द्वारा संपादित) में 'अथीज्म' पर लेख।

[भी० ला० आ०]

अनीस, मीर बबर अली (१८०३-१८७४)—फैजाबाद में जन्म लिया। इनके पूर्वजों में छ सात पीढ़ियों से अच्छे कवि होते आए थे। अनीस ने आरंभ में गजलें लिखीं और अपने पिता से सलाह लिया। पिता प्रसन्न तो हुए, पर कहने लगे कि ऐसी कविता तो सब करते हैं, तुम ऐसे विषयों पर लिखो कि ईश्वर भी प्रसन्न हो। अनीस ने तभी से कर्बला की दुर्घटना और इमाम हुसैन के बलिदान पर लिखना आरंभ कर दिया। उस समय अवध में शिया नवाबों का राज था, इसलिये शोकपूर्ण कविताओं (मरसियों) की उन्नति हो रही थी। अनीस भी फैजाबाद से लखनऊ आए और मरसिया लिखने लगे। मीर अनीस ने अच्छे अच्छे विद्वानों से अरबी और फारसी पढ़ी थी और घुड़सवारी, शस्त्रविद्या, व्यायाम आदि का भी अभ्यास किया था। इससे उनको मरसिया लिखने में बड़ी सुविधा हुई। उन्होंने मरसिया को (वीरकाव्य, एपिक) 'ट्रैजेडी' के और निकट पहुँचा दिया। उनकी कविता राजनीतिक और सांस्कृतिक पतन के उस युग में वीररस,

ऐसे वर्णन, हठयोग के ग्रथो मे, प्राय न्यूनाधिक विस्तार के साथ मिलते हैं। परतु गोरखनाथ एव सत कबीर की कुछ बानियों मे इसका वर्णन किंचित् भिन्न रूप में भी मिलता है जो इस प्रकार है—ब्रह्मरध्र से उलटी ओर विकसित सहस्रार के मध्य स्थित किसी चद्राकार बिंदु से एक मद स्राव हुआ करता है जिसे 'अमृत' कहते हैं और जो ऊपर से निम्न स्थान की ओर प्रवाहित होता हुआ मूलाधार के सूर्याकार स्थान तक आकर सूख जाता है। किंतु यदि इसे अभ्यास द्वारा ऊपर ही रोक लिया जाय और उसका रसास्वादन किया जाय तो उससे अमरत्व मिल सकता है। यह रुकावट तब हो पाती है जब निम्नस्थित सूर्य का ही चद्र के साथ मिलन करा दिया जाय जिसे दूसरे शब्दो में नाद एव बिंदु का मिलन भी कहा जाता है और ऐसी स्थिति के आते ही, सूर्य के साथ चद्रमा पूर्णिमा जैसा बन जाता है तथा आनद की तुरही बजने लगती है। जैसे,

अमावस के घरि झिलमिलि चदा, पूनिम के घरि सूर।
नाद कै घरि ब्यद गरजै, बाजत अनहद तूर —'गोरखबानी', ५४।
ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बजावा।
जब अनहद बाजा बाजै, तब साईं सगि बिराजै—क० ग्र०।

और यही वस्तुत आत्मा द्वारा स्वस्वरूप की उपलब्धि भी कही जायगी। नाद एव बिंदु का इस प्रकार मिलन ही शिव एव शक्ति का मिलन भी कहा जा सकता है जो परमतत्व की स्थिति का सूचक है, जिसके कारण अनाहत नाद की अनुभूति ऐसी साधना की चरम परिणति का द्योतक भी कही जा सकती है। अनाहत नाद के श्रवण की एक प्रक्रिया 'सुरत शब्द योग' द्वारा भी प्रकट की जाती है जिसमे सुरति वा शब्दोन्मुख चित्त अपने को क्रमश नाद मे लीन कर आत्मस्वरूप बन जाता है। एक ही नाद प्रणव के रूप मे जहाँ निरुपाधि समझा जाता है वहाँ उपाधिमुक्त होकर वही सात स्वरो में विभाजित भी हो जाया करता है।

स०ग्र०—शिवसहिता, हठयोग प्रदीपिका, नादबिंदूपनिषत्, हसोपनिषत्, योगतारावलि, गोरक्षसिद्धातसग्रह, शारदातिलक, आदि।

[प० च०]

अनिद्रा या उन्निद्र रोग (इनसॉम्निया) मे रोगी को पर्याप्त और अटूट नीद नही आती, जिससे रोगी को आवश्यकतानुसार विश्राम नही मिल पाता और स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है। बहुधा थोडी सी अनिद्रा से रोगी के मन में चिंता उत्पन्न हो जाती है, जिससे रोग और भी बढ जाता है। अनिद्रा चार प्रकार की होती है (१) बहुत देर तक नीद न आना, (२) सोते समय बार बार निद्राभग होना और फिर कुछ देर तक न सो पाना, (३) थोडा सोने के पश्चात् शीघ्र ही नीद उचट जाना और फिर न आना, तथा (४) बिल्कुल ही नीद न आना।

अनिद्रा रोग के कारण दो वर्गो के हो सकते हैं शारीरिक और मानसिक। पहले मे आसपास के वातावरण का कोलाहल, बहुमूत्रता, खुजलाहट, खाँसी तथा कुछ अन्य शारीरिक व्याधियाँ, शारीरिक पीडा और प्रतिकूल ऋतु (अत्यत गरमी, अत्यत शीत, इत्यादि) है। दूसरे प्रकार के कारणो मे आवेग, जैसे क्रोध, मनस्ताप, अवसाद, उत्सुकता, निराशा, परीक्षा, नूतन प्रेम, अतिहर्ष और अतिखेद आदि हैं। ये अवस्थाएँ अल्पकालिक होती हैं और साधारणत इनके लिये चिकित्सा की आवश्यकता नही होती। घोर सताप या खिन्नता का उन्माद, मनोवैकल्य, सभ्रमात्मक विक्षिप्तता तथा उन्मत्तता भी अनिद्रा उत्पन्न करती हैं। वृद्धावस्था या अधेड अवस्था मे मानसिक अवसाद के अवसरो पर, कुछ लोगो की नीद बहुत पहले ही खुल जाती है और फिर नही आती, जिससे व्यक्ति चिंतित और अधीर हो जाता है। ऐसी अवस्थाओ में विद्युत् झटको (इलेक्ट्रोशॉक) की चिकित्सा बहुत उपयोगी होती है। इससे किसी प्रकार की हानि होने की कोई आशका नही रहती। पीडा अथवा किसी रोग से उत्पन्न अनिद्रा के लिये अवश्य ही मूल कारण को ठीक करना आवश्यक है। अन्य प्रकार की अनिद्रा की चिकित्सा नमोहक और शामक (सेडेटिव) ओषधियो से अथवा मनोवैज्ञानिक और शारीरिक सुविधाओ के अनुसार की जाती है।

विकृत चेतना और उन्माद के रोगियो में एक विशेष लक्षण यह होता है कि अकारण ही उन्हें चिंता बनी रहती है। बुढापे तथा अन्य कारणो से मस्तिष्क-अवनति में, अच्छी नीद आने पर भी लोग बहुधा शिकायत करते हैं कि नीद आई ही नही।

[दि० सिं०]

अनिरुद्ध वृष्णिवंशीय कृष्ण के नाती और प्रद्युम्न के पुत्र। इनके रूप पर मोहित होकर असुरो की राजकुमारी उषा, जो बाण की कन्या थी, इन्हे अपनी राजधानी शोणितपुर उठा ले गई। कृष्ण और बलराम बाण को युद्ध मे परास्त कर अनिरुद्ध को उषा सहित द्वारिका ले आए।

[च० म०]

अनिर्धार्यता अनिर्धार्यता सिद्धात बताता है कि किसी कण की स्थिति और वेग को एक साथ ही इच्छानुसार सूक्ष्मता से बताना असभव है। यह अवश्य ठीक है कि इन दोनो मे से किसी एक को हम जितनी भी सूक्ष्मता से चाहे उतनी सूक्ष्मता से व्यक्त कर सकते हैं, परतु एक मे जितनी ही अधिक सूक्ष्मता रहेगी, दूसरे मे उतनी ही कम। इस सिद्धात को वर्नर हाइसनबर्ग ने १९२७ मे उपस्थित किया। क्वाटम यात्रिकी (क्वाटम मिकैनिक्स) मे यह अत्यत महत्वपूर्ण सिद्धात है। इसे अधिक विस्तार से यो समझाया जा सकता है

क्वाटम सिद्धात के अनुसार द्रव्य के गभीर वर्णन के लिये उसको कण तथा तरग दोनो मानना आवश्यक है (**क्वाटम यात्रिकी** देखे)। साधारणतया ये दोनो वर्णन एक दूसरे से मेल नही खाते, इसलिये क्वाटमवाद मे इन दोनो विपरीत चित्रो के एक साथ उपयोग के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि पुरातन विचारशैली मे कुछ परिवर्तन किया जाय। एक दिशा, जिसमे परिवर्तन की आवश्यकता पडती है, नाप-प्रक्रम (मेज़्हरमेंट प्रोसेस) का सिद्धात है। पुरातनवाद के आधार पर हम किन्ही भी दो गति-चरो (डाइनैमिकल वेरिएबुल्स) को असीमित यथार्थता (ऐक्युरेसी) से नाप सकते हैं। क्वाटम यात्रिकी मे इस बात को त्याग देना पडता है, केवल वही चर एक साथ असीमित यथार्थता से नापे जा सकते हैं जिनको निरूपित करनेवाले कारक आपस मे दिक्परिवर्तित होते हो, यदि वे दिक्परिवर्तित नही हो सकते तो उनको एक साथ नापने पर दोनो के परिमाण मे अनिश्चितता आ जायगी।

कणो का विशिष्ट लक्षण एक छोटे से आयतन मे स्थित होना है, और तरग के विवरण के लिये उसका तरगदैर्घ्य (वेव लेग्थ) जानना आवश्यक है। तरगदैर्घ्य जितना ही अधिक निर्धारित होगा तरग आकाश मे उतनी ही अधिक फैली हुई होगी। यदि तरगदैर्घ्य बिल्कुल यथार्थ दिया हुआ हो तो तरग सारे आकाश मे एक समान विस्तृत होगी। तब कण समस्त आकाश मे एक सी प्रायिकता (प्रॉबेबिलिटी) से कही भी हो सकता है, क्योकि तरगदैर्घ्य का ज्ञान कणसवेग (मोमेंटम) के ज्ञान के तुल्य है ['क्वाटम यात्रिकी', समी० (३)]। उपर्युक्त तर्क से विदित है कि यदि किसी कण का सवेग पूर्णतया निर्धारित हो तो उसकी स्थिति पूर्णतया अनिश्चित हो जायगी। विलोमत, यदि कण एक बिंदु पर स्थित है तो उसका तरगो द्वारा विवरण देने के लिये ऋण अनत से लेकर धन अनत तक सारे तरगदैर्घ्यो का एक ही भार गुणनखड के साथ प्रयोग करना पडेगा, तदनुसार कण का तरगदैर्घ्य, अथवा तुल्यतया सवेग, बिल्कुल अनिश्चित हो जायगा। अत यदि कण की निश्चित स्थिति ज्ञात हो तो उसके सवेग का ज्ञान सभव नही है।

कण की निश्चित स्थिति की अवस्था और उसकी निश्चित सवेग की अवस्था के बीच और भी अनेक अवस्थाएँ चित्रित की जा सकती हैं, जिनमें ये बाते कुछ अनिश्चितता के साथ दी हुई हो। हाइसनबर्ग ने दिखाया कि यदि किसी कण की स्थिति मे "अनिश्चितता" $\triangle$य हो और उसके सवेग मे "अनिश्चितता" $\triangle$व हो, तो दोनो मे सदा यह सबध होगा

$$\triangle य \triangle व \lesssim ह,$$

यहाँ ह = हा/२π, हा प्लाक का अचर है जिसका सख्यामान ६.६ × १०$^{-२७}$ अर्ग-सेकड है। जिस प्रकार आपेक्षिकता (रिलेटिविटी) सिद्धात ने घटनाओ के एककालीन होने की धारणा को बदल दिया, उसी प्रकार क्वाटम-वाद ने दो चरो को एक साथ नाप सकने की धारणा में परिवर्तन कर दिया।

अनिश्चितता सिद्धात सब नियमानुसार सबद्ध (कैनॉनिकैली कॉनजुगेट) चरो के बीच लागू होता है। क्वाटम यात्रिकी के व्यापक सिद्धात के अनुसार दो राशियाँ तभी साथ साथ नापी जा सकती है, जब उन्हे निरूपित करनेवाले

उपनिदान सूत्र अभी तक प्रकाश मे नही आए है। इन ग्रथो मे सामवेद के ऋषि, छद तथा सामविधान का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अथर्ववेद की 'वृहत् सर्वानुक्रमणी' प्रत्येक काड के मत्र, ऋषि, देवता, तथा छद का पूर्ण विवरण देती है और सर्वाधिक महत्वशाली मानी जाती है। 'पचपटलिका' तथा 'दत्योष्ठविधि' पूर्वग्रथ के पूरक माने जा सकते है। शौनक रचित 'चरणव्यूह सूत्र' भी वेदो की शाखा, चरण आदि की जानकारी के लिये विशेष उपादेय है। [व० उ०]

अनुदार दल

अनुदार दल अथवा काजरवेटिव पार्टी इग्लैड का एक प्रमुख राजनीतिक दल है। कैथोलिक धर्मानुयायी जेम्स द्वितीय के उत्तराधिकार के समर्थन और विरोध मे टोरी और ह्विग दो राजनीतिक दलो का आविर्भाव चार्ल्स द्वितीय (१६६०-१६८५ ई०) के समय हुआ था। इनमे से टोरी दल काजरवेटिव पार्टी का मूल पूर्वज है। टोरी दल राजपद के वशानुगत और विशेष अधिकार तथा केवल एग्लिकन धर्मव्यवस्था का समर्थक था। ह्विग दल ने नियत्रित राजतत्र पार्लमेट की सर्वशक्तिमत्ता तथा धर्मव्यवस्था मे सहिष्णुता के सिद्धात को मान्यता दी थी। जार्ज तृतीय (१७६०-१८२० ई०) के राज्यारोहण तक देश की राजनीति मे ह्विग दल की प्रधानता रही। जॉर्ज के शासन काल मे टोरी दल सत्तारूढ हुआ। इस दल के लॉर्ड नॉर्थ के बारह वर्षो (१७७०-८२ई०) के प्रधान मत्रित्व काल मे शासन मे राजा के व्यक्तिगत प्रभाव की वृद्धि हुई। इसी दल का विलियम पिट (छोटा पिट) १७८४ से १८०१ तक प्रधान मत्री रहा। फ्रास की राज्यक्राति और नेपोलियन (१७८९-१८१५ ई०) के युग तथा बाद के पद्रह वर्षो मे टोरी दल ने उद्धार और लोकतात्रिक आदोलनो के दमन और इग्लैड के साम्राज्य के विस्तार की नीति अपनाई। किंतु युद्ध और औद्योगिक क्राति से उत्पन्न नई परिस्थितियो का निर्वाह दल की नीति से सभव न था। १८३० मे पार्लमेट के निर्वाचन मे सुधारवादी ह्विग दल की विजय हुई। दल ने १८३२ मे पहला सुधार कानून (रिफार्म ऐक्ट) पारित किया। टोरी दल ने सुधार के प्रस्तावो का विरोध किया। सुधार कानून के बाद ह्विग दल ने कुछ प्रचलित व्यवस्थाओ मे जो अपेक्षित सुधार किए उनका समर्थन टोरी दल ने नही किया।

इस काल टोरीदल का काजरवेटिव पार्टी (अनुदार दल) नाम पड गया। १८२४ मे एक भोज के अवसर पर जॉर्ज केनिंग ने टोरी पार्टी के लिये पहले पहल इस शब्द का उपयोग किया था। दल के नेता रॉवर्ट पील ने दल की नीति की जो घोषणा टेम्नवर्थ के मतदाताओ के समक्ष १८३५ ई० मे की थी उसमे दल के लिये काजरवेटिव शब्द को अपना लिया था। शीघ्र ही टोरी दल के लिये यह नया नाम प्रचलित हो गया।

१८३४-३५ और १८४१-४६ मे पील के नेतृत्व मे शासनसूत्र अनुदार दलके हाथ मे रहा। अनाज के आयात से प्रतिबध उठा लेने के प्रश्न पर सरक्षण नीति के समर्थक दल के सदस्यो ने पील का विरोध किया और इस सबध का कानून पारित होने पर उन्होने पील का साथ छोड दिया। पील के अनुयायी उदार दल मे समिलित हो गए। सुधारो के सबध मे उदार नीति को कार्यान्वित करने के कारण ह्विग दल लिबरल पार्टी (उदार दल) कहा जाने लगा था। १८६७ मे बेजामिन डिजरेली ने अनुदार दल का पुनर्गठन किया। काजरवेटिव और सावैधानिक सभाओ का एक सघ स्थापित हुआ। इस वर्ष टोरी दल की सरकार थी। दल ने दूसरा सुधार कानून पारित कर मताधिकार का विस्तार किया। दल के सगठन को पुष्ट करने के लिये डिजरेली ने १८७० मे दल का केंद्रीय कार्यालय खोला और दल के उद्देश्य और कार्यो की पूर्ति के लिये १८८० मे एक केंद्रीय समिति भी बना दी। दल के क्षेत्र और कार्यो का विस्तार इस समिति का मुख्य कार्य है।

विक्टोरिया (१८३७-१९०१) के राज्यकाल मे दल की स्थिति काफी दृढ हो गई थी। आयर्लैड को स्वराज्य देने के सबध मे उदार दल के नेता विलियम इवार्ट ग्लैडस्टन के प्रस्तावो का प्रत्येक अवसर पर दल ने तीव्र विरोध किया था। उदार दल के कुछ सदस्य भी इस प्रश्न पर दल के नेता की नीति से सहमत न थे। वे अनुदार दल मे समिलित हो गए और दोनो यूनियनिस्ट (एकतावादी) कहे जाने लगे। बहुत समय तक अनुदार दल के लिये इस नाम का ही उपयोग होता रहा।

१८९५ से १९०५ तक अनुदार दल के हाथ मे देश का शासन रहा। अगले दस वर्ष उदार दल सत्तारूढ रहा किंतु प्रथम विश्वमहायुद्ध की अवधि (१९१४-१८) मे उदार और अनुदार दल दोनो की सयुक्त सरकार रही। वर्तमान शताब्दी मे लेबर पार्टी (मजदूर दल) के उदय और विस्तार के बाद उदार दल देश की राजनीति मे पिछड गया। प्रथम विश्वमहायुद्ध के बाद समय समय पर अनुदार और मजदूर दलो की प्रधानता देश की राजनीति मे रही है। द्वितीय विश्वमहायुद्ध की अवधि (१९३९-४४) मे भी दोनो दलो की सयुक्त सरकार रही जो १९५० तक बनी रही। १९५० के चुनाव मे मजदूर दल के केवल १७ अधिक सदस्य आए। दल का मत्रिमडल एक वर्ष भी न टिक सका। नए चुनाव मे अनुदार दल को बहुमत प्राप्त हुआ। १९५१ से अनुदार दल के हाथ मे देश का शासनसूत्र है।

अनुदार दल साधारणतया प्रचलित व्यवस्थाओ मे परिवर्तन के पक्ष मे नही रहा है। उग्र और क्रातिकारी व्यवस्थाओ का वह घोर विरोधी है। अनिवार्य परिस्थितियो मे परपरागत सस्थाओ और व्यवस्थाओ मे सुधार दल ने स्वीकार किया है किंतु उनका समूल नाश उसको अभीष्ट नही है। दल की यह नीति रही है कि किसी भी व्यवस्था मे क्रमश इस प्रकार परिवर्तन किया जाय कि परपरागत स्थिति से उसका सबध बना रहे। यह दल राजपद, लार्ड सभा, ऐग्लिकन धर्मव्यवस्था और जमीदारो के अधिकारो का समर्थक रहा है। व्यक्तिगत सपत्ति की रक्षा मे दल सदा सचेष्ट रहा है। समाजवाद के आदोलन और राष्ट्रीयकरण की योजनाओ को दल ने क्षमा की दृष्टि से देखा है और यथासभव उनका विरोध किया है। व्यवसाय और व्यापार के हित मे दल ने सरक्षण नीति का समर्थन किया है। राज्य की सबल और सुदृढ वैदेशिक नीति तथा अन्य देशो में इग्लैड की प्रतिष्ठा की मान्यता दल को अभीष्ट है। साम्राज्यवाद का दल की नीति मे प्रमुख स्थान है। अधीनस्थ देशो को स्वाधीनता देकर साम्राज्य के अगभग का यह दल विरोधी है। द्वितीय महायुद्ध के बाद के आम चुनाव मे विस्टन चर्चिल ने अतर्राष्ट्रीय और साम्राज्य सबधी समस्याओ को महत्व दिया था।

देश का समृद्ध और कुलीन वर्ग अनुदार दल का समर्थक है। बडे बडे जमीदार, व्यवसायी, पूंजीपति, वकील, डाक्टर और विश्वविद्यालय के प्राध्यापक अधिकाश मे अनुदार दल के सदस्य है। अनुदार दल की नीति के समर्थन मे ही देश के हितो की वे रक्षा सभव समझते है।

सं०ग्र०—फ्रेडरिख आस्टिन ऑग इग्लिश गवर्नमेट ऐड पॉलिटिक्स (सशोधित सस्करण), मैकमिलन, न्यूयार्क, एस० वी० पुणताबेकर कास्टीटयूशनल हिस्ट्री ऑव इग्लैड, १४८५-१९३१, नदकिशोर ब्रदर्स, वाराणसी, ब्रेडन, जे०ए० द्वारा सपादित, दि डिक्शनरी ऑव ब्रिटिश हिस्ट्री, एडवर्ड आर्नल्ड ऐड कपनी, लदन, महादेवप्रसाद शर्मा ब्रिटिश सविधान, किताबमहल, इलाहाबाद, त्रि० पत इग्लैड का सावैधानिक इतिहास, नदकिशोर ब्रदर्स, वाराणसी। [त्रि० प०]

अनुनाद

किसी वस्तु मे ध्वनि के कारण अनुकूल कपन उत्पन्न होने तथा उसके स्वर आदि मे वृद्धि होने को अनुनाद (रेजोनैस) कहते है। भौतिक जगत् की क्रियाओ मे हम यात्रिक अनुनाद और वैद्युत् अनुनाद पाते है। द्रव्य और ऊर्जा के बीच भी अनुनाद होता है, जिसके द्वारा हमे द्रव्य के अनुनादी विकिरण का पता लगता है।

यात्रिक अनुनाद—प्रत्येक वस्तु की एक कपनसख्या होती है जो उसकी बनावट, प्रत्यास्थता और भार पर निर्भर रहती है। तनिक ठुनका देने पर घटे, घटियाँ, थाली तथा अन्य बर्तन प्रत्येक सेकड मे इसी सख्या के बराबर कपन करने लगते है और तब उनके सपर्क से वायु मे ध्वनि उत्पन्न होती है। यदि कपन सख्या ३० से कम होती है तो ध्वनि नही सुनाई पडती, जैसे पेडुलम आदि के दोलन मे। यदि कंपन सख्या ३० से अधिक और ३०,००० से कम होती है तो स्वर सुनाई पडता है, जैसे सितार के तार,
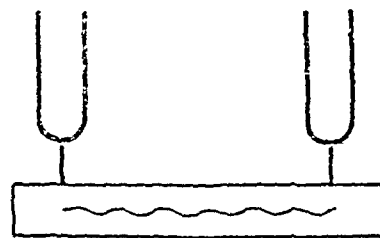
चित्र १—यदि दोनो स्वरित्रो की कंपन-सख्याएँ बराबर है तो उनके बीच अनुनाद होता है।

ये उतने भरती नही किए जा सके। इसलिये जुलाई, सन् १७९२ मे "फ्रास खतरे मे" का नारा उठाए जाने पर प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति के लिये सेना मे भरती होना अनिवार्य हो गया। किंतु यह केवल सैद्धातिक विचार ही बना रहा, क्योकि तब तक इस कानून को लागू करने की कोई सुचारु व्यवस्था नही बन सकी थी। जितने सैनिको की आवश्यकता थी उनके आधे ही भरती हुए।

तब फ्रास के युद्धमत्री श्री कारनो ने अनिवार्य भरती की एक व्यवस्था बनाई जिसके अनुसार १८ वर्ष से २५ वर्ष की आयु तक के युवा व्यक्ति ही भरती किए गए। यह व्यवस्था उसी वर्ष कानून बना दी गई। इससे अत्यधिक सफलता मिली। इस सफलता का मुख्य कारण यह था कि इस आयुवर्ग के युवक न तो अधिक थे और न वे राजनीतिक वा सामाजिक क्षेत्र मे इतने प्रभावशाली ही थे कि कानून के विरुद्ध कुछ कर सकते। इसके अतिरिक्त कुछ परिस्थितियाँ और भी थी जिनसे सैनिक जीवन महत्व पा गया था। देश मे अकाल पडा हुआ था, राजनीतिक अत्याचार और हत्याएँ बढ रही थी। इनसे बचने का सरल उपाय सेना में भरती हो जाना ही था। फलत सन् १७९४ ई० मे फ्रास की सैनिक सख्या ७,७०,००० से भी ऊपर हो गई। नेपोलियन की सन् १७९६ की सफलता का प्रमुख कारण यही कानून था।

क्राति और बाह्य आक्रमण का भय दोनो ऐसी परिस्थितियाँ थी जो फ्रास के उत्साह को बनाए रही। किंतु नेपोलियन के इटलीवाले सफल युद्धो के बाद शाति का कुछ अवसर मिला और तब लोगो को अनिवार्य भरती की कठोरता का आभास होने लगा। इस प्रथा के विरुद्ध युक्तिसगत आलोचनाएँ प्रारभ होने लगी। कुछ लोगो का कहना था कि इस प्रथा द्वारा मानव शक्ति का, जो राष्ट्र की धनवृद्धि का प्रमुख साधन है, दुरुपयोग होता है। कुछ लोगो का कहना था कि किसी मनुष्य की प्रकृति तथा रुचि के अनुसार ही उसका व्यवसाय होना चाहिए। अनिवार्य भरती से रुचि और प्रकृति के विरुद्ध होते हुए भी मनुष्य सैनिक कार्य के लिये बाध्य किया जाता है। दूसरो का कहना था कि कानून की सहायता से सेना की वृद्धि तो की जा सकती है, पर सैनिको को पूर्ण मनोयोग और शक्ति से लडने के लिये बाध्य नही किया जा सकता। इन सब विरोधपूर्ण बातो के होते हुए भी, सन् १७९८ मे अनिवार्य भरती का कानून स्थायी रूप से मान लिया गया और "अनिवार्य भरती" शब्द का प्रथम बार निर्माण हुआ। जनमत को देखते हुए कानून मे कुछ सशोधन कर दिए गए, जिसके फलस्वरूप पहले से कम सख्ती से काम लेना प्रारभ हुआ। धन देकर, या अपने स्थान पर दूसरे व्यक्ति को नियुक्त कर देने से, अनिवार्य भरती से छुटकारा पाया जा सकता था।

नेपोलियन के हारने के बाद प्रशिया (जरमनी) मे अनिवार्य भरती का नियम अधिक दृढता से लागू किया गया। सबके लिये तीन वर्षो तक सैनिक शिक्षा लेना अनिवार्य हो गया। इनमे से कुशाग्र बुद्धिवाले व्यक्ति अफसर बनते थे। इस प्रकार वहाँ साधारण सैनिक और कुशल नायको तथा सेनापतियो का अतुलित भाडार सदा तैयार रहता था। परतु पीछे सभी देशो मे अनिवार्य भरती का मूल्य घटने लगा, क्योकि युद्ध के नए नए यत्र निकलन लग और बडी सेनाओ के बदले यत्रो से सुसज्जित छोटी सेनाएँ अधिक वाछनीय हो गई।

१९१४-१८ के प्रथम विश्वयुद्ध मे दोनो ओर अनिवार्य भरती चल रही थी। इस युद्ध मे एक करोड से अधिक व्यक्ति मारे गए। सबने अनुभव किया कि कुशल कारीगरो अथवा बुद्धिमान वैज्ञानिको को साधारण सैनिको के समान युद्ध मे झोक देना मूर्खता है। वे कारखानो और प्रयोगशालाओ में रहकर विजयप्राप्ति मे अधिक सहायता पहुँचा सकते थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध मे तो यह अनुभव हुआ कि बच्चे, बूढे सभी पर बम पड सकते है, और प्राय सभी किसी न किसी रूप में युद्ध की अनुकूल प्रगति मे हाथ बँटा सकते है। इस युद्ध के पहले से ही इग्लैंड मे सब युवको को छ महीने की अनिवार्य सैनिक शिक्षा लेनी पडती थी। इस युद्ध मे अपने यात्रिक बल से जर्मनी ने पोलैंड को तीन सप्ताह में, नारवे को प्राय दो दिन मे, हालैंड को पाँच दिन में, बेल्जियम को १८ दिन मे और क्रीट को १० दिन मे जीता। यह सब टैंक, वायुयान, मोटर लारी आदि के कारण सभव हो सका। अत में इग्लैंड तथा उसके मित्रराष्ट्रो की विजय का श्रेय सेना मे अनिवार्य भरती को मिलना चाहिए।

अमरीका मे १७७२ मे और फिर १८१२ मे अनिवार्य भरती आरभ की गई, परतु विशेप सफलता नही मिली। उन दिनो इसकी बहुत आवश्यकता भी नही थी। १८६२ के घरेलू युद्ध में भी अनिवार्य भरती सफल ही रही। प्रथम विश्वयुद्ध मे अनिवार्य भरती के लिये १९१७ में विधान बना, जिससे २१ से लेकर ३० वर्ष तक के पुरुषो मे से कोई भी अनिवार्य रूप से भरती किया जा सकता था। इस प्रकार लगभग १३ लाख व्यक्ति भरती किए गए। उन्ही लोगो को छूट थी जो विधान सभा के सदस्य या प्रातो तथा जिलो आदि के अधिशासक या न्यायाधीश अथवा गिरजाघरो के पुरोहित थे। जिन लोगो को अपने अत करण के कारण आपत्ति थी, उनको लडाई पर न भेजकर युद्ध सबधी कोई अन्य काम दिया जाता था। द्वितीय विश्वयुद्ध मे भी लगभग इसी प्रकार की अनिवार्य भरती हुई थी और १९४२ के अत तक चार पाँच लाख व्यक्ति हर महीने भरती किए जाते थे।

स०ग्र०—एफ० एन० मॉड वालटरी वर्सस कपल्सरी सर्विस (१८९१), ई० एम० अर्ल इत्यादि (सपादक) मेकर्स ऑॅव माडर्न स्ट्रैटेजी (१९४३), अमेरिकन अकैडेमी ऑॅव पॉलिटिक्स ऐंड सायस यूनिवर्सल मिलिटरी ट्रेनिंग ऐंड नेशनल सिक्योरिटी (१९४५)। [आ० सि० स०]

अनिषेक जनन

अधिकाश जतुओ मे प्रजनन की क्रिया के लिये ससेचन (वीर्य का अड से मिलना) अनिवार्य है, परतु कुछ ऐसे भी जतु है जिनमे बिना ससेचन के प्रजनन हो जाता है, इसको अनिषेक जनन कहते हैं। कुछ मछलियो को छोडकर किसी भी पृष्ठवशी मे अनिषेक जनन नही पाया जाता और न कुछ बडे बडे कीटगण, जैसे *व्याधपतगगण* (ओडोनेटा) तथा भिन्नपक्षानुगण (हेटरोप्टरा) मे। कुछ ऐसे भी जतु हैं जिनमे प्रजनन सर्वथा (अथवा लगभग सर्वथा) अनिषेक जनन द्वारा ही होता है, जैसे द्विजननिक विद्धपत्रा (डाइजनेटिक ट्रेमैडोड्स), किरीट-वर्ग (रोटिफर्स), जल-पिंशु (वाटर फ्ली) तथा द्रुयूका (ऐफिड) मे। शल्किपक्षा (लेपिडोप्टरा) में अनिषेक जनन विरले ही मिलता है, किंतु स्यूनशलभ-वश (सिकिड्स) की कई एक जातियो मे पाया जाता है। घुनो के कुछ अनुवशो मे भी अनिषेक जनन प्राय पाया जाता है।

प्रजनन, लिंगनिश्चयन, तथा कोशिकातत्व (साइटॉलोजी) की दृष्टि से कई प्रकार के अनिषेक जननतत्र पहचाने जा सकते हैं। प्रजनन की दृष्टि से अनिषेक जनन का निम्नलिखित वर्गीकरण हो सकता है

अ आकस्मिक अनिषेक जनन में अससिक्त अडा कभी कभी विकसित हो जाता है।

आ सामान्य अनिषेक जनन निम्नलिखित प्रकारो का होता है

१ अनिवार्य अनिषेक जनन मे अडा सर्वदा बिना ससेचन के विकसित होता है

क पूर्ण अनिषेक जनन मे सब पीढी के व्यक्तियो मे अनिषेक जनन पाया जाता है।

ख चक्रिक अनिषेक जनन मे एक अथवा अधिक अनिषेक जनित पीढियो के बाद एक द्विलिंग पीढी आती रहती है।

२ वैकल्पिक अनिषेक जनन मे अडा या तो ससिक्त होकर विकसित होता है या अनिषेक जनन द्वारा।

लिंगनिश्चय के विचार से अनिषेक जनन तीन प्रकार के होते हैं

क पुजनन (ऐरिनॉटोकी) मे अससिक्त अडे अनिषेक जनन द्वारा विकसित होकर नर जतु बनते हैं। ससिक्त अडे मादा जतु बनते है।

ख स्त्रीजनन (थेलिओटोकी) मे अससिक्त अडे विकसित होकर मादा जतु बनते है।

ग उभयजनन (डेटरोटोकी, ऐंफिटोकी) मे अससिक्त अडे विकसित होकर कुछ नर और कुछ मादा बनते है।

कोशिकातत्व की दृष्टि से अनिषेक जनन कई प्रकार का होता है

क अर्धक अनिषेक जनन मे अनिषेक जनन द्वारा उत्पन्न जतु उन अडोसे विकसित होते हैं जिनमे केंद्रक सूत्रो (क्रोमोसोमो) का ह्रास होता है और केंद्रक सूत्रो की मात्रा आधी हो जाती है।

प्रदान नहीं होता, परंतु जब आवर्तन अनुकूल (समान या दुगुने, तिगुने आदि) होते हैं तब यह आदान प्रदान होता है, उसी प्रकार परमाणु में भी ऊर्जा का आदान-प्रदान तभी होता है जब आनेवाली ऊर्जा परमाणु की दो अवस्थाओं के अंतर की ऊर्जा के बराबर हो। जब कोई ऋणाणु बाहरी कक्षा से भीतरी कक्षा में आता है तो परमाणु की ऊर्जा में कमी होती है और यह ऊर्जा विकिरण के रूप में प्रकट होती है। इसके विपरीत जब परमाणु ऊर्जा का अवशोषण करता है तब ऋणाणु भीतरी कक्षा से बाहरी कक्षाओं में जाते हैं। वर्णपट में प्रकाश की रेखाओं का विकिरण में देखा जाना, या उनका अवशोषण होना, इन दोनों क्रियाओं के अस्तित्व की पुष्टि करता है। प्राय सभी रेखाओं का अस्तित्व परमाणु की दो ऊर्जा-अवस्थाओं के भेद के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। इस प्रकार, यदि रेखा की आवर्तन संख्या स और दो अवस्थाओं में परमाणु की ऊर्जा क्रमश $ऊ_1$ और $ऊ_2$ हैं तब

$$प्ल\, स = ऊ_2 - ऊ_1, \qquad (१)$$

जहाँ प्ल प्लांक का स्थिरांक है।

प्रश्न उठता है कि क्या वर्णपट की रेखाओं के अतिरिक्त भी परमाणु में ऊर्जा-अवस्थाओं के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई और अधिक सीधा प्रमाण है। इसका उत्तर फ्रेंक और हर्ट्ज के प्रयोगों से मिलता है। यदि किसी परमाणु पर अर्जित कणों की बौछार की जाय तो दो फल हो सकते हैं (१) टक्कर प्रत्यारथ (इलैस्टिक) हो और कण तथा परमाणु प्रत्यास्थ टक्कर के नियमों के अनुसार भिन्न भिन्न वेग से दूर हो जायँ, (२) कण अपनी ऊर्जा परमाणु को दे दे और फलस्वरूप परमाणु का बाहरी ऋणाणु किसी और बाहरी कक्षा में पहुँच जाय और परमाणु की ऊर्जा में वृद्धि हो जाय। ऊर्जायुक्त कण सरलता से उपलब्ध किए जा सकते हैं। यदि ऋणाणु, जिनका आवेश आ है, विभवांतर वि से गुजरे तो उनकी ऊर्जा आ वि होगी (जहाँ आ और वि दोनों एक ही इकाई में मापे गए हैं)। यदि ये ऋणाणु परमाणु को एक अवस्था से दूसरी में पहुँचाने में सफल होते हैं तो प्रत्यक्ष है कि

$$आ\, वि = \frac{1}{2}\, द्र\, वे^2 = ऊ_2 - ऊ_1, \qquad (२)$$

जहाँ द्र ऋणाणु का द्रव्यमान और वे विभव के कारण उत्पन्न उसका वेग है। अब हम परमाणु के अवस्था-भेदों को ऋणाणु के विभव के रूप में व्यक्त कर सकते हैं, समीकरण (२)। ऊपर की व्याख्या के अनुसार जब परमाणु सामान्य अवस्था से केवल अगली अवस्था में जाता है, तो हम उस ऊर्जा को परमाणु का अनुनाद विभव कहते हैं। अन्य अवस्थाओं में जाने के लिये जो ऊर्जा आवश्यक है वह उत्तेजना-विभव कहलाएगी। परमाणु की एक और विशेष अवस्था हो सकती है—जब सबसे बाहरी ऋणाणु इतनी दूर चला जाय कि सामान्यत वह बचे हुए परमाणु या आयन के क्षेत्र (या पहुँच) के बाहर हो। इसको संपन्न करने के लिये प्राय अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होगी (मौलिक रूप से ऋणाणु अनंत कक्षा में पहुँचता है)। इस ऊर्जा को परमाणु का आयनीकरण-विभव कहते हैं। यह कहा जा सकता है कि अनुनाद-विभव और आयनीकरण-विभव उत्तेजना-विभव के विशेष रूप मात्र हैं।

मूल रूप में इन विभवों को निम्नलिखित रीति से हम ज्ञात कर सकते हैं। एक वायुहीन नली में उस तत्व के परमाणु भर देते हैं जिनके उत्तेजना विभवों को ज्ञात करना है (चित्र देखें)।
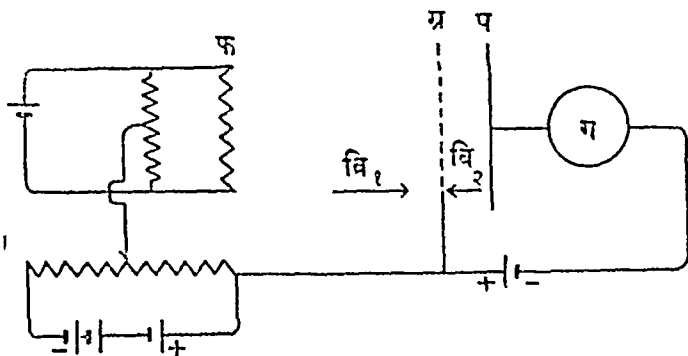
फिलामेंट फ में निकलते हुए ऋणाणु फिलामेंट और ग्रिड ग्र के बीच विभवांतर $वि_1$ के कारण त्वरित होते हैं। विभव $वि_2$ विभव $वि_1$ से बहुत कम परंतु विपरीत दिशा में ग्र और प्लेट प के बीच लगाया जाता है। $वि_1$ को धीरे धीरे बढाया जाता है और फलत गैल्वैनोमापी ग में विद्युद्धारा की वृद्धि होती है, क्योंकि द्रुतगामी ऋणाणु सरलता से प्लेट प तक पहुँचने में सफल होते हैं। परंतु, ज्यों ही ऋणाणुओं की ऊर्जा फ और प के बीच के स्थान में स्थित परमाणुओं की ऊर्जा-अवस्था के अंतर के बराबर होगी, वे अपनी यह ऊर्जा परमाणुओं को दे देंगे और स्वयं प तक पहुँचने में असमर्थ होंगे। अत $वि_1$ के उचित मूल्य का होने पर गैल्वैनोमापी धारा में ह्रास दिखलाएगा। परंतु $वि_1$ को और अधिक बढाने पर, ऋणाणुओं को आवश्यक ऊर्जा परमाणुओं को मिल जाने के बाद भी, उनमें इतनी ऊर्जा रह जायगी कि वे फिर प तक पहुँचने में समर्थ हों। इस प्रकार ग की विद्युद्धारा बढती घटती रहेगी और धारा के मूल्य के दो उतारों से संबंधित विभवों का अंतर परमाणु की दो अवस्थाओं की ऊर्जा के अंतर के बराबर होगा।

सामान्यत इस सरल रीति में कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। अधिक विस्तार के लिये देखें रूआर्क और यूरी ऐटम्स, मॉलीक्यूल्स ऐंड क्वांटा, तथा आर्नोट कलीजन प्रोसेसेज इन गैसेज (मेथुअन)। [दे० ग०]

अनुबंध चतुष्टय किसी ग्रंथ का प्रारंभ करने के पहले प्राचीन भारतीय परंपरा में भूमिका रूप से चार बातों का उल्लेख होता था, जिन्हें अनुबंध कहते थे—(१) ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय, (२) विषय के प्रतिपादन का प्रयोजन, (३) किसके लिये वह विषय प्रतिपादित किया गया है (अधिकारी), और (४) अधिकारी के साथ विषय का क्या संबंध है। अनुबंध शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है 'पीछे बाँधा हुआ', किंतु ग्रंथनिर्माण के बाद लिखे जाने पर भी इन अनुबंधों का ग्रंथ के प्रारंभ में ही उल्लेख रहता है। कभी कभी मंगलाचरण में ही अनुबंधों का निर्देश कर दिया जाता है। ये अनुबंध आज की भूमिका के पूर्वरूप माने जा सकते हैं। [रा० पा०]

अनुभव प्रयोग अथवा परीक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान। प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा बोध। स्मृति से भिन्न ज्ञान। तर्कसंग्रह के अनुसार ज्ञान के दो भेद हैं—स्मृति और अनुभव। संस्कार मात्र से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति और उससे भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं। अनुभव के दो भेद हैं—यथार्थ अनुभव तथा अयथार्थ अनुभव। प्रथम को प्रमा तथा द्वितीय को अप्रमा कहते हैं। यथार्थ अनुभव के चार भेद हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति, (३) उपमिति, तथा (४) शाब्द।

इनके अतिरिक्त मीमांसा के प्रसिद्ध आचार्य प्रभाकर के अनुयायी अर्थापत्ति, भाट्टमतानुयायी अनुपलब्धि, पौराणिक साम्भविकी और ऐतिह्यिकी तथा तांत्रिक चैष्टिकी को भी यथार्थ अनुभव के भेद मानते हैं। इन्हें क्रम से प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव, ऐतिह्य तथा चेष्टा से प्राप्त किया जा सकता है।

अयथार्थ अनुभव के तीन भेद हैं—(१) संशय, (२) विपर्यय तथा (३) तर्क। संदिग्ध ज्ञान को संशय, मिथ्या ज्ञान को विपर्यय एवं ऊह (संभावना) को तर्क कहते हैं। [वि० ना० चौ०]

अनुमान दर्शन और तर्कशास्त्र का पारिभाषिक शब्द। भारतीय दर्शन में ज्ञानप्राप्ति के साधनों का नाम प्रमाण है। अनुमान भी एक प्रमाण है। चार्वाक दर्शन को छोडकर प्राय सभी दर्शन अनुमान को ज्ञानप्राप्ति का एक साधन मानते हैं। अनुमान के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका नाम अनुमिति है।

प्रत्यक्ष (इंद्रिय संनिकर्ष) द्वारा जिस वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान नहीं हो रहा है उसका ज्ञान किसी ऐसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर, जो उस अप्रत्यक्ष वस्तु के अस्तित्व का संकेत इस कारण से करती है कि हमारे पूर्वकालीन प्रत्यक्ष अनुभव में अनेक बार वे दोनों साथ साथ ही दिखाई पड़ी हैं, अनुमिति कहलाता है और इस ज्ञान पर पहुँचने की प्रक्रिया का नाम अनुमान है। इस प्रक्रिया का सरलतम उदाहरण इस प्रकार है—किसी पर्वत के उस पार धुआँ उठता हुआ देखकर वहाँ पर आग के अस्तित्व का ज्ञान अनुमिति है और यह ज्ञान जिस प्रक्रिया से उत्पन्न होता है उसका नाम अनुमान है। यहाँ आग प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, केवल धुएँ का प्रत्यक्ष

नैतिकता और जीवन के उदार भावो से भरी हुई है। उनकी कल्पना शक्ति बहुत प्रबल थी। भाषा के प्रयोग मे वह निपुण थे। उनका विषय नैतिक महत्व रखता था इसलिये उनकी कविता मे वे सब विशेषताएँ पाई जाती है जो एक महान् कलाकार के लिये आवश्यक कही जा सकती है। मरसिया उनके हाथ मे मात्र शोकपूर्ण धार्मिक रचना से आगे बढकर महाकाव्य का रूप धारण कर गया जिसके समान अरबी फारसी और दूसरी भाषाओ मे भी कोई शोकमयी रचना नही पाई जाती।

मीर अनीस उस समय तक लखनऊ के बाहर कही नही गए जब तक कि १८५७ ई० में वहाँ पूर्णतया तबाही नही आ गई। अपनी मृत्यु से कुछ वर्ष पहले वे इलाहाबाद, पटना, बनारस और हैदराबाद गए जहाँ उनका बडा समान हुआ। इस महाकवि का १८७४ में लखनऊ मे देहात हुआ। उनके मरसिए पाँच सग्रहो मे प्रकाशित हुए है जिनमे उनकी सारी रचनाएँ समिलित नही है। इनके अतिरिक्त "अनीस के कलाम" और "अनीस की रुबाइयाँ" भी प्रकाशित हो चुकी है।

स०ग्र०—रूहे अनीस, स० मसूद हसन रिजवी, यादगारे अनीस, अमीर अहमद अलवी, वाकिआते अनीस, अहसान लखनवी, हालाते अनीस, अशहरी, अनीस की मरसिया निगारी, असर लखनवी। [ए० हु०]

अनुकंपी तंत्रिका तंत्र मनुष्य के विविध अगो और मस्तिष्क के बीच सबध स्थापित करने के लिये तागे से भी पतले अनेक स्नायुतंतु (नर्व फाइबर) होते है। स्नायुतंतुओ की लच्छियाँ अलग अलग बँधी रहती है। इनमें से प्रत्यक को तन्त्रिका (नर्व) कहते है। प्रत्येक तन्त्रिका मे कई एक ततु रहते है। तन्त्रिकाओ के समुदाय को तन्त्रिकातत्र (नर्वस सिस्टम) कहते है। ये तत्र तीन प्रकार के होते हे (१) स्वायत्तनियत्री (ऑटोनोमिक), (२) सवेदी (सेसरी) और (३) चालक (मोटर) तत्र। उन तन्त्रिकाओ को स्वायत्त-नियत्री (ऑटोनोमिक) तन्त्रिकाएँ कहते है जो मस्तिष्क में पहुँचकर एक दूसरे से सबद्ध होती है और हृदय, फेफडे, आमाशय, अँतडी, गुर्दे आदि की क्रिया को नियत्रित करती है। बाह्य जगत् से मस्तिष्क तक सूचना पहुँचानेवाली तन्त्रिकाएँ सवेदी तन्त्रिकाएँ (सेसरी नर्व्ज) तथा मस्तिष्क से अगो तक चलने की आज्ञा पहुँचानेवाली तन्त्रिकाएँ चालक तन्त्रिकाएँ (मोटर नर्व्ज) कहलाती है। इनमे से स्वायत्तनियत्री तन्त्रिकाओ को दो समूहो मे विभाजित किया गया है (१) अनुकपी तन्त्रिकातत्र (सिपैथेटिक नर्वस सिस्टम) और परानुकपी तन्त्रिकातत्र (परासिपैथेटिक नर्वस सिस्टम)। भय, क्रोध, उत्तेजना, आदि का शरीर पर प्रभाव मस्तिष्क द्वारा अनुकपी तन्त्रिकातत्र के नियत्रण से पडता है। यह नियत्रण अधिकतर शरीर के भीतर ऐड्रिनैलिन नामक रासायनिक पदार्थ के उत्पन्न होने से होता है। परानुकपी तन्त्रिकातत्र का कार्य साधारणत अनुकपी का उल्टा होता है, जैसा आगे चलकर दिखाया गया है।

सरचना—कशेरुक दड के सामने दोनो ओर गुच्छिकाओ (गैंग्लियन) की एक शृखला प्रथम वक्षीय कशेरुका से लेकर अतिम कटिकशेरुका तक स्थित है। ये कशेरुका गडिका (वर्टीब्रल गैंग्लियन) कहलाती है। सुषुम्ना के पार्श्व प्रात से, सौषुम्निक तन्त्रिका की पश्चिम गुच्छिका द्वारा, एक सूक्ष्म ततु निकलकर गुच्छिकाओ मे जाता हे, जहाँ से दूसरा ततु प्रारभ होता है, जो अगो या आशयो के समीप अधिकशेरुकी गुच्छिकाओ (प्रीवर्टीब्रल गैंग्लियन) मे समाप्त होता है। इन सूत्रो को गुच्छिकोत्तरी (पोस्ट गैंग्लियनिक) ततु कहा जाता है। पहला ततु (प्रीगैंग्लियनिक) सुषुम्ना के भीतर स्थित कोशिका का लागूल (ऐक्सन) है, जो अधिकशेरुकी गच्छिका की कोशिका के चारो ओर समाप्त हो जाता है। इस कोशिका का लागूल गुच्छिकोत्तरी ततु के रूप मे अधिकशेरुकी गुच्छिका मे जाकर समाप्त होता हे, अथवा सीधा अगो या आशयो की भित्तियो मे चला जाता है। प्रथम ततु पर मेदस पिधान (मायलीन शीथ) चढा रहता है, दूसरे ततु पर नही होता। इस प्रकार उत्तेजना के जाने के लिये सुषुम्ना से अग तक एक मार्ग बन जाता हे, जिसमे कम से कम दो ततु होते है जिनका सगम (सिनैप्स) गुच्छिकाओ मे होता है।

सौषुम्नीय और अनुकपी तन्त्रिकाओ मे यही विशेष भेद है कि प्रथम प्रकार की तन्त्रिकाओ मे एक ही न्यूरोन होता है जो उत्तेजना को सुषुम्ना से अतिम स्थान तक पहुँचाता है। दूसरे प्रकार की नाडियो मे कम से कम दो न्यूरोन द्वारा उत्तेजना का सवहन होता है। दूसरा भेद यह है कि सौषुम्नीय तन्त्रिकाएँ विशेषतया ऐच्छिक पेशियो में जाती है। अनुकपी ततु अनैच्छिक पेशियो और उद्रेचक ग्रथियो मे जाते है। तीसरा भेद सवहन सबधी है। सौषुम्नीय नाडियो मे उत्तेजना का सवहन केंद्रो की ओर अधिक होता है, अर्थात् उनमे सवेदक ततु अधिक होते है। अनुकपी ततुओ में सवहन केवल अगो की ओर होता है।

अनुकपी तत्र के अतिरिक्त भी कुछ अन्य तन्त्रिकाओ में ऐसी ही रचना होती है, अर्थात् दो न्यूरोन पाए जाते है, जो अनुकपी की ही भाँति उत्तेजना का सवहन और वितरण करते है। उनको परानुकपी (पैरासिपैथेटिक) ततु कहते है। इन दोनो को आत्मग (ऑटोनोमिक) तत्र भी कहा जाता है। अनुकपी तत्र के दो भाग है, एक कपाल (क्रेनियल) भाग और दूसरा त्रिक् (सैक्रल) भाग। कपाल भाग के पुन दो विभाग है। एक विभाग मध्यमस्तिष्क (मिडब्रेन) से निकलता है और दूसरा पश्च-मस्तिष्क (हाइडब्रेन) मे जिसका पूर्वगुच्छिका ततु वागस, जिह्वाग्रस-निका और मौखिकी तन्त्रिकाओ मे शाखाएँ भेजता है। पश्चगुच्छिका ततु की शाखाएँ पाचनप्रणाली और श्वासनलिका से लेकर बृहदात्र तक के सारे पेशीस्तर, श्वासनाल, फुफ्फुस, और हृदय की पेशियो तथा मुख और गले की श्लैष्मिक कला की रक्तवाहिनियो में जाती है। त्रिक् भाग के ततु श्रोणि की तीन बडी तन्त्रिकाओ द्वारा, श्रोणिगुहा के भीतर स्थित अगा, बृहदात्र, मलाशय, मूत्राशय, जनन अगो आदि, में वितरित हो जाते है।

कार्यप्रणाली—इसको आत्मग तत्र इसलिये कहा जाता है कि इसकी क्रिया द्वारा भीतरी अगो का सारा काम होता रहता है। यह स्वत हमारे नियत्रण से विमुक्त रहकर अगो का सचालन करता रहता है। यद्यपि इसके ततु मस्तिष्क और सुषुम्ना के केंद्रो से निकलते है, तथापि इनसे सौषुम्निक नाडियो का कोई सबध नही होता। फिर भी उनमें उत्तेजनाएँ मस्तिष्क और सुषुम्ना से ही आती है।

जैसा ऊपर बताया गया है, अनुकपी और परानुकपी विभागो की क्रियाएँ एक दूसरे से विरुद्ध है। एक क्रिया को घटाता और दूसरा क्रिया को बढाता है। पाचकनली के पेशीसमूह के सकोच (आत्रगति) अनुकपी से कम होते है और परानुकपी से बढते है। रक्तवाहनियाँ अनुकपी की क्रिया से सकुचित होती है और परानुकपी से विस्तृत होती है। परानुकपी के ततु वागस द्वारा पहुँचकर हृदय को रोकते है, अनुकपी से हृदय की गति बढती है। इससे नेत्र का तारा प्रभवित होता है, परानुकपी से सकुचित होता हे। वायुनाल और प्रणालिकाओ की पेशियो मे परानुकपी के सूत्र मस्तिष्क से आते है।

सब अगो मे आत्मगतत्र के इन दोनो विभागो के सूत्र फैले हुए है।

[मु० स्व० व०]

अनुक्रमणी वेदो की रक्षा के लिये कालातर मे आचार्यो ने ऐसे ग्रथो का निर्माण किया जिनमे वेदो के प्रत्येक मत्र के ऋषि, देवता, छद, आख्यान आदि का विशेष विवरण प्रस्तुत किया गया है। ये ग्रथ 'अनुक्रमणी' (सूची) के नाम से प्रख्यात है और प्रत्येक वेद से सबद्ध है। अनुक्रमणी के रचयिताओ मे शौनक तथा कात्यायन विशेष विख्यात आचार्य है। षड्गुरुशिष्य के अनुसार शौनक ने ऋग्वेद की रक्षा के लिये दस ग्रथो का निर्माण किया था जिनमे 'बृहद्देवता' तथा 'ऋक्प्रातिशाख्य' प्रख्यात तथा प्रकाशित है। बृहद्देवता मे ऋग्वेदीय प्रत्येक मत्र के वर्ण्य देवता का विस्तृत विवेचन है, साथ ही मत्रो से सबद्ध रोचक आख्यानो का भी। कात्यायन की 'सर्वानुक्रमणी' ऋग्वेद की प्रख्यात अनुक्रमणी हे जिस-पर 'षड्गुरुशिष्य' का भाष्य बहुत ही उपयोगी व्याख्यान है। माधव भट्ट ने भी 'ऋग्वेदानुक्रमणी' का प्रणयन किया था जिसके दो खड उपलब्ध और मद्रास से प्रकाशित है। यजुर्वेद की अनुक्रमणी 'शुक्लयजु सर्वानुक्रम-सूत्र' मे दी गई है जिसकी रचना का श्रेय कात्यायन (वार्तिककार कात्यायन से भिन्न व्यक्ति) को दिया जाता हे। इसके ऊपर महायाज्ञिक प्रजापति के पुत्र महायाज्ञिक श्रीदेव का उपयोगी भाष्य भी प्रकाशित है। सामवेद से सबद्ध अनुक्रमणी ग्रथो की सख्या पर्याप्त रूप से बडी हे जिनमे उपग्रथ सूत्र, निदान सूत्र, पचविधान सूत्र, लघु ऋक्तत्रसग्रह, तथा सामसप्तलक्षण भिन्न भिन्न स्थानो से प्रकाशित है, परतु कल्पानुपद सूत्र, अनुपद सूत्र तथा

आकृति का दूसरी आकृति मे इस प्रकार निरूपण होता है कि दोनों आकृतियों के छोटे छोटे भाग अनुरूप (सिमिलर) बने रहते है।

मान लीजिए कि एक तल में क ख ग एक त्रिभुज है और दूसरे तल में कि, खि, गि संगत त्रिभुज है। यह आवश्यक नहीं है कि त्रिभुजो की
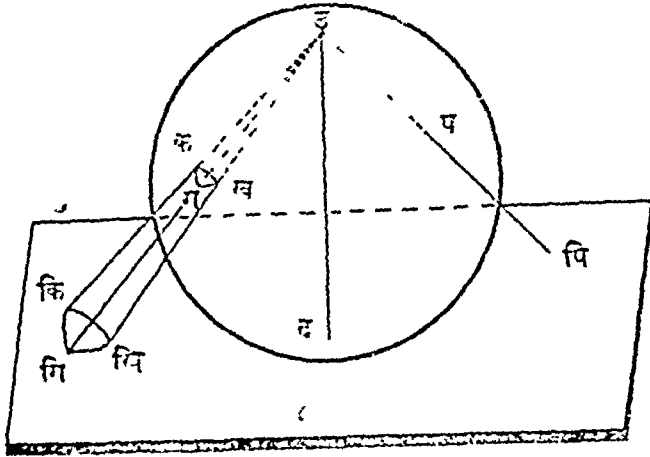
भुजाएँ ऋजु रेखाएँ ही हों। परंतु स्मरण रखना चाहिए कि यदि भुजाएँ वक्र रेखाएँ हों तो भी, जब त्रिभुजो के आकार बहुत छोटे हो जायँगे, हम उन्हे ऋजु रेखाओं के सदृश ही मान सकते है।

जब बिंदु ख, ग बिंदु क की ओर प्रवृत्त होंगे, तब संगत बिंदु खि, गि बिंदु कि की ओर प्रवृत्त होंगे। यदि निरूपण अनुरूपी हो तो अंत मे त्रिभुज क ख ग और कि खि गि के संगत कोण समान हो जायँगे और संगत भुजाएँ अनुपाती हो जायँगी। अत जो दो वक्र क पर मिलते है, उनका मध्यस्थ कोण उन दो वक्रों के मध्यस्थ कोण के बराबर होगा जो कि पर मिलते है।

अनुरूपी निरूपण का सबसे प्रसिद्ध प्रयोग मर्केटर प्रक्षेप कहलाता है जिसके द्वारा भूमंडल की आकृतियों का चित्रण समतल पर किया जाता है (देखिए 'मर्केटर प्रक्षेप')।

लैंबर्ट ने सन् १७७२ में उक्त प्रश्न का अधिक व्यापक रूप से अध्ययन किया। पीछे लेग्रांज ने बताया कि इस विषय का समिश्र चर के फलनों (फंक्शंस ऑव ए कम्प्लेक्स वेरिएबुल) से क्या संबंध है। सन् १८२२ मे कोपेनहैगन की विज्ञान परिषद् ने एक पुरस्कार के लिये यह विषय प्रस्तावित किया कि "एक तल के विभिन्न भाग दूसरे तल पर इस प्रकार कैसे चित्रित किए जायँ कि प्रतिबिंब के छोटे से छोटे भाग मौलिक तल के संगत भागों के अनुरूप हों?" गाउस ने सन् १८२५ में इस समस्या का हल निकाला और वहीं से इस विषय के व्यापक सिद्धांत का आरंभ हुआ। पिछले ५० वर्षों मे इस क्षेत्र के अन्य कार्यकर्ताओं मे रीमान, श्वार्ज़ और क्लाइन उल्लेखनीय है।

मान लीजिए कि ल=श(य, र)+अप(य, र) समिश्र राशि ल=य+अ र का एक वैश्लेपिक फलन है, जिसमें $अ=\sqrt{(-1)}$। यह सरलता से सिद्ध किया जा सकता है कि फलन की वैश्लेपिकता के लिये आवश्यक और पर्याप्त शर्ते ये है —

$$\frac{तश}{तय}=\frac{तप}{तर},\quad \frac{तश}{तर}=-\frac{तप}{तय}।$$

इन समीकरणों को कोशी-रीमान समीकरण कहते हैं। जब ये समीकरण संतुष्ट हो जाते हैं तब, यदि हम य, र समतल की किसी आकृति का निरूपण श, प समतल पर करे, तो निरूपण अनुरूपी होगा और कोणों मे कोई परिवर्तन नहीं होगा। इसके लिये यह आवश्यक है कि दोनों फलन श तथा प संतत हों और उनके चारों आंशिक अवकल गुणांक

$$\frac{तश}{तय},\quad \frac{तश}{तर},\quad \frac{तप}{तय},\quad \frac{तप}{तर}$$

भी संतत हों। आकृतियों की अनुरूपता केवल उन बिंदुओं पर टूटेगी जहाँ उपर्लिखित चारों अवकल गुणांक शून्य हो जायँगे।

उदाहरण के लिये हम कोई भी वैश्लेपिक फलन स=फ(ल) ले सकते हैं, जैसे $ल^2$, कोज्या ल अथवा ज्या ल। यदि हम स=$ल^2$=$(य+अ र)^2$ लें तो श=$य^2-र^2$ और प=२ य र।

फिर $$श=य^2-\frac{प^2}{४य^2},\quad श=\frac{प^2}{४र^2}-र^2।$$

यदि हम य, र समतल मे ऋजु रेखाओं की दो संहतियाँ य=क, र=ख लें, जो परस्पर लंब हों, तो श, प समतल मे उनकी संगत आकृतियाँ परवलय होंगी $प^2=४क^2(क^2-श)$ और $प^2=४ख^2(ख^2+श)$ जो सम-नाभि और समकोणीय है। स्पष्ट है कि य, र समतल के समकोण श, प समतल में भी समकोणों से ही निरूपित होते है।

इसी प्रकार यदि हम श, प समतल मे दो रेखापुंज ले श=ग, प=घ, जो समकोणीय है, तो य, र समतल पर आयताकार अतिपरवलय $य^2-र^2$= ग और २ य र=घ उनकी संगत आकृतियाँ होंगी। स्पष्ट है कि इन निरूपण मे भी आकृतियों के कोण-गुण अक्षुण्ण बने रहते है।

सं०ग्रं०—एफ० आर० फोरसाइथ थ्योरी ऑव फंक्शंस, डब्लू० एफ० ऑसगुड कनफार्मल रिप्रिजेंटेशन ऑव वन सर्फेस अपॉन अनदर।

[वृ० मो०]

अनुर्वरता

अनुर्वरता संतानोत्पत्ति की असमर्थता को अनुर्वरता कहा जाता है। दूसरे शब्दों मे, उस अवस्था को अनुर्वरता कहते है जिसमे पुरुष के शुक्राणु और स्त्री के डिंब का संयोग नहीं हो पाता, जिससे उत्पत्ति-क्रम प्रारंभ नहीं होता। यह दशा स्त्री और पुरुष दोनों के या किसी एक के दोष से उत्पन्न हो सकती है। संतानोत्पत्ति के लिये आवश्यक है कि स्वस्थ शुक्राणु अंडग्रंथि मे उत्पन्न होकर मूत्रमार्ग मे होते हुए मैथुन क्रिया द्वारा योनि में गर्भाशय के मुख के पास पहुँच जाय और वहाँ से स्वस्थ गर्भाशय की ग्रीवा में होता हुआ डिंबवाहनी मे पहुँचकर स्वस्थ डिंब का, जो डिंबग्रंथि से निकलकर वाहनी के झालरदार मुख मे आ गया है, संसेचन करे। इसी के पश्चात् उत्पत्तिक्रम प्रारंभ होता है। यदि स्वस्थ शुक्राणु और डिंब की उत्पत्ति नहीं होती, या उनके निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने मे कोई बाधा उपस्थित होती है, तो डिंब और शुक्राणु का संयोग नहीं हो पाएगा और उसका परिणाम अनुर्वरता होगा। मानसिक दशा भी कभी कभी इसका कारण हो जाती है। यह अनुमान किया गया है कि प्राय दस प्रति शत विवाह अनुर्वर होते है।

कारण—पुरुष मे अनुर्वरता के दो प्रकार के कारण हो सकते है :

(१) अंडग्रंथि मे बनकर शुक्राणु के निकलने पर योनि तक पहुँचने के मार्ग मे कोई रुकावट।

(२) अंडग्रंथियों की शुक्राणुओं को उत्पन्न करने मे असमर्थता।

रुकावट का मुख्य स्थान मूत्रमार्ग है जहाँ गोनोमेह (सूज़ाक, गनोरिया) रोग के कारण ऐसा संकोच (स्टेनोसिस) उत्पन्न हो जाता है कि वीर्य उसके द्वारा प्रवाहनलिका की यात्रा पूरी नहीं कर पाता। स्खलन-नलिका, शुक्र-वाहनी-नलिका, अथवा उपांड या शुक्राशय की नलिकाओं में भी ऐसा ही संकोच उत्पन्न हो सकता है। जिन व्यक्तियों मे इस रोग से दोनों ओर के उपांड आक्रांत हुए रहते हैं उनमे से ३० प्रति शत व्यक्ति अनुर्वर पाए जाते हैं। अन्य संक्रमणों से भी यही परिणाम हो सकता है, किंतु ऐसा अधिकतर गोनोमेह से ही होता है। अंडग्रंथियों में शुक्राणुउत्पत्ति पर एक्स-रे का बहुत हानिकारक प्रभाव पड़ता है, यद्यपि ग्रंथियों मे अन्य स्राव पूर्ववत् ही बने रहते हैं। इसी प्रकार अन्य संक्रामक रोगों में भी, जैसे न्यूमोनिया, टाइफाइड आदि मे, शुक्राणु उत्पत्ति रुक जाती है। अंडग्रंथि मे शोथ या पूयोत्पादन होने से (जिसका कारण प्राय गोनोमेह होता है) शुक्राणु-उत्पत्ति सदा के लिये नष्ट हो जा सकती है। अन्य अंत स्रावी ग्रंथियों से भी, विशेषकर पिट्युटरी के अग्रभाग से, इस क्रिया का बहुत संबंध है। आहार पर भी कुछ सीमा तक शुक्राणुउत्पत्ति निर्भर रहती है। विटामिन ई इसके लिये आवश्यक माना जाता है।

पुरुषों की भाँति स्त्रियों मे भी एक्स-रे और संक्रमण से डिंबग्रंथि की डिंबोत्पादन क्रिया कम या नष्ट हो सकती है। गोनोमेह के परिणाम

धातु के छड अथवा घडे की हवा आदि के कपन से निकले स्वर। कपन के ३०,००० प्रति सेकड से अधिक होने पर स्वर नही सुनाई पडता।

किसी दोलक (पेंडुलम) की कपनसख्या उसकी लबाई पर निर्भर रहती है। यदि एक ही लबाई के दो दोलक क और ख किसी तनी हुई रस्सी से लटकाए गए हो तो क को दोलित करने से थोडी देर बाद ख भी रस्सी द्वारा शक्ति पाकर दोलित हो जाता है। दोनो मे शक्ति का आदान प्रदान होता है। यह तभी सभव है जब दोनो की कपन सख्याएँ बराबर हो।

यदि दो स्वरित्र (ट्यूनिंग फोर्क) लकडी के तख्ते पर जडे हुए हो और प्रत्येक की कपन सख्या २५६ हो, तो उनमे से एक को ठुनका देने पर दूसरा स्वत कपित हो जाता है। इसी प्रकार किन्ही दो तारो मे अनुनाद होता है। यदि क कपन-सख्या प्रति सेकड है, तार की लबाई ल सेटीमीटर है, त ग्राम-भार मे तार का तनाव है और भ तार का भार प्रति सेटीमीटर है तो यदि दोनो तार ताने गए हो तो अनुनाद के लिये
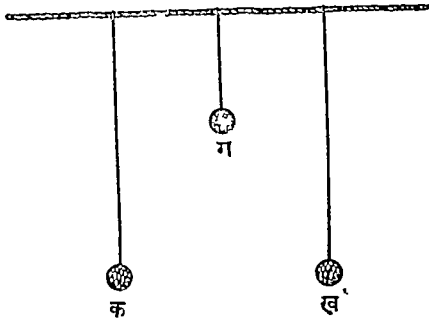
चित्र २ क और ख मे अनुनाद होता है, ग मे नही।

$$\sqrt{(त')}/२ल'\sqrt{भ'} \text{ और } \sqrt{(त'')}/२ल''\sqrt{भ''}$$

को बराबर होना चाहिए, जहाँ एक प्रास (डैश) लगे अक्षर एक तार से सबध रखते हैं, और दो प्रास लगे अक्षर दूसरे तार से।

वैद्युतिक अनुनाद—दो कपनशील विद्युत्-परिपथो मे भी अनुनाद होता है। विद्युत्-परिपथ का कपन उसकी विद्युद्धारिता (कपैसिटी) **धा** और उपपादन उ पर निर्भर रहता है और दोलन सख्या क=१/२π उ **धा** होती है। यदि दो परिपथो की कपन सख्याएँ बराबर हो, अर्थात् क'=क'', तो दोनो मे अनुनाद होता है।

वैद्युतिक अनुनाद की ओर सर्वप्रथम सर ऑलिवर लॉज का ध्यान आकृष्ट हुआ। उन्होने एक ही विद्युद्धारिता के दो लाइडन जारो को समान विद्युत् विभव का बनाया। एक परिपथ के लाइडन जार को प्रेरण कुडली (इडक्शन कॉएल) अथवा विम्जहर्ट मशीन से आविष्ट किया। देखा कि ज्योही इस कुडली की झिरी मे विद्युत् स्फुलिंग विसर्जित होता है त्योही दूसरी कुडली की झिरी मे भी स्फुलिंग उत्पन्न होता है। इस भाँति वैद्युतिक अनुनाद का प्रदर्शन कर सर ऑलिवर लॉज ने विद्युत् शक्ति प्रेषण का सिद्धात स्थापित किया। दोनो कपनशील परिपथो मे पहले को प्रेषी (ट्रैंसमिटर) और दूसरे को सग्राही (रिसीवर) कहते हैं। स्पष्ट है कि वैद्युतिक अनुनाद के लिये २π(उ'धा') = २π(उ''धा''), अर्थात् उ''धा = उ''धा''।

एक परिपथ के कपन को निश्चित कर दूसरी मे उ'' अथवा धा'' को अदल बदलकर इसकी कपनसख्या को पहली की कपनसख्या से मिलाया जाता है। इस क्रिया को समस्वरण (ट्यूनिग) कहते हैं। दोनो के मेल खाने पर अनुनाद उत्पन्न होता है।

रेडियो तरगो का प्रेषण और ग्रहण इसी सिद्धात पर सभव हुआ। हाइनरिक रुडोल्फ हर्ट्ज, गुग्लिमो मारकोनी, ब्रैनली, जगदीशचद्र बोस आदि वैज्ञानिको ने इसी सिद्धात पर परिपथ की शक्ति बढाकर तथा अन्य उपयोगी साधनो का प्रयोग कर विभिन्न दोलनसख्याओ के प्रेषक और ग्राहक यत्र बनाए थे।

टामस आर्थर एडिसन और ओ० डब्लू० रिचार्डसन ने तापायनिक वाल्व का आविष्कार किया। उसी सिद्धात पर द्विध्रुवी, त्रिध्रुवी, फिर चतुर्ध्रुवी और पचध्रुवी वाल्वो का निर्माण हुआ। इनके द्वारा निश्चित कपनसख्या और प्रबल शक्ति के वैद्युत् परिपथ बनाए गए और विशाल प्रेषको से रेडियो की तरगो द्वारा समाचार, गाने और खबरे प्रेषित होने लगी। इन सबकी क्रियाविधि वैद्युत् अनुनाद पर आधारित है।

द्रव्य और ऊर्जा सबधी अनुनाद—आधुनिक वैज्ञानिक साधनो से हमे पदार्थरचना और तत्सबधी विकीर्ण शक्तियो की जानकारी सुलभ है। अणु तथा परमाणु के विशिष्ट वर्णक्रम होते हैं। नील्स बोर के अनुसार अणु एव परमाणु मे शक्ति की कई स्थितियाँ होती हैं। बाहरी शक्ति की प्रेरणा से उत्तेजित होकर अणु तथा परमाणु साधारण स्थिति से अन्य उत्तेजित स्थितियो मे जाते हैं और वहाँ से लौटती बार विभिन्न तरगदैर्घ्यो की रश्मियाँ विकीर्ण करते है। प्रथम उत्तेजित स्थिति से साधारण स्थिति मे लौटती बार उनकी मुख्य रश्मियाँ निकलती है। यदि कोई परमाणु साधारण स्थिति मे हो और उसकी मुख्य रेखा की ऊर्जा उसपर लगाई जाय, तो परमाणु और ऊर्जा मे अनुनाद होता है और परमाणु की अनुनादी रश्मि उत्सर्जित होती है। यदि आपतित रश्मिसमूह मे सभी रश्मियाँ हो तो परमाणु अपनी अनुनादी रश्मियो को ग्रहण कर लेता है और अविच्छिन्न वर्णक्रम मे काली रेखा उसी स्थान पर पाई जाती है। इस अनुनादी सिद्धात की खोज किर्शाफ ने की थी और उसी के आधार पर सौर स्पेक्ट्रम की काली रेखाओ की व्याख्या दी थी। इन रेखाओ का पता फ्राउनहोफर ने लगाया था, अत इन रेखाओ को फ्राउनहोफर रेखाएँ भी कहते है। अनुनादी रश्मियो पर आर० डब्ल्यू० वुड ने बडी खोज की है।
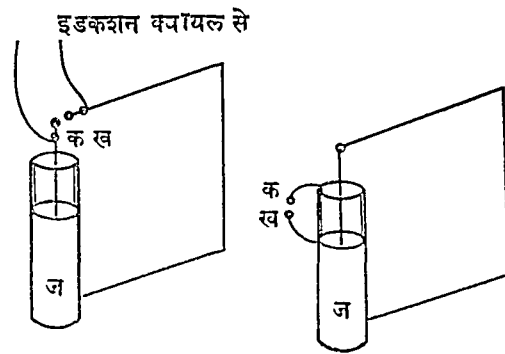
चित्र ३ सर आलिवर लॉज का प्रयोग
जब बाई ओर के यत्र की झिरी क ख मे स्फुलिग विसर्जित की जाती है तब दाहिनी ओर के यत्र में भी झिरी क ख मे स्फुलिग अपने आप विसर्जित होती है।

परमाणु विस्फोट मे न्यूट्रान की ऊर्जा का अनुनाद यूरेनियम २३५ के नाभिक (न्यूक्लिअस) से होता है। इसी कारण विघटन श्रृखला स्थापित होती है और द्रव्य का परिवर्तन ऊर्जा मे होता है और अपार ऊर्जा निकलती है। [नि० ला० सिं०]

अनुनाद और आयनीकरण विभव

इस शताब्दी के अनुसधानो के फलस्वरूप हमारे १९वी शताब्दी के परमाणु सबधी विचारो मे भारी परिवर्तन हुआ—परमाणु अभाज्य न होकर अनेक अवयवो का समुदाय हो गया। हमारे आज के ज्ञान के अनुसार (देखे **परमाणु**) परमाणु के दो मुख्य भाग है—एक है नाभिक (न्यूक्लिअस) और दूसरा है ऋणाणु (इलेक्ट्रॉन) मेघ। सरलतम प्रतिमा के अनुसार धनावेशयुक्त नाभिक के परित ऋणाणु उसी प्रकार प्रदक्षिणा करते है जैसे ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं। नाभिक पर उतनी ही इकाइयाँ धन आवेश की होती है जितना ऋण आवेश परिक्रमा करनेवाले ऋणाणुओ पर होता है। हाँ, ऋणाणु चाहे जिस कक्षा मे नही रह सकते। उनकी कक्षाएँ निर्धारित होती है, जिन्हे स्थायी कक्षाएँ (स्टेशनरी ऑर्बिट्स) कहते हैं। प्रत्येक कक्षा मे अधिक से अधिक कितने ऋणाणु रहेंगे, यह सख्या भी निश्चित है। यह सरलता से देखा जा सकता है कि जैसे जैसे इलेक्ट्रॉन भीतरी कक्षा से बाहरी कक्षाओ मे जाता है परमाणु की ऊर्जा मे वृद्धि होती है। जब सब ऋणाणु अपनी निम्नतम कक्षाओ मे रहते है तब परमाणु की ऊर्जा न्यूनतम होती है और कहा जाता है कि परमाणु अपनी सामान्य अवस्था मे है। परतु जब परमाणु को कही से इतनी ऊर्जा मिले कि उसके शोषण से सबसे बाहरी ऋणाणु अगली कक्षा मे पहुँच जायँ तो कहते है कि परमाणु उत्तेजित हो गया है, और यह ऊर्जा अनुनाद-ऊर्जा कहलाती है। स्पष्ट है कि यदि ऊर्जा कुछ कम हो तो ऋणाणु अगली कक्षा मे न जा सकेगा। जिस प्रकार ध्वनि के दो उत्पादको के आवर्तन भिन्न होने पर शक्ति का आदान-

अनुहरण
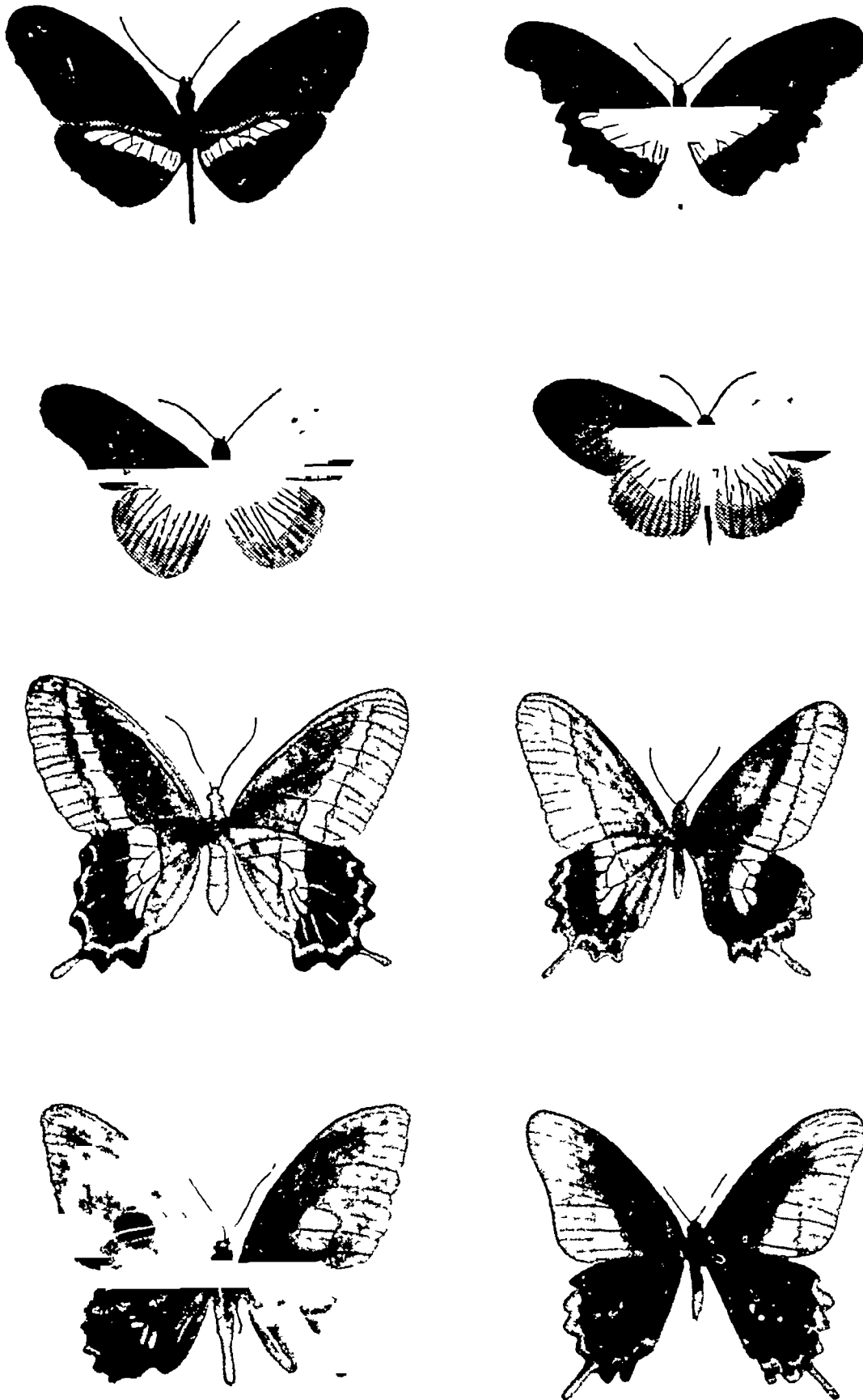
प्रत्येक पक्ति मे बाई ओर प्रारूप और दाहिनी ओर अनुहारी रूप है (देखें पृष्ठ १२६)। क्रमानुसार इनके नाम ये हैं हेलिकोनियस टेलिसिफे और कोलीनिस टेलिसिफे, प्लैनेमा मैकारिस्टा (नर) और स्यूडाक्रेइया होलिलाइ (नर), पैपीलियो नेफालियन और पैपीलियो लिसिथस लिसिथस, पैपीलियो चैमिस्सोनिया और पपीलियो लिसिथस रूरिक।

ज्ञान होता है। पर पूर्वकाल में अनेक बार कई स्थानों पर आग और धुएँ का साथ साथ प्रत्यक्ष ज्ञान होने से मन में यह धारणा बन गई है कि जहाँ जहाँ धुआँ होता है वहीं वहीं आग भी होती है। अब जब हम केवल धुएँ का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और हमको यह स्मरण होता है कि जहाँ जहाँ धुआँ है वहाँ वहाँ आग होती है, तो हम सोचते हैं कि अब हमको जहाँ धुआँ दिखाई दे रहा है वहाँ आग अवश्य होगी, अतएव पर्वत के उस पार जहाँ हमें उस समय धुएँ का प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है अवश्य ही आग वर्तमान होगी।

इस प्रकार की प्रक्रिया के मुख्य अंगों के पारिभाषिक शब्द ये हैं जिस वस्तु का हमको प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है और जिस ज्ञान के आधार पर हम अप्रत्यक्ष वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त करते हैं उसे लिंग कहते हैं। जिस वस्तु के अस्तित्व का नया ज्ञान होता है उसे साध्य कहते हैं। पूर्व-प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर उन दोनों के सहअस्तित्व अथवा साहचर्य के ज्ञान को, जो अब स्मृति के रूप में हमारे मन में है, व्याप्ति कहते हैं। जिस स्थान या विषय में लिंग का प्रत्यक्ष हो रहा हो उसे पक्ष कहते हैं। ऐसे स्थान या विषय जिनमें लिंग और साध्य पूर्वकालीन प्रत्यक्ष अनुभव में साथ साथ देखे गए हों सपक्ष उदाहरण कहलाते हैं। और, ऐसे उदाहरण जहाँ पूर्वकालीन अनुभव में साध्य के अभाव के साथ लिंग का भी अभाव देखा गया हो, विपक्ष उदाहरण कहलाते हैं। पक्ष में लिंग की उपस्थिति का नाम है पक्षधर्मता और उसका प्रत्यक्ष होना पक्षधर्मता ज्ञान कहलाता है। पक्ष-धर्मता ज्ञान जब व्याप्ति के स्मरण के साथ होता है तब उस परिस्थिति को परामर्श कहते हैं। इसी को लिंगपरामर्श भी कहते हैं क्योंकि पक्षधर्मता का अर्थ है लिंग का पक्ष में उपस्थित होना। इसके कारण और इसी के आधार पर पक्ष में साध्य के अस्तित्व का जो ज्ञान होता है उसी का नाम अनुमिति है। साध्य को लिंगी भी कहते हैं क्योंकि उसका अस्तित्व लिंग के अस्तित्व के आधार पर अनुमित किया जाता है। लिंग को हेतु भी कहते हैं क्योंकि इसके कारण ही हमको लिंगी (साध्य) के अस्तित्व का अनुमान होता है। इसलिये तर्कशास्त्रों में अनुमान की यह परिभाषा की गई है—लिंगपरामर्श का नाम अनुमान है और व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मता का ज्ञान परामर्श है।

अनुमान दो प्रकार का होता है—स्वार्थ अनुमान और परार्थ अनुमान, स्वार्थ अनुमान अपनी वह मानसिक प्रक्रिया है जिसमें बार बार के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर अपने मन में व्याप्ति का निश्चय हो गया हो और फिर कभी पक्षधर्मता ज्ञान के आधार पर अपने मन में पक्ष में साध्य के अस्तित्व की अनुमिति का उदय हो गया है जैसा कि ऊपर पर्वत पर अग्नि के अनुमिति ज्ञान में दिखलाया गया है। यह समस्त प्रक्रिया अपने को समझाने के लिये अपने ही मन की है।

किंतु जब हमको किसी दूसरे व्यक्ति को पक्ष में साध्य के अस्तित्व का निश्चयक निश्चय कराना हो तो हम अपने मनोगत को पाँच अंगों में, जिनको अवयव कहते हैं, प्रकट करते हैं। वे पाँच अवयव ये हैं

प्रतिज्ञा—अर्थात् जो बात सिद्ध करनी हो उसका कथन। उदाहरण पर्वत के उस पार आग है।

हेतु—क्यों ऐसा अनुमान किया जाता है, इसका कारण अर्थात् पक्ष में लिंग की उपस्थिति का ज्ञान कराना। उदाहरण क्योंकि वहाँ पर धुआँ है।

उदाहरण—सपक्ष और विपक्ष दृष्टांतों द्वारा व्याप्ति का कथन करना, उदाहरण जहाँ जहाँ धुआँ होता है, वहाँ वहाँ आग होती है, जैसे चूल्हे में, और जहाँ जहाँ आग नहीं होती, वहाँ वहाँ धुआँ भी नहीं होता, जैसे तालाब में।

उपनय—यह बतलाना कि यहाँ पर पक्ष में ऐसा ही लिंग उपस्थित है जो साध्य के अस्तित्व का संकेत करता है। उदाहरण यहाँ भी धुआँ मौजूद है।

निगमन—यह सिद्ध हुआ कि पर्वत के उस पार आग है।

भारत में यह परार्थ अनुमान दार्शनिक और अन्य सभी प्रकार के वाद-विवादों और शास्त्रार्थों में काम आता है। यह यूनान देश में भी प्रचलित था और युक्लिद ने ज्यामिति लिखने में इसका भली भाँति प्रयोग किया था। अरस्तू को भी इसका ज्ञान था। भारत के दार्शनिकों और अरस्तू ने भी पाँच अवयवों के स्थान पर केवल तीन को ही आवश्यक समझा क्योंकि प्रथम (प्रतिज्ञा) और पंचम (निगमन) अवयव प्राय एक ही हैं। उपनय तो मानसिक क्रिया है जो व्याप्ति और पक्षधर्मता के साथ सामने होने पर मन में अपने आप उदय हो जाती है। यदि सुननेवाला बहुत मंदबुद्धि न हो, बल्कि बुद्धिमान हो, तो केवल प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवों के कथन मात्र की आवश्यकता है। इसलिये वेदांत और नव्य न्याय के ग्रंथों में केवल दो ही अवयवों का प्रयोग पाया जाता है।

भारतीय अनुमान में आगमन और निगमन दोनों ही अंश हैं। सामान्य व्याप्ति के आधार पर विशेष परिस्थिति में साध्य के अस्तित्व का ज्ञान निगमन है और विशेष परिस्थितियों के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर व्याप्ति की स्थापना आगमन है। पूर्व प्रक्रिया को पाश्चात्य देशों में 'डिडक्शन' और उत्तर प्रक्रिया को 'इंडक्शन' कहते हैं। अरस्तू आदि पाश्चात्य तर्क-शास्त्रियों ने निगमन पर बहुत विचार किया और मिल आदि आधुनिक तर्कशास्त्रियों ने आगमन का विशेष मनन किया।

भारत में व्याप्ति की स्थापनाये (आगमन) तीन या तीनों में से किसी एक प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर होती थीं। वे ये हैं (१) केवलान्वय, जब लिंग और साध्य का साहचर्य मात्र अनुभव में आता है, जब उनका सहअभाव न देखा जा सकता हो। (२) केवल व्यतिरेक—जब साध्य और लिंग दोनों का सहअभाव ही अनुभव में आता है, साहचर्य नहीं। (३) अन्वय व्यतिरेक—जब लिंग और साध्य का सहअस्तित्व और सहअभाव दोनों ही अनुभव में आते हों। आंग्ल तर्क शास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपने ग्रंथों में आगमन की पाँच प्रक्रियाओं का विशद वर्णन किया है। आजकल की वैज्ञानिक खोजों में उन सबका उपयोग होता है।

पाश्चात्य तर्कशास्त्र में अनुमान (इनफरेन्स) का अर्थ भारतीय तर्कशास्त्र में प्रयुक्त अर्थ से कुछ भिन्न और विस्तृत है। वहाँ पर किसी एक वाक्य अथवा एक से अधिक वाक्यों की सत्यता को मानकर उसके आधार पर अन्य क्या क्या वाक्य सत्य हो सकते हैं, इसको निश्चित करने की प्रक्रिया का नाम अनुमान है और विशेष परिस्थितियों के अनुभव के आधार पर सामान्य व्याप्तियों का निर्माण भी अनुमान ही है।

सं० ग्रं०—अन्नम् भट्ट तर्कसंग्रह, केशव मिश्र भाषापरिच्छेद, भी० ला० आत्रेय दि एलिमेंट्स ऑव इंडियन लॉजिक।

[भी० ला० आ०]

अनुराधा भारतीय ज्योतिर्विदों ने कुल २७ नक्षत्र माने हैं, जिनमें अनुराधा सत्रहवाँ है। इसकी गिनती ज्योतिष में देवगण तथा मध्य नाडीवर्ग में की जाती है जिसपर विवाह स्थिर करने में गणक विशेष ध्यान देते हैं। *'अनुराधा नक्षत्र में जन्म'* का पाणिनि ने *'अष्टाध्यायी'* में उल्लेख किया है।

[च० म०]

अनुराधापुर लंका का एक प्राचीन नगर है जो कोलंबो के बाद सबसे बड़ा है। यह लंका के उत्तरी मध्यप्रांत की राजधानी तथा बौद्धों का प्रसिद्ध तीर्थ है। नगर का स्थापनाकाल ईसा से ५०० वर्ष पूर्व बताया जाता है। जब अशोक के पुत्र महेंद्र ने लंका के शासकों तथा प्रजा को बौद्ध बनाया था, तब भी अनुराधापुर देश की राज-धानी था। नगर में दो बहुत पुराने रम्य तालाब तथा एक बहुत बड़ा बौद्ध स्तूप है, जो बौद्धकालीन प्रगति के प्रतीक हैं। यहाँ एक वृक्ष है जो लोकोक्ति के अनुसार भारतस्थित बोधिगया के वृक्ष की शाखा से उगाया गया था। यह प्राचीन नगर देश का व्यापारिक तथा व्यावसायिक केंद्र है। यहाँ आटा पीसने की चक्कियाँ तथा अन्य बहुत से छोटे मोटे उद्योग धंधे हैं। यहाँ की जनसंख्या ३१,९५२ है (१९५१ ई०)। [हृ० ह० सिं०]

अनुरूपी निरूपण एक तल पर बनी किसी आकृति को दूसरे तल पर इस प्रकार चित्रित करने को कि एक आकृति के प्रत्येक बिंदु के लिये दूसरी आकृति में एक ही संगत बिंदु हो, और इसके अतिरिक्त, दोनों आकृतियों के संगतकोण बराबर हों, अनुरूपी निरूपण (कन्फॉर्मल रिप्रेज़ेंटेशन) कहते हैं, क्योंकि इसमें एक

मांसाहारी जंतु अपने पर्यावरण के सदृश होने के कारण पार्श्वभूमि में लुप्त हो जाते हैं और इस कारण अपने भक्ष्य जंतुओं को दिखाई नहीं पड़ते। कई एक मकड़े ऐसे होते हैं जो फूलों पर रहते हैं और जिनके शरीर का रंग फूलों के रंग से इतना मिलता जुलता है कि वे उनके मध्य बड़ी सुगमता से लुप्त हो जाते हैं। वे कीट जो उन पुष्पों पर जाते हैं, इन मकड़ों को पहचान नहीं पाते और इनके भोज्य बन जाते हैं।

प्राकृतिक वस्तुओं, जैसे जड़ों तथा पत्तों, से जंतुओं के सादृश्य को भी कुछ प्राणिविज्ञ अनुहरण ही समझते हैं, किंतु अधिकांश जीववैज्ञानिक अनुहरण को एक पृथक् घटना समझते हैं। वे किसी जंतुजाति के कुछ सदस्यों के एक भिन्न जंतुजाति के सदृश होने को ही अनुहरण कहते हैं। कई एक ऐसे जंतु जो खाने में अरुचिकर अथवा विषैले होते हैं और छेड़ने पर हानिकारक हो सकते हैं, चटक रंग के होते हैं तथा उनके शरीर पर विशेष चिह्न रहते हैं। इसलिये उनके शत्रु उनको तुरंत पहचान लेते हैं और उन्हें नहीं छेड़ते। कुछ ऐसे जंतु, जिनके पास रक्षा का कोई विशेष साधन नहीं होता इन हानिकारक और अभ्याक्रामी जंतुओं के समान ही चटक रंग के होते हैं तथा उनके शरीर पर भी वैसे ही चिह्न होते हैं और धोखे में उनसे भी शत्रु भागते हैं। उदाहरणत, कई एक अहानिकर जाति के सर्प प्रवाल-सर्पों (कोरल स्नेक्स) की भाँति रंजित तथा चिह्नित होते हैं, इसी प्रकार कुछ अहानिकर भृंग (बीटल) देखने में बर्रें (ततैया, वास्प) के सदृश होते हैं और कुछ शलभ मधुमक्खी के सदृश होते हैं और इस प्रकार उनके शत्रु उन्हें नहीं पकड़ते।

अरुचिकर और विषैले जंतुओं के शरीर पर के चिह्न तथा रंगों की शैली और उनके चटक रंग का उद्देश्य चेतावनी देना है। उनके शत्रु कुछ अनुभव के पश्चात् उनपर आक्रमण करना छोड़ देते हैं। अन्य जातियों के सदस्य जो ऐसी हानिकर जातियों के रंग रूप की नकल करते हैं, हानिकर समझकर छोड़ दिए जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि अनुहरण और रक्षक-सादृश्य में आमूल भेद है। रक्षकसादृश्य किसी जंतु का किसी ऐसी प्राकृतिक वस्तु या फल अथवा पत्ते के सदृश होना है, जिनमें उनके शत्रुओं का किसी प्रकार का आकर्षण नहीं होता। इसका संबंध निगोपन से है। इसके विपरीत प्रबोधी अनुहरण एक जंतु का किसी ऐसी भिन्न जाति के सदृश होना है जो अपने हानिकर होने की चेतावनी अपने अभिदृश्य चिह्नों द्वारा शत्रुओं को देती है। अनुहरण करनेवाले जंतु छिपते नहीं, प्रत्युत वे चेतावनीसूचक रंग रूप धारण कर लेते हैं।

यद्यपि अनुहरण अनेक श्रेणी के जंतुओं में पाया जाता है, जैसे मत्स्य (पिसीज), सरीसृप (रेप्टिलिआ), पक्षिवर्ग (एवीज), स्तनधारी (मैमेलिआ) इत्यादि में, तो भी इसका अनुसंधान अधिकतर कीटों में ही हुआ है।

बेट्सियन अनुहरण—प्राणिविज्ञ बेट्स को अमेजन नदी के प्रदेशों में शाकतितील-वंश (पाइरिनी) की कुछ ऐसी तितलियाँ मिलीं जो इथो-मिइनी-वंश की तितलियों के सदृश थीं। वालेस को पूर्वी प्रदेशों की कुछ तितलियों के संबंध में भी ऐसा ही अनुभव हुआ। पैपिलियो पौलीटैस तितली की मादाएँ तीन प्रकार की होती हैं। कुछ तो नर तितली के ही रंग-रूप की होती हैं, कुछ पैपिलियो अरिस्टोलोकिआई के सदृश होती हैं, और कुछ पैपिलिओ हैक्टर के सदृश होती हैं। इसी प्रकार ट्राइमेन ने ज्ञात किया कि मलाया की तितली, पैपिलियो डारडैनस, की मादाएँ उस जाति के नरों से भिन्न रूप की होती हैं और उसी देश में पाई जानेवाली अनेक प्रकार की विभिन्न तितलियों से मिलती जुलती है। इन घटनाओं से यह ज्ञात होता है कि वे तितलियाँ जो अपने हिंसकों के लिये अरुचिकर भोजन नहीं हैं (जैसे शाक-तितील-वंश की तितलियाँ, पैपिलियो पौलीटैस, पैपिलियो डारडैनस, इत्यादि), उन तितलियों का रंगरूप धारण कर लेती हैं जो अपने शत्रुओं को खाने में अरुचिकर ज्ञात होती हैं (जैसे इथोमिइनी वंश की तितलियाँ, पैपिलियो अरिस्टोलाकिआई, पैपिलियो हैक्टर, इत्यादि)।

प्राणिविज्ञों का कहना है कि अरुचिकर तितलियों के पंखों का चटक रंग अभिदृश्य चिह्न तथा विशेष चित्रकारी उनके पित्रैकों (जीन्स) पर प्राकृतिक चुनाव के प्रभाव के कारण विकसित हुई है। उनके चिह्न ऐसे हैं कि उनके शत्रु उनको सहज में ही पहचान लेते हैं और अनुभव के पश्चात् इन तित-लियों को अरुचिकर जानकर इन्हें मारना बंद कर देते हैं। जीवनसंघर्ष में इन आकृतियों का सदैव ही विशेष मूल्य रहा है, क्योंकि ये इस संघर्ष में रक्षा के साधन थे। इसी कारण ये विकसित हुए। रुचिकर तितलियों के पंखों पर भी अरुचिकर तितलियों के पंखों के सदृश चिह्नों और चित्र-कारी का विकास प्राकृतिक चुनाव के प्रभाव के कारण ही हुआ, क्योंकि रंग रूप की यह अनुकृति जीवन संघर्ष में उनकी रक्षा का साधन हो सकती थी। सारांश यह कि अनुहरण के विकास का कारण प्राकृतिक चुनाव है।

तितलियों के कुछ अनुवंश ऐसे हैं जिनका अन्य वंश की तितलियाँ अनु-हरण करती हैं। ये हैं राजपतंगानुवंश (डैनेआइनी) तथा ऐक्रिआइनी पुरानी दुनिया में और इथोमिइनी तथा हेलीकोनिनी नई दुनिया में। नई दुनिया में कुछ राजपतंगानुवंश की और अनेक ऐक्रिआइनी अनुवंश की तितलियाँ भी ऐसी ही हैं। फिलिपाइन टापुओं की तितली हैस्टिया लिडकोनो श्वेत और श्याम रंग की होती है और इसके पंख कागज के समान होते हैं। फिलि-पाइन की एक दूसरी तितली पैलिलियो ईडियाइडीज इसका रूप धारण करती है। इसी प्रकार तितली ऊप्लीआज मिडैमस का अनुहरण पैपि-लियो पैराडौक्सस करती है। अफ्रीका में राजपतंगानुवंश की तितलियाँ कम होती हैं, तब भी वे तितलियाँ, जिनका अन्य तितलियाँ अनुहरण करती हैं, इसी अनुवंश की हैं। ये ऐमोरिस प्रजाति की होती हैं। ये तितलियाँ काली होती हैं और काली पृष्ठभूमि पर श्वेत और पीले चिह्न होते हैं। डैनेअस प्लैक्सीप्पस का अनुहरण बैसिलार्किया आरकिप्पस करती है। डैनेअस प्लैक्सीप्पस और उसका अनुहरण करनेवाले उत्तरी अम-रीका में मिलते हैं। डैनेआइनी अनुवंश की तितलियाँ पूर्वी प्रदेशों की रहनेवाली हैं और यहाँ से ही वे अफ्रीका और अमेरिका पहुँची हैं। इन प्रवाजी तितलियों का रूप तथा आकार पूर्वी डैनेआइनी अनुवंश की तित-लियों का सा होता है और उत्तरी अमरीका और अफ्रीका की तितलियों की कुछ जातियाँ उनका अनुहरण करती हैं।

यह देखा गया है कि नर की अपेक्षा मादा अधिक अनुहरण करती है। जब नर और मादा दोनों ही अनुहरण करते हैं तो मादा नर की अपेक्षा अनुकृत के अधिक समान होती है (अनुकृत=वह जिसका अनुहरण किया जाय)। इस संबंध में यह स्मरण रखने योग्य बात है कि मादा तितली में नर की अपेक्षा परिवर्तनशक्यता अधिक पाई जाती है। स्पष्ट है कि मादा में परिवर्तनशक्यता अधिक होने के कारण, प्राकृतिक चुनाव का कार्य अधिक सुगम हो जाता है और परिणाम अधिक संतोषजनक होता है, अर्थात् अनुकारी अधिक मात्रा में अनुकृत के समान होता है।

मुलेरियन अनुहरण—उपरिलिखित उदाहरण बेट्सियन अनुहरण के हैं। यह नाम इसलिय पड़ा है कि इसे सर्वप्रथम बेट्स ने ज्ञात किया था। परंतु इस अन्वेषण के पश्चात् इसीसे संबंधित एक और विचित्र घटना का ज्ञान प्राणिविज्ञों को हुआ। यह देखा गया कि कुछ भिन्न भिन्न, अरुचिकर तथा हानिकर जातियों की तितलियों के रंग, रूप, आकार भी एक समान हैं। यह स्पष्ट है कि जो जातियाँ स्वयं अरुचिकर और हानिकर हैं उन्हें किसी दूसरी हानिकर जाति की नकल करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह देखा गया कि इथोमिइनी और हेलिकोनिनी अनुवंश की तितलियाँ, जो दोनों ही अरुचिकर हैं, समान आकृति की होती हैं। इस घटना को मुलेरियन अनुहरण कहते हैं, क्योंकि इसकी संतोषजनक व्याख्या फ्रिट्ज मुलर ने की। मुलर ने बताया कि इस प्रकार के अनुहरण में जितनी जातियों की तितलियाँ भाग लेती हैं उन सबको जीवनसंघर्ष में लाभ होता है। यह स्पष्ट है कि तितलियों के शत्रुओं द्वारा इस बात का अनुभव प्राप्त करने में कि अमुक रूप रंग की तितलियाँ हानिकर हैं, बहुत सी तितलियों की जान जाती है। जब कई एक अरुचिकर जाति की तितलियाँ एक समान रंग या रूप धारण कर लेती हैं तो शत्रुओं की शिक्षा के लिये अनिवार्य जीव-नाश कई जातियों में बँट जाता है और किसी एक जाति के लिये जीवनहानि की मात्रा कम होती है।

वालेस के अनुसार प्रत्येक अनुहरण में पाँच बातें होनी चाहिए। ये निम्नलिखित हैं

(१) अनुकरण करनेवाली जाति उसी क्षेत्र में और उसी स्थान पर पाई जाय जहाँ अनुकृत जाति पाई जाती है।

स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा अधिक भयंकर होते हैं। डिंब के मार्ग में वाहनी के मुख पर, या उसके भीतर, शोथ के परिणामस्वरूप संकोच बनकर अवरोध उत्पन्न कर देते हैं। गर्भाशय की शतकला में शोथ होकर और उसके पश्चात् सौत्रिक-ऊतक बनकर कला को गर्भधारण के अयोग्य बना देते हैं। गर्भाशय की ग्रीवा तथा योनि की कला में शोथ होने से शुक्राणु का गर्भाशय में प्रवेश करना कठिन होता है।

कुछ रोगियों में डिंबग्रंथि तथा गर्भाशय अविकसित दशा में रह जाते हैं। तब डिंबग्रंथि डिंब उत्पन्न नहीं कर पाती और गर्भाशय गर्भ धारण नहीं करता।

दशा के कारणों का अन्वेषण करके उन्हीं के अनुसार चिकित्सा की जाती है। [मु० स्व० व०]

अनुलोम विवाह के अर्थ में 'अनुलोम' एवं 'प्रतिलोम' शब्दों का व्यवहार वैदिक साहित्य में नहीं पाया जाता। पाणिनि (चतुर्थ, ४२८) ने इन शब्दों से व्युत्पन्न शब्द अष्टाध्यायी में गिनाए हैं और इसके बाद स्मृतिग्रंथों में इन शब्दों का बहुतायत से प्रयोग होता दिखाई देता है (दे०, गौतम धर्मसूत्र, चतुर्थ १४-१५, मनु०, दशम, १३, याज्ञवल्क्य स्मृति, प्रथम, ९५, वसिष्ठ०, १८७), जिससे अनुमान होता है कि उत्तर वैदिक काल के समाज में अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाहों का प्रचार बढ़ा।

अनुलोम विवाह का सामान्य अर्थ है अपने वर्ण से निम्नतर वर्ण में विवाह करना। इसके विपरीत किसी निम्नतर वर्ण के पुरुष और उच्चतर वर्ण की कन्या के बीच संबंध का स्थापित होना प्रतिलोम कहलाता है(दे०प्रतिलोम)। प्राय: धर्मशास्त्रों की परीक्षा इसी सिद्धांत का प्रतिपादन करती है कि अनुलोम विवाह ही शास्त्रकारों को मान्य थे, यद्यपि दोनों प्रकार के दृष्टांत स्मृतिग्रंथों में मिलते हैं। अनुलोम विवाह से उत्पन्न संतान के विषय में ऐसा सामान्य मत जान पड़ता है कि उसे माता के वर्ण के अनुरूप मानते थे। इसका एक विपरीत उदाहरण बौद्ध जातकों में फिक ने 'भद्दसाल जातक' में ढूँढा है, जिसके अनुसार माता का कुल नहीं देखा जाता, पिता का ही कुल देखा जाता है। अनुलोम से उत्पन्न संतानों और प्रजातियों के संबंध में विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न मत पाए जाते हैं जिन सबका यहाँ उल्लेख करना कठिन है। मनु के अनुसार अंबष्ठ, निषाद और उग्र अनुलोम विवाहों से उत्पन्न जातियाँ थीं।

ऐसे अनुलोम विवाहों के उदाहरण भारत में मध्यकाल तक काफी पाए जाते हैं। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' से पता चलता है कि अग्निमित्र ने, जो ब्राह्मण था, क्षत्राणी मालविका से विवाह किया था। चंद्रगुप्त द्वितीय की राजकन्या प्रभावती गुप्ता ने वाकाटक 'ब्राह्मण' रुद्रसेन द्वितीय से विवाह किया और उनकी पट्टमहिषी बनी। कदंबकुल के सम्राट् काकुत्स्थवर्मा (एपि०इंडिका, भाग ८,पृष्ठ २४) के तालगुंड अभिलेख से विदित होता है कि कदंबकुल के संस्थापक मयूर शर्मा ब्राह्मण थे, उन्होंने कांची के पल्लवों के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण किया। अभिलेख से पता चलता है कि काकुत्स्थ वर्मा (मयूर शर्मा के चतुर्थ वंशज) ने अपनी कन्याएँ गुप्तों तथा अन्य नरेशों में ब्याही थीं। आगे चलकर ऐसे विवाहों पर प्रतिबंध लगने आरंभ हो गए। (दे० प्रतिलोम)। [च० म०]

सं० ग्रं०—काणे : हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना, १९४१।

अनुशासन १ वह विधान जो किसी संस्था, वर्ग अथवा समुदाय के सब सदस्यों को उसके अनुसार सम्यक् रूप से कार्य अथवा आचरण करने के लिये विवश करे। २ नियम, यथा ऋण के संबंध में मनु का अनुशासन, शब्दों के संबंध में पाणिनि का शब्दानुशासन तथा लिंगानुशासन। ३ महाभारत का १३वाँ पर्व—अनुशासन पर्व (इसमें उपदेशों का वर्णन है, इसलिये इसका नाम अनुशासन पर्व रखा गया है)। ४ विनय (डिसिप्लिन) (मनु० २, १५९, टीका—शिष्याणां प्रकरणात् श्रेयोऽर्थम् अनुशासनम्)। [वि० ना० चौ०]

अनुशय बौद्ध परिभाषा के अनुसार संसार का मूल अनुशय है। (१) राग-तृष्णा, (२) प्रतिघ-द्वेष, (३) मान, (४) अविद्या-विद्या का विरोधी तत्व, (५) दृष्टिविशेष प्रकार की मान्यता या दर्शन, जैसे सत्कायदृष्टि, मिथ्यादृष्टि आदि, और (६) विचिकित्सा-संशय, ये छह 'अनुशय' हैं। ये ही अनुशय संयोजन, बंधन, ओघ, आस्रव आदि शब्दों द्वारा भी व्यक्त किए गए हैं। अन्य दर्शनों में वासना, कर्म, अपूर्व, अदृष्ट, संस्कार आदि नाम से जिस तत्व का बोध होता है उसे बौद्धों ने अनुशय कहा है। अनुशय की हानि का उपाय विशेष रूप से बौद्धों ने बताया है।

सं०ग्रं०—अभिधर्मकोष, पंचम कोषस्थान। [दे० मा०]

अनुहरण (नकल करना) उस बाहरी समानता को कहते हैं जो कुछ जीवों तथा अन्य जीवों या आसपास की प्राकृतिक वस्तुओं के बीच पाई जाती है, जिससे जीव को छिपने में सुगमता, सुरक्षा अथवा अन्य कोई लाभ प्राप्त होता है। अंग्रेजी में इसे मिमिकरी कहा जाता है। ऐसा बहुधा पाया जाता है कि कोई जंतु किसी प्राकृतिक वस्तु के इतना सदृश होता है कि भ्रम से वह वही वस्तु समझ लिया जाता है। भ्रम के कारण उस जंतु की अपने शत्रुओं से रक्षा हो जाती है। इस प्रकार के रक्षक सादृश्य के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इसमें मुख्य भाव निगोपन का होता है। एक जंतु अपने पर्यावरण (एनवायरनमेंट) के सदृश होने के कारण छिप जाता है। गुप्तपापाण (क्रिप्टोलियोडस) जाति का केकड़ा ऐसा चिकना, चमकीला, गोल तथा श्वेत होता है कि उसका प्रभेद समुद्र के किनारे के स्फटिक के रोड़ों से, जिनके बीच वह पाया जाता है, नहीं किया जा सकता। ज्यामितीय शलभ (जिऑमेट्रिकल माथ्स) की इल्लियों (कैटरपिलरों) का रूपरंग उन पौधों की शाखाओं और पल्लवों के सदृश होता है, जिनपर वे रहते हैं (चित्र देखें)।

ज्यामितीय शलभ की इल्ली
डंठल की आकृति की होने के कारण बहुधा इसके शत्रु धोखे में पड़े रहते हैं।

यह सादृश्य इस सीमा तक पहुँच जाता है कि मनुष्य की आँखों को भी भ्रम हो जाता है। रक्षक सादृश्य छद्मिन नामक प्राणियों में प्रचुरता से पाया जाता है। ये इतने हरे और पर्णसदृश होते हैं कि पत्तियों के बीच वे पहचाने नहीं जा सकते। इसका एक सुंदर उदाहरण पत्रकीट (फिलियम, वाकिंग लीफ) है। इसी प्रकार अनेक तितलियाँ भी पत्तों के सदृश होती हैं। पर्णचित्र पतंग (कैलिमा पैरालेक्टा) एक भारतीय तितली है। जब यह कहीं बैठती है और अपने परों को मोड़ लेती है, तो उसका पर एक सूखा पत्ता जैसा मालूम होता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक पर के ऊपर (तितली के बैठने पर परों की मुड़ी हुई अवस्था में) एक मुख्य शिरा (वेन) दिखाई पड़ती है जिससे कई एक पार्श्वीय लघु शिराएँ निकलती हैं। यह पत्ती की मध्यनाड़ी तथा पार्श्वीय लघुनाड़ियों के सदृश होते हैं। परों पर एक काला धब्बा भी होता है, जो किसी कृमि के खाने से बना हुआ छिद्र जान पड़ता है। कुछ भूरे रंग के और भी धब्बे होते हैं जिनसे पत्ती के उपक्षय का आभास होता है।

पर्ण-चित्र पतंग
पत्ती की आकृति की होने के कारण इसकी जान बहुधा बच जाती है।

उपरिलिखित उदाहरणों में निगोपन का उद्देश्य शत्रुओं से बचने अर्थात् रक्षा का है। किंतु निगोपन का प्रयोजन आक्रमण भी होता है। ऐसे अभ्याक्रामी सादृश्य के उदाहरण मांसाहारी जंतुओं में मिलते हैं। कुछ

अनेकांतवाद जैनमत के अनुसार सत्यज्ञान पूर्ण ज्ञान है, ऐसा ज्ञान उन लोगों के लिये ही संभव है जिन्होंने निर्वाण पद प्राप्त कर लिया है। प्रत्येक वस्तु में असंख्य धर्म होते हैं। साधारण मनुष्य, विशेष दृष्टिकोण से देखने के कारण, अपूर्ण और सापेक्ष ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है। ऐसे ज्ञान में सत्य और असत्य दोनों अंश विद्यमान होते हैं। प्रत्येक को यह कहने का अधिकार है कि उसे अपने दृष्टिकोण से क्या दीखता है, परतु यह अधिकार नहीं कि जो कुछ किसी अन्य मनुष्य को उसके दृष्टिकोण से दीखता है, उसे असत्य कहे। अनेकांतवाद अहिंसा के लिये एक दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है। [दी० च०]

अनेकांतिकहेतु हेत्वाभास का एक भेद जिसे सव्यभिचार भी कहते हैं। अनुमान में हेतु को साध्य की अपेक्षा कम स्थानों पर किंतु साध्य के साथ रहना चाहिए। यदि हेतु ऐसा नहीं है तो वह अनेकांतिक है। इस अवस्था में हेतु या तो साध्य से अलग रहता है, या केवल उस स्थान पर रहता है जहाँ साध्य की सिद्धि करनी है या उस हेतु का कोई दृष्टांत नहीं होता। इसलिये इसके तीन भेद होते हैं

१ साधारण अनेकांतिक में हेतु साध्य से अन्यत्र भी रहता है, जैसे, पर्वत में आग है क्योंकि बुद्धिगम्य है। यहाँ बुद्धिगम्यता आग के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी रहती है।

२ असाधारण अनेकांतिक में हेतु केवल उस स्थान पर रहता है जहाँ साध्य की सिद्धि करनी है, जैसे, शब्द नित्य है क्योंकि वह शब्द है। यहाँ शब्द रूप हेतु केवल शब्द में रहता है जहाँ नित्यत्व की सिद्धि इष्ट है।

३ अनुपसंहारी अनेकांतिक में हेतु साध्य के संबंध का कोई दृष्टांत नहीं होता, जैसे, सब अनित्य हैं क्योंकि सब ज्ञेय हैं। यहाँ ज्ञेयता और अनित्यता के परस्पर संबंध का पक्ष के अतिरिक्त कोई दृष्टांत नहीं है क्योंकि यहाँ 'सब' से अलग कुछ भी नहीं है जिसको दृष्टांत रूप में उपस्थित किया जा सके।

सं०ग्रं०—न्यायसिद्धांत मुक्तावली, तर्क संग्रह २–१। [रा० पा०]

अन्नकूट यह कृषि एवं धन संबंधी पर्व कार्तिक प्रतिपदा को पड़ता है, जो दीपावली के दूसरे दिन मनाया जाता है। इसमें कुछ अन्नों के कूटने का विधान है जो वस्तुत प्राचीन गोवर्धन पूजा की तरह है। स्थान भेद से अन्नकूट मनाने की प्रक्रिया में अंतर अवश्य पाया जाता है, परंतु 'गोधन' की पूजा के रूप में यह पर्व इस देश में सर्वत्र मनाया जाता है। [च० म०]

अन्नपूर्णा धन, धान्य से पूर्ण कर देनेवाली दानशीला देवी। यह दुर्गा की मृदु रूप है और इनका भांडार अक्षय है। पुराणों में इनका बड़ा माहात्म्य है। इस देवी की तुलना रोमन 'अन्ना पेरेन्ना' से की गई है जिनके नामों में भी विचित्र ध्वनिव्यंजना है। [च० म०]

अन्यथानुपपत्ति किसी अत्यावश्यक कारण के बिना किसी तथ्य की सिद्धि न होना अन्यथानुपपत्ति कहलाता है। कार्य की उत्पत्ति में अनेक कारण होते हैं किंतु उनमें से कोई एक कारण सर्वप्रधान होता है। अन्य कारणों के रहते हुए भी इस प्रधान कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं होती। इस प्रधान कारण को 'असाधारण कारण' अथवा 'करण' कहते हैं। इस कारण के अभाव में जब कार्य की उत्पत्ति असंभव होती है तब उस कार्य की असाधारण कारण के बिना 'अन्यथानुपपत्ति' कही जाती है। [रा० पा०]

अन्यथासिद्धि कार्य की उत्पत्ति में अनावश्यकता। कार्य की उत्पत्ति में साक्षात् सहायक कारण कहलाता है, किंतु जो किसी के माध्यम से कार्य की उत्पत्ति में सहायक होता है उसे अन्यथासिद्धि कहते हैं। ऐसे कारणों के रहने या न रहने से कार्य की उत्पत्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। न्याय दर्शन में पाँच प्रकार की अन्यथासिद्धियों का वर्णन मिलता है। घड़े की उत्पत्ति में दंडत्व, दंड का रूप, आकाश, कुम्हार का पिता और मिट्टी लानेवाला गधा, ये अन्यथासिद्ध कारण हैं। अन्यथासिद्धि की यह कल्पना न्यायशास्त्र में सर्वप्रथम गंगेशोपाध्याय (१३वीं शताब्दी) से प्रारंभ हुई। [रा० पा०]

अन्यदेशी नकारात्मक ढंग से, अन्यदेशी वह है जिसे उस देश की, जिसमें वह आकर बसा है, नागरिकता न प्राप्त हो। अन्यदेशी के प्रति सामान्य दृष्टिकोण दो प्रकार के परस्पर विरोधी व्यवहारों का प्रतीक है एक का आधार वर्ग की आत्मचेतना है जिसके कारण उस वर्ग के लोग अपने से अपरिचितों या विदेशियों के प्रति अविश्वास, भय तथा घृणा के भाव रखते हैं, दूसरे प्रकार का व्यवहार मानवता के प्रति आदर की उस भावना से संबंधित है जो आगंतुक या अतिथि के आदर सत्कार के लिये प्रेरित करती है। इन दोनों परस्पर विरोधी व्यवहारों के कारण विश्व के सामाजिक और आर्थिक इतिहास में अन्यदेशी की स्थिति भी दुहरी रही है।

प्राचीन काल की सभ्यता ने अनुमानत पहली बार किसी निश्चित भूभाग पर एक साथ रहनेवाले लोगों की वर्गचेतना को श्रेष्ठ सांस्कृतिक मूल्य माना, और इस प्रकार अन्यदेशी को (अर्थात् जो उस भूभाग का नहीं है) 'बर्बर' ठहराया। मध्ययुग के अंत में यूरोपीय राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के पूर्व तक अन्यदेशी के विरुद्ध स्थानीयता की प्राकृतिक संसक्ति थी। संसक्ति की इन इकाइयों में हुए परिवर्तनों के अनुरूप अन्यदेशी के विचार में भी परिवर्तन होते गए। प्राचीन काल के ग्रामसमाज में एक ग्राम के लिये पड़ोसी ग्राम का भूमिपति अन्यदेशी था, और इसलिये उसे स्थानीय संपत्ति के संबंध में सीमित अधिकार ही प्राप्त हो सकते थे। मध्ययुगीन नगरों में 'अन्यदेशी' का प्रयोग विदेशी व्यवसायियों के लिये होता था जिनपर एक विशेष प्रकार का अतिथिविधान लागू होता था।

स्थानीयता के बाद सांस्कृतिक एकता ने अन्यदेशी के सिद्धांत को निश्चित किया। एक प्रकार की संस्कृति के लोगों के लिये दूसरे प्रकार की संस्कृति के लोग 'बर्बर' या 'म्लेच्छ' थे। फिर, सभ्यता के विकास के साथ साथ आवागमन के साधनों की वृद्धि तथा विकास के कारण एक संस्कृति अपने आपको अपनी निश्चित सीमाओं में न बाँधे रख सकी और एक संस्कृति पर दूसरी संस्कृति का प्रभाव पड़ता रहा। फलत सांस्कृतिक संसक्ति इतनी प्रभावशाली नहीं रह सकी कि उसके आधार पर दूसरी संस्कृति के लोगों को अन्यदेशी की संज्ञा दी जाय। आधुनिक युग में अब सांस्कृतिक एकता के बजाय वैचारिक एकता अन्यदेशी के विचार को स्पष्ट करने के लिये अधिक उपयुक्त है। आज विश्व के राष्ट्रों को साधारणत दो गुटों में बाँटा जाता है अमरीकी और रूसी गुट, दूसरे शब्दों में, पूँजीवादी विचारधारा के पोषक तथा साम्यवादी सिद्धांत के अनुयायी। इस वैचारिक विभिन्नता के कारण रूस में एक ही महाद्वीप के निवासी होने के बावजूद एक अमरीकी दूसरे महाद्वीप के निवासी चीनी की तुलना में अधिक अन्यदेशी समझा जायगा।

भविष्य में, कदाचित् अन्यदेशी के विचार में एक नया परिवर्तन तब आएगा जब विज्ञान धरती के मनुष्य के लिये अन्य नक्षत्रों में भी पहुँचना सुगम कर देगा। तब अनुमानत नक्षत्र की संसक्ति अन्यदेशी को निश्चित करने का आधार होगी।

अन्यदेशी एक नए, अपरिचित विदेशी वातावरण से घिरा रहता है, या यदि यह किसी अन्यदेशी वर्ग का अंग है तो उस वर्ग के साथ अपने तथा वहाँ के नागरिकों के बीच एक गहरी खाई का अनुभव करता है। इसीलिये साधारणत उस देश की रीतियों और परंपराओं से स्वतंत्र रहना उसका एक प्रमुख लक्षण माना जाता है। परंपराओं से स्वतंत्र रहने के कारण अन्यदेशी वहाँ की सामाजिक परिस्थितियों के प्रति वस्तुगत (ऑब्जेक्टिव) दृष्टिकोण अपनाने में सफल होता है, जिसके आधार पर वह उस देश के नागरिकों की तुलना में वहाँ की सामाजिक परिस्थितियों के संबंध में अधिक न्यायसंगत निर्णय दे सकता है। परंतु साथ ही, अपने तथा वहाँ के नागरिकों के बीच विभिन्नताओं की खाई का अनुभव कर, वहाँ के सामाजिक जीवन को विदेशी मान, वह स्वभावत उस देश के अल्पसंख्यक विरोधी दलों का साथ देने के लिये इच्छुक रहता है। [रा० अ०]

अन्यूरिन ब्रिटिश चारण जो ७वीं सदी ई० के आरंभ में हुआ। उसने गोडोडिन नाम की एक पुस्तक लिखी। गोडोडिन वेल्स की एक जाति थी जिसका सरदार अन्यूरिन का पिता था। इस प्रकार गोडोडिन अन्यूरिन की अपनी जाति के संबंध का महाकाव्य है। इसमें सैक्सनों

मानव-स्वभावगत दोषों का अध्ययन करनेवाले न्यायशास्त्रियों का मत है कि खाद्य का अपद्रव्यीकरण रोकने के लिये कठोर दंडनीति अपनाना आवश्यक है। साधारण धनदंड सर्वथा अपर्याप्त है। भोजन को विषाक्त करनेवाला आततायी कहलाता है और 'नाततायी वधे दोष' के अनुसार उसको कठोर दंड देना ही उचित है। इसी कारण ऐसे अपराधी के लिये धनदंड के अतिरिक्त अब कारादंड का भी विधान है। परंतु केवल दंडनीति से भी काम नहीं चलता। जनमत जागरण की भी आवश्यकता है।

दूध में जल, घी में वनस्पति घी अथवा चर्बी, महँगे और श्रेष्ठतर अन्नों में सस्ते और घटिया अन्नों आदि के मिश्रण को साधारणत: मिलावट या अपमिश्रण कहते हैं। किंतु मिश्रण के बिना भी शुद्ध खाद्य को विकृत अथवा हानिकर किया जा सकता है और उसके पौष्टिक मान (फूड वैल्यू) को गिराया जा सकता है। दूध से मक्खन का कुछ अंश निकालकर उसे शुद्ध दूध के रूप में बेचना, अथवा एक बार प्रयुक्त चाय की साररहित पत्तियों को सुखाकर पुन: बेचना मिश्रणरहित अपद्रव्यीकरण के उदाहरण हैं। इसी प्रकार बिना किसी मिलावट के घटिया वस्तु को शुद्ध एवं विशेष गुणकारी घोषित कर झूठे दावे सहित आकर्षक नाम देकर जनता को ठगा जा सकता है। इस कारण 'मिलावट' अथवा 'मिश्रण' जैसे शब्द खाद्यविकारी कार्यों के लिये पूर्ण रूप से सार्थक नहीं हैं। खाद्य पदार्थ के उत्पादन, निर्माण, संचय, वितरण, वेष्टन, विक्रय आदि से संबंधित वे सभी कुत्सित कार्य, जो उसके स्वाभाविक गुण, सारतत्व अथवा श्रेष्ठता को कम करनेवाले हैं, अथवा जिनसे ग्राहक के स्वास्थ्य की हानि और उसके ठगे जाने की संभावना रहती है, अपद्रव्यीकरण या अपनामकरण (मिसब्रैंडिंग) द्वारा सूचित किए जाते हैं। जनस्वास्थ्य तथा न्यायविधान की दृष्टि से ये शब्द बहुत व्यापक अर्थ के द्योतक हैं।

खाद्य पदार्थ के अपद्रव्यीकरण द्वारा जनता की स्वास्थ्यहानि को रोकने के लिये प्रत्येक देश में आवश्यक कानून बनाए गए हैं। भारत के प्रत्येक प्रदेश में शुद्ध खाद्य संबंधी आवश्यक कानून थे, किंतु भारत सरकार ने सभी प्रादेशिक कानूनों में एकरूपता लाने की आवश्यकता का अनुभव कर, देश-विदेशों में प्रचलित कानूनों का समुचित अध्ययन कर, सन् १९५४ में खाद्य-अपद्रव्यीकरण-निवारक अधिनियम (प्रिवेंशन ऑव फूड ऐडल्टरेशन ऐक्ट) समस्त देश में लागू किया और सन् १९५५ में इसके अंतर्गत आवश्यक नियम बनाकर जारी किए। इस कानून द्वारा अपद्रव्यीकरण तथा झूठे नाम से खाद्यों का बेचना दंडनीय है। वैधानिक दृष्टि से निम्नलिखित दशाओं में खाद्य अपद्रव्यीकृत माना जाता है

वह पदार्थ जिसका स्वाभाविक गुण, सार तत्व, या श्रेष्ठतास्तर ग्राहक द्वारा अपेक्षित पदार्थ से अथवा सामान्यत: बोध होनेवाले पदार्थ से भिन्न हो और जिसके व्यवहार से ग्राहक के हित की हानि होती हो।

वह पदार्थ जिसमें कोई ऐसा अन्य पदार्थ मिला हो जो पूर्णत: अथवा आंशिक रूप से किसी घटिया या सस्ती वस्तु से बदल दिया गया हो अथवा जिसमें से कोई ऐसा संघटक निकाल लिया गया हो जिससे उसके स्वाभाविक गुण, सारतत्व या श्रेष्ठतास्तर में अंतर हो जाय।

वह पदार्थ जो दूषित या स्वास्थ्य के लिये हानिकर हो, जिसमें गंदा, पूतियुक्त, सड़ा, विघटित या रोगयुक्त प्राणिद्रव्य या वानस्पतिक वस्तु मिलाई गई हो, जिसमें कीट या कीड़े पड़ गए हों, अथवा जो मनुष्य के आहार के अनुपयुक्त हो।

वह पदार्थ जो किसी रोगी पशु से प्राप्त किया गया हो, जो विषैले या स्वास्थ्य-हानिकारक संघटकयुक्त हो, या जिसका पात्र किसी दूषित या विषैले वस्तु का बना हो।

वह पदार्थ जिसमें स्वीकृत रंजक द्रव्य (कलरिंग मैटर) के अतिरिक्त कोई ऐसा अन्य रंजक मिला हो जिसमें कोई निषिद्ध रासायनिक परिरक्षी हो, अथवा स्वीकृत रंजक या परिरक्षी द्रव्य की मात्रा निर्धारित सीमा से अधिक हो।

वह पदार्थ जिसकी श्रेष्ठता अथवा शुद्धता निर्धारित मानक से कम हो, अथवा उसके संघटक निर्धारित सीमा से अधिक हों।

इसी प्रकार निम्नलिखित दशा में खाद्यों को अपनामांकित (मिस-ब्रैंडेड) कहा जाता है

वह पदार्थ जिसका किसी का नाम अन्य पदार्थ के नाम की नकल हो, या इस प्रकार मिलता जुलता हो कि धोखे की संभावना हो और उसके वास्तविक गुणधर्म प्रकट करने के लिये उसपर कोई स्पष्ट और व्यापक नामपत्र (लेबिल) न हो।

वह पदार्थ जो असत्य रूप से किसी देशविशेष का बना बताया जाय, जो किसी अन्य वस्तु के नाम से बेचा जाय, जिसके संबंध में नामपत्र पर, या अन्य रीति से झूठे दावे किए जायँ और जो इस प्रकार रंजित, स्वादित, लेपित, चूर्णित या शोधित हो, जिससे उसके विकृत होने का भाव छिप जाय, अथवा जो अपनी वास्तविक दशा से उत्तम या मूल्यवान् दिखाया जाय।

वह पदार्थ जो बंद वेठनों में बेचा जाय और उसके बाहरी भाग पर उसमें रखे हुए पदार्थ की निर्धारित घट बढ़ की सीमा के अनुसार ठीक उल्लेख न हो।

वह पदार्थ जिसके नामपत्र पर कोई ऐसा उल्लेख, चिह्न या उक्ति हो जो असत्य, भ्रामक या छलपूर्ण हो, जो किसी कल्पित व्यक्ति द्वारा निर्मित बताया जाय और जिसमें प्रयुक्त कृत्रिम रंजक, वासक (फ्लेवरिंग एजेंट), या परिरक्षी वस्तु का उल्लेख न हो।

वह पदार्थ जो किसी विशिष्ट आहार के उपयुक्त बताया जाय, परंतु उसके नामपत्र पर उसकी उपयोगिता के सूचक, उसके खनिज, विटामिन अथवा आहार विषयक संघटकों की सूचना न हो।

इस अधिनियम द्वारा केवल पूर्वोक्त प्रकार के अपद्रव्यीकरण अथवा अपनामांकन का ही निवारण नहीं किया जाता, परंतु भोजन की शुद्धता और स्वच्छता, भोजन के पात्रों, पाकशाला और भांडार की स्वच्छता और परिशोधन तथा खाद्य का मक्खी, धूल, मलीनता आदि से रक्षण इत्यादि स्वास्थ्योचित नियमों का भी यथोचित पालन आवश्यक कर दिया गया है। संक्रामक, सांसर्गिक अथवा घृणित रोग से ग्रस्त मनुष्यों द्वारा खाद्य पदार्थ का बनाना या बेचना वर्जित है। किसी संक्रामक रोग का प्रसार रोकने के लिये अस्थायी आदेश द्वारा किसी खाद्य का विक्रय स्थगित किया जा सकता है। जंग लगे पात्र, बिना कलई के ताँबे अथवा पीतल के पात्र, सीसा मिश्रित ऐल्युमिनियम के पात्र, अथवा जर्जरित एनामेलवाले तामचीनी के पात्रों का प्रयोग वर्जित है।

कोई भी व्यवसायी निम्नलिखित अपद्रव्यीकृत पदार्थों का व्यापार नहीं कर सकता

(१) क्रीम (मलाई) जो केवल दूध से न बनी हो और जिसमें दुग्ध-स्नेह (मिल्क फैट) ४०% से कम हो, (२) दूध जिसमें जल मिलाया गया हो, (३) घी जिसमें दूध से निकले घी से भिन्न कोई पदार्थ हो, (४) मथित दूध (मक्खनरहित दूध) शुद्ध दूध के नाम से, (५) दो या अधिक तेलों का मिश्रण खाद्य तेल के नाम से, (६) घी जिसमें वनस्पति घी मिला हो, (७) कृत्रिम मिष्टकर (स्वीटनिंग एजेंट) युक्त पदार्थ, (८) हलदी जिसमें कोई अन्य पदार्थ मिला हो।

अपद्रव्यीकरण के निवारण हेतु जो अन्य महत्वपूर्ण नियम लागू किए गए हैं, इस प्रकार हैं —

(१) शहद के समान रूप रंगवाला पदार्थ जो शुद्ध शहद नहीं है, शहद नहीं कहा जा सकता, (२) सैकरीन किसी भी खाद्य में मिलाया जा सकता है, परंतु नामपत्र पर इसका स्पष्ट उल्लेख आवश्यक है, (३) प्राकृतिक मृत्यु से मृत पशु का मांस नहीं बेचा जा सकता और न कोई खाद्य बनाने में प्रयुक्त हो सकता है, (४) अनधिकृत रूप से किसी खाद्य में कोई रंजक नहीं मिलाया जा सकता। रंजक का उपयोग करने पर नामपत्र पर "कृत्रिम रीति से रंजित" लिखना आवश्यक है (५) पनीर (चीज), आइसक्रीम (मलाई की बर्फ या कुल्फी), बर्फीली शर्करा (आइसिंग) और जिलेटिन (जिलेटीन डेजर्ट) में स्वीकृत रंजक का तथा कैरामेल का प्रयोग बिना उल्लेख के किया जा सकता है, (६) खनिज रंजक तथा वर्णक (पिगमेंट) सर्वथा वर्जित है। स्वीकृत रंजक का प्रयोग केवल शुद्ध रूप में तथा एक ग्रेन प्रति पाउंड खाद्य के अनुपात में किया जा सकता है। (७) मलाई की बर्फ (कुल्फी), मिष्टान्न (स्वीट्स) बनाने, अन्न-निर्मित खाद्य, बिस्कुट, फलों से बने खाद्य तथा अन्य पदार्थों में सुगंधित वाष्पित या फेनिल (एसेंसेट) पेय में ही रंजक प्रयुक्त हो सकते हैं। दूध,

(२) अनुकरण करनेवाले अनुकृत से अधिक असुरक्षित हो।
(३) अनुकरण करनेवाले अनुकृत से सख्या मे कम हो।
(४) अनुकरण करनेवाले अपने निकट के सबधियो से भिन्न हो।
(५) अनुकरण सदैव बाह्य हो। यह कभी आतरिक सरचनाओ तक न पहुँचे।

पहली बात की अधिकाश स्थितियो मे पूर्ति हो जाती है, परतु सदैव नही। ऐरगिन्निस हाइर्पवियस नामक तितली डानाइस प्लैक्सिप्पस का रूप धारण करती है। दोनो ही लका में मिलती है, किंतु भिन्न भिन्न स्थानो पर। यह कहा जाता है कि इसका कारण यह है कि इनके शत्रु प्रव्राजी पक्षी हैं, जो एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते रहते हैं और एक जगह प्राप्त अनुभव का प्रयोग दूसरी जगह कर सकते हैं। इसी प्रकार हाइपोलिम्नस मिसिप्पस नामक तितली अफ्रीका, भारत और मलाया मे मिलती है। इसके नर का अनुहरण अथाइमा पैंकटेटा और लिमेनाइटिस ऐल्बोमैकुलटा करती है, किंतु ये दोनो जातियाँ चीन मे पाई जाती हैं। इसकी व्याख्या भी इसी बात पर आश्रित है कि इनके शत्रु प्रव्राजी पक्षी हैं। दूसरे नियम की भी लगभग सभी स्थितियों में पूर्ति होती है।

तीसरे नियम की पूर्ति कुछ स्थितियो मे ही होती है, सदैव नही। पैपिलियो पौलीटैस अपने अनुकृत की दोनो जातियो की अपेक्षा सख्या में अधिक होती है। इसी प्रकार आरकोनिआस टेरिआस नामक तितली और आरकोनिआस क्रिटिआस अपने अनुकृत से सख्या मे अधिक होती हैं। इस स्थिति की व्याख्या इस आधार पर की जाती है कि ये घटनाएँ बेट्सियन अनुहरण की नही, मुलेरियन अनुहरण की हैं।

अनुहरण करनेवाली तितलियो पर जनन सबधी कुछ प्रयोग भी किए गए हैं। पैपिलियो पौलीटैस का अनुकारी रूप एक जोडा पित्रैक (जीन) के कारण विकसित होता है, जो साधारण पित्रैको को दबा देता है। यह नर मे भी वर्तमान रहता है, किंतु इसका प्रभाव नर मे विद्यमान एक अन्य दमनकारी पित्रैक के कारण दब जाता है। कुछ लोगो की धारणा यह भी है कि सादृश्य का कारण अनुहरण नही है। उनके मतानुसार ऐसा सादृश्य एक स्थान के रहनेवाले वशो में पर्यावरण (एनवायरनमेंट) या लैगिक चुनाव के प्रभाव से, अथवा मानसिक अनुभव के प्रतिचार (रेसपौस) के कारण उत्पन्न हो जाता है। पर इन आधारो पर अतर्वशीय सादृश्य की सब घटनाओ की व्याख्या नही की जा सकती। [मु० ला० श्री०]

अनुयोग जैन आगमो की व्याख्या का नाम अनुयोग है। प्राचीन काल मे आगम के प्रत्येक वाक्य की व्याख्या नयो के आधार पर होती थी किंतु आगे चलकर मदबुद्धि पुरुषो की अपेक्षा से आर्यरक्षित ने शास्त्रो के अनुयोग को चार प्रकार से विभक्त किया, यथा १ द्रव्यानुयोग, अर्थात् तत्वविचारणा, २ गणितानुयोग, अर्थात् लोकसबधी गणित की विचारणा, ३ चरणकरणानुयोग, अर्थात् साधु के आचार की विचारणा, और ४ धर्मकथानुयोग, अर्थात् धर्मबोधक कथाएँ। इन अनुयोगो के आधार पर तत्तद्विषयो के प्राधान्य को लेकर शास्त्रो का भी विभाग किया जाने लगा, जैसे आचाराग आदि को चरणकरणानुयोग मे, उवासग दसा आदि को धर्मकथानुयोग मे, जबूदीव पण्णत्ति आदि को गणितानुयोग मे और पन्नवणा आदि को द्रव्यानुयोग मे शामिल किया गया। अनुयोग की प्रक्रिया का वर्णन करनेवाला प्राचीन ग्रथ अनुयोगद्वार है जिसमें आवश्यक सूत्र के सामयिक अध्ययन की व्याख्या की गई है। उसी प्रक्रिया से व्याख्याकारो ने अन्य शास्त्रो की भी व्याख्या की है।

स०ग्र०—अनुयोगद्वार सूत्र, विशेषत उसके ५९वें सूत्र की व्याख्या। [द० मा०]

अनुविधि राज्य की प्रभुत्वसपन्न शक्ति द्वारा निर्मित कानून को अनुविधि कहते हैं। अन्यान्य देशो में अनुविधिनिर्माण की पृथक् पृथक् प्रणालियाँ हैं जो वस्तुत उस राज्य की शासनप्रणाली के अनुरूप होती हैं।

अंग्रेजी अनुविधि—अंग्रेजी कानून में जो अनुविधि है उसमें सन् १२३५ ई० का 'स्टैट्यूट आव मर्टन' सबसे प्राचीन है। प्रारभ में सभी अनुविधियाँ सार्वजनिक हुआ करती थी। रिचर्ड तृतीय के काल मे इसकी दो शाखाएँ हो गई—सार्वजनिक अनुविधि तथा निजी अनुविधि। वर्तमान अनुविधियाँ चार श्रेणियो मे विभक्त हैं —१ सार्वजनिक साधारण अधिनियम, २ सार्वजनिक स्थानीय तथा व्यक्तिगत अधिनियम, ३ निजी अधिनियम जो सम्राट् के मुद्रक द्वारा मुद्रित होते हैं, ४ निजी अधिनियम जो इस प्रकार मुद्रित नही होते। निजी अधिनियमो का अब व्यवहार रूप मे लोप होता जा रहा है।

भारतीय अनुविधि—प्राचीन भारत मे कोई अनुविधि प्रणाली नही थी। न्याय सिद्धात एव नियमो का उल्लेख मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, व्यास, बृहस्पति, कात्यायन आदि स्मृतिकारो के ग्रथो मे तथा बाद में उनके भाष्यो में मिलता है। मुस्लिम विधि प्रणाली मे भी अनुविधियाँ नही पाई जाती। अंग्रेजी राज्य के प्रारभ मे कुछ अनुविधियाँ 'विनियम' के रूप मे आई। बाद मे अनेक प्रमुख अधिनियमो का निर्माण हुआ, जैसे 'इडियन पेनल कोड', 'सिविल प्रोसीजर कोड', 'क्रिमिनल प्रोसीजर कोड', 'एविडेंस ऐक्ट', आदि। सन् १९३५ ई० के 'गवर्नमेंट ऑव इडिया ऐक्ट' के द्वारा महत्वपूर्ण वैधानिक परिवर्तन हुए। १५ अगस्त, सन् १९४७ ई० को भारत स्वतत्र हुआ और सन् १९५० ई० मे स्वनिर्मित सविधान के अतर्गत सपूर्ण प्रभुत्वसपन्न लोकतत्रात्मक गणराज्य बन गया। इसके पूर्ववर्ती अधिनियमो को मुख्य रूप मे अपना लिया गया। तदुपरात ससद् तथा राज्यो के विधानमडलो द्वारा अनेक अत्यत महत्वपूर्ण अधिनियमो का निर्माण हुआ जिनसे देश के राजनीतिक, वैधानिक, आर्थिक, सामाजिक एव सास्कृतिक क्षेत्रो मे क्रातिकारी परिवर्तन हुए।

भारतीय सविधान के अनुच्छेद २४६ के अतर्गत ससद् तथा राज्यो के विधानमडल की विधि बनाने की शक्ति का विषय के आधार पर तीन विभिन्न सूचियो मे वर्गीकरण किया गया है—(१) सघसूची, (२) समवर्ती सूची तथा (३) राज्यसूची। ससद् द्वारा निर्मित अधिनियमो मे राष्ट्रपति तथा राज्य के विधानमडल द्वारा निर्मित अधिनियमो मे राज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक है। समवर्ती सूची मे प्रगणित विषयो के सबध मे यदि कोई अधिनियम राज्य के विधानमडल द्वारा बनाया जाता है तो उसमें राष्ट्रपति की स्वीकृति अपेक्षित है (दे० भारत का सविधान, अनुच्छेद २४५–२५५)।

साधारण

(१) सार्वजनिक अधिनियम, जब तक विधि द्वारा अन्यथा उपबध न हो, देश की समस्त प्रजा पर लागू होते हैं। भारत मे निजी अधिनियम नही होते।

(२) प्रत्येक अधिनियम स्वीकृतिप्राप्ति की तिथि से चालू होता है, जब तक किसी अधिनियम मे अन्य किसी तिथि का उल्लेख न हो।

(३) कोई अधिनियम प्रयोग के अभाव मे अप्रयुक्त नही, समझा जाता, जब तक उसका निरसन न हो।

(४) अनुविधि का शीर्षक, प्रस्तावना अथवा पार्श्वलेख उसका अग नही होता, यद्यपि निर्वचन मे उनकी सहायता ली जा सकती है।

(५) प्राय अधिनियमो का वर्गीकरण विषयवस्तु के आधार पर किया जाता है, जैसे, शाश्वत तथा अस्थायी, दडनीय तथा लोकहितकारी, आज्ञापक तथा निदेशात्मक और सक्षमकारी तथा अयोग्यकारी।

(६) अस्थायी अधिनियम स्वय उसी मे निर्धारित तिथि को समाप्त हो जाता है।

(७) कतिपय अधिनियम प्रति वर्ष पारित होते हैं।

अधिनियम का निर्वचन

किसी अधिनियम के निर्वचन के लिये हमे सामान्य विधि तथा उस अधिनियम का आश्रय लेना होता है। निर्वचन के मुख्य नियम इस प्रकार हैं

(१) अधिनियम का निर्वचन उसकी शब्दावली की अपेक्षा उसके अभिप्राय तथा उद्देश्य के आधार पर करना चाहिए।

(२) अधिनियम का देश की सामान्य विधि से जो सबध है उसे ध्यान मे रखना चाहिए। [श्री० अ०]

ज्वार, बाजरा, चना, मटर तथा अन्य निम्न श्रेणी के अन्नों के दाने कुछ तो खेत में, या कृषक के भंडार में अनायास मिल जाते हैं, पर बहुधा इन्हें अन्नव्यापारी व्यापारी जान बूझकर मिलाते हैं। कुछ प्रदेशों में इस प्रकार की मिलावट रोकने के लिये मानक निर्धारित हैं, किंतु भारत सरकार ने समस्त देश के लिये अभी लागू नहीं किए हैं। साधारणत अन्न में धूल, कंकड़, तृण आदि ८%, बाहरी अन्न के दाने १०% (चावल में केवल ३%), टूटे दाने १०%, फफूँदीयुक्त दाने १५% तथा कीटभुक्त दाने ६% से अधिक नहीं होने चाहिए। सब मिलाकर अच्छे दाने ८०% से कम न हों और जल की मात्रा गेहूँ में १२% तथा अन्य में १५% से अधिक किसी भी ऋतु में नहीं होनी चाहिए। खाद्यान्न में की गई मिलावट का पता ग्राहक को सहज ही चल जाता है और मिलावट के अनुसार दाम भी घट जाता है। इस कारण सावधान ग्राहक को धोखे की आशंका नहीं रहती, किंतु यह बात पिसे हुए अन्न (आटा, मैदा, सूजी, बेसन, दलिया आदि) के संबंध में नहीं कही जा सकती।

गेहूँ में ग्लूटीन नामक चिपचिपा प्रोटीन होता है, जो अन्य अन्नों में नहीं होता। यदि आटे में गेहूँ के अतिरिक्त किसी अन्य सस्ते अन्न का मेल है तो ग्लूटीन का अनुपात कम हो जाता है। प्राय ८% से कम ग्लूटीन-वाला आटा अपमिश्रित समझा जाता है। अन्नों के स्टार्च के कणों की आकृति सूक्ष्मदर्शी यंत्र (माइक्रॉस्कोप) द्वारा देखने से मिलावटी अन्न का पता चल सकता है।

खेसारी की दाल (लेथिरस सेटाइवा) के उपयोग से लैथिरिज्म नामक रोग (एक प्रकार की पंगुता) होने की आशंका रहती है। इस कारण इस दाल का सेवन नहीं करना चाहिए। अकालपीडित जनता जब इस दाल को खाती है तो कुछ मनुष्यों को लैथिरिज्म रोग हो जाता है और पैरों की निर्बलता के कारण खड़ा होना या चलना कठिन हो जाता है। रोग बढ़ने पर रोगी पंगु हो जाता है। अत खाद्यान्न में खेसारी की दाल की मिलावट नहीं होनी चाहिए।

२ दूध दही—स्वस्थ गाय, भैंस, भेड़ और बकरी के दूध को नवदुग्ध (फेनुस, कोलोस्ट्रम) रहित होना चाहिए। दूध में जल मिलाने से उसका विशिष्ट गुरुत्व कम हो जाता है और मक्खन या क्रीम (मलाई) निकाल लेने से बढ़ जाता है। कुछ मक्खन निकालकर और निश्चित मात्रा में जल मिलाने से दूध का विशिष्ट गुरुत्व शुद्ध दूध के अनुकूल किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में दुग्धमापी (लैक्टोमीटर) से केवल विशिष्ट गुरुत्व के आधार पर दूध के अपद्रव्यीकरण का पता नहीं चल सकता। विभिन्न पशुओं से प्राप्त दूध के सारभूत पोषक द्रव्यों की मात्रा एक सी नहीं होती। इस कारण उनके दूध की शुद्धता के मानक (स्टैंडर्ड) भी भिन्न होते हैं। दुग्धस्नेह (मिल्क फैट) तथा स्नेहातिरिक्त-ठोस-द्रव्य की मात्राओं के आधार पर दूध के अपमिश्रण का पता चल जाता है। गाय के दूध में दुग्धस्नेह की मात्रा उड़ीसा में ३%, पंजाब में ४% और भारत के अन्य प्रदेशों में ३.५% से कम न होनी चाहिए और स्नेहातिरिक्त-ठोस-द्रव्य की अधिकतम मात्रा ८.५% होनी चाहिए। भैंस के दूध में दुग्धस्नेह की मात्रा दिल्ली, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, आसाम तथा बंबई में ६% तथा शेष भारत में ५% है और स्नेहातिरिक्त ठोस द्रव्य की अधिकतम सीमा ९% है। भेड़ बकरी के दूध में दुग्धस्नेह की निम्नतम सीमा मध्य प्रदेश, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बंबई तथा केरल राज्य में ३.५% तथा शेष भारत में ३% है और स्नेहातिरिक्त-ठोस-द्रव्य की अधिकतम सीमा ९% है। पशु की जाति अज्ञात होने की अवस्था में दूध भैंस का माना जाता है। दही में भी दुग्धेतर कोई बाहरी पदार्थ नहीं होना चाहिए। उसका मानक दूध के समान ही है।

जल मिलाकर दूध बेचना वर्जित है। दूध में कोई रजक या परिरक्षक पदार्थ नहीं मिलाया जा सकता। दूध का खट्टा होना कुछ काल के लिये रोकने, या खट्टापन दबाने के लिये सोडा मिलाना अनुचित है। अधिक उबालने से दूध में बहुत भौतिक और रासायनिक परिवर्तन हो जाते हैं। उसका खाद्यमान (फूड वैल्यू) भी कम हो जाता है। लैक्टोज नामक दुग्ध-शर्करा कैरामेल में परिणत हो जाती है, जिससे उसके स्वाद और रंग में फर्क हो जाता है। इस कारण दूध या किसी मांसपूरक पदार्थ में कैरामेल का पाया जाना अपद्रव्यीकरण नहीं कहा जाता। दूध में अनेक प्रकार के कीटाणु पाए जाते हैं, जिनमें कुछ भयंकर रोगकारक होते हैं और इसी कारण अशुद्ध और अस्वच्छ रीति से दूध का प्रयोग अनेक रोगों का कारण है। दूध का उबालना या पास्चुरीकरण रोगकारी कीटाणुओं का नाशक है। यद्यपि उबालने अथवा पास्चुरीकरण से दूध में बहुत परिवर्तन हो जाता है, तथापि स्वास्थ्यरक्षार्थ यह अत्यंत आवश्यक कार्य है और इसलिये यह दूध का अपद्रव्यीकरण नहीं समझा जाता।

३ मक्खन तथा घी—मक्खन या घी केवल गाय या भैंस के दूध से ही प्राप्त पदार्थ है। दुग्धेतर कोई पदार्थ मक्खन या घी में नहीं होना चाहिए। मक्खन में कम से कम ८०% दुग्धस्नेह होना आवश्यक है और जल की मात्रा १६% से अधिक नहीं होनी चाहिए। उसमें नमक तथा अनोटो नामक पीला रजक पदार्थ मिलाया जा सकता है। घी में जल की मात्रा ०.५% से अधिक नहीं होनी चाहिए और रजक या परिरक्षक पदार्थ का मेल वर्जित है।

४ क्रीम (मलाई)—जो केवल दूध से ही न बनाई गई हो और जिसमें ४०% से कम दुग्धस्नेह हो उस क्रीम का बेचना वर्जित है। उसमें कोई दुग्धेतर वस्तु नहीं मिलाई जा सकती, किंतु मलाई की बर्फ या कुल्फी (आइसक्रीम) में क्रीम के साथ दूध, चीनी, शहद, अंडा, मेवा, फल, चाकलेट तथा स्वीकृत रजक या वासक पदार्थ नियमानुकूल मिलाए जा सकते हैं। क्रीम में ठोस द्रव्य की मात्रा ३६% और दुग्धस्नेह की १०% से कम नहीं होनी चाहिए। आइसक्रीम में किसी फल या मेवे का उपयोग करने की अवस्था में दुग्धस्नेह १०% के स्थान में ८% से कम न हो। क्रीम में स्टार्च, कृत्रिम मिष्टकर अथवा इस प्रकार का कोई अन्य पदार्थ नहीं होना चाहिए, किंतु मिश्रित आइसक्रीम में स्टार्च या अन्य निर्दोष भरण का उपयोग किया जा सकता है। परंतु दुग्धस्नेह की मात्रा क्रीम के समान ही होनी चाहिए।

५ खोआ—इसमें कोई दुग्धेतर पदार्थ नहीं होना चाहिए और दुग्ध-स्नेह की मात्रा २०% से कम न रहनी चाहिए।

६ वनस्पति घी—यह रूप रंग और स्वाद में घी से मिलता जुलता स्नेह है, परंतु घी नहीं है। यह केवल शोधित और जमाया हुआ तेल है। वनस्पति घी का निर्माण उत्प्रेरक (कैटेलिस्ट) निकल की सहायता से शोधित, उदासीनीकृत (न्यूट्रेलाइज्ड) और प्रक्षालित वानस्पतिक तेल के हाइड्रोजनीकरण द्वारा किया जाता है। उसे निर्गंध कर कोई वासक (फ्लेवरिंग) पदार्थ मिलाया जाता है। वनस्पति घी में स्नेह-विलेय (फैट सोल्युबल) ए तथा डी विटामिन मिलाए जा सकते हैं। इसमें कम से कम ५% तिल का तेल मिलाना अनिवार्य है। खाद्यमूल्य की दृष्टि से वनस्पति घी के गुण दोष का विवेचन असंगत है, परंतु वनस्पति घी का सबसे अधिक दुरुपयोग घी के अपद्रव्यीकरण में होता है। वनस्पति घी में कोई उपयुक्त रजक मिलाकर घी के अपद्रव्यीकरण को रोकना अभी तक संभव नहीं हुआ है। वनस्पति में तिल के तेल का मिश्रण इस हेतु करना अनिवार्य है कि बोदोइन द्वारा सुझाई गई फरफरोल परीक्षा द्वारा घी में वनस्पति का अपमिश्रण सुगमता से जाना जा सके। सांद्रित हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और शर्करा के संयोग से प्राप्त फरफरोल तिल के तेल में गुलाबी रंग उत्पन्न कर देता है। शुद्ध घी में वनस्पति घी मिश्रित कर बेचना वर्जित है और एक ही व्यापारी घी तथा वनस्पति घी दोनों का व्यापार नहीं कर सकता।

७ मार्गरीन—यह पदार्थ भी घी या मक्खन से मिलता जुलता है, जिसमें १०% से अधिक दुग्धस्नेह नहीं होता। इसमें वानस्पतिक अथवा जातव स्नेह ८०% से कम और जल की मात्रा १६% से अधिक न होनी चाहिए। वनस्पति घी के समान मार्गरीन में भी ५% तिल का तेल मिलाना अनिवार्य है।

८ खाद्य तेल—खाद्य तेल के निर्माता तथा विक्रेता को अनुज्ञापन लेना आवश्यक है। कोई दो या दो से अधिक तेल मिलाकर नहीं बेचे जा सकते। सरसों के तेल का एक विशेष रूप से अपद्रव्यीकरण होता है। भटकटैया नामक एक जंगली कँटीली झाड़ी के बीज काली सरसों के दाने से मिलते जुलते हैं। इस झाड़ी का वैज्ञानिक नाम आर्जिमोनी मेक्सिकाना है और उत्तर भारत में इसे भटकटैया, सियाल काँटा, कटार, भरभंड, भरभाड़, घमोया, पीली कटाई, भंग, सत्यानाशी, [illegible] आदि

द्वारा ब्रिटनो की पराजय का वर्णन है। स्वय अन्यूरिन उस युद्ध मे कैद हो गया था। [भ० श० उ०]

अन्वयव्यतिरेक अनुमान मे हेतु (धुआँ) और साध्य (आग) के सबध का ज्ञान (व्याप्ति) आवश्यक है। जब तक धुएँ और आग के साहचर्य का ज्ञान नही है तब तक धुएँ से आग का अनुमान नही हो सकता। अनेक उदाहरणो मे दोनो के एक साथ रहने से तथा दूसरे उदाहरणो मे दोनो का एक साथ अभाव होने से ही हेतुसाध्य का सबध स्थिर होता है। हेतु और साध्य का एक साथ किसी उदाहरण (रसोईघर) मे मिलना अन्वय तथा दोनो का एक साथ अभाव (तालाब मे) व्यतिरेक कहलाता है। जिन दो वस्तुओ को एक साथ नही देखा गया है उनमे से एक को देखकर दूसरे का अनुमान नही किया जा सकता, अत अन्वय ज्ञान की आवश्यकता है। किंतु धुएँ और आग के अन्वय ज्ञान के बाद यदि आग को देखकर धुएँ का अनुमान किया जाय तो वह गलत होगा क्योकि आग बिना धुएँ के भी हो सकती है। इस दोष को दूर करने के लिये यह भी आवश्यक है कि हेतुसाध्य के एक साथ अभाव का ज्ञान हो। धुआँ जहाँ नही रहता वहाँ भी आग रह सकती है, अत आग से धुएँ का ज्ञान करना गलत होगा। किंतु जहाँ आग नही होती वहाँ धुआँ भी नही होता। चूँकि धुआँ आग के साथ रहता है (अन्वय), और जहाँ आग नही रहती वहाँ धुआँ भी नही रहता (व्यतिरेक), इसलिये धुएँ को देखकर आग का निर्दोष अनुमान किया जा सकता है। [रा० पा०]

अन्विताभिधानवाद 'प्रभाकर मीमासा' मे माना गया है कि अर्थ का ज्ञान केवल शब्द से नही, विधिवाक्य से होता है। जो शब्द किसी आज्ञापरक वाक्य मे आया हो उसी शब्द की सार्थकता है। वाक्य से बहिष्कृत शब्द का कोई अर्थ नही। घडा शब्द का तब तक कोई अर्थ नही है जब तक इसका ('घडा लाओ जैसे आज्ञार्थक') वाक्य मे प्रयोग नही हुआ है। इसी सिद्धात को अन्विताभिधानवाद कहते हैं। इस सिद्धात के अनुसार जब शब्द आज्ञार्थक वाक्य मे अन्य शब्दो से अन्वित (सबधित) होता है तभी वह अर्थविशेष का अभिधान करता है। प्रत्येक शब्द प्रत्येक अर्थ का बोध कराने मे अक्षम है किंतु व्यवहार के कारण शब्द का अर्थ सीमित हो जाता है। शब्दार्थ की इस सीमा का ज्ञान व्यवहार से ही होगा और भाषा मे व्यवहार वाक्य के माध्यम से ही व्यक्त होता है, अत शब्द का अर्थ वाक्य पर अवलबित रहता है। इस सिद्धात के अनुसार वाक्य ही भाषा की इकाई है। न्याय मे इसके विपरीत अभिहितान्वयवाद का प्रतिपादन किया गया है। [रा० पा०]

अन्हिलवाड़ या अन्हिलपाटन गुजरात की सोलकी राजधानी वर्तमान पाटन था। उसे प्रसिद्ध सोलकी चालुक्य मूलराज ने बसाया था और वह महमूद गजनी के हमले तक बराबर सोलकियो की राजधानी बना रहा। वही सोमनाथ का प्रसिद्ध शिवमदिर था जिसे गजनी के महमूद ने अपने १०२४-२५ ई० के आक्रमण मे नष्ट कर दिया। उसके बाद भी सोलकी चालुक्य लौटे और अन्हिलवाड मे उन्होने पर्याप्त काल तक राज किया। बाद मे बघेलो ने उसे जीतकर वहाँ अपना राजकुल प्रतिष्ठित किया, और १३वी सदी के अत मे अलाउद्दीन खिलजी ने जब गुजरात जीता तब अन्हिलवाड भी उसी के साम्राज्य का नगर बन गया। [भ० श० उ०]

अपकृति (टार्ट,) इसका प्रयोग कानून मे किसी ऐसे अपकार अथवा क्षति के अर्थ मे होता है जिसकी अपनी निश्चित विशेषताएँ होती हैं। मुख्य विशेषता यह है कि उसका प्रतिकार क्षतिपूर्ति के द्वारा सभव हो।

अपकृति की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(१) अपकृति किसी व्यक्ति के अधिकार का अतिक्रमण अथवा उसके प्रति किसी अन्य व्यक्ति के कर्तव्य का उल्लघन है, (२) इसका प्रतिकार व्यवहारवाद द्वारा हो सकता है, (३) इगलैंड मे सन् १८९५ ई० के पूर्व अपकृति का प्रतिकार सामान्य कानून के अतर्गत हुआ करता था।

अग्रेजी विधिप्रणाली मे 'टार्ट' शब्द का प्रयोग नार्मन तथा एंजेविन सम्राटो के राज्यकाल मे प्रारभ हुआ। सन् १८९६ ई० के पूर्व प्राय पाँच शताब्दियो तक अपकृति का प्रतिकार सम्राट् के लेख पर निर्भर रहा। अपकृति सबधी अग्रेजी कानून अधिकाश मे वादजनित-विधि के रूप मे मिलता है यद्यपि गत शताब्दी के प्रारभ में कुछ अनुविधि भी बनाए गए। अतएव सारभूत विधि के रूप मे अपकृति कानून का विकास आधुनिक काल में हुआ।

भारतवर्ष मे अग्रेजी विधि प्रणाली अपनाई जाने के बहुत पहले, सुदूर अतीत मे, अपकृति सबधी कानून के प्रमाण मिलते है। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, व्यास, बृहस्पति तथा कात्यायन की स्मृतियो में अपकृति सबधी हिंदू विधिप्रणाली का आधार हमें मिलता है। हिंदू तथा अग्रेजी अपकृति-विधि-प्रणाली मे एक महत्वपूर्ण अतर यह है कि हिंदू प्रणाली मे क्षतिपूर्ति द्वारा प्रतिकार केवल तभी सभव है जब आर्थिक क्षति हुई हो न कि आक्रमण या मानहानि या परस्त्रीगमन के मामलो मे। मुस्लिम विधिप्रणाली में अपकृति कानून का क्षेत्र और भी अधिक सकीर्ण हो गया। उसमे हिंसात्मक कार्यो मे दड दिया जाता था, केवल सपत्ति के बलाद्ग्रहण के मामलो में क्षतिपूर्ति के नियम थे।

अपकृति तथा अपराध के सिद्धात एव प्रक्रिया दोनो मे अतर है। अपकृति क्षति या कर्तव्य का वह उल्लघन है जिसका सबध व्यक्ति से होता है और वह व्यक्ति अपकारी द्वारा क्षतिपूर्ति का अधिकारी होता है। परतु अपराध लोककर्तव्य का उल्लघन समझा जाता है और उसके लिये समाज अथवा राज्य अपराधी को दड देता है। क्षति के कई दृष्टात ऐसे है जो अपकृति तथा अपराध दोनो श्रेणियो के अतर्गत आते है, जैसे आक्रमण, अपमानलेख या चोरी। कभी कभी कोई क्षति केवल अपराध की श्रेणी में रखी जा सकती है, जैसे सार्वजनिक बाधा, और इसके ठीक विपरीत कतिपय क्षतियाँ केवल अपकृति की श्रेणी में आती हैं, जैसे अनधिकार प्रवेश। अपकृति तथा अपराध सबधी प्रक्रिया मे यह अतर है कि अपकृति के मामले का वाद व्यवहार न्यायालय मे प्रस्तुत किया जाता है परतु आपराधिक मामलो का अभियोग दड न्यायालय मे चलता है।

अपकृति मे वादी का अधिकार साधारण विधि के अतर्गत प्राप्य अधिकार है परतु सविदाभग के मामले मे पक्षो के अधिकार एव कर्तव्य सविदा के उपबधो के अनुसार ही होते हैं। सविदा मे प्राय क्षतिपूर्ति की राशि भी निश्चित हो जाती है और क्षतिपूर्ति सिद्धात रूप मे दड न होकर केवल सविदा के उपबध का पालन मात्र है।

अपकृति के अनेक रूप हैं। मूल शब्द 'टार्ट' का सार्वजनिक रूप में अर्थ यही है कि सीधे एव सरल मार्ग का अतिक्रमण। अपकृति के प्रमुख रूप ये हैं शारीरिक क्षति, जैसे आघात, आक्रमण या मिथ्या कारावास, सपत्ति सबधी अपकार, जैसे अनधिकार प्रवेश, सार्वजनिक बाधा, मानहानि, द्वेषपूर्ण अभियोजन, धोखा अथवा छल तथा विविध अधिकारो की क्षति।

स०ग्र०—सामड आन टार्ट्स, १२वाँ सस्करण, एस० रामस्वामी अय्यर दि लॉव ऑव टार्ट्स, [श्री० अ०]

अपद्रव्यीकरण (मिलावट) धनलोलुप और भ्रष्टाचारी व्यवसायियो द्वारा खाद्य पदार्थो मे अशुद्ध, सस्ती अथवा अनावश्यक वस्तुओ के मिश्रण को कहते हैं। छोटे बडे अनेक खाद्य व्यापारी अधिक लाभ के लोभवश नाना प्रकार की युक्तियो से घटिया वस्तु को बढिया बताकर ऊँचे दाम पर बेचने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार का कुत्सित व्यापार समाज के सभी वर्गो मे न्यूनाधिक मात्रा में व्याप्त है, जिससे जनता को उचित मूल्य देने पर भी घटिया खाद्य सामग्री मिलती है और उससे स्वास्थ्य की हानि भी होती है।

खाद्य व्यवसायियो का यह अनैतिक एव समाजविरोधी आचरण ससार के सभी देशो मे पाया जाता है, किंतु अशिक्षित, निर्धन और अल्पविकसित देशो में यह अधिक देखने मे आता है। दूध, घी, तेल, अन्न, आटा, चाय, काफी, शर्बत आदि महँगे तथा देहसरक्षी पदार्थो (प्रोटेक्टिव फूड्स) मे अधिकतर अपद्रव्यीकरण किया जाता है जिससे उनकी उपयोगिता कम हो जाती है। इससे जनता की जो स्वास्थ्यहानि होती है उसको रोकना परमावश्यक है। सदाचारपूर्ण नैतिक शिक्षा, अत्यत उपयोगी साधन होते हुए भी, अपद्रव्यीकरण रोकने में किसी देश मे भी सफल सिद्ध नही हुई है।

व्यजनो के स्थान पर अपभ्रश में भी 'त्त', 'क्क', 'ह्' आदि द्वित्तव्यजन होते थे। परतु अपभ्रश में क्रमश समीपवर्ती उद्वृत्त स्वरो को मिलाकर एक स्वर करने और द्वित्तव्यजन को सरल करके एक व्यजन सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति बढती गई। इसी प्रकार अपभ्रश मे प्राकृत से कुछ और विशिष्ट ध्वनिपरिवर्तन हुए। अपभ्रश कारकरचना मे विभक्तियाँ प्राकृत की अपेक्षा अधिक घिसी हुई मिलती है, जैसे तृतीया एकवचन मे 'एण' की जगह 'ए' और षष्ठी एकवचन में 'स्स' के स्थान पर 'ह'। इसके अतिरिक्त अपभ्रश निर्विभक्तिक सज्ञा रूपो से भी कारकरचना की गई। सहुँ, केहि, तेहि, देमि, तरणेण, केरअ, मज्झि आदि परसर्ग भी प्रयुक्त हुए। कृदतज क्रियाओ के प्रयोग की प्रवृत्ति बढी और सयुक्त क्रियाओ के निर्माण का आरभ हुआ। सक्षेप मे "अपभ्रश ने नए सुवतो और तिडतो की सृष्टि की"। अपभ्रश साहित्य कीप्राप्त रचनाओ का अधिकाश जैन काव्य है अर्थात् रचनाकार जैन थे और प्रबध तथा मुक्तक सभी काव्यो की वस्तु जैन दर्शन तथा पुराणो से प्रेरित है। सबसे प्राचीन और श्रेष्ठ कवि स्वयभू (नवी शती) हैं जिन्होने राम की कथा को लेकर 'पउमचरिउ' तथा 'महाभारत' की रचना की है। दूसरे महाकवि पुष्पदत (दसवी शती) हैं जिन्होंने जैन परपरा के त्रिषष्ठि शलाकापुरुषो का चरित 'महापुराण' नामक विशाल काव्य मे चित्रित किया है। इसमे राम और कृष्ण की भी कथा समिलित है। इसके अतिरिक्त पुष्पदत ने 'णायकुमारचरिउ' और 'जसहरचरिउ' जैसे छोटे छोटे दो चरितकाव्यो की भी रचना की है। तीसरे लोकप्रिय कवि धनपाल (दसवी शती) है जिनकी 'भविस्सयत्तकहा' श्रुतपचमी के अवसर पर कही जानेवाली लोकप्रचलित प्राचीन कथा है। कनकामर मुनि (११वी शती) का 'करकडुचरिउ' भी उल्लेखनीय चरितकाव्य है।

अपभ्रश का अपना दुलारा छद दोहा है। जिस प्रकार प्राकृत को 'गाथा' के कारण 'गाहाबध' कहा जाता है, उसी प्रकार अपभ्रश को 'दोहाबध'। फुटकल दोहो मे अनेक ललित अपभ्रश रचनाएँ हुई है, जो इदु (आठवी शती) का 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार', रामसिंह (दसवी शती) का 'पाहुड दोहा,' देवसेन (दसवी शती) का 'सावयधम्म दोहा' आदि जैन मुनियो की ज्ञानोपदेशपरक रचनाएँ अधिकाशत दोहा मे हैं। प्रबधचितामणि तथा हेमचद्ररचित व्याकरण के अपभ्रश दोहो से पता चलता है कि शृगार और शौर्य के ऐहिक मुक्तक भी काफी सख्या मे लिखे गए है। कुछ रासक काव्य भी लिखे गए हैं जिनमे कुछ तो 'उपदेशरसायन रास' की तरह नितात धार्मिक हैं, परतु अद्दहमाण (१३वी शती) के सदेशरासक की तरह शृगार के सरस रोमास काव्य भी लिखे गए हैं।

जैनो के अतिरिक्त बौद्ध सिद्धो ने भी अपभ्रश मे रचना की है जिनमे सरहपा, कन्हपा आदि के दोहाकोश महत्वपूर्ण हैं। अपभ्रश गद्य के भी नमूने मिलते हैं। गद्य के टुकडे उद्योतन सूरि (सातवी शती) की 'कुवलयमाला कहा' मे यत्रतत्र बिखरे हुए है।

नवीन खोजो से जो सामग्री सामने आ रही है, उससे पता चलता है कि अपभ्रश का साहित्य अत्यत समृद्ध है। डेढ सौ के आसपास अपभ्रश ग्रथ प्राप्त हो चुके हैं जिनमे से लगभग पचास प्रकाशित है।

स०ग्र०—नामवर सिह हिंदी के विकास मे अपभ्रश का योग (१९५४), हरिवश कोछड अपभ्रश साहित्य (१९५६)। [ना० सि०]

अपरांत भारतवर्ष की पश्चिम दिशा का देशविशेष। 'अपरात' (अपर+अत) का अर्थ है पश्चिम का अत। आजकल यह बबई प्रात का 'कोकण' प्रदेश माना जाता है। तालेमी नामक भूगोलवेत्ता ने इस प्रदेश को, जिसे वह 'अरिआके' या 'अबरातिके' के नाम से पुकारता है, चार भागो मे विभक्त बतलाया है। समुद्रतट से लगा हुआ उत्तरी भाग थाणा और कोलाबा जिलो से मिलता है तथा दक्षिणी भाग रत्नागिरि और उत्तरी कनारा जिलो से। इसी प्रकार समुद्र से भीतरी प्रदेश के भी दो भाग है। उत्तरी भाग मे गोदावरी नदी बहती है और दक्षिणी में कन्नड भाषा-भाषियो का निवास है। महाभारत (आदिपर्व) तथा मार्कंडेय पुराण के अनुसार यह समस्त प्रदेश 'अपरात' के अतर्गत है। बृहत्सहिता (१४।२०) ने इस प्रदेश के निवासियो का 'अपरातक' नाम से उल्लेख किया है जिनका निर्देश रुद्रदामन् के जूनागढ शिलालेखो मे भी है। रघुवश (४।५३) से भी स्पष्ट है कि अपरात सह्य पर्वत तथा पश्चिम सागर के बीच का वह सँकरा भूभाग है जिसे परशुराम ने पुराणानुसार समुद्र को दूर हटाकर अपने निवास के लिये प्रस्तुत किया था। [ब० उ०]

अपरा उपनिषद् की दृष्टि मे अपरा विद्या निम्न श्रेणी का ज्ञान मानी जाती है। मुडक उपनिषद् (१।१।४) के अनुसार विद्या दो प्रकार की होती है—(१) परा विद्या (श्रेष्ठ ज्ञान) जिसके द्वारा अविनाशी ब्रह्मतत्व का ज्ञान प्राप्त होता है (अथ परा, यया तदक्षरमधिगम्यते), (२) अपरा विद्या के अतर्गत वेद तथा वेदागो के ज्ञान की गणना की जाती है। उपनिषद् का आग्रह परा विद्या के उपार्जन पर ही है। ऋग्वेद आदि चारो वेदो तथा शिक्षा, व्याकरण आदि छहों अगो के अनुशीलन का फल क्या है? केवल बाहरी, नश्वर, विनाशी वस्तुओ का ज्ञान, जो आत्मतत्व की जानकारी मे किसी तरह सहायक नही होता। छादोग्य उपनिषद् (७।१।२-३) मे नारद-सनत्कुमार-सवाद मे भी इसी पार्थक्य का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। नारद अध्यात्मशास्त्र के जिज्ञासु शिष्य हैं। सनत्कुमार तत्वशास्त्र के महान् आचार्य है जिनके पास नारद तत्वज्ञान सीखने जाते है। मत्रविद् नारद सकल शास्त्रो के पडित हैं, परतु आत्मविद् न होने से वे शोकग्रस्त हैं। "मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् तरति शोकमात्मवित्।" अत उपनिषदो का स्पष्ट मतव्य है कि अपरा विद्या को छोडकर परा विद्या का अभ्यास करना चाहिए जिससे इसी जन्म में, इसी शरीर से आत्मा का साक्षात्कार हो जाय (केन २।२३)। यूनानी तत्वज्ञ भी इसी प्रकार का भेद—दोक्सा तथा एपिस्टेमी—मानते थे जिनमे से प्रथम साधारण विचार का तथा द्वितीय सत्य का सकेतक माना जाता था। [ब० उ०]

अपराजितवर्मन् इस पल्लव राजा ने पल्लवो की विचलित कुललक्ष्मी को कुछ काल तक अचल रखा। वह ८७६ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा और ८९५ ई० के लगभग उसकी मृत्यु हुई। उसने पाड्यराज वरगुण द्वितीय को परास्त किया, परतु चोडो की सर्वग्रासी शक्ति ने पल्लवो को जीतकर तोडमडलम् पर अधिकार कर लिया और पल्लवो के स्वतत्र शासन का अत हो गया। अपराजितवर्मन् अतिम पल्लव राजा था। [भ० श० उ०]

अपराजिता दुर्गा का पर्यायवाची नाम, जो उनके रौद्र रूप का द्योतक है। इसी रूप से उन्होने अनेक असुरो का सहार किया था। 'देवीपुराण' तथा 'चडीपाठ' मे इस स्वरूप का विस्तृत वर्णन मिलता है और तत्र साहित्य मे अपराजिता की पूजा का विधान है। इसके अतिरिक्त अपराजिता नाम की विद्या का कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' मे उल्लेख किया है। [च० म०]

अपराध जिस समय मानव समाज की रचना हुई अर्थात् मनुष्य ने अपना सामाजिक सगठन प्रारभ किया, उसी समय से उसने अपने सगठन की रक्षा के लिये नैतिक, सामाजिक आदेश बनाए। उन आदेशो का पालन मनुष्य का 'धर्म' बतलाया गया। किंतु, जिस समय से मानव समाज बना है, उसी समय से उसके आदेशो के विरुद्ध काम करनेवाले भी पैदा हो गए हैं, और जब तक मनुष्य प्रवृत्ति ही न बदल जाय, ऐसे व्यक्ति बराबर होते रहेंगे।

युगो से अपराध की व्याख्या करने का प्रयास हो रहा है। डा० पी० के० सेन ने अपराध की सत्ता इतिहास काल के भी पूर्व से मानी है। अतएव इसकी व्याख्या कठिन है। पूर्वी तथा पश्चिमी देशो के प्रारभिक विधानो के नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक नियमो को तोडना समान रूप से अपराध था। सारजेट स्टीफन ने लिखा है कि समुदाय का बहुमत जिसे सही बात समझे, उसके विपरीत काम करना अपराध है। ब्लैकस्टन कहते है कि समूचे समुदाय के प्रति जो व्यक्ति का कर्तव्य है तथा उसके जो अधिकार है उनकी अवज्ञा अपराध है। किसी दूसरे के अधिकार पर आघात पहुँचाना या समाज के प्रति कर्तव्य का पालन न करना, दोनों ही अपराध है। रोम मे अपराध का निर्णय नगर की समूची जनता करती थी। तभी से अपराध को 'सार्वजनिक' भूल कहा जाने लगा है। आज के कानून मे अपराध 'सार्वजनिक हानि' की वस्तु समझा जाता है।

दही, मक्खन, घी, छेना, मवनित (कडेन्स्ड) दूध, क्रीम (मलाई), चाय, काफी और कोको में रजक का प्रयोग वर्जित है। (८) आहार को स्वादिष्ट, रुचिकर, सुगन्धपूर्ण, सुपाच्य, पौष्टिक और अधिक काल तक सुरक्षित रखने के लिये वासक (फ्लेवरिंग), रजक, विरजक, गंधनाशक, तथा परिरक्षी पदार्थों की नियमानुकूल की गई मिलावट न्यायसंगत है, परंतु केवल वैध पदार्थ ही स्वीकृत खाद्यों में प्रयुक्त किए जायें और नामपत्र पर उनका स्पष्ट उल्लेख हो। (९) कोचिनियल या कारमाइन, कैरोटीन या कैरोटिनोइड्स, क्लोरोफिल, लैक्टोफ्लेवीन, कैरामेल, अनोटो, रतनजोत, केसर और करक्यूमिन प्रकृतिप्रदत्त रजक हैं, जो प्राकृतिक या संश्लेषित रीति से प्राप्त कर प्रयोग में लाए जा सकते हैं। (१०) तारकोल या अलकतरे से प्राप्त रजक प्राय कैंसरजनक होते हैं, परंतु तारकोल से प्राप्त ११ प्रकार के लाल, पीले, नीले और काले रजक केंद्रीय समिति द्वारा इस समय खाद्य में प्रयुक्त करने के लिये स्वीकृत हैं। (११) बेंज़ोइक अम्ल तथा बेंजोएट और गंधक डाइ ऑक्साइड तथा सल्फाइट खाद्य परिरक्षक के रूप में प्रयुक्त किए जाते हैं। इनका प्रयोग फलों के रस, शर्बत तथा सरक्षित फल, मुरब्बा आदि तक ही सीमित है। (१२) नमक, चीनी, सिरका, लैक्टिक अम्ल, नाइट्रिक अम्ल, ग्लिसरीन, ऐलकोहल, मसाले तथा मसालों से प्राप्त सगंध तेल आदि स्वादकर पदार्थ परिरक्षक भी हैं, किंतु इनके प्रयोग के लिये कोई विशेष नियम नहीं है। (१३) टार्टरिक अम्ल, फॉस्फोरिक अम्ल अथवा किसी खनिज (मिनरल) अम्ल का प्रयोग खाद्य या पेय में वर्जित है।

निम्नलिखित खाद्य पदार्थों के निर्माण, सचय, वितरण, विक्रय आदि के लिये अनुज्ञापत्र प्राप्त करना आवश्यक है और उसके नियमों का पालन अनिवार्य है

(१) दूध तथा मथित दूध (मक्खनरहित दूध), (२) दूधजन्य पदार्थ (खोआ, क्रीम, खडी, दही आदि), (३) घी, (४) मक्खन, (५) चर्बी, (६) खाद्य तेल, (७) निकम्मा (वेस्ट) घी, (८) मिठाई, (९) वातित या फेनिल पेय (एअरेटेड वाटर), (१०) मैदा के बने पदार्थ (बिस्कुट, केक, डबल रोटी आदि), तथा (११) फलोत्पन्न पदार्थ (फ्रूट प्रॉडक्ट्स) के अतिरिक्त अन्य पदार्थ जो प्रादेशिक सरकार निश्चय करे। फलोत्पन्न पदार्थ का नियत्रण केंद्रीय सरकार के फ्रूट प्रॉडक्ट्स आर्डर के अनुसार किया जाता है।

यदि अनुज्ञापत्र द्वारा नियत्रित कोई व्यापार एक से अधिक स्थान में किया जाता है तो व्यापारी को प्रत्येक स्थान के लिये पृथक् अनुज्ञापत्र प्राप्त करना होगा। अनुज्ञापत्र उसी स्थान के लिये दिया जा सकता है जो अस्वास्थ्यकारी दुर्गुणों से रहित हो। घी के व्यापारी को निकम्मा घी, वनस्पति तथा चरबी के व्यापार की अनुमति नहीं मिलती। होटल और भोजनालय के प्रबंधकों को घी, तेल, वनस्पति, चर्बी आदि में पके पदार्थों की अलग अलग सूची ग्राहकों की जानकारी के लिये विज्ञापित करना आवश्यक है। घी, मक्खन, वनस्पति, खाद्य तेल तथा चर्बी के निर्माता और थोक व्यापारियों को इन पदार्थों के निर्माण, आयात, निर्यात संबधी विवरण रखने पडते हैं जिनका आवश्यकतानुसार निरीक्षण किया जा सकता है। फेरीवालों को भी अनुज्ञापत्र लेना पडता है और एक धातु का बिल्ला धारण करना पडता है जिसपर आवश्यक सूचना होती है। किसी पदार्थ का आपत्तियोग्य, संदिग्ध या भ्रामक व्यापारिक नाम स्वीकार नहीं किया जाता।

खाद्यशुद्धता संबंधी एक केंद्रीय समिति तथा एक केंद्रीय प्रयोगशाला की स्थापना की गई है। इनके द्वारा भारतीय खाद्य का रासायनिक विश्लेषण करने की सर्वमान्य रीति तथा शुद्धता के मानक (स्टैंडर्ड) स्थिर किए जाते हैं। इसी प्रकार प्रदेशों में खाद्यविश्लेषक तथा अनेक खाद्यनिरीक्षक नियुक्त हैं। खाद्यनिरीक्षक विक्रेताओं से संदिग्ध खाद्य का नमूना मोल लेकर विश्लेषक से परीक्षा कराता है और यदि नमूना अपद्रव्यित सिद्ध होता है तो स्वास्थ्याधिकारी की अनुमति से अपद्रव्यित खाद्य के विक्रेता को न्यायालय से उचित दंड दिलाता है। खाद्यविश्लेषक के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह रासायनिक विश्लेषण द्वारा अपद्रव्यकारी पदार्थ तथा उसकी मात्रा का पता लगाए। अपराध सिद्ध करने के लिये शुद्धता का अभाव ही प्रमाणित करना पर्याप्त है। खाद्यनिरीक्षक समय समय पर प्रत्येक अनुज्ञापत्र प्राप्त विक्रेता की खाद्य सामग्री का निरीक्षण करता रहता है और अनुज्ञापत्र में उल्लिखित नियमों का उल्लघन होने पर स्वास्थ्याधिकारी द्वारा अनुज्ञापत्र अस्वीकृत कराता है या न्यायालय द्वारा विक्रेता को दड दिलाता है। खाद्यनिरीक्षक अस्थायी रूप से सदिग्ध खाद्य की बिक्री रुकवा सकता है और आवश्यक समझे तो उसे अपने अधिकार में ले सकता है। इसके औचित्य का निपटारा अत में न्यायालय द्वारा होता है।

अपद्रव्यीकरण सिद्ध करने के लिये खाद्य की रासायनिक परीक्षा आवश्यक है। खाद्य का नमूना प्राप्त करने के पूर्व स्वास्थ्य-निरीक्षक विक्रेता को सूचना देता है और उचित मूल्य चुकाकर आवश्यक मात्रा मोल लेता है। इसके तीन भाग कर अलग अलग तीन बोतलों में बद कर सब पर मुहर लगा देता है और नामपत्र लगाकर सब ज्ञातव्य तथ्य लिख देता है। एक बोतल विक्रेता को दूसरी खाद्यविश्लेषक और तीसरी खाद्यनिरीक्षक के लिये होती है। खाद्य विश्लेषक बोतल पाने पर उसकी परीक्षा करता है। परीक्षाफल से अपद्रव्यण सिद्ध होने पर विक्रेता पर स्वास्थ्याधिकारी द्वारा अभियोग लगाया जाता है और न्यायालय द्वारा उचित धनदड या कारादड अथवा दोनों दिलाए जाते हैं। यदि खाद्यविश्लेषक की परीक्षा पर अभियोगी या अभियुक्त किसी को सदेह हो और पुन परीक्षा की आवश्यकता जान पडे तो उनके पास की सुरक्षित बोतल आवश्यक शुल्क सहित केंद्रीय खाद्यप्रयोगशाला में भेजी जाती है और उसकी परीक्षा का फल सर्वथा आपत्तिरहित माना जाता है। साधारण ग्राहक भी आवश्यक शुल्क देकर किसी विक्रेता से प्राप्त खाद्य की परीक्षा करा सकता है, परतु उसे अपनी इस इच्छा की पूर्वसूचना विक्रेता को देनी आवश्यक है और खाद्य-निरीक्षक द्वारा प्रयुक्त ढग से ही नमूना मोल लेना होगा। परीक्षाफल से अपद्रव्यीकरण सिद्ध होने पर ग्राहक को शुल्क का धन वापस प्राप्त करने का अधिकार होगा।

स्वास्थ्यरक्षा की दृष्टि से प्रत्येक खाद्य पदार्थ की उपादेयता उससे प्राप्त पोषक सारों की मात्रा पर निर्भर है। पोषक सारों की मात्रा बढाने के हेतु या भोजन पकाने से उनकी मात्रा कम न होने देने के लिये खाद्य की गुणवृद्धि अथवा समृद्धि की जाती है। यह कार्य वैज्ञानिक रीति से जनता में व्याप्त कुपोषण दूर करने के सदुद्देश्य से करना प्रशसनीय है। विदेशों में मैदा, डबलरोटी, बिस्कुट, मार्गरीन, काफी, कोको, चाकलेट, चाय, लवण आदि अनेक खाद्य और पेय पदार्थों में विटामिन और खनिज द्रव्य द्वारा नियमानुसार गुणवृद्धि करने की प्रवृत्ति बढती जाती है। भारत में भी आटे में कैलसियम कार्बोनेट (चाक, खडिया), मैदा और चावल में बी-विटामिन और कैलसियम कार्बोनेट, समजित (टोन्ड) और पुनस्सयोजित दूध तथा वनस्पति में ए-विटामिन और गलगड (गॉयटर) के स्थानिक रोगवाले क्षेत्रों में लवण में आयोडीन की मिलावट द्वारा गुणवृद्धि अथवा समृद्धि करने का प्रस्ताव है और कुछ अशों में यह किया भी जा रहा है। रक्षा मत्रालय के आदेशानुसार सन् १९४६ से भारतीय सेना में कैलसियम कार्बोनेट द्वारा प्रबलित आटे का व्यवहार हो रहा है। बबई सरकार ने भी यही किया और ६४० पाउड आटे में एक पाउड कैलसियम कार्बोनेट मिलाना जारी किया, किंतु कुछ अडचनों के कारण इस प्रयोग को सन् १९४९ में बद कर दिया गया। वनस्पति घी में ७०० अतर्राष्ट्रीय मात्रक (आई० यू०) विटामिन-ए प्रति आउस मिलाने का चलन हो गया है। लवण में सोडियम आयोडेट मिलाकर गलगडीय क्षेत्रों में भेजा जाता है। ग्राहक की जानकारी के लिये नामपत्र पर गुणवृद्धिकारी पदार्थ का नाम और मात्रा की आवश्यक सूचना होती है, जिससे किसी प्रकार के भ्रम की सभावना नहीं रहती। अब सश्लिष्ट विटामिन बनने लगे हैं और भारत में भी जब विटामिन का उत्पादन होने लगेगा तो पोषक द्रव्यों द्वारा खाद्य की गुणवृद्धि कर जनता में व्याप्त कुपोषण दूर करना सुगम हो जायगा।

प्रत्येक खाद्य के अपद्रव्यीकरण के सबध में प्रचलित कुरीतियाँ, उनके निरीक्षण और परीक्षण की विधियाँ तथा उनकी शुद्धता के मानक (स्टैंडर्ड) का विवरण देना सभव नहीं है, किंतु सकेत रूप में नित्यप्रति के व्यवहार में आनेवाले खाद्य के अपमिश्रण के विषय में कुछ ज्ञातव्य तथ्यों का उल्लेख सक्षेप में किया जाता है

१ खाद्यान्न—खाद्यान्न में धूल, ककड, तृण, भूसा आदि के अतिरिक्त अन्य सस्ते अन्न मिलावट के रूप में प्राय नित्य ही देखने में आते हैं। जौ,

इसीलिये आज प्रत्येक अपराध तथा प्रत्येक अपराधी व्यक्तिगत अध्ययन, व्यक्तिगत निदान तथा व्यक्तिगत चिकित्सा का विषय बन गया है।
[पु० व०]

अपरिणत प्रसव जब गर्भ २८ से ४० सप्ताह के बीच बाहर आ जाता है तब उसे अपरिणत प्रसव (प्रिमैच्योर लेबर) कहते हैं। अट्ठाईस सप्ताह और उससे अधिक समय तक गर्भाशय में स्थित भ्रूण में जीवित रहने की क्षमता मानी जाती है। अमरीकन ऐकैडेमी ऑव पीडिऐट्रिक्स ने सन् १९३५ में यह नियम बनाया था कि साढे पांच पाउंड या उससे कम भार का नवजात शिशु अपरिणत शिशु माना जाय,चाहे गर्भकाल कितने ही समय का क्यों न हो। दि लीग ऑव नेशंस की इंटरनैशनल मेडिकल कमिटी ने भी यह नियम स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार के प्रसव लगभग दस प्रति शत होते हैं।

अपरिणत प्रसव के कारण—(१) वे रोग जो गर्भावस्था में माता के स्वास्थ्य के लिये आपत्तिजनक हैं, जैसे जीर्ण वृक्क-कोप (क्रॉनिक नेफ्राइटिस), गुर्दे की बीमारी, उच्च रक्तचाप (हाई ब्लड प्रेशर), मधुमेह (डायाबिटीज) और उपदंश (सिफलिस), (२) गर्भावस्था के कुछ विशेष रोग, जैसे गर्भावस्थीय विषाक्तता (टॉक्सीमिया ऑव प्रेगनैन्सी), प्रसवपूर्व रुधिरस्राव, (३) संक्रामक रोग, जैसे गोणिकार्ति (पाइलाइटीज), इन्फ्लुएंजा, न्यूमोनिया, उंडुकार्ति (ऐपेंडिसाइटिस), पित्ताशयार्ति (कोलिसिस्टाइटिस), माता की विकृत मनोस्थिति, शरीर में रक्त की अत्यधिक कमी, इत्यादि, (४) गर्भाशय में कई भ्रूणों का होना और जलात्यय (हाइड्रैम्नियास), (५) लगभग ५० प्रति शत अपरिणत प्रसवों में कोई विशेष कारण विदित नहीं होता।

प्रबंध—पूर्वोक्त कारणों के अनुसार प्रसववेदना प्रारंभ होते ही उपयुक्त चिकित्सा होनी चाहिए, और निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए

(१) गर्भकाल में समय समय पर डाक्टरी परीक्षा करानी चाहिए और कोई रोग होने पर उसका उचित उपचार होना चाहिए, (२) रक्तस्राव होने पर उपयुक्त उपचार से अपरिणत प्रसव रोका जा सकता है, (३) प्रसव ऐसे चिकित्सालयों में होना चाहिए जहाँ अपरिणत शिशु के पालन का उचित प्रबंध हो, (४) प्रसवकाल में उचित चिकित्सा न मिलने से बहुत से बालक जन्म के समय, या जन्मते ही मर जाते हैं। इसलिये प्रसवकाल में कुछ उचित नियमों का पालन आवश्यक है, जैसे गर्भाशय की झिल्ली को अधिक से अधिक काल तक फूटने से बचाना, झिल्ली फूटने पर नाल को गर्भाशय के बाहर निकलने से रोकना, ऐसी ओषधियों का प्रयोग न करना जो बालक के लिये हानिप्रद हों, जैसे अफीम या बारबिट्युरेट्स, (५) प्रसव काल में माता को विटामिन 'के' १० मिलीग्राम चार चार घंटे पर देते रहना और बालक को जन्मते ही विटामिन 'के' १० मिलीग्राम सूई द्वारा पेशी में लगाना, (६) प्रसव के समय बालक का सिर बाहर निकालने के लिये किसी प्रकार के अस्त्र का उपयोग न करना, (७) बच्चे के सिर की रक्षा के हेतु भगद्वारिका छेदन (एपीजियोटोमी) करना। कुछ रोगों में, जहाँ माता की रक्षा के लिये गर्भ का अंत करना आवश्यक समझा जाता है, अपरिणत प्रसव करवाना आवश्यक होता है।

अपरिणत-प्रसव-वेदना उत्पन्न करने की विधियाँ दो प्रकार की हैं (१) ओषधियों का प्रयोग, (२) गर्भाशय की झिल्ली को फोडना या गर्भाशय की ग्रीवा को लेमिनेरिया टेन्टस द्वारा फैलाना, (३) संध्या समय दो आउंस अंडी का तेल (कैस्टर ऑयल) पिलाकर तीन घंटे बाद इनीमा लगाना, (४) यदि प्रात काल तक पीडा आरंभ न हो तो पिट्यूइटरी के दो दो यूनिट की सूई पेशी में आधे आधे घंटे पर ६ बार लगाना।

कुनैन (क्विनीन) आदि का प्रयोग अब नहीं किया जाता।
[क० गु०]

अपलेशियन पर्वत उत्तरी अमरीका की एक पर्वतश्रेणी है जिसका कुछ भाग कैनाडा में और अधिकांश संयुक्त राज्य में है। यह उत्तर में न्यूफाउंडलैंड से गैस्पे प्रायद्वीप और न्यू ब्रंज़विक होकर दक्षिण-पश्चिम की ओर मध्य अलाबामा तक १,५०० मील की लंबाई में फैला है। इस पर्वतमाला की चौडाई उत्तर में २५० मील से लेकर दक्षिण में १५० मील तक है। इसकी समुद्रतल से औसत ऊँचाई साधारण है और इसका उच्चतम शिखर ब्लैक पर्वत पर स्थित माउंट माइकेल (६,७११ फुट) है। अपलेशियन के शिखर साधारणत गुंबदाकार हैं, जिनमें रॉकी पर्वत या पश्चिमी संयुक्त राज्य के अन्य नवीन पर्वतों की भाँति नोकीलेपन का अभाव है।

इस प्रणाली का भूवैज्ञानिक इतिहास अत्यंत जटिल है। इसके मौलिक उत्थान (अपलिफ्ट) और भंजन (फोल्डिंग) की क्रिया पुराकल्प (पैलिओज़ोइक) में, विशेषकर गिरियुग (परमियन युग) में, आरंभ हुई। भंजन-क्रिया तीव्रतापूर्वक पश्चिम से पूर्व की ओर बढती गई, जिसके फलस्वरूप पूर्वी क्षेत्र भंजन तथा विभंजन (फॉल्टिंग) द्वारा अधिक प्रभावित हुए हैं।

इस महत्वपूर्ण गिरि-निर्माण-काल के पश्चात् अपलेशियन प्रदेश क्रमश अपक्षरण और उत्थान-कालों से प्रभावित होता रहा है। निकट पूर्वकाल में, संभवत तृतीयक कल्प (टर्शियरी एरा) के अंत में, इस प्रदेश ने एक निम्नस्तरीय प्राचीन अपक्षरित मैदान (लो ओल्ड-एज एरोज़्हनल प्लेन) का रूप धारण कर लिया। इसके पश्चात् पुनरुत्थान के कारण समुद्रतल से ऊँचाई में वृद्धि हुई और फलस्वरूप नदियों में महत्वपूर्ण ऊर्ध्वाधर अपक्षरण हुआ। धरातलीय शिलाओं की कठोरता सर्वत्र समान न होने के कारण यह अपक्षरण असमान गति से होता रहा और परिणामस्वरूप वर्तमान काल में दृष्टिगोचर विविध भूदृश्यों की उत्पत्ति हुई।

भूम्याकारीय दृष्टि से अपलेशियन श्रेणी तीन समांतर भागों में विभक्त हो जाती है जो क्रमानुसार पश्चिम से पूर्व की ओर इस प्रकार हैं :

(१) अलघनी-कंबरलैंड क्षेत्र अथवा अपलेशियन पठार, जो मुख्यत क्षैतिज जलज शिलाओं द्वारा निर्मित एक बहु-शाखा-युक्त अपक्षरित पहाडी प्रदेश है। इसका उत्तरी भाग हिमनदियों द्वारा प्रभावित हुआ है। (२) मध्यस्थ 'रीढ तथा घाटी खंड' (रिज ऐंड वैली सेक्शन), जहाँ शृंखलाओं और घाटियों का समांतर क्रम अत्यधिक भंजित शिलाओं पर स्थित है। यहाँ घाटियों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण 'महान घाटी' (ग्रेट वैली) है जो न्यूयार्क से अलाबामा तक फैली है। (३) ब्लू रिज क्षेत्र जो आग्नेय और परिवर्तित-मिश्रित मणिभीय शिलाओं की अपक्षरित पहाडियों और नीचे पर्वतों का क्रम है। इसके अंतर्गत पीडमॉण्ट पठार भी आता है।

अपलेशियन प्रणाली के पूर्व में अटलांटिक समुद्रतटीय मैदान स्थित है। अपलेशियन से पूर्व की ओर प्रवाहित नदियाँ पीडमॉण्ट पठार से प्रपातों के रूप में इस मैदान में उतरती हैं। इन प्रपातों को मिलानेवाली कल्पित रेखा को प्रपातरेखा कहते हैं। जलशक्ति की विशेष सुविधा के कारण प्रपातरेखा के नगर महत्वपूर्ण औद्योगिक केंद्र हैं, जैसे फिलाडलफिया, बाल्टीमोर, इत्यादि।

भूविज्ञान—अपलेशियन प्रदेश की शिलाएँ दो प्राकृतिक भागों में विभक्त हो जाती हैं (क) प्राचीन (कैंब्रियन-पूर्व) मणिभीय शिलाएँ, जैसे, संगमरमर, शिस्ट, नाइस, ग्रैनाइट, इत्यादि और (ख) पुराकल्पीय अवसादों (पैलियोज़ोइक सेडिमेंट्स) का एक विशाल क्रम जिसके अंतर्गत कैंब्रियन से लेकर गिरियुग (पर्मियन युग) तक की शिलाएँ आती हैं, जैसे बालुकाश्म (सैंडस्टोन), शेल, चूने का पत्थर और कोयला। ये शिलाएँ कैंब्रियनपूर्व शिलाओं के समान अधिक परिवर्तित नहीं हैं। परतु स्थानीय परिवर्तनों के कारण शेल स्लेट में, और बिटूमिनस कोयला ऐंथ्रासाइट में (जैसे उत्तरी पेनसिलवेनियाँ में), या ग्रैफाइट में (जैसे रोड द्वीप में), परिवर्तित हो गया है। अपलेशियन के मुख्य खनिज कोयला और लोहा हैं।
[रा० ना० मा०]

अपस्फीत शिरा शरीर के विविध अंगों से हृदय तक रुधिर ले जानेवाली वाहिनियों के फूल जाने और टेढी मेढी हो जाने को अपस्फीत शिरा (वैरिकोज वेन्स) कहते हैं। इस रोग का कारण यह है शिराएँ ऊतकों से रक्त को हृदय की ओर ले जाती हैं। शिराओं को गुरुत्वाकर्षण के विपरीत रक्त को टाँगों से हृदय में ले जाना पडता है। ऊपर की ओर के इस प्रवाह की सहायता करने के लिये शिराओं के भीतर कितनी ही कपाटिकाएँ बनी हुई हैं। ये कपाटिकाएँ रक्त को केवल ऊपर की ही ओर जाने देती हैं। जब कपाटिकाएँ दुर्बल हो जाती हैं, या कहीं कहीं

करते हैं। सरसों के साथ उसके बीज की मिलावट कर तेल पेर लिया जाता है। इस प्रकार अपमिश्रित सरसों का तेल बेचने से व्यापारी को आर्थिक लाभ होता है। यह तस्कर व्यापार बहुत बढ गया है। इस अपमिश्रित तेल के सेवन से बेरीबेरी से मिलती जुलती, परंतु सर्वथा भिन्न, महामारी जलशोथ (एपीडेमिक ड्रॉप्सी) नामक रोग हो जाता है। आर्गीमनी मेक्सिकाना मे पाया जानेवाला सैंग्यूनेरीन नामक विषैला ऐल्कैलायड संभवत इस रोग का कारण है। यह रोग कभी कभी बहुत व्यापक हो जाता है और उत्तर प्रदेश, बिहार, बगाल मे इसके प्रकोप यदा-कदा होते रहे हैं। पूरी छानबीन कर आर्गीमनी मेक्सिकाना को अब विष घोषित कर दिया गया है और अफीम, संखिया, कुचला आदि की तरह कोई इसे अनधिकृत रूप से अपने पास नही रख सकता। इस उपाय से यह विषैला अपमिश्रण बहुत कुछ नियंत्रित हो गया प्रतीत होता है।

९ वातित या फेनिल पेय (एअरेटेड वाटर)—अशुद्ध जल अथवा अशुद्ध बर्फ के योग से बना पेय शुद्ध नही माना जाता। शर्करा, साइट्रिक अम्ल तथा स्वीकृति रजक का नियमित मात्रा मे प्रयोग वैध है। टार्टरिक अम्ल, फास्फोरिक अम्ल तथा खनिज अम्ल का प्रयोग और सीसा आदि विषैली धातुओ के लवणो का मिश्रण निषिद्ध है।

भारत मे मसालो का निर्यात-व्यापार बहुत होता है। अपमिश्रित मसालो के निर्यात से इस विदेशी व्यापार को बहुत हानि पहुँचने की आशका है। इस कारण मसालो की शुद्धता के मानक स्थिर कर दिए गए है। काफी, चाय, चीनी, शहद आदि के मानक भी स्थिर हो गए है। शेष पदार्थो के मानक देश के प्रत्येक भाग से नमूनो की परीक्षा कर समय समय पर स्थिर किए जा रहे है। केंद्रीय खाद्य मानक समिति यह कार्य बराबर कर रही है। कुछ प्रदेशो ने अखिल भारतीय मानक के अभाव मे अपने मानक लागू कर रखे है।

सं०ग्र०—प्रिवेंशन ऑव फूड ऐडल्टरेशन ऐक्ट, १९५४, प्रिवेंशन ऑव फूड ऐडल्टरेशन रूल्स, १९५५, मॉडेल पब्लिक हेल्थ ऐक्ट (रिपोर्ट, १९५५), एनवाइरन्मेंटल हाइजीन कमेटी रिपोर्ट, १९४९, (ये सभी स्वास्थ्य मत्रालय के प्रकाशन हैं)। आहार और आहार विद्या, पोषण, हाइड्रोजनीकरण, फेनिल पेय, दूध, घी तथा गेहूँ शीर्षक लेख भी देखे।
[भ० श० या०]

अपभ्रंश आधुनिक भाषाओ के उदय से पहले उत्तर भारत मे बोलचाल और साहित्य रचना की सबसे जीवत और प्रमुख भाषा (समय लगभग छठी से १२वी शताब्दी)। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से अपभ्रंश भारतीय आर्यभाषा के मध्यकाल की अतिम अवस्था है जो प्राकृत और आधुनिक भाषाओ के बीच की स्थिति है।

अपभ्रंश के कवियो ने अपनी भाषा को केवल 'भासा', 'देसी भासा' अथवा 'गामेल्ल भासा' (ग्रामीण भाषा) कहा है, परतु सस्कृत के व्याकरणो और अलकारग्रथो मे उस भाषा के लिये प्राय 'अपभ्रंश' तथा कही कही 'अपभ्रष्ट' सज्ञा का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार अपभ्रंश नाम सस्कृत के आचार्यो का दिया हुआ है, जो आपाततः तिरस्कारसूचक प्रतीत होता है। महाभाष्यकार पतजलि ने जिस प्रकार 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग किया है उससे पता चलता है कि सस्कृत या साधु शब्द के लोकप्रचलित विविध रूप अपभ्रंश या अपशब्द कहलाते थे। इस प्रकार प्रतिमान से च्युत, स्खलित, भ्रष्ट अथवा विकृत शब्दो को अपभ्रंश सज्ञा दी गई और आगे चलकर यह सज्ञा पूरी भाषा के लिये स्वीकृत हो गई। दडी (सातवी शती) के कथन से इस तथ्य की पुष्टि होती है। उन्होने स्पष्ट लिखा है कि शास्त्र अर्थात् व्याकरण शास्त्र मे सस्कृत से इतर शब्दो को अपभ्रंश कहा जाता है, इस प्रकार पालि-प्राकृत-अपभ्रंश सभी के शब्द 'अपभ्रंश' सज्ञा के अतर्गत आ जाते है, फिर भी पालि-प्राकृत को 'अपभ्रंश' नाम नही दिया गया।

दडी ने इस बात को स्पष्ट करते हुए आगे कहा है कि काव्य मे आभीर आदि बोलियो को अपभ्रंश नाम से स्मरण किया जाता है, इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अपभ्रंश नाम उसी भाषा के लिये रूढ हुआ जिसके शब्द तद्भवेतर थे और साथ ही जिसका व्याकरण भी मुख्यत आभीरादि लोक बोलियो पर आधारित था। इसी अर्थ मे अपभ्रंश पालि-प्राकृत आदि से विशेष भिन्न थी।

अपभ्रंश के सबध मे प्राचीन अलकार ग्रथो मे दो प्रकार के परस्पर विरोधी मत मिलते है। एक ओर रुद्रट के काव्यालकार (२-१२) के टीकाकार नमिसाधु (१०६९ ई०) अपभ्रंश को प्राकृत कहते है तो दूसरी ओर भामह (छठी शती), दडी (सातवी शती) आदि आचार्य अपभ्रंश का उल्लेख प्राकृत से भिन्न स्वतत्र काव्यभाषा के रूप मे करते है। इन विरोधी मतो का समाधान करते हुए याकोबी (भविस्सयत्त कहा की जर्मन भूमिका, अंग्रेजी अनुवाद, बडौदा ओरिएटल इस्टीटयूट जर्नल, जून १९५५) ने कहा है कि शब्दसमूह की दृष्टि से अपभ्रंश प्राकृत के निकट है और व्याकरण की दृष्टि से प्राकृत से भिन्न भाषा है।

इस प्रकार अपभ्रंश के शब्दकोश का अधिकाश, यहाँ तक कि नब्बे प्रति शत, प्राकृत से गृहीत है और व्याकरणिक गठन प्राकृत रूपो से अधिक विकसित तथा आधुनिक भाषाओ के निकट है। प्राचीन व्याकरणो के अपभ्रंश सबधी विचारो के क्रमबद्ध अध्ययन से पता चलता है कि छ सौ वर्षो मे अपभ्रंश का क्रमश विकास हुआ। भरत (तीसरी शती) ने इसे शाबर, आभीर, गुर्जर आदि की भाषा बताया है। चड (छठी शती) ने 'प्राकृतलक्षणम्' मे इसे विभाषा कहा है और उसी के आसपास वलभी के राजा ध्रुवसेन द्वितीय ने एक ताम्रपट्ट मे अपने पिता का गुणगान करते हुए उन्हे सस्कृत और प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश प्रबधरचना में निपुण बताया है। अपभ्रंश के काव्यसमर्थ भाषा होने की पुष्टि भामह और दडी जैसे आचार्यो द्वारा आगे चलकर सातवी शती मे हो गई। काव्यमीमासाकार राजशेखर (दसवी शती) ने अपभ्रंश कवियो को राजसभा में समानपूर्ण स्थान देकर अपभ्रंश के राजसमान की ओर सकेत किया तो टीकाकार पुरुषोत्तम (११वी शती) ने इसे शिष्टवर्ग की भाषा बतलाया। इसी समय आचार्य हेमचद्र ने अपभ्रंश का विस्तृत और सोदाहरण व्याकरण लिखकर अपभ्रंश भाषा के गौरवपूर्ण पद की प्रतिष्ठा कर दी। इस प्रकार जो भाषा तीसरी शती में आभीर आदि जातियो की लोक बोली थी वह छठी शती से साहित्यिक भाषा बन गई और ११वी शती तक जाते जाते शिष्टवर्ग की भाषा तथा राजभाषा हो गई।

अपभ्रंश के क्रमश भौगोलिक विस्तारसूचक उल्लेख भी प्राचीन ग्रथो मे मिलते है। भरत के समय (तीसरी शती) तक यह पश्चिमोत्तर भारत की बोली थी, परतु राजशेखर के समय (दसवी शती) तक पजाब, राजस्थान और गुजरात अर्थात् समूचे पश्चिमी भारत की भाषा हो गई। साथ ही स्वयभू, पुष्पदत, धनपाल, कनकामर, सरहपा, कन्हपा आदि की अपभ्रंश रचनाओ से प्रमाणित होता है कि उस समय यह समूचे उत्तर भारत की साहित्यिक भाषा हो गई थी।

वैयाकरणो ने अपभ्रंश के भेदो की भी चर्चा की है। मार्कंडेय (१७वी शती) के अनुसार इसके नागर, उपनागर और ब्राचड तीन भेद थे और नमिसाधु (११वी शती) के अनुसार उपनागर, आभीर और ग्राम्य। इन नामो से किसी प्रकार के क्षेत्रीय भेद का पता नही चलता। विद्वानो ने आभीरो को व्रात्य कहा है, इस प्रकार 'ब्राचड' का सबध 'व्रात्य' से माना जा सकता है। ऐसी स्थिति मे आभीरी और ब्राचड एक ही बोली के दो नाम हुए। क्रमदीश्वर (१३वी शती) ने नागर अपभ्रंश और शसक छद का सबध स्थापित किया है। शसक छदो की रचना प्राय पश्चिमी प्रदेशो में ही हुई है। इस प्रकार अपभ्रंश के सभी भेदोपभेद पश्चिमी भारत से ही सबद्ध दिखाई पडते है। वस्तुत साहित्यिक अपभ्रंश अपने परिनिष्ठित रूप मे पश्चिमी भारत की ही भाषा थी, परतु अन्य प्रदेशो मे प्रसार के साथ साथ उसमे स्वभावत क्षेत्रीय विशेषताएँ भी जुड गई। प्राप्त रचनाओ के आधार पर विद्वानो ने पूर्वी और दक्षिणी दो अन्य क्षेत्रीय अपभ्रंशो के प्रचलन का अनुमान लगाया है।

अपभ्रंश भाषा का ढाँचा लगभग वही है जिसका विवरण हेमचद्र के 'सिद्धहेमशब्दानुशासनम्' के आठवे अध्याय के चतुर्थ पाद मे मिलता है। ध्वनिपरिवर्तन की जिन प्रवृत्तियो के द्वारा सस्कृत शब्दो के तद्भव रूप प्राकृत में प्रचलित थे, वही प्रवृत्तियाँ अधिकाशत अपभ्रंश शब्दसमूह में भी दिखाई पडती है, जैसे अनादि और असयुक्त क, ग, च, ज, त, द, प, य, और व का लोप तथा इनके स्थान पर उद्वृत्त स्वर अ अथवा य श्रुति का प्रयोग। इसी प्रकार प्राकृत की तरह ('क्त', 'क्व', 'द्व' आदि सयुक्त

राजा के समक्ष हो सकती थी (दे०—'इवोल्यूशन आव इंग्लिश ला'—लेखक, एस० सी० सेन गुप्ता, पृष्ठ ४५)।

मुगल काल में व्यवहारवादों की अपील सदर दीवानी अदालत में तथा दंडवादों की अपील निज़ाम-ए-अदालत में होती थी। परतु सन् १८५७ ई० के प्रथम स्वातंत्र्य युद्ध के पश्चात् जब ब्रिटिश राज्य ने भारत का शासन ईस्ट इडिया कपनी से अपने हाथ में लिया, सदर दीवानी अदालत तथा निजाम-ए-अदालत का उन्मूलन हो गया और उनका क्षेत्राधिकार कलकत्ता, बबई तथा मद्रास स्थित महानगर-उच्च-न्यायालयों को दे दिया गया। बाद में भारत के विभिन्न प्रांतों में उच्च न्यायालयों की स्थापना हुई।

अपील के प्रकार—अपील सामान्यत दो प्रकार की होती है—प्रथम अपील या द्वितीय। कतिपय वादों मे तृतीय अपील भी हो सकती है। प्रथम अपील आरभिक न्यायालय के निर्णय के सबध मे उच्चतर न्यायालय में होती है। द्वितीय अपील अपील-न्यायालय के निर्णय के सबध मे श्रेष्ठतम अधिकारी के समक्ष होती है।

व्यवहार अपील—व्यवहार वादों मे न्यायालय के समस्त आदेश दो भागों में विभाजित होते है—'आज्ञप्ति' तथा 'आदेश'। आज्ञप्ति से तात्पर्य उस अभिनिर्णयन से है जिसके द्वारा, जहाँ तक अभिनिर्णयन देनेवाले न्यायालय का सबध है, वाद या वादानुरूप अन्य आरभिक कार्रवाई में निहित विवादग्रस्त सब या किसी एक विषय के सबध मे, विभिन्न पक्षों के अधिकारों का अतिम रूप से निवारण होता है (धारा २ (२) व्यवहार-प्रक्रिया-सहिता)। आदेश से तात्पर्य व्यवहार न्यायालय के ऐसे प्रत्येक विनिश्चय से है जो आज्ञप्ति की श्रेणी में नही आता (धारा २ (१४), व्यवहार-प्रक्रिया-सहिता)। आदेश के विरुद्ध केवल एक अपील हो सकती है।

प्रथम अपील व्यवहार प्रक्रिया-सहिता की धारा ९६ के अतर्गत किसी आज्ञप्ति के विरुद्ध वाद के मूल्यानुसार उच्च न्यायालय या जिला न्यायाधीश के समक्ष होती है। प्रथम अपील मे तथ्य तथा विधि के सभी प्रश्नों पर विचार हो सकता है। प्रथम अपील-न्यायालय को परीक्षण-न्यायालय की समस्त शक्तियाँ प्राप्त हैं। द्वितीय अपील, व्यवहार-प्रक्रिया-सहिता की धारा १०० के अतर्गत व्यवहारवादो मे आज्ञप्ति के विरुद्ध केवल विधि सबधी प्रश्न पर, न कि तथ्य के प्रश्न पर, उच्च न्यायालय में होती है। जब द्वितीय अपील की सुनवाई उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश द्वारा होती है तब वह न्यायाधीश 'लेटर्स पेटेंट' या उच्च न्यायालय विधानीय अधिनियम के अतर्गत, उसी न्यायालय के दो न्यायाधीशो के खड के समक्ष एक और अपील की अनुमति दे सकता है।

दड अपील—दड अपील सबधी विधि दड-प्रक्रिया-सहिता की धारा ४०४ से लेकर ४३१ तक में दी हुई है। दड सबधी वादो मे केवल एक अपील हो सकती है। इसका एक ही अपवाद है। जब अपील-न्यायालय अभियुक्त को निर्मुक्त कर देता है तब दड-प्रक्रिया-सहिता की धारा ४१७ के अतर्गत विमुक्ति आदेश के विरुद्ध द्वितीय अपील उच्च न्यायालय मे हो सकती है।

जब जिलाधीश के अतिरिक्त कोई अन्य दडनायक दड-प्रक्रिया-सहिता की धारा १२२ के अतर्गत किसी वाद को स्वीकार या विमुक्त करना अस्वीकार कर दे तब उसके आदेश के विरुद्ध अपील जिलाधीश के समक्ष हो सकती है (धारा ४०६ (अ) दड-प्रक्रिया-सहिता)। उत्तर प्रदेश राज्य ने जिलाधीश के समक्ष होनेवाली इस अपील का भी उन्मूलन कर दिया है और अपील जिलाधीश के समक्ष न होकर सत्रन्यायालय में होती है।

ऐसे मामलो को छोडकर, जिनमे परीक्षण न्यायालय द्वारा होता है, दड अपील तथ्य तथा विधि, दोनों प्रश्नो पर हो सकती है। मृत्युदडादेश के विरुद्ध की जानेवाली अथवा मृत्यु-दड-प्राप्त व्यक्ति के साथ परीक्षित व्यक्ति की ओर से की जानेवाली अपीलों को छोडकर, न्यायसभ्य द्वारा परीक्षित समस्त वादों की अपील केवल विधि विषयक प्रश्नो के सबध मे ही हो सकती है। अपील-न्यायालय परीक्षण-न्यायालय द्वारा दिए गए दडादेश को पुष्टि कर सकता है अथवा उसको उलट सकता है, अभियुक्त को विमुक्त कर सकता है, निर्दोष ठहरा सकता है या उस अभियोग से मुक्त कर सकता है जिसके लिये उसका परीक्षण हुआ था अथवा दडादेश यथास्थित रखते हुए समति बदल सकता है, परतु दडादेश की वृद्धि नही कर सकता। वह पुन परीक्षण अथवा परीक्षणार्थ समर्पण का आदेश भी दे सकता है (धारा ४२३, दड-प्रक्रिया-सहिता)।

सविधान के अनुच्छेद १३२ से १३६ तक के उपबधो के अनुसार किसी उच्च न्यायालय या अतिम क्षेत्राधिकारवाले किसी न्यायाधिकरण के निर्णय के विरुद्ध, उच्चतम न्यायालय में अपील हो सकती है। अनुच्छेद १३२ के अतर्गत किसी भी निर्णय, आज्ञप्ति अथवा दडादेश के विरुद्ध अपील उच्चतम न्यायालय में हो सकती है यदि उच्च न्यायालय प्रमाणित कर दे कि उस मामले मे सविधान के निर्वचन का कोई सारवान विधिप्रश्न अतर्ग्रस्त है। यदि उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाणपत्र देना अस्वीकार कर दे तो उच्चतम न्यायालय अपील के लिये विशेष इजाजत दे सकता है। जहाँ उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाणपत्र दे देता है अथवा उच्चतम न्यायालय विशेष इजाजत दे देता है वहाँ उच्चतम न्यायालय की अनुज्ञा से सविधान के निर्वचन सबधी प्रश्न के अतिरिक्त अन्य प्रश्न भी उठाए जा सकते हैं।

उच्च न्यायालय के किसी अतिम निर्णय, आज्ञप्ति या आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय मे हो सकती है यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि (क) विवादविषय की राशि या मूल्य प्रथम बार के न्यायालय मे बीस हजार रुपए या किसी ऐसी अन्य राशि से, जो इस बारे मे उल्लिखित की जाय, कम नही है, अथवा (ख) उसमें उतनी राशि या मूल्य की सपत्ति से सबद्ध कोई वाद या प्रश्न प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे अतर्ग्रस्त है, अथवा (ग) मामला उच्चतम न्यायालय मे अपील के योग्य है। यदि उच्च न्यायालय का निर्णय पूर्ववत् नीचे के न्यायालय के निश्चय की पुष्टि करता है तब उच्च न्यायालय को यह और प्रमाणित करना होता है कि अपील में कोई सारवान् विधिप्रश्न अतर्ग्रस्त है (अनुच्छेद १३३)।

उच्च न्यायालय की किसी दड कार्रवाई मे दिए हुए निर्णय या अतिम आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय मे होती है यदि उच्च न्यायालय ने अपील मे अभियुक्त व्यक्ति को मृत्यु-दडादेश दिया है, अथवा उच्च न्यायालय प्रमाणित करता है कि मामला उच्चतम न्यायालय मे अपील करने योग्य है।

अनुच्छेद १३६ के अतर्गत उच्चतम न्यायालय की विशेष अनुमति से अपील हो सकती है।

प्रति-आपत्ति—जब व्यवहारवाद में किसी पक्ष की ओर से अपील होती है तब उत्तरवादी को आज्ञप्ति के उस भाग के विरुद्ध, जो उसके विपरीत है, प्रति-आपत्ति प्रस्तुत करने का अधिकार होता है। वह अपनी निजी अपील भी कर सकता है परतु प्रति-अपील तथा प्रति-आपत्ति मे यह अतर होता है कि प्रति-अपील तो अपील के लिये निर्धारित अवधि के भीतर होनी चाहिए तथा अपीलसबधी समस्त नियमो का पालन आवश्यक है, किंतु प्रति-आपत्ति, व्यवहार-प्रक्रिया-सहिता की क्रमसख्या ४१, नियम २३ के अतर्गत, अपील की सुनवाई की सूचना उत्तरवादी द्वारा प्राप्त की जाने की तिथि से ३० दिन के अदर प्रस्तुत की जा सकती है। उच्चतम न्यायालय मे होनेवाली अथवा दडविषयक अपीलो मे कोई प्रति-आपत्ति नही होती।

अवधि—कलकत्ता, मद्रास तथा बबई के उच्च न्यायालयो द्वारा, आरभिक क्षेत्राधिकार के प्रयोग के अतर्गत दी गई आज्ञप्ति या आदेश से अपील करने की अवधि २० दिन है।

व्यवहारवादो में अपील जिला-न्यायाधीश के समक्ष आज्ञप्ति या आदेश की तिथि से ३० दिन के अदर की जा सकती है। उच्च न्यायालय में अपील करने की अवधि ३० दिन है और एक न्यायाधीश की आज्ञप्ति या आदेश मे दो न्यायाधीशो के समक्ष अपील करने की अवधि ९० दिन है।

मृत्युदडादेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील करने की अवधि मृत्युदडादेश की तिथि से ७ दिन है।

उच्च न्यायालय के अतिरिक्त अन्य किसी न्यायालय मे अपील करने की अवधि ३० दिन है। विमुक्ति के आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय मे अपील करने की अवधि ३ मास है। शेष मामलो में अपील करने की अवधि ६० दिन है।

दो सौ वर्ष पूर्व तक ससार के सभी देशो की यह निश्चित नीति थी कि जिसने समाज के आदेशो की अवज्ञा की है, उससे वदला लेना चाहिए। इसीलिये अपराधी को घोर यातना दी जाती थी। जेलो मे उसके साथ पशु से भी वुरा व्यवहार होता था। यह भावना अव वदल गई है। आज समाज की निश्चित धारणा है कि अपराध शारीरिक तथा मानसिक दोनो प्रकार का रोग है, इसलिये अपराधी की चिकित्सा करनी चाहिए। उसे समाज मे वापस करते समय शिष्ट, सभ्य, नैतिक नागरिक वनाकर वापस करना है। अतएव कारागार यातना के लिये नही, सुधार के लिये है। वे वदीगृह नही, सुधारगृह है।

यह तो स्पष्ट हो गया कि अपराध यदि नैतिक तथा सामाजिक आदेशो की अवज्ञा का नाम है तो इस शब्द का कोई निश्चित अर्थ नही वतलाया जा सकता। फ्रायड वर्ग के विद्वान् प्रत्येक अपराध को कामवासना का परिणाम वतलाते है तथा हीली ऐसे शास्त्री उसे सामाजिक वातावरण का परिणाम कहते है, किंतु ये दोनो मत मान्य नही है। अव कोई लाब्रोजो की यह वात भी नही मानता कि अपराधी व्यक्ति के शरीर की विशेष वनावट होती है। कुछ विद्वान् इसे पारिवारिक देन कहते थे, किंतु यह विचार भी अव अग्राह्य है। एक देश मे एक ही प्रकार का धर्म नही है। हर एक देश मे एक ही प्रकार का सामाजिक सगठन भी नही है, रहन सहन मे भेद है, आचार विचार मे भेद है, अतएव एक प्रकार का आदेश भी नही है। ऐसी स्थिति मे एक देश का अपराध दूसरे देश मे सर्वथा उचित आचार वन सकता है। कही पर स्त्री को तलाक देना वैध वात है, कही पर सर्वथा वर्जित है। कही पर सयुक्त परिवार का जीवन उचित है, कही पर पारिवारिक जीवन का कोई कानूनी नियम नही है। सन् १९४६-४७ में इग्लैंड मे चोरवाजारी करनेवाले को कडा दड मिलता था, फ्रास मे उसे एक 'साधारण' वात समझा जाता था। कई देश धार्मिक रूप से किया गया विवाह ही वध मानते है। पूर्वी यूरोप तथा अन्य अनेक साम्यवादी देशो मे धार्मिक प्रथा से किए गए विवाह का कोई कानूनी महत्व ही नही होता।

इसीलिये प्राचीन भारतीय शास्त्रकारो ने जिन वातो को जीवन की मौलिक नैतिकता मान लिया था उन्ही की अवज्ञा को भारतीय दृष्टिकोण से अपराध कहना उचित होगा। सयुक्त राष्ट्रसघ ने भी अपराध की व्याख्या करने की चेष्टा की है और उसने भी केवल 'असामाजिक' अथवा 'समाजविरोधी' कार्यो को अपराध स्वीकार किया है। पर इससे विश्वव्यापी नतिक तथा अपराध सवधी विधान नही वन सकता। ब्लेक ने तो यहाँ तक लिखा है कि "न्याय के पत्थरो से कारागार की दीवारें वनी, धर्म के पत्थरो से वेश्यालय वने।" कटनर इसके आगे वढ गए। उनके अनुसार "वहुत अधिक धार्मिक भक्ति दवी हुई कामुक वासना का परिणाम हो सकती है।" इसलिये मोटे तौर पर सच बोलना, चोरी न करना, दूसरे के धन या जीवन का अपहरण न करना, पिता,माता तथा गुरुजनो का आदर, कामवासना पर नियत्रण, यही मौलिक नैतिकता है जिसका हर समाज मे पालन होता है और जिसके विपरीत काम करना अपराध है।

इटली के डा० लाब्रोजो पहले शास्त्री थे जिन्होने अपराध के वजाय 'अपराधी' को पहचानने का प्रयत्न किया। फेरी समाजविज्ञान द्वारा अपराध और अपराधी को पहचानना चाहते थे। फेरी कहते थे कि कोई भी अपराध हो, चाहे कोई भी करे, किसी भी परिस्थिति मे करे, उसका और कोई कारण नही, केवल यही कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत स्वतत्र इच्छा से किया गया है या प्राकृतिक या स्वाभाविक कारणो का परिणाम है। गैरोफालो अपराध को मनोविज्ञान का विषय मानते थे, उनके अनुसार चार प्रकार के अपराधी होते है—हत्यारे, उग्र अपराधी, सपत्ति के विरुद्ध अपराधी, तथा कामुक वासना के अपराधी। गैरोफालो के मत से प्राणदड, आजन्म कारागार या देशनिकाला यही तीन सजाएँ होनी चाहिएँ। फॉन हामेल ने पहली वार अपराधी के सुधार की चर्चा उठाई। फ्रास के पडित तार्म्दे ने नैतिक जिमेदारी, 'व्यक्तिगत विशिष्टता' की चर्चा की। उनके अनुसार मनुष्य अपनी चेतना तथा अतश्चेतना का समुच्चय मात्र है। उसके कार्यो से जिसे दु ख पहुँचे यानी जिसके प्रति अपराध किया जाय उसको भी समान रूप से सामाजिक एकता के प्रति सचेत करना चाहिए।

फ्रास की राज्यक्राति ने 'मानव के अधिकार' की घोषणा की। अपराधी भी मनुष्य है। उसका भी कुछ नैसर्गिक अधिकार है। इसलिये अपराधी भी अपराध की व्याख्या चाहते है। इसकी सवसे स्पष्ट व्याख्या सन् १९३४ के फ्रासीसी दडविधान ने की। अपराध वही है जिसे कानूनन मना किया गया हो। भारतवर्ष मे भ्रूणहत्या अपराध है। अल्वानिया मे ३० रुपया सरकारी फीस देकर कोई भी गर्भपात करा सकता है। अतएव जिस चीज को तत्कालीन वातावरण मे मना कर दिया गया है, उसी का नाम अपराध है। किंतु, कानूनन नाजायज काम करना ही अपराध नही रह गया है। डा० गुतनर ने जो वात उठाई थी वही आज हर एक न्यायालय के लिये महान् विषय वन गई है। उन्होने कहा था कि जिस आदेश की अवज्ञा जान वूझकर की गई हो, वही अपराध है। यदि छत पर पतग उडाते समय किसी लडके के पैर से एक पत्थर नीचे सडक पर आ जाय और किसी दूसरे के सिर पर गिरकर प्राण ले ले तो वह लडका हत्या का अपराधी नही है। अतएव महत्व की वस्तु नीयत है। अपराध और उसके करने की नीयत—इन दोनो को मिला देने से ही वास्तविक न्याय हो सकता है।

किंतु समाजशास्त्र के पडितो के सामने यह समस्या भी थी और है कि समाज की हानि करनेवाले के साथ व्यवहार कैसा हो। अफलातून का मत था कि हानि पहुँचानेवाले की हानि करना अनुचित है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री सिजविक ने स्पष्ट कहा था कि न्याय कभी नही चाहता कि भूल करनेवाले यानी अपराध करनेवाले को पीडा पहुँचाई जाय। लार्ड हाल्डेन ने भी अपराध का विचार न कर अपराधी व्यक्ति, उसकी समस्याएँ, उसके वातावरण पर विचार करने की सलाह दी है। व्रिटेन के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ तथा कई वार प्रधान मत्री वननेवाले विंस्टन चर्चिल का कथन है कि "अपराध तथा अपराधी के प्रति जनता की कैसी भावना तथा दृष्टि है, उसीसे उस देश की सभ्यता का वास्तविक अनुमान लग सकता है। वृटिश कानून उसी काम को अपराध समझती है जो दुर्भाव से, स्वेच्छया, धूर्ततापूर्वक किया, कराया, करने दिया या होने दिया गया हो।" वहुत से अपराध ऐसे होते है जो अपराध होने के कारण ही अपराध नही समझे जाते। जैसे, व्रिटेन में तीन प्रकार के विवाह नाजायज है अत यदि विवाह हो भी गया तो वह विवाह नही समझा जायगा, जैसे १६ वर्ष से कम उम्र की लडकी से विवाह करना इत्यादि।

आज अपराध के वारे मे धारणाएँ वदल गई है। प्रोफेसर विनफोल्ड का मत आज अकाट्य है कि हरएक अपराध मनुष्य के उस आचरण का परिणाम है जिसे कानून रोकना चाहता है। इसलिए अपराध केवल एक भौतिक घटना है। वकीलो को केवल इतना ही सावित करना है कि अपराधी ने ऐसा काम किया जिसे करने की कानून द्वारा मनाही थी। पर, ऐसा काम कोई करता ही क्यो है? विलियम टकर इसे मन का रोग मानते हैं। फ्रॉन्क रौस इसे उस वातावरण का परिणाम कहते है जिसमे मनुष्य अपने वचपन से पलता है। प्रो० श्नीदर का कथन है कि मन, शरीर, विद्या किसी मामले मे अपराधी गैर-अपराधी से पीछे नही है। उसमे कमी इतनी ही है कि वह घटनाओ तथा परिस्थितियो से विवश हो गया। फिर यह भी सिद्ध किया गया कि वहुत से लोगो का मन रोगी होता है। उन्हें एकदम पागल भी नही कह सकते, फिर भी वे मानसिक रोग से पीडित हैं। वे भी अपराधी नही कहे जा सकते। वचपन मे कुसगति मे पडा हुआ वालक या वालिका, पारिवारिक उपेक्षा अथवा कलह का शिकार वच्चा यदि अपराध की शिक्षा प्राप्त कर ले तो इसका दोषी समाज स्वय है। यह मत अव मान्य नही है कि गरीवी अथवा अभाव के कारण अपराध होता है।

नवीन औद्योगिक सभ्यता मे अपराध का रूप तथा प्रकार भी वदल गया है। नए किस्म के अपराध होने लगे है जिनकी कल्पना करना भी कठिन है। इसलिये अपराध की पहचान अव इस समय यही है कि कानून ने जिस काम को मना किया है, वह अपराध है। जिसने मना किया हुआ काम किया है, वह अपराधी है। किंतु, अपराधी परिस्थिति का दास हो सकता है, विवश हो सकता है, इसलिये उसे पहचानने का प्रयत्न करना होगा। आज का अपराध शास्त्र इसमे विश्वास नही करता कि कोई पेट से सीख कर अपराधी वना है या कोई जान-वूझ कर उसे अपना 'जीवन' वना रहा है। हर एक अपराध का तथा हर एक अपराधी का अध्ययन होना चाहिए।

है। नीचे का भाग प्रारंभिक काल मे विभाजित नहीं होता। ऐसी आंशिक विभाजन प्रणाली को अपूर्ण भेदन (मेरोब्लैस्टिक अथवा डिस्कॉयडल क्लीवेज) कहते हैं। जहाँ पीतक अडे के केंद्रस्थल मे रहता है वहाँ विभाजन क्रिया केवल परिधि पर आबद्ध रहती है। ऐसी विभाजन प्रणाली को उपरिष्ठभेदन (सुपरफीशियल क्लीवेज) कहते है। अधिकतर अडो मे सक्रिय ऊपरी भाग और अपेक्षाकृत निष्क्रिय निम्न भाग पहले से ही प्रत्यक्ष हो जाता है—ऊपरी भाग को प्राणिध्रुव (ऐनिमल पोल) कहते है और नीचे के भाग को वर्धीध्रुव (वेजिटेटिव अथवा वेजिटल पोल) कहते हैं।

प्राणियो की सममिति (सिमेट्री) तीन भिन्न प्रकार की मानी गई है। अधिकाश प्राणियो मे दक्षिण और वाम पार्श्व, पृष्ठतल (डॉर्सल) और प्रतिपृष्ठ (वेंट्रल), तथा अग्रभाग (ऐंटीरियर) एव पश्चभाग (पॉस्टीरियर) निर्धारित होते हैं। ऐसी सममिति को द्विपार्श्व (बाइलैटरल) सममिति कहा जाता है। इन प्राणियों के दक्षिण और वाम पार्श्व समतुल्य होते है। यह सममिति प्रथम प्रकार की हुई। दूसरे प्रकार मे प्राणी का शरीर एक उर्ध्वाधिर बेलन की तरह होता है। ऐसे प्राणी मे दक्षिण और वाम पार्श्व का निर्धारण नही होता। उनके गोलाकार शरीर को अनेक समतुल्य भागो में विभाजित किया जा सकता है। ऐसी सममिति को त्रिज्य (रेडियल) सममिति कहते हैं। तीसरे प्रकार में प्रथम अवस्था मे द्विपार्श्व सममिति दिखाई पडती है, पर इसके पश्चात् दोनो पार्श्वो मे पुन त्रिज्य सममिति स्थापित हो जाती है। ऐसी सममिति को द्वयर (बाइरेडियल) सममिति कहते हैं।

अडों का विभाजन विभिन्न प्रकार की सममितियों के अनुसार विभिन्न होता है। द्विपार्श्व सममिति में प्रथम विभाजन रेखा खरबूजे की धारी की तरह (मेरिडोनियल) होती है, जिसके फलस्वरूप दो कोश बनते हैं। इन्ही दोनो कोशो से शरीर के दक्षिण और वाम पार्श्व की सृष्टि होती है। दोनो पार्श्वो मे समान रूप से विभाजन होता रहता है। त्रिज्य सममिति की विशेषता यह है कि विभाजन रेखाएँ सदा एक दूसरे को ऊर्ध्वाधिर रेखाओ द्वारा काटती हैं और अक्ष के चारो ओर समान रूप से कोशो की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त एक तीसरी रीति भी होती है जिसमे विभाजन रेखा वक्र होती है, और क्रम से एक बार दाहिनी ओर को और दूसरी बार बाई ओर को झुकी रहती है। ऐसी प्रणाली को कुतल-भेदन (स्पाइरल क्लीवेज) कहते हैं, पर इनका अतिम परिणाम द्विपार्श्व सममिति होती है। द्वयर सममिति मे प्रथम विभाजन द्विपार्श्व होता है, पर इसके पश्चात् दोनो पार्श्वो मे त्रिज्य सममिति की प्रथा प्रचलित होती है।
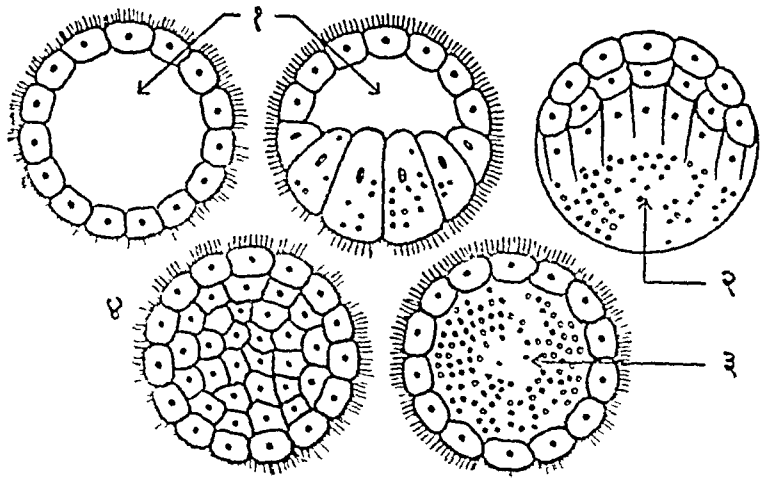
चित्र १ एकभित्तिका

ऊपर बाई ओर के दो चित्रो मे पोली एकभित्तिका (सीलोब्लैस्चुला) की अनुप्रस्थ काट दिखाई गई है तथा दाहिनी ओर विवेकभित्तिका (डिस्कोब्लैस्चुला) है। नीचे बाई ओर सार्द्रक-भित्तिका (स्टीरिओब्लैस्चुला) और दाहिनी ओर पर्यकभित्तिका (पेरिब्लैस्चुला) की अनुप्रस्थ काटे दिखाई गई हैं। १ एकभित्तिका-गुहा (ब्लैस्टोसील), २ पीतक (योक), ३ पीतक ४ सार्द्रकभित्तिका।

विभाजन क्रिया तीव्र गति से होती है—कोशो की सख्या बढती जाती है, पर आयतन में वे छोटे होते जाते हैं। अत में बहुकोशवाला एक गोलाकार भ्रूण बनता है जिसको एकभित्तिका (ब्लैस्चुला) कहा जाता है। नए कोश सब इस गोले की परिधि पर होते हैं और बीच में लसिका (लिफ) से भरा एक विवर रहता है। इस विवर को एकभित्तिका गुहा (ब्लैस्टोसील) कहते हैं। ऐसी खोखली एकभित्तिका को गुहीय एकभित्तिका (सीलोब्लैस्चुला) कहते हैं। इसकी बाहरी दीवार मे केवल एक ही कोश की गहराई होती है। एकत पीती अडो मे नीचे की ओर पीतक के सचय के कारण एकभित्तिका गुहा ऊपर की ओर बनती है। विभाजन केवल अडे के ऊपर ही, जहाँ पीतक की मात्रा अत्यधिक होती है, आबद्ध रहता है और एकभित्तिका गुहा बहुत ही सक्षिप्त रूप मे बनती है। इस प्रकार की एकभित्तिका को विवेकभित्तिका (डिस्कोब्लैस्चुला) कहते हैं। जिन अडो मे पीतक मध्यस्थल मे रहता है उनमें विभाजन केवल परिधि मे होता है। ऐसी एकभित्तिका को पर्यकभित्तिका (पेरिब्लैस्चुला अथवा सुपरफिशियल ब्लैस्चुला) कहते हैं। कुछ प्राणियो मे एकभित्तिका ठोस होती है और गोलाई के भीतर भी कोश भरे रहते हैं। ऐसी स्थिति मे एकभित्तिका को सार्द्रकभित्तिका (स्टिरिओ-ब्लैस्चुला) अथवा तूत (मोरूला) कहते हैं।

छिद्रिष्ठो (स्पजो) मे एकभित्तिका अवस्था मे मुखद्वार बनता है, इस कारण ऐसी एकभित्तिका को मुखैकभित्तिका (स्टोमोब्लैस्चुला) कहते हैं। अन्य श्रेणी के प्राणियो मे ऐसा नही होता।

जब तक एक पर्तवाली एकभित्तिका क्रमश दो पर्तवाली बनती है तब तक भ्रूण को स्यूतिभ्रूण कहते हैं। दूसरी पर्त कई विभिन्न पद्धतियो से बनती है। सबसे सरल प्रणाली अपीती अडो मे होती है। इसमे एकभित्तिका का निम्न भाग, वर्धीध्रुव, क्रमश एकभित्तिका गुहा के अदर प्रवेश करता है और अत में भीतरी पर्त बाहरी पर्त से मिल जाती है। एकभित्तिका गुहा का अस्तित्व नही रह जाता और उसके स्थान मे एक दूसरा विवर बनता है जो अब दो पर्तो से ढका रहता है। इस विवर मे नीचे की ओर एक छिद्र होने के कारण यह खुला रहता है। इस छिद्र को आद्यत्रमुख (ब्लैस्टोपोर) कहते हैं। स्यूतिभ्रूण बनने की इस प्रणाली को अतर्गमन (इनवैजिनेशन) अथवा एबोली की प्रथा कहते हैं। बाहरी पर्त को बहिस्तर (एक्टोडर्म) अथवा एपिब्लास्ट और भीतरी पर्त को अत स्तर (एडोडर्म अथवा हाइपोब्लास्ट) कहते हैं। अत स्तर से इन प्राणियो की पाचकनाल (ऐलिमैंटरी कैनाल) तथा उससे उत्पन्न सभी अगो का विकास होता है। इस कारण अंत स्तर से वेष्टित विवर को आद्यत्र (आरकेटरॉन) कहते है। अधिकतर अपृष्ठवशी प्राणियो में आद्यत्रमुख उनके अग्रभाग का निर्देशक होता है और उससे या उसके निकट उनका मुखद्वार बनता है। ऐसे प्राणियो को आद्यमुखी (प्रोटोस्टोमियन) कहते हैं। इसके विपरीत सभी पृष्ठवशी (वर्टिब्रेट्स) और कुछ अपृष्ठवशी प्राणियो मे आद्यत्रमुख प्राणी के पश्चाद्भाग का निर्देशक होता है जहाँ मलद्वार बनता है। ऐसे विपरीतपथी प्राणियो को द्वितीयमुखी (ड्यूटेरो-स्टोमियन) कहते हैं।

जिन अडो मे पीतक अधिक मात्रा मे रहता है और एकभित्तिका गुहा बहुत सक्षिप्त होती है, उनमे ऊपर के कोश तीव्र गति से विभाजित होते रहते हैं और क्रमश बढते हुए नीचे के पीतक से भरे स्थान के ऊपर प्रसारित होते हैं। इस तरह नीचे की ओर दो पर्तें बनती हैं। इस प्रणाली को अध्यावृद्धि (एपिबोली) कहते हैं। विवेकभित्तिका में पीतक अत्यधिक होने के कारण नए कोश केवल ऊपरी भाग मे बनते हैं और उनमें से कुछ कोश अलग होकर पहली पर्त के नीचे आ जाते हैं। इस तरह दूसरी पर्त अडे के ऊपरी भाग मे ही आबद्ध रह जाती है। ऐसी प्रणाली को पृथक्स्तरण (डिलैमिनेशन) कहते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ प्राणियो मे ऊपरी पर्त प्रसारित न होकर भीतर की ओर मुड जाती है और सक्षिप्त एकभित्तिका गुहा के नीचे दूसरी पर्त बनाती है। इस प्रथा को अतर्वलन (इनवोल्यूशन) कहते हैं।

बहुकोशविशिष्ट निम्न श्रेणी के प्राणियो मे, जैसे छिद्रिष्ठ (पोरिफेरा), आतरगुही (सिलेंटरेटा) और कंकतिवर्ग (टिनाफोरा) में केवल दो ही पर्त बनते हैं। इस कारण इनको द्विस्तरिप्राणी (डिप्लोब्लास्टिक) कहते हैं। इन्ही दो पर्तो से इनका सारा शरीर और उनके विभिन्न अग बनते हैं। इनमे विशेषता यह होती है कि शरीर का बाहरी आवरण तथा भीतरी पाचकनाल एक दूसरे से केवल एक कोशविहीन तनु द्वारा सलग्न रहते हैं

गयी होती, तो रक्त भली भाँति ऊपर को चढ नही पाता और कभी कभी नीचे की ओर बहने लगता है। ऐसी दशा में शिराएँ फूल जाती है और लबाई बढ जाने से टेढी मेढी भी हो जाती है। ये ही अपस्फीत शिराएँ कहलाती है।

अपस्फीत शिरा उन व्यक्तियों में पाई जाती है जिनको बहुत समय तक खडे होकर काम करना या चलना पडता है। बहुत बार एक ही परिवार के कई व्यक्तियों में यह दशा पाई जाती है। अपस्फीत शिरा मे रोगी के चर्म के नीचे नीले रग की फूली हुई वाहिनियो के गुच्छे दिखाई पडते है। रोगी के लेट जाने पर वे मिट जाते है और उसके खडे होने पर वे फिर उभड आते है। इनके कारण रोगी के पैरो में भारीपन और थकावट प्रतीत होती है। कभी कभी खुजली भी होती है और चर्म पर व्रण या पामा (एकजेमा) उत्पन्न हो जाता है।

ऐसी शिराओं को कम करने के लिये रबड की लचीली पट्टियाँ पावो की ओर से आरभ करके ऊपर की ओर को जघे तक बाँधी जाती है। दशा उग्र न होने पर शिराओ के भीतर इजेक्शन देने से लाभ होता है। जब शिराएँ अधिक विस्तृत हो जाती है तो शल्यकर्म द्वारा उनको निकालना आवश्यक होता है। बहुत बार इजेक्शन चिकित्सा और शल्यकर्म दोनो करने पडते है।

जिन मुख्य शिराओं मे अपस्फीत शिराओं में रक्त जाता है उनका शल्यकर्म द्वारा बधन कर दिया जाता है। बहुत बार शिराओ के आक्रात भाग को निकाल देना पडता है। यदि गहरी शिराओ में घनास्रता (थ्रोंबोसिस) होती है तो इजेक्शन चिकित्सा या शल्यकर्म नही किया जाता। [प्री०दा०]

अपस्मार को साधारण लोग मृगी या मिरगी कहते है और अग्रेजी मे इसे एपिलेप्सी कहते है। अपस्मार की कई परिभाषाएँ दी गई है। एक परिभाषा के अनुसार कभी कभी बेहोशी का दौरा आने की स्थायी प्रवृत्ति को अपस्मार कहते है। एक दूसरी परिभाषा के अनुसार यह मस्तिष्क के लय का अभाव अर्थात् असतुलन (डिसरियमिया) है। एक प्रकार से यह रोग मस्तिष्क की कोशिकाओं की वैद्युत् क्रियाशीलता में क्षणभगुर आधी है। मस्तिष्क मे किसी प्रकार के क्षत से, अथवा उसके किसी प्रकार विषाक्त हो जाने से यह रोग होता है।

यदि मस्तिष्क के किसी एक स्थान में क्षत होता है, उदाहरणत अर्बुद(ट्यूमर) अथवा व्रणचिह्न (स्कार) तो मस्तिष्क के इस भाग से सबद्ध अग से ही गति (मरोड और क्षेप) का आरभ होता है, या केवल उसी अग में गति होती है और रोगी चेतना नही खोता। ऐसे अपस्मार को जैकसनीय अपस्मार कहते है। इस प्रकार के कुछ रोगी शल्यकर्म से अच्छे हो जाते है।

अपस्मार व्यापक शब्द है और साधारणत रोग की उन जातियो के लिये प्रयुक्त होता है जिनके किसी विशेष कारण का पता नही चलता। दौरे हलके हो सकते है, तब रोग को लघु अपस्मार (पेटि माल) कहते है। इस रोग मे अचेतनता क्षणिक होती है, परतु बार बार हो सकती है। दौरे गहरे भी हो सकते है। तब रोग को महा अपस्मार (ग्रैंड माल) कहते है। इसमें सारे शरीर मे आक्षेप (छटपटाहट और मरोड) उत्पन्न होता है, बहुधा दातो से जीभ कट जाती है और मूत्र निकल पडता है। ये दौरे दो से पाच मिनट तक रहते है और उसके बाद नीद आ जाती है या चेतना मद हो जाती है। कुछ रोगियो में स्मरण शक्ति और बुद्धि का धीरे धीरे नाश हो जाता है।

अपस्मार लगभग ० ५ प्रति शत व्यक्तियो में पाया जाता है। अपस्मार के दो प्रधान कारण है (१) जननिक, अर्थात् पुश्तैनी, (२) अवाप्त अर्थात् अन्य कारणो से प्राप्त।

आजकल मस्तिष्क की सूक्ष्म तरगो को वैद्युत् रीतियो से अकित करके उनकी परीक्षा की जा सकती है जिससे निदान में बडी सहायता मिलती है। उपचार के लिये ओषधियो के अतिरिक्त शल्यकर्म भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

स०ग्र०—जे० एच० जैक्सन सिलेक्टेड राइटिंग्स, खड १ (ऑन एपिलेप्सी ऐंड एपिलेप्टीफार्म कनवल्शन), लदन (१९३१), पेन-फील्ड तथा जस्पर एपिलेप्सी ऐंड दि फक्शनल ऐनाटोमी ऑव दि ह्यूमन ब्रेन, लदन (१९५४), डी० विलियम्स न्यू ओरियटेशस इन एपिलेप्सी, ब्रिटिश मेडिकल जरनल, खड १, पृष्ठ ६८५। [दि० सिं०]

अपील 'अपील' शब्द मूलत अग्रेजी का है जिसमें यद्यपि उसके कई अर्थ है तथापि हिंदी मे उसका प्रयोग आवेदनपत्र के आशय में होता है, जो किसी हेतु या वाद को नीचे के न्यायाधीश या न्यायाधिकरण से हटाकर उच्चतर न्यायाधीश या न्यायाधिकरण के समक्ष नीचे के न्यायाधीश या न्यायाधिकरण के निर्णय पर पुनर्विचार के लिये प्रस्तुत किया जाता है। किसी हेतु या वाद को नीचे के न्यायाधीश या न्यायाधिकरण से हटाकर उच्चतर न्यायाधीश या न्यायाधिकरण के समक्ष प्रस्तुत करना चार विभिन्न प्रणालियो द्वारा होता है—(१) अपील द्वारा, (२) पुनरीक्षण द्वारा, (३) लेख द्वारा, तथा (४) निर्देश की कार्रवाई द्वारा। पुनर्विलोकन की कार्रवाई द्वारा किसी न्यायाधीश या न्यायाधिकरण के निर्णय का पुनर्विचार उसी न्यायाधीश या न्यायाधिकरण द्वारा भी हो सकता है।

अपील और पुनरीक्षण मे अतर यह है कि पुनरीक्षण उच्चतर न्यायालय के स्वविवेक पर सदैव निर्भर रहता है और अधिकार या स्वत्व के रूप मे उसकी माँग नही की जा सकती। उच्चतर न्यायालय पुनरीक्षण इसी आधार पर वियुक्त कर सकता है कि नीचे के न्यायालय द्वारा सार रूप मे न्याय हो चुका है चाहे वह निर्णय विधि के प्रतिकूल ही हुआ हो। परतु अपील ऐसे किसी आधार पर वियुक्त नही की जा सकती क्योकि अपील का, एक बार स्वीकार हो जाने पर, निर्णय विधि के अनुसार किया जाना तब तक अनिवार्य है जब तक अपील करने का अधिकार देनेवाले समविधि मे कोई विपरीत उपबध न हो।

अपील भारत की लेखप्रणाली से अनेक रूपो में भिन्न है। लेख की कार्रवाई केवल उच्च न्यायालयो तथा उच्चतम न्यायालय मे हो सकती है जब कि अपील उच्च न्यायालयो तथा उच्चतम न्यायालय के अतिरिक्त अन्य न्यायालयो या न्यायाधिकरण में भी हो सकती है। लेख उच्च न्यायालय की अधीक्षण शक्ति के अतर्गत इस हेतु निकाला जाता है कि नीचे के न्यायालय, न्यायाधिकरण, शासन या उसके अधिकारीगण अपने क्षेत्राधिकार के बाहर काम न करें या सार्वजनिक प्रयोजन के लिये दिए हुए क्षेत्राधिकार का प्रयोग करना अस्वीकार न करे, अथवा उनके निर्णय प्रत्यक्ष रूप से देश की विधि के प्रतिकूल न होने पावे तथा वे अपना कर्तव्यपालन उचित रीति से करें। अपील इस प्रकार सीमाबद्ध नही है। अपील सभी प्रश्नो को लेकर हो सकती है—प्रश्न चाहे तथ्य का हो चाहे विधि का। द्वितीय अपील केवल विधि के प्रश्नो तक ही सीमित रहती है।

अपील और निर्देश मे यह भेद है कि निर्देश की याचना नीचे के न्यायालय द्वारा उच्चतर न्यायालय से की जाती है ताकि विधि या प्रथा के किसी ऐसे प्रश्न का, जिनके सबध में नीचे के न्यायालय को युक्तियुक्त सदेह हो, उच्चतर न्यायालय द्वारा निर्णय करा लिया जाय।

इतिहास—अग्रेजी सामान्य विधि में अपील के लिये कोई उपबध नही था। परतु सामान्य विधि न्यायालयो की गलतियाँ त्रुटिलेख के माध्यम से किग्स बेंच न्यायालय द्वारा सुधारी जा सकती थी। त्रुटिलेख केवल विधि के प्रश्न पर होता था, तथ्य के प्रश्न पर नही।

परतु रोमन विधि में अपील के लिये उपबध था। इगलैंड मे अपील की कार्रवाई रोमन विधि से ली गई और अग्रेजी विधि में उसका समावेश उन वादो में हुआ जिनका निर्णय सुनीति क्षेत्राधिकार के अतर्गत लार्ड चासलर द्वारा अथवा धर्म या नौकाधिकरण न्यायालयों द्वारा होता था। बाद में, समविधि ने अपील के अधिकार को, सामान्य विधि तथा अन्य क्षेत्राधिकार के अतर्गत होनेवाले दोनो प्रकार के वादो मे, नियमित रूप दिया।

प्राचीन भारत मे, जब विवाद कम होते थे, राजा स्वय प्रजा के विवादो का निपटारा करता था। उस समय अपील का प्रश्न नही था क्योंकि राजा न्याय का स्रोत था। परतु राजा के न्यायालय के साथ साथ लोकप्रिय न्यायालय हुआ करते थे, बाद में राजा ने स्वय नीचे के न्यायालयों की स्थापना की। लोकप्रिय न्यायालय या नीचे के न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध अपील

[illegible] (सिस्टिसर्कस) कहते हैं। पर यह डिंभ पुनः परिवर्तित होकर [illegible] (रेडिया) नामक डिंभ बनाता है जिससे पूर्ण रूप [illegible] बनता है। पृष्ठजीवकर्ग (स्पंजोआ) की श्रेणी में भी पुच्छाद डिंभ बनता है। पुच्छाद डिंभ और [illegible] दोनों प्रारंभिक अवस्था में रश्मिका (ऐम्फिब्लुना) कहलाते हैं।

चपटकृमि (प्लैटिहेल्मिंथीज, फ्लैटवर्म्स) सर्वप्रथम त्रिस्तरी प्राणी हैं। उनमें पहले देहगुहा-एकभित्तिका (सीलोब्लैस्टुला) बनती है। इस श्रेणी में पर्णपत्र (ट्रेमाटोडा) और अनात्र (सेस्टोडा—बिना आँतवाले कीड़े) के परजीवी होने के कारण, उनका जीवन इतिहास परिवर्तनों से भरा होता है। परन्तु पर्णचिपिट वर्ग (टर्बेलेरिया) स्वाधीन जीव हैं, इस कारण इनके जीवन में विशेष परिवर्तन नहीं होते। भ्रूणभ्रूण बनने के बाद उनके डिंभ के शरीर से आठ उभड़े हुए रोमिकायुक्त पिंडक (सिलिएटेड लोब्स) बनते हैं। इस डिंभ को मुलर का डिंभ कहते हैं।
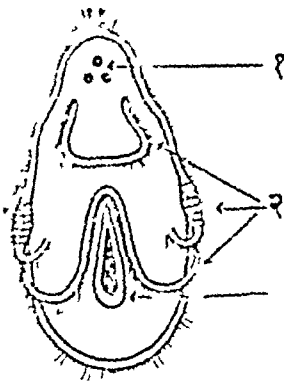
चित्र ४. शीर्षांडल (मुलर्स लारवा)

१ चक्षु, २ रोमिकायुक्त खंड, ३ मुख।
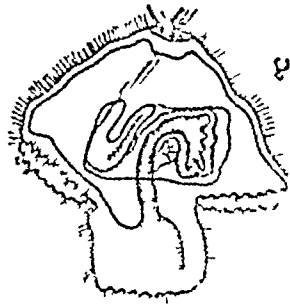
चित्र ५. टोपीडिंभ (पाइलिडियम)

विखंडकृमि (नेमेरटिनि) श्रेणी के प्राणियों के डिंभ टोपी की आकृति के होने के कारण उन्हें टोपीडिंभ (पिलिडियम) कहते हैं। इनमें विशेषता यह है कि डिंभ में मलद्वार का आरंभ नहीं होता है। टोपीडिंभ का आकार वलयिन (ऐनेलिडा) श्रेणी के पक्ष्मवलय-डिंभ (ट्रोकोफोर लार्वा) से मिलता है। अधिक उन्नतिशील प्राणियों का विकास यहाँ से होता है।

वलयिन (ऐनेलिडा) श्रेणी के जीवों में डिंभ मुख्यतः पक्ष्मवलय होता है। इसकी विशेषता यह है कि मुखद्वार के आगे सारे शरीर को वेष्टित करती हुई एक रोमिकायुक्त पट्टी होती है जिसको पूर्वपक्ष्मवलय (प्रोटोट्रॉक) कहते हैं। यह रोमिकायुक्त पट्टी कुछ प्राणियों में एक से अधिक भी होती है। पक्ष्मवलय डिंभ का आकार चित्र ६ में दिखाया गया है।
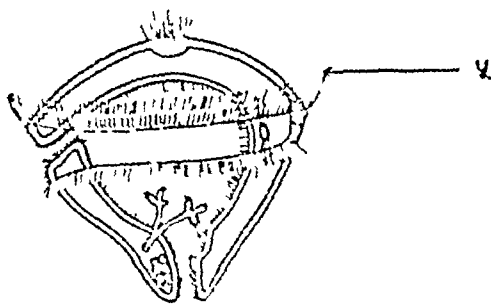
चित्र ६ ट्रोकोफोर

५ पक्ष्मवलय (प्रोटोट्रॉक)

चूर्णप्रावार (मोलस्का) श्रेणी के प्राणियों में डिंभ साधारणतः पक्ष्मवलय के आकार का होता है। परन्तु क्रमशः इनके आकार में परिवर्तन होता है और इसके पश्चात् यह पटिकाडिंभ (वीलिजर) कहलाता है। इसमें विशेषता यह होती है कि पूर्वपक्ष्मवलय वर्धित होकर दो अथवा दो से अधिक ऐसे पिंडक बनाते हैं जो रोमिकायुक्त होते हैं। इन पिंडकों को पटिका (वीलम) और डिंभ को पटिकाडिंभ कहते हैं। इसके अतिरिक्त पटिकाडिंभ के पृष्ठ पर प्रकवच (शेल) बनता है और मुखद्वार के पीछे इन जीवों का पैर बनता है। पटिका प्रगति का अंग है।

पर्णपादान श्रेणी के मलिनावक (यूनियनिडी फैमिली) में डिंभ परजीवी होता है। इस कारण इनके शरीर की गठन भिन्न रूप की होती है, जो चित्र ७ में दाहिनी ओर दिखाई गई है। ये डिंभ मछलियों की त्वचा तथा जलश्वसनिकाओं (गिल्स) में चिपक जाते हैं और पूर्णता प्राप्त करने के पश्चात् स्वावलंबी हो जाते हैं। चिपकने के लिये उनमें लागाशु (बिसस थ्रेड्स) होते हैं और प्रकवच नुकीले होते हैं। डिंभ की अवस्था में उनमें पाचकनली नहीं होती। ये मछली के शरीर से अपना खाद्य रस के रूप में शोषित करते हैं। पूर्णता प्राप्त करने पर लागाशु नहीं रह जाते और प्रकवच का आकार भी बदल जाता है। इस डिंभ को लागाशुडिंभ (ग्लॉकिडियम) कहते हैं।

चित्र ७. पटिकाडिंभ (वीलिजर) तथा लागाशुडिंभ (ग्लॉकिडियम)
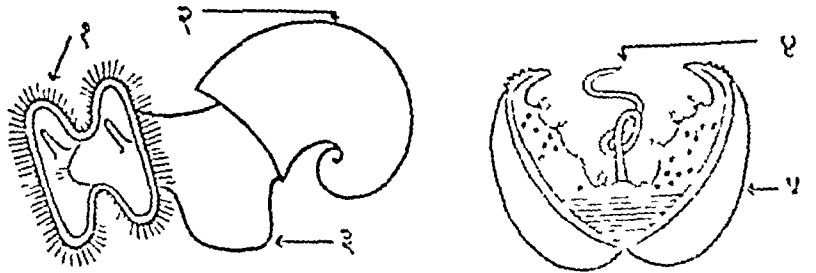
बाईं ओर उदरपाद (गैस्ट्रोपोडा) के प्रगत पटिका-डिंभ (वीलिजर), दाहिनी ओर लागाशुडिंभ (ग्लॉकिडियम), १ पटिका, २ प्रकवच, ३ पाद (पैर), ४ लागाशुसूत्र (बिसस थ्रेड), ५ प्रकवच।

संधिपादों (आरथ्रोपोडा) की श्रेणी को कई भागों में बाँटा गया है, यथा, नखरिण (ओनिकोफोरा), कठिनिवर्ग (क्रस्टेशिआ), अयुतपाद (मिरिआपोडा), कीट (इंसेक्टा) और अष्टपाद (ऐरैक्निडा)। इन सभी में अंडे केंद्रपीती होते हैं, और विभाजन (भेदन) उपरिष्ठ होता है। इनमें अष्टपाद तथा नखरिण में बच्चे पूर्ण विकसित अवस्था में ही अंडे के बाहर आते हैं। भ्रूणावस्था का कोई विशेष महत्व नहीं होता।

कठिनिवर्ग (क्रस्टेशिया) में डिंभ कई प्रकार के होते हैं, और इनके एक दूसरे से संबंध के बारे में बहुत मतभेद है। इनमें त्र्युपाग (नॉप्लिअस) डिंभ सबसे निम्न श्रेणी का माना जाता है। इसके शरीर में खंडन का कोई चिह्न नहीं होता। आँख सरल (सिंपुल) और केवल एक होती है। उपांग (अपेंडेजेज) केवल तीन जोड़े और द्विशाख (बाइरैमस—दो शाखाओं में विभाजित) होते हैं। उच्च श्रेणी के कठिनिवर्ग में यह अवस्था अंडे के अंदर ही व्यतीत होती है।

दो अन्य उपांग उत्पन्न होने पर त्र्युपाग क्रमशः उत्तर-त्र्युपाग (मेटा-नॉप्लिअस) हो जाता है और तब इसके शरीर का खंडन आरंभ हो जाता है। आँख केवल एक और सरल होती है। उत्तर-त्र्युपाग, जब दो और उपांग बनते हैं, प्रजीव (प्रोटोजोइआ) बन जाता है। इसका शरीर क्रमशः लंबा होता जाता है, और आँखें दो हो जाती हैं, पर सरल रहती हैं। जब एक और उपांग बनता है तब प्रजीव जीवक (जोइआ) हो जाता है। इसकी आँखें दो होती हैं, पर वे डंडियों पर स्थित रहती हैं और वृंताक्षि कहलाती हैं। इसके पश्चात् जीवक से [illegible] (मासिस) बनता है, जिसमें खंडन संपूर्ण हो जाता है। सभी खंडों में उपांग होते हैं पर विशेषता यह है कि इसके चलने के पैर द्विशाखी (बाइरैमस) होते हैं। पूर्णता प्राप्त करने पर पैर एकशाखी (यूनिरैमस) हो जाते हैं।
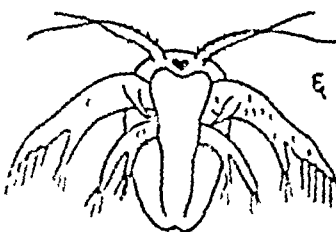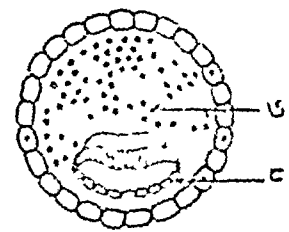
चित्र ८ त्र्युपाग डिंभ (नॉप्लिअस लारवा)

चित्र ९ कीट भ्रूण (इन्सेक्ट एंब्रियो)

७ पीतक (योक), ८ उल्व (एम्निऑन)

उच्चतम न्यायालय में अपील करने की अनुमति के लिये आवेदनपत्र उच्च न्यायालय में प्रस्तुत करने की अवधि ९० दिन है। यदि उच्च-न्यायालय वह प्रमाणपत्र देना अस्वीकार कर दे जिसके लिये प्रार्थना की गई है, तो अस्वीकार किए जाने की तिथि से ६० दिन के अंदर, उच्च न्यायालय मे भारतीय संविधान के अनुच्छेद १३२ या १३६ के अंतर्गत प्रमाणपत्र के लिये आवेदनपत्र दिया जा सकता है।

ऐसे मामलो मे जिनमे उच्च न्यायालय को उच्चतम न्यायालय मे अपील करने की अनुमति का प्रमाणपत्र देने की शक्ति है, उच्चतम न्यायालय अपील करने की इजाजत के लिये किसी ऐसे आवेदनपत्र को अंगीकार नही करता जो उच्च न्यायालय मे न दिया जाकर सीधे उसको दिया जाता है। अपवाद रूप कुछ मामलो को छोड एतदर्थ केवल कुछ ऐसे मामले ही अपवाद समझे जाते हैं जिनमे इस आधार पर आवेदनपत्र अस्वीकार करने से घोर अन्याय होने की आशका रहती है। जहाँ उच्च न्यायालय मे आवेदनपत्र देने का कोई उपबध विधि मे नही है वहाँ संविधान के अनुच्छेद १३६ के अंतर्गत आवेदन-पत्र देने की अवधि सबद्ध आदेश (जिसके विरुद्ध अपील होनी है) की तिथि से ८० दिन है।

साधारण सिद्धात—अपील मे प्रयुक्त होनेवाले साधारण सिद्धात इस प्रकार है

(१) अपील की कार्रवाई समविधि से उत्पन्न हुई है अत जब तक विधि मे कोई उपबध न हो, अपील नही हो सकती।

(२) अपील वाद या अन्य कार्रवाई की शृखला है और अपील-न्यायालय का निर्णय प्राथमिक रूप से उन्ही परिस्थितियो पर आधारित होता है जो नीचे के न्यायालय के विनिश्चय की तिथि पर वर्तमान थी। किंतु अपील-न्यायालय वाद की घटनाओ पर भी ध्यान दे सकता है और नीचे के न्यायालय की आज्ञप्ति या आदेश मे वादविपय के अनुसार न्यायोचित सशोधन कर सकता या उसे हटा सकता है।

(३) अपील प्रक्रिया का विपय न होकर मौलिक अधिकार का विपय समझी जाती है और यह मान लिया जाता है कि अपील के अधिकार का अपहरण करनेवाली किसी विधि का प्रयोग चालू अपील या वाद मे तब तक नही होगा जब तक आवश्यक रूप से उसको अनुदर्शी प्रभाव न दिया गया हो। यदि ऐसा कोई अनुदर्शी प्रभाव नही दिया गया है तो चाहे नीचे के न्यायालय के निर्णय के पूर्व ही वह विधि लागू हो चुकी हो, अपील का निर्णय उस विधि के अनुसार होगा जो वाद या अन्य कार्रवाई के आरभ की तिथि पर लागू था।

(४) साधारणतया अपील का निर्णय नीचे के न्यायालय मे प्रस्तुत किए गए साक्ष्य के आधार पर किया जाता है। केवल वही नया साक्ष्य अपील-न्यायालय द्वारा स्वीकार किया जा सकता है जो किसी पक्ष को समुचित खोज तथा प्रयत्न करने पर भी उस समय प्राप्त नही हो सका था जिस समय आरभ के न्यायालय मे वाद का परीक्षण चल रहा था।

(५) नीचे के न्यायालय की आज्ञप्ति का अपील-न्यायालय की आज्ञप्ति या आदेश मे समावेश तभी होता है जब वह आज्ञप्ति या आदेश अपील के सभी मामलो की पूरी सुनवाई के बाद दिया जाता है, परतु जब अपील किसी दोप के कारण अथवा किसी प्रारभिक आपत्ति के आधार पर, जैसे न्यायालय-शुल्क न देने पर या अवधि-समाप्ति के कारण, वियुक्त कर दी जाती है तब ऐसा नहीं किया जा सकता। किंतु अपील-न्यायालय की आज्ञप्ति मे परीक्षण-न्यायालय की आज्ञप्ति का समावेश हो जाने से वाद या अन्य कार्रवाई उपस्थित करने के अवधिकाल की गति नही रुकती जब तक कि वाद-हेतु नीचे के न्यायालय के विनिश्चय से उत्पन्न हुआ है।

(६) दड सबधी उन मामलो को छोडकर जिनमे अपील-न्यायालय दडादेश मे वृद्धि नही कर सकता, अपील-न्यायालय को ऐसा कोई भी आदेश देने की शक्ति रहती है जो आरभ के न्यायालय द्वारा दिया जा सकता है।

स०ग्र०—कारपस जूरिस सेकडम का 'अपील' शीर्पक लेख, व्यवहार-प्रक्रिया-सहिता, दड-प्रक्रिया-सहिता। [च० अ०]

अपृष्ठवंशी भ्रूणतत्व

जिन प्राणियो मे रीढ नही होती उन्हे अपृष्ठवशी कहते हैं। विज्ञान का वह विभाग अपृष्ठवशी भ्रूणतत्व कहलाता है जिसमे ऐसे प्राणियो मे बच्चो के जन्म के आरभ पर विचार होता है। अधिकतर प्राणियो में नर और मादा पृथक् होते है। नर शुक्राणु (स्पर्मैटोजोआ) सृजन करते हैं तथा मादा अडे देती है। इन दोनो के सयोग से बच्चा पैदा होता है। परतु निम्न श्रेणी के बहुत से प्राणी ऐसे भी होते हैं जिनमे नर और मादा मे कोई प्रभेद नही होता और वे शुक्राणु अथवा अडे नही देते। इनकी वृद्धि इनके सारे शरीर के द्विविभाजन (बाइनरी फिशन), या अकुरण (बडिंग), या बीजाणु (स्पोर)-निर्माण द्वारा होती है। इनसे कुछ अधिक उन्नत प्राणियो मे दो ऐसे प्राणी थोडे समय के लिये सयुक्त होते हैं और उसके पश्चात् पुन विभाजन द्वारा वश की वृद्धि करते है। इनसे भी अधिक उन्नत प्राणियो मे देखा जाता है कि दो पृथक् प्राणी एक दूसरे से सपूर्ण रूप से सयुक्त हो जाते हैं और उनकी पृथक् सत्ता नही रह जाती। ऐसे सयोग के पश्चात् फिर विभाजन तथा खडन द्वारा वश की वृद्धि होती है। ऐसे प्राणी एककोशिन (प्रोटोजोआ) श्रेणी के है जिनका सारा शरीर केवल एक ही कोश (सेल) का बना होता है। पर इनमे कुछ ऐसे भी होते है जो उच्च श्रेणी के प्राणियो की भाँति शुक्राणु तथा अडो का आकार ग्रहण कर लेते हैं और इन दोनो के सयोग के पश्चात् पुन खडन तथा विभाजन क्रिया प्रचलित होती है। एककोशिन (प्रोटोजोआ) के शरीर की, एक ही कोश होने के कारण, वृद्धि मे केवल कोश के आयतन मे वृद्धि होती है। परतु नैककोशिन (मेटाजोआ) प्राणियो में शरीर की वृद्धि क्रमशील होती है। इस प्रारभिक वर्धनशील अवस्था में ये भ्रूण कहलाते हैं और पूर्णता प्राप्त करने के पूर्व उनमे बहुत परिवर्तन होता है। भ्रूण भी प्रारभिक अवस्था मे एक ही कोश का होता है, यद्यपि यह दो विभिन्न कोशो, शुक्राणु तथा अडे, की सयुक्तावस्था है, जिसे युग्मज (जाइगोट) कहते हैं। यह युग्मज क्रमश भेदन (क्लीवेज) द्वारा बहुकोशी बनता है, परतु एककोशिनो से इसकी भिन्नता इसी मे है कि विभाजित कोश पृथक् नही हो जाते।

इन नए कोशो की प्रगति और निरूपण दो भिन्न पद्धतियो पर होते हैं। कुछ प्राणियो मे इन नए कोशो का भविष्य बहुत ही प्रारभिक काल में निर्धारित हो जाता है, जिससे यह निश्चित हो जाता है कि वे किन किन अगो की सृष्टि करेंगे। इस पद्धति को विशेपित विभिन्नता अथवा कुट्टिम-चित्र (मोजेइक) विकास कहते है। ऐसे एक विभाजनशील अडे को दो समान भागो में विभक्त करने पर प्रत्येक खड उस प्राणी का केवल अर्धांग ही बना सकता है। दूसरी पद्धति मे अगो का निर्धारण प्रथमावस्था मे नही होता और ऐसे अडो का दो भागो मे विभाजन करने से यद्यपि वे आयतन मे छोटे हो जाते है, परतु प्रत्येक भाग सपूर्ण प्राणी को बनाता है। ऐसी विभाजन प्रणाली को अनिश्चित (इडिटर्मिनेट) अथवा विनियामक (रेगुलेटिव) भेदन कहते हैं। परतु कुछ अवधि के पश्चात् इनमे भी कोशो का भविष्य प्रथम पद्धति की भाँति निर्धारित हो जाता है और उस समय अडो का विभाजन करने पर प्राणी पूर्णांग नही बनता।

साधारणतया अडो के अदर खाद्यपदार्थ पीतक (योक) के रूप मे सचित रहता है। वर्धनशील भ्रूण की पुष्टि पीतक से होती रहती है। अडे के भीतर पीतक का वितरण मुख्यत तीन प्रकार का होता है। प्रथम में पीतक की मात्रा बहुत कम होती है और वह सारे अडे मे समान रूप से विस्तृत रहता है। ऐसे अडे को अपीती (ऐलेसिथैल, आइसो-लेसिथैल अथवा होमोलेसिथैल) कहते हैं। दूसरे प्रकार मे पीतक की मात्रा बहुत अधिक होती है और वह अडे के निम्नभाग में एकत्रित रहता है। ऐसे अडे को एकत पीती (टेलोलेसिथैल) कहते हैं। तीसरे प्रकार मे पीतक अडे के मध्य भाग मे स्थित रहता है। ऐसे अडे को केंद्रपीती (सेंट्रोलेसिथैल) कहते हैं।

पीतक की मात्रा तथा उसकी स्थिति के अनुसार अडे का विभाजन भिन्न भिन्न प्रकार का होता है। पीतक विभाजन क्रिया मे बाधक होता है। अपीती अडे सपूर्ण रूप से विभाजित होते हैं। ऐसी विभाजन प्रणाली को पूर्णभेदन (होलोब्लैस्टिक क्लीवेज) कहते हैं। परतु एकत पीती अडो मे पीतक के नीचे की ओर एकत्रित होने के कारण अडे का ऊपरी भाग शुद्ध तथा सक्रिय रहता है और विभाजन क्रिया केवल ऊपरी भाग मे आबद्ध रहती

सं०ग्रं०—सी० एस० डु रिचे प्रेलर इटैलियन माउटेन जिऑलोजी (१९२४)। [रा० ना० मा०]

अपोलो ग्रीस के प्रधान देवताओ मे से एक। सोदर्य, तारुण्य, युद्ध और भविष्यकथन का देवता। प्राचीन ग्रीक नारी देल्फी का विशेप आराध्य। अपोलो का जन्म, ग्रीक पौराणिक कथाओ के अनुसार, पिता देवराज ज्यूस् और माता लेतो से हुआ। ज्यूस् भारतीय इद्र की भाँति अपत्नीगामी था और उसने जो लेतो से प्रणय किया तो उसकी पत्नी हीरा ने लेतो का सर्वनाश करने की ठानी। उसने उस गर्भिणी पतिप्रिया को नाना प्रकार के दु ख दिए और लेतो को दर दर की ठोकरे खानी पडी। अत मे समुद्र मे बहते हुए शिलाद्वीप पर उसने उस पुत्ररत्न का प्रसव किया जो पौरुष और सौदर्य का प्रतीक अपोलो नाम से ग्रीक और रोमन कथाओ मे प्रसिद्ध हुआ। शक्ति, सत्य, न्याय, पवित्रता आदि नैतिक गुणो का वह प्रतिष्ठाता बना और उसकी कथाओ से ग्रीको के पुराण भर गए।

वैसे तो ग्रीस और आयोनिया के अतिरिक्त द्वीपो और प्रवान भूमि पर जहाँ जहाँ ग्रीक जातियो की वस्तियाँ थी वहाँ वहाँ सर्वत्र ही, पीछे रोम आदि के नगरो मे भी, अपोलो के मदिर बने, परतु उसकी विशेप पूजा देल्फी के नगर में प्रतिष्ठित हुई जहाँ प्राचीन काल मे उसका सबसे प्रसिद्ध मदिर खडा हुआ। ग्रीक इतिहास मे विख्यात देल्फी के भविष्यकथन, जिनका अतुल अधिकार छठी से चौथी शती ई० पू० के एथेस् पर था, विशेषत इसी देवता से सबध रखते है। ग्रीको का विश्वास था कि स्वय अपोलो समसामयिक समस्याओ पर भविष्यवाणी पवित्र पुजारिणी के मुँह से कराता है और उनकी राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओ को अपनी वाणी से सुलझा देता है। देल्फी मे अपोलो के त्योहार से सबधित कई दिनो तक चलनेवाले खेलो का सत्र हुआ करता था जो प्रसिद्ध ओलिपियाई खेलो से किसी प्रकार घटकर न था।

दिओनिसस् को छोडकर अपोलो के बराबर कोई दूसरा लोकप्रिय देवता ग्रीको का उपास्य नही हुआ। और वह दियोनिसस् अथवा अफ्रोदीती की भाँति पौर्वात्य विश्वासो के आयात से भी उत्पन्न नही था, बल्कि ग्रीको का निजी देवता था, उनके देवराज ज्यूस् का पुत्र और भगिनी आतमिस् का जुडवाँ भाई, जो ग्रीको की ही भाँति बाण द्वारा लक्ष्यवेध मे अनुपम कुशल था। अपोलो की प्राचीन काल मे हजारो मूर्तियाँ बनी। ग्रीक जहाँ जहाँ गए— सिसली मे, सीरिया मे, पजाब मे—सर्वत्र उन्होने अपने इस प्रिय देवता अपोलो की मूर्तियाँ बनाई। भारत के प्राचीन गधार प्रदेश मे भी—जहाँ पहली शती ई० की हिंदू-यवन अथवा गाधार कला का जन्म हुआ—ग्रीक कलावतो की छेनी के स्पर्श से पत्थर मे जीवन फूटा और अपोलो की अनेक मूर्तियाँ निर्मित हुई। परतु उस देवता की अभिराम, समोहक और सर्वोत्तम मूर्तियाँ आज रोम और वातिकन के सगहालयो मे सुरक्षित है। इन मूर्तियो मे अपोलो का अत्यत आकर्षक छरहरा तन, लगता है, साँचे मे ढाल दिया गया हो, पत्थर का नही, धातु का बना हो। [भ० श० उ०]

अपोलोदोरस् का जन्म ई० पू० १८० के ल० हुआ था। इसने सिकदरिया मे अरिस्ताकस् से शिक्षा ग्रहण की थी। तत्पश्चात् यह पर्गामम् होता हुआ एथेस् मे आकर बस गया और वही इसका शरीर छटा। यह विविध विषयो मे रुचि रखनेवाला प्रकाड विद्वान् था। क्रौनिका नामक पुस्तक मे इसने त्राय के पतन से लेकर अपन समय तक का इतिहास लिखा था। पैरीथियोन् नामक पुस्तक मे गद्य मे ग्रीक लोगो के धर्म का बौद्धिक विवेचन है। पैरोगेस् इसकी भूगोल सबधी रचना हे। एक पुस्तक इसने निरुक्तियो पर भी लिखी थी। इसके अतिरिक्त प्राचीन लखको की रचनाओ पर इसने टीकाएँ भी रची थी। [भो० ना० श०]

अपोलोनियस् (त्याना का) नव-पिथागोरस् सप्रदाय का दार्शनिक और सिद्ध पुरुष, जिसका जन्म ई० सन् के आरभ से थोडे ही पूर्व हुआ था। इसने तार्सस् और इगाए मे अस्क्लेपियस् (यूनान के धन्वतरि) के मदिर मे शिक्षा प्राप्त की थी और तत्पश्चात् निनेवे, बाबुल और भारत की यात्रा की। यह योगियो के वेश मे रहता था। कोई इसको सिद्ध मानते थे, कोई ऐंद्रजालिक। सिद्ध के रूप मे इसने ग्रीस, इटली और स्पेन की भी यात्रा की थी। नीरो और दोमीतियान् दोनो ने इसपर राजद्रोह का आरोप लगाया पर यह बच गया। इसने एफेसस् में एक विद्यालय स्थापित किया जहाँ यह शतायु होकर परलोक सिधारा। इसकी तुलना ईसामसीह तक के साथ की गई है। [भो० ना० श०]

अपोलोनियस् (रोद्स का) (ई०पू० तीसरी शताब्दी), सभवतया सिकदरिया अथवा नौक्रातिस् का निवासी था पर चूँकि अपने जीवन के अतिम दिनो मे वह रोद्स मे बस गया था, वही का रहनेवाला कहा जाने लगा। इसने कल्लीमाकस् से शिक्षा प्राप्त की थी पर आगे चलकर दोनो मे महान् कलह हो गया। यह जेनोदोतस् और ऐरातोस्थेनेस् के मध्यवर्ती काल मे सिकदरिया के सुविख्यात पुस्तकालय का अध्यक्ष रहा। इसने गद्य और पद्य दोनो मे बहुत कुछ लिखा था। पद्य मे नगरो की स्थापना की पुस्तक तथा आर्गोनाउतिका अधिक प्रसिद्ध है। आर्गोनाउतिका मे यासन् और मीदिया के प्रेम का वर्णन अभिराम हुआ है। इसकी उपमाएँ कालिदास की उपमाओ के समान विख्यात है। परवर्ती रोमन कवियो (विशेषकर वर्जिल) पर इसका गहरा प्रभाव पडा है। [भो० ना० श०]

अपोहवाद बौद्ध दर्शन मे सामान्य का खडन करके नामजात्याद्यसयुत अर्थ को ही शब्दार्थ माना गया है। न्यायमीमासा दर्शनो मे कहा गया है कि भाषा सामान्य या जाति के बिना नही रह सकती। प्रत्येक व्यक्ति के लिये अलग शब्द हो तो भाषा का व्यवहार नष्ट हो जायगा। अनेकता मे एकत्व व्यवहार भाषा की प्रवृत्ति का मूल है और इसी को तात्विक दृष्टि से सामान्य कहा जाता है। भाषा ही नही, ज्ञान के क्षेत्र मे भी सामान्य का महत्व है क्योकि यदि एक ज्ञान को दूसरे ज्ञान से पृथक् माना जाय तो एक ही वस्तु के अनेक ज्ञानो मे परस्पर कोई सबध नही हो सकेगा। अतएव सामान्य या जाति को अनेक व्यक्तियो मे रहनेवाली एक नित्य सत्ता माना गया है। यही सत्ता भाषा के व्यवहार का कारण है और भाषा का भी यही अर्थ है। बौद्धो के अनुसार सभी पदार्थ क्षणिक है अत वे सामान्य की सत्ता नही मानते। यदि सामान्य एक है तो वह अनेक व्यक्तियो मे कसे रहता है? यदि सामान्य नित्य है तो नष्ट पदार्थ मे रहनेवाले सामान्य का क्या होता है? अत सामान्य नामक नित्यसत्ता वस्तुओ मे नही होती। वस्तु क्षणिक है अत वह किसी अन्य वस्तु से सबधित न होकर अपने आप मे ही विशिष्ट एक सत्ता है जिसे स्वलक्षण कहा जाता है। अनेक स्वलक्षण पदार्थो मे ही अज्ञान के कारण एकता की मिथ्या प्रतीति होती है और चूँकि लोकव्यवहार के लिये ऐसी प्रतीति की आवश्यकता है इसलिये सामान्य लक्षण पदार्थ व्यावहारिक सत्य तो है किंतु परमार्थत वे असत् है। शब्दो का अर्थ परमार्थत सामान्य के सबध से रहित होकर ही भासित होता है। इसी को अन्यापोह या अपोह कहते है। अपोह सिद्धात के विकास के तीन स्तर माने जाते है। दिङ्नाग के अनुसार शब्दो का अर्थ अन्याभाव मात्र होता है। शातरक्षित ने कहा कि शब्द भावात्मक अर्थ का बोध कराता है, उसका अन्य से भेद ऊहा से मालूम होता है। रत्नकीर्ति ने अन्य के भेद से युक्त शब्दार्थ माना। ये तीन सिद्धात कम से कम अन्य से भेद को शब्दार्थ अवश्य मानते है। यही अपोहवाद की विशेषता है। [रा० पा०]

अपौरुषेयतावाद वेद के आविर्भाव के विषय मे नैयायिको और तद्भिन्न दार्शनिको के, विशेपत मीमासको के, मत मे बडा पार्थक्य है। न्याय का मत है कि ईश्वर द्वारा रचित होने के कारण वेद 'पौरुपेय' है, परतु साख्य, वेदात और मीमासा मत मे वेद का उन्मेप स्वत ही होता है, उसके लिये किसी भी व्यक्ति का, यहाँ तक कि सर्वज्ञ ईश्वर का भी प्रयत्न कार्यसाधक नही है। पुरुप द्वारा उच्चरितमात्र होने से भी कोई वस्तु पौरुषेय नही होती, प्रत्युत दृष्ट के समान अदृष्ट मे भी वुद्धिपूर्वक निर्माण होने पर ही 'पौरुषेयता' आती है (यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत् पौरुपेयम्—साख्य सूत्र५।५०)।

श्रुति के अनुसार ऋग्वेद आदि वेद 'उस महाभूत के नि श्वास' है। श्वास-प्रश्वास तो स्वत आविर्भूत होते है। उनके उत्पादन मे पुरुप की कोई

जिसे मध्यश्लेप (मेसोग्लीका) कहते हैं। इन तीन श्रेणी के प्राणियो के अतिरिक्त बहुकोशविशिष्ट सभी प्राणियो में एक तीसरा पर्त बनता है जो
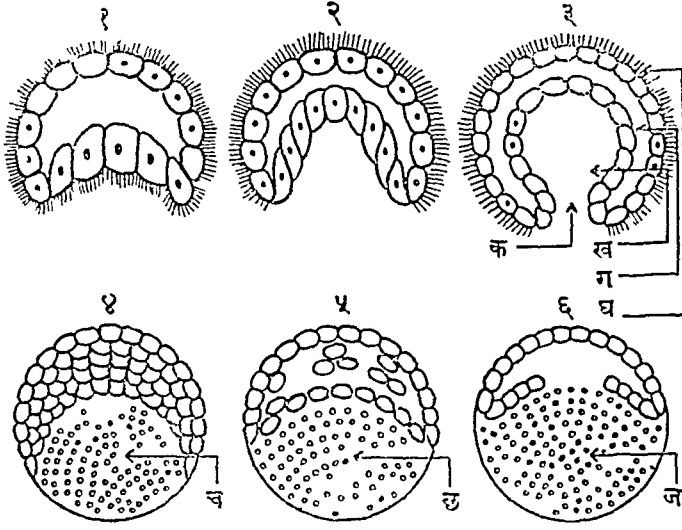
चित्र २ स्यूतिभ्रूण (गैस्ट्रुला)

१, २ और ३ मे अतर्वर्धन (एबोली) दिखाया है, क आद्यत्रमुख (ब्लैस्टोपोर), ख आद्यत्र (आरकेंटरॉन), ग अध स्तर (हाइपोब्लास्ट), घ बहिस्तर (एपिब्लास्ट), ४ में अध्यावृद्धि (एपिबोली) दिखाई गई है, च पीतक (योक), ५ मे पृथक्स्तरण (डिलैमिनेशन) दिखाया गया है, छ पीतक, तथा ६ मे अतर्वलन (इन्वोल्युशन) दिखाया गया है, ज पीतक।

बहिस्तर (एपिब्लास्ट) तथा अध स्तर (हाइपोब्लास्ट) के बीच में स्थित रहता है। इसको मध्यस्तर (मेसोडर्म अथवा मेसोब्लास्ट) कहते हैं, एव ऐसे प्राणियो को त्रिस्तरी (ट्रिप्लोब्लैस्टिक) कहते हैं। इस मध्यस्तर का प्रवर्तन या तो बहिस्तर तथा अत स्तर दोनों सस्थाओं से होता है, अथवा केवल अत स्तर से होता है। प्रथम अवस्था मे इस मध्यस्तर को बहिर्मध्यस्तर (एक्टोमेसोडर्म) और द्वितीय अवस्था मे अतर्मध्यस्तर (एटोमेसोडर्म) कहते हैं। ऐसा द्विजातीय मध्यस्तर केवल आद्यमुखी श्रेणी के प्राणियों में होता है। द्वितीयमुखी प्राणियो में केवल अत मध्यस्तर होता है। अपृष्ठवंशी प्राणियो मे केवल शरकृमिवर्ग (किटोग्नाथा) और शल्यचर्म (इकाइनोडर्म) द्वितीयमुखी होते हैं, और शेष सब आद्यमुखी होते हैं। त्रिस्तरी प्राणियो की विशेषता यह है कि मध्यस्तर से बाहरी आवरण और पाचकनाल के बीच एक लसिका से भरा विवर बनता है, जिसको देह-गुहा (सीलोम अथवा बाडी कैविटी) कहते हैं। इस देहगुहा की बाहरी और भीतरी दोनो दीवारें मध्यस्तर की पर्तो मे ही ढकी होती हैं। इसके अतिरिक्त मध्यस्तर से मासपेशी (मसल), अस्थि, रक्त, प्रजननतत्र तथा उत्सर्गी अग बनते हैं।

कुछ त्रिस्तरी जीव ऐसे भी हैं जिनमें देहगुहा नही रहती और उसके स्थान पर एक विशेष ततु भरा रहता है जिसे मूलोति (पारेंकिमा) कहते हैं। इस कारण त्रिस्तरी को फिर दो भागो मे बाँटा जाता है—एक तो सदेहगुहा (सीलोमाटा), जिनमें देहगुहा वर्तमान रहती है, और दूसरी अदेहगुहा, जिनमे देहगुहा की जगह केवल मूलोति रहता है।

मध्यस्तर की एक और विशेषता होती है जिसके कारण अधिकतर त्रिस्तरी जीवो मे शरीर काव टुकडो में विभाजन होता है, अथवा केवल भीतर के अगो में ही देखा जाता है।

आद्यमुखी और द्वितीयमुखी मे देहगुहा का प्रवर्तन भिन्न प्रकार से होता है। आद्यमुखी मे बहिर्मध्यस्तर से भ्रूण की मासपेशी तथा योजी ऊती (कनेक्टिव टिशूज) बनते हैं। अतर्मध्यस्तर के कोश भ्रूण के पीछे की ओर रहते हैं। इन कोशो से शरीर के अदर प्रथमत कोशो का एक ठोस समूह होता है जो बाद मे दो पर्तो में विभाजित हो जाता है। बीच का विवर देहगुहा बनता है। इस प्रकार से बनी देहगुहा को विपाहगुहा (स्किजोसील) कहते है। द्वितीयमुखी में अतर्मध्यस्तर पहले से ही आद्यत्र (आरकेंटरॉन) की ऊपरी दीवार के दोनो पार्श्वों में सनिहित रहता है। क्रमश यह आद्यत्र से अलग होकर देहगुहा का विवर बनाता है। इस प्रकार से बनी देहगुहा को आत्रगुहा (एटरोसील) कहते हैं।

भिन्न भिन्न अगो का विकास क्रमश बहिस्तर, अतस्तर तथा मध्यस्तर तीनो पर्तो मे होता है। भ्रूणावस्था में यद्यपि अगो का विकास होता है, तथापि वे क्रियाशील नही होते। सचित पीतक की अधिकता अथवा पुष्टि का अन्य प्रबध रहने पर भ्रूण वर्धित अवस्था में जन्म लेता है और अपना जीवननिर्वाह स्वाधीन रूप से कर सकता है। परतु पीतक की मात्रा कम होने पर बहुधा भ्रूण अल्पविकसित अवस्था मे ही जन्म लेकर स्वावलबी हो जाता है। इस समय इनका शरीर पूर्ण विकसित अवस्था से भिन्न रूप का होता है जिसे डिंभ (लार्वा) कहते हैं। डिंभ दो प्रकार मे पूर्णता प्राप्त करते हैं। एक में तो वे क्रमश बढते हुए पूर्ण रूप ग्रहण करते है। इस प्रथा को सीधा अथवा ऋजु विकास कहते हैं। दूसरी प्रथा में डिंभ कुछ अवधि के पश्चात् प्राय स्थिर या निष्क्रिय हो जाते हैं, अथवा आहार बद कर देते हैं। इस अतरिम काल में वे शरी (प्यूपा) कहलाते हैं, और इनके शरीर के भीतर द्रुत गति से परिवर्तन होता है, जिनके पश्चात् वे प्रौढ रूप के हो जाते हैं। ऐसे द्रुत परिवर्तन को रूपातरण (मेटामॉर्फोसिस) अथवा अप्रत्यक्ष विकास (इडिरेक्ट डिवेलपमेंट) कहते हैं।

जल मे अडा देनेवाले सभी जीवो के शरीर पर, एकभित्तिका (ब्लैस्चुला) और स्यूतिभ्रूण (गैस्ट्रूला) अवस्था में जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) की बनी बाल की तरह रोमिकाएँ (सिलिया) होती हैं, जिनके द्वारा वे जल में प्रगति करते हैं।

छिद्रिण (पॉरिफेरा) प्राणियो का मुखद्वार एकभित्तिका अवस्था में बनता है। इनके एकभित्तिका के अग्रभाग के भीतर जीवद्रव्य की बनी कशाएँ (फ्लैजेला—चाबुक जैसे अग जो जीव को तैरकर चलने में सहायता देते हैं) होती हैं। स्यूतिभ्रूण बनने के समय यह भाग उलटकर मुखद्वार से बाहर हो जाता है। इसके पश्चात् एकभित्तिका अग्रभाग द्वारा किसी वस्तु से सलग्न हो जाती है। उस समय विपरीत अश के कोश बढते हुए अग्रभाग के ऊपर प्रसारित होकर दो पर्तें बनाते है जिनको द्विधाभित्ति (ऐंफिब्लास्चुला) कहते हैं। द्विधाभित्ति क्रमश पूर्ण रूप धारण कर लेती है।

आतरगुहियो (सिलेंटरेटा) में एकभित्तिका की दीवार से कोश अलग होकर एकभित्तिका-गुहा के भीतर भर जाते हैं। एकभित्तिका अब ठोस रूप धारण करती है। इस स्थिति मे इनको चिपिटक (प्लैनुला) डिंभ कहते हैं। भीतर के कोश से क्रमश दूसरी पर्त बनती हैं और उसके बीच विवर बनता है। श्रेणियो की विभिन्नता के अनुसार इनमे कई प्रकार के डिंभ होते हैं। जलीयकवर्ग (हाइड्रोजोआ) मे डिंभ एक छोटे बेलन की तरह होता है जिसके मुख को वेष्टित करते हुए उँगलियो की तरह कई अग होते हैं जिनको स्पर्शिका (टेटेक्ल्स) कहते हैं। इस रूप के डिंभ को पुरुपाद (पॉलीपैड) डिंभ कहते हैं। यह डिंभ क्रमश पूर्ण रूप ग्रहण करता है। छत्रिक वर्ग (सिफोजोआ) मे भी पुरुपाद डिंभ बनता है, जिसको हाइड्रोट्यूबा

चित्र ३ आतरगुही

१ रश्मिका (ऐक्टिन्यूला), २ चपमुख (साइफिस्टोमा), ३ षोडशार (एफिरा)।
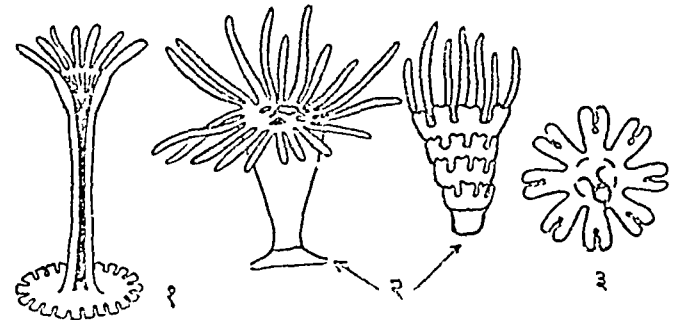
सकेत है। शतपथ ब्राह्मण मे (११।५।१।४) ये तालाबों मे पक्षियो के रूप मे तैरनेवाली चित्रित की गई है और पिछले साहित्य मे ये निश्चित रूप से जगली जलाशयो मे, नदियो मे, समुद्र के भीतर वरुण के महलो मे भी रहनेवाली मानी गई है। जल के अतिरिक्त इनका सबध वृक्षों से भी है। अथर्ववेद (४।३७।४) के अनुसार ये अश्वत्थ तथा न्यग्रोध वृक्षो पर रहती हैं जहाँ ये झूले मे झूला करती है और इनके मधुर वाद्यो (कर्करी) की मीठी ध्वनि सुनी जाती है। ये नाचगान तथा खेलकूद मे निरत होकर अपना मनोविनोद करती है। ऋग्वेद मे उर्वशी प्रसिद्ध अप्सरा मानी गई है (१०।९५)।

पुराणो के अनुसार तपस्या मे लगे हुए तापस मुनियो को समाधि से हटाने के लिये इद्र अप्सरा को अपना सुकुमार, परतु मोहक प्रहरण बनाते है। इद्र की सभा मे अप्सराओ का नृत्य और गायन सतत आह्लाद का साधन है। घृताची, रभा, उर्वशी, तिलोत्तमा, मेनका, कुडा आदि अप्सराएँ अपने सौदर्य और प्रभाव के लिये पुराणो मे काफी प्रसिद्ध है। इस्लाम मे भी स्वर्ग मे इनकी स्थिति मानी जाती है। फारसी का 'हूरी' शब्द अरबी 'हवरा' (कृष्णलोचना कुमारी) के साथ सबद्ध बतलाया जाता है। [ब० उ०]

अफगान वे सब जात्योपजातियाँ जो प्राय आधुनिक अफगानिस्तान, बलोचिस्तान के उत्तरी भाग तथा भारत के उत्तर-पश्चिमी पर्वतखडो मे बसती है। वश अथवा प्राकृतिक दृष्टि से ये प्राय तुर्क-ईरानी हैं और भारत के निवासियो का भी काफी मिश्रण इनमे हुआ है।

कुछ विद्वानो का मत है कि केवल दुर्रानी वर्ग के लोग ही सच्चे 'अफगान' है और वे उन बनी इसराइल फिरको के वशज है जिनको बादशाह नबूकद-नजार फिलस्तीन से पकडकर बाबुल ले गया था। अफगानो के यहूदी फिरको के वशधर होने का आधार केवल यह है कि खाँजहाँ लोदी ने अपने इतिहास '**मखजने अफगानी**' मे १६वी सदी मे इसका पहले पहल उल्लेख किया था। यह ग्रथ बादशाह जहाँगीर के राज्यकाल मे लिखा गया था। इससे पहले इसका कही उल्लेख नही पाया जाता। अफगान शब्द का प्रयोग अलबरूनी एव उत्बी के समय, अर्थात् १०वी शती के अत से होना शुरू हुआ। दुर्रानी अफगानो के बनी इसराईल के वशधर होने का दावा तो उसी परिपाटी का एक उदाहरण है जिसका प्रचलन मुसलमानो मे अपने को मुहम्मद के परिवार का अथवा अन्य किसी महान् व्यक्ति का वशज बतलाने के लिये हो गया था।

यद्यपि अफगानिस्तान के दुर्रानी एव अन्य निवासी अपने ही को वास्तविक अफगान मानते है तथा अन्य प्रदेशो के पठानो को अपने से भिन्न बतलाते है, तथापि यह धारणा असत्य एव निस्सार है। वास्तव मे 'पठान' शब्द ही इस जाति का सामूहिक जातिवाचक शब्द है। 'अफगान' शब्द तो केवल उन शिक्षित तथा सभ्य वर्गो मे प्रयुक्त होने लगा है, जो अन्य पठानो की अपेक्षा उत्कृष्ट होने पर बडा गौरव करते है।

पठान शब्द 'पख्तान' (ऋग्वैदिक पक्थान्) या 'पश्तान' शब्द का हिदी रूपातर है। 'पठान' उन समस्त वर्गो के लिये प्रयुक्त होता है, जो 'पश्तो' भाषाभाषी है। पठान शब्द का प्रयोग पहले पहल १६वी शती मे 'मखजने अफगानी' के रचयिता नियामतुल्ला ने किया था। परतु, जैसा कहा जा चुका है, अफगान शब्द का प्रयोग बहुत पहले से होता आया था।

अफगान जाति के लोगो के उत्तर-पश्चिम के पहाडी प्रदेशो तथा आस-पास की भूमि पर फैले होने के कारण, उनके चेहरे मोहरे और शरीर की बनावट मे स्थानीय विभिन्नताएँ पाई जाती है। तथापि सामान्य रूप से वे ऊँचे कद के, हृष्ट पुष्ट तथा प्राय गोरे होते है। उनकी नाक लबी एव नोकदार, बाल भूरे और कभी कभी आँखे कजी पाई जाती है।

थोडे समय से ऊँचे वर्ग के पठान या अफगान सब फारसी बोलने लगे है। साधारण पठान 'पश्तो' भाषा भाषी है। अफगानिस्तान मे उनका प्राबल्य १८वी सदी के मध्य से हुआ है जब अहमदशाह अब्दाली (दुर्रानी) ने उस देश पर अधिकार करके उसे 'दुर्रानी' साम्राज्य घोषित किया था।

इन अफगानो या पठानो के विभिन्न वर्गो को एक सूत्र मे बाँधनेवाली इनकी भाषा 'पश्तो' है। इस बोली के समस्त बोलनेवाले, चाहे वे किसी कुल या जाति के हो, पठान कहलाते है।

समस्त अफगान एक सर्वमान्य अलिखित किंतु प्राचीन परपरागत विधान के अनुयायी है। इस विधान का आदि स्रोत 'इब्रानी' है। परतु उसपर मुस्लिम तथा भारतीय रीत्याचार का काफी प्रभाव पडा है। पठानो के कुछ नियम तथा सामाजिक प्रचलन राजपूतो से बहुत मिलते है। सभी अफगानो का जीवन सैनिको का सा होता है। एक ओर अतिथिसत्कार, और दूसरी ओर शत्रु से भीषण प्रतिशोध, उनके जीवन के अग हो गए है। ऊसर और सूखे पहाडी प्रदेशो के निवासी होने के कारण उनका जीवन सदैव सघर्षपूर्ण रहा है। इसी से वे निर्भीक और निर्दय हो गए है। उनकी हिंस्र प्रवृत्ति धर्माधता के कारण और भी उग्र हो गई है। किंतु उनके चरित्र मे सौदर्य तथा सद्गुणो की भी कमी नही है। वे बडे वाक्चतुर, सामान्य परिस्थितियो मे बडे विनम्र और समझदार होते है। शायद उनके इन्ही गुणो के कारण भारतीय स्वाधीनता सग्राम मे महात्मा-गाधी के प्रभाव से उनके महामान्य नेता अब्दुलगफ्फार खाँ के नेतृत्व मे समस्त पठान जनता के चरित्र मे ऐसा मौलिक एव आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ कि वह 'अहिंसा' की सच्ची व्रती बन गई। इन अफगानो मे ऐसा परिवर्तन होना इतिहास की एक अपूर्व एव अनुपम घटना है।

स०ग्र०—नियामतुल्ला मखजने अफगानी, बी० डॉर्न हिस्ट्री ऑव अफगान्स, उत्बी तारीखे यामिनी, मिहाजुद्दीन बिनसिराजुद्दीन. तबकातेनासिरी, बाबर नामा, मिर्जा मुहम्मद तारीखे सुल्तानी, (बबई से प्रकाशित)। [प० श०]

अफगानिस्तान दक्षिण-पश्चिम एशिया का एक स्वतत्र मुसलमानी राज्य है, जो पामीर पठार के दक्षिण-पश्चिम मे लगभग ७०० मील तक फैला है। इसके उत्तर मे रूसी तुर्किस्तान, पश्चिम मे फारस, दक्षिण एव दक्षिण-पूर्व मे पाकिस्तान, तथा पूर्व मे चीन का सिक्याग एव भारत का काश्मीर प्रदेश स्थित है। अत्यत शक्तिशाली राज्यो से घिरा होने के कारण यह एक अत स्थ (बफर) राज्य है जिसकी सीमा पिछले १०० वर्षों मे अनेक बार सधियो द्वारा निर्धारित होती रही है। अतिम बार इसकी सीमा २२ नवम्बर, १९२१ ई० मे अफगानिस्तान और ब्रिटेन की सधि द्वारा निर्धारित की गई, जिसके पश्चात् इसे जर्मनी, फ्रास, रूस, इटली आदि राज्यो की मान्यता प्राप्त हो गई।

स्थिति २९° उत्तर से ३८° ३५′ उत्तर अक्षाश, ६०° ५०′ पूर्व से ७५° पूर्व देशातर। क्षेत्रफल २,५०,००० वर्गमील। जनसख्या. १,३०,००,००० (सन् १९५३ ई०) पठान, ६०%, ताजिक, '३०, ७%, उजबेक, ५%, हजारा (मुगल), ३%। अफगानिस्तान मे जातीय एकता का अभाव है। पाकिस्तान की सीमा के निकट वजीरी, अफ्रीदी एव मागल आदि पठान जातियाँ रहती है जो बडी ही स्वेच्छाचारी है।

इन दिनो अफगानिस्तान एक सवैधानिक राजतत्र है जिसके मुहम्मद जहीर शाह राजा है। यह सात बडे और चार छोटे प्रातो मे बँटा है। बडे प्रातो के नाम है काबुल, मजार, कधार, हेरात, कटाघम, सम्त-ए-मशरिकी और 'सम्त-ए-जनूबी'। बदखशाँ, फराह, गजनी और परवाँ नामक चार छोटे प्रात है। यहाँ सुन्नी मुसलमानो की प्रधानता है। शीया मुसलमानो की जनसख्या देश की जनसख्या का केवल आठ प्रतिशत है। काबुल अफगा-निस्तान की राजधानी एव प्रमुख नगर है, इसकी जनसख्या ३,१०,००० है (सन् १९५३)। कधार (जनसख्या, १,९५,०००), हेरात (जनसख्या, १,५०,०००), मजार-ए-शरीफ (जनसख्या, १,००,०००) और जलाला-बाद आदि अन्य मुख्य नगर है। राज्यभाषाएँ पश्तो और फारसी है।

उत्तर मे तुर्किस्तान के मैदानी खड को छोडकर अफगानिस्तान गगन-चुबी पर्वतो एव ऊँचे पठारो का देश है, जो जवशिला (शेल) और चूने के पत्थरो के बने है। इनके तल मे ग्रैनाइट तथा साईएनाइट पत्थर मिलते है। मत्स्य (डेवोनियन) और कार्बनप्रद (कार्बनिफेरस) युगो के पहले यह क्षेत्र टेथिस सागर का एक अग था। बाद मे यह ऊपर उठने लगा तथा यहाँ के पठारो एव पर्वतो का निर्माण तृतीय कल्प (टर्शियरी ईरा) मे हिमालय और आल्प्स के निर्माण के साथ हुआ।

अफगानिस्तान की मुख्य पर्वतश्रेणी हिंदूकुश है। यह पामीर पठार से दक्षिण-पश्चिम तथा पश्चिम की ओर लगभग ६०० मील तक चलकर हेरात प्रात मे लुप्त हो जाती है। कोह-ए-बाबा, फिरोज कोह, और कोह-

इनके अतिरिक्त कठिनिवर्ग में और कई प्रकार के डिंभ होते है, यथा पूर्णपुच्छक-प्रजाति (साइप्रिस), इरिक्थस, ऐलिमा, काचकर्क प्रजाति (फिलोसोमा), महाक्ष (मेगालोपा), इत्यादि, परतु इन सबमे केवल आकार का ही परिवर्तन होता है।

कीटो मे भ्रूण अडे के नीचे की ओर बनता है और इनमे उरगो, पक्षियो तथा स्तनधारियो की भाँति तरल द्रव्य से भरी एक थैली, जिसे उल्व (एम्निओन) कहते है, भ्रूण को वेष्टित किए रहती है।

कीट तीन प्रकार के माने जाते है। प्रथम प्रकार मे बच्चा अडे के भीतर ही पूर्णता प्राप्त कर लेता है। ऐसे कीट को अरचनातरी (ऐमेटाबोला) कहते है। दूसरे प्रकार मे बच्चा यद्यपि छोटा होता है, तथापि उसका रूप प्रौढावस्था का होता है। केवल पख और जननेन्द्रिय क्रमश बनते है। ऐसे कीट को अपूर्णरचनातरी (हेटेरोमेटाबोला) और उसके बच्चो को कीटशिशु (निफ) कहते है। तीसरे प्रकार में बच्चा प्रथम अवस्था मे एक ढोले के आकार का होता है, जो प्रौढावस्था से पूर्णतया भिन्न होता है। ये रूपातरण (मेटामार्फोसिस) के पश्चात् पूर्ण रूप धारण करते है। इनको पूर्णरचनातरी (होलोमेटाबोला) कहते है।

अयुतपाद (मीरिआपोडा) मे भी बच्चा प्राय पूर्ण रूप का होता है, पर प्रथम अवस्था मे कीटो की तरह इसके भी केवल तीन पैर होते है।

आद्यमुखी (प्रोटोस्टोमिअन) का भ्रूणतत्व यही समाप्त होता है। अपृष्ठवशी प्राणियो मे केवल शरक्रमिवर्ग (किटोग्नाथा) और शल्यचर्म (एकिनोडर्माटा) द्वितीयमुखी होते है। शरक्रमिवर्ग कुछ विषयो मे द्वितीयमुखी से भिन्न होते है। इनमे मुखद्वार आद्यत्रमुखी (ब्लैस्टोपोर) से ही बनता है, पर बहिर्मध्यस्तर नही होता और देहगुहा आत्रगुही होती है।

शल्यचर्मवर्ग में द्वितीयमुखियो की सभी विशेषताएँ पाई जाती है। मलद्वार आद्यत्रमुख से अथवा उसके निकट बनता है। मुखद्वार विपरीत दिशा मे अलग से बनता है। इसके डिंभ चार मुख्य प्रकार के होते है, यथा, लघुवर्ध (आरिकुलेरिआ), अभितोवर्ध (बिपिन्नेरिआ), प्लवडिंभ (प्लूटिअस), अहिप्लवडिंभ (ओफिप्लूटिअस) एव पचकोण-वृताभ (पेटाक्रिनॉयड)। इनमे पचकोण-वृताभ-डिंभ पूर्णावस्था से बहुत मिलता हे, केवल इसमें धरातल से सलग्न रहने के लिये एक डडी रहती है, जो पूर्णावस्था मे नही रह जाती।

अन्य सभी डिंभो मे दो रोमिका-पट्टियाँ होती है, पर प्रत्येक डिंभ मे ये भिन्न रूप धारण करती है। एक रोमिका-पट्टी मुखद्वार को चतुर्दिक् घेरे रहती हे जिसे अभिमुख (ऐडोरल) रोमिका-पट्टी कहते है और दूसरी उसके बाहर शरीर को घेरे रहती है जिसे परिमुख (पेरिओरल) रोमिका-पट्टी
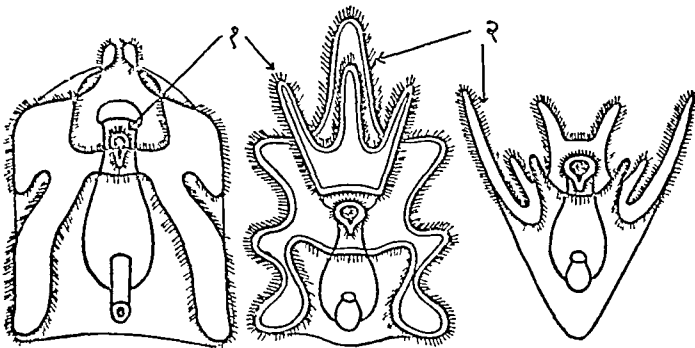
चित्र १० शल्य चर्मो (एकिनोडर्म्स) के डिंभ

बाई ओर लघुवर्ध (ओरिक्युलेरिया), मध्य मे अभितोवर्ध (बिपिन्नेरिया), दाहिनी ओर कदुक डिभ (प्लुटिअस)। १ अभिमुख (ऐडोरल, मुख के समीप), २ परिमुख (पेरिओरल)।

कहते है। चित्र १० मे इन दोनो रोमिका-पट्टियो की विशेषताएँ दिखाई गई है, जिससे इनका अतर ज्ञात होगा।

अपृष्ठवशी प्राणियो का यह भ्रूणतत्व सक्षेप मे लिखा गया है। यद्यपि इन प्राणियो को १५-१६ श्रेणियो मे बाँटा गया है, पर इनके भ्रूणतत्व से यही सिद्ध होता है कि यह विभाग केवल बाह्यिक है और प्राणियो मे, विशेपकर भ्रूणो मे, एक अतर्निहित परस्पर सबध है जिसके द्वारा विकासवाद की पुष्टि होती है। प्राणियो की विभिन्नता उनके वातावरण और तदनुसार उनकी जीवन-पद्धति के कारण होती है। इस सिद्धात के अनुसार सभी प्राणियो को केवल दो विभागो मे बाँटा जा सकता है। एक तो आद्यमुखी और दूसरा द्वितीयमुखी। इन दोनो शाखाओ को शरक्रमिवर्ग सबधित करता है। इससे यही सिद्ध होता हे कि प्राणियो के विकास मे आद्यमुखी पहले बने, और उसके पश्चात् द्वितीयमुखी। द्वितीयमुखी से सभी पृष्ठवशियो (वर्टेब्रेटा) का विकास हुआ। [श० ध० च०]

स०ग्र०—हास स्पेमान एमब्रियॉनिक डेवेलपमेट ऐड इडक्शन, ड'आर्सी डब्ल्यू० टॉमसन ऑन ग्रोथ ऐड फॉर्म।

अपेनाइंस एक पर्वत श्रेणी है जो इटली प्रायद्वीप के बीच एक ओर से दूसरे छोर तक रीढ के समान फैली हुई है। कुल लबाई लगभग ८०० मील और चौडाई ७० से ८० मील तक है। इसके सामान्यत तीन विभाग हो जाते है, उत्तरी केंद्रीय और दक्षिणी अपेनाइस। उत्तरी अपेनाइस के अतर्गत पश्चिम मे लइगूरियन अपेनाइस और पूर्व मे इट्रस्कन अपेनाइस है। ये दोनो मौसमी क्षति द्वारा अधिक प्रभावित हुए है और इस प्रकार इनमे कम ऊँचाई के ही दर्रे बन गये है जिससे आवागमन सुलभ हो गया है। इट्रस्कन अपेनाइस मुख्यत बालुकाश्म, मृत्तिका और चूने की चट्टान द्वारा निर्मित है। यहाँ औसत ऊँचाई ३,००० फुट है। माटी निमोने नामक शिखर ७,०६७ फुट ऊँचा है। उत्तरी अपेनाइस की मुख्य नदियाँ स्क्रिविय, ट्रेबिया, टारो और रीनो है। इनमे से पहली तीन पो नदी से जा मिलती है जब कि रीनो नदी ऐड्रिऐटिक सागर मे गिरती है। इस पर्वतीय प्रदेश की दक्षिण उपजाऊ ढाल पर जैतून इत्यादि की उपज होती है। यहाँ करारा की प्रसिद्ध सगमरमर की खाने स्थित है। समीपवर्ती समुद्रतटीय प्रदेश को रिवियरा कहते है, यहाँ कई एक रमणीक स्थल है जो महत्त्वपूर्ण पर्यटक केंद्र बन गये है।

केंद्रीय अपेनाइस इट्रस्कन अपेनाइस के दक्षिण से आरम्भ होते है। यहाँ चूने की शिलाओ द्वारा निर्मित श्रेणियो की अधिकता है। इस प्रदेश की मुख्य नदी टाइबर है। अनेक अन्य छोटी छोटी नदियाँ पूर्व की ओर बहकर ऐड्रिऐटिक सागर मे गिरती है। ऐड्रिऐटिक सागरीय ढाल पर कृषि महत्वपूर्ण है। केंद्रीय अपेनाइस का उच्चतम शिखर माटी कार्नो ९,५८४ फुट ऊँचा है। कुछ और पश्चिम की ओर अन्य कई खनिजो की खाने है परतु स्वय अपेनाइस से कोई उपयोगी खनिज नही प्राप्त होता है।

दक्षिण अपेनाइस मे अन्य भागो से कुछ विभिन्नताये पाई जाती है, उदाहरणत, यहाँ समान्तर श्रृखलाओ का अभाव और विच्छिन्न पर्वत-खडो की अधिकता है। इस प्रदेश की औसत ऊँचाई मध्य अपेनाइस से अपेक्षाकृत कम है और उच्चतम शिखर सिरा डोल्सीडोर्मे ७,४५१ फुट ऊँचा है। पश्चिम की ओर ज्वालामुखी पर्वत स्थित है जो मुख्य अपेनाइस से पृथक् है। इनमे नेपुल्स नगर के समीप स्थित विसुविअस अधिक प्रसिद्ध है। यह एक जागृत ज्वालामुखी है। समीपवर्ती क्षेत्र की लावा द्वारा निर्मित मिट्टी खूब उपजाऊ है। समुद्रवर्ती ढाल पर जैतून की उपज महत्त्वपूर्ण हे।

अपेनाइस के आर पार कई एक रेल और सडक मार्ग है। कई स्थानो पर घने वन है जिनकी सुरक्षा का प्रबध सरकार द्वारा होता है। अपेनाइस के अधिक ऊँचे भाग शीत ऋतु मे हिमआच्छादित रहते है।

भूविज्ञान—अपेनाइस ऐल्प्स-हिमालय-पर्वत-समूह से सबद्ध है। ठीक सबध का अब भी ब्योरेवार पता नही है और वैज्ञानिको मे कुछ मतभेद है। अपेनाइस मे रक्ताश्म (ट्राइऐसिक), महासरट (जूरैसिक), खटी (क्रिटेशियस), प्राक्नूतन (इयोसीन) और मध्यनूतन (मायोसीन) युगो के प्रस्तरो की तहे है। कही कही इनसे भी प्राचीन पत्थर दिखाई पडते है। प्राक्नूतन युग के अत मे पृथ्वी की पर्पटी इस प्रकार दोहरी होने लगी कि अपेनाइस का जन्म हुआ। सारे मध्यनूतन युग तक यह पर्वत बढता रहा। अतिनूतन (प्लाइओसीन) युग मे अपेनाइस लगभग वर्तमान ऊँचाई तक पहुँच गया, यद्यपि ऊँचा होने की क्रिया और ज्वालामुखियो का सक्रिय होना दोनो आज तक कही कही जारी है। अपेनाइस मे अब हिमानियाँ (ग्लेशियर) नही है, परतु कही कही अतिनूतन युग के पश्चात् वे विद्यमान थी।

मे, लोहा घोरवद की घाटी एव काफिरिस्तान मे, गधक मयमाना प्रात एव कामार्द की घाटी में, अभ्रक पजशीर की घाटी मे, ऐस्बेस्टास जिद्रा जिले में, क्रोमियम लोगर की घाटी मे तथा सोना, माणिक, फीरोजा, वैडूर्य (लैपिस लैजूली) एव अन्य वहुमूल्य पत्थर वदखशाँ में मिलते है। हाल मे खनिज तेल उत्तरी अफगानिस्तान के हेरात प्रात मे प्राप्त हुआ है।

अफगानिस्तान की जलवायु अति शुष्क है। यहाँ दैनिक तथा वार्षिक तापातर अधिक तथा वायुवेग अत्यत तीव्र रहता है। ग्रीष्म ऋतु मे घाटियाँ तथा कम ऊँचे पठार उष्ण हो जाते है। आमू की घाटी, कधार एव जलालावाद मे ताप ११०° से ११५° फारेनहाइट तक चढ जाता है तथा दक्षिण-पश्चिम के मरुस्थल मे धूल एव वालुकायुक्त प्रचड हवाएँ १०० मील प्रति घटे से भी अधिक वेग से चलती है। जाडे की ऋतु मे वहुत ठढी और वेगवती हवाएँ चलती है। कावुल, गजनी, हजारा आदि ३,००० फुट से अधिक ऊँचे क्षेत्रो में ताप ०° फा० से भी कम हो जाता है। यहाँ जनवरी तथा फरवरी के महीनो मे तुपारपात और मार्च तथा अप्रैल मे वर्षा होती है। अफगानिस्तान की औसत वर्षा ११ इच है। इसके अधिकाश मे वर्षा अपर्याप्त होती है। दक्षिण-पश्चिम के मरुस्थल विशेष रूप से शुष्क है, जहाँ वर्षा ४ इच से भी कम होती है। ६,००० फुट से ऊँचे स्थलो मे वसत तथा शरद ऋतुएँ अति प्रिय और मनमोहक होती है।

जगल ६,००० से १०,००० फुट की ऊँचाई तक मिलते है। इन जगलो मे कोणधारी (चीड आदि) वृक्ष तथा श्रीदारु (लार्च) की प्रचुरता है। इन वृक्षो की छाया मे गुलाव एव अन्य सुदर फूल उगते है। ३,००० से ६,००० फुट की ऊँचाई मे वाज (ओक) एव अखरोट के वृक्ष मिलते है। ३,००० फुट से नीचे जगली जैतून (ऑलिव), गुलाव, वेर तथा ववूल पाए जाते हैं।

अफगानिस्तान पशुपालक एव कृषिप्रधान देश है। इसका अधिकाश पर्वतीय एव शुष्क होने के कारण कृषि के लिये उपयुक्त नही है। फिर भी यहाँ के मैदानो एव अनेक उर्वर घाटियो मे नहरो आदि द्वारा सिचाई करके फल, सब्जियाँ एव अन्न उपजाए जाते है। कुछ भागो मे विना सिचाई की कृपि भी प्रचलित है। जाडे मे गेहूँ, जौ तथा मटर और गरमी मे धान, मक्का, ज्वार, वाजरा की फसले होती है। थोडे परिमाण में रुई, तवाकू तथा गाँजा भी पैदा किया जाता है। कुछ वर्पो से हेलमाँद तथा अर्गदाव नदियो पर जल-सग्रह-तडाग और हरी रूद पर वाँध वनाकर कृपि को विकसित किया जा रहा है। यहाँ ग्रीष्मकाल की शुष्क जलवायु फल उपजाने के लिये उपयुक्त है। अगूर, शहतूत और अखरोट के अतिरिक्त सेव, नाशपाती, वादाम, वेर, अजीर, खूवानी, सतालू आदि फल भी उपजाए जाते है। अगूर विशेषत भारत को निर्यात किया जाता है।

यहाँ की मुख्य सपत्ति भेडे तथा अन्य पशुसमुदाय है और प्रधान उद्यम पशुपालन है। कटाधम और मजार के क्षेत्रो में सर्वोत्कृष्ट जाति के घोडे पाले जाते है। अदखूई के निकट भेड का सर्वोत्तम चमडा मिलता है। मोटी पूँछ की भेडे, जो दक्षिण मे मिलती है, ऊन, मास तथा चर्वी के लिये प्रसिद्ध है। ऊन का वार्षिक उत्पादन लगभग ७,००० टन है।

अफगानिस्तान मे केवल छोटे उद्योगो का विकास हो पाया हे। कावुल नगर मे दियासलाई, वटन, जूता, सगमरमर तथा लकडी के सामान वनाए जाते है। कुदज मे रूई धुनने और जिवेल-उस-सिराज, पुल-ए-खुमरी तथा गुलवहार मे सूती कपडे वुनने के कारखाने हैं। वघलन एव जलालावाद में चीनी के कारखाने है। हाल मे जिवेल-उस-सिराज मे सीमेट उद्योग का विकास हुआ है।

इस राज्य मे आवागमन की समस्या जटिल है। यहाँ रेलो का सर्वथा अभाव है और सडको की स्थिति अच्छी नही है। अत आवागमन के सामान्य साधन ऊँट, गधा, खच्चर तथा वैल है। परतु मोटरगाडियो का प्रयोग दिनोदिन वढता जा रहा है।

चारो ओर अन्य देशो से घिरे होने के कारण अफगानिस्तान का ९०% वैदेशिक व्यापार पहले पाकिस्तान द्वारा होता था, किंतु २ जून, १९५५ ई० को अफगानिस्तान तथा रूस के वीच पचवर्षीय पारवहन सधि होने के वाद अफगानिस्तान का व्यापार विशेप रूप से रूस द्वारा होने लगा है। मुख्य आयात सूती कपडा, चीनी, धातु की वनी सामग्री, पशु, चाय, कागज, पेट्रोल, सीमेट आदि है, जो विशेपत भारत, रूस तथा पाकिस्तान से प्राप्त होते है। सूखे एव रसदार फल, मसाले, कराकुल नामक चर्म, दरियाँ, रुई एव कच्चा ऊन यहाँ के मुख्य निर्यात है, जो प्रधानत भारत, रूस, सयुक्त राज्य (अमरीका) तथा ब्रिटेन को भेजे जाते है। [न० कि० प्र० सि०]

इतिहास १८ वी शताब्दी के मध्य तक अफगानिस्तान नाम से विहित राज्य की कोई पृथक् सत्ता नही थी अत अफगानिस्तान की भौगोलिक सज्ञा का उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ उपयोग वहुत कुछ १७४७ के पूर्व तक आनुवशिक था। इसके एक सगठित राष्ट्रीय एकतत्र के रूप मे उदय होने के पूर्व इस देश का इतिहास अत्यत वैविध्यपूर्ण है।

आर्यो के आगमनकाल (ई० पू० द्वितीय तथा प्रथम सहस्राब्दी) मे ये राज्य ईरानी जातियो द्वारा अधिकृत थे। वाद मे कुरुष् ने इन राज्यो को हखमनी साम्राज्य मे समिलित कर लिया। ई० पू० चौथी शताब्दी मे सिकदर ने इन राज्यो को विजित कर लिया। सिकदर के पश्चात् परवर्ती यूनानी शासक शको और पार्थवो द्वारा हटा दिए गए। ई० पू० प्रथम शताब्दी मे उनपर कुपाणवश के शासको का आधिपत्य रहा जो कुजुल कदफीसिस तथा कनिष्क के काल मे अपने पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। कनिष्क की मृत्यु के पश्चात् उसका साम्राज्य अधिक समय तक नही टिक सका, किंतु कुषाण शासक हिंदूकुश की दक्षिणी पूर्वी घाटियो मे तव तक वने रहे जव तक श्वेत हूणो ने उनपर अधिकार नही जमा लिया। इन हूणो ने ईसा की पाँचवीं और छठी शताब्दी मे अफगानिस्तान के उत्तरी एव पूर्वी भागो पर अधिकार कर लिया था। ७वी शताब्दी ईस्वी के मध्य पूर्वी अफगानिस्तान की राजनीतिक अवस्था का सम्यक् वर्णन ह्वेनत्साग ने किया है।

७वी शताब्दी मे अरव विजय का ज्वार अफगानिस्तान पहुँचा। इस आक्रमण की एक लहर सिजिस्तान होकर गुजरी, किंतु प्रथम तीन शताब्दियो में यहाँ से होनेवाले कावुल-विजय के प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए। कावुली प्रात, अन्य पूर्वी प्रातो की अपेक्षा इस्लामीकरण का प्रतिरोध अधिक समय तक करता रहा। सुलतान महमूद गजनवी (९९७–१०३०) के काल मे अफगानिस्तान एक महान् किंतु अल्पजीवी साम्राज्य का प्रधान केंद्र वना जिसके अतर्गत ईराक तथा कैस्पियन सागर से रावी नदी तक के विस्तृत भूभाग थे। महमूद के उत्तराधिकारी गुरीदो द्वारा ११८६ ई० मे पराजित हुए। तत्पश्चात् अफगानिस्तान अल्प समय के लिये ख्वारिज्मी शाहो के हाथो आया। १३वी शताब्दी में इसपर मगोलो ने अधिकार जमा लिया जो हिंदूकुश के उत्तर जम गए थे। उगुदे की मृत्यु के वाद मगोल साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया और अफगानिस्तान फारस के इल्खामो के हिस्से पडा। इन्ही के प्रभुत्व मे ताजिकिस्तान का 'कार्त' नामक एक राजवश शासनारूढ हुआ और देश के अधिकाश पर प्राय दो शताब्दियो तक शासन करता रहा। अत मे तैमूर ने आकर इस वश का अत कर डाला तथा हिरात-विजय के पश्चात् उत्तरी अफगानिस्तान मे अपने को दृढ कर लिया।

१६वी शताब्दी के आरभ मे, वावर के समय, ये राज्य कावुल और कधार मे केंद्रित हो गए थे, जो भारतीय मुगल साम्राज्य के प्रात वन गए। किंतु, हिरात फारस के शाहो के अधिकार में चला गया। एक वार अफगानिस्तान पुन विभाजित हुआ, फलत वलख उजवेको और कधार ईरानियो के वाँट पडा। १७०८ में कधार के गिलजाइयो ने ईरानियो को निकाल भगाया और १७२२ मे फारस पर आक्रमण कर उसपर अपना अस्थायी शासन स्थापित कर लिया। १७३७-३८ मे नादिरशाह ने, जो फारस के महत्तम शासको में से था, कधार दखल कर कावुल जीत लिया।

१७४७ मे नादिरशाह के मरने पर कधार के अफगान सरदारो ने अहमद खाँ (वाद मे अहमदशाह अब्दाली के नाम से विख्यात) को अपना मुखिया चुना और उसके नेतृत्व मे अफगानिस्तान ने इतिहास मे प्रथम वार एक स्वाधीन शासनसत्ता द्वारा शासित, अपना राजनीतिक अस्तित्व प्राप्त किया। अहमदशाह ने दुर्रानी राजवश की नीव डाली और अपने राज्य का विस्तार पश्चिम मे लगभग कैस्पियन सागर, पूर्व मे पजाव और कश्मीर तथा उत्तर मे आमू दरिया तक किया।

१९वी शताब्दी मे अफगानिस्तान दोतरफा दवाया गया, एक ओर रूस आमू दरिया तक वढ आया और दूसरी ओर ब्रिटेन उत्तर-पश्चिम मे खैवर क्षेत्र तक चढ आया। १८३९ मे एक भारतीय ब्रिटिश सेना ने कधार, गजनी और कावुल पर अधिकार कर लिया। दोस्तमुहम्मद को हटाकर

वृद्धि नही होती। अत उस महाभूत के नि श्वास रूप ये वेद अदृष्टवशात् अबुद्धिपूर्वक स्वय आविर्भूत होते हैं। मीमासा मत मे शब्द नित्य होता है। शब्द अश्रुत होने पर भी लुप्त नही होता, क्रमश विकीर्ण होने पर, बहुत स्थानो मे फैल जाने पर, वह लघु और अश्रुत हो जाता है, परतु कथमपि लुप्त नही होता। 'शब्द करो' कहते ही आकाश में अतर्हित शब्द तालु और जिह्वा के सयोग से आविर्भूत मात्र हो जाता है, उत्पन्न नही होता (मीमासा सूत्र १।१।१४)। वेद नित्य शब्द की राशि होने से नित्य है, किसी भी प्रकार उत्पाद्य या कार्य नही है। तैत्तिरीय, काठक आदि नामो का सवध भिन्न-भिन्न वैदिक सहिताओ के साथ अवश्य मिलता है, परतु यह आख्या प्रवचन के कारण ही है, ग्रथ रचना के कारण नही (मी० सू० १।१।३०)। वेदो मे स्थान स्थान पर उपलब्ध ववर प्रावाहणि आदि के समान शब्द किसी व्यक्तिविशेष के वाचक न होकर नित्य पदार्थ के निर्देशक हैं (मी० सू० १।१।३१)। आध्यात्मिक ज्ञान के प्रतिपादक होनेवाले वेदो में लौकिक इतिहास खोजने का प्रयत्न एकदम व्यर्थ है। इस प्रकार स्वत आविर्भूत वेद किसी पुरुष की रचना न होने से 'अपौरुषेय' है। इसी सिद्धात का नाम 'अपौरुषेयतावाद' है। [व० उ०]

अप्पय दीक्षित (ज० ल० १५५० ई०) वेदात दर्शन के विद्वान्। इनके पौत्र नीलकठ दीक्षित के अनुसार ये ७२ वर्ष जीवित रहे थे। १६२६ में शैवो और वैष्णवो का झगडा निपटाने ये पाड्य देश गए बताए जाते है। सुप्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजि दीक्षित इनके शिष्य थे। इनके करीब ४०० ग्रथो का उल्लेख मिलता है। शकरानुसारी अद्वैत वेदात का प्रतिपादन करने के अलावा इन्होने ब्रह्मसूत्र के शैव भाष्य पर भी शिव की मणिदीपिका नामक शैव सप्रदायानुसारी टीका लिखी। अद्वैत-वादी होते हुए भी शैवमत की ओर इनका विशेष झुकाव था। [रा० पा०]

अप्पर स्वामिगल, जिनका माता पिता द्वारा प्रदत्त नाम पहले 'मरुल नीकिअर' था। इन्हे प्राचीन चार तमिल समयाचार्यो या शैवाचार्यो मे गिना जाता है जिनमे से अन्य तीन तिरुज्ञान सवधर, सुदरर तथा माणिक्क वाचकर हैं और ये चारो दक्षिणी 'शैव सिद्धात' सप्रदाय के मूल प्रवर्तको के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। अप्पर का जन्म दक्षिण आर्काट के तिरुवामुर गावँ (जि० कुड्डलुर) मे हुआ था और इनकी जाति वल्लाल नामक अब्राह्मणो की थी। इनके पिता का नाम युगलनर था और माता का मतिनिअर। इनकी एक वडी बहन भी थी जिसका नाम तिलतवदिअर (तिलकवती) था और जिसने माता पिता का देहात हो जाने पर इनका सस्नेह लालन पालन किया। अपने जीवन के अतिम समय में इन्हे युपुकलुर गावँ (जि० तजोर) मे रहना पडा था जहाँ प्रसिद्ध है कि लगभग ८० वर्ष की वृद्धावस्था में इन्होने अपना शरीरत्याग किया। इनका जीवनकाल, ईसवी सन् की छठी शती के तृतीय चरण से लेकर सातवी शती के मध्य भाग तक माना जाता है। अप्पर तमिल, सस्कृत एव प्राकृत के प्रकाड विद्वान् थे और अपनी वाक्शक्ति पर पूर्ण अधिकार होने के कारण इनका एक नाम 'तिरुनावुक्करशु' भी प्रसिद्ध था। इन्हे वैदिक धर्म एव जैनधर्म के गूढतम सिद्धातो का भी पूरा ज्ञान था और ये सिद्ध हस्त कवि भी थे।

अप्पर की प्रवृत्ति पहले शैव धर्म की ओर ही रही, किंतु तिरुप्पतिरि पुलियुर (जि० कुड्डलुर) अथवा जनश्रुति के अनुसार प्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर जाकर इन्होने जैनधर्म स्वीकार कर लिया और वहाँ आचार्य भी बन गए परतु उस दशा मे जब एक बार इन्हे घोर उदरशूल के कारण अधीरता हो गई तो इन्होने अपनी वडी बहन की शरण ली और उसकी प्रेरणा से पुन शैव धर्म ग्रहण कर लिया। फलत बहुत से जैनियो द्वारा इस बात की निंदा की जाने पर, जैनी राजा केडव ने इन्हें अनेक बार महान् कष्ट पहुँचाया। फिर भी इन्हें कोई विचलित नही कर सका और इनसे प्रभावित होकर स्वय वह राजा तक शैव वन गया। तब से इन्होने प्रसिद्ध शैव तीर्थो और मदिरो मे जाकर प्रचार करना आरभ कर दिया और राजा महेद्रवर्मन् (प्रथम) को भी शैव बनाया। मदिरो मे पहुँचकर ये वहाँ की भूमि को स्वच्छ तथा सुदर बनाते और वहाँ की जनता को गाकर उपदेश दिया करते थे। अपनी इन यात्राओ के सिलसिले मे ये चिदवरम्, शियली, वेदारण्यम् आदि अनेक पवित्र स्थलो पर गए और, कहा जाता है, कही कही इन्होने कई चमत्कार भी प्रदर्शित किए जिनका सर्वसाधारण पर बहुत प्रभाव पडा। जैन धर्म मे प्रतिष्ठा पा लेने पर इनका नाम 'क्षुल्लक धर्मसेन' पड गया था। परतु जब शैव धर्म का प्रचार करते समय इनकी तिरुज्ञान सवधर से मैत्री हुई तब उन्होने इन्हें अप्पर (पिता) कहना आरभ कर दिया।

अप्पर परिश्रमी किसान का आचरण करनेवाले शैव भक्त थे। इनकी उपलब्ध रचनाओ में इनके इष्टदेव शिव का रूप एक निर्विशेष, सर्वातीत, किंतु सर्वातर्गत परमतत्व सा प्रतीत होता है और उसे एक अनुपम व्यक्तित्व प्रदान करते हुए ये उसके प्रति विरहनिवेदन तथा पश्चात्ताप के भाव प्रदर्शित करते हैं। इनकी भक्ति दास्य भाव की है जिसमें करुण एव दैन्य भाव की मात्रा भी कम नही जान पडती।

स०ग्र०—पेरिय पुराणम्, सी० वी० एन० अप्पर ओरिजिन ऐंड अर्ली हिस्ट्री ऑव शैविज्म इन साउथ इडिया, मद्रास यूनिवर्सिटी प्रकाशन (जी० ए० नटेसन, मद्रास)। [प० च०]

अप्पियन (ई० ल० ११६-१७० तक) एक यूनानी-रोमन इतिहासकार जिसका जन्म सिकद्रिया (मिस्र) में हुआ था। सम्राट् त्राजन के समय वह रोम गया और आतोनियस पीयस के समय तक वहाँ रहा। इस बीच उसने वकालत की तथा सरकारी वकील और राजकोषाध्यक्ष के पदो को सुशोभित किया। उसने अपने ढग से रोम का इतिहास २४ भागो मे लिखा जिसमे रोम का आधिपत्य स्वीकार करनेवालो का आदिकाल से रोम साम्राज्य मे मिलने तक का इतिहास है। इनमे से केवल ११ भाग और कुछ अश उपलब्ध हैं। यह ग्रथ यूनानी भाषा मे है। साहित्यिक दृष्टिकोण से यह उच्च स्तर का नही है, पर इसका ऐतिहासिक मूल्य कम नही है। [वैं० पु०]

अप्रमा न्यायमत मे ज्ञान दो प्रकार का होता है। सस्कार मात्र से उत्पन्न होनेवाला ज्ञान 'स्मृति' कहलाता है तथा स्मृति से भिन्न ज्ञान 'अनुभव' कहा जाता है। यह अनुभव दो प्रकार का होता है—यथार्थ अनुभव तथा अयथार्थ अनुभव। जो वस्तु जैसी हो उसका उसी रूप मे अनुभव होना यथार्थ अनुभव हे (यथाभूतोऽर्थो यस्मिन् स)। घट का घट रूप में अनुभव होना यथार्थ कहलाएगा। यथार्थ अनुभव की ही अपर सज्ञा 'प्रमा' है। 'अय घट' (=यह घडा है) इस प्रमा में हमारे अनुभव का विषय है घट (विशेष्य) जिसमें 'घटत्व' द्वारा सूचित विशेषण की सत्ता वर्तमान रहती है तथा यही घटत्व घट ज्ञान का विशिष्ट चिह्न है। और इसीलिये इसे 'प्रकार' कहते हैं। जब घटत्व से विशिष्ट घट का अनुभव यही होता है कि वह कोई घटत्व से युक्त घट है, तब यह प्रमा होती है। न्याय की शास्त्रीय परिभाषा मे 'अय घट' का अर्थ होता है—घटत्ववद् घटविशेष्यक—घटत्वप्रकारक अनुभव। प्रमा से विपरीत अनुभव को 'अप्रमा' कहते हैं अर्थात् किसी वस्तु में किसी गुण का अनुभव जिसमे वह गुण विद्यमान ही नही रहता। रजत मे 'रजतत्व' का ज्ञान प्रमा है, परतु रजत से भिन्न होनेवाली शुक्ति मे रजतत्व का ज्ञान अप्रमा है। प्रमा के दृष्टात में 'घटत्व' घट का विशेषण है और घट ज्ञान का प्रकार है। फलत 'विशेषण' किसी भौतिक द्रव्य का गुण होता है, परतु 'प्रकार' ज्ञान का गुण होता है। [व० उ०]

अप्सरा प्रत्येक धर्म का यह विश्वास है कि स्वर्ग मे पुण्यवान् लोगो को दिव्य सुख, समृद्धि तथा भोगविलास प्राप्त होते हैं और इनके साधन मे अन्यतम है अप्सरा जो काल्पनिक, परतु नितात रूपवती स्त्री के रूप मे चित्रित की गई है। यूनानी ग्रथो मे अप्सराओ को सामान्यत 'निंफ' नाम दिया गया है। ये तरुण, सुदर, अविवाहित, कमर तक वस्त्र से आच्छादित, और हाथ मे पानी से भरा हुआ पात्र लिए स्त्री के रूप मे चित्रित की गई हैं जिनका नग्न रूप देखनेवाले को पागल बना डालता है और इसलिये नितात अनिष्टकारक माना जाता है। जल तथा स्थल पर निवास के कारण इनके दो वर्ग होते हैं।

भारतवर्ष मे अप्सरा और गधर्व का साहचर्य नितात घनिष्ठ है। अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार ही अप्सरा (अप्सु सरत्ति गच्छतीति अप्सरा) जल मे रहनेवाली मानी जाती है। अथर्व तथा यजुर्वद के अनुसार ये पानी मे रहती हैं इसलिये कही कही मनुष्यो को छोडकर नदियो और जलतटो पर जाने के लिये इनसे कहा गया है। यह इनके बुरे प्रभाव की ओर

होना तय हुआ। शिवाजी दो मैत्रकों के साथ एक हाथ में बिछुआ और दूसरे में बघनखा छिपाए अफ़ज़ल खाँ से भेंट करने गए। अफ़ज़ल खाँ ने आलिंगन करते समय एक हाथ से शिवाजी का गला घोटने का प्रयत्न किया, दूसरे से छूरे का वार किया, किंतु वस्त्रों के नीचे लोहे की जाली पहिने रहने के कारण वार खाली गया और शिवाजी ने अफ़ज़ल खाँ का वध कर डाला। [रा० ना०]

अफ़लातून (प्लेटो) यूनान देश का सुविख्यात दार्शनिक। उसका मूल ग्रीक भाषा का नाम प्लातोन् है, इसी का अंग्रेजी रूपांतर प्लेटो और अरबी रूपांतर अफ़लातून है। उसका जन्मकाल ४२६ ई० पू०-४२७ ई० पू० माना जाता है। उसके पिता का नाम अरिस्तोन् और माता का पेरिक्तियोने था। वे दोनो ही एथेंस् के अत्यंत उच्च कुलों में उत्पन्न हुए थे। आरंभ में अफ़लातून की प्रवृत्ति काव्यरचना की ओर थी, पर लगभग २० वर्ष की अवस्था में सोक्रातेस (सुकरात) के प्रभाव में वह कवि से विचारक बन गया। यद्यपि अपनी कुलपरंपरा के अनुसार उसको राजनीति में सक्रिय भाग लेना चाहिए था, पर समसामयिक राजनीति की दुर्दशा ने उसको इस दिशा में प्रवृत्त होने से रोक दिया। ई० पू० ३९९ में सुकरात के मृत्युदंड के पश्चात् वह एथेंस् छोड़कर चला गया और उसने दूर देशों की (कुछ के मत में भारतवर्ष तक की) यात्रा की। ई० पू० ३८९ में वह इटली और सिसिली गया। इसी यात्रा में उसकी भेंट सिराकूस के शासक दियोनिसियुस् प्रथम से हुई तथा दियोन् और पिथागोरस् के अनुयायी आर्कितास् के साथ आजीवन मित्रता का सूत्रपात हुआ। इस यात्रा से लौटते समय संभवत वह ईगिना में बंदी बना लिया गया। पर धन देकर उसको छुड़ा लिया गया।

एथेंस् लौटने पर उसने अकादेमी नामक स्थान पर यूरोप के प्रथम विश्वविद्यालय का बीजारोपण किया। यह उसके जीवन का मध्याह्न-काल था। उसने अपने जीवन के उत्तरार्ध को इसी विद्यालय के विकास-कार्य में लगा दिया। ई० पू० ३६७ में सिराकूस के दियोनिसियुस् प्रथम की मृत्यु के उपरांत दियोन् ने अफ़लातून को दियोनिसियुस् द्वितीय को दार्शनिक राजा बनाने के लिये आमंत्रित किया। अफ़लातून ने अपनी शिक्षा का प्रयोग करने के लिये इस निमंत्रण को स्वीकार कर लिया। पर यह प्रयोग असफल रहा। ईर्ष्या से प्रेरित होकर दियोनिसियुस् द्वितीय ने दियोन् को निर्वासित कर दिया। अफ़लातून ने सिराकूस की तीसरी यात्रा ई० पू० ३६१ में की, पर वह इस बार भी वहाँ के राजनीतिक जीवन के उलझे हुए सूत्रों को सुलझा नहीं सका और कुछ समय के लिये स्वयं बंदी बना लिया गया। यहाँ से उसको आर्कितास् के प्रभाव से मुक्ति मिली। इसके पश्चात् उसका जीवन अकादेमी में ही व्यतीत हुआ और ई० पू० ३४८ में ८० वर्ष की आयु में उसका शरीरांत हुआ।

सुंदर स्वस्थ शरीर, दीर्घ जीवन, आर्थिक चिंताओं का अभाव, उच्च कुल में जन्म, सद्गुरु सुकरात की प्राप्ति, कुशाग्र बुद्धि इत्यादि अपरिमित वरदान अफ़लातून को प्राप्त थे। उसने इन सबका सदुपयोग किया तथा अपने और अपने गुरु के नाम को अमर बना दिया। उसकी इस अमर ख्याति का आधार है उसकी रचनाओं का साहित्यिक सौष्ठव और उसके विचारों की अतल गंभीरता।

अफ़लातून की रचनाओं की तालिका प्राचीन काल में बहुत लंबी थी, परंतु आधुनिक आलोचकों ने अनेक प्रकार की कसौटियों पर उनकी प्रामाणिकता का परीक्षण करके उनमें से अनेक को अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया है। परंतु यह सौभाग्य की बात है कि अफ़लातून की समग्र प्रामाणिक रचनाएँ अद्यावधि उपलब्ध हैं। कुल मिलाकर अफ़लातून की रचनाओं में आजकल २५ संवाद, १ सुकरात का आत्मनिवेदन तथा कुछ उसके पत्र प्रामाणिक माने जाते हैं। इनके नाम निम्नलिखित हैं —(१) अपोलोगिया, (२) क्रितो(न्), (३) यूथीफ्रो(न्), (४) प्रोतागोरस्, (५) हिप्पियास् लघु, (६) हिप्पियास् बड़ा, (७) लाखेस्, (८) लीसिस्, (९) खार्मिदीस्, (१०) गोर्गियास्, (११) मेनेक्सेनस्, (१२) मेनो(न्), (१३) यूथिदीमस्, (१४) क्रातीलस्, (१५) सिम्पोसियोन्, (१६) फ़एदो(न्), (१७) पोलितेइया अर्थात् रिपब्लिक, (१८) फ़एद्रस्, (१९) थियेतेतस्, (२०) पार्मेनिदीस्, (२१) सोफ़िस्त्, (२२) पोलितिकोस्, (२३) क्रितियास्, (२४) तिमाइयस्, (२५) फिलिबस्, (२६) नोमोई अर्थात् लॉज़, (२७) एपिस्तोलाए अर्थात् १३ पत्रों का संग्रह। संवादात्मक रचनाओं में प्रमुख वक्ता सुकरात है तथा रचना का नाम सुकरात के अतिरिक्त अन्य प्रमुख वक्ता के नाम पर पड़ा है। केवल १, १५, १७, २१, २२, २६ और २७ संख्यावाली रचनाएँ इसका अपवाद हैं। इनके नाम का संबंध विषय से है। यह सब ग्रंथ आकार में तुलसीदास की रचनाओं से प्राय दो गुने होंगे।

अफ़लातून की रचनाओं में विषयों की आश्चर्यजनक विविधता है। सुकरात का जीवनवृत्त, गणतत्व का विवेचन, शब्दतत्व, सौंदर्य-तत्व, शिक्षाशास्त्र, राजनीति, आत्मा की अमरता, काव्यालोचन, संगीत-समीक्षा, सृष्टितत्व आदि न जाने कितने गूढ़ विषयों पर अफ़लातून ने अपने विचारों को व्यक्त किया है। पर उसका मुख्य दार्शनिक सिद्धांत 'थियरी ऑव् आइडियाज़' नाम से विख्यात है। मूल ग्रीक भाषा में 'अइदस्' और 'इदिया' शब्दों का प्रयोग इस सिद्धांत के संबंध में किया गया है। ये शब्द भाषाशास्त्र की दृष्टि में संस्कृत की 'विद्' धातु से संबद्ध हैं, पर अर्थ की दृष्टि से इनका संबंध महाभाष्यकार पतंजलि और आचार्य शंकर द्वारा प्रयुक्त 'आकृति' शब्द से अधिक है। इंद्रियग्राह्य जगत् के परिदृश्यमान पदार्थों के मूल में रहनेवाले बुद्धिग्राह्य और अतींद्रिय तत्व को, जो स्थायी है और परिदृश्यमान पदार्थों का कारण है, अफ़लातून ने 'इदिया' कहा है। इन 'इदियों' का अपना स्वतंत्र स्थायी अस्तित्व है। दृश्यजगत् के पदार्थों में जो कुछ यथार्थ सत्य है वह अपने 'इदिया' के अस्तित्व में भागीदार होने के कारण है। संसार की समस्त पुस्तकें 'इदिया' की अपूर्ण अनुकृतियाँ मात्र हैं। 'इदिया' में भी ऊँच नीच का कोटिक्रम पाया जाता है। इनमें सर्वोच्च 'इदिया' सत् (अगाथॅन्) का इदिया है। यह समग्र सत्ता का मूल कारण है, प्रकाशस्वरूप है, पर इसके पूर्ण वर्णन में वाणी मूक हो जाती है। 'इदिया' दृश्य पदार्थों से पृथक् और अपृथक् दोनों ही है। सत् के 'इदिया' और विश्वात्मा का परस्पर क्या संबंध है इस बात को अफ़लातून ने अस्पष्ट ही छोड़ दिया है।

वास्तविक, अव्यभिचारी, स्थायी, स्पष्ट ज्ञान की प्राप्ति 'इदिया' के अवधारण से ही संभव है, दृश्य पदार्थों में भटकने से केवल 'मत' या 'राय' की ही प्राप्ति हो सकती है जो परिवर्तनशील और अविश्वसनीय है। ज्ञान की प्राप्ति के लिये शिक्षा और पूर्वस्मृति का उद्बोधन आवश्यक है। अफ़लातून के मत में शरीर की कारा में आबद्ध होने के पूर्व मानवीय आत्मा अपने शुद्ध रूप में 'इदिया' का चिंतन किया करती थी। उस अवस्था के पुन स्मरण से ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।

ज्ञान की प्राप्ति से ही सामाजिक और राजनीतिक कर्तव्यों का सम्यक् अवबोध और पालन संभव है। अफ़लातून का विश्वास था कि पूर्ण ज्ञानी दार्शनिक ही निर्विकार भाव से शासन का कार्य कर सकते हैं। इन ज्ञानी शासकों में अनासक्ति की भावना को बद्धमूल करने के लिये उसने उनके मध्य में संपत्ति, संतान और स्त्रियों के ऊपर समानाधिकार के सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। पर यह साम्यवाद केवल शासकों तक ही सीमित रहा।

नगरों के सुशासन के लिये शासकों में सत्यज्ञान का होना अनिवार्य है। परंतु अनेक कलाएँ और विशेष कर नाटक और कविताएँ तो सत्य की अनुकृति की भी अनुकृति है—क्योंकि दृश्यजगत् के पदार्थ 'इदियाओं' की अनुकृति हैं और कलाएँ इन दृश्य जगत् के पदार्थों का अनुकरण करती हैं। अत इन कलाओं को आदर्श नगर में कोई प्रश्रय नहीं मिलना चाहिए। कवियों को आदर्श नगर से बहिष्कृत कर दिया जाना चाहिए।

परंतु इससे हमको यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकालना चाहिए कि अफ़लातून नीरस दार्शनिक था। उसने अपने "सिंपोसियोन्" नामक संवाद में सौंदर्य के स्वरूप का अविस्मरणीय प्रतिपादन किया है। इस संवाद में प्रेम और सौंदर्य के स्वरूप का ऐसा उद्घाटन किया गया है कि अफ़लातून की प्रतिभा का लोहा मानना पड़ता है। बाह्य कायिक सौंदर्य से संपन्न अल् किबियादीस् को कुरूपतासंपन्न सुकरात के आंतरिक सौंदर्य के समक्ष मंत्रमुग्ध हुआ देखकर हमको स्वर्गिक सौंदर्य की झलक दिखाई देने लगती है।

पर जैसे जैसे समय बीतता गया, अफ़लातून के विचारों में परिवर्तन होता गया। उनके अंतिम ग्रंथ नोमोई (लॉज़) में, जिसको अफ़लातून-स्मृति का नाम दिया जा सकता है—हमको यथार्थवादी अफ़लातून के दर्शन

ए-सफेद इसके अन्य भागों के नाम है। इसकी दक्षिणी शाखा सुलेमान पर्वत है जो पूर्व मे टोरघर तथा स्याह कोह और पश्चिम मे स्पिनघर तथा सफेद कोह कही जाती है। हिंदूकुश पर्वत के प्रमुख दर्रे खावक, सलग, वामियाँ एव शिकारी-जेवर हैं। सुलेमान के दर्रे खैंवर, गोमल एव वोलन हैं। ये दर्रे वाणिज्यपथ का काम देते है। प्राचीन काल में इन्ही दर्रो से होकर सर्वप्रथम आर्य लोग तथा वाद मे मुसलमान, मुगल तथा अन्य विदेशी भारत में पहुँचे।

अफगानिस्तान छ प्राकृतिक भागों मे वाँटा जा सकता है

(१) वैक्ट्रिया अथवा अफगानी तुर्किस्तान, जो हिंदूकुश पर्वत के उत्तर आमू तथा उसकी सहायक कुदज तथा कोक्चा नदियो का मैदानी भाग है।

(२) हिंदूकुश पर्वत, जिसकी औसत ऊँचाई १५,००० फुट से अधिक है। इसकी चोटियाँ, जो १८,००० फुट से भी ऊँची है, सर्वदा हिमाच्छादित रहती है।

(३) वदख्शाँ, जो उत्तरी-पूर्वी अफगानिस्तान मे, तुर्किस्तान के पूर्व, एक रमणीक प्रदेश है। इसी के अतर्गत 'छोटा पामीर' पर्वत है।

(४) कावुलिस्तान, जिसके अतर्गत कावुल का पठार और चारदेह तथा कोह-ए-दमन की समृद्ध घाटियाँ है। कावुल के पठार की ऊँचाई ५,००० से ६,००० फुट है, यह कावुल नदी तथा उसकी सहायक लोगर, पजशीर एव कुनार से सिंचित, समृद्ध एव घनी आवादी का क्षेत्र है।

(५) हजारा, जो मध्य अफगानिस्तान का पर्वतीय एव विरल आवादी का प्रदेश है।

(६) दक्षिणी मरुस्थल, जिसके पश्चिमी भाग मे सिस्तान एव पूर्व मे रेगस्तान नामक मरुस्थल है। ये मरुस्थल देश का चौथाई भाग छेंके हुए है। इस क्षेत्र का जल-परिवाह (ड्रेनेज) हमुन-ए-हेलमाँद तथा गौद-ए-जिरेह नामक झीलो मे जमा होता है।

आमू, हरी रुद, मुर्घाव, हेलमाँद, कावुल आदि अफगानिस्तान की प्रमुख नदियाँ हैं। आमू तथा कावुल के अतिरिक्त अन्य नदियाँ अत स्थल परिवाही (इनलैंड ड्रेनेज वाली) हैं। आमू नदी रोशन एव दरवाज नामक पर्वत-श्रेणियो से निकलकर लगभग ४८० मील तक अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा निर्धारित करती है। हेलमाँद अफगानिस्तान की सर्वाधिक लवी नदी है जो ६०० मील तक हजारा एव दक्षिणी-पश्चिमी मरुस्थल से होती हुई सिस्तान क्षेत्र मे गिरती है।

अफगानिस्तान खनिज पदार्थो मे धनी है, परतु उनका विकास अभी तक नही हो सका है। निम्न कोटि का कोयला घोरबद की घाटी मे और लटावाद के समीप मिलता है। इसकी सचित निधि १,५०,००,००० टन कूती जाती है, किंतु वार्षिक उत्पादन केवल १०,००० टन है। नमक कटाघम प्रात में मिलता है। इसका वार्षिक उत्पादन २५,००० टन है, जिसका कुछ अश पाकिस्तान को निर्यात होता है। अन्य खनिज पदार्थो मे ताँबा हिंदूकुश मे, सीसा हजारा मे, चाँदी, हजाराजत एव पजशीर की घाटी
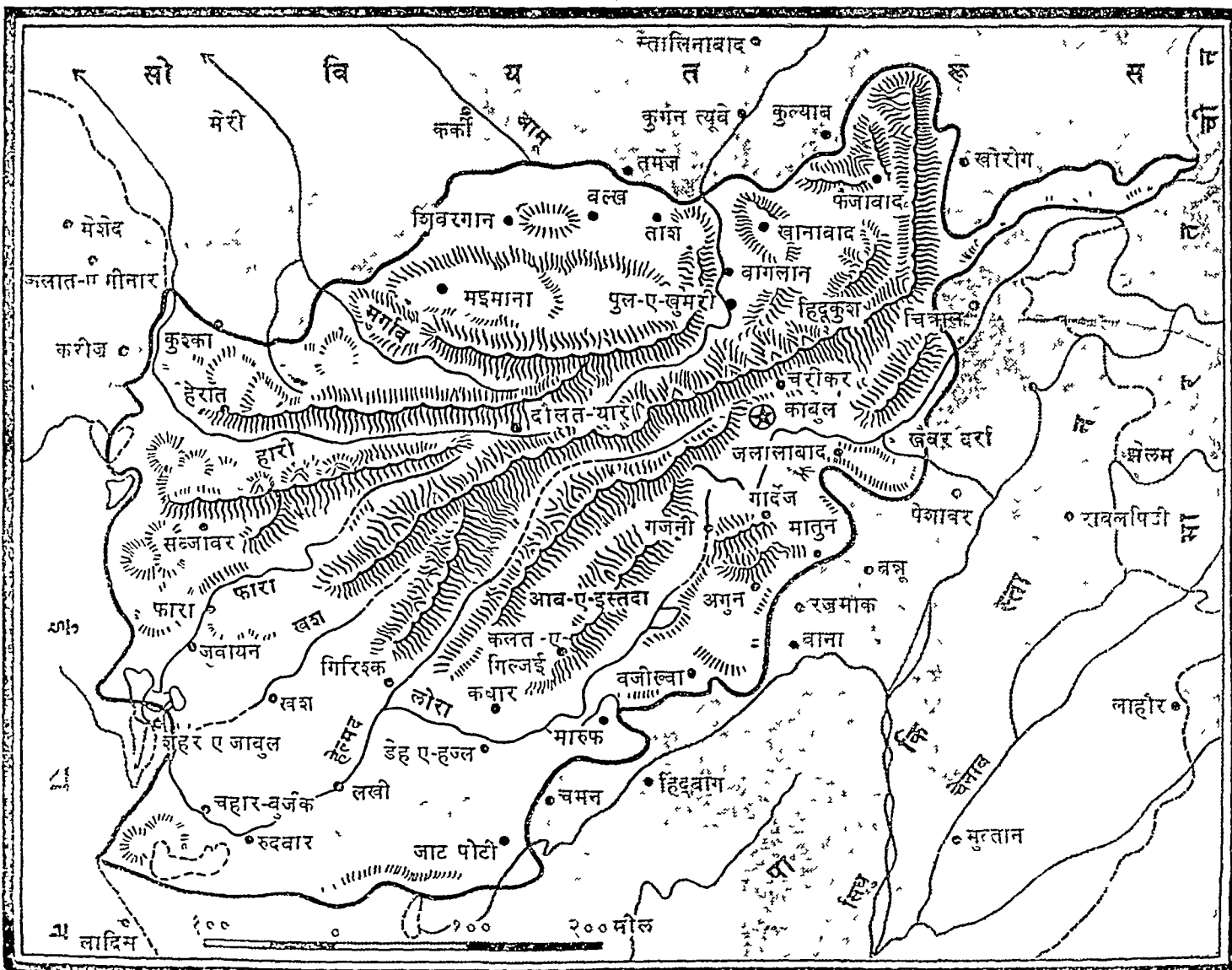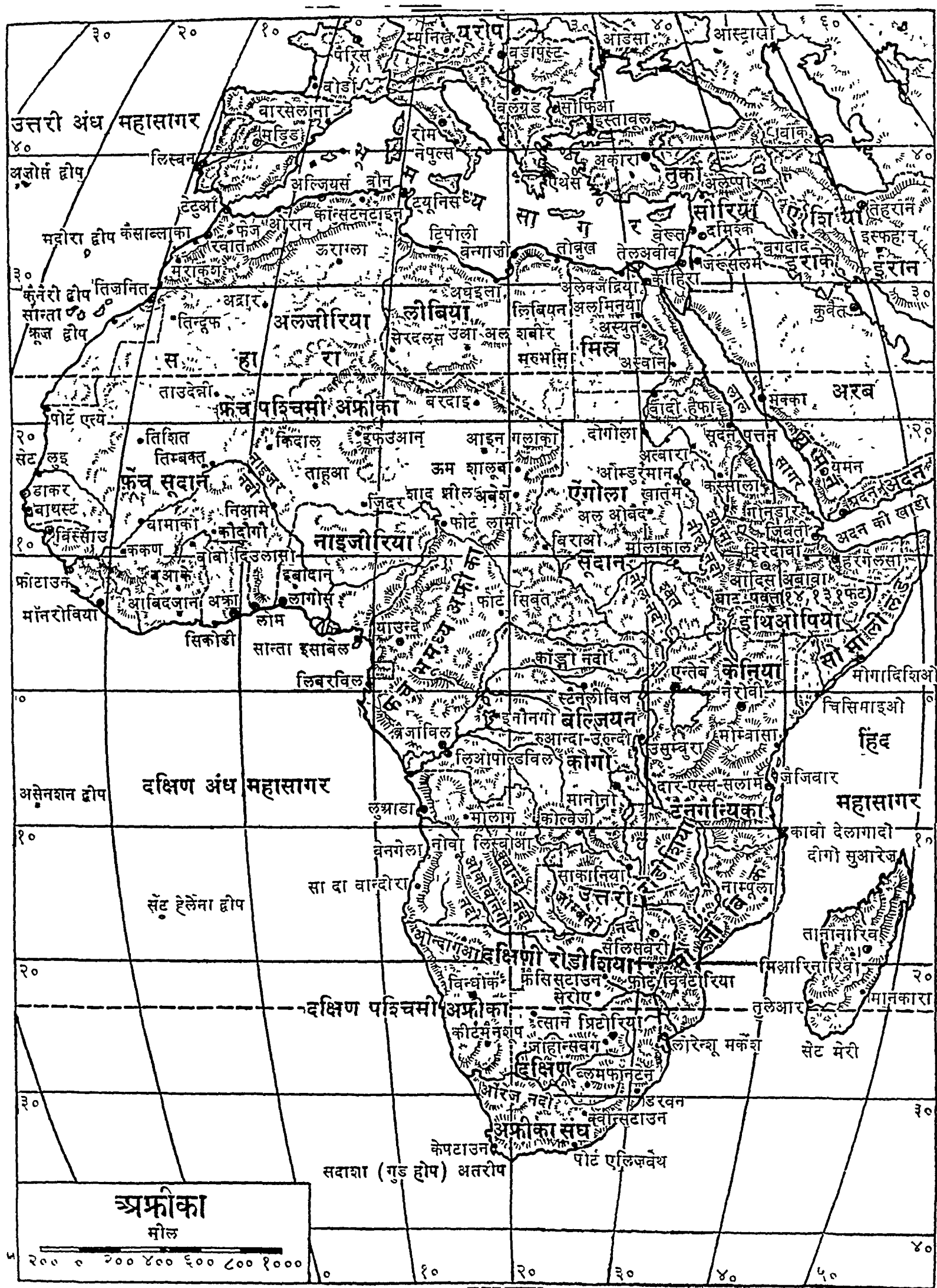
शाहशुजा नामक एक परवर्ती असफल शासक को अमीर बना दिया गया। इस परिवर्तन के विरुद्ध वहाँ भीषण प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, फलत शाहशुजा और कई ब्रिटिश अधिकारी तलवार के घाट उतार दिए गए। १८४२ के दिसबर में ब्रिटिश सरकार ने अफगानिस्तान को खाली कर दिया और दोस्तमुहम्मद को फिर से अमीर होने की स्वीकृति दे दी। १८४६ में दोस्तमुहम्मद ने सिक्खो की ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध उनकी लडाई मे सहायता की, फलत पेशावर का क्षेत्र हाथ से निकल गया जो ब्रिटिश भारत मे मिला लिया गया। १८६३ में दोस्त मुहम्मद ने हिरात को ईरानियो से पुन छीन लिया। उसके बेटे शेरअली खाँ ने रूसियो को स्वीकृति तो दे दी, किंतु ब्रिटिश एजेंटो को रखने से इन्कार कर दिया। इससे द्वितीय अफगान युद्ध (१८७८–८१) छिड गया, फलत शेरअली खाँ भागा और उसकी मृत्यु हो गई। उसके बेटे याकूब खाँ ने ब्रिटिश सरकार से एक सधि की। उसने खैबर दर्रे के साथ सीमा के कई प्रदेशो को छोड दिया और ब्रिटेन को अफगानिस्तान के वैदेशिक सबधो को नियत्रित करने की स्वीकृति दे दी। इस प्रबध के विरुद्ध भडकनेवाले जनद्वेष और क्रोध के परिणामस्वरूप ब्रिटिश रेजिडेंट की हत्या हुई और याकूब खाँ गद्दी से उतार दिया गया। तत्पश्चात् दोस्त मुहम्मद का पोता अब्दुर्रहमान खाँ अमीर के रूप मे मान्य हुआ। अब्दुर्रहमान ने अपना प्रभुत्व कधार और हिरात तथा बाद में काफिरिस्तान तक बढा लिया। उसने स्थानीय जातीय सरदारो द्वारा नियत्रित एक सशक्त केंद्रीय शासन स्थापित करने, अच्छी प्रकार से शिक्षित एक स्थायी सेना को सगठित करने, विद्रोहो को कुचलने और कर व्यवस्था को दुरुस्त करने के लिये अफगानिस्तान को आधुनिक राष्ट्र की भाँति तैयार करने की आवश्यकता का पथ प्रशस्त किया। अब्दुर्रहमान के बेटे हबीबुल्ला खाँ ने, जो १९०१ में गद्दी पर बैठा, मोटरकारो, टेलीफोनो, समाचारपत्रो और काबुल के लिये प्रकाशयुक्त विद्युत् व्यवस्था का समारभ किया।

१९१९ में हबीबुल्ला के एक भतीजे अमानल्ला खाँ ने गद्दी सँभाली। उसने तुरत अफगानिस्तान के पूर्ण स्वराज्य की घोषणा की और ग्रेट ब्रिटेन से लडाई छेड दी जो शीघ्र ही एक सधि से समाप्त हो गई। उसके अनुसार ग्रेट-ब्रिटेन ने अफगानिस्तान के पूर्ण स्वातत्र्य को मान्यता दी और अफगानिस्तान ने वर्तमान ऐंग्लो-अफगानिस्तान सीमा स्वीकार कर ली।

अमानुल्ला ने अमीर का पद समाप्त कर दिया और उसके स्थान पर 'बादशाह' उपाधि निर्धारित की तथा सरकार को एक केंद्रित प्रतिनिधि राजतत्र के अतर्गत मान्यता दी। उसने अफगानिस्तान को आधुनिक बनाने के लिये वहाँ वेगवान तथा द्रुत सुधारो की बाढ ला दी। मुल्लाओ के धार्मिक और खानो (सामतो) तथा कबायली सरदारो के लौकिक अधिकारो के प्रति उसकी चुनौती ने उनके प्रबल प्रतिरोध को जन्म दिया जिसके परिणामस्वरूप १९२९ का विद्रोह हुआ और अमानुल्ला को गद्दी छोड विदेश भाग जाना पडा। वर्ष के भीतर ही पिछली लडाइयो के एक योद्धा मुहम्मद नादिर खाँ ने पुन शक्ति अर्जित की और नादिरशाह के रूप मे राज्यप्रमुख बना। १९३३ मे काबुल मे उसकी हत्या कर दी गई और उसका उत्तराधिकारी मुहम्मद जहीरशाह हुआ जो अफगानिस्तान का वर्तमान अधिनायक है।

भाषा तथा साहित्य—अफगानिस्तान की प्रधान भाषाएँ पश्तो और फारसी हैं। पश्तो सामान्यत अफगानी जातियो की भाषा है जो अफगानिस्तान के उत्तरी-पूर्वी भाग मे बोली जाती है। काबुल का क्षेत्र और गजनी मुख्य रूप से फारसी-भाषा-भाषी है। राष्ट्रीय एकता को बढाने तथा शिक्षा के विस्तार को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से सरकार ने पश्तो को राष्ट्रीय भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है।

यद्यपि विस्तृत रूप से पश्तो भारतीय आर्यभाषा से निकली है, फिर भी अपने स्रोत और गठन मे यह ईरानी भाषा है। ध्वनिपरिवर्तनो और बाह्य-ग्रहण ने पश्तो को एक स्वरव्यवस्था दी है जिसके अतर्गत ऐसे बहुत से शब्द हैं जिनकी ध्वन्यात्मकता फारसी भाषा के लिये अपरिचित है। पश्तो के तीन अक्षर उसके लिये विलक्षण लगते हैं जो फारसी से नही प्रयुक्त होते।

सन् १९४०-४१ में अब्दुल हई हबीबी ने सुलेमा मकू द्वारा विरचित 'तजकिरातुलउलिया' नामक काव्यसग्रह के कुछ अश प्रकाशित किए जो ११वी शताब्दी के रचे बताए गए है। किंतु उनकी प्रामाणिकता अभी पूर्णत स्थापित नही हो सकी है। रावर्टी के अनुसार पश्तो मे लिखी गई प्राचीनतम कृति खोज निकाली गई है जो १४१७ मे लिखित शेखमाली की यूसुफजायज नामक इतिहास पुस्तक है। अकबर के शासनकाल में रौशनिया आदोलन के पुरस्कर्ता बयाजिद असारी (ल० १५८५) ने पश्तो मे कई पुस्तकें लिखी। उसका खैरुल-बयान अत्यत प्रसिद्ध कृति है। उसके समसामयिक अखुद दरवेज ने भी पश्तो मे कई पुस्तके लिखी है। खुशाल खाँ खत्तक (ल० १६६४) ने, जो आधुनिक अफगानिस्तान का राष्ट्रीय कवि है, लगभग सौ कृतियो का फारसी से पश्तो मे अनुवाद किया है। उसके पोते अफजल खाँ ने तारीखी-मुरस्सा नामक अफगानो का इतिहास लिखा। १८वी शताब्दी मे अब्दुर्रहमान और अब्दुल हामिद नामक पश्तो के दो लोकप्रिय कवि हो गए हैं। १८७२ मे विद्यार्थियो के उपयोग के लिये कालिद अफगानी नामक एक रचना रची गई थी जिसमे पश्तो गद्य और पद्य के नमूने प्राप्त होते है। १८२९ मे खारकोव के राजकीय रूसी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बी० दोर्न ने पश्तो का अग्रेजी व्याकरण लिखा। पश्तो अकादमी ने अभी हाल मे ही अनेक साहित्यिक कृतियो का प्रकाशन किया है।

स०ग्र०—साइक्स ए हिस्ट्री ऑव अफगानिस्तान, (१९४०), फेरियर हिस्ट्री ऑव दि अफगान्स (१८५४), मेलिसन हिस्ट्री ऑव अफगानिस्तान (१८७४), अफगानिस्तान ऐंड दि अफगान्स (१८७९), सुल्तान मुहम्मद खाँ कास्टीच्यूशन ऐंड लॉज ऑव अफगानिस्तान (१९१०), लॉकहर्ट नादिरशाह (१९३८), यीट नार्दर्न अफगानिस्तान (१८८८), मुहम्मदअली प्रॉग्रेसिव अफगानिस्तान (१९३३), टेट दि किंगडम ऑव अफगानिस्तान, ए हिस्टारिकल स्केच (१९११), मुहम्मद हयात खाँ हयाती-अफगानी (उर्दू मे अफगानिस्तान का इतिहास, १८३७), मुहम्मद हुसेन खाँ इन्कलाबी अफगानिस्तान (उर्दू मे, १९३१), ग्रियर्सन लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इडिया, १०, रावर्टी ग्रामर (१८६७), व्याकरण (१८६७), मॉर, रिपोर्ट ऑव ए लिंग्विस्टिक मिशन टू अफगानिस्तान (१९२०), एनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम (सशोधित सस्करण), खड १, फैसिकुलस ४।

[खा० अ० नि०]

अफ़ज़ल खाँ

अफ़ज़ल खाँ (मृत्यु १६५९), यह मोहम्मदशाह का, एक शाही बावर्चिन के कुक्ष से उत्पन्न अवैध पुत्र कहा जाता है। उसकी गणना बीजापुर राज्य के श्रेष्ठतम सामतो और सेनानायको मे थी। १६४९ मे वाई का राज्यपाल बनाया गया था और १६५४ मे कनकगिरि का। मुगलो के विरुद्ध तथा कर्नाटक युद्ध मे उसने बडी वीरता का प्रदर्शन किया था, किंतु शीरा के कस्तूरीरग को सुरक्षा का आश्वासन देकर भी उसका वध कर देने से उसके विश्वासघात की कुख्याति फैल गई थी। पतनोन्मुख बीजापुर एक ओर मुगलो से आतकित था, दूसरी ओर शिवाजी के उत्थान ने परिस्थिति गभीर बना दी थी। अफजल खाँ स्वय शाहजी तथा उनके पुत्रो से तीव्र वैमनस्य रखता था। अघा खाँ के विद्रोह से शाहजी को जान बूझकर समयोचित सहायता न देने से, उसके पुत्र शभूजी की युद्धक्षेत्र में मृत्यु हो गई। शिवाजी को दबाने के लिये राजाज्ञा से अफजल ने शाहजी को बदी बनाया।

शिवाजी के उत्थान के साथ साथ बीजापुर की स्थिति बडी सकटाकीर्ण हो गई। राज्य की सुरक्षा के लिये शिवाजी को कुचलना अनिवार्य हो गया। अफजल खाँ ने शिवाजी को सर करने का बीडा उठाया। उसने घमड मे कहा कि अपने घोडे से उतरे बगैर वह शिवाजी को बदी बना लेगा। प्रस्थान के पूर्व बीजापुर की राजमाता बडी साहिबा ने उसे गुप्त सदेश भेजा कि समुख युद्ध की अपेक्षा वह शिवाजी से मैत्री का बहाना कर धोखे से उसे जीवित या मृत बदी बना ले। १२,००० सेना के साथ उसने शिवाजी के विरुद्ध प्रस्थान किया। कहते हैं कि अभियान के पूर्व उसने अपने गाँव अफजलपुरा मे अपनी तिरसठ पत्नियो की हत्या कर दी थी। मराठो को आतकित करने के लिये मार्ग में अत्यत क्रूरता प्रदर्शित कर अनेक मदिरो को ध्वस्त करता हुआ अफजल खाँ प्रतापगढ के सनिकट पहुँच गया जहाँ शिवाजी सुरक्षित थे। जब प्रतापगढ पर आक्रमण करने की सामर्थ्य नहीं हुई तब अफजल ने अपने प्रतिनिधि कृष्णजी भास्कर को कृत्रिम मैत्रीपूर्ण सधि का प्रस्ताव लेकर भेजा। अतत प्रतापगढ के निकट दोनो में भेंट

अफ़ीम के ऐलकलायड—अफीम की सरचना बडी जटिल है। इसमे से लगभग १६ विभिन्न रासायनिक पदार्थ पृथक् किए गए हैं जिनमे मॉरफीन कोडीन, नार्सीन और थीबेन मुख्य है। मनुष्य शरीर पर मॉरफीन का प्रभाव लगभग वही होता है जो अशोधित अफीम का। इसलिये मारफीन को शोधित अफीम समझा जा सकता है। ६ प्रति शत से कम मॉरफीनवाली अफीम को अमरीका मे दवा के लिये बेकार समझा जाता है। युवा पुरुष के लिये ओषधि के रूप मे मॉरफीन की एक मात्रा (खुराक) १/८ से १/४ ग्रेन तक होती है। कोडीन का प्रभाव बहुत कुछ मॉरफीन की तरह का ही होता है परतु उतना तीव्र नही। थीबेन प्रबल विष है। यह मेरुकेद्रो को उत्तेजित तथा विपाक्त करता है तथा हाथ पैर मे ऐठन और छटपटाहट उत्पन्न करता है।

सरकारी नियंत्रण—अफीमची के आचरण का स्तर इतना गिर जाता है कि प्रत्येक भला आदमी चाहता है कि ससार से अफीम का सेवन उठ जाय। भारत मे तो लोग इसे घृणा की दृष्टि से देखते ही है, इग्लैड मे भी सन् १८४३ मे एक प्रस्ताव पार्लियामेट मे उपस्थित किया गया था कि सरकार अफीम के व्यापार का त्याग करे, क्योकि "यह ईसाई सरकार के समान और कर्तव्य के पूर्णतया विरुद्ध है"। परतु यह प्रस्ताव स्वीकृत न न हो सका। सन् १८४० मे चीन सरकार ने अफीम के आयात पर रोक लगा दी और इस कारण चीन तथा ग्रेट ब्रिटेन से युद्ध छिड गया। १५ वर्ष बाद इसी बात को लेकर फिर इन दोनो राज्यो मे लडाई लगी और उसमे फ्रास भी ग्रेट ब्रिटेन की ओर से समिलित हुआ। चीनवाले हार अवश्य गए, परतु यह प्रश्न दब न सका। १९०७ मे भारत की ब्रिटिश सरकार और चीन की सरकार मे समझौता हुआ कि दस वर्ष मे अफीम का भेजना भारत बद कर देगा। इस समझौते के अनुसार कुछ वर्षो तक तो चीन मे अफीम जाना कम होता रहा, परतु अत तक समझौते का निर्वाह न हो सका। १९०९ मे अमरीका के प्रेसिडेट रूजवेल्ट ने एक आयोग (कमिशन) बैठाया। फिर १९१३, १९१४, १९१९, १९२४, १९२५, १९३० मे कई राज्यो के प्रतिनिधियो की सभाएँ हुई। परतु यह समस्या कभी हल न हो पाई। अब तो चीन मे साम्यवादी गणतत्र राज्य होने के बाद से इस विषय मे बडी कडाई बरती जा रही है और अफीमचियो की सख्या नगण्य हो गई है। भारत सरकार ने अपने देश मे अफीम की खपत कम करने के लिये यह आज्ञा निकाल दी है कि अफीमची लोग डाक्टरी जॉच के बाद पजीकृत किए जायँगे (उनका नाम रजिस्टर मे लिखा जायगा)। उनको न्यूनतम आवश्यक मात्रा मे अफीम मिला करेगी और यह मात्रा धीरे धीरे कम कर दी जायगी।

अफीम का उपचार—६ ग्रेन या अधिक अफीम खाने से व्यक्ति मर जा सकता है। अफीम खाने के आरभिक लक्षण वे ही होते हैं जो अधिक मदिरा पीने के, मस्तिष्क मे रक्तस्राव के अथवा कुछ अन्य रोगो के। परतु इन सभी के लक्षणो मे सूक्ष्म भेद होते है, जिन्हे डाक्टर पहचान सकता है। अफीम के कारण चेतनाहीन व्यक्ति की त्वचा ठढी और पसीने से चिपचिपी हो जाती है। आँख की पुतलियाँ (तारे) सुई के छेद की तरह छोटी हो जाती हैं और होठ नीले पड जाते हैं। साँस धीरे धीरे चलती है और नाडी भी मद तथा अनियमित हो जाती है। साँस रुकने से मृत्यु हो जाती है। उपचार के लिये पेट मे आधे आधे घटे पर पानी चढाकर धोया जाता है। दवा देकर उलटी (वमन) कराई जाती है। कहवा पिलाना लाभदायक है। डाक्टर कहवा मे पाए जानेवाले रासायनिक पदार्थ को गुदामार्ग से भीतर चढाते है। साँस को उत्तेजित करने के लिये ऐट्रोपीन सल्फेट के इजेक्शन लगाए जाते है। रोगी को जाग्रत रखने के लिये सब उपाय करना चाहिए। उसे चलाना चाहिए, अमोनिया सुँघानी चाहिए या बिजली का हल्का झटका (शॉक) लगाना चाहिए। साँस के रुकते ही कृत्रिम श्वसन चालू करना चाहिए। जब तक हृदय धडकता रहे तब तक निराश न होना चाहिए और कृत्रिम श्वसन जारी रखना चाहिए। [भ० दा० व०]

अफ्रानियस लूसियस

रोमन कामिक कवि। इसका काल ९४ ई० पू० के लगभग माना जाता है। इसने रोमन मध्यमवर्गीय जीवन को अपनी कविता का विषय बनाया। मीनादर आदि कवियो की कृतियो का इसने अपनी कविताओ मे भरपूर उपयोग किया। [भ० श० उ०]

अफ्रीका

(अग्रेजी मे ऐफ्रिका) एक महाद्वीप का नाम है जो पृथ्वी के पूर्वी गोलार्ध मे एशिया के दक्षिण-पश्चिम मे है।

स्थिति तथा विस्तार—क्षेत्रफल की दृष्टि से महाद्वीपो मे अफ्रीका का द्वितीय स्थान है। तटवर्ती द्वीपसमूह सहित इसका क्षेत्रफल लगभग १,१९,३५,००० वर्ग मील है। इस प्रकार यह महाद्वीप क्षेत्रफल मे भारतगणतत्र के नौ गुने से भी बडा है। अक्षाशीय विस्तार की दृष्टि से यह महाद्वीप अद्वितीय है। यह उत्तरी तथा दक्षिणी दोनो ही गोलार्धो के कटिबधो मे लगभग समान दूरी तक विस्तृत है। ३७° २०′ उत्तरी अक्षाश से ३४° ५१′ दक्षिणी अक्षाश तक तथा १७° २०′ पश्चिमी देशातर से ५१° १२′ पूर्वी देशातर तक यह फैला हुआ है। इसकी अधिकतम लबाई उत्तर मे रासबेन सक्का से दक्षिण मे अगुलहास अतरीप तक, लगभग ५,००० मील तथा अधिकतम चौडाई पश्चिम मे वर्ड अतरीप से ग्वार्डाफुई अतरीप तक, लगभग ४,५०० मील है। विषुवत रेखा इस महाद्वीप के मध्य से जाती है। इसलिये इसका अधिकाश, लगभग ९० लाख वर्ग मील, अयनवृत्तीय कटिबध मे पडता है। दक्षिण की अपेक्षा यह उत्तर मे अधिक चौडा है। इसके क्षेत्रफल का लगभग दो-तिहाई भाग उत्तरी गोलार्ध मे तथा एक-तिहाई भाग दक्षिणी गोलार्ध के अतर्गत आता है।

सीमा—अफ्रीका के पूर्व मे हिद महासागर तथा पश्चिम मे अध (अटलाटिक) महासागर स्थित है। उत्तर मे भूमध्यसागर है, जिसकी लबाई जिब्राल्टर के मुहाने से सीरिया के तट तक लगभग २,३०० मील है। जिब्राल्टर का मुहाना १५ से २४ मील तक चौडा है। सईद बदरगाह से स्वेज बदरगाह तक लगभग १०० मील लबी स्वेज नहर भूमध्यसागर को लालसागर से मिलाती है। इस नहर का उद्घाटन १८६९ ई० मे हुआ था। युद्धकालिक तथा आर्थिक दृष्टि से यह नहर बडे महत्व की है। हाल मे मिस्र ने इस नहर का राष्ट्रीयकरण कर लिया है। इसके निर्माण के पश्चात् भारत से यूरोपीय बदरगाहो की दूरी चार पाँच हजार मील कम हो गई है, जब यह नही बना था तब अफ्रीका के दक्षिण से होकर जहाजो को जाना पडता था। उत्तर-पूर्व मे लालसागर बीच मे रहने के कारण अफ्रीका एशिया महाद्वीप से पृथक् हो गया है। स्वेज बदरगाह से दक्षिण-पूर्व की ओर लगभग १,६०० मील की दूरी पर यह सागर सकीर्ण हो जाता है। यही सकीर्ण भाग 'बाबुल मडब' का मुहाना है, जिसका अर्थ अरबी भाषा के अनुसार 'आँसू का द्वार' है। इस स्थान पर नाविको को सशक एव सावधान रहना पडता है। इसकी चौडाई लगभग २० मील है और पेरिम नामक द्वीप द्वारा यहाँ जलमार्ग दो भागो मे विभक्त हो जाता है।

समुद्रतट—अफ्रीका का समुद्रतट अधिक कटा छँटा नही है। पश्चिमी तट पर गायना की खाडी के रूप मे एक बहुत बडा घुमाव है जिसके अतर्गत बेनिन की खाडी स्थित है। अगोला राज्य मे लोबिटो की खाडी है। दक्षिणी तट पर अल्गोआ तथा डेलागोआ की खाडियाँ है। दक्षिण-पूर्व मे मोजाबिक का मुहाना मडागास्कर द्वीप को अफ्रीका से पृथक् करता है। पूर्वी तट पर एक चौडा नतोदर घुमाव है। इस घुमाव के उत्तर-पूर्व मे सुमालीलैड का प्रायद्वीप है जिसे अफ्रीका का सीग भी कहते हैं।

खोज—अफ्रीका का घनिष्ठ सबध भूमध्यसागरीय देशो के साथ अधिक होना स्वाभाविक है। यह सबध वशानुगत, सास्कृतिक तथा विशुद्ध भौगोलिक रूप मे मिलता है। हेरोडोटस के वर्णन से ज्ञात होता है कि मिस्र देश के राजा नेको ने यूनानी दार्शनिको के इस प्रश्न को हल करने की चेष्टा की कि यह महाद्वीप दक्षिण मे सागर द्वारा घिरा है या नही। उसने पहले स्वेज स्थल-डमरूमध्य पर नहर खुदवाने का असफल प्रयत्न किया। इसके पश्चात् उसने लालसागर मे युद्धपोतो का एक बेडा तैयार कराया और चुने हुए फीनीशियन नाविको को इस महाद्वीप की परिक्रमा कर जिब्राल्टर के मार्ग से वापस लौटने की आज्ञा दी। द्वितीय शताब्दी मे सिकदरिया में लिखित अपनी भूगोल की पुस्तक मे क्लॉडिअस टॉलिमी ने इस महाद्वीप के उत्तरी भाग का विस्तृत वर्णन किया है। अरब के प्रमुख भूगोलवेत्ता इद्रीसी (११००-११६५ ई०) ने भी पूरे महाद्वीप का सविस्तार वर्णन किया है, जिसमे नील नदी के उद्गम स्थान तथा समीपस्थ बडी झीलो का भी वर्णन मिलता है। १४वी तथा १५वी शताब्दियो मे पुर्तगाल-निवासियो ने इस महाद्वीप मे अनेक अन्वेषण किए और इस महाद्वीप की लगभग ठीक ठीक रूप-रेखा अकित की। उस मानचित्र मे बडी झीले भी दिखलाई गई हैं।

होते हैं। यहाँ पर वह ५०४०नागरिकों के एक दूसरे ही प्रकार के नगर की व्यवस्था उपस्थित करता है। इस नगर का शासन सभा, परिषद्, विधानरक्षकों, परीक्षकों और रात्रिपरिषद् के द्वारा सवैधानिक पद्धति से करने का सुझाव है। इस नगर में दर्शन की अपेक्षा धर्म की चर्चा अधिक और नास्तिकों का मतपरिवर्तन करने अथवा मार डालने तक का विधान किया गया है।

यूरोप में अफलातून का प्रभाव सभी विचारकों से अधिक गहरा रहा है। ह्वाइटहेड के अनुसार समस्त पाश्चात्य दर्शन अफलातून की रचनाओं की पादटिप्पणियों की परपरा है। आधुनिक काल के कुछ विचारकों ने उसको अधिनायकवाद के समर्थकों में गिना है, पर यह उनकी भ्राति है। उर्विक नामक विद्वान् ने अफलातून की आदर्श नगरव्यवस्था में भारतीय समाज का प्रभाव सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। गिलबर्ट मरे के मत में अफलातून के समान गद्यलेखक न दूसरा हुआ है और न होगा ही। रिटर के अनुसार "वह सर्वदा अविस्मरणीय रहेगा, वह उन आध्यात्मिक शक्तियों को उन्मुक्त करनेवाला है जो बहुतों के लिये वरदान सिद्ध हुई हैं और सर्वदा वरदान बनी रहेंगी।"

अफलातून सबधी साहित्य सभी सभ्य देशों की भाषा में विपुल मात्रा में पाया जाता है। अत यहाँ केवल प्रमुख रचनाओं का नामोल्लेख किया जाता है।

मूल रचना के सबध में बर्नेट् (आक्सफोर्ड), बेकर, स्टालबोम् (जर्मनी) के सस्करण अत्यत प्रामाणिक माने जाते हैं। अफलातून की रचनाओं के अनुवाद समस्त प्रसिद्ध यूरोपीय भाषाओं में उपलब्ध हैं।

अंग्रेजी में जोवेट का अनुवाद अधिक प्रसिद्ध है, पर बहुत सही नहीं है, यद्यपि इसकी शैली अत्यत आकर्षक है। लोएब् क्लासीकल लाइब्रेरी में अफलातून की समस्त रचनाएँ—मूल और अनुवाद—१२ जिल्दों में प्रकाशित हो चुकी हैं। कॉर्नफोर्ड के अनुवाद अधिक विश्वसनीय हैं। हाल में कई ग्रथों के सुलभ अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। हिंदी में स्वर्गीय डा० बेनीप्रसाद ने सुकरात के जीवन से सबध रखनेवाली कुछ छोटी रचनाओं का अंग्रजी से अनुवाद किया था जो नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा 'सुकरात' नाम से प्रकाशित हुआ था। भोलानाथ शर्मा ने 'रिपब्लिक' का मूल ग्रीक भाषा से हिंदी में अनुवाद किया है जो 'आदर्श नगरव्यवस्था' नाम से हिंदी समिति द्वारा प्रकाशित किया गया है।

अफलातून से सबधित आलोचनात्मक साहित्य में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—बर्नेट ग्रीक फिलासफी फ्रॉम थालैस् टू प्लैटो, टेलर प्लेटो, फील्ड दी फिलॉसफी ऑव प्लेटो और प्लेटो, ऐण्ड हिज् कटैंपोरेरीज्, त्सैलर प्लेटो ऐड द ओल्डर अकाडेमी, गौपर्त्स ग्रीक थिंकर्स् जिल्द २ और ३, शोरी ह्वाट् प्लटो सेड, और यूनिटी ऑव प्लेटोज थॉट्, रिट्टर द एसेस ऑव प्लेटोज फिलासफी, और फ्लातोन, जाइन् लबन्, ज़ाइने श्रिफ्टैन्, जाइने लीरे (जर्मन भाषा में) (रिट्टर आधुनिक समय में प्लेटो का सर्वश्रेष्ठ विशेषज्ञ माना जाता है।), ग्रूब् प्लेटोज थॉट्, वैर्नर याएगर पाइडेइया, जिल्द २ और ३, फ्रीड्लाडर प्लातोन्, उर्विक मेसेज ऑव प्लेटो, विलामोवित्स् मेय्रोलैन्डॉर्फ् प्लातोन् भाग १, २ (जर्मन भाषा), लियॉन् रोबिन ग्रीक थॉट्, लूतॉस्लास्की द ऑरिजिन ऐड ग्रोथ् ऑव प्लेटोज लॉजिक्, स्टयुआर्ट दी मिथ्स् ऑव प्लेटो, क्रॉसमैन् प्लेटो टुडे, पौपर द ओपन् सोसाइटी ऐड इट्स् एनीमीज, लॉज फिलासफी ऑव प्लेटो, तामसकर अफलातून की सामाजिक व्यवस्था (हिंदी)। [भो० ना० श०]

अफार अफ्रीका में हैमितिक वश की एक जाति है जो अबिसीनिया तथा समुद्र के बीच के शुष्क भूभाग में निवास करती है। ये लोग गैला तथा सोमाली जाति की प्रकृति से बहुत मिलते जुलते हैं। इनके दो समूह हैं—एक वह जो पशुपालकों का जीवन व्यतीत करता है तथा दूसरा वह जो समुद्र के किनारे निवास करता है। इन लोगों का मुख्य धर्म वृक्षपूजा है, ये नाममात्र के लिये मुसलमान हैं। इनकी नाक सकरी तथा सीधी, ओठ पतले, ठुड्डी छोटी तथा नुकीली होती है। ये सरलतम वस्त्र के अतिरिक्त अन्य कोई वस्त्र नहीं धारण करते। [न० ला०]

अफीम एक पौधे से प्राप्त होती है जिसका लैटिन नाम पैपावेर सौम्नीफेरम है। यह पौधा तीन से पॉच फुट तक ऊँचा होता है। इसकी ढोढी (फल) को पेड में ही कच्ची अवस्था में छिछला चीर दिया जाता है (नश्तर लगा दिया जाता है) और उससे जो रस निकलता है उसी को सुखाने और साफ करने से अफीम बनती है।

उपज—सबसे अधिक अफीम भारत में उत्पन्न होती है। अन्य देश, जहाँ अफीम उत्पन्न होती है, तुर्की (टर्की), ग्रीस, ईरान और चीन हैं। भारत में साधारणत सफेद फूलवाला पौधा बोया जाता है। बीज नवबर में बोया जाता है, फूल लगभग जनवरी के अत में लगता है और प्राय एक महीने बाद ढोढी लगभग मुर्गी के अडे के बराबर हो जाती है। तब इसको पाछा जाता है, अर्थात् नश्तर लगाया जाता है। यह काम तीसरे पहर से लेकर अँधेरा होने तक किया जाता है और दूसरे दिन सबेरे निकले हुए दूधिया रस को काछ लिया जाता है। इस रस को हवा में तीन चार सप्ताह तक सूखने दिया जाता है और तब कारखाने में शुद्ध करने के लिये भेज दिया जाता है। गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) में इसके लिये एक सरकारी बडा कारखाना है। कारखाने में बडे बर्तनों में डालकर अफीम को गूँधा जाता है और तब गोला या ईंट बनाकर बेचा जाता है।

भारत की अफीम अधिकतर विदेश ही जाती है, क्योंकि यहाँ के लोग अफीम खाना या तबाकू की तरह पीना बहुत बुरा समझते हैं। यूरोप में अफीम से इसके रासायनिक पदार्थों को अलग करके मॉरफीन, कोडीन इत्यादि ओषधियाँ बनाते हैं।

अफीम का पौधा
पत्तियाँ, फूल और ढोढी।

गुण—अफीम का स्वाद कडुआ होता है और खाने से मिचली आती है। इसकी गध बडी लाक्षणिक होती है—मादक और भारी। चौथाई से तीन ग्रेन तक अफीम औषध के रूप में एक मात्रा (खुराक) समझी जाती है। इसके खाने से पीडा का अनुभव मिट जाता है, गहरी नीद आती है और आँख की पुतलियाँ छोटी हो जाती हैं। नीद खुलने पर भूख मिट जाती है, कुछ मिचली आती है, कोष्ठबद्धता (कब्ज) होती है, सर भारी जान पडता या दुखता है। परतु यदि बहुत कम मात्रा में अफीम खाई जाय तो इसका प्रभाव उत्तेजक और कल्पना-शक्तिवर्धक होता है। बार बार अफीम खाने से अफीम का प्रभाव घटने लगता है। पहले की तरह उत्तेजना आदि उत्पन्न करने के लिये अधिक अफीम की आवश्यकता होती है। अधिक खाने पर दिनों दिन और अधिक की आवश्यकता पडती जाती है। फिर ऐसी लत लग जाती है कि अफीम छोडना कठिन हो जाता है। ऐसे व्यक्ति भी देखे गए हैं जो एक छटॉक अफीम रोज खाते थे।

अधिकतर लोग अफीम की गोली खाते हैं या उसे घोलकर पीते हैं, परतु विदेश में कुछ लोग मॉरफीन (अफीम से निकले रसायन) का इजेक्शन लेते हैं। कुछ लोग तो अफीम से उत्पन्न आह्लाद के लिये इसका सेवन करते हैं, परतु अधिकतर लोग पीडा से छुटकारा पाने के लिये, डाक्टर की राय से या स्वय अपने से, इसका सेवन आरभ करते हैं और महीने बीस दिन के पश्चात् इसे छोड नहीं पाते। डाक्टर चोपडा ने इस विषय पर बहुत अध्ययन किया है। उनके अनुसार इसका सेवन करनेवालों में से लगभग ५० प्रति शत लोग शारीरिक पीडा से छुटकारा पाने के लिये अफीम खाते हैं, बीस पचीस प्रति शत मानसिक क्लेश या चिंता से छुटकारा पाने के लिये और केवल पद्रह बीस प्रति शत शौक के लिये।

चडू—कुछ लोग अफीम को तबाकू की तरह आँच पर तपाकर पीते हैं। इस काम के लिये बनाई गई अफीम को चडू कहते हैं। इसके लिये अफीम पानी में उबालते हैं और ऊपर से मैल काछकर फेंक देते हैं। फिर उसे सुखाकर रखते हैं। पीने के लिये लोहे की तीली पर जरा सा निकालकर उसे दीप शिखा में गरम करते हैं (भूनते हैं) और तब विशेष नली में रखकर तुरत लेटे लेटे पीते हैं। एक फूंक में पीना समाप्त हो जाता है। नशा तुरत होता है। अधिक आवश्यकता होती है तो फिर सब काम दोहराया जाता है।
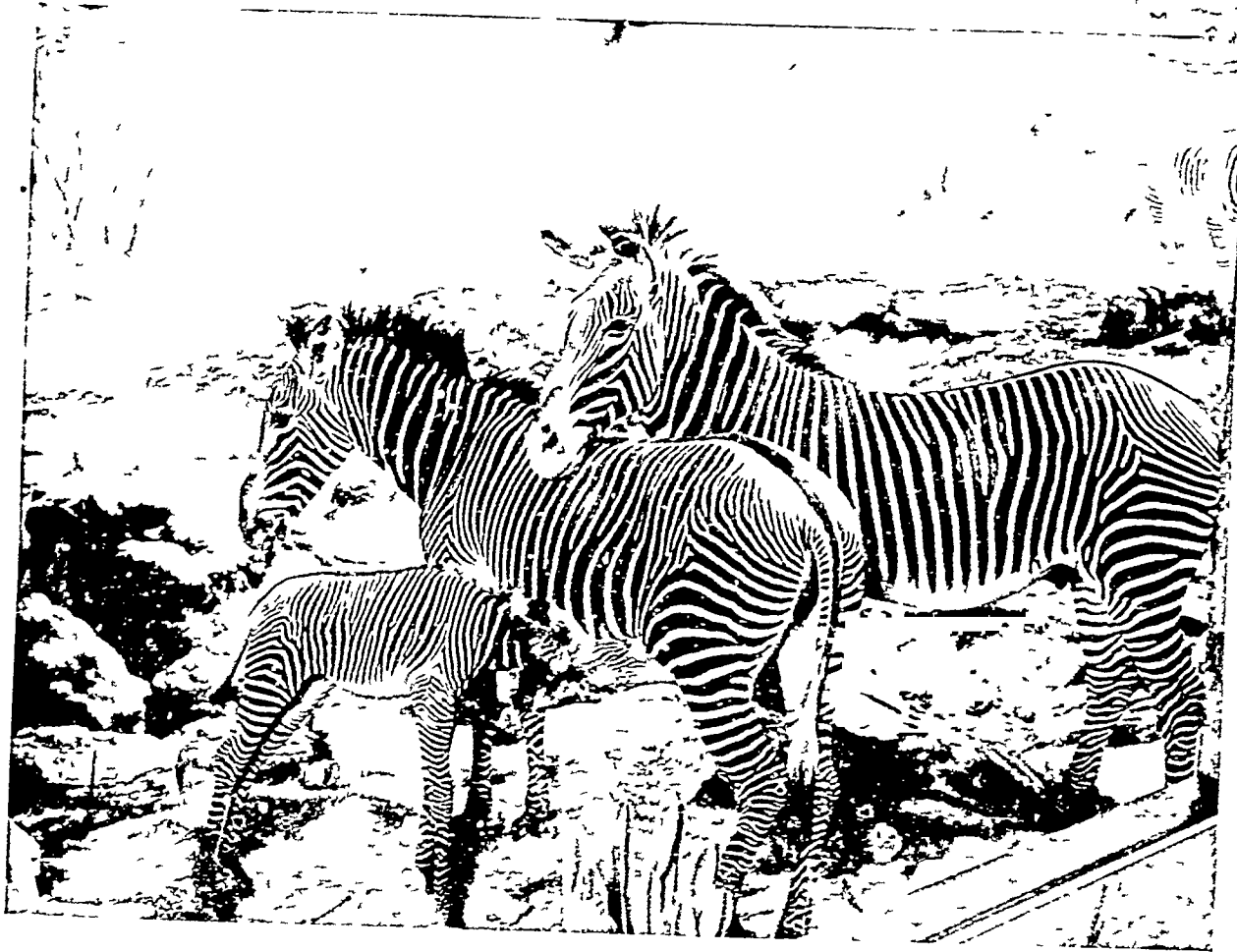
अफ्रीका के जंतु

ऊपर जेवरा, नीचे ओकापी (दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

अलजीरिया
ट्यूनीशिया १९५६
इफनी प्रदेश
सहारा मरु भूमि
लीबिया १९५१
मिस्र १९२२
सहारा प्रदेश
मॉरिटेनिया
सूडानी प्रजातंत्र
नाइजर
चाड
सूडान १९५६
सेनेगाल
मालीसंघ
गैम्बिया
पोर्चु-गीज गिनी
गिनी १९५८
नाइजीरिया
फ्रेंच सोमालीलैंड
सिरालिओन
आइवरी-कोस्ट
मध्य अफ्रीका प्रजातंत्र
इथिओपिया
लाइबीरिया १८४७
दाहोमी
घाना स्वतंत्र १९५७ प्रजातंत्र १९६०
कैमरून
यूगाण्डा
सोमालिया
टोगोलैंड प्रजातंत्र
गिनी
गैबॉन
कीनिया
रुआडा-उरुंडी
कांगो
टैंगैन्यिका
एंगोला
परतंत्र देश
स्वतंत्र देश
१९६० में स्वतंत्र हुए देश
स्वतंत्रता के निकट
आन्तरिक स्वशासन के निकट
फ्रेंच सस्वामित्व में स्वशासित गणतंत्र
मील
२०० ० २०० ४०० ६०० ८०० १०००
रोडीशिया तथा न्यासा-लैंड संघ
मोज़ाम्बिक
मालागासी प्रजातंत्र
फ्रेंच (सस्वामित्व)
दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका
बेचुआना लैंड
दक्षिणी अफ्रीका के शासन में
स्वाजी लैंड
बासुतोलैंड
दक्षिणी अफ्रीका संघ १९१०

नवोदित अफ्रीका

अफ्रीका के जतु

ऊपर सिह, नीचे हाथी (दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

आधुनिक युग मे मुंगोपार्क, बर्टन, स्पेक तथा लिविंग्स्टन सदृश अनेक साहसी युवकों ने पर्याप्त खोज की है। केप अंतरीप (केप ऑव गुड होप) के निकट से पार होने का सर्वप्रथम श्रेय १४८७ ई० में वार्थोलोमिउ डिआश को प्राप्त हुआ, जिन्होंने अलगोआ की खाडी भी देखी थी। इसके दस वर्ष पश्चात् वास्को द गामा और आगे बढे तथा अरबसागर पार कर भारत पहुँचने में सफल हुए। उस समय से १६वी शताब्दी तक नाविको द्वारा महाद्वीप के तटवर्ती भागो की परिक्रमा होती रही, किंतु इसका अधिकतर भीतरी भाग गुप्त रहस्य ही बना रहा। इसके अनेक भौगोलिक कारण थे। अत यह महाद्वीप पिछली शताब्दो तक अंध महाद्वीप कहा जाता था।

प्राकृतिक बनावट—इस महाद्वीप की भूरचना तथा प्राकृतिक सरचना अन्य महाद्वीपो की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एव सरल है। इसका अधिकाश पठारी है, जिसपर भौमिक गतियो (अर्थ मूवमेंट्स) का प्रभाव बहुत कम पडा है। पिछले कई युगों से यह एक अचल भूखड के रूप मे स्थित रहा है। इसकी महाद्वीपीय छज्जा (शेल्फ) एव महाद्वीपीय ढाल (स्लोप) के किनारे प्राय इनके समुद्रतट के समातर हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इसका निर्माण पृथ्वी की बाहरी परत के टूटने से हुआ है। इसके धरातल की लगभग एक तिहाई पर कैंब्रियन-पूर्व चट्टानें वर्तमान हैं। इस महाद्वीप के पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा दक्षिण के अंतरीपीय भाग को छोडकर प्राय सर्वत्र मुडने से बने पर्वतो की श्रेणियो का अभाव है। पश्चिमोत्तर भाग मे ऐटलस पर्वत यूरोप के आल्प्स पर्वत का ही एक बढा हुआ भाग है। दक्षिण में अनेक छोटी छोटी श्रेणियाँ हैं, उदाहरणार्थ रॉगवर्डवर्ग, निउवेल्त वर्ग, स्निउवर्ग, ड्राकेसवर्ग, स्वार्तवर्ग, लॉन्जवर्ग इत्यादि। अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्थित बेंगेला को यदि लालसागर के तट पर स्थित स्वाकिन से एक कल्पित रेखा द्वारा मिलाया जाय, तो यह रेखा इस महाद्वीप को प्राकृतिक बनावट की दृष्टि से दो असमान भागो में बाँट देगी। उत्तरी भाग की औसत ऊँचाई ३,००० फुट से बहुत कम तथा दक्षिणी भाग की औसत ऊँचाई ३,००० फुट से बहुत अधिक है। उत्तरी भाग मे अनेक पठार है जो कैंब्रियन-पूर्व या आग्नेय चट्टानों से निर्मित है। इनमे अहगर, तसिली, तिबेस्ती तथा दारफर पठार मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त इस भाग मे अनेक उच्च प्रदेश भी हैं जिनमे कागो की घाटी का उत्तरी भाग तथा गायना तट के पृष्ठभाग में स्थित उच्च भूमि उल्लेखनीय है। कैमरून की चोटी (१३,३५० फुट) एक प्रमुख ज्वालामुखी शिखर है। गायना की खाडी मे फर्नदो पो, प्रिंसिप, साओथोम आदि अनेक द्वीप ज्वालामुखी द्वारा निर्मित हैं। इस उत्तरी भाग मे कई प्राकृतिक द्रोणियाँ (बेसिन) भी हैं जिनमे पहुँचकर नदियो का पानी या तो सूख जाता है या उससे छोटी तथा छिछली झीलें बन जाती है। मुख्य खात शॉटेल जेरिद, शाद झील, देबो झील, बहरेल गजल आदि हैं। दक्षिणी भाग मे भी गामी तथा कारू नामक दो प्राकृतिक द्रोणियाँ हैं।

पूर्वी अफ्रीका मे स्थित एक बहुत लबी निभग उपत्यका (रिफ्ट वैली) हे जो महान् निभग उपत्यका (दि ग्रेट रिफ्ट वेली) के नाम से विश्वविख्यात है। यह विश्व की सबसे लबी निभग उपत्यका है। इसका उत्तरी भाग एशिया मे स्थित है तथा बीच के भाग मे अक़ाबा की खाडी एव लालसागर हैं। अफ्रीका में पूर्वी अबिसीनिया की खडी ढाल तथा सुमालीलैंड के बीच स्थित निम्न भूमि, रुडॉल्फ झील, केनिया देश की नैवास्का झील तथा अन्य छोटी झीलो की शृखला, न्यासा झील और शायेर नदी की घाटी इसी महान् निभग उपत्यका के छिन्नावशेष हैं। इस निभग उपत्यका की एक शाखा न्यासा झील के उत्तरी छोर के पास से निकलती है, जिसे पश्चिमी निभग उपत्यका कहते है। इसमें टैंगेन्यिका, किवू, एडवर्ड, अल्बर्ट आदि झीलें स्थित हैं। पूर्वी अफ्रीका मे पठार की ऊँचाई कई जगह ज्वालामुखी चट्टानो के जमा होने से बढ गई हे। प्रमुख चोटियाँ किलिमैंजारो (१९,५९० फुट), केनिया (१७,०४० फुट), एल्गन (१४,१४० फुट) तथा रास दाशान (१५,००० फुट) है। इस भाग मे रुवेंजोरी नामक एक १६,७९० फुट ऊँची चोटी है जो ज्वालामुखी द्वारा निर्मित नही हे। पठार की बाहरी ढाल खडी हे और वह एक दूसरे उपकूलीय मैदान से घिरी है।

झीलें—अफ्रीका की सबसे बडी झील विक्टोरिया न्याजा है जो नील नदी के उद्गम स्थान के समीप है। इस झील का क्षेत्रफल २६,००० वर्ग मील, अधिकतम लबाई २५० मील, चौडाई २०० मील तथा गहराई २७० फुट हे। इसके निकट ही अल्बर्ट न्याजा नामक झील हे जो १०० मील लबी, २२ मील चौडी और ५५ फुट गहरी है। टैंगैन्यिका ४५० मील लबी और ४० मील चौडी झील है इसकी अधिकतम गहराई ४,७०८ फुट है। दूसरी लबी एव सँकरी झील न्यासा है। (३५० मील लबी, ४५ मील चौडी)। किवू झील ५५ मील लबी तथा ३० मील चौडी है। यह झील पुरातन ज्वालामुखी प्रदेश मे स्थित हे। अबिसीनिया पठार के उत्तरी भाग मे ५,६९० फुट की ऊँचाई पर स्थित टाना झील आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हे। रुडोल्फ झील पूर्वोत्तर अफ्रीका मे स्थित है। इसकी लबाई १८५ मील तथा चौडाई ३७ मील है। रुडोल्फ झील के पूर्व में स्टेफनी झील ४० मील लबी और १५ मील चौडी है। पश्चिमोत्तर मध्य अफ्रीका में चाड तथा रोडेसिया मे बैंगविऊलू नामक छिछली झीलें हैं। इनके क्षेत्रफल मे ऋतुओ के अनुसार ह्रास तथा वृद्धि हुआ करती है। बैंगविऊलु झील की अधिकतम माप ६०मील×४० मील×१५ फुट है। चाड झील मे शारी नदी गिरती है। वर्षाऋतु मे इस झील की गहराई २४ फुट हो जाती है।

नदियाँ—अफ्रीका मे पाँच मुख्य नदियाँ हैं नील (४,००० मील), नाइजर (२,६०० मील), कागो (३,००० मील), जाबेजी (१,६०० मील) तथा ऑरेंज (१,३०० मील) हे। इनमे नील नदी प्रमुख है। सभ्यता के ऊषाकाल (लगभग ४,००० ई० पू०) से ही इस नदी का ऐतिहासिक महत्व प्रकट होता है। ईसा से लगभग चार शताब्दी पूर्व यूनानी दार्शनिक अरस्तू ने नील नदी की वार्षिक बाढ का सबब अबिसीनिया की ग्रीष्मकालीन वर्षा एव हिम के द्रवीभूत होने से बताया था। नील नदी में छ प्राकृतिक जलप्रपात हैं। सबसे निचला प्रपात असवान के समीप है। इस नदी पर कई बाँध बनाए गए है जिनमे असवान बाँध सर्वोच्च और जगत्प्रसिद्ध है। सोबत, नीली नील तथा अतबरा नदियाँ नील नदी की मुख्य सहायक हैं। नीली नील नदी पर बाँधा गया सेनार बाँध उल्लेखनीय हैं। कागो नदी नील नदी से लगभग १,००० मील छोटी है, किंतु इसमें अपेक्षाकृत जलराशि का वहन अत्यधिक होता है। अपनी सहायक नदियो के साथ कागो नदी अफ्रीका के मध्य मे यातायात का उत्तम साधन है। पश्चिमी अफ्रीका मे नाइजर नदी तथा उसकी सहायक बेनू के कारण प्रशस्त जलमार्ग उपलब्ध है। पश्चिमी भाग की छोटी नदियो मे सेनेगाल तथा गैंबिया उल्लेखनीय हैं। ज़ाबेज़ी और आरेंज दक्षिणी अफ्रीका की मुख्य नदियाँ हैं। इस महाद्वीप की अधिकाश नदियाँ विशालकाय होते हुए भी यातायात के लिये उपयुक्त नही हैं। कागो नदी का एल्लाला प्रपात जाबेजी का विक्टोरिया प्रपात, नाइजर का बुसा प्रपात तथा नील नदी के अनेक प्रपात आवागमन मे बाधक होते है।

जलवायु—अफ्रीका की जलवायु पर समीपस्थ महासागरो तथा महाद्वीपो का पर्याप्त प्रभाव पडता हे। एशिया महाद्वीप का प्रभाव इसपर अपेक्षाकृत अधिक पडता है। समुद्री जलधाराएँ भी उपकूलीय प्रदेशों में अपना प्रभाव डालती हैं। पश्चिमी तट पर उत्तर मे कैनरी तथा दक्षिण में बेंगुएला नामक ठढी जलधाराएँ बहती हैं। इन दोनो धाराओ के मध्य गायना तट के निकट गायना नामक उष्ण धारा बहती है। दक्षिणपूर्व मे मोजाबिक धारा उल्लेखनीय है। इस महाद्वीप को जलवायु के विचार से अनेक भागो मे विभक्त किया जा सकता हे। अफ्रीका की निजी विशेषता यह है कि उत्तरी अफ्रीका की जलवायु के अनुरूप ही दक्षिणी अफ्रीका में भी जलवायु पाई जाती है। मुख्यत पाँच प्रकार की जलवायु यहाँ पाई जाती हैं—विषुवतीय जलवायु, सूडान सदृश उष्ण जलवायु, उष्ण मरुस्थलीय जलवायु, भूमध्य सागरीय जलवायु और चीन सदृश जलवायु। अफ्रीका में विषुवतीय जलवायु के भी तीन प्रभेद पाए जाते हैं—मध्य अफ्रीका सदृश, गायना सदृश तथा पूर्व अफ्रीका सदृश। मध्य अफ्रीका सदृश जलवायु कागो क्षेत्र मे ५° दक्षिणी अक्षाश के उत्तर में पाई जाती हे। ताप वर्ष भर लगभग ८०° फा० रहता है। वर्षा साल भर होती रहती है, पर अप्रैल तथा अक्टूबर मे वर्षा अधिक होती हे। इस क्षेत्र की वर्षा का वार्षिक योग ५०″ से ६०″ है। आपेक्षिक आर्द्रता बारहो महीने ऊँची रहती है। कागो नदी के मुहाने के समीप शीत जलधारा तथा स्थलीय वायु के कारण वर्षा लगभग ३०″ ही होती है। गायना सदृश जलवायु गायना के उपकूलीय भाग तथा उसके पृष्ठभाग में पाई जाती हे। यह जलवायु प्रदेश सियेरा

लियोन से लेकर कैमरून तक ८° उत्तरी अक्षाश के दक्षिण में है। इस जलवायु मे कुछ मानसूनी लक्षण पाए जाते हैं। वर्ष भर ताप ७५° फा० से ऊँचा रहता है। आपेक्षिक आर्द्रता भी ऊँची रहती है। वर्षा अधिक होती है। ग्रीष्मकाल मे वायु कूलोन्मुख चलती है और शीतकाल मे इसकी गति विपरीत हो जाती है। फलत ग्रीष्मकाल में ही वर्षा अधिक होती है। उदाहरणार्थ, फ्रीटाउन मे पूरे वर्ष की वर्षा १७०'' है, किंतु दिसबर से लेकर फरवरी तक केवल ३'' ही वर्षा होती है। सबसे अधिक वर्षा (४००'') कैमरून पर्वत के पश्चिमी ढाल पर होती है। शीतकाल मे बहनेवाली ठडी एव अपेक्षाकृत शुष्क वायु स्वास्थ्यवर्धक होती है। पूर्व अफ्रीका सदृश जलवायु पूर्वी पठारी भाग में ३° उत्तरी अक्षाश से ५° दक्षिणी अक्षाश तक मिलती है। पठार की ऊँचाई अधिक (लगभग ४,००० फुट) होने के कारण तापमान कम रहता है। वार्षिक तापातर भी कम रहता है। दैनिक तापातर अधिक होता है। वर्षा का वार्षिक योग लगभग ४५'' है। प्रतिवाती ढालो पर वर्षा ६०'' से ७०'' तक होती हैं, किंतु अनुवाती ढालो पर अपेक्षाकृत कम (लगभग २०'') होती है। निभग उपत्यका मे वर्षा ३०'' से अधिक नही होती।

सूडान सदृश जलवायु विषुवतीय भाग के उत्तर मे लगभग ६०० मील चौडे कटिबंध में पाई जाती है। इसका अधिकतम ताप लगभग ९०° फा० है। मासिक ताप का मध्यम मान ७०° फा० से कम नही रहता। वार्षिक तापातर १५° फा० से २०° फा० तथा दैनिक तापातर अत्यधिक होता है। शीतकाल मे उ० पू० वाणिज्य वायु तथा ग्रीष्मकाल मे द० प० मानसूनी वायु बहती है। वर्षा मानसूनी वायु से होती है। इस पेटी के दक्षिणी भाग मे वर्षा ४०'' से ५०'' तथा उत्तरी भाग में ८'' से १०'' होती है। दक्षिण से उत्तर की ओर वर्षा की मात्रा, अवधि तथा निर्भरता का क्रमिक ह्रास होता जाता है। शीतकाल मे हरमटन नामक शुष्क वायु बहती है, जिसके परिणामस्वरूप आपेक्षिक आर्द्रता लगभग २५ प्रति शत हो जाती है। वाष्पीकरण की तीव्रता के कारण पर्याप्त मात्रा में होनेवाली वर्षा का भी मूल्य मनुष्य के लिये घट जाता है। अबिसीनिया मे ऊँचाई अधिक होने से ताप कम रहता है। वर्षा, गायना की खाडी तथा हिंद महासागर, दोनो से आनेवाली आर्द्र हवा से होती है। दक्षिणी तथा दक्षिण-पश्चिमी भागो मे वर्षा ६०'' से अधिक होती है, किंतु उत्तरी तथा पूर्वी भागो की दशा मरुभूमि तुल्य है। दक्षिणी अफ्रीका मे सूडान सदृश जलवायु कागो-क्षेत्र से दक्षिण तथा मकर रेखा से उत्तर पाई जाती है। प्रायद्वीपीय भाग के कारण यहाँ महासागरीय प्रभाव अधिक है। ऊँचाई का भी प्रभाव पडता है। ग्रीष्मकाल में औसत तापमान ८२° फा० तथा शीतकाल मे ६०° फा० रहता है। शीतकाल मे आकाश स्वच्छ रहता है तथा आर्द्रता कम होती है। वर्षा ग्रीष्मकाल मे होती है। वर्षा की मात्रा पूर्व से पश्चिम की ओर घटती जाती है। पूर्वी उपकूलीय भाग मे मोजाबिक जलधारा का प्रभाव उपेक्षणीय नही है।

उष्ण मरुस्थलीय जलवायु का क्षेत्र १८° उत्तरी अक्षाश के उत्तर मे अध महासागर से लालसागर तक विस्तृत है। इसके भी दो विभाग हैं— सहारा सदृश तथा उपकूलीय मरुभूमि सदृश। सहारा सदृश जलवायु समुद्र से दूरस्थ भागो मे पाई जाती है। ग्रीष्मकाल के अपराह्न मे ताप १२०° फा० हो जाता है। शीतकाल में औसत ताप ६०° फा० रहता है। आकाश निर्भेद्य रहने के कारण दैनिक तापातर वर्ष भर लगभग ५०° फा० रहता है। आपेक्षिक आर्द्रता ३०% से ५०% तक रहती है। वर्षा अत्यल्प होती है। उपकूलीय मरुभूमि सदृश जलवायु उत्तरी अफ्रीका के पश्चिमी उपकूलीय भाग में, दक्षिण अफ्रीका के कालाहारी प्रदेश मे तथा शुमालीलैंड के उपकूलीय भाग मे पाई जाती है। इन प्रदेशो मे समुद्री प्रभाव के कारण ताप घट जाता है। दैनिक तापातर कम तथा आपेक्षिक आर्द्रता अधिक रहती है। वर्षा लगभग ५'' होती है।

भूमध्य-सागरीय जलवायु पश्चिमोत्तर अफ्रीका तथा प्रायद्वीपीय अफ्रीका के दक्षिणी छोर पर लगभग ३५° अक्षाश के बाहर पाई जाती है। इस जलवायु की मुख्य विशेषता यह है कि वर्षा शीतकाल मे होती है और ग्रीष्मकाल शुष्क होता है। ताप ग्रीष्म मे लगभग ७५° फा० तथा शीतकाल में ४५° फा० से ऊपर रहता है। वर्षा की मात्रा स्थल की प्राकृतिक बनावट पर निर्भर रहती है। चीन सदृश जलवायु अफ्रीका के दक्षिण-पूर्व में पाई जाती है। समुद्री प्रभाव के कारण जलवायु समोष्ण बनी रहती है। वार्षिक तापातर अधिक नही हो पाता। पर्वतीय भागो में ताप अपेक्षाकृत कम रहता है। वर्षा ग्रीष्मकाल मे होती है और उसकी मात्रा पूर्व से पश्चिम की ओर क्रमश घटती जाती है। आपेक्षिक आर्द्रता अधिक रहती है।

मिट्टी—अफ्रीका की मिट्टी का अध्ययन अभी तक पर्याप्त रूप से नही हो पाया है। अमरीका के श्री सी० एफ० मार्बट ने पहले पहल अफ्रीका की मिट्टियो के प्रकार तथा उनका वितरण बताने की चेष्टा की। १९२३ ई० मे उनके निश्चयो का साराश प्रकाशित हुआ। अफ्रीका के अयनवृत्तीय भाग मे प्राय सर्वत्र लाल दोमट पाई जाती है। उष्ण मरुस्थलीय भाग की मिट्टी मे जीवाश (ह्यूमस) कम पाया जाता है और मिट्टी का रग फीका होता है। कही कही क्षारमिश्रित ऊसर भी मिलता है। ट्रासवाल की निम्नभूमि तथा दक्षिणी रोडेशिया मे चर्नोज़ेम नामक काली मटियार मिट्टी पाई जाती है। इसमे जीवाश की मात्रा अधिक होती है। इस मिट्टी की एक मेखला उत्तरी अफ्रीका के सूडान राज्य के मध्य में भी मिलती है। ऑरेंज फ्री स्टेट तथा ट्रासवाल के निकटवर्ती उच्च प्रदेशो मे गाढ़े भूरे रग की उपजाऊ मिट्टी पाई जाती है। उत्तर मे सूडान के अधिकाश भाग में यही मिट्टी मिलती है। शीतकालीन वर्षावाले क्षेत्रो (केप प्रात के पश्चिमी भाग तथा ऐटलस पर्वतीय प्रदेश) में भूरे रंग की दोमट अधिक है। नेटाल तथा केप प्रात के पूर्वी ढालो पर लाल दोमट पाई जाती है। नील नदी की घाटी को मिट्टी अत्यधिक उपजाऊ है।

प्राकृतिक वनस्पति—प्राकृतिक वनस्पतियो की सख्या मे अफ्रीका ससार में अद्वितीय है। विपुवतीय प्रदेश, अधिक ताप तथा वर्षा के कारण, सदाहरित घने जगलो से आच्छादित है। इनका विस्तार अव्यवस्थित रूप मे गैंबिया के मुहाने से लेकर कागो क्षेत्र तक मिलता है। गायना तट के मध्य भाग तथा कागो की घाटी के निचले भाग मे इन वनो का अभाव उल्लेखनीय है। पूर्वी अफ्रीका के अयनवृत्तीय भाग तथा मैडागैस्कर द्वीप के पूर्वी, उपकूलीय भाग मे भी ऐसे वन पाए जाते है। इन वनो के वृक्ष अधिक ऊँचे और घने होते है। इनके नीचे छोटे छोटे पौधे भूमि को पूर्णत ढँक लेते है। महोगनी, नारियल तथा रबर मुख्य वृक्ष है।

विपुवतीय वनस्थली के उत्तर तथा दक्षिण मे घास का सावैना नामक विस्तृत क्षेत्र है। यहाँ अधिक वर्षावाले भाग मे लबी घास के साथ साथ, वृक्ष भी उग आते हैं, किंतु वर्षा की कमी के साथ वृक्षो की सख्या भी घटने लगती है। मरुस्थल के निकट बबूल तथा अन्य काँटेदार झाड़ियाँ अधिक मिलती हैं और घास भी लबी नही होती। सावैना मडल मे मुख्य वृक्ष बाओबब है। दक्षिण-पूर्व अफ्रीका मे घास का वेल्ड नामक समशीतोष्ण मैदान पाया जाता है। यहाँ घास सावैना के घास की अपेक्षा छोटी होती है। अबिसीनिया, मैडागैस्कर तथा पूर्वी अफ्रीका के ऊँचे पठारो पर भी घास के मैदान पाए जाते हैं। भूमध्य-सागरीय जलवायुवाले प्रदेशो मे जैतून (ऑलिव) और रसीले फलो के वृक्ष तथा कुछ झाडियाँ मिलती हैं। मरुस्थली भाग वनस्पति से प्राय शून्य है। मरुद्यानो मे कुछ काँटेदार झाडियाँ और खजूर के वृक्ष दिखाई पडते है।

वनजंतु—विषुवतीय वन कीडे मकोडो तथा पक्षियो से भरा है। वृहत्काय जतु नदियो, दलदलो तथा घने वनो के अचल मे अधिक है। इनमे हाथी, दरियाई घोडे, गैंडे, मगर, घडियाल इत्यादि मुख्य है। पेड की डालियो पर वास करनेवाले बैबून, गोरिल्ला, चिपैंजी आदि नाना जाति के बदर यहाँ पाए जाते है। सावैना मडल वन्य पशुओ का भाडार है। घास के इस खुले मैदान मे जिराफ, जेबरा, बारहसिगा आदि तीव्रगामी पशु स्वच्छद विहार करते है। इन अहिसक पशुओ पर जीनेवाले सिंह, चीते, तेदुए, लकडबग्घे, बनैले सूअर आदि शिकारी जतु भी पाए जाते है। शुतुर्मुर्ग नाम का एक विचित्र पक्षी भी मिलता है। जगली जीवो से उपलब्ध होनेवाली वस्तुओ मे शुतुर्मुर्ग का पर तथा हाथीदाँत मुख्य हैं। हाथीदाँत के लाभदायक व्यापार के लालच से ही अरब के व्यापारी इधर अधिक आकर्पित होकर प्रविष्ट हुए थे। जगलो मे अजगर भी मिलते है। अफ्रीका का अजगर विषैला होता है। इन जतुओ के अतिरिक्त मलेरिया तथा पीला ज्वर सदृश भयानक रोग फैलानेवाले मच्छड, ट्सेट्सी मक्खी और अनेक प्रकार के जहरीले कीडो तथा चीटियो के लिये अफ्रीका कुख्यात है।

अफ्रीका के जंतु

ऊपर हिरन, नीचे गैंडा (दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

अफ्रीका के जतु

ऊपर वदर, नीचे शुतुर्मुर्ग (दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

अफ्रीका के जंतु
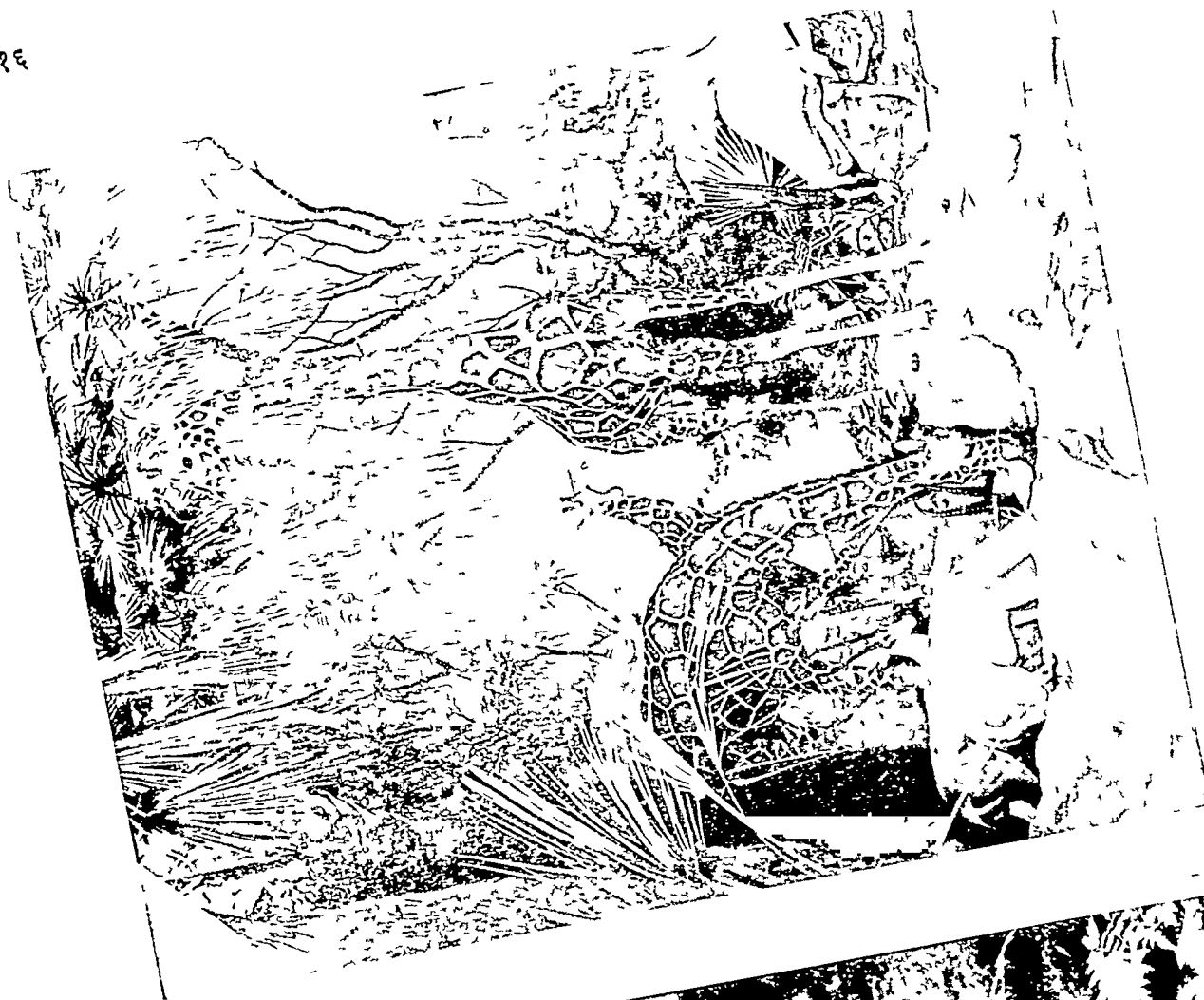
बाईं ओर गोरिल्ला और दाहिनी ओर जिराफ (दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

उपस्थित होती है। अब तक अफ्रीका मे रेलमार्ग का एक क्रमहीन ढाँचा मात्र खड़ा हुआ है, अन्यान्य देशो की भाँति इसका जाल नही बिछ पाया है। दक्षिणी तथा पश्चिमोत्तर अफ्रीका, विषुवतीय प्रदेश तथा नील नदी की निचली घाटी मे रेल की कई लाइने बिछ गई है। सबसे अधिक विकास दक्षिणी अफ्रीका मे हुआ है। केप ऑव गुड होप से जो लाइन पूर्वी पठारी प्रदेश को पार करती हुई उत्तर की ओर बढ गई है वह केप-कैरो लाइन के नाम से विख्यात है, किंतु मिस्र तथा सूडान की मध्यस्थ सीमा के पास विच्छिन्न होने के कारण इसका नाम सार्थक नही है। बडी नदियाँ, जिनमे सैकडो मील तक छोटे जहाज चलते है, इस महाद्वीप के भीतरी भागो के लिये सुगम जलमार्ग है। अतर्राष्ट्रीय व्यापार में स्वेज नहर का अद्वितीय महत्व है। उपकूलीय भागो मे समुद्री मार्ग से व्यापार होता है। अफ्रीका के समुद्री कूल पर कुछ महत्वपूर्ण बदरगाह स्थित है, जिनमे पोर्ट सईद, सिकद्रिया, त्रिपोली, अल्जियर्स, डकार, अक्रा, मोसामेद्स, केपटाउन, पोर्ट एलिजाबेथ, डरबन, लॉरेंसो मार्क्स, जजीबार, मोबासा, स्वेज इत्यादि मुख्य है। इस महाद्वीप में वायुमार्ग की व्यवस्था अच्छी है। लबी दूरी तथा अन्य सुगम साधनो के अभाव के कारण ही इसका इतना विकास हुआ है। कैरो, खार्तूम, नैरोबी, जोहान्सबर्ग, एलिजाबेथविल, लियोपोल्डविल, कानो, डकार, अल्जियर्स इत्यादि वायुमार्ग के मुख्य केंद्र है।

व्यापार—अफ्रीका का अतर्राष्ट्रीय व्यापार मुख्यत यूरोप के औद्योगिक देशो के साथ है। पिछली शताब्दियो मे यह महाद्वीप गुलामो की बिक्री के लिये प्रसिद्ध था। इसके गुलामो का मुख्य ग्राहक सयुक्त राज्य (अमरीका) था। इस समय अफ्रीका विशेषकर कच्चा पदार्थ विभिन्न देशो को निर्यात करता तथा विदेशो मे निर्मित पदार्थों का आयात करता है। यहाँ से निर्यात होनेवाले पदार्थों मे सोना, मैंगनीज, कोबाल्ट, ताँबा, निकल, फॉस्फेट, रबर, कोको, नारियल का तेल, कपास, फल, गोद, ऊन, हाथीदाँत, शुतुर्मुर्ग के पर इत्यादि मुख्य है। विदेशो से कल पुर्जे, मोटर गाडियाँ, रेल के इजन, दवाएँ, कृत्रिम खाद, छोटे जहाज, वायुयान, लडाई के हथियार इत्यादि आयात किए जाते है।

निवासी—इस महाद्वीप की कुल अनुमानित जनसख्या लगभग बाइस करोड है। प्राकृतिक वातावरण की विभिन्नताओ के कारण जनसख्या का वितरण भी असमान है। मिस्र देश के कुछ भाग मे घनत्व ६८४ व्यक्ति प्रति वर्ग मील है, किंतु सहारा मरुस्थल मे विशाल क्षेत्र जनशून्य है।

अफ्रीका के निवासियो मे प्रमुख स्थान यहाँ के आदिवासियो का है। इनमे हबशी, हमाइट, शामी (सेमाइट), बौने, बुशमेन, हॉटेंटॉट तथा मसाबी मुख्य जातियाँ है।

शारीरिक बनावट तथा मुखाकृति की दृष्टि से हबशियो की कई उपजातिया मानी जाती है, किंतु पश्चिमी अफ्रीका का हबशी पूरे समुदाय का प्रतिरूप माना जाता है। उसका शरीर भरकम, कद साधारण या ऊँचा, सिर लबा, नाक चौडी, होठ मोटे, निचला जबडा कुछ आगे निकला हुआ, रग गाढा भूरा (करीब करीब काला) और बाल काला तथा घुँघराला होता है। मध्य-कागो क्षेत्र के हबशी का कद साधारण या छोटा तथा सिर चौडा होता है। नील नदी के उद्गम के आसपास बसनेवाले नीलोटिक हबशी लबे कद (लगभग ६'६'') के होते है।

हमाइट जाति के लोगो का शरीर दुर्बल, रग हल्का, बाल सीधे या घुँघराले, नाक पतली तथा होठ पतले होते है। इस जाति के लोग सहारा तथा पूर्वोत्तर अफ्रीका मे पाए जाते है। जहाँ इनका सबध हबशियो के साथ हो गया है वहाँ हबशी जाति के कुछ लक्षण इनमे भी स्पष्ट दिखाई पडते है।

अफ्रीका के उत्तरी तथा पूर्वी भाग मे रहनेवाले लोग शामी जाति के है। इनका रग हल्का भूरा, हमाइटो की तरह ही नाक और होठ पतले होते है। साँवले रग के अतिरिक्त इनके अन्य सभी लक्षण काकेशस की गोरी जाति के समान ही है। हमाइट तथा शामी दोनो जातियो के मनुष्य हबशी गुलामो को बेचने का व्यापार करते थे।

बेल्जियन कागो क्षेत्र के पूर्वोत्तर प्रदेश मे बौने निवास करते है। इनका शरीर सुगठित होता है और ये चतुर शिकारी होते है। इनका सिर बडा, गर्दन छोटी, धड लबा, पैर छोटे तथा हाथ पावँ पतले होते है। इनकी चाल मे डगमगाहट रहती है। इनकी औसत ऊँचाई ४'६'' होती है। स्त्रियाँ इससे भी छोटी होती है। इनकी नाक अधिक चौडी होती है। ये चौकन्ने दिखाई पडते है। इनका रग हब्शियो की तरह काला नही होता, बल्कि पीलापन लिए हुए कुछ भूरा होता है।

बुशमेन दक्षिणी अफ्रीका मे कालाहारी मे रहते है। इनका कद छोटा और शरीर की बनावट हबशियो से भिन्न होती है। इनका सिर लबा, हाथ-पैर धड की अपेक्षा छोटे तथा बाल घुँघराले होते है। हॉटेंटॉट के शरीर की बनावट भी बुशमैन की तरह होती है किंतु बुशमैन की अपेक्षा इनकी ऊँचाई अधिक, सिर लबा और सिर के ऊपरी भाग का चपटापन कम होता है। इनके जबडे आगे की ओर अधिक निकले रहते है। पूर्वी अफ्रीका के पठारी प्रदेश मे मसाबी लोग पशुपालन द्वारा अपनी जीविका अर्जित करते है।

उपर्युक्त निवासियो के अतिरिक्त भारतीय लोग तथा कई स्वार्थसाधक विदेशी भी यहाँ अधिक सख्या मे आ बसे है।

अफ्रीका के देश—अफ्रीका का राजनीतिक मानचित्र रगबिरगा दिखाई पडता है। देशो की इतनी अधिक सख्या किसी अन्य महाद्वीप मे नही मिलती। इसका मुख्य कारण है यूरोपीय राष्ट्रो की स्वार्थपरता, जिन्होने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये इस महादेश के टुकडे कर आपस मे बाँट लिया है और इसकी प्राकृतिक सपत्ति का उपयोग कर स्वय समृद्धिशाली बन गए है। अफ्रीका के देशो की सूची निम्नलिखित है

मोरक्को, स्पैनिश मोरक्को, अल्जीरिया, ट्युनीशिया, स्पैनिश वेस्ट अफ्रीका, फ्रेंच वेस्ट अफ्रीका, गैंबिया, पुर्तगीज गायना, सियरा लियोन, लाइबेरिया, घाना, नाइजेरिया, फ्रेंच विषुवतीय अफ्रीका, स्पैनिश गायना, लीबिया, मिस्र, सूडान, इथिओपिया, शुमालीलैंड प्रोटेक्टोरेट, शुमालिया, बेल्जियन कागो, यूगाडा, केनिया, टागनीका, अगोला, दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका, उत्तरी रोडेशिया, दक्षिणी रोडेशिया, बेचुआनालैड प्रोटेक्टोरेट, यूनियन ऑव साउथ अफ्रीका, मोजाबीक, मैडागैस्कर, न्यासालैड, बासूटोलैड, स्वाजीलैड, इत्यादि।

विदेशी आधिपत्य—यह महाद्वीप उपनिवेशवाद का ज्वलत उदाहरण है। यहाँ मिस्र, इथिओपिया, लाइबेरिया और घाना को छोडकर अन्य देशो पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से किसी न किसी विदेशी सरकार का आधिपत्य है। अफ्रीका के विभिन्न देशो पर अपना आधिपत्य जमानेवाल राष्ट्रो मे यूरोप के ब्रिटेन, फ्रास, इटली, पुर्तगाल, स्पेन तथा बेल्जियम मुख्य राष्ट्र है। अब एशिया के लोगो की भाँति अफ्रीकी जनता भी उपनिवेशवाद के विरुद्ध जागरित हो रही है और वहाँ स्वतत्रता के नारे बुलद किए जा रहे है। विशेषकर दक्षिणी अफ्रीका मे प्रचलित साम्राज्यवादियो की रग-भेद-नीति के विरुद्ध जनता सक्रिय आदोलन कर रही है। [न० प्र०]

अफ्रीकी भाषाएँ

अफ्रीका महाद्वीप मे बुशमैन (गुल्मनिवासी), बाटू, सूडान तथा सामी-हामी परिवार की भाषाएँ बोली जाती है। अफ्रीका के समस्त उत्तरी भाग मे सामी भाषाओ का आधिपत्य प्राय दो हजार वर्षो मे रहा है। इधर दो तीन शताब्दियो से दक्षिण के कोने पर और समस्त पश्चिमी किनारे पर यूरोपीय जातियो ने कब्जा करके मूल निवासियो को महाद्वीप के भीतरी भागो की ओर हटा दिया। किंतु अब अफ्रीकी निवासियो मे जागृति हो चली है और फलस्वरूप उनकी निजी भाषाएँ अपना अधिकार प्राप्त कर रही हैं।

बुशमैन परिवार—इस जाति के लोग दक्षिणी अफ्रीका के मूल निवासी समझे जाते है। इनकी बहुत सी बोलियाँ है। ग्रामगीतो और ग्रामकथाओ को छोडकर इन बोलियो मे कोई अन्य साहित्य नहीं है। रूप की दृष्टि मे ये भाषाएँ अत मे प्रत्यय जोडनेवाली योगात्मक अश्लिष्ट अवस्था में है। इनके कुछ लक्षण सूडान परिवार की भाषाओ से मिलते है और कुछ बाटू परिवार की जुलू भाषा से। सभव है, जुलू की ध्वनियो पर इस परिवार की भाषाओ का प्रभाव पडा हो। बुशमैन मे छ 'क्लिक' ध्वनियाँ भी है। लिंग पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर निर्भर न होकर प्राणिवर्ग और अप्राणिवर्ग पर अवलबित है और इस बात मे द्राविड भाषाओ के चेतन और अचेतन लिंग से समता रखता है। बहुवचन बनाने के कई ढग है जिनमे अभ्यास मुख्य है। हॉटेंटाट भाषाएँ भी बुशमैन के अतर्गत समझी जाती है।

खनिज सपत्ति—अफ्रीका के कुछ भाग खनिज सपत्ति से सपन्न है। यूरोप निवासियो तथा अफ्रीका के आदिवासियो के बीच सबंध स्थापित करने में बेलजियन कांगो स्थित कटगा की ताँबेवाली खान तथा दक्षिणी अफ्रीका की सोने और हीरे की खानो का प्रमुख हाथ रहा है। सहारा मरुभूमि मे ऊँटो का लवा कारवाँ वहाँ पाए जानेवाले नमक के व्यापार के लिये ही जाता था। अफ्रीका मे कोयले, पेट्रोलियम, सीसे तथा जस्ते की कमी है, किंतु हीरा, सोना, मैंगनीज़, ऐल्युमीनियम, प्लैटिनम तथा राँगा प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। ससार का प्रमुख ताँवा उत्पादक क्षेत्र अफ्रीका में ही है। यह बेलजियन कांगो से रोडेशिया तक, २०० मील लबी मेखला के रूप में, फैला हुआ है। लोहा उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों भागो मे पाया जाता है। अलजीरिया, मोरक्को तथा ट्यूनीशिया की खाने उत्तरी भाग मे लौह के उत्पादन के लिये अधिक प्रसिद्ध हैं। मैडागैस्कर द्वीप में कोयले के अविकसित क्षेत्र है। यहाँ अभ्रक, सोना तथा रत्न भी निकलते है। सयुक्त राज्य (अमरीका) द्वारा उत्पादित लोहे के १८वें भाग के बराबर लोहा अफ्रीका मे निकाला जाता है। ससार का २० प्रति शत मैंगनीज तथा १६ प्रति शत ताँवा इस महाद्वीप मे उत्पन्न होता है। मैंगनीज की मुख्य खान घाना देश के सिकडी बदरगाह से ३४ मील दूर स्थित है। पूर्वी भाग के नेटाल राज्य में कोयले की खाने है। अफ्रीका ससार में कोबाल्ट का सबसे बडा उत्पादक है।

सिंचाई—विषुवतीय प्रदेश तथा उसके समीपस्थ सावेना मडल के पर्याप्त वृष्टिवाले भाग को छोडकर अफ्रीका के अधिकाश भाग में सिंचाई की आवश्यकता पडती है। जहाँ सिंचाई की व्यवस्था नही है, वहाँ कृषि का विकास पूर्ण रूप से नही हो पाया है। अल्प वृष्टिवाले प्रदेशो मे पशुपालन भी जल की सुलभता पर ही आश्रित है। नील नदी की घाटी मे सिंचाई का समुचित प्रबंध किया गया है। असवान तथा सेनार सदृश विशाल बाँध इसके ज्वलत प्रमाण हैं। ऐंग्लो-ईजिप्शियन सूडान के प्रायद्वीप में तथा मिस्र देश के निचले भाग में सिंचाई के बिना रुई की खेती कदापि सभव नही थी। दक्षिणी अफ्रीका मे भी सिंचाई की आवश्यकता अधिक थी और इस बात पर अधिक ध्यान दिया गया है। इस भाग में स्थित वालवैक जलाशय, जिससे लगभग एक लाख एकड जमीन सीची जाती है, दक्षिणी गोलार्ध का सबसे बडा सिंचाई का साधन माना जाता है। पश्चिमोत्तर अफ्रीका मे फ्रानीसी सरकार ने सिंचाई की व्यवस्था पर अधिक ध्यान दिया है। अलजीरिया तथा ट्यूनीशिया के दक्षिणी भागो मे पातालतोड कूपो का निर्माण हुआ है। अलजीरिया की शेलिफ नदी की घाटी में दो सिंचाई योजनाएँ बनी है। नाइजेरिया के उत्तरी भाग मे कुओ से सिंचाई होती है। नाइजर की घाटी के मध्य भाग मे सिंचाई का विकास सभव है। मोरक्को देश में इस दिशा मे कुछ विकास हुआ है। पूर्वोत्तर अफ्रीका के इरीट्रिया देश के अतर्गत भी नदियो का पानी सिंचाई के काम में लाया जाता है।

कृषि—अफ्रीका के अधिकाश मे कृषि प्राचीन ढग से की जाती है। वहाँ के आदिवासी अपने आवश्यकतानुसार अन्न उपजाते हैं। मक्का, ज्वार तथा बाजरा उनके मुख्य खाद्यान्न है। उनके खेतों मे स्त्रियाँ पुरुषो की भाँति कठोर परिश्रम करती हैं। ये लोग कृषि के आधुनिक ढग से प्राय अनभिज्ञ हैं। वे खेतो में बाजारू खाद का प्रयोग नही करते। जहाँ विदेशी भूमिपतियो की देखरेख मे खेती की जाती है, वहाँ अफ्रीका के आदिवासी मजदूरो के रूप में परिश्रम करते हैं। ये भूमिपति लाभप्रद शस्यो को उपजाने पर विशेष और मोटे अन्न पर अपेक्षाकृत कम ध्यान देते हैं।

अफ्रीका में पैदा होनेवाले कुछ पौधे तो वहाँ अनादि काल से पाए जाते है, उदाहरणार्थ नील, रेडी तथा कहवा, किंतु कुछ पौधे विदेशियो द्वारा बाहर से लाकर भी लगाए गए हैं। केला, कटहल, नारियल, खजूर, अजीर, सन, जैतून, ज्वार, बाजरा, गन्ना तथा धान सभवत यहाँ एशिया महाद्वीप से लाए गए और मक्का, कसावा, मूँगफली, शकरकद, अरुई, सेम, पपीता तथा अमरूद व्यापारियो द्वारा अमरीका से लाकर पश्चिमी अफ्रीका मे लगाए गए। तबाकू भी अमरीका से ही लाया गया।

विषुवतीय प्रदेश मे जगल को स्वच्छ कर कही कही धान, गन्ना, अरुई, शकरकद, मूँगफली, केला, कोको तथा कसावा नामक कद की खेती की जाती है। सावना मडल की मुख्य उपजें मक्का, ज्वार तथा बाजरा है। शीतकाल में गेहूँ तथा जौ की खेती होती है। इसके अतिरिक्त कही कही मूगफली और रुई भी उपजाई जाती है। वेल्डवाले भाग मे मक्का, तबाकू, गेहूँ, जौ तथा जई की खेती होती है। सिंचाई की सहायता से रसदार फलो के वृक्ष भी लगाए जाते है। मरुस्थलीय भागो में बिना सिंचाई के कुछ भी पैदा नही होता। मरूद्यानो की मुख्य उपज खजूर तथा गेहूँ है। नील नदी की घाटी रुई की खेती के लिये विश्वविख्यात है। भूमध्य सागरीय प्रदेशो में गेहूँ की खेती होती है और अगूर सतालू, सतरा सदृश रसदार फल तथा जैतून के वृक्ष लगाए जाते है।

पशुपालन—मिस्र देशवासियो को सभवत ३,५०० ईसवी पूर्व से ही ऊँटो की जानकारी है, किंतु लगभग ३२५ ईसवी पूर्व तक वे ऊँटो का व्यवहार नही करते थे। परतु घोडो का व्यवहार वे लगभग ढाई हजार ईसवी पूर्व से जानते हैं। जगल तथा मरुस्थल के मध्यस्थ खुले भागो में घोडो का व्यवहार लडाई के काम में किया जाता था। गोपालन दूध, मास और चमडे के उत्पादन के लिये तथा कही कही धार्मिक विचार से अधिक महत्वपूर्ण है। उत्तरी तथा पश्चिमोत्तर अफ्रीका में खच्चरो का व्यवहार अधिक होता है। मुसलमानो को छोडकर अन्य सभी धर्मावलबी सूअर पालते है। बकरियाँ प्राय सभी गाँवो मे पाई जाती हैं। भेडें विशेषकर दक्षिणी अफ्रीका में पाली जाती हैं। बेल्जियन कांगो मे अपि के पास जगलो मे काम करने के लिये हाथी भी पाले गए हैं।

सावेना मडल, वेल्ड क्षेत्र तथा उच्च पठारी घास के मैदान पशुपालन के लिये उपयुक्त हैं। कही कही जल की समस्या उत्पन्न होती है, किंतु कूओ तथा कृत्रिम जलाशयो का निर्माण करके यह समस्या अधिकाश भाग में हल की जा चुकी है। मरुस्थलो के अचलीय भागो में अभी यह समस्या वर्तमान है और व्यावसायिक पशुपालन में बाधक सिद्ध होती है। मरुस्थलीय भागो में ऊँट, उत्तर के सावेना मडल मे गाय और घोडे तथा पूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमोत्तर अफ्रीका मे भेड तथा बकरियाँ मुख्य पालित पशु हैं।

उद्योग धधे—उद्योग धधो की दृष्टि से अफ्रीका पिछडा हुआ महाद्वीप है। आधुनिक युग के उद्योगो का विकास अभी यहाँ नही हो पाया है। इसके मुख्य कारण है आवागमन के साधनो की असुविधा, कुशल कारीगरो की कमी तथा कोयला जैसे ईंधन का असमान वितरण। इस महाद्वीप मे जलविद्युत् की सभावना बहुत अधिक है (ससार की लगभग ४० प्रतिशत), किंतु इसका विकास पर्याप्त रूप से नही हो पाया है। अब धीरे धीरे अफ्रीका के विभिन्न भागो मे कल कारखाने खुल रहे हैं और इस दिशा मे विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

मिस्र देश मे सूती-वस्त्र-उद्योग का विकास हुआ है। यहाँ सूत कातने तथा सूती कपडे बुनने के अनेक कारखाने हैं। इसके अतिरिक्त आटा, तेल, चीनी, सिगरेट, सीमेंट तथा चमडे के भी कई कारखाने हैं। खजूर का फल डब्बो में बद करके बाहर भेजना यहाँ का एक मुख्य धधा है। दक्षिणी अफ्रीका मे ईंधन सस्ता है। यहाँ औद्योगिक विकास अन्य भागो की अपेक्षा अधिक हुआ है। प्रिटोरिया में लोहा तथा इस्पात का एक आधुनिक कारखाना है। दक्षिणी अफ्रीका मे सीमेंट, साबुन, सिगरेट, वस्त्र, रेल सबधी सामग्री तथा विस्फोटक पदार्थ बनाने के अनेक कारखाने हैं। इस भाग के बदरगाहो मे मछली मारने का उद्योग भी उल्लेखनीय है। युगाडा मे ओवेन-प्रपात-बाँध के उद्घाटन के साथ ही उस देश के औद्योगिक विकास का मार्ग खुल गया। वस्त्र तथा सीमेंट के उद्योग आरभ हो गए हैं। बेल्जियन कांगो मे भी औद्योगिक विकास हो रहा है। वहाँ नारियल के तेल के अनेक कारखाने है। इनके अतिरिक्त वस्त्र, साबुन, चीनी तथा जूते बनाने के कारखाने भी खुले हैं। इस औद्योगिक विकास का मुख्य कारण उस क्षेत्र मे जलविद्युत् का विकास है। विषुवतीय प्रदेश मे लकडी चीरने का उद्योग तीव्रता से बढ रहा है।

परिवहन के साधन—अफ्रीका मे परिवहन के सुगम साधनो का प्राय अभाव है। कुछ ही भागो मे इनका विकास हो पाया है। अधिकाश मे सामान ढोने के प्राचीन साधनो का ही व्यवहार होता रहा है। नील नदी मे नाव, मध्य अफ्रीका में डोंगी तथा मजदूर, मरुस्थलो मे ऊँट, ऐटलस प्रदेश मे खच्चर तथा दक्षिणी अफ्रीका में बैलगाडी से बोझ ढोने का काम लिया जाता था। इन साधनो से वर्तमान युग की आवश्यकताएँ पूरी नही होती। अत पक्की सडकें तथा रेलमार्ग बनाने पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। रेलमार्ग बनाने में इस महाद्वीप मे अनेक प्राकृतिक बाधाएँ

जहाज द्वारा माल ले जाने का खर्च पहले से बहुत कम हो गया है। इससे ससार के भिन्न भिन्न देशो के विदेशी व्यापार मे बहुत उन्नति हुई है। स्वेज नहर बन जाने से अग्रेजो के विदेशी व्यापार मे बहुत वृद्धि हुई है।

विदेशी व्यापार मे प्राय उन्ही वस्तुओ का आयात किया जाता है जो अन्य देशो से सस्ती तैयार की जाती है और उनसे आयात के व्यापारियो के अतिरिक्त उन वस्तुओ के उपभोक्ताओ को भी लाभ होता है। विदेशी व्यापार मे प्राय वे ही वस्तुएँ निर्यात की जाती है जो दूसरे देशो की तुलना मे सस्ती तैयार होती है। इससे निर्यात के व्यापारियो के साथ ही साथ उन वस्तुओ के विदेशी उपभोक्ताओ को भी लाभ होता है। अबाध व्यापार मे वस्तुओ के उत्पादको मे पारस्परिक प्रतियोगिता अधिक होने के कारण देशो के उद्योगो मे किसी प्रकार की शिथिलता नही आ पाती और वे अधिक से अधिक वस्तुओ का उत्पादन करने का प्रयत्न करते है।

अबाध व्यापार से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार मे तनाव की सभावना कम होती है तथा प्रत्येक देश अपनी वस्तुओ का विक्रय दूसरे देशो मे करके अधिक से अधिक आर्थिक लाभ प्राप्त करते है।

अबाध व्यापार की एक विशेषता यह है कि इसमे अतर्राष्ट्रीय श्रम-विभाजन मे कठिनाइयाँ उपस्थित नही होने पाती। किसी देश के लोग अपने लाभ के लिये उस उद्योग में लगते है जिसमे उन्हे अपने पडोसियो की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्राप्त होती है। अबाध व्यापार की नीति हर देश को उन उद्योगो को विकसित करने के लिये प्रोत्साहित करती है जो उसके लिये अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल होते है।

अबाध व्यापार से कतिपय हानियाँ भी होती है। जो वस्तुएँ अन्य देशो से सस्ते मूल्य पर आती है उन वस्तुओ के उत्पादको को देश के अदर भारी प्रतियोगिता का सामना करना पडता है और यदि वे अपना लागत खर्च कम करके उतने ही सस्ते मूल्य पर वैसी वस्तुएँ देश के अदर तैयार नही कर पाते तो उन वस्तुओ के कारखानो को वद कर देना पडता है। इससे देश के कुछ उद्योग-धधो को बहुत हानि होती है और साथ ही बेरोजगारी भी बढती है।

अबाध व्यापार से दूसरी बडी हानि यह होती है कि उन नए उद्योग-धधो को, जो किसी देश मे आरभ किए जाते है, चलाने का अवसर ही नही मिल पाता। आरभिक अवस्था मे उनका लागत खर्च अधिक होता है और वे अपने कारखानो मे उतनी सस्ती लागत पर वस्तुएँ तैयार नही कर पाते जितने लागत खर्च पर दूसरे देशो मे पहले से स्थापित बडे बडे कारखाने तैयार कर लेते है। इन नवीन उद्योगो को प्रोत्साहन देने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि देश की सरकार उन वस्तुओ के आयात पर ऐसा भारी कर लगा दे जिससे वे नए उद्योग द्वारा बनी वस्तुओ से प्रतियोगिता न कर सके। नए उद्योग-धधो को सरक्षण द्वारा सरकार को सहायता देना आवश्यक हो जाता है।

जो देश औद्योगिक विकास मे अन्य देशो से आगे रहता है वह अबाध व्यापार मे अपने यहाँ से तैयार माल अधिक मात्रा मे दूसरे देशो मे भेजने का प्रयत्न करता है। परिणामत औद्योगिक विकास मे पिछडे हुए देशो को जीवनरक्षक पदार्थ देकर विलासिता के या दिखावटी सस्ते पदार्थ बदले मे लेने पडते है। इससे उनका विदेशी व्यापार बढने पर उनको स्थायी लाभ नही हो पाता और उन्हे अपने उद्योग धधो को बढाने का अवसर भी नही मिल पाता। इस प्रकार की हानि से बचने के लिये पिछडे हुए देश अपने उद्योग-धधो के सरक्षण के लिये आयातो पर भारी कर लगाते है और ऐसी वस्तुओ के आयात का नियत्रण करते है जो हानिकारक होती है, जैसे, मादक पदार्थ तथा अन्य विलासिता की दिखावटी वस्तुएँ।

अबाध व्यापार का आरभ सर्वप्रथम इग्लैंड मे हुआ। १९वी शताब्दी के आरभ मे इग्लैंड में खाद्य-पदार्थ, जैसे—गेहूँ, जौ, मक्खन, अडा, जई तथा रेशमी और ऊनी वस्तुओ के आयात पर भारी कर लगाए गए थे। इन करो के कारण वस्तुओ की कीमते बहुत बढ गई थी और इससे इग्लैंड की जनता को बडी हानि होती थी। इग्लैंड के कुछ अर्थशास्त्रियो ने और ससद के सदस्यो ने खाद्य-पदार्थों पर से कर हटाने का आदोलन आरभ किया। सन् १८३९ मे राष्ट्रीय अन्नकर विरोध सघ (ऐंटी कार्न ला लीग) की स्थापना हुई। इस सघ को अपने कार्य मे सघर्ष का सामना करना पडा। इग्लैंड की पार्लियामेंट मे कई बार इस प्रश्न पर विचार हुआ। अत मे सन् १८४६ मे पील महोदय का अन्नकर हटने का प्रस्ताव लोकसभा (हाउस ऑव कामन्स) मे स्वीकृत हुआ और लार्ड सभा ने भी उसे बहुमत से स्वीकार कर लिया। इस प्रकार अन्न पर से आयात कर हटा दिया गया। अपने कार्य मे सफलता प्राप्त कर लेने पर राष्ट्रीय अन्नकर विरोधी सघ भग कर दिया गया। धीरे धीरे अन्य वस्तुओ के आयात कर भी हटा दिए गए और १८६० तक इग्लैंड मे अबाध व्यापार पूर्ण रूप से जारी हो गया।

उसी समय इग्लैंड मे औद्योगिक क्राति हो रही थी। १९वी सदी के आरभ मे इग्लैंड की अधिकाश जनता ग्रामो मे ही निवास करती थी और खेती के साथ साथ घरेलू उद्योग-धधे भी उन्नत दशा में थे। इग्लैंड-वासियो ने ससार मे भिन्न भिन्न भागो मे उपनिवेश बसाकर या राज्य स्थापित कर ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना कर ली और इन देशो से अपना व्यापार भी खूब बढाया था। देश मे साहसी पुरुषो और पूँजी की कमी नही थी। इसी समय कुछ ऐसी मशीनो का आविष्कार किया गया जो भाप की सहायता से चलाई जाती थी और जिनके द्वारा कपडे तैयार करने का खर्च बहुत कम होता था। बडे बडे कारखाने खुले और नए नगरो का निर्माण हुआ तथा पुराने नगरो की बढती हुई। लोहे और कोयले के उद्योग को भी बहुत प्रोत्साहन मिला। बडे बडे जहाजो का निर्माण होने लगा। उनके चलाने मे भाप का उपयोग होने से उनकी गति भी बढ गई और सामान ले जाने का खर्च कम हो गया।

बडे बडे कारखानो मे वस्तुओ की उत्पत्ति बडी मात्रा मे होने लगी। इन कारखानो को चलाने के लिये कच्चे माल की अधिक परिमाण मे आवश्यकता थी। अबाध व्यापार की नीति के कारण इग्लैंड को अन्य देशो से कच्चा माल सस्ते दामो पर प्राप्त करने की बडी सुविधा मिली। तैयार माल को बाहर दूसरे देशो मे सस्ते मूल्य पर भेजने मे भी अबाध व्यापार की नीति से इग्लैंड के व्यापारियो को बहुत प्रोत्साहन मिला। इसका परिणाम यह हुआ कि इग्लैंड का विदेशी व्यापार खूब बढा और १९वी सदी के अत तक ससार के सब देशो के सपूर्ण विदेशी व्यापार का चौथाई भाग इग्लैंड निवासियो के हाथ मे आ गया। औद्योगिक क्राति और अबाध व्यापार की नीति के कारण इग्लैंड की खूब आर्थिक उन्नति हुई और ससार के राष्ट्रो मे उसका प्रथम स्थान हो गया।

अग्रेजी शासन के पूर्व भारत के घरेलू उद्योग-धधे खूब उन्नत दशा मे थे। भारतवासी अपने घरेलू उद्योग-धधो द्वारा सुदर वस्तुओ का निर्माण कर अन्य देशो से खूब व्यापार करते थे। भारत की मलमल ससार के सब देशो मे प्रसिद्ध थी। उत्साही अग्रेजो के दिलो में भारत के साथ सीधा व्यापार करने की लालसा जाग्रत हुई। धीरे धीरे इसी उद्देश्य से ईस्ट इडिया कपनी की स्थापना हुई। अग्रेजो ने शनै शनै अपने पैर भारतवर्ष मे मजबूत किए तथा यहाँ अपना राज्य स्थापित किया। औद्योगिक क्राति के कारण इग्लैंड मे बडे बडे कारखाने स्थापित हुए और इन कारखानो के लिये अधिक परिमाण मे कच्चा माल प्राप्त करने की और तैयार माल को आसानी से बेचने की भी आवश्यकता हुई। इस कार्य मे अबाध व्यापार नीति से इग्लैंड को बहुत लाभ हो रहा था। इसलिये अँगरेजो ने उसी नीति का पालन भारत मे भी किया। इस नीति का परिणाम भारत मे यह हुआ कि इग्लैंड के कारखानो में बने हुए सस्ते तैयार माल भारत में बिना किसी रोक टोक के बडे परिमाणो मे आने लगे। इग्लैंड से सस्ते सूती कपडो के आयात में खूब वृद्धि हुई और भारत के जुलाहो को इस प्रतियोगिता का सामना करना पडा। वे उतनी कम कीमत पर कपडा तैयार करने मे असमर्थ रहे और इसका परिणाम यह हुआ कि भारत मे करोडो जुलाहो को अपना काम बद करके खेती की शरण लेनी पडी। भारत का सूती कपडो का प्रधान घरेलू उद्योग चौपट हो गया और करोडो कारीगरो को भूख और बेकारी का शिकार होना पडा।

इस अबाध व्यापार की नीति का दूसरा परिणाम यह हुआ कि भारत से कच्चा माल, विशेषकर रुई, तिलहन और अनाज अधिक परिमाण मे अन्य देशो को जाने लगा। इससे देश मे अनाज की कमी होने लगी और अच्छी फसल के दिनो में भी केवल आधा पेट भोजन पानेवालो की सख्या करोडो तक पहुँच गई। जिस वर्ष फसल खराब होती थी उस वर्ष तो दशा और भी खराब हो जाती थी। इन्ही दिनो देश मे कई अकाल पड़े।
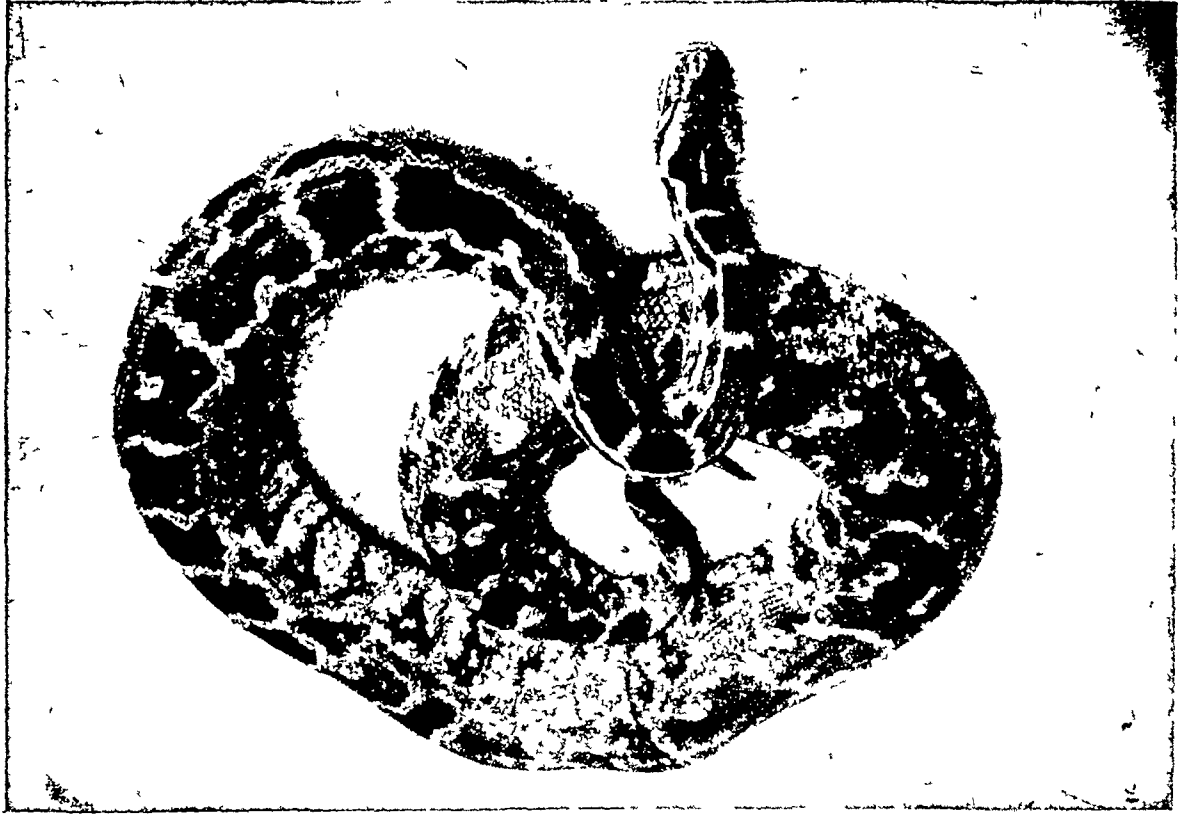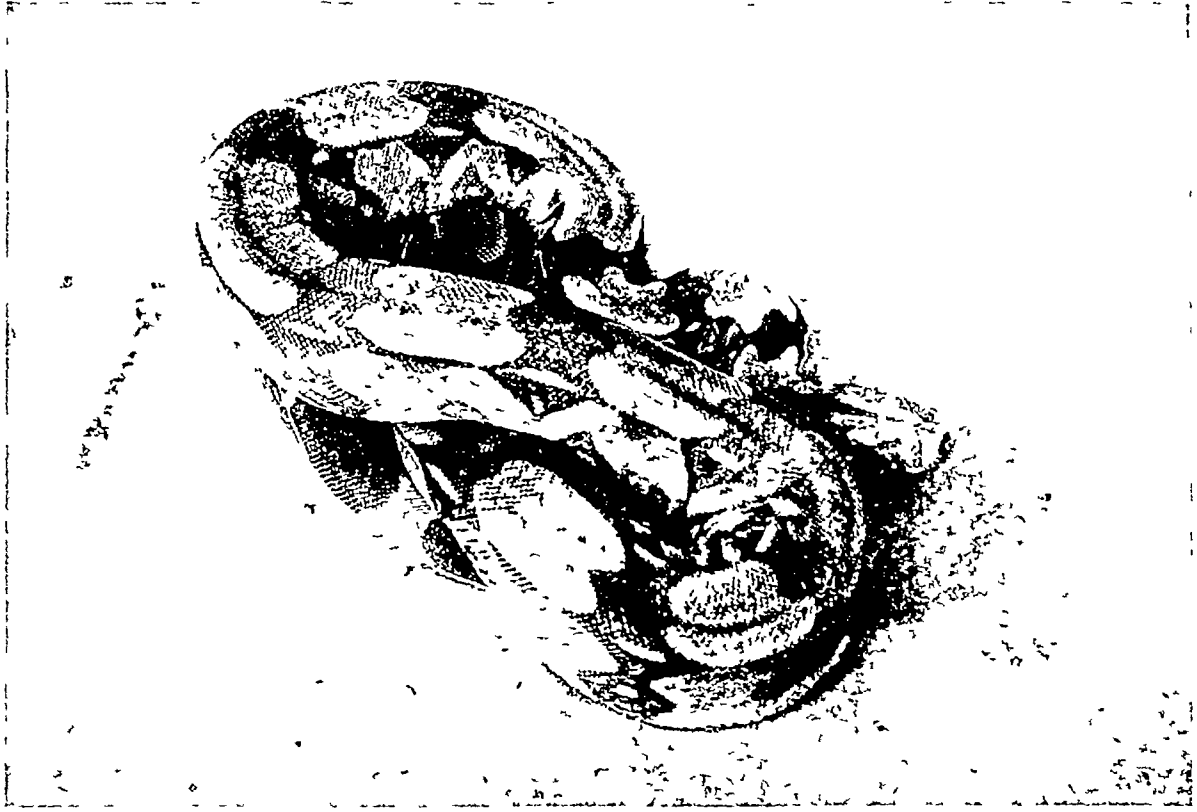
अफ्रीका तथा भारत के अजगर

ऊपर, अफ्रीका का बोआ, नीचे, भारतीय अजगर, देखें पृष्ठ ८४ (दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

भी प्राप्त होते हैं। यहाँ जलविद्युत् की संभावी क्षमता ४०,००,००० अश्व-सामर्थ्य है।

इथिओपियावासी चौथी शताब्दी से ही ईसाई हैं। ये हेमाइट जाति के बताए जाते हैं। गल्ला लोगों में, जो कृषक एवं चरवाहे हैं, कुछ ईसाई तथा कुछ मुसलमान हैं। इनकी जनसंख्या ८५,००,००० है, जो देश की कुल जनसंख्या की दो तिहाई है। इनके अतिरिक्त कुछ सोमाली, डानाकिल तथा हब्शी जातियाँ भी बसी हैं।

यहाँ की मुख्य फसल दुर्रा है, यद्यपि गेहूँ, जौ, मक्का, आलू तथा मिर्च भी होती है। हरार, जिम्मा तथा सीडामो जिलों में उत्कृष्ट कोटि का कहवा उत्पन्न किया जाता है। जंगली कहवा अन्य स्थानों में उपजता है। अन्य फसलों में रुई, ईख, खजूर, केला इत्यादि मुख्य हैं। पशुपालन यहाँ का मुख्य उद्यम है।

ममावा तथा असाब, जो इरिट्रिया के स्वायत्त प्रांत के अंतर्गत हैं, अबिसीनिया के मुख्य बंदरगाह हैं। ये अदिस अबाबा एवं अन्य स्थानों से पक्की सड़कों द्वारा संबद्ध हैं। अदिस अबाबा से एक रेलवे लाइन जिबुटी बंदरगाह को जाती है जो फ्रेंच सोमालीलैंड के अंतर्गत है। [न० कि० प्र० सिं०]

इतिहास—प्राचीन यूनानी कवि होमर के काव्य में अबिसीनिया के निवासियों की चर्चा में लिखा है—"सब देशों से दूर उनका देश है। देवता उनके राजभोजों में सम्मिलित होते हैं और सूर्य संभवत उनके देश में अस्त होता है।" इब्रानी ग्रंथों में उन्हें 'कुश', 'केश' या 'इकोश' कहकर संबोधित किया गया है। अरब ग्रंथों में अबिसीनिया को 'हब्सीनिया' कहा गया है।

अबिसीनिया के उत्तरी प्रदेश इथियोपिया के प्राचीन इतिहास के अनुसार उस देश पर ११वीं शताब्दी ई० पू० तक मिस्री सम्राटों का आधिपत्य था। जब तब विद्रोह करके अबिसीनिया स्वतन्त्र हो जाता था, किन्तु फिर मिस्री सेनाएं आकर उसे वश में कर लेती थीं। ११वीं शताब्दी ई० पू० में अबिसीनिया पूर्ण स्वाधीन हो गया। नपाता नए स्वाधीन राज्य की राजधानी बना। धीरे धीरे नया राज्य इतना शक्तिशाली हो गया कि उसने ८वीं शताब्दी ई० पू० के मध्य स्वयं मिस्र को अपने अधीन कर लिया। मिस्र का पच्चीसवाँ राजकुल अबिसीनिया का इथियोपी राजकुल ही था। इथियोपी राजकुल का जब ६६० ई० पू० में मिस्र से अंत हुआ तब भी अबिसीनिया स्वतन्त्र राज्य बना रहा। ईरानी विजेता कम्बुजीय ने मिस्र विजय करने के बाद अबिसीनिया पर आक्रमण करने के लिए अपना जहाजी बेड़ा भेजा किंतु वह नष्ट कर दिया गया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप राजधानी नपाता से हटाकर मेरो में कर दी गई। २४ ई० पू० में रोमी सेना ने अबिसीनिया पर आक्रमण किया और उसके एक भाग पर अधिकार कर लिया, किन्तु रोमी सम्राट् ओगुस्तस ने रोमी सेना को वापस बुला लिया। इस काल के अबिसीनिया के राजाओं में नेतेकामने और रानियों में कानदेस के नाम प्रमुख हैं। कुछ अबिसीनी परपराओं के अनुसार सम्राज्ञी शेबा अबिसीनिया की ही थी।

भारत और अबिसीनिया का संबंध लगभग ढाई हजार वर्ष पुराना है। कल्याण, धेनुकाकट, सुपारा आदि भारत के पश्चिमी तट के बंदरगाहों से तिजारती जहाज सुपारी, हड़, चावल, वैदूर्य, केसर, अगर, चोया-कस्तूरी, ईगुर, शख और सूती कपड़ा लेकर अबिसीनिया जाते थे। 'कथाकोश' नामक ग्रंथ के अनुसार भारत में कपड़ा रंगने के लिए जिस कृमिराज का प्रयोग होता था वह अबिसीनिया से ही जाता था। एक लेख के अनुसार अबिसीनिया की पर्वतकन्दराओं में दूसरी शताब्दी ई० पू० में सकड़ों दिगम्बर जैन साधु रहा करते थे। ईसा की तीसरी शताब्दी में ईसाई धर्म अबिसीनिया पहुँचा और विगत सोलह सौ वर्षों से वह वहाँ का राजधर्म रहा है। सन् ६१५ ई० में अबिसीनिया के सम्राट् नजाशी ने सैकड़ों मुसलमान अरब शरणार्थियों को अपने देश में आश्रय दिया।

सन् ५२५ ई० में अबिसीनिया के राजा अल असबाहा ने अरब के यमन प्रांत पर अधिकार कर लिया। लगभग ५० वर्षों तक यमन अबिसीनिया के आधिपत्य में रहा। छठी सदी ई० से १८वीं सदी ई० तक अबिसीनिया अनेको छोटी छोटी रियासतों में बँट गया। इन रियासतों की आए दिन की लड़ाइयों ने अबिसीनिया को एक निर्बल राष्ट्र बना दिया। १९वीं शताब्दी में अबिसीनिया को अपने संरक्षण में लेने के लिए यूरोपीय शक्तियों में प्रतिस्पर्द्धा होने लगी। इटली ने सेनाएँ भेजकर अबिसीनिया को अपने अधिकार में लेना चाहा, किंतु अडोवा के मैदान में अबिसीनिया के हाथों इटली की सेनाओं को गहरी हार खाकर पीछे हटना पड़ा। चालीस वर्ष बाद अक्तूबर सन् १९३५ में मुसोलिनी की सेनाओं ने अबिसीनिया पर आक्रमण किया और कई महीनों के युद्ध के बाद मई सन् १९३६ में उसे इटालीय साम्राज्य का अंग बना लिया।

अपने देश की स्वतंत्रता के इस अपहरण पर राष्ट्रसंघ से अपील करते हुए अबिसीनिया के सम्राट् हेल सिलासी के शब्द थे "ईश्वर के राज्य को छोड़कर संसार का कोई राज्य किसी दूसरे राज्य से ऊँचा नहीं। अगर कोई शक्तिशाली राष्ट्र किसी शक्तिहीन देश को सैनिक बल से दबाकर जीवित रह सकता है तो विश्वास मानिए, निर्बल देशों की अंतिम घड़ी आ पहुँची। आप स्वतंत्रता के साथ मेरे देश के इस अपहरण पर अपना निर्णय दें। ईश्वर और इतिहास आपके निर्णय को याद रखेगा।"

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान में अप्रैल, १९४१ में सम्राट् हेल सिलासी ने फिर बन्धनमुक्त अबिसीनिया की राजधानी अदीस में प्रवेश किया। उसके बाद से वैधानिक दृष्टि से अबिसीनिया में अनेको शासन सुधार हुए हैं। जनता को वयस्क मताधिकार प्राप्त है। पालियामेण्ट में 'चैम्बर ऑव डेपुटीज' (लोकसभा) और उच्च सभा ये दो सदन हैं। मन्त्रिमंडल के हाथों में सत्ता है। अबिसीनिया संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में वह पंचशील का समर्थक है।

सं०ग्र०—जे० एच० ब्रेस्टेड ए हिस्ट्री ऑव ईजिप्ट फ्राम दी अर्लिएस्ट टाइम्स टु दी पर्शियन काक्वेस्ट, रिकार्ड्स ऑव ईजिप्ट, ए हिस्ट्री ऑव ईजिप्ट, जी० ए० रीजनर आर्कियालाजिकल सर्वे ऑव नूबिया, ग्रिफिथ एक्सकवेशंस इन नूबिया, ई० सी० लुई हिस्ट्री ऑव सिविलिजेशंस, सर आर्थर वीगल ए हिस्ट्री ऑव दी फैरोआज, ए० वी० विल्ड माडर्न अबिसीनिया (१९०१), सर ई० डब्लू बज ए हिस्ट्री ऑव इथियोपिया, इथियोपियन् दूतावास द्वारा प्रसारित हैंडआउट्स। [वि० ना० पा०]

अबीअथार

(पुरानी पोथी के अनुसार अहीमेलक का बेटा)—नाव का पुरोहित। दोएगा के हत्याकांड में अबीअथार अकेले जान बचाकर भागा। भागकर वह दाऊद के पास गया। दाऊद की खानाबदोशी में और उसके शासनकाल में अबीअथार बराबर उसके साथ रहा। अब्सलोम के विद्रोह के समय वह दाऊद के प्रति वफादार रहा, किंतु सुलेमान के विरुद्ध उसने अदोनीजा का समर्थन किया। इसी अपराध में वह निर्वासित कर दिया गया। जुरुसलम के राजपुरोहित परिवार जादोक का अबीअथार प्रतिस्पर्द्धी प्रतीत होता है। [वि० ना० पा०]

अबीगैल

(पुरानी पोथी में नबाल की पत्नी)—दाऊद की प्रारंभिक पत्नियों में से एक। अबीगैल दाऊद की पत्नी बनने से पूर्व दक्षिणी जूदा में कारमेल के शासक नबाल की पत्नी थी। बाइबिल की पुस्तक 'साम' में दाऊद और अबीगैल के संबंधों की चर्चा आती है। अबीगैल अपने को दाऊद की 'दासी' या सेविका कहा करती थी, इसी कारण १६वीं और १७वीं शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य में अबीगैल शब्द दासी के अर्थों में प्रयुक्त होने लगा था। [वि० ना० पा०]

अबीजाह

(पुरानी पोथी का एक नाम)—बाइबिल के पुराने अहदनामे में अबीजाह नाम के नौ विविध व्यक्तियों का उल्लेख आता है। इनमें प्रमुख हैं

(१) जूदा के राजा रिहोबेस का पुत्र और उत्तराधिकारी (९१८-९१५ ई० पू०) तथा (२) सैमुअल का दूसरा पुत्र। अबीजाह और उसका भाई जोयल दुराचरण के अपराध में बीरशेबा में दंडित हुए थे। [वि० ना० पा०]

अबीमेलख

बाइबिल की पुरानी पोथी में अबीमेलख नाम के दो व्यक्तियों का वर्णन आता है। (१) अबीमेलख दक्षिणी फिलस्तीन में गेदार का राजा और पैगंबर इब्राहीम का मित्र

होटेंटाट शब्द प्राय एकाक्षर होते हैं। तीन वचन (एक, द्वि, वहु) होते हैं। उत्तम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन के सर्वनाम के दो रूप (वाच्यसमावेशक और व्यतिरिक्त) पाए जाते हैं। सुर का भी अस्तित्व है।

वाटू परिवार—ये भाषाएँ प्राय समस्त दक्षिणी अफ्रीका मे, भूमध्यरेखा के नीचे के भागो में बोली जाती हैं। इनके दक्षिण-पश्चिम मे होटेंटाट और बुशमन हैं और उत्तर मे सूडान परिवार की विभिन्न भाषाएँ। इस परिवार में करीब एक सौ पचास भाषाएँ हैं जो तीन (पूर्वी, मध्यवर्ती, पश्चिमी) समूहो में बाँटी जाती हैं। इन भाषाओ में कोई साहित्य नही है। प्रधान भाषाएँ काफिर, जूलू, सेसुतो, कागो और स्वहीली हैं।

वाटू भाषाएँ योगात्मक अश्लिष्ट आकृति की हैं और परस्पर सुसवद्ध हैं। इनका प्रधान लक्षण उपसर्ग जोडकर पद बनाने का है। अत में प्रत्यय जोडकर भी पद बनाए जाते हैं, पर उपसर्ग की अपेक्षा कम। उदाहरण के लिये सप्रदान कारक का अर्थ 'कु' उपसर्ग से निकलता है, यथा कुति (हमको), कुनि (उनको), कुजे (उसको)। बहुवचन–अवतु (बहुत से आदमी), अमुतु (एक आदमी)। वाटू भाषाओ का दूसरा प्रधान लक्षण ध्वनिसामजस्य है। ये भाषाएँ सुनने मे मधुर होती हैं। सभी शब्द स्वरात होते हैं और सयुक्त व्यजनो का अभाव सा है।

सूडान परिवार—ये भाषाएँ भूमध्यरेखा के उत्तर में पश्चिम से पूर्व तक फैली हुई है। इनके उत्तर में हामी परिवार की भाषाएँ हैं। कुल ४३५ भाषाओ में से केवल पाँच छ ही लिपिवद्ध पाई जाती हैं। इनमें वाई, मोम, कनूरी-हाउसा तथा प्यूल मुख्य हैं। नूवी मे चौथी से सातवी सदी ईसवी के कोप्ती लिपि में लिखे लेख मिलते हैं।

इन भाषाओ की आकृति मुख्य रूप से अयोगात्मक है। एकाक्षर धातुओ के अस्तित्व और उपसर्ग तथा प्रत्ययो के नितात अभाव के कारण चीनी भाषाओ की तरह यहाँ भी अर्थ का भेद सुरो पर आधारित है। शब्दो में लिंग नही होता। आवश्यकता पडने पर नर और मादा के बोधक शब्दो द्वारा लिंग दिखाया जाता है। बहुवचन का भाव साफ साफ इन भाषाओ मे नही झलकता। वाक्य अधिकाशत छोटे छोटे, एक सज्ञा और एक क्रिया के होते हैं। सूडानी भाषाओ मे एक तरह के मुहावरे होते हैं जिन्हे ध्वनिचित्र, शब्दचित्र या वर्णनात्मक क्रियाविशेषण कह सकते हैं, जैसे, ईव भाषा मे 'जो' धातु का अर्थ चलना होता है और इससे कई दर्जन मुहावरे बनते है जिनका अर्थ सीधे चलना, जल्दी जल्दी चलना, छोटे छोटे कदम रखकर चलना, लबे आदमी की चाल चलना, चूहे आदि छोटे जानवरो की तरह चलना, इत्यादि अर्थ प्रकट होते हैं।

सूडान परिवार में चार समूह हैं—सेनेगल भाषाएँ, ईव भाषाएँ, मध्य अफ्रीका समूह और नील नदी के ऊपरी हिस्से की वोलियाँ।

सूडान और वाटू दोनो परिवारो मे कुछ समान लक्षण पाए जाते हैं। दोनो मे सज्ञाओ को विभिन्न गणो में विभक्त करते हैं। इस विभाग के अभाव मे सज्ञा और क्रिया का भेद केवल वाक्य में शब्द के स्थान से ही प्रकट होता है। सुर भी दोनो मे प्राय मिलते हैं।

सामी-हामी-परिवार—हामी भाग की भाषाएँ समस्त उत्तरी अफ्रीका में फैली हुई हैं और इनको बोलनेवाली कुछ जातियाँ दक्षिण और मध्यवर्ती अफ्रीका में घुसती चली गई हैं। सामी भाग की भाषाएँ मुख्य रूप से एशिया में बोली जाती हैं पर उनकी प्रधान भाषा अरवी ने सारे उत्तरी अफ्रीका मे भी घर कर लिया है। पश्चिम मे मोरक्को से लेकर पूरब मे स्वेज तक तथा समस्त मिस्र मे यही शासन तथा साहित्य की मुख्य भाषा है। अल्जीरिया और मोरक्को की राजभाषा अरबी है ही। हब्शी राजभाषा सामी है।

सामी-हामी-परिवार के हामी भाग के पाँच मुख्य लक्षण हैं —(१) पद बनाने के लिये सज्ञाओ मे उपसर्ग और क्रियाओ में प्रत्यय लगाए जाते हैं, (२) क्रिया के काल का बोध उतना नही होता जितना क्रिया के पूर्ण हो जाने या अपूर्ण रहने का, (३) लिंगभेद पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर अवलवित न होकर आधार पर है। वडे और शक्तिशाली जीव और पदार्थ (तलवार, वडी मोटी घास, वडी चट्टान, हाथी चाहे नर हो या मादा, आदि के बोधक शब्द) स्त्रीलिंग में होते हैं, (४) हामी की केवल एक भाषा (नामा) मे द्विवचन मिलता है, अन्यो मे नही। बहुवचन बनाने के कई ढग हैं। अनाज, वालू, घास आदि छोटी चीजो को समूहस्वरूप बहुवचन मे ही रखा जाता है और यदि एकत्व का विचार करना होता है तो प्रत्यय जुडता है जैसे लिस् (बहुत से आँसू), लिस (एक आँसू), विल् (पतिंगे), विल (एक पतिगा), (५) हामी भाषाओ का एक विचित्र लक्षण बहुवचन मे लिंगभेद कर देना है। इस नियम को ध्रुवाभिमुख कहते हैं। जैसे सोमाली भाषा मे लिबि हिद्दू (शेर पु०), लिविहह्योदि (बहुत से शेर, स्त्री०), होयोदि (मा, स्त्री०) (होयो इकि) (माताएँ, पु०)। बहुत से शेर स्त्रीलिंग में और बहुतसी माताएँ पुल्लिंग मे हैं।

हामी भाषाओ मे विभक्तिसूचक प्रत्यय नही पाए जाते। ये भाषाएँ परस्पर काफी भिन्न हैं पर सर्वनाम–त् प्रत्ययात स्त्रीलिंग आदि एकतासूचक लक्षण हैं। हामी की मुख्य प्राचीन भाषाएँ मिस्री और कोप्ती थी। मिस्री भाषा के लेख छ हजार वर्ष पूर्व तक के मिलते हैं। इसके दो रूप थे–एक धर्मग्रथो का और दूसरा जनसाधारण का। जनसाधारण की मिस्री की ही एक भाषा कोप्ती है जिसके ईसवी दूसरी सदी से आठवी सदी तक के ग्रथ मिलते हैं। यह १६वी सदी तक की बोलचाल की भाषा थी। वर्तमान भाषाओ मे हब्श देश की खमीर, पूर्वी अफ्रीका के कुशी समूह की, सोमालीलैंड की सोमाली और लीबिया की लीवी (या बबर) प्रसिद्ध हैं। वर्तमान काल की मिस्री भाषा गठन मे बहुत सरल और सीधी है। उसकी धातुएँ (मूल शब्द) कुछ एकाक्षर हैं और कुछ अनेकाक्षर।

स०ग्र०—मेइए (Meillet) ले लाग दु माद (पेरिस), बाबूराम सक्सेना सामान्य भाषाविज्ञान (प्रयाग)। [बा० रा० स०]

अफ्रीदी पठानो की एक महाशक्तिशाली जाति जो उत्तरी-पश्चिमी सीमात प्रदेश (पश्चिमी पाकिस्तान) मे सफेद कोहकी पूर्वी ढालपर रहती है। अफ्रीदी जाति की उत्पत्ति अज्ञात है। ये लोग अपने उपद्रवो के लिये कुख्यात हैं। इनका केंद्र समुद्रतल से ६,००० से ७,००० फुट तक की ऊँचाई पर स्थित एक ऊँचा प्रदेश 'तिराह' है, जिसके दक्षिणी भाग मे ओरकजाई लोग रहते हैं। लगभग १५वी शताब्दी में अफ्रीदियो ने तिराहियो को भगा दिया, परतु थोडे ही समय मे विजित प्रदेश के अधिक भूभाग पर पडोसियो ने अधिकार जमा लिया। आगे चलकर जहाँगीर के शासनकाल मे ओरकजाइयो से तिराह का अर्धभाग अफ्रीदियो ने फिर ले लिया। अकवर के काल में इनमे से बहुत से लोग मुगल सेना मे भरती हो गए। ब्रिटिश शासनकाल मे खैबर से गुजरनेवाले व्यापारिक काफिलो की रक्षा के लिये इस जाति के लोग नियुक्त किए गए, परतु आतरिक कलह के कारण सुरक्षा नही स्थापित हो सकी। १८९७ मे उन अफ्रीदियो ने जो ब्रिटिश खैबर सेना मे भरती हो गए थे शेष अफ्रीदियो के आक्रमण का सामना किया और लदी कोतल की अत्यत वीरतापूर्वक रक्षा की, परतु अत मे उन्हें आत्मसमर्पण करना पडा। तब अग्रेजो ने एक वडी सेना भेजकर सब आक्रमणकारियों को दड दिया और शाति स्थापित की।

अफ्रीदी अत्यत स्वतत्रताप्रिय है। इसलिये इनके गोत्रस्वामी का अधिकार भी बहुत कम होता है। यद्यपि ये बहुत वीर तथा पुष्ट होते हैं, तथापि यह जाति अपनी निर्दयता तथा अविश्वास के लिये कुख्यात है। अग्रेजो के समय मे भारतीय सेना में इनका बहुत वडा सहयोग था।

[न० ला०]

अबगर मेसोपोतामिया के राजाओ का एक वश जिसने ईसा के एक सदी पहले से एक सदी बाद तक एदेस्सा को राजधानी बनाकर ओस्रोईन मे राज किया था। प्राचीन ईसाई परपरा की किंवदती है कि अबगर पचम उक्कामा ने कुष्ठ से पीडित होने पर उससे रक्षा के लिये ईसा से पत्रव्यवहार किया था। कहते हैं कि ईसा ने स्वय वहाँ न जाकर अपने शिष्य जूदास को भेजा था। अबगरराज ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था। प्रोटेस्टेट लोग तो इस कथा की सत्यता मे सदेह करते ही हैं, रोमन कैथोलिक विद्वानो में भी इस सबध मे मतभेद है। सभवत ईसाई धर्म के प्रचार के लिये यह किंवदती गढ ली गई थी। अबगर राजाओ के नगण्य राजवश का महत्व अधिकतर इसी किंवदती के कारण है।

[ओ० ना० उ०]

अबुल फज़्ल का फारसी गद्य पर पूरा अधिकार था। उनकी शैली यद्यपि अत्यधिक अलकृत है, फिर भी उनकी अपनी है।

सं०ग्रं०—आईन-ए-अकबरी इशा-ए-अबुल फज़्ल (III), तबकात-ए-अकबरीनिजामुद्दीन (जिल्द, २, पृ० ४५८), मुतखाव-उल्-तवारीख (वदायुनी-जिल्द २, पृ० १७३, १९८–२०० आदि), म-आसेरुल-उमरा (जिल्द २, पृ० ६०८-२२), दरवार-ए-अकबरी, मुहम्मद हुसैन आजाद (लाहौर, १९१०, उर्दू, पृ० ४६३-५०८), ए हिस्ट्री ऑव परसियन लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर ऐट द मुगल कोर्ट (अकवर पर लिखा गया भाग) एम० ए० गनी (इलाहाबाद, १९३०, पृ० २३०-२४६)। [यू० हु० खाँ]

अबुल् फर्ज अली अल्इस्फहानी

यद्यपि अबुल् फर्ज अली का जन्म इस्फहान (ईरान) मे हुआ था, पर वह वास्तव मे अरब था और कुरेश कबीला से सबधित था। आरभिक अवस्था मे यह इस्फहान से बगदाद चला गया और वहाँ रहकर अरबी विद्याओ, विषयो तथा ज्ञान-विज्ञान मे योग्यता प्राप्त की। इसने हलव तथा अन्य ईरानी नगरो की यात्रा भी की। अपनी अवस्था का अतिम भाग इसने खलीफा मुइज्जुद्दौला के मत्री अल्मुहल्लवी के आश्रय मे व्यतीत किया।

इसकी रचनाओ मे सबसे अधिक प्रसिद्ध तथा जनप्रिय ग्रथ 'किताबुल एगानी' है। इसमे लेखक के समय तक की वह कुल अरबी कविताएँ सगृहीत की गई है, जिन्हे गेय रूप मे ढाल दिया गया है। लेखक ने इन सब कवियो तथा गीतिकारो का जीवन-परिचय भी इस ग्रथ मे सकलित किया है, जिन्होने यह कार्य पूरा किया था। इसके साथ ही विस्तृत ऐतिहासिक बातो तथा आकर्षक घटनाओ का वर्णन दिया है जिससे यह ग्रथ इस्लामी ज्ञान विज्ञान का नादिर तथा बहुमूल्य कोष बन गया है। 'किताबुल् एगानी' बीस जिल्दो मे मिस्र से प्रकाशित हो चुका है। इस विशद ग्रथ का सक्षिप्त सस्करण 'रन्नातुल् मसालिस व अल्मसानी' है, जिसे अतून सालिहानी अलीसवी ने टिप्पणियो के साथ बेरूत से प्रकाशित किया है। [आर० आर० शे०]

इसका समय सन् २८४ हि० से सन् ३४६ हि० (सन् ८९७ ई० से सन् ९६७ ई०) तक है।

अबुल फ़िदा

सीरिया के प्रसिद्ध इतिहासकार तथा भूगोलवेत्ता, जन्म दमिश्क, नवबर, १२७३। अबुल फिदा का सबध अय्युबिद शासक परिवार से है। उन्होने अपने चाचा हामा के शाहजादे मलिक मसूर के अनुशासन मे रहकर हमलावरो के खिलाफ हुए युद्ध मे मुख्य भाग लिया। सन् १२९९ ई० मे अपने नि सतान भतीजे, महमूद द्वितीय के मरने के बाद अबुल फिदा को आशा थी कि वे हामा के राज्यप्रमुख पद के अधिकारी होगे, किंतु उन्हे निराश होना पडा और यह पद साकर नामक एक अमीर को दिया गया। अबुल फिदा ने मामलुक सुल्तानो के यहाँ नौकरी कर ली। अपनी नौकरी के बारह वर्षो के बाद १४ अक्तूबर, १३१० ई० को वे हामा के जागीरदार हो गए। दो साल बाद उनका सामत पद प्रादेशिक शासक के जीवन मे बदल गया। सन् १३१९ ई० मे उन्होने सुल्तान मुहम्मद के साथ हज की तीर्थयात्रा की। पुन काहिरा लौटने पर सुल्तान ने अबुल फिदा को **अल-मलिक अल मुअय्यिद** की उपाधि दी और सुल्तान पद के सिरोपा से भूषित किया। इस प्रतिष्ठा के अतिरिक्त उन्हे सीरिया के सभी गवर्नरो की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया। २७ अक्तूबर, १३३१ ई० को उनकी मृत्यु हो गई।

अबुल फिदा साहित्यिक रुचि और परिष्कृत विचारोवाले शाहजादा थे। उन्होने अनेक विद्वानो तथा साहित्यकारो का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया, धार्मिक और साहित्यिक विषयो पर गद्य और पद्य मे कई पुस्तके लिखी, किंतु लगभग सभी रचनाएँ नष्ट हो गई। केवल दो पुस्तके ही, जो इतिहास और भूगोल पर लिखी गई है, प्राप्त है जिनपर उनकी ख्याति आधारित है। **मुख्तसर तारीख-इल-बशर** (मानव का सक्षिप्त इतिहास) एक सार्वभौम इतिहास है जिसमे सन् १३२९ ई० तक का वर्णन है। इसका प्रारभिक भाग मुख्यत इब्नी असीर की कृति पर आधारित है। इसका प्रकाशन १८६९ ई० मे हुआ।

तकवीम-इल-बुलदान गणित और भौतिक आँकडो से युक्त एक वर्णनात्मक भूगोल है जिसका अबुल फिदा के बाद के लेखको ने पर्याप्त मात्रा मे अनुसरण किया। इसका सपादन जे० टी० रीनान्द और मकगुकिन द स्लेन ने किया और १८४० ई० मे यह पेरिस से प्रकाशित हुआ।

सं०ग्रं०—अबुल फिदा के ग्रथो मे आए हुए आत्मचरितात्मक उद्धरणो के अतिरिक्त निम्नलिखित पुस्तको से उनके विषय मे सूचनाएँ मिलती है :

कुतुबी फवात (कैरो, १९५१) भाग १, पृ० ७०, अलदुहार अलनमीना, इब्न जजर अस्कलानी (हैदराबाद, १९२९), भाग १, पृ० ३७१–३७३, तवाकत-उश-शफीयह सुबकी, भाग ६, पृ० ८४-८५, इट्रोडक्शन टु दि हिस्ट्री ऑव साइस, जी सार्टन (बाल्टीमोर, १९४७) भाग ३, पृ० २००, ३०८, ७९३-९। [यू० हु० खाँ]

अबुल फ़ैज़, फ़ैज़ी या फ़ैयाज़ी

सन् १५४७ मे आगरे मे जन्म। अबुल फज़्ल के बडे भाई और अकबरी दरबार के कविसम्राट्। वे कम उम्र मे ही अरबी साहित्य, काव्य और ओषधियो की जानकारी के कारण मशहूर हो गए थे। २० वर्ष की आयु मे ही उनकी काव्यरचना की ख्याति अकबर के कानो मे पडी और तभी उन्हे अकबर के दरबारी कवियो मे स्थान मिल गया। ३० वर्ष की आयु मे वे **मलिक-उश-शुअरा** (कविसम्राट्) के पद पर नियुक्त हुए। अपने भाई अबुल फज़्ल के ही समान वे स्वतत्र विचारक थे और उन्होने अकबर के धार्मिक विचारो और नीतियो का समर्थन किया। सन् १५७९ ई० मे उन्होने अकबर के लिये पद्यात्मक खुतबा तैयार किया। उसी साल अकबर के द्वितीय पुत्र मुराद के शिक्षक के पद पर उनकी नियुक्ति हुई। **अकबरनामा** मे उद्धृत पद्यो मे उन्होने अपन को तीनो शाहजादो का शिक्षक बतलाया है। जब १५८० ई० मे सम्राट् अकबर काश्मीर गए तब अपने साथ फैज़ी को भी लेते गए थे। १५९१ ई० मे सम्राट् ने दकन के राज्यो के लिये 'मिशन' भेजने का निश्चय किया। फैजी बुरहानपुर के राजदूत चुने गए। १५ अक्टूबर, १५९५ ई० को आगरे मे उनकी मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु के बाद उनकी पुस्तको का महत्वपूर्ण सग्रह जो ४,६०० भागो में है, राजकीय पुस्तकालय मे भेज दिया गया। इस सग्रह मे दर्शन, सगीत, ज्योतिष, गणित, कविता, ओषधि, इतिहास, धर्म आदि अनेक विषयो पर लिखी गई रचनाएँ है।

फैजी को अमीर खुसरो के बाद द्वितीय महान् भारत-ईरानी कवि माना जाता है। शाह अब्बास के दरबारी कवियो ने भी उनकी उत्कृष्ट काव्यरचना, उदात्त विचारो, और अधिकारपूर्ण लेखनशैली की प्रशसा की है। वदायूनी का कथन है कि काव्य, पहेली, छदशास्त्र, इतिहास, भाषाविज्ञान और ओषधियो के विषय मे फैजी अपने समय मे अद्वितीय थे। अरबी और फारसी के अतिरिक्त वे सस्कृत के भी अगाध पडित थे।

वदायूनी और बख्तावर खाँ (मिरत-उल-आलव) के अनुसार फैजी की १०१ रचनाएँ है। कहा जाता है कि उन्होने ५०,००० कविताएँ लिखी है। उनकी अनेक रचनाएँ अप्राप्य है। महत्वपूर्ण पुस्तको मे निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय है (१) **सवती-उल-इहाम** अरबी मे लिखित कुरान की टीका (मुद्रित)। (२) **नल-दमन** नल-दमयती की प्रेमकथा (मुद्रित)। (३) **लीलावती**, अकगणित की एक सस्कृत रचना का फारसी अनुवाद (मुद्रित)। (४) **मरकाज-ए-अदवार**, निजाम लिखित **मखजन-उल-असरार** के अनुकरण पर एक **मसनवी** (मुद्रित)। (५) **जफर-नामा-ए-अहमदाबाद**, अकबर की अहमदाबाद विजय पर एक मसनवी (ब्रिटिश म्यूजियम मे रखी हस्तलिखित प्रति)। (६) **शरीक-उल-मरीफत;** सस्कृत ग्रथो के आधार पर वेदात दर्शन पर एक समीक्षा (इडिया आफिस कैटलॉग, १९५७, हस्तलिखित प्रति)। (७) **महाभारत** के द्वितीय पर्व का अनुवाद, (इडिया ऑफिस कैटलॉग, न० २९२२)। (८) **लतीफ-ए फैयाजी** सम्राट्, फैयाजी के रिश्तेदारो, समसामयिक विद्वानो, सतो, वैद्यो आदि को लिखे गए फैयाज़ी के पत्रो का सग्रह, फैयाजी के भतीजे नूरुद्दीन मुहम्मद द्वारा सपादित (इडिया आफिस, अलीगढ, रामपुर तथा अन्य पुस्तकालयो में प्राप्य हस्तलिखित प्रतियाँ)।

सं०ग्र०—आईन-ए-अकबरी, पृ० २३५-२४२, मुतखाव-उल्-तवारीख, भाग २, पृ० ४०५-६, मआसिर-उल्-उमरा, भाग २, पृ०

जाता है, और इसीलिये मनुष्य अपने कर्मों के लिये उत्तरदायी रहता है। [illegible] भौतिकवादी थे, फिर भी किसी निश्चनियतवाद में विश्वास न करने के कारण [illegible] स्वातंत्र्य के समर्थक थे। [illegible] का विचार था कि यांत्रिकवाद आदि में स्वातंत्र्य [illegible] परंतु [illegible] मनुष्य जाति के लिये उत्तम प्रभावशाली हो गया, [illegible] में आत्मा के अन्तर्गत [illegible] आते हैं। पर [illegible] ने ईश्वर की सर्वज्ञता को स्वीकार करते हुए भी मनुष्य के [illegible] में आत्मनिर्धारण की पूर्ण शक्ति मानी है। [illegible] भौतिकवादी तथा पूर्ण नियतिवादी था। उसने मानसिक अवस्थाओं को मस्तिष्क के अणुओं की सूक्ष्म गतियाँ कहा और मनुष्य के कर्म को उन्हीं के और बाह्य भौतिक कारणों द्वारा निर्धारित बताया। देकार्त बुद्धिवादी था। उसने [illegible] में आत्मनिर्धारण का पूर्ण स्वातंत्र्य और ज्ञान एवं [illegible] को भी मनुष्य द्वारा ही निर्धारण माना। स्पिनोज़ा ने बौद्धिक नियतिवाद का प्रतिपादन किया। उसने कहा कि मनुष्य का कर्म अधिकांश उसके स्वभाव एवं चरित्र द्वारा निर्धारित होता है। इस आंतरिक बाध्यता का अर्थ है कि वह स्वयंनिर्धारित अर्थात् स्वतंत्र है। अनुभववादी लॉक ने [illegible] का अनुभवातीत तत्त्व स्वीकार नहीं किया, परंतु मनुष्य को स्वतंत्र माना। काँट [illegible] स्वातंत्र्य का मुख्य पाश्चात्य प्रतिपादक समझा जाता है। उसके [illegible] तो नीति का आवश्यक आधार रहा है। उसकी दृष्टि से मनुष्य [illegible] आभासरूप प्रकृति का अंग है, और इस नाते प्राकृतिक नियमों की स्थिति के अधीन है। परंतु अंशत वह सत्य मूलजगत् का अंग भी है, और इसलिये वह अपनी अंतरात्मा से निकले हुए निरपेक्ष आदेशों के पालन में सदा ही स्वतंत्र है। चेतनावादी ग्रीन ने भी प्रकृति के ज्ञान के लिये उससे ऊपर एक नियममुक्त स्वतंत्र ज्ञाता का होना आवश्यक माना है। फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसाँ के मत के अनुसार आत्मा का बाह्य, व्यावहारिक, देशात्मक तथा सामाजिक रूप प्रकृतिबद्ध लगता है, परंतु इसका वास्तविक आंतरिक स्वरूप गहन अंतर्दर्शन से अनुभूति में आ सकता है। आत्मा के इस वास्तविक स्वरूप का लक्षण जीवन, परिवर्तन, अमाप्यता, अंत प्रवेश, [illegible], सृजनात्मक सक्रियता एवं स्वातंत्र्य है। जर्मन दार्शनिक [illegible] ने यही अनुभूति महान् आदर्शों के पालन द्वारा भी प्राप्य मानी है।

नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र की कई विचारधाराओं ने भी मनुष्य-स्वातंत्र्य में विश्वास की माँग की है, क्योंकि यदि मनुष्य स्वतंत्र नहीं है तो वह अपने अपराधों के लिये उत्तरदायी नहीं कहा जा सकता। फिर अपराध [illegible] को अपराधी कैसे ठहराया जाय और दंड कैसे दिया जाय? स्वातंत्र्य में विश्वास के बिना कर्तव्याकर्तव्य, धर्माधर्म, शुद्धि, सुधार, [illegible], प्रगति, उत्थान, साधना सबका विवेचन अर्थहीन हो जाता है। यदि सभी कुछ [illegible] नियमबद्ध है तो जो होना है, वही होगा, क्या [illegible] प्रश्न ही नहीं रह जाता और मनुष्य के भाग्य में प्रकृति का दासत्व ही रह जाता है।

[illegible] विज्ञान पर आधारित आधिभौतिकवाद और प्रकृतिवाद सिद्धांत की दृष्टि से नियतिवादी हैं। इस नियतिवाद के अनुसार मनुष्य, उसकी इच्छाएँ और उसके संकल्प सभी प्रकृति के नियमों द्वारा पूर्वनिश्चित होते हैं। परंतु व्यवहार में प्रकृतिवादी भी प्रबल पुरुषार्थवादी अर्थात् स्वातंत्र्यवादी हुआ करते हैं। सिद्धांत की दृष्टि से भी देखा जाय तो प्रकृतिवाद [illegible] अनुभववाद है, और मानव अनुभव मनुष्य के संकल्प के स्वातंत्र्य का साक्षी है। मनुष्य बाह्य परिस्थितियों का नियंत्रण कर पाए चाहे न कर पाए, परंतु उसका अंत करण उस मनोवैज्ञानिक अनुभवसत्य का साक्षी है कि वह अपने संकल्पों और [illegible] में, पाप पुण्य, धर्म अधर्म में, पूर्णतया स्वतंत्र है। यही नहीं, अनुभव तो सभी जीवों में और कदाचित् जड़ प्रकृति में भी कुछ स्वच्छंदता एवं स्वातंत्र्य का प्रमाण पाता है, और आज प्राकृतिक विज्ञान ने इन प्रमाणों को मान्यता प्रदान की है। विचार करने पर यह भी स्पष्ट [illegible] कि विज्ञान, नियतिवाद और प्रकृतिवाद स्वयं मानव के स्वतंत्र बौद्धिक प्रयास की उपज हैं। पूर्णतया नियमबद्ध प्रकृति में तो मनुष्य अपने अनुभवों के आधार पर अपने निष्कर्ष निकालने में स्वतंत्र न होगा। फिर विज्ञान [illegible] का दावा कैसे [illegible] होगा? यह भी व्यक्तियों का [illegible] रह जायगा।

फिर भी पूर्ण स्वातंत्र्यवाद ठीक नहीं हो सकता। उसका तो अर्थ यह होगा कि व्यक्ति का पूर्व इतिहास कुछ भी हो, वर्तमान स्वभाव एवं चरित्र कैसा भी हो, वह हर समय संभव मार्गों में से किसी को भी अपना लेने में सर्वथा स्वतंत्र है। उस मत के अनुसार तो जीवन में कोई तारतम्य नहीं रह जाता। संचित अनुभव और प्राप्त शिक्षाएँ महत्वहीन हो जाती हैं। वंशानुक्रम भी प्रभावहीन हो जाता है। जीवन जादू का पिटारा सा बन जाता है जिसमें कोई जब चाहे, जो कुछ चाहे, निकाल दिखाए, नियमों की कोई सत्ता नहीं रहती, विज्ञान असंभव हो जाता है।

इसलिये आधुनिक विद्वान् मुख्य प्राचीन विचारधाराओं का पदानुसरण करते हुए मनुष्य को अंशत स्वतंत्र और अंशत बाध्य मानते हैं। जहाँ तक मनुष्य अपने सामने कई मार्ग देख पाता है, वहाँ तक उनमें से कोई एक चुन लेने में वह पूर्णत स्वतंत्र है। यह बात दूसरी है कि किसी एक परिस्थिति में कोई व्यक्ति अपने लिये अधिक संभावनाएँ देख पाता है और कोई कम। यह व्यक्तिगत अंतर अवश्य ही उनके बाह्य और आंतरिक पूर्व और वर्तमान से नियत होते हैं। यही नहीं, इस पूर्ण संकल्प-स्वतंत्रता के उपयोग में व्यक्ति अपने वश के बाहर की सभी परिस्थितियों से कुछ न कुछ अवश्य प्रभावित होता है। वास्तव में कोई व्यक्ति उसी कार्य के लिए उत्तरदायी हो सकता है जो उसका अपना हो, अर्थात् जो उसके चरित्र, स्वभाव अथवा व्यक्तित्व से निस्सरित हुआ हो। उत्तरदायित्व के लिये जिस स्वातंत्र्य की आवश्यकता है वह यही आत्मनिर्धारण है। इस दृष्टि से मनुष्य वास्तव में अपने कर्मों का स्वतंत्र कर्ता ही है।

सं०ग्रं०—ऋग्वेद, उपनिषद् ग्रंथ, श्रीमद्भगवद्गीता, योगवासिष्ठ, पातंजल योगसूत्र, सांख्यकारिका, जैमिनी मीमांसासूत्र, वेदांतसूत्र, शांकर भाष्य, महाभारत, धम्मपद, महापरिनिब्बान सुत्तंत, प्लेटो रिपब्लिक, अरस्तू एथिक्स, जेलर स्टोइक्स, एपीक्योरियस ऐंड स्केप्टिक्स, सैकयोन सेलेक्शंस फ्राम मेडीवल फिलॉसफर्स, उसेकार्त्स् मेडिटेशंस, लॉक एसे ऑन दि ह्यूमन अंडरस्टैंडिंग, स्पिनोज़ा एथिक्स, हॉब्स् लेवियायन, कांट क्रिटिक ऑव प्रैक्टिकल रीज़न, ग्रीन प्रोलेगोमेना टु एथिक्स, बर्गसाँ टाइम ऐंड फ्री विल, यूकेन प्रेसेंट डे एथिक्स इन देयर रिलेशन टु दि स्पिरिचुअल लाइफ, बन दि इमोशंस ऐंड दि विल, टर्नर, विश ऐंड विल, क्रोचे फिलॉसफी ऑव दी प्रैक्टिकल, मोली फ्रीविल ऐंड डिटरमिनिज़्म, पिलर दि बेसिस ऑव फ्रीडम, पेरन, दि गुडविल, लॉस्की फ्रीडम ऑव दि विल, वर्दमेव फ्रीडम ऐंड दि स्पिरिट। [रा० लु०]

अबाध व्यापार (फ्री ट्रेड)

इसका सरल अर्थ है किसी देश के अंदर या किन्हीं दो देशों के बीच बिना किसी बाधा के या बेरोक-टोक वस्तुओं का क्रय-विक्रय। अबाध व्यापार की इस नीति में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखा जाता। इसलिये न तो विदेशी वस्तुओं के आयात पर विशेष कर लगाए जाते हैं और न स्वदेशी उद्योग को कोई विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि अबाध व्यापार के अंतर्गत वस्तुओं पर किसी प्रकार के कर ही नहीं लगाए जाते, किंतु जो भी कर लगाए जाते हैं वे केवल सरकारी आय के लिए ही होते हैं, किसी उद्योग को संरक्षण देने के लिये नहीं। जब किसी विशेष लाभ के हेतु कोई दो राष्ट्र परस्पर व्यापार करना प्रारंभ करते हैं तो उनके स्वतंत्र व्यापारिक आदान प्रदान में किसी प्रकार का हस्तक्षेप उनको उस लाभ से वंचित कर देता है। व्यापार में वस्तुओं का अदल बदल होता है और उस अदल बदल में लेता तथा विक्रेता दोनों को लाभ होता है। जैसे जैसे व्यापार की मात्रा बढ़ती जाती है वैसे वैसे लाभ भी बढ़ता जाता है।

देशी व्यापार में सबसे बड़ी बाधा यातायात की असुविधा है। पहाड़ी क्षेत्रों में, सड़कों के अभाव से और ग्रामीण क्षेत्रों में पक्की सड़कें बहुत कम होने के कारण व्यापार बहुत नहीं बढ़ पाता। यह बाधा सरकार के प्रयत्नों द्वारा ही दूर होती है तथा संसार का प्रत्येक देश अपने देशी व्यापार को बढ़ाने के लिये उचित सड़कों का प्रबंध करता है।

विदेशी व्यापार अधिकांश में समुद्री जहाजों द्वारा ही होता है। बड़े बड़े जहाजों को चलाने में जब से भाप के इंजनों का उपयोग होने लगा है,

बडे पौने दो दो सौ फुट लबे चौडे हाल हैं जिनमे ठोस चट्टानो से ही काटकर अनेक मूर्तियाँ बना दी गई हैं। उनमें राजा की कीर्ति और विजयो की वार्ताएँ दृश्यों में खोदकर प्रस्तुत की गई है। अबू सिंबेल के ये मदिर ससार के प्राचीन मदिरो में असाधारण महत्व के हैं। [ओ० ना० उ०]

अबू हनीफा अननुमान

(६९९-७७६ ई०) अबू हनीफा अननुमान (सादित के बेटे) सुन्नी न्यायशास्त्र (फिक) की प्रारभिक चार पद्धतियो—हनफी, मालिकी, शाफई और हबली—मे से हनफी के प्रवर्तक, इमामे-आजम के नाम से प्रसिद्ध थे। हनफी न्यायपद्धति लगभग सभी अरबेतर सुन्नी मुसलमानो मे प्रचलित है।

इमाम के पितामह दास के रूप मे ईरान से कूफा लाए गए और वे वहाँ स्वतत्र कर दिए गए। इमाम के पिता कपडे के प्रसिद्ध व्यापारी थे और इमाम ने अपने जीवन को पठन-पाठन में व्यतीत करते हुए पिता के पेशे को ही अपनाया। वे हम्माद के शिष्य थे। ७३८ ई० मे हम्माद की मृत्यु के बाद उनके पद पर आसीन हुए और शीघ्र ही मुसलमानी न्यायशास्त्र के सबसे महान् पडित के रूप में विख्यात हुए। उनके शिष्य दूर दूर तक मुस्लिम जगत् मे फैले और न्याय के चोटी के पदो पर नियुक्त हुए। इमाम की मृत्यु पर ५०,००० से भी अधिक शिष्य आखिरी नमाज मे समिलित हुए।

अबू हनीफा की महत्ता उन सिद्धातो और प्रणालियो मे परिलक्षित होती है जिनको स्वीकार करके उन्होने एक ऐसी न्यायपद्धति की व्यवस्था की जिसमें धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष दोनो ही प्रकार के सार्वभौम मुसलमानी नियमो का समावेश था। उनकी पद्धति मक्का तथा मदीना की रूढिवादी पद्धति (रवायात) से भिन्न थी। जहाँ कुरान या पैंगबर का मत (हदीस) स्पष्ट था, इमाम ने उसे स्वीकार किया, और जहाँ वह स्पष्ट नही था, वे साम्य (कयास) स्थापित करते थे। किंतु यदि हदीस अप्रामाणिक, अशक्त या अविश्वसनीय हो तो युक्ति पर भरोसा करने की उन्होने सलाह दी। इमाम ने धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष मामलो को पृथक्पृथक् कर दिया। धर्मनिरपेक्ष मामलो में पैंगबर के मत को न माना। पैंगबर ने कहा था कि "यदि मैं धार्मिक मामलो में आज्ञा दूँ तो मानो, किंतु यदि मैं और मामलो मे आज्ञा दूँ तो मै भी तुम्हारी ही तरह मात्र मनुष्य हूँ"। अबू हनीफा ने कोई किताब नही लिखी, किंतु लगभग ३० वर्षो तक अनुयायियों के साथ किए न्याय के आधार पर उनके १२,९०,००० कानूनी नियमो का सकलन उपलब्ध है। मूल ग्रथ लुप्त हो चुका है, किंतु उसके आधार पर इमाम के शिष्यो द्वारा लिखी गई पुस्तके हनीफा न्यायपद्धति के आधार हैं। खेद की बात है कि इमाम के अनुयायियो ने उनके इस प्रमुख सिद्धात की अवज्ञा की और कानून को देश तथा काल के अनुकूल ढालने का उनका कलाम न माना। अबू हनीफा को दो बार काजी का पद अस्वीकार करने के अपराध मे कारावास का दड दिया गया। पहली बार कूफा के शासक यजीद द्वारा और दूसरी बार खलीफा मसूर द्वारा। आध्यात्मिक स्वतत्रता की रक्षा अविचल रहकर कारावास में भी उन्होने अपने प्राणत्याग तक की।

सं०ग्रं०—मौलाना शिबली सीरतुन-नौमान (१८९३)। [मु० ह०]

अबे, एडविन, आस्टिन

(१८५२-१९११), सयुक्त राज्य अमरीका का चित्रकार जो फिलाडेल्फिया मे उत्पन्न हुआ था। ललित कलाओ की पेंसिलवेनिया अकादमी से चित्रणकला सीखकर उसने पुस्तको को सचित्र करने का कार्य शुरू किया। राबर्ट हेरिक, गोल्डस्मिथ, शेक्स्पियर आदि की कृतियो को सचित्र करने से उसकी खासी ख्याति हुई। उसके जलचित्र और पेस्टल-चित्र भी बडे सफल हुए। १८९८ ई० में वह आर० ए० (रायल अकादमी का सदस्य) हो गया। उसके जलचित्रो मे प्रधान 'टोनहिन आँख', 'अक्तूबर का गुलाब,' 'पुराना गीत' हैं, वैसे ही पेस्टल-चित्रो मे प्रधान 'बीट्रिस' और 'फिलिस' हैं। उसके तैलचित्रो में सुदरतम शायद 'मई की एक सुबह' है। उसने भित्तिचित्रण भी किए। बोस्टन सग्रहालय मे सुरक्षित उसके चित्र 'पवित्र ग्रेल की खोज' तो प्रभूत सुदर बन पडा है। [भ० श० उ०]

अबेग

रिचार्ड अबेग (१८६९-१९१०) ब्रेस्लाव मे प्रोफेसर तथा प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे। इनका जन्म डैनज़िग तथा प्रशिक्षण बर्लिन में हुआ था। थोडी आयु से ही वैज्ञानिक कार्यो में इनकी बहुत रुचि थी और अपने घर मे इन्होंने एक छोटी सी प्रयोगशाला भी बना ली थी, जिसको इनकी माँ, रासायनिक पदार्थो की दुर्गंध के कारण, पसद नहीं करती थी। आगे चलकर बडे बडे वैज्ञानिको, जैसे ओस्टवाल्ड तथा अर्रहिनियस, के सपर्क मे आने का इनको अवसर मिला। इन्होंने अपनी सैनिक शिक्षा के अवसर पर गुब्बारे की उडान मे भाग लिया, जो इन्हें अति रुचिकर प्रतीत हुई। बाद में भी इस तरह की उडानो मे ये भाग लेते रहे, इसी मे इन्हें अपनी जान भी गँवानी पडी।

भौतिक रसायन के कई विषयो पर इन्होंने अनुसधान किया। अबेग विख्यात लेखक भी थे। ये 'हैंडबुक डर एनार्गेनिशेन् केमी' तथा 'साइट्स-श्रिफ्ट फूर इलेक्ट्रोकेमी' नामक पत्रिका के संपादक थे।

स०ग्र०—हेनरी मॉन माउय स्मिथ टॉर्च बेअरर्स ऑव केमिस्ट्री, डब्लू० रैमज़े जर्नल ऑव केमिकल सोसाइटी (१९११)। [वि० वा० प्र०]

अबेनेज्रा

अबेनेज्रा का वास्तविक नाम इब्न एजरा और पूरा नाम अब्राहम बिनमेअर इब्न एजरा था। उसका जन्म सन् १०९३ ईसवी मे हुआ और मृत्यु सन् ११६७ मे हुई। वह तोलेदो (स्पेन) में पैदा हुआ था। अपने समय का वह प्रसिद्ध यहूदी कवि और विद्वान् माना जाता है। अपनी जन्मभूमि मे यथेष्ट कीर्ति उपार्जित कर सन् ११४० मे वह भ्रमण के लिये निकला। सबसे पहले वह उत्तरी अफ्रीका के देशो में गया। कुछ वर्षो तक वहाँ ठहरने के पश्चात् वह इटली, फ्रास और इग्लैंड भी गया। लगभग २५ वर्ष तक विदेशो मे रहकर उसने अपनी विद्वत्ता की कीर्तिध्वजा फहराई। वह उच्च कोटि का विचारक और जनप्रिय कवि था। आधुनिक इब्रानी व्याकरण के जनक हय्यूज की पुस्तको का उसने अरबी से इब्रानी भाषा में अनुवाद किया और स्वय उनपर टीकाएँ लिखी। अबेनेज्रा की रचनाओ मे दर्शन, गणित, ज्योतिष आदि विषयो के ग्रथ हैं। किंतु उसकी प्रसिद्धि का मुख्य कारण यहूदी धर्मग्रथो पर लिखी उसकी टीकाएँ हैं। पुराने अहदनामे के प्रमुख यहूदी पैंगबरो की पुस्तको पर अबेनेज्रा के भाष्य बडे चाव से पढे जाते हैं।

स०ग्रं०—जे० जैकस जूइश काट्रीब्यूशन टु सिविलिज़ेशन। [वि० ना० पा०]

अबोर की पहाड़ियाँ

हिमालय पर्वत के अग हैं जो आसाम की उत्तरी सीमा पर पश्चिम मे सिअोम नदी तथा पूर्व मे डिबग के बीच फैली हुई हैं। यहाँ पर अबोर (जिसका अर्थ आसामी भाषा मे 'असभ्य' होता है) जाति निवास करती है। भूमि प्राय घने जगलो से ढकी है जिनके बीच से होकर नदियाँ बहती हैं। अबोर लोग दो समूहो मे विभाजित किए जा सकते हैं—(१) पासीमेआँग, जो पश्चिम में मिरी पहाडियो तथा पूर्व मे डिहग नदी से घिरे हुए भागो में रहते हैं और (२) बोर अबोर, जो डिहग तथा डिबग के बीच में रहते हैं। अबोर नाटे कद के तथा पुष्ट होते है। [न० ला०]

अबोहर

पजाब राज्य के फिरोजपुर जिले की फाजिल्का तहसील का एक प्रसिद्ध तथा प्राचीन ऐतिहासिक नगर है, जो ३०°९' उ० अक्षाश तथा ७४°१६' पू० देशातर रेखाओ पर दिल्ली से मुल्तान जानेवाले मार्ग पर स्थित है। इब्नबतूता यहाँ सन् १३४१ ई० मे आया था, जिसने इसे हिंदुस्तान का प्रथम नगर बताया था। यहाँ एक विशाल दुर्ग के कुछ अवशेष हैं, जिनसे ऐसा प्रकट होता है कि किसी काल में यह नगर पर्याप्त विख्यात रहा होगा। सरहिंद नहर द्वारा सिंचाई का साधन उपलब्ध हो जाने तथा सन् १८९७ ई० मे दक्षिण-पजाब रेलवे खुल जाने से यह नगर बहुत उन्नति कर गया है। यहाँ अन्न तथा ऊन की बहुत बडी मडी है। यहाँ एक आरोग्यशाला तथा हाई स्कूल है। यहाँ का हिंदी साहित्य सदन पुस्तकालय तथा जलकार्यालय दर्शनीय हैं। कपास से बिनौला निकालने तथा कपास दबाने के कारखाने भी यहाँ हैं। क्षेत्रफल १०८८ वर्गमील, जनसख्या २५,४७६ (१९५१)। [न० ला०]

इन अवाध व्यापार की नीति का तीसरा परिणाम यह हुआ कि भारत में नए उद्योग नही पनपने पाए। भारत में सूती कपडे के कुछ कारखाने अवश्य स्थापित हुए परंतु उनको इंग्लैंड के कारखानो की प्रतियोगिता का सामना करना पडा और उनकी विशेष उन्नति न हो सकी। अवाध व्यापार की नीति के अनुसार भारत सरकार ने भारत में वने सूती कपडो के उत्पादन पर कर लगा दिया, इसके कारण भी इस उद्योग की उन्नति मे रुकावट हुई। जिन अवाध व्यापारनीति के कारण इंग्लैंड की वहुत आर्थिक उन्नति हुई उसी नीति के कारण भारत के उद्योग-धंधे चौपट हो गए और भारतवासी अधिक गरीव हो गए।

भारतवासियो ने अवाध व्यापारनीति की हानियो का अनुभव किया और भारतीय नेताओ ने इस नीति को वदलने के लिये भारी आदोलन किया। सन् १९२० में भारत सरकार द्वारा एक आर्थिक कमीशन नियुक्त हुआ जिसने भारत में देशी उद्योगो के लिये सरक्षण नीति स्वीकार करने की सिफारिश की। इस कमीशन की सिफारिशो के अनुसार भारत सरकार को अपनी अवाध व्यापार की नीति वदलनी पडी और सन् १९२० के वाद से भारत में अवाध व्यापार की नीति का पालन नहीं हो रहा है।

इंग्लैंड में भी आजकल अवाध व्यापार नीति का पालन नही हो रहा है। ब्रिटिश साम्राज्य के देशो ने अनुभव किया कि इंग्लैंड की इस नीति से उनको भी हानियाँ होती हैं, इसीलिये उन्होंने इंग्लैंड को अपनी यह नीति वदलने के लिये राजी कर लिया। अव इंग्लैंड मे साम्राज्यातर्गत रियायत की नीति का पालन किया जाता है। इस नीति के अनुसार जो माल इंग्लैंड में ब्रिटिश साम्राज्य के देशो से आता है उन पर आयात कर कम दर से लिया जाता है और अन्य देशो से उन्ही वस्तुओ के आयात पर कर की दर अधिक रहती है। इसी प्रकार साम्राज्य के अन्य देश इंग्लैंड की वस्तुओ पर कर की दर कम रखते हैं। अवाध व्यापार की हानियो का अनुभव कर आजकल ससार का कोई भी देश इस नीति का पालन नहीं कर रहा है। यदि ससार के सव देश आर्थिक दृष्टि से विकसित दशा में हो और सव देश इस नीति का पालन करना स्वीकार कर लें तव ससार के सव देशो को इस अवाध व्यापार-नीति से वहुत लाभ हो सकता है। आजकल तो ससार के कई देशो में विदेशी व्यापार पर वहुत अधिक नियत्रण है। भारत विदेशी विनिमय की वचत करने के लिये अपने आयातो का कठोरतापूर्वक नियत्रण कर रहा है। उसने अपने उद्योग-धंधो को प्रोत्साहित करने के लिये वहुत सी वस्तुओ के आयात पर सरक्षण कर लगा दिया है। अमेरिका का व्यापार चीन से हो ही नही रहा है। ससार में वडे वडे देशो के दो गुट हो गए हैं। एक गुट के देशो का व्यापार अन्य गुट के देशो के साथ नियत्रित रूप से ही हो पाता है। नियत्रणो और सरक्षण करो के कारण ससार के राष्ट्रो का विदेशी व्यापार जितना होना चाहिए उतना नही हो पाता, इसलिए प्राय सव देश विदेशी व्यापार से पूरा लाभ नही उठा पा रहे हैं। अभी कुछ वर्ष हुए एक अतर्राष्ट्रीय व्यापार-सगठन की स्थापना हुई है। इसमें ५० से अधिक राष्ट्र समिलित हुए हैं। इस सगठन का उद्देश्य जनता की रहन सहन का स्तर ऊँचा करना तथा व्यापारिक प्रतिवधो को यथासाध्य कम कर ससार को समृद्ध वनाना है। इस सगठन के सदस्य अपने अपने देशो में व्यापारिक प्रतिवधो को कम करने का प्रयत्न करते हैं और अपने पारस्परिक झगडे सगठन के सामने उपस्थित कर उसके निर्णय स्वीकार करते हैं।

जव यह सगठन विश्वव्यापी हो जायगा, ससार के सव राष्ट्र इसके सदस्य हो जायँगे और जव इस सगठन के उद्देश्यानुसार सव व्यापारिक प्रतिवध हट जायँगे तव ससार में अवाध व्यापार की नीति का पालन होने लगेगा और उसके द्वारा व्यापार का लाभ सव देशो को समान रूप से होने लगेगा और किसी राष्ट्र को उसके द्वारा हानि नही पहुँचेगी।

स०ग्र०—कृष्णदत्त वाजपेयी भारतीय व्यापार का इतिहास।

[द० श० द्वु०]

अवितिवी ओटेरिओ (कैनाडा) मे एक झील तथा नदी है। अवितिवी झील (४९° उत्तर अ०, ८०° पश्चिम दे०) ६० मील लवी (क्षेत्रफल ३५६ वर्ग मील) तथा छिछली है और इसमें अनेक द्वीप हैं। इसके किनारे वृक्षों से सुशोभित हैं। इसके आसपास लकडी काटी जाती है तथा रोएँदार पशुओ का शिकार किया जाता है। ग्रैंड ट्रक पैसिफिक (अव, कैनेडियन नैशनल) रेलवे इस प्रदेश से होकर गुजरती है। इस झील में से अवितिवी नदी निकलकर २०० मील वहने के पश्चात् मूसे नदी में मिल जाती है।

[न० ला०]

अविसीनिया उत्तरपूर्व अफ्रीका का एक स्वतत्र साम्राज्य है जो राजकीय स्तर पर इथिओपिया कहलाता है। स्थिति ५° उत्तर अ० से १५° उत्तर अ०, ३५° पूर्व दे० से ४२° पूर्व दे०, क्षेत्रफल ३,९५,८०० वर्गमील, जनसख्या १,६०,००,००० (१९५४ ई०)। यह टिग्रे, अम्हारा, गोज्जम, गोडार, शोआ तथा अन्य स्वतत्र राज्यो के सयोग से वना है। सन् १९५२ ई० में, जव इरिट्रिया राज्य अविसीनिया का एक स्वायत्त (ऑटोनोमस) प्रात वन गया, इस साम्राज्य की सीमा पूर्व में लाल सागर तक वढ गई। इसके पश्चिम में सूडान, उ० पू० मे सोमालीलैंड, द०-प० में यूगाडा तथा द० में केनिया आदि राज्य स्थित हैं। सन् १९३५ ई० मे इटली ने अविसीनिया पर आक्रमण कर इसे अशत अधीन कर लिया, किंतु सन् १९४१ ई० में अग्रेज सैनिको की सहायता से यह पुन स्वतत्र हो गया। अदिस अवावा (जनसख्या ४,००,०००) इसकी राजधानी है, तथा अस्मारा (१,१७,०००), हरार (४५,०००), देसी (३५,०००), दीरे दावा (३०,०००) आदि अन्य मुख्य नगर हैं।

अविसीनिया एक विशाल पठारी क्षेत्र है जो अनेक स्थलों पर १३,००० फुट से भी अधिक ऊँचा है। राम दसहन इसका सर्वोच्च शिखर है, जिसकी ऊँचाई १५,१५३ फुट है। इसके प्राकृतिक निर्माण का सवध 'ग्रेट रिफ्ट घाटी' तथा उससे उद्गारित लावा से है। ग्रेट रिफ्ट घाटी की मुख्य शाखा, जो रूडोल्फ झील से उत्तरपूर्व मे लाल सागर की ओर अग्रसर होती है, अविसीनिया के पठार को दो भागो मे विभक्त करती है (१) इथिओपिया का वृहत् पठार, जो रिफ्ट घाटी के उत्तरपश्चिम मे स्थित है तथा जिसके अतर्गत टिग्रे, अम्हारा, शोआ एव काफा के प्रात हैं। (२) हरार का सकीर्ण पठार, जो रिफ्ट घाटी के दक्षिण-पूर्व मे स्थित है तथा उ० पू० से द० प० को फैला है। ये दोनो क्षेत्र वैसाल्ट एव ट्रैचाइट नामक पत्थरो के वने हैं जो शोआ के प्रात में ६,००० फुट की मोटाई तक मिलते हैं। अविसीनिया के पूर्वोत्तर भाग तथा इरिट्रिया में कम ऊँचे एव शुष्क पठार मिलते हैं जो आद्यकल्पिक (आर्कियन) पत्थरो से वने हैं। इनकी ऊँचाई १,५०० से ५,००० फुट तक है।

अविसीनिया की मुख्य नदी सेतित है जो लास्टा नामक पर्वत से निकलती है तथा आगे चलकर अतवारा के नाम से नील नदी की सहायक हो जाती है। अन्य नदियो मे अव्वाई प्रमुख है, जो टाना झील से होकर वहती है और ब्लू नील के नाम से प्रसिद्ध है। पूर्व की ओर प्रवाहित होनेवाली नदियों में अवास मुख्य है।

इथिओपिया के पठार पर ऊँचाई के अनुसार जलवायु के तीन प्रकार मिलते हैं (१) कोल्ला, ५,५०० फुट की ऊँचाई तक, जहाँ प्रत्येक महीने का औसत ताप ६८° फा० से अधिक होता है, (२) वाइनाडेगा, ५,५०० से ८,००० फुट तक, जहाँ जाडे में ठढी रातें (४१°-५०° फा०) होती हैं तथा वार्षिक तापातर ९° फा० से कम होता है। अदिस अवावा (८,००० फुट) का औसत मासिक ताप ५८° फा० से ६६° फा० तक घटता वढता रहता है, (३) डेगा, ८,००० फुट से ऊपर, जहाँ सदैव सर्दी पडती है तथा गर्मी के तीन महीनो (मार्च से मई तक) का औसत ताप ६०° फा० रहता है।

हरार, शोआ, अम्हारा तथा टिग्रे के पठारो पर वर्षा गर्मी मे होती है, किंतु इथिओपिया के पठार पर वर्षा प्रत्येक महीने में होती है। अदिस अवावा की वार्षिक वर्षा ४५ इच है, जिसका अधिकाश जून से अक्टूवर तक होता है। हरार पठार पर वर्षा २० इच से ३५ इच तक होती है। कम ऊँचे स्थलो मे वर्षा का अभाव है। दक्षिणपूर्व में वर्षा केवल ५ इच के लगभग होती है। इथिओपिया के पठार के पश्चिमी भाग में सघन वन तथा कही कही सावैना के घास के मैदान मिलते हैं। कम ऊँचे पठारो पर सावैना की वनस्पति तथा नीचे स्थलो मे झाडियाँ पाई जाती हैं।

इस राज्य मे सोना, लोहा, कोयला तथा प्लैटिनम इत्यादि खनिज विशेष रूप से मिलते हैं। इनके अतिरिक्त वाक्साइट, चाँदी, गधक, ताँबा

अब्बासी खलीफा अल् मोतवक्किल को कुस्तुनुनिया ले गया और उससे एक एकरारनामे पर हस्ताक्षर कराए जिनमें उसने समस्त राजनीतिक और धार्मिक अधिकार त्याग देने की घोषणा की। सलीम ने अल् मोतवक्किल को फिर मिस्र लौट जाने की आज्ञा दे दी, जहाँ पहुँचकर वह १५३८ ई० में मर गया। इस कुटुंब में २७ खलीफा हुए, जिनमें हारूँनुर्रशीद और मामूनुर्रशीद के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। [मु० अ० अ०]

अब्राबानेल, इसहाक यह प्रसिद्ध यहूदी राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, धर्मशास्त्री और भाष्यकार सन् १४३७ ई० में लिस्बन में पैदा हुआ। उसके परिवार की ओर से यह दावा किया जाता था कि वे लोग प्रसिद्ध यहूदी पैगंबर दाऊद के उत्तराधिकारी हैं। अब्राबानेल की मृत्यु सन् १५०८ ई० में हुई। अब्राबानेल जितना योग्य विद्वान् था उतना ही योग्य राजनीतिज्ञ भी था। शीघ्र ही वह पुर्तगाल के राजा अलफेंजो पंचम का कृपापात्र बन गया। शासन के महत्वपूर्ण कार्य उसे सौंपे जाते थे। अलफेंजो की मृत्यु के बाद उसे पुर्तगाल त्यागकर स्पेन भाग जाना पड़ा, जहाँ वह आठ वर्षो (१४८४-९२) तक स्पेन के राजा फर्दीनाद और सम्राज्ञी इसाबेलो के अधीन गृहमंत्री रहा। सन् १४९२ ई० में जब यहूदियों को स्पेन से निकाला गया तो अब्राबानेल नेपुल्स, कोर्फ और मोनोपोली में रहा। सन् १५०३ ई० में वह वेनिस चला गया जहाँ मृत्युपर्यंत, अर्थात् सन् १५०८ तक, वह गृहमंत्री रहा। अब्राबानेल की यह विशेषता थी कि उसने बाइबिल की सामाजिक पृष्ठभूमि का गहरा अध्ययन किया था और चतुराई के साथ अपनी राजनीति में उसको व्यावहारिक रूप देने का गंभीर प्रयत्न किया था। [वि० ना० पा०]

अब्राहम (लगभग १८०० ई० पू०) इब्रानी अर्थात् यहूदी जाति के पितामह। बाइबल में अब्राहम का अर्थ 'बहुत सी जातियों का जनक' माना गया है। ये याह्वेह (या ईश्वर) के आदेश से मेसोपोतेमिया के ऊर तथा हारान नामक शहरों को छोड़कर कानान और मिस्र चले गए। बाइबल में अब्राहम का जो वृत्तांत मिलता है (उत्पत्ति ग्रंथ, अध्याय ११-२५), उसकी रचना लगभग ९०० ई० पू० में अनेक परंपराओं के आधार पर हुई थी। इसमें संस्कृति और रीति रिवाजों का जो वर्णन है वह हम्मुराबी (ल० १७२८-१६८६ ई० पू०) से बहुत कुछ मिलता जुलता है। इब्रानी तथा हम्मुराबी के बहुत से कानून एक जैसे हैं। आधुनिक खुदाई द्वारा हम्मुराबी का अच्छा परिचय प्राप्त हुआ है।

सारी बाइबिल में अब्राहम का महत्व स्वीकृत है—(१) ये स्वयं यहूदी जाति के प्रवर्तक थे। बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने उनको कानान देश दिलाने की प्रतिज्ञा की थी। इनके साथ ईश्वर का जो व्याख्यान हुआ था उसकी स्मृति में यहूदी खतना करते हैं। ईसा अब्राहम के सबसे महान् वंशज हैं। (२) अब्राहम को ईश्वर का दास और मित्र कहा गया है। ईश्वर के आदेश पर ये अपने एकमात्र पुत्र यिस्हाक का बलिदान करने के लिये तैयार थे। अब्राहम के द्वारा समस्त जातियों को ईश्वर का आशीर्वाद मिलनेवाला था। वस्तुतः अब्राहम उन समस्त लोगों के आध्यात्मिक पिता माने जाते हैं, जो ईश्वर पर आस्था रखते हैं।

सं० ग्रं०—एच० एच० राउली : रीसेंट डिस्कवरी ऐंड दि पैट्रिआर्कल एज, बुलेटिन ऑव दि जान राइलेनोल्स लाइब्रेरी, सितंबर, १९४९, ई० दोर्मे : अब्राहम दा लि केदर दि ला हिस्तोएर। [वि० ना० पा०]

अब्सलोम दाऊद का तीसरा पुत्र अब्सलोम अपने पिता का अत्यंत दुलारा था। पुरानी पोथी की दूसरी पुस्तक में उसका वर्णन आता है। उसके व्यक्तित्व में अद्भुत आकर्षण था, किंतु वह बेहद अभिमानी और उच्छृंखल था। इसीलिये उसके जीवन का अंत दुःखभरा हुआ। बाइबिल में उसका पहला उल्लेख उस समय का मिलता है जब उसने अपने पिता के ज्येष्ठ पुत्र और अपने सौतेले भाई अमनान की इसलिये हत्या की कि उसने अब्सलोम की सगी बहन तमर के साथ बलात्कार किया था। हत्या के अपराध में उसे निष्कासित भी कर दिया गया था, किंतु अंत में जोब के अनुरोध पर उसे दंडमुक्त कर दिया गया। दाऊद की मृत्यु से पूर्व जब उत्तराधिकार का प्रश्न उठा तो अब्सलोम ने विद्रोह कर दिया। दाऊद को अपने थोड़े से अनुयायियों और अंगरक्षकों के साथ जॉर्डन के पार भाग जाना पड़ा। जेरूसलम के नगर और राज्य के मुख्य भाग पर अब्सलोम का अधिकार हो गया। अब्सलोम ने दाऊद का पीछा किया किंतु संग्राम में वह बुरी तरह हार गया। स्वयं जोब ने उसका वध किया। ऐसे निकम्मे और विश्वासघाती पुत्र की मृत्यु पर भी दाऊद का प्रेमातुर हृदय शोक से भर गया। [वि० ना० पा०]

अभाव किसी वस्तु का न होना। कुमारिल के अनुसार अभावज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं होता क्योंकि वहाँ विषयेंद्रिय-संबंध नहीं है। अभाव के साथ लिंग की व्याप्ति नहीं होती, अतः अनुमान भी नहीं हो सकता। अभावज्ञान के लिये मीमांसा में अनुपलब्धि नामक अलग प्रमाण माना गया है। न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष से भाव की तरह अभाव का भी ज्ञान होता है। अभावज्ञान के लिये इंद्रियसंबंध की आवश्यकता नहीं होती। जहाँ वस्तु का अभाव होता है वहाँ वस्तु का अभाव उस स्थान का विशेषण बन जाता है। यह अभाव विशिष्ट आधार का ज्ञान प्रत्यक्ष जैसा ही, किंतु विशेष्य-विशेषण-भाव नामक एक अलग संनिकर्ष से, होता है। अतः घर के अभाव का ज्ञान सर्वदा भूतलज्ञान के कारण होता है। बौद्ध दर्शन में अभाव को दिक्कालसापेक्ष कहा गया है। वस्तुतः भावात्मक वस्तु का अभाव के साथ कोई संबंध नहीं है। इसलिये अभावज्ञान संभव नहीं है। जहाँ अभावज्ञान होता है वहाँ किसी न किसी प्रकार का भावात्मक ज्ञान ही होता है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में भावात्मक और अभावात्मक दो प्रकार के पदार्थ माने गए हैं। अभाव उतना ही सत्य है जितना वस्तु का सद्भाव। वैशेषिक दर्शन में चार प्रकार के अभावों का उल्लेख है—(१) प्रागभाव—उत्पत्ति के पूर्व वस्तु का अभाव, (२) प्रध्वंसाभाव—विनाश के बाद वस्तु का अभाव, (३) अन्योन्याभाव—एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव, और (४) अत्यंताभाव—वह अभाव जो सर्वदा वर्तमान हो। [रा० पा०]

अभिकर्ता (व्यापार) वह व्यक्ति है जो किसी अन्य व्यक्ति की ओर से व्यापार संबंधी कार्य करे। अधिकांशतः तो उसका कार्य माल के क्रय, विक्रय अथवा वितरण में अपने प्रधान की सहायता करना है और प्रायः उसका पारिश्रमिक वर्तन (कमीशन) के रूप में होता है। कार्यानुसार अभिकर्ता विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। क्रेता और विक्रेता के बीच सौदा तय करानेवाला अभिकर्ता दलाल कहलाता है। अपने प्रधान की ओर से माल का क्रय अथवा विक्रय करनेवाले अभिकर्ता को कमीशन एजेंट कहते हैं क्योंकि माल के मूल्य पर कमीशन ही उसका पारिश्रमिक होता है। कभी कभी निर्माता अपने माल का विक्रय बढ़ाने के लिये विभिन्न क्षेत्रों में अभिकर्ता नियुक्त कर देते हैं जो अपने प्रधान के माल के विक्रय की समुचित व्यवस्था करके उसे विक्रय संबंधी समस्याओं से मुक्त कर देते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अभिकर्ताओं का कार्य नीलाम द्वारा माल का विक्रय करना है।

कुछ अभिकर्ता क्रय-विक्रय तो नहीं करते परंतु उनकी क्रियाएँ व्यापारवृद्धि में बहुत सहायक होती हैं और उन्हें पारिश्रमिक वर्तन के रूप में नहीं मिलता। विज्ञापन करनेवाले आयात किए माल को बंदरगाह पर छुड़ानेवाले तथा विदेशों को माल का निर्यात करने में सहायता देनेवाले अभिकर्ता इस श्रेणी में आते हैं।

स्पष्ट है कि अभिकर्ता अपनी विभिन्न सेवाओं से व्यापारी की बहुत सहायता करता है। अपने अधिकारों की सीमा में जो भी कार्य अभिकर्ता अपने प्रधान की ओर से करता है वह प्रधान द्वारा ही किया हुआ समझा जाता है। [रा० गो० स०]

अभिकल्पना किसी पूर्वनिश्चित ध्येय की उपलब्धि के लिये तत्संबंधी विचारों एवं अन्य सभी सहायक वस्तुओं को क्रमबद्ध रूप से सुव्यवस्थित कर देना ही 'अभिकल्पना' (डिज़ाइन) है। वास्तुविद (आर्किटेक्ट) किसी भवन के निर्माण की योजना बनाते हुए रेखाओं का विभिन्न रूपों में अंकन किसी एक लक्ष्य की पूर्ति को सोचकर करता है। कलाकार भी रेखाओं के संयोजन से चित्र में एक

था। पैगंबर इसहाक कुछ काल तक अबीमेलेख का अतिथि रहा। अपने गेराज अधिवास में इसहाक ने अबीमेलेख को बताया कि उसकी (इसहाक की) पत्नी रेबेकाह उसकी (इसहाक की) अपनी बहन है। अबीमेलेख ने इसहाक को फटकारा और कहा कि किस तरह अनजान में ही इसहाक व्यभिचार का दोषी हो जाता। इस घटना से उस समय के प्रचलित नैतिक विचारो की प्रगति का पता चलता है।

(२) शेखेमी दासी से उत्पन्न अबीमेलेख जेरूब्बाल अथवा गिदियन का बेटा था। गिदियन की मृत्यु के बाद अबीमेलेख ने शेखेम के नागरिको पर अपने पिता के ही समान शासन करने का दावा किया। अपने पिता की सत्तर अन्य सतानो की हत्या करके अबीमेलेख ने मध्य फिलस्तीन पर अपने राज्य का विस्तार कर लिया, किंतु उसकी सफलता क्षण-स्थायी रही। [वि० ना० पा०]

अबुल् अतहियः अबू इसहाक इस्माइल बिन कासिम अनबार के पास एक गाँव एनुल्तमर मे पैदा हुआ और कूफा मे इसका पालन हुआ। युवावस्था मे मिट्टी के बर्तन बेचकर यह कालयापन करता था। आरभ से ही इसकी रुचि कविता की ओर थी। कुछ समय के अनतर बगदाद पहुँचकर इसने खलीफा मेहदी की प्रशसा की और पुरस्कृत हुआ। खलीफा हारुँरशीद के काल मे यह और भी सम्मानित हुआ। बगदाद मे खलीफा मेहदी की दासी उत्ब पर इसका प्रेम हो गया और यह अपने कसीदो मे उसके सौदर्य तथा गुणो का गायन करने लगा। किंतु उत्ब ने इसके प्रति कुछ ध्यान नही दिया जिससे यह ससार से मन हटाकर धर्म और सूफी विचारो की ओर झुक पडा। अब इसकी कविता मे सदाचार की बाते बढ गई जिसे इसके देशवालो ने बहुत पसद किया। परतु कुछ लोगो ने उस पर यह आपत्ति की है कि इसकी रचना इस्लाम के सिद्धातो तथा तत्वो के अनुसार नही है। धन-दौलत का लोभ इसे अत तक बना रहा। बगदाद मे मरा और वही दफनाया गया।

अबुल् अतहिय का दीवान सन् १८८६ ई० मे प्रकाशित हुआ, जिसके दो भाग है। एक भाग मे सदाचार की प्रशस्ति और दूसरे भाग मे अन्य प्रकार की कविताएँ सगृहीत है। इसकी कविता मे निराशावाद अधिक है, पर इसकी काव्यशैली सरल तथा सुगम है। इसका समय सन् ७४८ ई० तथा सन् ८२५ ई० (सन् १३० हि० तथा सन् २१० हि०) के बीच है। [आर० आर० शे०]

अबुल् अला मुअर्री अबुल् अला का जन्म मुअर्रतुल् नोअमान मे हुआ था, जो हलब से बीस मील दूर शाम का एक कस्बा है। यह अभी बच्चा ही था कि इस पर शीतला का प्रकोप हुआ और इसकी दृष्टि जाती रही। प्रकृति ने इस हानि की किसी सीमा तक पूर्ति इस प्रकार कर दी कि इसकी स्मरणशक्ति बहुत तीव्र हो गई। प्रारभिक शिक्षा अपने पिता से पाकर यह हलब चला गया और वहाँ के विद्वानो से उच्च शिक्षा प्राप्त की। हलब के अनतर यूसाने इन्ताकिय (अन्तियर) तथा तिराबुलिस (त्रिपोली) की यात्रा की और सन् ९९३ ई० मे मुअर्रा लौट आया। यह पद्रह वर्ष तक बहुत थोडी आय पर कालयापन करता हुआ अरबी कविता तथा भाषाविज्ञान पर व्याख्यान देता रहा। इस बीच इसकी प्रसिद्धि दूर दूर तक फैल गई जिससे इसने बगदाद जाकर अपने भाग्य की परीक्षा करने का निश्चय किया। यहाँ इसकी भेट बहुत से प्रतिष्ठित साहित्यकारो तथा विद्वानो से हुई, जिन्होने इसका अच्छा स्वागत किया। यद्यपि यह यहाँ केवल डेढ वर्ष रहा, पर इसी बीच इसके विचारो तथा सिद्धान्तो मे परिपक्वता आ गई और बाकी समय के लिए इसने अपना मार्ग निश्चित कर लिया। मुअर्रा लौटने पर यह एकातवास करने लगा, मास खाना छोड दिया और विरक्तो के आचार को ग्रहण कर लिया। इस स्वभाव-परिवर्तन का विशिष्ट कारण इसकी माता की बीमारी तथा मृत्यु हुई। साथ ही बगदाद मे किसी निश्चित आय का प्रबध न हो सकने का भी इस पर प्रभाव पडा था।

अबुल् अला की कृतियो में इसकी कविताओ के दो सग्रह सकतुल्जनद (दियासलाई की लपट) तथा लुजूमियात बहुत प्रसिद्ध है। पहले में बगदाद जाने से पहले की कविताओ का सकलन है। इसमें इसने अपने पूर्ववर्तियो के दिखलाए मार्ग से बाहर जाने का प्रयास नही किया है। बगदाद से लौटने के बाद की कविताएँ लुजूमियात मे सगृहीत है और इनसे अबुल् अला के साहस, दृढता तथा गभीरता का पता लगता है। पश्चिम के आलोचको ने इसकी स्वच्छद शैली को विशेष रूप से पसद किया पर पूर्व में इसकी कविता बहुत पसद की जाती है। [आर० आर० शे०]

अबुल फ़ज़्ल अकबर के दरबार के प्रसिद्ध इतिहासकार और विद्वान्। १४ जनवरी, १५५१ ई० को आगरा मे पैदा हुए। अपने पिता शेख मुबारक की देखरेख में इन्होने अध्ययन किया। इनके पिता उदार विचारो के विद्वान् थे और इसी कारण इन्हे कट्टर मुल्लाओ के दुर्व्यवहार सहने पडे। अबुल फज्ल अत्यधिक मेधावी बालक थे। १५ वर्ष की उम्र मे इन्होने उस जमाने का समस्त परपरागत ज्ञान प्राप्त कर लिया। १५७४ ई० के आरभ मे उनके बडे भाई फैजी ने उन्हें अकबर के सामने पेश किया। साल भर बाद जब अकबर ने **इबादतखाना** (पूजा-गृह) मे धार्मिक विचार विमर्श आरभ किया तब अबुल फज्ल ने अपने *प्रकाड पाडित्य, दार्शनिक रुझान और उदार विचारो से सम्राट् का ध्यान* आकृष्ट किया। उन्होने अपने पिता के सहयोग से मशहूर **महज़र** तैयार किया जिसने अकबर को **मुज्तहिद** से भी ऊँचा दर्जा दिया और उन्हें वह शक्ति प्रदान की जिससे मुल्लाओ के आपसी मतभेद पर वे निर्णय करने योग्य हो सके। क्रमश वे अकबर के प्रियपात्र बन गए और एक दिन सम्राट् ने उन्हे अपना निजी सचिव बना लिया। अधिकाश कूटनीतिक पत्रव्यवहार उन्ही को करने पडते थे और विदेशी शासको तथा अमीरो को पत्र भी वे ही लिखते थे। १५८५ ई० मे उन्हें एकहजारी मनसब मिला। पाँचहजारी मनसब तक पहुँचने मे उन्हे अट्ठारह साल लगे। सन् १५९९ मे उनकी नियुक्ति दक्षिण में हुई जहाँ उन्हे अपनी शासकीय योग्यता भी प्रमाणित करने का अवसर मिला। जब शाहजादा सलीम ने विद्रोह किया तब अकबर ने उन्हे दकन से बुला लिया। जब वे राजधानी जा रहे थे और रास्ते मे थे तब २२ अगस्त, १६०२ ई० को शाहजादा सलीम के इशारे पर राजा वीरसिंह बुदेला ने उनकी हत्या कर दी। उनका सिर इलाहाबाद में सलीम के पास भेजा गया और शरीर ग्वालियर के समीप अतरी ले जाकर दफना दिया गया।

अबुल फज्ल ने बहुत लिखा है। उनकी रचनाओ में मुख्य हैं, **अकबरनामा, आईन-ए-अकबरी,** कुरान की टीका, बाइबिल का फारसी अनुवाद (अप्राप्य), **इयार-ए-दानिश** (**अनवर-ए-सुहैली** का आधुनिक रूपातर), **तारीख-ए-अल्फी** की भूमिका (अप्राप्य) और महाभारत का फारसी अनुवाद। उनके पत्रो और फुटकल रचनाओ का सपादन उनके भतीजे अब्दुस् समद ने मक्तबात-ए-अल्लामी (पुष्पिका मे इसकी समाप्ति की तिथि १०१५ हिजरी=१६०६ ई० दी हुई है) शीर्षक से किया है। यह सग्रह इशा-ए-अबुल फज्ल नाम से मशहूर है। उनके निजी पत्रो का दूसरा सग्रह रुक्कात-ए-अबुल फज्ल नाम से विख्यात है। इसका सपादन उनके भतीजे नूरुद्दीन मुहम्मद ने किया था।

अबुल फज्ल का महत्व उनके **अकबर नामा** के कारण अधिक है। उसमें अकबर के शासन का विस्तृत इतिहास है और साथ ही तीन **दफ्तरो** में उसके पूर्वजो का भी उल्लेख है। प्रथम दो दफ्तर एशियाटिक सोसाइटी (तीन भागो मे) से प्रकाशित हुए थे। तीसरा दफ्तर, जिसका स्वतत्र शीर्षक **आईन-ए-अकबरी** है, साम्राज्य के शासन और साख्यकी से सबद्ध है। इससे भारत की भौगोलिक परिस्थिति तथा सामाजिक और धार्मिक जीवन के सबध मे महत्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती है। **आईन-ए-अकबरी** का वास्तविक महत्व कुछ दूसरी ही बात में है। उससे अल्बेरूनी के बाद के मुस्लिम कालीन भारत तथा हिंदू दर्शन और हिदुओ के तौर तरीको की सम्यक् जानकारी होती है।

अबुल फज्ल का सुलह-ए-कुल (शाति) की नीति मे पूरा विश्वास था। धार्मिक मामलो के प्रति उनके दृष्टिकोण बहुत ही उदार थे। उन्होने मुल्लाओ के प्रभाव को दूर करने में अकबर का पूरा नैतिक समर्थन तो किया ही, साथ ही उनकी राज्य-नीतियो के निर्माण के लिये व्यापक और अधिक उदार आधार प्रस्तुत किया।

अभिधर्मपिटक बना दिया गया और उन अतिरिक्त छोटे ग्रथो के सग्रह का 'खुद्दक निकाय' के नाम से पाँचवाँ निकाय बना।

'अभिधम्मपिटक' में सात ग्रथ है—धम्मसगणि, विभग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। विद्वानो में इनकी रचना के काल के विषय में मतभेद है। प्रारभिक समय मे स्वय भिक्षुसघ मे इसपर विवाद चलता था कि क्या अभिधम्मपिटक बुद्धवचन है।

पाँचवें ग्रथ कथावत्थु की रचना अशोक के गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्स ने की, जिसमें उन्होंने सघ के अतर्गत उत्पन्न हो गई मिथ्या धारणाओं का निराकरण किया। बाद के आचार्यो ने इसे 'अभिधम्मपिटक' में सगृहीत कर इसे बुद्धवचन का गौरव प्रदान किया।

शेष छ ग्रथो मे प्रतिपादित विषय समान है। पहले ग्रथ धम्मसगणि मे अभिधर्म के सारे मूलभूत सिद्धातो का सकलन कर दिया गया है। अन्य ग्रथो में विभिन्न शैलियो से उन्ही का स्पष्टीकरण किया गया है।

सिद्धात—तेल, वत्ती से प्रदीप्त दीपशिखा की भाँति तृष्णा, अहकार के ऊपर प्राणी का चित्त (=मन=विज्ञान=काँशसनेस) धाराशील प्रवाहित हो रहा है। इसी में उसका व्यक्तित्व निहित है। इसके परे कोई 'एक तत्व' नही है।

सारी अनुभूतियाँ उत्पन्न हो सस्काररूप से चित्त के निचले स्तर मे काम करने लगती हैं। इस स्तर की धारा को 'भवग' कहते है, जो किसी योनि के एक प्राणी के व्यक्तित्व का रूप होता है। पाश्चात्य मनोविज्ञान के 'सबकाशस' की कल्पना से 'भवग' का साम्य है। लोभ-द्वेष-मोह की प्रबलता से 'भवग' की धारा पाशविक और त्याग-प्रेम-ज्ञान के प्रावल्य से वह मानवी (और दैवी भी) हो जाती है। इन्ही की विभिन्नता के आधार पर ससार के प्राणियो की विभिन्न योनियाँ हैं। एक ही योनि के अनेक व्यक्तियो के स्वभाव मे जो विभिन्नता देखी जाती है उसका भी कारण इन्ही के प्रावल्य की विभिन्नता है।

जब तक तृष्णा, अहकार बना है, चित्त की धारा जन्म जन्मातरो मे अविच्छिन्न प्रवाहित होती रहती है। जब योगी समाधि मे वस्तुसत्ता के अनित्य-अनात्म-दुखस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, तब उसकी तृष्णा का अत हो जाता है। वह अर्हत् हो जाता है। शरीरपात के उपरात बुझ गई दीपशिखा की भाँति वह निवृत हो जाता है। [भि० ज० का०]

अभिधर्मकोश आचार्य असग के छोटे भाई आचार्य वसुबधु ने अपने जीवन के प्रथम भाग मे सर्वास्तिवाद सिद्धात के अनुसार कारिकाबद्ध अभिधर्मकोश ग्रथ की रचना की। यह इतना प्रसिद्ध और लोकप्रिय हुआ कि कवि बाण ने लिखा है कि तोते-मैंने भी अभिधर्मकोश के श्लोको का उच्चारण करते थे। अपने सिद्धात का प्रतिपादन करते हुए आचार्य ने यथास्थान अन्य दर्शनो की समीक्षा भी की है। ग्रथ पर आचार्य ने स्वय एक विस्तृत भाष्य की भी रचना की, जिसपर कई टीकाएँ लिखी गईं। प्रसिद्ध यात्री-विद्वान् हुएन्साग ने चीनी भाषा मे इसका अनुवाद किया था जो आज भी प्राप्त है। [भि० ज० का०]

अभिनय जब प्रसिद्ध या कल्पित कथा के आधार पर नाटचकार द्वारा रचित रूपक में निर्दिष्ट सवाद और क्रिया के अनुसार नाटच-प्रयोक्ता द्वारा सिखाए जाने पर या स्वय नट अपनी वाणी, शारीरिक चेष्टा, भावभगी, मुखमुद्रा तथा वेशभूषा के द्वारा दर्शको को शब्दो के भावो का परिज्ञान और रस की अनुभूति कराते हैं तब उस सपूर्ण समन्वित व्यापार को अभिनय कहते है। भरत ने अपने नाटचशास्त्र मे अभिनय शब्द की निरुक्ति करते हुए कहा है "अभिनय शब्द 'णीञ्' धातु मे 'अभि' उपसर्ग लगाकर बना है जिसका अर्थ है पद या शब्द के भाव को मुख्य अर्थ तक पहुँचाना अर्थात् दर्शको के हृदय मे अनेक अर्थ या भाव भरना।" साधारण अर्थ मे किसी व्यक्ति या अवस्था का अनुकरण ही अभिनय कहलाता है। इस दृष्टि से किसी की वाणी या क्रिया का अनुकरण करना, उसके अनुसार रूप, आकृति या वेश बनाना सब कुछ अभिनय कहलाता है। भरत ने चार प्रकार का अभिनय माना है—आगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक। आगिक अभिनय का अर्थ है शरीर, मुख और चेष्टाओं से कोई भाव या अर्थ प्रकट करना। सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और चरण द्वारा किया जानेवाला अभिनय शारीर अभिनय या आगिक अभिनय कहलाता है और आँख, भौह, नाक, अधर, कपोल और ठोढी से किया हुआ मुखज अभिनय, उपाग अभिनय कहलाता है। चेष्टाकृत अभिनय उसे कहते हैं जिसमे पूरे शरीर की विशेष चेष्टा के द्वारा अभिनय किया जाता है जैसे लँगडे, कुबडे या बूढे की चेष्टाएँ दिखाकर अभिनय करना। ये सभी प्रकार के अभिनय विशेष रस, भाव तथा सचारी भाव के अनुसार किए जाते हैं।

शारीर अथवा आगिक अभिनय मे सिर के तेरह, दृष्टि के छत्तीस, आँख के तारो के नौ, पुट के नौ, भौहो के सात, नाक के छ, कपोल के छ, अधर के छ और ठोढी के आठ अभिनय होते हैं। व्यापक रूप से मुखज चेष्टाओ में अभिनय छ प्रकार के होते हैं। भरत ने कहा है कि मुखराग से युक्त शारीरिक अभिनय थोडा भी हो तो उससे अभिनय की शोभा दूनी हो जाती है। यह मुखराग चार प्रकार का होता है—स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त और श्याम। ग्रीवा का अभिनय भी विभिन्न भावो के अनुसार नौ प्रकार का होता है।

आगिक अभिनय मे तेरह प्रकार का सयुक्त हस्त अभिनय, चौबीस प्रकार का असयुक्त हस्त अभिनय, चौसठ प्रकार का नृत्त हस्त का अभिनय और चार प्रकार का हाथ के करण का अभिनय बताया गया है। इसके अतिरिक्त वक्ष के पाँच, पार्श्व के पाँच, उदर के तीन, कटि के पाँच, उरु के पाँच, जघा के पाँच और पैर के पाँच प्रकार के अभिनय बताए गए हैं। भरत ने सोलह भूमिचारियो और सोलह आकाशचारियो का वर्णन करके दस आकाश मडल और दस भौम मडल के अभिनय का परिचय देते हुए गति के अभिनय का विस्तार से वर्णन किया है कि किस भूमिका के व्यक्ति की मच पर किस रस मे, कैसी गति होनी चाहिए, किस जाति, आश्रम, वर्ण और व्यवसायवाले को रगमच पर कैसे चलना चाहिए तथा रथ, विमान, आरोहण, अवरोहण, आकाशगमन आदि का अभिनय किस गति से करना चाहिए। गति के ही समान आसन या बैठने की विधि भी भरत ने विस्तार से समझाई है। जिस प्रकार यूरोप मे घनवादियो (क्यूबिस्ट्स) ने अभिनयकौशल के लिये व्यायाम का विधान किया है वैसे ही भरत ने भी अभिनय के लिये व्यायाम, नस्य और आहार के नियम बताए हैं। इस प्रकार भरत ने अपने नाटचशास्त्र मे अत्यत सूक्ष्मता के साथ आगिक अभिनय का ऐसा विस्तृत विवरण दिया है कि अभिनय के सबध मे ससार के किसी देश मे अभिनय-कला का वैसा सागोपाग निरूपण नही हुआ।

सात्विक अभिनय तो उन भावो का वास्तविक और हार्दिक अभिनय है जिन्हे रस सिद्धातवाले सात्विक भाव कहते हैं और जिसके अतर्गत, स्वेद, स्तभ, कप, अश्रु, वैवर्ण्य, रोमाच, स्वरभग और प्रलय की गणना होती है। इनमे से स्वेद और रोमाच को छोडकर शेष सबका सात्विक अभिनय किया जा सकता है। अश्रु के लिये तो विशेष साधना आवश्यक है, क्योकि भावमग्न होने पर ही उसकी सिद्धि हो सकती है।

अभिनेता रगमच पर जो कुछ मुख से कहता है वह सबका सब वाचिक अभिनय कहलाता है। साहित्य में तो हम लोग व्याकृता वाणी ही ग्रहण करते हैं, किंतु नाटक मे अव्याकृता वाणी का भी प्रयोग किया जा सकता है। चिडियो की बोली, सीटी देना या ढोरो को हाँकते हुए चटकारी देना आदि सब प्रकार की ध्वनियो को मुख से निकालना वाचिक अभिनय के अतर्गत आता है। भरत ने वाचिक अभिनय के लिये ६३ लक्षणो का और उनके दोष-गुण का भी विवेचन किया है। वाचिक अभिनय का सबसे बडा गुण है अपनी वाणी के आरोह-अवरोह को इस प्रकार साध लेना कि कहा हुआ शब्द या वाक्य अपने भाव और प्रभाव को बनाए रखे। वाचिक अभिनय की सबसे बडी विशेषता यही है कि यदि कोई जवनिका के पीछे से भी बोलता हो तो केवल उसकी वाणी सुनकर ही उसकी मुखमुद्रा, भावभगिमा और आकाक्षा का ज्ञान किया जा सके।

आहार्य अभिनय वास्तव मे अभिनय का अग न होकर नेपथ्यकर्म का अग है और उसका सबध अभिनेता से उतना नही है जितना नेपथ्यसज्जा करनेवाले से। किंतु आज के सभी प्रमुख अभिनेता और नाटचप्रयोक्ता यह मानने लगे हैं कि प्रत्येक अभिनेता को अपनी मुखसज्जा और रूपसज्जा स्वय करनी चाहिए।

भरत के नाट्यशास्त्र मे सबसे विचित्र प्रकरण है चित्राभिनय का, जिसमें उन्होंने ऋतुओ, भावो, अनेक प्रकार के जीवो, देवताओ, पर्वत, नदी, सागर

५८-६०, शीर-उल्-आज़म शिब्ली (आजमगढ, १९८५, उर्दू मे लिखित) भाग ३, पृ० ७८–७२, मुहम्मद हुसेन आजाद दरबार-ए-अकबरी (लाहौर, १९२२, उर्दू में लिखित), पृ० १००-१०६, एम० ए० गनी ए हिस्ट्री ऑव पर्शियन लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर ऐट मुगल कोर्ट (अकबर) (इलाहाबाद, १९३०) पृ ३९-६७ [यू० हु० खाँ]

अबू उबैद:, मउमर बिन बिल् मसन्नी

अबू उबैद का जन्म बसरा मे हुआ था। यह यहूदी-ईरानी नस्ल का था। इसने अपने लेखो मे दयालु अरबो के विरुद्ध शुऊबी आदोलन का साथ दिया। इस कारण कुछ लोग भूल से इसे 'खारिज़ी' (त्यक्त) कहते हैं। इसके अध्ययन का विशेष विषय अरबी भाषा की बारीकियाँ, अरबी के अर्थ तथा वर्णन में नवीन योजनाएँ, अरबो का बीता हुआ इतिहास तथा उनकी आपसी विभिन्नताएँ एव विरोध है। यह पहला आदमी है जिसने नई विद्या पर पुस्तक लिखी। इसकी रचना 'मजाजुल्कुरान' प्रसिद्ध है। यह व्यग्य तथा हास्य में भी अद्वितीय था। इतनी विद्वत्ता के रहते हुए भी यह अरबी शेरो तथा कुरान की आयतो को शुद्धरूप में नही पढ सकता था। इसने लगभग दो सौ पुस्तके लिखी हैं, जिनकी केवल अधूरी सूची मिलती है। खलीफा हारूँअल्रशीद के बुलाने पर यह बगदाद गया था, जहाँ असमई से इसकी खूब नोक झोक रही। इसकी मृत्यु सन् २०९ हि०, सन् ८२४ ई० में हुई।

[आर० आर० शे०]

अबूतमाम, हबीब बिन औसुत्ताई

दमिश्क के पास जासिम गाँव मे इसका जन्म हुआ। यह गाँव से दमिश्क जाकर वस्त्र बुनने का काम करने लगा। दमिश्क से हम्स जाकर इसने शिक्षा प्राप्त की। फिर मिस्र चला गया, जहाँ जामेअ अमरू में लोगो को पानी पिलाने लगा। वहाँ यह विद्वानो की सभाओ मे जाता आता था। कुछ समय बाद यह बगदाद गया। खलीफा मुअतसिम ने इसकी कविता की ख्याति सुनकर इसे अपने दरबार में रख लिया। खलीफा के अतिरिक्त मत्रियो तथा सरदारो पर भी कविता करता था और उनके प्रसाद तथा पुरस्कारो से सतुष्ट था। इसकी अवस्था अभी अधिक नही हुई थी कि मौसल में इसकी मृत्यु हो गई।

अबूतमाम के दीवान में प्रशस्ति, मरसिया, गज़ल, आत्मप्रशसा आदि सभी प्रकार की कविताएँ मिलती हैं। काव्यशैली वैज्ञानिक तथा दार्शनिक है। यदि हमें एक ओर उसमें उच्च विचार तथा सुकुमार भाव मिलते हैं, तो दूसरी ओर अप्रचलित शब्द और उलझी कल्पनाएँ भी मिलती है। इसकी शैली क्लिष्ट हो गई है। अबूतमाम की एक और कृति है, जिस पर इसकी प्रसिद्धि विशेष रूप मे आधारित है। यह अरब के कवियो की रचनाओ का सकलन है, जो विभिन्न भागो मे बँटा है। इसमें एक भाग हमास (वीरता) भी है और इसी सबब से इसने इस सग्रह का नाम 'दीवान अल् हमासा' रखा है। इसका काल सन् १८० हि० से सन् २२८ हि० (सन् ७९६ ई० से सन् ८४३ ई०) तक है। [आर० आर० शे०]

अबूनुवास हसन बिन हानी

अबूनुवास का जन्म खुज़िस्तान की राजधानी अहवाज में हुआ। इसके माता-पिता साधारण वित्त के थे। यह शुद्ध अरब नही था प्रत्युत ईरानी रक्त का मेल था। इसके बाल बहुत बडे बडे थे, जो कधो पर लटकते रहते थे। इसी कारण इसने अबूनुवास पदवी ग्रहण की। इसने बसरा तथा कूफा में शिक्षा प्राप्त की और वहाँ से बगदाद पहुँचा। वहा यह पहले बरमको के यहाँ रहा, जिन्होने इसे बहुत धन दिया। फिर यह हारूँअल्रशीद के दरबार का आश्रित हुआ। स्वभाव से यह ऐय्याश था और मदिरापान की भी इसकी बहुत कमजोरी थी। इस कारण खलीफा ने इससे अप्रसन्न होकर इसे कैद कर लिया। इसे इस कारण बार बार कैद भुगतनी पडी। हारूँअल्रशीद की मृत्यु पर खलीफा अमीन ने इसे अपना विशिष्ट कवि नियत कर लिया। इसकी मृत्यु ५४ वर्ष की अवस्था में हुई। मरने से पहले इसने कुकर्मो से तोबा कर लिया था और भक्तिपूर्ण कविता करने लगा था।

अबूनुवास के दीवान में हर प्रकार की कविता के नमूने मिलते है, पर इसकी वास्तविक रुचि मदिरा तथा प्रेमवर्णन में है और इस क्षेत्र मे यह अपने अन्य समसामयिको से बहुत आगे बढ गया है। उसने पूर्ववर्तियो का अनुगमन बहुत प्रयत्न तथा परिश्रम से किया है, पर उसका वास्तविक रुझान नवीनता की ही ओर है। उसका समय सन् (७६२ ई० से सन् ८१३ ई०) १४५ हि० से १९८ हि० तक है। [आर० आर० शे०]

अबू बक्र

उस्मान के पुत्र जिनके उपनाम 'सिद्दीक' और 'अतीक' भी थे। सुन्नी मुसलमान इनको चार प्रमुख पवित्र खलीफाओ मे अग्रणी मानते हैं। ये पैगबर मुहम्मद के प्रारभिक अनुयायियो मे से थे और इनकी पुत्री आयशा पैगबर की चहेती पत्नी थी। उन्होने ४०,००० दिरहम की पूँजी से व्यापार आरभ किया था जो उस समय घटकर ५००० दिरहम रह गई थी जब उन्होने पैगबर के साथ मदीना को प्रस्थान किया। पैगबर की मृत्यु (जून ८, ६३२ ई०) के पश्चात् मदीना के आदिवासियो ने एक सभा मे लबे विवाद के पश्चात् अबू बक्र को पैगबर का खलीफा (उत्तराधिकारी) स्वीकार किया। ये उस समय ६० वर्ष के, इकहरे शरीर, किंतु प्रबल साहस और शक्तिवाले विनम्र व्यक्ति थे। उन्हें देखकर गुमान भी नही होता था कि वह अपनी दो वर्ष और तीन मास की खिलाफत की छोटी सी अवधि मे इस्लाम को इतिहास के सबसे बडे खतरो से बचा सकेंगे।

पैंगबर की मृत्यु होते ही मक्का, मदीना और ताइफ नामक तीन नगरो के अतिरिक्त समस्त अरब प्रदेश इस्लाम विमुख हो गया। पैगबर द्वारा लगाए गए करो और नियुक्त किए गए कर्मचारियो का लोगो ने बहिष्कार कर दिया। तीन अप्रामाणिक पुरुष पैगबर तथा एक अप्रामाणिक स्त्री पैंगबर अपना पृथक् प्रचार करने लगे। अपने घनिष्ठतम मित्रो के परामर्श के विरुद्ध अबू बक्र ने विद्रोही आदिवासियो से समझौता नही किया। ११ सैनिक दस्तो की सहायता से उन्होने समस्त अरब प्रदेश को एक वर्ष मे नियत्रित किया। मुसलमान न्यायपडितो ने धर्मपरिवर्तन के अपराध के लिये मृत्युदड निश्चित किया है, किंतु अबू बक्र ने उन सब जातियो को क्षमा कर दिया जिन्होने इस्लाम और उसकी केंद्रीय शक्ति को पुन स्वीकार कर लिया।

पदारोहण के एक वर्ष के भीतर ही अबू बक्र ने खालिद (पुत्र वलीद) को, जो ससार के सर्वोत्तम सेनापतियो मे से था, आज्ञा दी कि वह मुसन्ना नामक सेनापति के साथ १८,००० सैनिक लेकर इराक पर चढाई करे। इस सेना ने ईरानी शक्ति को अनेक लडाइयो मे नष्ट करके बाबुल तक, जो ईरानी साम्राज्य की राजधानी मदाइन के निकट था, अपना आधिपत्य स्थापित किया। इसके बाद खालिद ने अबू बक्र के आज्ञानुसार इराक से सीरिया की ओर कूच किया और वहाँ मरुस्थल को पार करके वह ३०,००० अरब सैनिको से जा मिला और १००, ००० बिजतीनी सेना को फिलस्तीन के अजनदैइन नामक स्थान पर परास्त किया (३१ जुलाई, ६३४ ई०)। कुछ ही दिनो बाद अबू बक्र का देहात हो गया (२३ अगस्त, ६३४)।

शासनव्यवस्था मे अबू बक्र ने पैगबर द्वारा प्रतिपादित गरीबी और आसानी के सिद्धातो का अनुकरण किया। उनका कोई सचिवालय और राजकीय कोष नही था। कर प्राप्त होते ही व्यय कर दिया जाता था। वह ५००० दिरहम सालाना स्वय लिया करते थे, किंतु अपनी मृत्यु से पूर्व उन्होने इस धन को भी अपनी निजी सपत्ति बेचकर वापस कर दिया।

स० ग्र०—म्योर कैलिफेट, उर्दू-तवरी के इतिहासो का अनुवाद, जैसे इब्ने अहसीर (हैदराबाद में मुद्रित) तथा इब्ने खलदून। [मु० ह०]

अबू सिंबेल, इप्सबुल

नूबिया मे नील नद के तट पर कोरोस्को के दक्षिण प्राचीन मिस्री फराऊन रामेसेज़ द्वितीय द्वारा ई० पू० १३वी सदी के मध्य निर्मित मदिरो का परिवार। इन मदिरो की सख्या तीन है जिनमें से प्रधान फराऊन सेती के समय बनना आरभ हुआ था और उसके पुत्र के शासन में समाप्त हुआ। तीनो मदिर चट्टानो को काटकर बनाए गए हैं और इनमें से कम से कम प्रधान मदिर तो प्राचीन जगत् में अनुपम है। मदिरो के सामने रामेसेज़ की चार विशालकाय बैठी युग्म मूर्तियाँ द्वार के दोनो ओर बनी हुई हैं, ये प्राय ६५ फुट ऊँची हैं। रामेसेज़ की मूर्तियो के साथ उसकी रानी और पुत्र पुत्रियो की भी मूर्तियाँ कोरकर बनी हैं। मदिर सूर्यदेव आमेनरा की आराधना के लिये बने थे। मदिर के भीतर चट्टानो में ही कटे अनेक बडे
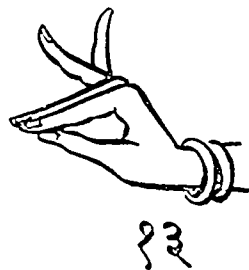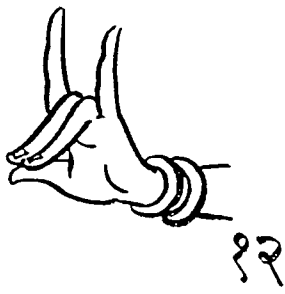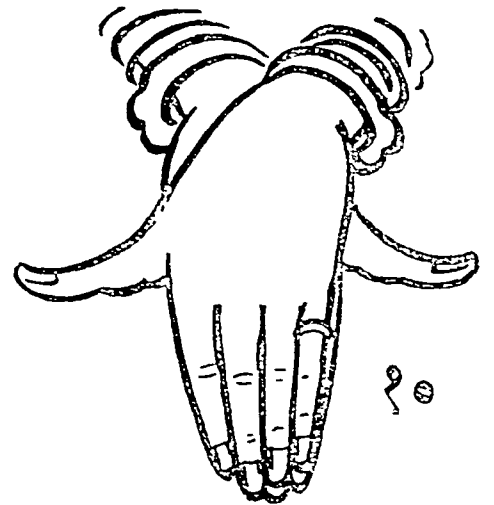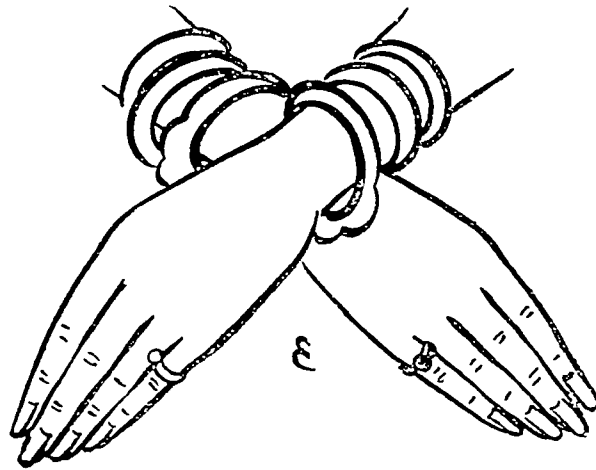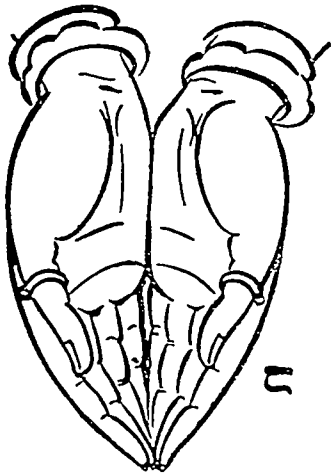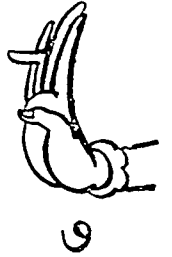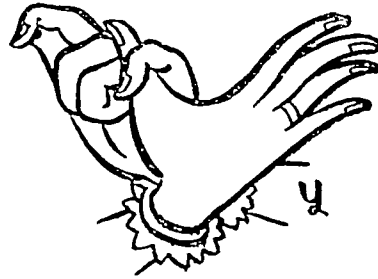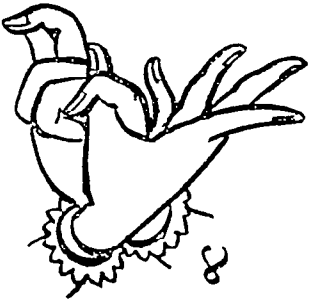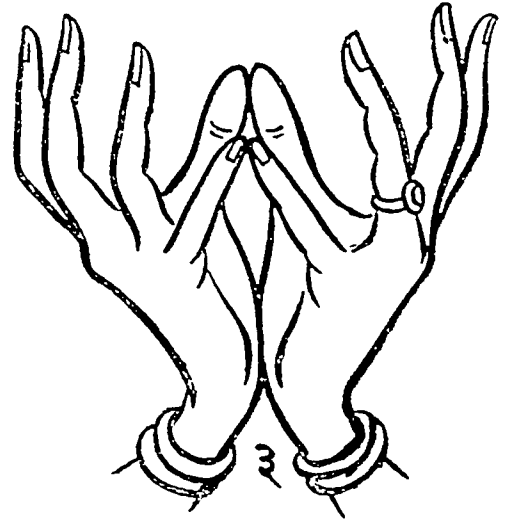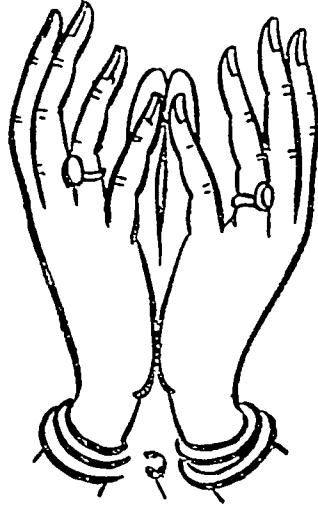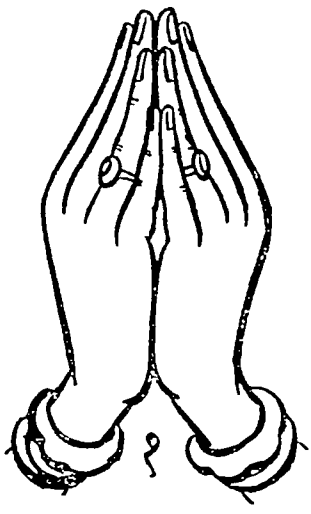
हाथ की अँगुलियो द्वारा भावप्रकाश

(१) सपुट कमल, (२) अर्धविकसित कमल, (३) फुल्ल कमल, (४-५) मयूर, (६) पताक, (७) त्रिपताक, (८) अजलि मुद्रा, (९) स्वस्तिक मुद्रा, (१०) मत्स्य मुद्रा, (११-१२) मृग मुद्रा, (१३) हसास्य, (१४) नख मुद्रा, (१५) गरुड मुद्रा (देखे 'अभिनय', पृष्ठ १७१)।

अब्दुर्रहीम खाँ खानखानाँ, नवाब जन्म लाहौर में १४ सफर, सन् ६६८ हि०, १७ दिसंबर, सन् १५५६ ई०। पिता बैराम खाँ के गुजरात में मारे जाने पर यह दिल्ली लाए गये और सम्राट् अकबर ने इनकी रक्षा का भार स्वयं ग्रहण कर लिया। वह स्वयं प्रतिभाशाली थे इसलिए अति शीघ्र तुर्की, फारसी, संस्कृत, हिंदी आदि कई भाषाओं के ज्ञाता हो गए। यह फारसी, हिंदी तथा संस्कृत के सुकवि और साहित्यमर्मज्ञ भी हो गए। तीनों भाषाओं में इनकी प्रचुर कविता मिलती है। तुर्की से फारसी में बाबरनामा का अनुवाद भी इन्होंने किया है। यह बीस वर्ष की अवस्था में अपनी योग्यता के कारण गुजरात के शासक नियत हुए, जिस पद पर पाँच वर्ष रहे। इसके अनंतर मीर अर्ज तथा सुलतान सलीम के अभिभावक नियुक्त किए गए। सन् १५८३ ई० में गुजरात में सरखेज के युद्ध में शत्रु की चौगुनी सेना को पूर्णतया परास्त कर दिया, जिससे इन्हें पाँचहजारी मंसब तथा खानखानाँ की पदवी मिली। सन् १५९२ ई० में यह मुल्तान के प्रांताध्यक्ष नियत हुए और इन्होंने सिंध तथा ठट्टा विजय किया। सन् १५९५ ई० में ये दक्षिण भेजे गए, जहाँ इन्होंने अहमदनगर घेरा। सन् १५९७ ई० की फरवरी में सुहेल खाँ के अधीन दक्षिण के तीन सुलतानों की सम्मिलित सेनाओं को आष्टी के मैदान में घोर युद्ध करके परास्त किया। सन् १६०० ई० में अहमदनगर विजय किया और बरार के प्रांताध्यक्ष नियत हुए। जहाँगीर के राज्यकाल में प्राय ये अंत तक दक्षिण ही में नियत रहे, पर शाहजादों तथा अन्य सरदारों के विरोध से कोई अच्छा कार्य नही कर सके। शाहजहाँ के विद्रोह करने पर इन्होंने एक प्रकार से उन्हीं का पक्ष लिया, पर इस दुरंगी चाल का यही फल निकला कि इनके कई पुत्र-पौत्र मार डाले गए। महाबत खाँ के विद्रोह पर उसका पीछा करने के लिए यह नियत हुए, पर दिल्ली में बीमार होकर सन् १०३६ हि०, सन् १६२७ ई० में मर गए।

यह बड़े सच्चरित्र, उदार तथा गुणग्राहक थे और इनके संबंध में इनकी बहुत-सी कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। दोहावली, नगरशोभा, मदनाष्टक आदि हिंदी रचनाएँ विख्यात हैं। रहीम कवि के नीतिपरक दोहे प्रसिद्ध हैं तथा इन्होंने कृष्णभक्ति संबंधी कुछ पदों की भी रचना की थी जो अत्यंत भावपूर्ण हैं। अवधी में उनकी बरवै नायिकाभेद नामक रचना प्रसिद्ध है। अपनी उक्तियों के वैचित्र्य से उन्होंने बिहारी जैसे कवि को प्रभावित किया।

सं० ग्रं०—१ मआसिरे रहीमी, २ मुगल दरबार भाग २, ३, रहिमन विलास। [ब्र० दा०]

अब्दुल हक़ हापुड़ में जन्म १८६९ ई० में, शिक्षा अधिकतर अलीगढ़ में प्राप्त की और वहीं से १८९४ ई० में बी० ए० पास किया। १८९६ ई० में हैदराबाद राज में नौकरी मिल गई। लिखने की रुचि विद्यार्थी जीवन से ही थी। १८९६ ई० में एक पत्रिका "अफसर" निकाली। दक्षिण भारत में रहने के कारण इसका अवसर मिला कि वह प्रारंभिक "दक्खिनी उर्दू" की खोज करें। इसमें उनको बड़ी सफलता मिली। जब वह १९११ ई० में अंजुमने तरक्की उर्दू के मंत्री बनाए गए तब उनके गवेषणापूर्ण कामों में और उन्नति हुई। उसमानिया विश्वविद्यालय में अनुवाद का जो विभाग बना उसकी देखरेख भी अब्दुल हक के ही हाथ में दी गई। १९२१ ई० से उन्होंने 'उर्दू' नाम से एक बहुत ही उच्च कोटि की आलोचनात्मक और खोजपूर्ण पत्रिका निकाली जो आज भी निकल रही है। कुछ समय तक वह उसमानिया विश्वविद्यालय में उर्दू विभाग के अध्यक्ष भी रहे।

१९३६ ई० में वह देहली चले आए। कुछ समय तक महात्मा गांधी के हिंदुस्तानी आंदोलन के साथ भी रहे। १९३७ ई० में इलाहाबाद युनिवर्सिटी से उन्हें आनरेरी डाक्टरेट मिली। भारतवर्ष का बँटवारा होने के बाद मौलाना अब्दुल हक़ (जिनको कुछ लोग "बाबा-ए-उर्दू" भी कहने लगे थे) पाकिस्तान चले गए। वहाँ भी "अंजुमने-तरक्की उर्दू" का संचालन वही कर रहे हैं।

उनकी रचनाओं में मरहूम देहली कालेज, मरहठी पर फारसी का असर, उर्दू नशव व नुमा में सूफियाए किराम का काम, नुसरती, कवायदे उर्दू, मुकद्दमाते अब्दुल हक़ और तनकीदाते अब्दुल हक प्रसिद्ध हैं।

सं० ग्रं०—अब्दुल लतीफ जौहरे अब्दुल हक, रामबाबू सक्सेना तारीखे-अदबे उर्दू, डा० एजाज हुसेन मुखतसर तारीख अदबे उर्दू। [सै० ए० हु०]

अब्बादीदी अरबों का वह खानदान जिसने सेविल में सन् १०२३ ई० में एक स्वतंत्र राज्य कायम किया। उस घराने के संस्थापक सेविल के काजी अबुलकासिम मोहम्मद बिन इस्माइल थे। इनके पुरखे शाम देश से स्पेन आए थे। इनका राज्य बड़ा तो न था, फिर भी आसपास की रियासतों में सबसे शक्तिशाली था। अबुल कासिम ने स्पेन और अरब के मुसलमानों को बर्बरों के विरुद्ध संगठित कर दिया। उनका पुत्र ऐबाद स्पेन के मुसलमान खानदानों के इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हो गया है। वह स्वयं कवि और विद्वानों का संरक्षक था, पर वह जालिम और कठोरहृदय भी था। वह अपने विरोधियों को निर्दयता से कुचल दिया करता था। वह शत्रुओं की खोपड़ियाँ जमा किया करता था। प्रसिद्ध लोगों की खोपड़ियाँ वह बक्सों में सुरक्षित रखता और साधारण लोगों की खोपड़ियों के दीवट या गुलदान बनवाया करता था। उसका सारा बल अपने समय के लोगों से लड़ने में खर्च हुआ। उसकी मौत (१०६९ ई०) के बाद से इस घराने का विनाश आरंभ हुआ। इस कुल के अंतिम राजा अलमोतमिद को ईसाई राजा अलफान्सो चतुर्थ ने पराजित किया और उसकी मौत मराकश में कैद में हुई। [मु० अ० अ०]

अब्बासी इस नाम से तीन घराने इतिहास में विख्यात हैं। अब्बासी खलीफा, ईरान के शफवी बादशाह और सूदान का एक राजकुल। अब्बासी खलीफाओं ने बगदाद को अपनी राजधानी बनाया था। वे अब्बास बिन अब्दुल मुत्तलिब बिन हाशिम की संतान थे। अल अब्बास की औलाद ने खोरासान को अपना ठिकाना बनाया और उनके पौत्र मोहम्मद बिन अली ने बनी ओमय्या को जड़ से उखाड़ फेंकने की पूरी तैयारियाँ कर ली थी। वह अपने प्रयत्न में सफल रहे और ७४७ ई० में खोरासान में विद्रोह हुआ। बनी ओमय्या की सेना पराजित हुई। ७४९ में अबुल अब्बास ने खिलाफत का दावा किया और अलसफ्फाह यानी खूनी का नाम धारण करके बनी ओमय्या के एक एक आदमी को तलवार के घाट उतार दिया। इस कुटुंब का एक व्यक्ति अब्दुल रहमान बिन मोआविया अपनी जान बचाकर स्पेन भाग गया और करतबा में बनी ओमय्या का राज स्थापित कर लिया। अबू जाफरिल मंसूर ने बगदाद को अपनी राजधानी बनाकर राजनैतिक केंद्र को पूर्व की ओर हटा दिया। इस नए घराने ने ज्ञान-विज्ञान की रक्षा में बड़ा हिस्सा लिया परंतु इतने बड़े राज्य में एकता को केंद्रित करना आसान काम न था। ७८८ ई० में इद्रीस बिन अब्दुल्लाह ने मराकश में एक अलग स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। खैरवान को भी स्वतंत्रता मिल गई। खोरासान में वहाँ के शासक ताहिर जुल मनन ने ८१० ई० में खलीफा की अधीनता मानने से इनकार कर दिया और ८६८ ई० में मिस्र के शासक ने भी अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी।

खलीफा अल् मोत्तसिम (८३३-४२) ने तुर्क दासों की एक शरीररक्षक सेना बनाई और इस अब्बासी घराने की अवनति शुरू हो गई। तुर्क दासों का बल राजनीतिक कार्यों में धीरे धीरे बढ़ता गया। खलीफा अल मुक्तदर ने ९०८ ई० में मुनिस को, जो तुर्क शरीररक्षक सेना का अध्यक्ष था, अमीरुल उमरा की उपाधि दी और उसी के साथ साथ सारे राजनीतिक अधिकार उसे सौंप दिए। जब फातमी खानदान मिस्र में अपनी शक्ति बढ़ा रहा था, तब अब्बासी खलीफाओं के धार्मिक कार्यों को भी बड़ा धक्का पहुँचा। अब्बासी खिलाफत के पूर्वी क्षेत्र में कई स्वतंत्र राज्य बन गए जिनमें प्रधान तुर्किस्तान में सल्जुकों का था। जब तुर्कों का प्रभाव बढ़ा तब खलीफा के राज्य की हद बगदाद नगर और उसके निकटवर्ती क्षेत्र में सीमित हो गई।

बगदाद पर १२५८ ई० में हलाकू ने आक्रमण कर अल् मोतसिम का वध कर दिया। अब्बासियों का कुटुंब तितर बितर हो गया और लोगों ने भागकर मिस्र में शरण ली। फातिमी सुलतानों ने उन्हें खलीफा अवश्य मान लिया, मगर उनका राजनीतिक या धार्मिक मामलों में कुछ भी प्रभाव न रहा। १५१७ ई० में उस्मानी तुर्क सलीम प्रथम की अधीनता में मिस्र पर आक्रमण करके शाही खानदान का अंत कर दिया गया। वह आखिरी

अमरीकी रगशालाओ मे प्रत्येक अभिनेता से यह आशा की जाने लगी कि वह अपने अभिनय मे कोई नवीनता और मौलिकता दिखाकर अत्यत अप्रत्याशित ढग का अभिनय करके लोगो को सतुष्ट करे। आजकल अभिनेता के लिये यह आवश्यक माना जाने लगा है कि वह अपनी कल्पना का प्रयोग करके नाटक के भाव की प्रत्येक परिस्थिति मे अपने अभिनय का ऐसा सश्लिष्ट सयोजन करे कि उससे नाटक मे कुछ विशेष चेतना और सजीवता उत्पन्न हो। उसका धर्म है कि वह रगशाला के व्यावहारिक दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर अपनी प्रतिभा के बल से नाटककार की भावना का उचित और स्पष्ट सरक्षण करता हुआ नाटक का प्रवाह और प्रभाव बनाए रखे।

आजकल के प्रसिद्ध अभिनेताओ का कथन है कि अभिनेता को किसी विशेष पद्धति का अनुसरण नही करना चाहिए और न किसी अभिनेता का अनुसरण करना चाहिए। श्रीमती पैट्रिक कैंबल तो अभिनय की पद्धति चलाने के ही विरुद्ध है और उस अभिनेता से बहुत चिढती हैं जो उनका या किसी दूसरे अभिनेता का अनुसरण करके अभिनय करता हो। वास्तव मे अभिनय का कोई एक सिद्धात नही है, जो दो नाटको के लिये या दो अभिनेताओ के लिये किसी एक परिस्थिति मे समान कहा जा सके। आजकल के अभिनेता-सचालक (ऐक्टर-मैनेजर) इसी मत के है कि अच्छे अभिनेता को ससार के सब नाटको की सब भूमिकाओ के लिये सिद्ध होना चाहिए और यदि यह न हो तो अपनी प्रकृति के अनुसार भूमिकाओ के लिये कोई निश्चित प्रणाली ढूँढ निकालनी चाहिए और तदनुसार अपने को स्वय शिक्षित करते चलना चाहिए। आजकल के अधिकाश नाट्याचार्यो का मत है कि नाटक को प्रभावशाली बनाने के लिये अभिनेता को न तो बहुत अधिक प्रकृतिवादी होना चाहिए और न अधिक अभिव्यजनावादी या लयवादी। अतिरजित अभिनय तो कभी करना ही नही चाहिए।

आजकल की अभिनयप्रणाली मे एक चरित्राभिनय (कैरेक्टर ऐक्टिंग) की रीति चली है जिसमे एक अभिनेता किसी विशेष प्रकार के चरित्र मे विशेषता प्राप्त करके सदा सब नाटको मे उसी प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है। चलचित्रो के कारण इस प्रकार के चरित्र-अभिनेता बहुत बढते जा रहे हैं किंतु कला की दृष्टि से यह चरित्राभिनय अत्यत हेय है क्योकि इससे कला की परिधि सकुचित हो जाती है।

भूमिका मे स्वीकृत पद, अवस्था, प्रकृति, रस और भाव के अनुसार छ प्रकार की गतियो मे अभिनय होता है—अत्यत करुण मे स्तब्ध गति, शात मे मद गति, शृगार, हास और बीभत्स मे साधारण गति, वीर मे द्रुत गति, रौद्र मे वेगपूर्ण गति और भय मे अतिवेगपूर्ण गति। इन सबका विधान विभिन्न भावो, व्यक्तियो, अवस्थाओ और परिस्थितियो पर अवलबित होता है। अभिनय का क्षेत्र बहुत व्यापक है। सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि अभिनेता को मौलिक होना चाहिए और किसी पद्धति का अनुसरण न करके यह प्रयत्न करना चाहिए कि अपनी रचना के द्वारा नाटककार जो प्रभाव अपने दर्शको पर डालना चाहता है उसका उचित विभाजन हो सके।

स०ग्र०—भरत नाटचशास्त्र, के० ऐम्ब्रोस क्लैसिकल डान्सेज ऐंड कॉस्टच्यूम्स ऑव इडिया (१९५२), नदिकेश्वर अभिनयदर्पण (१९३४), सीताराम चतुर्वेदी अभिनव नाट्यशास्त्र (१९५०), शारदातनय. भावप्रकाशन (१९३०), लार्डिस निकल वर्ल्ड ड्रामा (१९५१), सिडनी डब्ल्यू० कैरोल ऐक्टिग आन दि स्टेज (१९४७), एन० डिडसे दि थिएटर (१९४८), एन० चेरकासोव नोट्स ऑव ए सोवियत ऐक्टर (१९५६), सारा बर्नहार्ट दि आर्ट ऑव दि थिएटर (१९३०)। [सी० च०]

अभिनवगुप्त तत्र तथा साहित्यशास्त्र के मूर्धन्य आचार्य। जन्म कश्मीर मे दशम शताब्दी के मध्य भाग मे हुआ था (लगभग ९५० ई०—९६० ई० के बीच)। इनका कुल अपनी विद्या, विद्वत्ता तथा तात्रिक साधना के लिये कश्मीर मे नितात प्रख्यात था। इनके पितामह का नाम था वराह गुप्त तथा पिता का नरसिह गुप्त जो लोगो मे 'चुखुल' या 'चुखुलक' के घरेलू नाम से भी प्रसिद्ध थे। अभिनव मे ज्ञान की इतनी तीव्र पिपासा विद्यमान थी कि इसकी तृप्ति के लिये इन्होने कश्मीर के बाहर जालधर की यात्रा की और वहाँ अर्धत्र्यबक मत के प्रधान आचार्य शभुनाथ से कौलिक मत के सिद्धातो और उपासनातत्वो का प्रगाढ अनुशीलन किया। इन्होने अपने गुरुओ के नाम ही नहीं दिए हैं, प्रत्युत उनसे अधीत शास्त्रो का भी निर्देश किया है। इन्होने व्याकरण का अध्ययन अपने पिता नरसिह गुप्त से,ब्रह्मविद्या का भूतिराज से, क्रम और त्रिक् दर्शनो का लक्ष्मण गुप्त से, ध्वनि का भट्टेद्रराज से तथा नाटचशास्त्र का अध्ययन भट्ट तोत (या तौत) से किया। इनके गुरुओ की सख्या बीस तक पहुँचती है। अभिनव ने कौलिक साधना की शिक्षा कौलाचार्य शभुनाथ से प्राप्त की तथा उन्ही के कथनानुसार उन्हे इस साधना से पूर्ण शाति तथा सिद्धि प्राप्त हुई।

अभिनव गुप्त के आविर्भावकाल का पता उन्ही के ग्रथो के समयनिर्देश से भली भाँति लगता है। इनके आरभिक ग्रथो मे क्रमस्तोत्र की रचना ६६ लौकिक सवत् (=९९१ ई०) मे और भैरवस्तोत्र की ६८ स० (=९९३ ई०) मे हुई। इनकी 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्षिणी' का रचनाकाल ९० लौकिक स० (=१०१५ ई०) है। फलत इनकी साहित्यिक रचनाओ का काल ९९० ई० से लेकर १०२० ई० तक माना जा सकता है। इस प्रकार इनका समय दशम शती का उत्तरार्द्ध तथा एकादश शती का आरभिक काल स्वीकार किया जा सकता है।

ग्रथरचना—अभिनव गुप्त तत्रशास्त्र, साहित्य और दर्शन के प्रौढ आचार्य थे और इन तीनो विषयो पर इन्होने ५० से ऊपर मौलिक ग्रथो, टीकाओ तथा स्तोत्रो का निर्माण किया है। अभिरुचि के आधार पर इनका सुदीर्घ जीवन तीन कालविभागो मे विभक्त किया जा सकता है

(क) **तात्रिक काल**—जीवन के आरभ मे अभिनव गुप्त ने तत्रशास्त्रो का गाढ अनुशीलन किया तथा उपलब्ध प्राचीन तत्रग्रथो पर इन्होने अद्वैतपरक व्याख्याएँ लिखकर लोगो मे व्याप्त भ्रात सिद्धातो का सफल निराकरण किया। क्रम, त्रिक तथा कुल तत्रो का अभिनव ने क्रमश अध्ययन कर तद्विषयक ग्रथो का निर्माण इसी क्रम से सपन्न किया। इस युग की प्रधान रचनाएँ ये है—**बोधपंचदशिका, मालिनीविजय वार्तिक, परात्रिंशिकाविवरण, तंत्रालोक, तत्रसार, तंत्रोच्चय, तत्रवटधानिका। तंत्रालोक** त्रिक तथा कुल तत्रो का विशाल विश्वकोश ही है जिसमे तत्रशास्त्रके सिद्धातो, प्रक्रियाओ तथा तत्सबद्ध नाना मतो का पूर्ण, प्रामाणिक तथा प्राजल विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह ३७ परिच्छेदो मे विभक्त विराट् ग्रथराज है जिसमे बध का कारण, मोक्षविषयक नाना मत, प्रपच का अभिव्यक्तिप्रकार तथा सत्ता, परमार्थ के साधक उपाय, मोक्ष के स्वरूप, शैवाचार की विविध प्रक्रिया आदि विषयो का सुदर प्रामाणिक विवरण देकर अभिनव ने तत्र के गभीर तत्वो को वस्तुत आलोकित कर दिया है। अतिम तीनो ग्रथ इसी के क्रमश सक्षिप्त रूप है जिनमे सक्षेप पूर्वापेक्षया ह्रस्व होता गया है।

(ख) **आलंकारिक काल**—अलकारग्रथो का अनुशीलन तथा प्रणयन इस काल की विशिष्टता है। इस युग से सबद्ध तीन प्रौढ रचनाओ का परिचय प्राप्त है—**काव्य-कौतुक-विवरण, ध्वन्यालोकलोचन** तथा **अभिनवभारती। काव्यकौतुक** अभिनव के नाटचशास्त्र के गुरु भट्ट तौत की अनुपलब्ध प्रख्यात कृति है जिसपर इनका 'विवरण' अन्यत्र सकेतित ही है, उपलब्ध नही। **लोचन** आनदवर्धन के 'ध्वन्यालोक' का प्रौढ व्याख्यानग्रथ है तथा **अभिनवभारती** भरत-नाटच-शास्त्र के पूर्ण ग्रथ की पाडित्यपूर्ण प्रमेयबहुल व्याख्या है।

(ग) **दार्शनिक काल**—अभिनव गुप्त के जीवन मे यह काल उनके पाडित्य की प्रौढि और उत्कर्ष का युग है। परमत का तर्कपद्धति से खडन और स्वमत का प्रौढ प्रतिपादन इस काल की विशिष्टता है। इस काल की प्रौढ रचनाओ मे ये नितात प्रसिद्ध है—**भगवद्गीतार्थसग्रह, परमार्थसार, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिणी** तथा **ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिणी।** अतिम दोनो ग्रथ अभिनव गुप्त के प्रौढ पाडित्य के निकसगावा है। ये उत्पलाचार्य द्वारा रचित 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञ' के व्याख्यान है। पहले मे तो केवल कारिकाओ की व्याख्या है और दूसरे मे उत्पल की ही स्वोपज्ञ वृत्ति (आजकल अनुपलब्ध) 'विवृति' की प्राजल टीका है। प्राचीन गणनानुसार चार सहस्र श्लोको से सपन्न होने के कारण पहली टीका 'चतु सहस्री' (लघ्वी) तथा दूसरी 'अष्टादशसहस्री' (अथवा बृहती) के नाम से भी प्रसिद्ध है जिनमे अतिम टीका अब तक अप्रकाशित ही है।

विशेष प्रभाव या विचार उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार इमारती इजीनियर किसी इमारत में सुनिश्चित टिकाऊपन और दृढता लाने के लिये उसकी विविध मापो को नियत करता है। ये सभी बाते अभिकल्पना के अतर्गत है।

वास्तुविद का कर्तव्य है कि वह ऐसी व्यवहार्य अभिकल्पना प्रस्तुत करे जो भवननिर्माण की लक्ष्यपूर्ति मे सुविधाजनक एव मितव्ययी हो। साथ ही उसे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इमारत का आकार उस क्षेत्र के पडोस के अनुकूल हो और अपने इर्द गिर्द खडी पुरानी इमारतो के साथ भी उसका ठीक मेल बैठ सके। मान लीजिए, इर्द गिर्द के सभी मकान मेहराबदार दरवाजेवाले है, तो उनके बीच एक सपाट डाट के दरो का, मादे ढग के सामनावाला मकान शोभा नही देगा। इसी तरह यदि आस-पास के मकानो के बाहरी भाग नगी ईंटो के हो, तो उनके बीच पलस्तर किया हुआ मकान अनुपयुक्त सिद्ध होगा। इसी तरह और भी कई बाते है जिनका विचार पार्श्ववर्ती वातावरण को दृष्टि मे रखते हुए किया जाना चाहिए। दूसरी विशेष बात जो वास्तुविद के लिये विचारणीय है, वह है भवन के बाहरी आकार के विषय मे एक स्थिर मत का निर्णय। वह ऐसा होना चाहिए कि एक राह चलता व्यक्ति भी भवन को देखकर बिना पूछे यह समझ ले कि वह भवन किसलिये बना है। जैसे, एक कालेज को अस्पताल सरीखा नही लगना चाहिए और न अस्पताल की ही आकृति कालेज सरीखी होनी चाहिए। बक का भवन देखने मे पुष्ट और सुरक्षित लगना चाहिए और नाटकघर या सिनेमाभवन का बाहरी दृश्य शोभनीय होना चाहिए। वास्तुविद को यह सुनिश्चित होना चाहिए कि उसने उस पूरे क्षेत्र का भरपूर उपयोग किया है जिसपर उसे भवन निर्मित करना है।

कलापूर्ण अभिकल्पनाओ के अतर्गत मनोरजन अथवा रगमच के लिये पर्दे रँगना, अलकरण के लिये विभिन्न प्रकार के चित्राकन, किसी विशेष विचार को अभिव्यक्त करने के लिये भित्तिचित्र बनाना आदि कार्य भी आते है। कलाकार की खूबी इसी में है कि वह अपनी अभिकल्पना को यथार्थ आकार दे। चित्र को कलाकार के विचारो की सजीव अभिव्यक्ति का प्रतीक होना चाहिए। चित्र की आवश्यकता के अनुसार कलाकार पेंसिल के रेखाचित्र, तैलचित्र, पानी के रगो के चित्र आदि बनाए।

इमारतो के इजीनियर को वास्तुविद की अभिकल्पना के अनुसार ही अपनी अभिकल्पना ऐसी बनानी होती है कि इमारत अपने पर पडनेवाले सब भारो को सँभालने के लिये यथेष्ट पुष्ट हो। इस दृष्टि से वह निर्माण के लिये विशिष्ट उपकरणो का चुनाव करता है और ऐसे निर्माण-पदार्थ लगाने का आदेश देता है जिनसे इमारत सस्ती तथा टिकाऊ बन सके। इसके लिये इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि निर्माण के लिये सुझाए गए विशिष्ट पदार्थ बाजार में उपलब्ध है या नही, अथवा सुझाई गई विशिष्ट कार्यशैली को कार्यान्वित करने के लिये अभीष्ट दक्षता का अभाव तो नही है। भार का अनुमान करने मे स्वय इमारत का भार, बनते समय या उसके उपयोग मे आने पर उसका चल भार, चल भारो के आघात का प्रभाव, हवा की दाब, भूकप के धक्को का परिणाम, ताप, सकोच, नीव के बैठने आदि अनेक बातो को ध्यान मे रखना पडता है।

इनमे से कुछ भारो की गणना तो सूक्ष्मता से की जा सकती है, किंतु कई ऐसे भी है जिन्हे विगत अनुभवो के आधार पर केवल अनुमानित किया जा सकता है। जैसे, भूकप के बल को ले—इसका अनुमान बडा कठिन है और इस बात की कोई पूर्वकल्पना नही हो सकती कि भूकप कितने बल का और कहाँ पर होगा। तथापि सौभाग्यवश अधिकतर चल और अचल भारो के प्रभाव की गणना बहुत कुछ ठीक ठीक की जा सकती है।

ताप एव सकोचजनित दाबो का भी पर्याप्त सही अनुमान पूरे ऋतुचक्र के तापो में होनेवाले व्यतिक्रमो के अध्ययन तथा कक्रीट के ज्ञात गुणो द्वारा किया जा सकता है। हवा एव भूकप के कारण पडनेवाले बल अततोगत्वा अनिश्चित ही होते है, परतु उनकी मात्रा के अनुमान में थोडी त्रुटि रहने से प्राय कोई हानि नही होती। निर्माणसामग्री साधारणत इतनी पुष्ट लगाई जाती है कि दाब आदि बलो मे ३३ प्रति शत वृद्धि होने पर भी किसी प्रकार की हानि की आशका न रहे। नीव के धँसने का अच्छा अनुमान नीचे की भूमि की उपयुक्त जाँच से हो जाता है। प्रत्येक अभिकल्पक को कुछ अज्ञात तथ्यो को भी ध्यान मे रखना होता है, यथा कारीगरो की अक्षमता, किसी समय लोगो की अकल्पित भीड का भार, इस्तेमाल मे लाए गए पदार्थों की छिपी सभाव्य कमजोरियाँ इत्यादि। इन तथ्यो को "सुरक्षागुणक" (फैक्टर ऑव सेफ्टी) के अतर्गत रखा जाता है, जो इस्पात के लिये २ से २½ तक और कक्रीट, शहतीर तथा अन्य उपकरणो के लिये ३ से ४ तक माना जाता है। सुरक्षा-गुणक को भवन पर अतिरिक्त भार लादने का बहाना नही बनाना चाहिए। यह केवल अज्ञात कारणो (फैक्टर्स) के लिये है और एक सीमा तक ह्रास के लिये भी, जो भविष्य में भवन को धक्के, जर्जरता एव मौसम की अनिश्चितताएँ सहन करने के लिये सहायक सिद्ध हो सकता है। [ज० कृ०]

अभिजाततंत्र अभिजाततत्र (अरिस्टॉक्रेसी) वह शासनतत्र है जिसमे राजनीतिक सत्ता अभिजन के हाथ में हो। इस सदर्भ में 'अभिजन' का अर्थ है कुलीन, विद्वान्, बुद्धिमान्, सद्गुणी, उत्कृष्ट। पश्चिम मे 'अरिस्टॉक्रेसी' का अर्थ भी लगभग यही है। अफलातून और उसके शिष्य अरस्तू ने अपनी पुस्तको में अरिस्टॉक्रेसी को बुद्धिमान्, सद्गुणी व्यक्तियो का शासनतत्र माना है।

अभिजाततत्र का उल्लेख प्राय अनेक देशो के इतिहास मे मिलता है। विद्वानो का मत हे कि भारत मे भी प्राचीन काल मे कुछ अभिजाततत्र थे। अफलातून की सुविख्यात पुस्तक 'रिपब्लिक' मे वर्णित आदर्श नगरव्यवस्था सर्वज्ञ दार्शनिको का अभिजाततत्र है। इन दार्शनिको के लिये अफलातून ने कौटुबिक और सपत्ति सबधी साम्यवाद की व्यवस्था की है।

राज्यदर्शन के इतिहास मे धनिकतत्र को भी कभी कभी अभिजाततत्र माना गया है। इसके दो कारण है। प्रथम, दोनो में शासनसत्ता एक व्यक्ति या समस्त वयस्क नागरिको के हाथ मे न होकर थोडे से व्यक्तियो के हाथ मे होती है। दूसरे, कुछ का मत है कि धनसचय चरित्रवान् ही कर सकते है और इस प्रकार वह सद्गुण की अभिव्यक्ति है। अनेक आधुनिक समाजशास्त्रियो का मत है कि राजतत्र और जनतत्र मे भी वास्तव में सप्रभुता थोडे से व्यक्तियो के ही हाथ मे होती है। राजा को शासन-सचालन के लिये चतुर राजनीतिज्ञो की सहायता पर निर्भर रहना पडता है। जनतत्र मे भी प्राय सामान्य जनता को राजनीति मे रुचि नही होती, वह अनुगामी होती है। शासन की बागडोर जनतत्र में भी चतुर राजनीतिज्ञो के ही हाथ में होती है और वे धनी होते है। वास्तविक राजनीतिक प्रक्रिया मे जो सपन्न है, वही चतुर है, वही राजनीतिज्ञ है, प्रशासन और राजनीतिक दलबदी में उन्ही का सिक्का चलता है।

किंतु अभिजन की नियुक्ति कैसे हो? यदि जननिर्वाचन द्वारा, तो वह एक प्रकार का जनतत्र है। यदि अन्य किसी प्रकार से, तो अभिजन शासक सकीर्ण, स्वार्थी, दुर्विनीत और धनप्रिय हो जाते है और अपनी क्षमता को परिवर्तित परिस्थिति के अनुरूप नही रख पाते।

आज जनतत्र और अभिजाततत्र की प्रमुख समस्या यही है कि किसी प्रकार राज्य मे धन के वृद्धिशील प्रभाव का निराकरण हो और जनसाधारण बुद्धिमान् सेवापरायण व्यक्तियो को अपना शासक निर्वाचित करे।

स०ग्र०—अरस्तू राजनीति (भोलानाथ शर्मा द्वारा अनुवाद), जायसवाल, के० पी० 'हिंदूपालिटी', अफलातून आदर्श नगर व्यवस्था (भोलानाथ शर्मा द्वारा अनुवाद), लुडोवीसी, ए० एम० दि डिफेंस ऑव अरिस्टॉक्रेसी। [गो० ना० ध०]

अभिधम्म साहित्य बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके शिष्यो ने उनके उपदिष्ट 'धर्म' और 'विनय' का सग्रह कर लिया। अट्ठकथा की एक परपरा से पता चलता है कि 'धर्म' से दीघनिकाय आदि चार निकायग्रथ समझे जाते थे, और धम्मपद सुत्तनिपात आदि छोटे छोटे ग्रथो का एक अलग सग्रह बना दिया गया था, जिसे 'अभिधर्म' (=अतिरिक्त धर्म) कहते थे। जब धम्मसगणि आदि जैसे विशिष्ट ग्रथो का भी समावेश इसी सग्रह में हुआ, जो अतिरिक्त छोटे ग्रथो से अत्यत भिन्न प्रकार के थे, तब उनका अपना एक स्वतत्र पिटक–

नववी अभियांत्रिकी, कपन, पोतनिर्माण, उष्मा स्थानातरण, प्रशीतन (रेफ्रीजरेशन) है।

विद्युत् अभियांत्रिकी में विद्युद्यत्र, विद्युत्-शक्ति-उत्पादन, सचरण तथा वितरण, जलविद्युत्, रेडियोसपर्क, विद्युत्मापन, विद्युदविष्ठापन, अत्युच्चावृत्ति कार्य, नाभिकीय अभियांत्रिकी, वैद्युदाण्विकी (इलेक्ट्रॉनिक्स) हैं।

रासायनिक अभियांत्रिकी में चीनी मिट्टी सबधी अभियांत्रिकी, दहन, विद्युत् रसायन, गैस अभियांत्रिकी, वात्वीय तथा पेट्रोलियम अभियांत्रिकी, उपकरण तथा स्वयचल नियत्रण, चूर्णन, मिश्रण तथा विलगन, प्रसृति (डिफ्यूज़न) विद्या, रासायनिक यत्रों का आकल्पन तथा निर्माण, विद्युत् रसायन है।

कृषीय अभियांत्रिकी में औद्योगिक प्रबध, खनि अभियांत्रिकी, इत्यादि, इत्यादि हैं।

अभियांत्रिकी को सकीर्ण परिमित शाखाओ में विभाजित नही किया जा सकता। वे परस्परावलबी है। अभियता का अपनी समस्याओ को हल करने के लिये बुद्धि का मार्ग पकडना अभियांत्रिकी को सब शाखाओ मे पाया जाता है। प्रायोगिक और प्राकृतिक दोनो प्रकार की घटनाओ का निरपेक्ष निरीक्षण तथा इस प्रकार के निरीक्षण के फलो का अभियांत्रिक समस्याओ पर ऐसी सावधानी से प्रयोग, जिसने समय और धन के न्यूनतम व्यय से समाज को अधिकतम सेवा मिले, अभियांत्रिकी की प्रमुख पद्धति है। शुद्ध वैज्ञानिक अभियांत्रिकी की उलझनो को सुलझाने की रीति वैज्ञानिक चाहे खोज पाए हो या न पाए हो, अभियता को तो अपना कार्य पूरा करना ही होगा। ऐसी अवस्था मे अभियता कुछ सीमा तक प्रायोगिक विश्लेषण का सहारा लेता है और कार्यरूप मे परिणत होनेवाला ऐसा हल ढूंढ निकालता हे जो, रक्षा का समुचित प्रबध रखते हुए, उसकी प्रतिदिन की समस्याओ को सुलझाने योग्य बना सकता है। जैसे जैसे सबधित वैज्ञानिक अग का उसका ज्ञान अधिक अचूक होता जाता है, वह रक्षा के प्रबध मे कमी करके व्यय भी घटा सकता है। समस्याओ के बौद्धिक और क्रियात्मक विचार ने ही अभियता को उन क्षेत्रो मे भी प्रवेश करने योग्य बनाया है जो आरभ से ही वैज्ञानिक, आयुर्वैज्ञानिक (डाक्टर), अर्थशास्त्री, प्रबधक, मानवीय-शास्त्र-वेत्ता इत्यादि से सरोकार रखते समझे जाते है।

विश्व का इतिहास अभियांत्रिकी के रोमास की कहानी से भरा पडा है। भारत और विदेशो में दूरदर्शी तथा निश्चित सकल्पवाले मनुष्यो ने अपने स्वप्नो के अनुसरण मे सब कुछ दावँ पर लगाकर महत्वपूर्ण कार्य सपादित किए है। प्रत्येक अभियांत्रिक अभियान मे तत्सबधी विशेष समस्याएँ रहती हैं और इनको हल करने मे छोटी तथा बडी दोनो प्रकार की प्रतिभाओ को अवसर मिलता है। अभियांत्रिकी का आधिपत्य मनुष्य जाति पर तब तक बना रहेगा जब तक हम ऐसे अभियता तैयार करते जायँगे जिनके गुणो का सुदर वर्णन मयमत मे निम्नलिखित शब्दो मे किया गया है

स्थपति स्थापनार्ह स्यात् सर्वशास्त्रविशारद ।
न हीनाङ्गोऽतिरिक्ताङ्गो धार्मिकश्च दयापर ॥
अमात्सर्योऽनसूयश्चातन्द्रितस्त्वभिजातवान् ।
गणितज्ञ पुराणज्ञ सत्यवादी जितेंद्रिय ॥
चित्रज्ञो देशकालज्ञश्चान्नदश्चाप्यलुब्धक ।
अरोगी चाप्रमादी च सप्तव्यसनवर्जित ॥

[मयमत, अ० ५]

अर्थात्, उस अभियता (स्थपति) को निर्माण करने का अधिकार है जो सब विज्ञानो मे विशारद है, जिसका ज्ञान न तो अपूर्ण और न अनावश्यक है, जो न्यायी, दयालु तथा द्वेष और ईर्ष्यारहित है, अध्यवसाय मे निरतर रत और अपने व्यवसाय के परपरागत उच्च आदर्शो तथा प्रथाओ का अनुगत हे, जो गणित और अपने विषय के इतिहास का जाननेवाला, सत्यवादी और जितेंद्रिय है, जिसे अपने कार्य के रूप, देश तथा काल का ज्ञान है, जो दूसरो का पालन करनेवाला तथा निर्लोभी है, जो निरोगी, अपने निर्णय में कभी भी भूल न करनेवाला तथा सातो प्रकार के व्यसनो से निर्लिप्त है।

[सी० वा० जो०]

अभियांत्रिकी तथा प्राविधिक शिक्षा किसी वाणिज्य या व्यवसाय मे, विशेषकर अभियांत्रिकी (इजीनियरी) के कार्यो की आधारभूत कलाओ और विज्ञानो में व्यक्तियो को प्रशिक्षित करना प्राविधिक शिक्षा कहलाता है। अभियांत्रिक शिक्षा मे आज अभियांत्रिकी की केवल पुरानी शाखाएँ—नागरिक (सिविल), यान्त्रिक (मिकैनिकल), खनिज (माइनिंग) और वैद्युत (इलेक्ट्रिकल) अभियांत्रिकी और उसके विभाग, जैसे सडक अभियांत्रिकी, पत्तन अभियांत्रिकी, मोटरकार (ऑटोमोबाइल) अभियांत्रिकी, यत्र-निर्माण अभियांत्रिकी, भवन अभियांत्रिकी, प्रभासन (इल्यूमिनेटिंग) अभियांत्रिकी इत्यादि—ही समिलित नही है, प्रत्युत ऐसी सगत शाखाएँ भी समिलित हैं, जैसे रासायनिक अभियांत्रिकी और धातुकार्मिक (मेटालर्जिकल) अभियांत्रिकी।

आधुनिक विशेषीकरण के होते हुए भी अभियांत्रिकी की सब शाखाओ के लिये सामान्य विज्ञान तथा गणित की पक्की नीव पहले से डाल रखने की नितात आवश्यकता रहती है।

अभियांत्रिकी शिक्षा के उद्देश्य और स्तर—अभियांत्रिकी शिक्षा के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित होने चाहिए

(१) उनको प्रशिक्षित करना जो भविष्य मे उद्योग के नायक होंगे,

(२) औद्योगिक कार्यकर्ताओ को इस प्रकार प्रशिक्षित करना कि वे बताया हुआ अपना काम अधिक दक्षता और लगन से कर सकें,

(३) उन व्यक्तियो को प्रशिक्षित करना जो सरकार के भवन तथा सडक निर्माण, नहर तथा सिंचाई और अन्य अभियांत्रिकी विभागो की देखभाल करेंगे।

प्रारभिक सामान्य शिक्षा—औद्योगिक श्रमिक सेना के अधिकाश व्यक्तियो के लिये अच्छी प्राथमिक शिक्षा, जिसमे विज्ञान, गणित और प्रकृतिअध्ययन का समावेश हो, व्यावसायिक पाठशालाओ मे भरती होने के लिये पर्याप्त होगी।

अभियांत्रिकी शिक्षा में उपाधिपत्र (डिप्लोमा अथवा सर्टिफिकेट) उन लोगो के लिये उपयुक्त होता है जो अभियांत्रिकी विश्वविद्यालयो मे नही अध्ययन कर सकते। ऐसे व्यक्तियो के लिये हाई स्कूल तक विज्ञान और गणित का ज्ञान न्यूनतम योग्यता समझी जानी चाहिए। उपाधिपत्र का पाठ्यक्रम तीन वर्षो का होना चाहिए और उसके बाद लगभग दो वर्षो तक किसी कारखाने अथवा सरकारी निर्माण विभाग मे क्रियात्मक प्रशिक्षण लेना चाहिए। भारत मे ऐसी कई उपाधिपत्र पाठशालाएँ सरकार ने अथवा गैरसरकारी सस्थाओ ने हाल मे खोली हैं।

अभियांत्रिकी में विश्वविद्यालय तक की शिक्षा—इस शिक्षा के लिये न्यूनतम योग्यता विज्ञान सहित इटरमीडिएट समझी जानी चाहिए। विश्वविद्यालय मे अथवा किसी प्रौद्योगिक सस्थान (टेकनोलॉजिकल इस्टिट्यूट) मे चार वर्षो का पाठ्यक्रम होना चाहिए और उसके बाद एक वर्ष तक अपरेंटिसी (शिक्षा)।

विद्यार्थियो के लिये सुझाव—(१) विद्यार्थियो को अपने स्वास्थ्य, व्यायाम और सामाजिक मिलनसारी पर पूरा ध्यान रखना चाहिए। अच्छा स्वास्थ्य और अच्छी नागरिकता अमूल्य है, (२) अभियांत्रिकी शिक्षा के प्रत्येक स्तर मे आधारभूत सिद्धातो पर अधिकतम बल लगाना चाहिए। ज्ञान तभी बहुमूल्य होता है जब उसका उपयोग हो सके। इसलिये सीखना चाहिए कि निर्देशक ग्रथ, अभियांत्रिकी परिषदो के समक्ष पढे गए खोजपत्र आदि से सहायता कैसे ली जा सकती है। सिद्धातो के प्रयोग से फल निकालना विशिष्ट फलो को रट लेने से कही अच्छा है। उनको जो उच्चतम पदो पर पहुँचना चाहते है, या पहुँच जाते हैं, न केवल समुचित और विस्तृत सामान्य शिक्षा का अधिकारी होना चाहिए, वरन् अपने क्रियाशील जीवन भर अध्ययन और खोजो को जारी रखना चाहिए।

भारत में अभियांत्रिकी शिक्षा का इतिहास—भारत में अभियांत्रिकी का सबसे पुराना विद्यालय टौमसन कालेज है जो रुडकी (उत्तर प्रदेश) मे सन् १८४७ ई० में स्थापित किया गया था। सन् १९४९ मे इसे रुडकी इजीनियरिंग विश्वविद्यालय में रूपातरित कर दिया गया। अब अधिकाश

आदि का, अनेक अवस्थाओं तथा प्रात, साय, चद्रज्योत्स्ना आदि के अभिनय का विवरण दिया है। यह समूचा अभिनयविधान प्रतीकात्मक ही है, किंतु ये प्रतीक उस प्रकार के नही हैं जिस प्रकार के यूरोपीय प्रतीकाभिनयवादियो ने ग्रहण किए हैं।

अभिनय करने की प्रवृत्ति वचपन से ही मनुष्य में तथा अन्य अनेक जीवो में होती है। हाथ, पैर, आँख, मुँह, सिर चलाकर अपने भाव प्रकट करने की प्रवृत्ति सभ्य और असभ्य जातियो मे समग्न रूप से पाई जाती है। उनके अनुकरण कृत्यो का एक उद्देश्य तो यह रहता है कि इससे उन्हें वास्तविक अनुभव जैसा आनद मिलता है और दूसरा यह कि इसमे उन्हें दूसरो को अपना भाव वताने में सहायता मिलती है। इसी दूसरे उद्देश्य के कारण शारीरिक या आगिक चेष्टाओं और मुखमुद्राओं का विकास हुआ जो जगली जातियो में वोली हुई भाषा के वदले या उसकी सहायक होकर आज भी प्रयोग में आती है।

यूनान में देवताओं की पूजा के साथ जो नृत्य प्रारभ हुआ वही वहाँ की अभिनयकला का प्रथम रूप था जिसमे नृत्य के द्वारा कथा के भाव की अभिव्यक्ति की जाती थी। यूनान में प्रारभ मे धार्मिक वेदी के चारो ओर जो नाटकीय नृत्य होते थे उनमे सभी लोग समान रूप से भाग लेते थे, किंतु पीछे चलकर समवेत गायको मे से कुछ चुने हुए समर्थ अभिनेता ही मुख्य भूमिकाओं के लिये चुन लिए जाते थे जो एक का ही नही, कई कई भूमिकाओं का अभिनय करते थे क्योंकि मुखौटा पहनने की रीति के कारण यह सभव हो गया था। इस मुखौटे के प्रयोग के कारण वहाँ वाचिक अभिनय तो बहुत समुन्नत हुआ किंतु मुखमुद्राओं से अभिनय करने की रीति पल्लवित न हो सकी।

इटलीवासियो में अभिनय की रुचि बडी स्वाभाविक है। नाटक लिखे जाने से बहुत पहले से ही वहाँ यह साधारण प्रवृत्ति रही है कि किसी दल को जहाँ कोई विषय दिया गया कि वह झट उसका अभिनय प्रस्तुत कर देता था। सगीत, नृत्य और दृश्य के इस प्रेम ने ही वहाँ के राजनीतिक और धार्मिक सघर्ष मे भी अभिनयकला को जीवित रखने मे बडी सहायता दी है।

यूरोप म अभिनयकला को सबसे अधिक महत्व दिया शेक्सपियर ने। उसने स्वय मानव स्वभाव के सभी पतिनिधि चरित्रो का चित्रण किया है। उसने हैमलेट के सवाद में श्रेष्ठ अभिनय के मूल तत्वों का समावेश करते हुए वताया है कि अभिनय मे वाणी और शरीर के अगो का प्रयोग स्वाभाविक रूप से करना चाहिए, अतिरजित रूप से नही।

१८वी शताब्दी मे ही यूरोप मे अभिनय के सवध मे विभिन्न सिद्धातो और प्रणालियो का प्रादुर्भाव हुआ। फ्रासीसी विश्वकोशकार देनी दिदरो ने उदात्तवादी (क्लासिकल) फ्रासीसी नाटक और उसकी रूढ अभिनयपद्धति से ऊबकर वास्तविक जीवन के नाटक का सिद्धात प्रतिपादित किया और वताया कि नाटक को फ्रास के वुर्जुवा (मध्यवर्गीय) जीवन की वास्तविकतर प्रतिच्छाया वनना चाहिए। उसने अभिनेता को यह सुझाया है कि प्रयोग के समय अपने पर ध्यान देना चाहिए, अपनी वाणी सुननी चाहिए और अपने आवेगो की स्मृतियाँ ही प्रस्तुत करनी चाहिए। किंतु 'मास्को स्टेज ऐंड इपीरियल थिएटर' के भूतपूर्व प्रयोक्ता और कलासचालक थियोदोर कौमिसारजेवस्की ने इस सिद्धात का खडन करते हुए लिखा था 'अब यह सिद्ध हो चुका हे कि यदि अभिनेता अपने अभिनय पर सावधानी से ध्यान रखता रहे तो वह न दर्शको को प्रभावित कर सकता है और न रगमच पर किसी भी प्रकार की रचनात्मक सृष्टि कर सकता है, क्योकि उसे अपने आतरिक स्वात्म पर जो प्रतिविंव प्रस्तुत करने हैं उनपर एकाग्र होने के वदले वह अपने वाह्य स्वात्म पर एकाग्र हो जाता है जिससे वह इतना अधिक आत्मचेतन हो जाता है कि उसकी अपनी कल्पना शक्ति नष्ट हो जाती है। अत, श्रेष्ठतर उपाय यह है कि वह कल्पना के आश्रय पर अभिनय करे, नवनिर्माण करे, नयापन लाए और केवल अपने जीवन के अनुभवो का अनुकरण या प्रतिरूपण न करे। जब कोई अभिनेता किसी भूमिका का अभिनय करते हुए अपनी स्वय की उत्पादित कल्पना के विश्व में विचरण करने लगता है उस समय उसे न तो अपने ऊपर ध्यान देना चाहिए, न नियत्रण रखना चाहिए और न तो वह ऐसा कर ही सकता है, क्योकि अभिनेता की अपनी भावना से उद्भूत और उसकी आज्ञा के अनुसार काम करनेवाली कल्पना अभिनय के समय उसके आवेग और अभिनय को नियमित करती, पथ दिखलाती और सचालन करती है।

२०वी शताब्दी मे अनेक नाट्यविद्यालयो, नाट्यसस्थाओं और रगशालाओं ने अभिनय के सवध मे अनेक नए और स्पष्ट सिद्धात प्रतिपादित किए। मार्क्स रीनहार्ट ने जर्मनी में और फिर्मी गेमिए ने पेरिस मे उस प्रकृतिवादी नाट्यपद्धति का प्रचलन किया जिसका प्रतिपादन फ्रास में आदे आत्वाँ ने और जर्मनी मे क्रोनेग ने किया था और जिसका विकास वर्लिन में ओटो ब्राह्म ने और मास्को मे स्तानिस्लवस्की ने किया। इन प्रयोक्ताओं ने बीच बीच मे प्रकृतिवादी अभिनय मे या तो रीतिवादी (फोर्मेलिस्ट्स) लोगो के विचारो का सनिवेश किया या सन् १९१० के पश्चात् कोमिसारजेवस्की ने अभिनय के सश्लेषणात्मक सिद्धातो का जो प्रवर्तन किया था उनका भी थोडा-बहुत समावेश किया, किंतु अधिकाश फ्रासीसी अभिनेता १८वी शताब्दी की प्राचीन स्वैरवादी (रोमाटिक) पद्धति या अर्धोदात्त (सूडो-क्लासिकल) अभिनयपद्धति का ही प्रयोग करते रहे।

सन् १९१० के पश्चात् जितने अभिनयसिद्धात प्रसिद्ध हुए उनमे सर्वप्रसिद्ध मास्को आर्ट थिएटर के प्रयोक्ता स्तानिसलवस्की की प्रणाली है जिसका सिद्धात यह है कि कोई भी अभिनेता रगमच पर तभी स्वाभाविक और सच्चा हो सकता है जब वह उन आवेगो का प्रदर्शन करे जिनका उसने अपने जीवन मे कभी अनुभव किया हो। अभिनय मे यह आतरिक प्रकृतिवाद स्तानिसलवस्की की कोई नई सूझ नही थी क्योकि कुछ फ्रासीसी नाट्यज्ञो ने १८वी शताब्दी में इन्ही विचारो के आधार पर अपनी अभिनयपद्धतियाँ प्रवर्तित की थी। स्तानिसलवस्की के अनुसार वे ही अभिनेता प्रेम के दृश्य का प्रदर्शन भली भाँति कर सकते हैं जो वास्तविक जीवन में भी प्रेम कर रहे हो।

स्तानिसलवस्की के सिद्धात के विरुद्ध प्रतीकवादियो (सिंवोलिस्ट्स), रीतिवादियो (फौर्मेलिस्ट्स) और अभिव्यजनावादियो (एक्स्प्रेशनिस्ट्स) ने नई रीति चलाई जिसमें सत्यता और जीवनतुल्यता का पूर्ण वहिष्कार करके कहा गया कि अभिनय जितना ही कम, वास्तविक और कम जीवनतुल्य होगा उतना ही अच्छा होगा। अभिनेता को निश्चित चरित्रनिर्माण करने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे गूढ विचारो को रुढ रीति से अपनी वाणी, अपनी चेष्टा और मुद्राओं द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए और वह अभिनय रूढ, जीवन-साम्य-हीन, चित्रमय और कठपुतली-नृत्य-शैली में प्रस्तुत करना चाहिए।

रूढिवादी लोग आगे चलकर मेयरहोल्द, तायरोफ और अरविन पिस्काटर के नेतृत्व में अभिनय में इतनी उछल कूद, नटविद्या और लयगति का प्रयोग करने लगे कि रगमच पर उनका अभिनय ऐसा प्रतीत होने लगा मानो कोई सरकस हो रहा हो जिसमें उछल कूद, शरीर का कलात्मक सतुलन और इसी प्रकार की गतियो की प्रधानता हो। यह अभिनय ही घनवादी (क्यूविस्टिक) अभिनय कहलाने लगा। इन लयवादियो मे से मेयरहोल्द तो आगे चलकर कुछ प्रकृतिवादी हो गया, किंतु लियोपोल्ड जेस्सवर, निकोलस ऐवरेनोव आदि अभिव्यजनावादी, या यो कहिए कि अतिरजित अभिनयवादी लोग कुछ तो रुढिवादियो की प्रणालियो का अनुसरण करते रहे और कुछ मनोवैज्ञानिक प्रकृतिवादी पद्धति का।

इस प्रकार अभिनय की दृष्टि से यूरोप में पाँच प्रकार की अभिनय पद्धतियाँ चली (१) रुढिवादी या स्थिर रीतिवादी, (फोर्मेलिस्ट) (२) प्रकृतिवादी (नेचुरलिस्ट), (३) अभिव्यजनावादी (एक्स्प्रेशनिस्ट) जो अतिरजित अभिनय करते थे, (४) घनवादी, (क्यूविस्ट) जो सतुलित व्यायामपूर्ण गतियो द्वारा यत्रात्मक अभिनय करते थे और (५) प्रतीकवादी (सिंवोलिस्ट्स), जिन्होने अपने अभिनय मे प्रत्येक भाव के अनुसार कुछ निश्चित मुखमुद्राएँ और आगिक गतियाँ प्रतीक के रूप में मान ली थी और उन सब भावो की अवस्थाओं मे वे लोग उन्ही प्रतीको का अभिनय करते थे। किंतु ये प्रतीक भारतीय मुद्राप्रतीको से पूर्णत भिन्न थे। यह प्रतीकवाद यूरोप में सफल नही हो सका।

२०वी शताब्दी के चौथे दशक से, अर्थात् द्वितीय महायुद्ध के आसपास, यूरोप की अभिनयप्रणाली में परिवर्तन हुआ और प्राय सभी यूरोपीय तथा

इनैमल द्वारा ही विभिन्न प्रकार के चित्र अंकित किए जाने लगे। इनैमल लगाने की क्रिया एक से अधिक बार भी की जा सकती है और इस प्रकार रंग को अपेक्षित स्थान पर गहरा किया जा सकता है अथवा उस पर दूसरा रंग चढ़ाकर उसका रंग बदला जा सकता है।

रंगरहित काच पर रजत लवण का लेप लगाकर और तदुपरांत काच को तप्त करने से काच की सतह पीली से नारंगी रंग तक की हो जाती है। यह रंग स्थायी और अति आकर्षक होता है। इस प्रकार के काच को भी अभिरंजित काच और इस क्रिया को "पीत अभिरंजकी" कहा जाता है। नीले काच पर इस क्रिया से काच हरा दिखाई पड़ता है। इस प्रकार का काच भी अभिरंजित काच-चित्रों के प्रयोग में आता है। पीत अभिरंजित काच का आविष्कार सन् १३२० में हुआ।

भारत में अभिरंजित काच की माँग प्रायः शून्य के बराबर है, अतः यहाँ पर यह उद्योग कहीं नहीं है। [रा० च०]

अभिलेख १ **परिभाषा और सीमा**—किसी विशेष महत्व अथवा प्रयोजन के लेख को अभिलेख कहा जाता है। यह सामान्य व्यावहारिक लेखों से भिन्न होता है। प्रस्तर, धातु अथवा किसी अन्य कठोर और स्थायी पदार्थ पर विज्ञप्ति, प्रचार, स्मृति आदि के लिये उत्कीर्ण लेखों की गणना प्रायः अभिलेख के अंतर्गत होती है। कागज, कपड़े, पत्ते आदि कोमल पदार्थों पर मसि अथवा अन्य किसी रंग से अंकित लेख हस्तलेख के अंतर्गत आते हैं। कड़े पत्तों (ताड़पत्रादि) पर लौहशलाका से खचित लेख अभिलेख तथा हस्तलेख के बीच में रखे जा सकते हैं। मिट्टी की तख्तियों तथा बर्तनों और दीवारों पर उत्खचित लेख अभिलेख की सीमा में आते हैं। सामान्यतः किसी अभिलेख की मुख्य पहचान उसका महत्व और उसके माध्यम का स्थायित्व है।

२ **अभिलेखन सामग्री और यांत्रिक उपकरण**—जैसा ऊपर उल्लिखित है, अभिलेखन के लिये कड़े माध्यम की आवश्यकता होती थी, इसलिये पत्थर, धातु, ईंट, मिट्टी की तख्ती, काष्ठ, ताड़पत्र का उपयोग किया जाता था, यद्यपि अंतिम दो की आयु अधिक नहीं होती थी। भारत, सुमेर, मिस्र, यूनान, इटली आदि सभी प्राचीन देशों में पत्थर का उपयोग किया गया। अशोक ने तो अपने स्तंभलेख (सं० २, तोपरा) में स्पष्ट लिखा है कि वह अपने धर्मलेख के लिये प्रस्तर का प्रयोग इसलिये कर रहा था कि वे चिरस्थायी हो सकें। किंतु इसके बहुत पूर्व आदिम मनुष्य ने अपने गुहाजीवन में ही गुहा की दीवारों पर अपने चिह्नों को स्थायी बनाया था। भारत में प्रस्तर का उपयोग अभिलेखन के लिये कई प्रकार से हुआ है—गुहा की दीवारें, पत्थर की चट्टानें (चिकनी और कभी कभी खुरदरी), स्तंभ, शिलाखंड, मूर्तियों की पीठ अथवा चरणपीठ, प्रस्तरभांड अथवा प्रस्तरमंजूषा के किनारे या ढक्कन, पत्थर की तख्तियाँ, मुद्रा, कवच आदि, मंदिर की दीवारें, स्तंभ, फर्श आदि। मिस्र में अभिलेख के लिये बहुत ही कठोर पत्थर का उपयोग किया जाता था। यूनान में प्रायः संगमरमर का उपयोग होता था, यद्यपि मौसम के प्रभाव से इसपर उत्कीर्ण लेख घिस जाते थे। विशेषकर सुमेर, बाबुल, क्रीट आदि में मिट्टी की तख्तियों का अधिक उपयोग होता था। भारत में भी अभिलेख के लिये ईंट का प्रयोग यज्ञ तथा मंदिर के संबंध में हुआ है। धातुओं में सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, काँसा, लोहा, जस्ते का उपयोग किया जाता था। भारत में ताम्रपत्र अधिकता से पाए जाते हैं। काठ का उपयोग भी हुआ है, किंतु इसके उदाहरण मिस्र के अतिरिक्त अन्य कहीं अवशिष्ट नहीं है। ताड़पत्र के उदाहरण भी बहुत प्राचीन नहीं मिलते।

अभिलेख में अक्षर अथवा चिह्नों की खोदाई के लिये रुखानी, छेनी, हथौड़े (नुकीले), लौहशलाका अथवा लौहवर्तिका आदि का उपयोग होता था। अभिलेख तैयार करने के लिये व्यावसायिक कारीगर होते थे। साधारण हस्तलेख तैयार करनेवालों को लेखक, लिपिकर, दिविर, कायस्थ, करण, कर्णिक, कर्णिन् आदि कहते थे, अभिलेख तैयार करनेवालों की संज्ञा शिल्पी, रूपकार, सूत्रधर, शिलाकूट आदि होती थी। प्रारंभिक अभिलेख बहुत सुंदर नहीं होते थे, परंतु धीरे धीरे स्थायित्व और आकर्षण की दृष्टि से बहुत सुंदर और अलंकृत अक्षर लिखे जाने लगे और अभिलेख की कई शैलियाँ विकसित हुईं। अक्षरों की आकृति और शैलियों से अभिलेखों के तिथिक्रम को निश्चित करने में सहायता मिलती है।

३ **चित्र, प्रतिकृति, प्रतीक तथा अक्षर**—तिथिक्रम से अभिलेखों ने इनका उपयोग किया गया है। (इस संबंध में विस्तृत विवेचन के लिये अक्षर दे०) विभिन्न देशों में विभिन्न लिपियों और अक्षरों का प्रयोग किया गया है। इनमें चित्रात्मक, भावात्मक और ध्वन्यात्मक सभी प्रकार की लिपियाँ हैं। ध्वन्यात्मक लिपियों में भी अंकों के लिये जिन चिह्नों का प्रयोग किया जाता है वे ध्वन्यात्मक नहीं हैं। ब्राह्मी और देवनागरी दोनों के प्राचीन और अर्वाचीन अंक १ से ९ तक ध्वन्यात्मक नहीं हैं। प्राचीन अक्षरात्मक तथा चित्रात्मक अंकों की भी यही अवस्था है। सामी, यूनानी और रोमन लिपियों के भी अंक ध्वन्यात्मक नहीं हैं। यूनानी में अंकों के प्रथम अक्षर ही अंकों के लिये प्रयुक्त होते थे, जैसा एम (M), डी (D), सी (C), वी (V) और आइ (I) का प्रयोग अब तक १०००, ५००, १००, ५०, १०, (V को ही उलटा जोड़कर), ५ और १ के लिये होता है। इसी प्रकार विराम और गणित के बहुत से चिह्न ध्वन्यात्मक नहीं होते।

४. **लेखनपद्धति**—लेखनपद्धति में सबसे पहले प्रश्न आता है व्यक्तिगत अक्षरों की दिशा का। अत्यंत प्राचीन काल से अब तक अक्षरों की बनावट और अंकन में प्रायः एकरूपता पाई जाती है। अक्षर ऊपर से नीचे लंबवत् खचित अथवा उत्कीर्ण होते हैं मानो किसी कल्पित रेखा से वे लटकते हों। आधुनिक कन्नड के आड़े अक्षर भी उसी कल्पित रेखा के नीचे सँजोए जाते हैं। अक्षरों का ग्रथन प्रायः एक सीधी आधारवत् रेखा के ऊपर होता है। इस पद्धति के अपवाद चीनी और जापानी अभिलेख हैं, जिनमें पंक्तियाँ लंबवत् ऊपर से नीचे लिखी जाती हैं। लेखन पद्धति का दूसरा प्रश्न है लेखन की दिशा। भारोपीय लिपियों की लेखनदिशा बाएँ से दाएँ तथा सामी और हामी लिपियों की दाएँ से बाएँ मिलती है। कुछ प्राचीन यूनानी अभिलेखों और बहुत थोड़े भारतीय अभिलेखों में लेखनदिशा गोमूत्रिका सदृश (पहली पंक्ति में दाएँ से बाएँ, दूसरी पंक्ति में बाएँ से दाएँ और आगे क्रमशः इसी प्रकार) पाई जाती है। चीनी और जापानी अभिलेखों में पंक्तियाँ ऊपर से नीचे और लेखनदिशा दाएँ से बाएँ होती है। प्रारंभिक काल में अक्षरों के ऊपर की रेखा काल्पनिक थी अथवा किसी अस्थायी पदार्थ से लिखकर मिटा दी जाती थी। आगे चलकर वह वास्तविक हो गई, यद्यपि यूनानी और रोमन अभिलेखों में वह अक्षरों के नीचे आ गई। भारतीय अक्षरों में क्रमशः शिरोरेखा बनाने की प्रथा चल गई जो कल्पित (पुनः वास्तविक) रेखा पर बनाई जाती थी। प्राचीन अभिलेखों में एक शब्द के अक्षरों का समूहीकरण और शब्दों के पृथक्करण पर ध्यान कम दिया जाता था, यहाँ तक कि वाक्यों को अलग करने के लिये भी किसी चिह्न का प्रयोग नहीं होता था। जिन भाषाओं का व्याकरण नियमित था उनके अभिलेख पढ़ने और समझने में कठिनाई नहीं होती, शेष में कठिनाई उठानी पड़ती है। विरामचिह्नों का प्रयोग भी पीछे चलकर प्रचलित हुआ। भारतीय अभिलेखों में पूर्ण विराम के लिये दंडवत् एक रेखा (।), दो रेखा (॥) अथवा शिरोरेखा के साथ एक दंडवत् रेखा (ा) का प्रयोग होता था। किसी अभिलेख के अंत में तीन दंडवत् रेखाओं (।।।) का भी प्रयोग होता था। सामी तथा यूरोपीय अभिलेखों में वाक्य के अंत में एक बिंदु (·), दो बिंदु ( ) अथवा शून्य (०) लगाने की प्रथा थी। इसी प्रकार अभिलेखों में पृष्ठीकरण, संशोधन, संक्षिप्तीकरण तथा छूट की पूर्ति करने की पद्धति और चिह्नों का विकास हुआ। प्रायः सभी देशों में मांगलिक चिह्नों, प्रतीकों और अलंकरणों का प्रयोग अभिलेखों में होता था। भारत में स्वस्तिक, सूर्य, चंद्र, त्रिरत्न, वृद्धमंगल, चैत्य, बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, वृत्त, ओ३म् का आलंकारिक रूप, शंख, पद्म, नदी, मत्स्य, तारा, शस्त्र, कवच आदि इस प्रयोजन के लिये काम में आते थे। सामी देशों में चंद्र और तारा, ईसाई देशों में स्वस्तिक, क्रास आदि मांगलिक चिह्न प्रयुक्त होते थे। अभिलेख के ऊपर, नीचे या अन्य किसी उपयुक्त स्थान पर लांछन अथवा अंक प्रामाणिकता के लिये लगाए जाते थे।

५ **अभिलेख के प्रकार**—यदि अत्यंत प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के अभिलेखों का वर्गीकरण किया जाय तो उनके प्रकार इस भाँति पाए जाते हैं: (१) व्यापारिक तथा व्यावहारिक, (२) आभिचारिक (जादू टोना से संबद्ध), (३) धार्मिक और कर्मकांडीय, (४) उपदेशात्मक अथवा नैतिक, (५) समर्पण तथा चढ़ावा संबंधी, (६) दान संबंधी, (७) प्रशासकीय, (८) प्रशस्तिपरक, (९) स्मारक तथा (१०) साहित्यिक।

असुरनजीरपाल (८८४-८५९ ई० पू०),
(देखे, असुरनजीरपाल, पृष्ठ २६५)।

असुर राजा, वलिकर्म-परिधान में,
(देखें, असुर, पृष्ठ २६१)।

फ्रांसीसी राज्यक्रांति के बाद और मुख्यत उसके परिणामस्वरूप सगठित हुई है। किंतु अभिलेखागारो की सस्था प्राचीन काल मे भी सर्वथा अनजानी न थी। ईसा से सैकडो साल पहले राजाओ-सम्राटो की दिग्विजयो, राजकीय-प्रशासकीय घोषणाओ-फर्मानो, पारस्परिक आचरण-व्यवहारो के सबध मे जो उनके अभिलेख मदिरो-मकबरो की दीवारो, शिलाओ, स्तभो, ताम्रपत्रो आदि पर खुदे मिलते है वे भी अभिलेखागार की व्यवस्था की ओर सकेत करते है। इस प्रकार के महत्व के अभिलेख प्राचीन काल मे खोज मे अभिरुचि रखनेवाले अनेक पुराविद सम्राटो द्वारा एकत्र कर उनके अभिलेखागारो मे सदियो-सहस्राब्दियो सरक्षित रहे है। ईसा से पहले सातवी सदी (६६८-३३ ई० पू०) मे सम्राट् असुरबनिपाल ने अपनी राजधानी निनेवे मे लाखो ईंटो पर कीलनुमा अक्षरो मे खुदे अभिलेखो को एकत्र कर अपना इतिहासप्रसिद्ध अभिलेखागार सगठित किया था जिसकी सप्राप्ति और अध्ययन से प्राचीन जगत् के इतिहास पर प्रभूत प्रकाश पडा है। इसी अभिलेखागार मे प्राय तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० लिखे ससार के पहले महाकाव्य 'गिलगमेश' की मूल प्रति उपलब्ध हुई है। खत्ती रानी का मिस्र के फराऊन के साथ युद्धविरोधी पत्रव्यवहार आज भी उपलब्ध है जो प्राचीनतम सरक्षित अभिलेख के रूप मे पुराकालीन अतर्राष्ट्रीय सबध का प्रमाण प्रस्तुत करता है और ई० पू० ल० द्वितीय सहस्राब्दी के मध्य का है।

अभिलेखो के राष्ट्रीय अभिलेखागारो मे आधुनिक ढग से प्रशासकीय सरक्षण की व्यवस्था पहली बार फ्रांसीसी राज्यक्रांति के समय हुई जब फ्रास मे (१) राष्ट्रीय और (२) विभागीय ('नात्सिओन' तथा 'दपार्तमाँ') अभिलेखागार (आर्कीव) क्रमश १७८९ और १७९६ मे सगठित हुए। बाद मे इसी सगठन के आधार पर बेल्जियम, हालैड, प्रशा, इग्लैड आदि ने भी अपने अपने अभिलेखागार व्यवस्थित किए। इग्लैड और ब्रिटिश राष्ट्रसघ मे अभिलेखो और अभिलेखागारो की लाक्षणिक सज्ञा 'रेकर्ड' तथा 'रेकर्ड आफिस' है।

इग्लैड ने १८३८ में ऐक्ट बनाकर देश के विविध स्वतत्र अभिलेखसग्रहो का केंद्रीकरण कर उनको लदन मे एकत्र कर दिया। इस दिशा मे विशेषत दो प्रकार की व्यवस्था विविध राष्ट्रो मे प्रचलित है। कुछ ने तो सारे प्रदेशीय अभिलेखागारो के अभिलेखो को राजधानी मे सुरक्षित कर उन्हे बद कर दिया है और कुछ ने केंद्रीकरण की नीति अपनाकर स्थानीय दृष्टि से महत्वपूर्ण अध्ययन और उपयोग के निमित्त अभिलेखो को यथास्थान प्रदेश मे ही सुरक्षित रखा है। इसके अतिरिक्त उन्होने ऐसे केंद्रीय अभिलेखो को भी प्रदेश मे भेज दिया है जिनका सबध उन प्रदेशो के इतिहास, राजनीति या व्यापारव्यवस्था से रहा है। कुछ राष्ट्रो ने एक तीसरी नीति अपनाकर केंद्र और प्रदेशो के अभिलेखागारो में तत्सबधी महत्व की दृष्टि से अभिलेखो को बाँटकर सुरक्षित किया है। अनेक अभिलेखो की प्रतिलिपियाँ बनाकर यथावश्यक स्थानो मे रखने की व्यवस्था है। यह व्यवस्था विशेषकर दो अथवा अधिक राष्ट्रो के पारस्परिक व्यवहार सबधी अभिलेखो की रक्षा के लिये होती है। इस सबध मे अतर्राष्ट्रीय अभिलेखागार भी सगठित किए गए है।

ब्रिटिश शासनकाल मे भारत मे भी महत्व के 'रेकर्ड' सगृहीत और सरक्षित करने की योजना स्वीकृत हुई और आज इस देश मे भी राष्ट्रीय अभिलेखागार दिल्ली मे सगठित है।

देशविभाजन के बाद जिन अभिलेखो का सबध भारत और पाकिस्तान दोनो से है उनकी प्रतिलिपियाँ पाकिस्तान ने बनवा ली है। विस्तृत विवरण के लिये दे० 'अभिलेखालय'।

अभिलेखागारो की व्यवस्था और अभिलेखो की सुरक्षा विशेष विधि से की जाती है। इसके लिये सर्वत्र विशेषज्ञ नियुक्त है। अभिलेखो का नियमन, उनका विभाजन और वर्गीकरण आज एक विशिष्ट विज्ञान ही बन गया है। इस दिशा मे अमरीकी सयुक्त राज्य ने विशेष प्रगति की है। राज्य अथवा सस्था अभिलेखो की सुरक्षा की उत्तरदायी होती है। अध्ययनादि के लिये उनके उत्तरोत्तर सार्वजनिक उपयोग की व्यवस्था आधुनिक अभिलेखागार-आदोलन का प्रधान लक्ष्य है।

स० ग्र०—ए० एफ० कूलमान द्वारा सपादित आर्काइव्ज ऐंड लाइब्रेरिज, १९३९-४०, जी बूर्गें ले आर्कीव नासिओनाल द फ्रास, १९३९, यूरोपियन आर्काइवल प्रैक्टिसेज इन अरेंजिग रेकर्ड्स (यू० एस० नेशनल आर्कीव्ज), १९३९, सोवियत एसाइक्लोपीडिया आर्काइव, एसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका आर्काइव्ज। [भ० श० उ०]

अभिलेखालय, भारतीय राष्ट्रीय

स्वतत्रता के बाद भारत मे भी अपना अभिलेखागार स्थापित हुआ। उसे भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखालय कहते है। इससे पूर्व इसका नाम इपीरियल रेकर्ड डिपार्टमेट (साम्राज्य-अभिलेख विभाग) था। यह अभिलेखालय प्रथमोक्त नाम से नई दिल्ली के जनपथ और राजपथ के चौक के पास लाल और सफेद पत्थरो के एक भव्य भवन मे स्थित है। प्राकृतिक सकटो से अभिलेखो की रक्षा के लिये आधुनिक वैज्ञानिक साधन प्रस्तुत कर लिए गए है।

इस विभाग को सन् १८९१ मे ईस्ट इडिया कपनी के समय से इकट्ठे हुए सरकारी अभिलेखो को लेकर रखने का काम सौपा गया था। उस समय इसके अधिकारी लोग स्पष्ट रूप से यह नही जानते थे कि इसका क्या काम होगा। अभिलेख-समूह अव्यवस्थित अवस्था मे पडा था। भारत सरकार का ध्यान इस ओर तब गया जब इग्लैड और वेल्ज के अभिलेखो के सबध मे नियुक्त राजकीय आयोग ने सन् १९१४ मे भारतीय अभिलेखो की अव्यवस्थित अवस्था पर टिप्पणी की। फलत सन् १९१९ मे भारत सरकार ने भारतीय अभिलेखो के सबध मे अपनी (अभिस्ताव): सिफारिशे भेजने के लिये एक भारतीय ऐतिहासिक अभिलेख आयोग नियुक्त किया। उस आयोग की सिफारिशो के फलस्वरूप अभिलेखो की अवस्था मे धीरे धीरे सुधार होता गया और अभिलेखालय का काम अधिकाधिक स्पष्ट होता गया। अब इसका मुख्य काम है सरकार के स्थायी अभिलेखो को सँभालकर रखना और प्रशासनिक उपयोग के लिये माँगने पर सरकार के विभिन्न कार्यालयो को देना। इसके साथ ही इसको एक और काम भी सौपा गया है। वह है सरकार द्वारा निश्चित अवधि तक के अभिलेख गवेषणार्थियो को गवेषणाकार्य के लिये देना। गवेषणार्थी अभिलेखालय के गवेषणाकोष्ठ (रिसर्च रूम) मे बैठकर गवेषणाकार्य करते हैं। उपर्युक्त दो उद्देश्यो की पूर्ति के लिये ही इस विभाग का सब कार्यकलाप हो रहा है।

सरकार के वे सभी अभिलेख यहाँ समय समय पर अभिरक्षा के लिये भेजे जाते है जो अब अपने अपने विभागो, कार्यालयो, मत्रालयो आदि मे तो प्रचलित (करेंट) नही है किंतु सरकार के स्थायी उपयोग के है। इनके अतिरिक्त भूतपूर्व (वासामात्य भवनो—रेजिडेंसियो), विलीन राज्यो तथा राजनीतिक अभिकरणो के भी अभिलेख यहाँ भेजे जाते है। इस अभिलेखालय के इस्पात के ताको पर इस समय लगभग १,०३,६२५ जिल्दे और ५१,१३,००० बिना जिल्द बँधे प्रलेख (डाक्युमेंट) है। कुल मिलाकर १३ करोड (फोलियो) पृष्ठयुग्म है। इनके अतिरिक्त भारत भूमितिविभाग (सर्वे ऑव् इडिया) से ११,५०० पाडुलिपि-मानचित्र और विभिन्न अभिकरणो के ४,१५० मुद्रित मानचित्र प्राप्त हुए है। मुख्य अभिलेखमाला सन् १७४८ से आरभ होती है। इससे पूर्व के वर्षो के भी हितकारी अभिलेखसग्रहो की प्रतिलिपियाँ इडिया आफिस, लदन से मँगाकर रखी गई है। इन जिल्दो मे सन् १७०७ और १७४८ मे ईस्ट इडिया कपनी और उसके कर्मचारियो के बीच किए गए पत्रव्यवहार के सक्षेप भी है। बाद के वर्षो का पत्रव्यवहार यहाँ पर मूल मे एक अटूट माला के रूप मे मिलता है और वह ब्रिटिश भारत के इतिहास का एक अनुपम स्रोत है। इसी प्रकार मूल कसल्टेशस भी बहुत महत्वपूर्ण है। इनमे ईस्ट इडिया कपनी के प्रशासको द्वारा लिखे गए वृत्त (मिनिट्स), ज्ञापन (मेमोरडा), प्रस्ताव और सारे देश में विद्यमान कपनी के अभिकर्ताओ (एजेटो) के साथ किया गया पत्रव्यवहार है। इस देश की रहन सहन और प्रशासन का लगभग प्रत्येक पहलू इनमे मिलता है। अभिलेखो मे विदेशी हित की सामग्री और पूर्वी चिट्ठियो का एक सग्रह भी है। इन चिट्ठियो मे अधिकतर चिट्ठियाँ फारसी भाषा मे है। परतु बहुत सी सस्कृत, अरबी, हिंदी, बँगला, उडिया, मराठी, तमिल, तेलुगु, पजाबी, बर्मी, चीनी, स्यामी और तिब्बती भाषाओ मे भी है। हाल के वर्षो मे इग्लैड, फ्रास, हालैड, डेनमार्क और अमरीका से भारत के लिये हितकारी सामग्रियो की अणुचित्र-प्रतिलिपियाँ (माइक्रोफिल्म कापीज) भी प्राप्त की गई है।

वैशिष्ट्य—अभिनव गुप्त का व्यक्तित्व बडा ही रहस्यमय है। महाभाष्य के रचयिता पतजलि को व्याकरण के इतिहास मे तथा भामती-कार वाचस्पति मिश्र को अद्वैत वेदात के इतिहास में जो गौरव तथा आदरणीय उत्कर्ष प्राप्त है वही गौरव अभिनव को भी तत्र तथा अलकारशास्त्र के इतिहास में प्राप्त है। इन्होंने रस सिद्धात की मनोवैज्ञानिक व्याख्या (अभिव्यजनावाद) कर अलकारशास्त्र को दर्शन के उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किया तथा प्रत्यभिज्ञा और त्रिक दर्शनो को प्रौढ भाष्य प्रदान कर उन्हें तर्क की कसौटी पर व्यवस्थित किया। ये कोरे शुष्क तार्किक ही नही थे, प्रत्युत साधना जगत् के गुह्य रहस्यों के मर्मज्ञ साधक भी थे।

स०ग्र०—जगदीश चटर्जी काश्मीर शैविज़्म (श्रीनगर, १९१४), कातिचद्र पाडेय अभिनव गुप्त—ऐन हिस्टारिकल ऐंड फिलासोफिकल स्टडी (काशी, १९३५)। [व० उ०]

अभिप्रेरक विधि प्रणाली का शब्द है जिसका तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो किसी अन्य व्यक्ति को कोई अपराध या ऐसे कार्य के लिये प्रोत्साहित करता है जो सपादित होने पर अपराध होता है। यह आवश्यक है कि वह दूसरा व्यक्ति विधि के समक्ष अपराध करने के योग्य हो तथा उसका उद्देश्य या मनोभाव अभिप्रेरक के उद्देश्य या मनोभाव के सदृश हो। अपराध के सपादन मे योग देने के निमित्त किया गया कोई भी कार्य, चाहे वह अपराध के पूर्व किया गया हो अथवा बाद मे, अपराध करने के तुल्य समझा जाता है। भारतीय दडविधान में अभिप्रेरक तथा वास्तविक अपराधी को समान रूप से दड दिया जाता है (भारतीय दडविधान, धारा १०८)। [श्री० अ०]

अभिप्रेरण (मोटिवेशन) हमारे व्यवहार किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये होते है। हम जो कुछ करते है उनके पीछे कोई न कोई प्रयोजन होता है। अभिप्रेरण हमारे सभी कार्यो का आवश्यक आधार है। हमारी शारीरिक और मानसिक आवश्यकताएँ अभिप्रेरण के रूप मे हमारे विभिन्न प्रकार के व्यवहारो को प्रेरित करती हैं।

अभिप्रेरण के विकास में मूल कारण हमारी शारीरिक आवश्यकताएँ, जैसे भूख और प्यास, होती है। लेकिन आयु और अनुभव मे वृद्धि के साथ साथ हमारी शारीरिक आवश्यकताएँ सामाजिक और सास्कृतिक अर्थ ग्रहण कर लेती हैं। इनके साथ हमारे भावो और विचारो, रुचियो और अभिवृत्तियो का सबध हो जाता है। इस प्रकार अभिप्रेरण का आरभ मे जो पार्थिव आधार था वह कालातर में आयु और अनुभव मे वृद्धि के फलस्वरूप सामाजिक और सास्कृतिक रूप धारण कर लेता है। पशुजगत् में अभिप्रेरण का मूल आधार शारीरिक आवश्यकताएँ होती है। लेकिन मानवजगत् मे सामाजिक और सास्कृतिक परिस्थितियाँ अभिप्रेरण का स्रोत बन जाती हैं।

अभिप्रेरण का आवश्यक अग प्रयोजन (मोटिव) है। वस्तुत प्रयोजन के क्रियात्मक रूप (फेनामेनन) को ही अभिप्रेरण कहते हैं। प्रयोजन कई प्रकार के होते हैं, लेकिन स्थूल रूप से उन्हें शारीरिक और मनोवैज्ञानिक कोटियो मे बाँट सकते हैं। अवगम (लर्निंग) द्वारा प्रयोजन मे सशोधन होता है। बालक की शिक्षा दीक्षा उसके शारीरिक प्रयोजनो को वाछित सामाजिक और सास्कृतिक प्रयोजनो का रूप प्रदान करती हे। इन्ही प्रयोजनो के आधार पर किसी व्यक्ति का अभिप्रेरण बनता है। यह कथन ठीक है कि बिना प्रयोजनो के अभिप्रेरण का अस्तित्व ही नहीं होता। व्यक्ति किस दिशा में, किस सीमा तक, कितनी शक्ति के साथ प्रयास करेगा, रुचि लेगा और प्रेरित होगा यह उसके प्रयोजनो पर निर्भर है। अभिप्रेरण में व्यक्ति के विभिन्न प्रयोजन क्रियाशील होकर उसके कार्यो और व्यवहारो को दिशा प्रदान करते हैं। अभिप्रेरण का सबध व्यक्ति के जीवनमूल्यो और विश्वासों से भी होता है। व्यक्ति ज्यो ज्यो विकसित होता है त्यो त्यो वह अपने जीवनमूल्यो और विश्वासो से अभिप्रेरित होता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति में वाछित जीवनमूल्यो और विश्वासो के प्रति समान पैदा किया जाता है। यही जीवनमूल्य और विश्वास व्यक्ति के अभिप्रेरण के आवश्यक अग बन जाते है। इस प्रकार अभिप्रेरण शारीरिक और मानसिक प्रयोजनो का क्रियाशील रूप है। इसका सामाजिक और सास्कृतिक आधार होता है और इसमे व्यक्ति के जीवनमूल्यो और विश्वासो का महत्वपूर्ण स्थान है।

स०ग्र०—यग मोटिवेशन ऑव बिहेवियर, मैक्लैंड स्टडीज़ इन मोटिवेशन, मैसलो मोटिवेशन ऐंड पर्सनालिटी। [सी० रा० जा०]

अभिमन्यु अर्जुन और सुभद्रा का पुत्र, जिसने महाभारत युद्ध मे चक्रव्यूह भेदकर अपनी वीरता का परिचय दिया था। युद्ध मे १३वें दिन अर्जुन जिस समय सशप्तको से लडने चले गए थे उस समय अवसर देखकर कौरवो ने चक्रव्यूह की रचना की जिसे भेदना अर्जुन के अतिरिक्त किसी को न आता था। अभिमन्यु ने सुभद्रा के गर्भ में ही चक्रव्यूह में प्रवेश करना अपने पिता के मुख से सुन रखा था परतु उससे निकलना उसे नही आता था। फिर भी चक्रव्यूह मे प्रवेश कर वीरता का परिचय देकर उसने सद्गति प्राप्त की। [च० म०]

अभियांत्रिकी का अंग्रेजी भाषा मे पर्यायवाची शब्द "इजीनियरिंग" है, जो लैटिन शब्द "इजेनियम" से निकला है, इसका अर्थ स्वाभाविक निपुणता है। कलाविद की सहज प्रतिभा से अभियात्रिकी धीरे धीरे एक विज्ञान मे परिणत हो गई। निकट भूतकाल मे अभियात्रिकी शब्द का जो अर्थ कोश मे मिलता था वह सक्षेप मे इस प्रकार बताया जा सकता है कि "अभियात्रिकी एक कला और विज्ञान है, जिसकी सहायता से पदार्थ के गुणो को उन सरचनाओ और यत्रो के बनाने मे, जिनके लिये यात्रिकी (मिकैनिक्स) के सिद्धात और उपयोग आवश्यक हैं, मनुष्योपयोगी बनाया जाता है।" किंतु यह सीमित परिभाषा अब नही चल सकती। अभियात्रिकी शब्द का अर्थ अब एक ओर नाभिकीय अभियात्रिकी (न्यूक्लियर इजीनियरिंग) के उच्च वैज्ञानिक और प्राविधिक क्षेत्र से लेकर मानवीय गुणो से सबधित विषयो, जैसे श्रमिक नियत्रण, प्रबधीय कार्यक्षमता, समय और गति का अध्ययन इत्यादि, अनेक प्रायोगिक विज्ञानो के विस्तृत क्षेत्र को घेरे हुए है। अत अभियात्रिकी की इस प्रकार परिभाषा करना अधिक उपयुक्त होगा कि 'यह मनुष्य की भौतिक सेवा के निमित्त प्राकृतिक साधनो के दक्ष उपयोग का विज्ञान और कला है'।

अभियात्रिकी की अनेक शाखाओ मे, जैसे वास्तुनिर्माण (सिविल), यात्रिक, विद्युतीय, सामुद्र, खनिसबधी, रासायनिक, कृषीय, नाभिकीय आदि में, कुछ महत्वपूर्ण कार्य अन्वेषण, प्ररचन, उत्पादन, प्रचलन, निर्माण, विक्रय, प्रबध, शिक्षा, अनुसधान इत्यादि है। अभियात्रिकी शब्द ने कितना विस्तृत क्षेत्र छेक लिया है, इसका समुचित ज्ञान प्राप्त करने के लिये दृष्टातस्वरूप उसकी विभिन्न शाखाओ के अतर्गत आनेवाले विषयो के नाम दे देना ज्ञानवर्धक होगा।

वास्तुनिर्माण अभियात्रिकी (सिविल इजीनियरिंग) के अतर्गत अग्रलिखित विषय हैं सडकें, रेल, नौतरण मार्ग, सामुद्र अभियात्रिकी, बाँध, अपक्षरण-निरोध, बाढ-नियत्रण, नौनिवेश, पत्तन, जलवाहिकी, जलविद्युत्शक्ति, जलविज्ञान, सिंचाई, भूमिसुधार, नदी-नियत्रण, नगरपालिका अभियात्रिकी, स्थावर सपदा, मूल्याकन, शिल्पाभियात्रिकी (वास्तुकला), पूर्वनिर्मित भवन, ध्वनि-विज्ञान, सवातन, नगर तथा ग्राम अधियोजना, जलसग्रहण और वितरण, जलोत्सारण, मलापवहन, कूडे कचडे का अपवहन, सारचनिक अभियात्रिकी, पुल, कक्रीट, धात्विक सरचनाएँ, पूर्वप्रतिबलित कक्रीट (प्रिस्ट्रेस्ड कक्रीट), नीव, सधान (वेल्डिग), भूसर्वेक्षण, सामुद्रपरीक्षण, फोटोग्राफीय सर्वेक्षण (फोटोग्राफिक सर्वेयिंग), परिवहन, भूविज्ञान, द्रवयात्रिकी, प्रतिकृति, विश्लेषण, मृदायात्रिकी (सॉयल इजीनियरिंग), जलस्रावी स्तरो में चिकनी मिट्टी प्रविष्ट करना, शैलपूरित बाँध, मृत्तिका बाँध, पूरण (भरना, ग्राउटिंग) की रीतियाँ, जलाशयो से जल रसना (सीपेज) के अध्ययन के लिये विकिरणशील समस्थानिको (आइसोटोप्स) का प्रयोग, अवसाद की घनता के लिये गामा किरणो का प्रयोग।

यात्रिकी इजीनियरिंग में उष्मागतिकी, जलवाष्प, डीजेल तथा क्षिप-प्रणोदन (जेट प्रोपलशन), यत्रप्ररचना, ऋतुविज्ञान, यत्रोपकरण, जलचालित यत्र, वातुकर्मविज्ञान, वैमानिकी, मोटरकार आदि (ऑटोमोबाइल)

ई० मे सीर्जे के 'दि वेगर' या कैसर के 'फ्राम मार्निंग टिल मिड्नाइट' ऐसे ही नाटक थे। अधिकतर अभिव्यंजनावादी लेखक हिटलर के अभ्युदय के साथ जर्मनी से निष्कासित कर दिए गए, यथा अर्नेस्ट टालर, अन्य कुछ लेखक, यथा जोहर्ट, हैनिके, लेर्ग आदि, नात्सी बन गए।

स०ग्र०—एच० कार्टर दि न्यू स्पिरिट इन दि यूरोपियन थियेटर १९१४-२४ (१९२६), आर० सैमुएल ऐंड आर० एच० थामस 'एक्स्प्रेशन इन जर्मन लाइफ, लिटरेचर ऐंड दि थियेटर, १९१०-२४ (१९३९), सी० व्लैकबर्न 'कांटिनेंटल इन्फ्लुएन्सेज़ ऑन यूजीन ओ' नील्स एक्स्प्रेसिव ड्रामाज़, मी० ई० डब्ल्यू० ए० देहलूस्त्रोम स्ट्रिंडबर्ग्स ड्रामैटिक एक्स्प्रेसिज्म (१९३०)। [प्र० मा०]

अभिव्यक्ति का अर्थ विचारो के प्रकाशन से है। व्यक्तित्व के समायोजन के लिये मनोवैज्ञानिको ने अभिव्यक्ति को मुख्य साधन माना है। इसके द्वारा मनुष्य अपने मनोभावो को प्रकाशित करता तथा अपनी भावनाओ को रूप देता है। वर्तमान युग मे मनोविश्लेषण शास्त्र के विद्वानो ने व्यक्ति की अतृप्त इच्छाओ की अभिव्यक्ति के लिये कई विधियाँ बताई हैं। उनका कहना है कि विकृत मन को शांति देने के लिये सर्वप्रथम आवश्यक है कि किसी भी प्रकार की कोई क्षति उसे ऐसा करने से रोके नही। इस कार्य के लिये आज पाश्चात्य देशो में एक नवीन मानसशास्त्र का जन्म हो गया है तथा उसका प्रशिक्षण प्राप्त करने के पश्चात् लोग व्यक्ति की समस्याओ को वैज्ञानिक ढग से सुधारने मे प्रयत्नशील है। [श० ना० उ०]

अभिश्लेषण (एग्लूटिनेशन) दो वस्तुओ का मिलाना। भाषाविज्ञान में शब्दो के समेलन को अभिश्लेषण कहते है। भाषा में पदो के द्वारा अर्थ का तथा परसर्ग आदि के द्वारा सबध का बोध होता है। 'मेरे' शब्द में 'मैं' (अर्थ तत्व) और 'का' (सबध तत्व) का अभिश्लेषण करके 'मेरे' शब्द बनाया गया है। इस अभिश्लेषण के आधार पर ही भाषाओ का आकृतिमूलक वर्गीकरण किया जाता है। चीनी भाषा मे अभिश्लेषण नही है किंतु तुर्की भाषा अभिश्लेषण का अच्छा उदाहरण है।

इसके तीन मुख्य भेद है—(१) प्रश्लिष्ट अभिश्लेषण (इनकारपोरेशन), इसमें दोनों तत्वो को अलग नही किया जा सकता। (२) अभिश्लिष्ट अभिश्लेषण (सिंपुल एग्लूटिनेशन) मे अभिश्लिष्ट तत्व पृथक् दिखाई देते है। (३) श्लिष्ट अभिश्लेषण (इनफ्लेक्शन) मे यद्यपि अर्थतत्व मे विकार हो जाता है फिर भी सबध तत्व अलग मालूम होता है।

सस्कृत व्याकरण में अभिश्लेषण की प्रक्रिया को सामर्थ्य कहते है। वहाँ इसके एकार्थी भाव और व्यपेक्षा में दो भेद माने गए है।

प्राचीन पाश्चात्य दर्शन मे दो विचारो के समन्वय के लिये इसका प्रयोग हुआ है।

चिकित्साशास्त्र में द्रव पदार्थ मे बैक्टीरिया, सेल या जीवाणुओ के परस्पर सयोग के लिये इस शब्द का प्रयोग होता है। [रा०पा०]

अभिषेक राजतिलक का स्नान जो राज्यारोहण को वैध करता था। कालातर मे राज्याभिषेक राजतिलक का पर्याय बन गया। अथर्ववेद मे अभिषेक शब्द कई स्थलो पर आया है और इसका सस्कारगत विवरण भी वहाँ उपलब्ध है। कृष्ण यजुर्वेद तथा श्रौत सूत्रो में हम प्राय सर्वत्र 'अभिषेचनीय' सज्ञा का प्रयोग पाते है जो वस्तुत राजसूय का ही एक अग था, यद्यपि ऐतरेय ब्राह्मण को यह मत सभवत स्वीकार नही। उसके अनुसार अभिषेक ही प्रधान विषय है।

ऐतरेय ब्राह्मण ने अभिषेक के दो प्रकार बतलाए है (१) पुनरभिषेक (अष्टम ५-११), (२) ऐंद्र महाभिषेक (अष्टम, १२-२०)। इनमे से प्रथम का राजसूय से सबध जान पडता है, न कि यौवराज्य अथवा सिहासनग्रहण से। ऐंद्र महाभिषेक अवश्य इद्र के राज्याभिषेक से सबधित है। उक्त ब्राह्मण ग्रथ में ऐसे सम्राटो की सूची भी दी हुई है जिनका अभिषेक वैदिक नियम से हुआ था। ये है (१) जन्मेजय पारीक्षित, तुर कावषेय द्वारा अभिषिक्त, (२) शार्यात मानव, च्यवन भार्गव द्वारा अभिषिक्त, (३) शतानीक सात्राजित, सोम शुष्मण वाजरत्नायन द्वारा अभिषिक्त, (४) आवष्ठ्य, पर्वत और नारद द्वारा अभिषिक्त, (५) युधाश्रुष्ठि औग्रसैन्य, पर्वत और नारद द्वारा अभिषिक्त, (६) विश्वकर्मा च्यवन, कश्यप द्वारा अभिषिक्त, (७) सुदास पैजवन, वसिष्ठ द्वारा अभिषिक्त, (८) मरुत्त आविक्षित्त, सवर्त आंगिरस द्वारा अभिषिक्त, (९) अग उद्मय आत्रेय, (१०) भरत दौष्यंत, दीर्घतमस मामतेय। निम्नाकित राजा केवल सस्कार के ज्ञान से जयी हुए (१) दुर्मुख पाचाल, बृहदुक्थ से ज्ञान पाकर, (२) अत्यराति जानतपि (सम्राट् नही) वसिष्ठ सातहव्य से ज्ञान पाकर।

इन सूचियो के अतिरिक्त कुछ अन्य सूचियाँ प्रसिद्ध पाश्चात्य तत्वज्ञ गोल्डस्टकर ने दी है (दे०, ऐतरेय ब्राह्मण, गोल्डस्टकर द्वारा सपादित, गोल्डस्टूकर, डिक्शनरी-सस्कृत-इंग्लिश, बर्लिन, लदन १८५६)।

आगे चलकर महाभारत मे युधिष्ठिर के दो बार अभिषिक्त होने का उल्लेख मिलता है, एक सभापर्व (२००,३३,४५) और दूसरा शांतिपर्व, १००,४०) मे।

मौर्य सम्राट् अशोक के सबध मे हम यह जानते है कि उसे यौवराज्य के पश्चात् चार वर्ष अभिषेक की प्रतीक्षा करनी पडी थी और इसी प्रकार हर्ष शीलादित्य को भी, जैसा कि 'महावश' एव युवान च्वांग के 'सि-यू की' नामक ग्रथो से ज्ञात होता है। कालिदास ने भी रघुवश के द्वितीय सर्ग मे अभिषेक का निर्देश किया है।

ऐतिहासिक वृत्तातो से ज्ञात होता है कि आगे चलकर राजसचिवो के भी अभिषेक होने लगे थे। हर्षचरित मे 'मूर्धाभिषिक्ता अमात्या राजान' इस प्रकार का सकेत पाया जाता है। आगे चलकर अनेक ऐतिहासिक सम्राटो ने प्राय वैदिक विधान का आश्रय लेकर अभिषेक क्रिया सपादित की, क्योकि उसके बिना सम्राट् नही माना जाता था।

अभिषेक के कतिपय अन्य सामान्य प्रयोगो मे प्रतिमाप्रतिष्ठा के अवसर पर उसका आधान एक साधारण प्रक्रिया थी जो आजकल भी हिंदुओ मे भारत एव नेपाल मे प्रचलित है।

एक विशिष्ट अर्थ मे अभिषेक का प्रयोग बौद्ध 'महावस्तु' (प्रथम १२४ २०) में हुआ है जहाँ साधना की परिणति दस भूमियो मे अतिम 'अभिषेक भूमि' मे बतलाई गई है।

वैदिक एव उत्तर वैदिक साहित्य मे अभिषेक का जो विधान दिया गया है वह निम्नलिखित है। प्राय अभिषेक के समय, उसके कुछ पहले, अथवा उसके बीच में सचिवो की नियुक्ति होती थी और इसी प्रकार अन्य राजरत्नो का निर्वाचन भी संपन्न होता था जिनमे साम्राज्ञी, हस्ति, श्वेतवाजि, श्वेतवृषभ मुख्य थे। उपकरणो मे श्वेतछत्र, श्वेतचामर, आसन (भद्रासन), सिहासन, भद्रपीठ, परमासन स्वर्णविरचित एवं अजिनआवृत तथा मागलिक द्रव्यो में स्वर्णपात्र (अनेक स्थानो से लाए गए जल से भरे), मधु, दुग्ध, दधि, उदुबरदड एव अन्य वस्तुएँ रखी जाती थी। भारतीय अभिषेकविधान मे जिस उच्च कोटि के मागलिक द्रव्य और उपकरण प्रयुक्त होते थे वैसे प्राचीन ईसाइयो अथवा सामी (सेमेटिक) राज्यारोहण की क्रियाओ मे नही होते थे।

इस प्रसग मे यह उल्लेखनीय है कि अभिषेक एक सिद्धात प्रक्रिया के रूप मे केवल इसी देश की स्थायी सपत्ति है, अन्य देशो मे इस प्रकार के सिद्धात इतने अस्पष्ट और उलझे हुए है कि उनका निश्चयात्मक सिद्धातस्वरूप नही बन पाया है, यद्यपि शक्तिसाधना और ऐश्वर्य की कामना रखनेवाले सभी सम्राटो ने किसी न किसी रूप मे स्नान, विलेपन को प्रतीक का रूप देकर इस सस्कार का आश्रय लिया है।

सं०ग्रं०—ऐतरेय ब्राह्मण, गोल्डस्टूकर डिक्शनरी ऑव सस्कृत ऐंड इंग्लिश, बर्लिन ऐंड लदन, १८५६, इसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स, भाग प्रथम, एडिन०, १९५५। [च० म०]

अभिसमय बौद्ध स्थविरवाद के सिद्धातो का वर्णन 'अभिधर्म' के नाम से प्रसिद्ध है किंतु महायान के शून्यवादी माध्यमिक विकास के साथ ही प्रज्ञापारमिता को महत्व मिला और अभिधर्म के स्थान मे 'अभि-

भारतीय विश्वविद्यालयों में अभियांत्रिकी शिक्षण विभाग है। इनके अतिरिक्त हाल में कई प्रौद्योगिक संस्थान खोले गए हैं, उदाहरणत खड्गपुर और बंबई में।

भविष्य—अभियांत्रिकी शिक्षा की अभिवृद्धि के लिये भारत में अच्छा भविष्य है। ऐसी शिक्षा शीघ्रता से बढ़ रही है और आशा है, शीघ्र पर्याप्त हो जायगी। निम्नलिखित कठिनाइयों और उपायों पर ध्यान देना चाहिए

(क) **एक ही काम करते रहने से जी ऊबना**—औद्योगिक कार्यकर्ताओं में से अधिकांश को अपनी बेंच, मशीन अथवा भट्ठी पर दिन भर, प्रति दिन, आजीवन बैठना पड़ता है। ऐसे कार्यकर्ताओं को सायकालीन कक्षाओं और रोचक पाठ्यक्रम से बहुत लाभ हो सकता है।

(ख) **अवरुद्ध मार्गवाली नौकरी**—स्वयंचालित और अर्ध-स्वयंचालित मशीनों के कारण इन दिनों अनेक कार्यकर्ताओं को विशेष हस्तकौशल सीखने का कोई अवसर नहीं मिलता, जिससे वे किसी अन्य अधिक अच्छी नौकरी में नहीं जा सकते। इसलिये अधिकांश जिलों में व्यवसाय संबंधी शिक्षा देनेवाली पाठशालाएँ रहें, जिनमें युवा पुरुष क्रियात्मक रीति से नए नए व्यवसाय अपनी उन्नति के लिये सीख सकें और उन्हें अपना जीवन भार सरीखा न जान पड़े।

(ग) **गवेषणा में व्यक्तित्व**—अभियांत्रिकी विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में शिक्षकगण साधारणत केवल विशुद्ध विज्ञान में गवेषणा कर सकते हैं, क्योंकि औद्योगिक गवेषणा के लिये उनके पास पर्याप्त साधन नहीं रहता। औद्योगिक कारखानों में समस्याओं को हल करने के लिये कर्मचारी और यंत्रादि बहुत बड़े पैमाने पर मिलते हैं और शिक्षकों का उनसे होड़ लगाना कठिन है।

(घ) **स्वामियों द्वारा सहायता**—नवयुवकों में प्राविधिक शिक्षा के प्रसार के लिये कारखानों के स्वामी बहुत कुछ कर सकते हैं। उदाहरणत शेफील्ड की 'दि हार्ड फील्ड्स लिमिटेड' नामक कंपनी कई वर्षों से एक योजना चला रही है। इसके अनुसार २१ वर्ष से कम आयुवाले उन विद्यार्थियों का प्रवेशशुल्क कंपनी अपने पास से लौटा देती है जो कुछ चुनी हुई प्राविधिक पाठशालाओं में भरती होते हैं और ७५ प्रति शत से अधिक दिनों तक वहाँ उपस्थित रहते हैं।

शिक्षकों का प्रशिक्षण—प्रत्यक्ष है कि शिक्षण अच्छा तभी हो सकता है जब अच्छे शिक्षक मिलें। इसलिये अभियांत्रिकी पाठशालाओं के शिक्षकों को लंबी छुट्टियों में व्याख्यान आदि द्वारा प्रशिक्षित होने का अवसर मिलना चाहिए और वहाँ कक्षा में उठनेवाली अधिकांश समस्याओं पर विचार होना चाहिए।

सामान्य—बहुत से लोगों में शंका बनी रहती है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली अभियांत्रिकी के लिये समुचित और पर्याप्त है या नहीं। अभियांत्रिकी की प्रकृति ही ऐसी है कि इस प्रकार की शंका उठती है। मौलिक रूप से अभियांत्रिकी ही उपयोगी परिणामों के निमित्त, उपयोगी रीति से सामग्री और शक्ति लगाने का वैज्ञानिक ज्ञान देती है। परंतु वैज्ञानिक खोजों से सदा नवीन रीतियाँ निकलती रहती हैं और नवीन उद्योग खड़े होते रहते हैं। इस प्रकार परिस्थितियों में निरंतर परिवर्तन, वैज्ञानिक तथा प्राविधिक उन्नति, नवीन रीतियों, नवीन उद्योगों और नवीन आर्थिक परिस्थितियों के कारण यांत्रिकी शिक्षा में परिवर्तन की अपेक्षा सदा बनी रहती है।

शिक्षा-संस्थाएँ—अभियांत्रिकी तथा प्रौद्योगिकी की स्नातक स्तर तक शिक्षा की सुविधा अब भारत के सभी राज्यों में उपलब्ध है। उदाहरणार्थ—पंजाब इंजीनियरिंग कालेज, चंडीगढ, गुरु नानक इंजीनियरिंग कॉलेज, लुधियाना, थापर इंजीनियरिंग कॉलेज, पटियाला, रुड़की यूनिवर्सिटी, रुड़की, दयालबाग इंजीनियरिंग कालेज, दयालबाग, आगरा, इंजीनियरिंग कॉलेज मुस्लिम युनिवर्सिटी, अलीगढ, इंजीनियरिंग कालेज, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, डेलही पॉलिटेक्नीक, दिल्ली, बिड़ला इंजीनियरिंग कॉलेज, पिलानी, जोधपुर इंजीनियरिंग कॉलेज, जोधपुर, गवर्नमेंट इंजीनियरिंग कॉलेज, जबलपुर, माधव इंजीनियरिंग कालेज, ग्वालियर, सेकसरिया इंजीनियरिंग कालेज, इंदौर, पटना इंजीनियरिंग कॉलेज, पटना, मेस्रा इंस्टिट्यूट ऑव टेकनॉलोजी, राँची, सिंधरी इंस्टिट्यूट ऑव टेकनॉलोजी, सिंदरी, इंजीनियरिंग कॉलेज, मुजफ्फरपुर, स्कूल ऑव माइनिंग, धनबाद, शिवपुर इंजीनियरिंग कॉलेज, शिवपुर (कलकत्ता), जादवपुर यूनिवर्सिटी, जादवपुर, कलकत्ता, इंस्टिट्यूट ऑव टेकनालाजी, खड्गपुर, इंजीनियरिंग कॉलेज, आंध्र यूनिवर्सिटी, इंजीनियरिंग कॉलेज, अन्नामलई यूनिवर्सिटी, गुइंडी कॉलेज, मद्रास, हायर इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नॉलोजी, मद्रास, मद्रास इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नोलॉजी, मद्रास, इंस्टिट्यूट ऑव सायंस, बंगलोर, इंजीनियरिंग कॉलेज, मैसूर, इंजीनियरिंग कॉलेज ट्रावनकोर, इंजीनियरिंग कॉलेज, ओस्मानिया यूनिवर्सिटी, हैदराबाद, विक्टोरिया जुबली टेक्निकल इंस्टिट्यूट, बंबई, हायर इंस्टिट्यूट ऑव टेक्नोलॉजी, बंबई, इंजीनियरिंग कॉलेज, पूना, इंजीनियरिंग कॉलेज, नागपुर, इंजीनियरिंग कॉलेज, बडोदा यूनिवर्सिटी, बडोदा, इंजीनियरिंग कॉलेज, आनंद।

वर्तमान पंचवर्षीय योजना में अनेक नए कॉलेज खोलने की व्यवस्था है। भारत सरकार द्वारा स्थापित सभी उच्च प्रौद्योगिक संस्थानों में और उपर्युक्त कई संस्थाओं में स्नातकोत्तर शिक्षा की सुविधा है।

डिप्लोमा स्तर तक प्राविधिक शिक्षा की सुविधा के संबंध में जानकारी भारत सरकार द्वारा स्थापित और नियोजित प्रादेशिक प्राविधिक शिक्षा कार्यालयों और परामर्शदाताओं से प्राप्त की जा सकती है।

[न० ला० गु०]

अभिरंजित काच

अभिरंजित काच (अंग्रेजी में स्टेंड ग्लास) से साधारणत वही काच (शीशा) समझा जाता है जो खिड़कियों में लगता है, विशेषकर जब विविध रंगों के काच के टुकड़ों को जोड़कर कोई चित्र प्रस्तुत कर दिया जाता है। यूरोप के विभिन्न विख्यात गिर्जाघरों में बहुमूल्य अभिरंजित काच लगे हैं।

अभिरंजित काच के निर्माण में तीन प्रकार के काच प्रयोग में आते हैं (१) काच जो द्रवण के समय ही सर्वत्र रंगीन हो जाता है। (२) इनैमल द्वारा पृष्ठ पर रँगा काच। (३) रजत लवण द्वारा पीला रँगा काच।

प्रारंभ—अभिरंजित काच का कहाँ और कब प्रथम निर्माण हुआ, यह अस्पष्ट है। अधिकतर संभावना यही है कि अभिरंजित काच का आविष्कार भी काच के आविष्कार के सदृश पश्चिमी एशिया और मिस्र में हुआ। इस कला की उन्नति एवं विस्तार १२वीं शताब्दी से आरंभ होकर १४वीं शताब्दी में शिखर पर पहुँचे। १६वीं शताब्दी में भी बहुत से कलायुक्त अभिरंजित काच बने, परंतु इसी शताब्दी के अंत में इस कला का ह्रास आरंभ हुआ और १७वीं शताब्दी के पश्चात् इस कला का प्राय लोप हो गया। इस समय कुछ ही संस्थाएँ हैं जो अभिरंजित काच विशेष रूप से बनाती हैं।

अभिरंजित काच का प्रयोग विशेषकर ऐसी खिड़कियों में होता है जो खुलती नहीं, केवल प्रकाश आने के लिये लगाई जाती हैं। इसी उद्देश्य से गिर्जाघरों के विशाल कमरों में विशाल अभिरंजित काच, केवल प्रकाश आने के लिये दीवारों में लगाए जाते हैं। इन काचों पर अधिकतर ईसाई धर्म से संबंधित चित्र, जैसे ईसा का जन्म, बचपन, धर्मप्रचार, सूली अथवा माता मरियम के चित्र अंकित रहते हैं और इन काचों में से होकर जो प्रकाश भीतर आता है उससे शांति और धार्मिक वातावरण उत्पन्न होने में बहुत कुछ सहायता मिलती है। कुछ अभिरंजित काचों में प्राकृतिक एवं पौराणिक दृश्य और महान् पुरुषों के चित्र भी अंकित रहते हैं।

प्रविधि—आरंभ में उपयुक्त रंगीन काच के टुकड़े एक नकशे के अनुसार काट लिए जाते हैं और चौरस सतह पर उन्हें नकशे के अनुसार रखा जाता है। तब जोड़ की रेखाओं में द्रवित सीसा धातु भर दी जाती है। इस प्रकार काच के विविध टुकड़े संबंधित होकर एक पट्टिका में परिणत हो जाते हैं। सीसा भी रेखा की तरह पट्टिका पर अंकित हो जाता है और आकर्षक लगता है।

यदि किसी विशिष्ट रंग का काच उपलब्ध नहीं रहता तो काच पर इनैमल लगाकर और फिर काच को तप्त करके अनेक प्रकार का एकरंगा काच अथवा चित्रकारी उत्पन्न की जा सकती है। आरंभ में तप्त करने के पूर्व इनैमल को खुरचकर चित्र अंकित किया जाता था, पर बाद में

अभ्रक (अंग्रेजी मे माइका) एक खनिज है जिसे बहुत पतली पतली परतो में चीरा जा सकता है। यह रगरहित या हलके पीले, हरे या काले रग का होता है। यह गिलानिर्माणकारी खनिज है। अभ्रक को दो वर्गों मे विभाजित किया जाता है (१) मस्कोवाइट वर्ग, (२) वायोटाइट वर्ग।

१ मस्कोवाइट वर्ग मे तीन जातियाँ है.
मस्कोवाइट हा$_२$पोऐ$_३$(सिऔ$_४$)$_३$
पैरागोनाइट हा$_२$सोऐ$_३$(सिऔ$_४$)$_३$
लैपिडोलाइट पोलि[ऐ(औहा, फ्लो)$_२$]ऐ(सिऔ$_४$)$_३$

२ वायोटाइट वर्ग मे भी तीन जातियाँ है
वायोटाइट (हापो)$_२$(मै$_ग$लो)$_२$ (ऐलो$_२$) (सिऔ$_४$)$_३$
फ्लोगोपाइट [हापो(मै$_ग$फ्लो)]$_३$मै$_३$ऐ(सिऔ$_४$)$_३$
ज़िनवल्डाइट (पोलि)$_३$[ऐ(औहा,फ्लो)$_२$]लोऐ$_२$सि$_५$औ$_{१६}$

[हा=हाइड्रोजन, पो=पोटैसियम, ऐ=ऐल्यूमिनियम, सि=सिलिकन, औ=अक्सिजन, सो=सोडियम, लि=लिथियम, फ्लो=फ्लोरीन, मै$_ग$=मैगनीशियम, लो = लोह]।

इन दोनो जातियो के मुख्य खनिज क्रमश श्वेताभ्रक तथा कृष्णाभ्रक हैं।

खनिजात्मक गुण—पूर्वोक्त दोनो प्रकार के खनिजो के गुण लगभग एक से ही हैं। रासायनिक सगठन मे थोडा सा भेद होने के कारण इनके रग मे अतर पाया जाता है। श्वेताभ्रक को पोटैसियम अभ्रक तथा कृष्णाभ्रक को मैगनीशियम और लौह अभ्रक कहते हैं। श्वेताभ्रक मे जल की मात्रा ४ से ६ प्रति शत तक विद्यमान रहती है।

अभ्रक वर्ग के सभी खनिज मोनोक्लिनिक समुदाय मे स्फुटीय होते हैं। अधिकतर ये परतदार आकृति मे पाए जाते हैं। श्वेताभ्रक की परते रगहीन, अथवा हल्के कत्यई या हरे रग की होती हैं। लोहे की विद्यमानता के कारण कृष्णाभ्रक का रग कालापन लिए होता है। इन खनिजो की सतह चिकनी तथा मोती के समान चमकदार होती है। एक दिशा मे इन खनिजो की पर्तो को वडी सुविधा से अलग किया जा सकता है। ये परते वहुत नम्य (फ्लेक्सिवुल) तथा प्रत्यस्थ (इलैस्टिक) होती हैं। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यदि हम एक इच के हजारवे भाग के वरावर मोटाई की परत ले और उसे एक चौथाई इच व्यास के वेलन के आकार मे मोड डाले तो अपनी प्रत्यास्थता के कारण वह पुन फैलकर समतल हो जायगी। इन खनिजो की कठोरता २ से ३ तक है। थोडे से दवाव से यह नाखून से खुरचे जा सकते है। इनका आपेक्षिक घनत्व २.७ से ३.१ तक होता है।

अभ्रक वर्ग के खनिजो पर अम्लो का कोई प्रभाव नही पडता। अभ्रक ऐल्यूमिनियम तथा पोटैसियम के जटिल सिलिकेट हैं, जिनमे विभिन्न मात्रा मे मैगनीशियम तथा लौह एव सोडियम, कैल्सियम, लीथियम, टाइटेनियम, क्रोमियम तथा अन्य तत्व भी प्राय विद्यमान रहते हैं। मस्कोवाइट सर्वाधिक महत्वपूर्ण अभ्रक है। यद्यपि मस्कोवाइट सर्वाधिक सामान्य शिला-निर्माता (रॉक-फॉर्मिंग) खनिज है तथापि इसके निक्षेप, जिनसे उपयोगी अभ्रक प्राप्त होता है, केवल भारत तथा व्राज़ील के कुछ सीमित क्षेत्रों मे पिगमेटाइट पट्टिकाओ (वेस) मे ही विद्यमान हैं। सपूर्ण ससार की आवश्यकता का ८० प्रति शत अभ्रक भारत मे ही मिलता है।

प्राप्तिस्थान—अभ्रक के उत्पादन मे भारत अग्रगण्य देश है, यद्यपि यह कैनाडा, व्राज़ील आदि देशो मे भी प्रचुर मात्रा मे प्राप्त होता है, किंतु वहाँ का अभ्रक अधिकाशत छोटे आकार की परतो मे अथवा चूरे के रूप में मिलता है। वडी स्तरोवाले अभ्रक के उत्पादन मे भारत को ही एकाधिकार प्राप्त है।

अभ्रक की पतली पतली परतो मे भी विद्युत् रोकने की शक्ति होती है और इसी प्राकृतिक गुण के कारण इसका उपयोग अनेक विद्युत्यत्रो मे अनिवार्य रूप से होता है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य उद्योगो मे भी अभ्रक का प्रयोग होता हे। वायोटाइट अभ्रक कतिपय ओपधियो के निर्माण मे प्रयुक्त होता है।

विहार की अभ्रकपेटिका पश्चिम मे गया जिले से हजारीवाग तथा मुगेर होती हुई पूरव मे भागलपुर जिले तक लगभग ९० मील की लवाई और १२-१६ मील की चौडाई में फैली हुई है। इसका सर्वाधिक उत्पादक क्षेत्र कोडर्मा तथा आसपास के क्षेत्रो मे सीमित है। भारतीय अभ्रकशिलाएँ सुभाजा (शिस्ट) है, जिनमे अनेक परिवर्तन हुए है। अभ्रक मुख्यत पुस्तक के रूप मे प्राप्त होता है। इस समय विहार क्षेत्र मे ६०० से भी अधिक छोटी वडी अभ्रक की खाने है। इन खानो मे अनेक की गहराई ७०० फुट तक चली गई है। विहार मे अत्युत्तम जाति का लाल (रूवी) अभ्रक पाया जाता है जिसके लिये यह प्रदेश सपूर्ण ससार मे प्रसिद्ध है।

आध्र में नेल्लोर जिले की अभ्रकपेटिका दुर तथा सगम के मध्य स्थित है। इसकी लवाई ६० तथा चौडाई ८-१० मील है। इस पेटिका मे अनेक स्थानो पर अभ्रक का खनन होता है। यद्यपि अधिकाश अभ्रक का वर्ण हरा होता है, तथापि कुछ स्थानो पर 'वगाल रूवी' के समान लाल वर्णका कुछ अभ्रक भी प्राप्त होता है।

भारतीय अभ्रक के उत्पादन मे राजस्थान का द्वितीय स्थान है। राजस्थान की अभ्रकमय पेटिका जयपुर से उदयपुर तक फैली है तथा उसमे पिगमेटाइट मिलते हैं। कुछ अल्प महत्व के निक्षेप अलवर, भरतपुर, भोमत तथा डूँगरपुर मे भी मिले हैं। राजस्थान से प्राप्त अभ्रक मे से केवल अल्पाश ही उच्च कोटि का होता है, अधिकाश मे या तो धव्बे होते है अथवा परते टूटी या मुडी होती है।

विहार, राजस्थान और आध्र के विशाल अभ्रकक्षेत्रो के अतिरिक्त कुछ मस्कोवाइट विहार के मानभूम, सिंहभूम तथा पालामऊ जिलो मे भी मिलता है। इसी प्रकार अवोवर्ग का कुछ अभ्रक उडीसा के सवलपुर, आँगुल तथा ढेकानल मे पाया गया है। आध्र मे कुडप्पा, तथा मद्रास मे सलेम, मालावार तथा नीलगिरि जिलो मे भी अभ्रक के निक्षेप है, किंतु ये अधिक महत्व के नही। मैसूर के हसन तथा मैसूर और पश्चिम वगाल के मिदनापुर तथा वाँकुड़ा जिलो में भी अल्प मात्रा मे अभ्रक पाया गया है।

उपयोगिता—यद्यपि देश मे अभ्रक अति प्रचुर मात्रा मे पाया जाता है, तथापि इसका अधिकाश कच्चे माल के रूप में विदेशो को भेज दिया जाता है। हमारे अपने उद्योग मे इसकी खपत प्राय नही के वरावर है। इसमे सदेह नही कि अधिक मात्रा मे निर्यात के कारण इस खनिज द्वारा विदेशी मुद्रा का उपार्जन यथेष्ट हो जाता है, किंतु यदि इसको देश मे ही परिष्कृत पदार्थ का रूप दिया जा सके तो और भी अधिक आय होने की सभावना है।

व्यापार की दृष्टि से अभ्रक के दो खनिज श्वेताभ्रक और फ्लोगोपाइट अधिक महत्वपूर्ण हैं। अभ्रक का प्रयोग वडी वडी चादरो के रूप मे तथा छोटे छोटे टुकडो या चूर्ण के रूप मे होता है। वडी वडी परतोवाला अभ्रक मुख्यतया विद्युत् उद्योग मे काम आता है। विद्युत् का असवाहक होने के कारण इसका उपयोग कडेसर, कम्यूटेटर, टेलीफोन, डायनेमो आदि के काम मे होता है। पारदर्शक तथा तापरोधक होने के कारण यह लैप की चिमनी, स्टोव, भट्ठियो आदि मे प्रयुक्त होता है। अभ्रक के छोटे छोटे टुकडो को चिपकाकर माइकानाइट वनाया जाता है। अभ्रक के छोटे छोटे टुकडे रवड उद्योग मे, रग वनाने मे, मशीनो मे चिकनाई देने के लिये तथा मानपत्रो आदि की सजावट के काम आते है।

सन् १९५३ से १९५७ तक का उत्पादन इस प्रकार है.

वर्ष	मात्रा (उत्पादन, हड्रेडवेट मे)	मूल्य, रुपयो मे
१९५३	२,४५,४००	८,४७,५३,२६४
१९५४	३,३४,७९३	६,५८,०३,०००
१९५५	४,६५,०१४	२,६५,७०,०००
१९५६	५,६०,६८५	२,०८,१७,०००
१९५७	६,०७,०००	२,२५,७७,०००

सं० ग्र०—एच० एच० रीड रटलीज एलिमेंट्स ऑव मिनरालॉजी (१९४२), जे० कागिन व्राउन तथा ए० के० दे इडियाज मिनरल

(१) **व्यापारिक तथा व्यावहारिक**—भारत, पश्चिमी एशिया, मिस्र, क्रीट, यूनान आदि सभी प्राचीन देशो मे व्यापारियो की मुद्राओ पर और उनके लेखे जोखे से सबध रखनेवाले अभिलेख पाए गए है। प्राचीन भारत के निगमो और श्रेणियो की मुद्राएँ अभिलेखाकित होती थी और वे व्यापारिक एव व्यावहारिक कार्यों के लिये भी स्थायी और कडी सामग्री का उपयोग करती थी। कभी कभी तो अन्य प्रकार के अभिलेखो मे भी व्यापारिक विज्ञापन पाया जाता है। कुमारगुप्त तथा बधुवर्मन्‌कालीन मालव स० ५२९ के अभिलेख मे वहाँ के ततुवायो (जुलाहो) के कपडो का विज्ञापन इस प्रकार दिया हुआ है "तारुण्य और सौंदर्य से युक्त, सुवर्णहार, ताबूल, पुष्प आदि से सुशोभित स्त्री तब तक अपने प्रियतम से मिलने नही जाती, जब तक कि वह दशपुर के बने पट्टमय (रेशम) वस्त्रो के जोडे को नही धारण करती। इस प्रकार स्पर्श करने मे कोमल, विभिन्न रगो से चित्रित, नयनाभिराम रेशमी वस्त्रो से सपूर्ण पृथ्वीतल अलकृत है।"

(२) **आभिचारिक**—सिधुघाटी (हरप्पा और मोहेंजोदडो) में प्राप्त बहुत सी तख्तियो पर आभिचारिक यत्र है। इनमे विभिन्न पशुओ द्वारा प्रतिनिहित सभवत देवताओ की स्तुतियाँ है। प्राय कवचो पर ये अभिलेख मिलते हैं। सुमेर, मिस्र, यूनान आदि मे भी आभिचारिक अभिलेख पाए जाते है।

(३) **धार्मिक और कर्मकाडीय**—मदिर, यज्ञ, हवन, पूजापाठ आदि से सबध रखनेवाले बहुसख्यक अभिलेख पाए जाते है। इनमे धार्मिक विधिनिषेध, हवनप्रक्रिया, पूजापद्धति, हवन तथा पूजा की सामग्री, यज्ञ-दक्षिणा आदि का उल्लेख मिलता है। अशोक ने तो अपने अभिलेखो को 'धर्मलिपि' ही कहा हे जिनमें बौद्ध धर्म के सर्वमान्य तत्वो का विवरण है। यूनानी अभिलेखो मे मदिर, कर्मकाड, पुरोहित तथा धार्मिक सघो के बारे मे प्रचुर सामग्री मिलती है।

(४) **उपदेशात्मक**—धार्मिक प्रयोजन की तरह अभिलेखो का नैतिक उपयोग भी होता था। अशोक के धर्मलेखो मे उपदेशात्मक अश बहुत अधिक मात्रा मे पाया जाता है। बेसनगर (विदिशा) के छोटे गरुडध्वज अभिलेख मे भी उपदेश है "तीन अमृत पद है। यदि इनका सुदर अनुष्ठान हो तो ये स्वर्ग को प्राप्त कराते है। ये है—दम, त्याग और अप्रमाद।" चीन और यूनान में भी उपदेशात्मक अभिलेख मिलते है।

(५) **समर्पण अथवा चढावा**—धार्मिक स्थापत्यो, विधियो और अन्य प्रकार की सपत्ति का किसी देवता अथवा धार्मिक सस्थान को स्थायी रूप से समर्पण अकित करने के लिये इस प्रकार के अभिलेख प्रस्तुत किए जाते थे।

(६) **दान सबधी**—प्राचीन धार्मिक और नैतिक जीवन मे दान का बहुत ऊँचा स्थान था। प्रत्येक देश और धर्म मे दान को सस्था का रूप प्राप्त था। स्थायी दान को अकित करने के लिये पहले पत्थर और फिर ताम्रपत्र का प्रयोग होता था।

(७) **प्रशासकीय**—प्रशासकीय अभिलेखो मे विधि (कानून), नियम, राजाज्ञा, जयपत्र, राजाओ और राजपुरुषो के पत्र, राजकीय लेखा-जोखा, कोष के प्रकार और विवरण, सामतो से प्राप्त कर एव उपहार, राजकीय समान और शिष्टाचार, ऐतिहासिक घटनाओ का उल्लेख, समाधि-लेख आदि की गणना है। पत्थर के स्तभ पर लिखी हुई बाबुली सम्राट् हम्मुराबी की विधिसहिता प्रसिद्ध है। अशोक के धर्मलेखो मे उसका राजकीय शासन (आज्ञा) भरा पडा है।

(८) **प्रशस्ति**—राजाओ द्वारा विजयो और कीर्ति का वर्णन स्थायी रूप से शिलाखडो और प्रस्तरस्तभो पर लिखवाने की प्रथा बहुत प्रचलित रही है। भारत में राजाओ की दिग्विजय के वर्णन बडी सख्या मे पाए जाते हैं। मिस्री सम्राट् रामसेज तृतीय, ईरानी सम्राट् दारा, भारतीय राजाओ मे खारवेल, गौतमीपुत्र शातकर्णी, रुद्रदामन्, समुद्रगुप्त, चद्रगुप्त (द्वितीय), स्कदगुप्त, द्वितीय पुलकेशिन् आदि की प्रशस्तियाँ प्रसिद्ध है। अन्य प्रकार के अभिलेखो मे भी समसामयिक राजाओ की प्रशस्तियाँ पाई जाती है।

(९) **स्मारक**—चूँकि अभिलेखो का मुख्य कार्य अकन को स्थायी बनाना था, अत घटनाओ, व्यक्तियो तथा कृतियो के स्मारकरूप मे अगणित अभिलेख पाए गए हैं।

(१०) **साहित्यिक**—अभिलेखो मे सर्वमान्य धार्मिक ग्रथो अथवा उनके अवतरण और कभी-कभी समूचे नवीन काव्य, नाटक आदि ग्रथ अभिलिखित पाए जाते है।

६ **अभिलेख सिद्धांत**—अभिलेख तैयार करने के लिये सामान्य रूप से कुछ सिद्धात और नियम प्रचलित थे। अभिलेख का **प्रारभ** किसी धार्मिक अथवा मागलिक चिह्न या शब्द से किया जाता था। इसके पश्चात् किसी इष्ट देवता की **स्तुति** अथवा **आमत्रण** होता था। तत्पश्चात् **आशीर्वादात्मक** वाक्य आता था। पुन **दान** अथवा **कीर्तिविशेष की प्रशसा** होती थी। फिर दान अथवा कीर्ति **भग करनेवाले की निंदा** की जाती थी। अत मे **उपसहार** होता था। अभिलेख के अत मे लेखक और उत्कीर्ण करनेवाले का नाम और मागलिक चिह्न होता था। भारत में यह नियम प्राय सर्वप्रचलित था। अन्य देशो में इन सिद्धातो के पालन मे दृढता नही थी।

७ **तिथिक्रम और सवत् का प्रयोग**—अभिलेखो मे तिथि और सवत् लिखने की प्रथा धीरे धीरे प्रचलित हुई। प्रारभ मे भारत में स्थायी एव क्रमबद्ध सवतो के अभाव में राजाओ के शासनवर्ष से तिथि गिनी जाती थी। फिर कतिपय महत्वाकाक्षी राजाओ और शासको ने अपनी कीर्ति स्थायी करने के लिये अपने पदासीन होने के समय से सवत् चलाया जो उनके बाद भी प्रचलित रहा। फिर महान् घटनाओ और धर्मप्रवर्तको एव सत महात्माओ के जन्म अथवा निधनकाल से भी सवतो का प्रवर्तन हुआ। फलस्वरूप अभिलेखो मे इनका प्रयोग होने लगा। तिथियो के अकन में दिन, वार, पक्ष, मास और सवत् का उल्लेख पाया जाता है।

८ **ऐतिहासिक अभिलेख**—तिथिक्रम से प्राचीन अभिलेख मिस्र की चित्रलिपि के माने जाते है। फिर प्राचीन इराक के अभिलेखो का स्थान है, जो पहले अर्धचित्रलिपि और पुन कीलाक्षरो मे अकित है। सिंधुघाटी के अभिलेख इराकी अभिलेखो के प्राय समकालीन है। इनके पश्चात् क्रीट, यूनान और रोम के अभिलेखो की गणना की जा सकती है। ईरान के कीलाक्षर और **आरामाई** लिपि के लेख भी प्रसिद्ध है। चीन मे चित्र एव भावलिपि के लेख बहुत प्राचीन काल से पाए जाते है। भारत में सिंधुघाटी के परवर्ती अभिलेखो का मोटे तौर पर निम्नलिखित प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है (१) मौर्यपूर्व, (२) मौर्य, (३) शुग, (४) भारत-बाख्त्री, (५) शक, (६) कुषण, (७) आध्र-शातवाहन, (८) गुप्त, (९) मध्यकालीन (इसमे विविध प्रादेशिक शैलियो का समावेश है) तथा (१०) आधुनिक। भारतीय शैली के अभिलेख सपूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया मे पाए जाते है।

स० ग्र०—दे० 'अक्षर' के सदर्भ ग्रथो के अतिरिक्त, हिक्स ऐंड हिल ग्रीक हिस्टॉरिकल इस्क्रिप्शन्स (द्वि० स०), १९०१, ई० एस० राबर्ट्स इट्रोडक्शन टु ग्रीक एपिग्राफी, १८८७, कार्पस इस्क्रिप्शनम् लटिनेरम्, बर्लिन, कार्पस इस्क्रिप्शनम् इडिकेरम्, जिल्द १, २ और ३, एपिग्राफिया इडिका की विविध जिल्दे। [रा० ब० पा०]

अभिलेखागार

अभिलेखागार सार्वजनिक अथवा वैयक्तिक, राजकीय अथवा अन्य सस्था सबधी अभिलेखो, मानचित्रो, पुस्तको आदि का व्यवस्थित निकाय और उसका सरक्षागार। अधिकतर ये अभिलेख राज्यो, साम्राज्यो, स्वतत्र नगरो, सस्थाओ अथवा विशिष्ट व्यक्तियो द्वारा महत्वपूर्ण कार्यों के सपादनार्थ प्रस्तुत किए जाते रहे है, कालातर ने जिन्हे ऐतिहासिक महत्व प्रदान कर दिया है। प्रशासन की घोषणाएँ, फर्मान, सविधानो की मूल प्रतियाँ, सधियो-सुलहनामो के अहदनामे, राष्ट्रो के पारस्परिक सबधो के मान और सीमाओ के उल्लेख आदि सभी प्रकार के अभिलेख इस श्रेणी मे आते है और राष्ट्रीय अथवा अतर्राष्ट्रीय अभिलेखागारो मे सरक्षित और सुरक्षित किए जाते है। पहले इनका उपयोग प्राय सबधित सस्थाओ का निजी था, पर अब ये ऐतिहासिक अध्ययन के लिये प्रयुक्त अथवा वादप्रतिवादो के सदर्भ मे भी प्रमाणार्थ उपस्थित किए जा सकते है। सधियाँ तो राष्ट्रो को अपने पूर्वव्यवहारो और अहदनामो के अनुकूल आचरण करने को बाध्य करती है।

अभिलेखागार अथवा अभिलेखनिकाय की राष्ट्रीय अथवा प्रशासन-विभागीय व्यवस्था निसदेह आधुनिक है जो वस्तुत नियोजित रूप में

कुछ नष्ट हो जायगा, फल भोगनेवाला रहने का ही नही (कृतनाश)। बचपन में हमको जो सुख दु ख होते है वे हमारे किए हुए बुरे भले कामो के फल नही होते (अकृयोपभोग)। और ससार मे किसी प्रकार का न्याय नही होगा। एक जीवन मे सब कर्मो का फल नही मिल सकता और न सब भोगो के कारण भूतकर्म ही होते है, अतएव यदि ससार मे न्याय है और भले कामो का फल भला और बुरे कामो का फल बुरा होता है तो जन्म से पहले और मृत्यु के पश्चात् कर्म करनेवाली और फल भोगनेवाली आत्मा के अस्तित्व मे विश्वास करना ही होगा। इस ससार मे यह भी देखने मे आता है कि पापी लोग सुखी और पुण्यात्मा लोग दुखी रहते है। यदि आत्मा अमर है तो इस स्थिति का प्रतिकार दूसरे जन्म मे अथवा परलोक (स्वर्ग, नरक) मे हो सकता है।

एक सासारिक जीवन मे कोई भी व्यक्ति जीवन के उच्चतम मूल्यो—सत्य, कल्याण और सौदर्य—को प्राप्त नही कर सकता। इनकी प्राप्ति की सबमे उत्कट इच्छा रहती है, अतएव आत्मा जन्मजन्मातरो मे प्रयत्न करके इनकी प्राप्ति कर सकेगा। यह मानना पडेगा या यह कहना होगा कि शिव और सुदर की पिपासा मृगतृष्णा मात्र है।

(५) **पूर्वजन्म स्मरण की युक्ति**—कभी कभी छोटे बच्चो को अपने पूर्वजन्म और उसकी विशेष परिस्थितियो की याद आ जाती है और खोज करने पर वे सत्य पाई जाती है, भारत और यूरोप मे ऐसी कई घटनाओ की खोज की गई है। यदि ऐसी एक भी घटना सच्ची है तो यह निश्चय है कि मृत्यु और जन्म आत्मा पर आघात नही कर सकते। आत्मा अमर है।

आत्मा के अमरत्व के विरोध मे भी अनेक युक्तियाँ दी जाती है। विशेषत यह कि उस अमरत्व से क्या लाभ है और उसका क्या अर्थ है जिसका हमको स्वय ज्ञान नही है। कर्म के भले बुरे फल मिलने से हमारा लाभ तभी हो सकता है जब हमको यह ज्ञान रहे कि हमको अमुक कर्म करने का अमुक फल मिल रहा है।

मानव अमर है अथवा नश्वर, वस्तुत यह एक ऐसी समस्या है जिसके खडन और मडन पक्षो मे बहुत कुछ कहा जा सकता है और जिसका निर्भ्रांत निर्णय करना कठिन है।

स०ग्र०—जेम्स मर्चेंट द्वारा सपादित इम्मॉर्टैलिटी, मर्चेंट द्वारा सपादित सर्वाइवल, अर्नेस्ट हट 'डू वि सरवाइव डेथ ?', इसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स, हेस्टिंग्ज द्वारा सपादित, मे 'इम्मॉर्टैलिटी' विषयक लेख। [भी० ला० आ०]

अमरसिंह अमरकोश के रचयिता अमरसिंह का जीवनवृत्त अधकार मे है। विद्वानो के बहुत श्रम के बाद भी उसपर नाममात्र का ही प्रकाश पडा है। इस तथ्य का प्रमाण अमरकोश के भीतर ही मिलता है कि अमरसिंह बौद्ध थे। अमरकोश के मगलाचरण मे प्रच्छन्न रूप से बुद्ध की स्तुति की गई है, किसी हिंदू देवी देवता की नही। यह पुरानी किंवदती है कि शकराचार्य के समय (आठवी शताब्दी) अमरसिह के ग्रथ जहाँ जहाँ मिले, जला दिए गए। उसके बौद्ध होने का एक प्रमाण यह भी है कि अमरकोश मे ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओ के नामो से पहले, बुद्ध के नाम दिए गए है, क्योकि बौद्धो के अनुसार सब देवी देवता भगवान् बुद्ध से छोटे है। अमरसिंह नाम से अनुमान होता है कि उसके पूर्वज क्षत्रिय रहे होगे। अमरसिह का निश्चित समय बताना असभव ही है क्योकि अमरसिह ने अपने से पहले के कोशकारो के नाम ही नही दिए है। लिखा है 'समाहृत्यान्यतत्राणि' अर्थात् मैंने अन्य कोशो से सामग्री ली है, किंतु किससे ली है, इसका उल्लेख नही किया। कर्न और पिशल का अनुमान था कि अमरसिह का समय ५५० ई० के आसपास होगा क्योकि वह विक्रमादित्य के नवरत्नो मे गिना जाता है जिनमे से एक रत्न वराहमिहिर का निश्चित समय ५५० ई० है। ब्यूलर अमरसिह को लक्ष्मणसेन की सभा का रत्न मानते है। विलमट साहब को गया मे एक शिलालेख मिला जो ९४८ ई० का है। इसमे खुदा है कि विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नो मे से एक रत्न अमरदेव ने गया में बुद्ध की मूर्ति स्थापित की और एक मदिर बनाया। यह अमरदेव अमरसिह ही था, इसका प्रमाण नही मिलता, महत्व की बात है कि प्राय अस्सी पचासी वर्ष से उक्त शिलालेख और उसके अनुवाद लुप्त है। हलायुध ने भी अपने कोश मे एक प्राचीन कोशकार अमरदत्त का नाम गिनाया है। यूरोप के विद्वान् इस अमरदत्त को अमरसिह नही मानते। [हि० जो०]

अमरावती दक्षिण के पठार पर बबई राज्य मे स्थित एक जिला तथा उसका प्रधान नगर है। अमरावती जिला, अक्षाश २१° ४६' उ० से २०° ३२' उ० तथा देशातर ७६° ३८' पू० से ७८° २७' पू० तक फैला हुआ, बरार के उत्तरी तथा उत्तर-पूर्वी भाग मे बसा है। इसे दो पृथक् भागो मे विभाजित किया जा सकता है ,(१) पैंनघाट की उर्वरा तथा समतल घाटी जो पूर्व की ओर निकली हुई मोर्शी ताल्क को छोडकर लगभग चौकोर है। समुद्रतल से इस समतल भाग की ऊँचाई लगभग ८०० फुट है। (२) उत्तरी बरार का पहाडी भाग जो सतपुडा पहाडी का एक अश है और भिन्न भिन्न समयो मे भिन्न भिन्न नामो से प्रसिद्ध था, जैसे, बॉडा, गागरा मेलघाट। इसके उत्तर-पश्चिम की ओर ताप्ती, पूर्व की ओर बारधा और बीच से पूर्णा नदी बहती है। जिले की प्रधान उपज रुई है और कुल कृष्य भूमि का ५० प्रति शत इसी के उत्पादन मे लगा है। जिले का क्षेत्रफल लगभग ४,७१५ वर्ग मील है तथा १९५१ की गणनानुसार जनसख्या १०,३१,१६० है।

अमरावती जिले का प्रधान नगर अमरावती समुद्रतल से १,११८ फुट की ऊँचाई पर (अक्षाश २०° ५६' उ० और देशातर ७७° ४७' पू०) स्थित है। इसकी आबादी १६,६४३ है (१९५१ ई०)। रघुजी भोसला ने १८वी शताब्दी मे इसकी स्थापना की थी। वास्तुकला के सौदर्य के दो प्रतीक अभी भी अमरावती मे मिलते है—एक कुख्यात राजा विसेनचदा की हवेली और दूसरा शहर के चारो ओर की दीवार। यह चहारदीवारी पत्थर की बनी, २० से २६ फुट ऊँची तथा सवा दो मील लबी है। इसे निजाम सरकार ने पिंडारियो से धनी सौदागरो को बचाने के लिये सन् १८०४ मे बनाया था। इसमे पाँच फाटक तथा चार खिडकियाँ है। इसमे से एक खिडकी खूनखारी नाम से कुख्यात है जिसके पास १८१६ मे मुहर्रम के दिन ७०० व्यक्तियो की हत्या हुई थी। अमरावती नगर दो भागो मे विभाजित है—पुरानी अमरावती तथा नई अमरावती। पुरानी अमरावती दीवार के भीतर बसी है और इसके रास्ते सकीर्ण, आबादी घनी तथा जलनिकासी की व्यवस्था निकृष्ट है। नई अमरावती दीवार के बाहर वर्तमान समय मे बनी है और इसकी जलनिकासी-व्यवस्था, मकानो के ढग आदि अपेक्षाकृत अच्छे है। अमरावती नगर के अनेक घरो मे आज भी पच्चीकारी की हुई काली लकडी के बारजे (बरामदे) मिलते है जो प्राचीन काल की एक विशेषता थी।

अमरावती मे हिंदुओ के तथा जैनियो के कई मदिर है। इनमे से अबादेवी का मदिर सबसे महत्वपूर्ण है। लोग कहते है कि इस मदिर को बने लगभग एक हजार वर्ष हो गए और सभवत अमरावती का नाम भी इसी से प्रचलित हुआ, यद्यपि इससे कतिपय विद्वान् सहमत नही है। अमरावती मे मालटेकरी नामक एक पहाड है जो इस समय चाँदमारी के रूप मे व्यवहृत होता है। किंवदती है कि यहाँ पिडारी लोगो ने बहुत धन दौलत गाड रखा है। अमरावती का जल यहाँ के बाडाली तालाब से आता है। यह तालाब लगभग दो वर्गमील की भूमि से पानी एकत्रित करता है और १५० लाख घन फुट पानी धारण कर सकता है। अमरावती रुई के व्यापार के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ रुई के तथा तेल निकालने के कई कारखाने भी है।

हिंदुओ की पौराणिक किंवदती के अनुसार अमरावती सुमेरु पर्वत पर स्थित देवताओ की नगरी है जहाँ जरा, मृत्यु, शोक, ताप कुछ भी नही होता। इस अमरावती और बरारवाली अमरावती मे कोई सबध नही है। किसी किसी का यह अनुमान है कि ऐसी अमरावती मध्य एशिया की आमू (ऑक्सस) नदी के आसपास बसी थी।

मद्रास के गुटूर जिले मे भी अमरावती नामक एक प्राचीन नगर है। कृष्णा नदी के दक्षिण तट पर (अक्षाश १६° ३५' उ० तथा देशातर ८०° २४' पू०) स्थित है। इसका स्तूप तथा सगमरमर पत्थर की रेलिंग की मूर्तियाँ भारतीय शिल्पकला के उत्तम प्रतीक है। शिलालेख के अनुसार इस अमरावती का प्रथम स्तूप ई० पू० २०० वर्ष पहले बना था और अन्य स्तूप

माँगे जाने पर सुगमता से निकालकर देने के लिये इन अभिलेखों को बड़ी सावधानी से तारीख पर वर्गीकरण, परीक्षण और क्रमबद्ध करके रखा जाता है और उनकी सूचियाँ तैयार की जाती हैं।

जो कार्यालय अपने अभिलेख यहाँ भेजते हैं वे पहले उनमें से अनुपयोगी अभिलेखों को निकालकर नष्ट कर देते हैं। नष्ट करते समय कहीं वे प्रशासनिक और ऐतिहासिक मूल्य के अभिलेखों को भी न नष्ट कर दें इसलिये यह अभिलेखालय उनको अभिलेखसंचयन के संबंध में सलाह देता है और इस काम में उनका पथप्रदर्शन करता है। संचयन के संबंध में विषमता दूर करने के लिये इस अभिलेखालय ने विभिन्न मंत्रालयों से आए हुए प्रतिवेदनों के आधार पर अभिलेखसंचयन का एकविध (यूनिफार्म) नियम तैयार किया है।

बाहर से आनेवाले अभिलेखों का पहले वायुशोधन (एअर क्लीनिंग) तथा धूमन (फ्यूमिगेशन) किया जाता है। वायुशोधन के द्वारा अभिलेखों में से धूल हटा दी जाती है और धूमन के द्वारा हानिकारक कीडों को नष्ट कर दिया जाता है।

अभिलेखों का परिरक्षण (सँभाल) इस अभिलेखालय के सबसे महत्वपूर्ण कामों में से एक है। यह काम अभिलेख-प्रतिसंस्कार (मरम्मत) की विभिन्न विधाओं द्वारा प्रलेखों, उनके कागजों तथा स्याहियों आदि की अवस्थाओं को ध्यान में रखकर यथोचित रीति से किया जाता है। इस काम को सुचारु रूप से करने के लिये अभिलेखालय ने अपनी ही प्रयोगशाला (रिसर्च लैबोरेटरी) बना रखी है। इसमे कागजों तथा स्याहियों आदि के नमूनों का, अभिलेख-प्रतिसंस्कार के लिये उनकी उपयुक्तता आदि जानने के साथ में परीक्षणकार्य किया जाता है। प्रयोगशाला में ऐसे साधनों तथा रीतियों आदि की खोज भी की जाती है जिससे अभिलेखों को अधिक से अधिक दीर्घजीवी बनाया जा सके।

अभिलेखपरिरक्षण (सँभाल) में भा-प्रतिलिपिकरण (फोटो-डुप्लिकेशन) विधा से भी सहायता ली जाती है। अणुचित्रण विधा (माइक्रोफिल्मिंग प्रोसेस) द्वारा पुराने और भिदुर अभिलेखों का लगातार अणुचित्रण किया जा रहा है ताकि यदि कभी मूल अभिलेख उपहत या नष्ट हो जायें तो उनकी प्रतिलिपियाँ सँभालकर रखी जा सकें। इसके अतिरिक्त अणुचित्र-प्रतिलिपियों को उपयोग में लाने से जहाँ मूल अभिलेखों की आयु अधिक लंबी हो सकती है वहाँ भारत के विभिन्न भागों में स्थित गवेषणार्थियों को गवेषणार्थ सस्ते मूल्य पर अभिलेखों की प्रतिलिपियाँ मिल जाती हैं।

यह अभिलेखालय इस समय संसार के सबसे बड़े अभिलेखालयों में से एक है। इसके कार्यकलापों के प्रशासन, अभिलेख, प्रकाशन, प्राच्य अभिलेख और शैक्षणिक अभिलेख तथा परिरक्षण आदि नामों से छ संभाग (डिवीजन) हैं। प्रत्येक शाखा अपने शाखाप्रभारी (सेक्शन इन्चार्ज) तथा संभाग अधिकारी (डिवीज़न आफिसर) के द्वारा अपना कार्यकलाप निर्देशक को भेजती है। [कृ० द० भा०]

अभिवृत्ति (ऐटिच्यूड) मनुष्य की वह सामान्य प्रतिक्रिया है जिसके द्वारा वस्तु का मनोवैज्ञानिक ज्ञान होता है। इसी आधार पर व्यक्ति वस्तुओं का मूल्यांकन करता है। कुछ पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अभिवृत्ति को मनुष्य की वह अवस्था माना है जिसके द्वारा मानसिक तथा नाडी-व्यापार-संबंधी अनुभवों का ज्ञान होता है। इस विचारधारा के प्रमुख प्रवर्तक ऑलपार्ट हैं। उनके सिद्धांतों के अनुसार अभिवृत्ति जीवन में वस्तुबोधन का मुख्य कारण है। इस परिभाषा के द्वारा अभिवृत्ति वह सामान्य प्रत्यक्ष है जिसके द्वारा मनुष्य भिन्न भिन्न अनुभवों का समन्वय करता है। यह वह मापदंड है जिसके द्वारा व्यक्तित्व के निर्माण में सामाजिक तथा बौद्धिक गुणों का समावेश होता है। मनोवैज्ञानिकों ने अभिवृत्तियों का विभाजन, उनके वस्तु-आधार, उनकी गहनता तथा उनकी प्रतिक्रिया के आधार पर किया है। इसका घनिष्ठ संबंध व्यक्ति के अमूर्त विचार तथा कल्पना से ही है। अभिवृत्ति का जन्म प्राय चार साधनों से होता हुआ देखा गया है—प्रथम समन्वय द्वारा, द्वितीय आघात द्वारा, तृतीय भेद द्वारा तथा चतुर्थ स्वीकरण द्वारा। यह आवश्यक नहीं है कि ये सब स्वतंत्र रूप से ही कार्य करें, ऐसा भी देखा गया है कि इनमें एक या दो कारण भी मिलकर अभिवृत्ति को जन्म देते हैं। इस दिशा में अमेरिका के दो मनोवैज्ञानिकों—जे० डेविस तथा आर० बी० ब्लेक ने विशेष रूप से अनुसंधान किया है। प्रयोगों द्वारा यह भी देखा गया है कि अभिवृत्ति के निर्माण में माता-पिता, समुदाय, शिक्षा-प्रणाली, सिनेमा, संवेगात्मक परिस्थितियों तथा सूच्यता (सजेस्टिबिलिटी) का विशेष हाथ होता है। अभिवृत्ति को नापने का प्रश्न सदा से मनोवैज्ञानिकों के लिये कठिन रहा है, लेकिन आज के युग में इस दिशा में भी पर्याप्त कार्य हुआ है। एल० थर्सटन ने इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। उनके विचारों द्वारा अभिवृत्ति को नापने का प्रयत्न किया गया है। उन्होंने 'ओपीनियन स्केल' विधि को ही प्रधानता दी है। प्रक्षेपिक विधि (प्रोजेक्शन टेकनीक) आजकल विशेष रूप से प्रयोग में लाई जा रही है। ई० एस० बोगारडस ने अपने अनुसंधानों द्वारा 'सोशल डिस्टैन्स टेकनीक' के द्वारा व्यक्तियों के विचारों को नापने का प्रयत्न किया है। इस दिशा में अभी विशेष कार्य होने की आवश्यकता है। भारतीय मनोविज्ञान-शालायें भी इस दिशा में कार्य कर रही हैं। मनोविज्ञान-शाला, इलाहाबाद, ने कुछ विधियों का भारतीयकरण किया है। [श० ना० उ०]

अभिव्यंजनावाद जर्मनी और आस्ट्रिया से प्रादुर्भूत प्रधानत मध्य यूरोप की एक चित्र-मूर्ति-शैली जिसका प्रयोग साहित्य, नृत्य और सिनेमा के क्षेत्र में भी हुआ है। यह शैली वर्णनात्मक अथवा चाक्षुष न होकर विश्लेषणात्मक और आभ्यंतरिक होती है, उस भाववादी (इंप्रेशनिस्टिक) शैली के विपरीत जिसमें कलाकार की अभिरुचि प्रकाश और गति में ही केंद्रित होती है, उन्हीं तक सीमित अभिव्यंजनावादी प्रकाश का प्रयोग बाह्य रूप को भेद भीतर का तथ्य प्राप्त कर लेने, आतरिक सत्य से साक्षात्कार करने और गति के भाव-प्रक्षेपण आत्मान्वेषण के लिये करता है। वह रूप, रंगादि के विरूपण द्वारा वस्तुओं का स्वाभाविक आकार नष्ट कर अनेक आतरिक आवेगात्मक सत्य को ढूँढता है। अभिव्यंजनावाद के प्रधानत तीन प्रकार हैं, (१) विरूपित, यद्यपि सर्वथा अमूर्त नहीं, (२) अमूर्त और (३) नव-वस्तुवादी। इनमें से पहले वर्ग के कलाकारों में प्रधान हैं किर्चनर नोल्डे, पेक्स्टीन, मूलर, दूसरे में मार्क, कांडिस्की, क्ली, जालेस्की और तीसरे में ओटो, डिक्स, जार्ज ग्रोत्स आदि। जर्मनी से बाहर के अभिव्यंजनावादियों में प्रधान रुआल, सूर्ते और एदवार मक हैं। अभिव्यंजनावाद ललित कलाओं के माध्यम से साहित्य में आया। यही आंदोलन इटली में भविष्यद्वाद (फ्यूच्यूरिस्ट) और क्रांतिपूर्व रूप में 'क्यूबोफ्यूचरिज्म' कहलाया। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग फ्रांसीसी चित्रकार हेर्व ने १९०१ में किया, इसे साहित्यालोचन में प्रयुक्त किया आस्ट्रिया के लेखक हेरमान बाह्र ने १९१४ ई० में। इसका मूल उद्देश्य था यांत्रिकता के विरुद्ध विद्रोह। यथार्थवाद की परिणति प्रकृतिवाद और नव्य रोमांसवाद तथा विंबवाद आदि से ऊबकर उसकी प्रतिक्रिया में अभिव्यंजनावाद चला। इसमें ऑंरी बेर्गसा नामक फ्रांसीसी दार्शनिक के 'जीवनोत्प्लव' और 'जीवनीशक्ति' (एला विताल) सिद्धांत ने और परिपुष्टि दी। यह वाद वाद में हुस्सिर्ल सहजज्ञानाश्रित क्षणिकवाद दस्ताफ-एव्स्की और स्ट्रिंडबर्ग के मानवात्मा के आविष्कार आदि के रूप में दार्शनिक प्रतिष्ठा पाता रहा। फ्रायड के मनोविश्लेषण और चित्तविकलन के सिद्धांतो ने, स्वप्न तथा अर्धचेतना के प्रतीकात्मक अर्थाभिव्यंजन पद्धति ने अभिव्यंजनावाद का और समर्थन किया। अभिव्यंजनावादी लेखकों की अपनी विस्फोटक शैली होती है, वह सीधे वर्णनों के विरुद्ध है। उनकी भाषा तार (टेलीग्राम) की भाषा की तरह होती है, कभी कभी अधूरे वाक्यों, तुतलाहट आदि के रूपों में असामाजिक अभिव्यक्तियों में भी वह अपना आश्रय खोजती है। अभिव्यंजनावादी बेजान चीजों को जिंदा बनाकर बुलवाते हैं। यथा—'गंगा के घाट यदि बोलें', या 'बुर्जियों ने कहा' या 'गली के मोड पर लेटर बक्स, दीवार या म्युनिस्पल लालटेन की बातचीत' आदि। उन्हें जीवन के वर्तमान में बेहद असंतोष होता है, जीवित को वे मृत मानकर चलते हैं, मृत को जीवित बनाने का यत्न करते हैं। अभिव्यंजनावादियों में भी कई प्रकार हैं, कुछ केवल अब आवेग या चालनाशक्ति पर जोर देते हैं, कुछ बौद्धिकता पर, कुछ लेखकों ने मनुष्य और प्रकृति की समस्या को प्रधानता दी, कुछ ने मनुष्य और परमेश्वर की समस्या को। इस विचारपद्धति का सबसे अधिक प्रभाव यूरोप के नाट्य साहित्य और मंच पर पडा। १९१२
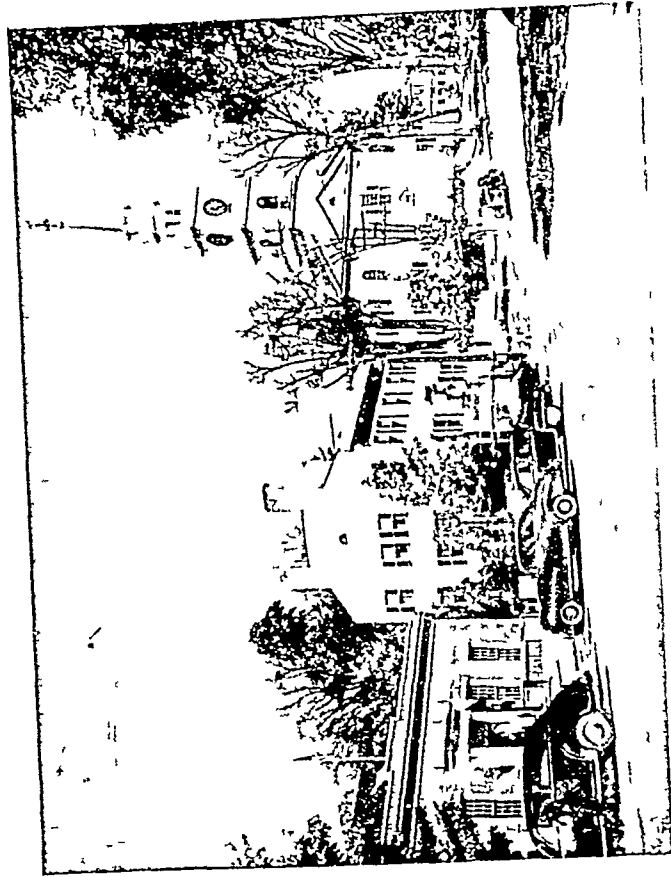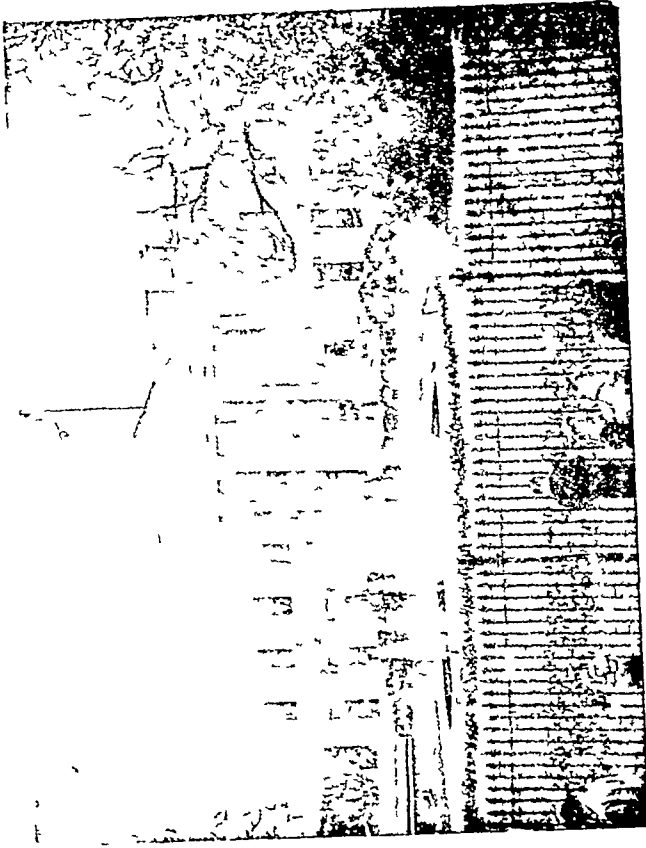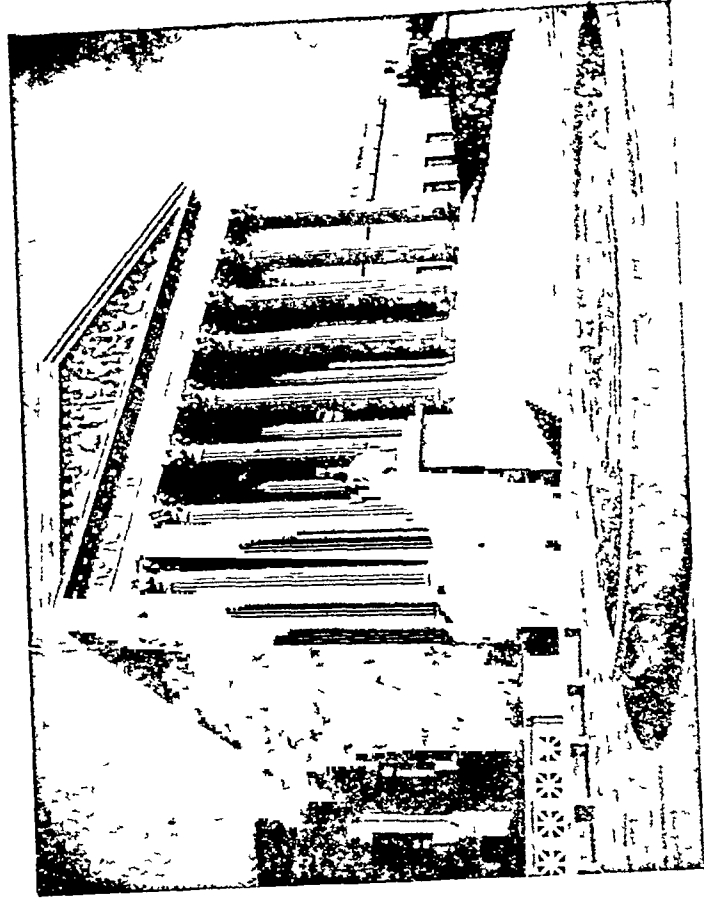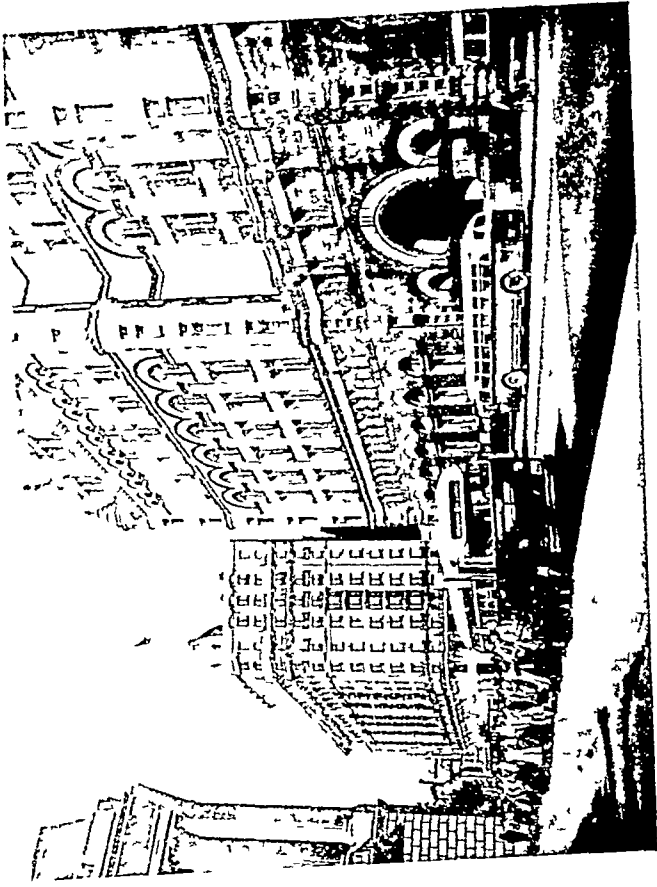
सयुवतराज्य (अमरीका) के कुछ प्रसिद्ध भवन

ऊपर बाईं ओर "ह्वाइट हाउस"—सयुवत राज्य के राष्ट्रपति का निवास स्थान, ऊपर दाहिनी ओर वाशिगटन (कोलविया) की एक सडक पर वर्जीनिया की सैर के लिये जाने वाले वस यात्रियो की भीड, नीचे बाईं ओर वरमॉण्ट राज्य के मिडिलवरी नामक एक छोटे नगर की मुख्य सडक, नीचे दाहिनी ओर वाशिगटन (कोलविया) मे उच्चतम न्यायालय का भवन (अमरीकी दूतावास के सौजन्य से)।

समय' शब्द का व्यवहार, विशेषत मैत्रेयनाथ के वाद, होने लगा। मैत्रेयनाथ ने 'प्रज्ञापारमिता' शास्त्र के आधार पर 'अभिसमयालकार' शास्त्र लिखा जो प्रज्ञापारमिता अथवा निर्वाण प्राप्त करने के मार्ग का उपदेश देता है। महायान मे इस शास्त्र का अत्यधिक महत्व होना स्वाभाविक था क्योकि उन सप्रदाय के अनुसार प्रज्ञापारमिता की साधना इसमें वताई गई है। प्रज्ञापारमिता शब्द का प्रयोग निर्वाण और निर्वाण का मार्ग इन दोनो अर्थों में होता है। तदनुसार 'अभिसमय' के भी ये दो अर्थ हैं। किंतु साध्य की अपेक्षा साधना, जो साध्य तक ले जाती है, साधको के लिये विशेष महत्व की वस्तु होती है, अतएव 'निर्वाण की साधना का मार्ग' अर्थ में ही विशेष रूप से 'अभिसमय' शब्द प्रचलित हो गया है। 'अभिसमय' के नाम से प्रसिद्ध ग्रथो मे साधनमार्ग का ही विशेष रूप से वर्णन मिलता है।

स०ग्र०—अभिसमयालकार के विविध सपादन तथा अनुवाद, ओवर मिलर, ऐक्टा ओरिएटालिया, खड ११, कलकत्ता ओरिएटल सिरीज़, स० २७। [द० मा०]

अभिसार भारतीय साहित्यशास्त्र का एक मान्य पारिभाषिक शब्द जिसका अर्थ है नायिका का नायक के पास स्वय जाना अथवा दूती या सखी के द्वारा नायक को अपने पास बुलाना। अभिसार मे प्रवृत्त होनेवाली नायिका को 'अभिसारिका' कहते हैं। दशरूपक के अनुसार जो नायिका या तो स्वय नायक के पास अभिसरण करे (अभिसरेत्) अथवा नायक को अपने पास बुलावे (अभिसारयेत्) वह 'अभिसारिका' कहलाती है—कामार्ताऽभिसरेत् कात सारयेद्वाऽभिसारिका (दशरूपक २।२७)। कुछ आचार्य अभिसारण का कार्य वासकसज्जा का ही निजी विशिष्ट व्यापार मानकर इसे अभिसारिका का आवश्यक लक्षण नही मानते, परतु प्राचीन आचार्यों के मत के यह सर्वथा विरुद्ध है। भरत मुनि ने तो कात के अभिसारण को ही अभिसारिका का प्रधान लक्षण अगीकार किया है (अभिसारयते कात सा भवेदभिसारिका।—नाटचशास्त्र २४।२१२)। भावप्रकाश का भी यही मत है (चतुर्थ अधिकार, पृष्ठ १००-१०१)। कवियो की दृष्टि मे अभिसारिका ही समस्त नायिकाओ मे अत्यत मधुर, आकर्षक तथा प्रेमाभिव्यजिका होती है (सर्वतश्चाभिसारिका)।

अभिसारिका के भावो का विश्लेषण आचार्यो ने वडी सूक्ष्मता से किया है। मद अथवा मदन, सौंदर्य का अभिमान अथवा राग का उत्कर्ष ही अभिसारिका के व्यापार की मुख्य प्रेरक शक्ति है। प्रियतम से मिलने के लिये बेचैनी तथा उतावलेपन की मूर्ति वनी हुई यह नायिका सिंह से डरी हरिणी के समान अपनी चचल दृष्टि इधर उधर फेकती हुई मार्ग मे अग्रसर होती है। वह अपने अगो को समेटकर इस ढब से पैर रखती है कि तनिक भी आहट नहीं होती (नि शब्दपदसचरा)। हर डग पर शकित होकर अपने पैरो को पीछे लौटाती है। जोरो से काँपती हुई पसीने से भीग उठती है। यह उसकी मानसिक दशा का जीता जागता चित्र है। वह अकेले सन्नाटे मे पैर रखते कभी नही डरती। नि शब्द सचरण भी एक अभ्यस्त कला के समान अभ्यास की अपेक्षा रखता है। कोई भी प्रवीण नायिका इसे अनायास नही कर सकती। घर में ही भविष्यत् अभिसारिका को इसकी शिक्षा लेनी पडती है। वह अपने नूपुरो को जानुभाग तक ऊपर उठा लेती है (आजानूद्धृतनूपुरा) तथा आँखो को अपने करतल से वद कर लेती है जिससे 'रजनी तिमिरावगुठित' मार्ग में वह वद आँखो से भी भली भाँति आसानी से जा सके। अभिसार काली रात के समय ही अधिकतर माना जाता है इसलिये यह नायिका अपने अगो को नीले दुकूल से ढक लेती है (मूर्तिर्नीलदुकूलिनी) तथा प्रत्येक अग मे कस्तूरी से पत्रावलि वना डालती है। उसकी भुजाओ में नीले रत्न के वने ककण रहते है। कठ में 'अवुसार' (प्राचीन आभूषणविशेष) की पक्ति रहती है और ललाट पर केश की मजरी सी लटकती रहती है। अभिसारिका का यही सुभग वेश कवियो की सरस लेखनी द्वारा वहुश चित्रित किया गया है।

अभिसारिका के अनेक प्रकार साहित्य मे वर्णित है। भावप्रकाश (पृष्ठ १०१) मे स्वभावानुसार तीन भेद वतलाए गए हैं परागना, वेश्या तथा प्रेष्या (दासी)। अभिसारिका का लोकप्रिय विभाजन पाँच श्रेणी में वहुश किया गया है (१) ज्योत्स्नाभिसारिका, जो छिटकी चाँदनी मे अपने प्रियतम से निर्दिष्ट स्थान पर मिलने जाती है। इसके वस्त्र, आभूषण, अगराग आदि समस्त प्रयुक्त वस्तुएँ उजले रग की होती है और इसीलिये यह 'शुक्लाभिसारिका' भी कही जाती है। (२) तमोऽभिसारिका (या कृष्णाभिसारिका)—अँधेरी रात मे अभिसरण करनेवाली नायिका। (३) दिवाभिसारिका—दिन के धवल प्रकाश में अभिसरण के निमित्त इसके आभूषण सुवर्ण के वने होते है तथा पीली साडी इसके शरीर को सूरज के धूप मे अदृश्य सी वनाती है। (४) गर्वाभिसारिका तथा (५) कामाभिसारिका में समय का निर्देश न होकर नायिका के स्वभाव की ओर स्पष्ट सकेत है।

अभिसार के मजुल वर्णन कवियो की लेखनी से तथा रोचक चित्रण चित्रकारो की तूलिका के द्वारा अत्यत सुदरता से प्रस्तुत किए गए है। राधिका का लीलाभिसार वैष्णव कवियो का लोकप्रिय विषय रहा है जिसका वर्णन गीतगोविंद जैसे सस्कृत काव्य में तथा सूरदास, विद्यापति और ज्ञानदास के पदो मे अत्यत आकर्षक शैली में हुआ है। राजपूत तथा काँगडा शैली के चित्रकारो ने भी अभिसार का अकन अपने चित्रो में किया है। [व० उ०]

अभिहितान्वयवाद कुमारिल मीमासा और न्याय दर्शन में स्वीकार किया गया है कि शब्द का अपना स्वतत्र अर्थ होता है। एक शब्द स्वार्थबोधन के लिये दूसरे शब्द की अपेक्षा नही करता। वाक्य स्वतत्र अर्थबोधन करनेवाले शब्दो का समूह होता है। स्वार्थवोधन करने के वाद शब्द वाक्य मे अन्वित होते है। यह सिद्धात अन्विताभिधानवाद का ठीक उल्टा है। इसके अनुसार भाषा की इकाई शब्द ही है, वाक्य इकाइयो का समुदाय मात्र है। प्रकृति और प्रत्यय का पृथक् अर्थ होता है। चूँकि प्रकृति व्यवहार मे प्रचलित है अत वह स्वतत्र रूप से अर्थबोधन करती है। प्रत्यय लोकप्रचलित नही है अत उससे लोक मे स्वतत्र अर्थवोधन नही होता। फिर भी व्याकरण में प्रत्यय का वैसा ही स्वतत्र अर्थ है जैसा प्रकृति का। प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ का पारस्परिक सबध विशेषण-विशेष्य-भाव के रूप में होता है और इसको प्रकारतावाद कहते है। [रा० पा०]

अभोरर्स प्रोटेस्टेट मतावलवी लार्ड चासलर शैफ्ट्सबरी ने कैथोलिक मत के प्रसार का अवरोध करने तथा यार्क के ड्यूक जेम्स का उत्तराधिकार अवैध घोषित करने के लिये आदोलन सगठित किया। जेम्स को सिंहासन से वचित करने के लिये पार्लियामेंट मे एक्स्क्लूजन विल प्रस्तुत किया गया। विल को विफल करने के लिये चार्ल्स द्वितीय ने १६७९ में पार्लियामेंट भग कर दी, फिर उसी वर्ष अक्टूवर में नई निर्वाचित पार्लियामेंट भी वर्ष भर के लिये स्थगित कर दी। शैफ्ट्सवरी के आदोलन के फलस्वरूप अनेक व्यक्तियो ने पार्लियामेंट फिर से बुलाने के लिये सम्राट् के समुख प्रार्थनापत्र भेजे। प्रतिकार रूप मे सर जार्ज जेफ्री और फ्रासिस विर्येस ने सम्राट् के समक्ष इस कार्य का घृणात्मक विरोध प्रदर्शित करते हुए निवेदनपत्र भेजा। इस समय चार्ल्स की लोकप्रियता मे वृद्धि तथा शैफ्ट्सवरी के अनुचित कार्यो के कारण जनता में से भी अनेक व्यक्तियो ने प्रार्थियो के विरुद्ध आवेदन किया। जिन व्यक्तियो ने इस प्रकार के घृणात्मक विरोध का प्रदर्शन किया था उन्हे अभोरर्स कहा गया। वाद मे इन्हे व्यग रूप में टोरी सज्ञा प्राप्त हुई, तथा प्रार्थी दल को ह्विग सज्ञा। [रा० ना०]

अभ्युदय सासारिक सौख्य तथा समृद्धि की प्राप्ति। महर्षि कणाद ने धर्म की परिभाषा में अभ्युदय की सिद्धि को भी परिगणित किया है (यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म, वैशेषिक सूत्र १।१।२)। भारतीय धर्म की उदार भावना के अनुसार धर्म केवल मोक्ष की सिद्धि का ही उपाय नही, प्रत्युत ऐहिक सुख तथा उन्नति का भी साधन है। इसलिये वैदिक धर्म मे अभ्युदय काल में श्राद्ध का विधान विहित है। रघुनदन भट्टाचार्य ने अभ्युदय श्राद्ध को दो प्रकार का माना है भूत जो पुत्रजन्मादि के समय होता है और भविष्यत् जो विवाहादि के अवसर पर होता है। साराश यह है कि वैदिक धर्म केवल परलोक की ही शिक्षा नही देता, प्रत्युत वह इस लोक को भी व्यवहार की सिद्धि के लिये किसी भी तरह उपेक्षणीय नही मानता। [व० उ०]

अमरीका (उत्तरी) के दो जतु

ऊपर वारहसिंगा (कैरिबू), नीचे साँड (वाइसन) (दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

वेल्त्र (१८७७), टी० एच० हॉलैंड दि माइका डिपॉजिट्स ऑव इडिया (मेमॉयर्स, जिऑलोजिकल सरवे ऑव इडिया, खड ३४, सन् १९०२)। [म० ना० मे०]

आयुर्वेद में अभ्रक—सस्कृत में जिसे अभ्रक कहते है वही हिंदी में अवरक, बँगला में अभ्र, फारसी में मितारा ज़मीन तथा लैटिन और अंग्रेजी मे माइका कहलाता है। काले रग का अभ्रक आयुर्वेदिक ओपधि के काम में लेने का आदेश है। साधारणत अग्नि का इसपर प्रभाव नही होता, फिर भी आयुर्वेद में इमका भस्म बनाने की रीतियाँ है। यह भस्म शीतल, धातुवर्धक और त्रिदोप, विपविकार तथा कृमि दोप को नष्ट करनेवाला, देह को दृढ करनेवाला तथा अपूर्व शक्तिदायक कहा गया है। क्षय, प्रमेह, बवासीर, पथरी, मूत्राघात इत्यादि रोगो मे यह भस्म लाभदायक कहा गया है। [भ० दा० व०]

अमरकंटक

अमरकटक पहाड तथा नगर मध्य प्रदेश मे स्थित है। समुद्रतल से नगर की ऊँचाई ३,४९३ फुट है तथा स्थिति अक्षाश २२° ४०′ १५″ उ० और देशातर ८१° ४८′ १५″ पू० है।

अमरकटक पहाड सतपुडा श्रेणी का ही एक अश है तथा इसका ऊपरी भाग एक विस्तृत पठार सा है। इस पहाड पर कई मदिर है जो पुण्यसलिला नर्मदा के उद्गमस्थल के चारो ओर स्थित हैं। इसके आसपास बहुत से निर्झर हैं। नर्मदा के उद्गमस्थल के पास एक कुड है। शोण नदी भी इसी के पास से निकली है। इन नदियो का उद्गमस्थल होने के कारण यह हिंदुओ के लिये प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है और प्रति वर्प लाखो यात्री यहाँ दर्शन करने आते हैं। इसका प्राकृतिक सौंदर्य बहुत ही मनोरम है और जलवायु भी अच्छी है। इस कारण कई पर्यटक तथा जलवायु परिवर्तन के इच्छुक भी यहाँ प्रतिवर्प आते हैं। [वि० मु०]

अमरकोश

सस्कृत के कोशो मे अमरकोश अति लोकप्रिय और प्रसिद्ध है। अन्य सस्कृत कोशो की भाँति अमरकोश भी छदोबद्ध रचना है। इसका कारण यह है कि भारत के प्राचीन पडित 'पुस्तकस्था' विद्या को कम महत्व देते थे। उनके लिये कोश का उचित उपयोग वही विद्वान् कर पाता है जिसे वह कठस्थ हो। श्लोक शीघ्र कठस्थ हो जाते हैं। इसलिये सस्कृत के सभी मध्यकालीन कोश पद्य मे हैं। इतालीय पडित पावोलोनी ने सत्तर वर्प पहले यह सिद्ध किया था कि सस्कृत के ये कोश कवियो के लिये महत्वपूर्ण तथा काम मे कम आनेवाले शब्दो के सग्रह है। अमरकोश ऐसा ही एक कोश है। इसका वास्तविक नाम अमरसिंह के अनुसार 'नामलिगानुशासन' है। नाम का अर्थ यहाँ सज्ञा शब्द है। अमरकोश में सज्ञा और उसके लिंगभेद का अनुशासन या शिक्षा है। अव्यय भी दिए गए है, किंतु धातु नही हैं। धातुओ के कोश भिन्न होते थे (दे० काव्यप्रकाश, काव्यानुशासन आदि)। हलायुध ने अपना कोश लिखने का प्रयोजन 'कविकठविभूपणार्थम्' बताया है। धनजय ने अपने कोश के विपय में लिखा है, 'मै इसे कवियो के लाभ के लिये लिख रहा हूँ, (कवीना हितकाम्यया)। अमरसिंह इस विपय पर मौन हैं, किंतु उनका उद्देश्य भी यही रहा होगा। अमरकोश मे साधारण सस्कृत शब्दो के साथ साथ असाधारण नामो की भरमार है। आरभ ही देखिए—देवताओ के नामो में लेखा शब्द का प्रयोग अमरसिंह ने कहाँ देखा, पता नही। ऐसे भारी भरकम और नाममात्र के लिये प्रयोग मे आए शब्द इस कोश मे सगृहीत हैं, जैसे—देवद्रचग या विश्वद्रचग (३,३४)। कठिन, दुर्लभ और विचित्र शब्द ढूँढ ढूँढकर रखना कोशकारो का एक कर्तव्य माना जाता था। नमस्या (नमाज या प्रार्थना) ऋग्वेद का शब्द है (२,७,३४)। द्विवचन में नासत्या, ऐसा ही शब्द है। अमरकोश मे कतिपय प्राकृत शब्द भी सस्कृत समझकर रख दिए गए है। मध्यकाल के इन कोशो मे, उस समय प्राकृत शब्दो के अत्यधिक प्रयोग के कारण, कई प्राकृत शब्द सस्कृत माने गए है, जैसे—छुरिका, ढक्का, गर्गरी (दे० प्रा० गग्गरी), डुलि, आदि है। बौद्ध-विकृत-सस्कृत का प्रभाव भी स्पष्ट है, जैसे—बुद्ध का एक नामपर्याय अर्कबधु। बौद्ध-विकृत-सस्कृत में बताया गया है कि अर्क किसी पहले जन्म में बुद्ध का नाम था। अत न मालूम कैसे अमरसिंह ने अर्कबधु नाम भी कोश मे दे दिया। बुद्ध के 'सुगत' आदि अन्य नामपर्याय ऐसे ही है। इस कोश मे प्राय दस हजार नाम है, जहाँ मेदिनी मे केवल साढे चार हजार और हलायुध में आठ हजार हैं। इसी कारण पडितो ने इसका आदर किया और इसकी लोकप्रियता बढती गई है। [हि० जो०]

अमरत्व

दर्शन और धर्म मे प्रयुक्त शब्द। भौतिक और दृष्ट जगत् मे सभी वस्तुएँ उत्पन्न होकर, कुछ काल रहकर, नष्ट हो जानेवाली दिखाई पडती है। दार्शनिको का मत है कि जगत् के अतर्गत सभी वस्तुओ मे छ विकार होते है—उत्पत्ति, अस्तित्व, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और विनाश। ऐसा चारो ओर अनुभव होने पर भी मनुष्य यह समझता है कि उसमे कोई एक ऐसा आत्मतत्व है जो इन छ भावविकारो से रहित है, अर्थात् जो अजन्मा, अजर और अमर है। भारतीय दर्शनो मे चार्वाक दर्शन को छोडकर प्राय सभी दर्शनो में आत्मा के अमरत्व की कल्पना हुई है। बौद्ध दर्शन भी, जो आत्मा को कोई विशेष पदार्थ नही मानता, मृत्यु के पश्चात् जीवन, पुनर्जन्म और निर्वाण को मानता है।

अमरत्व (अर्थात् मृत्युरहितता) की कल्पना के अतर्गत दो बाते आती है

(१) भौतिक शरीर की मृत्यु (नाश) हो जाने पर भी आत्मतत्व का किसी न किसी रूप मे कही न कही अस्तित्व, एव (२) आत्मा का पड्भावविकारो से सदैव मुक्त रहना और कभी भी मृत्यु का अनुभव न करना।

अमरत्व सिद्ध करने के लिये जो अनेक प्रकार की युक्तियाँ दी जाती हैं उनमे से कुछ ये है—(१) **धार्मिक युक्ति** प्राय सभी धर्मो के आदि-ग्रथ आत्मा को अमर बतलाते हैं और मृत्यु के पश्चात् भौतिक शरीर से छुटकारा पाने पर आत्मा के किसी दूसरे लोक—स्वर्ग, नरक, ईश्वर के धाम अथवा फिर इसी लोक के दूसरे स्थान मे जाने का सकेत करते है। हिंदू, बौद्ध, जैन आदि सभी भारतीय धर्मों में आत्मा के पुनर्जन्म की कल्पना मिलती है।

(२) **दार्शनिक युक्ति**—कुछ वैज्ञानिको और दार्शनिको ने मानव व्यक्तित्व का विश्लेषण और विचार करके यह निश्चित किया है कि क्षण क्षण बदलनवाले इस भौतिक शरीर मे और इससे अतिरिक्त अस्तित्व और स्वरूपवाला एक ऐसा तत्व है जो षड्भावविकारो से परे, इन सब विकारो का द्रष्टा, सदा वही का वही रहनेवाला, शरीर को अपने प्रयोग में लानेवाला और शरीर के द्वारा भौतिक जगत् में कार्य करनेवाला है जिसे आत्मा कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति अपने फटे पुराने कपडो को त्यागकर नए कपडे पहन लेता है, वैसे ही आत्मा जीर्ण शरीर को त्यागकर दूसरे नवीन शरीर को अपना लेती है। वह आत्मा अमर है।

(३) **परामनोवैज्ञानिक युक्ति**—आजकल के वैज्ञानिक युग में वैज्ञानिक रीति और साधनो द्वारा मानव व्यक्तित्व की अद्भुत शक्तियो का विशेष अध्ययन किया जा रहा है। इसके लिये सन् १८८२ मे एक विशेष सस्था साइकिकल रिसर्च सोसाइटी का निर्माण हुआ था। उसने बहुत सी विचित्र खोजे की और आज इस प्रकार की खोजो के आधार पर एक नया विज्ञान, जिसको परामनोविज्ञान (पैरासाइकोलॉजी) कहते हैं, उत्पन्न हो गया है, जिसका निर्णय यह है कि मनुष्य में अद्भुत और अतुल मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं जिनका शरीर से बहुत कम सबध है और जो इस बात की द्योतक है कि मानव मे कोई 'मन' अथवा 'आत्मा' नामक ऐसा तत्व है जो शरीर की सीमाओ में बद्ध न रहकर भी कार्य करता है और जो देश और काल के बधनो से मुक्त है तथा जो शरीर से अलग हो सकता है और उसके बिना भी कार्य कर सकता हे। शरीर के नष्ट हो जाने पर उस तत्व के अस्तित्व का प्रमाण भी मिलता है। यदि शरीर के अतिरिक्त और शरीर से अलग होकर भी आत्मतत्व जैसा कोई पदार्थ वर्तमान रहता है और काय कर सकता हे तो उसके अमर होने मे बहुत कम सदेह रह जाता है।

(४) **नैतिक और मूल्यात्मक युक्ति**—भारतीय दर्शनो में आत्मा के अमरत्व की यह एक प्रबल युक्ति दी जाती है कि यदि हम केवल मरणशील और जन्मजात शरीर मात्र है तो हमारे किए हुए पाप और पुण्य का हमको कोई बुरा भला फल नही चखना पडेगा क्योकि मरने पर सब

और बढ़िया भूमि प्लाटरों ने अपने अधिकार में कर रखी थी। वे बडी शान से रहते थे और उनका सारा कार्य दास करते थे। यह दास प्रथा, जिसका दक्षिणी उपनिवेशों में बडा जोर था और जिसे हटाने के लिये दक्षिण के लोग तैयार न थे, आगे चलकर गृहयुद्ध का एक बडा कारण बनी।

इन तीन क्षेत्रों के उपनिवेशों में भौगोलिक और आर्थिक पृथक्ता होते हुए भी एक विशेषता यह थी कि इनपर इग्लैंड की सरकार के प्रभाव का अभाव रहा और सभी अपने को पूर्णतया स्वतत्र समझते रहे। इग्लैंड की सरकार ने नई दुनिया पर अपने स्थानीय शासनाधिकार कपनियों और उनके मालिकों को सौंप दिए थे। परिणाम यह हुआ कि वे इग्लैंड से दूर होते गए। इग्लैंड की सरकार इनपर अपना नियत्रण रखना चाहती थी और १६७१ ई० के पश्चात् समय समय पर उसने ऐसे कानून बनाना आरभ किया जिनमें उपनिवेशों के व्यापारिक और साधारण जीवन पर नियत्रण रखने का प्रयास था।

स्वतंत्रता की ओर यूरोप की राजनीतिक परिस्थितियों का अमरीका पर बराबर प्रभाव पडता रहा। यूट्रेक्ट की सधि के अनुसार अकेडिया, न्यूफाउडलैंड और हडसन की खाडी फ्रासीसियों से अग्रेजों को मिली। कनाडा और अग्रेजी उपनिवेशों के बीच कोई सीमा निर्धारित नही थी और यूरोप में आस्ट्रिया के राजकीय युद्ध में अग्रेज और फ्रासीसी विपक्षी थे। अत अमेरिका में भी फ्रासीसियों, जिनका कनाडा पर अधिकार था, और अग्रेजों के बीच १७५४ ई० में युद्ध छिड गया। १७५९ में क्यूबेक का पतन होते ही फ्रासीसियों का पासा पलट गया। १७६३ ई० की सधि में फ्रास ने इग्लैंड को सेंट लारेंस की खाडी के दो द्वीपों को छोडकर, ओहायो घाटी और कनाडा भी दे दिया। युद्ध के कारण अमेरिका की १३ बस्तियाँ राजनीतिक एकता के सूत्र में बँध गई और उनको अपनी शक्ति और सगठन का पता चला। अमरीका में बने माल के आयात पर इग्लैंड में नियत्रण तथा यूरोप में अमरीका के निर्यात माल पर लगी चुगी से व्यापार को बडा धक्का पहुँचा। इग्लैंड केवल कच्चा माल और अन्न लेना चाहता था और अमरीका में अपने बने हुए माल की खपत चाहता था। ग्रेनविल ने उन उपनिवेशों में अग्रेजी सेना रखने का सुझाव दिया जिसके खर्च का बोझ अमरीका की जनता पर पडता था। इग्लैंड ने कानून द्वारा कर लगाकर अमरीका को सर करना चाहा। इन्ही करों में स्टैंप कर भी था। इसका वहाँ कडा विरोध हुआ और न्यूयार्क की एक सभा में अमरीकनों ने ऐलान किया कि जब तक उनका प्रतिनिधान इग्लैंड की पार्लियामेंट में न होगा तब तक उसका लगाया कर भी उन्हे मान्य न होगा। अंग्रेजी सरकार को झुकना पडा और वह कर वापस ले लिया गया।

१६६७ ई० में चाय, शीशे तथा अन्य चीजों पर कर लगाने का प्रस्ताव हुआ जिससे अमरीकी उपनिवेशों में इसका भी विरोध हुआ और चाय को छोडकर बाकी सब पर चुगी की छूट दे दी गई। उन्होंने अग्रेजी चाय का बहिष्कार किया। बोस्टन में कुछ अमरीकनों ने रेड इडियन के वेश में अग्रेजी जहाजों पर चढकर उनकी चाय समुद्र में फेंक दी। ब्रिटिश पार्लियामेंट में इस घटना से बडी उत्तेजना हुई और जार्ज तृतीय ने कडी नीति अपनाने का आदेश दिया। मसाच्यूसेट्स के प्रस्ताव को लेकर फिलाडेल्फिया में ५ सितबर, १७७४ ई० को एक सभा हुई जिसमें सम्राट् तथा इग्लैंड और कनाडा की जनता के नाम सदेश भेजना स्वीकार किया गया। इसमें स्वतत्रता का प्रश्न नही उठाया गया था। जनरल गेज द्वारा मसाच्यूसेट्स में अमरीकन नेताओं को पकडने और गोली चलाने से आग भडक उठी और युद्ध आरभ हो गया। फिलाडेल्फिया की दूसरी सभा में जार्ज वाशिंगटन को नेता चुना गया। उस समय अग्रेजी सेना की सख्या १०,००० तक पहुँच चुकी थी। ४ जुलाई, १७७६ ई० को टामस जेफरसन द्वारा लिखित अमरीकी स्वतत्रता का घोषणापत्र कांटिनेंटल सभा में पास हुआ।

अग्रेजी सेना को आरभ में कुछ सफलताएँ मिली और वाशिंगटन को निरतर पीछे हटना पडा। क्राति का युद्ध छ वर्ष से अधिक काल तक चलता रहा जिस बीच अनेक महत्वपूर्ण युद्ध हुए। ट्रेंटन और प्रिस्टन की जीतों ने उपनिवेशों में आशा जागृत कर दी। सितबर, १७७७ ई० में हाव ने फिलाडेल्फिया पर अधिकार कर लिया, पर सराटोगा में अमरीकनों की युद्ध में सबसे बडी जीत हुई। १७ अक्तूबर, १७७७ ई० को ब्रिटिश सेनापति बरगोइन ने अपनी ५ हजार सेना सहित आत्मसमर्पण कर दिया। फ्रास ने, जो अपनी पुरानी दुश्मनी के कारण इग्लैंड के विपक्ष में था, अमरीका के साथ व्यापारिक और मित्रता की सधियाँ कर ली जिनमें बेंजामिन फ्रैंकलिन का बडा हाथ था। १६वें लुई ने जनरल रोशबो की अध्यक्षता में ६००० जवानों की एक प्रबल सेना भेजी और फ्रेंच समुद्री बेडे ने ब्रिटिश सेनाओं को सामान भेजने में कठिनाई डाल दी। १७७८ ई० में अग्रेजों को फिलाडेल्फिया खाली कर देना पडा। वाशिंगटन और रोशबो की सेनाओं के प्रयास से लार्ड कार्नवालिस को १७ अक्तूबर, १७८१ ई० में यार्कटाउन में आत्मसमर्पण करना पडा। इग्लैंड में प्रधान मत्री लार्ड नार्थ थे जिन्होंने त्यागपत्र दे दिया और अप्रैल, १७८२ ई० में नया मत्रिमडल बनाया गया। १७८३ ई० में पेरिस के सधिपत्र पर हस्ताक्षर हुए। १३ अमरीकन राज्यों को पूर्णतया स्वतत्रता मिली। केवल कनाडा अग्रेजों के पास रह गया और मिसीसिपी नदी उत्तर की सीमा मान ली गई। १७८७ ई० में फिलाडेल्फिया में एक कन्वेंशन हुआ जिसमें देश का विधान बनाने और केंद्रीय शासनव्यवस्था के लिये सरकार बनाने का निश्चय किया गया। १७ सितबर, १७८७ ई० को प्रस्तुत सविधान पर उपस्थित राज्यों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिए। २१ जून, १७८८ ई० को सविधान अतिम रूप में सब राज्यों द्वारा स्वीकृत हो गया। राष्ट्रीय सघ की कांग्रेस ने राष्ट्रपति के प्रथम चुनाव की व्यवस्था की और ३० अप्रैल, १७८९ ई० को वाशिंगटन ने अपने पद की शपथ ली।

गृहयुद्ध तक विधान के अतर्गत १३ राष्ट्रों ने एक समझौता किया और अपने कुछ अधिकार केंद्र को सौंप दिए, पर आतरिक मामलों में वे पूर्णतया स्वतत्र थे। सयुक्त राज्य की सीमा बढाने के लिये यह आवश्यक हो गया कि अमरीका के और भागों पर अधिकार किया जाय। १८६१ ई० के गृहयुद्ध के पहले का युग वास्तव में सयुक्त-राज्य-क्षेत्र-विस्तार-युग कहलाने योग्य है। १७८७ ई० में उत्तरीपश्चिमी प्रदेश, जिसमें बाद में चलकर छ नए राज्य बने, और १८०३ ई० में लूईजियाना प्रदेश डेढ करोड डालर में फ्रास से खरीद लिये गये। उस समय जेफरसन राष्ट्रपति था। सयुक्त राज्य को १० लाख वर्गमील से अधिक भूमि और न्यूआर्लीस का बदरगाह मिल गया। अमरीका महाद्वीप के दो तिहाई भाग पर इसका अधिकार हो गया। बाकी एक तिहाई भाग १८४५-५० ई० के बीच अधिकार में आया। देश की समस्त नदियों पर केंद्रीय नियत्रण हो गया। १९वीं शताब्दी के प्रथम भाग में अग्रेजों और फ्रासीसियों के बीच हुए युद्ध में अमरीकी व्यवस्था की नीति बहुत समय तक कायम न रह सकी और उसके व्यापार को बडी क्षति पहुँची। १८१२ में ब्रिटेन के विरुद्ध अमरीका को युद्धक्षेत्र में उतरना पडा। स्थल पर तो सयुक्त राज्य को असफलता मिली पर समुद्र में उसे विजय प्राप्त हुई। युद्ध की समाप्ति घेंट की सधि से हुई जिसे १८१५ ई० में सयुक्त राज्य ने स्वीकार कर लिया। इस युद्ध में अमरीकी जनसख्या को बडी क्षति पहुँची थी, पर इसका महत्वपूर्ण परिणाम राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावना का उद्गार हुआ। सयुक्त राज्य अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अब समानता का पद प्राप्त कर चुका था। इस युग में जेफरसन और मनरो के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। जो नए राज्य बने उनमें १८०३ ई० में ओहायो, १८१२ ई० में लूइज़ियाना, १८१६ ई० में इडियाना, १८१७ ई० में मिसीसिपी, १८१८ ई० में इलिनाय, १८१९ ई० में अलाबामा, १८२० ई० में मेन और १८२१ ई० में मिसौरी के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी समय मनरो डाक्ट्रिन (नीति) की घोषणा की गई जिससे अमरीका का यूरोप के घरेलू मामलों तथा यूरोपीयन उपनिवेशों और दोनों अमरीकी द्वीपों में यूरोपीय शक्तियों का हस्तक्षेप करना अवैध हो गया। रूस ने इसे मानकर अलास्का में ५४४० पर अपनी दक्षिणी सीमा निर्धारित की। अत में १८६१ में रूस ने उसे १५ लाख डालर पर अमरीका के हाथ बेच दिया।

इस काल उत्तरी और दक्षिणी राज्यों में दासप्रथा को लेकर वैमनस्य की भावना तीव्र हो उठी जो अमरीकी गृहयुद्ध का एक बडा कारण बनी। उत्तरी राज्यों में दासप्रथा को हटा दिया गया था पर दक्षिणी राज्य अपनी आर्थिक और भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उसे बनाए रखना चाहते थे। वे उसे घरेलू मामला समझते थे जिसमें उनके मत से, दूसरों को हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। अमरीकी राजनीति में भी दासप्रथा को लेकर

पीछे कुषाणों के समय में तैयार हुए। इन स्तूपो की कई सुंदर मूर्तियाँ ब्रिटिश म्यूज़ियम तथा मद्रास के अजायबघर में रखी गई हैं। [वि० मु०]

अमरीका पश्चिमी गोलार्ध अथवा 'नई दुनिया' का भूभाग जो साधारणतया इसी नाम से सुविख्यात है। प्रस्तुत भूभाग का नामकरण अमेरिगो वेस्पूसिअो नामक नाविक की स्मृति में मार्टिन वाल्डसेम्यीलर नामक भूगोलवेत्ता ने किया था। अमेरिगो ने १४९९ ई० में लिखी अपनी पुस्तक में इस देश को नई दुनिया कहा था। १५०७ ई० के एक मानचित्र में अमरीका नाम उस भूभाग के लिये प्रयुक्त हुआ जिसे आज दक्षिणी अमरीका कहते हैं। संपूर्ण भूभाग का पता लगने पर धीरे धीरे यही नाम सारे अमरीकी भूभाग के लिये प्रयुक्त होने लगा।

जेनोआ-निवासी क्रिस्तोफर कोलंबस ने १२ अक्टूबर, १४९२ ई० को अमरीका का पता लगाया। सर्वप्रथम वह पश्चिमी द्वीपसमूह के आधुनिक बहामा द्वीपो में से वैटलिंग द्वीप पहुँचा। कोलंबस का विश्वास था कि वह मार्को पोलो द्वारा वर्णित एशिया के पूर्वी छोर पर पहुँच गया है और तदनुसार इन द्वीपो को उसने 'इंडीज' कहा। इनका ला इंडियाज़ नाम स्पेन में बहुत समय तक खब प्रचलित था। कोलंबस ने १४९२ ई० से लेकर १५०४ ई० तक की अपनी तीन यात्राओं में लगभग संपूर्ण पश्चिमी द्वीपसमूह का भ्रमण किया और ओरीनिको नदी के मुहाने तक पहुँचा था। विश्वास है कि इंग्लैंड की सहायता से जॉन कैबट नामक दूसरा जेनोआ-निवासी न्यूफाउंडलैंड तथा समीपवर्ती महाद्वीपीय भाग पर भी १४९७ ई० के लगभग पहुँचा। १५००-१५०३ ई० के मध्य कोर्टेरियल नामक पुर्तगीज परिवार ने उत्तरी अमरीका के पूर्वी समुद्रतट की यात्रा की। तदनंतर विभिन्न लोगो ने इस भूभाग के विभिन्न भागो का भ्रमण किया। १५०९ ई० तक महाद्वीपीय क्षेत्र पर स्पैनिश बस्तियो का प्रारंभ हो गया था। नवंबर १५२० ई० के लगभग फर्डिनैंड मैगलेन ने दक्षिणी अमरीका के दक्षिण होते हुए प्रशांत महासागर को पार किया। इस प्रकार एशिया से सर्वथा अलग विशाल महाद्वीपीय अमरीकी भूभाग की संस्थिति और दोनो महाद्वीपो के मध्य स्थित प्रशांत महासागर का पता सारे संसार को लग गया। सर्वप्रथम स्पेनी एवं पुर्तगाली और तदनंतर फ्रासीसी, अँगरेज, डच आदि जातियो ने महाद्वीप के विभिन्न भागो में बसना प्रारंभ किया और इस प्रकार औपनिवेशिक संघर्षो का क्रम बहुत समय तक चलता रहा। इनके अतिरिक्त यूरोप महाद्वीप के विभिन्न देशो के निवासी यहाँ आने लगे और इस प्रकार जनसख्या बढती गई।

अमरीकी भूभाग दो महाद्वीपो में बँटा है—एक उत्तरी अमरीका (उसे देखें) जो दक्षिण में पनामा तक फैला है और जिसमें तथाकथित मध्य अमरीका का भूभाग भी संमिलित है और दूसरा दक्षिणी अमरीका (उसे देखें) जो पनामा के दक्षिण से हार्न अंतरीप तक विस्तृत है। इस प्रकार संपूर्ण अमरीकी भूभाग की उत्तर दक्षिण लंबाई पृथ्वी पर सर्वाधिक है। इसकी आकृति पृथ्वी के चतुरनीकीय विरूपण (टेट्राहेड्रल डिफॉर्मेशन) का प्रतिफल मानी जाती है। यह उत्तर में अत्यधिक चौडा एवं दक्षिण में शीर्षबिंदु की तरह नुकीला है।

न केवल आकृति प्रत्युत भूतात्विक विकास एवं संरचना में भी दोनो अमरीकी महाद्वीपो में साम्य है। दोनो महाद्वीपो के उत्तर-पूर्व में प्राचीनतम भूतात्विक आधार (लारेंशिया एवं गायना के पठार) हैं, दोनो में ही इन पठारो के दक्षिण पर्वतीय ऊँचाइयाँ (अपलेशियन एवं ब्राजील) स्थित हैं जिनमें मणिभीय (रवेदार) चट्टानें समुद्र की ओर तथा कैब्रियनपूर्व शिलाएँ महाद्वीपो के अंदर की ओर फैली हैं। दोनो भागो की आधुनिक ऊँचाइयाँ नवयुगीन भू-उत्थानो का प्रतिफल है। दोनो महाद्वीपो के पश्चिम में उत्तर से दक्षिण नवनिर्मित विषम पर्वतश्रेणियाँ स्थित हैं। इन पर्वतो एवं पठारो के बीच बीच विभिन्न प्रवाह-प्रणालियाँ (सेंट लॉरेंस, अमेजन, मैकेंजी, ओरीनिको, मिसीसिपि, लाप्लाटा आदि) विकसित है। परंतु दोनो महाद्वीपो में स्थिति, जलवायु, वनस्पति, जीवजंतु, रहन सहन में प्रचुर अंतर भी है।

[का० ना० सिं०]

अमरीका, संयुक्त राज्य, वर्तमान संयुक्त राज्य अमरीका (यूनाइटेड स्टेट्स्) की सृष्टि दो कारणो से हुई। यूरोपवासियो का १७वी शताब्दी से इस द्वीप में अपने विचार, वाणी तथा संस्कृति सहित आना, और यहाँ रहकर उनके यूरोपीय स्वरूप का बदल जाना। उत्तरी अमरीका की खोज १५वी-१६वी शताब्दियो में हुई थी, पर लगभग शताधिक वर्ष बाद आगतुको ने इस देश में प्रवेश किया और उसे अपना लिया। धार्मिक स्वतंत्रता का अपहरण, इंग्लैंड में सम्राट् और पार्लियामेंट के बीच संघर्ष, औपनिवेशिक व्यापार का आकर्षण, सोना प्राप्त करने का लोभ तथा बढती हुई जनसंख्या के लिये नया स्थान ढूँढने की अभिलाषा ने लोगो को नए देश में बसने के लिये प्रेरित किया। १६०६ ई० में तीन छोटे अंग्रेजी जहाज १२० व्यक्तियो को लेकर कैप्टेन न्यूपोर्ट के नेतृत्व में अमेरिका के लिये चले। चार महीने की सामुद्रिक यात्रा के पश्चात् इनमें से १०४ व्यक्ति सकुशल जेम्स नदी के मुहाने पर उतरे। वर्जीनियाँ कंपनी ने ५६४९ व्यक्ति भेजे जिनमें से १६२४ ई० तक कोई १०९५ व्यक्ति जीवित थे। इस कंपनी के बंद हो जाने पर ये उपनिवेश सम्राट् के अधिकार में चले गए और वही इनका गवर्नर नियुक्त करने लगा। वर्जीनिया उपनिवेश में तंबाकू की खेती होने लगी जो क्रमश उसके विकास का मुख्य साधन बनी। इसके उत्तर में १६३२ ई० में मेरीलैंड नामक दूसरा राजकीय उपनिवेश स्थापित किया गया, जिसका पट्टा सम्राट् ने जार्ज कल्वर्ट था लार्ड बाल्टीमोर को दिया। इस वंश का इसपर कई पीढियो तक अधिकार रहा। यहाँ रोमन कैथोलिको को धार्मिक स्वतंत्रता थी। यह उपनिवेश भी तंबाकू की खेती के लिये प्रसिद्ध हो गया।

औपनिवेशिक युग धनप्राप्ति की इच्छा, धार्मिक स्वतंत्रता की अभिलाषा, राजनीतिक अत्याचार से मुक्त होने का संकल्प और नए साहसिक कार्य के प्रलोभन ने यूरोप के और देशो से भी लोगो को यहाँ आने के लिये बाध्य किया। १६२४ ई० में डचो ने न्यू नेदरलैंड्स का उपनिवेश बसाया, पर चालीस वर्ष बाद इसपर अंग्रेजो का अधिकार हो गया और उन्होंने इसका नाम न्यूयार्क रखा। १६वी-१७वी शताब्दियो के धार्मिक क्रांतिकाल में प्यूरिटन नामक एक दल उठ खडा हुआ जो अंग्रेजी ईसाई धर्म में सुधारो का आंदोलन करने लगा। इसका एक जत्था इंग्लैंड छोडकर हालैंड में जा बसा। इनमें से कुछ लोग १६२० ई० में इंग्लैंड होते हुए अमरीका जा पहुँचे। वहाँ इन्होंने न्यू प्लीमथ की पिलग्रिम कालोनी बसाई। चार्ल्स प्रथम के समय भी जिन पादरियो को उपदेश देने से वंचित कर दिया गया था, वे पूर्ववर्ती पिलग्रिमो का अनुकरण करते हुए अमरीका आए। उन्होंने १६३० ई० में मसाच्यूसेट्स उपनिवेश की स्थापना की। पेनसिलवेनिया और नार्थ कैरोलाइना के अनेक आगंतुक जर्मनी और आयरलैंड से अधिक धार्मिक स्वतंत्रता और आर्थिक उन्नति की आशा में इधर आए थे।

१७वी शताब्दी के प्रथम तीन चौथाई भाग में जो विदेशी अमरीका में आकर बसे उनमें अंग्रेजो की संख्या बहुत अधिक थी। कुछ डच, स्वीड और जर्मन साउथ कैरोलाइना में और उसके आस पास कुछ फ्रेंच उगनो और कही कही स्पेनी इटालीय और पुर्तगाली भी बस गए थे। १६८० ई० के पश्चात् इंग्लैंड इनका आगमन स्रोत नही रहा। इन सब औपनिवेशिको ने वहाँ जाकर अंग्रेजी भाषा, कानून, रीतिरिवाज और विचारधारा को अपना लिया। १७०० ई० में अंग्रेजी बस्तियाँ न्यू हैंपसर, मसाच्यूसेट्स, कनेक्टिकट, न्यू हैवेन, रोड आइलैंड, न्यूयार्क, न्यू जर्सी, पेनसिलवेनिया, डिलावेयर, मेरिलैंड, वर्जीनिया, नार्थ कैरोलाइना और साउथ कैरोलाइना में स्थापित हो चुकी थी। सबसे अंतिम बस्ती जार्जिया १७५३ ई० में स्थापित हुई।

इन उपनिवेशो में उत्तरी भाग के निवासी व्यवसाय तथा व्यापार में संलग्न थे पर दक्षिणवालो का पेशा केवल कृषि ही था। इन विविधताओं का कारण भौगोलिक परिस्थिति थी। बंदरगाहो के निकट गाँवो और नगरो में बसकर न्यू इंग्लैंडवासियो ने शीघ्र ही अपना जीवन शहरी बना लिया, तथा लाभदायक व्यवसाय ढूँढ निकाले। इससे उनकी आर्थिक नींव मजबूत हो गई। उत्तर उपनिवेशो की अपेक्षा मध्यवर्ती उपनिवेशवालो की आबादी अधिक मिली जुली थी। इनके विपरीत वर्जीनिया, मेरिलैंड, कैरोलाइना तथा जार्जिया नामक दक्षिणी बस्तियाँ प्रधानतया ग्रामीण थी। वर्जीनिया अपनी तंबाकू के लिये यूरोप में प्रसिद्ध हो चुका था। १७वी शताब्दी के अंत और १८वी के आरंभ में मेरिलैंड और वर्जीनिया की सामाजिक व्यवस्था में वे लक्षण आ चुके थे जो गृहयुद्ध तक रहे। अधिकतर राजनीतिक अधिकार

के पास नही लौटाते थे। इनमे परिस्थिति गभीर हो गई। प्रसिद्ध ड्रेडस्काट केस मे न्यायाधीश टानी ने बहुमत से निर्णय किया कि विधान के अतर्गत न तो राष्ट्रीय सभद (सिनेट) और न किसी राज्य की धारासभा किसी क्षेत्र मे दासप्रथा को हटा सकती है। इसके ठीक विपरीत लिंकन ने कहा कि कोई भी राज्य अपनी सीमा के अदर दासप्रथा को हटा सकता है। इन प्रश्नो को लेकर राजनीतिक दलो मे आतरिक विरोध हो गया। १८६० ई० में लिंकन राष्ट्रपति चुन लिए गए। लिंकन का कहना था कि यदि किसी घर में फूट है तो वह घर अधिक दिन नही चल सकता। इस सयुक्त राज्य को आधे स्वतत्र और आधे दासो में नही बाँटा जा सकता। राष्ट्रपति के चुनाव की घोषणा के बाद दक्षिण कैरोलाइना ने एक सम्मेलन बुलाया जिसमे सयुक्त राज्य से अलग होने का प्रस्ताव सर्वसमति से पास हुआ। १८६१ ई० के फरवरी तक जार्जिया, फ्लोरिडा, अलाबामा, मिसीसिपी, लूइसियाना और टेक्सस ने इस नीति का पालन किया। इस प्रकार नवबर, १८६० ई० से मार्च, १८६१ ई० तक, वाशिंगटन मे केंद्रीय शासन शिथिल हो गया। १८६१ ई० के फरवरी मास मे वाशिंगटन मे शातिसमेलन हुआ, कितु थोडे समय बाद, १२ अप्रैल, १८६१ ई० को अनुसघीय राज्यो की तोपो ने चार्ल्स्टन बदरगाह की शाति भग कर दी। यहाँ प्रदर्शित फोर्ट सुमटर पर गोलाबारी करके "कानफेडरेता" ने गृहयुद्ध छेड दिया।

युद्ध के मोर्चे मुख्यत तीन थे—समुद्र, मिसीसिपी घाटी और पूर्वी समुद्रतट के राज्य। युद्ध के आरभ मे प्राय समग्र जलसेना सयुक्त राज्य के हाथ में थी, कितु वह बिखरी हुई और निर्बल थी। दक्षिणी तट की घेराबदी से यूरोप को रुई का निर्यात और वहाँ से बारूद, वस्त्र और ओषधि आदि दक्षिण के लिये अत्यत आवश्यक आयात की चीजे पूर्णतया रुक गई। सयुक्त राज्य के बेडे ने दक्षिण के सबसे बडे नगर न्यूआर्लीस से आत्मसमर्पण करा लिया। मिसीसिपी की घाटी मे भी सयुक्त राज्य की सेना की अनेक जीतें हुई। वर्जिनिया कानफेडरेतो को बराबर सफलताएँ मिली। १८६३ ई० में युद्ध का आरभ उत्तर के लिये अच्छा नही हुआ, पर जुलाई में युद्ध की बाजी पलट गई। १८६४ ई० मे युद्ध का अत स्पष्ट दीखने लगा। १७ फरवरी को कानफेडरेतो ने दक्षिण कैरोलाइना की राजधानी कोलबिया को खाली कर दिया। चार्ल्स्टन सयुक्त राज्य के हाथ आ गया। दक्षिण के निर्विवाद नेता राबर्ट ई० ली द्वारा आत्मसमर्पण किए जाने पर १३ अप्रैल को वाशिंगटन में उत्सव मनाया गया। गृहयुद्ध की समाप्ति के बाद दक्षिणी राज्यो के प्रति कठोरता की नीति नही अपनाई गई, वरन् कांग्रेस ने सविधान मे १३वाँ सशोधन प्रस्तुत करके दासो की स्वतत्रता पर कानूनी छाप लगा दी।

स०ग्र०—डी० सी० सोमरवेल हिस्ट्री ऑव यूनाइटेड स्टेट्स (१९४१), एलसन् हिस्ट्री ऑव दि यूनाइटेड स्टेट्स ऑव अमेरिका (मैकमिलन, १९०६), रोड्स हिस्ट्री ऑव दि सिविल वार।

[बैं० पु०]

अमरीकी भाषाएँ

इनके अतर्गत अमरीका महाद्वीप के सभी (उत्तरी, दक्षिणी और मध्य) भागो के मूल निवासियो द्वारा बोली जानेवाली भाषाएँ आती है। ईसवी १५वी सदी के अत मे यूरोप से एक जहाज भारतवर्ष की खोज करता हुआ, भ्रम से चक्कर खाकर अमरीका पहुँच गया और तभी से यहाँ के मूल निवासियो का नाम "इडियन" पड गया। अनुमान है कि कोलबस के समय अमरीका के समस्त मूल निवासियो की सख्या चार पाँच करोड रही होगी, जो अब घटते घटते डेढ करोड रह गई है। इन लोगो मे लिखने का कोई रिवाज नही था। विशेष घटनाओ की याद, रग बिरगी रस्सियो मे गाँठे बाँधकर रखी जाती थी। पत्थरो, घोघो तथा चमडे आदि पर भी भाँति भाँति के चित्र और निशान बने मिलते हैं पर इनका कोई अर्थ नही निकलता, और यदि निकलता भी है तो उसे मूल निवासी बताते नही। तथापि नहुअत्ल और मय भाषाओ मे अब लिपि मिलती है। मय भाषा की पुस्तको मे साथ ही साथ स्पेनी भाषा मे अनुवाद भी मिलता है।

तुलनात्मक व्याकरण के और बहुधा अन्य ब्योरेवार ग्रथो के अभाव मे इन भाषाओ के विषय मे विशेष विवरण नही दिया जा सकता। इनमे क्लिक और महाप्राण ध्वनियाँ मिलती हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन मूल निवासियो की जातियाँ इधर उधर आती जाती और एक दूसरे पर आधिपत्य जमाती रही है, इसीलिये भाषा सबधी सामान्य लक्षणो के साथ विशेषताओ और अपवादो का बडा भारी मिश्रण मिलता है। कभी कभी कोई कोई बोली इतनी अधिक प्रभावशाली रही कि उसने विजित जातियो की बोलियो को बिलकुल नष्ट ही कर दिया। कोलबस के आगमन के पहले दक्षिणी अमरीका में इका नाम के साम्राज्य की राजभाषा **कुइचुआ** थी। स्पेनी विजेताओ ने इसी का प्रयोग मूल निवासियो के बीच ईसाई धर्म के प्रचार के निमित्त किया। इसी प्रकार विस्तृत क्षेत्र मे होने के कारण, **गुअर्नी तुपी** का भी प्रयोग ईसाई पादरियो ने धर्मप्रचार के लिये किया। **करीब** और **अरोवक** भाषाएँ भी पारस्परिक जयपराजय से प्रभावित है। अरोवक जाति पर करीब जाति ने विजय प्राप्त कर ली और उसके पुरुष वर्ग को या तो बीन बीन कर मार डाला या दूर भगा दिया। स्त्रियो को रख लिया। ये बराबर अरोवक ही बोलती रही। बाद की पीढियाँ भी इसी प्रकार दोनो भाषाएँ आज तक बोलती चली आ रही है और पुरुष वर्ग की **करीब** भाषा पर स्त्री वर्ग की **अरोवक** भाषा का प्रभाव पडता दिखाई देता है।

यद्यपि इन भाषाओ के बारे मे अभी विशेष अनुसधान नही हो पाया है, तब भी मोटे तौर पर इनको कई परिवारो मे बाँटा जा सकता है। अनुमान है कि इन परिवारो की सख्या सौ सवा सौ के लगभग है। प्राय इन सभी भाषाओ मे एक सामान्य लक्षण प्रश्लिष्ट योगात्मक के रूप मे पाया जाता है। इनमें बहुधा पूरा पूरा वाक्य ही एक लबे शब्द द्वारा व्यक्त किया जाता है। यह सस्कृत की तरह विभिन्न पदो को जोडकर समास के रूप मे नही होता, बल्कि प्रत्येक पद का एक एक प्रधान अक्षर या ध्वनि लेकर, सबको एक साथ मिला दिया जाता है। **चेरोकी** भाषा के पद **नधोलिनिन** (हमारे लिये डोगी लाओ) मे इसी प्रकार तीन शब्द **नतेन** (लाओ), **अमोरतोल** (नाव, डोगी), और **निन** (हमको) मिले हुए है। कभी कभी इस प्रकार के एक दर्जन शब्दो तक के ध्वनि या वर्णसकलन एक पद के रूप मे सगठित मिलते है और उन सभी शब्दो का पदार्थ एक साथ वाक्यार्थ के रूप मे श्रोता को मालूम हो जाता है। स्वतत्र शब्दो का प्रयोग इन भाषाओ मे बहुत कम है।

ये सभी जातियाँ जगली नही है। इन जातियो मे से कुछ ने साम्राज्य स्थापित किए। मेक्सिको के साम्राज्य का अत १६वी सदी मे यूरोपवालो ने वहाँ पहुँचकर किया। वहाँ की मय और नहुअत्ल भाषाएँ सुसस्कृत है और उनमे साहित्य भी मिलता है। इन भाषाओ का वर्गीकरण प्राय भौगोलिक आधार पर किया जाता है जो शास्त्रीय भले ही न हो, सुविधाजनक अवश्य है

	देशनाम	भाषानाम
	ग्रीनलैंड	एस्किमो
उत्तरी अमरीका	कनाडा	अथबस्की (समूह)
	सयुक्त राज्य	अल्गोनकी (आदि)
		नहुअत्ल (प्राचीन)
	मेक्सिको	अजतेक (वर्तमान)
	युकतन	समय
	उत्तरी प्रदेश	करीब, अरोवक
	मध्यप्रदेश	गुअर्नी तुपी
दक्षिणी अमरीका	पश्चिमी प्रदेश (पेरू और चिली)	अरौकन, कुइचुआ
दक्षिणी प्रदेश		चको, तियरा देलफूगो

दक्षिणी प्रदेश पेरू और चिली की भाषा चको, तियरादेलफूगो है। इनमे से **तियरा देलफूगो** भाषा और उसके बोलनेवाले लोग ससार मे सबसे अधिक सस्कृतिहीन माने जाते है। **एस्किमो** के बारे मे कुछ विद्वानो का मत है कि यह उराल-अल्ताई परिवार की है।

स०ग्र०—बाबूराम सक्सेना सामान्य भाषाविज्ञान, मेइए ले लाग दु माद (पेरिस)।

[बा० रा० स०]

अमरीकी साहित्य

अमरीका से यहाँ तात्पर्य सयुक्त राज्य अमरीका से है जहाँ की भाषा अंग्रेजी है। अमरीका की तरह उसका साहित्य भी नया है।
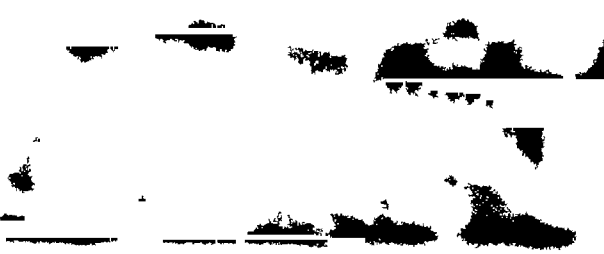
स्थान स्थान पर है। विलियम डन्लप इस युग का एक और उल्लेखनीय नाटककार है।

अमरीका का पहला उपन्यासकार चार्ल्स ब्रॉकडेन ब्राउन (१७७२-१८१०) है जिसके प्रसिद्ध उपन्यास वाइलैंड (१७९८), आरमंड (१७९९), आर्थर मर्विन (१७९९) और एडगर हंटली (१७९९) असंभावित कथानकों और बोझिल शैली के बावजूद अपनी भावप्रवणता और रोमानी चरित्रों के कारण रोचक हैं। इस समय के एक अन्य प्रमुख उपन्यासकार ब्रैकेन्‌रिज ने मार्डर्न शिवैलरी (१७९२-१८१५) में सेवांते और स्मालेट के आदर्श पर अति-साहसिकतापूर्ण उपन्यास की रचना की। रिचर्डसन के अनुकरण पर भावुकतापूर्ण उपन्यास और कथाएँ भी विलियम हिल ब्राउन, श्रीमती राउसन और श्रीमती फास्टर द्वारा लिखी गई।

१९वीं सदी—इस सदी के प्रारंभिक वर्षों में न्यूयार्क में 'निकरबॉकर' नाम से पुकारे जानेवाले लेखकों का उदय हुआ जो साहित्य में अर्विंग की व्यंग्यकृति ग्रेदरिख निकरबॉकर्स ए हिस्ट्री ऑव न्यूयार्क (१८१०) की मनोरंजक वार्तालाप की शैली को अपना आदर्श मानते थे। ऐसे लेखकों में उपन्यासकार जेम्स कर्क पाल्डिंग, नाटककार डन्लप, कवि सैमुएल वुडवर्थ और जॉर्ज पी० पारिस थे। फिट्ज-ग्रीन हैलेक और जोजेफ राडमन ड्रेक नीचे स्तर पर बायरन और कीट्स से मिलते जुलते कवि थे। न्यूयार्क में दो अच्छे समझे जाने वाले किंतु वास्तव में साधारण गीतकार हुए—जॉन हावर्ड पेन और जेम्स गेट पर्सीवाल। पत्रिकाओं में सतही आलोचनाओं का भी उदय हुआ। दक्षिण में तीन काफी अच्छे उपन्यासकार हुए—जॉन पेंडिलटन केनेडी, विलियम गिल्मोर सिम्स और जॉन इस्टेन कुक।

इन लेखकों के बीच १९वीं सदी के पूर्वार्ध में चार ऐसे लेखकों का उदय हुआ जिन्होंने अमरीकी साहित्य को मेरुदंड दिया और जो इसलिये अमरीका के प्रथम शुद्ध साहित्यिक समझे जाते हैं वाशिंगटन अर्विंग (१७८३–१८५९), विलियम कलेन ब्रायंट (१७९४–१८७८), जेम्स फेनिमोर कूपर (१७८९-१८५१) और एडगर एलेन पो (१८०९-४९)।

अर्विंग की शैली ऐडिसन, स्टील, गोल्डस्मिथ और स्विफ्ट की तरह मँजी हुई, चपल, अद्‌भुत किंतु मोहक कल्पनायुक्त और आत्मव्यंजक है। उसकी क्रीडाप्रिय कल्पना का पुत्र रिप वान विंकिल संसार के अविस्मरणीय चरित्रों में है। उसके प्रसिद्ध रेखाचित्रों, निबंधों, कथाओं और अन्य कृतियों में वेस्टमिंस्टर अबे, स्ट्रैटफर्ड-आन-ऐवन, दि स्केच बुक, रिप वान विंकिल, दि म्यूटेबिलिटी ऑव लिटरेचर, दि स्पेक्टर ब्राइडग्रूम, दि स्लीपिंग हालो इत्यादि हैं। उसके विचारों में स्नायु और गहनता की कमी और भावुकता की अतिशयता है, किंतु अभिव्यक्ति के स्वच्छ लालित्य में वह अद्वितीय है।

ब्रायंट अमरीका का प्रकृतिकवि है। वह वर्डस्वर्थ के स्तर का नहीं किंतु उसी तरह का कवि है और उसमें वर्डस्वर्थ की चिंतनशीलता, संयम और नैतिकता है। उसने पहली बार कविता में अमरीका के दृश्यों, पेड़ पौधों और चिड़ियों का वर्णन किया। उसकी कविता में रोमानी तत्वों के साथ स्पष्टता भी है। अतुकांत छंद उसका प्रिय माध्यम था और उसमें उसे काफी दक्षता प्राप्त थी। थैनेटॉप्सिस कविता उसका उदाहरण है। वह अमरीका का पहला कवि है जिसमें केवल कौशल ही नहीं बल्कि उच्च कोटि की प्रतिभा के भी दर्शन होते हैं।

कूपर जनवाद, प्रकृतिसौंदर्य और निश्छल जीवन का रोमानी उपन्यासकार है। उसकी कल्पना जंगलों, घास के मैदानों और समुद्रों के ऊपर मँडराती है तथा साहस और पराक्रम पर मुग्ध हो उठती है। सभ्यता से अछूते रेड इंडियनों का चित्रण वह अत्यंत सहानुभूति और सूक्ष्म अंतर्दृष्टि के साथ करता है, नैटी बंपो और लेदर स्टॉकिंग उसके महान् चरित्र हैं। देशप्रेम के बावजूद वह अमरीकी समाज के जनविरोधी, आडंबरपूर्ण, क्रूर और स्वार्थप्रिय रूप का तीव्र आलोचक है। उसकी प्रसिद्ध रचनाओं में लेदर-स्टॉकिंग टेल्स माला की ये कथाएँ हैं दि पायोनियर्स (१८२३), दि लास्ट ऑव दि मोहिकंस (१८२६), दि प्रेयरी (१८२७), दि पाथफाइंडर (१८४०), दि डीयर स्लेयर (१८४१)। उसे सर वाल्टर स्काट के समकक्ष रखा जा सकता है।

पो अत्यद्भुत जीवन का कवि और कथाकार है। उसकी रचनाओं में मनोवैज्ञानिक आग्रहों का समावेश है। स्वयं अमरीका ने उसके कवि-रूप की उपेक्षा की, किंतु दि रैवेन (१८४५) आदि कविताओं ने फ्रांस के प्रतीकवादियों और आधुनिक यूरोपीय कविता को बहुत प्रभावित किया। उसकी कविताओं में सर्वथा मौलिक रचनाकौशल है और वे अपने संगीत की शुद्धता, सूक्ष्मता, सरल माधुर्य और विविधता के लिये प्रसिद्ध हैं। आलोचक के रूप में भी उसका महत्व है। पो जासूसी कहानियों के स्थापकों में है, किंतु उसकी ख्याति टेल्स ऑव दि ग्रोटेस्क ऐंड अराबेस्क (१८४०) की रोमांचकारी वेदना और रहस्यात्मक वातावरणपूर्ण कथाओं पर अधिक निर्भर है।

नवजागरण काल—प्रेसिडेंट जैक्सन के शासन से लेकर पुनर्निर्माण तक का समय (१८२९-१८७०) औद्योगिक विकास और जनवादी आस्था के समानांतर अमरीकी साहित्य में नवजागरण का युग है। धर्म और राजनीति की तरह इस युग का साहित्य भी उदार और रोमानी मानवतावादी दृष्टिकोण से संपृक्त है।

हास्यसाहित्य पर भी इस जनवादी प्रवृत्ति की स्पष्ट छाप है। न्यू इंग्लैंड के हास्यकारों में सेबा स्मिथ (१७९२-१८६८) ने जैक डाउनिंग और जेम्स रसेल लॉवेल (१८१९-९१) ने होसिया बिगलो और बर्डोफ्रेडम साविन, और बेंजामिन पी० शिलैबर (१८१४-९०) ने मिसेज पार्टिंगटन और उनके भतीजे आइक जैसे साधारण याकी चरित्रों के माध्यम से राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं की यथार्थ और विनोदपूर्ण समीक्षा की। डेवी क्रॉकेट (१७८६-१८३६), आगस्टस बाल्विन लांगस्ट्रीट (१७९०-१८७०), जॉन्सन जे० हूपर (१८१५-६३), टॉमस बैंग्स थॉर्प (१८१५-७८), जोजेफ जी० बाल्डविन (१८१५-६४) और जॉर्ज हैरिस (१८१४-६४) जैसे दक्षिण-पश्चिम के हास्यकार उनसे भी अधिक विनोदप्रिय थे।

नवजागरण काल के प्रारंभ के कवियों में अमरीका के लोकप्रिय कवि हेनरी वड्स्वर्थ लांगफेलो (१८०७-८२) के अतिरिक्त आलिवर वेंडेल होम्स (१८०९-९४) और जेम्स रसेल लॉवेल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विश्वविद्यालयों में आचार्य पद पर काम करने के कारण इन्हें यूरोपीय सांस्कृतिक और साहित्यिक परंपराओं का गहरा ज्ञान था, लेकिन अमरीकी जीवन ही उनकी कविता का मूल स्रोत है। नैसर्गिक सरल प्रवाह के साथ कथा कहने या वर्णन करने में लांगफेलो अत्यंत सफल कवि है। उपदेश की प्रवृत्ति के बावजूद उसकी कविताएँ मर्मस्पर्शी हैं। उसकी प्रसिद्ध कविताओं में दि स्लेव्स ड्रीम और हायावाथा हैं। होम्स और लॉवेल की कविताओं की विशेषताएँ क्रमश नागर विनोदप्रियता और भावों की उदात्तता है।

कवियों में अमरीकी जनवाद की सबसे महान् और मौलिक उपज वाल्ट ह्विटमन (१८१९-९२) हैं। साधारण व्यक्ति की असाधारणता के विश्वास से भरे हुए इस स्वप्नद्रष्टा कवि में आदिकवियों का उन्नतवक्ष, साहसिक, उन्मादपूर्ण और वज्रतुमुल स्वर है। वह मुक्तछंद का जन्मदाता भी है। पहली बार १८५५ में प्रकाशित और समय के साथ परिवर्धित उसके काव्यसंग्रह लीव्स ऑव ग्रास ने फ्रांस के प्रतीकवादी कवियों और यूरोप की आधुनिक कविता पर गहरा असर डाला।

दक्षिण के कवियों में उल्लेखनीय नाम हेनरी टिमरॉड, पाल हेमिल्टन हेन और विलियम जे ग्रेसन के हैं। इनमें से अधिकतर दासस्वामियों के जनविरोधी दृष्टिकोण के समर्थक थे। प्राकृतिक सौंदर्य के चित्रण, काव्यसंगीत और छंदप्रयोगों की दृष्टि से इनसे अधिक प्रतिभासंपन्न कवि सिडनी लैनियर था।

इसी युग ने लोकोत्तरवादी कहे जानेवाले चिंतनशील गद्यकारों को उत्पन्न किया जिनमें राल्फ वाल्डो इमर्सन (१८०३-८२) और हेनरी डेविड थोरो (१८१७-६२) सबसे प्रसिद्ध हैं। ये मसाच्यूसेट्स के कांकॉर्ड नामक गाँव में रहते थे और इनकी रचनाओं पर न्यू इंग्लैंड के यूनिटेरियन संप्रदाय की धार्मिक उदारता और रहस्यवादी अंतर्दृष्टि का स्पष्ट प्रभाव है। इमर्सन के अनुसार धर्म का तत्व नैतिक आचरण है। इसलिये उसका रहस्यवाद लोकजीवन के प्रति उदासीन नहीं है। सरल, चित्रमय शब्द, सूक्तिप्रियता, गहन किंतु कविसुलभ अनुभूतिमय चिंतन और शांत, स्निग्ध व्यक्तित्व उसके साहित्य की विशेषताएँ हैं। एसेज (१८४१, १८४४), रिप्रेजेंटेटिव
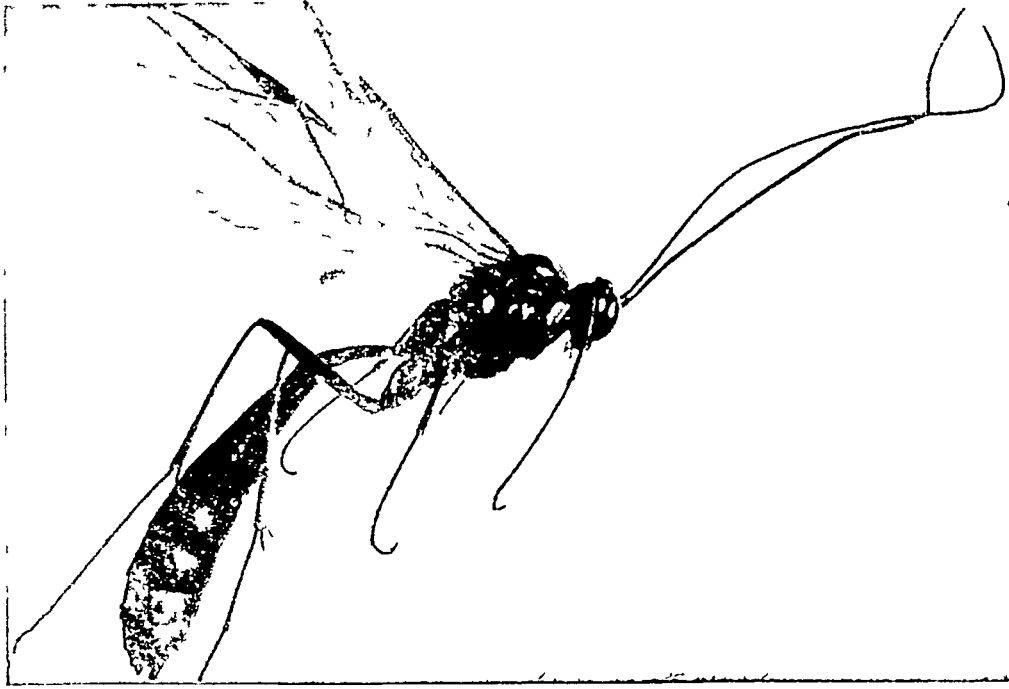
ग्राखेटि पतग

वास्तविक से बडे पैमाने पर फोटोग्राफ। यह कीट कृषि के हानिकारक कीडो के शरीर में अपना अडा दे देता है, जिससे थोडे ही समय मे उनका नाश हो जाता है, देखें पृष्ठ ३३२ (दि अमेरिकन म्यूजियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।
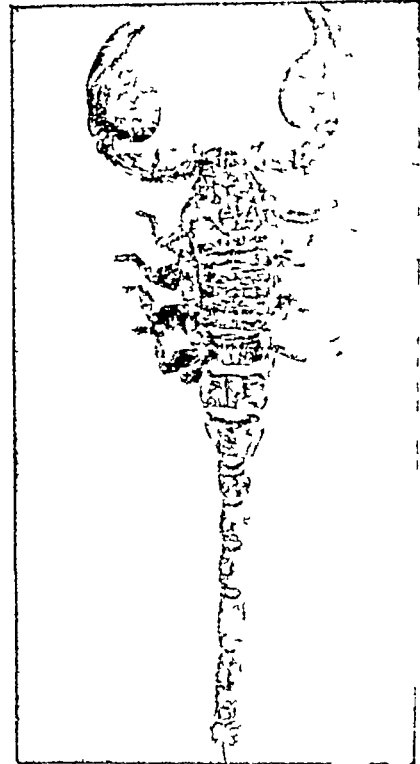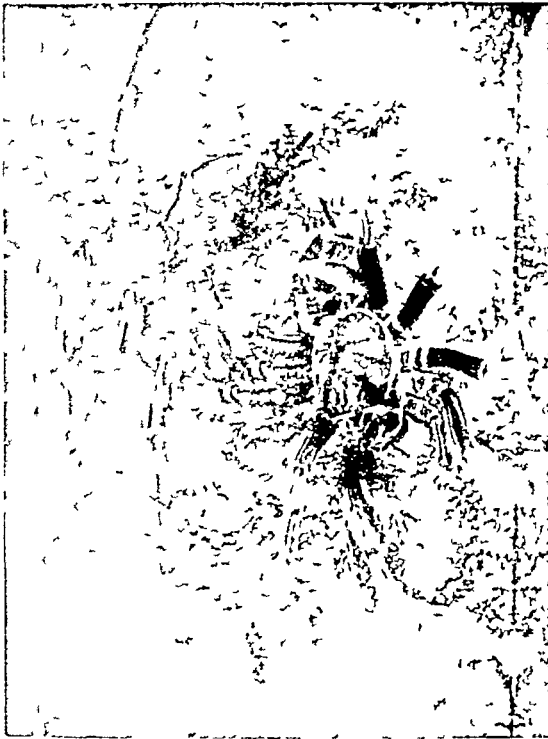
मकडी और विच्छू

ये दोना अष्टपाद वश के सदस्य है, देखे पृष्ठ २७९ (दि अमेरिकन म्यूज़ियम ऑव नैचुरल हिस्ट्री के सौजन्य से)।

है। कहानी के संगठन की दृष्टि से वह समार के इने गिने लेखकों में है। आलोचक के रूप में वह दि आर्ट ऑव फिक्शन (१८८४) जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक का प्रणेता है। अमरीकी और यूरोपीय संस्कृतियों की टकराहट प्रस्तुत करने में उसके उपन्यास बेजोड हैं।

रोमानी वातावरण में जीवन के यथार्थ को रूपायित करनेवाले उपन्यासकारों में जैक लडन और अप्टन सिंक्लेयर प्रथम कोटि के है। जैक लडन का दि काल ऑव दि वाइल्ड (१९०३) और सिंक्लेयर का दि जगल (१९०६) इसके उदाहरण हैं। रोमानी और विलक्षण उपन्यासो तथा कहानियों के सफल लेखकों में फ्रासिस मैरियन क्रॉफर्ड, ऐंब्रोज बीयर्स और लैफकैडियो हार्न हैं।

हेनरी ऐडम्स ने अपनी आत्मकथा 'दि एजुकेशन ऑव हेनरी ऐडम्स' (१९०६) में आधुनिक अमरीकी जीवन का निराशापूर्ण चित्र अकित किया। अमरीका की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था की शल्य-क्रिया इडा एम० टारवेल ने हिस्ट्री ऑव दि स्टैंडर्ड आयल कपनी और लिंकन स्टीफेंस ने दि शेम ऑव दि सिटीज में किया। चार्ल्स डडले वार्नर और एडवर्ड बेलामी ने भी पूँजी की बढती हुई शक्ति और नौकरशाही के भ्रष्टाचार पर आक्रमण किया।

एडविन मार्खम और विलियम व्हॉन मूडी की कविताओं में भी आलोचना का वही स्वर है।

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध के पूर्व ही अमरीका की पूँजीवादी व्यवस्था की आलोचना होने लगी थी। अनेक लेखकों ने समाजवाद को मुक्ति के मार्ग के रूप में अपनाया। ऐसे लेखकों के अग्रणी थियोडोर ड्रेजर, जैक लडन और अप्टन सिक्लेयर थे।

वाल्ट ह्विटमन को छोडकर १९वी सदी के अतिम और २०वी सदी के प्रारभ के वर्ष कविता में साधारण उपलब्धि से आगे न जा सके। अपवाद-स्वरूप एमिली डिकिन्सन (१८३०-१८८६) है जो निश्चय ही अमरीका की सबसे बडी कवयित्री है। उसकी कविताओं का स्वर आत्मपरक है और उनमें उसके ग्रामीण जीवन और असफल प्रेम के अनुभव तथा रहस्यात्मक अनुभूतियाँ अभिव्यक्त हुई हैं। डिकिन्सन की कविता में यथार्थ, विनोद, व्यग्य और कटाक्ष, वेदना और उल्लास की विविधता है। चित्रयोजना, सरल और क्षिप्र भाषा, खडित पक्तियों और कल्पना की बौद्धिक विचित्रता में वह आधुनिक कविता के अत्यत निकट है।

प्रथम महायुद्ध के बाद—यूरोप की तरह अमरीका में भी यह काल नाटक, उपन्यास, कविता और साहित्य की अन्य विधाओं में प्रयोग का है।

नाटक के क्षेत्र में गृहयुद्ध के पहले रॉबर्ट माटगोमरी बर्ड और जॉर्ज हेनरी बोकर अतुकात दुखात नाटकों के लिये और डियन बूसीकॉल्ट अति-रंजित घटनाओं से पूर्ण नाटकों के लिये साधारण रूप में उल्लेखनीय है। गृहयुद्ध के बाद भी नाटकों का विकास बहुत सतोषजनक न रहा। जेम्स ए० हर्न, ब्रासन हॉवर्ड, आगस्टस टॉमस और क्लाइड फिट्श में रगमच की समझ है, लेकिन उनके नाटकों में भावो और विचारों का सतहीपन है। प्रथम महायुद्ध के बाद नाटक के क्षेत्र में अनेक प्रयोग होने लगे और यूरोप का गहरा असर पडा। नाटक में गभीर स्वर का उदय हुआ। इस आदोलन का उत्कर्ष यूजीन ओ' नील (१८८८–) के नाटकों में प्रकट हुआ। ओ' नील के नाटकों में यथार्थवाद, अभिव्यजनावाद और चेतना के स्तरों के उद्घाटन के अनेक प्रयोग हैं। किंतु इन प्रयोगों के बावजूद ओ' नील कवि-सुलभ कल्पना और भावावेग के साथ जीवन के प्रति अपने दुखात दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति पर अधिक बल देता है।

मार्क कॉनेली, जॉर्ज एस० कॉफमैन, एलमर राइस, मैक्सवेल ऐंडर्सन, रॉबर्ट शेरउड, क्लीफर्ड ओडेट्स, थॉर्नटन वाइल्डर, टेनैसी विलियम्स और आर्थर मिलर ने भी नाटक में यथार्थवाद, प्रहसन, सगीतप्रहसन, काव्य और अभिव्यजना के प्रयोग किए। यूरोप के आधुनिक नाट्यसाहित्य और अमरीका में 'लघु' और ललित रगमचों के उदय ने उन्हे शक्ति और प्रेरणा दी।

आधुनिक अमरीकी कविता का प्रारभ एडविन आर्लिंगटन रॉबिसन (१८६९-१९३५) और रावर्ट फ्रास्ट (१८७५) से होता है। परपरागत तुकात और अतुकात छदो के बावजूद उनका दृष्टिकोण और विषयवस्तु आधुनिक है, दोनों में अवसादपूर्ण जीवन के चित्र हैं। रॉबिसन में अनास्था का मुखर स्वर है। फ्रास्ट की कविता की विशेषताएँ अतरग शैली में साधारण अनुभव की अभिव्यक्ति, सयमित, सक्षिप्त और स्वच्छ वक्तव्य, नाटकीयता और हास्य तथा चिंतन का सम्मिश्रण हैं। पो और डिकिन्सन की रूपवादी शैली से प्रभावित अन्य उल्लेखनीय कवि वैलेस स्टीवेंस (१८७९-), एलिनार वाइली (१८८५-१९२८), जॉन गोल्ड फ्लेचर (१८८६-१९५०) और मेरियन मूर (१८८७) है।

हैरियट मुनरो (१८६०–१९३६) द्वारा शिकागो में स्थापित पोएट्री ए मैगज़ीन ऑव वर्स अमरीकी कविता में प्रयोगवाद का केंद्र बन गई। इसके माध्यम से ध्यान आकर्षित करनेवाले कवियों में वैचेल लिंडसे (१८७९–१९३१), कार्ल सैंडबर्ग (१८७८-) और एडगर ली मास्टर्स (१८६९–१९५०) प्रमुख हैं। ये ग्रामों, नगरों और चरागाहों के कवि हैं। मास्टर्स की कविता में गहरा विषाद है, लेकिन सैंडबर्ग की प्रारंभिक कविताओं में मनुष्य में आस्था का स्वर ही प्रधान है। हार्ट क्रेन (१८९९–१९३२) में ह्विट्मन का रोमानी दृष्टिकोण है। यह रोमानी दृष्टिकोण नाओमी रेप्लास्की, जॉन गार्डन, जॉन हाल ह्वीलॉक, आइवर विंटर्स और थियोडोर रोथेश्क की कविताओं में भी हैं। आर्किबाल्ड मैक्लीश (१८९२-) की कविताओं में सर्वहारा के सघर्षों का चित्र है। स्टीफेन विंसेट बेने (१८९८-१९४३) व्यापक मानव सहानुभूति का कवि है। उसके बैलड अत्यत सफल हैं। होरेस ग्रेगरी (१८९८-) और केनेथ पैचेन (१९११-) की कविताओं पर भी ह्विटमन का प्रभाव स्पष्ट है। दूसरी ओर रॉबिसन जेफर्स (१८८७-) हैं जो अपनी कविताओं में मनुष्य के प्रति आक्रोशपूर्ण घृणा और प्रकृति के दारुण दृश्यों से प्रेम के लिये प्रसिद्ध है।

एमी लॉवेल (१८७४-१९२५) और एच० डी० (हिल्डा डूलिटिल १८८६–) ने इमेजिस्ट काव्यधारा का नेतृत्व किया। एजरा पाउड (१८८५–) और टी० एस० इलियट (१८८८–) ने आधुनिक अमरीकी कविता में प्रयोगवाद पर गहरा असर डाला। उनसे और 'मेटाफिजिकल' शैली के रूपवाद से प्रभावित कवियों में जान क्रोवे रैंसम (१८८८–), कॉनरॉड आइकेन (१८८९–), रॉबर्ट पेन वैरेन (१९०५–), अलेन टेट (१८९९–), पीटर वाइरेक (१९१६–), कार्ल शैपीरो (१९१३–), रिचर्ड विल्बुर (१९२१–), आर० पी० ब्लैकमूर (१९०४–) तथा अनेक अन्य कवि हैं। अभिव्यक्ति में घनत्व, चमत्कार और दीक्षागम्यता उनकी विशेषताएँ हैं। इनके अनुसार "कविता का अर्थ नहीं, अस्तित्व होना चाहिए।"

प्रयोगवादियों में ई० ई० कर्मिग्ज़ (१८९४–) पक्तियों के प्रारभ में बडे अक्षरों को हटाने तथा विरामों और पक्तियों के विभाजन में प्रयोगों के लिये प्रसिद्ध है।

२०वी सदी की कवयित्रियों में सारा टीज़डेल (१८८४–१९३३) और एड्ना सेंट विंसेट मिले (१८९२–१९५०) अपने सानेटों और आत्मपरक गीतों की स्पष्टोक्तियों के लिये प्रसिद्ध हैं। मिले में प्रखर सामाजिक चेतना है। जेम्स वेल्डेन जॉन्सन (१८७१–१९३८), लैंगस्टेन ह्यूजेज (१९०२–) और काउटी कलेन (१९०३–४६) नीग्रो कवि हैं जिन्होंने नीग्रो जाति की समस्याओं पर ध्यान केंद्रित किया।

२०वी सदी के अन्य प्रयोगवादियों में मार्क ह्वॉन डोरेन, लियोनी ऐडम्स, रॉबर्ट लॉवेल, हॉवर्ट होरन, जेम्स मेरिल, डब्ल्यू० एस० मर्विन, डलमोर स्वार्ट्ज़, म्यूरिएल रुकेसर, विनफील्ड टाउनले स्कॉट, एलिजाबेथ विशप, मेरिल मूर, ऑगडेन नैश, पीटर वाइरेक, जान कियार्डी आदि ऐसे कवि हैं जिनपर वाल्ट ह्विटमन की कविता का आशिक प्रभाव है। अपेक्षाकृत नए प्रयोगवादियों में जॉन पील विशप, रैंडाल जेरेल, रिचर्ड एबरहार्ट, जॉन बैरिमैन जॉन, फ्रेडरिक निम्स, जॉन मल्काम ब्रिनिन और हॉवर्ड नेमेरोव है। सामाजिक यथार्थ और स्वस्थ जनवादी चेतना को महत्व देनेवाले आधुनिक कवियों में वाल्टर लोवेनफेल्स, मार्था मिलेट, मेरिडेल ले स्यूर, टॉमस मैक्ग्राथ, ईव मेरियम, केनेथ रेक्सरॉथ इत्यादि उल्लेखनीय हैं।

प्रथम महायुद्ध के बाद की मुख्य प्रवृत्तियों को सक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—सामाजिक यथार्थ के प्रति जागरूकता, उनकी विषम-

राजनीतिक दलो में फूट पड गई । दासप्रथा के विरोधियो और पक्षपातियो के बीच सघर्ष का जोर बढता जा रहा था । १८५७ ई० में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बहुमत से किए गए ड्रेक स्काट के फैसले ने आग मे घी का काम किया । ८ फरवरी, १८६५ ई० को 'कानफेडरेट स्टेट ऑव अमेरिका' का सगठन हुआ जिसका लिंकन ने विरोध किया । १२ अप्रैल को चार्ल्सटन (साउथ कैरोलाइना) के फोर्ट सुमटर पर गोलाबारी हुई और गृहयुद्ध आरभ हो गया । यह ४ वर्ष चला और अत में ८ अप्रल, १८६५ ई० को दक्षिणी सेना ने हथियार डाल दिए ।

विस्तार और सुधार का युग गृहयुद्ध और प्रथम विश्वयुद्ध के ५० वर्षो के मध्यकाल मे सयुक्त राज्य मे भारी परिवर्तन हुए । बडे बडे कारखाने खुले, महाद्वीप के आर पार रेल द्वारा यातायात सुगम हो गया तथा समुद्र, नगरो और हरे भरे खेतो ने देश की आर्थिक उन्नति मे योग दिया । लोहे, भाप, बिजली के उत्पादन और वैज्ञानिक आविष्कारो ने राष्ट्र में नए प्राण फूंके । सयुक्त राज्य बडी तेजी से प्रगति कर चला । १९१४ ई० के यूरोपीय महायुद्ध के समाचार से इसे भारी धक्का पहुँचा पर अमरीकी उद्योग पश्चिमी राष्ट्रो की युद्धसामग्री की माँग के कारण फूलने फलने लगा । १९१५ ई० मे जर्मनी के सैनिक नेताओ ने घोषणा की कि वे ब्रिटिश द्वीपो के आसपास के समुद्र मे किसी भी व्यापारिक जहाज को नष्ट कर देंगे । राष्ट्रपति विल्सन ने अपनी नीति घोषित की कि अमरीकी जहाजो अथवा जन के नाश करने का जर्मनी उत्तरदायी होगा । जर्मन पनडुबियो ने अमरीका के कई जहाज डुबो दिए । अत २ अप्रैल, १९१७ ई० में अमरीका ने विश्वयुद्ध मे प्रवेश किया और उसके सैनिक और जहाज फ्रास पहुँच गए । जनवरी, १९१८ ई० मे विल्सन ने न्याययुक्त शाति के आधार पर अपने सुप्रसिद्ध १४ सूत्र रचे । इसके अतर्गत राष्ट्रसघ का निर्माण और छोटे बडे राज्यो को समान राजनीतिक स्वतत्रता और राष्ट्र की अखडता का आश्वासन दिलाना था । उन्ही सूत्रो के आधार पर ११ नवबर, १९१८ ई० को जर्मनी ने अस्थायी सधिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिए । विल्सन के सूत्रो का और राष्ट्रो में स्थायी सधि का पूर्णतया पालन नही किया गया, अत सयुक्त राज्य राष्ट्रसघ (लीग ऑव नेशस) का सदस्य नही बना ।

२०वी शताब्दी के तीसरे दशक मे अमरीका में आर्थिक सकट उत्पन्न हुआ । कृषि क्षेत्र मे मदी आ गई और ससार के बाजार धीरे धीरे अमरीका के लिये बद हो गए । १९२९ की पतझड में शेयर बाजार के भाव गिरे और लाखो व्यक्तियो की जीवन भर की सचित पूँजी नष्ट हो गई । कारखाने बद हो गए और लाखो आदमी बेकार हो गए । १९३२ ई० के चुनाव मे डेमोक्रेट फ्रैंकलिन रूजवेल्ट की जीत हुई । उसने न्यू डील नामक व्यापारिक नीति से अमरीका की आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयास किया और उसमे वह सफल भी हुआ । १९३९ ई० मे द्वितीय महायुद्ध छिड गया । अमरीका ने पहले तो तटस्थता की नीति अपनाई, पर १९४१ ई० में उसे भी युद्ध मे आना पडा । लगभग ४ वर्षो के युद्धकाल मे अमरीका ने सैनिको और युद्ध सामग्री से मित्रराष्ट्रो की बडी सहायता की । ८ मई, १९४५ ई० को जर्मनी की सेना ने आत्मसमर्पण किया और जापान के हीरोशिमा और नागासाकी द्वीपो पर परमाणु बम गिरने के फलस्वरूप २ सितबर,१९४५ ई० को उसने भी आत्मसमर्पण किया और विश्वयुद्ध का अत हुआ । २६ जून, १९४५ ई० को ५१ राष्ट्रो ने सयुक्त राष्ट्रीय घोषणापत्र स्वीकार किया जिसमे एक नए अतर्राष्ट्रीय सघ का सविधान था । अमरीका के इतिहास मे भी एक नया अध्याय आरभ हुआ । इसने विश्व की अन्य शक्तियो के साथ गुटबदी शुरु की । उत्तर अटलाटिक (नैटो) और दक्षिण-पूर्वी एशियाई (सीटो) समझौते तथा बगदाद पैक्ट से अमरीका का बहुत से राज्यो के साथ सैनिक गठबधन हो गया, पर इसके जवाब मे रूस और उसके साथी देशो ने भी अपने गुट बना लिए । १९५६ ई० के चुनाव मे रिपब्लिकन पार्टी के जनरल आइजनहावर दोबारा राष्ट्रपति चुने गए ।

सं०ग्रं०—हेनरी विलियम एलसन हिस्ट्री ऑव दि युनाइटेड स्टेट्स ऑव् अमेरिका, न्यूयार्क, १९४९, हैरोल्ड फाकनर शार्ट हिस्ट्री ऑव दि अमेरिकन पीपुल, लदन, १९३८, डी० सी० सोमरवेल हिस्ट्री ऑव दि यूनाइटेड स्टेट्स, लदन, १९४२, अमेरिकन इतिहास की रूपरेखा (यूनाइटेड स्टेट्स इन्फार्मेशन सर्विस द्वारा वितरित) । [वै० पु०]

अमरीका का गृहयुद्ध

१८६१-६५ ई० के बीच सयुक्त राज्य अमरीका और दक्षिण के ग्यारह राज्यो के बीच गृहयुद्ध हुआ । यह कहना सर्वथा उचित न होगा कि यह युद्ध केवल दासप्रथा को लेकर हुआ । वास्तव मे इस सघर्ष का बीज बहुत पहले ही बोया जा चुका था और यह विभिन्न विचारधाराओ मे पारस्परिक विरोध का परिणाम था । उत्तर के निवासी भौगोलिक परिस्थिति, यातायात के साधन तथा व्यापारिक सफलता के फलस्वरूप सतुष्ट, सपन्न तथा अधिक सभ्य थे । दक्षिणी राज्यो की अपनी अलग समस्या थी । १७वी और १८वी शताब्दियो मे अफ्रीका से बहुत से हबशी दास यहाँ लाए गए थे और वे ही कृषि उत्पादन के आधार थे । इसलिये दक्षिणी राज्य इन हबशी दासो को मुक्त करने मे असमर्थ थे और वे कृषि तथा अन्य उद्योगो में स्वतत्र श्रम से काम नही ले सकते थे । अमेरिका के उत्तरी राज्य के निवासी शीतल जलवायु के कारण अपना कार्य सरलता से कर लेते थे और वह दासो पर निर्भर नही करते थे । इसीलिये वहाँ दासप्रथा धीरे धीरे लुप्त हो गई । मशीन युग ने समस्या को और भी जटिल बना दिया और उत्तर तथा दक्षिण के बीच की खाईं बढने लगी । उत्तरी निवासी मशीन के प्रयोग से आर्थिक क्षेत्र मे प्रगति करने लगे । उनका कोयले और लोहे का उत्पादन बढा और वहाँ बहुत से कारखाने काम करने लगे । वहाँ की जनसख्या भी तेजी से बढने लगी । दक्षिणी अभी तक केवल कृषि पर आधारित थे और वे युग के साथ प्रगति नही कर सके । यहाँ की जनसख्या भी अधिक तेजी से नही बढी । सयुक्त राष्ट्र की व्यापारिक नीति उत्तर राज्यो के लिये लाभदायक थी पर दक्षिणवाले उससे लाभ नही उठा सकते थे । व्यापारिक नीति का दक्षिण में विरोध हुआ और दक्षिणी इसे अवैध ठहराने लगे । वे स्वतत्र व्यापार के अनुयायी थे, जिससे वे अपना कच्चा माल बिना नियत्रण के विदेश भेज सके और अपने आवश्यकतानुसार बनी हुई चीजें खरीदे । दक्षिण कैरोलाइना के जान कूल्हन के मतानुसार प्रत्येक राज्य को सयुक्त राज्य की किसी भी नीति को मानने या न मानने का पूर्ण अधिकार था । सघर्ष के बीज ने अब वृक्ष का रूप धारण कर लिया था । सविधान की आड मे उत्तर और दक्षिण के राज्य अपने अपने मत की पुष्टि का पूर्णतया प्रयास करने लगे ।

व्यापारिक नियत्रण के अतिरिक्त दासप्रथा को लेकर यह विरोध और बढा । ऐंड्रू जैकसन के समय दासप्रथा के विरोध मे किया गया उत्तरी राज्यो मे प्रदर्शन और दक्षिणी राज्यो मे इसको कायम रखने का प्रयास गृहयुद्ध का दूसरा मूल कारण हुआ । दक्षिणी कहने लगे कि टैक्सस पर अधिकार और मैक्सिको से युद्ध करना अनिवार्य है । वे सेनेट मे बराबरी की सख्या कायम रखना चाहते थे । १८४४ ई० में मसाच्यूसेट्स की धारासभा ने यह प्रस्ताव पास किया कि सयुक्त राष्ट्र का सविधान अपरिवर्तनीय है और टैक्सस पर अधिकार अमान्य है । दक्षिणियो ने और जोर से कहा कि यदि दासप्रथा बद की गई तो वे सयुक्त राज्य से अलग हो जायँगे । दासप्रथा का प्रश्न राजनीतिक क्षेत्र के अतिरिक्त अब धार्मिक क्षेत्र मे भी घुस आया । इसको लेकर मेथडिस्ट चर्च मे भी उत्तरी और दक्षिणी दो दल हो गए । दोनो ने धार्मिक सस्थाओ को अपनी ओर खीचा । यद्यपि विग और डेमोक्रेट दलो ने १८४८ ई० के राष्ट्रपति के चुनाव मे इस समस्या को अलग रखना चाहा, पर इस चुनाव ने जनता को दो भागो मे बाँट दिया जो मूलत भौगोलिक आधार पर बँटी थी ।

सघर्ष और भी घना होता गया । मेक्सिको से युद्ध मे प्राप्त भूमि मे दासप्रथा को रखने अथवा हटाने का प्रश्न जटिल था । दक्षिणवाले इसे रखना चाहते थे क्योकि यह उनके क्षेत्र मे था, पर उत्तर के निवासी सिद्धात रूप से दासप्रथा के पूर्ण विरोधी थे और नए स्थान मे इसे रखने को तैयार न थे । उत्तरी राज्यो की धारासभाओ ने इसका विरोध किया, पर इसके विपरीत दक्षिण मे दासप्रथा के समर्थन में सार्वजनिक सभाएँ हुई । वर्जिनिया की धारासभा ने उत्तरी राज्यो की सभा मे पास किए गए प्रस्ताव का कडा विरोध किया और वहाँ की जनता ने सयुक्त राज्य से लोहा लेने का दृढ निश्चय कर लिया । १८५० ई० में एक समझौता हुआ जिसके अतर्गत कैलिफोर्निया स्वतत्र राज्य के रूप में सयुक्त राज्य मे शामिल हो गया और कोलबिया मे दासप्रथा हटा दी गई । टेक्सस को एक करोड डालर दिए गए और भागे हुए दासो को वापिस करने का एक नया कानून पास हुआ । इसका पालन नही हुआ । उत्तर के राज्य भागे हुए दासो को उनके मालिको

(१३वी सदी का पूर्वार्ध) की 'रसिक सजीवनी' अपनी विद्वत्ता तथा मार्मिकता के लिये प्रसिद्ध है। आनदवर्धन की समति मे अमरुक के मुक्तक इतने सरस तथा भावपूर्ण है कि अल्पकाय होने पर भी वे प्रबधकाव्य की समता रखते है। सस्कृत के आलकारिको ने ध्वनिकाव्य के उदाहरण के लिये इसके बहुत से पद्य उद्धृत कर इनकी साहित्यिक सुषमा का परिचय दिया है। अमरुक शब्दकवि नही है, प्रत्युत रसकवि है जिनका मुख्य लक्ष्य काव्य मे रस का प्रचुर उन्मेष है। अमरुशतक के पद्य शृगार रस से पूर्ण है तथा प्रेम के जीते जागते चटकीले चित्र खीचने मे विशेष समर्थ है। प्रेमी और प्रेमिकाओ की विभिन्न अवस्थाओ मे विद्यमान शृगारी मनोवृत्तियो का अतीव सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इन सरस श्लोको की प्रधान विशिष्टता है। कही पति को परदेश जाने की तैयारी करते देखकर कामिनी की हृदयविह्वलता का चित्र है, तो कही पति के आगमन का समाचार सुनकर सुदरी की हर्ष से छलकती हुई आँखो और विकसित स्मित का रुचिर चित्रण है। हिंदी के महाकवि बिहारी तथा पद्माकर ने अमरुक के अनेक पद्यो का सरस अनुवाद प्रस्तुत किया है।

स०ग्र०—बलदेव उपाध्याय सस्कृत साहित्य का इतिहास, काशी, पचम स०, १९५८, दासगुप्त तथा दे हिस्ट्री ऑव क्लासिकल लिटरेचर, कलकत्ता, १९३५। [ब० उ०]

अमरूद का अंग्रेजी नाम ग्वावा है, वानस्पतिक नाम सीडियम ग्वायवा, प्रजाति सीडियम, जाति ग्वायवा, कुल मिर्टेसी। वैज्ञानिको का विचार है कि अमरूद की उत्पत्ति अमरीका के उष्ण कटिबधीय भाग तथा वेस्ट इडीज़ से हुई है। भारत की जलवायु मे यह इतना घुल मिल गया है
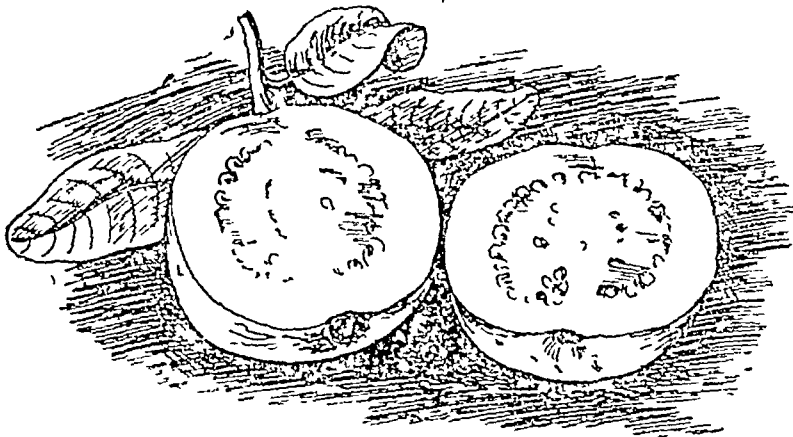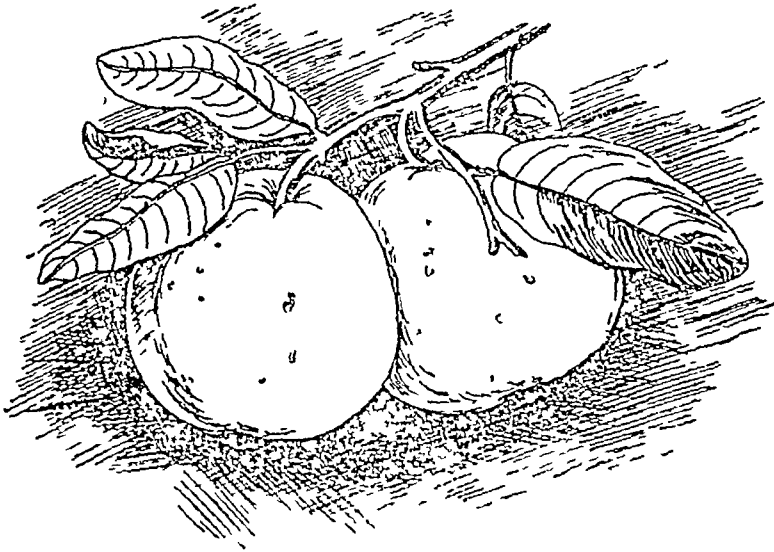
अमरूद
ऊपर वाह्य आकृति और नीचे काट दिखाई गई है।

कि इसकी खेती यहाँ अत्यत सफलतापूर्वक की जाती है। पता चलता है कि १७वी शताब्दी मे यह भारतवर्ष मे लाया गया। अधिक सहिष्णु होने के कारण इसकी सफल खेती अनेक प्रकार की मिट्टी तथा जलवायु मे की जा सकती है। जाडे की ऋतु मे यह इतना अधिक तथा सस्ता प्राप्त होता है कि लोग इसे निर्धन जनता का एक प्रमुख फल कहते है। यह स्वास्थ्य के लिये अत्यत लाभदायक फल है। इसमे विटामिन 'सी' अधिक मात्रा मे पाया जाता है। इसके अतिरिक्त विटामिन 'ए' तथा 'बी' भी पाए जाते है। इसमे लोहा, चूना तथा फास्फोरस अच्छी मात्रा मे होते है। अमरूद की जेली तथा बर्फी (चीज) बनाई जाती है। इसे डिब्बो मे बद करके सुरक्षित भी रखा जा सकता है।

अमरूद के लिये गर्म तथा शुष्क जलवायु सबसे अधिक उपयुक्त है। यह सूखा तथा पाला दोनो सहन कर सकता है। केवल छोटे पौधे ही पाले से प्रभावित होते है। यह हर प्रकार की मिट्टी मे उपजाया जा सकता है, परतु बलुई-दोमट इसके लिये आदर्श मिट्टी है। भारत मे अमरूद की प्रसिद्ध किस्मे इलाहाबादी सफेदा, लाल गूदेवाला, चित्तीदार, करेला, बेदाना तथा अमरूद-सेब है।

अमरूद का प्रसारण अधिकतर बीज द्वारा किया जाता है, परतु अच्छी जातियो के गुणो को सुरक्षित रखने के लिये आम की भाँति भेटकलम (इनाचिंग) द्वारा नए पौधे तैयार करना सबसे अच्छी रीति है। बीज मार्च या जुलाई मे बो देना चाहिए। वानस्पतिक प्रसारण के लिये सबसे उत्तम समय जुलाई-अगस्त है। पौधे २० फुट की दूरी पर लगाए जाते है। अच्छी उपज के लिये दो सिचाई जाडे मे तथा तीन सिंचाई गर्मी के दिनो मे करनी चाहिए। गोबर की सडी हुई खाद या कपोस्ट, १५ गाडी प्रति एकड देने से अत्यत लाभ होता है। स्वस्थ तथा सुदर आकार का पेड प्राप्त करने के लिये आरभ से ही डालियो की उचित छँटाई (प्रूनिंग) करनी चाहिए। पुरानी डालियो मे जो नई डालियाँ निकलती है उन्ही पर फूल और फल आते है। वर्षा ऋतु मे अमरूद के पेड फूलते है और जाडे मे फल प्राप्त होते है। एक पेड लगभग ३० वर्ष तक भली भाँति फल देता है और प्रति पेड ५००-६०० फल प्राप्त होते है। कीडे तथा रोग से वृक्ष को साधारणत कोई विशेष हानि नही होती। [ज० रा० सिं०]

अमरू बिन कुलसूम अमरू इस्लाम से लगभग डेढ सौ वर्ष पहले पैदा हुए थे। इनका सबध तुगलिब कबीले से था। इनकी माता प्रसिद्ध कवि मुहलहिल की पुत्री थी। ये पद्रह वर्ष की छोटी अवस्था मे ही अपने कबीले के सरदार हो गए। तुगलिब तथा बकर कबीलो मे बहुधा लडाइयाँ हुआ करती थी जिनमे ये भी अपने कबीले की ओर से भाग लिया करते थे। एक बार इन दोनो कबीलो ने सधि करने के लिये हीर के बादशाह अमरू बिन हिंद से प्रार्थना की। बादशाह ने नब्बू तुगलिब के विरुद्ध निर्णय किया जिसपर अमरू बिन कुलसूम रुष्ट होकर लौट आए। इसके अनतर बादशाह ने किसी बहाने इनका अपमान करना चाहा पर इन्होने बादशाह को मार डाला। यह पैगबर-पूर्व के उन कवियो मे से थ जो 'असहाब मुअल्लकात' कहलाते है। इनका वर्ण्य विषय वीरता, आत्मविश्वास तथा उत्साह और उल्लास के भावो से भरा है। अवश्य ही अपनी और अपने कबीले की प्रशसा तथा शत्रु की बुराई करने मे इन्होने बडी अतिशयोक्ति की है। इनकी रचना मे प्रवाह, सुगमता तथा गेयता बहुत है। इन्ही गुणो के कारण इनकी कृतियाँ अरब मे बहुत प्रचलित हुई और बहुत समय तक बच्चे बच्चे की जबान पर रही। इनकी मृत्यु सन् ६०० ई० के लगभग हुई। [आर० आर० शे०]

अमरेली बबई राज्य मे बडोदा से १३९ मील तथा अहमदाबाद से १३२ मील दक्षिण-पश्चिम मे थेबी नामक एक छोटी नदी पर स्थित इसी नाम के जिले का प्रमुख नगर है (स्थिति २१° ३६' उ० अक्षांश एव ७१° १५' पूर्वी देशातर)। यह ऐतिहासिक महत्व का स्थान है जो प्राचीन काल मे अमरवल्ली कहलाता था। इसके चतुर्दिक् निर्मित प्राचीर अब विनष्टप्राय है। भावनगर-पोरबदर-रेलवे के चितल स्टेशन से दस मील दूर होने के कारण यातायात की असुविधा है, परतु अब पक्की सडको द्वारा चारो ओर से सबध स्थापित हो गया है। यहाँ पहले हाथ-करघे से बने वस्त्रो का व्यवसाय प्रमुख था, परतु कारखानो की प्रतिद्वद्विता के कारण दिन-प्रति-दिन घट रहा है। रगाई एव चाँदी का काम भी यहाँ

आदिकाल १७वी सदी में अमरीका में शरण लेनेवाले पिल्ग्रिम फादर अपने साथ इग्लैड की सास्कृतिक परपरा भी लेते आए। इसलिये लगभग दो सदियो तक अमरीकी साहित्य अग्रेजी साहित्य की लीक पर चलता रहा। १९वी सदी मे जाकर उसे अपना व्यक्तित्व मिला।

नवागतुको के सामने जीवननिर्वाह की कठिनता, कला और साहित्य के प्रति प्यूरिटन सप्रदाय की अनुदारता और प्रतिभा की न्यूनता के कारण अमरीकी साहित्य का आदिकाल उपलब्धिविरल है। इस काल मे वर्जीनिया और मसाचूसेट्स साहित्यरचना के प्रधान केद्र थे, जिनमे वर्जीनिया पर सामती और मसाचूसेट्स पर मध्यवर्गीय इग्लैड का गहरा असर था। किंतु दोनो ही केंद्रो में प्यूरिटनो का प्रभुत्व था। साहित्य-रचना का काम पादरियो के हाथ मे था, क्योकि औरो की अपेक्षा उन्हे अधिक अवकाश था। इसलिये इस युग के साहित्य का अधिकाश धर्मप्रधान है। मख्य रूप से यह युग पत्रो, डायरी, इतिहास और धार्मिक तथा नीतिपरक कविताओ का है।

नए उपनिवेश और उनके विकास की अमित सभावनाओ का वर्णन, शासन मे धर्म और राज्य के पारस्परिक सबधो के विषय मे विचारसघर्ष, आत्मकथा, जीवनचरित, साहसिक यात्राएँ तथा अभियान और धार्मिक उपदेश गद्यलेखको के मुख्य विषय बने। रुक्ष और सरल किंतु सशक्त वर्णनात्मक गद्यरचना मे वर्जीनिया के कैप्टेन जॉन स्मिथ और उनकी रोमाचकारी कृतियाँ, ए ट्रू रिलेशन (१६०८) और ए मैप ऑव वर्जीनिया, (१६१२) विशेष उल्लेखनीय हैं। इसी तरह का वर्णनात्मक गद्य जॉन हैमड, डेनियल डेंटन, विलियम पेन, टॉमस ऐश, विलियम वुड, मेरी रोलैंडसन और जॉन मेसन ने भी लिखा।

धार्मिक वादविवाद को लेकर लिखी गई नैथेनियल वार्ड की रचना, द सिंपिल कॉब्लर ऑव अग्गवाम (१६४७) अपने व्यग्य और विद्रूप मे उस युग की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। वार्ड की तरह ही टॉमस मार्टन ने दि न्यू इग्लिश कैनन (१६३७) मे प्यूरिटनो का व्यग्यात्मक चित्र प्रस्तुत किया था। दूसरी ओर स्टर्न जान विथ्रॉप ने अपने जर्नल (१६३०-४९) और इक्रिस मेदर और उसके पुत्र कॉटन मेदर ने अपनी रचनाओ मे प्यूरिटन आदर्शो और धर्मप्रधान राजसत्ता का समर्थन किया। कॉटन की मैगनेलिया क्रिस्टी अमेरिकाना तत्कालीन प्यूरिटन सप्रदाय की सबसे प्रतिनिधि और समृद्ध रचना है। उस युग के अन्य गद्यकारो मे विलियम वैडफर्ड, सैमुएल सेवाल, टॉमस शेपर्ड, जान कॉटन, रोजर विलियम्स और जॉन वाइज़ के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमे से अनेक १८वी सदी मे भी लिखते रहे।

१७वी सदी की कविता अनुभूति से अधिक उपदेश की है और उसका रूप अनगढ हे। दि बे साम बुक (१६४०) इसका उदाहरण हे। कवियो मे तीन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—माइकेल विगिल्सवर्थ, ऐनी ब्रैडस्ट्रीट और एडवर्ड टेलर। दिव्य आनद और वेदना, ईशभक्ति, प्रकृतिवर्णन और जीवन के साधारण सुख दु ख उनकी कविताओ के मुख्य विषय हैं। निष्कपट अनुभूति के बावजूद इनकी कविता मे कलात्मक सौदर्य की कमी है। ब्रैडस्ट्रीट की कविता मे स्पेसर, सिडनी और सिलवेस्टर तथा टेलर की कविता मे डन, क्रैशा, हर्बर्ट इत्यादि अग्रेजी कवियो की प्रतिध्वनियाँ स्पष्ट हैं।

नाटक और आलोचना का जन्म आगे चलकर हुआ।

१८ वीं सदी—१७वी सदी के यथार्थवादी और कल्पनाप्रधान गद्य तथा धार्मिक कविता की परपरा १८वी सदी मे न केवल पुराने बल्कि नए लेखको मे भी जीवित रही। उदाहरणार्थ, विलियम विर्ड और जोनैथन एडवर्ड्स ने क्रमश कैप्टेन स्मिथ और मेदर का अनुसरण किया। एडवर्ड्स की रचनाओ मे उसकी तीव्र प्यूरिटन भावना, गहन चिंतन, अद्भुत तर्क-शक्ति और रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ दीख पडती है। लेकिन प्यूरिटन कट्टरपथ के स्थान पर धार्मिक उदारता का भी उदय हो रहा था, जिसे जोनैथन मेह्यू और सेवाल की रचनाओ ने व्यक्त किया। सेवाल ने अपनी डायरी मे 'धर्म की व्यावसायिक परिकल्पना' का आग्रह किया। विर्ड की दि हिस्ट्री ऑव दि डिवाइडिंग लाइन (१७२९) और सेरा नाइट के जर्नल (१७०४) मे सत्रहवी सदी के पुराने प्रभावो के बावजूद इग्लैड के १८वी सदी के साहित्य की लौकिकता, मानसिक सतुलन, व्यग्य और विनोद-प्रियता, जीवन और व्यक्तियो का यथार्थ चित्रण और उक्ति लाघव तथा स्वच्छता के आदर्श की छाप है। वास्तव मे इस सदी के अमरीकी साहित्य-मदिर की प्रतिमाएँ अग्रेजी के प्रसिद्ध गद्यकार और कवि ऐडिसन, स्विफ्ट और गोल्डस्मिथ हैं। सदी के मध्य तक आते आते धार्मिक, आध्यात्मिक और सामाजिक चिंतन मे प्यूरिटन सहजानुभूति, रहस्यवाद और अलौकिकता को तर्क और विज्ञान ने पीछे ढकेल दिया। इग्लैड और उसके उपनिवेश के बीच बढते हुए सघर्षो और अमरीकी राज्यक्राति ने नई चेतना को और भी वेग तथा बल दिया। उसके सबसे समर्थ अग्रणी बेंजामिन फ्रैंकलिन (१७०६-९०) और टॉमस पेन (१७३७-१८०९) थे। अमरीका की आधुनिक सस्कृति के निर्माण मे इनका महान् योग है।

व्यवसायी, वैज्ञानिक, अन्वेषक, राजनीतिज्ञ और पत्रकार फ्रैंकलिन के साहित्य का आकर्षण उसके असाधारण किंतु व्यावहारिक, सस्कृत, सयमित और उदार व्यक्तित्व मे है। उसकी आटोवायोग्राफी अत्यत लोकप्रिय रचना है। उसके पत्रो और 'डूगुड' शीर्षक तथा 'बिज़ीबडी' नाम से लिखे गए निबधो मे सदाचार और जीवन की साधारण समस्याओ की सरल, आत्मीय और विनोदप्रिय अभिव्यक्ति है, लेकिन उसकी रचना रूल्स फॉर रिड्यूसिंग ए ग्रेट एपायर टु ए स्माल वन (१७९३) से उसकी प्रखर व्यग्य और कटाक्षशक्ति का भी पता चलता है।

टॉमस पेन का साहित्य उसके क्रातिकारी जीवन का अविभाज्य अग है। फ्रैंकलिन की सलाह से वह १७७४ ई० में इग्लैड छोडकर अमरीका आया और दो वर्ष बाद ही उसने अमरीका की पूर्ण स्वतत्रता के समर्थन में कामनसेंस की रचना की। दी एज ऑव रीजन (१७९४-९६) में उसने ईसाई धर्म पर गहरी चोट कर डीइज्म का समर्थन किया। बर्क के विरुद्ध फ्रासीसी क्राति के पक्ष मे लिखी गई उसकी रचना दि राइट्स ऑव मैन ने उस युग मे हर देश के क्रातिकारियो का पथप्रदर्शन किया। उसके गद्य मे क्रातिकारी विचारो की ऋजु ओजस्विता है।

सैमुएल ऐडम्स, जॉन डिकिन्सन, जोजेफ गैलोवे इत्यादि ने भी उस युग की राजनीतिक हलचल को अपनी रचनाओ से प्रभावित किया। लेकिन उनसे अधिक महत्वपूर्ण गद्यलेखक हेक्टर सेंट जान दी क्रेवेकूर है जिसने लेटर्स फ्रॉम ऐन अमेरिकन फार्मर (१७८२) और स्केचेज़ ऑव एटीथ सेंचुरी अमेरिका में अमरीकी किसान और प्रकृति का आदर्श रोमानी चित्र प्रस्तुत किया। दास-प्रथा-विरोधी जॉन वूलमैन (१७२०-७२) की विशेषता उसकी सरलता और माधुर्य है।

स्वतत्रता के बाद शासन मे केद्रीकरण के पक्ष और विपक्ष मे होनेवाले वादविवाद के सबध मे अलैक्जैडर हैमिल्टन, जॉन जे और टॉमस जेफर्सन के नाम उल्लेखनीय है। जेफर्सन द्वारा लिखित विश्वविख्यात दि डिक्लरेशन ऑव इडिपेडेस का गद्य अपनी सरल भव्यता मे अद्वितीय हे।

१८वी सदी की कविता का एक अश उन गीतो का है जो युद्धकाल में लिखे गए और जिनमे याकी डूडिल, नैथन हेल और एपिलोग बहुत प्रसिद्ध हैं। इस सदी के कुछ कवियो, जैसे ओडेल, हॉप्किन्सन, रॉबर्ट ट्रीट पेन, इवान्स और क्लिफटन ने अत्यत कृत्रिम शैली की रचनाएँ की। इनसे भिन्न प्रकार के कवि कानेक्टिकट या हार्टफर्ड विट्स के नाम से पुकारे जानेवाले डेविड हफ्रेज, टिमोथी ड्वाइट, जोएल बार्लो, जॉन ट्रबुल, डाक्टर सैमुएल हाप्किंस, रिचर्ड ऐल्सप और थियोडोर ड्वाइट थे जिन्होने पोप को आदर्श मानकर व्यग्यप्रधान द्विपदियाँ और महाकाव्य लिखे। इनके लिये रीति-समत शुद्धता कविता का सबसे बडा गुण थी। इन कवियो में टिमोथी ड्वाइट, ट्रबुल और बार्लो मे अपेक्षाकृत अधिक मौलिकता थी। लेकिन इस सदी का सबसे बडा कवि फिलिप फ्रेनो (१७५२-१८३२) है जो एक ओर अत्यत तिक्त विद्रूप दि ब्रिटिश प्रिजनशिप (१७८१) का तो दूसरी ओर दि वाइल्ड हनीसकल् जैसे तरल गीतिकाव्य का स्रष्टा है। उसकी कविताओ ने १९वी सदी की रोमानी कविता की जमीन तैयार की।

इस सदी के अतिम भाग मे उपन्यास और नाटक का भी उदय हुआ। टॉमस गॉडफ्रे द्वारा लिखित दि प्रिंस ऑव पार्थिया (१७५९) अमरीका का पहला नाटक है, जिसे १७६७ में व्यावसायिक रगमच पर खेला गया। इसी प्रकार रायल टाइलर रचित दि कट्रास्ट (१७८७) अमरीका का पहला प्रहसन है, हालाँकि उसमे शेरिडन और गोल्डस्मिथ की प्रतिध्वनियाँ

था। यहाँ वेंकटस्वामी तथा सुब्रारायडू (नागराज) के दो प्रसिद्ध हिंदू मदिर हैं। यहाँ लकडी का गोदाम, चावल की मिले और कपडा बुनने, काष्ठशिल्प तथा शीशे एव चाँदी के वर्तन बनाने के उद्योग हैं। १९०१ ई० में इसकी जनसख्या ९,१५० थी जो १९५१ ई० मे बढकर २१,११७ हो गई। यहाँ तालुके के प्रशासनिक कार्यालय तथा प्रथम श्रेणी का महाविद्यालय भी है। पचायत नगर का प्रशासन करती है। [का० ना० सिं०]

अमात्य भारतीय राजनीति के अनुसार राज्य के सात अगो में दूसरा अग है जिसका अर्थ है मत्री। राजा के परामर्शदाताओ के लिये अमात्य, सचिव तथा मत्री इन तीनो शब्दो का प्रयोग प्राय किया जाता है। इनमें अमात्य नि सदेह प्राचीनतम है। ऋग्वेद के एक मत्र (४।४।१) में 'अमवान्' शब्द का यास्क द्वारा निर्दिष्ट अर्थ 'अमात्ययुक्त' ही है (निरुक्त ६।१२)। व्युत्पत्ति के अनुसार 'अमात्य' का अर्थ है सर्वदा साथ रहनेवाला व्यक्ति (अमा=साथ)। आपस्तब धर्मसूत्र मे अमात्य का अर्थ नि सदेह मत्री है, जहाँ राजा को आदेश है कि वह अपने गुरुओ तथा मत्रियो से बढकर ऐश्वर्य का जीवन न बिताए (२।१०।२५।१०)। 'सचिव' शब्द का प्रथम प्रयोग ऐतरेय ब्राह्मण (१२।६) मे मिलता है जहां मरुत इद्र के 'सचिव' (सहायक या बधु) बतलाए गए हैं। मत्रियो की सलाह लेना राजा के लिये नितात आवश्यक होता है। इस विषय मे कौटिल्य, मनु (७।५५) तथा मत्स्यपुराण (२१५।३) के वचन बहुत ही स्पष्ट हैं। अमात्य, सचिव तथा मत्री शब्दो का पर्याय रूप मे प्रयोग बहुलता से उपलब्ध होता है जिससे इनके परस्पर पार्थक्य का पता ठीक ठीक नही चलता।

रुद्रदामन् के जूनागढवाले शिलालेख मे सचिव शब्द अमात्य का पर्यायवाची माना गया है। सचिवो के दो प्रकार यहाँ बतलाए गए हैं (१) मतिसचिव (=राजा को परामर्श देनेवाला मत्री) तथा (२) कर्मसचिव (=निश्चित किए गए कार्यो का सपादन करनेवाला)। अमर के अनुसार भी सचिव (=मतिसचिव) अमात्य मत्री कहलाता है और उससे भिन्न अमात्य 'कर्मसचिव' कहलाते हैं। परतु यह पार्थक्य अन्य ग्रथो मे नही पाया जाता। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार मत्रियो का पद ऊँचा होता था और अमात्य का साधारण कोटि का। कौटिल्य का कहना है अमात्यो का परीक्षण धर्म, अर्थ, काम और भय के विषय मे अच्छे ढग से करने पर यदि वे ईमानदार और शुद्ध चरित्रवाले सिद्ध हो, तब उनको नियुक्त करना चाहिए, परतु मत्रियो के विषय मे उनका आग्रह है कि जो व्यक्ति समस्त परीक्षणो के द्वारा परीक्षित होने पर राज्यभक्त तथा विशुद्धाशय प्रमाणित किया जाय, वही मत्री के पद के लिये योग्य समझा जाता है। (अर्थशास्त्र १।१०)। परीक्षा के उपाय के निमित्त प्रयुक्त प्रधान शब्द है—**उपधा** जिसकी व्याख्या 'नीतिवाक्यामृत' के अनुसार है—धर्मार्थकामभयेषु व्याजेन परचित्तपरीक्षणम् उपधा। राजा को मत्रणा (मत्र) देने का कार्य ब्राह्मण का निजी अधिकार था इसीलिये कालिदास ने ब्राह्मण मत्री के द्वारा अनुशासित राजन्य की शक्ति के उपचय की समता 'पवनाग्निसमागम' से दी है (रघुवश ८।४)। अमात्य का प्रधान कार्य राजा को बुरे मार्ग मे जाने से बचाना था। और केवल राजनीतिक बातो में ही नही, प्रत्युत अन्य आवश्यक विषयो मे भी राजा का मत्रियो से परामर्श करना अनिवार्य था। वह अपन मत्रियो से मत्रणा बडे गुप्त स्थान मे करता था, अन्यथा मत्र और करणीय का भेद खुल जाने से राष्ट्र के अनिष्ट की आशका बनी रहती थी।

अमात्यपरिषद् (अथवा मत्रिपरिषद्) के सदस्यो की सख्या के विषय म प्राचीन काल से मतभिन्नता दिखलाई पडती है। किसी आचार्य का आग्रह मत्रियो की सख्या तीन चार तक सीमित रखने के ऊपर है, किंतु कुछ आचार्य उसे सात आठ तक बढाने के पक्ष मे है। रामायण (बालकाड, ७।२-३) मे दशरथ के मत्रियो की सख्या आठ दी गई है और इसी के तथा शुक्रनीतिसार (२।७१।७२) के आधार पर छत्रपति शिवाजी ने अपनी मत्रिपरिषद् अष्टप्रधानो की बनाई थी। शातिपर्व, कौटिल्य तथा नीतिवाक्यामृत के वचनो की परीक्षा से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन काल मे मत्रिसभा तीन प्रकार की होती थी (क) तीन या चार मत्रियो का अतरग मत्रिमडल सबसे अधिक महत्वशाली था। (ख) मत्रियो की परिषद् जिसमें मत्रियो की सख्या सात या आठ रहती थी। (ग) अमात्यो या सचिवो की एक बडी सभा जिसमे राज्य के विभिन्न विभागो के उच्च अधिकारी भी समिलित होते थे। अमात्यो के लिये आवश्यक गुणो तथा योग्यता का विशेष वर्णन धर्मसूत्रो तथा स्मृतियो मे किया गया है।

स०ग्र०—कौटिलीय अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, कामदकनीतिसार, काशीप्रसाद जायसवाल हिंदू पॉलिटी। [ब० उ०]

अमानसता (ऐमनीज़िआ) का अर्थ है स्मरणशक्ति का खो जाना। या तो यह मनोवैज्ञानिक कारणो से उत्पन्न होती है या शारीरिक विकार से (उदाहरणत, सिर मे चोट लगने से)। बुढापे में और मस्तिष्क की धमनियो के पथरा जाने पर (आर्टीरियोस्क्लिरोसिस में) अमानसता बहुधा होती है। बुढापे के कारण उत्पन्न अमानसता मे स्मरणशक्ति का ह्रास धीरे धीरे होता है। पहले रोगी यह बता नही पात कि सवेरे क्या खाया था या कल क्या हुआ था। फिर स्मरणनाश बढता जाता है और सुदूर भूतकाल की बाते भी सब भूल जाती हैं। धमनियो के पथराने मे स्मरणशक्ति विचित्र ढग से मिटती है। विशेष जाति की बाते भूल जाती है, अन्य बाते अच्छी तरह स्मरण रहती हैं। कभी कभी दो चार दिन या एक दो सप्ताह के लिये बाते भूल जाती हैं और फिर वे अच्छी तरह याद हो आती हैं। कोई पुरानी बाते भूलता है, कोई नवीन बाते भूलता है।

मिरगी (देखे **अपस्मार**) आदि रोगो मे स्मरणशक्ति धीरे धीरे नष्ट होती है। अतराबध मे (उसे देखे) सदा ही स्मरणशक्ति क्षीण रहती है। मनोवैज्ञानिक कारणो से उत्पन्न अमानसता मे, उदाहरणत किसी प्रिय व्यक्ति के मरण से उत्पन्न अमानसता मे, बहुधा केवल उसी प्रिय व्यक्ति से सबध रखनेवाली बाते भूल जाती हैं।

युद्धकाल मे नकली अमानसता बहुत देखने मे आती थी। लडाई पर भेजे जाने से छुट्टी पाने के लिये अमानसता का बहाना करना बचने की सरल रीति थी। इन दशाओ मे इसकी जाँच की जाती थी कि कोई उत्पादक कारण—जैसे मदिरापान, मिरगी, हिस्टीरिया, विषण्णता, पागलपन आदि—तो नही विद्यमान है। पीछे कुछ अन्य रीतियाँ निकली (उदाहरणत, रोरशाप की रीति) जिससे अधिक अच्छी तरह पता चलता है कि अमानसता असली है या नकली।

अमानसता सीसा धातु के विषाक्त लवणो, कारबन मोनोआक्साइड नामक विषाक्त गैस तथा अन्य मादक विषो से अथवा मूत्ररक्तता, विटैमिन बी की कमी, मस्तिष्क का उपदश आदि से भी उत्पन्न होती है।

मनोवैज्ञानिक कारणो से उत्पन्न अमानसता के उपचार के लिये **मनोविकार विज्ञान** शीर्षक लेख देखे। [दि० सिं०]

अमानुल्ला खाँ अफगानिस्तान का अमीर, अमीर हबीबुल्ला खाँ का पुत्र, जन्म १८९२। हबीबुल्ला के हत्यारे नसरुल्ला खाँ से १९१९ मे अमारत छीन ली। उसी साल ब्रिटिश सेना से मुठभेड के बाद सधि के नियमो के अनुसार अमानुल्ला खाँ की अमारत मे अफगानिस्तान की स्वतत्रता घोषित हुई। नए अमीर ने अनेक सामाजिक सुधार किए जिनके परिणामस्वरूप अफगानिस्तान मे अनेक विद्रोह हुए। इनमे से अतिम बच्चा सक्का के विद्रोह के बाद १९२९ मे अमीर को गद्दी छोडकर इटली की शरण लेनी पडी। किस प्रकार धार्मिक कट्टरता सामाजिक सुधार के आडे आ सकती है, अमानुल्ला खाँ का पतन इसका ज्वलत उदाहरण है। [भ० श० उ०]

अमिताभ बौद्धो के महायान सप्रदाय के अनुसार वर्तमान जगत् के अभिभावक तथा अधीश्वर बुद्ध का नाम। इस सप्रदाय का यह मतव्य है कि स्वयभू आदिबुद्ध की ध्यानशक्ति की पाँच क्रियाओ के द्वारा पाँच ध्यानी बुद्धो की उत्पत्ति होती है। उन्ही मे अन्यतम ध्यानी बुद्ध अमिताभ हैं। अन्य ध्यानी बुद्धो के नाम हैं—वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसभव तथा अमोघसिद्धि। आदिबुद्ध के समान इनके भी मदिर नेपाल मे उपलब्ध हैं। बौद्धो के अनुसार तीन जगत् तो नष्ट हो चुके हैं और आजकल चतुर्थ जगत् चल रहा है। अमिताभ ही इस वर्तमान जगत् के विशिष्ट बुद्ध हैं जो इसके अधिपति (नाथ) तथा विजेता (जित) माने गए हैं। 'अमिताभ' का शाब्दिक अर्थ है अनत प्रकाश से सपन्न देव (अमिता

मेन (१८५०) और इंग्लिश ट्रेज (१८५६) उसकी प्रसिद्ध रचनाएँ है।

थोरो ने पश्चिम और पूर्व के ग्रथो का अध्ययन किया था। उसमे इमर्सन की तुलना मे अधिक व्यावहारिकता और विनोदप्रियता है। उसकी प्रसिद्ध रचना वाल्डेन (१८५४) जीवन मे नैसर्गिकता की ओर लौटने के दर्शन का प्रतिपादन है। अपनी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक सिविल डिसओबिडिएंस (१८४६) मे उसने शासन में अराजकतावाद के सिद्धात की स्थापना की। उसकी रचनाओ मे अमरीकी व्यक्तिवाद की चरमावस्था व्यक्त हुई।

एमॉस ब्रासन एल्कॉट, जॉर्ज रिपले, ओरेस्टेस ब्राउसन, मार्गरेट फुलर और जोन्स वेरी उस युग के अन्य महत्वपूर्ण लोकोत्तरवादियो मे है। लोकोत्तरवादियो मे से अनेक १८४८ की क्राति से प्रभावित हुए थे और उन्होने तरह-तरह की अराजकतावादी, समाजवादी या साम्यवादी योजनाओ का प्रयोग किया और स्त्रियो के लिये मताधिकार, मजदूरो की स्थिति में सुधार और वेशभूषा तथा खानपान मे सयम का आदोलन चलाया।

सुधार के इस युग मे अनेक लेखको ने दासो की मुक्ति के लिये भी आदोलन किया। इस सघर्ष का नेतृत्व विलियम एल० गैरिसन (१८०५-७९) ने किया। उसने दि लिबरेटर नामक साप्ताहिक निकाला जिसके प्रसिद्ध लेखको मे गद्यकार वेंडेल फिलिप्स (१८११-८४) और कवि जॉन ग्रीनलीफ ह्विटिएर (१८०७-९२) थे। ह्विटिएर की कविताएँ सरल किंतु पददलितो के लिये अपार करुणा और स्नेह से पूर्ण है। पोएम्स रिटेन ड्यूरिंग दि प्रोग्रेस ऑव् दि एवालिशन क्वेस्चन्, वॉयसेज ऑव् फ्रीडम, साग्ज् ऑव लेबर आदि उसके काव्यसग्रहो के नाम से ही उसकी काव्य-वस्तु का पता चल जाता है। उसकी कविता अन्याय के विरुद्ध अस्त्र है। वह ग्राम-कवि है और उसकी कविता की भाषा और छद पर भी ग्रामीण प्रभाव है। १९वी सदी की सबसे प्रसिद्ध नीग्रो कवयित्री फ्रासिस एलेन वाट्किंस हार्पर (१८२५-१९११) है, जिसकी कविताओ मे बैलडो की सरलता है।

दास-प्रथा-विरोधी आदोलन ने अमरीका के विश्वविख्यात उपन्यास अकिल टॉम्स केबिन (१८५२) की लेखिका हैरिएट बीचर स्टोवे (१८११-९६) को उत्पन्न किया। उसके उपन्यास मे विनोद, तीव्र अनुभूति और दारुण यथार्थ का दुर्लभ मिश्रण है।

इतिहास के क्षेत्र मे भी इस काल मे कुछ प्रसिद्ध लेखक हुए जिनमे प्रमुख जॉर्ज बैंक्रॉफ्ट, जॉन लोथ्रॉप मॉटले और फ्रासिस पार्कमैन है।

अमरीका के दो महान् उपन्यासकार, नथेनियल हायॉर्न (१८०४-६४) और हर्मन मेलविल (१८१९-९१) इसी युग की देन है। हायॉर्न की कथाओ का ढाँचा इतिहास और रोमास के समिश्रण से तैयार होता है, लेकिन उनकी आत्मा यथार्थवाद है। समाज और व्यक्ति के सघर्ष और उससे आविर्भूत अनेक नैतिक समस्याओ को सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि, कथा-रूपको और प्रतीको के सहारे प्रस्तुत करने में हायॉर्न अद्वितीय है। उसकी सबसे प्रसिद्ध रचना दि स्कारलेट लेटर (१८५०) इसका प्रमाण है।

मेलविल आकर्षक किंतु पापमय ससार में मानव के अनवरत किंतु दृढ सघर्ष का उपन्यासकार है। नाविक जीवन के व्यापक अनुभव के आधार पर उसने इस दार्शनिक दृष्टिकोण को अपने महान् उपन्यास मोबी डिक आर दि ह्वाइट ह्वेल में अहाब नामक नाविक और सफेद ह्वेल के रोमाचकारी सघर्ष मे व्यक्त किया। रूपक और प्रतीक, उद्दाम चरित, भाव और भाषा, विराट और रहस्यमय दृश्य, अतर्दृष्टि के तडित् आलोक मे जीवन का उद्घाटन—ये मेलविल के उपन्यासो और कथाओ की विशेषताएँ है।

इस काल मे डैनियल वेब्सटर, रेंडॉल्फ ऑव रोआनोक, हेनरी क्ले और जॉन सी० कैल्हाउन ने गद्य में वक्तृत्व शैली का विकास किया। वेब्स्टर ने दासप्रथा का विरोध किया। अतिम तीन दक्षिण मे प्रचलित दासप्रथा के समर्थक थे। प्रेसिडेंट अब्राहम लिंकन का स्थान इनमे सबसे ऊँचा है। फेयरवेल टु स्प्रिगफील्ड (१८६१), दि फर्स्ट इनागरल ऐड्रेस (१८६१), दि गेटिसबर्ग स्पीच (१८६३) और दि सेकड इनागरल ऐड्रेस (१८६५) भाषण मे उपयुक्त शब्दो, चित्रो और लयो के प्रयोग की अद्भुत क्षमता के परिचायक है। लिंकन के गद्य पर बाइबिल और शेक्सपियर की स्पष्ट छाप है।

गृहयुद्ध से १९१४ तक—गृहयुद्ध और उसके बाद का समय विज्ञान की उन्नति के साथ अमरीका मे नए उद्योगो और नगरो के उदय का है। १९वी सदी के अत तक जगलो के कट जाने के कारण देश की सीमा अतलातक मे प्रशात महासागर तक फैल गई। इस नई स्थिति में अपने व्यक्तित्व के प्रति सजग और आत्मविश्वास से भरे हुए आधुनिक अमरीका का उदय हुआ।

आत्मविश्वास का यह स्वर इस युग के अमरीकी हास्य साहित्य में मौजूद है। चार्ल्स फेरस्ब्राउन, डेविड रॉस लॉक, चार्ल्स हेनरी स्मिथ, हेनरी ह्वीलर शा और एडगर डब्ल्यू० नाई ने क्रमश आर्टेमस वार्ड, पेट्रोलियम वी (वेसूवियस) नैज्बी, बिल आर्प, जॉश बिलिंग्ज और बिल नाई के कल्पित नाम धारण कर अपनी समकालीन घटनाओ और समस्याओ पर जान बूझकर गँवारू, व्याकरण के दोषो से भरी हुई, रसभगपूर्ण और लातीनी या विद्वत्तापूर्ण सदर्भो से लदी भाषा मे विनोदपूर्ण विचारविमर्श किया। उन्होने साहित्य मे 'रजनकारी मूर्खो' के वेश में अमरीकी हास्य को विकसित किया।

कथासाहित्य मे स्थानीय वातावरण या आचलिकता का व्यापक ढग से इस्तेमाल हुआ। ऐसे कथाकारो मे, समय और स्थान दोनो ही दृष्टियो से, फ्रासिस ब्रेट हार्ट प्रथम है। उसने प्रशात महासागर के तटीय जीवन के चित्र अकित किए। दि लक ऑव रोरिंग कैंप ऐंड अदर स्केचेज् (१८७०) मे उसने कैलिफोर्निया के खदान मजदूरो के जीवन की विनोद और भावुकतापूर्ण झाँकी प्रस्तुत की। इसी तरह स्टोवे ने ओल्ड टाउन फोक्स (१८६९) और सैम लाउसन ओल्डटाउन फायरसाइड स्टोरीज (१८७१) में न्यू इग्लैंड के जीवन के मनोरजक चित्र अकित किए। एडवर्ड एगिल्स्टन का उपन्यास दि हूज़िएर स्कूल मास्टर (१८७१) इडियाना के प्रारंभिक दिनो के जीवन पर आधारित है। विलियम सिडनी पोर्टर (ओ' हेनरी १८६२-१९१०) ऐसी कथाओ के लिये प्रसिद्ध है। अतीत इतिहास में स्थित किंतु यथार्थ से प्रेरित इन कथाओ मे भावुकता, विनोद, चित्रात्मकता और विलक्षणता की प्रधानता है। ऐसी कथाओ के रचनाकारो में जॉर्ज वाशिंगटन केबिल, टॉमस नेल्सन पेज, जोएल चैंडलर हैरिस, मेरी नोआइलिस मार्फी, सारा ओर्न जिवेट, हैनरी काइलर और मेरी विल्किन्स फ्रीमैन भी महत्वपूर्ण हैं।

इन कथाकारो से अमरीका के महान् साहित्यकार सैमुएल लैंघार्न क्लेमेंस (मार्क ट्वेन १८३५-१९१०) का निकट का सबध है। मार्क ट्वेन के अनेक उपन्यासो पर उसके भ्रमणशील जीवन का असदिग्ध प्रभाव है। दि ऐडवेंचर्स ऑव टॉम सायर (१८७६), लाइफ आन दि मिसिसिपी (१८८३) और दि ऐडवेंचर्स ऑव हक्लबेरी फिन (१८८४) मार्क ट्वेन के व्यापक अनुभव, चरित्रो के निर्माण की उसकी अद्वितीय प्रतिभा और काव्यमय किंतु पौरुषेय शैली की क्षमता के प्रमाण है। व्यग्य और भाड के निर्माण मे भी कम ही लेखक उसके समतुल्य है।

विलियम डीन हॉवेल्स ने जीवन के साधारण पक्षो के यथार्थ चित्रण पर जोर दिया। उसके समक्ष कला से अधिक महत्व मानवता का था। स्वाभाविक चित्रण पर जोर देनेवालो मे ई० डब्ल्यू० होवे, जोजेफ कर्कलैंड और जॉन विलियम दि फारेस्ट भी उल्लेखनीय हैं। हैमलिन गारलेंड ने किसानो के जीवन और यौन सबधो के कटु यथार्थ को चित्रित किया।

अमरीका की यथार्थवादी परपरा के महान् लेखको मे थियोडोर ड्रेज़र (१८७१-१९४५) का निर्विवाद स्थान है। ड्रेज़र ने साहस के साथ अमरीका के पूँजीवादी समाज की क्रूरता और पतनशीलता का नग्न चित्र प्रस्तुत किया, जिससे कुछ लोग उसे अश्लील भी कहते है। किंतु सिस्टर कैरी, जेनी गरहार्डट, दि फाइनेंसियर, दि टाइटन और ऐन अमेरिकन ट्रेजेडी जैसे उसके प्रसिद्ध उपन्यासो से स्पष्ट है कि जीवन के कटु यथार्थ के तीव्र बोध के बावजूद मूलत वह सुदर जीवन और मानवीय नैतिकता की तृषा से आकुल है।

फ्रैंक नॉरिस और स्टीफेन क्रेन (१८७०-१९००) प्रभाववादी कथाकार है। उनमे चमत्कारिक भाषा की असाधारण क्षमता है। हैरल्ड फ्रेडरिक (१८५६-१८९८) मे व्यग्यपूर्ण चरित्रचित्रण की असाधारण क्षमता है।

हेनरी जेम्स (१८४३-१९१६) चरित्रो के सूक्ष्म और यथार्थ मनोवैज्ञानिक अध्ययन के साथ साथ कला के प्रति जागरूकता के लिये प्रसिद्ध

बनने लगता है। हाइमन, मास्ट आदि के अनुसार कूटपादो का निर्माण कोशारस मे कुछ भौतिक परिवर्तनो के कारण होता है। शरीर के पिछले भाग मे कोशारस गाढे गोद की अवस्था (जेल स्थिति) से तरल स्थिति मे परिवर्तित होता है और इसके विपरीत अगले भाग मे तरल स्थिति से जेल स्थिति मे। अधिक गाढा होने के कारण आगे बननेवाला जेल कोशिकारस को अपनी ओर खीचता है।

अमीबा जीवित प्राणियो की तरह अपना भोजन ग्रहण करता है। वह हर प्रकार के कार्बनिक कणो—जीवित अथवा निर्जीव—का भक्षण करता है। इन भोजन-कणो को वह कई कूटपादो से घेर लेता है, फिर कूटपादो के एक दूसरे से मिल जाने से भोजन का कण कुछ तरल के साथ अन्नधानी के रूप मे कोशारस मे पहुँच जाता है। कोशारस से अन्नधानी मे पहले आम्ल, फिर क्षारीय पाचक यूषो का स्राव होता है, जिससे प्रोटीन तो निश्चय ही पच जाते है। कुछ लोगो के अनुसार मड (स्टार्च) तथा वसा का पाचन भी कुछ जातियो मे होता है। पाचन के बाद पचित भोजन
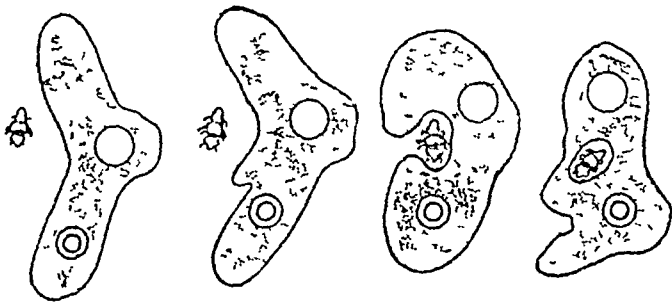
अमीबा का आहारग्रहण

इस चित्र मे दिखाया गया है कि अमीबा आहार कैसे ग्रहण करता है। सब से बाएँ चित्र मे अमीबा आहार के पास पहुँच गया है। बाद के चित्रो मे उसे घेरता हुआ और अतिम चित्र मे अपने भीतर लेकर पचाता हुआ दिखाया गया है।

का शोषण हो जाता है और अपाच्य भाग चलनक्रिया के बीच क्रमश शरीर के पिछले भाग मे पहुँचता है और फिर उसका परित्याग हो जाता है। परित्याग के लिये कोई विशेष अग नही होता।

श्वसन तथा उत्सर्जन (मलत्याग) की क्रियाएँ अमीबा के बाह्य तल पर प्राय सभी स्थानो पर होती हैं। इनके लिये विशेष अगो की आवश्यकता इसलिये नही होती कि शरीर बहुत सूक्ष्म और पानी से घिरा होता है।

कोशिकारस की रसाकर्षण दाब (ऑसमोटिक प्रेशर) बाहर के जल की अपेक्षा अधिक होने के कारण जल बराबर कोशाकला को पार करता हुआ कोशारस मे जमा होता हे। इसके फलस्वरूप शरीर फूलकर अत मे फट जा सकता है। अत जल का यह आधिक्य एक दो छोटी धानियो मे एकत्र होता है। यह धानी धीरे धीरे बढती जाती है तथा एक सीमा तक बढ जाने पर फट जाती है और सारा जल निकल जाता है। इसीलिये इसको सकोची धानी कहते है। इस प्रकार अमीबा मे रसाकर्षण नियत्रण होता है।

प्रजनन के पहले अमीबा गोलाकार हो जाता है, इसका केंद्रक दो केद्रको मे बँट जाता है और फिर जीवरस भी बीच से खिचकर बँट जाता है। इस प्रकार एक अमीबा से विभाजन द्वारा दो छोटे अमीबे बन जाते हैं। सपूर्ण क्रिया एक घटे से कम मे ही पूर्ण हो जाती है।

प्रतिकूल ऋतु आने के पहले अमीबा अन्नधानियो और सकोची धानी का परित्याग कर देता है और उसके चारो ओर एक कठिन पुटी (सिस्ट) का आवेष्टन तैयार हो जाता है जिसके भीतर वह गरमी या सर्दी मे सुरक्षित रहता है। पानी सूख जाने पर भी पुटी के भीतर का अमीबा जीवित बना रहता है। हाँ, इस बीच उसकी सभी जीवनक्रियाएँ लगभग नही के बराबर रहती है। इस स्थिति को बहुधा स्थगित प्राणिक्रम कहते हैं। उबलता पानी डालने पर भी पुटी के भीतर का अमीबा मरता नही। बहुधा पुटी के भीतर अनुकूल ऋतु आने पर कोशारस तथा केंद्रक का विभाजन हो जाता है और जब पुटी नष्ट होती है तो उसमे से दो या चार नन्हे अमीबे निकलते हैं।

मनुष्य की अँतडी मे छ प्रकार के अमीबे रह सकते है। उनमे से एक के कारण प्रवाहिका (पेचिश) उत्पन्न होती है जिसे अमीबाजन्य प्रवाहिका कहते हैं। यह अमीबा अँतडी के ऊपरी स्तर को छेदकर भीतर घुस जाता है। इस प्रकार अँतडी मे घाव हो जाते हैं। कभी कभी ये अमीबे यकृत (लिवर) तक पहुँच जाते है और वहाँ घाव कर देते है।

[उ० श० श्री०]

अमीर खुसरो फारसी का श्रेष्ठतम भारतीय कवि जो उत्तरप्रदेश के एटा जिले के पटियाली नामक स्थान मे १२५३ ई० मे उत्पन्न हुआ था। इसका पिता सैफुद्दीन महमूद लाची तुर्को के सरदारो मे से था और अल्तमश के शासनकाल मे भारत आकर बस गया था। इसकी माता इमादुल मुल्क (राज्यस्वामी) की कन्या थी। अमीर खुसरो की केवल १० वर्ष की अवस्था मे ही सैफुद्दीन का देहात हो गया इससे इसके नाना ने इसका पालन पोषण किया। बाल्यकाल मे ही अमीर खुसरो शेख निज़ामुद्दीन औलिया का शिष्य हो गया और उनके प्रति उसने महान् प्रेम और आदर बढाया। अत्यत प्रारभिक अवस्था मे ही उसने काव्यरचना आरभ की। बलबन के शासनकाल मे वह श्रेष्ठ कुलीनो और शाही परिवार के सदस्यो—अलाउद्दीन किशलू खाँ, बुगरा खाँ, बादशाह मुहम्मद तथा मलिक अली सरजदर हातिम खाँ—के सपर्क मे आया। कैकुबाद दिल्ली का पहला सुल्तान था जिसने उसे अपने दरबार मे आमत्रित किया और प्रधान दरबारियो मे उसे समिलित कर लिया। उसी समय से जीवन भर वह सुल्तान की सेवा मे रहा। १३२४ मे वह गयासुद्दीन तुगलक के साथ बगाल की चढाई पर गया। जब वह लखनौती मे ठहरा था उसी समय उसके आध्यात्मिक गुरु शेख निजामुद्दीन औलिया दिल्ली मे चल बसे। इससे खुसरो को मार्मिक शोक हुआ। अपने गुरु की मृत्यु के छ महीने पश्चात् १३२५ मे दिल्ली मे खुसरो ने भी आखिरी साँस ली। वह शेख निजामुद्दीन औलिया के मकबरे के पैताने दफनाया गया।

अमीर खुसरो बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति था। वह कवि, भाषाशास्त्री, गायक, विद्वान्, दरबारी और रहस्यवादी, सभी कुछ था। वस्तुत वह मध्यकालीन सस्कृति का विशिष्ट प्रतिनिधि था। कवि की हैसियत से वह फारसी कविता की महती प्रतिभाओ—फिरदौसी, सादी, अनवरी, हाफिज, उर्फी आदि की कोटि मे था। उसने हिंदी मे एक 'दीवान' भी रचा था। (दुर्भाग्यवश अमीर खुसरो की हिदी रचनाओ का कोई प्रामाणिक सस्करण उपलब्ध नही)। इसके अतिरिक्त खुसरो सगीत मे भी अत्यधिक रुचि रखता था और इस कला को उसने अपनी महत्वपूर्ण देनो से अलकृत किया।

भारत के लिये खुसरो के मन मे अगाध प्रेम था और उसकी सश्लिष्ट सस्कृति का महान् प्रशसक था। अपने नूह सिपेहत मे उसने ज्ञान और विद्या के क्षेत्र मे अन्य सभी देशो के ऊपर भारत की महत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया।

अमीर खुसरो की निम्नाकित कृतियाँ उपलब्ध हैं

(१) पाँच दीवान (क) तुहफातुस सिगार (किशोरावस्था की रची हुई कविताएँ), (ख) वस्तुल हयात (मध्य जीवन की कविताएँ), (ग) गुर्रतुल कमाल (परिपक्वावस्था की कविताएँ), (घ) बकिया-नकिया, (ड) निहायततुल कमाल।

(२) पाँच मसनवियाँ (क) मतलाउल अनवर, (ख) शिरिन-उ खुसरो, (ग) ऐनाई सिकदरी, (घ) हश्त-बहिश्त, (ड) मजनूनुल लैला।

(३) तीन गद्य कृतियाँ (क) खाजा इन-उल फुतूह (अलाउद्दीन खिलजी के युद्धो का विवरण), (ख) अफजलुल फवाइद (शेख निजामुद्दीन औलिया की उक्तियो का सकलन, (ग) इजाजी (खुसरवी ललित गद्य के नमूने)।

(४) पाँच ऐतिहासिक कविताएँ (क) किरानुस-सादेइन कैकुबाद के उसके पिता बुगरा खाँ से मिलने पर, (ख) मिफताहुल फुतूह (जलालुद्दीन खिलजी के सैन्य सचालनों का विवरण), (ग) दुवाल रानी खिज्र खाँ और

ताओं से टकराकर टूटते हुए स्वप्नों का बोध, पूंजीवादी समाज और उसकी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक मान्यताओं से विद्रोह और नई सामाजिक व्यवस्था और जीवन के नए मूल्यों की खोज।

इस विद्रोह में कथाकारों ने फ्रायड के मनोविज्ञान और मार्क्स के दर्शन का सहारा लिया। जेम्स ब्राच कैबेल ने जर्गेन (१९१९) में फ्रायडवादी प्रतीकों के माध्यम से अमरीकी समाज और यौन संबंधी उसके रूढिगत दृष्टिकोण की आलोचना की। जोना गेल (१८७४-१९३८) और रूथ सच्चो (१८९२–) ने गाँवों के जीवन पर से रोमानी आवरण हटा दिया। गाँवों के संकुचित जीवन और कुंठित यौन संबंधों का सबसे बड़ा चित्रकार शेरवुड ऐंडर्सन है।

यथार्थवाद को प्रबल बनाने में ड्रेज़र के अतिरिक्त एफ० स्काट फिट्-जेराल्ड और सिंक्लेयर लिविस का बहुत बड़ा हाथ था। फिट्जेराल्ड के दिस साइड ऑव पराडाइज (१९२०) और दि ग्रेट गैट्स्बी (१९२५) में अमरीका के भग्न स्वप्नों और नैतिक ह्रास का चित्र है। लिविस ने मेन स्ट्रीट (१९२०) में गाँवों, बैबिट (१९२२) में व्यवसाय, ऐरोस्मिथ (१९२५) में पूंजीवादी विज्ञान, एल्मर गैंट्री (१९२७) में धर्म, इट काट हैपेन हियर (१९३५) में फासिज्म की प्रवृत्तियों और किंग्ज़ब्लड रॉयल (१९४७) में नीग्रो जाति के प्रति अन्याय के चित्र प्रस्तुत कर अमरीकी समाज में व्यापक ह्रास के लक्षण दिखलाए। लेकिन इनमें लिविस का स्वर पराजय का नहीं बल्कि समाजवाद की स्थापना द्वारा समस्याओं पर अंतिम विजय का था। जेम्स टी० फेरेल ने तीन खंडों में लिखे गए उपन्यास स्टड्स लाजियन (१९३२-३५) में सामाजिक विषमताओं को चित्रित किया। रिचर्ड राइट के उपन्यासों में नीग्रो जाति के जीवन का चित्र है। अलबर्ट हाल्पर मजदूरों के संघर्षों का उपन्यासकार है। जे० पी० मारक्वां ने न्यू इंग्लैंड के संभ्रांत परिवारों पर व्यंग्य और कटाक्ष किया। एच० एल० मेंकेन ने प्रेजुडीसेज (१९१९-२७) में सामाजिक अंधविश्वासों और अन्यायों पर आक्रमण किया। राबर्ट पेन वारेन ने आल दि किंग्ज मेन में व्यंग्य और आक्रोश के साथ फासिज्म को विक्कारा। जॉन डॉस पसॉस की ख्याति युद्धविरोधी उपन्यास थ्री सोल्जर्स से हुई और दूसरे युद्ध तक उसने मनहटन ट्रांसफर और फॉर्टी-सेकंड पैरेलेल, १९१९ और दि बिग मनी नामक तीन खंडों के उपन्यास में आधुनिक अमरीकी समाज की कटु आलोचना की।

अर्नेस्ट हेमिंग्वे (१८९८–), विलियम फॉकनर (१८९८–) और जान स्टाइनबेक (१९०२–) की गणना आधुनिक काल के तीन बड़े उपन्यासकारों में है। इन्होंने निराशा से प्रारंभ किया, लेकिन बाद में आस्था की ओर लौटे। स्पेन के गृहयुद्ध ने हेमिंग्वे को जनता की शक्ति का बोध कराया और उसके दो प्रसिद्ध उपन्यास टु हैव ऐंड हैव नॉट (१९३७) और फॉर हूम दि बेल टॉल्स (१९४०) इसी विश्वास की उपज हैं। हेमिंग्वे बुल-फाइट में प्रदर्शित मानव के अपार पराक्रम और उसमें मनुष्य या पशु के अनिवार्य अंत से उत्पन्न करुणा का कथाकार भी है। हेमिंग्वे की शैली में बाइबिल से मिलती जुलती सरलता, स्नायविकता और माधुर्य है।

फॉकनर 'चेतना-की-अंतर्धारा' शैली का उपन्यासकार है। उसके उपन्यासों में दासप्रथा के गढ दक्षिण के सामाजिक और सांस्कृतिक क्षय के चित्र हैं। दक्षिण के जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरणों के ज्ञान के कारण वह अमरीका का सबसे बड़ा आंचलिक उपन्यासकार माना जाता है। उसके उपन्यासों में दीक्षागम्यता की प्रवृत्ति भी है। स्टाइनबेक ने ऐतिहासिक उपन्यासों में समाजविरोधी और अराजकतावादी दृष्टिकोण से प्रारंभ किया। बाद में उसने मार्क्सवादी दर्शन अपनाया और इस प्रभाव के युग में लिखे गए उसके दो उपन्यास इन डुबियस बैटिल (१९३६) और दि ग्रेप्स ऑव राथ अत्यंत प्रसिद्ध हैं।

चरित्रों के रागात्मक पक्ष, प्रतीकों और वाक्यरचना में लय पर बल देनेवाले उपन्यासकारों में विला केदर, कैथरीन ऐनी पोर्टर और टॉमस वुल्फ का प्रमुख स्थान है। नए प्रयोगों से प्रभावित किंतु मुख्यत उपन्यास के परंपरागत रूप को सुरक्षित रखनेवाले उपन्यासकारों में तीन महिलाएँ उल्लेखनीय हैं—एडिथ व्हार्टन, एलेन ग्लास्गो और पर्ल एस० बक। मार्क्सवादी या अमरीका की स्वस्थ जनतांत्रिक परंपरा के प्रति सचेत समकालीन उपन्यासकारों में इरा वुल्फर्ट, मेलर, हेनरी राय, डब्ल्यू० ई० बी० डुबॉय, जान सैफर्ड, बार्बरा गाइल्स, हॉवर्ड फास्ट, रिंग लार्डनर जूनियर, डाल्टन ट्रंबो, फिलिप बोनोस्की, लॉयड एल० ब्राउन, वी० जे० जेरोम और बेन फील्ड ने भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। गद्य शैली की मौलिकता की दृष्टि से गर्ट्रूड स्टीन अमरीका का अद्वितीय लेखक है।

२०वीं सदी का पूर्वार्ध आलोचना साहित्य में अत्यंत समृद्ध है। इसका प्रारंभ 'मानवतावादी' इर्विंग बैबिट और उसके सहयोगियों, पाल एलमर मोर, नार्मन फारेस्टर और स्टुअर्ट शेरमन द्वारा मानव में आस्था के नाम पर यथार्थवाद के विरोध के रूप में हुआ। दूसरी ओर एच० एल० मेंकेन ने यथार्थवाद का समर्थन किया। साहित्य में स्वस्थ सामाजिक दृष्टिकोण पर जोर देनेवाले आलोचकों में वानविक ब्रुक और वी० एल० पैरिंगटन का बहुत ऊँचा स्थान है।

आलोचना में मार्क्सवादी दृष्टिकोण का सूत्रपात करनेवालों में वी० एफ० कैलवर्टन, ग्रैनविल हिक्स और माइक गोल्ड थे। इसका पुट एडमंड विल्सन, केनेथ बर्क, और जेम्स टी० फेरेल की आलोचनाओं में भी है। आज भी अनेक आलोचक इस दृष्टिकोण से लिखते हैं और उनमें प्रमुख सिडनी फिंकेलस्टीन, सैमुएल सिलेन, लूई हैरप, फिलिप बोनोस्की, अलबर्ट माल्ट्ज़, वी० जे० जेरोम, चार्ल्स हम्बोल्ड्ट और हर्बर्ट ऐप्थेकर हैं।

मार्टन डी० ज़ैबेल, एज़रा पाउंड, हुल्म, आई० ए० रिचर्ड्स और टी० एस० इलियट की आलोचनाओं ने अमरीका की 'नई आलोचना' को जन्म दिया है। 'नई आलोचना' मुख्यत रूपवादी आलोचना है जो वस्तु और दृष्टिकोण के स्थान पर रचना की प्रक्रियाओं पर जोर देती है। इसके प्रधान प्रचारकों में दक्षिण के रूढिवादी साहित्यकार और आलोचक आर० पी० ब्लैकमूर, अलेन टेट, जान क्रोवे रैंसम, क्लिथ ब्रुक्स और राबर्ट पेन वैरेन हैं।

नग्न यौन चित्रण और पाशविक प्रवृत्तियों के जोर पकडने से दूसरे महायुद्ध के बाद अमरीकी साहित्य का संकट बहुत गहरा हुआ है। लिविस, डास पैसॉस, स्टाइन बेक, सैंडवर्ग, हिक्स, हॉवर्ड फास्ट आदि अनेक लेखकों ने समाजवादी देवता के कूच कर जाने की बात कही है। लेकिन समाजवाद के साथ साथ अमरीकी साहित्य और संस्कृति की महान् जनवादी परंपराओं का विसर्जन आधुनिक अमरीकी साहित्य के विकास में बाधक है।

सं०ग्रं०—ब्लेयर तथा अन्य दि लिटरेचर ऑव यूनाइटेड स्टेट्स, आर० ई० स्पिलर तथा अन्य लिटरेरी हिस्ट्री ऑव दि यूनाइटेड स्टेट्स, कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव अमेरिकन लिटरेचर, डब्ल्यू० एफ० टेलर ए० हिस्ट्री ऑव अमेरिकन लेटर्स, एस० टी० विलियम्स तथा एन० एफ० ऐडकिंस कोर्सेज ऑव रीडिंग इन अमेरिकन लिटरेचर, वी० एल० पैरिंगटन मेन करेंट्स इन अमेरिकन थाट, एफ० ओ० मैथिसन अमेरिकन रेनैसाँ। [च० व० सिं०]

अमरुक संस्कृत के प्रख्यात गीतिकार कवि। उनकी कविता जितनी विख्यात है, उनका व्यक्तित्व उतना ही अप्रसिद्ध है। उनके देश और काल का अभी तक ठीक निर्णय नहीं हो पाया है। रविचंद्र ने 'अमरुशतक' की अपनी टीका के उपोद्घात में आद्य शंकराचार्य को अमरुक से अभिन्न व्यक्ति माना है, परंतु यह किंवदंती नितांत निराधार है। आद्य शंकराचार्य के द्वारा किसी 'अमरुक' नामक राजा के मृत शरीर में प्रवेश तथा कामतंत्र विषयक किसी ग्रंथ की रचना का उल्लेख शंकर-दिग्विजय में अवश्य किया गया है, परंतु विषय की भिन्नता के कारण 'अमरुशतक' को शंकराचार्य की रचना मानना नितांत भ्रांत है। आनंद-वर्धन (९वीं सदी का मध्यकाल) ने अमरुक के मुक्तकों की चमत्कृति तथा प्रसिद्धि का उल्लेख किया है (ध्वन्यालोक का तृतीय उद्योत)। इससे इनका समय ९वीं सदी के पहले ही सिद्ध होता है। [ब० उ०]

अमरुशतक यह महाकवि अमरुक (या अमरु) के पद्यों का संग्रह है। नाम से यह शतक है, परंतु इसके पद्यों की संख्या एक सौ से कहीं अधिक है। सूक्तिसंग्रहों में अमरुक के नाम से निर्दिष्ट पद्यों को मिलाकर समस्त श्लोकों की संख्या १६३ है। इस शतक की प्रसिद्धि का कुछ परिचय इसकी विपुल टीकाओं से लग सकता है। इसके ऊपर दस व्याख्याओं की रचना विभिन्न शताब्दियों में की गई जिनमें अर्जुन वर्मदेव
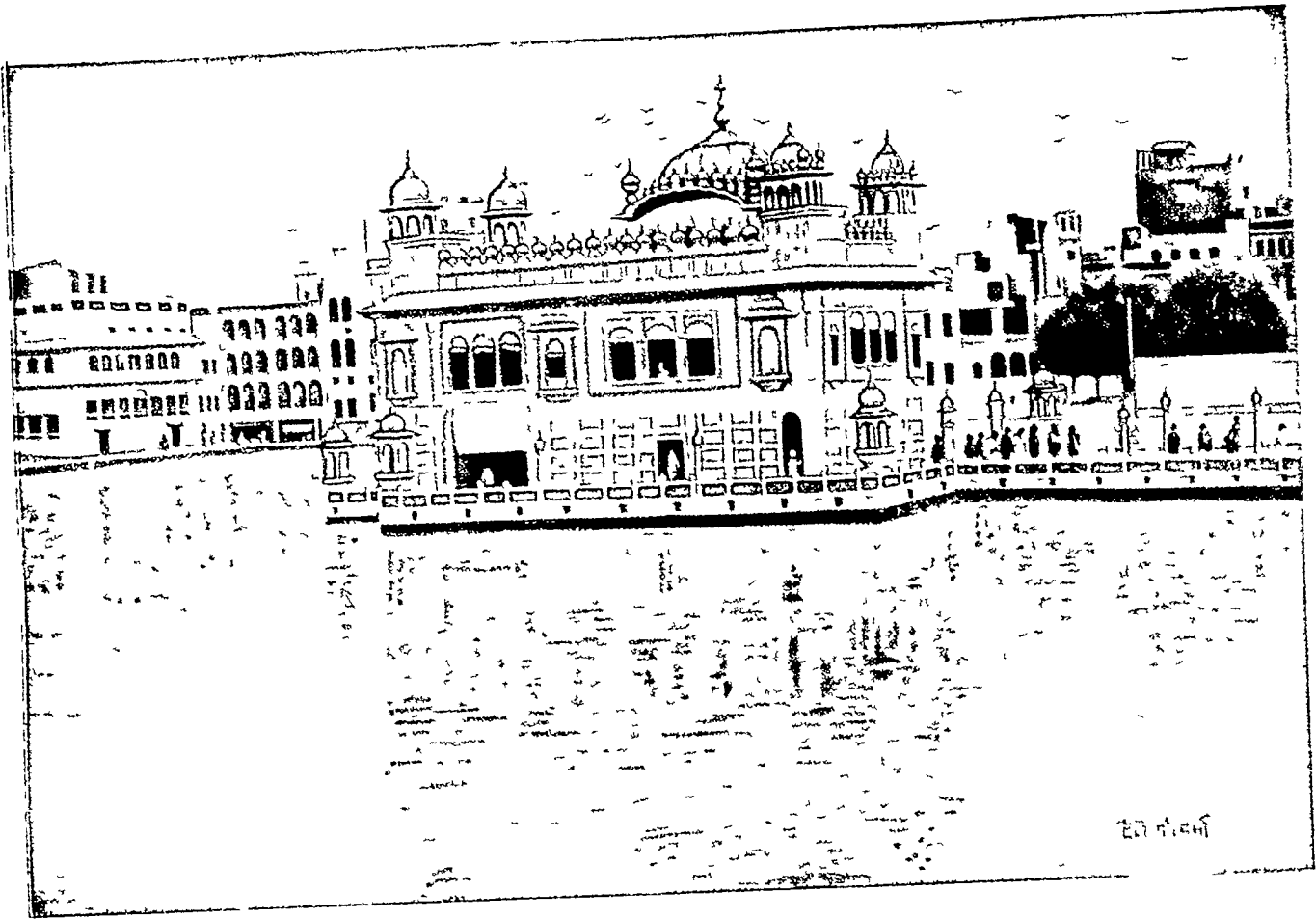
अमृतसर का स्वर्णमंदिर
यह सिक्खो का गुरुद्वारा है (देखे पृष्ठ २००)
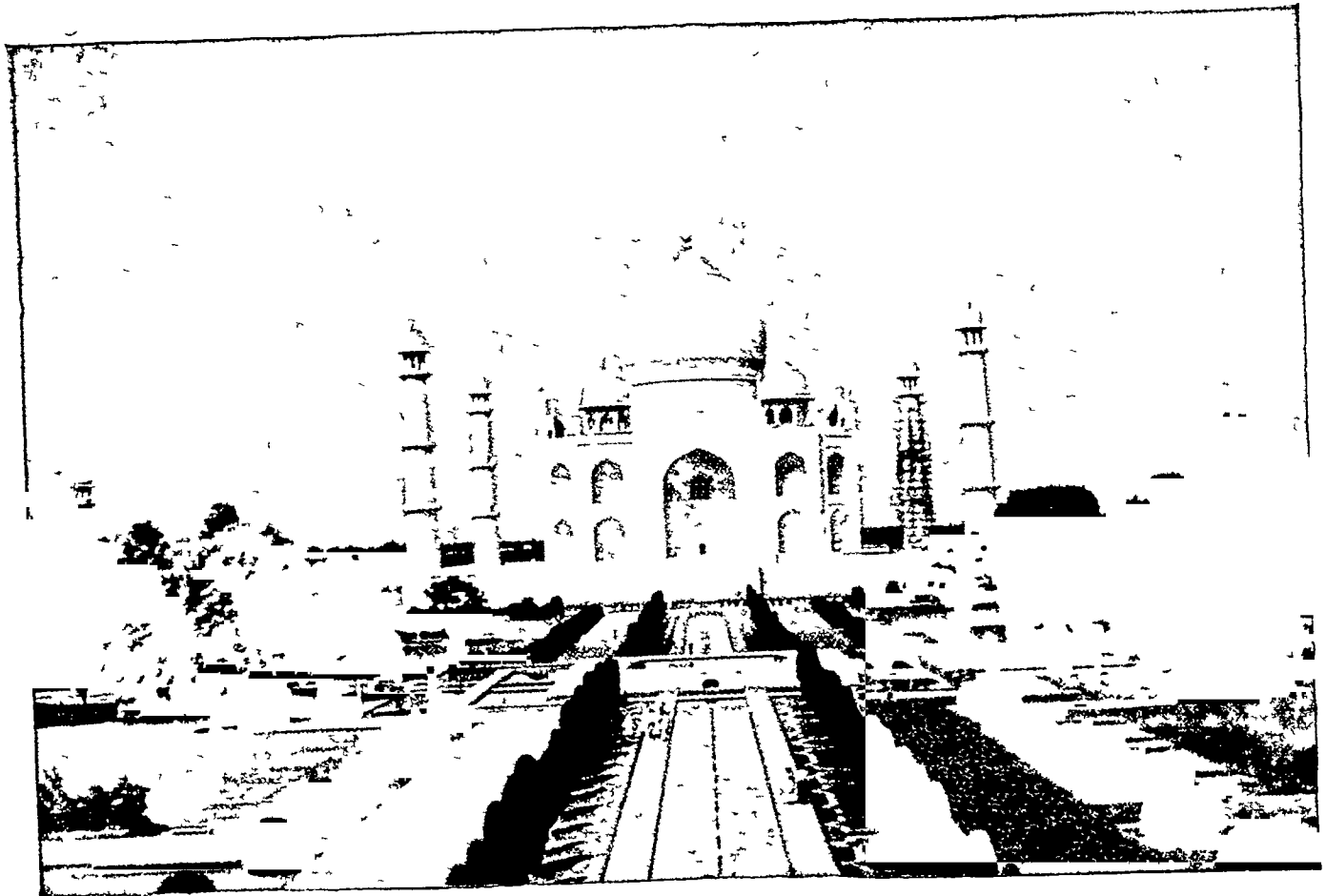
आगरे का विश्वप्रसिद्ध ताजमहल
(देखे पृष्ठ २३५)

होता है। यह नगर काठिआवाड की कपास तथा बिनौले की बडी मडियो में से एक है। यहाँ बिनौले निकालने के कारखाने, बिनौले के तेल की मिलें तथा इजीनियरिंग के छोटे मोटे सामान बनाने के कारखाने हैं। १९०१ ई० में इसकी जनसख्या १७,९७७ थी जो १९५१ ई० में बढकर २७,८२९ हो गई। यह जिले का प्रमुख प्रशासनिक एव शैक्षिक केंद्र है। [का० ना० सिं०]

अमरोहा भारतवर्ष के सयुक्त प्रात की एक तहसील तथा पुराना नगर है। यह तहसील तथा नगर मुरादाबाद जिले के अतर्गत है। अमरोहा तहसील समतल मैदान है। इसमें से तीन छोटी छोटी नदियाँ बहती हैं। पूर्वी सीमा पर रामगगा है।

अमरोहा नगर मुरादाबाद के उत्तर-पश्चिम मे लगभग २३ मील की दूरी पर और बान नदी के दक्षिण-पश्चिम मे लगभग ४ मील पर है। यह अक्षाश २८° ४५′ ४०″ उ० तथा देशातर ७८° ३१′ ५″ पू० पर स्थित है। यहाँ नगरपालिका है। १९५१ की जनगणना मे इसकी आबादी ५९,१०५ थी। भारतविभाजन के बाद यहाँ से काफी मुसलमान पाकिस्तान चले गए। नगर का वर्तमान क्षेत्रफल लगभग ३९७ एकड है।

अमरोहा नगर की स्थापना आज से लगभग ३,००० वर्ष पूर्व हस्तिनापुर के राजा अमरोहा ने की थी और उन्ही के नाम पर सभवत इस नगर का नाम भी अमरोहा पडा। कुछ औरो के विचार से पृथ्वीराज की भगिनी अबीरानी के नाम पर ऐसा नाम पडा। हिंदुओ के बाद अमरोहा मुसलमानो के हाथ में गया और तब से मुसलमानो के इतिहास में इसका उल्लेख बराबर मिलता है। अलाउद्दीन (१२९५-१३१५ ई०) के समय में चगेज खाँ ने इसपर आक्रमण किया था।

ऐतिहासिक अवशेषो की दृष्टि से अमरोहा मुरादाबाद जिले में सर्वप्रथम है। यहाँ १०० से भी अधिक मस्जिदे तथा लगभग ४० मदिर है। पुराने जमाने के हिंदू राजाओ के बनवाए हुए कुएँ, तालाब, सेतु, किले आदि के अवशेष अभी भी दिखाई पडते हैं। नगर मे यत्रतत्र मुसलमानी जमाने की बडी बडी इमारते ध्वसोन्मुख अवस्था मे खडी दिखाई देती हैं।

अमरोहा मुसलमानो का तीर्थस्थान है। शेख सद्दू की मसजिद यहाँ की सबसे पुरानी इमारत है जो कभी हिंदुओ का मदिर थी। आज की मस्जिद की दीवारो पर कही कही हिंदू कला दिखाई देती है। हिंदू से मुस्लिम कला में परिवर्तन १२८६ से १२८८ के बीच कैकोबाद की राजसत्ता में हुआ। शेख सद्दू की अलौकिक शक्ति के बारे मे कई किंवदतियाँ है, जिनपर विश्वास रखनेवाले लोग रोगो से छुटकारा पाने के लिये यहाँ आते हैं। वर्तमान समय की बनी शाह बालियत की दर्गाह भी मशहूर है जो उस फकीर की कब्र पर बनी है। इस दर्गाह पर हिंदू-मुसलमान दोनो धर्मावलबियो की श्रद्धा है और प्रति वर्ष लाखो यात्री इसका दर्शन करने के लिये दूर दूर से आते है। इसके अतिरिक्त और कई फकीरो की दर्गाहें भी यहाँ हैं।

अमरोहा के निजी उद्योगो मे चीनी मिट्टी के बर्तन का निर्माण बहुत ही प्रसिद्ध है। गृह-उद्योग प्रतियोगिता में बने कप, प्लेट, फूलदानी, खाने की थाली इत्यादि कई बार राज्य सरकार द्वारा पुरस्कृत हुई है। इनके अतिरिक्त लकडी के छोटे मोटे काम तथा कपडा बुनने का उद्योग भी यहाँ विकसित है। यहाँ साल में दो बडे मेले लगते है। [वि० मु०]

अमलतास को सस्कृत मे व्याधिघात, नृपद्रुम इत्यादि, गुजराती में गरमाष्ठो, बँगला में सोनालू तथा लैटिन में कैसिया फिस्चुला कहते हैं। शब्दसागर के अनुसार हिंदी शब्द अमलतास सस्कृत अम्ल (खट्टा) से निकला है।

भारत में इसके वृक्ष प्राय सब प्रदेशो में मिलते है। तने की परिधि तीन से पाँच फुट तक होती है, किंतु वृक्ष बहुत ऊँचे नही होते। शीतकाल में इसमें लगनेवाली, हाथ सवा हाथ लबी, बेलनाकार काले रग की फलियाँ पकती हैं। इन फलियो के अदर कई कक्ष होते हैं जिनमें काला, लसदार पदार्थ भरा रहता है। वृक्ष की शाखाओ को छीलने से उनमें से भी लाल रस निकलता है जो जमकर गोंद के समान हो जाता है। फलियो से मधुर, गधयुक्त, पीले कलछौंवे रग का उडनशील तेल मिलता है।

गुण—आयुर्वेद में इस वृक्ष के सब भाग ओषधि के काम मे आते हैं। कहा गया है कि इसके पत्ते मल को ढीला और कफ को दूर करते हैं। फूल कफ और पित्त को नष्ट करते है फली और उसमें का गूदा पित्तनिवारक,

अमलतास

१. पत्तियाँ तथा फूल, २ पत्ती, ३ बीज, ४ फली, ५ फली के भीतर के खाने तथा बीज।

कफनाशक, विरेचक तथा वातनाशक हैं। फली के गूदे का आमाशय के ऊपर मृदु प्रभाव ही होता है, इसलिये दुर्बल मनुष्यो तथा गर्भवती स्त्रियो को भी विरेचक ओषधि के रूप में यह दिया जा सकता है। [भ० दा० व०]

अमलनेर बबई राज्य के पूर्वी खानदेश जिले में ताप्ती की सहायक बोरी नदी के बाएँ तट पर स्थित इसी नाम के तालुके का प्रमुख नगर है (स्थिति २१°२′ उ० अक्षाश, ७५°४′ पू० देशातर)। यह ताप्ती-घाटी-रेलवे एव जलगाँव-अमलनेर-रेलवे लाइनो का जकशन होने के कारण शीघ्रता से उन्नति कर गया है। यह गल्ले का प्रमुख बाजार तथा जिले की कपास की सबसे बडी मडी है। यहाँ बिनौले निकालने के दो कारखाने, एक सूती कपडे की मिल तथा दो प्रमुख छापेखाने है। यहाँ एक स्नातकोत्तर महाविद्यालय भी है। १९०१ ई० में इसकी जनसख्या १०,२९४ थी, जो १९५१ ई० में बढकर ४४,९४६ हो गई। इस नगर में ४०% से अधिक लोग उद्योग धधो में लगे है। नगर का प्रशासन नगरपालिका द्वारा होता है। [का० ना० सिं०]

अमलसुंथा आस्त्रोगाथो की रानी जो उनके राजा थियोदोरिक की बेटी थी और यूथारिक से व्याही थी। उसके विवाह के कुछ ही काल बाद उसके पति का देहात हो गया। पिता के मरने पर अमलसुथा ने अपने पुत्र की अभिभाविका के रूप मे रावेना मे राज करना शुरू किया। ५३४ ई० में उसका पुत्र मर गया और वह आस्त्रोगाथो की रानी बनी। अनेक उच्चपदीय और सभ्रात आस्त्रोगाथो को उसे उनके षड्यत्र के लिये दडित करना पडा था। अत में उसके चाचा ने उनसे मिलकर उसे बोलसेना झील के एक द्वीप में कैद कर दिया जहाँ उसकी ५३५ ई० में हत्या कर दी गई। [भ० श० उ०]

अमलापुरम् आध्र प्रदेश के पूर्वी गोदावरी जिले में सेंट्रल डेल्टा सिस्टम की प्रमुख नहर पर, राजमुद्री से ३८ मील दक्षिण-पूर्व स्थित, इसी नाम के तालुके का प्रमुख केंद्र है (स्थिति १६°३४′ उत्तर अक्षाश, ८२°१′ पूर्वी देशातर)। किंवदतियो के अनुसार यह नगरी पाडवो के श्वशुर पाचालनरेश की राजधानी थी। सीमात पर स्थित होने के कारण इसका दूसरा नाम कोणसीमा भी

स्कीरा से राज्य करती थी। आनुश्रुतिक विश्वास के अनुसार इन योद्धाओ ने इस्कीदिया, थ्रेस, लघु एशिया और ईजियन सागर के अनेक द्वीपो पर हमले किए थे और एक समय तो उनकी सेनाएँ अरब, सीरिया और मिस्र तक पहुँच गई थी। उनके देश में मर्द को बसने का अधिकार न था, परतु वे अपनी अद्भुत जाति को लुप्त होने से बचाने के लिये अपनी पडोसी जाति के पुरुषो मे जाकर कुछ दिन रह आती थी। इस सबध से जो पुत्र होते थे वे या तो मार डाले जाते थे या अपने पिताओ के पास भेज दिए जाते थे और कन्याएँ रख ली जाती थी जिन्हे उनकी माताएँ कृषिकर्म, आखेट और युद्ध करना सिखाती थी। ग्रीको का विश्वास था कि अमेज़न-योद्धाओ के दाहिना स्तन नही होता था जिससे वे अस्त्र शस्त्र आसानी से चला सकती थी। ग्रीक किंवदतियो मे तो अनेक ग्रीक वीरो का इन नारी-योद्धाओ से युद्ध हुआ है जिसके दृश्य ग्रीक कलावतो ने वार वार अपने देवताओ की चौखटो पर उभारे है। ग्रीक कला मे अमेजन—नारी-योद्धा का आकलन पर्याप्त हुआ है। एक अमेज़न (मात्तेई) की अत्यत सुदर मूर्ति वातिकन के सग्रहालय मे आज भी सुरक्षित है। [भ० श० उ०]

अमेज़न द० अमरीका की एक प्रसिद्ध नदी है जो जल की मात्रा के विचार से ससार की सबसे बडी तथा सर्वाधिक लबी नदियो मे दूसरी नदी है। इस नदी की सपूर्ण द्रोणी विषुवतरेखीय क्षेत्र मे पडती है। पेरूवियन ऐंडीज़ पर्वत के पूर्वाचल मे १२,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित लागो लारीकोचा नामक झील से निकलकर पेरू तथा ब्राज़ील मे लगभग ४,००० मील पूर्व-उत्तर-पूर्व प्रवाह के अनतर भूमध्यरेखा पर अध-महासागर (ऐटलाटिक ओशन) मे गिरती है। यह मुहाने से (९० मील पर स्थित) पारा तक बडे सामुद्रिक पोतो, (२,३०० मील पर स्थित) इकीटोस तक छोटे सामुद्रिक पोतो और (२,७८६ मील पर स्थित) आचुअल प्वाइट तक छोटे जहाजो के लिये नौकागम्य है। धारा की औसत गति तीन मील प्रति घटा है जो सँकरे स्थानो मे पाँच मील तक हो जाती है। नववर से जून तक नदी बढाव पर रहती है। सुदूर तक यह प्रमुख दो धाराओ मे विभक्त होकर बहती है, पर मुहाने से ४०० मील अत स्थित ओवीडोज के बाद एकीबद्ध होकर लगभग एक मील चौडी तथा २०० फुट गहरी नदी के रूप मे विशाल जलराशि लाती है, जो समुद्र मे मुहाने से २०० मील दूर तक स्पष्ट पहचानी जा सकती है। बाढ मे घाटी का न केवल निचला मैदान ही (इगापो) प्रत्युत् ऊपरी मैदान (वारगेम) के लाखो वर्ग मील का क्षेत्र भी झील सा हो जाता है।

अमेजन मे २७,२२,००० वर्ग मील क्षेत्र से लगभग दो सौ नदियो का जल आता है। अधिकाश सहायक नदियाँ दक्षिण से आती है जिनमे हुआल्गा, उकायली, जावारी, जुटाई, जुरुआ, तेफी, कोआरी, मैडिरा, तापाजोज, जिंगु आदि प्रमुख हैं। सेटियागो, मोरोना, जापुरा, रायो निग्रो, ओतुमा, ट्राबेटा आदि उत्तरी सहायक नदियाँ है। भूगोलवेत्ताओ के अनुसार अमेज़न का निचला भाग सामुद्रिक खाडी था जिसकी लहरो के अपक्षरण से ओवीडोज के पास का पर्वतीय स्थल कटकर वह गया। नदी के मुहाने पर विशाल भित्तिज्वार (बोर) आता है जिसके कारण नदी के जल के साथ विशाल परिमाण मे मिट्टी आने पर भी डेल्टा नही बन पाता।

नदीतट पर स्थित पारा (जनसख्या ३,५०,०००), मनाओज (ज०स० १,००,०००), इक्वीटोस (ज०स० ३०,०००) और सतारम (ज०स० ७,०००) आदि बदरगाहो द्वारा रबर, कहवा, चमडा, तवाकू, लकडी, कपास, सुपारी, काकाओ, नारगी, मास, मछली तथा अन्य उष्णकटिबधीय वस्तुओ का निर्यात होता हे। अमेजन द्रोणी मे अनेक प्रकार के पेड पौधे, झाडियाँ, लताएँ तथा जीवजतु, कीट पतग, मछलियाँ आदि पाई जाती है जिनके बीच कटुतम जीवनसघर्ष है। अत यहाँ विभिन्न औद्योगिक, परिवाहनिक, मानवशास्त्रीय, भौगोलिक, वैज्ञानिक एव खनिज सबधी अन्वेषण एव सर्वेक्षण कार्य हो रहे है। १९२७ एव १९२८ मे अमरीकी भौगोलिक परिषद् ने भी हिस्पानिक अमरीका (लैटिन अमरीका) के मानचित्र (मापक १ १०,००,०००) की सामग्री के कल्पनार्थ विशेषज्ञो के दो दल भेजे थे।

यूरोपियनो मे से स्पेन निवासी बिसेंट यानेज पिंजन ने सर्वप्रथम सन् १५०० ई० मे अमेजन का पता लगाया और मुहाने से ५० मील अतर्देश तक यात्रा की। फ्रासिस्को डी आरलेना ने इसका अमेज़ोनाज़ नाम रखा और १५४१ मे ऐंडीज़ पर्वत से लेकर समुद्र तक इसकी यात्रा की। [का० ना० सि०]

अमोघवर्ष राष्ट्रकूट राजा जो ल० ८१४ ई० मे गद्दी पर बैठा और ६४ साल राज करने के बाद सभवत ८७८ ई० मे मरा। वह गोविंद तृतीय का पुत्र था। उसके किशोर होने के कारण पिता ने मृत्यु के समय करकराज को शासन का कार्य सँभालने को सहायक नियुक्त किया था। किंतु मत्री और सामत धीरे धीरे विद्रोही और असहिष्णु होते गए। साम्राज्य का गगवाडी प्रात स्वतत्र हो गया और वेंगी के चालुक्य-राज विजयादित्य द्वितीय ने आक्रमण कर अमोघवर्ष को गद्दी से उतार तक दिया। परतु अमोघवर्ष भी साहस छोडनेवाला व्यक्ति न था और करकराज की सहायता से उसने राष्ट्रकूटो का सिंहासन फिर स्वायत्त कर लिया। राष्ट्रकूटो की शक्ति फिर भी लौटी नही और उन्हे वार वार चोट खानी पडी।

अमोघवर्ष के सजन-ताम्रपत्र के अभिलेख से समकालीन भारतीय राज-नीति पर पर्याप्त प्रकाश पडता है, यद्यपि उसमे स्वय उसकी विजयो का वर्णन अतिरजित है। वास्तव मे उसके युद्ध प्राय उसके विपरीत ही गए थे। अमोघवर्ष धार्मिक और विद्याव्यसनी था, महालक्ष्मी का परम भक्त। जैनाचार्य के उपदेश से उसकी प्रवृत्ति जैन हो गई थी। 'कविराजमार्ग' और 'प्रश्नोत्तरमालिका' का वह रचयिता माना जाता है। उसी ने मान्यखेट राजधानी बनाई थी। अपने अतिम दिनो मे राजकार्य मत्रियो और युवराज पर छोड वह विरक्त रहने लगा था। [ओ० ना० उ०]

अमोनिया तीव्र तथा विशेष प्रकार की तीक्ष्ण गधवाली गैस है। इसके कुछ यौगिक, विशेषकर नौसादर (साल अमोनिऐक, या अमोनियम क्लोराइड), बहुत पहले ही ज्ञात थे। परतु स्वतत्र अमोनिया गैस के अस्तित्व के बारे मे ठीक ज्ञान १७७४ ई० मे जे० प्रीस्टली द्वारा इसे तैयार किए जाने पर हुआ। इस गैस का नाम उन्होने 'ऐल्कलाइन एयर' रखा। १७७७ ई० में सी० डब्ल्यू० शेले ने इस गैस मे नाइट्रोजन की उपस्थिति बताई, १७८५ मे सी० एल० बेरटोले ने विद्युत् चिनगारी द्वारा इसे विघटित कर इसमे हाइड्रोजन तथा नाइट्रोजन की मात्राएँ ज्ञात की।

अमोनिया कई विधियो से स्वत बनती है और बनाई जा सकती है। अल्प मात्रा में अमोनिया हवा तथा वर्षा के जल मे पाई जाती है, नदी, तालाब और समुद्र के जल मे भी (समुद्र-जल मे लगभग ०१ मिलीग्राम प्रति लिटर की मात्रा मे) यह मिलती है। पशुओ के शारीरिक भाग एव पौधो के सडने से (नाइट्रोजन युक्त -कार्बनिक पदार्थो के विघटन द्वारा) अमोनिया तथा इसके लवण बनते है। अमोनिया के कुछ यौगिक खनिजो मे, मिट्टी मे और फलो के रस या पौधो के अन्य भागो मे भी पाए जाते है।

अमोनिया बनाने की विधियाँ विशेषत दो प्रकार की हैं—नाइट्रोजन और हाइड्रोजन तत्व के सीधे सयोग से अथवा नाइट्रोजन या अमोनिया के यौगिको से। नाइट्रोजन और हाइड्रोजन के गैसीय मिश्रण मे विद्युत् चिनगारी, या डिस्चार्ज, उत्पन्न करने से अमोनिया बनती है, जिसका समीकरण यह है $ना_2 + ३ हा_2 \rightleftharpoons २ नाहा_3$ (ना=नाइट्रोजन, हा=हाइड्रोजन)। यह क्रिया उत्प्रेरक (कैटालिस्ट) की अनुपस्थिति मे न्यून मात्रा मे होती है। इस प्रत्यावर्ती क्रिया के रासायनिक सतुलन के विशेष अध्ययन से हावर ने ज्ञात किया कि अमोनिया की मात्रा गैसीय मिश्रण की दाब तथा ताप पर विशेष रूप से निर्भर है।

अमोनिया के औद्योगिक उत्पादन के लिये हावर की तथा कई अन्य सशोधित विधियाँ है (जैसे कैसले, क्लाउड इत्यादि की)। इनमे विशेषकर गैस की दाब, ताप, उत्प्रेरक के चुनाव तथा तैयार अमोनिया के अलग करने के ढग मे भिन्नता है। साधारणतया २००-१००० वायुमडल (ऐटमॉस्फियर) की दाब, ४००-६००° सेंटीग्रेड का ताप, लोहा, आस्मियम, मोलिब्डिनम, यूरेनियम, टाइटेनियम, टग्सस्टन इत्यादि जैसे उत्प्रेरक तथा अलकलाइन आक्साइड (जैसे सोडियम या पोटैसियम आक्साइड) के साथ उसके समर्थक (प्रोमोटर), जैसे ऐल्यूमिनियम, सिलिकन, जिरकोनियम आदि के आक्साइड का उपयोग होता है। हाइड्रोजन प्राप्त करने के स्रोत, नाइट्रोजन प्राप्त

अभा यस्य असौ)। उनके द्वारा अधिष्ठित स्वर्ग लोक पश्चिम में माना जाता है जिसे सुखावती (विष्णुपुराण में 'सुखा') के नाम से पुकारते हैं। उस स्वर्ग में सुख की अनंत सत्ता विद्यमान है। उस लोक (सुखावती लोकधातु) के जीव हमारे देवों के समान सौंदर्य तथा सौख्यपूर्ण होते हैं। वहाँ प्रधानतया बोधिसत्वों का ही निवास है, तथापि कतिपय अर्हतों की भी सत्ता वहाँ मानी जाती है। वहाँ के जीव अमिताभ के सामने कमल से उत्पन्न होते हैं। वे भगवान् बुद्ध के प्रभाभासुर शरीर का स्वतः अपने नेत्रों से दर्शन करते हैं तथा अपने कानों से उनके वचनों और उपदेशों का श्रवण करते हैं। सुखावती अनश्वर लोक नहीं है, क्योंकि वहाँ के निवासी जीव अग्रिम जन्म में बुद्धरूप से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अमिताभ का स्वर्ग केवल भोगभूमि ही नहीं है, प्रत्युत वह एक आनंददायक शिक्षणकेंद्र है जहाँ जीव अपने पापों का प्रायश्चित्त कर अपने आपको सद्गुणसंपन्न बनाता है। जापान में अमिताभ जापानी नाम 'अमिदो' से विख्यात हैं। पूर्वोक्त स्वर्ग का वर्णनपरक संस्कृत ग्रंथ '**सुखावती व्यूह**' नाम से प्रसिद्ध है जिसके दो संस्करण आजकल मिलते हैं। बृहत् संस्करण के चीनी भाषा में बारह अनुवाद मिलते हैं जिनमें सबसे प्राचीन अनुवाद १४७-१८६ ई० के बीच किया गया था। लघु संस्करण का अनुवाद कुमारजीव ने चीनी भाषा में पाँचवीं शताब्दी में किया था और ह्वेनत्सांग ने सप्तम शताब्दी में। इससे इस ग्रंथ की प्रख्याति का पूर्ण परिचय मिलता है।

सं०ग्रं०—विटरनित्स हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर, भाग २, कलकत्ता, १९२५। [ब० उ०]

अमीचंद (मृत्यु १७६७ ई०), संभवतः वास्तविक नाम अमीरचंद का बंगाली उच्चारण। सामयिक अँगरेजों ने तथा उन्हीं के आधार पर इतिहासकार मेकाले ने उसे बंगाली बताया है, किंतु वस्तुतः वह अमृतसर का रहनेवाला सिक्ख व्यवसायी था और दीर्घ काल से कलकत्ते में बस गया था। अँगरेजों के प्रभुत्व का प्रसार सर्वप्रथम दक्षिण में हुआ, किंतु अंगरेजी साम्राज्य के संस्थापन की नींव बंगाल में ही पड़ी। बंगाल में, व्यवसायलाभ की भावना से प्रेरित होकर अँगरेजों के सर्वप्रथम संपर्क में आनेवाले भारतीय व्यवसायी ही थे। अलीवर्दी खाँ के कठोर नियंत्रण में तो अँगरेज अपने प्रभुत्व का विस्तार करने में असमर्थ रहे, किंतु अल्पवयस्क, अपरिपक्व तथा उद्धतप्रकृति सिराजुद्दौला के राज्यारोहण से यह संभव हो सका। नितांत स्वार्थलाभ से प्रेरित होकर अमीचंद ने अँगरेजों की यथेष्ट सहायता की, किंतु, इतिहास में उसका नाम अपरिचित ही रहता यदि प्लासी युद्ध के पूर्व क्लाइव और मीरजाफर में जो संधियोजना हुई उसमें अमीचंद से संबंधित क्लाइव के अनैतिक आचरण से इंगलैंड की पार्लियामेंट में तथा अँगरेज इतिहासकारों द्वारा क्लाइव के कार्य की कटु आलोचना न हुई होती। अमीचंद ने अँगरेजों के व्यावसायिक संपर्क में आकर यथेष्ट धन अर्जन कर लिया था।

कूटनीतिज्ञता के दृष्टिकोण से, वैध या अवैध उपायों से, अँगरेजों के सामूहिक तथा व्यक्तिगत लाभ की अभिवृद्धि के लिये, सिराजुद्दौला के राज्यारोहण के बाद सिराजुद्दौला के प्रभुत्व का दमन कर अव्यवस्थित शासन को और भी अव्यवस्थित बनाना तत्कालीन अँगरेजों की दृष्टि से वांछनीय था। इस घटनाक्रम में सिराजुद्दौला ने अँगरेजों के मुख्य व्यावसायिक केंद्र कलकत्ते पर आक्रमण करने का निश्चय किया। इस आक्रमण के पूर्व अँगरेजों ने केवल संदेह के आधार पर अमीचंद को बंदी बनाने के लिये सिपाही भेजे। सिपाहियों ने अमीचंद के अंतःपुर पर आक्रमण कर दिया। अपमानित होने से बचने के लिये अंतःपुर की तेरह स्त्रियों की हत्या कर दी गई। ऐसे मर्मांतक अपमान के होने पर भी अमीचंद ने अँगरेजों का साथ दिया। कलकत्ता पतन के बाद उसने अनेक अँगरेज शरणार्थियों को आश्रय दिया तथा अन्य प्रकारों से भी सहायता प्रदान की। क्लाइव ने अमीचंद को वाट्सन का दूत बनाकर नवाब की राजधानी मुर्शिदाबाद भेजा। इस स्थिति में उसने अँगरेजों को अमूल्य सहायता प्रदान की। संभवतः, चंद्रनगर पर अँगरेजों के आक्रमण के लिये नवाब से अनुमति दिलवाने में अमीचंद का ही हाथ था। उसी ने नवाब के प्रमुख अधिकारी महाराज नंदकुमार को सिराजुद्दौला से विमुख कर अँगरेजों का तरफदार बनाया।

नवाब के विरुद्ध जगत्सेठ तथा मीरजाफर के साथ अँगरेजों ने जिस गुप्त षड्यंत्र का आयोजन किया था उसमें भी अमीचंद का बहुत बड़ा हाथ था। बाद में, जब क्लाइव के साथ मीरजाफर की संधिवार्ता चल रही थी, अमीचंद ने अँगरेजों को धमकी दी कि यदि सिराजुद्दौला की पदच्युति के बाद प्राप्त खजाने का पाँच प्रतिशत उसे न दिया जायगा तो वह सब भेद नवाब पर प्रकट कर देगा। अमीचंद को विफलप्रयत्न करने के लिये दो संधिपत्र तैयार किए गए। एक नकली, जिसमें अमीचंद को पाँच प्रतिशत भाग देना स्वीकार किया गया था, दूसरा असली, जिसमें यह अंश छोड़ दिया गया था। ऐडमिरल वाट्सन ने नकली संधिपत्र पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। तब क्लाइव ने उसपर वाट्सन के हस्ताक्षर नकल कर, वह नकली संधिपत्र अमीचंद को दिखा, उसे आश्वस्त कर दिया। सामयिक इतिहासकार ओर्मी का कथन है कि सिराजुद्दौला की पदच्युति के बाद जब वास्तविक स्थिति अमीचंद को बताई गई तो इस आघात से उसका मस्तिष्क विकृत हो गया तथा कुछ समय उपरांत उसकी मृत्यु हो गई। किंतु, इतिहासकार बेवरिज के मतानुसार वह दस वर्ष और जीवित रहा। अँगरेजों से उसके संपर्क बने रहे जिसका प्रमाण यह है कि उसने फाउंड्लिंग अस्पताल को दो हजार पाउंड दान दिए जिसकी भित्ति पर 'कलकत्ते के काले व्यवसायी' की सहायता स्वीकृत है। उसने लंदन के मेग्डालेन अस्पताल को भी दान दिया था। [रा० ना०]

अमीबा अत्यंत सरल प्रकार का एक प्रजीव (प्रोटोजोआ) है जिसकी अधिकांश जातियाँ नदियों, तालाबों, मीठे पानी की झीलों, पोखरों, पानी के गड्ढों आदि में पाई जाती हैं। कुछ संबंधित जातियाँ महत्वपूर्ण परजीवी और रोगकारी हैं।

जीवित अमीबा बहुत सूक्ष्म प्राणी है, यद्यपि इसकी कुछ जातियों के सदस्य ½ मिलीमीटर से अधिक व्यास के हो सकते हैं। संरचना में यह जीवरस (प्रोटोप्लाज्म) के छोटे ढेर जैसा होता है, जिसका आकार निरंतर धीरे धीरे बदलता रहता है। कोशिकारस बाहर की ओर अत्यंत सूक्ष्म कोशकला (प्लाज्मालेमा) के आवरण से सुरक्षित रहता है। स्वयं कोशारस के दो स्पष्ट स्तर पहिचाने जा सकते हैं—बाहर की ओर का स्वच्छ, कणरहित, काच-जैसा, गाढ़ा बाह्य रस तथा उसके भीतर का अधिक तरल, धूसरित, कणयुक्त भाग जिसे आंतर रस कहते हैं। आंतर रस में ही एक बड़ा केंद्रक भी होता है। संपूर्ण आंतर रस अनेक छोटी बड़ी अन्नधानियों तथा एक या दो संकोची रसधानियों से भरा होता है। प्रत्येक अन्नधानी में भोजनपदार्थ तथा कुछ तरल पदार्थ होता है। इनके भीतर ही पाचन की क्रिया होती है। संकोचिरसधानी में केवल तरल पदार्थ होता है। इसका निर्माण एक छोटी धानी के रूप में होता है, किंतु धीरे धीरे यह बढ़ती है और अंत में फट जाती है तथा इसका तरल बाहर निकल जाता है।
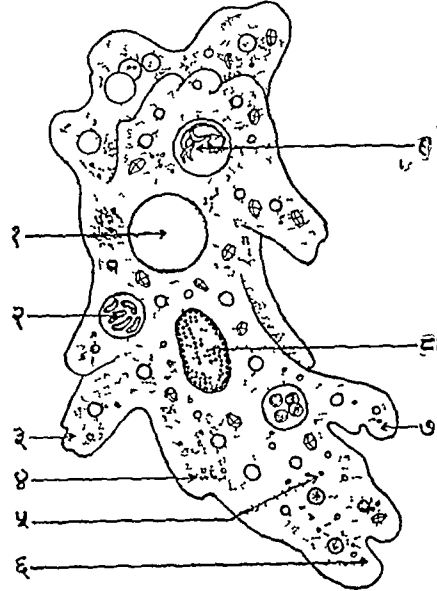
अमीबा

१ संकोची रसधानी, २ अन्नधानी, ३ कूटपाद, ४ कूटपाद, ५ आंतर रस, ६ स्वच्छ बाह्य रस, ७ कूटपाद, ८ केंद्रक ९ अन्नधानी।

अमीबा की चलनक्रिया बड़ी रोचक है। इसके शरीर से कुछ अस्थायी प्रवर्ध निकलते हैं जिनको कूटपाद (नकली पैर) कहते हैं। पहले चलन की दिशा में एक कूटपाद निकलता है, फिर उसी कूटपाद में धीरे धीरे सभी कोशारस बहकर समा जाता है। इसके बाद ही, या साथ साथ, नया कूटपाद

अमोनिया के घोल में भी इनसे विभक्त आयन क्रिया करते हैं और अम्ल तथा क्षार मिलकर लवण बनाते हैं।

अमोनिया की पहचान उसकी विशेष गध या गीले लाल लिटमस को नीला करने या हल्दी के कागज को भूरा लाल करने अथवा नेसलर के रीएजेट में भूरा रग उत्पन्न करने से की जाती है। किसी मद क्षारसूचक, जैसे मिथाइल आरेंज या मिथाइल रेड की उपस्थिति में प्रामाणिक अम्ल से अनुमापन (टाइट्रेशन) करके अथवा क्लोरोप्लैटिनिक अम्ल से प्राप्त अवक्षेप को तौलकर (या जलाने पर प्राप्त प्लैटिनम को तौलकर) घोल में अमोनिया की मात्रा ज्ञात की जाती है।

सं०ग्रं०–जे० एफ० थॉर्प और एम० ए० व्हाइटले थॉर्प्स डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री, जे० आर० पारटिंगटन : एटेक्स्टबुक ऑव इनआर्गेनिक केमिस्ट्री (१९५०)। [वि० वा० प्र०]

अम्मन, मीर

इनके पुरखे हुमायूँ के समय से मुगल दरबार में थे। सूरजमल जाट ने जब दिल्ली की तबाही की तो वे कलकत्ते चले गए, यों खास रहनेवाले देहली के थे। मीर अम्मन ने कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज में सन् १८०१ ई० में फारसी से 'चहार दर्वेश' का सलीस उर्दू में अनुवाद किया। इनको फारसी मिली हुई मुश्किल उर्दू की जगह सलीस उर्दू लिखने का बानी कहा जाता है। चहार दर्वेश में जबान के बारे में इन्होंने लिखा है, "जो शख्स सब आफतें सहकर दिल्ली का रोडा होकर रहा, दस पाँच पुश्तें इस शहर में गुजरी दरबार उमराओ के और मेले ठेले, सैर तमाशा लोगों का देखा और कूचागर्दी की, उसका बोलना अलबत्ता ठीक है।" उन्होंने 'अनुवार सुहेली' का भी अनुवाद उर्दू में किया और उसका नाम 'गजेखूबी' रखा। 'चहार दर्वेश' की वजह से ये अमर हैं। [र० स० ज०]

अम्र बिन आस अल सहमी

इस्लाम के पैगबर के सहाबी। इस्लाम के इतिहास में इनका बहुत बडा भाग है। उनके धर्म का सिलसिला ६२९-३० ई० में इस्लाम धर्म ग्रहण कर लेने से आरभ होता है। जब वे अभी केवल ९-१० वर्ष की अवस्था के थे, उनको महत्व का राजनीतिज्ञ माना गया है।

अम्र को हजरत मोहम्मद ने उम्मान भेजा जहाँ के राजाओं ने उनके प्रभाव से इस्लाम धर्म ग्रहण कर लिया। वह उम्मान में थे, जब पैगबर की मृत्यु का समाचार मिला। वे मदीने लौट आए, पर वहाँ वे ज्यादा दिन न ठहर सके क्योंकि हजरत अबू बकर ने शाम और फिलिस्तीन देशों की सेना के साथ उन्हें भेज दिया। वह यारमुक्के के युद्ध में और दमिश्क की विजय के समय भी उपस्थित थे। इस्लामी इतिहास में उनकी सबसे बडी विजय मिस्र में हुई। कहा जाता है कि मिस्र को उन्होंने अपनी जिम्मेदारी पर जीता था। मिस्र को उन्होंने जीता ही नहीं, बल्कि वहाँ का शासनप्रबध भी ठीक किया। उन्होंने न्याय और कर विभाग की नीति में सुधार किया और फुस्तात की नीव डाली जो १०वी सदी में अलकाहिरा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हजरत उस्मान की मृत्यु के बाद वे हजरत अली और मोआविया के झगडे में पच बनाए गए। जीवन भर वे मिस्र के राज्यपाल रहे। ६६१ ई० में एक व्यक्ति ने उनकी हत्या के लिये उनपर वार किया। उसके खजर से वे बच गए और उनकी जगह दूसरा व्यक्ति मारा गया। [मो० अ० अ०]

अम्ल और समाक्षार

मोटे हिसाब से अम्ल (ऐसिड) उन पदार्थों को कहते हैं जो पानी में घुलने पर खट्टे स्वाद के होते हैं (अम्ल=खट्टा), हल्दी से बनी रोली (कुकुम) को पीला कर देते हैं, अधिकाश धातुओं पर (जैसे जस्ते पर) अभिक्रिया करके हाइड्रोजन गैस उत्पन्न करते हैं और समाक्षारों को उदासीन (न्यूट्रल) कर देते हैं। मोटे हिसाब से समाक्षार (बेस) उन पदार्थों को कहते हैं जिनका विलयन चिकना चिकना सा लगता है (जैसे बाजारू सोडे का विलयन), स्वाद कड़ुआ होता है, हल्दी को लाल कर देते हैं और अम्लों को उदासीन करते हैं। उदासीन करने का अर्थ है ऐसे पदार्थ (लवण) का बनाना जिसमें न अम्ल के गुण होते हैं, न समाक्षार के। वैज्ञानिक परिभाषाएँ आगे दी जायँगी।

लावाज़िए ने (१७७० ई० में) आक्सिजन के गुणों का अध्ययन करते समय देखा कि कार्बन, गधक और फास्फरस सदृश तत्व जब आक्सिजन में जलते हैं तब उनसे बने आक्साइड जल के साथ मिलकर अम्ल बनाते हैं। वे इस परिणाम पर पहुँचे कि अम्लों में आक्सिजन रहता है और अम्लों की अम्लीयता का कारण आक्सिजन है। इसी कारण इस गैस का नाम 'आक्सिजन' पडा, जिसका अर्थ होता है 'अम्ल बनानेवाला पदार्थ' तथा इसी कारण जर्मन भाषा में आक्सिजन को 'सायर स्टफ' अर्थात् अम्ल पदार्थ कहते हैं।

लवाज़िए ने ही अम्लों को दो वर्गों, अकार्बनिक अम्लों और कार्बनिक अम्लों में, विभक्त किया था। पीछे देखा गया कि कुछ तत्वों के आक्साइड पानी में घुलकर अम्ल नहीं बल्कि क्षार बनाते हैं और कुछ अम्लों में आक्सिजन बिलकुल नहीं होता। बर्टोले ने सन् १७८७ में हाइड्रोसाइएनिक अम्ल, डेवी ने सन् १८१०-११ में हाइड्रोक्लोरिक अम्ल और सन् १८१३ में हाइड्रियोडिक अम्ल का आविष्कार किया। इनमें से किसी में आक्सिजन नहीं है।

आगे चलकर देखा गया कि जो पदार्थ बिलकुल सूखे होते हैं, उनमें कोई अम्लीय अभिक्रिया नहीं होती। तब लोगों ने अम्लों को दो वर्गों में विभक्त किया, एक हाइड्रो-अम्ल और दूसरा आक्सी-अम्ल। पीछे सन् १८१५ में डेवी ने सुझाव रखा कि अम्लों की अम्लीयता आक्सिजन के कारण नहीं, वरन् हाइड्रोजन के कारण है। डूलाग ने सन् १८१५ में आक्सैलिक अम्ल का अध्ययन किया और इस परिणाम पर पहुँचे कि आक्सिजनवाले और बिना आक्सिजनवाले अम्लों में कोई भेद नहीं है।

अम्लों में कोई ऐसा गुण नहीं है जिसे हम अम्लों का विशिष्ट लक्षण कह सकें। साधारण गुण ऊपर बताए जा चुके हैं। अम्ल और धातु की अभिक्रिया में अम्ल के अणु का एक, या एक से अधिक, हाइड्रोजन परमाणु धातुओं, धातुओं के आक्साइडों, हाइड्राक्साइडों अथवा कार्बोनेटों से विस्थापित हो जाता है।

ऐसे भी कुछ अम्ल हैं जो खट्टे होने के बदले मीठे होते हैं। ऐसा एक अम्ल ऐमिडो-फास्फरिक अम्ल है। कुछ ऐसे भी अम्ल हैं जो क्षारहर नहीं होते। कुछ ऐसे भी क्षार हैं जिनका हाइड्रोजन धातुओं से विस्थापित हो जाता है। फिटकिरी अम्ल नहीं है। इसमें विस्थापित होनेवाला कोई हाइड्रोजन भी नहीं है। पर यह स्वाद में खट्टा और क्रिया में क्षारहर होता है। यह नीले लिटमस को लाल भी करता है। इसी प्रकार सोडियम बाईसल्फाइट खट्टा और क्षारहर होता है। यह नीले लिटमस को लाल करता है। इसमें विस्थापित होनेवाला हाइड्रोजन भी है, पर यह अम्ल नहीं है। मिथेन अम्ल नहीं है, पर इसका हाइड्रोजन जस्ते से विस्थापित हो जाता है और इस प्रकार जिंक डाइमेथिल बनता है जो लवण नहीं है।

अत अम्ल की कोई सतोषप्रद परिभाषा अब तक नहीं दी जा सकी है। आयोनिक सिद्धात के आधार पर यदि हम अम्लों की परिभाषा देना चाहें तो कह सकते हैं कि अम्लों में हाइड्रोजन आयनों का रहना अत्यावश्यक है।

सिलवियस ने सन् १६५९ में पहले पहल अम्लों और समाक्षारों में विभेद किया था। रूल ने सन् १७७४ में समाक्षार नाम उस पदार्थ को दिया जो अम्लों के साथ मिलकर लवण बनाता है। आजकल समाक्षार उन आक्सिजनवाले पदार्थों को कहते हैं जो अम्लों के पूरक होते हैं। क्षार-धातुओं, क्षारीय-मृदा धातुओं और अन्य धातुओं के आक्साइड और वे सभी वस्तुएँ समाक्षार हैं जो अम्लों के साथ मिलकर लवण बनाती हैं। आरभ में समाक्षार केवल उन धातुओं अथवा धातुओं के आक्साइडों के लिये व्यवहृत होता था जो लवणों के 'बेस' या आधार थे। लवणों के समाक्षार आवश्यक अवयव हैं।

समाक्षार वास्तव में वे पदार्थ हैं जो अम्ल के साथ मिलकर लवण और जल बनाते हैं। उदाहरणत, जिंक आक्साइड सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ मिलकर जिंक सल्फेट और जल बनाता है। दाहक सोडा सल्फ्यूरिक अम्ल के साथ मिलकर सोडियम सल्फेट और जल बनाता है। धातुओं के आक्साइड सामान्यत समाक्षार हैं। पर इसके अपवाद भी हैं।

समाक्षारों में धातुओं के आक्साइड और हाइड्राक्साइड हैं, पर सुविधा के लिये तत्वों के कुछ ऐसे समूह भी रखे गये हैं जो अम्लों के साथ मिलकर बिना जल बने ही लवण बनाते हैं। ऐसे समाक्षारों में अमोनिया, ह इड्राक्सीलेमि

दुवालदी की प्रणयकथा, (घ) नूह सिपिह (मुबारक खिलजी के शासन का विवरण), (ङ) तुगलकनामा (खुसरो खाँ से यासुद्दीन तुगलक के युद्ध का विवरण)।

सं०ग्रं०—जीवनी सबधी विवरणो के लिये देखिए गुर्रातुल कमाल की भूमिका, समसामयिक विवरणो के लिये देखिए बरानी, तारीखी-फिरोजशाही मीरखुर्द, मियासुल औलिया शिबली भी देखिए, शीरुल आजम (उर्दू मे, आज़मगढ १९४७) खड दो, पृष्ठ ९६-१७५ सैयद अहमद महराहर्वी हयाती खुसरो (उर्दू में, लाहौर, १९०९), मुहम्मद हबीब हजरत अमीरखुसरो ऑव डेलही (बबई, १९२७), वाहिद मिर्जा लाइफ ऐंड टाइम्स ऑव अमीर खुसरो (कलकत्ता, १९३५)।

[खा० अ० नि०]

अमुर्री बाइबिल के अनुसार अमुर्री यहूदियो से भिन्न एक अन्य जाति थी जो कानान की निवासिनी थी। उत्खनन से प्राचीन मिस्र की सभ्यता को प्रकाश मे लानेवाली जो सामग्री प्राप्त हुई है उसमे पेपिरस् पर अकित कुछ अमुर्री लोगो के चित्र भी है। इन चित्रो को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अमुर्री जाति किसी आर्य जाति या भारोपीय जाति की एक शाखा रही होगी। बाबुली साहित्य के अनुसार अमुर्री जाति के लोग बाबुल से पश्चिम के भूभाग के निवासी थे। कुछ विद्वानो के अनुसार अमुर्री जाति ही आधुनिक अर्मनी जाति की पूर्वज थी।

बाबुल के राजकुलो की सूची के अनुसार २९०० ई० पू० मे बाबुल पर अमुर्री जाति के राजकुल का शासन था। उसपर इनकी राजसत्ता का दूसरा उल्लेख उस समय मिलता है जब अमुर्री राजकुलो ने बाबुल पर २१०५ ई० पू० से १९२५ ई० पू० तक शासन किया। तेल अलअमर्ना और बोगाज कुई की उत्खननसामग्री से पता चलता है कि लेबनान और कादेश के राजघराने भी अमुर्री थे जिन्होने १४०० ई० पू० से लेकर १२०० ई० पू० तक इन देशो पर राज किया। कुछ विद्वानो के अनुसार अमुर्री भाषा ही इब्रानी का प्राथमिक रूप थी।

सं०ग्रं०—ए० टी० ले दि एपाएर आव दि एमोराइट्स (१९१९)।

[वि० ना० पा०]

अमुल ईरान के मजाऊदेरान प्रात का एक नगर है जो बरफुरूश से २३ मील दक्षिण-पश्चिम मे स्थित है। इसकी जनसख्या २२,०००है। यह हेराज़ नदी के दोनो तटो पर बसा है तथा एलबुर्ज पर्वत एव कैस्पियन सागर के तटीय प्रदेश के मध्य मे एक प्रमुख नगर है। नगर के निकट ही स्थित प्राचीन स्मारको के भग्नावशेष अमुल की प्राचीन गौरवगरिमा की कहानी सुनाते है। यहाँ पर सम्राट् सैयद कव्वामुद्दीन (मृत्यु १३७९ ई०) तथा १४वी शताब्दी के दूसरे प्रसिद्ध लोगो के मकबरो के अवशेष दर्शनीय है। चावल एव फल यहाँ की मुख्य उपज है। [शि० म० सिं०]

अमृत ऐसा कोई तत्व या पदार्थविशेष जिसकी प्राप्ति से मृत्यु का निवारण हो सके। इसकी कल्पना ऋग्वेद से ही आरभ होती है और ब्राह्मण, पुराण एव आयुर्वैदिक साहित्य में उसकी अनेक प्रकार से व्याख्याएँ मिलती है। सृष्टि मे मुख्यत दो ही तत्व है—एक देव और दूसरे पचभूत। देवतत्व अमृत और पचभूत मर्त्य है। ऋग्वेद में देवतत्व के आवाहन के साथ अनेक बार अमृत की कल्पना प्राप्त होती है। देवो को अमृत कहा गया है (अमृता देवा, शतपथ २।१।३।४)। प्राणी के शरीर मे जो प्राणतत्व है वह अमृत का ही रूप माना गया है (अमृत उ वै प्राणा, श० ९।३।३।१३)। मनुष्य को जितनी आयुष्य मिली है उसमें शत-प्रति-शत प्राणशक्ति का उपभोग अमृतत्व का ही लक्षण है। इस दृष्टि से सूर्य की रश्मियो में, उन्मुक्त वायु और जलधारा मे, जहाँ जहाँ प्राणशक्ति का अधिक प्रवाह हो, वही अमृत का अधिष्ठान समझना चाहिए। इसी कारण 'आदित्यो अमृतम्'—यह परिभाषा बनी। इसी दृष्टि से १०० वर्ष की पूर्ण आयु की उपलब्धि को मानव के लिये अमृतत्व कहा गया है। (एतद् व मतुपस्यामृतत्व यत्सर्वमायुरेति)। और भी, मन अमृत, शरीर मर्त्य हे। अनत और रोग मृत्यु के रूप है। अप्रमाद अमृत और प्रमाद मृत्यु का रूप कहा गया है।

पजातनु या सतान के रूप मे भी मनुष्य अमरता का अनुभव करता है। ब्रह्मचर्य अमृत का रूप और आत्मविनाश मृत्यु है। पुराणो के अनुसार देव और असुरो ने समुद्रमथन द्वारा अमृत को प्राप्त किया। अमृत देवो को ही मिला, असुरो को नही। प्रतिदेव का प्रतिपक्षी तत्व असुर है। अमृत, ज्योति और सत्य की सज्ञा देव है। मृत्यु, अनृत और तम की सज्ञा असुर है। देवासुर-सग्राम सृष्टि के अमृत-मृत्यु-सघर्ष का ही प्रतीक है। विश्वरचना के मूल मे जो शक्ति है वही अपार समुद्र है। उसी के मथन से अमृत और विष का जन्म माना गया है। देवो में सबसे बडे महादेव का एक रूप मृत्युजय हे। उस स्वरूप से उन्होने विष, मृत्यु या सर्प को अपने वश में कर लिया है। अमृत की उपलब्धि के लिये विष या मृत्यु को वश में करना आवश्यक है। आयुर्वद के अनुसार जीवनतत्व की सज्ञा अमृत है। प्राकृतिक सदाचार से उसकी रक्षा होती है। रोग अमृत के प्रतिपक्षी है। नाना प्रकार की ओषधियो के द्वारा अमृतत्व या जीवन की पुन प्राप्ति ही आयुर्वेदोक्त अमृत है। [वा० श० अ०]

अमृतसर पजाब का एक जिला है और इसी नाम का वहाँ एक प्रसिद्ध नगर भी है। जिले की स्थिति ३१°४' से ३२°३' अ० उ० तक, ७४°२९' से ७५°२४' दे० पू० तक, क्षेत्रफल १,९९२ वर्ग मील, जनसख्या १३,४४,४२७ (१९५१ ई०)।

अमृतसर जिला नए पजाब प्रात के पश्चिमोत्तर में जालधर कमिश्नरी के सारे जिलो मे प्रमुख है। लगभग सपूर्ण भाग मैदान है। रावी और व्यास नदियाँ इसकी पश्चिमोत्तर और दक्षिण-पूर्व् सीमा क्रम से बनाती है। इनके अतिरिक्त साकी नदी जो जिला गुरदासपुर से आती है, इसके उत्तर-पश्चिम भाग मे बहती हुई रावी नदी मे मिल जाती है। इस नदी में पूरे वर्ष जल रहता है। यहाँ की जलवायु शीतकाल में अधिक ठढी तथा ग्रीष्मऋतु मे गरम रहती हे। औसत वार्षिक वर्षा लगभग २१ इच होती है। लोगो का मुख्य धधा खेती बारी है और अपर बारी दोआब नहर द्वारा सिंचाई की अच्छी सुविधा प्राप्त है। गेहूँ, मक्का, ज्वार, बाजरा, दाल, कपास और गन्ना यहाँ की मुख्य उपज है।

अमृतसर (नगर)—स्थिति ३१°३८' उ० अक्षाश तथा ७४°५३' पू० देशातर, जनसख्या ३,२५,७४७ (१९५१ ई०)। यह सिक्खो का प्रमुख नगर तथा तीर्थस्थान है। एक प्रकार से इसकी नीव सिक्खो के चौथे गुरु रामदास ने सन् १५७७ ई० मे डाली। उनकी इच्छा थी कि सिक्ख जाति के लिये एक सुदर मदिर का निर्माण किया जाय। मदिर का निर्माणकार्य आरभ होने से पूर्व उसके चारो ओर उन्होने एक ताल खुदवाना आरभ किया। परतु उनकी मृत्यु हो जाने के कारण यह कार्य उनके पुत्र तथा पाँचवे गुरु अर्जुनदेव ने स्वर्णमदिर बनवाकर पूर्ण किया। धीरे धीरे इसी मदिर के चारो ओर अमृतसर नगर बस गया। महाराजा रणजीतसिह ने मदिर की शोभा बढाने मे बहुत धन व्यय किया और उसी समय से यह नगर एक मुख्य व्यापारिक केद्र बन गया। आज भी व्यापार और उद्योग की दृष्टि से अमृतसर बहुत आगे बढा हुआ है। सूती, ऊनी और रेशमी कपडा बुनने एव दरी और शाल बनाने के उद्योग मुख्य है। इनके अतिरिक्त कपडे की रँगाई, छपाई और कढाई के उद्योग भी अधिक उन्नति कर गए है। बिजली के पखे, कले, रासायनिक वस्तुएँ, लोहे की चादरे, प्लास्टिक का सामान तथा नाना प्रकार की वस्तुएँ बनाने का भी यह एक प्रमुख केद्र बनता जा रहा है। यहाँ खालसा कालेज १८९३ ई० मे खोला गया। यह नगर रेल द्वारा कलकत्ता से १२३२ मील, बबई से १२६० मील और दिल्ली से २७८ मील पर है। ऐतिहासिक दृष्टि से अमृतसर विशेष महत्व का है। दरबार साहिब (स्वर्णमदिर) से लगभग दो फर्लांग की दूरी पर ही विख्यात जलियाँवाला बाग है जहाँ जनरल डायर ने १३ अप्रैल, सन् १९१९ ई० को एक सार्वजनिक सभा पर गोली चलवाई थी, जिसमें लगभग डेढ हजार व्यक्ति घायल हुए एव मारे गए थे। १९४७ ई० में पजाब प्रात के बँटवारे से नगर की उन्नति को विशेष ठेस लगी, पर अब भी यह पजाब राज्य का सबसे बडा नगर है। [आ० स्व० जौ०]

अमेज़न प्राचीन पश्चिमी जनविश्वास के अनुसार नारी-योद्धा जिनका पुक्सीन सागर के निकट पोतस में आवास बताया जाता है। कहते है कि इन नारी-योद्धाओ का अपना स्वतत्र राज्य था और उसपर उनकी रानी थर्मोदोन नदी के तट पर बसी अपनी राजधानी थेमि-

परित घूर्णन के साथ सश्लिष्ट (कॉम्बाइन) किया जाता है तो परिणामी घूर्णन-अक्ष की दिशा निकलती है जो पृथ्वी के अक्ष की
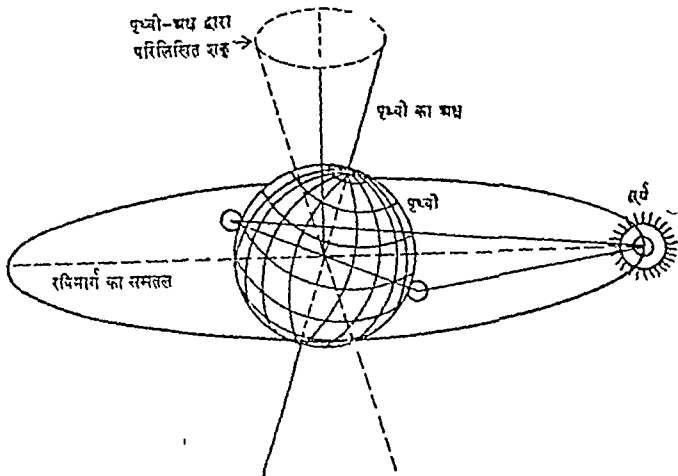
अयन का कारण

पृथ्वी की मध्यरेखा के फूले द्रव्य पर सूर्य के असम आकर्पण से पृथ्वी-अक्ष एक शकु परिलिखित करता है।

पुरानी दिशा से जरा सी भिन्न होती है, अर्थात् पृथ्वी का अक्ष अपनी पुरानी स्थिति से इस नवीन स्थिति मे आ जाता है। दूसरे शब्दो मे, पृथ्वी का अक्ष घूमता रहता है। अक्ष के इस प्रकार घमने मे चद्रमा भी सहायता करता है। वस्तुत चद्रमा का प्रभाव सूर्य की अपेक्षा दूना पडता है। सूक्ष्म गणना करने पर सब बाते ठीक वही निकलती है जो वेध द्वारा देखी जाती है।

चद्रमार्ग का समतल रविमार्ग के समतल से ५° का कोण बनाता है। इस कारण चद्रमा पृथ्वी को कभी रविमार्ग के ऊपर से खीचता है, कभी नीचे से। फलत, भूमध्यरेखा तथा रविमार्ग के धरातलो के बीच का कोण भी थोडा बहुत बदलता रहता है जिसे विदोलन (न्यूटेशन) कहते हैं। पृथ्वी-अक्ष के चलने से वसत और शरद विषुव दोनो चलते रहते हैं।

ऊपर बताए गए अयन को चाद्र-सौर अयन (लूनि-सोलर प्रिसेशन) कहते हैं। इसमे भूमध्य का धरातल बदलता रहता है। परतु ग्रहो के आकर्षण के कारण स्वय रविमार्ग थोडा विचलित होता है। इससे भी विषुव की स्थिति मे अतर पडता है। इसे ग्रहीय अयन (प्लैनेटरी प्रिसेशन) कहते है।

सं०ग्रं०—न्यूकॉम्ब स्फेरिकल ऐस्ट्रॉनोमी, गोरखप्रसाद स्फेरिकल एस्ट्रॉनोमी। [गो० प्र०]

अयस्कनिक्षेप भूमि से खोदकर निकाले गए अजैव पदार्थ को खनिज (मिनरल) कहते है, विशेषकर जब उसकी विशेष रासायनिक सरचना हो और नियमित गुण हो। यदि किसी खनिज से कोई धातु निकल सकती है तो उसे अयस्क (अग्रेजी मे ओर) कहते है। रासायनिक दृष्टि से तो प्राय सभी पदार्थो मे कोई धातु पर्याप्त मात्रा मे अथवा नाम मात्र रहती ही है, जैसे नमक मे सोडियम धातु है, या समुद्र के जल मे सोना, परतु अयस्क कहलाने के लिये साधारणत यह आवश्यक है कि (१) उस पदार्थ मे कोई धातु अवश्य हो, (२) पदार्थ प्राकृतिक वस्तु हो और (३) उससे धातु निकालने मे इतना व्यय न पडे कि वह धातु आर्थिक दृष्टि से महँगी पडे। अयस्क के ढेर को अयस्कनिक्षेप कहते है।

२०वी शताब्दी के पहले अयस्को को उनकी प्रमुख धातु के अनुसार नाम दिया जाता था, जैसे लोहे का अयस्क, सोने का अयस्क, इत्यादि। परतु बहुत से अयस्को मे एक से अधिक धातुएँ रहती है। फिर, यदि किसी अयस्क से कोई बहुमूल्य धातु निकाली जाय तो इस निकालने की क्रिया मे थोडा काम बढाने से बहुधा अन्य कोई धातु भी पृथक् की जा सकती है और इस अतिरिक्त कार्य मे नाम मात्र ही लागत लग सकती है। इस प्रकार यद्यपि अयस्क का नाम मूल्यवान् धातु के नाम पर रखा जाता था, तो भी वह दूसरी सस्ती धातु के लिये बहुमूल्य स्रोत हो जाता था।

इन सब झझटो से बचने के लिये धीरे धीरे अयस्को की उत्पत्ति के अनुसार उनका नाम पडने लगा। उनकी रासायनिक उत्पत्ति कई प्रकार से हो सकती है (देखे खनिजनिर्माण), परतु उत्पत्ति की भौतिक दशाएँ भी बडी विभिन्न होती है। उदाहरणार्थ, धातुवाले कई अयस्क पृथ्वी की अधिक गहराई से निकले, पहाडो की दरारो मे से ऊपर उठे, पिघले पदार्थ हैं, अथवा प्राचीन काल मे पिघले पत्थरो मे से पिघला अयस्क उसी प्रकार अलग हो गया जैसे तेल पानी से अलग होता है और तब दोनो जम गए। प्लैटिनम, क्रोमियम और निकल के सल्फाइड तथा आक्साइड अधिकतर इसी प्रकार बने जान पडते हैं। कुछ अयस्क तह पर तह जमे हुए रूप मे मिलते हैं, जैसे पूर्वी ब्रिटेन तथा भारत के लोहे के अयस्क। अवश्य ही ये गरमी, सरदी से धरातल की चट्टानो के चूर होने पर बने होगे, यह चूर वर्षा से बहकर समुद्र मे पहुँचा होगा और वहाँ तह पर तह जम गया होगा, या घोलो के सूखने पर परत पर परत निक्षिप्त हुआ होगा। ट्रावकोर के टाइ-टेनियमवाले अयस्क और अफ्रीका के स्वर्णनिक्षेप इन धातुओ या पदार्थों के ज्यो के त्यो बहकर पहुँचने से उत्पन्न हुए हैं। पिघलने से बने अयस्को की उत्पत्ति मे ताप (तापक्रम) का विशेष प्रभाव पडता है। सभी बातो पर विचार कर अयस्को का वर्गीकरण किया जा रहा है, परतु अभी वैज्ञानिक इस विषय मे एकमत नही हो सके हैं।

अयस्कनिक्षेपो की खोज—अयस्को की खोज तीन प्रकार से की जाती है भूवैज्ञानिक, भूभौतिक तथा भूरासायनिक। भूवैज्ञानिक रीति मे देश के भूविज्ञान (जिओलोजी) पर ध्यान रखा जाता है और उससे यह परिणाम निकाला जाता है कि किस प्रकार के शैलो मे कैसे अयस्क हो सकते हैं। भूभौतिकी (जिओफिजिक्स) मे नित्य नई रीतियाँ निकल रही है जो अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध हो रही है। दिक्सूचक और चुबकीय नतिसूचक का तो सैकडो वर्षो से उपयोग होता रहा है, अब ऐसा चुबकत्व-मापी बना है जो हवाई जहाज पर से काम कर सकता है। इनसे लोहे तथा कुछ अन्य धातुओ के अयस्को का पता चलता है। जब अयस्क और आक्सिजन का सयोजन होता है तो बिजली उत्पन्न होती है जिसे नापकर अयस्क के महत्व का पता लगाया जाता है। विद्युच्चालकता नापने से भी अयस्क का पता चलता है, क्योकि अयस्को की चालकता अधिक होती है। स्थानीय गुरुत्वाकर्षण के न्यूनाधिक होने से भी अयस्क का पता चलता है, क्योकि अयस्क बहुधा भारी होते हैं। गाइगर गणक (गाइगर काउटर) से यूरेनियम का पता चलता है और अँधेरे मे चमकने के गुण से टग्स्टन आदि का। भूकपमापी यत्रो द्वारा भी अयस्को की खोज में सहायता मिलती है।

शैल, मिट्टी, उस मिट्टी मे उगनेवाले पौधो और उस प्रदेश मे बहनेवाले स्रोतो के पानी के रासायनिक विश्लेषण से भी अयस्को का पता लगाया जाता है।

पूर्वोक्त रीतियो से जब अयस्क का पता मोटे हिसाब से चल जाता है तब इस्पात, टग्स्टन कारबाइड या हीरे के बरमे से बहुत गहरा छेद करके, या कुआँ खोदकर, या काफी दूरी तक इधर उधर खोदकर, देखा जाता है कि कैसा अयस्क है, कितना है और लाभ के साथ उससे धातु निकाली जा सकती है या नही।

सं०ग्र०—एच० ई० मैकिस्ट्री माइनिग जिऑलोजी (न्यूयॉर्क, १९४८), ए० एम० बेटमैन इकानोमिक मिनरल डिपाजिट्स (न्यूयार्क, १९५०)। [वि० सा० दु०]

अयस्कप्रसाधन अधिकाश खनिज जिनसे धातु निस्सारित की जाती है, रासायनिक यौगिक, जैसे आक्साइड, सल्फाइड, कारबोनेट, सल्फेट और सिलिकेट के रूप मे होते हैं। खनिज मे मिश्रित अनुपयोगी पदार्थ को "विधातु" (गैग) कहते है। उस खनिज को जिसमे धातु की मात्रा लाभदायक होती है "अयस्क" (ओर) कहते हैं। खनिज से धातुनिस्सार के पूर्व अनेक क्रियाएँ अनिवार्य होती हैं जिन्हे सामूहिक रूप से अयस्कप्रसाधन (ओर ड्रेसिंग) कहते हैं। इसके द्वारा अयस्क मे धातु की मात्रा का समृद्धीकरण करते हैं। इसमे दलना, पीसना और सादरण की क्रियाएँ समिलित हैं। अयस्क का समृद्धीकरण उसमे निहित धातुओ के भिन्न भिन्न भौतिक गुणो, जैसे रग और द्युति,

मे एक बडे बरतन मे एकत्रित हो जाता है। ऊपर से बहे पानी को एक बार फिर नए अयस्क पर छोडते हैं। इस प्रकार बचा खुचा माल भी निकल आता है।

चुंबकीय पृथक्करण—जब खनिज का एक अंश लौहचुंबकीय होता है और प्राय पूर्ण रूप से पृथक् किया जा सकता है, तो विद्युच्चुंबकीय पृथक्करण की रीति प्रयुक्त की जाती है। इस विधि की उपयोगिता मुख्यत मैंगनेटाइट समृद्धीकरण मे और समुद्ररेणु के रुटाइल से इल्मेनाइट पृथक् करने मे है। इन पृथक्कारको का सरल सिद्धात चित्र ४ और ५ में दिखाया गया है। चुबकीय क्षेत्र को प्रबल या दुर्बल बनाकर चुबकीय पदार्थ को अचुबकीय से या मद चुबकीय को प्रबल चुबकीय पदार्थ से पृथक् किया जा सकता है।

चित्र ५—चुंबकीय पृथक्करण

क अयस्क से भरा वर्तन, ख चुबक, ग लौह चुबकीय अयस्क, घ. अयस्क का अचुबकीय भाग।

स्थैतिक विद्युत् (इलेक्ट्रोस्टैटिक पृथक्करण—किसी खनिज का पारद्युतिक (डाइइलेक्ट्रिक) स्थिराक उसकी किसी सतह के वैद्युत् आवेश के विसर्जन की दर को नियत्रित करता है और यही स्थैतिक विद्युत् पृथक्करण का मूल सिद्धात है। इस विधि मे खनिज के कण उच्च विभव के समीप भेजे जाते है, जिससे खनिज के विभिन्न अवयव भिन्न भिन्न मात्रा मे अपने मार्ग से विचलित होते है और इस प्रकार भिन्न भिन्न स्थानो पर गिरते है। आजकल समुद्ररेणु से उच्च कोटि का रुटाइल नामक खनिज प्राप्त करने मे चुबकीय और स्थैतिक-विद्युत् दोनो विधियो के सहयोग से काम होता है।

प्लवन (फ्लोटेशन)—अयस्कप्रसाधन के इतिहास मे प्लवनपद्धति का प्रारभ एक स्वर्णिम अवसर था, क्योकि इस पद्धति ने करोडो टन निम्न श्रेणी के और मिश्र अयस्को को, जिनके प्रसाधन के लिये गुरुत्वाकर्षण रीतियाँ अनुपयुक्त थी, प्रसाधन योग्य बना दिया है। अयस्क के उत्प्लवन (उतराने) का कारण यह है कि ऊपर उठा फेन विशेष खनिजो को लेकर ऊपर उठता है और शेष पदार्थ नीचे बैठे रह जाते हैं। इस रीति मे खनिज की पृष्ठतलीय शक्तियो का उपयोग किया जाता है। साधारणत धातु की तरह चमकनेवाले खनिज (विशेषत सल्फाइड) भीगते नही, और इसलिये तैरते रहते है, जब कि अधातु द्युतिवाले खनिज फेन मे नही फँसते और डूब जाते हैं। उपयुक्त रासायनिक पदार्थो के घोलो के प्रयोग से खनिजो के विभिन्न अवयवो की उत्प्लाविता मे इस प्रकार अतर डाला जा सकता है कि एक अवयव दूसरे की अपेक्षा शीघ्र प्लवित हो सके (तैरने लगे) या एक के प्लवित होने के बाद दूसरा प्लवित हो और तीसरा नीचे ही बैठा रह जाय।

विविध प्रकार के रासायनिक पदार्थो को उनके कार्य के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है, जैसे फेनक (फ्रायर्स), एकत्रक (कलेक्टर्स), प्रावसादक (डिप्रेसैंट्स), कर्मण्यक (ऐक्टिवेटर्स) और नियामक (रेगुलेटर्स)।

फेनक खनिज मे मिश्रित जल का तल-तनाव (सर्फेस टेनशन) घटा देते है और खनिज के प्लवन के लिये फेन बनाने योग्य वायु के बुलबुलो का स्थायीकरण कर देते है। पाइन का तेल और क्रेसिलिक अम्ल साधारण फेनक है।

एकत्रक खनिज को जलप्रत्यपसारी (रिपेलेंट) बनाकर उत्प्लवन बढा देते हैं। सल्फाइड खनिजो के लिये डाइ-थायो-कार्बोनेट (ज़ैथेट्स) और डाइ-थायो-फास्फेट्स (एयरोफ्लोट्स) साधारण एकत्रक हैं।

प्रावसादक एकत्रको के प्रभाव को रोकने का कार्य करते हैं। ताम्र-लौह-सल्फाइड अयस्को मे चूने के सयोजन से लौह अयस्क डूब जाता है और ताम्र अयस्क (कैल्कोपाइराइट) तैरता रहता है।

कर्मण्यक का कार्य प्रावसादक के विपरीत होता है। वे उन खनिजो को उत्प्लवित करते है जिनका उत्प्लवन या तो अस्थायी रूप से दबा दिया गया हो, या जो बिना कर्मण्यक की सहायता के उत्प्लवित न हो। उदाहरण,र्थ सायानाइड से यदि जिंक सल्फाइड का अवसाद कर दिया गया हो जिससे वह डूबने लगे, तो कापर सल्फेट के प्रयोग से उसे फिर तैरने योग्य बना सकते हैं।

नियामक क्षारीयता और अम्लीयता अर्थात् अयस्क के पी० एच० मे परिवर्तन कर देते है जिससे उत्प्लवन के प्रतिकर्मको के कार्य पर बडा प्रभाव पडता है। व्यवहार मे उत्प्लवन-प्रतिकर्मक बहुत थोडे परिमाण मे उपयोग किए जाते है, जैसे प्रति टन अयस्क मे फेनक तथा एकत्रक ०.०३ से ०.२ पाउड तक और प्रावसादक तथा कर्मण्यक ०.३ से १ पाउड तक प्रयुक्त किए जाते है। य सब रासायनिक पदार्थ उत्प्लवनवाले वर्तनो में ही साधारणत उत्प्लवन के समय या थोडा पहले डाले जाते हैं। कुछ पदार्थों
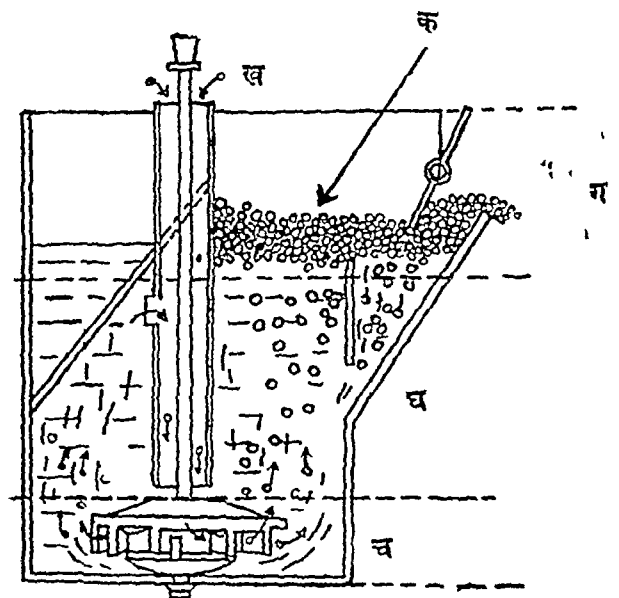
चित्र ६—उत्प्लावक

अयस्क को पानी मे पीसकर और उचित रासायनिक पदार्थ मिलाकर इस मशीन की टकी घ मे डाल दिया जाता है। चर्खी च मे नली ख से हवा आती रहती है। चरखी के नाचने से बहुत फेन (क) उठता है जिसे एक घूमती हुई पटरी काछकर मुँह ग से बाहर निकाल देती है।

करने के लिये हवा से आक्सिजन अलग करने की विधि तथा इनको शुद्ध करने की रीति में भी अतर है।

नाइट्रोजन के आक्साइड, नाइट्रिक अम्ल एव नाइट्रेट के अवकरण से अमोनिया प्राप्त की जा सकती है। उदाहरणत, हाइड्रोजन के साथ नाइट्रिक आक्साइड गरम प्लैटिनम-स्पाज अथवा प्लैटिनाइज्ड-ऐम्बेस्टस पर प्रवाहित करने से अमोनिया प्राप्त होती है। इसी प्रकार नाइट्रिक अम्ल से भी अमोनिया वनती है। इसमें गरम नली मे रध्रमय पत्थर (जैसे प्यूमिस स्टोन) की सतह की उपस्थिति तथा ताँवा, जस्ता, राँगा के आक्साइड या फेरिक आक्साइड आदि उत्प्रेरक की आवश्यकता पडती है। नाइट्रस तथा नाइट्रिक अम्ल पर हाइड्रोजन सल्फाइड, राँगा, लोहा या जस्ता की क्रिया से भी अमोनिया मिलती है। नाइट्रेट या नाइट्राइट लवण के क्षारसहित घोल में जस्ता, जस्ता तथा प्लैटिनम, ऐल्यूमिनियम या सोडियम अमैलगम की क्रिया से भी अमोनिया वनती है (इन लवणो की मात्रा ज्ञात करने के विचार मे यह क्रिया महत्वपूर्ण है)। नाइट्रेट तथा नाइट्राइट का अवकरण जीवाणुओ द्वारा भी होता है।

नाइट्रोजन के कुछ यौगिक जैसे फास्फाइड, सल्फाइड, आयोडाइड या क्लोराइड पर और कुछ धातुओ (जैसे लिथियम, कैल्सियम, मैग्नीशियम) के नाइट्राइड पर पानी की क्रिया से अमोनिया वनती है। कई साइनाइड भी अतितप्त (सुपरहीटेड) भाप द्वारा अमोनिया वनाते है। कैल्सियम साइनामाइड तथा पानी की क्रिया द्वारा हवा का नाइट्रोजन अमोनिया जैसे उपयोगी रासायनिक यौगिक मे परिवर्तित किया जा सकता है। यह फ्रैंक तथा कैरो की विधि है।

नाइट्रोजन युक्त कुछ कार्वनिक यौगिको से भी अमोनिया प्राप्त होती है। प्रारभ में इसका मूल स्रोत मूत्र तथा पशुओ का सीग, खुर इत्यादि था। साधारण मूत्र में २० से २५ ग्राम प्रति लीटर यूरिया होता है जो सडने पर अमोनियम कारवोनेट वनाता है। चमडा, सीग, वाल तथा पशुओ के अन्य भागो को वद वर्तनो में गरम करने से अमोनिया तथा काला तेल सा पदार्थ, जिसे डिपेल ऑयल कहते है, प्राप्त होता है और जातव कोयला (ऐनिमल चारकोल) वच रहता है।

पत्थर के कोयले को गरम करने पर (कोयले के सयुत नाइट्रोजन से) अमोनिया प्राप्त होती है। अत कोल गैस, जलाने योग्य कोयला (कोक) वनाने मे प्राप्त गैस, प्रोड्यूसर गैस और व्लास्ट फरनेस गैस से अमोनिया उपजात (वाइप्रॉडक्ट) के रूप मे मिलती है।

प्रयोगशाला मे साधारणतया नौसादर को तीव्र या वुझाए सूखे चूने के साथ गरम करके अमोनिया गैस तैयार की जाती है।

अमोनिया के घोल के कई वार आसवन से, अथवा द्रव अमोनिया से प्रभाजित आसवन (फ्रैक्शनल डिस्टिलेशन) द्वारा प्राप्त गैस को पिघलाए हुए ऐल्कैली हाइड्राक्साइड में सुखाने से शुद्ध अमोनिया मिलती है। अमोनिया से क्रिया करने के कारण इस कार्य के लिये सामान्य सुखानेवाली वस्तुएँ, जैसे कल्सियम क्लोराइड, गधक का अम्ल तथा फास्फोरस पेंटाक्साइड, प्रयुक्त नही की जा सकती है।

गुण—अमोनिया रगहीन गैस है। इसे सहसा सूँघने पर आँख मे आँसू आ जाता है। अधिक मात्रा से घुटन उत्पन्न होती है तथा इस गैस मे वद करने से जानवरो की मृत्यु हो जाती है। गैस का घनत्व ० ५९६३ (वायु =१), या ० ५३९५ (आक्सिजन=१), या ० ७७१० ग्राम प्रति लीटर (०° सेटीग्रेड, ७६० मिलीमीटर दाव पर) होता है। अमोनिया गैस सरलता से रगहीन तरल तथा वर्फ सदृश ठोस मे परिवर्तित की जा सकती है। क्रातिक (क्रिटिकल) ताप १३२ ४° से०, दाव १११ ५ वायुमडल तथा तरल का घनत्व ० २३५ ग्राम प्रति घन सेंटीमीटर है। अमोनिया का द्रवणाक – ७७ ७ सें० तथा क्वथनाक – ३३ ३५° से० है, सगलन उष्मा (– ७५° से० पर) १०८ १ तथा वाष्पायन उष्मा – ३३ ४°, – २०°, – १०° तथा ०° से० पर क्रमानुसार ३२७ १, ३१७ ६, ३०९ ७ और ३०१ ६ कैलोरी प्रति ग्राम है। (इस लेख मे सर्वत्र कैलोरी से ग्राम-कैलोरी (१५° से०) समझना चाहिए।)

पानी, ऐल्कोहल तथा वहुत से अन्य द्रवो मे अमोनिया घुलनशील है। पानी में इसकी घुलनशीलता अत्यधिक है। ०° सें० तथा ७६० मिलीमीटर पर पानी अपने आयतन के हजार गुने से भी अधिक अमोनिया घोल लेता है। इस क्रिया में ताप उत्पन्न होता है। ठढे घोल को गरम करके अमोनिया अशत या पूर्णत वाहर निकाली जा सकती है।

अमोनिया का वाष्प दवाव विभिन्न तापो पर इस प्रकार है –

१	१०	४०	१००	४००	७६० मिली०मि०
–१०९ १	–९१ ९	–७९ २	–६८ ४	–४५ ४	–३६ ६ सें०

अमोनिया का विशिष्ट ताप ठोस के लिये (–१०३° सें० से –१८८° सें० तक ताप पर) ० ५०२ है, द्रव के लिये (– ६०° सें० पर) १ ०४७ है, तथा गैस के लिये (१५° सें० और एक वायुमडल की स्थिर दाव पर) ० ५२३२ (कैलोरी/ग्राम/डिगरी सें०) है, स्थिर दाव तथा स्थिर आयतन के विशिष्ट ताप का अनुपात (अर्थात् γ)=१ ३१० है। गैस तथा द्रव अमोनिया की निर्माण उष्मा (१८° सें० तथा १ वायुमडल दाव पर) क्रमानुसार १० ९४ तथा १५ ८४ किलो-कैलोरी है।

आक्सिजन में अमोनिया गैस जलती है, जिससे नाइट्रोजन, जल एव अल्प मात्रा में अमोनियम नाइट्रेट और नाइट्रोजन पराक्साइड वनते है। गरम नली में आक्सिजन के साथ अमोनिया प्रवाहित करने से नाइट्रोजन के आक्साइड वनते है। यह क्रिया उत्प्रेरक (जैसे लोहा, ताँवा, निकल और विशेषकर प्लैटिनम) की उपस्थिति मे भी होती है। अमोनिया से शोरे का अम्ल वनाने की ऑस्टवाल्ट-विधि इसी पर आधारित है।

गरम करने अथवा विद्युत् चिनगारी या डिस्चार्ज से अमोनिया स्वत नाइट्रोजन तथा हाइड्रोजन में विघटित होती है। इस क्रिया की गति (अथवा विघटित अमोनिया की मात्रा) ताप, स्पर्श पृष्ठ की प्रकृति एव उत्प्रेरक की उपस्थिति पर निर्भर है। अल्ट्रावायलेट या रेडियम के ऐल्फा किरण से भी अमोनिया का विघटन होता है।

क्लोरीन मे यह गैस शीघ्रता से जलती है। इस क्रिया में अमोनियम क्लोराइड तथा नाइट्रोजन वनते है। ब्रोमीन तथा आयोडीन के साथ भी यौगिक वनते है। वाष्पीय गवक को अमोनिया के साथ गरम नली में प्रवाहित करने पर अमोनियम मोनो तथा पॉली-सल्फाइड प्राप्त होते है। गरम कार्वन पर अमोनिया की क्रिया से साइनाइड वनता है। कुछ धातुओ को (जैसे मैग्नीशियम, जस्ता, टाइटेनियम, इत्यादि को) अमोनिया मे गरम करने पर नाइट्राइड वनते है। इसी तरह गरम ऐल्कली धातु सूखी अमोनिया से अमाइड वनाते है, जैसे सोडियम अमाइड या सोडामाइड, पोटैशामाइड इत्यादि।

वहुत से लवण अमोनिया के सयोग से नए यौगिक वनाते है, जैसे कैल्सियम, जस्ता या चाँदी के क्लोराइड से उनके अमीनो-क्लोराइड प्राप्त होते है। इस तरह के कुछ यौगिक (जैसे मैंगनीज़ अमीनो-सल्फेट) हवा में रखने से और कुछ यौगिक (जैसे जिंक अमीनो सल्फेट) गरम करने से अमोनिया देते है। द्रव मे रूपातरण के लिये फैराडे ने इसी विधि द्वारा अमोनिया गैस प्राप्त की थी।

निम्न तापक्रम पर अध्ययन से ज्ञात हुआ कि पानी के साथ अमोनिया के दो हाइड्रेट, नाहा$_3$ हा$_2$औ (औ=आक्सिजन) (छोटे रगहीन रवेवाला) और नाहा$_3$, $\frac{1}{2}$ हा$_2$औ (सुई के आकार के रवेवाला), वनते है। अमोनिया का पानी में घोल क्षारीय है और अम्ल के साथ क्रिया करने पर अमोनियम लवण बनता है, जैसे अमोनियम क्लोराइड, अमोनियम नाइट्रेट, अमोनियम सल्फेट इत्यादि। अमोनिया के घोल मे कुछ आक्साइड, हाइड्राक्साइड तथा लवण भी घुल जाते है, जैसे सिल्वर आक्साइड, कापर हाइड्राक्साइड, सिल्वर क्लोराइड। इस प्रकार के कापर हाइड्राक्साइड का घोल नकली रेशम (रेयन) वनाने में उपयुक्त होने के कारण औद्योगिक महत्व की वस्तु है।

द्रव अमोनिया अच्छा घोलक है। इसमें वहुत सी धातुएँ, लवण और अन्य यौगिक घुल जाते है। कुछ लवण, जो पानी में सूक्ष्म मात्रा में ही घुल सकते है अमोनिया मे अच्छी तरह घुल जाते है, जैसे सिलवर आयोडाइड। वहुत से कार्वनिक यौगिक भी अमोनिया मे घुलते है। अमोनिया के घोल में यौगिको की सगत (ऐसोसिएशन) करने अथवा घोलक के साथ यौगिक वनाने की प्रवृत्ति है।

कुछ अम्ल अमोनियम लवण के रूप में द्रव अमोनिया मे घुल जाते है तथा पोटैसियम, सोडियम और मैंगनीशियम धातु की क्रिया से हाइड्रोजन देते है, जैसे ऐसिटामाइड, सोडियम अमाइड तथा पोटसियम ऐसिटामाइड।

पश्चिम से पूर्व को है। पश्चिमी तट पर लावानिर्मित ऊँची पर्वतश्रेणियाँ मिलती हैं जिनकी औसत ऊँचाई ५,००० फुट है। इनकी सर्वाधिक ऊँचाई यमन राज्य में १२,३३६ फुट है। अरब के मध्य भाग की ऊँचाई २,००० से ३,००० फुट है।

यह ससार की अति उष्ण पट्टी मे पडता है। यमन, असीर, एव ओमान की पहाडियो को छोड अरब का सपूर्ण भाग शुष्क एव उष्ण है, जहाँ वर्षा साल भर मे ५ इच से भी कम होती है। सततप्रवाहिनी नदियो का सर्वथा अभाव है। अरब मे तीन प्रकार के क्षेत्र मिलते हैं (१) कठिन मरुस्थल, (२) शुष्क प्रगोपस्थली (स्टेप्स), (३) मरूद्यान एव कृपिक्षेत्र। कठिन मरुस्थलो मे न जल है, न किसी प्रकार की वनस्पति। इसके अतर्गत नफूद, दहना एव रुब-अल-खाली के बलुए ढेर एव ककड के क्षेत्र हैं। नफूद में बद्दू लोग, जाडे मे थोडी वर्षा होने पर, ऊँट तथा भेड चराते है। रुब-अल-खाली के पूर्वी भाग मे अलमुर्रा एव अन्य जातियाँ प्रसिद्ध ओमानी ऊँट पालती हैं।

स्टेप्स के अतर्गत हमाद, हेजाज एव मिदियाँ के क्षेत्र हैं। यहाँ कही कही प्राकृतिक जलछिद्र तथा कँटीली झाडियाँ मिलती हैं। मरूद्यान एव कृपिक्षेत्र मध्य भाग (जिसे नज्द कहते हैं) तथा तटीय भागो मे मिलते हैं। नज्द में तीन मरूद्यान एक दूसरे से जुडे हैं, जिनके बीच मे रियाध नगर है। रियाध सऊदी अरब राज्य की राजधानी है। तटीय उर्वर क्षेत्रो मे यमन, हासा, ओमान का बटीनाह् तट तथा वादी हद्रेमौत प्रमुख हैं। यमन जगत्प्रसिद्ध मोच्चा कहवा की जन्मभूमि है।

अरब प्रायद्वीप खनिज तेल का भाडार है, जिसकी सचित निधि ९ अरब (९०० करोड) बैरल बताई जाती है। सोना, चाँदी, गधक तथा नमक अन्य प्रमुख खनिज हैं।

यहाँ का मुख्य उद्यम घोडा, ऊँट, गदहा, भेड तथा बकरा पालना है। खजूर एव ऊँट का दूध अरब लोगो का मुख्य भोजन है। मरूद्यान मे गेहूँ, जौ, ज्वार बाजरे के अतिरिक्त अगूर, अखरोट, अनार, अजीर तथा खजूर आदि फल उपजाए जाते हैं। पठारो पर सेब तथा घाटियो मे केला पैदा किया जाता है।

मुसलमानो के तीर्थस्थान मक्का (जनसख्या ६०,०००) एव मदीना प्रायद्वीप के पश्चिमी भाग (हेजाज) मे स्थित हैं। ९०% तीर्थयात्री जिद्दा बदरगाह से होकर इन तीर्थस्थानो मे जाते है। [न० कि० प्र० सि०]

अरब का इतिहास अरब के अतर्गत विविध प्रादेशिक इकाइयो मे यमन, हेजाज, ओमान, हज्रमोत, नज्द, हसा और हिरा मुख्य है। १९वी शताब्दी मे दक्षिणी अरब से जो प्राचीन शिलालेख प्राप्त हुए है उनके अनुसार हजरत ईसा से कम से कम एक हजार वर्ष पहले अरब मे एक ऊँचे दरजे की सभ्यता विद्यमान थी। प्राचीन असूरी शिलालेखो, इजील के पुराने अहदनामे और प्राचीन ग्रथो से भी इसकी पुष्टि होती है। अरब इतिहास के सभी विशेषज्ञ इस बात से सहमत हैं कि नवी शताब्दी ई० पू० मे अरब मे चार सुसभ्य राज्यो का अस्तित्व मिलता है। ये राज्य थे—माइन, सबा, हज्रमोत और कतावानू।

इन चारो मे सबा राज्य के सबध मे विद्वानो का लगभग एक मत है। तौरेत के अनुसार सबा की राजमहिषी 'सम्राज्ञी शेबा' ने लगभग ९५० ई० पू० मे सम्राट् सुलेमान से भेंट की थी। छठी सदी ई० पू० तक सबा राजकुल की राजधानी सिरवाह थी। उसके पश्चात् राजकुल बदला और मारिब राजधानी बनी। सबा के राजकुलो के हाथो मे ११५ ई० पू० तक शासन की बागडोर रही। सबा राजकुलो के अतर्गत अरब का दक्षिण-पश्चिमी भाग समृद्धि की चरम सीमा पर पहुँचा। भारत के साथ मिस्र का समस्त व्यापार अरब के इसी भाग के माध्यम से होता था। भारत से तिजारती बेडे माल लेकर यहीं आते थे और यहाँ से स्थलमार्ग द्वारा यह माल मिस्र जाता था। मिस्र के तोलेमी सम्राटो ने जब सीधे स्थलमार्ग से भारत के साथ व्यापार प्रारभ किया तब सबा का महत्व समाप्त हो गया।

प्राचीन अरब के दूसरे राजकुल माइन का प्रभाव अरब के दक्षिणी भाग पर पूरी तरह फैला हुआ था। प्राचीन आलेखो के अनुसार माइन राजकुल के २५ राजाओ का पता चलता है। निस्सदेह इस राजकुल का कई सदियो तक प्रभाव रहा होगा। यह सभव है कि माइन और सबा के राजकुल समकालीन रहे हो।

११५ ई० पू० मे दक्षिण-पश्चिम अरब मे शासन की बागडोर साबियो के हाथो से हज्रमौत के हिमयारितो के हाथो मे चली गई। लगभग इसी समय कतावानू राजकुल का भी अत हो गया। कतावानू राजकुल के सबध मे बहुत कम ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त है। हिमयार राजकुल ने अपने को 'सबा और रायदान राजकुल' के नाम से पुकारना शुरू किया। यह वह समय था जब रोम की सत्ता ने अरब की राजनीति में हस्तक्षेप करना प्रारभ किया। रोमी सत्ता ने एलिअस गालस नामक सेनापति के नेतृत्व मे एक बडी रोमी सेना अरब पर आक्रमण करने के लिये भेजी, किंतु अरब मार्गदर्शको ने इस सेना को मरुस्थल मे ऐसा भटकाया कि वह पानी की तलाश करते करते समाप्त हो गई। हिमयारितो की सत्ता चौथी सदी ईसवी तक अरब के दक्षिण-पश्चिमी भाग पर एकछत्र शासन करती रही।

चौथी सदी ई० मे इथियोपिया की सेनाओ ने दक्षिण-पश्चिमी अरब के एक भाग पर अधिकार कर लिया। लगभग एक सदी तक प्रभुत्व के लिये हिमयारितो के साथ उनका सघर्ष चलता रहा। सन् ५२५ ई० मे रोमी सत्ता की सहायता से इथियोपिया की सेना ने अरब के इस भाग पर पूर्ण अधिकार कर लिया, किंतु इथियोपिया की यह एकछत्र सत्ता केवल ५० वर्ष तक ही अरब के इस भाग पर रह सकी। सन् ५७५ ई० मे ईरानी सम्राट् की सेनाओ ने इथियोपिया के हाथो से यहाँ के शासन की बागडोर छीन ली। इसके बाद दक्षिण-पश्चिमी अरब के इस भाग के यमन प्रात का शासन ईरानी सम्राट् के क्षत्रप द्वारा होने लगा।

इन राजकुलो के अतिरिक्त हिरा, गस्सान और किंदा की रियासते भी पूर्वोत्तर और मध्य अरब मे उभरी। तीसरी सदी ई० से लकर छठी सदी ई० तक इन रियासतो का अस्तित्व कायम रहा। छठी सदी ई० मे इन रियासतो ने रोम या ईरान की अधीनता स्वीकार कर ली।

हज़रत मोहम्मद के जन्म के समय छठी सदी ई० मे अरब का अधिकतर भाग विदेशी शासन के अधीन था। साम और ईरान की सरहद से मिले हुए भाग अलग अलग कुस्तुनतुनिया के रोमन सम्राटो और ईरान के खुसरो के अधीन थे। लालसागर के किनारे का भाग इथियोपिया के ईसाई बादशाह के अधीन था। केवल हेजाज का प्रात, जिसमे मक्का और मदीना शहर हैं, नज्द, ओमान और हज्रमौत के कुछ हिस्से ही सपूर्ण अरब मे अपने को स्वतत्र कह सकते थे।

अरबो मे वीरता की कमी न थी। उन्हे स्वतत्रता बहुत प्यारी थी। त्याग और बलिदान के लिये वे सदा तत्पर रहते थे। अतिथियो का सत्कार करना और अपनी जान पर मर मिटना उन्हे खूब आता था, किंतु वे झूठे वहमो और कुरीतियो मे डूबे हुए थे। सारा देश सकडो कबीलो मे बँटा हुआ था और हर कबीला सैकडो शाखाओ और उपशाखाओ मे। कबील के एक व्यक्ति का अपमान समस्त कबीले का अपमान समझा जाता था। इन कबीलो मे नित्यप्रति लडाइयाँ होती रहती थी और परिणामस्वरूप भयकर रक्तपात होता रहता था और नित्य युद्ध के हजारो कैदी गुलामो की तरह बाजारो में बिकते रहते थे।

थोडे से कबीलो को छोडकर, जिन्होने यहूदी या ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया था, शेप सब अरब अपने पुराने धर्म को ही मानते थे। असख्य देवी-देवताओ की पूजा उनमे प्रचलित थी। हर कबीले का अपना अलग देवता होता था। देवताओ के सामने पशुओ की बलि चढाई जाती थी। कोई कोई तो अपने देवताओ के आगे अपने बेटो को काटकर चढा देते थे। कुछ अरब एक सर्वोपरि परमात्मा को भी मानते थे जिसे वे 'अल्लाह ताला' कहते थे। अधिकाश अरब हज़रत इब्राहीम के बेटे इस्माइल से अपना निकास बताते थे।

सारे देश मे जुए और शराब का बेहद प्रचार था। लडकियो को जिंदा दफन कर देने का आम रिवाज था। अरबो मे एक कहावत प्रसिद्ध

और फास्फीन हैं। द्रव अमोनिया घुल जाता है पर फीनोल्फ्थैलीनसे कोई रग नही देता। अत कहाँ तक यह समाक्षार कहा जा सकता है, यह बात सदिग्ध है।

यद्यपि ऊपर की समाक्षार की परिभाषा बडी असतोषप्रद है, पर इससे अच्छी परिभाषा नही दी जा सकी है। समाक्षार (बेस) और क्षार (ऐल्कैली) पर्यायवाची शब्द नही हैं। सब क्षार समाक्षार हैं पर सब समाक्षार क्षार नही हैं। क्षार-धातुओं के आक्साइड, जैसे सोडियम आक्साइड, जल में घुलकर हाइड्राक्साइड बनाते हैं। ये प्रबल समाक्षारीय होते हैं। क्षारीय-मृदा-धातुओं के आक्साइड जैसे कैल्सियम आक्साइड, जल मे अल्प विलेय और अल्प क्षारीय होते हैं। अन्य धातुओं के आक्साइड जल मे घुलते नही और उनके हाइड्राक्साइड परोक्ष रीतियो से ही बनाए जाते हैं।

धातुओं के आक्साइड और हाइड्राक्साइड समाक्षार होते हैं। क्षार-धातुओं के आक्साइड जल में शीघ्र घुल जाते हैं। कुछ धातुओं के आक्साइड जल में कम विलेय होते हैं और कुछ धातुओं के आक्साइड जल में तनिक भी विलेय नही हैं। कुछ अधातुओं के हाइड्राइड, जैसे नाइट्रोजन और फास्फरस के हाइड्राइड (क्रमश अमोनिया और फास्फीन) भी भस्म होते हैं।

[फू० स० व०]

अम्लाट गार्गीसहिता के युगपुराणवाले स्कध में एक शक आक्रमण का उल्लेख है जो मगध पर ल० ३५ ई० पू० में हुआ था। इस आक्रमण का नेता शक अम्लाट था। अम्लाट सभवत शकराज अयस् (ल० ५८-११ ई० पू०) का प्रातीय शासक था और उत्तर-पश्चिम के भारतीय सीमाप्रात से चलकर सीधा मगध तक जा पहुँचा। यह शक आक्रमण इतना प्रबल और भयानक था कि मगध को इसने अपूर्व सकट मे डाल दिया। युगपुराण में लिखा है कि अम्लाट ने इतना नरसहार किया कि मगध में रक्षा करने और हल चलाने के लिये एक पुरुष भी न बचा और हल आदि चलाने का कार्य भी स्त्रियाँ ही करने लगीं, वही शासन भी करती थी।

[ओ० ना० उ०]

अयथार्थ घट का पटरूप से अनुभव होना अयथार्थ कहलाएगा, क्योकि घट मे जिस पटत्व का अनुभव हम कर रहे हैं, वह (पटत्व) उस पदार्थ (घट) में कभी विद्यमान नही रहता। फलत 'अतद्वति तत्प्रकारकोऽनुभव' अयथार्थ अनुभव का शास्त्रीय लक्षण है। न्यायशास्त्र में यह तीन प्रकार का माना गया है (१) सशय, (२) विपर्यय, (३) तर्क। एकधर्मी (धर्म से युक्त पदार्थ) में जब अनेक विरुद्ध धर्मो का अवगाही ज्ञान होता है, तब वह सशय (या सदेह) कहलाता है। सामने खडा हुआ पदार्थ वृक्ष का स्थाणु (ठूँठ) है या पुरुष ? यह सशय है, क्योकि एक ही धर्मी में स्थाणुत्व तथा पुरुषत्व जैसे दो विरुद्ध धर्मो का समभाव से ज्ञान होता है। विपर्यय मिथ्या ज्ञान को कहते हैं, जैसे सीप (शुक्ति) मे चाँदी का ज्ञान। दोनो का रग सफेद होने से दर्शक को यह मिथ्या अनुभव होता है।

'तर्क' न्यायशास्त्र का एक विशेष पारिभाषिक शब्द है। अविज्ञात-स्वरूप वस्तु के तत्वज्ञान के लिये उपपादक प्रमाण का जो सहकारी ऊह (सभावना) होता है उसे ही 'तर्क' कहते हैं। प्राचीन न्यायशास्त्र मे तर्क के ग्यारह भेद माने जाते थे जिनमें से केवल पाँच भेद नव्य नैयायिको को मान्य हैं। उनके नाम हैं (१) आत्माश्रय, (२) अन्योन्याश्रय, (३) चक्रक, (४) अनवस्था तथा (५) प्रमाणबाधितार्थ प्रसग। इनमे अतिम प्रकार ही विशेष प्रसिद्ध है जिसका दृष्टात इस प्रकार होगा कोई व्यक्ति पर्वत से निकलनेवाली धूमशिखा को देखकर 'पर्वत वह्निमान् है'—यह प्रतिज्ञा करता है और तदनुकूल व्याप्ति भी स्थिर करता है—"जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है"। इसपर कोई प्रतिपक्षी व्याप्ति का विरोध करता है। अनुमानकर्ता इसके विरोध को स्वीकार कर उसमे दोष दिखलाता है। यदि पर्वत पर आग नही है, तो उसमे धूम भी नही होगा। परतु धूम तो स्पष्टत दिखाई देता है। अत प्रतिपक्षी का पक्ष मान्य नही। यहाँ वक्ता प्रथमत व्याप्य (वह्न्यभाव) की सत्ता पर्वत के ऊपर मानता है और इस आरोप से व्यापक (धूमाभाव) की सत्ता वहाँ सिद्ध करता है। ये दोनो मिथ्या होने के कारण 'आरोप' ही हैं। यहाँ प्रत्यक्षविरुद्ध अनुमान 'तर्क' कहलाएगा।

[ब० उ०]

अयन आधे वर्ष तक सूर्य आकाश के उत्तर गोलार्ध मे रहता है, आधे वर्ष तक दक्षिण गोलार्ध में। दक्षिण गोलार्ध से उत्तर गोलार्ध में जाते समय सूर्य का केंद्र आकाश के जिस बिंदु पर रहता है उसे वसत-विषुव कहते हैं। यह बिंदु तारो के सापेक्ष स्थिर नही है, यह धीरे धीरे खिसकता रहता है। इस खिसकने को विषुव-अयन या सक्षेप मे केवल अयन (प्रिसेशन) कहते हैं (अयन=चलना)। वसत-विषुव से चलकर और एक चक्कर लगाकर जितने काल में सूर्य फिर वही लौटता है उतने को एक सायन वर्ष कहते हैं। किसी तारे से चलकर सूर्य के वही लौटने को नाक्षत्र वर्ष कहते हैं। यदि विषुव चलता न होता तो सायन और नाक्षत्र वर्ष बराबर होते। अयन के कारण दोनो वर्षो में कुछ मिनटो का अतर पडता है। आधुनिक नापो के अनुसार औसत नाक्षत्र वर्ष का मान=३६५ दिन ६ घटा ९ मिनट ९.६ सेकड, लगभग, और औसत सायन वर्ष का मान=३६५ दिन ५ घटा ४८ मिनट ४६.०५४ सेकड, लगभग। सायन वर्ष के अनुसार ही व्यावहारिक वर्ष रखना चाहिए, अन्यथा वर्ष का आरभ सदा एक ऋतु मे न पडेगा। हिंदुओं में जो वर्ष अभी तक प्रचलित था वह सायन वर्ष से कुछ मिनट बडा था। इसलिये वर्ष का आरभ आगे की ओर खिसकता जा रहा था। उदाहरणत पिछले ढाई हजार वर्षों में २१ या २२ दिन का अतर पड गया है। ठीक ठीक बताना सभव नही है, क्योकि सूर्यसिद्धात, ब्रह्मसिद्धात, आर्यभटीय इत्यादि में वर्षमान थोडा बहुत भिन्न है। यदि हम लोग दो चार हजार वर्षों तक पुराने वर्षमान का ही प्रयोग करें तो सावन भादो के महीने उस ऋतु मे पडेंगे जब कडाके का जाडा पडता रहेगा। इसीलिये भारत सरकार ने अब अपने राष्ट्रीय पचाग मे ३६५.२४२२ दिनो का सायन वर्ष अपनाया है।

अयन का एक परिणाम यह होता है कि आकाशीय ध्रुव, अर्थात् आकाश का वह बिंदु जो पृथ्वी के अक्ष की सीध में है, तारो के बीच चलता रहता है। वह एक चक्कर लगभग २६,००० वर्षो मे लगाता है। जब कभी उत्तर आकाशीय ध्रुव किसी चमकीले तारे के पास आ जाता है तो वह तारा पृथ्वी के उत्तर गोलार्ध मे ध्रुवतारा कहलाने लगता है। इस समय उत्तर आकाशीय ध्रुव प्रथम लघु सप्तर्षि (ऐल्फा अरसी मैजोरिस) के पास है। इसीलिये इस तारे को हम ध्रुवतारा कहते हैं। अभी आकाशीय ध्रुव ध्रुवतारे के पास जा रहा है, इसलिये अभी सैकडो वर्षो तक पूर्वोक्त तारा ध्रुवतारा कहला सकेगा। लगभग ५००० वर्ष पहले प्रथम कालिय (ऐल्फा ड्रैकोनिस) नामक तारा ध्रुवतारा कहलाने योग्य था। बीच में कोई तारा ऐसा नही था जो ध्रुवतारा कहलाता। आज से १५,००० वर्ष पहले अभिजित (वेगा) नामक तारा ध्रुवतारा था। हमारे गृह्य सूत्रो में विवाह के अवसर पर ध्रुवदर्शन करने का आदेश है। प्रत्यक्ष है कि उस समय कोई न कोई ध्रुवतारा अवश्य था। इससे अनुमान किया गया है कि यह प्रथा आज से लगभग ५,००० वर्ष पहले चली होगी।

शतपथ ब्राह्मण मे लिखा है कि कृत्तिकाएँ पूर्व मे उदय होती हैं। इससे शतपथ लगभग ३,००० ई० पू० का ग्रथ जान पडता है, क्योकि अयन के कारण कृत्तिकाएँ उसके पहले और बाद मे पूर्व में नहीं उदय होती थी।

अयन का कारण—लट्टू को नचाकर भूमि पर इस प्रकार रख देने से कि लट्टू का अक्ष खडा न रहकर कुछ तिरछा रहे, लट्टू का अक्ष धीरे-धीरे मँडराता रहता है और वह एक शकु (कोन) परिलिखित करता है। ठीक इसी तरह पृथ्वी का अक्ष एक शकु परिलिखित करता है जिसका अर्ध शीर्षकोण लगभग २३½° होता है। कारण यह है कि पृथ्वी ठीक ठीक गोलाकार नही है। भूमध्य पर व्यास अधिक है। मोटे हिसाब से हम यह मान सकते हैं कि केंद्रीय भाग शुद्ध रूप से गोलाकार है और उसके बाहर निकला भाग भूमध्यरेखा पर चिपका हुआ एक वलय है। सूर्य सदा रविमार्ग के समतल मे रहकर पृथ्वी को आकर्षित करता है। यह आकर्षण पृथ्वी के केंद्र से होकर नही जाता, क्योकि पूर्वकल्पित वलय का एक खड अपेक्षाकृत सूर्य के कुछ निकट रहता है, दूसरा कुछ दूर (चित्र देखें)। निकटस्थ भाग पर आकर्षण अधिक पडता है, दूरस्थ पर कम। इसलिये इन आकर्षणो की यह प्रवृत्ति होती है कि पृथ्वी को घुमाकर उसके अक्ष को रविमार्ग-धरातल पर लब कर दें। यह घूर्णन जब पृथ्वी के अपने अक्ष के

सन् ७५० ई० तक मुआविया के खानदानवाले, जिन्हें बनी उमैया कहा जाता है, खलीफा की गद्दी पर आसीन रहे। इस काल अरब सेनाओं ने एक ओर सिंध को जीता, दूसरी ओर स्पेन को अपने अधीन किया। खुरासान को भी अरब झंडे के नीचे शामिल किया गया और अफ्रीका महाद्वीप में अरब सत्ता का सफलतापूर्वक विस्तार हुआ। उमैया खानदान के अंतिम खलीफा मर्वान द्वितीय का वध करके बनी हाशिम खानदान के अब्बासी खलीफाओं का शासन प्रारंभ हुआ। अब्बासियो का पहला खलीफा था अबुल अब्बास और अंतिम मुतास्सिम। पाँच शताब्दियों तक अब्बासी खलीफा अरब संसार के ऊपर हुकूमत करते रहे। अंत में सन् १२५८ ई० में मंगोल विजेता हुलाकू के आक्रमण ने अंतिम अब्बासी खलीफा के साथ साथ अब्बासी राजकुल का सदा के लिये अंत कर दिया।

अब्बासी खलीफाओं में सबसे चमकते हुए नाम हारूँ अल रशीद और उसके बेटे मामू का है। हारूँ वीर योद्धा, कुशल सेनापति और चतुर शासक के अतिरिक्त विद्वानों का सम्मान करनेवाला था। उसके शासनकाल में ज्ञान विज्ञान का एक नया युग प्रारंभ हुआ। उसके दरबार में देश विदेश के विद्वान् आकर एकत्रित होते थे और शायरी, वक्तृत्वकला, इतिहास, कानून, विज्ञान, आयुर्वेद, संगीत और कला आदि विषयों पर चर्चा करते थे। इसी प्रकार खलीफा मामू के शासनकाल में भी साहित्य, विज्ञान और दर्शन शास्त्र की अभूतपूर्व उन्नति हुई। अपने दरबार में वह साहित्यकारों, दार्शनिकों, हकीमों, कवियों, वैज्ञानिकों, कलाकारों और इतिहासज्ञों का खूब आदर सम्मान करता था। भाषाविज्ञान और व्याकरण शास्त्र ने भी उसके समय में यथेष्ट उन्नति की। उसने अनुवाद के काम को भी प्रोत्साहन दिया और संस्कृत तथा यूनानी भाषाओं के महत्वपूर्ण ग्रंथों का अरबी में अनुवाद करवाया। ज्योतिष और नक्षत्रविज्ञान की उन्नति में भी उसने काफी रुचि दिखाई।

अब्बासी खलीफाओं के पतन के बाद अरबों की सत्ता और उनका महत्व समाप्त हो गया। मक्के पर मिस्र की ओर से एक अमीर शासन करने लगा। मक्के और मदीने के बाहर पूरी अराजकता फैल गई। बद्दुओं की लूट मार के कारण हज की यात्रा तक सुरक्षित नहीं रह गई। सन् १५१७ ई० में जब तुर्की के सुलतान सलीम ने मिस्र पर अधिकार कर लिया तब मक्के के शरीफ ने शहर की तालियाँ तुर्क सुलतान के हवाले करके उसे हेजाज का अधिराज स्वीकार कर लिया। लगभग एक शताब्दी के बाद सन् १६३० ई० में यमन के एक सरदार कासिम ने तुर्कों को निकालने के बाद अरब पर अपनी इमामत की घोषणा की। अरब के एक भाग पर इस कुल की इमामत सन् १८७१ तक कायम रही।

अरब का आधुनिक इतिहास १८वीं शताब्दी के आरंभ में वहाबी आंदोलन से प्रारंभ होता है। उस समय अरब अनेक स्वतंत्र रियासतों में बँटा हुआ था जिनके सरदारों में आए दिन लड़ाइयाँ होती रहती थीं। इन्हीं में एक सरदार मोहम्मद इब्न सऊद था। उसने मध्य और पूर्वी अरब पर अपना शासन कायम कर लिया। उसने मुहम्मद इब्न अब्दुल वहाब नामक धार्मिक सुधारक की शिक्षाओं को अपनाकर शासन प्रारंभ किया। सन् १८०४ में सऊद के वंशजों ने मक्के और मदीने पर अधिकार कर लिया। इसी समय के लगभग यूरोपीय शक्तियों ने भी तेल की खानों के लालच में अरब की राजनीति में दखल देना शुरू किया। प्रथम विश्वयुद्ध का लाभ उठाकर सऊद राजकुल के उत्तराधिकारी इब्न सऊद ने अरब प्रायद्वीप के एक बड़े भाग पर और विशेषकर हेजाज पर अपना आधिपत्य जमा लिया। सऊद ने अपने राज्य का नया नाम "सऊदी अरब" रखा। तब से अब तक इब्न सऊद ही सऊदी अरब के अधिराज हैं। सऊदी अरब के मुख्य नगरों में मक्का, जिद्दा, रियाज और मदीना शामिल हैं। अरब की अन्य स्वतंत्र रियासतों में यमन, ओमान और बहरैन हैं। अरब के बंदरगाह अदन पर अंग्रेजों की हुकूमत आज भी कायम है।

इब्न सऊद के शासन में सऊदी अरब में कई सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सुधार हुए। इस संबंध में स्वयं इब्न सऊद के शब्द हैं—"हम वहाबियों को पहले पवित्र काबे में जाने तक की अनुमति न थी। इसके बाद हमारी दुआओं को स्वीकार करके अल्लाह ने हमें मक्का और मदीना के पवित्र नगरों की खिदमत बख्शी। जिस समय से शासन हमारे हाथों में आया है उस समय से हमने कड़ाई के साथ शराब पीना, जुआ खेलना, कब्रों की पूजा करना और लूटमार करना बंद कर दिया है। हमने अरब कौम की आत्मा को विदेशी एजेंटों के हाथों से मुक्त किया है। हम चाहते हैं कि अरब की तीन आजाद रियासतें भी पूरी तरह आजाद होकर समस्त अरब कौम के साथ एकता के धागे में बँधें। इस दिशा में हम निरंतर प्रयत्न करते रहेंगे।"

सं०ग्रं० सर विलियम म्यूर लाइफ ऑव मोहेमट (१८७८), दी कैलीफेट, इट्स राइज, डिक्लाइन ऐंड फाल (१८९१), एम० ए० फज्ल लाइफ ऑव मोहम्मद (१९२८), महमूद पाशा फलकी सीरतुन्नबी (१९२४), ए० जी० लिओनार्ड इस्लाम, हर मारेल ऐंड स्पिरिचुअल वैल्यू (१८९२), टी० डब्ल्यू० आर्नल्ड दी प्रीचिंग ऑव इस्लाम (१८९६), लेनपूल मोहम्मडन डायनेस्टीज (१८९४), अली अमीर ए शार्ट हिस्ट्री ऑव सेरासेस (१८९९), साइमन ओक्ले हिस्ट्री ऑव दी सैरासेस (१७०८), फैजान ओमय्यद्स ऐंड अब्बासीज, पालग्रेव सेंट्रल ऐंड ईस्टर्न अरेबिया (१८६५), मैकेंजी दि खिलाफत ऑव दी वेस्ट, रेनाल्ड ए० निकलसन दी मिस्टिक्स ऑव इस्लाम, जाकी अली इस्लाम इन दी वर्ल्ड (१९३८), पंडित सुंदरलाल हजरत मोहम्मद और इस्लाम (१९४१)। [वि० ना० पा०]

अरबगिर तुर्की राज्य में मलाटिया प्रांत का एक नगर है जो पूर्वी तथा पश्चिमी फरात नदियों के संगम से कुछ दूर, संयुक्त नदी के दाहिने किनारे से थोड़ी दूरी पर स्थित है। एक सड़क द्वारा यह सिवास नगर से संबद्ध है। यहाँ के अधिकांश लोग वाणिज्य तथा अन्य व्यवसायों में लगे हुए हैं। फलों तथा तरकारियों की खेती करना यहाँ का दूसरा मुख्य धंधा है। रेशमी, सूती तथा ऊनी कपड़े भी यहाँ तैयार किए जाते हैं। वर्तमान नगर बहुत पुराना नहीं है, किंतु दो मील पर पुराना नगर है जिसे अस्कीशहर कहते हैं। नगर की जनसंख्या ५०,००० है (१९५१)। [हु० ह० सि०]

अरब सागर हिंद महासागर का उत्तरी-पश्चिमी भाग है। इसकी सीमाएँ पूर्व में भारत, उत्तर में पाकिस्तान तथा दक्षिणी ईरान और पश्चिम में अरब तथा अफ्रीका के सोमाली प्रायद्वीप द्वारा निर्धारित होती हैं। इस सागर की दो मुख्य शाखाएँ हैं। पहली शाखा अदन की खाड़ी है जो लाल सागर और अरब सागर को बाबलमदब के जलसंयोजक द्वारा मिलाती है। दूसरी शाखा ओमान की खाड़ी है जो आगे चलकर फारस की खाड़ी कहलाती है। अरब सागर का क्षेत्रफल (अंतर्गत समुद्रों सहित) लगभग १७,१५,००० वर्ग मील है। यह सागर प्राचीन काल में समुद्रतटीय व्यापार का केंद्र था और इस समय यूरोप और भारत के बीच के प्रधान समुद्र मार्ग का एक अंग है।

अरब सागर में द्वीपों की संख्या न्यून है और वे अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। इन द्वीपों में कुरिया मुरिया, सोकोत्रा और लकादिव द्वीपसमूह उल्लेखनीय हैं। लकादिव द्वीपसमूह समुद्रांतर (सबमैरीन) पर्वत श्रेणियों के द्योतक हैं। इन द्वीपों का क्रम दक्षिण की ओर हिंद-महासागर के मालदिव और चागोज द्वीपसमूहों तक चला जाता है। यह समुद्रांतर श्रेणी संभवत अरावली पर्वत का ही दक्षिणी क्रम है जो तृतीयक (टर्शियरी) युग में, गोंडवाना प्रदेश के खंडन और भारत के पश्चिमी तट के विभंजन के साथ ही मुख्य पर्वत से विच्छिन्न हो गया। लकादिव-मालदिव-चागोज शृंखला पूर्णत प्रवाल (कोरल) द्वारा रचित है और विश्व की कुछ सर्वोत्कृष्ट प्रवालयाएँ (ऐटॉल) एवं उपह्लद (लैगून, समुद्री ताल) यहाँ विद्यमान हैं। बंबई और कराची के बीच की तटरेखा को छोड़कर इस सागर में महाद्वीपीय निधाय (कांटिनेंटल शेल्फ) अत्यंत संकीर्ण है और महाद्वीपीय ढाल (स्लोप) बड़ी तेज है। [उस लगभग चौरस भूमि को महाद्वीपीय निधाय कहते हैं जो समुद्र के तट पर जल के नीचे रहता है और जिसकी गहराई ६०० फुट से कम होती है। इसके बाद गहराई बड़ी तेजी से बढ़ती है। इस

आपेक्षिक घनत्व, तलऊर्जा (सर्फेस एनर्जी), अतिवेध्यता (पर्मिएविलिटी) और विद्युच्चालकता, की सहायता से किया जाता है।

हाथ से चुनना—अयस्क की भिन्न भिन्न इकाइयों को उनके रंग या द्युति की सहायता से चुन लेते हैं। इस क्रिया द्वारा अयस्क के वे टुकडे पृथक् हो जाते हैं जो तत्क्षण धातुकर्म के योग्य होते है, उदाहरणार्थ गेलीना और कैलको-पाइराइट में से भिन्न खनिज इसी रीति से अलग किए जाते हैं।
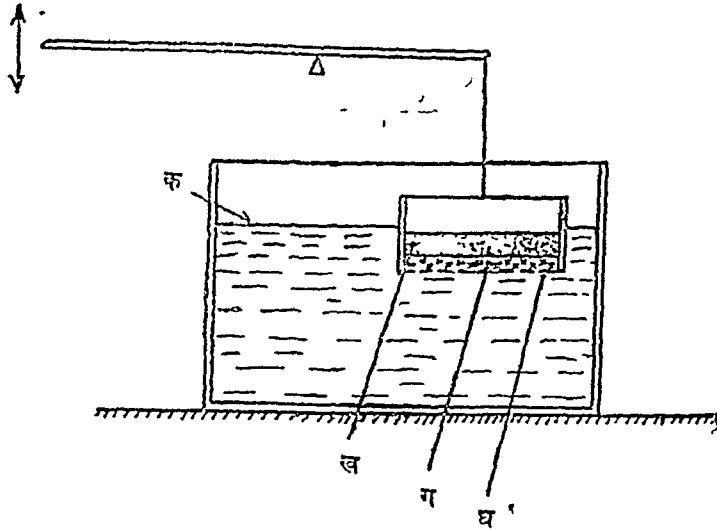
चित्र १—हस्तचालित जिग

इससे हलके और भारी पदार्थ अलग किए जाते है, क जल की सतह, ख हलका पदार्थ, ग भारी पदार्थ, घ चलनी।

गुरुत्व सांद्रण—यह क्रिया सल्फाइड रहित अयस्कों, जैसे केसिटेराइट, क्रोमाइट और वूलफ्रेमाइट के लिये व्यवहार में लाई जाती है। यह क्रिया खनिजो और विधातुओं के आपेक्षिक घनत्वो मे अंतर होने के फलस्वरूप
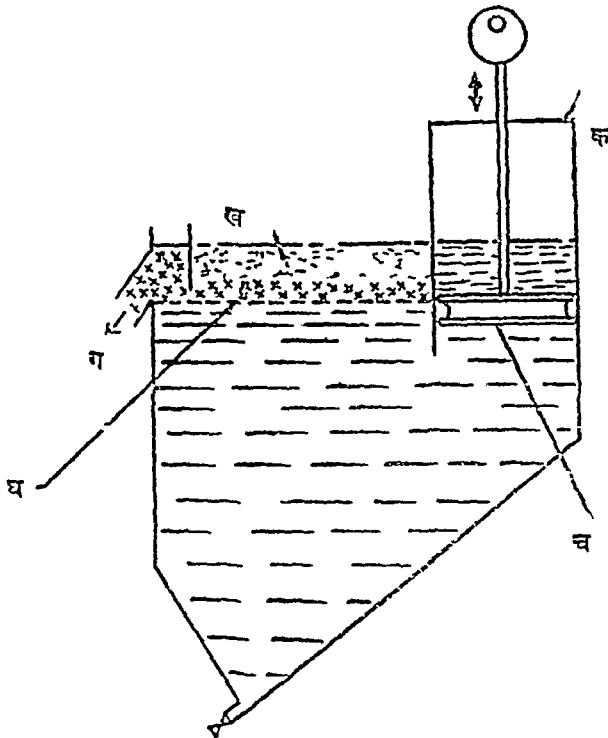
चित्र २—हार्ज जिग

इस मशीन से हलके और भारी पदार्थ अलग किए जाते है। क जल अंदर जाने का स्थान, ख हलके द्रव्य, ग भारी द्रव्य, घ चलनी, च विचालक (पानी को हिलानेवाला)।

कार्यान्वित होती है। पात्रधावन (पैनिंग) गुरुत्व-सांद्रण की सबसे सरल विधि हे। इसमें चूर्ण को पानी में झकझोरकर निथरने दिया जाता है। इस प्रकार स्थूल, हलके कणों से बहुमूल्य धातु के भारी कण अलग हो जाते हैं। यह रीति अब भी जलोढ मिट्टी (अलूवियम) से सोने के कण निकालन के काम मे लाई जाती है। जिगिंग वस्तुत स्तरण (स्ट्रैटिफिकेशन) की एक विधि है जिससे क्रमानुसार ऊपर नीचे शीघ्र चलते पानी में कणों को उनके आपेक्षिक घनत्वानुसार विस्तृत किया जाता है। पुराने जिग-पृथक्कारक हस्तचालित होते थे (चित्र १)। इस साधारण जिग-

चित्र ३—हलके और भारी पदार्थों को अलग करने की मेज
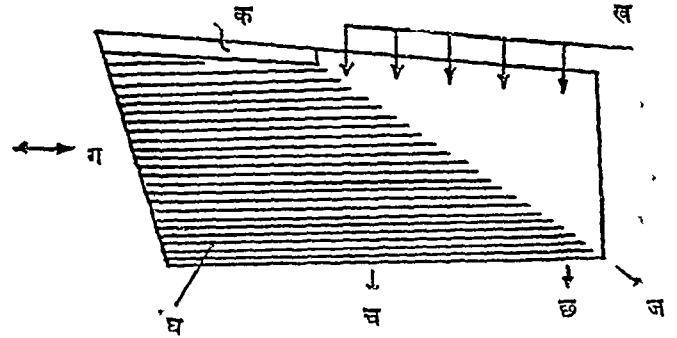
क पदार्थ को डालने का स्थान, ख धोने का पानी, ग सिरे की गति, घ पट्टियो से बनी नाली, च हलका पदार्थ, छ मध्यम पदार्थ, ज भारी पदार्थ।

पृथक्कारक के विकास से दूसरे यांत्रिक पृथक्कारक बने है जो या तो चलायमान चलनीयुक्त होते हैं जिसमे अयस्क पानी में डुवाया जाता है या स्थिर चलनीयुक्त (चित्र २), जिसमे पानी डुलता है और अयस्क चलनी मे रखा रहता है। टेब्लिंग पदार्थों को आपेक्षिक घनत्वानुसार पृथक् करने की उत्तम विधि है। यह विधि सूक्ष्म पदार्थो के लिये उपयोगी है। इसमें पदार्थ के बहुत गाढे घोल का निरंतर मंथन होता रहता है और ऊपर से पानी बहता रहता है, जिससे हल्के कण पानी मे मिलकर बह जाते है तथा भारी कण कुछ दूर पर एकत्र हो जाते हैं। विल्फले टेबुल (चित्र ३) में पदार्थ एक एसे टेबुल पर रखा जाता है जो एक ओर चौडा और दूसरी ओर सँकरा रहता है और जो एक छोर से दूसरे छोर की ओर झुका रहता है। ऊँचे सिरे की ओर अयस्क का गाढा घोल झिरीदार बक्स से गिराया जाता है। मशीन से मेज का इधरवाला सिरा झटके से ऊपर नीचे चलता रहता है। मेज पर पट्टियाँ जडी रहती हैं। झटका लगने पर और मेज के ढाल रहने के कारण भारी माल रुक रुककर आगे बढता है और अंत
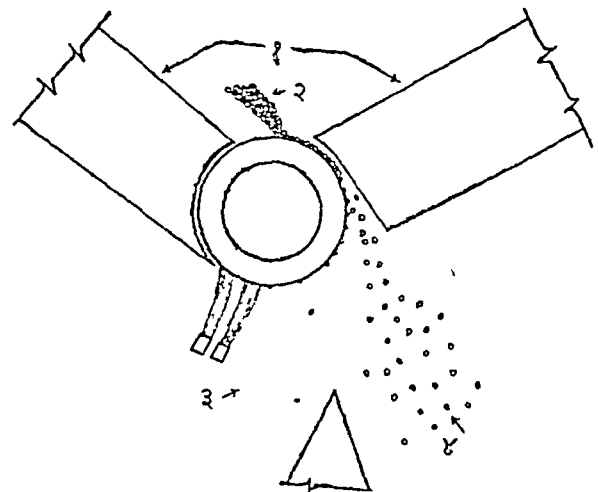
चित्र ४—स्थैतिक विद्युत् से पृथक्करण

१ विद्युच्चुंबक, २ गिरता हुआ अयस्क, ३ चुंबकीय अयस्क, ४ अचुंबकीय अयस्क।

स्वतत्रता ही आवश्यक हे परतु जीवनोद्धार के प्रति ईश्वरप्रत्यादेश निस्सदेह उपयोगी है।

अल नज्जाम (मृत्यु ८४५) अबुल हुजैल के शिष्य थे, एमपीदाक्लिज तथा अनक्सागोरस की विचारधारा से प्रभावित। इनके मतानुसार खुदा कोई अशुभ कर्म नहीं कर सकता। वह वही करता हे जो उसके दास तथा भक्तो के लिये अत्यत शुभ है। खुदा के सबध मे 'इच्छा' शब्द को विशेप अर्थ में लेना आवश्यक है। इस सबध मे इस शब्द से कोई कमी अथवा आवश्यकता प्रदर्शित नहीं होती, बल्कि 'इच्छा' खुदा के सर्वकर्तृत्व का ही एक पर्याय है। सृष्टि की क्रिया आदिकाल मे सपूर्णतया समाप्त हो चुकी हे और अब कालानुसार अन्य पदार्थ, वृक्ष तथा पशु अथवा मनुष्य आदि उत्पन्न होते रहते हैं।

नज्जाम दृश्य अणु की सत्ता न मानकर दृश्य पदार्थो को एक अप्राकृतिक गुण समूह ख्याल करते हैं। सब द्रव्य पदार्थ दैवगतिक गुणसमूह होनेके कारण भूतात्मक नही है परतु अनात्म्यता प्रधान विषय है।

जाहिज के कथनानुसार यद्यपि विषय प्रकृतिशील है तथापि ईश्वरीय प्रभाव से कोई वस्तु भी विहीन नही है।

मुअम्मर का कथन हे कि खुदा सत्तास्वरूप होने के कारण गुणविहीन है। उसको निराकार समझना ही उचित है। उसको गुणविशिष्ट समझने से विपरीत धर्मत्व का आक्षप इसलिये आता है कि विपरीत गुण भी उससे किसी प्रकार बहिर्गत नही समझे जा सकते।

३ **आशारिया अर्थात् धर्मपरक हेतुवादी युग**—नवी शताब्दी मे वुद्धिपरक हेतुवादियो के विरुद्ध कई विचारधाराएँ उत्पन्न हुई। इन्ही मे एक अशरी चलन है जिसके सचालक **अलअशरी** (८७२-९३४ ई०) हैं जिनकी विचारधारा धीरे धीरे सब इस्लामी देशो मे शास्त्रवत् समझी गई। इन्होने मदवुद्धि सत्यधर्मानुयायियो की साकार उपासना के विरोधी होते हुए भी एक ओर तो खुदा को सपूर्ण ऐश्वर्य प्रदान किया और दूसरी ओर उपासक की स्वच्छदता (जो उसके मनुष्यत्व का सर्वोत्तम आधार हे) स्थापित की। उनके कथनानुसार प्रकृति की बिना खुदा के प्रभाव के स्वत कोई सामथ्य नही है। सामान्यत मनुष्य भो सर्वथा खुदा पर ही आश्रित है। परतु ऐसा होते हुए भी वह सर्वथा स्वच्छद है।

धर्मज्ञान का मूल विपय खुदा चूँकि परोक्ष हे अत पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये कुरान अथवा कोई अन्य ईश्वरीय प्रत्यादेश मनुष्य जाति के लिये अनिवार्य है।

४ **दार्शनिक युग—अबू याकूब बिन इसहाक अलकिदी** (मृ० ८७५) को अरब होने से सर्वोत्तम अरब दार्शनिक माना गया है। ये दार्शनिक होने के अतिरिक्त अत्यत सुयोग्य व्यक्ति और अन्यान्य कलाओ मे भी सिद्धहस्त थे। यूनानी दार्शनिको के महत्वपूर्ण ग्रथो के टीकाकार के रूप मे अत्यत प्रसिद्ध हैं। इन्होने या तो स्वय अरबी भापा मे यूनानी ग्रथ के अनुवाद किए है अथवा अपनी अध्यक्षता मे और लोगो से अनुवाद कराए है, फिर उन्हे स्वय सशोधित किया है। अरस्तू के धर्मतत्व का अरबी अनुवाद उन्ही की अध्यक्षता मे तयार हुआ था। किंदी ने अन्य धर्मो का तुलनात्मक अध्ययन किया था और इस अध्ययन के अनुसार उनका विश्वास था कि सब धर्म एक पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार करते है जो सृष्टि का मूल कारण है और सब धर्मज्ञाताओ ने उसी को पूज्य तथा माननीय बताया है।

सृष्टिकर्ता होने के कारण अल्लाह् का प्रभाव ससार मे व्याप्त हे, परतु उसका प्रभाव तथा प्रकाश ससार मे वस्तुत अधोगति से पहुँचता है और प्रथम उद्भाव का प्रभाव अग्राम्य उत्पत्ति और उसका उससे अगली स्थिति पर उद्भावित होता है। प्रथम उद्भव वुद्धि है और प्रकृति उसी के अनुसार नियुक्त है। अल्लाह् (ईश्वर) तथा प्रकृति के मध्य मे विश्वात्मा है जिससे जीवात्मा निर्गत हुआ हे।

किंदी सभवत विश्व का सबसे प्रथम दार्शनिक है जिसने यह बताया कि उद्दीपन तथा वेदना एक दूसरे के प्रमाणानुसार कल्पित हैं। इस सिद्धात का प्रवर्तन करने के कारण काफडन किंदी की गणना विश्व के सर्वोत्तम बारह दार्शनिको मे करता है।

फराबी (मृ० ९५०) ने अरस्तू का विशेप अध्ययन किया था और इसी लिये उन्हे एशिया मे लोग गुरु नबर दो के नाम से याद करते हैं। फराबी के कथनानुसार तर्कशास्त्र के दो मुख्य भाग हैं। प्रथम भाग मे सकल्प तथा मनोगत पदो का विवेचन करना आवश्यक है। द्वितीय भाग मे अनुमान तथा प्रमाणो का वर्णन आता है। इद्रियग्राह्य उत्तमोत्तम साधारण चेतना भी सकल्पो के अतर्गत गिनी जानी चाहिए। इसी प्रकार स्वभावजन्य भाव भी सकल्पो के ही अतर्गत आते हैं। उन सकल्पो के मिलान से निर्णय की उत्पत्ति होती है जो सदसत् होते हैं। इस सदसत्-निर्णय-क्रिया की उत्पत्ति के लिये यह अनिवार्य है कि वुद्धि मे कुछ भाव अथवा विचार स्वजात हो जिनकी अग्रतर सत्याकृति अनावश्यक हो। इस प्रकार की मूल प्रतिज्ञाएँ गणित, आत्मविद्या तथा नीतिशास्त्र मे विद्यमान हैं।

तर्कशास्त्र मे जो सिद्धात निर्दिष्ट हैं वे ही आत्मविद्या मे भी सर्वश प्रत्यक्ष हैं। जो कुछ विद्यमान है वह या तो सभावित है अथवा अन्यथासिद्ध है। ससार चूँकि स्वयसिद्ध नही है, अत उसका कोई अन्योन्य भावरहित कारण मानना आवश्यक है। इसका हम खुदा अथवा अल्लाह (किंवा ईश्वर) के नाम से सकेत कर सकते हैं। यह परम सत्ता जिसे अल्लाह कहते हैं, इतरेतर भावो से पुकारे जाने के कारण भिन्न भिन्न नामो से अनुचित्तित होती है। उनमे से कुछ नाम उसकी आत्मसत्ता को निर्दिष्ट करते हैं अथवा कुछ उसकी ससार-समासक्ति-विपयक हैं। परतु यह बात स्वयसिद्ध है कि उसकी पारमार्थिक सत्ता इन नामो तथा उपाधियो द्वारा अगम्य है।

इब्ने मसक्वे (मृत्यु १०३०) के कथनानुसार जीवात्मा एक शरीरी द्रव्य है जिसे अपनी सत्ता तथा ज्ञान का बोध रहता है। अत जीवात्मा का ज्ञान तथा आत्मिक उद्योग प्रच्छन्न शरीर की सीमा से परे है। यही कारण हे कि उसकी इद्रियग्राह्यता ससार के विपयभोगो से लेशमात्र भी तृप्त नही होती। मनुष्य अपने अतर्जात ज्ञान के द्वारा अधर्म से बचता हुआ हित की ओर प्रोत्साहित है। हित दो प्रकार का होता है सामान्य और विशेप। सामान्य हित सबके लिये पुरुषार्थ है जो परमज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है। साधारणत मनुष्य प्रीतिपरक जरूर है परतु यह व्यक्तिगत हित मनुष्यत्व के विरुद्ध होने से पुरुषार्थ का बाधक है। वास्तविक सुख तो मनुष्यत्व के अनुसार काम करने मे है और मनुष्यत्व के आदर्श की प्राप्ति ससर्ग मे ही सभव है, अन्यथा नही। इस सलापप्रियता की हज्ज तथा नमाज से भी पुष्टि होती है। यही प्रतिभावना सब धर्मो का आदेश है।

इब्नेसिना (मृत्यु १०३७) की राय मे ससार सभावी होने के हेतु अवश्यप्राप्य नही हे। अवश्यप्राप्य की खोज अत मे हक (ब्रह्म) को सिद्ध करती हे जिसको यद्यपि बहुत से नाम तथा विशेपण दिए जाते है, परतु उसकी पारमार्थिक सत्ता इन सबके द्वारा अगम्य है। ऐसा भी नही कि वह केवल निर्गुणी है। उसे तो सब गुणो तथा विपयो का आधार होने के कारण निर्गुणी गुणी कहना ही उपयुक्त है।

उस पारमार्थिक सत्ता से विश्वात्मा (वैश्वानर) का उद्भव होता है और यह अनेकत्व का आश्रय हैं। विश्वात्मा जब अपने कारण का चिंतन करती है तब आकाशमडल चैतन्य विकृत होता है जिससे परिच्छिन्न आत्मा का स्पष्टीकरण होकर अन्य स्थूल विकार तथा शरीर विकसित होते हैं। शरीर का आत्मा से वस्तुत कोई सपर्क नही हे। शरीर की उत्पत्ति तो चार सूक्ष्म तत्वो (पृथ्वी, आप, तेजस्, वायु) के सम्मिश्रण से है, परतु शरीर की उत्पत्ति चतुर्विध गुणो से नही हे, वह तो विश्वात्मा से विकसित होने के कारण स्वत परममूलक है। आदि से ही शरीरी एक स्वत सिद्ध सूक्ष्म द्रव्य है जो अन्य शरीरो मे स्थित होकर अहमत्व के भान का कारण है।

इब्ने अल-हशीम के कथनानुसार दृश्य पदार्थ कुछ विशेप गुणो का समूह है और इन सब सामूहिक गुणो के हेतु से ही कोई पदार्थ अपनी विशेप सज्ञा से पुकारा जाता है। अब वाह्य प्रत्यक्ष स्वय अन्य क्षणो का समूह है जिनके द्वारा अमुक पदार्थ के अमुक अमुक गुण प्रदीप्त होते हैं। अत एक साधारण प्रत्यक्ष के अतर्गत अनेकानेक गुण प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं। प्रत्येक प्रत्यक्ष स्थूलभूत पदार्थ के किसी एक गुण अथवा भाव को प्रकाशित करता है जिन्हे स्मृतिभाव से कुछ क्षण पश्चात् सामूहिक प्रतिज्ञा से स्थूल पदार्थ की सज्ञा दी जाती है।

अलगिजाली (मृत्यु ११११) के समय तक मुस्लिम दार्शनिको द्वारा दर्शनशास्त्र की विशेप उन्नति हो चुकी थी परतु वह दर्शनविकास मनुष्य

को अपना काम करने मे पर्याप्त समय लगता है। इसलिये ऐसे पदार्थो को अलग टैंक में खनिज और पानी के साथ मिलाकर नियत समय तक छोड देते हैं।

सक्षेप मे, उत्प्लवन की क्रिया मे पानी के साथ पिसे अयस्क को, विशेष रूप से इसी काम के लिये बनी मशीन मे, वायु के साथ फेंटते हैं (चित्र ६)। पिसे अयस्क के उचित रासायनिक पदार्थो के साथ मिलने के पश्चात् मिश्रण उत्प्लवन-कोष्ठी में जाता है और वहाँ घूमती हुई चरखी पर गिरता है। चरखी की धुरी को चारो ओर से घेरे हुए एक नली रहती है जिसमें से हवा आती रहती है। इससे बहुत फेन बनता है और वाछित खनिज फेन में लिपटकर ऊपर उठ आता है (चित्र ६)। इस फेन को घूमती हुई पटरियाँ काछ लेती हैं। तब इस खनिजमय फेन को गाढा किया जाता है और छानकर पानी से अलग कर लिया जाता है। खनिजरहित अवशेष उत्प्लवनकक्ष के नीचे बने एक छेद से बहा दिया जाता है।

चाँदी और सोना के अतिरिक्त अन्य धातुओ के खनिजो को आजकल अधिकतर उत्प्लवन की रीति से ही अलग किया जाता है। चयनमय उत्प्लवन (सिलेक्टिव फ्लोटेशन) द्वारा, जिसमें उचित प्रावसादको और कर्मएयको का प्रयोग किया जाता है, सीसा, जस्ता और ताँबा के मिश्रित खनिजो से इन तीनो को बडी सफलता से अलग अलग किया जाता है। सोडियम सल्फाइड को कर्मएयक की तरह प्रयोग करके सीसे के आक्सिजनमय खनिजो को दिन पर दिन अधिक मात्रा में उत्प्लवन विधि से निकाला जाता है, क्योकि इस प्रकार खनिज पर सल्फाइड की पतली परत जम जाती है और खनिज ऊपर उतराने लगता है। [यू० वा० भ०]

अयोध्या भारतवर्ष का एक अति प्राचीन नगर है जो घाघरा (सरयू) नदी के दाहिने किनारे पर उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले मे २६° ४८' उत्तर अ० तथा ८२°१२' पूर्व दे० रेखाओ पर स्थित है। इसका महत्व इसके प्राचीन इतिहास में ही निहित है। पहले यह कोसल जनपद की राजधानी था। प्राचीन उल्लेखो के अनुसार तब इसका क्षेत्रफल ९६ वर्ग मील था। यहाँ पर सातवी शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनत्साग आया था। उसके अनुसार यहाँ २० बौद्ध मदिर थे तथा ३,००० भिक्षु रहते थे। इस प्राचीन नगर के अवशेष अब खडहर के रूप में रह गए हैं जिसमे कही कही कुछ अच्छे मदिर भी हैं। वर्तमान अयोध्या के प्राचीन मदिरो मे सीतारसोई तथा हनुमानगढी मुख्य हैं। कुछ मदिर १८वी तथा १९वी शताब्दी में बने जिनमें कनकभवन, नागेश्वरनाथ तथा दर्शनसिंह-मदिर दर्शनीय हैं। कुछ जैन मदिर भी हैं। यहाँ पर वर्ष में तीन मेल लगते हैं—मार्च-अप्रैल, जुलाई-अगस्त तथा अक्तूबर-नवबर के महीनो मे। इन अवसरो पर यहाँ लाखो यात्री आते हैं। अब यह एक तीर्थ-स्थान के रूप में ही रह गया है। इसका प्रशासन फैजाबाद नगरपालिका से होता है। इसकी जनसख्या ७६,५८२ है (१९५१)। [न० ला०]

अरकट (आर्काडु) मद्रास प्रात के एक नगर और दो जिलो का नाम है। इन जिलो मे से एक उत्तर अरकट और एक दक्षिण अरकट कहलाता है। अरकट नगर उत्तर अरकट का प्रधान नगर है। अग्रेजो की विजय के पहले यह नगर बहुत समृद्धिशाली था, परतु अब यहाँ कुछ मसजिदो, मकबरो और किलो के खँडहर ही रह गए हैं। क्लाइव का नाम अरकट की विजय और रक्षा से हुआ। १८वी शताब्दी मे कर्नाटक की गद्दी के लिये मुहम्मद अली और फ्रासीसियो की सहायता से चाँदा साहब अग्रेजो से लड रहे थे। चाँदा साहब को परेशान करने के लिये क्लाइव ने अरकट पर चढाई कर दी और सुगमता से उसे जीत लिया। तब चाँदा साहब को १०,००० सिपाहियो की सेना अरकट भेजनी पडी और इस प्रकार त्रिचनापली में घिरे हुए अग्रेजो की विपत्ति कम हुई।

अरकट फिर क्रमानुसार फ्रासीसियो, अग्रेजो और हैदरअली के हाथ में गया, परतु अत मे १८०१ मे अग्रेजो के अधीन हो गया। तब से भारत की स्वतत्रता तक यह ब्रिटिश अधिकार मे ही रहा।

उत्तर अरकट जिले के उत्तर में चित्तूर, पूर्व में चिंगलपट, दक्षिण में दक्षिण अरकट तथा सलेम और पश्चिम में मैसूर राज्य है। इसका क्षेत्रफल ४,६४८ वर्ग मील है और जनसख्या लगभग ३० लाख। भूमि अधिकतर सपाट है, परतु पश्चिम की ओर पहाडी है। इस भाग की जलवायु शीतल है। समुद्रतल से इधर की ऊँचाई लगभग २,००० फुट है। अधिक भागो में भूमि पथरीली है और खेती बारी नही हो पाती, परतु घाटियाँ बहुत उपजाऊ है। वेलोर नगर इस जिले का मुख्य नगर है और तिरुपति प्रसिद्ध तीर्थस्थान है।

दक्षिण अरकट के उत्तर मे उत्तर अरकट और चेंगलपट्टु है, पूर्व मे बगाल की खाडी और पाडीचेरी जिला, दक्षिण मे तजोर तथा त्रिचनापली जिले और पश्चिम मे सलेम जिला। क्षेत्रफल ४,२०७ वर्ग मील है और जनसख्या लगभग ३० लाख। समुद्र की ओर भूमि रेतीली और नीची है, परतु पश्चिम की ओर देश पहाडी है और कही कही ऊँचाई ५,००० फुट तक पहुँच जाती है। प्रधान नदी कोलरून है, तीन अन्य छोटी नदियाँ भी हैं। इस जिले मे कड्डालोर एक छोटा बदरगाह है।

दोनो जिलो मे चावल, ज्वार आदि और मूँगफली की खेती होती है। [नृ० कु० सि०]

अरक्कोणम् मद्रास राज्य के उत्तर आर्काडु जिले मे इसी नाम के ताल्लुके का प्रमुख केद्र है (स्थिति १३°५' उत्तर अक्षाश एव ७९° ४०' पूर्वी देशातर)। रेलवे जकशन होने के कारण यह नगर तीव्र गति से उन्नति कर गया है। यह मद्रास रेलवे की उत्तर-पश्चिमी एव दक्षिण-पश्चिमी लाइनो का केद्र तथा दक्षिणी रेलवे की प्रमुख लाइन के चेंगलपट्टु नामक स्थान से निकलनेवाले शाखा-रेल-मार्ग का अतिम स्थान भी है। १९०१ ई० मे इसकी जनसख्या ५,३१३ थी, जिसमे अधिकाश रेलवे कर्मचारी थे। १९४१ ई० मे यह १५,४८४ थी, जो सन् १९५१ तक के दशक मे बढकर २३,०३२ हो गई। इसमें लगभग २५% लोग यातायात के धधे मे लगे थे। नगर का प्रशासन पचायत द्वारा होता है। [का० ना० सिं०]

अरण्यतुलसी का पौधा ऊँचाई में ८ फुट तक, सीधा और डालियो से भरा होता है। छाल खाकी, पत्ते ४ इच तक लबे और दोनो ओर चिकने होते हैं। यह बगाल, नैपाल, आसाम की पहाडियो, पूर्वी नैपाल और सिंध मे मिलता है। यह श्वेत (ऐल्बम) और काला (ग्रैटिसिमम) दो प्रकार का होता है। इसके पत्तो को हाथ से मलने पर तेज सुगध निकलती है।

आयुर्वेद मे इसके पत्तो को वात, कफ, नेत्ररोग, वमन, मूर्छा अग्निविसर्प (एरिसिपलस), प्रदाह (जलन) और पथरी रोग में लाभ-दायक कहा गया है। ये पत्ते सुखपूर्वक प्रसव करानेवाले तथा हृदय को भी हितकारक माने गए हैं।

इन्हे पेट के फूलने को दूर करनेवाला, उत्तेजक, शातिदायक तथा मूत्र-निस्सारक समझा जाता है।

रासायनिक विश्लेषण से इनमे थायमोल, यूगेनल तथा एक अन्य उडनशील (एसेंशियल) तेल मिले हैं। [भ० दा० व०]

अरण्यानी ऋग्वेद की वनदेवी। यह समस्त जगत् की कल्याण-कारिणी है। इसे मधुर गध से सुरभित कहा गया है। यह समस्त वन्य जगत् की धात्री है (मृगाणा मातरम्)। बिना उपजाए ही प्राणियो के लिये आहार उत्पन्न करनेवाली है। ऋग्वेद में एक पूरा सूक्त (१०,१४६) उसकी स्तुति में कहा गया है। [ओ०ना०उ०]

अरब एशिया के दक्षिण-पश्चिम मे एक प्रायद्वीपीय पठार है, जो १२° उ० अ० से ३२° उ० अक्षाश तक तथा ३५° पू० दे० से ६६° पू० देशातर तक फैला है। इसकी औसत चौडाई ७०० मील तथा लबाई १,२०० मील है। क्षेत्रफल १०,००,००० वर्गमील, जनसख्या लगभग १,००,००,००० (अनुमानित)। इसके पश्चिम मे लालसागर, दक्षिण में अरबसागर एव अदन की खाडी, पूर्व में ओमान एव फारस की खाडियाँ तथा उत्तर मे जॉर्डन एव इराक के मरुस्थल हैं। इसका लाल-सागरीय तट अकाबा की खाडी से अदन तक फैला है और १,४०० मील लबा है। दक्षिण मे इसके तट की लबाई १,२५० मील है।

पठार मे आद्यकल्पिक (आर्कियन) पत्थर हैं जिनपर मध्यकल्पिक (मेसोजोइक) बालू एव चूने के पत्थरो का जमाव मिलता है। इसकी ढाल

की सभी भाषाओं में है। कुछ लोगों के अनुसार अरबी अक्षर कूफिक लिपि के ही विकसित रूप हैं। ऐसा कहा जाता है कि छठी शताब्दी तक इस लिपि को जाननेवाले मक्के में केवल १७ ही मनुष्य थे जिससे ज्ञात होता है कि उनमें पढने लिखने का रिवाज कम था। उमय्यद खलीफाओं (६६१-७४९) के समय में हज्जाज बिन यूसुफ के पथप्रदर्शन में अक्षरों पर स्वर तथा बिंदियाँ लगाने की विधि निकाली गई और शीघ्र ही इराक में बसरा और कूफा अरबी भाषा और साहित्य के केंद्र हो गए। वहाँ अरबी व्याकरण की बहुत उन्नति और प्रसार हुआ तथा बडे बडे विद्वान् हुए।

सभी सामी भाषाओं की भाँति अरबी भाषा की भी तीन विशेषताएँ हैं। अरबी भाषा का स्वरविधान बडा जटिल है और इसमें यौगिक शब्द नही होते। इसमें प्रत्येक शब्द मूलत तीन व्यजनों का बना होता है। स्वरों के हेर फेर तथा एक आध व्यजन और जोडकर तरह तरह के शब्द बना लिए जाते हैं। उदाहरण के लिये क+त+ब, व्यजनों से विभिन्न प्रकार के शब्द (पुल्लिग, स्त्रीलिंग, एकवचन, बहुवचन, भूत, भविष्य काल की क्रियाएँ आदि) बना लेते हैं। जैसे कतबा (उसने लिखा), कतबू (उन्होंने लिखा), कातिब (लेखक), मकतूब (लेख या पत्र), मकतब (लिखने का स्थान आदि)। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरबी भाषा में स्वरों का बडा महत्व है और असख्य शब्द ऐसे हैं जिनका स्वर-विधान बिलकुल एक सा है। इसी कारण अरबी भाषा के गद्य और पद्य दोनों में यमक तथा अनुप्रास का बडा महत्व है।

स्वरों के हेर फेर से शब्दों के रूपपरिवर्तन तथा साथ साथ अर्थपरिवर्तन के कारण अरबी में विचारों को बहुत सक्षेप से व्यक्त किया जाता है। कदाचित् ही कोई कहावत ऐसी होगी जिसमें चार शब्द से अधिक हों। अरबी भाषा में पर्यायवाची शब्दों का भी बडा बाहुल्य है।

अरबी की क्रियाओं का काल उतना विस्तृत नही है जितना कि अन्य आर्य भाषाओं की क्रियाओं का। 'यकतुबो' के अर्थ न केवल वह लिखता है, वह लिखेगा, वह लिख रहा है वरन् वह लिख सकता है, वह लिख सकेगा आदि भी हैं। शब्द का ठीक ठीक अर्थ प्रसग द्वारा ज्ञात होता है।

अरबी में सस्कृत के ही समान सज्ञा और क्रिया में भी द्विवचन होता है। विशेषणों में स्त्रीलिंग तथा पुल्लिग एव द्विवचन के रूप होते हैं। परतु इस भाषा में नपुसक लिंग नही होता।

सं०ग्र०—इसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम, अ प्रथम सस्करण, १९१३, लदन, सपादक होत्समा, आरनल्ट, बैंसे तथा हार्ट मैन भाग(१) लेख 'अरेबिया', पृष्ठ ३६७-४१५। ब द्वितीय नवीन सस्करण, १९५७, लदन सपादक लुई, पेला तथा साक्ट पृष्ठ ५६१-५७६ लेख 'अरेबिया,' भाग (१) फेसीकूल (९), २ अरेबिक लिटरेचर, लेखक गिब, एच० ए० आर, सस्करण १९२६, लदन, ३ ए लिटररी हिस्ट्री ऑव दि अरब्स, लेखक निकलसन, आर० ए०, सस्करण १९३०, कैंब्रिज। ४ हिस्ट्री ऑव दि अरब्स, लेखक, हिट्टी, पी० के०, सस्करण,१९५३, लदन।

[श० ब० स०]

अरबी शैली

वास्तु, मूर्तिकला, चित्रकला, सगीत आदि में प्रयुक्त एक शैली। इसका नाम 'अरावेस्क' अथवा अरबी शैली इस कारण पडा कि इसका सबध अरबों, सरासानों और मूरों (स्पेनी अरबी) की कला से है। इस्लाम सदा से कला में मानव अथवा पाशविक आकृतियों के रूपायन का विरोधी रहा है और उसने वास्तु में इनका आकलन वर्जित किया है। पर वास्तु और चित्रण में अलकरण इतना अनिवार्य होता है कि इस्लाम को उस क्षेत्र में पशु-मानव-आकृतियों के स्थान पर लतापत्रों अथवा ज्यामितिक रेखाओं का गुफित आलेखन अपनी इमारतों पर स्वीकार करना ही पडा। यही आलेखन अरबी शैली कहलाता है। वास्तु के अतिरिक्त इस अलकरणशैली का उपयोग पुस्तकों के हाशियों आदि के लिये स्वतत्र रूप से अथवा अलकूफी अक्षरों के साथ हुआ है। इस प्रकार के अलकरण के उदाहरण यूरोपीय देशों में अलहम्रा (स्पेन) और सिसिली की इमारतों पर अवशिष्ट हैं। इसका सुदरतम रूप काहिरा में तूलुन की मस्जिद (निर्माण ८७६ ई०) पर उत्कीर्ण है।

पर कला के इतिहास में अरबी शैली यह नाम वस्तुत एक कालविरुद्ध दूषण (अनाक्रानिज्म) है, क्योंकि इसके लाक्षणिक शब्द 'अरावेस्क' का उपयोग उन सदर्भों में होने लगा है जो अरबी कला से सबधित शैली से बहुत पूर्व के हैं। दोनों के अलकरणों के 'अभिप्राय' (मोटिफ) समान होने के कारण अरबी-सरासानी-मूरी इमारतों से अति प्राचीन रोमन राजप्रासादों और पहली सदी ईसवी में विध्वस्त पाँपेई नगर के भवनों में मूर्त अर्धचित्रों और उत्कीर्णनों को भी अरबी शैली में आलिखित सज्ञा दी गई है। कालातर में तो अरबी से सर्वथा भिन्न इटली के पुनर्जागरणकाल के कलालकरणों तक ही इस सकेत शब्द का उपयोग परिमित हो गया है। इटली के मात्र १५वीं सदी (सिकेसेंतो) के वास्तु अलकरणों के लिये जब कलासमीक्षकों ने इस शब्द का उपयोग सीमित कर अन्य (मूल अरबी सदर्भों तक में) सदर्भों में वर्जित कर दिया तब यह केवल समसामयिक अथवा प्राचीन क्लासिकल समान अलकरणों को व्यक्त करने लगा।

सगीत में पहले पहल पियानो सबधी एक प्रकार के गीत के लिये जर्मन गीतिकार शूमान ने 'अरावेस्क' का उपयोग किया। बाद में गेय विषय के अलकरण को अभिव्यक्त करने के लिये भी यह प्रयुक्त होने लगा। नर्तन में भी एक मुद्रा को अरबी शैली व्यक्त करती है। इस मुद्रा में नर्तक एक पैर पर खडा होकर दूसरा पैर पीछे फैला समूचे शरीर का भार उस एक ही पैर पर डालता है, फिर एक भुजा अपने पीछे फैले पैर के समानातर कर दूसरी को आगे फैला देता है। [भ० श० उ०]

अरबी संस्कृति

अरब देश दक्षिणी-पश्चिमी एशिया का सबसे बडा प्रायद्वीप है जो क्षेत्रफल में यूरोप के चतुर्थ तथा सयुक्त राज्य अमेरिका के तृतीय भाग के बराबर है। देश के अधिकतर भाग मरुस्थल तथा पर्वतीय हैं, केवल कही कही छोटे छोटे स्रोत तथा खजूर के झुरमुट दीख जाते हैं। दक्षिणी-पश्चिमी भाग तथा समुद्रवर्ती भूखड उपजाऊ हैं जहाँ अन्नादि वस्तुओं की खेती होती है। क्षेत्रफल की तुलना में अरब की जनसख्या न्यूनतम है।

वहाँ के निवासियों को अरब कहते हैं जिनका सबध सामी वश से है। इसी वश से सबधित अन्य सभ्य जातियाँ, जैसे बाबुली (बाबिलोनियन) असूरी (असीरियन), किल्दानी, अमूरी, कनानी, फिनीकी तथा यहूदी हैं।

अरब निवासियों की सस्कृति को दो कालों में विभाजित किया जाता है. प्रागिस्लाम काल तथा इस्लामोत्तर काल। पहले को ऐतिहासिक परिभाषा में जहालत या अज्ञान का काल और दूसरे को इस्लामी काल भी कहते हैं। प्रथम काल ६१० ई० के पूर्व का है तथा द्वितीय उसके पश्चात् का। ६१० ई० वह शुभ वर्ष है जिसमें मुहम्मद साहब को, जिनका जन्म ५७५ ई० में मक्का में हुआ था, ईशदौत्य (नुबुव्वत) मिला। इसी वर्ष से उनके जीवन में परिवर्तन प्रारभ हुआ और वे नबी के नाम से पुकारे जाने लगे। इसी वर्ष से अरबों के जीवन के प्रत्येक भाग में प्रभावशाली क्राति आई और जाहिली सभ्यता इस्लामी सस्कृति में परिवर्तित हो गई।

दक्षिणी अरब की प्राचीन सभ्यता—प्राचीन काल में ईसा से तीन शताब्दी पूर्व तीन प्रकार की सभ्यताओं के नाम इतिहास में मिलते हैं (१) बाबुली सभ्यता, दजला और फरात की घाटी की, (२) नील घाटी की सभ्यता, प्राचीन मिस्र की, तथा (३) सिंध घाटी की सभ्यता जिसको भारत के प्राचीन निवासी द्राविडों ने उन्नति के शिखर पर पहुँचाया था। चूँकि दक्षिणी अरब दो प्राचीन सभ्यताओं के केंद्र बाबुल तथा मिस्र के मध्य में स्थित था तथा उसके तटवर्ती भूखड उपजाऊ भी थे, वहाँ के निवासियों की अपनी सभ्यता थी जिसकी समानता प्राचीन बाबुली अथवा मिस्री सभ्यता से तो नही की जा सकती, फिर भी उसका अपना महत्व है। उपर्युक्त सभ्यताओं से वह न केवल प्रभावित थी, अपितु घनिष्ठ सबध भी रखती थी। वहाँ के निवासी तटवर्ती भूखड में बसने के कारण जलयान चलाने में दक्ष थे। अत व्यापारी अपनी सामग्री तथा सास्कृतिक सपत्ति जल थल के मार्ग द्वारा स्थानातरित करते थे। सभव है, इसी कारण इन्ही प्राचीन अरबों ने इसको अरब सागर की सज्ञा दी हो। अत इस सभ्यता को यदि समुद्री सभ्यता कहा जाय तो अनुचित न होगा।

दक्षिणी अरब में सबाई सर्वप्रथम अरब थे जो सभ्यता के क्षेत्र से आए। इनका देश यमन था और इनका व्यवसाय जलयान चलाना तथा व्यापार करना था। ये मुख्यत देशी वस्तुओं, मसाले तथा सुगधित वस्तुओं का व्यापार करते थे। इसके अतिरिक्त फारस की खाडी के मणि, भारत

थी—"सबसे अच्छा दामाद कब्र है।" इस तरह के देश और इस तरह के समाज में मक्के के प्रतिष्ठित कुरैश कबीले के एक बडे घराने, बनी हाशिम मे तारीख ९ रबीउल अव्वल, सोमवार, २० अप्रैल, सन् ५७१ ई० को सूर्योदय के समय मोहम्मद साहब का जन्म हुआ।

मोहम्मद साहब की वृत्ति सदा से ही गभीर थी। अपनी कौम के अव पतन का उनके दिल पर बडा बोझ था। उन्होने यह अनुभव कर लिया कि अरब के अलग अलग कबीलो और सप्रदायो के अलग अलग देवी-देवताओ को पूजना ही उनके अदर फूट और भेदभाव के बढने का मुख्य कारण है। उन्होने एक सर्वोपरि और अखड परमेश्वर की पूजा द्वारा उन सबको पूरी तरह मिलाकर एक कौम बना देने का दृढ निश्चय किया। चालीस वर्ष की अवस्था मे उन्होने ईश्वर के सदेशवाहक पैगबर के रूप मे ईश्वर की अखडता और एकता का प्रचार शुरू किया। ये ईश्वरीय सदेश 'कुरान' में सग्रहीत है।

जो बुराइयाँ मोहम्मद साहब के समय मे अरब मे सबसे अधिक फैली हुई थी, कुरान मे उनकी तीव्र निंदा की गई। शराबखोरी, वेश्यागमन, असीमित बहुपत्नीवाद, कन्याओ की हत्या, जुआ, सूदखोरी और जादू टोने मे अधविश्वास आदि का कुरान ने सर्वथा निषेध किया। मोहम्मद साहब एक ऐसे देश मे पैदा हुए थे जहाँ राजनीतिक सगठन, राष्ट्रीय एकता, विवेक-सिद्ध धार्मिक विश्वास और सदाचार का पता न था। अपनी अनुपम धी-शक्ति के केवल एक आक्रमण मे उन्होने अपने देशवासियो की राजनीतिक अवस्था, उनके धार्मिक विश्वास और सदाचार—तीनो को एक साथ सुधार दिया। स्वतत्र कबीलो की जगह उन्होने एक राष्ट्र का निर्माण किया। अनेक देवी देवताओ मे अधविश्वास की जगह उन्होने एक अनन्य सर्वशक्तिमान किंतु दयालु परमात्मा मे विवेकपूर्ण विश्वास पैदा कर दिया। सन् ६३२ ई० मे अपनी मृत्यु से पूर्व मोहम्मद साहब को एक साथ अरब मे तीनो चीजो की स्थापना का सौभाग्य प्राप्त हुआ—एक राष्ट्र, एक साम्राज्य और एक धर्म।

मोहम्मद साहब की मृत्यु के बाद अबूबक्र (६३२-६३४) स्वाधीन अरब रियासत के पहले खलीफा (शासक) चुने गए। पैगबर की मृत्यु के बाद एक बार अरब मे विद्रोह की बाढ सी आ गई किंतु असीम धैर्य और दूरदर्शिता के साथ अबूबक्र ने विद्रोह को शात किया। मोहम्मद साहब की अतिम इच्छा के अनुरूप अबूबक्र ने रोमी सेना से उत्तरी अरब की सुरक्षा के लिये एक सैन्य दल भेजा। अगले ही वर्ष अरब की सीमाओ से ईरानी और रोमी हुकूमतो का अत करने के लिये एक बडी सेना अपने महान् सेनापति खालिद इब्न वलीद के सेनापतित्व मे रवाना की। दो वर्ष के अल्प शासन के बाद ही अबूबक्र की मृत्यु हो गई किंतु इसमे कोई सदेह नही कि अत्यत सकट के काल मे अबूबक्र ने न केवल अरब की स्वाधीनता की रक्षा की वरन् इसलाम धर्म को भी खतरे से बचाया।

अबूबक्र के बाद उमर (६३४-६४४) ने खिलाफत की बागडोर सँभाली। उमर के शासनकाल मे ईरान, फिलिस्तीन, इराक, साम (सीरिया) और मिस्र को अरबो ने अपने अधीन कर लिया। उमर ने बनी उमैया कुल के एक योग्य व्यक्ति मुआविया को साम का और अम्र को मिस्र का सूबेदार नियुक्त किया। उमर के शासनकाल मे ही, सन् ६३५ ई० मे, इराक मे कूफा और बसरा के प्रसिद्ध शहर आबाद हुए। अम्र ने सन् ६४१ मे मिस्र में एक नए शहर फोस्तात की नीव डाली। इसी फोस्तात का बाद में काहिरा नाम पडा। उमर के दस वर्षो के शासन मे अरब सत्ता का न केवल अभूतपूर्व विस्तार हुआ वरन् शासनव्यवस्था मे नए नए सुधार किए गए।

तीसरे खलीफा उस्मान (६४४-६५६) ने उमर के उत्तराधिकारी की हैसियत से शासन की बागडोर सँभाली। उस्मान के शासनकाल मे एक ओर मुसलिम सेनाएँ उत्तर मे आर्मीनिया और एशिया कोचक और पश्चिम मे कार्थेज (उत्तरी अफ्रीका) तक पहुँची, दूसरी ओर अरब मे आतरिक गृहकलह ने भीषण रूप धारण कर लिया। उस्मान इस गृहकलह को शात कर सकने मे असफल रहे। कूफा, बसरा और फोस्तात से विद्रोहियो के दल राजधानी मदीना पर चढ आए। उस्मान ने अपने सूबेदारो को कुमक भेजने के लिये सदेश भेजा किंतु सैनिक सहायता पहुँचने के पूर्व ही विद्रोहियो ने खलीफा उस्मान की हत्या कर डाली।

उस्मान की मृत्यु के बाद अली (६५६-६६१) खलीफा की गद्दी पर बैठा। उस्मान की हत्या ने गृहकलह की जिस भावना को तीव्र कर दिया था, अली का शासन उसे शात न कर सका। साम के सूबेदार मुआविया ने अली की सत्ता को स्वीकार करने से इनकार कर दिया। बसरा के सूबे ने भी अली की वफादारी की सौगध खाने से इनकार किया। अली ने बसरा पर आक्रमण किया और भयकर युद्ध के बाद, जिसमें दस हजार योद्धा काम आए, बसरा पर अधिकार किया। बसरा विजय के पश्चात् अली ने कूफा को अपनी राजधानी बनाया और वहाँ से मुआविया को वफादारी प्रकट करने का आदेश भेजा। मुआविया के इनकार करने पर पचास हजार सेना लेकर अली दमिश्क की ओर बढे। सन् ६५७ ई० में सिफिन के मैदान मे दोनो ओर की सेनाओ मे सघर्ष हुआ। भयकर रक्तपात के बाद दोनो दल अनिर्णीत स्थिति में अपनी अपनी राजधानियो को लौट गए।

सन् ६५८ मे मुआविया ने अपने को प्रतिद्वद्वी खलीफा घोषित कर दिया। इसी वर्ष मुआविया ने अम्र के द्वारा मिस्र पर भी अधिकार कर लिया। स्वय अरब के भीतर खार्जिओ का एक नया सप्रदाय विद्रोह का झडा लेकर उठ खडा हुआ। खार्जिओ के अनुसार मुसलमान केवल एक अल्लाह ताला के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ खा सकते थे, खलीफा के प्रति नही। सन् ६५८ में खार्जिओ के साथ नेहरवान में अली का सैनिक सघर्ष हुआ। अगणित खार्जी कत्ल कर दिए गए किंतु उनका उत्साह ठढा नही हुआ। अपने प्रचार द्वारा वे अली के विरुद्ध विद्रोह की भावना को तेज करते रहे। अत मे इन्ही खार्जिओ ने षड्यन्त्र करके अली, मुआविया और अम्र की हत्या की योजना बनाई। अम्र और मुआविया इस षड्यत्र से बच गए किंतु एक खार्जी षड्यन्त्रकारी के हाथो अली की मृत्यु हुई।

अली की मृत्यु के बाद उनके पुत्र हसन को खलीफा घोषित किया गया किंतु हसन ने खिलाफत की गद्दी पाँच या छ महीने बाद त्याग दी। मुआविया से सुलहकर हसन ने मदीने मे अपने जीवन के अतिम आठ वर्ष बिताए। हसन के आत्मसमर्पण के बाद मुआविया अरब साम्राज्य का एकछत्र अधिकारी रह गए।

मुआविया ने अपनी मृत्यु से पूर्व इस्लामी परपरा के विपरीत अपने बेटे यजीद को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। अप्रैल, सन् ६८० ई० मे मुआविया की मृत्यु हुई। उनकी मृत्यु पर यजीद दमिश्क के सिंहासन पर बैठे। इधर कूफा के नागरिको ने हजरत मोहम्मद के नाती और अली के बेटे हुसैन से प्रार्थना की कि वह कूफा आकर खिलाफत की बागडोर सँभाले। हुसैन अपने समस्त परिवार के साथ मक्के से कूफा के लिये रवाना हुए। यजीद के सूबेदार अब्दुल्ला की सेना ने कर्बला के मैदान में हुसैन का रास्ता रोक दिया। नौ दिन तक प्यास से तडपने के बाद हुसैन ने यजीद की सेना का सामना किया। १० अक्तूबर, सन् ६८० ई० अथवा मोहर्रम की दसवी तारीख को कर्बला के मैदान मे हुसैन अपने समस्त परिवार के साथ शहीद हुए, केवल हुसैन की बहिन, उसके दो बेटे और दो बेटियाँ बच सकी। कर्बला की यह शोकजनक घटना आज भी हर साल इस्लामी दुनिया के शियो मे दुख के साथ मनाई जाती है।

कर्बला की शोकात घटना के बाद अब्दुल्ला इब्नजुबैर ने मक्के में घोषणा की कि यजीद से कर्बला का बदला लेना चाहिए। मक्का और मदीना के नागरिको ने अब्दुल्ला के प्रस्ताव का समर्थन किया। खलीफा यजीद की सेना ने सन् ६८२ ई० मे मदीने पर आक्रमण कर उसे लूट लिया और विद्रोहियो को तलवार के घाट उतारा। दूसरे वर्ष जाकर मक्का को घेर लिया। तीन महीने के बाद यजीद की मृत्यु का समाचार पाकर खलीफा की सेना वापस लौट गई, किंतु जाने से पूर्व वह पवित्र काबे तक को नष्ट करती गई। यजीद के बाद मर्वान और मर्वान के बाद अब्दुल मलिक खलीफा बना। इस बीच अब्दुल्ला इब्नजुबैर मक्के मे प्रतिद्वद्वी खलीफा के रूप में शासन कर रहा था। साम के एक भाग और मिस्र ने भी उसकी खिलाफत स्वीकार कर ली थी। मार्च, सन् ६९२ में अब्दुल मलिक के सेनापति हज्जाज ने मक्के का घेरा शुरू किया और उसी वर्ष अक्तूबर में मक्के पर अधिकार कर लिया। अब्दुल्ला इब्नजुबैर ७२ वर्ष की आयु मे भी बहादुरी के साथ लडते हुए खेत रहे। अब्दुल्ला की मृत्यु के बाद अब्दुल मलिक के हाथो मे खिलाफत का एकछत्र शासन आ गया।

निश्चित की जाती थी। इसी कारण इस काल को 'खुल्फाएराशिदीन' का काल कहते हैं। ६६१ ई० से उमवी काल प्रारभ होता है। उमवी राज्य के सस्थापक अमीर मुआविया थे। उनके राज्यारोहण से राज्य की परिस्थितियों में कई परिवर्तन हुए। खिलाफत (प्रतिनिधान) सल्तनत मे परिवर्तित हो गया तथा गणतत्र स्वाधीनता में। खलीफा या राजा जातीय तथा पैतृक होने लगे। खलीफा के निर्वाचन की प्रथा समाप्त हो गई। यह राज्य ७५० ई० तक कायम रहा। इसकी राजधानी दमिश्क थी। खुल्फाएराशिदीन तथा उमवी काल इस्लामी विजयो का काल है। इन दोनो युगो मे इस्लामी विजयो की प्रधानता रही। उमवी राज्य यूरोप में बिस्के की खाडी तथा उत्तरी अफ्रीका से पूर्व मे सिधु नदी तथा चीन की सीमा तक, उत्तर मे अरब सागर से दक्षिण मे नील नद के झरनो तक फैल गया था। सन् ७५० ई० मे यह राज्य अब्बासी खलीफाओ के अधिकार मे आ गया। इस राज्य का सस्थापक अबुलअब्बास सफ्फाह था। अब्बासी राज्य की राजधानी बगदाद थी जो उन्ही का बसाया हुआ एक नवीन नगर था। इसी समय स्पेन की खिलाफत अब्बासी खिलाफत से पृथक् हो गई। स्पेन के राज्य का सस्थापक ७५६ ई० मे अब्दुर्रहमान उमवी था। अब्बासी राज्य का पतन १२५८ ई० में हलाकू खाँ द्वारा हुआ और स्पेन का राज्य १४९२ ई० मे मिट गया।

सास्कृतिक दृष्टि से खुल्फाएराशिदीन का काल प्रारभिक है। अरब अपने साथ विजित देशो मे ज्ञान तथा सस्कृति नही ले गए थे। साम, मिस्र, इराक तथा ईरान मे विजित जातियो के समक्ष उनको झुकना पडा और उनका सास्कृतिक नेतृत्व उन्हे स्वीकार करना पडा। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उमवी काल जाहिली काल से अधिक दूर न था, फिर भी ज्ञान का बीजारोपण उसी काल मे हुआ। दमिश्क, कूफा, बसरा, मक्का, मदीना प्रारभिक ज्ञान तथा ज्ञानियो के महत्वपूर्ण केद्र थे। अब्बासी काल मे ज्ञान और विद्या की जो उन्नति राजधानी बगदाद मे हुई उसका प्रारभ उमवी काल मे ही हो चुका था, जब यूनानी, सामी तथा भारतीय सस्कृति अरब निवासियो को प्रभावित कर रही थी। अत सर्वांगीण रूप से हम उमवीकाल को ज्ञानरूपी बालक के पालन पोषण का काल कह सकते है।

अरब सभ्यता का विकास उमवी खलीफा अब्दुलमलिक-बिन-मरवान (६८५-७०५) के काल से प्रारभ होता है। उसने कार्यालयो की भाषा लातीनी, यूनानी तथा पह्लवी की जगह अरबी कर दी। विजित जातियो ने अरबी सीखना आरभ कर दिया, यहाँ तक कि धीरे धीरे पश्चिमी एशिया के अधिकतर देशो तथा उत्तरी अफ्रीका की भाषा अरबी हो गई। यह सत्य है कि अरबो के पास अपनी सस्कृति नही थी, परतु उन्होने विजित जातियो को अपना धर्म तथा अपनी भाषा सिखाई और उनको ऐसे अवसर दिए कि वे अपना कृतित्व दिखला सके। अरबो का सबसे महान् कार्य यह है कि उन्होंने विजित जातियो की सास्कृतिक सभावनाओ को उभाडा और अपना धर्म तथा अपनी भाषा प्रचलित करके उनको भी अरब शब्द के अर्थ मे समिलित कर लिया और विजेता तथा विजित का अतर समाप्त हो गया। उनमे शासन की योग्यता पूर्ण रूप से विद्यमान थी। उन्होने न केवल शासनव्यवस्था मे बीजतीनी तथा सासानी राज्य के नियमो का अनुसरण किया, अपितु उनमे सशोधन करके उनको सुदर बनाया। अरबो ने अनेक प्राचीन सभ्यताओ के मिटते हुए ज्ञान मूल से अनूदित और सरक्षित किए और उनका प्रचार, जहाँ जहाँ वे गए, यूरोप आदि देशो मे उन्होने किया।

ज्ञानविज्ञान तथा साहित्यिक दृष्टिकोण से अब्बासी काल बहुत महत्व रखता है। यह उन्नति, एक सीमा तक भारतीय, यूनानी, ईरानी प्रभाव के कारण हुई। ज्ञान विज्ञान की उन्नति का प्रारभ अधिकतर अनुवादो से हुआ जो ईरानी सस्कृति, सुर्यानी (सीरियक) तथा यूनानी भाषा से किए गए थे। थोडे समय मे अरस्तू तथा अफलातून की दर्शन की पुस्तके, नव-अफलातूनी टीकाकारो की व्याख्याएँ, जालीनूस (गालेन) की चिकित्सा सबधी पुस्तके, गणित विद्या मे निपुण उकलैदिस (युक्लिद) तथा बतलीमूस (प्तोलेमी) की पुस्तके तथा ईरान और भारत की वैज्ञानिक तथा साहित्यिक पुस्तके अनुवादो द्वारा अरबो के अधिकार मे आ गई। अतएव जिन शास्त्रो, विज्ञानो को सीखने मे यूनानियो को शताब्दियाँ लग गई थी उनको अरबो ने वर्षो मे सीख लिया और केवल सीखा ही नही, उनमे महत्व के सशोधन भी किए। इसी कारण मध्यकालीन इतिहास मे अरब वैज्ञानिक साहित्यिक दृष्टि से उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके थे। यह सत्य है कि इस सभ्यता का स्रोत प्राचीन मिस्री, बाबुली, फिनीकी तथा यहूदी सभ्यताएँ थी और उन्ही से ये धाराएँ बहकर यूनान आई थी और इस काल मे पुन यूनानी ज्ञान विज्ञान तथा सभ्यता के रूप मे उलटी बहकर पूर्वी देशो मे आ रही थी। इसके पश्चात् ये ही सिक्लिया (सिसिली) तथा स्पेन पहुँची और वहाँ के अरबो ने फिर इन धाराओ को यूरोप पहुँचाया।

अरबो के वैज्ञानिक जागरण, विशेषत नैतिक साहित्य तथा गणित मे, भारत ने भी प्रारभ मे भाग लिया था। ज्योतिष विद्या के एक ग्रथ पत्रिका-सिद्धात का अनुवाद मुहम्मद बिन इब्राहीम फजारी ने (मृ० ७९६–८०६ के बीच कभी) किया और वही मुसलमानो मे प्रथम ज्योतिषी कहलाया। उसके पश्चात् ख्वारिज़्मी (मृ० ७५०) ने ज्योतिष विद्याओ मे बहुत परिवर्धन किया तथा यूनानी व भारतीय ज्योतिष मे अनुकूलता लाने का प्रयत्न किया। इसके पश्चात् अरबो ने गणित के अको तथा दशमलव भिन्न के नियम भी भारतीयो से ग्रहण किए। अरबी भाषा मे सर्वप्रथम साहित्यिक पुस्तक 'कलीला व दिमना' है जिसका अब्दुल्ला बिन मुकफ्फा (मृ० ७५०) ने पह्लवी से अनुवाद किया था। इस पुस्तक की पहलवी प्रति का नौशेरवाँ के समय सस्कृत से अनुवाद किया गया था। इस पुस्तक का महत्व इस कारण है कि पह्लवी प्रति की प्राप्ति सस्कृत प्रति के समान ही दुर्लभ है, परतु अब भी ये कहानियाँ पचतत्र मे विस्तारपूर्वक मिल सकती है। इस बीच अब्बासी खलीफा मामून (८१३–८४४) ने बगदाद मे बैतुल हिकमत की स्थापना की जो वाचनालय तथा अनुवादभवन था, ज्ञान-सस्थान। इस अकादमी द्वारा यूनानी वैद्यक शास्त्र, गणित तथा यूनानी दर्शन का परिचय मुसलमानो को हुआ। इस समय के अरबी अनुवादकों मे प्रसिद्ध हुनैन बिन इस्हाक (८०९–७३) तथा साबित बिन कुर्रा (८३६–९०) हैं।

अनुवादकाल लगभग एक शताब्दी तक रहा। उसके पश्चात् स्वय अरबो मे उच्च कोटि के लेखको ने जन्म लिया जिन्होने विज्ञान तथा साहित्य के भाडार मे परिवर्धन किया। उनमे से अपने विषय मे दक्ष लेखको के नाम निम्नलिखित है

वैद्यक मे राजी (८५०–९२३) तथा इब्नसिना (९८०–१०३७), ज्योतिष तथा गणित मे बत्तानी (८७७–९१८), अलबरूनी (९७३–१०४८) तथा उमर खैयाम (मृ० ११२३–४), रसायनशास्त्र मे जाबिर बिन हय्याम (८ वी शताब्दी), भूगोल मे इब्न खुर्दादबेह (मृ० ९१२), याकूबी (९ वी शताब्दी के अत मे), इस्तखरी (१० वी शताब्दी मे), इब्न हौकल (१० वी शताब्दी), मक्दसी (१० वी शताब्दी में), हम्दानी (मृ० ९४५) तथा याकूत (१०७९–१२२९), इतिहास मे इब्न हिशाम (मृ० ८३४), वाकिदी (मृ० ८२३), बलाज़ुरी (मृ० ८९२), इब्न कुबैता (मृ० ८८९), तबरी (८३८–९२३), मसूदी (१० वी शताब्दी मे), अबुल असीर (११६०–१२३४) तथा इब्न खल्दून (१३३२–१४०६), धर्मशास्त्र मे बुखारी (८१०–७०), मुस्लिम (मृ० ९७५), विशेषत फिक्ह (इस्लामी धार्मिक विधान) मे अबूहनीफा (मृ० ७६७), इमाम मालिक (७१५–७९५), हमाम शाफई (७६७–८२०) तथा इब्न हबल (मृ० ८५५)।

अरबो ने साहित्यिक सेवाओ के साथ साथ ललित कलाओ मे न केवल अभिरुचि दिखलाई, अपितु विश्व के सास्कृतिक इतिहास में अरबी कला का महत्वपूर्ण अध्याय खोल दिया। जिस प्रकार अरबी साहित्य पर बाह्य प्रभाव पडा उसी प्रकार वास्तु, सगीत तथा चित्रकला पर भी पडा। अतएव विजित जातियो के मेलजोल से वास्तुकला की नीव पडी और शनै शनै इस कला मे अनेकानेक शैलियाँ निकली, जैसे **सामी-मिस्री,** जिसमे यूनानी, रूमी तथा तत्कालीन कला का अनुसरण किया जाता था, **इराकी-ईरानी** जिसकी नीव सासानी, किल्दानी तथा असूरी शैली पर पडी थी, उदुलुसी **उत्तरी अफ्रीकी,** जो तत्कालीन ईसाई तथा विज़ीगोथिक से प्रभावित हुई और जिसे मोरिश की सज्ञा दी गई, **हिंदी,** जिसपर भारतीय शैली का गहरा प्रभाव है। इन सभी शैलियो के प्रतिनिधि भवनो मे निम्नलिखित विख्यात हुए कुब्बतुस्सखरा (बैतुल मुकद्दस), जामे दमिश्क, मस्जिद नबवी, दमिश्क के राजकीय प्रासाद (जो अलखज़रा के नाम से प्रसिद्ध थे), बगदाद के शाही प्रासाद, मस्जिदे, पाठशालाएँ तथा चिकित्सालय, कर्तुबा (कोर्दोवा) के शाही प्रासाद (जो अलहबा के नाम से प्रसिद्ध थे) तथा वहाँ की जामे

प्रायः गहराई बढ़ने से उत्पन्न ढाल को महाद्वीपीय ढाल (कान्टिनेंटल स्लोप) कहते हैं।]

अरब सागर के मध्य समुद्रातर कूटो (सबमैरीन रिजेज़) में मरे कूट हैं, जो उत्तर-दक्षिण फैला है। अपनी लबाई के अधिकाश में यह दोहरा है, अर्थात् दो ऊँची श्रेणियो के मध्य एक घाटी स्थित है। यह मध्यवर्ती घाटी लगभग १२,००० फुट गहरी है। पूर्वोक्त कूट सभवत सिंध की किरथर श्रेणी का समुद्रातर विस्तार है। कुछ समय पूर्व एक तीसरी गिरिशृखला का पता चला जो बलूचिस्तान और ईरान के तट पर पूर्व-पश्चिम दिशा मे विद्यमान है। यह सभवत जैग्रोस पर्वतमाला का समुद्रातर अश है। समुद्रातर कूटो के अतिरिक्त अरब सागर मे एक महत्वपूर्ण समुद्रातर नाली है। यह पश्चिम में सिंध नदी के मुहाने पर इडस स्वाच के नाम से प्रसिद्ध है। यह महाद्वीपीय निधाय के सिरे पर लगभग १०० फुट गहरी है, परतु क्रमश आगे चलकर सिंध नदी के मुहाने पर ३,७२० फुट गहरी हो गई है। इन समुद्रातर नाली के दोनो ओर ६५६ फुट ऊँची दीवारें है।

अरब सागर के वितल मे विद्यमान शिलाओ के विषय मे हमारा ज्ञान अभी अपूर्ण एव नगण्य है। इन शिलाओ पर एकत्र निक्षेपों का ही साधारण ज्ञान प्राप्त हो सका है। इस सागर के महाद्वीपीय निधाय का अधिकाश भूजात पक (टेरीजेनस मड) द्वारा आच्छादित है। यह पक नदियों द्वारा परिवहित अवसाद है। अधिक गहराई पर ग्लोबी-जरीना का निस्राव (कीचड) तथा टेरोपाड का निर्कदम है और अगाध-सागरीय भागों में लाल मिट्टी विद्यमान है।

अरब सागर के जलपृष्ठ का ताप उत्तर में २६° सेंटीग्रेड से लेकर दक्षिण में २७.५° से० तक है। इस सागर की लवणता ३६ से लेकर ३७ प्रति सहस्र है।

अरब सागर की धाराएँ पावस (मानसून हवाओं) के दिशापरिवर्तन के साथ साथ अपना दिशापरिवर्तन करती रहती हैं। शीतकाल मे पावस (मानसून हवाएँ) उत्तरपूर्व से चलता है, जिसके फलस्वरूप अरब सागरीय तटरेखा के अनुरूप प्रवाहित जलधारा पश्चिम की ओर मुड जाती है। इसे उत्तर-पूर्वी पावसप्रवाह (नॉर्थ-ईस्ट मानसून ड्रिफ्ट) कहते हैं। ग्रीष्मकाल में दक्षिण-पश्चिमी पावसप्रवाह अरब सागरीय तट के अनुरूप पूर्व की ओर प्रवाहित होता है। [रा० ना० मा०]

अरबी दर्शन अरबी दर्शन का विकास चार मजिलो से होकर गुजरा है (१) यूनानी ग्रथो का सामी तथा मुसलमानो द्वारा किया अनुवाद तथा विवेचन, यह युग अनुवादो का है, (२) बुद्धिपरक हेतुवादी युग, (३) धर्मपरक हेतुवादी युग, और इन सबके अत मे, (४) शुद्ध दार्शनिक युग। प्रत्येक युग का विवरण इस प्रकार है

१ **अनुवाद युग**—जब अरबो का साम पर अधिकार हो गया तब उन्हे उन यूनानी ग्रथो के अध्ययन का अवकाश मिला जिनका सामियो द्वारा सामी अथवा अरबी भाषा में अनुवाद हो चुका था। प्रसिद्ध सामी टीकाकार निम्नलिखित है

(अ) प्रोवस (५वी शताब्दी के आरभ में) जिन्हे सबसे पहला टीकाकार माना गया है। इन्होने अरस्तू के तार्किक ग्रथो तथा पारफरे के 'इसागोग' की व्याख्या की।

(आ) रैसेन के निवासी सर्गियस (मृत्यु ५३६) जिन्होने धर्म, नीतिशास्त्र, स्वस्थ पदार्थ विज्ञान, चिकित्सा तथा दर्शन सबधी यूनानी ग्रथो का अनुवाद किया।

(इ) एडीसा के निवासी याकोब (६६०-७०८), यह मुस्लिम शासन के पश्चात् भी यूनानी धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रथो का अनुवाद करने में व्यस्त रहे। विशेषत मसूर के शासन में मुसलमानो ने भी अरबी भाषा में इन यूनानी ग्रन्थो का अनुवाद करना आरभ किया जिनका मुख्यत सबध पदार्थविज्ञान तथा तर्क अथवा चिकित्साशास्त्र से था।

८वी शताब्दी में अधिकतर चिकित्सा सबधी ग्रथो के अनुवाद हुए परतु दार्शनिक ग्रथो के अनुवाद भी होते रहे। याहिया इब्ने वितृया ने अफलातून की 'तीयास' तथा अरस्तू के 'प्राणिशास्त्र', 'मनोविज्ञान', 'नमार' का अरबी भाषा मे अनुवाद किया। अब्दुल्ला नईमा अलहिमसा ने अरस्तू के 'आभासात्मक' का तथा 'फिजिक्स' और 'थियालॉजी' पर जान फिलोयोनस कृत व्याख्या का अनुवाद किया। कोस्ता इब्ने लूका (८३५) ने अरस्तू की 'फिजिक्स' पर सिकदरिया के अफरोदियस तथा फिलोपोनस लिखित व्याख्या का अनुवाद किया। इस समय के सर्वोत्तम अनुवादक अबूजैद हुसैन इब्ने, उनके पुत्र इसहाक बिन हुसैन (९१०) और उनके भतीजे हुबैश इब्नुल हसन थे। ये सब लोग वैज्ञानिक तथा दार्शनिक ग्रथो का अनुवाद करने में व्यस्त थे।

१०वी शताब्दी मे भी यूनानी ग्रथो के अनुवाद का काम गतिशील रहा। इस समय के प्रसिद्ध अनुवादक अबू बिश्र मत्ता (९७०), अबू जकरिया याहिया इब्ने अलगतिकी (९७४), अबू अली ईसा इब्ने इसहाक इब्ने जूरा (१००८), अबुलखैर अल हसन इब्नुल खम्मार (जन्म ९४२) आदि हैं। सक्षेप मे मुसलमानो ने ग्रीक शास्त्रो का सामी अथवा अरबी भाषा मे अध्ययन किया अथवा स्वय इन ग्रथो का अरबी मे अनुवाद किया। यूनानी विचारधारा और दार्शनिक दृष्टि सामियो द्वारा सिकदरिया तथा अतिओक से पूरब की ओर एदीसा, निसिबिस, हर्रान तथा गादेशपुर में विकासमान हुई थी और मुसलमान जब विजेताधिकार से वहाँ पहुँचे तब उन्होंने, जो कुछ यूनानी दर्शन तथा शास्त्रज्ञान उपलब्ध था, उसको ग्रहण किया और धीरे धीरे भिन्न भिन्न समस्याओं के प्रभाव से दार्शनिक चिंतन का आरभ हुआ।

२ **मोतज़ेला अर्थात् बुद्धिपरक हेतुवाद युग**—इस्लाम मे सबसे प्रथम विचारविमर्श पारमार्थिक स्वच्छदता का था। बसरा में, जो उस समय विद्याभ्यास तथा पाडित्य का एक विशिष्ट केद्र था, एक दिन उस युग के महान् विद्वान् **इमाम हसन बसरी** एक मस्जिद मे विद्यादान कर रहे थे कि उनसे किसी ने पूछा कि वह व्यक्ति (उमय्या शासको की ओर सकेत था), जो घोर अपराध करे, मुस्लिम है अथवा नास्तिक। इमाम हसन बसरी कोई उत्तर देने को ही थे कि उनका एक शिष्य वासिल बिन अता बोल उठा कि ऐसा व्यक्ति न मुस्लिम है और न इस्लाम के विरुद्ध है। यह कहकर वह मस्जिद के एक दूसरे भाग में जा बैठा और अपने विचार की व्याख्या करने लगा जिसपर गुरु ने लोगो को बताया कि शिष्य ने 'हमें छोड दिया है' (एतज़िला अन्ना)। इस वाक्य पर इस विचारशाखा की स्थापना हुई।

चूँकि उमय्या शासक घोर पाप कर रहे थे और अपने आपको यह कहकर कि हम कुछ नही करते, सब कुछ खुदा करता है, निर्दोष बताते थे, इससे स्वच्छदता का प्रश्न इस्लाम मे बडे वेग से उठा। हेतुवादियो ने इस प्रश्न तथा इसी प्रश्न की सनिकट शाखाओ का विशेष अनुसधान किया।

अबुल हुज़ैल की मृत्यु ९वी शताब्दी के मध्य हुई। इन्होंने एक ओर मनुष्य को स्वच्छदता प्रदान की और दूसरी ओर खुदा को भी सर्वशक्ति (तथा गुण) सपन्न सिद्ध किया। मनुष्य की स्वेच्छा तो इसी बात से सिद्ध है कि सब धर्म कुछ विधिनिषेध बताते हैं जो बिना स्वच्छदता के सभव नही। दूसरी दलील है कि प्रत्येक धर्म स्वर्ग को प्राप्य तथा नरक को त्याज्य बताते हैं जिससे प्रमाणित है कि मनुष्य को स्वेच्छा प्राप्त है। तीसरी दलील है कि मनुष्य की स्वच्छदता खुदा के सर्वशक्तिमान और सर्वगुणसपन्न होने में किसी प्रकार से बाधक नही है।

खुदा और उसके गुणों में विशेषण विशेष्य भाव नही है बल्कि सारूपत्व है। उदाहरणार्थ, खुदा सर्वज्ञ है, तो इसका अर्थ यह है कि वह ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान अथवा शक्ति अथवा अन्य गुण उससे भिन्न नही है। वह सर्वगुणसपन्न है, परतु खुदा की अपेक्षा यह अनेकानेक गुणों का सबध गुण तथा गुणी जैसा नही हो सकता, क्योकि खुदा सर्वव्यापी है और उसमे कोई वस्तु, गुण या विशेषण बाहर नही है। इसके अतिरिक्त दैवी गुणों का साधारण अर्थ नही लिया जा सकता तथा उन्हें मनुष्यारोपित नही कह सकते। अत ईश्वरेच्छा मानुषिक स्वच्छदता के विरुद्ध नही है। ईश्वरेच्छा तो सृष्टि के लिये सकेत मात्र है। इसका किंचित् यह अर्थ नहीं है कि ससार अथवा मनुष्य सर्वश ईश्वराधीन है। चरित्रनिर्माण के लिये मानुषिक

वही थी जो जहालत के युग की कविताओं की थी। इतना अवश्य है कि भाषा एव वर्णन में कुछ मिठास और शिष्टता की झलक दिखाई जाती है। इस काल का प्रत्येक कवि किसी न किसी दल का समर्थक था जिसकी प्रशसा में वह अपनी पूरी कवित्वशक्ति अर्पित कर देता था। साथ ही विरोधियों पर दोषारोपण करने में भी वह कोई कसर नही रखता था। इसीलिये इस काल की अधिकाश कविताओं के वर्ण्य विषय प्रशसा एव दोषारोपण पर आधारित हैं। अख्तल (मृ० सन् ७१३ ई०) की गणना प्रथम कोटि के कवियों में होती है। इस युग की एक विचित्रता फरज्दक और जरीर की पारस्परिक कविता-प्रतिद्वद्विता भी है जो इतनी प्रसिद्ध थी कि युद्धक्षेत्र मे सैनिक भी इन्ही दिनो की कविता से सबधित वादविवाद किया करते थे।

दूसरी ओर अरब मे विशेप रूप से गजलिया शायरी (प्रेमकविताओं) का प्रचलन था जिसमे उमर-बिन-अबी रबीआ (मृ० सन् ७१९ ई०) का नाम बहुत प्रसिद्ध है। कुछ प्रेमी कवि भी बहुत प्रसिद्ध थे, जैसे जमील (मृ० सन् ७०१), जो बुसैना का प्रेमी था और मजनू जो लैला का प्रेमी था। इनकी कविताएँ सौंदर्य तथा प्रेम की सवेदनाओं एव घटनाओं और सयोग वियोग के अनुभवो तथा अवस्थाओं से परिपूर्ण हैं और उनमे सवेदन, प्रभाव, सौंदर्य, मधुरता, मनोहारिता एव मनोरजकता भी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध है।

(इ) **अब्बासी युग** (७५० ई० से १२५८ ई० तक)—यह काल प्रत्येक दृष्टिकोण मे स्वर्णयुग कहलाने का अधिकारी है। इसमे हर प्रकार की उन्नति अपनी चरम सीमा को पहुँच गई थी। खलीफा से लेकर जनसाधारण तक सब विद्या तथा कलाकौशल को उन्नत बनाने मे तन मन से लगे हुए थे। बगदाद राजधानी के अतिरिक्त विस्तृत इस्लामी राज्य मे असख्य शिक्षाकेंद्र स्थापित थे जो विद्या तथा कलाकौशल की उन्नति के लिये एक दूसरे से आगे बढ जाने की होड कर रहे थे। इस समुपयुक्त वातावरण के फलस्वरूप कविता का उद्यान भी लहलहाने लगा। सभ्यता तथा सस्कृति की उन्नति और अन्य जातियो तथा भाषाओं के मेल से नवीन विचारधाराएँ और नए शब्द एव वाक्याश कविता में स्थान पाने लगे। विचारो मे गभीरता एव बारीकी और शब्दो मे प्रवाह एव माधुर्य आने लगा। विभिन्न वर्णन-शैलियाँ निकाली गई और प्रशसा एव दोषारोपण के विभिन्न ढग निकाले गए जिनमे अतिशयोक्ति को चरम सीमा तक पहुँचा दिया गया। इस क्षेत्र के योद्धाओं मे अबू तम्माम (मृ० ८४३ ई०), बहुतुरी (मृ० सन् ८९६ ई०) और मुतनब्बी (मृ० सन् ९६५ ई०) अग्रणी थे। इसके अतिरिक्त पूर्व-सीमाओं तथा प्रतिबधो को तोडकर कविताक्षेत्र को और भी विस्तृत किया गया तथा उसमे विभिन्न राहे निकाली गई। एक ओर प्रेम और आसक्ति की घटनाओं और फाकामस्तो के वर्णन निस्सकोच किए गए। इस दिशा का प्रतिनिधि कवि अबूनुवास (मृ० सन् ८१० ई०) था। दूसरी ओर विरक्ति, पवित्रता और उपदेश की धाराएँ प्रवाहित हुई। इस क्षेत्र में अबुल अताहिया (मृ० ८५० ई०) सर्वप्रथम था। इसी प्रकार अबुल अला अलमअर्री (मृ० सन् १०५७ ई०) ने मानवता के विभिन्न अगो पर दार्शनिक ढग से प्रकाश डाला और इब्नुल फारिज (मृ०१२३५ ई०) ने आध्यात्मिकता के वायुमडल मे उडान भरी।

यहाँ स्पेन की अरबी कविता का वर्णन भी विशेष रूप से अभीष्ट है। वहाँ मुसलमानो का राज लगभग ८०० वर्प रहा। इस बीच विद्या तथा कलाकौशल ने वहाँ ऐसी उन्नति की कि उसे देखकर यूरोप शताब्दियो तक आश्चर्यचकित रहा। यहाँ की अरबी कविता भी प्रारभ में प्राचीन मुहम्मद पूर्व युग की कविता के ढग पर चली, परतु शीघ्र ही स्थानीय जलवायु ने उसे अपने रग मे रगना शुरु किया और अत मे उसको एक नया रूप और सौंदर्य प्राप्त हुआ। इसकी दो विशेपताएँ हैं एक तो प्राकृतिक दृश्यो का चित्ताकर्षक वर्णन, दूसरी प्रेमभावनाओं की मनोहारिणी कहानी। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात यह है कि यहाँ लोकभाषा मे एक नई प्रकार की कविता ने प्रौढता प्राप्त कर राजा रक सबका मन हर लिया। स्पेन का कण कण उसके रागो से द्रवित हो गया। वहाँ के प्रसिद्ध कवियो मे इब्ने हानी (मृ० ९७३ ई०) और इब्ने जदून (मृ० १०७१ ई०) विशेप रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस काल मे अरबी गद्य ने भी बहुत उन्नति की। प्रारभ में इब्नुल मुकफ्फा (मृ० ७६० ई०) ने दूसरी भाषाओं की कुछ पुस्तको का अरबी में अनुवाद किया जिनमें कलीलह व दिमना (मूल सस्कृत 'पचतत्र') बहुत प्रसिद्ध है। फिर प्राचीन कथा कहानियो को बडी शीघ्रता के साथ पुस्तको मे सकलित किया जाने लगा। एक ओर तो कथा कहानियो पर लेखनशक्ति का प्रयोग किया गया और मनोरजक ज्ञान को चित्ताकर्षक शैली मे प्रस्तुत किया गया। इस सबध में अलिफलैला का नाम बहुत प्रसिद्ध है जो विभिन्न प्रकार की सैकडो कहानियों का सग्रह है। दूसरी ओर खलीफाओं, महापुरुषो, कवियो, साहित्यकारो और विद्वानो के परिचय, सदाचार, शिष्टाचार, दतकथाओं, कलाकौशल आदि के वर्णन एकत्र किए गए। इस क्षेत्र के मीर प्रसिद्ध महानुभाव जाहिज़ (मृ० ८६९ ई०) थे। इनके पश्चात् इस क्षेत्र मे सक्रिय भाग लेनेवालो मे इब्ने कुतैबह (मृ० ८८९ ई०), इब्ने अब्दे रब्बी (मृ० ९३९ ई०) और अबुल फरज अस्फहानी (मृ० ९६७ ई०) अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी पुस्तको को अरबी साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है।

इस काल के साहित्यिक लेखो मे तुकात गद्य को भी अधिक ख्याति प्राप्त हुई और उसका महत्व इतना बढ गया कि उसे उच्च कोटि के गद्य का अत्यावश्यक अग माना जाने लगा। अत मे इसकी उन्नति मकामात के रूप मे अपनी चरम सीमा पर पहुँची और वास्तविकता यह है कि बहुतेरे साहित्यमर्मज्ञो की राय मे इससे अधिक उच्च स्तर का साहित्य अब तक अस्तित्व मे नही आया था। मकामात का केंद्र विदूषक-नायक होता है और उसकी शैली नाटकीय होती है। प्रत्येक मकामह साहित्यिक सग्रह होता है जिसमें नायक अपने ज्ञान सबधी वर्णनो तथा साहित्यिक हास परिहास एव योग्यता के द्वारा अपने समस्त प्रतिद्वद्वियो को पूर्णरूपेण हराकर सब दर्शको को आश्चर्य मे डाल देता है। उसमें कथावस्तु कुछ नही होती, केवल साहित्यिक अतिशयोक्ति तथा वर्णनशैली का चमत्कार ही सब कुछ होता है। बदीउज्जमाँ हमदानी (मृ० १००७ ई०) और बाद हरीरी (मृ० सन् ११२२ ई०) अरबी साहित्य के इस काल के आकाश मे चद्र सूर्य की भाँति चमकते हैं।

इसके अतिरिक्त असख्य विद्याओं एव कलाओं, जैसे तफ़सीर (कुरान की व्याख्या) हदीस, फिकह (कानून), इतिहास, निरुक्त, मतिक, दर्शन, ज्योतिष, भूमिति, गणित इत्यादि के क्षेत्र में सहस्रो ऐसे विद्वानो ने कार्य किया। इनकी असख्य कृतियो मे ज्ञान का बहुमूल्य सग्रह एकत्र है और इनमे से सैकडो पुस्तको की गणना उच्च कोटि की ज्ञान सबधी तथा साहित्यिक कृतियो में होती है। इनसे आज तक विद्वान् लाभ उठाते और उनके समुद्र मे डुबकी लगाकर बहुमूल्य मोती निकालते रहे हैं। फिर भी, उनके भाडार का बहुत बडा भाग अभी तक अज्ञात और ससार की दृष्टि से ओझल है जो विद्या एव कला के जिज्ञासुओं को खोज और निरतर परिश्रम के लिये आमन्त्रित करता है।

(द) **मुसलमानो तथा तुर्कों का शासनकाल** (सन् १२५८ ई० से १७९८ ई० तक)—बगदाद का राज्य अब्बासी राजत्वकाल से ही पतनोन्मुख हो चुका था। अब इस युग मे उसके टुकडे टुकडे हो गए। मुगलो, तुर्को और दूसरी जातियो मे प्रभुता विभाजित हो गई। राजनीतिक क्राति का प्रभाव ज्ञानजगत् पर भी पडना अनिवार्य था। अत इस लबे समय मे ज्ञान एव साहित्य में कोई प्रगति नही हुई। कविता तो वास्तव मे बिलकुल निष्प्राण हो चुकी थी। कवि केवल शाब्दिक क्रीडा मे लीन थे। मौलिकता का पता नही था। प्राचीन विषयो तथा विचारो का पिष्टपेषण हो रहा था। अल-बूसीरी (मृ० १२९६ ई०) की निस्सदेह कविता में बहुत प्रसिद्धि हुई जिसका आधार विशेष रूप से वह कसीदा है जो उसने रसूलुल्लाह के सम्मान मे लिखा था। इसके अतिरिक्त सफीउद्दीन हिल्ली (मृ० १३५० ई०) का नाम भी बहुत विख्यात है जिसे इस काल का सबसे बडा कवि कहा जा सकता है।

निस्सदेह इतिहासलेखन ने इस काल मे उत्तरोत्तर उन्नति की। इस काल के ऐतिहासिक कार्यो मे विस्तृत दृष्टिकोण और यथार्थप्रियता के चिह्न पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं। इस सबध मे इब्ने खल्दून (मृ०१४०६ई०) का नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध है जिसने इतिहासलेखन में एक नई शैली का सूत्रपात किया। उसने अपने इतिहास की भूमिका में बहुत सी ज्ञान सबधी, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं का बहुत सुदर वर्णन

(मुस्लिम) की हार्दिक (धार्मिक) तृष्णा की तृप्ति कर सकता था अथवा नही, यह कोई भी नही समझ सका था।

गिजाली प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होने इस प्रश्न पर गभीर विचार किया। इनको कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि वह सब तत्व-विचार-धारा जो इस्लाम मे किंदी से आरभ हुई थी और फराबी द्वारा इब्नेसिना तक पहुँची थी और जिसका आश्रय मुख्यत ग्रीक तत्व-विचार-धारा थी, सर्वथा धार्मिक चेष्टाओ और हार्दिक रसिकता के विरुद्ध है। इनके लिये एक ओर तो हृदयग्राही धार्मिक भावनाएँ थी, जिनकी तृप्ति ईश्वरप्रत्यादेश से होती है, परतु दूसरी ओर बुद्धिपरक विचार थे जो इसके प्रतिकूल हैं। यही बुद्धिपरक विचार अन्य दर्शनो (यहाँ ग्रीक तथा मुस्लिम) का मूल आधार है, उदाहरणार्थ कारणकार्य का विचार।

अपने आपको इस सकल्प विकल्प मे अनुभव करके गिजाली कुछ समय के लिये सशयकारी हो गए। वह किसी बात को सत्य स्वीकार करने के लिये राजी न हो सके। उन्होने सब विचारधाराओ तथा सत्यप्राप्ति के अन्य मार्गो का विश्लेषण किया। दार्शनिको के वाक्यघात के लिये उन्होने विश्वप्रसिद्ध ग्रथ 'दर्शनखडन' लिखा जिसमे सब दार्शनिक रीतियो का खडन किया। इस अवस्था में उन्होने एक स्वयसिद्ध यथार्थ विचार की चेष्टा की। ईश्वर, ससार, धर्म, तत्वज्ञान तथा परपरागत विचारधारा सब असत्य हो सकते है, परतु सशय का आश्रय होना आवश्यक है। अत सशयकारक स्वत - सिद्ध है। "अहम् सशय करोमि अत अहमस्मि" यह निश्चय भी सशयात्मक हो सकता है। क्योकि सशय से सशयकर्ता के वास्तविक अस्तित्व की सिद्धि नही हे, केवल तार्किक सत्ता सिद्ध है। अत अहमत्व की प्राप्ति विचारशक्ति से नही, केवल निश्चयात्मक शक्ति से इस प्रकार होती है कि"मै करता हूँ अत मै हूँ" (अहम् करोमि अतोऽहमस्मि)।

अहमत्व की सिद्धि के पश्चात् अहमत्व के मूलाधार की खोज अनिवार्य है। यहाँ पर कारण-कार्य-भाव का समझना जरूरी है। वैज्ञानिक तथा दार्शनिक दृष्टि से कारण की परिभाषा सर्वदा दूषित ही रही है। कारण-कार्य-भाव केवल अनुक्रम को नही कह सकते। कारण का महत्व तो व्यक्तिगत रूप से ही स्पष्ट होता है। किसी की सिद्धि में जो प्रयत्न किया जाता है उसके अतर्गत ही कारण का विकास होता है। आत्मा का कारण भी एक सर्वशील सर्वोत्तम परमपुरुष (खुदा, ईश्वर) ही हो सकता है जिसमें निश्चयात्मक शक्ति का बाहुल्य हो, अन्यथा नही। इस प्रकार धर्म (इस्लाम) सिद्ध होता है और परपरागत धार्मिक विचारधारा तत्वज्ञान की सहायक बनती हे।

साम में उमय्या शासन के क्षीण होने के पश्चात् मुस्लिम शासन की अब्दुर्रहमान द्वारा स्पेन में स्थापना हुई। विद्यासेवन तथा सभ्यता की दृष्टि से स्पेन को १०वी शताब्दी मे वही महत्व प्राप्त था जो इससे पहले ९वी शताब्दी मे पूर्वी देशो को प्राप्त था। स्पेन मे कई विश्वख्यात दार्शनिक हुए जिनमे से यहाँ केवल तीन इब्नेबाजा, इब्नेतुफैल, इब्नेरुश्द का वर्णन किया जाता है

इब्नेबाजा—इनका विशेष दार्शनिक उद्गार आत्मा, जीवात्मा के प्रकरण मे है। सत्ता दो भागो मे विभाजित है। प्रथम वह जो निश्चल है, द्वितीय वह जो गतिशील हे। जो गतिशील है वह साकार होने के कारण सीमित है। परतु गतिशील होने के लिये एक निराकार सत्ता की आवश्यकता है। यह निराकार सत्ता खुदा (परमात्मा) है जो सब देहधारियो के लिये सचालक है।

इब्नेतुफैल की 'हयि इब्ने यकजान' एक दार्शनिक उपाख्यान है जिसके द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि धर्म तथा दर्शन परस्पर सबद्ध हैं। जो पारमार्थिक ज्ञान कठोर दार्शनिक अध्ययन से प्राप्त होता है वही परमज्ञान धर्ममूलक स्वाभाविक अनुभव से भी स्वत ग्रहण हो सकता है। चूँकि प्रत्येक मनुष्य अज्ञानी होने के कारण स्वय स्वानुभव में शक्त नही है, अत धर्म, जो साधारण जनता के लिये श्रद्धा तथा परविश्वास पर आधारित है, सर्वदा लाभदायक रहेगा। दार्शनिक अध्ययन तथा पारमार्थिक सूक्ष्म दृष्टि साधारण लोगो के लिये अप्राप्य हे, अत सामान्य मनुष्य दर्शनपरक होने की अपेक्षा धर्मपरक ही रहेगा।

इब्नेरुश्द (मृत्यु ११९८) ने अरस्तू की वह व्याख्या की जो अभी तक कोई न कर सका था। अतएव उन्हें 'प्रवक्ता' कहते हैं। उनकी दृष्टि में ससार गतिशील है और क्रमानुसार जो होना शक्य है वह होकर रहता है। आधिभौतिक शक्तियाँ अनेकानेक परिणामो का कारण है और ससार कारण-कार्य-भाव से विशिष्ट होने से सामान्य रूप से कभी भी नष्ट नही हो सकता, परतु पृथक् पृथक् व्यक्ति होते रहेंगे। साराशत इनके यहाँ तीन नास्तिक विचार हैं प्रथम यह कि ससार अनादि अनत है, द्वितीय यह कि कारण-कार्य-भाव से विशिष्ट होने से ससार में दैवी चमत्कार सभव नही, तृतीय यह कि व्यक्तिगत के लिये अवकाश नही।

स०ग्र०—(१) डी० बोर हिस्ट्री ऑव फिलासफी इन इस्लाम, (२) ओलीरी अरेबिक थाट ऐंड इट्स प्लेस इन हिस्ट्री, (३) इकबाल डेवलपमेट ऑव मेटाफिजिक्स इन परशिया, (४) डोज़ी स्पेनिश इस्लाम, (५) शुस्त्री आउटलाइन ऑव इस्लामिक कल्चर, (६) मैकडानल्ड डेवलपमेंट ऑव मुस्लिम थियोलॉजी, जूरिसप्रूडेस ऐंड कास्टिट्यूशनल थियरी, (७) लैवी सोशियोलॉजी ऑव इस्लाम।

[इ० ह० अ०]

अरबी भाषा मुसलमानो के धर्मग्रथ कुरान की भाषा अरबी है जो ससार की प्राचीन भाषाओ में से एक है। ससार में जहाँ कही भी मुसलमान रहते हैं वहाँ कुछ न कुछ यह भाषा बोली और समझी जाती है। इस्लामी धर्मशास्त्र, दर्शन और विज्ञान की भाषा भी अरबी ही है। इतिहास के मध्य युग मे अरब व्यापारी उस समय तक ज्ञात ससार के प्राय सभी भागो में आया जाया करते थे, अत अरबी भाषा का बडा महत्व था। पश्चिमी एशिया के देशो में पेट्रोलियम बडी मात्रा में होने के कारण वर्तमान युग में भी अरबी भाषा का बडा महत्व है।

अरबी भाषा का जन्म सऊदी अरब के मैदान में हुआ। अरबी सामी भाषाओ के परिवार में है। यह भाषा बाबुली, इब्रानी (यहूदियो की भाषा), फोनीशियन, हब्शी (इथियोपियाई), आरामी, नबती, सबाई और हिमयरी भाषाओ से मिलती जुलती है।

अरबी का प्रारभिक रूप हमें प्रागिस्लामकालीन कविताओ में मिलता है। इसके बाद मुसलमानो की धर्मपुस्तक कुरान अरबी भाषा में मिलती है, जैसा ऊपर कहा जा चुका है। इस समय से अरबी की उन्नति का दूसरा अध्याय प्रारभ होता है। मुसलमानो ने कुरान का गहरा अध्ययन किया और जहाँ भी वे गए, इस भाषा को ले गए। इस प्रकार धार्मिक भाषा होने के कारण अरबी की बडी उन्नति हुई। इस्लाम के प्रसार और मुसलमानों की विजय के साथ इसका महत्व बराबर बढता गया। ८वी से लेकर १३वी शताब्दी तक अरबी सपूर्ण सभ्य ससार मे प्रचलित थी। अरब लोग जहाँ जहाँ गए और जिन देशो में उन लोगो ने विजय की वहाँ वहाँ अरबी का बडा प्रचार हुआ। कुछ देशो मे तो अरबी मातृभाषा हो गई, जैसे मिस्र के निवासी अपनी प्राचीन भाषा कुप्ती को छोडकर अरबी का प्रयोग मातृभाषा के समान करने लगे। प्राचीन फारस मे अरबी सभ्य लोगो की भाषा मानी जाती थी।

आधुनिक अरबी का विकास नैपोलियन की विजयो के पश्चात् प्रारभ हुआ। नैपोलियन की विजयो के कारण अरब लोग यूरोप के सपर्क मे विशेष रूप से आए। फलत अरबी भाषा मे नए नए शब्दो और विचारो का समावेश हुआ और अरबी भाषा उस रूप मे आई जिस रूप मे हम आज उसे पाते है।

अरबी भाषा के तीन भाग किए जा सकते है

१ प्राचीन अरबी
२ साहित्यिक अरबी
३ बोलचाल की अरबी, इसके दो भाग है १ पूर्वी और २ पश्चिमी।

अपने प्रसार के कारण रोमन लिपि के पश्चात् अरबी लिपि का ही स्थान हे। पहले अरबी भाषा आरामी अक्षरो मे लिखी जाती थी, परतु अब अरबी गोल अक्षरोवाली नसखी लिपि में लिखी जाती हे। इस लिपि मे २८ अक्षर होते है जिनमे केवल तीन स्वर हैं तथा शेष व्यजन है। यह सामी अक्षर कहलाते है और इनका सबध उत्तरी अफ्रीका और मध्य एशिया

हालय स्थापित किया। इसके बनाने में सिकदर ने रुपए पैसे से उसकी मदद की और जतुओ के नमूने एकत्र कराकर भेजे।

अरस्तू का बारह बरस तक पढाने और किताबें लिखने का काम चलता रहा। पर ३२३ ई० पू० में सिकदर के मरने पर अरस्तू को एथेंस छोडना पडा। एथेंसनिवासी मकदूनिया की अधीनता से खुश नही थे और अरस्तू का मकदूनिया मे गहरा सबध था। इसलिये डर था कि कही लोग उसके विरुद्ध उपद्रव न करें। उसने भागकर यूबोग्रा द्वीप में शरण ली, पर एक ही साल में उसका देहात हो गया।

अरस्तू ने अध्ययन और अध्यापन के समय बहुत सी पुस्तके लिखी। इन्हे तीन श्रेणियो मे बाँटा जाता है। पहली श्रेणी मे वे पुस्तकें हैं जिन्हें उसने साधारण जनता के लिये लिखा था, दूसरी मे वे हैं जिनमे वैज्ञानिक ग्रथों की सामग्री सगृहीत है और तीसरी श्रेणी में वे वैज्ञानिक ग्रथ हैं जिनमें विविध शास्त्रों के सिद्धातो का विवरण है। पहली श्रेणी की सब पुस्तकें नष्ट हो गईं, दूसरी मे से केवल एक बची है जिसमे यूनान के विधानो का सकलन है। तीसरी श्रेणी की पुस्तको के नामो की कई पुरानी तालिकाएँ मिलती हैं। इन तालिकाओ और उन पुस्तको मे, जो अरस्तू की लिखी मानी जाती हैं, भेद है। बात यह है कि दो सौ बरस तक किसी ने इनको लाइसीयम की चारदीवारी के बाहर नही निकाला। फिर ई० पू० पहली सदी में एंड्रौनिकस नाम के विद्वान् ने इन्हे प्रकाशित किया। इसी से इन ग्रथो की गिनती और लेखक के बारे मे मतभेद है।

प्रामाणिक पुस्तको को छ या आठ भागो में बाँटा जाता है जिनका ब्योरा यो है

१ लौजिक अर्थात् तर्कशास्त्र, २ फिजिक्स अर्थात् भौतिकशास्त्र, ३ बायोलोजी अर्थात् जीवशास्त्र, ४ साईकोलॉजी अर्थात् मन शास्त्र, ५ मेटाफिजिक्स अर्थात् परमतत्वशास्त्र, दर्शनशास्त्र, ६ एथिक्स अर्थात् नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र, ७ पॉलिटिक्स अर्थात् राजनीतिशास्त्र, शासनशास्त्र, ८ ईस्थेटिक्स अर्थात् सौंदर्यशास्त्र, रस या कलाशास्त्र।

यदि २, ३ और ४ विषयो को एक विज्ञान के भाग मान ले तो छ विभाग रह जाते हैं। इस तालिका से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अरस्तू के ज्ञान की परिधि कितनी विस्तृत थी। प्राय सभी विज्ञानो पर उसका अधिकार था। पर अरस्तू की विशेषता यही नही है कि वह उक्त सभी विद्याओ को जाननेवाला था। इससे बढकर दो और विशेषताएँ हैं एक यह कि वह मार्गप्रदर्शक और आविष्कारक था, और दूसरी यह कि वह सब विद्याओ को एक सूत्र में बाँधनेवाला उच्चतम कोटि का दार्शनिक था।

चौथी सदी ई० पू० अरस्तू की जीवनयात्रा का काल है। यह गहरी क्राति का समय था। जो सामाजिक व्यवस्था चार सौ बरसो से विकसित होती चली आ रही थी, जिसने वैभव के ऊँचे शिखर पर पहुँचकर अपनी अनुपम कृतियो से जगत् को चकित कर दिया था, जिसकी नीति, कला-कौशल, साहित्य, इतिहास और विज्ञान ने आदमी के माथे पर ऐसा ठप्पा लगाया था कि आज ढाई हजार बरस बीतने पर भी उसकी छाप मिटी नही, वह व्यवस्था तेजी के साथ छिन्नभिन्न हो रही थी। इस व्यवस्था की विशेषता यह थी कि समाज और नगर का एक ही अर्थ था। समाज से अभिप्राय वह जनसमूह था जो एक खास नगर मे निवास करता हो। समाज के सदस्य एक नगर के रहनेवाले ही हो सकते थे। जो जन नगर से बाहर थे वे समाज से बाहर थे। नगर के समाज की नीव पर नगर के राज सगठित होते थे। इस राज के कामो मे, इसकी विधानसभा मे, इसके कर्मचारियो मे, नगर के नागरिक ही हिस्सा ले सकते थे। हर नागरिक के अपने नगरराज के प्रति कर्तव्य और अधिकार थे।

इस व्यवस्था की अधोगति से प्रभावित हो यूनान के विचारवानो के हृदय विह्वल हो रहे थे। सोचने की बात थी कि क्यो पुरानी परपरा बदल रही थी, किन कारणो से नगरसमाज मे कमजोरी आई थी, किस प्रकार इसका प्रतिरोध हो सकता था, कौन सी व्यवस्था मनुष्यमघ के लिये सबसे लाभकारी थी ?

पहले पहल इन प्रश्नो की ओर सुकरात का ध्यान गया। वह इसी खोज में रहता था कि परमार्थ क्या है ? आचरण का ध्येय क्या होना चाहिए ? सच क्या है ? ज्ञान क्या है, आत्मा को कैसे पहचाने ? शुभ और अशुभ, सुदर और कुरूप, गुण और अवगुण मे क्या भेद है ? विवेक का साधन और अत क्या है ? ज्ञान पर विवेक का आधार है इसलिये ज्ञान का मार्ग और ज्ञान की मजिल जानने से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

सुकरात के विचारो ने एथेंस् मे खलबली डाल दी। पुरानी रीतियो के माननेवालो, देवी देवताओ के उपासको, कर्मकाडियो को भय हुआ कि इन विचारो के फैलने से युवक अपने सनातन धर्म से विमुख हो जायँगे, समाज का क्रम नष्टभ्रष्ट हो जायगा। उन्होंने सुकरात के विरुद्ध अदालत में मुकदमा चलाया और सुकरात पर आक्षेप लगाया कि वह देवताओ का निरादर करता है और नौजवानो की चालचलन को बिगाडता है। जजो ने सुकरात के खिलाफ फैसला सुनाया और मौत की सजा का हुक्म दिया। सुकरात ने जहर का प्याला पिया और नगर के न्याय के आगे सिर झुकाया।

सुकरात का प्रिय शिष्य था अफ्लातून। इसने गुरु की शिक्षाओ को रूपको, कथानको और सवादो के रूप में ऐसी उत्कृष्ट सुदरता के साथ सपादित किया कि सुकरात अमर हो गया। अफ्लातून ने आचारनीति और राजनीति दोनो पर गहरा विचार किया और नागरिक, समाज और राज के सिद्धातो पर अनोखा प्रकाश डाला। इन सिद्धातो के खडन मडन मे उसने दर्शन के बुनियादी उसूलो पर बहस की और ज्ञान के प्रमाणो, सच और झूठ, वस्तु और भ्रम के अतर को स्पष्ट किया।

अफ्लातून की अकादमी मे अरस्तू ने बीस साल अध्ययन किया और अफ्लातून से बहुत कुछ सीखा था। अफलातून से पहले यूनानी विद्वानो की दृष्टि बहिर्मुखी थी। जगत् क्या है ? पचभूतो से बना यह प्रपच, जिसे हम पाँच ज्ञानेंद्रियो द्वारा अनुभव करते हैं, जैसा दीख पडता है वैसा ही नानाविध है या एकविध ? अगर इसमे एकता है तो एकतत्व क्या है ? जगत् मे सब वस्तुएँ क्षणभगुर हैं, फिर इसमे क्या चीज स्थायी है ? यदि सभी कुछ चल है, जगम है, तो ज्ञान कैसे हो सकता है ? बढती नदी के पानी का कोई कण स्थिर नही रहता, फिर नदी किसका नाम है ?

अफ्लातून और अरस्तू दोनो ने इन समस्याओ पर गौर किया। दोनो ने बाहर से अदर की तरफ देखा। जाननेवाला तत्व क्या है ? जानने का क्या क्रम है, क्या वस्तु है जिसे जानते हैं, यह कैसे जाने कि जो कुछ जाना है वही तथ्य है। अफ्लातून और अरस्तू के जवाबो मे अतर है। शिष्य होते हुए भी उसके अपने स्वतत्र विचार थे और उसने उन्ही का प्रचार किया। अफ्लातून और अरस्तू ने जो दो पथ चलाए उन्ही पर यूरोपीय दर्शन का कारवाँ चलता चला आ रहा है। इनसे शाखा प्रशाखाएँ अवश्य निकली हैं और नई राहे फूटी और फैली हैं, लेकिन इन दो जगद्गुरुओ के प्रभाव से सभी दार्शनिको की विचारशैलियो ने उत्तेजन और प्रोत्साहन पाया है।

अरस्तू ने विद्याओ को तीन वर्गो मे बाँटा था। पहले वर्ग मे वे विद्याएँ हैं जिनका मुख्य ध्येय सिद्धातो की स्थापना है, शुद्ध ज्ञान का उपार्जन है। दूसरे वर्ग मे वे हैं जिनमे व्यवहार पर ज्यादा जोर है और जो कामो मे सहायक है। और तीसरे वर्ग मे वे विद्याएँ हैं जो उत्पादन के लिये लाभदायक हैं और जिनकी सहायता से उपयोगी और सुदर वस्तुएँ बन सकती हैं।

पहले वर्ग मे दर्शन, विज्ञान और गणित हैं। इस वर्ग मे परमतत्वशास्त्र (मेटाफिजिक्स), भौतिक शास्त्र (फिजिक्स), जीवशास्त्र (बायोलोजी) और मनश्शास्त्र (साईकोलॉजी) समिलित हैं। दूसरे वर्ग मे राजनीतिशास्त्र प्रमुख है और आचारशास्त्र इसी के अतर्गत है। तीसरे वर्ग के भाग हैं—साहित्य और कलाशास्त्र (काव्य और अलकारशास्त्र, ईस्थेटिक्स)।

तर्कशास्त्र (लॉजिक) इनसे पृथक् है। तर्कशास्त्र को विद्याओ की विद्या कहा है। तर्क सब विद्या की कुजी है, ज्ञान का साधन है। अरस्तू का सबसे महत्वपूर्ण कार्य तर्कशास्त्र की रचना है। अरस्तू के समय से आज तक प्राय ढाई हजार बरस हो चुके, परतु तर्कशास्त्र का जो ढाँचा अरस्तू ने बनाया था वही आज भी कायम है। बुनियादे वही हैं, कही कही एक दो कोठे अटारियाँ बढी हैं। अब कुछ दिनो से अरस्तू के तर्कशास्त्र के मुकाबले में कुछ नए तर्कशास्त्र निर्मित हुए हैं जो अरस्तू से आगे बढ गए

की तलवारे, कपडे, चीन का रेशम, हाथीदाँत, सीमुर्ग के पर, स्वर्ण तथा अन्य बहुमूल्य एव अद्भुत वस्तुएँ वे पूरब से पश्चिम की मडियो मे व्यापार के हेतु ले जाते थे। इस समय यह जाति समुद्री व्यापार मे अग्रणी थी। उस भूखड में छोटी छोटी बस्तियाँ थी जिनकी जीवनव्यवस्था कबाइली थी।

दक्षिणी अरब मे सर्वप्रथम स्थापित होनेवाला राज्य मिनाई था। यह नजरान तथा हज्रमौत के मध्य जौफुलयमन मे था। उसका उत्कर्प काल १,३०० ई० पूर्व से ६५० ई० पू० तक है। इस राज्य मे लगभग २६ राजा हुए। राज्यारोहण का नियम पैतृक था। इस राज्य का उत्थान बहुत कुछ व्यापार के कारण ही हुआ। मिनाई राज्य के पश्चात् सबाई राज्य स्थापित हुआ जो ६५० ई० पू० से ११५ ई० पू० तक रहा। सबाई राज्य पूरे दक्षिणी अरब मे फैला हुआ था। उनका प्रथम काल ६५० ई० पू० म समाप्त हो जाता है। इस काल मे राजा धार्मिक नेता भी होता था और उसकी उपाधि 'मुकरिब सबा' थी। द्वितीय काल ११५ ई० पू० मे समाप्त हो जाता है। इस काल मे राजा 'मलिक सबा' के नाम से पुकारा जाता था। इसकी राजधानी मारिब थी। ये लोग वास्तु-निर्माण-कला मे दक्ष थे। इन्होने अनेक गढ बनाए थे जिनके खडहर अब भी पाए जाते हैं। इन्होंने एक भव्य बाँध भी बाँधा था जो 'सद्दमारिब' के नाम से प्रसिद्ध था। ११५ ई० पू० के पश्चात् दक्षिणी अरब का राज्य हिम्यरी जाति के हाथ में आया। इसका प्रथम काल ३०० ई० तक रहा। हिम्यरी, सबाई तथा मिनाई सस्कृति तथा व्यापार के अधिकारी थे। वे कृषि मे दक्ष थे। सिंचाई के लिये उन्होने कुएँ, तालाब तथा बाँध निर्मित किए थे। इनकी राजधानी जफार थी जो सास्कृतिक दृष्टि से समुन्नत थी। इस काल में निर्माण-कला की अधिक उन्नति हुई। यमन प्रासादभूमि के नाम से पुकारा जाने लगा। इन प्रासादो मे गुमदान का प्रासाद बहुत प्रसिद्ध था जो विश्व-इतिहास मे प्रथम गगनचुबी था। उसकी छत ऐसे पत्थर से बनाई गई थी कि अदर से बाहर का आकाश दीखता था। सबाई तथा हिम्यरी राज्य का शासन बडा अद्भुत था जिसमें जातीय, वर्गीय तथा साम्राज्यवादी शासन सभी के अश मिलते हैं। हिम्यरी राज्य के इसी प्रथम युग मे अरबो का पतन हो गया। इसका मुख्य कारण रूमियो की शक्ति का आविर्भाव था। जैसे जैसे रूमियो के जलयान अरब सागर तथा कुल्जुम सागर मे आने लगे तथा रूमी व्यापारी यमन के व्यापार पर अधिकार करने लगे वैसे वैसे दक्षिणी अरब की आर्थिक दशा जीर्ण होती गई। आर्थिक दुर्दशा से राज-नीतिक पतन का आविर्भाव हुआ। हिम्यरी राज्य का द्वितीय काल ३०० ई० से प्रारभ होता है। इसी काल मे हबशह (अबीसीनिया) के राजा ने यमन पर आक्रमण करके ३४० ई० से ३७८ ई० तक राज्य किया परतु पुन हिम्यरी राज्य ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस काल मे हिम्यरी राजाओ की उपाधि तुब्बा थी जिन्होने दक्षिणी अरब पर ५२५ ई० तक राज किया और अपनी सम्यता को कायम रखा। ५२५ ई० मे पुन हब्शह निवासियो ने यमन पर आक्रमण करके उसकी स्वाधीनता को समाप्त कर दिया। अब्रहह दक्षिणी अरब का शासक था। उसने ५७० ई० मे मक्का पर भी आक्रमण किया परतु असफल रहा। ५७५ ई० मे ईरानियो ने यमन पर आक्रमण करके हब्शह के राज्य को नष्ट कर दिया और कुछ दिनो पश्चात् ईरानियो का पूर्णरूप से यमन पर अधिकार हो गया। ६२८ ई० मे यमन के पाँचवे शासक ने इस्लाम स्वीकार किया जिस कारण यमन मुसलमानो के अधिकार मे आ गया। इस्लाम के पूर्व दक्षिणी अरब का धर्म नक्षत्रो पर आधारित था। इसी नाम के देवी देवताओ की पूजा की जाती थी। दक्षिणी अरब मे यहूदीपन और ईसाईपन अधिक मात्रा मे आ गया था। नजरान में ईसाइयो की सख्या अधिक थी।

उत्तरी तथा मध्य अरब की प्राचीन सभ्यता—दक्षिणी अरब के समान उत्तरी अरब मे भी अनेक स्वाधीन राज्य स्थापित हुए जिनकी शक्ति तथा वैभव व्यापार पर आधारित था। उनकी सम्यता भी ईरानी अथवा रूमी सम्यता से प्रभावित थी। यहाँ सर्वप्रथम राज नबीतियो का था जो ईसा मे ६०० वर्ष पूर्व आए थे और कुछ दिनो पश्चात् पेत्रा पर अधिकार कर लिया था। ये लोग वास्तुशिल्प मे दक्ष थे। इन्होंने पर्वतो को काटकर सुदर भवन बनाए। ईसा से प्राय चार सौ वर्ष पूर्व तक यह नगर सबा तथा रूमसागर के कारवानी मार्ग में महत्वपूर्ण स्थान रखता था। यह राज्य रूमियो के अधिकार में था परतु १०५ ई० मे रूमियो ने इसपर आक्रमण करके इसे अपने साम्राज्य का एक प्रात बना लिया। इसी प्रकार का दूसरा राज्य तद्मुर (Palmyra) के नाम से प्रसिद्ध था। उसका वैभवकाल १३० ई० से २७० ई० तक था। इसका व्यापार चीन तक फैला हुआ था। रूमियो ने २७० ई० मे इसे भी नष्ट कर दिया। तद्मुर की सम्यता यूनान, साम और मिस्र की सम्यता का अद्भुत मिश्रण थी। इन दोनो स्वाधीन राज्यो के पश्चात् दो राज्य और कायम हुए—एक गस्सानी, जो बीजतीनी (Byzantine) राज्य के अधीन था, तथा दूसरा लख्मी, जो ईरानी राज्य के अधीन था। प्रथम राज्य की सस्कृति रूमियो से प्रभावित थी तथा द्वितीय की ईरानियो से। लख्मी तथा गस्सानी दोनो ने वास्तु में अधिक उन्नति कर ली थी। खवर्नक तथा सदीर दो भव्य प्रासाद उन्ही के महान् कार्य है जिनका वर्णन प्राचीन अरबी साहित्य मे भी मिलता है। गस्सानियो ने भी अपने भूखड को सुदर प्रासादो, जलकुडो, स्नानागारो तथा क्रीडास्थलो से सुसज्जित किया था। इन दोनो राज्यो का उन्नतिकाल छठी शताब्दी ई० है। इसी प्रकार का एक राज्य मध्य अरब मे किंदा के नाम से प्रसिद्ध था जो यमन के तुब्बा वश के राजाओ के अधीन था। किंदा की सम्यता यमनी सम्यता थी। वह इसलिये महत्वपूर्ण है कि उसने अरब के अनेक वशो को एक शासक के अधीन करने का प्रथम प्रयत्न किया था।

नज्द तथा हिजाज में खानाबदोश रहा करते थे। इसमें तीन नगर थे—मक्का, यस्रिब तथा ताएफ। इन नगरो मे बदवी जीवन के तत्व अधिक मात्रा मे पाए जाते थे, यद्यपि अनेक वश के लोग व्यापार किया करते थे। मध्य अरब के निवासियो का जीवन तथा सम्यता बदवियाना थी और उनकी जीवनव्यवस्था गोत्रीय (कबीलाई) थी। इसी कारण युद्ध खूब हुआ करते थे। बदवियो का धर्म मूर्तिपूजा था। यस्रिब मे कुछ यहूदी भी रहा करते थे। मक्का में काबा था जो जाहिल अरब के धार्मिक विश्वासो का स्रोत था।

इस्लामी सभ्यता—६१० ई० में, जैसा उपर्युक्त पक्तियो मे वर्णित है, ईशदूत हजरत मुहम्मद ने एक नवीन धर्म, नवीन समाज, तथा नवीन सम्यता की नीव रखी। जब वह ६२२ ई० मे मक्का से हिजरत कर (छोडकर) मदीना गए तब वहाँ एक नवीन प्रकार के राज्य की स्थापना की। इस नवीन धर्म की प्रारभिक शिक्षा का स्रोत कुरान है। उसकी आरभिक तथा महत्वपूर्ण शिक्षाएँ तीन है १ तौहीद (एक ईश्वर की उपासना करना), २ रिसालत (हजरत मुहम्मद साहब को ईशदूत मानना), ३ प्रलोक (मआद) अर्थात् इस नश्वर ससार का एक अतिम दिवस होगा और उस दिन प्रत्येक मनुष्य ईश्वर के समक्ष अपने कर्मो का उत्तर देगा। इस धर्म के महत्वपूर्ण सस्कारो मे पाँच समय नमाज पढना और वर्ष मे एक बार हज करना, यदि हज करने मे समर्थ हो, था। आर्थिक सतुलन कायम रखने के लिये प्रत्येक धनी मुसलमान का यह कर्तव्य माना गया कि अपनी वर्ष भर की बची हुई पूँजी मे से २½ प्रति शत वह दीन दुखियो की आर्थिक दशा के सुधार के लिये दे दे। नवीन समाज की रचना इस प्रकार की गई कि वे जाहिली अरब जो अनेकानेक जातियो-में विभाजित थे सब एकबद्ध हो गए और उन्होने पहली बार राष्ट्रीयता की कल्पना की। जाहिली समाज मे केवल रक्तसबध जाति के प्रत्येक व्यक्ति को एकत्र रखता था परतु इस्लामी समाज मे धर्म तथा भ्रातृत्व का सबध प्रत्येक मुसलमान को एक ही झडे के नीचे एकत्रित करता था। इसके अतिरिक्त इस्लामी समाज की नीव बिना किसी भेदभाव के धर्म, भ्रातृत्व तथा न्याय पर आधारित थी। नैतिक तथा सामाजिक बुराइयो से बचने की प्रेरणा मिली तथा सदाचार और परोपकार को प्रोत्साहन मिला। अतएव इस नवीन धर्म तथा समाज की नीव पर एक समुन्नत सम्यता के भवन का निर्माण हुआ। ईशदूत (पैगबर नबी) ने मदीना मे एक नए ढग के राज्य की स्थापना की जो गणतत्रीय नियमो पर आधारित था। ऐसे शासन से उन्होने केवल दस वर्ष मे पूरे अरब देश पर अधिकार कर लिया।

जब ६३२ ई० मे मुहम्मद साहब का देहात हुआ तो लगभग पूरे अरब के निवासी मुसलमान हो चुके थे। उनके देहात के पश्चात् ६६१ ई० तक यह गणतत्रीय शासन स्थापित रहा। तदनतर मुहम्मद साहब के खलीफा (प्रतिनिधि) अबूबक्र, उमर, उस्मान और अली ने उन्ही के ढग पर शासन किया और गणतत्र के तत्वो को कायम रखा। शासक तथा प्रजा के भेद-भावो को समाप्त कर दिया गया तथा न्याय और भ्रातृत्व के आधार पर देश सघटित हुआ। राज्य की महत्वपूर्ण समस्याएँ परामर्श समिति द्वारा

कर्म की चेष्टा इन्ही अनुभूतियों से पैदा होती है।

जीवात्मा का सबसे ऊँचा अग मन और चित्त है जिसे बोधात्मा (रैशनल सान) कहते है। अरस्तू का मत है कि मन और चित्त (पैसिव ऐड ऐक्टिव) बोधात्मा के दो भाग है। मन को उपादान (मैटीरियल काज) का और चित्त को निमित्त (एफिट काज़) का निकटवर्ती माना है। मन का कार्य विषयो का ग्रहण (अप्रीहेंशन) है, चित्त का सृजन (क्रिएशन), शक्य को तथ्य मे बदलना, अव्यक्त को व्यक्त बनाना। जैसे सूर्य का उजाला वस्तुओ के रूप को उजागर करता है, वैसे ही चित्त मन के विकारो को बुद्धिगम्य बनाता है। चित्त की असलीयत क्या है? अरस्तू के टीकाकारो का मत है कि चित्त द्रव्यविहीन शुद्ध आत्मा का अश है और शुद्ध आत्मा ईश्वर का पर्याय है।

प्रकृति के विषयों की व्याख्या और शास्त्रीय सिद्धातो का उल्लेख भौतिक शास्त्रो के अतर्गत है। मनोविज्ञान के पश्चात् मनुष्य के आचरण के सबध मे विचार आरभ होता है। यह दो विद्याओं मे समाप्त होता है, राजनीतिशास्त्र और आचार या नीतिशास्त्र।

राजनीतिशास्त्र का विषय समाज और राज है। प्रश्न यह है कि समाज किसे कहते है? यह कैसे बनता है? समाज और इसके व्यक्तियों मे क्या सबध है? समाज और व्यक्ति के क्या कर्तव्य है? ये ही प्रश्न राज्य के बारे में उठते है। राज के क्या क्या रूप है, कैसे ये रूप बदलते है और इनमे कौन से अच्छे और कौन से बुरे है?

अरस्तू बतलाता है कि समाज और राज की व्यवस्था स्वाभाविक (नेचुरल) है। समाज और राज को जीवात्मा के उद्रेको का बाहरी स्पष्ट स्वरूप समझना चाहिए। जीवात्मा का पहला अग वानस्पतिक आत्मा है। वानस्पतिक आत्मा का व्यापार जीवन का पालन पोषण और जाति का वर्धन है। मनुष्य इन दोनो कामो का अकेले नही, दूसरो की सहायता से ही सपादन कर सकता है। इसीलिये मनुष्यों का मनुष्यो के साथ सघात अनिवार्य है। मनुष्य की वानस्पतिक आत्मा की तृप्ति इसी मनुष्यसघात के जरिए होती है, जिसे कुटुब कहते है। कुटुब की सृष्टि प्रकृतिगत है।

जीवात्मा का दूसरा अग जातव आत्मा है। जातव आत्मा का व्यापार प्रलभन का कार्य है। ज्ञानेद्रियो के सबध से मनुष्य बाहरी जगत् को अपनाता है। मन विषयो का ध्यान करता है। विषयो से राग उत्पन्न होता है। इच्छाएँ मन का विषयो की ओर खीचती है। हमे मनोरथो की दुनिया मे घेरती है। इनकी पूर्ति के लिये कुटुब से बडे मनुष्यसमाज की आवश्यकता होती है। इसे आर्थिक समाज कहते है, अर्थात् वह समाज जो अर्थो को पूरा करे। जीवात्मा की तृप्ति की यह दूसरी मजिल है।

जीवात्मा का उत्तम अग बोधात्मा है। बुद्धि का व्यापार प्रलभनो को एक सूत्र मे बाँधना है। इद्रियो द्वारा जो अनुभव होते है उनकी समानताओ को एकत्रित करने पर व्यापक विचार उत्पन्न होते है। विषयो के सयोग से भाव उभरते है, मन मे खीचतान होती है। किसे अपनाएँ, किसे दुराएँ, ऐसी दुविधा हृदय को विह्वल करती है। हमारी बुद्धि इस स्थिति मे निर्णय करती है। यदि भाव इसकी अधीनता को मान लेते है तो हम अपनी मानवी पात्रता का प्रमाण देते है और नही तो जानवर के पद से ऊपर नही उठते। बोधात्मा व्यापक विचारो को सगठित करती है और भावो को आदेश देती है। बोधात्मा की पूर्ति मनुष्य सगठन की ही पूर्ति और सगठन मे आदेश का अनुष्ठान है। जिस सगठन मे व्यापकता और आदेश हो उसे राज्य कहते है। इसके द्वारा मनुष्य अपनी व्यक्तिगत विशेषताओ से ऊपर उठता है, व्यापकता मे समा जाता है और विषयो की आसक्ति पर काबू पाता है। वानस्पतिक और जातव आत्मा का बोधात्मा के अधीन हो जाना स्वराज्य है। वह विधान सबसे उत्तम है जिसके द्वारा स्वराज्य प्राप्त हो।

नीतिशास्त्र का विषय आचरण का अध्ययन है। स्वभाव से समाज का व्यक्ति राज्य का सदस्य है। राज्य का ध्येय मनुष्य की आत्मा की तृप्ति है। तृप्त आत्मा का बाहरी रूप स्वराज्य है। इसका भीतरी रूप नियम और सयम है। मानव प्रकृति मानव श्रेय (गुड) की प्राप्ति से ही आनद पाती है। इसलिये आचरण या नीति का आदर्श मानवकल्याण की प्राप्ति ही हो सकता है।

श्रेय का क्या अर्थ है? श्रेय को सुख अर्थात् शारीरिक तुष्टि नही समझना चाहिए। न तो श्रेय धन के पीछे भागने का नाम है, और न ही यह मान और सत्कार का स्नेह है। श्रेय वास्तव मे आनद (हैपिनेस) का पर्याय है। आनद उस अवस्था को कहते है जिसमे मनुष्य अपनी सच्ची मानवता का सपादन करता रहता है। सच्ची मानवता बोधात्मा की तुष्टि है। बोधात्मा का कार्य जीवनयोजना को तैयार करना और इस योजना को व्यवहार में सफल करना है। इस योजना का आधार सदाचार है और इसका विस्तार पूरी जीवनयात्रा है।

सदाचार सुव्यवस्थित स्वभाव का नाम है। सुव्यवस्थित स्वभाव ऐसा स्वभाव है जो अतिशयो से बचता हुआ बीच का मार्ग ग्रहण करता है। अरस्तू मध्यवर्ती आचरण को सद्गुण कहता है। उदाहरण के लिये वीरता (करेज) को लें। यह दु साहस (रैशनेस) और कायरता (कावर्डिस) के बीच का गुण है। दु साहस और कायरता अतिशयी होने के कारण अवगुण है और वीरता इनके मध्य मे होने के कारण सद्गुण है। ऐसे ही न्याय, दान, सत्य, मैत्री इत्यादि अतिशयो को छोड बीच के रास्ते पर चलने के नाम है इसीलिये ये सदाचार के अश है। सदाचार से श्रेय जीवन प्राप्त होता है और श्रेय आनद प्रदान करता है। अरस्तू के अनुसार आनद सन्यास, वैराग्य और त्याग से नही मिल सकता, न आनद धन की अधिकता और भोगविलास की प्रचुरता से प्राप्त हो सकता है। त्याग और भोग दोनो ही अतिशयता के लक्षण है। धन, स्वास्थ्य, सौंदर्य, यश, मित्र इत्यादि श्रेयमय जीवन के साधन है। इनके बिना जीवन का ध्येय, आनद प्राप्त नही हो सकता। सदाचार की आदत, जो सयम से पैदा होती है, श्रेयदायी है।

परतु पूर्ण आनद के लिये एक बात की और आवश्यकता है, जिसका दर्जा सदाचार से ऊपर है। वह है सत्य की धारणा और ध्यान। अरस्तू का कहना है "जिन्हे स्वतत्र आनद की इच्छा हो उन्हे चाहिए, इसे दर्शन के अध्ययन मे खोजे, क्योकि और सब प्रकार के सुखो के लिये मनुष्य दूसरो की सहायता के अधीन है।"

अरस्तू ने कलाशास्त्र मे अलकार और काव्य की व्याख्या की है।

कई सौ वर्षो तक अरस्तू की पुस्तके अधकार मे रही, फिर रोम साम्राज्य के पतन के बाद जब रोमन कैथलिक चर्च का अधिकार बढा तो मध्यकालीन यूरोप की सस्कृति और विचारो पर अरस्तू की छाप पडने लगी। इस कार्य मे अरबो ने बडा भाग लिया। ८ वी सदी के आरभ मे उन्होने स्पेन जीता और वहाँ विश्वविद्यालय कायम किए। यहां मुसलमान विद्वानो ने अरस्तू की रचनाओ का पठन पाठन जारी किया। इन विद्यालयो मे जिन ईसाई विद्यार्थियो ने विद्योपार्जन किया उन्होने अरस्तू के विचारो को ईसाई समाज मे फैलाया। मध्यकाल के अत तक अरस्तू का सिक्का जमा रहा। फिर आधुनिक काल के आरभ मे अफलातून के सिद्धातो का अनुकरण हुआ और नई चितनधाराओ का विकास हुआ। पर आज भी यद्यपि यूरोप के विद्वान् अपने अपने दर्शनो की रचना में नए नए सिद्धातो का प्रचार और पुराने सिद्धातो का खडन मडन करते है, तथापि वे अरस्तू के दायरे से बहुत परे नही जा पाते।

स०ग्र०--(क) **अनुवाद और भाष्य**--जे० आर० स्मिथ तथा डब्ल्यू० डी० रोज द्वारा सपादित, आक्सफोर्ड अनुवाद, क्लैरेडन प्रेस, आक्सफोर्ड।

(ख) **सामान्य कृतियाँ**--ग्रोट, जी०, : अरिस्टॉटल, तृतीय सस्करण, लदन, १८९३, टेलर, ए० ई० अरिस्टॉटल, द्वितीय सस्करण, रॉस, डब्ल्यू० डी० अरिस्टॉटल, लदन १९२३।

(ग) **स्वतंत्र ग्रथ**--बर्नेट, जे० एथिक्स, टेक्स्ट ऐड कमेटरी, लदन, पीटर्स, एफ० एच० एथिक्स, टेक्स्ट ऐड ट्रासलेशन ऐड कमेटरी, लदन; न्यूमैन, डब्ल्यू०एल० पॉलिटिक्स, टेक्स्ट ऐड कमेटरी, ४ खड, आक्सफोर्ड, १८८७-१९०२, बार्कर,ई० पोलिटिकल थॉट ऑव प्लेटो ऐड अरिस्टॉटल, रॉस, डब्ल्यू० डी० अरिस्टॉटल्स मेटाफिजिक्स, आक्सफोर्ड, १९२४।

(घ) **इतिहास तथा दर्शन**--जोपर्ज, टी० ग्रीक थिंकर्स (अग्रेजी अनुवाद), ४ खड, लदन, १९१२, जैलर, ई० ग्रीक फिलॉसफी', (अग्रेजी अनुवाद, कास्टेलो तथा म्योरहेड द्वारा), २ खड, लदन, ओवरवेग, एफ० हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी, अग्रेजी अनुवाद स्मिथ और शैफ द्वारा, बर्नेट, जे० ग्रीक फिलॉसफी, बेर्ट्रेड रसेल हिस्ट्री आव वेस्टर्न फिलॉसफी।

[ता० च०]

मस्जिद। चित्रकला में अरबों ने नवीन प्रणाली प्रारभ की जिसको यूरोपीय भाषा में अरबेस्क कहते हैं। इस काल मनुष्य तथा पशुओ के चित्रो के स्थान पर नक्काशी का काम सुदर फूलपत्तियों तथा बेलबूटो से लिया गया। इसी प्रकार सुलेख (कैलीग्राफी) को भी एक कला समझा जाने लगा। सगीतकला में भी बाह्य प्रभाव से नवीन प्रणाली की नीव पडी। अरबो के प्रारभिक गीत मनमोहक तथा सरल होते थे परतु विशेषत ईरानी तथा रूमी सगीत के प्रभाव से अरबी सगीत मे राग रागिनियो का आविर्भाव हुआ और उसमें इतनी उन्नति हुई कि अब्बासी काल मे अबुलफर्ज इस्फहानी (८९७–९६७) ने एक पुस्तक की रचना की जिसका नाम किताबुलआगानी है। यह पुस्तक सगीत के सौ राग एकत्र करती है तथा तत्कालीन साहित्यिक एव सास्कृतिक ज्ञान का भाडार है।

स०ग्र०—एन्साइक्लोपीडिया इस्लाम, एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, हिस्ट्री ऑव अरब, अरब इन हिस्ट्री। [अ० अ०]

अरबी साहित्य

अरबी साहित्य की सर्वप्रथम विशेषता उसकी चिरकालिकता है। उसने अपने दीर्घ जीवन में विभिन्न प्रकार के उतार चढाव देखे और उन्नति एव अवनति की विभिन्न अवस्थाओ का अनुभव किया, तथापि इस बीच श्रृखलाएँ अविच्छिन्न तथा परस्पर सबद्ध रही और उसकी शक्ति एव सामर्थ्य में अभी तक कोई अतर नही आया।

(अ) पूर्व-पैगबर काल (आरभ से सन् ६२२ ई० तक) सबसे पहला मोड, जिससे अरबी साहित्य प्रभावित हुआ, इस्लामी क्राति है। इस आधार पर सन् ६२२ ई० से उसके जीवन का एक नया युग प्रारभ हुआ जब ईश्वर के सदेशवाहक (रसूलुल्लाह) मक्का छोडकर मदीना चले गए। इससे पहले का काल इस्लाम की परिभाषा में 'जहालत' का युग कहलाता है और आज हमे अरबी साहित्य की जो प्राचीनतम पूँजी उपलब्ध है वह इसी युग की है। यह लगभग समस्त पूँजी पद्यो के रूप में ही है जो ५ वी और अधिकतर छठी शताब्दी ईसवी के अरबी कवियो द्वारा प्रस्तुत की गई है। चूकि उन दिनो अरबी के लिखित रूप का प्रचलन नही था, अत वे पद्य शताब्दियो तक रावियो के कठो मे ही सुरक्षित रहे और वश की परपरागत मौखिक निधि बने रहे। तत्पश्चात् ८ वी तथा ९ वी शताब्दियो में जब विद्या तथा कला का प्रारभ हुआ, इनको विभिन्न प्रकार से पुस्तको मे एकत्रित कर लिया गया।

ये ही कविताएँ अरबी साहित्य के प्रारभिक उदाहरण हैं। फिर भी ये उसकी बाल्यावस्था की परिचायक नही बल्कि उसकी प्रौढता की सूचक है, गभीर और स्वस्थ। जब विद्वान् उस युग की कविता के बाँकपन पर दृष्टिपात करते हैं, तब चकित रह जाते हैं और उनको मानना पडता है कि उनकी यह सफाई और रौनक शताब्दियो के अभ्यास एव प्रयास के बिना प्राप्त नही हुई होगी। परतु यह सब हुआ किस प्रकार, इसका वास्तविक ज्ञान अभी हमको नही है। फिर भी इसमे सदेह नही कि मुहम्मदपूर्व की कविता प्रौढ है। अत प्रत्येक युग में उसके सौदर्य, गुणो तथा विशेषताओ को स्वीकार किया गया है और आज भी उसका मान तथा गौरव मान्य है।

इस्लाम के अभ्युदय से पूर्व अरब मे कविता अपनी जवानी पर थी। मेलो तथा बाजारो में कविसम्मेलन प्राय हुआ करते थे। समाज में कवियो को बडा आदर प्राप्त था। अत जब कोई नया कवि प्रसिद्ध होता था तब उसके कबीले की स्त्रियाँ इकट्ठी होकर उत्सव मनाती और मगलगीत गाती थी। दूसरे कबीले के लोग उस कवि के कबीलेवालो को बधाई देते थे, क्योकि कवि ही कबीले के महान् कार्यों का रक्षक तथा उसकी मानमर्यादा का निरीक्षक होता था। यही कारण है कि प्राय कवि ही कबीले का अध्यक्ष हुआ करता था। सधि एव युद्ध और प्रसिद्धि एव कलक कवि के ही हाथ मे होते थे। उसकी ओजपूर्ण कविताएँ मुरझाए हृदयो में उत्साह भर देती थी और मधुर गीत आवेशपूर्ण मस्तिष्को को सात्वना देते थे। वह जिसकी प्रशसा कर देता था उसकी प्रसिद्धि बढ जाती थी और जिसकी बुराई कर देता था उसको कही मुँह छिपाने को भी स्थान नही मिलता था।

कविता का प्रधान एव प्रचलित रूप कसीदा था। इसी क्षेत्र में कविगण अपना कौशलप्रदर्शन करते थे। इसका आरभ प्राय इस प्रकार होता है मानो कवि किसी यात्रा मे कुछ पुराने भग्नावशेषो (खडहरो) के सामने खडा है जहाँ उसने पहले कभी निवास किया था। यह ढग अरब के कवियो के लिये समस्तरूपेण वास्तविक तथा समीचीन है क्योकि अरबनिवासी सदैव खानाबदोशो की भाँति चरागाहो की खोज में चलते फिरते रहते थे। कुछ दिनो तक एक स्थान पर निवास कर चुकने के बाद वे वहाँ से कूच कर देते थे। इस अस्थायी निवासकाल मे विभिन्न कबीलो से मित्रता तथा शत्रुता की असख्य घटनाएँ घटित होती थी। अत जब कभी दूसरी बार उस जगह से होकर वह गुजरते थे तब पूर्वस्मृतियो का सिंहावलोकन स्वाभाविक हो जाता था। अत उन भग्नावशेषो को देखते ही कवि की आँखो के सामने पिछली घटनाओ के चित्र आ जाते थे और वह अपनी प्रेम की घटनाओ तथा वियोग की अवस्थाओ का वर्णन स्वत करने लगता था। इस सबध में वह अपनी प्रेमिका के सौंदर्य तथा स्वभाव सबधी विशेषताओ का मनोहर चित्र उपस्थित करता था। फिर मानो वह अपनी यात्रा दोबारा आरभ कर देता था और रेतीली पहाडियो, टीलो तथा अन्य प्राकृतिक दृश्यो के वर्णन मे लीन हो जाता था। उस समय वह अपने घोडे या अपनी ऊँटनी की चाल, डीलडौल तथा सहनशीलता की विशुद्ध प्रशसा करता था। उसकी शुतुरमुर्ग, जगली बैल या दूसरे पशु से उपमा देता था और अपनी यात्रा एव भ्रमण तथा युद्ध एव मारकाट का वर्णन करता था। उसके बाद अपने और कबीले के महान् कार्यो और उच्चादर्शो का वर्णन बडे गौरव के साथ करता था। तत्पश्चात् यदि कोई विशेष उद्देश्य उसके समक्ष होता था तो वह उसका भी वर्णन करता था। इस प्रकार कसीदा अपनी चरमसीमा तक पहुँच जाता है। सामान्य रूप से कसीदे के यही अग होते हैं जिनमें परस्पर कोई गहरा लगाव और दृढ सबध नही होता। वह विभिन्न प्रकार के छोटे बडे मोतियो के हार के समान होता है जिसमे से कुछ मोती बडी सुगमता से निकालकर दूसरे हारो मे पिरोए जा सकते हैं।

इस युग की कविता की प्रमुख विशेषता यह है कि वह वास्तविकता के बहुत निकट है। कवियो ने जो कुछ वर्णन किया है वह उनका यथार्थ अनुभव तथा निरीक्षण है। इसीलिये इस सबध में यह किंवदती है कि 'अल-शेर दीवानुल अरब' अर्थात् कविता अरब का भाडार है। प्रकट है कि इस कविता का अरब के प्राचीन इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण योग रहा है। उस काल के कुछ विशेष प्रसिद्ध कवियो के नाम हैं—इम्रोउलकैस, जुहैर, तरफह, लबीद, अम्र-बिन-कुल्सूम, अतरह, नाबिगह, हारिस बिन हिलिज्जा और आयशा।

(आ) पैगबर का युग—उचित उत्तराधिकारीकाल तथा उमैय्याकाल (सन् ६२२ ई० से ७५० तक)। इस्लाम के अभ्युदय के पश्चात् कुछ समय तक कविता के क्षेत्र मे बहुत शिथिलता रही, क्योकि अरबो का ध्यान पूर्णरूपेण इस्लामी क्राति पर केंद्रित रहा। उनका उत्साह धर्म के प्रचार तथा देशो की विजय में लग गया। कविता के प्रति उनकी उपेक्षा का एक बडा कारण यह भी हुआ कि अब तक जो वस्तुएँ उनको विशेष रूप से प्रेरित करनेवाली थी—जैसे जातीय पक्षपात, गोत्रीय गौरव, दोषारोपण एव घृणा, अहकार, मारकाट, मद्यपान, द्यूतक्रीडा इत्यादि—उन सबको इस्लाम ने निषिद्ध घोषित कर दिया था। इसी से इस्लाम के प्रारभिक समय की जो सक्षिप्त कविताएँ मिलती हैं उनका विषय 'जहालत के युग' की कविताओ से भिन्न है। इनमें इस्लाम के विरोधियो की बुराई की गई है और रसूलुल्लाह की प्रशसा तथा इस्लाम का समर्थन हुआ है। इस्लाम के सिद्धातो एव विचारधाराओ का प्रतिबिंब भी इनपर पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। इस काल के कवियो मे हस्सान-बिन-साबित (मृ० सन् ६७३ ई०) का नाम विशेष रूप मे उल्लेखनीय है। रसूलुल्लाह के पश्चात् उचित-उत्तराधिकारीकाल मे भी कविता की यही अवस्था रही। आपके चारो उत्तराधिकारी (खलीफा), विद्वान् एव समस्त महानुभाव इस्लाम धर्म के सिद्धातो के प्रचार तथा जनसाधारण के आचरणसुधार मे जुटे रहे। उन्होंने कविता की ओर कोई विशेष ध्यान नही दिया।

फिर जब सन् ६६१ ई० मे उमैय्या वश का राज दमिश्क मे स्थापित हुआ तो कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हुई कि पुराना जातीय पक्षपात फिर जाग्रत हो गया। असख्य राजनीतिक दल उठ खडे हुए और एक दूसरे से बुरी तरह से उलझ गए। प्रत्येक दल ने कविता के शस्त्र का प्रयोग किया और कवियो को अपनी इच्छापूर्ति का साधन बनाया। फलस्वरूप कविता का बाजार एक बार फिर गरम हो गया। परतु इसकी सामान्य शैली लगभग

में उनका विचार था कि उसे जनसाधारण की सहज क्रियाओं का प्रतिफल होना चाहिए। साथ ही, हिंसा पर अत्यधिक बल देकर उसने अराजकतावाद में आतंकवादी सिद्धांत जोड़ा।

पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में अराजकतावाद ने अधिक से अधिक साम्यवादी रूप अपनाया है। इस आंदोलन के नेता क्रोपाटकिन ने पूर्ण साम्यवाद पर बल दिया। परंतु साथ ही उसने जनक्रांति द्वारा राज्य को विनष्ट करने की बात कहकर सत्तारूढ साम्यवाद को अमान्य ठहराया। क्रांति के लिये उसने भी हिंसात्मक साधनों का प्रयोग उचित बताया। आदर्श समाज में कोई राजनीतिक संगठन न होगा, व्यक्ति और समाज की क्रियाओं पर जनमत का नियंत्रण होगा। जनमत आबादी की छोटी छोटी इकाइयों में प्रभावोत्पादक होता है, इसलिये आदर्श समाज ग्रामों का समाज होगा। आरोपित संगठन की कोई आवश्यकता न होगी क्योंकि ऐसा समाज पूर्णरूपेण नैतिक विधान के अनुरूप होगा। हिंसा पर आश्रित राज्य की संस्था के स्थान पर आदर्श समाज के आधार ऐच्छिक संघ और समुदाय होंगे और उनका संगठन नीचे से विकसित होगा। सबसे नीचे स्वतंत्र व्यक्तियों के समुदाय, कम्यून होंगे, कम्यून के संघ प्रांत, और प्रांत के संघ राष्ट्र होंगे। राष्ट्रों के संघ यूरोपीय संयुक्त राष्ट्र की ओर अंतत विश्व संयुक्त राष्ट्र की स्थापना होगी।

सं०ग्रं०—कोकर, एफ० डब्ल्यू० रीसेंट पोलिटिकल थॉट, न्यूयॉर्क, १९३४, क्रोपॉट्किन, पी० एनार्किज्म—इट्स फिलासफी ऐंड आइडियल, १९०४, ग्रे, एलेक्जैंडर दि सोशलिस्ट ट्रैडिशन, लंदन, १९४६, रीड, हर्बर्ट दि फिलॉसाफी ऑव एनार्किज्म, लंदन, १९४७, लोह्र फ्रेडरिक एनार्किज्म, विल्सन, सी० एनार्किज्म। [रा० अ०]

अरानी, जानोस (१८१७–१८८२) हंगरी के कवि। नागीजालोता में अभिजात, पर गरीब परिवार में जन्म। पहले अध्यापक हुए। फिर यात्री-अभिनेता। तोल्दी नामक महाकाव्य से उन्होंने यश अर्जित किया। १८४८ में जालोता की जनता न उन्हें हंगरी की लोकसभा के लिये अपना प्रतिनिधि चुना। अगले साल उन्होंने क्रांतिवादी सरकार की नौकरी कर ली जिसे सरकार के पतन पर छोड़कर उन्हें अपने घर लौट जाना पड़ा। एक साल बाद हंगरी में भाषा और साहित्य के प्राध्यापक नियुक्त हुए।

अब उन्होंने अपने देश और जनता के दीन जीवन पर विचार करना शुरु किया। तत्काल उनकी कविताओं में पिछले राजनीतिक प्रयत्नों की असफलता के कारण देश के नेताओं और परिस्थितियों के प्रति व्यंग्यात्मक हास्यजनक धारा फूट पड़ी। इसी चित्तवृत्ति और व्यंग्यात्मक शैली में उन्होंने अपना 'बोलोद इस्तोक' लिखा (१८५०)। अगले अनेक वर्ष उन्होंने हंगरी के अपने मगयार (जातीय) मधुर बलड लिखे। १८५८ में वे हंगरी की अकादमी के सदस्य चुने गए और दो साल बाद किस्फालूदी सोसाइती के संचालक। अरानी ने अपनी कविताओं द्वारा अनेक राष्ट्रीय पुरस्कार जीते। उनका हंगरी के साहित्य, विशेषकर कविता के क्षेत्र में अपना स्थान है। उन्होंने उसे एक नई तथा राष्ट्रीय दिशा दी। कविता यथार्थ जीवन और प्रकृति के संपर्क में आई। साहित्य को परंपरा की भूमि पर रखते हुए भी उन्होंने उसे जनता के धरातल पर खींचा। मगयार कवियों में वे सर्वाधिक जनप्रिय और कलाप्राण हैं। [ओ० ना० उ०]

अरारूट अथवा अरारोट (अंग्रेजी में ऐरोरूट) एक प्रकार का स्टार्च या मंड है जो कुछ पौधों की कंदिल (ट्यूबरस) जडों से प्राप्त होता है। इनमें मरंटेसी कुल का सामान्य शिशुमूल (मरंटा अरंडिनेसिया) नामक पौधा मुख्य है। यह दीर्घजीवी शाकीय पौधा है जो मुख्यत उष्ण देशों में पाया जाता है। इसकी जडों में स्टार्च के रूप में खाद्य पदार्थ संचित रहता है। १० से १२ महीने तक के, पूर्ण वृद्धि-प्राप्त पौधे की जड में प्राय २६ प्रति शत स्टार्च, ६५ प्रति शत जल और शेष ९ प्रति शत में अन्य खनिज लवण, रेशे, इत्यादि होते हैं। मरंटा अरंडिनेसिया के अतिरिक्त, मैनीहार युटिलिस्मा, कुरकुमा अंगुस्टीफोलिया, लेसिया पिनेटीफिडा और ऐरम मैकुलेटम से भी अरारूट प्राप्त होता है।

अरारूट निकालने की विधि—कंदिल जडों को निकालकर अच्छी तरह धोने के पश्चात् उनका छिलका निकाल दिया जाता है। फिर उन्हें अच्छी तरह पीसकर दूधिया लुगदी बना ली जाती है। तब लुगदी को अच्छी तरह धोया जाता है, जिससे जड का रेशदार भाग अलग हो जाता है। यह फेंक दिया जाता है। बचे हुए दूधिया भाग को, जिसमें मुख्यतया स्टार्च रहता है, महीन चलनी या मोटे कपडे पर डालकर उसमें का पानी निकाल दिया जाता है। बचा हुआ सफेद भाग स्टार्च होता है जिसे पानी से फिर भली भाँति धो तथा सुखाकर अंत में पीस लिया जाता है। इसी रूप में अरारूट बाजार में बिकता है।

अरारूट का स्टार्च बहुत छोटे दानों का और सुगमता से पचनेवाला होता है। इस गुण के कारण इसका उपयोग बच्चों तथा रोगियों के भोजन के लिये विशेष रूप से होता है।

अरारूट के नाम पर बाजार में बिकनेवाले पदार्थ बहुधा या तो कृत्रिम होते हैं या उनमें अनेक प्रकार की मिलावटें होती हैं। कभी कभी आलू, चावल, साबूदाना या ऐसी ही अन्य वस्तुओं के महीन पिसे हुए आटे अरारूट के नाम पर बिकते हैं या इन्हें शुद्ध अरारूट के साथ विभिन्न मात्रा में मिलाकर बेचा जाता है। कृत्रिम या मिलावटी अरारूट को सूक्ष्मदर्शी द्वारा निरीक्षण करके पहचाना जा सकता है। [ज० ना० रा०]

अराल सागर पश्चिमी एशिया की एक झील अथवा अंतर्देशीय सागर है। इसका नामकरण खिरगीज शब्द अराल-डेंगिज़ के आधार पर हुआ है, जिसका अर्थ है द्वीपों का सागर। विश्व के अंतर्देशीय सागरों में, क्षेत्रफल के अनुसार, इसका स्थान चौथा है। इसकी लंबाई लगभग २८० मील और चौडाई १३० मील है। इसकी औसत गहराई ५२ फुट है और अधिकतम गहराई पश्चिमी तट की समांतर द्रोणी में २२३ फुट है। इस सागर में जिहुन अथवा आमू नदी (ऑक्सस) और सिहुन अथवा सर नदी (याक्सार्टिज) गिरती हैं, जिनसे बडी मात्रा में अवसाद (सेडिमेंट) का निक्षेप होता है। इस सागर के पूर्वी तट के समांतर अनेक छोटे छोटे द्वीपपुंज विद्यमान हैं। आँधियों की बहुलता और सुरक्षित स्थानों की कमी के कारण अराल सागर में जलयातायात सुविधाजनक नहीं है। सागरपृष्ठ का शीतकालीन ताप लगभग ३२° फा० रहता है, यद्यपि अधिकांश तटीय भाग हिमाच्छादित हो जाता है। गर्मी में ताप लगभग ८०° फा० रहता है। सागर-समतल की घट बढ महत्वपूर्ण है, परंतु ब्रीकनर के ३५ वर्षीय चक्र से इसका कोई संबंध नहीं है। यह प्राचीन धारणा कि यह सागर कभी कभी लुप्त हो जाया करता है, पूर्णतया निराधार है। अराल सागर में मीठे पानीवाली मछलियाँ पाई जाती हैं। यहाँ मछली उद्योग कैस्पियन सागर की तुलना में कम महत्व का है। अराल सागर के तटवर्ती प्रदेश प्राय निर्जन हैं। [रा० ना० मा०]

अरावली वस्तुत एक भंजित पर्वत है जो पृथ्वी के इतिहास के आरंभिक काल में ऊपर उठा था। यह पर्वतश्रेणी राजस्थान में लगभग ४०० मील की लंबाई में उत्तर-पूर्व से लेकर दक्षिण-पश्चिम तक फैली है। इसकी औसत ऊँचाई समुद्रतल से १,०००फुट से लेकर ३,०००फुट तक है और उच्चतम शिखर दक्षिणी भाग में स्थित आबू पर्वत है (ऊँचाई ५,६५० फुट)। यह श्रेणी दक्षिण की ओर अधिक चौडी है और अधिकतम चौडाई ६० मील है। इस पर्वत का अधिकांश वनस्पतिहीन है। आबादी विरल है। इसके विस्तृत क्षेत्र, विशेषकर मध्यस्थ घाटियाँ, बालू के मरुस्थल हैं। इस पर्वत की शाखाएँ पथरीली श्रेणियों के रूप में जयपुर और अलवर होकर उत्तर-पूर्व में फैली हैं। उत्तर-पूर्व की ओर इनका क्रम दिल्ली के समीप तक चला गया है, जहाँ ये क्वार्टजाईट की नीची, विच्छिन्न पहाडियों के रूप में दृष्टिगोचर होती हैं।

राजस्थान में आदिकल्प (आर्कियोज़ोइक) के धारवार (ह्यूरोनियन) काल में अवसादों (सेडिमेंट्स) का निक्षेपण हुआ और धारवार युग के अंत में पर्वतकारक शक्तियों द्वारा विशाल अरावली पर्वत का निर्माण हुआ। ये संभवत विश्व के ऐसे प्राचीनतम भंजित पर्वत हैं जिनमें शृंखलाओं के बनने का क्रम इस समय भी विद्यमान है।

अरावली पर्वत का उत्थान पुन पुराकल्प (पैलिओज़ोइक एरा) में प्रारंभ हुआ। पूर्वकाल में ये पर्वत दक्षिण के पठार से लेकर उत्तर में हिमालय तक फैले थे और अधिक ऊँचे उठे हुए थे। परंतु अपक्षरण द्वारा मध्यकल्प (मेसोज़ोइक एरा) के अंत में इन्होंने स्थलीयप्राय रूप धारण कर लिया।

लिखा है और इतिहास का एक विस्तृत दार्शनिक दृष्टिकोण उपस्थित किया है। अत इस भूमिका का महत्व स्वतंत्र पुस्तक से भी अधिक है। बाद के यूरोपीय इतिहासकार मैकियावली, वीको और गिबन इत्यादि वास्तव में इब्ने खल्दून के ही अनुयायी हैं।

इस काल में कुछ विद्वान् ऐसे भी हैं जो अनेक विद्याओ तथा कलाओ में समान दक्षता रखते थे। इसलिये उनके व्यक्तित्व को किसी एक क्षेत्र में सीमित नहीं किया जा सकता। इब्ने तैमीयह (मृ० १२३८ ई०), ज़हवी (मृ० १३८७ ई०), इब्नेहज़र अस्कलानी (मृ० १४४९ ई०) और जलालुद्दीन सुयूती (मृ० १५०५ ई०) ऐसे ही विद्वान् हैं। यह मडल इस काल के प्रकाशहीन आकाश में जुगनू की भाँति चमक रहा है। इनकी सैकड़ो कृतियों में समस्त प्रकार की विद्याओ और कलाओ का कोष भरा हुआ है। इनके अतिरिक्त इब्ने मजूर (मृ० १३११ ई०) व्याकरण, निरुक्त और साहित्य का बहुत बडा विद्वान् और अन्वेषक हुआ है। 'लिसानुल अरब' उनकी विशाल कृति है जिसकी गणना शब्दकोश तथा साहित्य की चोटी की पुस्तको में होती है।

(उ) आधुनिक काल (सन् १७९८ ई० से अबतक)—यह अरबी साहित्य का पुनर्जागरण काल है जिसका प्रारभ मिस्र पर नैपोलियन के आक्रमण से होता है। इस काल में कुछ ऐसे कारण और परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई कि अरबी साहित्य मे जीवन की एक नई लहर दौडी और उसमे नई नई शाखाएँ फूट निकली। पश्चिमी सस्कृति एव सभ्यता, ज्ञान एव साहित्य और विचारधारा एव दृष्टिकोण ने अरब देश को बहुत प्रभावित किया। आधुनिक ढग के विद्यालयो का श्रीगणेश हुआ, मुद्रणकला का आविष्कार तथा पत्रिकाओ एव समाचारपत्रो का प्रचार हुआ। ज्ञान सबधी साहित्यिक सस्थाएँ स्थापित हुई। इस प्रकार अरब जाति नवीन प्रवृत्तियो और दृष्टिकोणो से परिचित हुई। स्वतत्रता, देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता की भावनाएँ जाग्रत हुई। राजनीतिक एव सामाजिक विचारधाराओ में भी परिवर्तन हुआ। फलस्वरूप अरबी साहित्य मे एक क्राति का जन्म हुआ।

कविता ने करवट बदली। उसमें जीवन के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। शाब्दिक चमत्कार के स्थान पर अब वर्ण्य विषय की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। राजनीतिक कविताएँ एव राष्ट्रीय गान लिखे जाने लगे। अन्य भाषाओं की कविताओ के अरबी में पद्यानुवाद किए गए। अत उर्दू के गौरवान्वित कवि अल्लामा इकबाल की कविताओ का भी अनुवाद हुआ। इसके अतिरिक्त कविता के मापदड (छद) भी बदल गए। कुछ कवियों ने स्वच्छद कविताएँ भी लिखी और प्राचीन शैली के विरुद्ध एक एक विषय पर ठोस कविताओ की रचना हुई। इस काल के विशिष्ट कवियो के नाम ये हैं अल बारूदी (मृ० १९०४ ई०), हाफिज इब्राहीम (मृ० १९३२ ई०), शौकी (मृ० १९३२ ई०), रुसाफी (मृ० १९४५ ई०), खलील मतरान (मृ० १९४९ ई०), अबूशादी (मृ० १९५५ ई०), अब्दुर्रहमान सिद्की, अब्दुर्रहमान बदवी और सुलेमान अल ईसा इत्यादि।

आधुनिक युग में पद्य की अपेक्षा गद्य पर अधिक जोर दिया गया और उसमें साहित्य के अन्य अगो की अभिवृद्धि की गई। मारून नक्काश (मृ० १८५५ ई०) ने अरबी साहित्य में नाटक का श्रीगणेश किया। कुछ समय पश्चात् अब्दुल्ला नदीम (मृ० १८९६ ई०) और नजीब-अल-हद्दाद (मृ० १८९९ ई०) ने इस ओर ध्यान दिया। फिर शीघ्र ही नाटककला ने इतनी अधिक उन्नति की कि आजकल उसकी गणना उच्च साहित्य के एक महत्वपूर्ण अग के रूप में होती है। इसी प्रकार उपन्यासों और सक्षिप्त कहानियो को भी सफलता प्राप्त हुई। पहले यूरोप की भाषाओ से हर प्रकार की ऐतिहासिक, सामाजिक, प्रेम सबधी तथा हास्यरस की कथाएँ अरबी मे रूपांतरित की गई। तत्पश्चात् इस विषय की मौलिक रचनाएँ भी साहित्यक्षेत्र में आने लगी जिनसे प्राचीन अरबी सभ्यता को प्राणवान् बनाने और राष्ट्रीय भावनाओ को जाग्रत करने का काम लिया गया। इस क्षेत्र के विशिष्ट लेखक ये हैं—अब्दुल कादिर माज़िनी (मृ० १९४९ ई०), मुहम्मदहुसेन हैकल (मृ० १९५६ ई०), महमूद तैमूर, तौफीक-अल-हकीम, मुहम्मद फरीद, अबू हदीद, एहसान अब्दुल कुद्दूस और अजीज अबाज़ह।

उच्च कोटि के साहित्यकारो में अल मनफलूती (मृ० १९२४ ई०) का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वह एक विशिष्ट शैली का एकमात्र अधिष्ठाता है। समाज की अव्यवस्थित दशाओ और जीवन के अप्रिय कटु अनुभवो का उसने जो सुदर चित्रण किया है वह उसी का भाग है। खलील जिब्रान (मृ० १९३१ ई०) ने भी सुदर साहित्य का उच्चादर्श प्रस्तुत किया है। इस काल का सबसे बडा लेखक निस्सदेह मुस्तफा सादिक राफिई (मृ० १९३७ ई०) है जिसकी पुस्तक वह्युलकलम अत्यत महत्वपूर्ण कृति है। आधुनिक काल में इतिहास और समालोचना की ओर भी विशेष रूप से ध्यान दिया गया। प्राचीन ज्ञान सबधी और साहित्यिक पूँजी का वर्तमान सिद्धातो के प्रकाश में परीक्षण करने का काम शीघ्रतापूर्वक हो रहा है। डाक्टर ताहा हुसेन, अल-ज़ैयाद और अल-अक्काद इत्यादि अत्यत उच्च कोटि के साहित्यकार, विचारक और आलोचक हैं। इन लोगो ने इस्लामी सभ्यता, साहित्य के इतिहास एव ज्ञान और साहित्य के अन्य अगो से सबधित वर्तमान शैली के अनुकरणस्वरूप बहुत सुदर कृतियाँ प्रस्तुत की।

वर्तमान काल के साहित्यकारो और आलोचको मे दो दृष्टिकोण प्रत्यक्ष रूप से मिलते हैं। कुछ तो प्राचीन शैली के पक्ष मे हैं। वे पश्चिम की समस्त ज्ञान सबधी एव साहित्यिक धनराशि और आधुनिक प्रवृत्तियो एव दृष्टिकोणो से पूरा पूरा लाभ उठाने के साथ साथ अपने प्राचीन सिद्धातो, जातीय परपराओ तथा मानमर्यादा को भी स्थिर रखना चाहते हैं और इसके विपरीत कुछ अरबी साहित्य को बिलकुल पश्चिमी विचारधारा और वर्णनशैली मे ढाल देना चाहते हैं। वे किसी प्राचीन बात को उस समय तक मानने के लिये तयार नही हैं जब तक कि वह वर्तमान विचारधारा के मापदड पर पूरी न उतर जाये। इस प्रकार विभिन्न चिंतनसस्थाओ के उदय और पारस्परिक प्रतिस्पर्धा एव सघर्षो से अरबी साहित्य विभिन्न प्रकार से लाभान्वित हुआ है। अत वह अपने क्षेत्र को उत्तरोत्तर विस्तृत करता हुआ शीघ्रतापूर्वक आगे बढता जा रहा है और प्रतिदिन महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर रहा है जिससे उसकी महिमा और स्थायी अस्तित्व के लक्षण परिलक्षित हैं।

स०ग्र० —जुर्जी जैदान अरबी भाषा के साहित्य का इतिहास (अरबी), हन्ना-अल-फाखूरी अरबी साहित्य का इतिहास (अरबी), आर० ए० निकल्सन अरबो का साहित्यिक इतिहास (अंग्रेजी), इसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम (अरबी-अंग्रेजी), इसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (अंग्रेजी)।

[हा० गु० मु०]

अरस्तू ३२३ ई० पू० मे चद्रगुप्त मौर्य राजसिहासन पर बैठा। इसी साल जगद्विजेता सिकदर की मृत्यु हुई। इसके एक साल बाद सिकदर के गुरु अरस्तू ने शरीर त्यागा। उस समय अरस्तू की उमर ६२ साल की थी।

अरस्तू ने ३८४ ई० पू० मे यूनान के उत्तर-पूर्वी प्रायद्वीप कैल्सीदिसि (खल्किदिकि) के शहर स्तैजाईरा मे जन्म लिया। उसके पिता का नाम नाईकोमेकस था जो वैद्य था। वह मकदूनिया के बादशाह अमिंतास के दरबार मे रहता था। अरस्तू का बचपन वैद्यक के वातावरण में बीता। और सभव है, अरस्तू को जो जीवनशास्त्र से लगाव था, वह इन्ही सस्कारो का फल हो। अरस्तू १८ बरस का था जब वह एथेंस आया और अफ़लातून का शिष्य बना। उसने बीस बरस अपने गुरु के साथ बिताए और जब ३४७ ई० पू० मे अफ़लातून का देहात हुआ तो अरस्तू ने एथेंस छोडा। फिर तीन बरस वह अपने सहपाठी हर्मियस के पास रहा जो एशिया के समुदर के किनारे एक छोटे से राज (एतार्नियम) का मालिक था। वहीं अरस्तू ने हर्मियस की भतीजी से ब्याह कर लिया। यहाँ से वह लेज़बोस द्वीप गया और मितिलीन नगर में रहा। इन स्थानो मे जीवनशास्त्र के अध्ययन और समुद्री जतुओ की देखभाल का उसे अच्छा अवसर मिला। इन निरीक्षणो के नतीजो पर बाद की पुस्तको का आधार रखा है।

३४३ ई० पू० में मकदूनिया के बादशाह फिलिप ने अरस्तू को अपने बेटे का शिक्षक नियुक्त किया और सात साल मकदूनिया मे रहने के बाद, जब फिलिप की मौत हो गई और सिकदर ने राजपाट सँभाला तब अरस्तू दोबारा एथेंस आया। यहाँ उसने पठन पाठन का काम शुरू किया। एक बाग खरीदा जिसमे अपोलो देवता का स्थान था और जिसे लाईसीयम कहते थे। यहाँ उसने हस्तलिखित ग्रथो का पुस्तकालय बनाया और एक सग्र-

(२) **पालिकाय-प्रजाति** (ऐंथोसोमा)—यह शार्क मछलियो (लैम्ना कारनुबिका) के मुख में पाया जाता है। इसके शरीर का आकार अनेक अतिच्छादी पिंडको के रहने से अन्य जातियो से बहुत भिन्न होता है।

(३) **विरूपा प्रजाति** (निकोथी)—यह वडे झींगे (लाब्स्टर) की जल-श्वसनिकाओ (गिल्स) में पाया जाता है। इसके स्पर्शसूत्र और मुखाग शोपण करनेवाले अगो मे परिवर्तित हो जाते हैं। वक्ष (उरस) से वडे वडे पिंडक निकलने के कारण इसका रूप बहुत भद्दा लगता हे।

(४) **कास्थिजीविप्रजाति** (काड्राकैंथस)—यह अस्थिमत्स्य (वोनी फिश) की जलश्वसनिका में चिपटे हुए मिलते हैं। लवाई मे नर मादा का वारहवाँ भाग होता है। इसका शरीर अखडित और चपटा होता है, जिससे बहुत से झुर्रीदार पिंडक निकले रहते हैं। नर सदा मादा से जननेंद्रिय के निकट चिपटा रहता है। इसका शरीर इतना भद्दा और कुरूप होता है कि यदि इसमें अडस्यून न होते तो इसे अरित्रपाद नही कहा जा सकता।

कास्थिजीवी (काड्राकैंथस)

१ स्पर्शसूत्र द्वितीय, २ औरसपाद प्रथम, ३ औरसपाद द्वितीय, ५ अडस्यून, ६ मध्याक्ष, ७ वृषण
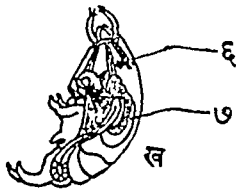
(५) **कृमिकाय प्रजाति** (लरनीआ)—यह कीडे के आकार का होता है। इसके शरीर के अगले सिरे पर पिंडक होते है। उपजभ से यह पोपिता के चमडे को छेदकर उसके शरीर से रस चूसता है।

(६) **हूनशिर प्रजाति** (लेसटीरा)—यह जेनिप्टेरेस ब्लेकोड्स नामक मछली में पाया जाता है। मादा की लवाई अडस्यून को छोडकर ७० मिलीमीटर होती है। इसका सिर फूला हुआ होता है जो अपनी पोपिता मछली के चमडे और मासपेशियो के बीच में रहता है तथा बाकी धड पानी मे लटकता रहता है।

(७) **लवकाय प्रजाति** (ट्रेकेलिऐस्टिज)—यह अपने दूसरे उपजभ द्वारा पोपिता से चिपटा रहता है।
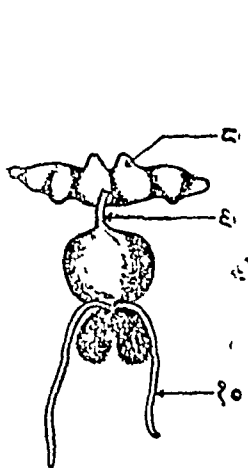
हूनशिर (लेसटीरा)
८ सिर, ९ ग्रीवा, १० अडस्यून।
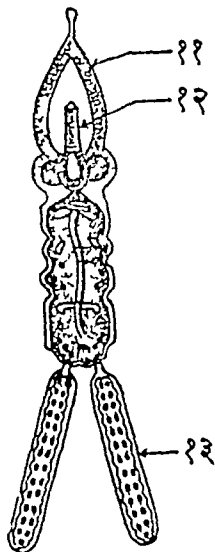
लंवकाय (ट्रेकेलिएस्टिज़)
११. उपजभ, १२ स्पर्शसूत्र, १३. अडस्यून

(८) **मास्ट्रिला**—यह प्राय पुरुरोमिणो (पॉलिकीटा) मे रहते हैं। इनका जीवनचक्र वडा जटिल होता है। नर एव मादा तथा अडे से निकले हुए न्युपाग चलते फिरते हैं। किंतु प्रौढ होने तक के बीच की अवस्थाओं मे अपना आहार कई तरह से पुरुरोमिणो मे परजीवी रहकर स्पर्शसूत्र द्वारा प्राप्त करते है।

(९) **कैलिगस**—ये चलनशील वहि परजीवी (एक्टोपैरासाइट) मछली के जल-श्वसनिका-वेश्म (चेंवर) में रहते हैं। इनके शरीर की रचना बहुत भद्दी होती है, रस चूसने के लिये शोपणनलिकाएँ होती है।

(१०) **र्हापल्लोविग्रस**—ये परजीवी वलयी (ऐनेलिड्स) मे पाए जाते है। मादा एक थैली की तरह होती है, जो पोपिता के शरीर से मूलको (रूटलेट्स) द्वारा आहार खींचती है। नर भी छोटी थैली के आकार के होते हैं। [रा० च० स०]

अरियाद्ने यूनान की पौराणिक कथाओ मे क्रीत के राजा मिनोस् एव सूर्य की पुत्री पासीफाए की कन्या। जव थेसियस् और उसके साथी वार्षिक वलि के रूप मे क्रीत पहुँचे और नगर मे उनकी यात्रा निकली तव राजकन्या अरियाद्ने थेसियस् के रूप पर मुग्ध हो गई। उसने भूलभुलइयो मे रहनेवाले मिनोतौर (मिनोस् के नर+वृषभ) को मारने और वहाँ से डोरी के सहारे निकल आने मे थेसियस् की सहायता की। इसके उपरात वह थेसियस् के साथ भाग आई। एथेस् लौटते समय थेसियस् ने या तो नाक्सौस् द्वीप मे उसकी हत्या कर दी, अथवा उसका परित्याग कर दिया। इसके उपरात दियोनीसस् ने उसके साथ विवाह किया और उसके अनेक पुत्र उत्पन्न हुए। कुछ आलोचक इसकी कथा को शीतकाल की (सुप्त या मृत) और वसत काल की (जाग्रत्) प्रकृति का रूपक मानते हैं। अरियाद्ने (अथवा अरियाग्ने) का अर्थ "अत्यत पूज्य" है।

सं०ग्र०—रोज हैड्बुक् ऑव ग्रीक माइथॉलॉजी, एडिथ् हैमिल्टन् माइथॉलाजी, १९५४, रॉवर्ट ग्रेव्ज् दि ग्रीक मिथ्स् १९५५। [भो० ना० श०]

अरिष्टनेमि १ यह एक वडा प्रतापी दैत्य था जिसने बैल का रूप धारण कर कृष्ण का सामना किया था। यह वलि का पुत्र था। २ इक्ष्वाकुवशी निमि (मिथिला-शाखा) की वशपरपरा मे एक राजा अरिष्टनेमि का नाम आता है। यह राजा सूर्यवशी था। [च० म०]

अरिस्तोफ़ानिज़ (ल० ई० पू० ४५० से ई० पू० ३८५) यूनानी प्रहसनकार। इसके पिता का नाम फिलिप्पस् और माता का जेनोदोरा था तथा इसकी कुछ स्थावर सपत्ति इगिना मे भी थी, जिसके कारण इसके मूल एथेस निवासी होने मे सदेह किया गया है। अरिस्तोफानिज ने १८ वर्ष की आयु से ही नाटकरचना आरभ कर दी थी। आरभिक नाटकों मे उसने अपना नाम नही दिया था। कहते है, इसने ५४ नाटक लिखे थे जिनमें से इस समय केवल ११ मिलते है। लगभग मार्च मास मे दियोनीसस् की रगस्थली मे एथेस मे जो नाट्य प्रतियोगिताएँ हुआ करती थी उनमे अरिस्तोफानिज को ४ प्रथम, ३ द्वितीय तथा १ तृतीय पुरस्कार भिन्न भिन्न अवसरो पर प्राप्त हुए थे। अपने प्रहसनो में अरिस्तोफानिज ने एथेस के वडे से वडे नेताओ की हँसी उडाई है अतएव उसको एक नेता क्लिओन् का कोपभाजन भी वनना पडा, पर अपने स्वतत्र स्वभाव को उसने नही छोडा। सुकरात और यूरीपीदिस् जैसे दार्शनिको और नाटककारो को भी उसके परिहास का पात्र वनना पडा, तथापि उसके चित्त मे किसी प्रकार की दुर्भावना नही थी। इसी कारण सुकरात का अनन्य भक्त अफलातून (प्लातोन्) अरिस्तोफानिज से प्रेम करता था।

यूनान के प्रहसनात्मक नाटको का इतिहास तीन युगो मे विभक्त है जो प्राचीन प्रहसन, मध्य प्रहसन और नवीन प्रहसन के युग कहलाते हैं। प्राचीन प्रहसन युग और मध्य प्रहसन युग के प्रहसनो मे से केवल अरिस्तोफानिज के प्रहसन ही आजकल मिलते हैं। उसके आजकल मिलनेवाले नाटको के नाम और परिचय निम्नलिखित है। अकानस् (ई० पू० ४२५ मे प्रस्तुत) जिसमें एथेस के युद्धसमर्थक दल और सेनानायको का परिहास किया गया था। इसपर प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था। हिप्पेस् (शूर सामत) की

है। पर अचरज और गौरव की बात यह है कि अरस्तू का सगठित शास्त्र इतने दिनों पडितसमाज मे समान का पात्र बना रहा और आज भी शिक्षा-क्रम में इसका ऊँचा मूल्य है।

अरस्तू ने तर्कशास्त्र में तीन विषयो पर विचार किया है। एक, सब प्रकार की बोधविधियो (रीज़निंग) में कौन सी चीज समान है और इन विधियो के कितने भेद हैं। अर्थात् युक्ति (सिलॉजिज्म) के कौन कौन से रूप हैं। तर्क की इस शाखा का सबध केवल युक्तियो के रूप अथवा आकार से है, युक्ति के अर्थ से नही। इसका उद्देश्य यह देखना है कि युक्ति असगत तो नही, इसके अवयवो मे अनुरूपता है या नही। दूसरा, इस बात की जाँच कि युक्ति और तथ्य मे सामजस्य है या नही, युक्ति ज्ञानसपन्न है अथवा नही। तीसरा, यह विचार करना कि यद्यपि युक्ति रूप से तो दोषरहित है परतु सत्य की वाहक भी हे या नही। उसमें मिथ्याहेतु या आभास (फ़ैलेसीज) तो नही है।

चूँकि युक्ति का आश्रय वाक्य (प्रोपोजीशन) है और वाक्य पदो (टर्म्स) से मिलकर बनते है, तर्कशास्त्र मे पहला सवाल यह उठता है कि पद और वाक्य कितने प्रकार के हैं। यही से पदार्थ (कैटेगरीज) की चर्चा शुरु होती हे अर्थात् भाव के हिसाब से पदो को किन गुणो मे विभाजित कर सकते है। अरस्तू ने पदार्थो की गिनती निश्चित रूप से स्थिर नही की, पर उसकी पुस्तको मे दस के नाम मिलते हैं। इनमे सत्य (सब्स्टैंस) मूल पदार्थ हे, क्योकि यह सबका आधार हे। बाकी ये है

गुण (क्वालिटी), मात्रा (क्वाटिटी), अन्वय (रिलेशन), देश (प्लेस), काल (टाइम), स्थिति (स्टेट), दशा (पोज़ीशन), कर्तृभाव (सेक्शन), कर्मभाव (पैसीविटी)।

वाक्यो के कई गुण हैं। भावसूचक (अफर्मेटिव) और अभावसूचक (निगेटिव), व्यापक (युनिवर्सल), अव्यापक (नॉन-युनिवर्सल) और व्यक्तिगत (इडिवीजुअल), आवश्यक (नेससरी), अनावश्यक (नाट-नेसेसरी) और शक्य (पॉसिबिल)।

वाक्य तीन अगो के मेल से बनता है—वाचक (सब्जेक्ट), वाच्य (प्रेडीकेट) और जोड (कपुल)।

जब वाक्यो को क्रमानुसार रखते है तो युक्ति का रूप उत्पन्न होता है।

युक्ति वैज्ञानिक विद्याओ का साधन है। युक्ति के द्वारा ही ठीक नतीजों पर पहुँच सकते हैं। अरस्तू ने युक्ति के तीन अवयव माने हैं। (१) प्रतिज्ञा (मेजर प्रेमिस), (२) हेतु (माइनर प्रेमिस), (३) निगमन (कन्क्लूजन)। हिंदुस्तान में गौतम के न्यायशास्त्र के अनुसार दो अवयव और हैं—उदाहरण (एक्जापुल) तथा उपनय (ऐप्लीकेशन)। (दे० अनुमान लेख)

मिथ्याहेतु को दो भागो मे विभाजित किया है। एक भाग उन आभासो का हे जो शब्दो के दुरुपयोग के परिणाम हैं और दूसरे भाग मे वे मिथ्या हेतु हैं जो ज्ञान के अभाव से या युक्ति मे छिद्रो के कारण उपजते हैं। युक्तियो के अनेक रूप (फ़िगर्स) है। इन रूपो द्वारा सामान्य (जनरल) वाक्यो से विशेष (पर्टिकुलर) की ओर और विशेष से सामान्य की ओर बुद्धि की प्रगति होती हे और विज्ञान के निष्कर्ष निकलते हैं।

तर्कशास्त्र का आधार यही क्रम या प्रगति है। एक तरफ ज्ञान इद्रियों द्वारा सचित प्रलभन (पर्सेप्ट्स) मात्र हैं, दूसरी तरफ बुद्धि प्रलभनो की समानताओ का अनुभव कर उपलब्धियो (कासेप्ट) की सृष्टि करती है। इसका अर्थ यह है कि बोधधारा प्रलभन से उपलब्धि की ओर बहती हैं और उपलब्धि से प्रलभन की ओर लौटती है।

जैसा क्रम तक मे प्रलभन और उपलब्धि मे दिखाई देता है, अर्थात् जैसा विकास हमारे अतजगत् मन में दिखाई देता है, अरस्तू का विचार है कि वैसा ही क्रम बाहरी जगत् मे भी जारी है। बाहरी जगत् सचमुच जगत् है, चलनात्मक है, परिवर्तनशील है। जगत् वस्तुओ का समुदाय है। समस्त जगत् और प्रत्येक वस्तु प्रगति मे बँधी है। वस्तु के दो अग है—एक द्रव्य (मटर) और दूसरा रूप (फॉर्म)। द्रव्य जड है, यह वस्तु का आधार है परतु इसमे गति नही। द्रव्य मे शक्यता (पॉसिबिलिटी, पोटेंशियालिटी) है, तथ्यता (रियलिटी) नही। तथ्य तो ज्ञान की भित्ति, चेतन का अग हे। जड माया के समान है, बोधविहीन हे। द्रव्य मे रूप के मेल से वस्तुएँ व्यक्त होती हैं। इसलिये प्रत्येक वस्तु द्रव्य और रूप का सगम है। परतु प्रत्येक वस्तु धारावाहिनी (कन्टिन्यूइटी) है और जगत् भी स्वभाव से निरतर समन्वय है। जगत् सीढी के समान है जिसमे वस्तुओ के डडे लगे हुए हैं। सबसे नीचे के डडो मे रूप का अश थोडा हे। इससे ऊपर के डडो में रूप की मात्रा बढती जाती है। निर्जीव वस्तुओ, जैसे हवा, पानी, पत्थर, धातु इत्यादि, मे चेतन के विकारो अर्थात् रूपो की कमी है। वनस्पतियो मे यह निर्जीवो से अधिक है, जतुओ मे और भी अधिक तथा मनुष्य में सबसे अधिक। केवल रूपहीन द्रव्य नेति (नीगेशन) के तट पर विराजता है। केवल द्रव्यहीन रूप ज्ञानमय आत्मा है, जिसे ईश्वर का नाम दे सकते हैं। नेति और ईश्वर के बीच मे नानाविध जगत् का प्रसार है जिसमें वस्तुएँ और उनके गुण (स्पेसीज) हिलोरें लेते हैं। जगत् एक सत्ता है जिसमे प्रगति निहित है। प्रगति बिना कारण के सभव नही। अरस्तू के अनुसार कारण चार तरह के होते हैं। प्रत्येक वस्तु के बनने मे द्रव्य और रूप आवश्यक हैं। इन दो को अरस्तू उपादान (मैटीरियल) और उद्देश्य (फाइनल) कारण कहता है, क्योकि द्रव्य की निष्ठा रूप को ग्रहण करना है। इसीलिये रूप को द्रव्य का उद्देश्य कहा है। कम रूप की वस्तु अधिक रूप की वस्तु का द्रव्य है, जैसे पत्थर द्रव्य है मूर्ति के लिये, मिट्टी घडे के लिये।

मूर्ति का उपादान कारण पत्थर है। पत्थर मे रूप उपजानेवाले मूर्तिकार का व्यवसायकौशल मूर्ति का निमित्त (एफ़िशेंट) कारण है। मूर्तिकार जिन विधियो और निष्ठाओ के अधीन मूर्ति का निर्माण करता है वे विहित (फॉर्मल) कारण है। मूर्ति का अतिम रूप उद्देश्य कारण है।

यही चार कारण समस्त सृष्टि मे काम करते है। सृष्टि को प्रकृति-सोपान कहना चाहिए।

मनुष्य इस सोपान का ऊँचा डडा है। इसके नीचे के डडे मनुष्यरूप के लिये द्रव्य का काम देते हैं। शरीर और जीवात्मा के मेल से मनुष्य बनता है। जीवात्मा के शरीर मे समेटने से व्यक्ति तैयार होता है। शरीर का जीवात्मा से अटूट सबध है। एक को दूसरे से अलग कर दे तो मानव व्यक्ति नष्ट हो जाय। जीवात्मा और शरीर का सयोग व्यक्ति-विशेष कहलाता है। अरस्तू का विचार था कि मृत्यु के बाद मनुष्य व्यक्ति छिन्न भिन्न हो जाता है, क्योकि शरीरविशेष के न रहने पर जीवात्मा, जो शरीर से विशेष सबध रखती है, कायम नही रह सकती।

मनुष्य, जो जीवात्मा और शरीर का गठन है, प्रकृतिसोपान के बहुत ऊँचे डडे पर स्थित है। सृष्ट भूतो मे उसका दर्जा सबसे ऊपर है। उसके नीचे जितने भूत हैं, उसकी जीवात्मा मे अतर्हित है। वह द्रव्य है जिसकी नीव पर मनुष्यरूप प्रकट हुआ है। जीवात्मा, जो मनुष्य की सब चेष्टाओ की प्रेरक है, अपने भीतर सब जीवजतुओ की प्रेरक आत्माओ को लिए हुए हे। इस कारण मानव-आत्मा मे वनस्पति और जतु दोनो की आत्माओ के गुण हैं। और इनसे बढकर चेतन बुद्धि (रीजन) हे जो मनुष्य को समस्त वनस्पतियो और जीवजतुओ से उत्कृष्ट बनाती है।

जीवात्मा के वानस्पतिक अग का व्यापार (फक्शन) पुष्टि है, अर्थात् उन तत्वो का ग्रहण जिनसे व्यक्ति जीवित रहता और अपने समान जीवो को उत्पन्न करता है। वानस्पतिक आत्मा (वेजिटेबुल सोल) पुष्टि और उत्पादन की शक्ति का नाम हे। जतुओ मे एक और गुण है—इद्रियो द्वारा विषयो की जानकारी। इसे इद्रियग्रहण (सेंसेशन) कह सकते है। जैसे पुष्टि शक्ति का काम भोजन का ग्रहण है, वैसे ही जतु की आत्मा (एनिमल सोल) का व्यापार देखना, सुनना, सूँघना, छूना और चखना है। यह तो मूल कृतियाँ है। इनके सिवा वस्तुओ का प्रलभन (पर्सेप्शन) है, जिसके द्वारा इद्रियग्रहणो का योग वस्तु व्यक्ति के पूरे रूप का बोध कराता है और एक वस्तु को दूसरी से पृथक् करता है। प्रलभन पर कल्पना (इमैजिनेशन), स्मरण और स्वप्न (का आसरा) है। इन सबका जातव आत्मा से सबध है।

जातव आत्मा के दो कार्य है—एक प्रलभन अर्थात् इद्रियो द्वारा बाह्य जगत् के विशेषणो की सूचनाएँ जमा करना। दूसरे, इन विशेषणो से उत्पन्न होनेवाले भावो अर्थात् सुख दु ख और सुख दु ख के आकर्षण और प्रतिकार से जो इच्छाएँ मन मे उभरती है उनका अनुभव करना।

नामों का उल्लेख पाणिनि की ग्राममूचियों में हुआ है, जैसे वाणिज्यक (४।२।७४) में वलूजे और चौपयत (४।२।५४) से चोपे। कुछ ऐतिहासिकों का मत है कि पजाब की पाँच नदियों के बीच के वाहीक प्रदेश का प्राचीन नाम आरट्ट था जिसका उल्लेख महाभारत (कर्णपर्व) में मिलता है (आरट्टा नाम वाहीका वर्जनीया विपश्चिता, कर्णपर्व ३०।४०)। इन्हें वाहीक निवासी होने के कारण नष्टधर्म और विकुत्सित कहा गया है। वस्तुत देश की अपेक्षा आरट्ट जाति का नाम अधिक था जो प्राचीन सिंधु जनपद (वर्तमान सिंध सागर दोआब) से लेकर मुलतान और अरोर या रोरी मक्खर तक फैली हुई थी। पजाब में जब वाह्लीक के यवनों का शासन हुआ तो उस प्रदेश के निवासियों के आचार व्यवहार को कुत्सित माना जाने लगा। मूलत यही समीचीन विदित होता है कि पजाब की अन्य जातियों के समान अरोडे भी प्राचीन क्षत्रिय जातियों में से थे, जिनमें अनेक गणराज्यों के रूप में सगठित थे। राजस्थान की ओर फैले हुए अरोडे भी पजाब से ही छिटपुट हुए।

स०ग्र०—डा० हरनाम सिंह भोगा अरोडवश जातीय इतिहास, १९३८ ई०। [वा० श० अ०]

अर्गट एक दवा है जिससे अनैच्छिक मासपेशियों में सकोच होता है और इसलिये प्रसव के बाद असामान्य रक्तस्राव रोकने के लिये स्त्रियों को दिया जाता है। अधिक मात्रा में खाने पर यह तीव्र विष का गुण दिखाता है। नीवारिका (अंग्रेजी में राई) नाम के निकृष्ट अन्न में बहुधा एक विशेष प्रकार की फफूँदी (भुकडी) लग जाती है जिससे वह अन्न विपाक्त हो जाता है। इसी फफूँदी (लैटिन नाम क्लैवीसेप्स परप्यूरिया) से अर्गट निकाला जाता है।

जीर्ण विपाक्तता (क्रोनिक पॉयजनिंग) पहले अकसर हुआ करती थी, जो पूर्वोक्त फफूँदी लगी नीवारिका खाने से होती थी, अब भी यह रोग यदाकदा हो जाता है। ऐसी विषाक्तता में या तो मासपेशियों के सकोच से शरीर के विविध अगों में रक्त पहुँचना बद हो जाता है, जिससे उन अगों में कोथ (गैंग्रीन) उत्पन्न हो जाता है या हाथ पैर में खुजली, झुनझुनी, चुनचुनाहट तथा चेतनाहीनता, दृष्टिनाश, बहरापन, मानसिक अक्रियता, दुर्बलता तथा कपन उत्पन्न होता है और अत में श्वसन अगों के बेकाम हो जाने से मृत्यु हो जाया करती है। [भ० दा० व०]

अर्जुन महाभारत के वीर। उस परपरा के अनुसार महाराज पाडु की ज्येष्ठ पत्नी, और वासुदेव कृष्ण की बूआ कुती के, इद्र से उत्पन्न तृतीय पुत्र अर्जुन थे। कुती का दूसरा नाम 'पृथा' था जिससे ये 'पार्थ' के नाम से भी अभिहित किए जाते थे। पाडु के पाँचो पुत्रों में अर्जुन के समान धनुर्धारी तथा वीर दूसरा नहीं था। ये अपना गाडीव धनुष बाएँ हाथ से भी चलाया करते थे, इससे इनका नाम 'सव्यसाची' भी पड गया। द्रोणाचार्य अस्त्रविद्या में इनके प्रख्यात आचार्य थे जिनसे धनुर्विद्या सीखकर इन्होंने महाभारत में वर्णित द्रौपदीस्वयवर के समय अपना अद्भुत शस्त्रकौशल दिखलाया और द्रौपदी को जीता। महाभारत में उनके द्वारा भारत के उत्तरीय प्रदेशों की दिग्विजय तथा अतुल सपत्ति की प्राप्ति का वर्णन है। इसीसे सभवत इनका नाम 'धनजय' प्रसिद्ध हुआ। शकुनि के द्वारा कूटद्यूत में पराजित होने पर अपने भाइयों के साथ इन्होंने भी द्वैतवन में वास किया और एक साल का अज्ञातवास विराटनगर में बिताया। विराटनगर में बृहन्नला नाम से उन्होंने राजकुमारी उत्तरा को नृत्यकला की शिक्षा दी। अस्त्रविद्या के साथ ललित कला का ज्ञान इनके व्यापक व्यक्तित्व का परिचायक है। कृष्ण की बहिन सुभद्रा का इन्होंने हरण कर उससे विवाह किया जिससे इन्हें 'अभिमन्यु' नामक वीर पुत्र उत्पन्न हुआ।

महाभारत युद्ध के आरभ में कुरुक्षेत्र के मैदान में एकत्र हुए अपने सगेसबधियों को देखकर इन्हें युद्ध से विरक्ति हो गई थी और तब वासुदेव कृष्ण ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' का उपदेश देकर इनका व्यामोह दूर किया था। अग देश का राजा तथा दुर्योधन का परम सुहृद् पराक्रमी कर्ण इनका प्रधान प्रतिद्वद्वी था जिसे मारकर इन्होंने विजय प्राप्त की। भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य आदि प्रख्यात वीरों के ऊपर विजय पाना अर्जुन की असाधारण वीरता, अदम्य उत्साह तथा विलक्षण अस्त्रचातुर्य का परिचायक था। ये श्रीकृष्ण के घनिष्ठ सखा तथा सबधी थे। उनके स्वर्गवासी होने पर भी ये जीवित थे तथा यादवों की स्त्रियों को जब ये द्वारिका पहुँचा रहे थे, तब आभीरों ने रास्ते में ही इन्हें लूट लिया (भागवत, प्रथम स्कध, ५ अ०)। महाभारत युद्ध के अनतर अपने पौत्र परीक्षित को राज्य सौंप अपने भाइयों के साथ ये हिमालय में गलने के लिये चले गए। [ब० उ०]

अर्जुन एक वृक्ष है जिसका नाम सस्कृत तथा बँगला में भी यही है। सस्कृत में अर्जुन शब्द का अर्थ श्वेत है।

इसके वृक्ष जगलों में ६० से ८० फुट तक ऊँचे, नदियों के किनारे, दक्षिण भारत से अवध तक तथा ब्रह्म देश और लका में भी पाए जाते हैं। इसके पत्ते ५ अगुल तक चौडे और एक बित्ता तक लबे होते हैं तथा इनके पीछे दो गाँठें सी होती हैं। इन पत्तों को टसर के कीडों को खिलाया जाता है। फूल बहुत छोटे और हरी झाँई लिए श्वेत होते हैं। इसका गोंद श्वेत होता है और खाने तथा ओषधि के काम आता है। परतु इसकी छाल ही विशेष गुणकारी कही गई है।

छाल में लगभग १५ प्रति शत टैनिन होता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा में इसके क्वाथ से नासूर तथा जला हुआ स्थान धोने का और हृदयरोग में दूध के साथ पिलाने का विधान है। छाल का चूर्ण दूध और राब के साथ अस्थिभग में और चोट से विस्तृत नील पड जाने पर खिलाया जाता है।

आयुर्वेद में अर्जुन को कसैला, गरम, कफनाशक, व्रणशोधक, पित्त, श्रम और तृषा निवारक तथा मूत्रकृच्छ्र रोग में हितकारी कहा गया है। प्राय सब आयुर्वेदशास्त्रियों ने इसे हृदयरोग में लाभकारी माना है।

अर्जुन की लकडी से नाव, गाडी, खेती के औजार, इत्यादि बनते हैं, और छाल रँगने के काम में आती है। [भ० दा० व०]

अर्थक्रिया वह क्रिया जिसके द्वारा किसी प्रयोजन (अर्थ) की सिद्धि हो। माधवाचार्य ने 'सर्वदर्शनसग्रह' में बौद्धदर्शन के प्रसग में अर्थक्रिया के सिद्धात का विस्तृत विवेचन किया है। बौद्धों का मान्य सिद्धात है—अर्थक्रियाकारित्व सत्वम् अर्थात् वही पदार्थ या द्रव्य सत्व कहा जा सकता है जो हमारे किसी प्रयोजन की सिद्धि करता है। घट को हम पदार्थ इसीलिये कहते हैं कि उसके द्वारा पानी लाने का हमारा तात्पर्य सिद्ध होता है। उस प्रयोजन के सिद्ध होते ही वह द्रव्य नष्ट हो जाता है। इसलिये बौद्ध लोग क्षणिकवाद को अर्थात् 'सब पदार्थ क्षणिक हैं' इस सिद्धात को प्रामाणिक मानते हैं। इसके लिये उन्होंने बडी युक्तियाँ दी हैं (सर्वदर्शनसग्रह का पूर्वनिर्दिष्ट प्रसग)। न्याय भी इसके रूप को मानता है। प्रामाण्यवाद के अवसर पर इसकी चर्चा न्यायग्रथों में है। न्यायमत में प्रामाण्य 'परत' माना जाता है और इसके लिये अर्थक्रिया का सिद्धात प्रधान हेतु स्वीकार किया गया है। घडा पानी को लाकर हमारी प्यास बुझाने में समर्थ होता है, इसलिये वह निश्चित रूप से घडा ही सिद्ध होता है। परतु न्यायमत में इस सिद्धात के मानने पर भी क्षणिकवाद की सिद्धि नहीं होती। [ब० उ०]

अर्थवाद भारतीय पूर्वमीमासा दर्शन का विशेष पारिभाषिक शब्द, जिसका अर्थ है प्रशसा, स्तुति अथवा किसी कार्यात्मक उद्देश्य को सिद्ध कराने के लिये इधर उधर की बातें जो कार्य सपन्न करने में प्रेरक हों। पूर्वमीमासा दर्शन में वेदों के—जिनको वह अपौरुषेय, अनादि और नित्य मानता है—सभी वाक्यों का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है, और समस्त वेदवाक्यों का मुख्य प्रयोजन मनुष्य को यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं में प्रवृत्त कराना माना है। क्रिया-विधानात्मक-वाक्यों के अतिरिक्त वेदों में और जो वाक्य वर्णनात्मक रूप से मिलते हैं उनको मीमासा ने क्रिया में प्रवृत्त कराने का साधन मात्र माना है, किसी विशेष, वास्तविक वस्तु का वर्णन नहीं माना। विधि, निषध, मत्र, नामधेय—क्रियात्मक वाक्यों—को छोडकर और सब वाक्य अर्थवाद के अतर्गत हैं। यज्ञ ने, जो वेदों का मुख्य विधान है, उनका केवल इतना ही सबध है कि वे बच्चों की लिखी हुई सत्या-

अराकान बरमा का एक प्रदेश है (देखें बरमा)। बंगाल की खाड़ी के पूर्वी तट पर चटगाव (चिटागाङ्ग) से नेग्रेस अंतरीप तक विस्तृत है। इस प्रकार इसकी लंबाई लगभग ४०० मील है। चौड़ाई उत्तर में ६० मील है, परंतु अराकान योमा पर्वत के कारण दक्षिण की ओर अराकान की चौड़ाई धीरे धीरे कम होते होते १५ मील हो जाती है। तट पर अनेक टापू हैं। इस प्रदेश का प्रधान नगर अकयाब है। प्रांत चार जिलों में विभक्त है। क्षेत्रफल लगभग १६,००० वर्ग मील है और जनसंख्या लगभग १२ लाख (सन् १९४१)।

चार मुख्य नदियाँ नाफ, मायू, कलदन, और लेमरो हैं। कलदन गहरी है और इसमें छोटे जहाज ५० मील भीतर तक जा सकते हैं। अन्य नदियाँ बहुत छोटी हैं, क्योंकि वे पहाड़ जिनसे ये निकली हैं, समुद्रतट के निकट हैं। योमा पर्वत को पार करने के लिये कई दर्रे (पास) हैं।

प्रदेश पहाड़ी है और केवल दशम भूभाग में खेती हो पाती है। मुख्य सस्य धान है। फल, तबाकू, मिरचा आदि भी उत्पन्न किए जाते हैं। जंगल भी हैं, परंतु वर्षा इतनी अधिक होती है कि सागवान यहाँ नहीं हो पाता।

अराकानवासियों की सभ्यता अति प्राचीन है। लोकोक्ति के अनुसार २,६६६ ई० पू० से आज तक के सभी राजाओं के नाम ज्ञात हैं। कभी मुगल और कभी पुर्तगाली लोगों ने कुछ भागों पर अधिकार जमा लिया था, परंतु वे शीघ्र मार भगाए गए। सन् १८२६ से यहाँ अँगरेजी राज्य रहा। जनवरी, सन् १९४८ से बरमा पुन स्वतंत्र हो गया है और अब वहाँ गणतंत्र राज्य है। अराकान का प्रधान नगर पहले अराकान था, परंतु अस्वास्थ्यप्रद होने के कारण अब अकयाब प्रधान नगर हो गया है।

यद्यपि अराकाननिवासी भी बर्मी ही हैं, तो भी उनकी देशी भाषा और रस्मरिवाजों में अन्य बरमानिवासियों से पर्याप्त भिन्नता है, परंतु ये भी बौद्धधर्म के ही अनुयायी हैं। [न० ला०]

अराजकता, अराजकतावाद अराजकता एक आदर्श है, जिसका सिद्धांत अराजकतावाद है। अराजकतावाद राज्य को समाप्त कर व्यक्तियों, समूहों और राष्ट्रों के बीच स्वतंत्र और सहज सहयोग द्वारा समस्त मानवीय संबंधों में न्याय स्थापित करने के प्रयत्नों का सिद्धांत है। अराजकतावाद के अनुसार स्वातंत्र्य जीवन का सत्यात्मक नियम है, और इसीलिये उसका मंतव्य है कि सामाजिक संगठन व्यक्तियों के कार्यस्वातंत्र्य के लिये अधिकतम अवसर प्रदान करे। मानवीय प्रकृति में आत्मनियमन की ऐसी शक्ति है जो बाह्य नियंत्रण से मुक्त रहने पर सहज ही सुव्यवस्था स्थापित कर सकती है। मनुष्य पर अनुशासन का आरोपण ही सामाजिक और नैतिक बुराइयों का जनक है। इसलिये हिंसा पर आश्रित राज्य तथा उसकी अन्य संस्थाएँ इन बुराइयों को नहीं दूर कर सकतीं। मनुष्य स्वभावत अच्छा है, किंतु ये संस्थाएँ मनुष्य को भ्रष्ट कर देती हैं। बाह्य नियंत्रण से मुक्त, वास्तविक स्वतंत्रता का सहयोगी सामूहिक जीवन प्रमुख रीति से छोटे समूहों में संभव है, इसलिये सामाजिक संगठन का आदर्श संघवादी है।

सुव्यवस्थित रूप में अराजकतावाद के सिद्धांत को सर्वप्रथम प्रतिपादित करने का श्रेय स्टोइक विचारधारा के प्रवर्तक ज़ेनो को है। उसने राज्यरहित ऐसे समाज की स्थापना पर जोर दिया जहाँ निरपेक्ष समानता एवं स्वतंत्रता मानवीय प्रकृति की सत्प्रवृत्तियों को सुविकसित कर सार्वभौम सामंजस्य स्थापित कर सकें। दूसरी शताब्दी के मध्य में अराजकतावादी साम्यवादी संप्रदाय के प्रवर्तक कार्पोक्रीटीज़ ने राज्य के अतिरिक्त निजी संपत्ति के भी उन्मूलन की बात कही। मध्ययुग के उत्तरार्ध में ईसाई धार्मिक संप्रदायों के विचार और संगठन में भी कुछ स्पष्ट अराजकतावादी प्रवृत्तियाँ प्रकट हुईं जिनका मुख्य आधार यह दावा था कि व्यक्ति ईश्वर से सीधा संबंध स्थापित कर पापमुक्त हो सकता है।

आधुनिक युग में व्यवस्थित ढंग से अराजकतावादी सिद्धांत का प्रतिपादन विलियम गॉडविन ने किया जिसके अनुसार सरकार और निजी संपत्ति ये दो बुराइयाँ हैं जो मानव जाति की प्राकृतिक पूर्णता की प्राप्ति में बाधक हैं। दूसरों को अधीनस्थ करने का साधन होने के कारण सरकार निरंकुशता का स्वरूप है, और शोषण का साधन होने के कारण निजी संपत्ति क्रूर अन्याय। परंतु गॉडविन ने सभी संपत्ति को नहीं, केवल उसी संपत्ति को बुरा बताया जो शोषण में सहायक होती है। आदर्श सामाजिक संगठन की स्थापना के लिये उसने हिंसात्मक क्रांतिकारी साधनों को अनुचित ठहराया। न्याय के आदर्श के प्रचार से ही व्यक्ति में वह चेतना लाई जा सकती है जिससे वह छोटी स्थानीय इकाइयों की आदर्श अराजकतावादी प्रसंविदात्मक व्यवस्था स्थापित करने में सहयोग दे सके।

इसके बाद दो विचारधाराओं ने विशेष रूप से अराजकतावादी सिद्धांत के विकास में योग दिया। एक थी चरम व्यक्तिवाद की विचारधारा, जिसका प्रतिनिधित्व हर्बर्ट स्पेंसर करते हैं। इन विचारकों के अनुसार स्वतंत्रता और सत्ता में विरोध है और राज्य अशुभ ही नहीं, अनावश्यक भी है। किंतु ये विचारक निश्चित रूप से निजी संपत्ति के उन्मूलन के पक्ष में नहीं थे और न संगठित धर्म के ही विरुद्ध थे।

दूसरी विचारधारा फ़ुअरबाख़ (Feuerbach) के दर्शन से संबंधित थी जिसने संगठित धर्म तथा राज्य के पारभौतिक आधार का विरोध किया। फ़ुअरबाख़ के क्रांतिकारी विचारों के अनुकूल मैक्स स्टर्नर ने समाज को केवल एक मरीचिका बताया तथा दृढ़ता से कहा कि मनुष्य का अपना व्यक्तित्व ही एक ऐसी वास्तविकता है जिसे जाना जा सकता है। वैयक्तिकता पर सीमाएँ निर्धारित करनेवाले सभी नियम अहं के स्वस्थ विकास में बाधक हैं। राज्य के स्थान पर 'अहंवादियों का संघ' (ऐसोसिएशन ऑव इगोइस्ट्स) हो तो आदर्श व्यवस्था में आर्थिक शोषण का उन्मूलन हो जायगा, क्योंकि समाज का प्रमुख उत्पादन स्वतंत्र सहयोग का प्रतिफल होगा। क्रांति के संबंध में उसका यह मत था कि हिंसा पर आश्रित राज्य का उन्मूलन हिंसा द्वारा ही हो सकता है।

अराजकतावाद को जागरूक जन-आंदोलन बनाने का श्रेय प्रूधों (Proudhon) को है। उसने संपत्ति के एकाधिकार तथा उसके अनुचित स्वामित्व का विरोध किया। आदर्श सामाजिक संगठन वह है जो 'व्यवस्था में स्वतंत्रता तथा एकता में स्वाधीनता' प्रदान करे। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये दो मौलिक क्रांतियाँ आवश्यक हैं एक का संचालन वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध तथा दूसरे का वर्तमान राज्य के विरुद्ध हो। परंतु किसी भी दशा में क्रांति हिंसात्मक न हो, वरन् व्यक्ति की आर्थिक स्वतंत्रता तथा उसके नैतिक विकास पर जोर दिया जाय। अतत प्रूधों ने स्वीकार किया कि राज्य को पूर्णरूपेण समाप्त नहीं किया जा सकता, इसलिये अराजकतावाद का मुख्य उद्देश्य राज्य के कार्यों को विकेंद्रित करना तथा स्वतंत्र सामूहिक जीवन द्वारा उसे जहाँ तक संभव हो, कम करना होना चाहिए।

बाकूनिन ने आधुनिक अराजकतावाद में केवल कुछ नई प्रवृत्तियाँ ही नहीं जोड़ीं, वरन् उसे समष्टिवादी स्वरूप भी प्रदान किया। उसने भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों के सामूहिक स्वामित्व पर जोर देने के साथ साथ उपभोग की वस्तुओं के निजी स्वामित्व को भी स्वीकार किया। उसके विचार के तीन मूलाधार हैं अराजकतावाद, अनीश्वरवाद तथा स्वतंत्र वर्गों के बीच स्वेच्छा पर आधारित सहयोगिता का सिद्धांत। फलत वह राज्य, चर्च और निजी संपत्ति, इन तीनों संस्थाओं का विरोधी है। उसके अनुसार वर्तमान समाज दो वर्गों में विभाजित है संपन्न वर्ग, जिसके हाथ में राजसत्ता रहती है, तथा विपन्न वर्ग जो भूमि, पूंजी और शिक्षा से वंचित रहकर पहले वर्ग की निरंकुशता के अधीन रहता है, इसलिये स्वतंत्रता से भी वंचित रहता है। समाज में प्रत्येक के लिये स्वतंत्रता की प्राप्ति अनिवार्य है। इसके लिये दूसरों को अधीन रखनेवाली हर प्रकार की सत्ता का बहिष्कार करना होगा। ईश्वर और राज्य ऐसी ही दो सत्ताएँ हैं। एक पारलौकिक जगत् में तथा दूसरी लौकिक जगत् में उच्चतम सत्ता के सिद्धांत पर आधारित है। चर्च पहले सिद्धांत का मूर्त रूप है। इसलिये राज्यविरोधी क्रांति चर्चविरोधी भी हो। साथ ही, राज्य सदैव निजी संपत्ति का पोषक है, इसलिये यह क्रांति निजी संपत्तिविरोधी भी हो। क्रांति के संबंध में बाकूनिन ने हिंसात्मक साधनों पर अपना विश्वास प्रकट किया। क्रांति का प्रमुख उद्देश्य इन तीनों संस्थाओं का विनाश बताया गया है, परंतु नए समाज की रचना के विषय में कुछ नहीं कहा गया। मनुष्य की सहयोगिता की प्रवृत्ति में असीम विश्वास होने के कारण बाकूनिन का यह विचार था कि मानव समाज ईश्वर के अंधविश्वास, राज्य के भ्रष्टाचार तथा निजी संपत्ति के शोषण से मुक्त होकर अपना स्वस्थ संगठन स्वयं कर लेगा। क्रांति के संबंध

पूजा म या खेल मे लगाया गया है, वह अन्य किसी कार्य मे लगाया जा सकता था। मनुष्य कोई भी काम करे, उसमें समय की आवश्यकता अवश्य पडती है और इस परिमित साधन समय के उपयोग का विवेचन अर्थशास्त्र में अवश्य होना चाहिए। प्रोफेसर राबिंस की अर्थशास्त्र की परिभाषा इतनी व्यापक है कि इसके अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कार्य का विवेचन, चाहे वह धार्मिक, राजनीतिक या सामाजिक ही क्यो न हो, अर्थशास्त्र के अदर आ जाता है। इस परिभाषा को मान लेने मे अर्थशास्त्र, राजनीति, धर्मशास्त्र और समाजशास्त्र की सीमाओं का स्पष्टीकरण बराबर नही हो पाता हैं।

प्रोफेसर राबिंस के अनुयायियो का मत है कि परिमित साधनो के अनुसार मनुष्य के प्रत्येक कार्य का आर्थिक पहलू रहता है और इसी पहलू पर अर्थशास्त्र मे विचार किया जाता है। वे कहते हैं कि यदि किसी कार्य का सबध राज्य से हो तो उसका उस पहलू से विचार राजनीतिशास्त्र मे किया जाय और यदि उस कार्य का सबध धर्म से भी हो तो उस पहलू से उसका विचार धर्मशास्त्र मे किया जाय।

मान ले, एक मनुष्य चोरबाजार द्वारा एक वस्तु को बहुत अधिक मूल्य मे बेच रहा है। साधन परिमित होने के कारण वह जो काय कर रहा है और उसका प्रभाव वस्तु की उत्पत्ति या पूर्ति पर क्या पड रहा है, इसका विचार तो अर्थशास्त्र मे होगा, चोरबाजार करनेवाले के सबध मे राज्य का क्या कर्तव्य है, इसका विचार राजनीतिशास्त्र या दडनीति मे होगा। यह कार्य अच्छा है या बुरा, इसका विचार समाजशास्त्र, आचारशास्त्र या धर्मशास्त्र में होगा। और, यह कैसे रोका जा सकता है, इसका विचार शायद किसी भी शास्त्र मे न हो। किसी भी कार्य का केवल एक ही पहलू से विचार करना उसके उचित अध्ययन के लिये कहाँ तक उचित है, यह विचारणीय है।

प्रोफेसर राबिंस की अर्थशास्त्र की परिभाषा की दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि वह अर्थशास्त्र को केवल विज्ञान ही मानता है। उसमे केवल ऐसे नियमो का विवेचन रहता है जो किसी समय मे कार्य-कारण का सबध बतलाते हैं। परिस्थितियो में किस प्रकार के परिवर्तन होने चाहिए और परिस्थितियो के बदलने के क्या तरीके हैं, इन गभीर प्रश्नो पर उसमें विचार नही किया जा सकता, क्योकि ये सब कार्य विज्ञान के बाहर हैं। मान लें, किसी समय किसी देश मे शराब पीनेवाले व्यक्तियो की सख्या बढ रही है। प्रोफेसर राबिंस की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र मे केवल यही विचार किया जायगा कि शराब पीनेवालो की सख्या बढने से शराब की कीमत, शराब पैदा करनेवालो और स्वय शराबियो पर क्या असर पडेगा। परतु उनके अर्थशास्त्र मे इस प्रश्न पर विचार करने के लिये गुजाइश नही है कि शराब पीना अच्छा है या बुरा और शराब पीने की आदत सरकार द्वारा कैसे बद की जा सकती है। उनके अर्थशास्त्र म मार्गदर्शन का अभाव है। प्रत्येक शास्त्र मे मार्गदर्शन उसका एक महत्वपूर्ण भाग माना जाता है और इसी भाग का प्रोफेसर राबिंस के अर्थशास्त्र की परिभाषा मे अभाव है। इस कमी के कारण अर्थशास्त्र का अध्ययन जनता के लिये लाभकारी नही हो सकता।

समाजवादी चाहते हैं कि पूँजीपतियो और जमीदारो का अस्तित्व न रहने पाए, सरकार मजदूरो की हो और देश की आर्थिक दशा पर सरकार का पूर्ण नियत्रण हो। वे अपनी अर्थशास्त्र सबधी पुस्तको म इन प्रश्नो पर भी विचार करते हैं कि मजदूर सरकार किस प्रकार स्थापित होनी चाहिए। जमीदारो और पूँजीपतियो का अस्तित्व कैसे मिटाया जाय। मजदूर सरकार का सगठन किस प्रकार का हो और उनका सगठन ससारव्यापी किस प्रकार किया जा सकता है। इस प्रकार समाजवादी लेखक अर्थशास्त्र का क्षेत्र इतना व्यापक बना देते हैं कि उसमें राजनीतिशास्त्र की बहुत सी बाते आ जाती हैं। हमको अर्थशास्त्र का क्षेत्र इस प्रकार निर्धारित करना चाहिए जिससे उसमे राजनीतिशास्त्र या अन्य किसी शास्त्र की बातो का समावेश न होने पाए।

अर्थशास्त्र के क्षेत्र के सबध मे प्रोफेसर मार्शल की अर्थशास्त्र की परिभाषा पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। प्रोफेसर मार्शल के मतानुसार अर्थशास्त्र मनुष्य के जीवन सबधी साधारण कार्यो का अध्ययन करता है। वह मनुष्यों के ऐसे व्यक्तिगत और सामाजिक कार्यो की जाँच करता है जिनका घनिष्ठ सबंध उनके कल्याण के निमित्त भौतिक साधन प्राप्त करने और उनका उपयोग करने से रहता है।

प्रोफेसर मार्शल ने मनुष्य के कल्याण को अर्थशास्त्र की परिभाषा मे स्थान देकर अर्थशास्त्र के क्षेत्र को कुछ बढा दिया है। परतु इस अर्थशास्त्री ने भी अर्थशास्त्र के ध्येय के सबध में अपनी पुस्तक मे कुछ विचार नही किया। वर्तमान काल में पाश्चात्य अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र का क्षेत्र तो बढा दिया है, परतु आज भी वे अर्थशास्त्र के ध्येय के सबध मे विचार करना अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अदर स्वीकार नही करते। अब तो अर्थशास्त्र को कला का रूप दिया जा रहा है। ससार मे सर्वत्र आर्थिक योजनाओ की चर्चा है। आर्थिक योजना तैयार करना एक कला है। बिना ध्येय के कोई योजना तैयार ही नही की जा सकती। अर्थशास्त्र का कोई भी सर्वसफल निश्चित ध्येय न होने के कारण इन योजना तयार करनेवालो का भी कोई एक ध्येय नही है। प्रत्येक योजना का एक अलग ही ध्येय मान लिया जाता है। अर्थशास्त्र मे अब देशवासियो की दशा सुधारने के तरीको पर भी विचार किया जाता है, परतु इस दशा सुधारने का अतिम लक्ष्य अभी तक निश्चित नही हो पाया है। सर्वमान्य ध्येय के अभाव मे अर्थशास्त्रियो मे मतभिन्नता इतनी बढ गई है कि किसी विषय पर दो अर्थशास्त्रियो का एक मत कठिनता से हो पाता है। इस मतभिन्नता के कारण अर्थशास्त्र के अध्ययन में एक बडी बाधा उपस्थित हो गई है। इस बाधा को दूर करने के लिये पाश्चात्य अर्थशास्त्रियो को अपने ग्रथो मे अर्थशास्त्र के ध्येय के सबध मे गभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और जहाँ तक सभव हो, अर्थशास्त्र का एक सर्वमान्य ध्येय शीघ्र निश्चित कर लेना चाहिए।

अर्थशास्त्र का ध्येय—ससार मे प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक सुखी होना और दु ख से बचना चाहता है। वह जानता है कि अपनी इच्छा जब तृप्त होती है तब सुख प्राप्त होता है और जब इच्छा की पूर्ति नही होती तब दु ख का अनुभव होता है। धन द्वारा इच्छित वस्तु प्राप्त करने मे सहायता मिलती है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति धन प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह समझता है कि ससार मे धन द्वारा ही सुख की प्राप्ति होती है। अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने के लिये वह अधिक से अधिक धन प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस धन को प्राप्त करने की चिंता में वह प्राय यह विचार नही करता कि धन किस प्रकार से प्राप्त हो रहा है। इसका परिणाम यह होता है कि धन ऐसे साधनो द्वारा भी प्राप्त किया जाता है जिनसे दूसरो का शोषण होता है, दूसरो को दु ख पहुँचता है। इस प्रकार धन प्राप्त करने के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। पूँजीपति अधिक धन प्राप्त करने की चिंता में अपने मजदूरो को उचित मजदूरी नही देता। इससे मजदूरो की दशा बिगडने लगती है। दूकानदार खाद्य पदार्थो मे मिलावट करके अपने ग्राहकों के स्वास्थ्य को नष्ट करता है। चोरबाजारी द्वारा अनेक सरल व्यक्ति ठगे जाते हैं, महाजन कर्जदारो से अत्यधिक सूद लेकर और जमीदार किसानो से अत्यधिक लगान लेकर असख्य व्यक्तियो के परिवारो को बरबाद कर देते हैं। प्रकृति का यह अटल नियम है कि जो जैसा बोता है उसको वैसा ही काटना पडता है। दूसरो का शोषण कर या दु ख पहुँचाकर धन प्राप्त करनेवाले इस नियम को शायद भूल जाते हैं। जो धन दूसरो को दु ख पहुँचाकर प्राप्त होता है उससे अत मे दु ख ही मिलता है। उससे सुख की आशा करना व्यर्थ है। यह सत्य है कि दूसरो को दु ख पहुँचाकर जो धन प्राप्त किया जाता है उससे इच्छित वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं और इन वस्तुओ को प्राप्त करने से सुख मिल सकता है। परतु यह सुख अस्थायी है और अत में दु ख का कारण हो जाता है। ससार में ऐसी कई वस्तुएँ हैं जिनका उपयोग करने से तत्काल तो सुख मिलता है, परतु दीर्घकाल मे उनसे दु ख की प्राप्ति होती है। उदाहरणार्थ मादक वस्तुओ के सेवन से तत्काल तो सुख मिलता है, परतु जब उनकी आदत पड जाती है तब उनका सेवन अत्यधिक मात्रा मे होने लगता है, जिसका स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पडता है। इससे अत में दु खी होना पडता है। दूसरो को हानि पहुँचाकर जो धन प्राप्त होता है वह निश्चित रूप से बुरी आदतो को बढाता है और कुछ समय तक अस्थायी सुख देकर वह दु ख बढाने का साधन बन जाता है। दूसरो को दु ख देकर प्राप्त किया हुआ धन कभी भी स्थायी सुख और शांति का साधक नही हो सकता।

सुख दो प्रकार के है। कुछ सुख तो ऐसे है जो दूसरो को दु ख पहुँचाकर प्राप्त होते है। इनके उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं। कुछ सुख ऐसे ह जो दूसरो को सुखी बनाकर प्राप्त होते हैं। ये मनुष्य के मन मे शांति ...

इसके पश्चात् तृतीयक कल्प (टर्शियरी एरा) के आरभ मे विकुचन (वार्पिग) द्वारा इस पर्वत ने वर्तमान रूप धारण किया और इसमें अपक्षरण द्वारा अनेक समातर विच्छिन्न शृखलाएँ भी बन गई। इन शृखलाओ की ढाल तीव्र है और इनके शिखर समतल है। यहाँ पाई जानेवाली शिलाओ मे स्लेट, शिस्ट, नाइस, सगमरमर, क्वार्टजाइट, शेल और ग्रैनाइट मुख्य है। [रा० ना० मा०]

अरिकेसरी मारवर्मन्

मदुरा के पाड्यो की शक्ति प्रतिष्ठित करनेवाले प्रारभिक राजाओ मे प्रधान। लगभग ७वी सदी ई० के मध्य हुआ। उसकी ख्याति पाड्य अनुश्रुतियो में पर्याप्त है और उनका नेडुमरन् अथवा कुन पाड्य सभवत वही है। पहले वह जैन था पर बाद में सत तिरुज्ञानसवदर के उपदेश से परम शैव हो गया। उसके शासनकाल में पाड्यो का पर्याप्त उत्कर्ष हुआ। [ओ० ना० उ०]

अरित्रपाद

(कोपेपोडा) कठिनि (क्रस्टेशिआ) वर्ग का एक अनुवर्ग (सबक्लास) है। इस अनुवर्ग के सदस्य जल मे रहनेवाले तथा कवच से ढके प्राणी हैं। अरित्रपाद का अर्थ है अरित्र (नाव खेने के डाँडे) के सदृश पैरवाले जीव। "कोपेपॉड" का भी ठीक यही अर्थ है। इस अनुवर्ग मे कई जातियाँ हैं। अधिकाश इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे केवल सूक्ष्मदर्शी से देखे जा सकते हैं। खारे और मीठे दोनो प्रकार के पानी मे ये मिलते हैं। ससार के सागरो मे कही भी महीन जाल डालकर खीचने से इस अनुवर्ग के प्राणी अवश्य मिलते हैं। अमरीका के एक बदरगाह के पास १ गज के जाल को १५ मिनट तक घसीटने पर लगभग २५,००,००० जीव अरित्रपाद अनुवश के मिले। मछलियो के आहार मे ये मुख्य अवयव हैं। अधिकाश अरित्रपाद स्वच्छद विचरते रहते हैं और अपने से छोटे प्राणी और कण खाकर जीवित रहते हैं, परतु कुछ जाति के अरित्रपाद मछलियो के शरीर में चिपके रहते हैं और उनका रुधिर चूसते रहते हैं। स्वतत्र रूप से मीठे या खारे पानी मे तैरती हुई पाई जानेवाली जातियो के अच्छे उदाहरण मध्याक्ष (साइक्लॉप्स—सिर के बीच में आँखवाले) तथा कैलानस हैं। पत्रनाडी का शरीर खडदार होता है, शीर्ष और वक्ष एक मे (जिसे शीर्पोरस,सेफालोथोरैक्स, कहते है), उदर (ऐब्डोमेन) प्राय पृथक् तथा आकार एक लबी, पतली, बीच में सँकरी, विलायती नाशपाती की तरह होता है। शीर्पोरस का ऊपरी आवरण उत्कवच (कैरापेस) कहलाता है। इसके अगले सिर के पृष्ठ पर बीच मे एक चक्षु होता है जो मध्यचक्षु (मीडिअन आइ) कहलाता है। अतिम उदर-तनूखडक (ऐब्डॉमिनल सोमाइट=उदर के लबे खड) से दो धूआयुक्त पुच्छ-कटिका (प्लूम्ड कॉडल स्टाइल्स) जुडी रहती हैं। स्पर्शसूत्रक (ऐटेन्यूल्स) बहुत लबे, एकशाखी (युनिरैमस) तथा सवेदक होते हैं और प्रचलन के काम आते हैं। तीन या चार औरस द्विशाखी पैर भी होते हैं, जो पानी में तेज चलने के काम आते हैं।

(स्त्री) मध्याक्ष (पृष्ठ दृश्य)

१ सयुत तनूखडक (कपाउड सोमाइट), २ मध्यचक्षु, ३ स्पर्शसूत्रक, ४ स्पर्शसूत्र, ५ अडाशय, ६ गर्भाशय, ७ अड प्रणाली, ८ शुक्रधान, ९ अडस्यून, १०. उच्छाखा (रैमस)।
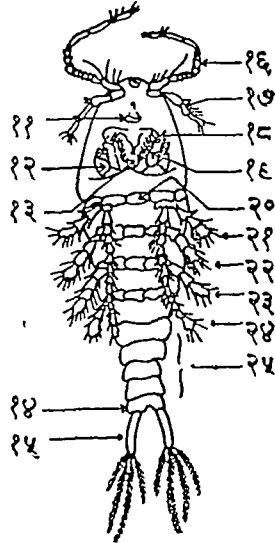
नर मध्याक्ष (अधर दृश्य)

११. उदोष्ठ (लैब्रम), १२ उपजभ (मैक्सिला), १३ हनुपाद (मैक्सिलिपीड), १४ पुच्छखड (टेलसन), १५ पुच्छ द्विशाख की उच्छाखाएँ, १६ स्पर्शसूत्रक, १७ स्पर्शसूत्र, १८. जभ, १९ उपजभक, २०. सेतुक (कॉपुला), २१, २२, २३ और २४ औरसपाद, २५ उदर

इस अनुवर्ग के सदस्य खाद्य वस्तुओ को, जो पानी में मिलती हैं, अपने मुख की ओर स्पर्शसूत्र (ऐटेनी) तथा जभो (मैडिबल्स, जबडो) से परिचालित करके और उपजभ (मैक्सिली) से छानकर मुख मे लेते हैं।

मादा मध्याक्षो (साइक्लॉप्स) में शुक्रधान (स्पर्माथीका=शुक्र रखने की थैली) छठे औरस खड (थोरैसिक सेग्मेंट) मे होता है। दोनो तरफ की अडप्रणाली अडस्यून (एग सैक) मे खुलती है और शुक्रधान से भी सबधित रहती है। नर शुक्रभर (स्पर्माटोफोर) मादा के शरीर में प्रवेश करता है और निषेचन के बाद मादा निषिक्त अडकोश, जबतक बच्चे अडे के बाहर नही निकलते, अडस्यून मे ही लिए फिरती है। बच्चे अडे से निकलने पर न्युपाग (नाप्लिअस) कहलाते हैं। धीरे धीरे और अधिक तनूखडक तथा अपाग बनते हैं और इस तरह पाँच लगातार पदो में न्युपाग प्रौढ अवस्था (मध्याक्ष) को प्राप्त होता है।
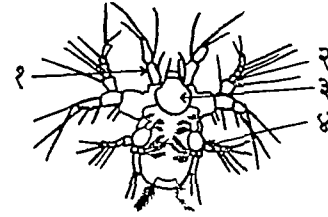
मध्याक्ष का (बच्चा) न्युपाग (अधर दृश्य)

१ स्पर्शसूत्र, २ स्पर्शसूत्रक, ३ उदोष्ठ (लैब्रम), ४. जभ (मैडिबल)।

परजीवी अरित्रपाद—इसमें नर अधिकाश मे मादा से बहुत छोटे होते हैं। वे या तो स्वतत्र रूप से रहते हैं या मादा से चिपटे रहते हैं। उनके शरीर का आकार और रचना मादा के शरीर की रचना से उच्च स्तर की होती है। जीवनचक्र बहुत ही जटिल एव मनोरजक होता है। मुख्य परजीवी अरित्रपाद निम्नलिखित हैं

(१) अकुशसूत्र (अर्गासिलस)—यह पर्च मछली (मॉरोना लैब्राक्स) के गलफडो से चिपका रहता है। इसके उपाग बहुत छोटे होते हैं। स्पर्शसूत्र पोषिता (होस्ट) को पकडने के लिये अकुश (हुक) या काँटो में परिणत हो जाते हैं।
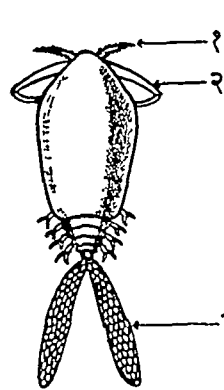
अकुशसूत्र (अर्गासिलस)
१ स्पर्शसूत्रक, २ स्पर्शसूत्र, ३ अडस्यून

विरूपा (निकोथी)
४ अडस्यून

कृमिकाय
५ अडस्यून

पालिकाय (ऐंथोसोमा)

इस विषय के जितने ग्रंथ अभी तक उपलब्ध हैं उनमें से वास्तविक जीवन का चित्रण करने के कारण यह सबसे अधिक मूल्यवान् है।" इस शास्त्र के प्रकाश में न केवल धर्म, अर्थ और काम का प्रणयन और पालन होता है, अपितु अधर्म, अनर्थ तथा अवाछनीय का शमन भी होता है (अर्थशास्त्र, १५.४३१)।

इस ग्रंथ की महत्ता को देखते हुए कई विद्वानो ने इसके पाठ, भाषांतर, व्याख्या और विवेचन पर बडे परिश्रम के साथ बहुमूल्य कार्य किया है। शाम शास्त्री और गणपति शास्त्री का उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त यूरोपीय विद्वानो में हर्मान जाकोवी (ऑन दि अथॉरिटी ऑव कौटिलीय–इ०ऐ० १९१८),ए० हिलेब्राड्ट, डॉ० जॉली, प्रो०ए०बी० कीथ (ज० रा० ए० सो०) आदि के नाम आदर के साथ लिए जा सकते हैं। अन्य भारतीय विद्वानों में डा० नरेंद्रनाथ ला (स्टडीज इन ऐंशेंट हिंदू पॉलिटी, १९१४), श्री प्रमथनाथ बनर्जी (पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन ऐंशेंट इंडिया), डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल (हिंदू पॉलिटी), प्रो० विनयकुमार सरकार, (दि पाजिटिव बैकग्राउंड ऑव् हिंदू सोशियोलॉजी), प्रो० नारायण चंद्र वद्योपाध्याय, डा० प्राणनाथ विद्यालकार आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

सं० ग्र०—वेवर हिस्ट्री ऑव इंडियन लिटरेचर (ट्रबनर), पृ० २१०, आर०शाम शास्त्री कौटिल्य अर्थशास्त्र (अंग्रेजी भाषांतर) चतुर्थ संस्करण, मैसूर, १९२९, डॉ०जॉली अर्थशास्त्र ऐंड धर्मशास्त्र (जड०डी०एम०जी०, १९१३, पृ० ४९–९६)। [रा० ब० पा०]

अर्थापत्ति

मीमांसा दर्शन में अर्थापत्ति एक प्रमाण माना गया है। यदि कोई व्यक्ति जीवित है किंतु घर में नहीं है तो अर्थापत्ति के द्वारा ही यह ज्ञात होता है कि वह बाहर है। प्रभाकर के अनुसार अर्थापत्ति से तभी ज्ञान संभव है जब घर में अनुपस्थित व्यक्ति के संबंध में सदेह हो। कुमारिल के मत में उस व्यक्ति के जीवन के बारे में निश्चय तथा घर में अनुपस्थिति दोनो को मिलाकर ही उस व्यक्ति के बाहर होने का ज्ञान होता है। न्यायशास्त्र के अनुसार अर्थापत्ति अनुमान के अंतर्गत है। विशेष विवरण के लिये दे० 'प्रमाण'। [रा० पा०]

अर्दशिर

अर्दशिर, अर्तशिर एवं अर्तक्षथ्र आदि नामो से भी विहित, अभिलेखो में अपने को अर्त्तजरसीज (२२६-२४१ ई०) के नाम से पुकारता है। वह पापक (बाबेक) का द्वितीय पुत्र था जो ससन का लडका था और जिसने अंतिम पार्थ व सम्राट् अर्दवन् को हराया और नवागत पारसी अथवा ससानी साम्राज्य की स्थापना की। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में मीड लोग अथवा पश्चिमी पारसी, जिनका उल्लेख ११०० ई० पू० तक के असीरियन अभिलेखो में हुआ है, अखमीनियनो के दक्षिणी पारसीक राजवंश द्वारा परास्त हुए। अखमीनियनो को सिकदर तथा उसके यूनानी सैनिको ने चौथी सदी ई० पू० में हराया। यूनानी सत्ता को विस्थापित करनेवाले पार्थियन थे जो तीसरी शती ई० में ससानियनों की बढती हुई शक्ति के आगे नतमस्तक हुए। अर्दशिर, जो अहुरमज्द का परम भक्त था, माजी सप्रदाय के सतो के प्रभाव में आया और उसने रोम एवं आर्मीनिया के साथ सफलतापूर्वक युद्ध कर पुरातन जरथुस्त्र मत की प्रतिष्ठा की और न केवल उसे राजधर्म घोषित किया बल्कि उसके अभ्युदय के लिये अथक चेष्टाएँ की। ईरान के विभिन्न राज्यो को एक सुगठित केंद्रीय राजसत्ता के अंतर्गत ले आकर उसने शासन की व्यवस्था चलाई जिसका आधार जरथुस्त्र के सिद्धांत थे। उसने अपने प्रधान पुरोहित को धार्मिक ग्रंथो के सकलन का आदेश दिया। इन ग्रंथो की खोज उसके अनुवर्ती शासक शापुर प्रथम के राज्यकाल में चलती ही रही, सकलन का कार्य शापुर द्वितीय (३०९-३७९ ई०) के राज्यकाल में जाकर समाप्त हुआ। धार्मिक सगठन और राज्य की एकता के सिद्धांत में पूर्ण विश्वास रखनेवाला सम्राट् अपने पुत्र शापुर प्रथम को दी गई अपनी अनुज्ञा (टेस्टामेंट) में कहता है—"धर्म और राज्य दोनो सगी बहनों के समान हैं जो एक दूसरी के बिना नहीं रह सकतीं। धर्म राज्य की शिला है और राज्य धर्म का रक्षक।" [र० स०]

अर्धनारीश्वर

शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूप का सृष्टिप्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान है। इस प्रतीकात्मक स्वरूप की व्यंजना स्पष्ट है। इसका मूल वैदिक भाव यह था कि यह जो द्यावा पृथिवी लोकों की मध्यवर्ती सृष्टि है वह माता पिता, योषा-वृषा-प्राण है, अग्नि सोम, पुरुष स्त्री, पति पत्नी के द्वंद्व से ही उत्पन्न होती है। प्रजापति आरंभ में एक था। उसके मन में सृष्टि की इच्छा हुई तब उसने अपने शरीर के दो खड करके आधे में पुरुष और आधे में स्त्रीभाव का निर्माण किया

> द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् ।
> अर्धेन नारी तस्या स विराजमसृजत्प्रभु ॥

सृष्टि के लिये पुरुषतत्व और स्त्रीतत्व दोनो के मैथुनधर्म की आवश्यकता है। वृक्ष वनस्पति के प्रत्येक पुष्प में एव कीट, पतंग, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि में जहाँ तक प्राणसमन्वित भूतसृष्टि का विस्तार है वहाँ तक पिता द्वारा माता के गर्भधारण से प्रजा की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के इस आदिभूत मातृतत्व और पितृतत्व को ही पुराणों की प्रतीक भाषा में पार्वती परमेश्वर कहा जाता है। ये ही शिव पार्वती हैं। वैदिक साहित्य के अनुसार शिव पार्वती ही रुद्र और अंबिका हैं—अग्निर्वै रुद्र (शतपथ ५।३।१।१०), एष रुद्र यदग्नि (तैत्तिरीय १।१।५।८-९)। जहाँ अग्नि है उसी का अंगभूत सोम है। सोम अग्नि का, उसके अधीन रहनेवाला, सखा है (अग्निर्जागार्ततमय सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योका, ऋग्वेद ५।४४।१५)। अग्नि अन्नाद कहलाता है और सोम उसका अन्नरूप में सभरण करता है। अग्नि और सोम ही विश्व के मूलभूत माता पिता हैं। वेद की कल्पना है कि प्रत्येक केंद्र में जहाँ जहाँ अग्नि है, वहीं वहीं आधा भाग सोम का भी है। पुरुष में अग्नितत्व प्रधान और स्त्री में सोम प्रधान होता है, किंतु जो स्त्री है उसके अभ्यंतर में अर्धभाग पुरुष का विद्यमान रहता है। इसी के लिये ऋग्वेद में कहा है, स्त्रियः सतीस्ता उ मे पुंस आहु (ऋग्वेद १।१६४।१६)। स्त्री का शोणित आग्नेय और पुरुष का शुक्र सौम्य भाव से युक्त रहता है। शुक्र और शोणित ही विज्ञान की भाषा में वृषा और योषा या नर और मादा कहे जाते हैं।

पुरुष द्वारा नारी में जो बीजवपन होता है उस आहित गर्भ को सृष्टि की वैज्ञानिक भाषा में विराज कहा जाता है। उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक प्रजा विराट् का ही रूप है। अग्नि में सोम का समन्वय पारस्परिक अंतर्याम संबंध से निष्पन्न होता है। अर्थात् अग्नि लक्षणांतर सोम लक्षण नारी को गर्भित करता है। नारी उस अग्निकण को अपने गर्भ में लेकर अपनी मात्रा से उसका संवर्धन करती है और उसी से वह बीज विराट्भाव प्राप्त करता है। उसी की सज्ञा प्रजा होती है। जो बीज की शक्ति के अनुसार मात्रा का आधान करती है वही माता है। पिता और माता शिव और शक्ति के ही रूप हैं। शक्ति के बिना शिव का स्वरूप घोर होता है और शक्ति के साथ वही शिव कहा जाता है। अर्थात् जिस अग्नि को सोमरूपी अन्न प्राप्त नहीं होता वह जिस वस्तु में रहती है उसी को भस्म कर डालती है। अग्नि में सोम की आहुति ही याग है। यज्ञ का स्वस्तिभाव शिव और शक्ति या अग्नि और सोम के समन्वय पर ही निर्भर है। यह समन्वित रूप ही शिव का अर्धनारीश्वर स्वरूप है। इस प्राचीन वैदिक भाव को पुराणों में अर्धनारीश्वर शिव के प्रतीक द्वारा प्रकट किया गया। कथा है कि ब्रह्मा ने सृष्टि करनी चाही। केवल पुरुषभाव से उन्हें सफलता नहीं मिली। तब उन्होंने शिव की आराधना की। शिव ने उन्हें अर्धनारीश्वर रूप में दर्शन दिया और तब ब्रह्मा को सृष्टिविधान की ठीक युक्ति ज्ञात हुई। अर्थात् स्त्री और पुरुष का समन्वय ही सृष्टि की सच्ची विधि है।

भारतीय कला में शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूप की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। एलोरा के कैलासमंदिर में अर्धनारीश्वर शिव की प्रभावशाली मूर्ति है। किंतु इन सबमें प्राचीनतम मूर्ति मथुरा की कुषाणकालीन कला में प्रथम शती ई० के लगभग निर्मित हुई। इस मूर्ति का आधा भाग पुरुष जैसा है और वामार्ध भाग स्त्री के व्यंजनों से युक्त है।

सं०ग्र०—गोपीनाथ राव भारतीय मूर्तिशास्त्र, मद्रास, १९१४-१५ भाग २, पृ० ३२१-३२, अंशुमद्भेदागम, ६९ पटल, उत्तर कामिकागम ९० पटल, शिल्परत्न, २२ पटल। [वा० श० अ०

रचना लगभग ४२४ ई० पू० में हुई और इसमें कवि ने क्लिओन तथा उस समय के जनतंत्र पर कटु आक्रमण किया। इसपर लेखक को प्रथम पुरस्कार और क्लिओन् का कोप प्राप्त हुआ। नैफैलाइ (मेघ) का समय ई० पू० ४२३ है। इसमें सुकरात की हँसी उडाई गई है। इसपर कवि को तृतीय पुरस्कार मिला था। स्फेकैस् (वर्रे) लगभग ई० पू० ४२२, में दो पीढियों के विचारभेद और न्यायालयो को परिहास का विषय बनाया गया है। एक दृश्य में दो कुत्तो को जूरी महोदय के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। आईरीना (शांति) ई० पू० ४२१ मे प्रस्तुत किया गया था। इसमे युद्ध से व्यथित एक कृषक गुबरैले पर सवार होकर शांति की खोज मे ओलिंपस् की यात्रा करता हैं। इसपर कवि को द्वितीय पुरस्कार प्राप्त हुआ। ओर्नीथैस् (चिडियाँ) का अभिनय ई० पू० ४१४ में हुआ था। इसमें दो महत्वाकांक्षी व्यक्ति चिडियो द्वारा अपने लिये आकाश मे एक साम्राज्य-स्थापन का प्रयत्न करते हैं। इस सुंदर कल्पना पर कवि को द्वितीय पुरस्कार मिला था। लीसिस्त्राता का समय ई० पू० ४११ है। पैलोपोनीशियन युद्ध कुछ समय के लिये रुककर पुन भडक उठा था। अरिस्तोफानिज़ इस युद्ध का विरोधी था। इस नाटक में स्त्रियो के द्वारा अपने पतियो को रत्यधिकार से वंचित करके शांति प्राप्त करने का वर्णन किया गया हे। इसमें कवि के राजनीतिक विचारो की झलक मिलती है। थैस्मोफोरियाजूसाई ई० पू० ४११ मे प्रस्तुत किया गया था। इसमें महाकवि यूरीपीदिज को प्रहसन का लक्ष्य बनाया गया है। बात्रकोई (माडूक) ई० पू० ४०५ में प्रस्तुत किया गया था। यह प्रहसन के रूप मे इस्किलस् और यूरीपीदिज की आलोचना हे और अरिस्तोफानिज़ की श्रेष्ठ रचना है। इसपर प्रथम पुरस्कार मिलना ही था। ऐक्लेसियाजूसाइ (ई० पू० ३९१) संभवतया अतिस्थैनेस् अथवा अफलातून के साम्यवाद (विशेषकर स्त्रीपुरुषो की समानता के पोषक साम्यवाद) की आलोचना है। अपेक्षाकृत यह एक शिथिल प्रहसन है। अंतिम उपलब्ध रचना प्लूतस् का समय ई० पू० ३८८ है। इसमे परंपरा के प्रतिकूल धन के देवता को नेत्रवान् बनाया गया हे जो सब सज्जनो को धनवान् बना देता है।

अरिस्तोफानिज़ का प्रहसन किसी को नही छोडता। उसकी भाषा नितांत उच्छृंखल है। नग्न अश्लीलता की भी उसकी रचनाओ में कमी नही है। पर गीतों में कोमलता और माधुर्य भी पर्याप्त है। जिस प्रकार के प्रहसन उसने लिखे हैं उसके पूर्व और पश्चात् दूसरा कोई वैसे प्रहसन नही लिख सका।

सं० ग्रं०—ओट्स ऐंड नील दि कप्लीट ग्रीक ड्रामा २ जिल्द, रैंडम हाउस, न्यूयॉर्क, १९३८, मरे ए हिस्ट्री ऑव एन्शेंट ग्रीक लिटरेचर १९३७, नोर्वुड-राइटर्स ऑव ग्रीस, १९३५, बाउरा एन्शेट् ग्रीक लिटरेचर, १९४५। [भो० ना० श०]

अरिस्तोफ़ानिज़ (बीजातियम् का) ई० पू० १९५ के आसपास सिकंदरिया के सुविख्यात पुस्तकालय का प्रधान अध्यक्ष। इस प्रकांड विद्वान् ने प्राय सभी प्रमुख ग्रीक कवियो, नाटककारो और दार्शनिको के ग्रंथो का संपादन किया था। कोशकार एवं वैयाकरण के रूप मे भी इसकी विशेष ख्याति है। कुछ लोगो के मत मे इसने गीक भाषा के स्वरो (ऐक्सेंट्स) का आविष्कार किया था पर अन्य लोगो के मत मे यह केवल उनका सुव्यवस्थापक था। प्राणिशास्त्र पर भी इसने एक पुस्तक लिखी थी। इसका जीवनकाल ई० पू० २५७ से १८० तक माना जाता हे।

सं०ग्रं०—जे० ई०सैंडीज ए हिस्ट्री ऑव क्लासिकल स्कॉलरशिप, ३ जिल्द, १९०८। [भो०ना०श०]

अरीठा यह वृक्ष लगभग सारे भारतवर्ष मे पाया जाता है। इसके पत्ते गूलर के पत्तो से बडे, छाल भूरी तथा फल गुच्छो में होते हैं। इसकी दो जातियाँ हैं। प्रथम जाति के वृक्ष के फलो को पानी मे भिगोने और मथने से फेन उत्पन्न होता है और इससे सूती, ऊनी तथा रेशमी सब प्रकार के कपडे तथा बाल धोए जा सकते हैं। आयुर्वेद के मत से यह फल त्रिदोषनाशक, गरम, भारी, गर्भपातक, वमनकारक, गर्भाशय को निश्चेष्ट करनेवाला तथा अनेक विषो का प्रभाव नष्ट करनेवाला है। संभवत वमनकारक होने के कारण ही यह विषनाशक भी है। वमन के लिये इसकी मात्रा २ से ४ माशे तक बताई जाती है। फल के चूर्ण के गाढे घोल की बूँदो को नाक मे डालने से अधकपारी, मिर्गी और वातोन्माद में लाभ होना बताया गया हे।

दूसरे प्रकार के वृक्ष से प्राप्त बीजो से तेल निकाला जाता हे, जो ओषधि के काम आता है। इस वृक्ष से गोंद भी मिलता है। [भ० दा० व०]

अरुंधती सप्तर्षिमंडल के साथ वसिष्ठपत्नी अरुधती का नाम सलग्न है। यह छोटा सा नक्षत्र जिसे पाश्चात्य ज्योतिर्विद 'मॉर्निंग स्टार' अथवा 'नॉर्दर्न क्राउन' कहते है, पातिव्रत का प्रतीक माना जाता है। विल्सन प्रभृति पाश्चात्य कोशकारो की यह धारणा कि अरुधती शायद सप्तर्षियो की पत्नी थी सभी, भ्रामक है। [च० म०]

अरुण पूर्वाकाश की प्रातःकालीन ललाई अथवा बालसूर्य। विशेषत सूर्य का सारथि अरुण जो अथक रूप से सूर्य के रथ का सचालन करता है। पुराणो के अनुसार अरुण के कटिभाग के नीचे का शरीर नही था, जिससे वह सूर्य की मूर्तियो मे सदा कटिभाग तक ही उत्कीर्ण होता है। उसकी सूर्यमदिरो मे अथवा विष्णुमदिरो की चौखट पर घोडो की रास पकडे रथ का सचालन करती हुई मूर्ति मध्यकालीन कला मे बहुधा कोरी गई थी। [ओ० ना० उ०]

अरुप्पुकोट्टै मद्रास राज्य मे रामनाथपुरम् (रामनद) जिले के इसी नाम के तालुके का प्रमुख नगर हे (स्थिति ९° ३१' उ० अक्षाश, ७८° ६' पूर्वी देशांतर)। यह जिले के प्रमुख, उन्नतिशील, व्यावसायिक एवं व्यापारिक केंद्रो में से एक है। यहाँ के निवासियो में सेदान नामक जाति के जुलाहे एवं शानान नामक व्यापारिक लोग प्रमुख हैं। सूती कपडा बुनने एवं रँगने का धधा यहाँ प्रमुख है, जिसका तैयार माल कोलबो, सिंगापुर एव पेनाग को निर्यात होता है। १९०१ ई० मे इसकी जनसख्या २३,६३३ थी, जो सन् १८८१ की जनसख्या की तुलना मे दूनी थी। पिछले दशक में जनसख्या ३५,००१ से बढकर ४८,५५४ हो गई। इस नगर को, निकटतम रेलवे स्टेशन विरुद्रनगर से १३ मील दूर होने के कारण, यातायात की कठिनाई थी, लेकिन अब पक्की सडको द्वारा चतुर्दिक् सबध स्थापित हो गया है। [का० ना० सिं०]

अरोड़ा एक जाति का नाम जो अपने को अरोडे या अरोडवशी भी कहते हैं। इस जाति मे प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार इसका मूलस्थान उत्तरी सिंध के अरोड नामक स्थान में था। उसका प्राचीन नाम अरुटकोट भी कहा जाता हे। अरोड को जब ७१२ ई० मे मुहम्मद बिन कासिम ने लूटा और राजा दाहर को, जो अरोडवशी थे, नष्ट कर दिया तो अरोड जाति सिंध को छोडकर पजाब की ओर फैल गई और अधिकाश लोग पजाब के सिंध, झेलम, चनाब और रावी तट के शहरो में बस गए। तब से ये अपने तीन भेद मानते है। जो उत्तर की ओर आए वे उतराधी, जो दक्षिण दिशा की ओर गए वे दक्खिने और जो पश्चिम दिशा मे ही बसे वे दाहरे कहलाने लगे। इनमे से प्रत्येक उपजाति मे एक जैसे अल्ल या अवटक पाए जाते हैं। इन दिशावाची भेदो के अतिरिक्त स्थानिक भेद भी उत्पन्न हो गए जैसे लाहौरी, मुलतानी, पोठोहारी, जोधपुरी, नागौरी, राजपूतानी आदि। कहा जाता है कि १००० ई० के ल० पजाब पर भी मुसलमानी अधिकार हो जाने के बाद ये फिर उजडकर कई दिशाओ मे चले गए और फलस्वरूप कच्छी, गुजराती, काठी, लोहाने आदि भेद अरोडो में उत्पन्न हो गए। ये अपना गोत्र काश्यप या कश्यप मानते हैं।

अरोडो मे अनेक प्रकार के 'अल्ल' या जातीय उपनाम प्रचलित हैं जो पारिवारिक नाम, पैतृक नाम अथवा व्यापार, पेशो और पदो के अनुसार उत्पन्न हुए। अहूजे, मनूचे, कालडे, चोपे, बलूजे, बत्तरे, बवेजे आदि कुछ अल्लो के नाम हैं। इस प्रकार के लगभग ८०० अल्लो की सूची इनके इतिहास में सगृहीत है। ऐतिहासिक दृष्टि से इनमें से बहुत से नाम पजाब की प्राचीन जातियो और उपजातियो से आए हैं जिन्हें प्राचीन काल में क्षत्रिय श्रेणि कहते थे। ये एक प्रकार के छोटे छोटे स्वायत्त सघ राज्य थे, जिनमें से अनेक

मृदु अर्बुद - वसा (चरबी) की कोशिकाओ की वृद्धि से बने अर्बुद को लिपोमा कहते है। इन कोशिकाओ और स्वस्थ शरीर की वसा-कोशिकाओ मे कोई भी अतर सूक्ष्मदर्शी मे नही दिखाई पडता। अर्बुद की वसा एक पतली पारदर्शी झिल्ली के भीतर रहती है। ये अर्बुद साधारणत वही बनते है जहाँ स्वस्थ शरीर मे वसा रहती है। अधिकतर वे त्वचा के नीचे बनते है और मटर से लेकर फुटवाल तक के बराबर हो सकते है।

रक्तवाहिनियो और लसीकावाहिनियो के अर्बुद साधारणत मृदु होते है, परतु कभी कभी वाहिनी के फट जाने से इतना रक्तस्राव हो सकता है कि रोगी मर जाय।

नरम हड्डियो (उपास्थि, कार्टिलेज) के अर्बुद कभी कभी नारियल के बराबर तक हो सकते है। हड्डियो के अर्बुद या तो भीतरी गूदे के बढने से या बाहरी कडी खोल के बढने से उत्पन्न होते है। स्त्रियो मे गर्भाशय का
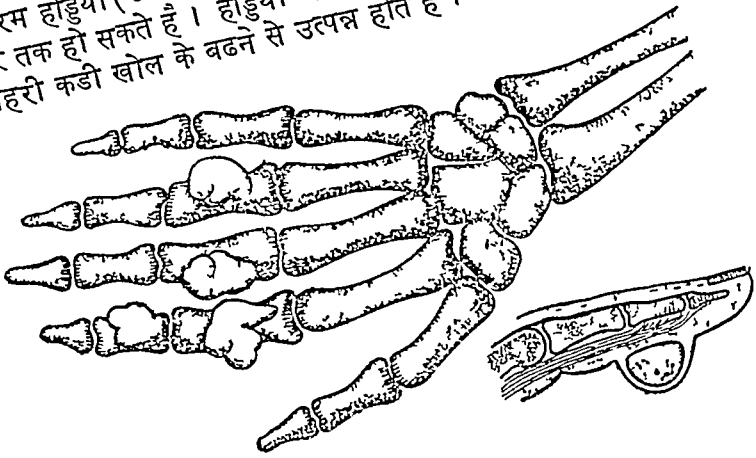
अर्बुद

ऊपर के चित्र मे हाथ की हड्डी मे उत्पन्न अर्बुद तथा नीचे के चित्र मे अँगुली का मृदु अर्बुद दिखाया गया है।

अर्बुद बहुत बडे आकार तक पहुँच सकता है और इसमे मृदु से घातक मे बदलने की प्रवृत्ति रहती है। बहुधा समूचे गर्भाशय को ही निकालने पर रोग से छुटकारा मिलता है। अँगुलियो मे बहुत छोटा अर्बुद हो सकता है, जो छूने से बहुत दुखता है। जल भरी पुटिका (सिस्ट) भी किसी अँगुली मे निकल सकती है। दाँत की कोशिकाएँ कभी कभी जन्म के समय जबडे के किसी असाधारण स्थान मे पड जाती है और उनके बढने से भी अर्बुद हो सकता है। तब जबडे मे शोथ और बडी पीडा होती है। स्तन का नरम अर्बुद फुटवाल के बराबर तक हो जाता है। वहाँ का कडा अर्बुद नारगी से बडा नही होता।

घातक अर्बुद—जिस प्रकार मृदु तथा घातक अर्बुद की कोशरचना मे पृथक्ता होती है, प्राय उसी प्रकार इन कोशो के जीवनक्रम मे भी पृथक् गुण मिलते है। प्राय मृदु अर्बुदकोश मे उद्गमकोश की भाँति क्रिया करने की प्रवृत्ति का अधिक अश पाया जाता है। उदाहरणत, चुल्लिकाग्रथि के अर्बुद रोग मे इन कोशो द्वारा चुल्लिका रस का कुछ अश बनता है तथा यकृत-अर्बुद मे पित्त बनाने की क्रिया का कुछ अश मिलता है। इसके विपरीत, घातक अर्बुद या कर्कट मे कोशरचना की विभिन्नता के साथ ही क्रिया मे भी विभिन्नता होती है, जिससे कोश का पूर्व जीवन-क्रम नही अथवा अल्प मात्रा मे रह जाता है।

घातक वर्ग के कोश मे उद्गम या मूल कोष की रचना की तुलना में अनेक रचनात्मक विभिन्नताएँ मिलती है, जैसे केद्रक का आकार, नाप, विशेष रासायनिक रगो का आकर्षण, कोश के रासायनिक तथा भौतिक गुणो मे उद्गमकोश से भिन्नता, प्रसर, पित्र्यसूत्र तथा प्ररज्यतर्कु की विभिन्नता, सूत्रिभाजन मे विचित्रता, असूत्रिभाजन, कोशविभाजन तथा विभेदन मे असनियमित गुण आदि विशेषताएँ प्रकट होती है, जिनसे उनके घातक वर्ग की पहचान हो जाती है (**कर्कट** शीर्षक लेख देखिए)।

अघातक अर्बुद मे अर्बुदकोश केवल उद्गम-ऊति के उसी अग मे सीमित रहते है जहाँ उनकी उत्पत्ति होती है तथा इनमे अतस्सचरण शक्ति नही होती। घातक अर्बुद की मुख्य विशेषताओ मे वृद्धि की द्रुतगति, अरूपिकता (विपर्ययण, ऐनाप्लेजिआ), अतस्सचरण शक्ति (विप्रवेशन, इन्फिल्ट्रेशन), दूर के अगो मे शिराओ तथा लसिकातत्रो द्वारा विस्तारित होने की शक्ति (स्थानातरण, मेटास्टैसिस), शल्यक्रिया से काटकर निकालने के बाद स्थानीय पुनरुत्पत्ति (प्रत्यावर्तन, रिकरेंस), व्रण, असतुलित, असनियमित कोशिकाभाजन तथा वृद्धि मुख्य है।

उत्पत्ति—अर्बुद की उत्पत्ति के कारण के विषय मे कई मत है। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। आयु, योनि, जाति, अग, सामाजिक रीति रस्म, जल वायु तथा भौगोलिक परिस्थितियाँ, आनुवशिकता, चोट, व्यावसायिक विशेषता, कतिपय रासायनिक वस्तुएँ, परजीवी, सक्रमण, वाइरस, हारमोनअसतुलन इत्यादि का अर्बुद-उत्पत्ति से सबध है (**कर्कट** शीर्षक लेख देखिए)। घातक अर्बुद के कोश पडोसी अगो मे अतस्सचरण गुण से प्रवेश कर जाते है तथा दूर दूर के अनेक अगो मे शिराओ तथा लसिकातत्रो से विस्तारित होकर वहाँ भी विकसित होने लगते है, जिसके कारण रोग के आरभ मे तो लक्षण उद्गम अग तक ही सीमित रहते है, परतु शीघ्र ही शरीर के जिन जिन अगो मे उनका अतस्सचरण तथा विस्तरण हुआ है उन सभी अगो की प्राकृतिक क्रियाओ की रुकावट द्वारा उत्पन्न रोग के लक्षण मिलेगे तथा नित्य बढते जायँगे। साथ ही दुर्बलता, चिडचिडापन, अनिद्रा, मानसिक चचलता, पीडा, रक्तक्षीणता, धीरे धीरे शरीरभार गिरना आदि दिन प्रति दिन बढते जायँगे।

निदान—चतुर चिकित्सक बाह्य लक्षणो से अर्बुदो का पता लगा लेता है, परतु सच्चे रोगनिदान के लिये साधारण परीक्षा के अतिरिक्त आधुनिक विशेष परीक्षणविधियाँ जैसे मल-मूत्र-परीक्षा, एक्स-रे-परीक्षा, ऊतकपरीक्षा, रक्तपरीक्षा, समस्थानिक (आइसोटोप) रोगपरीक्षा आदि कई प्रकार की रीतियाँ है। चिकित्सा के लिये शल्य, एक्स-रे तथा समस्थानिक चिकित्साविधियाँ अब उपलब्ध है। रोग के आरभ मे ही पारिवारिक चिकित्सक तथा विशेषज्ञ चिकित्सक की राय शीघ्र लेनी चाहिए।

वर्गीकरण—अर्बुदो के वर्गीकरण की पृथक् पृथक् रीतियाँ है। वर्गीकरण मे नामकरण की प्रथा भी समय समय पर बदलती रहती है। विलियम बॉयड ने अर्बुदो का वर्गीकरण इस प्रकार किया है

अर्बुद की जाति	रोग का नाम
१ सयोजी-ऊतक-अर्बुद (कनेक्टिव टिशू ट्यूमर्स)	
क—मृदु (इन्नोसेंट)	फाइब्रोमा लिपोमा मिक्सोमा कौड्रोमा औस्टिओमा
ख—घातक (मैलिग्नैंट)	सार्कोमा कौर्डोमा
२ पेशी ऊतक अर्बुद (मसल टिशू ट्यूमर)	लाइओमिओमा रहैब्डोमिओमा
३ वाहिन्यर्बुद (ऐंजिओमा)	हीमैंगिओमा लिफैंगिओमा
४ अतश्छदीय अर्बुद (एडोथेलिओमा)	
५ हीमोपोएटिक-ऊतक-अर्बुद (ट्यूमर्स ऑव हीमोपोएटिक टिशू)	लिफोसार्कोमा
क—मृदु लसीकार्बुद (बिनाइन लिफोमा)	हॉडकिंस डिसीज
ख—घातक लसीकार्बुद (मैलिग्नैंट लिफोमा)	ल्युकीमिआ मल्टिपुल मिएलोमा
६ मसा (पिग्मेंटेड ट्यूमर्स)	नेवस मेलानोमा
७ ततु-ऊतक-अर्बुद (नर्वटिशू अर्बुद)	ग्लाइओमा निउरो ब्लास्टोमा रेटिनो ब्लास्टोमा गैंग्लिओ।

मत्रनिरपेक्ष कहानियो की नाई, मनुष्यो को यज्ञ करने की प्रेरणा करते हैं तथा न करने मे हानि का सकेत करते हैं। समस्त अर्थवादात्मक वाक्य तीन प्रकार के हैं (१) गुणवाद, जिसमें मनुष्यो के साधारण ज्ञान के विरुद्ध वस्तुओ के गुणो का वर्णन मिलता है, (२) भूतार्थवाद, जिसमें वे वाक्य आते हैं जो मनुष्यो को ऐसी बातें बतलाते हैं जिनका ज्ञान वेदवाक्यो के अतिरिक्त और किसी प्रमाण द्वारा नही हो सकता, (३) अनुवाद, वे वाक्य जिनमें उन वाक्यो का वर्णन है जिनका ज्ञान मनुष्यो को पहले से है। मीमासको के अनुसार वेदवाङमय मे आए हुए ब्रह्म, ईश्वर, जीव, देवता, लोक और परलोक आदि सबधी सभी वर्णन अर्थवाद मात्र है। उनका उद्देश्य हमको इन वस्तुओ का ज्ञान देना नही है, केवल क्रिया (यज्ञ) मे प्रवृत्त कराना है। इस सिद्धात का उत्तरमीमासा (वेदात) के आचार्यो ने, विशेषत श्री शकराचार्य ने, खडन किया है। साधारण बोलचाल मे अर्थवाद का अभिप्राय झूठी सच्ची बाते कहकर अपना मतलब सिद्ध करना हो गया है।

[भी० ला० आ०]

अर्थशास्त्र अर्थशास्त्र दो शब्दो से बना है, अर्थ और शास्त्र, इसलिये इसकी सबसे सरल परिभाषा यह है कि वह ऐसा शास्त्र है जिसमें मनुष्य के अर्थसबधी प्रयत्नो का विवेचन हो। किसी विषय के सबध मे मनुष्यो के कार्यो के क्रमबद्ध ज्ञान को उस विषय का शास्त्र कहते है, इसलिये अर्थशास्त्र मे मनुष्यो के अर्थसबधी कार्यो का क्रमबद्ध ज्ञान होना आवश्यक है। अर्थशास्त्र मे अर्थसबधी बातो की प्रधानता होना स्वाभाविक है। परतु हमको यह न भूल जाना चाहिए कि ज्ञान का उद्देश्य अर्थ प्राप्त करना ही नही है, सत्य की खोज द्वारा विश्व के लिये कल्याण, सुख और शाति प्राप्त करना भी है। अर्थशास्त्र भी यह बतलाता है कि मनुष्यो के आर्थिक प्रयत्नो द्वारा विश्व मे सुख और शाति कैसे प्राप्त हो सकती है। सब शास्त्रो के समान अर्थशास्त्र का उद्देश्य भी विश्वकल्याण है। अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण अतर्राष्ट्रीय है, यद्यपि उसमें व्यक्तिगत और राष्ट्रीय हितो का भी विवेचन रहता है। यह सभव है कि इस शास्त्र का अध्ययन कर कुछ व्यक्ति या राष्ट्र धनवान् हो जायँ और अधिक धनवान् होने की चिंता मे दूसरे व्यक्ति या राष्ट्रो का शोषण करने लगें, जिससे विश्व की शाति भग हो जाय। परतु उनके शोषण सबधी ये सब कार्य अर्थशास्त्र के अनुरूप या उचित नही कहे जा सकते, क्योकि अर्थशास्त्र तो उन्ही कार्यो का समर्थन कर सकता है, जिनके द्वारा विश्वकल्याण की वृद्धि हो। इस विवेचन से स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र की सरल परिभाषा इस प्रकार होनी चाहिए—अर्थशास्त्र मे मनुष्यो के अर्थसबधी सब कार्यो का क्रमबद्ध अध्ययन किया जाता है। उसका ध्येय विश्वकल्याण है और उसका दृष्टिकोण अतर्राष्ट्रीय है।

भारत में अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र बहुत प्राचीन विद्या है। चार उपवेद अति प्राचीन काल मे बनाए गए थे। इन चारो उपवेदो में अर्थवेद भी एक उपवेद माना जाता है। परतु अब यह उपलब्ध नही है। विष्णुपुराण मे भारत की प्राचीन तथा प्रधान अठारह विद्याओ में अर्थशास्त्र भी परिगणित है। इस समय बार्हस्पत्य तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र उपलब्ध है। अर्थशास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य बृहस्पति थे। उनका अर्थशास्त्र सूत्रो के रूप में प्राप्त है, परतु उसमें अर्थशास्त्र सबधी सब बातो का समावेश नही है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र ही एक ऐसा ग्रथ है जो अर्थशास्त्र के विषय पर उपलब्ध क्रमबद्ध ग्रथ है, इसलिये इसका महत्व सबसे अधिक है। आचार्य कौटिल्य चाणक्य के नाम से भी प्रसिद्ध है। ये चद्रगुप्त मौर्य (३२१-२९७ ई० पू०) के महामत्री थे। इनका ग्रथ 'अर्थशास्त्र' पडितो की राय मे प्राय २३०० वर्ष पुराना है। आचार्य कौटिल्य के मतानुसार अर्थशास्त्र का क्षेत्र पृथ्वी को प्राप्त करने और उसकी रक्षा करने के उपायो का विचार करना है। उन्होने अपने अर्थशास्त्र में ब्रह्मचर्य की दीक्षा से लेकर देशो की विजय करने की अनेक बातो का समावेश किया है। शहरो का बसाना, गुप्तचरो का प्रबध, फौज की रचना, न्यायालयो की स्थापना, विवाह सबधी नियम, दायभाग, शत्रुओ पर चढाई के तरीके, किलाबदी, सधियो के भेद, व्यूहरचना इत्यादि बातो का विस्ताररूप से विचार आचार्य कौटिल्य अपने ग्रथ में करते हैं। प्रमाणत इस ग्रथ की कितनी ही बाते अर्थशास्त्र के आधुनिक काल में निर्दिष्ट क्षेत्र से बाहर की हैं। उसमें राजनीति, दडनीति, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र इत्यादि विषयो पर भी विचार हुआ है।

पाश्चात्य अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र का वर्तमान रूप में विकास पाश्चात्य देशो मे, विशेषकर इग्लैंड मे, हुआ। ऐडम स्मिथ वर्तमान अर्थशास्त्र के जन्मदाता माने जाते हैं। आपने 'राष्ट्रो की सपत्ति' (वेल्थ ऑव नेशन्स) नामक ग्रथ लिखा। यह सन् १७७६ ई० मे प्रकाशित हुआ। इसमे उन्होने यह बतलाया है कि प्रत्येक देश के अर्थशास्त्र का उद्देश्य उस देश की सपत्ति और शक्ति बढाना है। उनके बाद मालथस, रिकार्डो, मिल, जेवस, कार्ल मार्क्स, सिजविक, मार्शल, वाकर, टासिग और राबिंस ने अर्थशास्त्र सबधी विषयो पर सुदर रचनाएँ की। परतु अर्थशास्त्र को एक निश्चित रूप देने का श्रेय प्रोफेसर अलफ्रेड मार्शल को प्राप्त है, यद्यपि प्रोफेसर राबिंस का अभी भी प्रोफेसर मार्शल से अर्थशास्त्र के क्षेत्र के सबध में मतभेद है। पाश्चात्य अर्थशास्त्रियो मे अर्थशास्त्र के क्षेत्र के सबध मे तीन दल निश्चित रूप से दिखाई पडते हैं। पहला दल प्रोफेसर राबिंस का है जो अर्थशास्त्र को केवल विज्ञान मानकर यह स्वीकार नही करता कि अर्थशास्त्र में ऐसी बातो पर विचार किया जाय जिनके द्वारा आर्थिक सुधारो के लिये मार्गदर्शन हो। दूसरा दल प्रोफेसर मार्शल, प्रोफेसर पीगू इत्यादि का है, जो अर्थशास्त्र को विज्ञान मानते हुए भी यह स्वीकार करता है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय मनुष्य है और उसकी आर्थिक उन्नति के लिये जिन जिन बातो की आवश्यकता है, उन सबका विचार अर्थशास्त्र मे किया जाना आवश्यक है। परतु इस दल के अर्थशास्त्री राजनीति से अर्थशास्त्र को अलग रखना चाहते हैं। तीसरा दल कार्ल मार्क्स के समान समाजवादियो का है, जो मनुष्य के श्रम को ही उत्पत्ति का साधन मानता है और पूँजीपतियो तथा जमीदारो का नाश करके मजदूरो की उन्नति चाहता है। वह मजदूरो का राज भी चाहता है। तीनो दलो में अर्थशास्त्र के क्षेत्र के सबध मे बहुत मतभेद है। इसलिये इस प्रश्न पर विचार कर लेना आवश्यक है

अर्थशास्त्र का क्षेत्र—प्रो० राबिंस के अनुसार अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के उन कार्यो का अध्ययन करता है जो इच्छित वस्तु और उसके परिमित साधनो के रूप में उपस्थित होते है, जिनका उपयोग वैकल्पिक या कम से कम दो प्रकार से किया जाता है। अर्थशास्त्र की इस परिभाषा से निम्नलिखित बाते स्पष्ट होती है—(१) अर्थशास्त्र विज्ञान है, (२) अर्थशास्त्र मे मनुष्य के कार्यो के सबध में विचार होता है, (३) अर्थशास्त्र में उन्ही कार्यो के सबध मे विचार होता है जिनमें—

(अ) इच्छित वस्तु प्राप्त करने के साधन परिमित रहते है और,

(ब) इन साधनो का उपयोग वैकल्पिक रूप से कम से कम दो प्रकार से किया जाता है।

मनुष्य अपनी इच्छाओ की तृप्ति से सुख का अनुभव करता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छाओ को तृप्त करना चाहता है। इच्छाओ की तृप्ति के लिये उसके पास जो साधन, द्रव्य इत्यादि है वे परिमित हैं। व्यक्ति कितना भी धनवान् क्यो न हो, उसके धन की मात्रा अवश्य परिमित रहती है, फिर वह इस परिमित साधन द्रव्य का उपयोग कई तरह से कर सकता है। इसलिये उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र में मनुष्यो के उन सब कार्यो के सबध मे विचार किया जाता है जो वह परिमित साधनो द्वारा अपनी इच्छाओ को तृप्त करने के लिये करता है। इस प्रकार उसके उपभोग सबधी सब कार्यो का विवेचन अर्थशास्त्र में किया जाना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार मनुष्य को बाजार से अनेक वस्तुएँ खरीदने की आवश्यकता रहती है और उसके पास खरीदने का साधन द्रव्य परिमित रहता है। इस परिमित साधन द्वारा वह अपनी आवश्यक वस्तुएँ किस प्रकार खरीदता है, वह कौनसी वस्तु किस दर से, किस परिमाण में, खरीद ता या बेचता है, अर्थात् वह विनिमय किस प्रकार करता है, इन सब बातो का विचार अर्थशास्त्र में किया जाता है। मनुष्य जब कोई वस्तु तैयार करता है, उसके तैयार करने के साधन परिमित रहते हैं और उन साधनो का उपयोग वह कई तरह से कर सकता है। इसलिये उत्पत्ति सबधी सब कार्यो का विवेचन अर्थशास्त्र में होना स्वाभाविक है।

मनुष्य को अपने समय का उपयोग करने की अनेक इच्छाएँ होती हैं। परतु समय हमेशा परिमित रहता है और उसका उपयोग कई तरह से किया जा सकता है। मान लीजिए, कोई मनुष्य सो रहा है, पूजा कर रहा है या कोई खेल खेल रहा है। प्रोफेसर राबिंस की परिभाषा के अनुसार इन कार्यो का विवेचन अर्थशास्त्र में होना चाहिए, क्योकि जो समय सोने में,

उन्होंने बड़े सफलतापूर्वक अभिनय, नाटकों के निर्देशन और रंगमंचीय प्रकाशन किए। [ओं० ना० उ०]

अर्श अथवा बवासीर (अंग्रेजी में हेमोरॉयड अथवा पाइल्स) एक रोग है जिसमें मलाशय की शिरा गुदा के अंत में या गुदा के भीतर फूल जाती है और विवर्ण हो जाती है। इनमें पीड़ा होती है और कभी कभी रुधिर बहता है। यदि मलद्वार पर या उससे बाहर की शिराएँ फूल जाती हैं तो यह बाह्य अर्श कहलाता है और मलद्वार के बाहर फूले फूले पिंड से दिखाई पड़ते हैं। गुदा के भीतर शिरा के फूलने पर फूले पिंड आंतरिक अर्श कहे जाते हैं। परीक्षा करने पर ये टटोले जा सकते हैं या गुददर्शक (प्रोक्टॉस्कोप) द्वारा देखे जा सकते हैं।

यहाँ की शिराओं में विशेषता यह होती है कि वे मलाशय की लंबाई की दिशा में मलाशय के समांतर स्थित होती हैं। उनमें कपाटिकाएँ (वाल्व) नहीं होतीं। इस कारण ऊपर से दबाव पड़ने पर उनके अंतिम भाग फूल जाते हैं और बहुधा यह दशा चिरस्थायी सी हो जाती है। अतएव कोष्ठबद्धता (कब्ज) तथा यकृत के विकारों के कारण इनमें रक्त जमा होने लगता है और कुछ समय में अर्श बन जाते हैं, जिनको मस्सा भी कहा जाता है। आंतरिक अर्श भी दो प्रकार के होते हैं। एक को खूनी कहा जाता है, जिसमें समय समय पर रक्त निकला करता है। दूसरा बादी कहलाता है। इसके मसे अधिक फूले हुए होते हैं।

अर्श बहुत बार दूरस्थ रोग के लक्षण होते हैं। चिकित्सा में इसका विचार करना आवश्यक है। चालीस साल से ऊपर की आयु में वे कैंसर के द्योतक हो सकते हैं। उच्च रुधिरचाप (हाई ब्लड प्रेशर) में वे समय समय पर रक्त को निकालकर रोगी की रक्षा के हेतु होते हैं। रोग का निश्चय करते समय गुदा से रक्तप्रवाह के अन्य कारणों पर विचार कर लेना आवश्यक है।

सामान्य दशाओं में कारण को दूर करके औषधोपचार से चिकित्सा की जा सकती है। इंजेक्शन विधि में बादाम के तेल में ५० प्रति शत फिनोल द्रव का योग प्रत्येक अर्श में प्रति सप्ताह इंजेक्शन से तब तक दिया जाता है जब तक वे सूख नहीं जाते। शस्त्र-चिकित्सा-विधि में प्रत्येक अर्श का बंधन और छेदन कर दिया जाता है। [मु० स्व० व०]

अर्शक यह पहला पार्थव राजा था। यूनानियों ने इसे अर्सेकीज लिखा है। २४८ ई० पू० के लगभग सीरियक साम्राज्य के दो प्रांतों ने सफल विद्रोह का झंडा उठाया, उनमें से एक बाख्त्री का ग्रीक शासित प्रांत था, दूसरा ईरानियों का पार्थिया। पार्थिया का विद्रोह राष्ट्रीय था और जब पार्थव ग्रीक शासन का जुआ अधिक न ढो सके तो उसे उन्होंने उतार फेंका। उनके जनविद्रोह का नेता अर्शक साधारण कुल में जन्मा था और उसके नेतृत्व में पार्थिया का प्रांत सिल्यूकस के साम्राज्य से अलग हो गया। [ओं० ना० उ०]

अर्हंत और अरिहंत पर्यायवाची शब्द हैं। अतिशय पूजासत्कार के योग्य होने से इन्हें अर्हत् (अर्ह=योग्य होना) कहा गया है। मोहरूपी शत्रु (अरि) का अथवा आठ कर्मों का नाश करने के कारण ये अरिहंत (अरि को नाश करनेवाला) कहे जाते हैं। जैनों के णमोकार मंत्र में पंचपरमेष्ठियों में सर्वप्रथम अरिहंतों को नमस्कार किया गया है। सिद्ध परमात्मा हैं लेकिन अरिहंत भगवान् लोक के परम उपकारक हैं, इसलिये उन्हें सर्वोत्तम कहा गया है। एक काल में एक ही अरिहंत जन्म लेते हैं। जैन आगमों को अर्हत् द्वारा भाषित कहा गया है। अरिहंत तीर्थंकर, केवली और सर्वज्ञ होते हैं। महावीर जैन धर्म के चौबीसवें (अंतिम) तीर्थंकर माने जाते हैं। बुरे कर्मों का नाश होने पर केवल ज्ञान द्वारा वे समस्त पदार्थों को जानते हैं इसलिये उन्हें केवली कहा है। सर्वज्ञ भी उसे ही कहते हैं।

सं०ग्रं०—अभिधान राजेंद्र कोश १ (१९१३), पट्खंडागम, धवला टीका १ (१९३९)। [ज० च० जै०]

अलंकार अलंकृति अलंकार अलम् अर्थात् भूषण। जो भूषित करे वह अलंकार है। इस कारण व्युत्पत्ति से उपमा आदि अलंकार कहलाते हैं। उपमा आदि के लिये अलंकार शब्द का संकुचित अर्थ में प्रयोग किया गया है। व्यापक रूप में सौंदर्य मात्र को अलंकार कहते हैं और उसी से काव्य ग्रहण किया जाता है। (काव्यं ग्राह्यमलंकारात्। सौंदर्यमलंकारः—वामन)। चारुत्व को भी अलंकार कहते हैं। (टीका, व्यक्तिविवेक)। भामह के विचार से वक्रार्थविधायक शब्दोक्ति अथवा शब्दार्थवैचित्र्य का नाम अलंकार है (वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः।) रुद्रट अभिधानप्रकारविशेष को ही अलंकार मानते हैं (अभिधानप्रकारविशेषा एव चालंकाराः)। दंडी के लिये अलंकार काव्य के शोभाकर धर्म हैं (काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते)। सौंदर्य, चारुत्व, काव्यशोभाकर धर्म इन तीन रूपों में अलंकार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है और शेष में शब्द तथा अर्थ के अनुप्रासोपमादि अलंकारों के संकुचित अर्थ में। एक में अलंकार काव्य के प्राणभूत तत्व के रूप में ग्रहीत हैं और दूसरे में सुसज्जितकर्ता के रूप में।

आधार: सामान्यतः कथनीय वस्तु को अच्छे से अच्छे रूप में अभिव्यक्ति देने के विचार से अलंकार प्रयुक्त होते हैं। इनके द्वारा या तो भावों को उत्कर्ष प्रदान किया जाता है या रूप, गुण तथा क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराया जाता है। अतः मन का ओज ही अलंकारों का वास्तविक कारण है। रुचिभेद से आडंबर और चमत्कारप्रिय व्यक्ति शब्दालंकारों का और भावुक व्यक्ति अर्थालंकारों का प्रयोग करता है। शब्दालंकारों के प्रयोग में पुनरुक्ति, प्रयत्नलाघव तथा उच्चारण या ध्वनिसाम्य मुख्य आधारभूत सिद्धांत माने जाते हैं और पुनरुक्ति को ही आवृत्ति कहकर इसके वर्ण, शब्द तथा पद के क्रम से तीन भेद माने जाते हैं, जिनमें क्रमशः अनुप्रास और छेक एवं यमक, पुनरुक्तवदाभास तथा लाटानुप्रास को ग्रहण किया जाता है। वृत्त्यनुप्रास प्रयत्नलाघव का उदाहरण है। वृत्तियों और रीतियों का आविष्कार इसी प्रयत्नलाघव के कारण हुआ है। श्रुत्यनुप्रास में ध्वनिसाम्य स्पष्ट है ही। इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त चित्रालंकारों की रचना में कौतूहलप्रियता, वक्रोक्ति, अन्योक्ति तथा विभावनादि अर्थालंकारों की रचना में वैचित्र्य से आनंद मानने की वृत्ति कार्यरत रहती है। भावाभिव्यंजन, न्यूनाधिकारिणी तथा तर्कना नामक मनोवृत्तियों के आधार पर अर्थालंकारों का गठन होता है। ज्ञान के सभी क्षेत्रों से अलंकारों की सामग्री ली जाती है, जैसे व्याकरण के आधार पर क्रियामूलक भाविक और विशेष्य-विशेषण-मूलक अलंकारों का प्रयोग होता है। मनोविज्ञान से स्मरण, भ्रम, संदेह तथा उत्प्रेक्षा की सामग्री ली जाती है, दर्शन से कार्य-कारण-संबंधी असंगति, हेतु तथा प्रमाण आदि अलंकार लिए जाते हैं और न्यायशास्त्र के क्रमशः वाक्यन्याय, तर्कन्याय तथा लोकन्याय भेद करके अनेक अलंकार गठित होते हैं। उपमा जैसे कुछ अलंकार भौतिक विज्ञान से संबंधित हैं और रसालंकार, भावालंकार तथा क्रियाचातुरीवाले अलंकार नाट्यशास्त्र से ग्रहण किए जाते हैं (दे० अलंकारपीयूष, १)।

स्थान और महत्व: आचार्यों ने काव्यशरीर, उसके नित्यधर्म तथा बहिरंग उपकारक का विचार करते हुए काव्य में अलंकार के स्थान और महत्व का व्याख्यान किया है। इस संबंध में इनका विचार गुण, रस, ध्वनि तथा स्वयं वस्तु के प्रसंग में किया जाता है। शोभास्रष्टा के रूप में अलंकार स्वयं अलंकार्य ही मान लिए जाते हैं और शोभा के वृद्धिकारक के रूप में वे आभूषण के समान उपकारक मात्र माने जाते हैं। पहले रूप में वे काव्य के नित्यधर्म और दूसरे रूप में वे अनित्यधर्म कहलाते हैं। इस प्रकार के विचारों से अलंकारशास्त्र में दो पक्षों की नींव पड़ गई। एक पक्ष ने, जो रस को ही काव्य की आत्मा मानता है, अलंकारों को गौण मानकर उन्हें अस्थिरधर्म माना और दूसरे पक्ष ने उन्हें गुणों के स्थान पर नित्यधर्म स्वीकार कर लिया। काव्य के शरीर की कल्पना करके उनका निरूपण किया जाने लगा। आचार्य वामन ने व्यापक अर्थ को ग्रहण करते हुए भी संकीर्ण अर्थ की चर्चा के समय अलंकारों को काव्य का शोभाकर धर्म न मानकर उन्हें केवल गुणों में अतिशयता लानेवाला हेतु माना (काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।—का० सू०)। आचार्य आनंदवर्धन ने इन्हें काव्यशरीर पर कटककुंडल आदि के सदृश मात्र माना है (तमर्थमवलंबते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः। अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्।—ध्वन्यालोक)। आचार्य मम्मट ने गुणों को शौर्यादिक अंगी धर्मों के समान तथा अलंकारों को उन गुणों

करते हैं। अपना कर्तव्य पालन करने से जो सुख प्राप्त होता है वह भी शांतिप्रद होता है। कर्तव्यपालन करते समय जो श्रम करना पड़ता है उससे कुछ कष्ट अवश्य मालूम होता है, परंतु कार्य पूरा होने पर वह दुख सुख में परिणत हो जाता है और उससे मन में शांति उत्पन्न होती है। इस प्रकार का सुख भविष्य में दुख का साधन नही होता और इस प्रकार के सुख को आनंद कहते हैं। जब आनंद ही आनंद प्राप्त होता है तब दुख का लेशमात्र भी नही रह जाता। ऐसी दशा को परमानंद कहते हैं। परमानंद प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का सर्वोत्तम ध्येय है। वही आत्मकल्याण की चरम सीमा है। प्रत्येक मनुष्य का कल्याण इसी में है कि वह परमानंद प्राप्त करने का हमेशा प्रयत्न करता रहे। वह हमेशा ऐसा सुख प्राप्त करता रहे जो भविष्य में दुख का कारण या साधन न बन जाय और वह शांति और संतोष का अनुभव करने लगे।

जब हम अपने प्रयत्नो द्वारा दूसरो को सुख पहुँचाते हैं और उनके कल्याण के साधन बन जाते हैं तब प्रकृति के अटल नियम के अनुसार इन्ही प्रयत्नो द्वारा हमारे कल्याण में भी वृद्धि होने लगती है। आत्मकल्याण प्राप्त करने का सरल उपाय दूसरो के कल्याण का साधन बनना है। इसी प्रकार अपने कार्यो द्वारा किसी को भी दुख न पहुँचाना अपने दुख से बचने का सबसे सरल तरीका है। प्रत्येक व्यक्ति को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि उसका सच्चा हितसाधन दूसरो के हितसाधन या परमार्थ द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि दूसरो का सुख अर्थात् विश्वकल्याण ही अपने स्थायी सुख और शांति अर्थात् आत्मकल्याण का एकमात्र साधन है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपना कल्याण करने के लिये दूसरो के कल्याण का हमेशा प्रयत्न करने लगेगा तब किसी भी तरह से स्वार्थो का विरोध न होगा, संसार में सब प्रकार का संघर्ष दूर हो जायगा और सर्वत्र सुख और शांति स्थायी रूप से स्थापित हो जायगी।

आत्मकल्याण के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरो के स्वार्थो को उतना ही महत्व दे जितना वह अपने स्वार्थ को देता है। जैसे वह अपने सुखो को बढ़ाने का प्रयत्न करता है, वैसे ही उसे दूसरो के सुखो को बढ़ाने का भी प्रयत्न करना चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि ऐसे कार्य बंद हो जायँगे जिनके कारण दूसरो के दुखो की वृद्धि होती है। इससे विश्व के जीवो में सुख की निरंतर वृद्धि होने लगेगी और विश्व का कल्याण बढ़ते बढ़ते चरम सीमा तक पहुँच जायगा। बिना विश्वकल्याण के किसी भी व्यक्ति का आत्मकल्याण नही हो सकता। सच्चा आत्मकल्याण विश्वकल्याण द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। आत्मकल्याण ही प्रत्येक व्यक्ति का सर्वोत्तम ध्येय है और जब अर्थशास्त्र मनुष्य के आर्थिक प्रयत्नो का अध्ययन करता है तब उसका ध्येय भी आत्मकल्याण ही होना चाहिए। परंतु, जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, सच्चा आत्मकल्याण विश्वकल्याण द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिये अर्थशास्त्र का ध्येय विश्वकल्याण ही होना चाहिए।

हम यह पहले ही बता चुके हैं कि जब किसी इच्छा की पूर्ति नही होती तब दुख का अनुभव होता है। इसलिये यदि किसी वस्तु की इच्छा ही न की जाय तो दुख प्राप्त करने का अवसर ही न प्राप्त हो। कुछ सज्जनो का मत है कि संपूर्ण इच्छाओ की निवृत्ति द्वारा दुख का अभाव और स्थायी सुख तथा शांति प्राप्त हो सकती है। इसलिये इस दृष्टि से देखा जाय तब तो सब इच्छाओ का अभाव ही अर्थशास्त्र का ध्येय होना चाहिए। यह ठीक है कि अभ्यास द्वारा इच्छाओ का नियंत्रण अवश्य किया जा सकता है, परंतु ऐसी दशा प्राप्त कर लेना जब किसी भी प्रकार की इच्छा उत्पन्न ही न होने पाए,साधारण मनुष्य के लिये असंभव नही तो अत्यंत कठिन अवश्य है। समाधि या स्थितप्रज्ञ दशा में ही यह संभव है। परंतु इस दशा को प्राप्त करना लाखो मनुष्यो में से एक के लिये भी व्यावहारिक नही है। अस्तु, अर्थशास्त्र का ध्येय संपूर्ण इच्छाओ के अभाव को मान लेने से थोड़े से व्यक्तियो का ही कल्याण हो सकेगा और जनता का उससे कुछ भी लाभ न होगा, इसलिये इस ध्येय को मान लेना उचित न होगा।

कुछ व्यक्ति मानवकल्याण ही अर्थशास्त्र का ध्येय मानते हैं। वे जीवजंतुओं तथा पशुपक्षियो के हितो का ध्यान रखना आवश्यक नही समझते। वे शायद यह मानते हैं कि जीवजंतुओ और पशुपक्षियो को ईश्वर ने मनुष्य के सुख के लिये ही उत्पन्न किया है। इसलिये उनको दुख पहुँचाकर या वध करके यदि मनुष्यो की इच्छाओ की पूर्ति हो सकती हो तो उनको दुख पहुँचाने में कुछ भी आपत्ति नही होनी चाहिए। किंतु धर्मशास्त्र और महात्मा गांधी का तो यह मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा ही कार्य करना चाहिए जिससे 'सार्वभौम हित' अर्थात् सब जीवधारियो का हित हो, किसी की भी हानि न होने पाए। जब मनुष्य प्रत्येक जीवधारी के हित को अपने निजी हित के समान मानने लगता है तभी उसको स्थायी सुख और शांति प्राप्त होती है। महात्मा गांधी ने इस मार्ग को 'सर्वोदय' नाम दिया है। इस सर्वोदय मार्ग द्वारा ही संसार में प्रत्येक प्रकार का संघर्ष दूर हो सकता है, शोषण का अंत हो सकता है और विश्वशांति स्थापित हो सकती है। सर्वोदय का मार्ग प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण और विश्वकल्याण की वृद्धि करने का उत्तम साधन है। इसलिये उनके अनुसार अर्थशास्त्र का ध्येय मानवकल्याण न मानकर विश्वकल्याण ही मानना चाहिए।

सं०ग्रं०—श्री उदयवीर शास्त्री कौटिल्य का अर्थशास्त्र (हिंदी अनुवाद), ए० ई० मनरो अर्ली एकानॉमिक थॉट (१९२४), एडमंड ह्विटेकर ए हिस्ट्री ऑव एकॉनॉमिक आइडियाज, टी० डब्ल्यू० हचिसन दि सिग्निफिकेंस ऐंड बेसिक पास्कुलेट्स ऑव एकानॉमिक थियरी, बेनहम अर्थशास्त्र (अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद), श्री जे० के० मेहता और अन्य अध्यापक अर्थशास्त्र की रूपरेखा, श्री दयाशंकर दुबे अर्थशास्त्र के मूलाधार, श्री भगवानदास केला सर्वोदय अर्थशास्त्र।

[द० श० दु०]

अर्थशास्त्र, कौटिलीय

यह प्राचीन भारतीय राजनीति का प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसका पूरा नाम 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' है। लेखक का व्यक्तिनाम विष्णुगुप्त, गोत्रनाम कौटिल्य (कुटिल से व्युत्पन्न) और स्थानीय नाम चाणक्य (तक्षशिला के पास चणक नामक स्थान का रहनेवाला) था। अर्थशास्त्र (१५.४३१) में लेखक का स्पष्ट कथन है "इस ग्रंथ की रचना उन आचार्य ने की जिन्होंने अन्याय तथा कुशासन से क्रुद्ध होकर नांदो के हाथ में गए हुए शास्त्र, शस्त्र एवं पृथ्वी का शीघ्रता से उद्धार किया था।" चाणक्य सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य (३२१-२९८ ई० पू०) के महामंत्री थे। उन्होंने चंद्रगुप्त के प्रशासकीय उपयोग के लिये इस ग्रंथ की रचना की थी। यह मुख्यत सूत्रशैली में लिखा हुआ है और संस्कृत के सूत्रसाहित्य के काल और परंपरा में रखा जा सकता है। "यह शास्त्र अनावश्यक विस्तार से रहित, समझने और ग्रहण करने में सरल एवं कौटिल्य द्वारा ऐसे शब्दो में रचा गया है जिनका अर्थ सुनिश्चित हो चुका है।" (अर्थशास्त्र, १५.६) यद्यपि कतिपय प्राचीन लेखकों ने अपने ग्रंथो में अर्थशास्त्र से अवतरण दिए हैं और कौटिल्य का उल्लेख किया है, तथापि यह ग्रंथ लुप्त हो चुका था। १९०४ ई० में तंजोर के एक पंडित ने भट्टस्वामी के अपूर्ण भाष्य के साथ अर्थशास्त्र का हस्तलेख मैसूर राज्य पुस्तकालय के अध्यक्ष श्री आर० शाम शास्त्री को दिया। श्री शास्त्री ने पहले इसका अंशत अंग्रेजी भाषांतर १९०५ ई० में 'इंडियन ऐंटिक्वेरी' तथा 'मैसूर रिव्यू' (१९०६–१९०९ ई०) में प्रकाशित किया। इसके पश्चात् इस ग्रंथ के दो हस्तलेख म्यूनिख लाइब्रेरी में प्राप्त हुए और एक संभवत कलकत्ता में। तदनंतर शाम शास्त्री, गणपति शास्त्री, यदुवीर शास्त्री आदि द्वारा अर्थशास्त्र के कई संस्करण प्रकाशित हुए। शाम शास्त्री द्वारा अंग्रेजी भाषांतर का चतुर्थ संस्करण (१९२९ ई०) प्रामाणिक माना जाता है।

ग्रंथ के अंत में दिए चाणक्यसूत्र (१५.१) में अर्थशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार हुई है "मनुष्यो की वृत्ति को अर्थ कहते हैं। मनुष्यों से संयुक्त भूमि ही अर्थ है। उसकी प्राप्ति तथा पालन के उपायो की विवेचना करनेवाले शास्त्र को अर्थशास्त्र कहते हैं। इसके मुख्य विभाग हैं (१) विनयाधिकरण, (२) अध्यक्षप्रचार, (३) धर्मस्थीयाधिकरण, (४) कंटकशोधन, (५) वृत्ताधिकरण, (६) योन्यधिकरण, (७) षाड्गुण्य, (८) व्यसनाधिकरण, (९) अभियास्यत्कर्माधिकरण, (१०) संग्रामाधिकरण, (११) संघवृत्ताधिकरण, (१२) आबलीयसाधिकरण, (१३) दुर्गलम्भोपायाधिकरण, (१४) औपनिषदिकाधिकरण और (१५) तंत्रयुक्त्यधिकरण। इन अधिकरणो के अनेक उपविभाग (१५ अधिकरण, १५० अध्याय, १८० उपविभाग तथा ६००० श्लोक) हैं। अर्थशास्त्र से समसामयिक राजनीति, अर्थनीति, विधि, समाजनीति तथा धर्मादि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

कर्मोपमा, भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, अर्थोपमा (लुप्तोपमा) जैसे मौलिक उपमाप्रकारो का भी दृष्टातपुरःसर वर्णन किया है (निरुक्त ३।१३-१८)। इससे स्पष्ट है कि अलकारशास्त्र का उदय यास्क (सप्तम शती ई० पू०) से भी पूर्व हो चुका था। काश्यप तथा वररुचि, ब्रह्मदत्त तथा नदिस्वामी के नाम तरुणवाचस्पति ने आद्य आलकारिको मे अवश्य लिए है, परतु इनके ग्रथ और मत का परिचय नही मिलता। राजशेखर द्वारा 'काव्यमीमासा' मे निर्दिष्ट बृहस्पति, उपमन्यु, सुवर्णनाभ, प्रचेतायन, शेष, पुलस्त्य, पाराशर, उतथ्य आदि अष्टादश आचार्यो में से केवल भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही आजकल उपलब्ध है। अन्य आचार्य केवल काल्पनिक सत्ता धारण करते हैं। इतना तो निश्चित है कि यूनानी आलोचना के उदय से शताब्दियो पूर्व 'अलकारशास्त्र' प्रामाणिक शास्त्रपद्धति के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुका था।

संप्रदाय 'अलकारसर्वस्व' के टीकाकार समुद्रबध ने इस शास्त्र के अनेक सप्रदायो की विशिष्टता का सुदर विवरण प्रस्तुत किया है। काव्य के विभिन्न अगो पर महत्व तथा बल देने से विभिन्न सप्रदायो की विभिन्न शताब्दियो मे उत्पत्ति हुई। मुख्य सप्रदायो की सख्या छ मानी जा सकती है—(१) रस सप्रदाय, (२) अलकार सप्रदाय, (३) रीति या गुण सप्रदाय, (४) वक्रोक्ति सप्रदाय, (५) ध्वनि सप्रदाय तथा (६) औचित्य सप्रदाय। इन सप्रदायो मे अपने नामानुसार तत्तत् तत्व काव्य की आत्मा अर्थात् मुख्य प्राणाधायक स्वीकृत किए जाते है। (१) **रस सप्रदाय** के मुख्य आचार्य भरत मुनि हैं (द्वितीय शताब्दी) जिन्होंने **नाट्यरस** का ही मुख्यत विश्लेषण किया और उस विवरण को अवातर आचार्यो ने काव्य-रस के लिये भी प्रामाणिक माना। (२) **अलंकार संप्रदाय** के प्रमुख आचार्य भामह (छठी शताब्दी का पूर्वार्ध), दडी (सातवी शताब्दी), उद्भट (आठवी शताब्दी) तथा रुद्रट (नवी शताब्दी का पूर्वार्ध) है। इस मत मे अलकार ही काव्य की आत्मा माना जाता है। इस शास्त्र के इतिहास मे यही सप्रदाय प्राचीनतम तथा व्यापक प्रभावपूर्ण अगीकृत किया जाता है। (३) **रीति संप्रदाय** के प्रमुख आचार्य **वामन** (अष्टम शताब्दी का उत्तरार्ध) है जिन्होने अपने 'काव्यालकारसूत्र' मे रीति को स्पष्ट शब्दो मे काव्य की आत्मा माना है (**रीतिरात्मा काव्यस्य**)। दडी ने भी रीति के उभय प्रकार—वैदर्भी तथा गौडी—की अपने 'काव्यादर्श' मे बडी मार्मिक समीक्षा की थी, परतु उनकी दृष्टि मे काव्य मे अलकार की ही प्रमुखता रहती है। (४) **वक्रोक्ति सप्रदाय** की उद्भावना का श्रेय आचार्य कुतक को (१०वी शताब्दी का उत्तरार्ध) है जिन्होने अपने 'वक्रोक्ति जीवित' मे 'वक्रोक्ति' को काव्य की आत्मा (जीवित) स्वीकार किया है। (५) **ध्वनि सप्रदाय** का प्रवर्तन आनदवर्धन (नवम शताब्दी का उत्तरार्ध) ने अपने युगातरकारी ग्रथ 'ध्वन्यालोक' मे किया तथा इसका प्रतिष्ठापन अभिनव गुप्त (१०वी शताब्दी) ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका मे किया। मम्मट (११वी शताब्दी का उत्तरार्ध), रुय्यक (१२श० का पूर्वार्ध), हेमचद्र (१२वी श० का उत्तरार्ध), पीयूषवर्ष जयदेव (१३ श० का उत्तरार्ध), विश्वनाथ कविराज (१४ श० का पूर्वार्ध), पडितराज जगन्नाथ (१७ श० का मध्यकाल)—इसी सप्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य हैं। (६) **औचित्य संप्रदाय** के प्रतिष्ठाता क्षेमेंद्र (११वी शती का मध्यकाल) ने भरत, आनदवर्धन आदि प्राचीन आचार्यो के मत को ग्रहण कर काव्य मे औचित्य तत्व को प्रमुख तत्व अगीकार किया तथा इसे स्वतत्र सप्रदाय के रूप मे प्रतिष्ठित किया। अलकारशास्त्र इस प्रकार लगभग दो सहस्र वर्षो से काव्यतत्वो की समीक्षा करता आ रहा है।

महत्व यह शास्त्र अत्यत प्राचीन काल से काव्य की समीक्षा और काव्य की रचना मे आलोचको तथा कवियो का मार्गनिर्देश करता आया है। यह काव्य के अतरग और बहिरग दोनो का विश्लेषण बडी मार्मिकता से प्रस्तुत करता है। समीक्षाससार के लिये अलकारशास्त्र की काव्यतत्वो की चार अत्यत महत्वपूर्ण देन है जिनका सर्वांग विवेचन, अतरग परीक्षण तथा व्यावहारिक उपयोग भारतीय साहित्यिक मनीषियो ने बडी सूक्ष्मता से अनेक ग्रथो मे प्रतिपादित किया है। ये महनीय काव्यतत्व है—औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस। **औचित्य** का तत्व लोकव्यवहार मे और काव्यकला मे नितात व्यापक सिद्धात है। औचित्य के आधार पर ही रसमीमासा का प्रासाद खडा होता है। आनदवर्धन की यह उक्ति समीक्षाजगत् मे मौलिक तथ्य का उपन्यास करती है कि अनौचित्य को छोडकर रसभग का कोई दूसरा कारण नही है और औचित्य का उपनिबधन रस का रहस्यभूत उपनिषत् है—अनौचित्यादृते नान्यत् रसभगस्य कारणम्। औचित्योपनिबधस्तु रसस्योपनिषत् परा (ध्वन्यालोक)। **वक्रोक्ति** लोकातिक्रात गोचर वचन के विन्यास की साहित्यिक सज्ञा है। वक्रोक्ति के माहात्म्य से ही कोई भी उक्ति काव्य की रसपेशल सूक्ति के रूप मे परिणत होती है। यूरोप में क्रोचे द्वारा निर्दिष्ट 'अभिव्यजनावाद' (एक्सप्रेशनिज्म) वक्रोक्ति को बहुत कुछ स्पर्श करनेवाला काव्यतत्व है। **ध्वनि** का तत्व सस्कृत आलोचना की तीसरी महती देन है। हमारे आलोचको का कहना है कि काव्य उतना ही नही प्रकट करता जितना हमारे कानो को प्रतीत होता है, प्रत्युत वह नितात गूढ अर्थो को भी हमारे हृदय तक पहुँचाने की क्षमता रखता है। यह सुदर मनोरम अर्थ 'व्यजना' नामक एक विशिष्ट शब्दव्यापार के द्वारा प्रकट होता है और इस प्रकार व्यजक शब्दार्थ को ध्वनिकाव्य के नाम से पुकारते हैं। सौभाग्य की बात है कि अग्रेजी के मान्य आलोचक एबरक्राबी तथा रिचर्ड्स की दृष्टि इस तत्व की ओर अभी अभी आकृष्ट हुई है। **रसतत्व** की मीमासा भारतीय आलोचको के मनोवैज्ञानिक समीक्षापद्धति के अनुशीलन का मनोरम फल है। काव्य अलौकिक आनद के उन्मीलन मे ही चरितार्थ होता है चाहे वह काव्य श्रव्य हो या दृश्य। हृदयपक्ष ही काव्य का कलापक्ष की अपेक्षा नितात मधुरतर तथा शोभन पक्ष है, इस तथ्य पर भारतीय आलोचना का नितात आग्रह है। भारतीय आलोचना जीवन की समस्या को सुलझानेवाले दर्शन की छानबीन से कथमपि पराङमुख नही होती और इस प्रकार यह पाश्चात्य जगत् के तीन शास्त्रो—'पोएटिक्स', 'रेटारिक्स' तथा 'ऐस्थेटिक्स'—का प्रतिनिधित्व अकेले ही अपने आप करती है। प्राचीनता, गभीरता तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मे यह पश्चिमी आलोचना से कही अधिक महत्वशाली है, इस विषय मे दो मत नही हो सकते।

स०ग्र०—काणे हिस्ट्री ऑव अलकारशास्त्र (बबई, १९५५), एस० के० दे सस्कृत पोएटिक्स (लदन, १९२५), बलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्यशास्त्र (दो खड) काशी, १९५०। [ब० उ०]

अल-उतबी तारीख-यामीनी अथवा किताबुल-यामीनी के लेखक, अबु-नसर-मोहम्मद इब्न मोहम्मद जब्बरुल उतबी सुलतान महमूद का मत्री था। इसके पूर्वजो ने शमानी राजाओ के शासनकाल मे उच्च पदो को सुशोभित किया। नसिरुद्दीन सुबुक्तगीन और महमूद के शासनकाल का वृत्तात इसकी पुस्तक मे मिलता है, पर गजनी सम्राट् के राज्यकाल मे ४१० हिजरी (१०२० ई०) के बाद का विस्तृत ब्योरा इसके ग्रथ मे नही है। इसकी मृत्यु की तिथि निश्चित नही, पर ४२० हिजरी (१०३० ई०) तक यह जीवित था। इसका ग्रथ अरबी मे है जिसका अनुवाद फारसी मे 'तर्जुमाए यामीनी' के नाम से अबुल शराक अर्बादकानी ने ५२८ हिजरी (११९२ ई०) मे किया।

सं० ग्र०—इलियट और डाउसन भारत का इतिहास।

[बै० पु०]

अलकतरा लकडी, पत्थर का कोयला तथा कच्चे खनिज तेल (पेट्रोलियम) आदि कार्बनिक पदार्थों का जब शुष्क आसवन (ड्राइ डिस्टिलेशन) किया जाता है तो कई प्रकार के पदार्थ प्राप्त होते हैं। इन्ही पदार्थो मे एक गहरे काले रग का गाढा द्रव पदार्थ भी प्राप्त होता है जिसे अलकतरा (अगारराल, बिराल, अग्रेजी मे टार अथवा कोलटार) कहते है। उदाहरणार्थ पत्थर के कोयले के शुष्क आसवन मे निम्नाकित पदार्थ प्राप्त होते हैं

(१) **कोयले की गैस** (१७%)—इसमे कई गैसे मिश्रित रहती हैं जिनमे प्रमुख हाइड्रोजन (५२%), मेथेन (३२%), कार्बन मोनोऑक्साइड (६%), नाइट्रोजन (४%), कार्बन डाइ-आक्साइड (२%), तथा एथिलीन और अन्य ओलीफीन (४%) है। इनके अतिरिक्त बेजीन तथा अन्य ऐरोमैटिक हाइड्रोकार्बन के वाष्प भी इसमे रहते हैं। इसका मुख्य उपयोग ईधन के रूप मे होता है।

(२) **अमोनिया विलयन** (८%)—इससे अमोनिया प्राप्त की जाती है।

अर्धमागधी प्राचीन काल में मगध की भाषा थी। जैन धर्म के प्रतिष्ठाता महावीर ने इसी भाषा में अपने धर्मोपदेश किये थे। लोकभाषा होने के कारण यह आसानी से स्त्री, बालक, वृद्ध और अनपढ लोगो की समझ में आ सकती थी। आगे चलकर महावीर के शिष्यो ने अर्धमागधी में महावीर के उपदेशो का सग्रह किया जो आगम नाम से प्रसिद्ध हुए। समय समय पर जैन आगमो की तीन वाचनाएँ हुई। अतिम वाचना महावीरनिर्वाण के १,००० वर्ष बाद, ईसवी सन् की छठी शताब्दी के आरभ में, देवर्धिगणि क्षमाक्षमण के अधिनायकत्व में वलभी (वला, काठियावाड) मे हुई जब जैन आगम वर्तमान रूप मे लिपिबद्ध किए गए। इस बीच जैन आगमो मे भाषा और विषय की दृष्टि से अनेक परिवर्तन हुए, जो स्वाभाविक था। इन परिवर्तनो के होने पर भी आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि जैन आगम पर्याप्त प्राचीन और महत्वपूर्ण हैं। ये आगम श्वेताबर जैन परपरा द्वारा ही मान्य है, दिगबर जैनो के अनुसार ये लुप्त हो गए हैं।

हेमचद्र आचार्य ने अर्धमागधी को आर्ष प्राकृत कहा है। अर्धमागधी शब्द का कई तरह से अर्थ किया जाता हे (क) जो भाषा मगध के आधे भाग में बोली जाती हो, (ख) जिसमें मागधी भाषा के कुछ लक्षण पाए जाते हो, जैसे पुलिग मे प्रथमा के एकवचन में एकारात रूप का होना (जैसे धम्मे)। आगमो के उत्तरकालीन जैन साहित्य की भाषा को अर्धमागधी न कहकर प्राकृत कहा गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि उस समय मगध के बाहर भी जैन धर्म का प्रचार हो गया था। भाषा-विज्ञान की परिभाषा मे अर्धमागधी मध्य भारतीय आर्य परिवार की भाषा है, इस परिवार की भाषाएँ प्राकृत कही जाती हैं। मध्य भारतीय आर्य परिवार की भाषा होने के कारण अर्धमागधी सस्कृत और आधुनिक भारतीय भाषाओ के बीच की एक महत्वपूर्ण कडी है।

स० ग्र०—ए० एम० घाटगे इट्रोडक्शन टु अर्धमागधी (१९४१), बेचरदास जीवराज दोशी प्राकृत व्याकरण (१९२५)।

[ज० च० जै०]

अर्बुद शरीर के किसी भी अग मे उत्पन्न हुई गाँठ है। इसको साधारण बोलचाल मे ट्यूमर भी कहा जाता है। विकृतिविज्ञान मे अर्बुद की परिभाषा कठिन है, परतु सरल, यद्यपि अपूर्ण, परिभाषा यह है कि अर्बुद एक स्वतत्र और नई उत्पत्ति है अथवा अप्राकृतिक ऊतक पिंड है जिसकी वृद्धि प्राकृतिक ऊतक पिंडो की नियमित वृद्धि से भिन्न होती है।

छद्म अर्बुद—कुछ अर्बुद केवल देखने में अर्बुद के समान होते हैं, वे वास्तविक अर्बुद नही होते, उदाहरणत चोट लगने से शरीर के किसी भाग का सूज आना (उसमें शोथ उत्पन्न होना), टूटी हड्डियो के ठीक ठीक न जुडने पर सविस्यल पर गाँठ बन जाना, फोडा (सस्कृत मे स्फोटक) निकलना, कौडी (इन्फ्लेम्ड लिंफैटिक ग्लैड) उभड आना और क्षय, उपदश (सिफलिस), कुष्ठ आदि के कारण गाँठ बनना अर्बुद नही है। अतिश्रम से मासपेशियो की वृद्धि, जैसे नर्तकियो मे टाँग की पिंडलियो की वृद्धि, गर्भाधान में स्तनो और उदर की वृद्धि आदि सामान्य शारीरिक क्रियाएँ हैं और इनको रोग नही कहा जाता। बाहर से शरीर के भीतर विशेष जीवाणुओ या कीटाणुओ के घुस आने पर और चारो ओर से शरीर की कोशिकाओ से उनके घिर जाने पर जलमय पुटी (सिस्ट) बन जाना भी यथार्थ अर्बुद नही है। इसी प्रकार मुँहासे, अडकोश मे जल उतर आने से अडकोशवृद्धि आदि भी अर्बुद नही हे। **अपस्फीत शिरा** (उसे देखें) और उसी प्रकार से शरीर के भीतर द्रव भरे अगो की भित्तियो का दुर्बलता के कारण फूल आना भी अर्बुद नही है। **हिस्टीरिया** में (उसे देखें), रोगिणी की इस धारणा से कि मै गर्भवती हूँ, पेट फूल आना भी अर्बुद नही है।

वास्तविक अर्बुद—वास्तविक अर्बुद में शरीर की कोशिकाएँ अनियमित रूप मे बढने लगती हैं। शरीर की रचना (देखें **शरीर-रचना-विज्ञान**) कोशिकामय है। चमडी कोशिकाओ से बनी है, मास भी कोशिकाओ से बना है, परतु विभिन्न प्रकार की कोशिकाओ से, हड्डियाँ, दाँत, इत्यादि सभी अग विशेष प्रकार की कोशिकाओ से बने हैं। इन्ही कोशिकाओ में से किसी जाति की कोशिकाओ के, या उनसे मिलती जुलती परतु विकृत कोशिकाओ के, अनावश्यक मात्रा में बढना आरभ करने से अर्बुद उत्पन्न होता है। इस बढने का कारण अभी तक अज्ञात है। यो तो स्वस्थ शरीर में कोशिकाओ की सख्या सदा बढती ही रहती है। परतु प्रत्येक कोशिका की आयु सीमित होती है, आयु पूरी होने पर उसके बदले में नई कोशिका आ जाती है। नई कोशिकाओ के बनने का ढग यह है कि कोई स्वस्थ कोशिका दो भागो मे विभक्त हो जाती है और प्रत्येक भाग बढकर पूरी कोशिका के बराबर हो जाता है। जब शरीर का थोडा सा मास निकल जाता है, जैसे कट जाने से या जल जाने से, तो पडोस की कोशिकाएँ बढने लगती हैं और थोडे समय मे क्षति की पूर्ति कर देती हैं। क्षतिपूर्ति के बाद कोशिकाओ की वृद्धि अपने आप बद हो जाती है। हम कोशिकाओ की वृद्धि का उद्देश्य समझ सकते हैं, उनका रुकना भी उचित ही है, यद्यपि अभी तक यह पता नही लग सका है कि उनका बढना किस प्रकार नियन्त्रित होता है।

अर्बुदो की उत्पत्ति शरीर की कोशिकाओ की अकारण वृद्धि से होती है और वृद्धि रुकती नही। नवजात कोशिकाएँ बहुधा कुछ विकृत (साधारण से अधिक सरल) होती हैं।

कुछ व्यवसायो में लगे व्यक्तियो में अर्बुद अधिक उत्पन्न होते हैं, सभवत उस व्यवसाय में प्रयुक्त रासायनिक पदार्थो द्वारा उत्पन्न उत्तेजना के कारण। कुछ परिवारो मे अर्बुद अधिक देखे जाते हैं, सभवत आनुवशिक (हेरिडिटैरी) शारीरिक लक्षणो के कारण। जीवाणुओ को शरीर में प्रविष्ट कराकर अर्बुद उत्पन्न करने का प्रयोग विफल रहा है। चोट से अर्बुद उत्पन्न होने का पक्का प्रमाण नही मिल सका है।

वास्तविक अर्बुदो में कोशिकावृद्धि बहुधा तभी रुकती है जब रोगी की मृत्यु हो जाती है। नई कोशिकाओ के बनने का पता साधारणत शरीर के किसी अग के फूल आने से चलता है। परतु अधिक गहराई मे बने अर्बुदो का पता शरीर के ऊपरी भाग को टटोलने से नही चल पाता। कभी कभी ऐसा भी होता है कि अर्बुद में बनी नई कोशिकाएँ शरीर की साधारण कोशिकाओ को मारती चलती हैं। ऐसी अवस्था में भी शरीर का कोई अग नही फूलता। साधारण कोशिकाओ के अधिक सख्या मे मरने के कारण फूलने के बदले अग पिचक भी जा सकता है। ऐसा स्तनो और आत्रो के कर्कट (कैसर) रोग से हो सकता है। शरीर की नलिकाओ में, जैसे अँतडी, पित्तनलिका तथा मूत्रनलिका में, अर्बुद के कारण रुकावट उत्पन्न हो सकती है। वहाँ घाव हो जाने से रक्तवमन और रक्तमिश्रित मूत्र आ सकता है। अर्बुद पक जा सकता है और तब पीब (मवाद) शरीर के बाहर मूत्र आदि के साथ निकल सकती है। खोपडी, छाती आदि हड्डियो से घिरे स्थानो में भीतर अर्बुद बनने से शरीर के अन्य अग (जैसे मस्तिष्क, हृदय आदि) भीतर ही भीतर दबने लगते हैं और तब नवीन उपद्रव उत्पन्न होते है। हड्डी के भीतर अर्बुद उत्पन्न होने से हड्डी दुर्बल होकर टूट जा सकती है। अन्यत्र बने अर्बुद से दृष्टिहीनता इत्यादि उत्पन्न हो सकती है।

मृदु और घातक अर्बुद—अर्बुद मे कभी पीडा होती है, कभी नही। जब अर्बुदो से शरीर के अन्य अग दबने लगते हैं तब अवश्य पीडा होती है। जैसा अत मे बताया गया है, अर्बुदो के वर्गीकरण में कुछ कठिनाई पडती है। पुराने लोग मोटे हिसाब से अर्बुदो को दो जातियो मे विभक्त करते थे, एक घातक (मैलिग्नैंट) और दूसरा मृदु (बिनाइन)। घातक वे होते हैं जो उचित चिकित्सा न करने पर रोगी की जान ले लेते हैं। मृदु अर्बुदो से साधारणत जान नही जाती, परतु यदि वे किसी बेढब स्थान में हुए तो शरीर के किसी अन्य अग को दबाकर जान ले सकते हैं। घातक अर्बुदो में आरभ से यह प्रवृत्ति रहती है कि वे शरीर की अन्य कोशिकाओ पर आक्रमण करके उन्हें नष्ट करते रहते हैं। उनमे एक विशेष लक्षण यह भी होता है कि वे अपने उद्गम स्थान से हटकर शरीर के विविध भागो में विचरण करते रहते हैं और अनेक स्थानो में उनकी बस्ती बढने लगती है। यदि शरीर के सब अगो से घातक अर्बुद की कोशिकाएँ निकाल न दी जायँ तो एक स्थान को स्वच्छ करने पर दूसरे स्थान से रोग का आरभ हो जाता है। मृदु अर्बुद अपने उद्गम स्थान पर ही टिके रहते हैं। उन्हे काटकर पूर्णतया निकाल देने पर रोग से छुटकारा मिल जाता है। मृदु अर्बुद कभी कभी घातक अर्बुद में बदल जाता है, परतु इस परिवर्तन का कारण अभी तक ज्ञात नही हो सका है।

अभिज्ञ	—	१७	—
भारी तैल, २५०-३००° से० (४८२-५७२° फा०)	७०	—	—
मेथिल नैफ्थलीन	—	२५	—
डाइमेथिल नैफ्थलीन	—	३४	—
एसी नैफ्थलीन	—	१४	—
अभिज्ञ	—	१०	—
ऐंथ्रैसीन तैल, ३००-३५०° से० (५७२-६६२° फा०)	६०	—	—
फ्लोरीन	—	१६	—
फेनेनथ्रेन	—	४०	—
ऐंथ्रेमीन	—	११	—
कारवेजोल	—	११	—
अभिज्ञ	—	१२	—
डामर	६२०	—	—
गैस	—	२०	—
भारी तैल	—	२१८	—
रक्त मोम	—	७०	—
कार्बन	—	३२०	—

ऊपर यह कहा जा चुका है कि अलकतरे के गुण कार्बनीकरण की विधियो पर निर्भर रहते है। सारणी २ मे विभिन्न कार्बनीकरण विधियो से प्राप्त अलकतरे के गुण अकित है

सारणी २

विभिन्न अलकतरो के गुण

	अनुप्रस्थ वकभाड (उच्चताप)	बीक कुड	उदग्र वकभाड	निम्नताप कार्बनीकरण
१५.५° से० पर आपेक्षिक भार	११६	११७	१११	१०३
आसवन, शुष्क डामर का भार, प्रति शत				
२००° से० (३९२° फा०) तक	५	२	५	९
२००°-२३०° से० (४४६° फा०)	७	३	११	१६
२३०°-२७०° से० (५१८° फा०)	११	७	१४	१३
२७०°-३००° से० (५७२° फा०)	४५	६	७	९
३००°-मध्य डामर	१२५	११	१२	१८
मध्य डामर	६०	७१	५१	३५
अशोधित डामर अम्ल, २००°-२७०° से० वाले प्रभाग मे				
प्रभाग का आयतन प्रति शत	२०-२५	२०२५	२०-५०	३५-४०
शुष्क अलकतरे का आयतन प्रति शत	४-५	४-५	६-१२	८-१०
नैफ्थलीन, २००°-२७०° से० प्रभाग में शुष्क अलकतरे का भार प्रति शत	४	४-६	लेशमात्र	शून्य
मुक्त कार्बन, भार प्रति शत	१५	१५	४	१

'उपजात प्रत्यादान उपकरण' (वाई-प्रॉडक्ट रिकवरी ऐपरेटस) में विभिन्न स्थानो पर अवक्षिप्त अलकतरे के गुणो मे बहुत अतर होता है। जिन अलकतरो मे उच्च-क्वथनाक यौगिक अधिक मात्रा मे होते हैं वे 'सग्रहण नल' (कलेक्टिंग मेन) मे एकत्र होते है। परतु प्रारभिक शीतक (प्राइमरी कूलर) से प्राप्त अलकतरे मे अधिक अनुपात निम्न-क्वथनाक यौगिको का होता है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि अलकतरे के आसवन से आजकल कई प्रकार के रासायनिक एव रजक पदार्थ तैयार किए जाते है। एक टन अलकतरे के आसवन से औसत मात्रा मे निम्नलिखित विभिन्न पदार्थ प्राप्त होते है :

		आसवन ताप ° सेंटीग्रेड
लघु तैल	१२ गैलन	१७०° से० तक
कार्बोलिक तैल	२० गैलन	१७०° से० से २३०° से० तक
क्रियोसोट तैल	१७ ,,	२३०° स० से २७०° से० तक
ऐंथ्रैसीन तैल	३८ ,,	२७०° से० से ४००° स० तक
डामर	११ हड्रेडवेट	अवशेष

उपर्युक्त पदार्थो के शोधन और रासायनिक उपचार के पश्चात् निम्नलिखित शुद्ध पदार्थो की प्राप्ति होती है :

वेंजीन तथा टॉलूईन	२५ पाउड
फीनोल	११ ,,
क्रीसोल	५० ,,
नैफ्थलीन	१८० ,,
क्रिओसोट	२०० ,,
ऐंथ्रैसीन	६ ,,

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि अलकतरा न केवल एक तरल ईंधन है, वरन् उससे नाना प्रकार के रासायनिक विस्फोटक पदार्थ, ओषधियाँ, सुदर रजक, सश्लिष्ट रवर, प्लास्टिक, मक्खन तथा अन्य कई वस्तुएँ बनाई जा रही है। वास्तव मे यह एक बहुमूल्य निधि है जिसमे सहस्रो रत्न छिपे पडे है।

स०ग्र०—नैशनल रिसर्च काउसिल, अमरीका (सभापति एच० एच० लौव्री) दि केमिस्ट्री ऑव कोल यूटिलाइजेशन, २ खड (१९४५)। [द० स्व०]

अलकनंदा गगा की एक प्रधान शाखा अथवा सहायक है। यह हिमालय से निकलकर सयुक्त प्रात के गढवाल जिले के ऊपरी भाग मे बहती हुई टिहरी गढवाल जिले के देवप्रयाग नामक स्थान पर बाई ओर से आनेवाली भागीरथी से मिलकर गगा का निर्माण करती है। अलकनदा भी भारत की पवित्र नदियो मे गिनी जाती है। माउट कैमेट (२५,४४७ फुट) के पार्श्वद्वय से धौली तथा सरस्वती नदियाँ आती हैं और गगोत्तरी-केदारनाथ-वदरीनाथ शिखरसमूह (२२,०००-२३,००० फुट) के पूर्वी पार्श्व मे उनके मिलने से अलकनदा नदी बन जाती है। इस शिखरसमूह के पश्चिमी अचलो से भागीरथी निकलती है और टिहरी गढवाल जिले के देवप्रयाग नामक स्थान मे अलकनदा के सगम से पुण्य-सलिला गगा का निर्माण होता है। भागीरथीसगम के पूर्व अलकनदा नदी म पिंदर, नदाकिनी एव मदाकिनी नदियाँ मिलती है और इन सगमो पर क्रमानुसार कर्णप्रयाग, नदप्रयाग और रुद्रप्रयाग नामक तीर्थस्थान है।

वदरीनाथ से थोडी दूर ऊपर अलकनदा नदी की चौडाई १८ या २० फुट है, पथ उथला एव धारा तीव्र है। इसके ऊपर नदी का मार्ग हिमपुजो के भीतर ढँका रहता है। शास्त्रो मे उल्लिखित 'अलकापुरी'—कुबेर की महानगरी—इसके उत्तराचल मे स्थित है। देवप्रयाग में नदी की चौडाई १४०-१५० फुट हो जाती है। नदी के पार्श्व मे ७,००० फुट की ऊँचाई तक हिमोढ (मोरेस) पाए जाते है जब कि आज की हिमनदियाँ १३,००० फुट से नीचे नही मिलती। अलकनदा के तट पर श्रीनगर (जनसख्या २,३८५ सन् १९५१) नामक नगर सुशोभित है। [का० ना० सि०]

अलकपाद (सिरिपीडिया) कठिनिवर्ग (क्रस्टेशिया) के अतर्गत एक अनुवर्ग के जीव है। इनमे कई जातियाँ है। सभी केवल समुद्र मे रहते है। कुछ अलकपाद खाडियो तथा नदियो के मुहानो मे भी मिलते है। कुछ अलकपाद परजीवी जीवन व्यतीत करते है। अधिकाश अलकपाद प्रौढ अवस्था मे चट्टानो या वहते हुए पदार्थो से अपने अग्र भाग (गरदन) द्वारा चिपके रहते है। साधारणतया ये तीन इच लबे होते है, किंतु एक जाति के सदस्य लगभग नौ इच लबे और सवा इच मोटी गरदन के होते है। जहाजो पर कभी कभी अलकपाद इतनी सख्या मे चिपक जाते है कि जहाज का वेग आधा हो जाता है, इजनो मे तेल या कोयला बहुत खर्च होता है और मशीनो पर अनुचित वल पडता है। इसलिये

अर्बुद की जाति	रोग का नाम
८ धारिच्छद अर्बुद (एपिथीलिअल ट्यूमर्स)	
क—मृदु (इन्नोसेंट)	पैपिलोमा
	ऐडिनोमा
ख—घातक (मैलिग्नैंट)	कारसिनोमा
९ विशेष प्रकार के धारिच्छद अर्बुद (स्पेशल फार्म्स ऑव एपिथीलियल ट्यूमर्स)	हाइपरनेफ्रोमा
	कोरिओ एपिथीलिओमा
	ऐडामैंटिनोमा
१० टेराटोमा	

सं०ग्रं०—आर० ए० विलिस पैथॉलोजी ऑव ट्यूमर्स (लदन, १९४८), केटल पैथॉलोजी ऑव ट्यूमर्स। [उ० श० प्र०]

अर्माडा प्रोटेस्टेंट मतावलबी इग्लैड को, जिसे पोप सेक्स्तस् पचम ने स्पेन को प्रदान कर दिया था, नतमस्तक करने तथा, सभवत रानी एलिज़ाबेथ के विवाहप्रस्ताव अस्वीकार कर देने पर अपना रोष शात करने के लिये कैथोलिक मतावलबी स्पेन सम्राट् फिलिप द्वितीय ने इग्लैड पर आक्रमण करने का विशाल आयोजन किया। ऐडमिरल साताक्रूज़ के अधिनायकत्व मे १२९ जहाज, ८०० नाविक तथा २१,००० सैनिको के विशाल बेडे का निर्माण हुआ। इसे इन्विसिबुल (अजेय) अर्माडा की सज्ञा प्रदान की गई। इसके अतिरिक्त अर्माडा के सहायतार्थ फ्लैडर्स में पार्मा के ड्यूक के नेतृत्व मे ३०,००० सैनिक नियुक्त किए गए। अग्रेजी बेडा जहाजो और सैनिको की सख्या मे कम होते हुए भी, हॉवड, ड्रेक, हाकिंस तथा फ्रोबिशिर ऐसे दक्ष अनुभवी नेताओ से सचालित था, उसके नाविक भी अधिक सक्षम और अनुभवी थे। अग्रेजी जहाज छोटे होने के कारण स्पेनी जहाजो की अपेक्षा अधिक सुगमता और दक्षता से सचालित किए जा सकते थे। ड्रेक ने आरभ मे ही असीम साहस का परिचय दे कादिज़ बदरगाह में घुस अर्माडा पर आक्रमण कर 'स्पेन के राजा की दाढी झुलस दी।' ऐडमिरल साताक्रूज की भी मृत्यु हो गई। इससे अर्माडा का अभियान स्थगित हो गया। नवीन अधिनायक मदोना सीदोनिया अनुभवहीन नाविक था। प्रस्थान करने पर आँधी के कारण और भी व्याघात पडा। मदोना सीदोनिया ने पार्मा के ड्यूक की सहायता लिए बिना ही प्लाइमथ की ओर बढने का निश्चय किया। सात मील चौडा व्यूह रचकर अर्धचद्राकार अर्माडा जब प्लाइमथ के निकट आया तब ऐडमिरल हॉवर्ड ने प्लाइमथ से निकल अर्माडा के पृष्ठ पर दूर से ही आक्रमण कर एक के बाद एक जहाजो को ध्वस्त करना प्रारभ कर दिया। 'उसने स्पेनियो के एक एक करके सारे पर उखाड डाले।' जैसे जैसे अर्माडा चैनेल में बढता गया वैसे वैसे हफ्ते भर उसपर आग बरसती रही और उसे कैले में आश्रय लेने के लिये बाध्य होना पडा। तब आधी रात बीतने पर ड्रेक ने आठ जहाजो मे बारूद आदि लाद, उनमे आग लगा बदरगाह में छोड दिया। आतकित होकर अर्माडा को बाहर निकलना पडा। ग्रेवलाइस के निकट छ घटे के भीषण सघर्ष के फलस्वरूप अर्माडा को मैदान छोड भागना पडा। गोला बारूद की कमी के कारण अग्रेजी जहाज अधिक पीछा न कर सके। किंतु रहा सहा काम प्रकृति ने पूरा कर दिया। उत्तरी समुद्रो में बवडर के कारण अर्माडा की बची खुची शक्ति भी नष्ट हो गई। ध्वस्त दशा मे केवल ५४ जहाज ही स्पेन पहुँच सके। 'इनविंसिबुल' (अजेय) शब्द का ऐसा उपहास इतिहास में कम ही हुआ होगा।

सं०ग्रं०—जे० ए० फ्राडी दि स्पेनिश स्टोरी ऑव दि अर्माडा ऐड अदर एसेज, सर जे० के० लाफ्टन स्टेट पेपर्स रिलेटिंग टु दि डिफीट ऑव दि स्पेनिश अर्माडा, सर जे० कार्बेल्ट ड्रेक ऐड दि ट्यूडर नेवी, क्रीजी फिफ्टीन डिसाइसिव बैटिल्स, जे० आर० हेल्स ग्रेट अर्माडा। [रा० ना०]

अर्मीनियस जर्मन वीर। युवावस्था मे उसने रोम की सेना मे काम किया। जर्मनी लौटकर देशवासियो को रोम के गवर्नर के पाशविक शासन मे पिसते देख उसने विद्रोह का झडा खडा किया और १५ ई० मे रोम के शासक को हराकर भगा दिया। २१ ई० मे उसकी हत्या कर दी गई। [स० च०]

अर्ल मार्क्विस और वाइकाउट के बीच का पद जो अग्रेज अमीरो (पियर्स) को दिया जाता है। इस पद का इतिहास प्राचीन है और १३३७ई०तक यह सबसे ऊँचा समझा जाता रहा है। एडवर्ड तृतीय ने अपने पुत्र को इसी से समानित किया था। यह पैतृक होता है और पिता के बाद पुत्र को प्राप्त होता है। सभवत सम्राट् कन्यूट के समय यह स्कैंडिनेविया से इग्लैड में प्रचलित किया गया था। इसका सबध पहले राज्य-शासन से था और अर्ल पहिले काउटी के न्यायाधीश होते थे। ११४०ई० मे सर्वप्रथम जेफ्री० डे० मैडविल को इसेक्स का अर्ल बनाया गया। पैतृक होने के नाते, पुत्र के न होने पर यह पद पुत्री को मिलता था। कई पुत्रियो के होने पर, सम्राट् एक के पक्ष में अपना निर्णय देता था। विवाहिता पुत्री के पति को पार्लियामेंट मे स्थान प्राप्त करने का अधिकार मिलता था। १३३७ई०मे बहुत से अर्ल बनाए गए और उनको जागीरे भी दी गई। उनका किसी एक काउटी से सबध न था। १३८३ ई० मे इस पद को केवल पुत्र तक ही सीमित रखने का प्रतिबध लगाया गया। केवल जीवन पर्यत इस पद को धारण करने का भी प्रयास हुआ। इसके साथ तलवार बाँधना तथा एडवर्ड के समय से कढी हुई सुनहरी टोपी और कालर बाँधना भी अनिवार्य हो गया। आगे के इतिहास मे यह पद साधारण व्यक्तियो को भी दिया जाने लगा। स्काटलैड मे सर्वप्रथम १३९८ई० मे लिड्जे को क्राफर्ड का अर्ल बनाया गया। आयरलैड मे किल्डेर का अर्ल सबसे बडा समझा जाता था। अर्ल का सबोधन 'राइट आनरेबुल' और 'लार्ड' है। उसके ज्येष्ठ पुत्र 'वाइकाउट' और कनिष्ठ पुत्र केवल 'आनरेबुल' कहे जाते है। उसकी सब पुत्रियाँ 'लेडीज' कहलाती है। [बै० पु०]

अर्विंग, वाशिंगटन (१७८३-१८५९), निबधकार और कथाकार। इनका जन्म न्यूयार्क में हुआ। बचपन से ही इन्होने अपने पिता विलियम अर्विंग (जो स्काटलैड से अमरीका आए थे) के निजी पुस्तकालय मे विद्योपार्जन किया। १७९९ मे इन्होने वकालत का काम आरभ किया, परतु क्षय रोग से ग्रस्त होने के कारण १८०४ मे स्वास्थ्यलाभ के लिये ये यूरोप चले गए। १८०६ मे स्वदेश लौटने पर अपने भाइयो के व्यवसाय में हाथ बटाया और साहित्य पर अपनी दृष्टि केंद्रित की। १८०७ मे इन्होने 'सालमागुडी' नाम की एक मनोरजन मिसलेनी और १८०९ मे न्यूयार्क का इतिहास प्रकाशित किया। १८१५ मे पुन यूरोप भ्रमण के बाद १८१९ मे इन्होने 'दि स्केच बुक' प्रकाशित की, जिसे विदेशो मे बहुत सफलता और ख्याति मिली। १८२२ मे यह पेरिस गए और दो किताबे 'ब्रेसब्रिज हाल' और 'टेल्स ऑव ए ट्रैवेलर' लिखी। १८२६ में ये स्पेन चले गए जिसके फलस्वरूप इन्होने अनेक सुदर इतिहास लिखे 'कोलबस की जीवनी और उनकी यात्राओ का इतिहास' १८२८, 'ग्रेनाडा की विजय' १८२९, 'कोलबस के साथियो की यात्राएँ' १८३१, 'अलहब्रा' १८३२, 'स्पेन पर विजय की कथाएँ' १८३५, और 'मुहम्मद और उनके उत्तराधिकारी' १८४९। सन् १८३२ मे वे अमरीका लौट चुके थे। १८४२ में वे स्पेन मे अमरीका के राजदूत नियुक्त हुए, और १८४६ मे स्वदेश लौट आए। इसी वर्ष इन्होने 'गोल्डस्मिथ की जीवनी' प्रकाशित की और १८५५-५९ के बीच मे 'वाशिंगटन की जीवनी' नामक अपनी महान् कृति प्रकाशित की। १९५५ मे ही इनकी कथाओ और निबधो का एक सकलन 'बुलफर्ट्स रूस्ट' के नाम से प्रकाशित हो चुका था। १८५९ की २८ नवबर को एकाएक इनकी मृत्यु हो गई। इनकी लेखनी आकर्षक थी और अमरीका के साहित्य में इनका ऊँचा स्थान है। [स्क० गु०]

अर्विंग, सर हेनरी (१८३८-१९०५), अग्रेज अभिनेता, मूल नाम जान ब्राड्बि। पहली बार बुलवर लिटन के नाटक 'रिशेल्यू' मे आर्लीन्स के ड्यूक की भूमिका में रगमच पर आए। अगले दस वर्षो मे उन्होने ५०० भूमिकाएँ खेली। वे शेक्सपियर के प्रधान नाटको मे प्रधान पात्र बने और १८७४ मे जो उन्होने २०० रातो तक लगातार हैम्लेट का पार्ट किया उससे अग्रेज जनता ने उन्हे देश का रुचिरतम अभिनेता स्वीकार किया। १८९५ मे 'नाइट' बने। दशको

का यह बचा हुआ भाग केकडे की देहगुहा मे चला जाता है । रक्तपरिवहन द्वारा फिर यह केकडे के अन्नस्रोतस तक पहुँचकर उसके अवरतल मे चिपक जाता है। तब इससे छोटी छोटी शाखाएँ निकलती है जो आपस मे मिलकर एक जाल सा केकडे के सारे शरीर मे बना लेती है। यह जाल टाँगो तक पहुँचता है। इसी बीच इसके अवरतल से फिर एक गाँठ सी निकलती है जिसमे प्रजनन ग्रथि तथा प्रगड होता है। जैसे जैसे यह गाँठ बढती है वैसे वैसे यह केकडे के उदर के अवरतल पर दबाव डालती है। केकडा जब केचुल बदलता है तो स्यूनिका पूर्ण विकसित रूप से बाहर आकर केकडे के उदर के अवरतल से चिपककर लटक जाती है (चित्र देखे)।

स्यूनिका का परजीवी जीवन केवल उसका शारीरिक अध पतन नही करता, वरन् अपने पोषक (केकडे) के लिये भी बहुत हानिकारक सिद्ध होता है। मुख्य हानिकारक प्रभाव ये है जब स्यूनिका किसी नर केकडे के बाहर आ जाती है तो केकडे का केचुल छोडना बिलकुल बद हो जाता है और उसकी प्रजनन ग्रथियाँ धीरे धीरे बिलकुल दुबली और दुर्बल हो जाती है। गौण लैंगिक अवयव, जैसे मैथुन कटिका (कॉपुलेटरी स्टाइल्स) तथा नखर (कीली) नाप मे बहुत छोटे हो जाते है। तब नर केकडा उभयलिंगी या मादा हो जाता है। उसका उदर विस्तीर्ण तथा चौडा हो जाता है। इसी तरह मादा के भी गौण लैंगिक अवयव (अडवाही उपाग) नाप मे छोटे हो जाते है।

शखकर्कजीवी नामक अलकपाद भी एक अन्य जाति के केकडे के लिये उसी प्रकार हानिकारक है जिस प्रकार स्यूनिका नर केकडे के लिये, किंतु कुछ अधिक मात्रा मे। [रा० च० स०]

अलका मेरु पर्वत पर यक्षगंधर्वो की नगरी और यक्षराज कुवेर की राजधानी। कालिदास ने अलका को अपने मेघदूत मे यक्षो की नगरी कहा है और उसे कैलास पर्वत की ढाल पर बसी बताया है। उसी नगरी का अभिशप्त यक्ष मेघदूत का नायक है जिसकी प्रिया का उस अलका मे प्रोषितपतिका विरहिणी के रूप मे कवि ने बडा विशद, भावुक, आर्द्र और मार्मिक वर्णन किया है। प्रकट है कि अलका भौगोलिक जगत् की नगरी न होकर काव्यजगत् की नगरी है, सर्वथा पौराणिक। [ओ० ना० उ०]

अलख वि० (स० अलक्ष्य), जो दिखाई न पडे, अदृश्य, अप्रत्यक्ष, उ० 'अलख न लखिया जाई'—कबीर। अगोचर, इद्रियातीत, परमात्मा का एक विशेषण। 'अलख अरूप अबरन सो करता'—जायसी।

(१) शून्य, परमात्मा, अविनश्वर नाम जिसका स्मरण गूदरपथी और नाथ जोगी साधु, घर घर भिक्षा माँगते समय, 'अलख अलख' पुकारकर दिलाया करते है। (२) नाथपथी जोगियो का वह गीत जो भिक्षा माँगते समय, प्राय चिकारो पर गाया जाता है और जिसमे अधिकतर गोपीचद, भरथरी, गोरख, पूरन भगत या मैनावती की कथाएँ अथवा निर्गुण मत की भावनाएँ पाई जाती है, निरगुनियाँ गीत।

इसी से 'अलख जगाना' एक मुहावरा ही बन गया।

'अलखदरीबा' वह स्थान जहाँ पर सत दादूदयाल अपने अनुयायियो के साथ बैठकर आध्यात्मिक चर्चा किया करते थे। अलख शब्द से सबधित कुछ और सप्रदाय भी है, यथा 'अलखधारी' भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशो का एक सप्रदाय जिसके अनुयायी अलख अगोचर तत्व का ध्यान करते है। 'अलखनामी' सप्रदाय (देखिए 'अलखनामी)। 'अलख निरजन' परमात्मा का एक नाम जो, उसके शून्यवत् अदृश्य रहने के कारण पडा। 'अलखवाला', जोगियो का एक उपसप्रदाय। [प० च०]

अलखनामी १—एक प्रकार के गोरखपथी साधु जिनके सिर पर जटा और शरीर पर भस्म व गेरुआ वस्त्र हो तथा जो ऊन की सेली बाँधते हो जिसमे प्राय घुँघुरु अथवा घटी लगी हो। भिक्षा माँगते समय ये लोग बहुधा दरियाई खप्पर फैलाकर 'अलख अलख' पुकारा करते है और एक द्वार पर अधिक नही अड़ा करते (अलखिया)। २—भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशो, विशेषकर बीकानेर तथा अबाला जिले के एक प्रकार के साधु जो अपने को अलखनामी, अलखधारी या अलखगीर कहा करते है और किसी लालबेग का अनुयायी भी बतलाते है जिसे वे शिव का अवतार मानते है। ये अधिकतर ढेढ जाति के होते है, मूर्तिपूजा मे विश्वास नही करते और अलख अगोचर तत्व का ध्यान करते है। इनके लिये दृश्यमान ससार के अतिरिक्त परलोक जैसा कोई स्थान नही और यहीं रहकर ये अहिंसा परोपकारादि का जीवनयापन करना श्रेयस्कर मानते है। इनके आडबरहीन जीवन मे ऊँच नीच का सामाजिक भेद नही है और न पूजा की कोई विस्तृत, व्यवस्थित विधि ही है। ये टोपी और मोटे कपडे धारण करते है और एक दूसरे से मिलने पर 'अलख कहो' कहा करते है तथा विशुद्ध योगियो के रूप मे समादृत होते है। ३—१९वी शताब्दी के एक साधु जो अयोध्या, नेपाल और हिमालय की तराइयो मे कोपीन बाँधे तथा चिमटा लिए भ्रमण करते और बीच बीच मे आकाश की ओर देखकर चिल्लाते हुए 'अलख्य अलख्य' कहते रहते थे। इन्हे अलख्य स्वामी भी कहा जाता था और ये अत तक कटक के निकटवर्ती पर्वतीय कुभपत्री जातियो मे धर्मप्रचारकस्वरूप प्रसिद्ध थे।

स०ग्र०—क्षितिमोहन सेन मिडीवल मिस्टीसिज्म (लदन, १९३५ ई०), परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की सतपरपरा (प्रयाग, स० २००८), हिंदी शब्दसागर, बँगला विश्वकोश। [प० च०]

अलबरूनी अबू-रिहान-मुहम्मद बिन अहमद अलबरूनी ख्वारिज्मी का जन्म हिजरी सन् ३६० (९७०-७१ ई०) मे हुआ था। 'तवारीख हुकमा' के लेखक शहरजूरी, जिसने इनकी जीवनी लिखी है, के मतानुसार यह सिंध के बिरून नामक स्थान मे पैदा हुए थे और इसी से इनका नाम बरूनी या बिरूनी पडा। अलबरूनी न स्वय अपने जन्मस्थान का कही उल्लेख नही किया है। 'किताबुल अन्सान' के लेखक समानी का, जिसने अपना ग्रथ हिजरी सन् ५६२ (११६६ ई०) मे लिखा, कहना है कि फारसी शब्द 'बिरूनी' से बाहर पैदा होनेवाल का सकेत होता है। इस अरबी विद्वान् के प्रारभिक जीवनकाल का कही विवरण नही मिलता, किंतु शमसुद्दीन मोहम्मद शहरजरी का कथन है कि कभी भी उनके हाथ से न लेखनी अलग हुई, न उनके नेत्र पुस्तक से हटे। केवल एक ही दो बार वे कार्य से वर्ष भर मे अवकाश लेते थे। उनका ध्यान हर समय पुस्तक पढने पर ही लगा रहता था। अबुलफज्ल बैहाकी का, जो बरूनी की मृत्यु के पचास वर्ष बाद हुआ, कहना है कि अपने समय के वे अद्वितीय विद्वान् थे और दर्शन, गणित तथा ज्यामिति मे पारगत थे। उनकी नियुक्ति गजनी के मुहम्मद बिन सुबुक्तगीन के यहाँ हुई और उन्हे भारत आने और यहाँ बहुत काल तक रहने का अवसर मिला। इसी बीच बिरूनी ने यहाँ पर सस्कृत भाषा और भारतीय सस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया। उन्होने यहाँ के कई प्रातो का भ्रमण किया और इसमें वे प्रमुख व्यक्तियो के सपर्क मे आए। उन्होने भारतीय दर्शन और धर्म की पुस्तको का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। साथ ही कला और विज्ञान के क्षेत्रो मे भी प्रवेश किया। शेख रैस अबू-अ९ ज्न सिना (अवीसेन्ना) की पुस्तक 'बातकल' का इन्होने अरबी मे अनुवाद किया। गणित और ज्यामिति की अपनी पुस्तक 'कानून मसूदी' मे इन्होने उपर्युक्त ग्रथ से बहुत कुछ उद्धृत किया। अको, युग और सवत् के विषय में भारतीय विद्वानो ने जो कुछ भी लिखा है उसका उल्लेख अलबरूनी ने 'बातकल' के अनुवाद मे किया है। अलबरूनी और इब्नसिना का बहुत विषयो मे मतभेद था, पर इब्नसिना ने कभी भी बरूनी से वादविवाद नही किया। बरूनी भारत मे लगभग ४० वर्ष रहे पर इनके भारतीय भौगोलिक ज्ञान मे त्रुटियाँ मिलती है। हिजरी सन् ४३० (१०३८-३९) में इनकी मृत्यु हो गई।

इन्होने बहुत से ग्रथ लिखे जिनमें से कुछ का यूनानी भाषा मे अनुवाद किया। कहा जाता है कि इनके लिखे ग्रथो से एक ऊँट का बोझा हो सकता है। मुख्यतया इनके नक्षत्रो की तालिका, बहुमूल्य पत्थरों का विवरण, औषधि पदार्थ, ज्योतिष, ऐतिहासिक तालिका और कनून-मसूदी नामक नक्षत्रो और भूगोल से सबधित ग्रथ है। अतिम ग्रथ के लिये सुल्तान मसूद ने एक हाथी के बोझ भर चाँदी के टुकडे इन्हे भेट मे दिए पर इन्होने उन्हे लौटा दिया।

का अगद्वार से उपकार करनेवाला बताकर उन्ही का अनुसरण किया है (ये रसस्यागिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन । उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थितयो गुणा ।। उपकुर्वति त सत येऽङ्गद्वारेण जातुचित् । हारादिवदलकारास्तेऽनुप्रासोपमादय ।) उन्होने गुणो को नित्य तथा अलकारो को अनित्य मानकर काव्य में उनके न रहने पर भी कोई हानि नही मानी (तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलक्रुती पुन क्वापि–का० प्र०) । आचार्य हेमचद्र तथा आचार्य विश्वनाथ दोनो ने उन्हे अगाश्रित ही माना है । हेमचद्र ने तो 'अगाश्रितास्त्वलकारा' कहा ही है और विश्वनाथ ने उन्हे अस्थिर धर्म बताकर काव्य में गुणो के समान आवश्यक नही माना है (शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्मा शोभातिशायिन । रसादीनुपकुर्वतोऽलकारास्तेऽङ्गदादिवत् ।—सा० द०) इसी प्रकार यद्यपि अग्निपुराणकार ने 'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रसएवात्रजीवितम्' कहकर काव्य मे रस की प्रधानता स्वीकार की है, तथापि अलकारो को नितात अनावश्यक न मानकर उन्हे शोभातिशायी कारण मान लिया है (अर्थालकाररहिता विधवेव सरस्वती) ।

इन मतो के विरोध मे १३वी शती मे जयदेव ने अलकारो को काव्यधर्म के रूप मे प्रतिष्ठित करते हुए उन्हे अनिवार्य स्थान दिया है । जो व्यक्ति अग्नि में उष्णता न मानता हो, उसी की बुद्धिवाला व्यक्ति वह होगा जो काव्य मे अलकार न मानता हो । अलकार काव्य के नित्यधर्म है (अगीकरोति य काव्य शब्दार्थावनलक्रुती । असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनल क्रुती ।—चन्द्रालोक) ।

इस विवाद के रहते हुए भी आनदवर्धन जैसे समन्वयवादियो ने अलकारो का महत्व प्रतिपादित करते हुए उन्हे आतर मानने मे हिचक नही दिखाई है । रसो की अभिव्यजना वाच्यविशेष से ही होती है और वाच्यविशेष के प्रतिपादक शब्दो से रसादि के प्रकाशक अलकार, रूपक आदि भी वाच्यविशेष ही हैं, अतएव उन्हें अतरग रसादि ही मानना चाहिए । वहिरगता केवल प्रयत्नसाध्य यमक आदि के सबध मे मानी जायगी (यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्या । तस्मान्न तेषा वहिरगत्व रसाभिव्यक्तौ । यमकदुष्करमार्गेषु तु तत् स्थितमेव ।—ध्वन्यालोक) । अभिनवगुप्त के विचार से भी यद्यपि रसहीन काव्य मे अलकारो की योजना करना शव को सजाने के समान है (तथाहि अचेतन शवशरीर कुडलाद्युपेतमपि न भाति, अलकार्यस्याभावात्—लोचन), तथापि यदि उनका प्रयोग अलकार्य के सहायक के रूप में किया जायगा तो वे कटकवत् न रहकर कुकुम के समान शरीर को सुख और सौंदर्य प्रदान करते हुए अद्भुत सौदर्य से मडित करेंगे । यहाँ तक कि वे काव्यात्मा ही बन जायँगे । जैसे खेलता हुआ बालक राजा का रूप बनाकर अपने को सचमुच राजा ही समझता है और उसके साथी भी उसे वैसा ही समझते है, वैसे ही रस के पोषक अलकार भी प्रधान हो सकते हैं (सुकवि विदग्धपुरध्रीवत् भूषण यद्यपि श्लिष्ट योजयति, तथापि शरीरतापत्तिरेवास्य कष्टसपाद्या, कुकुमपीतिकाया इव । बालक्रीडायामपि राजत्वमिवेत्थममुमर्थ मनसि कृत्वाह ।—लोचन) ।

वामन से पहल के आचार्यो ने अलकार तथा गुणो मे भेद नही माना है । भामह 'भाविक' अलकार के लिये गुण शब्द का प्रयोग करते है । दडी दोनो के लिये 'मार्ग' शब्द का प्रयोग करते है और यदि अग्निपुराणकार काव्य मे अनुपम शोभा के आधायक को गुण मानते है (य काव्ये महती छायामनुगृह्णात्यसौ गुण) तो दडी भी काव्य के शोभाकर धर्म को अलकार की सज्ञा देते है । वामन ने ही गुणो की उपमा युवती के सहज सौदर्य से और शालीनता आदि उसके सहज गुणो से देकर गुणरहित किंतु अलकारमयी रचना को काव्य नही माना है । इसी के पश्चात् इस प्रकार के विवेचन की परपरा प्रचलित हुई ।

वर्गीकरण . ध्वन्यालोक मे 'अनन्ता हि वाग्विकल्पा' कहकर अलकारो की अगणेयता की ओर सकेत किया गया है । दडी ने 'ते चाद्यापि विकल्प्यते' कहकर इनकी नित्य सख्यवृद्धि का ही निर्देश किया है । तथापि विचारको ने अलकारो को शब्दालकार, अर्थालकार, रसालकार, भावालकार, मिश्रालकार, उभयालकार तथा ससृष्टि और सकर नामक भेदो मे बाँटा है । इनमे प्रमुख शब्द तथा अर्थ के आश्रित अलकार है । यह विभाग अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर किया जाता है । जब किसी शब्द के पर्यायवाची का प्रयोग करने से पक्ति मे ध्वनि का वही चारुत्व न रहे तव मूल शब्द के प्रयोग मे शब्दालकार होता है और जब शब्द के पर्यायवाची के प्रयोग से भी अर्थ की चारुता मे अतर न आता हो तब अर्थालकार होता है । सादृश्य आदि को अलकारो के मूल में पाकर पहले-पहल उद्भट ने विषयानुसार कुल ४४ अलकारो को छ वर्गो मे विभाजित किया था, किंतु इनसे अलकारो के विकास की भिन्न अवस्थाओ पर प्रकाश पडने की अपेक्षा भिन्न प्रवृत्तियो का ही पता चलता है । वैज्ञानिक वर्गीकरण की दृष्टि से तो रुद्रट ने ही पहली बार सफलता प्राप्त की है । उन्होने वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष को आधार मानकर उनके चार वर्ग किए हैं । वस्तु के स्वरूप का वर्णन वास्तव है । इसके अतर्गत २३ अलकार आते हैं । किसी वस्तु के स्वरूप की किसी अप्रस्तुत से तुलना करके स्पष्टतापूर्वक उसे उपस्थित करने पर औपम्यमूलक २१ अलकार माने जाते हैं । अर्थ तथा धर्म के नियमो के विपर्यय मे अतिशयमूलक १२ अलकार और अनेक अर्थोवाले पदो से एक ही अर्थ का बोध करानेवाले श्लेषमूलक १० अलकार होते है ।

विभाजन अलकार के मुख्यत तीन भेद माने जाते हैं—शब्दालकार, अर्थालकार तथा उभयालकार । शब्द के परिवृत्तिसह स्थलो में अर्थालकार और शब्दो की परिवृत्ति न सहनेवाले स्थलो में शब्दालकार होता है। दोनो की विशिष्टता रहने पर उभयालकार होता है । अलकारो की स्थिति दो रूपो मे हो सकती है—केवल रूप और मिश्रित रूप । मिश्रण की द्विविधता के कारण 'सकर' तथा 'ससृष्टि' अलकारो का उदय होता है । शब्दालकारो में अनुप्रास, यमक तथा वक्रोक्ति का प्रामुख्य है । अर्थालकारो की सख्या लगभग एक सौ पचीस तक पहुँच गई है (कुवलयानद) ।

सब अर्थालकारो की मूलभूत विशेषताओ को ध्यान मे रखकर आचार्यो ने इन्हें मुख्यत पाँच वर्गो मे विभाजित किया है १ सादृश्यमूलक—उपमा, रूपक आदि, २ विरोधमूलक—विषय, विरोधाभास आदि, ३ शृखलावध—सार, एकावली आदि, ४ तर्क, वाक्य, लोकन्यायमूलक काव्यलिंग तथा यथासख्य आदि, ५ गूढार्थप्रतीतिमूलक—सूक्ष्म, पिहित, गूढोक्ति आदि । [आ० प्र० दी०]

अलंकारशास्त्र

संस्कृत आलोचना के अनेक अभिधानो में 'अलकारशास्त्र' ही नितात लोकप्रिय अभिधान है। इसके प्राचीन नामो मे **क्रियाकल्प** (क्रिया=काव्य ग्रथ, कल्प=विधान) वात्स्यायन द्वारा निर्दिष्ट ६४ कलाओ में से अन्यतम है । राजशेखरद्वारा उल्लिखित **'साहित्य विद्या'** नामकरण काव्य की भारतीय कल्पना के ऊपर आश्रित है, परतु ये नामकरण प्रसिद्ध नही हो सके । 'अलकारशास्त्र' में अलकार शब्द का प्रयोग व्यापक तथा सकीर्ण दोनो अर्थो में समझना चाहिए। अलकार के दो अर्थ मान्य हैं—(१) 'अलक्रियते अनेन' इति अलकार (=काव्य मे शोभा के आधायक उपमा रूपक आदि, सकीर्ण अर्थ), (२) अलक्रियते इति अलकार =काव्य की शोभा (व्यापक अर्थ) । व्यापक अर्थ स्वीकार करने पर अलकारशास्त्र काव्यशोभा के आधायक समस्त तत्वो—गुण, रीति, रस, वृत्ति, ध्वनि आदि—का विधायक शास्त्र है जिसमे इन तत्वो के स्वरूप तथा महत्व का रुचिर विवरण प्रस्तुत किया गया है । सकीर्ण अर्थ मे ग्रहण करने पर यह नाम अपने ऐतिहासिक महत्व को अभिव्यक्त करता है। साहित्यशास्त्र के आरभिक युग मे 'अलकार' (उपमा, रूपक, अनुप्रास आदि) ही काव्य का सर्वस्व माना जाता था जिसके अभाव मे काव्य उष्णताहीन अग्नि के समान निष्प्राण और निर्जीव होता है। 'अलकार' के गभीर विश्लेषण से एक ओर 'वक्रोक्ति' का तत्व उद्भूत हुआ और दूसरी ओर दीपक, तुल्ययोगिता, पर्यायोक्त आदि अलकारो मे विद्यमान प्रतीयमान अर्थ की समीक्षा करने पर 'ध्वनि' के सिद्धात का स्पष्ट सकेत मिला । इसलिये रस, ध्वनि, गुण आदि काव्यतत्वो का प्रतिपादक होने पर भी, अलकार की प्राधान्य दृष्टि के कारण ही, आलोचनाशास्त्र का नाम 'अलकारशास्त्र' पडा और वह लोकप्रिय भी हुआ ।

प्राचीनता अलकारो की, विशेषत उपमा, रूपक, स्वभावोक्ति तथा अतिशयोक्ति की, उपलब्धि ऋग्वेद के मत्रो में निश्चित रूप से होती है, परतु वैदिक युग मे इस शास्त्र के आविर्भाव का प्रमाण नही मिलता । निरुक्त के अनुशीलन से 'उपमा' का साहित्यिक विश्लेषण यास्क से पूर्ववर्ती युग की आलोचना का परिणत फल प्रतीत होता है। यास्क ने किसी प्राचीन गार्ग्य आचार्य के उपमालक्षण का निर्देश ही नही किया है, प्रत्युत

जिसमें यह गुण होता है कि वायु के संपर्क में रहने से कुछ समय में यह ठोस अवस्था में परिवर्तित हो जाता है। विशेषकर जब इसे विशेष रासायनिक पदार्थों के साथ उबाल दिया जाता है तब यह क्रिया बहुत शीघ्र पूरी होती है। इसी कारण अलसी का तेल रंग, वारनिश, और छापने की स्याही बनाने के काम आता है। इस पौधे के डंठलों से एक प्रकार का रेशा प्राप्त होता है जिसको निरंगकर लिनेन (एक प्रकार का कपड़ा) बनाया जाता है। तेल निकालने के बाद बची हुई सीठी को खली कहते हैं जो गाय तथा भैंस को बड़ी प्रिय होती है। इनसे बहुधा पुल्टिस बनाई जाती है।

आयुर्वेद में अलसी को मंदगंधयुक्त, मधुर, बलकारक, किंचित् कफवात-कारक, पित्तनाशक, स्निग्ध, पचने में भारी, गरम, पौष्टिक, कामोद्दीपक, पीठ के दर्द और सूजन को मिटानेवाली कहा गया है। गरम पानी में डालकर केवल बीजों का या इसके साथ एक तिहाई भाग मुलेठी का चूर्ण मिलाकर, क्वाथ (काढ़ा) बनाया जाता है, जो रक्तातिसार और मूत्र संबंधी रोग में उपयोगी कहा गया है। [भ० दा० व०]

अलहंब्रा दुर्ग और राजप्रासाद, मूरी ग्रानडा (स्पेन) में पश्चिमी इस्लामी स्थापत्य और वास्तुकला का एक उत्कृष्ट नमूना। शहर की सीमा पर डारो नदी के किनारे पहाड़ी पर यह राजभवन बना हुआ है। इस 'कालअत अल हमरा' अर्थात् लाल किले को यूसुफ (१३५४) और मोहम्मद पंचम (१३३४-१३९१) ने बनवाया था। अब इस समय पुराने दुर्ग की भारी दीवारें और बुर्ज ही बच रही हैं। इसके परे 'अलहंब्रा आल्ता' (दरबारियों का निवासस्थान) है। दीवारें लाल ईंटों की बनी हैं और उनपर ऊँची ऊँची—बुर्जियाँ हैं। महल के चारों ओर परकोटा दौड़ता है। चार्ल्स पंचम ने अपना राजभवन बनाने के विचार से मूर नरेशों का राजमहल नष्ट कर दिया था, किंतु उनका राजभवन कभी बन न सका। इनकी सजावट में गाढ़े और भड़कीले रंगों का उपयोग किया गया है। इसका सौंदर्य विशेषकर उस समय प्रकट होता है जब सूर्यरश्मियाँ नूरी स्तंभों और मेहराबों से छन छनकर दीवारों पर पड़ती हैं।

इनके आकर्षण के केंद्र दो आयताकार आँगन हैं। यूसुफ का बनवाया हुआ १३४×७४ फुट बड़ा अलबोको मत्स्यपूर्ण तड़ाग है। इनके एक ओर एवाजादोरेज (दूतभवन) है जहाँ ३० वर्ग फुट ऊँचा सिंहासन बना हुआ है। इसका गुंबज ५० फुट ऊँचा है। दूसरा आँगन केसरीगृह के नाम से प्रसिद्ध है। इसे मोहम्मद पंचम ने बनवाया था। इसमें एक १५×६६फुट ऊँचा फव्वारा सिंह के मुख से बह रहता है। यह आँगन के मध्य बारह श्वेत सिंहों के सहारे टिका हुआ अस्वस्तस का पात्र है। इनकी दीवारों पर नीचे से पाँच फुट ऊँचे तक पीले नीले रंग की विभिन्न प्रकार की टाइलें लगी हुई हैं। फर्श संगमरमर का है। इसके एक ओर स्थित 'अमेसेरांजेस' नामक एक वर्गाकार कमरे की ऊँची गुंबज नीली, लाल, सुनहरी और भूरे रंग की है। इसके सामने 'साला-लास-रोस हरमानस' (दो बहनों का हाल) है। इसमें भी सुंदर फव्वारा और गुंबज है।

१८१२ में नेपोलियन के समय जब फ्रांस की सेना ने स्पेन पर आक्रमण किया, इसकी बुर्जें उड़ा दी गईं। १८२१ के भूकंप से भी इसको भारी हानि पहुँची। १८२८ में इसके पुनर्निर्माण का कार्य प्रारंभ हुआ और इटली के प्रसिद्ध शिल्पी कान्ट्रेरास, उसके पुत्र राफेल पौत्र और प्रपौत्र मरिआए ने इसे तीन पीढ़ियों में पूरा किया। [अ० कु० वि०]

अलागोआस समुद्र तट पर स्थित ब्राजील का एक राज्य है जो उत्तर और पश्चिम में पर्नाबुको, दक्षिण तथा पश्चिम में सरजिए राज्य और पूर्व में अवमहासागर से घिरा हुआ है। जलवायु उष्ण तथा आर्द्र है। इसका पश्चिमी भूभाग शुष्क तथा अर्धबंजर पठार है जो केवल चरागाह के लिये उपयुक्त है। तटवर्ती भूमि उर्वरा है और वहाँ वनयुक्त पर्वत पाए जाते हैं। नदियों की उर्वरा घाटियों में गन्ना, कपास, तंबाकू, ज्वार, मक्का, धान तथा फल उपजाए जाते हैं। चमड़े, खाल, रबर, लकड़ी तथा ईख की मदिरा का निर्यात होता है। पशु भी पाले जाते हैं।

१७वीं शताब्दी में यह डच शासन के अंतर्गत रहा। बाद में पुर्तगाली यहाँ आए और उन्होंने गन्ने की खेती में बड़ी प्रगति की। १८वीं शताब्दी के मध्य में यह पर्याप्त धनी क्षेत्र हो गया। १८६९ ई० से यह स्वतंत्र राज्य बन गया है।

मेसियो राजधानी तथा प्रमुख व्यावसायिक नगर है। जरागुआ बंदरगाह से पर्याप्त व्यापार होता है। यहाँ के अन्य नगरों में अलागोआस, जो पहले यहाँ की राजधानी था, मेसियो से १५ मील दक्षिण-पश्चिम मंगुआबा झील पर स्थित है। दूसरा नगर पेनेडो, सैनफ्रांसिस्को नदी के मुहाने से २८ मील ऊपर स्थित है। क्षेत्रफल ११,०३१ वर्ग मील तथा जनसंख्या १०,९३,१३७ है (१९५०)। [न० ला०]

अलातशांति लकड़ी आदि को प्रज्वलित कर चक्राकार घुमाने पर अग्नि के चक्र का भ्रम होता है। यदि लकड़ी की गति को रोक दिया जाय तो चक्राकार अग्नि का अपने आप नाश हो जाता है। बौद्ध दर्शन और वेदांत में इस उपमा का उपयोग मायाविनाश के प्रतिपादन के लिये किया गया है। माया के कारण का नाश होने पर माया से उत्पन्न कार्य का भी नाश हो जाता है। यही अलातचक्र के दृष्टांत से सिद्ध किया जाता है। [रा० पा०]

अलारिक (ल० ३७०-४१० ई०) पश्चिमी गोथों का प्रसिद्ध सरदार विजेता जो ३७० ई० के लगभग दानूब के मुहाने के एक द्वीप में तब उत्पन्न हुआ जब उसकी जाति के लोग हूणों से भागकर उसी द्वीप में छिपे हुए थे।

युवावस्था में अलारिक रोमन सम्राट् की वीजीगोथ सेना का सेनापति नियत हुआ और एक दिन उस सेना ने उसकी शक्ति और शौर्य से चमत्कृत होकर उसे अपना राजा घोषित कर दिया। बस तभी से अलारिक का दिग्विजयी जीवन शुरू हुआ। पहले उसने पूर्वी रोमन साम्राज्य पर आक्रमण किया। कुस्तुंतुनिया से दक्षिण चल उसने प्रायः समूचे ग्रीस को रौंद डाला, फिर स्तिलिको से हार, लूट का माल लिए वह एपिरस जा पहुँचा। रोम के सम्राट् ने उसकी विजयों से डरकर उसे इलिरिकम का राज्य सौंप दिया। ४०० ई० के लगभग उसने इटली पर आक्रमण किया और साल भर के भीतर वह उत्तरी इटली का स्वामी हो गया। पर अगले साल सम्राट् से धन लेकर वह लौट गया।

४०८ ई० में अलारिक इटली लौटा और बढ़ता हुआ सीधा रोम की प्राचीरों के सामने जा खड़ा हुआ। उसने रोम का ऐसा सफल घेरा डाला कि रोम के सम्राट्, सिनेट और नागरिक त्राहि त्राहि कर उठे और उन्होंने अलारिक से प्राणदान का मूल्य पूछा। अलारिक ने अपार धन, बहुमूल्य वस्तुएँ और प्रायः साढ़े सैंतीस मन भारतीय काली मिर्च माँगी। यह सब मिल जाने के बाद उसने रोम को प्राणदान दिया। यह रोम पर उसका पहला घेरा था। जाते जाते उसने सम्राट् से दानूब नद और वेनिस की खाड़ी के बीच २०० मील लंबी और १५० मील चौड़ी भूमि का राज्य माँगा। उसके न मिलने पर उसने अगले साल रोम पर दूसरा घेरा डाला। उससे डरकर रोमन सिनेट ने अलारिक की बात मानकर उसके विश्वासपात्र एक ग्रीक को भी राजदंड दे दिया और इस प्रकार रोम के दो दो सम्राट् हो गए। इसका परिणाम यह हुआ कि पूर्वी और पश्चिमी दोनों सम्राटों ने अलारिक पर दोहरी चोट की और अफ्रीका ने इटली को अन्न जाना बंद कर दिया। इसके उत्तर में अलारिक ने रोम की प्राचीरें तोड़ नगर में प्रवेश किया। राजधानी का सर्वथा विनाश तो नहीं हुआ पर उसकी हानि अत्यधिक हुई। रोम ने हानिबल के बाद पहली बार विदेशी विजेता के प्रति आत्मसमर्पण किया था।

अलारिक ने अब रोम के दक्षिण हो अफ्रीका की राह ली जिससे वह इटली के खलिहान मिस्र पर अधिकार कर ले। पर तूफान ने उसके बेड़े को नष्ट कर दिया। अलारिक ज्वर से मरा और उसका शव बुसेंतो नदी की धारा हटाकर उसकी तलहटी में गाड़ दिया गया। शव और धन वहाँ गाड़ दिए जाने के बाद नदी की धारा फिर पूर्ववत् कर दी गई और उस कार्य में भाग लेनेवाले मजदूरों का वध कर दिया गया जिससे शव और संपत्ति का सुराग न लगे। [भ० श० उ०]

(३) अलकतरा (५%)।

(४) कोक (७०%)—यह भभके (रिटॉर्ट) मे बचा ठोस पदार्थ है। इसका उपयोग ईंधन के रूप में तथा लोहे के कारखानो में अवकारक (रिडयूसिंग एजेंट) के रूप मे होता है।

आजकल अधिक अलकतरा कोयले से ही प्राप्त होता है, क्योकि कोयले की गैस तथा कोक प्राप्त करने के लिये कोयले का शुष्क आसवन अधिक परिमाण में किया जाता है। लदन, न्यूयार्क, बबई, कलकत्ता आदि शहरो मे घरो में ईंधन के रूप में प्रयुक्त होने के लिये कोयले की गैस का उत्पादन बहुत होता है, और फलस्वरूप अलकतरा बडी मात्रा मे प्राप्त होता है।

कोयले की गैस प्राप्त करने के लिये कोयले का वृहत् परिमाण मे शुष्क आसवन सर्वप्रथम लदन में १८वी शताब्दी के अत में आरभ हुआ था। धीरे धीरे कोयले की गैस की माँग बढती गई और फलस्वरूप उसका उत्पादन भी बढता गया और उसी के अनुसार अलकतरे की मात्रा भी बढती गई। आरभ में अलकतरे का कोई उपयोग ज्ञात नहीं था और बेकार पदार्थ समझकर इसे फेंक दिया जाता था। लगभग सन् १८५० से अलकतरे का उपयोग विभिन्न कार्यो में होने लगा। आरभ मे अलकतरे का उपयोग लकडी की रक्षा करने, लकडी तथा पत्थर पर काला रग चढाने तथा काजल (लैंप ब्लैक) बनाने में होता था। आजकल अलकतरा विभिन्न ऐरोमैटिक पदार्थो की प्राप्ति का एक मूल्यवान् स्रोत है।

गुण—अलकतरा गहरे काले रग का एक गाढा द्रव है और इसमे एक विशेष प्रकार की तीव्र गध होती है। अलकतरे मे अनेक प्रकार के पदार्थ विद्यमान रहते हैं। लगभग २०० विभिन्न रासायनिक कार्बनिक यौगिक अब तक इसमे पहचाने जा चुके हैं। अलकतरे मे विद्यमान सब पदार्थो को उनकी रासायनिक प्रतिक्रिया के आधार पर तीन प्रकारो मे बाँटा जाता है—उदासीन, आम्लिक तथा भास्मिक। उदासीन पदार्थो मे ऐरोमैटिक हाइड्रोकार्बन मुख्य हैं। आम्लिक पदार्थो मे फीनोल (कार्बोलिक अम्ल) तथा क्रिसोल है। भास्मिक पदार्थो में मुख्य पिरीडीन और कुनोलीन है। अलकतरे में साधारणत २ से ५ प्रति शत तक पानी भी रहता है।

अलकतरे से प्राप्त होनेवाले कुछ मुख्य पदार्थो की सूची नीचे दी जाती है —

हाइड्रोकार्बन बेंजीन, डाइ-फिनाइल, फिनैंथ्रीन, टालुईन, फ्लोरीन, ऐंथ्रासीन, आर्थो, मेटा और पैरा जाइलीन, नैफ्थलीन, क्राइसीन, इडीन, मेथिल नैफ्थलीन।

नाइट्रोजनवाले पदार्थ पिरीडीन, इडोल, पिकोलीन, ऐक्रीडीन, कुनोलीन, कार्बेजोल, आइसो-कुनोलीन।

आक्सिजनवाले पदार्थ फीनोल, नैफ्थाल, क्रिसोल, डाइ-फिनाइलीन आक्साइड।

अलकतरे का आसवन अलकतरे से विभिन्न पदार्थ प्रभाजित आसवन (फ्रैक्शनल डिस्टिलेशन) द्वारा प्राप्त किए जाते है। निर्जलीकरण करने के बाद प्रभाजित आसवन द्वारा पहले कुछ मुख्य अश पृथक् किए जाते हैं और फिर प्रत्येक अश से रासायनिक विधि द्वारा, अथवा पुन प्रभाजित आसवन द्वारा, पृथक् पृथक् उपयोगी पदार्थ प्राप्त किए जाते हैं।

आसवन के लिये मुख्यत दो प्रकार के उपकरण (यत्र) उपयोग मे आते हैं। एक प्रकार में अलकतरे की एक निश्चित मात्रा उपकरण में ली जाती है और जब इसका आसवन समाप्त हो जाता है तो उपकरण को साफ कर पुन नई मात्रा लेकर आसवन आरभ किया जाता है। दूसरे प्रकार में आसवनक्रिया को बिना रोके अलकतरे को बीच बीच मे उपकरण मे डालते रहने का प्रबध रहता है और इस प्रकार आसवन बराबर होता रहता है। आसवन की विधि तथा उपकरण के प्रकार के अनुसार अलकतरे से प्राप्त होनेवाले पदार्थो के स्वभाव तथा मात्रा में अतर होता है।

सरचना साधारण ताप पर अगारराल (अलकतरा) श्यान (विस्कस) होता है और साधारणत इसका आपेक्षिक भार जल से अधिक होता है। अलकतरा कार्बनिक यौगिको, मुख्यत हाइड्रोकार्बनो का अत्यत जटिल मिश्रण होता है। जिन यौगिको द्वारा अलकतरे का निर्माण होता है उनका विस्तार हल्के तैल के निर्माण मे प्रयुक्त यौगिको से लेकर डामर (पिच) के निर्माण मे प्रयुक्त अत्यधिक जटिल पदार्थो तक होता है। अधिकाश अलकतरे मे ठोस पदार्थ अपकीर्ण रहता है। अधिकतर यह कलिल (कोलॉयडल) रूप में होता है, परतु इसका विस्तार मोटे (स्थूल) कणो तक पाया जाता है। स्थूल कार्बनीय पदार्थ शायद वकभाड (भभका, रिटॉर्ट) से निकलनेवाली गैस के साथ आते हैं, परतु कलिल भाग उच्च अणुभार युक्त जटिल हाइड्रोकार्बन होता है। ठोस पदार्थ को, जो बेंजोल में अविलेय होता है, 'मुक्त कार्बन' कहते हैं। कार्बनिक सघटको के अतिरिक्त अलकतरे मे एक प्रति शत का कुछ भाग राख तथा कई प्रति शत जल भी होता है।

अलकतरे की सरचना मुख्यत कार्बनीकरण के ताप पर निर्भर रहती है, परतु कुछ अशो मे इसपर कोकित कोयले की प्रकृति का भी प्रभाव पडता है। तापीय अलकतरे मे अधिक भाग 'सुरभि यौगिको' (ऐरोमैटिक कपाउड) यथा फीनोल, क्रीसोल, नैफ्थलीन, बेंजीन तथा इसके सजातीय एव ऐंथ्रेसीन का होता है। उच्च तापीय अलकतरा प्रारभिक अलकतरे के अपदलन (क्रैकिंग) से निर्मित किया जाता है जो स्वय कोयले के विन्यास (कोल स्ट्रक्चर) का त्रोटन होने के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। अलकतरे की प्रारभिक सरचना उन कोयलो पर निर्भर रहती है जिनसे उसका उत्पादन होता है, परतु अधिक गर्म करने के पश्चात् दोनो की भिन्नता समाप्त हो जाती है और अतिम सरचना मुख्यत विच्छेदन की स्थिति पर निर्भर रहती है। [स०प्र०८०]

निम्नताप कार्बनीकरण ऐसा अलकतरा उत्पन्न करता है जो कम परिवर्तित होता है और जिसमें क्रीसोल और जाइलेनोल, उच्चतर फीनोल और क्षारक, नैफ्थलीन के अतिरिक्त पराफिन तथा कुछ डाइहाइड्राक्सी फीनोल भी रहते हैं। इस अलकतरे की सरचना मे उच्च ताप पर निर्मित अलकतरे की अपेक्षा विभेद अधिक होता है। इसका कारण प्रारभिक यौगिको की अपदलनाशता की भिन्नता है।

उच्चतापीय अलकतरा में कई सौ यौगिक होते हैं। इनमे से बहुत थोडे से यौगिक ऐसे हैं जिन्हे पहचाना और अलग किया जा सका है। व्यावसायिक स्तर पर तो अपेक्षाकृत बहुत ही कम यौगिको को निकाला जा सका है। अलकतरा से जो यौगिक निकाले जा सके हैं उनको तथा प्रत्येक के सकेंद्रण एव प्रभाग को सारणी १ में दिखाया गया है

सारणी १

व्यावहारिक दशा में साधारण अलकतरे से प्राप्य आसुत तथा उनसे व्युत्पन्न उत्पाद

(प्रति शत मौलिक अलकतरे पर आधारित है)

अलकतरा			
हल्का तैल, २००° से० (३९२° फा०) तक	५ ०	—	—
बेंजीन	—	० १	—
टालुईन	—	० २	—
जाइलीन	—	१ ०	—
भारी विलायक नैपथा	—	१ ५	—
मध्य तैल, २००-२५०° से० (३९२-४८२° फा०)	१७ ०	—	—
अलकतरा (टार)-अम्ल	—	२ ५	—
फीनाल	—	—	० ७
क्रीसोल	—	—	१ १
जाइलेनाल	—	—	० २
उच्चतर अलकतरा अम्ल	—	—	० ५
अलकतरा (टार)-भस्म	—	२ ०	—
पायरिडीन	—	—	० १
भारी भस्म	—	—	१ ९
नैफ्थलीन	—	१० ९	—

फलस्वरूप अबू मूसा ने अली और मुआविया दोनो की सत्ताओ को जनसाधारण के समक्ष अस्वीकार कर दिया, किंतु अम्र ने उनके पश्चात् अपनी वक्तृता मे अली में अविश्वास तथा मुआविया के प्रति अपने विश्वास की घोषणा की। अम्र की सूझ के द्वारा मुआविया की रक्षा हुई और पुरस्कारस्वरूप मुआविया ने अम्र को मिस्रविजय करने मे सहायता दी। अली के कुछ अत्यंत अंधविश्वासी 'खारिजी' नामधारी मुसलमान अनुयायी जो पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य चाहते थे, नहरवान मे एकत्र हुए और अली की विचारविनिमय की चेष्टा के विपरीत उनमें से १८०० ने लडकर प्राण देने का ही निर्णय किया।

सन् ६६० मे अली ने मुआविया से पारस्परिक राज्यसीमाओ की सुरक्षा के लिये एक संधि की। उधर मुआविया ने अपने को खलीफा घोषित कर दिया। अली इसके लिये उसपर आक्रमण करना चाहते थे, किंतु तभी इब्ने मुलजम नामक एक खारिजी ने उनकी हत्या कर दी। (जून २४, ६६१)।

मुसलमानो में हज़रत अली के महत्व के सबंध में बडा मतभेद है। अस्ना अशरीशिया उन्हें एकमात्र न्यायसगत खलीफा, पैगंबर के पश्चात् सबसे बड़ा मुसलमान तथा इस्लाम के बारह महान् नेताओ मे प्रथम मानते हैं। इस्माइली शियाओ के अनुसार अली अवतार तथा इमामो के पूर्वज है जो कुरान के नियमो मे सशोधन और परिवर्तन भी कर सकते हैं। [मु० ह०]

अलीगढ़ उत्तर प्रदेश का एक जिला है और इसी नाम का एक प्रसिद्ध नगर भी उस जिले मे है।

अलीगढ (जिला)—स्थिति २७°२९' से २८°११' अ० उ०, तथा ७७°२९' से ७८°३८' दे० पू०, क्षेत्रफल १,९४६ वर्ग मील, जनसख्या १५,४३,५०६ (१९५१ ई०)।

अलीगढ उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग मे, गगा यमुना के दोआबे में आगरा कमिश्नरी का एक जिला है। इस जिले की पूर्वोत्तर सीमा गगा नदी से तथा पश्चिमोत्तर सीमा यमुना नदी से बनती है। इनके अतिरिक्त इस जिले मे दो और मुख्य नदियाँ हैं—प्रथम काली नदी जो पूर्वी भाग मे तथा द्वितीय करवान नदी जो पश्चिमी भाग मे बहती है। दोआबे के अधिकाश मे दोमट मिट्टी है जो बहुत उपजाऊ है। गगा तथा यमुना के निकट का भाग नीचा है और खादर कहलाता है। गगा खादर उपजाऊ है, परतु यमुना खादर की मिट्टी कड़ी और कृषि के लिये अयोग्य है। गेहूँ, चना, जौ, ज्वार, बाजरा, मक्का, कपास तथा थोडा बहुत गन्ना यहाँ की मुख्य फसले हैं। इस जिले मे ककड भी निकलता है, जो सडके बनाने के काम आता है। इस जिले मे कोल (अलीगढ), खैर, हायरस, सिकदराराऊ, इगलास और अतरौली तहसीलें है। इस जिले की ८१ प्रति शत जनता ग्रामीण है।

अलीगढ़ (नगर)—स्थिति २७°५४' उ० अक्षाश तथा ७८°६' पू० देशातर, जनसख्या १,४१,६१८ (१९५१ ई०)।

अलीगढ एक प्राचीन नगर है, जिसका पुराना नाम कोयल अथवा कोल है। ११९४ ई० मे कुतुबुद्दीन ने इस नगर को अपने अधिकार मे कर लिया। १६वीं शताब्दी मे इसका नाम मुहम्मदगढ तथा १७१७ ई० में साबितगढ हो गया। लगभग १७५७ ई० मे जाटो ने इसका नाम रामगढ रखा। तत्पश्चात् नजफ खाँ ने इसका वर्तमान नाम अलीगढ रखा। ग्रैंड ट्रक रोड पर स्थित अलीगढ का दुर्ग १७५९ ई० में सिंधिया का प्रमुख गढ बन गया। पीछे, १८०३ मे, लार्ड लेक की सेना ने इसपर अधिकार कर लिया। इस नगर की आर्थिक तथा सामाजिक दशा पर मुस्लिम सस्कृति का यथेष्ट प्रभाव है। प्राचीन रामगढ दुर्ग के मध्य मे जामामस्जिद की विशाल इमारत है, जो अधिक ऊँचाई पर होने के कारण दूर से दिखाई देती है। इस प्राचीन बस्ती से आबादी उत्तर तथा पूर्व की ओर बढ गई है। अधिकारियो का महाल (सिविल स्टेशन) उत्तर की ओर है और वहीं पर अलीगढ विश्वविद्यालय स्थित है। १८७५ मे सर सयद अहमद खाँ ने इसकी नीव एक स्कूल के रूप मे डाली, जो १९२० में विकसित होकर विश्वविद्यालय बन गया।

अलीगढ उत्तर रेलवे का एक प्रमुख स्टेशन है जो कलकत्ते से ८७६ मील पर, बबई से ९०४ मील पर और दिल्ली से केवल ७९ मील पर है। अलीगढ रुई तथा अनाज की बड़ी मडी है और प्रमुख व्यापारिक केंद्र है। ताले तथा पीतल का इमारती सामान बनाना इस नगर का मुख्य उद्योग है। इनके अतिरिक्त यहाँ पर सरसो का तेल निकालने, रुई की गाँठ बनाने, बर्फ बनाने तथा नाम के इस्पाती ठप्पे (डाई) और इसी प्रकार की बहुत सी धातु की छोटी मोटी वस्तुएँ बनाने के उद्योग उन्नति पर है। शरदऋतु की प्रदर्शनी के लिये एक विशाल मैदान मे पक्की दूकाने बनी हुई हैं। इस प्रदर्शनी में दूर दूर के व्यापारी आते हैं। [अ० स्व० जो०]

अली पाशा यह वह उपाधि है जो उस्मानी तुर्क अपने सरदारो को दिया करते थे। इस तरह की उपाधिवाले ओहदेदार कुल ९ हुए हैं।

इसी नाम की दूसरी यह ऐतिहासिक उपाधि मिस्र के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञो को दी जाती है जिनको, 'अलीपाशा मुबारक' के नाम से पुकारा जाता है। यह १८२३-२४ ई० मे पैदा हुए। यह एक साधारण वंश के व्यक्ति थे। पहले ये मिस्री तोपखाने मे एक अधिकारी हुए और धीरे धीरे उन्नति करके मत्री के पद पर पहुँचे। १८४४ ई० मे फ्रास गए और मेट्ज़ के तोपखाने के स्कूल मे शिक्षा ग्रहण की। अली पाशा मुबारक ने मिस्र सरकार के प्रत्येक विभाग मे बहुत ज्यादा सुधार किए। इन्हीं के मत्रित्व मे छापेखाने खुले और स्कूलो के लिये पढाई जानेवाली पुस्तकें तैयार की गई। रेलवे लाइन बनी। सिंचाई का कार्य आरभ हुआ। विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। १८९१ ई० मे उन्होने सर अलफ्रेड मिलनर के हस्तक्षेप के कारण त्यागपत्र दे दिया और राजनीति से अलग होकर एक साधारण व्यक्ति की तरह जीवन व्यतीत करने लगे। १४ नवबर, १८९३ को उनकी मृत्यु काहिरा मे हो गई।

एक और अली पाशा मुहम्मद अमीन तुर्क राजनीतिज्ञ १८१५ ई० मे कुस्तुतुनिया में पैदा हुए। वह रशीद पाशा के शिष्य थे। लदन मे १८४१ ई० में तुर्की राजदूत रहे। पेरिस के सुलहनामे मे तुर्की के प्रतिनिधि बनाकर भेजे गए। १८५९-६१ ई० तक उस्मानिया सल्तनत के मुख्य मंत्री रहे। इन्होने बहुत सी नई बाते लागू की। इनकी मृत्यु १८ सितबर, १८७१ को हुई। [मु० अ० अ०]

अलीपुर द्वार पश्चिमी बंगाल के जलपाइगुडी जिले मे इसी नाम के सब डिवीजन का प्रमुख नगर है (स्थिति २६°२९' उ० अक्षांश, ८९°३२' पू० देशातर)। यह काटजानी नदी के उत्तरी तट पर बसा है और कूचबिहार रेलवे का स्टेशन है। जलपाइगुड़ी एवं बक्सा नगरो से भी यह पक्की सडको द्वारा जुडा है। आवागमन की सुविधाओ के कारण यह अपने क्षेत्र का उन्नतिशील व्यापारिक केंद्र हो गया है। यहाँ काटजानी नदी के पुराने छोडे हुए मार्गो मे झीले बन गई हैं। यह स्थान अस्वास्थ्यकर है और यहाँ मलेरिया का भयानक प्रकोप है। इस कस्बे का नाम कर्नल हिदायत अली खाँ के नाम पर पडा है। १९०१ ई० मे यह केवल ५७१ मनुष्यो का ग्राम था, पर १९५१ ई० मे इसकी जनसख्या २४,८८६ हो गई। [का० ना० सिं०]

अली, मुहम्मद मौलाना मुहम्मद अली सन् १८७८ ई० मे नजीबाबाद, जिला बिजनौर मे पैदा हुए। दो साल के थे कि पिता का देहावसान हो गया। माँ ने, जो 'बी अम्मा' कहलाती थीं और बडे किर्दार की बीबी थीं, शिक्षा की व्यवस्था की। अलीगढ मे, ऊँची तालीम हासिल की, फिर आक्सफर्ड गए। वापसी पर खिलाफत तहरीक और कांग्रेस मे शामिल हुए। कांग्रेस के ३८वें अधिवेशन (काकीनाडा) के सभापति हुए। मुहम्मद अली ने अध्यक्ष की हैसियत से खास तौर पर मुसलमान और कांग्रेस, औरतो की तनजीम, खादी का काम, सिक्खो का मसला और स्वराज्य के रूप आदि पर जोर दिया। फिर ये गोलमेज कान्फ्रेंस मे भी शामिल होने लदन गए और उसके एक अधिवेशन मे बडा पुरजोश व्याख्यान दिया। स्वास्थ्य खराब था, व्याख्यान के बाद से हालत गिरनी शुरु हो गई और ५ जनवरी, १९३२ ई० को लदन में ही उनकी मृत्यु

जहाजो को नौनिवेश (डॉक) मे रखकर बार बार साफ करना पडता है। अनुमान किया गया है कि इस सफाई में प्रति वर्ष पचास करोड रुपए से अधिक ही खर्च होता होगा। कुछ जगली मनुष्यजातियाँ बडे अलकपादो का मास खाती हैं। जापान के लोग समुद्र मे बाँस बाँध देते हैं और जब उनपर पर्याप्त अलकपाद चिपक जाते हैं तो उनको खुरचकर छुडा लेते हैं और खेतो में खाद की तरह डालते हैं। अलकपादो के शरीर अपूर्ण, उदर अविकसित, उर से निकली तीन जोडी द्विशाखी टाँगें और एक जोडी पुच्छकटिका (कॉडल स्टाइल्स) होती है। आँख नही होती और डिंभ (छोटा बच्चा, लार्वा) स्पर्शसूत्रको (ऐटेन्यूल्स) द्वारा चिपकता है, परतु प्रौढ अवस्था मे इन सूत्रो के चिह्न मात्र रह जाते हैं। स्पर्शसूत्र (ऐटेनी) बिलकुल नही होते। बारनेकल और सीपीनुमा अलकपाद अलकपादो के परिचित उदाहरण हैं। बारनेकल अपने डडीनुमा अग्रभाग से, जिसे ऊपर गरदन कहा गया है और जिसे अंग्रेजी मे पेडकल (छोटा पैर) कहते हैं (चित्र देखें), समुद्र मे बहते हुए पदार्थो से चिपके रहते हैं। सीपीनुमा जातियो मे डडीवाला भाग नही होता, ये सिर के अग्रभाग से चट्टानो में चिपके पाए जाते हैं और चारो तरफ कडे पट्टो से घिरे रहते हैं (चित्र देखें)। जतु का सारा शरीर, जो मुडक (कैपिटुलम) कहलाता है, द्विपुट चर्म के खोल से ढँका रहता है और यह खोल पाँच कडे पट्टो से सुरक्षित रहता है। द्विपुट खोल नीचे की ओर खुला रहता है, जिनमे द्विशाखी टाँगें निकली रहती हैं। खोल के पिछले भाग की ओर मुँह रहता है। खाने के समय यह जीव अपनी टाँगे जल्दी जल्दी बाहर भीतर इस प्रकार निकालता है और खीचता है कि खाद्य वस्तुएँ, जो पानी में रहती है, मुँह में चली जाती हैं। इस तरह वह अपना पेट भरता है। छेडने से टाँगो का चलना बद हो जाता है और खोल के पुट बद हो जाते हैं। टाँगें रोएँदार पर की तरह होती हैं और वे नन्हे समुद्री जीवो को पकडने मे जाल का काम देती हैं। इन्ही केश के समान टाँगो के कारण इन प्राणियो का नाम अलकपाद पडा है। अग्रजी शब्द सिरिपीडिया का अर्थ भी ठीक यही है—

अलकपाद की शरीररचना

१ वरुथ (कडा पट्ट), २ उपचालक पेशी, ३ गला, ४ पाचक ग्रथि, ५ चेप निकालनेवाली ग्रथि, ६ पृष्ठ पट्ट, ७ उर से निकली टाँगें, ८ शिश्न, ९ गुदा, १० वृषण, ११ कटिका (नाव के पेंदे के रूप का कडा भाग), १२ आमाशय, १३ अडाशय, १४ पेडकल (गरदन सदृश अग), १५ स्पर्शसूत्रक।

अलकपाद का बाह्य रूप

१६ पृष्ठपट्ट, १७ कूटिका, १८ पेडकरा।

शैलखडावर नामक अलकपाद : बाह्य दृश्य

केश के समान पैरवाले प्राणी। अधिकाश प्रौढ अलकपाद उभयलिंगी होते है। एक का निषेचन दूसरे से, या अपने से ही, होता है। कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जिनमें यौन सरचना तीन प्रकार की होती है। स्कैल्पेलम् जाति मे कुछ प्राणी उभयलिंगी, कुछ मादा और कुछ केवल नर ही होते हैं। मादा माप और आकार में तो उभयलिंगी प्राणी के सदृश होती है, परतु इनमें वृषणकोष (टेस्टीज) नही होते। नर उभयलिंगी और मादा की अपेक्षा बहुत ही छोटे होते हैं। इनको वामन (ड्वार्फ) या पूरक नर (कप्लिमेंटल मेल्स) कहते हैं। ये या तो मादा के सरक्षक पट्टो के भीतर या उसके मुँह के पास रहते हैं। इनका कार्य एकातवासी मादाओं का निषेचन करना होता हैं।

अलकपादो का जीवन-इतिहास अडे से निकले नन्हे डिंभ (छोटे बच्चे) मे प्रारभ होता है। तब उनमें हाथ पाव के बदले तीन जोडी अग होते हैं (चित्र देखें)। कई बार केचुल बदलने के बाद वे एकाएक ऐसे रूप में आ जाते हैं जिसमें उनका शरीर दो कटे खोलो (प्रकवच) से टँका रहता है। इस अवस्था में ये पूर्णपुच्छक (साइप्रिस) कहलाते है (चित्र देखें)। ये अपने छोटे स्पर्शसूत्रको (ऐटेन्यूल्स) के चूषको से पत्थर, जहाज, लकडी या जानवर (जैसे केकडे) के शरीर पर चिपक जाते हैं। फिर वे अपने भीतर से निकलनेवाले चेप से अपने नर को बडी दृढता से उस पत्थर आदि पर चिपका लेते हैं। तब दोनो प्रकवच झड जाते हैं और पाँच खडो का नया प्रकवच उग आता है। पहले के तीन जोडी अग अब रोएँदार पैर हो जाते हैं, आँख मिट जाती है, गरदन बहुत लबी हो जाती है और इस प्रकार अलकपाद अपनी युवावस्था में आ जाता हैं।

परजीवी अलकपाद में दो जातियाँ, कर्कटोदर स्यूनिका (सैक्युलिना कार्सिनी) तथा शखकर्कजीवी (पेल्टोगैन्टर), विशेषकर उल्लेखनीय हैं। कर्कटोदर स्यूनिका परजीवी जीवन से शारीरिक अधोगति का ज्वलत उदाहरण है। प्रौढ अवस्था में एक विषम मासतत्‌ के ढेर की तरह यह केकडे के उदरतल से चिपकी रहती हैं। इसकी जीवनकहानी बडी विचित्र

कर्कटोदर स्यूनिका (केकडे के पेट से चिपकी हुई स्यूनिका)
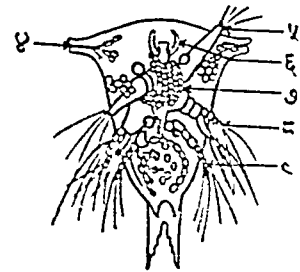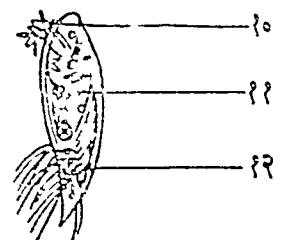
पूर्णपुच्छक नामक अलकपाद

१ आधार कला, २ परजीवी (कर्कटोदर स्यूनिका) का शरीर, ३ उदर, ४ अग्र शृग, ५ स्पर्शसूत्रक, ६ अग्र स्पर्शिकाएँ, ७ अभिन्नित कोशिकाएँ, ८ स्पर्शसूत्र, ९ जभ, १० स्पर्शसूत्रक, ११ ग्रथि कोशिकाएँ, १२ उदर।

है और तीन जोडी अगवाले डिंभ से आरभ होती है। इस डिंभ मे ललाटशृग होते है, किंतु मुँह या अन्नस्रोतस नही होता। पूर्णपुच्छक (साइप्रिस) अवस्था में यह किसी केकडे की टाँग के एक दृढ रोम से अपने स्पर्शसूत्रको द्वारा चिपट जाती है। इस अवस्था मे थोडे समय के बाद पूर्णपुच्छक का सारा धड, मासपेशियाँ, टाँगें, आँख और मलोत्सर्ग के अग शरीर से बिलकुल पृथक् होकर गिर पडते हैं। थोडा सा भाग, जिसमे केवल डिंभाणु ही रहते हैं, केकडे के दृढरोम से जुडा रह जाता है। तब डिंभ

युद्धों में रूस को फ्रांस से हारना पड़ा। टिलसिट की संधि द्वारा दोनों फिर मित्र बने और नैपोलियन ने वालाचिया और मोलदोविया पर रूस का अधिकार स्वीकार किया।

यूरोप का सार्वभौम सम्राट् होने की भावना से नैपोलियन ने रूस पर आक्रमण किया। बोरोदिनो (७ सितंबर, १८१२) में रूसी सेना हारी। पर शीघ्र पासा पलट गया। रूसी मास्को को अग्निसमर्पित कर पीछे हट गए।,१५ सितंबर, १८१२ को नैपोलियन ने आग में जलते मास्को में प्रवेश किया। निराश, निस्सहाय, सर्दी भूख से संतप्त फ्रेंच सेना वापस लौटी और थकी माँदी सेना को बीयाजमा में रूसी सेनापति मिखेल ऐंडेसचिव मिलोरोगोचिव ने पराजित कर उसका पीछा किया।

अलेक्सांदर ने अब यूरोप में स्थायी शांति स्थापित करने का यत्न किया। अब प्रशा, रूस और आस्ट्रिया की संमिलित सेना ने फ्रेंच सेना का लाइपजिग (१६-१९ अक्टूबर १८१३) में मुकाबिला किया। 'सब राष्ट्रों का युद्ध' नाम से प्रसिद्ध इस संग्राम में नैपोलियन पराजित हुआ और वह बंदी कर लिया गया। फ्रांस के नए राजा १८वें लुई को 'जार' ने फ्रांस को उदार संविधान देने के लिये बाध्य किया।

सौ दिनों के बाद नैपोलियन कैद से फ्रांस लौटा और वाटरलू के संग्राम में पुन पराजित हुआ। वीएना कांग्रेस के निर्णय से रूस को वारसा के साथ पोलैंड का एक बड़ा भाग मिला। रूस ने आस्ट्रिया और प्रशा से संधि की जो इतिहास में 'पवित्र संधि' (होली एलायंस) के नाम से प्रसिद्ध है।

पुराने और नए झगड़ों के कारण तुर्की और रूस के मध्य छिड़ती लड़ाई अलेक्सांदर की बुद्धिमत्ता के कारण रुक गई। जार १९ नवंबर, १८२५ को अज़ोव सागर के तट पर मरा। [अ० कु० वि०]

अलेक्सांदर द्वितीय (१८१२-१८८१) रूस का जार, (१८५५-८१), निकोलस प्रथम का ज्येष्ठ पुत्र। २ मार्च, १८५५ को निकोलस प्रथम की जब सेवेस्तोपल में भारी पराजय के बाद मृत्यु हुई और जब क्रीमिया का युद्ध अभी चल ही रहा था, यह रूस के सिंहासन पर बैठा। तुर्की से मिली पराजय ने सेना के संगठन और राज्य में आंतरिक सुधार की आवश्यकता को अनिवार्य कर दिया था। यद्यपि अलेक्सांदर स्वभाव से कोमल था, पर कम सहिष्णु और प्रतिगामी था। इतिहास में यह 'मुक्तिदाता' और महान् सुधारों का युगप्रवर्तक के नाम से प्रसिद्ध है। मुक्ति कानून द्वारा उसने एक करोड़ भू-दासों को स्वाधीन कर दिया, काश्तकारों को बिना मुआवजा दिए वैयक्तिक स्वाधीनता दे दी। १८६४ में जिला और प्रांतिक कौंसिलों (जेम्सट्वस) की और १८७० में निर्वाचित नगरपालिकाओं की स्थापना हुई। इसी काल स्थानीय स्वायत्तशासन का विकास, न्याय के कानूनों में संशोधन, जूरीप्रणाली का प्रारंभ और शिक्षाप्रणाली में संशोधन हुआ। सैनिक शिक्षा अनिवार्य की गई।

रूस की औद्योगिक क्रांति का आरंभ अलेक्सांदर के शासनकाल में ही हुआ। व्यवसाय और रेलवे का विस्तार हुआ। काकेशस पर अधिकार जम गया। मध्य एशिया में रूस के राज्यविस्तार से रूस और ब्रिटेन के संबंधों में तनाव आ गया।

किंतु अलेक्सांदर के शासनसुधार प्यासे के लिये ओस के समान थे। क्रांतिकारी दल इससे संतुष्ट नहीं था। उसकी शक्ति बराबर बढ़ती गई। उसी मात्रा में ज़ार भी प्रतिक्रियावादी होता गया और जीवन के पिछले सालों में उसका प्रयत्न अपने ही सुधारों को व्यर्थ करने में लगा। १८६३ में पोलैंड से विद्रोह हुआ जो क्रूरतापूर्वक कुचल दिया गया। तुर्की से १८७७ में पुन युद्ध छिड़ गया। सुदूर पूर्व में आमूर नदी की घाटी का प्रदेश व्लादीवोस्तक तक (१८६०) और जापान से सखालिन तक (१८७५) लेने में जार फिर भी सफल हुआ।

१३ मार्च, १८८१ को सेंट पीटर्सबर्ग में जमीन के नीचे बम रखकर जार अलेक्सांदर की हत्या कर दी गई। [अ० कु० वि०]

अलेक्सांदर तृतीय (१८४५-९४) रूस का जार, ज्येष्ठ भ्राता निकोलस की १८६५ में मृत्यु हो जाने पर राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त हुआ और पिता की हत्या के बाद गद्दी पर बैठा।

यह सुशिक्षित नहीं था अत इसका दृष्टिकोण सीमित था। किंतु था यह ईमानदार, साहसी और दृढ़ विचारों का। पोबेदोनोस्त्सेव इसका परामर्शदाता था जो धार्मिक स्वतंत्रता, लोकतंत्र और संसदीय शासन-प्रणाली को अनर्थों की जड़ मानता था। अत गद्दी पर बैठते ही पिता द्वारा बनाया गया संविधान इसने वापस ले लिया जो उसी दिन प्रकाशित होनेवाला था जिस दिन इसके पिता की हत्या हुई थी।

अलेक्सांदर का विश्वास था कि विशाल रूसी साम्राज्य में एक देश (रूस), एक धर्म, एक संस्कृति और एक सम्राट् रहना चाहिए। अत साम्राज्य के गैर रूसी प्रदेशों में रूसी भाषा को थोपा गया। यहूदियों को सताया गया और कठोर दमन द्वारा निहलिस्ट पार्टी के षड्यंत्रों को कुचला गया।

इसके शासनकाल में रेलवे का विस्तार हुआ, उद्योग व्यापार को प्रोत्साहन मिला, मुद्रा में सुधार हुआ, फ्रांस के साथ मैत्री की संधि की गई और मध्य एशिया में रूस की स्थिति सुदृढ़ हुई। इसके कारण ब्रिटेन को अपने भारतीय साम्राज्य के लिये चिंता बढ़ गई। [अ० कु० वि०]

अलेक्सांदर प्रथम (एपिरस का राजा) एपिरस में मोलोसिया का राजा था। मकदूनिया के फिलिप द्वितीय की सहायता से इसे गद्दी मिली थी। इसने सिकंदर महान् की बहन क्लियोपात्रा से विवाह किया था। इसने ३४२ से ३३० ई० पू० तक राज किया। रोम के साथ इसकी मैत्री थी और दक्षिण इटली के अधिकांश पर इसका अधिकार था। इसके राज्यकाल में एपिरस की शक्ति प्रसिद्ध हुई। इसने सोने और चाँदी के सिक्के भी चलाए थे। [अ० कि० ना०]

अलेक्सांदर सेवेरस (२०८-२३५ ई०), जिसका पूरा नाम, मार्कस ऑरेलियस सेवेरस अलेग्जांदर था। वह सम्राट् का पुत्र तो न था पर सम्राट् हेलियो गैबलस की हत्या के बाद प्रभावशाली शरीररक्षक सेना ने उसे सम्राट् बना दिया। उस समय वह निरा बालक ही था। परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य में सर्वत्र विद्रोह होने लगे। स्वयं सम्राट् को फारस के सस्सानी राजा से लड़ने के लिये पूर्व जाना पड़ा। वहाँ से तो वह विशेष प्रतिष्ठापूर्वक नहीं ही लौटा, उधर लौटते ही जो उसे पच्छिम में गॉल के जर्मनों से लोहा लेना पड़ा तो उसी मोर्चे पर वह मारा गया। [ओ० ना० उ०]

अलेक्सियस तृतीय पूर्वी रोमन साम्राज्य का सम्राट्। ११९५ में जब उसका भाई इसाक द्वितीय थ्रेस में शिकार खेल रहा था, अलेक्सियस को सम्राट् घोषित कर दिया गया। फिर उसने अलेक्सियस को पकड़कर उसकी आँखें निकलवा ली और कैद कर लिया। बाद में उसे मुक्त कर अनंत धनदान से सेना का मुँह बंद करना पड़ा। पूर्व में तुर्कों ने साम्राज्य रौंद डाला और उत्तर के बलगरों ने मकदूनिया और थ्रेस को उजाड़ डाला। उधर उसने स्वयं खजाने का धन अपने महलों के निर्माण पर खर्च कर दिया। सिंहासनच्युत और कैद इसाक के बेटे अलेक्सियस ने तब वियना में तुर्कों के विरुद्ध परामर्श करके पश्चिमी राजाओं से सहायता की प्रार्थना की और उसकी सहायता से उसने अलेक्सियस तृतीय को साम्राज्य के बाहर भगा दिया। तब से अलेक्सियस पूर्वी साम्राज्य के विरुद्ध षड्यंत्र करता, लड़ता और बार बार हारता, दर दर फिरता रहा। अंत में एक मठ में उसकी मृत्यु हुई। [ओ० ना० उ०]

अलेक्सियस मिखाइलोविच (१६२९-७६), रोमनोव राजवंश का दूसरा 'ज़ार'। इसकी शिक्षा धर्म के आधार पर मास्को में हुई। प्रसिद्ध विद्वान् बोरिस

सं०ग्र०—अलबरूनी, इलियट और डाउसन हिस्ट्री ऑव इंडिया, भाग २, सतराम अलबरूनी की भारतयात्रा। [वैं० पु०]

अल बलाजुरी अहमद बिनय हिया बिन जाबिर अल बलाजूरी। जन्मतिथि अज्ञात, मृत्यु ८९२ ई०। प्रसिद्ध मुसलमान इतिहासकार। खलीफा मुतवक्किल का मित्र। जनश्रुति के अनुसार 'बलाजुरी' फल (भिलावा) का रस भूल से पी लेने से मरे। किंतु यह निश्चय नहीं है कि यह घटना उनके दादा से संबंधित है या स्वयं उन्हीं से। तात्पर्य यह है कि बलाजुरी के जीवन का वृत्तांत बहुत कुछ अज्ञात है। वह फारसी के प्रकांड पंडित थे और फारसी ग्रंथों के अरबी में अनुवादक नियुक्त किए गए थे। शायद इसी कारण उन्हें अरबी न मानकर फारसी या ईरानी माना गया है। किंतु उनके पितामह मिस्र की खिलाफत में उच्च पदाधिकारी थे। बलाजुरी की शिक्षा दमिश्क, अमीसा तथा ईराक में हुई थी। इब्नसाद उनके गुरु थे।

बलाजुरी के लिखे दो बृहत् ग्रंथ हैं (१) फुतूह-उल-बल्दान, देगेज द्वारा संपादित तथा १८६६ई० में लाइडन से प्रकाशित, द्वितीय प्रकाशन कैरो से १३१८ हि०(१९०० ई०) में। इस ग्रंथ में मुहम्मद और यहूदी लोगों के युद्ध से आरंभ करके उनके अन्य सामरिक कृत्यों तथा सीरिया, मिस्र और आरमीनिया आदि की विजय का इतिहास वर्णित है। जहाँ तहाँ ऐसे स्थल भी बिखरे पड़े हैं जिनसे तत्कालीन सांस्कृतिक एवं सामाजिक दशा पर प्रकाश पड़ता है। राजनीतिक शब्दावली तथा संस्थाओं, राजकर, मुद्रा तथा शासन संबंधी अन्य बातों के भी बहुमूल्य उल्लेख इस पुस्तक में पाए जाते हैं। अरब राजनीतिक इतिहास पर यह एक अत्यंत मूल्यवान् एवं प्रामाणिक ग्रंथ है। (२) बलाजुरी का दूसरा ग्रंथ है 'अन्साब-अल-अशराफ'—इस ग्रंथ के लेखक ने बड़ी बृहदाकार योजना बनाई थी, पर वह उसे पूरा न कर पाया। इसमें अरबों का वंशानुगत इतिहास दिया गया है।

सं०ग्र०—एनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम। [प० श०]

अलबैहाकी ख्वाजा अबुलफजल बिन अल हसन-अलबैहाकी ने 'तारीखसुबुक्तगीन' अथवा तारीख-बैहाकी नामक विस्तृत ग्रंथ लिखा जिसके अब केवल कुछ अंश ही उपलब्ध हैं। ४०२ हिजरी (१०११ ई०) में ये सोलह वर्ष के थे, और ४५१ हिजरी (१०६० ई०) में वृद्धावस्था में अपना ग्रंथ लिखते रहे। खाकी शिराजी के अनुसार इनकी मृत्यु ४७० हिजरी (१०८० ई०) के लगभग हुई। पहले ग्रंथों में सुबुक्तगीन के शासनकाल का इतिहास है और 'तारीख-मसूदी' में मसूद के राज्यकाल का उल्लेख है। महमूद के विषय में उन्होंने 'ताजुल-फुबुह' में लिखा। हाजी खलीफा के मतानुसार बैहाकी ने गजनी के सम्राटों का विस्तृत इतिहास लिखा।

सं०ग्र०—इलियट और डाउसन इतिहास। [वैं० पु०]

अलवर भारत के राजस्थान राज्य का एक मुख्य नगर तथा जिला है। यह नगर क्वार्ट्‌स तथा स्लेट से बनी हुई पहाड़ी के नीचे, दिल्ली से ८० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। पहले अलवर एक देशी राज्य था और अलवर नगर उसकी राजधानी था, परंतु १९४७ में भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् जब छोटी छोटी रियासतें भारत सरकार में संमिलित हो गईं, राज्य पुनर्गठन के अनुसार, अलवर राजस्थान राज्य में मिला दिया गया और तब से इस नगर का राजधानी रहने का श्रेय चला गया। अलवर की स्थिति अक्षांश २७° ३४' उ० तथा देशांतर ७६° ३६' पू० पर है। अलवर राज्य का क्षेत्रफल राजस्थान में मिलने के पूर्व ३,१५८ वर्ग मील था और जनसंख्या ८,२३,०५५ (१९४१) थी। सन् १९५१ में अलवर जिले का क्षेत्रफल ३,२४५ वर्ग मील तथा जनसंख्या ८,६१,९९३ हो गई। अलवर नगर की आबादी १९४१ में ५४,१४३ थी और १९५१ में ५७,८६८ हो गई।

अलवर नाम की उत्पत्ति के बारे में मतभेद है। कुछ लोगों का कहना है कि इसके पूर्व नाम आलपुर, अर्थात् सुदृढ़ नगरी, से वर्तमान नाम अलवर आया, कुछ औरों के विचार से इस नाम का मूल अरवलपुर अर्थात् अरावली पर्वत का शहर है, क्योंकि अलवर की पहाड़ियाँ अरावली पर्वतमाला का ही एक भाग हैं। वर्तमान समय में कुछ विद्वानों के मत से अलवर का नाम सालवास जाति के लोगों के नाम से निकला जो यहाँ पहले पहल बसे थे और इसका पुराना नाम सालवायरा था, जिससे सालवर, हलवर और फिर अलवर नाम प्रसिद्ध हुआ। राजपूत वीर प्रतापसिंह ने इस राज्य की स्थापना की (सन् १७४०–९१ ई०) और बख्तावरसिंह को इन्होंने गोद लिया। बख्तावरसिंह के समय में इस नगर की खूब उन्नति हुई। बाद में अंग्रेजों के साथ हाथ मिलाकर मराठों के साथ इन्होंने लड़ाई की तथा १८०३ ई० में अंग्रेजों से संधि की। १८९२ ई० में १० साल की अवस्था में महाराजा जयसिंह सिंहासन पर बैठे तथा उन्होंने १९२३ में लंदन के इंपीरियल कानफरेंस में भारत का प्रतिनिधित्व किया। अंग्रेजों के सिक्के को अलवर राज ने सर्वप्रथम मान लिया था। भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व अंग्रेजों की पदातिक तथा अश्वारोही सेना का कुछ भाग यहाँ रहता था।

अलवर नगरी एक घाटी के पास करीब १००० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। पुराने जमाने की लड़ाई के समय यह बड़ी ही सुरक्षित थी। इसके एक ओर अखंड पहाड़ी है ही, अन्य ओर सुदृढ़ भीत, प्रशस्त खाई तथा एक गहरे नाले द्वारा घिरी हुई है। ऊँचाई पर स्थित इसके किले का दृश्य एक मुकुट के समान प्रतीत होता है। शहर में प्रवेश के लिये ५ तोरण हैं तथा भीतर मनोरम राजभवन, मंदिर और समाधि आदि बने हैं।

राज्य की अधिकतम लंबाई उत्तर से दक्षिण की ओर लगभग ८० मील तथा चौड़ाई पूरब से पश्चिम की ओर ६० मील है। इसका कुल क्षेत्रफल ३,१५८ वर्ग मील है। इस राज्य के पूर्वी भाग में खुला मैदान है जो खेती के लिये उपयुक्त है। अरावली पर्वतमाला के कुछ अंश पश्चिम सीमा पर हैं। इनकी लंबाई लगभग १२ से २० मील है। ये पथरीली सीधी पर्वतमालाएँ समांतर रूप से फैली हुई हैं तथा स्थान स्थान पर इनकी ऊँचाई २,२०० फुट तक चली गई है। दो महत्वपूर्ण नदियाँ साभी तथा रूपारेल इसी के पास से बहती हैं। रूपारेल नदी पर महाराव राजा बन्नीसिंह ने १८४४ ई० में एक बाँध बनवाया जिस कारण यहाँ एक सुंदर झील बन गई है। इसे सीली सेढ झील कहते हैं। यह अलवर के दक्षिण-पश्चिम में लगभग ९ मील की दूरी पर स्थित है। इससे दो नहरें सिंचाई के लिये निकाली गई हैं।

विशेष दर्शनीय स्थानों में १९वीं शताब्दी का बना राजा बन्नीसिंह का राजमहल, १३९३ की बनी तारग सुलतान की दर्गाह (जो कुछ लोगों के विचार से फीरोजशाह तुगलक का भाई था और कुछ लोगों के विचार से नाहर खाँ मेवाती का पौत्र था), फतेजंग की दर्गाह, जिसपर अभी भी हिंदुओं की कलाओं का निदर्शन मिलता है, और महाराव राजा बख्तावरसिंह का स्मृतिस्तंभ आदि सुविख्यात हैं। इनके अतिरिक्त कई मस्जिदें भी हैं जिसमें दैरा की मस्जिद विशेष महत्वपूर्ण है। यह १५७९ ई० में इस रास्ते से अकबर के गुजरते समय बनी थी। आधुनिक समय में बना लेडी डफरिन का महिला अस्पताल (सन् १८८९) भी दर्शनीय है। शहर के उत्तर-पश्चिम में नगर की अपेक्षा लगभग १००० फुट अधिक ऊँचाई पर निकुंभ राजपूतों का बना किला है जो खानजादे का अधिकार होने के पूर्व यहाँ राज्य करते थे। इसकी दीवारें पहाड़ों के ऊपर उपत्यकाओं में होती हुई लगभग दो मील तक फैली हैं। शहर के बाहर दो और दर्शनीय महल हैं, एक बन्नीविलास-प्रासाद और दूसरा लैंसडाउन कोठी।

अलवर इस समय पर्याप्त उन्नतशील नगर है। यहाँ पर उच्च शिक्षालय, अस्पताल, महिला विद्यालय आदि हैं। महारानी विक्टोरिया की हीरक जयंती के अवसर पर राजाओं के बच्चों के पढ़ने के लिये एक विशिष्ट विद्यालय खोला गया। अलवर के निजी उद्योगों में रुई ओटना, कालीन बनाना, कंबल बनाना आदि कुछ छोटे मोटे गृहउद्योगों के अतिरिक्त कोई बड़ा उद्योग नहीं है। [वि० मु०]

अलसी या तीसी को संस्कृत में अलसी के सिवाय क्षुमा भी कहते हैं। गुजराती में इसका नाम अलशी, मराठी में जवस अलशी, अंग्रेजी में लिनसीड तथा लैटिन में लाइनम यूसिटैटिसिमम है।

इस पौधे की फसल समस्त भारतवर्ष में होती है। लाल, श्वेत तथा धूसर रंग के भेद से इसकी तीन उपजातियाँ हैं। इसके पौधे दो या ढाई फुट ऊँचे, डालियाँ २ या ३, पत्तियाँ छोटी तथा फूल नीले होते हैं। फूल झड़ने पर घुंडियाँ बँधती हैं, जिनमें बीज रहता है। इन बीजों से तेल निकलता है,

महत्वपूर्ण है। तुर्कों का बसाया हुआ अल्जीयर्स त्रिभुजाकार था जिसके शीर्ष पर कस्वा नामक मुहल्ला था, आधार पर रिपब्लिक वीथी (बूलवर्द दि रिपब्लिक) और भुजाओं के दोनों ओर खाई तक जानेवाले सोपान थे। फ्रांसीसी अल्जीयर्स अलग अलग छोटे छोटे टुकडो मे वसा हुआ था। आधुनिक अल्जीयर्स पाश्चात्य ढग का नगर है। मस्जिदे, सैन्य आवास तथा मूर लोगो के बनवाए सुदर भवन, अब सब ध्वस्त हो गए हैं, केवल उनके खँडहर अभी तक विद्यमान हैं।

इस बदरगाह का तटीय प्रदेश रिपब्लिक वीथी के नाम से परिचित है। इसके उत्तरी भाग को फ्रास वीथी (बूलवर्द द ला फ्रास) और दक्षिणी भाग को कॉर्नो वीथी कहते हैं। इस नगर के मुख्य कार्यालय तथा व्यवसायकेद्र इन वीथियो पर स्थित हैं।

रिपब्लिक वीथी पर राजभवन स्थित है जो बहुत दिनो तक इस नगर का केद्र था। समुद्रतट के समातर जानेवाली बाब-अल-अऊद नामक सकीर्ण सडक पर अल्जीयर्स का सबसे पुराना भाग बसा है। अल्जीयर्स की देशज विशेषता इसके सबसे ऊँचे भाग, पहाडियो की ढाल, पर दिखाई पडती है। ११८ मीटर की ऊँचाई पर कस्वा बसा हुआ है। मुस्तफा क्षेत्र, जो पहले इस नगर का एक उपनगर था, आजकल नगर मे संमिलित हो गया है।

पुराने समय मे खैरुद्दीन ने पेनोन नामक छोटे टापू को मुख्य भूभाग से मिलाकर तुर्कों का बदरगाह बनाया था और आज भी इस टापू पर नाविक-सेना-कार्यालय, दिशासूचक प्रकाशस्तभ और विभिन्न तुर्की भवन दिखाई देते हैं। फ्रासीसियो का उन्नत वर्तमान बदरगाह इससे कुछ दूर पर बना है, जिसका स्थान फ्रासीसी बदरगाहो मे महत्व की दृष्टि से केवल मारसेल के बाद पडता है। [वि० मु०]

अल्जीरिया उत्तरी-पश्चिमी अफ्रीका मे फ्रास का एक औपनिवेशिक राज्य है। देश के पूर्व मे ट्यूनीशिया तथा लीबिया, दक्षिण तथा दक्षिण-पश्चिम मे फ्रासीसी पश्चिमी अफ्रीका, पश्चिम मे मौरिटेनिआ तथा रिओ-डी-ओरो तथा उत्तर-पश्चिम मे मोरक्को राज्य हैं। देश का क्षेत्रफल ८,५१,०७८ वर्ग मील है तथा जनसख्या ९५,२९,७२६ है (१९५४ ई०)।

ऐटलस पहाड की दो श्रेणियाँ उत्तरी अल्जीरिया मे समुद्र के समातर फैली हुई है। इन पहाडी श्रेणियो तथा तट-पर्वतीय टेल नामक प्रात के बीच मे एक शुष्क पेटी है। उत्तरी भाग मे चेलिफ (४०५ मील) देश की सबसे लबी नदी है। इसके अतिरिक्त अन्य बहुत से सोते, नाले तथा छोटी पहाडी नदियाँ हैं। दक्षिणी अल्जीरिया उजाड तथा रेगिस्तानी है, किंतु क्षेत्रफल मे उत्तरी भाग से आठ गुना बडा है। विस्तार और ऊँचाई की विभिन्नता के कारण यहाँ की जलवायु मे पर्याप्त विषमता पाई जाती है। उत्तरी भाग मे जाडे मे वर्षा होती है। गर्मी के महीने उष्ण तथा आर्द्र रहते हैं। दक्षिणी भाग मे कुछ वर्षा गर्मी मे होती है तथा कभी कभी सिरक्को नामक जलता हुआ गर्म तूफान चलता है।

अल्जीरिया के समुद्रतटीय उपजाऊ भाग मे यूरोपीय लोग बसे हैं, अत इस छोटे क्षेत्र मे वैज्ञानिक ढग से खेती होती है, किंतु देश का अधिकाश खेती के लिये अनुपयुक्त है। उत्तरी पर्वतीय भाग मे जगल तथा चरागाह अधिक हैं। दक्षिणी भाग उजाड है। कही कही मरूद्यान (नखलिस्तान) हैं तथा अन्य भागो मे, जहाँ सभव है, भेडे पाली जाती हैं। पहाडी क्षेत्रों मे पहुँचना कठिन है। यहाँ के आदिवासी गरीब है। कुल खेती की जानेवाली भूमि १,५६,००,००० एकड है, जिसमे ५०,००,००० यूरोपवासियो के अधिकार मे है। मुख्य फसले गेहूँ, जौ, चुकदर, मक्का, आलू तथा तबाकू हैं, अजीर, अगूर, अखरोट, जैतून आदि फल, कपास तथा खजूर भी पैदा होते हैं। ऐल्फैल्फा नामक घास भी पर्याप्त पैदा होती है। जगलो मे चीड, देवदार तथा बाँझ (ओक) के वृक्ष प्रधान हैं। यहाँ घोडे, खच्चर, गदहे, ऊँट, भेडे तथा बकरियाँ पाई जाती हैं। यहाँ मछलिया पकडने का व्यवसाय भी होता है। १९५५ ई० मे २३,८०० टन मछलियाँ पकडी गई। देश मे लोहा, फासफेट, जस्ता, पारा, रागा तथा ऐंटीमनी आदि खनिज पदार्थ उपलब्ध हैं।

यहाँ के आदिवासी केबिलस जाति के हैं, बरबरस भाषा बोलते है तथा अरबी लिपि का प्रयोग करते हैं। मैदानो तथा घाटियो मे अरब लोग तथा पहाडी उजाड भागो मे केबिलस की पिछडी हुई जातियाँ रहती हैं। ये लोग खेती करते तथा बजारो का जीवन व्यतीत करते हैं। सभी लोग मुसलमान धर्म के अनुयायी हैं। इन आदिवासियो की सख्या १८वी शताब्दी के मध्य मे १०,००,००० थी, किंतु आज ७०,००,००० है। १९४३ ई० से इन लोगो को नागरिकता के सभी अधिकार प्राप्त हैं।

उत्तरी अल्जीरिया तीन विभागो तथा बारह उपविभागो मे विभक्त है, जिनकी समिलित जनसख्या ७८,५९,०२३ है। दक्षिणी अल्जीरिया दो विभागो तथा चार उपविभागो मे बँटा है, जनसख्या ८,१६,९९३ है। यहाँ का प्रमुख नगर तथा देश की राजधानी अल्जीयर्स है, जिसकी जनसख्या ३,६१,२८५ है (१९५४)। अन्य नगर ओरान (२,९९,००८), कास्टेटाइन (१,४८,७२५) तथा बोन (१,१४,०६८) हैं। सातवी-आठवी शताब्दी मे अरब लोगो ने, जो मूर कहलाते थे, यहाँ पूर्वी सभ्यता फैलाई। मूर लोगो के पश्चात् यहाँ बारबरी लोगो ने १८३० ई० तक राज्य किया। १८३० ई० मे फ्रासीसियो ने यहाँ अपना आधिपत्य जमा लिया। तुर्को के शासन के बाद यहाँ का शासन ट्यूनीशिया तथा मोरक्को के साथ होता रहा है। आज भी अन्यत्र जागृति तथा प्रगति होते हुए भी यह देश फ्रासीसियो का औपनिवेशिक राज्य बना हुआ है। [ह० ह० सि०]

अल्टाई क्षेत्र दक्षिणी मध्य साइबेरिया मे रूसी प्रजातत्र का एक प्रशासनिक क्षेत्र है। कुछ भाग पर्वतीय तथा शेष काली मिट्टी का उपजाऊ प्रदेश है। यहाँ गेहूँ, चुकदर आदि की कृषि तथा दूध, मक्खन आदि उद्योग विकसित हैं। वनो से बहुमूल्य लकडियाँ प्राप्त होती है। सीसा, जस्ता, टग्स्टेन तथा सोना आदि खनिज यहाँ पाए जाते हैं। यहाँ की राजधानी बरनउल है जहाँ कपडे तथा खाद्य उद्योग के कारखाने है। रूट्सोव्स्क मे कृषि सबधी यत्र बनते है। [का० ना० सि०]

अल्टाई पर्वत मध्य एशिया मे रूस, चीन तथा मुख्यत पश्चिमी मगोलिया मे स्थित पर्वतश्रेणियो का एक समूह है, जो इरतिश नदी और जुगारियन तलहटी से लेकर उत्तर मे साइबेरियन रेलवे और सयान पर्वतो तक फैला है। प्रधान अल्टाई पर्वत (एकताघ श्रेणियाँ) उत्तर मे कोब्डो द्रोणी (बेसिन) और दक्षिण मे हरतिश द्रोणी को पृथक् करता है। ९४° पूर्व देशातर के पास इसकी दो निम्न समातरगामी श्रेणियाँ पूर्व की ओर जाती हैं और वनो से आच्छादित हैं (६५००'-८१५०' वृक्षपक्ति), जब कि पश्चिमी श्रेणी हिमानी शिखरो से पूरित है। इन पर्वतो मे मुख्यत सीसा, जस्ता, चाँदी, थोडा लोहा, कोयला एव ताँबा पाया जाता है। अल्पाइन क्षेत्र मे विभिन्न प्रकार के पेड पौधे तथा जीवजतु विद्यमान हैं। [का० ना० सि०]

अल्डबरा द्वीप हिंद महासागर मे ९° ३०' दक्षिण अ०, ४६°-०' पूर्व दे० पर मैडागास्कर से २६५ मील उत्तर-पश्चिम तथा माही (सेशल्स द्वीपसमूह) से ६९० मील दक्षिण-पश्चिम पर स्थित है। इसका क्षेत्रफल ६० वर्ग मील तथा जनसख्या १५० है (१९५१)। यहाँ उपजाऊ मिट्टी बहुत कम है, अधिकतर बालू ही है। वनस्पतियो मे घनी झाडियाँ, बबूल के वृक्ष, मजिष्ठाकुल (रुबियेसिई) और मधूककुल (सैपोटेसिई) मुख्य हैं। यहाँ के बृहत्काय स्थलीय कछुए, जो लुप्त हो चले थे, अब सावधानी से पाले जाते हैं। इसके अतिरिक्त पेड्की, घोंघे और केकडे भी अधिक सख्या मे मिलते हैं। यहाँ बकरियाँ पाली जाती हैं तथा नारियल पैदा किया जाता है। मछली मारना यहाँ का प्रमुख उद्योग है। [न० ला०]

अल्पबुद्धिता अल्पबुद्धिता सबधी कानून ने यह परिभाषा दी है कि "अल्पबुद्धिता मस्तिष्क का वह अवरुद्ध अथवा अपूर्ण विकास है जो १८ वर्ष की आयु के पूर्व पाया जाय, चाहे वह जन्मजात कारणो से उत्पन्न हो चाहे रोग अथवा आघात (चोट) से", परतु वास्तविकता यह है कि अल्पबुद्धिता साधारण से कम मानसिक विकास और जन्म से ही अज्ञात कारणों द्वारा उत्पन्न सीमित बुद्धि का फल है। अन्य सब प्रकार की अल्पबुद्धिता को गौण मानसिक न्यूनता कहना चाहिए।

अलास्का उत्तरी अमरीका के पश्चिमोत्तर भाग मे स्थित, सयुक्त राज्य का वृहत्तम और सर्वाधिक विरल बसा हुआ, ४९ वाँ राज्य है। स्थिति ५१° ४०' उ० से ७०° ५०' उ० अ० तथा १३०° ०' प० से १७३° ०' प० दे०, क्षेत्रफल ५,८६,४०० वर्ग मील, जनसख्या २,०६,०००, अर्थात् पौने तीन वर्ग मील पर एक मनुष्य। अधिकाश निवासी गोरी जाति के है और आदिवासियो की सख्या केवल ३६,६५० है (१७,५०० एस्किमो, १६,००० रेड इडियन, ४,५०० ऐल्यूट तथा शेष अन्य)। ऐकरेज (जनसख्या ४०,०००), फेयरवैक्स (१२,०००), जुन्यू (६,०००, राजधानी), केचिकन (५,३०५), ईस्टचेस्टर (३,०६६), माउटेनव्यू (२,८८०) आधुनिक सुविधाप्राप्त नगर हैं।

सयुक्त राज्य ने ७२ लाख डालर, यानी २ सेट से भी कम प्रति एकड, पर अलास्का को रूस से १८६७ ई० मे ३० मार्च को खरीदा। रूस (सन् १७४१-१८६७) और फिर सयुक्त राज्य की अनेक वर्षो की अधिकारावधि मे अलास्का सर्वविधिशोष्य और औपनिवेशिक क्षेत्र के रूप में अविकसित रहा है। इधर कुछ वर्षो से सयुक्त राज्य इसकी अत्यत महत्वपूर्ण सामरिक महत्ता एव प्रचुर सपत्ति को ध्यान में रखकर इसके विकास की ओर अग्रसर हुआ है। १९५७ में इसे वैधानिक राज्य का अधिकार प्राप्त हुआ।

अलास्का का धरातल अत्यत विपम है। यहाँ सयुक्त राज्य के अन्य राज्यो मे स्थित सर्वोच्च शिखर (माउट ह्विटनी १४,५०१ फुट) से अधिक ऊँचे ग्यारह शिखर विद्यमान हैं जिनमे माउट मैकिन्ले (२०, ३०० फुट) उत्तरी अमरीका का सर्वोच्च शिखर है। धरातल, जलवायु, वनस्पति आदि की विशेपताओ एव विकास की सभावनाओ को दृष्टि मे रखकर अलास्का के तीन प्रमुख भौगोलिक विभाग किए जा सकते है : (१) प्रशात महासागर तटीय क्षेत्र (५०"–१२०" वार्षिक वर्षा) जिसमे सपूर्ण दक्षिणी-पूर्वी भाग समिलित है, लगभग ३,००० मील की लबाई में फैला है। इस क्षेत्र का अधिकाश पर्वतीय है जिसमे बीसो हिमशिखर, घाटियाँ एव हिमनदियाँ हैं। निचली ढालो पर श्रीसरल (हेमलॉक), सरो एव देवदारु के घने वन है। अन्य भागो की अपेक्षा इस भाग मे शीत ऋतु मे न कडाके की सर्दी, न ग्रीष्म मे अधिकतम गर्मी पडती है। (२) मध्य का पठार (वर्षा ९"–१९") दो लाख वर्ग मील का उच्च भूमिवाला क्षेत्र है, जिसमे यूकन तथा कुस्कोविग नदियाँ बहती है। यहाँ अत्यत विपम जलवायु है पर कृषि एव चरागाह योग्य सर्वाधिक भूमि यही है। वन अपेक्षाकृत निम्न कोटि के एव अधिक खुले है। (३) उत्तरी मैदानी क्षेत्र मे, जो ब्रुक्स पर्वतश्रेणियो द्वारा पठार से पृथक् होता है, टुड्रा की जलवायु एव वनस्पति मिलती है। रेनडियर (बडा बारहसिंगा), कैरीबू (बारहसिंगे की एक विशेष जाति) तथा सील मछलियाँ यहाँ जीवननिर्वाह का मुख्य साधन है। कोयला एव तेल भी यहाँ प्राप्त होता है।

अलास्का मे सोना, चाँदी, ताँबा, पारा, कोयला, तेल, प्लैटिनम, राँगा, टग्स्टेन, सीसा, जस्ता, सगमरमर तथा अन्य खनिज प्रचुर मात्रा मे हैं, जिनका अधिकाश पर्वतीय भाग एव पठार मे है। मत्स्य (आय ८,८५,३४,४८६ डालर), खनिज (आय २,७८,६०,००० डा०) तथा ऊर्णाजिन (फर) (आय ५०,००,००० डालर) यहाँ के प्रमुख उद्योग है। कृषि एव चरागाहो की भी वृद्धि हो रही है। वनो से बहुमूल्य लकडियाँ प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त अलास्का के मनोरम दृश्यों तथा आखेटक्रीडा सबधी सुविधाओ के कारण यात्रीउद्योग (टूरिज्म) बढ रहा है। यहाँ ६४८ मील रेल, ३,५०० मील सडक तथा वायुयान के छोटे बडे ४०० सस्थान है। वस्तुओ का आयात निर्यात मुख्यत समुद्र द्वारा होता हे। कुल वार्षिक व्यापार लगभग २३,००,००,००० डालर का होता है। [का० ना० सि०]

अलिराजपुर मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले की एक तहसील है। पहले यह मध्यभारत के दक्षिण एजेसी में मध्यभारत का एक राज्य था। उसके पहले यह भील या भोपावर एजेसी का एक देशी राज्य था। उस समय इसका क्षेत्रफल ८३६ वर्ग मील तथा जनसख्या १,०१,९६३ थी (१९३१)।

अलिराजपुर एक पहाडी प्रदेश है तथा यहाँ के आदिवासी 'भील' नाम से पुकारे जाते हैं। इसका अधिकतर भाग जगल से ढका है और बाजरा तथा मक्का के अतिरिक्त विशेष रूप से और कुछ पैदा नही होता। अलिराजपुर नगर पहले अलिराजपुर राज्य की राजधानी था, परतु इस समय झाबुआ जिले का प्रधान नगर है। अक्षाश २२° ११' उ० तथा देशातर ७४° २४' पू० पर यह स्थित है। यहाँ नगरपालिका (म्युनिसिपैलिटी) है और इसकी आबादी ७,७३९ (सन् १९५१) है।

इस नगर के पुराने इतिहास का ठीक पता नही चलता और कब किसके द्वारा यह स्थापित हुआ है इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख कही नही मिलता है। पहाडो तथा जगलो से घिरा होने के कारण इसपर आक्रमण कम हुए और इसलिये मराठो ने जब मालवा पर आक्रमण किया तब इस पर कोई विशेष प्रभाव नही पडा। अग्रेजो के अधीनस्थ होने के पूर्व मालवा के राणा प्रतापसिंह अलिराजपुर के प्रधान थे। इनके देहात के पश्चात् मुसाफिर नामक इनके एक विश्वासी नौकर ने राज्य को सँभाला तथा प्रतापसिंह के मरणोत्तर उत्पन्न पुत्र यशवतसिंह को सिंहासन पर बैठाया गया। यशवतसिंह का सन् १८६२ में देहात हुआ। मरने के पूर्व उन्होने अपने दो पुत्रो को राज्य बाँट देने का निर्देश दिया, परतु अग्रेजो ने आसपास के कुछ प्रधानो से परामर्श करके इनके बडे पुत्र गगदेव को सपूर्ण राज्य का मालिक बनाया। गगदेव योग्य राजा नही था और वह ठीक से राज्य नही चला सका। कुछ ही दिनो मे देश मे विद्रोह की भावना प्रज्वलित हुई और अराजकता छा गई। इस कारण अग्रेज सरकार ने कुछ दिनो के लिये इसे अपने हाथ मे ले लिया। गगदेव के देहात के बाद (१८७१ मे) इनके भाई आदि ने इसपर राज्य किया। भारत स्वतत्र होने के बाद यह राज्य भारतीय गणतत्र मे मिल गया और इस समय मध्यप्रदेश का एक भाग है। अलिराजपुर पर राज्य करनेवाले प्रधान राठौर राजपूतो के वशज थे और महाराणा पद के अधिकारी थे। इनके सम्मानार्थ पहले ९ तोपो की सलामी दी जाती थी।

अलिराजपुर नगर का सबसे आकर्षक भवन इसका भव्य राजप्रासाद है जो इसके मुख्य बाजार के निकट ही बना है। राज्यव्यवस्था करनेवाले अधिकारियो के निवासस्थान भी इसी मे हैं। [वि० मु०]

अली (अबू तालिब के पुत्र) पैगबर मुहम्मद के चचेरे भाई और उनकी पुत्री फातिमा के पति। सुन्नी मुसलमानो के चौथे पवित्र खलीफा। विरोधियो को सदेह न हो, इसलिये पैगबर के मदीना प्रस्थान (हिजरत) के समय अली को घर पर छोड दिया गया था। पैगबर के शासनकाल मे अली का आचरण अत्यत उदात्त रहा, इस तथ्य पर सभी विद्वान् सहमत है। बद्र ओहोद तथा अलखदक की लडाइयो में उनका युद्धलाघव असाधारण था। पैगबर ने फ़ब्राक की ओर कूच करते समय अली को मदीना का शासक नियुक्त कर दिया। अली ने यमन पर भी सफल आक्रमण किया (६३१–६३२)।

अली के पहले दो खलीफाओ (अबू बक्र और उमर) से मैत्रीपूर्ण सबध थे। उमर ने मृत्यु से पूर्व अपने उत्तराधिकारी (खलीफा) का निर्वाचन छ निर्वाचको पर छोडा था। उन्होंने उस्मान को खलीफा निर्वाचित किया। इसमे अली की भी सहमति थी (६४४)। सन् ६५६ ई० मे कूफा, बसरा तथा फुस्तात (मिस्र) के विद्रोहियो ने अली के प्रयत्नो को विफल कर उस्मान की हत्या कर दी।

विद्रोहियो ने मदीना छोडने से पूर्व यह माँग की कि मदीना की जनता एक खलीफा निर्वाचित करे। अली ने काफी पसोपेश के बाद इस पद को ग्रहण किया। सीरिया के प्रशासक मुआविया के अतिरिक्त समस्त मुसलमान जगत् ने उन्हें खलीफा स्वीकार किया। किंतु अली की वास्तविक कठिनाई उनके अनुयायियो का पिछडापन थी। पैगबर के दो साथी (सहाबा) तलहा और जुबैर, जिन्होने पहले अली को खलीफा स्वीकार कर लिया था, पैगबर की पत्नी आयशा के साथ बसरा पहुँचे और उस्मान के घातको को दड देने की माँग की। विवश होकर अली ने बसरा के निकट 'ऊँटो की लडाई' में उन्हे परास्त किया।

कूफा में अपनी राजधानी स्थापित करने के बाद अली ने सीरिया को कूच किया। सिफ्फिन मे सेनाओ की मुठभेड हुई और ११० दिनो तक युद्ध और कलह चलता रहा (जून-अगस्त, ६५७)। अत मे झगडे को पचायत से सुलझाने का निश्चय हुआ। अली के प्रतिनिधि अबू मूसा अशीरी को मुआविया के प्रतिनिधि मिस्रविजयी अम्र-इब्नुल-आस ने धोखा दिया।

उत्पन्न हो जाते हैं; यह बहुधा थायरायड-रस के कारण उत्पन्न होता है), कदाकारता (गॉरगॉयलिज्म) इत्यादि।

अल्पबुद्धिवाले बच्चो की देखभाल साधारण पाठशालाएँ नही कर सकती और उनमे ऐसे बच्चो को भरती करना और उनको किसी न किसी प्रकार पास कराने की चेष्टा करना भूल है। सयुक्त राज्य (अमरीका) आदि कतिपय देशो में अल्पबुद्धि और दुर्बलबुद्धि बच्चो की पृथक् बस्तियाँ होती हैं जहाँ उनकी विशेष देखभाल की जाती है और इस उद्देश्य से विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है कि जहाँ तक हो सके, उनका विकास कर दिया जाय। इन अभागे बच्चो की सामाजिक समस्याओ का और परिवार के लोगो को छुटकारा देने का यही सबसे अच्छा हल है। [नि० गु०]

अल्पाका दक्षिण अमरीका के ऐडीज पर्वतो के उच्च अचलो मे (१४,०००-१६,००० फुट पर) पाए जानेवाले दो जाति के चतुष्पद जानवर हैं। इनका वैज्ञानिक नाम "लामा हुआनाको", जाति "पाका" है। इनकी गणना ऊँट की श्रेणी मे की जाती है, क्योकि इनमे ऊँट जैसा जल-आमाशय (वाटर स्टमक) पाया जाता है, परतु कूबड नही होता। अल्पाका देखने मे भेड से मिलता जुलता है। इसका सर लबा और गर्दन आकाश की ओर उठी रहती है। शरीर घने बालो से ढका रहता है जो इसे वहाँ के अत्यधिक शीत से बचाता है। इन देशो के निवासी इसे भेड की भाँति मुख्यत ऊन के लिये पालते हैं। इसका मास भी स्वादिष्ट होता है। इसके बाल चमकदार, लचीले, हल्के और अधिक गर्मी पहुँचानेवाले होते हैं। अल्पाका के शरीर से पाए जानेवाले ऊन की मात्रा भी पर्याप्त होती है।
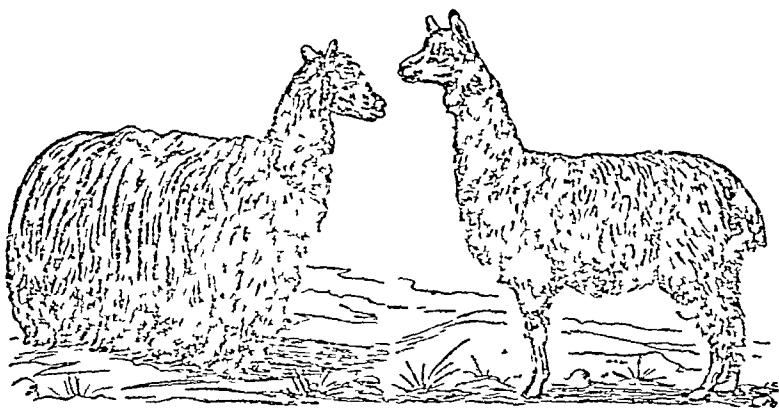
अल्पाका

यह ऊँट की श्रेणी का पशु है, इसके बाल घने और लबे होते हैं। बाईं ओर यह बाल सहित तथा दाहिनी ओर बाल काटने पर दिखाया गया है।

अल्पाका के ऊन की पूरी लबाई लगभग १२ इच तक होती है, जिसमे से केवल ८ इच वार्षिक कटाव मे काटा जाता है। ऊन का प्राकृतिक रग मुख्यत काला, घना धूसर या हल्के रग का होता है। काटने के बाद रग तथा गुण के अनुसार इसकी छँटाई होती है, जिसे इन देशो की औरते बडी चतुरता से सपन्न करती हैं। इसके मुलायम और बारीक रेशे बडी आसानी से बुने जा सकते हैं। पहले पहल अल्पाका कोट बनाने के काम मे लाया जाता था, परतु अब इसका उपयोग अधिकतर अस्तर के रूप मे होता है।

दक्षिण अमरीका के लामा, गोयेनाको और विक्युना नामक ऊनवाले अन्य तीन पशु अल्पाका की ही जाति मे परिगणित होते हैं। इनमे से अल्पाका और विक्युना का ऊन सबसे मूल्यवान् माना जाता है। विक्युना अल्पाका से बडा एक जगली जतु है। लामा और अल्पाका दोनो पालतू जानवर हैं।

पहले अल्पाका के ऊन को मशीन से बुनने मे बडी कठिनाई पडी, क्योकि अल्पाका का ऊन बहुत कुछ बाल की तरह होता है, परतु शीघ्र ही पूरी सफलता मिल गई। अल्पाका अब एक जाति के ऊनी वस्त्र को कहते हैं जिसमे विशेष चमक रहती है, चाहे उसका ऊन अल्पाका नामक पशु से मिला हो चाहे अन्य पशुओ से। [वि० मु०]

अल्फियेरी वित्तोरियो काउट (१७४९-१८०३)—इटली का प्रसिद्ध दु खात नाटककार, जिसका जन्म पीदमोत प्रात के अस्ती नगर मे हुआ था। उसे १४ वर्ष की अवस्था मे ही पिता और चाचा की अनत सपत्ति विरासत मे मिली। सात वर्ष तक वह पर्यटक के रूप मे यूरोप के विविध देशो मे भ्रमण करता रहा जिसका वृत्तात उसने अपनी आत्मकथा मे अकित किया है। यद्यपि उसका भ्रमण उसकी विलासिता से विकृत था, उसने उसे प्रभावित भी प्रभूत किया और इग्लैड की राजनीतिक स्वतत्रता तथा फ्रास के साहित्य का लाभ उसने भरपूर उठाया। वे ही दोनो उसके जीवन के आदर्श बन गए। वोल्तेयर, रूसो और मोतेस्क का अध्ययन उसने गहरा किया, फलत राजनीतिक अत्याचार का वह शत्रु बन गया।

अल्फियेरी के नाटको मे प्रधान 'साउल' है। स्वाभाविक ही अपनी आदर्श चेतना के अनुसार अपना एक दु खात नाटक 'मारिया स्तुआरदा', लिखकर उसने अपनी प्रिय चहेती काउटेस को समर्पित किया जिसके साथ रहकर उसने अपना शेष जीवन बिता दिया। उसके पिछले नाटको मे प्रधान 'मिर्रा' था जिसे अनेक समालोचको ने 'साउल' से भी सुदर माना है।

अल्फियेरी अमरीकी और फ्रासीसी दोनो राज्यक्रातियो का समकालीन था और दोनो पर उसने सुदर कविताएँ लिखी। फ्रासीसी राज्यक्राति के समय वह पेरिस मे ही था। वहाँ के रक्तपात से घबडाकर वह काउटेस के साथ अपनी सपत्ति छोड फ्रास से भाग निकला। उसे आँखोदेखी मारकाट से जो घृणा हुई तो उसने उसके विरुद्ध 'मिसोगालो' नाम के अपने गद्यसग्रह मे कुछ बडे सशक्त निबध प्रकाशित किए और इस प्रकार उसने न केवल राजाओ और महतो के विरुद्ध, बल्कि राज्यक्राति के अत्याचार के विरुद्ध भी अपनी आवाज उठाई।

इन निबधो के अतिरिक्त उसका यश उसकी कविताओ, प्रधानत उसके १९ नाटको, पर अवलबित है। १९ सदी के आरभ में उसकी रचनाओ के सग्रह बाईस खडो मे फ्लोरेस मे प्रकाशित हुए। उसी नगर मे उसका देहात भी हुआ। [ओ० ना० उ०]

अल्फ्रेड (ल० ८४८-९०० ई०) प्राचीन इग्लैड के राजाओ मे अपने पराक्रम और तप के कारण यह राजा 'महान्' की उपाधि से विभूषित हुआ है। उस काल के इग्लैड के राजाओ का डेनो से महान् सघर्ष हुआ। डेनो के दल के दल सागर पार से द्वीप मे उतर आते और उसे लूट खसोटकर स्वदेश लौट जाते। उनकी मार से इग्लैड जर्जर हो उठा और उसके राजाओ को बार बार पराजय का शिकार होना पडा। उन्ही के प्रतिकार मे अल्फ्रेड ने जीवन भर सघर्ष किया और अनेक बार तो उसकी स्थिति सामान्य भगोडे जैसी हो गई। देश की रोमाचक ऐतिहासिक लोकस्मृतियो मे अल्फ्रेड की कहानी बडी प्रिय हो गई है और उसकी जनप्रियता का परिणाम यह हुआ कि उसके सबध मे सच झूठ दोनो प्रकार की अनुश्रुतियाँ प्रचलित हो गई है। एक का तो यहाँ तक कहना है कि अल्फ्रेड को एक बार डेनो से हारकर गडेरिए के घर मे शरण लेनी पडी थी जहाँ गडेरिए की पत्नी ने उसे अनजाने कडी कडी बाते कही थी। राणा प्रताप सा वीर जीवन बितानेवाले अल्फ्रेड का चरित सचमुच इतिहास की प्रिय कथा बन गया है।

अल्फ्रेड का जन्म वाटेज मे हुआ। वह राजा ईथेन वुल्क का पाँचवाँ बेटा था। उसके पिता के मरने पर उसके दो बड़े भाइयो, ईथेल बाल्ट और ईथेल बर्ट ने बारी बारी से राज किया। फिर उनसे छोटा भाई इग्लैड की गद्दी पर बैठा और तभी से अल्फ्रेड राजनीति के क्षेत्र में उतरा। ८६८ ई० में दोनो भाइयो ने पहली बार मरसिया मे डेनो का सामना किया, पर उन्हे वे जीत न सके। दो साल बाद डेनो के विरुद्ध सघर्ष और घना हो गया। और ८७१ मे अल्फ्रेड ने उनसे नौ नौ लडाइयाँ लडी। हार और जीत का जैसे ताँता बँध गया और इन्ही के बीच जब बडा भाई ईथेल रेड मरा तब अल्फ्रेड इग्लैड की गद्दी पर बैठा। अभी वह भाई की लाश दफनाने मे ही लगा था

गए। जनाजा जुन्नातम ले जाया गया और वहाँ मसजिदे अकसा में दफन हुए।

मौलाना मुहम्मद अली जबरदस्त रहबर होते हुए बडे अदीब और शायर भी थे। आपका उपनाम 'जौहर' था। उर्दू पत्रकारिता को आपने एक नई दिशा दी। आपकी ही दिखाई राह पर बाद में आनेवाले तमाम उर्दू अखबारों ने कदम रखा। आप कलकत्ते मे एक अखबार 'कामरेड' निकालते थे और एक दैनिक अखबार भी जिसका नाम 'हमदर्द' था। यह दैनिक एक सफे पर छपता था। मौलाना का पूरा जीवन जाति तथा देश के लिये अनेक त्याग करने में बीता। [र० ज०]

अलीवर्दी खाँ

बगाल में औरगजेब के नियुक्त किए हुए हाकिम मुर्शिद कुलीखाँ की मृत्यु के बाद १७२७ ई० मे उनके दामाद शुजाउद्दीन खाँ हाकिम नियुक्त किए गए। अलीवर्दी खाँ उनके नायब नाजिम थे। मिर्जा मुहम्मद के बेटे अलीवर्दी का असली नाम मिर्जा मुहम्मद अली था, बाद को 'अलीवर्दी खाँ' और 'महाबत जग' के खिताब देहली से मिले। शुजाउद्दीन खाँ की मृत्यु के बाद उनके बेटे सर्फराज खाँ हाकिम हुए लेकिन अलीवर्दी खाँ ने उनके भाई के साथ मिलकर साजिश की जिसमें आलमचद और सेठ फतेहचद भी शरीक थे। १० अप्रैल, सन् १७४० ई० को अलीवर्दी ने बिहार की तरफ से हमला किया और गीरिया नामक स्थान पर सर्फराज खाँ को मार दिया। फिर वह स्वय बगाल के हाकिम बन बैठे और देहली के शाहनशाह ने अपनी हुकूमत की सनद मनवा ली। सन् १७५१ ई० में उन्होंने मरहठों से एक समझौता किया, क्योकि एक तरफ उन्हें बगाल पर मरहठो के हमलो का खतरा था और दूसरी तरफ उनके अपने पठान सरदार बगावत करने पर उतारू रहते थे। इस समझौते में उन्होने मरहठो को बारह लाख रुपया सालाना चौथ के रूप में देना मजूर किया। उडीसा के एक हिस्से का पूरा लगान इसमें जाता था। लेकिन इस बात का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता कि अलीवर्दी खाँ ने देहली को कोई खिराज दिया हो या अग्रेजो को कोई टैक्स अदा किया हो। सन् १७५६ ई० में ८० साल की उम्र में मुर्शिदाबाद में अलीवर्दी खाँ की मृत्यु हुई और वही खुशबाग के एक कोने मे अपनी माँ के पास दफनाए गए। अलीवर्दी खाँ अत्यत बहादुर सिपाही और बहुत समझदार हाकिम थे। [र० ज०]

अली, शौकत

मौलाना शौकत अली मौलाना मुहम्मद अली के बडे भाई थे। आप सन् १८७६ मे पैदा हुए। धार्मिक शिक्षा के बाद अलीगढ में पढा। खिलाफत और काग्रेस के आदोलन में सन् १९१९ से लेकर सन् १९२१ तक भाग लेते रहे। भाई के साथ जेल भी गए। अतिम समय मे आप मुस्लिम लीग मे शामिल हो गए थे। ४ जनवरी, सन् १९३९ को देहात हुआ। [र०ज०]

अलूचा

(अग्रेजी नाम प्लम, वानस्पतिक नाम प्रूनस डोमेस्टिका, प्रजाति प्रूनस, जाति डोमेस्टिका, कुल रोजेसी) एक पर्णपाती वृक्ष है। इसके फल को भी अलूचा या प्लम कहते है। फल लीची के बराबर या कुछ बडा होता है और छिलका नरम तथा साधारणत गाढे बैगनी रग का होता है। गूदा पीला और खटमिट्ठे स्वाद का होता है। भारत में इसकी खेती नही के समान है, परतु अमरीका आदि देशो में यह महत्वपूर्ण फल है। केवल कैलिफोर्निया में लगभग एक लाख पेटी माल प्रति वर्ष बाहर भेजा जाता है। आलूबुखारा (प्रूनस बुखारेन्सिस) भी एक प्रकार का अलूचा है, जिसकी खेती बहुधा अफगानिस्तान में होती है। अलूचा का उत्पत्तिस्थान दक्षिण-पूर्व यूरोप अथवा पश्चिमी एशिया में काकेशिया तथा कस्पियन सागरीय प्रात है। इसकी एक जाति प्रूनस सैलिसिना की उत्पत्ति चीन से हुई है। इसका जैम बनता है।
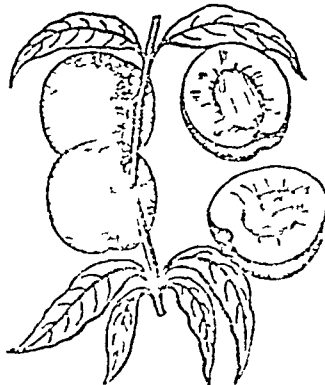
अलूचा या आलूबुखारा
यह खटमिट्ठा फल भारत के पहाडी प्रदेशो में होता है।

अलूचा के सफल उत्पादन के लिये ठढी जलवायु आवश्यक है। देखा गया है कि उत्तरी भारत की पर्वतीय जलवायु मे इसकी उपज अच्छी हो सकती है। मटियार, दोमट मिट्टी अत्यत उपयुक्त है, परतु इस मिट्टी का जलोत्सारण (ड्रेनेज) उच्च कोटि का होना चाहिए। इसके लिये ३०-४० सेर सडे गोबर की खाद या कपोस्ट प्रति वर्ष, प्रति वृक्ष के हिसाब से देना चाहिए। इसकी सिंचाई आडू की भाँति करनी चाहिए। अलूचा का वर्गीकरण फल पकने के समयानुसार होता है (१) शीघ्र पकनेवाला, जैसे अलूचा लाल, अलूचा पीला, अलूचा काला तथा अलूचा ड्वार्फ, (२) मध्यम समय मे पकनेवाला, जैसे अलूचा लाल बडा, अलूचा जर्द, तथा आलूबुखारा, (३) विलब से पकनेवाला, जैसे अलूचा ऐल्फा, अलूचा लेट, अलूचा एक्सेल्सियर तथा केल्सीज जापान।

अलूचा का प्रसारण आँख बाँधकर (बडिंग द्वारा) किया जाता है। आडू या अलूचा के मूल वृत पर आँख बाँधी जाती है। दिसबर या जनवरी में १५-१५ फुट की दूरी पर इसके पौधे लगाए जाते हैं। आरभ के कुछ वर्षो तक इसकी काट छाँट विशेष सावधानी से करनी पडती है। फरवरी के आरभ मे फूल लगते हैं। शीघ्र पकनेवाली किस्मो के फल मई में मिलने लगते हैं। अधिकाश फल जून जुलाई मे मिलते हैं। लगभग एक मन फल प्रति वृक्ष पैदा होता है। [ज० रा० सिं०]

अलेक्जैंडर द्वीपसमूह

सयुक्त राज्य अमरीका के अधीन अलास्का राज्य के दक्षिणी-पश्चिमी समुद्रतट के सनिकट अक्षाश ५४° ४०' उ० से ५८° ३०' उ० मे स्थित है। विद्वानो का कहना है कि ये द्वीप निमज्जित पहाडियो की अवशिष्ट चोटियाँ है जो समुद्रतल से ३,००० फुट से लेकर ५,००० फुट की ऊँचाई तक उठ गई हैं। इनका ऊपरी भाग घने जगलो से आवृत है और सीधे खडे किनारो पर हिमनद की क्रियाओ के स्पष्ट चिह्न दिखाई देते हैं।

अलेक्जैंडर द्वीपपुज के अतर्गत लगभग १,१०० छोटे बडे द्वीप हैं जो आपस में एक जाल-सा बनाते हैं और उपकूल के निकट १३,००० वर्गमील के क्षेत्र मे फैले हैं। इनका वृत्ताकार घेरा उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व तक फैला हुआ है। इनमें क्रमश शिकागोफ, बारानोफ़, ऐडमिरैल्टी, कुपरिनोफ, कुईन, प्रिंस ऑव वेल्स, इटोलिन तथा रेविलाजिगेडो प्रधान हैं। प्रिंस ऑव वेल्स इनमें से सबसे बडा द्वीप है जो १४० मील लबा तथा ४० मील चौडा है। बारनोफ के पश्चिमी तट पर इसकी पुरानी राजधानी सिटका स्थित है। द्वीपो द्वारा बनी हुई खाडी प्रशात महासागर के तूफानो से मुक्त है, इस कारण यह खाडी उपयोगी जलपोत पथ है। [वि० मु०]

अलेक्सांदर प्रथम (पावलोविच)

रूस का जार, पाल प्रथम का पुत्र, जन्म २३, दिसबर १७७७ को सेंट पीटर्सबर्ग में। २४ मार्च, १८०१ को राजगद्दी पर बैठा। पिता से दूर रहने और पाल तथा कैथरीन में मतभेद रहने के कारण इसको अपने आतरिक भाव सदा छिपाए रखने पडे। इस कारण इसके व्यवहार में सदा सचाई का अभाव रहा। नेपोलियन इसको उत्तर का स्फिक्स कहा करता था।

पिता की हत्या होने पर यह सिंहासन पर बैठा। गद्दी पर बैठते ही इग्लैंड के साथ सधि (१५ जून, १८०१) और फ्रास तथा स्पेन के साथ मैत्री की। शासन के पहले चार साल उसने राज्य के आतरिक सुधार में लगाए। रूस को एक सविधान देने का उसने प्रयत्न किया। करो को हटाया, कर्जदारो को ऋणमुक्त किया, कोडे मारने की सजा का अत किया और इस रीति से अर्धदासता को दूर करने का रास्ता बनाया। साथ ही उसने 'सीनेट' के कार्य और अधिकार निर्धारित किए, मत्रालय का पुन सगठन किया और नौसेना, परराष्ट्र, गृह, न्याय, वित्त, उद्योग, वाणिज्य, शिक्षा आदि के विभाग स्थापित किए। सेंट पीटर्सबर्ग में विज्ञान अकादमी की और कजान और खारकोव में विश्वविद्यालयों की भी उसने स्थापना की। शातिकाल में शिक्षा, साहित्य और सस्कृति को प्रोत्साहन दिया।

अलेक्सादर ने फ्रास के विरुद्ध इग्लैंड से सधि की (अप्रैल, १८०५)। पीटर के प्रभाव में आकर आस्ट्रिया, इग्लैंड और प्रशा के साथ मिलकर इसने भी फ्रास के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। परिणामस्वरूप अनेक

यहाँ का प्रथम रेलमार्ग है जो देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाता है। कालगरी इसका मुख्य जंकशन है। ग्रैंड ट्रंक पैसिफिक (अब कैनेडियन नैशनल) का बनना १९०३ में प्रारंभ और १९१५ में पूरा हुआ। यह दक्षिणी सस्केचेवान के उर्वरा मैदान से होकर जाता है। तीसरा, एक छोटा रेलमार्ग क्राउन नेस्ट से होता हुआ राकी क्षेत्र में जाता है। जलमार्ग, वायुमार्ग तथा सड़कों का विस्तार भी यहाँ यथेष्ट है। जनसख्या ११,२३,११६ है (१९५६), जिसमें ४,८७,२९२ व्यक्ति गाँवों में तथा ६,३५,८२४ व्यक्ति नगरों में रहते हैं। यहाँ के प्रमुख नगर एडमांटन (२,२६,००२), कालगरी (१,८१,७८०), लेथब्रिज (२९,४६२) तथा मेडिसिनहट (२०,८६२) हैं (जनसख्या १९५६ के अनुसार)। [न० ल०]

अल्बानी सयुक्त राज्य, अमरीका, के न्यूयार्क प्रात की राजधानी तथा बंदरगाह है, जो न्यूयार्क नगर से १४५ मील उत्तर हडसन नदी के पश्चिमी किनारे पर स्थित है। इसका क्षेत्रफल १९ ६ वर्गमील तथा जनसख्या १,३४,९९५ है (१९५०)। न्यूयार्क सेंट्रल, डेलावरे तथा हडसन, वेस्टशोर तथा बोस्टन और अल्बानी रेलवे लाइनें यहाँ से होकर जाती हैं। यहाँ पर एक राजकीय सग्रहालय तथा सन् १८९८ में स्थापित एक राजकीय पुस्तकालय है जिसमें ६,३०,००० पुस्तकें हैं। न्यूयार्क स्टेट नैशनल बैंक की इमारत सभवत अमरीका का सबसे पुराना भवन है जिसमें प्रारभ से ही बैंक का कार्य होता रहा है। यहाँ २० प्रमदवन (पार्क) हैं जिनमें वाशिंगटन तथा लिंकन सबसे बड़े हैं। यहाँ नगरपालिका, हवाई अड्डा और एक व्यस्त बंदरगाह है। विभिन्न उद्योग धधे भी यहाँ होते हैं जिनमें रासायनिक पदार्थ, वस्त्र, कागज, स्टोव तथा पिन इत्यादि बनाना मुख्य हैं। अल्बानी प्रमुख शिक्षाकेंद्र है। यहाँ पर विभिन्न स्कूल, कालेज तथा व्यावसायिक सस्थाएँ हैं जिनमें नेशनल विश्वविद्यालय, अल्बानी फारमेसी कालेज (स्थापित १८८१), अल्बानी लॉ स्कूल (स्थापित १८५१) तथा अल्बानी मेडिकल स्कूल (स्थापित १८३९) प्रमुख हैं। यहाँ से दो दैनिक पत्र निकलते हैं निकरबोकर न्यूज़ सन् १८४२ से और टाइम्स यूनियन सन् १८५३ से। रेलमार्ग, जलमार्ग तथा सड़कों का जाल बिछा होने के कारण अल्बानी एक प्रमुख माल-वितरण-केंद्र बन गया है। [न० ला०]

अलबुकर्क न्यू मेक्सिको (सयुक्त राज्य, अमरीका) का सबसे बड़ा नगर है, जो समुद्रतल से १९६ फुट की ऊँचाई पर रिओग्राडे नदी के पूर्वी किनारे पर स्थित है। इसकी स्थापना १७०६ ई० में प्रात के गवर्नर डॉन फ्रासिसको कुअरवो वाइ वाल्डेस द्वारा हुई। यहाँ पर अनेक क्षयचिकित्सालय हैं। पशुपालन तथा काष्ठउद्योग मुख्य धधे हैं। लकड़ी, लोहे तथा मशीन की दूकानें, ऊन, रेलवे तथा कृषि सबधी सामान बनाने के कई कारखाने हैं। यहाँ पर न्यू मेक्सिको का विश्वविद्यालय १८९२ ई० में स्थापित हुआ। जनसख्या ९६,८१५ है (१९५०)। १९५७ की अनुमित जनसख्या १,९५,००० है। [न० ला०]

अल्बुला स्विट्जरलैंड के ग्रिसन नामक पहाड़ी भाग का एक प्रसिद्ध गिरिपथ है। उत्तर से एनगाडाइन नदी के उत्तरी भाग में पहुँचने के लिये यही मुख्य मार्ग है। इसके उच्चतम भाग की ऊँचाई समुद्रतल से ७,५९५ फुट है। इस कारण पहले ७,५०४ फुट पर स्थित जूलियर गिरिपथ अधिक सुगम तथा सरल पड़ता था और उसका महत्व बहुत दिनों तक अल्बुला गिरिपथ से अधिक था। १३वीं शताब्दी से ही अल्बुला गिरिपथ चालू हो गया था, परतु १८६५ ई० में इसमें घोड़ागाड़ी जाने के लिये रास्ता बनाया गया और १९०३ में इसमें रेलमार्ग बना। तब इसका महत्व कई गुना बढ गया। इस गिरिपथ द्वारा राईन तथा हिंटर राईन उपत्यकाओं की सबसे सीधी सड़क बन गई है।

अल्बुला गिरिपथ के भीतर से जानेवाला रेलपथ कोयर नगर से रोचिनाऊ नगर तक राइन नदी के साथ साथ चलता है और फिर हिंटर राइन से होते हुए थूसिस तक पहुँचता है। इसके बाद शिन खड्ड के अदर यह अल्बुला नामक पहाड़ी नदी को काटता हुआ टिफेन कास्टेल तक आता है। इस जगह से दक्षिण की ओर जूलियर पथ को छोड़कर अल्बुला नदी के साथ चलना शुरु करता है तथा आगे चलकर एक सुरग से गुजरता है जिसका प्रवेशपथ ५,८७९ फुट पर और सर्वोच्च भाग ५,९८७ फुट पर स्थित है। यह सुरग गिरिपथ के ठीक नीचे काटी गई है। रेलमार्ग इसके अदर से निकलकर बीवर घाटी पर पहुँचता है तथा एनगाडाइन नदी की घाटी के ऊपरी भाग पर उतर आता है। इन गिरिपथ के कारण सेंट मोरीट्स से कोयर का रास्ता छोटा होकर केवल ५६ मील रह गया। [वि० मु०]

अल्बे फिलीपीन द्वीपसमूह में अल्बे प्रात का मुख्य नगर तथा राजधानी है। अल्बे तथा लिगास्पी नगरपालिकाएँ १९०७ में एक दूसरे में मिला दी गई तथा इस सयुक्त नगरपालिका का नाम १९२५ में केवल लिगास्पी रखा गया। इसके आसपास की भूमि समतल तथा जलवायु अच्छी है। कोई भी ऋतु यहाँ शुष्क नहीं रहती। पटुआ यहाँ की मुख्य उपज है। अन्य फसलों में गरी का गोला, चीनी, चावल, अनाज, मीठे आलू तथा तबाकू मुख्य हैं। यहाँ की भाषा बीकल है। अल्बे सड़कों, रेलों तथा जलमार्गों द्वारा विभिन्न स्थानों से सबद्ध है। यहाँ की जनसख्या ४१,४६८ है (१९३९)। [न० ला०]

अल्बेर्ती, लियोन बतिस्ता (१४०४-१४७२) इटली का कवि, गायक, दार्शनिक, चित्रकार और वास्तुकार। अल्बेर्ती वैसे तो पुनर्जागरण काल के विशिष्ट कलाविदों में से था, पर कवि भी वह असाधारण था। उसने २० वर्ष की आयु में इतने सुदर लातीनी पद लिखे कि भ्रमवश उसे लोगों ने लपिदस् की रचना मानकर छापा। उसने अनेक प्रधान गिरजाघरों की डिजाइनें प्रस्तुत कीं और वास्तु पर एक प्रसिद्ध ग्रथ 'दे रे ईदिफिकातोरिया' लिखा जिसके इतालीय, फ्रेंच, स्पेनी और अग्रेजी में अनुवाद हुए। [भ० श० उ०]

अल्बेनिया बालकन प्रायद्वीप में एक प्रजातत्र राज्य है। क्षेत्रफल १०,६२९ वर्ग मील, जनसख्या १२,००,००० (१९५१ ई० में) ७० प्रति शत मुसलमान, २० प्रति शत आर्थोडाक्स ईसाई तथा १० प्रति शत रोमन कैथोलिक।

इस राज्य के उत्तर तथा पूर्व में यूगोस्लाविया, दक्षिण-पूर्व में यूनान (ग्रीस) और पश्चिम में ऐड्रियाटिक तथा आयोनियन सागर हैं।

अल्बेनिया एक पर्वतीय देश है, जिसका अधिकतर भाग सागरतल से ३,००० फुट ऊँचा है। इसकी पूर्वी सीमा पर एक पहाड़ी है, जिसका सर्वोच्च शिखर ८,५९८ फुट ऊँचा है। इसका उपजाऊ तटीय प्रदेश मलेरियावाले दलदलों के कारण अभी भी अविकसित पड़ा है।

विविध प्रकार के धरातलों के कारण यहाँ विविध प्रकार की जलवायु और अनेक प्रकार की वनस्पतियाँ मिलती हैं। दक्षिणी तटीय मैदानों में भूमध्य सागरीय जलवायु पाई जाती है। इसमें शीत ऋतु में वर्षा होती है और ग्रीष्म ऋतु शुष्क रहती है। मध्य तथा उत्तरी भाग में वर्षा अधिक और लगभग बारहों मास होती है। उच्च पर्वतीय भागों में पर्वतीय जलवायु पाई जाती है जिसमें शीत ऋतु में हिम गिरता है।

अल्बेनिया के मुख्य खनिज क्रोम, ताँबा, खनिज तेल आदि हैं। इस देश की अपार जलशक्ति का अभी तक सम्यक् उपयोग नहीं हो पाया है।

कृषि—अल्बेनिया की ९० प्रति शत जनता का मुख्य उद्यम कृषि अथवा पशुपालन है। यहाँ की धरती का ६० प्रति शत भाग वनों अथवा दलदलों से ढका है, ३० प्रति शत भाग पर चरागाह हैं। अतएव केवल १० प्रति शत भाग पर ही कृषिकार्य होता है। यहाँ के मैदानों में अगूर, सतरे, नीबू आदि भूमध्यसागरीय फल पैदा होते हैं। दलदली भागों में चावल उत्पन्न किया जाता है। तबाकू यहाँ का एक मुख्य उत्पादन है। भेड़ पालने का उद्योग यह खूब उन्नति पर है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् यहाँ पर जनवादी कृषिप्रणाली लागू की गई। पचवर्षीय योजना के अतर्गत सन् १९५० ई० की तुलना में कृषि-उत्पादन १९५२ में ७१ प्रति शत तथा युद्धपूर्व वर्षों से २५ गुना बढ गया।

उद्योग धधे—द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले अल्बेनिया में उद्योग धधे नगण्य थे। वहाँ मुख्यतया खाद्य वस्तुएँ ही उत्पन्न की जाती थीं। सन् १९५५ ई० में यहाँ का औद्योगिक उत्पादन १९५० की अपेक्षा ३ ४ गुना तथा युद्धपूर्व वर्षों की अपेक्षा १२ गुना हो गया। लेनिन जलविद्युत् स्टेशन,

मोरोजीव इसका शिक्षक था। इस कारण इसकी शिक्षा में आधुनिक साधनो का भी उपयोग किया गया। जर्मनी के नक्शे और चित्र भी वरते गए। प्राचीन रूसी सस्कृति के साथ दृढ अनुराग रखता हुआ भी यह पश्चिमी सभ्यता से आकृष्ट हुआ। विदेशी भापाओ की पुस्तको का रूसी भापा में इसने अनुवाद कराया। रूस में सर्वप्रथम नाट्य रगमच (थियेटर) की स्थापना की। १६४५ ई० में यह राजसिंहासन पर बैठा।

रूस इस समय सक्रमण की स्थिति मे था। १६वी शताब्दी आधुनिक युग के साथ रूस मे आई। रूस मे परिवर्तन वाछनीय है, यह माननेवाला वह अकेला था। रूसी दरवार के कुछ लोग कट्टर रूढिवादी और पश्चिमी सभ्यता के विरोधी थे। इसने अपने सलाहकार प्रगतिशील विचारो के लोगो में से चुने, जैसे मोरोजोव ओरडिन, माशखोकिन माखेयो।

अनुभव न होने से राज्य मे पहले अशाति रही। लेकिन १६५५ मे शाति स्थापित हो गई। १६५५-१६५६ और १६६०-१६६७ मे पोलैंड से उसने युद्ध किया, स्मोलेस्क जीता, लिथुएनिया के अनेक प्रातो पर अधिकार कर लिया। १६५५-१६६१ तक उसकास्वीडन से युद्ध हुआ। कज्जाको को उसने रूस से निकाल दिया। विधिसहिताओ में उसने सशोधन किया और आधुनिक विज्ञान का अनुवाद कराया। उसने अनेक धार्मिक सुधार भी किए।

अलेक्सियस स्वभाव से नरम, दयालु और न्यायप्रिय शासक था। वह अपने उत्तरदायित्व को भली भाँति समझता था। भविष्य की ओर देखते हुए भी उसने रूस का अतीत से सवध सहसा नही तोडा। महान् पीटर का यह पिता था। उसका निजी जीवन लाछनरहित था।

[अ० कु० वि०]

अलेघनी पर्वत से पहले पूरे अपलेचियन पर्वत का वोध होता था, परतु अव यह नाम केवल अमरीका की हडसन नदी के दक्षिण तथा पश्चिम मे स्थित पर्वताचल के लिये प्रयुक्त होता है। यह अचल अपलेचियन पर्वत का उत्तर-पश्चिम भाग है। पेनसिलवानिया स्टेट मे यह पर्वतश्रेणी सीधी हो गई है तथा पर्वतशिखर नुकीले हो गये हैं। इसकी ऊँचाई यहाँ पर १,५०० से १,८०० फुट तक है। मेरीलैड, वर्जीनिया तथा पश्चिमी वर्जीनिया स्टेट में ४,८०० फुट तक की ऊँचाई पाई जाती है तथा इन स्थानो पर पर्वतशिखर अपेक्षाकृत चौडा है। ब्लू पर्वतश्रेणी के समातर जानेवाली पर्वतमाला की गणना भी अलेघनी पर्वतश्रेणी मे की जाती है और इस पहाडी भाग के उत्तर-पश्चिम अचल को अलेघनी-अग्र (फ्रट) कहते हैं। इस पहाडी के दक्षिण-पूर्व ओर का किनारा प्राय खडा है, परतु पश्चिम ओर कुछ ढालुआ सा है।

पूर्वी किनारे को छोडकर, जहाँ यह भजित (फोल्डेड) रूप ले लेती है, सभी जगह परते क्षैतिज है और यह अचल वास्तविक पर्वतश्रेणी का आकार न लेकर गहरी कटी घाटी का रूप ले लेता है। इसमें कैंब्रियन से कार्वनप्रद युग तक के अतर्गत वने चूने के पत्थर, वलुआ पत्थर और काग्लोमरेट ही मुख्यत मिलते हैं। इस श्रेणी के ऊँचे भागो पर वडी वडी कोयले की खानें पाई जाती हैं। अलेघनी-अग्र तथा ब्लू पर्वतश्रेणी के बीच मे ५० से १०० मील तक चौडी एक घाटी है। पश्चिम की ओर कवरलैंड से मोहावक तक इसकी ढाल कम है। मेक्सिको की खाडी तथा अटलाटिक मे गिरनेवाली नदियो का यह जलविभाजक है।

अलेघनी पर्वत न्यूयार्क स्टेट के कैटस्किल अचल से लेकर टेनेसी स्टेट के कवरलैंड पठार तक फैला हुआ है। इस कारण सयुक्त राष्ट्र अमरीका के अटलाटिक समुद्रोपकूल से पश्चिम की ओर देश के भीतर आने जाने के लिये एक वाधा स्वरूप था, परतु अव इसपर कई रेलमार्ग वन गए है जो इस पर्वतश्रेणी को, इसकी नदियो की घाटी के सहारे, आर पार करते हैं।

[वि० मु०]

अलेप्पि अथवा अंबलापुल्ला दक्षिण भारत के केरल राज्य का प्रमुख वदरगाह एव इसी नाम के जिले का प्रमुख नगर है (स्थिति ९°३०′ उत्तर अक्षाश एव ७६°२०′ पूर्वी देशातर)। यह क्वीलन से ४९ मील उत्तर एव एर्णाकुलम् से ३५ मील तथा कोचीन से ३२ मील दक्षिण स्थित है। १८वी सदी के अत तक यह क्षेत्र जगलो से ढका रेतीला मैदान था। महाराज राभवर्मा ने उत्तरी ट्रावकोर-कोचीन-क्षेत्र में डचो की व्यापारिक महत्ता एव व्यावसायिक एकाधिकार को समाप्त करने के उद्देश्य से यहाँ वदरगाह वनवाया था। सुविधा पाकर यहाँ देशी विदेशी व्यापारी वस गए और विदेशो से इस वदरगाह द्वारा आयात निर्यात होने लगा। व्यापार की वृद्धि के लिये पृष्ठक्षेत्र से नहर द्वारा वदरगाह का सवध जोडा गया। १८वी सदी के अत में वडे वडे गोदाम एव दूकाने राज्य की ओर से वनवाई गईं। अत १९वी सदी की प्रथम तीन दशाब्दियो तक यह ट्रावकोर का प्रमुख वदरगाह हो गया था। साल के अधिकाश मे यह वदरगाह जहाजो के ठहरने के लिये सुरक्षित रहता है।

उद्योगो की दृष्टि से अलेप्पि नारियल की जटाओ से वनी चटाइया के लिये सुप्रसिद्ध है। यहाँ से गरी, नारियल, नारियल की जटा, चटाइयाँ, इलायची, काली मिर्च, अदरक आदि का निर्यात होता है। आयात की वस्तुओ मे चावल, ववइया नमक, तवाकू, धातु एव कपडे आदि प्रमुख हैं।

१९०१ ई० मे नगर की जनसख्या केवल २४,९१८ थी जो १९५१ ई० मे वढकर १,१६,२७८ हो गई। पिछली दशाब्दियो मे यह दूनी से अधिक हो गई। अलेप्पि वदरगाह का महत्व अव घट गया है, परतु यह अव भी अनुतटीय एव नदियो के विमुखीय प्रवाह द्वारा होनेवाले व्यापार के लिये प्रसिद्ध है। १९५६-५७ मे इस वदरगाह द्वारा २,९२० टन का आयात एव २३,५२५ टन का निर्यात हुआ था। [का० ना० सि०]

अलेप्पो कुवेक नदी की घाटी मे स्थित सीरिया का एक नगर है जिसकी स्थापना ईसा से २,००० वर्ष पहले हुई थी। अलेप्पो पूर्वकाल मे यूरोप तथा फारस और भारत के वीच व्यापारमार्ग पर होने के कारण वहुत विख्यात था, किंतु वाद में स्वेज नहर तथा अन्य मार्गों के खुल जाने के कारण इसके व्यापार को वहुत धक्का पहुँचा। सावुन वनाना, सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्र तैयार करना, दरी वुनना और रगसाजी का काम करना यहाँ के मुख्य उद्योग हैं। इन वस्तुओ के अतिरिक्त यहाँ से अनाज, तवाकू, ऊन तथा रुई का निर्यात होता है। जनसख्या ३,९८,४६१ है (१९५४)। [न० ला०]

अलोंप्रा, अलाउंग पहाउरा (१७११-१७६०) वर्मा का राजा, जिसने १७५३ से १७६० तक उस देश के कुछ प्रदेशो पर राज किया। वर्मा के मध्य मे स्थित अवानगर के समीप शिकारियो के एक छोटे गाँव स्वेवो में १७११ में उसका जन्म हुआ था। वयस्क होने पर पिता की जमीदारी और शिकारियो के सरदार का वशानुगत पद उसको मिला। १७५० के लगभग तेलगो ने अवा और उसके समीप के कुछ प्रदेश पर अधिकार कर लिया था। अलोप्रा ने एक सेना सगठित की और दो वर्ष में ही तेलगो को अधिकृत प्रदेश से निकालकर १७५३ में अवा पर अधिकार कर लिया और अपने आपको देश का राजा घोषित किया। उसने अपने राज्य का विस्तार किया और दक्षिण में स्थित वर्मा की राजधानी पेगू पर भी अधिकार कर लिया। १७६० मे स्यामविजय के अभियान मे वह अस्वस्थ हो गया और मई मास मे उसकी मृत्यु हो गई। अलोप्रा सैनिकप्रतिभासपन्न वीर और कुशल राजनीतिज्ञ था। उसने न्यायव्यवस्था मे भी सुधार किया। उसके वशज १८८५ तक वर्मा में राज करते रहे।

[त्रि० प०]

अल्जीयर्स नगर अल्जीरिया राज्य की राजधानी है। यह अल्जीयर्स की खाडी के पश्चिमी तट पर वुजारी पर्वत से सटी हुई और समुद्रतट के समातर जानेवाली साहिल पहाडियो की ढाल पर वसा हुआ है (स्थिति अक्षाश ३६°४४′ उ० तथा देशातर ३°७′ पू०)। यह नगर राज्यपाल के निवासस्थान, विधानसभा, उच्च न्यायालय, सैनिक अड्डा तथा आर्चविशप का केंद्रस्थल है। यहाँ की समुद्र की लहरो को स्पर्श करती हुई पहाडियो की खडी ढाल सैनिक अड्डे की दृष्टि से अत्यत

के अलास्का राज्य का एक भाग है। इसकी जनसख्या १,४३,७३४ (१९५१) है।

१७४१ ई० मे रूस सरकार की प्रेरणा से डेनमार्क के वाइटस् वेरिग तथा रूस के अलेक्सी चिरीकोव दोनो ने सेट पीटर तथा सेट पाल नामक जहाजो से उत्तरी महासागर की ओर यात्रा की। रास्ते मे सामुद्रिक तूफानो से ये विछुड गए। चिरीकोव अल्यूशियन द्वीपो पर आ पहुँचे और वेरिंग कमचटका होते हुए कमाडर द्वीपपुज पर आए। तभी से इन द्वीपो का ज्ञान यूरोपवालो को हुआ। यहाँ इनका देहात हो गया। १८६७ ई० तक अल्यूशियन द्वीपपुज रूसियो के हाथ मे था, परतु वाद मे अमरीका के हाथ मे आया।

अल्यूशियन द्वीपपुज के चार प्रथम द्वीपसमूह फाक्स, अड्रियानफ, रेट और निकट द्वीप (नियर आइलैंड्स) कहलाते हैं। फाक्स और अड्रियानफ के वीच मे चतु पर्वतीय द्वीप (आइलैंड्स ऑव फोर माउटेस) स्थित हैं। फाक्स द्वीपसमूह सवसे पूर्व मे है और इसके प्रथम द्वीपो के नाम युनिमाक, उनलस्का और उमनाक हैं। चतु पर्वतीय द्वीपो मे चुगिनाडाक्, हर्वर्ट, कारलाइल, कागामिल तथा उलिआगा प्रधान हैं। अड्रियानफ द्वीपसमूह का नाम रूसी पर्यटक अड्रियन टोलस्टिक पर पडा है। इसमे अमलिया, आट्का, ग्रेट सिटकिन्, आदाक, कनागा तथा तनागा समिलित हैं। रैट द्वीपसमूह का नाम इसमे पाए जानेवाले चूहो की अधिकता के कारण पडा। निकट द्वीपसमूह का नाम रूस के सवसे समीप रहने के कारण पडा। सेमीसोपोच-नोय, अमचिट्का, किस्का तथा वुल्डीर रैट द्वीपसमूह मे हैं और सेमीचि द्वीप, आगाटू तथा आटू निकट द्वीपसमूह मे हैं।

अल्यूशियन द्वीपपुज का नाम अलास्का स्थित अल्यूशियन पहाड से पडा है। इन द्वीपो की रीढ अलास्का के पास दक्षिण-पश्चिम की ओर झुकी है, परतु १७९° प० देशातर के वाद इसकी दिशा वदल जाती है। वैज्ञानिको के मत से यह द्वीपसमूह ज्वालामुखी उद्गार के कारण वना है और इसलिये आग्नेय दरारो की दिशा के अनुसार इसकी रीढ की दिशा वनी हुई है। इनमे से अधिकतर द्वीपो पर अग्निउद्गार के चिह्न स्पष्ट हैं तथा कई एक द्वीपो पर सक्रिय ज्वालामुखी विद्यमान है, जैसे उनिमक मे माउट शिशाल्डिन या स्मोकिग मोजज, इसके पास इसानोटस्की पीक (८,०८८ फुट) और माउट राउडटाप (६,१५५ फुट)। इनके अतिरिक्त उमनाक मे माउट सीवीडोफ (७,२३६ फुट), उनलस्का मे माउट माकुशिन (५,००० फुट) और चूकिनाडाक मे माउट क्लीवलैंड, ये सव आग्नेय गिरि है। इनमे से अधिकतर पहाडो पर हिमनदी प्रवाहित हो रही है। यह अचल अधिकाश स्थानो मे आग्नेय चट्टानो से वना है। फिर भी रवादार चट्टाने, परतदार चट्टाने तथा लिगनाइट पर्याप्त मात्रा मे मिलते हैं। इनके उपकूल कटे फटे हैं और इसलिये इनपर पहुँचने का मार्ग भयावह है। देखने से लगता है कि ये पहाडियाँ समुद्र के ऊपर सीधी खडी है।

इस द्वीपपुज के इतना उत्तर मे होते हुए भी यहाँ की जलवायु सामुद्रिक प्रभाव के कारण समशीतोष्ण है तथा वर्षा अधिक होती है। अलास्का की तुलना मे इसका शीतकालीन ताप लगभग एक सा रहता है, परतु ग्रीष्मकालीन तापक्रम मे पर्याप्त अतर हो जाता है, अर्थात् अलास्का की अपेक्षा यहाँ गर्मी कम पडती है। यहाँ प्राय साल भर कुहरा रहता है। यहाँ की खेती मे कुछ सब्जियाँ उगाई जाती हैं। कृषि का कार्य मई से सितबर तक (लगभग १३५ दिन) होता है। यहाँ पर वृक्ष कही कही दिखाई देते हैं। प्राकृतिक वनस्पति मे प्राय घास की जाति के पौधे ही अधिक हैं।

यहाँ के लोगो का मुख्य व्यवसाय समुद्री मछली पकडना तथा आखेट है। आजकल भेड तथा रेनडियर (हरिण) पालने का भी प्रयत्न चल-रहा है। यहाँ पर रहनेवाली मेरुप्रदेशीय नीली लोमडी के शिकार के लिये १८वी शताब्दी मे रूस के ऊर्णाजिनविक्रेता (फर डीलर्स) यहाँ आकर जमे थे, परतु जवसे यह अमरीका के हाथ मे गया, आदिवासियो को छोडकर इन्हे मारने की आज्ञा किसी को नही है। इन व्यवसायो के अतिरिक्त यहाँ की स्त्रियो की वनाई हुई टोकरियाँ तथा उनपर वने सूक्ष्म कढाई के कार्य प्रसिद्ध हैं। ये लोग सिलाई करने तथा कपडा वुनने मे भी चतुर है।

अल्यूशियन द्वीपपुज के आदिवासी एसकर्वामावन जाति के हैं। इनकी भाषा, रहन सहन, कार्य करने की शक्ति आदि एस्किमो से मिलती जुलती है। इनके गाँव उपकूल के समीप वसे हैं, क्योकि उपकूल के पास इन्हे पक्षी, मछली, समुद्री जतु आदि सुगमता से उपलब्ध हो जाते हैं तथा जलाने की लकडी भी प्राप्त हो जाती है। पहले ये लोग जमीन के नीचे घर वनाकर रहते थ और कभी कभी सामूहिक गृह भी वनाया करते थे। इनकी शारीरिक गठन मे वलिष्ठ देह, छोटी गर्दन, छोटा कद, काला मुखमडल, काली आँखे तथा काले केश प्रत्येक विदेशी की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। ईसाई धर्म का प्रचार यहाँ पूर्ण रूप से हुआ और यहाँ के निवासियो की वर्तमान रहन सहन पाश्चात्य सभ्यता से पर्याप्त प्रभावित हुई है।

सन् १९३० की जनगणना मे इन द्वीपो की जनसख्या १,११६ थी। आवादी अधिकतर अलास्का द्वीपो पर केंद्रित है। ये द्वीप काफी उन्नति पर हैं। सयुक्त राज्य (अमरीका) के पहरेवाले जहाजो का यह एक अड्डा है। सन् १९४९ तक अलास्का मे एक डच वदरगाह भी था। इस समय यह वद हो गया है और आटू मे एक छोटा सा वदरगाह चालू रखा गया है। [वि० मु०]

अल्लाह इस शब्द का मूल अरवी भाषा का 'अल् इलाह' है। कुछ लोगो का विचार है कि इसका मूल आरामी भाषा का 'इलाहा' है। इसलाम से पाँच शताब्दी पहले की सफा की इमारतो पर यह शब्द 'हल्लाह' के रूप मे खुदा हुआ था। छ शताब्दी पहले की ईसाइयो की इमारतो पर भी यह शब्द खुदा हुआ मिलता है।

इसलाम से पहले भी अरब मे लोग इस शब्द से परिचित थे। मक्का की मूर्तियो मे एक अल्लाह की भी थी। यह मूर्ति कुरेश कवीले को विशेष मान्य थी। मूर्तियो मे इसकी प्रतिष्ठा सबसे अधिक थी और सृष्टि-कार्य इसीसे सबधित माना जाता था। परतु अरवो का दृष्टिकोण इसके सबध मे निश्चित नही था और इसकी शक्तियो तथा कार्यो का उन्हे स्पष्ट ज्ञान न था।

इसलाम के उदय के अनतर इसके अर्थ मे वडा परिवर्तन हुआ। कुरान के जिस अश का सबसे पहले इलहाम हुआ उसमे अल्लाह के गुण सृष्टि करना तथा शिक्षा देना वताए गए हैं। कुरान मे अल्लाह के और भी बहुत से गुण वर्णित हैं, जैसे दया, न्याय, पोषण, शासन आदि। इसलाम ने सवसे अधिक वल अल्लाह की एकता पर दिया है अर्थात् उसके कामो तथा गुणो मे कोई उसका साझीदार नही है। यह इसलाम का मौलिक सिद्धात है, जिसे स्वीकार किए बिना कोई मुसलमान नही हो सकता। [आर० आर० शे०]

अल्स्टर आयरलैंड के उत्तर मे एक प्रात है। सन् १९२० में आयरलैंड मे छ काउटियो को एक मे समिलित करके उन्हे अल्स्टर कहा गया और उनका शासन अलग कर दिया गया जो उत्तर आयरलैंड की सरकार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अल्स्टर आयरलैंड की भाषा मे उलध कहलाता था। इसका इतिहास वहुत प्राचीन है। पहले यह आयरलैंड का एक प्रात था, परतु सन् ४०० ई० मे यह तीन भागो मे विभक्त और अलग अलग व्यक्तियो के अधीन हो गया। पीछे सव भाग ओ'नील परिवार के शासन मे आ गए। नॉमन आक्रमण के वाद यहाँ का शासन विदेशियो के हाथ मे चला गया, परतु १५वी शताब्दी के वाद अल्स्टर के ही दो व्यक्तियो का प्रभुत्व सारे अल्स्टर में स्थापित हो गया। सन् १६०३-१६०७ मे यहाँ अगेजो का शासन हो गया और तव वहुत से अगेज और स्काट यहाँ आ वसे (देखिए 'आयरलैंड')। [ह० ह० सि०]

अवंतिवर्धन अवती के प्रद्योतकुल का अतिम राजा जो सभवत मगधराज शिशुनाग का समकालीन था। वैसे पुराणो के अनुसार शैशुनाग वश का प्रवर्तक शिशुनाग इस काल के पर्याप्त पहले हुआ, परतु सिहली इतिहास के अनुसार, जो सभवत अधिक सही है, वह विविसार से कई पीढियो वाद हुआ। मगध और अवती के वीच वत्सो का राज्य था और दीर्घ काल तक मगध-कोशल-वत्स-अवती का परस्पर सघर्ष चला था। फिर जव वत्स को अवती ने जीत लिया तव मगध

परीक्षण में व्यक्ति की योग्यता देखी जाती है और अनुमान किया जाता है कि उतनी योग्यता कितने वर्ष के बच्चे में होती है। इसको उस व्यक्ति की मानसिक आयु कहते हैं। उदाहरणत, यदि शरीर के अगो के स्वस्थ रहने पर भी कोई बालक अल्पबुद्धिता के कारण अपने हाथ से स्वच्छता से नही खा सकता, तो उसकी मानसिक आयु ४ वर्ष मानी जा सकती है। यदि उस व्यक्ति की साधारण आयु १६ वर्ष है तो उसका बुद्धि-गुणाक (इनटेलिजेंस कोशेंट, स्टैनफोर्ड-बिनेट) $\frac{4}{16}$ × १००, अर्थात् २५, माना जायगा। इस गुणाक के आधार पर अल्पबुद्धिता को तीन वर्गो मे विभाजित किया जाता है। यदि यह गुणाक २० से कम है तो व्यक्ति को मूढ (अग्रेजी में इडियट) कहा जाता है, २० और ५० के बीच-वाले व्यक्ति को न्यूनबुद्धि (इबेसाइल) कहा जाता है और ५० तथा ७० के बीच दुर्बलबुद्धि (फीबुल माइडेड), परतु यह वर्गीकरण अनियमित है, क्योकि अल्पबुद्धिता अटूट रीति से उत्तरोत्तर बढती है। सामान्य बुद्धि, दुर्बल बुद्धि, इतनी मूढता कि डाक्टर उसका प्रमाणपत्र दे सके और उनसे भी अधिक अल्पबुद्धिता के बीच भेद व्यक्ति के सामाजिक आचरण पर निर्भर है, कोई नही कह सकता कि मूर्खता का कहाँ अत होता है और मूढता का कहाँ आरभ। जिनका बुद्धिता-गुणाक ७० से ७५ के बीच पडता है उन्हें लोग मदबुद्धि कह देते हैं, परतु मदबुद्धिता भी उत्तरोत्तर कम होकर सामान्यबुद्धिता में मिल जाती है। ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जिनमें केवल प्रयासशक्ति और आवेगशक्ति (कोनेटिव और इमोशनल फक्शस) के सबध में बुद्धि कम रहती है।

भारत में अल्पबुद्धिता सबधी आँकडे उपलब्ध नही हैं। यूरोप मे सारी जनसख्या का लगभग २ प्रति शत अल्पबुद्धि पाया जाता है, परतु यदि मदबुद्धि और पिछडी बुद्धिवालो को भी समिलित कर लिया जाय तो अल्पबुद्धिवालो की सख्या कम से कम ६ प्रति शत होगी। सौभाग्य की बात है कि मूढ और न्यूनबुद्धिवाले कम होते हैं ($\frac{1}{2}$ प्रति शत से भी कम)। इनका अनुपात यो रहता है मूढ, १ न्यूनबुद्धि, ४ दुर्बल-बुद्धि, २०।

अल्पबुद्धिता के कारणो का पता नही है। आनुवशिकता (हेरेडिटी) तथा गर्भावस्था अथवा जन्म के समय अथवा पूर्वशैशवकाल में रोग अथवा चोट सभव कारण समझे जाते हैं।

अल्पबुद्धिता जितनी ही अधिक रहती है उतना ही कम उसमे आनुवशिकता का प्रभाव रहता है, केवल कुछ विशेष प्रकार की अल्प-बुद्धिता, जो कभी कभी ही देखने में आती है और जिसमे दृष्टि भी हीन हो जाती है, खानदानी होती है। सतान मे पहुँच जाने की सभावना, मूढता अथवा न्यूनबुद्धिता की अपेक्षा, दुर्बलबुद्धिता में अधिक रहती है। गर्भावस्था में माता को जर्मन मीज़ल्स, नीरमयी छोटी माता (चिकन पॉक्स), वायरस के कारण मस्तिष्कार्ति (वायरस एनसेफैलाइटिज़) इत्यादि होना और माता पिता के रुधिरो में परस्पर विषमता (इन-कॉम्पैटिबिलिटी), माता पिता मे उपदश (सिफलिस) और जन्म के समय चोट अथवा अन्य क्षति महत्वपूर्ण कारण समझे जाते हैं। जन्म के समय की क्षतियो में बच्चे मे रक्त की कमी से विवर्णता (पैलर), जमुआ (तीव्र श्वासरोध, इतना गला घुट जाना कि शरीर नीला पड जाय, ब्लू अस्फिक्सिया), दुग्ध पीने की शक्ति न रहना अथवा जन्म के बाद आक्षेप (छटपटाने के साथ बेहोशी का दौरा) है।

बाल्यकाल के आरभ में मस्तिष्क में पानी बढ जाने (जलशीर्ष, हाइड्रोसेफलस) और मस्तिष्कार्ति (मस्तिष्क का प्रदाह, एनसेफैलाइटिज़) से मस्तिष्क बहुत कुछ खराब हो जाता है और इस प्रकार गौण अल्प-बुद्धिता उत्पन्न होती है। खोपडी की हड्डी में कुछ प्रकार की त्रुटियो से भी, जिनके कारण खोपडी बढने नही पाती, मानसिक त्रुटियाँ उत्पन्न होती हैं। ये रोग मस्तिष्क को वास्तविक भौतिक क्षति पहुँचाते हैं और इस क्षति के कारण विविध अगो मे भी विकृति उत्पन्न हो सकती है।

अल्पबुद्धि बच्चो में विकास के साधारण पद, जैसे बैठना, खडा होना, चलना, बोलना, स्वच्छता (विशेषकर मूत्र को वश में रखना), देर से विकसित होते हैं। एक वर्ष की आयु के पहले इन सब त्रुटियों का

पहले स्वस्थ बच्चे पाल चुकी हैं, कुछ त्रुटियो को शीघ्र भाँप लेती हैं, जैसे दूध पीने में विभिन्नता, न रोना और बच्चे का माता के प्रति न्यून आकर्षण, बच्चे का बहुत शात और चुप रहना इत्यादि।

साधारणत, मूढ सामान्य भौतिक विपत्तियो से, जैसे आग से या सडक पर गाडी से, अपने को नही बचा सकता। मूढो को अपने हाथ खाना या अपने को स्वच्छ रखना नही सिखाया जा सकता। उनमें से कुछ अपने साथियो को पहचान सकते हैं और अपनी सरल आवश्यकताएँ बता सकते हैं, वस्तुत वे पशुओ से भी कम बुद्धिवाले होते हैं। जो कुछ वे पाते हैं उसे मुँह मे डाल लेते हैं, जैसे मिट्टी, घास, कपडा, चमडा, कुछ मूढ अपना सिर हिलाते रहते हैं या झूमते रहते हैं।

न्यून बुद्धिवालो की भी देखभाल दूसरो को करनी पडती है और उनको खिलाना पडता है। वे जीविकोपार्जन नही कर सकते। सरलतम बातो को छोडकर अन्य बाते स्मरण रखने या गुण ढग सीखने मे वे असमर्थ होते हैं। परतु यह सभव है कि वे स्वयचालित यत्र की तरह, बिना समझे, सिखाया गया कार्य करते रहे। कभी कभी वे कुछ दिनाक या घटनाएँ भी स्मरण रख सकते हैं, परतु जो कुछ भी वे किसी न किसी प्रकार सीख लेते है उसका वे यथोचित उपयोग नही कर पाते। न्यूनबुद्धि-वालो का व्यक्तित्व विविध होता है, कुछ तो दयावान और आज्ञाकारी होते है, दूसरे क्रूर, धोखेबाज और कुनही (बदला लेनेवाले)। इनसे भी अधिक अल्पबुद्धितावाले बहुधा जिद्दी, शीघ्र धोखा खानेवाले और खुशामद-पसद होते हैं। वे शीघ्र ही समाजद्रोही मार्गो में उतर पडते हैं, जसे वेश्यावृत्ति, चोरी, डकैती और भारी अपराध। वे बिना अपराध की महत्ता को समझे हत्या तक कर सकते हैं।

दुर्बल बुद्धिवाले, जिन्हे अग्रेजी में मोरन भी कहते हैं, विशेष शिक्षा से इतना सीख सकते हैं कि यत्रवत् श्रम द्वारा वे अपना जीविकोपार्जन कर सकें। ऐसे व्यक्तियो को जीविकोपार्जन के लिये अवश्य उत्साहित करना चाहिए। खेती, बरतन आदि माँजने की नौकरी और मजदूरी आदि का काम वे कर सकते हैं। प्रयोगशाला में काच के बरतन धोना और मेज साफ करना भी कुछ ऐसे व्यक्ति सँभाल लेते हैं।

पाठशाला जाने की आयु के पहले, दुर्बल बुद्धिवाले बच्चो में अन्य बच्चो की तरह जिज्ञासा नही होती। अपने मन से काम करने की शक्ति भी उनमे नही होती और न उनमें खल कूद आदि के प्रति रुचि होती है, वे बडे शात और निष्क्रिय रहते हैं। उनकी स्मरणशक्ति पर्याप्त अच्छी हो सकती है। बहुधा वे देर मे बोलना आरभ करते हैं, बोली साफ नही होती और व्यजना भी अच्छी नही होती। ऐसे बच्चो को विशेष पाठशालाओ मे शिक्षा दी जाय तो अच्छा है। उनकी काम-प्रवृत्ति (सेक्स इस्टिक्ट) न्यूनविकसित होती है, परतु स्त्रियो मे दुर्बल-बुद्धिवालियो का वेश्यावृत्ति अपनाना असाधारण नही है। दुर्बलबुद्धि-वाली माता निर्दय होती है, बच्चो की ठीक देखभाल नही करती और गृहस्थी भी ठीक से नही चलाती, जिससे गार्हस्थ्य जीवन दु खमय हो जाता है। बहुधा दुर्बल बुद्धिवाले लडके अपना अलग समह बनाकर चोरी करते है या आवेशयक्त अपराध करते है, उदाहरणत, यदि मालिक के प्रति क्रोध है तो उसके घर में आग लगा सकते हैं। पैसे के प्रलोभन से हत्या इत्यादि अपराधो के लिये उन्हें सुगमता से राजी किया जा सकता है, परतु वे योजना नही बना पाते और बहुधा पकड लिए जाते हैं, क्योकि वे बचने की चेष्टा ही नही करते। ये लोग बिना यह समझ कि परिणाम क्या होगा, अपराध कर बैठते हैं।

ऐसे भी लोग हैं जो पाठशाला में मदबुद्धि समझे जाते थे, परतु पीछे अपने ही प्रयत्न से ऊँची स्थितियो में पहुँचे हैं।

कुछ विशेष प्रकार की अल्पबुद्धिताएँ भी हैं जिनमें मानसिक त्रुटियों के साथ शारीरिक विकृति भी रहती है, जैसे मौद्गल्याभ मूढता (मॉङ्गोलॉयड इडिओसी, जिसमें आर्यवश के लोगो का चेहरा विकृत होकर मगोल लोगो की तरह हो जाता है), क्रेटिनिज्म (एक रोग जिसमें बचपन मे ही शारीरिक वृद्धि रुक जाती है और विकृति,

रेखा वक्र को स्पर्श करती है, और इस प्रकार एक विकास्य तल का सृजन करती है। साधारणतः किसी तल पर ऐसे वक्रों के दो एकप्राचल परिवार होते हैं। सर्वागसमता के विकास्य तलों से इनकी संगति देखनी है। अब मान लीजिए कि एक सर्वागसमता का निर्माण तल पृ के विंदुओं के मध्य से जानेवाली ऐसी रेखाओं से होता है जो उन विंदुओं पर खींचे गए पृ के स्पर्शतलों पर स्थित नहीं हैं, तो किसी भी डार्वो द्विघाती के प्रति इन रेखाओं की व्युत्क्रम ध्रुवियाँ (रेसिप्रोकल पोलर्स) एक सर्वागसमता का निर्माण करती हैं जिसकी रेखाएँ पृ के स्पर्शसमतलों पर स्थित होती हैं, किंतु उनके स्पर्शविंदुओं में से होकर नहीं जाती। सर्वागसमताओं के ऐसे जोड़ो को व्युत्क्रम सर्वागसमताएँ (रेसिप्रोकल कॉनग्रुएमेज) कहते हैं। आज तक व्युत्क्रम सर्वागसमताओं के बहुत से जोड़ों का अध्ययन हो चुका है। इन्हीं में से एक युग्म विल्जिस्की की नियत सर्वागसमताओं (डाइरेक्ट्रिस कॉनग्रुएसेज) का है। इनकी परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है यदि त की व्युत्क्रम सर्वागसमताओं की एक जोड़ी के विकास्यों के सगत वक्रों के दो कुलक (सेट्स) अभिन्न (कोइसिडेंट) हो जायँ तो उक्त सर्वांगसमताओं को विल्जिस्की की नियत सर्वागसमताएँ कहते हैं।

यह जानने के लिये कि विक्षेप ज्यामिति में सर्वागसमताओं का क्या महत्व है, सयुग्मी जालों (कॉनजुगेट नेट्स) की कल्पना को भी समझ लेना आवश्यक है। इनकी परिभाषा हम इस प्रकार दे सकते हैं

मान लीजिए, किसी तल पृ के किसी विंदु के मध्य से अनतस्पर्शी वक्र खींचे गए हैं, तो इस विंदु का स्पर्शी, और उक्त वक्रों पर उस विंदु पर खींचे गए स्पर्शियों के प्रति उसका हरात्मक सयुग्मी (हार्मोनिक कॉनजुगेट), ये दोनों मिलकर सयुग्मी स्पर्शी कहलाते हैं। यदि सयुग्मी स्पर्शियों के किसी जोड़े में से एक को किसी एकप्राचल वक्रपरिवार के एक वक्र का स्पर्शी मान लिया जाय तो जोड़े का दूसरा स्पर्शी एक अन्य एकप्राचल वक्रपरिवार का स्पर्शी हो जायगा। वक्रों के ऐसे दो कुलकों से सयुग्मी जाल का निर्माण होता है। सयुग्मी जालों का एक अन्य लाक्षणिक गुण (कैरेक्टरिस्टिक प्रॉपर्टी) इन शब्दों में व्यक्त हो सकता है जब कोई विंदु मू सयुग्मी जाल के एक वक्र पर चलता है तब जाल के दूसरे वक्र पर विंदु मू पर खींचे गए स्पर्शी एक विकास्य तल का सृजन करते हैं। जब एक विंदु तल त के किसी वक्र पर चलता है, तो उसका मापात्मक अभिलंब एक ऋजुरेखज (रूल्ड) तल का सृजन करता है। यदि वक्र के स्थान में वक्रतारेखा (लाइन ऑव कर्वेचर) लें तो यह ऋजुरेखज तल विकास्य हो जाता है। वक्रतारेखाओं द्वारा निर्मित जाल एक सयुग्मी जाल होता है और मापात्मक अभिलंब सर्वागसमता (मेट्रिकनॉर्मल कॉनग्रुएस) से उसकी सगति (कॉरेसपॉण्डेंस) बैठती है। हम इसी बात को इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि मापात्मक अभिलंब सर्वागसमता तल से सयुग्मी है।

विक्षेपात्मक अवकल ज्यामिति में बहुत सी सर्वागसमताएँ ऐसी हैं जो सार्वीकृत अभिलंब सर्वागसमताएँ (जेनरैलाइज्ड नॉर्मल कॉनग्रुएसेज) कहला सकती हैं, क्योंकि सर्वागसमता का निर्धारण तल से होता है और वह तल से सयुग्मी रहती है। इन्हीं में से एक यथाकथित ग्रीन-फ्यूविनी विक्षेप अभिलंब (प्रोजेक्टिव नॉर्मल) भी है।

वह वक्र जिसके स्पर्शी एक विकास्य तल का निर्माण करते हैं, तल की निशित कोर (कस्पिडल एज्) कहलाता है। मू के सयुग्मी स्पर्शियों के लाक्षणिक गुण से यह निष्कर्ष निकलता है कि जोड़े में से प्रत्येक स्पर्शी रश्मिविंदु (रे पॉइंट) पर निशित कोर का स्पर्शी होता है। इस प्रकार जो दो रश्मिविंदु प्राप्त होते हैं वे मू के जाल की एक रश्मि का निर्धारण करते हैं। जाल के वक्रों के विंदु मू पर के आश्लेषण समतलों की प्रतिच्छेद रेखा जाल का अक्ष होती है। रश्मि तथा अक्ष और उनके द्वारा जनित सर्वागसमताओं का अध्ययन बहुत से व्यक्तियों ने किया है।

कुछ लोगों ने अल्पातरियों की कल्पना का, यह देखकर कि इनका मापात्मक अवकल ज्यामिति में कितना महत्व है, विक्षेप ज्यामिति में प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। प्रथम तो निश्चल अनुकल

$$\int \sqrt{(\text{इ उ})}\ \text{ताय ताल}$$

के चाह्यजों (एक्स्ट्रीमल्स) को विक्षेप अल्पातरी कहते हैं। समस्त विक्षेप अल्पातरियों के आश्लेषण समतल कक्षा ३ का एक शकु (कोन) बनाते हैं। उक्त शकु का निशित अक्ष ग्रीन और फ्यूविनी का विक्षेप अभिलंब होता है। अल्पिकाओं का एक अन्य सार्वीकरण सर्वागसमता के सयोग वक्र (यूनियन कर्व) में मिलता है। उक्त वक्र तल पृ का एक ऐसा वक्र होता है जिसके प्रत्येक विंदु का आश्लेषण समतल उस विंदु की सर्वागसमता रेखा (लाइन ऑव कॉनग्रुएस) के मध्य से जाता है।

स०ग्र०--जी० दारवूस लेसों सुर ला थिओरी जेनेराल दे सुरफास, ४ खंड (पेरिस १८८७-९६), लेन, ई० पी० १ प्रोजेक्टिव डिफरेंशिअल जिऑमेट्री ऑव कर्व्ज ऐंड सर्फेसेज (शिकागो, १९३२), २ ए ट्रीटीज ऑन प्रोजेक्टिव डिफरेंशिअल जिऑमेट्री (शिकागो, १९४२), जी० फ्यूविनी और सेख जिओमेत्रिआ प्रोइएत्तिवा दिफरेंसिआल, २ खंड (बोलोन्या, १९२६-२७), विल्जिस्की, ई० जी० प्रोजेक्टिव डिफरेंशिअल जिऑमेट्री ऑव कर्व्ज ऐंड रूल्ड सर्फेसेज (लाइपजिग, १९०६)।
[रा० वि०]

अवकल ज्यामिति (मापीय)

अवकल ज्यामिति में उन तलों और बहुगुणों (मैनीफोल्ड्स) के गुणों का अध्ययन किया जाता है जो अपने किसी अल्पांश (एलिमेंट) के समीप स्थित हों, जैसे किसी वक्र अथवा तल के गुणों का अध्ययन, उसके किसी विंदु के पड़ोस में। मापीय अवकल ज्यामिति का संबंध उन गुणों से है जिनमें नापने की क्रिया निहित हो।

शास्त्रीय अवकल ज्यामिति में ऐसे वक्रों और तलों का अध्ययन किया जाता है जो त्रिविस्तारी यूक्लिडीय अवकाश (स्पेस) में स्थित हों। इसमें अवकल कलन (डिफरेन्शियल कैल्क्युलस) और अनुकल कलन (इनटेगल कैल्क्युलस) की विधियों का प्रयोग होता है, या यों कहिए कि इस विद्या में हम वक्रों और तलों के उन गुणों का अध्ययन करते हैं जो त्रिविस्तारी गतियों में भी निश्चल (इनवेरियंट) रहते हैं। मान लीजिए, दो विंदु एक दूसरे के समीप स्थित हैं। यदि उनके समकोणीय कार्तीय निर्देशांक (य, र, ल) और (य+ताय, र+तार, ल+ताल) हों (ता$\equiv d$) तो उनकी मध्यस्थ दूरी ताद के लिये यह सूत्र होगा -

$$(\text{ताद})^2 = (\text{ताय})^2 + (\text{तार})^2 + (\text{ताल})^2 \text{।} \qquad (१)$$

हम किसी वक्र वा की इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि वह एक ऐसे विंदु का विंदुपथ है जिसके निर्देशांक एक ही प्राचल (पैरामीटर) के पदों में व्यक्त हो सकें। ऐसे वक्र के समीकरण इस प्रकार के होंगे

$$\text{य} = \text{फ}_1(\text{ट}),\ \text{र} = \text{फ}_2(\text{ट}),\ \text{ल} = \text{फ}_3(\text{ट}), \qquad (२)$$

जिनमें ट प्राचल है। इन समीकरणों से अवकलों (डिफरेंशियलों) ताय, तार, ताल की गणना करके (१) में प्रतिस्थापित करने से इस प्रकार का संबंध प्राप्त होगा

$$\text{ताद} = \text{फा}(\text{ट})\text{ताट} \text{।} \qquad (३)$$

इसके अनुकलन से वा के किसी भी चाप का मान निकाला जा सकता है।

मान लीजिए कि पा, फा पूर्वोक्त वक्र पर दो समीपस्थ विंदु हैं जिनपर प्राचल के सगत मान ट और ट+ताट हैं। जब ताट शून्य की ओर अग्रसर हो तब रेखा पा फा की जो सीमास्थिति होगी, उसे वक्र के विंदु पा पर खींची गई स्पर्शी कहते हैं। यदि किसी वक्र के समस्त विंदु एक समतल में स्थित हों तो वक्र को समतल वक्र कहते हैं, अन्यथा उसे विषमतली (स्क्यु), कुटिल (टार्चुअस) अथवा व्यावृत (ट्विस्टेड) कहते हैं। मान लीजिए कि पा के समीप दो विंदु फा, बा स्थित हैं। जब विंदु बा विंदु पा की ओर अग्रसर होता है तब समतल पाफाबा की सीमास्थिति को वक्र वा का, विंदु पा पर, आश्लेषण समतल (प्लेन ऑव ऑस्क्युलेशन) कहते हैं। इसी प्रकार, जब बा, पा की ओर अग्रसर होता है, तब वृत्त पाफाबा की सीमास्थिति को वक्र वा का, विंदु पा पर, आश्लेषण वृत्त कहते हैं। विंदु पा के आश्लेषण वृत्त के केंद्र को पा का वक्रताकेंद्र और उसकी त्रिज्या को वृत्तीय वक्रतात्रिज्या अथवा केवल वक्रतात्रिज्या कहते हैं। जब विंदु फा, बा, भा विंदु पा की ओर अग्रसर होते हैं तब गोले पाफाबाभा की सीमास्थिति को विंदु पा का आश्लेषण गोला कहते हैं। उक्त गोले का केंद्रविंदु पा का गोलीय वक्रताकेंद्र और उसकी त्रिज्या गोलीय

कि उसे उनसे फिर लडना पडा। पर जो सधि हुई उसके अनुसार अल्फ्रेड को दम लेने के लिये करीव पाँच साल मिल गए। डेन इग्लैड के अन्य भागो में तव व्यस्त थे और ८७६ ई० मे वे फिर उनकी ओर लौटे। उन्होने एग्ज़ीटर छीन लिया, पर शीघ्र ही अल्फ्रेड की चोट और अपना जहाजी वेडा तूफान से उड जाने के कारण उन्हें हारकर मरसिया लौटना पडा। अगले साल डेन फिर लौटे और अल्फ्रेड को गिने चुने आदमियो के साथ जगल और दलदल लाँघ अथेलनी में शरण लेनी पडी। इसी शरण की कहानी गडेरिए की किंवदती से सवध रखती है। राजा गाँव मे वहाँ छिपा जरूर था, पर वस्तुत वह वहाँ अपनी जीत की तैयारी कर रहा था।

८७८ ई० की मई मे वह अपने आश्रय से वाहर निकला और राह मे मिलती जाती सेनाओ के साथ डेनो से लोहा लेने चला। विल्टशायर के एडिग्टर नगर के पास दोनो की मुठभेड हुई और अल्फ्रेड पूर्ण विजयी हुआ। डेनो के राजा गुथ्रम ने आत्मसमर्पण कर ईसाई धर्म स्वीकार किया। अगले साल वेसेक्स और मरसिया से वेडमोर की सुलह के मुताविक डेन सेनाएँ वाहर निकल गई, यद्यपि लदन और इग्लैड के उत्तर-पूर्वी भाग अव भी उन्ही के कब्जे मे वने रहे। कुछ साल शाति रही, पर ८८५ मे जो सघर्ष हुआ उससे लदन भी अल्फ्रेड के हाथ आ गया। उसके वाद डेनो के जो दल आए उनके साथ उनके वीवी वच्चे भी थे जिससे प्रकट हो गया कि इस वार वे जमकर इग्लैड जीतने आए है। डेनो की देशी और विदेशी फौजे मिलकर इग्लैड जीतने का प्रयास करने लगी। पहले फार्नहम में उनकी हार हुई फिर घने मोर्चे के वाद एग्ज़ीटर मे। लडाई पर लडाई होती गई, पर अल्फ्रेड ने न स्वय दम लिया, न डेनो को लेने दिया। अत मे मजवूर होकर उन्होने लडाई से हाथ खीच लिया। कुछ इग्लैड में वस गए, कुछ सागर पार उतर गए।

अल्फ्रेड ने डेनो की शक्ति तोड देने के वाद देश के शातिमय शासन मे चित्त लगाया। राज्य को सुशासन के लिये उसने अनेक 'शायरो', 'हड्रेडो', 'वुर्गो' में वाँटा और वहाँ न्याय की प्रतिष्ठा की। स्थल और नौसेनाओ को भी उसने वढाया और किलो को मजवूत किया, उनमें रक्षक सेनाएँ रखी। अल्फ्रेड का नाम जिस आदर से देशसेवा के सवध मे लिया जाता है उसी आदर से उसके पाडित्य का उल्लेख भी इतिहास मे होता है। उसने अनेक ग्रथो का लातीनी से स्वय अग्रेजी मे अनुवाद किया। प्रसिद्ध अग्रेज लेखक वीड उसका समकालीन था और उसका प्रसिद्ध ग्रथ 'एक्लेसियस्टिकल हिस्ट्री ऑव दी इग्लिश पीपुल' भी अल्फ्रेड का ही अनुवाद माना जाता है, यद्यपि इधर कुछ दिनो से कुछ लोगो को इसमे सदेह होने लगा है। [ओ० ना० उ०]

अल्वम प्राचीन रोम मे इस शब्द का प्रयोग लकडी के एक तख्ते के लिये होता था जिसपर सफेद खडिया से लेप लगाकर काले अक्षरो मे जनसूचनाएँ लिख दी जाती थी। मजिस्ट्रेटो की वार्पिक घोषणाएँ, सिनेटरो और न्यायालय के अधिकारियो आदि की नामसूचियाँ भी इसी प्रकार प्रकाशित की जाती थी। परतु आजकल 'अल्वम' शब्द का व्यवहार एक दूसरे अर्थ मे होता है, उन जिल्दो के अर्थ में जिनमे मोटी दफ्तियो के वीच मोटे सादे कागज वँधे रहते है, जिनपर चित्र चिपका लिए जाते हैं, अथवा सभ्रात या महान् व्यक्तियो के हस्ताक्षर लिए जाते है। [ओ० ना० उ०]

अल्वर्ट झील अफ्रीका महादेश के यूगाडा राज्य मे अक्षाश १°-९' से २°-१७' द० तथा देशातर ३०°-३०' से ३१°-३५' पू० तक विस्तृत एक वृहत् जलाशय है। यूरोपियनो को इसका पता सन् १८६४ मे चला। इसका क्षेत्रफल १,६४० वर्गमील है, अधिकतम लवाई १०० मील, चौडाई २२ मील तथा गहराई ५५ फुट है। इसकी सतह की औसत ऊँचाई समुद्रतल से २,०३० फुट हे जो ऋतु के अनुसार वदलती रहती है। पैलेस्टाइन की जार्डन नदी की घाटी से लेकर लालसागर होती हुई अविसीनिया के भीतर से केनिया कालोनी तक विस्तृत एक विशाल निभग उपत्यका है (ग्रेट रिफ्ट वैली) और अल्वर्ट झील यूगाडा राज्य की इसी उपत्यका के पश्चिमी भाग के उत्तरी सिरे पर स्थित है। इसके आसपास कई गर्म सोते पाए जाते हैं। किवीरो के पास लवणमय जल का भी एक सोता है जिससे नमक एकत्र करना यहाँ का एक प्रमुख व्यवसाय है।

अल्वर्ट झील के पूर्वी तथा पश्चिमी किनारे पर स्थित निभग उपत्यका की पहाडी सीधी खडी है तथा इसका पाददेश झील की सतह को स्थान स्थान पर छूता है। झील का सँकरा उपकूल कई स्थानो पर घने जगलो से आवृत है और चारो ओर पठार पर कही सँकरी, कही चौडी सीढियाँ धीरे धीरे ऊपर तक चली गई है। पूर्वी किनारे की पहाडियाँ लगभग १,००० से २,००० फुट तक ऊँची है और पश्चिम तट की पहाडियो मे कई नुकीली चोटियाँ है जिनमे से अनेक ८,००० फुट तक ऊँची है। इन दोनो किनारो मे स्थान स्थान पर गहरी खाइयाँ दिखाई पडती हैं। इन खाइयो पर से तथा पठारो के किनारो से वहनेवाली नदियो में कई सुदर जलप्रपात हैं जो इस झील के सौंदर्य को और वढा देते हैं। झील के दक्षिण मे सेमलिकी नदी की प्रशस्त घाटी हे और एडवर्ड झील का पानी इस नदी द्वारा अल्वर्ट झील मे आकर गिरता है। पानी के अतिरिक्त सेमलिकी नदी द्वारा प्रचुर जलोढक (तलछट) भी अल्वर्ट मे आ पहुँचता है। झील के उत्तर में पूर्वी किनारे पर विक्टोरिया नाइल नदी आकर इसमें मिलती है जो झील के समातर दक्षिण दिशा से वहती हुई आती है। उत्तर में अल्वर्ट झील सँकरी होती गई है और आगे चलकर एक सकीर्ण पहाडी के वीच से वहर-अल-जावेल नामक एक छोटी नदी के रूप मे निकली है।

अल्वर्ट झील धीरे धीरे छोटी होती जा रही है। यह अनुमान किया जाता है कि इसकी पुरानी सतह से वर्तमान सतह लगभग १,००० फुट नीचे है। वैज्ञानिको की धारणा है कि भूचाल अथवा अपक्षरण के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है। इसमे गिरनेवाली नदियो द्वारा लाई हुई मिट्टी से भी यह कुछ अश तक पटती जा रही है। [वि० मु०]

अल्वर्ट प्रथम (१८७५-१९३४), वेल्जियम का राजा। ससार का भ्रमण कर अल्वर्ट १९०९ ई० मे वेल्जियम की राजगद्दी पर वैठा। उसने अध्ययन विदेशों मे जा जाकर किया था, और साहित्य और कला को अपनी सरक्षा दी। अनेक साहित्यकार और कलावत उसके मित्र थे। सन् १९१४ के महायुद्ध मे उसने सालो जर्मनी से मोर्चा लिया। वाद, विध्वस्त वेल्जियम के पुर्निर्माण मे वह दत्तचित्त हुआ। नमूर मे चट्टान से गिर जाने से उसकी आकस्मिक मृत्यु हुई। [ओ० ना० उ०]

अल्वर्टा कैनाडा राज्य का एक प्रात हे जो ४९° उत्तर से ६०° उत्तर अक्षाश तथा ११०° पश्चिम से १२०° पश्चिम देशातर रेखाओ के वीच स्थित है। इसके दक्षिण मे सयुक्त राज्य अमरीका, पूर्व में ससकेचवान, उत्तर मे उत्तर-पश्चिम प्रदेश तथा पश्चिम मे राकी पर्वत है। इसके मुख्य तीन प्राकृतिक भाग किए जा सकते हैं दक्षिण-पश्चिम में राकी पर्वतीय प्रदेश, उत्तर-पूर्व मे अथवस्का झील के निकट 'लारेंशियन शील्ड' नामक एक छोटा पठारी क्षेत्र तथा तीसरा, मध्य का वडा मैदान। यहाँ पर राकी पर्वत ८,००० से ९,००० फुट तक ऊँचा है। अल्वर्टा का अधिकतर भूभाग चीड आदि कोणधारी वृक्षों के वनो से भरा पडा है। अधिकतर आवादी दक्षिण के प्रेयरीज क्षेत्र मे पाई जाती हे। मुख्य नदियाँ ससकेचवान, अथवस्का, मिल्क तथा पीस है। जाडे मे ठढक (औसत ताप १५° फा०) तथा गर्मी मे पर्याप्त गर्मी (८०° फा०) पडती है। वर्ष भर में लगभग २० इच वर्षा होती हे।

इस प्रात मे २,४८,८०० वर्ग मील भूमि तथा ६,४८५ वर्गमील जल है। भूक्षेत्रफल मे ८५,५६० वर्गमील कृषि योग्य तथा ५१,०८० वर्गमील वनप्रदेश है जिसे काटकर कृपि की जा सकती है। कैनाडा का ९७ प्रति शत पेट्रोल यहाँ पर मिलता है। यहाँ जलशक्ति से लगभग १०,४९-५०० अश्वसामर्थ्य चौवीसो घटे प्राप्त हो सकती है। झीलो तथा नदियो में मछली मारने का काम होता है। कृपि यहाँ का मुख्य उद्यम है। शुष्क क्षेत्रो मे सिंचाई के साधन भी उपलब्ध है। जौ, गेहूँ, जई, मटर तथा चुकदर मुख्य उपज है। यहाँ पर पशुपालन भी होता है। १९५६ की पशुगणना के अनुसार यहाँ पर घोडे १,५४,६७२, गाएँ २,८२,२००, अन्य पशु १४,५२,५८६, भेडे ४,०४,८२०, सूअर १२,११,५०८ तथा मुर्गियाँ इत्यादि १,०४,४९,००० है।

परिवहन (यातायात) के प्रचुर साधन उपलब्ध है। १९५६ में रेलमार्ग की पूरी लवाई ५,७८२ मील थी। कैनेडियन पैसिफिक रेलवे

प्रत्येक तल पर वक्रतारेखाओं के दो परिवार होते हैं जो परस्पर लववत् काटते हैं। किसी परिक्रमण तल की वक्रतारेखाएँ अक्षांश (लैटिट्यूड) रेखाएँ और देशांतर (लांजीट्यूड) रेखाएँ होती हैं। किसी सकेंद्र द्विघाती तल की वक्रतारेखाएं वे वक्र होती हैं जिनमें वे अपने सनाभियों (कॉन-फोकल्स) को काटती हैं।

यदि पृ पर कोई वक्र वा ऐसा हो कि प्रत्येक बिंदु पर वा की दिशा में अभिलंबवक्रता शून्य हो तो वा को पृ की अनंतस्पर्शी रेखा (ऐसिंपटोटिक लाइन) कहते हैं। साधारणतया, प्रत्येक तल पर अनंतस्पर्शी रेखाओं के दो परिवार होते हैं जिनका समीकरण यह होता है

$$\text{टा ताप}^2+2\,\text{ठा ताप तास}+\text{डा तास}^2=0 \qquad (9)$$

लांबिक सर्पिलज की अनंतस्पर्शी रेखाएँ उसके जनक और भ्रमी होती हैं। किसी लघुतमी तल पर उसकी अनंतस्पर्शी रेखाएँ एक समकोणीय जाल बनाती हैं। अनंतस्पर्शी रेखाओं का अध्ययन हम एक अन्य दृष्टिकोण से भी कर सकते हैं। मान लीजिए कि पा, फा तल पृ पर दो समीपस्थ बिंदु हैं। मान लीजिए कि पा से होती हुई, पा और फा के स्पर्श समतलों की प्रतिच्छेद रेखा के समांतर, रेखा पा दा खींची गई है। जब फा, पा की ओर अग्रसर होता है, तब पा फा और पा दा की दिशाएँ परस्पर संयुग्मी (कॉञ्जुगेट) कहलाती हैं। वक्रों के दो कुलक (सेट्स) जो त पर स्थित हों और जिनके किसी भी बिंदु पर खींचे गए स्पर्शी संयुग्मी हों, एक संयुग्मी जाल का निर्माण करते हैं। जो वक्र संयुग्मी (सेल्फ-कॉञ्जुगेट) हो, अनंतस्पर्शी रेखा कहलाता है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि वा के किसी भी बिंदु की अनंतस्पर्शी रेखा पृ के उसी बिंदु के द्विलंब से अभिन्न होती है और किसी अनंतस्पर्शी रेखा के किसी बिंदु पर खींची गई स्पर्शी की दिशा वही होती है जो तल के उसी बिंदु पर खींची गई दो नतिपरिवर्तन स्पर्शियों (इनफ्लेक्शनल टैनजेंट्स) में से एक होती है।

पृ पर, अनंतस्पर्शी रेखाओं और वक्रतारेखाओं के अतिरिक्त, एक अन्य महत्वपूर्ण वक्र होता है जिसे अल्पांतरी (जिओडेसिक) कहते हैं। पृ के प्रत्येक बिंदु पा से होकर, और प्रत्येक दिशा में, एक वक्र ऐसा होता है जिसका पा वाला आश्लेषण समतल, पृ के बिंदु पा पर खींचे गए अभिलंब, से होकर जाता है। अतः उक्त वक्र के प्रत्येक बिंदु का मुख्य अभिलंब, उस बिंदु पर खींचे गए पृ के अभिलंब से अभिन्न होता है। ऐसे वक्र को अल्पांतरी कहते हैं। अल्पांतरी तल के किन्हीं दो बिंदुओं के मध्यस्थ सबसे छोटा मार्ग अल्पांतरी होता है। किसी तल के अल्पांतरियों के अवकल समीकरण में केवल चा, छा, जा और इनके प्रथम आंशिक अवकलजों का समावेश होता है। किसी गोले के अल्पांतरी बृहत् वृत्त (ग्रेट सर्किल्स) होते हैं। यदि पा, वक्र वा का कोई बिंदु है तो पा का वह अल्पांतरी जो वा के पा पर खींचे गए स्पर्शी की दिशा में खींचा जाय, वक्र वा का, बिंदु पा पर, अल्पांतरी स्पर्शी (जिओडेसिक टैनजेंट) कहलाता है। किसी वक्र के किसी बिंदु पर के अल्पांतरी स्पर्शी की संगत वक्रता को उस बिंदु की अल्पांतरी वक्रता कहते हैं। यह सिद्ध किया जा सकता है कि वक्र वा के किसी बिंदु पा की अल्पांतरी वक्रता बिंदु के उस वक्रता सदिश (कर्वेचर वेक्टर) का विघटित भाग (रिज़ॉल्व्ड पार्ट) होती है जो उस बिंदु के स्पर्शी समतल में स्थित हो। किसी अल्पांतरी की अल्पांतरी वक्रता उसके प्रत्येक बिंदु पर शून्य होती है। विलोमत, यदि किसी वक्र के प्रत्येक बिंदु पर उसकी अल्पांतरी वक्रता शून्य हो तो वक्र स्वयं एक अल्पांतरी होगा।

वक्र वा के किसी बिंदु पा के अल्पांतरी स्पर्शी की कुटिलता उस बिंदु पर वक्र की कुटिलता कहलाती है। जितने वक्र एक दूसरे को पा पर स्पर्श करते हैं, उन सबकी अल्पांतरी कुटिलता एक सी होती है। किसी भी तल पृ के प्रत्येक बिंदु पा पर दो दिशाएं होती हैं जिनमें अल्पांतरी कुटिलता चरम होती है। पृ पर स्थित वे वक्र अल्पांतरी कुटिलता रेखाएँ (लाइन्स ऑव जिओडेसिक टॉर्शन) कहलाते हैं जिनके प्रत्येक बिंदु पर खींचा गया स्पर्शी चरम अल्पांतरी कुटिलता की दिशा में होता है। किसी बिंदु पर अल्पांतरी कुटिलता रेखा की दिशा में दो मुख्य वक्रताएँ होती हैं, जिनके माध्य को उस बिंदु की अभिलंब वक्रता (नॉर्मल कर्वेचर) कहते हैं। पृ पर वे वक्र लक्षण रेखाएँ (कैरेक्टरिस्टिक लाइन्स) कहलाते हैं जिनके प्रत्येक बिंदु का स्पर्शी उस दिशा में होता है जिस दिशा में अल्पांतरी कुटिलता और अभिलंब वक्रता का अनुपात चरम हो। किसी तल पर स्थित वे वक्र जिनका समीकरण

$$\text{चा ताप}^2+2\,\text{छा ताप तास}+\text{जा तास}^2=0 \qquad (10)$$

हो, मोघ रेखाएँ (नल लाइन्स) कहलाती हैं। किसी तल पर स्थित वक्रों के ये पाँच परिवार—मोघ रेखाएँ, अनंतस्पर्शी रेखाएँ, वक्रता रेखाएँ, अल्पांतरी कुटिलता रेखाएँ और लक्षण रेखाएँ—एक बद्ध संहति (क्लोज्ड सिस्टम) का निर्माण करते हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि कोई भी दो समीकरण इस रूप में लिए जायँ

$$\text{फ}=0, \qquad \text{फि}=0,$$

और इनके जैकोबियनों को शून्य के बराबर रखा जाय तो उपर्युक्त पाँच संहतियों के अतिरिक्त और कोई संहति प्राप्त नहीं होगी।

किंतु शास्त्रीय अवकल ज्यामिति की भाँति यह मानना आवश्यक नहीं है कि कोई तल यूक्लिडीय अवकाश में ही स्थित होगा।

आधुनिक दृष्टिकोण में किसी बिंदु को स संख्याओं

$$(\text{य}_1, \text{य}_2, \ldots, \text{य}_\text{स})$$

का क्रमित कुलक (आर्डर्ड सेट) माना जाता है। इस बिंदु से इसके समीपस्थ बिंदु

$$(\text{य}_1+\text{ताय}_1, \text{य}_2+\text{ताय}_2, \ldots, \text{य}_\text{स}+\text{ताय}_\text{स})$$

की दूरी ताद के लिये सूत्र यह है

$$\text{ताद}^2=\text{च}_{\text{ठ}\text{न}}\,\text{ताय}^\text{ठ}\,\text{ताय}^\text{न}, \qquad (11)$$

जिसमें दक्षिण पक्ष का वर्ग-अवकल-रूप एक धनात्मक-निश्चित रूप (पॉजिटिव-डेफिनिट फॉर्म) है। कोई अवकाश जिसमें ताद का सूत्र (११) हो, स विस्तारों का रीमानीय अवकाश (रीमानियन स्पेस) कहलाता है। जिस प्रकार हम यूक्लिडीय त्रिविस्तारी अवकाश में वक्रों और तलों का अध्ययन करते हैं, उसी प्रकार हम रीमानीय अवकाश $\text{आ}_\text{स}$ में भी वक्रों और उपावकाशों (सब-स्पेसेज) का अध्ययन करते हैं। $\text{आ}_\text{स}$ के किसी बिंदु का बिंदुपथ, जिसके निर्देशांक एक ही प्राचल प के पदों में व्यक्त किए जा सकें, $\text{आ}_\text{स}$ का वक्र कहलाता है। $\text{आ}_\text{स}$ के उन बिंदुओं का बिंदुपथ जिनके निर्देशांक म प्राचलों $(\text{र}^1, \text{र}^2, \ldots, \text{र}^\text{म})$ के पदों में रखे जा सकें, $\text{आ}_\text{स}$ में स्थित म-विस्तारी उपावकाश कहलाता है। यदि म = स–१ तो उपावकाश को $\text{आ}_\text{स}$ का परावकाश (हाइपर-स्पेस) कहते हैं। उपावकाश म = १ ही एक साधारण वक्र होता है। जैसे यूक्लिडीय मापज (मेट्रिक) (१) से तल पर मापज (६) प्राप्त होता है, वैसे ही मापज (११) से उपावकाश

$$\text{य}^\text{न}=\text{फ}^\text{न}(\text{र}^1, \text{र}^2, \ldots, \text{र}^\text{म}), \quad \text{न}=1, 2, \ldots, \text{स}$$

में निम्नलिखित मापज प्राप्त होता है

$$\text{ताद}^2=\text{क}_{\text{ा}\text{ङ}}\,\text{तार}^\text{ा}\,\text{तार}^\text{ङ}\text{।} \qquad (12)$$

रीमानीय ज्यामिति का अध्ययन प्रदिश कलन (टेन्सर कैल्क्युलस) की सहायता से किया जाता है। पिछले कतिपय दशकों में रीमानीय ज्यामिति के कई सार्वीकरण (जेनरलाइजेशन) निकल आए हैं। इनमें से एक महत्वपूर्ण सार्वीकरण फिन्सलर ज्यामिति अथवा सार्वमापज ज्यामिति (ज्योमेट्री ऑव दि जेनरल मेट्रिक) है जिसमें रीमानीय मापज का स्थान निर्देशांकों और अवकलों का एक अधिक सार्विक फलन फा (य, ताय) ले लेता है।

सं०ग्रं०—फोरसाइथ लेक्चर्स ऑन डिफरेंशियल ज्योमेट्री ऑव कर्व्ज ऐंड सरफेसेज, आइजेनहार्ट डिफरेंशियल ज्योमेट्री, आइजेनहार्ट इंट्रोडक्शन टु डिफरेंशियल ज्योमेट्री विद एड ऑव दि टेंसर कैल्क्युलस, वेदरबर्न डिफरेंशियल ज्योमेट्री, २ खंड, वेदरबर्न रीमानियन ज्योमेट्री ऐंड टेंसर कैल्कुलस, डुगेक और मेयर लेरबुख डर डिफरेंशियल ज्योमेट्री, २ खंड, ई० पी० लेन मेट्रिक डिफरेंशियल ज्योमेट्री ऑव कर्व्ज ऐंड सरफेसेज (१९४०)। [रा० वि०]

अवकल समीकरण

अवकल समीकरण (डिफरेंशियल ईक्वेशंस) उन संबंधों को कहते हैं जिनमें स्वतंत्र चल तथा अज्ञात परतंत्र चल के साथ साथ उस परतंत्र चल के एक या अधिक अवकल गुणक

मलिक चीनी मिल, श्कोदर तबाकू मिल तथा स्टालिन वस्त्र मिल, नवीन जनवादी सरकार के प्रथम औद्योगिक कदम हैं।

पहले अल्बेनिया एक आयात करनेवाला देश था। आयात की मुख्य वस्तुएँ कपडे, धातु के सामान, मशीनें आदि थी, जो मुख्यतया इटली, ब्रिटेन तथा सयुक्त राज्य (अमरीका) से आती थी। यहाँ के मुख्य निर्यात कच्चे माल थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् श्री होक्सा के नेतृत्व मे अल्बेनिया का जनवादीकरण होने पर इसने अपना व्यापार केवल सोवियत सघ से ही करना प्रारभ किया।

वर्तमान जनवादी सरकार के नेतृत्व मे अब अल्बेनिया मे कोई राज्य-धर्म नही रहा। यातायात के साधन, उद्योग, शिक्षा इत्यादि अब यहाँ खूब उन्नति कर रहे हैं। [शि० म० सि०]

अल्बेनियाई भाषा भारतीय यूरोपीय परिवार की यह प्राचीन भाषा अपने प्राय मौलिक रूप मे अल्बेनियाई जनता की प्राचीन प्रथाओ की भाँति आज भी विद्यमान है। इसके बोलनेवालो की सख्या लगभग दस लाख है। उत्तरी और दक्षिणी दो बोलियो के रूप मे यह प्रचलित है। उत्तरी बोली को 'ग्वेगुइ' कहते हैं और दक्षिणी को 'तोस्क'। इनके सज्ञा रूपो मे किंचित् भेद है ग्वेगुई मे स्वरो के मध्य का 'न' तोस्क मे 'रा' हो जाता है। इन बोलियो का भारतीय यूरोपीय रूप इनके सर्वनामो तथा क्रियापदो में आज भी सुरक्षित है। यथा ती(दाऊ–अंग्रेजी, तू—हिंदी) ना (वी—अंग्रेजी हम हिंदी), और जू (यू—अंग्रेजी, तुम–हिंदी) तथा क्रियापदो मे रूपविधान दोम (मैं कहता हूँ), दोती (वह कहता है), दोमी (हम कहते हैं), और दोनी (वे कहते हैं)।

इसकी अधिकाश शब्दावली विदेशी शब्दो से मिलकर बनी है, यद्यपि भारतीय यूरोपीय परिवार के अनेक मौलिक शब्द इसमे आज भी विद्यमान है। प्राचीन ग्रीक भाषा से बहुत ही कम शब्द इसमें आए प्रतीत होते ह, किंतु मध्यकालीन तथा आधुनिक ग्रीक से अवश्य कुछ शब्द घूम फिरकर (और कभी कभी वेश बदलकर भी) इस भाषा मे आ गए हैं। जैसे 'लिपसेत' (यह आवश्यक है) शब्द सर्वियन भाषा से अल्बेनियाई में आया, किंतु उससे पहले सर्विया ने इसे ग्रीक से लिया था। स्लाव भाषाओ से भी अनेक शब्द लिए गए हैं। क्लासिकी युग मे प्राचीन ग्रीक का प्रभाव अल्बेनिया तक नही पहुँच पाया, जबकि लातीनी प्रभाव बहुत पहले से ही वहाँ तक पहुँच चुका था। अल्बेनियाई अकावली मे चार के लिये 'कत्रे' तथा शत के लिये 'क्विद्' शब्द अवश्य ही लातीनी भाषा के हैं। जबकि 'पेस' (पाँच) और दहेत (दश) मूल भारतीय-यूरोपीय-परिवार के हैं। इसी प्रकार लातीनी 'अमीकस' (दूध) अल्बेनियाई मे 'मीक' रह गया है।

शक्तिशाली रोमन साम्राज्य के प्रभुत्वकाल मे अल्बेनियाई नागरिक शब्दावली पर यथानुसार प्रबल लातीनी प्रभाव भी पडा, किंतु ग्रामीण जनता ने अपनी भाषा को आज तक सर्वथा 'शुद्ध' रखा है। इसका उच्चारण और व्याकरण आज भी अपने मौलिक रूप मे अक्षुण्ण है। यह भाषा जिस पर्वतीय प्रदेश मे बोली जाती है, वह ऐपीरस के उत्तर में, माटीनीग्रो के दक्षिण मे और अद्रियातिक सागर के पूर्वस्थ है। यह कब और कैसे इस क्षेत्र मे आई, यह अभी तक अनिश्चित है। इस भाषा के १५वी शताब्दी के ही उपलब्ध साहित्य को सबसे प्राचीन कहा जा सकता है, किंतु अन्य अधिकाश प्राचीन साहित्य १६वी और १७वी शताब्दी का ही मिलता हे। आधुनिक अल्बेनियाई साहित्य जिस भाषा मे लिखा गया हे वह वर्तमान भाषा से बहुत भिन्न नही है और वर्तमान भाषा प्राचीन बोलियो का ही प्राय अपरिवर्तित रूप है। [का० च० सौ०]

अल्मोड़ा अल्मोडा भारत के उत्तर प्रदेश के उत्तर मे पहाडी इलाके मे स्थित एक जिला तथा उसका प्रधान नगर है। वर्तमान अल्मोडा जिले का (१९५१ ई०) क्षेत्रफल (रानीखेत को लेकर) ४,१३६ वर्ग मील है और जनसख्या २,८०,९२८ है। अल्मोडा नगर हिमालय प्रदेश की एक पर्वतश्रेणी पर, समुद्रतट से ५,४९४ फुट की ऊँचाई पर स्थित है (अक्षाश २९°३५′ १६″ उ० तथा देशातर ७९° ४१′ १६″ पू०)। पर्वतश्रेणी की ऊँचाई ५,२०० फुट से ५,५०० फुट तक है। अल्मोडा के उत्तर से एक अन्य छोटी सी पर्वतश्रेणी निकलकर सीधी पश्चिम की ओर चली गई है। इन पर्वतश्रेणियो के बीच के भाग मे पुरान ढग के घरो की बस्तियाँ मिलती हैं। यहाँ कुछ खेती भी होती है। यहाँ अनेक प्राचीन दुर्गों के खँडहर मिलते हैं। अल्मोडा चद्रवशी राजाओ की राजधानी थी। इसने अनेक राजवशो का उत्थान और पतन देखा है। किंवदतियो के अनुसार अल्मोडा एक तिवारी ब्राह्मण के परिवार के अधीन था। इस समय इनके वशजो के हाथ में अल्मोडा जेल के पास थोडी सी जमीन रह गई है। कहा जाता है कि इन लोगो के साथ यह शर्त थी कि ये सूर्यपूजा के लिये आँवला भेजा करेंगे। आँवला को यहाँ लामोरा कहा जाता है। अल्मोडा लामोरा शब्द का ही अपभ्रश रूप माना जाता है। १९३१ मे इस नगर की जनसख्या ९,६८८ थी, परतु १९५१ मे १२,७५७ हो गई थी। नगर का वर्तमान क्षेत्रफल ८ वर्ग मील है।

अल्मोडा मे सैनिको का एक बडा अड्डा तथा कई विद्यालय हैं। प्रधान कालेज सर हेनरी रामज़े के नाम से है। यहाँ की जलवायु बहुत अच्छी है जो विशेषकर क्षय रोगियो के लिये बहुत ही लाभप्रद है। इसके निकटवर्ती रानीखेत मे सैनिको के वायुपरिवर्तन का भी एक स्थान है। सन् १७९० में गोरखा सेना ने इस नगर पर अधिकार कर उसके पूर्वी किनारे पर एक किला बनवाया। मोइरा का किला इसके दूसरे भाग मे स्थित है। इसे लालमडी भी कहते हैं। सन् १८१५ मे अंग्रेजो तथा गोरखो की लडाई अल्मोडा मे ही हुई थी।

अल्मोडा जिला सन् १८९१ मे नैनीताल, कुमायूँ तथा तराई प्रातो के पुर्नविन्यास द्वारा बना। यह जिला गगा तथा घाघरा के शिलामय अचल के बीच में स्थित है। घाघरा का स्थानीय नाम यहाँ पर 'काली' है। यह जिला अक्षाश २८° ५१′ उ० से ३०° ४९′ उ० तथा देशातर ७९° २′ पू० से ८१° ३१′ पू० के बीच मे फैला हुआ है। यह अचल हिमालय के पर्वतीय प्रदेश के अतर्गत है तथा एक के बाद एक हिमाच्छादित पर्वतश्रेणियाँ दक्षिण से उत्तर की ओर विस्तृत हैं। इस हिमाच्छादित तथा जगलो से ढके हुए पार्वत्य प्रदेश के क्षेत्रफल का ठीक पता अभी तक नही लगाया जा सका है।

अल्मोडा, विशेषकर इसकी सिलेटी पर्वतश्रेणी, चाय के लिये प्रसिद्ध है। चीड, देवदार, तून आदि के वृक्ष इस पार्वत्य अचल की शोभा बढाते हैं। [वि० मु०]

अल्-मोहदी अल्-मोहदी शासन की स्थापना इब्न तुर्मत (महदी पदवीधारी) और उनके मित्र अब्दुल मोमिन (अमी-रुल-मोमिनीन पदवीधारी) नामक दो धार्मिक व्यक्तियो द्वारा हुई। अल्-मोहदी वश ने समस्त पूर्वी अफ्रीका तथा मुसलमानी स्पेन पर ११२८ से १२६९ ई० तक शासन किया। इब्न तुर्मत को सभवत कोई पुत्र नही था अत अब्दुल मोमिन के बाद के ग्यारह शासक उसकी सतान न होकर उसके परिवार से चुने गए।

इब्न तुर्मत अरग मे इमान गजाली तथा मदीना की परपराओ से प्रभावित हुआ। अफ्रीका लौटने पर उन्होने अपने विरोधियो को काफिर घोषित किया और अलमोरावीद दल से अनवरत युद्ध प्रारभ कर दिया। अलमोरावीद (१०६१–११४५) मालिकी परपरा के अनुयायी थे। वे कुरान के शाब्दिक अर्थ और खुदा के सशरीर व्यक्तित्व (मुज्जसमिया) में, जो वस्तुत एक आध्यात्मिक निरर्थकता है, विश्वास रखते थे। अल-तुर्मत अफ्रीका के सुदूर बीहड प्रदेश मे एक छोटे से राज्य की स्थापना कर सके, किंतु उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके मित्र अब्दुल मोमिन ने पहले मोरक्को पर और सात वर्ष के अथक प्रयत्न के पश्चात् समस्त पूर्वी अफ्रीका और मुसलमानी स्पेन पर अधिकार कर लिया। अल्-मुराबी मान्यता के विरुद्ध अल्-मोहदी स्वय को खलीफा घोषित करते थे और बगदाद के खलीफा को स्वीकार नही करते थे। [मु० ह०]

अल्यूशियन द्वीपपुंज लगभग १४ बडे और ५५ छोटे द्वीपो तथा अनेक चोटियो से बना है। यह पहले कैथेरिन द्वीपपुज के नाम से प्रसिद्ध था। यह कमचटका प्रायद्वीप के पूर्व से अलास्का प्रायद्वीप के पश्चिम तक लगभग ९०० मील के विस्तार मे फैला हुआ है। इसकी स्थिति अक्षाश ५२° उ० से ५५° उ० तक और देशातर १७२° प० से १६३° प० तक है। यह सयुक्त राज्य (अमरीका)

एक से उच्च कक्षा के एकघात अवकल समीकरण—यदि एकघात अवकल समीकरण

$$प_०(य)\frac{ता^च र}{ताय^च}+प_१(य)\frac{ता^{च-१}र}{ताय^{च-१}}+\ldots+प_{च-१}(य)\frac{तार}{ताय}+प_च र=० \quad (७)$$

पर विचार करें तो स्थानापत्ति से यह स्पष्ट है कि यदि $र=फ_१(य)$ इसका एक हल है तो $र=क_१ फ_१(य)$, भी हल होगा जहाँ $क_१$ कोई स्वेच्छ अचल है। यदि $र=फ_१(य), र=फ_२(य), र=फ_३(य), \ldots, र=फ_च(य)$ सभी हल हों तो

$$र=क_१फ_१(य)+क_२फ_२(य)+\ldots+क_चफ_च(य) \quad (८)$$

भी (७) का हल होगा जहाँ $क_१, क_२, \ldots, क_च$ स्वेच्छ अचल हैं। यदि ये सब फलन स्वतंत्र हो तो मान (८) अवकल समीकरण (७) का पूर्ण पूर्वग होगा, क्योंकि इसमें स्वेच्छ अचलो की संख्या अवकल समीकरण की कक्षा के बराबर है।

समीकरण

$$प_०(य)\frac{ता^च र}{ताय^च}+प_१(य)\frac{ता^{च-१}र}{ताय^{च-१}}+\ldots+प_{च-१}(य)\frac{तार}{ताय}+प_च र=व(य) \quad (९)$$

समीकरण (७) की सहायता से हल होता है। यदि $फ_१, फ_२, \ldots, फ_च$ अवकल समीकरण (७) के हल हो और फा(य) समीकरण (९) का एक विशिष्ट हल हो तो

$$र=क_१फ_१(य)+क_२फ_२(य)+\ldots+क_चफ_च(य)+फा(य) \quad (१०)$$

समीकरण (९) का पूर्ण पूर्वग होगा।

अवकल गुणको के गुणक (कोइफिशेंट) यदि अचल हो, अर्थात् समीकरण निम्नांकित प्रकार का हो

$$क_०\frac{ता^च र}{ताय^च}+क_१\frac{ता^{च-१}र}{ताय^{च-१}}+\ldots+क_{च-१}\frac{तार}{ताय}+क_च र=०, \quad (११)$$

जिसमें $क_०, क_१, \ldots, क_च$ अचल हैं तो इसमें $र=ई^{मय}$ लिखने से [जहाँ ई(=e) प्राकृतिक लघुगुणकों का आधार है], सबध

$$क_०म^च+क_१म^{च-१}+क_२म^{च-२}+\ldots+क_{च-१}म+क_च=० \quad (१२)$$

प्राप्त होता है। इस समीकरण को हल करने से म के च मान प्राप्त होते हैं। यदि वे $म_१, म_२, \ldots, म_च$ हो तो सबध

$$र=ख_१ई^{म_१य}+ख_२ई^{म_२य}+\ldots+ख_चई^{म_चय} \quad (१३)$$

समीकरण (११) को सतुष्ट करता है। मान (१३) अवकल समीकरण (११) का पूर्ण पूर्वग है। समीकरण (१२) को अवकल समीकरण (७) का सहायक समीकरण (ऑक्जिलियरी इक्वेशन) कहते हैं।

समीकरण

$$क_०\frac{ता^च र}{ताय^च}+क_१\frac{ता^{च-१}र}{ताय^{च-१}}+\ldots+क_{च-१}\frac{तार}{ताय}+क_च र=व(य) \quad (१४)$$

का हल सबध (१३) के दाएँ पक्ष मे य का एक विशेष फलन जोडने से प्राप्त होता है, जिसे समीकरण (१४) का विशिष्ट अनुकल कहते है तथा (१३) को अवकल समीकरण (१४) का पूरक फलन कहते हैं।

विज्ञान मे अधिकतर द्वितीय कक्षा के अवकल समीकरणों का ही प्रयोग होता है। उनके हल बहुत महत्व रखते हैं। एक एक समीकरण पर बडे बडे ग्रथ लिखे जा चुके हैं जैसे लीजेंडर के अवकल समीकरण

$$(१-य^२)\frac{ता^२र}{ताय^२}-२य\frac{तार}{ताय}+म(म+१)र=०$$

तथा बेसल के अवकल समीकरण

$$य^२\frac{ता^२र}{ताय^२}+य\frac{तार}{ताय}+(य^२-म^२)र=०$$

इत्यादि पर।

श्रेणी में हल—यदि हम अवकल समीकरण (२) का हल एक अनंत परतु ससृत श्रेणी

$$र=य^च(क_०+क_१य+क_२य^२+\ldots) \quad (१५)$$

मान ले, तथा इससे प्राप्त तार/ताय, ता²र/ताय² के मान अवकल समीकरण मे स्थानापत्ति करे, तो सरल करने पर तादात्म्य

$$(१-य^२)\ [-क_०च(च-१)य^{च-२}+क_१(च+१)च\,य^{च-१}+क_२(च+२)(च+१)य^च+\ldots]$$
$$-२य[क_०च\,य^{च-१}+क_१(च+१)य^च+क_२(च+२)य^{च+१}+\ldots]$$
$$+२[क_०य^च+क_१य^{च+१}+क_२य^{च+२}+\ldots]=०$$

प्राप्त होता है।

इसको सरल करके य के प्रत्येक घात के गुणक को शून्य के बराबर लिखने से समीकरण

$$\left.\begin{array}{l}क_०च(च-१)=० \\ क_१(च+१)च=० \\ क_२(च+२)(च+१)-क_०च(च-१)-२क_०च+२क_०=०\end{array}\right\}(१६)$$

प्राप्त होते हैं। समीकरण (१६) से च = १ या ०, अन्य समीकरणो से $क_१, क_२, क_३, \ldots$ के मान च के पदो मे ज्ञात कर लेते हैं। इनमें च के प्रत्येक मान को स्थानापन्न करके दो फलन

$$रा=य,\ री=१-य^२-\tfrac{१}{३}य^४-\tfrac{१}{५}य^६\ldots$$

प्राप्त होते है जिनसे (२) का पूर्ण पूर्वग

$$र=क_०रा+ख_०री$$

प्राप्त होता है। समीकरण (१६) समीकरण (२) का **घातीय समीकरण** (इडिशियल इक्वेशन) कहलाता है। इसी प्रकार अन्य समीकरण भी हल किए जाते हैं। साधारणत घातीय समीकरण के मूलो की संख्या अवकल समीकरण की कक्षा के बराबर होती है।

युगपत अवकल समीकरण—यदि परतत्र चल एक से अधिक हो तो पूर्वग ज्ञात करने के लिये साधारणत उतने ही अवकल समीकरण होने चाहिए जितने परतत्र चल। जैसे

$$\frac{ता^२र}{ताय^२}+ल=य,$$

$$\frac{तार}{ताय}+\frac{ताल}{ताय}=य^२।$$

यहाँ ल और र परतत्र चल हैं। इन समीकरणो द्वारा ल का लुप्तीकरण करने पर एक साधारण अवकल समीकरण प्राप्त होता है, जिसे हल करके र का मान प्राप्त करते हैं। फिर दिए हुए समीकरणो मे र की स्थानापत्ति करके या तो ल का मान ज्ञात हो जाता है, अन्यथा ऐसा अवकल समीकरण प्राप्त होता है जिसे हल करके ल का मान ज्ञात कर सकते हैं।

यदि परतत्र चल दो हो और केवल एक ही सबध ज्ञात हो तो पूर्वग प्रत्येक अवस्था मे ज्ञात नही हो सकता।

प्रथम कक्षा और एक घात का समीकरण निम्नांकित रूप मे लिखा जा सकता है

$$प(य,र,ल)ताय+फ(य,र,ल)तार+व(य,र,ल)ताल=०।$$

इसे तभी हल कर सकते हैं जब फलन प, फ, व समीकरण

$$प\left(\frac{तफ}{तल}-\frac{तव}{तर}\right)+फ\left(\frac{तव}{तय}-\frac{तप}{तल}\right)+व\left(\frac{तप}{तर}-\frac{तफ}{तय}\right)=०$$

और अवती प्रकृत्यमित्र हो गए थे। और अब मगध और अवती के सघर्ष मे अवती को अपने मुँह की खानी पडी। उसी सघर्ष के अत में मगध की सेनाओ द्वारा अवतिवर्धन पराजित हुआ और मध्यप्रदेश का यह भाग भी मगध के हाथ आ गया। [ओ० ना० उ०]

अवंतिवर्मन् (ल० ८५५ ई०–८८३ ई०) यह उत्पल राजकुल का पहला राजा जब कश्मीर की गद्दी पर बैठा तब कश्मीर गृहयुद्ध से लहूलुहान हो रहा था और उसपर दरिद्रता की छाया डोल रही थी। करकोटक राजाओ की कमजोरी से गाँवो के डायर जमीदार सशक्त हो गए थे और उनके कारण प्रजा तवाह थी। न जीवन की रक्षा हो पाती थी, न धन की। देश की उपज इतनी कम हो गई थी कि अन्न सोने के भाव बिकने लगा था। अवतिवर्मन् ने देश मे शाति स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया। डायरो को दबाकर उसने अपने मत्री सुय्य (सूर्य) की सहायता से देश की आर्थिक स्थिति सँभाली, नहरें निकलवाकर सिचाई का प्रबध किया और झेलम की धारा बदल दी। एक खिरनी चावल का मूल्य, जो पहले २०० दीनार हुआ करता था, अब ३६ दीनार हो गया। अवतिवर्मन् ने अवतिपुर नाम का नगर बसाया जो वतपोर के नाम से आज भी मौजूद है। उसने अनेक मदिर बनवाकर उन्हें देवोत्तर सपत्ति से समृद्ध किया। वह पडितो का आदर करता था और उसी की सरक्षा मे प्रसिद्ध साहित्यकार आलोचक आनदवर्धन ने अपना 'ध्वन्यालोक' रचा। [ओ० ना० उ०]

अवंती मालव जनपद का प्राचीन नाम, जिसका उल्लेख महाभारत मे भी हुआ है। अवतिनरेश न युद्ध में कौरवो की सहायता की थी। वस्तुत यह आधुनिक मालवा का पश्चिमी भाग है जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी, जिस राजधानी का दूसरा नाम स्वय अवती भी था। पौराणिक हैहयो ने उसी जनपद की दक्षिणी राजधानी माहिष्मती (माधाता) मे राज किया था। सहस्रबाहु अर्जुन वही का राजा बताया जाता है। बुद्ध के जीवनकाल में अवती विशाल राज्य बन गया और वहाँ प्रद्योतो का कुल राज करने लगा। उस कुल का सबसे शक्तिमान् राजा चड प्रद्योत महासेन था जिसने पहले तो वत्स के राजा उदयन को कपटगज द्वारा बदी कर लिया, पर जिसकी कन्या वासवदत्ता का उदयन ने हरण किया। अवती ने वत्स को जीत लिया था, परतु बाद उसे स्वय मगध की बढती सीमाओ में समा जाना पडा। बिदुसार और अशोक के समय अवती साम्राज्य का प्रधान मध्यवर्ती प्रात था जिसकी राजधानी उज्जयिनी मे मगध का प्रातीय शासक रहता था। अशोक स्वय वहाँ अपनी कुमारावस्था मे रह चुका था। उसी जनपद मे विदिशा में शुगो की भी एक राजधानी थी जहाँ सेनापति पुष्यमित्र शुग का पुत्र राजा अग्निमित्र शासन करता था। जब मालव सभवत सिकदर और चद्रगुप्त की चोटो से रावी के तट से उखडकर जयपुर की राह दक्षिण की ओर चले थे, तब अत में अनुमानत शको को हराकर अवती में ही बस गए थे और उन्ही के नाम से बाद मे अवती का नाम मालवा पडा। [ओ० ना० उ०]

अवकल ज्यामिति (प्रक्षेपीय) विक्षेपात्मक अवकल ज्यामिति (प्रोजेक्टिव डिफरेंशियल ज्योमेट्री) मे हम किसी ज्यामितीय आकृति के किसी सार्विक अल्पाश (जेनरल एलिमेंट) के समीप उसके उन गुणो का अध्ययन करते है जिनमे किसी सार्विक विक्षेपात्मक रूपातर (ट्रैंसफॉर्मेशन) से कोई विकार नही होता। जैसे किसी वक्र के ये गुण कि उसके किसी बिंदु पर स्पर्श रेखा अथवा आश्लेपण समतल (ऑस्क्युलेटिंग प्लेन) का अस्तित्व है अथवा नहीं, विक्षेपात्मक अवकलीय गुण हैं, किंतु किसी तल का यह गुण कि उसपर अल्पातरी (जिओडेसिक) का अस्तित्व है या नही, विक्षेपात्मक नही है, क्योकि इसमें लबाई का भाव निहित है जो विक्षेपात्मक नही है।

आकृतियो के विक्षेपात्मक अवकल गुणो के अध्ययन की कम से कम तीन विधियाँ निकल चुकी हैं जो इस प्रकार है (१) अवकल समीकरण, (२) घात-श्रेणी-प्रसार (पावर सीरीज़ एक्सपैंशन) और (३) किसी बिंदु के विक्षेप निर्देशाको (प्रोजेक्टिव कोऑर्डिनेट्स) का एक प्राचल (पैरामीटर) अथवा अवकल रूपो (डिफरेंशियल फॉर्म्स) के पदो में प्रसार। पहली और तीसरी विधियो मे प्रदिश कलन (टेसर कैल्क्युलस) का प्रयोग किया जा सकता है।

उपयुक्त निर्देश त्रिभुज (ट्राइऐंगिल ऑव रेफरेस) चुनने से, जिसके चुनाव का ढग अद्वितीय होगा, किसी समतल वक्र का समीकरण इस रूप में ढाला जा सकता है

$$र = य^{२} + क\,य^{३} + ख\,य^{४} + (ख + २क^{२})\,य^{५} + \ldots$$

इस घात श्रेणी के समस्त गुणाक (कोइफिशेंट) सार्विक विक्षेप रूपातर के अतर्गत, वक्र के परम निश्चल (ऐबसोल्यूट इनवेरियट) है, अत वे मूलबिंदु पर वक्र के समस्त विक्षेपात्मक अवकल गुणो को व्यक्त करते है। किसी वक्र के किसी बिंदु पर के स्पर्शी का भाव सुपरिचित है। मान लीजिए कि हम किसी वक्र के बिंदु **पा** के समीप चार अन्य बिंदु लेते है। जब ये चारो बिंदु **पा** की ओर अग्रसर होते हैं, तब इन पाँचो बिंदुओ द्वारा खीचे गए शाकव (कॉनिक) की जो सीमास्थिति होगी, उसे वक्र के बिंदु **पा** पर, आश्लेषण शाकव (ऑस्क्युलेटिंग कॉनिक) कहते है। इसी प्रकार एक समतल त्रिघाती (प्लेन क्यूबिक) के इस गुण की सहायता से कि उसका निर्धारण नौ स्वेच्छा (आर्बिट्रैरी) बिंदुओ से होता है, हम आश्लेषण त्रिघाती (ऑस्क्युलेटिंग क्यूबिक) की परिभाषा दे सकते है। इस अध्ययन में, सीमा (लिमिट) के प्रयोग के कारण, कलन (कैल्क्युलस) बहुत काम में आता है।

साधारणतया त्रिविस्तारी विक्षेपात्मक अवकाश (थ्री-डाइमेंशनल प्रोजेक्टिव स्पेस) में अनतस्पर्शी वक्रो (ऐसिम्प्टोटिक कर्व्ज) के दो एक-प्राचल परिवार (वन-पैरामीटर फैमिलीज) होते है। यदि दो से कम परिवार हो तो तल (सर्फस) विकास्य (डिवेलपेबुल) होगा। यदि दो से अधिक हो तो तल एक समतल (प्लेन) होगा। यदि विकास्य तलो और समतलो को छोड दिया जाय और अनतस्पर्शी रेखाओ को तल के प्राचलीय वक्र मान लिया जाय तो समघात निर्देशाक (होमोजीनियस कोऑर्डिनेट्स) इस प्रकार चुने जा सकते है कि वे अवकल समीकरणो की निम्नलिखित सहति (सिस्टम) को सतुष्ट करे

$$\frac{त^{२}य}{तष^{२}} = \frac{तक्ष}{तष}\frac{तय}{तष} + उ\,\frac{तय}{तस} + प\,य,$$

$$\frac{त^{२}य}{तस^{२}} = ऊ\,\frac{तय}{तष} + \frac{तक्ष}{तस}\frac{तय}{तस} + फ\,र,$$

$$क्ष = लघु\,(उ\,ऊ), \quad [त = \partial]$$

इन्हें फ्यूबिन के अवकल समीकरण (डिफरेंशियल इक्वेशस) कहते है। इनके गुणाक उ, ऊ, प, फ तल के निश्चल है।

किसी तल के विक्षेपात्मक गुणो मे से एक गुण होता है उसका किसी अन्य तल से स्पर्शक्रम (आर्डर ऑव कॉनटैक्ट)। विशेषकर, द्विघात तलो का एक त्रिप्राचल परिवार होता है जिसका तल (पृष्ठ) **पृ** से किसी बिंदु **मू** पर द्वितीय क्रम का स्पर्श होता है। यदि द्विघाती (क्वॉड्रिक्स) इस प्रकार चुने जायँ कि **मू** पर, प्रतिच्छेद वक्र के स्पर्शी, **मू** के अनतस्पर्शियो के प्रति अभिध्रुवी (ऐपोलर) हो तो द्विघातियो को डार्बो द्विघाती (क्वॉड्रिक्स) और ३-बिंदु स्पर्शियो को डार्बो स्पर्शी कहते है। **पृ** के प्रत्येक बिंदु पर डार्बो द्विघातियो का एक एकप्राचल परिवार होता है। इनमे से बहुत से विशेष प्रकार के द्विघाती होते है। कदाचित् ली द्विघाती (क्वॉड्रिक्स) सबसे रोचक होते हैं। इनका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है **मू** के अनतस्पर्शी वक्र **व** पर दो समीपस्थ बिंदु $पा_{१}$ और $पा_{२}$ लेकर तीनो बिंदुओ पर अनतस्पर्शी वक्र के स्पर्शी खीचो। ये तीन स्पर्शी एक द्विघाती का निर्धारण करते है। जब $पा_{१}$ और $पा_{२}$ वक्र **व** के अनुदिश **मू** की ओर अग्रसर होते है, तब उक्त द्विघाती की सीमास्थिति को ली द्विघाती कहते हैं।

रेखाओ के किसी द्विप्राचल परिवार को सर्वांगसमता (कॉनग्रुएस) कहते है। उदाहरणत किसी तल के मापात्मक अभिलब (मेट्रिक नार्मल्स) एक सर्वागसमता बनाते हैं। यदि **पृ** के किसी बिंदु **मू** का साहचर्य (ऐसोसिएशन) एक रेखा से है जिसकी स्थिति **मू** के साथ साथ बदलती रहती है तो ऐसी रेखाओ के सग्रह से एक सर्वांगसमता का निर्माण होता है। जब **मू** तल **पृ** के किसी उपयुक्त वक्र पर चलता है तब सर्वांगसमता की सहचर

संहिता (७।१।५।१) तथा शतपथ (१४।१।२।११) में, नृसिंह का तैत्तिरीय आरण्यक में तथा वामन का तैत्तिरीय संहिता (२।१।३।१) में शब्दत तथा ऋग्वेद मे विष्णुसूक्तों मे अर्थत सकेत मिलता है। ऋग्वेद में त्रिविक्रम विष्णु को तीन डगो द्वारा समग्र विश्व के नापने का बहुश श्रेय दिया गया है (एको विममे त्रिभिरित् पदेभि ऋग्वेद १।१५४।३)। आगे चलकर प्रजापति के स्थान पर जब विष्णु की प्रमुखता हुई, तब ये विष्णु के अवतार माने जाने लगे। पुराणों में इस प्रकार अवतारो के रूप, लीला तथा घटनावैचित्र्य का वर्णन वेद के ऊपर ही बहुश आश्रित है।

भागवत के अनुसार सत्वनिधि हरि के अवतारो की गणना नही की जा सकती। जिस प्रकार न सूखनेवाले (अविदासी) तालाब से हजारो छोटी छोटी नदियाँ (कुल्या) निकलती है, उसी प्रकार अक्षय्य सत्वाश्रय हरि से भी नाना अवतार उत्पन्न होते है—अवतारा ह्यसख्येया हरे सत्वनिधेर्द्विजा। यथाऽविदासिन कुल्या सरस स्यु सहस्रश ॥ पाचरात्र मत में अवतार प्रधानत चार प्रकार के होते है—व्यूह (सकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध), विभव, अतर्यामी तथा अर्चावतार। विष्णु के अवतारो की सख्या २४ मानी जाती है (श्रीमद्भागवत २।६), परतु दशावतार की कल्पना नितात लोकप्रिय है जिनकी प्रख्यात सज्ञा इस प्रकार है—दो पानीवाले जीव (वनजौ, मत्स्य तथा कच्छप), दो जलथलचारी (वनजौ, वराह तथा नृसिंह), वामन (खर्व), तीन राम (परशुराम, दाशरथि राम तथा बलराम), बुद्ध (सकृप) तथा कल्कि (अकृप)—

वनजौ वनजौ खर्वस्त्रिरामी सकृपोऽकृप ।
अवतारा दशैवेते कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ॥

महाभारत मे दशावतार में 'बुद्ध' को छोड दिया गया है और 'हस'को अवतार मानकर सख्या की पूर्ति की गई है। भागवत के अनुसार 'बलराम' की दशावतार मे गणना है, क्योकि श्रीकृष्ण तो स्वय भगवान ठहरे। वे अवतार नही, अवतारी है, अश नही, अशी है। इस प्रकार अवतारो की सख्या तथा सज्ञा मे पर्याप्त विकास हुआ है।

स०ग्र०—भाडारकर वैष्णविज्म, शैविज्म ऐंड माइनर-सेक्ट्स, पूना १९२८, गोपीनाथ कविराज भक्तिरहस्य नामक लेख ('कल्याण'–हिंदू सस्कृति अक), बलदेव उपाध्याय भागवत सप्रदाय, काशी, १९५३, मुशीराम शर्मा भक्ति का विकास, काशी, १९५८।
[ब० उ०]

बौद्ध तथा अन्य धर्म (पारसी, सामी, मिस्री, यहूदी, यूनानी, इसलाम) बौद्ध धर्म के महायान पथ मे अवतार की कल्पना दृढमूल है। 'बोधिसत्व' कर्मफल की पूर्णता होने पर बुद्ध के रूप मे अवतरित होते है तथा निर्वाण की प्राप्ति के अनतर बुद्ध भी भविष्य मे अवतार धारण करते है—यह महायानियो की मान्यता है। बोधिसत्व तुषित नामक स्वर्ग मे निवास करते हुए अपने कर्मफल की परिपक्वता की प्रतीक्षा करते है और उचित अवसर आने पर वह मानव जगत् मे अवतीर्ण होते हैं। थेरवादियो मे यह मान्यता नही है। बौद्ध अवतारतत्व का पूर्ण निदर्शन हमे तिब्बत मे दलाईलामा की कल्पना मे उपलब्ध होता है। तिब्बत मे दलाईलामा अवलोकितेश्वर बुद्ध के अवतार माने जाते है। तिब्बती परपरा के अनुसार गेंदुन द्रुप (१४७३ ई०) नामक लामा ने इस कल्पना का प्रथम प्रादुर्भाव किया जिसके अनुसार दलाईलामा धार्मिक गुरु तथा राजा के रूप मे प्रतिष्ठित किए गए। ऐतिहासिक दृष्टि से लोजग-ग्या-मत्सो (१६१५–१६८२ ई०) नामक लामा ने ही इस परपरा को जन्म दिया। तिब्बती लोगो का दृढ विश्वास है कि दलाईलामा के मरने पर उनकी आत्मा किसी बालक मे प्रवेश करती है जो उस मठ के आसपास ही जन्म लेता है। इस मत का प्रचार मगोलिया के मठो मे भी विशेष रूप से है। परतु चीन मे अवतार की कल्पना मान्य नही थी। चीनी लोगो का पहला राजा शागती सदाचार और सद्गुण का आदर्श माना जाता था, परतु उसके ऊपर देवत्व का आरोप कही भी नही मिलता।

पारसी धर्म मे अनेक सिद्धात हिंदुओ, और विशेषत वैदिक आर्यो के समान है, परतु यहा अवतार की कल्पना उपलब्ध नही है। पारसी धर्मानुयायियो का कथन है कि इस धर्म के प्रेरित प्रचारक या प्रतिष्ठापक जरथुस्त्र अहुरमज्द के कही भी अवतार नही माने गए है। तथापि ये लोग राजा को पवित्र तथा दैवी शक्ति से सपन्न मानते थे। 'ह्वरेनाह' नामक अद्भुत तेज की सत्ता मान्य थी जिसका निवास पीछे अर्दशिर राजा मे तथा सस्सनवशी राजाओ मे था, ऐसी कल्पना पारसी ग्रथो मे बहुश उपलब्ध है। सामी (सेमेटिक) लोगो मे भी अवतारवाद की कल्पना न्यूनाधिक रूप मे विद्यमान है। इन लोगो मे राजा भौतिक शक्ति का जिस प्रकार चूडात निवास था उसी प्रकार वह दैवी शक्ति का पूर्ण प्रतीक माना जाता था। इसलिये राजा को देवता का अवतार मानना यहाँ स्वभावत सिद्ध सिद्धात माना जाता था। प्राचीन बाबुल (बेबिलोनिया) में हमे इस मान्यता का पूर्ण विकास दिखाई देता है। किश का राजा 'उरुमुश' अपने जीवनकाल में ही ईश्वर का अवतार माना जाता था। नरामसिन नामक राजा अपने मे देवता का रक्त प्रवाहित मानता था इसलिये उसने अपने मस्तक पर सीग से युक्त चित्र अकित करवा रखा था। वह 'अक्काद का देवता' नाम से विशेष प्रख्यात था।

मिस्री मान्यता भी कुछ ऐसी ही थी। वहाँ के राजा 'फराऊन' नाम से विख्यात थे जिन्हे मिस्री लोग दैवी शक्ति से सपन्न मानते थे। मिस्रनिवासी यह भी मानते थ कि 'रा' नामक देवता रानी के साथ सहवास कर राजपुत्र को उत्पन्न करता है, इसीलिये वह अलौकिक शक्तिसपन्न होता है। यहूदी भी ईश्वर के अवतार मानने के पक्ष मे है। बाइबिल में स्पष्टत उल्लेख है कि ईश्वर ही मनुष्य का रूप धारण करता है और इसके पर्याप्त उदाहरण भी वहाँ उपलब्ध होते हैं। यूनानियो मे अवतार की कल्पना आर्यो के समान नही थी परतु वीर पुरुष विभिन्न देवो के पुत्ररूप माने जाते थे। प्रख्यात योद्धा हरक्यूलीज ज्यूस का पुत्र माना जाता था, लेकिन देवता के मनुष्य रूप मे पृथ्वी पर जन्म लेने की बात यूनान मे मान्य नही थी।

इसलाम के शिया सप्रदाय मे अवतार के समान सिद्धात का प्रचार है। शिया लोगो की यह मान्यता कि अली (मुहम्मद साहब के चचेरे भाई) तथा फातिमा (मुहम्मद साहब की पुत्री) के वशजो मे ही धर्मगुरु (खलीफा) बनने की योग्यता विद्यमान है, अवतार के पास तक पहुँचती है। 'इमा' की कल्पना मे भी यह तथ्य जागरूक माना जा सकता है। वे मुहम्मद साहब के वशज ही नही है, प्रत्युत उनमे दिव्य ज्योति की भी सत्ता है और उनकी श्रेष्ठता का यही कारण है।

स०ग्र०—बार्थ रिलिजन्स ऑव इडिया, लदन, १८९१, वोडेल बुद्धिज्म ऑव तिब्बत, वीडेमन दी एनशेंट इजिप्शियन डॉक्ट्रिन ऑव दि इम्मार्टेलिटी ऑव सोल। [ब० उ०]

ईसाई धर्म • आधारभूत विश्वास है कि ईश्वर मनुष्य जाति के पापो का प्रायश्चित्त करने तथा मनुष्यो को मुक्ति के उपाय बताने के उद्देश्य से ईसा मे अवतरित हुआ (ईसा की सक्षिप्त जीवनी के लिये दे० ईसा)।

बाइबल के निरीक्षण से पता चलता है कि किस प्रकार ईसा के शिष्य उनके जीवनकाल मे ही धीरे धीरे उनके ईश्वरत्व पर विश्वास करने लगे। इतिहास इसका साक्षी है कि ईसा के मरण के पश्चात् अर्थात् ईसाई धर्म के प्रारभ से ही ईसा को पूर्ण रूप से ईश्वर तथा पूर्ण रूप से मनुष्य भी माना गया है। इस प्रारभिक अवतारवादी विश्वास के सूत्रीकरण मे उत्तरोत्तर स्पष्टता आती गई है। वास्तव मे अवतारवाद का निरूपण विभिन्न भ्रात धारणाओ के विरोध से विकसित हुआ। उस विकास के सोपान निम्नलिखित है

(१) बाइबल मे अवतारवाद का सुव्यवस्थित प्रतिपादन नही मिलता, फिर भी इसमें ईसाई अवतारवाद के मूलभूत तत्व विद्यमान है। एक ओर, ईसा का वास्तविक मनुष्य के रूप में चित्रण हुआ है—उनका जन्म और बचपन, तीस वर्ष की उम्र तक बढई की जीविका, दु खभोग और मरण, यह सब ऐसे शब्दो मे वर्णित है कि पाठक के मन मे ईसा के मनुष्य होने के विषय मे सदेह नही रह जाता। दूसरी ओर, ईसा ईश्वर के अवतार के रूप मे भी चित्रित हैं। तत्सबधी शिक्षा समझने के लिये ईश्वर के स्वरूप के विषय मे बाइबल की धारणा का परिचय आवश्यक है। इसके अनुसार एक ही ईश्वर मे, एक ही ईश्वरीय तत्व में तीन व्यक्ति है—पिता, पुत्र और आत्मा, तीनो समान रूप से अनादि और अनत है (विशेष वि के लिये दे० त्रित्व)। बाइबल मे इसका अनेक स्थलो पर

वक्रतात्रिज्या कहलाती है। विंदु पा पर वक्र के जितने भी अभिलव खीचे जा सकते हैं, सब पा की स्पर्शी पर लब होते हैं, अत वे एक ऐसे समतल मे स्थित होते हैं जो उस स्पर्शी पर लब होता है। उक्त समतल को विंदु पा पर, वक्र वा का, अभिलव समतल कहते हैं। पा के उस अभिलव को जो आश्लेपरण समतल में स्थित होता है, पा का मुख्य अभिलव (प्रिंसिपल नॉर्मल) कहते हैं, और जो अभिलव आश्लेपरण समतल पर लब होता है, पा का द्विलव (बाइ-नॉर्मल) कहलाता है।

जो कोरण स्पर्शी और द्विलव एक नियत दिशा से बनाते हैं उनके परिवर्तन की चाप-दरें (आर्क-रेट) वक्र वा की विंदु पा पर क्रमानुसार वक्रता और कुटिलता (टॉर्शन) कहलाती हैं और उन्हे ड और ढ से निरूपित किया जाता है। किसी भी सरल रेखा की वक्रता और कुटिलता प्रत्येक विंदु पर शून्य होती है और किसी भी समतल वक्र की केवल कुटिलता प्रत्येक विंदु पर शून्य होती है।

वक्र के किसी विंदु पा पर की वक्रता ड उसके आश्लेपरण वृत्त की त्रिज्या का व्युत्क्रम होती है। इसीलिये उक्त वृत्त को विंदु पा का वक्रतावृत्त भी कहते हैं। राशियो ड, ढ और द का वक्र से घनिष्ठ सबध होता है। यदि ड, ढ दिए हो तो वक्र केवल स्थिति और अनुन्यास (ओरियटेशन) छोडकर, पूर्ण रूप से निश्चित हो जाता है। जैसे, यदि वक्रता और कुटिलता दोनो प्रत्येक विंदु पर शून्य हो तो वक्र एक ऋजु रेखा होगा। यदि वक्रता अचर और कुटिलता शून्य हो तो वक्र एक वृत्त होगा। यदि वक्रता और कुटिलता दोनो शून्येतर हों तो वक्र एक वर्तुल भ्रमी (सर्क्युलर हेलिक्स) होगा।

किसी तल पृ की परिभाषा हम इस प्रकार दे सकते हैं कि वह एक ऐसे विंदुपरिवार का विंदुपथ होता है जिसमे दो प्राचल हो। यदि प्राचल ष, स हो तो तल के प्राचलीय समीकरण इस प्रकार के होंगे

$$\text{य} = \text{फ}_1(\text{ष}, \text{स}),\ \text{र} = \text{फ}_2(\text{ष}, \text{स}),\ \text{ल} = \text{फ}_3(\text{ष}, \text{स}) \qquad (४)$$

इनको वक्रीय निर्देशाक (कर्विलिनियर कोऑर्डिनेट्स) भी कहते हैं। किसी तल के इस प्रकार के निरूपण का ढग पहले पहल गाउस ने निकाला था।

यदि कोई वक्र वा तल त पर स्थित है तो उसका समीकरण ऐसा होगा

$$\text{फ}(\text{ष}, \text{स}) = 0, \qquad (५)$$

क्योकि यदि हम इस समीकरण मे से प के पदो (टर्म्स) मे स का मान निकालकर (४) मे रख दे तो य, र, ल एक ही प्राचल ष के फलन बन जायँगे। अत विंदु (य, र, ल) का विंदुपथ एक वक्र हो जायगा। वक्र की दिशा ताष/तास पर निर्भर होगी।

यदि पा तल पृ पर कोई विंदु है तो तल पर पा से होकर जितने भी वक्र खीचे जा सकते हैं, उन सबकी स्पर्शरेखाएँ एक तल पर स्थित होंगी जिसे विंदु पा का स्पर्श समतल कहते हैं। जो रेखा पा से होकर उक्त समतल पर लबवत् खीची जाय, वह पृ की, विंदु पा पर, अभिलब कहलाती है।

जिस तल का सृजन किसी ऋजु रेखा की गति से होता है, वह ऋजु रेखज तल (रूल्ड सरफेस) कहलाता है। इस प्रकार उक्त तल पर जो अनत ऋजु रेखाएँ स्थित होती हैं, तल के जनक (जेनेरेटर) कहलाती हैं। यदि तल का स्पर्श समतल एक ही प्राचल पर निर्भर हो तो तल को खोलकर एक समतल पर फैलाया जा सकता है। अत उसे विकास्य तल (डेवेलपेबुल सरफेस) कहते हैं। शकु (कोन) और बेलन (सिलिंडर) ऐसे तलो के सरल उदाहरण हैं। वह ऋजुरेखज तल जो विकास्य न हो, विपमतली कहलाता है। जो ऋजुरेखज तल किसी विपमतली वक्र के स्पर्शियो से बनता है, विकास्य होता है, किंतु जिन ऋजुरेखज तलो का सृजन किसी विपमतलीय वक्र के मुख्य अभिलवो अथवा द्विलवो द्वारा होता है, वे विषमतलीय होते हैं।

यदि (४) से अवकलो ताय, तार, ताल के मान निकालकर (१) मे रख दिए जायँ तो इस प्रकार का सवध प्राप्त होगा

$$\text{ताद}^2 = \text{चा}\,\text{ताष}^2 + \text{छा}\,\text{ताष}\,\text{तास} + \text{जा}\,\text{तास}^2 । \qquad (६)$$

इस समीकरण के दाहिने पक्ष मे अवकलो का जो वर्ग व्यजक है, पृ का प्रथम मूलभूत रूप (फडामेटल फार्म) कहलाता है और गुणाक चा, छा, जा तल के प्रथम क्रम (ऑर्डर) के मूलभूत परिमारण (फडामेटल मैग्निट्यूड्स) कहलाते हैं। इनमे ष, स के प्रति य, र, ल के केवल प्रथम आशिक अवकलजो (डेरिवेटिव्ज़) का समावेश होता है। पृ पर स्थित वक्रो की चाप-लवाइयाँ, वक्रो के मध्यस्थ कोरण और पृ के विभिन्न भागो के क्षेत्रफल, इन सबमें केवल चा, छा, जा का ही समावेश होता है।

यदि तल पृ का, पा के अभिलब से होकर किसी दिशा में खीचे गए समतल द्वारा, काट (सेक्शन) लिया जाय तो उसे अभिलब काट (नॉर्मल सेक्शन) कहते हैं और यदि इस अभिलब काट की वक्रता निकाली जाय, तो वह उस दिशा मे पा की अभिलववक्रता कहलाती है। ताष/तास की दिशा मे विंदु (ष, स) की अभिलववक्रता का सूत्र यह है

$$\text{ड}_\text{स} = \frac{\text{टा}\,\text{ताष}^2 + २\,\text{ठा}\,\text{ताष}\,\text{तास} + \text{डा}\,\text{तास}^2}{\text{चा}\,\text{ताष}^2 + २\,\text{छा}\,\text{ताष}\,\text{तास} + \text{जा}\,\text{तास}^2}, \qquad (७)$$

जिसमे दक्षिरण पक्ष के व्यजक के अश को पृ का द्वितीय मूलभूत रूप कहते है और टा, ठा, डा तल के द्वितीय क्रम के मूलभूत परिमारण कहलाते हैं। इनमें य, र, ल के, ष, स के प्रति, द्वितीय क्रम के अवकलजो का समावेश होता है। छ गुरणाको चा, छा, जा, टा, ठा, डा मे परस्पर तीन स्वतत्र सवध होते हैं जिन्हे गाउस और मैनार्डी कोडाजी समीकरण कहते हैं। तल सिद्धात मे इन छ गुरणाको का उतना ही महत्व है जितना वक्र सिद्धात मे वक्रता और कुटिलता का। यदि ये छ गुरणाक ष, स के फलनो के रूप में दिए हो तो स्थिति और अनुन्यास को छोडकर, तल पूर्ण रूप से निश्चित हो जाता है। वह तल जिसके प्रत्येक विंदु पर टा, ठा, डा शून्य हो, समतल होता है। वह तल जिसके लिये

$$\frac{\text{टा}}{\text{चा}} = \frac{\text{ठा}}{\text{छा}} = \frac{\text{डा}}{\text{जा}},$$

या तो गोला होगा या समतल। किसी विंदु की अभिलव-वक्रता ताष/तास पर निर्भर रहती है। यदि यह किसी विंदु की प्रत्येक दिशा मे एक समान हो तो विंदु को नाभिज (अविलिक) कहते हैं। यदि किसी तल का प्रत्येक विंदु नाभिज हो तो तल एक गोला होगा। यदि किसी तल का कोई विंदु पा नाभिज न हो तो पा पर दो परस्पर लव दिशाएँ ऐसी होगी जिनकी अभिलववक्रताएँ चरम (एक्स्ट्रीमम) होंगी। ये दिशाएँ मुख्य दिशाएँ, और इन दिशाओ की अभिलववक्रताएँ मुख्य वक्रताएँ कहलाती हैं। किसी विंदु की मुख्य वक्रताओ का जोड माध्य वक्रता (मीन कर्वेचर) कहलाता है और उसे जा से निरूपित करते हैं। इसी प्रकार, मुख्य वक्रताओ का गुरणनफल गाउसी वक्रता कहलाता है और झा से निरूपित होता है। यदि किसी तल के प्रत्येक विंदु की माध्य वक्रता शून्य हो तो उसे लघुतमी तल (मिनिमल सफस) कहते हैं। रज्जुज (कैटेनॉयड) और लाबिक सर्पिलज (राइट हेलिकॉयड) लघुतमी तलो के उदाहरण हैं। ऋजुरेखज लघुतमी तल केवल लाबिक सर्पिलज ही होता है और लघुतमी परिक्रमण तल केवल रज्जुज ही होता है। यदि किसी तल के प्रत्येक विंदु की गाउसी वक्रता शून्य हो तो तल एक छद्मगोला (सूडो-स्फियर) होगा। गाउसी वक्रता की ज्यामितीय परिभाषा इस प्रकार भी दी जा सकती है

मान लीजिए, पृ का एक छोटा सा भाग प्री है जिसका प्रयंत वक्र वा है। एक एकक (यूनिट) त्रिज्या का एक गोला लेकर केंद्र से वा के विंदुओ पर पृ के अभिलवो के समातर रेखाएँ खीचे। ये रेखाएँ गोले के तल को जिन विंदुओ पर काटती है, मान लीजिए, उनसे वक्र वी का सृजन होता है। जब क्षेत्र प्री सिकुडकर विंदु पा से अभिन्न हो जाता है तब अनुपात

$$\frac{\text{वी से समावृत क्षेत्र}}{\text{वा से समावृत क्षेत्र}}$$

की सीमा को विंदु पा पर पृ की गाउसी वक्रता कहते हैं जिसका सूत्र यह है

$$\text{झा} = \frac{\text{टा}\,\text{डा} - \text{ठा}^2}{\text{चा}\,\text{जा} - \text{छा}^2} । \qquad (८)$$

पृ पर स्थित वे वक्र, प्रत्येक विंदु पर जिनकी दिशाएँ मुख्य दिशाएँ होती हैं, पृ की वक्रतारेखाएँ कहलाती हैं। गोले और समतल को छोडकर शेष

अशोकावदान—दिव्यावदान के ही कतिपय अवदान (२६-२९ अवदान) महाराज प्रियदर्शी अशोक से सबद्ध होने के कारण 'अशोकावदान' के नाम से पुकारे जाते हैं। इन कथाओ का, जो ऐतिहासिक दृष्टि से नितात महत्वपूर्ण हैं, केद्रबिंदु प्रियदर्शी अशोक ही हैं जिनके व्यक्तिगत घरेलू जीवन, धार्मिक निष्ठा तथा धर्मप्रचार के अदम्य उत्साह की जानकारी के लिये ये कथाएँ अभिप्रेत हैं। इस अवदान मे दो कथाएँ अपनी रोचकता के कारण विशेष महत्व रखती हैं। अशोक के पुत्र कुणाल की करुण कथा बौद्धयुग की रोमाचक कथाओ मे बडी प्रख्यात है। बुद्ध का रूप धारण कर मार का आचार्य उपगुप्त से शिक्षा के लिये प्रार्थना करना भी बडा ही रोचक आख्यान है, नाटक के समान हृदयावर्जक है।

कालातर मे अवदानशतक की कथाओ का ही श्लोकबद्ध सक्षिप्त रूप अनेक ग्रथो मे मिलता है। 'अवदानशतक' के ऊपर आश्रित ग्रथो मे कल्पद्रुमावदानमाला प्राचीनतम प्रतीत होता है। इसकी प्रथम तथा अवदानशतक की अतिम कथा एक ही है। आचार्य उपगुप्त ने इन कथाओ को अशोक के उपदेश के लिये कहा है। यहाँ अवदानशतक के प्रत्येक वर्ग की प्रथम तथा द्वितीय कथाओ का ही शब्दातर से वर्णन है। रत्नावदानमाला मे इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग की तीसरी और चौथी कथाओ का सक्षेप है। अशोकावदानमाला, द्वाविंशत्यवदान, भद्रकल्पावदान, व्रतावदानमाला, विचित्रकर्णिकावदान तथा सुमोगधावदान इस साहित्य के अन्य ग्रथ हैं। काश्मीरी कवि क्षेमेंद्र (११वी शताब्दी) रचित तथा उनके पुत्र सोमेंद्र द्वारा सपूरित अवदानकल्पलता इस साहित्य का सचमुच एक बहुमूल्य रत्न है जिसकी आभा तिब्बती अनुवाद में भी किसी प्रकार फीकी नही होने पाई है।

स०ग्र०—विंटरनित्स हिस्ट्री ऑव इडियन लिटरेचर, भाग २, कलकत्ता १९३२, स्पेयर द्वारा सपादित अवदानशतक की भूमिका (सेटपीटर्सवर्ग, १९०२–९), बलदेव उपाध्याय सस्कृत साहित्य का इतिहास, पचम स०, काशी १९५८। [ब० उ०]

अवध

उत्तर प्रदेश के एक भाग का नाम जो प्राचीन काल मे कोशल कहलाता था। इसकी राजधानी अयोध्या थी (दे० अयोध्या)। अवध शब्द अयोध्या से ही निकला है। अवध की राजधानी प्रारभ मे फैजाबाद थी किंतु बाद को लखनऊ उठ आई थी। अवध पर नवाबो का आधिपत्य था जो प्राय स्वतत्र थे। क्योकि अवध के नवाब शिया मुसलमान थे अत अवध मे इसलाम के इस सप्रदाय को विशेष सरक्षण मिला। लखनऊ उर्दू कविता का भी प्रसिद्ध केद्र रहा। दिल्ली केद्र के नष्ट होने पर बहुत से दिल्ली के भी प्रसिद्ध उर्दू कवि लखनऊ चले आए थे।

सन् १७६५ ई० मे बक्सर की लडाई मे अवध के नवाब हार गए, परतु लार्ड क्लाइव ने अवध उनको लौटा दिया, केवल इलाहाबाद और कडा जिलो को क्लाइव ने मुगल सम्राट् शाहआलम को दे दिया। वारेन हेस्टिंग्स ने पीछे नवाब की सहायता करके रुहेलखड को भी अवध मे समिलित करा दिया और शाह आलम से अप्रसन्न होकर इलाहाबाद और कडा को अवध के नवाब के सिपुर्द कर दिया। १७७५ ई० मे अग्रेजो ने अवध के नवाब से बनारस का जिला ले लिया और १८०१ में रुहेलखड भी ले लिया। इस प्रकार अवध कभी बडा, कभी छोटा होता रहा।

१८५६ मे अग्रेजो ने अवध को अपने अधिकार मे कर लिया। १८५७ के विद्रोह मे अवध अग्रेजो के हाथ से निकल गया था परतु डेढ वर्ष की लडाई मे अतिम विजय अग्रेजो की हुई। १९०२ मे आगरा और अवध के प्रातो को एक मे मिलाकर नया प्रात बनाया गया जिसका नाम आगरा और अवध का 'सयुक्त प्रात' रखा गया, जिसे सक्षेप मे 'सयुक्त प्रात' अथवा अग्रेजी मे केवल 'यू० पी०' कहा जाता था। इसी प्रात का नामकरण उत्तर प्रदेश हो गया है जिसे अग्रेजी मे लिखे नाम के आदि अक्षरो के आधार पर अब भी 'यू० पी०' कहा जाता है। (दे० उत्तर प्रदेश)

अवधिज्ञान

जैनसमत आत्ममात्र सापेक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान का एक प्रकार अवधिज्ञान है। परमाणुपर्यतरूपी पदार्थ इस ज्ञान का विषय है। इसका विपर्यय विभगज्ञान है। इसकी लब्धि जन्म से ही नारको और देवो को होती है। अतएव उनका अवधिज्ञान भवप्रत्यय और शेष पचेंद्रियतिर्यच और मनुष्यो का क्षायोपशयिक अथवा गुण प्रत्यय है, अर्थात् तपस्या आदि गुणो के निमित्त से उन्हे प्राप्त होनेवाली यह एक ऋद्धि है। अणगार को उनके गुणो के अनुसार प्राप्त होनेवाले अवधिज्ञान के ये छ भेद हैं—आनुगामिक, अनानुगामिक, वर्धमान, हीयमान, अवस्थित और अनवस्थित।

सं०ग्र०—नदीसूत्र का हिंदी अनुवाद, सूत्र ६ से, तत्वार्थसूत्र, अ० १, सू० २१–२४। [द० मा०]

अवधी भाषा तथा साहित्य

अवधी भापा हिंदी क्षेत्रकी एक उपभापा है। यह उत्तरप्रदेश मे अवध के जिलो मे तथा फतेहपुर, मिरजापुर, जौनपुर आदि कुछ अन्य जिलो मे भी बोली जाती है। इसके अतिरिक्त इसकी एक शाखा बघेलखड मे बघेली नाम से प्रचलित है। अवध शब्द की व्युत्पत्ति 'अयोध्या' से है। इस नाम का एक सूबा मुगलो के राज्यकाल मे था। तुलसीदास ने अपने 'मानस' मे अयोध्या को अवधपुरी कहा है। इसी क्षेत्र का पुराना नाम कोसल भी था जिसकी महत्ता प्राचीन काल से चली आ रही है। गठन की दृष्टि से हिंदी क्षेत्र की उपभाषाओ को दो वर्गो—पश्चिमी और पूर्वी—मे विभाजित किया जाता है। अवधी पूर्वी के अतर्गत है। पूर्वी की दूसरी उपभापा छत्तीसगढी है। अवधी को कभी कभी बैसवाडी भी कहते हैं। परतु बैसवाडी अवधी की एक बोली मात्र है जो उन्नाव, लखनऊ, रायबरेली और फतेहपुर जिले के कुछ भागो मे बोली जाती है।

अवधी के पश्चिम मे पश्चिमी वर्ग की बुदेली और ब्रज का, दक्षिण मे छत्तीसगढी का और पूर्व मे भोजपुरी बोली का क्षेत्र है। इसके उत्तर मे नेपाल की तराई है जिसमे थारू आदि आदिवासियो की बस्तियाँ हैं जिनकी भापा अवधी से बिलकुल अलग है।

हिंदी खडी बोली से अवधी की विभिन्नता मुख्य रूप से व्याकरणात्मक है। इसमे कर्ता कारक के परसर्ग (विभक्ति) 'ने' का नितात अभाव है। अन्य परसर्गो के प्राय दो रूप मिलते हैं—ह्रस्व और दीर्घ। (कर्म-सप्रदान-सबध—क, का, करण-अपादान—स-त, से-ते, अधिकरण—म, मा)।

सज्ञाओ की खडी बोली की तरह दो विभक्तियाँ होती हैं—विकारी और अविकारी। अविकारी विभक्ति मे सज्ञा का मूल रूप (राम, लरिका, बिटिया, मेहरारू) रहता है और विकारी मे बहुवचन के लिये 'न' प्रत्यय जोड दिया जाता है (यथा रामन, लरिकन, बिटियन, मेहरारुन)। कर्ता और कर्म के अविकारी रूप मे व्यजनात सज्ञाओ के अत मे कुछ बोलियो मे एक ह्रस्व 'उ' की श्रुति होती है (यथा रामु, पूतु, चोरु)। किंतु निश्चय ही यह पूर्ण स्वर नही है और भाषाविज्ञानी इसे फुसफुसाहट का एक स्वर मानते हैं। इसी प्रकार के दो और फुसफुसाहट के स्वर—ह्रस्व 'इ' और ह्रस्व 'ए' (यथा साँझि, खानि, ठेलुआ, पेहँटा) मिलते हैं।

सज्ञाओ के बहुधा दो रूप ह्रस्व और दीर्घ (यथा नद्दी नदिया, घोडा घोडवा, नाऊ नउआ, कुत्ता कुतवा) मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अवधी क्षेत्र के पूर्वी भाग मे एक और रूप—दीर्घतर मिलता है (यथा कुतउना)। अवधी मे कही कही खडी बोली का ह्रस्व रूप बिलकुल लुप्त हो गया है, यथा बिल्ली, डिब्बी आदि रूप नही मिलते बेलइया, डेबिया आदि ही प्रचलित हैं।

सर्वनाम मे खडी बोली और ब्रज के 'मेरा तेरा' और 'मेरो तेरो' रूप के लिये अवधी में 'मोर तोर' रूप है। इनके अतिरिक्त पूर्वी अवधी मे पश्चिमी अवधी के 'सो' 'जो' 'को' के समानातर 'से' 'जे' 'के' रूप प्राप्त हैं।

क्रिया मे भविष्यत्काल के रूपो की प्रक्रिया खडी बोली से बिलकुल भिन्न है। खडी बोली मे प्राय प्राचीन वर्तमान (लट्) के तद्भव रूपो मे —गा-गी-गे जोडकर (यथा होगा, होगी, होगे आदि) रूप बनाए जाते हैं। ब्रज मे भविष्यत् के रूप प्राचीन भविष्यत्काल (लृट्) के रूपो पर आधारित हैं। (यथा होइहै=भविष्यति, होइहौं=भविष्यामि)। अवधी में प्राय भविष्यत् के रूप तव्यत् प्रत्ययात प्राचीन रूपो पर आश्रित हैं (होउबा=भवितव्यम्)। अवधी की पश्चिमी बोलियो में केवल उत्तमपुरुष बहुवचन के रूप तव्यतात रूपो पर निर्भर है। शेष ब्रज की तरह प्राचीन भविष्य पर। किंतु मध्यवर्ती और पूर्वी बोलियो में क्रमश तव्यतात रूपो की प्रचु

(डिफरेंशियल कोइफिशेंट्स) हो। यदि परतत्र चल एक तथा स्वतत्र चल भी एक ही हो तो सबध को **साधारण** (ऑर्डिनरी) **अवकल समीकरण** कहते है। जब परतत्र चल तो एक परतु स्वतत्र चल अनेक हो तो परतत्र चल के खडावकल गुणक होते हैं। जब ये उपस्थित रहते है तब सबध को **आशिक** (पार्शियल) **अवकल समीकरण** कहते है। परतत्र चल को स्वतत्र चल के पदों में व्यजित करने को अवकल समीकरण का हल करना कहा जाता है।

यदि अवकल समीकरण मे च-वी कक्षा का (ऑर्डर) अवकल गुणक हो, और अधिक का नही, तो अवकल समीकरण च-वी कक्षा का कहलाता है। उच्चतम कक्षा के अवकल गुणक का घात (पॉवर) ही अवकल समीकरण का घात कहलाता है। घात ज्ञात करने के पहले समीकरण को भिन्न तथा करणी चिह्नो से इस प्रकार मुक्त कर लेना चाहिए कि उसमे अवकल गुणको पर कोई भिन्नात्मक घात न हो। उदाहरणत

$$\frac{\text{तार}}{\text{ताय}} = \frac{\text{प(य)}}{\text{फ(र)}}, \qquad (१)$$

$$(१-\text{य}^२)\frac{\text{ता}^२\text{र}}{\text{ताय}^२} = २\text{य}\frac{\text{तार}}{\text{ताय}} + २\,\text{र} = ०, \qquad (२)$$

$$\left(\frac{\text{ता}^४\text{र}}{\text{ताय}^४}\right)^५ + \text{फ(य)}\left(\frac{\text{तार}}{\text{ताय}}\right)^६ + \text{प(य)र} = \text{ब(य)}, \qquad (३)$$

$$\text{फ(य)} = \frac{\text{तार}}{\text{ताय}} \Big/ \sqrt{\left\{१+\left(\frac{\text{ता}^२\text{र}}{\text{ताय}^२}\right)^३\right\}}, \qquad (४)$$

मे, अवकल समीकरण (१) पहली कक्षा तथा एक घात का है, (२) की कक्षा दो परतु घात एक है, (३) की कक्षा चार तथा घात पाँच है, और (४) की कक्षा दो और घात तीन (जैसा भिन्न और करणी चिह्नो से मुक्त करने पर स्पष्ट हो जाता है)।

यदि $\text{च}_१, \text{च}_२, \text{च}_३, \quad , \text{च}_\text{म}$ स्वेच्छ अचल हो और

$$\text{फ}(\text{य}, \text{र}, \text{च}_१, \text{च}_२, \text{च}_३, \quad , \quad , \text{च}_\text{म}) = ० \qquad (५)$$

में **फ** चलो **य**, **र** का कोई फलन, तो इसे **म**-बार अवकलन करने से **म** अन्य समीकरण प्राप्त होते हैं। इन **म**+१ समीकरणो द्वारा सभी अचलो के लुप्तीकरण से सबध

$$\text{प}\left(\text{य}, \text{र}, \frac{\text{तार}}{\text{ताय}}, \frac{\text{ता}^२\text{र}}{\text{ताय}^२}, \quad , \frac{\text{ता}^\text{म}\text{र}}{\text{ताय}^\text{म}}\right) = ० \qquad (६)$$

प्राप्त होता है। यह (५) का अवकल समीकरण है, जो **म**-वी कक्षा का है। सबध (५) को अवकल समीकरण (६) का **पूर्ण पूर्वग** कहते है। इसे **व्यापक अनुकल या व्यापक हल** भी कहते है। यह आवश्यक नही कि पूर्वग **य** का स्पष्ट फलन हो। वास्तव में **य**, **र** के वे सभी सबध अवकल समीकरण के अनुकल कहलाते हैं जिनसे प्राप्त **र** तथा **र** के अन्य अवकल गुणको के मान अवकल समीकरण को सतुष्ट कर सकते हैं। (५) और (६) से यह स्पष्ट है कि पूर्ण पूर्वग मे स्वेच्छ अचलो की सख्या अवकल समीकरण की कक्षा के बराबर होती है। यदि पूर्ण पूर्वग में कुछ या सब अचलो को विशेष मान दे दिए जायँ तो वह **विशिष्ट अनुकल** कहलाता है।

यदि सबध (५) का लेखाचित्र खीचा जाय तो स्वेच्छ अचलो को भिन्न भिन्न मान देने से अनत वक्र मिलेंगे। वक्रो के इस समुदाय मे एक ऐसी विशेषता है जो इसके प्रत्येक वक्र में पाई जाती है और जो स्वतत्र अचलो पर निर्भर नही है। इसी विशेषता को अवकल समीकरण प्रकट करता है और वक्रो का यह समुदाय अवकल समीकरण का **वक्रपरिवार** कहलाता है।

अवकल समीकरण का अनुकलन सरल नही है। अभी तक प्रथम कक्षा के अवकल समीकरण भी पूर्ण रूप से हल नही हो पाए हैं। कुछ अवस्थाओ मे अनुकलन सभव है, जिनका ज्ञान इस विषय की भिन्न भिन्न पुस्तको से प्राप्त हो सकता है। अनुकलन करने की विधियाँ साकेतिक रूप में यहाँ दी जाती हैं।

प्रथम कक्षा और एक घात के अवकल समीकरण—इनके हल करने की बहुत विधियाँ है। उदाहरणत

(अ) चलो को पृथक् करके अनुकलन करते है, उदाहरणत, अवकल समीकरण (१) को निम्नाकित प्रकार से लिख सकते है

$$\text{फ(र)तार} = \text{प(य)ताय}।$$

अत अनुकलन करके

$$\int\text{फ(र)तार} = \int\text{प(य)ताय} + \text{च},$$

जो अवकल समीकरण (१) का पूर्ण पूर्वग है।

(आ) समघाती समीकरण, जैसे

$$\frac{\text{तार}}{\text{ताय}} = \frac{\text{यर}+\text{य}^२+\text{र}^२}{३\text{र}^२+\text{य}^२}।$$

इसमे **र**=**पय** लिखने से चल पृथक् हो जाते है, फिर (अ) की तरह अनुकलन कर लेते है।

(इ) **एकघात अवकल समीकरण**—जब अवकल समीकरण में **र** तथा **र** के सभी अवकल गुणक एक घात के हो तो वह **एकघात अवकल समीकरण** कहलाता है। पहली कक्षा के एकघात समीकरण का उदाहरण

$$\frac{\text{तार}}{\text{ताय}} + \text{प(य)र} = \text{ब(य)}$$

है। इसको हल करने के लिये दोनो पक्षो को

$$\text{ई}^{\int\text{प(य)ताय}}$$

से गुणा कर देते है [जहाँ ई ($=e$) प्राकृतिक लघुगुणको का आधार है] इससे बायाँ पक्ष **र** $\text{ई}^{\int\text{प(य)ताय}}$ का अवकल गुणक हो जाता है। दोनो पक्षो का अनुकलन करने से

$$\text{र ई}^{\int\text{प(य)ताय}} = \int\text{ब(य)}\,\text{ई}^{\int\text{प(य)ताय}}\text{ताय} + \text{च}$$

प्राप्त होता है जो अवकल समीकरण का पूर्ण पूर्वग है।

(ई) **शुद्ध अवकल समीकरण**—ऊपर बता चुके है कि पूर्वग से स्वेच्छ अचलो को हटा देने से अवकल समीकरण प्राप्त होता है। यदि स्वेच्छ अचलो का लुप्तीकरण गुणा, भाग तथा अन्य बीजगणितीय क्रियाओ के बिना ही केवल अवकलन द्वारा हो जाय तो इस प्रकार प्राप्त समीकरण को शुद्ध अवकल समीकरण कहते है। कभी कभी अवकल समीकरण किसी फलन से गुणा करने पर शुद्ध अवकल समीकरण बन जाता है। ऐसे गुणक को **अनुकलन गुणक** कहते है। जैसे (इ) मे $\text{ई}^{\int\text{प(य)ताय}}$ अनुकलन गुणक है। प्रथम कक्षा का अवकल समीकरण

$$\text{फ(य, र)तार} + \text{प(य, र)ताय} = ०$$

तब शुद्ध होता है जब $\frac{\text{तफ}}{\text{तय}} = \frac{\text{तप}}{\text{तर}}$।

यहाँ **तफ/तय** का अर्थ है **फ(य, र)** का **य** के अनुसार आशिक अवकल गुणक।

कुछ अवकल समीकरण ऐसे होते है जो वसे तो उपर्युक्त रूपो मे नही होते परतु स्वतत्र और परतत्र चलो की उचित स्थानापत्ति (सब्स्टिट्यूशन) से इन रूपो मे लाए जा सकते है तथा उनकी तरह हल किए जा सकते है। इस विधि को स्वतत्र चल परिवर्तन तथा परतत्र चल परिवर्तन कहते है।

प्रथम कक्षा परतु एक से उच्च घात के अवकल समीकरण—प्रथम कक्षा परतु एक से उच्च घात के अवकल समीकरण से **तार/ताय** का मान बीजगणितीय रीतियो से निकालकर उपर्युक्त विधियो से हल कर लेते है। इसके हल मे स्वेच्छ अचल होता तो एक है, परतु उसका घात अवकल गुणक के घात के बराबर होता है।

अवकल समीकरण के वक्रपरिवार का अवगुठन (एनवलप) उस परिवार के प्रत्येक सदस्य को स्पर्श करता है। अत स्पर्शबिंदु के नियामक तथा सगत सदस्य के **तार/ताय** का मान ही उस बिंदु पर अवगुठन के **तार/ताय** का मान होता है। अत अवगुठन का समीकरण अवकल समीकरण को सतुष्ट करता है। अवगुठन इस परिवार का सदस्य नही है, न पूर्वग मे स्वेच्छ अचलो को विशेष मान देने से ही प्राप्त होता है। अत यह हल अपूर्व अनुकल (सिंगुलर सोल्यूशन) कहलाता है, जो वास्तव मे परिवार के अवगुठन का समीकरण होता है।

नही रख सकते। परमाणु अतींद्रिय है इसलिये उसका सघात भी उसी प्रकार अतींद्रिय अतएव प्रत्यक्ष के अयोग्य है। केश तो अतींद्रिय नही है, क्योकि समीप लाने पर एक केश का भी प्रत्यक्ष हो सकता है। अदृश्य परमाणुपुज से दृश्य परमाणुपुज का उदय मानना भी एकदम युक्तिहीन है, क्योकि अदृश्य दृश्य का उत्पादक कभी नही हो सकता। इस प्रकार यदि घडा परमाणुओ अर्थात् अवयवो का ही समह होता (जैसा बौद्ध मानते है), तो उसका प्रत्यक्ष कभी हो ही नही सकता। परतु घट का प्रत्यक्ष तो होता ही है। अतएव अवयवो से भिन्न तथा स्वतत्र अवयवी का अस्तित्व मानना ही युक्तियुक्त मत है। [ब० उ०]

अवर प्रवालादि युग पुराकल्प जिन छ युगो मे विभक्त किया गया है उनमे से दूसरे प्राचीनतम युग को अवर प्रवालादि युग कहते हैं। इसी को अग्रेजी मे ऑर्डोवीशियन पीरियड कहते है। सन् १८७९ ई० मे लैपवर्थ महोदय ने इस अवर प्रवालादि युग का प्रतिपादन करके मर्चीसन तथा सेजविक महोदयो के बीच प्रवालादि (साइल्यूरियन) और त्रिखड (कैंब्रियन) युगो की सीमा के विषय मे चल रहे प्रतिद्वद्व को समाप्त कर दिया। इस युग के प्रस्तरो का सर्वप्रथम अध्ययन वेल्स प्रात मे किया गया था और ऑर्डोवीशियन नाम वहाँ बसनेवाली प्राचीन जाति ऑर्डोविशाई पर पडा है।

भारतवर्ष मे इस युग के स्तर विरले स्थानो मे ही मिलते हैं। दक्षिण भारत मे इस युग का कोई स्तर नही है। हिमालय मे जो स्तर मिलते है, वे भी केवल कुछ ही स्थानो मे सीमित है, यथा स्पिटी, कुमाऊँ, गढवाल और नेपाल। विश्व के अन्य भागो मे इस युग के प्रस्तर अधिक मिलते हैं।

ऑर्डोवीशियन युग के प्राणियो के अवशेष कैंब्रियन युग के सदृश है। इस युग के प्रस्तरो में ग्रैप्टोलाइट नामक जीवो के अवशेषो की प्रचुरता है। ट्राइलोबाइट और ब्रैकियोपॉड जीवो के अवशेष भी अधिक मात्रा मे मिलते हैं। कशेरुदडी जीवो मे मछली का प्रादुर्भाव इसी युग मे हुआ। अमरीका के बिग हॉर्न पर्वत और ब्लैक पर्वत के ऑर्डोवीशियन बालुकाश्मो मे प्राथमिक मछलियो के अवशेष पाए गए हैं। [रा० ना०]

अवलोकितेश्वर महायान बौद्ध ग्रथ सद्धर्मपुडरीक मे अवलोकितेश्वर बोधिसत्व के माहात्म्य का चमत्कारपूर्ण वर्णन मिलता है। अनत करुणा के अवतार बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का व्रत है कि बिना ससार के अनत प्राणियो का उद्धार किए वे स्वय निर्वाणलाभ नही करेंगे। जब चीनी यात्री फाहियान ३९९ ई० मे भारत आया था तब उसने सभी जगह अवलोकितेश्वर की पूजा होते देखा।

भगवान् बुद्ध ने बराबर अपने को मानव के रूप मे प्रकट किया और लोगो को प्रेरित किया कि वे उन्ही के मार्ग का अनुसरण करे। किंतु उसपर भी ब्राह्मणधर्म की छाप पडे बिना नही रही। बोधिसत्व अवलोकितेश्वर की कल्पना उसी का परिणाम है। ब्रह्मा के समान ही अवलोकितेश्वर के विषय मे लिखा है

'अवलोकितेश्वर की आँखो से सूरज और चाँद, भ्रू से महेश्वर, स्कधो से देवगण, हृदय से नारायण, दाँतो से सरस्वती, मुख से वायु, पैरो से पृथ्वी और उदर से वरुण उत्पन्न हुए।' अवलोकितेश्वरो मे महत्वपूर्ण सिंहनाद की उत्तर मध्यकालीन (ल० ११वी सदी) असाधारण सुदर प्रस्तरमूर्ति लखनऊ सग्रहालय मे सुरक्षित है। [भि० ज० का०]

अवसाद शैल वायु, जल और हिम के चिरतन आघातो से पूर्वस्थित शैलो का निरतर अपक्षय एव विदारण होता रहता है। इस प्रकार के अपक्षरण से उपलब्ध पदार्थ ककड, पत्थर, रेत, मिट्टी इत्यादि, जलधाराओ, वायु या हिमनदी द्वारा परिवाहित होकर प्राय निचले प्रदेशो, सागर, झील अथवा नदी की घाटियो मे एकत्र हो जाते है। कालातर मे सघनित होकर वे स्तरीभूत हो जाते है। इन स्तरीभूत शैलो को अवसाद शैल (सेडिमेंटरी रॉक्स) कहते है।

अवसाद शैलों के प्रकार—अवसाद शैलो का निर्माण तीन प्रकार से होता है। पहले प्रकार के शैलो का निर्माण विभिन्न खनिजो और शिलाखडो के भौतिक कारणो से टूटकर इकट्ठा होने से होता है। विभिन्न प्राकृतिक आघातो से विदीर्ण रेत एव मिट्टी नदियो या वायु के झोको द्वारा परिवाहित होकर उपयुक्त स्थलो मे एकत्र हो जाती है और पहली प्रकार की शिलाओ को जन्म देती है। ऐसी शिलाओ को व्यपघर्षण (डेट्राइटल) या एपिक्लास्टिक शैल कहते हैं। बलुआ पत्थर या शैल इसी प्रकार की शिलाएँ हैं। दूसरे प्रकार के शैल जल मे घुले पदार्थो के रासायनिक निस्सादन (प्रेसिपिटेशन) से निर्मित होते है। निस्सादन दो प्रकार से होता है, या तो जल मे घुले पदार्थो की पारस्परिक प्रतिक्रियाओ से या जल के वाष्पीकरण से। ऐसी शिलाओ को रासायनिक शैल कहते है। विभिन्न कार्बोनेट, जैसे चूने का पत्थर, डोलोमाइट आदि फास्फेट एव विविध लवण इसी वर्ग मे आते हैं। तीसरे प्रकार के शैलो के विकास मे जीवो का हाथ है। मृत्यु के उपरात प्रवाल (मूँगा), शैवाल (ऐल्जी), खोलधारी जलचर, युक्ताप्य (डाइऐटोम) आदि के कठोर अवशेष एकत्रित होकर शैलो का निर्माण करते है। मृत वनस्पतियो के सचयन से कोयला इसी प्रकार बना है। रासायनिक शिलाओ के निर्माण मे जीवाणुओ का सहयोग उल्लेखनीय है। सूक्ष्म जीवाणुओ की उत्प्रेरणाओ से जल मे घुले पदार्थो का निस्सादन तीव्र हो जाता है।

इतिहास—अवसाद शैलो के इतिहास मे अवयवो के उद्गमस्थान, उनका परिवहन, सचयन और स्तरीभवन महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। किसी अवसाद शैल की खनिजसरचना उस पूर्वस्थित शैल की सरचना पर निर्भर रहती है जिसके अपक्षय से वह निर्मित हुआ है। उदाहरण के लिये, बिहार के कोयला उत्पादक क्षेत्र मे गहराई पर पाए जानेवाले बलुआ पत्थरो के जनक शैल है पुरातन 'ग्रेनाइट' एव 'नाइस', जिनकी सरचना के अभिन्न और आवश्यक सघटक है 'क्वार्ट्ज' एव 'फेल्सपार'। उपर्युक्त बलुआ पत्थर मे भी इन दो खनिजो की प्रचुरता है। यहाँ यह नही समझना चाहिए कि जनक शैल और अवसाद शैल की खनिजसरचना मे पूर्ण सादृश्य होता है। वस्तुत ऋतुक्षरण एव परिवहन की अवधि मे वे ही खनिज बच पाते हैं जिनकी आतरिक रचना सुदृढ होती है और कलेवर कठोर होता है। अधिक गर्मी और वर्षावाले प्रदेशो मे रासायनिक क्रियाओ की उग्रता के कारण बहुत कम खनिज अपरिवर्तित रह पाते है, अत मूल जनक शैल एव अवसाद शैल मे केवल दूरस्थ सादृश्य ही होगा।

परिवहन की अवधि मे कणो का यात्रिक (मिकैनिकल) घर्षण पर्याप्त प्रखर होता है। फलत कणो का परिमाण छोटा और आकार गोल हो जाता है। कणो की गोलाई से अवसादो की यात्रा की लबाई का अच्छा पता लगता है। अवसादो के निर्माण मे पृथक्करण (सॉर्टिंग) एक महत्वपूर्ण कार्य है। इस पृथक्करण का आधार कणो का परिमाण एव उनका घनत्व रहता है। फलस्वरूप छोटे छोटे कण एक साथ एकत्र होते है और बडे बडे कण उनसे अलग। यह पृथक्करण परिवहन की अवधि मे ही कार्यान्वित होता रहता है और इस क्रिया मे परिवहन के साधन जल या वायु या हिम का महत्व स्वाभाविक रूप से सर्वाधिक होता है। पृथक्करण एव घर्षण की सामर्थ्य मे वायु का स्थान प्रथम, जल का द्वितीय और हिम का तृतीय है।

अवसादो के सचयन का सर्वाधिक विस्तृत एव स्थायी क्षेत्र है सागर। सागर के अतिरिक्त झील, दलदल, नदियो की घाटियो और उनके बाढग्रस्त मैदान आदि भी सचयन के क्षेत्र है, किंतु ये अस्थायी होते हैं। पूर्णत रासायनिक एव जैविक अवसादन केवल ऐसे वातावरण मे होते हैं जहाँ जल गँदला न हो। उष्ण एव उथले सागरो मे रासायनिक निस्सादन अपेक्षाकृत तीव्र होता है। ऐसी बद खाडियो मे जहाँ जल का वाष्पीकरण उग्र रूप मे होता है, लवणो के निक्षेप निर्मित होते है।

अवसाद शैल और जीवाश्म: अवसाद शैलो मे प्राय जीवो के अवशेष समाधिस्थ रहते हैं। उनसे न केवल तत्कालीन वातावरण का ज्ञान होता है, अपितु वे शैलो की आयु के भी परिचायक होते है। त्रिखडी (ट्राइलोबाइट), केकडे के पुरातन पूर्वज, शीर्षपादा (सेफालोपोडा) और कुछ सीप (पेलेसिपोडा) आदि सर्वदा सामुद्रिक वातावरण के द्योतक हैं। कुछ प्रकार के घोघे (गैस्ट्रोपॉड), कुछ पादछिद्रिगण (फोरामिनिफेरा) मीठे पानीवाले असामुद्रिक वातावरण के परिचायक है।

कुछ विशिष्ट खनिजो की उपस्थिति भी बडी महत्वपूर्ण होती है। उदाहरणस्वरूप हरे रग के खनिज आहरितिज (ग्लॉकोनाइट) से गहरे पानी मे शैल के उद्भव का सकेत मिलता है। शैलो का लाल रग लोहे के

को सतुष्ट करे। इसे अनुकलन की शर्त (कडिशन ऑन इटीग्रेबिलिटी) कहते है।

यदि प, फ, व यह शर्त पूरी नहीं करते तो इसे हल करने के हेतु हम य, र, ल में [illegible] स्वेच्छ सबध मान लेते है, जिनकी सहायता से पूर्वोक्त विधि या अन्य विधियो से समीकरण को हल करते है।

आशिक अवकल समीकरण—ये समीकरण दो प्रकार से प्राप्त होते है। पूरक को स्वेच्छ अचलो से मुक्त करके या इसे स्वेच्छ फलन से मुक्त करके।

यदि ल परतत्र चल तथा य, र स्वतत्र चल हो और

$$प(य, र, ल, क, स)=० \qquad (१७)$$

में क चलो य, र, ल का कोई फलन हो तो इस सबध तथा सबध तप/तय=०, तप/तर=० से क, स का लोप करके आशिक अवकल समीकरण

$$फ(य, र, ल, पा, फा)=० \qquad (१८)$$

प्राप्त होता है। यहाँ

$$पा=\frac{तल}{तय}, \quad फा=\frac{तल}{तर}।$$

सबध (१७) समीकरण (१८) का पूर्ण अनुकल कहलाता है।

इस प्रकार यदि

$$व(श, ष)=० \qquad (१९)$$

जहाँ श, ष स्वतत्र चल य, र, ल के ज्ञात फलन है और व चलो श, ष का कोई स्वेच्छ फलन है और यदि (१९) का य, र के अनुसार क्रमश आशिक अवकलन करके तव/तश, तव/तष का लोप करें तो प्राप्त आशिक अवकल समीकरण का रूप

$$पी पा+फी फा=व \qquad (२०)$$

हो जाता है जहाँ पी, फी और व चलो य, र, ल के फलन है।

(१९) को (२०) का पूर्ण अनुकल कहते है। क, स को विशेष मान देने से या व को विशेष रूप देने से प्राप्त सबधो को विशिष्ट अनुकल कहते हैं।

यदि (१७) का लेखाचित्र खीचे तो तलो का एक परिवार मिलता है। इस तलपरिवार का अवगुठन भी आशिक अवकल समीकरण (१८) को सतुष्ट करता है। परतु यह हल (१७) से प्राप्त नहीं होता। अत इसे अपूर्ण अनुकल कहते है।

यदि (१७) मे स को क का कोई स्वेच्छ फलन फ(क) मान ले तो हम देखते है कि

$$प[य, र, ल, क, फ(क)]=०।$$

अब यदि हम इनका लेखाचित्र क के भिन्न मानो के लिये खीचे तो तलो का एक परिवार मिलता है। इस परिवार के आसन्न तलो के कटान वक्रो को लाक्षणिक (कैरेक्टरिस्टिक) कहते है। इन वक्रो का अवगुठन भी अवकल समीकरण (१४) को सतुष्ट करता है। इन अनुकल को व्यापक अनुकल कहते है।

प्रयुक्त गणित, भौतिक विज्ञान तथा विज्ञान की अन्य शाखाओ मे भौतिक राशियो को समय, स्थान, ताप इत्यादि स्वतत्र चलो के फलनो में तुरत प्रकट करना प्राय कठिन हो जाता है। परतु हम उनकी वृद्धि की दर तथा उनके अवकल गुणको मे कोई न कोई सबध बहुधा बडी सुगमता से पा सकते है। इस प्रकार ऐसे अवकल समीकरण प्राप्त होते है जिन्हे पूर्वोक्त राशियाँ सतुष्ट करती है। इन्हें हल करना उन राशियो का ज्ञान प्राप्त करने के लिये आवश्यक होता है। इसलिये विज्ञान की उन्नति बहुत अश तक अवकल समीकरण की प्रगति पर निर्भर है।

स०ग्र०—गोरखप्रसाद प्रारभिक अवकल समीकरण, मरे, प्यागो, फोर्साइथ, बेटमैन, इस इत्यादि के अवकल समीकरण।

[क्र० ला० श०]

अवचेतन (सब-कान्शस) जो चेतना मे न होने पर भी थोडा प्रयास करने से चेतना म लाया जा सके। उन भावनाओ, इच्छाओ तथा कल्पनाओ का सगठित नाम जो मानव के व्यवहार को अचेतन की भाँति अज्ञात रूप से प्रभावित करती रहने पर भी चेतना की पहुँच के बाहर नही है और जिनको वह अपनी भावनाओ, इच्छाओ तथा कल्पनाओ के रूप मे स्वीकार कर सकता हे। मानसिक जगत् मे इसका स्थान अहम् तथा अचेतन के बीच माना गया है।

[श० ना० उ०]

अवतारवाद ससार के भिन्न भिन्न देशो तथा धर्मो में प्रवतारवाद धार्मिक नियम के समान आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। पूरबी औँर पश्चिमी धर्मो मे यह सामान्यत मान्य तथ्य के रूप मे स्वीकृत किया गया है।

हिंदू अवतारवाद की हिंदू धर्म मे विशेष प्रतिष्ठा है। अत्यत प्राचीन काल से वर्तमान काल तक यह उस धर्म के आधारभूत मौलिक सिद्धातो मे अन्यतम है। 'अवतार' का शाब्दिक अर्थ है भगवान् का अपनी स्वातत्र्य-शक्ति के द्वारा भौतिक जगत् मे मूर्तरूप से आविर्भाव होना, प्रकट होना। 'अवतार' तत्व का द्योतक प्राचीनतम शब्द 'प्रादुर्भाव' हे। श्रीमद्-भागवत मे 'व्यक्ति' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ हे (१०।२९।१४)। वैष्णव धर्म मे अवतार का तथ्य विशेष रूप से महत्वशाली माना जाता है, क्योकि विष्णु (या नारायण) के पर, व्यूह, विभव, अतर्यामी तथा अर्चा नामक पचरूपधारण का सिद्धात पाचरात्र का मौलिक तत्व है। इसीलिये वैष्णवजन भगवान् के इन नाना रूपो की उपासना अपनी रुचि तथा प्रीति के अनुसार अधिकतर करते है। शैवमत में भगवान् शकर की नाना लीलाओं का वर्णन मिलता है (द्रष्टव्य, नीलकठ दीक्षित का 'शिवलीलार्णव' काव्य), परतु भगवान् शकर तथा भगवती पार्वती के मूल रूप की उपासना ही इस मत मे सर्वत्र प्रचलित है।

नैतिक सतुलन—'ऋत' की स्थिति रहने पर ही जगत् की प्रतिष्ठा बनी रहती है और इस सतुलन के अभाव मे जगत् का विनाश अवश्यभावी है। सृष्टि के रक्षक भगवान् इस सतुलन की सुव्यवस्था मे सदैव दत्तचित्त रहते हैं। 'ऋत' के स्थान पर 'अनृत' की, धर्म के स्थान पर अधर्म की जब कभी प्रबलता होती है, तब भगवान् का अवतार होता है। साधु का परित्राण, दुर्जन का विनाश, अधर्म का नाश तथा धर्म की स्थापना—इन महनीय उद्देश्यो की पूर्ति के लिये भगवान् अवतार धारण करते है। गीता का यह श्लोक अवतारवाद का महामत्र माना जाता है (४।८)

> परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे॥

परतु ये उद्देश्य भी अवतार के लिये गौण रूप ही माने जाते है। अवतार का मुख्य प्रयोजन इससे सर्वथा भिन्न है। सर्वैश्वर्यसपन्न, अपराधीन, कर्म-कालादिको के नियामक तथा सर्वनिरपेक्ष भगवान् के लिये दुष्टदलन और शिष्टरक्षण का कार्य तो इतर साधनो से भी सिद्ध हो सकता है, तब भगवान् के अवतार का मुख्य प्रयोजन श्रीमद्भागवत (१०।२९।१४) के अनुसार कुछ दूसरा ही है

> नृणा नि श्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो भुवि।
> अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मन ॥

मानवो को साधननिरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवान् के प्राकट्य का जागरूक प्रयोजन है। भगवान् स्वत अपने लीलाविलास से, अपने अनुग्रह से, साधको को बिना किसी साधना की अपेक्षा रखते हुए, मुक्ति प्रदान करते हैं—अवतार का यही मौलिक तथा प्रधान उद्देश्य है।

पुराणो मे अवतारवाद का हम विस्तृत तथा व्यापक वर्णन पाते है। इस कारण इस तत्व की उद्भावना पुराणो की देन मानना किसी भी तरह न्याय्य नही है। वेदो में हमें अवतारवाद का मौलिक तथा प्राचीनतम आधार उपलब्ध होता है। वेदो के अनुसार प्रजापति ने जीवो की रक्षा के लिये तथा सृष्टि के कल्याण के लिये नाना रूपो को धारण किया। मत्स्यरूप धारण का सकेत मिलता है शतपथ ब्राह्मण में (२।८।१।१), कूर्म का शतपथ (७।५।१।५) तथा जैमिनीय ब्राह्मण (३।२७२) में, वराह का तैत्तिरीय

हुआ। ग्रथरचना जब अवेस्ता मे होती थी उसे 'पजद' कहते थे और जब पुस्तक अरबी अक्षरो मे लिपिबद्ध होने लगी उसे 'पारसी' कहने लग गए।

अवेस्ता के ग्रथ जो पैगबर के अनुयायियो के पास अवशिष्ट हैं अपने सामी रूप मे पाए जाते हैं। वे ऐसे अक्षरो मे मिलते हैं जो ससानी पहलवी से लिए गए हैं जिसका मूल आधार सभवत प्राचीन अरमेक वर्णमाला का कोई न कोई प्रकार है। यह लिपि दाहिनी ओर से बाई ओर को लिखी जाती है और इसमे प्राय पचास भिन्न चिह्नो (Signs) का समावेश पाया जाता है।

जरथुस्त्र मतावलवी ईरान लगभग पाँच शती पर्यंत सिल्यूसिड और पार्थियन शासनो के अतर्गत रहा। धार्मिक ग्रथो की मौखिक वशक्रमानुगत परपरा ने लुप्तप्राय ग्रथो के पुनरुद्धार के कार्य को सरल कर दिया। ससानी साम्राज्य के सस्थापक अर्दशिर ने विद्वान् पुरोहित तनसर के बिखरे हुए सूत्रो को, जो मौखिक रूप से प्रचलित थे, एक प्रामाणिक सग्रह मे निबद्ध करने का आदेश किया था। ग्रथो की खोज शापुर द्वितीय (३०९–३७९ ई०) के राजत्वकाल पर्यंत होती रही जिसमे प्रसिद्ध दस्तूर अदरबाद महरस्पद की सहायता सराहनीय है। [रु० म०]

अवेस्ता साहित्य—अवेस्ता युग की रचनाओ मे प्रारभ से लेकर २०० ई० तक तिथिक्रम से आनेवाली सर्वप्रथम रचनाएँ 'गाथाएँ' हैं जिनकी सख्या पाँच है। अवेस्ता साहित्य के वे ही मूल ग्रथ हैं जो पैगबर के भक्तिसूत्र हैं और जिनमे उनका मानव का तथा ऐतिहासिक रूप प्रतिबिंबित है, न कि काल्पनिक व्यक्ति का, जैसा कि बाद के कुछ लेखको ने अपने अज्ञान के कारण उन्हे अभिव्यक्त करने की चेष्टा की है। उनकी भाषा बाद के साहित्य की अपेक्षा अधिक आर्ष है और उससे वाक्यविन्यास (सिटैक्स), शैली एव छद मे भी भिन्न हैं क्योकि उनकी रचना का काल विद्वानो ने प्राचीनतम वैदिक मत्रो की रचना का समय निर्धारित किया है। नपे तुले स्वरो मे रचे होने के कारण वे सस्वर पाठ के लिये ही हैं। उनमे न केवल गूढ आध्यात्मिक रहस्यानुभूतियाँ वर्तमान हैं, वे विषयप्रधान ही न होकर व्यक्तिप्रधान भी हैं जिनमे पैगबर के व्यक्तित्व की विशेष रूप से चर्चा की गई है, उनके ईश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित करने और उस विशेष अवस्था के परिज्ञान के लिये वाछनीय आशा, निराशा, हर्ष, विषाद, भय, उत्साह तथा अपने मतानुयायियो के प्रति स्नेह और शत्रुओ से सघर्ष आदि भावो का भी समावेश पाया जाता है। यद्यपि पृथ्वी पर मनुष्य का जीवन वासना से घिरा हुआ है, पैगबर ने इस प्रकार शिक्षा दी है कि यदि मनुष्य वासना का निरोध कर सात्विक जीवन व्यतीत करे तो उसका कल्याण अवश्यभावी है।

गाथाओ के बाद 'यस्न' आते हैं जिनमे ७२ अध्याय हैं जो 'कुश्ती' के ७२ सूत्रो के प्रतीक हैं। कुश्ती कमरबद के रूप मे बुनी जाती है जिसे प्रत्येक जरथुस्त्र मतावलवी 'सूद्र' अथवा पवित्र कुर्ता के साथ धारण करता है जो धर्म का बाह्य प्रतीक है। यस्न उत्सव के अवसर पर पूजा सबधी 'विस्पारद' नामक तेईस अध्याय का ग्रथ पढा जाता है। इसके बाद सख्या मे तेईस 'यश्तो' का सगायन किया जाता है जो स्तुति के गान हैं और जिनके विषय अहुरमज्द तथा अमेष–स्पेंत, जो दैवी ज्ञान एव ईश्वर के विशेषण हैं और 'यजता', पूज्य व्यक्ति जिनका स्थान अमेष स्पेत के बाद है।

अवेस्ता काल के धार्मिक ग्रथो की सूची मे अत मे वेदीडाड', 'विदेवो दाता' (राक्षसो के विरुद्ध कानून) का उल्लेख हुआ है। यह कानून विषयक एक धर्मपुस्तक है जिसमे बाईस 'फरगरद' या अध्याय है। इसके प्रधान वर्ण्य विषय इस तरह हैं—अहुरमज्द की रचना तथा अग्र मैन्यु की प्रतिरचनाएँ, कृषि, समय, शपथ, युद्ध, वासना, अपवित्रता, शुद्धि एव दाहसस्कार।

प्राचीन पारसी रचनाकाल (८०० ई० पू० से लगभग २०० ई०) के बीच लिखित साहित्य का सर्वथा अभाव था। उस समय केवल कीलाक्षर क्यूनीफॉर्म अभिलेख भर थे जिनमे हखामनी सम्राटो ने अपने आदेश अकित कर रखे थे। उनकी भाषा अवेस्ता से मिलती है, परतु लिपि से बाबुली और असीरियन उत्पत्ति का अनुमान होता है।

पहलवी युग (ईसा की प्रथम शती से लेकर ९वी शती तक) मे कई प्रसिद्ध पुस्तके लिखी गई जैसे 'बुदहिश्न' जिसमे सृष्टि की उत्पत्ति दी हुई है, 'दिनकर्द' जिसमे बहुत से नैतिक और सामाजिक प्रश्नो की मीमासा की गई है, 'शायस्त–ल–शायस्त' जो सामाजिक और धार्मिक रीतियो एव सस्कारो का वर्णन करता है, 'श्कद–गुमानिक विजर' (सदेहनिवारणार्थक मंजूषा) जिसमे वासना की उत्पत्ति की समस्या का विवेचन किया गया है तथा 'सद दर' जिसमे विविध धार्मिक और सामाजिक प्रश्नो की व्याख्या की गई है।

आधुनिक पारसी वर्णमाला के आविष्कार से पहलवी का प्रचार लुप्त हो गया। जरथुस्त्र मत के ग्रथ भी अब प्राय आधुनिक फारसी मे लिखे जाने लग गए। [रु० म०]

अशांती अफ्रीका मे गोल्डकोस्ट राज्य का एक प्रशासकीय विभाग है (क्षेत्रफल २४,५६० वर्गमील)। इसका अधिकाश पर्वतीय है और जगलो से ढका है। साल के अधिकाश महीनो मे पानी पर्याप्त बरसता है। जलवायु स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। बबूल, ताड, तथा कपास के पर्याप्त वृक्ष हैं। यहाँ की मुख्य फसले मक्का, केला, नारियल तथा सकरकद हैं। यहाँ कण के रूप मे प्रतिवर्ष १,००,००० आउस सोना निकाला जाता है। अँगरेजो ने १८९६ ई० मे यहाँ अपना शासन स्थापित किया, किंतु १९३५ मे यहाँ एक स्वतत्र साघिक राज्य की स्थापना हुई। यहाँ की जनसख्या ८,१८, ९४४ है (१९४८)। [ह० ह० सिं०]

अशोक यह प्राचीन भारत के मौर्यवश का तीसरा राजा था। इसके पिता का नाम बिंदुसार और माता का जनपदकल्याणी, प्रियदर्शना अथवा धर्मा था। ल० २९७ ई० पू० इसका जन्म हुआ। परपरा के अनुसार बिंदुसार के १०१ पुत्र थे, जिनमे ९९ अन्य रानियो से तथा अशोक और तिष्य प्रियदर्शना से थे। ९९ भाइयो मे सबसे बडा सुसीम था। अशोक देखने मे असुदर, किंतु योग्यतम था। कुमारावस्था मे वह अवति राष्ट्र तथा गाधार का राज्यपाल बनाया गया था। राजकुल एव मत्रियो के षड्यत्र से उत्तराधिकार के लिये सुसीम एव अशोक मे गृहयुद्ध हुआ। अत मे अशोक विजयी हुआ। बौद्ध साहित्य की यह कथा कि अशोक अपने ९९ भाइयो को मारकर सिहासन पर बैठा, विश्वसनीय नही जान पडती, यद्यपि यह बहुत सभव है कि उत्तराधिकार के लिये युद्ध मे कुछ भाई मारे गए हो। अशोक लगभग २७२ ई० पू० सिहासन पर बैठा और २३२ ई० पू० तक उसने राज किया। उसने अपने शासन के प्रारभ मे अपने और पितामह चद्रगुप्त एव पिता बिंदुसार की साम्राज्यवादिनी नीति का अवलबन किया। काश्मीर, कलिंग एव कतिपय अन्य प्रदेशो को, जो मौर्य साम्राज्य मे नही थे, उसने विजित बनाया। अशोक का साम्राज्य प्राय सपूर्ण भारत और पश्चिमोत्तर मे हिंदूकुश एव ईरान की सीमा तक था। कलिंग के भीषण युद्ध से उसके हृदय पर बडा आघात पहुँचा और उसने अपनी शस्त्र और हिसा पर आधारित दिग्विजय की नीति को छोडकर धर्मविजय की नीति को अपनाया। सभवत इसी समय उसने बौद्ध धर्म ग्रहण किया और अपने साम्राज्य के सभी साधनो को लोकमगल के कार्यो मे लगाया।

अशोक मे सम्राट् और सत का अद्भुत मिश्रण था। उसकी राजनीति धर्म और नीति से पूर्णत प्रभावित थी। उसका आदर्श था "लोकहित से बढकर दूसरा कोई कर्म नही। जो कुछ भी मैं पुरुषार्थ करता हूँ वह लोगो पर उपकार नही, अपितु इसलिये कि मैं उनसे उऋण हो जाऊँ और उनको इहलौकिक सुख और परमार्थ प्राप्त कराऊँ।" अपनी प्रजा से वह अपनी सतान के समान स्नेह करता था। उसकी हितचिंता मे वह परिभ्रमण भी करता था, जिससे वह जनता के सपर्क मे आकर उसके सुख दु ख को समझे। वह अपनी प्रजा की भौतिक तथा नैतिक दोनो प्रकार की उन्नति करना चाहता था। अपने शासन को नैतिक मोड देने के लिये उसने कई प्रकार के धर्ममहामात्यो की नियुक्ति की। उसके शासन के विभागो मे लोकोपकारी कार्यो की प्रमुखता थी।

शासन से कही अधिक अपने धर्म और उसके प्रचार के लिये अशोक प्रसिद्ध था। इसमे कोई सदेह नही कि अशोक धर्मत बौद्ध था जो भाब्रू

में उल्लेख हुआ है कि ईसा ईश्वर के पुत्र हैं, जो पिता की भाँति पूर्ण रूप से ईश्वरीय हैं।

(२) प्रथम तीन शताब्दियो में बाइबल के इस अवतारवाद के विरुद्ध कोई महत्वपूर्ण आदोलन उत्पन्न नही हुआ। अनेक भ्रात धारणाओ का प्रवर्तन अवश्य हुआ था, किंतु उनमें से कोई भी धारणा अधिक समय तक प्रचलित नही रह सकी। प्रथम शताब्दी में दो परस्पर विरोधी वादो का प्रतिपादन किया गया था—एबियोनितिस्म के अनुसार ईसा ईश्वर नही थे और दोसेतिस्म के अनुसार वह मनुष्य नही थे। दोसेतिस्म का अर्थ है प्रतीयमानवाद, क्योकि इस वाद के अनुसार ईसा मनुष्य के रूप मे दिखाई तो पडे, किंतु उनकी मानवता वास्तविक न होकर प्रतीयमान मात्र थी। उक्त मतो के विरोध मे काथलिक धर्मतत्वज्ञ बाइबल के उद्धरण देकर प्रमाणित करते थे कि ईसाई धर्म के सही विश्वास के अनुसार ईसा मे ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनो ही विद्यमान थे।

(३) चौथी शताब्दी ई० मे आरियस ने त्रित्व और अवतारवाद के विषय में एक नया मत प्रचलित करने का सफल प्रयास किया जिससे बहुत समय तक समस्त ईसाई ससार मे अशाति व्याप्त रही। आरियस के अनुसार ईश्वर का पुत्र तो ईसा में अवतरित हुआ किंतु पुत्र ईश्वरीय न होकर पिता की सृष्टि मात्र है (दे० आरियस)। इस शिक्षा के विरोध मे ईसाई गिरजे की प्रथम महासभा ने घोषित किया—"पिता और पुत्र तत्वत एक है", अर्थात् दोनो समान रूप से ईश्वर है। इस महासभा का आयोजन ३२५ ई० मे निसेया नामक नगर में हुआ था।

(४) आरियस के बाद अपोलिनारिस ने ईसा के अपूर्ण मनुष्यत्व का सिद्धात प्रतिपादित किया। उनके अनुसार ईसा के मानव शरीर तथा प्राणधारी जीव (एनिमल सोल) था, किंतु उनके बुद्धिसपन्न आत्मा (रैशनल सोल) नही थी, ईश्वर का पुत्र मानवीय आत्मा का स्थान लेता था। कुस्तुतुनिया की महासभा ने ३८१ ई० मे अपोलिनारिस के विरुद्ध घोषित किया कि ईसा के वास्तविक मानव शरीर में एक बुद्धिसपन्न वास्तविक मानवीय आत्मा विद्यमान थी।

(५) पाँचवी शताब्दी मे कुस्तुतुनिया के बिशप नेस्तोरियस ने अवतारवाद सबधी एक नई धारणा का प्रचार किया जिसके फलस्वरूप काथलिक गिरजे की तृतीय महासभा का आयोजन एफेसस मे ४३१ ई० मे हुआ था। नेस्तोरियस के अनुसार ईसा मे दो व्यक्ति विद्यमान थे—एक मानव व्यक्ति जो पूर्ण मानवीय स्वभाव अर्थात् शरीर और आत्मा से सपन्न था और एक ईश्वरीय व्यक्ति (ईश्वर का पुत्र) जो ईश्वरीय स्वभाव से सपन्न था। अत ईश्वर मनुष्य नही बना प्रत्युत उसने एक स्वत पूर्ण मनुष्य में निवास किया है। एफेसस की महासभा ने नेस्तोरियस को पदच्युत किया तथा उनकी शिक्षा के विरोध मे घोषित किया कि ईसा मे केवल एक ही व्यक्ति अर्थात् ईश्वर का पुत्र विद्यमान है। अनादिकाल से ईश्वरीय स्वभाव से सपन्न होकर ईश्वर के पुत्र ने मानवीय स्वभाव (शरीर और आत्मा) को अपना लिया और इस प्रकार एक ही व्यक्ति मे ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनो का सयोग हुआ।

(६) नेस्तोरियस के मत के प्रतिक्रियास्वरूप कुछ विद्वानो ने ईसा मे न केवल एक ही व्यक्ति प्रत्युत एक ही स्वभाव भी मान लिया है। इस वाद का नाम मोनोफिसितिस्म अर्थात् एकस्वभाववाद है, युतिकेस इसका प्रवर्तक माना जाता है। इस वाद के अनुसार अवतरित होने के पश्चात् ईसा का ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनो इस प्रकार एक हो गए कि एक नया स्वभाव, एक नवीन तत्व उत्पन्न हुआ, जो न पूर्ण रूप से ईश्वरीय और न पूर्ण रूप से मानवीय था। दूसरो के अनुसार ईसा का मनुष्यत्व उनके ईश्वरत्व मे पूर्णतया लीन हो गया जिससे ईसा में ईश्वरीय स्वभाव मात्र शेष रहा। इस एकस्वभाववाद के विरुद्ध चतुर्थ महासभा (कालसेदोन—४५१ ई०) ने परपरागत अवतारवाद की पूर्ण रक्षा करते हुए ठहराया कि ईसा मे ईश्वरत्व और मनुष्यत्व दोनो अक्षुण्ण और पृथक् है।

(७) बाद मे एकस्वभाववाद का परिवर्तित रूप प्रचलित हुआ। यह नया वाद ईसा का ईश्वरत्व तथा मनुष्यत्व दोनो को स्वीकार करते हुए भी मानता था कि उनका मनुष्यत्व पूर्णतया निष्क्रिय था, यहाँ तक कि उनमें मानवीय इच्छाशक्ति का भी अभाव था। ईसा का समस्त कार्यकलाप उनकी ईश्वरीय इच्छाशक्ति से प्रेरित था। इस मत के विरोध में कुस्तुतुनिया की एक नई महासभा ने ६८० ई० मे ईसा का पूर्ण मनुष्यत्व प्रतिपादित करते हुए घोषित किया कि ईसा मे ईश्वरीय इच्छाशक्ति तथा कार्यकलाप के अतिरिक्त एक मानवीय इच्छाशक्ति तथा कार्यकलाप का पृथक् अस्तित्व था।

(८) इस प्रकार हम देखते है कि प्रारभिक अवतारवादी विश्वास की पूर्ण रक्षा करते हुए इसके सैद्धातिक सूत्रीकरण का शताब्दियो तक विकास होता रहा। अततोगत्वा यह माना गया कि ईश्वर के पुत्र ने पूर्णतया ईश्वर रहते हुए मनुष्यत्व अपना लिया है, अत एक ही ईश्वरीय व्यक्ति में दो स्वभावो का—ईश्वरत्व और मनुष्यत्व का—सयोग हुआ। उनका मनुष्यत्व वास्तविक और पूर्ण था—एक ओर उनका शरीर और उसका सुख दुख वास्तविक था, दूसरी ओर उनकी मानवीय आत्मा की अपनी बुद्धि तथा इच्छाशक्ति का पृथक् अस्तित्व और सक्रियता थी। ईसाई अवतारवाद को प्राय इन्कार्नेशन कहा जाता है, वास्तव मे यह ईश्वर द्वारा मनुष्यत्व का ग्रहण ही है, उसका मानव रूप में प्रादुर्भाव।

स०ग्र०—डब्ल्यू० ड्रम क्रिस्टोलाजी (एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना), दि बिगिनिंग्ज ऑव क्रिश्चियानिटी, १९१६, एस० माइकेल इनकार्नेशन (डिक्शनरी ऑव थियोलाजी कैथोलिन)। [का० बु०]

अवदान साहित्य

अवदान साहित्य बौद्धो का सस्कृत भाषा मे निबद्ध चरितप्रधान साहित्य। 'अवदान' (प्राकृत अपदान) का अमरकोश के अनुसार अर्थ है—प्राचीन चरित, पुरातन वृत्त (अवदान कर्मवृत्त स्यात्)। 'अवदान' से तात्पर्य उन प्राचीन कथाओ से है जिनके द्वारा किसी व्यक्ति की गुणगरिमा तथा श्लाघनीय चरित्र का परिचय मिलता है। कालिदास ने इसी अर्थ मे 'अवदान' शब्द का प्रयोग किया है (रघुवश ११।२१)। बौद्ध साहित्य में इसी अर्थ मे 'जातक' शब्द भी बहुश प्रचलित है, परतु अवदान जातक से कतिपय विषयो मे भिन्न है। 'जातक' भगवान् बुद्ध की पूर्वजन्म की कथाओ से सर्वथा सबद्ध होते है जिनमें बुद्ध ही पूर्वजन्म मे प्रधान पात्र के रूप मे चित्रित किए गए रहते है। 'अवदान' मे यह बात नही पाई जाती। अवदान प्राय बुद्धोपासक व्यक्तिविशेष का आदर्श चरित होता है। बौद्धो ने जनसाधारण मे अपने धर्म के तत्वो के प्रचार के निमित्त सुबोध सस्कृत गद्य पद्य मे इस सुदर साहित्य की रचना की है।

इस साहित्य का प्रख्यात ग्रथ 'अवदानशतक' है जो दस वर्गो मे विभक्त है तथा प्रत्येक वर्ग मे दस दस कथाएँ है। इन कथाओ का रूप थेरवादी (हीनयानी) है। महायान धर्म के विशिष्ट लक्षणो का यहाँ विशेष अभाव दृष्टिगोचर होता है। यहाँ बोधिसत्व सप्रदाय की बाते बहुत कम है। बुद्ध की उपासना पर आग्रह करना ही इन कथाओ का उद्देश्य है। इन कथाओ का वर्गीकरण एक सिद्धात के आधार पर किया गया है। प्रथम वर्ग की कथाओ मे बुद्ध की उपासना करने से विभिन्न दशा के मनुष्यो (जैसे ब्राह्मण, व्यापारी, राजकन्या, सेठ आदि) के जीवन मे चमत्कार उत्पन्न होता है तथा वे अगले जन्म मे बुद्धत्व पाते है। प्रेत की वर्तमान दशा को देखकर कही उसके पूर्वजन्म का वर्णन है, तो कही अर्हत् बननेवाले व्यक्तियो के शुभ जीवन का रोचक विवरण। अवदानशतक का चीनी भाषा मे अनुवाद तृतीय शताब्दी के पूर्वार्ध मे हुआ था। फलत इसका समय द्वितीय शताब्दी माना जाता है।

दिव्यावदान—महायानी सिद्धातो पर आश्रित कथानको का रोचक वर्णन इस लोकप्रिय ग्रथ का प्रधान उद्देश्य है। इसका ३४वाँ प्रकरण 'महायानसूत्र' के नाम से अभिहित किया गया है। यह उल्लेख ग्रथ के मौलिक सिद्धातो की दिशा प्रदर्शित करने मे उपयोगी माना जा सकता है। दिव्यावदान अवदानशतक के कथानक तथा काव्यशैली से विशेषत प्रभावित हुआ है। इसकी आधी कथाएँ विनयपिटक से और बाकी सूत्रालकार से सगृहीत की गई है। समग्र ग्रथ का तो नही, परतु कतिपय कथाओ का अनुवाद चीनी भाषा मे तृतीय शतक में किया गया था। शुग वश के राजा पुष्यमित्र (१७८ ई० पू०) तक का उल्लेख यहाँ उपलब्ध होता है। फलत इसके कतिपय अगो का रचनाकाल द्वितीय शताब्दी मानना उचित होगा, परतु समग्र ग्रथ का भी निर्माणकाल तृतीय शताब्दी के बाद नही है।

भौतिक उन्नति के मार्ग से विमुग्ध किया। कल्पित महत्तावाली अतर्राष्ट्रीयता ने राष्ट्रीयता की भावनाओ का तिरस्कार कर उन्हें दुर्बल वना दिया, आदि। यदि नैतिक तुला पर उपर्युक्त लाभ और हानि रखी जायें तो मानव मूल्यो की दृष्टि मे अशोक की धार्मिक नीति के लाभ अधिक भारी सिद्ध होते हैं।

अपनी आदर्शवादिता, नीतिमत्ता तथा लोकहित-चिंता के कारण ससार के इतिहास में अशोक का बहुत ही ऊँचा स्थान है। वास्तव मे अभी तक ससार का इतिहास बर्बर कृत्यो के वर्णन से भरा पडा है। पृथ्वी को रक्तप्लावित करनेवाले असख्य विजेताओ की सूची मे नीति और प्रेम का उपदेश करनेवाला शासक अशोक प्राय अकेला है। एक इतिहासकार के मत मे "वर्वरता के महासागर में शाति और सस्कृति का वह एकमात्र द्वीप है।" यदि किसी शासक की महत्ता का मापदड राजनीतिक और सैनिक सफलता न होकर लोकहित हो तो ससार का कोई दूसरा शासक अशोक की समता नही कर सकता। वह केवल जनसुखवाद और मानवतावाद का ही समर्थक नही था, वह मानव की नैतिक और पारमार्थिक उन्नति के लिये भी प्रयत्नशील था और न केवल मानव, सपूर्ण जीवमात्र की हितचिंता मे रत। सिकदर, सीजर, कोस्तातीन, अकवर, नैपोलियन, आदि अपने मे विशाल और विराट् थे, किंतु वे अशोक की महत्ता और उच्चता को नही पहुँच सकते। यदि किसी व्यक्ति के यश और प्रसिद्धि को मापने का मापदड असख्य लोगो का हृदय है, जो उसकी पवित्र स्मृति को सजीव रखता है और अगणित मनुष्यो की जिह्वा है, जो उसकी कीर्ति का गान करती है, तो अशोक की समता इतिहास के थोडे से महापुरुष ही कर सकते है।

स०ग्र०—दत्तात्रेय रामकृष्ण भाडारकर अशोक, राधाकुमुद मुकर्जी अशोक, वेणीमाधव वरुआ अशोक और उसके अभिलेख, वी० ए० स्मिथ अशोक, सत्यकेतु विद्यालकार मौर्य साम्राज्य का इतिहास, हुल्त्श कार्पस इस्क्रिपशनम इडिकेरम्, भाग १, इस्क्रिप्शस आँव अशोक।

[रा० व० पा०]

अशोक यह वृक्ष सस्कृत, वँगला, मराठी, मलयालम, तेलुगु और अग्रेजी मे भी यही कहलाता है। लैटिन मे (१) जोनेसिया असोका तथा (२) सैरैका इडिका, ये दो नाम है।

यह यूफॉरबीएसी (दुग्धी) जाति का वृक्ष है, देखने मे सुदर होता है। इस वृक्ष के, जैसा इसके दो लैटिन नामो से प्रत्यक्ष है, दो भेद होते हैं। दोनो मे वसत ऋतु मे फूल लगते है। पहले मे ये नारगी रग के और दूसरे मे श्वेत रग के होते हैं। पहले प्रकार की पत्तियाँ रामफल के वृक्ष की पत्तियो जैसी तथा दूसरे की आम की पत्तियो जैसी लवी परतु किनारे पर लहरदार होती हैं। इसमे श्वेत मजरियाँ लगती है, जिनके झडने पर छोटे, गोल फल लगते है, जो पकने पर लाल हो जाते है पर खाए नही जाते।

यह वृक्ष समस्त भारतवर्ष मे पाया जाता है। इसकी छाल आयुर्वेद मे कटु, तिक्त, ज्वर एव तृपानाशक, घाव को भरनेवाली, अँतडियो को सिकोडनेवाली, कृमिनाशक तथा पाचक कही गई है। रक्तविकार, थकावट, शूल, ववासीर, अस्थिभग तथा मूत्रकृच्छ्र मे उपयोगी है। देशी वैद्य इसको स्त्री रोगो में, जैसे गर्भाशय के रोग, रक्तप्रदर, रक्तस्राव इत्यादि मे रामवाण मानते हैं। [भ० दा० व०]

अश्ताबुला सयुक्त राज्य, अमरीका, के ओहायो राज्य का एक नगर है जो ईरी झील तथा ईरी नदी के मुहाने पर, समुद्रतल से ७०३ फुट की ऊँचाई पर, क्लीवलैंड से ५६ मील उत्तर-पूर्व में वसा है। यह राष्ट्रीय तथा राजकीय सडको और रेलो द्वारा अन्य स्थानो से सवधित है तथा औद्योगिक, व्यावसायिक और जहाजो का केंद्र है। यह कच्चा लोहा, कोयला तथा कृषि के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ मछली मारना, तैलशोधन, चमडा सिझाना इत्यादि, प्रमुख उद्योग है। अश्तावुला रेड इडियन शब्द है जिसका अर्थ है मछली की नदी। गोरी जातियो ने इसे पहले पहल १८०१ मे आवाद किया। १८३१ में यहाँ निगम वना और १८९१ में नगर। १९४० में जनसख्या २१, ४०५ थी और १९५० में २३, ६९६। [नृ० कु० नि०]

अश्मरी या पथरी शरीर में, विशेषकर मूत्राशय, वृक्क तथा पित्ताशय मे, जमे ठोस द्रव्य को कहते है। यह लाला ग्रथियो मे तथा कई अन्य अगो मे भी वन जाती है, जिसका नीचे सक्षिप्त उल्लेख किया गया है। वृक्क और मूत्राशय की अश्मरियाँ कैलसियम फॉस्फेट, ऑक्जलेट तथा सोडियम-ऐमोनियम यूरेट की होती हैं। वे जैथीन सिस्टीन से भी वन सकती है। पित्ताशय की अश्मरी कोलस्टरीन की वनी होती है, जिसमे बहुधा चूना भी मिला रहता है।

अश्मरी मे एक केंद्र होता है जिसके चारो ओर चूने आदि के स्तर एक पर एक एकत्र होते रहते हैं। केंद्र रक्त के थक्के, श्लेष्मिक कला के टुकडे, जीवाणु, श्वेतकणिकाओ आदि से वन सकता है। इसके चारो ओर लवणो के स्तर जमा हो जाते हैं। इस कारण अश्मरी को काटने पर स्तरित रचना दिखाई देती है।

मूत्राशय की अश्मरी—हमारे देश मे राजस्थान मे तथा पर्वतीय प्रातो मे यह रोग अधिक पाया जाता है। वहाँ पीने के जल मे लवणो की अधिकता रोग का कारण प्रतीत होती है। चर्म से अधिक वाष्पीभवन होने के कारण मूत्राशय की अतिसाद्रता भी अश्मरीनिर्माण का कारण हो सकती है। अश्मरी यूरिक अम्ल, ऐमोनिया के यूरेट लवण, चूने के फॉस्फेट तथा ऑक्जलेट लवणो से वनती है। सिस्टीन (विषाणिन—सीग, वाल इत्यादि मे पाया जानेवाला एक पदार्थ) और जैथीन (पीत-श्वेत, रवेदार पदार्थ, जिससे अनेक पीले रग के यौगिक वनते है) की अश्मरी भी पाई जाती है। फॉस्फेट की अश्मरी चिकनी और भुरभुरी होती है जो दवाने से ही टूट जाती है। यूरेट की इससे कडी होती है। ऑक्जलेट की अश्मरी सबसे कडी होती है। उसपर दाने या कगूरे से उठे होते है जिनके कारण मूत्राशय की श्लेष्मिक कला से रक्तस्राव होता रहता है। इस कारण अश्मरी का रग रक्त के मिल जाने से गहरा लाल होता है। ऐसी अश्मरी से रोगी को पीडा अधिक होती है।

जब अश्मरी मूत्रमार्ग के अतर्द्वार पर, जिससे मूत्राशय से मूत्र निकलता है, स्थित होकर मूत्रप्रवाह को रोक देती है तब रोगी को पीडा होती है। किंतु यदि रोगी अपनी स्थिति वदल दे, पार्श्व से लेट जाय, तो वहुधा अश्मरी के स्थानातरित हो जाने से मूत्रमार्ग खुल जाता है और मूत्र निकल जाता है जिससे रोगी की पीडा जाती रहती है। मूत्र का रुकना ही रोग का विशेष लक्षण है।

यह रोग वच्चो में अधिक होता है और स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो मे अधिक पाया जाता है। साधारणत एक अश्मरी वनी रहती है। जव अधिक अश्मरियाँ रहती है तो आपस मे रगडने से उनपर चिह्न वन जाते हैं। एक्स-रे फोटो मे अश्मरी की छाया दिखाई देती है। इस कारण एक्स-रे चित्र लेने से निदान निश्चित हो जाता है।
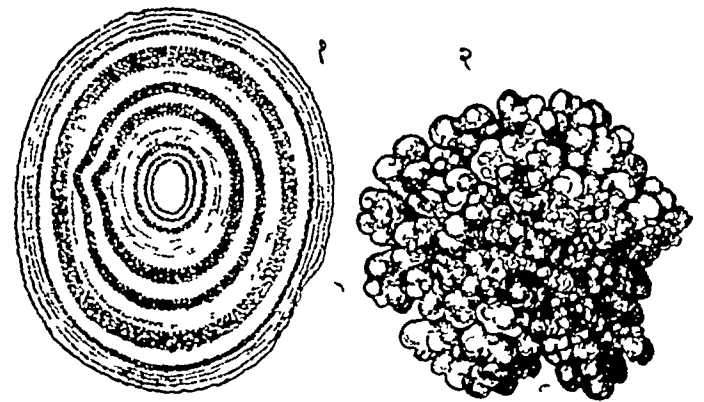
दो अश्मरियाँ

१ मूत्राशय की अश्मरी का काट, यह अश्मरी १ ५" चौडी और १९" लवी थी। २ वृक्क की अश्मरी, यह मुख्यत कैलसियम ऑक्जलेट की वनी है।

चिकित्सा—(१) अश्मरीभजन कर्म में भजक (लियोट्राइट) से मूत्राशय के भीतर की अश्मरी को तोडकर चूर्ण कर दिया जाता है और चूपकयत्र (ईवैकुएटर) द्वारा उसको वाहर खींच लिया जाता है। (२) शल्यकर्म

रूप पाई गई है। क्रियार्थक संज्ञा के लिये खड़ी बोली में 'ना' प्रत्यय है (यथा होना, करना, चलना) और ब्रज में 'नो' (यथा होनो, करनो, चलनो)। परतु अवधी में इसके लिये 'ब' प्रत्यय है (यथा होब, करब, चलब)। अवधी में निष्ठा एकवचन के रूप का 'वा' में अत होता है (यथा भवा, गवा, खावा)। भोजपुरी में इसके स्थान पर 'ल' में अत होनेवाले रूप मिलते है (यथा भइल, गइल)। अवधी का एक मुख्य भेदक लक्षण है अन्यपुरुष एकवचन की सकर्मक क्रिया के भूतकाल का रूप (यथा करिसि, खाइसि, मारिसि)। ये '–सि' में अत होनेवाले रूप अवधी को छोडकर अन्यत्र नही मिलते। अवधी की सहायक क्रिया के रूप 'ह' (यथा हइ, हइँ), 'अह' (अहइ, अहईं) और 'बाटइ' (यथा बाटइ, बाटइँ) पर आधारित है।

ऊपर दिये लक्षणों के अनुसार अवधी की बोलियो के तीन वर्ग माने गए हैं पश्चिमी, मध्यवर्ती और पूर्वी। पश्चिमी बोली पर निकटता के कारण ब्रज का और पूर्वी पर भोजपुरी का प्रभाव है। इनके अतिरिक्त बघेली बोली का अपना अलग अस्तित्व है।

विकास की दृष्टि से अवधी का स्थान ब्रज और भोजपुरी के बीच में पडता है। ब्रज की व्युत्पत्ति निश्चय ही शौरसेनी से तथा भोजपुरी की मागधी प्राकृत से हुई है। अवधी की स्थिति इन दोनो के बीच मे होने के कारण इसका अर्धमागधी से निकलना मानना उचित होगा। खेद है कि अर्धमागधी का हमें जो प्राचीनतम रूप मिलता है वह पाँचवी शताब्दी ईसवी का है और उससे अवधी के रूप निकालने में कठिनाई होती है। पालि भाषा में बहुधा ऐसे रूप मिलते है जिनसे अवधी के रूपो का विकास सिद्ध किया जा सकता है। सभवत ये रूप प्राचीन अर्धमागधी के भी रहे होगे।

स०ग्र०—बाबूराम सक्सेना इवल्यूशन ऑव अवधी।

[बा० रा० स०]

अवधी साहित्य

प्राचीन अवधी साहित्य की दो शाखाएँ है एक भक्तिकाव्य और दूसरी प्रेमाख्यान काव्य। भक्तिकाव्य मे गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरितमानस' (स० १६३१) अवधी साहित्य की प्रमुख कृति है। इसकी भाषा सस्कृत शब्दावली से भरी है। 'रामचरितमानस' के अतिरिक्त तुलसीदास ने अन्य कई ग्रथ अवधी मे लिखे है। इसी भक्ति साहित्य के अतर्गत लालदास का 'अवधविलास' आता है। इसकी रचना सवत् १७०० में हुई। इनके अतिरिक्त कई और भक्त कवियो ने रामभक्ति विषयक ग्रथ लिखे।

सत कवियो में बाबा मलूकदास भी अवधी क्षेत्र के थे। इनकी बानी का अधिकाश अवधी मे है। इनके शिष्य बाबा मथुरादास की बानी भी अधिकतर अवधी में है। बाबा धरनीदास यद्यपि छपरा जिले के थे तथापि उनकी बानी अवधी में प्रकाशित हुई। कई अन्य सत कवियो ने भी अपने उपदेश के लिये अवधी को अपनाया है।

प्रेमाख्यान काव्य में सर्वप्रसिद्ध ग्रथ मलिक मुहम्मद जायसी रचित 'पद्मावत' है जिसकी रचना 'रामचरितमानस' से चौंतीस वर्ष पूर्व हुई। दोहे चौपाई का जो क्रम 'पद्मावत' में है प्राय वही 'मानस' में मिलता है। प्रेमाख्यान काव्य मे मुसलमान लेखको ने सूफी मत का रहस्य प्रकट किया है। इस काव्य की परपरा कई सौ वर्षों तक चलती रही। मझन की 'मधुमालती', उसमान की 'चित्रावली', आलम की 'माधवानल कामकदला', नूरमुहम्मद की 'इद्रावती' और शेख निसार की 'यूसुफ जुलेखा' इसी परपरा की रचनाएँ हैं। शब्दावली की दृष्टि से ये रचनाएँ हिंदू कवियो के ग्रथो से इस बात में भिन्न है कि इनमें सस्कृत के तत्सम शब्दो की उतनी प्रचुरता नही है।

प्राचीन अवधी साहित्य के अतर्गत अकबर के दरबार के सुप्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना 'रहिमन' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका एक ग्रथ 'बरवै-नायिका-भेद' अवधी में है जिसकी भाषा अत्यत मधुर और शृगारभावोत्तेजक है।

आधुनिक अवधी साहित्य में अधिकतर रचनाएँ देशप्रेम, समाजसुधार आदि विषयों पर और मुख्य रूप से व्यग्यात्मक हैं। कवियो में प्रतापनारायण मिश्र, बलभद्र दीक्षित 'पढीस', वशीधर शुक्ल, चद्रभूषण द्विवेदी 'रमई काका' और [illegible] 'गुनुटि' विशेष उल्लेखनीय है।

प्रबध की परपरा मे 'रामचरितमानस' के ढग का एक महत्वपूर्ण आधुनिक ग्रथ द्वारिकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन' है। इसकी भाषा और शैली 'मानस' के ही समान है और ग्रथकार ने कृष्णचरित प्राय उसी तन्मयता और विस्तार से लिखा है जिस तन्मयता और विस्तार से तुलसीदास ने रामचरित अकित किया है। मिश्र जी ने इस ग्रथ की रचना द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि प्रबध काव्य के लिये अवधी की प्रकृति आज भी वैसी ही उपादेय है जैसी तुलसीदास के समय में थी।

स०ग्र०—बाबूराम सक्सेना, त्रि० ना० दीक्षित अवधी और उसका साहित्य (दिल्ली)।

[बा० रा० स०]

अवधूत साधुओं का एक भेद। उ० खेवरा, सेवरा पारधी, सिव साधक, अवधूत। आसन मारे बैठ सब पाँच आतमा भूत—जायसी। 'महानिर्वाणतत्र' में प्रधानत चार प्रकार के अवधूत कहे गए है (१) 'ब्रह्मावधूत' जो किसी भी वर्ण का ब्रह्मोपासक हो और किसी भी आश्रम में हो, (२) 'शैवावधूत' जो विधिपूर्वक सन्यास ले चुका हो, (३) 'वीरावधूत' जिसके सिर के बाल दीर्घ तथा बिखरे हो, गले में हाड या रुद्राक्ष की माला पडी हो, कटि में कौपीन हो, शरीर पर भस्म या रक्तचदन हो, हाथ में काष्ठदड, परशु एव डमरू हो और साथ मे मृगचर्म हो, (४) 'कुलावधूत' जो कुलाचार में अभिषिक्त होकर भी गृहस्थाश्रम मे रहे। वैष्णव सप्रदाय के अतर्गत रामानद के शिष्यो मे भी अवधूत कहलानेवाले साधु पाए जाते हैं। इनके सिर पर बडे बडे बाल रहते है, गले मे स्फटिक की माला रहती है और शरीर पर कथा एव हाथ मे दरियाई खप्पर दीख पडते हैं। बगाल में इनके पृथक् पृथक् अखाडे हैं और इनमें सभी जातियो के लोग समाविष्ट होते हैं। भिक्षा के लिये जब ये गृहस्थो के द्वार पर जाते है तब 'वीर अवधूत' नाम का स्मरण करके एकतारा या अन्य वाद्ययत्र बजाकर गाने लग जाते हैं। ये लोग प्राय अव्यवस्थित रूप मे ही रहा करते हैं। इन्हें बगाल मे कभी कभी बाउल नाम से भी अभिहित करते हैं जो सर्वथा इनसे भिन्न वर्ग के कुछ अन्य लोगो की ही वास्तविक सज्ञा है। नाथपथ में अवधूत की स्थिति अत्यत उच्च मानी जाती है और 'गोरक्ष-सिद्धात-सग्रह' के अनुसार वह सभी प्रकार के प्रकृतिविकारो से रहित हुआ करता है। वह कैवल्य की उपलब्धि के लिये आत्मस्वरूप के अनुसधान मे निरत रहा करता है और उसकी अनुभूति निर्गुण एव सगुण से परे की होती है। गुरु दत्तात्रेय को भी अवधूत कहा जाता है और दत्त सप्रदाय (अवधूत मत) में अवधूत मत को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। उसके मान्य ग्रथ 'अवधूतगीता' मे इसका पूर्ण विवेचन है। पश्चिमोत्तर प्रदेश मे उन स्त्रियो को 'अवधूती' कहते है जो पुरुष सन्यासी के वेश में रहकर भस्म, रुद्राक्षादि धारण करती है तथा जो साधारणत किसी गगागिरि नाम की वैसी ही सन्यासिन या अवधूतनी की परपरा की समझी जाती है। सुषुम्ना नाडी का भी एक नाम अवधूती है जिस कारण उसके मार्ग को भी अवधूती मार्ग या अवधूतिका का नाम दिया जाता है।

स०ग्र०—बँगला विश्वकोश, प्रथम खड, उपासक सप्रदाय (द्वितीय भाग), अभिधान राजेद्र, कल्याणी मल्लिक नाथसप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओर साधनप्रणाली (कलकत्ता, १९५० ई०) मोकाशी 'महाराष्ट्रातील पाँच सप्रदाय' (पुणें, १९५४ ई०)।

[प० च०]

अवयव-अवयवी 'अवयव' का अर्थ है अग और 'अवयवी' का अर्थ है अगी। बौद्धो और नैयायिको में इस विषय को लेकर गहरा मतभेद चलता है। बौद्धो के मत में द्रव्य (घट आदि) अपने उत्पादक परमाणुओं का समूहमात्र है अर्थात् वह अवयवों का पुज है। न्याय मत में अवयवो से उत्पन्न होनेवाला अवयवी एक स्वतत्र पदार्थ है, अवयवो का सघात मात्र नहीं। बौद्धो की मान्यता है कि परमाणुपुज होने पर घट को प्रत्यक्ष असिद्ध नही माना जा सकता। अकेला परमाणु अप्रत्यक्ष भले ही हो, परतु उसका समूह कथमपि अप्रत्यक्ष नहीं हो सकता। जैसे दूर पर स्थित एक केश भले ही प्रत्यक्ष न हो, परतु जब केशों का समूह हमारे नेत्रो के सामने प्रस्तुत होता है, तब उसका प्रत्यक्ष अवश्यमेव सिद्ध है। व्यवहार में इसका प्रत्यक्ष दृष्टात मिलता है। न्याय उसका जोरदार खडन करता है। उसकी युक्ति है कि केश और परमाणु को हम एक कोटि से

का पौधा ४-५ वर्ष जीवित रहता है। इसी की जड से असगंध मिलती है, जो बहुत पुष्टिकारक है।

राजनिघंटु के मतानुसार अश्वगंधा चरपरी, गरम, कडवी, मादक गंधयुक्त, बलकारक, वातनाशक और खाँसी, श्वास, क्षय तथा व्रण को नष्ट करनेवाली है, इसकी जड पौष्टिक, धातुपरिवर्तक और कामोद्दीपक है, क्षयरोग, बुढापे की दुर्बलता तथा गठिया में भी यह लाभदायक है। यह वातनाशक तथा शुक्रवृद्धिकर आयुर्वेदिक ओषधियो मे प्रमुख है, शुक्रवृद्धिकारक होने के कारण इसको शुक्ला भी कहते है।

रासायनिक विश्लेपण से इसमे सोम्निफेरिन और एक क्षारतत्व तथा राल और रजक पदार्थ पाए गए है। इसमे निद्रा लानेवाले और मूत्र बढानेवाले पदार्थ भी प्रचुर मात्रा में होते है।

अश्वगंधा

उपयोग—इसका ताजा तथा सूखा फल ओषधि के काम में आता है, किंतु सिंध, पाकिस्तान के उत्तर-पश्चिमी सरहदी प्रात, अफगानिस्तान तथा बलूचिस्तान मे इसे रेनेट के स्थान पर दूध जमाने के काम मे लाते है। इसका पाचक द्रव नमक के पानी मे जल्दी आ जाता है (१०० भाग पानी मे ५ भाग नमक होना चाहिए)। इस पानी के उपयोग से दही शीघ्र जमता है, जो पेट मे पाचक अम्ल के समान लाभ पहुँचाता है। कुछ वैद्यो ने इस वनस्पति की जड को प्लेग में उपयोगी पाया है।

वैद्य असगंध से चूर्ण, घृत, पाक इत्यादि बनाते है और ओषधि के रूप मे इसका उपयोग गठिया, क्षय, बध्यत्व, कटिशूल, नारू नामक कृमि, वातरक्त इत्यादि रोगो मे भी करते है। इस प्रकार असगंध के अनेक और विविध उपयोग है।

सं०ग्रं०—चंद्रराज भंडारी वनौषधि चंद्रोदय, हरिदास वैद्य चिकित्सा चंद्रोदय (हरिदास ऐंड कपनी, कलकत्ता) [भ० दा० व०]

अश्वघोष बौद्ध महाकवि तथा दार्शनिक। कुषाणनरेश कनिष्क के समकालीन महाकवि अश्वघोष का समय ईसवी प्रथम शताब्दी का अत और द्वितीय का आरभ है। ये साकेत (अयोध्या) के निवासी तथा सुवर्णाक्षी के पुत्र थे। चीनी परंपरा के अनुसार महाराज कनिष्क पाटलिपुत्र के अधिपति को परास्त कर वहाँ से अश्वघोष को अपनी राजधानी पुरुषपुर (वर्तमान पेशावर) ले गए थे। कनिष्क द्वारा बुलाई गई चतुर्थ बौद्ध संगीति की अध्यक्षता का गौरव एक परंपरा महास्थविर पार्श्व को और दूसरी परंपरा महावादी अश्वघोष को प्रदान करती है। ये सर्वास्तिवादी बौद्ध आचार्य थे जिसका सकेत सर्वास्तिवादी 'विभाषा' की रचना मे प्रयोजक होने से भी हमे मिलता है। ये प्रथमत परमत को परास्त करनेवाले 'महावादी' दार्शनिक थे। इसके अतिरिक्त साधारण जनता को बौद्धधर्म के प्रति 'काव्योपचार' से आकृष्ट करनेवाले महाकवि थे।

इनके नाम से प्रख्यात अनेक ग्रंथ है, परंतु प्रामाणिक रूप से अश्वघोष की साहित्यिक कृतियाँ केवल चार है (१) बुद्धचरित, (२) सौंदरनंद, (३) गंडीस्तोत्रगाथा तथा (४) शारिपुत्रप्रकरण। 'सूत्रालंकार' के रचयिता संभवत ये नही है। बुद्धचरित चीनी तथा तिब्बती अनुवादो मे पूरे २८ सर्गो में उपलब्ध है, परतु मूल संस्कृत में केवल १८ सर्गो मे ही मिलता है। इसमे तथागत का जीवनचरित और उपदेश बडी ही रोचक वैदर्भी रीति मे नाना छंदो मे निबद्ध किया गया है। सौंदरनंद (१८ सर्ग) सिद्धार्थ के भ्राता नद को उद्दाम काम से हटाकर सघ में दीक्षित होने का भव्य वर्णन करता है। काव्यदृष्टि से बुद्धचरित की अपेक्षा यह कही अधिक स्निग्ध तथा सुदर है। गंडीस्तोत्रगाथा गीतकाव्य की सुषमा से मंडित है। शारिपुत्रप्रकरण अधूरा होने पर भी महनीय रूपक का रम्य प्रतिनिधि है। अनेक आलोचक अश्वघोष को कालिदास की काव्यकला का प्रेरक मानते है।

सं०ग्रं०—बलदेव उपाध्याय संस्कृत साहित्य का इतिहास, काशी १९५८, दासगुप्त तथा दे हिस्ट्री ऑव क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, कलकत्ता। [ब० उ०]

अश्वत्थामा आचार्य द्रोण का पुत्र जिसने महाभारत के युद्ध मे बडी वीरता से पाडवो का सामना किया। उसकी माता कृपी थी। कही कही पितृमूलक द्रौणायन का भी प्रयोग अश्वत्थामा के लिये हुआ है। उसने द्रोण की हत्या का प्रतिशोध द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न और द्रौपदी के पाँच पुत्रो को मारकर लिया था। [च० म०]

अश्वधावन अथवा घुडदौड घोडो के वेग की प्रतियोगिता है। ऐसी प्रतियोगिता मुख्यत दुलकी, सरपट और क्षेत्रगामी (क्रॉस-कंट्री) या अवरोधयुक्त (ऑब्स्टेकल) दौडो मे होती है।

अश्वधावन की प्रथा अति प्राचीन है, परतु प्रथम अश्वधावन प्रतियोगिता, जिसका उल्लेख दिनाक सहित प्राप्त है, ६८४ ई० पूर्व की है जो २३वी ओलिंपिक प्रतियोगिता मे हुई। यह यथार्थ मे चार अश्वो द्वारा खिचे रथो की प्रतियोगिता थी। चालीस वर्ष बाद प्रथम बार ३३वे ओलिंपिक मे अश्वारोही प्रतियोगिता हुई। यूनान में अश्वधावन सर्वप्रिय खेलो में से था और राष्ट्रीय खेल माना जाता था।

यूनान के समान रोम मे भी अश्वधावन प्रचलित था और लोकप्रिय खेलो मे समझा जाता था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ग्रेट ब्रिटेन मे रोमन आधिपत्य काल मे ही अश्वधावन का प्रचलन प्रतियोगिता के रूप मे हुआ। प्रारभ में इस प्रकार के खेल कूद ईसाई धर्म के विरुद्ध समझे जाते थे। पर धर्म इस खेल के आकर्षण को न दबा सका। जर्मनी में सर्वप्रथम ऐसे खेलो को धार्मिक समारोहो मे भी स्थान मिला। कुछ काल मे अश्वधावन इतना लोकप्रिय हो गया कि राजकुल से भी इसे उत्साह मिलने लगा। सन् १५१२ मे चेस्टर मे सर्वसाधारण के लिये अश्वधावन प्रतियोगिता प्रारभ हुई। यह प्रतियोगिता नगराध्यक्ष (मेयर) के सभापतित्व मे होती थी। इग्लैंड के जेम्स प्रथम ने इग्लैंड मे अश्वधावन स्थल स्थापित किए और साथ ही घोडो की नस्ल सुधारने की भी चेष्टा की। अश्वधावन प्रतियोगिताओ मे इग्लैंड के राजाओ की रुचि बढती गई और पारितोषिक भी उसी अनुपात मे बढते गए। सन् १७२१ ई० मे जार्ज प्रथम ने जीतनेवाले अश्व को १०० गिनी पारितोषिक मे दी। अश्वधावन के प्रबंध को सुचारु रूप से चलाने के लिये सन् १७५० मे अश्वारोही समिति (जॉकी क्लब) की स्थापना हुई। इस सभा को इग्लैंड मे अश्वधावन संबंधी सभी बातो के अंतिम निर्णय का अधिकार दिया गया।

ग्रेट ब्रिटेन मे अश्वधावन एक राष्ट्रीय खेल समझा जाता है और बडे समारोह के साथ विभिन्न स्थानो मे साल मे इसकी अनेक बडी बडी प्रतियोगिताएँ होती है। इनमें से ये पाँच प्रतियोगिताएँ परपरागत, प्राचीन और सर्वोत्तम मानी जाती है (१) सेट लेजर अश्वधावन प्रतियोगिता, जिसका प्रारभ १७७६ ई० में हुआ। यह डॉनकास्टर मे सितबर मास के मध्य मे होती है। (२) ओक्स प्रतियोगिता, जिसका प्रारभ १७७९ ई० मे हुआ और जो इप्सम में, मई के अत में, सुप्रसिद्ध डर्बी प्रतियोगिता के तुरत बाद पडनेवाले शुक्रवार को होती है। (३) डर्बी प्रतियोगिता, जो सन् १७८० ई० मे आरभ हुई। यह भी इप्सम मे दौडी जाती है। इप्सम तीव्र मोडो और कठिन उतार और चढाव के लिये प्रसिद्ध है। इस प्रतियोगिता को विशेष महत्व दिया जाता है। (४) न्यू मार्केट मे दौडी जानेवाली "दो हजार गिनी" की दौड, जो १८०९ ई० मे प्रारभ हुई। (५) "एक हजार गिनी की दौड" भी इसी न्यू मार्केट स्थल में दौडी जाती है। इसकी स्थापना सन् १८१४ ई० मे हुई। इन पाँच दौड़ो के अतिरिक्त बहुत सी दौडे ऐसकट, गुडवुड आदि क्षेत्रो में दौडी जाती है और ये भी पर्याप्त महत्वपूर्ण है।

सन् १८३९ ई० में न्यू मार्केट क्षेत्र में "हैंडीकैप" घुडदौड प्रारभ की गई। इन दौड का उद्देश्य सर्वोत्तम अश्वो के विरुद्ध अन्य अश्वो को भी दौड में सफलता प्राप्त करने का अवसर देना था। हैंडीकैप के नियमानुसार अश्वो की ख्याति, धावनशक्ति एव आयु को ध्यान में रखते हुए उनके सवारो

आक्साइड के कारण होता है। यह रग शुष्क मरुस्थलीय वातावरण का सूचक है।

अवसाद शैल एव अयस्क निक्षेप—कोयला, ऐल्यूमिनियम का अयस्क वाक्साइट, लोहे का अयस्क लैटेराइट, नमक, जिप्सम, फास्फेट, मैगनेसाइट, सीमेंट का अयस्क, चूने का पत्थर, इत्यादि कई महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ अवसाद शैलो मे उपलब्ध होते है। [र० च० मि०]

अवाप्ति (अटेनमेंट) विज्ञान की प्रगति से शिक्षाप्रणाली मे भी नवीन विचारधाराओ का जन्म हुआ है। इसमें परीक्षा सबधी परिवर्तन उल्लेखनीय है। वैज्ञानिको की धारणा रही है कि लेखपरीक्षा द्वारा हम परीक्षार्थी के उन गुणो तथा वस्तुओ को नापते है जिन्हे नापना हमारा ध्येय होता है। इसके अतिरिक्त इस परीक्षा मे परीक्षक की निजी भावनाएँ अक प्रदान करने मे विशेष कार्य करती है। इन दोनो से रक्षा करने के लिये यह उचित समझा गया कि विषयनिष्ठ परीक्षा ही परीक्षार्थी के मूल्याकन मे सहायक हो सकेगी। इस विचारधारा के फलस्वरूप अमरीका में ई० एल० थार्नडाइक ने सर्वप्रथम अवाप्ति परीक्षा (अटेनमेंट टेस्ट) के पक्ष में १९०४ मे एक पुस्तक लिखी। उसके पश्चात् भिन्न भिन्न देशो के शिक्षाविदो ने भी अपने देश मे इसका प्रचार किया। उन लोगो का विचार है कि प्रमाणित परीक्षा के लिये अवाप्तिपरीक्षा एक मुख्य साधन है। इस प्रकार की कुछ परीक्षाएँ अध्याय के द्वारा अपने विषय के ज्ञान को नापने के लिये बनाई जाती हे तथा कुछ विषयनिष्ठ परीक्षाएँ प्रमाणीकृत की जाती है और उनके द्वारा एक क्षेत्र के परीक्षार्थियो की योग्यता तुलनात्मक रूप मे आसानी से नापी जा सकती हे। अवाप्ति परीक्षा बनाने के पहले परीक्षक को यह स्वय समझ लेना चाहिये कि वह किस वस्तु को नापना चाहता है। उसे यह भी जान लेना हे कि अवाप्तिपरीक्षा परीक्षार्थी के अर्जित ज्ञान को ही नापती हे। अवाप्तिपरीक्षा बनाने में आइटम के चुनाव में विशेष ध्यान देना चाहिए। इन्ही के ऊपर उस परीक्षा की मान्यता निर्भर करती है। किस तरह के आइटम होने चाहिए इसका ज्ञान 'शैक्षिक सख्याशास्त्र' (एजुकेशनल स्टटिस्टिक्स) से पूर्ण परिचय होने पर ही हो सकता है। आजकल हमारे देश मे इस दिशा मे कार्य हो रहा है और ऑल इडिया कौसिल फॉर सेकडरी एजुकेशन ने विदेशी विशेषज्ञो द्वारा अध्यापको के प्रशिक्षण के लिये सुविधाएँ दी है। [श० ना० उ०]

अवेस्ता जिस भाषा के माध्यम का आश्रय लेकर जरथुस्त्र धर्म का विशाल साहित्य निर्मित हुआ है उसे 'अवेस्ता' कहते है। अवेस्ता या 'ज़ेद अवेस्ता' नाम से भी धार्मिक भाषा और धर्मग्रथो का बोध होता हे। उपलब्ध साहित्य मे इसका प्रमाण नही मिलता कि पैगबर अथवा उनके समकालीन अनुयायियो के लेखन अथवा बोलचाल की भाषा का नाम क्या था। परतु परपरा से यह सिद्ध हे कि उस भाषा और साहित्य का भी नाम 'अविस्तक' था। अनुमान हे कि इस शब्द के मूल मे 'विद्' (जानना) धातु है जिसका अभिप्राय ज्ञान अथवा बुद्धि है।

बहुत प्राचीन काल मे आर्य जाति अपने प्राचीन आवास 'आर्य वजेह' (आर्यो की आदिभूमि) मे रहा करती थी जो सुदूर उत्तरी प्रदेश मे अवस्थित था 'जहाँ का वर्ष एक दिन के बराबर' होता था। उस स्थान को निश्चयात्मक रूप से बतला पाना कठिन है। बाल गगाधर तिलक ने अपने ग्रथ 'दि आर्कटिक होम' मे इस भूमि को उत्तरी ध्रुव प्रदेश में बतलाया है जहाँ से आर्यो ने पामीर की श्रृखला मे प्रवास किया। बहुत समय पर्यत एक सुगठित जन के रूप मे वे एक स्थान में रहे, एक ही भाषा बोलते, विश्वासो, रीतियो और परपराओ का समान रूप से पालन करते रहे। जनसख्या मे वृद्धि तथा उत्तरी प्रदेश के शीत तथा अन्य कारणो ने उनकी श्रृखला छिन्न भिन्न कर दी। आर्यजन के विविध कुलो मे दो कुलो के लोग, जो आगे चलकर भारतीय (इडियन) और ईरानी शाखाओ के नाम से विख्यात हुए, पूर्वी ईरान में दीर्घ काल तक और निकटतम सपर्क मे रहे। आगे चलकर एक जत्थे ने हिंदूकुश की पर्वतमाला पारकर पजाब मे लगभग २००० ई० पू० प्रवेश किया। शेष जन आर्यो की आदिभूमि की परपरा का निर्वाह करते हुए ईरान मे ही रह गए। अवेस्ता, विशेषत अवेस्ता के गाथासाहित्य और वैदिक सस्कृत मे निकटतम समानता वर्तमान है। भेद केवल ध्वन्यात्मक (फोनेटिक) और निरुक्तगत (लेक्सिकोग्राफिकल) है। दो बहन भाषाओ के व्याकरण और रचना-क्रम (सिंटैक्स) में भी निकट साम्य है।

ईरान और भारत दोनो ही देशो मे लेखन के आविष्कार के पूर्व मौखिक परपरा विद्यमान थी। अवेस्ता ग्रथो में मौखिक शब्दो, छदो, स्वरो, भाष्यो एव प्रश्नो और उत्तरो का उल्लेख हुआ है। एक ग्रथ (यस्न, २९ ८) में अहुरमज्द अपने सदेशवाहक जरथुस्त्र को वाणी की सपत्ति प्रदान करते है क्योकि 'मानव जाति मे केवल उन्होने ही दैवी सदेश प्राप्त किया था जिसे उन्हे मानवो के बीच ले जाना था।' ज्ञान के देवता ने 'उन्हे सच्चा 'अथ्रवन' (पुरोहित) कहा है जो सारी रात ध्यानावस्थित रहकर और अध्ययन मे समय बिताकर सीखे गए पाठ को जनता के बीच ले जाते है।' प्राचीन भारत के ब्राह्मणो की तरह अथ्रवन ही प्राचीन ईरान मे शिक्षा तथा धर्मोपदेश के एक मात्र अधिकारी समझे जाते थे। इन पुरोहितो मे वशानुगत रूप से धर्मग्रथो की मौखिक परपरा चली आया करती थी।

पैगबर के स्तवन—"गाथाएँ" गाथा मे, जो बोलचाल की भाषा थी, पाए जाते है और जनश्रुति तथा शास्त्रीय साहित्य के अनुसार जरथुस्त्र को अनेक ग्रथो का रचयिता बतलाया जाता है। अरब इतिहासकारो का कथन है कि ये ग्रथ १२००० गाय के चर्मो पर अकित थे। प्राचीन ईरानी तथा आधुनिक पारसी लेखको के अनुसार पैगबर ने इक्कीस 'नस्क' अथवा ग्रथ लिखे थे। ऐसा कहा जाता है कि सम्राट् विश्तास्प ने दो यथातथ्य अनुलेख इन ग्रथो का कराकर दो पुस्तकालयो मे सगृहीत किया था। एक अनुलेखवाली सामग्री अग्नि मे भस्म हो गई जब पर्सीपोलिस का राजप्रासाद सिकदर ने जला दिया और दूसरी अनुलेख की सामग्री साहित्यिक विवरणो के आधार पर विजेता सैनिक अपने देश को लेते गए जहाँ उसका अनुवाद यूनानी भाषा मे हुआ। प्रारभिक ससानी काल मे सग्रहीत ये बिखरे हुए ग्रथ फिर सातवी शती मे ईरानी साम्राज्य के ह्रास के कारण विलुप्त होकर कुल साहित्य वर्तमान समय मे केवल लगभग ८३,००० पद्यो मे उपलब्ध रह गया है जब कि मौलिक पद्यो की सख्या २०,००,००० थी, जिसके बारे मे प्लिनी का कथन है कि महान् दार्शनिक हर्मिप्पस ने ईसा की शताब्दी के प्रारभ से तीन शती पूर्व अध्ययन कर डाला था।

अवेस्ता भाषा का धीरे धीरे अखामनी साम्राज्य के ह्रास के कारण उत्पन्न हुए ईरान मे उथल पुथल के कारण ह्रास प्रारभ हो गया। जब उसका प्रचार बिलकुल लुप्त हो गया, अवेस्ता ग्रथो के अनुवाद और भाष्य 'पहलवी' भाषा मे प्रस्तुत किए जाने लगे। इस भाषा की उत्पत्ति इसी काल मे हुई जो ससानीयो की राजभाषा बन गई। उन भाष्यो को पहलवी मे जेंद कहा जाता है और व्याख्याएँ अब 'अवेस्तक-उ-जद' अथवा अवेस्ता तथा उसके भाष्य के नाम से विख्यात है। विपर्यय से इसी को 'जेन्द-अवेस्ता' कहा गया। अनुमान किया गया है कि धार्मिक विषयो पर रचित पहलवी ग्रथ, जो विनाश से बच रहे उनकी शब्दसख्या ४४,६०,०० के लगभग होगी।

पहलवी का प्रचार आधुनिक पारसी वर्णमाला के प्रारभ से बिलकुल कम हो गया। उसका लिखित स्वरूप आर्य एव सामी बनावट का मिश्रण था। सामी शब्दो को हटाकर उनके स्थानो में उनका ईरानी पर्यायवाची शब्द रखकर उसका साधारणीकरण किया गया था। कालातर मे पहलवी ग्रथो को जब समझाने की आवश्यकता का अनुमव किया गया, हुजवर शब्दो को हटाकर उनके स्थान पर ईरानी पर्यायवाची रखकर दुरूह पहलवी भाषा भी सीधी बनाई गई। अपेक्षाकृत सरल की गई भाषा और आगे रचित भाष्य एव व्याख्याएँ 'पज़द' (अवेस्ता की पैंती-ज़ैती) के नाम से विख्यात हुई। पजद के ग्रथ अवेस्ता वर्ण-मालाओ मे अकित हुए जिस प्रकार ईरान में अरबी वर्णमाला के साथ पहलवी लिपि का ह्रास हुआ।

पज़द भाषा ही आगे चलकर पहलवी तथा आधुनिक फारसी के बीच की कडी बनी। अतिम ज़रथुस्त्र साम्राज्य के ह्रास के अनतर विजेताओ की अरबी लिपि ने अवेस्ता की पहलवी लिपि को उत्क्षिप्त कर दिया। अरबी अक्षर आधुनिक फारसी वर्णमाला के अक्षर मान लिए गए जिसका प्रचार

पारायण किया जाता था। एक साल तक निर्विघ्न घूमने के बाद जब घोडा सकुशल लौट आता था तब राजा दीक्षा ग्रहण करता था। अश्वमेध तीन सुत्या दिवसो का अहीन याग था। 'सुत्या' से अभिप्राय सोमलता को कूटकर सोम रस चुलाने से था (सवन, अभिपव)। इसमे बारह दीक्षाएँ, बारह उपसद और तीन सुत्याएँ होती थी। इक्कीस अरत्नि ऊँचे इक्कीस यूप प्रस्तुत किए जाते थे।

दूसरा सुत्यादिवस प्रधान और विशेष महत्वशाली होता था। उस दिन अश्वमेधीय अश्व को अन्य तीन घोडो के साथ रथ में जोतकर तालाब मे स्नान कराया जाता था। रानियाँ उसके शरीर मे घी मलती थी। तब वह अश्व विषप्रयोग से मारा जाता था। रानियाँ बाईं से दाहिनी और दाहिनी से बाईं ओर उसकी प्रदक्षिणा करती थी। शव के पास अभिषिक्त रानी लेटती थी। अध्वर्यु दोनो को कपडे से ढक देता और रानी घोडे के साथ सभोग करती सी दर्शायी जाती। इस अवसर पर चारो ऋत्विज् रानियो के साथ अश्लील कथोपकथन मे प्रवृत्त होते थे। अश्व की वसा निकालकर अग्नि में हवन करते थे और **ब्रह्मोद्य** की चर्चा होती थी। ब्रह्मोद्य से तात्पर्य गूढ पहेलियो का पूछना और बूझना होता है। तब राजा व्याघ्रचर्म या सिहचर्म पर बैठता था। तीसरे दिन उपाग याग होते थे और ऋत्विजो को भूरि दक्षिणा दी जाती थी। होता, ब्रह्मा, अध्वर्यु तथा उद्गाता को पूरब, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशाओ मे विजित देशो की सपत्ति क्रमश दक्षिणा मे दी जाती थी और अश्वमेध समाप्त हो जाता था।

महत्व—अश्वमेध एक प्रतीकात्मक याग है जिसके प्रत्येक अश का गूढ रहस्य है। ऐतरेय ब्राह्मण मे अश्वमेधयागी प्राचीन चक्रवर्ती नरेशो का बडा ही महत्वशाली ऐतिहासिक निर्देश है। ऐतिहासिक काल मे भी ब्राह्मण राजाओ ने या वैदिकधर्मानुयायी राजाओ ने अश्वमेध का विधान बडे ही उत्साह के साथ किया। राजा दशरथ तथा युधिष्ठिर के अश्वमेध प्राचीन काल में सपन्न हुए कहे जाते हैं। द्वितीय शती ई० पू० में ब्राह्मण पुनर्जागृति के समय शुगवशी ब्राह्मणनरेश पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध किया था, जिसमे महाभाष्यकार पतजलि स्वय उपस्थित थे (इह पुष्यमित्र याजयाम)। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने भी चौथी सदी ई० मे अश्वमेध किया था जिसका परिचय उनकी अश्वमेधीय मुद्राओ से मिलता है। दक्षिण के चालुक्य और यादव नरेशो ने भी यह परपरा जारी रखी। इस परपरा के पोषक सबसे अतिम राजा, जयपुर के महाराज सवाई जयसिह प्रतीत होते है, जिनके यज्ञ का वर्णन कृष्ण कवि ने 'ईश्वरविलास काव्य' मे तथा महानद पाठक ने अपनी 'अश्वमेधपद्धति' मे (जो किसी राजेद्र वर्मा की आज्ञा से सकलित अपने विषय की अत्यत विस्तृत पुस्तक है) किया है। युधिष्ठिर के अश्वमेध का विस्तृत रोचक वर्णन 'जैमिनि अश्वमेध' में मिलता है।

सं० ग्र०—डा० कीथ रिलिजन ऐड फिलॉसफी ऑव वेद ऐड उपनिषद् (द्वितीय भाग), लदन, १९२५, काणे हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र, (खड २, भाग २), पूना, १९४१। [ब० उ०]

अश्ववंश खुरवाले चौपायो का एक वश है जिसे लैटिन मे इक्विडी कहते है। इस वश के सब सदस्यो में खुरो की सख्या विषम (ताक)—एक अथवा तीन—रहने से इनको विषमागुल (पेरिसोडैक्टिल) कहते है। अश्ववश मे केवल एक प्रजाति (जीनस) है, जिसमे घोडे, गदहे और जेबरा है। इनके अतिरिक्त इस प्रजाति मे वे सब लुप्त जतु भी है जो घोडे के पूर्वज माने जाते है। अन्य विषमागुल जीवो—गैंडो और टेपिरो—की अपेक्षा अश्ववश के जतु अधिक छरहरे और फुर्तीले शरीर के होते है। वैज्ञानिको का विश्वास है कि आरभ मे घोडे भी मदगामी और पत्ती खानेवाले जीव थे। जैसे जैसे नीची पत्तियो की कमी पडती गई वैसे वैसे घोडे अधिकाधिक घास खाने लगे। तब उनके दाँतो का विकास इस प्रकार हुआ कि वे कडी कडी घासे अच्छी तरह चबा सके। इधर भेडिये आदि हिसक जीवो से बचने के लिये उनके चारो पैरो की अगुलियो का तथा टाँग और सारे शरीर का ऐसा विकास हुआ कि वे वेग से भागकर अपने को बचा सके। इस प्रकार उनके पैरो की अगल बगलवाली अगुलियाँ छोटी होती गई और बीच की अगुली एकल खुर मे परिणत हो गई। भूमि मे मिले जीवाश्मो से इस सिद्धात का पूरा समर्थन होता है। घोडे की प्राचीनतम ठटरी जीवाश्म (फॉसिल) के रूप मे प्रादिनूतन युग के आरभ के पत्थरो मे मिलती है। तब घोडे आजकल की लोमडी के बराबर होते थे, उनके अगले पैरो में पाँच अगुलियाँ होती थी, पिछले मे तीन। चौभड शरीर के आकार के अनुपात मे छोटे क्षेत्रफल के होते थे और सामने के दाँत भी छोटे और सरल होते थे। प्रादिनूतन काल के आरभ से आज तक लगभग साढे पाँच करोड वर्ष बीत चुके हैं (देखे **अतिनूतन युग** शीर्षक लेख का चित्र)। इस दीर्घकाल मे घोडो के अनेक जीवाश्म मिले है, जिनसे पता चलता है कि घोडो
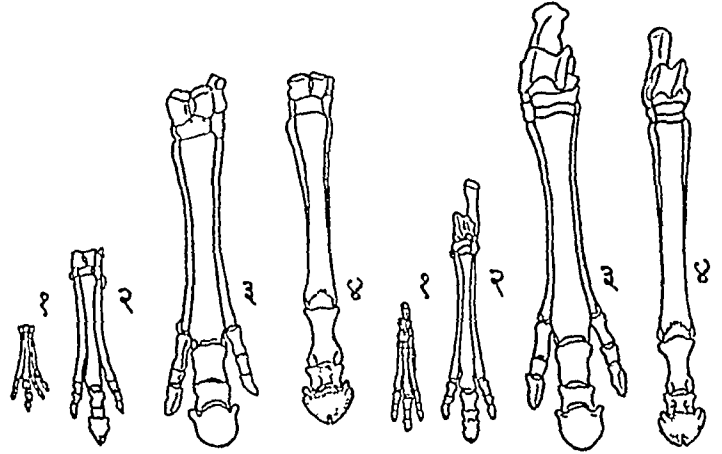
घोडे के खुरो का उद्भव

बाईं ओर अगले और दाहिनी ओर पिछले पैरो का क्रमिक विकास दिखाया गया है।

के दातो में और टॉगो मे तथा खुरो मे किस प्रकार क्रमिक विकास होकर आज का सुदर, पुष्ट, तीव्रगामी और घास चरनेवाला घोडा उत्पन्न हुआ है। मध्यप्रादिनूतन युग मे अगले पैर की पाँचवी अगुली बेकार नही हुई थी, परतु चौभड कुछ चौडे अवश्य हो गए थे। आदिनूतन युग मे चौभड के बगलवाले दाँत भी चौभड की तरह चौडे हो चले थे। सामने के टाँग की अगुलियो मे केवल तीन ही अगुलियाँ काम कर पाती थी, अगल बगल की अगुलियाँ इतनी छोटी हो गई थी कि वे भूमि को छू भी नही पाती थी। बीच की अगुली बहुत मोटी और पुष्ट हो गई थी। मध्यनूतनयुग मे दाँत पहले से बडे हो गए और चौभड के बगलवाले दाँत चौभड की तरह हो गए। सामने के पैर की बीचवाली अगुली खुर मे बदल गई और अगल बगल की कोई अगुली भूमि को नही छू पाती थी।

आदिनूतन युग मे दाँत और लबे हो गए और उनकी आकृति आधुनिक घोडो के दाँतो की तरह हो गई। सामने का खुर और भी बडा हो गया और अगल बगल की अगुलियाँ अधिक छोटी और बेकार हो गई।

प्रादिनूतन युग मे घोडा आधुनिक घोडे की तरह हो गया। उसके जीवाश्म उस युग के पत्थरो मे अमरीका मे मिले है। इस काल से पीछे के पत्थरो मे घोडे के जीवाश्म भारत तथा एशिया के अन्य भागो और अफ्रीका मे बहुतायत से मिले है।
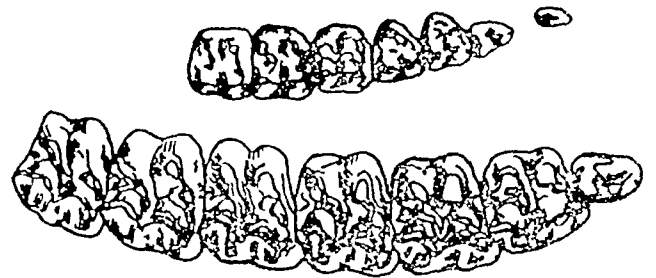
घोडे के दाँतों का विकास

ऊपर के चित्र में प्राचीन घोडे के छोटे तथा सीमेंट विहीन चौभड दिखाए गए है। नीचे आधुनिक घोडे के पूर्ण विकसित तथा सीमेंट से आवृत चौभड दिखाए गए है।

जब तक दाँतो और खुरो का विकास होता रहा तब तक शरीर के आकार में भी वृद्धि होती रही। ग्रीवा की कशेरुका (रीढ) और मुख की ओर की खोपडी भी बढती गई, इसलिये घोडे की आकृति भी बदलती गई।

धर्मलेख और धर्मपर्यायो के उल्लेख से स्पष्ट है। किंतु अपने प्रचार मे वह सर्वमान्य नैतिक सिद्धातो पर ही जोर देता था, जिनका सभी धर्मो से मेल हो सकता था। इसके विधि और निषेध दो अग थे। अपने द्वितीय तथा सप्तम स्तभलेख में उसने साधुता (बहुकल्याण), अल्पपाप, दया, दान, सत्य, शौच, मार्दव आदि को विधेयात्मक धर्म का गुण माना है। व्यवहार मे इनका कार्यान्विय प्राणियो के अवध, भूतो के प्रति अहिंसा, माता पिता की शुश्रूषा, स्थविरो की शुश्रूषा, गुरुओ के प्रति आदरभाव, मित्र-परिचित-जाति तथा ब्राह्मण-श्रमणो को दान तथा उनके साथ सुष्ठु व्यवहार, दास तथा भृत्य के साथ सुदर वर्ताव, अल्पभाडता (कम सग्रह) और अल्पव्ययता के द्वारा अशोक ने बतलाया। इसी को वह धर्ममगल, धर्मदान और धर्मविजय कहता है। तृतीय स्तभलेख मे धर्म के निषेधात्मक अग का वर्णन करते हुए चडता, निष्ठुरता, क्रोध, अभिमान, ईर्षा आदि के परित्याग का उपदेश किया गया है। धार्मिक जीवन के विकास के लिये प्रत्यवेक्षा (आत्म-निरीक्षण) की आवश्यकता बतलाई गई है। सप्तम तथा द्वादश शिलालेखो में अशोक ने धार्मिक सहअस्तित्व तथा धार्मिक समता का उपदेश किया है और वाक्सयम एव भावशुद्धि पर जोर दिया है। अशोक के धर्म की विशेषताओ मे नैतिकता, सारवत्ता, सार्वजनीनता, उदारता एव समता मुख्य हैं।

इसी नैतिक धर्म के प्रचार को धर्मविजय कहा गया है। यह धर्मविजय परपरागत धर्मविजय से भिन्न था। परपरागत धर्मविजय का अर्थ था भूमि एव धन के लोभ के बिना अपनी सैनिक शक्ति से चक्रवर्तित्व अथवा देश-व्यापी साम्राज्य के लिये अन्य राज्यो के ऊपर विजय प्राप्त करना, इसमे बल और हिंसा का प्रयोग होता था। अशोक की धर्मविजय वास्तव मे रण-विजय नही, भारत तथा दूसरे देशो और राज्यो पर नीति, शाति और सेवा के द्वारा धर्म की विजय थी।

धर्मविजय की प्राप्ति के लिये कई साधनो का अवलबन किया गया। नैतिक शिक्षाओ को स्थायी रूप से प्रजा के पास पहुँचाने के लिये धर्मलेखो का प्रवर्तन हुआ जो पर्वतशिलाओ, प्रस्तरस्तभो और गुहाओ मे अकित किए गए। धर्मलेखो की गणना इस प्रकार है १० शिलालेख—(अ) चोदह प्रमुख, (आ) पृथक् कलिंग अभिलेख, (इ) लघु शिलालेख (सहसराम, रूपनाथ, बैराट, सिद्धपुर, जातिंग-रामेश्वर, ब्रह्मगिरि, मास्की), २० स्तभलेख—(अ) सात प्रमुख, (आ) लघु स्तभलख (प्रयाग, साँची, सारनाथ, रुम्मिनदेई तथा निगलीव), ३० गुहालेख—(बराबर तथा नागार्जुनी की पहाडियो में)। धर्मप्रचार का दूसरा साधन 'अनुसधान' था। नियमित रूप से अशोक और उसके मुख्य अधिकारी विविध जनपदो मे जनता से सपर्क स्थापित करने के लिये यात्रा करते थे। इसका उद्देश्य उसी के शब्दो मे "जनस्य जानपदस्य दर्शनम्" (जनपदो तथा जनता का दर्शन) था। तीसरा साधन 'श्रावण' था। इसके अतर्गत धार्मिक तथा नैतिक विषयो पर कथावार्ता का आयोजन किया जाता था। इसके अतिरिक्त विहारयात्रा के स्थान पर धर्मयात्रा (तीर्थस्थानो और धार्मिक कार्यक्रम के लिये) और विलासपूर्ण समाजो के स्थान पर धर्मसमाज (सतो अथवा धार्मिक प्रयोजन के लिये) व्यवस्था हुई। हस्तिस्कध तथा ज्योतिस्कध आदि स्वर्गीय दृश्यो का प्रदर्शन जनता का ध्यान धार्मिक जीवन से उत्पन्न पुण्यो की ओर आकृष्ट करने के लिये किया जाता था। लोकोपकारी कार्यो का समावेश भी धर्म-विजय मे किया गया। सडको का निर्माण, उनके किनारे वृक्षो का आरोपण, पाथशालाओ और प्याउओ का आयोजन, सुरक्षा आदि का समुचित प्रबध था। मनुष्यचिकित्सा एव पशुचिकित्सा की व्यवस्था भी राज्य की ओर से थी। ओषधियो के उद्यान लगाए गए। जो ओषधियाँ अपने देश मे नही होती थी, वे विदेशो से मँगाकर लगाई गई। अनेक स्तूपो, चैत्यो, विहारो और स्तभो का निर्माण भी धर्म की स्थापना के लिये किया गया।

धर्मविजय के लिये प्रचारकसघ का भी सगठन हुआ। धर्मविजय की कोई भौगोलिक सीमा नही थी। इसलिये धर्मचक्र का प्रवर्तन देश विदेश दोनो मे हुआ। अशोक की लोकसेवा का क्षेत्र अपने राज्य तक ही सकुचित नही था। उसके प्रचार के क्षेत्रो को निम्नलिखित भागो मे बाँटा जा सकता है (१) साम्राज्य के अतर्गत विभिन्न प्रदेश, (२) साम्राज्य के सीमात प्रदेश और जातियाँ—यवन, काबोज, गाधार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आध्र, पुलिद, (३) साम्राज्य की जगली और पिछडी हुई जातियाँ, (४) दक्षिण भारत के अर्धस्वाधीन राज्य, (५) लका (ताम्रपर्णि), (६) सीरिया, मिस्र, साइरीनी, मकदूनियाँ और एपिरस आदि यवन देश। इतने बडे पैमाने पर पहले कभी नीति और धर्म का प्रचार नही हुआ था।

अशोक के धार्मिक प्रचार से कला को बहुत ही प्रोत्साहन मिला। अपने धर्मलेखो के अकन के लिये उसने ब्राह्मी और खरोष्ठी दो लिपियो का उपयोग किया और सपूर्ण देश मे व्यापक रूप से लेखनकला का प्रचार हुआ। धार्मिक स्थापत्य और मूर्तिकला का अभूतपूर्व विकास अशोक के समय मे हुआ। परपरा के अनुसार उसने तीन वर्ष के अतर्गत चौरासी हजार स्तूपो का निर्माण कराया। इनमे से ऋषिपत्तन (सारनाथ) मे उसके द्वारा निर्मित धर्म-राजिका स्तूप का भग्नावशेष अब भी द्रष्टव्य है। इसी प्रकार उसने अगणित चैत्यो और विहारो का निर्माण कराया। अशोक ने देश के विभिन्न भागो मे प्रमुख राजपथो और मार्गों पर धर्मस्तभ स्थापित किया। अपनी मूर्तिकला के कारण ये स्तभ बहुत ही महत्व के हैं। इनमे सारनाथ का सिंहशीर्ष स्तभ सबसे अधिक प्रसिद्ध है। स्तभनिर्माण की कला पुष्ट नियोजन, सूक्ष्म अनुपात, सतुलित कल्पना, निश्चित उद्देश्य की सफलता, सौदर्यशास्त्रीय उच्चता तथा धार्मिक प्रतीकत्व के लिये अशोक के समय अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी। इन स्तभो का उपयोग स्थापत्यात्मक न होकर स्मारकात्मक था। सारनाथ का स्तभ धर्मचक्रप्रवर्तन की घटना का स्मारक था और धर्मसघ की अक्षुण्णता बनाए रखने के लिये इसकी स्थापना हुई थी। यह चुनार के बलुआ पत्थर के लगभग ४५ फुट लबे प्रस्तरखड का बना हुआ है। धरती में गडे हुए आधार को छोडकर इसका दड गोलाकार है, जो ऊपर की ओर क्रमश पतला होता जाता है। दड के ऊपर इसका कठ और कठ के ऊपर शीर्ष है। कठ के नीचे प्रलबित दलोवाला उलटा कमल है। गोलाकार कठ चक्र से चार भागो मे विभक्त है। उनमें क्रमश हाथी, घोडा, बैल तथा सिंह की सजीव प्रतिकृतियाँ उभरी हुई हैं। कठ के ऊपर शीर्ष मे चार सिंह-मूर्तियाँ हैं जो पृष्ठत एक दूसरी से जुडी हुई हैं। इन चारो के बीच मे एक छोटा दड था जो धर्मचक्र को धारण करता था। अपने मूर्तन और पालिश की दृष्टि से यह स्तभ अद्भुत है। इस समय स्तभ का निचला भाग अपने मूल स्थान मे है। शेष सग्रहालय मे रखा है। धर्मचक्र के केवल कुछ टुकडे उपलब्ध हुए। चक्ररहित सिंहशीर्ष ही आज भारत गणतत्र का राज्यचिह्न है। चक्र वैदिक ऋत से विकसित धर्म की कल्पना का प्रतीक है, जो सपूर्ण आकाश में गतिशील रहता है। उसका सिंहनाद चारो दिशाओ मे चारो सिंह करते हैं। कठ पर उभारे गतिशील चारो पशु धर्मप्रवर्तन के प्रतीक हैं। प्रलबित कमल भारत के दार्शनिक रहस्यवाद का आधार है।

अशोक की धार्मिक नीति के प्रभाव के सबध मे इतिहासकारो मे काफी मतभेद है। परतु इस नीति के लाभ और हानि दोनो पक्षो की तुलना बहुत ही महत्वपूर्ण एव मनोरजक है। अशोक की धर्मविजय की नीति के द्वारा सपूर्ण देश तथा पडोसी अन्य देशो मे समाजिक प्रवृत्तियो को पूरा प्रोत्साहन मिला। एक लिपि ब्राह्मी तथा एक भाषा पालि का आजकल की हिंदी की भाँति एकीकरण के माध्यम के रूप मे सर्वत्र प्रचार हुआ। धर्म के माध्यम के रूप मे स्थापत्य तथा मूर्तिकला विकसित, समृद्ध एव प्रसारित हुई। धार्मिक सहअस्तित्व, सहिष्णुता, उदारता, और समता का प्रचार हुआ। नैतिकता, विश्वबधुत्व और अतर्राष्ट्रीयता को प्रश्रय मिला और इनके द्वारा भारत को अतर्राष्ट्रीय जगत् मे ऊँचा पद प्राप्त हुआ। अशोक की धार्मिक नीति से य प्रभूत लाभ हुए। राजनीतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से कई इतिहासकारो के मतो मे कई हानियाँ हुई। इसके द्वारा भारत का राजनीतिक विस्तार रुक गया, यदि उसने चद्रगुप्त की नीति का अवलबन किया होता तो मकदूनी या रोमन साम्राज्य के समान एक विशाल भारतीय साम्राज्य की स्थापना हुई होती। राजनीति का विस्तार रुक जाने से राजनीतिक चितन भी शिथिल हो गया, अत चाणक्य के बाद राजनीति शास्त्र मे कोई प्रौढ आचार्य नही मिलता। दिग्विजयिनी मौर्य सेना स्कधावारो मे पडी पडी निष्क्रिय हो गई थी—इसीलिये यवन (यूनानी) आक्रमणो के सामने वह पुन ठहर न सकी। अशोक की नीति ने भारतीयो के स्वभाव को कोमल बना दिया और उन्हे इहलौकिक और

का ग्रहण नमस्ना चाहिए, भविष्यपुराण के एक वचन के आधार पर हेमाद्रि का ऐसा निर्णय है। [द० उ०]

अष्टपाद (ऐरैकनिडा) संधिपाद (आर्थोपोडा) प्राणि समुदाय (फाइलम) की एक श्रेणी है जिसके अंतर्गत नृप केकडा, मकडी, बिच्छू, चिचिकाएँ (माइट) तथा किलनी या चिचडियाँ (टिक) आती है। इनमे चलने के लिये आठ टाँगे होती हैं, इसीलिये ये अष्टपाद कहलाते हैं। षट्पाद श्रेणी के सदस्य कीट श्रेणी के सदस्यो से भिन्न होते है। अष्टपादो की निम्नलिखित रचनात्मक विशेषताएँ हैं

शरीर दो मुख्य भागो मे विभक्त होता है। सिर तथा वक्ष दोनो के विलीयमान होने से अग्रभाग शिरोर (सेफालोथोरैक्स) तथा पश्चभाग उदर कहलाता है आँखें सरल होती हैं जिनकी संख्या २ से १२ तक होती है शिरोर में छ जोडे अनुबंध (शरीर से जुडे भाग) होते हैं, जिनमे प्रथम दो जोडे ग्राहिका (केलिसेरा) और पादस्पर्शभृंग (पेडिपैल्पस) के होते हैं। ये शिकार को घेरने तथा पकडने के काम आते हैं और अन्य शेष चार जोडे चलनेवाली टाँगे होती हैं। सभी अष्टपाद भोजन को चूसकर खानेवाले प्राणी होते हैं, अतएव उनमे हन्विकाएँ (मैंडिबुल्स अथवा जबडे) विद्यमान नही होती स्पर्शक (ऐंटेनी) का अभाव होता है तथा अधिकाश मे उदर पर कोई अनुबंध नही होता।

श्वास प्राय पुस्तक फुफ्फुस (बुक लग्स) द्वारा लिया जाता है (पुस्तक फुफ्फुस एक प्रकार का कोष्ठकमय श्वासपथ है। ये कोष्ठक औदरिक तल पर गड्ढो मे स्थित रहते हैं, उनमे पुस्तक के पृष्ठो की भाँति कई पतले पत्रक होते है जिनमे होकर रक्त का परिभ्रमण होता रहता है)। इस समुदाय के सदस्य प्राय मांसाहारी होते हैं। बिच्छू मे विषग्रंथियाँ होती है, जो एक खोखले डंक से संबद्ध रहती हैं।

अष्टपादो की कई जातियाँ अत्यंत प्राचीन शिलाओ मे जीवाश्म के रूप मे पाई गई हैं। वे नि संदेह प्रवालादि युग (सिल्यूरियन पीरियड) मे प्राय आज की सी ही आकृति मे विद्यमान थी। अष्टपादो की लगभग ६०,००० जातियाँ (स्पीशीज) हैं।

अष्टपाद श्रेणी निम्नलिखित नौ मुख्य वर्गों मे विभाजित की जा सकती है (१) स्कॉर्पियोनाइडिया (बिच्छू वर्ग), (२) पेडीपालपाइडा (ह्विप स्कॉर्पियन, चाबुकदार बिच्छू), (३) ऐरेनिडा अथवा मकडियाँ; (४) पाल्पीरेडी अथवा कोनेनिया, (५) सोलीफ्यूगी अथवा केलोनेथी अर्थात् वायुबिच्छू, (६) स्यूडोस्कॉर्पियोनाइडिया या मिथ्या बिच्छू या पुस्तक बिच्छू, (७) रिसिन्यूलिपाइ या क्रिप्टोसिलस, (८) फैलेनजाइडिया या लवन मकडिया, (९) ऐकैरीना (अल्पिकाएँ, किलनियाँ या चिचडियाँ)। इनके अतिरिक्त दो अन्य संदेहात्मक वर्ग (१०) जिफोसुरा या नृप केकडा (किंग कैब) और (११) इउरीटेरिडा है।

चित्र १ बिच्छू

वर्ग (१). स्कॉर्पियोनाइडिया (बिच्छू वर्ग)—इस वर्ग के अंतर्गत वे अष्टपाद आते हैं जिनका शरीर दो भागो एक निरंतर शिरोर तथा दूसरा उदर में बँटा होता है। उदर का अग्रभाग सात चौडे खडो का तथा पश्चभाग पाँच संकीर्ण खडो का और अंतिम पुच्छीय खड डंक का पुच्छदंडप्रस्त होता है। ग्राहिकाएँ छोटी और नखरी (चीमेट नख की तरह) होती हैं, पादस्पर्शभृंग बडे तथा नखरयुक्त होते हैं। अग्र उदर के दूसरे खड के पृष्ठभाग मे एक जोडे कंघी के सदृश कंकताग (पेक्टिस) होते है। श्वसन कार्य चार जोडे पुस्तक फुफ्फुसो द्वारा होता है। पुस्तक फुफ्फुस प्राय उदर के तीसरे चौथे पाँचवें तथा छठे खडो मे स्थित रहते हैं।
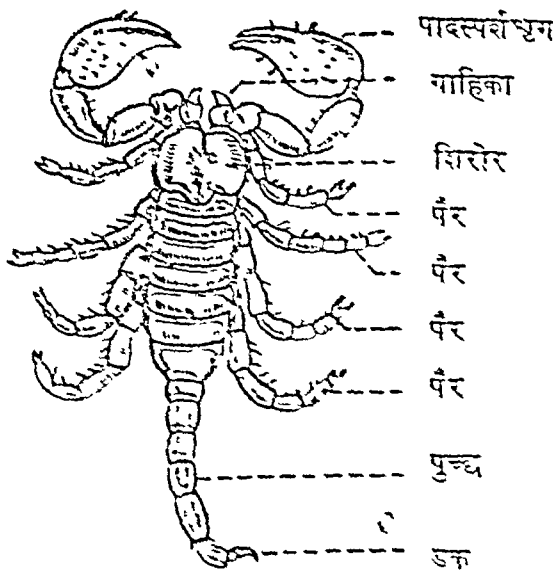
इस वर्ग के अंतर्गत बिच्छू आते हैं जिनका वर्णन अन्यत्र किया गया है (देखे बिच्छू)।

वर्ग (२) पेडीपालपीडा—ये वे अष्टपाद हैं जिनका शरीर प्राय अखड शिरोर तथा नौ से लेकर बारह चिपटे उदर खडो तक का बना होता है, उदर शिरोर से एक संकीर्ण ग्रीवा द्वारा जुडा रहता है, ग्राहिकाएँ सरल और पादस्पर्शभृंग भी सरल एव नखरी होते है। प्रथम जोडे पाद के अंतिम सिरे पर बहुसंधित कशा (चाबुक या कोडा) होती है। उदर के दूसरे तथा तीसरे खडो मे स्थित दो जोडे पुस्तक फुफ्फुस ही श्वसन के अवयव होते हैं।

चित्र २. मकडी
(एरेनिया डायेडिमाटा)

इस वर्ग के अंतर्गत फाइनिकस (बिच्छू-मकडियाँ) आती है।

वर्ग (३). ऐरेनिडा—इस वर्ग के उदाहरण मकडियाँ है, जिनका वर्णन अन्यत्र किया गया है (देखे मकड़ी)।
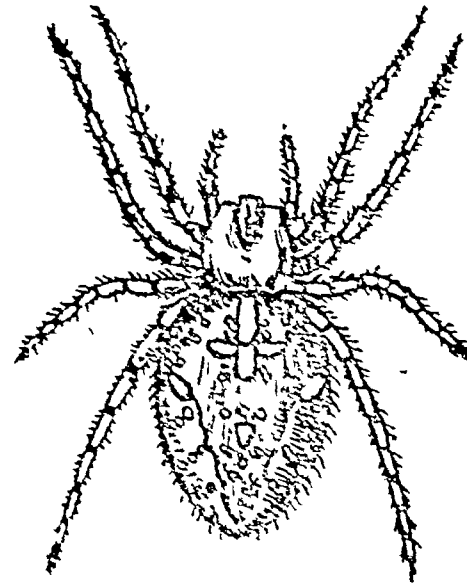
वर्ग (४). पाल्पीग्रेडी—ये वे अष्टपाद है जिनके शिरोर के अंतिम दो खंड स्वतंत्र होते हैं, उदर दस खडो मे विभक्त होता है और शिरोर से ग्रीवा द्वारा जुडा होता है, पुच्छ-कटक लंबे संधित कशा (फ्लगेलम) के आकार का होता है। ग्राहिकाएँ नखरी तथा पादस्पर्शभृंग पाद के सदृश होते हैं। श्वसन अवयव तीन जुडे पुस्तक फुफ्फुसो का होता है।

इस वर्ग के अंतर्गत कोनेनिया आता है।

वर्ग (५). सोलिफ्यूजी—ये वे अष्टपाद है जिनका शरीर तीन भागो मे, सिर, वक्ष (तीन खडो का) तथा उदर (दस खंडो) मे बँटा रहता है। ग्राहिका नखरी होती है, पादस्पर्शभृंग लंबे तथा पाद जैसे होते हैं। श्वसन अंग श्वासप्रणाल (ट्रैकिई) ही होता है।

चित्र ३. मकडी और उसका जाला

इसी वर्ग के अंतर्गत गेलियोडिस आता है।

वर्ग (६). स्यूडोस्कॉर्पियोनाइडा (मिथ्या बिच्छू अथवा कैलोनेथी)—वे अष्टपाद है जिनमें शिरोर लगातार (अटूट) होता है, परंतु कभी कभी पृष्ठ भाग में दो अनुप्रस्थ कुल्या (ग्रूव्ज) द्वारा विभाजित होता है। उदर बारह खडो में विभाजित रहता है, किंतु वह अग्र तथा पश्च उदर में बँटा नही रहता और डंक रहित होता है। ग्राहिकाएँ बहुत छोटी और पादस्पर्शभृंग बिच्छू जैसे होते हैं।
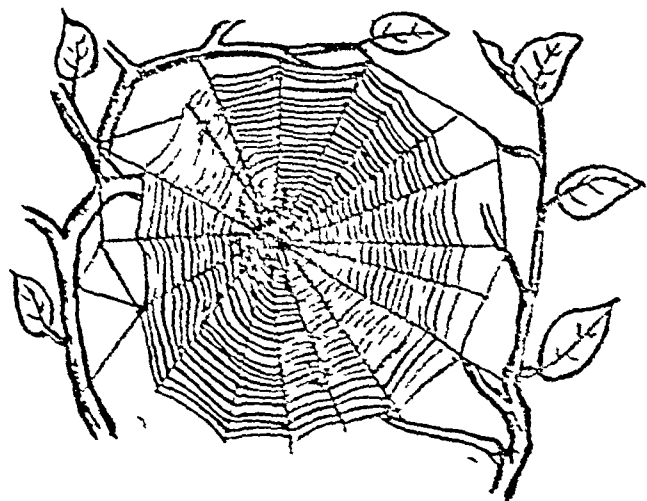
द्वारा उदर के निचले भाग में भगसधानिका के ऊपर मध्यरेखा मे तीन इच लवा छेदन करके मूत्राशय के स्पष्ट हो जाने पर उसका भी छेदन करके अश्मरी को सदश से पकडकर निकाल लेते है और फिर मूत्राशय तथा उदर के छिन्न भागो को सी देते हैं।

वृक्क की अश्मरी—वृक्क के प्रातस्थ भाग मे या श्रोणि (पेल्विस) मे स्थित, वडे आकार की अश्मरी से, जिसके कुछ भाग वृक्कवस्तु मे धँसे हो, कोई लक्षण नही उत्पन्न होते। ऐसी अश्मरियाँ शात अश्मरियाँ कहलाती हैं। छोटी चलायमान अश्मरियाँ दारुण पीडा का कारण होती है।

अश्मरी के निर्माण के कारणो का अभी तक पूर्ण ज्ञान नही हो सका है, किंतु पिछले कुछ वर्षो के अनुसधान से अश्मरीनिर्माण का सवध भोजन से प्रतीत होता है। आहार मे चूने के यौगिको की अधिकता और विटामिन ए की कमी अश्मरीनिर्माण में सहायक होती है। विटामिन ए की कमी में वृक्कप्रणालिकाओ की श्लेष्मिक कला क्षत हो जाती है। उसके कुछ भाग गल से जाते है जो अश्मरीनिर्माण के लिये केंद्र का काम करते हैं। फिर सक्रमण भी सहायक कारण होता है जिससे श्लेष्मिक कला की कोशिकाएँ शोथयुक्त हो जाती है और उनकी पारगम्यता (पर्मिएविलिटी) बदल जाती है। शारीरिक, भौतिक तथा रासायनिक दशाओ का भी प्रभाव पडता है। शरीर के प्रत्येक भाग मे अश्मरीनिर्माण के सवध मे ये ही दशाएँ लागू हैं। जिन रोगो में अस्थि, क्षय होने से, कैलसियम मुक्त होता है उनमें अश्मरी वनने के लिये चूना उपलब्ध हो जाता है। परावटुका (पैराथाइराइड) की अतिवृद्धि या अर्बुदो से भी यही परिणाम होता है। जिन दशाओ मे मूत्र रुक जाता है उनमें भी ऐसा ही होता है।

रोग के साधारण लक्षण—कटिपार्श्व और वृक्क के पीछे के प्रात में हलका सा दर्द सदा वना रहता है। मूत्र मे रक्त आता है जो इतना थोडा हो सकता है कि वह केवल अणुवीक्षक द्वारा दिखाई दे। छोटी चलायमान अश्मरी से तीव्र पीडा हो सकती हैं जो पीठ से प्रारभ होकर सामने से होती हुई नीचे पेडू और शिश्न में जाती हुई प्रतीत होती है। यदि अश्मरी श्रोणी (गोणिका) या कलिसो में भरकर मूत्र-प्रणालिकाओ के मुखो को वद कर देती है और मूत्र का प्रवाह रुक जाता है तो कैलिसो का, जिनमें मूत्र एकत्र रहता है, आकार विस्तृत हो जाता है और उनके विस्तार से वृक्कवस्तु नष्टप्राय हो जाती है। इस दशा को जलातिवृक्कविस्तार (हाइड्रोनेफ्रोसिस) कहते है। यदि किसी प्रकार वहाँ सक्रमण पहुँच जाता है तो वहाँ पूय (पस) वनकर एकत्र होती है। यह पूतिवृक्क विस्तार (पायोनेफ्रोसिस) कहा जाता है।

निदान—निदान लक्षणो और एक्स-रे द्वारा किया जाता है। मूत्र-परीक्षा तथा अन्य परीक्षाएँ भी आवश्यक हैं।

चिकित्सा—यदि एक ही अश्मरी है तो शल्यकर्म करके उसको गोणिका द्वारा निकाल दिया जाता है। एक से अधिक अश्मरियाँ होने पर तथा प्रातस्था मे स्थित होने पर और वृक्कवस्तु के नष्ट हो जाने पर सपूर्ण वृक्क का ही छेदन (नैफ्रैक्टोमी) करना पडता है।

पित्ताशय की अश्मरी—पित्ताशय की अश्मरियाँ शुद्ध कॉलेस्टरीन की या विलिर्यूविन-कैलसियम की वनी होती है। एक्स-रे से इनकी कोई छाया नही वनती। उनकी हलकी सी छाया केवल उस समय बनती है जब उनपर कैलसियम चढा रहता है। एक से लेकर कई सौ अश्मरियाँ पित्ताशय में उपस्थित हो सकती हैं। एक अश्मरी वडी और गोल या लवोतरी सी होती है। अधिक अश्मरियो के होने पर वे एक दूसरे को रगडकर चौपहल या अठपहल हो जा सकती है। किंतु प्राय इनके कारण पित्ताशय की भित्तियो में शोथ उत्पन्न हो जाता है जिसको पित्ताशयार्ति (कॉलीसिस्टाइटिस) कहते है। इसके उग्र और जीर्ण दो रूप होते हैं। उग्र रूप में लक्षण तीव्र होते हैं। रोग भयकर होता है। जीर्णरूप में लक्षण मद होते है और वहुत काल तक वने रहते है। इस दशा का सवध अश्मरी की उत्पत्ति के साथ विशेष रूप से है। इससे अश्मरी उत्पन्न होती है और अश्मरी से जीर्ण शोथ उत्पन्न होता है। इसी के कारण रोग के लक्षण उत्पन्न होते है। स्वय अश्मरी लक्षण नही उत्पन्न करती। जव कोई छोटी अश्मरी पित्ताशय से पित्तनलिका अथवा सयुक्ता पित्तवाहिनी (कॉमन वाइल डक्ट) मे चली जाती है तो नलिका मे आकुचन होने लगता है जिससे दारुण पीडा होती है। इसको पित्तशूल (विलियरी कॉलिक) कहते है। रोगी पीडा को उदर में दाहिनी ओर नवी पर्शुका के अग्र प्रात से उरोस्थि के अग्रपत्रक (जिफाइड प्रोसेस) तक और पीछे पीठ में असफलक के अधोकोण तक अनुभव करता है। यह पीडा अत्यत दारुण तथा असह्य होती है। रोगी छटपटाता है। इससे मृत्यु तक होती देखी गई है।

चिकित्सा—अश्मरी को शल्यकर्म द्वारा निकालना आवश्यक है। यदि रोग बहुत समय से है और जीर्ण शोथ भी है तो पित्ताशय का सपूर्ण छेदन उचित है। वेदना के समय, जिसको रोग का आक्रमण कहा जाता है, शामक ओषधियाँ, विशेषकर मॉर्फिन या उसी के समान अन्य ओषधियाँ, देकर पीडा दूर करना अत्यत आवश्यक है।

अन्य स्थानो की अश्मरी—मूत्रप्रवाहिनी (यूरेटेर) में अश्मरी—मूत्रप्रवाहिनी मे अश्मरी वनती नहीं। छोटे आकार की अश्मरियाँ वृक्क से मूत्रप्रवाह के साथ आ जाती हैं, जो बहुत छोटी होती है (वे रेत के कण के समान हो सकती है)। वे मूत्रप्रवाहिनी (गवीनी) मे होती हुई मूत्राशय में चली जाती है। जब मूत्रप्रवाहिनी के व्यास के वरावर की कोई अश्मरी वहाँ फँस जाती है, जिससे मूत्रप्रवाहिनी में आक्षेप होने लगते है, तो उससे दारुण वेदना होती है और जव तक अश्मरी निकल नही जाती, निरतर होती रहती है। इससे मृत्यु तक हो जाती है।

लालाग्रथियो में अश्मरी—ऊर्ध्वहन्वाधर ग्रथि (सव्मैग्जलरी ग्लैंड) और उसकी नलिका मे अश्मरियाँ अधिक बनती है। ये कर्णमूलग्रथि (पैरोटिड) की नलिका में भी पाई जाती हैं। नलिकाओ के अवरुद्ध हो जाने से ग्रथि का स्राव मुख मे नही पहुँच सकता। ग्रथि में अश्मरी के स्थित होने के कारण ग्रथि वार वार सूज जाती है जिससे वहुत पीडा होती है। ग्रथि को निकाल देना आवश्यक होता है। लेखक ने एक रोगी में दोनो ओर की ऊर्ध्वहन्वाधर ग्रथियो मे तीन और चार अश्मरियाँ निकाली, जिनकी रासायनिक परीक्षा करने पर वे कैलसियम कार्वोनेट और फॉस्फेट की बनी पाई गई।

अग्न्याशय में अश्मरी (पैंक्रिऐटिक)—ये कैलसियम कार्वोनेट और मैगनीसियम फॉस्फेट की बनी होती हैं। ये असाधारण है और अग्न्याशय की नलिका में मिलती है। इनके कोई विशिष्ट लक्षण नही होते। प्राय उदर का एक्स-रे लेने से अकस्मात् इस प्रकार की अश्मरी की छाया दिखाई दे जाती है।

आत्र की अश्मरी—(एटरोलिथ) आत्र मे मल के शुष्क होने से कडे पिंड वनते है जो कभी कभी वद्धात्र की दशा उत्पन्न कर देते हैं।

पुर स्थ (प्रॉस्टेट) की अश्मरी—पुर स्थ मे भी कैलसियम के कार्वोनेट और फॉस्फेट लवणो के एकत्र होने से अश्मरी बन जाती है। इसके लक्षण मूलाधार प्रात मे भारीपन, पीडा तथा मूत्रत्याग में पीडा होते हैं। गुद-परीक्षा तथा एक्स-रे से इनका निदान किया जाता है।

शिश्न में अश्मरी—कभी कभी मूत्राशय से आकर अश्मरी शिश्न में अटक जाती है। उचित सावनो द्वारा उसको निकालना आवश्यक है।

स०ग्र०—हैडफील्ड जोन्स सर्जरी, नेल्सन ऐन्सायक्लोपीडिया ऑव सर्जरी। [मु० स्व० व०]

अश्वगंधा एक पौधा है जो खानदेश, बरार, पश्चिमीघाट एव अन्य अनेक स्थानो में मिलता है। हिंदी में इसे साधारणतया असगध कहते है। लैटिन मे इसका नाम वाइथनिया सोम्निफेरा है। यह पौधा दो हाथ तक ऊँचा होता है और विशेपकर वर्षा ऋतु में पैदा होता है, किंतु कई स्थानो पर वारहो मास उगता है। इसकी अनेक शाखाएँ निकलती हैं और घुंघची जैसे लाल रग के फल वरसात के अत या जाडे के प्रारभ में मिलते हैं। इसकी जड लगभग एक फुट लवी, दृढ, चेपदार और कडवी होती है। वाजार मे गधी जिसे असगध या असगध की जड कहकर वेचते हैं, वह इसकी जड नही, वरन् अन्य वर्ग की लता की जड होती है, जिसे लैटिन भाषा में कॉन्वॉल्वुलस असगधा कहते है। यह जड जहरीली नही होती किंतु अश्वगधा की जड जहरीली होती है। अश्वगधा

के अन्य भागो में भी रह सकती है। मादा अल्पिकाएँ त्वचा मे घुस जाती है और उन्ही में अडे देती है, किंतु नर त्वचा में घुसता नही और ऊपरी सतह पर स्वतत्र होकर विचरण करता है। खुजली के प्रसार का कारण किसी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में अल्पिकाओ का सक्रमण होता है। बहुधा हाथ मिलाकर अभिवादन करन से यह एक से दूसरे व्यक्ति मे पहुँच जाती है (देखिए चित्र ६)।

डिमोडेक्स फॉलिकुलेरम नामक अल्पिका मनुष्य के चेहरे मे स्थित त्वग्वसा ग्रथियो पर आश्रित रहती है। यह प्राय कुत्तो की त्वचा मे भी पाई जाती है। एकेरिश की एक जाति कुचला मे, जो बडे जानवरो के लिये बहुत ही विपैला सिद्ध होता है, पाई जाती है।

चित्र ७ **गॉल-माइट्** (एरियोफाइस सिल्विकोला)।

भेडो मे खुजली, सारकोटिस ओविस नामक अल्पिका द्वारा होती है। रोगग्रस्त भेड को किसी विषैले घोल मे डुबोकर बाहर निकाल लेने से इस बीमारी से छुटकारा मिल सकता है।

कुछ अल्पिकाएँ पौधो पर रहती है और उनमे एक बीमारी, जिसे अग्रेजी मे गॉल कहते है, पैदा करती है (देखिए चित्र ७)।

किलनियाँ अथवा चिचडियाँ (टिक्स)—इनका अध्ययन मनुष्य के लिये बहुत ही रोचक है, क्योकि ये सभी पराश्रयी होती है और पोषक (होस्ट) के रक्त पर निर्वाह करती है। ये रेतीले स्थानो मे छोटी छोटी झाडियो तथा छोटे छोटे पौधो पर रहती है। इन स्थानो पर प्रत्येक किलनी छोटी किंतु बहुत क्रियाशील होती है। यह वहाँ बठनेवाली चिडियो के परो तथा स्तनधारियो की टाँगो के बालो मे लग जाती है और अपने पैने मुखागो से उनकी त्वचा को बेधकर रक्त चूसती है। ससार मे अनेक प्रकार की किलनियाँ होती है, जो मुर्गो, गाय भैसो, कुत्तो तथा मनुष्यो पर आश्रयी होती है। कई देशो मे वे अनेक प्रकार के छोटे छोटे प्राणियो, जैसे गिलहरियो, पर भी निर्वाह करनेवाली होती है। किलनियाँ बीमारी के जीवाणुओ का प्रसार भी करती है, जैसे मनुष्य मे टिक ज्वर तथा गाय भसो मे एक विशेष प्रकार का ज्वर। वे खेतो मे मिट्टी के भीतर हजारो की सख्या मे अडे देती है, जिनसे षट्पदधारी डिभ (लार्वा) उत्पन्न होते है। ये घास पर चढकर, जमकर बैठ जाते है और तब तक बैठे रहते है जब तक कोई मनोनुकूल प्राणी उधर से नही निकलता। जब इस प्रकार का कोई प्राणी दिखाई पडता है तब वे उत्तेजित हो जाते है और प्राणी जब अधिक समीप पहुँच जाता है, ये घास छोडकर उसकी त्वचा से चिपट जाते है। इस प्रकार पैर जमा लेने पर ये अपनी पैनी चोच (चचु) पोषक के मास मे घुसेड देते है और उसका रक्त चूसकर अपने शरीर की वास्तविक नाप से दुगुना फूल उठते है। जब भूख मिट जाती है तब ये पोषक से पृथक् होकर भूमि पर गिर जाते है। रक्त से फूले हुए होने के कारण ये चल फिर नही सकते, इसीलिये कई सप्ताहो तक इसी अवस्था मे पडे रहते है या भूमि के भीतर घुस जाते है। वहाँ विश्राम के साथ रक्त का पाचन करते है।

बाद म डिभ (लार्वा) त्वचा (केचुल) छोड देता है और तब वह पोतक (निफ) अवस्था मे पदार्पण करता है। पोतक बन जाने पर एक बार फिर घास पर चढ जाता है और मनोनुकूल पोषक की प्रतीक्षा की पुनरावृत्ति करता है। पोषक के उपलब्ध हो जाने पर उससे चिपक और रक्त चूसकर पुन पृथ्वी पर गिर पडता है। पुन एक बार त्वचा छोडता है। पोतक के त्वचा छोडने के बाद वयस्क नर या मादा किलनी उत्पन्न होती है। ऐसी किलनियाँ किसी ऐसे तीसरे प्राणी की प्रतीक्षा करती है जिसके रक्त का वे शोषण कर सके और जिसके ऊपर रहकर मैथुन कर सकें। मैथुन कर चुकने के बाद मादा पुन धरातल पर गिर जाती है और अडे देती है।

किलनियो का यह जीवन इतिहास जटिल है और उनके मरने की सभावना बहुत अधिक रहती है। वश की सरक्षा मादा द्वारा बहुत बडी सख्या मे अडे दिए जाने से होता है (चित्र ८)।

चित्र ८ **किलनी या चीचड़ी**

वर्ग (१०) जिफोस्यूरा—ये वे अष्टपाद है जिनका शिरोर एक चौडे वर्म (कार्पेस) से ढका रहता है और उदर छ मध्यकाय (मेसोसोमैटिक) खडो का तथा एक लबे सकीर्ण पुच्छखड अथवा डकयुक्त पश्चकाय (मेटासोमा) का होता है। शिरोर भाग में एक जोडी ग्राहिका तथा पाँच जोडे पाद होते है। उदर के अग्रभाग मे जुडे पट्ट (प्लेट) जैसे अनुबध होते है जो गलफड पटल (ओपरक्युलम) है। इसके पीछे चिपटे तथा एक दूसरे पर चढे पाँच जोडे अनुबध होते है। श्वसन के अवयव परतो के आकार के गलफड (गिल्स) होते है, जो उदरीय अनुबधो से जुडे होते है।

इस वर्ग के अतर्गत नृप केकडे (किंग क्रैब) आते है। इन्हे लीमुलस अथवा अश्व-खुर केकडा (हॉर्स-शू क्रैब) भी कहते है।

नृप केकडा—इसका शरीर दो भागो मे विभक्त होता है शिरोर तथा उदर। शिरोर की आकृति घोडे के खुर जैसी होती है और वह चौडे वर्म से ढका रहता है। उदर कुछ कुछ षट्कोणाकार होता है जो एक लबे पुच्छकटक (कॉडल स्पाइन) मे समाप्त होता है।

इसके अग्रखड अथवा शिरोर में छ जोडे अनुबध लगे रहते है जिनमे प्रथम जोडा ग्राहिकाएँ होती है और अन्य पाँच जोडे चलने के काम आते है। उदर पर सामने की ओर एक जोडा थाली जैसा अनुबध लगा रहता है, जिससे मिलकर गलफड-पटल बनता है। यह उत्तरी अमरीका, वेस्ट इडीज तथा ईस्ट इडीज़ मे नदियो के मुहाने पर अथवा छिछली खाडियो मे पाया जाता है। यह बालू मे बिल बनाकर रहता है, किंतु पानी के नीचे कुछ चल भी सकता है और समुद्र के तल पर से कुछ दूर ऊपर तक भी उठ सकता है। इसका आहार समुद्री बलयी जतु होते है (चित्र ९)।

चित्र ९. नृप केकडा (प्रतिपृष्ठ दृश्य)

नृप केकडे में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती है जो एक ओर तो अष्टपाद श्रेणी और दूसरी ओर कठिनि (क्रस्टेशिया) श्रेणी की शारीरिक रचना से मिलती जुलती है। कठिनि श्रेणी के सदृश इसके भी उदरीय खंड मे पाँच जोडे पट्ट (प्लेट) के समान बंधक (अपेडेजेज) होते है। जीवन-चक्र के विकास मे एक अवस्था डिभ की होती है। इसके डिभ को
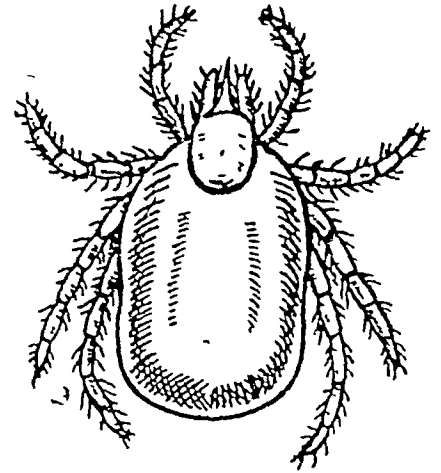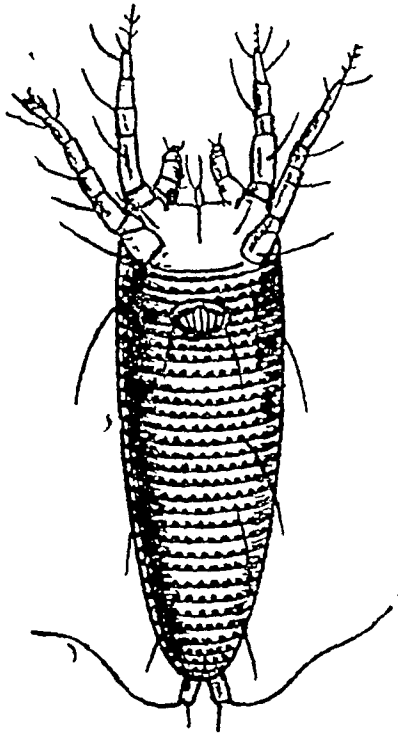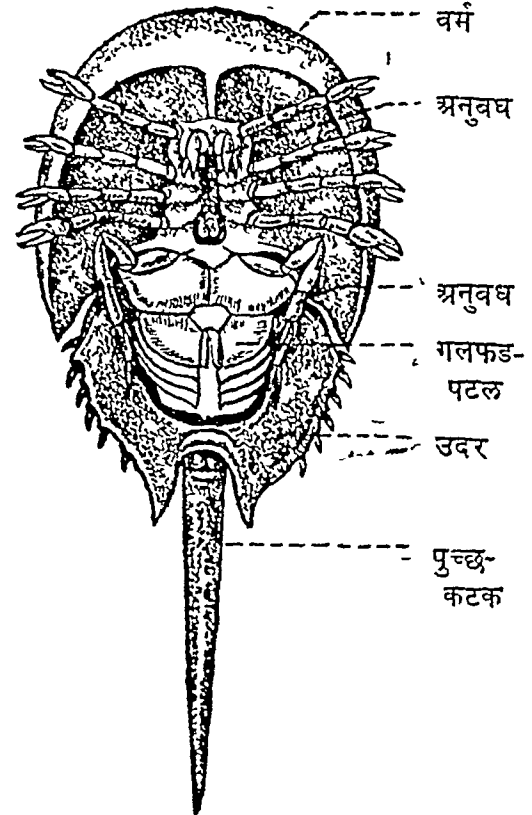
का भार निश्चित किया जाता है। सर्वोत्तम अश्व को भारी तथा निम्न श्रेणी के अश्व को हल्का अश्वारोही दिया जाता है। किस अश्व को इस प्रकार कितनी सुविधा अथवा असुविधा दी जाय इसका निर्णय अश्वारोही समिति (जॉकी क्लब) करती है। सवार के भार के लिये प्रतिबंध रहते हैं। अश्वारोही का अपने भार को आठ नौ स्टोन (स्टोन=लगभग ७ सेर) तक बनाए रखना अति आवश्यक है। भारी घुडसवार अनुत्तीर्ण कर दिए जाते हैं।

सन् १८८४ में सैन डाउन के प्रबंधकर्ताओं ने एक नई १०,००० पाउंड की प्रतियोगिता की योजना निकाली। यह दौड इक्लिप्स के नाम से प्रसिद्ध हुई।

सन् १८३९ मे "द ग्रैड नैशनल" नामक एक और लोकप्रिय घुडदौड का प्रचलन हुआ। यह साढे चार मील लबी दौड लिवरपुल में होती है। यथार्थ में यह ग्रेट ब्रिटेन की पुरानी स्टीपलचेज़ प्रथा का आधुनिक रूप है। पुराने समय में स्टीपलचेज़ सुसपन्न लोगो के आखेट अश्वो की प्रतियोगिता थी। इसमें बिना मार्ग के, ऊँची नीची भूमि तथा छोटे बडे अवरोधो को लाँघते हुए, किसी दूरस्थ चर्च की नुकीली मीनार को लक्ष्य मान अश्वारोही एक दूसरे से होड लेते थे। परतु अब विभिन्न प्रकार की बाधाएँ निर्धारित रूप से खडी करके यह प्रतियोगिता एक निश्चित क्षेत्र मे दौडी जाने लगी है।

अश्वधावन अमरीका में भी अति लोकप्रिय है। १७वी सदी के मध्य से ही इसका प्रचलन वरजीनिया और मेरीलैंड में था।

अमरीका में दुलकी चाल की दौड (ट्रॉटिंग रेस) उतनी ही प्रिय है जितनी सरपट दौड। दुलकी दौड दो प्रकार से दौडी जाती है (१) घुडसवार घोडे की काठी पर रहता है। (२) एक छोटी दो पहियोवाली गाडी घोडे में जोतकर अश्वारोही इसी गाडी पर बैठता है।

फ्रास में आधुनिक ढग से अश्वधावन सन् १८३३ से प्रचलित हुआ। प्रिक्स ड ओरलिओ, प्रिक्स डू जॉकी, प्रिक्स डू प्रिंस इपीरियल और द ग्रैंड प्रिक्स डी पेरिस यहाँ की मुख्य और महत्वपूर्ण दौडो मे हैं। ग्रैंड प्रिक्स डी पेरिस एक अतर्राष्ट्रीय दौड मानी जाती है और अन्य देशो के घोडे भी इसमे भाग लेने आते हैं। स्टीपलचेज की दौड मे पेरिस ग्रैंड स्टीपलचेज प्रमुख है।

आस्ट्रेलिया, जर्मनी, इटली तथा अन्य देशो में अश्वधावन मूलत इग्लैंड की ही प्रथा तथा नियमो के अनुसार होता है।

अश्वजनन—इसका उद्देश्य उत्तमोत्तम अश्वो की वृद्धि करना है। यह नियत्रित रूप से केवल चुने हुए उत्तम जाति के घोडे घोडियो द्वारा ही बच्चे उत्पन्न करके सपादित किया जाता है।

अश्व पुरातन काल से ही इतना तीव्रगामी और शक्तिशाली नही था जितना वह आज है। नियत्रित सुप्रजनन द्वारा अनेक अच्छे घोडे सभव हो सके हैं। अश्वप्रजनन (ब्रीडिंग) आनुवशिकता के सिद्धात पर आधारित है। देश विदेश के अश्वो में अपनी अपनी विशेषताएँ होती हैं। इन्ही गुणविशेषो को ध्यान मे रखते हुए घोडे तथा घोडी का जोडा बनाया जाता है और इस प्रकार इनके बच्चो में माता और पिता दोनो के विशेष गुणो में से कुछ गुण आ जाते हैं। यदि बच्चा दौडने में तेज निकला और उसके गुण उसके बच्चो में भी आने लगे तो उसकी सतान से एक नवीन नस्ल आरभ हो जाती है। इग्लैंड मे अश्वप्रजनन की ओर प्रथम बार विशेष ध्यान हेनरी अष्टम ने दिया। अश्वो की नस्ल सुधारने के लिये उसने राजनियम बनाए। इनके अतर्गत ऐसे घोडो को, जो दो वर्ष से ऊपर की आयु पर भी ऊँचाई में ६० इच से कम रहते थे, सतानोत्पत्ति से वचित रखा जाता था। पीछे दूर दूर देशो से उच्च जाति के अश्व इग्लैंड में लाए गए और प्रजनन की रीतियो से और भी अच्छे घोडे उत्पन्न किए गए।

अश्वजनन के लिये घोडो का चयन उनके उच्च वश, सुदृढ शरीररचना, सौम्य स्वभाव, अत्यधिक साहस और दृढ निश्चय की दृष्टि से किया जाता है। गर्भवती घोडी को हल्का परतु पर्याप्त व्यायाम कराना आवश्यक है। घोडे का बच्चा ग्यारह मास तक गर्भ में रहता है। नवजात बछडे को पर्याप्त मात्रा में माँ का दूध मिलना चाहिए। इसके लिये घोडी को अच्छा आहार देना आवश्यक है। बच्चे को पाँच छ मास तक ही माँ का दूध पिलाना चाहिए। पीछे उसके आहार और दिनचर्या पर यथेष्ट सतर्कता बरती जाती है। [आ० सिं० स०]

अश्वपति

वैदिक तथा पौराणिक युग के प्रख्यात महीपति। इस नाम के अनेक राजाओ का परिचय वैदिक ग्रथो तथा पुराणो मे उपलब्ध होता है

(१) छादोग्य उपनिषद् (५।११) के अनुसार अश्वपति कैकेय केकय देश के तत्ववेत्ता राजा थे जिनसे सत्ययज्ञ आदि अनेक महाशाल तथा महाश्रोत्रिय ऋषियो ने आत्मा की मीमासा के विषय में प्रश्न कर उपदेश पाया था। इनके राज्य मे सर्वत्र सौख्य, समृद्धि तथा सुचारित्र्य की प्रतिष्ठा थी। अश्वपति के जनपद में न कोई चोर था, न शराबी, न मूर्ख और न कोई अग्निहोत्र से विरहित। स्वैर आचरण (दुराचार) करनेवाला कोई पुरुष न था फलत कोई दुराचारिणी स्त्री न थी। इनकी तात्विक दृष्टि परमात्मा को वैश्वानर के रूप मे मानने के पक्ष में थी। इनके अनुसार यह समग्र विश्व, इसके नाना पदार्थ तथा पचमहाभूत इसी वैश्वानर के विभिन्न अग प्रत्यग हैं। आकाश परमात्मा का मस्तक है, सूर्य चक्षु है, वायु प्राण है, पृथ्वी पैर है। इस समष्टिवाद के सिद्धात का पोषक होने से छादोग्य उपनिषद् मे अश्वपति महनीय दार्शनिक चित्रित किए गए हैं। (छादोग्य० ५।१८)।

(२) महाभारत के अनुसार सावित्री के पिता और मद्रदेश के अधिपति थे। इनकी पुत्री सावित्री सत्यवान् नामक राजकुमार से ब्याही थी। परपरा के अनुसार सावित्री अपने पातिव्रत तथा तपस्या के कारण अपने गतप्राण पति को जिलाने मे समर्थ हुई थी। इसलिये वह आर्यललनाओ में पातिव्रत धर्म का प्रतीक मानी जाती है।

(३) वाल्मीकि रामायण (अयोध्याकाड, सर्ग १) के अनुसार अश्वपति केकय देश के राजा थे। इनके पुत्र का नाम युधाजित तथा पुत्री का नाम कैकेयी था जो अयोध्या के इक्ष्वाकुनरेश दशरथ से ब्याही थी। रामायण (अयोध्या०, सर्ग ३५) में एक विशिष्ट कथा का उल्लेख कर अश्वपति का पक्षियो की भाषा का पडित होना कहा गया है। [ब० उ०]

अश्वमेध

भारतवर्ष का एक प्रख्यात यज्ञ। सार्वभौम राजा अर्थात् चक्रवर्ती नरेश ही अश्वमेध का अधिकारी माना जाता था, परतु ऐतरेय ब्राह्मण (८ पचिका) के अनुसार अन्य महत्वशाली राजन्यो का भी इसके विधान में अधिकार था। आश्वलायन श्रौत सूत्र (१०।६।१) का कथन है कि जो सब पदार्थो को प्राप्त करना चाहता है, सब विजयो का इच्छुक होता है और समस्त समृद्धि पाने की कामना करता है वह इस यज्ञ का अधिकारी है। इसलिये सार्वभौम के अतिरिक्त भी मूर्धाभिषिक्त राजा अश्वमेध कर सकता था (आप० श्रौत० २०।१।१, लाट्यायन ९।१०।१७)। यह अति प्राचीन यज्ञ प्रतीत होता है, क्योकि ऋग्वेद के दो सूक्तो में (१।१६२, १।१६३) अश्वमेधीय अश्व तथा उसके हवन का विशेष विवरण दिया गया है। शतपथ (१३।१-५) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मणो (३।८-९) में इसका बडा ही विशद वर्णन उपलब्ध है जिसका अनुसरण श्रौत सूत्रो, वाल्मीकीय रामायण (१।१३), महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में तथा जैमिनीय अश्वमेध में किया गया है।

अनुष्ठान—अश्वमेध का आरभ फाल्गुन शुक्ल अष्टमी या नवमी से अथवा ज्येष्ठ (या आषाढ) मास की शुक्लाष्टमी से किया जाता था। आपस्तब न चैत्र पूर्णिमा इसके लिये उचित तिथि मानी है। मूर्धाभिषिक्त राजा यजमान के रूप में मडप में प्रवेश करता था और उसके पीछे उसकी चारो पत्नियाँ सुसज्जित वेश में गले में सुनहला निष्क पहनकर अनेक दासियो तथा राजपुत्रियो के साथ आती थी। इनके पदनाम थे (क) महिषी (राजा के साथ अभिषिक्त पटरानी), (ख) वावाता (राजा की प्रियतमा), (ग) परिवृक्त्री (परित्यक्ता भार्या) तथा (घ) पालागली (हीन जाति की रानी)। अश्वमेध का घोडा बडा ही सुडौल, सुदर तथा दर्शनीय चुना जाता था। उसके शरीर पर श्याम रग की चौरी होती थी। पास के तालाब में उसे विधिवत् स्नान कराकर इस पावन कर्म के लिये अभिषिक्त किया जाता। तब वह सौ राजकुमारो के सरक्षण में वर्ष भर स्वच्छद घूमने के लिये छोड दिया जाता था। अश्व की अनुपस्थिति में तीन इष्टियाँ प्रतिदिन सवितृदेव के निमित्त दी जाती थी और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जाति के वीणावादक स्वरचित पद्य प्रतिदिन राजा की स्तुति में वीणा बजाकर गाते थे। प्रतिदिन पारिप्लव (विशिष्ट आख्यान) का

सूर्य, चक्र, पद्मभर, अकुश, वैजयती, कमल, दर्पण, परशु, श्रीवत्स, मीन-मिथुन और श्रीवृक्ष। दूसरी माला में कमल, अकुश, कल्पवृक्ष, दर्पण, श्रीवत्स, वैजयती, मीनयुगल, परशु, पुष्पदाम, तालवृक्ष तथा श्रीवृक्ष है। इनसे ज्ञात होता है कि लोक में अनेक प्रकार के मागलिक चिह्नो की मान्यता थी। विक्रम सवत् के आरभ के लगभग मथुरा की जैन कला मे अष्टमागलिक चिह्नो की सख्या और स्वरूप निश्चित हो गए। कुषाणकालीन आयागपटो पर अकित ये चिह्न इस प्रकार है मीनमिथुन, देवविमानगृह, श्रीवत्स, वर्धमान या शराव, सपुट, त्रिरत्न, पुष्पदाम, इद्रयष्टि या वैजयती और पूर्ण-घट। इन आठ मागलिक चिह्नो की आकृति के ठीकरो से बना आभूषण अष्टमागलिक माला कहलाता था। कुषाणकालीन जैन ग्रथ अगविज्जा, गुप्तकालीन बौद्धग्रथ महाव्युत्पत्ति और बाणकृत हर्षचरित मे अष्टमागलिक माला आभूषण का उल्लेख हुआ है। बाद के साहित्य और लोकजीवन मे भी इन चिह्नो की मान्यता और पूजा सुरक्षित रही, किंतु इनके नामो मे परिवर्तन भी देखा जाता है। शब्दकल्पद्रुम में उद्धृत एक प्रमाण के अनुसार सिंह, वृषभ, गज, कलश, व्यजन, वैजयती, दीपक और दुदुभी, ये अष्ट-मगल थे। [वा० श० अ०]

अष्टमूर्ति

शिव का नाम। भविष्यपुराण मे शिव की आठ मूर्तियाँ बतलाई गई है पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, यजमान, सोम और सूर्य। कालिदास न अभिज्ञान शाकुतल के नादीश्लोक मे इनका उल्लेख किया है। शैव सिद्धात मे पच महातत्वो से बने महासाकार पिंड से शिव की निम्नलिखित आठ मूर्तियो की उत्पत्ति मानी गई है शिव, भैरव, श्रीकठ, सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा।

उपनिषदो के अनुसार निराकार ब्रह्म ही जड-चेतनात्मक प्रपच मे साकार होकर प्रतिभासित होता है। विराट् ब्रह्माड को पचतत्व, काल के प्रतीक सूर्य चद्र तथा आत्मा के प्रतीक यजमान के रूप मे विभाजित किया गया है। गीता मे यजमान, सोम और सूर्य के स्थान पर मन, बुद्धि, अहकार की गणना हुई है। इस गणना मे कालतत्व का समावेश नही होता। अत काल के प्रतीक सूर्य चद्र का ग्रहण करना आवश्यक हो गया। मन, बुद्धि, अहकार ये जीव के धर्म है अत जीव के प्रतीक यजमान मे इनका अतर्भाव हो जाता है। इन तत्वो के अतिरिक्त ब्रह्माड कुछ भी नही है और ब्रह्माड का ब्रह्म से अभेद है, इसलिये शैवो ने निराकार शिव को इन आठ तत्वो की मूर्ति धारण करनेवाला परमतत्व माना है।

स०ग्र०—गीता ७४, अभिज्ञान शाकुतलम् ११, सिद्ध-सिद्धात-सग्रह, मुडकोपनिषद् २१। [रा० पा०]

अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता

आठ हजार श्लोकोवाला यह महायान बौद्ध ग्रथ प्रज्ञा की पारमिता (पराकाष्ठा) के माहात्म्य का वर्णन करता है। प्रज्ञापारमिता को मूर्त रूप मे अवतरित कर उसके चमत्कार दिखाए गए हैं। इसमे ३२ परिच्छेद है जिनमे प्राय गृद्धकूट पर्वत पर भगवान् बुद्ध अपने सुभूति, सारि-पुत्र, पूर्ण मैत्रायणीपुत्र जैसे शिष्यो को उपदेश देते हुए उपस्थित होते है। आगे चलकर इस ग्रथ के कई छोटे और बडे सस्करण बने। [भि० ज० का०]

अष्टांग योग

महर्षि पतजलि के अनुसार चित्तवृत्ति के निरोध का नाम योग है (योगश्चित्तवृत्तिनिरोध)। इसकी स्थिति और सिद्धि के निमित्त कतिपय उपाय आवश्यक होते हैं जिन्हे 'अग' कहते है और जो सख्या मे आठ माने जाते है। अष्टाग योग के अतर्गत प्रथम पाँच अग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार) 'बहिरग' और शेष तीन अग (धारणा, ध्यान, समाधि) 'अतरग' नाम से प्रसिद्ध हैं। बहिरग साधना यथार्थ रूप से अनुष्ठित होने पर ही साधक को अतरग साधना का अधिकार प्राप्त होता है। 'यम' और 'नियम' वस्तुत शील और तपस्या के द्योतक हैं। यम का अर्थ है सयम जो पाँच प्रकार का माना जाता है (क) अहिंसा, (ख) सत्य, (ग) अस्तेय (चोरी न करना अर्थात् दूसरे के द्रव्य के लिये स्पृहा न रखना), (घ) ब्रह्मचर्य तथा (ङ) अपरिग्रह (विषयो को स्वीकार न करना)। इसी भाँति नियम के भी पाँच प्रकार होते है शौच, सतोष, तप, स्वाध्याय (मोक्षशास्त्र का अनुशीलन या प्रणव का जप) तथा ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर मे भक्तिपूर्वक सब कर्मों का समर्पण करना)। आसन से तात्पर्य है स्थिर और सुख देनेवाले बैठने के प्रकार (स्थिर सुखमासनम्) जो देहस्थिरता की साधना है। आसन जप होने पर श्वास प्रश्वास की गति के विच्छेद का नाम प्राणायाम है। बाहरी वायु का लेना श्वास और भीतरी वायु का बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है। प्राणायाम प्राणस्थैर्य की साधना है। इसके अभ्यास से प्राण मे स्थिरता आती है और साधक अपने मन की स्थिरता के लिये अग्रसर होता है। अतिम तीनो अग मन स्थैर्य की साधना है। प्राणस्थैर्य और मन स्थैर्य की मध्यवर्ती साधना का नाम 'प्रत्याहार' है। प्राणायाम द्वारा प्राण के अपेक्षाकृत शात होने पर मन का बहिर्मुख भाव स्वभावत कम हो जाता है। फल यह होता है कि इद्रियाँ अपने बाहरी विषयो से हटकर अतर्मुखी हो जाती है। इसी का नाम प्रत्याहार है (प्रति=प्रतिकूल, आहार=वृत्ति।

अब मन की बहिर्मुखी गति निरुद्ध हो जाती है और वह अतर्मुख होकर स्थिर होने की चेष्टा करता है। इसी चेष्टा की आरभिक दशा का नाम धारणा है। देह के किसी अग पर (जैसे हृदय मे, नासिका के अग्रभाग पर, जिह्वा के अग्रभाग पर) अथवा बाह्यपदार्थ पर (जैसे इष्टदेवता की मूर्ति आदि पर) चित्त को लगाना 'धारणा' कहलाता है (देशबन्धश्चित्तस्य धारणा, योगसूत्र ३।१)। ध्यान इसके आगे की दशा है। जब उस देशविशेष मे ध्येय वस्तु का ज्ञान एकाकार रूप से प्रवाहित होता है, तब उसे 'ध्यान' कहते है। धारणा और ध्यान दोनो दशाओ मे वृत्तिप्रवाह विद्यमान रहता है, परतु अतर यह है कि धारणा मे एक वृत्ति से विरुद्ध वृत्ति का भी उदय होता है, परतु ध्यान मे सदृशवृत्ति का ही प्रवाह रहता है, विसदृश का नही। ध्यान की परिपक्वावस्था का नाम ही समाधि है। तब चित्त आलबन के आकार में प्रतिभासित होता है, अपना स्वरूप शून्यवत् हो जाता है और एकमात्र आलबन ही प्रकाशित होता है। यही समाधि की दशा कहलाती है। अतिम तीनो अगो का सामूहिक नाम 'सयम' है जिसके जीतने का फल है विवेक ख्याति का आलोक या प्रकाश। समाधि के बाद प्रज्ञा का उदय होता है और यही योग का अतिम लक्ष्य है।

सं०ग्र०—स्वामी ओमानद: पातजल योगरहस्य, बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन (शारदामदिर, काशी, १९५७)। [ब० उ०]

अष्टाध्यायी

पाणिनिविरचित व्याकरण का ग्रथ। यह छ वेदागो मे मुख्य माना जाता है। अष्टाध्यायी मे ३९८१ सूत्र और आरभ मे वर्णसमाम्नाय के १४ प्रत्याहार सूत्र हैं। अष्टाध्यायी का परिमाण एक सहस्र अनुष्टुप श्लोक के बराबर है। अष्टाध्यायी के कर्ता पाणिनि कब हुए, इस विषय मे कई मत हैं। श्री भडारकर और गोल्डस्टकर इनका समय ७वी शताब्दी ई० पू० मानते है। मैकडानेल, कीथ आदि कितने ही विद्वानो ने इन्हे चौथी शताब्दी ई० पू० माना है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार पाणिनि नदो के समकालीन थे और यह समय ५वी शताब्दी ई० पू० होना चाहिए। पाणिनि मे शतमान, विंशतिक और कार्षापण आदि जिन मुद्राओ का एक साथ उल्लेख है उनके आधार पर एव अन्य कई कारणो से हमे पाणिनि का काल यही समीचीन जान पडता है।

महाभाष्य मे अष्टाध्यायी को सर्ववेद-परिषद्-शास्त्र कहा गया है। अर्थात् अष्टाध्यायी का सबध किसी वेदविशेष तक सीमित न होकर सभी वदिक सहिताओ से था और सभी के प्रातिशाख्य अभिमतो का पाणिनि ने समादर किया था। अष्टाध्यायी में अनेक पूर्वाचार्यो के मतो और सूत्रों का सनिवेश किया गया। उनमें से शाकटायन, शाकल्य, आभिशाली, गार्ग्य, गालव, भारद्वाज काश्यप, शौनक, स्फोटायन, चाक्रवर्मण का उल्लेख पाणिनि ने किया है।

अष्टाध्यायी मे आठ अध्याय है और प्रत्येक अध्याय मे चार पाद हैं। पहले दूसरे अध्यायो मे सज्ञा और परिभाषा सबधी सूत्र है एव वाक्य में आए हुए क्रिया और सज्ञा शब्दो के पारस्परिक सबध के नियामक प्रकरण भी है, जैसे क्रिया के लिये आत्मनेपद-परस्मैपद-प्रकरण, एव सज्ञाओ के लिय विभक्ति, समास आदि। तीसरे, चौथे और पाँचवे अध्यायो मे सब प्रकार के प्रत्ययो का विधान है। तीसरे अध्याय में धातुओ मे प्रत्यय लगाकर कृदत शब्दो का निर्वचन है और चौथे तथा पाँचवे अध्यायो मे सज्ञा शब्दो में प्रत्यय जोडकर बने नए सज्ञा शब्दो का विस्तृत निर्वचन बताया गया है। ये प्रत्यय जिन अर्थविशेषो को प्रकट करते है उन्हें व्याकरण की परिभाषा में

ऊपर के वर्णन मे सर्वत्र घोडा शब्द प्रयुक्त हुआ है, परतु वैज्ञानिको ने प्रत्येक युग, या युग के प्रमुख खड, के अश्ववशीय जनु को विशेष नाम दे रखा है। विकास के क्रम में कुछ नाम ये है इयोहिपस, ओरोहिपस, एपिहिपस, मेसोहिपस, मायोहिपस, पैराहिपस, मेरीकिपस, प्रोटोहिपस, प्लायोहिपस, प्लेमिपल और ईक्वस। ये नाम विकासक्रम की सरल वशावली के है, जिसके सब सदस्य उत्तरी अमरीका में पाए गए है। प्रोटोहिपस की एक शाखा दक्षिण अमरीका पहुँची और दूसरी शाखा एशिया में पहुँची। ये शाखाएँ कुछ समय में समाप्त हो गईं। ईक्वस की एक शाखा एशिया में पहुँची जिससे ज़ेबरा, गदहा और घोडा विकसित हुए। अमरीका के मूल ईक्वस लुप्त हो गए। [श० व० च०]

अश्विनीकुमार अश्वदेव, प्रभात के जुडवे देवता द्यौस के पुत्र, युवा और सुदर। इनके लिये 'नासत्यौ' विशेषण भी प्रयुक्त होता है। इनके रथ पर पत्नी सूर्या विराजती है और रथ की गति से सूर्या की उत्पत्ति होती है। ये देवचिकित्सक और रोगमुक्त करनेवाले है। इनकी उत्पत्ति निश्चित नही कि वह प्रभात और सध्या के तारो से है या गोधूली या अर्ध प्रकाश से। परतु उनका सबध रात्रि और दिवस के सधिकाल से ऋग्वेद ने किया है। उनकी स्तुति ऋग्वेद की अनेक ऋचाओ में की गई है। वे कुमारियो को पति, वृद्धो को तारुण्य, अधो को नेत्र देनेवाले कहे गए है। महाभारत के अनुसार नकुल और सहदेव उन्ही के पुत्र थे। [ओ० ना० उ०]

अष्टछाप हिंदी साहित्य के निम्नलिखित आठ कृष्णभक्त कवियो का वर्ग 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध है कुभनदास (गोरवा क्षत्रिय, जन्मस्थान जमुनावतो, गोवर्धन), सूरदास (सारस्वत ब्राह्मण, जन्मस्थान सीही), परमानददास (कान्यकुब्ज ब्राह्मण, जन्मस्थान कन्नौज) कृष्णदास अधिकारी (कुनबी शूद्र), जन्मस्थान चिलोतरा, अहमदाबाद, गुजरात), नददास (सनाढ्य ब्राह्मण, जन्मस्थान रामपुर, एटा), चतुर्भुजदास (गोरवा क्षत्रिय, कुभनदास जी के पुत्र), गोविंद स्वामी (सनाढ्य ब्राह्मण, जन्मस्थान आँतरी, भरतपुर), छीतस्वामी (चौबे मथुरिया ब्राह्मण, जन्मस्थान मथुरा)। इनमें से प्रथम चार कवि श्री वल्लभाचार्य (स० १५३५ से स० १५८७ वि० तक) के शिष्य थे और अतिम चार आचार्य वल्लभ के उत्तराधिकारी पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ (स० १५७२ से स० १६४२ तक) के। ये आठो भक्तकवि गो० विट्ठलनाथ के सहवास मे (लगभग स० १६०६ वि० से स० १६३५ वि० तक) एक दूसरे के समकालीन रहे और ब्रज में गोवर्धन पर स्थित श्रीनाथ जी के मदिर में कीर्तनसेवा और भगवद्भक्ति विषयक पद रचा करते थे। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने सप्रदाय के परम भक्त, उत्कृष्ट कवि और उच्च कोटि के सगीतज्ञ इन आठ महानुभावो पर प्रशसा और वैशिष्ट्य की मौखिक छाप लगाई। तभी से आठो भक्तो का वर्ग 'अष्टछाप' कहलाने लगा। इस बात का प्रमाण वल्लभ सप्रदायी वार्ता साहित्य में मिलता है। ये आठो कवि श्रीकृष्ण के आठ सखाओ की अनुरूपता में अष्टसखा भी कहलाते है। व्रजभाषा को समृद्ध काव्यभाषा का रूप देने का श्रेय इन्ही आठ कवियो को है। इनके काव्य का मुख्य विषय श्रीकृष्ण की भावपूर्ण लीलाओ का चित्रण है। सूरदास ने यद्यपि भागवत की सपूर्ण कथा का अनुसरण किया है, परतु इन्होने आनदरूप व्रजकृष्ण के चरित्रो का तन्मयता से चित्रण किया है। मानव जीवन में बाल्य और किशोर, दो ही अवस्थाएँ आनद और उल्लास से पूर्ण होती है। इसलिये इन अष्टभक्तो ने कृष्णजीवन के आधार पर जीवन के इन्ही दो पहलुओ पर अधिक लिखा है। सौंदर्य और प्रेम की रसमयी धारा समान रूप से इनके सपूर्ण काव्य में प्रवाहित है। परतु सूर के काव्य मे हृदयग्राहिणी शक्ति अधिक है, उसमें सार्वजनिक प्रेमानुभूतियो का सजीव और स्वाभाविक रसपूर्ण चित्रण है।

सासारिक प्रेम की मनोवृत्तियो को ससार के आलबनो से समेटकर इन भक्तो ने अलौकिक नायक परब्रह्म श्रीकृष्ण को अर्पित किया है। चित्त की बहुमुखी वृत्ति को रसरूप कृष्ण में लगाकर उसका निरोध किया है, यही इनकी आध्यात्मिक साधना है। दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य, इन चार भावो के प्रीतिसबधो में से एक न एक के द्वारा उन्होने ईश्वर की आराधना की है। सूरदास ने इन चारो भावो को अपने प्रेम-भक्ति-काव्य में प्रमुखता दी है। परमानददास ने वात्सल्य, सख्य और काता भावो को लिया है, अन्य छ कवि काता भाव के प्रेम में विभोर थे और इसी का उनके काव्य मे अधिक चित्रण है।

अष्टछाप भक्त केवल पदरचयिता कवि ही न थे, वे उच्च कोटि के सगीतकार भी थे, सगीत इनका एक आध्यात्मिक साधन था। साधनस्वरूप नवधा भक्ति के प्रकारो मे कीर्तन भी भक्ति का एक प्रकार है। अष्टछाप के कृष्णभक्तो ने मन की तल्लीनता और चित्त की एकाग्रता के लिये सगीत की स्वरलहरी मे अपने चित्त की वृत्तियो को रमाया है। अष्टछाप कवियो की रचनाओ में सगीत के साथ, साहित्य और अध्यात्म दोनो का समन्वय है। अकबरी दरबार के प्रसिद्ध गवैए तानसेन, बैजू, रामदास, मानसिंह आदि अष्टछाप के समकालीन थे। उस समय अष्टछाप के कुभनदास 'ध्रुपद' गायकी के लिये और गोविंदस्वामी 'धमार' गायकी के लिये प्रसिद्ध थे। '२५२ वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि तानसेन ने धमार गायन गोविंदस्वामी से सीखा था।

सूरदास और परमानददास के काव्य में प्रेम की व्यजना सत्य और सौंदर्य की चरम सीमा तक पहुँची हुई है। उनके भावो में सार्वजनीनता है। ब्रह्मानद सहोदर काव्यानद की रसप्रवाहिनी शक्ति अधे सूरदास मे अद्वितीय है। बालमनोविज्ञान और मातृहृदय का पारखी जैसा कवि सूरदास है वैसा आधुनिक भारतीय भाषाओ मे कोई कवि नही हुआ। सूरदास के वात्सल्य और विरह के पद अनुपम है। जैसा ऊपर कहा गया है, अष्टछाप काव्य व्रजभाषा मे रचा गया है। उसमे भावमयता, सजीवता और स्वाभाविक अलकारिता है। सजीव शब्दचित्र के अकन मे सूरदास, परमानददास और नददास की कला अधिक कुशल है। इनकी भाषा में चित्रमयता के गुण के साथ साथ, सरसता, सुकुमार प्रभावात्मकता और सगीतात्मक लयता है। भावानुकूल शब्दो के प्रयोग के लिये नददास बहुत प्रसिद्ध है। भाषा के लालित्य के कारण नददास के विषय मे कथन प्रसिद्ध है

और सब गढिया, नददास जडिया।

अष्टछाप के सभी कवि भक्तिपद्धति की दृष्टि से पुष्टिमार्गीय तथा दार्शनिक विचारधारा की दृष्टि से शुद्धाद्वैतवादी थे। अष्टछाप के प्रत्येक भक्त कवि की प्रामाणिक रचनाओ के नाम निम्नलिखित है

१ सूरदास सूरसागर, सूरसारावली, दृष्टकूट के पद (साहित्यलहरी), २ परमानददास परमानदसागर, ३ कुभनदास पद-सग्रह, ४ कृष्णदास पदसग्रह, ५ नददास रसमजरी, अनेकार्थमजरी, मानमजरी (अथवा नाममाला), रूपमजरी, विरहमजरी, श्यामसगाई, दशम स्कध भाषा, गोवर्धनलीला, सुदामाचरित, रुक्मिणीमगल, रासपचाध्यायी, सिद्धातपचाध्यायी, भँवरगीत, पदावली, ६ चतुर्भुजदास पदसग्रह, ७ गोविंदस्वामी पदसग्रह, ८ छीतस्वामी पदसग्रह।

स० ग्र०—चौरासी वैष्णवन की वार्ता (गोकुलनाथ जी तथा हरिराय जी), दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता (गोकुलनाथ जी तथा हरिराय जी), अष्टसखान की वार्ता, भक्तमाल (नाभादास), अष्टछाप और वल्लभ सप्रदाय (दीनदयालु गुप्त), अष्टछाप (धीरेंद्र वर्मा)। [दी० द० गु०]

अष्टधातु आठ धातुओ का सप्रदाय जिसमें सोना, चाँदी, ताँबा, राँगा, जस्ता, सीसा, लोहा तथा पारा (रस) की गणना की जाती है। एक प्राचीन श्लोक में इनका निर्देश यो किया गया है

स्वर्ण रूप्य ताम्र च रग यशदमेव च।
शीस लौह रसश्चेति धातवोऽष्टौ प्रकीर्तिता।

सुश्रुतसहिता मे केवल प्रथम सात धातुओ का ही निर्देश देखकर आपातत प्रतीत होता है कि सुश्रुत पारा (पारद, रस) को धातु मानने के पक्ष में नही है, पर यह कल्पना ठीक नही। उन्होने रस को धातु भी अन्यत्र माना है (ततो रस इति प्रोक्त स च धातुरपि स्मृत)। अष्टधातु का उपयोग प्रतिमा के निर्माण के लिये भी किया जाता था, तब रग के स्थान पर पीतल

इनका ग्रस्तित्व नही होता। कारण केवल उत्पत्ति मे सहायक होते हैं। साख्यदर्शन इसके विपरीत कार्य को उत्पत्ति के पहले कारण मे स्थित मानता है, ग्रत उसका सिद्धात सत्कार्यवाद कहलाता है। न्यायदर्शन भाववादी ग्रौर यथार्थवादी है। इसके ग्रनुसार उत्पत्ति के पूर्व कार्य की स्थिति मानना ग्रनुभवविरुद्ध है। न्याय के इस सिद्धात पर ग्राक्षेप किया जाता है कि यदि ग्रसत् कार्य उत्पन्न होता है तो शशशृग जैसे ग्रसत् कार्य भी उत्पन्न होने चाहिए। किंतु न्यायमजरी में कहा गया है कि ग्रसत्कार्यवाद के ग्रनुसार ग्रसत् की उत्पत्ति नही मानी जाती। ग्रपितु जो उत्पन्न हुग्रा है उसे उत्पत्ति के पहले ग्रसत् माना जाता है। [रा० पा०]

ग्रसमिया भाषा ग्रौर साहित्य

ग्राधुनिक भारतीय ग्रार्य-भाषाग्रो की शृखला मे पूर्वी सीमा पर ग्रवस्थित ग्रासाम की भाषा को ग्रसमी, ग्रसमिया ग्रथवा ग्रासामी कहा जाता है। ग्रियर्सन के वर्गीकरण की दृष्टि से यह वाहरी उपशाखा के पूर्वी समुदाय की भाषा है, पर सुनीतिकुमार चटर्जी के वर्गीकरण में प्राच्य समुदाय मे इसका स्थान है। १९५१ ई० की जनगणना के ग्रनुसार ग्रसम प्रदेश के नव्वे लाख निवासियो में से साढे उनचास लाख ग्रसमी बोलनेवाले है ग्रौर प्राय दस लाख घरेलू व्यवहार के ग्रतिरिक्त ग्रन्य सभी दैनिक कार्यों मे इसका प्रयोग करते हैं। उडिया तथा वँगला की भाँति ग्रसमी की भी उत्पत्ति प्राच्य प्राकृत तथा ग्रपभ्रश से हुई है।

ग्रसमिया भापा का व्यवस्थित रूप १३वी तथा १४वी शताब्दी से मिलने पर भी उसका पूर्वरूप वौद्ध सिद्धो के 'चर्यापद' मे देखा जा सकता है। 'चर्यापद' का समय विद्वानो ने ईसवी सन् ६०० से १००० के वीच स्थिर किया है। इन दोहो के लेखक सिद्धो मे से कुछ का तो कामरूप प्रदेश से घनिष्ठ सवध था। 'चर्यापद' के समय से १२वी शताब्दी तक ग्रसमी भापा मे कई प्रकार के मौखिक साहित्य का सृजन हुग्रा था। मणिकोवर-फुलकोवर-गीत, डाकवचन, तत्र मत्र ग्रादि इस मौखिक साहित्य के कुछ रूप हैं।

सीमा की दृष्टि से ग्रसमिया क्षेत्र के पश्चिम में वँगला है। ग्रन्य दिशाग्रो मे कई विभिन्न परिवारो की भापाएँ बोली जाती है। इनमे से तिव्वती, वर्मी तथा खासी प्रमुख हैं। इन सीमावर्ती भाषाग्रो का गहरा प्रभाव ग्रसमिया की मूल प्रकृति मे देखा जा सकता है। ग्रपने प्रदेश मे भी ग्रसमिया एकमात्र वोली नही है। यह प्रमुखत मैदानो की भाषा है।

वहुत दिनो तक ग्रसमिया को वँगला की एक उपवोली सिद्ध करने का उपक्रम होता रहा है। ग्रसमिया की तुलना मे वँगला भाषा ग्रौर साहित्य के वहुमुखी प्रसार को देखकर ही लोग इस प्रकार की धारणा वनाते रहे हैं। परतु भाषावैज्ञानिक दृष्टि से वँगला ग्रौर ग्रसमिया का समानातर विकास ग्रासानी से देखा जा सकता है। मागधी ग्रपभ्रश के एक ही स्रोत से नि सृत होने के कारण दोनो मे समानताएँ हो सकती हैं, पर उनके ग्राधार पर एक को दूसरी की वोली सिद्ध नही किया जा सकता।

ग्रसमिया लिपि मूलत ब्राह्मी का ही एक विकसित रूप है। वँगला से उसकी निकट समानता है। लिपि का प्राचीनतम उपलब्ध रूप भास्करवर्मन का ६१० ई० का ताम्रपत्र है। परतु उसके वाद से ग्राधुनिक रूप तक लिपि मे 'नागरी' के माध्यम से कई प्रकार के परिवर्तन हुए हैं।

ग्रसमिया भाषा का पूर्ववर्ती, ग्रपभ्रशमिश्रित वोली से भिन्न रूप प्राय १४वी शताब्दी से स्पष्ट होता है। भाषागत विशेषताग्रो को ध्यान मे रखते हुए ग्रसमिया के विकास के तीन काल माने जा सकते हैं

(१) प्रारभिक ग्रसमिया—१४वी शताब्दी से १६वी शताब्दी के ग्रत तक। इस काल को फिर दो युगो में विभक्त किया जा सकता है (ग्र) वैष्णव-पूर्व-युग तथा (ग्रा) वैष्णवयुग। इस युग के सभी लेखको में भाषा का ग्रपना स्वाभाविक रूप निखर ग्राया है, यद्यपि कुछ प्राचीन प्रभावो से वह सर्वथा मुक्त नही हो सकी है। व्याकरण की दृष्टि से भाषा मे पर्याप्त एकरूपता नही मिलती। परतु ग्रसमिया के प्रथम महत्वपूर्ण लेखक शकरदेव (जन्म—१४४९) की भाषा मे ये त्रुटियाँ नही मिलती। वैष्णव-पूर्व-युग की भाषा की ग्रव्यवस्था यहाँ समाप्त हो जाती है। शकरदेव की रचनाग्रो मे व्रजवुलि प्रयोगो का वाहुल्य है।

(२) मध्य ग्रसमिया—१७वी शताब्दी से १९वी शताब्दी के प्रारभ तक। इस युग मे ग्रहोम राजाग्रो के दरवार की गद्यभाषा का रूप प्रधान है। इन गद्यकर्ताग्रो को वुरजी कहा गया है। वुरजी साहित्य में इतिहास-लेखन की प्रारभिक स्थिति के दर्शन होते हैं। प्रवृत्ति की दृष्टि से यह पूर्ववर्ती धार्मिक साहित्य से भिन्न है। वुरजियो की भाषा ग्राधुनिक रूप के ग्रधिक निकट है।

(३) ग्राधुनिक ग्रसमिया—१९वी शताब्दी के प्रारभ से। १८१९ ई० मे ग्रमरीकी वप्तिस्त पादडियो द्वारा प्रकाशित ग्रसमिया गद्य मे वाइवल के ग्रनुवाद से ग्राधुनिक ग्रसमिया का काल प्रारभ होता है। मिशन का केद्र पूर्वी ग्रासाम मे होने के कारण उसकी भाषा मे पूर्वी ग्रासाम की वोली को ही ग्राधार माना गया। १८४६ ई० मे मिशन द्वारा एक मासिक पत्र 'ग्ररुणोदय' प्रकाशित किया गया। १८४८ मे ग्रसमिया का प्रथम व्याकरण छपा ग्रौर १८६७ मे प्रथम ग्रसमिया-ग्रग्रेजी शब्दकोश।

क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से ग्रसमिया के कई उपरूप मिलते हैं। इनमे से दो मुख्य हैं—पूर्वी रूप ग्रौर पश्चिमी रूप। साहित्यिक प्रयोग की दृष्टि से पूर्वी रूप को ही मानक माना जाता है। पूर्वी की ग्रपेक्षा पश्चिमी रूप में वोलीगत विभिन्नताएँ ग्रधिक हैं। ग्रसमिया के इन दो मुख्य रूपो मे ध्वनि, व्याकरण तथा शब्दसमूह इन तीनो ही दृष्टियो से ग्रतर मिलते हैं। ग्रसमिया के शब्दसमूह मे सस्कृत तत्सम, तद्भव तथा देशज के ग्रतिरिक्त विदेशी भाषाग्रो के शब्द भी मिलते हैं। ग्रनार्य भाषापरिवारो से गृहीत शब्दो की सख्या भी कम नही है। भाषा में सामान्यत तद्भव शब्दो की प्रधानता है। हिंदी उर्दू के माध्यम से फारसी, ग्ररवी तथा पुर्तगाली ग्रौर कुछ ग्रन्य यूरोपीय भाषाग्रो के भी शब्द ग्रा गए हैं।

भारतीय ग्रार्यभाषाग्रो की शृखला मे पूर्वी सीमा पर स्थित होने के कारण ग्रसमिया कई ग्रनार्य भाषापरिवारो से घिरी हुई है। इस स्तर पर सीमावर्ती भाषा होने के कारण उसके शब्दसमूह में ग्रनार्य भाषाग्रो के कई स्रोतो से लिए हुए शब्द मिलते हैं। इन स्रोतो मे से तीन ग्रपेक्षाकृत ग्रधिक मुख्य हैं

(१) ग्रॉस्ट्रो-एशियाटिक—(ग्र) खासी, (ग्रा) कोलारी, (इ) मलायन

(२) तिव्वती-वर्मी—वोडो

(३) थाई—ग्रहोम

शब्दसमह की इस मिश्रित स्थिति के प्रसग मे यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि खासी, वोडो तथा थाई तत्व तो ग्रसमिया मे उधार लिए गए हैं, पर मलायन ग्रौर कोलारी तत्वो का मिश्रण इन भाषाग्रो के मूलाधार के पारस्परिक मिश्रण के फलस्वरूप है। ग्रनार्य भाषाग्रो के प्रभाव को ग्रसम के ग्रनक स्थाननामो मे भी देखा जा सकता है। ग्रॉस्ट्रिक, वोडो तथा ग्रहोम के वहुत से स्थाननाम ग्रामो, नगरो तथा नदियो के नामकरण की पृष्ठभूमि मे मिलते है। ग्रहोम के स्थाननाम प्रमुखत नदियो को दिए गए नामो मे है।

ग्रसमिया साहित्य

ग्रसमिया के शिष्ट ग्रौर लिखित साहित्य का इतिहास पाँच कालो में विभक्त किया जाता है (१) वैष्णवपूर्वकाल १२००-१४४९ ई०, (२) वैष्णवकाल १४४९-१६५० ई०, (३) गद्य, वुरजी काल १६५०-१९२६ ई०, (४) ग्राधुनिक काल १९२६-१९४७ ई०, (५) स्वाधीनतोत्तरकाल १९४७ ई०—।

(१) वैष्णवपूर्वकाल—ग्रद्यतन उपलव्ध सामग्री के ग्राधार पर हेम सरस्वती ग्रौर हरिहर विप्र ग्रसमिया के प्रारभिक कवि माने जा सकते हैं। हेम सरस्वती का 'प्रह्लादचरित्र' ग्रसमिया का प्रथम लिखित ग्रथ माना जाता है। ये दोनो कवि कमतापुर (पश्चिम कामरूप) के शासक दुर्लभनारायण के ग्राश्रित थे। एक तीसरा प्रसिद्ध कवि कविरत्न सरस्वती भी था, जिसने 'जयद्रथवध' लिखा। परतु वैष्णवपूर्वकाल के सवसे प्रसिद्ध कवि माधव कदली हुए, जिन्होने राजा महामाणिक्य के ग्राश्रय मे रहकर ग्रपनी रचनाएँ की। माधव कदली के रामायण के ग्रनुवाद ने विशेष ख्याति प्राप्त की। सस्कृत शब्दसमूह को ग्रसमिया में रूपातरित करना कवि की विशेष कला थी। इस काल की ग्रन्य फुटकर रचनाग्रो में कुछ

श्वसन कार्य श्वासप्रणाली द्वारा होता है। एक जोडा कातनेवाली ग्रंथियाँ वर्तमान रहती है।

इस वर्ग के अतर्गत पुस्तक-बिच्छू अथवा केली-फर आते है।

खाद के ढेरो, लकडी की दरारो तथा इसी प्रकार के स्थानो में एक विस्तृत तथा रोचक, छोटी मकडियो का वर्ग मिलता है। ये मिथ्या-बिच्छू है जो अपने को छिपाए रहते है और फलस्वरूप बहुत कम लोगो के देखने में आते है। इनमें स्पर्शशृग वडे होते है जो आक्रमण के अस्त्र का काम देते है। इनके कारण ही य विच्छू जैसे प्रतीत होते है। इनका उदर वलयी होता है और ये कीटो तथा अल्पिकाओ का आहार कर अपना जीवनयापन करते है। अडे तथा बच्चो को माँ साथ लिए फिरती है। शरद् ऋतु मे वयस्क मिथ्या विच्छू रेशम का घोसला वनाकर उसी में आश्रय लेता है (देखिए चित्र ५)।
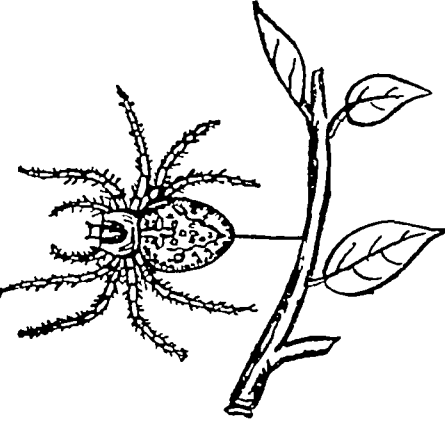
चित्र ४. मकडी

वर्ग (७) रिसिन्यूलिआइ—इस वर्ग के अतर्गत वे अष्टपाद आते है जिनका शिरोर अटूट प्रकार का होता है। इनके अग्रभाग में एक चलायमान प्रलब अग होता है जिसे कुकुलस कहते है, उदर ग्रीवा द्वारा शिरोर से जुडा रहता है, उदर मे यद्यपि चार ही खड प्रत्यक्ष दिखाई पडते है, तो भी यथार्थ में नौ होते है। ग्राहिकाएँ तथा पादस्पर्श शृग नखर होते है। श्वासोच्छ्वास श्वासप्रणाल द्वारा होता है।

इस वर्ग के उदाहरण क्रिप्टोसिलस है।

वर्ग (८) फैलेनजाइडा—ये वे अष्ट-पाद है जिनका शिरोर अखडित होता है और उदर दस खडो का तथा शिरोर से सीधा जुडा रहता है। इनकी ग्राहिकाएँ नखर होती है और पादस्पर्शशृग पाद जैसे होते है। श्वसन अवयव श्वासप्रणाल का वना होता है। इनमें कताई की किसी प्रकार की ग्रथियाँ विकसित नही होती।
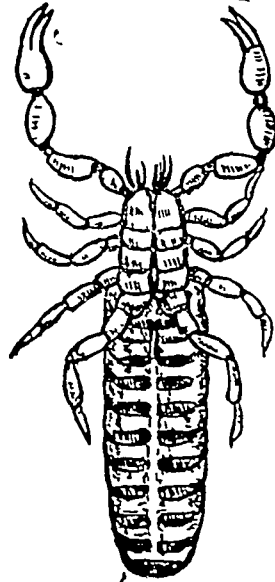
चित्र ५ मिथ्या बिच्छू (केलीफर लेट्रीलाई)

इस वर्ग के अतर्गत लवन मकडियाँ (हार्वेस्टर स्पाइडर्स) आती है।

हार्वेस्टर, हार्वेस्टमेन अथवा लवन-मकडियाँ लवी टाँगोवाले, वहुत ही व्यापक, मकडी के आकार के प्राणी है। वे केवल खेतो मे पाए जाते है। वे अपने शिकार कीट, मकडी तथा अल्पिकाओ का पीछा करते है, इसलिये वे जाल का निर्माण नही करते। इनका शरीर मकडियो से भिन्न और ठोस गोलाकार होता है। मैथुन ऋतु में मादा के लिये नर आपस मे लडते हुए दिखाई पडते है। मादा पत्थरो के नीचे अथवा जमीन में विल के भीतर अडे देती है। वच्चे उत्पन्न होने पर वे माँ वाप की आकृति के होते हैं।

वर्ग (९) एकेराइना—ये वे अष्टपाद है जिनका शरीर खडो मे विभाजित दृष्टिगोचर नही होता। मुखाग काटने अथवा छेदने और चूसने के उपयुक्त वना रहता है। श्वसन अवयव जव वर्तमान रहता है तव श्वास-प्रणाल के रूप में होता है।

इस वर्ग के उदाहरण अल्पिकाएँ (माइट) तथा चिचडियाँ या किल-नियाँ (टिक) है।

अल्पिकाएँ—अल्पिकाएँ सारे ससार में विपुल सख्या में पाई जाती है। आर्थिक दृष्टि से इनका भी उतना ही महत्व है जितना मकडियो का। साधारणत अल्पिकाएँ वहुत ही सूक्ष्म प्राणी होती है और इनका अध्ययन अणुवीक्षण यत्र द्वारा ही हो सकता है। अनेक अल्पिकाओ के शरीर के विभिन्न खडो में वहुत कम अतर रहता है। अल्पिकाओ का शरीर कीटो की भाँति अलग अलग खडो मे विभक्त नही होता। मुखाग चवाने, काटने तथा चूसनेवाले होते है। अल्पिकाएँ किलनियो से छोटी होती है। ये स्वतत्र रूप से रहनेवाली और परोपजीवी, दोनो प्रकार की होती है। अल्पिकाएँ ताजे या गले सडे कावनिक पदार्थो को खाती है। खुजली की अल्पिकाएँ मनुष्य मे खुजली उत्पन्न कर देती है (देखें चित्र ६, जो वास्तविक से लगभग २००गुने पैमाने पर बना है)। इन्ही से सवधित एक जाति कुत्तो में खुजली उत्पन्न करती है। अल्पिकाओ का स्वभाव एक दूसरे से भिन्न होता है और स्वभाव के अनुकूल इनके शरीर की रचना में भी प्राय वहुत भिन्नता होती है। भोजन के अनुसार मुखाग विशेष रूप से भिन्न होते है। वासस्थान के अनुसार इनके पैर की रचना में भी विशेषता रहती है। पैरो के अतिम सिरे पर छोटे छोटे रोम या अकुश चूषक होते है। अल्पिकाएँ या तो नेत्रहीन होती है, या एक या अनेक आँखोवाली। इनके जीवन-इतिहास म प्राय रूपातरण होता है प्रथम अडा, वाद मे डिंभ (लार्वा), जिसमे पैरो की सख्या कम होती है। पोतक (निफ) की अवस्था हो सकती है या नही भी। उसके बाद वयस्क अवस्था होती है। अल्पिकाएँ या तो स्वतत्र विचरनेवाली होती है और मिट्टी में, समुद्र मे तथा नदियो और तालावो में पाई जाती है अथवा दूसरे प्राणियो पर जीवननिर्वाह करनेवाली होती है।

थूथनयुक्त अल्पिकाओ (स्नाउट माइट्स) का शरीर मुलायम होता है। इनके पैर लवे होते है और ये कीटो की तलाश मे वडी तेजी से दौडती है। ये शीतल तथा आर्द्र स्थानो मे रहती है और शरद ऋतु में गिरे पत्तो के नीचे पाई जाती है। कुछ अल्पिकाएँ, जैसे कर्तनक (कताईवाली) अल्पिकाएँ, रेशम की तरह तागा उत्पन्न करती है, कुछ अल्पिकाओ में चोच होती है, जो सुई जैसी हन्विकाओ (मैंडिवुल्स) की वनी होती है। वडे अनुवध (अग), जिनमें कघे के समान नखर होते है, शिकार को पकडने के काम मे लाए जाते है। कृपक किलनियाँ (हार्वेस्ट माइट) मनुष्य पर आक्रमण करती है। उनके काटने से त्वचा में वडे जोर की खुजलाहट और जलन होती है। कटनी के दिनो मे खेतो मे कटनी करनेवाले प्राय इनके शिकार हो जाते है। वगीचो मे पाई जानेवाली लाल मकडी (वीरवहूटी) वस्तुत वुननेवाली एक अल्पिका है। ये अधिक सख्या में होने पर पौधो की कोमल कलियो को क्षति पहुँचाती है। एक दूसरे प्रकार की वुनकर अल्पिकाएँ (वीवर माइट) चिडियो पर निर्वाह करनेवाली होती है।

चित्र ६ खुजली की अल्पिका

ये उँगलियो के वीच घर कर लेती है। अडे देने के लिये जव ये त्वचा मे सुरगें वनाती है, तो वडी खुजली होती है।
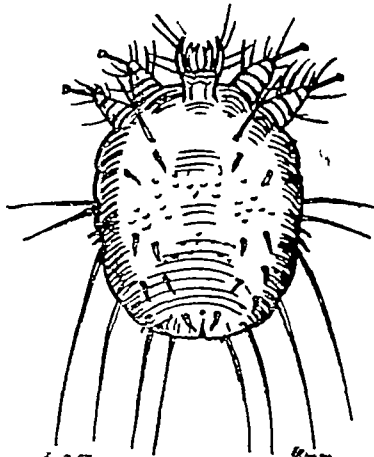
प्राय सभी जल-अल्पिकाएँ मीठे जल मे पाई जाती है, यद्यपि कुछ खारे जल मे तथा कुछ समुद्र में भी पाई जाती है। वयस्क जल-अल्पिकाएँ प्राय स्वतत्र विचरनेवाली होती है, किंतु एक प्रकार की जल-अल्पिका पराश्रयी होती है और शुक्तियो (सितुहियो) के गलफडो में पाई जाती है। ये अल्पिकाएँ हरे, नीले, पीले आदि अनेक सुदर रगो की होती है। अधिकाश में काले और पीले का समिश्रण होता है। वे अन्य अल्पिकाओ की अपेक्षा वडी होती है। उनमें वहुत सी जल की तीव्र धारा में रहती है। कुछ अल्पिकाएँ सामाजिक होती है (अर्थात् समूहो में रहती है) और तालावो के घास-पात के वीच पाई जाती है। ये मासाहारी होती है। खुजलीवाली अल्पिकाएँ सारकोप्टिज स्केवीज कहलाती है और वे वहुधा अँगुलियो के वीच की कोमल त्वचा में रहती है। वे शरीर

लेखको द्वारा प्रस्तुत वस्तुत अनेकानेक लोकगीत मिलते है, जो एक पीढी से दूसरी पीढी तक मौखिक परपरा से सुरक्षित रह सके हैं। ये लोकगीत धार्मिक अवसरो, आचारो तथा ऋतुओ के परिवर्तनो से सबद्ध हैं। कुछ लोकगाथाओ मे राजकुमार नायको के आख्यान भी मिलते हैं। शिष्ट साहित्य के उद्भव के पूर्व इस काल मे दार्शनिक डाक का महत्व असाधारण है। उसके कथनो को वेदवाक्य सज्ञा दी गई है। डाकवचनो की यह परपरा बगाल तथा बिहार तक मिलती है। असम के प्राय प्रत्येक परिवार मे कुछ समय पूर्व तक इन डाकवचनो का एक हस्तलिखित सकलन रहता था।

असम के प्राचीन नाम 'कामरूप' से प्रकट होता है कि वहाँ बहुत प्राचीन काल से तत्र मत्र की परपरा रही है। इन गुह्याचारो से सबद्ध अनेक प्रकार के मत्र मिलते हैं जिनसे भाषा तथा साहित्य विषयक प्रारभिक अवस्था का कुछ परिचय मिलता है। 'चर्यापद' के लेखक सिद्धो मे से कई का कामरूप से घनिष्ठ सबध बताया जाता है, जो इस प्रदेश की तात्रिक परपरा को देखते हुए काफी स्वाभाविक जान पडता है। इस प्रकार चर्यापदो के समय से लेकर १३वी शताब्दी के बीच का मौखिक साहित्य या तो जनप्रिय लोकगीतो और लोकगाथाओ का है या नीतिवचनो तथा मत्रो का। यह साहित्य बहुत बाद मे लिपिबद्ध हुआ।

स०ग्र०—विरचिकुमार बरुआ असमिया साहित्य की रूपरेखा, वाणीकात काकती असमीज, इट्स फॉर्मेशन ऐड डेवेलपमेट।

[रा० स्व० च०]

असहयोग विदेशी अँगरेज सरकार को देश से निकालकर देश को आजाद करने का सबसे पहला उपाय जो महात्मा गाधी ने देश को बताया उसे उन्होने 'असहयोग' या 'शातिमय असहयोग' (नानवायलेंट नान कोआपरेशन) नाम दिया। कुछ दिनो बाद 'सत्याग्रह' शब्द का उपयोग भी होने लगा, कितु यदि सही तौर पर देखा जाय तो महात्मा गाधी का सत्याग्रह असहयोग का ही एक विकसित और उन्नत रूप था। अत मे इसी उपाय से भारत ने स्वाधीनता प्राप्त की।

कुछ लोगो का कहना है कि दुनिया मे कोई चीज नई नही होती। कम से कम असहयोग का विचार या उसकी कल्पना इस देश के राजनीतिक इतिहास में कोई नई चीज नही थी। राजनीति मे अहिसा का विचार भी इस देश में बिलकुल नया नही था। महात्मा गाधी से पचास वर्ष पहले पजाब के नामधारी सिक्खो के गुरु गुरुरामसिंह जी ने खुले तौर पर अग्रेजी राज के खिलाफ 'धर्मयुद्ध' यानी जेहाद का झडा खडा किया था। वह अग्रेज सरकार को भारत से निकालना अपना लक्ष्य बताते थे। पजाब के उस समय के अग्रेज लेफ्टिनेट गवर्नर स्वय भैणी साहब के गुरुद्वारे को देखने गए। गुरुद्वारे मे उनकी गुरुरामसिंह से भेट हुई। गुरुरामसिंह ने अग्रेज शासक से स्पष्ट शब्दो मे कहा कि "मै आप लोगो को भारत से निकालने की तैयारी कर रहा हूँ।" जब उनसे पूछा गया कि आप अग्रेजो को किस तरह निकालिएगा तो उन्होने कहा कि "मै १०८, १०८ गोलो की बहुत-सी तोपें तैयार करा रहा हूँ। जब अग्रेज शासक ने तोप देखना चाहा तो गुरु जी ने अपने हाथ की १०८ दानो की सफेद ऊन की माला अग्रेज शासक के सामने रख दी। 'अहिसा' के अर्थों मे वह पजाबी 'छिमा' (क्षमा) शब्द का उपयोग किया करते थे। हिंसा के वह कट्टर विरोधी थे। अपने अनुयायियो को वह अग्रेज सरकार के साथ पूर्ण असहयोग की सलाह देते थे। उनका उपदेश था कि कोई भारतवासी अपने बच्चो को अँग्रेजो के किसी सरकारी मदरसे में पढने के लिये न भेजे, कोई, चाहे उसे कितना भी कष्ट क्यो न हो, अग्रेजी अदालत का आश्रय न ले, न अग्रेजी अदालत मे जाय, कोई भारतवासी अग्रेज सरकार की नौकरी न करे। वह अग्रेजो की रेलो में बैठने और अग्रेजी डाकखानो की मारफत चिट्ठी पत्री भेजने तक के विरुद्ध थे। कुछ बरसो तक पजाब मे यह आदोलन खूब फैला। अग्रेज सरकार के लिये उसे दमन करना आवश्यक हो गया। सन् १८७२ मे गुरुरामसिंह को कैद करके रगून भेज दिया गया, जहाँ कुछ समय बाद उनकी मृत्यु हो गई। पजाब के अनेक जिलो से हजारो नामधारी सिक्खो को गिरफ्तार करके स्पेशल ट्रेनो मे भर भरकर कही पूरब की तरफ भेज दिया गया। आज तक इस बात का पता न चला कि उन लोगो को सुदरबन मे ले जाकर मार डाला गया या बगाल की खाडी मे डुबो दिया गया। भारत मे अग्रेजी राज के खिलाफ शातिमय असहयोग का वह पहला तजरबा था। सन् १९४७ तक अर्थात् भारत के स्वतत्रता प्राप्त करने के दिन तक हजारो ही नामधारी सिक्ख ऐसे थे जो न अग्रेजी स्कूल मे अपने बच्चो को पढने भेजते थे, न अग्रेजी कचहरियो मे जाते थे और न अग्रेजो की नौकरी आदि करते थे। कुछ ऐसे भी थे जो न रेलगाडी मे यात्रा करते थे और न सरकारी डाकखाने से अपनी चिट्ठी पत्री भेजते थे।

महात्मा गाधी की सत्याग्रह की कल्पना भी दुनिया मे कोई नई कल्पना नही थी। स्वय गाधी जी ने सन् १९१९ मे प्रसिद्ध अमरीकी सत दार्शनिक थोरो की मशहूर किताब 'दि ड्यूटी ऑव सिविल डिसओबीडिएन्स' को छपवाकर उसका अग्रेजी मे और भारत की अनेक भाषाओ मे खूब प्रचार कराया था। थोरो का उपदेश यही था कि स्वय अहिंसात्मक रहते हुए किसी भी अन्यायी सरकार के कानूनो को भग करके जेल जाना या मौत का सामना करना हर न्यायप्रेमी का कर्तव्य है। महात्मा गाधी से बहुत पहले यह वाक्य "जो सरकार किसी एक मनुष्य को भी न्याय के विरुद्ध जेल खाने मे बद कर देती है उस सरकार के अधीन हर न्यायप्रेमी मनुष्य के रहने की असली जगह जेलखाना ही है", सारी दुनिया में गूँज चुका था। २०वी सदी के भारत के असहयोग आदोलन और सत्याग्रह आदोलन से पीढियो पहले अमरीका और स्वय यूरोप के कई देशो मे अहिंसात्मक असहयोग और सत्याग्रह के तजरबे हो चुके थे। हम इस स्थान पर उन सब पहले के तजरबो के विस्तार मे जाना नही चाहते।

महात्मा गाधी के आदोलन की विशेषता यह थी कि उन्होने एक इतने विशाल देश में, इतने बडे पैमाने पर और इतनी शक्तिशाली सत्ता के विरुद्ध इस अहिंसात्मक हथियार का सफल प्रयोग करके दुनिया को दिखला दिया। दुनिया के इतिहास मे यह सचमुच एक नई बात थी।

असहयोग का अर्थ बिलकुल साफ और सीधा है। इसम तीन बाते है। पहली यह कि किसी देश के लोग दूसरे देश के लोगो पर बिना शासित देश के लोगो की सहायता और उनके सहयोग के शासन नही कर सकते, दूसरे यह कि किसी भी अन्याय, आक्रमण, कुशासन या बुराई के साथ सहयोग करना यानी उसे मदद देना गुनाह है, तीसरी और अतिम बात यह कि यदि किसी भी शासित देश के लोग विदेशी सरकार के साथ सहयोग करना बिलकुल बद कर दे और इस असहयोग की सजा मे हर तरह के कष्ट भोगने को तैयार हो जायँ तो कोई विदेशी सरकार उस देश पर देर तक शासन नही कर सकती। महात्मा गाधी के इस अनुपम आदोलन ने करोडो भारतवासियो के अदर वह जागृति, साहस, निर्भीकता, त्यागभावना, एकता और वह नई जान फूँक दी जिससे इस देश मे विदेशी शासन का चल सकना सर्वथा असभव हो गया और जिससे विवश होकर अग्रेजो को, शासको की हैसियत से, भारत छोडकर चला जाना पडा।

असहयोग को पजाबी मे 'नामिलवर्तन' और उर्दू मे 'अदमतआवुन' कहते थे। सभव है, भारत की किसी और भाषा में उसका कोई और नाम भी रखा गया हो, पर असहयोग नाम सारे भारत मे प्रचलित था और अब तक है।

असहयोग आदोलन शुरू होने से पहले देश की आजादी चाहनेवालो मे मुख्यत दो विचारो के लोग थे। एक वह जो केवल अरजी परचो के जरिए अग्रेज सरकार की कृपा से धीरे धीरे राजनीतिक उन्नति करने की आशा करते थे और दूसरे वह जो हिंसात्मक क्राति का रास्ता ढूँढते थे। दोनो के अपने अपने प्रयत्न भी चल रहे थे। उनपर विचार करने की हमे यहाँ आवश्यकता नही है। जहाँ तक स्वाधीनताप्राप्ति का सबध है, इन दोनो उपायो की निष्फलता साबित हो चुकी है। पहले महायुद्ध (१९१४-१९) ने देशवासियो के अदर स्वाधीनता की प्यास को और अधिक बढा दिया था। अग्रेज शासक भी दमन के नए नए हथियार तैयार कर रहे थे। उस अपूर्व सकट के समय महात्मा गाधी के शातिमय असहयोग कार्यक्रम ने भारत की सारी जनता के दिलो मे एक नया उत्साह, नई उमग और आशा की नई जोत जगा दी।

गाधी जी के असहयोग कार्यक्रम के मुख्य अग ये थे (१) स्कूलो और कालेजो का बहिष्कार, (२) सरकारी नौकरी का बहिष्कार, (३)

त्रिखड डिंभ (ट्राइलोबाइट लार्वा) कहते हैं। इसका डिंभ कठिनि के डिंभ से मिलता जुलता है। नृप केकडा कठिनि तथा अष्टपाद श्रेरिणयो के बीच एक प्रकार की योजक कडी है। साधारण नृप केकडे (पैरालिथोडीज़ कैमशैटिका) का मास लोग खाते हैं। जापान और रूस में इनकी डिब्बावदी होती है और डिब्बावद मास दूर दूर तक जाता है। ये केकडे टॉग फैलाकर नापे जाने पर चार फुट तक के होते हैं।

वर्ग (११) इउरीटेरिडा—ये वे अष्टपाद है जिनमे अपेक्षाकृत शिरोर छोटा होता है। इसके पश्चात् वारह स्वतत्र खड और एक लवा तथा सकीर्ण अतिम खड होता है। शिरोर में पाद सदृश एक जोडी ग्राहिकाएँ तथा पाँच जोडे पाद सदृश अन्य अनुवध होते हैं, जिनमें चार जोडे चलने के लिये होते हैं। वाह्य त्वचा पर विलक्षण प्रकार की नक्काशी होती है।

इस वर्ग के अतर्गत प्राथमिक युग के वडे वडे इउरीटिरस नामक प्राणी आते हैं, जो अव लुप्त हो गए है।

स०ग्र०—टी० जे० पार्कर ऐंड विलियम ए हैसवेल ए टेक्स्टवुक ऑव जूऑलोजी, भाग १, ऑडहैम्स प्रेस, लिमिटेड, लदन, (१९५१), जॉन हेनरी कॉम्सटाक दि सायस ऑव लिविंग थिंग्स, चपतस्वरूप गुप्त जतुविज्ञान, डी० आर० पुरी माध्यमिक प्राणिशास्त्र, रघुवीर माध्यमिक प्राणिकी। [भृ० ना० प्र०]

अष्टबाहु

अष्टबाहु (ऑक्टोपस) चूर्णप्रावार (मोलस्क) प्रसृष्टि (समूह) के जीव हैं। चूर्णप्रावार का अर्थ है चूने (कैल्सियम) से बने कडे खोलवाले प्राणी। इसी प्रसृष्टि में घोघा, सीप, शख इत्यादि जीव भी हैं। अष्टवाहुओ की गणना शीर्षपाद वर्ग मे की जाती है। शीर्षपाद वर्ग के जीवो की कुछ अपनी विशेषताएँ है जो अन्य चूर्णप्रावारो में नही पाई जाती। मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं उनके शरीर की रचना तथा सगठन अन्य जातियो से उच्च कोटि की होती है। वे आकार मे वडे सुडौल, वहुत तेज चलनेवाले, मासाहारी, वडे भयानक तथा क्रूर स्वभाव के होते हैं। वहुतो में प्रकवच (वाहरी कडा खोल) नही होता। ये पृथ्वी के प्राय सभी उष्ण समुद्रो में पाए जाते हैं।

मसिक्षेपी (कटल फिश), कालक्षेपी (लोलाइगो), सामान्य अष्टवाहु, स्क्विड तथा मृदुनाविक (आर्गोनॉट) अष्टवाहुओ के उदाहरण है। पूर्ण वयस्क भीम (जाएट) स्क्विड की लवाई ५० फुट, नीचे के जवडे ४ इच तक लवे और ऑंखो का व्यास १५ इच तक होता है।

सामान्य अष्टवाहु को समुद्र का भयकर जीव भी कहते हैं। यह उत्तरी समुद्रो के तल पर अधिकतर रहता है। इसमें आठ लवी लवी मासल वाहुएँ होती है। इसी से इस प्राणी का नाम अष्टवाहु पडा है। सामान्य अष्टवाहु की दो विपरीत वाहुओ के सिरो के वीच की दूरी १२ फुट और प्रशात सागरीय भीम अष्टवाहु की ३० फुट तक होती है। इसके मुख के चारो ओर एक वहुत वडी कीप (फनेल) के समान गड्ढा होता है जिसका मुख प्रावार के भीतर तक चला जाता है। वाहुएँ आपस मे झिल्ली से जुडी होती है। इनके भीतर तल पर वहुत से वृत्ताकार चूपको की दो पक्तियाँ होती हैं। इन चूपको द्वारा अष्टवाहु चट्टानो से वडी मजवूती से चिपका रहता है और अन्य समुद्री जतुओ को एक या अधिक वाहुओ से प्रवलता से पकड लेता है। जुडी हुई वाहुएँ भी पकडने का काम करती हैं। मुख में एक दँतीली जिह्वा भी होती है।

सामान्य अष्टवाहु
क जल में गतिवान (१ कीप अर्थात् फनेल), ख चट्टान पर विश्राम करता हुआ।

अष्टवाहु मासाहारी होते हैं। वहुत से अष्टवाहु एक साथ रहते हैं और अपने लिये पत्थरो या चट्टानो का एक आश्रयस्थल वना लेते है। वे एकसाथ रात को खाने की खोज में निकलते हैं और फिर अपने आश्रयस्थल पर लौट आते है। मोती के लिये डुवकी लगानेवाले गोताखोर, या समुद्र में नहानेवाले, वहुधा इनकी शक्तिशाली वाहुओ और चूषको के फदो में पडकर घायल हो जाते हैं। यूरोप के दक्षिणी किनारे की वहुत सी मछलियाँ इनके कारण नष्ट हो जाती है। अष्टवाहु जव अपनी आठ वाहुओ को फैलाकर समुद्र तल पर रेगता सा तैरता है तो एक वडे मकडे के सदृश दिखाई देता है। इसका पानी में तैरकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना भी वडे विचित्र ढग से होता है। तैरते समय अष्टवाहु अपने कीप के मुँह से वडे वल से पानी को वाहर फेकता है और इसी सेजेट विमान की तरह पीछे की ओर चल पाता है। साथ ही उसकी आठो वाहुएँ भी, जो अव पाँव का कार्य करती हैं, उसे उसी तरफ वढने में सहायता पहुँचाती हैं। इस प्रकार वह सामने देखता रहता है और पीछे हटता रहता है। इसका तत्रिकातत्र और आँखें इसी वर्ग के अन्य प्राणियो की तुलना में अधिक विकसित होती हैं। सतुलन तथा दिशा वतानेवाले अग, उपलकोष्ठ (स्टैटोसिस्ट) और घ्राणतनिका भी सिर पर पाई जाती है। इसकी त्वचा में रग भरी कोशिकाएँ होती हैं, जिनकी सहायता से यह अपनी परिस्थिति के अनुसार रग वदलता है। इस विशेषता से इसको वहुधा अपने शत्रुओ से वचने में सहायता मिलती है।
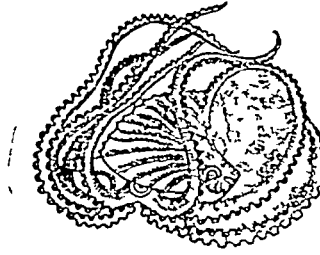
मृदुनाविक (मादा)
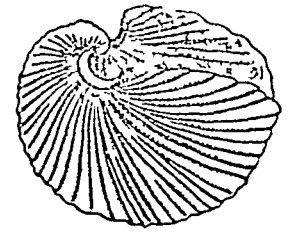
मृदुनाविक का प्रकवच

मृदुनाविक (आर्गोनॉट) भी अष्टवाहु जाति का प्राणी है जो खुले समुद्र के ऊपरी तल पर तैरता पाया जाता है। मादा मृदुनाविक में एक वाह्य प्रकवच होता है, जो वहुत सुदर, कोमल और कुतलाकार होता है। यह प्रकवच इस जतु की दो वाहुओ के वहुत चौडे और चिपटे सिरो की त्वचा के रस से वनता है, और ये वाहुएँ उसको वडी सुदरता से उठाए रहती हैं। जव तक अडे परिपक्व होकर फूटते नही तव तक मादा इसी वाह्य प्रकवच मे रखकर अडे को सेती है। नर मृदुनाविक में, जो स्त्री मृदुनाविक से छोटा होता है, वाह्य प्रकवच नही होता।

प्रजनन एव विकास—अष्टवाहु नर तथा स्त्री (मादा) दोनो ही प्रकार के होते हैं, परतु नर स्त्री से आकार में छोटा होता है और उसकी पिछली एक वाहु के रूप में कुछ भेद होता है। इसको निषेचागीय (हेक्टोकोटिलाइज़्ड) वाहु कहते हैं। यह वाहु प्रजनन के लिये अडो के निषेचन (फर्टिलाइजेशन) मे काम आती है। नर में दो प्रजनन ग्रथियाँ और मादा मे दो प्रजनन नलियाँ होती हैं। सहवास मे नर अपनी निषेचागीय वाहु को, जिसमे शुक्रभर (स्पर्मेटोफोर्स) होते हैं, स्त्री की प्रावार-गुहा (मैंटल कैविटी) मे डालकर अपने शरीर से उस वाहु का पूर्ण विच्छेद कर देता है। वाहु मे के शुक्राणुओ से अडे तव निषिक्त हो जाते है। मादा अपने अडो को या तो छोटे छोटे समूहो मे या एक से एक लिपटे एक डोरे के रूप मे देती है और किसी वाहरी पदार्थ से लटका देती है।

नर अष्टवाहु
२ निषेचागीय वाहु

अडे खाद्य पदार्थ से भरे होते हैं। इनमे विभाजन अपूर्ण होता है और जतु के विकास मे डिंभ नही वनता (देखे **अपृष्ठवशी भ्रूणतत्व**)।
[रा० च० स०]

अष्टमंगल

अष्टमंगल अष्टमागलिक चिह्नो के समुदाय को अष्टमगल कहा गया है। साँची के स्तूप के तोरणस्तभ पर उत्कीर्ण शिल्प मे मागलिक चिह्नो से वनी हुई दो मालाएँ अकित है। एक मे ११ चिह्न हैं—
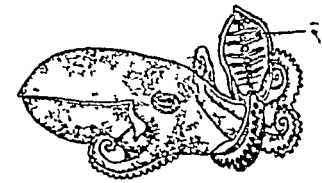
सं०ग्र०—महात्मा गांधी एक्सपेरिमेंट्स विथ ट्रुथ, हिंद स्वराज, नान वायलेंस इन पीस ऐंड वार (२ खंड), सत्याग्रह, सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका, अटू दिस लास्ट, राजेंद्रप्रसाद सत्याग्रह इन चंपारन, महादेव देसाई की डायरी (३ भाग), दि स्टोरी ऑव वारडोली, आर० वी० ग्रेग ए डिसिप्लिन फॉर नान वायलेंस, प्यारेलाल गांधियन टेकनीक्स इन दि मॉडर्न वर्ल्ड, विनयगोपाल राय गांधियन एथिक्स, नॉन कोआपरेशन इन अदर लैंड्स, आत्मकथा (गांधी जी, हिंदी), गोखले मेरे राजनीतिक गुरु गांधीजी। [मु० ला०]

असामान्य मनोविज्ञान मनोविज्ञान की एक शाखा, जो मनुष्यों के असाधारण व्यवहारों, विचारों, ज्ञान, भावनाओं और क्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करती है। असामान्य या असाधारण व्यवहार वह है जो सामान्य या साधारण व्यवहार से भिन्न हो। साधारण व्यवहार वह है जो बहुधा देखा जाता है और जिसको देखकर कोई आश्चर्य नहीं होता और न उसके लिये कोई चिंता ही होती है। वैसे तो सभी मनुष्यों के व्यवहार में कुछ न कुछ विशेषता और भिन्नता होती है जो एक व्यक्ति को दूसरे से भिन्न बतलाती है, फिर भी जबतक वह विशेषता अति अद्भुत न हो, कोई उससे उद्विग्न नहीं होता, उसकी ओर किसी का विशेष ध्यान नहीं जाता। पर जब किसी व्यक्ति का व्यवहार, ज्ञान, भावना या क्रिया दूसरे व्यक्तियों से विशेष मात्रा और विशेष प्रकार से भिन्न हो और इतनी भिन्न हो कि दूसरे लोगों को वह विचित्र सी जान पड़े तो उस क्रिया या व्यवहार को असामान्य या असाधारण कहते हैं। असामान्य मनोविज्ञान के कई प्रकार होते हैं

(१) अभावात्मक, जिसमें किसी ऐसे व्यवहार, ज्ञान, भावना और क्रिया में से किसी का अभाव पाया जाय जो साधारण या सामान्य मनुष्यों में पाया जाता हो। जैसे किसी व्यक्ति में किसी प्रकार के इंद्रियज्ञान का अभाव, अथवा कामप्रवृत्ति अथवा क्रियाशक्ति का अभाव।

(२) किसी विशेष शक्ति, ज्ञान, भाव या क्रिया का ह्रास या मात्रा की कमी।

(३) किसी विशेष शक्ति, ज्ञान, भाव या क्रिया की अधिकता या मात्रा में वृद्धि।

(४) असाधारण व्यवहार से इतना भिन्न व्यवहार कि वह अनोखा और आश्चर्यजनक जान पड़े। उदाहरणार्थ कह सकते हैं कि साधारण कामप्रवृत्ति के असामान्य रूप का भाव, कामह्रास, कामाधिक्य और विकृत काम हो सकते हैं।

किसी प्रकार की असामान्यता हो तो केवल उसी व्यक्ति को कष्ट और दु ख नहीं होता जिसमें वह असामान्यता पाई जाती है, बल्कि समाज के लिये भी वह कष्टप्रद होकर एक समस्या बन जाती है। अतएव समाज के लिये असामान्यता एक बड़ी समस्या है। कहा जाता है कि संयुक्त राज्य, अमरीका में १० प्रति शत व्यक्ति असामान्य हैं, इसी कारण वहाँ का समाज समृद्ध और सब प्रकार से संपन्न होता हुआ भी सुखी नहीं कहा जा सकता।

कुछ असामान्यताएँ तो ऐसी होती हैं कि उनके कारण किसी की विशेष हानि नहीं होती, वे केवल आश्चर्य और कौतूहल का विषय होती हैं, किंतु कुछ असामान्यताएँ ऐसी होती हैं जिनके कारण व्यक्ति का अपना जीवन दुखी, असफल और असमर्थ हो जाता है, पर उनसे दूसरों को विशेष कष्ट और हानि नहीं होती। उनको साधारण मानसिक रोग कहते हैं। जब मानसिक रोग इस प्रकार का हो जाय कि उससे दूसरे व्यक्तियों को भय, दु ख, कष्ट और हानि होने लगे तो उसे पागलपन कहते हैं। पागलपन की मात्रा जब अधिक हो जाती है तो उस व्यक्ति को पागलखाने में रखा जाता है, ताकि वह स्वतंत्र रहकर दूसरों के लिये कष्टप्रद और हानिकारक न हो जाय।

उस समय और उन देशों में जब और जहाँ मनोविज्ञान का अधिक ज्ञान नहीं था, मनोरोगी और पागलों के संबंध में यह मिथ्या धारणा थी कि उनपर भूत, पिशाच या हैवान का प्रभाव पड़ गया है और वे उनमें से किसी के वश में होकर असामान्य व्यवहार करते हैं। उनको ठीक करने के लिये पूजा पाठ, मंत्र तंत्र और यंत्र आदि का प्रयोग होता था अथवा उनको बहुत मारपीट कर उनके शरीर से भूत पिशाच या शैतान भगाया जाता था।

आधुनिक समय में मनोविज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली है कि अब मनोरोगी, पागलपन और मनुष्य के असामान्य व्यवहार के कारण, स्वरूप और उपचार को बहुत लोग जान गए हैं।

असामान्य मनोविज्ञान में इन विषयों की विशेष रूप से चर्चा होती है :

(१) असामान्यता का स्वरूप और उसकी पहचान।

(२) साधारण मानवीय ज्ञान, क्रियाओं, भावनाओं और व्यक्तित्व तथा सामाजिक व्यवहार के अनेक प्रकारों में अभावात्मक विकृतियों के स्वरूप, लक्षण और कारणों का अध्ययन।

(३) ऐसे मनोरोग जिनमें अनेक प्रकार की मनोविकृतियाँ उनके लक्षणों के रूप में पाई जाती हैं। इनके होने से व्यक्ति के आचार और व्यवहार में कुछ विचित्रता आ जाती है, पर वह सर्वथा निकम्मा और अयोग्य नहीं हो जाता। इनको साधारण मनोरोग कह सकते हैं। ऐसे किसी रोग में मन में कोई विचार बहुत दृढ़ता के साथ बैठ जाता है और हटाए नहीं हटता। यदा कदा और अनिवार्य रूप से वह रोगी के मन में आता रहता है। किसी में किसी असामान्य विचित्र और अकारण विशेष भय का यदा कदा और अनिवार्य रूप से अनुभव होता रहता है। जिन वस्तुओं से साधारण मनुष्य नहीं डरते, मानसिक रोगी उनसे भयभीत होता है। कुछ लोग किसी विशेष प्रकार की क्रिया को करने के लिये, जिसकी उनको किसी प्रकार भी आवश्यकता नहीं, अपने अंदर से इतने अधिक प्रेरित और बाध्य हो जाते हैं कि उन्हें किए बिना उनको चैन नहीं पड़ती।

(४) असामान्य व्यक्तित्व जिसकी अभिव्यक्ति नाना प्रकार के उन्मादों (हिस्टीरिया) में होती है। इस रोग में व्यक्ति के स्वभाव, विचारों, भावों और क्रियाओं में स्थिरता, सामंजस्य और परिस्थितियों के प्रति अनुकूलता का अभाव, व्यक्तित्व के गठन की कमी और अपनी ही क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं पर अपने नियंत्रण का ह्रास हो जाता है। द्विव्यक्तित्व अथवा व्यक्तित्व की तबदीली, निद्रावस्था में उठकर चलना फिरना, अपने नाम, वंश और नगर का विस्मरण होकर दूसरे नाम इत्यादि का ग्रहण कर लेना इत्यादि बातें हो जाती हैं। इस रोग का रोगी, अकारण ही कभी रोने, हँसने, बोलने लगता है, कभी चुप्पी साध लेता है। शरीर में नाना प्रकार की पीड़ाओं और इंद्रियों में नाना प्रकार के ज्ञान का अभाव अनुभव करता है। न वह स्वयं सुखी रहता है और न कुटुंब के लोगों को सुखी रहने देता है।

(५) भयंकर मानसिक रोग, जिनके हो जाने से मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन निकम्मा, असफल और दुखी हो जाता है और समाज के प्रति वह व्यर्थ भाररूप और भयानक हो जाता है, उसको और लोगों से अलग रखने की आवश्यकता पड़ती है। इस कोटि में ये तीन रोग आते हैं

(अ) उत्साह-विषाद-मय पागलपन—इस रोग में व्यक्ति को एक समय विशेष शक्ति और उत्साह का अनुभव होता है जिस कारण उसमें असामान्य स्फूर्ति, चपलता, बहुभाषिता, क्रियाशीलता की अभिव्यक्ति होती है और दूसरे समय इसके विपरीत अशक्तता, खिन्नता, ग्लानि, चुप्पी, आलस्य और नाना प्रकार की मनोवेदनाओं का अनुभव होता है। पूर्व अवस्था में व्यक्ति जितना निरर्थक अतिकार्यशील होता है उतना ही दूसरी अवस्था में उत्साहहीन और आलसी हो जाता है। उसके लिये हाथ पैर उठाना और खाना पीना भी कठिन हो जाता है।

(आ) स्थिर भ्रमात्मक पागलपन—इस रोगवाले व्यक्ति के मन में कोई ऐसा भ्रम स्थिरता और दृढ़ता के साथ बैठ जाता है जो सर्वथा निर्मूल होता है, ऐसा असत्य होता है, किंतु उसे वह सत्य और वास्तविक समझता है। उसके जीवन का समस्त व्यवहार इस मिथ्या भ्रम से प्रेरित होता है अतएव दूसरे लोगों को आश्चर्यजनक जान पड़ता है। बहुधा दूसरों के लिये वह कष्टकारक और घातक भी हो जाता है। यह भ्रम बहुधा किसी प्रकार के बड़प्पन से संबंध रखता है जो वास्तव में उस व्यक्ति में नहीं होता। जैसे, कोई बहुत साधारण या पिछड़ा हुआ व्यक्ति अपने को बहुत बड़ा विद्वान्, आविष्कारक, सुधारक, पैगंबर, धनवान, समृद्ध, भाग्यवान, सर्वस्वी, वल्लभ,

वृत्ति कहते हैं, जैसे वर्षा मे होनेवाले इद्रधनु को वार्षिक इद्रधनु कहेंगे। वर्षा में होनेवाले इस विशेष अर्थ को प्रकट करनेवाला 'इक' प्रत्यय तद्धित प्रत्यय है। तद्धित प्रकरण मे ११६० सूत्र है और कृदत प्रकरण में ६३१। इस प्रकार कृदत, तद्धित प्रत्ययो के विधान के लिये अष्टाध्यायी के १८२१, अर्थात् आधे मे कुछ ही कम सूत्र विनियुक्त हुए हैं। छठे, सातवे और आठवे अध्यायो में उन परिवर्तनो का उल्लेख है जो शब्द के अक्षरो मे होते हैं। ये परिवर्तन या तो मूल शब्द में जुडनेवाले प्रत्ययो के कारण या सधि के कारण होते हैं। द्वित्व, सप्रसारण, सधि, स्वर, आगम, लोप, दीर्घ आदि के विधायक सूत्र छठे अध्याय मे आए हैं। छठे अध्याय के चौथे पाद से ७वे अध्याय के अत तक अगाधिकार नामक एक विशिष्ट प्रकरण है जिसमें उन परिवर्तनो का वर्णन है जो प्रत्यय के कारण मूल शब्द मे या मूल शब्द के कारण प्रत्यय में होते हैं। ये परिवर्तन भी दीर्घ, ह्रस्व, लोप, आगम, आदेश, गुण, वृद्धि आदि के विधान के रूप में ही देखे जाते हैं। अष्टम अध्याय में वाक्यगत शब्दो के द्वित्वविधान, प्लतविधान एव षत्व और णत्वविधान का विशेषत उपदेश है।

अष्टाध्यायी के अतिरिक्त उसी से सबधित गणपाठ और धातुपाठ नामक दो प्रकरण भी निश्चित रूप से पाणिनि निर्मित थे। उनकी परपरा आज तक अक्षुण्ण चली आती है, यद्यपि गणपाठ में कुछ नए शब्द भी पुरानी सूचियो मे कालातर में जोड दिए गए है। वर्तमान उणादि सूत्रो के पाणिनिकृत होने मे सदेह है और उन्हें अष्टाध्यायी के गणपाठ के समान अभिन्न अग नही माना जा सकता। वर्तमान उणादि सूत्र शाकटायन व्याकरण के ज्ञात होते हैं।

अष्टाध्यायी के साथ आरभ से ही अर्थो की व्याख्यापूरक कोई वृत्ति भी थी जिसके कारण अष्टाध्यायी का एक नाम, जैसा पतजलि ने लिखा है, वृत्तिसूत्र भी था। और भी, माथुरीवृत्ति, पुण्यवृत्ति आदि वृत्तियाँ थीं जिनकी परपरा मे वर्तमान काशिकावृत्ति है। अष्टाध्यायी की रचना के लगभग दो शताब्दी के भीतर कात्यायन ने सूत्रो की बहुमुखी समीक्षा करते हुए लगभग चार सहस्र वार्तिको की रचना की जो सूत्रशली मे ही है। वार्तिकसूत्र और कुछ वृत्तिसूत्रो को लेकर पतजलि ने महाभाष्य का निर्माण किया जो पाणिनीय सूत्रो पर अर्थ, उदाहरण और प्रक्रिया की दृष्टि से सर्वोपरि ग्रथ है।

अष्टाध्यायी मे वैदिक सस्कृत और पाणिनि की समकालीन शिष्ट भाषा मे प्रयुक्त सस्कृत का सर्वांगपूर्ण विचार किया गया है। वैदिक भाषा का व्याकरण अपेक्षाकृत और भी परिपूर्ण हो सकता था। पाणिनि ने अपनी समकालीन सस्कृत भाषा का बहुत अच्छा सर्वेक्षण किया था। इनके शब्दसग्रह मे तीन प्रकार की विशेष सूचियाँ आई हैं (१) जनपद और ग्रामो के नाम, (२) गोत्रो के नाम, (३) वैदिक शाखाओ और चरणो के नाम। इतिहास की दृष्टि से और भी अनेक प्रकार की सास्कृतिक सामग्री, शब्दो और सस्थाओ का सनिवेश सूत्रो मे हो गया है।

स०ग्र०—वासुदेवशरण अग्रवाल पाणिनिकालीन भारतवर्ष, सदाशिव कृष्ण बेलवेलकर सिस्टम्स ऑव सस्कृत ग्रामर, युधिष्ठिर मीमासक, सस्कृत व्याकरण का इतिहास। [वा० श० अ०]

अष्टावक्र

कहोड के पुत्र जिनकी कहानी महाभारत मे दी गई है। कहते हैं कि कहोड यज्ञ में अधिक ध्यान देने के कारण अपनी पत्नी पर विशेष ध्यान न दे पाते थे जिससे गर्भ मे ही अष्टावक्र ने उनकी भर्त्सना करनी आरभ कर दी। कहोड के शाप से वे अष्टाग से वक्र हो गए थे, किंतु बाद मे अपने ज्ञान और पितृभक्ति से वे बहुत सौम्य हो गए। [च० म०]

असंग

बौद्ध आचार्य असग का जन्म गाधार प्रदेश के पुष्पपुर नगर, वर्तमान पेशावर, मे दूसरी शताब्दी के आसपास हुआ था। आचार्य असग योगाचार परपरा के आदिप्रवर्तक माने जाते हैं। महायान सूत्रालकार जैसा प्रौढ ग्रथ लिखकर इन्होंने महायान सप्रदाय की नीव डाली और यह पुराने हीनयान सप्रदाय से किस प्रकार उच्च कोटि का है इसपर जोर दिया। आचार्य असग धार्मिक प्रवर्तक होते हुए बौद्ध न्याय के भी आदि गुरु माने जाते हैं। इन्होंने न्याय के अध्यापन की एक मौलिक परपरा चलाई जिसमे प्रसिद्ध बौद्ध नैयायिक दिङ्नाग की दीक्षा हुई। प्रसिद्ध है कि आचार्य असग के भाई वसुबधु पहले सर्वास्तिवाद के पोषक थे, किंतु बाद मे असग के प्रभाव मे आकर वे योगाचार विज्ञानवादी हो गए। दोनो भाइयो ने मिलकर इसके पक्ष को बडा प्रबल बनाया। [भि०ज०का०]

असंशयवाद

(ऐग्नास्टीसिज्म) एक धार्मिक आदोलन, जो दूसरी सदी के आरभ मे प्रारभ हुआ, उस सदी के मध्यकाल में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा और फिर क्षीण हो चला। वैसे इसकी विभिन्न शाखा प्रशाखाएँ चतुर्थ शताब्दी तक जड जमाए रही। यह बात भी स्मरणीय है कि कई महत्वपूर्ण असशयवादी मान्यताएँ ईसाई मत का आरभ होने के पूर्व ही विकसित हो चुकी थी।

'असशय' शब्द के प्रयोग से असशयवादियो को बुद्धिवाद का समर्थक नही समझना चाहिए। वे बुद्धिवादी नही, दैवी अनुभूतिवादी थे। असशयवादी सप्रदाय अपने को एक ऐसे रहस्यमय ज्ञान से युक्त समझता था जो कही अन्यत्र उपलब्ध नही तथा जिसकी प्राप्ति वैज्ञानिक विचार विमर्श द्वारा नही वरन् दैवी अनुभूति से ही सभव है। उनका कहना है कि यह ज्ञान स्वय मुक्ति प्रदान करनेवाला है और उसके सच्चे अनुयायियो से ही किसी रहस्यमय ढग से प्राप्त होता है। सक्षेप मे, सभी असशयवादी अपने समस्त आचार विचार और प्रकार में धार्मिक रहस्यवादियो की श्रेणी में आते हैं। वे सभी गूढ तत्वज्ञान का दावा करते हैं। वे मृत्यूपरात जीव की सद्गति में विश्वास करते हैं और उस मुक्ति प्रदान करनेवाले प्रभु की उपासना करते हैं जो अपने उपासको के लिये स्वय मानव रूप मे एक आदर्श मार्ग बता गया है।

अन्य रहस्यवादी धर्मो की भाँति असशयवाद मे भी मत्रतत्र, विधि-सस्कारादि का महत्वपूर्ण स्थान है। पवित्र चिह्नो, नामो तथा सूत्रो का स्थान सर्वोच्च है। असशयवादी सप्रदायो के अनुसार मृत्यूपरात जीव जब सर्वोच्च स्वर्ग के मार्ग पर अग्रसर होता है तो निम्न कोटि के देव एव शैतान बाधा उपस्थित करते हैं जिनसे छुटकारा तभी सभव है जब वह शैतानो के नाम स्मरण रखे, पवित्र मत्रो का सही उच्चारण करे, शुभ चिह्नो का प्रयोग करे या पवित्र तैलो से अभिषिक्त हो। मृत्यूपरात सद्गति के लिये असशयवादियो के अनुसार ये अत्यत महत्वपूर्ण आवश्यकताएँ हैं। मानव शरीर में अवतरित स्वय मुक्तिप्रदाता को भी पुन स्वर्गारोहण के लिये इन मत्रादि की आवश्यकता हुई थी।

असशयवाद एक विशेष प्रकार के द्वैत सिद्धात पर आधारित है। अच्छाई और बुराई दोनो एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। प्रथम दैवी जगत् का और द्वितीय भौतिक जगत् का प्रतिनिधि है। भौतिक जगत् बुराइयो की जड, विरोधी शक्तियो का सघर्षस्थल है। असशयवादी भौतिक जगत् का निर्माण उन सात शक्तियो द्वारा मानते हैं जो उनपर शासन करती हैं। इन सात शक्तियो के स्रोत सूर्य, चद्र और पाँच नक्षत्र हैं।

असशयवादियो की यह दृढ धारणा रही है कि वे ईश्वराधीन स्वर्ग का प्रकाश प्राप्त करेंगे। इसके लिये उन्होने केवल मत्र एव चिह्नादि को ही आवश्यक नही माना वरन् भौतिक जगत् की क्रियाओ से उदासीनता तथा उसकी शक्तियो से निर्लिप्तता को भी ईश्वरीय प्रकाश की प्राप्ति मे अनिवार्य बताया।

असशयवादियो की यह प्रमुख मान्यता है कि जगत् की सृष्टि के पूर्व एक आदिपुरुष था, परम साधु पुरुष, जो ससार मे विभिन्न रूपो में विचरता और अपने को किसी एक असशयवादी मे व्यक्त करता है। वह उस दैवी शक्ति का प्रतीक है जो सबकी उन्नति के लिये भौतिक जगत् के अधकार मे उतरकर विश्वविकास का नाटकीय दृश्य प्रस्तुत करती है।

स०ग्र०—ई० एफ० स्काट नास्टिसिजम ऐंड वैलेशिऐनिज्म इन हेस्टिंग्ज, एनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स, एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका में 'नास्टिसिज्म' शीर्षक निबध। [श्री० स०]

असतकार्यवाद

कारणवाद का न्यायदर्शनसमत सिद्धात जिसके अनुसार कार्य उत्पत्ति के पहले नही रहता। न्याय के अनुसार उपादान और निमित्त कारण में अलग अलग कार्य उत्पन्न करने की पूर्ण शक्ति नही है किंतु जब ये कारण मिलकर व्यापारशील होते हैं तब इनकी समिलित शक्ति से एक ऐसा कार्य उत्पन्न होता है जो इन कारणों से विलक्षण होता है। अत कार्य सर्वथा नवीन होता है, उत्पत्ति के पहले

फल पतला, लचीला और ३४ इंच लंबा होता है। कुल तौल ६ छटाँक होती है। यह कोंचने का यंत्र है, परंतु प्रतियोगिताओं में नोक पर बटन लगा दिया जाता है, जिसमें प्रतिद्वंद्वी घायल न हो। खेल में चकमा देना (निशाना कहीं और का लगाना तथा मारना कहीं और), विद्युद्गति से अचानक मारना, बचाव और प्रत्युत्तर (रिपोस्ट, ऐसी चाल कि प्रतिद्वंद्वी का वार खाली जाय और अपना उसे लग जाय) ये ही विशेष दाँव हैं। इस खेल में बड़ी फुरती और हाथ पैर का ठीक ठीक साथ चलाना इन्हीं दोनों की विशेष आवश्यकता रहती है, बल की नहीं। इसलिये इस खेल में स्त्रियाँ भी मर्दों को हराती देखी गई हैं। फ्वायल की नोक प्रतिद्वंद्वी को चौचक लगनी चाहिए। केवल धड़ पर चोट की जा सकती है। पाँच बार छू जाने पर व्यक्ति हार जाता है (स्त्रियों की प्रतियोगिता में चार बार पर्याप्त है)।

एपे (ए ह्रस्व, पे दीर्घ) तिकोना होता है, फ्वायल से भारी होता है और इसका मुष्टिका-संरक्षक बड़ा होता है। इसकी नोकवाले बटन पर लाल रंग में डुबाई हुई मोम की कीलें लगी रहती हैं जिनके लगते ही कपड़ा रँग जाता है। इसमें निर्णायकों को सुगमता होती है। प्रतिद्वंद्वियों का श्वेत वस्त्र धारण करना अनिवार्य होता है। अब बहुधा एपे में विद्युत्
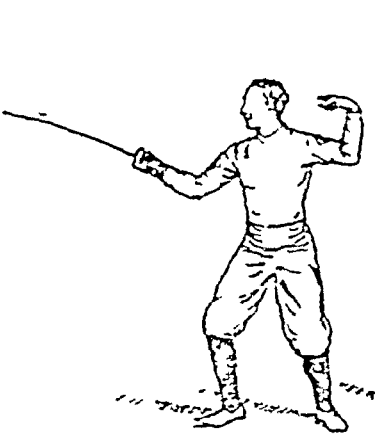
असिक्रीड़ा (फेंसिंग)

चौकन्ना खड़ा होना।
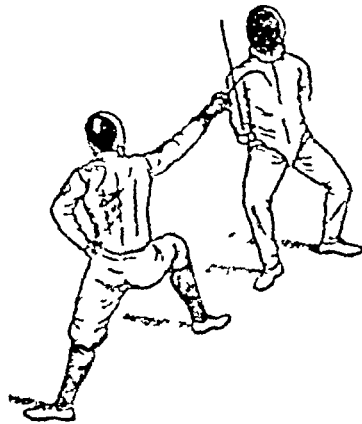
वह मारा !

यह सेबर की लड़ाई है। दाहिनी ओर के प्रतिद्वंद्वी ने अपने सेबर का प्रयोग करके अपने को बचाना चाहा, परंतु बचा न सका।
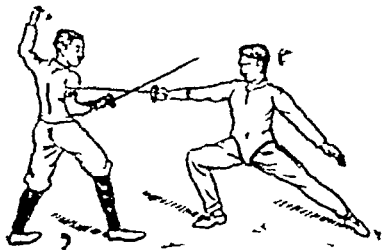
साफ बचा !

बाईं ओर के प्रतिद्वंद्वी ने अपने को बचा तो लिया, परंतु प्रत्युत्तर न दे सका।
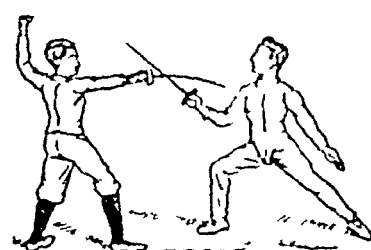
प्रत्युत्तर

बाईं ओर के खिलाड़ी ने अपने को बचा ही नहीं लिया, बचाने के साथ साथ प्रतिद्वंद्वी को मार भी दिया।

तार लगा रहता है जिससे प्रतिद्वंद्वी के छू जाने पर घंटी बजती है और बत्ती जलती है, धड़, हाथ, पैर, सिर कहीं भी चोट की जा सकती है। तीन बार चोट खाने पर व्यक्ति हार जाता है।

सेबर तलवार की तरह होता है। इससे कोंचते भी हैं, काटते भी हैं। यह फ्वायल से थोड़ा ही अधिक भारी होता है। इससे सिर, भुजाओं और धड़ पर चोट की जा सकती है। जो व्यक्ति पाँच बार प्रतिद्वंद्वी को पहले मार दे वह जीतता है, चाहे कोंचकर मारे, चाहे काटने की चाल से। इसका खेल अधिक दर्शनीय होता है। [श्री० गो० ति०]

असीरिया इराक की दजला (टाइग्रिस) और फरात (यूफ्रेटीज़) नदियों के बीच में जो भूमि है उसपर, प्राचीन काल में, दो राज्य, असीरिया तथा बैबिलोनिया थे। पश्चिम में मध्य मेसोपोटामिया का उजाड़ प्लेटो, पूर्व में कुर्दिस्तान का पहाड़ी भाग, उत्तर में आर्मीनिया तथा दक्षिण में बैबिलोनिया का राज्य असीरिया की सीमाएँ निर्धारित करते थे।

जहाँ असीरिया था वह पर्वतीय तथा पठारी देश है। इसके मध्य में मैदानी भाग तथा कुछ घाटियाँ हैं। जलवायु भूमध्यसागरीय है। यहाँ सिंचाई की समुचित व्यवस्था थी। असीरिया राज्य का विस्तार सीरिया की तरफ अधिक था। जहाँ आज शरकात नगर है, वहीं दजला नदी के पश्चिमी तट पर असुर नगर था जो देश की राजधानी था। निनेवेह नगर असुर से ६० मील उत्तर में स्थित था। कुछ समय के लिये कलाह ८वीं तथा ९वीं शताब्दी में देश की राजधानी था। अखेला, हरन आदि बहुत से नगर तथा उपनगर देश में थे, जिनके अवशेष अब भी मिलते हैं।

बर्बर आक्रमणों से अपनी रक्षा तथा अधिक कठिनाइयों का सामना करने के कारण यहाँ के लोग युद्धप्रिय तथा कठोर थे। यहाँ गेहूँ, जौ तथा फल बहुत पैदा होता था। यहाँ की सभ्यता ईसा से २,५०० ई० पू० की मानी जाती है। प्रारंभिक सुमेरी काल के इतिहास में यहाँ की सभ्यता का वर्णन पाया जाता है। यहाँ के नगर सुव्यवस्थित ढंग से बसे हुए थे, जिनमें विनोदस्थल, क्रीडाकेंद्र तथा उद्यान थे। नगरों के चारों तरफ अट्टालकयुक्त चौड़ी दीवारें थीं। [ह० ह० सिं०]

असुर शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में लगभग १०५ बार हुआ है। उसमें ९० स्थानों पर इसका प्रयोग शोभन अर्थ में किया गया है और केवल १५ स्थलों पर यह देवताओं के शत्रु का वाचक है। 'असुर' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है प्राणवंत, प्राणशक्ति से संपन्न (असुरिति प्राणनामास्त शरीरे भवति, निरुक्त ३।८) और इस प्रकार यह वैदिक देवों के एक सामान्य विशेषण के रूप में व्यवहृत किया गया है। विशेषत यह शब्द इंद्र, मित्र तथा वरुण के साथ प्रयुक्त होकर उनकी एक विशिष्ट शक्ति का द्योतक है। इंद्र के तो यह वैयक्तिक बल का सूचक है, परंतु वरुण के साथ प्रयुक्त होकर यह उनके नैतिक बल अथवा शासनबल का स्पष्टत संकेत करता है। असुर शब्द इसी उदात्त अर्थ में पारसियों के प्रधान देवता 'अहुरमज्द' ('असुर मेधावी') के नाम से विद्यमान है। यह शब्द उस युग की स्मृति दिलाता है जब वैदिक आर्यों तथा ईरानियों (पारसीकों) के पूर्वज एक ही स्थान पर निवास कर एक ही देवता की उपासना में निरत थे। अनंतर आर्यों की इन दोनों शाखाओं में किसी अज्ञात विरोध के कारण फूट पड़ गई। फलत वैदिक आर्यों ने 'न सुर असुर' यह नवीन व्युत्पत्ति मानकर असुर का प्रयोग दैत्यों के लिये करना आरंभ किया और उधर ईरानियों ने भी देव शब्द का ('द एव' के रूप में) अपने धर्म के दानवों के लिये प्रयोग करना शुरू किया। फलत वैदिक 'वृत्रघ्न' (इंद्र) अवस्ता में 'वेरेथ्रघ्न' के रूप में एक विशिष्ट दैत्य का वाचक बन गया तथा ईरानियों का 'असुर' शब्द पिप्रु आदि देवविरोधी दानवों के लिये ऋग्वेद में प्रयुक्त हुआ जिन्हें इंद्र ने अपने वज्र से मार डाला था (ऋक्० १०।१३८।३-४)। शतपथ ब्राह्मण (१३।८।२।१) में देव और असुर भ्रातृव्य तथा शत्रु माने गए हैं। इस ब्राह्मण की मान्यता है कि असुर देवदृष्टि से अपभ्रष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं (तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्त परावभूवु)। पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' के पस्पशाह्निक में शतपथ के इस वाक्य को उद्धृत किया है। शबर स्वामी ने 'पिक,' 'नेम', 'तामरस' आदि शब्दों को असूरी भाषा का शब्द माना है। आर्यों के आठ विवाहों में 'आसुर विवाह' का संबंध असुरों से माना जाता है। पुराणों तथा अवांतर साहित्य में 'असुर' एक स्वर से दैत्यों का ही वाचक माना गया है।

सं० ग्रं०—मैकडॉनेल दि वेदिक माइथालॉजी (स्ट्रासबर्ग, १९१२), कीथ रेलिजन ऐंड फिलासॉफी ऑव वेद (भाग प्रथम), हारवर्ड ओरिएंटल सीरीज़ (ग्रंथसंख्या ३१, १९२५)। [ब० उ०]

असुर (अस्सुर, अस्सूर, अस्शुर, अस्शूर, अशुर, अशूर) उत्तर-पूर्वी इराक में प्राचीन काल में बसनेवाली एक प्रबल विजयिनी सामी जाति, उसकी राजधानी और प्रधान देवता का नाम।

गीतिकाव्य उल्लेखनीय है। इन रचनाओ मे तत्कालीन लोकमानस विशेष रूप से प्रतिफलित हुआ है। तत्र मत्र, मनसापूजा आदि के विधान इस वर्ग की कृतियो में अधिक चर्चित हुए है।

(२) वैष्णवकाल—इस काल की पूर्ववर्ती रचनाओ मे विष्णु से सवद्ध कुछ देवताओ को महत्व दिया गया था। परतु आगे चलकर विष्णु की पूजा की विशेष रूप से प्रतिष्ठा हुई। स्थिति के इस परिवर्तन मे असमिया के महान् कवि और धर्मसुधारक शकरदेव (१४४६—१५६८ ई०) का योग सवसे अधिक था। शकरदेव की अधिकाश रचनाएँ भागवतपुराण पर आधारित है और उनके मत को भागवती धर्म कहा जाता है। असमिया जनजीवन और सस्कृति को उसके विशिष्ट रूप मे ढालने का श्रेय शकरदेव को ही दिया जाता है। इसीलिये कुछ समीक्षक उनके व्यक्तित्व को केवल कवि के रूप मे ही सीमित नही करना चाहते। वे मूलत उन्हे धार्मिक सुधारक के रूप मे मानते है। शकरदेव की भक्ति के प्रमुख आश्रय थे श्रीकृष्ण। उनकी लगभग तीस रचनाएँ है, जिनमे से 'कीर्तनघोषा' उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति है। असमिया साहित्य के प्रसिद्ध नाट्यरूप, 'अकीया नाटक' के प्रारभकर्ता भी शकरदेव ही हैं। उनके नाटको मे गद्य और पद्य का बरावर मिश्रण मिलता है। इन नाटको की भाषा पर मैथिली का प्रभाव है। 'अकीया नाटक' के पद्याश को 'वरगीत' कहा जाता है, जिसकी भाषा प्रमुखत ब्रजवुलि है।

शकरदेव के अतिरिक्त इस युग के दूसरे महत्वपूर्ण कवि उनके शिष्य माधवदेव हुए। उनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे कवि होने के साथ-साथ सस्कृत के विद्वान्, नाटककार, सगीतकार तथा धर्मप्रचारक भी थे। 'नामघोषा' इनकी विशिष्ट कृति है। शकरदेव के नाटको मे 'चोरधरा' अधिक प्रसिद्ध रचना है। इस युग के अन्य लेखको मे अनत कदली, श्रीधर कदली तथा भट्टदेव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। असमिया गद्य को स्थिरीकृत करने मे भट्टदेव का ऐतिहासिक योग माना जाता है।

(३) बुरजी, गद्य काल—आहोम राजाओ के असम में स्थापित हो जाने पर उनके आश्रय मे रचित साहित्य की प्रेरक प्रवृत्ति धार्मिक न होकर लौकिक हो गई। राजाओ का यशवर्णन इस काल के कवियो का एक प्रमुख कर्तव्य हो गया। वैसे भी अहोम राजाओ में इतिहासलेखन की परपरा पहले से ही चली आती थी। कवियो की यशवर्णन की प्रवृत्ति को आश्रयदाता राजाओ ने इस ओर मोड दिया। पहले तो अहोम भाषा के इतिहासग्रथो (बुरजियो) का अनुवाद असमिया मे किया गया और फिर मौलिक रूप से बुरजियो का सृजन होने लगा। 'बुरजी' मूलत एक टाइ शब्द है, जिसका अर्थ है 'अज्ञात कथाओ का भाडार'। इन बुरजियो के माध्यम से असम प्रदेश के मध्ययुग का काफी व्यवस्थित इतिहास उपलब्ध है। बुरजी साहित्य के अतर्गत कामरूप बुरजी, कछारी बुरजी, आहोम बुरजी, जयतीय बुरजी, बेलियार बुरजी के नाम अपेक्षाकृत अधिक प्रसिद्ध है। इन बुरजी ग्रथो के अतिरिक्त राजवशो की विस्तृत वशावलियाँ भी इस काल मे मिलती है। कुछ चरितग्रथो की रचना भी इसी काल में हुई। उपयोगी साहित्य की दृष्टि से इस युग में ज्योतिष, गणित, चिकित्सा आदि विज्ञान सवधी ग्रथो का भी सृजन हुआ। कला तथा नृत्य विषयक पुस्तके भी लिखी गई। इस समस्त बहुमुखी साहित्यसृजन के मूल में राज्याश्रय द्वारा पोषित धर्मनिरपेक्षता की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है।

इस काल मे हिंदी के दो सूफी काव्यो (कुतुबन की 'मृगावती' तथा मझन की 'मधुमालती') के कथानको के आधार पर दो असमिया काव्य लिखे गए। पर मूलत यह युग गद्य के विकास का है।

(४) आधुनिक काल—अन्य अनेक प्रातीय भाषाओ के साहित्य के समान असमिया में भी आधुनिक काल का प्रारभ अग्रेजी शासन के साथ जोडा जाता है। १८२६ ई० असम में अग्रेजी शासन के प्रारभ की तिथि है। इस युग में स्वदेशी भावनाओ के दमन तथा सामाजिक विषमता ने मुख्य रूप से लेखको को प्रेरणा दी। इधर १८३८ ई० से ही विदेशी मिशनरियो ने भी अपना कार्य प्रारभ किया और जनता मे धर्मप्रचार का माध्यम असमिया को ही बनाया। फलत असमिया भाषा के विकास मे इन मिशनरियो द्वारा परिचालित व्यवस्थित ढग के मुद्रण तथा प्रकाशन से भी एक स्तर पर सहायता मिली। अग्रेजी शासन के युग में अग्रेजी और यूरोपीय साहित्य के अध्ययन मनन से असमिया के लेखक प्रभावित हुए। कुछ पाश्चात्य आदर्श बँगला के माध्यम से भी अपनाए गए। इस युग के प्रारभिक लेखको मे आनदराम टेकियाल फुकन का नाम सवसे महत्वपूर्ण है। अन्य लेखको में हेमचद्र वरुआ, गुणाभिराम वरुआ तथा सत्यनाथ वोडा के नाम उल्लेखनीय है। असमिया साहित्य का मूल रूप प्रमुखत तीन लेखको द्वारा निर्मित हुआ। ये लेखक थे चद्रकुमार अग्रवाल (१८५८-१९३८), लक्ष्मीनाथ बेजवरुआ (१८५८-१९३८) तथा हेमचद्र गोस्वामी (१८७२-१९२८)। कलकत्ता मे रहकर अध्ययन करते समय इन तीन मित्रो ने १८८९ मे 'जोनाकी' (जुगनू) नामक मासिक पत्र की स्थापना की। इस पत्रिका को केंद्र बनाकर धीरे धीरे एक साहित्यिक समुदाय उठ खडा हुआ जिसे बाद मे जोनाकी समूह कहा गया। इस वर्ग के अधिकाश लेखक अग्रेजी रोमाटिसिज्म से प्रभावित थे। २०वी सदी के प्रारभ के इन लेखको में लक्ष्मीनाथ बेजवरुआ बहुमुखी प्रतिभासपन्न थे। उनका 'असमिया साहित्येर चानेकी' नामक सकलन विशेष प्रसिद्ध है। असमिया साहित्य में उन्होने कहानी तथा ललित निवध के बीच के एक साहित्य रूप को अधिक प्रचलित किया। बेजवरुआ की हास्यरस की रचनाओ को काफी लोकप्रियता मिली। इसीलिये उसे 'रसराज' की उपाधि दी गई। इस युग के अन्य कवियो मे कमलाकात भट्टाचार्य, रघुनाथ चौधरी, नलिनीबाला देवी, अविकागिरि रायचौधुरी, नीलमणि फुकन आदि का कृतित्व महत्वपूर्ण माना जाता है। मफिजुद्दीन अहमद की कविताएँ सूफी धर्मसाधना से प्रेरित है।

गद्य, विशेष रूप से कथासाहित्य, के क्षेत्र मे १९वी शताब्दी के अत में दो लेखक पद्मनाथ गोसाईं वरुआ तथा रजनीकात बारदोलाई अपने ऐतिहासिक उपन्यासो तथा नाटको के लिये महत्वपूर्ण समझे जाते है। जोनाकी समुदाय के समानातर जिन गद्यलेखको ने साहित्यसृजन किया उनमे से वेणुधर राजखोवा तथा शरच्चद्र गोस्वामी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। शरच्चद्र गोस्वामी की प्रतिभा वैसे तो बहुमुखी थी, पर उनकी ख्याति प्रमुखत कहानियो को लेकर है। कहानी के क्षेत्र मे लक्ष्मीधर शर्मा, वीना वरुआ, कृष्ण भुयान आदि ने प्रणय सवधी नए अभिप्रायो के कुछ प्रयोग किए। लक्ष्मीनाथ फुकन अपनी हास्यरस की कहानियो के लिये स्मरणीय है। कथासाहित्य के अतिरिक्त नाटक के क्षेत्र मे अतुलचद्र हजारिका तथा ज्योतिप्रसाद अग्रवाल का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है। समीक्षा तथा शोध की दृष्टि से अविकानाथ वरा, वाणीकात काकती, कालीराम मेधी, विरचि वरुआ तथा डिंबेश्वर नियोग का कृतित्व उल्लेखनीय है।

असमिया साहित्य के आधुनिक काल मे पत्रपत्रिकाओ का माध्यम भी काफी प्रचलित हुआ। इनमे से 'अरुणोदय', 'जोनाकी', 'वॉही', 'आवाहन', 'जयती' तथा 'पछोवा' ने विभिन्न क्षेत्रो में काफी उपयोगी कार्य किया है। नए प्रकार का साहित्यसृजन प्रमुखत 'रामधेनु' को केंद्र बनाकर हुआ है।

(५) स्वाधीनतोत्तरकाल—इस युग मे पाश्चात्य प्रभाव अधिक स्वस्थ तथा सतुलित रूप मे आए है। इलियट तथा उनके सहयोगी अग्रेजी कवियो से नए असमिया लेखको को प्रमुखत प्रेरणा मिली है। केवल कविता मे ही नही, कथासाहित्य तथा नाटक मे भी इन नए प्रयोगो की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। समाजशास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दोनो ही प्रकार की समस्याओ को नए लेखको ने उठाया है। उनके शिल्प सबधी प्रयोग भी कम महत्वपूर्ण नही है।

प्राचीन असम की साहित्य-रुचि-सपन्नता का पता तत्कालीन ताम्रपत्रो से चलता है। इसी प्रकार वहाँ के पुस्तकोत्पादन के सबध मे भी एक प्राचीन उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार कुमार भास्करवर्मन (ईसा की सातवी शताब्दी) ने अपने मित्र कन्नौजसम्राट् हर्षवर्धन को सुदर लिपि मे लिखी हुई अनेक पुस्तकें भेंट की थी। इन पुस्तको में से एक सभवत तत्कालीन असम मे प्रचलित कहावतो तथा मुहावरो का सकलन था।

बहुत प्राचीन काल से ही आसाम में सगीतप्रियता की परपरा चलती आ रही है। इसके प्रमाणस्वरूप आधुनिक असम में अलिखित और अज्ञात

असुरी सईस और घोड़े

(देखें 'असुर', पृष्ठ २९१)।

सरकारी अदालतों का बहिष्कार, (४) सरकारी खिताबों का बहिष्कार और (५) सरकार की उस समय की कौंसिलों या धारासभाओं का बहिष्कार। इन्हीं को गाधी जी पचबहिष्कार कहा करते थे। गाधी जी का कहना था कि विदेशी सरकार स्कूलों और कालेजों की गलत तालीम के जरिए देश के बालकों में देशाभिमान को घटाती और एक दूसरे से द्वेष को बढ़ाती है, इन्हीं स्कूलों और कालेजों में वह विदेशी शासन के लिये कर्मचारी यानी उपयोगी यत्र गढकर तैयार करती है। सरकारी स्कूलों और कालेजों को वह 'गुलामखाने' कहा करते थे। विदेशी सरकार की नौकरी को वह पाप कहते थे। विदेशी अदालतों को वह देशवासियों के चरित्र को गिराने, उन्हें मिटाने और उनमें फूट डालने का एक बहुत बडा साधन मानते थे। विदेशी सरकार के खिताब स्वीकार करने को वह देशाभिमान के विरुद्ध बताते थे और उस जमाने में जिस तरह की कौंसिलें अग्रेजों ने बना रखी थीं उन्हें वह जनता के हित में सर्वथा निरर्थक और आम जनता तथा पढे लिखे नेताओं के बीच की खाई को बढानेवाली मानते थे। पचबहिष्कार के लिये यही उनकी खास दलीलें थीं।

इस असहयोग का ही एक और छठा अग था, विदेशों की बनी हुई चीजों का बहिष्कार और गाँव की बनी चीजों, विशेषकर हाथ के कते सूत की हाथ की बुनी खद्दर का उपयोग। गाधी जी का कहना था कि अग्रेज व्यापार द्वारा धन कमाने के लिये ही दूसरे देशों पर शासन करना चाहते हैं। अगर हम उनके यहाँ की बनी चीजों को खरीदना बद कर दें तो एक बहुत बडा लोभ उनके रास्ते से हट जाय और दूसरों पर हुकूमत करने का उनका उद्देश्य भी एक बडे दरजे तक जाता रहे। इसीलिये चरखे को गाधी जी स्वराज्यप्राप्ति की कुजी मानते थे। जिन करोडों देशवासियों की जीविका विदेशियों ने अपने व्यापार द्वारा नष्ट कर दी थी उन्हें फिर से जीविका प्रदान करने और उनके घरों में खुशहाली लाने का उनके अनुसार यही एकमात्र साधन था। गाधी जी इसे बहुत अधिक महत्व देते थे और अपने असहयोग कार्यक्रम का एक अग मानते थे। पर साथ ही वह इस प्रश्न को राजनीतिक दृष्टि की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से अधिक देखते थे और अग्रेजी माल और दूसरे विदेशी माल मे कोई फरक करना भी नहीं चाहते थे। खद्दर और ग्रामोद्योग का प्रश्न उनके लिये एक स्थायी प्रश्न था। इसीलिये उसे असहयोग के 'पचबहिष्कारों' मे शामिल नहीं किया जाता।

अपने इस कार्यक्रम को देश भर में फैलाने के लिये गाधीजी ने सारे देश का दौरा किया। उनके व्याख्यानों से सारे देश में एक बिजली सी दौड गई। सैंकडों और हजारों उपदेशक गली गली और गाँव गाँव जाकर उनके उपदेशों और उनके सिद्धातों का प्रचार करने लगे। देशभर में लाखों विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों और कालेजों से निकलकर स्वाधीनता आदोलन में भाग लेना शुरु कर दिया। जगह जगह अनेक राष्ट्रीय विद्यालय भी खुल गए। जो नौजवान देश के आदोलन मे भाग लेना चाहते थे उनकी तैयारी के लिये जगह जगह 'आश्रम' खोले गए। हजारों ने सरकारी नौकरियों से इस्तीफा दे दिया। सरकारी अदालतों की जगह देश भर मे हजारों आजाद पचायतें कायम हो गईं। अनगिनत लोगों ने अपने खिताब वापिस कर दिए, जिनमे विशेष उल्लेखनीय घटना कविसम्राट् श्री रवींद्रनाथ ठाकुर का अपनी 'सर' की उपाधि वापिस करना थी। अनेक देशभक्तों ने सरकारी कौंसिलों मे जाने से इनकार किया। देश के विस्तार और उसकी विशालता को देखते हुए गाधी जी का असहयोग कार्यक्रम केवल एक बहुत थोडे अश में ही सफल हो सका। फिर भी वह इतना सफल अवश्य हुआ कि कलकत्ते मे ब्रिटिश सरकार के सबसे बडे प्रतिनिधि अग्रेज वायसराय ने खुले शब्दों में स्वीकार किया कि

"गाधी जी के कार्यक्रम की सफलता में एक इच की ही कसर रह गई थी। मैं हैरान था, मुझे कुछ सूझ नहीं रहा था।"

दमनचक्र जोरों के साथ चलना शुरू हुआ। गाधी जी गिरफ्तार कर लिए गए। लाखों कार्यकर्ता जेलों में डाल दिए गए। हिंदू मुसलमानों को लडाने के विधिवत् प्रयत्न किए गए। जगह जगह हिंदू मुसलमान दगे कराए गए। स्वाधीनता का आदोलन एक बार कुछ दबता दिखाई दिया, पर फिर उसने जोर पकडा। गाधी जी के नेतृत्व में उसने नए रूप धारण करने शुरु किए। गाधी जी के जेल में रहते हुए ही जबलपुर और नागपुर मे झडा सत्याग्रह हुआ, जिसमे उनके बनाए तिरगे राष्ट्रीय झडे के मान की रक्षा के लिये १६०० से ऊपर आदमी जेल गए और अग्रेज सरकार को उस मामले मे सोलह आने हार माननी पडी। गाधी जी के आने के बाद सुप्रसिद्ध 'नमक सत्याग्रह' हुआ। देश भर मे लाखों आदमियों ने अग्रेज सरकार का नमक कानून तोडकर सत्याग्रह मे हिस्सा लिया और लाखों ही जेल गए। राजद्रोह के कानून को तोडकर खुले आम इस तरह की पुस्तकों का प्रकाशन और प्रचार किया गया जो देशभक्ति के भावों से भरी हुई थीं, पर जिन्हें सरकार ने राजद्रोही कहकर जब्त कर लिया था। और भी तरह तरह के न्यायविरुद्ध कानून तोडे गए। दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ तो गाधी जी की आज्ञा से यह आवाज सारे देश मे गूँज गई कि "अग्रेजों को इस युद्ध में किसी तरह की सहायता मत दो।" कुछ दिनों बाद आवाज उठी "अग्रेजो, भारत छोडो"। जगह जगह अग्रेज सरकार को लगान न देने तक का आदोलन चला। ध्यान से देखा जाय तो ये सब तरह तरह के 'सत्याग्रह' आदोलन अहिंसात्मक असहयोग के ही विविध रूप थे।

गाधी जी 'अहिंसात्मक असहयोग' मे 'सहयोग' शब्द से कहीं अधिक जोर 'अहिंसा' शब्द पर देते थे। ध्येय की अपेक्षा वह साधनों की पवित्रता को अधिक महत्व देते थे। सारे कार्यक्रम मे उनकी सबसे बडी शर्त यह थी कि किसी अग्रेज मर्द, औरत या बच्चे की जान या उसके माल को किसी तरह का भी नुकसान न पहुँचने पाए। यह शर्त उनकी इतनी बडी थी कि शुरू के असहयोग आदोलन के दिनों मे चौरीचौरा (उत्तरप्रदेश) में जब कुछ लोगों ने पुलिस चौकी को आग लगा दी और कुछ पुलिसवालों को मार डाला तो गाधी जी ने सारे देश के अदर अपने आदोलन को कुछ समय के लिये स्थगित कर दिया और जनता की उस गलती का प्रायश्चित्त स्वय किया। शासकों के साथ सहयोग करने मे उनकी साफ हिदायतें थीं कि किसी बीमार की सेवा शुश्रूषा करने मे, किसी अग्रेज स्त्री के बच्चा पैदा होने की सूरत मे उसकी आवश्यक सहायता करने मे कहीं किसी तरह की कमी न की जाय। उनकी कोई कोई बात मामूली आदमी की समझ से ऊपर होती थी। उदाहरण के लिये, दूसरे महायुद्ध के दिनों में, जब उन्होंने "अग्रेजों को युद्ध में किसी तरह की मदद मत दो" की आवाज उठाई, उन्हीं दिनों उनकी यह भी हिदायत हुई कि अगर फौज के अदर सिपाहियों को सर्दी के कारण कबलों की आवश्यकता हो तो उन्हें कबल देना हमारा फर्ज है। उनका कहना था कि अगर मैं घोडों की नाल लगाने का काम करता हूँ और फौज के घोडे पास से जा रहे हों और उनकी नालें टूट गई हों तो मेरा धर्म है कि उनकी नालें लगा दूँ ताकि उनके पैर जख्मी न होने पाएँ। वह केवल उन कानूनों को तोडने की इजाजत देते थे जो न्याय और जनहित के विरुद्ध थे। सारे आदोलन मे दृढता और आत्मबलिदान के साथ साथ अहिंसा, मानवता और सहृदयता उनके हर कार्यक्रम मे साथ साथ चलती थी। देश की आम जनता पर कम से कम कुछ समय के लिये इसका गहरा प्रभाव पडा। उदाहरण के लिये, पेशावर के सरहदी पठानों पर। एक बार फौजी अग्रेज अफसर ने एक जुलूस को आगे बढने से रोक दिया। जुलूस निहत्थी जनता का था। उसमें औरतें भी थीं, जिनमे से बहुतों की गोद में बच्चे थे। जुलूस ने पीछे हटने से इनकार कर दिया। फौजी गोरों ने बदूकें तानकर उन्हें मार डालने की धमकी दी। दस दस करके निहत्थे पठानों के जत्थे आगे बढते गए और सब अपनी छातियों पर गोलियाँ खाते गए। जब दस की लाशें हटा दी जातीं थीं तब दस और बढते थे और वहीं गोली खाकर गिर पडते थे। यहाँ तक कि पूरी ४०० लाशें, जिनमें बहुत सी गोद में बच्चा लिए औरतों की थीं, एक ही स्थान पर गिरीं और अग्रेज फौजी अफसर को घबराकर अपना हुक्म वापस लेना पडा। पठान जनता में से न किसी आदमी का हाथ ऊपर उठा और न किसी के पैर पीछे हटे। इसी तरह के दृश्य देश के और अनेक भागों में भी दिखाई पडे। गाधी जी के अनुयायियों में अहिंसा की दृष्टि से यदि किसी एक सबसे बडे और सबसे पक्के अनुयायी का नाम लिया जा सकता है तो वह 'सरहदी गाधी' खान अब्दुल गफ्फार खाँ का।

अत में इतना कह देना जरूरी है कि महात्मा गाधी के इस अनोखे आदोलन ने देश की करोडों जनता के अदर वह दृढता, निर्भीकता, उमग और सकल्पशक्ति पैदा कर दी कि उसी के फलस्वरूप १५ अगस्त, सन् १९४७ की आधी रात को बिना रक्तपात के हिंदुस्तान की हुकूमत अग्रेजों के हाथों से निकलकर बाजाब्ता देशवासियों के हाथों में आ गई।

किए और इन्ही का समय समय पर देश मे प्राधान्य वना रहा। मितन्नी सभवत भारतीय आर्य थे जो इद्र, वरुण आदि ऋग्वैदिक देवताओ को पूजते थे और जिन्होने खत्तियो के साथ अपनी वोगाज़-क्योई की सधिपट्टिका पर इन्ही भारतीय आर्य देवताओ का साक्ष्य घोषित किया था (ल० १४५० ई० पू०)।

मध्यसाम्राज्ययुग—प्राय १५०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक असूरी साम्राज्य का मध्ययुग था। इस युग मे अभिलेख फिर मिलने लगते है। इस युग का आरभयिता असुर-निरारी प्रथम था। अगली सदी मे वावुल के नए कस्सी राजा असूरिया के साथ अधिपति का व्यवहार करते है और उनकी राजवानी निनेवे मितन्नी आर्यो के अधिकार में चली जाती है जिन्हे थुतमोस तृतीय और खत्ती परास्त कर वहाँ से निकालते है। १४वी सदी ई० पू० के मध्य के लगभग असुर-उवल्लित प्रथम देश को नवजीवन और शक्ति देता है। वह वावुल को भी पराभूत कर लेता है और उसके फराऊन इखनातून के साथ किए पत्रव्यवहार (अमरना के पत्रो में सुरक्षित) तो प्राचीन अतर्राष्ट्रीय सवव के प्रतीक वन गए है।

अदाद-निरारी प्रथम (ल० १२६८-१२६६ ई० पू०), शालमानेजेर प्रथम (ल० १२६५-१२३६ ई० पू०) और तुकुल्ती-निरुर्ता प्रथम (ल० १२३५-११६६ ई० पू०) ने असूरी भूमि धीरे धीरे खत्तियो और फराऊनो से छीन ली और इनमे से अतिम ने तो अपने साम्राज्य की सीमा उत्तर मे आर्मीनिया के पर्वतो से दक्षिण मे फारस की खाड़ी तक फैला दी। परतु उसके पुत्र के शासनकाल मे वावुल ने फिर शक्ति सचित कर असूरिया को पराभूत कर दिया। अत मे असुर-रेश-इशी ने फिर वावुल की विजय कर देश के पराभव का वदला लिया और उसके पुत्र तिगलाथ-पिलेजेर प्रथम (ल० १११६-१०७८ ई० पू०) के समय तो मध्यकालीन असूरी साम्राज्य ने अपने ऐश्वर्य की चोटी छू ली। उसने एक ओर तो आर्मीनिया से फ्रीगियाइयो को निकाल फिनीकिया और सीरिया विजय की और दूसरी ओर वावुल पर अधिकार कर लिया। तिगलाथ पिलेज़ेर के राजप्रासाद से असूरी विधिव्यवस्था (कानून) प्राप्त हुई है जिससे तत्कालीन क्रूर दडविधान पर प्रभूत प्रकाश पडता है। उस यशस्वी विजेता के पश्चात् असूरी राजाओ के भाग्याकाश पर फिर मेघ घिर आए और आरामियो ने धीरे धीरे असुरो को निस्तेज कर दिया। अगली सदी असूरिया की शक्तिहीनता और दरिद्रता की साक्षी थी।

उत्तरसाम्राज्ययुग—१०वी सदी ई० पू० के आरभ से ही असूरी साम्राज्य का उत्कर्प फिर से शुरू हो गया था। पिता पुत्र असुर-दान द्वितीय और अदाद-निरारी द्वितीय ने आरामियो की शक्ति तोड दी। तुकुल्ती निनुर्ता द्वितीय का वेटा असुर-नज़ीरपाल द्वितीय (८८३-८५६ ई० पू०) इस काल का सवसे महान् असुरसम्राट् था। उसने अपनी विजयो द्वारा असूरिया की काया पलट दी। उसके अभिलेखो मे उसके क्रूर आक्रमणो की कथा लिखी है। असुर चढाइयो की वर्वरता के जो उल्लेख अभिलेखो और साहित्य में मिलते है उन्हें इसी ने चरितार्थ किया। समूचे प्रात की जनता को वह उखाडकर अन्यत्र वसाता या वर्वाद कर देता, नगर जीतकर वच्चो, वूढो तक को तलवार के घाट उतार देता और नगर जला देता। पर उसने अपने साम्राज्य की सीमाएँ निश्चय भूमध्यसागर तक फैला दी। उसके वेटे शालमानेजेर तृतीय (८५६-८२४ ई० पू०) ने पिता का साम्राज्य वरकरार रखा, यद्यपि उसे समिलित शत्रुओ के प्रवल सघ से लोहा लेना पडा। उस सघ में आरामी, फिनीकी, इज़रायली, अरव सभी शामिल थे। लडाई जमकर हुई और शालमानेज़ेर जीता भी, पर हानि उसे वडी उठानी पडी। शत्रुओ मे भी फूट पड गई और सघ के नेता सीरिया के राजा हदाद एज़ेर (वेन हदाद द्वितीय) के मर जाने पर तो उसके वेटे हजाएल को अपनी राजवानी दमिश्क भी छोडनी पडी, यद्यपि असुरराज भी उसे ले न सका। पर शालमानेज़ेर ने अन्यत्र अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया और वावुल पर अविकार कर लिया। उसके अतिम दिनो में उसके एक पुत्र ने भी उससे विद्रोह कर दिया। पर शीघ्र उसका मनोनीत उत्तराधिकारी पुत्र शम्शी-अदाद पचम असूरी गद्दी पर वैठा, यद्यपि उसके शासन से अनेक प्रात निकल गए। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी यशस्विनी रानी सम्मुरामाई अपने वालक पुत्र अदाद-निरारी तृतीय (८१०-७८३ ई० पू०) की अभिभाविका वनी और उसकी ख्याति से पीछे का इतिहास भर गया। ग्रीक अनुश्रुतियो मे उसका नाम सेमिरमिस् है। ख्यातो मे लिखा है कि उसने पजाव तक पर आक्रमण किया। स्वय अदाद ने अपनी योग्यता का परिचय अपनी विजयो से दिया और कास्पियन सागर तक के प्रदेश जीत लिए। परतु उसके उत्तराधिकारियो के शासनकाल मे असूरिया की शक्ति फिर क्षीण हो चली और उरार्तू (आर्मीनिया), सीरिया, फिलिस्तीन के स्वतत्र राज्य प्रवल हो गए। इधर घर मे भी विद्रोह होने लगे।

इस प्रकार के एक विद्रोह ने तिगलाथ-पिलेज़ेर तृतीय को ७४६ ई० पू० में ऊपर फेका। सभवत वह स्वच्छद सामरिक था, असूरी राजकुल का न था। फिर असाधारण शक्ति अर्जित कर उसने असूरिया को उत्तर-साम्राज्ययुग मे उत्कर्प की चरम चोटी पर चढा दिया। वह सेना लिए दक्षिण पहुँचा और वावुल तथा उसके दक्षिणवर्ती प्रातो को जीत वहाँ की माडलिक सत्ता की प्राचीन परपरा तोड अपने को वावुल का राजा भी घोपित किया। फिर वह विद्युद्गति से उत्तर-पूर्व जा पहुँचा और उसने मीदियो की शक्ति तोड दी। फिर उरार्तू के फरात के तीर सफल लोहा लेता वह सीरियाइयो को धूल चटाता इज़रायल मे गाजा जा पहुँचा और उस राज्य का अधिकाश अपने साम्राज्य मे मिला उसने पीछे दमिश्क पर भी अधिकार कर लिया। उसके पुत्र के दुर्वल शासन के वाद सारगोन द्वितीय (शर्रुकिन) ने फिर ताकत की सरगर्मी दिखाई। उसने इजराइल को उखाडकर सीरिया को रौंद डाला और हमाथ तथा कारखेमिश की भी वही गति की। उरार्तू की शक्ति ने उसे फिर खीचा और उसने उत्तर की ओर अभियान कर उस देश के ऋद्ध प्रातो को उजाड डाला। मरने से पहले उसने असूरिया की राजधानी कला से हटाकर अपने नाम की नगरी दुरशर्रुकिन मे स्थापित की। उसके पुत्र सेनाखेरिव (७०४-६८१ ई० पू०) को लगातार विद्रोहो का सामना करना पडा। वावुल, मे, फिनीकिया मे, फिलिस्तीन मे, सर्वत्र विद्रोह हुए और सेनाखेरिव उन्हे कुचलता फिरा। जुदा के राजा हेजेकिया का आत्मसमर्पण कराता, उसके देश को रौंदता वह मिस्री सीमा तक जा पहुँचा। इसी वीच एलाम और वावुल की समिलित विद्रोही सेनाओ से दजला के पूर्व खलूले मे जो उसकी मुठभेड हुई उसमे वह हार गया। इसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिम ने भी सिर उठाया और फिलिस्तीन मे फिर विद्रोह भडक उठा। पर सेनाखेरिव पहले वावुल की ओर वढा और ६८९ ई० पू० में उसने उसे नष्ट कर दिया। फिर वह पश्चिम की ओर विद्रोहियो को दड देने चला, पर उधर महामारी का प्रकोप हो जाने से उसे लौटना पडा। शीघ्र उसके दो वेटो ने उसकी हत्या कर दी। अपने हत्यारे भाइयो को उत्तर की ओर भगाकर एज़ारहद्दन (६८०-६६९ ई० पू०) पिता की गद्दी पर वैठा। उसका शासन अल्पकालिक रहा, पर उसी वीच उसने पिता का साम्राज्य मजवूत पायो पर रखा। वावुल का फिर से निर्माण कर उसने उसे अपनी दूसरी राजधानी वनाया। फिर वह अरव और मीदिया को सर करता मिस्र जा पहुँचा और मेम्फिस उसने जीत लिया। उत्तर-पश्चिम से किमारी और कोहकाफ (काकेशस्) लाँघ शक उत्तरी असूरिया पर टूटने लगे थे, उनको उसने अपनी सीमाओ मे वँधे रहने को वाध्य किया।

सेनाखेरिव के पुत्र असुरवनिपाल (अस्शुर-वन-अप्ली, ६६८-६३३ ई० पू०) ने असूरिया के इतिहास को एक नया सास्कृतिक रुख दिया। वह पिछले असूरी साम्राज्यकाल का सवसे महान् सम्राट् था। उसने अपनी विजयो के वीच वीच वडे वडे सास्कृतिक अभियान किए—लेखको को वावुल आदि प्राचीन नगरो को भेजा जहाँ से उन्होने कीलनुमा अक्षरो मे सुमेरी-अक्कादी साहित्य के अमोल रत्न खोज निकाले और उनकी नकले अपने सम्राट् के पास भेजी। लाखो ईटो पर लिखे हजारो ग्रथ असुरवनिपाल के निनेवे के सग्रहालय से मिले है जिनसे उस काल के इतिहास, साहित्य और जीवन पर प्रभूत प्रकाश पडा है। उस सम्राट् के शासनकाल मे असूरियो ने कला के क्षेत्र मे असाधारण उन्नति की। उसके भवनो के निर्माता असुर वास्तुकारो की सर्वत्र विदेशो मे माँग होने लगी। सारगोन, सेनाखेरिव और असुरवनिपाल के शासनकाल कला के उत्कर्प के थे। असुरवनिपाल तो ससार का पहला पुराविद और सग्रहकर्ता था।

राजनीतिक सक्रियता मे भी असुरवनिपाल ने वडी ख्याति अर्जित की। अपने पराक्रम से उसने मिस्र जीत लिया। उसके पिता ने अपना साम्राज्य दोनो वेटो मे वाँटकर वावुल छोटे शमाश-शुम-उकिन को दे दिया था। उसने अव असुरवनिपाल से विद्रोह किया और जो युद्ध परिणामत हुआ उसे

भगवान् का अवतार, चक्रवर्ती राजा समझकर लोगों से उस प्रकार के व्यक्तित्व के प्रति जो आदर और समान होना चाहिए उसकी आशा करता है। ससार के लोग जब उसकी आशा पूरी करते नही दिखाई देते तो ऐसे व्यक्ति के मन में इस परिस्थिति का समाधान करने के लिये एक दूसरा भ्रम उत्पन्न हो जाता है। वह सोचता है कि चूंकि वह अत्यत महान् और उत्कृष्ट व्यक्ति है इसलिये दुनिया उससे जलती और उसका निरादर करती है तथा उसको दुःख और यातना देने एव मारने को उद्यत रहती है। वडप्पन का और यातना का दोनो भ्रम एक दूसरे के पोषक होकर ऐसे व्यक्ति के व्यवहार को दूसरे लोगों के लिये रहस्यमय और भयप्रद वना देते है।

(ई) मनोह्रास, व्यक्तित्वप्रणाश या आत्मनाश रोग में पागलपन की पराकाष्ठा हो जाती है। व्यक्ति का व्यक्तित्व सर्वथा नष्ट होकर उसके विचारो, भावनाओ और कामो मे किसी प्रकार का सामजस्य, ऐक्य, परिस्थिति-अनुकूलता, औचित्य और दृढता नही रहती। अपनी किसी क्रिया, भावना या विचार पर उसका नियत्रण नही रहता। देश, काल और परिस्थिति का ज्ञान लुप्त हो जाता है। उसकी सभी वातें अनर्गल और दूसरो की समझ में न आनेवाली होती हैं। वह व्यक्ति न अपने किसी काम का रहता है, न दूसरो के कुछ काम आ सकता है। ऐसे पागल सब कुछ खा लेते हैं, जो जी में आता है, वकते रहते हैं और जो कुछ मन में आता है, कर डालते हैं। न उन्हें लज्जा रहती है और न भय। विवेक का तो प्रश्न ही नही उठता।

(६) अति उच्च प्रतिभाशाली और जन्मजात न्यून प्रतिभावाले व्यक्तियों का अध्ययन भी असामान्य मनोविज्ञान करता है। यद्यपि यह विश्वास वहुत पुराना है (देखिए उत्तररामचरित) कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिभा की मात्रा भिन्न होती है, पर कुछ दिनो से पाश्चात्य देशो में मनुष्य की प्रतिभा की मात्रा की भिन्नता (न्यूनता, सामान्यता और अधिकता) को निर्धारित करने की रीति का आविष्कार हो गया है। यदि सामान्य मनुष्य की प्रतिभा की मात्रा की कल्पना १०० की जाय तो ससार में २० से लेकर २०० मात्रा की प्रतिभावाले व्यक्ति पाए जाते है। इनमें से ९० से ११० तक की मात्रावालो को साधारण, ९० से कम मात्रावालो को निम्न और ११० से अधिक मात्रावालो को उच्च श्रेणी की प्रतिभावाले व्यक्ति कहना होगा। अतिनिम्न, निम्न और ईषत् निम्न तथा अति उच्च, उच्च और ईषत् उच्च मात्रावाले भी वहुत व्यक्ति मिलेंगे। इन विशेष प्रकार की प्रतिभावालो के ज्ञान, भाव और क्रियाओ का अध्ययन भी असामान्य मनोविज्ञान करता है।

(७) असामान्य मनोविज्ञान जाग्रत अवस्था से भिन्न स्वप्न, सुषुप्ति और समाधि, मूर्छा, समोहित निद्रा, निद्राहीनता और निद्राभ्रमण आदि अवस्थाओ को भी समझने का प्रयत्न करता है और यह जानना चाहता है कि जाग्रत अवस्था से इनका क्या सवध है।

(८) मनुष्य के साधारण जाग्रत व्यवहार मे भी कुछ ऐसी विचित्र और आकस्मिक घटनाएँ होती रहती है जिनके कारणो का ज्ञान नही होता और जिनपर उनके करनेवालो को स्वय विस्मय होता है। जैसे, किसी के मुँह से कुछ अद्वितीय, अवाछित और अनुपयुक्त शब्दो का निकल पडना, कुछ अनुचित वाते कलम से लिख जाना, जिनके करने का इरादा न होते हुए और जिनको करके पछतावा होता है, ऐसे कामो का कर डालना। इस प्रकार की घटनाओ का भी असामान्य मनोविज्ञान अध्ययन करता है।

(९) अपराधियो और विशेषत उन अपराधियो की मनोवृत्तियो का भी असामान्य मनोविज्ञान अध्ययन करता है जो मन की दुर्वलताओ और मानसिक रुग्णता के कारण एव अपने अज्ञात मन की प्रेरणाओ और इच्छाओ के कारण अपराध करते हैं।

उपर्युक्त विषयो का वैज्ञानिक रीति से अध्ययन करना असामान्य मनोविज्ञान का काम है, इसपर कोई मतभेद नही है, पर इस विज्ञान मे इस विषय पर वडा मतभेद है कि इन असामान्य और असाधारण घटनाओ के कारण क्या है। यह तो सभी वैज्ञानिक मानते हैं कि मनोविकृतियो की उत्पत्ति के कारणों में भूत, पिशाच, शैतान आदि के प्रभाव को मानना अनावश्यक और अवैज्ञानिक है। उनके कारण तो शरीर, मन और सामाजिक परिस्थितियों में ही ढूंढने होंगे। इन सवध मे अनेक मत प्रचलित होते हुए भी तीन मतो को प्रधानता दी जा सकती है और उनमे समन्वय भी किया जा सकता है। वे ये है

(१) शारीरिक तत्वो का रासायनिक ह्रास अथवा अतिवृद्धि। विषैले रासायनिक तत्वो का प्रवेश या अतरुत्पादन और शारीरिक अगों तथा अवयवो की, विशेषत मस्तिष्क और स्नायुओ की, विकृति अथवा विनाश।

(२) सामाजिक परिस्थितियो की अत्यत प्रतिकूलता और उनसे व्यक्ति के ऊपर अनुपयुक्त दवाव तथा उनके द्वारा व्यक्ति की पराजय। वाहरी आघात और साधनहीनता।

(३) अज्ञात और गुप्त मानसिक वासनाएँ, प्रवृत्तियाँ और भावनाएँ जिनका ज्ञान मन के ऊपर अज्ञात रूप से प्रभाव पडता है। इस दिशा में खोज करने में फ्रायड, एडलर और युग ने वहुत कार्य किया है और उनकी वहुमूल्य खोजो के आधार पर वहुत से मानसिक रोगो का उपचार भी हो जाता है।

मानसिक असामान्यताओ और रोगो का उपचार भी असामान्य मनोविज्ञान के अतर्गत होता है।

रोगो के कारणो के अध्ययन के आधार पर ही अनेक प्रकार के उपचारो का निर्माण होता है। उनमे प्रधान ये हैं

(१) रासायनिक कमी की पूर्ति।
(२) समोहन द्वारा निर्देश देकर व्यक्ति की सुप्त शक्तियो का उद्वोधन।
(३) मनोविश्लेषण, जिसके द्वारा अज्ञात मन में निहित कारणो का ज्ञान प्राप्त करके उनको दूर किया जाता है।
(४) मस्तिष्क की शल्यचिकित्सा।
(५) पुन शिक्षण द्वारा वालकपन मे वने हुए अनुपयुक्त स्वभावो को वदलकर दूसरे स्वभावो और प्रतिक्रियाओ का निर्माण इत्यादि।

अनेक प्रकार की विधियो का प्रयोग मानसिक चिकित्सा में किया जाता है।

स०ग्र०—कोकलिन प्रिंसिपल्स ऑव ऐवनार्मल साइकोलॉजी, ब्राउन साइकोडायनमिक्स ऑव ऐवनार्मल विहेवियर, फिशर ऐवनार्मल साइकोलॉजी, पेज ऐवनार्मल साइकोलॉजी, हार्ट साइकोलॉजी ऑव इसेनिटी, मर्फी ऐन आउटलाइन ऑव ऐवनार्मल साइकोलॉजी।

[भी० ला० आ०]

असिक्रीड़ा

असिक्रीड़ा पहले जव तलवार से लडाई हुआ करती थी तव सभी योद्धाओ में तलवार से लड सकने की योग्यता आवश्यक थी। अव तलवार की नकली लडाई ही रह गई है जो भारत में मुहर्रम आदि त्योहारो पर दिखाई पडती है, परतु विदेशो मे यह नकली लडाई भी वढिया खेल के रूप मे परिवर्तित हो गई है, जिसे अग्रेजी में फेंसिंग कहते हैं। यह शब्द वस्तुत अग्रेजी 'डिफेंस' से निकला है, जिसका अर्थ है रक्षा। पहले दो व्यक्तियो में गहरा मनमुटाव हो जाने पर न्याय के लिये वे इस विचार से तलवार से लड पडते थे कि ईश्वर उसकी रक्षा करेगा जिसके पक्ष मे धर्म है। इस प्रकार का द्वद्वयुद्ध (डुएल) तभी समाप्त होता था जव एक को घातक चोट लग जाती थी। परतु प्राय सभी देशो की सरकारो ने द्वद्वयुद्ध को दडनीय अपराध घोषित कर दिया। इसलिय फेंसिंग मे लडने की रीतियाँ तो वे ही रह गई जो द्वद्वयुद्ध में प्रयुक्त होती थी, परतु अव प्रतिद्वद्वी को असि (तलवार) से छू भर देना पर्याप्त समझा जाता है। प्रतिद्वद्वी को असि से छू दिया जाय और स्वय उसकी असि से वचा जाय, फेंसिंग का कुल खेल इतना ही है। इन दिनो भी फेंसिंग वहुत अच्छा खेल समझा जाता है और **ओलपिक** खेलो में (उसे देखें) फेंसिंग प्रतियोगिता अवश्य होती है।

फेंसिंग में तीन तरह के यत्रो का प्रयोग होता है। प्रत्येक की प्रतिद्वद्विता अलग अलग होती है, और इनसे खेलने का ढग भी वहुत कुछ भिन्न होता है। प्रत्येक शस्त्र के लिये अलग शिक्षा लेनी पडती है और अभ्यास करना पडता है। इन यत्रो के नाम हैं फ्वायल (फॉयल), एपे (épée) और सेवर। फ्वायल किरच की तरह का यत्र है जिसका

असुर अपने पडोसी मुडा, चिरहोर तथा उराँव कबीलो की भाँति ही 'पत आस्ट्रेलीय' प्रजातीय स्कध के हैं। इनकी बोली भी मुडारी भाषापरिवार की है। वर्तमान असुरो ने लोहा पिघलाने का धधा छोड दिया है, किंतु आज भी वे कुशल लोहार हैं। उसके नाम 'असुर' और निकट भूत मे लोहा पिघलाने के धधे के आधार पर कुछ विद्वानो का मत है कि वर्तमान असुर कबीले के पूर्वज ऋग्वेद मे वर्णित असुर रहे होगे। इस मत को स्वीकार करना सभव नही। मुडा लोककथाओ मे भी मुडाओ से पूर्व छोटा नागपुर प्रदेश में लोहा पिघलानेवाली असुर जाति के आधिपत्य का उल्लेख है जिन्हे बाद में 'सिंगबोगा' की शक्ति और तेज द्वारा परास्त कर दिया गया था। किंतु इस क्षेत्र के अन्य कबीलो से असुरो की प्रजातीय, सास्कृतिक और भाषागत समानता को ध्यान मे रखते हुए यह मत निर्विवाद प्रतीत नही होता।

वर्तमान असुर कबीले का मुख्य धधा कृषि है और इनकी मुख्य फसले धान, मकई और जौ हैं। लोहारी के अतिरिक्त पशुपालन, आखेट, मधुसचय आदि इनके मुख्य सहायक धधे है। विनिमय अदला बदली द्वारा होता है, यद्यपि हाल में निकटवर्ती नगरो के महाजनो ने इन्हे मुद्रा व्यवस्था से भी परिचित करा दिया है। असुर सामाजिक सरचना मे नातेदारी के सबध (किनशिप रिलेशस) अब भी महत्वपूर्ण है। दादा दादी, नाना नानी और नाती नातिन को आपस मे हँसी ठट्ठा करने की विशेष छट है। कुछ हास परिहास तो निश्चय ही हमारे आदर्शों के विचार से औचित्य और श्लीलता की सीमा का अतिक्रमण करनेवाले है। विवाह के मुख्य रूप क्रय विक्रय, सेवाविवाह और धरने का विवाह है। प्रथम प्रकार का विवाह 'लाठी टेकना' कहलाता है जिसमे वरपक्ष द्वारा वधू के मूल्य का भुगतान अनिवार्य होता है। यदि वर पक्ष वधू का मूल्य देने मे असमर्थ हो तो विवाहोपरात वर को घरजमाई के रूप मे अनिश्चित अवधि तक अपने ससुर के घर काम करना पडता है। यह सेवाविवाह का ही एक रूप है। तीसरे प्रकार का विवाह वह है जिसमें अपने ससुर परिवार के विरोध की पर्वाह न करते हुए कन्या भावी पति के घर धरना दे देती है और कालातर मे सास ससुर को सेवा द्वारा प्रसन्न कर वैध पत्नी का पद ग्रहण करती है। सपूर्ण असुर कबीला बहुत से बर्हिविवाही कुलो (एक्जोगैमस क्लैस) मे बँटा है। इनमें ऐंट, बेंग, बुडवा, ऐंदुवार, किरकिटा और खुसार विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक कुल 'टोटमी' है और कुल के सदस्यो के लिये 'टोटमी' पशु अथवा पक्षी का मास खाना वर्जित है। असुर टोटमी कुलो के नाम मुडा और उराँव कुलनामो के समान है। अन्य कबीलो की भाँति असुरो मे भी कुलो का नामकरण परिवेश, के पशुपक्षियो के आधार पर किया गया है। अविवाहित असुर नवयुवक और नवयुवतियो के परपरागत शिक्षण आमोद प्रमोद और सहयोग के हेतु प्रत्येक गाँव में युवक और युवतियो के लिये पृथक् 'गितिओडा' या युवागृह होते हैं। कबीले मे नृत्य, गीत और सामूहिक आखेट का आयोजन युवागृह के तत्वावधान मे होता है। असुरो के सर्वोच्च देवता सिंगबोगा या सूर्य देवता है। बलि द्वारा उग्र देवताओ का शमन, झाड फूँक द्वारा रोगो की चिकित्सा तथा महामारी आदि सकट से कबीले की रक्षा का कार्य गाँव के अनुभवी 'देउरी' के हाथ मे होता है। हाल मे अधिकाश असुर गाँवो के छोटे बालको की प्राथमिक शिक्षा के लिये शासन द्वारा सचालित स्कूल खोले गए हैं। बाजारो तथा नागरिक व्यापारियो ने भी असुरो के सपर्क का क्षेत्र विस्तृत कर दिया है। भारतीय कबीलाई जनसख्या द्वारा पर-सस्कृति-ग्रहण की प्रक्रिया के प्रसग मे असुरो की यह प्रगति निश्चय ही रोचक है। [र० जै०]

असुरनज़ीरपाल (८८४–८५९ ई० पू०) यह असुर नृपति प्राचीन काल के प्रधानतम दिग्विजयी सम्राटो मे से था। अपने पिता तुकुल्ती-निनुर्ता द्वितीय के निधन के पश्चात् वह असुरो की गद्दी पर बैठा और उसके प्रताप से असुर राज्य तत्कालीन सभ्य ससार का हर क्षेत्र मे विधायक बन गया। प्राचीन भारतीय साहित्य मे जो क्रूरकर्मा असुरो की रक्तिम विजयो का निर्देश मिलता है उनका उद्गम इसी असुरनजीरपाल के प्रयत्न हैं। वह न केवल राज्यो और देशो को जीतता था, अमानुषिक रक्तपात से नगरो को नष्ट और सूना कर देता था, जीवित शत्रुओ की खाल खिंचवा लिया करता था, बल्कि उसने अपनी दिग्विजयो मे क्रूरता की एक नई रीति ही चला दी। वह देश या नगर को जीत उसकी समूची प्रजा को अपने पूर्व स्थान से उखाडकर अपने साम्राज्य के दूसरे प्रदेशो मे बसा देता था जिससे फिर वह विद्रोह न करे या उसके भीतर स्वदेश की रक्षा के लिये कोई भावना ही जीवित न रह जाय। अक्सर तो वह अपने विजित शत्रुओ के हाथ और कान कटवाकर उनकी आँखे निकलवा लेता, फिर उन्हे एक पर एक डाल अबार खडा कर देता और भूखो मरने के लिये छोड देता। बच्चे जिंदा जला डाले जाते और राजाओ को असूरिया ले जाकर उनकी खाल खिंचवा ली जाती। असुरनजीरपाल की चलाई इस क्रूर प्रथा की परपरा बाद के असुर राजाओ ने भी कायम रखी, यद्यपि धीरे धीरे उसका ह्रास होता गया।

असुरनजीरपाल दिग्विजय के लिये पहले पूर्व और उत्तर की ओर बढा और दक्षिण अरमेनिया को सिलीशिया तक उसने रौद डाला। अनेक राज्यो को जीतता वह प्राचीन प्रबल खत्तियो की राजधानी कारखेमिश पहुँचा और उसे जीत, फरात लाँघ, उत्तरी सीरिया की ओर चला। फिर लेबनान और फिनीकी नगरो का आत्मसमर्पण स्वीकार करता जब वह समुद्रतटसे लौटता दमिश्क के सामने जा खडा हुआ तब उसकी गति की तीव्रता से सीरिया के राजा को काठ मार गया। उसको विनीत करता असुरसम्राट् जब राजधानी लौटा तब मर्दित मानवता बिलबिला रही थी और राह के विध्वस्त राज्य, नष्ट नगर, उजडे और जले गाँव, असुर सेनाओ की गति की कथा कह रहे थे।

असुरनजीरपाल मात्र दिग्विजयी न था, अपूर्व सैन्यसचालक और उसका सगठयिता भी था। रथो को कम कर घुडसवारो की सख्या बढा और पहली बार युद्ध मे यत्रो का प्रयोग कर उसने असूरी सेना का नया सगठन किया। अपनी राजधानी उसने असुरो की प्राचीन राजधानी 'असुर' से हटाकर कल्ख़ी मे स्थापित की और वही उसने अनेक प्रासादो तथा मदिरो का निर्माण कराया। प्राचीन साहित्य मे जो मय आदि वास्तुकारो का उल्लेख मिलता है उनके शिल्प की प्रतिष्ठा विशेषत असुरनजीरपाल के ही समय हुई थी। तत्कालीन सभ्यता के सारे देशो मे तब असुर शिल्पियो और वास्तुकारो की माँग होने लगी। स्वय असुरनजीरपाल की दिग्विजयो के वृत्तात स्तभो और शिलाखडो पर लिख लिए गए और इस प्रकार उसका नाम इतिहास मे भय और क्रूरता का पर्याय हो गया। [भ० श० उ०]

असुरबनिपाल (६६९–६२३ ई० पू०) असुर (असूरियाई) जाति का प्रसिद्ध पुराविद् सम्राट्। असुरो ने अरमनी पहाडो के दक्षिण और दजला-फरात नदियो के उपरले द्वाब से उठकर समूचे द्वाब, नदियो के मुहानो तक बाबुल और प्राचीन सुमेर के नगरो पर अधिकार कर लिया था। असुरबनिपाल के पूर्वज तिगलाथ पिलेसर और असुरनजीरपाल की विजयो ने असुर साम्राज्य की सीमाएँ ईरान, कृष्ण और भूमध्यसागर तथा नील नद तक फैला दी थी। असुरबनिपाल उसी साम्राज्य का अधिकारी हुआ और एसारहद्दन की मृत्यु के बाद निनेवे की गद्दी पर बैठा। उसके पिता ने अपना साम्राज्य दोनो बेटो मे बाँट दिया था। छोटे बेटे शमश्-शुम-उकिन को उसने बाबुल दिया था और बडे बेटे असुरबनिपाल को शेष साम्राज्य, यद्यपि बाबुल को उसने निनेवे का सामतराज्य घोषित किया।

असुरबनिपाल ने प्राय आधी सदी राज किया। उसका शासनकाल घटनाओ से भरा था। गद्दी पर बैठते ही पहले वह मिस्र के विद्रोही फराऊन को दड देने के लिये बढा और उसे कारबानित मे परास्त कर उसने उसकी राजधानी मेम्फिस पर अधिकार कर लिया। फिर उस देश के राजाओ को परास्त करता वह निनेवे लौटा, पर उसके लौटते ही मिस्र के राजाओ ने फिर सिर उठाया और उसे थीबिज की ओर फिर लौटना पडा। राह के नगरो को जलाता और नष्ट करता वह थीबिज पहुँचा और फराऊनो की उस प्राचीन राजधानी को उसने मटियामेट कर दिया। लौटते समय राह मे उसने फिनीकिया जीता और सागर पार दूर के लीदिया से आए दूतमडल की भेट उसने स्वीकार की। असुरशक्ति उत्कर्ष की चोटी चूमने लगी।

अपने समूचे देश की विजय कर असुर जाति ने निकट और दूर के देशों और जातियों पर भी अपना अधिकार स्थापित किया। उसके अपने देश का नाम ग्रीक और उत्तरवर्ती यूरोपीय साहित्य मे असीरिया या अस्सीरिया पडा। उसी असुर की पूजा असुर महान् या अहुरमज्द के रूप मे प्राचीन ईरानियो ने की। असुर जाति की अपनी धार्मिक परपरा के अनुसार 'असुर' वह महान् देवता है जिसने पहले स्वय अपने को सिरजा, पश्चात् चराचर को। सस्कृत (वैदिक) भाषा मे भी पहले 'असुर' शब्द की व्युत्पत्ति 'असु प्राण र' शक्तिमान अर्थ में हुई। बाद मे, सभवत आर्यो—मितन्नी और मीदी (ईरानी आर्यो)—से प्राणातक सघर्ष होने से, इस शब्द का अर्थ बिलकुल विपरीत सुरशत्रु (न सुर इति असुर) होने लगा।

असुरो की राजधानी अस्सुर का उल्लेख बाइबिल (सृष्टि २, १४) मे भी हुआ है। यह प्राचीन असूरिया (असीरिया) का प्रधान नगर दजला के पश्चिमी तट पर उसके बडी ज़ाब से सगम के ३७ मील नीचे बसा था। हाल की खुदाइयो मे इसके भवनो के महत्वपूर्ण खडहर—समूची इमारतें और सडकें—शरकत के निकट नदी की प्राचीन तलहटी मे निकले हैं। ६०६ ई० पू० में असुरो की इस राजधानी का विध्वस ईरानी आर्य उन मीदियो ने किया जिनके दारा आदि नामधारी राजाओ ने बाद मे वह प्रबल ईरानी साम्राज्य कायम किया जिसकी एक सीमा भारत मे पजाब तक जा पहुँची, दूसरी नील नद और भूमध्यसागर तक, तीसरी दानूब और दक्षिणी रूस तक।

प्राचीन असुर प्रदेश या असूरिया आधुनिक इराक के उत्तरी भाग मे दजला नदी के दोनो ओर वर्तमान सीरिया की पूर्वी सीमा और छोटी ज़ाब के बीच फैला हुआ था। स्वय 'सीरिया' नाम उसी 'असूरिया' का अपभ्रश है। उस प्राचीन असूरिया के उत्तर मे अर्मीनिया (उरार्तू, अरारात पर्वत) और दक्षिण मे बाबुल (बाबिलोनिया) थे तथा पूर्व में कुर्दिस्तान के पर्वत और पश्चिम मे द्वाब की मरुभूमि थी। इसकी जलवायु ठढी थी और बीच की भूमि पर जाडो मे वर्षा भी पर्याप्त होती थी। पर इसका अधिकतर भाग पहाडी और रेतीला होने से निस्सदेह वहाँ आहार की कमी थी।

असुरो की पहली राजधानी, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, कलात शरकत के पास अस्सुर था। उसके बाद असुरो के उत्तर-साम्राज्य-काल में राजधानी निनेवे आधुनिक कुयुजिक, प्राय ६० मील उत्तर, जहाँ उस महान् नगर के भग्नावशेष मिले हैं और जिसका विध्वस ६१२ ई० पू० में हुआ था, बना। वैसे निनेवे नगर का निर्माण अस्सुर से भी पहले हो चुका था। निनेवे और अस्सुर दोनो के बीच आधुनिक निमरूद के पास कला था, असुरो की तीसरी राजधानी, उनके ९वी-८वी शताब्दी ई० पू० के साम्राज्य-काल की। निनेवे के पूर्वोत्तर वर्तमान खोर्साबाद में प्रबल असुर विजेता सारगोन (शर्रुकिन) की राजधानी, उसी के नाम पर, दुरशर्रुकिन था। इन नगरो की खुदाइयो मे बडे महत्व की पुरातात्विक और ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हुई है। असूरिया के नगरो मे प्रधान दो और थे, अरबेला (वर्तमान अर्बिल) और हारान। अरबेला सिकदर और दारा की युद्धभूमि होने से इतिहास मे प्रसिद्ध हो गया है और हारान पश्चिमी द्वाब (मेसोपोता-मिया) में असूरी साम्राज्य का केंद्र, उत्तरकाल में निनेवे के ध्वस के बाद उसकी राजधानी था।

इतिहास—प्राचीन जातियो में आज किसी के इतिहास की सामग्री इतनी प्रभूत मात्रा मे उपलब्ध नही जितनी असुरो के इतिहास की प्राप्त है। इस सबध मे असूरी तिथिक्रम की ओर सकेत कर देना अनिवार्य हो जाता है। प्राचीन काल की किसी सक्रिय जाति ने अपनी विरासत के रूप मे उत्तरकालीन जनता के लिये इतने अभिलेख और ऐतिहासिक घटनाओ के वृत्तात नही छोडे। अति प्राचीन इतिहास के परिणामस्वरूप तबकी पुरा-तात्विक सामग्री और अभिलेख तो हैं ही, १०वी और ७वी शताब्दी ई० पू० के मध्यकाल के प्राय प्रत्येक राजा और राजकर्मचारी की घटनाओ के सबध मे अभिलेख सुरक्षित हैं। ६४० ई० पू० से १०वी ई० पू० के मध्य तक की प्राय प्रत्येक महत्वपूर्ण घटना की सही तिथि आज इन्ही अभिलेखो के आधार पर दी जा सकती है। ७वी शताब्दी ई० पू० के बीच हुए एक ग्रहण की तिथि से विद्वानो ने पिछली सदियो की भी प्रधान घटनाओ की सही तिथियाँ निर्धारित कर ली है जिनकी पुष्टि अन्य स्वतत्र प्रमाणो से भी हो जाती है। इनमें से प्रधान तालेमी द्वारा प्रस्तुत ग्रीक में ज्योतिष सबधी असूरी राजाओ की सूची है। बाइबिल की पुरानी पोथी के प्रमाण, उसके नबियो के असूरी सम्राटो की रक्तिम विजयो के विपरीत निर्भीक उद्‌गार उसी दिशा में ऐतिहासिक तथ्य को पुष्ट करते हैं। इसी प्रकार बाबुली और मिस्री सम्राटो के समसामयिक तिथिक्रमो से भी मिलान कर असूरी तिथिक्रम (लिम्मू) की सत्यता परखी जा चुकी हे। द्वितीय सहस्राब्दी की १५वी शताब्दी ई० पू० की घटनाएँ तो तिथिक्रम की दृष्टि से दस वर्ष आगे पीछे की सीमा में बाँधी जा चुकी हैं। खोर्साबाद (दुर शर्रुकिन) के खडहरो से राजाओ की जो तालिका, उनके शासनवर्षांक के साथ, उपलब्ध हुई है वह द्वितीय सहस्राब्दी के आरभ तक सही तिथियो की शृखला प्रस्तुत कर देती है। फिर भी प्राचीनकालीन तिथिक्रम निकटतम मात्रा में ही सही हो सकता है और नीचे का असुर-इतिहास उसी सभावित सीमा के साथ दिया जा रहा है।

असुर-इतिहास का विभाजन प्रधानत दो कालभागो—साम्राज्य-पूर्व और साम्राज्यकाल—में किया जा सकता है। साम्राज्यकाल का प्रारभ अति प्राचीन काल में ही हो गया था। स्वय साम्राज्यकाल के तीन युग किए गए हैं—प्राचीन, मध्य और उत्तर युग। पिछली खुदाइयो से विद्वानो ने अनुमान किया है कि ४७५० ई० पू० के लगभग असूरिया में गाँव बस चले थे। शीघ्र बाद ही, पहले चाहे पीछे, भाडो का आयात हुआ, फिर दक्षिण अर्थात् बाबुली दिशा से असुर ग्रामो ने धातु का उपयोग भी सीखा। बाबुली सभ्यता तब से असुर विचारो पर हावी हुई और उसका असूरिया में प्राधान्य अत तक बना रहा। २३०० ई० पू० के आसपास राजनीतिक दृष्टि से भी असूरिया बाबुल-अक्काद का प्रात बन गया। लिम्मू-अभिलेखो का प्रकाश असूरी तिथिक्रम को प्राय १८ वीं शताब्दी ई० पू० मिलता है। वैसे खोर्साबाद की राजसूची के ३२ नामो में पिछले १७ ऐतिहासिक हैं। उनसे पहले के १५ राजाओ के नाम अद्‌भुत और पुराणपरक होने से उनको ऐतिहासिक व्यक्ति मानने में पुराविदो ने आपत्ति की है, यद्यपि मानवशृखला चूँकि सदा जीवित रही है, उन्हे भी कामचलाऊ मानकर स्वीकार किया जा सकता है। उन पद्रहो में दूसरे का नाम 'आदम' है जो इब्रानी मनु और इसान के पूर्वज 'आदम' की याद दिलाता है।

प्राचीन साम्राज्ययुग—साम्राज्य के प्राचीन युग का आरभ २००० ई० पू० के लगभग हुआ। पुजुर-असुर प्रथम, जिसने १९५० ई० पू० के आसपास राज किया, सभवत असूरी साम्राज्य का पहला निर्माता और उन्नायक था। अगली दो सदियाँ असूरिया की समृद्धि और राजनीतिक ऐश्वर्य की थीं। तब देश के बाहर अन्य राज्यो (खत्तियो के) में अनेक असूरी आढतें और व्यापारिक केंद्र स्थापित हुए। असुरराज इलुशुम्मा (ल० १९०० ई० पू०) ने केवल पचास वर्ष बाद बाबुल को जीतकर असूरिया का करद प्रात बना लिया और उसके उत्तराधिकारियो ने लघु एशिया से घना व्यापार किया, जैसा वहाँ के हजारो अभिलेखो से प्रकट है। इन्ही दो सदियो के बीच एक पाश्चात्य सामी घुमक्कड जाति दक्षिण-पश्चिमी एशिया को जीतकर वहाँ बस गई। वह अमुर्रु (पाश्चात्य) जाति प्राचीन इब्रानी भाषा बोलती थी। उसी जाति के शम्शी-अदाद (प्रथम) नामक राजा ने असूरिया पर अधिकार कर उसके प्रभुत्व की सीमाएँ एक ओर भूमध्य सागर और पश्चिम-दक्षिणी ईरान मे एलाम तक पहुँचा दी। उसका यह दावा इस भूखड के विविध स्थानो से प्राप्त प्रमाणो से सिद्ध है। आधुनिक सीरिया और ईराक की मिली सीमा के उत्तर में मारी का प्रात था जिसपर शम्शी-अदाद प्रथम और उसके पुत्र इश्मे-दागान के समय उनके पुत्रो ने प्रातीय शासक के रूप मे राज किया, जैसा वहाँ मिले सैकडो पत्रो से प्रमाणित है। इश्मे-दागान की मृत्यु के बाद देश मे घोर अराजकता फैली और मारी, बाबुल आदि प्रात स्वतत्र हो गए। बाबुल तो इतना प्रबल हो गया कि उसके महत्वाकाक्षी इतिहासप्रसिद्ध सम्राट् हम्मुराबी ने तभी अपना प्रबल साम्राज्य स्थापित किया और असूरिया को उसका सूबा बना लिया। यह घटना १७०० ई० पू० के लगभग की है, यद्यपि कुछ पुराविद हम्मुराबी का शासन-काल प्राय दो सदियो पहले मानते हैं। अगली दो सदियाँ (१७००–१५०० ई० पू०) फिर असूरी राजनीति के लिये घातक सिद्ध हुई क्योकि तभी असूरिया अनेक वीर और बर्बर जातियो की युद्धभूमि बन गया। खत्तियो ने पश्चिम से, हुर्रियो ने पूर्व से और मितन्नियो ने उत्तर से उसपर आक्रमण

फिज्म (१९४७), एल० जे० ब्लकहम . सिक्स ऐक्जिस्टेंशियलिस्ट थिंकर्स (१९५७), जे० पी० सर्का ऐक्जिस्टेंशियलिज्म ऐंड ह्यूमनिज्म। [प्र० मा०]

अस्त्रशस्त्र से साधारणत आक्रमणकारी और प्रतिरक्षात्मक उपकरण का बोध होता है। प्रतिरक्षा और प्रहार के साधनो के विकास तथा उन्नति का पारस्परिक संबंध अति घनिष्ट है। एक के विकास और उन्नति के प्रतिक्रियास्वरूप दूसरे का विकास और उन्नति अनिवार्य थी।

अस्त्रशस्त्र के विकास का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानव जाति के विकास का। मानव जीवन आदिकाल से संघर्षपूर्ण रहा है। जीवनरक्षा के लिये उसे भयानक और शक्तिशाली जीवजंतुओं से लडना पडा होगा। मनुष्य के पास न तो उन जीवजतुओ के बराबर बल था, न उतना मोटा और कठोर चर्म और न तीव्र तथा घातक दाँत तथा नख ही थे। अपने अनुभवो तथा बुद्धि से मनुष्य ने प्रथम शस्त्रो का आविष्कार किया होगा। डडे या लाठी का विकास बरछा, गदा, तलवार, बल्लम और आधुनिक संगीन मे हुआ। इसी प्रकार फेककर मारनेवाले साधारण पत्थर का विकास भाला, धनुष बाण, गुलेल, गोला, गोली तथा आधुनिक अणुबम मे हुआ।
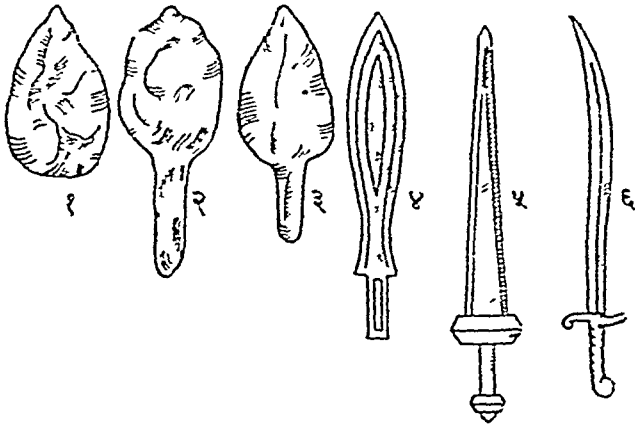
चित्र १. पाषाण तथा धातु युग के शस्त्र

पाषाण युग के १ कुल्हाडे का माथा जो लकडी में बाँधा जाता था, २ गदा, ३ छुरा, धातु युग के लोहे के बने (दसवी शताब्दी के) ४ छुरा, ५ तलवार, ६. तलवार।

शस्त्रो के विकास और बढती शक्ति के साथ साथ प्रतिरक्षा के उपकरणो की आवश्यकता हुई और उनका आविष्कार हुआ। सभवत चर्म को लकडी के डडो में फँसाकर ढाल बनाने की कला बहुत पुरानी होगी। कालातर मे कवच और आधुनिक युग मे आकर कवच-यान (टैंक) का आविष्कार हुआ। यह देखा गया है कि मनुष्य ने जब जब सहार के साधनो का निर्माण किया, उसके साथ साथ प्रतिरक्षा के साधनो का भी विकास हुआ।

अस्त्रशस्त्रो का वर्गीकरण साधारणत उनके प्रयोग, विधि और विशेषताओ के आधार पर किया जाता है। इनके अनुसार पाषाणयुग से बारूद के आविष्कार तक के अस्त्रशस्त्रो का वर्गीकरण इस प्रकार है

(१) वे शस्त्र जो फेंके नही जाते। इनके उपवर्गीकरण के अतर्गत निम्नलिखित शस्त्र हैं . (अ) काटनेवाले शस्त्र, जैसे तलवार, परशु आदि, (आ) भोकनेवाले शस्त्र, जैसे बरछा, त्रिशूल आदि, (इ) कुद शस्त्र, जैसे गदा।

(२) वे अस्त्र जो फेंके जाते हैं। इनके अतर्गत ये अस्त्र हैं . (अ) हाथ से फेंके जानेवाले अस्त्र, जैसे भाला, (आ) वे अस्त्र जो यत्र द्वारा फेंके जाते है, जैसे बाण, गुलेल से फेंके जानेवाले पत्थर आदि।

पुरातत्ववेत्ताओ के मतानुसार समय के साथ साथ मनुष्य का ज्ञान बढा और वह सोच समझकर इच्छानुसार पत्थर और लकडी के शस्त्र बनाने लगा। फिर इन्ही शस्त्रो को घिसकर सपाट, सुडौल, तीव्र और चमकीला बनाना आरभ किया। इस काल के मुख्य शस्त्र पत्थर के कुल्हाडे, गदाएँ और छुरे थे (चित्र १)। सहस्रो वर्ष बाद उसने धनुष और भाले का भी निर्माण किया।

लगभग ४००० वर्ष ई० पू० तक मनुष्य धातु का पता पा चुका था। ताँबे और राँगे को मिलाकर उसने काँसा बनाना जाना और तब धीरे धीरे पत्थर के शस्त्रो का स्थान काँसे के शस्त्रो ने ले लिया (चित्र १)। इस काल के शस्त्रों में विशेषत धनुषबाण, बरछी, छुरी, भाला, कुल्हाड़ा और गदा के तथा रक्षात्मक साधनो मे केवल काँसे की ढाल के प्रमाण मिले हैं।

काँसे का स्थान प्राय १००० वर्ष ई० पू० मे लोहे ने लिया। वैदिक काल में अस्त्रशस्त्रो का वर्गीकरण इस प्रकार था .

(१) अमुक्ता—वे शस्त्र जो फेंके नही जाते थे।
(२) मुक्ता—वे शस्त्र जो फेंके जाते थे। इनके भी दो प्रकार थे—
  (अ) पाणिमुक्ता, अर्थात् हाथ से फेंके जानेवाले, और
  (आ) यत्रमुक्ता, अर्थात् यत्र द्वारा फेंके जानेवाले।
(३) मुक्तामुक्त—वह शस्त्र जो फेककर या बिना फेके दोनो प्रकार से प्रयोग किए जाते थे।
(४) मुक्तसनिवृत्ती—वे शस्त्र जो फेककर लौटाए जा सकते थे।

अग्नेयास्त्र (फायर-आर्म्स) का भी उल्लेख मिलता है, पर अधिक स्पष्ट नही। शरीर के विभिन्न अगो की रक्षा का उल्लेख किया गया है। उदाहरणार्थ शरीर के लिये चर्म तथा कवच का, सिर के लिये शिरस्त्राण और गले के लिये कठत्राण इत्यादि का।

यूरोप मे भी इसी प्रकार के शस्त्र बनते थे। १२वी सदी का कवच लोहे की छोटी छोटी कड़ियो को गूँथकर बनता था। जिरहबख्तर (जालिका, चेन मेल) सुदर और सुविधाजनक अवश्य था, पर भारी शस्त्रो की चोट से पूर्णतया रक्षा नही कर सकता था। इसलिये १३वी सदी ई० से यूरोप मे लोहे की चादर के आवरण बनने लगे और उन्हे जालिका के ऊपर पहना जाने लगा। योद्धा अब सिर से पाँव तक पट्टकवच (प्लेट आरमर) से ढका रहता था। शरीर के अवयवो के सरल आदोलन के लिये इन कवचो मे जोड बने रहते थे। पीछे अश्व के लिये भी ऐसा ही कवच बनने लगा। जालिका भी अश्व तथा मनुष्य दोनो के लिये बनती थी (चित्र २ और ३)। सवार और अश्व के कवच का भार २०० से ३०० पाउड तक होता था।
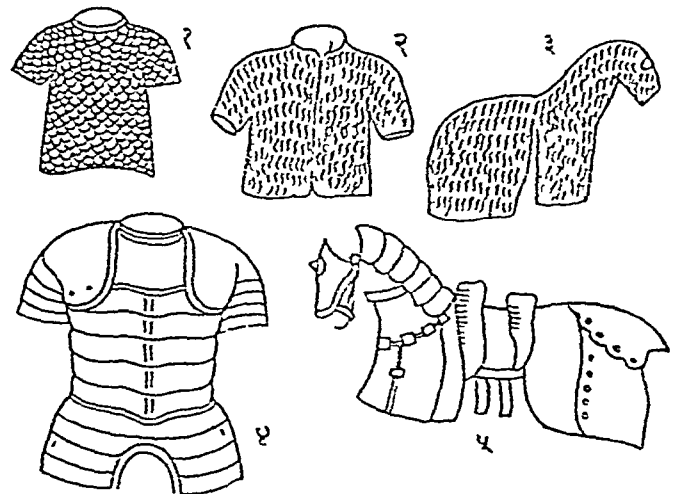
चित्र २. विविध प्रकार के कवच

ऊपर तीन शल्ककवचो के चित्र है: १ तथा २. योद्धा के लिये, ३ अश्व के लिये। नीचे, दो पट्टकवच ४. योद्धा के लिये, ५, अश्व के लिये।

१३वी शताब्दी मे शस्त्रो की शक्ति मे भी उन्नति हुई। अग्रेजो का लबा धनुष (लॉङ्ग बो) इतना शक्तिशाली होता था कि उससे चलाया बाण साधारण कवचो को भेद देता था। यह धनुष ६ फुट लबा होता था और इसका ३ फुट का बाण २५० गज तक सुगमता से मार कर सकता था।
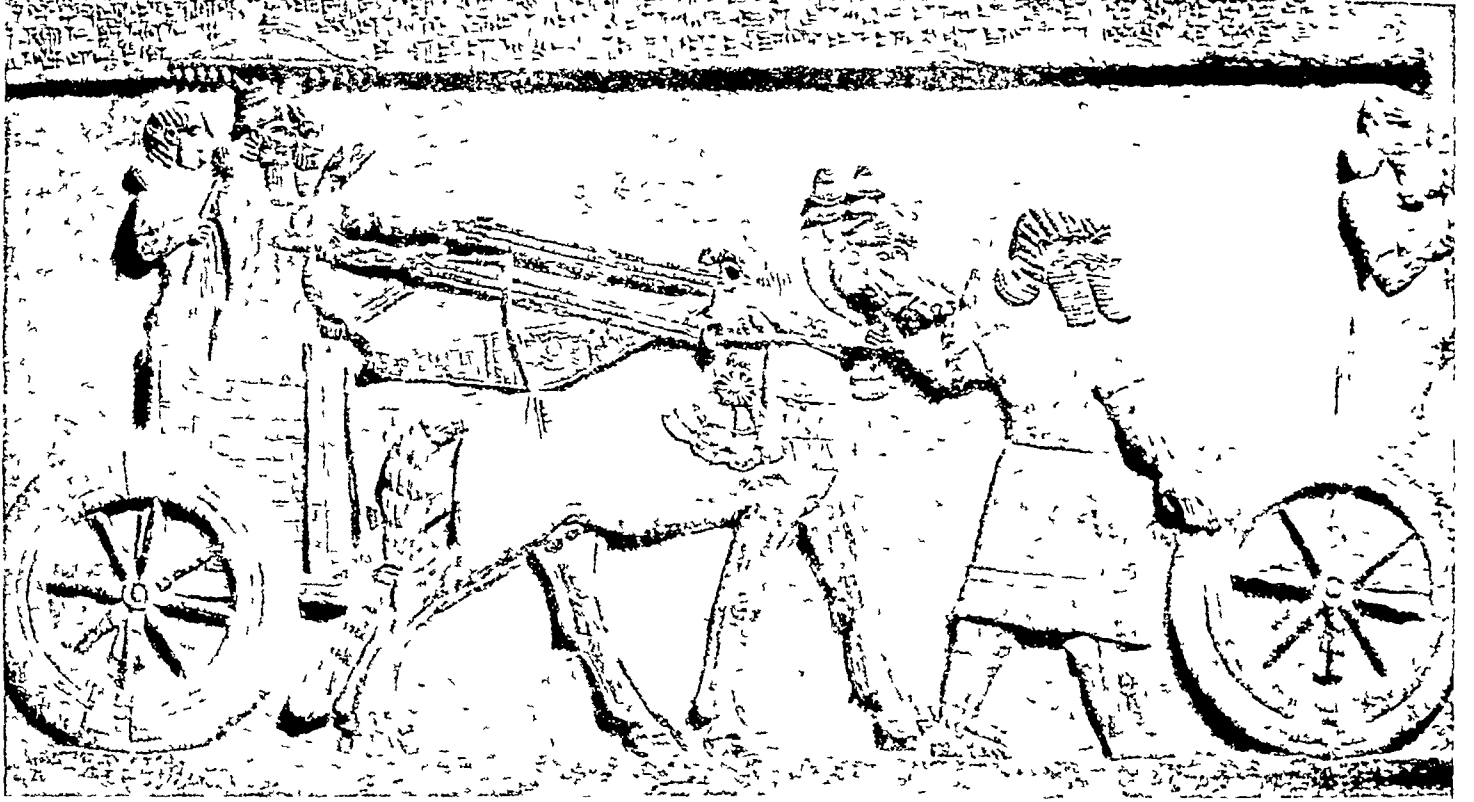
असूरी राजा का जलूस

(देखे 'असुर', पृष्ठ २९१)।

अस्थि श्वेत रग का एक कठोर ऊतक है जिससे सारे कशेरुकी (रीढ़-वाले) जतुओ के शरीर का ककाल (ढाँचा) बनता है। अस्थि शरीर के आकार का आधार है। अस्थियो द्वारा ही शरीर गति करता है तथा भीतर के मुख्य अग सुरक्षित रहते हैं। इन्ही के कारण हमारे दैनिक कार्य सपन्न होते हैं।

अस्थि एक परिवर्तनशील ऊतक है और शरीर के बहुत से रासायनिक तथा जैव परिवर्तनो से उसका सबध है। रक्त मे होनेवाले रासायनिक परिवर्तनो तथा शरीर के अन्य भागो मे अत स्रावी और आहारजन्य कारणो से स्वय अस्थि मे रचनात्मक परिवर्तन होने लगते है, और अस्थि भी इन परिवर्तनो का कारण होती है। आयुपर्यंत अस्थि का पुनर्निर्माण होता रहता है तथा उसकी रचना बदलती रहती है।

शरीर की अधिकतर अस्थियाँ लबी होती हैं। इनमे एक दो चौडे या फूले हुए शिरो के बीच लबा काड (खोखला बेलन) होता है। शिरो को वर्धक प्रात कहते है, क्योकि यही से अस्थि की वृद्धि होती है। अस्थि पर एक अत्यत सूक्ष्म कला चढी रहती है, जिसको अस्थ्यावरण कहते हैं। काड के भीतर एक लबी नलिका होती है जिसके बाहर ठोस अस्थि मे दो भाग होते हैं। नलिका की ओर सुषिर भाग रहता है जो सछिद्र होता है। उसके बाहर सहृत भाग होता है जो घना और ठोस होता है। बीच की नलिका मे अस्थि-मज्जा भरी रहती है। यही रक्त बनता है। अस्थिमज्जा ही रक्त की फैक्टरी है। रक्तनलिकाओ द्वारा अस्थि का पोषण होता है और उनमे नाडियो के सूत्र भी आते है। बहुत सी अस्थियो के प्रातीय भागो पर हायलीन नामक उपास्थि चढी रहती है। ये भाग सधियो के भीतर रहते है और उपास्थि के कारण ऐंठने नही पाते। इन प्रातो पर अस्थि-ऊतक विशेषकर क्रियमाण होता है और यही नवीन अस्थिनिर्माण होता है। शरीर की लबाई इसी प्रात पर निर्भर रहती है। जब प्रात और काड आपस मे सयुक्त हो जाते है तो अस्थि की लबाई की वृद्धि रुक जाती है।

अस्थि—अस्थि अस्थिकोशिकाओ और कैलसियमयुक्त अतर्कोशिकीय वस्तु की बनी रहती है। इस अतर्कोशिकीय वस्तु मे सयोजक ऊतक के ततु कैलसियम कार्बोनेट और फास्फेट के साथ स्थित होते हैं जिससे वस्तु मे कठोरता आ जाती है। अस्थि की कोशिकाएँ दो प्रकार की होती हैं एक अस्थिनिर्माणक, जो अस्थि-ऊतक को बनाती और उसे कैलसियमयुक्त करती है और दूसरी अस्थिभजक, जिसका काम अस्थि के सब अवयवो का पोषण करना है। अस्थि बनने तथा अस्थियो के जीवन मे जो परिवर्तन होते हैं वे सब इन दोनो क्रियाओ के परिणामस्वरूप होते हैं और शरीर मे होनेवाले रासायनिक तथा भौतिक या जैव परिवर्तन इनके निर्णायक या प्रारभ करनेवाले हैं।

लबी अस्थियो के अतिरिक्त शरीर मे कुछ छोटी, चपटी तथा क्रमहीन अस्थियाँ भी पाई जाती हैं। इनके भीतर मज्जानलिका नही होती। इनके नाम से इनका प्रकार स्पष्ट है। कपाल की चपटी अस्थियो मे दो स्तर होते है जिनके बीच मे कुछ मज्जा रहती है। मणिबध या प्रपाद की छोटी अस्थियाँ है। रीढ के कशेरुक क्रमहीन अस्थियाँ है, जिनका आकार विषम होता है। [म० कु० गो०]

अस्थिचिकित्सा शल्यतत्र का वह विभाग है, जिसमे अस्थि तथा सधियो के रोगो और विकृतियो या विरूपताओ की चिकित्सा का विचार किया जाता है। अतएव अस्थि या सधियो से सबधित अवयव, पेशी, कडरा, स्नायु तथा नाडियो के तद्गत विकारो का भी विचार इसी मे होता है।

यह विद्या अत्यत प्राचीन है। अस्थिचिकित्सा का वर्णन सुश्रुतसहिता तथा हिप्पोक्रेटीज के लेखो मे मिलता है। उस समय भग्नास्थियो तथा च्युतसधियो (डिस्लोकेशन) तथा उनके कारण उत्पन्न हुई विरूपताओ को हस्तसाधन, अगो के स्थिरीकरण और मालिश आदि भौतिक साधनो से ठीक करना ही इस विद्या का ध्येय था। किंतु जब से एक्स-रे, निश्चेतन विद्या (ऐनेस्थिजीया) और शस्त्रकर्म की विशेष उन्नति हुई है तब से यह विद्या शल्यतत्र का एक विशिष्ट विभाग बन गई है और अब अस्थि तथा अगो की विरूपताओ को बडे अथवा छोटे शस्त्रकर्म से ठीक कर दिया जाता है। न केवल यही, अपितु विकलाग शिशुओ और उन बालको के, जिनके अग टेढे-मेढे हो जाते हैं या जन्म से ही पूर्णतया विकसित नही होते, अंगो को ठीक करके उपयोगी बनाना, उपयोगी कामो को करने के लिये अभ्यस्त करना तथा बालक को शिक्षित करके उसका पुन स्थापन (रीहैबिलिटेशन) करना, जिससे वह समाज का उपयोगी अग बन सके और अपना जीविकोपार्जन कर सके, ये सब आयोजन और प्रयत्न इस विद्या के ध्येय हैं।

हस्तसाधन (मैनिप्युलेशन) और स्थिरीकरण (इम्मोबिलाइजेशन)—इन दो क्रियाओ से अस्थिभग, सधिच्युति तथा अन्य विरूपताओ की चिकित्सा की जाती है। हस्तसाधन का अर्थ है टूटे हुए या अपने स्थान से हटे हुए भागो को हाथो द्वारा हिला डुलाकर उनकी स्वाभाविक स्थिति मे ले आना। स्थिरीकरण का अर्थ है च्युत भागो को अपने स्थान पर लाकर अचल कर देना जिससे वे फिर हट न सके। पहले लकडी या खपची (स्प्लिट) या लोहे के ककाल तथा अन्य इसी प्रकार की वस्तुओ से स्थिरीकरण किया जाता था, किंतु अब प्लास्टर ऑव पेरिस का उपयोग किया जाता है, जो पानी मे सानकर छोप देने पर पत्थर के समान कडा हो जाता है। आवश्यक होने पर शस्त्रकर्म करके धातु की पट्टी और पेचो द्वारा या अस्थि की कील बनाकर टूटे अस्थिभागो को जोडा जाता है और तब अग पर प्लास्टर चढा दिया जाता है।

इसी प्रकार आवश्यकता होने पर सधियो, नाडियो तथा कडराओ को शस्त्रकर्म करके ठीक किया जाता है।

भौतिकी चिकित्सा (फिजियोथेरापी)—ऐसी चिकित्सा अस्थिचिकित्सा का विशेष महत्वपूर्ण अग है। शस्त्रकर्म तथा स्थिरीकरण के पश्चात् अग को उपयोगी बनाने के लिये यह अनिवार्य है। भौतिकी चिकित्सा के विशेष साधन ताप, उद्वर्तन (मालिश) और व्यायाम हैं।

जहाँ जैसा आवश्यक होता है वहाँ वैसे ही रूप मे इन साधनो का प्रयोग किया जाता है। शुष्क सेक, आर्द्र सेक या विद्युत्किरणो द्वारा सेक का प्रयोग हो सकता है। उद्वर्तन हाथो से या बिजली से किया जा सकता है। व्यायाम दो प्रकार के होते हैं—जिनको रोगी स्वय करता है वे सक्रिय होते हैं तथा जो दूसरे व्यक्ति द्वारा बलपूर्वक कराए जाते हैं वे निष्क्रिय कहलाते हैं। पहले प्रकार के व्यायाम उत्तम समझे जाते हैं। दूसरे प्रकार के व्यायामो के लिये एक शिक्षित व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो इस विद्या मे निपुण हो।

पुनःस्थापन—यह भी चिकित्सा का विशेष अग है। रोगी की विरूपता को यथासभव दूर करके उसको कोई ऐसा काम सिखा देना जिससे वह जीविकोपार्जन कर सके, इसका उद्देश्य है। टाइपिंग, चित्र बनाना, सीना, बुनना आदि ऐसे ही कर्म हैं। यह काम विशेष रूप से समाजसेवको का है, जिन्हे अस्थिचिकित्सा विभाग का एक अग समझा जा सकता है।

[म० कु० गो०]

अस्थिसंध्यार्ति (ऑस्टियो-आर्थ्राइटिस) नामक रोग मे दो प्रकार के परिवर्तन होते हैं (१) अस्थियो के कुछ भाग गल जाते है और (२) बहिस्थ भाग मे नई अस्थि बन जाती है। प्राय मध्यस्थ भाग गलता है। जानुसधि मे अर्धचद्र-उपास्थि के टूटे हुए भाग के रह जाने से ऐसा होता है। किंतु जहाँ किसी व्यक्ति मे अनेक वर्षो मे भी इस प्रकार के परिवर्तन नही होते, वहाँ दूसरे व्यक्ति मे थोडे ही समय मे ऐसे परिवर्तन दिखाई देने लगते है। अस्वाभाविक प्रकार से बहुत समय तक सधि के अवयवो पर भार पडना तथा कुछ रोगविषो की क्रिया या सधि अथवा उसके समीप के अस्थिभाग का कुसयोजित होना, पास की अस्थियो के रोग, स्नायुओ का ढीला पड जाना, सधि का अतिचलायमान हो जाना तथा इसी प्रकार के अन्य कारण, जिनसे चलने मे सधि के अतर्गत अस्थिभाग पर अनुचित दिशा मे भार पडता है, उपर्युक्त परिवर्तनो के कारण होते हैं। किंतु परिवर्तनो की ठीक ठीक उत्पत्तिविधि का अभी तक ज्ञान नही हो सका है।

[मु० स्व० व०]

अस्पताल या चिकित्सालय तथा औषधालय मानव सभ्यता के आदि-काल से ही बनते चले आए हैं। वेद और पुराणो के अनुसार स्वय भगवान् ने प्रथम चिकित्सक के रूप मे अवतार लिया था। ५,००० वर्ष या इससे भी प्राचीन इतिहास मे चिकित्सालयो के प्रमाण मिलते हैं, जिनमे चिकित्सक तथा शल्यकोविद (सर्जन) काम करते थे। ये चिकित्सक तथा सर्जन रोगियो को रोगमुक्त करने और उनके आर्तिनाशन तथा मानवता की

६४८ ई० पू० मे जीत असुरवनिपाल ने बावुलियो का भयानक सहार कर यह प्रदर्शित कर दिया कि उस दिशा में उसकी रुचि अन्य असुर राजाओ से भिन्न नही है। पर इसी बीच अन्य प्रातो ने भी विद्रोह किया, मिस्र, अरव और एलाम ने। असुरवनिपाल ने एलामियो को परास्त कर एलाम का राज्य ही मिटा दिया। उस प्राचीन राज्य के नष्ट हो जाने से फारस मे प्रतिष्ठित ईरानी आर्यो की शक्ति बढी और उनका राज्य वहाँ स्थापित हुआ जो कालातर में दाराओ का प्रसिद्ध साम्राज्य बना। उनके राजा कुरुप् प्रथम ने असूरी आधिपत्य स्वीकार कर एलाम पर अपना स्वत्व स्थापित किया। अत मे सघर्ष से टूटकर अरवो ने भी आत्मसमर्पण कर दिया। धीरे धीरे प्राय सभी विद्रोहियो ने लीदिया और उरार्तू तक अधिपति असुरवनिपाल की सत्ता स्वीकार कर ली और वह सम्राट् सुख और शातिपूर्वक ल० ६३३ ई० पू० के मरा।

उसके बाद की असूरिया की कहानी क्रमश छीजती शक्ति और वढती दरिद्रता की है। बावुल के शासक नवोपोलास्सर ने मीदी क्षयार्षा के साथ सघ बना असूरिया पर आक्रमण किया। ६१४ ई० पू० मे मीदियो ने प्राचीन राजधानी अस्शुर को नष्ट कर मिटा दिया और दो साल बाद निनेवे की भी वही गति हुई जब उसकी लपटो से भरे राजप्रासादो में असुरराज सिन-शार-इश्कुन जलकर भस्म हो गया। तब असुर-उवाल्लित द्वितीय राजा हुआ जिसने पश्चिमी मेसोपोतामिया मे हार्रान अपनी राजधानी स्थापित की, पर उसे भी ६०८ और ६०६ ई० पू० के बीच मीदी आर्यो ने नष्ट कर डाला। उधर मिस्री फराऊन ने फिलिस्तीन और सीरिया पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार असूरिया के प्रात तथा करद राज्य उससे स्वतत्र होते या शत्रुमित्रो के अधिकार मे चले गए और उस रक्तरजित क्रूर साम्राज्य का इतिहास से लोप हो गया।

असूरी सभ्यता—असूरिया प्राचीन सभ्यताओ का स्पार्ता था। उसकी समूची राजनीतिक व्यवस्था सैन्यसगठन पर आधारित थी। उसके सम्राटो की एकमात्र महत्वाकाक्षा विजेता होने की थी, इसी से उन्होने अपनी राजनीति को बल और सेना के पायो पर खडा किया। पठारो की असूरी जनता को उन्होने सैनिक दृष्टि से सगठित किया। पहली वार विशेप महत्व से घुडसवारो का उपयोग असुर राजाओ ने यत्रो के साथ अपने युद्धो मे किया, रथसेना कम से कम, अश्वसेना अधिक से अधिक। इसी से उनकी शत्रुता भी आपज्जनक थी, विरोध या विद्रोह करके उनके सामने जीवित रह जाना असभव था। उनकी सामरिक नृशसता इतनी कुख्यात हो गई थी कि उसने दूर दूर के साहित्यो पर अपनी स्मृतिछाप छोडी है। दूरस्थ भारतीय साहित्य मे भी उनके इस रक्तरजित इतिहास की स्मृति बनी है। सही, मूल रूप मे सस्कृत मे असव प्राण के अर्थ में प्राणवान असुर की व्युत्पत्ति होती है, परतु उनके पराक्रम से आरभ होकर जो उनके नाम की व्याख्या दैत्य (न सुरा इति असुरा) के अर्थ मे होने लगी वह उनकी प्रचड क्रूरता का ही परिणाम था। भारतीय युद्धपरपरा में 'धर्मविजयीनृप' वह था जो विजित पर केवल मानसिक आधिपत्य स्थापित करता था—कालिदास के रघुवश के चौथे सर्ग मे उसकी व्याख्या है, श्रिय जहार न तु मेदिनीम्—श्री वह विजित की हर लेता था पर सपत्ति, राज्य, सिंहासन लौटा देता था। उसके विपरीत 'असुरविजयीनृप' वह था जो असुरसम्राटो की भाँति विजित के राज्य को उखाड फेकता था (उत्खाय तरसा)। असुर-सम्राटो का विजित जनता को तलवार के घाट उतार देना, नगरो को जला डालना, प्रजा को एक प्रात से उखाडकर दूसरे प्रात मे बसा देना प्रकृत बात थी।

असुरो का सुमेरी-बावुलियो से पाए साहित्य के अतिरिक्त अपना निजी साहित्य न था। पर वे साहित्य को सीखकर उसकी रक्षा खूब करते थे। उन्होने बावुलियो से सुमेरियो की प्राचीन कीलनुमा लिपि सीखी और उसमे अपने हजारो व्यावसायिक और राजनीतिक अभिलेख तथा पत्र लिखे और प्राचीन साहित्य की प्रतिलिपियाँ प्रस्तुत की। असुरबनिपाल के निनेवे के सग्रहालय का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। असुरो का साहित्य चार प्रचार का है—१ व्यावसायिक अभिलेख और पत्र, २ प्राचीन ग्रथो की नकले, ३ राजाओ के सैनिक अभियानो और विजयो के विस्तृत वत्तात और ४ लिम्मू, राजकर्मचारियो द्वारा लिखे वार्षिक विवरण। इन्ही असुरसम्राटो की सरक्षा से गिल्गमेश आदि प्राचीन सुमेरी-बावुली वीरकाव्यो की रक्षा हो सकी है।

असुर सामी जाति के थे, परतु अनेक जातियो के सधिस्थल पर वसने के कारण उनमें समिश्रण भी प्रचुर मात्रा मे हुआ था। उनके अधिकतर देवता भी वावुलियो के देववर्ग से लिए हुए थे, अपना प्रधान और राष्ट्रीय देवता फिर भी उनका था, असुर, जिसे प्राचीन ईरानी आर्यों ने अहुरमज्द के रूप मे पूजा और ऋग्वैदिक आर्यो ने अपने वरुण, इद्र, अग्नि आदि देवताओ का शक्तिवाचक विशेषण वनाया। असुर ही जाति का नाम था, वही उनके प्रधान नगर और राजधानी का नाम था, उनके राजाओ का नामाश भी। उनके अन्य देवता अधिकतर वावुलियो से लिए हुए निम्नलिखित थे इया, वेल या बाल, नेस्रोख, नेबू, शमाश, सिन, नेर्गल, इश्तर।

परतु असुरो की एक प्रतिभा अनुपम थी, उनका कलाप्रेम। उनके राजप्रासाद प्राचीन जगत् में अप्रतिम थे। उनके सिंहो और साँडो की सर्वतोभद्रिका (चारो ओर से कोरी) मूर्तियाँ अचरज के अभिप्राय थी जो पहले दाराओ, पीछे अशोक के स्तभो के आदर्श बनी। पत्थर में उभारकर असुर कलावतो द्वारा लिखे चित्र आज भी कलापारखियो को विस्मय में डाल देते है। असुरवनिपाल के प्रासाद का बाणविद्ध सिंहनी का आखेट-चित्र सजीवता मे बेजोड है। असुर शिल्पियो की सुरुचि और कला का तव ऐसा साका चला कि दूर दूर के देशो मे उनकी माँग होने लगी और विदेशी साहित्यो और अनुश्रुतियो में उनका उल्लेख हुआ। भारतीय परपरा में भी मय-असुर के शिल्प का बारबार उल्लेख हुआ है। महाभारत के युधिष्ठिर के स्थल मे जल और जल में स्थल का आभास उत्पन्न करनेवाले राजप्रासाद के निर्माण का श्रेय भी उसी को दिया गया है। निनेवे, कला, अशुर आदि की खुदाइयो में जो कला सबधी अनत सामग्री मिली है उससे ससार के सग्रहालय भरे है। कुछ अजव नही जो असुरो की राजधानी कला से ही सस्कृत 'कला' शब्द की उत्पत्ति हुई हो। इस शब्द का सस्कृत मे प्रयोग बहुत प्राचीन नही है, पाचवी-छठी सदी ई० पू० से पहले तो कतई नही। वस्तुत पहली बार शिल्पार्थ में कला का उपयोग वात्स्यायन ने 'कामसूत्रो' मे तीसरी सदी ईसवी में किया है। किला शब्द की उत्पत्ति भी कला से ही हुई है, जो उस नगर के दुर्गनुमा परकोटो का परिचायक है।

मूर्तियो और उत्खचनो से प्रकट होता है कि असुर ऊँचे, प्राणवान् और शिराव्यजित शरीरवाले होते थे। वे सिर के बाल लवे और लवी दाढी रखते थे। तहमत और चोगा वे शरीर पर धारण करते थे। उनका फलित ज्योतिष मे अटल विश्वास था और उनके सम्राट् प्रत्येक सैनिक अभियान के पहले शकुन विचरवा लिया करते थे।

स० ग्र०—एच० आर० हाल दि एशेंट हिस्ट्री ऑव दि नियर ईस्ट, आर० डब्ल्यू रोजर्स ए हिस्ट्री ऑव बैविलोनिया ऐंड असीरिया, न्यूयार्क, १९१५, ए० टी० ओल्मस्टेड हिस्ट्री ऑव असीरिया, न्यूयार्क, १९२३, कैंब्रिज एशेंट हिस्ट्री, खड १ और २, केंब्रिज, १९२३-२४, एस० स्मिथ अर्ली हिस्ट्री ऑव असीरिया, लदन, १९२८, भ० श० उपाध्याय दि एशेंट वर्ल्ड, हैदराबाद, १९५४।
[भ० श० उ०]

असुर बिहार राज्य मे छोटा नागपुर क्षेत्र के निवासी कबीलो मे से एक का नाम। असुर इनमे सभवत सबसे अधिक पिछडे हुए है। यद्यपि इनके पडोसी अन्य कबीलो के प्रामाणिक और तात्विक क्षेत्र-अध्ययन उपलब्ध है, तथापि असुर कबीले का विस्तृत अध्ययन अब तक नही हुआ है। इस कमी का एक कारण असुरो के भौगोलिक विवरण की अनिश्चितता है। एल्विन के मत मे पश्चिम मे मध्यभारत के होशगाबाद और भडारा जिले से पूर्व मे बिहार के राँची और पलामू जिले तक छिटपुट पाए जानेवाले लोहा पिघलानेवाले सभी कबीलो को 'अगरिया' परिवार मे रखना उचित है। इस वर्गीकरण के अनुसार बिहार के असुर भी इसी श्रेणी के है। पर लोहा पिघलानेवाले सब कबीलो का ऐसा एकीकरण उन कबीलो की सास्कृतिक विषमताओ को दृष्टिगत करते हुए सही नही प्रतीत होता। छोटा नागपुर क्षेत्र मे, विशेष रूप से राँची और पलामू जिलो की क्रमश उत्तर-पश्चिमी और दक्षिण-पश्चिमी सीमा के पठारी प्रदेश में असुरो की सख्या सबसे अधिक है। कृष्ण वर्ण, मझोले कद, सीधे या घुँघराले बाल और चिपटी नाकवाले

उत्तम उपचार सारी सस्था की सफलता की कुजी है, इसीसे अस्पताल का नाम या वदनामी होती है। अस्पताल तथा आधुनिक चिकित्सापद्धति का विशेष महत्वशाली अग उपचारिकाएँ है। इस कारण उत्तम शिक्षित उपचारिकाओ को तैयार करने की आयोजना सरकार की ओर से की गई है।

अस्पताल का निर्माण—आधुनिक अस्पतालो का निर्माण इजीनियरिग की एक विशेष कला वन गई है। अस्पतालो के निर्माण के लिये राज्य के मेडिकल विभाग ने आदर्श मानचित्र (प्लान) वना दिए है, जिनमे अस्पताल की विशेष आवश्यकताओ और सुविधाओ का ध्यान रखा गया है। सव प्रकार के छोटे वडे अस्पतालो के लिये उपयुक्त नकशे तैयार कर दिए गए है जिनके अनुसार अपेक्षित विस्तार के अस्पताल वनाए जा सकते है।

अस्पताल बनाने के पूर्व यह भली भाँति समझ लेना उचित है कि अस्पताल खर्च करनेवाली सस्था है, धनोपार्जन करनेवाली नही। आधुनिक अस्पताल बनाने के लिये आरभ मे ही एक वडी धनराशि की आवश्यकता पडती है, उसे नियमित रूप से चलाने का खर्च उससे भी वडा प्रश्न है। विना इसका प्रवध किए अस्पताल बनाना भूल है। धन की कमी के कारण आगे चलकर वहुत कठिनाई होती है और अस्पताल का निम्नलिखित उद्देश्य पूरा नही हो सकता

नत्वह कामये राज्य न स्वर्ग नापुनर्भवम् ।
कामये दु खतप्तानाम् प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

हमारा देश अति विस्तृत तथा उसकी जनसख्या अत्यधिक है। उसी प्रकार यहाँ चिकित्सा सवधी प्रश्न भी उतने ही विस्तृत और जटिल है। फिर जनता की निर्धनता तथा शिक्षा की कमी इस प्रश्न को और भी जटिल कर देती है। इस कारण चिकित्साप्रवध की आवश्यकताओ के अध्ययन के लिये सरकार की ओर से कई वार कमेटियाँ नियुक्त की गई है। भोर कमेटी ने जो सिफारिशे की है उनके अनुसार प्रत्येक १० से २० सहस्र जनसख्या के लिये ७५ रोगियो को रखने योग्य एक ऐसा अस्पताल होना चाहिए जिसमे ६ डाक्टर और ६ उपचारिकाएँ तथा अन्य कर्मचारी नियुक्त हो। यह प्राथमिक अग कहलाएगा। ऐसे २० प्राथमिक अगो पर एक माध्यमिक अग भी आवश्यक है। यहाँ के अस्पताल मे १००० अतरग रोगियो को रखने का प्रवध हो। यहाँ प्रत्येक चिकित्साशाखा के विशेपज्ञ नियुक्त हो तथा परिचारिकाएँ और अन्य कर्मचारी भी हो। एक्स-रे, राजयक्ष्मा, सर्जरी, चिकित्सा, व्याधिकी, प्रसूति, अस्थिचिकित्सा आदि सव विभाग पृथक् पृथक् हो। माध्यमिक अग से परे और उससे वडा, केंद्रीय या जिले का विभाग या अग हो, जहाँ उन सव प्रकार की चिकित्साओ का प्रवध हो, जिनका प्रवध माध्यमिक अग के अस्पताल मे न हो। यही पर सवसे बड सचालक का भी स्थान हो।

इस आयोजन का समस्त अनुमित व्यय भारत सरकार की सपूर्ण आय से भी अधिक है। इस कारण यह योजना अभी तक कार्यान्वित नही हो सकी है।

विशिष्ट अस्पताल—आजकल जनसख्या और उसी के अनुसार रोगियो की सख्या मे वृद्धि होने से विशेप प्रकार के अस्पतालो का निर्माण आवश्यक हो गया है। प्रथम आवश्यकता छुतहे रोगो के पृथक् अस्पताल बनान की होती है, जहाँ केवल छुतहे रोगी रखे जाते है। इसी प्रकार राजयक्ष्मा के रोगियो के लिये पृथक् अस्पताल आवश्यक है। मानसिक रोग, अस्थिरोग, वालरोग, स्त्रीरोग, प्रसूतिगृह, विकलागता आदि के लिये वडे नगरो मे पृथक् अस्पताल आवश्यक है। छोटे नगरो मे एक ही अस्पताल मे कम से कम भिन्न भिन्न अपेक्षित विभाग बनाना आवश्यक है। इन अस्पतालो का निर्माण भी उनके आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न प्रकार से करना होता है और उसी प्रकार वहाँ के कर्मचारियो की नियुक्ति की जाती है। इन सव प्रकार के अस्पतालो के मानचित्र तथा वहाँ की समस्त आवश्यकताओ की सूची सरकार ने तैयार कर दी है, जिनके अनुसार सव प्रकार के अस्पताल वनाए जा सकते है।

विश्राम विभाग—वडे नगरो मे, जहाँ अस्पतालो की सदा कमी रहती है, उग्र अवस्था से मुक्त होने के पश्चात्, दुर्वल स्वास्थ्योन्मुख व्यक्तियो तथा अत्यधिक समयसाध्य चिकित्सावाले रोगियो के लिये पृथक् विभाग—रुग्णालय (इनफर्मरी)—वनाना आवश्यक है। इससे अस्पतालो की वहुत कुछ कठिनाई कम हो जाती है और उग्रावस्था के रोगियो को रखने के लिये स्थान सुगमता से मिल जाता है।

चिकित्सालय और समाजसेवक—आजकल समाजसेवा चिकित्सा का एक अग वन गई है और दिन दिन चिकित्सालय तथा चिकित्सा मे समाजसेवी का महत्व वढता जा रहा है। औपधोपचार के अतिरिक्त रोगी की मानसिक, कौटुविक तथा सामाजिक परिस्थितियो का अध्ययन करना और रोगी की तज्जन्य कठिनाइयो को दूर करना समाजसेवी का काम है। रोगी की रोगोत्पत्ति मे उसकी पारिवारिक तथा सामाजिक परिस्थितियाँ कहाँ तक कारण थी, उसकी रुग्णावस्था मे उसके कुटुंव को किन कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है तथा रोग से या अस्पताल से रोगी के मुक्त हो जाने के पश्चात् कौन सी कठिनाइयो का सामना उसको करना पडेगा, उनका रोगी पर क्या प्रभाव होगा आदि रोगी के सबध की ये सव बातें समाजसेवी के अध्ययन और उपचार के विषय है। यदि रोगमुक्त होने के पश्चात् वह व्यक्ति अर्थसकट के कारण कुटुवपालन मे असमर्थ रहा, तो वह पुन रोगग्रस्त हो सकता है। रोगकाल मे उसके कुटुव की आर्थिक समस्या कैसे हल हो, इसका प्रवध समाजसेवी का कर्तव्य है। इस प्रकार की प्रत्येक समस्या समाजसेवी को हल करनी पडती है। इससे समाजसेवी का चिकित्सा मे महत्व समझा जा सकता है। उग्र रोग की अवस्था मे उपचारक या उपचारिका की जितनी आवश्यकता है, रोगमुक्ति के पश्चात् उस व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा तथा जीवन को उपयोगी बनाने मे समाजसेवी की भी उतनी ही आवश्यकता है।

आयुर्वैज्ञानिक शिक्षासस्थाओ में अस्पताल—आयुर्वैज्ञानिक शिक्षासस्थाओ (मेडिकल कालजो) मे चिकित्सालयो का मुख्य प्रयोजन विद्यार्थियो की चिकित्सा सबधी शिक्षा तथा अन्वेपण है। इस कारण एसे चिकित्सालयो के निर्माण के सिद्धात कुछ भिन्न होते है। इनमे प्रत्येक विपय की शिक्षा के लिये भिन्न भिन्न विभाग होते है। इनमे विद्यार्थियो की सख्या के अनुसार रोगियो को रखने के लिये समुचित स्थान रखना पडता है, जिसमे आवश्यक शय्याएँ रखी जा सके। साथ ही शय्याओ के बीच इतना स्थान छोडना पडता है कि शिक्षक और उसके विद्यार्थी रोगी के पास खडे होकर उसकी परीक्षा कर सके तथा शिक्षक रोगी के लक्षणो का प्रदर्शन और विवेचन कर सके। इस कारण ऐसे अस्पतालो के लिये अधिक स्थान की आवश्यकता होती है। फिर, प्रत्येक विभाग को पूर्णतया आधुनिक यत्रो, उपकरणो आदि से सुसज्जित करना होता है। वे शिक्षा के लिये आवश्यक है। अतएव ऐसे चिकित्सालयो के निर्माण और सघटन मे साधारण अस्पतालो की अपेक्षा बहुत अधिक व्यय होता है। शिक्षको और कर्मचारियो की नियुक्ति भी केवल श्रेष्ठतम विद्वानो म से, जो अपन विषय के मान्य व्यक्ति हो, की जाती है। अतएव ऐसे चिकित्सालय चलाने का नित्यप्रति का व्यय अधिक होना स्वाभाविक है।

ऐसी सस्थाओ के निर्माण, सज्जा तथा कर्मचारियो का पूरा व्योरा इडियन मेडिकल काउसिल ने तैयार कर दिया है। यही काउसिल देश भर की शिक्षासस्थाओ का नियत्रण करती है। जो सस्था उसके द्वारा निर्धारित मापदड तक नही पहुँचती उसको काउसिल मान्यता प्रदान नही करती और वहाँ के विद्यार्थियो को उच्च परीक्षाओ मे वठने के अधिकार से वचित रहना पडता है। शिक्षा के स्तर को उच्चतम वनाने मे इस काउसिल ने स्तुत्य काम किया है।

ऐसे अस्पतालो मे विशेष प्रश्न पर्याप्त स्थान का होता है। कमरो का आकार और सख्या दोनो को ही अधिक रखना पडता है। फिर, प्रत्येक विभाग की आवश्यकता, विद्यार्थियो और शिक्षको की सख्या आदि का ध्यान रखकर चिकित्सालय की योजना तैयार करनी पडती है। [च० भा० सि०]

प्रमुख अस्पताल—भारत के प्रत्येक मुख्य नगर मे सरकार तथा दानी सज्जनो द्वारा स्थापित अनेक अस्पताल है। नीचे केवल कुछ प्रमुख तथा विशिष्ट रोगो से पीडितो के लिये अस्पतालो के नाम दिए जाते है —

अमृतसर (पू० पजाव) पजाव मेटल हास्पिटल (केवल मानसिक रोगो की चिकित्सा के लिये), पजाव डेटल हास्पिटल (केवल दतरोग का चिकित्सा स्थान)।

इदौर (मध्यप्रदेश) इन्फेक्शस डिजीजेज हास्पिटल (सक्रामक रोगो

असुरबनिपाल की विजयों का ताँता फिर नही टूटा। दक्षिणी ईरान में अवस्थित एलाम ने कभी वावुल पर आक्रमण किया था। असुरवनिपाल ने उसका वदला लिया और उसकी चोट से एलामी राजा की सेनाएँ शूपा की ओर भागी। असुरवनिपाल ने उनका पीछा किया। तूलिज़ के युद्ध में एलामी राजा ते-उम्मान को परास्त कर असुरवनिपाल ने एलाम का राज्य अपने विश्वासपात्र को दिया। यह घटना अभिलेख द्वारा अमर कर दी गई। पश्चात् असुरवनिपाल को भाई के षड्यत्र से वावुल, एलाम, फिलिस्तीन और फिनीकिया की समिलित सेनाओं का सामना करना पडा। उसने वडी योग्यता से एक एक प्रतिद्वदी का नाश किया और एलाम को इतिहास से मिटा दिया। फिर वह अरव, ईदोन और दमिश्क होता, राह में शत्रुओं को नष्ट करता, पत्नी के साथ निनेवे लौटा और ६३५ ई० पू० मे उसने वहाँ अपनी दिग्विजयों का उत्सव मनाया। ईश्तर के मदिर तक उसने जो अपना रथ हाँका उसे उसके वदी राजाओं ने खीचा। इस शक्ति की कशमकश के वीच मिस्र निश्चय स्वतत्र हो गया।

असुरवनिपाल का नाम उसकी विजयो से भी अधिक असूरी सस्कृति के साथ सलग्न है। वह ससार का पहला पुराविद् था, पहला सग्रहकर्ता। उसके शासनकाल में असुर लेखको ने सुमेर और वावुल से सीखी कीलनुमा लिखावट में हजारो ग्रथ ईंटो पर लिख डाले। अभी हाल खोद निकाले निनेवे के ग्रथागार में लाखो ईंटो पर लिखे हजारो ग्रथ असुरवनिपाल ने सग्रह किए थे जिनमें से अनेक आज यूरोप और अमेरिका के सग्रहालयो में सुरक्षित हैं। जलप्रलय के वृत्तात का सचालक, मानव जाति का पहला वीरकाव्य 'गिलगमेश' निनेवे में सग्रहीत असुरवनिपाल के इसी ग्रथागार की ईंटो पर खुदा मिला है। [भ० श० उ०]

असूरी भाषा

असूरी भाषा सामी परिवार की प्राचीन अक्कादी की, वावुली की ही भाँति, एक शाखा। अक्कादी का यह नाम उस अक्काद नगर से पडा जो ई० पू० २४वी सदी में प्रसिद्ध सम्राट् शर्रुकीन की राजधानी था। तभी अक्कादी को राजभाषा का पद मिला। कालातर में अक्कादी, प्रदेश और काल के अनुसार, असूरी और वावुली नामक जनवोलियो में विकसित होकर वँट गई। असूरी दजला नदी (इराक) की उपरली घाटी में और वावुली दजला-फरात के सागरवर्ती दोआव में वोली जाती थी। कालक्रम से अक्कादी के तीन युग माने जाते हैं—१ प्राचीन काल (ल० २००० ई० पू०—ल० १५०० ई० पू०), २ मध्यकाल (ल० १५०० ई० पू०—ल० १००० ई० पू०) और ३ उत्तरकाल (ल० १००० ई० पू०—ल० ५०० ई० पू०)। स्वाभाविक ही यही कालक्रम असूरी और वावुली जनवोलियो का भी अपनी विकासपरपरा में होगा। ई० पू० ५०० के वाद भी असूरी और वावुली वोली और लिखी जाती रही, पर साधारणत तव उन इराकी नदियो के काँठे में प्राय सर्वत्र आरामी का प्रचार हो गया था।

अक्कादी अथवा वावुली-असूरी भाषाओं की लिपि गैरसामी सुमेरी कीलाक्षरो से निकली है। दक्षिण मेसोपोतामिया में वसनेवाले इन सुमेरियो से तृतीय सहस्राव्दी ई० पू० में पहले वावुलियो ने उनकी लिपि सीखी, फिर प्राय हजार वर्ष वाद उत्तर के असूरियो अथवा असुरो ने। हजारो विचारसकेतो को ध्वनित करनेवाले ६०० (लिपि) चिह्न सुमेरी में थे। इन चिह्नो में से कुछ केवल शब्दमूलक, कुछ इनके साथ साथ पदाश-मूलक भी थे। वावुलियो ने आरभ में इस लिपि के केवल पदाश चिह्नो का उपयोग किया। वावुलियो और असुरो ने कालातर में, जव सुमेरी भाषा का प्रयोग मदिरो में वद हो गया, सुमेरी चिह्नो और शब्दो की वृहत् सूचियाँ वना ली। इनसे कई वोलियो को वडा वल मिला क्योकि सुमेरी शब्दो के उनके लिपिचिह्नो के साथ वावुली और असूरी में भी पर्याय प्रस्तुत हो गए। परिणाम यह हुआ कि असूरी मे, इसके सामी होने और सामी भाषाओं ने शब्दसमृद्ध होने के वावजूद, सुमेरी शब्दो की वहुतायत हो गई और सुमेरी लिपि में लिखी जाने के कारण इसका उच्चारण भी पुरानन और असाप्रतिक हो गया।

स० ग्र०—आई० जे० गेल्व ओल्ड अकेडियन राइटिंग ऐंड ग्रामर (शिकागो, १९५२), सेटन लायड फाउडेशस इन दि डस्ट (लदन, १९४७)। [भ० श० उ०]

असेंशन

असेंशन ९ मील लवा, तथा ६ मील चौडा एक छोटा द्वीप है जो दक्षिणी अध (अटलाटिक) महासागर में सेंट हेलेना द्वीप से उत्तर-पश्चिम दिशा में ७०० मील की दूरी पर स्थित है। द्वीप ज्वालामुखी के उद्गार से निकले हुए लावा से वना है। मध्य में शकु के समान उठा हुआ ग्रीन पर्वत है। समीपवर्ती पठारो की ऊँचाई १,२०० फुट से २,००० फुट तक है। ८° द० अक्षाश पर स्थित यह द्वीप दक्षिण-पूर्वी व्यापारिक हवाओं के मार्ग में पडता है। ढालो पर झाडियाँ तथा घास उगती है।

१५०१ ई० में जाओदो नोवा नामक पुर्तगाली ने इसका पता लगाया तथा १८१५ ई० में अग्रेजो ने सर्वप्रथम यहाँ अपना अधिकार जमाया। आज यह द्वीप अपनी स्वास्थ्यवर्धक जलवायु के कारण अग्रेजो का क्रीडा-केंद्र तथा जहाजो के ठहरने का स्थान है। १९२२ ई० से यह सेंट हेलेना का एक उपराज्य मान लिया गया है। यहाँ की जनसख्या १६६ है (१९४१)। [ह० ह० सिं०]

अस्तित्ववाद

अस्तित्ववाद (एक्जिस्टेंशियलिज्म) एक नवीन यूरोपीय दर्शन या विचारधारा का हिंदी पर्याय। वस्तुत यह एक सुसगत दर्शन न होकर कई विचारधाराओं का सामान्य नाम है, जो व्यक्ति के 'अस्तित्व' को प्रधानता देती हैं। उसके अनुसार काट के वाद सव आदर्शवादी और भौतिकवादी दार्शनिक सैद्धातिक रूप प्रमेयो की चर्चा करते रहे है, उनका विषय मनुष्य का 'सार' (मानवता) रहा है, परतु मानव का यथार्थ 'अस्तित्व' नही। 'एक्जिस्टेंस प्रिसीड्स एसेंस'—इस साररूप गुणसामान्य से पहले जन्म मृत्यु के दो छोरो से सीमित मनुष्य का अस्तित्व है। अत वुद्ध के दु ख-चरम-सत्य की भाँति अस्तित्ववाद मृत्यु को प्रधान मानकर, मनुष्य को अपने जीवन की दिशा का निदर्शन निर्णायक मानता है। व्यक्ति की यह चुनने की शक्ति, सार्थक क्षणो में से निर्णय करने की सकल्प विकल्प शक्ति ही मनुष्य की स्वतत्रता की शर्त है। अन्यथा मौत तो अत है ही। मनुष्य निरतर अत की ओर गिर रहा है, मनुष्य विवश, असमर्थ, असहाय और प्रवाहपतित की भाँति है। इस अवस्था का भान प्राचीन सतो ने भी वार वार कराया था। सत अगस्तिन, ड्यूस स्काटस्, पास्कल आदि सवने इसकी चर्चा की है। परतु अस्तित्ववाद निराशामय नियतिवाद नही है। वह 'मानवी अवस्थिति' की इस चुनौती को स्वीकार करके चलता है। डेन तत्वज्ञ सरेन कीर्केगार्द (१८१३-५५) ने अपने ग्रथ 'भीति की भावना', 'भय और कप' आदि में इसकी चर्चा की। २०वी शताव्दी के आरभ से अव तक यास्पर्स और हाइडेगर में, जर्मनी में, शेस्तोव और वेदो येव में, रूस में, उनाम्युनो में, स्पेन में, फ्रास में गाव्रियल मार्सेल, ज्या पोल सार्त्र, केमुग्र, व्यवोई, आद्रे, मालरो आदि में अस्तित्ववादी दर्शन के लक्षण दिखाई देते है, यद्यपि इनमे से कई लेखक अपने को अस्तित्ववादी नही मानते।

दस्ताएवस्की और फ्राज काफ्का के उपन्यासो में भी अस्तित्ववादी दर्शन के लक्षण मिलते हैं। अव अस्तित्ववादी दार्शनिको-लेखको में भी दो दल हो गए हैं एक ईश्वरवादी है और दूसरा अनीश्वरवादी। ईश्वरवादी या ईसाई अस्तित्ववादियो मे गैव्रिएल मार्सेल, कीर्कैगार्द, यास्पर्स, एलेन आदि हैं। निरीश्वरवादियो में सार्त्र, कैमुग्र आदि अन्य लेखक। यूरोप में अस्तित्ववाद का महत्व गत दो महायुद्धो की विभीषिका के वाद अधिक उभरकर सामने आया।

अस्तित्ववाद को मार्क्सवादियो और रोमन कैथोलिको दोनो से घोर विरोध मिला है। मानव जीवन की क्षुद्रता पर जोर देने के कारण मार्क्सवादी इसे जतुवादी और निराशावादी दर्शन कहते हैं। कैथोलिक तो इसे स्पष्टत अनुत्तरदायी दर्शन मानते हैं। अस्तित्ववाद का कुछ क्षीण प्रभाव आधुनिक भारतीय साहित्य पर भी परिलक्षित होने लगा है। विशुद्ध अस्तित्ववाद की परिणति निराशावाद और शून्यवाद में हो रही है। वह एक सँकरा व्यक्तिवादी दर्शन है, ऐसा उसपर आरोप है।

स० ग्र०—ई० मोनिएर इट्रोडक्शन आँव एक्जिस्टेंशियलिज्म (१९४७), एच ई० रीड एक्जिस्टेंशियलिज्म, मार्किसज्म ऐंड अना-

का गृहस्थाश्रम मे प्रवेश), देवलकवृत्ति, गोमासभक्षण, आदिम जातियो की सास्कृतिक हीनता, हिंसक एव अछूत व्यवसाय, कबीले से अलग हो जाना आदि अस्पृश्यता के कारण बतलाए गए है। किंतु इनमे से किसी को भी एकमेव कारण नही माना जा सकता। साधारणत ऐसा प्रतीत होता है कि सास्कृतिक हीनता, जातिगत विभिन्नता एव अछूत व्यवसाय के त्रिविध तत्वो ने इसमे विशेष योग दिया।

वैदिक काल मे अछूत प्रथा के अस्तित्व के प्रमाण नही मिलते। पौल्कस (वाजसनेयी, स० ३०, २१,), बीभत्स एव चाडाल और निषाद (वही, ३०, १७, मत्रायणी १६, ११) पुरुषमेध की बलि के योग्य समझे गए। छादोग्य मे शूकर तथा कुत्ते के समान ही चाडाल भी 'कपूय' माना गया। उपमन्यु के अनुसार निषाद पचमवर्ण था, किंतु 'विश्वजित्' का याजक निषादो के बीच मे तीन रोज तक निवास करता था (कौपीतिकी २५, १८)।

सूत्रकाल मे यह प्रथा स्थिर हो गई थी। चाडाल के स्पर्श एव सभाषण से क्रमश सचैल स्नान और आचमन करने पर शुद्धि होती थी। चाडाली-सगमन से ब्राह्मण चाडाल हो जाता था एव कठिन प्रायश्चित्त से शुद्ध होता था। वह 'अत' अर्थात् ग्राम के अत मे रहता था। अन्य अत्यजो की स्थिति अच्छी थी। क्रमश धार्मिक पवित्रता की भावना बढती गई और तदनुरूप ही अस्पृश्यता की प्रथा ने जोर पकडा। मनु० (१०।५०-५७) के अनुसार अछूतो को ग्रामनगरो के बाहर चैत्य वृक्षो के नीचे, श्मशान, पहाडो और जगलो मे रहना चाहिए। मृतको के वस्त्र, फूटे हुए भाड और लोहे के अलकार इनके उपयोज्य थे। प्राय यही स्थिति बाद की स्मृतियो मे है। लघुस्मृतियो के काल मे अत्यजो की सूची बन गई थी जिसमे ७ से लेकर १८ जातियाँ तक परिगणित की गई।

बौद्ध साहित्य में अस्पृश्यप्रथा—निम्नस्तरीय वर्ग के लिये 'हीन सिप्प' और 'हीन जाति' के उल्लेख मिलते है। 'हीन सिप्प' मे बँसोर, कुभकार, पेसकर (जुलाहा) चम्मकार (चमार), नहपित (नाई) तथा 'हीन जाति' मे चाडाल, पुक्कलस, रथकार, वेणुकार और निषाद हैं। द्वितीय वर्गवालो की स्थिति अच्छी नही थी। वे 'बहिनगर' अथवा 'चाडालग्रामक' (जातक, ४।३७६) मे निवास करते थे। चाडालो की तो अपनी अलग भाषा भी थी। चुल्लधम्मजातक के अनुसार वे पीत वस्त्र और रक्त माल तथा कधे पर कुल्हाडी और हाथ मे एक कटोरा रखते थे। चाडाल स्त्रियाँ जादू टोने मे बहुत दक्ष थी। बाँसुरी बजाना तथा शवदाह करना इनके प्रमुख कार्य थे। बौद्धपरपरा मे अस्पृश्यता अपेक्षाकृत कम थी। दिव्यावदान (पृ० ६५२) मे बहुश्रुत धर्मज्ञ विद्वान् पुष्करसारी की पुत्री का विवाह चाडालराज त्रिशकु के साथ वर्णित है। वज्रसूची (पृ० २) चाडाली से उत्पन्न विश्वामित्र और उर्वशी से जनित वसिष्ठ की ओर इगित कर अस्पृश्य प्रथा पर आघात करती है। महापरिनिब्बानसुत्त के अनुसार कम्मारपुत्त छुद का भोजन बुद्ध ने मृत्यु के पूर्व किया था। आनद ने चाडाल-कन्यका के हाथ का जलपान किया था (दिव्यावदान, पृ० ६११)। 'शार्दूलकर्णावदान' का चाडालराज त्रिशकु स्वय तो वेद और इतिहास मे पारगत था ही, उसने अपने पुत्र शार्दूलकर्ण को वेद, वेदाग, उपनिषत्, निघटु इत्यादि की शिक्षा दिलवाई थी। ब्राह्मण द्वारा प्रज्वलित श्रौताग्नि और चाडाल, व्याध आदि के द्वारा उत्पन्न साधारण अग्नि मे कोई अतर नही माना गया (अस्सलायनसुत्त, मज्झिमनिकाय)। बुद्ध का सदेश था—निर्वाण की प्राप्ति चाडाल, पुक्कस को भी हो सकती है—खत्तिया ब्राह्मण वेस्सा सुद्दा चडाल पुक्कसा सब्बे सोरता दाता सब्बे वा परिनिब्बुता (जातक ४, पृ० ३०३)।

जैन वाङ्मय में अस्पृश्यप्रथा—आदिपुराण के अनुसार कारु (शिल्प) द्विविध है—स्पृश्य और अस्पृश्य। स्पृश्य कारु शालिक (जुलाहा), मालिक (माली), कुभकार, तिलतुद (तेली) और नापित है। अस्पृश्य शिल्प रजक, बढई, अयस्कार और लौहकार है। डोब, चाडाल और किणिक इनसे भी नीचे थे। व्यवहार-सूत्र-भाष्य (,६४) मे डोब का कार्य गाना, सूप आदि बनाना बतलाया गया है।

तत्र और अस्पृश्य—साधारणत शाक्त तत्रो मे जात पाँत और छूत छात के बधन शिथिल थे। कुलार्णतत्र (८,९६) के अनुसार 'प्राप्ते तु भैरवे चक्रे सर्वे वर्णा द्विजातय'। स्मार्त शैव और स्मार्त वैष्णव स्पृश्या-स्पृश्य का विचार रखते थे।

मध्यकालीन वैष्णव सतो ने जातिप्रथा और अस्पृश्यप्रथा का तिरस्कार किया। कबीर पथ मे अनेक शूद्र और कुछ अछूत वर्ग के सत थे। अन्य सतो मे रविदास, नदनर और चोखमेल उल्लेख्य है।

भारत के बाहर अस्पृश्यप्रथा—स्पर्श से होनेवाला अशौच विभिन्न स्तर का होता है। कभी कभी अशौच मे केवल शारीरिक अशुचि की भावना रहती है और कभी उसके साथ ही साथ धार्मिक पवित्रता मे क्षति और अभाव की धारणा। प्रस्तुत प्रसग मे अशौच से तात्पर्य अशुचि (अपवित्रता) और धार्मिक पवित्रता मे क्षति पॉल्यूशन युगपत् दोनो अर्थो से है। इस प्रकार के स्पर्शाशौच की प्रथा मिस्र, फारस, बर्मा, जापान इत्यादि देशो मे भी थी। प्राचीन मिस्र मे सुअर पालनेवाले अशुद्ध समझे जाते थे और उनका स्पर्श निषिद्ध था। वे मदिरो मे प्रविष्ट भी नही हो सकते थे। प्राचीन फारस का मज्द धर्म का पुजारी अन्य धर्मवालो के सपर्क से अशुद्ध हो जाता था और शुचिता प्राप्त करने के लिये उसे स्नान करना आवश्यक था। बर्मा मे सात प्रकार के निम्नवर्गीय थे जिनमे 'सदल' (स० चाडाल ?) अछूत माने जाते थे। जापान के 'एत' और 'हिन्न' वर्गीय व्यक्तियो का स्पर्श वर्जित था।

१९वी शताब्दी ईसवी मे राजा राममोहन राय और स्वामी दयानद ने अछूतप्रथा के निवारण का प्रयत्न किया। भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने १९१७ मे अछूतप्रथा की समाप्ति का प्रस्ताव पास किया। महात्मा गाधी ने काग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम मे अछूतोद्धार को समिलित कर इस कुत्सित प्रथा की ओर व्यक्तियो का ध्यान विशेष रूप से खीचा। हरिजनो के द्वारा जनपथ का व्यवहार और मदिरप्रवेश का आदोलन प्रारभ हुआ। सन् १९३२ मे महात्मा गाधी ने "कम्यूनल अवार्ड" मे अछूतो को सवर्ण हिंदुओ से अलग करने के प्रयत्न के विरुद्ध अनशन किया जो 'पूना पैक्ट' होने पर टूटा। इस अनशन ने हरिजनो की स्थिति के सबध मे देशव्यापी लहर फैला दी। इसी समय 'हरिजन-सेवक-सघ' की स्थापना हुई। भारतीय सविधान के अनुसार करीब ४२९ वर्ग अछूत माने गए है। भगी, चमार, बसोर, और माँग प्राय सारे देश मे अस्पृश्य माने जाते है। विभिन्न प्रदेशो मे विभिन्न वर्ग और व्यवसाय अनेक नामो से अछूतो मे परिगणित होते हैं। इन अछूतो मे उच्चावच स्तर का तारतम्य है और भोजन तथा विवाह के सबध मे वे एक दूसरे से अलग रहते है। इनके देवालय सवर्ण हिंदुओ के मदिरो से अलग होते थे और ग्राम्य देवता तथा दुर्गाशक्ति के रूप ही प्राय विविध स्वरूपो मे पूज्य थे। किंतु अब इनमे सस्कृतीकरण—उच्च माने जानेवाले वर्गो की सस्कृति के अनुकरण—की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है।

भारतीय सविधान ने अछूतप्रथा समाप्त कर दी है और किसी भी रूप मे उसका पालन या आचरण निषिद्ध घोषित कर दिया है (धारा १७)। सार्वजनिक स्थानो—कुएँ, जलाशय, होटल, सामाजिक मनोरजन के स्थानो—मे उनका प्रवेश विहित माना गया (धारा १५) है। उनके व्यावसायिक और औद्योगिक स्वातत्र्य की सुरक्षा की गई (धारा २९) है। इनके अतिरिक्त प्राय सभी प्रदेशो ने अस्पृश्यतानिवारक कानून बना लिए है। इस प्रकार विधान ने अछूतो की सामाजिक, व्यावसायिक एव औद्योगिक परपरानुगत अयोग्यताओ को दूर कर दिया है। साथ ही साथ, लोकसभा और प्रादेशिक विधानसभाओ मे जनसख्या के अनुसार कुछ वर्षो तक विशेष प्रतिनिधि के निर्वाचन का अधिकार सुरक्षित रखा गया है (३३०, ३३२, ३३४ धाराएँ)। हरिजन सेवक सघ, भारतीय डिप्रेस्ड क्लासेज लीग, हरिजन आश्रम (प्रयाग) कुछ प्रमुख सस्थाएँ है जो हरिजनोद्धार मे दत्तचित्त है।

[वि० श० पा०]

अस्वान नगर मिस्र के अस्वान प्रात की राजधानी है। नील नदी पर व ने हुए अस्वान बाँध से ३½ मील दक्षिण, काहिरा (कायरो) से ५५२ मील की दूरी पर स्थित यह नगर यूरोपवासियो का शीतकालीन क्रीडाकेंद्र है। रेलवे स्टेशन के दक्षिण-पूर्व मे स्थित २४६ ई० पू० के बन हुए मदिर का भग्नावशेष, एलिफैंटाइन टापू का प्राचीन मदिर तथा मिस्र की छठी राजसत्ता के बनवाए हुए चट्टानी मकबरे नगर की

इसी प्रकार स्विट्ज़रलैंड का हैलबर्ड कुल्हाडा था। इसका दस्ता ८ फुट का था और कुल्हाडे के साथ साथ इसमें बरछी और सवार को खीचकर गिराने के काम का एक टेढा काँटा भी होता था (चित्र ४ मे १)। दक्ष लडाका इसकी चोट से अच्छे कवच को भी काट सकता था।

बारूद के आविष्कार ने (१२९४ ई० मे) मनुष्य के हाथ मे एक ऐसी शक्ति दे दी जिसने युद्ध की रूपरेखा ही बदल दी। यह निश्चित है कि १४वी शताब्दी के आरभ मे आग्नेयास्त्र बन चुके थे। प्रथम आग्नेयास्त्र तोप थी। यह मुख्यत दो प्रकार की बनाई गई—एक छोटी नालवाली (मॉरटर) और दूसरी लबी नालीवाली (बबार्ड) (चित्र ५ और ६)।

ये तोपे पहले ताँबे और काँसे की बनी और फिर लोहे की बनने लगी। १५वी शताब्दी मे तोपें ३० इच परिधि की होती थी और १,२०० से १,५०० पाउड भार के पत्थर के गोले चलाती थी। आधुनिक हाविट्जर और भारी फील्डगन मॉरटर और बबार्ड के ही विकसित रूप हैं। इसी शताब्दी के अत तक छोटी हाथ की तोपे बनी (चित्र ८)। इनका स्थान १५वी शताब्दी के आरभ मे हाथ की बदूक ने लिया।
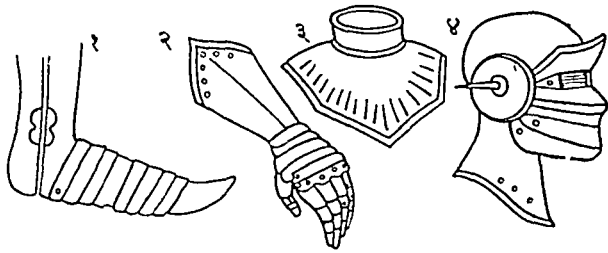
चित्र ३. अगो के कवच

१ पादत्राण, २ हस्तत्राण, ३ वक्षत्राण, ४ शिरस्त्राण।

इसी का विकास धीरे धीरे मस्केट, मैचलॉक, फ्लिटलॉक और आधुनिक राइफल मे हुआ। तीव्र गति से लगातार गोली चलानेवाली बदूक बनाने की चेष्टा और इस सबध के प्रयोग १६वी शताब्दी से होने लगे थे और इसी के फलस्वरूप १८८४ में प्रथम सफल मशीनगन बनी। आज की मशीनगन एक मिनट में ३०० गोली तक चला सकती है। अन्य महत्वपूर्ण शस्त्रो का भी आविष्कार १४वी से १६वी शताब्दी मे हुआ, जैसे हाथ का बम (१३८२ ई०), काँसे के विस्फोटक गोले, पिस्तौल (१४८३ ई०), दाहक गोले (१४८७ ई०), इत्यादि। शस्त्रो का अधिक विकास आधुनिक काल मे हुआ। १६वी शताब्दी तक आग्नेयास्त्र इतने प्रभावशाली तथा शक्तिशाली बन चुके थे कि मनुष्य के स्वरक्षात्मक कवच व्यर्थ थे। सन् १९१५ का मनुष्य आग्नेयास्त्र के सामने असहाय रहा, परतु इसी वर्ष प्रथम कवचयान (टैंक) का निर्माण हुआ। मनुष्य अब इस्पात की मोटी मोटी चादरो से बनी इस गाडी मे बठकर हल्के आग्नेयास्त्र के प्रहार से बच सकता था।
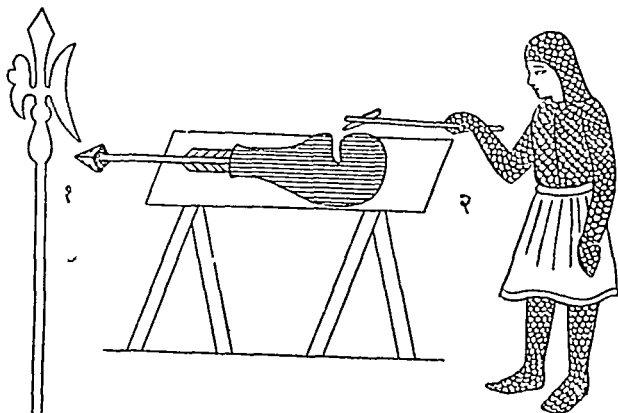
चित्र ४ १४वी शताब्दी के दो शस्त्र

१ स्विस सैनिको का बर्छा, २ तीर छोडनेवाली तोप।
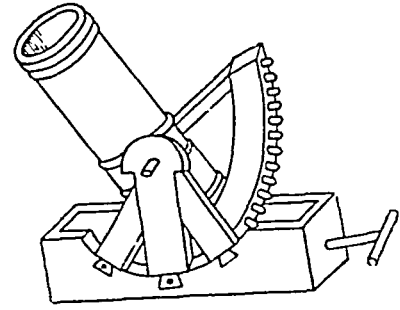
चित्र ५ शतघ्निका (मॉरटर)

ऊँचा गोला फेंकनेवाली छोटी नली की तोप (१४वी शताब्दी)।

२०वी शताब्दी के मध्य में मनुष्य ने अणुशक्ति को खोज निकाला। इस महान् शक्ति ने एक बार फिर युद्ध की रूपरेखा बदल दी। अणु की ध्वसक शक्ति बारूद की शक्ति से सहस्रो गुना अधिक है और इसमें महान् गतिदायक शक्ति भी है। सन् १९४५ में प्रथम अणुबम ने हिरोशिमा शहर के लगभग ४ वर्ग मील को पूर्णतया नष्ट कर दिया था और १,६०,००० व्यक्तियो को प्राय समाप्त कर दिया था। यह प्रथम अणुबम था और पूर्ण रूप से विकसित नही था। वैज्ञानिको का मत है कि ऐसा बम एक सहस्रगुना अधिक शक्तिशाली बनाया जा सकता है। अणु अस्त्रो की इस भीषण शक्ति के समुख मनुष्य एक बार फिर निरुपाय और निस्सहाय है।

[आ० सिं० स०]
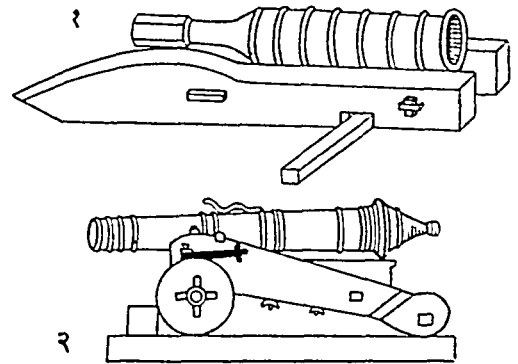
चित्र ६-७ प्राचीन तोप

ऊपर, १४वी शताब्दी का बबार्ड (एक प्रकार की भारी तोप जो पत्थर या अन्य अस्त्र प्रक्षिप्त करती थी)। नीचे, साधारण तोप।

चित्र ८ घुडसवार की तोप

सर सैयद ने उर्दू भाषा की बडी सेवा की। वह सीधी सादी मगर अत्यत जोरदार भाषा लिखते थे। उर्दू साहित्यिक निबधलेखन की कला सर सैयद की बहुत बडी देन है। उर्दू गद्य में नए विचार और उनके लिये नित्य नए शब्द सर सैयद ने अत्यत खूबी से गढे, चुने और समिलित किए। [र०स०ज०]

अहमदनगर बबई राज्य का एक जिला तथा नगर है (१९°५' उत्तरी अक्षाश, ७४° ५५' पूर्वी देशातर), जो सीना नदी के बाएँ तट पर स्थित है। १४९७ मे यह अहमद निजाम शाह द्वारा स्थापित किया गया। १६३६ मे शाहजहाँ ने इसपर विजय प्राप्त की। १७९७ मे मुख्य मराठा दौलतराव सिंधिया का इसपर अधिकार हो गया तथा १८१७ में पूना की सधि द्वारा यह अग्रेजो के शासन मे आ गया। यहाँ पर सूती तथा रेशमी वस्त्रो का बहुत बडा व्यापार होता है। प्रमुख उद्योग हाथ से कपडा बुनना, दरी बनाना तथा ताँबे और पीतल के बर्तन तैयार करना है। यहाँ कपडे के कई कारखाने हैं। शिक्षा सस्थाओ मे कला तथा विज्ञान के कालेज और आयुर्वेदिक महाविद्यालय मुख्य है। क्षेत्रफल २ वर्ग मील है, जनसख्या १,०५,२७५ (१९५१)।

अहमदनगर जिले मे (१८° २०' उ० अ० से २०° ०' उ० अ० और ७३°४३' पू० दे० से ७४° ५१' पूर्व दे०) कई नदियाँ बहती है, जैसे गोदावरी तथा उसकी सहायक पारवारा और मूला, डोर, सेफानी भीमा तथा उसकी सहायक गोर। साल में वर्षा २०-२२ इच होती है। मुख्य फसले कपास, पटुआ, गन्ना, ज्वार, दाल तथा गेहूँ हैं। यहाँ पर चीनी के सात तथा चमडा बनाने के दो बडे कारखाने हैं। मुख्य आयात टीन की चादरे, धातु, नमक और रेशम हैं तथा निर्यात चीनी, चमडा, अनाज और हाथ के बुने कपडे हैं। जिले का क्षेत्रफल ६,४८२ वर्ग मील है और जनसख्या १,४१०,८७३ है (१९५१)। [न० ला०]

अहमद बिन हंबल अब्दुल्लाह अहमदुश्शआनी

अहमद बिन हबल का जन्म, पालन तथा अध्ययन बगदाद मे हुआ और यही इनकी मृत्यु हुई। यह इस्लामी विद्वानो के चार प्राचीन विचारो की ज्ञान-शालाओ में से एक के सस्थापक हैं। इसी प्रकार की एक अन्य शाला के सस्थापक इमाम शोफई के शिष्य थे। हदीस की आत्मा के साथ उसके शब्दो की पैरवी पर भी बल देते थे। यह मुअतजल (अलग हुए) फिर्के की स्वच्छद विचारधारा के विरुद्ध दृढ चट्टान माने जाते थे। खलीफा मामूँ ने, जो स्वय मुअतजली थे, इन्हे बहुत प्रकार के कष्ट दिए और उनके बाद खलीफा अलमुअतासिम ने भी इन्हे कारागार मे डाला, पर यह अपने मार्ग से तनिक भी नहीं हटे। सन् ८५५ ई० मे इनकी मृत्यु पर लाखो स्त्री पुरुष इनके जनाजे के साथ गए, जिससे ज्ञात होता है कि यह कितने जनप्रिय थे। इस्लामी विद्वन्मडलियो के अन्य सस्थापको की तरह इन्हे भी आज तक इमाम की समानित पदवी से स्मरण किया जाता है। यह प्राचीन ज्ञान के अतिरिक्त हदीस के भी विद्वान् तथा प्रचारक थे। इन्होने हदीस का सग्रह भी प्रस्तुत किया था जिसका नाम 'मुसनद' है और जिसमें लगभग चालीस सहस्र हदीसे सगृहीत हैं। धार्मिक बातो मे कठोर होने के कारण अब इनके अनुयायियो की सख्या बहुत कम रह गई है और वह भी केवल इराक तथा शाम तक ही सीमित हैं। [आर० आर० श०]

अहमदशाह दुर्रानी अब्दाली फिरके के एक अफगान वश का सस्थापक। १७२२ ई० मे जन्म। पिता मुहम्मद जमाँ खाँ हेरात के निकट का एक सामान्य सरदार था। जब नादिरशाह ने हेरात पर आक्रमण (१७३१) किया तो अब्दालियो की शक्ति नष्ट हो गई और अन्य बहुत से अब्दालियो के साथ अहमद खाँ भी आक्राता के हाथो पकडा गया। परतु १७३७ ई० मे वह स्वतत्र हो गया और माजदारान का शासक नियुक्त हुआ। समयातर में वह नादिरशाह की सेना मे एक ऊँचे पद पर नियुक्त हुआ। नादिरशाह की मृत्यु के उपरात अहमद खाँ ने उसकी सेना का दमन करके अपनी सत्ता स्थापित कर ली। इस अवसर पर मुख्य अब्दाली मालिको ने एक दरवेश के आदेशानुसार एकमत से उसको अपना बादशाह चुना। तब अहमद खाँ ने 'शाह' की पदवी ग्रहण की और अपना उपनाम, दुर्रे दुर्रानी (सर्वोत्तम मोती) रखा। तभी से अब्दाली फिरके का नाम भी दुर्रानी पड गया।

कधार को केंद्र बनाकर अहमदशाह ने काबुल पर अधिकार किया। फिर पजाब की अराजकता और मुगल सम्राट् की निर्बलता का लाभ उठाकर वह भारत पर हमला करने लगा। १७५५ मे उसने दिल्ली का बडी निर्दयता से ४० दिन तक विध्वस किया और मथुरा को खूब लूटा। लाहौर के मुसलमान सूबेदार ने अहमदशाह से अपनी रक्षा के लिये सिक्खो तथा मराठो से मित्रता कर ली। इसपर दुर्रानी एक बार फिर भारत पर चढ आया और अत में १७६१ ई० में पानीपत के प्राचीन युद्धक्षेत्र मे मराठो से उसका भारी युद्ध हुआ जिसमे मराठो की शक्ति सर्वथा नष्ट हो गई। अहमदशाह को पूरी सफलता प्राप्त हुई। किंतु उसके वापस लौटते ही सिक्खो ने विरोध खड़ा कर दिया। अहमदशाह ने उनको भी पूर्णतया परास्त किया और सर्राहद तथा पजाब में लूट मार करता हुआ वापस लौटा। १७६७ मे उसने अतिम बार भारत की यात्रा की और सिक्खो से मैत्री करने का प्रयत्न किया, किंतु उसकी बहुत सी सेना उससे विमुख होकर उसे छोड गई। ऐसी परिस्थिति मे सिक्खो ने उसका पीछा करके उसे बहुत परेशान किया। इस प्रकार यह योद्धा अपने अतिम दिनो मे कृश तथा हताश होकर १७७३ ई० मे परलोक सिधारा। उसके बाद साम्राज्य का अधिकारी उसका बेटा तीमूर हुआ।

स०ग्र०—सुल्तान मुहम्मद खाँ, इब्न मूसा खाँ, दुर्रानी तारीखे सुल्तानी (फारसी), मुहम्मदी कारखाना, बबई (१२९८ हि०, १८८० ई०), गडासिंह अहमदशाह दुर्रानी (लखनऊ)। सियरुल मुताख्खि-रीन (फारसी), सैय्यद गुलाम हुसेन तबातबाई, कलकत्ता (१८८२) [प० श०]

अहमदाबाद अहमदाबाद नगर (२३°१' उ० अ०, ७२°३७' पूर्व दे०) गुजरात राज्य मे खभात की खाडी से ५० मील तथा बबई से ३०९ मील उत्तर साबरमती नदी के बाएँ तट पर स्थित राज्य का प्रथम तथा भारत का छठा बृहत्तम नगर और प्रमुख औद्योगिक, व्यापारिक तथा वितरणकेंद्र है।

साबरमतीतट पर एक भील सरदार के नाम पर असावल नामक रम्य स्थान था जो सामरिक दृष्टि से अत्यत महत्वपूर्ण था। १४११ ई० में गुजरात के सुलतान अहमद प्रथम ने इसे अपनी राजधानी बना लिया और अहमदाबाद नामकरण किया। अहमदाबाद का इतिहास पाँच युगो से गुजरा है। १४११-१५११ ई० के बीच की शताब्दी मे गुजरात के शक्तिशाली शासको के अधीन नगर की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। १५१२-७२ का द्वितीय साठवर्षीय काल अवनति का था, क्योकि बहादुरशाह ने चपानेर को अपनी राजधानी बना लिया था, पर इसके पश्चात् चार बडे मुगल शासको—अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरगजेब—का राजत्व काल (१५७३–१७०७) सर्वाधिक समुन्नतिशील था। धन-धान्य, विभिन्न उद्योगो—सोना, चाँदी, ताँबा, सूती रेशमी कपडो, जरी एव दरेस (एक प्रकार का फूलदार महीन कपडा) के काम, व्यापार, शिल्प-चित्र-स्थापत्य आदि विभिन्न कलाकौशलो एव सौंदर्य मे हिंदुस्तान का शिरोमणि तथा तत्कालीन लदन के तुल्य और वेनिस से बढकर था। शक्तिहीन मुगलो के चतुर्थ युग (१७०७–१८१७) मे मराठो की लूटपाट, मनमाना कर वसूली एव असुरक्षा आदि से अराजकता फल गई थी और व्यापार उद्योग चौपट हो गया। अधिकाश निवासी नगर छोडकर भाग गए। १८१७ ई० के बाद अँगरेजी शासन मे पुनर्विकास प्रारभ हुआ और तब से आज तक नगर निरतर समुन्नतिशील है।

अहमदाबाद का आधुनिक औद्योगिक युग १८६१ ई० से प्रारंभ होता है, जब वहाँ प्रथम कपडे की मिल खुली। आतरिक स्थिति होने के कारण बबई की अपेक्षा इसे सस्ता श्रम, सस्ती भूमि एव सुविधापूर्ण बाजार प्राप्त हुआ, अत आज वहाँ बबई की अपेक्षा अधिक कपडे के कारखाने है (७४ ८४)। यहाँ रेशमी कपडे के भी कारखाने हैं। यह क्षेत्रीय रेलो एव राजमार्गो का केंद्र होने तथा उपजाऊ क्षेत्र मे स्थित होने के कारण प्रमुख व्यापारिक नगर हो गया है। काँडला बदरगाह के विकास से इसकी स्थिति सुदृढतर हो गई है।

अहमदाबाद की उद्योगप्रधान आधुनिक वेशभूषा मे मध्यकालीन गौरव एव ऐश्वर्य के निदर्शनरूप मे विभिन्न स्थापत्यशैलियो मे निर्मित

ज्ञानवृद्धि के भावो से प्रेरित होकर स्वयसेवक की भाँति अपने कर्म में प्रवृत्त रहते थे। ज्यो ज्यो सभ्यता तथा जनसख्या बढती गई त्यो त्यो सुसज्जित चिकित्सालयो तथा सुसगठित चिकित्सा विभाग की आवश्यकता भी प्रतीत होने लगी। अतएव ऐसे चिकित्सालय सरकार तथा सेवाभाव से प्रेरित जनसमुदाय की ओर से खोले जाने का प्रमाण इतिहास मे मिलता है। हमारे देश में दूर दूर के गाँवो मे भी कोई न कोई ऐसा व्यक्ति होता था, चाहे वह अशिक्षित ही हो, जो रोगियो को दवा देता और उनकी चिकित्सा करता था। इसके पश्चात् आधुनिक समय मे तहसील तथा जिलो के अस्पताल, बने जहाँ अतरग (इडोर) और बहिरग (आउटडोर) विभागो का प्रबध किया गया। आजकल बडे बडे नगरो मे बडे बडे अस्पताल बनाए गए है, जिनमे भिन्न भिन्न चिकित्सा विभागो के लिये विशेषज्ञ नियुक्त किए गए है। प्रत्येक आयुर्विज्ञान (मेडिकल) शिक्षण सस्था के साथ बडे बडे अस्पताल सबद्ध है और प्रत्येक विभाग एक विशेषज्ञ के अधीन है, जो कालेज मे उस विषय का शिक्षक भी होता है। आजकल यह प्रयत्न किया जा रहा है कि गाँवो मे भी प्रत्येक पाँच मील के क्षेत्र मे चिकित्सा का एक केंद्र अवश्य हो।

आधुनिक अस्पताल की आवश्यकताएँ अत्यत विशिष्ट हो गई है और उनकी योजना बनाना भी एक विशिष्ट कौशल या विद्या है। प्रत्येक अस्पताल का एक बहिरग विभाग और एक अतरग विभाग होता है, जिनका निर्माण वहाँ की जनता की आवश्यकताओ के अनुसार किया जाता है।

बहिरग विभाग—बहिरग विभाग में केवल बाहर के रोगियो की चिकित्सा की जाती है। वे ओषधि लेकर या मरहम पट्टी करवाकर अपने घर चले जाते है। इस विभाग मे रोगी के रहने का प्रबध नही होता। यह विभाग नगर के बीच मे होना चाहिए जहाँ जनता का पहुँचना सुगम हो। इसके साथ ही एक आपात (इमरजेसी) विभाग भी होना चाहिए जहाँ आपद्ग्रस्त रोगियो का, कम से कम, प्रथमोपचार तुरत किया जा सके। आधुनिक अस्पतालो में इस विभाग के बीच में एक बडा कमरा, जिसमें रोगी प्रतीक्षा कर सके, बनाया जाता है। उसमे एक ओर 'पूछताछ' का स्थान रहता है और दूसरी ओर अभ्यर्थक (रिसेप्शनिस्ट) का कार्यालय, जहाँ रोगी का नाम, पता आदि लिखा जाता है और जहाँ से रोगी को उपयुक्त विभाग मे भेजा जाता है। अभ्यर्थक का विभाग उत्तम प्रकार से, सब सुविधाओ से युक्त, बनाया जाय तथा उसमे कर्मचारियो की पर्याप्त सख्या हो, जो रोगी को उपयुक्त विभाग मे पहुँचाएँ तथा उसकी अन्य सब प्रकार की सहायता करे। बहिरग विभाग मे निम्नलिखित अनुविभाग होने चाहिए १ चिकित्सा, २ शल्य, ३ व्याधिकी (पैथॉलोजी), ४ स्त्रीरोग, ५ विकलाग (ऑर्थोपीडिक), ६ शालाक्य (इयर-नोज-थ्रोट), ७ नेत्र, ८ दत, ९ क्षयरोग, १० चर्म और रतिजरोग, ११ बाल रोग (पीडियेट्रिक्स) और १२ आपत्ति अनुविभाग। प्रत्येक अनुविभाग में एक विशेषज्ञ, उसका हाउस-सर्जन, एक क्लार्क, एक प्रविधिज्ञ (टेकनीशियन), एक कक्ष-बाल-सेवक (वार्ड-बॉय) और एक अर्दली होना चाहिए। प्रत्येक अनुविभाग निदानविशेष तथा चिकित्साविशेष के आवश्यक यत्रो और उपकरणो से सुसज्जित होना चाहिए। व्याधिकी विभाग की प्रयोगशाला मे नित्यप्रति की परीक्षाओ के सब उपकरण होने चाहिए, जिससे साधारण आवश्यक परीक्षाएँ करके निदान मे सहायता की जा सके। विशेष परीक्षाओ तथा विशेषज्ञो द्वारा परीक्षा किए जाने के पश्चात् ही रोग का निदान हो सकता है और रोग निश्चित हो जाने के पश्चात् ही चिकित्सा प्रारभ होती है। अतएव रोगी को अधिक समय तक प्रतीक्षा करनी पडती है। फलत उसके बैठने तथा उसकी अन्य सुविधाओ का उचित प्रबध होना चाहिए।

चिकित्सा—चिकित्सा सबधी कार्य दो भागो में विभक्त किए जा सकते है (१) नुसखा के अनुसार ओषधि देकर रोगी को विदा करना, और (२) साधारण शस्त्रकर्म, उद्वर्तन, तापचिकित्सा आदि का आयोजन करना। इस कारण प्रत्येक बहिरग विभाग मे उत्तम, सुसज्जित, कुशल सहायको तथा नर्सो से युक्त एक आपरेशन थिएटर होना चाहिए। उद्वर्तन, अन्य भौतिकी-चिकित्सा-प्रक्रियाओ तथा प्रकाश-चिकित्साओ के लिये उनके उपयुक्त विभागो का उचित प्रबध होना चाहिए। इससे अतरग विभाग से रोगी को शीघ्र नीरोग करके मुक्त किया जा सकेगा और वहाँ विषम रोगियो की चिकित्सा के लिये अधिक स्थान और समय उपलब्ध होगा।

आपद्-अनुविभाग—बहिरग विभाग का एक आवश्यक अग आपद-अनुविभाग है। इसमे अहर्निश २४ घटे काम करने के लिये कर्मचारियो की नियुक्ति होनी चाहिए। निवासी-सर्जन (रेजिडेट-सर्जन), नर्स, अर्दली, बालसेवक, मेहतर आदि इतनी सख्या मे नियुक्त किए जायँ कि चौबीसो घटे रोगी को उनकी सेवा उपलब्ध हो सके। इस विभाग मे सक्षोभ (शॉक) की चिकित्सा विशेष रूप से करनी होगी। इस कारण इस चिकित्सा के लिये सब प्रकार के आवश्यक उपकरणो तथा ओषधियो से यह विभाग सुसज्जित होना चाहिए। इसकी तत्परता तथा दक्षता पर ही रोगी का जीवन निर्भर रहता है। अतएव यहाँ के कर्मचारी अपने कार्य मे निपुण हो, तथा सभी प्रकार की व्यवस्था यहाँ अति उत्तम होनी चाहिए। ग्लूकोज, प्लाज्मा, रक्त, तापचिकित्सा के यत्र, उत्तेजक ओषधियाँ, इजेक्शन आदि पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध होने चाहिए। यहाँ एक्स-रे का एक चलयन्त्र (मोबाइल प्लाट) भी होना चाहिए, जिससे अस्थिभग, अस्थि और सधि सबधी विकृतियाँ, फुफ्फुस के रोग या हृदय की दशा देखकर रोग का निश्चय किया जा सके। यत्रो तथा वस्त्रो आदि के विसक्रमण के लिये भी पूर्ण प्रबध होना आवश्यक है। यदि यह विभाग किसी शिक्षासस्था के अधीन हो तो वहाँ एक व्याख्यान या प्रदर्शन का कमरा होना आवश्यक है, जो इतना बडा हो कि समस्त विद्यार्थी वहाँ एक साथ बैठ सके। शिक्षको के विश्राम के निमित्त तथा शिक्षासामग्री रखने और रात्रि मे काम करनेवाले कर्मचारियो के लिये भी अलग कमरे हो। सारे विभाग मे उद्धावन-पद्धति द्वारा शोधित होनेवाला शौचस्थान होने चाहिए। ऐसे शौचस्थानो का कर्मचारियो तथा रोगियो के लिये पृथक् पृथक् होना आवश्यक है।

इस विभाग का सगठन करते समय वहाँ होनेवाले कार्य, कार्यकर्ताओ की सख्या, प्रत्येक अनुविभाग मे चिकित्सार्थी रोगियो की सख्या, उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ तथा भविष्य मे होनेवाले अनुमित विस्तार, इन सब बातो का पूर्ण ध्यान रखना आवश्यक है। प्रतिदिन का अनुभव है कि जिस भवन का आज निर्माण किया जाता है वह थोडे ही समय मे कार्याधिक्य के कारण अपर्याप्त हो जाता है। पहले से ही इसका विचार कर लेना उचित है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि बहिरग विभाग में बहुत अधिक व्यय करना पडता है। आधुनिक समय में चिकित्सा का सिद्धात ही यह है कि कोई चाहे कितना ही निर्धन क्यो न हो, उसे उत्तम से उत्तम चिकित्सा के आयोजनो तथा ओषधियो से अपनी निर्धनता के कारण वचित न होना पडे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये कितने धन की आवश्यकता है इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। सरकार, देशप्रेमी और श्रीसपन्न व्यक्तियो की सहायता से इस उद्देश्य की पूर्ति असभव न होनी चाहिए।

अतरग विभाग—अतरग विभाग में विषम रोगो तथा रोगी की अवस्था को देखकर चिकित्सा करने का प्रबध होता है। प्रात, नगर या क्षेत्र की आवश्यकताओ और वहाँ उपलब्ध आर्थिक सहायता के अनुसार ही छोटे या बडे विभाग बनाए जाते है। थोडे (दस या बारह) रोगियो से लेकर सहस्र रोगियो को रखने तक के अतरग विभाग बनाए जाते है। यह सब पर्याप्त धनराशि और कर्मचारियो की उपलब्धि पर निर्भर है। बहुत बार धन उपलब्ध होने पर भी उपयुक्त कर्मचारी नही मिलते। हमारे देश और उत्तरप्रदेश मे उपचारिकाओ (नर्सो) की इतनी कमी है कि कितने ही अस्पताल खाली पडे है। इसका कारण है मध्यम श्रेणी के परिवारो की उपचार व्यवस्था मे अरुचि। कुछ सामाजिक कारणो से उपचारिकाओ को बहुत अच्छी दृष्टि से नही देखा जाता, यह नितात भ्रममूलक है। जनता की ऐसी धारणाओ मे तनिक भी औचित्य नही है।

अतरग विभाग मे भर्ती किए जाने के पश्चात् रोगी की व्यथाओ का पूर्ण अन्वेषण विशेषज्ञ अपने सहायको तथा व्याधिकी प्रयोगशाला, एक्स-रे विभाग आदि के सहयोग से करता है। इस कारण इन विभागो को नवीनतम उपकरणो से सुसज्जित रखना आवश्यक है। शल्य विभाग के लिये इसका महत्व विशेष रूप से अधिक है जहाँ कर्मचारियो का दक्ष होना और उनमे पारस्परिक सहयोग सफलता के लिये अनिवार्य है। कक्ष-बाल-सेवक से लेकर विशेषज्ञ सर्जन तक सबके सहयोग की आवश्यकता है। केवल एक नर्स की असावधानी से सारा शस्त्रकर्म असफल हो सकता है।

एक्स-रे तथा उत्तम आपरेशन थिएटर इस विभाग के अत्यत आवश्यक अग है।

अहिंसा की भूमिकाएँ हिंसा मात्र से पाप कर्म का बंधन होता है। इस दृष्टि से हिंसा का कोई प्रकार नहीं होता। किंतु हिंसा के कारण अनेक होते हैं, इसलिये कारण की दृष्टि से उसके प्रकार भी अनेक हो जाते हैं। कोई जान बूझकर हिंसा करता है, तो कोई अनजान में भी हिंसा कर डालता है। कोई प्रयोजनवश करता है, तो कोई बिना प्रयोजन भी।

सूत्रकृतांग में हिंसा के पाँच समाधान बतलाए गए हैं (१) अर्थदंड, (२) अनर्थदंड, (३) हिंसादंड, (४) अकस्मात् दंड, (५) दृष्टि-विपर्यासदंड। अहिंसा आत्मा की पूर्ण विशुद्ध दशा है। वह एक और अखंड है, किंतु मोह के द्वारा वह ढकी रहती है। मोह का जितना ही नाश होता है उतना ही उसका विकास। इस मोहविलय के तारतम्य पर उसके दो रूप निश्चित किए गए हैं (१) अहिंसा महाव्रत, (२) अहिंसा अणुव्रत। इनमें स्वरूपभेद नहीं, मात्रा (परिमाण) का भेद है।

मुनि की अहिंसा पूर्ण है, इस दशा में श्रावक की अहिंसा अपूर्ण। मुनि की तरह श्रावक सब प्रकार की हिंसा से मुक्त नहीं रह सकता। मुनि की अपेक्षा श्रावक की अहिंसा का परिमाण बहुत कम है। उदाहरणत मुनि की अहिंसा बीस विस्वा है तो श्रावक की अहिंसा सवा विस्वा है। (पूर्ण अहिंसा के अंग बीस हैं, उनमें से श्रावक की अहिंसा का सवा अंग है।) इसका कारण यह है कि श्रावक त्रस जीवों की हिंसा को छोड सकता है, बादर स्थावर जीवों की हिंसा को नहीं। इससे उसकी अहिंसा का परिमाण आधा रह जाता है—दस विस्वा रह जाता है। इसमें भी श्रावक त्रस जीवों की हिंसा का संकल्पपूर्वक त्याग करता है, आरंभजा हिंसा का नहीं। अत उसका परिमाण उसमें भी आधा अर्थात् पाँच विस्वा रह जाता है। संकल्पपूर्वक हिंसा भी उन्हीं त्रस जीवों की त्यागी जाती है जो निरपराध हैं। सापराध त्रस जीवों की हिंसा से श्रावक मुक्त नहीं हो सकता। इससे वह अहिंसा ढाई विस्वा रह जाती है। निरपराध त्रस जीवों की भी निरपेक्ष हिंसा को श्रावक त्यागता है। सापेक्ष हिंसा तो उससे हो जाती है। इस प्रकार श्रावक (धर्मोपासक या व्रती गृहस्थ) की अहिंसा का परिमाण सवा विस्वा रह जाता है। इस प्राचीन गाथा में इसे संक्षेप में इस प्रकार कहा है

"जीवा सुहुमाथूला, संकप्पा, आरम्भाभवे दुविहा।
सावराह निरवराहा, सविक्खा चैव निरविक्खा॥"

(१) सूक्ष्म जीवहिंसा, (२) स्थूल जीवहिंसा, (३) संकल्प हिंसा, (४) आरंभ हिंसा, (५) सापराध हिंसा, (६) निरपराध हिंसा, (७) सापेक्ष हिंसा, (८) निरपेक्ष हिंसा। हिंसा के ये आठ प्रकार हैं। श्रावक इनमें से चार प्रकार की (२, ३, ६, ८) हिंसा का त्याग करता है। अत श्रावक की अहिंसा अपूर्ण है। [मु० न०]

इसी प्रकार बौद्ध और ईसाई धर्मों में भी अहिंसा की बडी महिमा है। वैदिक हिंसात्मक यज्ञों का उपनिषत्कालीन मनीषियों ने विरोध कर जिस परंपरा का आरंभ किया था उसी परंपरा की पराकाष्ठा जैन और बौद्ध धर्मों ने की। जैन अहिंसा सैद्धांतिक दृष्टि से सारे धर्मों की अपेक्षा असाधारण थी। बौद्ध अहिंसा निःसंदेह आस्था में जैन धर्म के समान महत्व की न थी, पर उसका प्रभाव भी संसार पर प्रभूत पडा। उसी का यह परिणाम था कि रक्त और लूट के नाम पर दौड पडनेवाली मध्य एशिया की विकराल जातियाँ प्रेम और दया की मूर्ति बन गईं। बौद्ध धर्म के प्रभाव से ही ईसाई भी अहिंसा के प्रति विशेष आकृष्ट हुए, ईसा ने जो आत्मोत्सर्ग किया वह प्रेम और अहिंसा का ही उदाहरण था। उन्होंने अपने हत्यारों तक की सद्गति के लिये भगवान् से प्रार्थना की और अपने अनुयायियों से स्पष्ट कहा कि यदि कोई एक गाल पर प्रहार करे तो दूसरे को भी प्रहार स्वीकार करने के लिये आगे कर दो। यह हिंसा या प्रतिशोध की भावना नष्ट करने के लिये ही था। तोल्स्तोइ (टॉल्स्टॉय) और गांधी ईसा के इस अहिंसात्मक आचरण से बहुत प्रभावित हुए। गांधी ने तो जिस अहिंसा का प्रचार किया वह अत्यंत महत्वपूर्ण थी। उन्होंने कहा कि उनका विरोध असत् से है, बुराई से नहीं। उनसे आवृत व्यक्ति सदा प्रेम का अधिकारी है, हिंसा का कभी नहीं। अपने आंदोलन के प्राय चोटी पर होते भी चौराचौरी के हत्याकांड से विरक्त होकर उन्होंने आंदोलन बंद कर दिया था। [भ०श० उ०]

अहिच्छत्र

अहिच्छत्र (सबसे प्राचीन लेख में अधिच्छत्र), 'सर्पों का छत्र', महाभारत के अनुसार उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र को कुरुओं ने वहाँ के राजा से छीनकर द्रोण को दे दिया था। कहा जाता है कि द्रोण ने द्रुपद को अपने शिष्यों की सहायता से हराकर प्रतिशोध लिया था और उसका आधा राज्य बाँट लिया था। अहिच्छत्र के पांचाल जनपद का इतिहास ई० पू० छठी शताब्दी से मिलता है। तब यह १६ जनपदों में से एक था। मुद्राओं और लेखों से ज्ञात होता है कि ई० पू० पहली शताब्दी में मित्रवंश के राजाओं ने अहिच्छत्र में राज किया। कुछ विद्वानों ने इस वंश को शुंग राजाओं का वंश सिद्ध करने का प्रयास किया है, पर वास्तव में ये प्रांतीय शासक थे, जैसा इस वंश की लंबी मुद्रांकित नामों के आधार पर बनी तालिका से प्रतीत होता है। इसके बाद का इतिहास नहीं मिलता। गुप्तसाम्राज्य में निःसंदेह यह एक भुक्ति था। चीनी यात्री युवान च्वांग ने यहाँ पर १० बौद्ध विहार और ९ मंदिर देखे थे। ११वीं शताब्दी में इसका राजनीतिक महत्व जाता रहा।

बरेली जिले के आँवला स्टेशन से कोई सात मील उत्तर प्राचीन अहिच्छत्र के अवशेष आज भी वर्तमान हैं। इनमें कोई तीन मील के त्रिकोणाकार घेरे में ईंटों की किलेबंदी के भीतर बहुत से ऊँचे ऊँचे टीले हैं। सबसे ऊँचा टीला ७५ फुट का है। कनिंघम ने सबसे पहले वहाँ कुछ खुदाई कराई और बाद में फ्यूरर ने उसका अनुसरण किया। १९४०-४४ में यहाँ चुने हुए स्थानों की खुदाई हुई जिसमें भूरी मिट्टी के ठीकरे मिले। महाभारतकाल का तो कोई प्रमाण यहाँ नहीं मिला, पर शुंग, कुषाण और गुप्तकाल की अनेक मुद्राएँ, पत्थर और मिट्टी की मूर्तियाँ मिलीं। बाद के काल के रहने के स्थान, सडकें और मंदिरों के अवशेष भी मिले हैं।

सं०ग्रं०—कनिंघम आर्कियोलाजिकल सर्वे ऑव इंडिया, भाग १, बी० सी० लाहा पांचाल और उनकी राजधानी अहिच्छत्र (अंग्रेजी में), ए० घोष अहिच्छत्र के ठीकरे (अंग्रेजी में), के० सी० पाणिग्राही ऐंशिएंट इंडिया, भाग १। [बु० पु०]

अहिल्याबाई होल्कर

अहिल्याबाई होल्कर (१७२५–९५), इंदौर के शासक मल्हरराव होल्कर के पुत्र खंडेराव की पत्नी। उसने राजनीतिज्ञता, शासकीय दक्षता तथा धर्मपरायणता का यथेष्ट परिचय दिया, यद्यपि स्वयं वह धर्मपरायणता को ही अपना मुख्य कर्तव्य तथा प्रेरक शक्ति मानती रही। तत्सामयिक स्वार्थ, अनाचार, पारस्परिक विग्रहों और युद्धों के विषाक्त वातावरण में उसका प्रत्येक जाग्रत क्षण राजकीय समस्याओं के समाधान या धर्मकार्य में ही व्यतीत होता था।

आरंभ से ही मल्हरराव ने अपनी पुत्रवधू को शासकीय उत्तरदायित्व से अवगत कराना शुरू कर दिया था। युद्धक्षेत्र में खंडेराव की मृत्यु होने पर वृद्ध, शिथिलकाय मल्हरराव ने राज्यभार बहुत कुछ उसके कंधों पर छोड दिया था। मल्हरराव की मृत्यु के उपरांत अहिल्याबाई का क्रूरप्रकृति पुत्र मालीराव केवल नौ मास ही शासन कर सका। तब से राज्यसंचालन का संपूर्ण उत्तरदायित्व अहिल्याबाई ने ही सँभाला। थोडे ही समय में उसने राज्य में शांति और व्यवस्था स्थापित कर दी। पडोसी राज्यों से मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित किए। युद्धक्षेत्र में भी उसने तुकोजी के नायकत्व में मंदसौर में राजपूतों के विरुद्ध सफलता प्राप्त की। शासनप्रबंध से उसने विशेष यश अर्जित किया। बडे राज्य की रानी न होकर भी जितनी स्नेहसिक्त कीर्ति उसे प्राप्त हुई, उतनी ब्रिटिश भारत के इतिहास में किसी राजवंश के राजनीतिज्ञ को न मिली। यह कीर्ति उसके राजनीतिक कार्यों पर नहीं, वरन् उसकी चारित्रिक धवलता तथा दानशीलता पर आधारित थी। उसकी दानशीलता उसके राज्य की परिधि तक ही सीमित न थी, बल्कि समस्त देश के सुदूर तीर्थस्थानों—गंगोत्री से विंध्याचल सरीखे दुरूह स्थानों तक—व्याप्त थी। यह दानशीलता केवल धार्मिक भावनाओं से प्रेरित न होकर, निर्धनों, असहायों तथा थके माँदे पथिकों को सहायता देने की आंतरिक मानवीय भावनाओं से संचारित थी। यही कारण है कि उसे अपनी जनता से तो आत्मज का सा स्नेह मिला ही, पडोसी राज्यों ने भी उसके प्रति सम्मान और आदर प्रदर्शित किया और भविष्य में भारतीय जनस्मृति में आदर्श नारी के रूप में उसकी गुणगाथा गाई गई। व्यक्तिगत रूप से उसके जीवन की सबसे प्रशंसनीय बात यह थी कि दारुण कौटुंबिक दुःख सहते हुए भी (उसने अपने पति, पुत्र, जामात और नाती की मृत्यु अपने सामने देखी तथा अपनी पुत्री मुक्तिबाई को सती होते देखा) उसने अपना मानसिक संतुलन विकृत न होने दिया और न राजनीतिक संकट ही उसे कभी विचलित कर सके। [रा० ना०]

की चिकित्सा के लिये), कल्याणमल नर्सिंग होम (रोगियो की देखभाल और उपचार के लिये विशिष्ट संस्था), लेपर असाइलम (कुष्ठरोगियो के लिये), मेंटल हास्पिटल (मानसिक रोगों का चिकित्सालय), टी० बी० क्लिनिक (क्षयरोग की चिकित्सा के लिये), टी० बी० सैनाटोरियम (क्षयरोग के रोगियो की देखभाल तथा चिकित्सा की संस्था)।

इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश) कमला नेहरू हास्पिटल (मातृत्व सबधी अस्पताल)।

उज्जैन (मध्यप्रदेश) लेपर असाइलम (कुष्ठरोग से पीडितो के लिये), टी० बी० क्लिनिक (क्षयरोग की चिकित्सा का अस्पताल)।

कटक (उडीसा) ए० सी० बी० मेडिकल कालेज हास्पिटल (कठिन रोगो की परीक्षा तथा चिकित्सा सस्थान)।

कलकत्ता (पश्चिमी बगाल) अल्बर्ट विक्टर लेपर हास्पिटल, १८, गोबरा रोड, एताली (कुष्ठरोग का विशिष्ट चिकित्सालय), आर० जी० कार मेडिकल कालेज हास्पिटल, १, बेलगछिया रोड (कठिन रोगो के अध्ययन और चिकित्सा के लिये), कलकत्ता मेडिकल स्कूल और हास्पिटल, ३०१-३, अपर सरकुलर रोड (कठिन रोगो की परीक्षा और चिकित्सा की सस्था), कारमाइकेल हास्पिटल फॉर ट्रापिकल डिज़ीजेज, सेट्रल एवेन्यू, (उष्णप्रधान देशो के विशेष रोगविषयक अनुसधान तथा चिकित्सासस्थान), नीलरतन सरकार मेडिकल कालेज ऐंड हास्पिटल, सियालदह (रोगपरीक्षा तथा चिकित्सा का उत्तम प्रबध), मेडिकल कालेज हास्पिटल, ८८, कालेज स्ट्रीट (यहाँ सब रोगो के साथ साथ दतरोगो के अध्ययन तथा चिकित्सा का विशेष प्रबध है), सेट कैथरीन्स हास्पिटल, ६८, डाएमड हारबर रोड, खिदिरपुर (यहाँ असाध्य रोगो से पीडितो के लिये निवास तथा चिकित्सा का प्रबध है)।

कालिकट (मद्रास) गवर्नमेंट विमेन ऐंड चिल्ड्रेंस हास्पिटल (स्त्रियो और बालको की चिकित्सा के लिये)।

त्रिचूर (केरल) एडवर्ड मेमोरियल मैटर्निटी हास्पिटल (मातृत्व सबधी विशेष अस्पताल)।

त्रिवेंद्रम् (केरल) विमेन ऐंड चिल्ड्रेस हास्पिटल (स्त्रियो और बालको के रोगों के लिये)।

दिल्ली इन्फेक्शस् डिजीजेज हास्पिटल (सक्रामक रोगो का अस्पताल), इरविन हास्पिटल, दिल्ली गेट (सब रोगो के लिये प्रमुख अस्पताल), लेडी हार्डिज मेडिकल कालेज ऐंड हास्पिटल, लेडी हार्डिज रोड (रोगो के अध्ययन तथा चिकित्सा का प्रमुख अस्पताल), विलिंगडन हास्पिटल, इर्विन रोड (रोगियो के रहने के लिये विशेष अच्छा प्रबध है), मिसेज जी० एल० मैटर्निटी हास्पिटल (मातृत्व सबधी विशिष्ट अस्पताल)।

नूरनद (केरल) लेप्रसी सैनाटोरियम (कुष्ठरोग का विशिष्ट अस्पताल)।

पटना (बिहार) पटना मेडिकल कालेज हास्पिटल, बाँकीपुर (कर्कटरोग की विशिष्ट चिकित्सा यहाँ उपलब्ध है)।

बगलोर (मैसूर) मेंटल अस्पताल (मानसिक रोगो का चिकित्सालय), मिंटो ऑफ्थैल्मिक हास्पिटल (चक्षुरोगो का विशिष्ट अस्पताल), लेपर असाइलम (कुष्ठरोग की चिकित्सासस्था), एपिडेमिक डिज़ीजेज हास्पिटल (महामारीवाले रोगों की चिकित्सा का अस्पताल), गवर्नमेंट टी० बी० सैनाटोरियम (क्षयरोग चिकित्सालय), आइसोलेशन हास्पिटल (सक्रामक रोगो का चिकित्सासस्थान), मैटर्निटी हास्पिटल (मातृत्व सबधी कष्टो के निवारणार्थ)।

बबई इन्फेक्शस डिज़ीज़ेज हास्पिटल, आर्थर रोड, जेकब सरकिल (सक्रामक रोगो की विशिष्ट चिकित्सा), एकवर्थ लेपर होम, माटुगा (कुष्ठरोग चिकित्सालय), जमशेदजी जीजीभाई हास्पिटल, बाबुला टैंक रोड, बाइकला (इस अस्पताल में ४७८ रोगियो के निवास का प्रबध है। जननेंद्रिय सबधी रोगों का विभाग दिन और रात खुला रहता है), ताता मेमोरियल हास्पिटल, परेल (कर्कटरोग की चिकित्सा के लिये भारत का प्रमुख अस्पताल), बाई मोतीबाई ऐंड सर डी० एम० पेटिट हास्पिटल, मझगाँव रोड, बाइकला (स्त्रियो के रोगो के लिये), बैरामजी जीजीभाई हास्पिटल फॉर चिल्ड्रेन, मजगाँव रोड, बाइकला (१२ वर्ष से कम आयु वाले बच्चे सब प्रकार के रोगो की चिकित्सा के लिये भरती किए जाते हैं), म्युनिसिपल ग्रुप ऑव टी० बी० हास्पिटल्स, जेरबाई वाडिया रोड, सिवडी (क्षयरोगियो की विशिष्ट चिकित्सा के लिये, इस अस्पताल में ३०० रोगियो के निवास का प्रबध है, यह सब प्रकार के आधुनिक यत्रों से सुसज्जित है)।

मटनचेरी (केरल) विमेन ऐंड चिल्ड्रेस हास्पिटल (स्त्रियो और बालको के रोगो का अस्पताल)।

मद्रास गवर्नमेंट ऑफ्थैल्मिक हास्पिटल, २० मारशैल रोड, एग्मोर (चक्षुरोगो की विशेष चिकित्सा के लिये), गवर्नमेंट जेनरल हास्पिटल (सब प्रकार के रोगो का प्रमुख चिकित्सालय), गवर्नमेंट मेटल हास्पिटल, लोकाक गार्डेन, किलयाक (मानसिक रोगो का चिकित्सालय), गवर्नमेंट स्टैनली हास्पिटल, ओल्ड जेल स्ट्रीट (मेडिकल कालेज से सबधित, सबरोग चिकित्सा का प्रमुख सस्थान), गवर्नमेंट हास्पिटल फॉर विमेन ऐंड चिल्ड्रेन, एग्मोर (स्त्रियो और बालको के लिये विशेष चिकित्सालय), गवर्नमेंट टुबरकुलोसिस हास्पिटल, रोयापेट तथा गवर्नमेंट टुबरकुलोसिस इस्टिट्यूट, स्पर टैंक रोड, एग्मोर (क्षयरोग चिकित्सा के विशिष्ट अस्पताल), कस्तूरबा गाधी हास्पिटल फॉर विमेन ऐंड चिल्ड्रेन, ट्रिप्लिकेन (स्त्रियो और बालका के लिये विशिष्ट चिकित्सालय)।

राँची (बिहार) इडियन मेटल हास्पिटल (मानसिक रोगो का प्रसिद्ध अस्पताल)।

लखनऊ (उत्तर प्रदेश) गाधी मेमोरियल हास्पिटल (सब कठिन रोगो की परीक्षा तथा चिकित्सा के लिय मेडिकल कालज से सबद्ध प्रमुख अस्पताल)।

वेलोर (उत्तरी आर्काडु, मद्रास) क्रिश्चियन मेडिकल कालेज ऐंड हास्पिटल, वेलोर (शल्यचिकित्सा का प्रमुख अस्पताल)।

शिलाग (आसाम) रीड प्राविशियल चेस्ट हास्पिटल (वक्ष सबधी रोगो का विशेष अस्पताल)।

सतारा (दक्षिण) मिशन हास्पिटल, मीरज (क्षयरोगो की विशिष्ट चिकित्सा), लेप्रसी सैनटोरियम, मीरज (कुष्ठरोग का प्रमुख चिकित्सालय)।

हैदराबाद (आध्र) ओस्मानिया जेनरल हास्पिटल (सब रोगो की विशिष्ट चिकित्सा के लिये), लिंगमपल्लि आइसोलेशन हास्पिटल (सक्रामक रोगो से पीडितो के लिये)। [भ० दा० व०]

अस्पृश्य

अस्पृश्य भारत का एक अछूत मानव परिवार, जिनके सस्पर्श से अशौच होता हे, अस्पश्य कहलाते है। कुछ व्यक्तियो का स्पर्श कुछ सीमित काल के लिये ही निषिद्ध है, यथा, मृत्यु एव जन्म के अवसर पर सपिड और समानोदको का अथवा रजस्वला स्त्रियो का। किंतु कुछ जातियाँ सर्वदा ही साधारणत स्पर्श के द्वारा अशौच का कारण है और इन्हे ही अछूत अथवा अस्पृश्य (विष्णु-धर्मसूत्र, ५, १०४) कहा जाता है। (मनु० ४, ६१, वेदव्यास १, ११-१२) अत्य (वसिष्ठ धर्मसूत्र १६। ३०) बाह्य (आपस्तब १, २, ३९, १४) भी इनके अभिधान थे। अत्यावसायी (गौतम २०। १, मनु० ४। ७९) इस कोटि मे निम्नतम थे। मिताक्षरा (याज्ञ० ३। २८५) अत्यजो का दो विभाग करती है—प्रथम उच्च अत्यज और द्वितीय निम्न सात अत्यावसायी जातियाँ—चाडाल, श्वपच, क्षत्ता, सूत, वैदेहिक, मागध और आयोगव। अत्यज की सूचियाँ स्मृतियो में भिन्न भिन्न उपलब्ध होती है। किंतु चमार, धोबी, कैवर्त, मेद, भिल्ल, नट, कोलिक प्राय सभी मे पाए जाते है। इस सूची का समर्थन अलबेरूनी (सचाउ का भाषातर १, पृ० १०१) भी करता है। उसके अनुसार अछूत की दो श्रेणियाँ थी पहली में केवल आठ जातियाँ—धोबी, चमार, बसोर, नट, कैवर्त, मल्लाह, जुलाहा और कवच बनानेवाले तथा दूसरी कोटि में—हाडी, डोम और बधतु आते है। आधुनिक काल में इनके लिये दलित (अ० डिप्रेस्ड), अनुसूचित (शिड्यूल्ड) और हरिजन नाम भी प्राप्त हुए हैं।

प्रतिलोम-प्रसूति, वैदिक परपरा से विलगाव, आरूढपतन (सन्यासी

स्टर्न (१७१३–६८) हैं। ये आयरमूलक थे, और यद्यपि ये आजीवन इग्लैंड में ही रहे, उनके उपन्यास ने इस प्रकार के चरित्र को जन्म दिया जो भावना के उद्वेग में पूरी तरह बहता है। दूसरे उपन्यासकार गोल्डस्मिथ (१७२८–७४) ने उपन्यास में सामान्य घरेलू जीवन की स्थापना की।

जोनाथान स्विफ्ट (१६६७–१७४५) ने सरल शैली मे व्यग्य लिखने में प्रसिद्धि प्राप्त की। उनका ग्रथ 'गलिवर्स ट्रैवेल' मानवता पर सबसे बडा व्यग है। उसे बालविनोद बनाकर लेखक ने मानवता पर व्यंग्य किया है। जार्ज बर्कले (१६८५–१७५३) ने यूरोपीय दर्शनशास्त्र मे विचार के सूक्ष्म आधारो का सूत्रपात किया।

नाट्यकारो मे विलियम काग्रीव (१६७०–१७२९), शेरिडन (१८५१-१८१६) और जार्ज फरकुहर (१६७८–१७०७) के नाम उल्लेखनीय हैं। इस शताब्दी में कोई प्रसिद्ध कवि नही हुआ।

आयर के इतिहास मे १६वी सदी राष्ट्रीयता, उदार मनोवृत्ति, क्राति की विचारधारा, रूमानी उद्भावना और पुरातन के प्रति अनुराग के लिये प्रसिद्ध है। काव्य के क्षेत्र मे, शारलट ब्रुक (१७४०–९३) ने गैलिक कविताओ के अनुवाद अग्रेजी मे किए थे, जे० जे० कोलनन (१७९५–१८२९) ने गैलिक कविताओ के आधार पर अग्रजी मे कविताएँ लिखी। मौलिक कवियो मे जेम्स क्लैरेंस मगन (१८०३–४९), सैमुएल फरगुसन (१८१०–८६), आब्रे-डि-वियर (१८१४–१९०२) और विलियम एलिंगम (१८२४–८९) के नाम प्रसिद्ध हैं। सबसे अधिक प्रसिद्ध थॉमस मूर (१७७९–१८५२) हुए। उन्होने आयरी लय मे बहुत सी कविताएँ लिखी। अपने समय मे वे रूमानी कवियो मे सबसे अधिक प्रसिद्ध थे।

१९वी शताब्दी मे कई पत्रपत्रिकाएँ निकली जिनसे आयरलैंड के सास्कृतिक आदोलन को बडा बल मिला। इसमे 'यग आयरलैंड' और 'दि नेशन' प्रमुख रहे। डबलिन युनिवर्सिटी मैगज़ीन मे इस आदोलन की कुछ स्थायी साहित्यिक सामग्री सगृहीत है।

इस शताब्दी के उपन्यासकारो मे निम्नलिखित नाम प्रसिद्ध हैं चार्ल्स मेट्यूरिन (१७८२–१८२४) जिनके 'मेलमाथ दि वाडरर' को यूरोपीय ख्याति मिली, मेरिया एजवर्थ (१७६७–१८४९) जिन्होने समकालीन आयरी जीवन का चित्रण सफलता के साथ किया, जेरल्ड ग्रिफिन (१८०३–४०) जिन्होन ग्रामीण जीवन की ओर ध्यान दिया। लघुकथालेखको मे हैमिल्टन मैक्सवेल (१७९२–१८५०) का नाम सर्वोपरि है। चार्ल्स लीवर (१८०६–७२) ने हास्य और व्यग्य लिखने मे प्रसिद्धि प्राप्त की। आयरी व्यग्य अपने ही ऊपर आकर समाप्त होता है। लीवर पर अपनी ही जाति का मजाक उडाने का दोष लगाया गया। यही दोष आगे चलकर जे० एम० सिंज पर भी लगा।

इस शताब्दी के आलोचको मे एडवर्ड डाउडन (१८४३–१९१३) का नाम प्रसिद्ध है। शेक्सपियर पर लिखी उनकी पुस्तक आज भी मान्य है।

नाटक के क्षेत्र मे इस शताब्दी के अत मे आस्कर वाइल्ड (१८५४–१९००) प्रसिद्ध हुए। वे आयरी थे, परतु उन्होने आयरी प्रभावो से मुक्त रहने का प्रयत्न किया था। उनमे जो कुछ आयरी प्रभाव है, उनके अवचेतन से ही आया जान पडता है।

१९वी सदी के अत मे आयर में जो साहित्यिक पुनर्जागरण हुआ उसके केंद्र डब्ल्यू० बी० यीट्स (१८६५–१९३९) माने जाते हैं। कविता, नाटक, निबध सभी क्षत्रो में उनकी ख्याति समान है। उन्होने डबलिन मे एबी थियेटर की स्थापना भी की। इससे प्रोत्साहित होकर कई अच्छे नाटककार आगे आए। इनमे लेडी ग्रिगोरी (१८५२–१९३२) और जे० एम० सिंज (१८७१–१९०९) अधिक प्रसिद्ध ह। दोनो ने आयर के ग्रामीण जीवन की ओर देखा। लेडी ग्रिगोरी ने भावुकता से, सिंज ने व्यग्य से। डब्ल्यू० बी० यीट्स ने कई प्रकार के नाटक लिखे। जापान के 'नो' नाटको से प्रभावित होकर उन्होने प्रतीकात्मक नाटक लिखने में विशिष्टता प्राप्त की। कविता के क्षेत्र में आयरी प्रभाव को न छोडते हुए भी अपने समय में वे अग्रेजी के प्रतिनिधि कवि माने जाते रहे। उनके मित्र जार्ज रसेल, जो ए० ई० के नाम से कविताएँ लिखते थे, थियोसॉफिकल विचारो से प्रभावित थे।

जार्ज बरनार्ड शा (१८५६–१९५०) का रुख आयर के सबंध मे आस्कर वाइल्ड जैसा ही था। पर जिस प्रकार का व्यग्य उन्होने समकालीन समाज के हर पक्ष पर किया है, वह कोई आयरी ही कर सकता था।

यीट्स के समकालीन लेखको मे जार्ज मूर (१८५२–१९३३) का भी नाम लिया जायगा। वे कुछ समय तक आयर के सास्कृतिक आदोलन से सबद्ध रहे, पर बाद को अलग हो गए।

आधुनिक काल मे जिस लेखक ने सारे ससार का ध्यान डबलिन और आयरलैंड की ओर अपनी एक रचना से ही खीच लिया वे हैं जेम्स ज्वाएस (१८८२–१९४१)। उनकी 'युलिसीज़' ने मानव मस्तिष्क की ऐसी गहराइयो को छुआ कि वह सारे ससार के लिये कौतूहल का विषय बन गई। ज्वाएस ने भाषा की अभिनव अभिव्यजनाओ की संभावनाओ का भी पता लगाया।

स्वतत्रताप्राप्ति के बाद आयर मे साहित्यिक शिथिलता के चिह्न दिखाई देते हैं। कारण शायद नई प्रेरणा का अभाव है, और सभवत यह भी कि आयर की मनीषा गैलिक के पुनरुद्धार और प्रचार की ओर लग गई है और अग्रेजी के साथ उसका भावात्मक सबध ढीला हो रहा है।

[ह० व०]

आंग्ल-नॉरमन साहित्य रोमन विजय के बहुत पहले आर्यो के कुछ प्रारभिक कबीले इग्लैंड के दक्षिण एव दक्षिण-पश्चिमी भागो मे बस चुके थे। इन कबीलो मे पहले तो गॉल तथा ब्राइटन आए, फिर रोमन आए। तत्पश्चात् सैक्सन और डेन आए और अत मे नॉर्मन आए।

इतिहास से हमे लोगो के स्थानातरण की कथा मालूम पडती है। इन स्थानातरणो के अनेक कारण हैं, लेकिन फिर भी हम उन्हे ढूँढने का प्रयत्न करते हैं और विश्लेषण के बाद हम ऐसे तथ्य पाते हैं जिनकी व्याख्या नही की जा सकती। जो लोग शताब्दियो से एक स्थान पर सुख दुख झेलते हुए रहते आए हैं वे अचानक विचित्र आकाक्षाओ से प्रेरित होकर बडे बड़े पहाडो, तीव्रगामी नदियो और वीरान रेगिस्तानो को पार करने के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं। इसके पीछे आर्थिक एव भौगोलिक (ऋतु सबधी) कारण हैं, किंतु कुछ और भी बाते हैं जो इनसे भिन्न हैं। चगेज़ खाँ की भाँति एक बडा नेता उठ खडा होता है और लोगो मे एक नया जोश का दौर आ जाता है। उनमे अस्थिरता हो जाती है। वे अपने पुराने घरो मे बैठे बैठे कुपित और विचलित हो उठते हैं।

यही बात जर्मनिक कबीले के साथ घटी थी। वे योद्धा थे। वे लबे तडगे, चौडी हड्डियो तथा नीली आँखोवाले क्रूर व्यक्ति थे। वे रोमन सैन्य दल के विरुद्ध लोहा लेते रहे तथा शताब्दियो के कठिन सग्राम के बाद, अत मे, रोमन प्रतिरक्षा के कवच को भेदते हुए समस्त पश्चिमी यूरोप मे फैल गए।

ये भयकर विजेता तरगो की भाँति अपने सुनसान और उजाड घरो से बाहर की ओर पश्चिम के हरे भरे ससार मे आ निकले। जिन्होने उनका प्रतिरोध किया वे नष्ट हो गए और जिन्होने उनके प्रभुत्व को स्वीकार किया वे या तो दास थे या गँवार। इसके तुरत बाद अपनी लबी काली नावो पर सवार होकर इगलिश चैनल नामक क्षुब्ध जलरेखा को उन्होने पार किया और श्येनाक्ष कप्तानो के नेतृत्व से उत्तरी सागर मे भी आगे बढे। फिर, विशष नरसहार के पश्चात् इग्लैंड की उस जनता पर अधिकार जमाया जो रोमनो के आने के बाद यत्र तत्र बडी असहाय स्थिति मे रह गई थी। वे दक्षिण के समृद्ध भागो मे, वहाँ के मूल निवासियो को मार भगाकर, जा बसे।

भयानक और हिंस्र होते हुए भी वे व्यवहारत अपने में एक दूसरे के प्रति काफी निष्ठावान् थे। स्त्रियो के प्रति समान की भावना रखते थे। वस्तुत सैक्सन घरो मे स्त्रियो को बहुत सी सुविधाएँ प्राप्त थी और इस स्थिति को बदलने में सदियाँ लग गईं।

सैक्सन भूस्वामियो का जीवन अन्यदेशीय वीरयुग के भूस्वामियो के जीवन के पर्याप्त समान था। सायकाल जब कबीलो के सरदार भवनो मे बैठकर मोटी रोटियाँ मास के साथ खाते रहते थे, उसी समय चारण आते और प्राचीन वीरो यथा विडिसिथ और बियोउल्फ की गाथाएँ गाकर सुनाते थे। बियोउल्फ एक शक्तिशाली योद्धा था जो साहसिक अभियानो का अन्वेषी था। राजा रायगर का वह कृपापात्र बना, क्योकि उन दिनो

प्राचीनता के द्योतक हैं। नगर प्राचीन एव तथा सेन नगरो के मिल जाने से बना है। रेल तथा सडको से यह देश के अन्य नगरो से सवद्ध है। तुक जाति के लोग यहाँ के आदिवासी हैं। यहाँ उत्तरोत्तर जनसख्या की पर्याप्त वृद्धि हो रही है। १९३७ ई० में यहाँ २२,२३६ लोग रहते थे, किंतु १९४७ ई० में यहाँ की जनसख्या २५,३९७ हो गई। [ह० ह० सि०]

अस्सक, अश्मक दक्षिणापथ की एक जाति जिसे सस्कृत साहित्य में अश्मक कहा गया है। अस्सको का निवास गोदावरी के तीर कही था। पोतलि अथवा पोतन उनका प्रधान नगर था। परतु अगुत्तरनिकाय की तालिका से ज्ञात होता है कि वे वाद मे उत्तर की ओर जा वसे थे और सभवत उनकी आवासभूमि मथुरा और अवती के वीच थी। प्रगट है कि वुद्ध के समय दक्षिण मे ही उनका निवास था। अगुत्तरनिकाय-वाली तालिका निश्चय कुछ वाद की है जब वह जाति दक्षिण से उत्तर की ओर सक्रमण कर गई थी। पुराणो में महापद्मनद द्वारा अश्मको के पराभव की भी कथा लिखी है। सिकदर के इतिहासकारो ने उसके आक्रमण के समय अस्सकेनोई नामक पराक्रमी जाति द्वारा २० हजार घुडसवारो, ३० हजार पैदलो और ३० हाथियो के साथ उसकी राह रोकने की वात लिखी है। उनके पराक्रम की वात लिखते और उनके प्रति विजेता की अनुदारता प्रकाशित करते वे झिझकते नही। यदि यह अस्सकेनोई जाति, जिसके दुर्ग मस्सग के अमर युद्ध का वर्णन ग्रीक इतिहासकारो ने किया है, अश्मक ही है, तो इस जाति के शौर्य की कथा निस्सदेह अमर है। साथ ही यह एकीकरण यह भी प्रमाणित करता है कि अस्सको या अश्मको का गोदावरी तथा अवती के निकटवर्ती जनपद के अतिरिक्त एक तीसरा निवास भी था। सभवत उस जाति का पूर्वतम निवास पश्चिमी पाकिस्तान में, जिसकी विजय सिकदर ने यूसफजयी इलाके के चारसद्दा मे पुष्करावती की विजय से भी पहले की, था। [भ० श० उ०]

कूर्मपुराण तथा वृहत्सहिता (रचनाकाल ५०० ई० के आसपास) मे अश्मक उत्तर भारत का अग माना गया है। इन ग्रथो के अनुसार पजाव के समीप अश्मक प्रदेश की स्थिति थी। परतु राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमासा' (१७वाँ अध्याय) में इसकी स्थिति दक्षिण भारत के प्रदेशो मे मानी है। राजशेखर के अनुसार माहिष्मती (इदौर से चालीस मील दक्षिण नर्मदा के दाहिने किनारे वसे महेश नामक नगर) से आगे दक्षिण की ओर 'दक्षिणापथ' का आरभ होता है जिसमें महाराष्ट्र, विदर्भ, कुतल, क्रथकैशिक, सूर्पारक (सोपारा), काची, केरल, चोल, पाड्य, कोकण आदि जनपदो का समावेश वतलाया गया है। राजशेखर अश्मक जनपद को इसी दक्षिणापथ का अग मानते हैं। ब्रह्माडपुराण मे यही स्थिति अगीकृत की गई है। 'दश-कुमारचरित' में दडी ने, 'हर्षचरित' में वाणभट्ट ने तथा 'अर्थशास्त्र' की टीका मे भट्टस्वामी ने भी इसे महाराष्ट्र प्रात के अतर्गत माना है। दशकुमा-रचरित' के अष्टम उच्छ्वास के अनुसार अश्मक के राजा ने कुतल, कोकण, वनवासि, मुरल, ऋचिक तथा नासिक के राजाओ को विदर्भनरेश से युद्ध करने के लिये भडकाया जिससे उन लोगो ने विदर्भनरेश पर एक साथ ही आक्रमण कर दिया। इससे स्पष्ट है कि अश्मक महाराष्ट्र का ही कोई अग या समग्र महाराष्ट्र का सूचक था, विदर्भ प्रात का किसी प्रकार अग नही हो सकता, जैसा काव्यमीमासा पर अग्रेजी टिप्पणी मे निर्दिष्ट किया गया है (दे० काव्यमीमासा, पृ० २८२, वडोदा सस्करण)। [व० उ०]

अहं (ईगो) अथवा 'मैं', अथवा 'स्व'। मनोविज्ञान मे मानव की वे समस्त शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ जिनके कारण वह 'पर' अर्थात् 'अन्य' से भिन्न होता है। मनोविश्लेषण मे मनुष्य की वे शक्तियाँ जो उसको यथार्थता (रियलिटी प्रिंसिपल) के अनुसार व्यवहार करने के लिये प्रेरित करती है। मनोवैज्ञानिको का विचार है कि "अहम्" और "पर" का वोध तथा विकास साथ साथ होता है। (दे० अहवाद)। [श्या० ना० मे०]

अहंकार मैं की भावना। साख्य दर्शन में अहकार पारिभाषिक शब्द है। प्रकृति-पुरुष-सयोग से 'महत्' उत्पन्न होता है। महत् से अहकार की उत्पत्ति है। अहकार से ही सूक्ष्म स्थूल सृष्टि उत्पन्न होती है। यह भौतिक तत्व है। इससे जीवन मे अभियान उत्पन्न होता है तथा इसी मे क्रिया होती है, पुरुष मे नही। अहकार के कारण पुरुष प्रकृति के कार्यो से तादात्म्य अनुभव करता है। अहकार ही अनुभवो को पुरुष तक पहुँचाता है। इसके सत्व गुणप्रधान होने पर सत्कर्म होते हैं, रज प्रधान होने पर पापकर्म होते है तथा तम प्रधान होने पर मोह होता है। सात्विक अहकार से मन, पच ज्ञानेंद्रियो तथा पच कर्मेद्रियो की उत्पत्ति होती है। तामस अहकार से पच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। विज्ञानभिक्षु के अनुसार सात्विक अहकार से मन, राजस से दस इद्रियाँ तथा पच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। अहकार को दर्शनो में पतन का कारण माना गया है क्योकि प्राय सभी भारतीय दर्शन अनुभवगम्य आत्मा के रूप को आत्मा का वास्तविक स्वरूप नही मानते। अत 'मैं' की भावना से किया गया कार्य आत्मा के मिथ्या ज्ञान से प्रेरित है। पारमार्थिक जगत् में अहकारमुक्त होना चाहिए किंतु व्यावहा-रिक जगत् में अहकार के बिना निर्वाह सभव नही है। [रा० पा०]

अहंवाद (सॉलिप्सिज्म) अहवाद उस दार्शनिक सिद्धात को कहते है जिसके अनुसार केवल ज्ञाता एव उसकी मनोदशाओ अथवा प्रत्ययो (आइडियाज़) की सत्ता है, दूसरी किसी वस्तु की नही। इस मतव्य का तत्वदर्शन तथा ज्ञानमीमासा दोनो से सवध है। तत्वदर्शन सवधी मान्यता का उल्लेख ऊपर की परिभाषा मे हुआ है। सक्षेप में वह मान्यता यही है कि केवल ज्ञाता अथवा आत्मा का ही अस्तित्व है। ज्ञानमीमासा इस मतव्य का प्रमाण उपस्थित करती है। दार्शनिक एफ० एच० ब्रैडले ने अहवाद की पोषक युक्ति को इस प्रकार प्रकट किया है "मैं अनुभव का अतिक्रमण नही कर सकता, और अनुभव मेरा अनुभव है। इससे यह अनुमान होता है कि मुझसे परे किसी चीज का अस्तित्व नही है, क्योकि जो अनुभव है वह इस आत्म की दशाएँ ही हैं।"

दर्शन के इतिहास में अहवाद के किसी विशुद्ध प्रतिनिधि को पाना कठिन है, यद्यपि अनेक दार्शनिक सिद्धात इस सीमा की ओर वढते दिखाई देते हैं। अहवाद का बीजारोपण आधुनिक दर्शन के पिता देकार्त की विचार-पद्धति मे ही हो गया था। देकार्त मानते हैं कि आत्म का ज्ञान ही निश्चित सत्य है, वाह्य विश्व तथा ईश्वर केवल अनुमान के विषय हैं। जान लाक का अनुभववाद भी यह मानकर चलता है कि आत्म या आत्मा के ज्ञान का साक्षात् विषय केवल उसके प्रत्यय होते हैं, जिनके कारण भूत पदार्थों की कल्पना की जाती है। वार्कले का आत्मनिष्ठ प्रत्ययवाद अहवाद मे परिणत हो जाता है।

स०ग्र०—वाल्डविन डिक्शनरी ऑव फिलॉसफी ऐंड साइकॉलॉजी, अप्पय दीक्षित सिद्धातलेशसग्रह (दृष्टिसृष्टिवाद प्रकरण)। [दे० रा०]

अहग्गार पठार अफ्रीका के सहारा मरुस्थल के मध्य भाग मे उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को कर्णवत् फैला हुआ है। यह (आदिकल्प-पुराकल्प) चट्टानो से बना हुआ है। यहाँ ज्वालामुखीय उत्पत्ति की कई चोटियाँ हैं जिनकी ऊँचाई ८००० फुट से अधिक नही है। ये चोटियाँ समय समय पर वर्फ से ढक जाती है। यहाँ की जलवायु ठढी है तथा तुषार भी पर्याप्त पडता है। यहाँ की मुख्य वनस्पति एक प्रकार का ववूल (अकेसिया टारटिला) है। यहाँ के निवासी टारेग जाति के हैं। ये चरागाहो मे अपने पशु चराते तथा वजारो का जीवन व्यतीत करते हैं। [न० ला०]

अहमद खाँ, सर सैयद दिल्ली में १८१७ ई० में पैदा हुए, पुरखे हेरात से शाहजहाँ के समय आए थे। सर सैयद की शिक्षा उनकी माँ ने की। १८३७ ई० में सरकारी नौकर हुए। मुसलमान कौम की उन्नति का विचार शुरू से था। सन् १८६१ ई० में एक स्कूल मुरादावाद में और १८६४ ई० मे एक स्कूल गाजीपुर में खोला जहाँ मुसलमान लडको को अग्रेजी की शिक्षा दी जाती थी। सन् १८६६ ई० मे इग्लैंड गए और वहाँ से लौटने पर एक पत्रिका 'तहजीवुल इखलाक' निकाली जिसके द्वारा मुसलमानो में प्रगतिशील विचार फैले। नौकरी के वीच उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आसारउलसनादीद' लिखी। पेंशन के वाद सन् १८७७ ई० मे उन्होने अलीगढ कालेज कायम किया जिसकी नीव लार्ड लिटन के हाथो से रखी गई। सन् १८९८ ई० मे सर सैयद का स्वर्गवास हो गया। अलीगढ विश्वविद्यालय में ही वे दफन हुए।

पेत्रार्क और दाते जैसे महान् इतालीय साहित्यिको के पथ पर चला। किंतु इन औपचारिक रचनाओ में भी कुछ ऐसी बाते थी जो कवि की भावी महानता प्रकट करती थी। केवल इतना ही नही था कि वह फ्रासीसी पद्य के नमूने पर आठ मात्राओवाले पद्य सरलतापूर्वक गढ लेता था बल्कि यत्र तत्र किसी प्रकार का निरीक्षण अथवा बिब यह भी बताते थे कि आगे कौन सी चीज विकसित होनेवाली है। लेकिन कैंटरबरी टेल्स की भाँति मूल्यवान् सामग्री इनमे अप्राप्य थी। यह आधुनिक काल की सर्वप्रथम प्रामाणिक चीज थी। उसका एक अश ही कवि की प्रतिभा का द्योतक है। कैंटरबरी की तीर्थयात्रा के लिये यात्रियो की एक दल मे इकट्ठे होने जैसी एक सामान्य घटना बहुत साधारण सी प्रतीत होती है, जो मध्यकालीन अग्रेज तीर्थयात्रियो के लिये स्वाभाविक भी थी, किंतु ऐसे विषय का यह एक सुदर चयन तथा उत्कृष्ट कला का उदाहरण है। केवल एक ही झोके मे चॉसर अपने समसामयिको से आगे निकल जाता है। जैसे दाते ने ईसाइयो के शुद्धीकरण एव स्वर्ग की कल्पना को अपने काव्य के घेरे मे रखकर उसे सर्वांगरूपेण पुष्ट बनाया और भव्यता उत्पन्न की उसी प्रकार चॉसर ने मध्यकालीन इँग्लैंड के जीवन का एक महत्वपूर्ण अश लेकर और उसमे स्वाभाविकता तथा नाटकीयता का नियोजन करते हुए आधुनिक युगीन ढग से अपनी निराली शैली मे उद्घाटित किया।

इसमे चॉसर ने बडा भव्य ससार चित्रित किया है। इन तीर्थयात्रियो मे ऐसे स्त्री पुरुष है जो अपनी एक सच्ची प्रतिकृति (टाइप) रखते है और वे स्वय अपने आप भी वैसी ही दृढता के साथ सच्चे है। यह एक आदर्श मिश्रण है जिसमे सम्मानित योद्धा, सुशीला प्रियोरेस (Prioress), चालाक चिकित्सक, बाथ की बहुविवाहिता वाचाल पत्नी, बहस करनेवाला 'रसोइया', नीच अफसर (रीव), बदमाश क्षमादाता, घृणित 'सम्मन तामील करनेवाला', 'मस्त फ्रायर' अथवा आक्सेन फोर्ड का क्लार्क, सच्चे विश्वास से दीप्त नि मृत उद्वेग, सभी घुले मिले है। वैविध्य का कितना सुदर सामजस्य है जो समस्त मध्यकालीन इँग्लैंड के समाज को ऐसी स्पष्टता के साथ चित्रित करता है जो सदैव अमर रहेगा।

चॉसर की सफलता के कौन से कारण है ? उत्तर मे कहा जायगा, उसकी महान् प्रतिभा। किंतु महान् प्रतिभा एक बडा गोलमोल शब्द है। इसमे असख्य गुणो का समावेश है जो हर नई पीढी के महान् प्रतिभा सबधी गुणो की कल्पना से एकदम उसी रूप मे मेल नही खाते। महान् प्रतिभा अपनी किरणे भविष्य के गर्भ मे फेकती है और उसका सदेश इस भाँति सप्रेषित होता है कि लोग उसे पूरे तौर से समझ नही पाते। इसलिये चॉसर ने अपने समसामयिको के विपरीत जनता की भाषा अपनाई, किंतु नए छद का चुनाव जनरुचि से विपरीत था। उसने सर्वप्रथम फ्रासीसी कवियो का अनुकरण किया और आठ मात्रावाली द्विपदियो को सरलतापूर्वक लिखा। किंतु उसे मालूम था कि यह अग्रेजी के अनुकूल नही पडता, क्योकि इस प्रकार की लघु माप फ्रासीसी भाषा की प्रतिभाओ के ही अनुकूल है, क्योकि उसकी ध्वनि मे सबद्धता तथा एक स्वर के लोप का आधिक्य है। किंतु आग्ल-सैक्सन पृष्ठभूमि के नाते अग्रेजी मे गति लाने के लिये कुछ अधिक स्थान की आवश्यकता रहती है। चॉसर ने पेंटामीटर नामक छद दिया जो अग्रेजी पद्य की बडी उपलब्धि है।

नॉर्मनो और सैक्सनो का पारस्परिक विलयन सर्वप्रथम चॉसर में ही परिलक्षित होता है। वस्तुत यही अग्रेजी का आदिकवि है जिसने उस काल की नई भाषा अग्रेजी मे अपने गीत गाए। [र० ना० दे०]

आंजेलिको फ़्रा

आंजेलिको फ़्रा (१३८७–१४५५) मध्यकाल और पुनर्जागरणकाल के सधियुग का विख्यात इतालीय चित्रकार। उसका बप्तिस्मे का नाम गुइदो और धर्म का नाम जोवानी था। तुस्कानी के विचियो नगर मे उसका जन्म हुआ था और युवावस्था मे ही वह पादडी हो गया था। पोप के आवाहन पर वह रोम गया। वहाँ उसे आर्चबिशप का पद प्रदान किया गया, पर उसने उसे अस्वीकार कर दिया। उसकी धार्मिक चेतना मे इतना ऊँचा पद धर्मेतर अलकरण मात्र था। आजेलिको निर्धनो और आर्तो का परम बधु था और उनके दुख से द्रवित हो वह रो दिया करता था।

आजेलिको का यह स्वभाव उसके चित्रणो के इतिहास मे भी परिलक्षित होता है। जब कभी वह ईसा के प्राणदड, शूली का चित्रण करता, रो पडता। इस प्रकार के उसके चित्रो की सख्या अनत है। उसने रोम, फ्लोरेस आदि अनेक नगरो के गिरजाघरो मे भित्तिचित्रण किए। इनसे भिन्न उसके अनेक चित्र फ्लोरेस की उफ्फीजी गैलरी, पेरिस के लुव्र आदि के सग्रहालयो मे सुरक्षित है। उसका बनाया एक सुदर चित्र लदन मे भी है। प्रसिद्ध इतालीय कलावत चरितकार वसारी और सर चार्ल्स होम्स ने उसकी भूरि भूरि प्रशसा की है। उसका 'कुमारी का अभिषेक' नामक चित्र असाधारण माना जाता है। खाकानवीसी मे वह असामान्य था और अनेक कलासमीक्षको की राय मे वर्णतत्व का ऐसा सफल सक्रिय जानकार दूसरा नही हुआ। कहते है, आजेलिको ने एक बार खिचे खाके मे रग भरकर फिर उस पर कूँची नही चलाई, उसे दोबारा छुआ नही। वह रोम मे ही १४५५ मे मरा।

स० ग्र०—दी तुमियाती परा आजेलिको, फ्लोरेस १८९७, आर० एल० डगलस परा ऐंजेलिको, लदन १९०१, जी० विलियम्सन परा ऐंजेलिको, लदन, १९०१। [भ० श० उ०]

आंटिलिया

आटिलिया अथवा सात नगरोवाला द्वीप अध महासागर का एक पौराणिक द्वीप है। प्राचीन परपरागत कथानुसार पूर्वकाल मे सात पुर्तगाली नेताओ मे से प्रत्येक ने इस द्वीप मे एक नगर बसाया तथा उसपर शासन किया था। [न० कि० प्र० सि०]

आंटीब्स

आटीब्स दक्षिण फ्रास मे भूमध्यसागर के तट पर स्थित एक स्वास्थ्यकर नगर है, जहाँ शरत्काल मे बाहर से अनेक लोग आते है। जनसख्या १३,७७८ (सन् १९४६ ई०)। इसकी स्थापना यूनानियो द्वारा लगभग ३४० ई० पू० में हुई थी। इत्र एव चाकलेट के उद्योग के लिये विख्यात होने के अतिरिक्त यह फूल, सतरा, सूखे फल, जैतून (ऑलिव) तथा मछली का निर्यात करता है। शीतकालीन मिस्ट्रेल नामक उत्तरी-पश्चिमी वायु से सुरक्षित होने के कारण यह यूरोप के धनवानो का क्रीडास्थल है। यहाँ अनेक होटल, विनोदगृह, अद्भुत वाटिकाएँ तथा रम्य स्थान है। [न० कि० प्र० सि०]

आंडीजान

आडीजान सोवियत मध्यएशिया मे स्थित, उजबेक सोवियत-समाजवादी-प्रजातत्र का एक विभाग है, जो फरगाना घाटी के पूर्व मे स्थित है। इसके अधिकाश मे सिचाई द्वारा रूई, रेशम तथा फलो की खेती होती है। द्वितीय विश्वयुद्ध मे यहाँ पर खनिज तेल की खानो का पता लगाया गया और तब से यह उजबेकिस्तान का प्रमुख तेल एव गैस उत्पादक केद्र बन गया। सन १९५० ई० मे इस विभाग की जनसख्या ६,००,००० थी।

आडीजान नामक एक नगर भी है जो आडीजान विभाग की राजधानी तथा प्रमुख नगर है। यहाँ के उद्योग धधो मे रूई की मिले, तेल की मिले, फल तथा तत्सबधी उद्योग और मशीन तथा ट्रैक्टर बनाने के कारखाने प्रमुख है। यह द्वितीय श्रेणी का रेलवे स्टेशन है और नवी शताब्दी से ही प्रसिद्ध नगर रहा है। पहले यह कोकद के खाँ लोगो के अधीन था, परतु १८७५ मे रूस मे मिला लिया गया। यहाँ पर भूचाल बहुत आते थे, जिनमे से अतिम १९०२ ई० में आया था। सन् १९५० ई० मे यहाँ की जनसख्या ८,००० थी। [शि० म० सि०]

आंतरगुही

जतु साम्राज्य की एक बडी निम्न कोटि की प्रसृष्टि (फाइलम, बडा समूह) है, जिसको लैटिन भाषा मे सिलेंटरेटा कहते है। इस प्रसृष्टि के सभी जीव जलप्राणी है। केवल प्रजीव (प्रोटोजोआ) तथा छिद्रिष्ठ (स्पज) ही ऐसे प्राणी है जो आतरगुही से भी अधिक सरल आकार के होते है। विकासक्रम मे ये प्रथम बहुकोशिकीय जतु है, जिनकी विभिन्न प्रकार की कोशिकाओ मे विभेदन तथा वास्तविक ऊतक-निर्माण दिखाई पडता है। इस प्रकार इनमे तत्रिकातत्र तथा पेशीतत्र का विकास हो गया है। परतु इनकी रचना मे न सिर का ही विभेदन होता है, न विखडन ही दिखाई पडता है। इनका शरीर खोखला होता है, जिसके भीतर एक बडी गुहा होती है। इसको आतरगुहा (सीलेंटेरॉन) कहते है। इसमे एक ही छेद होता है। इसको मुख कहते है, यद्यपि इसी छिद्र के द्वारा भोजन भी भीतर जाता है तथा मलादि का परित्याग भी होता है। शरीर की दीवार कोशिकाओ की दो परतो की बनी होती है—बाह्यस्तर (एक्टोडर्म) तथा अत स्तर (एडोडर्म)—और दोनो

हजारो मस्जिदो, हिंदू-जैन-मदिरो, स्मारको तथा प्राचीरो के अवशेष विद्यमान है। साथ ही, अहमदाबाद की सबसे बडी विशेषता यहाँ के 'पोल' है जो जाति या सामाजिक स्तरविशेषवाले परिवारो की सर्वसुविधापूर्ण इकाईवाले छोटे नगर ही होते है। इनमे पोलपरिषद् का शासन भी चलता है। मार्ग के दोनो ओर मकान रहते है और दो अन्य छोरो पर विशाल गोपुर जो रात्रि में बद कर दिए जाते है। बडे पोल की जनसख्या दस हजार तक होती है। अहमदाबाद में गाधी जी का साबरमती का आश्रम है, जहाँ से उन्होने प्रख्यात दाडी यात्रा की थी। यही पर गुजरात विश्वविद्यालय स्थित है।

अहमदाबाद की जनसख्या बराबर बढ रही है। १८६१ (१,४४,४५१) एव १६५१ (७,८८,३३३) के साठ वर्षो में जनसख्या ४४६% बढी है। ५२% लोग उद्योगों में तथा २१% लोग व्यापार में लगे है। प्रति हजार पुरुषो पर केवल ७७१ स्त्रियाँ है। [का० ना० सि०]

अहल्या एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार अहल्या ब्रह्मदेव की आद्या स्त्रीसृष्टि थी जिसके सौदर्य पर मोहित होकर इद्र ने उसे अपनी सहधर्मिणी बनाने के लिये ब्रह्मा से माँगा, परतु ब्रह्मा ने उसे गौतम ऋषि को विवाहार्थ दे दिया। इद्र ने अपनी प्राचीन कामना के चरितार्थ उसके पातिव्रत का हरण किया। इस घटना के विषय मे दो मत है। वाल्मीकि रामायण की कुछ प्रतियो के अनुसार अहल्या की समति से इद्र ने ऐसा किया, परतु अधिक प्रचलित आख्यान के अनुसार इद्र ने गौतम का रूप धारण कर अपनी अभिलाषा की सिद्धि की जिसमे गौतम ऋषि को असमय में प्रभात होने की सूचना देने का काम चद्रमा ने मुर्गा बनकर किया। गौतम ने तीनो को शाप दिया। अहल्या शिला बन गई और जनकपुर जाते समय राम की चरणरज के स्पर्श से उसे फिर स्त्री का रूप प्राप्त हुआ और गौतम ने उसे फिर स्वीकार किया। शतानद अहल्या के ही पुत्र थे (रामायण, बालकाड ४८–४६ सर्ग)। अहल्या की यह कथा वस्तुत एक उदात्त रूपक है, कुमारिल भट्ट का यह दृढ मत है। वेदो मे इद्र के लिये विशेषण प्रयुक्त है—अहल्यायै जार। इसी विशेषण के आधार पर यह कथा गढी गई है। इद्र सूर्य का प्रतीक है तथा अहल्या रात्रि का जिसका वह घर्षण किया करता है और उसे जीर्ण (वृद्ध, अतर्हित) बना डालता है। शतपथ (३।३।४।१८), जैमिनि ब्रा० (२।७६) तथा षड्विंश (१।१) में उपलब्ध इस आख्यान का यही तात्पर्य है। [ब० उ०]

अहाब ओम्री का पुत्र और इसराइल का राजा (८७५ ई० पू०—८५२ ई० पू०)। उसे पिता द्वारा न केवल जोर्डन के पूर्व में गिलीद का राज्य मिला बल्कि मोब का राज्य भी उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ। अहाब का विवाह सीदान के राजा एशबाल की पुत्री जेजेबेल के साथ हुआ। जेजेबेल ने अपने देश की शासनप्रणाली और बाल देवता की पूजा प्रचलित करनी चाही। यहूदी केवल अपने राष्ट्रीय देवता एकमात्र यहवे की ही पूजा करते थे। उन्होने पैगबर एलिजा के नेतृत्व मे बाल की पूजा के विरोध मे विद्रोह किया। सीरियको के साथ लडते हुए अहाब की मृत्यु हुई। [वि० ना० पा०]

अहिंसा हिंदू शास्त्रो की दृष्टि से 'अहिंसा' का अर्थ है सर्वदा तथा सर्वथा (मनसा, वाचा और कर्मणा) सब प्राणियो के साथ द्रोह का अभाव। (अहिंसा सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोह —व्यासभाष्य, योगसूत्र २।३०)। अहिंसा के भीतर इस प्रकार सर्वकाल मे केवल कर्म या वचन से ही सब जीवो के साथ द्रोह न करने की बात समाविष्ट नही होती, प्रत्युत मन के द्वारा भी द्रोह के अभाव का सबध रहता है। योगशास्त्र में निर्दिष्ट यम तथा नियम अहिंसामूलक ही माने जाते है। यदि उनके द्वारा किसी प्रकार की हिंसावृत्ति का उदय होता है तो वे साधना की सिद्धि मे उपादेय तथा उपकारक नही माने जाते। 'सत्य' की महिमा तथा श्रेष्ठता सर्वत्र प्रतिपादित की गई हे, परतु यदि कही अहिंसा के साथ सत्य का सघर्ष घटित होता है तो वहाँ सत्य वस्तुत सत्य न होकर सत्याभास ही माना जाता है। कोई वस्तु जैसी देखी गई हो तथा जैसी अनुमित हो उसका उसी रूप में वचन के द्वारा प्रगट करना तथा मन के द्वारा सकल्प करना 'सत्य' कहलाता है, परतु यह वाणी भी सब भूतो के उपकार के लिये प्रवृत्त होती है, भूतो के उपघात के लिये नही। इस प्रकार सत्य की भी कसौटी अहिंसा ही है। इस प्रसग मे वाचस्पति मिश्र ने 'सत्यतपा' नामक तपस्वी के सत्यवचन को भी सत्याभास ही माना है, क्योकि उसने चोरो के द्वारा पूछे जाने पर उस मार्ग से जानेवाले सार्थ (व्यापारियो का समूह) का सच्चा परिचय दिया था। हिंदू शास्त्रो मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय (न चुराना), ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह, इन पाँचो यमो को जाति, देश, काल तथा समय से अनवच्छिन्न होने के कारण समभावेन सार्वभौम तथा महाव्रत कहा गया है (योगसूत्र २।३१) और इनमे भी, सबका आधार होने से, 'अहिंसा' ही सबसे अधिक महाव्रत कहलाने की योग्यता रखती है। [ब० उ०]

जैन दृष्टि से सब जीवो के प्रति सयमपूर्ण व्यवहार अहिंसा है। अहिंसा का शब्दानुसारी अर्थ है, हिंसा न करना। इसके पारिभाषिक अर्थ विध्यात्मक और निषेधात्मक दोनो है। रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति न करना, प्राणवध न करना या प्रवृत्ति मात्र का निरोध करना निषेधात्मक अहिंसा है, सत्प्रवृत्ति, स्वाध्याय, अध्यात्मसेवा, उपदेश, ज्ञानचर्चा आदि आत्महितकारी व्यवहार विध्यात्मक अहिंसा है। सयमी के द्वारा भी अशक्य कोटि का प्राणवध हो जाता है, वह भी निषेधात्मक अहिंसा हिंसा नही है। निषेधात्मक अहिंसा मे केवल हिंसा का वर्जन होता है, विध्यात्मक अहिंसा मे सत्क्रियात्मक सक्रियता होती है। यह स्थूल दृष्टि का निर्णय है। गहराई में पहुँचने पर तथ्य कुछ और मिलता है। निषेध मे प्रवृत्ति और प्रवृत्ति मे निषेध होता ही है। निषेधात्मक अहिंसा मे सत्प्रवृत्ति और सत्प्रवृत्यात्मक अहिंसा में हिंसा का निषेध होता है। हिंसा न करनेवाला यदि आतरिक प्रवृत्तियो को शुद्ध न करे तो वह अहिंसा न होगी। इसलिये निषेधात्मक अहिंसा मे सत्प्रवृत्ति की अपेक्षा रहती है, वह बाह्य हो चाहे आतरिक, स्थूल हो चाहे सूक्ष्म। सत्प्रवृत्यात्मक अहिंसा मे हिंसा का निषेध होना आवश्यक है। इसके बिना कोई प्रवृत्ति सत् या अहिंसा नही हो सकती, यह निश्चय दृष्टि की बात है। व्यवहार मे निषेधात्मक अहिंसा को निष्क्रिय अहिंसा और विध्यात्मक अहिंसा को सक्रिय अहिंसा कहा जाता है।

जैन ग्रथ आचारागसूत्र मे, जिसका समय सभवत तीसरी-चौथी शताब्दी ई० पू० है, अहिंसा का उपदेश इस प्रकार दिया गया है भूत, भावी और वर्तमान के अर्हत् यही कहते है—किसी भी जीवित प्राणी को, किसी भी जतु को, किसी भी वस्तु को जिसमे आत्मा है, न मारो, न (उससे) अनुचित व्यवहार करो, न अपमानित करो, न कष्ट दो और न सताओ।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, ये सब अलग जीव है। पृथ्वी आदि हर एक मे भिन्न भिन्न व्यक्तित्व के धारक अलग अलग जीव है। उपर्युक्त स्थावर जीवो के उपरात त्रस (जगम) प्राणी है, जिनमें चलने फिरने का सामर्थ्य होता है। ये ही जीवो के छ वर्ग है। इनके सिवाय दुनिया मे और जीव नही है। जगत् मे कोई जीव त्रस (जगम) है और कोई जीव स्थावर। एक पर्याय में होना या दूसरी मे होना कर्मो की विचित्रता हे। अपनी अपनी कमाई है, जिससे जीव त्रस या स्थावर होते है। एक ही जीव जो एक जन्म मे त्रस होता हे, दूसरे जन्म मे स्थावर हो सकता है। त्रस हो या स्थावर, सब जीवो को दु ख अप्रिय होता है। यह समझकर मुमुक्षु सब जीवो के प्रति अहिंसा भाव रखे।

सब जीव जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता। इसलिये निर्ग्रंथ प्राणिवध का वर्जन करते है। सभी प्राणियो को अपनी आयु प्रिय है, सुख अनुकूल है, दु ख प्रतिकूल है। जो व्यक्ति हरी वनस्पति का छेदन करता है वह अपनी आत्मा को दड देनेवाला है। वह दूसरे प्राणियो का हनन करके परमार्थत अपनी आत्मा का ही हनन करता है।

आत्मा की अशुद्ध परिणति मात्र हिंसा है, इसका समर्थन करते हुए आचार्य अमृतचद्र ने लिखा है असत्य आदि सभी विकार आत्मपरिणति को बिगाडनेवाले है, इसलिये वे सब भी हिंसा है। असत्य आदि जो दोष बतलाए गए है वे केवल "शिष्यबोधाय" है। सक्षेप में राग द्वेष का अप्रादुर्भाव अहिंसा और उनका प्रादुर्भाव हिंसा है। रागद्वेषरहित प्रवृत्ति से अशक्य कोटि का प्राणवध हो जाय तो भी नैश्चयिक हिंसा नही होती, रागद्वेषसहित प्रवृत्ति से, प्राणवध न होने पर भी, वह होती है। जो रागद्वेष की प्रवृत्ति करता है वह अपनी आत्मा का ही घात करता है, फिर चाहे दूसरे जीवों का घात करे या न करे। हिंसा से विरत न होना भी हिंसा है और हिंसा में परिणत होना भी हिंसा है। इसलिये जहाँ राग द्वेष की प्रवृत्ति है वहाँ निरतर प्राणवध होता है।

ग्लीया)—होता है। अधिकाश आतरगुही इससे कही अधिक जटिल होते है, किंतु सभी की इस सरल रूप से तुलना की जा सकती है। अधिकाश जातियो मे मुख के चारो ओर खोखले या ठोस, अँगुली जैसे प्रवर्ध अथवा स्पर्शिकाएँ होती है। बहुधा उनमे त्रिज्यीय समिति (रेडियल सिमेट्री) होती है, अर्थात यदि मुख को केंद्र मानकर आतरगुही को किन्ही दो भागो मे विभक्त कर दिया जाय तो दोनो भाग समान होगे। हाँ, पुष्पजीव (ऐथोजोआ) नामक वर्ग मे अवश्य ही प्राणी के ऐसे दो भाग एक विशेष रेखा पर ही हो सकते है, अर्थात् उनमे द्विपार्श्वीय समिति होती है। अनेक आतरगुहियो में मध्यश्लेप का विकास बहुत अधिक हो जाता है, जिससे ये जतु दलदार हो जाते है, जैसा अनेक जातियो की जेली मछलियो मे होता है। पालिप और मेडुसा की कोशिकाओ मे पर्याप्त भेद होता है।
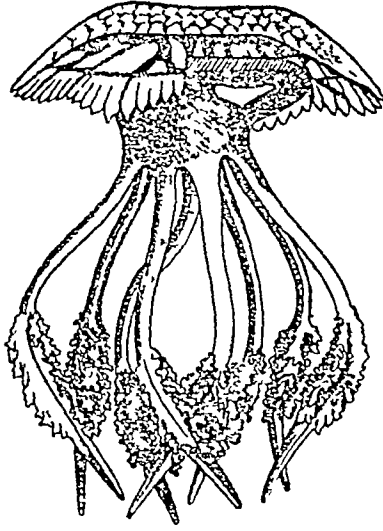
एक सुंदर छत्रिक

भ्रूणवर्धन तथा जीवन-इतिहास—आतरगुहियो के विभिन्न वर्गों के भ्रूणवर्धन तथा जीवन-इतिहास मे काफी अतर है, किंतु लगभग सभी मे किसी न किसी प्रकार का डिंभ (लारवा) अवश्य ही पाया जाता है। कुछ उदाहरणो से यह स्पष्ट हो जायगा। समुद्रपुष्प मे अडा जल मे परित्यक्त किया जाता है और शरीर के बाहर ही उसका ससेचन होता है। बाद मे ससेचित अडा दो, चार, आठ या इससे अधिक कोशिकाओ मे विभक्त होता है। कोशिकाएँ इस प्रकार व्यवस्थित होती है कि अत मे एक खोखला गोला बन जाता है। यह एकभित्तिका अवस्था है। इसमे बाहरी तल पर अनेक रोमिकाएँ निकल आती है। धीरे धीरे एकभित्तिका का एक सिरा धँसने लगता है जिससे गोले की भीतरी गुहा या एकभित्तिका का अत हो जाता है और दो स्तरोवाला स्यूतिभ्रूण (गैस्ट्रुला) बनता है। इसका मुख बाद मे प्रौढ अवस्था के मुख मे बदलता है तथा इसकी गुहा आतरगुहा को जन्म देती है। रोमिकाओ के कारण इस अवस्था मे ही भ्रूण बहुत कुछ तैर सकता है और अत मे समुद्र के तल पर रुककर क्रमश प्रौढ अवस्था मे परिवर्तित हो जाता है।

किसी प्रारूपिक जलीयक (हाइड्रोजोआ), जैसे सुकुमार प्रजाति (ओबिलिया) मे, पालिप-रूपवाली पीढी उपनिवेश (कॉलोनी) बनाती है, जिसमें शाखाओ पर कुछ मुखयुक्त पालिप होते है, कुछ मुखरहित। मुखरहित पालिपो से कोशिकाभाजन के द्वारा कई अपरिपक्व स्वतत्र छत्रिक (मेडुसा) जैसे जीव बनते है। ये परिपक्व होते है, तो इनमे प्रजननाग बनते हैं। नर तथा मादा छत्रिक अलग अलग होते है। नर से शुक्र-कोशिकाएँ निकलती है और वे मादा छत्रिक मे जाकर मादा प्रजननाग को भेदकर अडे का ससेचन करती है। प्रजननाग के भीतर ही पहले एकभित्तिका बनती है, फिर कुछ कोशिकाओ के स्तर त्यागकर उसके नीचे दूसरा स्तर बनाने से स्यूतिभ्रूण बनता है, किंतु इसमें मुख नही होता। बाहरी तल पर रोमिकाएँ बन जाती है और भ्रूण लबा हो जाता है। अब भ्रूण प्रजननाग तोडकर जल मे स्वतत्र रूप से तैरने के लिये निकल पडता है। यह एक डिंभ है, जिसको चिपिटक (प्लेनुला) कहते हैं। वास्तव मे यह जलीयक का प्रारूपिक डिंभ है। कुछ समय के बाद चिपिटक किसी पत्थर या अन्य किसी ठोस वस्तु पर रुक जाता है। इसका एक सिरा पत्थर से चिपक जाता है। दूसरा लबा हो जाता है। इस सिरे पर मख और चारो ओर स्पर्शिकाएँ बन जाती है। फिर उसके बेलनाकार शरीर से कोशिकाओ के द्वारा शाखाएँ बनती है।

छत्रिक वर्ग (स्काइफोजोआ), जैसे स्वर्णछत्रिक (ऑरेलिया) का भ्रूणवर्धन इनसे भिन्न है। स्वर्णछत्रिक बडे छत्रिक के रूप मे होता है, जिसमे प्रजननाग होते है। सुकुमार (ओबीलिया) की भाँति इसमे भी चिपिटक डिंभ बनता है, जो धरातल पर रुकने के बाद चपमुख (स्काईफ्रिस्टोया) नामक डिंभ मे बदलता है। । चपमुख के पूर्ण निर्माण के बाद यह आडे आडे अनेक टुकडो मे बँट जाता है। पूरी सरचना तश्तरियो के एक दूसरे पर रखे हुए बड़े ढेर जैसी लगती है। फिर प्रत्येक टुकडा या 'तश्तरी' अलग हो जाती है और उसका रूपातरण प्रौढ मे हो जाता है।

इनमे से सुकुमार का जीवन-इतिहास एक और तथ्य को भी स्पष्ट करता है। सुकुमार के जीवनचक्र मे पालिप तथा मेडूसा दोनो रूपो के प्रौढ पाए जाते है। पालिप रूप बस्तियो मे रहते है और इनकी सख्यावृद्धि अलैगिक रीति से होती है। ये एक ही स्थान पर स्थिर रहते है। मेडूसा अकेले स्वतत्र तैरनेवाले तथा लैंगिक प्रजनन करनेवाले होते है। जीवन चक्र मे पालिप तथा मेडूसा पीढियाँ एक के बाद एक आती है, अर्थात् इन दो पीढियो के बीच एकातरण होता है। अत इसको पीढियो का एकातरण कहते है। स्वर्णछत्रिक मे पालिप पीढी अविकसित रह जाती है। वास्तव मे चपमुखी को ही पालिप पीढी का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। अत स्वर्णछत्रिक मे एकातरण स्पष्ट नही होता। मेट्रीडियम नामक आतरगुहियो मे मेडूसा बिलकुल ही अविकसित होता है, अत उसमे एकातरण का आभास भी नही मिलता।

ऊतकी या विभिन्न प्रकार की कोशिकाएँ—कहा जा चुका है कि आतरगुही का शरीर कोशिकाओ के दो ही स्तरो, बाह्यस्तर तथा अतस्तर, का बना होता है, जिनके बीच विभिन्न मोटाई की एक अकोशिकीय परत होती है। बाह्यस्तर मे प्राय सात प्रकार की कोशिकाएँ होती है। इनमे सबसे बहुसख्यक पेश्यभिच्छदीय (मस्कुलोएपीथिलियल) कोशिकाएँ होती है। ये बाहर की ओर चौडी और मध्यश्लेप की ओर कुछ नुकीली होती है। इसी ओर से इसमे कुछ प्रवर्ध निकलते है, जो मध्यश्लेष के ऊपर फैलकर पूरा स्तर बना लेते है।

भीतर की ओर सँकरी होने के कारण इन कोशिकाओ के बीच कुछ जगह छूट जाती है, जिसमें छोटी कोशिकाओ के समूह पाए जाते है। इनको अतरालीय (इटरस्टीशियल) कोशिकाएँ कहते है। वास्तव मे इन छोटी कोशिकाओ के विभेदन से अन्य प्रकार की कोशिकाएँ बनती है।

पेश्यभिच्छदीय कोशिकाओ के बीच बीच कही कही कुछ विशेष प्रकार की कोशिकाएँ पाई जाती है जिनको दशघट (निडोब्लास्ट) कहते है। इनके भीतर एक बडी थैली जैसी सरचना होती है, जिसको सूच्यग (निमैसिस्ट) कहते है। सूच्यग कोशिका के बाहरी धरातल की ओर रहता है और उसी ओर उसमे एक खोखला दशसूत्र होता है। सूत्र का निचला भाग कुछ मोटा होता है जिसे दड कहते है। दड पर कुछ नुकीले काँटे और छोटे छोटे शल्य होते है। निष्क्रिय अवस्था मे सूत्र और दड दोनो कोष के भीतर उलटकर कुतलित अवस्था मे पडे रहते है। वास्तव मे सूत्र कुछ उसी प्रकार उलटा रहता है जैसे झोले या मोजे को हम उलट सकते है। कोष के चारो ओर जीवद्रव्य होता है। उसमे एक केंद्रक होता है। जीवद्रव्य से कई सूक्ष्म सकोची धागे निकलकर कोष को चारो ओर से घेरे रहते है। जब सूत्र कोष के भीतर रहता है तब कोष का बाहरी मुख एक ढकने से बद रहता है। धरातल पर कोष के मुख के निकट एक दशोद्गामी रोम (नीडोसिल) होता है तथा कुछ तत्रिका-कोशिकाओ के ततुक कोशिका के जीवद्रव्य मे फैले होते ह। किसी प्राणी द्वारा दशोद्गामी रोम के उद्दीप्त हो जाने पर सूत्र एकाएक उलटकर कोष के बाहर विस्फोट की भाँति निकलता है और शिकार मे धँस जाता है। इसमे से एक विषैला द्रव निकलने के कारण शिकार अवसन्न हो जाता है। इस क्रिया मे बहुधा पूरा दशकोष ही निकल पडता है। दशकोषो के आकार, सूत्र की लबाई, काँटो की सख्या आदि की विभिन्नता के कारण दशकोषो के कई भेद किए जाते है।

पेश्यभिच्छदीय कोशिकाओ के बीच बीच कुछ सवेदी कोशिकाएँ होती है, जो पतली तथा ऊँची होती है और जिनके स्वतत्र तल पर अनेक सवेदी रोम होते है।

जलीयक (हाइड्रोजोआ) वर्ग के बाह्य स्तर में जननकोशिकाएँ भी पाई जाती है, किंतु छत्रिक वर्ग (स्काइफोजोआ) तथा पुष्पजीव वर्ग (एथोजोआ) मे ये अतस्तर मे होती है। वृषणो मे अनेक शुक्राणुओ का निर्माण होता है और अडाशयो मे केवल एक ही अडकोशिका होती है।

आंतियोकस इस नाम के १३ सिल्यूकसवंशीय राजाओं ने प्राचीन सीरिया तथा निकटवर्ती प्रदेशों पर राज किया। आंतियोकस प्रथम अपने पिता के वध के पश्चात् ई० पू० २८१ में सिंहासन पर बैठा और उसने अपनी बिखरी राजनीतिक शक्ति का संचय करने का प्रयास किया। इसका मौर्य सम्राट् बिंदुसार के साथ राजनीतिक संपर्क था और इसने अपने राजदूत दियामाकस को पाटलिपुत्र भेजा था। मौर्य सम्राट् के लिये मीठी शराब तथा अंजीर भी भेजे, पर यूनानी दार्शनिक भेजने में अपनी असमर्थता प्रकट की। फिलिस्तीन के प्रश्न को लेकर इसे मिस्र के सम्राट् तालमी के साथ युद्ध करना पड़ा। इसके पुत्र आंतियोकस द्वितीय (ई० पू० २६१–२४६) ने मिस्र की राजकुमारी के साथ विवाह कर दोनों देशों को मैत्रीसूत्र में बाँधा। इन दोनों सम्राटों का अशोक के अभिलेखों में उल्लेख है। इसके समय बैक्ट्रिया और पार्थिया ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी।

आंतियोकस तृतीय (ई० पू० २२३-१८७) 'महान्' इस देश का सबसे प्रतापी सम्राट् था। उसने अपने साम्राज्य को बढ़ाना चाहा, पर यूनान में थर्मापिली के युद्ध में पराजित होकर उसे अपने देश वापस आना पड़ा। इसी देश के आंतियोकस चतुर्थ (ई० पू० १७६–१६४) ने मिस्रियों को हराकर फिलिस्तीन लेना चाहा, पर रोमनों की बढ़ती हुई शक्ति के आगे इसे मिस्र छोड़ना पड़ा। आंतियोकस अष्टम (ई० पू० १३८–१२६) ने जुरूसलम पर अधिकार किया और पार्थवों से लड़ते हुए वीरगति प्राप्त की।

सं०ग्रं०—केंब्रिज प्राचीन इतिहास, भाग ६। [बैं० पु०]

आंतिस्थेनीज (लगभग ई० पू० ४५५–३६०) एथेंस् के दार्शनिक। आरंभ में इन्होंने गौर्गियास्, एक हिप्पियास् और प्रौदिकस् से शिक्षा प्राप्त की, पर अंत में ये सुकरात के भक्त बन गए। किनोसागस् नामक स्थान पर इन्होंने अपना विद्यालय स्थापित किया जहाँ पर प्राय निर्धन लोगों को दर्शन की शिक्षा दी जाती थी। ये सुख का आधार सद्वृत्ति (अरेते) को और सद्वृत्ति का आधार ज्ञान को मानते थे। ये यह भी मानते थे कि सद्वृत्ति की शिक्षा दी जा सकती है और इसके लिये शब्दों के अर्थों का अनुसंधान अपेक्षित है। ये अधिकांश सुखों को प्रवंचक मानते थे। ये कहते थे कि केवल श्रमोत्पादित सुख स्थायी है। अतएव ये इच्छाओं को सीमित करने का उपदेश देते थे। ये एक लबादा पहने रहते थे और एक दंड और खरी अपने पास रखते थे। इनके अनुयायी भी ऐसा ही करने लगे। [भो० ना० श०]

आंती दक्षिण पेरू की एक लड़ाकू जाति है, जो ऐंडीज पर्वत की पूर्वी ढाल पर उकायली नामक द्रोणी (बेसिन) के जंगलों में निवास करती है। ये लोग पहले क्रूर नरभक्षी थे, किंतु अब उनके पुरुषों ने धातु की कारीगरी तथा स्त्रियों ने कपड़ा बुनने का कार्य आरंभ कर दिया है। इस जाति के लोग बलिष्ठ होते हैं। इनके लंबे बाल कंधों पर लटकते रहते हैं। शृंगार के लिये ये लोग चिड़ियों के पंख एवं चोंच की माला गले में पहनते हैं। [नं० किं० प्र० सिं०]

आंतुंग मंचूरिया का महत्व में तीसरा बंदरगाह है (४०° ६' उ० अ०, १२४° २३' पू० दे०)। यह कोरिया तथा मंचूरिया की सीमा निर्धारित करनेवाली यालु नामक नदी के मुहाने पर बसा है। रेशम के उद्योग और काष्ठ एवं सोयाबीन के निर्यात के लिये प्रसिद्ध है। जनसंख्या २,२०,००० (१९५३ ई०) है। इसे यालु द्रोणी का द्वार कहा जा सकता है। यह बंदरगाह वर्ष के चार महीने तक बर्फ के कारण बंद रहता है तथा समुद्र के उथले होने के कारण १,००० टन से अधिक के जहाज इस बंदर तक नहीं पहुँच पाते। यह आंतुंग प्रांत की राजधानी भी है। [नं० किं० प्र० सिं०]

आंतोनिनस पिअस (८६-१६१ई०) कासुल ओरेलिएस फुलवस का बेटा, रोमन सम्राट्। पहले वह साम्राज्य के अनेक ऊँचे पदों पर रहा, फिर १३८ ई० में सम्राट् हाद्रियन ने उसे अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। उसी साल हाद्रियन के मरने पर आंतोनिनस सम्राट् हुआ। अनेक पदों पर बुद्धिमानी से कार्य कर चुकने के कारण वह साम्राज्य की वास्तविक स्थिति से पूर्णत परिचित था और प्रजा का हित हृदय से चाहता था। उसने शासन का भार अधिकतर रोमन सिनेट को सौंपा और कानून में अनेक सुधार किए। उसने ब्रिटेन में फोर्थ से लेकर क्लाइड तक दीवार खड़ी की जो आज भी एक अंश में वर्तमान है। [ओं० ना० उ०]

आंतोनियस, मार्कस (ल० ८३–३० ई० पू०) इसी नाम के पिता का पुत्र और पितामह का पौत्र था। वह रोम के प्रसिद्ध जनरल जूलियस सीज़र का बड़ा प्रिय और विश्वासपात्र था। वह स्वयं रणकुशल सेनापति और असाधारण योद्धा था। दो दो बार सीजर की अनुपस्थिति में वह इटली का उपशासक (डेप्युटी गवर्नर) हुआ। वह पहले त्रिब्यून, फिर सीजर के साथ कांसुल रहा। जब षड्यंत्रकारियों ने सिनेट में सीजर को मार डाला तब आंतोनी ने अपनी वक्तृता द्वारा जनता को अपनी ओर कर लिया और अब शक्ति उसके और सीजर के मनोनीत अधिकारी ओक्तावियन के हाथ आ गई।

पर दोनों में खूब संघर्ष चला। परिणामत आंतोनी को गॉल भागना पड़ा, पर वहाँ से वह लेपिदस के साथ एक बड़ी सेना लेकर रोम पर चढ़ आया। जो नया समझौता हुआ उससे गाल आंतोनी को मिला, स्पेन लेपिदस को एवं अफ्रीका, सिसिली और सार्दीनिया ओक्तावियन को। फिलिप्पी की लड़ाई में उसने ब्रूतस और प्रजातंत्रवादियों का बल नष्ट कर दिया। अब आंतोनी ग्रीस और लघुएशिया की ओर बढ़ा। इसी यात्रा में वह मिस्र की आकर्षक ग्रीक रानी क्लियोपात्रा के प्रणय के वशीभूत हो गया। जब होश में आकर वह रोम लौटा, तब उसने देखा कि साम्राज्य का स्वामी ओक्तावियन हो गया है। वैमनस्य पर्याप्त बढ़ा, पर ओक्तावियन ने अपनी बहन का उससे विवाह कर मित्रता पर पैबंद लगाया। अब साम्राज्य का बँटवारा नए सिरे से हुआ—ओक्तावियन पश्चिम का स्वामी हुआ, आंतोनी पूर्व का। वह फिर क्लियोपात्रा के पास लौटा और विलास में खो गया। उधर ओक्तावियन ने उसपर चढ़ाई की और जब आक्तियम के युद्ध में हारकर आंतोनियस मिस्र भागा तब पहली बार शत्रु ने उसकी पीठ देखी। अंत में उसने इस धोखे में कि क्लियोपात्रा ने आत्महत्या कर ली है, स्वयं उससे पहले ही आत्महत्या कर ली। वह साहित्यकारों के लिये बड़ा प्रिय नायक हो गया है। [भ० श० उ०]

आंतोनेलिया दा मोसेना (१४३०–१४७९) इटली के चित्रकार आंतोनेलियो दा आंतोनियो का जनप्रिय नाम। जन्मस्थान मोसेना। इटली में सर्वप्रथम तैलचित्र का प्रचलन आंतोनेलियो ने किया। शैली में इतालीय सौम्यता और सरलता तथा फिनलैंड की कुछ कुछ कोणाकार शैली का बड़ा सुंदर समन्वय है। उसकी सर्वोत्तम कृति 'संत जेरोम अपने अध्ययन में' लंदन के नेशनल हाल में सुरक्षित है। [स० च०]

आंतोफगास्ता चिली देश का एक मुख्य नगर एवं बंदरगाह है तथा आंतोफगास्ता प्रांत की राजधानी है। स्थिति २३° ४८' द० अ०, ७०° ३६' प० दे०, जनसंख्या ६२,२७२ (सन् १९५२ ई०)। इस नगर की स्थापना सन् १८७० ई० में बोलिविया राज्य में हुई थी, किंतु सन् १८७९ ई० में चिली ने आक्रमण करके इसे अधिकृत कर लिया, तभी से यह चिली राज्य में है। यह रेल का एक अंतर्राष्ट्रीय केंद्र है। यहाँ चाँदी शुद्ध करने का कारखाना भी है। चिली के बंदरगाहों में इसका स्थान द्वितीय है। यह नाइट्रेट (शोरा) के निर्यात के लिये विश्वविख्यात है।

आंतोफगास्ता प्रांत का क्षेत्रफल १,२३,०६३ वर्ग किलोमीटर है। जनसंख्या १,८४,८२४ है। यह प्रांत अटकामा मरुभूमि में स्थित है तथा चाँदी, ताँबा, सीसा, सोहागा, नमक इत्यादि खनिजों में धनी है। [नं० किं० प्र० सिं०]

आंत्रज्वर और परांत्रज्वर दोनों 'साल्मोनैला टाईफोसिया" नामक जीवाणुओं के कारण उत्पन्न होते हैं। रोग की अवस्था में तथा रोगमुक्त होने के पश्चात् भी कुछ व्यक्तियों के मल में ये जीवाणु पाए जाते हैं। ये व्यक्ति रोगवाहक

उसकी रियासत ग्रैडेन नामक दैत्य से ग्राक्रात थी। इसका कोई साहित्यिक सौष्ठव नही था, किंतु इसमें एक शक्ति ग्रौर ग्रभिव्यक्ति की क्षमता थी तथा ग्रादिम मानवो के गुहाचित्रो की सी स्पष्टता थी। होमर युग की ग्रपेक्षा इसमें ग्रधिक प्रारभिकता थी। वन्य हिंसक कल्पना होते हुए भी इसमे यत्र तत्र बौद्धिक (स्टोइक) पूर्णता थी। सैक्सन जाति का यह वास्तविक चित्र माना जा सकता है—उस जाति का जो स्वभाव से मनहूस ग्रौर क्रूरता मे चिह्नित थी, जो हँस भी नही सकती थी। वे सभी ग्रपने देश की ग्रधकारमय ठढी शीत ऋतुग्रो की याद दिलाते हैं। बियोउल्फ तथा विडसिथ दोनो उस जाति की महान् गाथाएँ हैं जिनमे कालातर मे ग्रनेक प्रक्षिप्त ग्रश जुडते गए ग्रौर ग्रत में ईसाकाल मे लिखित रूप मे ग्राए। इसीलिये इसपर ईसाई भावनाग्रो का हल्का रग चढा हुग्रा है।

किंतु प्रथम ग्राग्ल-सैक्सन लेखक है एक साधु, केडमन। उसकी कविताएँ बाइबिल से ग्रनूदित हैं। लेकिन उसमें पर्याप्त स्वच्छदता बरती गई है, क्योकि केडमन स्वय लातीनी भाषा से ग्रनभिज्ञ था।

इस समय जो भाषा विकसित हुई थी ग्रौर जिसे हम ग्राग्ल सैक्सन कहते हैं वह जर्मनिक भाषा थी जो वास्तव में जूट्स ग्रौर फ्रीलैंडर्स कबीलो की भाषा से थोडी ही भिन्न थी। केल्टिक भाषा तथा लातीनी ग्रौर गिरजाघरो की लातीनी के सपर्क मे ग्राने पर ही इसमे कुछ परिवर्तन हुग्रा ग्रौर शीघ्र ही इसकी सश्लेषणात्मक विशेषताग्रो मे विश्लेषणात्मक विशेषताग्रो को स्थान देना ग्रारभ हुग्रा। इसमे मल धातुएँ तो ज्यो की त्यो रह गई, किंतु उपसर्गादि बदलने ग्रारभ हो गए।

ग्राग्ल-सैक्सन साहित्य कविताग्रो से समृद्ध था जिनमें से ग्रधिकतर मौखिक होने के कारण नष्ट हो गए ग्रौर कुछ काल के थपेडो में बह गए, किंतु बची खुची कविताएँ ग्रपनी विशेषताग्रो का परिचय देती हैं। इसमे केवल भव्यता थी, छद सबधी उसके प्रयोग बलाघातयुक्त एव श्लेषात्मक होते थे। इसमें यौगिक शब्दो का प्रयोग होता था। किंतु इसमे एक दुर्लभ स्पष्टता एव सादगी वर्तमान थी, यद्यपि वह गीतिमयता एव भव्यता से रहित होती थी।

ग्राग्ल-सैक्सनो का ग्रपना कुछ गद्य साहित्य भी था। यह मुख्यत तथ्यकथन के रूप मे था ग्रौर राजा ग्रल्फ्रेड महान् की कृतियाँ भी इसमे समिलित थी। सन् १०६६ मे एक घटना घटी जिसने इग्लैंड के भाग्य को बदल दिया। विजता विलियम, जो नार्मनो का सरदार तथा मूलत जर्मनिक कबीले का था, ग्रपने बधुग्रो से विलग हो गया, क्योकि उन्होने लातीनी सस्कृति ग्रपना ली थी। ग्रत वह सामने ग्राया ग्रौर इग्लैड को जीत लिया। इनकी भाषा नॉर्मन-फ्रेंच थी ग्रौर लगभग १४वी सदी के ग्रत तक फ्रासीसी कुलीनो एव राजदरबारो की भाषा बनी रही। १५वी सदी के बाद तक ग्रधिकतर ग्रग्रेज, जो सयुक्त रूप से उस समय नॉर्मन ग्रौर सैक्सन थे, फ्रासीसी तथा ग्रग्रेजी दोनो का उपयोग करते थे।

१३०० से १४०० ई० तक ग्रग्रेजी भाषा मे ग्रनेक त्वरित परिवर्तन हुए। ग्रसभ्यो एव बदमाशो की भाषा से बदलकर यह पार्लियामेंट की भाषा बनी ग्रौर ग्रत मे एलिजाबेथ युग के पूर्व मे हुए महान् कवि चॉसर की भी यही भाषा थी। चॉसर को निश्चित रूप से कुछ साहित्यिक रूपो को ग्रतिम ग्राकार देने का श्रेय है, यद्यपि ये रूप किसी न किसी रूप में वर्तमान थे। चॉसर ने कोई नई भाषा नही गढी, केवल लदन की भाषा पर ग्रपनी निजी छाप लगा दी।

चॉसर-पूर्व-पद्यो की तिथि निश्चित करना कठिन है। उनमे से कुछ तो पाडुलिपियो के रूप में वितरित किए गए थे ग्रौर कुछ स्मृति एव मौखिक पाठ के ग्राधार पर चल रहे थे। इससे कोई इतना सोच सकता है कि ये पद्य ग्रधिकतर १३वी सदी में ग्रौर मुख्यत उस सदी के उत्तरार्ध में लिखे गए थे। कभी कभी हम उसके ग्रप्रत्याशित सौंदर्य के एक गीत में ग्राश्चर्यजनक ताजगी का ग्रनुभव करते हैं। जैसे

Summer is a-comen in-londe sing cuckoo

(कोयल गाती है कि धरती पर ग्रीष्म ग्रा रहा है)

कुछ तो ग्राग्ल-सैक्सन कल्पना के निविड ग्रधकार से बिलकुल ही भिन्न हैं। यही कुछ ऐसी वस्तु है जो नॉर्मनो ने इग्लैड को दी—वह था जीवनोल्लास ग्रौर थी निरीक्षण एव मूल्याकन की क्षमता। केल्टिक कल्पना तथा रहस्यवाद से सैक्सन रीतिबद्धता ग्रौर घनत्व का मेल ग्रौर फिर नॉर्मनो की जीवन के शिवतत्वो के प्रति प्रेमभावना का ग्रनुलेप—यही कुछ ऐसी चीजे हैं जो इगलैड के साहित्य को इतना महान् बना देती हैं। यह सब कुछ बहुत निष्प्राण रूप में ग्राया है, फिर भी इसमें ग्रग्रेजो के स्वभाव के वे प्रमुख गुण ग्रभिव्यक्त हैं जो उनके साहित्य मे प्रतिबिंबित होते हैं।

नॉर्मनो तथा सैक्सनो के पारस्परिक विलयन की प्रारभिक ग्रवस्था में दोनो के साहित्य कुछ एक दूसरे से पृथक् थे ग्रथवा कहा जा सकता है कि बडे भद्दे तौर पर मिले थे। किंतु विलयन के पूर्ण होने के तुरत बाद ही काफी सख्या मे लबी कविताएँ लिखी गई। पुरानी केल्टिक गाथाएँ, जो राजा ग्रार्थर से सबधित थी, फ्रासीसी भाषा मे महान् ग्रार्थर सबधी स्वच्छदतावादी साहित्य बन गई। सर गवायन ग्रौर 'हरित योद्धा' (ग्रीन नाइट) जैसी रोमानी ग्रथवा 'मोती' जैसी सुदर कोमल विषयवस्तुवाली एव करुणापूर्ण कविताएँ पढकर कोई भी यह ग्रनुभव करता है कि इन कविताग्रोके, विशेषत ग्रार्थर सबधी रोमानी कथाग्रो के माध्यम से एक नए ढग की राष्ट्रीयता ग्रभिव्यक्त की जा रही है। राजा ग्रार्थर एक राष्ट्रनायक का रूप धारण कर लेता है। केवल राजा ग्रार्थर के धुंधले राष्ट्रनायकत्व मे ही हम कोमलता एव गहराई की भावना से ग्रोतप्रोत नही होते बल्कि रिचर्ड रोल के गीतो में भी हम एक नई जिंदादिली ग्रहण कर सकते हैं। रिचर्ड रोल इग्लैंड के मध्यकालीन रहस्यवादियो मे सबसे बडा था। वह १३५० में चल बसा।

ग्रधिकाश लेखक उत्तर के ग्रथवा मरसिया के थे। किंतु ग्रब हम लदन के ग्रभ्युदय को धन्यवाद दिए बिना न रहेंगे। लदन की भाषा प्रमुख हो चली ग्रौर यहाँ इन कवियो के नाम उल्लेखनीय समझे जायँगे लैंग्लैंड, गोवर ग्रौर चॉसर। ये सभी समसामयिक थे। यद्यपि लैंग्लैंड ग्रधिक वयस्क था, किंतु वह गोवर ग्रौर चॉसर से ग्रधिकतर मिलता रहा होगा, क्योकि लदन उस समय ग्रल्प विस्तृत ग्रौर घनी ग्राबादीवाला प्रदेश था।

कवि के रूप में लैंग्लैड ने बहुत कुछ खोया। उसकी मौलिक प्रतिभा एव महानता लुप्त हो चुकी थी, क्योंकि जान पडता है, उसकी पाडुलिपियाँ बहुत हाथो मे पडी, इससे कविताग्रो के मौलिक रूप नष्ट हो गए ग्रौर ग्रब कोई बहुत दक्ष सपादक ही उनको ग्रतिम शुद्ध रूप देने की ग्राशा कर सकता है, क्योकि ध्यानपूर्वक पढने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ग्रपनी रचनाग्रो में सर्वागपूर्ण था ग्रौर उन पुनरुक्तियो ग्रौर व्यर्थ की कवित्वहीन पक्तियो से सर्वथा रहित था जिन्हे बाद को लोगो ने जोड दिया था।

दूसरा दोष यह था कि उसने ग्राग्ल सैक्सन छदो को, उसकी श्लेषात्मकता ग्रौर बलाघात के साथ ग्रहण कर लिया था। उसने ऐसा बहुत कम ग्रनुभव किया कि ग्राग्ल-सैक्सन भाषा की प्राचीन विशेषताएँ मृतप्राय हो रही थी इसलिये भाषा की रूपसज्जा मे ग्रापातत परिवर्तन ग्रावश्यक था। ग्रौर यदि उनका साहित्य ग्राज उतना नही पढा जाता जितना कि पढा जाना चाहिए (क्योकि रुढिवादी ग्रावरण के साथ उसमे तीक्ष्ण व्यग्य है) तो उसका कारण केवल उनके छद हैं जो पाठको को ग्रपनी सामान्य पहुँच के बाहर प्रतीत होते हैं। उनकी श्लेषात्मकता मे गति भरने ग्रौर गौरव लान की शक्ति नही है।

गोवर मे हमें ऐसी काव्यात्मकता का दर्शन होता है जो थोडी गभीर है। लातीनी, फ्रासीसी ग्रौर ग्रग्रेजी, तीनो में इसकी ग्रच्छी गति थी। ध्यान देने योग्य मुख्य बात यह है कि वह ग्रपनी ही मातृभाषा ग्रग्रेजी में, जो कि उस समय इन तीनो मे सबसे ग्रशक्त थी, विश्वस्त नही प्रतीत होता है। यद्यपि इसकी ग्रग्रेजी शैली चॉसर की भाँति प्रसाद एव लालित्यपूर्ण नही है तो भी सरल है ग्रौर यदि वह 'नैतिक' धारणाग्रो से थोडा बहुत ग्रस्त होता तो वैसी ही ग्रच्छी रचनाएँ दे सकता था।

फिर भी चॉसर का एक ग्रलग ही ससार था। वह शायद लैंग्लैंड से बहुत छोटा था, किंतु लगता है कि वह एक ग्रलग ही दुनिया मे रहता था। लैंग्लैंड एक उत्प्रेरित मध्यकालीन कवि था ग्रौर चॉसर में ग्राधुनिक साहित्य की पहली वास्तविक ग्रावाज थी। सचमुच यह एक दीर्घ प्रशिक्षणकाल था जिसमे उसने फ्रासीसी पद्य के परपरागत स्वच्छदतावाद का ग्रनुसरण किया। फ्रासीसी कवियो, यथा ज्याँ द म्युग, गिलेम द लारिस (Jean de Mung, Gullame de Lorris) को ग्रनूदित किया। बोकाशियो,

जिसकी आद्राक्लीज ने सहायता की थी, सिंह ने, कहते है, इस कारण उसको नही खाया। इसपर आद्राक्लीज को स्वतत्र कर दिया गया।

स०ग्र०—जार्ज बर्नार्ड शॉ आद्रोक्लीज़ ऐंड दि लॉएन्, १९११। [भों० ना० श०]

आंद्रासी जूलियस, काउंट

(१८२३-१८९०ई०)। हगरी के इस राजनीतिज्ञ का जन्म स्लोवाकिया के कोचिरे नगर मे हुआ था। वह हगरी के सवैधानिक आदोलन के नेताओ मे से था। देश के अगले युद्धो मे उसे अनेक बार भाग लेना पडा और फलस्वरूप अनेकानेक कठिनाइयाँ भी सहनी पडी। कालातर मे वह हगरी का प्रधान मत्री हुआ और उसने सेना आदि के क्षेत्र मे अनेक सुधार किए। आस्ट्रिया और रूस से उसे बराबर राजनीतिक लोहा लेते रहना पडा। रूस को वह स्वदेश का अत्यत भीषण शत्रु मानता था और उसके हथकडो के प्रतिकार के लिये उसने जीवन भर प्रयत्न किए। धीरे धीरे देश की रक्षा के लिये उसने ग्रेट ब्रिटेन, इटली, जर्मनी और रूस तक से मैत्री कर ली। यद्यपि वह तुर्कों के उत्तमान साम्राज्य को बनाए रखने के मत का था, परतु यदि वह सभव न हो सका तो वह रूस के मुकाबले आस्ट्रिया-हगरी का प्रभुत्व बाल्कन राज्यो मे कायम रखना चाहता था। पूर्वी प्रश्न के सबध मे उसने बराबर इसी दृष्टि से प्रयत्न किए। आद्रासी पहला मगयार राजनीतिज्ञ था जिसने अखिल यूरोपीय यश अर्जित किया। वह क्रातिपूर्व हगरी के राज्य का प्रधान निर्माता माना जाता है। [ओ० ना० उ०]

आंद्रिया

इटली के आपूलिया प्रात का एक नगर तथा एक कम्यून (प्रशासकीय विभाग) है। यह बारी नगर से ३१ मील पश्चिमोत्तर-पश्चिम दिशा मे एक कृषिक्षेत्र में स्थित है। जनसख्या ६३,१९६ (सन् १९४९ ई०)। इस नगर की स्थापना आद्रिया के प्रथम नार्मन सामत पीटर द्वारा सन् १०४६ ई० के लगभग हुई थी। यह सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय का प्रिय निवासस्थान था। यहाँ अनेक पुरानी इमारते है, जिनमे १३वी शताब्दी के कुछ गिरजाघर भी हैं। यह जैतून, गेहूँ तथा बादाम के व्यवसाय का एक प्रमुख केंद्र है। [न० कि० प्र० सि०]

आंद्रिया देल सार्तो

(१४८६-१५३० ई०) इटली का पुनर्जागरणकालीन प्रसिद्ध चित्रकार। उसका पिता आग्नोलो दर्जी था। अनेक स्थितियो मे प्रारभिक जीवन बिताकर आद्रिया ने स्वतत्र चितेरे की वृत्ति आरभ की। फ्लोरेस के अनत्सियाता गिरजे में उसने सत फिलिप्पी बेनित्सी के जीवन की घटनाओ का भित्तिचित्रण किया। अपनी २३ वर्ष की आयु मे ही चित्रण की तक्नीक मे वह इटली का सर्वोत्तम चितेरा माना जाने लगा था। कुछ लोगो के विचार मे तो रफेल भी उसका मुकाबिला नही कर सकता था। माइकेल ऐंजेलो के भित्तिचित्रण अभी प्रारभिक अवस्था मे ही थे। आद्रिया की शैली शुद्ध और सादी थी। वह एक बार चित्रलिख कर फिर दूसरी बार उसपर ब्रुश कभी नही फेरता था। इन भित्तिचित्रो से उसकी इतनी ख्याति हुई कि सर्वत्र से उसका बुलावा आने लगा और काम की बाढ आ गई। उसका प्रधान आकर्षण आकृतिचित्रण था। भित्तिचित्रो मे भी उसकी चिती आकृतियाँ कुशलतम चितेरो के जोड की है।

आद्रिया के विशिष्ट भित्तिचित्र है—'कुमारी का जन्म', 'मागी का जलूस', 'बाप्तिस्त का भाषण,' 'श्रद्धा', 'दान', 'बाप्तिस्त का शिरश्छेद', 'हिरोद की कन्या का नृत्य', 'मादोना देल साच्चो', 'अतिम भोज'। उसके आकृतिचित्र लदन की नेशनल गैलरी, पेरिस के लुव्र, फ्लोरेस के उफिफ्जी गैलरी आदि के सग्रहालयो मे प्रदर्शित है। राजा फ्रासिस प्रथम के निमत्रण पर वह फ्रास गया और वहाँ भी उसने अनेक चित्र लिखे। पर बीच मे ही पत्नी के बुलाने से वह स्वदेश लौट गया। उसकी पत्नी लुक्रेत्सिया अत्यत रूपवती थी और आद्रिया उसे देखते ही उसपर आसक्त हो गया था। तब वह अन्य की विवाहिता थी, पर पति शीघ्र ही मर गया और प्रेमियो ने तत्काल परस्पर विवाह कर लिया। इस पत्नी के सौंदर्य का आद्रिया पर इतना गहरा प्रभाव था कि उसके बनाए मदोना (मरियम) के सारे चित्र लुक्रेत्सिया के रूप से ही प्रभावित थे। उसके लिखे अन्य आकृतिचित्रो मे भी अधिकतर उसी की रूपरेखा उभर आई है। आद्रिया अपने जन्म के नगर फ्लोरेस मे ही ४३ वर्ष की आयु मे प्लेग से मरा। उसकी पत्नी विधवा होकर उसकी मृत्यु के ४० वर्ष बाद तक जीवित रही।

स०ग्र०—एच० गिन्नेस आद्रिया देल सार्तो, १८९९, एफ० नाप आद्रिया देल सार्तो, बाइलेफेल्ड और लाइप्सिग, १९०७। [भ० श० उ०]

आंद्रेएव लियोनिद निकोलएविच

(१८७१-१९१९) रूस के सुप्रसिद्ध नाट्यकार एव उपन्यासलेखक जिनका रूसी कथासाहित्य मे एक विशिष्ट स्थान है। आई० डब्ल्यू० श्क्लोवस्की ने उनकी तुलना गोगोल से की है। उनकी सर्वप्रिय रचनाएँ 'दि रेड लाफ' (१९०४) 'दि लाइफ ऑव मैन' (१९०६) जो एक रूपक अथवा प्रतीक नाटक है, 'दि सेवेन दैट वेयर हैंग्ड' (१९०८) तथा 'ही हू गेट्स स्लैप्ड' है, जिनमे से अतिम का शीर्षक जितना ही रोचक है उतना ही तत्कालीन सामाजिक जीवन के चित्राकन मे कटु है। [च० म०]

आंद्रोनिकस प्रथम

१२वी सदी के मध्य पूर्वी साम्राज्य का सम्राट्। ११४१ ई० मे तुर्को ने उसे पकडकर साल भर कैद रखा। अलेक्सिअस के मरने पर आद्रोनिकस कोस्तातिनोपुल मे सम्राट् हुआ और अपने अल्प काल के शासन मे उसने सामती सस्थाओ के विरुद्ध अनेक नियम बनाकर प्रजा का दुख हरा, यद्यपि उससे उसके सामत बिगड उठे। आभिजात्यो ने उससे विद्रोह किया और ११८५ मे उसकी हत्या कर दी गई। [ओ० ना० उ०]

आंद्रोनिकस द्वितीय

(१२६०-१३३२ ई०) रोमन सम्राट् मिखायल पालियोलोगस उसका पिता था जिसके मरने के बाद वह स्वय पूर्वी रोमन साम्राज्य का सम्राट् हुआ। उसके शासनकाल मे वेनिस और जेनोआ की कीर्ति बढी और तुर्को ने बिथीनिया साम्राज्य से छीन लिया। उनसे लडने के लिये सम्राट् ने रोगर दी फ्लोर नाम के एक स्पेनी सामरिक को नियत किया। रोगर ने तुर्को को हरा तो दिया पर वह स्वय सम्राट् के साथ मनमानी करने लगा। अत मे जो उसके सैनिको ने विद्रोह किया तो एथेस् और थीबीज साम्राज्य के हाथ से निकल गए। अत मे आद्रोनिकस को साम्राज्य की गद्दी अपने पौत्र को दे देनी पडी। [ओ० ना० उ०]

आंध्र

भारत का एक प्रदेश है। क्षेत्रफल १,०५,९६३ वर्ग मील। श्री रामुलु के आत्मबलिदान के पश्चात्, भारतीय सघ का यह प्रथम भाषानुसार बना राज्य है। इसकी स्थापना १ अक्टूबर, सन् १९५३ ई० को हुई। तत्पश्चात् १ नवबर, सन् १९५६ ई० को हैदराबाद के तेलगाना क्षेत्र के भी इसमे मिल जाने पर वर्तमान आध्र प्रदेश का निर्माण हुआ। इस राज्य मे श्रीकाकुलम्, विशाखापट्टनम्, पूर्वी गोदावरी, पश्चिमी गोदावरी, कृष्णा, गुटूर, नेल्लोर, कड्डपा, कुर्नूल, अनतपुर, चित्तूर, हैदराबाद, महबूबनगर, आदिलाबाद, निजामाबाद, मेडक, करीमनगर, वारगल, खम्माम तथा नलगोडा नामक बीस जिले है।

प्राकृतिक दशा—आध्र प्रदेश का पूर्वी सागरतटीय भाग मैदान है, जो गोदावरी एव कृष्णा के नदीमुख प्रदेशो मे अधिक विस्तृत हो गया है। इस मदानी भाग का विस्तार नदीघाटियो के रूप मे पश्चिम की ओर भी है। इसपर नदियो द्वारा लाई हुई उपजाऊ कॉप मिट्टी बिछी हुई है। राज्य के पूर्वी भाग मे पूर्वी घाट की पहाडियाँ, उत्तर से दक्षिण तक, फैली हुई हैं। युगो से गर्मी सर्दी तथा वर्षा सहने के कारण इनकी चोटियाँ कटकर चपटी हो गई हैं और नदियो ने इन्हे असबद्ध कर दिया है। आध्र का उत्तर-पश्चिमी भाग दक्षिणी सोपानाश्म (डेकन ट्रैप) से ढका है। पूर्वी भाग मे नवीन तथा प्राचीन जलोढ (अलवियम) के निक्षेप है। इसका शेष भाग आद्यकल्प (आरकियन) के कणाश्म (ग्रैनाइट) तथा दलाश्म (नाइस) से बना हुआ है। इस राज्य का पठारी भाग सागरतल की अपेक्षा ५०० से २००० फुट तक ऊँचा है।

जलवायु—आध्र प्रदेश उष्ण जलवायु प्रदेश के अतर्गत है। यहाँ का जनवरी का औसत ताप ६५° फा० से ७५° फा० तथा जुलाई का औसत ताप ८५° फा० से ९५° फा० तक होता है। सागरीय प्रभाव के कारण पूर्वी

के बीच वहुवा एक अकोशिकीय पदार्थ—मध्यश्लेप (मीसोग्लीया)—होता है। मुख के चारो ओर बहुधा कई लबी स्पर्शिकाएँ होती हैं। इनका ककाल, यदि हुआ तो, कैल्सियमयुक्त या सीग जैसे पदार्थ का होता है। जल मे रहने तथा सरल सरचना के कारण इन में न तो परिवहनसस्थान होता है, न उत्सजन या श्वसनसस्थान। जननक्रिया अलैंगिक तथा लैंगिक दोनो ही विधियो से होती है। अलैंगिक जनन कोशिकाभाजन द्वारा होता है। लैंगिक जनन के लिये जननकोशिकाओ की उत्पत्ति बाह्यस्तर अथवा अत स्तर में स्थित जननागो में होती है। इन जीवो मे कई प्रकार के डिंभ (लार्वा) पाए जाते हैं और कई जातियो मे पीढियो का एकातरण होता है। अधिकाश जातियाँ दो मे से एक रूप मे पाई जाती हैं—पालिप (पॉलिप) रूप में या मेडुसा रूप में, और जिनमे एकातरण होता है उनमें एक पीढी एक रूप की तथा दूसरी दूसरे रूप की होती है। कुछ जातियो में बहुरूपता का बहुत विकास देखा जाता है।

पालिप तथा मेडूसा—(१) पालिप रूप के आतरगुही जलीयक (*हाइड्रोजोआ*) तथा पुष्पजीव (*ऐंथोजोआ*) वर्गो में पाए जाते हैं। पुष्पजीवो मे उनके विकास की पराकाष्ठा दिखाई पडती है। सरल रूप का पालिप गिलास जैसा या बेलनाकार होता है। उसका मुख ऊपर की ओर तथा मुख की विपरीत दिशा पृथ्वी की ओर होती है। उपनिवेश (कॉलोनी) बनानेवाली जातियो मे मुख की विपरीत दिशावाले भाग से पालिप उपनिवेश से जुडा रहता है। ऐसी जातियो में विभिन्न पालिपो की आतरगुहाएँ एक दूसरे से शाखाओ की गुहाओ द्वारा सबधित रहती हैं। ऐसी जातियो में अधिकाशत सभी पालिप एक जैसे नही होते। उदाहरण के लिये कुछ मुखसहित होते हैं और भोजन ग्रहण करते हैं तो कुछ मुखरहित होते हैं और भोजन नही ग्रहण कर सकते। ये केवल जननक्रिया मे सहायक होते हैं (नीचे देखिए बहुरूपता)। जलीयको के पालिपो की आतरगुहा सरल आकार की थैली जैसी होती है, किंतु पुष्पजीवो मे कई खडे परदे दीवार की भीतरी पर्त से निकलते है जो आतरगुहा को अपूर्ण रूप से कई भागो मे बाँट देते हैं। इनकी सख्या तथा व्यवस्था प्रत्येक जाति मे निश्चित रहती है। समुद्रपुष्प तथा कई अन्य मूंगे की चट्टानो का निर्माण करनेवाले आतरगुहियो में इन परदो तथा स्पर्शिकाओ की सख्या में विशेष सबध होता है।
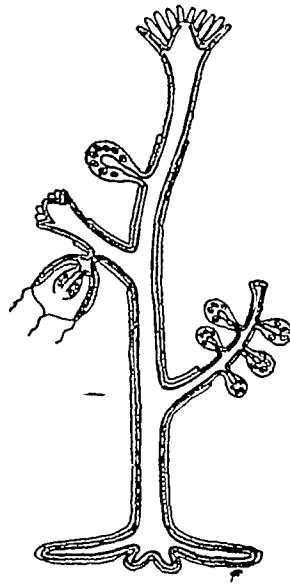
आतरगुही, पालिप रूप

आतरगुहियो मे बीच में गुहा रहती है। अँतडी, फेफडा इत्यादि कोई अग इनमे नही होते।

समुद्रपुष्प (सी ऐनिमोन) का नाम इसलिये पडा है कि वह कुछ कुछ फूल सा दिखाई पडता है। इसकी भी सरचना अन्य पालिपो की तरह होती है। खोखले बेलनाकार स्तभ के ऊपर गोल टिकिया सी रहती है, जिसके बीच में मुँहवाला छेद होता है और स्पर्शिकाओ की एक या अधिक तह होती है। स्पर्शिकाएँ फूल की पँखुडियो सी जान पडती हैं। स्तभ का निचला सिरा चिपटे पाँव की तरह होता है। इसी के सहारे समुद्रपुष्प विविध वस्तुओ में चिपकता है। परतु वह स्थायी रूप से एक ही जगह नही चिपका रहता। समुद्रपुष्प चल सकता है, परतु बहुत धीरे धीरे। बहुधा कई दिनो तक एक ही स्थानमें चिपका रह जाता है। समुद्र के तट के पास, छिछले पानी में, समुद्रपुष्प बहुत पाए जाते है। ये प्राय सभी समुद्रो में पाए जाते हैं, परतु उष्णदेशीय समुद्रो के समुद्रपुष्प बडे होते है। ऐसे देशो में मूंगे की डूबी शैल मालाओ पर गज भर तक की टिकियावाले समुद्रपुष्प पाए जाते हैं। ये विविध रगो के होते हैं और बहुधा इनपर सुदर धारियाँ और ज्यामितीय चित्रकारी रहती है। ये मासाहारी होते हैं और अपनी स्पर्शिकाओ से छोटे जीवो को पकडकर खाते हैं।

समुद्रपुष्प (सी ऐनिमोन)

यह समुद्र की पेंदी पर चिपका रहता है। देखने मे यह फूल सा लगता है, परतु है यह प्राणी और अपनी स्पर्शिकाओ द्वारा छोटे जीवो को पकडकर पचा डालता है।

(२) मेडूसा—उन आतरगुहियो को जिन्हे लोग गिजगिजिया (अँग्रेजी मे जेली फिश) कहते हैं, वैज्ञानिक भाषा मे मेडूसा कहते हैं। पाश्चात्य परपरा के अनुसार मेडूसा नाम की एक राक्षसी थी जिसे केश नही थे, केश के बदले में सर्प थे। इसी राक्षसी के नाम पर इन आतरगुहियो का नाम मेडूसा पडा है। मेडूसा का शरीर छतरी के समान होता है और भीतर से, उस बिंदु पर जहाँ छतरी की डडी लगनी चाहिए, मुख होता हैं, छतरी की कोर से स्पर्शिकाएँ निकली रहती हैं। छतरी के आकार का होने के कारण इन्हें हिंदी मे छत्रिक कहा जाता है। इनका शरीर अत्यत नरम होने के कारण इन्हें साधारण भाषा मे गिजगिजिया कहते हैं।

गिजगिजिया बडी ही सुदर होती हैं। इनका मनमोहक रूप देखकर मनुष्य आश्चर्यचकित रह जाता है। इनके शरीर की सरचना ततुमय होती है, न बाहर हड्डी होती है और न भीतर। इनके भीतर बहुत सा जल रहता है। इसीलिये पानी के बाहर निकाले जाने पर वे चिचुक जाती हैं और उनकी सुदरता जाती रहती है।

आतरगुही, मेडुसा रूप

इन्हे छत्रिक और गिजगिजिया (जेली फिश) भी कहते हैं।
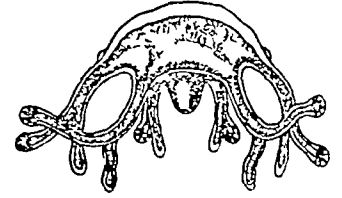
समुद्रतट पर खडे होने से ये जतु पानी मे तैरते हुए कभी न कभी दिखाई पड ही जाते है। उनकी स्पर्शिकाएँ नीचे झूलती रहती हैं और ऊपर छतरी की तरह उनका शरीर फूला रहता है। जान पडता है कि ये लाचार हैं और पानी जिधर चाहे उधर उन्हें वहा ले जायगा, परतु बात ऐसी नही होती। गिजगिजिया इच्छित दिशा में जा सकती है, हाँ, वह तेज नही तैर सकती। तैरने के लिये यह अपने छतरी जैसे अगो को बार बार फुलाती चिपकाती है।

गिजगिजिया की कई जातियाँ होती हैं। कुछ मे छतरी तीन फुट व्यास की होती है, परतु अन्य जातियो में छतरियाँ छोटी होती हैं। गिजगिजियाँ विविध सुदर रगो की होती है, परतु तैरनेवालो को उनसे बचा ही रहना चाहिए, क्योकि उनकी बाहुओ मे अनेक नलिकाएँ होती है, जो शत्रु के शरीर में डक की तरह विप पहुँचाती हैं। बडी गिजगिजियो की स्पर्शिकाएँ कई गज लबी होती हैं। एक की चपेट में आ जाने से मनुष्य को घटो पीडा होती है। कभी कभी मृत्यु भी हो जाती है।

आतरगुही की सरचना—ऊपर के सक्षिप्त वर्णन से पता चलेगा कि आतरगुही की साधारण सरचना उच्च प्राणियो के भ्रूणवर्धन में एकभित्तिका (ब्लास्टुला) अवस्था के समान है (देखे **अपृष्ठवशी भ्रूणतत्व**)। इस अवस्था मे भ्रूण एक थैली के समान होता है, जिसके भीतर एक बडी गुहा होती है और इसमें बाहर से सपर्क के लिये एक ही छिद्र होता है। गुहा की दीवार कोशिकाओ के दो स्तरो की बनी होती है। वास्तव में ऐसा कोई आतरगुही नही है जिसकी सरचना एकभित्तिका के समान सरल हो, किंतु आद्यजलीयक (प्रोटोहाइड्रा) नामक आतरगुही और एकभित्तिका में केवल इतना ही अतर है कि प्रथम की कोशिकाएँ कई प्रकार की होती हैं और दोनो स्तरो के बीच एक अकोशिकीय पदार्थ—मध्यश्लेप (मीज़ो-

मे थर्मोपिली के पास ग्रथेला नामक स्थान पर देमेतर (ग्रन्न ग्रौर कृषि की देवी) के मदिर की व्यवस्था करती थी तथा जो ग्रागे चलकर दैल्फी मे सूर्य देव ग्रपोलो के मन्दिर का भी प्रवध करने लगी थी। इसके प्राचीनतम रूप मे यूनानियो के १२ कवीले (थेसालियन्, वियोतियन्, दोरियन्, इयोनियन् (स० यवन), पैहिवियन्, दोलोपियन्, माग्नेती, लोक्रियन्, इनियाने, फ्थियोती, ग्रकियन्, मालियन् ग्रौर फोकियन्) समिलित थे। समय समय पर इन कवीलो की सख्या घटती वढती रही थी। इस परिषद् की वैठके वर्ष मे दो वार, वारी वारी से दैल्फी ग्रौर थर्मोपिली मे, हुग्रा करती थी, जिनमे प्रत्येक कवीले को दो मत प्राप्त थे। इसकी सपत्ति का ग्रनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसने ग्रपना सिक्का भी चलाया था।

ग्रीक जगत् मे इस परिषद् का राजनीतिक महत्व भी पर्याप्त था। विभिन्न नगरराष्ट्रो मे वँटी हुई ग्रीक जाति मे यह परिषद् एकता की दिशा मे प्रभाव डालनेवाली थी। ग्रापसी युद्धो मे परिषद् ने नगरो को ग्रौर नगरो की जल की व्यवस्था को नष्ट करने का निषेध कर दिया था। ग्रागे चलकर इस परिषद् ने समस्त ग्रीक जाति पर एक समान लागू होनेवाले नियम वनाने की दिशा मे भी प्रयत्न किया था ग्रौर एक समान मुद्रा-प्रचलन का भी उद्योग किया था। परिषद् के नियमो का उल्लघन करनेवालो के ग्रभियोगो का निर्णय कवीलो के मताधिकारी प्रतिनिधियो के द्वारा किया जाता था जो 'हियेरोम्नेमोन्' कहलाते थे एव ग्रपराधियो के विरुद्ध धर्मयुद्ध तक की घोषणा कर सकते थे। पर वलशाली नगर-राष्ट्र इस परिषद् के ग्रादेशो की उपेक्षा भी कर देते थे ग्रौर कभी कभी इसका ग्रपने कार्यो के साधने मे भी प्रयोग करते थे। फेराए के यासन् ग्रौर मकदूनिया के फिलिप् ने इसका उपयोग ग्रपनी शक्ति वढाने के लिये किया था। कहते है कि इस परिषद् का प्रथम सस्थापक ग्रम्फिक्त्योन् था जो देउकालियोन् का पुत्र ग्रौर हेलेन् का भाई था।

स०ग्र०—वुजोल्ट ग्रीशिशे ग्ट्राट्स्कुडे, १६२६। कारस्टेट् ग्रीशिशे श्टाट्स्रेश्ट, १६२२। [भो० ना० ग०]

ग्राँबा हलदी

ग्राँबा हलदी या ग्रामा हलदी को सस्कृत मे ग्राम्रहरिद्रा ग्रथवा वनहरिद्रा तथा लैटिन मे करकुमा ऐरोमैटिका कहते है।

यह वनस्पति विशेषकर वगाल के जगलो मे ग्रौर पश्चिमी प्रायद्वीप मे होती है। इसकी जडे रग मे हल्दी की तरह ग्रौर गध में कचूर की तरह होती है। जडे वहुत दूर तक फैलती है। पत्ते वडे ग्रौर हरे तथा फूल सुगधित होते है। इसे वागीचो मे भी लगाते है।

ग्रायुर्वेद मे इसे शीतल, वात-रक्त ग्रौर विष को दूर करनेवाली, वीर्यवर्धक, सनिपातनाशक, रुचिदायक, ग्रग्नि का दीपन करनेवाली तथा उग्रव्रण, खाँसी, श्वास, हिचकी, ज्वर ग्रौर चोट से उत्पन्न सूजन को नष्ट करनेवाली कहा गया है।

इसकी सुखाई हुई गाँठो का व्यवहार वातनाशक ग्रौर सुगध देनेवाले द्रव्य के समान किया जाता है। चोट तथा मोच मे भी ग्रन्य द्रव्यो के साथ पीसकर इसके गरम लेप का व्यवहार किया जाता है।

[भ० दा० व०]

ग्रांबुर

ग्रांबुर मद्रास प्रात के ग्रतर्गत उत्तरी ग्रर्काट जिले मे वेलोर तालुके मे एक नगर तथा दक्षिण रेलवे का एक स्टेशन है। यह पलार नदी के दक्षिणी किनारे पर वेलोर से ३० मील तथा मद्रास से ११२ मील दूर स्थित है (स्थिति १२°४८' उ० ग्रक्षाश तथा ७८° ४३' पू० देशातर)। पहले यह नील के व्यापार का केद्र था, ग्रव यहाँ से तेल, घी तथा ग्रन्य खाद्य वस्तुएँ मद्रास भेजी जाती है। यहाँ की मुख्य व्यापारी जाति 'लवाई' है।

वहुत ऊँचा ग्रावुर मीनार ऐतिहासिक दृष्टि से प्रसिद्ध है। भूतकाल मे यहाँ वहुत सी भयकर लडाइयाँ लडी गई थी। नगर की जनसख्या १६०१ ई० मे १५,६०३ थी, पर १६५१ ई० मे यह ३६,६६२ हो गई जिसमे २०,३१२ महिलाएँ थी। यहाँ उद्योग, व्यापार तथा नौकरियो मे लगभग वरावर सख्या मे लोग लगे हुए है।

[ह० ह० सि०]

ग्रांब्रोज

ग्रांब्रोज (३४०-३७१) मिलान के विशप, जन्म त्रीव्ज मे। प्राचीन ईसाई धर्म के ग्रगस्तिन, जेरोम ग्रौर ग्रेगरी महान् की श्रेणी के सत। इन्होने धार्मिक भावना से ग्रोतप्रोत पर सरल वोधगम्य भाषा मे ग्रनेक भजनो की रचना की जो वाद के भजनो के लिये ग्रादर्श सिद्ध हुए। इनके पिता प्रीफेक्ट ग्रौर माता विदुषी एव दयावान स्त्री थी। इन्हें रोम मे शिक्षा मिली थी, तदुपरात मिलान के विशप हुए। ग्रपना धन इन्होने गरीवो मे वाँटकर ईसाई धर्म के प्रचार मे ग्रपना जीवन लगा दिया।

[स० च०]

ग्रांभी

ग्रांभी ३२६ ई० पू०, सिकदर का समकालीन ग्रौर तक्षशिला का राजा। सिकदर ने जव सिधुनद पार किया तव ग्राभी ने ग्रपनी राजधानी तक्षशिला मे चाँदी की वस्तुएँ, भेडे ग्रौर वैल भेट कर उसका स्वागत किया। चतुर विजेता ने उसके उपहारो को ग्रपने उपहारो के साथ लौटा दिया जिसके फलस्वरूप ग्राभी ने ग्रागे का देश जीतने के लिये उसे ५००० ग्रनुपम योद्धा प्रदान किए। ग्राभी को उदार विजेता ने फिर झेलम ग्रौर सिधुनद के द्वाव का शासक नियुक्त किया।

[ग्रो० ना० उ०]

ग्राँवला

ग्राँवला सस्कृत मे इसे ग्रमृता, ग्रमृतफल, ग्रामलकी, पचरसा इत्यादि, ग्रग्रेजी मे एम्लिक माइरोवालान तथा लैटिन मे फिलैथस एवेलिका कहते है।

यह वृक्ष समस्त भारत के जगलो तथा वाग वगीचो मे होता है। इसकी ऊँचाई २० से २५ फुट तक, छाल राख के रग की, पत्ते इमली के पत्तो जैसे, किंतु कुछ वडे तथा फूल पीले रग के छोटे छोटे होते है। फूलो के स्थान पर गोल, चमकते हुए, पकने पर लाल रग के, फल लगते है, जो ग्राँवला नाम से ही पुकारे जाते है। वाराणसी का ग्राँवला सव से ग्रच्छा माना जाता है। यह वृक्ष कार्तिक मे फलता है।

ग्रायुर्वेद के ग्रनुसार हरीतकी (हड) ग्रौर ग्राँवला दो सर्वोत्कृष्ट ग्रोषधियाँ है। इन दोनो मे ग्राँवले का महत्व ग्रधिक है। चरक के मत से शारीरिक ग्रवनति को रोकनेवाले ग्रवस्थास्थापक द्रव्यो मे ग्राँवला सवसे प्रधान है। प्राचीन ग्रथकारो ने इसको शिवा (कल्याणकारी), वयस्था (ग्रवस्था को वनाए रखनेवाला) तथा धात्री (माता समान रक्षा करनेवाला) कहा है।

इसके फल पूरा पकने के पहले ही व्यवहार मे ग्राते है। वे ग्राही (पेट झरी रोकनेवाले), मूत्रल तथा रक्तशोधक वताए गए है। कहा गया है कि ये ग्रतिसार, प्रमेह, दाह, कँवल, ग्रम्लपित्त, रक्तपित्त, ग्रर्श, वद्धकोष्ठ, ग्रजीर्ण, ग्ररुचि, श्वास, खाँसी इत्यादि रोग को नष्ट तथा दृष्टि को तेज, वीर्य को दृढ ग्रौर ग्रायु की वृद्धि करते है। मेधा, स्मरणशक्ति, स्वास्थ्य, यौवन, तेज, काति तथा सर्ववलदायक ग्रोषधियो मे इसे सर्वप्रधान कहा गया है। इसके पत्तो के क्वाथ से कुल्ला करने पर मुँह के छाले ग्रौर क्षत नष्ट होते है। सूखे फलो को पानी मे रात भर भिगोकर उस पानी से ग्राँख धोने से सूजन इत्यादि दूर होती है। सूखे फल खूनी ग्रतिसार, ग्राँव, ववासीर ग्रौर रक्तपित्त मे तथा लोहभस्म के साथ लेने पर पाडुरोग ग्रौर ग्रजीर्ण मे लाभदायक माने जाते है। ग्राँवला के ताजे फल, उनका रस या इनसे तैयार किया शरवत शीतल, मूत्रल, रेचक तथा ग्रम्लपित्त को दूर करनेवाला कहा गया है। ग्रायुर्वेद के ग्रनुसार यह फल पित्तशामक है ग्रौर सधिवात मे उपयोगी है। व्राह्म रसायन तथा च्यवनप्राश, ये दो विशिष्ट रसायन ग्राँवले से तैयार किए जाते है। प्रथम मनुष्य को नीरोग रखने तथा ग्रवस्थास्थापन मे उपयोगी माना जाता है तथा दूसरा भिन्न भिन्न ग्रनुपानो के साथ भिन्न भिन्न रोगो, जैसे हृदयरोग, वात, रक्त, मूत्र तथा वीर्यदोष, स्वर-क्षय, खाँसी ग्रौर श्वासरोग मे लाभदायक माना जाता है।

ग्राधुनिक ग्रनुसधानो के ग्रनुसार ग्राँवला मे विटैमिन सी प्रचुर मात्रा मे होता है, इतनी ग्रधिक मात्रा मे कि साधारण रीति से मुरव्वा वनाने मे भी सारे विटैमिन का नाश नही हो पाता। सभवत ग्राँवले का मुरव्वा इसीलिये गुणकारी है। ग्राँवले को छाँह मे सुखाकर ग्रौर कूट पीसकर सैनिको के ग्राहार मे उन स्थानो मे दिया जाता है जहाँ हरी तरकारियाँ नही मिल पाती। ग्राँवले के उस ग्रचार मे जो ग्राग पर नही पकाया जाता

अतस्तर (एडोडर्म) में प्राय तीन ही प्रकार की कोशिकाएँ पाई जाती हैं। सख्या में सबसे अधिक पोपिकोशिकाएँ होती है। ये रभाकार और ऊँची होती हैं तथा इनके स्वतत्र तलो से कई कूटपाद निकलते हैं। इनके द्वारा ये उन भोजनकणो का अतर्ग्रहण करती है जो समुद्र मे पाए जाते है। मीठे (अलवण) पानी के आतरगुहियो मे बहुधा पोपिकोशिकाओ में शैवाल (एलजी) पाए जाते है। इनके साथ आतरगुही का सहजीवन का सबध होता है।

पोपिकोशिकाओ के बीच बीच मे कुछ छोटी ग्रथिकोशिकाएँ होती है, जिनसे पाचक रस उत्पन्न होकर आतरगुहा में जाता है और कुछ सीमा तक भोजन के पाचन में सहायक होता है। सभवत इसी रस के कारण जीवित शिकार अवसन्न भी होते है।

मध्यश्लेप (मीजोग्लिया) की रचना विभिन्न होती है। बहुधा यह पतले श्लेष्मक के स्तर जैसा होता है, कुछ मे यह कडी उपास्थि जैसा होता है और कुछ में लगभग तरल। यह बिना कोशिका का ही होता है, किंतु बहुधा इसमें कुछ स्वतत्र कोशिकाएँ पाई जाती है, जो बाह्य स्तर या अतस्तर से इसमे आ जाती हैं। कुछ आतरगुहियो मे कोशिकाओ के अतिरिक्त अनेक ततु भी पाए जाते हैं, जो कभी भी पेशीय प्रकृति के नही होते और जिनके कार्य के विषय मे निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है।

उपनिवेशो (कॉलोनीज़) का निर्माण तथा बहुरूपता—जलीयक, स्वर्णछत्रिक, ऑरेलिया, मेट्रीडियम तथा अन्य समुद्रफूल (ऐनिमोन) उन आतरगुहियो मे हैं जिनका प्रत्येक सदस्य स्वतत्र, अर्थात् एक दूसरे से पृथक् होता है। किंतु सुकुमार (ओवीलिया) के पालिप मे कई जीव एक दूसरे से सबद्ध होकर रहते हैं। इनकी आतरगुहाएँ एक दूसरे से सबधित होती हैं, प्रतिक्रिया में भी कुछ सामजस्य होता है और यही नही, प्राणियो के बीच थोडा श्रम का विभाजन भी होता है। मुखवाले पालिप भोजन करते हैं, छत्रिक निर्माण नही करते, मुखरहित पालिप भोजन नही ग्रहण करते, छत्रिक निर्माण करते ह। सुकुमार मे छत्रिक भी इस जाति का एक अलग रूप है। इस प्रकार कम से कम तीन रूप या सरचनावाले सदस्य एक सुकुमार की ही जाति मे हुए। किसी जाति मे जब सदस्य एक से अधिक रूपो मे पाए जाते है तो इसको बहुरूपता कहते हैं। छत्रिक तथा पालिप की बहुरूपता पीढियो के एकातरण से सबधित है, पालिप तथा कुड्मसजीव (ब्लास्टोस्टाइल) की बहुरूपता उपनिवेशनिर्माण के कारण है। कई जातियो मे एक ही उपनिवेश मे कई प्रकार के प्राणी होते हैं। जलीयक वर्ग के निनालघरगण (साइफोनोफोरा) में बहुरूपता का जो विकास देखने मे आता है वह पूरे जतुससार मे कही और नही दिखाई पडता। उदाहरण के लिये, समुद्रशालि (हैलिस्टेमा) वर्ग मे कुछ सदस्य छोटे गुब्बारे के आकार के होते है, जो वायु से भरे होने के कारण हलके होते हैं और इन्ही के कारण पूरी बस्ती उलटी तैरती है, कुछ पत्ती जैसे चपटे होते है, कुछ समुख होते हैं, कुछ मे स्पर्शिकाएँ बहुत बडी होती है और बहुधा मुख नही होते, कुछ जननागो से युक्त होते हैं, कुछ नही। इसी प्रकार अन्य निनालवरगण (साइफोनोफोरा) मे भी भिन्न-भिन्न रूप के सदस्य होते हैं। पुष्पजीवी (एथोजोआ) या प्रवाल बनानेवाले आतरगुहियो मे बहुरूपता इस सीमा तक विकसित हो गई है कि कभी कभी यह सदेह होता है कि एक ही बस्ती के विभिन्न शारीरिक रचनावाल प्राणी वास्तव में अलग अलग सदस्य हैं या बहुविकसित अग, जो मिलकर एक बहुविकसित सदस्य की रचना करते हैं। इस प्रकार निनालवरगण (साइफोनोफोरा) मे बहु-अग-सिद्धात (अर्थात् ये विभिन्न रूप अग है, सदस्य नही) तथा बहु-सदस्य-सिद्धात (अर्थात् विभिन्न रूप सदस्य हैं, अग नही) की समस्या का प्रारभ हो गया है।

वर्गीकरण—आतरगुही को तीन वर्गो मे विभाजित किया जाता है जलीयकवर्ग (हाइड्रोज़ोआ), छत्रिकवर्ग (स्काईफोजोआ) तथा पुष्पजीवी (ऐंथोज़ोआ या एक्टीनोजोआ)। जलीयकवर्ग के अतर्गत जलीयक, सुकुमार तथा अनेक जीव आते है, जिनमें साधारणत छत्रिक तथा पालिप दोनो रूप पाए जाते हैं। छत्रिकवर्ग में छत्रिक का विकास होता है, किंतु पालिप अविकसित रह जाता है। इसके अतर्गत जेली मछलियाँ रखी जाती हैं। पुष्पजीवी में पालिप सुविकसित होता है, किंतु छत्रिक अनुपस्थित होता है। इस वर्ग मे समुद्रफूल, प्रवाल निर्माण करनेवाले आतरगुही आदि रखे जाते है। पहले इसमे एक चौथा वर्ग पक्षवाही (टीनोफोरा) भी रखा जाता था, किंतु ये जतु अन्य आतरगुहियो से इतने भिन्न होते हैं कि इनको अब आतरगुहियो से अलग एक पृथक् प्रसृष्टि मे ही रखा जाता है।
[उ० श० श्री०]

आंतिगुआ द्वीप

पश्चिमी द्वीपपुज का एक द्वीप है, जो बारबुडा तथा रिडोडा सहित लीवार्ड द्वीपसमूह (ब्रिटिश) का एक प्रात है। स्थिति १७° ६' उ० अ०, ६१° ४५' पू० दे०, क्षेत्रफल १०८७५ वर्ग मील, जनसख्या ५४,२२८ (सन् १९५६ ई०)। इस द्वीप का पता सन् १६४३ ई० मे कोलबस ने पाया था। यहाँ की औसत वार्षिक वर्षा ४५'' है, परतु अधिकाश समय तक प्राय सूखा पडता है। सन् १९४० ई० मे सयुक्त राज्य, अमरीका ने ब्रिटेन से यहाँ पर नौसेना एव वायुसेना का एक अड्डा बनाने का अधिकार ९९ वर्ष के लिये प्राप्त किया। सेंट जॉन (जनसख्या ११,०००) इसकी राजधानी है। इसका मुख्य निर्यात चीनी, छोआ, अनानास तथा रुई है, जिसमे चीनी का अनुपात ९० प्रति शत है।
[न० कि० प्र० सिं०]

आंतिगोनस कीक्लोप्स

(ई०पू० ३८२-३०१) सिकदर का एक सेनापति जिसने युद्ध में एक आँख खोकर 'कीक्लोप्स' की उपाधि प्राप्त की। यह मकदुनिया का निवासी था और सिकदर के साम्राज्यविभाजन से उसे फ्रिगिया, लीसिया और पैंफीलिया के प्रात मिले। पर्दिकस की मृत्यु के पश्चात् उसे सुसीयाना भी मिल गया। यूमेनेस के विरुद्ध युद्ध मे उसने आतिपातर, आतिगोनस तथा अन्य यूनानी सेनापतियो को हराया। पश्चिमी एशिया पर अधिकार होने पर उसे सिकदर द्वारा लूटा हुआ ईरानी राजकोष सूसा मे प्राप्त हुआ। इसकी बढती हुई शक्ति को तालमी, सेल्यूकस तथा अन्य यूनानी सेनापतियो ने मिलकर रोकना चाहा। आतिगोनस उसके विरुद्ध सफल हुआ और उसने सम्राट् की पदवी धारण की। ई० पू० ३०१ मे इप्सस के युद्ध मे इसे वीरगति प्राप्त हुई। यह कला और साहित्य का प्रेमी था। इसका नाम मोनो कथाल्मस भी है।

स०ग्र०—केंब्रिज प्राचीन इतिहास, भाग ६। [बैं० पु०]

आंतिगोनस गोनातस

(ल० ई० पू० ३१९–२३९) आतिगोनस कीक्लोप्स का पौत्र और दिमेत्रियस का पुत्र जिसका जीवनकाल सघर्षमय रहा। ई० पू० २८३ में अपने पिता की मृत्यु पर उसने प्रजा का नेतृत्व किया और ई० पू० २७६ मे पिरस गालवालो को हराकर अपना पतृक राज्य प्राप्त किया। दो वर्ष बाद फाइरस ने इसे छीन लिया, पर उसकी मृत्यु के पश्चात् आतिगोनस को पुन अपना राज्य मिल गया। पिरस के पुत्र सिकदर के साथ इसका सघर्ष ई० पू० २६३ से २५५ तक चलता रहा और इसे कुछ समय के लिये अपने राज्य से हाथ धोना पडा, पर अत मे यह पुन सफल हुआ। इसके जीवन के अतिम दिन सुख और शाति से बीते। यह कलाप्रेमी होने के कारण विशेष प्रसिद्ध था।

स०ग्र०—केंब्रिज प्राचीन इतिहास, भाग ६, टार्न आतिगोनस गोनातस, केंब्रिज। [बैं० पु०]

आंतिपातर

सिकदर महान् का एक सेनापति और उसकी ओर से कार्यवाहक शासक। इसे अरस्तू से शिक्षा मिली थी। मकदुनिया के सम्राट् फिलिप का यह विश्वासपात्र था। यूनान से पूर्व की ओर प्रस्थान करते समय सिकदर इसे मकदुनिया और यूनान का कार्यवाहक शासक नियुक्त कर गया था। इसने थ्रेस और स्पार्ता के विद्रोह को दबाया। सिकदर की मृत्यु के बाद इसने मकदुनिया के शासन का पूर्ण भार अपने ऊपर ले लिया। लामियन के युद्ध मे इसने यूनानियो को बुरी तरह हराया जो स्वतत्र होने का प्रयास कर रहे थे। ई० पू० ३२१ में इसने अपने को शासक घोषित किया और दो वर्ष बाद ई० पू० ३१९ में इसकी मृत्यु हो गई।

स०ग्र०—केंब्रिज प्राचीन इतिहास, खड ६। [बैं० पु०]

हुआ है, जिसके दोनों पार्श्वों में चितेरों और उसकी भगिनी की आकृतियाँ बनी हैं।

चित्रकला के इतिहास में जान आइक ने चित्रण की सामग्री में इतिहास के प्रयोग का आविष्कार कर एक क्रांति कर दी। यह आविष्कार दोनों भाइयों का संयुक्त था। वैसे, मूलत इसके आविष्कार का श्रेय संभवत उनको नहीं है। आइकों के पहले भित्तिचित्रण की परंपरा यह थी कि आकृतियाँ समतल स्वर्णिम पृष्ठभूमि से आगे को बगैर गहराई (पर्स्पेक्टिव) के उभार ली जाया करती थीं। स्वयं फान आइक ने भी पहले इसी तकनीक का अनुसरण किया। पर जैसे जैसे उसका कलाविषयक अभ्यास और सूझ बढ़ती गई वह रूप का अंकन अधिक स्वाभाविक करता गया। पहले जल के साथ मिश्रित रंगों की पृष्ठभूमि चिटक जाया करती थी, पर अब तेल की स्निग्धता से वह जमी रहने लगी। इससे चित्रण की शैली ने एक नया डग भरा।

अपनी चिती आकृतियों में पर्स्पेक्टिव या गहराई देने के लिये उसने जिस उपाय का आविष्कार किया उससे अनेक कलासमीक्षकों ने उसे आधुनिक चित्रण का जनक घोषित किया है, कारण, अपनी नई शैली से उसने चित्रण के तकनीक को एक नई दिशा दी जिसने आनेवाली पीढ़ी को नेदरलैंड और इटली के पुनर्जागरणकालीन कलाधुरीणों की कृतियों को अमर कर दिया। फान आइक की खोजों का उपयोग उन्होंने ही किया। काँच पर किए अपने चित्रणों में उसने जिस तकनीक का उपयोग किया वह उसका निजी था। उसके रंग बड़े हलके मिले होते थे पर इस प्रकार चिपक जाते थे कि उनका मिटना असंभव हो जाता था। अब तक पच्चीकारी में रंग डालने के बजाय छोटे छोटे शीशे के विभिन्न रंगों के टुकड़े जोड़ लिए जाते थे। यह सही है कि काया की कुछ भावभंगियों को अभिव्यक्त करने में यह तकनीक सदा सफल नहीं हो पाती थी, विशेषकर नग्नाकृतियों के आकलन में, परंतु आइक द्वारा अनुष्ठित शैली में चेहरे, वसनों तथा कलाकृतियों का अंकन और प्रकाश तथा छाया का प्रक्षेपण अपेक्षाकृत कहीं सुंदर होने लगा। इसका प्रमाण स्वयं उसके और उसके शिष्यों के अंकन हैं। फान आइक के अनेक चित्र आज भी सुरक्षित हैं—गिरजाघरों में, संग्रहालयों और निजी संग्रहों में। जान फान आइक मसाइक में जनमा और ब्रुग्स (नेदरलैंड्स) में मरा।

सं०ग्रं०—जी० एफ० वागेन : ह्यूवर्ट ऐंड जोहान फान आइक, १८२२, मार्टिन कान्वे : दि फान आइक्स ऐंड देयर फालोअर्स, १९२१, एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, खंड ६, १९५६। [भ० श० उ०]

आइज़नहावर, ड्वाइट डेविड

(१८९०) संयुक्त राज्य अमरीका के ३४ वें राष्ट्रपति। इन्होंने १९११ में सेना में प्रवेश किया और निरंतर उन्नति करते चले गए। पहले महायुद्ध में भी इन्होंने भाग लिया था और दूसरे महायुद्ध के समय तो ये विख्यात जनरल ही हो गए थे। दूसरे महायुद्ध से पहले ही १९३५ ई० में जनरल मैक आर्थर ने आइज़नहावर को फिलिप्पाइंस में सेना का उपपरामर्शदाता नियुक्त कर दिया था। दूसरे महायुद्ध में जनरल आइज़नहावर ने अनेक प्रशंसनीय कार्य किये। जनरल माटगोमरी और जनरल आइज़नहावर ने ब्रिटिश और अमरीकी सेनाओं का उल्लेखनीय संचालन किया।

युद्ध से लौटने के बाद आइज़नहावर अमरीका में अत्यंत लोकप्रिय हो गए थे और जब वे न्यूयार्क सिटी में पहुँचे तब करीब ४० लाख जनता ने उनका स्वागत किया। १९५५ के चुनाव में आइज़नहावर रिपब्लिकन (प्रजातंत्रीय) दल की ओर से अमरीका के प्रेसिडेंट चुन लिए गए। दूसरी बार भी वे वहाँ के प्रेसिडेंट चुने गए। उनका विशेष प्रयास अधिक से अधिक पश्चिमी मित्र राष्ट्रों को रूस के मुकाबले प्रबल बनाना रहा है जिसमें शक्ति के संतुलन के फलस्वरूप विश्व में शांति बनी रहे। [ओ० ना० उ०]

आइसक्रीम

(एक प्रकार की मलाई की कुल्फी) दूध, क्रीम, चीनी और सुगंध के मिश्रण को ठंढा करके जमा देने से बनती है। खाने में यह अति स्वादिष्ट होती है और स्वच्छता से बनाई जाने पर यह स्वास्थ्यप्रद आहार है। यूनाइटेड स्टेट्स (अमरीका) में लगभग ८ करोड़ मन आइसक्रीम प्रति वर्ष खपती है।

घर पर आइसक्रीम बनाने के लिये जमानेवाली मशीनों का प्रयोग किया जाता है, जिन्हें फ्रीज़र कहते हैं। यह लोहे की कलईदार चादर का, ढक्कनदार, बेलनाकार डिब्बा होता है जो काठ की बालटी में रखा रहता है। मशीन का हैंडिल घुमाने से डिब्बा नाचता है और इसके भीतर लगे लकड़ी के फल उलटी ओर घूमते हैं। डिब्बे में दूध तथा अन्य वस्तुओं का संमिश्रित घोल रहता है, बाहर बर्फ और नमक का मिश्रण। बर्फ और नमक का मिश्रण बर्फ से कहीं अधिक ठंढा होता है और उसकी ठंढक से बरतन के भीतर का दूध जमने लगता है। पहले पहल बरतन की दीवार पर दूध जमता है। उसे भीतर घूमनेवाली लकड़ियाँ खुरचकर दूध में मिला देती हैं। इस प्रकार दूध थोड़ा थोड़ा जमता चलता है और शेष दूध में मिलता जाता है। कुछ समय में सारा दूध जम जाता है, परंतु भीतरी लकड़ी के घूमते रहने से वह पूरा ठोस नहीं हो पाता। इस अवस्था के बाद हैंडिल घुमाना बेकार है।

आइसक्रीम जमाने की घरेलू मशीन

बीच के फलदार दंड से दूध आदि का मिश्रण मथ उठता है। इसकी अगल बगल लगे काठ छटककर बरतन के भीतरी पृष्ठ पर से जमी आइसक्रीम को खुरच लेते हैं, जिससे दूध के नए अंश को जमने का अवसर मिलता है।
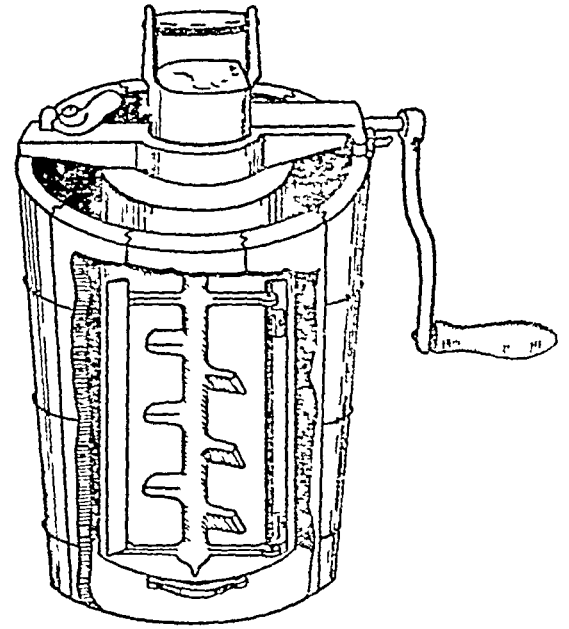
बढ़िया आइसक्रीम के लिये निम्नलिखित अनुपात में वस्तुएँ मिलाई जा सकती हैं : ८ छटाँक क्रीम, ४ छटाँक दूध, ४ छटाँक सघनित दुग्ध (कंडेंस्ड मिल्क) या उसके बदले में उतनी ही खड़ी (अर्थात् उबालकर खूब गाढ़ा किया हुआ दूध), ३ छटाक चीनी और इच्छानुसार सुगंध (गुलाबजल या वैनिला एसेंस या स्ट्राबेरी एसेंस आदि) तथा मेवा, पिस्ता, बादाम या काजू अथवा फल। यदि पूर्वोक्त ४ छटाँक दूध में एक चुटकी अरारोट (पहले अलग थोड़े से दूध में मसलकर) मिला लिया जाय और उस मिश्रण को उबाल लिया जाय तो अधिक अच्छा होगा। स्मरण रहे कि सघनित दूध के बदले खड़ी डालने से स्वाद उतना अच्छा नहीं होता। ठंढा होने पर सब पदार्थों को एक में मिलाकर सुगंध डालनी चाहिए। (क्रीम वह वस्तु है जिससे मक्खन निकलता है, दूध को क्रीम निकालनेवाली मशीन में डालकर मशीन को चालू करने पर मक्खनरहित दूध अलग हो जाता है और क्रीम अलग।) डेयरी से क्रीम खरीदी जा सकती है। क्रीम न मिले तो उबले दूध को कई घंटे स्थिर छोड़कर ऊपर से निकाली गई मलाई और चिकनाई से काम चल सकता है, परंतु स्वाद में अंतर पड़ जाता है।

बाहरी बालटी के लिये बर्फ को नुकीले काँटे और हथौड़ो से छोटे छोटे टुकड़ों में तोड़ डालना चाहिए (या काठ के हथौड़े से चूर करना चाहिए)। टुकड़े आधा इंच या पौन इंच के हों, कोई भी एक इंच से बड़ा न रहे। दो भाग बर्फ में एक भाग पिसा नमक पड़ता है। थोड़ी बर्फ, तब थोड़ा नमक, फिर बर्फ और नमक, इसी प्रकार अंत तक पारी पारी से नमक और बर्फ डालते रहना चाहिए। ध्यान रहे कि दूधवाले बरतन में नमक न घुसने पाए। बर्फ और नमक के गलने से ही ठंढक उत्पन्न होती है।

बड़े पैमाने पर आइसक्रीम बनाने के लिये मशीनों का प्रयोग किया जाता है। इसमें सात आठ इंच व्यास की एक नली होती है, जिसके भीतर खुरचनेवाली लकड़ियाँ लगी रहती हैं। इस नली में एक ओर से दूध आदि का मिश्रण घुसता है, दूसरी ओर से तैयार आइसक्रीम, जिसमें केवल

कहलाते हैं। मनुष्यों में रोग का सक्रमण भोजन और जल द्वारा होता है, जिनमें जीवाणु मक्खियो या रोगवाहकों के हाथो से पहुँच जाते हैं। आधुनिक स्वास्थ्यप्रद परिस्थितियो द्वारा रोग का बहुत कुछ नियत्रण किया जा चुका है। पिछले कई वर्षो में इस रोग की कोई महामारी नही फैली है, किंतु अब भी जहाँ तहाँ, विशेषकर ऊष्ण प्रदेशो मे, रोग होता है।

जीवाणु शरीर में प्रवेश करने के पश्चात् क्षुद्रात मे 'पायर के क्षेत्रो' में बस जाते हैं और वहाँ अतिगलन उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण वहाँ व्रण बन जाता है। कुछ जीवाणु रक्त में भी पहुँच जाते है जहाँ से उनका सवर्धन किया जा सकता है, विशेषकर पहले सप्ताह मे। रुधिर मे इस प्रकार जीवाणुओ के पहुँचने से अन्य क्षेत्रो में गौण सक्रमण उत्पन्न हो जाता है, उदाहरणत लसिका ग्रथियो, यकृत, प्लीहा और अस्थिमज्जा मे। पित्त-नलिका म सक्रमण अत्यत महत्वपूर्ण है, क्योकि वहाँ से जीवाणु अधिकाधिक सख्या में आत्र में पहुँचते हैं तथा नए नए व्रण उत्पन्न करते हैं और मल में अधिकाधिक जीवाणु जाते हैं।

प्रथम सक्रमण से १० से १४ दिन तक मे रोग उभडता है।

लक्षण—इस रोग का लक्षण है मद ज्वर जो धीरे धीरे बढता है। आरभ में बेचैनी या पेट मे मद पीडा, सिरदर्द, तबीयत भारी जान पडना, भूख न लगना, कफ और कोष्ठबद्धता। चार पाँच दिन बाद ज्वर अँतरिया सा हो जाता है और ताप १०२ से १०४ डिगरी फारनहाइट के बीच घटता बढता है। लगभग सातवे दिन शरीर के विभिन्न भागो मे आलपीन के सिर के बराबर गुलाबी दाने दिखाई पडते हैं। ये दाने विशेषकर वक्ष के सामने और पीछे की ओर दिखाई देते हैं। प्लीहा और यकृत भी कुछ बढ जाते हैं और रोगी कुछ बेहोश सा दिखाई देता है। नाडी इस अवस्था मे प्राय मद रहती है। कुछ मानसिक लक्षण, जैसे बेचैनी, बिछौने की चादर को या नाक को नोचना और प्रलाप भी उत्पन्न हो जाते हैं। रोग की अवधि प्राय ६ से ८ सप्ताह तक हुआ करती है। रोग के लक्षण उसी प्रकार कम होते हैं जिस प्रकार प्रारभ में वे धीरे धीरे बढते हैं।

विशिष्ट प्रतिजीवाणुक चिकित्सा के प्रारभ के पूर्व इस रोग के ३० प्रति शत रोगियो की मृत्यु हो जाती थी, किंतु क्लोरैफेनिकौल नामक ओषधि के प्रयोग से अब हम, यदि उपयुक्त समय पर निदान हो जाय और उचित चिकित्सा प्रारभ कर दी जाय, प्रत्येक रोगी को रोगमुक्त कर सकते हैं।

मृत्यु प्राय ऐसे उपद्रवो के कारण होती है जैसे आत्र मे छिद्रण (छेद हो जाना), रक्तप्रवाह, असाध्य अतिसार तथा तीव्र कर्णपटहार्ति। मानसिक लक्षणो से कोई बुरे परिणाम नही होते, यद्यपि रोगी के सबधी लोग उससे बहुत डर जाते हैं। मृत्यु का विशिष्ट कारण चर्म की रक्तवाहिनी केशिकाओ का प्रसार होता है, जो जीवाणु द्वारा उत्पन्न विषो का परिणाम होता है। इसके कारण भीतरी अगो को, विशेषकर हृदय को, पर्याप्त रक्त नही मिल पाता। आजकल इस उपद्रव की भी सतोषजनक चिकित्सा की जा सकती है।

निदान—रोग की विशिष्ट प्रारभ विधि से, जिसका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, रोग का सदेह करना सरल है, किंतु वैज्ञानिक निदान के लिये जीवाणुओ का सवर्धन करना या प्रतिपिंडों का प्रचुर सख्या मे देखा जाना आवश्यक है। प्रथम सप्ताह में रक्त से जीवाणु सवर्धित किए जा सकते हैं। वैज्ञानिक निदान का यही अचूक आधार है। रोग के १० दिन के पश्चात् मल और मूत्र से भी जीवाणुओ का सवर्धन किया जा सकता है। इस अवस्था में समूहक प्रतिक्रिया (अग्लूटिनेशन टेस्ट), जिसको विडल परीक्षण भी कहते है, प्राय सकारात्मक मिलती है। जाँच के नकारात्मक होने का कोई मूल्य नही, क्योकि दस से १५ प्रति शत रोगियो मे यह जाँच रोग के पूर्ण काल भर नकारात्मक रहती है।

रोगरोधन—इस रोग की वैक्सीन (टी० ए० बी०) के प्रयोग से रोग मे विशेष कमी हुई है, विशेषकर सैनिक विभाग में, जहाँ इसका प्रयोग अनिवार्य है और प्रत्येक सैनिक को इसके इजेक्शन दिए जाते हैं। अब सभी देशो मे इसका प्रयोग किया जाता है और इसमे सदेह नही है कि इससे रोगधमता उत्पन्न होती है, जो ६ मास से एक वर्ष तक रहती है। ०२ से १ घन सेंटीमीटर वैक्सीन के, एक सप्ताह के अतर से, तीन बार इजेक्शन दिए जाते ह।

चिकित्सा—आत्रिक ज्वर की चिकित्सा के लिये क्लोरैम्फेनिकौल ओषधि अत्यत विशिष्ट प्रमाणित हुई है। रोग का निदान होते ही, शरीर-भार के प्रति किलोग्राम के लिये २५ से ३० मिलीग्राम के हिसाब से, रोगी को यह ओषधि खिलाना प्रारभ कर देना चाहिए और ज्वर उतर जाने के तीन चार दिन पश्चात् तक खिलाते रहना चाहिए। इस चिकित्सा के बाद रोग का पुनराक्रमण कोई असाधारण बात नही है। इसलिये कुछ विद्वान् ज्वर उतरने के १० दिन पश्चात् तक ओषधि देने का परामर्श देते हैं। कुछ विद्वान् इस काल मे वैक्सीन देने के पक्षपाती हैं। यदि उपद्रव के रूप में प्रातिक (पेरिफेरल) रक्तावसाद हो जाय तो उसकी चिकित्सा ग्लूकोज़ तथा सैलाइन को रक्त मे पहुँचाकर सफलतापूर्वक की जा सकती है। हृतकोची (सिस्टोलिक) रक्त दाब के ८० मिलीमीटर से कम हो जाने पर नौर-ऐड्रिनेलीन मिला देना चाहिए। रक्तस्राव होने पर रक्ताधान (ब्लड टैंसफ्यूज़न) करना चाहिए। आत्रछिद्रण होने पर शल्यकर्म आवश्यक है। अत्यत उग्र दशाओ मे स्टिराइडो का प्रयोग अपेक्षित है।

पैराटाइफाइडज्वर—यह इतना अधिक नही होता, जितना आत्र ज्वर। पैराटाइफाइड-बी की अपेक्षा पैराटाइफाइड-ए अधिक होता है। यह रोग इतना तीव्र नही होता। क्लोरैफेनिकौल से लाभ होता है, किंतु टाइफाइड के समान नही। बहुत से रोगी सामान्य चिकित्सा और उचित उपचर्या से ही आरोग्यलाभ कर लेते है। [बी० भा० भा०]

आंथोनी, पादुआ का संत

(११९५–१२३१ ई०)। इनका जन्म लिस्बन में हुआ। पहले अगस्तिनीय सघ के सदस्य थे, किंतु १२२० ई० मे उन्होने फ्रासिस्की सघ मे प्रवेश किया। १२२१ ई० मे असीसी के सत फ्रासिस से उनकी भेंट हुई। बाद मे वह धर्मविद्या (थेऑलोजी) के अध्यापक हुए तथा उत्तरी इटली में उपदेशक के रूप मे ख्याति प्राप्त करने लगे। उनका देहात पादुआ (इटली) मे हुआ। १२३२ ई० मे उनको सत घोषित किया गया। वह कार्यालिक ईसाइयो के सर्वाधिक लोकप्रिय सतो मे से हैं। उनका पर्व १३ जून को मनाया जाता है।

स०ग्र०—ओजिलियय-स्मिथ, ई० सेट ऐंथनी ऑव पादुआ ऐकॉर्डिग टु हिज काटेंपोरैरीज, न्यूयार्क, १९२६। [का० बु०]

आंथोनी, संत

(२५०–३५६ ई०) ईसाई धर्म के सर्वप्रथम मठवासी। २७० ई० में एकातवासी बनकर तपोमय जीवन व्यतीत करने लगे। बहुत से शिष्यो द्वारा अपना अनुकरण देखकर उन्होने मठवासी जीवन के सगठन के विषय में बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने आरियस का विरोध किया। उनका जन्म मध्य मिस्र में तथा देहात वहाँ की मरुभूमि मे हुआ था।

स०ग्र०—हर्टलिंग, एल० वान० ऐटोनियस डर आइनसीडलर, इजब्रुक, १९२५। [का०बु०]

आंदोरा

पूर्वी पिरेनीज़ का अर्धसत्तासपन्न राज्य है, जो फ्रास तथा उर्गल के बिशप के सम्मिलित अधिकार मे है। यह फ्रास के एरिज विभाग तथा स्पेन के लेरिडा प्रात के मध्य में स्थित है। इसका क्षेत्रफल १९१ वर्ग मील है। यहाँ के धरातल की ऊँचाई सागरतल से ६,५०० फुट से १०,००० फुट तक है। धरातल विषम तथा जलवायु कष्टकर है। यहाँ पर भेड तथा उसके पालने के लिये लहलहाते हुए चरागाह हैं, अतएव यहाँ पशुपालन यथेष्ट उन्नति पर है। यहाँ के वस्त्र उद्योग तथा तबाकू सबधी उद्योग विश्वविख्यात हैं। फलद वृक्ष तथा लताएँ भी होती हैं। यहाँ के पर्वतो मे लोहे एव सीसे (धातु) की खुदाई होती है। यहाँ की जनसख्या ५,२३१ तथा राजधानी अदोरा है। [शि० म० सिं०]

आंद्राक्लीज़

आद्रोक्लुस, एक रोमन दास का नाम जो सम्राट् तिबेरियुस के समय हुआ। उसने अपने स्वामी की निर्दयता से तग आकर, भागकर अफ्रीका में एक गुफा में शरण ली। कुछ समय पश्चात् इस गुफा मे एक लँगडाते हुए शेर ने प्रवेश किया और आद्राक्लीज ने उसके पजे से एक बडा काँटा निकाल दिया। कुछ समय पश्चात् वह पकडकर सर्कस में सिंह के सामने फेंक दिया गया। यह सिंह वही था

प्रकार से यह आधुनिक भारत का प्रथम गजेटियर है। इसकी सर्वाधिक महत्ता यह है कि कट्टरता और धर्मोन्माद के विरोध में हिंदू समाज, धर्म और दर्शन को विशद गुणग्राही स्थान देकर प्रगतिशील और उदात्त दृष्टिकोण की स्थापना की गई है। अबुलफज्ल ऐसा प्रकाड विद्वान् अन्य काल मे भी सभव था, किंतु आईन-ए-अकबरी जैसा ग्रथ अकबर के काल मे ही सभव था, क्योकि असाधारण विद्वान् (इसीलिये वह अल्लामी के विभूषण से प्रतिष्ठित हुआ) और असाधारण सम्राट् का बौद्धिक स्तर पर उदात्त भावनाओ की प्रेरणा से पूर्ण समन्वय सभव हो सका था। आईन-ए-अकबरी पर सम्राट् की प्रशस्ति मे मुख्यत अतिशयोक्ति का दोष लगाया जाता है, किंतु ब्लाकमैन के कथनानुसार " वह (अबुलफज्ल) प्रशसा करता है, क्योकि उसे एक सच्चा नायक मिल गया है"। और यह निर्विवाद है कि अकबर-कालीन राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक इतिहास के अध्ययन के लिये आईन-ए-अकबरी एक कोश का महत्व रखता है। अकबर के व्यक्तित्व और इतिहास को तौलने के लिये वह तराजू मे बाट के समान है। [रा० ना०]

आउग्सबर्ग- जर्मनी के पश्चिमी भाग मे बवेरिया का एक शहर है। यह म्यूनिख से ३५ मील उत्तर-पश्चिम में वेरटाख तथा लेख नदी के सगम पर १५०० फुट की ऊँचाई पर बसा है। १४ ई० पू० मे आगस्टस बादशाह द्वारा रोमन साम्राज्य की चौकी (आउटपोस्ट) के रूप मे इसकी स्थापना हुई थी। आउग्सबर्ग यूरोप का एक महत्वपूर्ण तथा सपन्न शहर था, क्योकि यह उत्तरी तथा दक्षिणी यूरोप को मिलानेवाले मार्ग पर था। १२७६ ई० मे यह एक सुदर साम्राज्यवादी शहर बन गया। १७०३ ई० मे निर्वाचित बवेरिया राज्य द्वारा बमो से नष्ट किया गया तथा १८०३ की लडाई मे भी बहुत कुछ नष्ट हुआ। यहाँ का रेनेसाँ टाउनहाल, जिसमे गोल्डेन हाल नामक सभा भवन भी है, जर्मनी मे सबसे अच्छा है। यह भवन १७३ फुट लबा, ५९ फुट चौडा तथा ५३ फुट ऊँचा है। अप्रैल, १९५४ ई० मे सयुक्त राज्य की फौज ने इसको अपने अधिकार मे कर लिया। यह नगर मध्ययुग मे व्यावसायिक तथा व्यापारिक केंद्र के रूप मे प्रसिद्ध था, परतु आज औद्योगिक रूप मे प्रसिद्ध है। सूती उद्योग, कलपुर्जे, रासायनिक वस्तुएँ, यत्र, कागज की वस्तुएँ, चमडे के सामान, इजन तथा सोने चाँदी के सामान यहाँ बनाए जाते है। द्वितीय महायुद्ध मे यह पोत के डीजल इजिन बनाता था। १९५० मे इसकी जनसख्या १,८५,१८३ थी। [नृ० कु० सिं०]

आक (ऑक) वत्तक के समान, छोटा, समुद्रीय, टिट्टिभ (कारैड्रिइफॉर्मीज) वर्ग का पक्षी है। इसका शरीर गठा हुआ, पख छोटे और सँकरे, १२ से १८ परो की छोटी नाम तथा शरीर के पिछले भाग मे आपस मे झिल्ली से जुड, कुल तीन अँगुलियोवाले, पर होते हैं। पैरो की स्थिति शरीर के पिछले भाग मे होने के कारण आक भूमि पर सीधे होकर चलता है। साधारणत इसके शरीर के ऊपरी भाग का रग काला और निचले का श्वेत होता है।
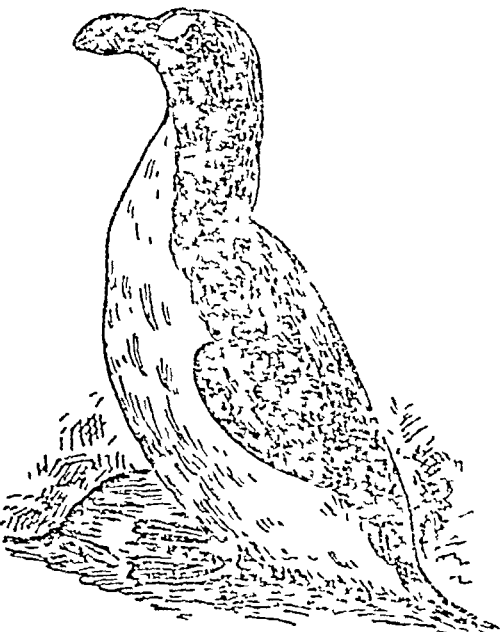
आक पक्षी

यह अध तथा प्रशात महासागरो के उत्तरी भागो और ध्रुव महासागरो मे पाया जाता है।

आक अनेक जातियो के होते है। इनका निवास अध तथा प्रशात महासागरो के उत्तरी भागो और ध्रुव महासागरो मे सीमित है। वर्ष के अधिक भाग को ये तट के पासवाले समुद्र मे बिताते है। केवल शीत ऋतु मे ये दक्षिण की ओर चले जाते हैं। इनका भोजन मुख्यत मछली तथा कठिनि (क्रस्टेशियन) वर्ग के जीव, जैसे केकडे, झींगा, महाचिगट (लॉब्स्टर) इत्यादि होते हैं। इन्हे ये जल मे गोता मारकर पकडते हैं। टापुओ और समुद्रतटीय पहाडियो मे ये सतानोत्पत्ति के लिये बस जाते है। इनकी प्राय सब जातियाँ घोसला नही बनाती तथा एक जाति को छोडकर बाकी सब जातियो के आक वर्ष मे केवल एक अडा देते है। अडे से बाहर निकलने पर बच्चे काले रोएँदार परो से ढके रहते हैं। समुद्र मे तो आक मौन रहते है, पर सतानोत्पत्ति के लिये बसे उपनिवेशो मे ये विचित्र प्रकार के स्वर निकालते हैं।

भीमकाय आक ३० इच लबा होता था। परो के लिये अधाधुध शिकार किए जाने के कारण उनकी जाति १९वी सदी मे लुप्त हो गई। [कैं० जा० डा०

आकलैंड न्यूजीलैंड का सबसे बडा नगर है। यह प्रायद्वीप के बहुत सँकरे भाग मे स्थित है। इस कारण दोनो तटो पर इसका अधिकार है, परतु उत्तम बदरगाह पूर्वी तट पर है। आस्ट्रेलिया से अमरीका जानेवाले जहाज, विशेषकर सिडनी से वैकूवर जानेवाले, यहाँ ठहरते है। यह आधुनिक बदरगाह है। यहाँ पर विश्वविद्यालय, कलाभवन तथा एक नि शुल्क पुस्तकालय है जो सुदर चित्रो से सजा है। इस नगर के आस पास न्यूटन, पार्नेल, न्यू मार्केट तथा नौथकोट उपनगर बसे हैं। आकलैंड की आबादी दिन प्रति दिन बढती जा रही है। इसका मुख्य कारण दुग्ध, उद्योग तथा अन्य धधे हैं। आकलैंड जहाज द्वारा आस्ट्रेलिया, प्रशातद्वीप, दक्षिणी अफ्रीका, ग्रेट ब्रिटेन तथा सयुक्त राज्य अमरीका से सबद्ध है और रेलो द्वारा न्यूजीलैंड के दूसरे भागो से। यहाँ का मुख्य उद्योग जहाज बनाना, चीनी साफ करना तथा युद्धसामग्री बनाना है। इसके सिवाय यहाँ लकडी तथा भोजनसामग्री इत्यादि का कारबार भी होता है। यहाँ से लकडी, दूध के बने सामान, ऊन, चमडा, सोना और फल बाहर भेजा जाता है। १९५२ मे यहाँ की जनसख्या ३,३७,१०० थी। [नृ० कु० सि०]

आकांक्षा अभाव से उत्पन्न इच्छा। साहित्यशास्त्र, व्याकरण तथा दर्शन मे इस शब्द का एक विशिष्ट अर्थ है। वाक्य से अर्थज्ञान करने के लिये वाक्य में आए हुए शब्दो का परस्पर सबध होना चाहिए। यह सबध ही ऐसा तत्व है जिससे वाक्य की एकता बनी रहती है। अलग शब्द का प्रयोग करने पर उस शब्द के बारे मे उत्सुकता होती है और तभी इसका समाधान होता है जब उस शब्द को सुसबधित वाक्य का अग बना देते है। अत अपूर्ण प्रयोग से श्रोता के मन मे जो उत्सुकता होती है उसे आकाक्षा कहते हैं और जिस शब्द से आकाक्षा उत्पन्न होती है उसे साकाक्ष कहते है। साकाक्ष शब्दो से पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति नही होती और निराकाक्ष शब्दो के समूह से सार्थक वाक्य नही बनता। अत वाक्य साकाक्ष शब्दो का एक निराकाक्ष समूह कहा जा सकता है। [रा० पा०]

आकारिकी अथवा आकार विज्ञान [अंग्रेजी मे मॉरफॉलाजी मॉरफे (=आकार)+लोगस (=विवरण)] शब्द वनस्पति विज्ञान तथा जतु विज्ञान के अतर्गत उन सभी अध्ययनो के लिये प्रयुक्त होता है जिनका मुख्य विषय जीवपिंड का आकार और रचना है। पादप आकारिकी में पादपो के आकार और रचना तथा उनके अगो (मूल, स्तभ, पत्ती, फूल आदि) एव इन अगो के परस्पर सबध और सपूर्ण पादप से उसके अगो के सबध का विचार किया जाता है। आकार विज्ञान का अध्ययन जनन तथा परिवर्धन के विभिन्न स्तरो पर जीवपिड के इतिहास के तथ्यो का केवल निर्धारण मात्र हो सकता है। परतु आजकल, जैसा सामान्यत समझा जाता है, आकारिकी का आधार अधिक व्यापक है। इसका उद्देश्य विभिन्न पादपवर्गो के आकार मे निहित समानताओ का पता लगाना है। इसलिये यह तुलनात्मक अध्ययन है जो उद्विकासात्मक परिवर्तन और परिवर्धन के दृष्टिकोण से किया जाता है। इस प्रकार आकारिकी पादपो के वर्गीकरण की स्थापना और उनके विकासात्मक अथवा जातिगत इतिहास के पुनर्निर्माण मे सहायक है। आकारिकीय अध्ययन की निम्नलिखित पद्धतियाँ हैं

भाग की जलवायु पश्चिमी भाग की अपेक्षा अधिक सम है। इस राज्य की वार्षिक वर्षा का औसत ४२ इंच है जो ग्रीष्म के पावस (मानसून), अंतिम पावस तथा शीत ऋतु के मानसून से होती है। राज्य के पूर्वी भाग की वर्षा ५५ इंच तथा पश्चिमी भाग की ३५ इंच है।

मिट्टी—आंध्र प्रदेश मे कई प्रकार की मिट्टियाँ पाई जाती हैं। समुद्रतटीय प्रदेश में उपजाऊ काँप मिट्टी तथा बलुई मिट्टी मिलती है। उत्तर-पश्चिम के सोपानाश्म क्षेत्र मे काली तथा लाल मिट्टी पाई जाती है। यहाँ अनेक स्थानो पर भूरी मिट्टी भी मिलती है। अधिक वर्षा तथा असम धरातल के कारण यहाँ मिट्टी का अपक्षरण बहुत होता है।

वनस्पति—आंध्र प्रदेश में वनो का कुल क्षेत्रफल १,४६,१६,००० एकड है। यह आंध्र के कुल क्षेत्रफल का १६ प्र० श० है, जो संपूर्ण भारत के औसत (१५%) से अधिक है। सागौन, कुसुम, रोजवुड तथा बाँस यहाँ के वनो में बहुतायत से मिलते हैं। ये सब पतझडवाले वृक्ष हैं।

आंध्र की मुख्य नदियाँ गोदावरी, कृष्णा तथा पेन्नार है। अनुमानत ये सब १५ करोड एकड फुट पानी प्रतिवर्ष बंगाल की खाडी मे डालती हैं। यहाँ की मुख्य बहुधंधी योजनाएँ तुंगभद्रा, नागार्जुनसागर, पेन्नार, पुलिचिंताला, कद्दाम, वामसद्रधा, कोइलसागर आदि हैं। आंध्र में सिंचाई के लिये विभिन्न प्रकार के साधनो का प्रयोग होता है। उनके द्वारा सिंचित क्षेत्रों का विवरण इस प्रकार है राजकीय नहरे, ३० ३९ लाख एकड, व्यक्तिगत नहरें, ६२,७२९ एकड, तालाब, २५ ६६ लाख एकड, कुएँ, ७ ५४ लाख एकड, दूसरे साधन, २ ५४ हजार एकड। सिंचाई के इतने साधन होते हुए भी इस राज्य के अधिकतर भाग को अनिश्चित एवं अनियमित पावस वर्षा पर निर्भर रहना पडता है।

कृषि—सन् १९५५-५६ मे आंध्र का कुल बोया गया क्षेत्र २७० लाख एकड था, यह संपूर्ण भारत की कुल बोई गई भूमि का ९ प्र० श० था। ७२ ३८ लाख एकड भूमि बंजर थी। कृषि के अतिरिक्त कामो मे लाई गई भूमि ३३ ३३ लाख एकड तथा चरागाहो के लिये उपयुक्त भूमि २८ ७८ लाख एकड थी। विविध प्रकार की मिट्टी एवं वर्षा के कारण आंध्र के कृषि-उत्पादन भी विविध प्रकार के हैं। खाद्यान्न, तेलहन, तंबाकू, गन्ना, मूँगफली, अंडी तथा मसालो के उत्पादन में आंध्र प्रदेश का भारतीय संघ में महत्वपूर्ण स्थान है। यह निम्न तालिका से विदित है

फसल	क्षेत्रफल (हजार एकड में)	उत्पादन (हजार टनो में)	कुल भारतीय उत्पादन का प्र० श०
धान	६३४९	३११९५	१३ २
ज्वार	६१११८	१०८०	१२ ९
दाले	३२९४	२८६०	२ ७
मूँगफली	२८१४	९४९	२४ ८
बाजरा	१७४५	३६४०	१० ३
मक्का	४७१	८०	२ ७
रागी	८६५	३४५	१९ ४
तंबाकू	३२१	१०७	४३ १
अंडी	९०५	६५	५८ ८
कपास	१०३ ४	१२७	२ ९
गन्ना	१६४	४५६	८ २
मिर्च	३९७	१०३	२८ ९
हल्दी	२३	३४	२८ ०

आंध्र के अन्य उत्पादन केला, आम, नीबू, संतरा आदि है।

आंध्र मे पशु महत्वपूर्ण है। १९५६ ई० मे पशुओ की संख्या हजारो में इस प्रकार थी भैंस १७२४४ १८, गाय ११२७६ १, बकरी ३६९३ ४१।

खनिज पदार्थ—आंध्र खनिज पदार्थों का विशाल भांडार है। यहाँ के मुख्य खनिज पदार्थ मैंगनीज, अभ्रक, कोयला, लोहा, चूने का पत्थर, क्रोमाइट, ऐसबेस्टस आदि हैं। यहाँ भारत का १० प्रति शत मैंगनीज निकलता है, जो मुख्यतया विशाखापट्टनम्, बेलारी, श्रीकाकुलम आदि क्षेत्रों से आता है। यहाँ का मुख्य अभ्रक-उत्पादक क्षेत्र नेल्लोर है। इस राज्य मे भारत का १५% अभ्रक उत्पन्न होता है। कोयला मुख्यतया गोदावरी नदी की घाटी मे स्थित सिंगरेनी, तंदूर आदि क्षेत्रो से आता है। आंध्र दक्षिणी भारत का सर्वप्रधान कोयला उत्पादक राज्य है। यह संपूर्ण भारत का ५% कोयला उत्पन्न करता है। यहाँ ऐसबेस्टस मुख्यतया कुड्डपा क्षेत्र से आता है। नेल्लोर जिले की बालू में अणु खनिज भी मिलते हैं। भारतीय भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग के अनुसार आंध्र के गुटूर तथा नेल्लोर जिलो में ३८ करोड ९० लाख टन लोहा सरक्षित है।

उद्योग धंधे—अपार प्राकृतिक साधन होते हुए भी आंध्र प्रदेश औद्योगिक दृष्टि से पिछडा है। सूती कपडे की १२ मिलें मुख्यतया हैदराबाद, औरंगाबाद, गुटकल, एडोनी एवं गुलबर्गा में स्थित हैं। कागज की मिलें राजमहेंद्री तथा सीरपुर कागजनगर मे हैं। इस राज्य मे चीनी बनाने की ९ मिलें हैं जिनमें सर्वप्रधान बोधन मिल है। सीमेंट के कारखाने विजयवाडा, कृष्णा, पनियाम, नदीकोंडा आदि स्थानो पर हैं। सिगरेट बनाने के कारखाने हैदराबाद में तथा चमडे के कारखाने वारंगल, विजयवाडा आदि स्थानो मे हैं। गुडूर में चीनी मिट्टी के बर्तन तथा काँच के कारखाने हैं। जलयान निर्माण उद्योग का केंद्र विशाखापट्टनम् है। यहाँ कैलटेक्स कंपनी की एक बृहत् तैल-शोधन-शाला है।

गृह-उद्योग—आंध्र मे करघा उद्योग अत्यंत उन्नत दशा में है। इसके मुख्य केंद्र मछलीपट्टम्, वारंगल तथा एलुरु हैं। फर्नीचर के लिये आदिलाबाद, सीग तथा हाथीदाँत के काम के लिये हैदराबाद और विशाखापट्टनम्, लाह के खिलौनो के लिये कोंडापल्ली, दियासलाई बनाने के लिये हैदराबाद और विजयवाडा, रेशम का कीडा पालने के लिये मदाकसीरा, हिंदूपुर, कुर्नूल, पूर्वी गोदावरी आदि प्रसिद्ध हैं।

आंध्र से निर्यात की जानेवाली वस्तुएँ तंबाकू, मूँगफली, तेलहन, चावल, कोयला आदि हैं। आयात की वस्तुएँ दाल, कपडा, पक्के माल हैं। यहाँ रेलो की लंबाई २,९०२ मील तथा सडको की लंबाई १४,४६६ मील है।

बंदरगाह—आंध्र का सागरतट यथेष्ट लंबा है और विशाखापट्टनम् यहाँ का एक अच्छा बंदरगाह है। सिंधिया कंपनी ने यहाँ पर जहाज बनाने का एक कारखाना स्थापित किया है। १९५८ तक इस कारखाने में २४ जहाज बने। इसका पूर्ण विकास होने पर यहाँ पर प्रति वर्ष चार जहाज बनेंगे। यहाँ जहाजो की मरम्मत भी होगी तथा द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अंत तक इसके विकास में अनुमानत २ १५ करोड रुपया व्यय होगा। आंध्र के अन्य प्रमुख बंदरगाह कोकोनाडा तथा मछलीपट्टम हैं।

जनसंख्या—सन् १९५७ ई० में आंध्रप्रदेश की जनसंख्या लगभग ३,१२,६०,००० थी। यहाँ के प्रसिद्ध नगरो की जनसंख्या इस प्रकार थी हैदराबाद १२,१८,८५३, विशाखापट्टनम् १,०८,०४२, विजयवाडा, १,६१,१९८, गुटूर १,२५,२५५, वारंगल १,३३,१३०, राजमुद्री १,०५,२७६।

आंध्र मे जनसंख्या का औसत घनत्व ३०० व्यक्ति प्रति वर्ग मील है। यहाँ की भाषा तेलुगू तथा राजधानी हैदराबाद है। [रा० लो० सिं०]

आंफिएरोस

आंफिएरोस आइक्लेस् अपोलो (सूर्य) तथा हिपेर्मेस्त्रा का पुत्र एवं आर्गास् का राजा, जो द्रष्टा के रूप में विख्यात था। इसका विवाह अद्रास्तस् की बहन एरीफिले के साथ हुआ था जिसके आग्रह के कारण वह थेबस् के अभियान मे संमिलित हुआ। ग्रीक पुराण कथाओ के अनुसार उसको पहले से ही मालूम था कि वह युद्ध में मारा जायगा, इसलिये उसने अपने पुत्रों को अपनी माता से बदला लेने का आदेश कर दिया था। थेबेस् के युद्ध से पराजित होकर भागते हुए वह सूर्य द्वारा प्रस्तुत किए भूविवर मे रथ और घोडो के सहित समा गया।

सं०ग्रं०—एडिथ् हैमिल्टन माइथॉलौजी, १९५४, राबर्ट ग्रेव्ज दि ग्रीक मिथ्स्, १९५५। [भो०ना०श०]

आंफिक्त्योनी

आंफिक्त्योनी आफिक्त्योनेइया, आफिक्त्योनेस् प्राचीन यूनान की धर्म संबंधी परिषदो के नाम। इस शब्द का अर्थ है चारो ओर रहनेवाले (आफि=अमित, सब ओर+क्त्योनेस्=निवासी)। ये परिषदे मंदिरो, धर्मस्थानो, धार्मिक उत्सवो एवं मेलो की व्यवस्था किया करती थी। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिषद् वह थी जो आरंभ

भाग को तारों ने ले रखा है, इसीलिये आकाश को नभ (शून्य) भी कहा गया है। शेष स्थान में नाक्षत्र धूलि और कण विद्यमान है, परतु ये भी बहुत बिखरी हुई अवस्था में है। एक घन सेंटीमीटर मे हाइड्रोजन का केवल १ परमाणु और एक घन मील मे सभवत १०० अन्य कण विद्यमान है, जब कि पृथ्वी पर साधारण ताप और दाब पर साधारण गैसो में $१०^{१९}$ अणु प्रति घन सेंटीमीटर मे पाए जाते है।

आकाश नीला क्यो ?—आकाश की नीलिमा प्रकाश की रश्मियो के विक्षेपण (बिखरने) द्वारा उत्पन्न होती है। रात्रि में प्रकाश नही रहता तो वही गगनमडल काला अर्थात् प्रकाशरहित हो जाता है। हमारी पृथ्वी को घेरे हुए वायुमडल है जो हमें दिखाई तो नही पडता, किंतु इस वायु-सागर में हम लोग उसी तरह रहते है और इसका उपयोग करते है जैसे मछलियाँ जलसागर में रहती है। वायु का घनत्व पृथ्वी के तल पर सबसे अधिक होता है और ऊपर की ओर क्रमश घटता जाता है। लगभग $१०^{-५}$ सेंटीमीटर दाब पर वायु १००० मील से भी ऊपर तक पाई जाती है। इस वायुमडल में नाइट्रोजन, आक्सिजन, कार्बन-डाई-आक्साइड तथा अन्य गैसें होती है। इनके अतिरिक्त जलवाष्प और धूलि के कण भी विद्यमान है। प्रकाश की रश्मियाँ इन्ही गैसोके अणुओ द्वारा तथा धूलि और जल के कणो द्वारा विक्षिप्त होती है। विक्षिप्त प्रकाश की तीव्रता प्र तरगदैर्घ्य त के चतुर्थ घात की विलोमी होती है, अर्थात्

$$प्र \propto \frac{१}{त^४}।$$

कण के अल्पतम विस्तार के लिये लार्ड रैले ने सिद्ध किया है कि नीली रश्मियाँ, जिनका तरगदैर्घ्य लाल रश्मियो के तरगदैर्घ्य का आधा होता है, लगभग १० गुना अधिक विक्षिप्त होती है। यदि कण इन रश्मियो के तरगदैर्घ्य से बहुत बडे होते है तो किरणो का परावर्तन नियमित रूप में नही होता और प्रकाश श्वेत दिखाई पडता है। धूलि के हल्के कण आँधी में बहुत ऊपर चले जाते है। इनके द्वारा पीली रश्मियाँ विक्षिप्त होती है और आकाश पीला दिखाई पडता है। आकाश का ऐसा ही रग ज्वालामुखी उद्गार के बाद दिखाई पडता है। वायुमडल निर्मल रहने पर विक्षेपण केवल वायु तथा जल के अणुओ द्वारा होता है। इससे बहुत अधिक मात्रा में छोटी तरगवाली नीली रश्मियाँ विक्षिप्त होती है और उन्ही के रग के अनुसार ऊपरी शून्य स्थान नीला दिखाई पडता है। गर्मी के दिनो मे जब वायु में धूलि के कण अधिक होते है तो इन बडे कणो से प्रकाश की अन्य बडे तरग-दैर्घ्य की रश्मियाँ भी विक्षिप्त होती है जिससे आकाश का रग उतना नीला नही रह जाता, कुछ भूरा हो जाता है। जब आँधी आदि के कारण धूलि की मात्रा और अधिक हो जाती है तो बडे बडे कणो द्वारा किरणो के अनियमित परावर्तन से आकाश श्वेत दिखाई पडता है। पहाडो की चोटी से आकाश पूर्णत नीला मालूम पडता है। विमानो मे अथवा राकेट प्लेन मे, जो बहुत ऊँचाई से जाते है, आकाश काला दिखाई पडता है, क्योकि अधिक ऊँचाई पर वायु के तत्वो के अणु बहुत ही कम रह जाते है और किरणो का विक्षेपण बहुत क्षीण हो जाता है, जिससे ऊपरी शून्य भाग प्रकाशरहित अर्थात् काला दिखाई पडता है।

प्रात और सायकाल, जब सूर्य की किरणें धरातल के लगभग समातर आती है, उन्हे वायुमडल के भीतर तिरछी दिशा में अधिक चलना पडता है। आँख पर बडे तरगदैर्घ्य की लाल रश्मियाँ सीधी आ पडती है, किंतु अन्य छोटी रश्मियाँ विक्षिप्त होकर नीचे की ओर तथा अगल बगल मुड जाती है, जिनके कारण आकाश लाल दिखाई पडता है। सूर्य जितना ही क्षितिज के पास नीचे रहता है लालिमा उतनी ही अधिक देखी जाती है।

[न० ला० नि०]

आकाशगंगा असख्य तारो का समूह है जो अँधेरी रात में, विशेषकर जाडे की स्वच्छ रात मे, आकाश के बीच से जाते हुए अर्धचक्र के रूप मे और झिलमिलाती सी मेखला के समान दिखाई पडता है। यह मेखला वस्तुत एक पूर्ण चक्र का अग है, जिसका क्षितिज के नीचे का भाग नहीं दिखाई पडता। इसके मदाकिनी, स्वर्गगा, स्वर्नदी, सुरनदी, आकाशनदी, देवनदी, नागवीथी, हरिताली आदि नाम भी है। अग्रेजी में इसे मिल्की वे, गैलैक्सी आदि कहते है। इसकी चौडाई और चमक सर्वत्र समान नही है। धनु (सैजिटेरियस) तारामडल में यह सबसे अधिक चौडी और चमकीली है। दूरदर्शी से देखने पर आकाशगगा में असख्य तारे दिखाई पडते है। विभिन्न चमक के तारो की सख्या गिनकर, उनकी दूरी की गणना कर और उनकी गति नापकर ज्योतिषियो ने आकाशगगा के वास्त-विक रूप का बहुत अच्छा अनुमान लगा लिया है। यदि आकाश में दिखाई पडनेवाले रूप के बदले त्रिविस्तारी अवकाश (स्पेस) में आकाशगगा के रूप पर विचार किया जाय तो पता चलता है कि आकाशगगा लगभग समतल वृत्ताकार पहिए के समान है जिसकी धुरी के पास का भाग कुछ फूला हुआ है। चित्र में आकाशगगा का बगल से चित्र दिखाया गया है (ऊपर से देखने पर आकाशगगा पूर्ण वृत्ताकार दिखाई पडेगी)। इस पहिए का व्यास लगभग एक लाख प्रकाशवर्ष है ($१ प्रकाशवर्ष = ५.९ \times १०^{१२}$ मील या पृथ्वी से सूर्य की दूरी का ६३ हजार गुना) और मोटाई ३,००० से ६,००० प्रकाशवर्ष के बीच है। केंद्र के पास की मोटाई लगभग १५,००० प्रकाशवर्ष है। आगामी पक्तियो मे त्रिविस्तारी अवकाश (स्पेस) में आकाशगगा का उल्लेख 'मदाकिनी सस्था' के नाम से किया जायगा और आकाशगगा से वह रूप समझा जायगा जो हमें पृथ्वी से दिखाई पडता है। हमारी मदाकिनी सस्था के समान विश्व मे अनेक सस्थाएँ है। बहुधा उन्हे भी मदाकिनी सस्था (गैलैक्सी) ही कहा जाता है। जहाँ भ्रम की आशका रहती है वहाँ 'हमारी मदाकिनी सस्था' कहकर उस सस्था का बोध कराया जाता है जिसमे हम है। हमारी मदाकिनी सस्था में तारे समान रूप से वितरित नही है। बीच बीच में अनेक तारागुच्छ है और इसकी भी सभावना है कि देवयानी (ऐड्रोमीडा) नीहारिका के समान हमारी मदाकिनी सस्था मे भी सर्पिल कुडलियाँ (स्पाइरल आर्म्स) हो (देखे **नीहारिका**)। तारो के बीच मे सूक्ष्म धूलि और गैस फैली हुई है,जो दूर के तारो का प्रकाश क्षीण कर देती है। धूलि और गैस का घनत्व सस्था के मध्यतल मे अधिक है। कही कही धूलि के घने बादल हो जाने से काली नीहारिकाएँ बन गई है। कही गैस के बादल पास के तारो के प्रकाश से उद्दीप्त होकर चमकती नीहारिका के रूप मे दिखाई पडते है। हमारी मदाकिनी सस्था का द्रव्य-मान सूर्य के द्रव्यमान का लगभग एक खरब ($१०^{११}$) गुना है। इसमे से प्राय आधा तो तारो का द्रव्यमान है और आधा धूलि और गैस का।

हमारी मदाकिनी सस्था के केंद्र के पास तारे सख्या मे अधिक घने है और किनारे की ओर अपेक्षाकृत बिखरे हुए है। सभी तारे केंद्र की परिक्रमा कर रहे है, केंद्र के निकटवाले तारे अधिक गति से और दूरवाले कम गति से। हमारा सूर्य केंद्र से लगभग ३०-३५ हजार प्रकाशवर्ष दूर है और आकाशगगा के मध्य-तल मे है। इसी कारण अपनी मदाकिनी सस्था हमे वैसी मेखला की तरह दिखाई पडती है जिसका ऊपर वर्णन किया गया है। पृथ्वी से मदा-किनी सस्था का केंद्र धनु तारामडल की ओर है। इसीलिये आकाशगगा धनु की ओर हमे अधिक चमकीली लगती है। सूर्य भी मदाकिनी सस्था के केंद्र की परिक्रमा करता है। इस परिक्रमा में उसका वेग १५० मील प्रति सेकड है। इस वेग से भी पूरी परिक्रमा में सूर्य को २० करोड वर्ष लग जाते है।

कुछ तीव्र गतिवाले तारे और गोलीय तारागुच्छ (ग्लो-ब्यूलर क्लस्टर) हमारी मदा-किनी सस्था की सीमा के बाहर है, किंतु ये भी हमारी मदाकिनी सस्था से सबद्ध है

सू

हमारी मदाकिनी

हमारी मदाकिनी बीच मे फूली हुई वृत्ताकार पूडी के समान है। चित्र मे उसका काट (सेक्शन) दिखाया गया है। सू से सूचित वृत्त के भीतर ही वे सब तारे है जो हमे आकाश मे पृथक् पृथक् दिखाई पडते है।

मंदाकिनी का वातावरण

हमारी मदाकिनी के चारो ओर बहुत दूर तक तारे और तारागुच्छ विरलता से फैले हुए है।

विटैमिन सी प्राय पूर्ण रूप से सुरक्षित रह जाता है, और यह अचार विटैमिन सी की कमी मे खाया जा सकता है। [भ० दा० व०]

आँह्वेई चीन देश का एक पूर्वी प्रात है, जो यागसीक्याग की घाटी में स्थित है, क्षेत्रफल ५६,००० वर्गमील, जनसख्या ३,०३,४३,६३७ (१९५३ ई०)। यह प्रात सन् १९३८ से १९४८ ई० तक जापान के अधीन रहा। चीन की राजनीतिक क्राति के बाद इसके दो भाग किए गए, परतु अगस्त, सन् १९५२ ई० मे ये पुन एक हो गए। आँह्वेई दो प्राकृतिक भागो मे विभक्त किया जा सकता है

(१) उत्तरी आँह्वेई, उत्तर चीन के मैदान का एक खड है जो ह्वाईहो की द्रोणी मे स्थित है। यह क्षेत्र जाडे में अत्यधिक ठढा और शुष्क तथा गर्मी मे आर्द्र एव उष्ण रहता है। यह जाडे मे गेहूँ और क्योलियाग की उपज के लिये प्रसिद्ध है।

(२) दक्षिणी आँह्वेई, यागसीक्याग की घाटी मे पहाडियो से घिरा, अधिक रम्य जलवायु तथा गेहूँ एव चावल की उपज का क्षेत्र है। सन् १९५५ मे आँह्वेई का अन्न-उत्पादन १११७ लाख टन अथवा चीन के अन्न-उत्पादन का ६% था। यह प्रात अन्न के अतिरिक्त रुई, रेशम, चाय तथा खनिजो में कोयले और लोहे का भी उत्पादन करता है। इसके प्रमुख नगरपेंगपू (१९५३ ई० मे जनसख्या ३,००,०००), वूह (जनसख्या २,४२,०००), होफी (जनसख्या २,००,०००) तथा ह्वाइनिंग है। होफी इसकी राजधानी है। [न० कि० प्र० सिं०]

आइस्टाइन प्रसिद्ध भौतिकी वैज्ञानिक और सापेक्षवाद के जन्मदाता ऐल्बर्ट आइस्टाइनका जन्म १४ मार्च, सन् १८७९ को जर्मनी के वुर्टेमवर्ग प्रदेश के ऊल्म नामक नगर में हुआ था। इनके माता पिता यहूदी थे। इनका बचपन म्यूनिख में बीता था, जहाँ इनके पिता का विजली के सामान का कारखाना था। सन् १८९४ में इनका परिवार इटली मे जा बसा और ऐल्बर्ट को स्विट्जरलैड के आरू नामक नगर के एक विद्यालय मे भरती करा दिया गया। इसके पश्चात् गणित तथा भौतिक शास्त्र पढाकर जीविकोपार्जन करते हुए ये ज्यूरिक मे विद्याभ्यास करते रहे। सन् १९०१ मे बर्न के पेटेट कार्यालय मे जाँचकर्ता नियुक्त हुए तथा १९०९ तक इसी पद पर रहे। इसी बीच इन्होंने ज्यूरिक विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त की तथा भौतिक शास्त्र सबधी अपने आरभिक लेख प्रकाशित किए। ये इतनी उच्च कोटि के समझे गए कि इन्हे ज्यूरिक के विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर का पद दिया गया। एक ही वर्ष बाद, सन् १९१० मे प्राग के जर्मन विश्वविद्यालय मे ये सैद्धातिक भौतिकी के प्रोफेसर नियुक्त हो गए। १९१२ में ये ज्यूरिक के पालिटेक्निक स्कूल मे प्रोफेसर नियुक्त होकर इस नगर मे लौट आए। सन् १९१३ मे इन्होंने बर्लिन के प्रुशियन विज्ञान अकादमी मे गवेषणा सबधी पद के साथ बर्लिन विश्वविद्यालय के प्रोफेसर का तथा भौतिकी के कैसर विलहेल्म इस्टिट्यूट के सचालक का भी पद स्वीकार किया।

अब तक विज्ञान के क्षेत्र मे इनकी असाधारण श्रेष्ठता इतनी सुस्पष्ट हो गई थी कि इन्हे राजकीय प्रुशियन विज्ञान-अकादमी का सदस्य चुन लिया गया और इनकी वृत्तिका नियत कर दी गई कि ये अपना समय स्वतत्र रूप से केवल अनुसधान मे लगा सके। जेनेवा, मैनचेस्टर, रॉस्टॉक तथा प्रिन्सटन विश्वविद्यालयो ने इन्हे डॉक्टरेट की समानित उपाधियाँ अर्पित की तथा ऐम्स्टर्डैम (नीदरलैड) और कोपेनहेगेन (डेनमार्क) की अकादमियो ने अपना समानित सदस्य चुना। सन् १९२१ मे ये इग्लैड की रायल सोसायटी के भी सदस्य चुने गए। इसी सस्था ने सन् १९२५ मे इन्हे कोपली पदक से तथा सन् १९२६ मे रॉयल ऐस्ट्रोनॉमिकल सोसायटी ने भी एक स्वर्णपदक से समानित किया। सन् १९२१ में इन्हें ससार का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार नोबेल पुरस्कार मिला।

सन् १९३० मे जर्मनी मे विषम राजनीतिक परिस्थिति उत्पन्न हो गई। इस समय जर्मनी में विज्ञान तथा वैज्ञानिको का भविष्य आइस्टाइन को अति सकटमय जान पडा। उन्होने यह देश छोड यूरोप, इग्लैड तथा सयुक्त राज्य (अमरीका) की यात्रा आरभ की और अत मे अमरीका के प्रिन्सटन नगर मे, उच्च अध्ययन के लिये स्थापित नई सस्था मे प्रोफेसर का पद स्वीकार कर सन् १९३३ से वही बस गए।

आइस्टाइन ने जो अनुसधान किए हैं वे इतने उच्चस्तरीय गणित पर आधृत हैं तथा उनका क्षेत्र और फल इतने व्यापक हैं कि उन सबका ब्योरेवार वर्णन करना यहाँ सभव नही है। जिस खोज के कारण लोग उन्हें विशेषकर जानते हैं वह आपेक्षिता सिद्धात है (उसे देखें)। इसके सीमित रूप का प्रकाशन इन्होने सन् १९०५ मे किया था। इस सिद्धात ने उस समय की अनेक आधारभूत धारणाओ को उलट पलट दिया। पहले तो वैज्ञानिक इस सिद्धात को कल्पना की उडान समझते थे, किंतु धीरे धीरे विश्व के वैज्ञानिको ने इसे पूर्ण रूप से स्वीकार किया। सन् १९१५ में इन्होंने इसी का विस्तृत सिद्धात प्रकाशित किया।

सन् १९०५ मे ही इन्होने "ब्राउनियन" गति, अर्थात् वायु तथा तरल पदार्थों में इधर उधर अनियमित रीति से तैरनेवाले सूक्ष्म कणो की चाल, के सबध में एक सिद्धात प्रस्तुत किया। इन कणो की गति को पिछले ८० वर्षो मे चेष्टा करने पर भी वैज्ञानिक नही समझ पाए थे। धातु के तलो पर प्रकाश के आघात से विद्युद्धारा की उत्पत्ति के तथा विकीर्ण ऊर्जा से हुए रासायनिक परिवर्तन के कारणो पर भी आपने प्रकाश डाला।

सन् १९४९ में इन्होने अपने उस नवीन सिद्धात की घोषणा की जिसके द्वारा विद्युच्चुबकीय घटनाएँ तथा गुरुत्वाकर्षण के फल एक सूत्र में आबद्ध हो गए। सन् १९५३ में इसी सिद्धात का अधिक विस्तार कर इन्होंने उन आधारभूत, सर्वपरिवेष्टक नियमो का वर्णन किया जिनसे विश्व के सब कार्य सपादित होते हैं।

इस अपूर्व समझवाले महावैज्ञानिक की मृत्यु सन् १९५५ में ७६ वर्ष की आयु में हुई। अनेक विद्वानो का मत है कि पिछली कई शताब्दियो से ऐसे श्रेष्ठ वैज्ञानिक ने जन्म नही लिया था। [भ० दा० व०]

आइओला सयुक्त राज्य, अमरीका के कैन्सास राज्य का एक नगर है। यह समुद्रतल से ९५७ फुट की ऊँचाई पर न्यू शो नदी के तट पर स्थित है तथा रेलो द्वारा अचिसन, टोपेका, सैंटाफी, मिसौरी, कसास तथा टेक्सास से सबद्ध है। कैसास नगर इसके पूर्वोत्तर मे १०९ मील की दूरी पर स्थित है। आइओला मे चारो ओर से सडकें आकर मिलती हैं। यहाँ एक हवाई अड्डा भी है। यह एक सपन्न कृषिक्षेत्र के बीच स्थित है, अत यहाँ बहुत सी दुग्धशालाएँ हैं। ईंटे तथा सीमेंट, लोहे के सामान, मिट्टी का तेल तथा वस्त्रादि आइओला के प्रसिद्ध उद्योग हैं। इसकी स्थापना सन् १८५९ ई० मे हुई थी। १८९३ ई० में इसके निकट प्राकृतिक गैस का पता चला। तब नगर की जनसख्या मे तीव्र वृद्धि आरभ हो गई। इसकी जनसख्या सन् १९५० ई० मे ७,०९४ थी। [लें० रा० सिं० क०]

आइओवा यह सयुक्त राज्य, अमरीका के आइओवा राज्य का एक प्रसिद्ध नगर हे, जो आइओवा नदी के तट पर ६८५ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह शिकागो, शक द्वीप तथा प्रशात महासागरीय तट से रेलो द्वारा सबद्ध है तथा डेस म्वाइस से १२१ मील पूर्व में स्थित है। यहाँ एक हवाई अड्डा भी हे। इसकी ख्याति विश्वविद्यालय के कारण है जो आइओवा राज्य की सबसे बडी शिक्षासस्था है और जहा १०,२५४ विद्यार्थी तथा १,५३५ अध्यापक हैं। सन् १८३९ ई० में आइओवा नगर आइओवा राज्य की राजधानी चुना गया था, परतु सन् १८५३ ई० मे इसे पदच्युत करके डेस म्वाइस को राजधानी बनाया गया। सप्रति राजधानी के पुराने कार्यालय मे विश्वविद्यालय का कार्यालय स्थित है। सन् १९५० में इसकी जनसख्या २७,२१२ थी। [लें० रा० सिं० क०]

आइक, जान फ़ान दूसरा नाम जान फान ब्रुगे, (ल० १३७०-१४४०), हूबर्ट आइक का छोटा भाई। दोनो भाई चित्रकारी के इतिहास में प्रसिद्ध हो गए है। जान ने पहले भाई से ही चित्रण मे शिक्षा ली, पर शीघ्र वह उससे उस कला मे आगे निकल गया और उसकी असाधारण मेधा ने उसे अपने ससार के कलावतो में अग्रणी बना दिया और आज उसकी गणना इतिहास के सर्वोत्तम चितेरो मे है।

पहले दोनो भाइयो ने अनेक चित्राकन सयुक्त रूप से किए। इस प्रकार का एक सयुक्त चित्रण गेंट के गिरजे में प्रसिद्ध 'मेमने की पूजा' है, जिसमे ३०० से अधिक आकृतियाँ चित्रित हैं और जो ससार के सर्वोत्तम चित्रो मे गिना जाता है। यह चित्रण दीवार में जडे लकडी के तख्ते पर

रज्जुमार्ग के दोनो छोरो पर घूमती हुई घिरनियाँ रहती है, जिनपर रज्जु चढी रहती है। चित्र ख में लादने का स्थान दिखाया गया है। प्रत्येक छोर पर एक अपनयन पटरी (शट रेल) रहती है, जिसपर भार लादने या खाली करने के लिये डोल चढ जाता है। काम पूरा हो जाने पर डोल विभाजक स्टेशन बना दिया जाता है, जहाँ डोल पहली रज्जुप्रणाली को छोड देते है और उनके पहिए स्थिर पटरियो पर चढ जाते है। तब वे दूसरे भाग की रज्जु पर चढने के लिये आगे की ओर ठेल दिए जाते है।

यदि रज्जुमार्ग मे दिशापरिवर्तन की आवश्यकता पडती है तो परिवर्तन
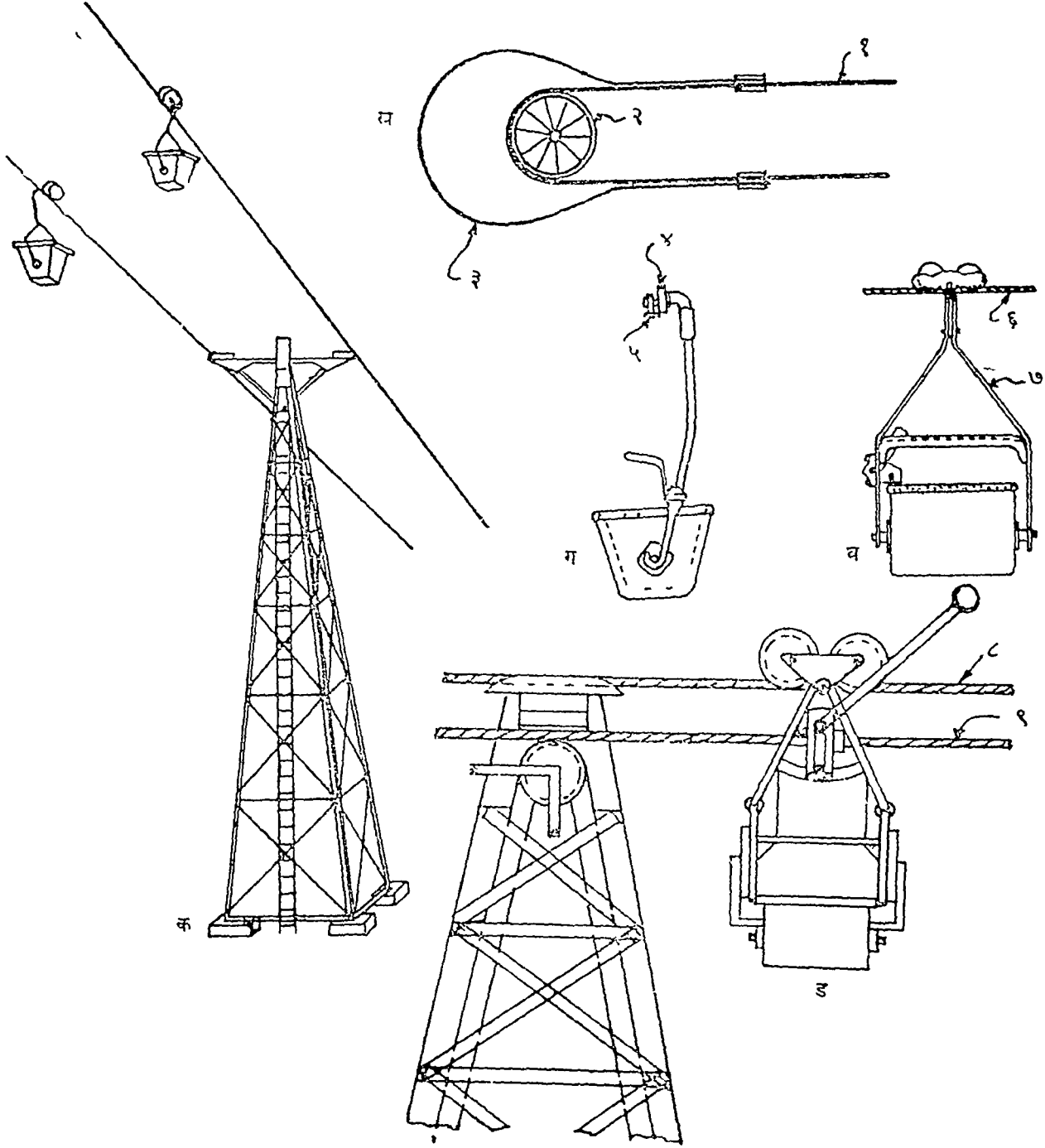
आकाशीय रज्जुमार्ग

क अट्टालक, रज्जु और डोल, कार्यकरण स्थिति मे, ख. लादने का स्थान १ गतिमान रज्जु, २ घूमती हुई घिरनी, ३ अपनयन पटरी (शट रेल), ग डोल (पार्श्व दृश्य), ४ अपनयन पटरी पर चलनेवाला पहिया, ५ रस्सी, घ. डोल (समुख दृश्य), ६ गतिमान रज्जु, ७, डोल लटकाने का ककाल, ङ. द्वि-रज्जु-प्रणाली, ८ स्थिर रज्जु, ९ गतिमान रज्जु।

को फिर रज्जु पर ठेल दिया जाता है। अप नयन पटरी तथा रज्जुकी स्थिति मे इस प्रकार का प्रवध रहता है कि डोल को एक से दूसरे पर भेजने मे बडी सुगमता होती है और रज्जु पर रच मात्र भी झटका नही पडता, यह रज्जु के टिकाऊ (दीर्घजीवी) होने के लिये बहुत आवश्यक है।

चित्र ग-घ मे डोल, वाहक, अपनयन पटरियो पर चलनेवाले पहियो और काठी की फाँस के (जो रस्सी को पकडती है) दो दृश्य दिखाए गए है। वाहक से डोल इस प्रकार सवद्ध रहता है कि वोझ लादने या खाली करनेवाले छोर पर वह सरलता से उलटा जा सके।

यदि रज्जुमार्ग अधिक लबा होता है तो प्रत्येक तीन या चार मील पर के स्थान पर एक प्लैटफार्म बना दिया जाता है जिसमे दो क्षैतिज (हॉरिजॉन्टल) घिरनियाँ रहती है। रज्जु इन घिरनियो पर से होकर जाती है और सरलता से उसकी दिशा बदल जाती है।

रज्जु का चुनाव---रज्जु इस्पात के तारो को बटकर बनी रहती है। उसके चुनाव मे निम्नलिखित वातो का ध्यान रखना आवश्यक है (१) एक एक डोल मे कितना वोझ लदेगा। (२) वोझ लादने तथा उतारने के लिये कितना समय मिलेगा और (३) रज्जुमार्ग का वेग कितना रहेगा। इन्ही वातो पर विचार करके रज्जुमार्ग की कार्यक्षमता नियत की जाती है, अर्थात् यह स्थिर किया जाता है कि प्रति घटा कितना वोझ वहन

मेवा आदि डालना रहता है, निकलती है, कारण यह है कि बर्फ बनाने की मशीन में नली के ऊपर एक खोल रहता है और खोल तथा नली के बीच के स्थान में अत्यत ठंडी की गई अमोनिया या अन्य गैस बहती रहती है।

विदेशो में अरारोट के बदले साधारणत जिलेटिन का उपयोग किया जाता है। इसका उद्देश्य होता है कि दूध के पानी से बर्फ के रवे न बन जायँ और मथने के कारण क्रीम से मक्खन अलग न हो जाय (यदि आइसक्रीम को जमाने समय खूब मथा न जाय तो वह पर्याप्त वायुमय न बन पाएगी और इसलिये स्वादिष्ट न होगी)। जमाने के पहले मिश्रण को आधे घटे तक १५५° फारेनहाइट ताप तक गरम करके तुरत खूब ठढा किया जाता है जिससे रोग के जीवाणु मर जायँ। इस क्रिया को पैस्ट्युराइज़ेशन कहते हैं। मिश्रण को बहुत बारीक छेद की चलनी में डालकर और बहुत अधिक दबाव का प्रयोग करके (लगभग २,५०० पाउड प्रति वर्ग इच का) छाना जाता है। इससे दूध मे चिकनाई के कण बहुत छोटे (प्राकृतिक नाप के अष्टमाश) हो जाते है। इससे आइसक्रीम अधिक चिकनी और स्वादिष्ट बनती है।

जमानेवाली मशीन से निकलने के बाद आइसक्रीम को ठढी कोठरी में, जो बर्फ से भी अधिक ठढी होती है, कई घटे तक रखते हैं। इससे आइसक्रीम कडी हो जाती है। फिर ग्राहको के यहाँ (होटल और फेरीवालो के पास) विशेष मोटरलारियो मे उसे भेजते हैं। जबतक वह बिक नही जाती, लारियो मे वह साधारणत प्रशीतको (रेफ्रीजरेटरो) या गरमी न घुसने देनेवाली पेटियो मे रखी जाती है। [मा० जा०]

आइसबर्ग अथवा हिमप्लवा हिम का बहता हुआ पिंड है जो किसी हिमनदी या ध्रुवीय हिमस्तर से विच्छिन्न हो जाता है। इसे हिमगिरि भी कहते हैं। हिमगिरि समुद्री धाराओ के अनुरूप प्रवाहित होते हैं। ये प्राय ध्रुवी देशो से बहकर आते हैं और कभी कभी इन प्रदेशो से बहुत दूर तक पहुँच जाते हैं। जब हिमनदी समुद्र में प्रवेश करती है तब उसका खडन हो जाता है और हिम के विच्छिन्न खड हिमगिरि के रूप में बहने लगते है। इन हिमगिरियो का केवल १/९ भाग जल के ऊपर दृष्टिगोचर होता है। शेष पानी के भीतर रहता है। हिमगिरि प्राय अपने साथ शिलाखडो को भी ले चलते हैं और पिघलने पर इन्हे समुद्रनितल पर निक्षेपित करते है।

हिमगिरियो की अत्यधिक बहुलता ४२° ४५′ उ० अक्षाश और ४७° ५२′ प० देशातर पर है जहाँ लैब्रेडोर की ठढी धारा गल्फस्ट्रीम नामक उष्ण धारा से मिलती है। गर्म और ठडी धाराओ के सगम से यहाँ अत्यधिक कुहरा उत्पन्न होता है, जिससे समुद्री यातायात मे कठिनाई का सामना करना पडता है। हिमगिरि बहुधा अत्यत विशालकाय होते हैं और उनसे जहाज का टकराना भयावह होता है। लगभग पूर्वोक्त स्थान पर अप्रैल, १९१२ ई० मे टाइटैनिक नामक बहुत बडा और एकदम नया जहाज एक विशाल हिमगिरि को छूता हुआ निकल गया, जिससे जहाज का पार्श्व चिर गया और कुछ घटो मे जहाज जलमग्न हो गया। [रा० ना० मा०]

आइसलैंड (१९५६ में जनसख्या १,६२,६००) उत्तरी ऐटलाटिक महासागर मे स्थित एक द्वीप है जिसका विस्तार ६३° १२′ उ० अक्षाश से ६६° ३३′ उ० अक्षाश तथा १३° २२′ प० देशातर से २४° ३५′ प० देशातर तक है। इसका कुल क्षेत्रफल लगभग ३९,७०१ वर्ग मील है। सपूर्ण द्वीप ज्वालामुखी चट्टानो द्वारा निर्मित पठार है जिसका केवल १/१४ भाग अपेक्षाकृत नीचा है। आइसलैंड के अधिकाश लोग इसी निचले भाग में बसे हुए है।

द्वीप का करीब १३ प्रति शत भाग हिमाच्छादित रहता है जिसमे लगभग १२० हिमनदियाँ (ग्लेशियर) पाई जाती हैं। यहाँ के सबसे बडे ग्लेशियर 'वट्नाजोकुल' का क्षेत्रफल १५० से २०० वर्ग मील तक है।

आइसलैंड में बहुत सी झीलें हैं। इनमें से कुछ ग्लेशियरो द्वारा निर्मित हुई हैं और कुछ ज्वालामुखी के क्रेटर में पानी भर जाने के कारण। सबसे बडी झीलो में थिंगवालवत एव थोरिस्रत मुख्य हैं। इनमें से प्रत्येक का क्षेत्रफल २७ वर्ग मील है।

यह द्वीप ससार के उन ज्वालामुखी प्रदेशो में से है जहाँ तृतीयक काल से अब तक लगातार उद्गार होते आए हैं। एक सौ से अधिक ज्वालामुखी पर्वत तथा हजारो क्रेटर इस द्वीप मे फैले हुए हैं, जिनसे निर्मित लावा प्रदेश का क्षेत्रफल लगभग ४,६५० वर्ग मील है। इन उद्गारो के कारण यहाँ प्राय भूचाल आया करता है। गरम पानी के अनेक सोते तथा फव्वारे (गाइसर) भी इसी कारण यहाँ मिलते है।

आइसलैंड की जलवायु गल्फस्ट्रीम नामक गरम धारा के प्रभाव से उसी अक्षाश में स्थित अन्य देशो की अपेक्षा अधिक गर्म है। यहाँ का साधारण वार्षिक ताप ३९ ४° फा० है। शीतकाल के अत्यधिक ठढे मास (जनवरी) का औसत ताप ३४ २° फा० तथा गर्मी की ऋतु के अधिकतम उष्ण मास (जुलाई) का ताप ५१ ६° फा० है। यहाँ के निचले मैदानो की औसत वार्षिक वर्षा ५१ इच तथा ऊँचे भागो की औसत वर्षा ७९ ७ इच है।

यहाँ की वनस्पतियाँ पश्चिमी यूरोपीय प्रदेश तथा आर्कटिक प्रदेश की वनस्पतियो के समान हैं। घास तथा छोटे पौधे (३ फुट से १० फुट तक के) ही अधिक उगते हैं। भूर्ज वृक्ष (बर्च) यहाँ का मुख्य पौधा है। जीवजतु कम मिलते हैं। ध्रुव प्रदेशीय रीछ, लोमडी आदि जानवर कही कही दिखाई पड जाते हैं। परतु आस पास के समुद्रो में सील, ह्वेल, कॉड, हेरिंग आदि मछलियाँ अधिक मिलती हैं। मछली पकडना यहाँ का मुख्य उद्यम है। निर्यात की वस्तुओ मे मछली तथा मछली से बनी वस्तुएँ, विशेषकर कॉड एव शार्क लिवर आयल, मुख्य हैं।

जून, सन् १९४४ से यह देश पूर्ण स्वतत्र बना दिया गया है, इसकी राजधानी रेकजाविक (१९५१ ई० मे जनसख्या ५७,५१४) है।

अपनी विशेष स्थिति के कारण इसका सामरिक महत्व बढता जा रहा है और यह अमरीका का एक प्रमुख सैनिक अड्डा बन गया है। [उ० सिं०]

आईन-ए-अकबरी (अकबर के विधान, समाप्तिकाल १५९८ ई०) अबुलफज्ल-ए-अल्लामी द्वारा फारसी भाषा में प्रणीत, बृहत् इतिहासपुस्तक 'अकबर-नामा' का तृतीय तथा अधिक प्रसिद्ध भाग है। यह एक बृहत्, पृथक् तथा स्वतत्र पुस्तक है। सम्राट् अकबर की प्रेरणा, प्रोत्साहन तथा आज्ञा से, असाधारण परिश्रम के फलस्वरूप पाँच बार शुद्ध कर इस ग्रथ की रचना हुई थी। यद्यपि अबुलफज्ल ने अन्य पुस्तके भी लिखी है, किंतु उसे स्थायी और विश्वव्यापी कीर्ति आईन-ए-अकबरी के आधार पर ही उपलब्ध हो सकी। स्वय अबुलफज्ल के कथनानुसार उसका ध्येय महान् सम्राट् की स्मृति को सुरक्षित रखना तथा जिज्ञासु का पथप्रदर्शन करना था। मुगलकाल के इस्लामी जगत् मे इसका यथेष्ट आदर हुआ, किंतु पाश्चात्य विद्वानो को, और उनके द्वारा भारतीयो को, इस अमूल्य निधि की चेतना तब हुई जब सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग्स के काल मे ग्लैडविन ने इसका आशिक अनुवाद किया, तत्पश्चात् ब्लाकमैन (१८७३) और जैरेट (१८९१, १८९४) ने इसका सपूर्ण अनुवाद किया। ग्रथ पाँच भागो मे विभाजित है तथा सात वर्षो मे समाप्त हुआ था। प्रथम भाग मे सम्राट् की प्रशस्ति तथा महली और दरबारी विवरण है। दूसरे भाग मे राज्यकर्मचारी, सैनिक तथा नागरिक (सिविल) पद, वैवाहिक तथा शिक्षा सबधी नियम, विविध मनोविनोद तथा राज दरबार के आश्रित प्रमुख साहित्यकार और सगीतज्ञ वर्णित हैं। तीसरे भाग में न्याय तथा प्रबधक (एक्ज़ीक्यूटिव) विभागो के कानून, कृषि शासन सबधी विवरण तथा बारह सूबो की ज्ञातव्य सूचनाएँ और आँकडे सकलित हैं। चौथे विभाग मे हिंदुओ की सामाजिक दशा और उनके धर्म, दर्शन, साहित्य और विज्ञान का (सस्कृत से अनभिज्ञ होने के कारण इनका सकलन अबुलफज्ल ने पडितो के मौखिक कथनो का अनुवाद कराकर किया था), विदेशी आक्रमणकारियो और प्रमुख यात्रियो का तथा प्रसिद्ध मुस्लिम सतो का वर्णन है और पाँचवें भाग में अकबर के सुभाष्य सकलित हैं एव लेखक का उपसहार है। अत में लेखक ने स्वय अपना जिक्र किया है। इस प्रकार सम्राट्, साम्राज्यशासन तथा शासित वर्ग का आईन-ए-अकबरी में अत्यत सूक्ष्म दिग्दर्शन है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि युद्धो, षड्यत्रो तथा वशपरिवर्तनो के पचडो को प्राबल्य देने की अपेक्षा शासित वर्ग को समुचित स्थान प्रदान किया गया है। एक

महत्वपूर्ण भवन हैं। इस नगर के अनेक विद्यालयभवनों में क्राइस्ट चर्च, मर्टन कालेज, न्यू कालेज, माडलिन कालेज, आल सोल्स कालेज और सेंट जान्स उल्लेखनीय हैं।

ऑक्सफोर्ड नगर में उद्योग धंधे अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। शराब, सिगरेट का सामान, दस्ताने, कागज और साइकिल उद्योग उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त विश्वविद्यालय से संबंधित उद्योगों में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस महत्वपूर्ण है। इसके छपाई विभाग में ६०० से ऊपर कर्मचारी हैं [रा० ना० मा०]

आक्साइड किसी तत्व के साथ आक्सिजन के यौगिक हैं। ये सर्वत्र बहुतायत से मिलते हैं। हाइड्रोजन का आक्साइड पानी (हा₂औ) पृथ्वी पर बहुत बड़ी मात्रा में है। इसके अतिरिक्त हवा में कई प्रकार के गैसीय आक्साइड हैं, जैसे कारबन डाइ आक्साइड, सल्फर डाइ आक्साइड आदि। खनिजों, चट्टानों और धरती की ऊपरी तह में भी विभिन्न आक्साइड हैं। आक्सिजन कुछ तत्वों को छोड़कर लगभग सभी तत्वों से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष क्रिया करता है। इससे अनेक आक्साइड उपलब्ध हैं।

आक्साइड बनाने के लिये वैसे तो बहुत सी विधियाँ हैं, परंतु साधारणतया निम्नांकित विधियों का प्रयोग होता है

आक्सिजन के सीधे संयोग से—सोडियम, फासफोरस, लोहा, कारबन, गंधक, मैग्नीशियम इत्यादि हवा या आक्सिजन में गरम करने पर आक्साइड बनाते हैं। इनमें कुछ तो साधारण ताप पर ही धीरे धीरे आक्सिजन से क्रिया करते हैं, जैसे सोडियम, फास्फोरस आदि।

पानी की क्रिया द्वारा—मोरचा लगने से अथवा गरम लोहे पर भाप की क्रिया से लोहे का आक्साइड प्राप्त होता है। कुछ धातुओं के नाइट्रेट या कार्बोनेट को अधिक गरम करने पर (लवण के विघटन से) आक्साइड प्राप्त होता है, जैसे कापर नाइट्रेट या कैलसियम कार्बोनेट से क्रमानुसार ताँबे तथा नाइट्रोजन के और कैलसियम तथा कारबन के आक्साइड। इसी विधि से कुछ हाइड्राक्साइड (जैसे फेरिक हाइड्राक्साइड) भी आक्साइड देते हैं।

रासायनिक गुण अथवा आक्सिजन के अनुपात के अनुसार इन आक्साइडों को क्रम से रखने पर प्रत्येक समूह के प्रतिनिधि आक्साइड धा₂औ या धा औ इत्यादि होते हैं (यहाँ धा=कोई धातु, औ=आक्सिजन)। परंतु कुछ तत्व कई आक्साइड बनाते हैं, जिनमें आक्सिजन की मात्राएँ भिन्न होती हैं।

रासायनिक गुण के विचार से आक्साइड निम्नांकित वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं

अम्लीय आक्साइड—ये पानी से मिलकर अम्ल बनाते हैं अथवा क्षार या क्षारीय आक्साइड से लवण, जैसे कारबन डाइ आक्साइड, सल्फर डाइ आक्साइड। कुछ आक्साइड मिश्रित ऐनहाइड्राइड होते हैं, जैसे नाइट्रोजन पराक्साइड पानी के साथ नाइट्रस और नाइट्रिक अम्ल दोनों बनाता है।

क्षारीय आक्साइड—ये पानी से मिलकर क्षार बनाते हैं अथवा अम्ल या अम्लीय आक्साइड से लवण, जैसे सोडियम, पोटैशियम, कैलसियम के आक्साइड।

उदासीन आक्साइड—इनकी क्रिया से न लवण ही बनता है और न क्षार अथवा अम्ल, जैसे नाइट्रस आक्साइड, कार्बन मोनोक्साइड। वैसे तो नाइट्रस आक्साइड हाइपोनाइट्रस अम्ल का ऐनहाइड्राइड है, परंतु पानी से मिलकर अम्ल नहीं बनाता।

उभयधर्मी (ऐंफोटेरिक) आक्साइड—ये अम्ल से क्षारीय आक्साइड के सदृश तथा क्षार से अम्लीय आक्साइड के सदृश क्रिया करते हैं, जैसे जिंक आक्साइड अम्ल तथा क्षार दोनों से लवण देता है।

पराक्साइड—इनमें साधारण से अधिक आक्सिजन होता है। जैसे (सोडियम) पराक्साइड पानी अथवा अम्ल से हाइड्रोजन पराक्साइड बनाते

हैं (जैसे सोडियम या बेरियम पराक्साइड)। इनमें भी दो प्रकार हैं, पहला सुपर आक्साइड तथा दूसरा वह (पानी) आक्साइड।

दोहरे या मिश्रित आक्साइड—कुछ धातु के ऐसे दो आक्साइड, जिनमें से एक में आक्सिजन की मात्रा कम है तथा दूसरी में अधिक, मिलकर मिश्रित आक्साइड देते हैं। जैसे लोऔ तथा लो₂औ₃ से लो₃औ₄ (लो=लोहा या लौह)।

आक्साइड के नामकरण में आक्सिजन की मात्रा के अनुसार मोनो (एक), डाई (द्वि) सेस्क्वी (अध्यर्द्ध) इत्यादि का प्रयोग होता है।

आक्साइडों का उपयोग बहुत तरह के रासायनिक यौगिकों के बनाने में होता है। कई प्रकार के उत्प्रेरकों (कैटालिस्टों) तथा उनके उन्नायकों (प्रोमोटर्स) में आक्साइड का बहुत उपयोग होता है।

सं०ग्रं०—जे० डब्ल्यू० मेलर ए कॉम्प्रिहेंसिव ट्रीटिज ऑन इनॉर्गैनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१९२२), जे० ग्रार० पार्टिंगटन टेक्स्ट बुक ऑव इनॉर्गैनिक केमिस्ट्री। [वि० वा० प्र०]

आक्सिजन रंग, स्वाद तथा गंधरहित एक गैस है। इसकी खोज, प्राप्ति अथवा प्रारंभिक अध्ययन में जे० प्रीस्टले और सी० डब्ल्यू० शेले ने महत्वपूर्ण कार्य किया है।

आक्सिजन पृथ्वी के अनेक पदार्थों में रहता है और वास्तव में अन्य तत्वों की तुलना में इसकी मात्रा सबसे अधिक है। आक्सिजन वायुमंडल में स्वतंत्र रूप में मिलता है और आयतन के अनुसार उसका लगभग पाँचवाँ भाग है। यौगिक रूप में पानी, खनिज तथा चट्टानों का यह महत्वपूर्ण अंग है। वनस्पति तथा प्राणियों के प्रायः सब शारीरिक पदार्थों का आक्सिजन एक आवश्यक तत्व है।

कई प्रकार के आक्साइडों (जैसे पारा, चाँदी इत्यादि के) अथवा डाइ-आक्साइडों (लेड, मैंगनीज, बेरियम के) तथा आक्सिजनवाले बहुत से लवणों (जैसे पोटैशियम नाइट्रेट, क्लोरेट, परमैंगनेट तथा डाइक्रोमेट) को गरम करने से आक्सिजन प्राप्त हो सकता है। जब कुछ पराक्साइड पानी के साथ प्रक्रिया करते हैं तब भी आक्सिजन उत्पन्न होता है। अतः सोडियम पराक्साइड तथा मैंगनीज डाइआक्साइड या चूने के क्लोराइड का चूर्णित मिश्रण (अथवा इसी प्रकार के अन्य मिश्रण भी) आक्सिजन उत्पादन के लिये प्रयुक्त होते हैं। हाइपोक्लोराइट अथवा हाइपोब्रोमाइट (जैसे ब्लीचिंग पाउडर) के विघटन से या गंधक के अम्ल तथा मैंगनीज डाइआक्साइड या पोटैशियम परमैंगनेट की क्रिया से भी आक्सिजन मिलता है। गैस की थोड़ी मात्रा तैयार करने के लिये हाइड्रोजन पराक्साइड, अकेले अथवा उत्प्रेरक के साथ अधिक उपयुक्त है।

जब बेरियम आक्साइड को तप्त किया जाता है (लगभग ५००° सें० तक) तब वह हवा से आक्सिजन लेकर पराक्साइड बनाता है। अधिक तापक्रम (लगभग ८००° सें०) पर इसके विघटन से आक्सिजन प्राप्त होता है तथा पुनः उपयोग के लिये बेरियम आक्साइड बच रहता है। औद्योगिक उत्पादन के लिये ब्रिन विधि इसी क्रिया पर आधारित थी। आक्सिजन प्राप्त करने के विचार से कुछ अन्य आक्साइड भी (जैसे ताँबा, पारा आदि के आक्साइड) इसी प्रकार उपयोगी हैं। हवा से आक्सिजन अलग करने के लिये अब द्रव हवा का अत्यधिक उपयोग होता है जिसके प्रभाजित आसवन से आक्सिजन प्राप्त किया जाता है। पानी के विद्युत्विश्लेषण (इलेक्ट्रॉलिसिस) से हाइड्रोजन के उत्पादन में आक्सिजन भी उपजात (बाइप्रॉडक्ट) के रूप में मिलता है।

आक्सिजन का घनत्व १.४२९० ग्राम प्रति लीटर है (०° सें०, ७६० मिलीमीटर दाबपर) और वायु की अपेक्षा यह गैस १.१०५२ गुना भारी है। इसका विशिष्टताप (स्थिर दाब पर) ०.२१७८ कैलारी प्रति ग्राम, १५° सें० पर है तथा स्थिर आयतन से विशिष्ट ताप से इसका अनुपात (१५° सें० पर) १.४०१ है। आक्सिजन के द्रवीकरण में सिलेटो को कठिनाई हुई थी, क्योंकि इसका क्रांतिक (क्रिटिकल) ताप –११८.८ सें०, दाब ४९.७ वायुमंडल तथा घनत्व ०.४३० ग्राम प्रति घन सेंटीमीटर है। द्रव गैस

(१) जीवित पादपों के प्रौढ आकारों की तुलना, (२) पुरोद्भिदी अर्थात् जीवों के अवशिष्टों (फॉसिल) के अध्ययन के आधार पर प्राचीन, लुप्त, विचित्र आकारों के साथ जीवित पादपों की तुलना, (३) प्रत्येक पादप के परिवर्धन का निरीक्षण।

आकार विज्ञान के प्राय दो उपविभाग किए जाते हैं—बाह्य आकार विज्ञान, जिसका सबध पादप-अगो के सापेक्ष स्थान तथा बाह्य आकार से है और शरीररचना (अनैटॉमी), जो पादपो की बाह्य और आतरिक सरचना का अध्ययन है। कोशिकी अथवा कोशाध्ययन, जिसका सबध आतरिक रचना से है, आकार विज्ञान के उपविभाग के रूप में विकसित हुआ, किंतु अब यह जीवविज्ञान की ही एक स्वतन शाखा माना जाता है।

आकार विज्ञान का अध्ययन कुछ विशिष्ट रूप भी धारण कर सकता है। जैसे, इसका सबध किसी पादप के प्रारभिक विकास से, आकार और सर-चना के निर्णायक कारणो से अथवा पादप के उन भागो से, जो कुछ विशिष्ट कार्य करनेवाले समझे जाते हैं, हो सकता है। आकार विज्ञान के इन अंगों को क्रमानुसार भ्रूण विज्ञान (एमब्रिऑलोजी), आकारजनन (मॉर्फो-जेनेसिस) तथा अगवर्णना (ऑर्गेनोग्रैफी) कहते हैं। पीढियो के एकातरण की क्रिया पादप आकारिकी की इतनी प्रमुख और महत्वपूर्ण विशेषता है कि बहुत वर्षो तक यह आकार विज्ञान के अध्ययन का प्रधान लक्ष्य बनी रही। शरीररचना (अनैटामी) का सबध स्थूल और सूक्ष्म, बाह्य और आतरिक बनावट से है। शरीररचना का एक विशिष्ट विषय है औतिकी (हिस्टॉलोजी) जिसका सबध जीवपिंड की सूक्ष्म रचना से है।

प्राणि आकारिकी—यद्यपि आकार विज्ञान मे (जिसका सबध प्राणी के सामान्य आकार और उसके अगो की सरचना से है) तथा शरीररचना में (जिसका सबध स्थूल और सूक्ष्म रचनात्मक विस्तार से है) भेद किया जा सकता है, तो भी वास्तविक व्यवहार में प्राणिशास्त्री इन दोनो शब्दो का प्रयोग पर्यायवाची रूप में करते हैं। अतएव प्राणिशास्त्री आकार विज्ञान शब्द के व्यावहारिक अर्थ मे शरीररचना विषयक समस्त अध्ययन को भी सम्मिलित करते हैं।

प्राणियो के आकार के विभिन्न प्रकार और उनके रूपातर प्राणि आकारिकी के अध्ययन के विषय हैं। आकार मुख्यतया शरीर की सममिति पर निर्भर है। सममिति के प्रकारो के अध्ययन से पता चलता है कि शीर्ष-प्राधान्य (सेफलाइज़ेशन), जो अग्र तत्रिकाओ तथा सवेदी रचनाओ की सघनता के कारण सिर का उत्तरोत्तर भेद-करण है, शरीर की द्विपार्श्विक सममिति के साथ साथ होता है। ज्यो ज्यो हम रचना की सश्लिष्टता (जटिलता) के क्रम में ऊपर चढते जाते हैं, शीर्षप्राधान्य की क्रिया अधि-काधिक स्पष्ट होती जाती है और मस्तिष्क के अत्यधिक परिवर्धन के साथ वानर तथा मनुष्य में पहुँचकर पूर्णता को प्राप्त होती है। सममिति मे अतर परिवर्धन के समय अन्य अक्षो की अपेक्षा एक अक्ष के अनुदिश अधिक वृद्धि होने से होता है। आकार के रूपातरो में परिस्थिति के अनुकूल चलने की विशेषता होती है। रचना सबधी समानता के लिये सधर्मता (होमोलॉजी) शब्द का व्यवहार होता है और कार्य सबधी या दैहिक समानता के लिये कार्य सादृश्य (अनैलोजी) का। सधर्मता शरीर-रचना सबधी अतर्निहित समानता है जिससे समान विकासात्मक उत्पत्ति ज्ञात होती है, परतु कार्यसादृश्य (अनैलोजी) में इस तरह की कोई विशेषता नही है।

प्रयोगात्मक भ्रूणतत्व इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करता है कि किसी प्राणी के शरीर के अतिम आकार या रचना का अस्तित्व अडे में उसी रूप में पहले से ही होता है अथवा वे परिवर्धन के समय पर्यावरण के तत्वो पर निर्भर हैं और इन तत्वो द्वारा ये दोनों परिवर्तित किए जा सकते हैं।

[प० म० तथा वि० प्र० सि०]

आकाश

पच महाभूतो में अन्यतम भूत द्रव्य। वैशेषिक दर्शन के अनुसार आकाश नव द्रव्यो में से एक विशिष्ट द्रव्य है। इसका विशेष गुण शब्द है। इसकी सिद्धि परिशेषानुमान से होती है। वैशे-षिको की सम्मति में शब्द न तो स्पर्शवान् द्रव्यो (जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु) का गुण हो सकता है और न आत्मा, मन, काल तथा दिक् का ही। इस प्रकार आठ द्रव्यों का गुण न होने के कारण बाकी बचे हुए द्रव्य (आकाश) का ही यह गुण सिद्ध होता है। प्रशस्तपादभाष्य में पूर्व अनुमान की सिद्धि का प्रकार दिखलाया गया है। किसी द्रव्य के बाह्य प्रत्यक्ष के लिये उसमें दो गुणो का अस्तित्व नितात आवश्यक होता है। उस पदार्थ में महत् परिमाण रहना चाहिए और उद्भूत रूप भी। आकाश न तो कोई सीमित पदार्थ है और न वह किसी रूप को ही धारण करता है। इसलिये आकाश का प्रत्यक्ष नही होता, प्रत्युत शब्दगुण धारण करने से वह अनुमान से सिद्ध माना जाता है। आकाश गुणवान् (अर्थात् शब्दवान्) होने से द्रव्य है और निरवयव तथा निरपेक्ष होने से नित्य है। आकाश की एकता सिद्ध करने के लिये कणाद की युक्ति यह है कि आकाश की सत्ता का हेतु बननेवाला शब्द सर्वत्र समान ही पाया जाता है। रूप, रस, गध तथा स्पर्श के समान उसमें प्रकारभेद नही पाए जाते। शब्द की ध्वनियो में जो भेद मालूम पडता है, वह निमित्त कारण के भेद से है। फलत शब्द की एकता होने से आकाश भी एक ही माना जाता है (वैशेषिक सूत्र २।१।३०)। आकाश विभु द्रव्य है अर्थात् वह सर्वव्यापक और अनत है। घट के द्वारा अवच्छिन्न होनेवाला घटाकाश तथा मठ के द्वारा सीमित होनेवाला मठाकाश आदि भेद उपाधिजन्य ही हैं। आकाश वस्तुत एक अच्छेद्य तथा अभेद्य द्रव्य है। भाट्ट मीमासको के मत में आकाश का प्रत्यक्ष भी होता है (मानमेयोदय पृ० १८८, अड्यार स०)। आकाश का परिमाण 'परम महत्' है और यह परिमाण सबसे बडा माना गया है। शब्द की ग्राहक इद्रिय (श्रोत्र) भी आकाश होती है, क्योकि कान के भीतर जो आकाश रहता है, उसी के द्वारा शब्द का ज्ञान हमें होता है।

[ब० उ०]

आकाश

भौतिकी के अनुसार पृथ्वी को घेरे हुए जो गोलाकार गुबज दिखाई पडता है उसी को आकाश अथवा गगन, नभ, व्योम, नक्षत्रलोक, दिव्यलोक, स्वर्गलोक आदि कहते हैं।

विस्तार—पृथ्वी पर जिधर भी हम अपने चारों ओर दृष्टि दौडाते हैं वही यह गुबज धरातल से मिलता हुआ जान पडता है। इस चतुर्दिक् विस्तृत बृहत् सम्मिलनवृत्त को क्षितिज कहते हैं। समुद्र के बीच जहाज पर बैठे हुए हमें जहाज इस विशाल गुबज के केंद्र पर स्थित जान पडता है, किंतु ज्यो ज्यो जहाज आगे बढता है त्यो त्यो यह गुबज क्षितिज के साथ आगे सरकता जाता है। यही अनुभव हमे थल पर भी होता है। पृथ्वी की परिक्रमा चाहे हम जलमार्ग से करे अथवा स्थलमार्ग से, यह आकाश हमें सर्वत्र इसी रूप में दिखाई पडता है। इससे सिद्ध होता है कि यह खगोल हमारी पृथ्वी के ऊपर चतुर्दिक् आच्छादित है। प्रश्न उठता है कि क्या यह आकाश कोई वास्तविक पदार्थ है। ऊपर देखने से हमें एक पर्दे का आभास होता है, किंतु वास्तव मे आकाश कोई पर्दा नही है। सूर्य, चद्र, ग्रह तथा नक्षत्र, पृथ्वी के परिभ्रमण तथा घूर्णन के कारण अथवा अपनी निजी गति के कारण विभिन्न आपेक्षिक गतियो से इसी पर्दे पर चलते दिखाई पडते हैं। रात्रि में जहाज के ऊपर अथवा मरुस्थल के बीच यह गुबज तारो और ग्रहो से आच्छादित दिखाई पडता है। हम एक साथ इस गुबज का आधा ही देख पाते हैं, दूसरा गोलार्ध पृथ्वी के ठीक दूसरी ओर पहुँचने पर दिखाई पडता है। आकाश निर्मल रहने पर कृष्ण पक्ष की रात्रि में एक चौडी मेखला पर तारे अधिक सख्या में दिखाई पडते हैं। यह मेखला क्षितिज के एक किनारे से निकलकर हमारे ऊपर से होती हुई क्षितिज की ठीक दूसरी ओर जाकर मिलती जान पडती है और यही दृश्य पृथ्वी की दूसरी ओर पहुँचने पर भी दिखाई पडता है। इससे ज्ञात होता है कि यह मेखला एक पूर्ण, विशाल चक्र के समान पृथ्वी को घेरे हुए है। इसे आकाशगगा कहते हैं (देखें आकाशगगा, अन्य आकाशीय पिंडो के लिये देखें ज्योतिष)।

यद्यपि चद्रमा की दूरी केवल २ लाख ३९ हजार मील है, जिसे तय करने में प्रकाश को कुल सवा सेकड लगता है और नीहारिकाओ की दूरियाँ इतनी अधिक हैं कि उनसे चलकर पृथ्वी तक पहुँचने में प्रकाश को सैकडो अथवा हजारो वर्ष लगते हैं, तो भी सब आकाशीय पिंड हमें आकाश के ही पर्दे पर दिखाई पडते हैं और ऐसा जान पडता है कि सब पृथ्वी से एक ही दूरी पर हैं।

इन तारो और नक्षत्रो से भरे हुए आकाश को देखकर हमें आकाश की शून्यता पर विश्वास नही होता, किंतु पूरे आकाश के पद्म भाग में केवल एक

में संभव है, क्योंकि मू तथा मू' के एक हो जाने से फिर इन दो रूपों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। इसके आधार पर बेंज़िल द्वि-आक्सिम के रूप भी लिखे जा सकते हैं।

का$_6$हा$_5$-का-का-का$_6$हा$_5$ का$_6$हा$_5$ का-का-का$_6$हा$_5$
|| || || \\
हाओ-ना ना-ओहा   हा ओ-ना हाओ-ना

का$_6$हा$_5$-का———का-का$_6$हा$_5$
// \\
ना-ओहा हाओ-ना
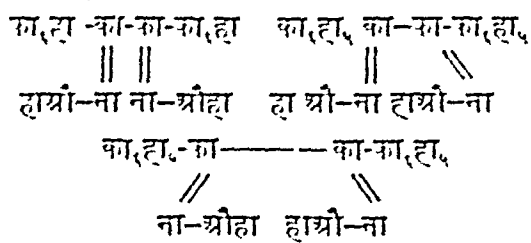
कीटोनों के आक्सिमों की फासफोरस पेंटाक्लाइड के साथ ईथर में प्रतिक्रिया करने से जो पदार्थ मिलता है उसपर जल की प्रतिक्रिया से प्रतिस्थापित ऐसिड-ऐमाइड प्राप्त होते हैं। इस क्रिया को बेकमैन का रूपातरण कहते हैं। इस क्रिया में मूलकों का परिवर्तन होता है। जो मूलक पहले कार्बन के साथ सयुक्त था, अब वह नाइट्रोजन के साथ सयुक्त मूलक से स्थानातरण कर लेता है।

मू-का=ना-ओहा→हाओ-का=नामू→ ओ=का-नाहामू
| | |
मू' मू' मू'
कीटॉक्सिम प्रतिस्थापित ऐसिड-ऐमाइड
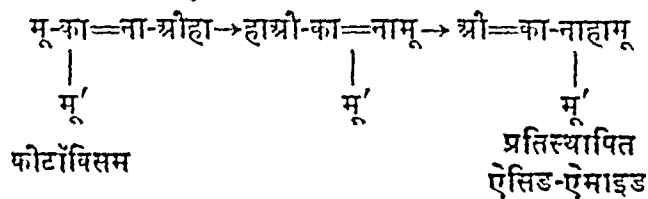
यह स्पष्ट है कि दो समावयवी आक्सिमों में से तो

मू-का-मू'
||
हाओ-ना

मू'काओनाहामू मिलेगा, परतु

मू-का-मू'
||
ना-ओहा
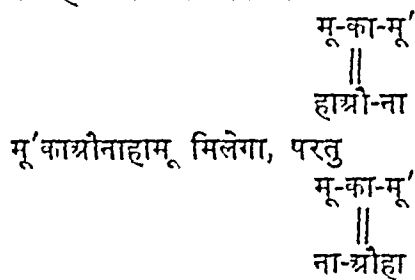
से मूकाओनाहामू' मिलेगा। इन पदार्थों का इस प्रकार बेकमैन रूपातरण के फलस्वरूप बनना इस बात की पुष्टि करता है कि समावयवयी आक्सिमों की सरचना तो एक सी है, परतु उसकी समावयवता मूलकों के तल मे विभिन्न प्रकार से स्थित होने के कारण होती है।

इसके बाद इन बातो की पुष्टि करने के लिये हान्स, वर्नेर, डब्ल्यू०एच० मिल्स, माइसेनहाइमर, टी० डब्ल्यू० जे० टेलर तथा एल० एफ० सटन आदि रसायनज्ञों ने अनेक प्रयोगों के आधार पर समय समय पर अपने विचार प्रकट किए हैं, किंतु आक्सिमों के सबध में अभी तक बहुत सी बातें नही निश्चित हो पाई हैं।

स०ग्र०—सिजविक केमिस्ट्री ऑव नाइट्रोजन कपाउड्स, जे० सी० थॉर्प डिक्शनरी ऑव ऐप्लाइड केमिस्ट्री।

टिप्पणी औ=आक्सिजन, का=कार्बन, ना=नाइट्रोजन, हा=हाइड्रोजन, मू=मूलक (रैडिकल), मू'=अन्य मूलक। [रा० दा० ति०]

आक्सैलिक अम्ल पोटैसियम और कैल्सियम लवण के रूप में बहुत से पौधों में पाया जाता है। लकड़ी के बुरादे को क्षार के साथ २४०° से २५०° सें० के बीच गरम करके आक्सैलिक अम्ल, (काओओहा)$_2$, बनाया जा सकता है। इस प्रतिक्रिया में सेल्यूलोस की—काहाओहा–काहाओहा की इकाई आक्सीकृत होकर (काओओहा)$_2$ का रूप ग्रहण कर लेती है। आक्सैलिक अम्ल को औद्योगिक परिमाण में बनाने के लिये सोडियम फार्मेट को सोडियम हाइड्राक्साइड या कार्बोनेट के साथ गरम किया जाता है। आक्सैलिक अम्ल का कार्बोक्सिल समूह दूसरे कार्बोक्सिल समूह पर प्रेरण प्रभाव डालता है, जिससे इनका आयनीकरण अधिक होता है। आक्सैलिक अम्ल में शक्तिशाली अम्ल के गुण हैं।

पेनीसीलियम और एस्पेंगिलस फफूँदें शर्करा से आक्सैलिक अम्ल बनाती हैं। यदि कैल्सियम कार्बोनेट डालकर विलयन का पीएच ६-७ के बराबर रखा जाय तो लगभग ६० प्रति शत शर्करा, कैल्सियम आक्सैलेट में बदल जाती है।

ऐसीटिक अम्ल दो प्रकारो से आक्सैलिक अम्ल मे परिवर्तित होता है जैसा अत में दी गयी सारणी मे दिखाया गया है।

आक्सैलिक अम्ल पोटैसियम परमैंगनेट द्वारा शीघ्र आक्सीकृत हो जाता है। इस आक्सीकरण में दो अति आक्सीकृत कार्बन के परमाणुओं के बीच का दुर्बल सबध टूट जाता है और कार्बन डाइ-आक्साइड और पानी बनता है। यह प्रतिक्रिया नियमित रूप से होती है और इसका उपयोग आयतनमितीय (वॉल्युमेट्रिक) विश्लेषण में होता है। आक्सैलिक अम्ल के इस अवकारी (रेडयूसिंग) गुण के कारण इसका उपयोग स्याही के धब्बे छुड़ाने के लिये तथा अन्य अवकारक के रूप मे होता है।

आक्सैलिक अम्ल को गरम करने पर यह फार्मिक अम्ल, कार्बन डाइ-आक्साइड, कार्बन मोनोक्साइड और पानी में विच्छेदित हो जाता है। सांद्र सल्फ्यूरिक अम्ल द्वारा यह विच्छेदन कम ताप पर ही होता है और इस दशा में बना फार्मिक अम्ल, कार्बन मोनोक्साइड और पानी में विच्छेदित हो जाता है।

आक्सैलिक अम्ल आठ भाग पानी मे विलेय है। १५०° सें० तक गरम करने पर इसका मणिभ जल (वाटर ऑव क्रिस्टैलाइज़ेशन) निकल जाता है। जलयोजित अम्ल का गलनाक १०१° सें० और निर्जलीकृत अम्ल का गलनाक १८९° सें० है। नार्मल ब्यूटाइल ऐलकोहल के साथ आसुत (डिस्टिल) करने पर ब्यूटाइल एस्टर बनता है, जिसका क्वथनाक २४३° सें० है। आक्सैलिक अम्ल के पैरा-नाइट्रोबेंजाइल एस्टर का क्वथनाक २०४° सें०, ऐनिलाइड का गलनाक २४५° सें० और पैरा-टोल्यूडाइड का गलनाक २६७° सें० है। [कृ० ब०]

आक्सैलिक अम्ल की सरचना
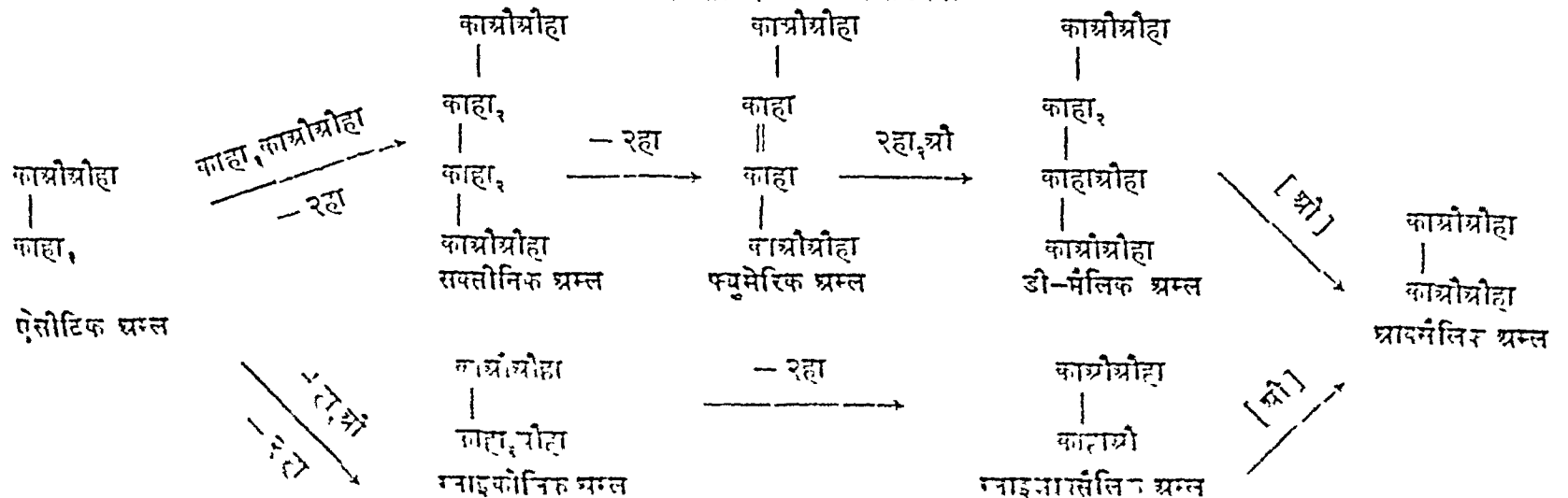
टिप्पणी . औ-आक्सिजन, का-कार्बन, हा-हाइड्रोजन।

और उसी के अग माने जाते हैं (चित्र देखें) लगभग १०० गोलीय तारागुच्छ ज्ञात हैं। इनका वितरण गोलाकार है। इन तारागुच्छो के वितरण से आकाशगगा का केंद्र ज्ञात किया जा सकता है। तारो की गति नापने से भी केंद्र की गणना मे सहायता मिलती है। रूप और विस्तार में आकाशगगा बहुत सी अगाग (एक्स्ट्रा गैलक्टिक) नीहारिकाओ से (अर्थात् उन मदाकिनियो से जो हमारी मदाकिनी सस्था से पूर्णतया बाहर हैं) मिलती जुलती हे।

स०ग्र०—गोरखप्रसाद नीहारिकाएँ (बिहार राष्ट्रभापा परिषद्), वोक एव वोक दि मिल्की वे (१९४५)। [च० प्र०]

आकाशवाणी (ऑल इडिया रेडियो) आकाशवाणी शब्द भारतवर्ष के केंद्रीय सरकार द्वारा सचालित, वेतार से कार्यक्रम प्रसारित करनेवाली राष्ट्रीय, देशव्यापक अखिल भारतीय सस्था के लिये व्यवहार मे लाया जाता है। ८ जून, सन् १९३६ मे इस सस्था की स्थापना के अवसर पर इसका अग्रेजी नामकरण ऑल इडिया रेडियो हुआ। किंतु इससे पूर्व ही सन् १९३५ मे तत्कालीन देशी रियासत मैसूर में एक अलग रेडियो स्टेशन की स्थापना की गई थी जिसे मैसूर सरकार ने आकाशवाणी की सज्ञा दी थी। भारतवर्ष के स्वतत्र हो जाने के कुछ समय बाद जब देशी रियासतो के रेडियो स्टेशन आल इडिया रेडियो मे समिलित कर लिए गए, तब आल इडिया रेडियो के लिये भारतीय नाम 'आकाशवाणी', मैसूर रेडियो स्टेशन के नामानुसार, अपना लिया गया। इस समय अग्रेजी मे 'ऑल इडिया रेडियो' और भारतीय भाषाओ मे 'आकाशवाणी' शब्द का व्यवहार होता है।

आकाशवाणी की स्थापना सन् १९३६ मे हुई, यद्यपि भारतवर्ष मे रेडियो कार्यक्रमो का सिलसिलेवार प्रसारण २३ जुलाई, १९२७ से ही प्रारभ हो गया था। 'आकाशवाणी' केंद्रीय सरकार के प्रसार और सूचना मत्रालय के अधीनस्थ एक विभाग है। केंद्रीय सूचना तथा प्रसारमत्री और उनके मत्रालय द्वारा ससद (पार्लियामेंट) आकाशवाणी पर अपना नियत्रण रखती है। इसके प्रमुख अधिकारी महानिर्देशक (डाइरेक्टर जनरल) हैं जिनके नीचे देश के विभिन्न क्षत्रो मे स्थित २८ रेडियो स्टेशन, ६० ट्रासमिटर और कतिपय अन्य प्रकार के केंद्र और कार्यालय हैं, यथा समाचारविभाग, विदेशी कार्यक्रम विभाग, दूरदर्शन केंद्र (टेलिविजन), इस्टालेशन विभाग इत्यादि। इन सब केंद्रो और कार्यालयो को एक सूत्र मे बाँधनेवाला एक केंद्रीय दफ्तर है जिसके इजीनियरिंग अग के प्रमुख चीफ इजीनियर हैं और जिसके कार्यक्रम, शासकीय और निरीक्षण शाखाओ मे उप-महानिर्देशक (डिप्टी डाइरेक्टर जनरल) नियुक्त हैं। कुल मिलाकर आकाशवाणी मे (१९६० ई०) नौ हजार व्यक्ति काम कर रहे हैं। आकाशवाणी का प्रधान कार्यालय नई दिल्ली के प्रसार भवन (ब्राडकास्टिंग हाउस) और आकाशवाणी भवन मे स्थित है।

आकाशवाणी का उद्देश्य रेडियो का जनसाधारण की शिक्षा, जानकारी और मनोरजन के लिये उपयोग करना है। अपने २८ रेडियो स्टेशनो से आकाशवाणी भारतवासियो के लिये १६ मुख्य भाषाओ, २९ आदिवासी भापाओ तथा ४८ उप-भापाओ में विभिन्न प्रकार के कार्यक्रम प्रसारित करती है। कार्यक्रम के प्रथम वर्ग मे क्षेत्रीय भाषाओ के वे कार्यक्रम है जो विभिन्न स्टेशनो से प्रसारित होते है और जिनमे सगीत, वार्ताओ, नाटक और सामान्य समाज से सबद्ध अन्य प्रकार के कार्यक्रम आते हैं। दूसरे वर्ग है राष्ट्रीय कार्यक्रमो के, यानी सगीत, वार्ताओं, नाटक इत्यादि के वे कार्यक्रम जो दिल्ली से प्रसारित होने पर अन्य सभी स्टेशनो द्वारा 'रिले' किए जाते हैं अथवा जिनकी मूल पाडुलिपि (मास्टर कापी) के आधार पर अन्य भाषाओ में एक समान कार्यक्रम प्रसारित किए जाते हैं। इन राष्ट्रीय कार्यक्रमो द्वारा देश मे सास्कृतिक आदान प्रदान बढा है। तीसरा वर्ग है समाचार बुलेटिन, समाचारदर्शन और तद्विपयक कार्यक्रमो का। आकाशवाणी की सभी ४७ बुलेटिनें जो १६ भापाओ मे प्रसारित होती हैं दिल्ली में सपादित होकर अलग अलग भापाक्षेत्रो के स्टेशनो से रिले की जाती हैं। इनके अतिरिक्त प्रदेशो मे स्थानीय समाचार भी प्रसारित किए जाते हैं। चौथा वर्ग है विविध भारती के कार्यक्रमो का जो हल्के फुल्के मनोरजन चाहनेवाले श्रोताओ के लिये केंद्रीय रूप से सपादित होकर कुछ शक्तिशाली ट्रासमिटरो पर प्रति दिन प्रसारित किए जाते हैं और सारे देश मे सुने जा सकते हैं। पाँचवाँ वर्ग, जो एक तरह से पहले वर्ग मे ही शामिल है, विशिष्ट श्रोताओं के लिये कार्यक्रमो का है, यथा ग्रामीण जनता के लिये, औद्योगिक क्षेत्रो, विद्यालयो, विश्वविद्यालयो, सैनिक दलो, महिलाओ और बच्चो के लिये। इन पाँचो वर्गो के अतर्गत कुल मिलाकर आकाशवाणी वर्ष भर मे एक लाख से अधिक घटो के कार्यक्रम प्रसारित करती है जिसमें लगभग ४८ प्रति शत सगीत के कार्यक्रम होते है, २२ प्रति शत समाचार के और शेप वार्ता, नाटक इत्यादि अन्य प्रकार के।

विदेशो के लिये आकाशवाणी का एक अलग विभाग है, जो १६ भाषाओ में प्रतिदिन २० घटे कार्यक्रम प्रसारित करता है। इसका उद्देश्य प्रधानत भारतीय नीति तथा भारतीय सस्कृति से विदेशी जनता और प्रवासी भारतीयो को परिचित कराना है।

इस समय (१९६०) आकाशवाणी के विभिन्न ट्रासमिटरो द्वारा देश के लगभग ३७ प्रति शत क्षेत्र मे कुल मिलाकर देश की ५५ प्रति शत जनता रेडियो कार्यक्रमो को भली भाँति सुन सकती है, किंतु कुछ विघ्नो के साथ ४५ प्रति शत क्षेत्र मे ६५ प्रति शत तक जनता इन कार्यक्रमो को सुन सकती है। १९४७ के बाद १९६० तक रेडियो स्टेशनो की सख्या ६ से बढकर २८ हो गई। रेडियो सेटो की सख्या १९४७ में २,७६,००० थी और १९५९ में १७,२५,००० हो गई। फिर भी देश की जनसख्या और आकाशवाणी के रेडियो स्टेशनो के विस्तार को देखते हुए रेडियो सेटो की सख्या में अभिवृद्धि की आवश्यकता है। इस समय आकाशवाणी के लगभग साढे पाँच करोड वार्षिक व्यय मे से लगभग ६० प्रति शत रेडियो सेटो की लाइसेंस फीस से आता है। साधारण लाइसेंस फीस १५ रुपया वार्षिक है, किंतु फीस की दरें कुछ विशेष प्रकार के रेडियो सेटो के लिये अलग अलग भी हैं।

अपने निर्धारित उद्देश्यो की पूर्ति करते समय आकाशवाणी देश का एक सास्कृतिक सूत्र में बाँधने का प्रयास भी करती रही है। शास्त्रीय और उपशास्त्रीय सगीत को आकाशवाणी के कार्यक्रम ने प्रोत्साहन दिया है और लगभग १० हजार सगीत कलाकार इन कार्यक्रमो मे प्रति वर्ष भाग लेते रहे हैं। लोकसगीत के रेकार्डो का एक विशाल सग्रह भी तैयार किया गया है और नए प्रकार के सुगम सगीत और वाद्यवृद की आयोजना भी की गई है। साहित्यसमारोह, राष्ट्रीय कविसभा, सगीतसमेलन, गौरव ग्रथमाला इत्यादि कार्यक्रम विभिन्न प्रादेशिक सस्कृतियो से अनेक श्रोताओ को परिचित कराते हैं। आकाशवाणी द्वारा सर्वाधिक सेवा ग्रामीण जनता के लिये हो रही है। लगभग ७० हजार रेडियो सेट ग्रामीण केंद्रो में बाँटे गए हैं और दैनिक ग्रामीण कार्यक्रम लोकप्रिय और शिक्षाप्रद साबित हुए हैं। ग्रामीण-श्रोता-मडलो की स्थापना से देहाती जनता मे नवचेतना का प्रादुर्भाव देखा जा रहा है। इन सब दिशाओ मे प्रगति करते समय आकाशवाणी को न केवल सगीतज्ञो और साहित्यिको का सहयोग प्राप्त हुआ है बल्कि अनेक प्रकार की परामर्श समितियो का भी, जिन्हे सूचना और प्रसार मत्रालय नियुक्त करता है। दूरदर्शन (टेलिविजन) का भी प्रारभ एक प्रयोग के रूप मे १९५९ के सितबर मास से दिल्ली मे किया गया है।

[ज० च० मा०]

आकाशीय रज्जुमार्ग ऊँची नीची, पर्वतीय अथवा पकिल भूमि को पार कर नियत स्थान पर सामग्री पहुँचाने के लिये रज्जुमार्ग (एईरियल रोपवेज) अद्वितीय साधन है। कारखानो तथा बनते हुए बाँधो में एक स्थान से दूसरे स्थान पर कच्चा सामान ले जाने के लिये इनका बहुत उपयोग होता है।

रज्जुमार्ग दो प्रकार के होते हैं एकल रज्जु (मोनो केबुल) तथा द्विरज्जु (बाइकेबुल)। प्रथम मे एक ही अछोर रज्जु होती है जो अनवरत चलती रहती है। यह अपने साथ खाली या भरे हुए डोलो (बाल्टियो) को अपने गतव्य स्थान पर ले जाती है। ये डोल इसी रज्जु मे अपने वाहक के साथ बँधे रहते हैं (देखिये चित्र १)।

चित्र क मे इस्पात का एक ककाल या अट्टालक दिखाया गया है। इसी पर रज्जु टिकी रहती है, जिसमे डोल अपने वाहक सहित काठी के फाँसो (सैडिल क्लिप्स) द्वारा बाँधा रहता है। रज्जु निरतर चलती रहती है और अपने साथ डोलो को भी लिए चलती है।

नचिकेता (१०।१३५)। इनके अतिरिक्त दानस्तुतियो मे अनेक राजाओ के नाम उपलब्ध है जिनसे दान पाकर अनेक ऋषियो को उनकी स्तुति मे मत्र लिखने की प्रेरणा मिली। इन स्तुतियो मे भी कतिपय आख्यानो की ओर स्पष्ट सकेत विद्यमान है।

ऋग्वेद से भिन्न वैदिक ग्रथो मे भी आख्यानो का विवरण दिया गया है। इनमें से कतिपय आख्यान तो एकदम नवीन है, परतु कुछ ऋग्वेद मे सकेतित आख्यानो के ही परिबृंहित रूप है। ऋग्वेद से सबद्ध 'अनुक्रमणी साहित्य' मे, विशेषत बृहद्देवता और सर्वानुक्रमणी मे, निरुक्त, नीतिमजरी और सायण भाष्य मे इन आख्यानो की विस्तृत घटनाओ का भी वर्णन हुआ है। पुराणो मे भी ये आख्यान वर्णित है, परतु इनकी घटनाओ मे कही ह्रास और कही परिबृहण दृष्टिगोचर होता है। ब्राह्मण तथा श्रौतसूत्र भी इनके विकास के अध्ययन के लिये आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ सोभरि काण्व का आख्यान जो ऋग्वेद के अनेक सूक्तो (८।१९,२०,२१,२२) मे सकेतित है, भागवत में विस्तार से वर्णित है (भागवत ९ स्कध, अ० ६।३८-५५)। श्यावाश्व आत्रेय का आख्यान ऋग्वेद मे (५।६१) उल्लिखित होने के अतिरिक्त साख्यायन श्रौतसूत्र (१६।११।१९) मे भी निर्दिष्ट है। च्यवान (पुराणो मे 'च्यवन') भार्गव तथा सुकन्या मानवी का आख्यान ऋग्वेद के अनेक सूक्तो (१।११६, ११७, ११८, १०।३९) मे सकेतित होकर ताडच ब्राह्मण (१४।६।११), निरुक्त (४।१९), शतपथ ब्राह्मण (काड ४) तथा श्रीमद्भागवत पुराण (९।३) मे विस्तार के साथ वर्णित है। इस प्रकार वैदिक आख्यानो के विकास की विपुल सामग्री रामायण, महाभारत और पुराणो के भीतर रोचक विस्तार के साथ उपलब्ध होती है।

आख्यानो का तात्पर्य क्या है इस प्रश्न के उत्तर के सवध मे विद्वानो मे पर्याप्त मतभेद है। अमरीकी विद्वान् डा० ब्लूमफील्ड ने उन विद्वानो के मत का खडन किया है जिन्होने इन आख्यानो की रहस्यवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ ये रहस्यवादी विद्वान् पुरूरवा के आख्यान के भीतर एक गभीर रहस्य का दर्शन करते है। उनकी दृष्टि मे पुरूरवा सूर्य और उर्वशी उषा है। उषा और सूर्य का परस्पर सयोग क्षणिक ही होता है। उनके वियोग का काल बडा ही दीर्घ होता है। वियोगी होने पर सूर्य उषा की खोज मे दिन भर घूमा करता है, तब कही जाकर फिर दूसरे दिन प्रात काल दोनो का समागम होता है। प्राचीन भारत के वदिको (कुमारिल भट्ट, सायण आदि) की व्याख्या का यही रूप था। परतु आख्यानो को उनके मानवीय मूल्य से वचित रखना न्याय्य और उपयुक्त नही प्रतीत होता।

इन आख्यानो के अनुशीलन के विषय मे दो तथ्यो पर ध्यान देना आवश्यक है (क) ऋग्वेदीय आख्यान ऐसे विचारो को अग्रसर करते है और ऐसे व्यापारो का वर्णन करते है जो मानव समाज के कल्याणसाधन के नितात समीप है। इनका अध्ययन मानव मूल्य के दृष्टिकोण से ही करना चाहिए। ऋग्वेदीय ऋषि मानव की कल्याणसिद्धि के लिये उपादेय तत्वो का समावेश इन आख्यानो के भीतर करते है। (ख) उसी युग के वातावरण को ध्यान मे रखकर इनका मूल्य और तात्पर्य निर्धारित करना चाहिए जिस युग मे इन आख्यानो का आविर्भाव हुआ था। अर्वाचीन तथा नवीन दृष्टिकोण से इनका मूल्यनिर्धारण करना इतिहास के प्रति अन्याय होगा। इन तथ्यो की आधारशिला पर आख्यानो की व्याख्या समुचित और वैज्ञानिक होगी।

आख्यानो की शिक्षा मानव समाज के सामूहिक कल्याण तथा विश्वमगल की अभिवृद्धि के निमित्त है। भारतीय सस्कृति के अनुसार मानव और देव दोनो परस्पर सवद्ध है। मनुष्य यज्ञो मे देवो के लिये आहुति देता है, जो प्रसन्न होकर उसकी अभिलाषा पूर्ण करते है और अपने प्रसादो की वृष्टि उनके ऊपर निरतर करते है। इद्र तथा अश्विन विषयक आख्यान इसके विशद दृष्टात है। यजमान के द्वारा दिए गए सोमरस का पान कर इद्र नितात प्रसन्न होते है और उसकी कामना को सफल बनाते है। अवर्षण के दैत्य (वृत्र) को अपने वज्र से छिन्न भिन्न कर वे सब नदियो को प्रवाहित करते है। वृष्टि से मानव आप्यायित होते है। ससार मे शाति विराजने लगती है। कालिदास ने इस वैदिक तथ्य को बडी सुदरता से अभिव्यक्त किया है (रघुवश, चतुर्थ सर्ग)।

प्रत्येक आख्यान के अतस्तल मे मानवो के शिक्षणार्थ तथ्य अतर्निहित है। अपाला आत्रेयी (ऋग्वेद ८।९१) का आख्यान नारीचरित्र की उदात्तता तथा तेजस्विता का विशद प्रतिपादक है। राजा त्र्यरुण त्रैवृष्ण और वृशजान का आख्यान (ऋ० ५।२, ताड्य ब्राह्मण १३।३।१२, ऋग्विधान १२।५२, बृहद्देवता ५।१४।२३) वैदिक कालीन पुरोहित की महत्ता और गरिमा का स्पष्ट सकेत करता है। सोभरि काण्व का आख्यान (ऋ० ८।१९, ८।८१, निरुक्त ४।१५, भागवत ९।६) सगति के महत्व का प्रतिपादन करता है। उषस्ति चाक्रायण (छादोग्य,प्रथम प्रपाठक, खड १०-११) का आख्यान अन्न के सामूहिक प्रभाव तथा गौरव की कमनीय कथा है। श्यावाश्व आत्रेय की कथा (ऋ० ५।६१) ऋषि के गौरव को, प्रेम की महिमा को तथा कवि की साधना को बडी सुदर रीति से अभिव्यक्त करती है। ऋग्वेदीय युग की यह प्रख्यात प्रणय कहानी है, जिसमे प्रेम की सिद्धि के लिए श्यावाश्व तपस्या के बल पर मत्रद्रष्टा ऋषि बन जाते है। दध्यड् आथर्वण का आख्यान (ऋ० १।११६।१२३, शतपथ १४।४।५।१३, बृहदारण्यक २।५, भागवत पुराण ६।१०) राष्ट्र के मगल के लिये अपने जीवनदान की शिक्षा देकर हमे क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठने का और राष्ट्र का कल्याण करने का गौरवमय उपदेश देता है। पुराण मे इन्ही का नाम ऋषि दधीचि है, जिन्होने वृत्र को मारने के लिये इद्र को अपनी हड्डियाँ वज्र बनाने के लिये देकर आर्य सभ्यता की रक्षा की थी। अनधिकारी को रहस्यविद्या के उपदेश का विषम परिणाम इस वैदिक आख्यान मे दिखलाया गया है। इन सब आख्यानो के पीछे उपदेश है—ईश्वर मे अटूट श्रद्धा तथा मानव से घनिष्ठ प्रेम।

कतिपय ऋषियो की चारित्रिक त्रुटियो तथा अनैतिक आचरणो का भी वर्णन वैदिक तथा उनका अनुसरण करनेवाले महाभारत और पुराणो मे पाए जानेवाले आख्यानो मे उपलब्ध होता है। ये कथानक अनैतिकता के गर्त मे गिरने से बचाने के लिये ही निर्दिष्ट है।

पुराणो मे भी ये ही आख्यान बहुश वर्णित है, परतु इनके रूप मे वैषम्य है। तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि अनेक आख्यान कालातर मे परिवर्तित मनोवृत्ति अथवा विभिन्न सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति के कारण अपने विशुद्ध वैदिक रूप से नितात विकृत रूप धारण कर लेते है। विकास की प्रक्रिया मे अनेक अवातर घटनाएँ भी उस आख्यान के साथ सश्लिष्ट होकर उसे एक नया रूप प्रदान करती है, जो कभी कभी मूल आख्यान के नितात विरुद्ध सिद्ध होता है। शुन शेप तथा वसिष्ठ विश्वामित्र के कथानको का अनुशीलन इस सिद्धात के प्रदर्शन मे दृष्टात प्रस्तुत करता है। ऋग्वेद मे निर्दिष्ट शुन शेप का यह आख्यान ऐतरेय ब्राह्मण में नए रूप में, नवीन घटनाओ से सवलित होकर उपलब्ध होता है। अब यहाँ यह आख्यान आरभ मे राजा हरिश्चद्र के पुत्र रोहिताश्व के साथ तथा कथात मे ऋषि विश्वामित्र के साथ सवद्ध होकर एक नवीन रूप धारण कर लेता है। उसके अन्य दो भाइयो की सत्ता, उसके पिता का दारिद्रय, उसके विक्रय आदि की समस्त घटनाएँ कथानक मे रोचकता लाने के लिये पीछे से गढी गई प्रतीत होती है। 'शुन शेप' का अर्थ भी कुत्ते से कोई अर्थ नही रखता। 'शुन' का अर्थ है सुख, कल्याण तथा 'शेप' का अर्थ है स्तभ या खभा। अत 'शुन शेप' का अर्थ ही है 'सौख्य का स्तभ'। इस प्रकार यह कथानक वरुण के पाश से मुक्ति का सदेश देता हुआ कल्याण के मार्ग को प्रशस्त बनाता है।

वसिष्ठ विश्वामित्र का आख्यान ऋग्वेद मे स्वत सकेतित है। ये दोनो ऋषि सभवत भिन्न भिन्न समय मे राजा सुदास के पुरोहित थे। ये उस युग के ऋषि है जो चातुर्वर्ण्य के क्षेत्र से बाहर माना जा सकता है। दोनो मे परम सौहार्द तथा मैत्री की भावना का साम्राज्य विराजता है। दोनो तपस्या से पूत, तेज के पुज तथा अलौकिक शक्तिशाली महापुरुष है। परतु अवातर ग्रथो—रामायण, पुराण, बृहद्देवता आदि—मे दोनो के बीच एक महान् सघर्ष, वैमनस्य तथा विरोध दिखलाया गया है। विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण बनने के लिये लालायित और वसिष्ठ के द्वारा अगीकृत न होने पर उनके पुत्रो के विनाशक के रूप मे चित्रित किए गए है।

स०ग्र०—हरियप्पा ऋग्वेदिक लीजेड्स थ्रू दि एजेज, पूना, १९५३, बलदेव उपाध्याय वैदिक साहित्य और सस्कृति, काशी, १९५८, मैक्डोनल्ड . दि वैदिक माइथोलाजी (स्ट्रासवर्ग, १९१८)।

हो सकेगा। प्राय बोझ लादने का समय बीस से तीस सेकड तक ही होता है। आवश्यकतानुसार एक या इससे अधिक डोल एक साथ भरे जा सकते हैं। रज्जु का वेग रज्जुमार्ग की ढाल पर भी निर्भर रहता है। साधारणतया इसकी चाल दो से पाँच मील प्रति घटा रखी जाती है, किंतु यह सात मील प्रति घटा तक भी जा सकती है। परतु स्मरण रखना चाहिए कि गति में जितनी ही तीव्रता होगी उतनी ही अधिक इसमे परिवर्तन-स्थल पर झटके लगने की भी सभावना रहेगी। अतएव अधिक दूरी तथा अधिक क्षमता के लिये द्विरज्जु प्रणाली का ही उपयोग उचित होता है।

इस प्रकार रज्जु की मोटाई क्रमागत अट्टालको के बीच की दूरी, उनके बीज की रज्जु पर एक साथ आनेवाले अधिकतम बोझ की मात्रा और प्रति इच मोटाई के अनुसार रज्जु की मजबूती पर निर्भर है। मोटाई में रज्जु ½″ से 1½″ तक के व्यास की होती है। रज्जु पहले इतनी ही तानी जाती है कि वितस्ति (स्पैन, अर्थात् एक अट्टालिका से क्रमागत अट्टालिका तक की दूरी) के केंद्र पर उसकी नति अधिक से अधिक वितस्ति की १/२० हो। इसलिये अचल बोझ, वायु की दाव, झटको और कपनो के प्रभाव आदि, को ध्यान में रखकर ही रज्जुमार्ग का अतिम रूप निश्चित किया जाता है। अचल भार, दाव आदि को कुल भार का २५ प्रति शत मान लिया जा सकता है।

आवश्यक शक्ति—रज्जु को पूर्वनिश्चित गति के अनुसार चलाने के लिये इजन की आवश्यकता होती है और उसकी शक्ति रज्जु की ढाल (ग्रेडिएट) पर निर्भर है। कभी कभी माल लादने का स्टेशन उतारनेवाले स्टेशन की अपेक्षा इतनी अधिक ऊँचाई पर होता है कि गुरुत्वाकर्षण के कारण लदे हुए डोल न केवल स्वय नीचे उतरते हैं, वरन् उनसे उत्पन्न फालतू शक्ति अन्य कार्यों में भी सहायक हो सकती है। साधारण अनुमान के लिये इतना कहा जा सकता है कि बोझ लादने और उतारने के स्टेशनो पर घर्षण के कारण ४ से ५ अश्वसामर्थ्य (हॉर्स पावर) तक की आवश्यकता हो सकती है। अट्टालको पर और रज्जु पर के घर्षण के लिये सा × ल/१२ अश्वसामर्थ्य चाहिए, जहाँ सा प्रति घटा प्रति टन में रज्जुमार्ग की क्षमता है और ल मार्ग की लबाई मीलो में है। सचालक चक्रों में भी कुछ शक्ति का ह्रास होता है, जो पूर्वोक्त घर्षण के २५ प्रति शत के लगभग हो सकता है।

अट्टालिकाओ के निर्माण मे इनकी क्रमिक दूरी के साथ अन्य बातो का भी ध्यान रखना पडता है, जैसे (१) स्थायी भार, (२) अट्टालिका, रज्जु और डोल पर वायु की दाव, (३) नीचे की दिशा में रज्जु के तनाव का विघटित अश (रिज़ॉल्व्ड पार्ट), (४) अट्टालिका की घिरनी के फँस जाने पर, एक ओर की रज्जु पर बोझ और दूसरी ओर कुछ न रहने से, दोनो ओर की रज्जुओ के क्षैतिज तनावो का अतर और (५) एक ओर की रज्जु टूट जाने पर अट्टालिका पर क्षैतिज तनाव और ऐठन-घूर्ण (टॉर्शनल मोमेंट)।

द्विरज्जु-प्रणाली—दोहरी रज्जुप्रणाली मे एक मार्गदर्शी रज्जु (ट्रैक रोप) रहती है, जो डोलवाहको का बोझ सँभालती है और उन्हे ठीक मार्ग से विचलित नही होने देती। दूसरी रज्जु चलती रहती है और वही डोलो को घसीट ले चलती है, जैसा चित्र ड मे दिखाया गया है।

घसीटनेवाली रज्जु ठीक उसी प्रकार की होती है जैसी एकल-रज्जु-प्रणाली में। इन दोनो प्रणालियो मे कौन सी प्रणाली चुननी चाहिए यह बताना बहुत कठिन हे। द्विरज्जु-प्रणाली में आरभ में अधिक खर्च अवश्य बैठना है, पर अधिक दूरी तक तथा अधिक ढाल पर अधिक बोझ के यातायात के लिये यही प्रणाली अधिक उपयुक्त ठहरती है। एकल-रज्जु-प्रणाली अधिक सरल है और हल्के तथा अस्थायी कामो के लिये अवश्य ही अपेक्षाकृत सस्ती है।

रेलमार्ग की अपेक्षा सुविधाएँ—पर्वतीय प्रदेशो मे रेलमार्ग में अधिक से अधिक तीन प्रति शत ढाल रखी जा सकती है, परतु रज्जुमार्ग ४० प्रति शत ढाल तक पर काम कर सकता है। यदि किसी पर्वतीय प्रदेश में दो विदुओ के तलो का अतर २,६४० फुट है और वे एक दूसरे से दो मील पर है तो दो मील के ही रज्जुमार्ग से काम चल जायगा, परतु २½ प्रति शत की ढाल के रेलमार्ग की लबाई २० मील रखनी पडेगी। फिर, रेल के लिये मार्ग के बीहड नालो को पार करने और स्थान स्थान पर पुल, तटबध तथा पुश्तवान बनाने की कठिनाइयाँ भी अत्यधिक हो सकती है। [ज० कृ०]

आकृति

पतजलि तथा गौतम ने 'आकृति' की परिभाषा समान शब्दो में की है—आकृतिग्रहणा जाति (महाभाष्य), आकृतिर्जातिलिंगाख्या (न्यायसूत्र), जिसका अर्थ यह है कि आकृति या आकार का तात्पर्य अवयव के सस्थानविशेष से है और जाति का निर्णय आकृति के द्वारा ही होता है। सास्ना (गलकबल), लागूल, खुर, विषाण आदि गोत्व जाति के लिंग माने जाते हैं। उन्हें देखकर किसी पशु को हम गाय मानने के लिये बाध्य होते हैं। शब्द के शक्य अर्थ के विचारप्रसग मे कतिपय आचार्य आकृति को ही शब्द का अर्थ मानते थे। महाभाष्य में इसका उल्लेख है। गौतम ने व्यक्ति तथा जाति के समान ही आकृति को वाक्यार्थ माननेवालो के मत का खडन कर इन तीनो के समुच्चय को ही पद का अर्थ माना है (जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्था, न्यायसूत्र—२।२।६३)। [ब० उ०]

आक्कियुस (अथवा अत्तियुस्) लुकियुस्

लातीनी भाषा का दु खात नाटको का रचयिता कवि। इसका जन्म उंब्रिया के पिसौरुम नामक स्थान पर हुआ था। इसका समय ई० पू० १७० से ई० पू० ८५ तक है। युवावस्था में यह रोम नगर मे आकर बस गया था और ई० पू० १४० में दु खात नाटको (ट्रैजेडी) का विख्यात लेखक माना जाने लगा। इसके ४५ नाटको के नाम और इसकी रचनाओ की लगभग ७०० पक्तियाँ इस समय उपलब्ध है। अपने नाटको को इसने यूनानी नाटको के आदर्शो के अनुसार लिखा था। नाटको के अतिरिक्त इसने गद्य और पद्य में और भी रचनाएँ प्रस्तुत की थी जिनमे यूनानी और लातीनी साहित्य का इतिहास भी था। यह लातीनी भाषा का प्रथम महान् वैयाकरण भी था। [भो० ना० श०]

आक्ता दिउरना

प्राचीन रोम का गजट जिसमे नित्य की प्रधान घटनाओ का अधिकारियो द्वारा प्रकाशन होता था। इसमे राजकीय घोषणाओ के अतिरिक्त प्रधान व्यक्तियो के पुत्रो के जन्मादि का उल्लेख हुआ करता था। आक्ता का आरभ जूलियस सीजर ने ही किया था। सफेद तख्ते पर घटनाएँ लिखकर दिन भर के लिये सार्वजनिक स्थान पर तख्ता टाँग दिया जाता था, फिर उसे उठाकर राजकीय लेखागार में रख लेते थे। आक्ता दिउरना का प्रकाशन साम्राज्य के विभाजन तक चलता रहा। [ओ० ना० उ०]

आक्सनार्ड

नगर सयुक्त राज्य, अमरीका, के कैलीफोर्निया राज्यातर्गत वेट्युरा जिले मे, सैंटा बारबरा चैनल के तट के समीप, लास ऐंजिल्स नगर से पश्चिमोत्तर-पश्चिम दिशा मे ५० मील की दूरी पर स्थित है। यह सदर्न पैसिफिक रेलमार्ग पर है। यहाँ का मुख्य व्यवसाय चुकदर से चीनी बनाना है। यहाँ का फल व्यापार भी महत्वपूर्ण है। यह नगर १८९८ ई० मे स्थापित हुआ था। कुल जनसख्या २१,५६७ है (१९५०)। [रा० ना० मा०]

आक्सफोर्ड

इग्लैंड के ऑक्सफोर्डशायर का मुख्य नगर है। यहाँ विश्वविख्यात आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय है। यह लदन से पश्चिमोत्तर-पश्चिम दिशा में रेल और सडक मार्गो से क्रमानुसार ६३¾ मील और ५१ मील की दूरी पर, टेम्स नदी और उसकी सहायक चारवेल नदी के बीच के ककडीले मैदान मे स्थित है। कुल जनसख्या ९८,६७५ है (१९५१) और क्षेत्रफल १३.१४ वर्ग मील है।

पूर्वकाल मे यह नगर एक दीवार से घिरा था। इस दीवार के अवशेष न्यू कालेज के उद्यान मे विद्यमान है। यहाँ का बोडलियन पुस्तकालय भवन देखने योग्य है। रैडक्लिफ कैमरा, क्लैरेंडन भवन और शैलडोनियन व्याख्यानभवन, जिसमे ४,००० व्यक्तियो के बैठने का प्रबध है, अन्य

१०–प्रश्न व्याकरण	श्रुतस्कध (२)	ग्रध्ययन (१०)	श्लोक (१२५०)	
११–विपाक	श्रुतस्कध (२)	ग्रध्ययन (२०)	श्लोक (१२१६)	

ग्रगबाह्य—इसके ग्रतिरिक्त जितने ग्रागम हैं वे सब ग्रगबाह्य हैं, क्योंकि ग्रगप्रविष्ट केवल गणधरकृत ग्रागम ही माने जाते हैं। गणधरो के ग्रतिरिक्त ग्रागम कवियो द्वारा रचित ग्रागम ग्रगबाह्य माना जाता है। उनके नाम, ग्रध्ययन, श्लोक ग्रादि का परिमाण इस प्रकार है

उपाग	१ ग्रौपपातिक	ग्रधिकार (३)		श्लोक (१२००)
	२ राजप्रश्नीय			श्लोक (२०७८)
	३ जीवाभिगम	प्रतिपाति (६)		श्लोक (४७००)
	४ प्रज्ञापना	पद (३६)		श्लोक (७७८७)
	५ जबूद्वीप प्रज्ञप्ति	ग्रधिकार (१०)		श्लोक (४१८६)
	६ चद्रप्रज्ञप्ति	प्राभृत (२०)		श्लोक (२२००)
	७ सूर्यप्रज्ञप्ति	प्राभृत (२०)		श्लोक (२२००)
	८ कल्पिका	ग्रध्ययन (१०)		
	९ कल्पावतसिका	(१०)		
	१० पुष्पिका	(१०)		
	११ पुष्पचूलिका	(१०)		
	१२ वह्दिशा	(१०)		

(इन पाँचो उपागो का सयुक्त नाम 'निरयावलिका' है। श्लोक ११०९)

च्छेद	१ निशीथ	उद्देशक (२०)		श्लोक (८१५)
	२ महानिशीथ	ग्रध्ययन (७)	चूलिका (२)	श्लोक (४५००)
	३ वृहत्कल्प	उद्देशक (६)		श्लोक (४७३)
	४ व्यवहार	उद्देशक (१०)		श्लोक (६००)
	५ दशाश्रुतस्कध	ग्रध्ययन (१०)		श्लोक (१८३५)

		ग्रध्ययन	चूलिका	श्लोक
मूल	१ दशवैकालिक	(१०)	(२)	(९०१)
	२ उत्तराध्ययन	(२६)	(२०००)	
	३ नदी		(७००)	
	४ ग्रनुयोगद्वार		(१६००)	
	५ ग्रावश्यक	(६)	(१२५)	
	६ ग्रोघनिर्युक्ति		(११७०)	
	७ पिंडनिर्युक्ति		(७००)	
प्रकीर्णक	१ चतुशरण	(१०)	(६३)	
	२ ग्रातुर प्रत्याख्यान	(१०)	(६४)	
	३ भक्त प्रत्याख्यान	(१०)	(१७२)	
	४ सस्तारक	(१०)	(१२२)	
	५ तदुल वैचारिक	(१०)	(४००)	
	६ चद्रवैध्यक	(१०)	(३१०)	
	७ देवेंद्रस्तव	(१०)	(२००)	
	८ गणिविद्या	(१०)	(१००)	
	९ महाप्रत्याख्यान	(१०)	(१३४)	
	१० समाधिमरण	(१०)	(७२०)	

ग्रागमो की मान्यता के विषय मे भिन्न भिन्न परपराएँ हैं। दिगबर ग्राम्नाय मे ग्रागमेतर साहित्य ही है, वे ग्रागम लुप्त हो चुके, ऐसा मानते हैं। श्वेतांबर ग्राम्नाय मे एक परपरा चौरासी ग्रागम मानती है, एक परपरा उपर्युक्त पैंतालीस ग्रागमो को ग्रागम के रूप मे स्वीकार करती है तथा एक परपरा महानिशीथ ग्रोघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति तथा दस प्रकीर्ण सूत्रो को छोडकर शेष बत्तीस को स्वीकार करती है।

विषय के ग्राधार पर ग्रागमो का वर्गीकरण

भगवान् महावीर से लेकर ग्रार्यरक्षित तक ग्रागमो का वर्गीकरण नही हुग्रा था। प्रवाचक ग्रार्यरक्षित ने शिष्यो की सुविधा के लिये विषय के ग्राधार पर ग्रागमो को चार भागो मे वर्गीकृत किया।

१—चरणकरणानुयोग
२—द्रव्यानुयोग
३—गणितानुयोग
४—धर्मकथानुयोग

चरणकरणानुयोग—इसमें ग्राचार विषयक सारा विवेचन दिया गया है। ग्राचार प्रतिपादक ग्रागमो की सज्ञा चरणकरणानुयोग की गई है। जैन दर्शन की मान्यता है कि "नाणस्स सारो ग्रायारो" ज्ञान का सार ग्राचार है। ज्ञान की साधना ग्राचार की ग्राराधना के लिये होनी चाहिए। इस पहले ग्रनुयोग मे ग्राचाराग, दशवैकालिक ग्रादि ग्रागमो का समावेश होता है।

द्रव्यानुयोग—लोक के शाश्वत द्रव्यो की मीमासा तथा दार्शनिक तथ्यो की विवेचना करनेवाले ग्रागमो के वर्गीकरण को द्रव्यानुयोग कहा गया है।

गणितानुयोग—ज्योतिष सबधी तथा भग (विकल्प) ग्रादि गणित सबधी विवेचन इसके ग्रतर्गत ग्राता है। चद्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति ग्रादि ग्रागम इसमें समाविष्ट होते हैं।

धर्मकथानुयोग—दृष्टात उपमा कथा साहित्य ग्रौर काल्पनिक तथा घटित घटनाग्रो के वर्णन तथा जीवन-चरित्र-प्रधान ग्रागमो के वर्गीकरण को धर्मकथानुयोग की सज्ञा दी गई है।

इन ग्राचार ग्रौर तात्विक विचारो के प्रतिपादन के ग्रतिरिक्त इसके साथ साथ तत्कालीन समाज, ग्रर्थ, राज्य, शिक्षा व्यवस्था ग्रादि ऐतिहासिक विषयो का प्रासगिक निरूपण बहुत ही प्रामाणिक पद्धति से हुग्रा है।

भारतीय जीवन के ग्राध्यात्मिक, सामाजिक तथा तात्विक पक्ष का ग्राकलन करने के लिये जैनागमो का ग्रध्ययन ग्रावश्यक ही नही, किंतु दृष्टि देनेवाला है। [मु० सु०]

ग्रागरा (ग्र० २७° १०' उ० ग्रौर दे० ७८° ३' पू०, ज० स० १९५१ ई० मे ३,७५,६६५) यमुना के दाएँ किनारे पर स्थित उत्तर प्रदेश का एक प्रसिद्ध नगर है।

प्राचीन ग्रागरा कदाचित् यमुना के बाएँ किनारे पर बसा था, पर उसका कोई चिह्न नही मिलता। इसका कारण नदी का मार्गपरिवर्तन बताया जाता है। वर्तमान ग्रागरा से १० या ११ मील दक्षिण-पूर्व यमुना की एक प्राचीन छाडन (पुरानी तलहटी) मिलती है जिसके किनारे पर सभवत प्राचीन हिंदू नगर की स्थिति रही होगी। वर्तमान ग्रागरा मुसलमानो की ही कृति है।

नगर का क्रमबद्ध इतिहास लोदीकाल से प्रारभ होता है। सिकदर लोदी तथा इब्राहीम लोदी दोनो ने ग्रागरा को ही राजधानी बनाया। सन् १५२६ ई० में यह नगर मुगल साम्राज्य के सस्थापक बाबर के हाथ में चला गया। परतु इसकी उन्नति उसके पोते ग्रकबर के काल से प्रारभ हुई, जिसने १५७१ ई० मे ग्रागरे के किले का निर्माण ग्रारभ किया ग्रौर उसका नाम ग्रकबराबाद रखा। परतु किले की ग्रधिकाश इमारते जहाँगीर तथा शाहजहाँ द्वारा निर्मित हुई हैं। इस काल मे नगर की दशा ग्रच्छी बताई जाती है। उस समय नगर चहार-दीवारी से घिरा था जिसमे १६ प्रवेशद्वार तथा ग्रनेक बुर्ज एव परकोटे थे। नगर का क्षेत्रफल लगभग ११ वर्ग मील था।

हल्के नीले रग का होता है। इसका क्वथनाक—१८३° सें० तथा ठोस आक्सिजन का द्रवणाक—२१८.४° सें० है। १५° सें० पर सगलन तथा वाष्पायन उष्माएँ क्रमानुसार ३ ३० तथा ५० ६ कैलोरी प्रति ग्राम है।

आक्सिजन पानी में थोडा घुलनशील है, जो जलीय प्राणियो के श्वसन के लिये उपयोगी है। कुछ धातुएँ (जैसे पिघली हुई चाँदी) अथवा दूसरी वस्तुएँ (जैसे कोयला) आक्सिजन का शोपण वडी मात्रा मे कर लेती है।

वहुत से तत्व आक्सिजन से सीधा सयोग करते है। इनमे कुछ (जैसे फासफोरस, सोडियम इत्यादि) तो साधारण ताप पर ही धीरे धीरे क्रिया करते है, परतु अधिकतर, जैसे कार्वन, गधक, लोहा, मैग्नीशियम इत्यादि, गरम करने पर। आक्सिजन से भरे वर्तन मे ये वस्तुएँ दहकती हुई अवस्था मे डालते ही जल उठती है और जलने से आक्साइड वनता है। आक्सिजन में हाइड्रोजन गैस जलती है तथा पानी वनता है। यह क्रिया इन दोनो के गैसीय मिश्रण में विद्युत् चिनगारी से अथवा उत्प्रेरक की उपस्थिति मे भी होती है।

आक्सिजन वहुत से यौगिको से भी क्रिया करता है। नाइट्रिक आक्साइड, फेरस तथा मैगनस हाइड्राक्साइड का आक्सीकरण साधारण ताप पर ही होता है। हाइड्रोजन फास्फाइड, सिलीकन हाइड्राइड तथा जिंक इथाइल से तो क्रिया मे इतना ताप उत्पन्न होता है कि सपूर्ण वस्तुएँ ही प्रज्वलित हो उठती है। लोहा, निकल इत्यादि महीन रूप मे रहने पर और लेड सल्फाइड तथा कार्वन क्लोराइड सूर्य के प्रकाश मे क्रिया करते है। इन क्रियाओ मे पानी की उपस्थिति, चाहे यह सूक्ष्म मात्रा मे ही क्यो न रहे, वहुत महत्वपूर्ण है।

जीवित प्राणियो के लिये आक्सिजन अति आवश्यक है। इसे वे श्वसन द्वारा ग्रहण करते है। द्रव आक्सिजन तथा कार्वन, पेट्रोलियम, इत्यादि का मिश्रण अति विस्फोटक है। इसलिये इनका उपयोग कडी वस्तुओ (चट्टान् इत्यादि) के तोडने मे होता है। लोहे की मोटी चद्दर काटने अथवा मशीन के टूटे भागो को जोडने के लिये आक्सिजन तथा दहनशील गैस को ब्लो पाइप में जलाया जाता है। इस प्रकार उत्पन्न ज्वाला का ताप वहुत अधिक होता है। साधारण आक्सिजन के साथ हाइड्रोजन या ऐसिटिलीन जलाई जाती है। इसके लिये ये गैसें इस्पात के वेलनो मे अति सपीडित अवस्था में विकती है। आक्सिजन सिरका, वार्निश इत्यादि वनाने तथा असाध्य रोगियो के साँस लेने के लिये भी उपयोगी है।

दहकते हुए तिनके के प्रज्वलित होने से आक्सिजन की पहचान होती है (नाइट्रस आक्साइड से इसकी भिन्नता नाइट्रिक आक्साइड के उपयोग से जानी जा सकती है)। आक्सिजन की मात्रा क्यूप्रस क्लोराइड, क्षारीय पायरोगैलोल के घोल, ताँवा अथवा इसी प्रकार की दूसरी उपयुक्त वस्तुओ द्वारा शोपित कराने से ज्ञात की जाती है।

स०ग्र०—जे० डब्लू० मेलर ए कॉम्प्रिहेसिव ट्रीटाइज़ ऑन इनआर्गेनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१६२२), जे० आर० पार्टिंगटन ए टेक्स्ट वुक ऑव इनआर्गेनिक केमिस्ट्री। [वि० वा० प्र०]

आक्सिम ऐलडिहाइडो तथा कीटोनो पर हाइड्रॉक्सिल-ऐमिन की प्रतिक्रिया से जो यौगिक प्राप्त होते है उन्हें आक्सिम कहते है। ऐलडिहाइडो से वने यौगिक ऐलडॉक्सिम तथा कीटोनो से वने यौगिक कीटॉक्सिम कहलाते है। इनके सूत्र निम्नलिखित है

मू—का>औ+हा$_2$नाऔहा = मू—का>नाऔहा+हा$_2$औ
| |
हा   हा
ऐलडिहाइड   ऐलडॉक्सिम

मू—का>औ+हा$_2$नाऔहा = मू—का>नाऔहा+हा$_2$औ
| |
मू′   मू′
कीटोन   कीटॉक्सिम
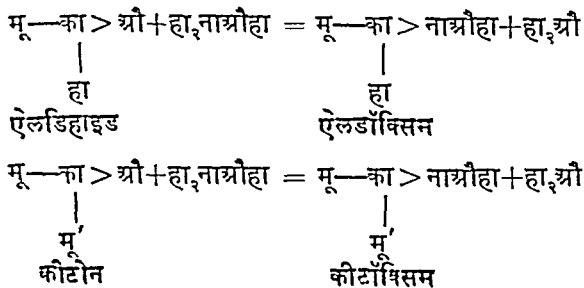
सवसे पहला आक्सिम विक्टर मेयर ने सन् १८७८ ई० में वनाया था। इसके वाद ऐलडिहाइड तथा कीटोनो के शुद्धीकरण तथा उनकी पहचान में आक्सिमो के महत्व के कारण तथा इन यौगिको की विन्यास-समावयवता के कारण, रसायनज्ञो ने इनके अध्ययन में विशेष रुचि दिखलाई, जिसके फलस्वरूप इनसे सवद्ध अनेक महत्वपूर्ण अनुसधान हुए।

ऐलडिहाइडो तथा कीटोनो के शुद्धीकरण तथा पहचान में इनके उपयोग का विशेष कारण यह है कि आक्सिम ठोस अवस्था में मणिभीय तथा जल मे अविलेय होते है, अत इनको शुद्ध अवस्था में प्राप्त किया जा सकता है। हाइड्रोक्लोरिक या गधकाम्ल के विलयन के साथ गरम करने से आक्सिमो का जलविश्लेषण हो जाता है। इसके फलस्वरूप ऐलडिहाइड या कीटोन स्वतत्र अवस्था मे पुन प्राप्त हो जाते है।

आक्सिमो के अपचयन से प्राथमिक ऐमिन प्राप्त होते है, अत >का>औ को >का—नाहा मे परिवर्तित करने मे इनका प्रयोग होता है। ऐलडाक्सिम ऐसिड क्लोराइड द्वारा निर्जलित किए जा सकते है जिससे

मू—का>ना—औहा
|
हो
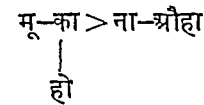
यौगिक मू—का≡ना में परिवर्तित हो जाते है।

कुछ आक्सिम, धात्वीय तत्वो के साथ सयुक्त होकर, स्थायी सवर्ग (कोऑरडिनेट) यौगिक वनाते है। लगभग एक समान गुणवाले और सवधित विविध तत्वो से इस प्रकार वननेवाले यौगिको की विलेयता एक दूसरे से भिन्न होती है। इस कारण, वैश्लेपिक रसायन में, इन आक्सिमो का वडा महत्व है। सैलिसिल ऐलडाक्सिम अनेक धातुओ से इस प्रकार के यौगिक वनाता है, परतु ताँवे के साथ वने यौगिक को छोडकर अन्य धातुओ से वने सभी यौगिक तनु (डाइल्यूट) ऐसीटिक अम्ल में विलेय है। ताँवे के साथ वना यौगिक हरिताभ-पीत रग का एक चूर्ण सा होता है और इसे ११०° सें० पर सुखाकर स्थायी रखा जा सकता है। अत इफ्रेम ने इस आक्सिम का अन्य तत्वो से ताँवे के पृथक्करण तथा उसके परिमापन के लिये उपयोग करना अच्छा वतलाया है। इसी प्रकार डाईमेथिल ग्लाइक्सिम, जो डाइकीटोन-डाई-ऐसिटिल का डाइ-आक्सिम है, अनेक धातुओ के साथ सकीर्ण यौगिक वनाता है, जिनमें से केवल निकल तथा पलेडियम से वने यौगिक तनु अम्लो तथा तनु क्षार विलयनो मे अविलेय होते है। अत निकल तथा पलेडियम के परिमापन तथा निकल को कोवल्ट से पूर्णत पृथक् करने मे इस आक्सिम का वहुत उपयोग होता है। वीटा नैफ्थोक्विनोन का एक आक्सिम कोवल्ट के साथ इसी प्रकार का अविलेय यौगिक वनाता है, जिससे कोवल्ट के परिमापन मे इसका उपयोग होता है।

आक्सिमो की विन्यास-समावयवता—विन्यास-रसायन के विकास में आक्सिमो का महत्व कुछ कम नही है। सन् १८८३ ई० मे हान्स गोल्डस्मिट ने ज्ञात किया कि वेजिल का द्वि-आक्सिम दो रूपो मे पाया जाता है, फिर सन् १८८६ ई० में विक्टर मेयर ने एक तीसरा रूप भी ज्ञात किया। उसी वर्ष वेकमैन ने वताया कि वेंजैलडीहाइड का आक्सिम भी दो रूपो मे पाया जाता है। वाट हाफ ने >का=का′< वाले यौगिको की ज्यामितीय समावयवता पूर्ण रूप से सिद्ध कर दी थी, अत आर्थर हान्स तथा ऐल्फ्रेड वर्नर ने इन सिद्धातो को >का=ना— वाले यौगिको में लगाकर यह दिखलाया कि आक्सिमो के समावयव ज्यामितीय समावयव है। उनके अनुसार ऐल्डीहाइडो तथा असममितीय कीटोनो के आक्सिम दो रूपो में पाए जायँगे जिन्हे इस प्रकार लिख सकते है
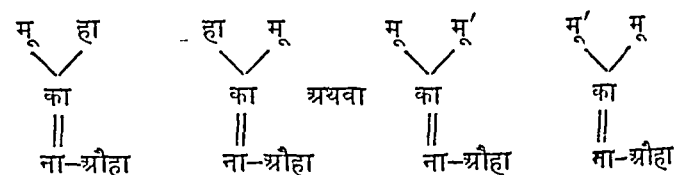
यह समावयवता ठीक उसी प्रकार की है जैसी मैलिक तथा फ्यूमेरिक अम्ल की >का=का< पर। कीटोनो में यह केवल असममितीय कीटोनो

काम करने का अवसर मिला। शीघ्र ही आपकी नियुक्ति न शाटेल नगर मे प्रोफेसर के पद पर हो गई। १८४६ मे आपको बोस्टन के लोवेल-इस्टीट्यूट में भाषणमाला देने का निमत्रण मिला। इस कार्य मे आपको अभूतपूर्व सफलता मिली और शीघ्र ही दूसरी भाषणमाला देने के लिये आपको चार्ल्सटन जाना पडा। आपकी ख्याति चारो ओर फैल गई। हार्वर्ड विश्वविद्यालय ने १८४८ में प्राणिशास्त्र विज्ञान मे प्रोफेसर के पद पर आपकी नियुक्ति की। तब से जीवनपर्यंत आपने तन, मन, धन से इस विश्वविद्यालय की सेवा की।

आपका सबसे महान् ग्रथ 'रिसर्च सु ले प्वासो फोसिल' सन् १८३३ से १८४२ के बीच पाँच भागो मे प्रकाशित हुआ। इस ग्रथ मे पुराजीव, मछ-लियो तथा अन्य परिमृत (एक्सटिंक्ट) जीवो का वर्णन दिया गया है। इसके अतिरिक्त आपकी अन्य रचनाएँ निम्नलिखित है

सिलेक्टा जेनेरा ए स्पिसीज़ पिसियम, हिस्ट्री ऑव दि फ्रेश वाटर फिशेज़ ऑव सेंट्रल यूरोप, एतूद सु ले ग्लासिए, कट्रिब्यूशस टु दि नैचुरल हिस्ट्री ऑव युनाइटेड स्टेट्स, मेथड्स ऑव स्टडी इन नैचुरल हिस्ट्री, जिऑलॉजिकल स्केचेज़, दि स्ट्रक्चर ऑव ऐनिमल लाइफ, ए जर्नी टु ब्रैज़ील, ऐन एसे इन क्लासिफिकेशन।

१२ दिसबर, १८७३ को आपकी मृत्यु हो गई। [म० ना० मे०]

आचारशास्त्र (एथिक्स) आचारशास्त्र को व्यवहारदर्शन, नीति-दर्शन, नीतिविज्ञान आदि नाम भी दिए जाते है। मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन अनेक शास्त्रो मे अनेक दृष्टियो से किया जाता है। मानवव्यवहार, प्रकृति के व्यापारो की भाँति, कार्य-कारण-शृखला के रूप में होता है और उसका कारणमूलक अध्ययन एव व्याख्या की जा सकती है। मनोविज्ञान यही करता है। किंतु प्राकृतिक व्यापारो को हम अच्छा या बुरा कहकर विशेषित नही करते। रास्ते मे अचानक वर्षा आ जाने से भीगने पर हम बादलो को कुवाच्य नही कहने लगते। इसके विपरीत साथी मनुष्यो के कर्मो पर हम बराबर भले बुरे का निर्णय देते है। इस प्रकार निर्णय देने की सार्वभौम मानवीय प्रवृत्ति ही आचारदर्शन की जननी है। आचारशास्त्र मे हम व्यवस्थित रूप से चिंतन करते हुए यह जानने का प्रयत्न करते है कि हमारे अच्छाई बुराई के निर्णयो का बुद्धिग्राह्य आधार क्या है। कहा जाता है कि आचारशास्त्र नियामक अथवा आदर्शान्वेषी विज्ञान है, जब कि मनोविज्ञान यथार्था-न्वेषी शास्त्र है। निश्चय ही शास्त्रो के इस वर्गीकरण मे कुछ तथ्य है, पर वह भ्रामक भी हो सकता है। उक्त वर्गीकरण यह धारणा उत्पन्न कर सकता है कि आचारदर्शन का काम नैतिक व्यवहार के नियमो का अन्वे-षण अथवा उद्घाटन नही है, अपितु कृत्रिम ढग से वैसे नियमो को मानव समाज पर लाद देना है। किंतु यह धारणा गलत है। नीतिशास्त्र जिन नैतिक नियमो की खोज करता है वे स्वय मनुष्य की मूल चेतना मे निहित है। अवश्य ही यह चेतना विभिन्न समाजो तथा युगो मे विभिन्न रूप धारण करती दिखाई देती है। इस अनेकरूपता का प्रधान कारण मानव प्रकृति की जटि-लता तथा मानवीय श्रेय की विविधरूपता है। विभिन्न देशकालो के विचा-रक अपने अपने समाजो के प्रचलित विधिनिषेधो मे निहित नैतिक पैमानो का ही अन्वेषण करते है। हमारे अपने युग मे ही, अनेक नई पुरानी संस्कृ-तियो के समिलन के कारण, विचारको के लिये यह सभव हो सकता है कि वे अनगिनत रूढियो तथा सापेक्ष्य मान्यताओ के ऊपर उठकर वस्तुत सार्वभौम नैतिक सिद्धातो के उद्घाटन की ओर अग्रसर हो।

नीतिशास्त्र का मूल प्रश्न क्या है, इस सबध मे दो महत्वपूर्ण मत पाए जाते है। एक मतव्य के अनुसार नीतिशास्त्र की प्रधान समस्या यह बतलाना है कि मानव जीवन का परम श्रेय (समम बोनम) क्या है। परम श्रेय का बोध हो जाने पर हम शुभ कर्म उन्हे कहेगे जो उस श्रेय की ओर ले जानेवाले है, विपरीत कर्मो को अशुभ कहा जायगा। दूसरे मतव्य के अनुसार नीति-शास्त्र का प्रधान कार्य शुभ या धर्मसमत (राइट) की धारणा को स्पष्ट करना है। दूसरे शब्दो मे नीतिशास्त्र का कार्य उस नियम या नियमसमूह का स्वरूप स्पष्ट करना है जिस या जिनके अनुसार अनुष्ठित कर्म शुभ अथवा धार्मिक होते है। ये दो मतव्य दो भिन्न कोटियो की विचारपद्धतियो को जन्म देते है।

परम श्रेय की कल्पना अनेक प्रकार से की गई है, इन कल्पनाओ अथवा सिद्धातो का वर्णन हम आगे करेगे। यहाँ हम सक्षेप मे यह विमर्श करेगे कि नैतिकता के नियम—यदि वैसे कोई नियम होते है तो—किस कोटि के हो सकते है। नियम या कानून की धारणा या तो राज्य के दडविधान से आती है या भौतिक विज्ञानो से, जहाँ प्रकृति के नियमो का उल्लेख किया जाता है। राज्य के कानून एक प्रकार के शासको की न्यूनाधिक नियन्त्रित इच्छा द्वारा निर्मित होते है। वे कभी कभी कुछ वर्गो के हित के लिये बनाए जाते है, उन्हे तोडा भी जा सकता है और उनके पालन से भी कुछ लोगो को हानि हो सकती है। इसके विपरीत प्रकृति के नियम अखडनीय होते है। राज्य के नियम बदले जा सकते है, किंतु प्रकृति के नियम अपरि-वर्तनीय है। नीति या सदाचार के नियम अपरिवर्तनीय, पालनकर्ता के लिये कल्याणकर एव अखडनीय समझे जाते है। इन दृष्टियो से नीतिशास्त्र के नियम स्वास्थ्यविज्ञान के नियमो के पूर्णतया समान होते है। ऐसा जान पडता है कि मनुष्य अथवा मानव प्रकृति दो भिन्न कोटियो के नियमो के नियत्रण मे व्यापृत होती है। एक ओर तो मनुष्य उन कानूनो का वशी-वर्ती है जिनका उद्घाटन या निरूपण भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, प्राणिशास्त्र, मनोविज्ञान आदि तथ्यान्वेषी (पाज़िटिव) शास्त्रो मे होता है और दूसरी ओर स्वास्थ्यविज्ञान, तर्कशास्त्र आदि आदर्शान्वेषी विज्ञानो के नियमो का, जिनसे वह बाध्य तो नही होता, पर जिनका पालन उसके सुख तथा उन्नति के लिये आवश्यक है। नीतिशास्त्र के नियम इस दूसरी कोटि के होते है।

नीतिशास्त्र की समस्याओ को हम तीन वर्गो में बाँट सकते है . (१) परम श्रेय का स्वरूप क्या है ? (२) परम श्रेय अथवा शुभ अशुभ के ज्ञान का स्रोत या साधन क्या है ? (३) नैतिक आचार की अनिवार्यता के आधार (सैक्शस) क्या है ? परम श्रेय के बारे मे पूर्व और पश्चिम मे अनेक कल्पनाएँ की गई है। भारत मे प्राय सभी दर्शन यह मानते है कि जीवन का चरम लक्ष्य सुख है, किंतु उनमे से अधिकाश की सुख सबधी धारणा तथाकथित सौख्यवाद (हेडॉनिज़्म) से नितात भिन्न है। इस दूसरे या प्रचलित अर्थ मे हम केवल चार्वाक दर्शन को सौख्यवादी कह सकते है। चार्वाक के नैतिक मतव्यो का कोई व्यवस्थित वर्णन उपलब्ध नही है, किंतु यह समझा जाता है कि उसके सौख्यवाद मे स्थूल ऐंद्रिय सुख को ही महत्व दिया गया है। भारत के दूसरे दर्शन जिस आत्यतिक सुख को जीवन का लक्ष्य कहते है उसे अपवर्ग, मुक्ति या मोक्ष अथवा निर्वाण से समीकृत किया गया है। न्याय तथा साख्य दर्शनो मे जिस अपवर्ग या मुक्ति की कल्पना की गई है, उसे भावात्मक सुखरूप नही कहा जा सकता, किंतु उपनिषदो तथा वेदात की मुक्तावस्था आनदरूप कही जा सकती है। वेदात की मुक्ति तथा बौद्धो का निर्वाण, दोनो ही उस स्थिति के द्योतक है जब व्यक्ति की आत्मा सुख दुख आदि द्वद्वो से परे हो जाती है। यह स्थिति जीवनकाल मे भी आ सकती है, जिसे भगवद्गीता मे स्थितप्रज्ञ कहा गया है वह एक प्रकार से जीवन्मुक्त ही कहा जा सकता है। पाश्चात्य दर्शनो मे परम श्रेय के सबध मे अनेक मतवाद पाए जाते है (१) सौख्यवादी सुख को जीवन का ध्येय घोषित करते है। सौख्यवाद के दो भेद है, व्यक्तिपरक सौख्यवाद तथा सार्वभौम सौख्यवाद। प्रथम के अनुसार व्यक्ति के प्रयत्नो का लक्ष्य स्वय उसका सुख है। दूसरे के अनुसार हमे सबके सुख अथवा 'अधिकाश मनुष्यो के अधिकतम सुख' को लक्ष्य मानकर चलना चाहिए। कुछ विचारको के अनुसार सुखो मे सिर्फ मात्रा का भेद होता है, दूसरो के अनुसार उनमे घटिया बढिया का, अर्थात् गुणात्मक अतर भी रहता है। (२) अन्य विचारको के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य एव परम श्रेय पूर्णत्व है, अर्थात् मनुष्य की विभिन्न क्षमताओ का पूर्ण विकास। (३) कुछ अध्यात्मवादी अथवा प्रत्ययवादी चितको ने आत्मलाभ (सेल्फ रियलाइज़ेशन) को जीवन का ध्येय माना है। उनके अनुसार आत्मलाभ का अर्थ है आत्म के बौद्धिक एवं सामाजिक अगो का पूर्ण विकास तथा उपभोग। (४) कुछ दार्शनिको के मत में परम श्रेय कर्तव्यरूप या धर्मरूप है, नैतिक क्रिया का लक्ष्य स्वय नैतिकता या धर्म ही है।

हमारे परम श्रेय अथवा शुभ अशुभ के ज्ञान का साधन या स्रोत क्या है, इस सबध मे भी विभिन्न मतवाद है। अधिकाश प्रत्ययवादियो के मत मे भलाई बुराई का बोध बुद्धि द्वारा होता है। हेगेल, ब्रेडले आदि का मत यही

आखिया खारस (अथवा अहिकार) असीरिया के राजा सिनाख़िरीब् को परामर्श देनेवाला एक प्राचीन मनीषी। इसकी जीवनकथा तथा सूक्तियाँ सीरिया, अरब, इथियोपिया, आर्मेनिया, रूमानिया और तुर्की की प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध हैं। इसने अपने भतीजे नादान को दत्तक पुत्र के रूप में रख लिया था। पर नादान ने उसका विनाश करने का प्रयत्न किया, किंतु वह भूमिगृह में छिपकर किसी प्रकार बच गया। वह प्रकट तब हुआ जब राजा को उसके परामर्श की आवश्यकता पड़ी। अत उसने अपने प्रभाव को पुन प्राप्त कर लिया। उसने अधर में प्रासाद का निर्माण करके तथा बालू की रस्सी बटकर मिस्र के सम्राट् को संतुष्ट किया। इसके पश्चात् उसने नादान को समुचित दंड दिया और उसकी लगातार भर्त्सना की। आखिया खारस् की कथा ई० पू० ५वीं शताब्दी से भी अधिक पुरानी है।

सं०ग्रं०—कोनीबियर इत्यादि स्टोरी ऑव अहिकार। [भो०ना०श०]

आखेटिपतंग (इक्नुमन फ्लाइ) छोटे, बहुधा चटकीले रंगोवाले, क्रियाशील कीट (इंसेक्ट) हैं। चीटियों, मधुमक्खियों तथा बर्रों से इनका निकट संबंध है। प्राय इन्हें धूप से प्रेम होता है। इनके पूर्वोक्त संबंधियों और इनमें यह भेद है कि प्रौढ होने पर ही ये स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते हैं। अपरिपक्व अवस्था में ये पूर्णत परजीवी होते हैं। तब तक विविध प्रकार के कीटों के शरीर के ऊपर या भीतर रहकर, उन्हीं से भोजन और आश्रय पाते हैं तथा अंत में उनके प्राण ले लेते हैं। प्रौढ स्त्री आखेटिपतंग अंडे या तो आश्रयदाता कीट के शरीर के ऊपर देती है या अपने अंडरोपक (ओविपॉजिटर) की सहायता से इन्हें उसकी त्वचा के नीचे घुसेड़ देती है। अंडरोपक एक प्रकार का रूपांतरित डंक होता है जो आश्रय देनेवाले कीट की चमड़ी को छेदकर उसके भीतर अंडे डालने में सहायता देता है। आश्रय देनेवाले कीट के शरीर के भीतर आखेटिपतंग के डिंभ (लार्वी) प्राय सैकड़ों की संख्या में होते हैं। ये शनै शनै उसके शरीर के कोमल पदार्थ को खा जाते हैं तथा अंत में केवल उसकी खाल रह जाती है और इस तरह वह मर जाता है। इन डिंभों में प्राय टाँगें नहीं होतीं तथा ये श्वेत या पीले रंग के होते हैं। जब ये पूरे बड़े हो जाते हैं तो आश्रय देनेवाले जीव की मृत देह पर अपने चारों ओर एक रेशमी कोवा (कोकून) बना लेते हैं तथा आखेटिपतंग बनकर निकलने के पूर्व वे शखी (प्यूपा) की अवस्था में रहते हैं।
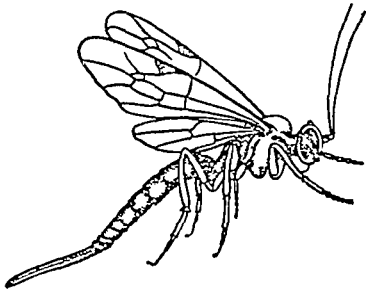
आखेटिपतंग

यह कृषि के हानिकारक कीड़ों के शरीर में अंडे देता है, जिससे वे शीघ्र ही मर जाते हैं।

आखेटिपतंग अनेक प्रकार के कीटों की अपरिपक्वावस्था में ही उन पर आश्रित होना आरंभ कर देते हैं, विशेषकर तितलियों और पतंगों की इल्लियों (कैटरपिलर्स) पर, गुबरैलों (कोलिऑप्टरा) के जातकों (ग्रब्स) पर, मक्खियों (डिप्टेरा) के ढोलों (मैगॉट्स) पर तथा मकड़ियों और कूटबिच्छुओं (फाल्स स्कॉरपियस) पर। इनमें से पैनिस्कस जाति के समान कुछ आखेटिपतंग तो बाह्य परजीवी हैं, परंतु अन्य जातियों के आखेटिपतंग अधिकतर आतरिक परजीवी होते हैं। आखेटिपतंग साधारणतया पृथ्वी के प्रत्येक भाग में पाए जाते हैं। समस्त भूमंडल पर अभी तक इनकी २,००० जातियाँ ज्ञात हुई हैं, जो २४ वर्गों में विभाजित की गई हैं। भारत, ब्रह्मदेश (बर्मा), लंका तथा पाकिस्तान में पाई जानेवाली इनकी लगभग ७०० जातियों का वर्णन अभी तक किया गया है। यूरोप तथा अमरीका में ग्रैवनहार्स्ट, वेसमील और ऐशमीड के समान अनेक कीट-वैज्ञानिकों ने इन कीटों का अध्ययन किया है। इनकी अधिकांश भारतीय जातियों का वर्णन यूरोप के लिनीअस, फाब्रिशिअस, वाकर, कैमरन तथा मॉरली ने किया है। अंतिम लेखक ने भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व भारत के सेक्रेटरी ऑव स्टेट द्वारा प्रकाशित "फॉना ऑव ब्रिटिश इंडिया" (ब्रिटिश भारत के प्राणी) नामक पुस्तकमाला में एक संपूर्ण पुस्तक इन कीटों के वर्णन को अर्पित कर दी है।

बहुत से कीट, जिनपर परजीवी आखेटिपतंग आक्रमण करते हैं, बहुधा खेती और जंगलों को हानि पहुँचानेवाले हैं। इसलिये आखेटिपतंगों को मनुष्य का हितकारी मानने के लिये बाध्य होना पड़ता है। ये उन हानिकारक इल्लियों, गुबरैलों, ढोलों इत्यादि को, जो हमारी खेती नष्ट करने के सिवाय जंगल के वृक्षों की पत्तियाँ खा जाते या उनकी बहुमूल्य लकड़ी के भीतर छेद कर देते हैं, बड़ी संख्या में नष्ट कर डालते हैं।

एवानिआ नामक आखेटिपतंग काले रंग का होता है, जो बहुधा घरों में पाया जाता है। यह साधारणतया घरों में पाए जानेवाले घृणित तिलचट्टे (कॉकरोच) के अंडधानों (एगसैक) की तत्परता से खोज कर उन्हीं में अपने अंडे रख देता है। एवानिआ के डिंभ तिलचट्टे के अंडों को खा जाते हैं। पीतपीटिका (ज़ैथोपिम्प्ला) पीला और काले धब्बोंवाला एक अन्य आखेटिपतंग है, जो सुगमता से मिलता है, यह अनेक हानिकारक इल्लियों का परजीवी है। माइक्रोब्रैकन लेफ्रॉई नामक आखेटिपतंग भारत और मिस्र में पाए जानेवाले रुई के कुख्यात कर्पासकीट (बोलवर्म) की इल्लियों का प्रसिद्ध परजीवी है और इसलिये हमारा हितकारी है।

कुछ जातियों को, जैसे माइक्रोब्रैकन जिलीकिआ को, प्रयोगशालाओं में बड़ी संख्या में प्रजनित करा और पालकर भारत तथा संयुक्त राज्य, अमरीका में आलू को हानि पहुँचानेवाली कदपतंग की इल्लियों (ट्यूबर मॉथ कैटरपिलर) की रोक के लिये खेतों और भांडारों में छोड़ दिया जाता है। ओपिअस जाति की अनेक उपजातियाँ बहुमूल्य फलों को नष्ट करनेवाली फलमक्खियों के ढोलों पर आक्रमण करती हैं। इसलिये अमरीका ने अपने फलों की रक्षा के लिये भारत से इन आखेटिपतंगों का आयात किया है। [मं० सु० मं० श०]

आखेन (स्थिति ५०°४७' उ० ६°५' पू०) आरडेनीज़ पठार के उत्तराचल में कोलोन-ब्रूसेल्स की प्रधान रेलवे पर कोलोन से ४४ मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित पश्चिमी जर्मनी का प्राचीन नगर है। सीमांत भौगोलिक स्थिति तथा तज्जन्य युद्धों के कुप्रभावों के कारण इसका क्रमिक ह्रास हो रहा है। जनसंख्या १,६५,७१० (सन् १९३९), १,२९,९६७ (सन् १९५०)। द्वितीय महायुद्ध में इसे पूर्णतया जला दिया गया था। स्थानीय कोयले की प्राप्ति के कारण यहाँ काच, कपड़ा एवं लोहे के कारखाने हैं। [का० ना० सिं०]

आख्यान इतिहाससमूलक कथानक। आख्यानों की सत्ता का प्रमाण ऋग्वेद की संहिता में ही हमें उपलब्ध होता है। अथर्ववेद में (१०।७।२६) इतिहास तथा पुराण का उल्लेख मौखिक साहित्य के रूप में न होकर लिखित ग्रंथ के रूप में किया गया मिलता है। वेदों की व्याख्याप्रणाली के विभिन्न संप्रदायों में यास्क ने ऐतिहासिकों के संप्रदाय का अनेक बार उल्लेख किया है जिनके अनुसार 'वृत्र' त्वाष्ट्र असुर की संज्ञा है और देवों के अधिपति इंद्र के साथ उसके घोर संघर्ष और तुमुल संग्राम का वर्णन ऋग्वेद के मंत्रों में किया गया है। इस संप्रदाय के व्याख्याकारों की संमति में वेदों में महत्वपूर्ण आख्यान विद्यमान हैं। ऋग्वेद में आख्यानों की संख्या कम नहीं है। इनमें से कुछ आख्यान तो वैयक्तिक देवता के विषय में हैं और कुछ किसी सामूहिक घटना को लक्ष्य कर प्रवृत्त होते हैं। ऋग्वेद में इंद्र तथा अश्विन के विषय में भी अनेक आख्यान मिलते हैं जिनमें इन देवों की वीरता, पराक्रम तथा उपकार की भावना स्पष्ट अंकित की गई है। ऋग्वेद के भीतर ३० आख्यानों का स्पष्ट निर्देश किया गया है जिनमें से कतिपय प्रख्यात आख्यान ये हैं—शुन शेप (१।२४), अगस्त्य और लोपामुद्रा (१।१७९), गृत्समद (२।१२), वसिष्ठ और विश्वामित्र (३।५३,७।३३ आदि), सोम का अवतरण (३।४३), त्र्यरुण और वृशजान (५।२), अग्नि का जन्म (५।११), श्यावाश्व (५।३२), बृहस्पति का जन्म (६।७१), राजा सुदास (७।१८), नहुष (७।९५), अपाला (८।९१), नाभानेदिष्ठ (१०।६१।६२), वृषाकपि (१०।८६), उर्वशी और पुरूरवा (१०।९५), सरमा और पणि (१०।१०८), देवापि और शंतनु (१०।९८),

के इतिहास मे नही मिलता। पूर्व मे विभिन्न नैतिक दृष्टिकोण और कभी कभी तो परस्पर विरोधी दृष्टिकोण भी, साथ साथ विकसित होते रहे। अत पूर्व और पश्चिम मे आचारशास्त्र के इतिहास का अलग अलग अध्ययन करना सुविधाजनक होगा।

भारत—भारतीय दर्शनप्रणालियो मे आचरण सबधी प्रश्नो को महत्व-पूर्ण स्थान दिया गया है। किसी न किसी रूप मे प्रत्येक दर्शन ने मुक्ति या मोक्ष को सामने रखा है और मुक्तिलाभ के लिये सदाचार के नियमो की समीक्षा आवश्यक हो जाती है। इस बात पर वैदिक और अवैदिक परपराओ मे किसी हद तक सामजस्य है। आचरण सबधी शास्त्र (स्मृतियाँ और धर्म-शास्त्र) आचरण को भारत मे दिशा देते है।

जैन दर्शन मे जीवात्मा को उसकी मौलिक विशुद्धावस्था प्राप्त कराना ही जीवन का लक्ष्य बताया गया है। इस मार्ग की सबसे बडी रुकावट यह है कि कर्मों ने जीवात्मा को जड तत्व से कलुषित कर दिया है। जिस तरह बादलो से सूर्यकिरणो का प्रकाश मद हो जाता है, वैसे ही 'पुद्गल' या जड तत्व के परमाणु जीव के चैतन्य को अपवित्र कर देते है। इस परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिये कर्म के 'आस्रव' को रोकना आवश्यक है। यह तभी सभव है, जब सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र तीनो की उपलब्धि हो। जैन धर्म मे आचरण के उन नियमो की विस्तृत चर्चा है जिनके द्वारा ये 'त्रिरत्न' प्राप्त किए जा सकते है। इनमे अहिसा मुख्य है।

चार्वाक दर्शन का दृष्टिकोण पूर्णतया भौतिकवादी है। मनुष्य की सत्ता उसका शरीर है। चैतन्य शरीर का एक विशिष्ट गुण मात्र है। जीवन का लक्ष्य सुखसपादन है। मृत्यु के बाद व्यक्तित्व का कोई भी पक्ष शेष नही रहता, इसलिये परलोक की चिता व्यर्थ है। सुख के साथ दु ख मिश्रित है, लेकिन केवल इसलिये सुखो का त्याग करना मूर्खता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने ही सुख की साधना करनी चाहिए, न कि दूसरो के।

बौद्ध दर्शन के विभिन्न सप्रदायो मे ज्ञानमीमासा तथा आदितत्व के स्वरूप के विषय मे तीव्र मतभेद है। वैभाषिक और सौत्रातिक दर्शन वास्तववादी है, योगाचार विज्ञानवादी और माध्यमिक शून्यवादी। लेकिन आचरण के प्रश्न पर सभी बौद्ध विचारको ने गौतम बुद्ध के आदि उपदेशो को स्वीकार किया है। 'चार आर्य सत्यो' मे चौथा, अर्थात् 'दु ख-निरोध-मार्ग' आचारशास्त्र का आधार है। इसका व्यावहारिक रूप 'मध्यम प्रतिपदा' अथवा मध्यम मार्ग है। एक ओर व्यर्थ आत्मोत्पीडन, दूसरी ओर क्षणिक सुखो की आराधना, इन दोनो 'अतियो' का परिहार ही सदाचरण है। मध्यम मार्ग का अवलबन करके कार्य-कारण-शृखला (प्रतीत्य समुत्पाद) का अत किया जा सकता है। जन्म मृत्यु के अनवरत चक्र से छुटकारा निर्वाण है।

महायान सप्रदाय ने निर्वाण की अधिक सकारात्मक व्याख्या की। व्यक्ति को अपने निर्वाण से ही सतुष्ट नही होना चाहिए। बोधिसत्व का आदर्श यह है कि स्वय सबोधि प्राप्त करने के बाद दूसरो के कल्याण के लिये लगातार यत्न किया जाय। प्रेम, सहानुभूति, अनुकपा और प्राणिमात्र के प्रति मैत्री की भावना, इन सद्गुणो पर बौद्ध आचरणशास्त्र मे विशेष जोर दिया गया है।

हिंदू दर्शन के सभी सप्रदायो ने, जहाँ तक आचरणशास्त्र का सबध है, उपनिषदो और भगवद्गीता के मुख्य सिद्धातो को स्वीकार किया है। उपनिषदो ने जहाँ एक ओर परम तत्व के गहन प्रश्न को उठाया है और ब्रह्मज्ञान को ही दर्शन का यथार्थ लक्ष्य माना है, वहाँ दूसरी ओर आत्मसाधना और 'शील' के व्यावहारिक पक्ष पर भी ध्यान दिया है। भगवद्गीता तत्व-ज्ञान की अपेक्षा आचारशास्त्र की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है। ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र का समन्वय कराने के उद्देश्य से निष्काम कर्म का आदर्श गीता मे प्रतिपादित किया गया है। अकर्मण्यता न तो स्वतत्रता का लक्ष्य है, न आध्यात्मिक ज्ञान का। कर्मसन्यास से श्रेयस्कर है फलासक्ति त्याग-कर कर्तव्य करते रहना। सदाचार के लिये धैर्य, मानसिक सतुलन और आत्मबुद्धि अनिवार्य है। ईश्वरभक्ति और ज्ञान से भी मनुष्य का जीवन परिष्कृत होकर कर्मयोग मे सहायता मिलती है।

शकराचार्य के अनुसार गीता का मूल दर्शन अद्वैतवादी है। मुक्ति का एकमेव साधन ज्ञान है। ज्ञान और कर्म मे विरोध है और दोनो का समन्वय असभव है। फिर भी शकराचार्य ने यह स्वीकार किया कि आत्मशुद्धि की प्रारभिक मजिलो मे कर्मो का भी मूल्य है।

रामानुज ने भक्तिमार्ग की महत्ता को ही उपनिषदो और गीता का मुख्य सदेश माना। मध्ययुग के भारतीय आचारशास्त्र पर, अद्वैत वेदात की तुलना मे, भक्तिमार्ग से प्रेरणा लेनेवाली वैष्णव परपरा का ही अधिक प्रभाव पडा। इस्लाम के सूफी मत से इस प्रवृत्ति को बल मिला। व्यापक रूप से यह कहा जा सकता है कि मध्ययुगीन आचारशास्त्र, जिसका प्रतिबिंब दार्श-निक ग्रथो की अपेक्षा सतकाव्य मे अधिक स्पष्ट रूप से मिलता है, मानवता-वाद है।

आधुनिक काल मे गाधीवाद मे भारतीय आचारशास्त्र की सभी स्वस्थ परपराओ का समन्वय मिलता है। उपनिषदो की आत्मसाधना, जैनो की 'अहिसा', बुद्ध की अनुकपा और प्रेम, गीता का कर्मयोग, इस्लाम का विश्व-बधुत्व, इन सभी के लिये गाधीवाद मे स्थान है। और चूकि इन आदर्शो को राष्ट्रीय स्वाधीनता के ठोस प्रश्न के सदर्भ मे सामने रखा गया, इसलिये महात्मा गाधी का आचारशास्त्र, देशकालातीत समस्याओ को उठाते हुए भी, भारतीय सास्कृतिक मूल्यो का प्रतिनिधित्व करता है।

चीन—आचारशास्त्र को दर्शन और धर्मशास्त्र से पृथक् करना सभी प्राचीन सभ्यताओ के अध्ययन मे कठिन है, लेकिन पश्चिमी जगत् की अपेक्षा पूर्वी जगत् के सास्कृतिक इतिहास मे यह कठिनाई और भी तीव्रता से सामने आती है।

चीन के दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक, सास्कृतिक मूल्यो के दो आदि-स्रोत हैं 'ताओवाद और कन्फूचीवाद'। इनमे आपसी विरोध होते हुए भी इन दोनो का समन्वय ही, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, चीनी विचारको का लक्ष्य रहा है। आगे चलकर एक तीसरी विचारधारा ने चीन मे पदा-र्पण किया, जिसे व्यापक रूप से बौद्ध विचारधारा कहा जा सकता है।

लाओत्सू (ल० ५७० ई० पू०)—ताओ के अनुसार प्रकृति से सामजस्य स्थापित करना ही 'शुभ' है। इसके लिये आवश्यक सद्गुण है सरलता, मृदुलता, सौदर्यप्रेम और शातिप्रियता। मानव को अपना जीवन स्वाभाविक और ऋजु बनाना चाहिए। इस ताओमार्ग का प्रवर्तक लाओ-त्सू था।

कन्फूशस (५५१ से ४७९ ई० पू०)—कन्फूशस का दृष्टिकोण इससे मूलतया भिन्न है। इनके अनुसार जीवन की पूर्णतम साधना ही मनुष्य का कर्तव्य है। यह कर्तव्य उसे समाज के सदस्य की हैसियत से ही निभाना है। कार्यसिद्धि और पुरुषार्थ ही वास्तविक 'शुभ' है। सदाचार का आधार है सतुलित जीवन और सतुलित जीवन के दो सिद्धात हैं 'चुग' का सिद्धात अर्थात् अपने व्यक्तित्व की उच्चतम माँगो को सतुष्ट करते रहो और 'शू' का सिद्धात, अर्थात् विश्व से समस्वरता निर्माण करते हुए जीवन व्यतीत करो। अरस्तू के 'सुनहरे मध्यम मार्ग' की तरह कन्फूशस का आचारशास्त्र भी अतिरेकविरोधी है।

मेंशियस (३७१ से २८९ ई०पू०)—मेशियस का आचारशास्त्र कन्फू-शस के सिद्धात पर ही आधारित है, परतु उसमे समाजकल्याण की अपेक्षा मानववाद पर अधिक जोर दिया गया है।

अनेक चीनी दार्शनिक 'ताओ' के रहस्यवाद और अतिव्यक्तिवाद से भी असतुष्ट थे और कन्फूशस के परपराप्रधान, औपचारिक उपदेशो से भी। इसलिये बहुत से ऐसे पथो का आविर्भाव हुआ जिन्होने या तो सम-झौते का मार्ग अपनाया या जीवन के किसी विशिष्ट पक्ष को लेकर एक नए आचारदर्शन की सृष्टि की। उदाहरणस्वरूप 'मोत्सू' का पथ उपयोगिता-वादी था। सदाचरण का मापदड 'अधिकतम उपयोग' है, परतु इसका साधन है प्रेम या मैत्री। सघर्ष इसलिये अनैतिक है कि वह अनुपयोगी और 'अपव्ययशील' बन जाता है। 'फाशिया' पथ ने आचारशास्त्र को राजनीति के समीप पहुँचा दिया और कहा कि राजसत्ता तथा विधान से ही सदाचार की रक्षा की जा सकती है।

'ताओ' और कन्फूशसवाद का समन्वय कराने का उत्कट प्रयास

प्रख्यात आख्यान शुन शेपका का आख्यान ऋग्वेद के अनेक सूक्तो मे (१।२४,२५) बहुश सकेतित होने से सत्य घटना के ऊपर आश्रित प्रतीत होता है। ऐतरेय ब्राह्मण (७।३)मे यह आख्यान बहुत विस्तार के साथ वर्णित है, जिसके आदि मे राजा हरिश्चद्र का और अत मे विश्वामित्र का सवध जोडकर इसे परिवर्धित किया गया है। वरुण की कृपा से ऐक्ष्वाकु नरेश हरिश्चद्र को पुत्र उत्पन्न होना, समर्पण के समय उसका जगल मे भाग जाना, हरिश्चद्र को उदररोग की प्राप्ति, रास्ते मे अजीगर्त के मध्यम पुत्र शुन शेप का क्रय करना, देवताओ की कृपा से उसका वध्यपशु होने से बच जाना, विश्वामित्र के द्वारा उसका कृतकपुत्र बनाया जाना, आदि घटनाएँ प्रख्यात हैं।

उर्वशी ओर पुरूरवा का आख्यान वैदिक युग की एक रोमाचक प्रणय गाथा है। देवी होने पर भी उर्वशी का राजा पुरूरवा के प्रणयपाश मे बद्ध होना, पृथ्वीतल पर महारानी के रूप मे निवास तथा अत मे राजा को अपने विरह से सतप्त कर अतर्धान होना आदि घटनाएँ नितात प्रख्यात हैं। ऋग्वेद के प्रख्यात सूक्त (१०।९५) मे पुरूरवा और उर्वशी का कथनोपकथन मात्र है, परतु शतपथ ब्राह्मण (१।१।५।१) मे यह कथानक रोचक विस्तार के साथ निबद्ध किया गया है तथा इस प्रणयकथा के अकन मे साहित्यिक सौदर्य का भी परिचय मिलता है। विष्णुपुराण (४।६), मत्स्यपुराण (अध्याय २४) तथा भागवत (९।१४) मे इसी कथा का रोचक विवरण हम पाते हैं। कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक मे इस कथानक को नितात मजुल नाटकीय रूप प्रदान किया है। इस आख्यान के विकास मे एक विशेष तथ्य की सत्ता मिलती है। पुराणो ने मत्स्यपुराण का आधार लेकर इसे प्रणयगाथा के रूप मे ही अकित किया है। परतु वैदिक आख्यान मे पुरूरवा पागल प्रेमी न होकर यज्ञ का प्रचारक नरपति है। वह पहला व्यक्ति है जिसने श्रौत अग्नि (आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि नामक मेधा अग्नि) की स्थापना का रहस्य जानकर यज्ञ सस्था का प्रथम विस्तार किया। पुरूरवा के इस परोपकारी रूप की अभिव्यक्ति वैदिक आख्यान का वैशिष्ट्य है।

च्यवन भार्गव तथा **सुकन्या मानवी** का आख्यान भारतीय नारीचरित्र का एक नितात उज्ज्वल दृष्टात उपस्थित करता है। यह कथा ऋग्वेद के अश्विन से सबद्ध अनेक सूक्तो मे सकेतित है (१।११६ तथा १।११७ आदि)। यही कथा ताडच ब्राह्मण (१४।६।११) मे, निरुक्त (४।१९) मे, शतपथ (काड ४) मे तथा भागवत (स्कध ९, अध्याय ३) मे भी विस्तार से दी गई है। च्यवन का वैदिक नाम 'च्यवान' है। सुकन्या की वैदिक कहानी उसकी पौराणिक कहानी की अपेक्षा कही अधिक उदात्त और.आदर्शमयी है। पुराण मे सुकन्या ऋषि की चमकती हुई आँखो को छेदकर स्वय अपराध करती है और इसके लिये उसे दड मिलना स्वाभाविक ही है। परतु वेद मे उसका त्याग उच्च कोटि का है। सैनिक बालको द्वारा किए गए अपराध के निवारण के लिये सुकन्या वृद्ध च्यवन ऋषि को आत्मसमर्पण करती है। 'उसके दिव्य प्रेम से प्रभावित होकर अश्विनो ने च्यवन को वार्धक्य से मुक्त कर दिया और उन्हें नूतन यौवन प्रदान किया। [ब० उ०]

आगम यह शास्त्र साधारणतया 'तत्रशास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है। निगमागममूलक भारतीय सस्कृति का आधार जिस प्रकार निगम (=वेद) है, उसी प्रकार आगम (=तत्र) भी है। दोनो स्वतत्र होते हुए भी एक दूसरे के पोषक है। निगम कर्म, ज्ञान तथा उपासना का स्वरूप बतलाता है तथा आगम इनके उपायभूत साधनो का वर्णन करता है। इसीलिये वाचस्पति मिश्र ने 'तत्ववैशारदी' (योगभाष्य की व्याख्या) मे 'आगम' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है आगच्छति बुद्धिमारोहति अभ्युदयनि श्रेयसोपाया यस्मात्, **स आगम**। आगम का मुख्य लक्ष्य 'क्रिया' के ऊपर है, तथापि ज्ञान का भी विवरण यहाँ कम नही है। 'वाराहीतत्र' के अनुसार आगम इन सात लक्षणो से समन्वित होता है सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म (=शाति, वशीकरण, स्तभन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण), साधन तथा ध्यान योग। 'महानिर्वाण' तत्र के अनुसार कलियुग में प्राणी मेध्य (पवित्र) तथा अमेध्य (अपवित्र) के विचारो से बहुधा हीन होते है और इन्ही के कल्याणार्थ महादेव ने आगमो का उपदेश पार्वती को स्वय दिया। इसीलिये कलियुग में आगम की पूजापद्धति विशेष उपयोगी तथा लाभदायक मानी जाती है—**कलौ आगमसम्मत**। भारत के नाना धर्मो में आगम का साम्राज्य है। मन धर्म मे मात्रा मे न्यून होने पर भी आगमपूजा का पर्याप्त समावेश है। बौद्ध धर्म का 'वज्रयान' इसी पद्धति का प्रयोजक मार्ग है। वैदिक धर्म में उपास्य देवता की भिन्नता के कारण इसके तीन प्रकार हैं वैष्णव आगम (पाचरात्र तथा वैखानस आगम), शैव आगम (पाशुपत, शैवसिद्धाती, त्रिक आदि) तथा शाक्त आगम। द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत की दृष्टि से भी इनमें तीन भेद माने जाते हैं। अनेक आगम वेदमूलक हैं, परतु कतिपय तत्रो के ऊपर बाहरी प्रभाव भी लक्षित होता है। विशेषत शाक्तागम के कौलाचार के ऊपर चीन या तिव्वत का प्रभाव पुराणो में स्वीकृत किया गया है। आगमिक पूजा विशुद्ध तथा पवित्र भारतीय है। 'पच मकार' के रहस्य का अज्ञान भी इसके विषय मे अनेक भ्रमो का उत्पादक है।

स०ग्र०—आर्थर एवेलेन शक्ति ऐंड शास्त्र, गणेश ऐंड क०, मद्रास, १९५२, चटर्जी काश्मीर शैविज्म, श्रीनगर, १९१६, वलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, काशी, १९५७। [ब० उ०]

जैन आगम—जैन दृष्टिकोण से भी आगमो पर विचार कर लेना समीचीन होगा। जैन साहित्य के दो विभाग हैं, आगम और आगमेतर। केवल ज्ञानी, मनपर्यव ज्ञानी, अवधि ज्ञानी, चतुर्दश पूर्व के धारक तथा दशपूर्व के धारक मुनियो को आगम कहा जाता है। कही कही नवपूर्व के धारक को भी आगम माना गया है। उपचार से इनके वचनो को भी आगम कहा गया है। जब तक आगम विहारी मुनि विद्यमान थे, तब तक इनका इतना महत्व नही था, क्योकि तब तक मुनियो के आचार व्यवहार का निर्देशन आगम मुनियो द्वारा मिलता था। जब आगम मुनि नही रहे, तब उनके द्वारा रचित आगम ही साधना के आधार माने गए और उनमें निर्दिष्ट निर्देशन के अनुसार ही जैन मुनि अपनी साधना करते हैं।

आगम साहित्य भी दो भागो मे विभक्त है अगप्रविष्ट और अगबाह्य। अगो की सख्या १२ है। उन्हे गणिपिटक या द्वादशागी भी कहा जाता है

१—आचाराग	५—भगवती	९—अनुत्तरोपपातिकदशा
२—सूत्रकृताग	६—ज्ञाता	१०—प्रश्न व्याकरण
३—स्थानाग	७—उपासक दशाग	११—विपाक
४—समवायाग	८—अतकृत् दशा	१२—दृष्टिवाद

इनमे दृष्टिवाद का पूर्णत विच्छेद हो चुका है। शेष ग्यारह अगो का भी बहुत सा अग विच्छिन्न हो चुका है। उपलब्ध ग्रथो का अशपरिमाण इस प्रकार है

१—आचाराग श्रुतस्कध अध्ययन उद्देशक चूलिका श्लोक
(२) (२५) (५१) (३) (२५००)
(जिसमे सातवें 'महापरिज्ञा' नामक अध्ययन का विच्छेद हो चुका है।)

२—सूत्रकृताग श्रुतस्कध अध्ययन उद्देशक श्लोक
(२) (२३) (१५) (२१००)

३—स्थानाग स्थान उद्देशक श्लोक
(१०) (२८) (३७७०)

४—समवायाग श्रुतस्कध अध्ययन उद्देशक श्लोक
(१) (१) (१) (१६६७)

५—भगवती शतक उद्देशक श्लोक
(४०) (१९२३) (१५७५२)

६—ज्ञाता श्रुतस्कध वर्ग उद्देशक श्लोक
(२) (१०) (२२५) (१५७५२)

७—उपासक दशाग अध्ययन श्लोक
(१०) (८१२)

८—अतकृत् दशा श्रुतस्कध वर्ग उद्देशक श्लोक
(१) (८) (९०) (९००)

९—अनुत्तरोपपातिकदशाग वर्ग अध्ययन श्लोक
(३) (३३) (१२९२)

इन दोनो त्रुटियो से बचकर ही सदाचार सभव है। उदाहरणस्वरूप, 'साहस' एक नैतिक सद्गुण है। इसका अतिरेक है 'असावधानी' और इसकी न्यूनता है 'कायरता'। इसी तरह प्रत्येक नैतिक सद्गुण की सीमाएँ स्थिर की जा सकती हैं।

एरिस्तिपस (जन्म ४३५ ई० पू०)—अरस्तू के बाद ग्रीक आचारशास्त्र की धारा दो विरोधी दिशाओ में विभक्त हो गई। एक ओर एपिक्यूरस ने सुखवाद को और दूसरी ओर ज़ीनो ने सन्यासवाद को आदर्श के रूप मे सामने रखा। वास्तव में इन दोनो के बीज सुकरात युग मे ही पड चुके थे। एपिक्यूरस के सुखवाद का मूल स्रोत है 'साइरेनेइक' आचारदर्शन और ज़ीनो की 'स्तोइक' प्रणाली का आधार है 'सिनिक' पथ का सुखवादविरोधी दर्शन। साइरेनेइक पथ का प्रवर्तक एरिस्तिपस था और सिनिक पथ की स्थापना सुकरात के शिष्य अतिस्थिनीज़ (४३६ ई० पू०) ने की थी।

एपिक्यूरस (३४१ से २७० ई० पू०)—एपिक्यूरीय आचारशास्त्र ज्ञान और विवेक को साधन मात्र समझकर सतोष या समाधान को जीवन का लक्ष्य मानता है। सुख के प्रति खिंचाव और दुख का वर्जन स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। 'साइरेनेइक्' दृष्टिकोण मूलत उचित था, परंतु उसमें सुख की व्याख्या सकीर्ण है। केवल क्षणिक सुख को सर्वस्व समझना मूर्खता है। हमारा ध्येय जीवन को समग्र रूप से सुखमय बनाना है। इस क्रिया में विशिष्ट सुखो को कभी कभी त्यागना पडता है। सुखो की तीव्रता केवल एक पक्ष है, उनके स्थायित्व पर भी ध्यान देना है। मानसिक शाति शारीरिक इच्छापूर्ति से अधिक सुखमय है, क्योकि वह हमें अधिक समय तक सतुप्ट रख सकती है। सर्वोच्च सद्गुण 'सावधानी' है, क्योकि वह एक सीमा तक हमें दुख दर्द से बचाता है।

ज़ीनो (३४० से २६५ ई० पू०)—स्तोइकवाद का सिद्धात इसके बिलकुल विपरीत है। ज़ीनो के अनुसार विवेक ही सर्वस्व है। सुखप्राप्ति का अपनी जगह पर कोई महत्व नही है, यद्यपि विवेकशील जीवनक्रम मे यदि सुख भी मिले तो उसे जबर्दस्ती ठुकराना जरुरी नही है, जैसा कि 'सिनिकपथी' करते थे। सवेदजन्य सुखो को गौण और तुच्छ समझना काफी है। 'प्रकृति के अनुसार जीवन' का मतलब है विवेकशील जीवन, क्योकि मानव के लिये चेतन, क्रियाशील विवेकशक्ति ही 'प्राकृतिक' है। सदाचार का आधार है आत्मनियत्रण, कर्तव्यपरायणता और स्वार्थत्याग। नैतिक विकास के मार्ग में सबसे बडी रुकावट है असयम। 'स्तोइक' विचारधारा मे सन्यासवृत्ति काफी प्रबल होते हुए भी ज़ीनो और उसके अनुयायियो ने 'सिनिक' पथ के विकृत व्यक्तिवाद से बचने का भी यथेष्ट प्रयत्न किया। मध्ययुगीन जीवनमूल्यो पर स्तोइक आचारदर्शन का गहरा प्रभाव पडा। सेनेका और सम्राट् मार्क्स ओरिलियस (१२० से १८० ई०) ने इस दर्शन का समर्थन किया।

प्लोतिनस (२०५ से २७० ई०)—मध्ययुगीन आचारशास्त्र मुख्यत धार्मिक या अध्यात्मवादी है। रोमन साम्राज्य के पतन से पहले ही ईसाई धर्मतत्व के सदर्भ में ग्रीक दर्शन का पुनर्मूल्याकन किया जाने लगा था। इस तरह का पहला महत्वपूर्ण प्रयास नवअफलातूनवाद मे देखा जा सकता है। सुकरात-अफलातून-अरस्तू की विचारपरपरा मे जो रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ निहित थी उन्हे प्लोतिनस के दर्शन मे उभारा गया है। मानव जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य है 'एक' अथवा 'परम सत्' का अपरोक्ष ज्ञान। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हमे अपने आपको 'योग्य' बनाना है और इसके लिये सदाचार आवश्यक है। इस तरह प्लोतिनस के लिये आचारदर्शन का महत्व सीमित और सापेक्ष है। नवअफलातूनवाद के अन्य प्रमुख प्रतिनिधि हैं फाइलो और पोरफिरी।

आगस्तिन (३५४ से ४३० ई०)—सत आगस्तिन का 'पैत्रिस्तिक' दर्शन भी ईश्वरानुभूति को चरम लक्ष्य मानता है। ईश्वरप्रेम ही वास्तविक नैतिकता का आधार हो सकता है। आगस्तिन ने यह कहकर कि ईश्वरकेंद्रित जीवन मे ही 'अधिकतम इच्छापूर्ति' सभव है, अप्रत्यक्ष रूप से सुखवाद के सिद्धात को एक सीमा तक स्वीकार किया।

थोमस एक्वाइनस (१२२५ से १२७४)—मध्ययुगीन आचारदर्शन का सबसे विकसित रूप सत थोमस एक्वाइनस की दर्शनप्रणाली मे है। एक्वाइनस ने ईसाई धर्मतत्व को अफलातूनवाद से अरस्तूवाद की ओर ले जाने का यत्न किया। सत्य और शुभ का अनुसधान दो भागो से सभव है—विश्वास और विवेक। ये दोनो स्वतत्र है, परतु इनमे कोई मूलभूत विरोध नही है। विवेकशक्ति की उच्चतम सफलता है अरस्तूदर्शन। 'विश्वास' की सबसे उदात्त सिद्धि है ईसामसीह का 'यथार्थसगत अध्यात्मवाद'। लेकिन इनसे निम्नतर स्तर पर जो 'विवेक' और 'विश्वास' की सफलताएँ है उनसे भी नैतिक जीवन मे प्रेरणा मिल सकती है। ईश्वरज्ञान ही परम शुभ है।

एक्वाइनस के बाद 'स्कोलैस्टिक' विचारधारा धीरे धीरे गतिहीन और सकीर्ण बन गई। आचारशास्त्र का स्वतत्र अस्तित्व करीब करीब समाप्त हो गया और नैतिक प्रश्नो का विवेचन ईसाई धर्मशास्त्र की कुछ वादग्रस्त समस्याओं मे शाब्दिक ऊहापोह तक ही सीमित रह गया।

आधुनिक युग—आचारशास्त्र का आधुनिक युग १५वी-१६वी शताब्दियो के धर्मनिरपेक्ष दर्शन से आरभ होता है। इस दर्शन का एक पक्ष वैज्ञानिक और प्रकृतिवादी है जिसका स्वस्थ रूप बेकन और विकृत रूप हाब्ज़ में झलकता है। आचारशास्त्र की दृप्टि से हाब्ज़ बेकन से अधिक महत्वपूर्ण है।

हाब्ज़ (१५८८ से १६७९)—हाब्ज़ का दृष्टिकोण भौतिकवादी है। वस्तुओ और गति का ही अस्तित्व वह मानता है और मानव आचरण को 'वस्तु' और 'गति' के ही दायरे में देखता है। चूँकि वस्तुजगत् से मानव का सबध सवेदन द्वारा ही सभव है इसलिये सवेदन ही मानव जीवन का 'मुख्य सचालक' है। सुख की इच्छा और दुख के प्रति विमुखता ही मानवीय व्यवहार का आधार है। व्यक्ति का कर्तव्य केवल एक है—अपने लिये सुख अर्जन करना। स्वार्थपरता स्वाभाविक है, स्वार्थत्याग कृत्रिम। सामाजिक सगठन का आधार 'प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक अन्य व्यक्ति से भय' है। सुखो को वर्तमान की तरह भविप्य मे भी प्राप्त करने के लिये 'अधिकार' और 'शक्ति' आवश्यक है। इसलिये अधिकारप्रेम भी प्राकृतिक है और आचरण का निर्देशन करता है। व्यवहार का आतरिक मानदंड स्वार्थ है, बाह्य मानदंड राजकीय अथवा सामाजिक अधिकार है।

क्लार्क (१६७५ से १७२९)—हाब्ज़ के स्वार्थपरक सुखवाद के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया होनी अनिवार्य थी। यह प्रतिक्रिया 'सहजज्ञानवादी आचरणशास्त्र' मे व्यक्त हुई।

कडवर्थ (१६१७ से १६८८)—इस प्रवृत्ति के प्रमुख प्रतिनिधि है क्लार्क, कडवर्थ, शैफ्ट्सबरी, हचीसन और बटलर। इनमे आपसी मतभेद होते हुए भी व्यापक रूप से इस बात पर सहमति है कि नैतिक नियम 'स्वत सिद्ध सत्य' है।

शैफ्ट्सबरी (१६७१ से १७१३)—शैफ्ट्सबरी ने आचारशास्त्र मे पहली बार 'नैतिक विवेकशक्ति' (मारल सेंस) का सिद्धात सामने रखा। बटलर का भी कहना है कि नैतिक नियमो का सहज ज्ञान इसलिये सभव है कि प्रकृति ने—या 'ईश्वर' ने इस प्रकार के ज्ञान के लिये हमे एक विशेष साधन प्रदान किया है।

बटलर (१६९२ से १७५२)—इस साधन को 'बटलर' 'सदसद्विवेकक्षमता' (कांशेंस) कहता है। यह क्षमता ही मनुष्य की वास्तविक आत्मा है, उसके व्यक्तित्व का केंद्रबिंदु है।

ह्यूम (१७११ से १७७६)—ह्यूम का आचरणशास्त्र फिर एक बार सवेदनवाद की ओर झुकता है। ह्यूम का विश्वास है कि आचरण का यथार्थ विश्लेषण मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही सभव है। मनोविज्ञान का इस विषय मे एक ही निष्कर्ष हो सकता है। वह यह कि सुख दुख ही आचरण के निर्णायक है। हमारे नैतिक निर्णय कुछ ऐसे प्राकृतिक सत्यो पर आधारित है जिनका, अपने मूल स्वरूप मे, कोई नैतिक महत्व नही है।

कांट (१७२४ से १८०४)—काट का प्रसिद्ध ग्रथ 'व्यावहारिक विवेक की आलोचना' आधुनिक विवेकवादी आचारशास्त्र के आधारस्तभो मे है। काट ने पूर्ववर्ती विचारको के एकागी सिद्धातो को सतुलित रूप देकर उन्हें एक समन्वयात्मक आचरणदर्शन मे सूत्रबद्ध करने का प्रयत्न किया। 'कर्तव्य' और 'स्वार्थ' ये दोनो बिलकुल अलग अलग प्रेरणाएँ है। इनमे से कर्तव्य को ही प्रधान मानकर जीवन सगठित किया जाय तो अधिकतम कल्याणसपादन किया जा सकता है। कर्तव्य की व्याख्या 'शुभ सकल्प' द्वारा ही सभव है। शुभ सकल्प ही एकमात्र ऐसा शुभ है जिसका मूल्य निरपेक्ष है। अन्य सभी 'अच्छाइयाँ', जैसे सुख, योग्यता, सुविधा इत्यादि

औरंगजेब के काल में, जब साम्राज्य की राजधानी दिल्ली हटा दी गई, आगरा की अवनति प्रारंभ हो गई। १८वीं शताब्दी के अंतिम काल में जाट, मरहठा, मुसलमान आदि कई वर्गो ने नगर पर अपना आधिपत्य रखने का प्रयत्न किया। अत मे १८०३ ई० मे आगरा ईस्ट इडिया कपनी के हाथ में चला गया। जब उत्तरी भारत मे अंग्रेजी राज्य का विस्तार वढ गया, आगरा को उत्तरी-पश्चिमी सूबे (नॉर्थ वेस्टर्न प्राविंसेज़) की राजधानी बनाया गया। परतु सन् १८५७ ई० के गदर के पश्चात् इस प्रदेश की राजधानी इलाहाबाद बनी और तब से फिर आगरा को अपना प्राचीन गौरव प्राप्त न हो सका।

आगरा 'ताजमहल का नगर' कहलाता है, परतु यहाँ अन्य कई विशाल एव भव्य इमारतें भी हैं जिनसे मुगलकालीन वास्तुकला की महत्ता प्रकट होती है। आगरे का किला १½ मील के वृत्त मे है, जिसमें स्थित मोती मसजिद तथा जहाँगीरी महल बहुत सुदर इमारते हैं। यमुना के उस पार एतमादुद्दौला का मकबरा सुदरता मे ताजमहल से होड लेता है। नगर से पाँच मील पश्चिम सिकदराबाद मे अकबर महान् का मकबरा है। इस इमारत का प्रारभ अकबर के जीवनकाल मे ही हो गया था जिसे जहाँगीर ने पूर्ण किया। परतु यहाँ की सबसे असाधारण वस्तु ताजमहल है जिसमें शाहजहाँ तथा उसकी पत्नी मुमताज बेगम की कब्रें हैं। पूरी इमारत सगमरमर की बनी हुई है जिसकी छटा शरत्पूर्णिमा को देखते ही बनती है।

आगरा पश्चिमी उत्तर प्रदेश का सबसे बडा शिक्षाकेंद्र है। यहाँ का आगरा कालेज (१८२३ ई० में स्थापित) प्रदेश के प्राचीनतम विद्यालयो में से एक है। अन्य शिक्षासस्थाओं में सेंट जॉन्स कालेज तथा बलवत राजपूत कालेज के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रारभ मे इन विद्यालयो का सबध कलकत्ता तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालयो से था, परतु १९२७ ई० मे आगरा विश्वविद्यालय की स्थापना के पश्चात् ये सस्थाएँ स्थानीय विश्वविद्यालय का अग बन गई हैं। आगरा विश्वविद्यालय अभी तक एक परीक्षक सस्था ही है। आगरा के निकट दयालबाग उपनगर राधास्वामी सप्रदाय का मुख्य केंद्र है। आगरा की बनी दरियाँ एव कालीन भारत भर मे विख्यात हैं। चमडे का काम भी यहाँ अच्छा होता है। [उ० सिं०]

आगस्ता सयुक्त राज्य, अमरीका के जार्जिया राज्य का एक नगर है जो सवाना नदी के किनारे सके मुहाने से २०१ मील ऊपर बसा है और एक भीतरी बदरगाह है। आगस्ता का औसत ताप जनवरी में ४०° फा० और जुलाई में ८१° फा० रहता है। इस नगर का विकास कृपिकौशल, उद्योग और उत्तम केओलिन तथा चिकनी मिट्टी के आधिक्य के कारण हुआ है। इस क्षेत्र मे कपास, अनाज, फल, सब्जी इत्यादि पैदा होती है तथा लुगदी और मास तैयार किए जाते हैं। यहाँ जाडे की ऋतु समशीतोष्ण रहती है। यहाँ की आबादी १९५० में ७१,५०७ थी। [नृ० कु० सिं०]

आगा खाँ आगा खाँ, प्रथम (१८००—१८८१), वास्तविक नाम हसन अलीशाह, फारस में जन्म, हज़रत अली तथा उनकी पत्नी, हज़रत मोहम्मद की पुत्री आएशा के वशज थे। उन्हें आगा खाँ की पदवी फारस के राजदरबार से मिली थी जो बाद मे वशरपरागत हो गई। हसन अलीशाह के पूर्वज फारस और मिस्र के राजवश ने सबधित थे। स्वय उनका विवाह फारस की राजकुमारी से हुआ था। फारस छोडने के पूर्व वे केरमान के गवर्नर-जनरल थे, किंतु सम्राट् के रोपवश उन्हें जन्मभूमि त्याग भारत मे अँगरेज सरकार का आश्रय ग्रहण करना पडा था। अफगानिस्तान तथा सिंध में अँगरेज सरकार का प्रभुत्व स्थापित कराने में उन्होने बहुत बडी सहायता की। सिंध में उनका धार्मिक प्रभाव भी यथेष्ट मात्रा में स्थापित हो गया था। भारत सरकार ने उन्हें इस्लाम के इस्माइलिया सप्रदाय का इमाम स्वीकार कर उन्हें पेंशन प्रदान की थी। स्पष्टत यह हसन अलीशाह के धार्मिक प्रभाव की स्वीकृति का ही नहीं, बल्कि अँगरेजों की प्रदत्त सहायता का भी परिणाम था। वे अत तक भारत में अँगरेजी राज्य के प्रबल समर्थक बने रहे। उत्तर पश्चिमी सीमात प्रदेश पर, तथा सन् १८५७ की क्राति मे भी उन्होने अगरेजो की यथेष्ट सहायता की। अतत उन्होने बबई को अपना निवासस्थान बना लिया जहाँ उन्होंने घुडदौड के अभिभावक के रूप मे यथेष्ट ख्याति प्राप्त की। मृत्युपर्यंत वे भारत के इस्माइलियो का ही नही, वरन् अफगानिस्तान, खुरासान, अरब, मध्य एशिया, सीरिया, मोरक्को आदि देशो के इस्माइली अनुयायियो का धार्मिक मार्गप्रदर्शन करते रहे। उनका व्यक्तित्व योद्धा राजनीतिज्ञ, धार्मिक नेता तथा खेलाडी का अद्भुत समिश्रण था।

आगा खाँ द्वितीय—आगा अलीशाह (मृत्यु १८८५) आगा खाँ प्रथम के ज्येष्ठ पुत्र थे। १८८१ मे वे आगा खाँ द्वितीय घोषित किए गए, किंतु १८८५ में उनकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार एक प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का असामयिक निधन हो गया। वे बबई काउसिल के सदस्य भी थे।

आगा खाँ तृतीय—वास्तविक नाम मोहम्मद शाह, (१८७७-१९५७), अपने पिता के इकलौते पुत्र थे। आठ वर्ष की अवस्था मे वे आगा खाँ घोषित हुए। नौ वर्ष की अवस्था में भारत सरकार द्वारा उन्हे एक हजार रुपए मासिक की आजीवन पेंशन तथा 'हिज हाइनेस' की पदवी प्रदान की गई। अपनी विदुषी माता की देखरेख मे उनकी प्रारंभिक शिक्षा पूर्ण हुई। पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा का भी उन्हे पूर्ण अनुभव प्राप्त हुआ। युवावस्था में ही उन्होने देश की राजनीति मे भाग लेना आरभ कर दिया था। १९०६ में उन्होंने मुस्लिम प्रतिनिधिमडल के प्रमुख की हैसियत से वाइसराय लार्ड मिंटो के समुख मुस्लिम समाज के भारतीय राजनीति में अधिकाधिक भाग लेने के लिये प्रोत्साहित करने के निमित्त आवेदनपत्र प्रस्तुत किया था। वे अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के सभापति भी निर्वाचित किए गए थे। वे अंग्रेजी राज्य के प्रबल समर्थक थे। प्रत्येक ऐसे अवसर पर जब ब्रिटिश साम्राज्य—तुर्की-इतालवी युद्ध से लेकर द्वितीय महायुद्ध तक—सकटग्रस्त हुआ, आगा खाँ ने अंग्रेजो की मौखिक और सक्रिय सहायता की तथा मुसलमानो को, विशेष रूप से अपने अनुयायियो को, अंग्रेजो का पक्ष ग्रहण करने के लिये प्रेरित किया। मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ, की सस्थापना का आगा खाँ को बहुत बडा श्रेय है। १९१९ मे इडिया ऐक्ट के अतिम रूपनिर्माण में उनका हाथ था। १९३०-३१ की इग्लैंड मे आयोजित राउड टेबुल कान्फ्रेंस मे वे ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधिमडल के प्रमुख थे। १९३२ की अखिल विश्व निरस्त्रीकरण कान्फ्रेंस के सदस्य थे। १९३७ मे वे जिनीवा स्थित राष्ट्रसघ की असेंब्ली के सभापति निर्वाचित हुए थे। इस प्रकार राष्ट्रीय तथा अतर्राष्ट्रीय राजनीति मे आगा खाँ ने प्रमुख भाग लिया था। किंतु उनकी विचार या कार्यप्रणाली में धार्मिक कट्टरता, असहिष्णुता तथा देश के प्रति उदासीनता का लेश न था। मुस्लिम समाज पर उन्होंने हमेशा शातिवादी प्रभाव डालने का ही प्रयत्न किया। तभी देश के सम्माननीय राजनीतिज्ञो मे उनकी गणना हुई। आगा खाँ के बहुमुखी व्यक्तित्व का एक रोचक प्रसग यह भी है कि घोडे पालने तथा घुडदौड के अभिभावक के नाते उन्होने विश्वख्याति अर्जित की। उनका गस्तबल ससार के सर्वश्रेष्ठ अस्तबलो मे गिना जाता था और ससार की सर्वश्रेष्ठ घुडदौड प्रतियोगिताओ मे उनके घोडो ने अनेक बार विजय प्राप्त की। स्विट्ज़रलैड मे ११ जुलाई, १९५७ को उनकी मृत्यु हुई।

आगा खाँ चतुर्थ (१९३६—) आगा खाँ तृतीय की मृत्यु के बाद उनके वसीयतनामे के अनुसार, उनके पुत्र राजकुमार अली खाँ को उत्तराधिकार अस्वीकृत कर, अली खाँ के पुत्र करीम अल् हुसैनी को आगा खाँ घोषित किया गया (१३ जुलाई १९५७)। इनकी शिक्षा दीक्षा इग्लैंड तथा अमरीका मे सपन्न हुई है। [रा० ना०]

आगासी प्रसिद्ध प्रकृतिवादी, विख्यात भूगास्त्री तथा आदर्शवादी शिक्षक जीन लुई रोडोल्फ आगासी का जन्म स्विट्ज़रलैड में मोराट झील के तट पर २० मई, १८०७ को हुआ था। बचपन से ही आपकी अभिरुचि प्राणिशास्त्र के अध्ययन मे थी। लोज़ान मे प्रारभिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद आपने जूरिक, हाइडलबर्ग और म्यूनिख विश्वविद्यालयो में अध्ययन किया। हाइडलबर्ग से आपने 'डॉक्टर ऑव फिलॉसफी' की उपाधि प्राप्त की। १८३० मे आपको म्यूनिख विश्वविद्यालय से डॉक्टर ऑव मेडिसिन की उपाधि मिली।

तत्पश्चात् आगासी पेरिस गए। वहाँ आपको क्यूवियर के साथ

गई। इसका मतलब यह नहीं कि नैतिक प्रश्नों को दार्शनिकों ने गौण समझा है। क्रोचे, बेर्गसाँ, रसेल और अन्य आधुनिक दार्शनिकों ने नैतिक निर्णय के स्वरूप को अपने अपने दृष्टिकोण से समझने का यत्न किया है। परंतु 'शुभाशुभविवेक' को एक स्वतंत्र विज्ञान का विषय माननेवाले विचारक आज अधिक नहीं हैं। इसका कारण यह है कि आचारशास्त्र पर विभिन्न दिशाओं से दबाव पड़ रहा है—समाजशास्त्र की ओर से और मनोविज्ञान की ओर से। एक ओर तो सामाजिक जीवन की बढ़ती हुई जटिलता हमें इस बात के लिये बाध्य करती है कि आचरण के नैतिक पक्ष को राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक समस्याओं के संदर्भ में ही देखें। दूसरी ओर फ्रायड-वाद ने मानव मन की जिन अचेतन क्रियाओं की ओर ध्यान दिलाया है उनकी समीक्षा भी आवश्यक हो गई है। आचरण का 'विशुद्ध नैतिक मूल्यांकन' कठिन हो चला है, क्योंकि नैतिक धारणाओं के पीछे अब कुछ ऐसी अचेतन शक्तियों का आभास मिला है जिन्हें अभी समझना है।

सं०ग्रं०—एच० सिजविक : हिस्ट्री आव एथिक्स (१९६०), जे० ई० एर्ड्मान : हिस्ट्रीज़ आव फिलासफी, जे० एस० मैकेंज़ी : मैनुएल (१९२४), जे० एच० म्योरहेड : एलिमेंट्स आव एथिक्स (१८९२) डब्ल्यू० वुन्ट्ट : एथिक्स (१८९७)। [वि० श्री० न०]

आचार्य प्राचीन काल में आचार्य एक शिक्षा संबंधी पद था। उपनयन संस्कार के समय बालक का अभिभावक उसको आचार्य के पास ले जाता था। विद्या के क्षेत्र में आचार्य का स्थान बहुत ऊँचा था। अत यह धारणा बन गई थी कि आचार्य के पास गए बिना विद्या, श्रेष्ठता और सफलता की प्राप्ति नहीं होती (आचार्याद्धि विद्या विहिता साधिष्ठ प्रापयतीति। छांदोग्य ४–९–३)। उच्च कोटि के अध्यापकों में आचार्य, गुरु एवं उपाध्याय होते थे, जिनमें आचार्य का स्थान सर्वोत्तम था। मनुस्मृति (२–१४१) के अनुसार उपाध्याय वह होता था जो वेद का कोई भाग अथवा वेदांग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष) विद्यार्थी को अपनी जीविका के लिये शुल्क लेकर पढाता था। गुरु अथवा आचार्य विद्यार्थी का संस्कार करके उसको अपने पास रखता था तथा उसके संपूर्ण शिक्षण और योगक्षेम की व्यवस्था करता था (मनु. २–१४०)। 'आचार्य' शब्द के अर्थ और योग्यता पर सविस्तर विचार किया गया है। निरुक्त (१-४) के अनुसार उसको आचार्य इसलिये कहते हैं कि वह विद्यार्थी से आचार-शास्त्रों के अर्थ तथा बुद्धि का आचयन (ग्रहण) कराता है। आपस्तंब धर्मसूत्र (१ १ १ ४) के अनुसार उसको आचार्य इसलिये कहा जाता है कि विद्यार्थी उससे धर्म का आचयन करता है। आचार्य का चुनाव बड़े महत्व का होता था। 'वह अंधकार से घोर अंधकार में प्रवेश करता है जिसका उपनयन अविद्वान् करता है। इसलिये कुलीन, विद्यासंपन्न तथा सम्यक् प्रकार से संतुलित बुद्धिवाले व्यक्ति को आचार्य पद के लिये चुनना चाहिए। (आप० ध० सू० १ १ १ ११–१३)। यम (वीरमित्रोदय, भाग १, पृ० ४०८) ने आचार्य की योग्यता निम्नलिखित प्रकार से बतलाई है 'सत्यवाक्, धृतिमान्, दक्ष, सर्वभूतदयापर, आस्तिक, वेदनिरत तथा शुचियुक्त, वेदाध्ययन-संपन्न, वृत्तिमान्, विजितेंद्रिय, दक्ष, उत्साही, यथावृत्त, जीवमात्र से स्नेह रखनेवाला आदि' आचार्य कहलाता है। आचार्य आदर तथा श्रद्धा का पात्र था। श्वेताश्वतरोपनिषद् (६–२३) में कहा गया है जिसकी ईश्वर में परम भक्ति है, जैसे ईश्वर में वैसे ही गुरु में, क्योंकि इनकी कृपा से ही अर्थों का प्रकाश होता है। शारीरिक जन्म देनेवाले पिता से बौद्धिक एवं आध्यात्मिक जन्म देनेवाले आचार्य का स्थान बहुत ऊँचा है (मनु० २ १४६)।

आजमगढ़ गंगा के उपजाऊ मैदान में स्थित पूर्वी उत्तर प्रदेश का एक जिला है। अधिकांश जनसंख्या का उद्यम खेती है। मुख्य फसलें चावल, जौ, गेहूँ और गन्ना हैं। इस जिले का मुख्य नगर आजमगढ है जो २६°३' उ० अक्षांश और ८३° १३' पू० देशांतर पर स्थित है। यह नगर गंगा नदी की सहायक टोंस नदी के सर्पिल घुमाओं द्वारा तीन ओर से घिरा हुआ है। बाढ से रक्षा के लिये ऊँचा बाँध बनाया गया है। पर कभी कभी बाँध तोड़कर नदी का पानी फैल जाता है और नगर को पर्याप्त क्षति पहुँचती है। औसत वार्षिक वर्षा ४२.०५ इंच है। नगर की कुल जनसंख्या २६,६३२ है (१९५१)। यह पूर्वोत्तर रेलवे की मऊ से शाहगंज जानेवाली शाखा पर स्थित है और पक्की तथा कच्ची सड़कों द्वारा समीपवर्ती क्षेत्रों से संबद्ध है। यह बनारस से दोहरीघाट होते हुए गोरखपुर जानेवाले मोटर मार्ग पर पड़ता है। इस नगर की स्थापना १६६५ ई० में आजम खाँ द्वारा हुई थी। इसके पूर्व यह भूमि एलवल के बिसेन राजपूतों के अधीन थी। इस समय यहाँ दो डिग्री कालेज हैं। शिबली मंजिल तथा हरिऔध-कला-भवन विशेष उल्लेखनीय भवन हैं। [रा० ना० मा०]

आज़ाद अबुलकलाम अहमद मुहीयुद्दीन (१८८८–१९५८ ई०) एक बड़े विद्वान् घराने में पैदा हुए। जन्म मक्का में हुआ और किशोरावस्था के कई वर्ष वहीं बीते। अरबी फारसी अपने पिता से पढ़ी और बाल्यावस्था में ही असाधारण ज्ञान प्राप्त कर लिया। अभी केवल १२ वर्ष के थे कि एक पत्रिका कलकत्ते से निकाल दी और १९०२ ई० से पत्रपत्रिकाओं में इनके लेख छपने लगे। १९०२ ई० में कलकत्ते से ही एक साहित्यिक पत्रिका 'लिसानुस्–सिदक' निकाली। १९०५ ई० में लखनऊ की प्रसिद्ध पत्रिका 'अन्–नदवा' के संपादक नियुक्त हुए। दो वर्ष बाद अमृतसर चले गए और वहाँ 'वकील' के संपादक हो गए।

१९१२ ई० में कलकत्ते से स्वयं अपना साप्ताहिक 'अल हिलाल' निकाला। उर्दू में ऐसी उच्च कोटि का कोई साप्ताहिक इससे पहले नहीं निकला था। १९१६ ई० में अपने राजनीतिक विचारों के कारण राँची में नजरबंद कर दिए गए। यहाँ इन्होंने अपने पूर्वजों के बारे में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'तज़केरा' लिखी और 'कोरान शरीफ' का उर्दू अनुवाद टीका सहित आरंभ कर दिया। १९१९ ई० में वहाँ से छूटे, किंतु १९२१ ई० में फिर बंदी बना दिए गए। १९२३ ई० में कांग्रेस के सभापति चुने गए। १९३० ई० में अंग्रेजी राज्य ने सभी नेताओं के साथ मौलाना आज़ाद को भी बंदी बना दिया। १९३९ में फिर कांग्रेस के सभापति नियुक्त किए गए और १९४६ तक इसका नेतृत्व करते रहे। १९४२ ई० में अंतिम बार कैद किए गए। स्वतंत्रता मिलने पर केंद्र में जो राष्ट्रीय मंत्रिमंडल बना, मौलाना आज़ाद उसमें शिक्षामंत्री बनाए गए। इसी बीच ईरान, तुर्की, इंग्लैंड और फ्रांस की यात्रा की। २२ फरवरी, १९५८ ई० को देहली में देहांत हुआ।

आज़ाद ने वैसे कुछ कविताएँ भी लिखी किंतु उनके गद्य ने उन्हें उर्दू साहित्यकारों में बहुत ऊँचा स्थान दिया। उनके लेखों में भी उनके व्याख्यानों की शक्ति पाई जाती है।

मौलाना आज़ाद की रचनाओं में 'तज़केरा', 'तरजुमानुल कोरान', 'गुब्बारे–ख़ातिर', 'कौले-फैसल,' 'दास्ताने करबला', 'इन्सानियत मौत के दरवाज़े पर', 'मज़ामीने अल हिलाल', 'मज़ामीने आज़ाद', 'ख़ुतबाते आज़ाद' इत्यादि हैं।

सं०ग्रं०—अबुल कलाम आज़ाद : तज़केरा, अबुल कलाम आज़ाद : इंडिया, जोश मलीहाबादी : आज़ाद की कहानी, काजी अब्दुल गफ्फार : आसारे-अबुल-कलाम, अबू सईद अज़मी : अबुल कलाम आज़ाद विन्स फ्रीडम। [सै० ए० हु०]

आज़ाद शमसुल उलमा मौलाना मुहम्मद हुसेन (१८३३–१९१० ई०)। मौलाना सैयद मुहम्मद बाकर दिल्ली के एक बहुत बड़े विद्वान् और धार्मिक नेता थे जिन्होंने उर्दू अखबार के नाम से १८३६ ई० में पहला गंभीर उर्दू समाचारपत्र निकाला। इस पत्रिका में अंग्रेजों के विरोध में विचार प्रकट किए जाते थे। १८५७ ई० के आंदोलन में अवसर मिलते ही अंग्रेजों ने मौलाना बाकर को गोली से उड़ा दिया। आज़ाद उन्हीं के पुत्र थे। पिता ने पुत्र को फारसी, अरबी पढाई, दिल्ली कालेज में पढ़ने के लिये भेजा, प्रेस का काम सिखाया और कविता और भाषा के मर्म की जानकारी प्राप्त करने के लिये उस समय के प्रसिद्ध कवि शेख मुहम्मद इब्राहिम 'जौक' के हाथ में सौंप दिया। पिता ने इस प्रकार आज़ाद को ऐसा बना दिया था कि वह संसार में अपनी जगह बना सकें, परंतु १८५७ के आंदोलन ने इन्हें बेघर कर दिया और कई वर्ष तक ये लखनऊ, मद्रास और बंबई में मारे मारे फिरते रहे। छोटी छोटी नौकरियाँ की और बच्चों के लिये पाठ्यक्रम के अनुसार पुस्तकें लिखीं। इसी बीच काश्मीर और मध्य एशिया भी हो आए। १८६९ ई० में लाहौर गवर्नमेंट कालेज में अरबी के अध्यापक नियुक्त हुए और वहीं कुछ अंग्रेज और हिंदुस्तानी विद्वानों के साथ

है और काट का मतव्य भी इसका विरोधी नही है। काट मानते है कि अतत हमारी कृत्यबुद्धि (प्रैक्टिकल रीजन) ही नैतिक आदेशो का स्रोत है। अनुभववादियो के अनुसार हमारे शुभ अशुभ के ज्ञान का स्रोत अनुभव ही है। यह मत नैतिक सापेक्ष्यतावाद (एथिकल रिलेटिविटिज्म) को जन्म देता है। तीसरा मत प्रतिभानवाद अथवा अपरोक्षतावाद (इट्युइशनिज्म) है। इस मत के अनुसार हमारे भीतर एक ऐसी शक्ति है जो साक्षात् ढग से शुभ अशुभ को पहचान या जान लेती है। प्रतिभानवाद के अनेक रूप हैं। शेफ्ट्सबरी और हचेसन नामक ब्रिटिश दार्शनिको का विचार था कि रूप रस आदि को ग्रहण करनेवाली इद्रियो की ही भाँति हमारे भीतर एक नैतिक इद्रिय (मॉरल सेंस) भी होती हे जो सीधे भलाई बुराई को देख लेती है। बिशप बटलर नाम के विचारक के मत में हमारे अदर सदसद्बुद्धि (काश्यस) नाम की एक प्रेरक वृत्ति होती है जो स्वार्थ तथा परार्थ के बीच उठनेवाले द्वद्व का समाधान करती हुई हमे औचित्य का मार्ग दिखलाती है। हमारे आचरण की अनेक प्रेरक वृत्तियाँ है, एक वृत्ति आत्मप्रेम (सेल्फ लव) है, दूसरी पर-हित-आकाक्षा (बेनीवोलेंस)। सदसद्बुद्धि का स्थान इन दोनो से ऊपर है, वह इन दोनो के ऊपर निर्णायक रूप में प्रतिष्ठित है। जर्मन विचारक काट की गणना प्रतिभानवादियो मे भी की जाती है। प्रतिभानवादी नैतिक सिद्धातो का एक सामान्य लक्षण यह है कि वे किसी कार्य की भलाई बुराई के निर्णय के लिये उसके परिणामो पर ध्यान देना आवश्यक नही समझते। कोई कर्म इसलिये शुभ या अशुभ नही बन जाता कि उसके परिणाम एक या दूसरी कोटि के हैं। किसी कार्य के समस्त परिणामो की पूर्वकल्पना वैसी ही कठिन है जैसा कि उनपर नियत्रण कर सकना। कर्म की अच्छाई बुराई उसकी प्रेरणा (मोटिव) से निर्धारित होती हैं। जिस कर्म के मूल में शुभ प्रेरणा है वह सत् कर्म है, अशुभ प्रेरणा मे जन्म लेनेवाला कर्म असत् कर्म या पाप है। काट का कथन है कि शुभ सकल्पबुद्धि (गुडविल) एक ऐसी चीज है जो स्वय श्रेयरूप है, जिसका श्रेयत्व निरपेक्ष एव निश्चित है, शेष सब वस्तुओ का श्रेयत्व सापेक्ष होता है। केवल शुभ सकल्पशक्ति ही अपनी श्रेयरूप ज्योति से प्रकाशित होती है।

नैतिक शुभ अशुभ के ज्ञान का स्रोत क्या है, इस सबध मे भारतीय विचारको ने भी कई मत प्रकट किए हैं। मीमासा दर्शन के अनुसार श्रुति द्वारा प्रेरित आचार ही धर्म है और श्रुति या वेद द्वारा निषिद्ध कर्म अधर्म। इस प्रकार धर्म एव अधर्म श्रुतियो के विधि-निषेध-मूलक हैं। भगवद्गीता में निष्काम कर्मयोग की शिक्षा के साथ साथ यह बतलाया गया है कि कर्तव्या-कर्तव्य की जानकारी के लिये शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र के अतर्गत श्रुति तथा स्मृति दोनो का परिगणन होता है। हिंदू धर्म मे प्रत्येक वर्ण तथा आश्रम के लिये अलग अलग कर्तव्यो का निर्देश किया गया है, इन कर्तव्यो का विशद विवेचन धर्मसूत्रो तथा स्मृतिग्रथो मे मिलता है। इस कोटि के कर्तव्यो के अतिरिक्त सामान्य धर्म अथवा सार्वभौम धर्मनियमो के बोध के लिये अतरात्मा को भी प्रमाण माना गया हे। सज्जनो के आचार को भी पथप्रदर्शक रूप में स्वीकार किया गया है।

नैतिक आचरण की अनिवार्यता के आधार भी अनेक रूपो मे कल्पित हुए हैं। मनुष्य के इतिहास में नैतिकता का सबसे महत्वपूर्ण नियामक धर्म (रिलीजन) रहा है। हमें नैतिक नियमो का पालन करना चाहिए, क्योकि वैसा ईश्वर या धर्मव्यवस्था को इष्ट है। सदाचार की दूसरी नियामक शक्ति राज्य है। लोगो को अनैतिक कार्यो से विरत करने मे राजाज्ञा एक महत्वपूर्ण हेतु होती है। इसी प्रकार समाज का भय भी नैतिक नियमो को शक्ति देता है। काट के अनुसार हमे स्वय धर्म के लिये धर्म करना चाहिए, कर्तव्यपालन स्वय अपने में इष्ट या साध्य वस्तु है। जो विचारक कर्तव्या-कर्तव्य को परमश्रेय की अपेक्षा से रक्षित करते हैं, वे कह सकते हैं कि नैतिक आचरण की प्रेरणा मूलत आत्मोन्नति की प्रेरणा है। हम शुभ कर्म करते है, क्योकि वैसा करने से हम अपने परम श्रेय की ओर प्रगति करते हैं।

कर्तृस्वातत्र्य बनाम निर्धारणवाद नीतिशास्त्र की एक महत्वपूर्ण समस्या यह है कि क्या मनुष्य कर्म करने मे स्वतत्र है? जब हम एक व्यक्ति को उसके किसी कार्य के लिये भला बुरा कहते हैं, तब स्पष्ट ही उसे उस कार्य के लिये उत्तरदायी मान लेते है, जिसका मतलब होता है यह प्रच्छन्न विश्वास कि वह व्यक्ति विचाराधीन कार्य करने न करने के लिये स्वतत्र था। काट कहते है चूँकि मुझे करना चाहिए, इसलिये मैं कर सकता हूँ। तात्पर्य यह कि कर्ता की स्वतत्रता को माने विना नैतिक जीवन एव नैतिक मूल्याकन की व्यवस्था सभव नही दीखती। हम प्रकृति के व्यापारो को भला बुरा नही कहते, केवल मनुष्य के कर्मों पर ही वैसा निर्णय देते है, इससे जान पडता है कि प्राकृतिक तथा मानवीय व्यापारो मे कुछ अतर है। यह अतर मनुष्य की स्वतत्रता के कारण है। किसी क्रिया के अनुष्ठान को इच्छा का विषय बनाने न बनाने मे मनुष्य की सकल्पबुद्धि (विल) स्वतत्र है।

निर्धारणवाद (डिटरमिनिज्म) के पोपको को उक्त मत ग्राह्य नही है। भौतिक विज्ञान बतलाता है कि विश्वब्रह्माड मे सर्वत्र कार्य-कारण-नियम का अखड शासन है। प्रत्येक वर्तमान घटना का निर्धारण अतीत हेतुओ (कडिशस) से होता है। सपूर्ण विश्व एक बृहत् कार्य-कारण-परपरा है। सब प्रकार की घटनाएँ अखड नियमो के अधीन हैं। ऐसी दशा मे यह कैसे माना जा सकता है कि मनुष्य के सकल्प विकल्प तथा व्यापार अकारण एव नियमहीन होते है? मनुष्य के क्रियाकलापो को विश्व के घटनासमूह मे अपवादरूप नही माना जा सकता। यदि अनेक अवसरो पर हम मानवीय व्यापारो के सबध में सफल भविष्यवाणी नही कर सकते तो इसका कारण हमारी उन व्यापारो के नियामक नियमो की अपूर्ण जानकारी है, न कि उन व्यापारो की नियमहीनता।

निर्धारणवाद के सिद्धात को भौतिक शास्त्रो से बल मिला है, उसे प्रकृतिजगत् की यत्रवादी व्याख्या से भी अवलब मिलता है। किंतु इसका यह मतलब नही कि निर्धारणवाद एक भौतिकवादी सिद्धात है। कहा गया है कि स्पिनोजा तथा हेगेल के दर्शनो मे व्यक्ति की स्वतत्रता के लिये कोई स्थान नही है। साख्य दर्शन मे पुरुष को निर्गुण तथा निष्क्रिय माना गया है। समस्त कर्मो को बुद्धि मे आरोपित किया गया है और बुद्धि को तीन गुणो से सचालित बतलाया गया है। गीता मे लिखा है—सारे कार्य प्रकृति के तीन गुणो द्वारा किए जाते हैं, अहकारवश मनुष्य अपने को कर्ता मान लेता है। गीता मे ही प्रत्येक कर्म के साख्यसमत पाँच कारण गिनाए गए हैं, अर्थात् अधिष्ठान, कर्ता, करण, विविध चेष्टाएँ और दैव, ऐसी दशा में केवल मनुष्य कर्म के लिये उत्तरदायी नही कहा जा सकता।

मैकेंजी आदि कुछ विचारक उक्त दोनो मतो से भिन्न आत्मनिर्धारणवाद (सेल्फ डिटरमिनेशन) के सिद्धात को मानते हैं। जहाँ मनुष्य स्वतत्रता की भावना से कर्म करता है, वहाँ कर्म स्वय उसके व्यक्तित्व मे निहित शक्तियो द्वारा निर्धारित होता है। इस अर्थ में मनुष्य स्वतत्र है। बुरे काम के बाद उत्पन्न होनेवाली पश्चात्ताप की भावना कर्ता की स्वतत्रता सिद्ध करती है।

स०ग्र०—हेनरी सिजविक आउटलाइस आव दि हिस्ट्री आव एथिक्स, सुशीलकुमार मैत्र एथिक्स ऑव दि हिंदूज। [दे० रा०]

आचारशास्त्र का इतिहास

यद्यपि आचारशास्त्र की परिभाषा तथा क्षेत्र प्रत्येक युग मे मतभेद के विषय रहे हैं, फिर भी व्यापक रूप से यह कहा जा सकता है कि आचारशास्त्र मे उन सामान्य सिद्धातो का विवेचन होता है जिनके आधार पर मानवीय क्रियाओ और उद्देश्यो का मूल्याकन सभव हो सके। अधिकतर लेखक और विचारक इस बात से भी सहमत हैं कि आचारशास्त्र का सबध मुख्यत मानदडो और मूल्यो से है, न कि वस्तुस्थितियो के अध्ययन या खोज से, और इन मानदडो का प्रयोग न केवल व्यक्तिगत जीवन के विश्लेषण मे किया जाना चाहिए वरन् सामाजिक जीवन के विश्लेषण में भी।

नैतिक मतवादो का विकास दो विभिन्न दिशाओ में हुआ है। एक ओर तो आचारशास्त्रज्ञो ने 'नैतिक निर्णय' का विश्लेषण करते हुए उचित अनुचित सबधी मानवीय विचारो के मूलभूत आधार का प्रश्न उठाया है। दूसरी ओर उन्होने नैतिक आदर्शो तथा उन आदर्शो की सिद्धि के लिये अपनाए गए मार्गो का विवेचन किया है। आचारशास्त्र का पहला पक्ष चिंतनशील है, दूसरा निर्देशनशील। इन दोनो को हमे एक साथ देखना होगा, क्योकि प्रत्यक्षरूप में दोनो सलग्न और अविभाज्य हैं।

पश्चिमी जगत् मे आचारशास्त्र के सिद्धात जिस तरह कालक्रमानुसार, एक के बाद एक, सामने आए उस तरह का क्रमबद्ध विकास पौर्वात्य दर्शन

मान लीजिए, एक त्रिविस्तारी अवकाश (स्पेस) अ_3 है जिसके प्रत्येक बिंदु पा के नियामक तीन वास्तविक राशियाँ $\text{य}_1, \text{य}_2, \text{य}_3$ पर आश्रित हैं। मान लीजिए, पा के निकट ही फा एक दूसरा बिंदु है जिसके नियामक ($\text{य}_1 + \text{ताय}_1, \text{य}_2 + \text{ताय}_2, \text{य}_3 + \text{ताय}_3$) हैं, तो इन अवकल कुलक (सेट ऑव डिफरेंशियल्स)

$$\text{ताय}_1, \quad \text{ताय}_2, \quad \text{ताय}_3$$

को एक सदिश (वेक्टर) कहते है, या यो कहिए कि बिंदुयुग्म पा, फा को एक सदिश कहते है।

मान लीजिए कि हम $\text{य}, \text{य}_1, \text{य}_2, \text{य}_3$ को एक दूसरी नियामक पद्धति $\text{य}_1', \text{य}_2', \text{य}_3'$ में परिवर्तित करते हैं, जो ऐसी है कि पहले नियामक दूसरे नियामकों के सतत फलन हैं। इसके अतिरिक्त अवकल गुणक

$$\frac{\text{तय}_1}{\text{तय}_1'}, \frac{\text{तय}_2}{\text{तय}_2'}, \frac{\text{तय}_3}{\text{तय}_3'}, \frac{\text{तय}_1}{\text{तय}_2'}, \frac{\text{तय}_2}{\text{तय}_2'},$$

भी सतत हैं (जहाँ $\text{त} = \partial$) और जैकोबियन

$$\text{त}\,(\text{य}_1, \text{य}_2, \text{य}_3)$$

$$\text{त}\,(\text{य}_1', \text{य}_2', \text{य}_3')$$

परिमित है, पर शून्य नहीं है, तो हमारे परिवर्तनसूत्र इस प्रकार के होंगे

$$\text{ताय}_1' = \frac{\text{तय}_1'}{\text{तय}_2}\text{ताय}_2$$

अब मान लीजिए, $\text{फा}^1, \text{फा}^2, \text{फा}^3$ तीन राशियाँ है, तो इनका रूपातर इस प्रकार के सूत्रों से होगा

$$\text{फा}_1' = \frac{\text{तय}_1'}{\text{तय}_2}\,\text{फा}^2\text{।}$$

तो इस राशि कुलक $\text{फा}^1, \text{फा}^2, \text{फा}^3$ को पदवी एक के प्रतिचल आतानक (कट्रावेरिऐंट टेंसर ऑव रैंक वन) कहेंगे और राशियाँ $\text{फा}^1, \text{फा}^2, \text{फा}^3$ उक्त आतानक के ३ संघटक कहलाएँगी। साधारणतया आतानको मे उच्च प्रत्यय लगाए जाते है।

इसके अतिरिक्त, यदि $\text{फा}_1, \text{फा}_2, \text{फा}_3$ तीन राशियाँ हो, जिनके परिवर्तनसूत्र इस प्रकार के हो .

$$\text{फा}_2' = \frac{\text{तय}_1}{\text{तय}_2'}\text{फा}_1,$$

तो उनके कुलक को सहचर आतानक (कोवेरिएंट टेंसर) कहते हैं। इन राशियो के लिये निम्नलिखित प्रत्ययो का प्रयोग किया जाता है।

पदवी १ के इन दोनो प्रकार के आतानको को सदिश (वेक्टर) भी कहते हैं।

इसी प्रकार, यदि स^2 राशियाँ $\text{फा}_{\text{पप}}$ हो, जिनका परिवर्तनसूत्र

$$\text{फा}'_{\text{पप}} = \left(\frac{\text{तय}_{\text{म}}}{\text{तय}'_{\text{प}}}\right)\left(\frac{\text{तय}_{\text{इ}}}{\text{तय}'_{\text{प}}}\right)\text{फा}_{\text{मइ}}$$

हो तो वे भी एक सहचल का सृजन करती है और जो राशियाँ $\text{फा}^{\text{पप}}$ हो, जिनका परिवर्तनसूत्र

$$\text{फा}'^{\text{प}}_{\text{प}} = \left(\frac{\text{तय}_{\text{प}}}{\text{तय}'_{\text{म}}}\right)\left(\frac{\text{तय}'_{\text{प}}}{\text{तय}_{\text{इ}}}\right)\text{फ}^{\text{इ}}_{\text{म}}$$

हो, तो यह पदवी २ के एक प्रतिचल का सृजन करती हैं। स्पष्ट है कि हम इन परिभाषाओं का किसी भी पदवी तक विस्तार कर सकते हैं। पदवी ० के आतानक को अदिश भी कहते हैं। यह य का एकाकी फलन होता है, जो नियामकों के किसी भी परिवर्तन फ'=फ के लिये निश्चल (इन्वेरिऐंट) रहता है।

सं०ग्रं०—एल० पी० आइज़ेनहार्ट कटिन्युअस ग्रुप्स ऑव ट्रैंसफॉर्मेशन (१९३३), ओ० वेब्लेन इन्वेरिऐंट्स ऑव क्वाड्रैटिक डिफरेंशियल फार्म्स (१९२७), ए० जी० मार्कोल मैट्रिसेस ऐंड टेंसर कैल्क्युलस विद ऐप्लिकेशन्स टु मेकैनिक्स, इलैक्ट्रिसिटी ऐंड एअरोनॉटिक्स (१९४९)। [व्र० मो०]

आतिश, ख्वाजा हैदर अली

(१७७८–१८४७ ई०) ये दिल्ली के ख्वाजा अलीबख्श के पुत्र थे जो बाद में फैजाबाद चले आए थे। पिता के मर जाने के कारण आतिश ने ठीक से शिक्षा प्राप्त नही की। उस समय फैजाबाद अवध का सैनिक केंद्र था। आतिश सैनिकों के समीप रहकर तलवार चलाना सीख गए और एक नवाब के यहाँ नौकर हो गए। नवाब कवि भी थे इसलिये आतिश को फैजाबाद मे ही कविताएँ लिखने की प्रेरणा मिली और जब १८१५ ई० के लगभग लखनऊ आए तो यहाँ का वातावरण ही कविताओ से भरा हुआ दिखाई दिया। आतिश यहाँ आकर मुसहफी को अपनी कविताएँ दिखाने लगे और कविसमेलनो मे सम्मिलित होकर बडे बडे कवियो से टक्कर लेने लगे। कम पढे लिखे होने पर भी उनकी भाषा बडी सरल और भावपूर्ण होती थी। वह किसी राजदरबार से कोई सबध नही रखते थे, बिल्कुल स्वतत्र थे और सूफी दृष्टि रखते थे। इसलिये उनकी कविता मे बडी जान थी। उस समय लखनऊ में एक बडे कवि नासिख भी थे जो केवल शब्दो के शुद्ध प्रयोग और अलकारो से काम लेने को कविता जानते थे। उर्दू कविता का वह युग उनसे बहुत प्रभावित हुआ, आतिश भी इससे बच नही सके थे, परतु उनके स्वतत्र स्वभाव, तथा भावपूर्ण विचारो ने उनको बहुत ऊँचा कर दिया था और लखनऊ के रग में रँगा हुआ होने पर भी वह भावपूर्ण कविताएँ लिखते थे। उन्होने केवल गजलें लिखी हैं और उन्ही मे अपने नैतिक और धार्मिक विचारो तथा भावो को प्रकट किया है।

उनके शिष्यो मे पडित दयाशकर "नसीम" और "रिंद" बहुत प्रसिद्ध हुए। आतिश के केवल दो सग्रह "कुल्लियाते आतिश" के नाम से मिलते है।

सं०ग्रं०—मुहम्मद हुसेन 'आज़ाद' आबे-हयात, मुसहफी तज़किरए-हिंदी, शेफता गुलशने बेखार, अबुल लैस लखनऊ का दबिस्ताने-शायरी। [सै० ए० हु०]

आतिशबाजी

उन युक्तियो का सामूहिक नाम है जिनसे अग्नि द्वारा प्रकाश, ध्वनि या धुएँ का अनुपम प्रदर्शन होता है। इनका उपयोग मनोरजन के अतिरिक्त सेना तथा उद्योग मे भी होता है। साधारण जलने में ईधन को आवश्यक आक्सिजन हवा से मिलता है, परतु आतिशबाजी मे ईंधन के साथ कोई आक्सिजनप्रद पदार्थ मिला रहता है। फिर, ईंधन भी शीघ्र जलनेवाला होता है। इसी से अधिक ताप या प्रकाश या ध्वनि उत्पन्न होती है।

प्राचीन समय में आक्सिजन के लिये शोरे (पोटैसियम नाइट्रेट) का उपयोग किया जाता था, परतु १७८८ मे बरटलो ने पोटैसियम क्लोरेट का आविष्कार किया जो शोरे से अच्छा पडता है। लगभग १८६५ मे और फिर १८९४ में क्रमानुसार मैगनीसियम और ऐल्युमिनियम का आविष्कार हुआ, जो जलने पर तीव्र प्रकाश उत्पन्न करते हैं। इनके उपयोग से आतिशबाजी ने बडी उन्नति की।

कुछ प्रकार की आतिशबाजी में उद्देश्य यह रहता है कि जलती हुई गैसें बडे वेग से निकलें। इनमें बारूद का प्रयोग किया जाता है जो गधक, काठकोयला और शोरे का महीन मिश्रण होता है। विशेप वेग के लिये इन पदार्थों को बहुत बारीक पीसकर मिलाया जाता है। महताबी आदि में उद्देश्य यह रहता है कि चटक प्रकाश हो। सफेद प्रकाश के लिये ऐंटिमनी या आरसेनिक के लवण रहते है, परतु इस रग की महताबियाँ कम बनाई जाती है। रगीन महताबियो में पोटैसियम क्लोरेट के साथ विभिन्न धातुओ के लवणो का प्रयोग किया जाता है, जैसे लाल रग के लिये स्ट्रांशियम का नाइट्रेट या अन्य लवण, हरे के लिये बेरियम का नाइट्रेट या अन्य लवण, पीले के लिये सोडियम कारबोनेट आदि, नीले के लिये तांबे का कारबोनेट या अन्य लवण जिसमें थोडा मरक्यूरस क्लोराइड मिला दिया जाता है। चमक के लिये मैगनीसियम या ऐल्युमिनियम का अत्यत महीन चूर्ण मिलाया जाता है। बहुधा स्पिरिट में लाह (लाख) या गोंद, या पानी में गोंद का घोल या तीसी (अलसी) का तेल मिलाकर अन्य सामग्री को बाँध दिया जाता है। अधिकाश रगीन ज्वाला देनेवाली आतिशबाजी में क्लोरेट और रग उत्पन्न करनेवाले पदार्थों के अतिरिक्त गधक तथा कुछ साधारण ज्वलनशील पदार्थ भी रहते है, जैसे लाह, रूई सर्वी, सोनिज

'यिन-याग' सिद्धात मे देखा जा सकता है। विश्व में दो शक्तियाँ लगातार काम करती रहती हैं—'याग', जो क्रियाशील, सकारात्मक, 'पुरुषोचित' है, और 'यिन', जो निष्क्रिय, नकारात्मक, 'स्त्रियोचित' है। प्रत्येक वस्तु, सस्था और सबध मे ये दोनो ही प्रवृत्तियाँ प्रतिबिंबित हैं। इनका उचित मात्रा मे वास्तव्य ही 'शुभ' परिस्थिति है। और ऐसी परिस्थिति के निर्माण में हाथ बटाना मानव का कर्तव्य है।

मध्ययुगीन चीनी आचारशास्त्र पर *बौद्ध विचारो की स्पष्ट छाप है।* थेरवाद की अपेक्षा महायान का, और विशेषत माध्यमिक दर्शन का, चीन में अधिक तेजी से विकास हुआ। परतु नागार्जुन के 'शून्यवाद' को परपरागत 'व्यावहारिकता' के साँचे मे ढालकर चीनी विचारकों ने बौद्ध जीवन-दर्शन को एक नई दिशा प्रदान की। इस नए दर्शन का नारा है 'समग्र मे एक और एक मे समग्र'।

मिंग युग (१५वी से १६ वी सदी) १२वी और १३वी शताब्दी के आचारदर्शन में सदेहवाद और अतिभौतिकवाद के स्पष्ट चिह्न हैं, लेकिन 'मिंग' युगीन सास्कृतिक पुनरुत्थान के बाद चीनी विचारधारा फिर बुद्धिवाद की ओर झुकी। तब से आधुनिक युग तक चीन का आचार-दर्शन मुख्य रूप से बुद्धिवादी ही रहा है।

ईरान-ज़रथुस्त्रवाद मे आचारसिद्धातो को बडा महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। स्वय जरथुस्त्र के विषय मे निश्चित रूप से कुछ कम कहा जा सकता है। 'गाथाओ' मे उसका व्यक्तित्व ऐतिहासिक लगता है, परतु 'अवेस्ता' मे वह काल्पनिक पौराणिक बन जाता है। ज़रथुस्त्रधर्म मुख्यत द्वैतवादी है। 'अवेस्ता' में 'अहुर' को एकमेव परम सत्ता के रूप मे स्वीकार किया गया है और यह कहा गया है कि 'अहुर' की अभिव्यक्ति दो दिशाओ मे होती है। एक ओर आलोक है, दूसरी ओर अधकार, एक ओर जड भौतिक वस्तु, दूसरी ओर अध्यात्म। लेकिन 'अहुर' का एकत्व केवल औपचारिक है।

मानी (जन्म २१५ ई० पू०)—आगे चलकर मानी ने खुले आम जरथुस्त्रवाद को पूर्णतया द्वैतवादी बना दिया। उसके अनुसार भौतिक वस्तु एक स्वतत्र शक्ति है जिसका अध्यात्मशक्ति के साथ लगातार सघर्ष चलता रहता है। मानव व्यक्तित्व के दो विभाग हैं एक आत्मा जो आलोक-मय है और दूसरा शरीर जो अधकारमय है। सकल्पशक्ति इन दोनो के बीच में है और किसी भी ओर झुक सकती है। प्रत्यक्ष आचरण मे मानव स्वतत्र है। यदि वह चाहे तो रचनात्मक आलोकशक्ति की ओर अपने आपको ले जा सकता है। पार्थिव सुखो को त्यागकर विनाशात्मक अध-कारशक्ति से मुक्तिलाभ सभव है। भविष्य मे आलोक की सपूर्ण विजय निश्चित है। उस विजयक्षण को समीप लाना अशत मानव आचरण पर निर्भर है।

यूनान—मानवीय आचरण का वैज्ञानिक ढग से परीक्षण सबसे पहले सोफिस्त दार्शनिक ने किया। ई० पू० ७वी शताब्दी से ही यूनान मे दर्शन की स्वस्थ परपराएँ बन चुकी थी, परतु प्रोतागोरस के पहले विचा-रको ने मुख्यत बाह्य जगत् पर ही ध्यान दिया था। थेलीज़ से अन-क्सागोरस तक सभी दार्शनिक विश्व के आदितत्व की खोज करते रहे। सोफिस्तपथियो ने दर्शन के लक्ष्य का पुनर्मूल्याकन किया तथा मानव जीवन की *प्रत्यक्ष समस्याओ को दार्शनिक दृष्टि से आँकने का यत्न किया।*

प्रोतागोरस (जन्म ४८०ई०पू०)—'मनुष्य ही प्रत्येक वस्तु की कसौटी है'—प्रोतागोरस की इस उक्ति मे सोफिस्त आचारशास्त्र के अच्छे और बुरे दोनो अग प्रतिबिंबित है। जहाँ एक ओर इस कथन से आचारशास्त्र ठोस समस्याओ की ओर झुकता है वहाँ दूसरी ओर वह व्यक्तिगत और सापेक्ष भी बन जाता है।

गोर्जियस (जन्म ४८३ ई० पू०)—गोर्जियस के सपर्क से प्रोतागोरस का मानववाद निरे सदेहवाद मे परिणत हो गया और इस सदेहवाद से, दार्शनिक स्तर पर, अतिस्वार्थवाद और सुखवाद को बल मिला।

सुकरात (४६६ से ३६६ ई० पू०)—इन विकृतियो के विरुद्ध सुकरात ने सर्वप्रथम एक ऐसे आचारशास्त्र का निर्माण किया जो आदर्शवादी होते हुए भी यथार्थ परिस्थितियो पर आधारित था। सुकरात का दृष्टिकोण बुद्धिवादी है। 'ज्ञान ही सदाचार है'। जिसे उचित कर्मों का वास्तविक ज्ञान है, उसका आचरण ठीक होना ही पडेगा, और अज्ञान की परिणति दुराचार में होना भी उतना ही अनिवार्य है। सोफिस्तपथी 'न्याय', 'नियम', 'सयम' आदि शब्दो का प्रयोग अवश्य करते थे, पर इनकी सूक्ष्म व्याख्या उन्होने कभी नही की। सुकरात ने इस बात पर जोर दिया कि व्यक्तिनिरपेक्ष नैतिक आदर्शो का आधार ज्ञानमीमासा ही है। जो अतर 'ज्ञान' और 'जानकारी' में है, वही नियमबद्ध आचारशास्त्र और प्रथाजन्य नैतिक धारणाओ में है। सभी का लक्ष्य समान है—'भलाई'। परतु ज्ञान द्वारा ही 'भलाई' और परम शुभ मे सामजस्य स्थापित किया जा सकता है। और इस सामजस्य का सामाजिक रूप केवल ऐसे राज्य में मिल सकता है जहाँ शासकगण अच्छे जीवन को एक कला समझकर उसे आत्म-सात् करने का यत्न करते रहे।

अफलातून (४२७ से ३४७ ई० पू०)—सुकरात के उदात्त आदर्शवाद के प्रति सच्ची निष्ठा बरतते हुए अफलातून ने उनके उपदेशो को परिष्कृत रूप मे रखा और उन्हे दार्शनिक मतवाद का सहारा दिया। अफलातून के आचारशास्त्र का एक पहलू विशुद्ध तात्विक है। भौतिक जगत् की वस्तुओ की तथाकथित 'सत्ता' छाया मात्र है। वास्तविक सत्ता केवल भावो या प्रयत्नो की है, क्योकि प्रत्यय ही नित्य और स्वसपूर्ण हैं। इनमें सबसे शुद्ध और उच्च श्रेणी का प्रयत्न है 'शुभ'। इस तरह सदाचार का आधार आदिसत्ता का शुभत्व है।

लेकिन अफलातून के आचारदर्शन का एक दूसरा, यथार्थवादी पक्ष भी है। इसमे मानव स्वभाव का सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। मानव स्वभाव के—अफलातून के शब्दो मे मानव 'आत्मा' के—तीन विभाग है। इन्हे इच्छा, सवेग और बुद्धि से सचालन मिलता है। पहले दो विभागो पर तीसरे का प्रभुत्व ही सदाचार का आधार है। व्यक्ति में न केवल मानवीय प्रवृत्ति, अर्थात् विवेकशीलता है, वरन् उसमे 'पशवीय' और 'वनस्पतीय' प्रवृत्तियाँ भी हैं जो उसे जैविक और दैहिक स्तर से ऊपर उठने से रोकती ह। बुद्धि का उद्देश्य इन प्रवृत्तियो का विनाश नही, उनका शासन और नियत्रण है।

इस उद्देश्य की सही व्याख्या केवल सामाजिक स्तर पर हो सकती है, न कि व्यक्तिगत स्तर पर। समाज मे मानव स्वभाव के तीन अगो के अनुरूप तीन वर्ग हैं—श्रमिक, योद्धा और शासक। यह वर्गविभाजन प्राकृतिक है और वर्गहीन समाज की कल्पना न्यायसगत नही है, क्योकि न्याय का आधार अतत प्राकृतिक नियम ही है। आदर्श व्यवस्था वह है जिसमे प्रत्येक वर्ग के लोग अपने अपने सद्गुणो की साधना करते रहें। शासक विवेकशील हो, योद्धा वीर और श्रमिक मेहनती तथा *विनम्र।* ये सद्गुण परस्पर पूरक हैं और इनका उचित मात्रा में प्रयोग ही 'नैतिक परिस्थिति' है। ऐसी परिस्थिति अततोगत्वा तीसरे वर्ग के लोगो पर ही निर्भर है, क्योकि ऐच्छिक और सवेगात्मक प्रवृत्तियो को बुद्धि ही काबू में रख सकती है। शासक वर्ग का दृष्टिकोण पूर्णतया दार्शनिक, बुद्धिवादी होना चाहिए और इसके लिये उचित शिक्षाप्रणाली नितात आवश्यक है।

अरस्तू (३८४ से ३२२ ई० पू०)—सुकरातवादी परपरा की परि-णति अरस्तू के आचारशास्त्र मे मिलती है। अरस्तू ने विश्लेषण और प्रयोग करते हुए आचरण के विभिन्न पहलुओ की वैज्ञानिक ढग से समीक्षा की। *आचारदर्शन का स्वतत्र 'शास्त्र' के रूप मे विकास* अरस्तू के 'नाइकोमे-कियाई एथिक्स' से ही आरभ होता है।

अरस्तू के अनुसार 'शुभ' की अभिव्यक्ति दो दिशाओ में होती है। पहली दिशा वह है, जिसमे अभ्यास और प्रयत्न द्वारा मानव अपनी निम्नतर प्रवृत्तियो को उच्चरित शक्ति के—अर्थात् बुद्धि के—नियत्रण में लाता है। इस प्रयास के फलस्वरूप जिन सद्गुणो की सृष्टि होती है वे हैं 'नैतिक सद्गुण'। लेकिन शुभत्व का एक दूसरा माध्यम भी है—अर्थात् बुद्धि द्वारा विशुद्ध सत्ता या चरम सत्य की खोज। इस ज्ञान और मनन से 'बौद्धिक सद्गुणो' की सृष्टि होती है। आदर्श जीवन तो ऐसे ही मनन का जीवन है ('थिओरिया')।

परतु आचारशास्त्र का प्रत्यक्ष सबध बौद्धिक सद्गुणो की अपेक्षा नैतिक सद्गुणो से अधिक घनिष्ठ है। नैतिक सद्गुणो का आधार है मध्यम मार्ग का सिद्धात। एक ओर अतिरेक और दूसरी ओर अभाव,

कथाओं में श्यामसुंदर दास की 'मेरी आत्मकहानी' तथा राजेंद्रप्रसाद की 'आत्मकथा' प्रमुख हैं।

भारत के विशिष्ट महापुरुषों की प्रसिद्ध आत्मकथाओं में महात्मा गांधी की 'सत्य के प्रयोग', जो मूल रूप में गुजराती में लिखी गई थी तथा अंग्रेजी में लिखी गई जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी' उल्लेखनीय हैं। भारत की समस्त भाषाओं में आत्मचरित संबंधी साहित्य मिलता है, उदाहरणार्थ रवींद्रनाथ ठाकुर की बँगला में लिखी 'जीवनस्मृति', मराठी में सावरकर की 'माझी जन्मठेप', धोंडो केशव कर्वे की 'आत्मकथा', रमाबाई रानडे की 'आमच्या आयुष्यातील काही आठवणी', धर्मानंद कोसंबी का 'निवेदन', गुजराती में काका कालेलकर की 'आतेराती दीवालो' और 'हिंडलगानु प्रसाद' तथा क० मा० मुंशी की 'सीधी चढान' और 'स्वप्रसिद्धि की खोज में', मलयालम में सरदार पणिक्कर की आत्मकथा, उर्दू में 'मौलाना आज़ाद की कहानी उनकी ज़बानी', बंगाल में कई क्रांतिकारियों की और सुभाषचंद्र बोस की आत्मजीवनियाँ पठनीय हैं। [प्र० मा०]

आत्मवाद

१—आत्मवाद क्या है ? दार्शनिक विवेचन का उद्देश्य तत्व का ज्ञान प्राप्त करना है। सत्य ज्ञान में संदेह का अंग नहीं होता। पर क्या ऐसे ज्ञान की संभावना भी है ? देकार्त ने व्यापक संदेह से आरंभ किया, परंतु शीघ्र ही उसे रुकना पड़ा। स्वयं संदेह के अस्तित्व में संदेह नहीं कर सका। संदेह चेतना है, इसलिये चेतना असंदिग्ध तथ्य है। चेतना में चेतन और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय, का संपर्क होता है। कुछ लोग कहते हैं कि ऐसा कहने में हम चेतना के दो पक्षों को स्वतंत्र द्रव्यों का पद दे देते हैं, और इसका हमें अधिकार नहीं। इसके विपरीत, द्रव्यवाद ज्ञान के साथ ज्ञाता और ज्ञेय को भी तत्व का पद देता है।

द्रव्यवादियों में ज्ञाता और ज्ञान विषय की स्थिति के संबंध में तीव्र मतभेद है। प्रकृतिवादियों के विचारानुसार यहाँ सत्ता केवल प्रकृति की है, चेतना और चेतन इसके विकास में प्रकट हो जाते हैं। आत्मवाद के अनुसार सारी सत्ता अभौतिक है, प्राकृत पदार्थ चेतनावस्थाएँ ही हैं। जो विचारक बाह्य जगत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं, उनमें भी कुछ कहते हैं कि स्व-इतर स्व में प्रविष्ट नहीं हो सकता, ज्ञाता का ज्ञान उसका अपनी अवस्थाओं तक ही सीमित रहता है। दोनों दशाओं में चेतन की प्राथमिकता आत्मवाद की मौलिक धारणा है।

२—आत्मवाद और प्रकृतिवाद दृष्टिकोणों का भेद—१—प्रकृतिवाद के लिये मौलिक सत्ता दृष्ट वस्तुओं की है, आत्मवाद दृष्ट के साथ, बल्कि इससे अधिक, अदृष्ट को महत्व देता है। 'चेतना है', 'मैं हूँ'—यह तथ्य दृष्ट आकार नहीं रखते, परंतु चेतना और चेतन की सत्ता में संदेह नहीं हो सकता। इनके साथ ही 'सत्य' की सत्ता भी असंदिग्ध है। २—प्रकृतिवाद के लिये इंद्रियजन्य ज्ञान सत्य ज्ञान का नमूना है, अन्य सब ज्ञान इसी पर आधारित होते हैं। आत्मवाद बुद्धि को इंद्रियों से बहुत ऊँचा पद देता है। इंद्रियाँ तो प्रकटनों के क्षेत्र से परे देख नहीं सकतीं, सत्ता का ज्ञान बुद्धि की क्रिया है। ३—प्रकृतिवाद तथ्यों की दुनिया में रहता है, इसके लिये 'मूल्य' का कोई अस्तित्व नहीं। आत्मवाद 'मूल्य' को विशेष महत्व देता है। प्रकृतिवाद घटनाओं के रंग रूप की बात बताता है, आत्मवाद उनके मूल्य की जाँच करता है। ४—प्रकृतिवाद के अनुसार जो कुछ जगत् में हो रहा है, प्राकृत नियम के अनुसार हो रहा है, आत्मवाद रचना में 'प्रयोजन' को देखता है। यंत्रवाद प्रकृतिवाद का मान्य सिद्धांत है, आत्मवाद दृष्ट जगत् के समाधान के लिये आरंभ की ओर नहीं, अपितु इसके अंत की ओर देखता है। ५—प्रकृतिवाद के लिये मानव जीवन कालक्रम मात्र है, आत्मवाद के लिये जीवन का उद्देश्य कालक्रम में नहीं, अपितु इसके बाहर, इससे ऊपर है। जीवन की सफलता इसकी 'लंबाई और चौड़ाई' में ही नहीं, अपितु, इसकी 'गहराई' में भी है।

३—आत्मवाद के रूप—प्राचीन यूनान में पोर्मेनाइडीस ने पहले पहल दार्शनिक विवेचन में 'द्रव्य' और 'आभास', 'सत्' और 'असत्' के भेद में प्रवेश किया। इसके साथ ही बुद्धि और इंद्रियों के भेद ने भी महत्व प्राप्त किया। अफलातून ने इन भेदों की नींव पर अपने दर्शन का निर्माण किया। अफलातून से पहले, कुछ विचारक एकरस सत् में विश्वास करते थे, कुछ प्रवाह में ही सत्ता का रूप देखते थे। अफलातून ने इन दोनों विचारधाराओं को मिलाने का यत्न किया और कहा कि दृष्ट जगत् के पदार्थों की स्थिति तो आभास या छायामात्र है, वास्तविक सत् प्रत्ययों की दुनिया है। हम कोई निर्दोष सीधी रेखा नहीं खींच सकते, इसपर भी रेखागणित का अस्तित्व तो है ही। संसार में पूर्ण न्याय विद्यमान नहीं, इसपर भी नीति में न्याय के प्रत्यय पर विचार हो सकता है।

अफलातून ने अंतिम सत्ता को परलोक में रखा था, आधुनिक आत्मवादी इसे पृथ्वी पर ले आए। इनमें जार्ज बर्कले, फीख़्टे और हेगल के नाम प्रसिद्ध हैं। बर्कले से पहले जान लाक ने प्रधान और अप्रधान गुणों में भेद किया था और अप्रधान गुणों को मान की स्थिति दी थी। बर्कले ने दोनों प्रकार के गुणों के भेद को मिटाकर प्रकृति के स्वतंत्र अस्तित्व को अस्वीकार कर दिया। उसके अनुसार सारी सत्ता चेतन आत्माओं और उनके बोधों की है। इन बोधों में उपलब्ध परमात्मा की क्रिया का फल है। फीख़्टे ने एक डग और भरा और कहा कि हम ही अपनी मानसिक क्रिया के लिये बाह्य जगत् की रचना कर लेते हैं। यह विचार 'मानवी आत्मवाद' (सब्जेक्टिव आईडियलिज़्म) कहलाता है। 'वस्तुगत आत्मवाद' (ऑब्जेक्टिव आईडियलिज़्म') के अनुसार हम जगत् को नहीं बनाते, बाह्य जगत् हमें बनाता है। सारी सत्ता व्यापक चेतना की है। चेतना का जितना भाग किसी विशेष क्षेत्र में अपने आपको सीमित कर लेता है, उसे जीवात्मा कहते हैं। आधुनिक आत्मवादियों में सबसे प्रमुख नाम हेगल का है। उसका सिद्धांत 'निरपेक्ष आत्मवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। हेगल के विचार में कुर्सी के प्रत्यय का अस्तित्व उतना ही असंदिग्ध है जितना कुर्सी का है, उसके लिये 'विचारयुक्त' और 'वास्तविक' अभिन्न हैं। स्पीनोज़ा की तरह हेगल ने भी एक ही मूल तत्व को माना, परंतु जहाँ स्पीनोज़ा ने इसे द्रव्य (सब्स्टेंस) के रूप में देखा, वहाँ हेगल ने इसे मन (सब्जैक्ट) के रूप में देखा। हेगल का निरपेक्ष चेतनारूप है। निरपेक्ष अपने आपको तीन मंजिलों में अभिव्यक्त करता है। पहली मंजिल में यह जड जगत् (नेचर) का रूप धारण करता है, दूसरी मंजिल में जीवन प्रकट होता है और अंत में, मनुष्य के रूप में, आत्मचेतन प्रकट होता है। इस प्रगति में 'विरोध' महत्वपूर्ण भाग लेता है। प्रत्येक वस्तु में उसके विरोध का अंश विद्यमान होता है, विरोधी अंशों का 'समन्वय' सारी उन्नति का तत्व है।

४—एकवाद और अनेकवाद—संख्या की दृष्टि से आत्मवाद एकवाद और अनेकवाद में विभक्त होता है। हेगल एकवादी है। लाइबनित्स के अनुसार सारी सत्ता चिद्‌बिंदुओं से बनी है। प्रत्येक प्रकृत पदार्थ असंख्य चिद्‌बिंदुओं का समूह है जिन्हें एक दूसरे का पता नहीं। मनुष्य में एक केंद्रीय चिद्‌बिंदु भी विद्यमान है जिसे जीवात्मा कहते हैं। परमात्मा समग्र का केंद्रीय चिद्‌बिंदु है।

'वैयक्तिक आत्मवाद' (पर्सनल आईडियलिज़्म) प्रत्येक जीव को नित्य और स्वाधीन तत्व का पद देता है।

५—कांट का अध्यात्मवाद—कांट ने तत्वज्ञान के स्थान में ज्ञानमीमांसा को अपने विवेचन का विषय बनाया। उससे पहले प्रमुख प्रश्न यह था—"अनुभव हमें क्या बताता है ?" कांट ने पूछा—"अनुभव बनता कैसे है ?" उसके विचार में अनुभव की सामग्री बाहर से प्राप्त होती है, सामग्री को विशेष आकृति देना मन की क्रिया है। अनुभव की बनावट में ही चेतन की प्राथमिकता प्रकट होती है।

तत्वज्ञान में कांट वस्तुवादी था, ज्ञानमीमांसा में अध्यात्मवादी था।

सं०ग्रं०—प्लेटो संवाद, बर्कले मानव ज्ञान के नियम,, हेगल आत्मा का तत्वज्ञान। [दी० चं०]

आत्महत्या

आत्महत्या का अर्थ जान बूझकर किया गया आत्मघात होता है। वर्तमान युग में यह एक गर्हणीय कार्य समझा जाता है, परंतु प्राचीन काल में ऐसा नहीं था, बल्कि यह निंदनीय की अपेक्षा सामान्य कार्य समझा जाता था। हमारे देश की सतीप्रथा तथा युद्धकालीन जौहर इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। मोक्ष आदि धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर भी लोग आत्महत्या करते थे।

सापेक्ष है। उनका महत्व यहीं तक सीमित है कि शुभ सकल्प को क्रियमाण बनाने में उनसे सहायता मिल सकती है।

काट ने इस बात पर जोर दिया कि नैतिक नियम विश्वव्यापी और पूर्णतया अनिवार्य है। प्रत्येक परिस्थिति में और प्रत्येक व्यक्ति के प्रति वह लागू होता है। इस नियम का आदेश है कि हम मानवता को अपने मे और अन्य लोगो में सर्वदा साध्य के रूप मे स्वीकार करें, न कि साधन के रूप में। नैतिक कर्तव्य को किसी भी बाह्य दवाव की उत्पत्ति समझना गलत है, चाहे वह बाह्य शक्ति 'ईश्वर' हो या 'सुखवर्धक' परिस्थिति। विवेकशील व्यक्ति जिस नियम के अधीन है उसका निर्माण स्वय विवेक ही करता है।

फिश्टे (१७६२ से १८१४)—फिश्टे का आचरणशास्त्र अतिबुद्धिवादी है। वह व्यक्ति को स्वतत्र मानता है, पर उसके अनुसार आचरण की स्वाधीनता ज्ञान पर निर्भर है। काट की भूल यह थी कि उसने विवेक के सैद्धांतिक और व्यावहारिक अगो के बीच विरोध खडा किया।

हीगेल (१७७०–१८३१)—शेलिंग के दर्शन मे आचारशास्त्र विशुद्ध तत्वज्ञान का अग बन जाता है। हीगेल-दर्शन की भित्ति भी 'परमसत्' (ऐब्सोल्यूट) की कल्पना है, लेकिन हीगेल के 'परमवाद' का उसकी 'द्वद्वात्मक पद्धति' (डाइलेक्टिक्स) से अविश्लेष्य सबध है। भाव-जगत् में विरोधी शक्तियो के सघर्ष से, और उच्चतर स्तर पर उनके समन्वय मे, विकास होता है। नैतिक धारणाओ के प्रति भी यही नियम लागू होता है। आचारशास्त्र का लक्ष्य उन मजिलो का अध्ययन है जिनके बीच, सघर्ष और समन्वय से गुजरते हुए, नैतिक मूल्यो का विकास हुआ है।

डार्विन (१८०१–१८८२)—विकासवादी दृष्टिकोण के वैज्ञानिक पक्ष का डार्विनवाद के माध्यम से आचारशास्त्र पर गहरा प्रभाव पडा।

स्पेंसर (१८२०–१९०३)—डार्विन के 'प्राकृतिक चुनाव के नियम से' प्ररणा लेकर हर्बर्ट स्पेंसर ने एक नया विकासात्मक सुखवाद प्रस्तुत किया। जीवन का आधार है व्यक्ति का परिवेश से सफल अनुकलन (ऐडेप्टेशन)। यह नियम मानव के लिये उतना ही वास्तविक है जितना अन्य प्राणियो के लिये, यद्यपि मानव जीवन में सामाजिक और सास्कृतिक परपराओ का निर्माण हुआ है। 'सफल अनुकलन' का लक्षण है एक ऐसे प्रगतिशील समाज का सगठन जिसमें व्यक्तिगत सुखो का लाभ समग्र जाति के कल्याण-सपादन से सलग्न हो।

बेंथम (१७४८–१८४२) **मिल** (१८०६–१८७३)—स्पेंसर के सुखवाद पर बेंथम और मिल के 'उपयोगितावाद' का स्पष्ट प्रभाव है। मिल का दर्शन उस सशक्त 'अनुभववादी' परपरा पर आधारित है जिसकी बुनियाद बेकन-हाब्ज-लाक-ह्यूम ने रखी थी। बेथम का प्रसिद्ध सूत्र (फारमूला 'अधिक से अधिक लोगो का अधिक-से-अधिक सुख)' मिल के सपर्क से उच्चतर उपयोगितावाद का एक साधन बन गया। मिल ने इस बात पर जोर दिया था कि जीवन के सास्कृतिक और बौद्धिक मूल्यो को ध्यान में रखते हुए ही 'सुख' की व्याख्या करनी चाहिए।

'उपयोगिता' को प्राधान्य देनेवाली अन्य विचारधाराओ मे कोत का मानववाद और विलियम जेम्स का प्रत्यक्ष परिणामवाद आचारशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

कोत (१७९८–१८५७) कोत ने मानव इतिहास को तीन युगो में विभाजित किया—धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक। इनमें से अतिम, अर्थात् वैज्ञानिक युग ही वास्तव मे 'सकारात्मक' है। इसी युग में मानव-केंद्रित आचरणशास्त्र का निर्माण हो सकता है। भविष्य का धर्म 'मानवता धर्म' होगा जिसमें नैतिक, धार्मिक और अन्य पक्षो का निर्देशन समाजविज्ञान द्वारा होगा। मानवता एकमात्र आराध्य वस्तु होगी और जातिकल्याण ही व्यवहार का मानदड होगा। ऐसी परिस्थिति मे आचारशास्त्र का समाजशास्त्र में विलीन होना अनिवार्य है।

जेम्स (१८४२–१९१०)—विलियम जेम्स ने यूरोप की भाववादी दार्शनिक परपरा का विरोध किया। विशुद्ध तात्त्विक स्तर पर सत्य की खोज व्यर्थ है। सत्य 'बना बनाया' नही है, मानव के जीवन में, उसके आचरण और विभिन्न प्रयासो में, सत्य का निर्माण होता है। सत्य की कसौटी उसका प्रत्यक्ष परिणाम है।

ड्यूई (१८५९–१९५०)—इस दृष्टिकोण को जो प्रैगमेटिज्म के नाम से प्रसिद्ध है, जान ड्यूई ने आगे बढाया। ड्यूई के अनुसार 'प्रत्यक्ष परिणाम' की व्याख्या राजनीतिक और सामाजिक प्रगति के सदर्भ में की जानी चाहिए। ड्यूई ने अपने आचारशास्त्र मे प्रजातत्रवाद, समानता और सामाजिक स्वास्थ्य के आदर्शों को महत्वपूर्ण माना है।

शोपेनहावर (१७८८–१८६०)—उधर जर्मनी में हीगेल के बाद शोपेनहावर, नीत्शे और मार्क्स ने तीन अलग अलग मार्ग अपनाये। शोपेनहावर का दृष्टिकोण निराशावादी है। समस्त इतिहास को वह 'जीवन-सकल्प' की अभिव्यक्ति मानता है। यह अभिव्यक्ति जिस सघर्ष के बीच होती है वह दुख और क्लेश से परिपूर्ण है। प्राणियो के 'सुख' काल्पनिक और क्षणिक हैं, उनसे लालायित होकर 'सकल्प' और भी तेजी से जीवन-धारा को आगे बढाता है और इस तरह और भी अधिक क्लेश उत्पन्न होते हैं। वैसे तो जीवमात्र का अस्तित्व दुखमय है, परतु मानव जीवन में यह क्लेश चरम सीमा तक पहुँच जाता है। शारीरिक कष्टो के अलावा अब मानसिक वेदना का भी प्रादुर्भाव होता है। आचरणशास्त्र का कटु कर्तव्य है मनुष्य को यह समझाना कि जीवनसकल्प के विनाश से ही उसके दुख का अत हो सकता है। इसके लिये जीवन के सभी तथाकथित सुखमय अनुभवो को ठुकराना होगा, और सबसे पहले उस 'सुख' को जिसके कारण मानव जाति कायम है। मनुष्य का आदिपाप यह है कि वह जन्म ग्रहण करता है।

हार्टमान (१८४२–१९०६)—निकोलाई हार्टमान का निराशावाद शोपेनहावर से भी एक कदम आगे है। जहाँ शोपेनहावर व्यक्ति का यह कर्तव्य बताता है कि वह अपने जीवनसकल्प का विनाश करे, वहाँ हार्टमान की यह माँग है कि सपूर्ण विश्व मे जीवनी शक्ति को खतम करने में हमें योग देना चाहिए।

नीत्शे (१८८८–१९००)—नीत्शे का आचारशास्त्र भी परपरागत नैतिक मान्यताओ को ठुकराता है। नीत्शे का सिद्धात है 'मूल्यो का निर्मूल्यीकरण'। उसकी शिकायत है कि ईसाई धर्म से प्रेरित होकर जो नैतिक सिद्धात सामने आए हैं वे दुर्बलो के लिये हैं बलवानो के लिये नही। ऐसा आचारशास्त्र 'करुणा का आचारशास्त्र है।' वास्तव मे केवल एक मूल्य ऐसा है जिसपर मानव गर्व कर सकता है—शक्ति। जिससे भी शक्ति का प्रसार होता है वह उचित है और जिस कर्म से शक्ति की महत्ता घटती है वह त्याज्य है। श्रेष्ठ पुरुष की श्रेष्ठताभावना एकमेव अच्छाई है। अनुकलन (एडेप्टेशन) का आदर्श श्रेष्ठ मानव का आदर्श नही हो सकता, क्योंकि अनुकलन का अर्थ है परिवेश के सामने हथियार डाल देना। मानवता का लक्ष्य है अतिमानव का निर्माण—यह सत्य केवल कुछ इने गिने लोग ही समझ सकते हैं और उन्ही के हाथ मे मानव जाति का भविष्य है। अतिमानव के लिये किसी नैतिक नियम की कल्पना नही की जा सकती। वह अच्छे बुरे के मतभेद से परे है।

मार्क्स (१८१८–१८८३)—मार्क्स ने हीगेल के द्वद्ववाद को भौतिक रूप दिया और कहा कि मानव जीवन में आर्थिक और राजनीतिक शक्तियो के स्वगत विरोध से ही आचरण को दिशा मिलती है। आवश्यक वस्तुओ का उत्पादन समाज की सबसे महत्वपूर्ण क्रिया है। उत्पादन के साधन जिस वर्ग के हाथ मे होते हैं वही वर्ग राजनीतिक अधिकार भी प्राप्त कर लेता है। यही नही, अनिवार्य रूप से धार्मिक सस्थाओ, शिक्षाप्रणाली और सास्कृतिक साधनो पर भी शासक वर्ग कब्जा कर लेता है। अपने हितो की रक्षा के लिये इस वर्ग के लोग कुछ नैतिक मान्यताओ की रचना करते हैं और उन्हें अटल, विश्वव्यापी तथा नित्य बताते हैं। वास्तव में मानव स्वभाव परिवर्तनशील है और नैतिक नियम भी अटल नही हो सकते। जो समाज वर्गों में विभाजित है उसमे शासक वर्ग और शोषित वर्ग के 'कर्तव्य' समान नहीं हैं। प्रागैतिहासिक 'कबीले के समाज' के पतन से लेकर अबतक नैतिक मूल्यो में लगातार वर्गसघर्ष प्रतिबिंबित हुआ है। जब दुनिया भर में साम्यवादी समाज की स्थापना होगी और वर्गविभाजन का अत होगा तभी ऐसे आचारशास्त्र का निर्माण हो सकेगा जिसमें नैतिक सिद्धात समस्त मानव जाति के वास्तविक कल्याण पर आधारित होंगे।

२०वी शताब्दी में दर्शन के कुछ अन्य अगो की तुलना में आचारशास्त्र की उपेक्षा हुई है। आचारशास्त्र की कोई नई प्रणाली इधर प्रस्तुत नही की

मे प्रमाण माने जाते है। एकजीववाद दृष्टि सृष्टिवाद नाम से भी परिचित है। प्रकाशानद का वेदातसिद्धातमुक्तावली एकजीववाद का एक उत्तम प्रकरण ग्रथ है। नानाजीववाद की दृष्टि से जीव अत करणावच्छिन्न चैतन्य माना जाता है। वेदातपरिभाषा मे नानाजीववाद का ही प्रतिपादन हुआ है।

यादवप्रकाश के अनुसार जीवात्मा ब्रह्म का अग है। ब्रह्म सगुण है और प्रपच सत्य है। परतु भास्कर के मतानुसार सोपाधिक ब्रह्मखड ही जीव है। इस मत में भी ब्रह्म सगुण तथा प्रपच सत्य है। भास्कर के मतानुसार जीव और ब्रह्म स्वभावत अभिन्न हैं। परतु दोनो मे देव-मनुष्यादिकृत भेद औपाधिक है। अचित तथा ब्रह्म का भेद स्वाभाविक है। उनमें जो अभेद है वह भी स्वाभाविक है। यादव के मत मे जीव और ब्रह्म में भेदाभेद स्वाभाविक है, क्योकि मुक्ति मे भेद रहता है और 'तत्त्वमसि, श्रुति के अनुसार अभेद तो सिद्ध ही है।

श्रीवैष्णव सप्रदाय ने इन दोनो मतो का खडन किया है। भास्कर मत में उपाधि और ब्रह्म को छोडकर अन्य वस्तु न रहने से ब्रह्म में उपाधिससर्गनिमित्तक जितने औपाधिक दोष होते है उनमे से किसी के भी निवारण का उपाय नही है। इसीलिये श्रुतिप्रसिद्ध ब्रह्म के अपहत पाप्मत्वादि विशेषण व्यर्थ होते है। यादव के मतानुसार जीव और ब्रह्म के भेद के तुल्य अभेद भी माना जाता है। इसी से ब्रह्म को ही स्वरूपत देवता, मनुष्य, तिर्यक्, स्थावर आदि भेदो से अवस्थित होने के कारण जीव मानना पडता है। इसी से जीवगत सर्व दोष ब्रह्म में आ पडते हैं। रामानुजीयो का अपना सिद्धात यह है कि जीव प्रत्यक् चेतन आत्मा कर्ता इत्यादि है। ईश्वर भी ठीक उसी प्रकार का है। प्रत्यक् शब्द का यह तात्पर्य है कि आत्मा और ईश्वर दोनो ही अपने आप भासमान हैं। चेतन शब्द का यह तात्पर्य है कि यह ज्ञान का आश्रय है अर्थात् यह धर्मी है, इसमे धर्मभूत ज्ञान आश्रित रहता है। 'आत्मा' शब्द से समझा जाता है कि यह शरीर प्रतिसबधी है। कर्ता शब्द का तात्पर्य है—सकल्प का आश्रय। इस दृष्टि से जीवात्मा तथा परमात्मा मे भेद नही है। परतु जीवात्मा चेतन होने पर भी अणु है और ईश्वर महान् है। जीव चेतन होने पर भी ईश्वर की स्वेच्छा के अधीन अर्थात् नियोज्य है, परतु ईश्वर नियोक्ता है। जीव आधेय या आश्रित है, परतु ईश्वर आश्रय है। जीव विधेय या नियम्य है, परतु ईश्वर नियामक है। रामानुज के अनुसार आत्मा बद्ध, मुक्त और नित्य, तीन प्रकार का है।

आर्हत मत मे आत्मा जीवतत्व का ही नाम है। जीव का स्वभाव पाँच प्रकार का है—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। प्रत्येक में अवातर भेद है। [गो० क०]

आदत (स्वभाव) मनुष्य की अर्जित प्रवृत्ति पशुओ मे भी विभिन्न आदते पाई जाती है। मनुष्य की कुछ आदते (जैसे मादक वस्तुओ का सेवन) ऐसी हो सकती हैं जो पूर्वानुभव की प्राप्ति के लिये उसे आतुर बना सकती है। आदत मनुष्य के मानसिक सस्कार का रूप ले सकती हैं। आदत का बनाना व्यक्ति के स्वभाव पर निर्भर होता है। मेरुदड के वाहक ततुओ मे एक सबध स्थापित हो जान से आदत पडती है। आदत चेतन प्राणी की स्वेच्छा का फल होती है। प्रयोजनवाद और मनोविश्लेषणवाद के अनुसार आदत रुचि के आधार पर बनती है। आदत की विलक्षणताएँ हैं एकरूपता, सुगमता, रोचकता और ध्यानस्वातत्र्य।

आदत के आधार पर हमारे बहुत से कार्य चलते हैं। आदतो का दास न होकर हमे उनका स्वामी होना चाहिए। सकल्प की दृढता, कार्यशीलता, सलग्नता तथा अभ्यास से आदत डाली जा सकती है। मारने पीटने से आदते और दृढ हो जाती हैं। बुरी आदतो को छुडाने के लिये उनसे सबद्ध विकृत सवेग को नष्ट करके भावनाग्रथियो को खोलना आवश्यक है। [स० प्र० चौ०]

आदम बाइबिल के प्रथम पृष्ठो पर (दे० उत्पत्ति ग्रथ) कहा गया है कि ईश्वर ने प्रथम मनुष्य आदम को अपना प्रतिरूप बनाया था। इब्रानी भाषा मे 'आदामा' का अर्थ है—लाल मिट्टी मे बना हुआ। मनुष्य का शरीर मिट्टी से बनता है और अत मे मिट्टी मे ही मिल जाता है, अत प्रथम मनुष्य का नाम आदम ही रखा गया। आदम की सृष्टि कब, कहाँ और कैसे हुई इसके विषय मे बाइबिल कोई निश्चित सूचना नही देती। आधुनिक विज्ञान इसके सबध मे निरतर नई धारणाओं का प्रतिपादन करता रहता है। आदम के पूर्व उपमनुष्य या अर्ध मनुष्य थे अथवा नही, इसके सबध में भी बाइबिल में कोई लेख नही मिलता। इतना ही ज्ञात होता है कि आदम की आत्मा किसी भौतिक तत्व से नही बनी और आजकल जितने भी मनुष्य पृथ्वी पर है वे सबके सब आदम के वशज हैं। प्राचीन मध्यपूर्वी शैली के अनुसार बाइबिल सृष्टि के वर्णन मे प्रतीको का सहारा लेती है। उन प्रतीको को अक्षरश समझने से भ्राति उत्पन्न होगी। बाइबिल का दृष्टिकोण वैज्ञानिक न होकर धार्मिक है। आदम ने ईश्वर के आदेश का उल्लघन किया और ईश्वर की मित्रता खो बैठा। प्रतीकात्मक भाषा मे इसके विषय मे कहा गया है—आदम ने वर्जित फल खाया और इसके फलस्वरूप उसे अदन की वाटिका से निर्वासित किया गया (दे० आदिपाप)। ईसा ने मनुष्य और ईश्वर की मित्रता का पुनरुद्धार किया, अत बाइबिल मे ईसा को नवीन अथवा द्वितीय आदम कहा गया है।

स०ग्र०—कैथोलिक कमेटरी ऑव होली स्क्रिप्चर, लडन, १९५३; ब्रूस वाटर ए पाथ थ्रू जेनेसिस, लडन, १९५५। [का० बु०]

आदम्स पीक (स्थिति ६°५५' उ०, ८०° ३०' पू०) कोलबो से ४५ मील पूर्व लका द्वीप का द्वितीय सर्वोच्च पर्वतशिखर है। प्रस्तुत शख्वाकार शिखर समुद्रतल से ७,३६० फुट ऊँचा है। शिखरतल पर एक पदचिह्न अकित है जिसे हिंदू, बौद्ध एव मुसलमान अपने अपने इष्ट देवताओ—शिव, बुद्ध, आदम—का पुनीत पदचिह्न मानकर पूजते हैं। उक्त पुण्यस्थली बौद्धो की देखरेख मे है। इस पर्वत का दृश्य भी अत्यत मनोहर है। [का० ना० सिं०]

आदम्स ब्रिज लका के मन्नार द्वीप तथा भारतीय तट के रामेश्वर द्वीप के मध्य दक्षिण-पश्चिम मे मन्नार की खाड़ी और उत्तर-पूर्व मे पाक के मुहाने से जुडी हुई लगभग ३० मील लबी बालुकाराशि है जिसे पौराणिक मर्यादा पुरुषोत्तम राम का सेतुबाँध भी कहते है। इसका कुछ भाग सर्वदा सूखा रहता है और बढे हुए जल मे भी इस जल की गहराई तीन चार फुट से अधिक नही रहती। अत समुद्री यान इस रास्ते न आकर लका के दक्षिण से घूमकर जाते है। भूगर्भिक प्रमाणो के अनुसार उक्त खड एक स्थलडमरुमध्य के द्वारा जुडा हुआ था, परतु १८४० की प्रचड आँधी से असबद्ध हो गया। भूवैज्ञानिक खोजो के अनुसार यहाँ प्रवालीय कृमियाँ कालातरिक भूतलोन्नयन के कारण विनष्ट हो गईं और अब प्रवालशिलाओ के रूप मे विद्यमान है। १८३८ मे इसे समुद्रीय परिवहन के योग्य बनाने के लिये खोदाई आरभ की गई, परतु जहाजो के काम का यह न बन सका। अब भारतीय सरकार तदर्थ सक्रिय है।

रामायण के अनुसार अयोध्या के निर्वासित राजकुमार श्री रामचद्र जी ने अपनी पत्नी सीता को प्राप्त करने के लिये लकाधिपति रावण पर आक्रमणार्थ यह सेतु बँधवाया था, जिसके अवशेष इस बालुकाराशि के रूप मे विद्यमान है। सुप्रसिद्ध रामेश्वरम् मदिर राम के विजय-अभियान का स्मारक है। [का० ना० सिं०]

आदर्शवाद १ प्रत्यय और आदर्श—कुछ विचारको के अनुसार मनुष्य और अन्य प्राणियो मे प्रमुख भेद यह है कि मनुष्य प्रत्ययो का प्रयोग कर सकता है और अन्य प्राणियो मे यह क्षमता विद्यमान नही। कुत्ता दो मनुष्यो को देखता है, परतु २ को उसने कभी नही देखा। प्रत्यय दो प्रकार के होते है—वैज्ञानिक और नैतिक, सख्या, गुण, मात्रा आदि। वैज्ञानिक प्रत्ययो का अस्तित्व तो असदिग्ध है, परतु नैतिक प्रत्ययो का अस्तित्व विवाद का विषय बना रहा है। हम कहते हैं—'आज मौसम बहुत अच्छा है।' यहाँ हम अच्छेपन का वर्णन करते है और इसके साथ अच्छाई के अधिक न्यून होने की ओर सकेत करते है। इसी प्रकार का भेद कर्मो के सबध में भी किया जाता है। नैतिक प्रत्यय को आदर्श भी कहते है। आदर्श एक ऐसी स्थिति है, जो (१) वर्तमान मे विद्यमान नही, (२) वर्तमान स्थिति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है, (३) अनुकरण करने के योग्य है और (४) वास्तविक स्थिति का मूल्य जाँचने के लिये मापक का काम देती

मिलकर "अजुमने पजाब" बनाई जिससे नई प्रकार की कविताएँ लिखन की परपरा आरभ हुई। १८७४ ई० मे लाहौर मे जो नए मुशायरे हुए उनमें ख्वाजा 'हाली' ने भी भाग लिया और वास्तव में उसी समय से आधुनिक उर्दू साहित्य का विकास आरभ हुआ। १८८५ ई० मे 'आजाद' ने ईरान की यात्रा की और जब वहाँ से लौटे तब अपना सारा समय और सारी शक्ति साहित्यरचना मे लगाने के लिये नौकरी से भी अलग हो गए। १८८८ ई० मे कुछ ऐसी घटनाएँ हुई कि आजाद की मानसिक दशा बिगडने लगी और दो एक वर्ष बाद वे बिलकुल पागल हो गए। इसमें भी जब कभी मौज आ जाती, लिखने पढने मे लग जाते। १९०९ में इनका स्वास्थ्य एकदम नष्ट हो गया और २२ जनवरी, १९१० ई० को ये परलोक सिधार गए।

अपने विस्तृत ज्ञान से सुदर भावपूर्ण शैली और नवीन विचारो के कारण आजाद वर्तमान साहित्य के जन्मदाताओ मे गिने जाते हैं। उनकी अनेक रचनाओ मे से निम्नलिखित विशेष प्रसिद्ध हैं

"सुखनदाने-फार्स", "निगारिस्ताने-फार्स," "आबे-हयात", "नैरगे-खयाल", "दरबारे-अकबरी", "कससे-हिंद", "कायनाते-अरब", "जानवरिस्तान", "नज्मे-आजाद" इत्यादि।

सं०ग्रं०—पडित कैफी मनशूरात, जहाँ बानू मुहम्मद हुसेन आजाद, मुहम्मद यहया तन्हा सियहल—मुसन्नफीन, हामिद हसन कादिरी दास्तान-तारीखे-उर्दू, अब्दुल्ला, डा० एस० एन० स्पिरिट ऐंड सब्स्टेंस ऑव उर्दू प्रोज अडर दि इन्फ्लुएस आव सर सैयद।

[सै० ए० हु०]

आजीविक आजीविक शब्द के अर्थ के विषय मे विद्वानो मे विवाद रहा है किंतु 'आजीविक' के विषय मे विशेष विचार रखनेवाले श्रमणो के एक वर्ग को यह अर्थ विशेष मान्य रहा है। वैदिक मान्यताओ के विरोध मे जिन अनेक श्रमणसप्रदायो का उत्थान बुद्धपूर्वकाल मे हुआ उनमे आजीविक सप्रदाय भी था। इस सप्रदाय का साहित्य उपलब्ध नही है, किंतु बौद्ध और जैन साहित्य तथा शिलालेखो के आधार पर ही इस सप्रदाय का इतिहास जाना जा सकता है। बुद्ध और महावीर के प्रबल विरोधियो के रूप मे आजीविको के तीर्थंकर मक्खली गोसाल (मस्करी गोशाल) का उल्लेख जैन-बौद्ध-शास्त्रो मे मिलता है। यह भी उन शास्त्रो से ही ज्ञात होता है कि उस समय आजीविको का सप्रदाय प्रतिष्ठित और समादृत था। गोसाल अपने को चौबीसवाँ तीर्थंकर कहते थे। इस जैन उल्लख को प्रमाण न भी माना जाय तब भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि गोसाल से पहल भी यह सप्रदाय प्रचलित रहा। गोसाल से पहले के कई आजीविको का उल्लेख मिलता है। शिलालेखो और अन्य आधारो से यह सिद्ध है कि यह सप्रदाय समग्र भारत मे प्रचलित रहा और अत में मध्यकाल में अपना पार्थक्य इस सप्रदाय ने खो दिया। आजीविक श्रमण नग्न रहते और परिव्राजको की तरह घूमते थे। भिक्षाचर्या द्वारा जीविका चलाते थे। ईश्वर या कर्म मे उनका विश्वास नही था। किंतु वे नियतिवादी थे। पुरुषार्थ, पराक्रम, वीर्य से नही, किंतु नियति से ही जीव की शुद्धि या अशुद्धि होती है। ससारचक्र नियत है, वह अपने क्रम में ही पूरा होता है और मुक्तिलाभ करता है। आश्चर्य तो यह है कि आजीविको का दार्शनिक सिद्धात ऐसा होते हुए भी आजीविक श्रमण तपस्या आदि करते थे और जीवन मे कष्ट उठाते थे।

सं०ग्रं०—बॉशम, ए० एल० हिस्ट्री ऐंड डाक्ट्रिस ऑव दि आजीविकाज्।

[द० मा०]

आटाकामा दक्षिणी अमरीका के पश्चिमी भाग मे शुष्क और खारा मरुस्थल है। यह चिली देश के आटाकामा तथा अटाफैगास्टा प्रदेश के अधिकतर भाग और अरजेनटीना के लौस ऐंडीज प्रदेश में फैला है। इसके ऊँचे भाग 'पूना डी अटाकामा' कहे जाते हैं। यह विच्छिन्न पर्वतीय भाग है। जगह जगह ज्वालामुखी पर्वत है तथा अन्य भागो मे शोरा मिलता है। यह मरुस्थल ऐंडीज पर्वत तथा समुद्रतट के बीच में पडता है। ऊँचाई ३,००० से ५,००० फुट तक है। इसका क्षेत्रफल १,०८४ वर्गमील है। पूर्वी भाग मे कभी कभी वर्षा हो जाती है जिससे हिमाच्छादित ऊँची चोटियो से सोते निकलकर कुछ उर्वरापन ला देते हैं। यो अधिकतर भाग पठारी है जो जाडे में शुष्क और अत्यधिक ठढा रहता है तथा गरमी मे वर्षा और आँधी से प्रभावित होता है। पश्चिमी ढाल पर विस्तृत, छिछले स्थल तथा सीढीनुमा ढाले मिलती हैं जो तट पर बालू मे मिल जाते हैं। यह भाग शोरा के लिये बहुत प्रसिद्ध है। यह ३-४ शताब्दी पहले तक शुष्क तथा बेकार समझा जाता था, परतु अब यहाँ खनिज पदार्थों का भाडार पाया गया है। यहाँ ताँबा, चाँदी, सीसा, कोबल्ट, निकेल तथा बोरैक्स मिलते हैं। यहाँ पर खानो मे काम करनेवाले लोगो की काफी बस्तियाँ हैं। यहाँ की ताँबा और चाँदी की खाने विश्वप्रसिद्ध हैं।

[नृ० कु० सिं०]

आड़ू या सतालू (अग्रेजी नाम पीच, वानस्पतिक नाम प्रूनस पर्सिका, प्रजाति प्रूनस, जाति पर्सिका, कुल रोज़ेसी) का उत्पत्तिस्थान चीन है। कुछ वैज्ञानिको का मत है कि यह ईरान मे उत्पन्न हुआ। यह पर्णपाती वृक्ष है। भारतवर्ष के पर्वतीय तथा उपपर्वतीय भागो में इसकी सफल खेती होती है। ताजे फल खाए जाते हैं तथा फल से फलपाक (जैम), जेली और चटनी बनती है। फल मे चीनी की मात्रा पर्याप्त होती है। जहाँ जलवायु न अधिक ठढी, न अधिक गरम हो, १५° फा० से १००° फा० तक के तापवाले पर्यावरण मे, इसकी खेती सफल हो सकती है। इसके लिये सबसे उत्तम मिट्टी बलुई दोमट है, पर यह गहरी तथा उत्तम जलोत्सरणवाली होनी चाहिए।

आडू

भारत के पर्वतीय तथा उपपर्वतीय भागो मे इसकी सफल खेती होती है।

आड दो जाति के होते हैं—(१) देशी, उपजातियाँ लार्ज आगरा, पेशावरी तथा हरदोई, (२) विदेशी, उपजातियाँ बिडविल्स अर्ली, डबल फ्लावरिंग, चाइना फ्लैट, डाक्टर हाग, फ्लोरिडाज ग्रोन, अलबर्टा आदि। प्रजनन कलिकायन द्वारा होता है। आडू के मूल वृत्त पर रिंग बडिंग अप्रैल या मई मास मे किया जाता है। स्थायी स्थान पर पौधे १५ से १८ फुट की दूरी पर दिसबर या जनवरी के महीने में लगाए जाते हैं। सडे गोबर की खाद या कपोस्ट ८० से १०० मन तक प्रति एकड प्रति वर्ष नवबर या दिसबर में देना चाहिए। जाडे में एक या दो तथा ग्रीष्म ऋतु में प्रति सप्ताह सिंचाई करनी चाहिए। सुदर आकार तथा अच्छी वृद्धि के लिये आडू के पौधे की कटाई तथा छँटाई प्रथम दो वर्ष भली भाँति की जाती है। तत्पश्चात् प्रति वर्ष दिसबर मे छँटाई की जाती है। जून में फल पकता है। प्रति वृक्ष ३० से ५० सेर तक फल प्राप्त होते हैं। स्तभछिद्रक (स्टेम बोरर), आडू अगमारी (पीच ब्लाइट) तथा पर्णपरिकुचन (लीफ कर्ल) इसके लिये हानिकारक कीडे तथा रोग हैं। इन रोगो से इस वृक्ष की रक्षा कीटनाशक द्रव्यो के छिडकाव (स्प्रे) द्वारा सुगमता से की जा सकती है। [ज० रा० सिं०]

आतानक विश्लेषण (टेसर ऐनालिसिस) का मुख्य उद्देश्य ऐसे नियमो की रचना और अध्ययन है, जो साधारणतया सहचर (कोवैरिएंट) रहते हैं, अर्थात् यदि हम नियामको की एक सहति से दूसरी में जायँ तो ये नियम ज्यो के त्यो बने रहते है। इसीलिये अवकल ज्यामिति के लिये यह विषय महत्वपूर्ण है।

इस विषय के पुराने विचारको मे गाउस, रीमान और क्रिस्टॉफेल के नाम उल्लेखनीय हैं। किंतु इस विषय को व्यवस्थित रूप रिची और लेवी चिविता ने दिया। इन्होंने इस विषय का नाम बदलकर निरपेक्ष चलन कलन (ऐब्सोल्यूट डिफरेंशियल कैल्कुलस) कर दिया। इस विषय का प्रयोग अनुप्रयुक्त गणित की बहुत सी शाखाओ में होता है।

रचनाएँ भाषावैविध्य के कारण कुछ विभिन्न लगती हुई भी, अधिकतर सामजस्य एव एकरूपता के ही उदाहरण प्रस्तुत करती है।

आदिग्रथ को कभी कभी 'गुरुवानी' मात्र भी कह देते है, किंतु अपने भक्तों की दृष्टि में वह सदा शरीरी गुरुस्वरूप है। अत गुरु के समन उसे स्वच्छ रेशमी वस्त्रो मे वेष्ठित करके चाँदनी के नीचे किसी ऊँची गद्दी पर 'पधराया' जाता है, उसपर चँवर ढलते है, पुष्पादि चढाते है, उसकी आरती उतारते हैं तथा उसके सामने नहा धोकर जाते और श्रद्धापूर्वक प्रणाम करते हैं। कभी कभी उसकी शोभायात्रा भी निकाली जाती है तथा सदा उसके अनुसार चलने का प्रयत्न किया जाता है। ग्रथ का कभी साप्ताहिक तथा कभी अखड पाठ करते है और उसकी पक्तियो का कुछ उच्चारण उस समय भी किया करते हैं जब कभी बालको का नामकरण किया जाता है, उसे दीक्षा दी जाती है तथा विवाहादि के मगलोत्सव आते हैं अथवा शवसस्कार किए जाते हैं। विशिष्ट छोटी बडी रचनाओ के पाठ के लिये प्रात काल, सायकाल, शयनवेला जैसे उपयुक्त समय निश्चित है और यद्यपि प्रमुख सगृहीत रचनाओ के विषय प्रधानत दार्शनिक सिद्धात, आध्यात्मिक साधना एव स्तुतिगान से ही सबध रखते जान पडते है, इसमे सदेह नही कि 'आदि-ग्रथ' द्वारा सिखो का पूरा धार्मिक जीवन प्रभावित है। गुरु गोविंदसिंह का एक सग्रहग्रथ 'दसवाँ ग्रथ' नाम से प्रसिद्ध है जो 'आदिग्रथ' से पृथक् एव सर्वथा भिन्न है।

स०ग्र०—डकन ग्रीनलेस दि गॉस्पेल ऑव दि गुरु ग्रथसाहब, खुशवतसिंह 'दि सिक्ख्स', परशुराम चतुर्वेदी उत्तरी भारत की सत परपरा। [प० च०]

आदित्य प्रथम चोड यह चोडराज विजयपाल का पुत्र था जो ८७५ ई० के लगभग सिंहासनारूढ हुआ। ८९० ई० के लगभग उसने पल्लवराज अपराजितवर्मन् को परास्त कर तोडमडलम् को अपने राज्य मे मिला लिया और इस प्रकार पल्लवो का अत हो गया। आदित्य परम शैव था और उसने शिव के अनेक मदिर बनाए। उसके मरने तक उत्तर मे कलहस्ती और मद्रास तथा दक्षिण मे कावेरी तक का सारा जनपद चोडो के शासन मे आ चुका था। [ओ० ना० उ०]

आदित्यवर्धन यह थानेश्वर के भूति वश का राजा था, श्रीकठ (थानेश्वर) के राजवश के प्रतिष्ठाता नरवर्धन का पौत्र। आदित्यवर्धन ने मगधराज दामोदर गुप्त की पुत्री महासेना गुप्ता को ब्याहा जिससे वर्धनो की मर्यादा बढी। आदित्यवर्धन के सबध मे इससे अधिक कुछ पता नही। उसके बाद उसका पुत्र और हर्ष का पिता प्रभाकरवर्धन थानेश्वर का राजा हुआ। विद्वानो का अनुमान है कि आदित्यवर्धन ने छठी स०ई० के अत मे राज किया होगा। [ओ०ना०उ०]

आदित्यसेन राजा माधवगुप्त का पुत्र, उत्तर गुप्तो मे सभवत सबसे शक्तिमान्। हर्ष के जीवनकाल मे तो वह चुपचाप सामत ही बना रहा, पर उसके मरते ही उसने अपनी स्वतत्रता घोषित कर सम्राटो के विरुद्ध शस्त्रास्त्र धारण किए। उसके अश्वमेध के अनुष्ठान से प्रकट है कि उसने कुछ भूमि भी निश्चय जीती होगी, और लेख मे उसे "आसमुद्र पृथ्वी का स्वामी" कहा भी गया है। उसका शासनकाल तो निश्चित नही है, पर कम से कम ६७२ ई० तक वह निश्चय जीवित रहा। आदित्यसेन की मृत्यु के बाद उत्तरकालीन गुप्तो की राजधानी विचलित हो चली। [ओ० ना० उ०]

आदिपाप ईसाई धर्म का एक मूलभूत सिद्धात है कि सब मनुष्य रहस्यात्मक रूप से प्रथम मनुष्य आदम के पाप के भागी बनकर 'ओरिजिनल सिन' अर्थात् आदिपाप की दशा में जन्म लेते है, जिससे वे अपने ही प्रयत्न द्वारा मुक्ति प्राप्त करने मे असमर्थ है। ईसा ने आदम के उस पाप का तथा मानव जाति के अन्य सब पापो का प्रायश्चित्त करके मुक्ति का द्वार खोल दिया।

बाइबिल के प्रथम ग्रथ मे इसका वर्णन किया गया है। आदम ने ईश्वर के आदेश का उल्लघन किया और फलस्वरूप ईश्वर की मित्रता खो बैठा। इसी कारण मानव जाति की दुर्गति हुई और ससार मे मृत्यु, दुख और विषयवासना का प्रवेश हुआ (दे० आदम)। फिर भी यहूदी धर्म मे आदिपाप की शिक्षा नही मिलती। इसका सर्वप्रथम प्रतिपादन बाइबिल के उत्तरार्ध मे हुआ है (दे० रोमियो के नाम सत पौल्स का पत्र, अध्याय ५)। आदिपाप का तत्व इसमे है कि आदम के पाप के कारण समस्त मानव जाति ईश्वर की मित्रता से वचित हुई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य मृत्यु, दुख और विषयवासना के शिकार बन गए, यद्यपि कैथोलिक गिरजा उन लोगो का विरोध करता है जो लूथर, कैलविन आदि के समान सिखलाते हैं कि आदिपाप के फलस्वरूप मनुष्य का स्वभाव पूर्ण रूप से दूषित हुआ है।

स०ग्र०—जे० फ्यूडोर्फर एर्बसुडे यूनिट एर्वोद फीम एपोस्टल पौल्स, मस्टर, आइ० डबल्यू०, १९२७। [का० बु०]

आदिपुराण जैनधर्म का एक प्रख्यात पुराण। जैनधर्म के अनुसार ६३ महापुरुष बडे ही प्रतिभाशाली, धर्मप्रवर्तक तथा चरित्रसपन्न माने जाते हैं और इसीलिये ये 'शलाकापुरुष' के नामसे विख्यात है। ये २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९प्रतिवासुदेव तथा ९ बलदेव (या बलभद्र) हैं। इन शलाकापुरुषो के जीवनप्रतिपादक ग्रथो को श्वेताबर लोग 'चरित्र' तथा दिगबर लोग 'पुराण' कहते है। आचार्य जिनसेन ने इन समग्र महापुरुषो की जीवनी काव्यशैली मे सस्कृत मे लिखने के विचार से इस 'महापुराण' का आरभ किया, परतु ग्रथ की समाप्ति से पहले ही उनकी मृत्यु हो गई। फलत अवशिष्ट भाग को उनके शिष्य आचार्य गुणभद्रने समाप्त किया। ग्रथ के प्रथम भाग मे ४८ पर्व और १२ सहस्र श्लोक हैं जिनमे आद्य तीर्थंकर ऋषभनाथ की जीवनी निबद्ध है और इसलिये 'महापुराण' का प्रथमार्ध 'आदिपुराण' तथा उत्तरार्ध उत्तरपुराण के नाम से विख्यात है। आदिपुराण के भी केवल ४२ पर्व पूर्ण रूप से तथा ४३वे पर्व के केवल तीन श्लोक आचार्य जिनसेन की रचना है और अतिम पर्व (१६२० श्लोक) गुणभद्र की कृति है। इस प्रकार आदि-पुराण के १०,३८० श्लोको के कर्ता जिनसेन स्वामी हैं। हरिवश पुराण के रचयिता जिनसेन आदिपुराण के कर्ता से भिन्न तथा बाद के हैं, क्योकि इन्होने जिनसेन स्वामी की स्तुति अपने ग्रथ के मगलश्लोक मे की है।

आदिपुराण कवि की अतिम रचना है। जिनसेन का लगभग श० स० ७७० (=८४८ ई०) मे स्वर्गवास हुआ। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष (प्रथम) का वह राज्यकाल था। फलत आदिपुराण की रचना का काल नवी शताब्दी का मध्य भाग है। यह ग्रथ काव्य की रोचक शैली मे लिखा गया है।

स०ग्र०—नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास, बबई, १९४२, डा० विटरनित्स हिस्ट्री ऑव इडियन लिटरेचर, द्वितीय खड, कलकत्ता, १९३३। [ब० उ०]

आदिवराह 'वराह' शब्द का उल्लेख ऋग्वेद (१।६१।७, ८।७७।१०) तथा अथर्ववेद (८।७।२३) मे हुआ है। एक मत्र मे रुद्र को स्वर्ग का वराह कहा गया है (ऋ० १।११४।५)। विभव या अवतार का प्रथम निर्देश तैत्तिरीय सहिता तथा शतपथ ब्राह्मण मे मिलता है, जहाँ प्रजापति के मत्स्य, कूर्म तथा वराह रूप धारण करने का स्पष्ट उल्लेख है। ऋग्वेद के अनुसार विष्णु ने सोमपान कर एक शत महिषो को तथा क्षीरपाक को ग्रहण कर लिया जो वस्तुत 'एमुष्' नामक वराह की सपत्ति थे। इद्र ने इस वराह को भी मार डाला (ऋक् ८।७७।१०)। शतपथ के अनुसार इसी 'एमुष्' नामक वराह ने जल के ऊपर रहनेवाली पृथ्वी को ऊपर उठा लिया (१४।१।२।११)। तैत्तिरीय सहिता के अनुसार यह वराह प्रजापति का और पुराणो के अनुसार विष्णु का रूप था। इस प्रकार वराह अवतार वैदिक निर्देशो के ऊपर स्पष्टत आश्रित है।

भारतीय कला मे वराह की मूर्ति दो प्रकार की मिलती है—विशुद्ध पशुरूप मे तथा मिश्रित रूप मे। मिश्रण केवल सिर के ही विषय में मिलता है तथा अन्य भाग मनुष्य के रूप में ही उपलब्ध होते है। पशुमूर्ति का नाम केवल वराह या आदिवराह है तथा मिश्रित रूप का नाम नृवराह है। उत्तर-भारत में पशुमूर्ति या आदिवराह की मूर्ति अनेक स्थानों पर मिलती है। इनमे सबसे प्रख्यात तोरमाण द्वारा निर्मित 'एरण' मे लाल पत्थर की वराहमूर्ति मानी जाती है। मानवाकृति मूर्ति के ऊपर कभी कभी छोटे छोटे मनुष्यों के भी रूप उत्कीर्ण मिलते हैं, जो देव, असुर तथा ऋषि के प्रतिनिधि

मोम, चीनी, इत्यादि। उदाहरणस्वरूप दो योग नीचे दिए जाते हैं—

लाल महताबी के लिये

पोटैसियम परक्लोरेट	२	भाग
स्ट्रांशियम नाइट्रेट	६	भाग
गधक	२	भाग
लाह	२	भाग

हरी महताबी के लिये

पोटैसियम परक्लोरेट	६	भाग
बेरियम नाइट्रेट	३०	भाग
गधक	३	भाग
लाह	२	भाग

आतिशबाजी के लिये खोल साधारणत कागज का बनता है। मजबूत खोल के लिये कागज पर लेई या सरेस पोतकर उसे गोल डडे पर लपेटा जाता है। मुंह सँकरा करने के लिये गीली अवस्था मे ही एक ओर डोर कसकर बाँध दी जाती है। जिन खोलो को बारूद का बल नही सहन करना पडता उनको बिना लेई के ही लपेटते हैं। अतिम परत पर जरा सी लेई लगा देते हैं। जो मसाला भरा जाता है उसे कूट कूटकर खूब कस दिया जाता है और अत में पलीता (शीघ्र आग पकडनेवाली डोर, जो पानी में गाढी सनी बारूद मे डुबाने और निकालकर सुखाने से बनती है) लगा दिया जाता है।

बाणो के लिये खूब पुष्ट खोल बनाया जाता है। जली गैसो के नीचे-मुँह जोर से निकलने के कारण ही बाण ऊपर चढता है। इसलिय आवश्यक है कि बाण के भीतर बारूद जोर से जले। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये बाण मे भरी बारूद के बीच में एक पोली शक्वाकार जगह छोड दी जाती है जिससे बारूद का जलता हुआ क्षेत्रफल अधिक रहे। जलती गैसो के निकलने के लिये मिट्टी की टोटी लगाई जाती है जिसमें खोल स्वय न जलने लगे। बाण के माथे पर, जो सबसे अत मे जलता है, एक टोप लगा दिया जाता है, जिसमें रगबिरगी फुलझडियाँ रहती है।

फुलझडियाँ अलग भी बनती और बिकती हैं। इनमे अन्य मसालो के अतिरिक्त लोहे की रेतन रहती है। इस्पात की रेतन से फूल अधिक श्वेत होते हैं। काजल डालने से बडे फूल बनते है। जस्ते तथा ऐल्यमिनियम का भी प्रयोग किया जाता है। एक नुसखा यह है

पोटैसियम परक्लोरेट	३०	भाग
बेरियम नाइट्रेट	५	भाग
ऐल्युमिनियम	२२	भाग
लाह	३	भाग

चर्खी मे बाँस का ऐसा ढाँचा रहता है जो अपनी धुरी पर नाच सके और इसकी परिधि पर आमने सामने बाण की तरह बारूद-भरी दो नलिकाएँ रहती है।

बाँस के ढाँचे पर बँधी महताबियो से सभी प्रकार के चित्र और अक्षर बनाए जा सकते है।

स०ग्र०—ए० सेट एच० ब्रॉक पायरोटेकनिक्स (१९२२)।

आतबारा मिस्र की नील नदी की अतिम सहायक नदी है जो अबिसीनिया पठार से निकलकर १,२६६ किलोमीटर बहने के पश्चात् नील में आकर मिलती है। स्वय इसकी भी अनेक सहायक नदियाँ हैं जिनमें कुछ पर्याप्त बडी भी हैं। इन नदियो मे जुलाई तथा अगस्त के महीनो मे वर्षा के पानी से बहुत बाढ आ जाती है, परतु अक्टूबर के पश्चात् इनका पानी बहुत कम हो जाता है। आतबारा अपन साथ लगभग १,००,००,००० से १,५०,००,००० मेट्रिक टन रेत नील मे लाकर गिराती है। [न० ला०]

आत्मकथा अपनी कहानी। आपबीती लिखना आसान नही है। कुछ लोगो का यह विचार है कि केवल उन्ही की आत्मकथाएँ होनी चाहिए जिनका जीवन पर्याप्त घटनाबहुल रहा हो या महान् अथवा आदर्श हो। आत्मकथा के लिये आवश्यक गुण है (१) उत्तम स्मृति, (२) अपने प्रति तटस्थता, (३) स्पष्टवादिता, (४) अति आत्मसमर्थन अथवा अति सकोच, दोनो प्रकार की मानसिक स्थितियो से मुक्त होना, (५) अपने जीवन की घटनाओ को चुनते समय, कौन सी घटनाएँ सार्वजनिक महत्व की होगी, इसका विवेक, अर्थात् कलात्मक दृष्टि और (६) आकर्षक निवेदनशैली। जीवन मे ऐसी कई घटनाएँ होती है, और महान् व्यक्तियो के जीवन मे तो वे और भी तीव्रता से अनुभव की जाती हैं, जो कथनीय होती है, जिनमे किसी प्रकार के रागद्वेष का अतिरेक होता है अथवा काम क्रोधादि वृत्तियो का निरकुश प्रदर्शन होता है। उन्हें टालकर जो जीवनियाँ लिखी जाती हैं, वे बनावटी जान पडती है, उनमें सहजता का लोप हो जाता है। उन्हे पूरी तरह कहने का नैतिक साहस बहुत कम व्यक्तियो मे होता है। क्योकि तब तो एक ओर आत्मनिरीक्षण और आत्मविश्लेषण तथा दूसरी ओर आत्मप्रेम के बीच द्वद्व पैदा होता है। इस कशमकश को ससार की कुछ महानतम आत्मकथाओ मे बराबर उत्कटता से अनुभव किया गया और व्यक्त भी किया गया है। ये आत्मकथाएँ साहित्य की अभिराम रचनाएँ और कलाकृतियाँ बन गई है।

इसके विपरीत कई आत्मकथाएँ केवल घटनाओ की तालिका या बाह्य व्यावहारिक जीवन के नीरस विवरणो की सूची मात्र हो जाती हैं। उनमें बहुत कम ऐसे अश पाए जाते है जिनमे पाठक भी उतना ही रसोद्बोधन अनुभव कर सके। परतु इस प्रकार के ग्रथो का ऐतिहासिक मूल्य होता है। वे हमारी जानकारी तो बढाती ही है। इब्नबतूता, युवानच्वाँग, अलबेरूनी, फाहियान, निकोलाओ मानूची, निकितिन, नैनसिंग, तेनसिंग आदि के यात्रा या अभियानवर्णन इस प्रकार की आत्मकथाओ और सस्मरणो के उत्तम उदाहरण हैं। पत्रो और डायरियो के सग्रह भी इसी कोटि में आते है। यद्यपि उनमे आत्मीयता अधिक होती है। गेटे ने इसीलिये अपनी जीवनी का नाम रखा था 'डिश्टुग उड वाहहीट' (कविता और सत्य)। पेप्स ने अग्रेजी में डायरियाँ बडी सुदर लिखी।

विदेशी लेखको की श्रेष्ठ आत्मकथाओ में एक साहित्यविधा आत्मस्वीकृति के साहित्य की होती है। इसी के अतर्गत सत अगस्तिन (३४५–४३० ई०) के 'कन्फेशस', रूसो के 'कन्फेशस' (उसकी मृत्यु के बाद १७८१–८८ मे प्रकाशित), डी क्विन्सी की १८२१ में प्रकाशित 'एक अँगरेज अफीमची की आत्मकथा' (कन्फेशस ऑव ऐन ओपियम ईटर) आदि आत्मकथाएँ आती हैं। अल्फ्रे दि मुसे की प्रसिद्ध फ्रेंच आत्मजीवनी, आस्कर वाइल्ड की 'डी प्रोफंडिस', लियो तोल्स्तोइ की आत्मकथा के रूप में लिखित डायरी, आद्रे जीद के जूर्नाल, एथिल मैनिन के 'कन्फेशस ऐंड इप्रेशस' इसी कोटि मे आते है। इनके तीन प्रकार सभव होते हैं (१) ऐसी कथाएँ जो एक कमरे मे इकट्ठा लोगो को कोई आदमी पूर्वसस्मरणो के रूप मे कहे, (२) ऐसी बातें कहना जो केवल मित्रो से एकात में कही जा सके, (३) ऐसी बाते जिन्हे मित्रो से भी कहने में लज्जा अनुभव हो। कुछ आत्मकथाएँ इसलिये मनोरजक होती हैं कि उनके द्वारा किसी व्यक्ति के आत्मिक अनुभव प्रकट होते हैं, यथा जार्ज फाक्स क्वेकर या प्रिंस क्रोपात्कन या कार्डिनल निवमैन या स्टीवेन स्केडर की आत्मकथाएँ। कुछ आत्मकथाएँ इसलिये प्रसिद्ध होती है कि वे किसी प्रसिद्ध व्यक्ति की या उनसे सबधितो की होती हैं, यथा बाबरनामा (१४८३–१५३०), हिटलर का 'मीन काफ', मादमोजेल द रेमूसेत (नेपोलियन की प्रेयसी), चर्चिल, जार्ज सैंड, अन्ना पावलोवा, मेरी बाशकीर्तसेफ, बोदलेयर, सोमरसेट माम आदि के सस्मरण, डायरियाँ, नोटबुक इत्यादि।

यूरोप की प्राचीन आत्मकथाओ में प्रसिद्ध आत्मकथा रोमन विजेता जूलियस सीज़र की है। आधुनिक काल की रोचक आत्मकथाओ में जर्मन सम्राट् विलहेम कैसर की आत्मकथा है जिसके पहले अध्याय का शीर्षक है 'दस आइ डिसमिस बिस्मार्क' (मैंने बिस्मार्क को बर्खास्त कर दिया)।

हिंदी के प्राचीन साहित्य मे आत्मकथात्मक सामग्री यत्र तत्र ही मिलती है। जैन कवि बनारसीदास की 'अर्धकथा' हिंदी की प्रथम क्रमबद्ध आत्मकथा मानी जाती है, यद्यपि यह पद्यात्मक है। भारतेंदु हरिश्चद्र, स्वामी दयानद, अबिकादत्त व्यास, स्वामी श्रद्धानद, महावीरप्रसाद द्विवेदी, गुलाबराय की आत्मकथाएँ इस धारा की प्रारभिक और प्रयोगात्मक रचनाएँ मानी जा सकती हैं। सबद्ध रूप से लिखी गई हिंदी की आत्म-

पूर्वी जर्मनी के सोलनहाफन नामक स्थान पर महासरट (जुरासिक) काल की महीन दानेवाली चूने की चट्टानें है। किसी समय में यह पत्थर लीथो की छपाई के लिये खोदा जाता था। इन पत्थरो का पूरा निरीक्षण किया जाता था, इसलिये इनपर अकित सभी चिह्नो की जाँच होती रहती थी। सन् १८६१ के प्रारभ में एक पत्थर में पर (फेदर) की एक छाप मिली। इससे कर्मचारी बहुत चकित हुए। इसके कुछ समय बाद ही पखो से सुसज्जित एक प्राणी का ककाल पत्थर के बीच में मिला। यह पापनहाइम नामक गाँव के पास लागेनलयाइमर हार्ट में मिला। पापनहाइम में डाक्टर अर्न्स्ट हावर्लाइन रहते थे। उन्होने अपने सग्रह के लिये दोनो शिलाएँ ले ली। तत्पश्चात् हरमन फॉन मेयर ने परवाली छाप का नाम आर्कियोप्टैरिक्स लियोग्राफिका रखा। इस नाम का अर्थ है 'लियो के पत्थर का पुराना पर'। दूसरी शिला पर अकित जो ककाल सहित पर का चिह्न था वह किसी दूसरे आद्यपक्षी का था। उसमे खोपडी स्पष्ट नही थी, परतु पख और पूंछ की छाप बहुत अच्छी थी।

यह दूसरी छाप एक पहेली बन गई। इससे ज्ञात हुआ कि प्राणी कौए की नाप का रहा होगा। इसका ककाल सरीसृप के ढग का था, जबडो में दाँत थे तथा अँगुलियो मे नख थे, परतु हाथ के बदले निश्चित रूप से पर थे। वैज्ञानिको ने उसे आद्यपक्षी के अवशेष के रूप मे पहचाना। इससे कम विकसित पक्षी का कोई चिह्न इससे पहले नही मिला था। इस पत्थर को बाद में ब्रिटिश म्यूज़ियम ने प्राप्त कर लिया।

सन् १८७७ में आर्कियोप्टैरिक्स का एक दूसरा प्रतिरूप एक पत्थर निकालने की खान मे मिला, जो पहले स्थान से लगभग दस मील दूर थी। इस स्थान का नाम ब्लूमनबर्ग था। इस छाप मे, जो दो पत्थरो में सुरक्षित है, खोपडी का चिह्न भी है और सब बातो में यह लदनवाले नमूने से अच्छी है। इन पत्थरो को बर्लिन के नाटुरकुडे म्यूज़ियम ने खरीद लिया।

आर्कियोप्टैरिक्स के पत्थरो की प्राप्ति के पश्चात् इनका अध्ययन प्रारभ हुआ। इनके अध्ययन के लगभग ३६ प्रयास अब तक हो चुके है। अतिम प्रयास ब्रिटिश म्यूज़ियम (नैचुरल हिस्ट्री विभाग) के सचालक सर गैविन डी बियर ने सन् १६४५ में किया। उन्होने इस अध्ययन के लिय एक्स-रे तथा अल्ट्रावायलेट किरणो का भी प्रयोग किया।

सर गैविन के अध्ययन ने निम्नलिखित बातो की पुष्टि की है १ लदन म्यूजियम के जीवाश्मो की करोटि (खोपडी) मे अब तक जितनी हड्डियो की गणना की गई थी उससे वे अधिक है, २ इस अविकसित पक्षी का मस्तिष्क बहुत कुछ सरीसृप के मस्तिष्क की तरह था, ३ इसके कशेरुक (वर्टेब्रा) के सिरे या तो चपटे है या छिछले प्याले के आकार के, अर्थात् उभयावतल (ऐफिसीलस) है, ४ उरोस्थि नाव के आकार की और कट (कील)-विहीन है, कही मासपेशियो के जुडन के चिह्न भी नही है। यदि पख आधुनिक उडनेवाली चिडियो की भाँति होते तो उनमें उरकूट होता, या माशपेशियो के जुडने के लिये उभरे निशान होते। इससे पता चलता है कि आर्कियोप्टैरिक्स उडनेवाली चिडिया नही थी, केवल सरकनेवाली चिड़िया थी।

आर्कियोप्टैरिक्स के सरीसृपीय लक्षण निम्नलिखित है १ इसकी हड्डियाँ खोखली या वायुमय नही है, २ कशेरुका की बनावट तथा जोड दोनो सरीसृप जैसे है, ३. पूंछ लबी है और २० कशेरुको की बनी है, ४ अगले और पिछले पैरो की रचना सरीसृप के पैरो जैसी है और अँगुलियो में नख है, ५ जबडो में दाँत है, ६ पसलियाँ पतली है और उनमें अकुश प्रवर्ध (असिनेट प्रोसेसेज) नही होते।

आर्कियोप्टैरिक्स के पक्षीवाले लक्षणो में निम्नलिखित प्रमुख है १ पर, २ विगाखक (फरकुला) नामक अस्थि उपस्थित है, ३ पैर की पहली अँगुली पीछे की ओर है और अन्य तीन इसके विरोध में दूसरी ओर है, जैसा

आद्यविहग

पत्थरो के भीतर प्राप्त हड्डियो के जीवाश्म। आद्यविहग (आर्किऑर्निस) आद्यपक्षी (आर्कियोप्टैरिक्स) का निकट सबधी था। ये दोनो सरीसृपो तथा पक्षियो के बीच की कडी है। (ब्रिटिश म्यूज़ियम से)

आत्महत्या के लिये अनेक उपायो का प्रयोग किया जाता है जिनमे मुख्य ये है फाँसी लगाना, डूबना, गला काट डालना, तेजाब आदि द्रव्यों का प्रयोग, विषपान तथा गोली मार लेना। उपाय का प्रयोग व्यक्ति की निजी स्थिति तथा साधन की सुलभता के अनुसार किया जाता है।

विभिन्न देशो में तथा स्त्री पुरुषो द्वारा अपनाए जानेवाले आत्महत्या के विविध साधनों में प्रचुर मात्रा में अतर पाया जाता है। उदाहरणार्थ, भारत में डूबकर तथा इग्लैंड में फाँसी लगाकर की जानेवाली आत्महत्याओ की सख्या सबसे अधिक होती है। उसी प्रकार भारत में स्त्रियाँ, सात में छ, डूबकर आत्महत्या का मार्ग अपनाती हैं जब कि पुरुषो में डूबने तथा फाँसी लगाने की सख्या प्राय समान है।

जीवन में रुचि का अभाव, पारस्परिक विद्वेष, गृहकलह, निराश्रय, शारीरिक या मानसिक उत्पीडन तथा आर्थिक सकट आत्महत्या के प्रमुख कारण होते हैं। स्त्रियो में आत्महत्या का कारण अधिकाश रूप में द्वेष या कलह पाया जाता है।

आत्महत्या का प्रयत्न—भारतीय दडविधान की धारा ३०९ के अतर्गत आत्महत्या का प्रयत्न दडनीय अपराध है जिसको तीन श्रेणियो में विभक्त किया जा सकता है—(१) घोर मानसिक या शारीरिक यत्रणा की स्थिति में आत्महत्या का प्रयत्न, (२) विना किसी अभिप्राय या उद्देश्य के एकाएक भावावेश में किया गया प्रयत्न तथा निश्चित भावना से विषपान द्वारा आत्महत्या का प्रयत्न। अतिम प्रयत्न विशेष रूप से दडनीय है। [श्री० अ०]

आत्मा स्वरूप ही आत्मा है। भारतीय दार्शनिको में चार्वाक अथवा लोकायत सप्रदाय देह को ही आत्मा समझते है, अर्थात् भौतिक देह के अतिरिक्त आत्मा नामक किसी पृथक् पदार्थ की सत्ता वे नही मानते। इस सप्रदाय में बृहस्पतिप्रणीत एक प्राचीन सूत्रग्रथ था, जिसके विभिन्न सूत्रो का उद्धरण अति प्राचीन विभिन्न साप्रदायिक दार्शनिक ग्रथों में मिलता है। उसमें आत्मा के विषय में सूत्र है—"चैतन्यविशिष्ट काय पुरुष", अर्थात् चैतन्यविशिष्ट शरीर ही आत्मा है। उसमे यह भी लिखा है कि चैतन्य या विज्ञान मदशक्तिवत् पृथ्वी आदि भूतो के सघर्ष से उद्भूत होता है। इस मत के अनुसार स्थूल देह की निवृत्ति, अर्थात् मृत्यु ही 'अपवर्ग' नाम से प्रसिद्ध है। चार्वाक सप्रदाय के अनुरूप भिन्न भिन्न दार्शनिक सप्रदाय थे, जिनका मत या सिद्धात बृहस्पति के सिद्धात के अनुरूप था। ये भी लोकायत सप्रदाय के अतर्गत थे। इनमें से किसी के मत के अनुसार इद्रिय ही आत्मा है, किसी के मत के अनुसार प्राण आत्मा है और किसी के मत में मन आत्मा है। इन मतो के अनुसार आत्मा अनित्य अर्थात् उत्पत्तिविनाशशील पदार्थ है।

न्यायवैशेषिक मत के अनुसार आत्मा नित्य पदार्थ है और देह, इद्रिय तथा मन से पृथक् है। ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुखदुख, धर्माधर्म और भावनाख्य सस्कार आत्मा के विशेष गुण हैं। इस मत में आत्मा नित्य और विभु-द्रव्य-विशेष है। मन नित्य और अणु-द्रव्य-विशेष है। आत्माएँ बहुत हैं और मन भी बहुत हैं। प्रत्येक आत्मा के साथ निज-निज पृथक् मनो का अनादिकालीन 'अजनयोग' नाम का सबध है। प्रत्येक आत्मा में और प्रत्येक मन में विशेष (वैशेषिक मतानुसार) है। यह विशेष ही इनका परस्पर व्यावर्तक धर्म है। विलक्षण आत्ममन-सयोग से ज्ञानादि क्रिया का उद्भव होता है। इनके मूल में है मन की क्रिया। उसके भी मूल में धर्माधर्मात्मक अदृष्ट का व्यापार है। आत्मज्ञान के उदय से धर्माधर्म के विनष्ट हो जाने पर विलक्षण आत्ममन-सयोग होने नही पाता। हाँ, अनादि सयोग रह जाता है। उस समय आत्मा मुक्त हो जाती है एव उसमें ज्ञानादि विशेष गुणो का आत्यतिक उपरम हो जाता है। आपात दृष्टि से यह स्थिति शिलाशकलवत् प्रतीत होती है, परतु वास्तव में ऐसा है नहीं। इस सिद्धात के अनुसार आत्मा सत् मात्र है, अनित्य नही है। शून्यवत् प्रतीत होने पर भी यह शून्य नहीं है।

साख्य मत के अनुसार आत्मा या पुरुष नित्य चित्स्वरूप द्रष्टा या साक्षिमात्र है। वह अपरिणामी या कूटस्थ है। परतु प्रकृति त्रिगुणात्मिका और नित्य परिणामशीला है। प्रकृति मे सदृश परिणाम निरतर चल रहा है। सृष्टिकाल मे गुणवैषम्य के कारण विसदृश परिणाम भी चलता है। आत्मा अनादिकाल से अविवेकवश प्रकृति के जाल में फँसी है। स्वय गुणत्रय से स्वरूपत पृथक् होने पर भी अपने को पृथक् नही समझती। इस अविवेक का नाम है अज्ञान।

विवेकख्याति होने पर इस अज्ञान की निवृत्ति होती है। सप्रज्ञात समाधियो मे अतिम अस्मिता नाम की जो समाधि है वही ऐश्वर्य की अवस्था है। इसके पश्चात् विवेकख्याति के साथ साथ क्रमश निरोधभूमि मे प्रवेश होता है। विवेकख्याति पूर्ण होने पर पुरुष या आत्मा स्वरूप मे प्रतिष्ठित होती है और सत्त्व अव्यक्त या प्रलीन होता है। सत्त्व प्रलीन न होकर पुरुष के बराबर शुद्धि लाभ भी कर सकता है, परतु यह वैकल्पिक स्थिति है। साधारण जीवो के लिये यह स्थिति नहीं है। लौकिक व्यवहार मे आत्मा अस्मितामात्र रूप है, परतु वस्तुत आत्मस्वरूप में अस्मिता नही है। आत्मा विशुद्ध चिन्मात्र है। देश, काल, आकार आदि से इसका परिच्छेद नही होता।

मीमासा मतानुसार आत्मा अहप्रतीति का विषय है और यह सुख दुख उपाधियो से विरहितस्वरूप नित्य वस्तु है। किसी किसी वेदातप्रस्थान मे प्राण ही आत्मा कहा गया है। अभाव ब्रह्मवादी 'असदेव इदमग्र आसीद्', इस प्रकरण के अनुसार आत्मा को असत्स्वरूप समझते हैं। यह एक प्रकार से देखा जाय तो शून्य भूमि की बात है। पाचरात्रगण जो कुछ कहते हैं उससे किसी किसी का मत है कि पाचरात्र के अनुसार आत्मा अव्यक्त तत्व है, पराप्रकृति ही वासुदेव है, जीवसमुदाय उनके स्फुलिंगवत् कण हैं। पराप्रकृति का परिणाम स्वीकृत होने के कारण यह मत किसी अश में अव्यक्त का ही प्रतिपादक मालूम होता है। किसी किसी वेदातविद् विद्वान् के अनुसार 'सदेव इदमग्र आसीत्', इस श्रौत वचन के अनुसार आत्मा सत् शब्दवाच्य है। वैयाकरण लोग आत्मा को पश्यती रूप शब्दब्रह्म मानते हैं। षोडश कलात्मक पुरुष में यह पश्यती अमृतकला या षोडशीकला कही जाती है। उसका स्वरूपसाक्षात्कार होने पर ही अधिकार की निवृत्ति होती है। विज्ञानवादी बौद्ध मत से क्षणिक विज्ञान सन्तान ही आत्मा है। बौद्ध मत नैरात्म्यप्रतिपादक होने के कारण उसमे उपचार से चित्त को ही आत्मा कहा जाता है। अनादि काल से निर्वाणकालपर्यंत स्थायी एक प्रवाह में पडी हुई विज्ञान की धारा ही वैभाषिक दृष्टि से आत्मपदवाच्य है। योगाचार मत मे यह चित्त अथवा आत्मा आलय-विज्ञानात्मक है।

वैभाषिक मत मे चित्त या विज्ञान अहकार का आश्रय होने से आत्मपदवाच्य है। विज्ञानस्कध का तात्पर्य है प्रवाहपतित विज्ञानो की समष्टि। चाक्षुष आदि पाँच प्रकार तथा मानस अर्थात् प्रात्यक्षिक निर्विकल्प विज्ञान की धारा चित्त या आत्मा के नाम से प्रथित है। स्फुटार्था मे है—'अहकारमनिश्रय आत्मा इति आत्मवादिन सकल्पयति। चित्तमहकारनिश्रय आत्मेति उपचर्यते।'

तत्र मत में आत्मा विश्वोत्तीर्ण प्रकाशात्मक है। किसी किसी आम्नाय के अनुसार (कुलाम्नाय) आत्मा विश्वमय है। त्रिकादि दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुसार आत्मा विश्वोत्तीर्ण होकर भी विश्वमय है। वे लोग कहते हैं कि एक ही चिदात्मरूपी परमेश्वर के स्वातत्र्य से भिन्न भिन्न दार्शनिक भूमियाँ अवभासित हुई हैं। भूमिगत वचित्र्य के मूल में स्वातत्र्य के प्रच्छादन तथा उन्मीलन का तारतम्य है। वस्तुत सर्वत्र आत्मा की व्याप्ति अखडित ही है। जिन लोगो की दृष्टि परिच्छिन्न है वे परमात्मा की इच्छा से ही तत्तदश में अभिमानविशिष्ट होते हैं। जब तक परशक्तिपात या पूर्ण अनुग्रह न हो तब तक महाव्याप्ति नहीं होती और अखडताबोध भी नही आता।

शाकर वेदात के दृष्टिकोण से एकजीववाद तथा नानाजीववाद दोनों का ही विवरण मिलता है। एकजीववाद के अनुसार अविद्याशबल ब्रह्म ही जीव है। यह जीव सब शरीरो में एक ही है, तथापि एक व्यक्ति के अनुभव के विषय में दूसरे व्यक्ति का अनुसधान नही होता। इसका कारण है अविद्या का वैचित्र्य। 'एक एव हि भूतात्मा' इत्यादि वचन एकजीववाद

आनदगिरि की टीका इनके प्रौढ पाडित्य का निदर्शन है। इन्होने आचार्य के उपनिपद्भाष्यो पर भी अपनी टीकाएँ निर्मित की है। इस प्रकार अद्वैत वेदात के इतिहास मे शकराचार्य के साथ व्याख्याता रूप मे आनदगिरि का नाम अमिट रूप से सवद्ध है। [व० उ०]

आनंदपाल शाहिय नृपति प्रसिद्ध जयपाल का पुत्र। जयपाल ने महमूद गजनी से हारकर, वेटे को गद्दी सौंप, ग्लानिवश अग्निप्रवेश किया था। आनदपाल भी चैन से राज न कर सका और महमूद की चोटें उसे भी सहनी पडी। १००८ई० मे महमूद ने भारत पर फिर आक्रमण किया। पिता ने महमूद से लडते समय देश की विदेशियो से रक्षा के लिये हिंदू राजाओ को सेनासहित आमन्त्रित किया था। वही नीति इस सकट के समय आनदपाल ने भी अपनाई। उसने देश के राजाओ को आमत्रित किया, उनकी सेनाएँ आई भी, पर महमूद के असाधारण सैन्यसचालन के सामने वे टिक न सकी और मैदान हमलावर के हाथ रहा। इस पराजय के बाद भी आनदपाल छ वर्ष तक प्राचीन शाहियो की गद्दी पर रहा, पर गजनी के हमलो से शीघ्र ही उसका राज्य टूक टूक हो गया। उसके वेटे त्रिलोचनपाल और पोते भीमपाल ने भी महमूद से लोहा लिया, पर शाहियो की शक्ति निरतर क्षीण होती गई और भीमपाल की युद्ध मे मृत्यु के बाद उस प्रसिद्ध शाही राजकुल का १०२६ ई० मे अत हो गया जिसने गुप्त सम्राटो द्वारा मालवा और गुजरात से विदेशी कहकर निकाल दिए जाने पर भी हिंदूकुश और कावुल के सिंहद्वार पर सदियो भारत की रक्षा की थी। [ओ० ना० उ०]

आनंदवर्धन अलकारशास्त्र के प्रसिद्ध आलोचक आनदवर्धन काश्मीर के निवासी थे। 'देवीशतक' के उल्लेखानुसार इनके पिता का नाम 'नोण' था। कल्हण के कथनानुसार ये काश्मीर के राजा अवतिवर्मा (८५५ ई०—८८४ ई०) के सभापडितो में मुख्य थे। राजशेखर (९००—ई० ९२५ ई०) के द्वारा 'काव्यमीमासा' मे निर्दिष्ट किए जाने से भी इनका समय नवी शताब्दी का मध्यकाल निश्चित किया जाता है। इनकी प्रख्यात रचनाएँ, जिनका निर्देश इन्होने स्वय किया है, चार हैं—(१) **देवीशतक** भगवती त्रिपुरसुदरी की स्तुति मे निवद्ध एक शतक काव्य , (२) **अर्जुनचरित** अर्जुन के शौर्य का वर्णनपरक महाकाव्य, (३) **विषमवाण लीला** प्राकृत मे निवद्ध कामदेव की लीलाओ का वर्णन करनेवाला काव्य, और (४) **ध्वन्यालोक** जिसने सस्कृत के आलोचनाजगत् मे युगातर प्रस्तुत कर दिया। आनदवर्धन की सस्कृत साहित्यशास्त्र को महती देन है काव्य मे 'ध्वनि' सिद्धात का उन्मीलन तथा प्रतिष्ठापन। इनकी मान्यता है कि काव्य मे वाच्य अर्थ के अतिरिक्त एक सुदरतम अर्थ की भी सत्ता रहती है जो 'प्रतीयमान' अर्थ के नाम से अथवा स्फोटवादी वैयाकरणो की परपरा के अनुसार 'ध्वनि' नाम से व्यवहृत होता है। इसी ध्वनि के स्वरूप का तथा प्रभेदो का विवेचन ध्वन्यालोक का मुख्य उद्देश्य है। इस ग्रथ के तीन भाग हैं—पद्यवद्ध कारिका, गद्यमयी वृत्ति तथा नाना छदो मे निवद्ध उदाहरण। उदाहरण तो निश्चित रूप से प्राचीन कवियो के काव्य से तथा लेखक की साहित्यिक रचनाओ से उद्धृत किए गए हैं, परतु कारिका तथा वृत्ति के लेखक के व्यक्तित्व के विषय मे आलोचको मे गहरा मतभेद है। कतिपय नव्य आलोचक आनदवर्धन को केवल वृत्ति का रचयिता तथा 'सहृदय' नामक किसी अज्ञात लेखक को कारिका का निर्माता मानकर वृत्तिकार को कारिकाकार से भिन्न मानते हैं, परतु सस्कृत की मान्य प्राचीन परपरा, राजशेखर, कुतक, महिम भट्ट, क्षेमेद्र तथा हेमचद्र के प्रामाण्य पर, आनदवर्धन को ही कारिका और वृत्ति दोनो का रचयिता माना जाता रहा है। आलोचको का वहुमत भी इसी पक्ष की ओर है। अलकारशास्त्र के इतिहास मे आनदवर्धन ने सर्वप्रथम इस शास्त्र को युक्ति तथा तर्क के आधार पर व्यवस्था प्रदान की और व्यजना जैसी नवीन वृत्ति की कल्पना कर काव्य के अतस्तत्व का मार्मिक विश्लषण किया। इसीलिये सस्कृत के आलोचकवृद आनद को 'साहित्य-सिद्धात-सरणि का प्रतिष्ठापक' मानते है।

स०ग्र०—पी० वी० काणे, हिस्ट्री आव अलकारशास्त्र, ववई, १९५५, वलदेव उपाध्याय भारतीय साहित्यशास्त्र (दो भाग), काशी, स० २००७, एस० के० दे० . हिस्ट्री ऑव सस्कृत पोएटिक्स (दो भाग), कलकत्ता।

आनंदवाद उस विचारधारा का नाम है जिसमे आनद को ही मानव जीवन का मूल लक्ष्य माना जाता है। विश्व की विचारधारा मे आनदवाद के दो रूप मिलते है। प्रथम विचार के अनुसार आनद इस जीवन में मनुष्य का चरम लक्ष्य है और दूसरी धारा के अनुसार इस जीवन मे कठोर नियमो का पालन करने पर ही भविष्य मे मनुष्य को परम आनद की प्राप्ति होती है।

प्रथम धारा का प्रधान प्रतिपादक ग्रीक दार्शनिक एपिक्यूरस (३४१-२७० ई० पू०) था। उसके अनुसार इस जीवन मे आनद की प्राप्ति सभी चाहते हैं। व्यक्ति जन्म से ही आनद चाहता है और दु ख से दूर रहना चाहता है। सभी आनद अच्छे हैं, सभी दु ख बुरे हैं। किंतु मनुष्य न तो सभी आनदो का उपभोग कर सकता है और न सभी दु खो से दूर रह सकता है। कभी आनद के बाद दु ख मिलता है और कभी दु ख के बाद आनद। जिस कष्ट के बाद आनद मिलता है वह कष्ट उस आनद से अच्छा है जिसके बाद दु ख मिलता है। अत आनद को चुनने मे सावधानी की आवश्यकता है। आनद के भी कई भेद होते हैं जिनमे मानसिक आनद शारीरिक आनद से श्रेष्ठ है। आदर्श रूप मे वही आनद सर्वोच्च है जिसमे दु ख का लेश भी न हो, किंतु समाज और राज्य द्वारा निर्धारित नियमो की अवहेलना करके जो आनद प्राप्त होता है वह दु ख से भी बुरा है, क्योकि मनुष्य को उस अवहेलना का दड भोगना पडता है। सदाचारी और निरपराध व्यक्ति ही अपनी मनोवृत्ति को सयमित करके आचरण के द्वारा सच्चा आनद प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से एपिक्यूरस का आनदवाद विषयोपभोग की शिक्षा नही देता, अपितु आनदप्राप्ति के लिये सद्गुणो को अत्यावश्यक मानता है। एपिक्यूरस का यह मत कालातर मे हेय दृष्टि से देखा जाने लगा क्योकि इसके माननेवाले सद्गुणो की उपेक्षा करके विषयोपभोग को ही प्रधानता देने लगे। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में जान लाक् (१६३२-१७०४), डेविड ह्यूम (१७११-१७७६), वेथम (१७३९-१८३२) तथा जान स्टुअर्ट मिल (१८०६-१८७३) इस विचारधारा के प्रवल समर्थको मे से थे। मिल के उपयोगितावाद के अनुसार वह आनद जिससे अधिक से अधिक लोगो का अधिक से अधिक लाभ हो, सर्वश्रेष्ठ है। केवल परिमाण के अनुसार ही नही, अपितु गुण के अनुसार भी आनद के कई भेद हैं। मूर्ख और विद्वान् के आनद में गुणगत भेद है, परिमाणगत नही। पा का आनद सद्गुणी के आनद से हीन है अत लोगो को सद्गुणी वनक सच्चा आनद प्राप्त करना चाहिए।

भारत मे चार्वाक दर्शन ने परलोक, ईश्वर आदि का खडन करते हुए इस ससार मे ही उपलब्ध आनद के पूर्ण उपभोग को प्राणिमात्र का कर्तव्य माना है। काम ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। सभी कर्तव्य काम की पूर्ति के लिये किए जाते है। वात्स्यायन ने धर्म और अर्थ को काम का सहायक माना है। इसका तात्पर्य यह है कि सामाजिक आचरणो के सामान्य नियमो (धर्म) का उल्लघन न करते हुए काम की तृप्ति करना ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

दूसरी विचारधारा के अनुसार ससार के नश्वर पदार्थो के उपभोग से उत्पन्न आनद नाशवान् है। अत प्राणी को अविनाशी आनद की खोज करनी चाहिए। इसके लिये हमे इस ससार का त्याग करना पड तो वह भी स्वीकार होगा। उपनिषदो में सर्वप्रथम इस विचारधारा का प्रतिपादन मिलता है। मनुष्य की इद्रियो को प्रिय लगनेवाला आनद (प्रेय) अत मे दु ख देता है। इसलिये उस आनद की खोज करनी चाहिए जिसका परिणाम कल्याणकारी हो (श्रेय)। आनद का मूल आत्मा मानी गयी है और आत्मा को आनदरूप कहा गया है। विद्वान् ससार मे भटकने की अपेक्षा अपने आपमे स्थित आनद को ढूँढते हैं। आनदावस्था जीव की पूर्णता है। अपनी शुद्ध आत्मा को प्राप्त करने के बाद आनद अपने आप प्राप्त हो जाता है। उपनिषदो के दर्शन को आधार मानकर चलनेवाले सभी धार्मिक और दार्शनिक सप्रदायो मे आनद को आत्मा की चरम अभिव्यक्ति माना गया है। शकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निवार्क, चैतन्य और तात्रिक सप्रदाय तथा अरविंद दर्शन किसी न किसी रूप में आनद को आत्मा की पूर्णता का रूप मानते हैं।

वौद्ध दर्शन में ससार को दु खमय माना गया है। दु खमय ससार को त्यागकर निर्वाणपद प्राप्त करना प्रत्येक वौद्ध का लक्ष्य है। निर्वाणावस्था को आनदावस्था और महासुख कहा गया है। जैन सप्रदाय मे भी

है। आदर्श के प्रत्यय मे मूल्य का प्रत्यय निहित है। मूल्य के अस्तित्व की वावत हम क्या कह सकते है?

कुछ लोग मूल्य को मानव कल्पना का पद ही देते है। जो वस्तु किसी कारण से हमें आकर्पित करती है, वह हमारी दृष्टि में मूल्यवान् या भद्र है। इसके विपरीत अफलातून के विचार मे प्रत्यय या आदर्श ही वास्तविक अस्तित्व रखते है, दृष्ट वस्तुओ का अस्तित्व तो छाया मात्र है। एक तीसरे मत के अनुसार, जिसका प्रतिनिधित्व अरस्तू करता है, आदर्श वास्तविकता का आरभ नही, अपितु 'अत' है। 'नीति' के आरभ मे ही वह कहता है कि सारी वस्तुएँ आदर्श की ओर चल रही है।

मूल्यो मे उच्च और निम्न का भेद होता है। जब हम कहते है कि क ख से उत्तम है, तव हमारा आशय यही होता है कि सर्वोत्तम से ख की अपेक्षा क का अतर थोडा है। मूल्य की तुलना का आधार सर्वोत्तम है। इसे नि श्रेयस कहते है। प्राचीन यूनान और भारत के लिये नि श्रेयस या सर्वश्रेष्ठ मूल्य के स्वरूप को समझना ही नीति मे प्रमुख प्रश्न था।

२ नि श्रेयस का स्वरूप--नि श्रेयस का सर्वोच्च आदर्श के स्वरूप के सवध मे सभी इससे सहमत है कि यह चेतना से सवद्ध है, परतु ज्योही हम जानना चाहते है कि चेतना मे कौन सा अश साध्यमूल्य है, त्योही मतभेद प्रस्तुत हो जाता हे। कुछ लोग कहते है कि सुख का उपभोग ऐसा मूल्य है। कुछ ज्ञान, वुद्धिमत्ता, प्रेम या शिवसकल्प को यह पद देते हैं। कुछ इस विकल्प मे एकवाद को छोडकर अनेकवाद की शरण लेते है और कहते है कि एक से अधिक वस्तुएँ साध्यमूल्य है। किसी वस्तु के साध्यमूल्य होने या न होने का निर्णय करने के लिये डाक्टर मूर ने निम्नलिखित सुझाव दिया है "कल्पना करो कि दो विकल्पो मे पूर्ण समानता है, सिवाय इस भेद के कि एक विशेप वस्तु एक विप्लव में विद्यमान हे और दूसरे मे नही या एक में दूसरे की अपेक्षा अधिक मात्रा मे विद्यमान है। इन दोनो विप्लवो मे तुम्हारी वुद्धि किसके अस्तित्व को अधिक उपयुक्त समझती है? जो वस्तु ऐसी स्थिति मे एक विप्लव को दूसरे से अधिक उपयुक्त बनाती है, वह साध्यमूल्य है।"

३ आदर्शवाद की मान्य धारणाएँ—मूल्यो का अस्तित्व, उनमे श्रेष्ठता का भेद और सर्वश्रेष्ठ मूल्य का अस्तित्व आदर्शवाद की मौलिक धारणा है। इससे सवद्ध कुछ अन्य धारणाएँ भी आदर्शवादियो के लिये मान्य हैं। इनमें से हम यहाँ तीन पर विचार करेंगे (१) सामान्य का पद विशेष से ऊँचा है। प्रत्येक वुद्धिवत वुद्धिवत होने के नाते भद्र मे भाग लेने का अधिकारी है। (२) आध्यात्मिक भद्र का मूल्य प्राकृतिक भद्र से अधिक है। (३) वुद्धिवत प्राणी (मनुष्य) मे भद्र को सिद्ध करने की क्षमता है। मनुष्य स्वाधीन कर्ता हे।

इन तीनो धारणाओ पर तनिक विचार की आवश्यकता है।

(१) स्वार्थ और सर्वार्थ--सामान्य और विशेप का भेद स्वार्थवाद और सर्वार्थवाद के विवाद मे प्रकट होता है। भोगवाद (सुखवाद) ने स्वार्थ से आरभ किया, परतु शीघ्र ही इसके ध्येय मे सर्वार्थ ने स्थान प्राप्त कर लिया। मनुष्य का अतिम उद्देश्य अधिक से अधिक सख्या का अधिक से अधिक उपभोग है। दूसरी ओर काट ने भी कहा कि निरपेक्ष आदेश की दृष्टि में सारे मनुष्य एक समान साध्य है, कोई मनुष्य भी साधन मात्र नही। मृत्यु की तरह नैतिक जीवन सभी भेदो को मिटा देता है। कोई मनुष्य कर्तव्य से ऊपर नही, कोई अधिकारो से वचित नही।

(२) आध्यात्मिक और प्राकृतिक मूल्य—इस विषय मे काट का कथन प्रसिद्ध है 'जगत् मे और इसके परे भी हम शिवसकल्प के अतिरिक्त किसी वस्तु का भी चिंतन नही कर सकते, जो विना किसी शर्त के शुभ या भद्र हो।' जान स्टुअर्ट मिल जैसे सुखवादी ने भी कहा, तृप्त सुअर से अतृप्त सुकरात होना उत्तम है। मिल ने यह नही देखा कि इस स्वीकृति मे वह अपने सिद्धात से हटकर आदर्शवाद का समर्थन कर रहे है। सुकरात मे ऐसा आध्यात्मिक अग है जो सुअर में विद्यमान नही।

टामस हिल ग्रीन ने विस्तार से यह वताने का यत्न किया है कि आधुनिक नैतिक भावना प्राचीन यूनान की भावना से इन दो वातो में वहुत आगे वढी है—मनुष्य और मनुष्य मे भेद कम हो गया है, और जीवन मे आध्यात्मिक पक्ष अग्रसर हो रहा है।

(३) नैतिक स्वाधीनता—काट के विचार मे मानव प्रकृति मे प्रमुख अश 'नैतिक भावना' का है, वह अनुभव करता है कि कर्तव्यपालन की माँग शेप सभी माँगो से अधिक अधिकार रखती हे, नैतिक आदेश 'निरपेक्ष आदेश' है। इस स्वीकृति के साथ नतिक स्वाधीनता की स्वीकृति भी अनिवार्य हो जाती हे। 'तुम्हे करना चाहिए, इसलिये तुम कर सकते हो।' योग्यता के अभाव मे उत्तरदायित्व का प्रश्न उठ ही नही सकता।

४ श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर और श्रेष्ठतम—यहाँ एक कठिन स्थिति प्रस्तुत हो जाती है नैतिक आदर्श श्रेष्ठतम की सिद्धि है या उसकी ओर चलते जाना है? जिस अवस्था को हम श्रेष्ठतम समझते है, उसे प्राप्त करने पर उसे श्रेष्ठतम ही पाते हैं। जहाँ कही भी हम पहुँचे, त्रुटि और अपूर्णता बनी रहती है। स्वय काट ने कहा है कि हमारा अतिम उद्देश्य पूर्णता है, और इसकी सिद्धि के लिये अनत काल की आवश्यकता है। कुछ विचारक तो कहते है कि अपूर्णता का कुछ अश रहना ही चाहिए। सॉर्टो अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'नैतिक मूल्य' मे कहता है 'कल्पना करो कि सारे मूल्यो की सिद्धि हो गई है। ऐसा होने पर नीति का क्या वनेगा? आगे वढने के लिये कोई आदश रहेगा ही नही। सफलता सारे प्रयत्न का अत कर देगी और इस तरह सिद्धिप्राप्त नैतिक आदर्श नैतिक जीवन को पूर्ण करने मे समाप्त कर देगा। इस कठिनाई के कारण ब्रैडले ने कहा कि नैतिक जीवन मे आतरिक विरोध है सारे नैतिक प्रयत्न का अत इसकी अपनी हत्या है।

स०ग्र०—प्लेटो रिपब्लिक, अरस्तू एथिक्स, काट मेटाफिजिक्स ऑव एथिक्स, मूर एथिक्स। [दी० च०]

आदिग्रंथ सिखो का पवित्र धर्मग्रथ जिसे उनके पाँचवें गुरु अर्जुनदेव ने सन् १६०४ ई० मे सगृहीत कराया था और जिसे सिख धर्मानुयायी 'गुरुग्रथ साहिव जी' भी कहते एव गुरुवत् मानकर समानित किया करते है। 'आदिग्रथ' के अतर्गत सिखो के प्रथम पाँच गुरुओ के अतिरिक्त उनके नवे गुरु और १४ 'भगतो' 'शेखो' की वानियाँ आती है। ऐसा कोई सग्रह सभवत गुरु नानकदेव के समय से ही तैयार किया जाने लगा था और गुरु अमरदास के पुत्र मोहन के यहाँ प्रथम चार गुरुओ के पत्रादि सुरक्षित भी रहे, जिन्हे पाँचवे गुरु ने उनसे लेकर पुन क्रमवद्ध किया तथा उनमे अपनी और कुछ 'भगतो' की भी वानियाँ समिलित करके सवको भाई गुरुदास द्वारा गुरुमुखी मे लिपिबद्ध करा दिया। भाई वन्नो ने फिर उसी की प्रतिलिपि कर उसमे कतिपय अन्य लोगो की भी रचनाएँ मिला देनी चाही जो पीछे स्वीकृत न हो सकी और अत मे दसवें गुरु गोविंदसिह ने उसका एक तीसरा 'बीड' (सस्करण) तैयार कराया जिसमे, नवम गुरु की कृतियो के साथ साथ, स्वय उनके भी एक 'सलोक' को स्थान दिया गया। उसका यही रूप आज भी वर्तमान समझा जाता है। इसकी केवल एकाध अतिम रचनाओ के विपय मे ही यह कहना कठिन है कि वे कव और किस प्रकार जोड दी गई।

'ग्रथ' की प्रथम पाँच रचनाएँ क्रमश (१) 'जपुनीसाणु' (जपुजी), (२) 'सोदरु' पहला १, (३) 'सुणिवडा' महला १, (४) 'सो पुरपु' महला ४ तथा (५) सोहिला महला १ के नामो से प्रसिद्ध है और इनके अनतर 'सिरीराग' आदि ३१ रागो मे विभक्त पद आते है जिनमे पहले सिखगुरुओ की रचनाएँ उनके (महला १ महला २ आदि के) अनुसार सगृहीत है। इनके अनतर भगतो के पद रखे गए है, किंतु वीच वीच में कही कही 'वारहमासा', 'थिंती', 'दिनरैणि', 'घोडीआँ', 'सिद्ध गोष्ठी' 'करहले', 'विरहडे', 'सुखमनी' आदि जसी कतिपय छोटी वडी विशिष्ट रचनाएँ भी जोड दी गई है जो साधारण लोकगीतो के काव्यप्रकार उदाहृत करती है। उन रागानुसार क्रमवद्ध पदो के अनतर सलोक सहस कृती, 'गाथा' महला ५, 'फुनहे' महला ५, चउवोले महला ५, सवैए सीमुख वाक् महला ५ और मुदावणी महला ५ को स्थान मिला है और सभी के अत मे एक रागमाला भी दे दी गई है। इन कृतियो के वीच वीच मे भी यदि कही कवीर एव शेख फरीद के 'सलोक' सगृहीत है तो अन्यत्र किन्ही ११ पदो द्वारा निर्मित वे स्तुतियाँ दी गई हैं जो सिख गुरुओ की प्रशसा में कही गई है और जिनकी सख्या भी कम नही है। 'ग्रथ' में सगृहीत

९० ६ लाख मत पाकर भी केवल १८४ स्थान ही प्राप्त कर सका। इसी तरह १९४५ के चुनाव मे मजूर दल को १ २ करोड मतो द्वारा ३९२ स्थान मिले, जब कि अनुदार दल (कजरवेटिव्ज) को ८० ५ लाख मतो द्वारा केवल १८९। इसके अतिरिक्त यदि हम उन व्यक्तियो की सख्या गिने (क) जो केवल एक ही उम्मीदवार के खडे होने के कारण अपने मताधिकार का उपयोग नही कर सके, (ख) जिनका प्रतिनिधि निर्वाचन मे हार गया और उनके दिए हुए मत व्यर्थ गए, (ग) जिन्होने अपने मत का उपयोग इसलिये नही किया कि कोई ऐसा उम्मीदवार नही मिला जिसकी नीति का वे समर्थन करते, (घ) जिन्होने अपना मत किसी उम्मीदवार को केवल इसलिये दिया कि उसमे सबसे कम दोष थे, तो यह प्रतीत होगा कि वर्तमान निर्वाचन-प्रणाली वास्तव मे जनता को प्रतिनिधित्व देने मे अधिकतर असफल रहती है। इन्ही दोषो का निवारण करने के लिये आनुपातिक प्रतिनिधान की विभिन्न विधियाँ प्रस्तुत की गई है।

आनुपातिक प्रतिनिधान का सामान्य विचार १९वी शताब्दी के मध्य मे उत्पन्न हुआ, जब कि उपयोगितावाद के प्रभाव के अतर्गत सुधारको ने यात्रिक उपायो द्वारा लोकसस्थाओ को अधिक सफल बनाने का प्रयास किया। आनुपातिक प्रतिनिधान का विचार पहले पहल १७५३ मे फ्रासीसी राष्ट्र-विधान-सभा मे प्रस्तुत किया गया। परतु उस समय इस दिशा मे कोई कदम नही उठाया गया। १८२० मे फ्रासीसी गणितज्ञ गरगौन (Gorgonne) ने राजनीतिक गणित पर एक लेख 'निर्वाचन तथा प्रतिनिधान' के शीर्षक से ऐनल्स ऑव मैथेमेटिक्स मे छापा। उसी वर्ष इग्लैंड निवासी टामस राइट हिल नामक एक अध्यापक ने एकल सक्रमणीय प्रणाली (सिंगिल ट्रासफरेबिल वोट) से मिलती जुलती एक योजना प्रस्तुत की और उसका एक गैरसरकारी सस्था के चुनाव मे प्रयोग भी हुआ। १८३९ मे इस विधि का सार्वजनिक प्रयोग दक्षिणी आस्ट्रेलिया के नगर एडिलेड मे हुआ था। स्विट्जरलैंड मे १८४२ मे जिनीवा की राज्यसभा के समुख विक्तोर कार्नासिदेराँ ने सूचीप्रणाली (लिस्ट सिस्टम) का प्रस्ताव रखा।

१८४४ मे सयुक्त राज्य, अमरीका मे टामस गिलपिन ने 'लघुसख्यक जातियो का प्रतिनिधान' (आन दि रिप्रेजेंटेशन ऑव माइनारिटीज टु ऐक्ट विद दि मेजारिटी इन एलेक्टेड असेंबलीज) नाम की एक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमे उन्होने भी आनुपातिक प्रतिनिधान की सूचीप्रणाली का वर्णन किया। १२ वर्ष के उपरात डेनमार्क मे वहाँ के अर्थमत्री कार्ल आड्रे के द्वारा आयोजित निर्वाचनप्रणाली के आधार पर मतपत्र का प्रयोग करते हुए एकल सक्रमणीय पद्धति के आधार पर प्रथम सार्वजनिक निर्वाचन हुआ। परतु सामान्यत यह प्रणाली टामस हेयर के नाम से जोडी जाती है। टामस हेयर इग्लैंड निवासी थे जिन्होने अपनी दो पुस्तको अर्थात् मशीनरी ऑव गवर्नमेंट (१८५६) तथा ट्रीटाइज आन दि एलेक्शन ऑव रिप्रेजेंटेटिव्ज (१८५९) मे विस्तारपूर्वक इस प्रणाली का उल्लेख किया। और जब जान स्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक रिप्रेजेंटेटिव गवर्नमेंट मे इस प्रस्तुत प्रणाली को 'राज्यशास्त्र तथा राजनीति मे सबसे महत्वपूर्ण सुधार' कहकर प्रशसा की तब विश्व के राजनीतिज्ञो का ध्यान इसकी ओर आकृष्ट हुआ। टामस हेयर के मौलिक आयोजन मे समय समय पर विभिन्न परिवर्तन होते रहे हैं।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व विभिन्न रूपो मे अपनाया गया है, तथापि इन सबमे एक समानता अवश्य है, जो इस प्रणाली का एक अनिवार्य अग भी है कि इस प्रणाली का प्रयोग बहुसदस्य निर्वाचनक्षेत्रो (मल्टी-मेंबर कास्टीटुएसी) के बिना नही हो सकता।

आनुपातिक प्रतिनिधान प्रणाली के दो मुख्य रूप है, अर्थात् सूची-प्रणाली तथा एकल सक्रमणीय मतप्रणाली। सूचीप्रणाली कुछ हेर फेर के साथ यूरोप के अधिकतर देशो मे प्रचलित है। सामान्यत इस प्रणाली के अतर्गत विभिन्न राजनीतिक दलो की सूचियो को उनके प्राप्त किए गए मतो के अनुसार सदस्य दिए जाते है। इस प्रणाली की व्याख्या सबसे उत्तम रूप से जर्मनी के १९२० के वाइमार विधान के अतर्गत जर्मन ससद के निम्न सदन रीश्टाग की निर्वाचन पद्धति से की जा सकती है जिसे बाडेन आयोजना के नाम से सबोधित किया जाता है। इस आयोजन के अनुसार रीश्टाग की कुल सख्या नियत नही थी वरन् निर्वाचन में डाले गए मतो की कुल सख्या के अनुसार घटती बढती रहती थी। प्रत्येक ६०,००० मतो पर, जिसे कोटा कहते थे, एक प्रतिनिधि चुना जाता था। जर्मनी को ३५ चुनाव-क्षेत्रो मे बाँट दिया गया था और इनको मिलाकर १७ चुनाव भागो मे। प्रत्येक राजनीतिक दल को तीन प्रकार की सूचियाँ प्रस्तुत करने का अधिकार था स्थानीय सूची, प्रदेशीय सूची तथा राष्ट्रीय सूची। प्रत्येक मतदाता अपना मत प्रतिनिधि को न देकर किसी न किसी राजनीतिक दल को देता था। प्रत्येक निर्वाचनक्षेत्र मे मतगणना के उपरात प्रत्येक राजनीतिक दल को स्थानीय सूची के ऊपर प्रथम उम्मीदवार से उतने प्रतिनिधि दे दिए जाते थे जितने कुल प्राप्त मतो के अनुसार कोटा के आधार पर मिले; तदुपरात प्रत्येक प्रदेश मे स्थानीय क्षेत्रो के शेष मतो को जोडकर फिर प्रत्येक दल को प्रदेशीय सूची से विशेष सदस्य दे दिए जाते थे और इसी प्रकार सारे प्रदेशीय क्षेत्रो के शेष मतो को फिर जोडकर राष्ट्रसूची से कोटा के अनुसार विशष सदस्य और इसपर भी यदि शेष मत रह जायँ तो ३०,००० मतो से अधिक पर एक विशेष सदस्य उस दल को और मिल जाता था। इस प्रकार बाडेन-प्रणाली ने आनुपातिक प्रतिनिधान के इस सिद्धात को कि 'कोई भी मत व्यर्थ न जाना चाहिए' का तार्किक निष्कर्ष तक पालन किया। इस प्रणाली की सबसे बडी कमी यह है कि मतदाताओ को प्रतिनिधियो के चुनाव मे व्यक्तिगत स्वतत्रता नही होती।

एकल सक्रमणीय मत या हेयर प्रणाली के अनुसार प्रतिनिधियो का निर्वाचन सामान्य सूची द्वारा होता है, निर्वाचन के समय प्रत्येक मतदाता, उम्मीदवारो के नाम के आगे अपनी रुचि के अनुसार १, २, ३, ४ इत्यादि सख्या लिख देता है। गणना से प्रथम चरण कोटा का निष्कर्ष करना है। कोटा को प्राप्त करने के लिये डाले गए मतो की कुल सख्या को निर्वाचन-क्षेत्र के नियत सदस्यो की सख्या मे एक जोडकर, भाग करके, तदुपरात परिणामफल मे एक जोड दिया जाता है, अर्थात्

$$\text{कोटा} = \frac{\text{मतो की कुल सख्या}}{\text{नियत प्रतिनिधि सख्या} + १}$$

सबसे पहले उन उम्मीदवारो को निर्वाचित घोषित किया जाता है जो कोटा प्राप्त कर लेते हैं। यदि इससे समस्त स्थानो की पूर्ति नही होती तब पूर्व-निर्वाचित सदस्यो के कोटा से अधिक मतो को उनके मतदाताओ मे उनकी रुचि के अनुसार बाँट दिया जाता है। यदि इसपर भी स्थानो की पूर्ति नही होती, तब कम से कम मत पाए हुए उम्मीदवार के मतो को तब तक बाँटते रहते हैं जब तक कुल स्थानो की पूर्ति नही हो जाती। अनुभव से प्रतीत होता है कि एकल सक्रमणीय प्रणाली मतदाताओ को निर्वाचन मे स्वतत्रता तथा प्रत्येक समूह को सख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व प्रदान करती है। इसकी यह भी विशेषता है कि राजनीतिक दल निर्वाचन मे अनुचित लाभ नही उठा सकते, परतु आलोचको का कहना है कि यह निर्वाचन सामान्य मतदाताओ की बुद्धि के परे है।

अपने गुणो के कारण आनुपातिक प्रतिनिधित्व का बडी शीघ्रता से प्रचार हुआ है। प्रथम महायुद्ध से पहले भी यूरोप के बहुत से देशो मे सूची-प्रणाली का लोकसभाओ के निर्वाचन मे अधिकतर प्रयोग होने लगा था। डेनमार्क मे तो १८५५ मे ही ससद के उच्च भवन के निर्वाचन के लिये इसका प्रयोग आरभ हो गया था। तदुपरात १८९१ मे स्विट्जरलैंड ने प्रादेशिक ससदो के लिये इसे अपनाया और १८९५ मे बेलजियम ने स्थानीय चुनावो के लिये तथा १८९९ में ससद के लिये। स्वीडेन ने १९०७ मे, डेनमार्क ने १९१५ मे, हालैंड ने १९१७ में, स्विट्जरलैंड ने १९१८ मे और नार्वे ने १९१९ मे इस प्रणाली को पूर्ण रूप से सब चुनावो के लिये लागू कर दिया। प्रथम महायुद्ध के उपरात यूरोप के समस्त नए विधानो मे किसी न किसी रूप मे आनुपातिक प्रतिनिधान को स्थान दिया गया।

अग्रेजी भाषी देशो मे अधिकतर एकल सक्रमणीय प्रणाली का प्रयोग हुआ है। ब्रिटेन मे यह प्रणाली १९१८ से पार्लमेंट के विश्वविद्यालयो के प्रतिनिधियो के निर्वाचन मे इस्तेमाल होती रही है और इग्लैंड के गिर्जे की राष्ट्रसभा के लिये, स्काटलैंड मे १९१९ से शिक्षा सबधी सस्थाओ के लिये, उत्तरी आयरलैंड मे १९२० से पार्लमेंट के दोनो सदनो के सदस्यो के चुनाव के लिये। आयरलैंड के विधान के अनुसार सारे चुनाव इसी प्रणाली द्वारा होते हैं। दक्षिणी अफ्रीका मे इसका प्रयोग सिनेट तथा कुछ स्थानीय चुनावो में होता है। कैनेडा मे भी स्थानीय चुनाव इसी आधार पर होते हैं। सयुक्त-

माने जाते हैं। यह पृथ्वी वराह के दाँतों से लटकती हुई चित्रित की गई है। भूवराह का सबसे प्राचीन तथा सुंदर निदर्शन विदिशा के पास उदयगिरि की चतुर्थ गुफा में उत्कीर्ण मिलता है। यह चद्रगुप्त द्वितीय कालीन ५वीं शताब्दी का है। वराह की अन्य दो मूर्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं (१) यज्ञ-वराह (सिंह के आसन पर ललितासन में उपविष्ट मूर्ति, लक्ष्मी तथा भूदेवी के साथ), (२) प्रलयवराह (वही मुद्रा, पर केवल भूदेवी के संग में) इन मूर्तियों से आदिवराह की मूर्ति सर्वथा भिन्न होती है।

स०ग्र०—बैनर्जी डेवेलपमेंट ऑव हिंदू आइकोनोग्रैफी 'द्वितीय स०' कलकत्ता, १९५६, गोपीनाथ राव हिंदू आइकोनोग्रैफी, मद्रास। [व० उ०]

आदिवासी (ऐबोरिजिनल) सामान्यत 'आदिवासी' शब्द का प्रयोग किसी क्षेत्र के मूल निवासियो के लिये किया जाना चाहिए, परतु ससार के विभिन्न भूभागो में जहाँ अलग अलग धाराओ में अलग अलग क्षेत्रों से आकर लोग बसे हो उस विशिष्ट भाग के प्राचीनतम अथवा प्राचीन निवासियो के लिये भी इस शब्द का उपयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, 'इंडियन' अमरीका के आदिवासी कहे जाते हैं और प्राचीन साहित्य में दस्यु, निषाद आदि के रूप में जिन विभिन्न प्रजातीय समूहो का उल्लेख किया गया है उनके वशज समसामयिक भारत में आदिवासी माने जाते है।

अधिकाश आदिवासी सस्कृति के प्राथमिक धरातल पर जीवनयापन करते हैं। वे सामान्यत क्षेत्रीय समूहो में रहते हैं और उनकी सस्कृति अनेक दृष्टियों से स्वयपूर्ण रहती है। इन सस्कृतियो मे ऐतिहासिक जिज्ञासा का अभाव रहता है तथा ऊपर की थोडी ही पीढियो का यथार्थ इतिहास क्रमश किंवदंतियों और पौराणिक कथाओ में घुल मिल जाता है। सीमित परिधि तथा लघु जनसंख्या के कारण इन सस्कृतियो के रूप मे स्थिरता रहती है, किसी एक काल में होनेवाले सास्कृतिक परिवर्तन अपने प्रभाव एव व्यापकता में अपेक्षाकृत सीमित होते हैं। परपराकेंद्रित आदिवासी सस्कृतियाँ इसी कारण अपने अनेक पक्षों में रुढिवादी सी दीख पडती हैं। उत्तर और दक्षिण अमरीका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, एशिया तथा अनेक द्वीपो और द्वीपसमूहो में आज भी आदिवासी सस्कृतियो के अनेक रूप देखे जा सकते हैं।

भारत में अनुसूचित आदिवासी समूहो की सख्या २१२ है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार आदिवासियो की सख्या १,९१,११,४९८ है। देश की जनसख्या का ५ ३६ प्रति शत भाग आदिवासी स्तर का है।

प्रजातीय दृष्टि से इन समूहो में नीग्रिटो, प्रोटो-आस्ट्रेलायड और मगोलायड तत्व मुख्यत पाए जाते हैं, यद्यपि कतिपय नृतत्ववेत्ताओ ने नीग्रिटो तत्व के सबध में शकाएँ उपस्थित की हैं। भाषाशास्त्र की दृष्टि से उन्हें आस्ट्रो-एशियाई, द्रविड और तिब्बती-चीनी-परिवारो की भाषाएँ बोलने-वाले समूहों में विभाजित किया जा सकता है। भौगोलिक दृष्टि से आदि-वासी भारत का विभाजन चार प्रमुख क्षेत्रो में किया जा सकता है उत्तर-पूर्वीय क्षेत्र, मध्य क्षेत्र, पश्चिमी क्षेत्र और दक्षिणी क्षेत्र।

उत्तर-पूर्वीय क्षेत्र के अतर्गत हिमालय अचल के अतिरिक्त तिस्ता उपत्यका और ब्रह्मपुत्र की यमुना-पद्मा-शाखा के पूर्वी भाग का पहाडी प्रदेश आता है। इस भाग के आदिवासी समूहो में गुरुग, लिंबू, लेपचा, आका, डाफला, अबोर, मिरी, मिशमी, सिंगपो, मिकिर, रामा, कचारी, गारो, खासी, नागा, कुकी, लुशाई, चकमा आदि उल्लेखनीय हैं।

मध्यक्षेत्र का विस्तार उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर जिले के दक्षिणी और राजमहल पर्वतमाला के पश्चिमी भाग से लेकर दक्षिण की गोदावरी नदी तक है। सथाल, मुडा, उराँव, हो, भूमिज, खडिया, बिरहोर, जुआँग, खोड, सवरा, गोड, भील, बैगा, कोरकू, कमार आदि इस भाग के प्रमुख आदिवासी हैं।

पश्चिमी क्षेत्र में भील, ठाकुर, कटकरी आदि आदिवासी निवास करते हैं। मध्य-पश्चिम राजस्थान से होकर दक्षिण में सह्याद्रि तक का पश्चिमी प्रदेश इस क्षेत्र में आता है। गोदावरी के दक्षिण से कन्याकुमारी तक दक्षिणी क्षेत्र का विस्तार है। इस भाग में जो आदिवासी समूह रहते हैं उनमें चेंचू, खोड, रेड्डी, राजगोड, कोया, कोलाम, कोटा, कुरुबा, बडागा, टोडा, काडर, मलायन, मुमुवन, उराली, कनिक्कर आदि उल्लेखनीय हैं।

नृतत्ववेत्ताओ ने इन समूहो में से अनेक का विशद शारीरिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक अध्ययन किया है। इस अध्ययन के आधार पर भौतिक सस्कृति तथा जीवनयापन के साधन, सामाजिक सगठन, धर्म, बाह्य सस्कृति, प्रभाव आदि की दृष्टि से आदिवासी भारत के विभिन्न वर्गीकरण करने के अनेक वैज्ञानिक प्रयत्न किए गए हैं। इस परिचयात्मक रूपरेखा में इन सब प्रयत्नो का उल्लेख तक सभव नही है। आदिवासी सस्कृतियो की जटिल विभिन्नताओ का वर्णन करने के लिये भी यहाँ पर्याप्त स्थान नही है।

यद्यपि प्राचीन काल में आदिवासियो ने भारतीय परपरा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया था और उनके कतिपय रीति रिवाज और विश्वास आज भी थोडे बहुत परिवर्तित रूप में आधुनिक हिंदू समाज में देखे जा सकते हैं, तथापि यह निश्चित है कि वे बहुत पहले ही भारतीय समाज और सस्कृति के विकास की प्रमुख धारा से पृथक् हो गए थे। आदिवासी समूह हिंदू समाज से न केवल अनेक महत्वपूर्ण पक्षो में भिन्न है, वरन् उनके इन समूहो में भी कई महत्वपूर्ण अतर हैं। समसामयिक आर्थिक शक्तियो तथा सामाजिक प्रभावो के कारण भारतीय समाज के इन विभिन्न अगो की दूरी अब क्रमश कम हो रही है।

आदिवासियो की सास्कृतिक भिन्नता को बनाए रखने मे कई कारणो का योग रहा है। मनोवैज्ञानिक धरातल पर उनमें से अनेक में प्रबल 'जन-जाति-भावना' (ट्राइबल फीलिंग) है। सामाजिक-सास्कृतिक-धरातल पर उनकी सस्कृतियो मे अनेक ऐसी सस्थाएँ हैं जो हिंदू समाज की सस्थाओ से भिन्न है, परतु जिनका आदिवासियो की सस्कृतियो के गठन में केंद्रीय महत्व है। असम के नागा आदिवासियो की नरमुडप्राप्ति प्रथा बस्तर के मुरिया की घोटुल सस्था, टोडा समूह में बहुपतित्व, कोया समूह में गोवलि की प्रथा आदि का उन समूहो की सस्कृति में बडा ही महत्वपूर्ण स्थान है। परतु ये सस्थाएँ और प्रथाएँ भारतीय समाज की प्रमुख प्रवृत्तियो के अनुकूल नही हैं। आदिवासियो की सकलन-आखेटक-अर्थव्यवस्था तथा उससे कुछ अधिक विकसित अस्थिर और स्थिर कृषि की अर्थव्यवस्थाएँ अभी भी परपरा-स्वीकृत प्रणाली द्वारा चलाई जाती हैं। परपरा का प्रभाव उन पर नए आर्थिक मूल्यो के प्रभाव की अपेक्षा अधिक है। धर्म के क्षेत्र में जीववाद, जीविवाद, पितृपूजा आदि हिंदू धर्म के समीप लाकर भी उन्हें भिन्न रखते हैं।

आज के आदिवासी भारत में पर-सस्कृति-प्रभावो की दृष्टि से आदि-वासियो के चार प्रमुख वर्ग दीख पडते हैं। प्रथम वर्ग में पर-सस्कृति-प्रभावहीन समूह हैं, दूसरे में पर-सस्कृतियो द्वारा अल्पप्रभावित समूह, तीसरे में पर-सस्कृतियो द्वारा प्रभावित, किंतु स्वतत्र सास्कृतिक अस्तित्ववाले समूह और चौथे वर्ग में ऐसे आदिवासी समूह आते हैं जिन्होने पर-सस्कृतियो का स्वीकरण इस मात्रा मे कर लिया है कि केवल नाममात्र के लिये आदिवासी रह गए हैं।

स०ग्र०—गुह, बी०एस० दि रेशल एलिमेंट्स इन इडियन पापुलेशन (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३९), एल्विन, वेरियर द एबारिजिनल्स (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रस, १९३८), दुबे, श्यामाचरण मानव और सस्कृति (राजकमल, १९५९)। [श्या० दु०]

आद्यपक्षी पक्षियो के विकास का इतिहास अन्य सभी जतुसमूहों के विकास के इतिहास से अधिक दुर्बोध है। जिस काल तक भूविज्ञान पहुँच सका है उसमें आद्यपक्षी का कोई उपयुक्त प्रमाण प्राप्त नही है। प्रादिनूतन के प्रारभिक भाग के (अब से लगभग करोड वर्ष पूर्व के) पक्षियो के जीवाश्म (फॉसिल) बहुत कम प्राप्त हुए हैं। खटीयुग (क्रिटेशस युग) के बाद केवल आठ प्रतिनिधि मिले हैं, परतु सब आदर्शभूत नहीं हैं और अपूर्ण भी हैं।

इनमें सबसे अच्छा अवशेष हैस्पीरोरनिस नामक पक्षी का है। यह तैरने-वाली चिडिया थी। इसके पख छोटे थे। इसकी उरोस्थि (स्टर्नम) पर कूट (अंग्रेजी में कील) था। इक्थियोर्निस नामक पक्षी का अवशेष भी अच्छा है। यह कबूतर के बराबर एक छोटी उडनेवाली चिडिया थी, जिसका उरकूट (कील) बडा था। इन दोनों चिडियो के जबडो पर पूर्णतया विकसित दाँत थे। परतु इन दोनो के जीवाश्मो में से कोई एक भी पक्षिया के विकास पर प्रकाश नही डालता। इनसे यह पता अवश्य चलता है कि उडना इनसे पहले प्रारभ हो चुका था। पक्षियों के विकास के अध्ययन के लिये पुरानी चट्टानो का अध्ययन आवश्यक है।

रूप, रंग, स्वभाव आदि आनुवंशिकता द्वारा कैसा होगा, यह अचानक (दैवात्) निश्चित होता है, यहाँ तक कि माता पिता के गुणों से संतति के बड़े समूहों के बारे में संभाविता सिद्धांत (थ्योरी ऑव प्रॉबेबिलिटीज) के आधार पर कई बातें पहले से बताई जा सकती हैं। वस्तुत यह सब ज्ञान पीछे प्राप्त हुआ। आनुवंशिकता के नियमों का पता विभिन्न प्रकार के मटरों को अनेक बार बोकर मेंडेल नामक पादरी (सन् १८२२-८४) ने लगाया।

मेंडेल के सफल होने का कारण यह था कि उसने मूल प्रश्नों का उत्तर जानने के लिये बड़े सरल प्रयोगों की योजना की और परीक्षित प्राणी की समस्त आनुवंशिकता समझने की अपेक्षा इनी गिनी कुछ विशेषताओं पर ध्यान दिया। मेंडेल ने अपने उद्यान में मटर पर प्रयोग आरंभ किए। मटर के ये पौधे अधिकांश पाइसम सेटाइवम जाति के थे, जो अपनी विभिन्न विशेषताओं के आधार पर कई उपजातियों में विभाजित किए जाते हैं। मेंडेल ने देखा कि (१) कुछ पौधों के बीज गोल होते हैं और कुछ के सिकुड़े हुए, (२) कुछ के बीजों के बीजपत्र (कॉटिलेडन) पीले निकलते हैं और कुछ के हरे, (३) कुछ के बीजों के छिलके श्वेत होते हैं और कुछ के भूरे, (४) कुछ की फलियाँ सब जगह फूली हुई रहती हैं और कुछ की फलियाँ दानों के बीच में संकुचित, (५) कुछ की कच्ची फलियाँ हरी हैं और कुछ की पीली, (६) कुछ के फूल पूरे तने पर सब जगह लगे रहते हैं और कुछ के समस्त फूल शिखा पर एकत्रित रहते हैं, (७) कुछ के तने लंबे होते हैं और कुछ के नाटे। सामान्यत पाइसम सेटाइवम में स्वयनिषेचन पाया जाता है और इस कारण उसकी सभी उपजातियों की विशेषताएँ पीढ़ी प्रति पीढ़ी बनी रहती हैं।

मेंडेल ने एक लंबे पौधे को एक नाटे पौधे से अपरनिषेचित (क्रॉस फर्टिलाइज्ड) किया। इस काम के लिये एक पौधे के पुंकेसर (स्टैमेंस) काटकर फेंक दिए जाते हैं, और अन्य पौधे से परागकण (पॉलेन ग्रेन्स) लेकर इस पौधे के वर्तिकाग्र (स्टिग्मा) पर छिड़क दिए जाते हैं, जिससे दो पृथक् पौधों के पराग और बीजांड (ओव्यूल) का संयोग हो जाता है। किस प्रकार के पौधे का पराग था और किसका बीजांड, इसका कोई प्रभाव इस प्रथम प्रयोग के परिणाम पर नहीं पाया गया। मेंडेल ने देखा कि लंबी और नाटी जाति के पौधों के अपरनिषेचन से जो बीज उत्पन्न हुए वे उगने पर सबके सब लंबे पौधे हुए। इन पौधों के स्वयनिषेचन से जो बीज पैदा हुए वे उगने पर या तो लंबे हुए या नाटे, एक पौधा भी मझोली ऊँचाई का नहीं हुआ। इन सब पौधों को पृथक् पृथक् गिनने पर मेंडेल ने पाया कि लंबे पौधे गिनती में नाटे पौधों के तीन गुने थे। स्वयनिषेचन के पश्चात् नाटे पौधों के बीज से उगने पर सदैव नाटे पौधे ही बनते रहे, किंतु लंबे पौधों के बीज से उगने पर नाटे और लंबे दोनों प्रकार के पौधे बन जाते थे। एक एक को गिनने पर मेंडेल को यह पता चला कि लंबे पौधों में एक तिहाई पौधे तो ऐसे थे जिनके स्वयनिषेचन के बीज से उगने पर केवल लंबे पौधे प्राप्त हुए, किंतु दो तिहाई लंबे पौधे ऐसे थे जिनसे स्वयनिषेचन के पश्चात् दोनों प्रकार के बीज पैदा हुए, अर्थात् कुछ से लंबे पौधे उगे और कुछ से नाटे। यह बात हर पीढ़ी में पाई गई। ये बातें साथ की सारणी में स्पष्ट रूप से दिखाई गई हैं, जिसमें यही नियम मेंडेल ने
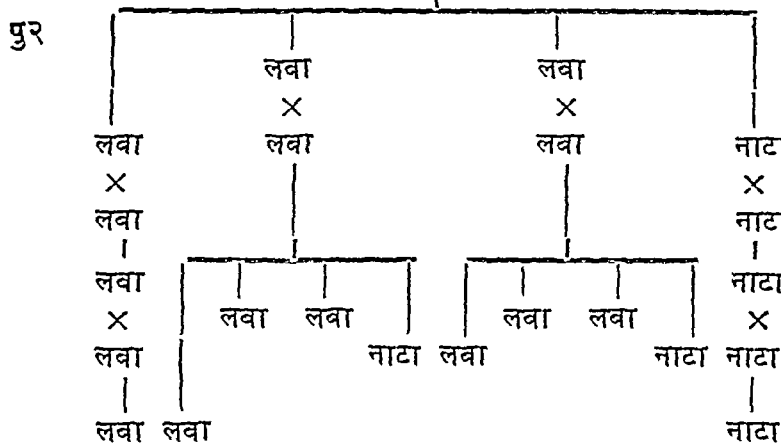
[पै=पैतृक पीढ़ी, पु १ = पहली पुत्रीय पीढ़ी तथा पु२ = दूसरी पुत्रीय पीढ़ी है।]

पौधे के अन्य लक्षणों के लिये भी ठीक पाया। मनुष्यों, अन्य प्राणियों तथा पौधों के लिये भी यही नियम ठीक पाया जाता है। विशेष अचरज की बात यह जान पड़ती है कि पहली पुत्रीय पीढ़ी के समान लक्षणवाले माता पिता से (ऊपर के उदाहरण में दो लंबे पौधों से) आगामी पीढ़ी में कुछ संतानें एक तरह की होती हैं और शेष दूसरी तरह की (ऊपर के उदाहरण में कुछ पौधे लंबे और कुछ नाटे)। यही प्रश्न अधिक उग्र रूप में तब उपस्थित होता है जब देखा जाता है कि गोरे माता पिता के कुछ बच्चे काले होते हैं।

अपने प्रयोगों के आधार पर मेंडेल ने दो नियम बनाए और उनके ठीक होने का कारण भी बताया। आधुनिक भाषा में मेंडेल की व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से समझाई जा सकती है, परंतु स्मरण रखना चाहिए कि ये नियम दो चार व्यक्तियों पर लागू नहीं होते। जब कहा जाता है कि चार संतान में से एक नाटी होगी तब अर्थ यह रहता है कि यदि हजारों संतानों की परीक्षा की जाय तो उनमें से लगभग एक चौथाई नाटी होंगी।

व्याख्या यह है कि पीढ़ी प्रति पीढ़ी लंबे उत्पन्न होनेवाले पौधों के प्रत्येक परागकण में या बीजाणु में दो पित्रैक ऐसे होते हैं जो पौधे को लंबा करते हैं। इसी प्रकार पीढ़ी प्रति पीढ़ी नाटे उगनेवाले पौधों में दो पित्रैक नाटा करनेवाले होते हैं। जब इस प्रकार के एक लंबे और एक नाटे पौधे के संयोग से संतान उत्पन्न होती है तो उनमें से प्रत्येक में एक पित्रैक लंबा करनेवाला होता है और एक नाटा करनेवाला (इसका कारण आगे चलकर बताया जायगा)। परंतु दोनों पित्रैक समान बल के नहीं होते। एक पित्रैक दूसरे को दबा देता है। ऊपर के उदाहरण में लंबा करनेवाला पित्रैक तिरोधायक (बलवान) है, नाटा करनेवाला पित्रैक तिरोहित है (अर्थात् उसका प्रभाव छिपा रहता है)। परिणाम यह होता है कि यद्यपि प्रथम पुत्रीय पीढ़ी के व्यक्तियों में एक पित्रैक लंबा करनेवाला रहता है (सुविधा के लिये इसका नाम **लं** रख लें) और दूसरा नाटा करनेवाला (नाम **ना**) तो भी व्यक्ति लंबे ही रहेंगे। अब यदि इस पीढ़ी के दो दो पौधों के योग से अनेक नए पौधे उगाए जायँ तो परिणाम क्या होगा? इन पौधों की जोड़ी में से एक को हम पिता कह सकते हैं (जिससे पराग लिया जाता है) और दूसरे को माता। अब देखना चाहिए कि जब माता और पिता दोनों में एक **लं** तथा एक **ना** विद्यमान हैं तो इस प्रकार के माता पिता की संतान को कौन कौन से पित्रैक मिलेंगे। (१) किसी को माता से **लं** मिलेगा और पिता से भी **लं**, (२) किसी को यद्यपि माता से **लं** मिलेगा, परंतु पिता से **ना**, (३) किसी को माता से **ना** मिलेगा, परंतु पिता से **लं**, (४) किसी को माता से भी **ना** मिलेगा और पिता से भी **ना**। बस ये ही चार प्रकार के परिणाम हो सकते हैं।

इनमें से दो **लं** वाले पौधे अवश्य लंबे होंगे, क्योंकि **लं** नाम का पित्रैक पौधों को लंबा करता है। फिर, दो **ना** वाले पौधे अवश्य नाटे होंगे। रही **लं ना** और **ना लं** वाले पौधों की बात। ये सभी लंबे ही होंगे, क्योंकि **लं** तिरोधायक है, वह **ना** को दबा देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि चार पौधों में से तीन लंबे और एक नाटा होगा। मेंडेल के भी प्रयोगों में यही बात निकली थी। इस प्रकार हम सुगमता से समझ जाते हैं कि दो लंबे पौधों की संतान नाटी कैसे हो सकती है।

पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं कि इन **लं लं**, **लं ना**, **ना लं** और **ना ना** पित्रैकवाले पौधों में यदि परस्पर निषेचन कराया जाय तो उनकी संतानों में किन किन प्रकारों से पित्रैकों का बँटवारा हो सकता है। इस बँटवारे के आधार पर उन्हें यह भी ज्ञात हो जायगा कि तीसरी पुत्रीय पीढ़ी में कितने लंबे और कितने नाटे पौधे होंगे, जिसका पता मेंडेल ने वर्षों के वास्तविक प्रयोग के बाद पाया था। इसके अनंतर मेंडेल ने इसपर प्रयोग किया कि लंबाई अथवा नाटेपन के अतिरिक्त कोई और गुण भी साथ में हो, जैसे गोल तथा सिकुड़े बीज का विकल्प, तो संतति में क्या होगा। मेंडेल के एक प्रयोग में पीले तथा हरे में विकल्प था और साथ ही गोल बीज तथा सिकुड़े बीज का। उसने देखा कि अपरनिषेचन के अभाव में पीले और साथ ही गोल बीजवाले पौधों की संतति में पीढ़ी प्रति पीढ़ी इसी प्रकार के बीज होते हैं, इसी प्रकार हरे और साथ ही सिकुड़े बीजवाले पौधों की संतति में सदा उसी प्रकार के बीज होते हैं। मेंडेल ने प्रयोग से देख लिया कि पीले तथा हरे रंगों में पीला तिरोधायक होता है, वह हरे को दबा देता है। उसने यह भी देखा कि गोल और सिकुड़े रूपों में गोल तिरोधायक होता है। अब उसने पीले तथा साथ ही गोल बीजवाले पौधों तथा हरे और साथ ही सिकुड़े बीजवाले

अन्य चिडियो में होता हे, ४ श्रोणिमेखला (पेल्विक गर्डल) की भगास्थि (प्यूविक वोन) पीछे की ओर मुडी है, ५ कर्पर (क्रेनियम) की अनेक हड्डियाँ आधुनिक चिडियो की हड्डियो की भाँति जुडी है।

ये मिले जुले लक्षण सिद्ध करते है कि आर्कियोप्टैरिक्स आधुनिक पक्षी और सरीसृप के विकास के वीच की योजक कडी है। इसका अर्थ यह नही कि यह आधा सरीसृप और आधा पक्षी है, किंतु यह है कि यह एक ऐसा सरीसृप था, जिसने पक्षी की ओर विकसित होना प्रारभ कर दिया था, अर्थात् यह आद्यपक्षी है।

अव प्रश्न यह उठता है कि आर्कियोप्टैरिक्स ने किस मूल कुटुव से जन्म लिया था। इसका आकार उडनेवाले सरीसृप अर्थात् टेरोडैक्टाइल से मिलता है। परतु टेरोडैक्टाइल के उडने का ढग भिन्न था और उसकी हड्डियाँ भी भिन्न प्रकार की थी। दो छोटे पैरो पर चलनेवाले कुछ डायनोसौर भी रचना में चिडियो के निकट आते है। ये अपने अगले पैरो को पृथ्वी से ऊपर उठाए पिछले पैरो पर दौडते थे। दौडने का यह ढग तथा उनके शरीर की रचना यह सिद्ध करती है कि सरीसृप तथा आर्कियोप्टैरिक्स दोनो की पितृश्रेणी एक है।

यह भली भाँति ज्ञात हो चुका है कि आर्कियोप्टैरिक्स भली भाँति उडनेवाला पक्षी नही था। घने जगलो के वडे वडे वृक्ष इसे उडने का अवसर नही देते रहे होगे। यह केवल एक ऊँचे वृक्ष पर चढकर दूसरे तक विसर्पण (ग्लाइड) करता रहा होगा। पीछे के लवे पैर, लवी दुम और चपटे सिरवाली कशेरुकाएँ उडने मे विलकुल सहायक नही थी, किंतु विसर्पण मे पूर्णतया सहायक थी।

ससार के जीवाश्मो में आर्कियोप्टैरिक्स के जीवाश्मो का स्थान महत्वपूर्ण है। [स० ना० प्र०]

आद्योद्भिद (प्रोटोफाइटा) ऐसे एक या वहुकोशिकी जीव है जो पौधो की तरह अपना भोजन तरल रूप मे ही ग्रहण करते है। इनको देखने से अनुमान किया जा सकता है कि वानस्पतिक सृष्टि का आदिरूप कैसा रहा होगा। कुछ सामान्य शैवाल (ऐलजी) भी इसी वर्ग मे आते है। शैवाल और एककोशिकी प्रजीव (प्रोटोजोआ) दोनो एक साथ एक-कोश-जीव (प्रोटिस्टा) वर्ग मे रखे जाते है। ये सपूर्ण जीवन-सृष्टि के आदिरूप माने जाते है। एककोशिनो के कई वर्ग है, कुछ ऐसे है जो तरल रूप मे भोजन लेते है, कुछ ऐसे है जो प्राणियो की तरह ठोस रूप मे तथा कुछ ऐसे भी होते है जो दोनो प्रकार से भोजन प्राप्त कर सकते है। अतिम रूपवाले जीव विचारक के सुविधानुसार पौधो या जतुओ दोनो मे से किसी भी श्रेणी मे रखे जा सकते है। अभी तक इनकी कोई भी परिदृढ परिभाषा सभव नही हो पाई है।

आद्योद्भिद वर्ग मे कार्वन-सश्लेषण (फोटोसिंथेसिस) क्रिया होती है। यह क्रिया इन पौधो मे पर्ण-हरिम और कभी कभी अन्य रगो की सहायता से होती है। इस क्रिया मे कार्वन डाइ-आक्साइड और पानी से धूप की उपस्थिति मे जटिल कारवनिक यौगिक (जैसे स्टार्च, वसा इत्यादि) वनते है। आद्योद्भिद के वर्ग अपने अपने रगो के आधार पर पहचाने जा सकते है। एककोशिक आद्योद्भिद चर (गतिशील, मोटिल) होते है तथा इनके पक्ष्म होते है। पक्ष्मो की सख्या और उनका विन्यास प्रत्येक वर्ग के लिये निश्चित होता है। प्राय प्रत्येक वर्ग मे अचर रूप भी होते है, जो एक या वहुकोशिकीय होते है।

आद्योद्भिद मे प्रजनन अत्यत साधारण रीति से होता है। वहुधा एककोशिका के, चाहे वह चर अवस्था मे ही क्यो न हो, दो भाग हो जाते है। स्थायी रूपो मे प्रजनन चर-वीजाणु (जूस्पोर्स) से भी होता है। मिक्सोफाइसी वर्ग मे लैगिक भेद नही होता, परतु अधिकतर वर्गो के प्राय अधिक विकसित रूपो में लैगिक भेद होता है। क्लोरोफिसिई में विषम लैगिक प्रजनन होता है। आद्योद्भिद की वहुत सी प्रजातियाँ, जो क्लोरोफिसिई, जैथोफिसिई, मिक्सोफिसिई आदि मे शामिल है, स्थायी होती है और इन्हे सामान्य रूप से शैवाल ही कहा जाता है। इसके विपरीत, शैवालो मे कुछ ऐसे भी आकार है जो आद्योद्भिद रूप से अधिक विकसित है और इनके *प्राचीन रूपो का पता* भी नही मिलता। आद्योद्भिद के ऐसे रूप जो स्वचालित होते है तथा जिनमे कोशिका-भित्ति नही होती, शैवालो से पृथक् वर्ग मे रखे जाते है। इस वर्ग को कशाग वर्ग (फ्लैजेलेटा) कहते है (कश=चावुक)। ये प्रजीव (प्रोटोजोआ) के निकट है, परतु ऐसा विभाजन कृत्रिम तथा अनुचित प्रतीत होता है।

स०ग्र०—एफ० ई० फिट्ज प्रेसिडेशियल ऐड्रेस टु सेक्शन के, व्रिटिश ऐसोसिएशन फॉर ऐडवासमेट ऑव साएस (१९२७)। [भी० श० त्रि०]

आधर्षण अटेंडर, अग्रेजी विधि प्रणाली मे सामान्य कानून के अतर्गत, मृत्युदडादेश के पश्चात् जव यह प्रत्यक्ष हो जाता था कि अपराधी जीवित रहने योग्य नही है तव उसको (अटेंड) कहा जाता था और इस कार्यवाही को अटेडर कहते थे। अटेडर का अर्थ है आधर्षण। आधर्षण की कार्यवाही मृत्युदडादेश के पश्चात् अथवा मृत्युदडादेशतुल्य परिस्थिति मे हुआ करती थी। निर्णय के विना केवल दोषसिद्धि के आधार पर आधर्षण नही हो सकता था।

आधर्षण के परिणाम स्वरूप अपराधी की समस्त चल या अचल सपत्ति का राज्य द्वारा अपहरण हो जाता था, वह सपत्ति के उत्तराधिकार से स्वय तो वचित हो ही जाता था, उसके उत्तराधिकारी भी उसकी सपत्ति नही पा सकते थे। इसको रक्तभ्रष्टता कहते थे। परतु सन् १८७० के 'फॉरफीचर ऐक्ट' के *अतर्गत आधर्षण अथवा सपत्ति अपहार या* रक्तभ्रष्टता वर्जित हो गई और अव अटेडर सिद्धात का कोई विशेष महत्व नही रहा।

विल्स ऑव अटेडर—आधर्पण विधेयक द्वारा ससद न्यायप्रशासन का कार्य करता था। कार्यवाही अन्य विधेयको के समान ही होती थी। अतर इतना था कि इसमे वे पक्ष जिनके विरुद्ध विधेयक होता था, ससद के समक्ष वकील द्वारा उपस्थित हो सकते तथा साक्ष्य प्रस्तुत कर सकते थे। प्रथम आधर्षण विधेयक सन् १४५९ ई० मे पारित हुआ था और अतिम विधेयक सन् १७९८ ई० मे। [श्री० अ०]

आनंद वुद्ध की निजी सेवाओ मे तल्लीन स्थविर आनद उनके निकटतम शिष्यो में से थे। वे अपनी तीव्र स्मृति, वहुश्रुतता तथा देशना कुशलता के लिये सारे भिक्षुसघ में अग्रगण्य थे। वुद्ध के जीवनकाल में उन्हें एकातवास कर समाधिभावना के अभ्यास मे लगने का अवसर प्राप्त न हो सका। महापरिनिर्वाण के वाद उन्होने ध्यानाभ्यास कर अर्हत् पद का लाभ किया और जब वुद्धवचन का सग्रह करने के लिये वैभार पर्वत की सप्तपर्णी गुहा के द्वार पर भिक्षुसघ वैठा तव स्थविर आनद अपने योगवल से, मानो पृथ्वी से उद्भूत हो, अपने आसन पर प्रकट हो गए। वुद्धोपदिष्ट धर्म का सग्रह करने मे उनका नेतृत्व सर्वप्रथम था। [भि० ज० का०]

आनंदगिरि अद्वैत वेदात के एक मान्य आचार्य। इनका व्यक्तित्व अभी तक पूर्णतया प्रकाशित नही हुआ है। इनके अनेक नाम मिलते है, जैसे आनदतीर्थ, अनतानदगिरि, आनदज्ञान, आनदज्ञानगिरि, ज्ञानानद आदि। अभी तक ठीक पता नही चलता कि ये विभिन्न अभिधान एक ही व्यक्ति के है अथवा भिन्न भिन्न व्यक्तियो का एकत्र समिश्रण है। आनदगिरि की एक प्रख्यात प्रकाशित रचना है 'शकर दिग्विजय', जिसमें आदिशकर के जीवनचरित का वर्णन वडे विस्तार से नवीन तथ्यो के साथ किया गया है। परतु ग्रथ की पुष्पिका मे ग्रथकार का नाम सर्वत्र 'अनतानदगिरि' दिया हुआ है। फलत ये आनदगिरि से भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते है। इस दिग्विजय मे आचार्य शकर का सवध कामकोटि पीठ के साथ दिखलाया गया है और इसलिये अनेक विद्वान् इसे शृगेरी पीठ की वढती हुई प्रतिष्ठा को देखकर कामकोटि पीठ के अनुयायी किसी सन्यासी की रचना मानते है। आनदगिरि (आनदज्ञान) का 'वृहत् शकरविजय' प्राचीनतम तथा प्रामाणिक माना जाता है, जो इससे सर्वथा भिन्न है। यह ग्रथ अप्राप्य है। धनपति सूरि ने माधवीय शकरदिग्विजय की अपनी टीका मे इस ग्रथ से लगभग १३५० श्लोक उद्धृत किए है।

आनदज्ञान का ही प्रख्यात नाम आनदगिरि है। इन्होने शकराचार्य की गद्दी सुशोभित की थी। कामकोटि पीठवाले इन्हे अपने मठ का अध्यक्ष वतलाते है, उधर द्वारिका पीठवाले अपने मठ का। इनका आविर्भावकाल १२वी शताव्दी माना जाता है। ये अद्वैत को लोकप्रिय तथा सुवोध *वनानेवाले आचार्य थे और इसीलिये इन्होने शकराचार्य* के प्रमेयवहुल भाष्यो पर अपनी सुवोध व्याख्याएँ लिखी। ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्य की इनकी टीका 'न्यायनिर्णय' नाम से प्रसिद्ध है। शकर के गीताभाष्य पर भी इनकी व्याख्या नितात लोकप्रिय है। सुरेश्वर के 'वृहदारण्यक भाष्यवार्तिक' के ऊपर

१२८ दपतियो मे, जिनके सात सात सतान हो, साधारणत एक को सात लडकियाँ होने की सभावना है, एक को सात पुत्र।

कुछ समूहो मे (जैसे पक्षियो, फतिगो इत्यादि मे) पूर्वोक्त सबध उलट जाता है। इनके नर मे दो x होते हैं, स्त्री मे एक, परतु इन समूहो में भी पुत्रो और कन्याओ की सख्याएँ पूर्वोक्त कारण से ही लगभग बराबर होती हैं।

लिगो के बनने का कारण और कुछ पित्रैको के ग्रथित होने की बात समझ लेने से यह भी समझ मे आ जाता है कि कुछ गुण क्यो विशेष रूप से लिंग से सबद्ध रहते है। अवश्य ही उन गुणो के पित्रैक लिगसूत्र मे ग्रथित होगे। इन गुणो को लिगग्रथित (सेक्स लिक्ड) गुण कहते है। उदाहरणत कुछ प्रकार की वर्णांधताएँ (लाल और हरे मे अतर न दिखाई पडना) अथवा अविरक्तस्राव (रुधिर के न जम सकने का रोग, हेमोफिलिया) मेडिलीय रीति से आनुवशिक नही है। उनकी आनुवशिकता निम्नलिखित प्रकार की है रोगी व्यक्ति से रोग उसके लडके लडकियो तथा पोतियो मे नही पहुँचता, परतु आधे पोतो मे पहुँचता है। स्थानाभाव के कारण इसे यहाँ ब्योरेवार नही समझाया जा सकता।

आनुवशिकता का एक रोचक उदाहरण अभिन्न यमजो (एक समान जुडवाँ बच्चो) मे दिखाई पडता है। यमजो मे दो जातियाँ होती हैं भ्रात्रीय और एकसम (फ्रेटर्नल और आइडेंटिकल)। जब माता के दो अडाणुओ मे से प्रत्येक पृथक् शुक्राणु से निषेचित होता है तब जो बच्चे उत्पन्न होते हैं वे भ्रात्रीय होते हैं, वे उतने ही असमान हो सकते हैं जितने दो बार मे अलग अलग जनमे बच्चे। एकसम यमज एक ही शुक्राणु से निषेचित एक ही अडाणु से, उसके विभाजित होकर अलग हो जाने से, उत्पन्न होते हैं। अमरीका के डाइओन परिवार मे उत्पन्न हुई पाँच जुडवाँ बहने इस प्रकार के यमजो की प्रसिद्ध उदाहरण हैं। रूप, रग आदि मे ये बहने प्राय एक सी लगती थी। ऐसी सतति से यह अध्ययन करने का अच्छा अवसर मिलता है कि व्यक्ति पर केवल परिस्थितियो का क्या प्रभाव पडता है। [मु० ला० श्री०]

आनुवंशिकता और रोग

मे बहुधा कोई न कोई सबध रहता है। अनेक रोग दूषित वातावरण तथा परिस्थितियो से उत्पन्न होते हैं, किंतु अनेक ऐसे रोग भी होते हैं जिनका कारण माता पिता से जन्मना प्राप्त कोई दोष होता है। ये रोग आनुवशिक कहलाते हैं। कुछ ऐसे रोग भी हैं जो आनुवशिकता तथा वातावरण दोनो के प्रभावो के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं।

जीवो मे नर के शुक्राणु तथा स्त्री की अडकोशिका के सयोग से सतान की उत्पत्ति होती है। शुक्राणु तथा अडकोशिका दोनो मे केद्रकसूत्र रहते हैं। इन केद्रकसूत्रो मे स्थित पित्रैक (जीन्स) के स्वभावानुसार सतान के मानसिक तथा शारीरिक गुण और दोष निश्चित होते हैं (विस्तृत व्याख्या के लिये देखे आनुवशिकता)। पित्रैको मे से एक या कुछ के दोषोत्पादक होने के कारण सतान मे वे ही दोष उत्पन्न हो जाते हैं। कुछ दोषो मे से कोई रोग उत्पन्न नही होता, केवल सतान का शारीरिक सगठन ऐसा होता है कि उसमें विशेष प्रकार के रोग शीघ्र उत्पन्न होते है। इसलिये यह निश्चित जानना कि रोग का कारण आनुवशिकता है या प्रतिकूल वातावरण, सर्वदा साध्य नही है। आनुवशिक रोगो की सही गणना मे अन्य कठिनाइयाँ भी है। उदाहरणत बहुत से जन्मजात रोग अधिक आयु हो जाने पर ही प्रकट होते हैं। दूसरी ओर, कुछ आनुवशिक दोषयुक्त बच्चे जन्म लेते ही मर जाते हैं।

तिरोधायक तथा तिरोहित पित्रैको का वर्णन पूर्वगामी (आनुवशिकता शीर्षक) लेख मे किया जा चुका है। तिरोधायक रोगकारक पित्रैक के उपस्थित रहने पर इनके प्रभाव से रोग प्रत्येक पीढी मे प्रकट होता है, किंतु तिरोहित पित्रैको के कारण होनेवाले रोग वश की किसी सतान में अनायास उत्पन्न हो जाते है, जैसा कि मेडेल के आनुवशिकता विषयक नियमो से स्पष्ट है। कुछ रोग लडकियो से कही अधिक सख्या मे लडको मे पाए जाते है।

आनुवशिक रोगो के अनेक उदाहरण दिए जा सकते है। इनमे से कुछ निम्नलिखित हैं

चक्षुरोग—तिरोधायक पित्रैक के दोष से मोतियाबिंद (आँख के ताल का अपारदर्शक हो जाना), अति निकटदृष्टि (दूर की वस्तु का स्पष्ट न दिखाई देना), ग्लॉकोमा (आँख के भीतर अधिक दाब और उससे होनेवाली अधता), दीर्घदृष्टि (पास की वस्तु स्पष्ट न दिखाई पडना) इत्यादि रोग होते हैं। तिरोहित पित्रैक के कारण विवर्णता (सपूर्ण शरीर के चमडे तथा बालो का श्वेत हो जाना), ऐस्टिग्मैटिज्म (एक दिशा की रेखाएँ स्पष्ट दिखाई पडना और लब दिशा की रेखाएँ अस्पष्ट), केराटोकोनस (आँख के डले का शकुरूप होना), इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं। लिगग्रथित पित्रैकजनित चक्षुरोगो में, जो पुरुषो मे अधिक होते हैं, वर्णाधता (विशेषकर लाल और हरे रगो मे भेद न ज्ञात होना) दिनाधता (दिन मे न दिखाई देना), रतौधी (रात को न दिखाई देना) इत्यादि रोग है।

चर्मरोग—इनमे एक सौ से अधिक आनुवशिक रोगो की गणना की गई है। इनमे सोरिएसिस (जीर्ण चर्मरोग जिसमे श्वेत रूसी छोडनेवाले लाल चकत्ते पड जाते हैं), इक्थिओसिस (जिसमे चमडी मे मछली के छिलको के समान पपडी पड जाती है), केराटोसिस (जिसमें चमडी सीग के समान कडी हो जाती है) इत्यादि प्रमुख है।

विकृतांग—अधिकागुलता (अँगुलियो का छ या इससे अधिक होना), युक्तागुलता (कुछ अँगुलियो का आपस मे जुडा होना), कई प्रकार का बौनापन, अस्थियो का उचित रीति से न विकसित होना, जन्म से ही नितबास्थि का उखडा रहना इत्यादि।

पैशिक अपुष्टता—पेशियो का दुर्बल होना, कुछ प्रकार के अनन्वय (अगो का मिलकर कार्य करने की अयोग्यता), अतिवृद्धि के कारण तत्रिकाओ (नर्व्ज) का सूज जाना इत्यादि।

रक्तदोष—हेमोफीलिआ (रक्तस्राव का न रुकना), विशेष प्रकार की रक्तहीनता इत्यादि।

चयापचय रोग—मधुमेह (मूत्र मे शर्करा का निकलना, डायबिटीज), गठिया, चेहरे का विकृत तथा भयानक हो जाना इत्यादि।

मानसिक रोग—सनक, मिर्गी, अल्पबुद्धिता इत्यादि का भी कारण आनुवशिकता हो सकती है। विविध रोग, जैसे बहरापन, गूगापन, कटा होठ (हेयरलिप), विदीर्ण तालु (क्लेफ्ट पैलेट) आदि भी आनुवशिकता से प्रभावित होते हैं। इनके सिवाय आनुवशिकता घेघा, उच्च रक्तचाप, कर्कट (कैंसर) इत्यादि रोगो की ओर झुकाव उत्पन्न कर देती है। [दि० सिं०]

आन्वीक्षिकी

न्यायशास्त्र का प्राचीन अभिधान। प्राचीन काल में आन्वीक्षिकी विचारशास्त्र या दर्शन की सामान्य सज्ञा थी और यह त्रयी (वेदत्रयी), वार्ता (अर्थशास्त्र), दडनीति (राजनीति) के साथ चतुर्थ विद्या के रूप मे प्रतिष्ठित थी (आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दडनीतिश्च शाश्वती। विद्या ह्येताश्चतस्रस्तु लोकससृतिहेतव) जिसका उपयोग लोक के व्यवहारनिर्वाह के लिये आवश्यक माना जाता था। कालातर में इस शब्द का प्रयोग केवल न्यायशास्त्र के लिये सकुचित कर दिया गया। वात्स्यायन के न्यायभाष्य के अनुसार अन्वीक्षा द्वारा प्रवृत्त होने के कारण ही इस विद्या की सज्ञा 'आन्वीक्षिकी' पड गई। अन्वीक्षा के दो अर्थ हैं (१) प्रत्यक्ष तथा आगम पर आश्रित अनुमान तथा (२) प्रत्यक्ष और शब्दप्रमाण की सहायता से अवगत होनेवाले विषयो का अनु (पश्चात्) ईक्षण (पर्यालोचन, अर्थात् ज्ञान), अर्थात् अनुमिति। न्यायशास्त्र का प्रधान लक्ष्य तो है प्रमाणो के द्वारा अर्थो का परीक्षण (प्रमाणैरर्थपरीक्षण न्याय — न्यायभाष्य १।१।१), परतु इन प्रमाणो मे भी अनुमान का महत्वपूर्ण स्थान है और इस अनुमान द्वारा प्रवृत्त होने के कारण तर्कप्रधान 'आन्वीक्षिकी' का प्रयोग न्यायभाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने न्यायदर्शन के लिये ही उपयुक्त माना है।

दूसरी धारा में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द, इन चार प्रमाणो का गभीर अध्ययन तथा विश्लेषण मुख्य उद्देश्य था। फलत इस प्रणाली को 'प्रमाणमीमासात्मक' (एपिस्टोमोलाजिकल) कहते हैं। इसका प्रवर्तन गगेश उपाध्याय (१२वी शताब्दी) ने अपने प्रख्यात ग्रथ 'तत्वचितामणि' मे किया। 'प्राचीन न्याय' (प्रथम धारा) मे पदार्थों की मीमासा मुख्य विषय है, 'नव्यन्याय' (द्वितीय धारा) मे प्रमाणो का विश्लेषण मुख्य लक्ष्य है। नव्यन्याय का उदय मिथिला में हुआ, परतु इसका अभ्युदय बगाल मे सपन्न हुआ। मध्ययुगीन बौद्ध तार्किको के साथ घोर सघर्ष होने से खडन मडन के द्वारा यह शास्त्र विकसित होता गया। प्राचीन

शरीर छोड़ देने के बाद नित्य 'ऊर्ध्वगमन' करना हुआ असीम आनंदो-पलब्धि करता है। पूर्वमीमांसा में सांसारिक आनंद को 'अनर्थ' कहकर तिरस्कार किया गया है और उस धर्म के पालन का विधान है जो वेदो द्वारा विहित है और जिसका परिणाम आनद है।

अरस्तू के अनुसार सद्गुणी जीवन पूर्णानंद का जीवन है, यद्यपि आनद स्वय व्यक्ति का ध्येय नहीं है। अरस्तू के अनुसार वे सभी कर्म जिनसे मानव मनुष्य बनता है, कर्तव्य के अतर्गत आते हैं। इन्ही कर्मो का परिणाम आनद है। एरिस्टोनियम स्टोइक दर्शन में सांसारिक आनद को आत्मा का रोग माना गया है। इस रोग से मुक्त रहकर सद्गुणो का निरपेक्ष भाव से सेवन करने पर आध्यात्मिक आनद प्राप्त करना ही मनुष्य का सच्चा लक्ष्य है। नव्य अफलातूनी दर्शन में सांसारिक विषयो की अपेक्षा ईश्वर और जीव की अभेदावस्था से उत्पन्न आनद को उच्च माना गया है। ईसाई दार्शनिक ऑगस्टिन (३५३-४३०) ने बड़े जोरदार शब्दो में ईश्वर-साक्षात्कार से उत्पन्न आनद की तुलना में सांसारिक आनद को मरे व्यक्ति का आनद माना है। स्पिनोज़ा (१६३२-१६७७) ने कहा, 'नित्य और अनत तत्व के प्रति जो प्रेम उत्पन्न होता है वह ऐसा आनद प्रदान करता है जिसमें दुःख का लेश भी नही है।' इमानुएल काट (१७२४-१८०४) का कहना है कि सर्वोत्तम श्रेय (गुड) इस ससार में नही प्राप्त हो सकता, क्योकि यहा लोग अभाव और कामनाओ के शिकार होते हैं। आचार के अनुल्लघनीय नियमो को (एथिकल इपरेटिव) पहचानकर चलने पर मनुष्य अपनी इंद्रियो की भूख का दमन कर सकता है। मनुष्य की इच्छा स्वतत्र है। उसका कुछ कर्तव्य है, अत वह करता है। कर्तव्य कर्तव्य के लिये है। कर्तव्य का अन्य कोई लक्ष्य नही है। निर्विकार भाव से कर्तव्यपथ पर चलनेवाले व्यक्ति को सच्चे आनद की प्राप्ति होनी चाहिए, किंतु इस ससार में कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को आनद की प्राप्ति आवश्यक नही है। अत काट के अनुसार भी वास्तविक आनद सासारिक नही, कर्तव्यपालन से उत्पन्न पारमार्थिक आनद ही पूर्ण आनद है।

स०ग्र०—महाभारत, शातिपर्व, उपनिषद्, शकर, रामानुज, वल्लभ तथा निंबार्क के ग्रथ, तत्रालोक, माधव सर्वदर्शनसग्रह, अफलातून के 'लाज' और 'रिपब्लिक', जेलर ग्रीक दर्शन, मिल यूटिलिटेरियनिज्म।[रा०पा०]

आन

आन (१७०३-१७४९), रूस की सम्राज्ञी, महान् पीटर के भाई ईवान पचम की पुत्री। मास्को के निकटस्थ इसमाइलोवों में मा के पास प्राचीन रीति रस्मो के बीच बचपन उपेक्षा और घृणा में बीता। बाद में पीटर ने इसकी सरक्षकता ग्रहण की। १७१० में कूरलैंड के ड्यूक फ्रेडरिक विलियम से विवाह हुआ लेकिन पति लेनिनग्राड से घर जाते हुए रास्ते में मर गया। विधवा आन को कूरलैंड की शासिका बनाकर वहाँ रहने के लिये बाध्य किया गया। काउट पीटर बेस्टूजेव रूसी रेजीडेंट बनाया गया। यह इसके प्रेमियो में से एक था। बाद में बीरेन रेजीडेंट नियुक्त किया गया। पीटर द्वितीय के मरने पर आन रूस की सम्राज्ञी हुई (३० जनवरी, १७३०)।

२६ फरवरी को आन ने मास्को में प्रवेश किया। ९ मार्च को राज्य मे विप्लव हुआ और प्रिवी कौंसिल (सरदार परिषद्) का अत कर उसने अपने को 'ऑटोक्राट' घोषित किया।

आन यातना और क्रूरता की पुतली थी। हजारो को फाँसी दी गई और हजारो साइबेरिया को निर्वासित कर दिए गए। बौनो को दरबार में स्थान और बागो और उद्यानो में हर किस्म के जानवर रखे, जिनपर राज-महल की खिड़की से वह गोली चलाती थी। लेकिन सरदारो पर से एक-एक करके प्रतिबध उठ गए। 'कोर ऑव पाजेज' की स्थापना की गई, जिसमें सरदारो तथा सामतो के लड़के साधारण लोगो से पृथक् उच्च सैनिक शिक्षा पाते थे। सैनिक सेवा की अवधि भी आजन्म की जगह पच्चीस वर्ष कर दी गई।

किंतु विदेशी सबधो में आन को सफलता मिली और रूस की प्रतिष्ठा भी बढ़ी। पोलिश युद्ध (१७३६-३९) साढे चार साल चला और अजोव का किला ही लौटाना पड़ा, पर इससे उसमान साम्राज्य की अजेयता का विश्वास लुप्त हो गया। तातार लुटेरो का अत हो गया। 'स्टेपे' में सफलता मिलने से रूस की प्रतिष्ठा बढी और इसके कारण यूरोप के मामले में रूस की बात ध्यान से सुनी जाने लगी।

२८ अक्तूबर, १७४० को इसकी मृत्यु हुई। इससे पहले इसने अपने चचेरे दौहित्र इवान षष्ठ को अपना उत्तराधिकारी बनाया और बीरेन को उसका रीजेंट नियुक्त किया। [अ० कु० वि०]

आनाकोंडा

आनाकोंडा सयुक्त राज्य (अमरीका) के मोटाना राज्य का एक नगर है। यहाँ के ताँबा, सोना, चाँदी, सीसा, फासफेट आदि तैयार करने के उद्योग विश्वप्रसिद्ध हैं। सपूर्ण सयुक्त राष्ट्र अमरीका का ९० प्रतिशत मैंगनीज़ यहाँ तैयार होता है। यहाँ पर जूनियर तथा सीनियर सार्वजनिक विद्यालय हैं। यह नगर सुदर तथा आनददायक प्राकृतिक दृश्यो के बीच में स्थित है। मोटाना के ताँबा उद्योग के जनक मार्कस डेली के समस्त उद्योगो का केंद्र यही है। उन्ही की आनाकोडा नामक खान के नाम पर इस नगर का नाम आनाकोडा पडा है। सन् १९५० ई० में यहाँ की जनसख्या ११,२५८ थी। [शि० म० सि०]

आनुंत्सियो, गाब्रिएल दे

आनुंत्सियो, गाब्रिएल दे (१८६३-१९३८ ई०) प्रसिद्ध इतालीय साहित्यकार, पत्रकार, योद्धा और राजनीतिज्ञ आनुत्सियो का जीवन बहुत घटनापूर्ण रहा। वह विलास और वैभव का प्रेमी था। यूरोपीय रोमासकालीन परवर्ती साहित्य की प्रवृत्तियो के समन्वय की अपूर्व क्षमता आनुत्सियो की रचनाओ में मिलती है। भाषा की दृष्टि से उसे अलकारवादी कहा जा सकता है। कविता, नाटक, उपन्यास, गद्यकाव्य सभी कुछ उसने लिखा।

इसकी प्रारभिक रचनाएँ प्रीमो वेटे (कविताएँ) में सगृहीत हैं। अन्य काव्यकृतियो में 'कातो नीवो', 'इतरमेज्जो दी रीमे', 'एलेजिए रोमाने', 'ईसोतेओ ए ला कीमेरा', 'पोएमा पारादीसियाको', 'ले लाउदी' हैं। प्रसिद्ध उपन्यासो में 'इल प्याचे 'लरे', 'इतोचेले', 'इल फुवाको' आदि हैं। नाट्यकृतियो में 'फ्राचेस्का दा रीमिनी', 'ला फील्या दी योरियो', 'ला नावे' आदि हैं। 'ले नोवेल्ले देल्ला पेस्कारा' उसकी कहानियो का प्रसिद्ध सग्रह है। आत्मकथात्मक गद्यकाव्य की दृष्टि से 'कोर्तेपलात्सियोने देल्ला मोर्ते' तथा 'लीवरो सेग्रेतो' उल्लेखनीय हैं।

स०ग्र०—लेखक की सपूर्ण कृतियो का राष्ट्रीय सस्करण—रोम से १९२७-३६ तथा १९३१ में निकला, पी० पाक्रात्सी स्तुदी सुल द', आनुत्सियो तूरिन, १९३९, इतालीय साहित्य का इतिहास, जिल्द ३, नाताली-नो सापेन्यो आदि। [रा० सिं० तो०]

आनुपातिक प्रतिनिधान

आनुपातिक प्रतिनिधान आनुपातिक प्रतिनिधान शब्द का अभिप्राय उस निर्वाचन प्रणाली से है जिसका उद्देश्य लोकसभा में जनता के विचारो की एकताओ तथा विभिन्नताओ को गणित रूपी यथार्थता से प्रतिबिंबित करना है। १९वीं शताब्दी के ससदीय अनुभव ने परपरागत प्रतिनिधित्व की प्रणाली के कुछ स्वाभाविक दोषो पर प्रकाश डाला। सरल बहुमत तथा अपेक्षाकृत मताधिकीय पद्धति (सिंपुल मेजारिटी ऐंड रिलेटिव मेजारिटी सिस्टम) के अतर्गत प्रत्येक निर्वाचनक्षेत्र में एक या अनेक सदस्य बहुमत के आधार पर चुने जाते है। अर्थात् इस प्रणाली में इस बात को कोई महत्व नही दिया जाता कि निर्वाचित सदस्यो के प्राप्त मतो तथा कुल मतो में क्या अनुपात है।

बहुधा ऐसा देखा गया है कि अल्पसख्यक जातियाँ प्रतिनिधान पाने में असफल रह जाती हैं तथा बहुसख्यक अधिकाधिक प्रतिनिधित्व पा जाती हैं। कभी कभी अल्पसख्यक मतदाता बहुसख्यक प्रतिनिधियो को भेजने में सफल हो जाते हैं। प्रथम महायुद्ध के उपरात इग्लैंड में हाउस आव कामन्स के निर्वाचन के इतिहास से हमें इसके कई दृष्टात मिलते हैं, उदाहरणार्थ, सन् १९१८ के चुनाव में सयुक्त दलवाला (कोलीशनिस्ट) ने अपने विरोधियो से चौगुने स्थान प्राप्त किए जब कि उन्हें केवल ४८ प्रति शत मत मिले थे। इसी प्रकार १९३५ में सरकारी दल ने लगभग एक करोड मतो से ४२८ स्थान प्राप्त किए जब कि विरोधी दल

उनका यह प्रसार परवर्ती काल का है। आपस्तवधर्मसूत्र पर हरदत्त का उज्ज्वलावृत्ति नामक भाष्य प्रसिद्ध है।

स०ग्र०—आपस्तवीयधर्मसूत्रम्, डॉ० जॉर्ज व्यूहलर द्वारा सपादित, तृतीय सस्करण,१९३२, वावे सस्कृत सीरीज, स० ४४ तथा ५०, पी० वी० काणे हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, जिल्द १, पृ० ३२-४६। [रा० व० पा०]

आपतुरिया ग्रीक जाति मे मनाया जानेवाला एक त्यौहार जो प्यानौप्सियाँन् (अक्टूवर नववर) मास मे मनाया जाता था। यह उत्सव तीन दिन चलता था। पहला दिन दौर्पिया (साध्यभोज), दूसरा दिन अनार्ह्रसिस् (जीववलि) तथा तीसरा दिन कूरियोतिस् (मुडन) कहलाता था। इस त्यौहार मे पिछले वर्ष मे उत्पन्न हुए वच्चे, युवा लोग और नवविवाहिता पत्नियाँ विरादरियो में (जो ग्रीक भाषा मे 'फ्रात्री' कहलाती थी) प्रविष्ट हुआ करती थी और उनको समाज में नवीन उत्तरदायित्व और अधिकार प्राप्त होते थे। दोरियाई जाति मे इसीके सदृश आपेलाइ नामक त्यौहार मनाया जाता था। [भो० ना० श०]

आपियानी आंद्रिया (१७५४–१८१७) अपने युग का सर्वश्रेष्ठ भित्तिचित्रकार, जन्म मिलान। नेपोलियन ने उसे इटली राज्य का राजचित्रकार नियुक्त किया। १८१४की घटनाओ के वाद पतन और घोर दरिद्रता। उसकी सर्वोत्तम कृतियाँ मिलान के राजभवन और साता मारिया के गिरजे मे हैं जो उसके गुरु केरेगियो की कृतियो से भी अधिक श्रेष्ठ हैं। [स० च०]

आपुलेइयस् लूकियस् रोमन दार्शनिक और कथाकार। इसका जन्म नुमिदिया प्रदेश के मदौरा नामक स्थान पर लगभग १२५ ई० मे हुआ और इसने कार्थेज और एथेस मे शिक्षा पाई। कुछ समय रोम मे वकालत करने के पश्चात् इसने त्रिपोली मे एक धनी विधवा इमीलिया से विवाह कर लिया। उसके सवधियो ने इसपर अभियोग चलाया। उसका शेष जीवन साहित्यरचना में व्यतीत हुआ। इसकी साहित्यिक कीर्ति का आधार 'रूपातर अथवा सुनहरा गधा' है। इस कथा का नायक गधे के रूप मे नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त करता हुआ अत में ईसिस् देवी की कृपा से पुन मानवाकृति प्राप्त कर लेता है और उसी देवी का पुजारी वन जाता है। यह हास्यरस की अत्यत रोचक रचना है। आपुलेइयस् की अन्य रचनाएँ अफलातून और सुकरात के दर्शन से सवध रखती हैं।

[भो० ना० श०]

आपूलिया इटली राज्य का एक प्रदेश है जो प्रायद्वीप के दक्षिण-पूर्वी भाग में एपिनाइन पर्वत के पूर्व गरगानो पर्वत से साता मेरिया डी ल्यूका अतरीप तक फैला है। इसके अतर्गत फोगिया, वारी, ब्रिडिसी, टारटो तथा लेसे नामक जिले हैं। क्षेत्रफल १९,३४७ वर्ग किलोमीटर, जनसख्या ३२,२०,४८५ (१९५१)। चूने के पत्थरो से वना हुआ यह सूखा पठारी क्षेत्र अत्यधिक उर्वर है। यहाँ इटली का सर्वोत्कृष्ट कोटि का गेहूँ उपजाया जाता है। जलाभाव को दूर करने के लिये पश्चिम वहनेवाली सिले नदी को ऐपिनाइन पर्वत के पार सात मील लवी एक सुरग से ले जाकर पूर्व की ओर आपूलिया मे प्रवाहित किया गया है, जहाँ इसके जल से सिंचाई की जाती है। साथ ही फोगिया जिले के दलदलो को जलनिष्कासनयोजनाओ द्वारा कृषियोग्य वनाया गया है। यह कृषिप्रधान प्रदेश है, जिसकी मुख्य उपज गेहूँ, जौ, मक्का, जैतून, अगूर, वादाम तथा अजीर है। जैतून तथा अगूर की कृषि तटीय मैदानी भागो मे की जाती है। यहाँ भेड पालने की प्रथा रोमन लोगो के समय से ही प्रचलित है। वारी (जनसख्या २,७५,०००), जो इटली का मुख्य आकाशवाणी केंद्र है, इसी प्रदेश मे स्थित है। टारटो (जनसख्या १,६६,०००) तथा ब्रिडिसी (जनसख्या ६२,०००) इस प्रदेश के अन्य मुख्य नगर एव वदरगाह है। प्राचीन काल में आपूलिया मिट्टी के वर्तनो पर की जानेवाली चित्रकारी के लिये प्रसिद्ध था। [न० कि० प्र० सिं०]

आपेक्षितावाद (रिलेटिविटी थ्योरी) सक्षेप में यह है कि 'निरपेक्ष' गति तथा 'निरपेक्ष' त्वरण का अस्तित्व असभव है, अर्थात् 'निरपेक्ष गति' एव 'निरपेक्ष त्वरण' शब्द वस्तुत निरर्थक है। यदि 'निरपेक्ष गति' का अर्थ होता तो वह अन्य पिंडो की चर्चा किए विना ही निश्चित हो सकती। परतु सव प्रकार से चेष्टा करने पर भी किसी पिंड की 'निरपेक्ष' गति का पता निश्चित रूप से प्रयोग द्वारा प्रमाणित नही हो सका है और अव तो आपेक्षितावाद वताता है कि ऐसा निश्चित करना असभव है। आपेक्षितावाद से भौतिकी मे एक नए दृष्टिकोण का प्रारभ हुआ। भौतिकी के कतिपय पुराने सिद्धातो का दृढ स्थान आपेक्षितावाद से डिग गया और अनेक मौलिक कल्पनाओ के विषय में सूक्ष्म विचार करने की आवश्यकता दिखाई देने लगी। विज्ञान में सिद्धात का कार्य प्राय ज्ञात फलो को व्यवस्थित रूप से सूत्रित करना होता है और तत्पश्चात् उस सिद्धात से नए फलो का अनुमान करके प्रयोग द्वारा उन फलो की परीक्षा की जाती है। आपेक्षितावाद इन दोनो कार्यो मे सफल रहा है।

१९वी शताब्दी के अत तक भौतिकी का विकास न्यूटन प्रणीत सिद्धातो के अनुसार हो रहा था। प्रत्येक नए आविष्कार अथवा प्रायोगिक फल को इन सिद्धातो के दृष्टिकोण से देखा जाता था और आवश्यक नई परिकल्पनाएँ वनाई जाती थी। इनमे सर्वव्यापी ईथर का एक विशिष्ट स्थान था। ईथर के अस्तित्व की कल्पना करने के दो प्रमुख कारण थे। प्रथम तो विद्युत्चुवकीय तरगो के कपन का एक स्थान से दूसरे स्थान तक प्रसरण होने के लिये ईथर जैसे माध्यम की आवश्यकता थी। द्वितीय, यात्रिकी में न्यूटन के गति तथा त्वरण विषयक समीकरणो के लिये, और जिस पार्श्वभूमि पर ये समीकरण आधारित थे उसके लिये भी, एक प्रामाणिक निर्देशक (स्टैंडर्ड ऑव रेफरेस) की आवश्यकता थी। प्रयोगो के फलो का यथार्थ आकलन होने के लिये ईथर पर विशिष्ट गुणधर्मो का आरोपण किया जाता था। ईथर सर्वव्यापी समझा जाता था और सपूर्ण दिशाओ मे तथा पिंडो मे भी उसका अस्तित्व माना जाता था। इस स्थिर ईथर में पिंड विना प्रतिरोध के भ्रमण कर सकते हैं, ऐसी कल्पना थी। इन गुणो के कारण ईथर को निरपेक्ष मानक समझने में कोई वाधा नही थी। प्रकाश की गति ३×१०^{१०} सेंटीमीटर प्रति सेकेंड है, यह ज्ञात हुआ था और प्रकाश की तरगे 'स्थिर' ईथर के सापेक्ष इस गति से विकीरित होती है, ऐसी कल्पना थी। यात्रिकी मे गति त्वरण, वल इत्यादि के लिये भी ईथर निरपेक्ष मानक समझा जाता था।

१९वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे ईथर का अस्तित्व तथा उसके गुण धर्म स्थापित करने के अनेक प्रयत्न प्रयोग द्वारा किए गए। इनमे माइकेलसनमॉर्ले का प्रयोग विशेष महत्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय है (देखें **माइकेलसन-मॉर्ले का प्रयोग**)। पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा ईथर के सापेक्ष जिस गति से करती है उस गति का यथार्थ मापन करना इस प्रयोग का उद्देश्य था। किंतु यह प्रयत्न असफल रहा और प्रयोग के फल से यह अनुमान निकाला गया कि ईथर के सापेक्ष पृथ्वी की गति शून्य है। इसका यह भी अर्थ हुआ कि ईथर की कल्पना असत्य है, अर्थात् ईथर का अस्तित्व ही नही है। यदि ईथर ही नही है तो निरपेक्ष मानक का भी अस्तित्व नही हो सकता। अत गति केवल सापेक्ष ही हो सकती है। भौतिकी में सामान्यत गति का मापन करने के लिये अथवा फल व्यक्त करने के लिये किसी भी एक पद्धति का निर्देश (रेफरेंस) देकर कार्य किया जाता है। किंतु इन निर्देशक पद्धतियो मे कोई भी पद्धति 'विशिष्टतापूर्ण' नही हो सकती, क्योकि यदि ऐसा होता तो उस 'विशिष्टतापूर्ण' निर्देशक पद्धति को हम विश्राति का मानक समझ सकते। अनेक प्रयोगो से ऐसा ही फल प्राप्त हुआ।

इन प्रयोगो के फलो से केवल भौतिकी मे ही नही, प्रत्युत विज्ञान तथा दर्शन में भी गभीर अशाति उत्पन्न हुई। २०वी शताब्दी के प्रारभ मे (१९०४ में) प्रसिद्ध फ्रेंच गणितज्ञ एच० पॉइन्कारे ने आपेक्षिता का प्रनियम प्रस्तुत किया। इसके अनुसार भौतिकी के नियम ऐसे स्वरूप में व्यक्त होने चाहिए कि वे किसी भी प्रेक्षक (देखनेवाले) के लिये वास्तविक हो। इसका अर्थ यह है कि भौतिकी के नियम प्रेक्षक की गति के ऊपर अवलवित न रहे। इस प्रनियम से दिक् तथा काल की प्रचलित धारणाओ पर नया प्रकाश पडा। इस विषय में आइस्टाइन की विचारधारा, यद्यपि वह क्रातिकारक थी, प्रयोगो के फलो को समझाने मे अधिक सफल रही। आइस्टाइन ने गति, त्वरण, दिक्, काल इत्यादि मौलिक शब्दो का और उनसे सयुक्त प्रचलित धारणाओ का विशेष विश्लेषण किया। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हुआ कि न्यूटन के सिद्धातो पर आधारित तथा प्रतिष्ठित भौतिकी में त्रुटियाँ है। आइस्टाइन प्रणीत आपेक्षितावाद के दो विभाग है (१) विशिष्ट आपे-

राज्य,अमरीका में अभी तक इस प्रणाली का प्रयोग स्थानीय चुनावो के अतिरिक्त अन्य चुनावो में नही हो पाया है।

द्वितीय महायुद्ध ने इस आदोलन को और आगे वढाया, उदाहरणार्थ, फ्रास के चतुर्थ गणतत्रीय विधान ने सामान्य सूची को अपनी निर्वाचनविधि मे स्थान दिया। तदुपरात सीलोन, वर्मा और इडोनेशिया के नए विधानो ने एकल सक्रमणीय मतप्रणाली को अपनाया है। भारतवर्ष में लोक-प्रतिनिधान-अधिनियमो तथा नियमो (पीपुल्स रिप्रेजेंटेशन ऐक्ट्स ऐंड रेगुलेशस) के अतर्गत लगभग सारे चुनाव एकल सक्रमणीय मतप्रणाली द्वारा ही होते हैं। आनुपातिक प्रतिनिधान प्रणाली के पक्ष और विपक्ष मे वहुत से तर्क वितर्क दिए जा सकते हैं। इसमें तो सदेह नही कि सैद्धातिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से यह प्रणाली यदि यथार्थ रूप में लागू की जाय तो अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त कर सकती है। निस्सदेह यह समाज के सभी प्रमुख समूहो (ग्रूप्स) के प्रतिनिधित्व की रक्षा करती है। ऐसे देशो में जहाँ जातीय तथा सामाजिक अल्पसख्यक समूह हैं, इस प्रणाली का विशेष महत्व है।

आलोचको का यह कथन कि यह प्रणाली अधिक उलझी हुई है, कुछ तर्कयुक्त नही प्रतीत होता। प्रथम तो यह प्रणाली स्वय ही एक प्रकार की राजनीतिक शिक्षा का साधन है, और जहाँ तक उलझन तथा विषमता का प्रश्न है, उसको निपुण तथा सुयोग्य चुनाव अधिकारी की नियुक्ति से दूर किया जा सकता है। आनुपातिक प्रतिनिधान की एक आलोचना यह भी है कि यह राजनीतिक दलो की सख्या मे वृद्धि को प्रोत्साहन देती है, परिणामस्वरूप ससद में किसी एक दल का वहुसख्यक होना कठिन हो जाता है, जिससे अधिकाश मत्रिमडल सयुक्तदलीय तथा फलस्वरूप अस्थायी होते हैं। परतु वेलजियम तथा स्विट्ज़रलैंड जैसे देशो के राजनीतिक अनुभवो से यह तर्क निराधार प्रतीत होता है, क्योकि किसी देश की राजनीतिक दलपद्धति इतनी उस देश की निर्वाचनपद्धति पर निर्भर नही करती जितनी उस देश की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, जातीय, भाषा सवधी तथा राजनीतिक परिस्थितियो पर।

स०ग्र०—कामन्स, जे० आर० प्रोपोर्शनल रिप्रेजेंटेशन, फिनर, एच० द केस अगेंस्ट पी० आर०, होग, सी० जीऐंड जी०एच० हैलेट प्रोपोर्शनल रिप्रेज़ेंटेशन, हारविल, जी०पी० आर० रिप्रेज़ेंटेशन, इट्स डेजर्स ऐंड डिफेक्ट्स, हमफ्रीज़, जे० एच० प्रोपोर्शनल रिप्रेजेंटेशन।

[अ० ला० लु०]

आनुवंशिक तत्व

(जेनेटिक्स) जीवविज्ञान का वह विभाग है जिसका उद्देश्य आनुवशिकता (हेरेडिटी) और विभेद (वेरिएशन) के विषय में ज्ञान प्राप्त करना है। वास्तव में जीवविकास (आर्गेनिक एवोल्यूशन) और भ्रूणतत्व (एंब्रिऑलोजी) आनुवशिक तत्व से पृथक् विषय है, किंतु इनमें इतना घनिष्ठ सवध है कि ये अलग नही किए जा सकते।

आनुवशिक तत्व का मुख्य लक्ष्य यह ज्ञात करना है कि जो प्राणी जन्म के कारण एक दूसरे से सवधित हैं उनमें सादृश्य तथा विभिन्नता की उत्पत्ति क्यो और कैसे होती है। यह तो सभी जानते है कि सतान और माता पिता में सादृश्य होता है, किंतु इस सादृश्य (और साथ ही साथ विभिन्नता) का सतान में वँटवारा किस नियम के अधीन है, इसका ज्ञान सर्वप्रथम मेंडेल के प्रयोगो और उनकी व्याख्या से हुआ, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन दूसरे स्थान पर दिया गया है (देखिए आनुवशिकता)।

दूसरा महत्वपूर्ण अनुसधान जोहान्नसेन ने किया, जिसके प्रयोगो के कारण आनुवशिक (हेरेडिटरी) और अनानुवशिक विभिन्नता के अतर का यथेष्ट ज्ञान पहली वार हुआ।

पित्रागत विभिन्नता का एकमात्र कारण उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) है, यह एक तीसरा महत्वपूर्ण सिद्धात है जो अनेक अवलोकनो और प्रयोगो पर आश्रित है। सटन और मॉरगन तथा उसके सहयोगियो ने यह सिद्ध कर दिखाया कि पित्रागत पदार्थ (वह पदार्थ जिसके कारण माता पिता के गुणदोष सतान मे उत्पन्न होते है) केंद्रकसूत्रों (क्रोमोसोमो) में होता है। यह चौथा महत्वपूर्ण सिद्धात है।

आनुवशिक तत्व और केंद्रकसूत्रीय कोशिकातत्व मे घनिष्ठ पारस्परिक सवध है। पित्रैक (जीन) का पुन सयोजन मेंडेल ने प्रथम वार वताया और फिर यह ज्ञात हुआ कि केंद्रकसूत्रों में परोपगमन (क्रॉसिंग ओवर) के कारण यह पुन सयोजन होता है। [मु० ला० श्री०]

आनुवंशिकता

(अग्रेजी में हेरेडिटी) माता पिता तथा अन्य पूर्वजो से सतति में रूप, रग, स्वभाव तथा अन्य लक्षणो के आने को कहते हैं। वनस्पतियो तथा प्राणियो दोनो में आनुवशिकता महत्वपूर्ण है। प्रत्येक व्यक्ति के कुछ लक्षण आनुवशिक होते हैं, कुछ वातावरण तथा परिस्थितियो के कारण उत्पन्न होते हैं। परिस्थितिजनित लक्षणो का एक उदाहरण है अस्थिदौर्वल्य (रिकेट्स)। माता पिता में यह रोग गरीवी, निकृष्ट आहार, अस्वास्थ्यकर रहन सहन से हो सकता है और ये ही परिस्थितियाँ वच्चे में भी वही रोग उत्पन्न कर सकती हैं। कभी कभी यह निश्चित करना कठिन हो जाता है कि कोई विशेष लक्षण आनुवशिक है अथवा परिस्थितिजनित।

कोशिकाओ का पता लगने के वाद से आनुवशिकता का कारण कुछ समझ मे आने लगा। वनस्पतियाँ और प्राणी केवल एक कोशिका से जीवन आरभ करते हैं। कोशिका में जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) रहता है और साधारणत यह एक अति सूक्ष्म झिल्ली से घिरी रहती है। इसके भीतर एक केंद्रक (न्यू-क्लिअस) होता है। माता के गर्भ में जो नन्हाँ सा अड वनता है वह केवल एक कोशिका है। पुरुष का शुक्राणु भी अपना जीवन केवल एक कोशिका से प्रारभ करता है। अड और शुक्राणु के मिलने से ही नया प्राणी वनता है। दोनो के मिलने को निषेचन (फर्टिलाइज़ेशन) कहते है।

उन पौधो में, जिनमे नर और मादा पृथक् होते है, वीजाड और पराग के सयोग को निषेचन कहते हैं और इसी से नए पौधे का प्रारभ होता है। वनस्पतियो में वीजाड और पराग अथवा प्राणियो में जीवाड और शुक्राणु के सयोग से केवल एक कोशिका वनती है। यह वढकर दो कोशिकाओं में विभक्त हो जाती है। इनमें से प्रत्येक कोशिका वढकर स्वय दो टुकडो में विभाजित होती है और यह क्रिया लगातार चलती रहती है। प्रत्येक कोशिका मे माता पिता से प्राप्त लक्षणो के समस्त उत्पादक वर्तमान रहते हैं। इन उत्पादको को पित्रैक (जीन) कहते हैं। ये इतने छोटे होते हैं कि सूक्ष्मदर्शी द्वारा भी नही दिखाई पडते। अनुमान किया गया है कि साधारण प्रोटीन अणु की अपेक्षा एक पित्रैक का व्यास दसगुने से अधिक न होता होगा (देखे अणु)। अव सभी मानते है कि ये पित्रैक अलग नही रहते (जैसे वालू में उसके कण रहते हैं उस प्रकार नही), वे कुछ सूत्रो (तागो) की कोशिकाओ मे रहते हैं (जैसे इमली में उसके वीज)। ये सूत्र केद्रकसूत्र (क्रोमोसोम) कहलाते हैं, क्योकि ये व्यक्ति की कोशिका के केंद्रक के प्रमुख भाग हैं। प्रत्येक पौधे या प्राणी के लिये इन सूत्रो की सख्या अचल रहती है। जव अडाणु और शुक्राणु के सयोग के वाद नया प्राणी वनता है तभी से उसमें केंद्रकसूत्रो की सख्या ठीक वही हो जाती है जो उस जाति के प्राणियो के लिये अचल है। अधिकाश प्राणियो के केद्रकसूत्र इतने वडे होते हैं कि वे सूक्ष्मदर्शी में दिखाई पडते है।

अडाणु और शुक्राणु (अथवा वीजाणु और पराग) के वनने में पित्रैको का विशेष हेर फेर होता है, जिससे सगत लडियो के कुछ टुकडो मे अदल वदल हो जाता है। इस क्रिया की व्योरेवार चर्चा **कोशिकातत्व** शीर्षक लेख में मिलेगी। परतु जो केंद्रकसूत्र वनते हैं उनमें पित्रैको की सख्या पूरी रहती है। वास्तव मे प्रत्येक केद्रकसूत्र दोहरा रहता है, प्रत्येक आधे को हम यदि एक लडी कहें तो इन दो लडियो में पित्रैको की स्थितियाँ समान रहती हैं। यदि एक लडी मे एक पित्रैक व्यक्ति की ऊँचाई का नियत्रण करता है तो दूसरी लडी में उसका जोडीदार पित्रैक भी ऊँचाई का नियत्रण करता है, यद्यपि यह सभव है कि एक सूत्र में पित्रैक व्यक्ति को लवा वनानेवाला हो और दूसरे मे नाटा वनानेवाला।

नए प्राणी की प्रारभिक कोशिका में आधे केद्रकसूत्र माता से आते हैं, आधे पिता से। स्वय माता पिता को अपने माता पिता से पित्रैक मिले रहते हैं। इसलिये नए प्राणी को कौन कौन से पित्रैक मिलेंगे और फलत उसका

सापेक्ष वेग व से य-अक्ष की दिशा मे जा रहा है। मान ले कि किसी विंदु क के निर्देशाक प्रेक्षक प की पद्धति मे (य, र, ल) है और प्रेक्षक प की पद्धति मे (य′, र′, ल′)। यह भी मान लें कि जिस क्षण विंदु मू′ विंदु मू पर था उस क्षण से समय की गणना का प्रारभ हुआ। समय स के पश्चात् मू से मू′ की दूरी वस होगी। इसलिये समय ट पर

$$\left.\begin{array}{l} य' = य - व \times स \\ र' = र \\ ल' = ल \end{array}\right\} \quad \ldots \quad (१)$$

किंतु आपेक्षितावाद के अनुसार इस सबध मे परिवर्तन करना पडता है। निर्देशाक मापन मे जिस एकक का हम पद्धति प में उपयोग करेंगे उसकी लवाई केवल य की दिशा मे पद्धति प′ मे $\sqrt{(१-व^२/प्र^२)}$ होगी। इसलिये पूर्वोक्त समीकरणो के वदले निम्नलिखित समीकरण ठीक होगे

$$\left.\begin{array}{l} य' = \dfrac{य - व \times स}{\sqrt{(१-व^२/प्र^२)}} \\ र' = र \\ ल' = ल \end{array}\right\} \quad \ldots\ldots \quad (२)$$

समीकरण (२) को 'रूपातरण समीकरण' कहते हैं।

(२) समय की गणना करने के जो उपकरण होते है उनमे यात्रिकी के साधनो का उपयोग किया जाता है और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से हमारी समयगणना दिक् अथवा लवाई की गणना पर अवलवित रहती है। अत आपेक्षितावाद के अनुसार यदि लवाई के मापन मे वेग के कारण परिवर्तन होता है तो वेग के कारण समय के मापन मे भी परिवर्तन होना आवश्यक है।

ऊपर निर्दिष्ट रूपातरण समीकरण (२) केवल क्षणिक-विंदुओ के लिये यथार्थ होते हैं, किंतु किसी भी स्थान के लिये समय से स्वतत्र नही होते। इसका अर्थ यह हुआ कि इन समीकरणो मे जो समय का क्षण स आता है उसका वास्तविक स्वरूप एक निर्देशाक जैसा है। किसी स्थान को निश्चित करने के लिये जिस प्रकार (य, र, ल) इन तीन निर्देशाको की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार किसी घटना को निश्चित करने के लिये समय की आवश्यकता होती है, अत इन तीन निर्देशाको के साथ समय स भी युक्त करना पडेगा। यदि पद्धति प मे किसी घटना के निर्देशाक (य, र, ल, स) हो तो पद्धति प′ में उनके सगत निर्देशाक (य′, र′, ल′, स′) होगे, जिनमे क्रमानुसार य′, र′, ल′ के य, र, ल से सबध समीकरण (२) द्वारा प्राप्त होते है। स तथा स′ का परस्पर सबध निकालने के लिये पुन आपेक्षितावाद की सहायता लेनी होगी। माइकेलसन-मॉर्ले के प्रयोग का फल मूलभूत समझकर चलना अधिक सरल होगा। माइकेलसन-मॉर्ले के प्रयोग के अनुसार प्रकाश की गति सर्वनिर्देशाक-पद्धतियो मे (उदाहरणार्थ पूर्वोक्त पद्धतियो प, प′ मे) समान होती है।

हम कल्पना करेंगे कि समय स = ० पर मू तथा मू′ (चित्र १) अभिन्न थे और ठीक उसी समय पर प्रकाश की एक किरण य-अक्ष की दिशा मे निकलती है। पद्धति प′ पद्धति प के सापेक्ष य-अक्ष की दिशा मे समान वेग व से जा रही है, अत कुछ समय पश्चात् यह किरण जिस स्थान पर पहुँचेगी उसके निर्देशाक इस प्रकार के होगे —

पद्धति प′ मे (य′, र′, ल′) समय स′ के पश्चात्।
पद्धति प मे (य, र, ल) समय स के पश्चात्।

माइकेलसन-मॉर्ले के प्रयोगानुसार इन दोनो पद्धतियो में प्रकाश का वेग समान होगा। अत

$$प्र^२ = \frac{य^२}{स^२} = \frac{य'^२}{स'^२}$$

अर्थात् $प्र^२ \times स^२ - य^२ = प्र^२ \times स'^२ - य'^२$।

समीकरण (२) के अनुसार य के स्थान पर $\dfrac{य - व \times स}{\sqrt{(१-व^२/प्र^२)}}$ प्रतिस्थापित करने के पश्चात् निम्नलिखित समीकरण मिलता है

$$स' = \frac{स - वय/प्र^२}{\sqrt{(१-व^२/प्र^२)}} \quad \ldots \quad (३)$$

इस समीकरण मे स तथा स′ का जो परस्पर सबध निश्चित होता है उसमे व भी आता है। अब समीकरण (२) तथा (३) को एकत्रित करने से, दिक् के तीन निर्देशाक और समय, इन चारो, के सबध के लिये निम्नलिखित चार समीकरण मिलते हैं :

$$\left.\begin{array}{l} य' = \dfrac{य - व \times स}{\sqrt{(१-व^२/प्र^२)}} \\ र' = र \\ ल' = ल \\ स' = \dfrac{स - वय/प्र^२}{\sqrt{(१-व^२/प्र^२)}} \end{array}\right\} \quad \ldots \quad (४)$$

समीकरण (४) को लोरेंट्ज का रूपातरण समीकरण अथवा सूत्र कहते हैं। लोरेंट्ज़ के समीकरण आपेक्षितावाद के पहल ही प्राप्त किए गए थे, किंतु उनका पूरा महत्व उस समय लोगो ने नही समझा था।

(३) लोरेंट्ज के रूपातरण समीकरणो से डाप्लर परिणाम (डॉप्लर एफेक्ट), प्रकाशविपथन इत्यादि अन्य फल प्रमाणित किए जा सकते हैं। फिर फीज़ो ने प्रवाहित पानी मे प्रकाश का जो वेग प्रयोग से नापा था, उसके मान का समर्थन आपेक्षितावाद से सरलता से होता है। वेग तथा त्वरण के लिये भी रूपातरण सूत्रो की आवश्यकता होती है। लोरेंट्ज़ के रूपातरण समीकरणो से ये सूत्र सरलता से प्राप्त हो सकते हैं।

आपेक्षितावाद में द्रव्यमान तथा ऊर्जा—यात्रिकी मे आपेक्षितावाद का उपयोग करने से एक और महत्वपूर्ण फल मिलता है। दिक् तथा समय के साथ साथ भौतिकी में द्रव्यमान का भी महत्वपूर्ण स्थान है। वेग तथा समय आपेक्षिक हैं और उनके सबध समीकरण (४) से प्राप्त होते हैं। आपेक्षितावाद के मूल तत्वो का यात्रिकी मे उपयोग करने से (विशेषत ऐसे प्रयोगो मे जहाँ द्रव्यमान का सबध आता है—उदाहरणार्थ, दो आदर्श प्रत्यास्थ गोलो के सघात मे) यह फल प्राप्त होता है कि जैसे लबाई वेग पर निर्भर है वैसे ही द्रव्यमान भी वेग पर निर्भर है। किसी एक निर्देशपद्धति के सापेक्ष विश्राति स्थिति मे एक पिंड का द्रव्यमान यदि $म_०$ हो, तो जब वह पिंड वेग व से चलता रहता है तब उसके द्रव्यमान मे निम्नलिखित समीकरण के अनुसार वृद्धि होती है

$$म_व = \frac{म_०}{\sqrt{(१-व^२/प्र^२)}}। \quad \ldots \quad (५)$$

समीकरण (५) से यह स्पष्ट है कि द्रव्यमान पिंड का अचर गुण नही है, क्योकि उसमें वेग के अनुसार परिवर्तन होता है। आपेक्षितावाद के पहले द्रव्यमान के विषय मे जो धारणा थी उसमे गभीरता से विचार करने की आवश्यकता समीकरण (५) से उत्पन्न हुई।

इस विचारधारा को आगे बढाने से द्रव्यमान तथा ऊर्जा के सबध मेभी विलक्षण परिणाम मिलता है। यात्रिकी के अनुसार यदि द्रव्यमान म का पिंड वेग व से गतियुक्त हो तो उसकी गतिज ऊर्जा $\frac{१}{२}मव^२$ होती है। सापेक्षतावाद के अनुसार वेग के कारण द्रव्यमान मे वृद्धि होती है और साथ साथ समानुपाती गतिज ऊर्जा भी प्राप्त होती है। इस धारणा को गणित की सहायता से विस्तृत करने पर यह फल प्राप्त होता है कि जिस पिंड का द्रव्यमान म है उसकी सपूर्ण ऊर्जा $म \times प्र^२$ होती है, अर्थात्

$$ऊ = म\ प्र^२ \quad \ldots \quad (६)$$

द्रव्यमान तथा ऊर्जा का परस्पर सबध समीकरण (६) से स्पष्ट होता है। अत द्रव्यमान तथा ऊर्जा ये एक ही वस्तु के केवल दो विभिन्न स्वरूप हैं और द्रव्यमान का ऊर्जा में अथवा ऊर्जा का द्रव्यमान मे परिवर्तन हो सकता है। किसी पदार्थ से ऊर्जा का विकिरण होता हो तो समीकरण (६) के अनुरूप उसका द्रव्यमान घटता जायगा (उदाहरणार्थ सूर्य का)। किसी भौतिक घटना मे केवल द्रव्यमान की अविनाशिता अथवा केवल ऊर्जा की अविना-

पौधो से सकर सतति उत्पन्न की, इत्यादि। इन प्रयोगो से पता चला कि इन सब पौधो में पीले और हरे रगो के लिये वही नियम लागू होता है जो गोल और सिकुडे रूपो का झमेला न रहने से होता। इसी प्रकार उसने देखा कि गोल और सिकुडे वीजो पर वही नियम लागू होता है जो रगो का झमेला न रहने से होता। यदि पीला रग उत्पन्न करनेवाले पित्रैक का नाम **पी** रखा जाय, हरावाले के लिये ह, गोल के लिये **गो** और सिकुडे के लिये **सि**, तो माता पिता में से एक में, मान लें पिता में, सिद्धात के अनुसार (आगे देखे) **पी, पी, गो, गो** रहेंगे और माता में ह, ह, सि, सि। इनमे से १६ प्रकार के चयन हो सकते है। द्वितीय पुत्रीय पीढी में ये सब चयन विद्यमान रहेंगे, अवश्य ही कोई कम सख्या में, कोई अधिक सख्या में। प्रत्येक चयन के लिये पित्रैक के तिरोधायक और तिरोहित होने पर ध्यान देकर हम वता सकते हैं कि पौधे मे वीज का रग और रूप कसा होगा। नीचे की सारणी में दिखाया गया है कि प्रथम पुत्रीय पीढी के पीले गोल वीजवाले पौधो के स्वयनिषेचन से किस प्रकार के पौधे कितने उत्पन्न होते हैं।

९ ३ ३ १ का अनुपात सभाविता-सिद्धात (थ्योरी ऑव प्रॉवेविलिटीज़) से अपेक्षित भी है। गोले और सिकुडे आकार के वीजवाले पौधे पु२ में ३ १ के अनुपात मे प्रकट होते है और पीले और हरे वीजवाले पौधे भी इसी ३ १ के अनुपात मे उत्पन्न होते हैं। तो सभावना के नियम के अनुसार ये दोनो जोडेवाले प्राणी (३ १) (३ १)=९ ३ ३ १ के अनुपात में प्रकट होगे, जिनमें ९ पौधो में दोनो तिरोधायक लक्षण (पीला और गोल) होगे, ३ पौधो में एक तिरोधायक और दूसरा तिरोहित गुण (पीला और सिकुडा) होगा, ३ मे भी इसका उलटा एक तिरोधायक और दूसरा तिरोहित गुण होगा (हरा और गोल) और १ में दोनो लक्षण तिरोहित (हरा और सिकुडा) होगे।

ऊपर वताया जा चुका है कि मेंडेल के नियम केवल तभी ठीक होते हैं जब पौधो (या व्यक्तियो) की सख्या पर्याप्त वडी हो। वडी सख्याओ की आवश्यकता को हम एक उदाहरण से समझा सकते हैं। सभी जानते हैं कि एक रुपए को वार वार उछालने पर लगभग आधी वार यह पट गिरता है आधी वार चित, परतु इससे यह तो नही कहा जा सकता कि केवल दो उछाल में एक में पट गिरेगा, एक में चित। हाँ, यदि एक हज़ार वार उछाला जाय तो इनमें से लगभग आधी वार पट और आधी वार चित आने की पूरी सभावना है। यह देखना रोचक होगा कि मेंडेल ने किन सख्याओ पर अपने नियम वनाए। कुछ प्रयोगो की वास्तविक सख्याएँ ये हैं

लक्षण	तिरोधायक		तिरोहित		योग
	सख्या	प्रतिशत	सख्या	प्रतिशत	
वीज का रूप	५४७४	(७४ ७४)	१८५०	(२५ २६)	७३२४
वीजपत्र का रग	६०२२	(७५ ०६)	२००१	(२४ ९४)	८०२३
वीज के छिलके और फूलो का रग	७०५	(७५ ८९)	२२४	(२४ ११)	९२९
फली का रूप	८८२	(७४ ६८)	२९९	(२५ ३२)	११८१
फली का रग	४२८	(७३ ७९)	१५२	(२६ २१)	५८०
फलियो की जगह	६५१	(७५ ८७)	२०७	(२४ १३)	८५८
तने की ऊँचाई	७८७	(७३ ९६)	२७७	(२६ ०४)	१०६४
योग	१४,९४९	(७४ ९०)	५०१०	(२५ १०)	१९९५९

इस सारणी से निम्नलिखित अनुपात प्राप्त होते है

पीला और गोल	हरा और गोल	पीला और सिकुडा	हरा और सिकुडा
३१५	१०८	१०१	३२

स्पष्ट है कि यह अनुपात ९ ३ ३ १ के वहुत निकट है।

परतु मेंडेल के वाद शीघ्र ही जननविज्ञो को यह ज्ञात हुआ कि मेंडेल का दूसरा सिद्धात प्रत्येक दो जोडी लक्षणो के लिये ठीक नही है। मीठे मटर (लेथाइरस ओडोरेटस) मे यह देखा गया कि फूल का वैंगनी रग तिरोधायक है और लाल तिरोहित, तथा इनके पित्रैक दूसरी पुत्रीय पीढी में ३ १ के अनुपात मे पाए जाते हैं। इसी तरह लवा पराग तिरोधायक और गोल पराग तिरोहित है तथा इन लक्षणोवाले प्राणी भी द्वितीय पुत्रीय पीढी में ३ १ के अनुपात मे मिलते हैं, परतु जव ये दोनो पित्रैकयुग्म एक साथ रहते है तो द्वितीय पुत्रीय पीढी मे ९ ३ ३ १ का अनुपात नही मिलता। वेटसन और पैनट को अपने प्रयोगो में निम्नलिखित अनुपात मिला

वैंगनी और लवा	वैंगनी और गोल	लाल और लवा	लाल और गोल
१५२८	१०६	११७	३८१

जो ९ ३ ३ १ से वहुत भिन्न है।

इसका कारण मॉरगन (१९११) और उसके सहयोगियो के प्रयोगो से ज्ञात हुआ। इन जननविज्ञो ने सामान्य कदलीमक्षी (ड्रौसौफिला मेलानोगैस्टर) पर प्रयोग किया। उन्होने यह देखा कि सब पित्रैक चार समूहो में वँटे हुए हैं। एक समूह का कोई पित्रैक अन्य समूहो के पित्रैको के साथ पूर्ण स्वतत्रता से पुराने और नए सयोजन मे युक्त अथवा वियुक्त होता है, परतु एक समूह के कोई दो पित्रैक वियुक्त होने मे एक दूसरे से स्वतत्र नही होते। इसका कारण यह वताया गया कि केंद्रकसूत्रो पर पित्रैको की स्थिति निश्चित रहती है और सतति मे एक ही केंद्रकसूत्र पर स्थित दो पित्रैको के साथ पहुँच जाने की सभावना अधिक रहती है और इस प्रकार सतति मे इन पित्रैको के पहुँचने मे पूर्ण स्वतत्रता नही रहती। केवल पूर्ण स्वतत्रता रहने पर ही ९ ३ ३ १ का मेंडलीय अनुपात प्राप्त होता है। इतना ही नही, एक ही केंद्रकसूत्र पर स्थित पित्रैक एक दूसरे के जितना ही निकट रहेंगे उतना ही सतति में उनके एक साथ पहुँचने की सभावना अधिक होगी। यह सिद्धात यहाँ तक विश्वसनीय निकला कि इसके आधार पर मानचित्र भी वनाया जा सका कि केंद्रकसूत्र पर विविध गुणवाले पित्रैक किस क्रम में आते हैं। एक सूत्र पर रहनेवाले पित्रैक ग्रथित-पित्रैक (लिंक्ड जीन्स) कहलाते है।

पित्रैको का केंद्रकसूत्रो पर रहना निम्नलिखित रीति से जाना गया। कदलीमक्षी के सब पित्रैक (जिनका जननविज्ञो को ज्ञान था) आनुवशिकता के विचार से चार समूहो में विभाजित पाए गए और इस मक्षी मे चार जोडे केंद्रकसूत्र (क्रोमोसोम्स) देखे गए। इसके अतिरिक्त यह भी पाया गया कि केंद्रकसूत्रो पर मेंडल के दोनो नियम लागू होते है। इससे यह परिणाम निकाला गया है कि पित्रैक केंद्रकसूत्र पर स्थित रहते हैं। यह आनुवशिकता का केंद्रकसूत्र सिद्धात है जिसको मौरगन और उसके सहकारियो ने स्थापित किया।

मातापिता के सयोग से लडका उत्पन्न होगा या लडकी, अर्थात् सतति का लिंग (सेक्स) क्या होगा और लिंग के सवध मे आनुवशिकता के नियम क्या है, इसपर भी वहुत खोज हुई है और कुछ महत्वपूर्ण वातें ज्ञात हुई हैं। लिंग सवधी कुछ गुण विशेष केंद्रकसूत्रो मे रहते है जिन्हें लिंग केंद्रकसूत्र कहते हैं और सुविधा के लिये जिन्हे x (एक्स) से सूचित किया जाता है। प्राणियो के कई समूहो मे (स्तनधारियो और कई कीटो में) दो एक्स केंद्रकसूत्रो से स्त्री उत्पन्न होती है, एक से नर। इस प्रकार स्त्री xx होती है, नर x। सतति में स्त्री से साधारण नियम के अनुसार एक x आता है, परतु आधा x सतति मे जा नही सकता। इसलिये सतति मे किसी मे पिता से एक समूचा x पहुँच जाता है, किसी मे एक भी नही। इस प्रकार सतति मे किसी के हिस्से मे xx पडता है और वह स्त्री होती है, किसी के हिस्से मे केवल x पडता है और वह नर होता है। पिता के शुक्राणु वस्तुत दो प्रकार के होते हैं, लगभग आधे में x रहता है, शेष मे नही। माता से वने सभी अडाणुओ में x रहता है। सभाविता सिद्धात के अनुसार ऐसा होगा कि अडाणु से आधी वार x वाला शुक्राणु मिलेगा, आधी वार x-रहित शुक्राणु मिलेगा। अर्थात् लगभग आधे पुत्र उत्पन्न होगे, आधी कन्याएँ। ससार में ऐसा होता भी है और यह नियम सभी प्राणियो और पौधो पर लागू होता है। यदि किसी दपति को सात कन्याएँ उत्पन्न हो और पुत्र एक भी नही, तो यह न समझना चाहिए कि पति या पत्नी मे कोई दोष है, यह केवल सयोग की वात है कि प्रत्येक वार कन्या उत्पन्न हुई। सभाविता सिद्धात के अनुसार २^७ अर्थात्

(य, र, ल) इन तीन निर्देशाको से (अथवा आयामो से) जिस प्रकार विंदु अथवा एक स्थान निश्चित होता है, वैसे ही दो विंदु, $(\text{य}_{१}, \text{र}_{१}, \text{ल}_{१})$ और $(\text{य}_{२}, \text{र}_{२}, \text{ल}_{२})$ के वीच की लवाई भी निश्चित होती है। चतुरायाम सतति मे दिक् के (य, र, ल) इन तीन आयामो के साथ जव समय भी जोडा जाता है तव समय का आयाम रूप $\sqrt{(-१)}$ **स प्र** आता है, जहाँ स=समय और प्र= प्रकाश का वेग है। एक प्रेक्षक के लिये एक विश्वघटना के निर्देशाक (य, र, ल, स) हो तो उस प्रेक्षक के सापेक्ष गतिमान् दूसरे प्रेक्षक के लिये उसी घटना के निर्देशाक (य', र', ल', स') होगे। लोरेट्ज के रूपातरण नियम यदि यथार्थ हो तो सिद्ध किया जा सकता है कि

$$\text{य}'^{२}\text{र}'^{२}\text{ल}'^{२} - \text{प्र}^{२}\text{स}^{२} = \text{य}^{२}\,\text{र}^{२}\,\text{ल}^{२} - \text{प्र}^{२}\,\text{स}^{२}\text{।} \qquad (९)$$

समीकरण (९) मे चतुर्थ निर्देशाक $\sqrt{(-१)}$ **प्रस**, आता है जिसमे $\sqrt{(-१)}$ काल्पनिक सख्या है।

समीकरण (९) का विकास करके किसी भी प्रकार की गति के लिये इसी प्रकार की किंतु अत्यधिक समिश्र पदसहतियाँ मिलती है। इसके लिये निश्चलो (इन्वेरिएट्स) और आतानको (टेन्सर्स) के सिद्धातो की आवश्यकता होती है। मौलिक कल्पनाओ का इस रीति से विस्तार करने पर व्यापक आपेक्षिता सिद्धात मे गुरुत्वाकर्षण स्वभावत आता है। उसके लिये विशिष्ट परिकल्पनाओ की आवश्यकता नही होती है।

व्यापक आपेक्षितावाद के फलो का प्रमाण—अनेक घटनाओ के फल आइंस्टाइन प्रणीत व्यापक आपेक्षितावाद के अनुसार तथा न्यूटन प्रणीत प्रतिष्ठित यात्रिकी के अनुसार समान ही होते हैं। किंतु ज्योतिष मे जब व्यापक आपेक्षितावाद का उपयोग किया गया तव तीन घटनाओ के फल प्रतिष्ठित यात्रिकी के अनुसार निकले फलो से कुछ भिन्न रहे। इन तीन फलो से व्यापक आपेक्षितावाद की कसौटी का काम ले सकते है। ये तीन फल इस प्रकार है

(१) अनेक वर्षो से यह ज्ञात था कि बुध ग्रह की प्रत्यक्ष कक्षा न्यूटन के सिद्धातो के अनुसार नही रहती। गणना के पश्चात् यह प्रमाणित हुआ कि व्यापक आपेक्षितावाद के क्षेत्र-समीकरणो के अनुसार बुध ग्रह की जो कक्षा आती है वह प्रेक्षित कक्षा के अनुरूप है। उसी प्रकार पृथ्वी की प्रत्यक्ष कक्षा भी न्यूटन के सिद्धातो के अनुसार नही है, किंतु पृथ्वी की कक्षा मे त्रुटि बुध ग्रह की कक्षा की त्रुटि से बहुत कम है। तो भी कहा जा सकता है कि पृथ्वी की कक्षा की गणना मे भी व्यापक आपेक्षितावाद सफल रहा। अत इन विशाल मापक्रम की घटनाओ मे जहाँ प्रतिष्ठित यात्रिकी असफल थी वहाँ व्यापक आपेक्षितावाद सफल रहा।

(२) व्यापक आपेक्षितावाद की दूसरी कसौटी प्रकाश की वक्रीयता है। प्रकाश की किरणे जब तीव्र गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र मे से होकर जाती हैं, तब व्यापक आपेक्षितावाद के अनुसार उनका पथ अल्प मात्रा मे वक्र हो जाता है। प्रकाश ऊर्जा का ही एक स्वरूप है। अत ऊर्जा एव द्रव्यमान के सबध के अनुसार (समीकरण ६) प्रकाश मे भी द्रव्यमान होता है और द्रव्यमान को आकर्षित करना गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र का गुण होने के कारण प्रकाशकिरण का पथ ऐसी स्थिति मे स्वल्प मात्रा मे टेढा हो जाता है। इस फल की परीक्षा केवल सर्व सूर्यग्रहण के समय हो सकती है। किसी तारे का प्रकाश सूर्य के निकट से होकर निकले तो प्रकाश के मार्ग को अल्प मात्रा मे वक्र हो जाना चाहिए और इसलिये तारे की आभासी स्थिति बदल जानी चाहिए। व्यापक आपेक्षिता के इस फल को नापने का प्रयत्न १९१९, १९२२, १९२७, १९४७ इत्यादि वर्षो मे सर्व सूर्यग्रहणो के समय किया गया। पता चला कि प्रकाश-किरण के पथ की मापित वक्रता और व्यापक आपेक्षितावाद के अनुसार निकली वक्रता मे इतना सूक्ष्म अतर है कि हम यह कह सकते है कि ये प्रेक्षण व्यापक आपेक्षितावाद का समर्थन करते हैं।

(३) व्यापक आपेक्षितावाद की तीसरी परीक्षा गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र के कारण वर्ण-क्रम-रेखाओ (स्पेक्ट्रॉस्कोपिक लाइस) का स्थानातरण है। इस वाद के अनुसार जो तारे तीव्र गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र मे है उनके किसी विशेष तत्व के परमाणुओ से निकले प्रकाश का तरगदैर्घ्य पृथ्वी के उसी तत्व के परमाणुओ के प्रकाश-तरग-दैर्घ्य से अधिक होगा। अत तारे के किसी एक तत्व के प्रकाश के वर्णाक्रम और प्रयोगशाला मे प्राप्त उसी तत्व के वर्णाक्रम की तुलना से तरगदैर्घ्य के परिवर्तन का मापन हो सकता है। अनेक निरीक्षणो के फल व्यापक आपेक्षितावाद के अनुरूप है, यद्यपि कुछ प्रेक्षको (फ्रॉएड-लिख आदि) के अनुसार सब फल व्यापक आपेक्षितावाद के अनुरूप नही है।

व्यापक आपेक्षितावाद के अन्य फल और विस्तार—आपेक्षिता सिद्धात को और आगे बढाकर आइंस्टाइन ने १९१७ मे यह प्रमाणित किया कि आपेक्षिता-क्षेत्र-समीकरणो मे यदि एक अधिक पद (विश्व सबधी पद) जोड दिया जाय तो उनके परिणामो मे एक फल ऐसा होगा जिसमे सपूर्ण विश्व का सबध आता है। इस आधार पर आइंस्टाइन ने विश्व की एक कल्पना बनाई। उसी वर्ष डब्ल्यू० डी० सिटर ने दूसरा उत्तर निकालकर दूसरी कल्पना बनाई। यहाँ से विश्ववाद (कॉस्मॉलोजी) का प्रारभ हुआ और वर्तमान काल मे वह भौतिकी का एक अत्यत महत्वपूर्ण और रोचक विभाग हो गया है। विशाल व्यास के दूरदर्शी यत्रो द्वारा हमारी दृष्टि अधिक दूरी तक जाने लगी है और अज्ञात विश्व वैज्ञानिको के दृष्टिपथ मे आने लगा है। दूरस्थ विश्व की मापो से विश्व के सबध मे हमारा ज्ञान बढता गया है और नवीन सिद्धातो एव नियमो की आवश्यकता पडने लगी है। अनेक नीहारिकाओ के प्रेक्षण से यह फल मिला है कि नीहारिकाएँ अपने अपने विशिष्ट वेगो से एक दूसरी से दूर जा रही है (देखिए **नीहारिका**)। यह पाया गया है कि नीहारिका की दूरी जितनी अधिक रहती है उतना ही उसका वेग भी अधिक होता है। इसको हबल का नियम कहते है। किसी भी विश्ववाद मे हबल का नियम, विश्व का घनत्व, विश्व की आयु, विश्व का विस्तार इत्यादि विषयो का समावेश होना आवश्यक है। इस विषय मे फ्रीडमन, एडिंग्टन, ला मैत्रे, रावर्टसन इत्यादि वैज्ञानिको न गवेषणा की है। यद्यपि हमारा सपूर्ण विश्व सबधी ज्ञान बहुत कुछ अधूरा है, तथापि जितना उपलब्ध है उससे इतना स्पष्ट है कि विश्व की समस्या अत्यत जटिल है। आपेक्षितावाद से इन जटिलताओ पर यद्यपि थोडा बहुत प्रकाश डाला जाता है, तथापि अनेक जटिलताएँ अभी हल होनी है और नवीन कठिनाइयो के समुख आने की सभावना है।

आपेक्षितावाद ने यात्रिकी तथा गुरुत्वाकर्षण को एकीकृत किया, किंतु विद्युच्चुबकीय बल, नाभिकीय बल इत्यादि अनेक बल अभी भी पृथक् है और उनके विषय मे आपेक्षितावाद से सहायता नही मिल सकती है। आदर्श सिद्धात वही होगा जिसमे समस्त ज्ञात घटनाओ का समावेश होगा। आइंस्टाइन ने स्वय गुरुत्वाकर्षणीय बल, विद्युच्चुबकीय बल तथा नाभिकीय बल इन तीनो को एकसूत्रित करके दिक्काल सतति मे प्रतिबिंवित करने के प्रयत्न किए, किंतु इस प्रकार का सिद्धात प्रतिपादित करने के सब प्रयत्न असफल रहे।

स०ग्र०—ऐल्बर्ट आइंस्टाइन रिलेटिविटी, स्पेशल ऐंड दि जेनरल थ्योरी, ऐल्बर्ट आइंस्टाइन दि मीनिंग ऑव रिलेटिविटी, सर आर्थर एडिंगटन दि मैथिमैटिकल थ्योरी ऑव रिलेटिविटी, सी० मोलर दि थ्योरी ऑव रिलेटिविटी। [दे० र० भ०]

आपेलीज़ प्राचीन पश्चिमी जगत् का सभवत सबसे महान् चित्रकार। वह चौथी शताब्दी ई० पू० मे हुआ और फिलिप तथा सिकदर (पिता पुत्र) का समकालीन था, मकदूनिया का दरवारी कलाकार। वज्रधारी सिकदर का उसका चित्र लिसिपस द्वारा कोरी मल्लधारी सिकदर की मूर्ति से कम महत्व का नही था। उसके मकदूनिया मे बनाए अनेक चित्रो के नाम और असामान्य प्रशसा प्राचीन इतिहासो मे सुरक्षित है, यद्यपि इनमे से किसी एक की भी असल या नकल प्रति आज उपलब्ध नही।

[भ० श० उ०]

आप्तप्रमाण आप्त पुरुष द्वारा किए गए उपदेश को 'शब्द' प्रमाण मानते हैं। (आप्तोपदेश शब्द, न्यायसूत्र १।१।७)। आप्त वह पुरुष है जिसने धर्म के और सब पदार्थो के यथार्थ स्वरूप को भली भाँति जान लिया है, जो सब जीवो पर दया करता है और सच्ची बात कहने की इच्छा रखता है। न्यायमत मे वेद ईश्वर द्वारा प्रणीत ग्रथ है और ईश्वर सर्वज्ञ, हितोपदेष्टा तथा जगत् का कल्याण करनेवाला है। वह सत्य का परम आश्रय होने से कभी मिथ्या भाषण नही कर सकता और इसलिये ईश्वर सर्वश्रेष्ठ आप्त पुरुष है। ऐसे ईश्वर द्वारा मानवमात्र के मगल के निमित्त निर्मित, परम सत्य का प्रतिपादक वेद आप्तप्रमाण या शब्दप्रमाण

न्याय के मुख्य आचार्य हैं गौतम, वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, जयत भट्ट, भा सर्वज्ञ तथा उदयनाचार्य। नव्यन्याय के आचार्य हैं गगेश उपाध्याय, पक्षधर मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि, मथुरानाथ, जगदीश भट्टाचार्य तथा गदाधर भट्टाचार्य। इन दोनो धाराओ के मध्य बौद्ध न्याय तथा जैन न्याय के अभ्युदय का काल आता है। बौद्ध नैयायिको मे वसुवधु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति के नाम प्रमुख हैं।

स०ग्र०--डा० विद्याभूषण हिस्ट्री ऑव लाजिक, कलकत्ता, १९२५। [व० उ०]

आपत्तिखंडन (अपोलोजेटिक्स)

ईसाई धर्मशास्त्र मे धार्मिक सिद्धातो या विश्वासो के समर्थन मे लिखे गए निबधो को सामूहिक रूप में 'अपोलोजेटिक्स' का नाम दिया गया। इस शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक 'अपोलोजेटिकोस्' से है जिसका अर्थ है समर्थन के योग्य वस्तु'। ग्रेट ब्रिटेन मे इस प्रकार के धार्मिक साहित्य को 'एविडेन्सेज़ ऑव रेलिजन' (धर्म के प्रमाण) भी कहते हैं, परतु अधिकतर ईसाई देशो मे अपोलोजेटिक्स शब्द ही सामान्यत प्रचलित है।

वैसे तो किसी भी धर्म के अपौरुषेय अग की हिमायत 'अपोलोजेटिक्स' के क्षेत्र मे आती है, लेकिन धार्मिक साहित्यपरपरा मे कथोलिक सिद्धातो के समर्थन मे ही इस शब्द का प्रयोग किया गया है। आधुनिक युग मे जर्मनी के अतिरिक्त किसी अन्य देश में यह परपरा सशक्त नही रही। इस तरह कि साहित्य का अब निर्माण नही होता और न उसकी आवश्यकता ही रह गई है। रोमन नागरिको, अधिकारियो तथा लेखको द्वारा ईसा मसीह के उपदेशो के विरुद्ध की गई आपत्तियो का खडन करना ही 'अपोलोजेटिक्स' का उद्देश्य था। इस उद्देश्य से ईसाई धर्मपडितो ने लबे 'पत्र' लिखे जिनमें से अधिकतर तत्कालीन रोमन सम्राटो को सबोधित किए गए। इस प्रकार के पत्र को 'अपोलोजी' कहते थे।

सबसे पहली 'अपोलोजी' क्वाद्रेतस ने सम्राट् हाद्रियन (११७ से १३८ ई० तक) के नाम लिखी, उसके बाद परिस्टिडीज और जस्तिन ने सम्राट् अतोनाइनस (सन् १३८ से १६१ तक) के नाम ऐसे ही पत्र लिखे। इनमे जस्तिन की अपोलोजी सबसे अधिक ख्यातिप्राप्त है। यद्यपि इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक अशुद्धियाँ हैं, फिर भी ईसाई धर्म के अनेक विवादग्रस्त सिद्धातो का इसमे प्रभावशाली समर्थन मिलता है। सम्राट् मार्कस ओरिलियस (सन् १६९ से १७७ तक) के शासनकाल मे, मेलितो तथा एपोलिनेरिस की रचनाओ मे, 'अपोलोजेटिक्स' का चरम विकास हुआ। इसके बाद भी सदियो इस तरह के लेख लिखे गए, परतु उनका विशेष महत्व नही है। मध्ययुगीन अपोलोजेटिक्स में कृत्रिमता और शाब्दिक ऊहापोह तर्क की अपेक्षा अधिक है।

जिन ऐतिहासिक पुस्तको मे 'अपोलोजेटिक्स' का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है उनमें यूसीबिअस का ग्रथ 'क्रिश्चियन चर्च का इतिहास' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। [वि० श्री० न०]

आपस्तंब

ये सूत्रकार हैं, ऋषि नही। वैदिक सहिताओ में इनका उल्लेख नही पाया जाता। आपस्तबधर्मसूत्र में सूत्रकार ने स्वय अपने को 'अवर' (परवर्ती) कहा है (१ २ ५ ४)। इनके नाम से कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का आपस्तबकल्पसूत्र पाया जाता हे। यह ग्रथ ३० प्रश्नो मे विभाजित है। इसके प्रथम २४ प्रश्नो को आपस्तबश्रौतसूत्र कहते हैं जिनमें वैदिक यज्ञो का विधान है। २५वें प्रश्न मे परिभाषा, प्रवरखड तथा हौत्रक मत्र हैं, इसके २६वें और २७वे प्रश्नो को मिलाकर आपस्तब गृह्यसूत्र कहा जाता है जिनमे गृह्यसस्कारो और धार्मिक क्रियाओ का वर्णन है। कल्पसूत्र के २८वें और २९वें प्रश्न आपस्तबधर्मसूत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। ३०वाँ प्रश्न शुल्वसूत्र कहलाता है। इसमे यज्ञकुड और वेदिका की माप का वर्णन है। रेखागणित और वास्तुशास्त्र का प्रारभिक रूप इसमे मिलता है।

समाजशास्त्र, शासन और विधि की दृष्टि से आपस्तबधर्मसूत्र विशेष महत्व का है। यह दो प्रश्नो मे और प्रत्येक प्रश्न ११ पटलो में विभक्त है। प्रथम प्रश्न मे निम्नलिखित विषयो का वर्णन है धर्म के मूल--वेद तथा वेदविदो का शील, चार वर्ण और उनका वरीयताक्रम, आचार्य, उपनयन का समय और उसकी अवहेलना के लिये प्रायश्चित्त, ब्रह्मचारी का कर्तव्य, ब्रह्मचर्यकाल--४८, ३६, २५ अथवा १२ वर्ष, ब्रह्मचारी की जीवनचर्या, दड, मेखला, अजिन, भिक्षा, समिधाहरण, अग्न्याधान, ब्रह्मचारी के व्रत, तप, आचार्य तथा विभिन्न वर्णों को प्रणाम करने की विधि, ब्रह्मचर्य समाप्त होने पर गुरुदक्षिणा, स्नान और स्नातक, वेदाध्ययन तथा अनध्याय, पचमहायज्ञ--भूतयज्ञ, नृयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ तथा ऋषियज्ञ, सभी वर्णो के साथ शिष्टाचार, यज्ञोपवीत, आचमन, भोजन तथा पेय, निषेध, ब्राह्मण के लिये आपद्धर्म--वणिक्कर्म, कुछ पदार्थों का विक्रय वर्जित, पतनीय--चौर्य, ब्रह्महत्या अथवा हत्या, भ्रूणहत्या, निषिद्ध सबध में योनिसबध, सुरापान आदि, आध्यात्मिक प्रश्न--आत्म, ब्रह्म, नैतिक साधन और दोष, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की हत्या की क्षतिपूर्ति, ब्राह्मण, गुरु एव श्रोत्रिय के वध के लिये प्रायश्चित्त, गुरु-तल्प-गमन, सुरापान तथा सुवर्णचौर्य के लिये प्रायश्चित्त, पक्षी, गाय तथा साँड के वध के लिये प्रायश्चित्त, गुरुजनो को अपशब्द कहने के लिये प्रायश्चित्त, शूद्रा के साथ मैथुन तथा निषिद्ध भोजन के लिये प्रायश्चित्त, कृच्छ्रव्रत, चौर्य, पतित गुरु तथा माता के साथ व्यवहार, गुरु-तल्प-गमन के लिये प्रायश्चित्त पर विविध मत, पति-पत्नी के व्यभिचार के लिये प्रायश्चित्त, भ्रूण (विद्वान् ब्राह्मण)-हत्या के लिये प्रायश्चित्त, आत्मरक्षा के अतिरिक्त शस्त्रग्रहण ब्राह्मण के लिये निषिद्ध, अभिशस्त के लिये प्रायश्चित्त, छोटे पापो के लिये प्रायश्चित, विद्यास्नातक, व्रतस्नातक तथा विद्याव्रतस्नातक के सबध में विविध मत और स्नातको के व्रत तथा आचार।

द्वितीय प्रश्न के विषय निम्नाकित हैं पाणिग्रहण के उपरात गृहस्थ के व्रत, भोजन, उपवास तथा मैथुन, सभी वर्ण के लोग अपने कर्तव्यपालन से उपयुक्त तथा न पालन से निम्न योनियो मे जन्म लेते हैं, प्रथम तीन वर्णो को नित्य स्नान कर विश्वेदेव यज्ञ करना चाहिये, शूद्र किसी आर्य के निरीक्षण मे अन्य वर्णो के लिये भोजन पकावे, पक्वान्न की बलि, प्रथम अतिथि तथा पुन बाल, वृद्ध, रुग्ण तथा गर्भिणी को भोजन, वैश्वदेव के अत में आए किसी आगतुक को भोजन के लिये प्रत्याख्यान नही, अविद्वान् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र अतिथि का स्वागत, गृहस्थ के लिये उत्तरीय अथवा यज्ञोपवीत, ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय अथवा वैश्य आचार्य, गुरु के आगमन में गृहस्थ का कर्तव्य, गृहस्थ के लिये अध्यापन तथा अन्य कर्तव्य, अज्ञात वर्ण और शील के अतिथि का स्वागत, अतिथि, मधुपर्क, षड्वेदाग, वैश्वदेव के पश्चात् श्वान तथा चाडाल को भी भोजन, दान, भृत्य और दास को कष्ट देकर नही, स्वय, स्त्री तथा पुत्र को कष्ट देकर दान, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, परिव्राजक आदि को भोजन, आचार्य, विवाह, यज्ञ, मातापिता का पोषण, व्रतपालन आदि भिक्षा के अवसर, ब्राह्मण आदि वर्णो के कर्तव्य, युद्ध के नियम, पुरोहित की नियुक्ति, दड, ब्राह्मण की अदड्यता और अवध्यता, मार्ग के नियम, वर्ण का उत्कर्ष और अपकर्ष, पहली पत्नी (सतानवती एव सुशीला) के रहते दूसरा विवाह निषिद्ध, विवाह के नियम, विवाह के छ प्रकार--ब्राह्म, आर्ष, दैव, गाधर्व, आसुर और राक्षस, विवाहित दपती के कर्तव्य, विविध प्रकार के पुत्र, सतान की अदेयता और अविक्रेयता, दाय तथा विभाजन, पति पत्नी मे विभाजन निषिद्ध, वेदविरुद्ध देशाचार और कुलाचार अनुकरणीय नही, मरणाशौच, दान, श्राद्ध, चार आश्रम, परिव्राजकधर्म, राजधर्म, राजधानीसभा, अपराधनिर्मूलन, दान, प्रजा-रक्षण, कर तथा कर से मुक्ति, व्यभिचारदड, अपशब्द तथा नरहत्या, विविध प्रकार के दड, वाद (अभियोग), सदेहावस्था में अनुमान तथा दिव्य प्रमाण, स्त्रियो तथा सामान्य जनता से विविध धर्मो का ज्ञान।

प्राचीनता में आपस्तबधर्मसूत्र गौतमधर्मसूत्र और बौधायनधर्मसूत्र से पीछे का तथा हिरण्यकेशी और वसिष्ठधर्मसूत्र के पहले का है। इसके सग्रह का समय ५०० ई० पू० के पहले रखा जा सकता है। आपस्तबधर्मसूत्र (२ ७ १७ १७) मे औदीच्यो (उत्तरवालो) के आचार का विशेष रूप से उल्लेख है। इसपर कई विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि आपस्तब दाक्षिणात्य (सभवत आध्र) थे। परतु सरस्वती नदी के उत्तर का प्रदेश उदीची होने से यह अनुमान केवल दक्षिण पर ही लागू नही होता। यह सच है कि आपस्तवीय शाखा के ब्राह्मण नर्मदा के दक्षिण मे पाए जाते हैं, परतु

(य, र, ल) इन तीन निर्देशाको से (अथवा आयामो से) जिस प्रकार विदु अथवा एक स्थान निश्चित होता है, वैसे ही दो विदु, ($य_1$, $र_1$, $ल_1$) और ($य_2$, $र_2$, $ल_2$) के बीच की लबाई भी निश्चित होती है। चतुरायाम सतति मे दिक् के (य, र, ल) इन तीन आयामो के साथ जब समय भी जोडा जाता है तब समय का आयाम रूप $\sqrt{(-१)}$ स प्र आता है, जहाँ स=समय और प्र=प्रकाश का वेग है। एक प्रेक्षक के लिये एक विश्वघटना के निर्देशाक (य, र, ल, स) हो तो उस प्रेक्षक के सापेक्ष गतिमान् दूसरे प्रेक्षक के लिये उसी घटना के निर्देशाक (य′, र′, ल′, स′) होगे। लोरेंट्ज के रूपातरण नियम यदि यथार्थ हो तो सिद्ध किया जा सकता है कि

$$य'^2 र'^2 ल'^2 - प्र^2 स'^2 = य^2 र^2 ल^2 - प्र^2 स^2 । \qquad (६)$$

समीकरण (६) मे चतुर्थ निर्देशाक $\sqrt{(-१)}$ प्रस, आता है जिसमे $\sqrt{(-१)}$ काल्पनिक सख्या है।

समीकरण (६) का विकास करके किसी भी प्रकार की गति के लिये इसी प्रकार की किंतु अत्यधिक समिश्र पदसहतियाँ मिलती हैं। इसके लिये निश्चलो (इन्वेरिएट्स) और आतानको (टेन्सर्स) के सिद्धातो की आवश्यकता होती है। मौलिक कल्पनाओ का इस रीति से विस्तार करने पर व्यापक आपेक्षिता सिद्धात मे गुरुत्वाकर्षण स्वभावत आता है। उसके लिये विशिष्ट परिकल्पनाओ की आवश्यकता नही होती है।

व्यापक आपेक्षितावाद के फलो का प्रमाण—अनेक घटनाओ के फल आइस्टाइन प्रणीत व्यापक आपेक्षितावाद के अनुसार तथा न्यूटन प्रणीत प्रतिष्ठित यात्रिकी के अनुसार समान ही होते हैं। किंतु ज्योतिष मे जब व्यापक आपेक्षितावाद का उपयोग किया गया तब तीन घटनाओ के फल प्रतिष्ठित यात्रिकी के अनुसार निकले फलो से कुछ भिन्न रहे। इन तीन फलो से व्यापक आपेक्षितावाद की कसौटी का काम ले सकते हैं। ये तीन फल इस प्रकार हैं

(१) अनेक वर्षो से यह ज्ञात था कि बुध ग्रह की प्रत्यक्ष कक्षा न्यूटन के सिद्धातो के अनुसार नही रहती। गणना के पश्चात् यह प्रमाणित हुआ कि व्यापक आपेक्षितावाद के क्षेत्र-समीकरणो के अनुसार बुध ग्रह की जो कक्षा आती है वह प्रेक्षित कक्षा के अनुरूप है। उसी प्रकार पृथ्वी की प्रत्यक्ष कक्षा भी न्यूटन के सिद्धातो के अनुसार नही है, किंतु पृथ्वी की कक्षा मे त्रुटि बुध ग्रह की कक्षा की त्रुटि से बहुत कम है। तो भी कहा जा सकता है कि पृथ्वी की कक्षा की गणना मे भी व्यापक आपेक्षितावाद सफल रहा। अत इन विशाल मापक्रम की घटनाओ मे जहाँ प्रतिष्ठित यात्रिकी असफल थी वहाँ व्यापक आपेक्षितावाद सफल रहा।

(२) व्यापक आपेक्षितावाद की दूसरी कसौटी प्रकाश की वक्रीयता है। प्रकाश की किरणे जब तीव्र गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र मे से होकर जाती है, तब व्यापक आपेक्षितावाद के अनुसार उनका पथ अल्प मात्रा मे वक्र हो जाता है। प्रकाश ऊर्जा का ही एक स्वरूप है। अत ऊर्जा एव द्रव्यमान के सबध के अनुसार (समीकरण ६) प्रकाश मे भी द्रव्यमान होता है और द्रव्यमान को आकर्षित करना गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र का गुण होने के कारण प्रकाशकिरण का पथ ऐसी स्थिति मे स्वल्प मात्रा मे टेढा हो जाता है। इस फल की परीक्षा केवल सर्व सूर्यग्रहण के समय हो सकती है। किसी तारे का प्रकाश सूर्य के निकट से होकर निकले तो प्रकाश के मार्ग को अल्प मात्रा मे वक्र हो जाना चाहिए और इसलिये तारे की आभासी स्थिति बदल जानी चाहिए। व्यापक आपेक्षिता के इस फल को नापने का प्रयत्न १९१९, १९२२, १९२७, १९४७ इत्यादि वर्षो मे सर्व सूर्यग्रहणो के समय किया गया। पता चला कि प्रकाशकिरण के पथ की मापित वक्रता और व्यापक आपेक्षितावाद के अनुसार निकली वक्रता मे इतना सूक्ष्म अतर है कि हम यह कह सकते है कि ये प्रेक्षण व्यापक आपेक्षितावाद का समर्थन करते है।

(३) व्यापक आपेक्षितावाद की तीसरी परीक्षा गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र के कारण वर्ण-क्रम-रेखाओ (स्पेक्ट्रॉस्कोपिक लाइस) का स्थानातरण है। इस वाद के अनुसार जो तारे तीव्र गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र मे है उनके किसी विशेष तत्व के परमाणुओ से निकले प्रकाश का तरगदैर्घ्य पृथ्वी के उसी तत्व के परमाणुओ के प्रकाश-तरग-दैर्घ्य से अधिक होगा। अत तारे के किसी एक तत्व के प्रकाश के वर्णक्रम और प्रयोगशाला मे प्राप्त उसी तत्व के वर्णक्रम की तुलना से तरगदैर्घ्य के परिवर्तन का मापन हो सकता है। अनेक निरीक्षणो के फल व्यापक आपेक्षितावाद के अनुरूप है, यद्यपि कुछ प्रेक्षको (फ्रॉएंडलिख आदि) के अनुसार सब फल व्यापक आपेक्षितावाद के अनुरूप नही है।

व्यापक आपेक्षितावाद के अन्य फल और विस्तार—आपेक्षिता सिद्धात को और आगे बढाकर आइस्टाइन ने १९१७ मे यह प्रमाणित किया कि आपेक्षिता-क्षेत्र-समीकरणो मे यदि एक अधिक पद (विश्व सबधी पद) जोड दिया जाय तो उनके परिणामो मे एक फल ऐसा होगा जिसमे सपूर्ण विश्व का सबध आता है। इस आधार पर आइस्टाइन ने विश्व की एक कल्पना बनाई। उसी वर्ष डब्ल्यू० डी० सिटर ने दूसरा उत्तर निकालकर दूसरी कल्पना बनाई। यहाँ से विश्ववाद (कॉस्मॉलोजी) का प्रारभ हुआ और वर्तमान काल मे वह भौतिकी का एक अत्यत महत्वपूर्ण और रोचक विभाग हो गया है। विशाल व्यास के दूरदर्शी यत्रो द्वारा हमारी दृष्टि अधिक दूरी तक जाने लगी है और अज्ञात विश्व वैज्ञानिको के दृष्टिपथ मे आने लगा है। दूरस्थ विश्व की मापो से विश्व के सबध मे हमारा ज्ञान बढता गया है और नवीन सिद्धातो एव नियमो की आवश्यकता पडने लगी है। अनेक नीहारिकाओ के प्रेक्षण से यह फल मिला है कि नीहारिकाएँ अपने अपने विशिष्ट वेगो से एक दूसरी से दूर जा रही हैं (देखिए **नीहारिका**)। यह पाया गया है कि नीहारिका की दूरी जितनी अधिक रहती है उतना ही उसका वेग भी अधिक होता है। इसको हबल का नियम कहते हैं। किसी भी विश्ववाद मे हबल का नियम, विश्व का घनत्व, विश्व की आयु, विश्व का विस्तार इत्यादि विषयो का समावेश होना आवश्यक है। इस विषय मे फ्रीडमन, एडिंग्टन, ला मैत्रे, राबर्टसन इत्यादि वैज्ञानिको न गवेषणा की है। यद्यपि हमारा सपूर्ण विश्व सबधी ज्ञान बहुत कुछ अधूरा है, तथापि जितना उपलब्ध है उससे इतना स्पष्ट है कि विश्व की समस्या अत्यत जटिल है। आपेक्षितावाद से इन जटिलताओ पर यद्यपि थोडा बहुत प्रकाश डाला जाता है, तथापि अनेक जटिलताएँ अभी हल होनी है और नवीन कठिनाइयो के समुख आने की सभावना है।

आपेक्षितावाद ने यात्रिकी तथा गुरुत्वाकर्षण को एकीकृत किया, किंतु विद्युच्चुबकीय बल, नाभिकीय बल इत्यादि अनेक बल अभी भी पृथक् हैं और उनके विषय में आपेक्षितावाद से सहायता नही मिल सकती है। आदर्श सिद्धात वही होगा जिसमे समस्त ज्ञात घटनाओ का समावेश होगा। आइस्टाइन ने स्वय गुरुत्वाकर्षणीय बल, विद्युच्चुबकीय बल तथा नाभिकीय बल इन तीनो को एकसूत्रित करके दिक्काल सतति मे प्रतिबिंबित करने के प्रयत्न किए, किंतु इस प्रकार का सिद्धात प्रतिपादित करने के सब प्रयत्न असफल रहे।

स०ग्र०—ऐल्बर्ट आइस्टाइन रिलटिविटी, स्पेशल ऐड दि जेनरल थ्योरी, ऐल्बर्ट आइस्टाइन दि मीनिंग ऑव रिलेटिविटी, सर आर्थर एडिंगटन दि मैथिमैटिकल थ्योरी ऑव रिलेटिविटी, सी० मोलर दि थ्योरी ऑव रिलेटिविटी।

[दि० र० भ०]

आपेलीज़ प्राचीन पश्चिमी जगत् का सभवत सबसे महान् चित्रकार। वह चौथी शताब्दी ई० पू० मे हुआ और फिलिप तथा सिकदर (पिता पुत्र) का समकालीन था, मकदूनिया का दरबारी कलाकार। वज्रधारी सिकदर का उसका चित्र लिसिपस द्वारा कोरी मल्लधारी सिकदर की मूर्ति से कम महत्व का नही था। उसके मकदूनिया मे बनाए अनेक चित्रो के नाम और असामान्य प्रशसा प्राचीन इतिहासो मे सुरक्षित है, यद्यपि इनमें से किसी एक की भी असल या नकल प्रति आज उपलब्ध नही।

[भ० श० उ०]

आप्तप्रमाण आप्त पुरुष द्वारा किए गए उपदेश को 'शब्द' प्रमाण मानते हैं। (आप्तोपदेश शब्द, न्यायसूत्र १।१।७)। आप्त वह पुरुष है जिसने धर्म के और सब पदार्थो के यथार्थ स्वरूप को भली भाँति जान लिया है, जो सब जीवो पर दया करता है और सच्ची बात कहने की इच्छा रखता है। न्यायमत मे वेद ईश्वर द्वारा प्रणीत ग्रथ है और ईश्वर सर्वज्ञ, हितोपदेष्टा तथा जगत् का कल्याण करनेवाला है। वह सत्य का परम आश्रय होने से कभी मिथ्या भाषण नही कर सकता और इसलिये ईश्वर सर्वश्रेष्ठ आप्त पुरुष है। ऐसे ईश्वर द्वारा मानवमात्र के मगल के निमित्त निर्मित, परम सत्य का प्रतिपादक वेद आप्तप्रमाण या शब्दप्रमाण

क्षितावाद और (२) व्यापक आपेक्षितावाद। विशिष्ट आपेक्षितावाद मे भौतिकी के नियम इस स्वरूप में व्यक्त होते है कि वे किसी भी अत्वरित प्रेक्षक के लिये समान होगे। व्यापक आपेक्षितावाद में भौतिकी के नियम इस प्रकार व्यक्त होते हैं कि वे प्रेक्षक की गति से स्वतत्र या अबाधित होगे। विशिष्ट आपेक्षितावाद का विकास १६०५ में हुआ और व्यापक आपेक्षितावाद का विकास १६१५ में हुआ।

विशिष्ट आपेक्षितावाद—विशिष्ट आपेक्षितावाद समझना सरल होने के कारण उसपर विचार पहले किया जायगा। नित्य व्यवहार में किसी नए पदार्थ का स्थान निश्चित करने के लिये हम ज्ञात पदार्थों का निर्देश करते हैं और उनके सापेक्ष नए पदार्थ का स्थान सूचित करते है। इसी प्रकार गति का निश्चय होता है, किंतु गति के निश्चय के लिये उसकी दिशा तथा वेग ज्ञात करने की आवश्यकता होती है। रेलगाडी या विमान का वेग पृथ्वी को स्थिर समझकर निश्चित किया जाता है। किंतु पृथ्वी स्थिर नही है, वह अपने अक्ष पर घूमती रहती है और साथ ही सूर्य का परिभ्रमण करती रहती है। सूर्य भी स्थिर नही है, अन्य तारो के सापेक्ष वह अपनी ग्रहसस्था के साथ विशिष्ट वेग से भ्रमण कर रहा है। विमान, पृथ्वी, सूर्य इत्यादि पदार्थों की गति स्पष्ट करने के लिये हमने जिस पदार्थ को स्वेच्छा से 'स्थिर' समझा है वह हो सकता है, अन्य निर्देशको के सापेक्ष 'स्थिर' हो या न हो। क्षण मात्र के लिये यदि हम कल्पना करे कि आकाश मे केवल एक ही पिंड है और कही भी कोई अन्य पदार्थ नही है, तो ऐसे पदार्थ के लिये 'विश्राति' तथा 'गति' की धारणा निरर्थक है। अत गति अथवा विश्राति की धारणाएँ केवल सापेक्ष ही हो सकती है। इसी प्रकार विमान या रेलगाडी की 'निरपेक्ष गति' निकालना असभव है। विशिष्ट आपेक्षिता सिद्धात एक अन्य रूप में भी व्यक्त किया गया है प्रकाश की गति सब प्रेक्षको के लिये (वस्तुत केवल ऐसे प्रेक्षको के लिये जिनके ऊपर कोई भी बल कार्य न कर रहा हो) अचर है, अर्थात् उतनी ही रहती है, बदलती नही।

विशिष्ट आपेक्षितावाद इस प्रकार सरल ही दिखाई देता है, परतु भौतिकी के भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे इसका उपयोग करने के पश्चात् जो फल प्राप्त होते है, वे नित्य व्यवहार के फलो की तुलना मे अत्यत आश्चर्यजनक है। नित्य व्यवहार में जो वेग हमारे सामने आते है, वे प्रकाश के वेग की तुलना मे उपेक्षणीय होते है और ऐसे वेगो के लिये न्यूटन के (अर्थात् प्रतिष्ठित भौतिकी के) सिद्धात तथा नियम उपयुक्त है। जब प्रकाश के वेग के समीप के वेगो का प्रश्न आता है, तभी न्यूटन के नियम लागू नही होते और उनके स्थान पर आपेक्षिता सिद्धात के अनुसार प्राप्त हुए नियमो तथा फलो की आवश्यकता होती है। आपेक्षितावाद से भौतिकी मे जो क्राति हुई उसका यथार्थ ज्ञान होने के लिये केवल सामान्य गणित ही नही, किंतु उच्च गणित की आवश्यकता होती है, जिसमें दिक् तथा काल की भी मिथ क्रिया होती है। विना पूरा गणित दिए विशिष्ट आपेक्षितावाद से प्राप्त हुए थोडे से फल यहाँ दिए जाते है

आपेक्षिता और समक्षणिकता—निर्वात प्रदेशो मे प्रकाश का वेग ३×१०^{१०} सेंटीमीटर प्रति सेकेंड होता है। प्रकाश के सब वर्णों के लिय यह वेग समान होता है। जिस स्थान या उद्गम से प्रकाश निकलता है उसके वेग पर प्रकाश का वेग अवलबित नही होता। इस प्रकार प्रकाश का (तथा सब विद्युच्चुबकीय तरगो का) वेग निर्वात में उतना ही रहता है। प्रकाश के इस गुण के परिणाम महत्वपूर्ण होते है। उदाहरणात, हम कल्पना करेंगे कि एक प्रेक्षक पृथ्वी पर खडा है और उसके ऊपर से एक विमान पश्चिम से आकर पूर्व दिशा की ओर वेग व से जा रहा है। जिस समय विमान प्रेक्षक के मस्तक के ऊपर आता है ठीक उसी समय प्रेक्षक से समान अतर पर दो विद्युत् की बत्तियाँ जला दी गईं, जिनमें एक बत्ती पूर्व दिशा में दूरी द पर है और दूसरी पश्चिम दिशा में दूरी द पर ही है। पृथ्वी पर स्थित प्रेक्षक के लिये दोनो बत्तियो का जलना समक्षणिक (एक ही क्षण पर होनेवाला) दिखाई पडेगा, किंतु विमान म भी यदि कोई प्रेक्षक हो, तो उसके लिये दोनो बत्तियो का जलना समक्षणिक नही दिखाई पडेगा। क्योकि विमान पूर्व दिशा की ओर वेग व से जा रहा है, इसलिये पूर्व दिशावाली बत्ती का प्रकाश पहले दिखाई पडेगा और पश्चिम दिशा की बत्ती का प्रकाश कुछ क्षण बाद दिखाई पडेगा। इसका अर्थ यह है कि एक घटना किसी प्रेक्षक के लिये समक्षणिक हो तो उसके सापेक्ष गतियुक्त अन्य प्रेक्षक के लिये वही घटना समक्षणिक नही रहेगी। अत समक्षणिकता निरपेक्ष नही, किंतु आपेक्षिक है। इस परिणाम को व्यापक रूप से देखने पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि समय भी निरपेक्ष नही है, प्रत्युत प्रत्येक निर्देशपिंड के लिये अपनी अपनी स्वतत्र समयगणना होती है और दो निर्देशपिंडो पर, जो एक दूसरे के सापेक्ष एक समान (यूनिफॉर्म) वेग से गतिमान हो, समयगणनाएँ भिन्न होगी। इन दोनो समयगणनाओ के परस्पर सबध से आपेक्षिक वेग व का भी सबध होगा। अत समय के विषय में हमारी जो व्यावहारिक धारणा है उसमें आपेक्षितावाद के अनुसार परिवर्तन करना पडेगा।

आपेक्षिता और लबाई तथा समय—(१) आपेक्षितावाद के अनुसार 'निरपेक्ष' गति का यदि अस्तित्व नही है, तो 'निरपेक्ष' विश्राति का भी अस्तित्व नही है। भौतिकी मे मापन करने के लिये पहले किसी एक मानक की आवश्यकता होती है और उस मानक का निर्देश करके मापन किए जाते हैं। स्वेच्छा से हम किसी एक परिस्थिति को प्रामाणिक समझ सकते हैं। अब हम यह कल्पना करेंगे कि एक विमान पृथ्वी से एक विशेष ऊँचाई पर रुका है और उसमें लबाई ल का एक दड है, अर्थात् इस दड की लबाई का यथार्थ मापन एक मापनी की सहायता से हो सकता है। अब यदि वह विमान वेग व से जाने लगे तो आपेक्षितावाद के अनुसार उस दड की माप में कितना परिवर्तन होगा? इस फल को प्राप्त करने के लिये हम दो प्रेक्षको की कल्पना करेंगे। एक प्रेक्षक क विमान में बैठा है, अत उसका वेग पृथ्वी के सापेक्ष व है, किंतु विमान के सापेक्ष शून्य है। दूसरा प्रेक्षक ख पृथ्वी पर (विमान के पूर्व स्थान पर) खडा है, अर्थात् पृथ्वी के सापेक्ष उसका वेग शून्य है। विमान का वेग व होने के कारण उसमें बैठे हुए प्रेक्षक क का तथा दड का वेग प्रेक्षक ख के सापेक्ष व होगा। यदि जिस समय विमान निश्चल था उस समय दड की लबाई ल रही हो, तो प्रेक्षक क के लिये वह लबाई सदा ल ही रहेगी, कारण, उसके सापेक्ष दड सदा विश्राति में ही रहेगा। किंतु प्रेक्षक ख के लिये दड वेग व से गतियुक्त है। इसलिये आपेक्षितावाद के अनुसार उसकी लबाई में परिवर्तन होगा और नवीन लबाई ल$\sqrt{(१-व^{२}/प्र^{२})}$ होगी, जहाँ प्र=प्रकाश की निर्वात में गति है, अर्थात् क और ख प्रेक्षको के लिये एक ही दड की लबाई भिन्न भिन्न होगी।

लबाई के विषय में आपेक्षितावाद का यह फल हम व्यापक रूप में निम्नलिखित प्रकार से व्यक्त कर सकते है किसी दड या पदार्थ की लबाई मापने पर प्रयोग का जो फल आता है उसको हम लबाई ल कहते हैं। भौतिकी की दृष्टि से वस्तुत यह लबाई ल यथार्थ नही है, वरन् ल$\sqrt{(१-व^{२}/प्र^{२})}$ है, जहाँ व दड की लबाई की दिशा में प्रेक्षक का दड के सापेक्ष वेग है। इसका अर्थ यह नही है कि उस दड में आकुचन हो रहा है। लबाई उस दड का मौलिक गुण नही है, वरन् उस दड के सबध में हमारी एक धारणा है और इस धारणा को हम ल तथा व के एक फलन (फकशन) के रूप मे व्यक्त करते है। जैसे जैसे व मे वृद्धि होती है वैसे वैसे यह फलन घटता है। लबाई की सर्वसाधारण परिभाषा यदि इस स्वरूप में दी जाय तो भौतिकी मे प्रयोगो के फल समझने में कठिनाई नही रहती और माईकेलसन-मॉर्ले के प्रयोग का अथवा केनेडी-थॉर्नडाइक के प्रयोग का सरलता से अर्थ बताया जा सकता है।

भौतिकी मे गणित की तरह ही स्थान अथवा वेग निश्चित करने के लिये कार्तिसीय (कार्टिसियन) निर्देशाक-पद्धति का उपयोग किया जाता है। इस पद्धति मे एक मूल विंदु म से तीन परस्पर लब रेखाएँ खीची जाती है, जो अक्ष कहलाती है। प्रत्येक दो अक्षो से एक समतल मिलता है और विंदु क की इन समतलो से दूरियाँ क के निर्देशाक होती है। यदि ये दूरियाँ य, र, ल हो तो कहा जाता है कि विंदु क की स्थिति (य, र, ल) है।

ल ल′ • क व मू र मू′ र′ प्रेक्षक प प्रेक्षक प′ य य′
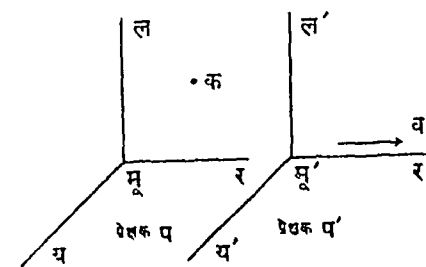
चित्र १ चित्र २

अब हम कल्पना करेंगे कि एक दूसरी ऐसी ही अक्ष-पद्धति है, जिसके अक्ष पुराने अक्षो के समातर हैं और उसके सापेक्ष, य अक्ष के समातर, एकसमान वेग व से गतियुक्त है (चित्र २)। यदि इन पद्धतियो में से प्रत्येक मे प्रेक्षक हो, तो प्रेक्षक प′ प्रेक्षक प के

रूप से उनमें नृत्य होता है, जिसमे पुरुष स्त्री दोनों ही भाग लेते है। जातीय नृत्य का प्रचलन भारत की प्रकृत जातियो मे नही है। अहीर नारियो मे पर्दा भी कभी नही रहा। दक्षिण में उत्तरी कोंकण और उसके आसपास के प्रदेशों में उनका जोर था। आगे चलकर आभीरो ने हिंदू धर्म स्वीकार कर लिया तथा वे सुनार, बढई और ग्वाले आदि उपजातियो में बँट गए। कई जगह तो वे अपने को ब्राह्मण मानकर जनेऊ भी पहनने लगे।

सर्वप्रथम पतजलि के महाभाष्य में आभीरो का उल्लेख मिलता है। महाभारत में शूद्रो के साथ आभीरों का उल्लेख है। विनशन नामक स्थान मे ये जातियाँ निवास करती थी, जहाँ राजस्थान के रेगिस्तान मे सरस्वती नदी विलुप्त हो गई है। दूसरे ग्रथो में आभीरो को अपरात का निवासी बताया गया है जो भारत का पश्चिमी अथवा कोंकण का उत्तरी हिस्सा माना जाता है। पेरिप्लस और तोलेमी के अनुसार सिंधु नदी की निचली घाटी और काठियावाड के बीच के प्रदेश को आभीर देश माना गया है।

आभीरों को म्लेच्छो की कोटि में रखा गया है। मनुस्मृति मे ब्राह्मण पिता और अवष्ठ (ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री के सयोग से उत्पन्न) माता से आभीरो की उत्पत्ति बताई गई है। आभीर देश जैन श्रमणों के विहार का केंद्र था। अचलपुर (वर्तमान एलिचपुर, बरार) इस देश का प्रमुख नगर था जहाँ कण्हा (कन्हन) और वेण्णा (वेन) नदियो के बीच ब्रह्मद्वीप नाम का एक द्वीप था। तगरा (तेरा, जिला उस्मानाबाद) इस देश की सुदर नगरी थी। आभीरपुत्र नाम के एक जैन साधु का उल्लेख भी जैन ग्रथो मे मिलता है।

आभीरो का उल्लेख अनेक शिलालेखो मे पाया जाता है। शक राजाओ की सेनाओ मे ये लोग सेनापति के पद पर नियुक्त थे। आभीर राजा ईश्वरसेन का उल्लेख नासिक के एक शिलालेख मे मिलता है। ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी तक आभीरो का राज्य रहा।

आजकल की अहीर जाति ही प्राचीन काल के आभीर है। अहीरवाड (सस्कृत मे आभीरवार, भिलसा और झाँसी के बीच का प्रदेश) आदि प्रदेशो के अस्तित्व से आभीर जाति की शक्ति और सामर्थ्य का पता चलता है।

सं०ग्रं०—आर० जी० भडारकर कलेक्टेड वर्क्स (१६३३, १६२८ १६२७, १६२६), वी० वेकट कृष्णराव अर्ली डाइनेस्टीज आव आध्र देश (१६४२), अभिधानराजेद्र कोश, भाग दो (१६१०)। [ज० च०जै०]

आभीरी १ आभीर की स्त्री, अहीरिन। प्राचीन जैन कथासाहित्य मे आभीर और आभीरियों की अनेक कहानियाँ आती हैं। २ आभीरो से सबध रखनेवाला अपभ्रश भाषा का एक मुख्य भेद। अपभ्रश के व्राचड, उपनागर, आभीर और ग्राम्य आदि अनेक भेद बताए गए हैं। आभीर जाति लडाकू ही नही थी, बल्कि इस देश की भाषा को समृद्ध बनाने मे भी इस जाति ने योगदान दिया था। ईसवी सन् की दूसरी-तीसरी शताब्दी मे अपभ्रश भाषा आभीरी के रूप मे प्रचलित थी जो सिंधु, मुलतान और उत्तरी पजाब मे बोली जाती थी। छठी शताब्दी तक अपभ्रश आभीर तथा अन्य लोगों की बोली मानी जाती रही। आगे चलकर नवी शताब्दी तक आभीर, शबर और चाडालो का ही इस बोली पर अधिकार नही रहा, बल्कि शिल्पकार और कर्मकार आदि सामान्य जनो की बोली हो जाने से अपभ्रश ने लोकभाषा का रूप धारण किया और क्रमश यह बोली सौराष्ट्र और मगध तक फैल गई।

सं०ग्रं०—पी० डी० गुने . भविसयत्त कहा, भूमिका (१६२३)। [ज० च० जै०]

आम अत्यत उपयोगी, दीर्घजीवी, सघन तथा विशाल वृक्ष है, जो भारत मे दक्षिण मे कन्याकुमारी से उत्तर मे हिमालय की तराई तक (३००० फुट की ऊँचाई तक) तथा पश्चिम में पजाब से पूर्व मे आसाम तक, अधिकता से होता है। अनुकूल जलवायु मिलने पर इसका वृक्ष ५०-६० फुट की ऊँचाई तक पहुँच जाता है। वनस्पतिवैज्ञानिक वर्गीकरण के अनुसार आम ऐनाकार्डियेसी कुल का वृक्ष है। आम के कुछ वृक्ष बहुत ही बडे होते हैं। डाक्टर एम० एस० राधवा (१६४६) के अनुसार बुउनगाँव (चडीगढ) मे 'छप्पर' नामक आम के एक वृक्ष के तने का घेरा ३२ फुट है, अनेक शाखाएँ ५ से लेकर १२ फुट तक मोटी और ७० से ८० फुट तक लबी है। छप्पर २,७०० वर्ग गज स्थान घेरे हुए है और उसके फल की औसत वार्षिक उपज ४५० मन है।

आम का वृक्ष बडा और खडा अथवा फैला हुआ होता है, ऊँचाई ३० से ६० फुट तक होती है। छाल खुरदरी तथा मटमैली या काली, लकडी कठीली और ठस होती है। इसकी पत्तियाँ सादी, एकातरित, लबी, प्रासाकार (भाले की तरह) अथवा दीर्घवृत्ताकार, नुकीली, ५ से १६ इच तक लबी, १ से ३ इच तक चौडी, चिकनी और गहरे हरे रग की होती हैं, पत्तियो के किनारे कभी कभी लहरदार होते हैं। वृत (डठल) एक से ४ इच तक लबे, जोड के पास फूले हुए होते हैं। पुष्प-क्रम सयुत-एकवर्ध्यक्ष (पैनिकिल), प्रशाखित और लोमश होता है। फूल छोटे, हलके बसती रग के या ललछौंह, भीनी गधमय और प्राय डठलरहित होते हैं, नर और उभयलिंगी दोनो प्रकार के फूल एक ही बौर (पैनिकिल) पर होते हैं। वाह्यदल (सेपल) लबे अडे के रूप के, अवतल (कॉनकेव), पँखुडियाँ वाह्यदल की अपेक्षा दुगुनी बडी, अडाकार, ३ से ५ तक उभडी हुई नारगी रग की धारियो सहित, बिंब (डिस्क) मासल, ५ भागशील (लोब्ड), १ परागयुक्त (फर्टाइल) पुकेसर, ४ छोटे और विविध लबाइयो के वध्य पुकेसर (स्टैमिनोड), परागकोश कुछ कुछ बैंगनी और अडाशय चिकना होता है। फल सरस, मासल, अष्ठिल, तरह तरह की बनावट एव आकारवाला, ४ से २५ सेंटीमीटर तक लबा तथा १ से १० सेंटीमीटर तक घेरेवाला होता है। पकने पर इसका रग हरा, पीला, जोगिया, सिंदुरिया अथवा लाल होता है। फल गूदेदार, फल का गूदा पीला और नारगी रग का तथा स्वाद मे अत्यत रुचिकर होता है। इसके फल का छिलका मोटा या कागजी तथा इसकी गुठली एकल, कठीली एव प्राय रेशेदार तथा एकबीजक होती है। बीज बडा, दीर्घवत्, अडाकार होता है।

उद्यान मे लगाए जानेवाले आम की लगभग १,४०० जातियो से हम परिचित है। इनके अतिरिक्त कितनी ही जगली और बीजू किस्मे भी हैं। गगोली आदि (सन् १६५५) ने २१० बढिया कलमी जातियो का सचित्र विवरण दिया है। विभिन्न प्रकार के आमो के आकार और स्वाद मे बडा अतर होता है। कुछ बेर से भी छोटे तथा कुछ, जैसे सहारनपुर का हाथी भूल, भार मे दो ढाई सेर तक होते हैं। कुछ अत्यत खट्टे अथवा स्वादहीन या चेप से भरे होते हैं, परतु कुछ अत्यत स्वादिष्ट और मधुर होते है। फ्रायर (सन् १६७३) ने आम को आडू और खूबानी से भी रुचिकर कहा है और हैमिल्टन (सन् १७२७) ने गोवा के आमो को सबसे बडे, स्वादिष्ट तथा ससार के फलो मे सबसे उत्तम और उपयोगी बताया है। भारत के निवासियो मे अति प्राचीन काल से आम के उपवन लगाने का प्रेम है। यहाँ की उद्यानी कृषि मे काम आनेवाली भूमि का ७० प्रति शत भाग आम के उपवन लगाने के काम आता है। स्पष्ट है कि भारतवासियो के जीवन और अर्थ व्यवस्था का आम से घनिष्ठ सबध है। इसके अनेक नाम जैसे सौरभ, रसाल, चुवत, टपका, सहकार, आम्र, पिकवल्लभ आदि भी इसकी लोकप्रियता के प्रमाण हैं। इसे 'कल्पवृक्ष' अर्थात् मनोवाछित फल देनेवाला भी कहते हैं। शतपथ ब्राह्मण मे आम की चर्चा इसकी वैदिक कालीन तथा अमरकोश में इसकी प्रशसा इसकी बुद्धकालीन महत्ता के प्रमाण हैं। मुगल सम्राट् अकबर ने 'लालबाग' नामक एक लाख पेडोवाला उद्यान दरभगा के समीप लगवाया था, जिससे आम की उस समय की लोकप्रियता स्पष्ट है। भारतवर्ष मे आम से सबधित अनेक लोकगीत, आख्यायिकाएँ आदि प्रचलित है और हमारी रीति, व्यवहार, हवन, यज्ञ, पूजा, कथा, त्योहार तथा सभी मगलकार्यो मे आम की लकडी, पत्ती, फूल अथवा एक न एक भाग प्राय काम आता है। आम के बौर की उपमा वसतदूत से तथा मजरी की मन्मथतीर से कवियो ने दी है। उपयोगिता की दृष्टि से आम भारत का ही नही वरन् समस्त उष्ण कटिबध के फलो का राजा है और इसका बहुत तरह से उपयोग होता है। कच्चे फल से चटनी, खटाई, अचार, मुरब्बा आदि बनाते हैं। पके फल अत्यत स्वादिष्ट होते हैं और इन्हें लोग बडे चाव से खाते हैं। ये पाचक, रेचक और बलप्रद होते हैं।

आम लक्ष्मीपतियो के भोजन की शोभा तथा गरीबों की उदरपूर्ति का अति उत्तम साधन है। पके फल को तरह तरह से सुरक्षित करके भी रखते हैं। रस को थाली, चकले, कपड़े इत्यादि पर पसार, धूप मे सुखा

शिता मानना अपूर्ण होगा, किंतु समीकरण (६) का उपयोग करके घटना के पूर्व और घटना के पश्चात् उसकी सपूर्ण ऊर्जा अथवा सपूर्ण द्रव्यमान अविनाशिता के नियम के अनुसार समान रहेगा।

द्रव्यमान में वेग के कारण जो परिवर्तन होता है वह सामान्य वेगो के लिये अत्यत उपेक्षणीय होता है, अत नित्य व्यवहार में यह परिवर्तन अनुभव में नहीं आता है। ऊर्जा तथा द्रव्यमान की समानता भी नित्य व्यवहार के के लिये निरुपयोगी है। जहाँ विशाल वेगो का सबध आता है, केवल वही समीकरण (५) और (६) का उपयोग हो सकता है। जब द्रव्यमान मे न्यूनता होती है तब समीकरण (६) के अनुसार इस नष्ट द्रव्यमान से इतनी प्रचड ऊर्जा प्राप्त होती है कि अवशिष्ट द्रव्यमान को विशाल गति मिलती है (देखिए **परमाण्वीय ऊर्जा**)।

आपेक्षितावाद के परिणामो के प्रायोगिक तथा अन्य प्रमाण—माइकेलसन-मॉर्ले के प्रयोग के फल का आकलन तथा स्पष्टीकरण करने के लिये आपेक्षितावाद प्रस्तुत किया गया था। किंतु इस वाद को विस्तृत करने के पश्चात् समीकरण (४), (५) एव (६) के अनुसार जो अतिरिक्त फल मिलते हैं उनको प्रमाणित करने के लिये विशेष प्रयोगो की आवश्यकता थी। उपकरणो के निर्माण में जैसे जैसे प्रगति हुई वैसे वैसे यथार्थ मापन के लिये उचित उपकरण उपलब्ध होने लगे। ऐसे उपकरणो द्वारा किए गए प्रयोगो से समीकरण (४), (५) और (६) यथार्थता से प्रमाणित हुए और आपेक्षितावाद को अधिक पुष्टि मिली। भौतिकी मे, विशेषत नाभिकीय भौतिकी मे, कतिपय प्रयोगो के फल आपेक्षितावाद के दृष्टिकोण से ही सुस्पष्ट होते हैं। आपेक्षितावाद के अपवाद का एक भी उदाहरण वर्तमान काल तक भौतिकी मे नही मिला है। केवल डी० सी० मिलर के प्रयोगो मे ईथर के सापेक्ष पृथ्वी की गति का आभास मिलता है। ये प्रयोग माइकेलसन-मॉर्ले के प्रयोग के समान थे। परतु मिलर के प्रयोग के फल वैज्ञानिको में सर्वमान्य नही हैं।

समीकरण (४) के अनुसार लबाई तथा समय दोनो वेगसबद्ध हैं। इन समीकरणों का प्रत्यक्ष फल नापने के लिये वेग **व** प्रकाश के वेग **प्र** से तुलनीय होना चाहिए। जैसा पहले बताया गया है, व्यवहार के सामान्य वेगो के लिये लबाई तथा समय में जो परिवर्तन होता है वह उपेक्षणीय है। परमाणु-भौतिकी मे आधुनिक काल मे जो प्रगति हुई और प्रचड ऊर्जा प्राप्त करने का आविष्कार हुआ, उनकी सहायता से **प्र** से तुलनीय वेग प्रयोगशाला मे अब मिल सकता है। इसी प्रकार पृथ्वी पर विश्वकिरणो (कॉस्मिक रेज) की जो वर्षा होती है, उसमें प्रचड वेग तथा ऊर्जा के कण होते हैं। इनमें एक विशेष प्रकार के कण, मेसान, होते हैं जो आकाश मे पृथ्वी से १० किलोमीटर की ऊँचाई पर निर्मित होते हैं। इनका जीवन काल लगभग ३×१०^{-६} सेकेड होता है। सामान्य गणना के अनुसार पृथ्वी पर पहुँचने के लिये इनका वेग **प्र** से बहुत अधिक होगा, किंतु विशिष्ट आपेक्षितावाद के अनुसार यह असभव है। यदि विशिष्ट आपेक्षितावाद का यहाँ उपयोग किया जाय तो यह जीवन-काल प्रत्येक मेसान के साथ उसके ही वेग से चलनेवाली घडी का समय है। पृथ्वी पर के प्रेक्षक के लिये यह घडी विलबित (मद गति से) चलेगी। अत समय के सूत्र मे उचित सशोधन करने पर इन मेसानो का वेग ० ९९ **प्र** आता है और जीवनकाल भी ठीक आता है। द्रव्यमान का वेग के ऊपर अवलबन (समीकरण ५) तो अनेक प्रयोगो मे प्रमाणित हुआ है। इलेक्ट्रान को प्रचड विभव (पोटेंशियल) से त्वरित करने पर उसकी गति **प्र** से तुलनीय हो सकती है और उसका प्रत्यक्ष पथ निकालने के लिये उसके द्रव्यमान की गणना समीकरण (५) के अनुसार करनी पडती है। द्वितीय विश्वयुद्ध को जिसने शीघ्र समाप्त किया और वर्तमान काल मे ऊर्जा का एक नवयुग प्रस्थापित किया, वह परमाणु बम ऊर्जा-समीकरण (६) का ही फल है। यदि **म** ग्राम द्रव्यमान नष्ट हो तो $मप्र^२$ अर्ग ऊर्जा मिलती है। युरेनियम-२३५ का केवल ० १ प्रति शत द्रव्यमान नष्ट होने से परमाणु बम जैसा महास्त्र तैयार होता है (देखिए **परमाण्वीय ऊर्जा**)। इससे अधिक द्रव्यमान नष्ट हो तो अधिक ऊर्जा प्राप्त होगी और अधिक शक्तिशाली महास्त्र प्राप्त होगा, उदाहरणत, हाइड्रोजन बम। जिस समय अति प्रचड ताप मे हाइड्रोजन के परमाणु एकत्रित होते है और हीलियम के नए परमाणु बनते हैं, उस समय अधिक द्रव्यमान नष्ट होने के कारण परमाणु बम से सहस्रगुनी अधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है। सूर्य अनेक कोटि शताब्दियो से सतत प्रचड उष्मा (ऊर्जा का ही एक स्वरूप) देता आ रहा है। सूर्य की इस शक्ति का रहस्य भी समीकरण (६) से स्पष्ट होता है। अत भौतिकी की वर्तमान प्रगति से हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि विशिष्ट आपेक्षितावाद के सब फल प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से प्रमाणित हो चुके हैं और उनकी यथार्थता मे कोई सदेह नही रहा है।

व्यापक आपेक्षितावाद (जनरल रिलेटिविटी थ्योरी)—व्यापक आपेक्षितावाद (१) आपेक्षिता नियम और (२) गुरुत्वाकर्षणीय तथा जडता (इनर्शिया) पर आश्रित द्रव्यमानो की समानता, इन दो परिकल्पनाओ पर आधारित है। लबाई, दिक्, काल, सहति, ऊर्जा इत्यादि के विषय मे भौतिकी में जो धारणाएँ थी उनमें विशिष्ट आपेक्षितावाद ने सुधार किया। इनके अतिरिक्त भौतिकी के क्षेत्र मे अन्य विषय हैं जो उतने ही महत्वपूर्ण हैं, किंतु उनका समावेश विशिष्ट आपेक्षितावाद मे नही है। बल तथा विद्युच्चुबकीय क्षेत्रो मे विशिष्ट आपेक्षितावाद का जैसा उपयोग हो सकता है वैसा गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र मे नही हो सकता। गुरुत्वाकर्षण भौतिकी का एक अत्यत महत्वपूर्ण विभाग है, अत विशिष्ट आपेक्षितावाद को व्यापक बनाने की आवश्यकता स्पष्ट है।

द्रव्यमान का सबध भौतिकी मे दो प्रकार से आता है। किसी पिंड पर जब बल कार्य करता है तब पिंड का स्थान बदलता है और उसका वेग भी भी बदलता है। जब तक बल कार्य करता है तब तक पिंड को त्वरण मिलता है। यान्त्रिकी के नियमो के अनुसार बल (प), पिंड का द्रव्यमान (म) और और त्वरण (फ) मे निम्नलिखित सबध है

$$प = म \times फ। \qquad (७)$$

समीकरण (७) मे जो द्रव्यमान **म** है उसको जडता या आश्रित (अथवा अवस्थितित्वीय) द्रव्यमान कहते हैं। द्रव्यमान का दूसरा सबध न्यूटन के गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र मे आता है। न्यूटन प्रणीत गुरुत्वाकर्षण के सिद्धात के अनुसार यदि दो द्रव्यमान, $म'$ तथा $म''$, दूरी **द** पर हो, तो उनके बीच मे निम्नलिखित गुरुत्वाकर्षणीय बल $प'$ काम करेगा

$$प' = \frac{ग \times म' \times म''}{द^२}। \qquad (८)$$

समीकरण (८) में **ग** गुरुत्वाकर्षणीय स्थिराक है। यदि हम $म'$ को पृथ्वी का द्रव्यमान समझे और $म''$ को समीकरण (७) में के किसी पिंड का द्रव्यमान समझे तो समीकरण (८) द्रव्यमान $म''$ का भार व्यक्त करेगा। न्यूटन की यात्रिकी में गतिविज्ञान तथा गुरुत्वाकर्षण स्वतत्र और भिन्न है, किंतु दोनो मे ही द्रव्यमान का सबध आता है। द्रव्यमान के इन दो स्वतत्र तथा भिन्न विभागो मे प्रयुक्त कल्पनाओ का एकीकरण आइस्टाइन ने अपने व्यापक आपेक्षितावाद मे किया। यह ज्ञात था कि जडता पर आश्रित द्रव्यमान (समीकरण ७) और गुरुत्वाकर्षणीय द्रव्यमान (समीकरण ८) समान होते हैं। आइस्टाइन ने द्रव्यमान की इस समानता का उपयोग करके गतिविज्ञान और गुरुत्वाकर्षण को एकरूप किया और सन् १९१५ ई० में व्यापक आपेक्षितावाद प्रस्तुत किया।

व्यापक आपेक्षितावाद को गणित में सूत्रित करने की जो पद्धति है वह अन्य पद्धतियो से भिन्न है। इसमे विशेष ज्यामिति का उपयोग किया जाता है, जो यूक्लिड के त्रि-आयामीय ज्यामिति से भिन्न है। मिकोस्की ने यह बताया कि यदि विशष्ट आपेक्षितावाद में दिक् के तीन आयाम तथा समय का चतुर्थ आयाम, इन चारो आयामो को लेकर एक 'चतुरायाम सतति' (फोर डाइमेशनल कॉनटिनुअम) की कल्पना की जाय तो आपेक्षितावाद अधिक सरल हो जाता है। समक्षणिकता निरपेक्ष नही है, यह प्रमाणित किया जा चुका है। इससे न्यूटन प्रणीत दिक् तथा समय की निरपेक्षिता और स्वतत्रता समाप्त हो जाती है। अत भौतिक घटना व्यक्त करने के लिये दिक् तथा समय की एक चतुरायाम सतति अधिक स्वाभाविक है। रीमान ने 'चतुरायाम दिक्' की कल्पना करके उसकी ज्यामिति का जो विकास किया था उसका आइस्टाइन ने अधिक उपयोग किया। दिक् तथा समय की इस चतुरायाम सतति मे भौमिकी के सिद्धात ज्यामितीय रूप से व्यापक आपेक्षिकता सिद्धात में रखे गए। इस चतुरायाम सतति का (अथवा 'विश्व' का) यूक्लिड के तीन आयाम के दिक् से साम्य है। तीन आयाम की सतति में

के बीच में गडगडाहट की ध्वनि। इन लक्षणों की अनुपस्थिति में हृदय के आक्रांत हो जाने का निश्चय करना कठिन हो जाता है। यदि पी० आर० अंत काल बढा हुआ हो, टी तरगो का विपर्यय हो अथवा क्यू० टी० अंत काल परिवर्तित हो, तो ऐसी दशा में इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम से सहायता मिल सकती है।

कोरिया—यह रूमैटिक ज्वर का दूसरा रूप है, जो विशेषकर बच्चो मे पाया जाता है। पश्चिमी शीतप्रधान देशो मे ५० प्रति शत बच्चो को यह रोग होता है, किंतु उष्ण प्रदेशो मे इतना अधिक नही होता। यह लक्षण देर से प्रकट होता है तथा इसका आरभ अप्रकट रूप से हो जाता है। इसमे बेचैनी, मानसिक उद्विग्नता और अगो मे अकारण, अनियमित तथा बिना इच्छा के गति होती रहती है। हलके रोग मे इसको पहचानने के लिये बहुत सावधानी की आवश्यकता है।

अधश्चर्म गुमटे (नोड्यूल)—ये रूमैटिक ज्वर के विशिष्ट लक्षण है, किंतु अज्ञात कारणो से उष्ण देशो मे नही पाए जाते। ये गुमटे नाप मे एक से दो सेंटीमीटर तक होते है और कलाइयो, कोहनियो, घुटनो तथा रीढ की हड्डी पर और सिर के पीछे उभडते है।

प्रयोगात्मक जॉच की अनुपस्थिति मे केवल लक्षणो से ही निदान करना पडता है और इसलिये बहुत सावधानी से निरीक्षण करना आवश्यक है।

इसकी विशिष्ट चिकित्सा सैलीसिलेटो, ऐसिटिल सैलिसिलिक ऐसिड और स्टेराइडो की ऊची मात्राओ से होती है। हृदय के आक्रात होने पर पुनराक्रमणो को रोकने के लिये बहुत दिनो तक विश्राम तथा सावधानी से शुश्रूषा आवश्यक है तथा इसी उद्देश्यसे पेनिसिलिन तथा सल्फोनामाइड मुख से देने की परीक्षा हो रही है। [वी० भा० भा०]

आमवातीय संध्याति

आमवातीय संध्याति (रूमैटॉएड आर्थ्राइटिज) एक ऐसी चिरकालिक व्याधि है जो साधारणत धीरे धीरे बढती ही जाती है। अनेक सधिजोडो का विनाशकारी और विरूपकारी शोथ इसका विशेष लक्षण है। साथ ही शरीर के अन्य सस्थानो पर भी इस रोग का प्रतिकूल प्रभाव होता है। मुख्यत पेशी, त्वचाधर, ऊतक (सबक्यूटेनियस टिशू), परिणाह तत्रिका (पेरिफेरल नर्व्स), लसिका सरचना (लिंफैटिक स्ट्रक्चर) एव रक्त सस्थानो पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पडता है। अत मे अवयवो का नीलापन अथवा हथेली तथा उँगलियो की पोरो की कोशिकाओ (कैपिलरीज़) का विस्फारण (डाइलेटेशन) और हाथ पावो मे अत्यधिक स्वेद इस रोग की उग्रता के सूचक है।

यह व्याधि सब आयु के व्यक्तियो को ग्रसित कर सकती है, पर २० से ४० वर्ष तक की अवस्था के लोग इससे अधिक ग्रस्त होते है।

२० वी शताब्दी के मध्य तक इस रोग का कारण नही जाना जा सका था। वशानुगत अस्वाभाविकता, अतिहृषता (ऐलर्जी), चयापचय विक्षोभ (मेटाबोलिक डिसऑर्डर) तथा शाकाणुओ में इसके कारणो को खोजा गया, किंतु सभी प्रयत्न असफल रहे। १७ हाइड्रॉक्सी, ११ डी हाइड्रो-कॉर्टिको-स्टेरान (केडल का E यौगिक) तथा ऐड्रेनो कॉर्टिकोट्रोफिक हारमोनो की खोज के बाद देखा गया कि ये इस व्याधि से मुक्ति देते है। अतएव इस रोग के कारण को हारमोन उत्पत्ति की अनियमितताओ मे खोजने का प्रयत्न किया गया, किंतु अभी तक इस रोग के मूल कारणो का पता नही चल सका है।

चिकित्सक साधारणत इसे श्लेपजन (कोलाजेन) व्याधि बताते है। यह इगित करता है कि आमवातीय सध्याति योजी ऊतक (कनेक्टिव टिशु), अस्थि तथा कास्थि (कार्टिलेज) के श्वेत तंतुओ के श्वेति (अल्ब्युमिनॉएड) पदार्थो मे हुए उपद्रवो के कारण उत्पन्न हो सकता है।

आमवातीय सध्याति के दो प्रकार होते है

पहला—जब रोग का आक्रमण मुख्यत हाथ पाँव की सधियो पर होता है, इसे परिणाह (पेरिफेरल) प्रकार कहते है।

दूसरा—जब रोग मेरुशोथ के रूप में हो, इसे स्टुपेल की व्याधि अथवा बेख्ट्र्यू की व्याधि कहते है।

इस रोग का तीसरा प्रकार पहले दोनो प्रकारो के समिलित आक्रमण के रूप मे हो सकता है। पहला प्रकार महिलाओ तथा दूसरा पुरुषो को विशेष रूप से ग्रसित करता है।

दोनो प्रकार के रोगो का आक्रमण प्राय एकाएक ही होता है। तीव्र दैहिक लक्षण, जैसे कई सधियो की कठोरता तथा सूजन, श्राति, भार मे कमी, चलने मे कष्ट एव तीव्र ज्वर के रूप मे प्रकट होते है। सधियाँ सूजी हुई दिखाई पडती है एव उनके छूने मात्र से ही पीडा होती है। कभी कभी उनमे नीली विवर्णता भी दृष्टिगत होती है। कई अवसरो पर प्रारभ में कुछ ही सधियो पर आक्रमण होता है, किंतु अधिकतर अनेक सधियो पर सममित रूप (सिमेट्रिकल पैटर्न) मे रोग का आक्रमण होता है। उदाहरण के लिये दोनो हाथो की उँगलियाँ, कलाइयाँ, दोनो पावो की पादशलाका-अगुलि-पर्वीय सधियाँ (मेटाटार्सो फैलैंजियल जॉएट्स), कुहनी तथा घुटने आदि।

रोग के क्रम मे अधिकतर शीघ्र प्रगति होती है एव तीव्र लक्षण उत्पन्न होते है, किंतु इसके पश्चात् स्वास्थ्य अपेक्षाकृत अच्छा होकर फिर खराब हो जाता है और भली तथा बुरी अवस्थाएँ एकातरित होती रहती है। कभी कभी रोग के लक्षण पूर्ण रूप से लुप्त हो जाते है और रोगी अच्छे स्वास्थ्य की दशा मे वर्षो तक रहता है। रोग का आक्रमण पुन भी हो सकता है। कुछ अवसरो पर रोग इतना अधिक बढ जाता है कि रोगी विरूप एव अपग हो जाता है। साथ ही मासपेशियो का क्षय हो जाता है तथा अपुष्टिताजनित विभिन्न चर्मविकार उत्पन्न हो जाते है।

रोग के हलके आक्रमणो मे रक्त-कोष-गणना तथा शोणवर्तुलि (हीमोग्लोबिन) के आगणन से परिमित रक्तहीनता पाई जाती है। तीव्र आक्रमणो मे अत्यत रक्तहीनता उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार हलके आक्रमणो मे लोहिताणुओ (एरिथ्रोसाइट्स) का प्लाविका (प्लाज्मा) मे तलछटीकरण (सेडिमेटेशन) अपेक्षाकृत शीघ्र होता है, किंतु तीव्र आक्रमणो मे यह तलछटीकरण और भी शीघ्र हो जाता है।

रोग का तीव्र आक्रमण होने पर रक्त मे लसीश्वेति (सीरम ऐल्ब्युमिन) की अपेक्षा लसीआवर्तुलि (सीरम ग्लोबुलिन) की बढती दिखाई पडती है। यह बढती कभी कभी इतनी अधिक हो जाती है कि रक्त मे दोनो यौगिको का अनुपात ही उलटा हो जाता है।

इस रोग मे कभी कभी रोगी के हृदय की मासपेशियो तथा हृत्कपाटो मे दोषग्रस्त होने के चिह्न तथा लक्षण मिलते है। इस रोग के लगभग ५० प्रति शत रोगियो मे हृदय पर आक्रमण पाया जाता है।

मूल कारणो के ज्ञान के अभाव मे लक्षणो के निवारण हेतु ही चिकित्सा की जाती है। पीडा को दूर करने के लिये पीडानिरोधक ओषधियाँ दी जाती है। साथ ही शरीर के क्षय का निवारण करने के लिये आवश्यक भोजन तथा पूर्ण विश्राम कराया जाता है। सधियो की मालिश भी की जाती है। स्वर्ण के लवणो का प्रभाव इस रोग पर अनुकूल होता है, किंतु इनके अधिक प्रयोग से विषैले प्रभाव भी देखे गए है। केंडल के यौगिक एफ तथा ई के साथ पोषग्रथि (पिट्यूटरी ग्लैड) के हारमोन ऐड्रीनो-कॉर्टिको-ट्रोफिक का प्रयोग भी इस रोग मे लाभकारी है।'

सं०ग्रं०—वॉअर, डब्ल्यू० रूमैटॉएड आर्थ्राइटीज, जे० ए० एम० ए०, १३८, ३९७, १९४८, रूमैटिज्म ऐड आर्थ्राइटीज़ रिव्यू ऑव अमेरिकन ऐंड इगलिश लिटरेचर ऑव रीसेट इयर्स, (टेथ रूमैटिज्म रिव्यू) भाग १, ऐनाल्स इटरनेशनल मेडिसिन, ३९ ४९८, १९५३, भाग २, वही, ३९ ७५७, १९५३, वार्ड, एल० ई० तथा हेच, पी० एस० कॉर्टिसोन इन ट्रीटमेट ऑव रूमैटाएड आर्थ्राइटीज, जे० ए० एम० ए०, १५२ ११९, १९५३, सेसिल तथा लोब टेक्स्टबुक ऑव मेडिसिन, १९५५ का सस्करण। [दे० सि०]

आमाशय तथा ग्रहणी के व्रण

आमाशय तथा ग्रहणी के व्रण (पेप्टिक व्रण) एक अघातक परिमित व्रण होता है, जो पाचन प्रणाली के उन भागो में पाया जाता है जहाँ अम्ल और पेपसिन युक्त आमाशयिक रस भित्ति के सपर्क मे आता है, जैसे ग्रासनलिका का निम्न प्रात, आमाशय और ग्रहणी। इन व्रणो का उल्लेख प्राचीन ग्रथो मे भी मिलता है। इनके कारण हुए रक्तस्राव का वर्णन हिप्पोक्रेटीज ने ४६० ई० पू० मे किया है, किंतु सभ्यता के आधुनिक सघर्षमय वातावरण में यह रोग बहुत अधिक पाया जाता है। शवपरीक्षा के आँकडो के अनुसार ससार के १० प्रति शत व्यक्ति ऐसे व्रणो से आक्रात रहते है।

शिता मानना अपूर्ण होगा, किंतु समीकरण (६) का उपयोग करके घटना के पूर्व और घटना के पश्चात् उसकी संपूर्ण ऊर्जा अथवा संपूर्ण द्रव्यमान अविनाशिता के नियम के अनुसार समान रहेगा।

द्रव्यमान में वेग के कारण जो परिवर्तन होता है वह सामान्य वेगो के लिये अत्यत उपेक्षणीय होता है, अत नित्य व्यवहार मे यह परिवर्तन अनुभव मे नही आता है। ऊर्जा तथा द्रव्यमान की समानता भी नित्य व्यवहार के के लिये निरुपयोगी है। जहाँ विशाल वेगो का सबध आता है, केवल वही समीकरण (५) और (६) का उपयोग हो सकता है। जब द्रव्यमान मे न्यूनता होती है तब समीकरण (६) के अनुसार इस नष्ट द्रव्यमान से इतनी प्रचड ऊर्जा प्राप्त होती है कि अवशिष्ट द्रव्यमान को विशाल गति मिलती है (देखिए **परमाण्वीय ऊर्जा**)।

आपेक्षितावाद के परिणामो के प्रायोगिक तथा अन्य प्रमाण—माइ-केलसन-मॉर्ले के प्रयोग के फल का आकलन तथा स्पष्टीकरण करने के लिये आपेक्षितावाद प्रस्तुत किया गया था। किंतु इस वाद को विस्तृत करने के पश्चात् समीकरण (४), (५) एव (६) के अनुसार जो अतिरिक्त फल मिलते है उनको प्रमाणित करने के लिये विशेष प्रयोगो की आवश्यकता थी। उपकरणो के निर्माण में जैसे जैसे प्रगति हुई वैसे वैसे यथार्थ मापन के लिये उचित उपकरण उपलब्ध होने लगे। ऐसे उपकरणो द्वारा किए गए प्रयोगो से समीकरण (४), (५) और (६) यथार्थता से प्रमाणित हुए और आपेक्षितावाद को अधिक पुष्टि मिली। भौतिकी मे, विशेषत नाभिकीय भौतिकी मे, कतिपय प्रयोगो के फल आपेक्षितावाद के दृष्टिकोण से ही सुस्पष्ट होते है। आपेक्षितावाद के अपवाद का एक भी उदाहरण वर्तमान काल तक भौतिकी में नही मिला है। केवल डी० सी० मिलर के प्रयोगो मे ईथर के सापेक्ष पृथ्वी की गति का आभास मिलता है। ये प्रयोग माइकेलसन-मॉर्ले के प्रयोग के समान थे। परतु मिलर के प्रयोग के फल वैज्ञानिको मे सर्वमान्य नही है।

समीकरण (४) के अनुसार लबाई तथा समय दोनो वेगसबद्ध है। इन समीकरणो का प्रत्यक्ष फल नापने के लिये वेग व प्रकाश के वेग **प्र** से तुलनीय होना चाहिए। जैसा पहले बताया गया है, व्यवहार के सामान्य वेगो के लिये लबाई तथा समय मे जो परिवर्तन होता है वह उपेक्षणीय है। परमाणु-भौतिकी मे आधुनिक काल मे जो प्रगति हुई और प्रचड ऊर्जा प्राप्त करने का आविष्कार हुआ, उनकी सहायता से **प्र** से तुलनीय वेग प्रयोगशाला मे अब मिल सकता है। इसी प्रकार पृथ्वी पर विश्वकिरणो (कॉस्मिक रेज़) की जो वर्षा होती है, उसमें प्रचड वेग तथा ऊर्जा के कण होते है। इनमे एक विशेष प्रकार के कण, मेसान, होते है जो आकाश मे पृथ्वी से १० किलोमीटर की ऊँचाई पर निर्मित होते है। इनका जीवन काल लगभग ३×१०^{-६} सेकेड होता है। सामान्य गणना के अनुसार पृथ्वी पर पहुँचने के लिये इनका वेग **प्र** से बहुत अधिक होगा, किंतु विशिष्ट आपेक्षितावाद के अनुसार यह असभव है। यदि विशिष्ट आपेक्षितावाद का यहाँ उपयोग किया जाय तो यह जीवन-काल पत्येक मेसान के साथ उसके ही वेग से चलनेवाली घडी का समय है। पृथ्वी पर के प्रेक्षक के लिये यह घडी विलबित (मद गति से) चलेगी। अत समय के सूत्र मे उचित सशोधन करने पर इन मेसानो का वेग ० ९९ **प्र** आता है और जीवनकाल भी ठीक आता है। द्रव्यमान का वेग के ऊपर अवलबन (समीकरण ५) तो अनेक प्रयोगो में प्रमाणित हुआ है। इलेक्ट्रान को प्रचड विभव (पोटेंशियल) से त्वरित करने पर उसकी गति **प्र** से तुलनीय हो सकती है और उसका प्रत्यक्ष पथ निकालने के लिये उसके द्रव्यमान की गणना समीकरण (५) के अनुसार करनी पडती है। द्वितीय विश्वयुद्ध को जिसने शीघ्र समाप्त किया और वर्तमान काल मे ऊर्जा का एक नवयुग प्रस्थापित किया, वह परमाणु बम ऊर्जा-समीकरण (६) का ही फल है। यदि **म** ग्राम द्रव्यमान नष्ट हो तो मप्र² अर्ग ऊर्जा मिलती है। युरेनियम-२३५ का केवल ० १ प्रति शत द्रव्यमान नष्ट होने से परमाणु बम जैसा महास्त्र तैयार होता है (देखिए **परमाण्वीय ऊर्जा**)। इससे अधिक द्रव्यमान नष्ट हो तो अधिक ऊर्जा प्राप्त होगी और अधिक शक्तिशाली महास्त्र प्राप्त होगा, उदाहरणत, हाइड्रोजन बम। जिस समय अति प्रचड ताप मे हाइड्रोजन के परमाणु एकत्रित होते है और हीलियम के नए परमाणु बनते है, उस समय अधिक द्रव्यमान नष्ट होने के कारण परमाणु बम से सहस्रगुनी अधिक ऊर्जा उत्पन्न होती है। सूर्य अनेक कोटि शताब्दियो से सतत प्रचड उष्मा (ऊर्जा का ही एक स्वरूप) देता आ रहा है। सूर्य की इस शक्ति का रहस्य भी समीकरण (६) से स्पष्ट होता है। अत भौतिकी की वर्तमान प्रगति से हम यह निश्चित रूप से कह सकते है कि विशिष्ट आपेक्षितावाद के सब फल *प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से प्रमाणित हो चुके है और उनकी* यथार्थता मे कोई सदेह नही रहा है।

व्यापक आपेक्षितावाद (जनरल रिलेटिविटी थ्योरी)—व्यापक आपे-क्षितावाद (१) आपेक्षिता नियम और (२) गुरुत्वाकर्षणीय तथा जडता (इनर्शिया) पर आश्रित द्रव्यमानो की समानता, इन दो परिकल्पनाओ पर आधारित है। लबाई, दिक्, काल, सहति, ऊर्जा इत्यादि के विषय मे भौतिकी मे जो धारणाएँ थी उनमे विशिष्ट आपेक्षितावाद ने सुधार किया। इनके अतिरिक्त भौतिकी के क्षेत्र मे अन्य विषय है जो उतने ही महत्वपूर्ण है, किंतु उनका समावेश विशिष्ट आपेक्षितावाद में नही है। बल तथा विद्युच्चुबकीय क्षेत्रो मे विशिष्ट आपेक्षितावाद का जैसा उपयोग हो सकता है वैसा गुरुत्वा-कर्षणीय क्षेत्र मे नही हो सकता। गुरुत्वाकर्षण भौतिकी का एक अत्यत महत्वपूर्ण विभाग है, अत विशिष्ट आपेक्षितावाद को व्यापक बनाने की आवश्यकता स्पष्ट है।

द्रव्यमान का सबध भौतिकी मे दो प्रकार से आता है। किसी पिंड पर जब बल कार्य करता है तब पिंड का स्थान बदलता है और उसका वेग भी भी बदलता है। जब तक बल कार्य करता है तब तक पिंड को त्वरण मिलता है। यात्रिकी के नियमो के अनुसार बल (प), पिंड का द्रव्यमान (म) और और त्वरण (फ) मे निम्नलिखित सबध है

$$\text{प} = \text{म} \times \text{फ}। \qquad (७)$$

समीकरण (७) मे जो द्रव्यमान **म** है उसको जडता या आश्रित (अथवा अवस्थितित्वीय) द्रव्यमान कहते है। द्रव्यमान का दूसरा सबध न्यूटन के गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्र मे आता है। न्यूटन प्रणीत गुरुत्वाकर्षण के सिद्धात के अनुसार यदि दो द्रव्यमान, म′ तथा म″, दूरी द पर हो, तो उनके बीच मे निम्नलिखित गुरुत्वाकर्षणीय बल प′ काम करेगा

$$\text{प}' = \frac{\text{ग} \times \text{म}' \times \text{म}''}{\text{द}^{२}}। \qquad (८)$$

समीकरण (८) मे **ग** गुरुत्वाकर्षणीय स्थिराक है। यदि हम **म′** को पृथ्वी का द्रव्यमान समझें और **म″** को समीकरण (७) मे के किसी पिंड का द्रव्यमान समझे तो समीकरण (८) द्रव्यमान म″ का भार व्यक्त करेगा। न्यूटन की यात्रिकी मे गतिविज्ञान तथा गुरुत्वाकर्षण स्वतत्र और भिन्न है, किंतु दोनो में ही द्रव्यमान का सबध आता है। द्रव्यमान के इन दो स्वतत्र तथा भिन्न विभागो मे प्रयुक्त कल्पनाओ का एकीकरण आइस्टाइन ने अपने व्यापक आपेक्षितावाद मे किया। यह ज्ञात था कि जडता पर आश्रित द्रव्यमान (समीकरण ७) और गुरुत्वाकर्षणीय द्रव्यमान (समीकरण ८) समान होते है। आइस्टाइन ने द्रव्यमान की इस समानता का उपयोग करके गतिविज्ञान और गुरुत्वाकर्षण को एकरूप किया और सन् १९१५ ई० में *व्यापक आपेक्षितावाद* प्रस्तुत किया।

व्यापक आपेक्षितावाद को गणित में सूत्रित करने की जो पद्धति है वह अन्य पद्धतियो से भिन्न है। इसमे विशेष ज्यामिति का उपयोग किया जाता है, जो यूक्लिड के त्रि-आयामीय ज्यामिति से भिन्न है। मिकोव्स्की ने यह बताया कि यदि विशिष्ट आपेक्षितावाद मे दिक् के तीन आयाम तथा समय का चतुर्थ आयाम, इन चारो आयामो को लेकर एक 'चतुरायाम सतति' (फोर डाइमेशनल कॉनटिनुअम) की कल्पना की जाय तो आपेक्षितावाद अधिक सरल हो जाता है। समक्षणिकता निरपेक्ष नही है, यह प्रमाणित किया जा चुका है। इससे न्यूटन प्रणीत दिक् तथा समय की निरपेक्षिता और स्वतत्रता समाप्त हो जाती है। अत भौतिक घटना व्यक्त करने के लिये दिक् तथा समय की एक चतुरायाम सतति अधिक स्वाभाविक है। रीमान ने 'चतुरा-याम दिक्' की कल्पना करके उसकी ज्यामिति का जो विकास किया था उसका आइस्टाइन ने अधिक उपयोग किया। दिक् तथा समय की इस *चतुरायाम सतति मे भौतिकी के सिद्धात ज्यामितीय रूप से व्यापक* आपे-क्षिकता सिद्धात मे रखे गए। इस चतुरायाम सतति का (अथवा 'विश्व' का) यूक्लिड के तीन आयाम के दिक् से साम्य है। तीन आयाम की सतति मे

पक्वाशय के व्रण (डुओडेनल अल्सर) के समान लक्षण हो सकते हैं। आहार के नियत्रण से तथा श्लेष्मा को घोलने के लिये क्षार के प्रयोग से रोगी की व्यथा कम होती है। [शि० ग० मि० तथा स० प्र० गु०]

आमियानस मार्सेलिनस (जन्म स० ३२५-३० ई०) रोमन इतिहासकार, सभ्रात ग्रीक वश का था। रोम के शासको और जेनरलो के साथ वह अनेक एशियाई युद्धो में शामिल हुआ। एकाध बार तो उसे ईरानियो से लडते समय जान के लाले तक पड गए। अपने जन्म का नगर अतियोक छोड बाद में वह रोम में ही बस गया और वही उसने अपना 'रेरुम गेस्तारुम ३१' नामक प्रसिद्ध इतिहास लातीनी मे लिखा, जिसमे ९६-३७८ ई० तक की घटनाएँ समाविष्ट हुई और जो तासितस के इतिहास का उपसहार बना। उसी पर आमियानस का यश प्रतिष्ठित हुआ। उसकी शैली अधिकतर अस्पष्ट और असधुर है। लिवी और तासितस दोनो इतिहासकारो मे वह अधिक उदारचेता है। [भ० श० उ०]

आमीन् एक प्राचीन इब्रानी शब्द जिसे न केवल यहूदी, वरन् ईसाई और कुछ अश तक मुसलमान भी अपनी उपासना मे प्रयुक्त करते हैं। यूनानी अनुवाद के अनुसार इसका अर्थ है—'ऐसा ही हो', किंतु वास्तविक रूप मे इसका अर्थ है—'ऐसा ही है' अथवा 'ऐसा ही होगा'। साधारण प्रयोग में इसका अर्थ है 'हो'। उपासना की समाप्ति कर उपस्थित व्यक्ति धर्माचार्य की कामना के समर्थन मे 'आमीन्' शब्द का प्रयोग करते हुए उस कामना के प्रति अपना समर्थन व्यक्त करते है। [वि० ना० पा०]

आमुंसन रोआल्ड (१८७२-१९२८) नारवे का एक साहसी समन्वेषक (अनजान देशो की खोज करनेवाला) था। उसका जन्म देहात मे हुआ था, परतु उसने शिक्षा क्रिस्चियाना मे, जिसका नाम अब ओसलो है, पाई थी। सन् १८९० में उसने बी०ए० पास किया और आयुर्विज्ञान (मेडिसिन) पढना आरभ किया, परतु मन न लगने से उसे छोड उसने जहाज पर नौकरी कर ली। सन् १९०३-६ मे वह ग्योआ नामक नाव या छोटे जहाज में अपने ६ साथियो के साथ उत्तर ध्रुव की खोज करता रहा और उत्तर चुबकीय ध्रुव का पता लगाया। १९१०-१२ मे वह दक्षिण ध्रुव की खोज करता रहा और वही पहला व्यक्ति था जो दक्षिण ध्रुव तक पहुँच सका। प्रथम विश्वयुद्ध के कारण उसे कई वर्षो तक चुपचाप बैठना पडा। १९१८ मे उसने फिर उत्तर ध्रुव पहुँचने की चेष्टा की, परतु सफलता न मिली। तब उसन नॉर्ज नामक नियत्रित गुब्बारे (डिरिजिबिल) मे उडकर दो बार उत्तर ध्रुव की प्रदक्षिणा की और ७१ घटे मे २,७०० मील की यात्रा करके सफलतापूर्वक फिर भूमि पर उतरा। जब जेनरल नोबिल का हवाई जहाज उत्तर ध्रुव मे लौटते समय मार्ग मे दुर्घटनाग्रस्त हो गया तो आमुसन ने बडी बहादुरी से उसको खोजने का बीडा उठाया। १७ जून, १९२८ को उसने इस काम के लिये हवाई जहाज मे प्रस्थान किया, परतु फिर उसका कोई समाचार ससार को प्राप्त न हो सका।

आमूर १ उत्तर-पूर्वी एशिया की एक नदी तथा एक प्रदेश का नाम। इस नदी की उत्पत्ति साइबेरिया की नदी शिल्का तथा मचूरिया की नदी अर्गुन के ५३° उत्तर अक्षाश तथा १२१° पूर्व देशातर पर मिलने से होती है। १७७० मील लबी यह नदी सखालीन द्वीप के सामने तातार जलडमरूमध्य में गिरती है। अपनी २०० सहायक नदियो के साथ ७,१०,००० वर्ग मील की वर्षा को लेती हुई यह नदी विश्व की १०वी तथा सोवियत रूस की चौथी सबसे बडी नदी है। चीनी इसे काली राक्षसी कहते हैं। इसके किनारे पर निराली प्राकृतिक छटावाले वन, पर्वत, घास के मैदान तथा दलदल हैं। वसत ऋतु में हिम पिघलने के कारण आमूर में बाढ आ जाती है और सपूर्ण नदी नौकावहन योग्य होकर, सुदूरपूर्व सोवियत भूमि के यातायात का प्रमुख साधन बन जाती है। अनाज, नमक एव औद्योगिक वस्तुएँ मुहाने की ओर तथा मछली एव लकडी उद्गम की ओर जाती है। सुगरी तथा उसूरी आमूर की मुख्य सहायक नदियाँ है।

२ आमूर प्रदेश की जनसख्या सन् १९५० ई० में ९,००,००० थी। इस प्रदेश मे आमूर दलदल एव वन्य [illegible] (स्टेप) है। यहाँ शरद् ऋतु मे शीत तथा ग्रीष्म में गर्मी एव वर्षा होती है। यहाँ के मैदान कृषि एव चरागाहो के लिये अत्यत उपयुक्त हैं। अनाज, सोयाबीन, सन फ्लावर तथा आलू आमूर प्रदेश के मुख्य कृषि उत्पादन हैं। सोने तथा कोयले की खुदाई, आखेट, मछली मारना तथा लकडी का काम, यहाँ के मुख्य उद्योग हैं। ट्रास-साइबेरियन रेलवे आमूर प्रदेश से होकर जाती है। ब्लागोवेश्चेस्क यहाँ की राजधानी है। [शि० म० सिं० तथा स० प्र० गु०]

आमोय नामक द्वीप पर स्थित आमोय नगर, जिसे सुमिंग भी कहते है, ६ मील लबा है। जनसख्या २,२०,००० (१९४५ ई०)। यह चीन देश का एक प्रमुख बदरगाह है तथा फुकिन प्रात का द्वितीय सर्व-प्रधान नगर है। एक पर्वतश्रेणी इसे दो भागो मे विभाजित करती है। इनमें से एक आतरिक नगर है तथा दूसरा बाह्य नगर। दक्षिण फुकिन तट का सर्वश्रेष्ठ बदरगाह अबाय अपने आँचल मे बडे बडे सागरीय पोतो को ले सकता है। यहाँ पर सुदर शुष्क नौनिवेश (ड्राइ डॉक्स) भी है। आमोय चाय, कागज तथा तबाकू का प्रमुख निर्यातकेंद्र है। यहाँ चावल, रुई, कपडा, लौह वस्तुओ तथा दूसरी औद्योगिक वस्तुओ का आयात होता है। यहाँ का तटीय व्यापार भी यथेष्ट महत्वपूर्ण है तथा यहाँ के प्रमुख व्यापारी और धनी चीन के कुबेर समझे जाते हैं। १८वी शताब्दी के अतिम चरण मे आमोय को अतर्राष्ट्रीय व्यापार मे यथेष्ट ख्याति मिली और चाय के व्यापार मे स्वर्ण की वर्षा होने लगी। १८४१ ई० मे ब्रिटिश चीनी अफीम युद्ध मे यह नगर ब्रिटेन के अधिकार मे आ गया तथा १८४२ ई० की सधि के पश्चात् चीन के चार अन्य बदरगाहो के साथ यह भी अतर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये खुल गया। फुकिन अभियान के समय जापानियो ने आमोय को ध्वस्त कर दिया। १९४५ ई० तक यह उनके अधिकार मे रहा। [शि० म० सि०]

आमोस (लगभग ७५० ई० पू०)। आमोस के उपदेशो का सग्रह बाइबिल मे सुरक्षित है और आमोस का ग्रथ कहलाता है। ये बारह गौण नबियो में से है। ईश्वर की प्रेरणा से उन्होने मूर्तिपूजा के कारण यहूदी के नाश की नबूवत की थी, इसलिये इनको 'सर्वनाश का नबी' कहा गया है। ये साधारण शिक्षाप्राप्त एव स्पष्टवादी ग्रामीण थे। इन्होने अन्याय, धनिको द्वारा दरिद्रो के शोषण तथा धर्म मे निर्जीव कर्मकाड की निंदा की है।

स०ग्र०—थेईज, जे० : देर प्राफेट आमोस, बॉन, १९३७। [का० बु०]

आम्रकार्दव चद्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य (ल० ३७५-४१४ ई०) का सेनापति। वह बौद्ध था और साँची के एक अभिलेख से प्रमाणित है कि उसने २५ दीनार और एक गाँव वहाँ के आर्यसघ (बौद्ध-सघ) को दान मे अर्पित किए थे। आम्रकार्दव का नाम विशेषत गुप्तो की धार्मिक सहिष्णुता के प्रमाण मे उद्धृत किया जाता है। चद्रगुप्त विक्रमादित्य परम भागवत, परम वैष्णव थे, परतु सेनापति के पद पर इस बौद्ध को नियुक्त करने में उन्हे आपत्ति नही हुई। [ओ० ना० उ०]

आयकर भारतवर्ष मे आयकर का इतिहास बहुत प्राचीन है, यद्यपि इसके आधुनिक अर्थ मे इसका सूत्रपात पहली बार इग्लैड मे सन् १८०३ ई० में हुआ। भूमिराजस्व के रूप मे तो इसका प्रारभ इग्लैड मे सन् १६९२ ई० में हुआ था, किंतु भारत मे प्रत्यक्ष तथा परोक्ष आयकर की विशद व्यवस्था सबसे पहले कौटिल्य के अर्थशास्त्र (ल० ई० पू० तीसरी-चौथी शताब्दी) में उपलब्ध है। सिक्के के रूप मे जो कर राजकोष मे दिया जाता था, उसके रूपिक, व्याजी, परीक्षिका, परिघ आदि अनेक नाम और प्रकार थे। पराधीन राज्यो अथवा आश्रित राजाओ से जो चौथ ली जाती थी, केवल उसी को 'कर' की सज्ञा चाणक्य ने दी है। इसके अतिरिक्त भी अनेक प्रत्यक्ष तथा परोक्ष आयकर तत्कालीन (उत्तरी) भारत मे प्रचलित थे, यथा पिंडकर (जिनकी राशि एक बार निश्चित कर दी जाती थी, अर्थात् जो आयराशि से निरपेक्ष थे), षड्भाग (अनाज की पैदावार का छठा भाग, जो भूमिकर के रूप मे लिया जाता था), सेनाभुक्ति (जनता द्वारा सेना के पोषणार्थ दिया जानेवाला कर), बलि (धार्मिक कृत्यो के लिये लिया जानेवाला कर), उत्सग (राजा के पुत्र की उत्पत्ति पर वसूल किया जानेवाला कर), औपायनिक (राजा के दर्शनार्थ (अनिवार्य) भेंट), कौष्ठेयक (राजसरोवरो, तडागो, जलाशयो के समीपस्थ भूमि का लगान)

की सर्वोत्तम कोटि है। गौतम सूत्र (२।१।५७) मे वेद के प्रामाण्य को तीन दोषो से युक्त होने के कारण भ्रात होने का पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया है। वेद में नितात मिथ्यापूर्ण बातें पाई जाती हैं, कई परस्पर विरुद्ध बातें दृष्टिगोचर होती हैं और कई स्थलो पर अनेक बातें व्यर्थ ही दुहराई गई हैं। गौतम ने इस पूर्वपक्ष का खडन बडे विस्तार के साथ अनेक सूत्रो में किया है (२।१।५८–६१)। वेद के पूर्वोक्त स्थलो के सच्चे अर्थ पर ध्यान देने से वेदवचनो का प्रामाण्य स्वत उन्मीलित होता है। पुत्रेष्टि यज्ञ की निष्फलता इष्टि के यथार्थ विधान की न्यूनता तथा यागकर्ता की अयोग्यता के ही कारण है। 'उदिते जुहोति' तथा 'अनुदिते जुहोति' वाक्यो में भी कथमपि विरोध नही है। इनका यही तात्पर्य है कि यदि कोई इष्टिकर्ता सूर्योदय से पहिले हवन करता है, तो उसे इस नियम का पालन जीवन भर करते रहना चाहिए। समय का नियमन ही इन वाक्यो का तात्पर्य है। बुद्ध तथा जैन के आगम को नैयायिक लोग वेद के समान प्रमाण कोटि में नही मानते। वाचस्पति मिश्र का कथन है कि ऋषभदेव तथा बुद्धदेव कारुणिक सदुपदेष्टा भले ही हो, परतु विश्व के रचयिता ईश्वर के समान न तो उनका ज्ञान ही विस्तृत है और न उनकी शक्ति ही अपरिमित है। जयत भट्ट का मत इससे भिन्न है। वे इनको भी ईश्वर का अवतार मानते हैं। अतएव इनके वचन तथा उपदेश भी आगम कोटि में आते है। अतर इतना ही है कि वेद का उपदेश समस्त मानवो के कल्याणार्थ है, परतु बौद्ध और जैन आगम कम मनुष्यो के लाभार्थ है। इस प्रकार आप्त प्रमाण के विषय में एकवाक्यता प्रस्तुत की जा सकती है। [ब० उ०]

आफ्रोदीती प्रणय और विवाह की ग्रीक देवी, भारतीय रति की समानातर। ग्रीक पौराणिक कथाओ के अनुसार उसकी उत्पत्ति समुद्र के नील फेन से हुई। पुनर्जागरणकाल के प्रसिद्ध इतालीय चित्रकार बोतीचेली का एक अत्यत सुदर चित्र आफ्रोदीती के इस सागरजन्म को अभिव्यक्त करता है। सागर से जन्म लेने के कारण ही देवी नाविको की विशेष आराध्या बन गई थी। उसी का रोम की सस्कृति में वीनस नाम पडा। पहले उसका सबध युद्ध से भी रहा था, इससे उसकी कुछ प्राचीनतम मूर्तियाँ सामरिक वेशभूषा में निर्मित हैं।

आफ्रोदीती को मेष, अज और कबूतर बडे प्रिय हैं और उसका प्रतिनिधान वे ही अनेक बार पौराणिक कथाओ में करते हैं। देवी की मेखला विशेष चमत्कारी मानी जाती थी और उसे वह अपने प्रणयियो को अपना प्रसाद घोषित करने के लिये जब तब दे दिया करती थी। उसके प्रणयी अनेकानेक देव तो थे ही, अपने प्रेमदान से उसने मानवो को भी भाग्यवान् किया। उसके सबध की असख्य कथाओ में एक उस गडेरिए अदोनिस् की कथा है जिसे आफ्रोदीती ने अपने प्रणय का अधिकारी बनाया था। अदोनिस् को एक दिन आखेट के समय वन्य शूकर ने मार डाला, फिर तो आफ्रोदीती ने उसके लिये इतना विलाप किया कि देवताओ का हिया भी पसीज गया और उन्होंने उसके प्रिय को नवजीवन दान दिया। निश्चय यह हुआ कि अदोनिस् वसत आदि ऋतुओ मे छ महीने आफ्रोदीती के साथ स्वर्ग में रहेगा, शेष मास वह पाताल मे बिताएगा। यह कथा मदनदहन, सतीविलाप और कामदेव के पुनर्जीवन का ग्रीक रूपातर सा प्रस्तुत करती है।

आफ्रोदीती की कथा और पूजा का आरभ विद्वान् फिनीकी देवी अस्तार्ते से मानते हैं जो एशियाई धर्मो से सबध रखती थी और जिसका प्रचार फिनीकी सौदागरो ने पीछे ग्रीस के तटवर्ती द्वीपो मे किया। कला में इस देवी का अनेकधा निरूपण हुआ है, उसकी अनेक अद्भुत मूर्तियाँ आज उपलब्ध हैं। सबसे सुदर और विख्यात मूर्ति प्रोक्सितीलिज की बनाई कारिया में क्नीदस् के मदिर में प्राचीन काल में स्थापित हुई थी। [भ० श० उ०]

आबनर बाइबिल के पुराने अहदनामे के अनुसार आबनर साल का चचेरा भाई और प्रधान सेनापति था। साल की मृत्यु के बाद इसराइल दो दलो में विभक्त हो गया। एक दाऊद के अधीन दक्षिण का दल और दूसरा ट्रासजार्डन का, जो साल के बेटे और उत्तराधिकारी इशबाल के प्रति वफादार रहा। इशबाल दुर्बलमना व्यक्ति था इसलिये समस्त सत्ता आबनर के हाथो मे केंद्रित हो गई। व्यक्तिगत लडाई में आबनर जोब के हाथो मारा गया। [वि० ना० पा०]

आबू पर्वत भारतवर्ष के राजस्थान राज्य में अरावली पर्वत का सर्वोच्च शिखर, जैनियो का प्रमुख तीर्थस्थान तथा राज्य का ग्रीष्मकालीन शैलावास है। स्थिति (२४° ४०' उ० अ०, ७२° ४५' पू० दे०)। अरावली श्रेणियो के अत्यत दक्षिण-पश्चिम छोर पर ग्रेनाइट शिलाओ के एकल पिंड के रूप में स्थित आबू पर्वत पश्चिमी बनास नदी की लगभग सात मील सँकरी घाटी द्वारा अन्य श्रेणियो से पृथक् हो जाता है। पर्वत के ऊपर तथा पार्श्व में अवस्थित ऐतिहासिक स्मारकों, धार्मिक तीर्थमदिरो एव कलाभवनो में शिल्प-चित्र-स्थापत्य कलाओ की स्थायी निधियाँ हैं। यहाँ की गुफा में एक पदचिह्न अकित है जिसे लोग भृगु का पदचिह्न मानते हैं। पर्वत के मध्य में सगमरमर के दो विशाल जैनमदिर हैं। [का० ना० मि०

आबेल, नील्स हेनरिक (१८०३-१८२९ ई०) नार्वे के गणितज्ञ थे। इनका जन्म २५ अगस्त, १८०३ ई० को हुआ। इनकी शिक्षा क्रिस्टिआनिया विश्वविद्यालय (ऑसलो) में हुई। १८२५ ई० में राजकीय छात्रवृत्ति पाकर ये गणिताध्ययन के लिये जर्मनी और फ्रास गए, परतु आर्थिक कारणो से १८२७ ई० में इन्हें नार्वे लौटना पडा और वहीं पर ६ अप्रैल, १८२९ ई० को केवल २६ वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हो गई। इतने अल्प समय में भी गणित को आबेल ने अपूर्व देन दी है। समीकरणों के सिद्धात में इन्होने पचघातीय व्यापक समीकरण के हल की असभवता सिद्ध की, यह ज्ञात किया कि बीजगणित की सहायता से कौन कौन से समीकरण हल किए जा सकते हैं और उस समीकरण को हल करने की विधि प्रदान की जिसे अब आबेल का समीकरण कहा जाता है। फलनो के सिद्धात में इन्होने दीर्घवृत्तीय तथा अब आबेल के फलन कहे जानेवाले फलनो पर अनेक महत्वपूर्ण अनुसधान किए। चल-राशि-कलन (इनटेग्रल कैलकुलस) में इनकी प्रसिद्ध देन वे अनुकल हैं जो अब आबेल के अनुकल कहलाते हैं। आबेल के अति दीर्घवृत्तीय अनुकल इन्ही के विशिष्ट रूप हैं।

स०ग्रं०—सी० ए० ब्यर्कनेस नील्स हेनरिक आबेल—ताब्लो द सा वी ए सोन आक्स्यो सियातिफिक, १८८५। [रा० कु०]

आभासवाद त्रिक दर्शन की दार्शनिक दृष्टि का अभिधान। काश्मीर का त्रिक दर्शन अद्वैतवादी है। इसके अनुसार परम शिव (जो 'अनुत्तर', 'सविद्' आदि अनेक नामो से प्रख्यात हैं) अपनी स्वातत्र्यशक्ति से (जो उनकी इच्छाशक्ति का ही अपर नाम है) अपने भीतर स्थित होनेवाले पदार्थसमूह को इद रूप से बाहर प्रकट करते हैं। इस प्रकार जो कुछ वस्तु है, अर्थात् जो वस्तु किसी प्रकार सत्ताधारण करती है, जिसके विषय में किसी भी प्रकार का शब्द प्रयोग किया जा सकता है, चाहे वह विषयी हो, विषय हो, ज्ञान का साधन हो या स्वय ज्ञानरूप ही हो, वह 'आभास' कहलाती है। ईश्वर और जगत् के सबध को समझाने के लिये अभिनवगुप्त ने दर्पण की उपमा प्रस्तुत की है। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में ग्राम, नगर, वृक्ष आदि पदार्थ प्रतिबिंबित होने पर वस्तुत अभिन्न होने पर भी दर्पण से और आपस में भी भिन्न प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार इस विश्व की दशा है। यह परमेश्वर में प्रतिबिंबित होने पर वस्तुत उससे अभिन्न ही है, परतु घट पट आदि रूप से वह भिन्न प्रतीत होता है। इस आभास या प्रतिबिंब के सिद्धात को मानने के कारण त्रिक दर्शन का दार्शनिक मत 'आभासवाद' के नाम से पुकारा जाता है। इस विषय में एक वैचित्र्य भी है जिसपर ध्यान देना आवश्यक है। लोक में प्रतिबिंब की सत्ता बिंब पर आश्रित रहती है। मुकुर के सामने मुख रहने पर ही उसका प्रतिबिंब उसमें पडता है, परतु अद्वैतवादी त्रिक दर्शन मे इस प्रतिबिंब का उदय बिंब के अभाव में भी स्वत होता है और इसे परमेश्वर की स्वतत्र शक्ति की महिमा माना जाता है। इस प्रकार इस दर्शन में अद्वैत भावना वास्तविक है। द्वैत की कल्पना नितात कल्पित है। [ब० उ०]

आभीर (हिंदी अहीर) एक घुमक्कड जाति थी जो शको की भाँति बाहर से हिंदुस्तान में आई। इस जाति के लोग काफी सख्या में हिंदुस्तान आए तथा यहाँ के पश्चिमी, मध्यवर्ती और दक्षिणी हिस्सो में बस गए। इनकी देहयष्टि सीधी-खडी होती है और ये उन्नतनास होते हैं। जाति से शक्तिमान् हैं, शरीर से नितात पुष्ट और सशक्त। जातीय

विधेयक (सन् १९५० ई०) द्वारा आयकर विधेयक जम्मू और काश्मीर को छोड़ समस्त देश पर लागू हो गया। तब से इस विधेयक में परिस्थितियों तथा आवश्यकता के अनुसार समय समय पर संशोधन एवं परिवर्तन होते रहते हैं। देश के शासन की आर्थिक व्यवस्था के संचालन एवं संतुलन के निमित्त आयकर एक स्थायी विधान है।

आयकर वसूल करने की शासकीय व्यवस्था का इतिहास भी संक्षेप में जान लेना आवश्यक है। जब तक आयकर अप्रत्याशित वित्तीय विपत्तिकाल में यदा कदा लगाया जाता रहा, तब तक यह शासकीय व्यवस्था का एक अस्थायी अंग रहा। अतएव कोई स्थायी विभाग इसकी वसूली के प्रबंध के लिये नहीं खोला गया और प्रांतीय राजस्व विभागों को ही यह कार्य सौंपा जाता रहा। इस कार्य के लिये ये विभाग अस्थायी कर्मचारी नियुक्त कर लेते थे, जिनके भ्रष्टाचार तथा अयोग्यता के कारण आयकरनिर्धारण तथा संग्रह करने के काम भली भाँति संपन्न नहीं होते थे। सन् १८८६ ई० के पश्चात् भी केवल कलकत्ता, बंबई और मद्रास में ही स्थायी आयकर अधिकारी थे। अखिल भारतीय आयकर समिति (सन् १९२१ ई०) के सुझाव पर सन् १९२४ ई० में भारत सरकार ने एक विधेयक द्वारा केंद्रीय राजस्व बोर्ड की स्थापना की, जिसके अंतर्गत आयकर संग्रह की अखिल भारतीय स्थायी व्यवस्था की गई। सन् १९२२ ई० के आयकर विधेयक के अंतर्गत प्रत्येक प्रांत में एक आयकर आयुक्त नियुक्त किया गया था, जिसके नियंत्रण में आयकर उपायुक्त तथा आयकर अधिकारी होते थे। सन् १९३९ ई० से पूर्व आयकर उपायुक्त तत्संबंधी शासकीय व्यवस्था के अतिरिक्त करनिर्धारण की अपील भी सुनता था, किंतु सन् १९३९ ई० के बाद इन दो कार्यों के लिये अलग अलग उपायुक्त नियुक्त किए गए। सन् १९४१ ई० से अपील सुननेवाले आयकर उपायुक्त के निर्णय से असंतुष्ट करनिर्धारण की दूसरी अपील करने का अधिकार दिया गया और ऐसी अपीलें सुनने के लिये दो सदस्यों का एक विशेष आयकर न्यायमंडल (इनकम टैक्स अपेलाट ट्राइब्यूनल) स्थापित किया गया, जिसे विधि (कानून) संबंधी विवादास्पद विषयों में प्रादेशिक उच्च न्यायालयविशेष से निर्णायिक परामर्श लेने का भी अधिकार है।

सं०ग्रं०—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, रा० शामशास्त्री द्वारा अनूदित अंग्रेजी भाषा में कौटिल्य का अर्थशास्त्र, श्री ए० सी० संपत द्वारा संपादित इंडियन इन्कम टैक्स ऐक्ट, दूसरा भाग, भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा प्रकाशित अर्थशास्त्रशब्दावली। [का० चं० सी०]

आयडिन दक्षिण-पश्चिमी तुर्की का एक प्रमुख नगर है, जो स्मरना से पूर्व-दक्षिण-पूर्व दिशा में ७० मील पर स्थित है। यहाँ से होकर स्मरना-दिनेर रेलमार्ग जाता है। १३वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यह नगर आयडिन तथा मेंतेश नामक सेल्जुक जाति के तुर्कों द्वारा अधिकृत कर लिया गया था। सन् १३६० ई० के आसपास यह इसोवे द्वारा शासित था। सेल्जुक काल में यह प्रादेशिक राजधानी तिरेह के अंतर्गत द्वितीय श्रेणी का नगर था। १७वीं शताब्दी में यह मनीसा के करासमैंस के अधिकार में था तथा सन् १८२० ई० तक उसी स्थिति में रहा। समीपस्थ ऊँचे भाग पर प्राचीन नगर ट्रालेस के अवशेष विद्यमान हैं। आयडिन को यूनान-तुर्कीयुद्ध (१९१९-१९२२) में अत्यधिक क्षति उठानी पड़ी थी। इसकी जनसंख्या लगभग १८,००० है। [ज्या० सु० श०]

आयतन ये बारह होते हैं—छः भीतर के और छः बाहर के। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन—ये छः भीतर के आयतन हैं। इन्हें आध्यात्मिक आयतन भी कहते हैं। रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और धर्म—ये छः बाहर के आयतन हैं। इन्हें बाह्यायतन भी कहते हैं। प्राणी की सारी तृष्णाओं के घर यही बारह हैं। इसी से उन्हें आयतन कहते हैं। आधुनिक विज्ञान में किसी पिंड का आयतन वह स्थान है जो पिंड छेंकता है और इसे घन एककों में नापा जाता है, जैसे घन इंचों या घन सेंटीमीटरों में। [भि० ज० का०]

आयरन पर्वत संयुक्त राज्य (अमरीका) के मिसौरी राज्य के पूर्वी भाग में स्थित सेंट फ्रांको पर्वत के दक्षिणी भाग का एक शिखर है (ऊँचाई १,०७७ फुट)। मिसिसिपी नदी यहाँ से पूर्व की ओर लगभग ३८ मील की दूरी पर है।

आयरन पर्वत हैमेटाइट नामक लोहे के अयस्क का अनुपम भंडार है। यह कच्चा लोहा संपूर्ण संयुक्त राज्य में अपनी विशुद्धता में सर्वप्रथम है। यहाँ खोदाई का कार्य सर्वप्रथम १८४५ ई० में आरंभ हुआ। उस समय एक पातालतोड़ कुआँ (आर्टीज़ियन वेल) १५२ फुट की गहराई तक खोदा गया, जिसमें प्राप्त शिलास्तर भूपृष्ठ से नीचे की ओर इस प्रकार हैं मिट्टी मिश्रित कच्चा लोहा १६ फुट, बालुकाश्म (सैंडस्टोन) ३४ फुट, मैगनीसियम चूने का पत्थर (मैग्नीसियन लाइमस्टोन) ७½ इंच, भूरा बालुकाश्म ७½ इंच, कठोर नीली शिला ३७ फुट,, विशुद्ध हेमेटाइट शिला ५ फुट, पॉरफिरिटिक शिला ७ फुट और हैमेटाइट शिला ५० फुट से लेकर अंत तक। इससे यह विदित होता है कि संपूर्ण क्षेत्र चुंबकीय कच्चे लोहे का ही बना है। [रा० ना० मा०]

आयरनटन संयुक्त राज्य, अमरीका के ओहायो राज्य के लारेंस जिले का मुख्य नगर है। ओहायो नदी पर स्थित यह नगर औद्योगिक और व्यापारिक केंद्र है। प्रधान उद्योग धातु की ढलाई, कोक और ग्रैफाइट से निर्मित पदार्थ, पोर्टलैंड सीमेंट, रासायनिक पदार्थ, इस्पात, बिजली के सामान, मोटर गाड़ी के पुर्जे इत्यादि हैं। रेलमार्गों द्वारा यह समीपवर्ती क्षेत्रों से संबद्ध है। यहाँ नदी यातायात भी महत्वपूर्ण है। यह नगर वायुमार्ग पर स्थित है। कुल जनसंख्या १६,३३३ है (१९५०)। [रा० ना० मा०]

आयरनवुड संयुक्त राज्य, अमरीका के मिशिगन राज्य में गौजेबिक जिले का एक नगर है। यह प्रायद्वीपीय मिशिगन में माण्ट्रियल नदी के किनारे, समुद्रतल से १,५०५ फुट की ऊँचाई पर स्थित है तथा रेलमार्गों द्वारा समीपवर्ती क्षेत्रों से संबद्ध है। इस नगर में कच्चा लोहा और लकड़ी बहुत आती है तथा यह प्रमुख व्यापारिक केंद्र है। यहाँ के दुग्धशाला उद्योग तथा मांस उद्योग भी महत्वपूर्ण हैं।

कच्चे लोहे का पता यहाँ सर्वप्रथम जे० एल० नौरी ने १८८४ ई० में लगाया और इसी सन् में नगर की स्थापना भी हुई। कुल जनसंख्या ११,४६६ है (१९५०)। [रा० ना० मा०]

आयरलैंड ग्रेट ब्रिटेन के पश्चिम में एक बड़ा द्वीप है जो ५१°२६′ उ० अक्षांश से ५५° २१′ उ० अक्षांश तक और ५°२५′ पश्चिमी देशांतर से १०° ३१′ पश्चिमी देशांतर तक विस्तृत है।

धरातल—इस द्वीप का उत्तरी एवं दक्षिणी भाग पहाड़ी है, मध्य में एक चौड़ा निचला मैदान है। पर्वतमालाओं का क्रम घाटियों, निचले मैदानों तथा नीची भूमि के कारण स्थान स्थान पर टूट गया है। अंत द्वीप का धरातल भिन्न भिन्न भौगोलिक इकाइयों में विभाजित है, जिनकी भूरूपता में विभिन्नता मिलना स्वाभाविक है।

हिमकालीन युग में कुछ ऊँचे पहाड़ी स्थलों को छोड़कर संपूर्ण आयरलैंड बर्फ से ढका था, अंत साधारणतया ढोंके मिश्रित चिकनी मिट्टी (बोल्डर क्ले), हिम-नदी-जनित बजरी (ग्लेशियल ग्रेवेल) आदि मध्य के मैदान में हर स्थान पर मिलती है। पहाड़ों के चारों ओर हिमोढ़ (मोरेंस) मिलते हैं। इस प्रकार समुद्रतल से १२०० फुट तक की दो तिहाई भूमि हिमनद (ग्लेशियर) द्वारा निर्मित है।

मध्य का मैदान चूनेहे पत्थर (लाइमस्टोन) का बना हुआ है, यह इतना नीचा तथा समतल है कि स्थान स्थान पर जलतल (वाटर टेबुल) धरातल तक पहुँच जाता है, फलस्वरूप अनेक बड़ी बड़ी झीलें निर्मित हो गई हैं। कभी कभी इन झीलों का जलभांडार इतना अधिक हो जाता है कि आसपास की कई एक झीलें मिलकर निकटवर्ती मैदानी भाग को ढँक लेती हैं। साधारणतया आयरलैंड का ⅐ भाग जलमग्न रहता है जिसमें सटी घास के दलदल मिलते हैं। औसत रूप में आयरलैंड के ⅐ क्षेत्रफल में पीट मिलता है। पहाड़ों पर तो पीट हर एक स्थान पर मिलता है। आयरलैंड जैसे वृक्षविहीन एवं कोयलाविहीन देश के लिये पीट अत्यंत आवश्यक वस्तु है। हर एक घर में इसका उपयोग ईंधन के रूप में होता है।

जलवायु—यहाँ की जलवायु पश्चिमी यूरोपीय प्रकार की है, समुद्र के प्रभाव के कारण जाड़े एवं गर्मी के ताप में बहुत अंतर नहीं होता। उदाहरणस्वरूप वार्लेंशिया का ताप जनवरी में ४४° ६ फा० तथा जून में ५९° फा० के लगभग रहता है। वर्षा वर्ष भर होती है, ऊँचे पहाड़ों पर ८०″ तक तथा मैदानों में ३०″ से ४०″ तक।

'अमावट' बनाकर रख लेते हैं। यह बडी स्वादिष्ट होती है और इसे लोग बडे प्रेम से खाते हैं। कही कही फल के रस को अडे की सफेदी के साथ मिलाकर अतिसार और आँव के रोग में देते है। पेट के कुछ रोगो में छिलका तथा बीज हितकर होता है। कच्चे फल को भूनकर पना बना, नमक, जीरा, हीग, पोदीना इत्यादि मिलाकर पीते हैं, जिससे तरावट आती है और लू लगने का भय कम रहता है। आम के बीज मे मैलिक अम्ल अधिक होता है और यह खूनी ववासीर और प्रदर मे उपयोगी है। आम की लकडी गृहनिर्माण तथा घरेलू सामग्री बनाने के काम आती है। यह ईधन के रूप मे भी अधिक बरती जाती है। आम की उपज के लिये कुछ कुछ बालूवाली भूमि, जिसमे आवश्यक खाद हो और पानी का निकास ठीक हो, उत्तम होती है। आम की उत्तम जातियो के नए पौधे प्राय भेंट-कलम द्वारा तैयार किए जाते हैं (देखे **उद्यान-विज्ञान**)। कलमो और मुकुलन (बडिग) द्वारा भी ऐसी किस्मे तैयार की जाती हैं। बीजू आमो की भी अनेक बढिया जातियाँ है, परतु इनमें विशेष असुविधा यह है कि इस प्रकार उत्पन्न आमो में वाछित पैत्रिक गुण कभी आते हैं, कभी नही (देखें **आनुवशिकता**), इसलिये इच्छानुसार उत्तम जातियाँ इस रीति से नही मिल सकती। आम की विशेष उत्तम जातियो में बनारस का लँगडा, बबई का अलफाजो तथा मलीहाबाद और लखनऊ के दशहरी तथा सफेदा उल्लेखनीय हैं।

आम का इतिहास अत्यत प्राचीन है। डी कैंडल (सन् १८४४) के अनुसार आम्र प्रजाति (मैंजीफेरा जीनस) सभवत वर्मा, स्याम तथा मलाया में उत्पन्न हुई, परतु भारत का आम, मैंजीफेरा इडिका, जो यहाँ, बर्मा और पाकिस्तान मे जगह जगह स्वय (जगली अवस्था मे) होता है, वर्मा-आसाम अथवा आसाम में ही पहले पहल उत्पन्न हुआ होगा। भारत के बाहर लोगो का ध्यान आम की ओर सर्वप्रथम सभवत बुद्धकालीन प्रसिद्ध यात्री, हुयेनत्साग (सन् ६३२-४५), ने आकर्षित किया।
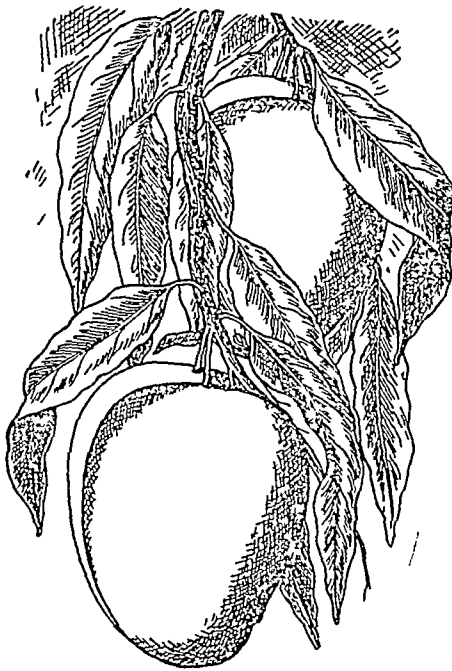
आम

बनारस का लँगडा।

आम के अनेक शत्रु है। इनमे ऐनथैकनोस, जो कवकजनित रोग है और आर्द्रताप्रधान प्रदेशो मे अधिक होता है, पाउडरी मिल्डिउ, जो एक अन्य कवक से उत्पन्न होनेवाला रोग है तथा ब्लैक टिप, जो बहुधा ईट चूने के भट्ठो के धुएँ के ससर्ग से होता है, प्रधान हैं। अनेक कीडे मकोडे भी इसके शत्रु हैं। इनमें मैंगो हॉपर, मैंगो बोरर, फ्रूट फ्लाई और दीमक मुख्य हैं। जल-चूना-गधक-मिश्रण, सुर्ती का पानी तथा सखिया का पानी इन रोगो में लाभकारी होता है। [शि० क० पा०]

आयुर्वेदिक मतानुसार आम के पचाग (पाँच अग) काम आते हैं। इस वृक्ष की अतर्छाल का क्वाथ प्रदर, खूनी बवासीर तथा फेफडो या आँत से रक्त-स्राव होने पर दिया जाता है। छाल, जड तथा पत्ते कसैले, मलरोधक, वात, पित्त तथा कफ का नाश करनेवाले होते हैं। पत्ते बिच्छ के काटने में तथा इनका धुआँ गले की कुछ व्याधियो तथा हिचकी मे लाभदायक है। फूलो का चूर्ण या क्वाथ अतिसार तथा सग्रहणी मे उपयोगी कहा गया है। आम का मौर शीतल, वातकारक, मलरोधक, अग्निदीपक, रुचिवर्धक तथा कफ, पित्त, प्रमेह, प्रदर और अतिसार को नष्ट करनेवाला है। कच्चा फल कसैला, खट्टा, वात पित्त को उत्पन्न करनेवाला, आँतो को सिकोडनेवाला, गले की व्याधियो को दूर करनेवाला तथा अतिसार, मूत्रव्याधि और योनिरोग मे लाभदायक बताया गया है। पका फल मधुर, स्निग्ध, वीर्यवर्धक, वातनाशक, शीतल, प्रमेहनाशक तथा व्रण, श्लेष्म और रुधिर के रोगो को दूर करनेवाला होता है। यह श्वास, अम्लपित्त, यकृतवृद्धि तथा क्षय मे भी लाभदायक है।

आधुनिक अनुसधानो के अनुसार आम के फल मे विटामिन ए और सी पाए जाते हैं। अनेक वैद्यो ने केवल आम के रस और दूध पर रोगी को रखकर क्षय, सग्रहणी, श्वास, रक्तविकार, दुर्बलता इत्यादि रोगो में सफलता प्राप्त की है। फल का छिलका गर्भाशय के रक्तस्राव, रक्तमय काले दस्तो में तथा मुँह से बलगम के साथ रक्त जाने में उपयोगी है। गुठली की गरी का चूर्ण (मात्रा २ माशा) श्वास, अतिसार तथा प्रदर मे लाभदायक होने के सिवाय कृमिनाशक भी है। [भ० दा० व०]

स०ग्र०—डी० कैडोल, ए० ओरिजिन ऑव कल्टिवेटेड प्लैट्स (केगान पाल ट्रेंच एड क०, लदन, १८८४), गागुली, एस० आर० आदि दि मैंगो (इडियन काउसिल ऑव ऐग्रिकल्चरल रिसर्च, नई दिल्ली, १९५७), मुकर्जी, एस० के० दि ओरिजिन ऑव मैंगो (इडियन जरनल ऑव जेनेटिक्स ऐंड प्लैंट ब्रीडिग, १९५१), मुकर्जी, एस० के० दि मैंगो, इट्स बॉटैनी, कल्टिवेशन ऐंड फ्यूचर इप्रूवमेंट, स्पेशली ऐज ऑब्जर्व्ड इन इडिया (इकॉनोमिक बॉट० ७ (२) १३२-१६२ एप्रिल-जून), राधवा, एम० एस० ए जाएट मैंगो ट्री, वैविलॉव, एन० आई० दि ओरिजिन, वेरिएशन, इम्म्युनिटी ऐंड ब्रीडिंग ऑव कल्टिवेटेड प्लैट्स (क्रौनिका बोटैनिका, १३ (१।६) १९४९-५०)।

आमवातज्वर (रूमैटिक ज्वर) का कारण आजकल स्टैफिलोकोकस (एक प्रकार के रोगाणु) समूह का विलबित सक्रमण समझा जाता है, परतु इसमें पूयोत्पादन नही होता (पीब नही बनती)। अब तक इसका बहुत कुछ प्रमाण मिल चुका है कि रक्तद्रावक स्टैफिलोकोकस जीवाणु की उपस्थिति से रोग प्रकट होता है। पहले श्वासमार्ग के ऊपरी भाग का सक्रमण, फिर एक से दो सप्ताह का गुप्तकाल, तत्पश्चात् रूमैटिक ज्वर का उत्पन्न होना, यह क्रम रोग मे इतनी अधिक बार पाया जाता है कि उससे इन अवस्थाओ के आपस मे सबधित होने की बहुत अधिक सभावना जान पडती है। किंतु इस सबध की सभी बातो का अभी तक ठीक ठीक पता नही चल सका है। बहुत से विद्वान् परिवर्तित ऊतक प्रतिक्रिया को इसका कारण मानते है।

रूमैटिक ज्वर मे शरीर के सौत्रिक ऊतको में विशेष परिवर्तन होते हैं, उनमे छोटी गाँठें निकल आती हैं, जिनको 'ऐशॉफ पिड' कहते हैं। यह रोग सारे ससार मे होता है। शीत प्रदेशो में, जहाँ आर्द्रता अधिक होती है, रोग विशेष कर होता है और अस्वच्छ दशाओ में रहनेवाले व्यक्तियो में अधिक पाया जाता है। यह २ से १५ वर्ष के, अर्थात् स्कूल जानेवाले बालको को विशेष कर होता है।

पुस्तको मे वर्णित लक्षण, शीत के साथ ज्वर आना, १०० से १०२ डिग्री तक ज्वर, एक के पश्चात् दूसरे जोड मे शोथ होना तथा सधियो मे पीडा और सूजन, पसीना अधिक आना आदि बहुत कम रोगियो में पाए जाते हैं। अधिकतर अगो तथा जोडो में पीडा, मदज्वर, थकान और दुर्बलता, ये ही लक्षण पाए जाते हैं। इसी प्रकार के मद रोगक्रम मे हृदय तथा मस्तिष्क आक्रात हो जाते हैं।

युवावस्था में हुए उग्र आक्रमणो मे रोग शीघ्रता से बढता है। ज्वर १०३ से १०४ डिग्री तक हो जाता है। सधिशोथ भी तीव्र होता है, किंतु हृदय और मस्तिष्क अपेक्षाकृत बच जाते हैं। उचित चिकित्सा से ज्वर और सधिशोथ शीघ्र ही कम हो जाते हैं और रोगी आरोग्यलाभ करता है।

हृदार्ति—बालक का अकस्मात् नीलवर्ण हो जाना, श्वास लेने मे कठिनाई होना, हृद्वेग का बढ जाना, नवीन सधि के आक्रात न होने पर भी ज्वर का बढना, ये लक्षण हृदय के आक्रात होने के द्योतक हैं। इस दशा में विशिष्ट चिह्न ये है—परिहृच्छदीय (पेरिकार्डियल) घर्षण ध्वनि, हृद्गति में क्रमहीनता, विशेष कर हृदयरोध (हार्ट ब्लॉक), हृदय की त्वरित-गति (गैलप रिद्म), हृदय के शिखर पर हृत्सकोची तीव्र मर्मर ध्वनि, हृदय के महाधमनी क्षेत्र में सकोची मृदु मर्मर और विस्तारीयकाल

देश में फिर से स्थापित तो किया गया, परतु आधुनिक आयरिश का कोई एक स्थिरीकृत रूप नहीं बन सका है। आयरिश की कई बोलियाँ अब भी महत्व की स्थिति लिए हुए है। प्रमुखत आयरिश बोली जानेवाले क्षेत्रों में १९४६ की गणना के अनुसार १,९२,९९३ आयरिश भाषाभाषी बताए गए थे, जब कि सपूर्ण आयरलैंड में यह सख्या ५,८८,७२५ थी। इस सख्या में काफी बडा समूह ऐसे लोगो का है जो अग्रेजी का प्रयोग भी समान सुविधा और इच्छा से करते हैं।

प्रारभिक आयरिश साहित्य में शौर्यगाथाओ की प्रधानता रही है जो गद्य तथा पद्य के मिले जुले रूप में लिखी गई थी। ऐसे गाथाचक्रो में 'अल्स्टर' का नाम विशेष महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त आदिकालीन आयरिश कविता में गीत तत्व की भी प्रधानता थी। ऐसा काव्य प्रमुखत धार्मिक तथा प्रकृति सबधी प्रेरणाओं की पृष्ठभूमि में लिखा गया था। इन धार्मिक गीतो में सेंट पैट्रिक का गीत तथा उल्टान का सेंट ब्रिजिट के प्रति गीत विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ९वी तथा १०वी सदी के आसपास ऐतिहासिक आभास देनेवाले साहित्य का सर्जन हुआ। धार्मिक साहित्य के अतर्गत उपदेश, सतो के चरित्र तथा इलहाम आदि आते हैं। इस वर्ग के लेखको में माइकेल ओ' क्लेरे (१७वी सदी) का नाम महत्वपूर्ण है। फिर इस युग मे ऐतिहासिक रचनाएँ भी लिखी गई।

प्रारभिक आधुनिक आयरिश साहित्य को क्लैसिकल युग कहकर भी अभिहित किया जाता है। १३वी से १७वी शताब्दी के बीच प्रमुखत दरबारो मे लिखा गया काव्य ऐसे कवियो द्वारा प्रस्तुत किया गया जिन्हे पेशेवर कहा जा सकता है। इन कवियो ने अपनी कुछ रचनाएँ गद्य में भी लिखी। १७वी सदी के अत तक यह चारणकाव्य समाप्त हो जाता है। नए काव्यसप्रदाय में स्वराघात पर आधारित छंदयोजना प्रचलित हुई। इस युग के प्रमुख कवि थे ईगन ओ' राहिली (१८वी सदी का पूर्व) तथा धार्मिक कवि ताग गैले ओ सुइलया। रिवाइवलिस्ट आदोलन के प्रमुख लेखको मे हैं—थॉमस ओ' क्रिओमथाँ (मृत्यु—१९३७), थॉमस ओ' सुइलयाँ, पैंप्लेट ओ' कोनर तथा माहरे।

आयरिश पुनर्जागरण का एक सशक्त रूप अग्रेजी साहित्य में भी व्यक्त हुआ है जहाँ आयरलैंड के अग्रेजी लेखको ने अपनी रचनाओ में आयरिश लोकतत्व, शब्दविधान तथा प्रतीकयोजना के अत्यत सफल प्रयोग किए हैं। इस आदोलन को आयरिश या केल्टिक पुनर्जागरण के नाम से जाना जाता है।

[रा० स्व० च०]

आयलर संख्याएँ आयलर (ऑयलर) सख्याओ का नाम जर्मन गणितज्ञ लियोनार्ड ऑयलर के नाम पर रखा गया है। ये सख्याएँ आयलर बहुपदो (पॉलीनोमियल्स) से उत्पन्न होती हैं

यदि $$ई^{वय} = \sum_{न=0}^{\infty} \frac{व^{न}}{न!} आ^{(0)}_{न}(य),$$

जहाँ ई नेपरीय लघुगणको का आधार है और

$$आ^{0}_{न}(य) = य^{न},$$

तो $आ^{0}_{न}(य)$ को घात न और वर्ण (ऑर्डर) शून्य का आयलर बहुपद कहते हैं।

वर्ण स के आयलर बहुपदो की परिभाषा यह है

$$\frac{२^{स}\, ई^{वय}}{(ई^{व}+१)^{स}} = \sum_{न=0}^{\infty} \frac{व^{न}}{न!} आ_{न}^{(स)}(य)।$$

य=½स रखने से $२^{न} आ_{न}^{(स)}(य)$ के जो मान प्राप्त होते हैं, उन्हें वर्ण स की आयलर सख्याएँ $आ_{न}^{(स)}$ कहते हैं। विषम प्रत्यय (सफिक्स) की समस्त आयलर सख्याएँ शून्य हो जाती हैं।

इस प्रकार $आ_{न}^{(स)} = २^{न} आ_{न}^{(स)}(\tfrac{१}{२}स)$।

$आ_{न}^{(१)}(स)$ के लिये हम $आ_{न}(स)$ लिखते हैं।

हम जानते हैं कि

$$\frac{२}{ई^{व}+ई^{-व}} = \sum_{न=0}^{\infty} \frac{व^{न}}{न!} आ_{न} = \text{अव्युको } व।$$

अत. $$\text{व्युको } व = १ - \frac{व^{२}}{२!} + आ_{२}\frac{व^{४}}{४!} आ_{४} - \cdots$$

प्रसार $$\frac{\pi}{४\,\text{कोज्या}\,\tfrac{१}{२}\pi य} = \sum_{न=0}^{\infty} \frac{(-१)^{न}(२न+१)}{(२न+१)^{२}-य^{२}}$$

का पुनर्विन्यास करके $य^{२प}$ के गुणाक को श्रेणी $\tfrac{१}{४}\pi$ व्युको $\tfrac{१}{२}\pi य$ के पद $य^{२प}$ के गुणाक के समान रखने से हमें यह प्राप्त होगा

$$(-१)^{प}\frac{आ_{२प}}{२^{२प+२}(२प)!}\pi^{२प+१} = १ - \frac{१}{३^{२प+१}} + \frac{१}{५^{२प+१}} - \frac{१}{७^{२प+१}} + \cdots।$$

इस सबंध से स्पष्ट है कि आयलर संख्याएँ बराबर बढ़ती जाती है और प्रत्येक सख्या का चिह्न बदलता जाता है, अर्थात् वे क्रमानुसार धनात्मक और ऋणात्मक होती हैं।

$(-१)^{स}\dfrac{आ_{२स}}{२स!}$ का मान सारणिक के रूप में

$$\begin{vmatrix} \frac{१}{२!} & १ & ० & ० & \cdot & ० \\ \frac{१}{४!} & \frac{१}{२!} & १ & ० & & ० \\ \frac{१}{६!} & \frac{१}{४!} & \frac{१}{४!} & १ & \cdot & ० \\ \frac{१}{(२स)!} & \frac{१}{(२स-२)!} & \frac{१}{(२स-४)!} & \frac{१}{(२स-६)!} & \cdot & \frac{१}{२!} \end{vmatrix}$$

होता है।

बर्नूली सख्याओ की भाँति आयलर सख्याएँ भी सांख्यिकी (स्टैटिस्टिक्स) में अतर्वेशन (इटरपोलेशन) में प्रयुक्त होती हैं।

सं०ग्रं०—मिल्न-टॉमसन · कैल्क्युलस ऑव फाइनाइट डिफरेंसेज।

[ना० गो० श०]

आयस्टर बे सयुक्त राज्य (अमरीका) के न्यूयार्क राज्य मे नासाउ जिले का एक गाँव है, जो लाग द्वीप के उत्तरी समुद्रतट पर न्यूयार्क नगर की सीमा से १३ मील पूर्व स्थित है। यह लाग द्वीप रेलमार्ग पर है और यात्रियों के लिये ग्रीष्मकालीन विहारस्थल है। यहाँ १७४० ई० मे निर्मित रेनहाम भवन स्थित है, जहाँ ऐतिहासिक स्मारकों का सग्रह है। यह प्रचलित धारणा है कि आयस्टर बे राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वेल्ट का निवासस्थान था, परतु वास्तव मे उनका निवासस्थान समीपवर्ती कोवनेक गाँव मे सॉगॉमोर हिल था। नगर की कुल जनसख्या ४२,५९४ (सन् १९५० ई०) है। [रा० ना० मा०]

आयाम (डाइमेंशन) यह शब्द चित्रकला और शिल्पकला से आयात हुआ और साहित्य समालोचना मे आधुनिक काल में प्रयुक्त होता है। सस्कृत मे इस शब्द का अर्थ तन्वन, विस्तार, सयमन, प्रलबन है। चित्र और शिल्प में मूल अंग्रेजी शब्द 'डाइमेंशन' का अर्थ 'सिम्त' होता था; जैसे भित्तिचित्र मे गहराई नही होती, किंतु छाया आदि के साथ गोलाई इत्यादि का आभास उत्पन्न किया जाता था। प्राचीन साहित्य में और आरभिक उपन्यासो में एकदम काले या सफेद दुर्गुणो या सद्गुणो की खान, 'टाइप' जैसे पात्रो की पुष्टि होती थी। अब मनोविज्ञान के नवीन शोधो ने ऐसे टाइपो की यथार्थता पर सदेह किया है। इस कारण नवीन उपन्यासो मे अब इस प्रकार की मन की गहराई पात्रो मे देखी जाती है। कोई भी साहित्यिक कलाकृति कितने काल तक प्रभावशाली रहती है, कितने देश-देशातरो को प्रभावित करती है, इसके साथ ही साथ वह बार बार पढी जाने पर भी वैसा ही आनद दे सकती है या नहीं, यह तीसरा परिमाण या आयाम अब साहित्यालोचन में परखा जाने लगा है। ल्युकैक्स ने 'स्टडीज इन वेस्टर्न रियलिज्म' में 'दार्शनिक-धार्मिक आयाम' कह-

लक्षण—सामान्यत यह व्रण २० से ५० वर्ष की आयु में होता है। आमाशय व्रण की अपेक्षा पक्वाशय मे व्रण अल्प वय मे होता है और स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो मे चार गुना अधिक पाया जाता है। यह प्राय साधारण अपक्षरण के समान होता है, जो कुछ व्यक्तियो में चिरस्थायी रूप ले लेता है। इसका क्या कारण है, यह अभी तक ज्ञात नही हुआ है, किंतु यह माना जाता है कि आमाशय मे अम्ल की अधिकता, आमाशय के ऊतको की प्रतिरोधक शक्ति का ह्रास और मानसिक उद्विग्नता व्रणो की उत्पत्ति में विशेष भाग लेते हैं।

आमाशय, ग्रहणी तथा पाचक नाल के अन्य अग

१ मुँह, २ ग्रसनी, ३ ग्रासनली, ४ पित्तवाहनी, ५ यकृत, ६ ग्रहणी, ७ वृहदात्र, ८ क्षुद्रात्र तथा वृहदात्र की सधि, ९ अधात्र, १० परिशेपिका, ११ कठ, १२ मध्यच्छदा (डायाफ्राम), १३ आमाशय, १४ क्लोम, १५ अनुप्रस्थवृहदात्र, १६ अवरोही वृहदात्र, १७ क्षुद्रात्र, १८ श्रोणिगा वृहदात्र, १९ मलाशय, २० गुदा, २१ मलद्वार।

रोग का सामान्य लक्षण—भोजन के पश्चात् उदर के उपरिजठर प्रात में पीडा होती है,जो वमन होने से या क्षार देने से शात या कम हो जाती है। रोगी को समय समय पर एसे आक्रमण होते रहते हैं, जिनके वीच वह पीडा से मुक्त रहता है। कुछ रोगियो में पीडा अत्यधिक और निरतर होती है और साथ में वमन भी होते हैं, जिससे पित्तजनित शूल का सदेह होने लगता है। मुँह से अधिक लार टपकना, आम्लिक डकारो का आना, गैस वनने के कारण वेचैनी या पीडा, वक्षोस्थि के पीछे की ओर जलन और कोष्ठबद्धता, कुछ रोगियो को ये लक्षण प्रतीत होते हैं। आमाशय से रक्तस्राव के निरतर या अधिक मात्रा में होने के कारण रक्ताल्पता हो सकती है। दूसरे उपद्रव जो उत्पन्न हो सकते हैं वे ये हैं (१) निच्छिद्रण (परफोरेशन),(२) जठरनिर्गम (पाइलोरस) की रुकावट (ऑब्सट्रक्शन) तथा (३) आमाशय और अन्य अगो का जुड जाना।

निदान—रोगी की व्यथा के इतिहास से रोग का सदेह हो जाता है, किंतु उसका पूर्ण निश्चय मल में अदृश्य रक्त की उपस्थिति, अम्लता की परीक्षा तथा एक्स-रश्मि द्वारा परीक्षणो से होता है। वेरियम खिलाकर एक्स-रश्मि चित्र लिए जाते है तथा आमाशयदर्शक द्वारा व्रण को देखा जा सकता है।

चिकित्सा—उपद्रवमुक्त रोगियो की ओषधियो द्वारा चिकित्सा करके साधारणतया स्वस्थ दशा मे रखना सभव है। चिकित्सा का विशेष सिद्धात रोगी की मानसिक उद्विग्नता और समस्याओ को दूर करना और आमाशय में अम्ल को कम करना है। अम्ल की उत्पत्ति को घटाना और उत्पन्न हुए अम्ल का निराकरण, दोनो आवश्यक हैं। इनसे व्रणो के अच्छे होने और रोगी के पुन स्थापन मे वहुत सहायता मिलती है तथा व्रण फिर से नही उत्पन्न होते। तवाकू, मद्य, चाय और कहवा, मसाले और मिर्चो का प्रयोग छोडना भी आवश्यक है। अधिक परिश्रम और रात को देर तक जागने से भी हानि होती है। निच्छिद्रण, अतिरिक्त स्राव, क्षुद्रात्रवद्धता तथा ओषधिचिकित्सा से असफलता होने पर शल्यकर्म आवश्यक होता है। [वी० भा० भा०]

आमाशय

क, ख आमाशय की श्लेष्मल कला की सिलवटें, ग आमाशय का ऊर्ध्वांश, अ ग्रासनली द्वार, आ पित्ताशय, इ ग्रहणी का द्वार, उ, आमाशय का दक्षिणाश, भोजन इसी भाग मे मथा जाता है।

आमाशयार्ति

आमाशयार्ति (गैस्ट्राइटिज) मे आमाशय की श्लेष्मिक कला का उग्र या जीर्ण शोथ हो जाता है।

उग्र आमाशयार्ति किसी क्षोभक पदार्थ, जैसे अम्ल या क्षार या विप अथवा अपच्य भोजन-पदार्थो के आमाशय में पहुँचने से उत्पन्न हो जाती है। अत्यधिक मात्रा में मद्य पीने से भी यह रोग उत्पन्न हो सकता है। आत्रनाल के उग्र शोथ मे आमाशय के विस्तृत होने से भी रोग उत्पन्न हो सकता है।

रोग के लक्षण अकस्मात् आरभ हो जाते हैं। रोगी के उपरिजठर प्रदेश (एपिगैस्ट्रियम) मे पीडा होती है, जिसके पश्चात् वमन होते है, जिनमें रक्त मिला रहता है। अधिकतर रोगियो मे कारण दूर कर देने पर रोग शीघ्र ही शात हो जाता है।

जीर्ण रोग के वहुत से कारण हो सकते हैं। मद्य का अतिमात्रा में वहुत समय तक सेवन रोग का सवसे मुख्य कारण है। अधिक मात्रा मे भोजन करना, गाढी चाय (जिसमें टैनिन अधिक होती है) अधिक पीना, मिर्च तथा अन्य मसालो का अति मात्रा मे प्रयोग, अति ठढी वस्तुएँ, जैसे वरफ, आइसक्रीम, आदि खाना, अधिक धूमपान तथा विना चवाया हुआ भोजन, ये सव कारण रोग उत्पन्न कर सकते हैं। जीर्ण आमाशयार्ति उग्र आमाशयार्ति का परिणाम हो सकती है और आमाशय मे अर्वुद वन जाने पर, शिराओ को रक्ताधिक्यता (कॉनजेस्चन) मे, जैसे हृद्रोग मे अथवा यकृत के कडा हो जाने (सिरौसिस) में, दुष्ट रक्तक्षीणता अथवा ल्यूकीमिया के समान रक्त-रोगो में तथा कैंसर या राजयक्ष्मा मे भी यही दशा पाई जाती है। इस रोग में विशेष विकृति यह होती है कि आमाशय में श्लेष्मिक कला से श्लेष्मा का अधिक मात्रा में स्राव होने लगता है, जो आमाशय में एकत्र होकर समय समय पर वमन के रूप मे निकला करता है। आगे चलकर श्लेष्मिक कला की अपुष्टता (ऐट्रोफी) होने लगती है।

रोगी प्राय प्रौढ अवस्था का होता है, जिसका मुख्य कष्ट अजीर्ण होता है। भूख न लगना, मुँह का स्वाद खराव होना, अम्लपित्त, वार वार हवा खुलना, प्यास की अधिकता, खट्टी डकार आना या वमन जिसमें श्लेष्मा और आमाशय का तरल पदार्थ निकलता है, विशेष लक्षण होते हैं। अधिजठर प्रात में प्रसूत वेदना (टेंडरनेस) के सिवाय और कोई लक्षण नही होता। खाद्य की आशिक जाँच (फ्रैक्शनल मील टेस्ट) से श्लेष्मा की अत्यधिक मात्रा का पता लगता है। मुक्त अम्ल (फ्री ऐसिड) की मात्रा कम अथवा विलकुल नही होती। जठरनिर्गम (पाइलोरस) के पास के भाग मे रोग होने से

कर घिस जाता है। फिर बारूद में किसी युक्ति से आग लगा दी जाती है। तब बारूद तुरंत जलकर गैसों में परिवर्तित हो जाती है। अत्यंत कम स्थान में उत्पन्न होने के कारण ये गैसें बहुत संपीडित (दबी हुई) रहती हैं। इसलिये छर्रे, गोली या गोले को वे बहुत बलपूर्वक दबाती हैं। गोला जब तक यंत्र के नाल में चलता रहता है तब तक उस पर दाब पड़ती रहती है और उसका वेग बढ़ता रहता है। इस प्रकार उनमें बहुत अधिक वेग उत्पन्न हो जाता है। नाल के कारण उसकी दिशा भी निर्धारित हो जाती है; इसलिये नाल को घुमा-फिराकर गोले को इच्छानुसार लक्ष्य पर मारा जा सकता है।

सन् १३१३ ई० से यूरोप में तोप के प्रयोग का पक्का प्रमाण मिलता है। भारत में बाबर ने पानीपत की लड़ाई (सन् १५२६ ई०) में तोपों का पहले पहल प्रयोग किया।

पहले तोपें काँसे की बनती थीं और उनको ढाला जाता था। परंतु ऐसी तोपें पर्याप्त पुष्ट नहीं होती थीं। उनमें अधिक बारूद डालने से वे फट जाती थीं। इस दोष को दूर करने के लिये उनके ऊपर लोहे के छल्ले तप्त करके खूब कसकर चढ़ा दिए जाते थे। ठंढा होने पर ऐसे छल्ले सिकुड़कर बड़ी दृढ़ता से भीतरी नाल को दबाए रहते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे बैलगाड़ी के पहिए के ऊपर चढ़ी हाल पहिए को दबाए रहती है। अधिक पुष्टता के लिये छल्ले चढ़ाने के पहले नाल पर लंबाई के अनुदिश भी लोहे की छड़ें एक दूसरी से सटाकर रख दी जाती थीं। इस समय की एक प्रसिद्ध तोप मॉन्स मेग है, जो अब एडिनबरा के दुर्ग पर शोभा के लिये रखी है। इसके बाद लगभग २०० वर्षों तक तोप बनाने में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। इस युग में नालों का सछिद्र (बोर) चिकना होता था। परंतु लगभग सन् १५२० में जर्मनी के एक तोप बनानेवाले ने सछिद्र में सर्पिलाकार खाँचे बनाना आरंभ किया। इस तोप में गोलाकार गोले के बदले लंबोतर 'गोले' प्रयुक्त होते थे। सछिद्र में सर्पिलाकार खाँचों के कारण प्रक्षिप्त पिंड वेग से नाचने लगता है। इस प्रकार नाचता (घूर्णन करता) पिंड वायु के प्रतिरोध से बहुत कम विचलित होता है और परिणामस्वरूप लक्ष्य पर अधिक सच्चाई से पड़ता है।
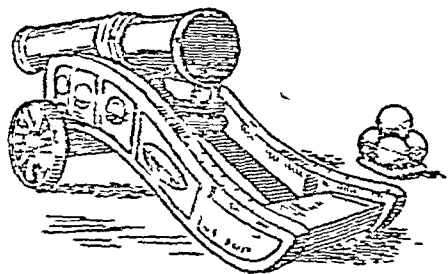
चित्र १. मॉन्स मेग

१८५५ ई० में लार्ड आर्मस्ट्रांग ने पिटवाँ लोहे की तोप का निर्माण किया, जिसमें पहले की तोपों की तरह मुँह की ओर से बारूद आदि भरी जाने के बदले पीछे की ओर से ढक्कन हटाकर यह सब सामग्री भरी जाती थी। इसमें ४० पाउंड के प्रक्षिप्त भरे जाते थे।

साधारण तोपों में प्रक्षिप्त बड़े वेग से निकलता है और तोप की नाल को बहुत ऊँची दिशा में नहीं लाया जा सकता है। दूसरी ओर छोटी नाल की तोपें हल्की बनती हैं और उनसे निकले प्रक्षिप्त में बहुत वेग नहीं होता, परंतु इनमें यह गुण होता है कि प्रक्षिप्त बहुत ऊपर उठकर नीचे गिरता है और इसलिये इससे दीवार, पहाड़ी आदि के (चित्र ३) पीछे छिपे शत्रु को भी मार सकते हैं (चित्र ३)। इन्हें मॉर्टर कहते हैं। मझोली नाप की नालवाली तोप को हाउविट्ज़र कहते हैं। जैसे जैसे तोपों के बनाने में उन्नति हुई वैसे वैसे मॉर्टरों और हाउविट्ज़रों के बनाने में भी उन्नति हुई।

चित्र २. पैदल सेना का ३ इंचवाला मॉर्टर

चौड़े मुँह की तोपों को, जिनकी नाल अपेक्षाकृत बहुत छोटी होती हैं, मॉर्टर कहते हैं।

प्रायः सभी देशों में एक ही प्रकार से तोपों के निर्माण में उन्नति हुई, क्योंकि बराबर होड़ लगी रहती थी। जब कोई एक देश अधिक भारी, अधिक शक्तिशाली या अधिक फुर्ती से गोला दागनेवाली तोप बनाता तो बात बहुत दिनों तक छिपी न रहती और प्रतिद्वंद्वी देशों की चेष्टा होती कि उससे भी अच्छी तोप बनाई जाय। १८९८ ई० में फ्रांसवालों ने एक ऐसी तोप बनाई जो उसके बाद बननेवाली तोपों की पथप्रदर्शक हुई। उससे निकले प्रक्षिप्त का वेग अधिक था; उसका आरोपण सराहनीय था; दागने पर पूर्णतया स्थिर रहता था, क्योंकि आरोपण में ऐसे डैने लगे थे जो भूमि में धँसकर तोप को किसी दिशा में हिलने न देते थे। सभी तोपें दागने पर पीछे हटती हैं। इस धक्के (रिकॉयल) के वेग को घटाने के लिये द्रवों का प्रयोग किया गया था। इसके प्रक्षिप्त पतली दीवार के बनाए गए थे। इनमें से प्रत्येक की तौल लगभग १२ पाउंड थी और उनमें लगभग साढ़े तीन पाउंड उच्च विस्फोटी बारूद रहती थी। प्रक्षिप्त में विशेष रसायनों से युक्त एक टोपी भी रहती थी, जिससे लक्ष्य पर पहुँचकर प्रक्षिप्त फट जाता था और टुकड़े बड़े वेग से इधर उधर छटककर शत्रु को दूर तक घायल करते थे।
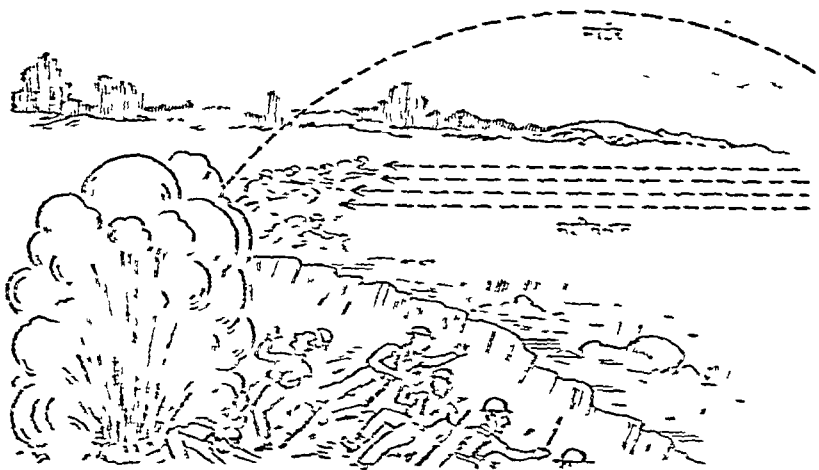
चित्र ३. मॉर्टर से दागा गया बम

यह दीवार के पीछे छिपे सैनिकों को भी मार सकता है।

प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१८) में जर्मनों ने बिग बर्था नामक तोप बनाई, जिससे उन्होंने पेरिस पर ७५ मील की दूरी से गोले बरसाना आरंभ किया। इस तोप में कोई नया सिद्धांत नहीं था। तोप केवल पर्याप्त बड़ी और पुष्ट थी। परंतु हवाई जहाजों तथा अन्य नवीन यंत्रों के आविष्कार से ऐसी तोपें अब लुप्तप्राय हो गई हैं।

आरोपण—आरंभ में तोपें प्रायः किसी भी दृढ़ चबूतरे अथवा चौकी पर आरोपित की जाती थीं, परंतु धीरे धीरे इसकी आवश्यकता लोग अनुभव करने लगे कि तोपों को सुदृढ़ गाड़ियों पर आरोपित करना चाहिए, जिसमें वे सुगमता से एक स्थान से दूसरे पर पहुँचाई जा सकें और प्रायः तुरंत गोला दागने के लिये तैयार हो जायँ। गाड़ी के पीछे, भूमि पर घिसटनेवाली पूँछ के समान भाग भी रहता था जिसमें धक्के से गाड़ी बहुत पीछे न भागे। सुगमता से खींची जा सकनेवाली तोप की गाड़ियाँ सन् १६८० से बनने लगीं। सन् १८६७ में डाक्टर सी० डब्ल्यू सीमेंस ने सुझाव दिया कि धक्के को रोकने के लिये तोप के साथ ऐसी पिचकारी लगानी चाहिए जिसमें पानी निकलने का मुँह सूक्ष्म हो (अथवा आवश्यकतानुसार छोटा बड़ा किया जा सके)। पीछे यही काम कमानियों से लिया जाने लगा। गाड़ियाँ भी इस्पात की बनने लगीं।

विशेष तोपें—वायुयानों को मार गिराने के लिये तोपें १९१४ तक नहीं बनी थीं। पहले बहुत छोटी तोपें बनीं, फिर १३ पाउंड के प्रक्षिप्त मारनेवाली तोपें बनने लगीं, जो ३ टन की मोटर लारियों पर आरोपित रहती थीं। अब इनसे भी भारी तोपें पहले से भी दृढ़ ट्रॉलियों अथवा इस्पात के बने टैंकों पर आरोपित रहती हैं (चित्र ४)।

आदि। जो कर शेष रह जाते थे, उनको 'उपस्थान' कहते थे और जो भूल से रह जाते थे अथवा विशिष्ट परिस्थितियों में आरोपित होते थे (जैसे विगत महायुद्धों के युद्धकोष), उन्हें 'अन्यजात' कहा जाता था। सिंचित भूमि पर सिंचाई की प्रणाली के अनुसार कर लगाया जाता था, यथा, हाथों से उलीचकर सिंचाई करने पर उपज का पाँचवाँ भाग (उदकभागम्), कधो पर पानी (सीचने के लिये) लाने पर उपज का चौथा भाग, पानी खीचकर (स्रोतोयत्रप्रावर्तिमम्) लगाने से उपज का तीसरा भाग और इतना ही भाग नदी, झील, सरोवर, कूप (नदीसरसतडाककूपोद्घाटम्) से सिंचाई करने पर लगता था। आयात-निर्यात-सबधी तथा अनेक प्रकार के अन्य कर भी थे, जिनका ब्योरा यहाँ अभीष्ट नही है। लगभग २५०० वर्ष पूर्व भारत मे भूमिराजस्व तथा अन्यान्य आयकर की इतनी विधिवत् व्यवस्था अवश्य ही विलक्षण है।

औद्योगिक क्राति के पश्चात् फ्रास से युद्धरत होने पर सभी प्रकार की प्रति पौंड आय पर चार शिलिंग का कर सन् १६६२ ई० में इग्लैंड में लगाया गया था। नाविक और सैनिक वर्गो को छोडकर शेष सभी प्रकार के वेतन-भोगियो पर भी यह कर लागू था। नेपोलियन से अनेक युद्ध होने पर सन् १७९९ ई० मे विलियम पिट के मन्त्रित्वकाल में दो सौ पौड तथा अधिक आय पर पुन दस प्रति शत कर लगाया गया। किंतु सन् १८०२ ई० में आमिया की सधि के उपरात आयकर समाप्त कर दिया गया। सन् १८०३ ई० में पुन युद्ध छिडने पर आयकर लगाया गया। आय के अर्जन को पाँच वृहद् वर्गो में विभाजित किया गया और वसूली आय के उद्गम पर की जाने लगी। परिणामस्वरूप आयकर की राशि लगभग दूनी हो गई, यद्यपि दर घटाकर पाँच प्रति शत कर दी गई थी। इन्ही दो सिद्धातो पर आधुनिक आयकर की भी व्यवस्था की गई है। वाटरलू के युद्ध के बाद यह आयकर समाप्त कर दिया गया और सन् १८४२ ई० में सर राबर्ट पील ने इसे पुन लगा दिया। सन् १९१८ ई० में सगठित आयकर विधेयक बनते बनते अनेक परिवर्तन इस आयकर व्यवस्था में हुए। सन् १९२० ई० में प्रचलित आयकर व्यवस्था का आमूल परीक्षण करने के लिये रायल कमीशन नियुक्त किया गया, जिसने अपनी रिपोर्ट में आयकर में छूट देने और कर के क्रमवर्धी निर्धारण के नवीन नियम निरूपित किए।

भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन ने सर्वप्रथम प्रत्यक्ष आयकर गदर (सन् १८५७ ई०) से उत्पन्न शासन के आर्थिक सकट के कारण ३१ जुलाई, सन् १८६० ई० को पाँच वर्ष के लिये लगाया। यह इग्लैंड के पूर्वोक्त सन् १८४२ ई० के आयकर विधान के अनुरूप था। इस कर में ६०० रुपये से अधिक लगानवाली खेती की आय भी सम्मिलित कर ली गई थी। इस दृष्टि से भी भारत के अनेक प्रदेशो में वर्तमान कृषि आयकर एकदम नया नही है। सन् १८६२ ई० मे 'लायसेंस टैक्स' के रूप में फिर व्यापारो और व्यवसायो की वार्षिक आय पर कर लगाया गया। इसके अनुसार वेतनभोगियों के मासिक वेतन से ही, अर्थात् उद्गम पर, कर की कटौती हो जाती थी। सन् १८६७ ई० में 'सर्टिफिकेट टैक्स' लगाया गया, जो 'लायसेंस टैक्स' से गुणात्मक रूप में भिन्न था। दोनो ही प्रकार के करो की देय राशियो की सीमा निर्धारित कर दी गई, किंतु इस बार कृषि आय इन दोनों ही प्रकार के आयकरो से मुक्त रही।

सन् १८६९ ई० में 'सार्टिफिकेट टैक्स' को सामान्य आयकर में परिवर्तित कर दिया गया, जिसमें कृषि आयकर फिर सम्मिलित कर लिया गया। सन् १८७३ ई० में शासन की वित्तीय स्थिति सुधरने पर आयकर उठा लिया गया।

किंतु सन् १८७७ ई० मे दुर्भिक्ष (सन् १८७६-१८७८ ई०) के कारण प्रत्यक्ष आयकर पुन लगाया गया। यह कर व्यापारिक वर्ग पर 'लायसेंस टैक्स' और कृषक वर्ग पर लगान के रूप में लगा। इस आयकर से दुर्भिक्ष-निवारण-कोष सचित किया गया। किंतु यह सपूर्ण भारत में समान रूप से लागू नही था। बगाल, मद्रास, बबई और पजाब की विधानसभाओ ने अपने लिये अलग अलग आयकर विधेयक बनाए। सन् १८८६ ई० तक इन सभी, केंद्रीय तथा प्रातीय, आयकर विधेयको मे कुल मिलाकर तेईस सशोधन हुए।

सन् १८८६ ई० में जो आयकर विधेयक बना, वह भारत के आयकर के इतिहास में महत्वपूर्ण है, क्योकि इसका मूल ताना बाना प्राय आज तक चला आता है। इसमें सबसे पहले 'कृषि-आय' को परिभाषित किया गया, जो परिभाषा बहुत कुछ अभी तक मान्य है। इसी में कृषि आयकर में छूट देने के नियम बनाए गए, जो अब सभी प्रकार के प्रत्यक्ष करो में छूट देने के लिये सिद्धात जैसे बन गए है। जीवन बीमा की किस्त देनेवालो को आय के (अधिक से अधिक) छठे भाग को पहली बार इसी विधेयक द्वारा करमुक्त किया गया था। यह छूट ठीक इसी रूप में आज भी विद्यमान है। यह ऐतिहासिक विधेयक ३२ वर्ष, अर्थात् सन् १९१८ ई० तक, लागू रहा। इसमें आय आँकने के लिये कोई ब्योरेवार नियम नहीं बनाए गए थे। यह कार्य गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल पर छोड दिया गया था, किंतु सन् १९१६ ई० में इसमें सशोधन करके आयकर की क्रमवर्ती दरें निर्धारित की गई थी। इससे व्यक्तिगत करदाताओ की आय आँकने और करनिर्धारण में अनेक विषमताएँ उत्पन्न हो गई। अतएव सन् १९१८ ई० में इस करव्यवस्था को आमूल सशोधित किया गया। फलस्वरूप करनिर्धारण के लिये करदाताओ के विभिन्न साधनो से प्राप्त आय और लाभ का समजन किया गया। पहले तो विगत वर्ष की आय को ही करनिर्धारण का आधार बनाया जाता था। अब वर्तमान वर्ष की निर्बल आय पर वाजिब कर का विगत वर्ष की आय पर पूर्वनिर्धारित कर से समजन किया जाने लगा। यह कर ब्रिटिश भारत में अर्जित छ प्रकार की आय पर लगाया गया, यथा (१) वेतन, (२) प्रतिभूतियों पर ब्याज की आय, (३) भवनसपत्ति से प्राप्त आय, (४) व्यापारिक आय, (५) व्यावसायिक आय और (६) अन्यान्य साधनों से प्राप्त आय।

सन् १९२१ ई० में अखिल भारतीय आयकर समिति ने पूर्वोक्त विधेयक का परीक्षण कर जो सुझाव दिए, उनके अनुसार सन् १९२२ ई० में वर्तमान आयकर विधेयक बना। तब से सन् १९३९ ई० तक इस विधेयक में बीस बार सशोधन हुए और सन् १९३९ ई० के सशोधन विधेयक ने तो इसमें महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिए।

सन् १९२२ ई० के विधेयक में आय-अतिकर को भी मिला लिया गया, जब कि इसके पूर्व यह अतिरिक्त शुल्क सन् १९१७ ई० के आय-अतिकर विधेयक (जिसका सशोधन सन् १९२० ई० में हुआ) के अतर्गत अलग से लगाया जाता था। दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि सन् १९२२ के विधेयक में आयकर की क्रमवर्धी दरो को निर्धारित करने की प्रथा बद कर दी गई। दरनिर्धारण का कार्य एकात रूप से वार्षिक वित्तीय विधेयको के लिये छोड दिया गया, जो प्रथा अब तक चली आती है। सम्मिलित हिंदू परिवार के किसी भी सदस्य की व्यक्तिगत धनप्राप्ति को भी आयकर से मुक्त कर दिया गया। आय के अनेक साधनो में से यदि किन्ही में घाटा हो और किन्ही में लाभ, तो लाभ और घाटे को मिलाकर यदि कोई लाभ बच रहे, तो अब उसी पर आयकर लगने लगा। यदि कोई करनिर्धारित व्यापारी किसी कारण न रहे, तो उसके प्रति अकित आयकर को अदा करने का दायित्व उसके उत्तराधिकारी पर रख दिया गया। किंतु यदि निर्धारित वर्ष में व्यापार किसी समय बद हो जाय, तो कर में आनुपातिक छूट दी जाती थी। सन् १९३५ ई० में एक आयकर विशेषज्ञ समिति की नियुक्ति हुई, जिसने दिसबर, सन् १९३६ ई० में अपने सुझाव प्रस्तुत किए। तदनुसार सन् १९३९ ई० का आयकर विधेयक बना, जिसके अतर्गत ब्रिटिश भारत में 'निवसित' व्यक्तियो की सब प्रकार की विदेशी आय पर भी कर लगा दिया गया। इसके अतिरिक्त आयकर से बचने का जाल करनेवालो की अनेक चतुर युक्तियो की काट भी इस विधेयक में रखी गई। साथ ही निबल हानि को अगले ६ वर्षों तक की आय मे समजित करने की छूट भी व्यापारियों को दी गई। सन् १९४५ ई० में अर्जित आय पर विशेष छूट दी गई और सन् १९४७ में पूँजीगत लाभकर भी इस विधेयक में सम्मिलित कर लागू किया गया। किंतु यह कर सन् १९४९ ई० में उठा लिया गया।

द्वितीय महायुद्ध के कारण व्यापारियो द्वारा अनायास उपार्जित विपुल लाभराशियो पर अतिलाभकर लगाया गया, जो १ सितबर, सन् १९३९ ई० से ३१ मार्च, सन् १९४६ ई० तक लागू रहा। यह कर ३६,००० रुपए से अधिक लाभ पर लगाया गया था। तत्पश्चात् १ अप्रैल, सन् १९४६ ई० से ३१ मई, सन् १९४८ ई० तक व्यापार-लाभकर-विधेयक (जो सन् १९४७ ई० मे बना) लगा रहा, जिसमे करनिर्धारण की विधि और दर अतिलाभकर विधेयक की अपेक्षा क्रमश. कम जटिल और न्यून थी।

भारत के स्वतत्र होने तथा २६ जनवरी, सन् १९५० ई० को सार्वभौम गणतत्र घोषित होने पर और साथ ही ६०० छोटे-बडे देशी राज्यो के इस सत्ता में समाविष्ट होने के उपरात १ अप्रैल, सन् १९५० ई० से केंद्रीय वित्त-

भविष्य में अनुभव से लाभ उठाया जाय। लोहे से टुकडे काट काटकर उसकी जाँच बार बार होती रहती है। अत में नाल को मशीन पर चढाकर रगडते है। फिर नलिद्र में नये सर्पिल काटे जाते है। इस क्रिया को 'राइफलिंग' कहते है। बडी तोप की राइफलिंग में दो-तीन सप्ताह लग जाते है।

पश्चखड—सब आधुनिक तोपो में पीछे की ओर से बारूद भरी जाती है। इसलिये उसमे कोई ऐसी युक्ति रहती है कि नाल बद की जा सके। इसकी दो विधियाँ है—या तो ढक्कन मे खडित पेंच रहता है, जिसे नाल में डालकर थोडा सा घुमाने पर ढक्कन कस जाता है अथवा ढक्कन एक बगल से खिसककर अपने स्थान पर आ जाता है और नाल को बद कर देता है। इस उद्देश्य से कि सधि से बारूद के जलने पर उत्पन्न गैसें निकल न पाएँ या तो बारूद और गोला धातु के कारतूस (कार्टिज) मे बद रहता है या सधि के पास नरम गद्दी रहती है, जो गैसो की दाब से सधि पर कसकर बैठ जाती है।

दागने की क्रिया या तो बिजली से होती है (बहुत कुछ उसी तरह जैसे मोटर गाडियों में पेट्रोल और वायु का मिश्रण बिजली से जलता है) या एक 'घोडा' (वस्तुत हथौडा) विशेष जलनशील टोपी को ठोकता है (बहुत कुछ उस प्रकार जैसे साधारण बदूको के कारतूस दागे जाते है)।

पश्चभाग मे ये सब युक्तियाँ पश्चवलय (ब्रीच-रिंग) द्वारा जुडी रहती है। निर्माण की सुविधा के लिये इस वलय को अलग से बनाया जाता है और नाल पर बनी चूडी पर कस दिया जाता है। इस विचार से कि काम करते करते यहाँ का पेंच ढीला न पड जाय, पश्चवलय को नाममात्र छोटा बनाकर और तप्त करके कसा जाता है। ठढा होने पर यह भाग इतना कस उठता है कि खुल नही सकता।

अग्निवाण (रॉकेट)—अग्निवाण उसी सिद्धात पर चलते है जिस पर दीपावली पर छोडे जानेवाले बारूद भरे बाण। द्वितीय विश्वयुद्ध के अतिम वर्ष मे अग्निवाण बहुत कार्यकारी सिद्ध हुए। अग्निवाण-प्रक्षेपक मे ३० अग्निवाण तीन तीन इच व्यास के लगे रहते थे और प्रत्येक मे कॉर्डाइट नामक विस्फोटक भरा रहता था। प्रत्येक के सिर का भार २६ पाउड था। दागने पर प्रत्येक अग्निवाण ३,६०० से ८,००० गज तक जा सकता था। प्रत्येक बिजली के स्विच से दागा जाता था। इन स्विचो को या तो इस प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता था कि अग्निवाण आध आध सेकेड पर अपने आप छूटते रहे या इच्छानुसार कई अग्निवाण या कुल अग्निवाण एक साथ ही छूटे। उच्च विस्फोटक के इस एकाएक धमाके से शत्रु की सेना को भारी क्षति पहुँचती थी और वह अत्यत भयभीत हो जाया करती थी।

दीर्घ-परास-अग्निवाण—द्वितीय महायुद्ध के अत मे जर्मनो ने बिना मानवी सचालक के और बहुत दूर तक पहुँचनेवाले अग्निवाण बनाए, जिनका नाम वी-एक और वी-दो पडा। देखने में वी-एक छोटे वायुयान के समान होता था। इसमे १३० गैलन पेट्रोल आता था और मशीन का भार लगभग १ टन रहता था। उडते समय इसका वेग लगभग ३५० मील प्रति घटा हो जाता था और चलने मे यह भयानक ध्वनि उत्पन्न करता था। साथ मे वी-दो का चित्र दिखाया गया है। इसमे ऐल्कोहल और द्रव आक्सिजन का प्रयोग होता था। प्रत्येक बाण मे लगभग ३ टन ऐल्कोहल और ५ टन द्रव आक्सिजन भरा रहता था। इनका महत्तम वेग लगभग ३,००० मील प्रति घटा था। यत्र की आकृति सिगार की तरह होती थी और ईंधन बिना भार लगभग १ टन।

राडार—वायुयान इतने वेग से चलते रहते है कि उनको तोप से मार गिराना कठिन ही होता था, परतु अमरीकी वैज्ञानिको ने राडार (उसे देखें) और वायुयानघातक तोपो का ऐसा सबध जोडा कि तोप अपने आप वायुयान पर सधी रहती थी। सन् १६४४ के उडन-बमो पर विजय इसी से मिली, क्योकि ये राडार-युक्त तोपे लगभग ७० प्रति शत ऐसे बमो को मार गिराती थी।

चित्र ८ भूमि मे गाडे हुए बम (माइन) का पता लगाना

बम के पास पहुँचने पर यत्र से ध्वनि निकलती है।

विविध—रात को शत्रु के वायुयानो को प्रकाशित करने के लिये गत महायुद्ध मे ६० सेंटीमीटर व्यास के और २० करोड किरणावलि-वर्त्ति-शक्ति (बीम-कैंडिल-पावर) के प्रकाश-यत्रो का उपयोग किया जाता था। वायु के स्वच्छ रहने पर कई मील तक इनका प्रकाश पहुँचता था। भूमि में
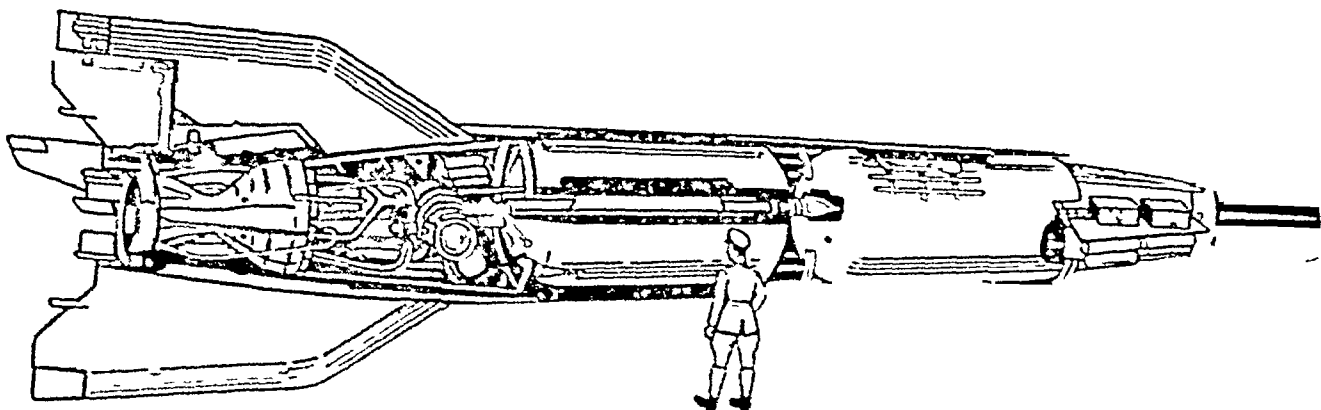
चित्र ७ वी-दो अग्निवाण।

ये ऐल्कोहल और द्रव आक्सिजन के जलने से चलते थे और जर्मनी से छोडे जाने पर लदन तक पहुँचते थे।

उद्यम एव उत्पादन—प्रकृति ने आयरलैंड को पशुपालन के लिये अधिक उपयुक्त बनाया है, अत १८वी शताब्दी के प्रारभ से ही इस देश ने कृषि की अपेक्षा पशुपालन को अधिक महत्व दिया। १८५० ई० से १९१४ ई० तक जोतवाली भूमि का क्षेत्रफल ३०,९५,७७० एकड से १२,४७,८६५ एकड गिर गया तथा चरागाह का क्षेत्रफल ८७,५२,५६५ एकड से १,२४-५६,७५२ एकड बढ गया। इसी प्रकार १८४१ ई० में पशुओ की सख्या प्रति हजार मनुष्य पीछे २२५ थी, १९४७ ई० मे यह सख्या ११५४ तक पहुँच गई। फसलो में जई एव आलू मुख्य हैं। जई की खेती घोडो को खिलाने के निमित्त प्रत्येक किसान करता है। आलू यहाँ की मुख्य खाद्य वस्तु है। जौ तथा फ्लेक्स (सनई की तरह का पौधा) सीमित क्षेत्रो में ही वोए जाते हैं।

ग्रामीण जीवन—आयरलैंड सदैव से छोटे छोटे कृपको का देश रहा है। यद्यपि खेतो की नाप को वढाने का वार वार प्रयत्न हुआ है, किंतु आज भी दो तिहाई खेतो का क्षेत्रफल ३० एकड से अधिक नही है। ग्रामीण जनता पूर्णत खेती पर निर्भर तथा अपेक्षाकृत निर्धन है। अनेक लोगो का विदेश जाकर जीवननिर्वाह करना आवश्यक हो जाता है, १९वी शताब्दी में लाखो व्यक्ति प्रति वर्ष देश छोडते थे। अव प्रवासी व्यक्तियो की सख्या अपेक्षाकृत कम हो गई है। अत आयरलैंड की समस्या जनसख्या की वृद्धि नही, ह्रास है।

नागरिक जीवन—ग्रामीण क्षेत्रो मे जीवननिर्वाह के साधनो की कमी के कारण अधिकतर जनता समुद्रतट के वडे वडे नगरो तथा वदरगाहो में निवास करती है। आयरलैंड के ६ वडे वडे नगरो डवलिन (जनसख्या ५,३७,८७८), वेलफास्ट (जनसख्या ४,४३,९००), कार्क (जनसख्या ७९,९४५), लिमरिक (जनसख्या ५०,८६६), लन्दनडेरी (जनसख्या ५१,५००) तथा वाटरफोर्ड में देश की पचमांश जनता निवास करती है। भीतरी भाग के नगर आकार में प्राय छोटे है और उनकी जनसख्या १०,००० से अधिक नही है।

व्यापार—आयरलैंड का व्यापारिक जीवन ब्रिटिश द्वीपसमूह से अधिक सबद्ध है। यहाँ की राष्ट्रीय सपत्ति अगेजी वाजार के चढाव उतार के अनुसार वढती घटती है। आयरलैंड ग्रेट ब्रिटेन को पशु तथा उनसे उत्पन्न वस्तुएँ—मक्खन, पनीर, नवनित दुग्ध,—अडे, आलू, सूअर का मास आदि भेजता है। यहा के आयात में ग्रेट ब्रिटेन का करीव ८० प्र० श० भाग रहता है। वहाँ से कोयला, कपडा, आटा, खाद तथा मशीनें आदि आती है।

आइरिश फ्री स्टेट एव उत्तरी आयरलैंड—आयरलैंड राजनीतिक एव आर्थिक दृष्टि से ग्रेट ब्रिटेन का एक अविच्छिन्न भाग था, परतु सदियो से चलते हुए राष्ट्रीय आदोलन के फलस्वरूप १९२१ ई० में आइरिश फ्री स्टेट का जन्म हुआ जिसकी राजधानी डवलिन है। इसका वर्तमान क्षेत्रफल २६,६०० वग मील तथा जनसख्या २९,६०,५९३ (१९५१) है। उत्तरी आयरलैंड का उत्तरी-पूर्वी भाग (क्षेत्रफल ५,२३८ वर्ग-मील, जनसख्या १३,७०,९२१ सन् १९५१ मे) अव भी ग्रेट ब्रिटेन का राजनीतिक अग है। वेलफास्ट इसकी राजधानी है। आयरलैंड के राष्ट्रीय आदोलन के पीछे धार्मिक भावना मुख्य थी। यहां के अधिकाश लोग (९३४ प्र० श०) रोमन कैथोलिक हैं। उत्तरी आयरलैंड के कुछ भागो मे भी कैथोलिको की सख्या अधिक है। इन भागो को भी फ्री स्टेट अपनी सीमा के अतर्गत मिलाने की माँग करती है। [उ० सि०]

आयरिश आयरलैंड की भाषा तथा साहित्य को 'आयरिश' नाम से पुकारा जाता है। आयरलैंड मे अग्रेजो के प्रभुत्वकाल मे तो अग्रेजी की ही प्रधानता रही, पर देश की स्वाधीनता के वाद वहाँ की अपनी भाषा आयरिश (गैली) को फिर से महत्व दिया गया। गैली का साहित्य पाँचवी शताब्दी ई० तक का मिलता है। आयरिश भारत-यूरोपीय कुल की केल्टिक शाखा के गोइडेली वर्ग से सवद्ध मानी जाती है। विकास की दृष्टि से आयरिश भाषा के इतिहास को तीन कालो में विभक्त किया जाता है—(१) प्राचीन आयरिश ७वी सदी से ६वी सदी के मध्य तक, (२) मध्यकालीन आयरिश ९वी से १२वी सदी तक तथा (३) आधुनिक १३वी सदी के उपरात। आधुनिक आयरिश को पुन दो कालो मे वाँटते है—१७वी सदी से पूर्व तथा १७वी सदी के वाद। राष्ट्रीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप आयरिश को
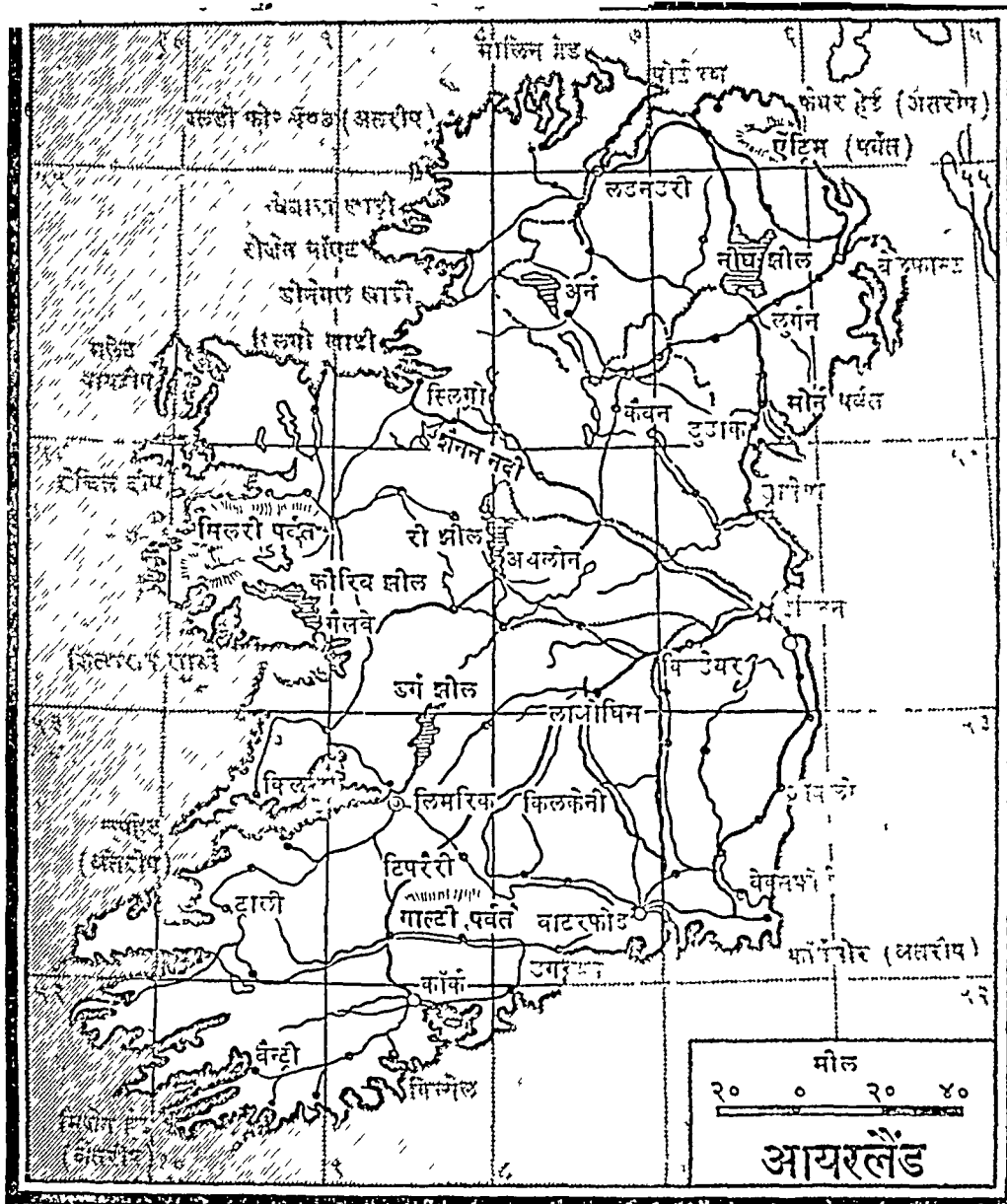
रॉकेटयुग में चिकित्साविज्ञान—आयुर्विज्ञान अतर्देशीय स्तर पर बहुत समय पूर्व पहुँच चुका था और जान पडता है कि अब वह अतर्ग्रहीय अवस्था पर पहुँचनेवाला है। आकाशयात्रा का शरीर पर जो प्रभाव पडता है उसका विशेष अध्ययन हो रहा है। आगे चलकर यह अत्यत उपयोगी प्रमाणित हो सकता है। इस सबध के अनेक प्रश्नो का अभी सतोपजनक उत्तर पाना है। ब्रह्माड की (कॉस्मिक) रश्मियो का शरीर पर प्रभाव, गुरुत्वाकर्पणरहित अवस्था का मनुष्य की प्रतिक्षेप (रिफ्लेक्स) क्रियाओ पर प्रभाव, अभारता (वेटलेसनेस) के मडल मे बहुत समय तक निवास करने और शारीरिक क्रियाओ मे सबध आदि अनेक ऐसे प्रश्न है जिनपर खोज हो रही है। [शि० श० मि०तथा स० प्र० गु०]

आयुर्विज्ञान का इतिहास

सूत्रवद्ध विचारव्यजन के हेतु आयुर्विज्ञान (मेडिसिन) के क्रमिक विकास को लक्ष्य मे रखते हुए इसके इतिहास के तीन भाग किए जा सकते है

(१) आदिम आयुर्विज्ञान,
(२) प्राचीन आयुर्विज्ञान,
(३) अर्वाचीन आयुर्विज्ञान।

आदिम आयुर्विज्ञान—मानव की सृष्टि हुई। आहार, विहार तथा स्वाभाविक एव सामाजिक परिस्थितियो के कारण मानव जाति पीडित होने लगी। उस पीडा की निवृत्ति के लिये उपायो के अन्वेपणो से ही आयुर्विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ।

पीडा होने के कारणो के सबध मे लोगो की निम्नलिखित धारणाएँ थी

(१) शत्रु द्वारा मूठ (जादू, टोना) का प्रयोग या भूत पिशाचादि का शरीर मे प्रवेश।
(२) अकस्मात् विपाक्त पदार्थ खा जाना अथवा शत्रु द्वारा जान बूझकर मारक विप का प्रयोग।
(३) स्पर्श द्वारा किसी पीडित से पीडा का सक्रमण।
(४) इद्रियविशेष का तत्सदृश अथवा तन्नामधारी वस्तु के प्रति आकर्षण या सहानुभूति।
(५) किन्ही क्रियाओ,पदार्थो अथवा मनुष्यो मे विद्यमान रोगोत्पादक शक्ति।

इन्ही सामान्य विचारो को भिन्न भिन्न व्यक्तियो ने भिन्न भिन्न प्रकार से अनेक देशो मे दर्शाया।

उस समय चिकित्सा त्राटक (योग की एक मुद्रा), प्रयोग अथवा अनुभव के आधार पर होती थी, जिसके अतर्गत शीतल एव उष्ण पदार्थो का सेवन, रक्तनिसारण, स्नान, आचूषण तथा स्नेहमर्दन आदि आते थे। पाषाणयुग से ही वेधनक्रिया सदृश विस्मयकारी शल्यक्रियाएँ प्रचलित थी। निर्मित भेषजो मे वमनकारी और विरेचनकारी योगो तथा भूत पिशाचादिके निस्सारण के लिये तीव्र यातनादायक द्रव्यो का उपयोग होता था। इस प्रकार आदिम आयुर्विज्ञान तत्कालीन सस्कृति पर आधारित था, किंतु विभिन्न देशो मे सस्कृतियाँ स्वय विभिन्न थी।

भारतीय आयुर्विज्ञान—यह अत्यत प्राचीन समय मे भी समुन्नत दशा मे था। आज भी इसका कुशल रूप से प्रयोग होता है। आयुर्विज्ञान के उद्गम वेद है (समय के लिये देखे वेद)। वेदो मे, विशेपत अथर्ववेद मे, शरीरविज्ञान, ओपधिविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, कीटाणुविज्ञान, शल्यविज्ञान आदि की ऋचाएँ उपलब्ध है। चरक एव सुश्रुत (सुश्रुत के लैटिन अनुवादक हेसलर के अनुसार समय लगभग १००० वर्ष ईसा पूर्व) मे इसके पृथक् पृथक्, शल्य एव कायचिकित्सा के रूप मे, दो भेद हो गए है। सुश्रुत शल्यचिकित्सा-प्रधान एव कायचिकित्सा मे गौण तथा चरक कायचिकित्सा मे प्रधान एव शल्यचिकित्सा मे गौण माने जाते है। पाँच भौतिक तत्वो (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) के आधार पर वात, पित्त, कफ इन तीनो को रोगोत्पादक कारण माना गया। कहा गया कि शरीर मे इनकी विपमता ही रोग है एव समता आरोग्य। अत विषम दोपो को सम करने के उपाय को चिकित्सा कहते थे। इसके आठ अग माने गए · काय, शल्य, शालाक्य, बाल, ग्रह, विप, रसायन एव वाजीकरण। निदान मे दोपो के साथ ही साथ कीटाणुसक्रमण को भी रोगो का कारण माना गया था। प्रसग, गात्रसस्पर्श, सहभोज, सहशय्यासन, माल्यधारण, गधानुलेपन आदि के द्वारा प्रतिश्याय (जुकाम), यक्ष्मादि रोगो के एक व्यक्ति से दूसरे मे सक्रमण का निर्देश सुश्रुत मे है। उसमे प्रथम निदान पर, तत्पश्चात् चिकित्सा पर भी जोर दिया गया है।

त्रिदोपो के सचय, प्रकोप, प्रसार, स्थान, ससृय (मेल), व्यक्ति और भेद के अनुसार रोगो की चिकित्सा का निर्देश किया गया है। अनुचित बाह्य पदार्थो के प्रयोग से शरीर मे दोपो का सचय न हो, इस विचार से भोजन-निर्माण-काल मे ही, अथवा भोजन करने के समय ही, भोज्य पदार्थो मे उनके वृद्धिनिवारक भेपजतत्वो का प्रयोग किया जाय, जैसे बैगन की भाजी बनाते समय हीग एव मेथी का प्रयोग और ककडी के सेवनकाल के पूर्व उसमे काली मिर्च एव लवण का योग आदि, क्योकि विश्वास था कि हीग, मिर्च आदि के साथ बैंगन और ककडी के शरीर मे प्रवेश करने पर इन भाजियो से उत्पन्न दोपो का अवरोध हो जाता है। यह प्रथम चिकित्साकाल समझा जाता था। सचय के अवरोध के लिये पहले से ही उपाय न करने पर दोषो का प्रकोप माना जाता था। इस अवस्था मे भी चिकित्सा न हो तो उनका प्रसार होना माना गया। सिद्धात यह था कि फिर भी यदि चिकित्सा न की जाय तो दोष घर कर लेते है। इसके पश्चात् विशिष्ट दोषो से विशिष्ट स्थानो मे विभिन्न लक्षणो की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् भी चिकित्सा मे अवहेलना से रोग गभीर होता है और असाध्य कोटि का हो जाता है। अत परिवर्जन (परहेज) मुख्यत प्रारभिक चिकित्सा मानी गई। आयुर्वेद मे निदान चिकित्सा का प्रारभिक अग है। देश की विशालता एव जलवायु की विषमता होने से यहाँ औषधविज्ञान का भी बडा विकास हुआ। अत एक ही प्रकार के ज्वर के लिये भिन्न भिन्न स्थानो मे भिन्न भिन्न ओपधियो के प्रयोग निर्णीत किए गए। इसी से निघटु मे ओपधियो की बहुलता एव भेषज-निर्माण-ग्रथो मे प्रयोग की बहुलता दृष्टिगोचर होती है। रक्तपरिभ्रमण, श्वसन, पाचन आदि शारीरिक क्रियाओ का ज्ञान भारत मे हजारो वर्ष पूर्व ही हो गया था। शल्यचिकित्सा मे यह देश प्रधान था। प्राय सभी अवयवो की चिकित्सा शल्य और शालाक्य (चीर फाड) द्वारा होती थी। प्लास्टिक सर्जरी, शिरावेध, सूचीवेध आदि सभी सूक्ष्म कार्य होते थे। बाल को खडा चीर सकनेवाले शस्त्र थे। अस्थियो का स्थानभ्रश, क्षति आदि का भिन्न भिन्न भग्नास्थिबधो (स्प्लिट्स) द्वारा उपचार होता था। अत भारतीय आयुर्विज्ञान अपने समय में सर्वगुणसपन्न था।

ईजिप्ट का आयुर्विज्ञान—यह अति प्राचीन काल के परपरागत अभ्यासो तथा इद्रजाल पर अवलवित था। इसके चिकित्सक मदिरो के पुरोहित या कुछ अभ्यस्त व्यक्ति ही होते थे। ये स्वास्थ्यविज्ञान, आहारनियम, विरेचन, वस्तिकर्म आदि पर ध्यान देते थे, परतु ये पर्याप्त सफल नही हुए। अनुलेप, प्रलेप तथा अतर्ग्राह्य भेषजो का भी प्रयोग होता था। मधु, क्षार, देवदारु-तैल, अजीरत्वचा, तूतिया, फिटकिरी तथा प्राणियो के यकृत, हृदय, रक्त और सीग आदि का प्रयोग होता था। इन सबसे अच्छे चिकित्सको के उत्पन्न होने मे भी प्रगति हुई। इम्होटेप (समय खृष्टाब्द के ३००० वर्ष पूर्व) राजा जोसर का राजवैद्य था और ईश्वरतुल्य पूजा जाता था। उसके नाम से मदिर भी बने है। ईजिप्ट के प्राचीन लेखो (पैपिराई) मे आयुर्विज्ञान के क्षेत्र मे शरीरविज्ञान और शल्यविज्ञान का यत्किचित् उल्लेख है।

मैसोपोटेमिया का आयुर्विज्ञान—इसमे यकृत शरीर का प्रधान अग माना जाता था और इसकी स्थिति से फलानुमान किया जाता था। शरीर मे प्रेतादि का प्रकोप रोग का मुख्य कारण या व्याधिशास्त्र का आधार समझा जाता था तथा प्रेतादिको का निसरण, पूजा पाठ आदि उनके उपचार थे। शल्यचिकित्सा श्रेष्ठ मानी जाती थी। अत शरीरविज्ञान का ज्ञान भी आवश्यक समझा जाता था। ओषधिक्षेत्र मे सैकडो खनिज एव जीवजात भेपजो का उपयोग भी होता था। तारपीन, देवदारु, हिंगु, सरसो, लोबान, एरड, तैल, खसखस, अजीर तथा कुछ विपैली वनस्पतियो का भी प्रयोग होता था।

प्राचीन आयुर्विज्ञान—एक प्रकार से उस वैज्ञानिक आयुर्विज्ञान की उत्पत्ति ग्रीस मे हुई जिससे आधुनिक पाश्चात्य आयुर्विज्ञान निकला। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व से लेकर रोम राज्य के उत्थान तक यह इसी देश मे सीमित था, इसके पश्चात् इसका विकास मध्य एशिया, एथेस, इटली आदि ग्रीस के अधिराज्यो मे भी हुआ। इसमे तत्कालीन सभी प्रचलित पद्धतियाँ समिलित थी। प्राचीन क्रीट, मेसोपोटेमिया, ईजिप्ट, पर्शिया तथा भारत की चिकित्सापद्धतियो के सिद्धात इसमे समाविष्ट थे। अत एक समिलित वैज्ञानिक आयुर्विज्ञान का प्रादुर्भाव यहाँ से हुआ। ईसा से लगभग ४०० वर्ष

ई० में रेने डेकार्ट ने शरीर-क्रिया-विज्ञान पर डिहोमीन नामक प्रथम पाठ्य-पुस्तक रची। क्षार पर लाइडेन (निदरलैंड) के सिलवियस (सन् १६१४-७२) का कार्य भी बहुत सराहनीय रहा। इन्होने सर्वप्रथम वैज्ञानिक तरीको से पाचक रसो का विश्लेषण किया। हरमान बूरहावे (सन् १६८८-१७३८) ने १८वी शताब्दी मे शरीररसायन पर उल्लेखनीय कार्य किया। बूरहावे को उस समय आयुर्विज्ञान मे सर्वोच्च पद प्राप्त था। इन्होने प्रयोगशालाओ का निर्माण किया तथा प्रायोगिक शिक्षा की ओर ध्यान आकर्षित किया। उचित रूप की वैज्ञानिक शालाओ को जन्म देने मे इनका बडा सहयोग था। इन्होने एडिनबरा के आयुर्विज्ञान विद्यालय को जन्म दिया। स्विटजरलैंड के अलब्रेख्ट फोन हालर (सन् १७०८-७७) ने श्वसनक्रिया, अस्थि-निर्माण-क्रिया, भ्रूणवृद्धि तथा पाचनक्रिया, मासपेशियो के कार्य एव नाडीततुओ का सूक्ष्म अध्ययन किया। इन सबका वर्णन इन्होने अपनी "शरीर-क्रिया-विज्ञान के तत्व" नामक पुस्तक मे किया। पाचन क्रिया एव भोजन के जारण की क्रिया पर सिलवियस के पश्चात् फ्रेंच वैज्ञानिक रेऑम्यूर (सन् १६८३-१७५७), इटली के स्पालानजानी (सन् १७२६-६६) तथा इगलैंडवासी प्राउट (सन् १७८५-१८५०) का कार्य सराहनीय है। प्राणिविद्युत् के क्षेत्र मे इटालियन गैलवैनी (सन् १७३७-६८), स्कॉटलैंड निवासी ब्लैक (सन् १७२८-६६) एव अग्रेज प्रीस्टले (सन् १७३३-१८०४) ने कार्य किया। १७६१ ई० मे गैलवैनी ने दिखाया कि विद्युद्धारा से मासपेशियो मे सकोच होता है। १८वी शताब्दी में रसायनशास्त्र के विस्तार के साथ साथ शरीररसायन भी प्रगति कर सका। ऑक्सिजन का आविष्कार तथा प्राणियो से उसका सबध फ्रास के रासायनिक लेवाज्ये (सन् १७४३-६४) ने स्थापित किया।

विकृत शरीर एव निदानशास्त्र—१८वी शताब्दी के आरभ मे कुछ मरणोत्तर-शवपरीक्षाओ द्वारा शरीरो का अध्ययन हुआ। व्याधि सबधी ज्ञान मे आशातीत उन्नति हुई। अवयवो का सूक्ष्म निरीक्षण कर इनका व्याधि से सबध स्थापित किया गया। पैडुआ (इटली) मे ५६ वर्ष तक अध्यापन करनेवाले मोरगान्यि (सन् १६८२-१७७१) का कार्य इस क्षेत्र मे सर्वोच्च रहा।

निदान के लिये इस युग में नाडीपरीक्षा को महत्व दिया गया एव तापमापक यत्र की भी रचना की गई। वायना मे लियोपोल्ड ऑएनबूजर (सन् १७२२ से १८७०) ने अभिताडन (परकशन) विधि तथा आर० टी० एच० लेनेक (सन् १७८१-१८२६) ने सश्रवणक्रिया (ऑस्कुलेशन) का आविष्कार १८वी शताब्दी के अत मे किया। लेनेक ने १८१६ ई० मे प्रथम उर-श्श्रवणयत्र (स्टियस्कोप) की रचना कर निदानशास्त्र को सुसज्जित किया।

इसी युग से निदान मे रोगियो का अवलोकन, स्पर्श, अभिताडन तथा अवयवो के श्रवण आदि क्रियाओ का प्रचार हुआ। इस अध्ययन के पश्चात् भेपजशास्त्र तथा शल्यचिकित्सा मे बडा विकास हुआ।

शल्य तथा स्त्रीरोगचिकित्सा—१८वी शताब्दी मे स्वस्थ तथा व्याधिकीय शरीर-रचना-विज्ञान के विकास ने इस शल्यचिकित्सा की उन्नति मे भी अधिक योग दिया। कई शल्ययत्रो का निर्माण हुआ। प्रसूति मे चिकित्सक विलियम हटर (सन् १७१८-८३) ने प्रथम बार सदशिका (फॉरसेप्स) का उपयोग किया। इनके भाई जान हटर ने इस क्षेत्र मे अन्य सराहनीय कार्य किए और आयुर्विज्ञान के सग्रहालयो का निर्माण कर उनका महत्व दर्शाया। सर विलियम पेटी (सन् १६२३-८७) द्वारा आयुर्विज्ञान के अन्वेषणो को दर्शित करने का नवीन मार्ग बताया गया और जन्म, मृत्यु तथा विविध रोगो से पीडितो की सख्याओ का पता लगाया गया। इसे जीवनाक (वाइटल स्टैटिस्टिक्स) नाम दिया गया। इसी काल से जीवन और मरण का ब्योरा बनाया जाने लगा। इस तरह के अध्ययन ने व्याधिरोधक कार्यो की सफलता पर बहुत प्रकाश डाला। सर्वप्रथम इस कार्य का प्रारभ इग्लैड में बदियो से हुआ, तदुपरात जब इसकी महत्ता का ज्ञान हुआ, तब इसका विस्तार जनसाधारण मे भी हो सका। सर जान प्रिंगिल (सन् १७०७-८२) एव जेम्स लिड (सन् १७१६-६४) ने मोतीझिरा तथा उष्ण देशो मे होनेवाली व्याधियो का अध्ययन किया।

जनस्वास्थ्य में सुधार—विज्ञान एव सस्कृति की उन्नति के साथ साथ यत्रयुग मे कारखानो तथा श्रमिको के विकास से श्रमिको के स्वास्थ्य पर भी ध्यान दिया जाने लगा और मलेरिया (जूडी) आदि कई व्याधियो से छुटकारा पाने के उपाय खोज निकाले गए।

इग्लैड मे सन् १७६२ ई० मे जो विधान बने उनके कारण बडे नगरो मे स्वच्छता आदि पर पर्याप्त ध्यान दिया जाने लगा।

औषधालयो का विकास—चिकित्सा की आवश्यकताओ के कारण वैज्ञानिक रूप से स्वच्छता पर ध्यान रखते हुए उत्तम अस्पतालो का निर्माण १८वी शताब्दी के मध्य से होना आरभ हुआ। परिचारिकाओ की व्यवस्था से भी अस्पताल बहुत जनप्रिय बन गए और विशेष उन्नति कर सके।

रोगप्रतिरोध के लिये टीके का विकास—यह कार्य १८वी शताब्दी से आरभ हुआ। सर्वप्रथम १७६६ ई० मे एडवर्ड जेनर ने चेचक की बीमारी का अध्ययन कर उसके प्रतिरोध के हेतु टीके का आविष्कार किया। धार्मिक एव अन्य बाधाओ के कारण कुछ समय तक इसका प्रचार न हो सका, किंतु इसके पश्चात् टीके की व्याधिरोधक शक्ति पर सबका ध्यान गया और धीरे धीरे टीका लगवाने की प्रथा बढी। फ्रास के लुई पास्चर (सन् १८२२-६५), लार्ड लिस्टर (सन् १८२७-१६१२), राबर्ट कोख (सन् १८४३-१६१०), एमिल फान बेरिंग (सन् १८५४-१६१७) आदि वैज्ञानिको का कार्य इस क्षेत्र मे सराहनीय रहा।

१६वी तथा २०वी शताब्दी मे शरीरविज्ञान के सूक्ष्म अध्ययन की प्रेरणा मिली तथा ततुओ की रचना पर भी प्रकाश डाला गया।

जर्मनो ने १६वी शताब्दी मे शरीर-क्रिया-विज्ञान के क्षेत्र मे कई उल्लेखनीय कार्य किए। फ्रास ने भी इस कार्य मे सहयोग दिया। इस देश के विद्वान् क्लाड बरनार्ड (सन् १८१३-७८) के कार्य इस क्षेत्र मे सराहनीय रहे। उसने शरीर को एक यत्र मानकर उसके विभिन्न अवयवो के कार्यो का, जैसे यकृत के कार्यो तथा रक्तसचालन एव पाचनक्रिया सबधी कार्यो का, सूक्ष्म अन्वेपण किया। इसी क्षेत्र मे मुलर (सन् १८०१-५८) ने एक पाठ्यपुस्तक की रचना की, जिससे इस शास्त्र की उन्नति में बहुत सहायता मिली।

फान लीबिग (सन् १८०३-७३) ने शरीररसायन मे आविष्कार किए। उनकी खोजो में यूरिया को पहचानने तथा मापन की विधि, पदार्थ की परिभाषा, जारणक्रिया तथा उससे उत्पन्न ताप, नेत्रजनचक्र आदि प्रमुख है।

१८४० ई० मे शरीर की कोशिकाओ (सेल्स) का पता चला। जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) पर भी बहुत खोज हुई। रूडोल्फ फिर्शो (सन् १८२१-१६०२) ने रक्त के श्वेत कणो के कार्यों पर प्रकाश डाला। इसने कैंसर आदि व्याधियो के सबध मे भी बहुत अन्वेषण किए।

कीटाणु तथा व्याधि—१६वी शताब्दी के प्रारभ मे यह आभास हुआ कि कुछ व्याधियाँ कीटाणुओ के आक्रमणो से सबध रखती है। फ्रास के लुई पास्चर (सन् १८२२-६५) ने इसकी पुष्टि के हेतु कई उल्लेखनीय प्रयोग किए। राबर्ट कोख (सन् १८४३-१६१०) ने कीटाणुशास्त्र को अस्तित्व देकर इस क्षेत्र मे बडा कार्य किया। यक्ष्मा, हैजा आदि के कीटाणुओ का अन्वेपण किया तथा अनेक प्रकार के कीटाणुओ को पालन की विधियो तथा उनके गुणो का अध्ययन किया। भारत की इडियन मेडिकल सर्विस के सर रोनाल्ड रॉस (सन् १८५७-१६३२) ने मलेरिया पर सराहनीय कार्य किया। इस रोग के कीटाणुओ के जीवनचक्र का ज्ञान प्राप्त किया तथा उसके विस्तारक ऐनोफेलीज मच्छड का अध्ययन किया। सन् १८६३ मे अत्यत सूक्ष्म विपाणुओ (वाइरस) का ज्ञान हुआ। तदुपरात इस क्षेत्र मे भी आशातीत उन्नति हुई। विपाणुओ से उत्पन्न अनेक व्याधियो, उनके लक्षणो और उनकी रोकथाम के उपायो का पता लगाया गया तथा इन रोगो का सामना करनेवाली शारीरिक शक्ति की रीति भी खोजी गई। फान बेरिंग (सन् १८५४-१६१७) का कार्य इस क्षेत्र मे सराहनीय रहा।

गत पचीस वर्षो मे जीवाणुद्वेषी द्रव्यो (ऐंटीबायोटिक्स), जैसे सल्फानिलैमाइड, सल्फाथायाजोल इत्यादि तथा पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसिन आदि से फुफ्फुसार्ति (न्यूमोनिया), रक्तपूतिता (सेप्टिसीमिया), क्षय (थाइसिस) आदि भयकर रोगो पर भी नियत्रण शक्य हो गया है।

उपसहार—आयुर्विज्ञान के इतिहास के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि इसका प्रादुर्भाव अति प्राचीन है। निरतर मनुष्य व्याधियो तथा उनसे मुक्त होने के उपायो पर विचार तथा अन्वेपण करता आया है। विज्ञान एव उसकी विभिन्न शाखाओ के विकास के साथ साथ आयुर्विज्ञान भी अपनी दिशा में द्रुत गति से आगे की ओर बढता चल रहा है।

टैंक-भेदी तोपो को बहुत शक्तिशाली होना पडता है। टैंक इस्पात की मोटी चादरो की बनी गाडियाँ होते हैं (चित्र ५)। इनके भीतर बैठा योद्धा
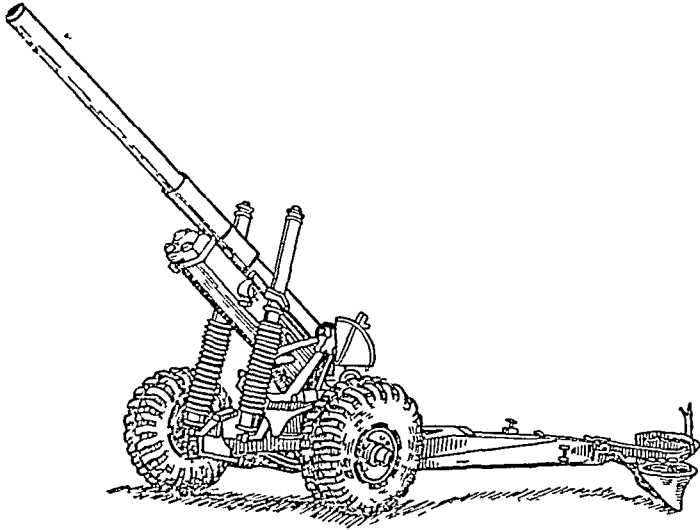
चित्र ४ वायुयानघातक तोप
५.५ इंच व्यास का यंत्र।

टैंक पर लदी तोप से शत्रु को मारता रहता है और स्वयं बहुत कुछ सुरक्षित रहता है। सन् १९४१ की टैंक-भेदी तोपें १७ पाउंड के गोले दागती थी। कवचित यान (आर्मर्ड कार) के भीतर का सिपाही केवल साधारण बदूक और राइफल से सुरक्षित रहता है (चित्र ६)।

हवाई जहाजो पर २५ पाउंड के गोले दागनेवाली तोपें, ३.७ इंच व्यास के हाउविट्जर और ४.२ इंच व्यास के मॉर्टर द्वितीय विश्वयुद्ध में प्रयुक्त हो रहे थे।
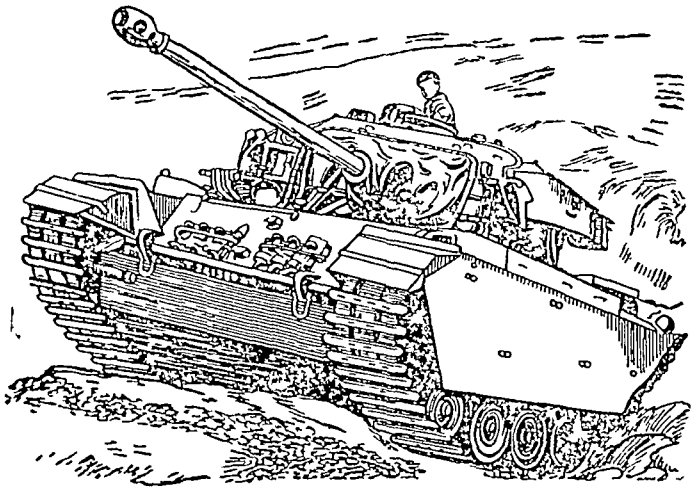
चित्र ५ टैंक
इसके भीतर बैठे सैनिक शत्रु पर तोप चला सकते हैं, परंतु स्वयं उसके साधारण अस्त्र-शस्त्र से बचे रहते हैं।

बिना धक्के की तोपें, कमानी के बदले, इस प्रकार की भी बनाई गईं कि कुछ गैस पीछे से निकल जाय, परंतु ये तोपें लोकप्रिय नही हो सकी, क्योकि वे पर्याप्त शक्तिशाली नही पाई गई।

यांत्रिक वाहन—सन् १९०९ मे इंग्लैंड के युद्धकार्यालय (वार आफिस) ने ७,५०० रुपए का पारितोषिक ऐसे ट्रैक्टर (गाडी) के लिये घोषित किया जो ८ टन के बोझ को लेकर २०० मील बिना ईंधन या उपस्नेहक (ल्युब्रिकेटिंग आयल) लिए चल सके। तभी से तोपवाहक यांत्रिक गाडियो का जन्म हुआ। अब ऐसी गाडियाँ उपलब्ध हैं जो बिना सडक के ही खेत आदि में सुगमता से चल सकती हैं। इनके पहियो पर शृंखलाओ का पट्टा (टैंक)
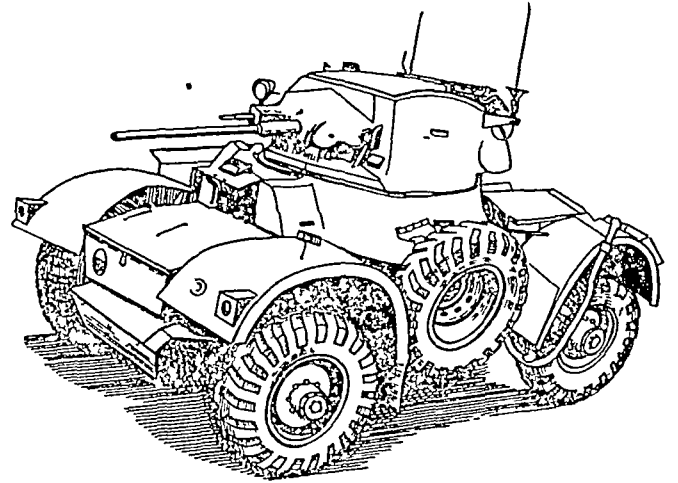
चित्र ६ कवचित यान (आर्मर्ड कार)
इसके भीतर बैठा सैनिक बदूक और राइफल की गोली से सुरक्षित रहता है।

चढा रहता है (चित्र ४)। इसके कारण ये गाडियाँ ऊबड-खाबड भूमि पर चल सकती हैं। इन गाडियो का वेग तीस-पैंतीस मील प्रति घंटा होता है, परंतु शृंखला-पट्टा लगभग डेढ हजार मील के बाद खराब हो जाता है। द्वितीय विश्वयुद्ध मे चार अथवा छ पहियो के तोप-ट्रैक्टर बने, जिनमे साधारण मोटरकारो की तरह, परंतु विशेष भारी, हवा भरे रबर के पहिए रहते थे। इनमे लगभग १०० अश्वसामर्थ्य के इंजन रहते थे और इन पर नौ-दस टन भार तक की तोपें लद सकती थी।

नाविक तोप—टॉरपीडो (उसे देखे) के आविष्कार के पहले तोपें ही जहाजो के मुख्य आयुध होती थी। अब तोप, टारपीडो और हवाई जहाज ये तीन मुख्य आयुध हैं। १८वी शताब्दी मे २,००० टन के बोझ लाद सकनेवाले जहाजो मे १०० तोपें लगी रहती थी। इनमे से आधी भारी गोले (२४ से ४२ पाउंड तक के) छोडती थी और शेष हलके गोले (६ से १२ पाउंड तक के), परंतु आधुनिक समय मे तोपो की सख्या तथा गोलो का भार कम कर दिया गया है और गोलो का वेग बढा दिया गया है। उदाहरणत सन् १९१५ मे बने रिवेंज नामक ड्रेडनॉट जाति के जहाज मे ८ तोपें १५ इंच भीतरी व्यास की पीछे लगी थी। ऐसी ही ४ तोपें आगे और ८ बगल मे थी। इनके अतिरिक्त १२ छोटी तोपें ६ इंच (भीतरी व्यास की) थी।

तोपो का निर्माण—तोपो, हाउविट्जरो और मॉर्टरो की आकल्पनाओ (डिजाइनो) मे अंतर रहता है। मुख्य अंतर सछिद्र के व्यास और इस व्यास तथा लंबाई के अनुपात में रहता है। यंत्र मे जितनी ही अधिक बारूद भरनी हो यंत्र की दीवारो को उतना ही अधिक पुष्ट बनाना पडता है। इसी लिये तोप उसी नाप के सछिद्रवाले हाउविट्जर से भारी होती है। अब तो उच्च आतति (हाइटेसाइल) इस्पातो के उपलब्ध रहने के कारण पुष्ट तोपो का बनाना पहले जैसा कठिन नही है, परंतु अब बारूद की शक्ति भी बढ गई है। अब भी तोपो की नालें ठंढी नालो पर तप्त और कसे खोल चढाकर बनाई जाती है, या उन पर इस्पात का तप्त तार कसकर लपेटा जाता है और इस तार के ऊपर एक बाहरी नाल तप्त करके चढा दी जाती है। भीतरी नाल अति तप्त इस्पात मे गुल्ली (अवश्य ही बहुत बडी गुल्ली) ठोककर बनाई जाती है और नाल को ठोक पीटकर उचित आकृति का किया जाता है। इसके बदले वेग से घूर्णन करते हुए साँचे मे भी कुछ नालें ढाली जाती हैं। इनमें द्रव इस्पात छटककर बडे वेग से साँचे की दीवारो पर पडता है। यह विधि केवल छोटी तोपो के लिये प्रयुक्त होती है। नाल के बनने के बाद उसे बडे सावधानीपूर्वक तप्त और ठंढा किया जाता है, जिसमे उस पर पानी चढ जाय (अर्थात् वह कडी हो जाय), और फिर उसका पानी थोडा उतार दिया जाता है (कडापन कुछ कम कर दिया जाता है), जिसमे ठोकर खाने से उसके टूटने का डर न रहे। तप्त और ठंढा करने के काम मे बहुधा दो सप्ताह तक समय लग सकता है, क्योकि आधुनिक नाल ६० फुट तक लंबी और ६० टन तक भारी होती हैं। सब काम का पूरा ब्योरा लिखा जाता है, जिसमे

पडेगा। इसका उद्देश्य यह है कि आयुर्विज्ञान की भारतीय और पाश्चात्य दोनो प्रणालियो का फलप्रद एकीकरण हो।

भारत मे आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा के क्षेत्र मे अभी बहुत कुछ करना शेष है और यदि हम प्राचीन आयुर्विज्ञान का नवीन वैज्ञानिक ढग से अध्ययन करने की चेष्टा शीघ्र करे तो हम आयुर्विज्ञान के ज्ञान मे सभवत महत्वपूर्ण वृद्धि कर सकते हैं।

यूनाइटेड किंगडम (इग्लैंड, स्कॉटलैंड आदि)—ग्रेट ब्रिटेन की जेनरल मेडिकल काउसिल (व्यापक आयुर्वैज्ञानिक परिषद्) १८५८ ई० के आयुर्वैज्ञानिक विनियम (ऐक्ट) के अनुसार स्थापित की गई थी। उस समय चिकित्सको के मन मे यह भ्राति थी कि आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा का ध्येय 'अहानिकर, सामान्य चिकित्सक' उत्पन्न करना था। २०वी शताब्दी मे ग्रेट ब्रिटेन मे आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा का ध्येय धीरे धीरे बदलकर ऐसा "मौलिक (बेसिक) चिकित्सक" उत्पन्न करना हो गया, जिसमे यह योग्यता हो कि वह इच्छानुसार आयुर्विज्ञान की किसी भी शाखा मे विशेषज्ञ बन सके। यूनाइटेड किंगडम मे मौलिक उपाधि एम० बी० बी० एस० की है, जिसका अर्थ है मेडिसिन (भेषजविज्ञान) का स्नातक और सर्जरी (शल्यचिकित्सा) का स्नातक। इसके बदले एल० आर० सी० पी० और एम० आर० सी० एस० की भी वैकल्पिक उपाधियाँ है। इन अक्षरो का अर्थ है चिकित्सको अथवा शल्यशास्त्रियो के रॉयल कॉलेज (राजविद्यालय) का उपाधिप्राप्त (लाइसेंशियेट) अथवा सदस्य (मेंबर)। यूनाइटेड किंगडम मे स्नातकोत्तर उपाधियाँ एम० डी० (चिकित्सापडित) अथवा एम० एस० (शल्य-चिकित्सा-पडित) और एफ० आर० सी० एस० (शल्यचिकित्सको के रॉयल कॉलेज का सदस्य) अथवा एम० आर० सी० पी० (चिकित्सको के रॉयल कॉलेज का सदस्य) है।

अमरीका के संयुक्त राज्य—अमरीकन मेडिकल ऐसोसियेशन (अमरीकी आयुर्वैज्ञानिक सघ) सन् १८४७ मे स्थापित हुआ था। इसका उद्देश्य आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा के स्तर का उत्थान था। आज वहाँ ७८ पूर्ण सज्जित आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय है जिनमे २८,७४८ छात्र पढते है और ६,८४५ चिकित्सक प्रति वर्ष उत्तीर्ण होते है। चिकित्सको और जनता का अनुपात सयुक्त राज्य (अमरीका) मे लगभग १ १००० है। विश्व मे अमरीका के आयुर्वैज्ञानिक विद्यालयो की बडी ख्याति है। चिकित्सको की शिक्षा मे विज्ञान को समुचित महत्व दिया जाता है। विद्यार्थी अपने मन का विषय स्वतत्रता से चुन सकता है। विद्यालय मे भरती होने के पहले उसे विज्ञान का स्नातक होना आवश्यक है। शिक्षा के अत पर सबको एम० डी० (चिकित्सापडित) की उपाधि मिलती है। स्नातकोत्तर उपाधियाँ एफ० ए० सी० एस० और एफ० ए० सी० पी० है। ये उपाधियाँ विशेषज्ञो के विद्यालयो द्वारा दी जाती है।

रूस—रूस (यूनियन ऑव सोशल ऐंड सोवियट रिपब्लिक्स) मे आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा का विकास वस्तुत सी० पी० एस० यू० (बी) के १७ वे अधिवेशन के समुख स्टैलिन के प्रसिद्ध व्याख्यान के बाद हुआ। १९४५ ई० मे रूस की आयुर्वैज्ञानिक परिषद (ऐकैडेमी) स्थापित हुई। इसके पहले सन् १९३४ से विज्ञानपडित और विज्ञानजिज्ञासु की उपाधियाँ थी। वर्तमान समय मे वहाँ ८० से कुछ ऊपर ही आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय है, जहाँ हजारो विद्यार्थी और विद्यार्थिनियाँ पढती है। आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय मे भरती होने के लिये मैट्रिकुलेशन का प्रमाणपत्र आवश्यक है। सब विद्यार्थियो को छात्रवृत्ति मिलती है। दूर से आए विद्यार्थियो के लिये छात्रावास मे रहने का भी प्रबध रहता है। सन् १९४५ तक आयुर्वैज्ञानिक पाठ्यक्रम पाँच वर्षो मे समाप्त होता था, परतु उसके बाद से छ वर्ष तक पढाई होने लगी। क्रियात्मक अनुभव पर विशेष ध्यान दिया जाता है। प्रत्येक विद्यार्थी को प्रति वर्ष एक निश्चित कार्यक्रम दिया जाता है, जिसे अस्पतालो और रुग्णालयो मे अनुभवी विशेषज्ञो की देखरेख मे उसे पूरा करना पडता है। वर्तमान समय मे रूस मे लगभग दो लाख डाक्टर और कई लाख सहायक है जिन्हे 'फेल्डशर' कहा जाता है।

चीन—यहाँ ध्येय यह है कि कम समय मे अधिक डाक्टर तैयार हो। आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा की अवधि यहाँ पाँच वर्ष है। आयुर्वैज्ञानिक विद्यालयो की सख्या ३५ है और इनमे लगभग ८,५०० विद्यार्थी प्रति वर्ष भरती होते है। वर्तमान समय मे आयुर्विज्ञान की पाश्चात्य प्रणाली के ७०,००० डाक्टर है और देश की प्राचीन प्रणाली के लगभग ३,००,००० चिकित्सक है। प्राचीन प्रणाली के इन चिकित्सको को छूतवाले रोगो से बचने की आधुनिक रीतियो की शिक्षा दे दी गई है। रूस की ही भाँति चीन के आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय विश्वविद्यालयो से पूर्णतया विभिन्न है। आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा अत्यत प्राविधिक शिक्षा हो चली है। चीन का विद्यार्थी आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय मे १७ वर्ष की आयु मे भरती होता है और इसके पहले उसे भौतिकी, रसायन, समाजशास्त्र, चीनी साहित्य और राजनीतिविज्ञान मे सरकारी परीक्षा उत्तीर्ण करनी पडती है। पीकिंग के विद्यालयो मे छात्राओ की सख्या कुल की ४४ प्रति शत बताई जाती है। कहा जाता है कि ८० प्रति शत परीक्षा मौखिक होती है और केवल २० प्रति शत लिखित।

अत मे इसपर बल देना आवश्यक है कि सारे विश्व मे आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा मे बराबर अनेक परिवर्तन होते रहते है और अब यह नितात आवश्यक हो गया है कि भारत भी विज्ञान के इस शक्तिशाली क्षेत्र मे समुचित कार्य करे। [कृ० न० उ०]

आयुर्वेद और आयुर्विज्ञान दोनो ही चिकित्साशास्त्र है, परतु व्यवहार मे प्राचीन भारतीय ढग को आयुर्वेद कहते है और ऐलोपैथिक (जनता की भाषा मे 'डाक्टरी') प्रणाली को आयुर्विज्ञान का नाम दिया जाता है। आयुर्वेद का अर्थ प्राचीन आचार्यो की व्याख्या और इसमे आए हुए 'आयु और वेद' इन दो शब्दो के अर्थो के अनुसार बहुत व्यापक है। आयुर्वेद के आचार्यो ने 'शरीर, इद्रिय, मन तथा आत्मा के सयोग' को आयु कहा है। अर्थात् जब तक इन चारो का सयोग रहता है उस काल को आयु कहते है। इन चारो की सपत्ति (साद्गुण्य) या विपत्ति (वैगुण्य) के अनुसार आयु के अनेक भेद होते है, किंतु सक्षेप मे प्रभावभेद से इसे चार प्रकार का माना गया है (१) सुखायु किसी प्रकार के शारीरिक या मानसिक विकार से रहित होते हुए, ज्ञान, विज्ञान, बल, पौरुष, धन, धान्य, यश, परिजन आदि साधनो से समृद्ध व्यक्ति को 'सुखायु' कहते है। (२) इसके विपरीत समस्त साधनो से युक्त होते हुए भी, शारीरिक या मानसिक रोग से पीडित अथवा नीरोग होते हुए भी साधनहीन या स्वास्थ्य और साधन दोनो से हीन व्यक्ति को 'दु खायु' कहते है। (३) हितायु स्वास्थ्य और साधनो से सपन्न होते हुए या उनमे कुछ कमी होने पर भी जो व्यक्ति विवेक, सदाचार, सुशीलता, उदारता, सत्य, अहिंसा, शाति, परोपकार आदि गुणो से युक्त होते है और समाज तथा लोक के कल्याण में निरत रहते है उन्हे हितायु कहते है। (४) इसके विपरीत जो व्यक्ति अविवेक, दुराचार, क्रूरता, स्वार्थ, दभ, अत्याचार आदि दुर्गुणो से युक्त और समाज तथा लोक के लिये अभिशाप होते है उन्हे अहितायु कहते है। इस प्रकार हित, अहित, सुख और दु ख, आयु के ये चार भेद है। इसी प्रकार कालप्रमाण के अनुसार भी दीर्घायु, मध्यायु और अल्पायु, सक्षेप मे ये तीन भेद होते है। वैसे इन तीनो मे भी अनेक भेदो की कल्पना की जा सकती है।

'वेद' शब्द के भी सत्ता, लाभ, गति, विचार, प्राप्ति और ज्ञान के साधन, ये अर्थ होते है, और आयु के वेद को आयुर्वेद (नॉलेज ऑव सायन्स ऑव लाइफ) कहते है। अर्थात् जिस शास्त्र मे आयु के स्वरूप, आयु के विविध भेद, आयु के लिये हितकारक और अहितकारक आहार, आचार, चेष्टा आदि विषयो का, आयु के प्रमाण और अप्रमाण तथा उनके ज्ञान के साधनो का एव आयु के उपादानभूत शरीर, इद्रिय, मन और आत्मा, इनमे सभी या किसी एक के विकास के साथ हित, सुख और दीर्घ आयु की प्राप्ति के साधनो का तथा इनके बाधक विषयो के निराकरण के उपायो का विवेचन हो उसे आयुर्वेद कहते है। किंतु आजकल आयुर्वेद 'प्राचीन भारतीय चिकित्सापद्धति' इस सकुचित अर्थ मे प्रयुक्त होता है।

प्रयोजन या उद्देश्य—आयुर्वेद के दो उद्देश्य होते है

(१) स्वस्थ व्यक्तियो के स्वास्थ्य की रक्षा करना इसके लिये अपने शरीर और प्रकृति के अनुकूल देश काल आदि का विचार कर नियमित आहार विहार, चेष्टा, व्यायाम, शौच, स्नान, शयन, जागरण आदि गृहस्थ जीवन के लिये उपयोगी शास्त्रोक्त दिनचर्या, रात्रिचर्या एव ऋतुचर्या का पालन करना, सकटमय कार्यो से बचना, प्रत्येक कार्य विवेकपूर्वक करना,

ऐसे विस्फोटक बम, जिन्हे निस्फोट (माइन) कहते है, बहुधा छिपा दिए जाते है। इन पर भार पडते ही विस्फोट होता है और दूर तक के लोग घायल हो जाते है। इन विस्फोटो का पता एक ऐसे यत्र से लगाया जाता है जो माइन के निकट आते ही ध्वनि करने लगता है (चित्र ८)। समुद्रो मे भी निस्फोट लगाए जाते है जो जहाजो को विशेष क्षति पहुँचाते है (देखें **निस्फोट**)।

[श्री० गो० ति०]

आयुर्विज्ञान विज्ञान की वह शाखा है जिसका सबध मानव शरीर को नीरोग रखने, रोग हो जाने पर रोग से मुक्त करने अथवा उसका शमन करने तथा आयु बढाने से है। आयुर्विज्ञान का जन्म भारत मे कई हजार वर्ष ईसा पूर्व में हुआ, परतु पाश्चात्य विद्वानो का मत है कि वैज्ञानिक आयुर्विज्ञान का जन्म ईसा पूर्व चौथी शताब्दी मे यूनान मे हुआ और लगभग ६०० वर्ष बाद उसकी मृत्यु रोम में हुई। इसके लगभग १५०० वर्ष पश्चात् विज्ञान के विकास के साथ उसका पुनर्जन्म हुआ। यूनानी आयुर्वेद का जन्मदाता हिप्पोक्रेटीज था जिसने उसको आधिदैविक रहस्यवाद के अधकूप से निकालकर अपने उपयुक्त स्थान पर स्थापित किया। उसने बताया कि रोग की रोकथाम तथा उससे मुक्ति दिलाने में देवी-देवताओ का हाथ नही रहता। उसने तात्रिक विश्वासो और वैसी चिकित्सा का अत कर दिया। उसके पश्चात् गत शताब्दियो मे समय समय पर अनेक अन्वेषण-कर्ताओ ने नवीन खोजे करके इस विज्ञान की उन्नति की जिससे आयुर्विज्ञान की उन्नति होती रही (देखें **आयुर्वेद का इतिहास** शीर्षक लेख)। हमारे देश में आयुर्वेद, यूनानी तथा होमियोपैथी चिकित्सा पद्धतियाँ भी प्रचलित है। किंतु वे शताब्दियो से वैसी ही चली आ रही है। उनमे कोई अनुसधान नही हुआ, न किन्ही नवीन ओषधियो की खोज हुई। आज भी वे वही है जहाँ शताब्दियो पूर्व थी।

प्रारभ मे आयुर्विज्ञान का अध्ययन जीवविज्ञान की एक शाखा की भाँति किया गया और शरीर-रचना-विज्ञान (अनैटोमी) तथा शरीर-क्रिया-विज्ञान (फिजिऑलोजी) को इसका आधार बनाया गया। शरीर मे होने-वाली क्रियाओ के ज्ञान से पता लगा कि उनका रूप बहुत कुछ रासायनिक है और ये घटनाएँ रासायनिक क्रियाओ के फल है। ज्यो ज्यो खोजे हुई त्यो त्यो शरीर की घटनाओ का रासायनिक रूप सामने आता गया। इस प्रकार रसायनविज्ञान का इतना महत्व बढा कि वह आयुर्विज्ञान की एक पृथक् शाखा बन गया, जिसका नाम जीवरसायन (बायोकेमिस्ट्री) रखा गया। इसके द्वारा न केवल शारीरिक घटनाओ का रूप स्पष्ट हुआ, वरन् रोगो-की उत्पत्ति तथा उनके प्रतिरोध की विधियाँ भी निकल आई। साथ ही भौतिक विज्ञान ने भी शारीरिक घटनाओ को भली भाँति समझने मे बहुत सहायता दी। यह ज्ञात हुआ कि अनेक घटनाएँ भौतिक नियमो के अनुसार ही होती है। अब जीव-रसायन की भाँति जीवभौतिकी (बायोफिजिक्स) भी आयुर्विज्ञान का एक अग बन गई है और उससे भी रोगो की उत्पत्ति को समझने मे तथा उनका प्रतिरोध करने मे बहुत सहायता मिली है। विज्ञान की अन्य शाखाओ से भी रोगरोधन तथा चिकित्सा मे बहुत सहायता मिली है और इन सबके सहयोग से मनुष्य जाति के कल्याण में बहुत प्रगति हुई है, जिसके फलस्वरूप जीवनकाल बढ गया है।

शरीर, शारीरिक घटनाओ और रोग सबधी आतरिक क्रियाओ का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करने मे अनेक प्रकार की प्रायोगिक विधियो और यत्रो से, जो समय समय पर बनते रहे है, बहुत सहायता मिली है। किंतु इस गहन अध्ययन का फल यह हुआ कि आयुर्विज्ञान अनेक शाखाओ मे विभक्त हो गया और प्रत्येक शाखा मे इतनी खोज हुई हे, नवीन उपकरण बने है तथा प्रायोगिक विधियाँ ज्ञात की गई है कि कोई भी विद्वान् या विद्यार्थी उन सब से पूर्णतया परिचित नही हो सकता। दिन-प्रति-दिन चिकित्सक को प्रयोगशालाओ तथा यत्रो पर निर्भर रहना पड रहा है और यह निर्भरता उत्तरोत्तर बढ रही है।

आयुर्विज्ञान की शिक्षा—प्रत्येक शिक्षा का ध्येय मनुष्य का मानसिक विकास होता है, जिससे उसमे तर्क करके समझने और तदनुसार अपने भावो को प्रकट करने तथा कार्यान्वित करने की शक्ति उत्पन्न हो जाय। आयुर्विज्ञान की शिक्षा का भी यही उद्देश्य है। इसके लिये सब आयुर्विज्ञान के विद्यालयो में विद्यार्थी को उपस्नातक के रूप मे पाँच वर्ष विताने पडते है। इन मेडिकल कॉलेजो (आयुर्विज्ञानविद्यालयो) मे विद्यार्थियो को आधार-विज्ञानो का अध्ययन करके उच्च माध्यमिक शिक्षा प्राप्त करने पर भरती किया जाता है। तत्पश्चात् प्रथम दो वर्ष विद्यार्थी शरीररचना तथा शरीर-क्रिया नामक आधारविज्ञानो का अध्ययन करता है जिससे उसको शरीर की स्वाभाविक दशा का ज्ञान हो जाता है। इसके पश्चात् तीन वर्ष रोगो के कारण इन स्वाभाविक दशाओ की विकृतियो का ज्ञान पाने तथा उनकी चिकित्सा की रीति सीखने मे व्यतीत होते है। रोगो को रोकने के उपाय तथा भेपज-वैधिक का भी, जो इस विज्ञान की नीति सबधी शाखा है, वह इसी काल मे अध्ययन करता है। इन पाँच वर्षो के अध्ययन के पश्चात् वह स्नातक बनता है। इसके पश्चात् वह एक वर्ष तक अपनी रुचि के अनुसार किसी विभाग में काम करता है और उस विषय का क्रियात्मक ज्ञान प्राप्त करता है। तत्पश्चात् वह स्नातकोत्तर शिक्षण में डिप्लोमा या डिग्री लेने के लिये किसी विभाग में भरती हो सकता है।

सब आयुर्विज्ञान विद्यालय (मेडिकल कॉलेज) किसी न किसी विश्वविद्यालय से सबधित होते है जो उनकी परीक्षाओ तथा शिक्षणक्रम का सचालन करता है और जिसका उद्देश्य विज्ञान के विद्यार्थियो में तर्क की शक्ति उत्पन्न करना और विज्ञान के नए रहस्यो का उद्घाटन करना होता है। आयुर्विज्ञान विद्यालयो (मेडिकल कॉलेजो) के प्रत्येक शिक्षक तथा विद्यार्थी का भी उद्देश्य यही होना चाहिए तथा उसे रोगनिवारक नई वस्तुओ की खोज करके इस आर्तिनाशक कला की उन्नति करने की चेष्टा करनी चाहिए। इतना ही नही, शिक्षको का जीवनलक्ष्य यह भी होना चाहिए कि वह ऐसे अन्वेषक उत्पन्न करें।

चिकित्साप्रणाली—चिकित्सापद्धति का केद्रस्तभ वह सामान्य चिकित्सक (जेनरल प्रैक्टिशनर) है जो जनता या परिवारो के घनिष्ठ सपर्क मे रहता है तथा आवश्यकता पडने पर उनकी सहायता करता हे। वह अपने रोगियो का मित्र तथा परामर्शदाता होता है और समय पर उन्हे दार्शनिक सात्वना देने का प्रयत्न करता है। वह रोगसबधी साधारण समस्याओ से परिचित होता है तथा दूरवर्ती स्थानो, गाँवो इत्यादि, में जाकर रोगियो की सेवा करता है। यहाँ उसको सहायता के वे सब उपकरण नही प्राप्त होते जो उसने शिक्षणकाल में देखे थे और जिनका प्रयोग उसने सीखा था। बडे नगरो मे ये बहुत कुछ उपलब्ध हो जाते है। आवश्यकता पडने पर उसको विशेषज्ञ से सहायता लेनी पडती है या रोगी को अस्पताल मे भेजना होता है। आजकल इस विज्ञान की किसी एक शाखा का विशेष अध्ययन करके कुछ चिकित्सक विशेषज्ञ हो जाते है। इस प्रकार हृद्रोग, मानसिक रोग, अस्थिरोग, बालरोग आदि में विशेषज्ञो द्वारा विशिष्ट चिकित्सा उपलब्ध है।

आजकल चिकित्सा का व्यय बहुत बढ गया हे। रोग के निदान के लिये आवश्यक परीक्षाएँ, मूल्यवान् ओषधियाँ, चिकित्सा की विधियाँ और उपकरण इसके मुख्य कारण है। आधुनिक आयुर्विज्ञान के कारण जनता का जीवनकाल भी बढ गया है, परतु ओषधियो पर बहुत व्यय होता है। खेद है कि वर्तमान आर्थिक दशाओ के कारण उचित उपचार साधारण मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर हो गया है।

आयुर्विज्ञान और समाज—चिकित्साविज्ञान की शक्ति अब बहुत बढ गई है और निरतर बढती जा रही है। आजकल गर्भनिरोध किया जा सकता है। गर्भ का अत भी हो सकता है। पीडा का शमन, बहुत काल तक मूर्छावस्था में रखना, अनेक सक्रामक रोगो की सफल चिकित्सा, सहज प्रवृत्तियो का दमन और वृद्धि, ओषधियो द्वारा भावो का परिवर्तन, शल्यक्रिया द्वारा व्यक्तित्व पर प्रभाव आदि सब सभव हो गए है। मनुष्य का जीवनकाल अधिक हो गया है। दिन प्रति दिन नवीन ओषधियाँ निकल रही है, रोगो का कारण ज्ञात हो रहा है, उनकी चिकित्सा ज्ञात की जा रही हे। समाज-वाद के इस युग मे इस बढती हुई शक्ति का इस प्रकार प्रयोग करना उचित है कि इससे राज्य, चिकित्सक तथा रोगी तीनो को लाभ हो। सरकार के स्वास्थ्य सबधी तीन मुख्य कार्य है। पहले तो जनता मे रोगो को फैलने न देना, दूसरे, जनता की स्वास्थ्यवृद्धि, जिसके लिये उपयुक्त भोजन, शुद्ध जल, रहने के लिये उपयुक्त स्थान तथा नगर की स्वच्छता आवश्यक है, तीसरे, रोगग्रस्त होने पर चिकित्सा सबधी उपयुक्त और उत्तम सहायता का उपलब्ध करना। इन तीनो उद्देश्यो की पूर्ति मे चिकित्सक का बहुत बडा स्थान और उत्तरदायित्व है।

अपने कार्यो मे मन की प्रेरणा से ही प्रवृत्ति होती है। मन से सपर्क न होने पर ये निष्क्रिय रहती हैं।

मन—प्रत्येक प्राणी के शरीर में अत्यत सूक्ष्म और केवल एक मन होता है। यह अत्यत द्रुत गतिवाला और प्रत्येक इद्रिय का नियत्रक होता है। किंतु यह स्वय भी आत्मा के सपर्क के विना अचेतन होने से निष्क्रिय रहता है। प्रत्येक व्यक्ति के मन मे सत्व, रज और तम, ये तीनो प्राकृतिक गुण होते हुए भी इनमें से किसी एक की सामान्यत प्रवलता रहती है और उसी के अनुसार व्यक्ति सात्विक, राजस या तामस होता है, किंतु समय समय पर आहार, आचार एव परिस्थितियो के प्रभाव से दूसरे गुणो का भी प्रावल्य हो जाता है। इसका ज्ञान प्रवृत्तियो के लक्षणो द्वारा होता है, यथा राग-द्वेप-शून्य यथार्थद्रष्टा मन सात्विक, रागयुक्त, सचेष्ट और चचल मन राजस और आलस्य, दीर्घसूत्रता एव निष्क्रियता आदि युक्त मन तामस होता है। इसीलिये सात्विक मन को शुद्ध,सत्व या प्राकृतिक माना गया है और रज तथा तम उसके दोप कहे गए है। आत्मा से चेतनता प्राप्त कर प्राकृतिक या सदोप मन अपने गुणो के अनुसार इद्रियो को अपने अपने विपयो में प्रवृत्त करता है और उसी के अनुरूप शारीरिक कार्य होते है। आत्मा मन के द्वारा ही इद्रियो और शरीरावयवो को प्रवृत्त करता है, क्योकि मन ही उसका करण (इस्ट्रुमेट) है। इसीलिये मन का सपर्क जिस इद्रिय के साथ होता है उसी के द्वारा ज्ञान होता है, दूसरे के द्वारा नही। क्योकि मन एक और सूक्ष्म होता है, अत एक साथ उसका अनेक इद्रियो के साथ सपर्क सभव नही है। फिर भी उसकी गति इतनी तीव्र है कि वह एक के वाद दूसरी इद्रिय के सपर्क मे शीघ्रता से परिवर्तित होता है, जिससे हमे यही ज्ञात होता है कि सभी के साथ उसका सपर्क है और सब कार्य एक साथ हो रहे हैं, किंतु वास्तव मे ऐसा नही होता।

आत्मा—आत्मा पचमहाभूत और मन से भिन्न, चेतनावान्, निर्विकार और नित्य है तथा साक्षी स्वरूप है, क्योकि स्वय निर्विकार तथा निष्क्रिय है। इसके सपर्क से सक्रिय किंतु अचेतन मन, इद्रियो और शरीर मे चेतना का सचार होता है और वे सचेष्ट होते हैं। आत्मा मे रूप, रग, आकृति आदि कोई चिह्न नही है, किंतु उसके विना शरीर अचेतन होने के कारण निश्चेष्ट पडा रहता है और मृत कहलाता है तथा उसके सपर्क से ही उसमे चेतना आती है। तव उसे जीवित कहा जाता है और उसमे अनेक स्वाभाविक तथा अस्वाभाविक क्रियाएँ होने लगती हैं, जैसे श्वासोच्छ्वास, छोटे से वडा होना और कटे हुए घाव का भरना आदि, पलको का खुलना और वद होना, जीवन के लक्षण, मन की गति, एक इद्रिय से हुए ज्ञान का दूसरी इद्रिय पर प्रभाव होना (जैसे आँख से किसी सुदर, मधुर फल को देखकर मुँह मे पानी आना), विभिन्न इद्रियो और अवयवो को विभिन्न कार्यो मे प्रवृत्त करना, विषयो का ग्रहण और धारण करना, स्वप्न में एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचना, एक आँख से देखी वस्तु का दूसरी आँख से भी अनुभव करना। इच्छा, द्वेष, सुख, दुख, प्रयत्न, धैर्य, बुद्धि, स्मरण शक्ति, अहकार आदि शरीर मे आत्मा के होने पर ही होते हैं, आत्मारहित मृत शरीर में नही होते। अत ये आत्मा के लक्षण कहे जाते हैं, अर्थात् आत्मा का पूर्वोक्त लक्षणो से अनुमान मात्र किया जा सकता है। मानसिक कल्पना के अतिरिक्त किसी दूसरी इद्रिय से उसका प्रत्यक्ष करना सभव नही है।

यह आत्मा नित्य, निर्विकार और व्यापक होते हुए भी पूर्वकृत शुभ या अशुभ कर्म के परिणामस्वरूप जैसी योनि मे या शरीर में, जिस प्रकार के मन और इद्रियो तथा विषयो के सपर्क मे आती है वैसे ही कार्य होते है। उत्तरोत्तर अशुभ कार्यो के करने से उत्तरोत्तर अधोगति होती है तथा शुभ कर्मो के द्वारा उत्तरोत्तर उन्नति होने से, मन के राग-द्वेप-हीन होने पर, मोक्ष की प्राप्ति होती है।

इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा तो निर्विकार है, किंतु मन, इद्रिय और शरीर में विकृति हो सकती है और इन तीनो के परस्पर सापेक्ष्य होने के कारण एक का विकार दूसरे को प्रभावित कर सकता है। अत इन्हे प्रकृतिस्थ रखना या विकृत होने पर प्रकृति मे लाना या स्वस्थ करना परमावश्यक है। इससे दीर्घ सुख और हितायु की प्राप्ति होती है, जिससे क्रमश आत्मा को भी उसके एकमात्र, किंतु भीषण, जन्म मृत्यु और भवबधन-रूप रोग से मुक्ति पाने मे सहायता मिलती है, जो आयुर्वेद मे नैष्ठिकी चिकित्सा कही गई है।

रोग और स्वास्थ्य—चरक ने सक्षेप मे रोग और आरोग्य का लक्षण यह लिखा है कि वात, पित्त और कफ इन तीनो दोषो का सम मात्रा (उचित प्रमाण) मे होना ही आरोग्य और इनमे विषमता होना ही रोग है। सुश्रुत ने स्वस्थ व्यक्ति का लक्षण विस्तार से दिया है "जिसके सभी दोष सम मात्रा मे हो, अग्नि सम हो, धातु, मल और उनकी क्रियाएँ भी सम (उचित रूप मे) हो तथा जिसकी आत्मा, इद्रिय और मन प्रसन्न (शुद्ध) हो उसे स्वस्थ समझना चाहिए"। इसके विपरीत लक्षण हो तो अस्वस्थ समझना चाहिए। रोग को विकृति या विकार भी कहते हैं। अत शरीर, इद्रिय और मन के प्राकृतिक (स्वाभाविक) रूप या क्रिया मे विकृति होना रोग है।

रोगो के हेतु या कारण (इटियॉलोजी)—ससार की सभी वस्तुएँ साक्षात् या परपरा से शरीर, इद्रियो और मन पर किसी न किसी प्रकार का निश्चित प्रभाव डालती है और अनुचित या प्रतिकूल प्रभाव से इनमे विकार उत्पन्न कर रोगो का कारण होती है। इन सवका विस्तृत विवेचन कठिन है, अत सक्षेप मे इन्हे तीन वर्गो मे वॉट दिया गया है (१) प्रज्ञापराध अविवेक (धीभ्रश), अधीरता (धृतिभ्रश) तथा पूर्व अनुभव और वास्तविकता की उपेक्षा (स्मृतिभ्रश) के कारण लाभ हानि का विचार किए विना ही किसी विपय का सेवन या जानते हुए भी अनुचित वस्तु का सेवन करना। इसी को दूसरे और स्पष्ट शब्दो मे कर्म (शारीरिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओ) का हीन, मिथ्या और अति योग भी कहते है। (२) असात्म्येंद्रियार्थसयोग चक्षु आदि इद्रियो का अपने अपने रूप आदि विपयो के साथ असात्म्य (प्रतिकूल, हीन, मिथ्या और अति) सयोग इद्रियो, शरीर और मन के विकार का कारण होता है, यथा आँख से बिलकुल न देखना (अयोग), अति तेजस्वी वस्तुओ को देखना और बहुत अधिक देखना (अतियोग) तथा अति सूक्ष्म, सकीर्ण, अति दूर मे स्थित तथा भयानक, वीभत्स एव विकृतरूप वस्तुओ को देखना (मिथ्यायोग)। ये चक्षुरिद्रिय और उसके आश्रय नेत्रो के साथ मन और शरीर में भी विकार उत्पन्न करते है। इसी को दूसरे शब्दो मे अर्थ का दुर्योग भी कहते हैं। ग्रीष्म, वर्षा, शीत आदि ऋतुओ तथा बाल्य, युवा और वृद्धावस्थाओ का भी शरीर आदि पर प्रभाव पडता ही है, किंतु इनके हीन, मिथ्या और अतियोग का प्रभाव विशेष रूप से हानिकर होता है।

पूर्वोक्त कारणो के प्रकारातर से अन्य अनेक भेद भी होते है, यथा (१) विप्रकृष्ट कारण (रिमोट कॉज़), जो शरीर मे दोषो का सचय करता रहता है और अनुकूल समय पर रोग को उत्पन्न करता है, (२) सनिकृष्ट कारण (इम्मीडिएट कॉज), जो रोग का तात्कालिक कारण होता है, (३) व्यभिचारी कारण (अबॉर्टिव कॉज) जो परिस्थितिवश रोग को उत्पन्न भी करता है और नही भी करता तथा (४) प्राधानिक कारण (स्पेसिफिक कॉज़), जो तत्काल किसी धातु या अवयवविशेष पर प्रभाव डालकर निश्चित लक्षणोवाले विकार को उत्पन्न करता है, जैसे विभिन्न स्थावर और जातव विप।

प्रकारातर से इनके अन्य दो भेद होते है—(१) उत्पादक (प्रीडिस्पोज़िंग), जो शरीर मे रोगविशेष की उत्पत्ति के अनुकूल परिवर्तन कर देता है, (२) व्यजक (एक्साइटिंग), जो पहले से रोगानुकूल शरीर मे तत्काल विकारो को व्यक्त करता है।

शरीर पर इन सभी कारणो के तीन प्रकार के प्रभाव होते हैं

(१) **दोषप्रकोप**—अनेक कारणो से शरीर के उपादानभूत आकाश आदि पाँच तत्वो मे से किसी एक या अनेक मे परिवर्तन होकर उनके स्वाभाविक अनुपात में अतर आ जाना अनिवार्य है। इसी को ध्यान मे रखकर आयुर्वेदाचार्यो ने इन विकारो को वात, पित्त और कफ इन वर्गो मे विभक्त किया है। पचमहाभूत एव त्रिदोष का अलग से विवेचन ही उचित है, किंतु संक्षेप में यह समझना चाहिए कि ससार के जितने भी मूर्त (मैटीरियल) पदार्थ है वे सव आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन पाँच तत्वो से बने है। ये पृथ्वी आदि वे ही नही है जो हमे नित्यप्रति स्थूल जगत् मे देखने को मिलते हैं। ये पिछले सव तो पूर्वोक्त पाँचो तत्वो के सयोग से उत्पन्न पाचभौतिक हैं। वस्तुओ में जिन तत्वो की बहुलता होती है वे उन्ही नामो से वर्णित की जाती है। इसी प्रकार हमारे शरीर की धातुओ में या उनके सघटको मे जिस तत्व की बहुलता रहती है वे उसी श्रेणी के गिने जाते है।

पूर्व ग्रीस देश के हिपोक्रेटीज़ ने इसके विकास मे योग दिया। हिपोक्रेटीज ने वैद्यो के लिये जिस शपथ का निर्देश किया था वह प्रभावशाली थी, यथा—"मैं आयुर्विज्ञान के गुरुजनो का अपने पूज्य गृहजनो के समान आदर करूँगा। उनकी आवश्यकताओ पर उपस्थित रहूँगा। उनकी सतति मे भ्रातृभाव रखूँगा और यदि वे चाहेंगे तो उन्हें यह विज्ञान सिखाऊँगा तथा इस विज्ञान के विकास के लिये सतत प्रयत्नशील रहूँगा। रोगियो की भलाई के लिये ओषधिप्रयोग करूँगा, किसी के घात अथवा गर्भपात के लिये नही। रुग्णो की गुप्त बातो तथा व्यवहारो को गुप्त रखूँगा इत्यादि।"

हिपोक्रेटीज़ का शिरोव्रण नामक ग्रथ उल्लेखनीय है। उसमे शिरोभेद का उल्लेख तथा शिरोस्थिभग का उपचार तथा अन्य अवयवो का शल्योपचार भी पाया जाता है। उस काल में अन्य अस्थिभग तथा अस्थिभ्रश के भी सफल उपचार होते थे।

उस काल में किसी विशेष रोग के विशेषज्ञ नही होते थे। सभी सब प्रकार के रोगियो को देखते थे। जहाँ शल्यचिकित्सा सभव नही होती थी वहाँ वे शरीर को पुष्ट रखने का उपाय करते थे, क्योकि उनका विश्वास था कि शरीर में स्वय व्रणरोधक शक्ति है। इसके अतिरिक्त रोगी की बाह्य चिकित्सा, सेवा शुश्रूषा आदि का भी उल्लेख पाया जाता है। हिपोक्रेटीज की "सूत्र" नामक पुस्तक भी बडी सफल हुई। इस पुस्तक मे दर्शाए कुछ विचार निम्नलिखित है

(१) वृद्धावस्था में उपवास का सहन सरल होता है।

(२) अकारण थकावट रोग की द्योतक होती है।

(३) उत्तम भोजन के पश्चात् भी शरीर का शुष्क रहना व्याधि निर्देशित करता है।

(४) वृद्धावस्था मे व्याधियाँ कम होती है, परतु यदि कोई व्याधि दीर्घकाल तक रह जाती है तो असाध्य ही हो जाती है।

(५) घाव के साथ आक्षेपक (शरीर मे ऐंठ) होना अच्छा लक्षण नही है।

(६) क्षय लगभग १८ से ३५ वर्ष की आयु के बीच होता है।

इस तरह के इनके कई उल्लेख आज भी अकाट्य है। हिपोक्रेटीज ने निदानविज्ञान एव रोगो के भावी परिणाम विषयक ज्ञान का भी विकास किया।

अरिस्टौटिल (३८४–३२२ ई० पू०) ने प्राणिशास्त्र को महत्व देते हुए आयुर्विज्ञान के विषय में अपने वक्तव्य मे कहा कि उष्ण एव शीत, आर्द्र एव शुष्क ये चार प्रारभिक गुण है। इनके भिन्न भिन्न मात्राओ में सयोग से चार पदार्थो का निर्माण हुआ जिन्हे तत्व कहते है। ये तत्व पृथ्वी, वायु, अग्नि एव जल है। इस विचार का हिपोक्रेटीज के आयुर्विज्ञान से समन्वय कर इन्होने यह निष्कर्ष निकाला कि शरीर मुख्य चार द्रवो (ह्यूमर्स) से निर्मित है, जिन्हें रक्त, कफ, कृष्ण पित्त (ब्लैक बाइल) एव पीत पित्त (यलो बाइल) कहते है और इन्ही द्रवो मे आरोग्यावस्था के अनुपात से भिन्नता रोगोत्पादक होती है। इस तरह द्रव-व्याधि-शास्त्र (ह्यूमरल पैथॉलॉजी) का उदय हुआ। भारत के प्राचीन त्रिदोषसिद्धात से यह इतना मिलता जुलता है कि प्रश्न उठता हे कि क्या यह ज्ञान ग्रीस मे भारत से पहुँचा। कई पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानो का मत है कि अवश्य ही यह ज्ञान वहाँ भारत से गया होगा (कारणो तथा पूरे ब्योरे के लिये देखें महेंद्रनाथ शास्त्री कृत 'आयुर्वेद का सक्षिप्त इतिहास')।

अरिस्टौटिल की मृत्यु के पश्चात् उसी के देश के हिरोफिलस तथा एरासिसट्राटस (समय लगभग ३०० वर्ष ईसा पूर्व) ने अपने नए सघ का निर्माण किया जिसे ऐलेक्जैंड्रियन सप्रदाय कहते है। हिरोफिलस ने नाडी, धमनी एव शिराओ के गुणो का वर्णन कर शरीरशास्त्र को जन्म दिया। इसीलिये वह शरीरशास्त्र का जनक माना गया। एरासिसट्राटस ने श्वसनक्रिया का अध्ययन कर प्रथम बार वायु एव शरीर मे सबध स्थापित करने का प्रस्ताव किया। उसका मत था कि वायु में एक अदृष्ट शक्ति है, जो शक्ति एव कपन स्थापित करती हे। इसने यह भी कहा कि अवयवो का निर्माण नाडी, धमनी तथा शिरा से है, जो विभाजित होते होते अत्यत सूक्ष्म हो जाती है। मस्तिष्क का भी अध्ययन कर इसने इसके विभिन्न भागो को दर्शाया। रक्त की अधिकता को कई व्याधियो, जैसे मिरगी, न्यूमोनिया, रक्तवमन इत्यादि, का कारण बताया एव इनके शमन के हेतु नियमित व्यायाम, पथ्य, वाष्पस्नानादि विहित किए।

रोम राज्य के अतर्गत आयुर्विज्ञान—ग्रीस के विज्ञान तथा सस्कृति के विकास के समय आयुर्विज्ञान के विकास का भी आरभ हुआ, किंतु दीर्घ काल तक यह सुपुप्त रहा। ग्रीक ऐस्क्लेपियाडीज ने ४० वर्ष ईसा से पूर्व हिपोक्रेटीज़ के प्रकृति पर भरोसा करनेवाले उपचार का खडन कर शीघ्र प्रभावकारी उपचार का अनुमोदन किया। शनै शनै इसका विकास होता गया तथा डियोस्कोरिडीज ने एक आयुर्वैज्ञानिक निघटु की रचना की।

सन् ३०ईसवी मे सेल्सस् ने पुन आयुर्विज्ञान को सुसगठित किया। उसने स्वच्छता (सैनिटेशन) तथा जनस्वास्थ्य का भी विकास किया। औषधालयपद्धति का आरभ रोम से हुआ, किंतु दीर्घकाल तक यह प्रयोग सेना तक ही सीमित रहा, पीछे जनसाधारण को भी यह सुविधा उपलब्ध हुई।

गैलन (१३०-२०० ई०) ने अपने वक्तव्य में दर्शाया कि मुख्यत तीन शक्तियो का जीवन से घनिष्ठ सबध है

(१) प्राकृतिक शक्ति (नैचुरल स्पिरिट), जो यकृत मे निर्मित होकर शिराओ द्वारा शरीर में विस्तारित होती है।

(२) दैवी शक्ति (वाइटल स्पिरिट), जो हृदय मे बनकर धमनियो द्वारा प्रसारित होती है।

(३) पाशव शक्ति (ऐनिमल स्पिरिट), जो मस्तिष्क में बनकर नाडियो द्वारा प्रसारित होती हैं। गलन ने कहा कि पाशव शक्ति का सबध स्पर्श तथा कार्यसचालन से है। प्राकृतिक शक्ति हृदय मे और दैवी शक्ति मस्तिष्क मे पाशव शक्ति मे परिणत हो जाती है।

भेषजशास्त्र की उन्नति मे भी गैलन ने बडा योग दिया, किंतु इसकी मृत्यु के पश्चात् इसके प्रयासो को प्रोत्साहन न मिल सका।

आधुनिक आयुर्विज्ञान—१६वी शताब्दी मे क्षेत्रविस्तार तथा उच्च कोटि की उपलब्ध सुविधाओ द्वारा आयुर्विज्ञान मे नवीन स्फूर्ति प्रस्फुटित हुई। सक्रामक व्याधियो की अधिकता से इनकी ओर भी ध्यान आकर्षित हुआ। ऐंड्रियस विसेलियस (१५१४-१५६४ई०) ने पैडुआ मे शरीरशास्त्र का पुन आरभ से अध्ययन किया। तदुपरात पैडुआ नगर शिक्षा का उत्तम केंद्र बन गया। शरीरशास्त्र के विकास से शल्यचिकित्सा को भी प्रोत्साहन मिला। इस क्षेत्र मे फ्रास के शल्यचिकित्सक आब्राज पारे (१५१७-९० ई०) के कार्य उल्लेखनीय है। परतु इस काल मे शरीर-क्रिया-विज्ञान में विकास न होने से भेषजचिकित्सा उन्नति न कर सकी। रोग-निदान-शास्त्र मे १६वी एव १७वी शताब्दी मे सराहनीय कार्य हुए, परतु इसमे हिपोक्रेटीज तथा गैलन की कृतियो से बराबर सहायता ली जाती थी। पृथ्वी के अज्ञात भागो की खोज के बाद ओषधि क्षेत्र मे भी विकास हुआ, क्योकि कई नई ओषधियाँ प्राप्त हुई, जैसे कुडकी (इपिकाकुआन्हा), कुनैन और तबाकू। वनस्पति शास्त्र का भी विस्तार हुआ। सक्रामक रोगो के विषय मे अधिक जानकारी हुई। सन् १५४६ ई० मे वेरोना के फ्राकास्टोरो ने रोगाक्रमणो पर प्रकाश डाला। इन प्रयत्नो के फलस्वरूप कीटाणुजगत् के विषय का भी आभास हुआ। उपदश, मोतीभिरा, कुकरखाँसी, आमवात, गठिया तथा खसरा आदि रोगो पर प्रकाश डाला जा सका। १५वी शताब्दी मे उपदश महामारी के रूप में फैला और इस रोग के सबध में अनुसधान हुआ, किंतु अनेक भिन्न मत होने से कोई निश्चित अनुमान नही लगाया जा सका।

शरीर-क्रिया-विज्ञान का विकासकाल—१६वी तथा १७वी शताब्दियो मे शरीर-क्रिया-विज्ञान, भौतिकी तथा चिकित्साविज्ञान का विकास समातर रीति से हुआ। इसी समय पैडुआ (इटली) के सेक्टोरियस (सन् १५६१-१६३६) ने शरीर की ताप-सतुलन-क्रिया को समझाते हुए तापमापी यत्र की रचना की और उपापचय (मेटाबॉलिज्म) की नीव डाली। पैडुआ के शिक्षक जेरोम फाब्रिशियस (सन् १५३७-१६१९) ने भ्रूणविज्ञान एव रक्तसचरण पर कार्य किया। तदुपरात उसके शिष्य हार्वी (सन् १५७८-१६५७) ने इन परिणामो का अध्ययन कर आयुर्विज्ञानजगत् की बडी समृद्धि की। उसी ने रुधिरपरिवहन का पता लगाया, जो आधुनिक आयुर्विज्ञान का आधार है। इसी काल में शरीरशास्त्र तथा शरीर-क्रिया-विज्ञान का आधुनिक रूप प्राप्त हुआ। सूक्ष्मदर्शक यत्र (माइक्रॉस्कोप) के आविष्कार ने भी कई कठिनाइयो को हल करने में सहायता दी तथा कई भ्रम दूर किए। १७वी शताब्दी से इस यत्र के कारण कई बातो का पता चला।

शरीर रसायन—रावर्ट वाएल (सन् १६२७-९१) ने प्राचीन आधारहीन धारणाओ को नष्ट कर आयुर्विज्ञान को आधुनिक रूपरेखा दी। १६६२

शारीरिक और मानसिक विषयो का अनुमान करना चाहिए। पूर्वोक्त उपशयानुपशय भी अनुमान का ही विषय है।

युक्ति—इसका अर्थ है योजना। अनेक कारणो के सामुदायिक प्रभाव से किसी विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति को देखकर, तदनुकूल विचारो से जो कल्पना की जाती है उसे युक्ति कहते हैं। जैसे खेत, जल, जुताई, बीज और ऋतु के सयोग से ही पौधा उगता है। धुएँ का आग के साथ सदैव सबध रहता है, अर्थात् जहाँ धुआँ होगा वहाँ आग भी होगी। इसी को व्याप्तिज्ञान भी कहते हैं और इसी के आधार पर तर्क कर अनुमान किया जाता है। इस प्रकार निदान, पूर्वरूप, रूप, सप्राप्ति और उपशय इन सभी के सामुदायिक विचार से रोग का निर्णय युक्तियुक्त होता है। योजना का दूसरी दृष्टि से भी रोगी की परीक्षा मे प्रयोग कर सकते हैं। जैसे किसी इद्रिय से यदि कोई विषय सरलता से ग्राह्य न हो तो अन्य यत्रादि उपकरणो की सहायता से उस विषय का ग्रहण करना भी युक्ति मे ही अतर्भूत है।

परीक्ष्य विषय—पूर्वोक्त लिंगो के ज्ञान के लिये तथा रोगनिर्णय के साथ साध्यता या असाध्यता के भी ज्ञान के लिये आप्तोपदेश के अनुसार प्रत्यक्ष आदि परीक्षाओ द्वारा रोगी के सार, सत्व (डिसपोजिशन), सहनन (उपचय), प्रमाण (शरीर और अग प्रत्यग की लबाई, चौडाई, भार आदि), सात्म्य (अभ्यास आदि, हैबिट्स), आहारशक्ति, व्यायामशक्ति तथा आयु के अतिरिक्त वर्ण, स्वर, गध, रस और स्पर्श ये विषय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शेद्रिय, सत्व, भक्ति (रुचि), शौच, शील, आचार, स्मृति, आकृति, बल, ग्लानि, तद्रा, आरभ (चेष्टा), गुरुता, लघुता, शीतलता, उष्णता, मृदुता, काठिन्य आदि गुण, आहार के गुण, पाचन और मात्रा, उपाय (साधन), रोग और उसके पूर्वरूप आदि का प्रमाण, उपद्रव (काम्लिकेशस), छाया (लस्टर), प्रतिच्छाया, स्वप्न (ड्रीम्स), रोगी को देखने को बुलाने के लिये आए दूत तथा रास्ते और रोगी के घर मे प्रवेश के समय के शकुन और अपशकुन, ग्रहयोग आदि सभी विषयो का प्रकृति (स्वाभाविकता) तथा विकृति (अस्वाभाविकता) की दृष्टि से विचार करते हुए परीक्षा करनी चाहिए। विशेषत नाडी, मल, मूत्र, जिह्वा, शब्द (ध्वनि), स्पर्श, नेत्र और आकृति की सावधानी से परीक्षा करनी चाहिए। आयुर्वेद मे नाडी की परीक्षा अति महत्व का विषय है। केवल नाडीपरीक्षा से दोषो एव दूष्यो के साथ रोगो के स्वरूप आदि का ज्ञान अनुभवी वैद्य प्राप्त कर लेता है।

औषध—जिन साधनो के द्वारा रोगो के कारणभूत दोषो एव शारीरिक विकृतियो का शमन किया जाता है उन्हे औषध कहते हैं। ये प्रधानत दो प्रकार की होती हैं अद्रव्यभूत और द्रव्यभूत।

अद्रव्यभूत औषध वह है जिसमे किसी द्रव्य का उपयोग नही होता, जैसे उपवास, विश्राम, सोना, जागना, टहलना, व्यायाम आदि। बाह्य या आभ्यतर प्रयोगो द्वारा शरीर मे जिन बाह्य द्रव्यो (ड्रग्स) का प्रयोग होता है वे द्रव्यभूत औषध हैं। ये द्रव्य सक्षेप मे तीन प्रकार के होते है (१) जागम (ऐनिमल ड्रग्स), जो विभिन्न प्राणियो के शरीर से प्राप्त होते हैं, जैसे मधु, दूध, दही, घी, मक्खन, मट्ठा, पित्त, वसा, मज्जा, रक्त, मास, पुरीष, मूत्र, शुक्र, चर्म, अस्थि, शृग, खुर, नख, लोम आदि, (२) औद्भिद (हर्बल ड्रग्स), जो पेड पौधे आदि से प्राप्त होते हैं, जैसे विविध अन्न, फल, फूल, पत्ते, जडे, छाले, गोद, डठल, स्वरस, दूध, भस्म, क्षार, तैल, कटक, कोयले और कद आदि, (३) पार्थिव (खनिज, मिनरल ड्रग्स), जैसे सोना, चाँदी, सीसा, राँगा, ताँवा, लोहा, चूना, खडिया, अभ्रक, सखिया, हरताल, मैनसिल, अजन (ऐंटिमनी), गेरु, नमक आदि।

शरीर की भाँति ये सभी द्रव्य भी पाचभौतिक होते हैं, इनके भी वे ही सघटक होते है जो शरीर के है। अत ससार मे कोई भी द्रव्य ऐसा नही है जिसका किसी न किसी रूप मे किसी न किसी रोग के किसी न किसी अवस्थाविशेष मे औषधरूप मे प्रयोग न किया जा सके। किंतु इनके प्रयोग के पूर्व इनके स्वाभाविक गुण धर्म, सस्कारजन्य गुण धर्म, प्रयोगविधि तथा प्रयोगमार्ग का ज्ञान आवश्यक है। इनमे कुछ द्रव्य दोषो का शमन करते है, कुछ दोष और धातु को दूषित करते हैं और कुछ स्वस्थवृत्त मे, अर्थात् धातुसाम्य को स्थिर रखन मे उपयोगी होते हैं। इनकी उपयोगिता के समुचित ज्ञान के लिये द्रव्यो के पाचभौतिक सघटको मे तारतम्य के अनुसार स्वरूप (कपोजिशन), गुरुता, लघुता, रूक्षता, स्निग्धता आदि गुण, रस (टेस्ट ऐड लोकल ऐक्शन), वपाक (मेटाबोलिक चेजेज), वीर्य (फिजिओलॉजिकल ऐक्शन), प्रभाव (स्पेसिफिक ऐक्शन) तथा मात्रा (डोज़) का ज्ञान आवश्यक होता है।

भेषज्यकल्पना : सभी द्रव्य सदैव अपने प्राकृतिक रूपो मे शरीर मे उपयोगी नही होते। रोग और रोगी की आवश्यकता के विचार से शरीर की धातुओ के लिये उपयोगी एव सात्म्यकरण के अनुकूल बनाने के लिये, इन द्रव्यो के स्वाभाविक स्वरूप और गुणो मे परिवर्तन के लिये, विभिन्न भौतिक एव रासायनिक सस्कारो द्वारा जो उपाय किए जाते हैं उन्हे 'कल्पना' (फार्मेसी या फार्मास्युटिकल प्रोसेस) कहते हैं। जैसे—स्वरस (जूस), कल्क या चूर्ण (पेस्ट या पाउडर), शीत क्वाथ (इनफ्यूजन), क्वाथ (डिकॉक्शन), आसव तथा अरिष्ट (टिक्चर्स), तैल, घृत, अवलेह आदि तथा खनिज द्रव्यो के शोधन, जारण, मारण, अमृतीकरण, सत्वपातन आदि।

चिकित्सा (ट्रीटमेट) चिकित्सक, परिचारक, औषध और रोगी, ये चारो मिलकर शारीरिक धातुओ की समता के उद्देश्य से जो कुछ भी उपाय या कार्य करते है उसे चिकित्सा कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है (१) निरोधक (प्रिवेटिव) तथा (२) प्रतिषेधक (क्योरेटिव), जैसे शरीर के प्रकृतिस्थ दोषो और धातुओ मे वैषम्य (विकार) न हो तथा साम्य की परपरा निरतर बनी रहे, इस उद्देश्य से की गई चिकित्सा निरोधक है तथा जिन क्रियाओ या उपचारो से विषम हुई शारीरिक धातुओ मे समता उत्पन्न की जाती है उन्हे प्रतिषेधक चिकित्सा कहते हैं।

पुन चिकित्सा तीन प्रकार की होती है· (१) सत्वावजय (साइकोलॉजिकल) इसमे मन को अहित विषयो से रोकना तथा हर्षण, आश्वासन आदि उपाय हैं। (२) दैवव्यपाश्रय (डिवाइन) इसमे ग्रह आदि दोषो के शमनार्थ तथा पूर्वकृत अशुभ कर्म के प्रायश्चित्तस्वरूप देवाराधन, जप, हवन, पूजा, पाठ, व्रत तथा मणि, मत्र, यत्र, रत्न और ओषधि आदि का धारण, ये उपाय होते हैं। (३) युक्तिव्यपाश्रय (मेडिसिनल अर्थात् सिस्टमिक ट्रीटमेट) रोग और रोगी के बल, स्वरूप, अवस्था, स्वास्थ्य, सत्व, प्रकृति आदि के अनुसार उपयुक्त औषध की उचित मात्रा, अनुकूल कल्पना (बनाने की रीति) आदि का विचार कर प्रयुक्त करना। इसके भी मुख्यत तीन प्रकार है . अत परिमार्जन, बहि परिमार्जन और शस्त्रकर्म।

अंतःपरिमार्जन (ओषधियो का आभ्यतर प्रयोग) इसके भी दो मुख्य प्रकार हैं (१) अपतर्पण या शोधन या लघन, (२) सतर्पण या शमन या बृहण (खिलाना)। शारीरिक दोषो को बाहर निकालने के उपायो को शोधन कहते है, उसके वमन, विरेचन (पर्गेटिव), वस्ति (निरूहण), अनुवासन और उत्तरवस्ति (एनिमेटा तथा कैथेटर्स का प्रयोग), शिरोविरेचन (स्नफ्स् आदि) तथा रक्तमोक्षण (वेनिसेक्शन या ब्लड लेटिंग), ये पाँच उपाय है।

शमन—लाक्षणिक चिकित्सा (सिंप्टोमैटिक ट्रीटमेट) : विभिन्न लक्षणो के अनुसार दोषो और विकारो के शमनार्थ विशेष गुणवाली ओषधि का प्रयोग, जैसे ज्वरनाशक, छर्दिघ्न (वमन रोकनेवाला), अतिसारहर (स्तभक), उद्दीपक, पाचक, हृद्य, कुष्ठघ्न, बल्य, विषघ्न, कासहर, श्वासहर, दाहप्रशामक, शीतप्रशामक, मूत्रल, मूत्रविशोधक, शुक्रजनक, शुक्रविशोधक, स्तन्यजनक, स्वेदल, रक्तस्थापक, वेदनाहर, सज्ञास्थापक, वय स्थापक, जीवनीय, बृहणीय, लेखनीय, मेदनीय, रूक्षणीय, स्नेहनीय आदि द्रव्यो का आवश्यकतानुसार उचित कल्पना और मात्रा मे प्रयोग करना।

इन ओषधियो का प्रयोग करते समय निम्नलिखित बातो का ध्यान रखना चाहिए "यह ओषधि इस स्वभाव की होने के कारण तथा अमुक तत्वो की प्रधानता के कारण, अमुक गुणवाली होने से, अमुक प्रकार के देश मे उत्पन्न और अमुक ऋतु मे सग्रह कर, अमुक प्रकार सुरक्षित रहकर, अमुक कल्पना से, अमुक मात्रा से, इस रोग की, इस इस अवस्था मे तथा अमुक प्रकार के रोगी को इतनी मात्रा मे देने पर अमुक दोष को निकालेगी या शात करेगी। इसके अभाव मे इसी के समान गुणवाली अमुक ओषधि का प्रयोग किया जा सकता है। इसमे यह यह उपद्रव हो सकते है और उसके शमनार्थ ये उपाय करने चाहिए।"

बहि परिमार्जन (एक्स्टर्नल मेडिकेशन)—जैसे अभ्यग, स्नान, लेप, धूपन, स्वेदन आदि।

स०ग्र०—अथर्ववेदसहिता, स्वाध्यायमडल, औध (१६४३), चरकसहिता, गुलाब कुँवर बा आयुर्वेदिक सोसायटी, जामनगर (१६४६), सुश्रुतसहिता, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, गिरींद्रनाथ मुखोपाध्याय हिस्ट्री ऑव इडियन मेडिसिन, कलकत्ता विश्वविद्यालय (१६२३), ई०वी० क्रुमभार ए हिस्ट्री ऑव मेडिसिन (१६४७), महेंद्रनाथ शास्त्री आयुर्वेद का सक्षिप्त इतिहास (हिंदी ज्ञानमदिर लिमिटेड, बबई, १६४८), सी० सिगर शॉर्ट हिस्ट्री ऑव मेडिसिन (१६४४)। [दि० गि०]

आयुर्विज्ञान में भौतिकी

प्रयोगों से पता चलता है कि भौतिकी (फिजिक्स) के नियमों का पालन मानव शरीर में भी होता है। उदाहरणत, मनुष्यों को विशेष उष्मामापी में रखकर जब यह नापा गया कि शरीर में कितनी गरमी उत्पन्न होती है और हिसाब लगाया गया कि आहार का जितना अश पचता है उतने को जलाने से कितनी गरमी उत्पन्न हो सकती थी और जब इसपर भी ध्यान रखा गया कि पसीना सूखने में कितनी ठढक उत्पन्न हुई होगी, तब स्पष्ट पता चला कि शरीर की सारी ऊर्जा (गरमी और काम करने की शक्ति) आमाशय और आत्र में आहार के पाचन तथा उपचयन (ऑक्सिडाइज़ेशन) से उत्पन्न होती है, शरीर में ऊर्जा का कोई गुप्त भाडार नहीं है।

विविध पदार्थों के घोलो का गुण उनमें वर्तमान हाइड्रोजन आयनो की साद्रता पर निर्भर रहता है। अम्लता और क्षारता भी इन्ही आयनो पर निर्भर है। यदि रुधिर मे इन आयनो की साद्रता बहुत घट बढ जाय तो शारीरिक क्रियाओ में बहुत अतर पड जायगा। परतु प्रयोगों से पता चलता है कि रुधिर में वर्तमान कार्बोनेटो और फास्फेटो के कारण अम्ल अथवा क्षार अधिक आ जाने पर भी रुधिर मे हाइड्रोजन आयनों की सांद्रता नही बदलती और इसलिये शरीर की क्रियाएँ अति विभिन्न दशाओं में भी ठीक होती रहती है।

मनुष्य का शरीर विविध प्रकार की नन्ही नन्ही कोशिकाओ (सेलो) से बना है। प्रयोगों से पता चलता है कि इन कोशिकाओ के आवरण को नमक, ग्लूकोज आदि नही पार कर सकते। यदि ऐसा न होता तो उनके बाहर के द्रव में नमक, ग्लूकोज आदि की कमी बेशी होने पर कोशिकाएँ भी फूलती पिचकती रहती।

साधारण घोलो की अपेक्षा कलिल (कलॉयड) घोलो का प्रभाव शरीर पर बहुत धीरे धीरे पडता है। इस बात के आधार पर कलिल घोल के रूप मे ऐसी ओषधियाँ बनी है जो एक बार शरीर में प्रविष्ट होने पर बहुत समय तक अपना काम करती रहती है।

मासपेशियो और स्नायुओ को शरीर से बाहर नमक के घोलो में रखकर उनपर अनेक प्रयोग किए गए है। उनपर बिजली की न्यून मात्राओं का प्रभाव नापा गया है। उनके जीवित रहने की परिस्थितिया का पता भी लगाया गया है। यह सिद्ध हो चुका है कि मासपेशिया और स्नायुओ के जीवित रहने के लिये उपचयन (आक्सिजन से सयोग) आवश्यक है। यह भी सिद्ध हुआ है कि स्नायुओ में उत्तेजना का सचलन विद्युतीय घटना है।

भौतिकी में विविध प्रकार की विद्युत्तरगों का अध्ययन होता है। उत्तरोत्तर घटती तरग के अनुसार ये है रेडियो तरगें, अवरक्त (इन्फ्रारेड) रश्मियाँ, प्रकाश, पराकासनी (अल्ट्रावायलेट) रश्मियाँ, एक्स-किरण और रेडियम से निकलनेवाली रश्मियाँ। इनमें से अनेक प्रकार की तरगो का उपयोग आयुर्विज्ञान में किया गया है। कुछ से केवल सेंकने का काम लिया जाता है, कुछ से त्वचा के रोग अच्छे होते है, कुछ उचित मात्रा में दी जाने पर शरीर के भीतर घुसकर अवाछनीय जीवाणुओ का नाश करती है, यद्यपि अधिक मात्रा में दी जाने पर वे शरीर की कोशिकाओ को भी नष्ट कर सकती हैं।

भौतिकी के उपयोग के अन्य उदाहरण **शरीर-क्रिया-विज्ञान, स्वास्थ्य-विज्ञान और एक्स-रे चिकित्सा** शीर्षक लेखो में मिलेंगे। [मु० स्व० व०]

आयुर्विज्ञान-शिक्षा

ऐब्रैहम फ्लेक्सनर का कथन है कि प्राचीन काल से आयुर्विज्ञान में अधविश्वास, प्रयोग तथा उस प्रकार के निरीक्षण का जिससे अत में विज्ञान का निर्माण होता है, विचित्र मिश्रण रहा है। ये तीनो सिद्धात आज भी कार्य कर रहे है, यद्यपि उनका अनुपात अब बदल गया है।

उत्तर-वैदिक काल (६०० ई० पू० से सन् २०० ई० तक) के भारत के लिखित इतिहास से पता चलता है कि आयुर्विज्ञान की शिक्षा तक्षशिला तथा नालद के महाविद्यालयों में दी जाती थी। पीछे ये महाविद्यालय नष्ट हो गए और राजनीतिक अवस्था मे परिवर्तन होने के साथ यूनानी तथा पश्चिमी (यूरोपीय) आयुर्वैज्ञानिक रीतियों का इस देश में प्रवेश हुआ।

ब्रिटिश भारत में सर्वप्रथम आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय सन् १८२२ मे स्थापित हुआ। उसके पश्चात् सन् १८३५ में दो आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय, एक कलकत्ता मे तथा दूसरा मद्रास में, स्थापित हुए। इंग्लैंड के रायल कालेज आव सर्जन्स ने सन् १८४५ में उन्हें पहले पहल मान्यता दी। उस समय से लेकर सन् १९३३ तक आयुर्विज्ञान की शिक्षा का नियत्रण जेनरल मेडिकल काउंसिल ऑव युनाइटेड किंगडम की देखरेख में होता रहा।

सन् १९३३ में भारतीय ससद ने "इडियन मेडिकल काउंसिल ऐक्ट" स्वीकार किया। इसके अनुसार भारत के सब प्रातों के लिये आयुर्विज्ञान में उच्च योग्यता के एकसमान, न्यूनतम मानक स्थिर करने के निमित्त उद्देश्य से मेडिकल काउंसिल आव इडिया का सगठन हुआ।

सन् १९३५ के सुझावों के अनुसार जीवविज्ञान (बाइयालाजी) के साथ इटरमीडिएट परीक्षा में उत्तीर्ण होने के अनतर आयुर्वैज्ञानिक विद्यालय में पाच वर्ष तक अध्ययन का समय नियत किया गया। इसके अतिम तीन वर्षों को रुग्णालयों में जाकर रोगियों की परीक्षा आदि में व्यतीत करने का निर्देश था। सन् १९५२ के प्रस्तावों से जीवविज्ञान के साथ इटरमीडिएट परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् विद्यालय में अध्ययन करने के कुल समय को बढाकर साढे पाच वर्ष कर दिया है। इसमें से डेढ वर्ष तो रुग्णालयों के कार्यक्रम से परिचय के साथ साथ आधारभूत वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन के लिये है तथा तीन वर्ष रुग्णालयों में क्रियात्मक काम के लिये। अतिम परीक्षा के पश्चात् १२ मास के लिये परीक्षोत्तर शिक्षा की विशेष व्यवस्था की गई है। इस अवधि में विद्यार्थी को विश्वविद्यालय अथवा मेडिकल काउंसिल से मान्यताप्राप्त मेडिकल अधिकारी या डाक्टर की अधीनता में कार्य करना पडता है। इस एक वर्ष के काल मे तीन मास लोकस्वास्थ्य (पब्लिक हेल्थ) के कार्यों में, अधिकतर देहात में, बिताना पडता है।

रुग्णालय विषयक अध्ययनकाल मे, अर्थात् तीसरे, चौथे तथा पाँचवें वर्षों में, प्रत्येक विद्यार्थी को कम से कम पांच रोगियों के कुल ब्योरो का लेखा तैयार करने अथवा शल्यचिकित्सा के उपरात पट्टी बाधने के कार्य का सपूर्ण उत्तरदायित्व उठाना पडता है।

जैसा उचित है, काउंसिल ने शिक्षणकाल मे उपदेशात्मक व्याख्यानो की तुलना में क्रियात्मक (व्यावहारिक) शिक्षा पर अधिक बल दिया है। सन् १९५६ के इडियन मेडिकल काउंसिल अधिनियम ने काउंसिल को स्नातकोत्तर आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा के सबध में अधिक वैधानिक शक्ति प्रदान की है तथा स्नातकोत्तर आयुर्वैज्ञानिक शिक्षासमिति (पोस्ट ग्रैजुएट मेडिकल एडुकेशन कमिटी) की स्थापना का निर्देश भी किया है।

वर्तमान काल में भारत मे लगभग ५४ आयुर्वैज्ञानिक (मेडिकल) कालेज है, जो ५,००० से अधिक विद्यार्थियो को प्रति वर्ष बैचलर ऑव मेडिसिन तथा बैचलर ऑव सर्जरी (एम० बी० बी० एस०) की उपाधि के लिये शिक्षा देते है। अनेक आयुर्वैज्ञानिक कॉलेजो में डॉक्टर ऑव मेडिसिन (एम० डी०), मास्टर ऑव सर्जरी (एम० एस०) तथा अन्य उपाधियों के लिये स्नातकोत्तर शिक्षा की सुविधाएँ भी है।

इन सस्थाओ के अतिरिक्त इसका भी प्रयत्न किया गया है कि आयुर्विज्ञान की प्राचीन भारतीय प्रणाली की उन्नति की जाय। प्राचीन भारतीय पद्धति की प्रथम पाठशाला सन् १९२४ में मद्रास में स्थापित की गई। वर्तमान समय मे इस देश में ७५ से कुछ अधिक विद्यालय है जो विविध प्राचीन आयुर्वैज्ञानिक पद्धतियो की शिक्षा देते है। परतु विद्यार्थियो को इन विद्यालयो की शिक्षाप्रणाली के प्रति बहुत असतोष है। इस त्रुटि को दूर करने के लिये काशी हिंदू विश्वविद्यालय ने एम० बी० बी० एस० का एक नवीन पाठ्यक्रम निर्धारित किया है जो जीवविज्ञान लेकर इटरमीडियेट परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद छ वर्षो तक चलेगा। इस प्रणाली में आयुर्वेद (प्राचीन भारतीय पद्धति) का भी कुछ आवश्यक परिचय दिया जायगा। इस नवीन पाठ्यक्रम का प्रभाव देश की आयुर्वैज्ञानिक शिक्षा पर बहुत बडी मात्रा में

साधारणतया मैंगनीज़ डाईआक्साइड तथा गधक के अम्ल का ही अधिक प्रयोग होता है। गधक अथवा शोरे के सांद्र अम्ल या विविध आक्सीकारक वस्तुएँ भी, इसी प्रकार काम में लाई जा सकती हैं। प्राप्त आयोडीन का बैंगनी वाष्प ठढी सतह पर चमकदार काले रवो में जम जाता है।

समुद्री पौधो से पर्याप्त आयोडीन निम्नलिखित विधि द्वारा प्राप्त होता है पवन से ये तृण किनारे पर आ जाते हैं, जिन्हे इकट्ठा कर और सुखाकर जला लिया जाता है। राख से, जिसे केल्प कहते हैं, आयोडीन तथा पोटैसियम प्राप्त होते हैं। राख को गरम पानी मे घोलकर अघुलनशील वस्तुएँ छान ली जाती हैं। फिर घोल को गरम कर गाढा बना लेने पर घुले हुए बहुत से लवण रवा बनाने के लिये रख दिए जाते है। मातृद्रव रवो से अलग कर फिर गाढा किया जाता है, जिससे अन्य घुले हुए लवण रवों के रूप मे अलग किए जा सकते हैं। इस क्रिया को कई बार करने से गाढे घोल मे आयोडीन का अनुपात बहुत बढ जाता है। घोल से पालीसल्फाइड तथा थायोसल्फेट गधक के अम्ल की क्रिया द्वारा हटा लिए जाते हैं। देर तक रख देने पर अघुलनशील वस्तुएँ नीचे बैठ जाती है तथा गाढे घोल से क्लोरीन की क्रिया द्वारा आयोडीन प्राप्त होता है। मैंगनीज़ डाईआक्साइड तथा गधक का अम्ल, फेरिक क्लोराइड, नाइट्रिक अम्ल इत्यादि आक्सीकारक की क्रिया से भी गाढे द्रव से आयोडीन मिलता है अथवा तूतिया के प्रयोग से कापर आयोडाइड बनाकर उससे फिर आयोडीन प्राप्त किया जाता है।

चिली देश के शोरे मे सोडियम नाइट्रेट अलग करने पर मातृद्रव मे कुछ सोडियम के नाइट्रेट, क्लोराइड, सल्फेट तथा आयोडेट और मैग्नीशियम सल्फेट बचा रहता है। द्रव मे सोडियम बाइसल्फेट की क्रिया से आयोडीन मिलता है जिसे पानी से साफ कर सुखा लिया जाता है।

आयोडीन को शुद्ध करने के लिये रवो को गरम कर, वाष्प को ठढी सतह पर जमा लिया जाता है। इस प्रकार के ऊर्ध्वपातन (सबलिमेशन) की क्रिया मे सूखे आयोडीन के साथ पोटैशियम आयोडाइड के चूर्ण के उपयोग से बहुत शुद्ध आयोडीन प्राप्त होता है। इस मिश्रण से प्राप्त शुद्ध आयोडीन आगे कैल्सियम क्लोराइड की सहायता से सुखाया जा सकता है।

आयोडीन के रवो मे धातु सी चमक होती है। यद्यपि साधारण तापक्रम पर इसका वाष्पदाब कम है, तो भी अपनी विशेष गध तथा रग से यह सरलता से पहचाना जा सकता है। आयोडीन का घनत्व ४ ९४ ग्राम प्रति घन सेंटीमीटर (२०° सें० पर) है। आयोडीन का द्रवणाक ११३ ७° सें० तथा क्वथनाक १८४ ३५° सें० है। ७००° सें० से ऊपर गरम करने पर वाष्प का घनत्व घटता है और १७००° सें० पर आधा रह जाता है।

आयोडीन का विघटन आ$_2$ ⇌ २आ तापक्रम पर निर्भर है, कम तापक्रम पर आ$_2$ तथा अधिक पर आ रहता है। वाष्पदाब ताप के साथ बढता है

वाष्पदाब	१	१०	४०	१००	४००	७६०	मिलीमीटर
ताप	३८ ७	७३ २	९७ ५	११६ ५	१५९ ८	१८३	डिग्री सें०

आयोडीन पानी मे कम घुलनशील है तथा घोल का रग हल्का पीला या भूरा होता है। १०० घन सेंटिमीटर ठढे पानी मे ० ०२९ ग्राम आयोडीन घुलता है। सतृप्त घोल मे आयोडीन की मात्रा, पानी मे कुछ लवण अथवा अम्ल के रहने पर, बहुत निर्भर है। सोडियम और पोटैशियम के सल्फेट या नाइट्रेट के उपस्थित रहने से यह घटती है, परतु इन्ही के क्लोराइड, ब्रोमाइड या आयोडाइड की उपस्थिति से बढ जाती है। अत ओषधियो के निमित्त आयोडीन का घोल बनाने के लिये पोटैशियम आयोडाइड का उपयोग होता है। फास्फोरिक, ऐसीटिक तथा टैनिक अम्लो मे आयोडीन घुलनशील है। गधक के अम्ल मे आयोडीन के घोल का रग पानी की मात्रा पर निर्भर है। कुछ लवणो मे (जैसे आरसेनिक क्लोराइड) तथा दूसरी वस्तुओ मे (जैसे द्रव सल्फर डाईआक्साइड या ट्राई आक्साइड, कार्बन डाईआक्साइड और अमोनिया मे) भी आयोडीन घुल जाता है। कार्बन डाईसल्फाइड, कार्बन टेट्राक्लोराइड, बेंजीन, टॉलूईन, मिट्टी के तेल इत्यादि कार्बनिक द्रवो मे आयोडीन की बडी मात्रा घुल जाती है। इन घोलो का रग घोलक की प्रकृति पर निर्भर है। साधारणतया इनका रग नीला, बैंगनी अथवा भूरा होता है। कुछ ठोस पदार्थ (जैसे कार्बन) आयोडीन सोख लेते है।

आयोडीन के रासायनिक गुण फ्लोरीन, क्लोरीन तथा ब्रोमीन के गुणो से मिलते है। हैलोजन के इस समूह में आयोडीन सबसे भारी है तथा अन्य हैलोजन से भी इसके यौगिक बनते हैं, जैसे आक्लो, आक्लो$_3$ तथा आब्रो। हाइड्रोजन के साथ गरम करने पर तथा आक्सिजन के साथ मूक (साइलेंट) विद्युद्विसर्जन होने पर आयोडीन क्रिया करता है। कुछ धातुओ से भी आयोडीन सयुक्त होता है, यथा सोने के साथ गरम करने पर, पारे से साधारण ताप पर सरलता से और पोटैसियम से धडाके के साथ क्रिया होती है, जिसमे धातु का आयोडाइड बनता है। आयोडीन का ऐलकोहल मे घोल अमोनिया से क्रिया करता है, जिसमे प्रतिस्थापन-उत्पाद-पदार्थ (सब्स्टिट्यूशन प्रॉडक्ट) और नाइट्रोजन आयोडाइड बनते हैं। नाइट्रिक अम्ल के साथ उबालने पर नाइट्रोजन परॉक्साइड प्राप्त होता है। ऐंटिमनी तथा फास्फोरस से भी आयोडीन क्रिया करता है।

कुछ लवण भी आयोडीन से क्रिया करते हैं। सिल्वर नाइट्रेट से सिल्वर आयोडाइड मिलता है। पोटैसियम आयोडाइड के घोल मे आयोडीन से पोटैसियम पॉलीआयोडाइड बनता है। सोडियम थायो-सलफेट की क्रिया से आयोडीन, आयोडाइड बनाता है, जिससे आयोडीन के घोल का रग समाप्त हो जाता है। यह क्रिया घोल मे स्वतत्र आयोडीन की मात्रा ज्ञात करने के लिये उपयोगी है। स्टार्च के साथ आयोडीन नीले रग की वस्तु देता है। अत आयोडीन अल्प मात्रा मे रहने पर भी स्टार्च सकेतक द्वारा पहचाना जा सकता है।

आयोडीन विविध रूपो मे दवाओ मे, विशेष कर बाह्य उपयोग के लिये प्रतिदोषरोधी (ऐंटीसेप्टिक) के रूप मे प्रयुक्त होता है, जैसे टिंक्चर आयोडीन, लिकर आयोडाइ, आयोडाइज्ड रुई, शराब या पानी, आयडोफार्म, एथिल आयोडाइड, आयोडोल आदि। फोटोग्राफी मे तथा विविध प्रकार के रग बनाने मे भी इसका उपयोग होता है।

सं०ग्रं० —जे० डब्ल्यू० मेलर ए कॉम्प्रिहेंसिव ट्रीटिज ऑन इनॉर्गैनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१९२२), जे० आर० पारटिंगटन ए टेक्स्ट बुक ऑव इनॉर्गैनिक केमिस्ट्री, चार्ल्स डी० हॉजमैन हैंड बुक ऑव केमिस्ट्री ऐंड फिजिक्स।
[वि० वा० प्र०]

आरंभवाद

कार्य सबधी न्यायशास्त्र का सिद्धात। कारणो से कार्य की उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति के पहले कार्य नही होता। यदि कार्य उत्पत्ति के पहले रहता तो उत्पादन की आवश्यकता ही न होती। इसी सार्वजनीन अनुभव के आधार पर न्यायशास्त्र मे उत्पन्न कार्य को उत्पत्ति के पहले असत् माना जाता है। बहुत से कारण (कारण-सामग्री) एकत्र होकर किसी पहले से असत् कार्य का निर्माण आरभ करते हैं। इसी असत् कार्य के निर्माण के सिद्धात को आरभवाद कहा जाता है। इस सिद्धात के विपरीत सत् कार्यवादी दर्शन मे चूँकि कार्य उत्पत्ति के पहले सत् माना गया है, वहाँ कार्य का नए सिरे से आरभ नही माना जाता। केवल दिए हुए कार्य को स्पष्ट कर देना ही कार्य की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि साख्य, वेदात आदि दर्शनो में आरभवाद का विरोध किया गया है और परिणामवाद या विवर्तवाद की स्थापना की गई है। भूतार्थवादी न्यायदर्शन को उत्पत्ति के पूर्व कार्य की स्थिति मानना हास्यास्पद लगता है। यदि तेल पहले से विद्यमान है तो तिल को पेरने का कोई प्रयोजन नही। यदि तिल को पेरा जाता है तो सिद्ध है कि तेल पहले नही था। यदि मान भी लिया जाय कि तिल मे तेल छिपा था, पेरने से प्रकट हो गया तो भी आरभवाद की ही पुष्टि होती है। उपभोग योग्य तेल पहले नही था और पेरने के बाद ही उस तेल की उत्पत्ति हुई। अत न्याय के अनुसार कार्य सर्वदा अपने कारणो से नवीन होता है।
[रा० पा०]

आरज़ू, अनवर हुसेन

आरज़ू का खानदान हिरात से हिंदुस्तान आया और अजमेर मे रहा। अजमेर से ये लोग लखनऊ गए और वहाँ १८७५ मे आरज़ू का जन्म हुआ। यही शिक्षा प्राप्त की और १२ साल की अवस्था से काव्यरचना करने लगे। ये प्राय गजले लिखते थे लेकिन नज्मे, रुबाइयाँ, मसनवियाँ इत्यादि भी लिखी। आरज़ू साहब सिर्फ शेर ही नही कहते थे बल्कि वे सफल नाट्यकार भी थे। आपने 'मतवाली जोगन', 'दिलजली बैरागन', 'शरारए हुस्न' नाटक लिखे। आप पहले उर्दू शायर हैं जिन्होंने फिल्म के वास्ते

मन और इद्रिय को नियत्रित रखना, देश काल आदि परिस्थितियो के अनुसार अपने शरीर आदि की शक्ति और अशक्ति का विचार कर कोई कार्य करना, मल मूत्र आदि के उपस्थित वेगो को न रोकना, ईर्ष्या, द्वेप, लोभ, अहकार आदि मे वचना, समय समय पर शरीर में सचित दोपो को निकालने के लिये वमन विरेचन आदि के प्रयोगो से शरीर की शुद्धि करना, सदाचार का पालन करना और दूपित वायु, जल, देश और काल के प्रभाव से उत्पन्न महामारियो (जनपदोद्ध्वसनीय व्याधियो, एपिडेमिक डिजीजेज) में विज्ञ चिकित्सको के उपदेशो का समुचित रूप से पालन करना, स्वच्छ और विशोधित जल, वायु, आहार आदि का सेवन करना और दूसरो को भी इसके लिये प्रेरित करना, ये स्वास्थ्यरक्षा के साधन है।

(२) रोगी व्यक्तियो के विकारो को दूर कर उन्हें स्वस्थ वनाना इसके लिये प्रत्येक रोग के हेतु (कारण), लिंग—रोग परिचायक विषय, जैसे पूर्वरूप, रूप (साइस ऐंड सिप्टम्स), सप्राप्ति (पैथोजेनिसिस) तथा उपशयानुपशय (थिराप्युटिक टेस्ट्स)—और औषध का ज्ञान परमावश्यक है। ये तीनो आयुर्वेद के 'त्रिस्कध' (तीन प्रधान शाखाएँ) कहलाते है। इसका विस्तृत विवेचन आयुर्वेद ग्रथो मे किया गया है। यहाँ केवल सक्षिप्त परिचय मात्र दिया जायगा। किंतु इसके पूर्व आयु के प्रत्येक सघटक का सक्षिप्त परिचय आवश्यक है, क्योकि सघटको के ज्ञान के विना उनमे होनेवाले विकारो को जानना सभव न होगा।

शरीर—समस्त चेष्टाओ, इद्रियो, मन और आत्मा के आधारभूत पाचभौतिक पिंड को शरीर कहते है। मानव शरीर के स्थूल रूप मे छ अग है, दो हाथ, दो पैर, शिर और ग्रीवा एक तथा अतराधि (मध्यशरीर) एक। इन अगो के अवयवो को प्रत्यग कहते है, जैसे—मूर्धा (हेड), ललाट, भ्रू, नासिका, अक्षिकूट (ऑर्विट), अक्षिगोलक (आइवॉल), वर्त्म (पलक), पक्ष्म (वरुनी), कर्ण (कान), कर्णपुत्रक (ट्रैगस), शष्कुली और पाली (पिन्ना ऐड लोव ऑव इयर्स), शख (माथे के पार्श्व, टेपुल्स), गड (गाल), ओष्ठ (होठ), सृक्करणी (मुख के कोने), चिवुक (ठुड्डी), दतवेष्ट (मसूडे), जिह्वा (जीभ), तालु, उपजिह्विका (टासिल्स), गलशुडिका (यवुला), गोजिह्विका (एपीग्लॉटिस), ग्रीवा (गरदन), अवटुका (लैरिंग्ज), कधरा (कधा), कक्षा (ऐक्सिला), जत्रु (हँसुली, कालर), वक्ष (थोरैक्स), स्तन, पार्श्व (वगल), उदर (वेली), नाभि, कुक्षि (कोख), वस्तिशिर (ग्रॉयन), पृष्ठ (पीठ), कटि (कमर), श्रोणि (पेल्विस), नितव, गुदा, शिश्न या भग, वृपण (टेस्टीज), भुज, कूर्पर (केहुनी), वाहुपिंडिका या अरत्नि (फोरआर्म), मणिवध (कलाई), हस्त (हथेली), अगुलियाँ और अगुष्ठ, ऊरु (जाँघ), जानु (घुटना), जघा (टाँग, लेग), गुल्फ (टखना), प्रपद (फुट), पादागुलि, अगुष्ठ और पादतल (तलवा)। इनके अतिरिक्त हृदय, फुप्फुस (लग्स), यकृत (लिवर), प्लीहा (स्प्लीन), आमाशय (स्टमक), पित्ताशय (गाल व्लैडर), वृक्क (गुर्दा, किडनी), वस्ति (यूरिनरी व्लैडर), क्षुद्रात (स्मॉल इटेस्टिन), स्थूलात्र (लार्ज इटेस्टिन), वपावहन (मेसेंटेरी), पुरीपाधार, उत्तर और अधरगुद (रेक्टम), ये कोष्ठाग है और सिर मे सभी इद्रियो और प्राणो के केद्रो का आश्रय मस्तिष्क (व्रेन) है।

आयुर्वेद के अनुसार सारे शरीर मे ३०० अस्थियाँ है, जिन्हें आजकल केवल गणनाक्रमभेद के कारण दो सौ छ (२०६) मानते है तथा सन्धियाँ (ज्वाइट्स) २००, स्नायु (लिगामेंट्स) ९००, शिराएँ (व्लड वेसेल्स, लिफैटिक्स ऐंड नर्व्ज़) ७००, धमनियाँ (क्रेनियल नर्व्ज) २४ और उनकी शाखाएँ २००, पेशियाँ (मसल्स) ५०० (स्त्रियो मे २० अधिक) तथा सूक्ष्म स्त्रोत ३०,९५६ है।

आयुर्वेद के अनुसार शरीर मे रस (वाइल ऐंड प्लाज्मा), रक्त, मास, मेद (फैट), अस्थि, मज्जा (वोन मैरो) और शुक्र (सीमेन), ये सात धातुएँ है। नित्यप्रति स्वभावत विविध कार्यो मे उपयोग होने से इनका क्षय भी होता रहता है, किंतु भोजन और पान के रूप में हम जो विविध पदार्थ लेते रहते है उनसे न केवल इस क्षति की पूर्ति होती है, वरन् धातुओ की पुष्टि भी होती रहती है। आहाररूप मे लिया हुआ पदार्थ पाचकाग्नि, भूताग्नि और विभिन्न धात्वग्नियो द्वारा परिपक्व होकर अनेक परिवर्तनो के वाद पूर्वोक्त धातुओ के रूप मे परिणत होकर इन धातुओ का पोपण करता है। इस पाचनक्रिया में आहार का जो सार भाग होता है उससे रस धातु का पोषण होता है और जो किट्ट भाग वचता है उससे मल (विष्ठा) और मूत्र वनता है। यह रस हृदय से होता हुआ शिराओ द्वारा सारे शरीर में पहुँचकर प्रत्येक धातु और अग को पोपण प्रदान करता है। धात्वग्नियो से पाचन होने पर रस आदि धातु के सार भाग से रक्त आदि धातुओ एव शरीर का भी पोपण होता है तथा किट्ट भाग से मलो की उत्पत्ति होती है, जैसे रस से कफ, रक्त से पित्त, मास से नाक, कान और नेत्र आदि के द्वारा वाहर आनेवाले मल, मेद से स्वेद (पसीना), अस्थि से केश तथा लोम (सिर के और दाढी, मूँछ आदि के वाल) और मज्जा से आँख का कीचड मलरूप में वनते है। शुक्र मे कोई मल नही होता, उसके सार भाग से ओज (वल) की उत्पत्ति होती है।

इन्ही रसादि धातुओ से अनेक उपधातुओ की भी उत्पत्ति होती है, यथा रस से दूध, रक्त से कडराएँ (टेंडस) और शिराएँ, मास से वसा (फैट), त्वचा और उसके छ या सात स्तर (परत), मेद से स्नायु (लिगामेंट्स), अस्थि से दाँत, मज्जा से केश और शुक्र से ओज नामक उपधातुओ की उत्पत्ति होती है।

ये धातुएँ और उपधातुएँ विभिन्न अवयवो मे विभिन्न रूपो में स्थित होकर शरीर *की विभिन्न क्रियाओ में उपयोगी होती है। जव तक ये उचित* परिमाण और स्वरूप में रहती है और इनकी क्रिया स्वाभाविक रहती है तव तक शरीर स्वस्थ रहता है और जव ये न्यून या अधिक मात्रा में तथा विकृत स्वरूप मे हो जाती है तो शरीर में रोग की उत्पत्ति होती है।

प्राचीन दार्शनिक सिद्धात के अनुसार ससार के सभी स्थूल पदार्थ पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच महाभूतो के सयुक्त होने से वनते है। इनके अनुपात में भद होने से ही उनके भिन्न भिन्न रूप होते है। इसी प्रकार शरीर की प्रत्येक धातु, उपधातु और मल पाचभौतिक है। परिणामत शरीर के समस्त अवयव और अतत सारा शरीर पाचभौतिक है। ये सभी अचेतन है। जव इनमें आत्मा का सयोग होता है तव उसकी चेतनता से इनमें भी चेतना आती है।

उचित परिस्थिति मे शुद्ध रज और शुद्ध वीर्य का सयोग होने और उसमें आत्मा का सचार होने से माता के गर्भाशय मे शरीर का आरभ होता है। इसे ही गर्भ कहते है। माता के आहारजनित रक्त से अपरा (प्लैसेंटा) और गर्भनाडी के द्वारा, जो नाभि से लगी रहती है, गर्भ पोषण प्राप्त करता है। यह गर्भोदक मे निमग्न रहकर उपस्नेहन द्वारा भी पोपण प्राप्त करता है तथा प्रथम मास मे कलल (जेली) और द्वितीय मे घन होता है। तीसरे मास मे अग प्रत्यग का विकास आरभ होता है। चौथे मास मे उसमें अधिक स्थिरता आ जाती है तथा गर्भ के लक्षण माता मे स्पष्ट रूप से दिखाई पडने लगते है। इस प्रकार यह माता की कुक्षि मे उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ जव सपूर्ण अग, प्रत्यग और अवयवो से युक्त हो जाता है, तव प्राय नवें मास मे कुक्षि से वाहर आकर नवीन प्राणी के रूप मे जन्म ग्रहण करता है।

इद्रिय—शरीर मे प्रत्येक अग या उसके किसी भी अवयव का निर्माण उद्देश्यविशेष से ही होता है, अर्थात् प्रत्येक अवयव के द्वारा विशिष्ट कार्यो की सिद्धि होती है, जैसे हाथ से पकडना, पैर से चलना, मुख से खाना, दाँत से चवाना आदि। कुछ अवयव ऐसे है जिनसे कई कार्य होते है और कुछ है जिनसे एक विशेप कार्य ही होता है। जिनसे कार्यविशेष ही होता है उनमें उस कार्य के लिये शक्तिसपन्न एक विशिष्ट सूक्ष्म रचना होती है। इसी को इद्रिय कहते है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध इन वाह्य विषयो का ज्ञान प्राप्त करने के लिये क्रमानुसार कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये अवयव इद्रियाश्रय अवयव (विशेप इद्रियो के अग) कहलाते है और इनमे स्थित विशिष्ट शक्तिसपन्न सूक्ष्म वस्तु को इद्रिय कहते है। ये क्रमश पाँच है—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण। इन सूक्ष्म अवयवो मे पचमहाभूतो में से उस महाभूत की विशेपता रहती है जिसके शब्द (ध्वनि) आदि विशिष्ट गुण है, जैसे शब्द के लिये श्रोत्र इद्रिय मे आकाश, स्पर्श के लिये त्वक् इद्रिय मे वायु, रूप के लिये चक्षु इद्रिय मे तेज, रस के लिये रसनेंद्रिय में जल और गध के लिये घ्राणेद्रिय मे पृथ्वी तत्व। इन पाँचो इद्रियो को ज्ञानेंद्रिय कहते है। इनके अतिरिक्त विशिष्ट कार्यसपादन के लिये पाँच कर्मेंद्रियाँ *भी होती है, जैसे गमन के लिये पैर, ग्रहण के लिये हाथ, वोलने के लिये* जिह्वा (गोजिह्वा), मलत्याग के लिये गुदा और मूत्रत्याग तथा सतानोत्पादन के लिये शिश्न (स्त्रियो में भग)। आयुर्वेद दार्शनिको की भाँति इद्रियो को आहकारिक नही, अपितु भौतिक मानता है। इन इद्रियो की

नदियाँ हैं। इस क्षेत्र की औसत वर्षा १२०" से १३०" तक है। यहाँ की घाटियों मे मलेरिया का विशेष प्रकोप हो जाता है। आराकान के जंगलो में बाँस एव बेत की प्रचुरता है तथा अक्याब इनके व्यापार का केंद्र हैं। इस प्रांत मे केवल १० प्रति शत भाग मे कृषिकार्य होता है। चावल, रुई एव तबाकू मुख्य उपज है। यहाँ के उद्योगो मे सूती तथा रेशमी कपडे बुनना और टोकरी तथा मिट्टी के बर्तन बनाना प्रधान हैं। इस क्षेत्र की आदिवासी जातियाँ (कामीस्, आस, चिन, चागथा) लडाकू हैं। ये चावल, मछली, जमीकद, लौकी तथा बाँस के अकुर का भोजन करते हैं। आमिष भोजन भी ये कभी कभी करते है। [न० कि० प्र० सिं०]

आराकान योमा भारत तथा बर्मा की सीमा निर्धारित करनेवाली एक पर्वतश्रेणी जो आसाम की 'लुशाई' पहाडियो के दक्षिण तथा पूर्वी पाकिस्तान के चटगाँव नामक पहाडी क्षेत्र के पूर्व मे स्थित है। इसका विक्टोरिया नामक सर्वोच्च शिखर १०,०१८ फुट ऊँचा है। [न० कि० प्र० सिं०]

आरारत आस्ट्रेलिया के विक्टोरिया राज्य का एक नगर है। स्थिति (३७° १५' द० अ०, १४३° ०' पू० दे०)। यह पश्चिमी 'विक्टोरियन हाइलैंड्स' के पश्चिमी भाग मे १०३० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। जनसख्या १९४७ ई० मे ५,९५७ थी। यह सोने की खानो के लिये प्रसिद्ध है। यहाँ वर्षा २४ इच के लगभग होती है। इस क्षेत्र की मुख्य उपज गेहूँ तथा अगूर है। भेडो की चराई भी की जाती है। [न० कि० प्र० सिं०]

आरारत पूर्वी तुर्की के आर्मीनिया पठार के एक पर्वत का भी नाम है। यह पर्वत ज्वालामुखी चट्टान (ऐंडीसाइट) द्वारा बना है तथा इसके दो शिखर हैं—बडा 'आरारत' (१६,९१६ फुट ऊँचा) तथा छोटा 'आरारत' (१२,८४० फुट ऊँचा)। यहाँ १४,००० फुट के ऊपर अनेक छोटी हिमनदियाँ मिलती हैं। परपरागत किंवदती के अनुसार यह "नूह की नौका" का विश्रामस्थान था। सन् १८२९ ई० मे पहली बार इस पर्वत पर आरोहण कर विजय प्राप्त की गई थी। [न० कि० प्र० सिं०]

आरास आर्मीनिया की एक नदी है जो अरजेरुम के दक्षिण, फरात (यूफ्रेटीज) के उद्गम स्थान के समीप बिंज्यूलदाग पर्वत से निकलकर पूर्व की ओर लगभग ६३५ मील प्रवाहित हो स्वतत्र रूप से कैस्पियन सागर में गिरती है। सन् १८९७ ई० के पहले यह कुरा नदी की सहायक थी। तीव्रगामी होने के कारण यह नदी नाव चलाने योग्य नही है, किंतु सूखे क्षेत्रो के बीच बहने के कारण इससे सिंचाई होती है। [न० कि० प्र० सिं०]

आरिओस्तो, लूदोविको (१४७४-१५३३) पुनर्जागरणकाल के प्रसिद्ध इतालीय वीरकाव्य ओरलादो फूरिओसो के रचयिता लूदोविको आरिओस्तो का जन्म १४७४ मे रेज्जो एमीलिया में एक सभ्रात परिवार मे हुआ। विद्यार्थी जीवन मे साहित्य मे उनकी बडी रुचि थी, किंतु पिता की मृत्यु के पश्चात् उन्हे अपने छोटे भाई बहनो की देखरेख तथा सपत्ति सँभालने का भार लेना पडा और आर्थिक आवश्यकता के कारण नौकरी करनी पडी। वह कार्डिनल इप्पोलीतो द ऐस्ते के यहाँ १५०३ में पहुँचे और पद्रह वर्ष तक उनके साथ कार्य किया। इसी कार्यालय मे आरिओस्तो पोप जूलियो द्वितीय और लेओने दसवे के यहाँ कार्डिनल के राजदूत होकर गए। हगरी मे कार्डिनल इप्पोलीतो के साथ जाना उन्होने स्वीकार नही किया और सन् १५१७ मे उनकी नौकरी छूट गई। उसके बाद ड्यूक आल्फोसो के यहाँ नौकरी की जिन्होने आरिओस्तो को १५२२ मे गार्फान्याना (तोस्काना) मे अपना राजदूत बनाकर भेजा। आरिओस्तो को यह कार्य भी पसद नही था, वह स्वतत्र रहकर अध्ययन करना चाहते थे। उन्होने योग्यतापूर्वक कार्य किया, किंतु उनके कार्य की उचित सराहना नही की गई और १५२५ में वह फेर्रारा लौट आए। यहाँ उन्होने एक छोटा घर और खेत खरीदा और शातिपूर्वक अपना जीवन यही बिताया, अपनी कृतियो की रचना की और यही १५३३ में स्वर्गवासी हुए।

आरिओस्तो ने प्रारभ मे कुछ कविताएँ लातीनी मे तथा कुछ लातीनी अपभ्रंश मे लिखी। इसके अतिरिक्त सात व्यगकविताएँ तथा पाँच कमेडियाँ (सुखात नाट्यकृतियाँ) लिखी। पहले पहल इतालीय साहित्य मे इस प्रकार की नाट्यकृतियाँ लिखने का श्रेय आरिओस्तो को ही है। आरिओस्तो की सर्वश्रेष्ठ कृति है 'ओरलादो फूरिओसो'। पुनर्जागरणकाल की विशेषताओ से युक्त इतालीय साहित्य की यह सर्वोत्तम काव्यकृतियो मे से एक है। इस कृति को लिखने की प्रेरणा आरिओस्तो को बोइआर्दो की असमाप्त कृति ओरलादो इन्नामोरातो से मिली। जहाँ बोइआर्दो की कथा रह गई थी, वही से आरिओस्तो ने अपनी कृति प्रारभ की है। कथा का निर्वाह, पात्रो का चित्रण, रस का परिपाक, सभी दृष्टियो से यह बहुत सफल रचना है। आजेलिका के लिये ओरलादो का प्रेम, पेरिस के निकट ईसाइयो तथा सारासेनो मे युद्ध और रुज्जेरो तथा ब्रादामाते का प्रेम इस कृति की प्रधान कथाएँ हैं। पहली घटना का अच्छा विस्तार किया गया है और उत्कर्ष पर कथा वहाँ पहुँचती है जहाँ ओरलादो प्रेम मे पागल हो जाता है। इन तीन प्रधान घटनाओ से सबधित कृति मे और भी छोटी मोटी घटनाएँ कवि ने ग्रथित की हैं। कृति की वस्तु पुरानी कथाओ, प्राचीन काव्यकृतियो तथा लोककथाओ से ली गई है। कृति के प्रधान भाव प्रेम, सौदर्य और शृगारपरक उत्साह हैं। कवि के जीवनकाल मे ही यह कृति लोकप्रिय हो गई थी। फ्रासीसी मे इसका अनुवाद गद्य मे १५४३ तथा पद्य मे १५५५ मे हो गया था, अग्रेजी मे १५९१ मे और स्पेनिश में १५४९ मे हुआ। कृति पर अनेक टीकाएँ लिखी गई और वह चित्रो से सज्जित की गई। १६वी सदी मे पूरे यूरोप में ओरलादो फूरिओसो प्रसिद्ध हो गया था। दाते की कमेडी के पश्चात् ओरलादो की कृति कदाचित् सबसे अधिक लोकप्रिय रही है।

सं०ग्रं० —जू कार्दूच्ची ला जोवेतू दी लु० आ० ए० ला० पोइसिया लातीना ओपेरे ग्रथावली, भाग १५, लीरिका सपादक जू० फातीनी, बारी, १९२४, लेरीमे सपा० जू फातीनी, तूखि, १९३४, सतीरे सपा० जू तबारा, सीबोरनो, १९०३, कमेडिए सपा० एम० कातालानो, बोलोन, १९३३ तथा १९४०, ओरलादो फूरिओसो, सपा० देबेनेदेत्ती, बारी, १९२८, कोमे लावोरावा ल० आ०जी० कोतीनी, फ्लोरेंस, १९३६, आ० पर इतालीय में अनेक ग्रथ हैं जू० पेत्रोनियो, नेपल्स, १९३४, ना० सापेन्यो, मिलान, १९४०, बिन्नी, फ्लोरेंस, १९४२, फ्राचेस्को दे साक्तीस, स्तोरियाद, लेत्तेरातूरा, अध्याय १३ इत्यादि। [रा० सिं० तो०]

आरियन (एरियन, फ्लावियस आरियानस), बिथीनिया मे निकोमेदिया का ग्रीक निवासी। जन्म ल० ९६ ई० मे, मृत्यु ल० १८० ई० मे। इतिहासकार और दार्शनिक जो हाद्रियन, आतोनियस पियस और मार्कस ओरिलियस नामक रोमन सम्राटो का समकालीन था। सम्राट् हाद्रियन उसका बडा आदर करता था और उसने उसे कप्पादोशिया का शासक बना दिया। इतना उच्च पद तब तक किसी ग्रीक को न मिला था। उसने अधिकतर लेखनकार्य शासन से अवकाश प्राप्त करने पर किया। वह एपिक्तेतस का शिष्य और मित्र रहा था। उसके दर्शन के सबध मे उसने अनेक विचारात्मक निबध लिखे। पर अधिक विख्यात आरियन इतिहासकार के रूप मे है। उसके ऐतिहासिक वृत्तात पर्याप्त प्रामाणिक हैं। इतिहास तो उसने अनेक लिखे पर सिकदर सबधी सबसे अधिक विख्यात है। सिकदर के राज्यारोहण से लेकर उसकी मृत्यु तक की सभी घटनाएँ उसमे अकित है जिन्हे उसने तोलेमी आदि सिकदर के सेनापतियो की आँखो देखी घटनाओ के आधार पर लिखा। अत यह वृत्तात सिकदर का समकालीन होने से प्रामाणिक हो जाता है। उससे सिकदर की पजाब विजय पर भी प्रभूत प्रकाश पडता है। आरियन ने भारत के सबध मे एक और ग्रथ भी लिखा—'इंदिका', जिसमे सिकदरकालीन भारतीय इतिहासादि के सबध में सामग्री भरी पडी है। भारत के पश्चिमी ससार के साथ सागरीय व्यापार सबधी एक प्रसिद्ध ग्रथ, 'इरिथ्रियन सागर का पेरिप्लस', भी बहुत काल तक उसी का लिखा माना जाता था, परतु अब प्राय प्रमाणित हो गया है कि उस ग्रथ को किसी और ने उसके बाद लिखा। [भ० श० उ०]

इन पाँचो मे आकाश तो निर्विकार है तथा पृथ्वी सबसे स्थूल और सभी का आश्रय है। जो कुछ भी विकास या परिवर्तन होते है उनका प्रभाव इसी पर स्पष्ट रूप से पडता है। शेष तीन (वायु, तेज और जल) सब प्रकार के परिवर्तन या विकार उत्पन्न करने मे समर्थ होते हैं। अत तीनो की प्रचुरता के आधार पर, विभिन्न धातुओ एव उनके सघटको को वात, पित्त और कफ की सज्ञा दी गई है। सामान्य रूप से ये तीनो धातुएँ शरीर की पोषक होने के कारण विकृत होने पर अन्य धातुओ को भी दूषित करती हैं। अत दोष तथा मल रूप होने से मल कहलाती है। रोग में किसी भी कारण से इन्ही तीनो की न्यूनता या अधिकता होती है, जिसे दोषप्रकोप कहते हैं।

(२) **धातुदूषण**—कुछ पदार्थ या कारण ऐसे होते हैं जो किसी विशिष्ट धातु या अवयव में ही विकार करते हैं। इनका प्रभाव सारे शरीर पर नही होता। इन्हें धातुप्रदूषक कहते है।

(३) **उभयहेतु**—वे पदार्थ जो सारे शरीर में वात आदि दोषो को कुपित करते हुए भी किसी धातु या अगविशेष में ही विशेष विकार उत्पन्न करते है, उभयहेतु कहलाते है। किंतु इन तीनो में जो भी परिवर्तन होते हैं वे वात, पित्त या कफ इन तीनो में से किसी एक, दो या तीनो में ही विकार उत्पन्न करते हैं। अत ये ही तीनो दोष प्रधान शरीरगत कारण होते हैं, क्योकि इनके स्वाभाविक अनुपात में परिवर्तन होने से शरीर की धातुओ आदि मे भी विकृति होती है। रचना में विकार होने से क्रिया में भी विकार होना स्वाभाविक है। इस अस्वाभाविक रचना और क्रिया के परिणाम-स्वरूप अतिसार, कास आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं और इन लक्षणों के समूह को ही रोग कहते हैं।

इस प्रकार जिन पदार्थो के प्रभाव से वात आदि दोषो में विकृतियाँ होती हैं तथा वे वातादि दोष, जो शारीरिक धातुओ को विकृत करते हैं, दोनों ही हेतु (कारण) या निदान (आदिकारण) कहलाते हैं। अतत इनके दो अन्य महत्वपूर्ण भेदो का विचार अपेक्षित है (१) निज (इडियोपैथिक)—जब पूर्वोक्त कारणो से क्रमश शरीरगत वातादि दोष में, और उनके द्वारा धातुओ में, विकार उत्पन्न होते है तो उनको निज हेतु या निज रोग कहते है। (२) आगतुक (ऐक्सिडेंटल)—चोट लगना, आग से जलना, विद्युत्प्रभाव, साँप आदि विषैले जीवों के काटने या विषप्रयोग से जब एकाएक विकार होते हैं तो उनमें भी वातादि दोषो का विकार होते हुए भी, कारण की भिन्नता और प्रबलता से, वे कारण और उनमे उत्पन्न रोग आगतुक कहलाते है।

लिंग (लीज़म)—पूर्वोक्त कारणो से उत्पन्न विकारो की पहचान जिन साधनो द्वारा होती है उन्हें लिंग कहते हैं। इसके चार भेद हैं पूर्वरूप, रूप, सप्राप्ति और उपशय।

पूर्वरूप—किसी रोग के व्यक्त होने के पूर्व शरीर के भीतर हुई अत्यल्प या आरभिक विकृति के कारण जो लक्षण उत्पन्न होकर किसी रोगविशेष की उत्पत्ति की सभावना प्रकट करते हैं उन्हें पूर्वरूप (प्रोडामेटा) कहते है।

रूप (साइस ऐंड सिंप्टम्स)—जिन लक्षणो से रोग या विकृति का स्पष्ट परिचय मिलता है उन्हें रूप कहते हैं।

सप्राप्ति (पैथोजेनेसिस) किस कारण से कौन सा दोष स्वतत्र रूप मे या परतत्र रूप में, अकेले या दूसरे के साथ, कितने अश में और कितनी मात्रा में प्रकुपित होकर, किस धातु या किस अग में, किस स्वरूप का और कितना विकार उत्पन्न करता है, इनके निर्धारण को सप्राप्ति कहते हैं। चिकित्सा में इसी की महत्वपूर्ण उपयोगिता है। वस्तुत इन परिवर्तनो से ही ज्वरादि रूप मे रोग उत्पन्न होते है, अत इन्हें ही वास्तव में रोग भी कहा जा सकता है और इन्ही परिवर्तनो को ध्यान में रखकर की गई चिकित्सा भी सफल होती है।

उपशय और अनुपशय (थेराप्यूटिक टेस्ट)—जब अल्पता या सकीर्णता आदि के कारण रोगो के वास्तविक कारणो या स्वरूपो का निर्णय करने मे सदेह होता है, तब उस सदेह के निराकरण के लिये सभावित दोषो या विकारो में से किसी एक के विचार से उपयुक्त आहार विहार और औषध का प्रयोग करने पर जिससे लाभ होता है उसे उपशय तथा जिससे हानि होती है उसे अनुपशय कहते हैं। इस उपशय के विवेचन में आयुर्वेदाचार्यो ने छ प्रकार से आहार विहार और औषध के प्रयोगो का सूत्र बतलाते हुए उपशय के १८ भेदो का वर्णन किया है। ये सूत्र इतने महत्व के हैं कि इनमें से एक एक के आधार पर एक एक चिकित्सापद्धति का उदय हो गया है, जैसे, (१) हेतु के विपरीत आहार विहार या औषध का प्रयोग करना। (२) व्याधि, वेदना या लक्षणों के विपरीत आहार विहार या औषध का प्रयोग करना। स्वय ऐलोपैथी की स्थापना इसी पद्धति पर हुई थी [ऐलोज (विपरीत)+पैथोज (वेदना)=ऐलोपैथी]। (३) हेतु और व्याधि, दोनो के विपरीत आहार विहार और औषध का प्रयोग करना। (४) हेतुविपरीतार्थकारी, अर्थात् रोग के कारण के समान होते हुए भी उस कारण के विपरीत कार्य करनेवाले आहार आदि का प्रयोग, जैसे, आग से जलने पर सेंकने या गरम वस्तुओ का लेप करने से उस स्थान का रक्तसचार बढ़कर दोषों का स्थानांतरण होता है तथा रक्त का जमना रुकने से पाक के रुकने पर शांति मिलती है। (५) व्याधिविपरीतार्थकारी, अर्थात् रोग या वेदना को बढानेवाला प्रतीत होते हुए भी व्याधि के विपरीत कार्य करनेवाले आहार आदि का प्रयोग [होमियोपैथी से तुलना करें होमियो (समान)+पैथोज (वेदना)=होमियोपैथी]। (६) उभयविपरीतार्थकारी, अर्थात् कारण और वेदना दोनो के समान प्रतीत होते हुए भी दोनो के विपरीत कार्य करनेवाले आहार विहार और औषध का प्रयोग।

उपशय और अनुपशय से भी रोग की पहचान में सहायता मिलती है। अत इनको भी प्राचीनो ने 'लिंग' में ही गिना है। हेतु और लिंगों के द्वारा रोग का ज्ञान प्राप्त करने पर ही उसकी उचित और सफल चिकित्सा (औषध) सभव है। हेतु और लिंगों से रोग की परीक्षा होती है, किंतु इनके समुचित ज्ञान के लिये रोगी की परीक्षा करनी चाहिए। रोगी की परीक्षा के साधन चार हैं—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति।

आप्तोपदेश—योग्य अधिकारी, तप और ज्ञान से सपन्न होने के कारण, शास्त्रतत्वो को रागद्वेषशून्य बुद्धि से असदिग्ध और यथार्थ रूप से जानते और कहते हैं। ऐसे विद्वान्, अनुसधानशील, अनुभवी, पक्षपातहीन और यथार्थवक्ता महापुरुषो को आप्त (अथॉरिटी) और उनके वचनो या लेखो को आप्तोपदेश कहते है। आप्तजनो ने पूर्ण परीक्षा के बाद शास्त्रो का निर्माण कर उनमे एक एक रोग के सबध में लिखा है कि अमुक कारण से, इस दोष के प्रकुपित होने और इस धातु के दूषित होने तथा इस अग में आश्रित होने से, अमुक लक्षणोवाला अमुक रोग उत्पन्न होता है, उसमें अमुक अमुक परिवर्तन होते है तथा उसकी चिकित्सा के लिये इन आहार विहार और अमुक औषधियो के इस प्रकार उपयोग करने से तथा चिकित्सा करने से शांति होती है। इसलिये प्रथम योग्य और अनुभवी गुरुजनो से शास्त्र का अध्ययन करने पर रोग के हेतु, लिंग और औषधज्ञान में प्रवृत्ति होती है। शास्त्रवचनो के अनुसार ही लक्षणो की परीक्षा प्रत्यक्ष, अनुमान और युक्ति से की जाती है।

प्रत्यक्ष—मनोयोगपूर्वक इद्रियो द्वारा विषयो का अनुभव प्राप्त करने को प्रत्यक्ष कहते हैं। इसके द्वारा रोगी के शरीर के अग प्रत्यग में होनेवाले विभिन्न शब्दो (ध्वनियो) की परीक्षा कर उनके स्वाभाविक या अस्वाभाविक होने का ज्ञान श्रोत्रेंद्रिय द्वारा करना चाहिए। वर्ण, आकृति, लबाई, चौडाई आदि प्रमाण तथा छाया आदि का ज्ञान नेत्रो द्वारा, गधो का ज्ञान घ्राणेंद्रिय तथा शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध एव नाडी आदि के स्पदन आदि भावो का ज्ञान स्पर्शेंद्रिय द्वारा प्राप्त करना चाहिए। रोगी के शरीरगत रस की परीक्षा स्वय अपनी जीभ से करना उचित न होने के कारण, उसके शरीर या उससे निकले स्वेद, मूत्र, रक्त, पूय आदि में चीटी लगना या न लगना, मक्खियो का आना और न आना, कौए या कुत्ते आदि द्वारा खाना या न खाना, प्रत्यक्ष देखकर उनके स्वरूप का अनुमान किया जा सकता है।

अनुमान—युक्तिपूर्वक तर्क (ऊहापोह) के द्वारा प्राप्त ज्ञान अनुमान (इनफरेंस) है। जिन विषयो का प्रत्यक्ष नही हो सकता या प्रत्यक्ष होने पर भी उनके सबध में सदेह होता है वहाँ अनुमान द्वारा परीक्षा करनी चाहिए, यथा, पाचनशक्ति के आधार पर अग्निबल का, व्यायाम की शक्ति के आधार पर शारीरिक बल का, अपने विषयो को ग्रहण करने या न करने से इद्रियो की प्रकृति या विकृति का तथा इसी प्रकार भोजन मे रुचि, अरुचि तथा प्यास एव भय, शोक, क्रोध, इच्छा, द्वेष आदि मानसिक भावो के द्वारा विभिन्न

आरेंज फ्री स्टेट दक्षिण अफ्रीकी सघ का एक राज्य। इसके उत्तर एव उत्तर-पश्चिम मे ट्रासवाल, दक्षिण तथा दक्षिण पूर्व मे केप कालोनी तथा पूर्व मे वसूतोलैंड और नैटाल है। इसका क्षेत्रफल ४६,६४७ वर्ग मील तथा जनसख्या ८,७९,०७१ है। ब्लूमफाटेन यहाँ की राजधानी है। राज्य का अधिकतर भाग कही ऊँचा, कही नीचा मैदान है। समुद्रतट की अपेक्षा ऊँचाई ४,००० से ५,००० फुट तक घटती वढती है। वर्ष भर जलप्लावित रहनेवाली मुख्य नदियाँ वाल तथा आरेंज हैं, किंतु झरनो तथा उथलेपन के कारण ये यातायात के लिये उपयोगी नही हैं। वैसे तो देश स्वास्थ्यप्रद है, परतु ग्रीष्म ऋतु मे भीपण आँधियाँ आती हैं। शीत ऋतु बहुत ठढी रहती है। नदियो के किनारे उच्च भूमि पर झाऊ (विलो) के जगल मिलते हैं। यहाँ के पशु अफ्रीका के वेल्ट भाग के पशुओ के ही समान हैं।

हीरे जवाहरात तथा जिप्सम के उत्पादन मे इस राज्य का स्थान सघ मे द्वितीय तथा कोयले के उत्पादन मे तृतीय है। यहाँ पर कोयले का सचित कोप (रिजर्व) १,००,००,००,००० टन का है। उत्तरी तथा पूर्वी भागो मे वलुआ पत्थर और ग्रेनाइट भरा पडा है। सन् १९४६ ई० मे ओडेडाल जिले में सोने की खानो का भी पता चला।

राज्य का मुख्य धधा कृपि एव पशुपालन है। यहाँ पर अगोरा भेड, घोडे, गाय, खच्चर तथा गधे पाले जाते हैं। मक्का यहाँ की मुख्य उपज है, दूसरे शस्य जौ, ओट, राई, गेहूँ, आलू और मूँगफली है। वडे उद्योग धधे यहाँ कम उन्नति पर हैं जिनमे मुख्य मास उद्योग तथा दियासलाई आदि के उद्योग है।

श्वेत मानव के आने से पहले आरेंज नदी के उत्तर का भाग ज़ूलू, वेचुआना तथा वुशमैन इत्यादि आदिवासियो के अधीन था। १९०० ई० मे यह ब्रिटिश साम्राज्य मे मिलाया गया तथा अततोगत्वा दक्षिणी अफ्रीकी सघ का एक राज्य वन गया। [शि० म० सि०]

आरेंजवर्ग सयुक्त राज्य (अमरीका) के दक्षिणी कैरोलिना राज्य में आरेंजवर्ग जिले का मुख्य नगर है। यह नगर उत्तरी एडिस्टो नदी पर कोलविया नगर से ४७ मील दक्षिण-पूर्व और समुद्रतल से २६४ फुट की ऊँचाई पर अटलाटिक समुद्रतटीय मैदान मे स्थित है। यह सडक और रेलमार्गो द्वारा समीपवर्ती क्षेत्रो से सवद्ध है। यह सयुक्त राज्य के एक महत्वपूर्ण कृपीय जिले का व्यापारिक और औद्योगिक केंद्र है। मुख्य उपज कपास, इमारती लकडी, अडा और तरकारी है। यहाँ सूती कपडे बुनने, कपास से विनौले निकालने, वनस्पति तेल वनाने तथा लकडी चीरने इत्यादि के कारखाने हैं। यहाँ ५५ एकड क्षेत्रफल पर स्थित एडिस्टो उद्यान दर्शनीय है। यहाँ क्लैफिन विश्वविद्यालय (१८६९ मे स्थापित) और राजकीय कृपि तथा शिल्प विद्यालय (१८९६ में स्थापित) दोनो नीग्रो लोगो के लिये है। इस नगर की स्थापना लगभग १७०० ई० में आरेंज के राजकुमार विलियम के नाम पर हुई। कुल जनसख्या १५,३१५ है (१९५०)। [रा० ना० मा०]

आरेकीपा पेरू देश का तीसरा शहर तथा इसी नाम के प्रदेश की राजधानी है। यह समुद्रतल से ७,६०० फुट की ऊँचाई पर वसा है और मोलेडो वदरगाह से १०० मील दूर है। यह रायोचीली नदी की घाटी मे दोनो किनारे पर वसा हुआ है तथा इसके पास ही एलमिस्ती नामक ज्वालामुखी पर्वत (ऊँचाई १९,१६७ फुट) है। १८६८ ई० के भूकप में इस नगर को वहुत क्षति पहुँची। यह अपनी प्राकृतिक सुदरता के लिये प्रसिद्ध है तथा गोरी स्पेनिश जातिवालो की यहाँ वस्तियाँ है। यहाँ की जलवायु शुष्क है। गर्मी मे ५-६ इच वर्षा होती है। धार्मिक तथा व्यावसायिक दृष्टि से दक्षिणी पेरू का यह मुख्य केंद्र है। यहाँ का विश्वविद्यालय १८२८ ई० मे स्थापित हुआ था, जिसका नाम युनिवर्सिडैड नेशनल डसैन ऑगस्टिन है। यहाँ ऊन साफ किया जाता तथा वाहर भेजा जाता है। यहाँ ऊन तथा कपास के सामान, चाकलेट और विस्कुट के कारखाने, आटे की चक्कियाँ तथा मशीन वनाने के कारखाने है। पैन अमरीकी कपनी के हवाई जहाज इसको लीमा, प्यूनो, मौलेडो तथा अफ्रीका से सवद्ध करते है। यह अपने ठढे तथा गर्म सोतो के लिये प्रसिद्ध हैं। १९३० ई० मे इसकी आवादी ७९,१८५ थी। [नृ० कु० सि०]

आरेत्जो इटली देश के आरेत्जो प्रदेश की राजधानी है। यह फ्लोरेंस से ५४ मील दक्षिण-पूर्व में है। इसका पुराना नाम आर्टियम था और उस समय यह इटली के उन्नतिशील नगरो में से एक था। ३-४ ई० पूर्व मे यह रोम के विरुद्ध था, परतु हैनिवैल के आक्रमण मे इसने रोमवासियो की सहायता की। गाल्स के आक्रमण के समय यह चीनी मिट्टी के वरतनो के लिये प्रसिद्ध था। यह नगर वहुत से महान् पुरुपो का जन्मस्थान रहा है, जैसे पेट्रार्क, लियोनार्डो, आरेटिनो, सीएलपिनो, पोप जूलियस द्वितीय, मासकारी इत्यादि। आज भी यह नगर आकर्पण का केंद्र है। यहाँ की चौडी तथा चिकनी सडके, सग्रहालय, पुस्तकालय और १३वी सदी मे वना एक वडा गिरजाघर देखने लायक है। यह एक उपजाऊ मैदान के वीच मे स्थित है। इसके चारो ओर के प्रदेश मे अनाज, जैतून और फल उत्पन्न होते है। यहाँ मदिरा वनाई जाती है। यहाँ की जलवायु भूमध्यसागरीय है। जनसख्या २५,००० के लगभग है। यह एक पहाडी के ऊपर वसा हुआ है। यहाँ से सडके चारो ओर जाती हैं। यहाँ पर रेशमी कपडे, चमड़े के सामान तथा सूती कपडो की मिलें है। इस शहर के पास ही आर्नो नदी वहती है। [नृ० कु० सि०]

आरेलैस दक्षिण-पूर्व फ्रास का एक शहर तथा वूश-दु रोन जिला की राजधानी है। रेल से यह मार्सेल्स से ५४ मील उत्तर-पश्चिम मे पडता है। यह नगर नहर द्वारा वदरगाह से मिला हुआ है तथा लियो-मार्सेल्स रेलमार्ग पर पडता है। जूलियस सीज़र के काल मे यह आरलेट के नाम से प्रसिद्ध था। १०वी शताव्दी मे यह आर्ले राज्य की राजधानी वना। १२वी शताव्दी तक यह एक सुदर नगर वन गया। यहाँ की सडके सँकरी तथा टेढीमेढी है। नगर के केंद्र मे होटल-डि-ला-विये है जहाँ पुस्तकालय, सग्रहालय तथा एक प्राचीन गॉथिक गिरजाघर है। यह एक चूने के पत्थर के पहाड पर स्थित है। इस नगर का कोई व्यावसायिक महत्व नही है। यहाँ का मुख्य उद्योग रेशम का कपडा, मदिरा, जैतून का तेल इत्यादि वनाना है। १९४६ मे यहाँ की जनसख्या ३५,०१७ थी। [नृ० कु० सि०]

आरेस ज्यूस और हेरा के पुत्र, यूनानियो मे युद्ध के देवता माने जाते थे। ये युद्ध की भावना अथवा आवेग के प्रतीक थे तथा इनको युद्धो को भडकाने मे आनद आता था। युद्ध छिड जाने पर वे कभी एक पक्ष और कभी दूसरे को ग्रहण कर लेते थे, पर प्राय विदेशियो अथवा लडाकू लोगो का साथ देते थे। वे सर्वदा विजयी रहे हो ऐसा नही है, उनको दो वार अथीनी ने पराजित किया था और एक वार तो उनको १३ मास तक वदी रहना पडा। अनेक स्त्रियो से इनके वहुत सी सताने उत्पन्न हुई थी। अस्कलाफस्, दियोमेदेस्, किक्नस्, मेलेयागर् और फ्लेगियास् इनके पुत्र एव हार्मोनिया और अल्किप्पे इनकी पुत्रियाँ थी। पोसेइदन् के पुत्र हालिरोथियस् ने अल्किप्पे के साथ बलात्कार किया तो आरेस ने उनकी हत्या कर दी। इस कारण इनपर हत्या का अभियोग चला जिसमे इनको अपराधमुक्त घोषित किया गया। जिस न्यायालय मे यह अभियोग चलाया गया था वह ओरयोपागस् कहलाया। आरेस की पूजा ग्रीस देश के उत्तर और पश्चिम की जातियो मे अधिक प्रचलित थी। इनकी पूजा मे स्त्रियाँ अधिक भाग लेती थी। यह कोई उच्च आचरणवाले देवता नही थे। अनेक स्त्रियो, विशेपकर अफ्रोदीती के साथ इनका अवैध प्रेम था। इनके लिये कुत्तो की वलि दी जाती थी। इनका रोमन नाम मार्स है। [भो० ना० श०]

आरो (आर्रो) यहूदियो के पुरोहित वर्ग के सस्थापक और अध्यक्ष। हजरत मूसा के साथ उन्होंने यहूदियो का मिस्र से मुक्त होने मे नेतृत्व किया। पेंततुख के वर्णन के अनुसार आरो का चार घटनाओ से सवध था (१) मूसा के साथ यहूदियो का नेतृत्व करने मे, (२) रैफीदिम के सग्राम में मूसा की सहायता करने मे, (३) यहूदियो के पूजाचिह्न सोने का वछडा वनाने मे और (४) अपनी वहन मिरिअम के साथ मूसा के विरुद्ध इस आधार पर विद्रोह करने मे कि मूसा ने एक विदेशी स्त्री को अपनी पत्नी वनाया। यहूदियो के निर्वासनकाल के पूर्व यहूदी पुरोहित 'जादोक' वश के होते थे, किंतु निर्वासन के पश्चात् पुरोहितो की गद्दी आरो के वश मे आ गई। [वि० ना० पा०]

शस्त्रकर्म—विभिन्न अवस्थाओ मे निम्नलिखित आठ प्रकार के शस्त्रकर्मो मे से कोई एक या अनेक करने पडते है १ छेदन—काटकर दो फाँक करना या शरीर से अलग करना (एक्सिजन), २ भेदन—चीरना (इसिजन), ३ लेखन—खुरचना (स्क्रेपिंग या स्कैरिफिकेशन), ४ वेधन—नुकीले शस्त्र से छेदना (पक्चरिंग), ५ एषण (प्रोबिंग), ६ आहरण—खीचकर बाहर निकालना (एक्स्ट्रैक्शन), ७ विस्रावण—रक्त, पूय आदि को चुवाना (ड्रेनेज), ८ सीवन—सीना (स्यूचरिंग या स्टिचिंग)। इनके अतिरिक्त उत्पाटन (उखाडना), कुट्टन (कुचकुचाना, प्रिकिंग), मथन (मथना, ड्रिलिंग), दहन (जलाना, कॉटराइजेशन) आदि उपशस्त्रकर्म भी होते है। शस्त्रकर्म (ऑपरेशन) के पूर्व की तैयारी को पूर्वकर्म कहते है, जैसे रोगी का शोधन, यत्र (ब्लट इस्ट्रु मेंट्स), शस्त्र (शार्प इस्ट्रु मेंट्स) तथा शस्त्रकर्म के समय एव बाद मे आवश्यक रुई, वस्त्र, पट्टी, घृत, तेल, क्वाथ, लेप आदि की तैयारी और शुद्धि। वास्तविक शस्त्रकर्म को प्रधान कर्म कहते है। शस्त्रकर्म के बाद शोधन, रोहण, रोपण, त्वक्स्थापन, सवर्णीकरण, रोमजनन आदि उपाय पश्चात्कर्म है।

शस्त्रसाध्य तथा अन्य अनेक रोगो मे क्षार या अग्निप्रयोग के द्वारा भी चिकित्सा की जा सकती है। रक्त निकालने के लिये जोक, सीगी, तुवी, प्रच्छान तथा शिरावेध का प्रयोग होता है।

इस प्रकार आयुर्वेद की तीन स्थूल शाखाओ (हेतु, लिंग और औषध) का सक्षिप्त वर्णन किया गया है। विस्तृत विवेचन, विशेष चिकित्सा तथा सुगमता आदि के लिये आयुर्वेद को आठ भागो मे विभक्त किया गया है

(१) कायचिकित्सा (जेनरल मेडिसिन) इसमें सामान्य रूप से औषधिप्रयोग द्वारा रोगो की चिकित्सा की जाती है।

(२) शल्यतत्र (सर्जरी) शल्य का अर्थ कॉटा है, यह शस्त्र का निर्देशक है, अर्थात् शस्त्रसाध्य रोगो की चिकित्साविधि इस अग में वर्णित है।

(३) शालाक्यतत्र (डिज़ीजेज़ ऑव आई, ईयर, नोज ऐंड थ्रोट) गले के ऊपर के अगो की चिकित्सा में बहुधा शलाका (सलाई) सदृश यत्रो और शस्त्रो का प्रयोग होने से इसे शालाक्यतत्र कहते हैं।

(४) कौमारभृत्य (मिडवाइफरी, गायनिकॉलोजी तथा पीडिऐट्रिक्स) बच्चो, स्त्रियो, विशेषत गर्भिणी स्त्रियो और विशेष स्त्रीरोग के साथ गर्भविज्ञान का वर्णन इस तत्र मे है।

(५) अगद या विषतत्र (टॉक्सिकॉलोजी) इसमे विभिन्न स्थावर, जगम और कृत्रिम विषो, उनके लक्षणो तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन है।

(६) भूतविद्या इसमें देवादि ग्रहो द्वारा हुए विकारो और उनकी चिकित्सा का वर्णन है।

(७) रसायनतत्र (रीजुविनेशन) चिरकाल तक वृद्धावस्था के लक्षणो से वचते हुए उत्तम स्वास्थ्य, वल, पौरुप और दीर्घायु की प्राप्ति एव वृद्धावस्था के कारण हुए विकारो को दूर करने के उपाय इस तत्र में वर्णित है।

(८) वाजीकरण लौकिक दृष्टि से गृहस्थाश्रम मे रहते हुए उसके उचित उपयोग के साथ शुक्र की उत्पत्ति, शुद्धि और पुष्टता तथा शुक्र-क्षयजन्य विकारो की चिकित्सा एव उत्तम और स्वस्थ सतान के उत्पादन के उपाय इस तत्र मे वर्णित है।

मानस रोग (मेंटल डिजीजेज)—मन भी आयु का उपादान है। मन के पूर्वोक्त रज और तम इन दो दोषो से दूषित होने पर मानसिक सतुलन विगडने का इद्रियो और शरीर पर भी प्रभाव पडता है। शरीर और इद्रियो के स्वस्थ होने पर भी मनोदोष से मनुष्य के जीवन मे अस्तव्यस्तता आने से आयु का ह्रास होता है। उसकी चिकित्सा के लिये मन के शरीराश्रित होने से शारीरिक शुद्धि आदि के साथ ज्ञान, विज्ञान, सयम, मन समाधि, हर्षण, आश्वासन आदि मानस उपचार करन चाहिए, मन को क्षोभक आहार विहार आदि से वचाना चाहिए तथा मानस-रोग-विशेषज्ञो से उपचार कराना चाहिए।

इद्रियाँ—ये आयुर्वेद मे भौतिक मानी गई है। ये शरीराश्रित तथा मनोनियत्रित होती है। अत शरीर और मन के आधार पर ही इनके रोगो की चिकित्सा की जाती है।

आत्मा को पहले ही निर्विकार वताया गया है। उसके साधनो (मन और इद्रियो) तथा आधार (शरीर) में विकार होने पर इन सबकी सचालक आत्मा मे विकार का हमें आभास मात्र होता है। किंतु पूर्वकृत अशुभ कर्मो के परिणामस्वरूप आत्मा को भी विविध योनियो में जन्मग्रहण आदि भवबधनरूपी रोग से बचाने के लिये, इसके प्रधान उपकरण मन को शुद्ध करने के लिये, सत्सगति, ज्ञान, वैराग्य, धर्मशास्त्रचिंतन, व्रत, उपवास आदि करना चाहिए। इनसे तथा यम नियम आदि योगाभ्यास द्वारा स्मृति (तत्वज्ञान) की उत्पत्ति होने से कर्मसन्यास द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसे नैष्ठिकी चिकित्सा कहते हैं। क्योकि ससार द्वद्वमय है, जहाँ सुख है वहाँ दु ख भी है, अत आत्यतिक (सतत) सुख तो द्वद्वमुक्त होने पर ही मिलता है और उसी को कहते है मोक्ष। [य० उ०]

आयुस्

चद्रवशी सम्राटो मे पुरूरवा के पुत्र। उनकी माता का नाम उर्वशी था। पुरूरवा और उर्वशी की कहानी शतपथब्राह्मण में दी हुई है। उनके सयोग से आयुस् का जन्म हुआ। आयुस् की वशपरपरा को आगे ले चलनेवाले राजा नहुष छात्रवृद्ध थे। [च० म०]

आयूथिया

(अयोध्या) १३५० ई० से १७६७ ई० तक स्याम की राजधानी था। यह मिनाम चो फिया और लोयवरी नदियो के सगम पर एक द्वीप में बैंकाक से ४२ मील की दूरी पर स्थित है। परतु इस समय यहाँ के अधिकाश मनुष्य इस द्वीप के समीप मिनाम चो फिया नदी के किनारे रेलमार्ग के समीप निवास करते है। इस नगर का विध्वस १५५५ मे और फिर १७६७ ई० में बर्मी सेनाओ द्वारा हुआ था। १७६७ ई० के आक्रमण मे बहुमूल्य ऐतिहासिक लेख, निवासस्थान और राजभवन नष्ट हो गए। राजभवन के अवशेषो को वर्तमान राजधानी बैंकाक के भवनो के निर्माण मे लगाया गया।

आयूथिया विश्व के एक महत्वपूर्ण चावल निर्यातक क्षेत्र के मध्य में स्थित है। यहाँ ५० इच वार्षिक वर्षा होती है, जो चावल की उपज के लिये पूर्णत अनुकूल है। आयूथिया का 'चगवत' (प्रात) स्याम के कुल ७० चगवतो में चावल के उत्पादन मे प्रथम है। यहाँ का मत्स्य उद्योग भी महत्वपूर्ण है। यहाँ स्थित सैकडो नहरें यातायात के मुख्य साधन है। बहुत से निवासी नौकाओ पर वास करते है। शीघ्रगामिनी मोटर नौकाएँ मिनाम नदी द्वारा इस नगर का सबध बैंकाक और अन्य नगरो से स्थापित करती है। आयूथिया चावल और सागौन (टीक) की लकडी का व्यापारिक केद्र है। कुल जनसख्या लगभग १७,००० है (१९५१)। [रा० ना० मा०]

आयोडीन

रसायनशास्त्र मे एक तत्व है। इसके रवे चमकदार तथा गाढे नीले काले रग के होते हैं और वाष्प बैंगनी होता है। इस नए तत्व का अन्वेषण बर्नार्ड कूर्ट्वा ने किया और जे० एल० गे लुसक ने इसके गुणो के अध्ययन से (१८१३) इसमे तथा क्लोरीन मे समानता तथा इसकी तात्विक प्रकृति को स्पष्ट किया। इसके बैंगनी रग के कारण उसने इसका नाम आयोडीन रखा। हफ्री डेवी ने इसके गुणो का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया।

आयोडीन यौगिक रूप मे बहुत सी वस्तुओ मे पाया जाता है। इनमे इसका अनुपात साधारणतया कम होता है। समुद्री जल, वनस्पतियो तथा जीवो में इसके यौगिक मिलते है। कई खनिज पदार्थो मे, कुछ झरनो के जल तथा वायु मे भी आयोडीन का पता लगा है। चिली देश के अशुद्ध शोरे मे इसकी मात्रा कुछ अधिक होती है और व्यापारिक स्तर पर इसका उपयोग होता है। मनुष्य के शरीर के कई भागो में भी आयोडीन कार्बनिक यौगिक के रूप में मिलता है, विशेषकर थाइरायड, लिवर, त्वचा, केश आदि मे। मछली के तेल मे भी आयोडीन रहता है। पेट्रोलियम के कुओ के नमकीन घोल मे भी आयोडीन मिलता है।

आयोडाइडो से किसी भी दूसरी हैलोजन द्वारा आयोडीन प्राप्त किया जा सकता है। परतु हैलोजन की मात्रा अधिक होने पर स्वय आयोडीन का उस हैलोजन से यौगिक वनता है। पोटैसियम आयोडाइड से क्लोरीन गैस आयोडीन देती है, परतु आयोडाइड से आयोडीन प्राप्त करने के लिये
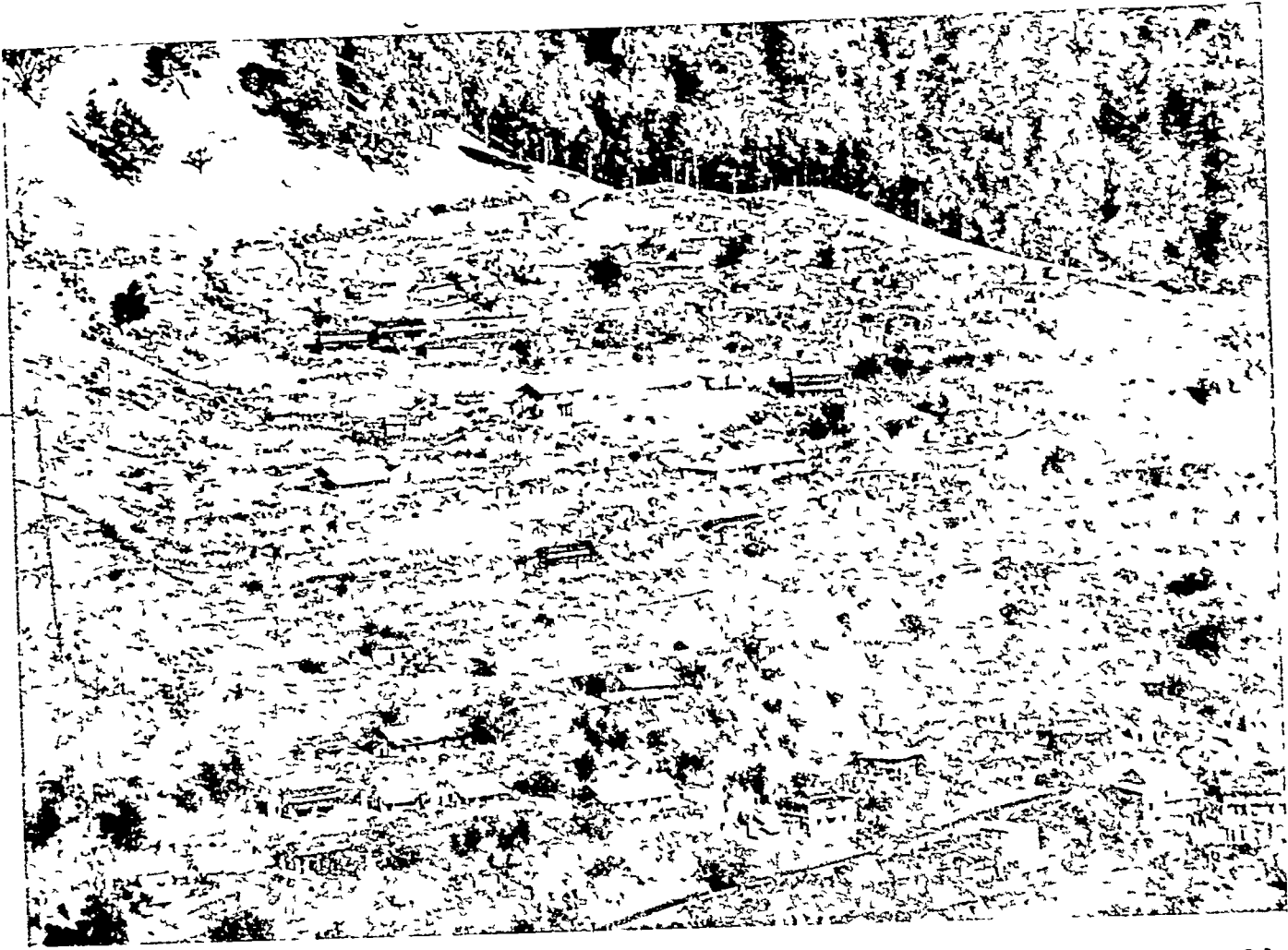
प्रभाकर द्विवेदी
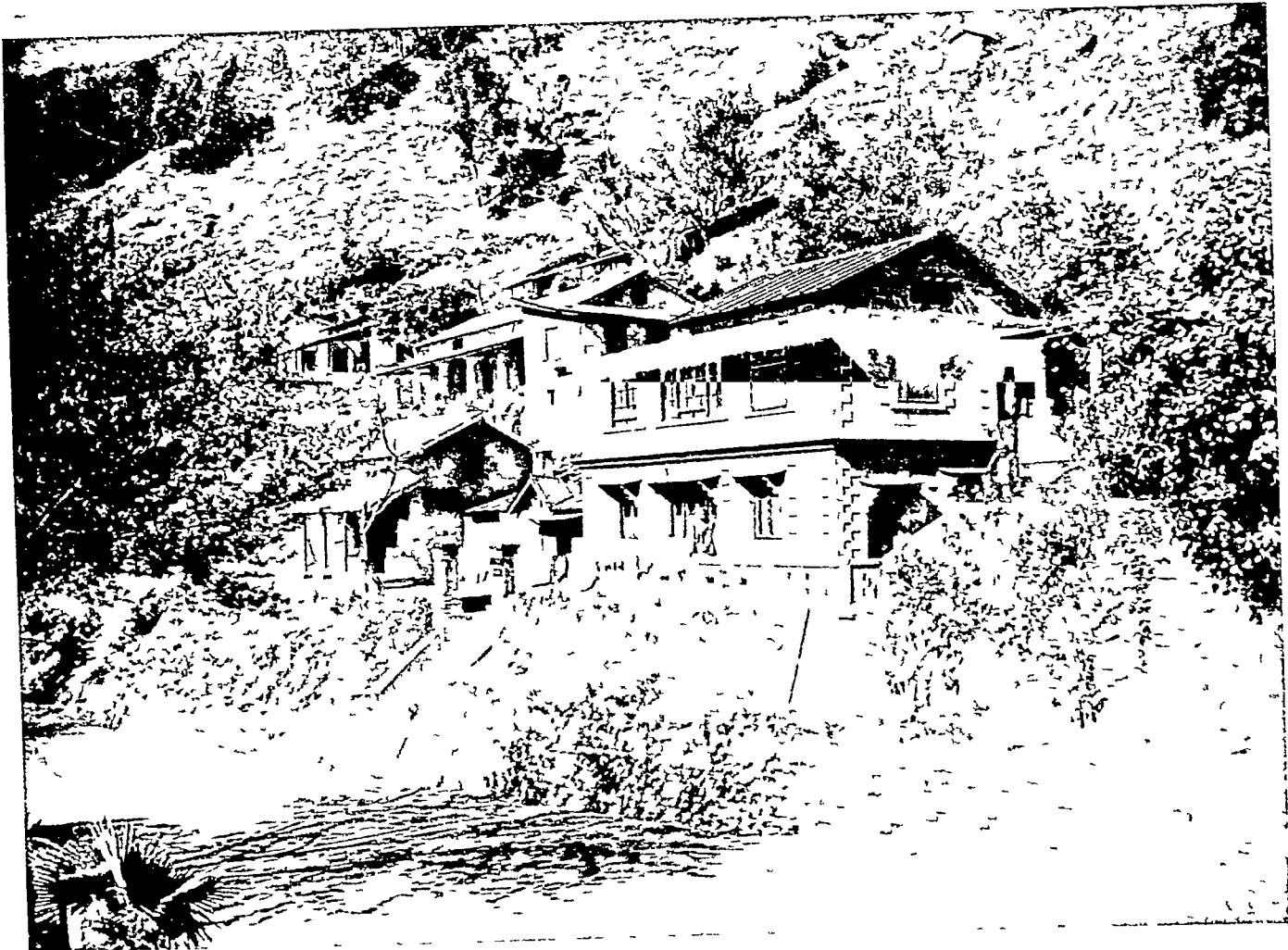
प्रभाकर द्विवेदी

आरोग्य आश्रम

ऊपर भुवाली आरोग्य आश्रम का विहगम दृश्य, नीचे आरोग्य आश्रम का एक भवन (देखे पृष्ठ ३९८)।

'सिनेरियो' और गाने इत्यादि लिखे। न्यू थिएटर्स (कलकत्ता) के साथ आपने काम किया। फिर बबई चले गए और वहाँ बहुत सी फिल्मो मे गाने और सवाद लिखे।

आपकी सर्वप्रियता का सबसे बडा कारण यह है कि गजलो में भी आप बहुत कम फारसी और अरबी शब्दो का प्रयोग करते थे। आपके दो सग्रह है 'जहाने आरजू' और 'फुगाने आरजू', और एक सग्रह है 'सुरीली-बाँसुरी' जिसमे आपके खालिस बोलचाल की भाषा मे लिखे हुए शेर हैं। मरने के कुछ समय पूर्व आप कराची चले गए थे जहाँ १९५१मे आपका देहात हुआ। [र० स० ज०]

आरण्यक वेद का एक प्रधान व्याख्यात्मक गद्य भाग। वेद मत्र तथा ब्राह्मण का समिलित अभिधान है। मत्रब्राह्मणयो-र्वेदनामधेयम् (आपस्तबसूत्र)। ब्राह्मण के तीन भागो मे आरण्यक अन्यतम भाग है। सायण के अनुसार इस नामकरण का कारण यह है कि इन ग्रथो का अध्ययन अरण्य मे किया जाता था। आरण्यक का मुख्य विषय यज्ञभागो का अनुष्ठान न होकर तदतर्गत अनुष्ठानो की आध्यात्मिक मीमासा है। वस्तुत यज्ञ का अनुष्ठान एक नितात रहस्यपूर्ण प्रतीकात्मक व्यापार है और इस प्रतीक का पूरा विवरण आरण्यक ग्रथो में दिया गया है। प्राणविद्या की महिमा का भी प्रतिपादन इन ग्रथो मे विशेष रूप से किया गया है। सहिता के मत्रो में इस विद्या का बीज अवश्य उपलब्ध होता है, परतु आरण्यको मे इसी को पल्लवित किया गया है। तथ्य यह है कि उपनिषदे आरण्यक मे सकेतित तथ्यो की विशद व्याख्या करती हैं। इस प्रकार सहिता से उपनिषदो के बीच की शृखला इस साहित्य द्वारा पूर्ण की जाती है। आरण्यको के मुख्य ग्रथ निम्नलिखित हैं (क) **ऐतरेय** तथा (ख) **शाखायन** आरण्यक जिनका सबध ऋग्वेद से है। ऐतरेय के भीतर पाँच मुख्य अध्याय (आरण्यक) है जिनमे प्रथम तीन के रचयिता ऐतरेय, चतुर्थ के आश्वलायन तथा पचम के शौनक माने जाते हैं। डाक्टर कीथ इसे निरुक्त की अपेक्षा अर्वाचीन मानकर इसका रचनाकाल षष्ठ शताब्दी विक्रमपूर्व मानते है, परतु वस्तुत यह निरुक्त से प्राचीनतर है। ऐतरेय के प्रथम तीन आरण्यको के कर्ता महिदास हैं इससे उन्हें ऐतरेय ब्राह्मण का समकालीन मानना न्याय्य है।

शाखायन ऐतरेय आरण्यक के समान है तथा पद्रह अध्यायो में विभक्त है जिसका एक अश (तीसरे अ० से छठ अ० तक) कौषीतकि उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। (ग) **तैत्तिरीय** आरण्यक दस परिच्छेदो (प्रपाठको) में विभक्त है, जिन्हे 'अरण' कहते है। इनमे सप्तम, अष्टम तथा नवम प्रपाठक मिलकर 'तैत्तिरीय उपनिषद्' कहलाते है। (घ) **बृहदारण्यक** वस्तुत शुक्ल यजुर्वेद का एक आरण्यक ही है, परतु आध्यात्मिक तथ्यो की प्रचुरता के कारण यह उपनिषदो में गिना जाता है। सामवेद से सबद्ध एक ही आरण्यक है। (ड) **तवलकार** (आरण्यक) जिसमे चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय मे कई अनुवाक। चतुर्थ अध्याय के दशम अनुवाक मे प्रख्यात तवलकार (या केन) उपनिषद् है। अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नही है।

स०ग्र०—भगवद्दत्त वैदिक साहित्य का इतिहास, लाहौर १९३५, मैक्डानेल हिस्ट्री ऑव सस्कृत लिटरेचर, लदन, १८९९, बलदेव उपाध्याय वैदिक साहित्य और सस्कृति, काशी, १९५८।
[ब० उ०]

आरबेला उत्तरी-पूर्वी मेसोपोटेमिया (ईराक) की तलहटी मे, मोसूल से ४८ मील दक्षिण-पूर्व (३६° उत्तरी अक्षाश, ४४° पूर्वी देशातर) स्थित एक नगर है। यह नगर गेहूँ के बहुत ही उपजाऊ क्षेत्र मे, छोटी और बडी जाब नदियो के बीच, पर्वत के किनारे पर बसा है। इस प्रदेश मे अनाज की अच्छी उपज होती है और इसका व्यापार टाइग्रिस नदी द्वारा बगदाद तक होता है। यह मोसूल, बगदाद तथा मोसूल-रोवा-दुज़ कारवाँमार्गो पर पडता है। मोसूल से एक रेलवे शाखा आरबेला तक जाती है। यहाँ की आबादी करीब २५,००० है और अधिकतर इसमे कुर्द जाति के लोग है। [नृ० कु० सिं०]

आरांथा पेद्रो पाबलो आबार्का थ बोलिया (१७१९-९८), काउट, स्पैनिश सेनापति और मत्री। अरागान के अतर्गत ह्यूएस्का के समीप ऐत्ता दो किले मे १ अगस्त, १७१९ को पैदा हुआ। जीवन का पहला भाग यात्रा, सेना और राजनीति मे बीता। इसने स्पैनी सेना में प्रशियाई प्रणाली की कवायद चलाई। सैनिक ठेकेदारो को दड न देने पर रुष्ट होकर इसने डाइरेक्टर-जनरल के पद से इस्तीफा दे दिया लेकिन चार्ल्स तृतीय का कृपापात्र बना रहा। कास्तिल कौंसिल का अध्यक्ष बनाया गया। यहाँ इसने अनेक सुधार किए।

यह अनथक परिश्रमी और लोकप्रिय, किंतु साथ ही अभिमानी और असहिष्णु भी था। फाकलैंड द्वीप के मामले में स्पेन को नीचा देखना पडा और इस अपमान के लिये यही जिम्मेदार ठहराया गया। अत राजदूत बनाकर पेरिस भेजा गया जहाँ १७७७ तक रहा। चार्ल्स चतुर्थ के समय १७९२ में अल्प काल के लिये प्रधान मत्री बना। इसका स्वभाव बहुत उग्र हो गया था। क्रोध अनियत्रित था। राजा तक से मजाक करता था फलत कैद किया गया। ९ जनवरी, १७९८ को इसका स्वर्गवास हो गया। [अ० कु० वि०]

आरा भारत के बिहार प्रात के शाहाबाद जिले का प्रमुख नगर तथा व्यापारिक केंद्र है। (स्थिति २५° ३४' उ० अ० और ८४° ४०' पू० दे०।) यह नगर वाराणसी से १३६ मील पूर्व-उत्तर-पूर्व, पटना से ३७ मील पश्चिम, गगा नदी से १४ मील दक्षिण और सोन नदी से ८ मील पश्चिम में स्थित है। यह पूर्वी रेलवे की प्रधान शाखा तथा आरा-सासाराम रेलवे लाइन का जक्शन है। डिहरी से निकलनेवाली सोन की पूर्वी नहर की प्रमुख 'आरा नहर' शाखा भी यहाँ से होकर जाती है।

आरा अति प्राचीन ऐतिहासिक नगर है। इसकी प्राचीनता का सबध महाभारतकाल से है। पाडवो ने भी अपना गुप्त वासकाल यहाँ बिताया था। जेनरल कनिंघम के अनुसार युवानच्वाग द्वारा उल्लिखित कहानी का सबध, जिसमें अशोक ने दानवो के बौद्ध होने के सस्मरणस्वरूप एक बौद्ध स्तूप खडा किया था, इसी स्थान से है। आरा के पास के मसार ग्राम मे प्राप्त जैन अभिलेखो मे उल्लिखित 'आरामनगर' नाम भी इसी नगर के लिये आया है। पुराणो में लिखित मोरध्वज की कथा से भी इस नगर का सबध बताया जाता है। बुकानन ने इस नगर के नामकरण मे भौगोलिक कारण बताते हुए कहा कि गगा के दक्षिण ऊँचे स्थान पर स्थित होने के कारण, अर्थात् आड या अरार में होने के कारण, इसका नाम 'आरा' पडा। १८५७ के प्रथम भारतीय स्वतत्रतायुद्ध के प्रमुख सेनानी कुँवरसिंह की कार्यस्थली होने का गौरव भी इस नगर को प्राप्त है।

गगा और सोन की उपजाऊ घाटी मे स्थित होने के कारण यह अनाज का प्रमुख व्यापारिक क्षेत्र तथा वितरणकेंद्र है। यहाँ दो स्नातक विद्यालय (डिगरी कालेज) हैं। रेलो और पक्की सडको द्वारा यह पटना, वाराणसी, सासाराम आदि से सबद्ध है।

नगर षड्भुजाकार है और इसका क्षेत्रफल ६ वर्ग मील है। नगर के आकार पर धरातल का प्रभाव अधिक है। बहुधा सोन नदी की बाढो से अधिकाश नगर क्षतिग्रस्त हो जाता है। सन् १९५१ मे इसकी जनसख्या ६४,२०५ थी। प्राशासनिक केद्र होने के कारण यहाँ की ४० प्रति शत जनसख्या वकालत, डाक्टरी, नौकरी एव प्राशासनिक कार्यो मे लगी है। २२ २ प्रति शत लोग व्यापार से तथा २४ ३ प्रति शत कृषि से जीविकोपार्जन करते हैं। उद्योग धधे मे लगे लोगो की सख्या अपेक्षाकृत बहुत ही कम है। [नृ० कु० सिं०]

आराकान बर्मा का एक प्रात, चटगाँव तथा बगाल की खाडी के पूर्व और लुशाई एव चिन पहाडियो के दक्षिण मे स्थित है। इसके अतर्गत अक्याब, उत्तर आराकान, क्यौकप्यू तथा सडोवे नामक चार जिले हैं। क्षेत्रफल लगभग १६,००० वर्ग मील, जनसख्या ११,८९,७३८ (१९४१ ई०)। यह पहाडी प्रात उत्तर से दक्षिण तक ५०० मील लबा है। इसकी चौडाई उत्तर मे ९० मील है, जो दक्षिण मे सँकरी होकर केवल १५ मील रह जाती है। कालादान, लम्रो, मायू इत्यादि यहाँ की मुख्य

ये विश्व के अत्यधिक शुष्क प्रदेश हैं, जिससे इन्हे शीत मरुस्थल भी कहते है। औसत वार्षिक वृष्टि लगभग १० इंच है जो मुख्यत हिम के रूप मे होती है। वर्ष के अधिकाश समय ठंढी ध्रुवी हवाएँ अति तीव्र गति से चलती रहती है।

प्राकृतिक सपत्ति—यहाँ के खनिज पदार्थो की खोज की ओर अभी तक अधिक ध्यान आकर्षित नही हुआ है। मुख्यत पत्थर का कोयला, मिट्टी का तेल, लोहा और ताँवा इत्यादि खनिजो का ही कुछ मात्रा मे उत्खनन हुआ है और सोना, चाँदी प्लैटिनम और टिन इत्यादि की केवल उपस्थिति ही ज्ञात हुई है। आर्कटिक वनस्पति मुख्यत फर्न, लाइकेन और मॉस है। इनके अलावा ग्रीष्मकाल मे छोटे छोटे रग विरगे फूलोवाले पौधे और छोटी छोटी वेर की झाडियाँ उग आती हैं। ये प्रदेश लगभग वृक्षहीन है, केवल दक्षिणी भागो मे नदियो के किनारे छोटे कद के वर्च इत्यादि तथा कोणधारी वृक्ष उगते है। कुछ भागो मे अनाज और शाक उत्पादन की सभावनाएँ हैं और इस हेतु विशेष रूप से प्रयत्न किए जा रहे है। आर्कटिक प्रदेशो मे विविध प्रकार के जीव जतु पाए जाते है, जैसे कस्तूरीवृष (मस्क ऑक्स), लोमडी, कैरिवू, भेडिया, लेमिग, खरगोश, ध्रुवीय भालू इत्यादि। रोएँदार पशुओ मे वीवर, ऑटर, लिक्स तथा सेवुल मुख्य हैं। पालतू जानवरो मे यूरेशिया के आर्कटिक प्रदेश मे पाया जानेवाला पशु रेनडियर है। यहाँ के जल-क्षेत्रो मे मुख्यत सील, ह्वेल और वालरस पाए जाते हैं।

मनुष्य तथा व्यवसाय—आर्कटिक प्रदेशो के निवासियो का मुख्य उद्योग शिकार करना तथा मछली पकडना है। कृषि के अभाव मे इनकी भोजन, वस्त्र, आश्रय, यातायात इत्यादि की आवश्यकताओ की पूर्ति पशुओ द्वारा होती है। सपूर्ण यूरेशिया के आर्कटिक प्रदेश के लिये रेनडियर बहुत वडी देन है, जिसके द्वारा भोजन के लिये मास और दूध, वस्त्र और तवुओ के लिये खाल, अस्त्रशस्त्रो के लिये हड्डी और सीग तथा जलाने और प्रकाश के लिये चरवी मिलती है। यहाँ यातायात का मुख्य साधन विना पहिए-वाली स्लेज गाडी है जिसे रेनडियर खीचते है। यूरेशिया के आर्कटिक प्रदेश के निवासियो को लैप्स, फिन्स, आस्टेक्स, यूरियट्स, सैमोयड तथा याकूत कहते है। ये सब अस्थिरवासी (खानावदोश) हैं जो भोजन की खोज में इधर उधर घूमते फिरते हैं। ये अधिकतर चमडे के तवुओ मे निवास करते हैं जिन्हे चूम कहते हैं।

उत्तरी अमरीका के आर्कटिक प्रदेशो और ग्रीनलैंड मे एस्किमो जाति के लोग निवास करते है। यहाँ के प्राकृतिक साधन यूरेशिया के आर्कटिक प्रदेश से मिलते जुलते हैं इसलिये रहन सहन की दशाओ मे भी समानता पाई जाती है। परतु यहाँ का मुख्य जानवर पालतू रेनडियर न होकर जगली करिवू है। अव कुछ स्थानो मे रेनडियर पाला जाने लगा है जो यूरेशिया से लाया गया है। यहाँ के निवासी मुख्यत समुद्रतटो पर रहते हैं और सील, ह्वेल और वालरस का शिकार करके मास, तेल, हड्डी, खाल इत्यादि प्राप्त करते है। शीत-काल मे वर्फ के अदर छेद करके हारपून (भाले) से मछली पकडते हैं और वर्फ के घरो मे, जिन्हे इग्लू कहते है, निवास करते है। ग्रीष्मकाल मे रहने के लिये तवुओ और लट्ठो की झोपडियो का प्रयोग करते है। ये यातायात के लिये नावो का उपयोग करते है। छोटी नाव कायक और वडी नाव उमियक कहलाती है। शक्तिशाली कुत्तो द्वारा खीची जानेवाली स्लेज गाडी का भी उपयोग होता है।

इस प्रकार आर्कटिक प्रदेशो के निवासियो का जीवन प्रकृति से निरतर सघर्प मे व्यतीत होता है। आशा है, भविष्य मे यहाँ उपस्थित पत्थर का कोयला, मिट्टी का तेल तथा अन्य खनिज पदार्थो के वढते हुए उत्पादन के साथ साथ ये प्रदेश भी आर्थिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण हो जायँगे और इसके साथ ही यहाँ के निवासियो का जीवनस्तर भी ऊँचा उठ सकेगा। उत्तरी ध्रुव से होकर वायुयानसचालन का महत्व वढ जाने से भी इन प्रदेशो की आर्थिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है।

[रा० ना० मा०]

आर्कन

प्राचीन एथेस मे मुख्य पुरशासक (मैजिस्ट्रेट) सस्था या उसके सदस्य का पद। यह सस्था प्राचीन राजाओ का प्रतिनिधान करती थी, जिनकी निरकुश शक्ति शनै शनै कम होती जा रही थी तथा केवल धार्मिक कार्यो को छोड तीन सस्थाओ—पोलीमार्क, आर्कन तथा थेसमो-थेतायी—के वीच वँट गई थी।

आर्कन मे नौ सदस्य होते थे। आरभ मे यह पद उच्च कुल के व्यक्तियो के ही हाथ मे था। सोलन ने इसे प्रजातात्रिक रूप दिया। विधान के अनुसार विना झगडे के सवको समान अवसर प्रदान करने के लिये पहले चारो वर्ग दस दस व्यक्तियो का चुनाव करते थे, फिर उन व्यक्तियो मे से नौ आर्कनो का चुनाव होता था। सदस्यो का चुनाव एक वर्ष के लिये उन व्यक्तियो मे से होता था जिनकी अवस्था ३० वर्ष से ऊपर हो। जब तक सब नागरिको की वारी न आ जाय तब तक कोई व्यक्ति चुनाव के लिये दुवारा नही खडा हो सकता था। पदग्रहण करने से पूर्व सदस्य को योग्यता की परीक्षा मे उत्तीर्ण होना आवश्यक था। सफल व्यक्ति को जनता के समुख ईमानदारी की शपथ लेनी पडती थी।

कार्यावधि के पश्चात् सत्यनिष्ठ सदस्य ऐरियोपागस सभा के सदस्य बन जाते थे। यह सस्था कानून की रक्षा करती थी तथा आर्कन के कार्यो पर दृष्टि रखती थी। जनता के साथ दुर्व्यवहार करने पर आर्कन पर महाभियोग लगाया जा सकता था। अरस्तू के अनुसार आर्कन का सामुदायिक उत्तरदायित्व सोलन के समय आरभ हुआ।

सोलन के समय आर्कन कानूनी विषयो पर अतिम निर्णय भी देती थी, केवल प्राथमिक सुनवाई ही नही करती थी। ४८७ ई० पू० से इसका महत्व कम होता गया तथा कार्य नियमित मात्र ही रह गए।

स०ग्र०—एव्रीमैन्स एन्साइक्लोपीडिया, प्रथम भाग, इन्साइक्लो-पीडिया व्रिटेनिका, द्वितीय भाग , एल० ह्वीवले कपैनियन टु ग्रीक स्टडीज, अरीस्टोटल एथीनीयन कास्टीटयूशन। [ता० म०]

आर्कनी द्वीप

स्कॉटलैंड के उत्तरी समुद्रतट के समीप स्थित द्वीपो का एक समूह है जिसका कुल क्षेत्रफल ३७५ ५ वर्ग मील है। आर्कनी शब्द सभवत नॉर्स भाषा के आरकन (सील मछली) तथा ई (द्वीप) शब्दो से सवद्ध है। ये द्वीप लगभग छ मील चौडी पेटलैंड फर्थ द्वारा स्थल-खड से पृथक् है। इसके अतर्गत ६७ द्वीप है (छोटे छोटे चट्टानी द्वीपो को छोडकर)। इनमे से केवल आधे द्वीप ही आवाद हैं। ये सव द्वीप आर्कनी जिले के अतर्गत आते हैं। इस जिले की राजधानी किर्कवाल है जो विशालतम द्वीप पमोना मे स्थित है। ये द्वीप पूर्णत प्राचीन लाल वालुकाश्म (रेड सैंड-स्टोन) द्वारा निर्मित और वृक्षहीन हैं। ये नीचे द्वीप है जिनकी समुद्र-तल से अधिकतम ऊँचाई १,००० फुट से अधिक नही है। द्वीपो की तटरेखा अत्यधिक कटी फटी है। हिमनदी के प्रभावचिह्न स्पष्ट रूप मे विद्यमान है। कुल जनसख्या २१,२५८ है (१९५१)। लगभग आधी जनसख्या का व्यवसाय कृषि है। इसके अतिरिक्त मत्स्य उद्योग महत्वपूर्ण है।

[रा० ना० मा०

आर्कलाउस, कपादोशिया का

रोमन राजा नीरो का समकालीन व्याख्याता और टीकाकार था। तत्कालीन व्यग्य और हास्य रस के प्रसिद्ध लेखक और कवि लुसीलियस का मित्र। वेत्तिअस फीलोकोमस् की तरह यह भी लुसीलियस की रचनाओ का एक व्याख्याता, टीकाकार और समालोचक था। [अ० कि० ना०]

आर्कादियस

(३७८–४०८ ई०), रोमन सम्राट् जो ३९५ ई० मे रोम की गद्दी पर वैठा। उसी के समय रोमन साम्राज्य के दो भाग कर दिए गए। पश्चिमी साम्राज्य (गॉल और इटली) उसके भाई होनोरियस को मिला और पूर्वी साम्राज्य, जिसकी राजधानी विजाति-यम वनी, स्वय उसे मिला। दोनो भाइयो के वीच काफी दुर्भाव रहा और उसका लाभ गोथो ने खूब उठाया। उनके सरदार अलारिक ने ग्रीस को रौंद डाला। प्रसिद्ध पादडी जान क्रिसोस्तम, जिसने भारत के सवध मे भी लिखा है, तव पूर्वी साम्राज्य की राजधानी कोसतातिनोपुल मे ही था जहाँ से उसे सम्राज्ञी के विरोध के कारण चला जाना पडा। [ओ० ना० उ०]

आर्कितस

इटली के दक्षिण मे तारेतम् नामक प्राचीन नगर के निवासी। इनका समय ई० पू० चतुर्थ शताब्दी का पूर्वार्ध है। ये अफलातून के समकालीन थे और प्राचीन काल मे इनकी वडी ख्याति थी। अफलातून के साथ इनका साक्षात्कार और पत्रव्यवहार हुआ था। एक ओर

आरियस (२५६-३३६ ई०) का जन्म लिबिया मे तथा पौरोहित्याभिषेक सिकदरिया में हुआ था। गिरजे के इतिहास मे इनका स्थान अपेक्षाकृत महत्वपूर्ण है, क्योकि इन्होने ईसाई विश्वास के एक मूल सिद्धात का विरोध किया था तथा अपनी धारणाओ के सफल प्रचार द्वारा समस्त ईसाई ससार में अशाति फैला दी थी। ३२५ ई० में सम्राट् कोस्तातीन ने ईसाई धर्मपडितो की एक महासभा बुलाई जिसमें आरियस की शिक्षा को दूषित ठहराया गया। तीन साल बाद सम्राट् ने आरियस को अपने दरबार में बुलाया तथा सिकदरिया के बिशप और आरियस के विरोधी, सत अथानासियस को निर्वासित किया। आरियस के मरण के बाद सम्राट् के पुत्र कोस्तातियस ने सब कैथोलिक बिशपो को निर्वासित कर दिया, इससे आरियस के अनुयायी कुछ समय तक सर्वोपरि रहे। किंतु अथानासियस के प्रयत्नो के फलस्वरूप वे एक एक करके कैथोलिक परिवार मे लौटे तथा कुस्तुतुनियाँ की महासभा (३८१ ई०) मे आरियस के सिद्धातो का पुन विरोध हुआ जिससे यूनानी ससार में आरियस का प्रभाव लुप्त हो गया।

आरियस की शिक्षा त्रित्व (ट्रिनिटी) से सबध रखती है। ईसाई विश्वास के अनुसार एक ही ईश्वर मे, एक ही ईश्वरीय तत्व मे तीन व्यक्ति हैं—पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा। तीनो समान रूप से अनादि, अनत, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है, वे तत्वत एक हैं (दे० त्रित्व)। आरियस के अनुसार पिता ने शून्य से पुत्र की सृष्टि की है, अत पिता और पुत्र तत्वत एक नही हैं। पुत्र न तो अनादि है और न पूर्णत ईश्वर है, इसलिये ईसा (प्रभु के अवतार) पूर्ण रूप से ईश्वर नही है।

स०ग्र०—जे० एच० न्यूमन आरियस ऑव दि फोर्थ सेचुरी, लदन, १८८८, जे० बी० किर्श किर्शेगेसशिस्ते, प्रथम खड, १९३१। [का० बु०]

आरिस्तीदिज् (ल० ई० पू० ५२० से ई० पू० ४६८) एथेस-निवासी यूनानी राष्ट्र-नीति-विशारद और योद्धा, जो अपने उच्च कोटि के आचरण के कारण न्यायी कहलाते थे। यह लीसीमाकस के पुत्र थे और इन्होने अपनी न्यायप्रियता, देशप्रेम एव सयताचार के कारण अत्यधिक ख्याति प्राप्त की थी। माराथॉन् के अभियान में यह एक सेनापति थे और तत्पश्चात् ई० पू० ४८९-४८८ में वत्मराभिधानी शासक (आर्कोन् ऐपोनियस्) बने। परतु थेमिस्तोक्लेस से विरोध हो जाने के कारण इनको ई० पू० ४८३ मे निर्वासित कर दिया गया। जब इनके निर्वासन के सबध में मतदान हो रहा था तब इनको न जाननेवाले एक कृषक ने स्वय इनसे निर्वासन के पक्ष मे मत देने को कहा। उससे पूछने पर कि आरिस्तीदिज् ने तुम्हारा क्या बिगाडा है, उसने उत्तर दिया कि उनको सर्वत्र 'न्यायी' कहा जाना मुझे अखरता है। दो वर्ष पश्चात् उनको क्षमा कर दिया गया और वह एथेस लौट आए। सालामिस् के युद्ध मे उन्होंने विशेष पराक्रम दिखलाया और प्लातेइया के युद्ध मे वह प्रधान सेनाध्यक्ष थे। देलॉस् का सघ बनने पर विविध राष्ट्रों के अनुदान का निर्णय इन्होने किया था। स्पार्ता के विरोध करने पर भी एथेस की दीवारो को इन्होंने बनवाया। अरस्तू के अनुसार इन्होने जनतत्रात्मक राष्ट्रीय समाजवाद की नीति का प्रतिपादन किया। इनकी मृत्यु अत्यत निर्धनता मे हुई।

स०ग्र०—अरस्तू का एथेस का सविधान, १९५६, अरस्तू की राजनीति (दोनो ग्रथो का हिंदी अनुवाद) १९५६। [भो० ना० श०]

आरिस्तीदिज् ईलियस् (११७ या १२९ से १८९ ई० तक) यूनानी वाक्कलाविद् (रेतोरीशियन्) और शिक्षक। इन्होने पेर्गामम् और एथेस में शिक्षा पाई। मिस्र की यात्रा के उपरात इन्होने लघु एशिया और रोम में शिक्षणकार्य किया। इनके व्याख्यान, पत्र और गद्यस्तुतियाँ अत्तिक शैली (एथेंस के श्रेष्ठ युग की शैली) के अनुकरण पर रची गई थी। इस शैली मे इनकी ५५ रचनाएँ उपलब्ध है। वाक्कलासबधी जिन रचनाओ को पहले इनकी कृति माना जाता था, अब वे अन्य लेखको की रचनाएँ सिद्ध हो चुकी है, पर इनकी प्रामाणिक रचनाएँ भी वाक्यसघटन, आलकारिकता एव भावाभिव्यजन की दृष्टि से श्लाघ्य है। [भो० ना० श०]

आरिस्तीयस सूर्यदेव अपोलो और लापिथाए के राजा हिप्सेयस् की पुत्री कीरेने के पुत्र। ये पशुओ और फलो के वृक्षों की रक्षा करनेवाले देवता माने जाते थे। ख्याति है कि इन्होने एक बार ऑर्फेयस् की पत्नी यूरीदिके का पीछा किया और वह इनसे बचने के लिये भागती हुई सर्प के काटने से मर गई। इसपर अप्सराओ ने रुष्ट होकर इनको शाप दिया जिससे इनकी पालतू मधुमक्खियाँ नष्ट हो गई। तब इन्होने अपनी माता और प्रौतियस् नामक जलदेवता के परामर्श से अप्सराओ को पशुबलि दी। नौ दिन पश्चात् इन पशुओ के ककाल मे से मधुमक्खियाँ पुन उत्पन्न हो गई। आरभ मे इनकी पूजा थेसाली में होती थी, बाद केयॉस् और बियोतिया में भी होने लगी। [भो० ना० श०]

आरिस्तोबुलस (१६० ई० पू०) कुछ विद्वानो के अनुसार तोलेमी दशम और कुछ के अनुसार तोलेमी द्वितीय के समकालीन, सिकदरिया के उन प्रारभिक यहूदी दार्शनिको में से जो यूनानी दर्शन और यहूदी धर्म दोनो के मध्य सामजस्य पैदा करना चाहते थे। उन्होने यह स्थापित करने का प्रयत्न किया कि यूनानी दार्शनिको ने यहूदी धर्मग्रथो से अपने दर्शन के लिये प्रोत्साहन प्राप्त किया। उनकी रचनाओ मे से एक 'मूसा के धर्मग्रथ की टीका' के कुछ अश अब तक प्राप्त है। [वि० ना० पा०]

आरीका यह उत्तरी चिली के टरपाका प्रात का प्रधान नगर और विख्यात पोताश्रय है। यह मोर्रो पहाड की तराई में बसा हुआ है तथा बोलविया की राजधानी ला पाज से रेलमार्ग द्वारा, जिसका निर्माण सन् १९१२ ई० मे हुआ था, सबद्ध है। यह बोलविया के आयात निर्यात का प्रधान केंद्र है। वास्तव मे यह एक अतर्राष्ट्रीय पोताश्रय है। सन् १८६८ ई० मे भयकर भूकपजनित उच्च ज्वार के कारण नगर और पोताश्रय नष्ट हो गए। सन् १८८३ ई० मे चिलीवासियो ने इस नगर को खूब लूटा और चलते समय आग भी लगा दी। सन् १८८३ ई० की अकोन की सधि के अनुसार सन् १८९४ ई० मे यह नगर पेरू को वापस मिल जाना चाहिए था, परतु ऐसा नही हो सका। सन् १९०६ ई० मे यह नगर भूकप से ध्वस्त हो गया।

यह तटीय मरुस्थल में बसा है। इसके आसपास न कुछ उपजता है और न कोई खनिज पदार्थ ही मिलता है। फिर भी यहाँ से प्रचुर मात्रा में राँगा, ताँबा, गधक, सोहागा, अल्पाके का ऊन आदि निर्यात किए जाते है। ये सारी वस्तुएँ बोलविया और पेरू से उपलब्ध होती हैं। सन् १९४० ई० की गणना के अनुसार यहाँ की जनसख्या १४,१४३ थी। [श्या० सु० श०]

आरीकिया रोम के दक्षिण-पूर्व जानेवाली विया-आप्पिया सडक पर लातियम का नगर। उसके खडहर रोम से १६ मील पर आज भी देखे जा सकते हैं। आरीकिया लातियम के प्राचीनतम नगरो में से था और जब रोम में राजशासन को हटाकर प्रजातत्र की घोषणा हुई तब आरीकिया ने उसका बडा विरोध किया। ३३८ ई० पू० में भी मीनियस ने उसे जीत लिया पर शीघ्र उसे नागरिक अधिकार लौटा दिए गए। आरीकिया जनपद अपनी शराब और तरकारियो के लिये प्रसिद्ध है। [ओ० ना० उ०]

आरू आस्ट्रेलिया और न्यूगिनी के बीच उथले आराफुरा समुद्र में द्वीपो का एक समह है। यह तनवेसर नामक एक बडे द्वीप तथा ९० छोटे छोटे द्वीपो को मिलाकर बना है। ये द्वीप ५° १८' द० अ० से ७° ५' द० अ० और १३४° पू० दे० से १३५° पू० दे० के बीच स्थित है। इन द्वीपो का क्षेत्रफल ३,२४४ वर्ग मील है। तनवेसर तीन सँकरी शाखाओ द्वारा बँटा हुआ है। सभी द्वीपों की ऊँचाई कम हे। ये द्वीप मूंगे के बने हैं और जगलो से ढके हुए हैं। तटीय भाग दलदली है। यहाँ की वनस्पति मुख्यत केतकी (स्क्रू पाइन), नारियल और ताड के पेड है। यहाँ की उपज साबूदाना, नारियल, ईख, मक्का, तबाकू तथा सुपारी है। यहाँ पर मोती निकालना तथा शार्क मछली का शिकार भी मुख्य पेशे है। इस द्वीपसमूह का पता १६०६ ई० मे डच लोगो को लगा और १६२३ ई० मे इसपर उन लोगो ने अधिकार किया। यह सन् १९४७ ई० के चेरीबून समझौते के अनुसार इडोनेशिया के अधिकार मे आ गया है। यहाँ की राजधानी तथा बदरगाह डोबो हे। १९४९ ई० मे इसकी आबादी १८,१७६ थी। [नृ० कु० सिं]

आर्केलाउस हेरोद महान् के पुत्र और जूदा राज्य के उत्तराधिकारी। हेरोद ने पहले अपने दूसरे पुत्र ऐंतीपास को अपना उत्तराधिकारी बनाया था, किंतु अपनी अंतिम वसीयत द्वारा उन्होंने आर्केलाउस को वे सब अधिकार दे दिए जो ऐंतीपास को दिए थे। सेना ने उन्हें राजा घोषित कर दिया, किंतु उस समय तक उन्होंने राजा बनना स्वीकार नहीं किया जब तक रोम के सम्राट् ऑगुस्तस उनके इस दावे को स्वीकार न करें। रोम की यात्रा से पूर्व उन्होंने बडी निर्दयता से फारसियों के विद्रोह का दमन किया और तीन हजार विद्रोहियों को मौत के घाट उतार दिया। ऑगुस्तस द्वारा मान्यता प्राप्त होने पर उन्होंने और अधिक दमन के साथ शासन प्रारंभ किया। यहूदी धर्म के नियमों का उल्लंघन करने के कारण सन् ७ ई० में वे पदच्युत करके निर्वासित कर दिए गए। [वि०ना०पा०]

आर्केसिलाउस (अथवा सिसरो या किकरोके अनुसार आर्केसिलास्) एक यूनानी दार्शनिक जो संदेहवादी अकादेमी के प्रवर्तक थे। इनका समय ई० पू० ३१५ से ई० पू० २१४-५ तक है। इनका जन्मस्थान पिताने नगर था। एथेंस में आकर प्रथम यह अरस्तू के लीकियुम् में थियोफ्रास्तस् के शिष्य बने, पर क्रातर नामक विद्वान् इन्हें प्लातोन की अकादेमी में ले आया। ई०पू० २६८–५ के लगभग ये अपनी प्रतिभा के कारण अकादेमी के अध्यक्ष बन गए। इनकी कोई भी रचना नहीं मिलती। इन्होंने स्तोइक (विरक्तिवादी) दार्शनिकों के 'विश्वासोत्पादक प्रत्यक्ष' का खंडन कर संदेहवाद का प्रतिपादन किया और सुकरात की विवेचना-पद्धति को पुन प्रतिष्ठित किया। पर यह समझ में नहीं आता कि इस संदेहवाद की संगति अकादमी के संस्थापक प्लातोन के विचारों के साथ कैसे संभव हुई। [भो० ना० श०]

आर्गन एक रंगहीन, गंधहीन गैसीय तत्व (एलिमेंट) है, जो वायु में तथा ज्वालामुखी पर्वतों से निकली गैसों में मिलता है। सन् १७८५ ई० में हेनरी कैवेंडिश ने वायु में विद्युत्स्फुलिंग द्वारा निर्मित नाइट्रोजन ऑक्साइडों को कास्टिक सोडा विलयन में अवशोषित कराया। इसके पश्चात् और ऑक्सिजन प्रविष्ट करके उक्त क्रिया कई बार दुहराई गई। सभी गैसों के अवशोषण के पश्चात् एक बुलबुला शेष रह गया जो अनवशोषित रह गया। इन प्रयोगों से कैवेंडिश ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि वायुमंडल के नाइट्रोजन का कोई भी अंश उसके शेषांश से भिन्न है और नाइट्रस अम्ल में परिवर्तित नहीं होता, तो वह पूरी वायु के १/१२० वें अंश से अधिक नहीं है।

सन् १८९२ ई० में लार्ड रैले ने प्राउट के सिद्धांत की परीक्षा करने के लिये हाइड्रोजन, ऑक्सिजन तथा नाइट्रोजन जैसी प्रमुख गैसों के घनत्व ज्ञात किए। वायुमंडल के नाइट्रोजन का घनत्व १ २५७१८ निकला और अमोनिया या नाइट्रिक ऑक्साइड से प्राप्त रासायनिक नाइट्रोजन का घनत्व १ २५१०७ देखा गया। इस प्रकार वायुमंडल के नाइट्रोजन का घनत्व० ४७ प्रति शत अधिक पाया गया। इस नाइट्रोजन में न किसी प्रकार की अशुद्धियाँ पाई गई और न आठ मास तक रखे रहने पर उसके घनत्व में किसी प्रकार का परिवर्तन ही देखा गया।

दो विभिन्न स्रोतों से प्राप्त नाइट्रोजन के घनत्वों के बीच इस प्रकार के अंतर को समझाने के लिये केवल प्रायोगिक त्रुटियाँ ही पर्याप्त नहीं थीं, अत वायुमंडल के नाइट्रोजन में नाइट्रोजन के भारी समस्थानिक (ना$_{१}$) की उपस्थिति अथवा रासायनिक नाइट्रोजन में थोडी मात्रा में हाइड्रोजन की उपस्थिति की संभावना बताई गई। किंतु रैमजे (सन् १८९४ ई०) ने इस प्रकार के अनुमानों को निराधार सिद्ध करते हुए उसमें एक अज्ञात, भारी गैस की उपस्थिति बताई। उन्होंने वायु में से कार्बन डाइऑक्साइड, आर्द्रता, ऑक्सिजन तथा नाइट्रोजन को हटाने के पश्चात् उस गैस को पृथक् करके इसका नाम आर्गन रखा। आर्गन ग्रीक शब्द से निकला जिसका अर्थ होता है निष्क्रिय या सुस्त। हाइड्रोजन के सापेक्ष इसका घनत्व २० के निकट था और रासायनिक रूप में बिलकुल निष्क्रिय होने के कारण किसी प्रकार के यौगिक बनाने का सामर्थ्य इसमें नहीं पाया गया। इसके पश्चात् रैले, रैमजे तथा अन्य लोगों की खोजों के फलस्वरूप निष्क्रिय गैसों की पूरी शृंखला निकल आई, जिनमें हीलियम, नियन, आर्गन, क्रिप्टन, ज़ेनन तथा रैडन मिलकर आवर्तसारणी के शून्य समूह में आते हैं।

उपस्थिति—वायुमंडल की वायु में आयतन के अनुसार १०० भागों में आर्गन का ० ९३२ भाग तथा भार के अनुसार १ २८५ भाग वर्तमान है। खनिजीय झरनों में भी आर्गन उपस्थित रहता है।

निर्माण—आर्गन गैस के निर्माण में तीन प्रमुख विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं (१) वायु में से रासायनिक विधियों द्वारा अन्य सभी गैसों का बहिष्करण, (२) तरल वायु का प्रभाजन तथा (३) डेवार की विधि, अर्थात् लकडी के कोयले द्वारा अवशोषण।

(१) कैवेंडिश द्वारा प्रयुक्त रासायनिक विधि का परिष्कार रैले और रैमजे ने किया। उन्होंने वायु में से कार्बन डाइऑक्साइड को सोडा, लाइम तथा पोटाश के विलयन द्वारा हटाकर, ऑक्सिजन को लाल गर्म ताँबे में अवशोषित कराकर तथा नाइट्रोजन को लाल गर्म मैगनीशियम की प्रतिक्रिया से मैगनीशियम नाइट्राइड बनाकर पृथक् किया। शुद्धता के लिये इस विधि को कई बार दुहराया गया। बाद में निष्क्रिय गैसों का पृथक्करण द्रवण तथा प्रभाजन द्वारा किया गया।

फिशर, रिंज और कोमेलिन ने अपने अपने प्रयोगों में ९० प्रति शत कैलसियम कार्बाइड तथा १० प्रति शत कैलसियम क्लोराइड के मिश्रण को लोहे के मुहबंद बर्तन में वायु के साथ गरम करके वायु में से ऑक्सिजन तथा नाइट्रोजन को दूर किया।

(२) औद्योगिक स्तर पर निष्क्रिय गैसों का उत्पादन तरल वायु के प्रभाजन द्वारा किया जाता है। लिंडे, क्लाडे तथा दूसरों ने इस प्रकार की सफल विधियों को विकसित किया है। निष्क्रिय गैसों के क्वथनांकों के एक दूसरे से अत्यंत निकट होने के कारण विशेष प्रकार के स्तंभों का प्रयोग किया जाता है। वायु की तरलीभवन प्रक्रिया में अधिकांश आर्गन तरल ऑक्सिजन के साथ रहता है और इन स्तंभों में नीचे गिरती धारा में से आर्गन एक विशेष विधि से अलग किया जाता है। ऑक्सिजन और नाइट्रोजन के अंतिम अंशों को रासायनिक विधि से पृथक् किया जाता है।

(३) डेवार विधि में वायु से प्राप्त मिश्रित निष्क्रिय गैसों को एक बल्ब में, जिसमें नारियल का कोयला भरा रहता है, प्रविष्ट किया जाता है और उसे एक शीत अवगाह में रख दिया जाता है। आधे घंटे के पश्चात् अवशोषित गैसों को अलग किया जाता है। जब १००° सें० पर आर्गन, क्रिप्टन तथा ज़ेनन गैसें, अवशोषित दशा में, तरल वायु के ताप पर ठंढे किए गए एक दूसरे कोयले के संपर्क में, रखी जाती हैं तो आर्गन इस कोयले में विसरित होकर चली जाती है। कोयले को गर्म करके आर्गन को मुक्त कर लिया जाता है।

आर्गन रंगविहीन, स्वादरहित तथा गंधरहित गैस है, जिसका घनत्व १९ ९७ (हाइड्रोजन=१), परमाणुभार ३९ ९४४, परमाणुसंख्या १८, क्वथनांक—१८५·८१° सें०, गलनांक—१८९ ६° सें०, क्रांतिक ताप—१२२ ४° तथा क्रांतिक दाब ४७ ९९ वायुमंडल है। यह जल में १२° सें० ताप पर ४ प्रति शत अथवा नाइट्रोजन से २॥ गुना अधिक विलेय है। वर्षा के जल में विलयित गैसों में आर्गन का अनुपात अधिक रहता है। आर्गन का वर्तनांक वायु से ० ९६१ गुना है और श्यानता १ २१ (वायु की तुलना में) है। इसके समस्थानिक आरगन४० (आ$_{१८}^{४०}$) तथा आरगन३६ (आ$_{१८}^{३६}$) एक प्रति शत मात्रा में पाए जाते हैं। रासायनिक निष्क्रियता के कारण इसका परमाणुभार नहीं निकाला जा सका है, किंतु कुंट तथा वारबुर्ग ने विशिष्ट उष्माओं के अनुपात से (उ/उ=स्थिर दाब पर विशिष्ट उष्मा/स्थिर आयतन पर विशिष्ट उष्मा=१ ६५) इसकी परमाणुकता निश्चित की है।

आर्गन के वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) में अनेक रेखाएँ रहती हैं, किंतु उनमें से एक भी अद्वितीय नहीं है। अब नील वर्णक्रम का कारण आयनीकृत अणु बताया जाता है। अन्य निष्क्रिय गैसों की भाँति आर्गन भी नारियल के कोयले द्वारा शोषित होता है।

यौगिक—बर्थेलो ने (सन् १८९५ ई० में) सूचित किया कि जब बेंजीन और आर्गन के मिश्रण में विद्युत्स्फुलिंग का विसर्जन किया जाता है तो उनका संकुचन होता है, किंतु इस परिणाम का पुष्टीकरण नहीं किया जा

आरोग्य आश्रम (सैनाटोरियम या सैनीटेरियम) उन सस्थाओ को कहते है जहाँ लोग स्वास्थ्य की उन्नति के लिये भरती किए जाते हैं। दीर्घकालीन रोगो की विशेष चिकित्सा करनेवाली सस्थाओं को भी वहुधा यह नाम दिया जाता है, जैसे टी०वी०सैनाटोरियम।

साधारणत किसी ठडे स्थान मे, जहाँ स्वाभाविक रूप से स्वास्थ्य अच्छा रहता है, आरोग्य आश्रम खोले जाते हैं। प्रकृति की गोद मे, नगरो के दूषित वातावरण और कोलाहल से दूर, जहाँ सीलन (आर्द्रता) न हो, शीतल मद समीर उपलब्ध हो, इस प्रकार की आरोग्यप्रद सस्थाएँ अधिकतर स्थापित की गई हैं। जो व्यक्ति इस प्रकार के मँहगे आश्रमो मे नही जा सकते, उनके लिये वडे नगरो के समीप उपयुक्त स्थान पर आरोग्य सदनो की व्यवस्था होनी चाहिए।

कई वार रोगी और उसके सवधी भी आरोग्य आश्रम की उपयोगिता और महत्व को नही समझ पाते और घर मे ही रहने की इच्छा प्रकट करते हैं। यह हो सकता है कि आश्रम में घर जैसी सुविधाएँ न मिले, किंतु घरो की अपेक्षा इन स्वास्थ्यगृहो में रोगी वडी सख्या मे शीघ्र अच्छे होते पाए गए हैं। इनमें सफल उपचार की अचूक सिद्धि के लिये सभी सामग्री उपलब्ध रहती है।

अच्छे आरोग्य आश्रमो में रोगी सुदर और स्वास्थ्यप्रद व्यवस्था मे, आठो पहर कुशल परिचारिकाओ और चिकित्सको की देखभाल मे, रहता है। वहाँ मिलने जुलनेवाले व्यक्ति चाहे जिस समय आकर तग नही करने पाते। भेंट करने का समय निश्चित रहता है। व्यर्थ का हल्ला गुल्ला नही होता और रोगी अनावश्यक सतर्कता के तनाव से मुक्त रहकर शाति पाता है।

आरोग्य आश्रम में परीक्षा के लिये प्रयोगशाला, एक्स-किरण-कक्ष और उपचार की अन्य सुविधाएँ तो रहती ही है, उनके साथ मनोरजन, चित्रकला, सगीत और लेखनकला आदि मनवहलाव द्वारा चिकित्सा का प्रवध रहता है। इससे वहुत सतोषजनक प्रगति होती देखी गई हे। इस वात का ध्यान रखा जाता हे कि रोगी को पूर्ण विश्राम दिया जाय, परतु उसका समय खाली न रहे। आसपास कई मरीजो को अच्छा होते तथा कुछ काम धधा करते देखकर रोगी को आत्मवल और ढाढस प्राप्त होता हे जिससे उसका स्वास्थ्य शीघ्र सुधरता है। [दे० सिं०]

आर्कटिक प्रदेश जल और स्थल के उस क्षेत्र को कहते है जो उत्तरी ध्रुव से चारो ओर लगभग आर्कटिक वृत्त (६६°३०' अक्षाश) तक फैला हुआ है। इसके अतर्गत नारवे, स्वीडन और फिनलैंड के उत्तरी भाग, रूस का टुड्रा प्रदेश, अलास्का का उत्तरी भाग, कनाडा का टुड्रा प्रदेश और आर्कटिक सागर मे स्थित अनेक द्वीप हैं, जैसे ग्रीनलैंड, स्पिटजवर्गन, फ्रैंज जोजेफलैंड, नोवा जेम्लिया, सेवर्ना जेम्लिया, न्यू साईवेरियन द्वीप, उत्तरी कनाडा के द्वीप, जैसे एल्समेअर, वैफिन इत्यादि।

इतिहास——जहाँ तक ज्ञात हो सका है, नारवे के लोगो ने पहले पहल आर्कटिक प्रदेशो के कुछ भागो पर अपना अधिकार जमाया। उनकी पौराणिक कथाओ में वहाँ का वर्णन मिलता है। सन् ८६७ ई० मे नारवे के नार्समन लोगो ने आइसलैंड द्वीप की खोज की और सन् ८७४ ई० से अपने उपनिवेश वहाँ स्थापित किए जिनमे आज भी उनकी सतति वसी हुई है। सन् ९८२ ई० के लगभग एरिक दि रेड नामक एक नार्समैन ने ग्रीनलैंड द्वीप की खोज की और वहाँ भी उपनिवेशो की स्थापना हुई, परतु कुछ समय पश्चात् प्रतिकूल भौगोलिक परिस्थितियो के फलस्वरूप वे नष्ट हो गए। गीनलैड से और पश्चिम चलकर नार्समैन उत्तरी अमरीका तक पहुँच गए। सभवत एरिक दि रेड के पुत्र लीफ ने सन् १,००० ई० के लगभग उत्तरी अमरीका के काड अतरीप और लैब्रेडोर के वीच स्थित समुद्रतट के कुछ भाग की यात्रा की थी।

उत्तरी-पश्चिमी यूरोप में वाणिज्य की वृद्धि होने पर अग्रेज और डच लोग सुदूर पूर्व पहुँचने के लिये यूरेशिया या अमरीका महाद्वीप के उत्तर से होकर एक नए मार्ग की खोज में लग गए। इन लोगो ने सुदूर पूर्व पहुँचने के लिये दो विभिन्न मार्गो का अनुसरण किया, अर्थात् उत्तर-पूर्वी मार्ग और उत्तर-पश्चिमी मार्ग। उत्तर-पूर्वी मार्ग द्वारा सुदूर पूर्व पहुँचने का प्रयास सन् १५५३ ई० में सैविस्टियन कैवट के प्रोत्साहन से आरभ हुआ। सन् १५९७ ई० तक इन अन्वेषणो द्वारा यूरोपीय रूस के आर्कटिक समुद्रतट और समीपस्थ द्वीपो का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त हो गया था। इस उत्तर-पूर्वी मार्ग का अनुसरण १७वी शताब्दी मे भी जारी रहा, परतु इससे भौगोलिक ज्ञान में कोई विशेष वृद्धि नही हुई। सन् १७६० ई० से रूसी नाविको ने भी इस मार्ग को अपनाया और सपूर्ण रूस के आर्कटिक प्रदेश और समीपस्थ द्वीपो के ज्ञान की वृद्धि मे विशेष योग दिया। अत मे सन् १९३२ ई० में साईविरिया-कोव नामक एक रूसी वर्फ तोडनेवाले जलयान ने उत्तर-पूर्वी मार्ग की यात्रा सफलतापूर्वक सपन्न की। सन् १९३५ ई० से इस मार्ग पर व्यापारिक जलयानो का चलना प्रारभ हुआ।

उत्तर-पश्चिमी मार्ग द्वारा ग्रीनलैंड और उत्तरी अमरीका महाद्वीप के मध्य से होकर सुदूर पूर्व पहुँचने का प्रयास सर्वप्रथम ७ जून, १५७६ को मार्टिन फ्रौविशर द्वारा प्रारभ हुआ और अत में आर० आमुसन ने पहली वार १९०३-१९०५ में अपने जलयान ग्योआ से उत्तर-पश्चिमी मार्ग की यात्रा सफलतापूर्वक सपन्न की। इन अन्वेषणो द्वारा ग्रीनलैंड द्वीप और कनाडा के आर्कटिक प्रदेशो के ज्ञान मे महत्वपूर्ण वृद्धि हुई।

इधर उत्तरी ध्रुव पहुँचने का प्रयास १९वी शताब्दी के आरभ से ही चल रहा था। इस दिशा मे फ्रिटौफ नैनसन का प्रयास विशेष उल्लेखनीय है। इन्होने सन् १८९३ ई० मे अपने जहाज फ्रैम मे उत्तरी ध्रुव के लिये प्रस्थान किया और जहाज हिम के वहाव के सहारे उत्तर की ओर वढता गया। ठोस हिम से जहाज की प्रगति रुकने से पहले ही नैनसन जहाज छोड अपने साथी जोहानसेन के साथ पैदल वढने लगे। वे ८ अप्रैल, १८९३ को उत्तरी ध्रुव से केवल ३° ४८' की दूरी पर रह गए थे जव प्रतिकूल परिस्थितियो ने उन्हे लौटने पर वाध्य कर दिया। इस प्रकार जलयानो द्वारा उत्तरी ध्रुव पहुँचने के प्रयासो का क्रम चलता रहा और अत में ६ अप्रैल, १९०९ को आर० ई० पैरी ने उत्तरी ध्रुव पर विजय प्राप्त कर ली। वायुयान द्वारा उत्तरी ध्रुव पहुँचने का श्रेय सर्वप्रथम आर० ई० वर्ड को मई, १९२६ मे प्राप्त हुआ और पनडुब्बी जहाज मे वर्फ के नीचे चलकर उत्तरी ध्रुव पहुँचने का श्रेय सर्वप्रथम 'नॉटिलस' जहाज को ३ अगस्त, १९५८ को प्राप्त हुआ।

भूतत्व——आर्कटिक प्रदेशो मे विभिन्न कल्पो की चट्टाने मिलती हैं, जैसे कनाडा के आर्कटिक प्रदेश और ग्रीनलैंड में प्राचीनतम कल्पीय शिलाओ की अधिकता है, जव कि केवल यूरेशिया के आर्कटिक प्रदेश मे ही पुराकल्पीय तथा और नवीन काल की शिलाएँ मिलती हैं। इस समय आर्कटिक प्रदेश मे ज्वालामुखी क्रिया अधिक महत्वपूर्ण नही है और जाग्रत ज्वालामुखियो मे जॉन मेयन द्वीप मे स्थित वीरेनवर्ग ज्वालामुखी पर्वत ही विशेष उल्लेखनीय है। वुडवे और स्पिट्जवर्गन द्वीपो मे गरम सोते स्थित हैं। पूर्वकालीन ज्वालामुखीक्रिया के चिह्न ग्रीनलैंड, स्पिट्जवर्गन, फ्रैंज जोज़ेफलैंड और न्यू साईवेरियन द्वीपो की तृतीयक कल्पीय शिलाओ मे विद्यमान हैं। वर्तमान समय की तुलना मे तृतीयक कल्प में आर्कटिक प्रदेश मे कही अधिक उष्ण जलवायु के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं, परतु प्रातिनूतन हिम युग मे जलवायु अधिक ठडी हो गई थी और सभवत कनाडा के आर्कटिक द्वीपो को छोडकर अधिकाश आर्कटिक प्रदेश हिमाच्छादित थे।

आर्कटिक सागर——यह स्थलखडो द्वारा घिरा है, परतु इसके वीच उत्तरी ध्रुव की स्थिति केंद्रवर्ती नही है। ग्रीनलैंड और नारवेजियन समुद्रो सहित इसका क्षेत्रफल लगभग ५४,००,००० वर्ग मील है। आर्कटिक सागर की एक महत्वपूर्ण विशेषता इसका विस्तृत महाद्वीपीय निधाय है, जिसपर सैंकडो द्वीप और द्वीपसमूह, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है, स्थित हैं। वास्तव मे ये द्वीप पूर्वकाल के एक अधिक विशाल स्थलखड के अवशेष मात्र हैं और सामान्यत समीपस्थ महाद्वीपीय खडो से भौमिकीय सवध प्रदर्शित करते हैं। अणुशक्ति द्वारा सचालित 'नॉटिलस' पनडुब्वी जहाज के अन्वेषणो द्वारा (जुलाई-अगस्त, १९५८ में) यह ज्ञात हुआ है कि उत्तरी ध्रुव पर जल की गहराई १३,४१० फुट है और यहाँ जल के ऊपर हिमस्तरो की औसत मोटाई १२ फुट है।

जलवायु——आर्कटिक प्रदेश विश्व के अति शीत प्रदेशो मे हैं और यहाँ समुद्र से दूर स्थित क्षेत्रो में — ९०° फा० तक के न्यूनतम ताप अकित होने के प्रमाण मिले है। ग्रीष्मकाल मे यहाँ ८०° फा० से भी ऊँचे ताप अकित हुए हैं।

समुद्री धाराओं ने इस देश की जलवायु पर बहुत प्रभाव डाला है। विषुवत रेखीय उष्ण धारा ने पटगोनिया तथा टियरा डेल फूएगो की शीतल जलवायु को सुधारकर बसने तथा भेड पालने योग्य बना दिया है।

वनस्पति--आर्जेंटीना एक विश्ववाटिका के समान है, क्योकि यहाँ पर उष्ण से लेकर ध्रुवप्रदेश तक की सब प्रकार की वनस्पतियाँ मिलती है। उत्तर में उष्ण प्रदेशीय वन तथा घास के मैदान है, उसके दक्षिण में पपास प्रदेश में यथेष्ट भूमि पर खेती होती है तथा शेष भाग घास से ढका है। इसके दक्षिण-पश्चिम में पटगोनिया का अधिकतर भाग वजर है तथा कटीली झाडियो से ढका है, केवल ऐंडीज़ तलहटी की जलसेवित घाटियो मे ही कृपि एव मेपपालन होता है।

जलवायु, वनस्पति तथा आर्थिक कार्यो के अनुसार आर्जेंटीना के पाँच प्राकृतिक विभाग किए जा सकते है

१ चाको अथवा उत्तरी समभूमि, जिसमे आर्द्र, अर्ध-उष्ण-कटिवधीय वन मिलते है तथा गन्ना चावल आदि उत्पन्न किया जाता है।

२ मैसोपोटामिया, जो कि पराना, परागुए आदि नदियो से घिरा है और पशुओ के लिये प्रसिद्ध है।

३. ऐंडीज प्रदेश, जिसमे शहतूत, अगूर तथा अन्य फल होते है।

४ पपास प्रदेश, जो आर्जेंटीना का आर्थिक हृदय है, यहाँ पशु तथा अनाज वहुतायत से होते है।

५. पटगोनिया प्रदेश, जहाँ मुख्यतया भेडे पाली जाती है।

खनिज उद्योग--भवननिर्माण के लिये उपयोगी पदार्थो को छोडकर मिट्टी का तेल ही आर्जेंटीना का मुख्य खनिज है जो मुख्यतया पटगोनिया प्रदेश से आता है। सब मिलाकर १६० लाख बैरल तेल प्रति वर्ष उत्पन्न होता है।

जलशक्ति--आर्जेंटीना मे कुल मिलाकर ५४,००,००० अश्वसामर्थ्य की जलशक्ति है। इसमे से लगभग ६७,००० अश्वसामर्थ्य ही अभी उपयोग मे लाया जा रहा है।

कृषि--आर्जेंटीना की जनता का मुख्य उद्यम कृषि अथवा तत्सवधी उद्योग है। यहाँ का मुख्य अनाज गेहूँ है और विश्व के गेहूँ निर्यात करनेवाले देशो में इसका तृतीय स्थान है। यहाँ की गेहूँ की भूमि अर्धचद्राकार रूप मे वाहियाव्लाका नगर से साटाफी तक फैली है। यहाँ की जलवायु, मिट्टी तथा पानी का वहाव गेहूँ के लिये अत्यत उपयुक्त है। गेहूँ मई जून मे वोया जाता है तथा नववर में काटा जाता है। अतएव यह यूरोप के वाजारो मे ऐसे समय मे पहुँचता है जब इसकी वहाँ विशेप आवश्यकता रहती है, क्योकि तब उत्तरी गोलार्ध में गेहूँ वोया जाता है। देश में उत्पन्न कुल गेहूँ का ६० प्रति शत भाग यहाँ से निर्यात होता है। यहाँ का द्वितीय मुख्य अनाज मक्का है। विश्व मे मक्का उत्पादन मे इस देश का स्थान द्वितीय तथा निर्यात मे प्रथम है। मक्के का ८० प्रति शत भाग यहाँ से निर्यात होता है। मुख्य उत्पादन-क्षेत्र उत्तर-पश्चिमी वुएनस एरिज राज्य, दक्षिणी साटा फी तथा पूर्वी कारडोवा की १२० मील लवी पट्टी में है। अन्य फसलो मे अलसी, रुई, गन्ना, यरवामाते (एक प्रकार की चाय) तथा अगूर, सेव आदि फल मुख्य है। पशुपालन यहाँ का मुख्य धधा है तथा दूध, मास, ऊन यहाँ के मुख्य उत्पादन है।

उद्योगधधे--यहाँ पर कपडा, विजली तथा रासायनिक उद्योग उन्नति पर है। कपडे की मिले अधिकतर वुएनस एरिज़ तथा फेडरल प्रदेश मे स्थित है। चीनी की मिलें अधिकतर टुकुमान, साल्टा आदि में स्थित है। अगूरी दिमरा की मिले अधिकतर मेडोजा तथा सैन जुआन मे स्थित है। आटा पीसने की मिले फेडरल साटा फी, कारडोवा, वुएनस एरिज आदि प्रदेशो में स्थित है। चमडा सिझाने के सामान का उद्योग अधिकतर चाको प्रदेश मे स्थित है।

यातायात--सपूर्ण दक्षिणी अमरीका की लगभग ४१ प्रति शत रेले आर्जेंटीना मे ही है। वुएनस एरिज प्रदेश मे तो रेलो का जाल विछा हुआ है। पर्वतीय प्रदेश तथा पटगोनिया में रेलें कम है। यहाँ की अतर्राष्ट्रीय सडके ऐंडीज़ पर्वत को पार करके चिली, वोलविया आदि को जाती है। वायुयानो का प्रयोग अब इस देश में वढ रहा है। यहाँ से अधिक निर्यात होने के कारण विश्व के अधिकतर देशो से यहाँ जलयान जाते आते है।

वुएनस एरिज़ यहाँ का एक प्रमुख नगर तथा वदरगाह है। यह देश शिक्षा एव सस्कृति में पर्याप्त उन्नतिशील है। [शि० म० सिं०]

आर्टेल्ट प्रोफेसर वाल्टर आर्टेल्ट, जर्मन डाक्टर, का जन्म सन् १८९८ ई० में जर्मनी के डार्मस्टेड नामक नगर मे हुआ। प्रारभिक शिक्षा पाने के वाद ये वर्लिन इस्टीटयूट के हिस्ट्री ऑव मेडिसिन के अध्यक्ष प्रोफेसर डिपेगन के सहायक के रूप में कार्य करते रहे। इनकी रुचि दत-चिकित्सा-विज्ञान में थी, किंतु प्रोफेसर डिपेगन के इतिहास सवधी भापणो को सुनकर इनका झुकाव इस ओर हो गया और उनके साथ काम करके इन्होने डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। इसके वाद वर्लिन विश्वविद्यालय में इन्हे अपने प्रवध (थीसिस) पर 'मेडिकल डाक्टर' की उपाधि प्राप्त हुई। प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध में इन्होने सेना मे रहकर घायल सैनिको की सेवा की। तदुपरात फ्रैंकफर्ट-ऑन-मेन के विश्वविद्यालय मे "चिकित्साशास्त्र के इतिहास" के अध्यक्ष नियुक्त हुए एव आजकल भी उसी पद को सुशोभित करते है।

सन् १९४५ ई० से सन् १९४८ ई० के वीच प्रोफेसर आर्टेल्ट के इस्टीटयूट से चिकित्साशास्त्र तथा चिकित्साशास्त्र के इतिहास से सवधित प्रकाशित पुस्तको, ग्रथो तथा लेखो के सूचीपत्र तथा कई अनुसूचियाँ प्रकाशित हुई है। इस प्रकार चिकित्साशास्त्र के इतिहास के क्षेत्र मे प्रोफेसर वाल्टर आर्टेल्ट लब्धप्रतिष्ठ तथा माने हुए विद्वान् है। ये चिकित्साविज्ञान की जर्मन इतिहास-परिषद् और प्राकृतिक विज्ञान तथा टेकनीक नामक सस्था के भी अध्यक्ष है। [शि० क० ख०]

आर्डिमोर सयुक्त राज्य (अमरीका) के ओक्लाहोमा राज्य के दक्षिणी भाग तथा ओक्लाहोमा नगर से १०० मील दक्षिण स्थित एक शहर है। यह समुद्र की सतह से ८७६ फुट की ऊँचाई पर वसा है। यह नगर तेल एव कृपि क्षेत्रो के वीच मे पडता है और थोक तथा फुटकर व्यापार का केंद्र है। यहाँ से एक दैनिक पत्र निकलता है तथा यह आकाशवाणी का केंद्र है। यहाँ पर तेल शोधने का एक कारखाना, कपास से विनौला अलग करने तथा विनौले से तेल निकालने के कारखाने, आटे की चक्की आदि उद्योग है। यहाँ कार्टर सेमिनरी नामक एक पाठशाला अमरीकी आदिवासी लडकियो के लिये है। नगर के पास ही एक उपवन, जिसका क्षेत्रफल २०,००० एकड है, तथा आरवुकल नामक एक पर्वतमाला है। इस नगर की स्थापना १८८७ ई० मे हुई थी। यहाँ पर साता फे एव फ्रिस्को रेल की लाइनें है तथा जस्ता और कोयले की खाने है। यहाँ की जनसख्या १७,८९० (सन् १९५०) है। [नृ० कु० सिं०]

आर्डेनीज फ्रास की उत्तरी सीमा पर एक जिला है। इसमें म्यूज नदी की घाटी और पेरिस द्रोणी के कुछ भाग आते है। यहाँ प्राचीन पर्वतो के अवशेष है जो अधिकतर घिसकर वरावर हो गए है, परतु दक्षिण-पूर्व की तरफ से उठे हुए है। उत्तर-पश्चिम मे गिवेट प्रदेश की तरफ खुला मैदान है। उत्तर मे रेविन नगर मे एक किला है। यह फ्रास की सीमा की एक चौकी है। इधर का देश अपेक्षाकृत शुष्क है। दक्षिणी-पश्चिमी निचले मैदान मे विशेप सरदी नही पडती। वहाँ औसत वर्पा ३१.५'' या कम होती है और साधारणत खेती होती है, परतु ऊँची भूमि पर काफी ठढक पडती है और वर्पा ३९.४'' तक होती है। नदी के किनारे चरागाह मिलते है। यहाँ के लोग स्लेट पत्थर तथा लोहे की खानो में काम करके जीविकानिर्वाह करते है। मेजीर्स-चार्लेविल प्रसिद्ध रेलवे जकशन है। आर्डेनीज का क्षेत्रफल २,०२८ वर्ग मील है और १९३६ मे इसकी जनसख्या २,८८,६३२ थी। [नृ० कु० सिं०]

आर्णी (स्थिति १२° ४१' उ० अक्षाश एव ७९° १७' पूर्वी देशातर) मद्रास राज्य के उत्तर आर्काड जिले में आर्णी इसी नाम के तालुके का प्रधान नगर है। यह नगर ब्रिटिश काल में वहुत वडा सैनिक केंद्र था और अब भी वहाँ सैनिको के निवास के कमरो की पक्तियाँ दिखलाई देती है, जिनमें से कुछ तालुके के प्रशासनिक कार्यालयो के रूप में प्रयुक्त किए जाते है। यहाँ एक वर्गाकार प्राचीन किला तथा मदिर भी है। नगर में रेशमी एव सूती कपडे का व्यवसाय प्रमुख है। १९०१ मे
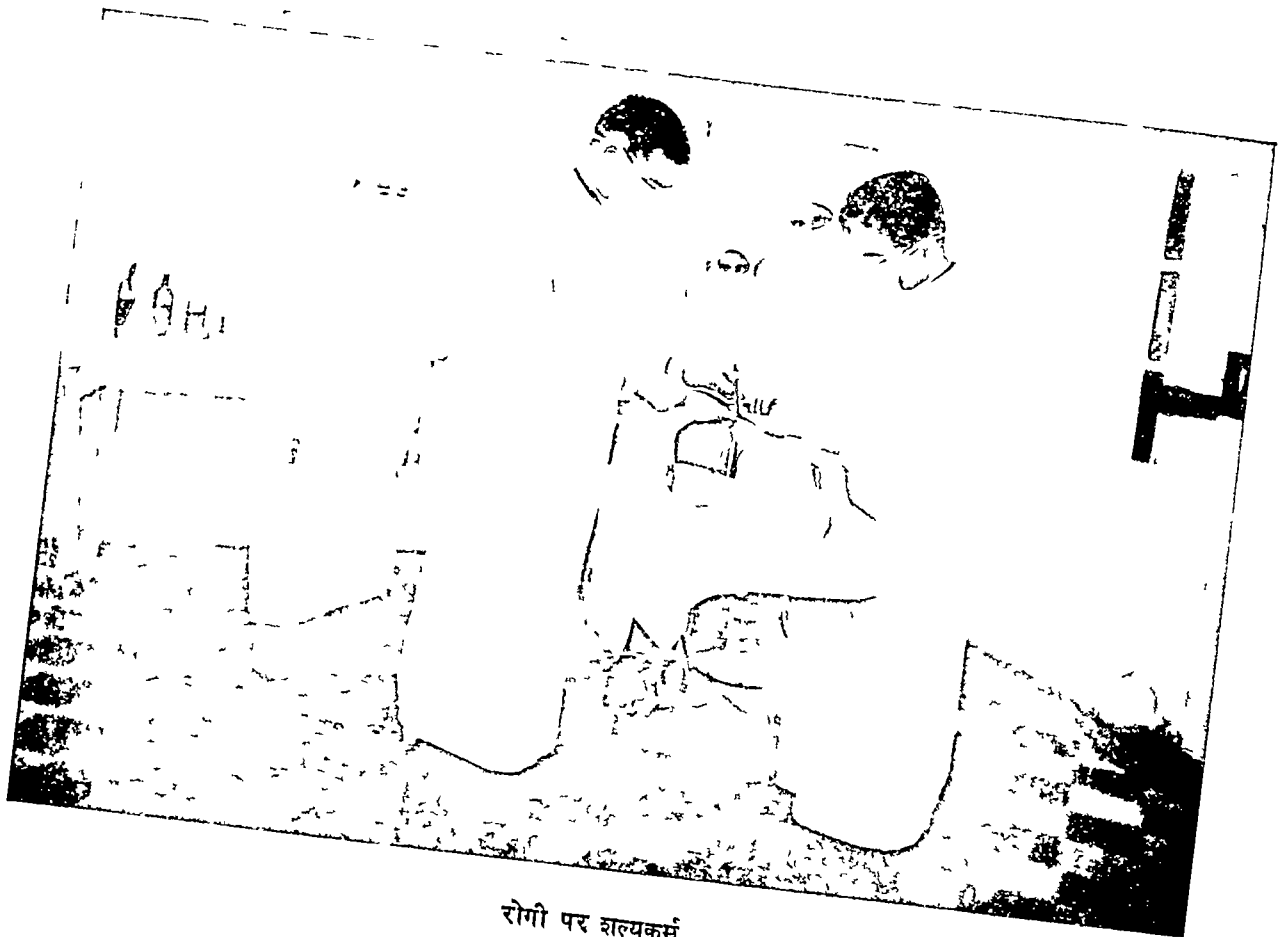
रोगी पर शल्यकर्म

प्रभाकर द्विवेदी
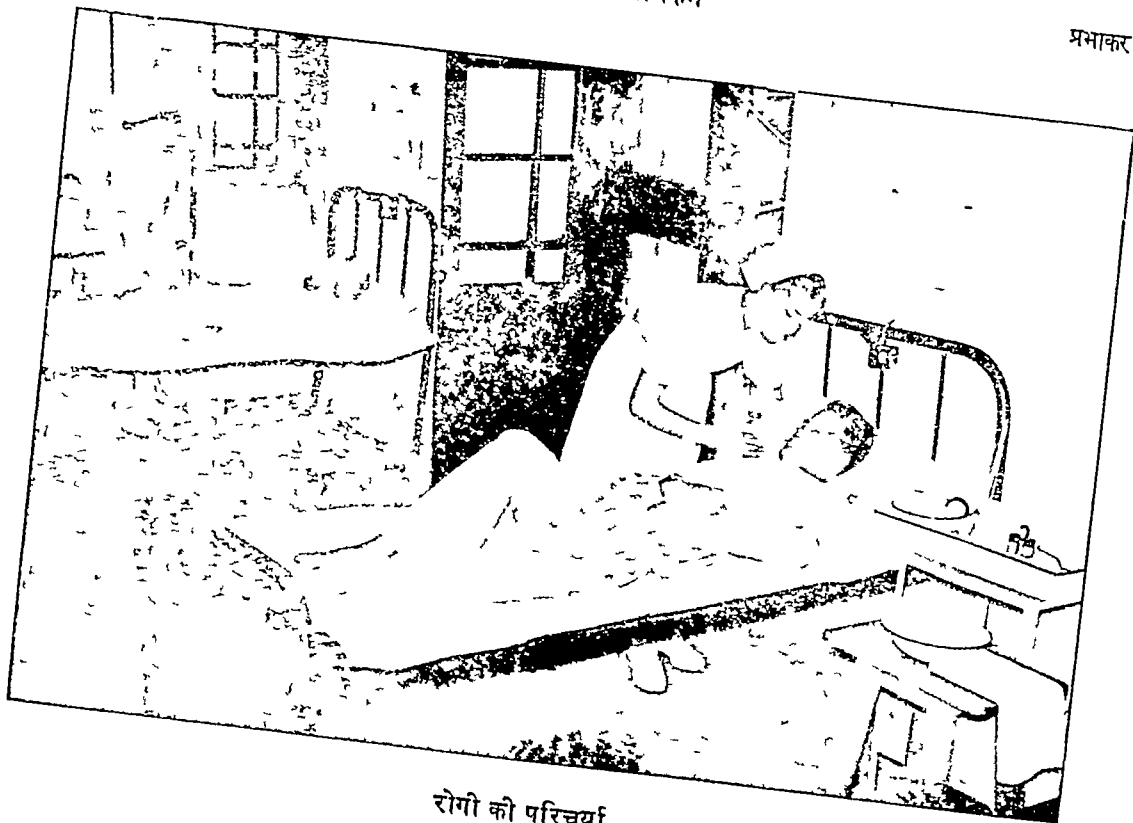
रोगी की परिचर्या

आर्थर को सयुक्त राज्य अमरीका के अध्यक्ष की गद्दी मिली और उन्होने देश के विरोध के बावजूद अध्यक्षपद ग्रहण किया। धीरे धीरे अपनी वक्तृताओ और कार्यो द्वारा उन्होने जनता का भय दूर कर दिया। उनके शासनकाल में अनेक बडी रेल लाइने बनी और सामाजिक सुधार हुए, साथ ही मेक्सिको और सयुक्त राज्य के बीच सीमा भी निर्धारित हुई। आर्थर उन अप्रिय राजनीतिज्ञो मे से थे जो अपने कार्यो द्वारा जनता का भय दूर कर उसका सौहार्द्र प्राप्त करते है। [ओ० ना० उ०]

आर्थरीय किंवदंतियाँ और आर्थर

अग्रेजी साहित्य की मध्ययुगीन अनुपम देन है। इनके केंद्रविंदु है कैमलाट नगर के आदर्श शासक तथा योद्धा 'किंग आर्थर' और उनके दरबार के द्वादश वीर जो मानव शौर्य के सर्वोत्तम प्रतीक समझे जाते थे और 'राउड टेबुल' के उज्ज्वल रत्न थे। आर्थर के व्यक्तित्व में ऐतिहासिक तथ्य के साथ साथ कल्पना का गहरा समन्वय है। वास्तव में वह केल्ट जाति के विशिष्ट नायक थे जो सभवत ५वी सदी के अत मे हुए, परतु कालातर मे इग्लैड तथा फ्रास के कवियो ने उनके चतुर्दिक् किवदतियो का सुनहला अलकार बिछा दिया। इन किंवदतियो को क्रमबद्ध करने का श्रेय अनेक लेखको को है जिनमें ज्युफरी ऑव मानमाउथ तथा मैलोरी के नाम विशेष उल्लेखनीय है। मैलोरी के अमर ग्रथ 'मार्टे ड आर्थर' में ये कथाएँ शृखलाबद्ध होकर अग्रेजी पाठको के समक्ष प्रस्तुत हुई और अग्रेजी साहित्य के लिये अनुपम वरदान सिद्ध हुई। इन किवदतियो मे मध्यकालीन विचारधारा के मूल तत्वो, अर्थात् ईसाई धर्म, रोमाटिक प्रेम, धार्मिक युद्ध तथा सैनिक जीवन के उच्च आदर्श और विचित्र अधविश्वासो का गहरा पुट है। मैलोरी के मार्टे ड आर्थर की ख्याति १६वी शताब्दी के उदय के साथ ही आरभ हुई, जब कैक्सटन ने इसे प्रकाशित किया, और वह आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है। एलिजाबेथ युग के प्रसिद्ध कवि स्पेंसर ने अपने महाकाव्य 'फेअरीक्वीन' में किंग आर्थर तथा मरलिन—दो मुख्य पात्रो का समावेश किया और तभी से उस सर्वप्रिय काव्य की ख्याति के साथ साथ इन कथाओ का प्रभाव भी बढता गया और अत मे विक्टोरियन युग के प्रतिनिधि कवि लार्ड टेनिसन ने इनको अपने महाकाव्य 'ईडिल्स ऑव दि किंग' मे कविता का रग बिरगा बाना पहनाया और इन कथाओ में निहित नैतिक तथ्यो की ओर भी पाठको का ध्यान आकृष्ट किया। यूरोप के अन्य देशो के साहित्य पर भी इनका प्रभाव स्पष्ट है।

सं०ग्र०—मैलोरी, सर टामस मार्टे ड आर्थर, टेनिसन, लार्ड . ईडिल्स ऑव दि किंग, मारगरेट, ज० सी० रीड दि आर्थूरियन लीजेड्स, १६३३। [वि० रा०]

आर्थिक भौमिकी

भौमिकी की वह शाखा है जो पृथ्वी की खनिज सपत्ति के सबध मे वृहत् ज्ञान कराती है। पृथ्वी से उत्पन्न समस्त धातुओ, पत्थर, कोयला, भूतैल (पेट्रोलियम) तथा अन्य अधातु खनिजो का अध्ययन तथा उनका आर्थिक विवेचन आर्थिक भौमिकी द्वारा ही होता है। प्रत्येक देश की समृद्धि वहाँ की खनिज सपत्ति पर बहुत कुछ निर्भर रहती है और इस दृष्टि से आर्थिक भौमिकी का अध्ययन और भी महत्वपूर्ण हो जाता है।

यद्यपि भारतवर्ष प्राचीन समय से ही अपनी खनिज सपत्ति के लिये प्रसिद्ध रहा है, तथापि कुछ कारणो से यह देश अत्यत समृद्ध नही कहा जा सकता। भारत में आर्थिक महत्व के ४० से अधिक खनिज पाए जाते है जिनमे से लगभग १६ खनिज प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है। इनमे विशेष कर लौह-अयस्क, मैंगनीज, अभ्रक, बॉक्साइट, इल्मेनाइट, पत्थर के कोयले, जिप्सम, चूना पत्थर (लाइम स्टोन), सिलीमेनाइट, कायनाइट, कुरविंद (कोरडम), मैग्नेसाइट, मृत्तिकाओ आदि के विशाल भाडार है, किंतु साथ ही साथ सीसा, ताँबा, जस्ता, राँगा, गधक तथा भूतैल आदि अत्यत न्यून मात्रा मे है। भूतैल का उत्पादन तो इतना अल्प है कि देश की आतरिक खपत का केवल ७ प्रति शत ही उससे पूरा हो पाता है। इस्पात उत्पादन के लिये सारे आवश्यक खनिज पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। सीसा, जस्ता तथा राँगा जिन उद्योगो मे प्रयोग किए जाते है उनमे इन धातुओ के अभाव के कारण कुछ हल्की धातुएँ, जैसे ऐल्युमिनियम इत्यादि तथा उनकी मिश्र धातुएँ उपयोग मे लाई जा सकती है।

भारत मे खनन उद्योग का विकास—सन् १६०६ में भारत के सपूर्ण खनिज उत्पादन का मूल्य केवल १० करोड रुपया था। उस समय पाकिस्तान तथा बर्मा भी भारतीय साम्राज्य के ही भाग थे। इसके पश्चात् खनिज उद्योग निरतर वृद्धि करता रहा तथा इसकी गति स्वतत्रता के उपरात और भी अधिक हो गई। यहाँ इस तथ्य को नही भूलना चाहिए कि २०वी शताब्दी के प्रारभ से इसके मध्यकाल तक खनिज के मूल्य मे कई गुनी वृद्धि हुई है। सन् १६४८ मे उत्पादित खनिजो का मूल्य ६४ करोड रुपए तक पहुँचा। वास्तव में भारत के खनिज ससाधनो का व्यवस्थित योजना द्वारा विकास राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के साथ ही हुआ और जैसे जैसे समय बीतता गया, इस दिशा मे महान् प्रगति के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे तथा १६५३ मे ११२.७८ करोड रुपए मूल्य के खनिज का उत्पादन हुआ।

किसी भी देश के ससाधनो का उचित और पूर्ण उपयोग करने के लिये गवेषणाकार्य अत्यत आवश्यक है। सौ वर्ष से अधिक समय बीता, जब भारतीय भौमिकीय सर्वेक्षण विभाग की स्थापना हुई। इसका मुख्य कार्य देश के खनिज पदार्थो का अन्वेषण और अनुसधान तथा भूतात्विक दृष्टि से सपूर्ण देश की समीक्षा और विस्तृत ज्ञान करना था। स्वतत्रता के पश्चात् खनिज उद्योग के लिये भारत सरकार की जागरूक नीति के परिणामस्वरूप सन् १६४८ मे भारतीय खनिज विभाग (इडियन ब्यूरो ऑव माइन्स) की स्थापना हुई। इसका कार्य एक सुनिश्चित योजना के अतर्गत विभिन्न खनिजो के भाडारो की खोज एव निर्धारण, खननपद्धतियो के सुधार, अधिक ठोस आधार पर आँकडो का सग्रह तथा खनिजो के समुचित उपयोग के लिये गवेषणा की व्यवस्था है। यह सस्था देश में खनन उद्योग की समस्याओ का निराकरण तथा नवीन उपयोगी सुझाव देकर उद्योग की वृद्धि करने मे भी सहायक सिद्ध हुई है। इस सस्था मे कई प्रभाग है। परमाणु-शक्ति-आयोग (ऐटॉमिक एनर्जी कमिशन) के अतर्गत भी 'परमाणु-शक्ति-खनिज-प्रभाग' स्थापित किया गया है। भारत मे मृत्तैल का अत्यत अभाव है। अत भारत सरकार ने इस ओर पूर्ण रूप से विशेष रुचि दिखाई है। यद्यपि देश मृत्तैल के लिये अपने ही पर सभवत कभी निर्भर न हो सकेगा, तथापि तैल के कुछ अन्य भाडार प्राप्त होने की सभावना को पूर्णत निर्मूल नही समझा जा सकता। इस कार्य को विशाल स्तर पर सचालित करने, देश मे सभावित स्थानो पर समान्वेषण करने तथा उसके सबध मे पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिये भारत सरकार के 'प्राकृतिक साधन और वैज्ञानिक अनुसधान' मत्रालय (मिनिस्ट्री ऑव नैचुरल रिसोर्सेज ऐड साइटिफिक रिसर्च) ने एक तैल एव प्राकृतिक गैस आयोग नामक सस्था को जन्म दिया है। पत्थर के कोयले से भी वाणिज्य के स्तर पर सश्लेषित भूतैल (सिथेटिक पेट्रोलियम) निर्माण करने की योजनाओ पर विचार चल रहा है। हाल मे खबात (गुजरात) मे प्राकृतिक भूतैल मिला है।

भारत का खनिज उत्पादन तथा निर्यात
उत्पादन बिंदुमय रेखा से तथा निर्यात सतत रेखा से करोड रुपयो में दिखाए गए है।

खनिजो का आयात एवं निर्यात—भारत को अलौह धातुओ, गधक, पोटाश, ग्रैफाइट आदि की आवश्यकता की पूर्ति के लिये आयात पर निर्भर रहना पडता है। सन् १६५७ मे लगभग दो अरब रुपया खनिजो के आयात में व्यय हुआ। यदि इसमे खनिज तथा ईंधन तैल आदि के आयात का मूल्य समिलित किया जाय तो यह तीन अरब साढे सात करोड रुपए से भी अधिक हो जायगा, जो सपूर्ण आयात का ३० प्रति शत है। कुछ महत्वपूर्ण खनिज, जैसे मैंगनीज-अयस्क, लौह अयस्क, पत्थर का कोयला, अभ्रक, इल्मेनाइट, कायनाइट, सिली मेनाइट तथा लवण आदि, विदेशो को निर्यात किए जाते है। खनिजो के निर्यात द्वारा सन् १६५७ में ६४ करोड १० लाख रुपया प्राप्त हुआ था। [वि० सा० दु०]

ये अपने नगर के सेनाध्यक्ष थे और अनेक सग्रामो में विजयी हुए थे, दूसरी ओर महान् गणितज्ञ और विज्ञानवेत्ता थे। पेच और घिर्री के आविष्कार का श्रेय इन्ही को दिया जाता है। किसी घन को द्विगुणित करने की समस्या का भी इन्होने दो अर्धरभो (या वेलनो) द्वारा समाधान किया था। हरात्मक श्रेणी के रूप का निर्धारण भी इन्होने किया और स्वरग्रामो मे स्वरो के पारस्परिक अनुपात को भी खोज निकाला। दर्शनप्रस्थान में यह पिथागोरस के अनुयायी थे। [भो० ना० श०]

आर्किमीदिज (२८७-२१२ ई० पू०), विश्व के महान् गणितज्ञ, का जन्म सिसली के सिराक्युज नामक स्थान मे खगोलशास्त्री फाइडियाज के घर २८७ ई० पू० में हुआ था। इन्होने गणित का अध्ययन सभवत अलैक्जैड्रिया मे किया। गणित को इनकी देन अपूर्व है। इन्होने यात्रिकी के 'उत्तोलक (लिवर) के नियमो' का अविष्कार किया। चपटे तलो और भिन्न भिन्न आकृतियो के ठोसो के क्षेत्रफल एव गुरुत्वकेद्र निकालने मे ये सफल हुए। इन्ही ने प्राय समस्त द्रवस्थिति-विज्ञान का आविष्कार किया और इसका प्रयोग अनेक प्रकार के प्लवमान पिंडो की साम्य-स्थिति ज्ञात करने में किया। इनके अतिरिक्त इन्होने वक्रीय समतल-आकृतियो के क्षेत्रफल एव वक्रतल से सीमित ठोसो के घनफल निकालने की व्यापक विधियो की भी खोज की। इनकी विधियो मे २००० वर्ष पश्चात् आविष्कृत कलन (कैल्क्युलस) की विधियो की झलक थी। इन्होने युद्धोपयोगी अनेक शस्त्रो की भी रचना की जिनसे २१२ ई० पू० के सिराक्युज के घेरे के समय रोमनिवासियो को अति क्षति पहुँची। अत मे विजेताओ द्वारा इनका वध कर दिया गया, परतु सेनानायक मार्सेलुस ने इनकी अपूर्व वुद्धि से प्रभावित होकर इनकी एक समाधि का निर्माण कराया, जिसके ऊपर इनके पूर्व-इच्छानुसार वेलन के अतर्गत खीचे गए एक गोले का चित्र अकित किया गया था। [रा० कु०]

ग्रीक भाषा मे आर्किमीदिज की निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं (१) पैरी स्फैरास् कै कीलिन्द्रू (गोला और रभ), (२) कीक्लू मैत्रेसिस् (वृत्त की माप), (३) पैरी कोनोइदेग्रान् कै स्फैरोइदेग्रोन् (आ-शकु और आ-गोल), (४) पैरी एलीकोन (कुतल), (५) पैरी ऐपीपैदोन् इसोरोइग्रोन् ए केत्रा बारोन् ऐपीपेदोन् (समतल समतौल और आकर्षणकेंद्र), (६) तेत्रागोनिस्मस् परावोलेस् (परवलय का क्षेत्रफल), (७) पैरी औखूमैनोन् (प्लावी काय), (८) प्साम्मितेस् (वालुकाकणो की गणना), (९) मेथोदस् (वैज्ञानिक अनुसधान की पद्धति), (१०) लेम्माता (भूमिति सबधी प्रस्थापनाओ का सग्रह)। इनके अतिरिक्त उनकी कुछ अन्य रचनाओ के केवल नाममात्र उपलब्ध होते है। उनकी एक रचना का नाम पशु-समस्या भी है। आर्किमीदिज की सभी रचनाएँ मौलिक और प्रसादगुण से युक्त है। वह चलराशिकलन (इटेग्रल कैल्कुलस) के आविष्कार के समीप तक पहुँच चुके थे। वृत्त की माप के सवध में भी उनके परिणाम वहुत कुछ सतोषप्रद थे। यद्यपि उन्होने वहुत से यत्रो का निर्माण किया था, तथापि उनकी रुचि सैद्धातिक गवेषणा की ओर अधिक थी।

स०ग्र०—मूल रचनाएँ, हाईवर्ग का सस्करण (लातीनी अनुवाद सहित), टी० एल० हीथ दि वर्क्स ऑव आर्किमीदिज, ई० टी० वेल मेन ऑव मैथेमेटिक्स। [भो० ना० श०]

आर्किलोकस् पारौस् द्वीपनिवासी कुलीन गृहस्थ तैलेसिक्लेस और उनकी दासी के पुत्र थे जो आगे चलकर अत्यत उच्च कोटि के कवि हुए। उनके स्थितिकाल के सवध मे पर्याप्त विवाद है। कुछ आलोचक उनका समय ई० पू० ७५३ से ७१६ तक और दूसरे उनका समय ई० पू० ६५० के आसपास मानते है। उनके जीवन के सवध में कुछ अधिक ज्ञात नही है। उपनिवेश स्थापित करने मे, युद्ध मे और प्रणयव्यापार मे उनको सर्वत्र ही असफलता का मुख देखना पडा। धनाभाव के कारण उनकी वाग्दत्ता प्रेयसी ने ओवुले उन्हे प्राप्त न हो सकी। इसपर उन्होने उसके और उसके पिता के प्रति इतनी कटु परिहासात्मक कविताएँ लिखी कि पिता और पुत्री दोनो स्वय फाँसी लगाकर मर गए। कुछ आलोचक इस परपरागत कथा को सदिग्ध मानते है। आर्किलोकस् का प्राणात युद्ध करते हुए हुआ। इस समय उनकी रचना का अशमात्र उपलब्ध है। इयाबिक और ऐलिजियाक छदो की पूर्ण सभावनाओ को उनकी रचना ने प्रकट किया। घृणा और कटुता की अभिव्यक्ति के कारण उन्हे 'वृश्चिकजिह्व' कहा गया है, पर अन्य गुणो के कारण उनका स्थान होमर के पश्चात् माना गया है।

आर्कैंजिल उत्तररूस का एक नगर है जो द्वीना नदी के डेल्टा के सिरे पर स्थित है। यह श्वेत सागर का प्रमुख नगर तथा वदरगाह है। रूसी भाषा मे इस नगर का नाम अरखानगेलिस्क है। यहाँ का सवसे छोटा दिन ३ घटा १२ मिनट का तथा सवसे लवा २१ घटा ४८ मिनट का होता है। श्वेत सागर के कुल व्यापार का ८२ प्रति शत आर्केजिल के द्वारा होता है। यह दक्षिण से रेल, नहर तथा नदी द्वारा सवद्ध है। यहाँ का मुख्य निर्यात लकडी, कोलतार, सन, तीसी तथा चमडा है, परतु कुल निर्यात का ८० प्रति शत लकडी होती है। लकडी चीरना यहाँ का मुख्य उद्योग है। इसकी आवादी १९५६ ई० मे २,३८,००० थी। [नृ० कु० सि०]

आर्कैंसैस अमरीका के सयुक्त राज्यो में से एक, जो ३३°उ० से ३६° ३०′ उ० अक्षाशो तथा ८९° ४०′ प० से ९४° ४२′ प० देशातरो के वीच में है। इसके उत्तर में मिसौरी, पूर्व मे मिसीसिपी, दक्षिण मे लूइसियाना तथा पश्चिम मे टेक्सास और ओकलाहोमा है। इसका क्षेत्रफल ५३,१०२ वर्ग मील है और १९५१ में जनसख्या २१,१०,३१४ थी। इसकी जनसख्या १८१० मे १०६२ और १९१० में १५,७४,४४९ तथा १९४० मे १९,४९,३८७ थी। १९४० मे जनसख्या का घनत्व ३७० प्रति वर्ग मील था और नागरिक जनसख्या २२ ८ प्रति शत तथा ग्रामीण ७७ ८ प्रति शत थी। यह मिसीसिपी की द्रोणी में स्थित है। अन्य राज्यो की अपेक्षा यहाँ की भौतिक रचना अधिक भिन्न है। इसको हम चार प्राकृतिक विभागो में वॉट सकते है दो ऊँचे पठार, एक नदी की घाटी तथा एक पहाडी विभाग। मेक्सिको की खाडी के प्रभाव से यहाँ की जलवायु दक्षिणी है। जाडा, वसत, गर्मी तथा वरसात का निम्नतम ताप क्रमानुसार ४ ६°, ६१ १°, ७८ ८° तथा ६१ २° रहता है। पूर्वोक्त ऋतुओ मे औसत वर्षा क्रमानुसार ११ ७″, १४ ५″, १० ५″ और १० २″ होती है। यहाँ वनस्पति तथा जतु अधिकता से मिलते हैं। राज्य का १/४ भाग जगलो से ढका है। कृषि यहाँ का मुख्य उद्यम है तथा कपास मुख्य उपज। कपास की उपज १९३५ में ८,९०,००० गाँठ तथा १९४० मे १५,४५,००० गाँठ थी। कपास तथा कपास के वने पक्के माल का मूल्य कृषि की सपूर्ण उपज के मूल्य का लगभग आधा रहता है। १९०४ ई० के लगभग यहाँ चावल उद्योग भी विकसित हुआ। फलो के उत्पादन मे भी इस राज्य का स्थान ऊँचा है। पशु उद्योग तथा दूध से वने पदार्थो के उद्योग पर अव अधिक ध्यान दिया जा रहा है। यहाँ का काष्ठ उद्योग भी महत्वपूर्ण है। खनिज उद्योग मे पेट्रोलियम का स्थान १९४० तक सर्वोच्च रहा। इस राज्य मे रेल तथा सडक द्वारा यातायात के साधन सुविकसित हैं।

आर्कैसैस कोलरेडो राज्य में रॉकी पर्वतश्रेणियो (२९°२०′ उ० अ०—१०६° ५′ प० दे०) से निकलकर २००० मील के प्रवाह के अनतर मिसीसिपी-मिसौरी नदी मे मिल जाती है। मिसीसिपी-मिसौरी प्रणाली में यह सवसे वडी नदी है। कैनियन नामक कदर के कुछ ऊपर ही यह रॉकी पर्वत को छोड देती है। नदी के किनारे पर १३०० मील तक बलुआ, चिकनी तथा दोमट मिट्टी पाई जाती है। गर्मी मे इस नदी मे भयकर वाढ आ जाया करती है।

आर्कैसैस नगर आर्कैसैस और मिसीसिपी राज्य की सीम पर मिसीसिपी नदी के किनारे वसा है। [नृ० कु० सि०]

आर्केलाउस सुकरात के पूर्ववर्ती यूनानी दार्शनिक। इनका समय ई० पू० ५वी शताब्दी है। इनके जन्मस्थान के सव में मतभेद है। कोई इनको मिलेतस् का निवासी मानते है, कोई एथेस का। यह अनाक्सागोरस के शिष्य तथा सुकरात के गुरु माने जाते हैं। इनके मत मे आद्य मिश्रण से शीत और उष्ण की उत्पत्ति हुई और शीत तथा उष्ण से समस्त प्रजनन और विकास की प्रक्रिया उत्पन्न हुई। पवन भी इनके मत मे अत्यत महत्वपूर्ण तत्व है। ये जीवो की उत्पत्ति कीचड से मानते थे। आर्केलाउस दार्शनिक चिंतन को इयोनिया से एथेस ले आए। ये अतिम प्रकृतिवादी थे, सुकरात के साथ आचारवादी दर्शन का श्रीगणेश हुआ। [भो० ना० श०]

से होकर आती है। पूर्वोक्त रासायनिक पदार्थ वायु के जलवाष्प को सोख लेते हैं और सूखी वायु चूपक में एकत्र हो जाती है। बोतल तथा नलियाँ रासायनिक पदार्थों सहित फिर तौली जाती है। पहली तौल को इसमें से घटाकर जलवाष्प की मात्रा, जो एकत्रित वायु के भीतर थी, ज्ञात हो जाती है।

अन्य आर्द्रतामापी डाइन, डेनियल या रेनो के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा हम ओसांक ज्ञात करते हैं। फिर इस ओसांक और वायु के ताप पर वाष्पदाब का मान, रेनो की सारणी देखकर, आपेक्षिक आर्द्रता ज्ञात कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त वायु में किसी समय नमी की तात्कालिक जानकारी के लिये गीले और सूखे बल्बवाले आर्द्रतामापी (वेट ऐंड ड्राइ बल्ब हाइग्रोमीटर) का निर्माण किया गया है। इसे साइक्रोमीटर भी कहते हैं। इस उपकरण में दो समान तापमापी एक ही तख्ते पर जड़े रहते हैं। एक तापमापी के बल्ब पर कपड़ा लपेटा रहता है, जो सदा भीगा रहता है। इसके लिये कपड़े का एक छोर नीचे रखे हुए बर्तन के पानी में डूबा रहता है। कपड़े के जल का वाष्पीभवन होता रहता है, जो वायु की आर्द्रता पर निर्भर रहता है। जब वायु में नमी की कमी होती है तो वाष्पीभवन अधिक और जब वायु में नमी की अधिकता होती है तो वाष्पीभवन कम होता है। वाष्पीभवन के अनुसार गीले बल्बवाले तापमापी का पारा नीचे उतर आता है और दोनों तापमापियों के पाठों में अंतर पाया जाता है। उनके पाठों में यह अंतर वायु की नमी की मात्रा पर निर्भर रहता है। यदि वायु जलवाष्प से संतृप्त हो तो दोनों तापमापियों के पाठ एक ही रहते हैं। रेनो की सारणी में विभिन्न तापों पर इस अंतर के अनुकूल जलवाष्प का दाब दिया हुआ है, अत दोनों तापमापियों का पाठ लेकर आपेक्षिक आर्द्रता तथा ओसांक का मान ज्ञात किया जाता है।

चित्र २. डी सोस्यूर का आर्द्रतामापी

इसका मुख्य अंग एक बाल (केश) होता है, जो न्यूनाधिक आर्द्रता के अनुसार घटता बढ़ता है। त तापमापी, प पेंच जिसके द्वारा बाल का सिरा जकड़ा रहता है, ब बाल, न मापनी, ध संकेतक।

तापमापियों पर वायु बदलती रहे, इस उद्देश्य से कुछ साइक्रोमीटरों को एक चाल से घुमाने का आयोजन किया रहता है। तख्ती मोटर द्वारा प्रति सेकंड चार बार घुमाई जाती है, जिससे वायु सदा बदलती रहती है। ऐसे साइक्रोमीटरों के लिये आपेक्षिक आर्द्रता की सारणी इसी परिभ्रमण संख्या ४ के अनुकूल बनाई जाती है। परिभ्रमण से पारे की सतह हिलती रहती है। इस दोष को दूर करने के लिये और शुद्ध मापन के लिये अन्य उपाय का प्रयोग किया गया है। एक प्रकार के यंत्र में दोनों तापमापियों को धातु की दोहरी नली के भीतर स्थिर रखा जाता है और नली के भीतर की हवा एक छोटे बिजली के पंखे द्वारा बदलती रहती है। ऐसी दोहरी दीवाल की नली से विकिरणों का भी प्रभाव नहीं पड़ने पाता।

किंतु इन आर्द्रतामापियों से आर्द्रता का मान शीघ्र नहीं ज्ञात किया जा सकता। इसके अतिरिक्त वायु में नमी की मात्रा क्षण क्षण पर बदलती रहती है तथा हमें क्षण प्रति क्षण नमी का पता पूरे दिन भर का जानना आवश्यक होता है। पूर्वोक्त यंत्रों द्वारा हम वायुमंडल के ऊपरी भाग की आर्द्रता का अध्ययन भी नहीं कर सकते। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये बाल (केश) की लंबाई पर नमी के प्रभाव को देखकर सर्वप्रथम डी सोस्यूर ने एक आर्द्रतादर्शक का निर्माण किया। इस आर्द्रतादर्शक में एक रूखा स्वच्छ बाल रहता है। बाल का एक सिरा धातु के टुकड़े के बारीक छिद्र में पेंच द्वारा जकड़ा रहता है (चित्र २)। नीचे की ओर बाल का एक फेरा एक घिरनी पर लपेट दिया जाता है। तब बाल के सिरे को घिरनी की बारी (रिम) में पेंच द्वारा जकड़ दिया जाता है। घिरनी की धुरी पर एक संकेतक लगा रहता है। बाल की लंबाई बढ़ने पर एक कमानी के कारण घिरनी एक ओर और घटने पर दूसरी ओर घूमती है और उसी के साथ संकेतक वृत्ताकार मापनी पर चलता है। मापनी का अंशांकन आर्द्रतामान में किया रहता है, अत संकेतक के स्थान से मापनी पर आर्द्रता का मान प्रति शत तुरंत पढ़ा जा सकता है। इसी के आधार पर स्वलेखी आर्द्रतामापी बनाए गए हैं, जिनके द्वारा ग्राफ पर २४ घंटे अथवा पूरे सप्ताह के प्रत्येक क्षण की आर्द्रता का मान अंकित किया जाता है। किंतु एक बाल से इतनी पुष्टता नहीं आती कि घिरनी के संकेतक से ग्राफ लिखवाया जा सके, विशेषकर जब ऐसा उपकरण गुब्बारे अथवा विमान में ऊपरी वायुमंडल के अध्ययन के लिये लगाया जाता है। पुष्टता के लिये बालों के गुच्छे अथवा रस्सी का उपयोग किया जाता है, परंतु इससे आर्द्रतामापी की यथार्थता घट जाती है। देखा गया है कि घोड़े का एक बाल मनुष्य के बालों की रस्सी से अधिक उपयोगी होता है। इसलिये इसका प्रयोग किया जाता है, परंतु एक अन्य दोष के कारण शीत प्रदेशों में इसका उपयोग नहीं हो सकता। ताप घटने से जलवाष्प के प्रति बाल की चेतनता क्षीण हो जाती है। तब उपकरण बहुत समय के बाद नमी से प्रभावित होता है। -40° सेंटीग्रेड पर तो बाल बिलकुल कुंठित हो जाता है।

अब कुछ ऐसे विद्युच्चालक पदार्थों का पता चला है जिनके वैद्युत अवरोध में जलवाष्प के कारण परिवर्तन होता है। डनमोर ने ऐसे आर्द्रतामापी का निर्माण ऊपरी वायुमंडल के अध्ययन के लिये किया है। इसमें लीथियम फ्लोराइड की पतली परत होती है जिसका वैद्युत अवरोध जलवाष्प के कारण बदलता है। यह परत विद्युत्परिपथ (इलेक्ट्रिक सरकिट) में लगी रहती है। अवरोध के परिवर्तन से धारा घटती बढ़ती है, अत धारामापी की मापनी पर आर्द्रतामान पढ़ा जा सकता है। धारामापी के संकेतक को स्वलेखी बनाकर आर्द्रता का मान ग्राफ पर अंकित भी किया जा सकता है। गुब्बारे और वायुयानों में प्राय ऐसे ही आर्द्रतामापी लगे रहते हैं। [नं० ला० सिं०]

आर्नहेम नगर नीदरलैंड के गेल्डरलैंड प्रदेश की राजधानी है। यह राइन नदी के दाहिने किनारे पर बसा है। यहाँ पीपे का पुल तथा रेलवे जंक्शन है। यह यूट्रेक्ट से ३६ मील दक्षिण-पूर्व में जर्मनी की सीमा के निकट स्थित है। यह स्थान अपनी सुंदरता तथा ऐतिहासिकता के लिये प्रसिद्ध है। ट्राम द्वारा यह यूट्रेक्ट और जूटफेन से मिला है तथा स्टीमर द्वारा अमस्टरडाम, रोटरडाम तथा कोलोन से संबद्ध है। द्वितीय विश्वयुद्ध में यह पूर्ण रूप से नष्ट हो गया था। १५ अप्रैल, १९४५ को यह पुन मित्रराष्ट्रों के अधिकार में आ गया। जनसंख्या १९५० में १,०१,००० थी। यह एक प्रमुख व्यवसायकेंद्र है। यहाँ पर ऊनी कपड़े, कृत्रिम रेशम तथा सिगार बनते हैं। [नृ० कु० सिं०]

आर्नो इटली की एक नदी है। यह फाल्टरोना पहाड़ (ऊँचाई ४,२६५ फुट) से निकलती है, जो फ्लोरेंस से २५ मील उत्तर-पूर्व में है। यह टसकनी को दो भागों में बाँटती है तथा अरेज्जो होती हुई पीसा से ७ मील नीचे लिगूरियन समुद्र में गिरती है। प्राचीन काल में पीसा इसी नदी के मुहाने पर बसा था। इस नदी की लंबाई १५५ मील है और बड़ी बड़ी नावें फ्लोरेंस तक जाती हैं। नदी में सदा बाढ़ आने का भय रहता है। कई जगहों पर नदी के किनारों पर रक्षात्मक बाँध बनाए गए हैं। [नृ० कु० सिं०]

आर्न्डट, एर्न्स्ट मोरित्स (१७६९–१८६०) आस्ट्रिया का प्रसिद्ध जनवादी कवि। मोरित्स का जन्म आस्ट्रिया के रूजेन प्रदेश के शोरित्स नामक स्थान में २६ दिसंबर,

सका। आर्गन के वातावरण में जलवाष्प प्रविष्ट करने से न्यून ताप पर एक निश्चित हाइड्रेट आ$_{न}$ ६हा$_{२}$औ बनता है, किंतु यह अत्यत अस्थायी होता है और –२४८° सें० पर विघटित हो जाता है। बूथ और विल्सन (सन् १६३५ ई०) ने आर्गन और बोरन फ्लोराइड के मिश्रण के हिमाक वक्रो के अध्ययन के फलस्वरूप निम्न तापो पर (आ$_{न}$)$_{न}$बोफ्लो$_{३}$, न=१, २, ३, ६, ८ तथा १६, जैसे यौगिको की उत्पत्ति सिद्ध की, किंतु वे अत्यत अस्थायी होने के कारण अपने गलनाको के पूर्व ही विघटित हो जाते हैं।

(यहाँ आ$_{न}$=आर्गन, हा=हाइड्रोजन, औ=आक्सिजन, बो=बोरन, फ्लो=फ्लोरीन)।

प्रयोग—आर्गन गैस का प्रयोग विद्युद्विसर्जन नलिकाओ, दीपको, रेडियो वाल्वो तथा रेक्टिफायरो में प्रदीप्त करने के लिये होता है।

स०ग्र०—जी० डी० पार्क्स तथा जे० डब्ल्यू० मेलर माडर्न इनऑर्गेनिक केमिस्ट्री (१६४७), पी० सी० एल० थार्न तथा ई० आर० रॉबर्ट्स इनऑर्गेनिक केमिस्ट्री (१६४६), ज० अमे० केमि० सोसा० १६३५, ५७, २२७३। [वि० वि० ला० स०]

आर्गोस

प्राचीन ग्रीस का एक प्रसिद्ध नगर। यह आरगिव खाडी के सिरे पर मैदानी भाग में बसा है। मैदान बहुत उपजाऊ है तथा यहाँ यातायात की सुविधा है। यहाँ से मार्ग पश्चिम मे आरकेडिया तक जाता है। ग्रीक किंवदतियाँ इसकी पुरानी सभ्यता की कहानी बताती हैं जिससे पता चलता है कि यहाँ मिस्र, लीशिया और अन्य देशो से आदान प्रदान होता था। आरभिक चतुर्थ शताब्दी मे यह नगर जनसख्या तथा सपन्नता की दृष्टि से बहुत उन्नत दशा में था। १८५४ ई० में अमरीकी पुरातत्ववेत्ताओ द्वारा इसका पूरा अन्वेषण हुआ और उन लोगो को एक पुराने मदिर का अवशेष मिला जिसमे ११ पृथक् भवन थे। इनका समिलत क्षेत्रफल ६७५ × ३२५ वर्ग फुट था। [नृ० कु० सिं०]

आर्च चांसलर

पवित्र रोमन साम्राज्य मे सबसे बडे पद का अधिकारी। मध्यकालीन यूरोप मे यह उपाधि उसको मिलती थी जो बडे बडे अफसरो के काम की देखभाल किया करता था। प्रथम लूथर के एक फर्मान मे, जो ८४४ई० में निकला था, आलिगमार को उस पद से विभूपित किया गया था। इसके अतिरिक्त कई और स्थानो पर भी इसका वर्णन पाया जाता है। जर्मनी में महान् आऊ के राज्यकाल में भी इसका नाम आता है। ११वी शताब्दी में इटली के आर्च चासलर का पद कोलोन के आर्च विशप (बडे पादरी) के हाथो मे था। १३५६ ई० मे चौथे चार्ल्स के राज्यकाल मे आर्च चासलर के पद के तीन भाग हुए जो गोल्डेन बिलवाले कागजो मे मिलते हैं। [मु० अ० अ०]

आर्च ड्यूक

आस्ट्रिया के राजपरिवार का नाम। मध्यकालीन यूरोप में यह उपाधि बहुत ही कम लोगो को मिली। आर्च ड्यूक पालातीन की उपाधि सबसे पहले ड्यूक रेडोल्फ चतुर्थ ने धारण की। उन्होंने यह पद अपनी मुहरो पर खुदवाया और अपने फर्मानो में भी लिखा। वे इस उपाधि का प्रयोग उस समय तक करते रहे जब तक चार्ल्स् चतुर्थ ने उन्हे मना नही कर दिया। कानून के अनुसार यह पद हैप्सबर्ग के राजपरिवार को उस समय मिला जब १४५३ ई० मे फ्रेडरिक तृतीय ने अपने पुत्र मैक्समिलन और उसके वशजो को आस्ट्रिया के आर्चड्यूक का पद दिया। [मु० अ० अ०]

आर्च बिशप

ईसाई गिरजो में किसी प्रात के मुख्य धर्माधिकारी को बिशप अथवा धर्माध्यक्ष की उपाधि दी जाती है (दे० **बिशप**)। चौथी शताब्दी ई० मे बडे नगरो के बिशप आर्च बिशप, अर्थात् महाधर्माध्यक्ष कहे जाने लगे। आज तक रोमन कैथोलिक, आरथोडाक्स ऐंग्लिकन तथा एकाध लूथरन गिरजो में आर्च बिशप की उपाधि का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ इग्लैंड के चर्च में केवल दो आर्च बिशप होते हैं—कैंटरबरी और यार्क मे। भारत के रोमन कैथोलिक चर्च मे निम्नलिखित शहरो में आर्च बिशप रहते हैं—दिल्ली, कलकत्ता, बबई, मद्रास, आगरा, नागपुर, बँगलोर, हैदराबाद, मदुराई, पाडीचेरी, वेरापोली, राँची, एरणाकुलम् और त्रिवेंद्रम्। [का० बु०]

आर्जुनायन

प्राचीन भारत का एक प्रख्यात गण। गुप्तनरेश समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति में गुप्तकालीन अन्य गणो के साथ आर्जुनायनो का भी उल्लेख मिलता है—"मालवार्जुनायनयौधेयमाद्रकाभीरप्रार्जुनसनकानीककाकखरपरिकादिभिश्च सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोपितप्रचडशासनस्य (समुद्रगुप्तस्य)" जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आर्जुनायनो ने सब प्रकार के करो के दान से तथा आज्ञा स्वीकार कर समुद्रगुप्त के प्रचड शासन को सतुष्ट किया था। इनमें गणतत्र राज्यप्रणाली द्वारा शासन होता था। ये मध्यदेश की प्रत्यत सीमा पर बसे थे। इनके ताँबे के सिक्के मथुरा, भरतपुर तथा अलवर में पाए गए हैं जिनपर 'आर्जुनायनाना जय' लेख है। उनके एक ओर खडा हुआ ककुद्मान् वृपभ है और दूसरी ओर पुरुपमूर्ति है। ये सिक्के यौधेय गणो के सिक्को से मिलते हैं। समुद्रगुप्त के पूर्वोक्त शिलालेखो में आर्जुनायनो के अनतर ही यौधेयो का उल्लेख दोनों की सभवत समीपस्थ स्थिति का परिचायक माना जा सकता है। काशिकाकार ने भी पाणिनि के एक सूत्र के उदाहरण में आर्जुनायनो का उल्लेख किया है—न ह्वच इञ प्राच्यभरतेपु (अष्टाध्यायी २।४।६६), पर पतजलि ने 'औद्दालकि' और 'औद्दालकायन' उदाहरण दिए है, परतु काशिकाकार ने इन्हे बदलकर अपने समकालीन 'आर्जुनि' और 'आर्जुनायन' उदाहरण रखे हैं। आर्जुनायन गण की स्थापना लगभग शुगकाल में हुई और समुद्रगुप्त के साम्राज्य में वे निस्तेज हो गए। काशिका का पूर्वोक्त निर्देश इस बात का साक्षी है कि इनकी स्मृति छठी शती में भी जागरूक थी। [वि० उ०]

आर्जेंटीना

दक्षिण अमरीका का एक देश है। स्थिति २२° अ० द० से ५५° अ० द०, ५४° २०' दे० प० से ७३° ३०' दे० प०, क्षेत्रफल ११,५३,११६ वर्ग मील, जनसख्या १,५८,६३,८२७ (सन् १६४७ में)। इस देश के उत्तरी भाग में उष्ण प्रदेशीय घास के मैदान एव वन है, मध्य में पपास का हरा भरा कृपिप्रदेश और दक्षिण मे पटगोनिया की उदास मरुभूमि। इस देश में नूतन पुरातन का समन्वय है। बस्ती के विचार से यह देश प्राचीन, किंतु आर्थिक विकास में नवीन है। यद्यपि यहाँ का सर्वप्रधान नगर बुएनस एरिज चमक दमक एव नवीनता में लदन, न्यूयार्क तथा पेरिस के समकक्ष है तथापि शेप आर्जेटीना आज भी ग्रामीण है।

प्राकृतिक दशा—इस प्रजातत्र के पश्चिमी एव एक तिहाई उत्तरी भाग मे ऐंडीज पर्वत एव तत्सबधित पर्वतीय प्रदेश है, उत्तर में ब्राजील के पठार का एक भाग एव दक्षिण में पटगोनिया की उच्च भूमि है। देश का शेप भाग मैदान सा है। दक्षिणी अमरीका की रीढ, ऐंडीज़, के पर्वतीय क्षेत्र मे अवसादी (सेडिमेंटरी) चट्टानें धरातल पर मिलती हैं। आयु में ऐंडीज़ नया है। इसका उत्थान तृतीयक (टरशियरी) कल्प में हुआ था जब रूपद (प्लैस्टिक) आग्नेय पदार्थ में मोड (भज, फोल्डिंग) आ गया था। इस भाग मे हिमयुगो के अवशेप भी मिलते हैं। प्लाटा नदी के उत्तर तथा अध-महासागर के किनारे का भाग कैलीडोनियन उत्थान के समय बना था और दक्षिणी भाग हरसीनियन उत्थान के समय। अब आयु में नवीन ऐंडीज़ ही ऊँचा रह गया है, शेप भाग कटकर समतल हो गए हैं।

पराना, परागुए तथा उरुगुए, आर्जेटीना की तीन प्रमुख नदियाँ हैं। इनके मिलने से पाटा नदी बनती है। रियो डि ला प्लाटा एक बडा सागर-सगम (एस्चुएरी) है और बुएनस एरिज का बदरगाह इसी पर स्थित है। यो तो इस देश मे कई झीलें है, पर पटगोनिया प्रदेश की झीले अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें मुख्य नाहुयलहुपी, सान मार्टिन, वियडामा आदि हैं।

जलवायु तथा वर्षा—देश के उत्तरी भाग मे उष्ण कटिबधीय जलवायु ने अपने सभी अवगुणो का प्रभाव मानव सस्कृति तथा सभ्यता पर डाल रखा है। देश का मध्य भाग, जो पपास कहलाता है, अत्यत स्वास्थ्यप्रद है। यहाँ पर यथेष्ट धूप, यथेष्ट वर्षा तथा अधिक जनसख्या है। यहाँ पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में ताप कुछ बढ जाता है, किंतु वर्षा अधिक घट जाती है। पश्चिमी भाग मे, ऐंडीज द्वारा रोके जाने के कारण, प्रशात महासागरीय वायु अधिक वर्पा नही कर पाती। यह निम्नाकित तालिका से विदित होता है

	पूर्व मे (बुएनस एरिज)	पश्चिम में (कारडोबा)
औसत तापक्रम	६१.१°	६२.४°
औसत वर्षा	३७.६"	२७.०"

यथेष्ट मात्रा में पाए जाते हैं। आर्मीनी में पत्रपत्रिकाएँ भी पर्याप्त संख्या में निकलती हैं। सोवियट सघ में प्रवेश कर इस प्रदेश की भाषा और साहित्य ने बडी तेजी से उन्नति की है।

स०ग्र०—मेइए ले लाँग दु माँद (पेरिस), बाबूराम सक्सेना सामान्य भाषाविज्ञान (प्रयाग)। [बा० रा० स०]

आर्य शब्द का प्रयोग प्राय चार अर्थों में होता है (१) आर्य प्रजाति, (२) आर्य भाषापरिवार, (३) आर्य धर्म और सस्कृति तथा (४) श्रेष्ठ, शिष्ट अथवा सज्जन।

(१)—**आर्य प्रजाति**—पृथ्वी पर बसनेवाले मानवसमूहो को प्रजातिशास्त्रियो ने कई प्रजातियो मे विभक्त किया है जिनमें मुख्य हैं आर्य (श्वेत, गौर अथवा गोधूम), सामी तथा हामी, किरात (मगोल), आग्नेय (आस्ट्रिक), हब्शी (नीग्रो) आदि। इनके भी अनेक भेद और उपभेद हैं। मानव प्रजातियो के अद्यतन वर्गीकरण में 'आर्य' शब्द का प्रयोग कम हो रहा है। इसके बदले भारोपीय (इडो-यूरोपियन, इडो-जर्मन), काकेशियाई (काकेस्वायड्स) आदि का प्रयोग अधिक हो रहा है। इसके प्रमुख उपभेद हैं (१) नॉर्डिक (उत्तर यूरोपीय), (२) अल्पाइन (मध्य यूरोपीय) और (३) मेडिटेरेनियन (भूमध्यसागरीय)। एम० एफ० ऐशले माटेगू (१९४५) ने काकेशियाई के आठ उपभेद किए हैं : (१) भारतीय, (२) भूमध्यसागरीय, (३) अल्पाइन, (४) आर्मीनियन, (५) नार्दिक, (६) दिनारिक, (७) पूर्वबालटिक और (८) पॉलिनेशियन। भूमध्यसागरीय के भी तीन उपभेद माने गए हैं (१) अतलातिकीय–भूमध्यसागरीय, (२) आधारिक (मध्य) भूमध्यसागरीय तथा (३) ईरानी–भारतीय। इन उपजातियो का परस्पर बहुत मिश्रण हुआ है और उनकी शारीरिक रचना और रग मे स्थानीय तथा वर्गगत भेद हैं। तथापि मोटे तौर पर इनकी कुछ शारीरिक विशेषताएँ सर्वतोनिष्ठ हैं। मानुषमिति (ऐंथ्रॉपोमेट्री) के अनुसार वे निम्नलिखित प्रकार से रखी जा सकती हैं

(१) **वर्ण अथवा रंग**—श्वेत, गौर (गोधूम, भूरा और कही अधिक मिश्रण से श्याम भी)।

(२) **ऊँचाई**—१७० सेटीमीटर (५ फुट ७ इच) से प्राय ऊँचा और कही मध्यम ऊँचाई (५ फुट ५ इच या ५ फुट ३ इच तक)।

(३) **कपाल**—प्राय दीर्घ कपाल (डालिकोसिफैलिक अर्थात् कपाल की लबाई चौडाई का अनुपात १०० ७७ ७ से कम), परतु कही कही मध्यकपाल (मेसेटिसिफैलिक अर्थात् अनुपात १०० ८०) और किन्ही स्थानो मे वृत्तकपाल (ब्रेचिसिफैलिक, अर्थात् अनुपात १०० ८० से ऊपर) भी पाए जाते हैं।

(४) **नासिकामान**—अधिकाश आर्य उन्नतनास अथवा सुनास (लेप्टोर्राइन) होते हैं (अर्थात् उनकी नाक की लबाई और चौडाई का अनुपात १०० ७० से कम होता हे)। कही कही मध्यनास और अपवादस्वरूप पृथुनास भी इस उपजाति में मिलते हैं।

(५) **नाटमान** (आरबिटो-नैसल इडेक्स)—आर्य प्रजाति के व्यक्ति का चेहरा प्रणाट अथवा मध्यनाट होता है। इसके विपरीत किरात (मगोल) प्रजाति का व्यक्ति अवनाट अथवा चिपटनाट होता है।

(६) **हनुमान**—आर्य प्रजाति का मानव समहनु (आर्थोग्नैट्रिक) होता है, अर्थात् उसका हनु कपाल की सीध से आगे नही निकला होता। इससे विपरीत को प्रहनु (प्राग्नैट्रिक) कहते हैं।

यद्यपि शारीरिक सादृश्य और भाषासबध होने के कारण वृहद् आर्य परिवार मे यूरोप की श्वेत जातियो की गणना की जाती है, किंतु यह सर्वांगत परपरामानित और सत्य नही है। परपरा से भारत-ईरानी (गौर अथवा गोधूम) लोगो को ही आर्य कहते थे। इसीलिये ग्रियर्सन ने अपनी रिपोर्ट ऑव दि लिग्विस्टिक सर्वे ऑव इडिया, जिल्द १, पृ० ९६ (१९२७) मे लिखा है "भारोपीय मानवस्कध से उत्पन्न भारत-ईरानी अपने को वास्तविक अर्थ मे साधिकार आर्य कह सकते हैं, किंतु हम अग्रेजो को अपने को आर्य कहने का अधिकार नही है।" प्रजाति, भाषा और सस्कृति मे स्पष्ट भेद रखना आवश्यक है। 'माइड ऑव प्रिमिटिव मैन' (१९११) में फ्राज बोआन का का मत है, "कोई मानवसमूह अपनी प्रजाति और भाषा को बहुत दिनो तक स्थायी रख सकता है, किंतु उसकी सस्कृति बदल सकती है। यह भी सभव है कि उसकी प्रजाति स्थायी हो सकती है, परतु उसकी भाषा बदल जाय। फिर यह भी सभव है कि उसकी भाषा स्थायी हो, किंतु प्रजाति और सस्कृति मे ही परिवर्तन हो जाय।" इसलिये "आर्य-भाषा-परिवार" का अनुसधान करनेवाले भाषाविज्ञानियो ने बराबर चेतावनी दी है कि प्रजाति और भाषा एक दूसरे से अभिन्न नही है।

(२) **आर्य-भाषा-परिवार**—आर्य-मानव-परिवार (प्रजाति) की भाँति आर्य-भाषा-परिवार की कल्पना भी की गई है। उत्तर भारत से लेकर आयरलैंड तक की भाषाओ मे आतरिक सबध और परस्पर तारतम्य पाया जाता है। इसलिये भारतीय-जर्मन (इडो-जर्मनिक) अथवा भारोपीय (इडोयूरोपियन) आर्य-भाषा-परिवार की प्रस्थापना हुई। इसके दो प्रमुख भेद शत (सेंटम) और कत (केंटम) हैं। इसके निम्नाकित उपभेद माने गए हैं

(१) **शुद्ध आर्य अथवा भारत-ईरानी**—इसके भी दो प्रभेद हैं: प्रथम भारतीय आर्य–वैदिक, पैशाची, सस्कृत, मूल प्राकृत और गौण प्राकृत (अपभ्रश, हिंदी, बँगला, असमिया, उडिया, पजाबी, गुजराती, मराठी आदि)। दूसरे ईरानी जिनके अतर्गत जेद, प्राचीन फारसी और आधुनिक फारसी समिलित हैं।

(२) आर्मीनियाई (काकेशस के निकटस्थ प्रदेशो मे बोली जानेवाली भाषाएँ)।

(३) यूनानी, जिसके अतर्गत आयोनियाई, ऐतिक, दोरिक और अन्य कई प्रसिद्ध बोलियाँ हैं।

(४) अलबानियाई (दक्षिण-पूर्व यूरोप की भाषाओ मे से एक)।

(५) इतालीय, जिसके भीतर लातीनी, ओस्कन, अब्रियन आदि हैं।

(६) केलटिक, जिसके अतर्गत बरतानी (ब्रिटैनिक) और गाली (गैलिक-आइरिश-स्काटिश) हैं।

(७) जर्मन (गाथिक), नार्स (आइसलैंडी, नारवेई, स्वीडी तथा डेनी), पश्चिम जर्मन, एग्लो-सैक्सन (एग्लो-सैक्सन, फ्रीजियाई, अधो-जर्मन, अधोफ्रैंकिश)।

(८) बालटिक—स्लावी अथवा लियु-स्लावी (इसमे प्राचीन प्रशियाई, लियुआनियाई, लेटिक, रूसी, बुलगेरियाई, चेक, स्लोवाकियाई आदि समिलित हैं)।

जैसा ऊपर कहा गया है, कुछ आवश्यक नही कि इन भाषाओ के बोलनेवाले मूलत आर्यवश या प्रजाति के हो। भाषा का जातीय आधार अनिवार्य नही। सपर्क, सानिध्य, आरोप, अनुकरण आदि से भाषाओ का परित्याग और ग्रहण होता आया है।

(३) **आर्य धर्म और संस्कृति**—आर्य धर्म से प्राचीन आर्यो का धर्म और श्रेष्ठ धर्म दोनो समझे जाते हैं। प्राचीन आर्यो के धर्म मे प्रथमत प्राकृतिक देवमडल की कल्पना है जो भारत, ईरान, यूनान, रोम, जर्मनी आदि सभी देशो मे पाई जाती हे। इसमे द्यौस् (आकाश) और पृथ्वी के बीच मे अनेक देवताओ की सृष्टि हुई है। भारतीय आर्यो का मूल धर्म ऋग्वेद मे अभिव्यक्त है, ईरानियो का अवेस्ता मे, यूनानियो का इलिसीज और ईलियद मे। देवमडल के साथ आर्य कर्मकाड का विकास हुआ जिसमे मत्र, यज्ञ, श्राद्ध (पितरो की पूजा), अतिथिसत्कार आदि मुख्यत समिलित थे। आर्य आध्यात्मिक दर्शन (ब्रह्म, आत्मा, विश्व, मोक्ष आदि) और आर्य नीति (सामान्य, विशेष आदि) का विकास भी समानातर हुआ। शुद्ध नैतिक आधार पर अवलबित परपरा विरोधी अवैदिक सप्रदायो–बौद्ध, जैन आदि–ने भी अपने धर्म को आर्य धर्म अथवा सद्धर्म कहा।

सामाजिक अर्थ मे 'आर्य' का प्रयोग पहले सपूर्ण मानव के अर्थ में होता था। कभी कभी इसका प्रयोग सामान्य जनता विश के लिये ('अर्य' शब्द से) होता था। फिर अभिजात और श्रमिक वर्ग में अतर दिखाने के लिये आर्य वर्ण और शूद्र वर्ण का प्रयोग होने लगा। फिर आर्यो ने अपनी सामाजिक व्यवस्था का आधार वर्ण को बनाया और समाज चार वर्गो में वृत्ति और श्रम के आधार पर विभक्त हुआ। ऋक्सहिता में चारो वर्णो की उत्पत्ति और कार्य का उल्लेख इस प्रकार है:

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्या शूद्रोऽजायत ॥१०।९०।१२॥

इसकी जनसख्या ६,२६६ थी, जो धीरे धीरे बढकर १६५१ ई० मे २४,५६७ हो गई। नगर का प्रशासन पचायत द्वारा होता है और ५० प्रति शत से अधिक लोग व्यापार एव उद्योगधधो मे लगे है। [का० ना० सिं०]

आर्तव स्त्रियो की जननेंद्रिय द्वारा लगभग प्रति मास रक्तमिश्रित द्रव निकलने को आर्तव, मासिक धर्म, रजस्राव, ऋतुप्रवाह या ऋतुस्राव (अग्रेजी में मेंस्ट्रुएशन) कहते है। परपरागत विश्वास यह है कि रजोदर्शन प्रति चाद्र मास होता है—मासिक धर्म नाम इसीलिये पडा है। परतु साधारणत एक स्राव के आरभ से दूसरे स्राव के आरभ तक की अवधि २७ से ३० दिन की होती है और केवल दस बारह प्रति शत स्त्रियो में यह अवधि ठीक एक चाद्र मास की होती है। फिर, एक ही स्त्री में यह अवधि घटती बढती भी रहती है। इस अवधि पर मौसम का भी प्रभाव पडता रहता है। कुछ स्त्रियो में यह अवधि प्राय स्थिर रहती है, परतु अधिकाश स्त्रियो मे यह अवधि कभी कभी २१ दिन तक छोटी या ३५ दिन तक लबी हो जाती है। इससे कम या अधिक की अवधि को रोग का लक्षण माना जाता है।

शीतोष्ण देशो मे जब आर्तव पहले पहल आरभ होता है तब लडकियो की आयु १३ और १५ वर्ष के बीच रहती है। गरम देशो मे आर्तव कुछ पहले और ठढे देशो में कुछ देर में आरभ होता है, परतु कई कारणो से प्रथम रजोदर्शन के समय की आयु बदल सकती है। नौ वर्ष की लडकियो मे आर्तव का आरभ होना देखा गया है और कुछ मे १८ वर्ष मे इसका आरभ हुआ है। ४५ से ५० वर्ष की आयु हो जाने पर आर्तव साधारणत बद हो जाता है, यद्यपि कुछ स्त्रियो में इसके बद होने में दो तीन वर्ष और भी लग जाते है। कुछ स्त्रियो मे आर्तव एकाएक बद होता है, परतु अधिकाश स्त्रियो में आर्तव की अवधि अनियमित होकर और स्राव की मात्रा घटते घटते वर्ष दो वर्ष में आर्तव बद होता है। इस समय मे बहुधा स्त्री समय समय पर एकाएक गर्मी अनुभव करती है, नाडी अनियमित गति से चलने लगती है, निद्रानाश तथा उदासी आदि लक्षण भी प्रकट हो सकते है, परतु रजोनिवृत्ति (मेनोपॉज) के पश्चात् स्वास्थ्य अच्छा हो जाता है और वर्षों तक स्फूर्ति बनी रहती है।

लडकियो मे जब आर्तव का होना आरभ होता है तब कुछ वर्षो तक आर्तव थोडा बहुत अनियमित समयो पर होता है। आर्तव का आरभ युवावस्था का आरभ है। इसके साथ साथ शरीर में कई निश्चित परिवर्तन होते है, यथा स्तनो का बढना, उसके भीतर की दुग्ध-ग्रथियो का विकास, अडाशय की वृद्धि, गर्भाशय तथा बाह्य जननागो का विकास इत्यादि। साथ ही स्त्रीत्व और परिपक्वता के अन्य लक्षण भी, शारीरिक तथा मानसिक दोनो, उत्पन्न होते है।

आर्तव का औसत काल चार दिन है, परतु एक सप्ताह तक भी चल सकता है। आरभ में स्राव कम होता है, तब एक या दो दिन स्राव अधिक होता है, फिर धीरे धीरे घटकर मिट जाता है। स्राव मे केवल रक्त नही रहता। स्राव रक्त के समान जमता भी नही। स्राव मे लगभग आधा या दो तिहाई रक्त होता है, शेष मे अन्य स्राव (श्लेष्मा) और कोशिकाओ के क्षत विक्षत अश रहते है। कुल रक्त लगभग एक छटाँक जाता है, परतु दुगुने या कभी कभी तिगुने तक जा सकता है। इससे अधिक स्राव होने को रोग समझना चाहिए।

आर्तव के समय स्त्री के सारे शरीर मे थोडा बहुत परिवर्तन होता है, परतु अनेक स्त्रियो को आर्तव से कोई पीडा या बेचैनी नही होती और उनके दैनिक जीवन में कोई अतर नही पडता। साधारणत पाचनशक्ति कुछ कम हो जाती है, शरीरताप कुछ कम हो जाता है और शरीर की कोशिकाओ से रक्त निकलने की प्रवृत्ति बढ जाती है। अधिकाश स्त्रियो में आर्तव के समय पीडा और उदासी होती है। पेट के निचले भाग में भारीपन और कमर में पीडा का अनुभव होता है। कुछ को सिरदर्द, शिथिलता, थकावट, पेट फूलना, मूत्राशय मे जलन, छाती मे भारीपन इत्यादि की शिकायत रहती है। ये सब लक्षण आर्तव का आरभ होने पर मिट जाते है। सदा स्वास्थ्य के नियमो का पालन करने से आर्तव के समय कष्ट कम होता है। जब स्त्री गर्भवती रहती है तब आर्तव बद रहता है और प्रसव के बाद भी कई महीनो तक बद रहता है।

प्रत्येक दो आर्तवो के अत काल के लगभग मध्य मे एक बार डिबक्षरण होता है, अर्थात् एक डिब डिबग्रथि से निकलकर गर्भाशय मे आता है। यदि उस डिब का निषेचन हो जाता है, अर्थात् पुरुष के वीर्य के एक शुक्राणु से उसका सयोग हो जाता है, तो गर्भ स्थापित हो जाता है, नही तो डिब नष्ट हो जाता है और आर्तवस्राव के साथ निकल जाता है। विद्वानो का विचार है कि गर्भाशय की अत कला पर डिबग्रथि मे बने हुए हारमोन का जो प्रभाव पडता है वही आर्तव का कारण है। सभव है, अत कला मे भी कुछ ऐसे विष बनते हो जिनके कारण कला की केशिकाएँ फट जाती हो।

आर्तव सबधी रोग—गर्भाधान, अधिक आयु के कारण आर्तव का मिटना या कम आयु मे आर्तव के आरभ मे देर, इन तीन कारणो को छोडकर अन्य किसी कारण से आर्तव के रुकने को रुद्धार्तव (एमेनोरिया) कहते है। यह रक्तक्षीणता (अनीमिया), क्षय अथवा तत्रिकाओ की अत्यत अधिक थकावट मे उत्पन्न होता है। अत्यार्तव (मेनोरेजिया) उस दशा को कहते है जब साधारण से बहुत अधिक स्राव होता है। इस दशा मे विश्राम करने से लाभ होता है। कष्टार्तव (डिसमेनोरिया) मे साधारण से अधिक पीडा होती है। असामयिक आर्तव (मेट्रोरेजिया) मे आर्तव का समय आए बिना ही स्राव होता है। इन दशाओ में चिकित्सक से राय लेना उचित होगा। [क० गु०]

आर्तेमिस् अथवा आर्तामिस्, ग्रीस देश मे सर्वत्र पूजी जानेवाली देवी। यह ज्यूस् (स० द्यौस्) और लैतो की पुत्री तथा अपोलो की बहन मानी जाती थी। पर सभवतया उनकी पूजा और सत्ता हेलेनिक जाति से भी अधिक पुरानी थी। उन्होने अपने पिता से अनेक वरदान प्राप्त किए थे। आर्तेमिस् चिरकुमारी एव आखेट की देवी थी एव उनकी सेविकाएँ भी कुमारिकाएँ ही थी। जिसने भी उनसे प्रेम करना चाहा, उसको देवी के कोप का भाजन बनना पडा। छोटे शिशुओ और अल्पायु प्राणियो पर उनकी विशेष कृपा रहती थी। प्रसववेदना मे स्त्रियाँ उनका स्मरण किया करती थी। स्वय उनको जन्म देते समय उनकी माता को पीडा नही हुई थी, अतएव आम विश्वास था कि उनका स्मरण और पूजन करनेवाली प्रसूतिकाओ को भी पीडा नही होती। पर यदि किसी स्त्री की मृत्यु अचानक और बिना पीडा के हो जाती थी तो उसका कारण भी आर्तेमिस् को ही माना जाता था। किंतु मुख्यत तो वह आखेटिका ही थी और अपनी सेविकाओ तथा शिकारी कुत्तो के साथ पर्वतो और वनो मे शिकार खेलना उनको सबसे अधिक भाता था। वह धनुष बाण धारण कर आखेट करती थी।

उन्होने अपने पिता से एक नगर माँगा था, पर उन्होने उनको पूरे तीस नगर और अन्य अनेक नगरो के भाग प्रदान किए। इसका अर्थ यह है कि उनके मदिर और पूजास्थान समस्त ग्रीक नगरो में थे। इन मदिरो मे छोटे पशुओ, पक्षियो और विशेषकर बकरो की बलि आर्तेमिस् को अर्पित की जाती थी। कुछ स्थानो पर कुमारिकाएँ केसरिया कपडे पहनकर उनके समक्ष नृत्य करती थी। हलाए नामक नगर मे आर्तेमिस् के समक्ष नरबलि का दिखावा भी किया जाता था और खड्ग द्वारा मनुष्य की गरदन से रक्त की कुछ बूँदें निकाली जाती थी। फोकाइया स्थान पर यथार्थ नरबलि का होना भी कहा जाता है।

ग्रीक और रोमन इतिहास मे आर्तेमिस् के अनेक रूपातर घटित हुए और अनेक अन्य देवियो के साथ उनका तादात्म्य स्थापित हुआ। वह चद्रा (सेलेने), कृष्णाकुहू (हेकाते), मधुरा (व्रितोमार्तिस्) आदि अनेक नामो से परिचित है।

स०ग्र०—फार्नेल् कल्ट्स ऑव दि ग्रीक स्टेट्स, १६२१, एडिथ हेमिल्टन माइथॉलोजी, १६५४, रॉबर्ट् ग्रेव्ज दि ग्रीक मिथ्स, १६५५। [भो० ना० श०]

आर्थर चेस्टर एलेन (१८३०-१८८६)—सयुक्त राज्य अमरीका के २१वें प्रेसिडेंट। उनके पिता आयरीय और उनकी माता अमरीकी थी। शिक्षा प्राप्त कर उन्होने अध्यापन का कार्य किया, फिर वकालत में नाम कमाया। राजनीति में वे आरभ से ही प्रजातात्रिक दल के समर्थक थे और अमरीका के गृहयुद्ध मे उन्होने अपने दल की ओर से अनेक लडाइयाँ लडी। प्रेसिडेंट गारफील्ड की हत्या के बाद

स्वच्छ जल से पूर्ण एक पात्र भेज दिया। आर्यदेव ने उसमे एक सुई डालकर उसे इन्ही के पास लौटा दिया। आचार्य बडे प्रसन्न हुए और उन्हे शिष्य के रूप मे स्वीकार किया। जलपूर्ण पात्र से उनके ज्ञान की निर्मलता और पूर्णता का सकेत किया गया था और उसमे सुई डालकर उन्होने निर्देश किया कि वे उस ज्ञान के तल मे पहुँचना चाहते है। आर्यदेव ने कई महत्व-पूर्ण ग्रथ लिखे जिनमे सर्वप्रधान 'चतु शतक' है। [भि० ज० का०]

आर्य पुद्गल प्रधानत चार होते है (१) स्रोतापन्न, अर्थात् वह मुमुक्षु योगी जो इस अवस्था को प्राप्त हो चुका है, जिसका मुक्त होना निश्चित है और जिसका च्युत होना असभव है। अधिक से अधिक वह सात जन्म ग्रहण करता है। इसी के भीतर वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है, (२) सकृदागामी, जो मरणोपरात इस लोक मे एक बार और जन्म ग्रहण कर मुक्ति का लाभ करता है, (३) अनागामी, वह जो मरणोपरात किसी ऊँचे लोक मे पैदा होता है और बिना इस लोक मे जन्म ग्रहण किए वही अर्हत् हो जाता है और (४) अर्हत् जिसने अविद्या का सर्वथा अत कर परम मुक्ति का लाभ कर लिया है। इन चार आर्य पुद्गलो के दो दो भेद होते है—एक उस अवस्था के जब उन्हे उन पदो की प्राप्ति हो जाती है, दूसरे उस अवस्था के जब उन्हे उस पद की प्राप्ति का ज्ञान हो जाता है। पहले को 'मार्गस्थ' और दूसरे को 'फलस्थ' कहते है। इस प्रकार आर्य पुद्गल के आठ भेद हुए। [भि० ज० का०]

आर्यभट प्रथम बडे ही प्रतिभाशाली ज्योतिषी थे। इन्होने कुसुम पुर (आधुनिक पटना) मे प्रचलित स्वयभू सिद्धात के आधार पर और प्राचीन ग्रथो को अपने अनुभवो से शोधकर अपने आर्यभटीय ग्रथ की रचना की। अब इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिल गया है कि आर्यभट ने दो ग्रथो की रचना की थी। एक मे दिन का आरभ आधी रात से और दूसरे मे दिन का आरभ सूर्योदय से माना गया था। यह प्रमाण महाभास्करीय नामक ग्रथ से मिलता है जिसकी हस्तलिखित प्रतियाँ भारतवर्ष के कई पुस्तकालयो मे विद्यमान हैं। इस पुस्तक की रचना भास्कर नामक ज्योतिषी ने की थी जो आर्यभट के अनुयायी थे और सिद्धातशिरोमणि के रचयिता प्रसिद्ध भास्कराचार्य से भिन्न थे। इस पुस्तक मे पहले औदयिक सिद्धात से गणना करने के ध्रुवाक दिए गए है, फिर अर्ध-रात्रिक सिद्धात से। आर्यभटीय की रचनापद्धति बहुत ही वैज्ञानिक और भाषा बहुत ही सक्षिप्त तथा मँजी हुई है। आर्यभटीय मे कुल १२१ श्लोक है जो चार खडो मे विभाजित हैं १ गीतिकापाद, २ गणितपाद, ३ काल-क्रियापाद और ४. गोलपाद।

गीतिकापाद सबसे छोटा, केवल १३ श्लोको का है, परतु इसमे बहुत सी सामग्री भर दी गई है। इसके लिये इन्होने अक्षरो द्वारा सक्षेप मे सख्या लिखने की स्वनिर्मित एक अनोखी रीति का व्यवहार किया है, जिसमे व्यजनो से सरल सख्याएँ और स्वरो से शून्यो की गिनती सूचित की जाती थी। उदाहरणत —

ख्युघृ=४३,२०,००० मे ख् २ के लिये लिखा गया है और य् ३० के लिये। दोनो अक्षर मिलाकर लिखे गए हैं और इनमे उ की मात्रा लगी है, जो १०,००० के समान है, इसलिये ख्यु का अर्थ हुआ ३,२०,०००, घृ के घ् का अर्थ है ४ और ऋ का १०,००,०००, इसलिये घृ का अर्थ हुआ ४०,००,०००। इस तरह ख्युघृ का उपर्युक्त मान हुआ।

सख्या लिखने की इस रीति मे सबसे बडा दोष यह है कि यदि अक्षरो मे थोडा सा भी हेर फेर हो जाय तो बडी भारी भूल हो सकती है। दूसरा दोष यह है कि ल् मे ऋ की मात्रा लगाई जाय तो इसका रूप वही होता है जो लृ स्वर का, परतु दोनो के अर्थो मे बडा अतर पडता है। इन दोषो के होते हुए भी इस प्रणाली के लिये आर्यभट की प्रतिभा की प्रशसा करनी ही पडती है। इसमे उन्होने थोडे से श्लोको मे बहुत सी बाते लिख डाली है, सचमुच, गागर मे सागर भर दिया है। आर्यभटीय के प्रथम श्लोक मे ब्रह्मा और परब्रह्म की वदना है एव दूसरे मे सख्याओ को अक्षरो से सूचित करने का ढग। इन दो श्लोको मे कोई क्रमसख्या नही है, क्योकि ये प्रस्तावना के रूप मे है। इसके बाद के श्लोक की क्रमसख्या १ है जिसमे सूर्य, चद्रमा, पृथ्वी, शनि, गुरु, मगल, शुक्र और बुध के महायुगीय भगणो की सख्याएँ बताई गई है। यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि आर्यभट ने एक महायुग मे पृथ्वी के घूर्णन की सख्या भी दी है, क्योकि उन्होने पृथ्वी का दैनिक घूर्णन माना है। इस बात के लिये परवर्ती आचार्य ब्रह्मगुप्त ने इनकी निदा की है। अगले श्लोक मे ग्रहो के उच्च और पात के महायुगीय भगणो की सख्या बताई गई है। तीसरे श्लोक मे बताया गया है कि ब्रह्मा के एक दिन (अर्थात् कल्प) मे कितने मन्वतर और युग होते हैं और वर्तमान कल्प के आरभ से लेकर महाभारत युद्ध की समाप्तिवाले दिन तक कितने युग और युगपाद बीत चुके थे। आगे के सात श्लोको मे राशि, अश, कला आदि का सबध, आकाशकक्षा का विस्तार, पृथ्वी, सूर्य, चद्र आदि की गति, अगुल, हाथ, पुरुष और योजन का सबध, पृथ्वी के व्यास तथा सूर्य, चद्रमा और ग्रहो के बिबो के व्यास के परि-माण, ग्रहो की क्राति और विक्षेप, उनके पातो और मदोच्चो के स्थान, उनकी मदपरिधियो और शीघ्रपरिधियो के परिमाण तथा ३ अश ४५ कलाओ के अतर पर ज्याखडो के मानो की सारणी है। अतिम श्लोक मे पहले कही हुई बातो के जानने का फल बताया गया है। इस प्रकार प्रकट है कि आर्यभट ने अपनी नवीन सख्या-लेखन-पद्धति से ज्योतिष और त्रिकोण-मिति की कितनी ही बाते तेरह श्लोको मे भर दी हैं।

गणितपाद मे ३३ श्लोक है, जिनमे आर्यभट ने अकगणित, बीजगणित और रेखागणित सबधी कुछ सूत्रो का समावेश किया है। पहले श्लोक मे अपना नाम बताया है और लिखा है कि जिस ग्रथ पर उनका ग्रथ आधारित है वह (गुप्तसाम्राज्य की राजधानी) कुसुमपुर मे मान्य था। दूसरे श्लोक मे सख्या लिखने की दशमलवपद्धति की इकाइयो के नाम है। इसके आगे के श्लोको में वर्गक्षेत्र, घन, घनफल, वर्गमूल, घनमूल, त्रिभुज का क्षेत्रफल, त्रिभुजाकार शकु का घनफल, वृत्त का क्षेत्रफल, गोले का घनफल, समलब चतुर्भुज क्षेत्र के कर्णो के सपात से समातर भुजाओ की दूरी और क्षेत्रफल तथा सब प्रकार के क्षेत्रो की मध्यम लबाई और चौडाई जानकर क्षेत्रफल बताने के साधारण नियम दिए गए है। एक जगह बताया गया है कि परिधि के छठे भाग की ज्या उसकी त्रिज्या के समान होती है। एक श्लोक मे बताया गया है कि यदि वृत्त का व्यास २०,००० हो तो उसकी परिधि ६२,८३२ होती है। इससे परिधि और व्यास का सबध चौथे दशमलव स्थान तक शुद्ध आ जाता है। दो श्लोको मे ज्या खडो के जानने की विधि बताई गई है, जिससे ज्ञात होता है कि ज्याखडो की सारणी (टेबुल ऑव साइन-डिफरेंसेज) आर्यभट ने कैसे बनाई थी। आगे वृत्त, त्रिभुज और चतुर्भुज खीचने की रीति, समतल धरातल के परखने की रीति, ऊर्ध्वाधर के परखने की रीति, शकु और छाया से छायाकर्ण जानने की रीति, किसी ऊँचे स्थान पर रखे हुए दीपक के प्रकाश के कारण बनी हुई शकु की छाया की लबाई जानने की रीति, एक ही रेखा पर स्थित दीपक और दो शकुओ के सबध के प्रश्न की गणना करने की रीति, समकोण त्रिभुज के कर्ण और अन्य दो भुजाओ के वर्गो का सबध (जिसे पाइथागोरस का नियम कहते है, परतु जो शुल्वसूत्र मे पाइथागोरस से बहुत पहले लिखा गया था), वृत्त की जीवा और शरो का सबध, दो श्लोको मे श्रेढी गणित के कई नियम, एक श्लोक मे एक एक बढती हुई सख्याओ के वर्गो और घनो का योगफल जानने का नियम, $(क+ख)^2 - (क^2+ख^2) = २कख$, दो राशियो का गुणनफल और अतर जानकर राशियो को अलग अलग करने की रीति, व्याज की दर जानने का एक नियम जो वर्ग-समीकरण का उदाहरण है, त्रैराशिक का नियम, भिन्नो को एकहर करने की रीति, बीजगणित के सरल समीकरण और एक विशेष प्रकार के युगपत् समीकरणो पर आधारित प्रश्नो को हल करने के नियम, दो ग्रहो का युति-काल जानने का नियम और कुट्टक नियम (सोल्यूशन ऑव इनडिटर्मिनेट इक्वेशन ऑव दि फर्स्ट डिगरी) बताए गए है।

जितनी बाते तैंतीस श्लोको मे बताई गई है उनको यदि आजकल की परिपाटी के अनुसार विस्तारपूर्वक लिखा जाय तो एक बडी भारी पुस्तक बन सकती है।

कालक्रियापाद—इस अध्याय मे २५ श्लोक है और यह कालविभाग और काल के आधार पर की गई ज्योतिष सबधी गणना से सबध रखता है। पहले दो श्लोको में काल और कोण की इकाइयो का सबध बताया गया है। आगे के छ श्लोको मे योग, व्यतीपात, केद्रभगण और बार्हस्पत्य वर्षो की परि-भाषा दी गई है तथा अनेक प्रकार के मासो, वर्षो और युगो का सबध बताया गया है। ९वे श्लोक मे बताया गया है कि युग का प्रथमार्ध उत्सर्पिणी और उत्तरार्ध अवसर्पिणी काल है और इनका विचार चद्रोच्च से किया जाता है।

आर्द्रता वर्षा, बादल, कुहरा, ओस, ओला, पाला आदि से ज्ञात होता है कि पृथ्वी को घेरे हुए वायुमडल मे जलवाष्प सदा न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहता है। प्रति घन सेंटीमीटर हवा मे जितना मिलीग्राम जलवाष्प विद्यमान है, उसका मान हम रासायनिक आर्द्रतामापी से निकालते हैं, किंतु अधिकतर वाष्प की मात्रा को वाष्पदाब द्वारा व्यक्त किया जाता है। वायु-दाब-मापी से जब हम वायुदाब ज्ञात करते हैं तब उसी में जलवाष्प का भी दाब समिलित रहता है।

आपेक्षिक आर्द्रता—वायु के एक निश्चित आयतन में किसी ताप पर जितना जलवाष्प विद्यमान होता है और उतनी ही वायु को उसी ताप पर सतृप्त करने के लिये जितने जलवाष्प की आवश्यकता होती है, इन दोनो राशियोके अनुपात को आपेक्षिक आर्द्रता कहते हैं, अर्थात् ताप ता° पर आपेक्षिक आर्द्रता=एक घन से०मी० वायु मे ता° सेंटीग्रेड पर प्रस्तुत जलवाष्प — एक घन सेंटीमीटर वायु में ता° सेंटीग्रेड पर सतृप्त जलवाष्प। बॉएल के अनुसार यदि आयतन स्थायी हो तो किसी गैस की मात्रा उसी के दाब की अनुपाती होती है। अत

$$\text{आपेक्षिक आर्द्रता} = \frac{\text{प्रस्तुत जलवाष्प की दाब}}{\text{उसी ताप पर जलवाष्प की सतृप्त दाब}}$$

जलवाष्प की दाब, ओसाक ज्ञात करने पर, रेनो की सारणी से निकाला जाता है (देखिए आर्द्रतामापी)।

आर्द्रता से लाभ—वायु की नमी से बडा लाभ होता है। स्वास्थ्य के लिये वायु मे कुछ अश जलवाष्प का होना परम आवश्यक है। हवा की नमी से पेड पौधे अपनी पत्तियो के द्वारा जल प्राप्त करते हैं। ग्रीष्म ऋतु मे नमी

चित्र १. रासायनिक आर्द्रतामापी

ऐसे यत्र द्वारा आर्द्रता का पता बडी सूक्ष्मता से लगाया जा सकता है, परतु परिणाम प्राप्त करने मे समय लगता है। १ शुष्क वायु, २ फास्फोरस पेंटाक्साइड, ३ कैल्सियम क्लोराइड, ४ वायु।

की कमी से वनस्पतियाँ कुम्हला जाती हैं। हवा में नमी अधिक रहने से हमें प्यास कम लगती है, क्योकि शरीर के अनगिनत छिद्रो से तथा श्वास लेते समय जलवाष्प भीतर जाता है और जल की आवश्यकता की पूर्ति बहुत अश में हो जाती है। शुष्क हवा में प्यास अधिक लगती है। बाहर की शुष्कता के कारण त्वचा के छिद्रो से शरीर के भीतरी जल का वाष्पन अधिक होता है, जिससे भीतरी जल की मात्रा घट जाती है। गरमी के दिनो मे शुष्कता अधिक होती है और जाडे में कम, यद्यपि आपेक्षिक आर्द्रता जाडे में कम और गरमी मे अधिक पाई जाती है। वाष्पन हवा के ताप पर भी निर्भर रहता है।

रुई के उद्योग धधो के लिये हवा मे नमी का होना परम लाभकर होता है। शुष्क हवा मे धागे टूट जाते हैं। अच्छे कारखानो मे वायु की आर्द्रता कृत्रिम उपायो से सदा अनुकूल मान पर रखी जाती है। हवा की नमी से बहुत से पदार्थों के विस्तार तथा अन्य गुणो में परिवर्तन होता है। यह परिवर्तन पदार्थ की भीतरी रचना पर निर्भर है। झिल्लीदार पदार्थ नमी पाकर फैल जाते हैं और सूखने पर सिकुड जाते हैं। रेशेदार पदार्थ नमी खाकर लबाई की अपेक्षा मोटाई में अधिक बढते हैं। इसी कारण रस्सियाँ और धागे भिगो देने पर छोटे हो जाते हैं। चरखे की डोरी ढीली हो जाने पर भिगोकर कडी की जाती है। नया कपडा पानी मे भिगोकर सुखा देने के बाद सिकुड जाता है, किंतु रूखा बाल नमी पाकर बडा हो जाता है। बाल की लबाई में १०० प्रति शत आर्द्रता बढने पर सूखी अवस्था की अपेक्षा २.५ प्रति शत वृद्धि होती है। बाल के भीतर प्रोटीन के अणुओ के बीच जल के अणुओ की तह बन जाती है, जिसकी मोटाई नमी के साथ बढती जाती है। इन तहों के प्रसार से पूरे बाल की लबाई बढ जाती है (देखिए **आर्द्रतामापी** में सौसुरे का आर्द्रता-दर्शक)।

आर्द्रतायुक्त वायुमडल पृथ्वी के ताप को बहुत कुछ सुरक्षित रखता है। वायुमडल की गैसें सूर्य की रश्मियो में से अपनी अनुनादी रश्मियो को चुनकर सोख लेती हैं। जलवाष्प द्वारा शोषण अन्य गैसो के शोषणो के योग की अपेक्षा लगभग दूना होता है। ताप के घटने पर वही जलवाष्प धुआँ, धूल तथा गैसो के अणुओ पर सघनित होता है और कुहरे, बादल आदि की रचना होती है। ऐसे सघनित जलवाष्प द्वारा रश्मियो का शोषण बहुत अधिक होता है। जलवाष्प १० म्यू तरगदैर्घ्य की रश्मियो के लिये पारदर्शक होता है, किंतु ०.१ मिलीमीटर मोटी जलवाष्प की तह इनके केवल १/१०० भाग को पार होने देती है [१ म्यू=१ माइक्रॉन=१०,००० ऐं° (एगस्ट्राम) और १ ऐं°=$१०^{-८}$ सेंटीमीटर]। अत बादल और कुहरा, जिनकी मोटाई ४-६ मीटर होती है, काले पिंड के समान पूर्ण शोषक तथा विकीर्णक होते हैं। सूर्य के पृष्ठ का ताप ६०००° सेंटीग्रेड होता है। वीन के द्वितीय नियम के अनुसार अन्य रश्मियो के साथ ०.५ म्यू तरगदैर्घ्यवाली रश्मियाँ उच्चतम तीव्रता से विकीर्ण होती हैं। वीन का नियम है

$$त = अ/ता_{प}°,$$

जहाँ तप्त पिंड से विकीर्ण रश्मि का तरगदैर्घ्य त है, स्थिराक अ=२९४० और $ता_{प}°$ परमताप है।

यदि वायुमडल में बादल न हो तो सभी छोटी रश्मियाँ पृथ्वी पर चली आती हैं। यदि बादल अथवा घना कुहरा रहता है तो ८० प्रति शत भाग परावर्तित होकर ऊपर चला जाता है, केवल २० प्रति शत भाग पृथ्वी पर पहुँचता है। इन रश्मियो से धरातल का ताप बढकर २०° से ३०° सेंटीग्रेड, अर्थात् लगभग ३००° परमताप हो जाता है। वीन के पूर्वोक्त नियम के अनुसार १० म्यू के आसपास की रश्मियाँ अधिक तीव्रता से विकीर्ण होती हैं। इन रश्मियो को बादल और कुहरा परावर्तित कर ऊपर नही जाने देते और इस प्राकृतिक विधान से धरातल तथा वायुमडल का ताप घटने नही पाता। कबलरूपी वायुमडल काचगृह के समान ताप को सुरक्षित रखता है। यही कारण है कि जाडे के दिनो में कुहरा रहने पर ठढक अधिक नही लगती। बदली होने पर गरमी बढ जाती है तथा निर्मल आकाश रहने पर ठढक बढ जाती है। [न० ला० सि०]

आर्द्रतामापी वायुमडल की आर्द्रता नापने के साधनो को 'आर्द्रतामापी' (हाइग्रोमीटर) कहते है। बहुत से ऐसे पदार्थ है, जैसे सल्फ्यूरिक अम्ल, कैल्सियम क्लोराइड, फासफोरस पेंटाक्साइड, साधारण नमक आदि, जो जलवाष्प के शोषक होते हैं। इनका उपयोग करके रासायनिक आर्द्रतामापी बनाए जाते हैं, जिनके द्वारा वायु के एक निश्चित आयतन मे विद्यमान जलवाष्प की मात्रा ग्राम मे ज्ञात की जाती है। एक बोतल मे फासफोरस पेंटाक्साइड और दो तीन नलियो मे कैल्सियम-क्लोराइड भरकर तौल लेते हैं। फिर इस बोतल को एक वायु-चूषक (ऐस्पिरेटर) की शृखला मे जोड देते हैं। चूषक चालू कर देने पर जल गिरता है और रिक्त स्थान मे हवा बोतल तथा नलियो के भीतर

मिताओ (दान, शील, क्षाति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा पारमिताओ) का वर्णन ६ सर्गो तथा ३६४१ श्लोको मे सरल सुबोध शैली मे किया गया है। दोनो काव्यो का उद्देश्य अश्वघोषीय काव्यकृतियो के समान ही रूखे मनवाले पाठको को प्रसन्न कर बौद्ध धर्म के उपदेशो का विपुल प्रचार और प्रसार है (रूक्ष-मनसामपि प्रसाद)। कवि ने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये बोलचाल की व्यावहारिक सस्कृत का प्रयोग किया है और उसे अलकार के व्यर्थ आडबर से प्रयत्नपूर्वक बचाया है। पद्यभाग के समान गद्यभाग भी सुश्लिष्ट तथा सुदर है।

स०ग्र०—विटरनित्स हिस्ट्री आव इडियन लिटरेचर, भाग २ (कलकत्ता १९२५), बलदेव उपाध्याय सस्कृत साहित्य का इतिहास (पचम स०, काशी, १९५८)। [ब० उ०]

आर्यसत्य बौद्ध दर्शन के मूल सिद्धात, आर्यसत्य चार है। दु ख आर्यसत्य, समुदय आर्यसत्य, निरोध आर्यसत्य और मार्ग आर्यसत्य। प्राणी जन्म भर विभिन्न दु खो की शृखला मे पडा रहता है, यह दु ख आर्यसत्य है। ससार के विषयो के प्रति जो तृष्णा है वही समुदय आर्यसत्य है। जो प्राणी तृष्णा के साथ मरता है, वह उसकी प्रेरणा से फिर भी जन्म ग्रहण करता है। इसीलिये तृष्णा को समुदय आर्यसत्य कहते है। तृष्णा का अशेष प्रहाण कर देना निरोध आर्यसत्य है। तृष्णा के न रहने से न तो ससार की वस्तुओ के कारण कोई दु ख होता है और न मरणोपरात उसका पुनर्जन्म होता है। बुझ गए प्रदीप की तरह उसका निर्वाण हो जाता है। और, इस निरोध की प्राप्ति का मार्ग आर्य आष्टागिक मार्ग है। इसके आठ अग है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इस आर्यमार्ग को सिद्ध कर वह मुक्त हो जाता है। [भि० ज० का०]

आर्यसमाज भारतवर्ष की आधुनिक काल की प्रगतिशील सुधार सस्थाओ मे आर्यसमाज का विशेष स्थान है। आर्यसमाज की स्थापना १० अप्रैल, १८७५ ई० (चैत्र शुक्ल ५, १९३२ वि०) को स्वामी दयानद सरस्वती (जन्म स० १८८१ वि०, टकारा, गुजरात, देहावसान स० १९४० वि० कार्तिक अमावस्या, अजमेर, राजस्थान) के द्वारा बबई मे हुई थी। इस समय भारतवर्ष मे तथा ब्रह्मदेश, थाईलैंड, मलाया, अफ्रीका, पश्चिमी द्वीपसमूह (ट्रिनिडाड) आदि मे लगभग ३००० समाज है जहाँ इसके सदस्यो की सख्या ५० लाख से अधिक है। आर्यसमाज का कार्यक्षेत्र सार्वभौमिक है, क्योकि इसके सस्थापक और कार्यकर्ताओ का प्रस्तावित उद्देश्य यह है कि विश्व भर मे बिना जन्म, जाति, देश या रग की अपेक्षा के वैदिक धर्म का प्रचार किया जाय।

आर्यसमाज की स्थापना का विचार इस प्रकार आरभ हुआ था बालक मूलशकर ने घर छोड, सन्यास ग्रहण कर स्वामी दयानद सरस्वती के नाम से सत्य की खोज करना आरभ किया और प्रसिद्ध सस्कृतज्ञ प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानद से मथुरा मे व्याकरण और वैदिक शास्त्रो का अध्ययन शुरू किया। अपने अध्ययन और अनुसधान से उन्होने देखा कि प्रचलित हिंदू धर्म प्राय सनातन वैदिक धर्म से अनेक सिद्धातो मे बहुत भिन्न हो गया है और मनुष्य जाति का कल्याण इसी मे है कि वर्तमान पौराणिक धर्म को त्यागकर प्राचीन वेदो की शिक्षा का प्रचार किया जाय। गुरु विरजानद के आदेश पर स्वामी दयानद ने आर्यसमाज की स्थापना इसी उद्देश्य से की थी।

सन् १८८३ ई० तक स्वामी दयानद ने समस्त भारतवर्ष की विस्तृत यात्रा कर अनेक मुख्य नगरो मे आर्यसमाज स्थापित किए और अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये निम्नलिखित पुस्तके प्रकाशित की—सत्यार्थप्रकाश, सस्कारविधि, ऋग्वेदभाष्यभूमिका, ऋग्वेदभाष्य (७वे मडल तक), यजुर्वेदभाष्य तथा अन्य कतिपय छोटे बडे ग्रथ। स्वामी दयानद की मृत्यु के पश्चात् आर्यसमाज ने शिक्षा के प्रचार और समाजसुधार मे बडी लगन से कार्य किया है। इस सस्था द्वारा स्थापित स्कूलो, कालेजो, गुरुकुलो, सस्कृत पाठशालाओ तथा कन्यापाठशालाओ, विधवाश्रमो, अनाथालयो का उत्तरी भारत तथा अन्य प्रदेशो मे जाल सा बिछा हुआ है। इन कार्यो मे आर्यसमाज को समस्त शिष्ट जनता की सहानुभूति प्राप्त है।

प्रचलित हिंदू धर्म से आर्यसमाज के सिद्धातो मे निम्नलिखित मुख्य अतर है आर्यसमाज केवल वेदो के मत्रभाग को ही ईश्वरकृत और स्वत -प्रमाण मानता है तथा ब्राह्मण, उपनिषद् आदि को मनुष्यकृत तथा परत -प्रमाण, राम, कृष्ण आदि को ईश्वर का अवतार न मानकर महापुरुष मानता है, मूर्तिपूजा को अवैदिक तथा पाप गिनता है, जन्म से जातिभेद नही मानता, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन चार वर्णो को गुणकर्मानुसार और परिवर्तनशील मानता है, अर्थात् किसी देश या वर्ण का मनुष्य अपने गुण, कर्म और स्वभावानुसार वैदिक धर्म को ग्रहण कर सकता और उसी वर्ण मे गिना जा सकता है, स्त्रियो को विवाह आदि सामाजिक विषयो के समान अधिकार देता है और स्त्रियो तथा दलित जातियो के उद्धार के लिये प्रयत्नशील रहता है। आर्यसमाज के समस्त विधान की आधारशिला निम्नलिखित दस नियम है

(१) सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते है उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

(२) ईश्वर सच्चिदानदस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनत, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वातर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है तथा उसी की उपासना करने योग्य है।

(३) वेद सब सत्य विद्याओ की पुस्तक है, वेद का पढना पढाना और सुनना सुनाना सब आर्यो का परमधर्म है।

(४) सत्य को ग्रहण करने और असत्य को छोडने मे सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

(५) सब काम धर्मानुसार, अर्थात् सत्य और असत्य का विचार कर करना चाहिए।

(६) ससार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

(७) सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य बर्तना चाहिए।

(८) अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

(९) प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सतुष्ट न रहना चाहिए, अपितु सबकी उन्नति मे अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

(१०) सब मनुष्यो को सामाजिक, सर्वहितकारी नियमपालन मे परतत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम मे सब स्वतत्र रहे।

[ग० प्र० उ०]

आर्यावर्त आर्यो का निवासस्थान। ऋग्वेद मे आर्यो का निवासस्थल 'सप्तसिंधु' प्रदेश के नाम से अभिहित किया जाता है। ऋग्वेद के नदीसूक्त (१०।७५) मे आर्यनिवास मे प्रवाहित होनेवाली नदियो का एकत्र वर्णन है जिनमे मुख्य ये ह—कुभा (काबुल नदी), क्रुमु (कुर्रम), गोमती (गोमल), सिधु, परुष्णी (रावी), शुतुद्री (सतलज), वितस्ता (झेलम), सरस्वती, यमुना तथा गगा। यह वर्णन वैदिक आर्यो के निवासस्थल की सीमा का निर्देशक माना जा सकता है। ब्राह्मण ग्रथो मे कुरु पाचाल देश आर्य सस्कृति का केद्र माना गया है जहाँ अनेक यज्ञयागो के विधान से यह भूभाग 'प्रजापति की नाभि' कहा जाता था। शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि कुरु पाचाल की भाषा ही सर्वोत्तम तथा प्रामाणिक है। उपनिषद्कालमे आर्य सभ्यता की प्रगति काशी तथा विदेह जनपदो तक फैली। फलत पजाब से मिथिला तक का विस्तृत भूभाग आर्यो का पवित्र निवास उपनिषदो मे माना गया। धर्मसूत्रो मे आर्यावर्त की सीमा के विषय मे बडा मतभेद है। वसिष्ठधर्मसूत्र (१।८-९) मे आर्यावर्त की यह प्रख्यात सीमा निर्धारित की गई है कि यह आदर्श (विनशन, सरस्वती के लोप होने का स्थान) के पूर्व, कालक वन (प्रयाग) के पश्चिम, पारियात्र तथा विध्य के उत्तर और हिमालय के दक्षिण मे है। अन्य दो मतो का भी यहाँ उल्लेख है कि (क) आर्यावर्त गगा और यमुना के बीच का भूभाग है और (ख) उसमे कृष्ण मृग निर्बाध सचरण करता है। बौधायन (धर्मसूत्र १।१।२७), पतजलि (महाभाष्य २।४।१० पर) तथा मनु (मनुस्मृति २।१७) ने भी वसिष्ठोक्त मत को ही प्रामाणिक माना है। मनु की दृष्टि मे आर्यावर्त मध्यदेश से बिलकुल मिलता है और उसके भीतर 'ब्रह्मावर्त' नामक एक छोटा, परतु पवित्रतम भूभाग है, जो सरस्वती और दृषद्वती नदियो के द्वारा

१७६९ को हुआ था। वे पराधीन आस्ट्रिया के विद्रोही कवि के रूप में विख्यात हैं जिनके गीतों ने उनके देश को स्वाधीन बनाने में सहायता दी और एक प्रकार से जनता मे आशा तथा उत्साह का सचार किया। वे इतिहास के प्रोफेसर भी रहे, किंतु राष्ट्रकवि के ही रूप में अधिक विख्यात हैं। राष्ट्रकवि मोरित्स के भावपूर्ण गीतो और उत्साह भरे व्याख्यानों ने आस्ट्रिया को क्रांति का सच्चा स्वरूप समझाने में अत्यत सहायता दी। [च० म०]

आर्मघ आयरलैंड का एक प्रात है। इसके उत्तर में लोगनिघ, पूर्व में डाउन, दक्षिण मे लुथ तथा पश्चिम मे मोनाघन और टाइरान प्रात पडते है। इसका क्षेत्रफल ४८९ वर्ग मील है। इस प्रात की मिट्टी काली है। ओट(जई), आलू, गेहूँ, फल तथा गलजम यहाँ की मुख्य पैदावार और लिनेन बनाना मुख्य उद्योग है। गलीचा, रस्सी और कपड़े भी बनते हैं। इस प्रात के मुख्य नगर आर्मघ, लुरगन तथा पोर्टडाउन हैं। उत्तर के निचले मैदान मे तृतीयक (टर्शियरी) बैसाल्ट मिलते हैं तथा दक्षिण मे ग्रैना-इट के पहाड। सर्वप्रथम समुद्रतट पर लोग बसे। ताम्रकाल मे निचले मैदानो में भी लोग बसे। उत्तरी मैदान उपजाऊ है तथा दक्षिणी भाग पहाडी तथा बजर। जनसख्या १९५१ मे १,१४,२२६ थी। [कृ० कु० सि०]

आर्मस्ट्रांग विलियम जार्ज आर्मस्ट्राग बैरन (१८१०-१९००), अग्रेज आविष्कारक तथा तोप आदि बनाने के कारखाने का मालिक था। सन् १८३३ से १८४० तक वह वकील था, परतु उसका मन यात्रिक और वैज्ञानिक खोजो में लगा रहता था। सन् १८४१-४३ मे उसने कई खोजपत्र प्रकाशित किए जिनमें बरतन से निकली भाप की विद्युत् पर अन्वेषण किया गया था। उसका ध्यान इस ओर आकर्पित होने का कारण यह था कि उसने एक इजन चालक ने पूछा कि भाप में हाथ रखकर बायलर को छूने से झटका क्यों लगता है। पीछे उसने समुद्रतट पर जहाजो मे भारी माल उठाने के लिये जलचालित क्रेन का आविष्कार किया। आर्मस्ट्राग ने एल्सविक का कारखाना इसी यत्र के निर्माण के लिये स्थापित किया, परतु शीघ्र ही उसका ध्यान तोप बनाने की ओर आकर्पित हुआ। उसकी बनाई तोपो में विशेषता यह थी कि पुष्टता लाने के लिये इस्पात के नल के ऊपर धातु के तप्त छल्ले चढ़ाए जाते थे, जो ठढे होने पर सिकुड कर भीतर की नाल को खूब दबाए रहते थे, जिससे नाल फटने नहीं पाती थी। नाल के भीतर पेच कटा रहता था और गोल गोलो के बदले इसमें आधुनिक ढग के लबे गोले दागे जाते थे जो नाल के पेच के कारण अपनी धुरी पर तीव्रता से नाचते हुए निकलते थे। इससे गोला दूर तक पहुँचता था और लक्ष्य पर सच्चा जा बैठता था। इन गुणो के अतिरिक्त तोप में गोला मुँह की ओर से न डालकर पिछाडी से डाला जाता था। इन सब सुविधाओं के कारण आर्मस्ट्राग की तोपें खूब चली, यद्यपि बीच में कुछ वर्षों तक ब्रिटिश सेना ने इनको अयोग्य ठहरा दिया था। सन् १८८७ में ब्रिटिश सरकार ने आर्मस्ट्राग को बैरन की पदवी प्रदान करके सम्मानित किया। अपने खोजपत्रो के अतिरिक्त आर्मस्ट्राग ने दो पुस्तकें भी लिखी हैं ए विज़िट टु ईजिप्ट और इलेक्ट्रिक मूवमेंट्स इन एअर ऐंड वाटर।

आर्मिनियस याकोवस (१५६०-१६०९ ई०) एक प्रोटेस्टैंट पादरी जो हालैंड के लाइडेन विश्वविद्यालय में धर्मविज्ञान के प्रोफेसर थे। कैलविन के अनुसार ईश्वर अनादि काल से मनुष्यों को दो वर्गो में विभक्त करता है—एक वर्ग मुक्ति पाता है और दूसरा वर्ग नरक जाता है। आर्मिनियस ने ईश्वरीय पूर्वविधान के इस सिद्धात का विरोध करते हुए मनुष्य की स्वतत्रता तथा मुक्तिप्राप्ति में उसके सयोग की आवश्यकता का प्रतिपादन किया। आर्मिनियस के सिद्धातो का इग्लैंड में, विशेपतया मेथोडिस्ट सम्प्रदाय पर प्रभाव पडा। हालैंड में उनके अनुयायियो ने एक स्वतत्र सम्प्रदाय स्थापित किया जो रेमास्टैंट चर्च कहलाता है। [का० बु०]

आर्मीनिया उत्तरी-पूर्वी एशिया माइनर तथा ट्रांसकाकेशिया का एक प्राचीन देश था, जिसके विभिन्न भाग अब ईरान, टर्की तथा रूस देश में समिलित हैं। इसके उत्तर में जार्जिया, पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में टर्की और पूर्व में ऐजरबैजान हैं। इसका क्षेत्रफल ३,८६३ वर्ग मील और जनसख्या १५,००,००० (१९५०) है। इसका अधिकतर भाग पठारी है (उँचाई ६,००० से ८००० फुट तक) जिसमे छोटी छोटी श्रेणियाँ तथा ज्वालामुखी पहाड़ियाँ हैं। जाड़े में गजब की सर्दी पड़ती है। जलवायु अत्यंत शुष्क है। लेनिनाकान नगर में जनवरी का औसत ताप १२° फा०, जुलाई में ६५° फा० और वार्षिक वर्षा १६.२ इंच है। अरास तथा उसकी सहायक जंगा यहाँ की मुख्य नदियाँ हैं। अरास नदी की घाटी में कपास, शहतूत (रेशम के लिये), अंगूर, खुबानी तथा अन्य फल, चावल और तंबाकू की खेती होती है। सिंचाई की सुविधा का विकास हो रहा है और फलों का उत्पादन तथा उद्योग बढ़ रहे हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में पशु उद्योग, दूध के बने पदार्थ तथा वस्त्र उद्योग होते हैं। ऊँट प्रमुख भारवाही पशु है। कदान नामक स्थान में तांबे की खान है। पर्वतीय क्षेत्रों में जीवनस्तर बहुत ही निम्न है। यहाँ के निवासी आर्मीनी, रूसी तथा तुर्की तातार जाति के हैं। यहाँ की सभ्यता मुख्यतः आर्मीनी है। सभ्यता तथा संस्कृति के विकास में यहाँ की प्राकृतिक भूरचना का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। यह भूभाग पूर्व तथा पश्चिम के मध्य यातायात का सरल साधन है। पुरातत्व संबंधी अन्वेषणों के अनुसार मानव सभ्यता के आदि विकास में आर्मीनिया का महत्वपूर्ण योग रहा है। [कृ० कु० सि०]

आर्मीनी भाषा भारत-यूरोपीय परिवार की यह भाषा कॉकेशिया तथा कॉकेशस पर्वत की मध्यवर्ती घाटियों और काले सागर के दक्षिणी-पूर्वी प्रदेश में बोली जाती है। यह प्रदेश आर्मीनी सोवियट जार्जिया तथा सोवियट अजरबैजान (उत्तर-पश्चिमी ईरान) में पड़ता है। इसके बोलनेवालों की संख्या लगभग ३८ लाख है। आर्मीनी भाषा को पूर्वी और पश्चिमी भागों में विभाजित करते हैं। गठन की दृष्टि से इसकी स्थिति ग्रीक और हिंद-ईरानी के बीच की है। पुराने समय में आर्मीनिया का ईरान से घनिष्ठ संबंध रहा है और ईरानी के प्रायः दो हजार शब्द आर्मीनी भाषा में मिलते हैं। इसी कारण से बहुत दिनों तक आर्मीनी को ईरानी की केवल एक शाखा मात्र समझा जाता था। पर अब इसकी स्वतंत्र सत्ता मान्य हो गई है।

आर्मीनी भाषा में ५वीं शताब्दी ई० से पूर्व का कोई ग्रंथ नहीं मिलता। इस भाषा का ध्वन्यात्मक मूल रूप से भारोपीय और ईरानी समूह की आर्य भाषा से मिलता जुलता है। प्, त्, क् ध्वनियों का ब्, द्, ग् से परस्पर व्यत्यय हो गया है। उदाहरणार्थ, संस्कृत पद के लिये आर्मीनी में [illegible] शब्द है। संस्कृत पितृ के लिये आर्मीनी में हयर है। आदिम भारोपीय भाषा से यह भाषा काफी दूर जा पड़ी है। संस्कृत द्वि और त्रि के लिये आर्मीनी में एकु और एरेक शब्द हैं। इसी से दूरी का अनुमान हो जाता है। व्याकरणात्मक लिंग प्राचीन आर्मीनी में भी नहीं मिलता। संस्कृत गो के लिये आर्मीनी में कोव् है। ऐसे शब्दों से ही आदिम आर्यभाषा से इसकी व्युत्पत्ति सिद्ध होती है। आर्मीनी अधिकतर बोलचाल की भाषा रही है। ईरानी शब्दों के अतिरिक्त इसमें ग्रीक, अरबी और फारसी के भी शब्द हैं।

आर्मीनी का जो भी प्राचीन साहित्य था उसे ईसाई पादरियों ने चौथी और ५वीं ई० शताब्दियों में नष्ट कर दिया। बुद्ध ही समय पूर्व अशोक का एक अभिलेख आर्मीनी भाषा में प्राप्त हुआ है जो संभवत आर्मीनी का सबसे पुराना नमूना है। आर्मीनी की एक लिपि पाचवी ईसवी शताब्दी में गढी गई जिसमें इजील का अनुवाद और अन्य ईसाई धर्मप्रचारक ग्रथ लिखे गए। ५वी शताब्दी में ही ग्रीक के भी कुछ ग्रथो का अनुवाद हुआ। इसी शताब्दी में लिखा हुआ फाउस्तुस नामक एक ग्रथ चौथी शताब्दी की आर्मीनी परिस्थिति का सुदर चित्रण करता है। इसमें आर्मीनिया के छोटे छोटे नरेशों के दरबारों, राजनीतिक सगठन, जातियों के परस्पर युद्ध और ईसाई धर्म के स्थापित होने का इतिहास अकित है। ऐतिसाएउस वर्दपेत ने वर्दन का एक इतिहास लिखा जिसमें आर्मीनियो ने सासानियो से जो धर्मयुद्ध किया था उसका वर्णन है। खोरैन के मोजेज ने आर्मीनिया का एक इतिहास लिखा जिसमे ४५० ईसवी तक का वर्णन है। यह ग्रथ सभवत ७वी शताब्दी में लिखा गया। ८वी शताब्दी से बराबर आर्मीनिया के ग्रथ मिलते हैं। इनमे से अधिकाश इतिहास और धर्म से सबध रखते हैं।

१९वी शताब्दी के मध्यभाग में आर्मीनिया के रूसी और तुर्की जिलो में एक नई साहित्यिक प्रेरणा निकली। इस साहित्य की भाषा प्राचीन भाषा से व्याकरण में यथेष्ट भिन्न है, यद्यपि शब्दावली प्राय पुरानी है। इस नवीन प्रेरणा के द्वारा आर्मीनी साहित्य में काव्य, उपन्यास, नाटक, प्रहसन आदि

गुणधर्म—साधारण ताप पर आर्सेनिक के दो भिन्न भिन्न अपर रूप होते हैं, एक धूसर रंग का आर्सेनिक तथा दूसरा पीला आर्सेनिक।

धूसर रंग का आर्सेनिक अपारदर्शी है। इसके मणिभ षट्कोणीय, कठोर, भंगुर तथा धातु की चमक लिए होते हैं। इसका आपेक्षिक घनत्व ५.७ है। यह आर्सेनिक तत्व का स्थायी रूप है।

पीला आर्सेनिक पारदर्शी होता है। इसके मणिभ घनाकार तथा नम्र होते हैं। इसका आपेक्षिक घनत्व २.० है। यह अस्थायी अपर रूप है। कार्बन द्विसल्फाइड मे आर्सेनिक विलयन से पीला आर्सेनिक मणिभीकृत किया जाता है। पीले अपर रूप को गर्म करने या प्रकाश मे रखने से वह धूसर रूप मे परिणत हो जाता है। कुछ उत्प्रेरक पीले अपर रूप को भूरे अपर रूप मे परिवर्तित कर देते हैं।

आर्सेनिक के अणु ८००° सेंटीग्रेड तक $आ_४$ तथा १७००° सेंटीग्रेड पर $आ_२$ रूप मे रहते हैं।

आर्सेनिक तत्व मे उपचायक (आक्सिडाइज़िंग) तथा अपचायक (रिड्यूसिंग) दोनो ही गुण विद्यमान हैं। यह आक्सीजन, फ्लोरीन, क्लोरीन, ब्रोमीन, आयोडीन, गधक, पोटैसियम क्लोरेट तथा नाइट्रेट द्वारा उपचयित (आक्सीकृत) हो जाता है। इसके विपरीत सोडियम, पोटैसियम तथा अन्य क्षारीय धातुएँ आर्सेनिक को अपचयित करती हैं। जिन अवस्थाओ मे वह यौगिक बनाता है उनके अनुसार आर्सेनिक की दो, तीन तथा पाँच सयोजकताएँ हैं, हाइड्रोजन के साथ $आ_१ हा_३$ यौगिक बनता है, जो साधारण ताप पर गैसीय, रंगहीन, विषैला तथा अस्थायी होता है। $आ_१ हा_३$ अथवा आर्सेनिक हाइड्राइड एक शक्तिशाली अपचायक है। यह ताप या प्रकाश द्वारा विघटित हो जाता है।

क्षार, क्षारीय मृदाएँ (ऐल्कैलाइन अर्थ्स) तथा कुछ अन्य धातुएँ जैसे यशद, ऐल्युमीनियम आदि आर्सेनिक के साथ यौगिक बनाती हैं। ये प्रतिक्रियाएँ आर्सेनिक के अधातु गुणधर्म की पुष्टि करती है।

आर्सेनिक अम्ल का सूत्र $आ_१(औहा)_३$ अथवा $हा_३आ_१औ_३$ है। क्षार द्वारा इस अम्ल के क्रियात्मक लवण आर्सेनाइट कहलाते हैं। आर्सेनिक आक्साइड अथवा सखिया का सूत्र $आ_४औ_६$ है। यह यौगिक कई अपर रूपो मे मिलता है और शक्तिशाली सचयी (अक्युम्युलेटिव) विष है।

क्लोरीन, ब्रोमीन तथा आयोडीन के साथ आर्सेनिक त्रिसयोजकीय यौगिक बनाता है। इन यौगिको का विघटन बहुत कम होता है। इस कारण इनमे लवण के गुण नही है।

आर्सेनिक के पाँच प्रधान यौगिक आक्साइड $आ_२औ_५$, आर्सेनिक अम्ल $हा_३आ_१औ_४$ तथा उससे बने आर्सिनेट सलफाइड $आ_२ग_५$, और फ्लोराइड $आ_१फ्लो_५$ हैं।

आर्सेनिक के कार्बनिक व्युत्पन्न भी बनाए गए हैं, जिनमे $(काहा_३)_३आ_१$, $(काहा_३)_४आ_१क्लो$, $(काहा_३)_२आ_१-आ_१(काहा_३)_२$, और $(काहा_३)_२आ_१औऔहा$ मुख्य हैं।

गुणात्मक विश्लेषण मे आर्सेनिक को सल्फाइड के रूप मे पारद, वग (राँगा), ऐटिमनी आदि के साथ अलग करते हैं। आर्सेनिक के यौगिक अधिकतर विषैले होते हैं। इसलिये इसकी सूक्ष्म मात्रा में उपस्थिति की पहचान करना, विलयन तथा गैस दोनो रूपो मे, आवश्यक हो सकता है। आर्सेनाइट का विलयन ताँबे द्वारा अपचयित हो जाता है। ताँबे के टुकडे को विलयन मे डालने से उसपर आर्सेनिक की काली परत छा जाती है। $आ_१ हा_३$ अथवा आर्सीन का वाष्प सिल्वर नाइट्रेट को अपचयित कर देता है। आर्सीन का वाष्प गर्म नली मे आर्सेनिक की काली तह जमा देता है, इस परीक्षा को मार्श की परीक्षा कहा जाता है।

उपयोग—आर्सेनिक आक्साइड आर्सेनिक का सबसे उपयोगी यौगिक है। यह ताँबे, सीसे तथा अन्य धातुओ के अयस्क से सहजात के रूप मे निकाला जाता है। आर्सेनिक आक्साइड अन्य आर्सेनिक यौगिको के निर्माण मे काम आता है। इसका उपयोग काच बनाने तथा चमडे की वस्तुएँ सुरक्षित करने में होता है। इस कार्य में लेड आर्सेनाइट, कैल्सियम आर्सेनाइट और ताँबे के कार्बनिक आर्सेनाइट का विशेष उपयोग होता है। आर्सेनिक के कुछ अन्य यौगिक वर्णको (रगो) के लिये विशेष उपयोगी होते हैं।

आर्सेनिक का उपयोग मिश्र धातुओ के निर्माण मे भी होता है। सीसे मे एक प्रतिशत आर्सेनिक डालने से उसकी पुष्टता बढ जाती है। इस मिश्रण का उपयोग छर्रे बनाने मे होता है। ताँबे के साथ थोडी मात्रा मे आर्सेनिक मिलाने पर उसका आक्सीकरण तथा क्षरण रुक जाता है।

आर्सेनिक के यौगिक प्राय विषैले होते हैं। वे शरीर की कोशिकाओ मे पक्षाघात (पैरालिसिस) पैदा करते हैं तथा अँतडियो और ऊतको को हानि पहुँचाते हैं। आर्सेनिक खाने पर सिरपीडा, चक्कर तथा वमन आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। कुछ व्यक्तियो का विचार है कि आर्सेनिक सूक्ष्म मात्रा मे लाभकारी होता है। अत उसके अनेक कार्बनिक तथा अकार्बनिक यौगिक रक्ताल्पता, तत्रिकाव्याधि, गठिया, मलेरिया, प्रमेह तथा अन्य रोगो के उपचार में प्रयुक्त होते हैं। विशेषकर प्रमेह के उपचार मे सालवारसन का उपयोग होता है, जो आर्सेनिक का कार्बनिक यौगिक आर्सफिनामीन हाइड्रोक्लोराइड है। इसकी सरचना निम्नलिखित है
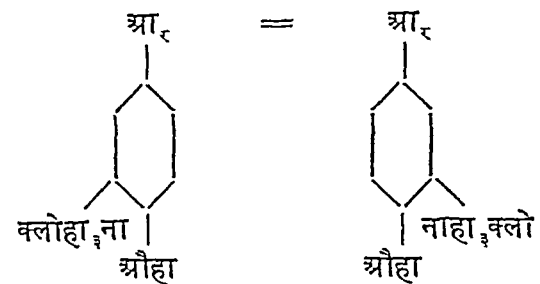
आर्सेनिक यौगिक उदरविष होते हैं। इस कारण वे पत्तियाँ खानेवाले कीटाणुओ को नष्ट करने मे उपयोगी होते हैं। कैलसियम आर्सिनेट टमाटर के कीडे को नष्ट करता है। लेड आर्सिनेट फल, फूल तथा अन्य हरी तरकारियो के कीडो को नष्ट करता है। उन फलो तथा तरकारियो को, जिनपर आर्सेनिक यौगिको का छिडकाव हुआ हो, अच्छे प्रकार से धोकर खाना चाहिए।

उत्पादन—आर्सेनिक आक्साइड को कोक (तपाया हुआ पत्थर का कोयला) द्वारा अपचयित करके आर्सेनिक तत्व बनाया जाता है। कुछ आर्सेनिक यौगिको को गर्म करने पर विघटन हो जाता है। इस प्रकार भी आर्सेनिक तत्व रूप में बनाया जाता है। अच्छा तथा शुद्ध मणिभ आर्सेनिक पाने के लिये ताप का नियन्त्रण आवश्यक है। [र० च० क०]

आलंबन बौद्ध दर्शन के अनुसार आलबन छ होते हैं—रूप, शब्द, गध, रस, स्पर्श और धर्म। इन छ के ही आधार पर हमारे चित्त की सारी प्रवृत्तियाँ उठती हैं और उन्ही के सहारे चित चैत्तसिक सभव होते हैं। ये आलबन चक्षु आदि इद्रियो से गृहीत होते हैं। प्राणी के मरणासन्न अंतिम चित्तक्षण मे जो स्वप्न छायावत् आलबन प्रकट होता है उसी के आधार पर मरणातर दूसरे जन्म मे प्रथम चित्तक्षण उत्पन्न होता है। इस तरह, चित्त कभी निरालब नही रहता। [भि० ज० का०]

आलवार तमिल भाषा के इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—अध्यात्म ज्ञान के समुद्र मे गोता लगानेवाला व्यक्ति। आलवार तमिल देश के प्रसिद्ध वैष्णव सत थे। इनका हृदय नारायण की भक्ति से आप्लावित था और ये लक्ष्मीनारायण के सच्चे उपासक थे। इनके जीवन का एक ही उद्देश्य था—विष्णु की प्रगाढ भक्ति मे स्वत लीन होना और अपने उपदेशो से दूसरे साधको को लीन करना। इनकी मातृभाषा तमिल थी जिसमे इन्होंने सहस्रो सरस और भक्तिस्निग्ध पदो की रचना कर सामान्य जनता के हृदय मे भक्ति की मदाकिनी बहा दी। इन विष्णुभक्तो की सख्या पर्याप्त रूप से अधिक थी, परतु उनमे से १२ भक्त ही प्रधान और महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इनका आविर्भावकाल सप्तम शतक और दशम शतक के अतर्गत माना जाता है। इन आलवारो मे गोदा स्त्री थी, कुलशेखर केरल के राजा थे और शेष भक्तो मे कई अछूत तथा चोरी डकती कर जीवनयापन करनेवाले व्यक्ति भी थे। आलवारो के दो प्रकार के नाम मिलते हैं—एक तमिल, दूसरे सस्कृत नाम। इनकी स्तुतियो का सग्रह **नालायिरप्रबंधम्** (चार हजार पद्य) के नाम से विख्यात

(इस विराट् पुरुष के मुँह से ब्राह्मण, बाहु से राजन्य (क्षत्रिय), ऊरु (जघा) से वैश्य और पद (चरण) से शूद्र उत्पन्न हुआ।) आजकल की भाषा मे ये वर्ग बौद्धिक, प्रशासकीय, व्यावसायिक तथा श्रमिक थे। मूल में इनमें तरलता थी। एक ही परिवार मे कई वर्ण के लोग रहते और परस्पर विवाहादि सबध और भोजन, पान आदि होते थे। क्रमश ये वर्ग परस्पर वर्जनशील होते गए। ये सामाजिक विभाजन आर्य मानवपरिवार की प्राय सभी शाखाओ में पाए जाते है, यद्यपि इनके नामो और सामाजिक स्थिति मे देशगत भेद मिलते है।

प्रारभिक आर्य परिवार पितृसत्तात्मक था, यद्यपि आदित्य (अदिति से उत्पन्न), दैत्य (दिति से उत्पन्न) आदि शब्दो मे मातृसत्ता की ध्वनि वर्तमान है। दपती की कल्पना मे पति पत्नी का गृहस्थी के ऊपर समान अधिकार पाया जाता है। परिवार मे पुत्रजन्म की कामना की जाती थी। दायित्व के कारण कन्या का जन्म परिवार को गभीर बना देता था, किंतु उसकी उपेक्षा नही की जाती थी। घोषा, लोपामुद्रा, अपाला, विश्ववारा आदि स्त्रियाँ मत्रद्रष्टा ऋषिपद को प्राप्त हुई थी। विवाह प्राय युवावस्था में होता था। पति पत्नी को परस्पर निर्वाचन का अधिकार था। विवाह धार्मिक कृत्यो के साथ सपन्न होता था, जो परवर्ती ब्राह्म विवाह से मिलता जुलता था।

प्रारभिक आर्य सस्कृति मे विद्या, साहित्य और कला का ऊँचा स्थान है। भारोपीय भाषा ज्ञान के सशक्त माध्यम के रूप में विकसित हुई। इसमें काव्य, धर्म, दर्शन आदि विभिन्न शास्त्रो का उदय हुआ। आर्यो का प्राचीनतम साहित्य वेद भाषा, काव्य और चिंतन, सभी दृष्टियो से महत्वपूर्ण है। ऋग्वेद मे ब्रह्मचर्य और शिक्षणपद्धति के उल्लेख पाए जाते है, जिनसे पता लगता है कि शिक्षणव्यवस्था का सगठन प्रारभ हो गया था और मानव अभिव्यक्तियो ने शास्त्रीय रूप धारण करना शुरु कर दिया था। ऋग्वेद में कवि को ऋषि (मत्रद्रष्टा) माना गया है। वह अपनी अतर्दृष्टि से सपूर्ण विश्व का दर्शन करता था। उषा, सवितृ, अरण्यानी आदि के सूक्तो मे प्रकृतिनिरीक्षण और मानव की सौंदर्यप्रियता तथा रसानुभूति का सुदर चित्रण है। ऋग्वेदसहिता में पुर और ग्राम आदि के उल्लेख भी पाए जाते हैं। लोहे के नगर, पत्थर की सैकडो पुरियाँ, सहस्रद्वार तथा सहस्रस्तभ अट्टालिकाएँ निर्मित होती थी। साथ ही सामान्य गृह और कुटीर भी बनते थे। भवननिर्माण में इष्टका (ईंट) का उपयोग होता था। यातायात के लिये पथो का निर्माण और यान के रूप मे कई प्रकार के रथो का उपयोग किया जाता था। गीत, नृत्य और वादित्र का सगीत के रूप मे प्रयोग होता था। वाण, क्षोणी, कर्करि प्रभृति वाद्यो के नाम पाए जाते है। पुत्रिका (पुत्तलिका, पुतली) के नृत्य का भी उल्लेख मिलता है। अलकरण की प्रथा विकसित थी। स्त्रियाँ निष्क, अज्जि, वासी, वक्, रुक्म आदि गहने पहनती थी। विविध प्रकार के मनोविनोद मे काव्य, सगीत, द्यूत, घुडदौड, रथदौड आदि समिलित थे।

(४) **श्रेष्ठ, शिष्ट अथवा सज्जन**—नैतिक अर्थ मे 'आर्य' का प्रयोग महाकुल, कुलीन, सभ्य, सज्जन, साधु आदि के लिये पाया जाता है। (महाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधव। (अमर० ७।३)। सायणाचार्य ने अपने ऋग्भाष्य मे 'आर्य' का अर्थ विज्ञ, यज्ञ का अनुष्ठाता, विज्ञ स्तोता, विद्वान्, आदरणीय अथवा सर्वत्र गतव्य, उत्तम वर्ण, मनु, कर्मयुक्त और कर्मानुष्ठान से श्रेष्ठ आदि किया है। आदरणीय के अर्थ मे तो सस्कृत साहित्य मे आर्य का बहुत प्रयोग हुआ है। पत्नी पति को आर्यपुत्र कहती थी। पितामह को आर्य (हिं० आजा) और पितामही को आर्या (हिं० आजी, ऐया, अइया) कहने की प्रथा रही है। नैतिक रूप से प्रकृत आचारण करनेवाले को आर्य कहा गया है

कर्तव्यमाचरन् कार्यमकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे स आर्य इति उच्यते॥

प्रारभ मे 'आर्य' का प्रयोग प्रजाति अथवा वर्ण के अर्थ मे भले ही होता रहा हो, आगे चलकर भारतीय इतिहास में इसका नैतिक अर्थ ही अधिक प्रचलित हुआ जिसके अनुसार किसी भी वर्ण अथवा जाति का व्यक्ति अपनी श्रेष्ठता अथवा सज्जनता के कारण आर्य कहा जाने लगा।

आर्य प्रजाति की आदिभूमि के सबध मे अभी तक विद्वानो में बहुत मतभेद है। भाषावैज्ञानिक अध्ययन के प्रारभ मे प्राय भाषा और प्रजाति को अभिन्न मानकर एकोद्भव (मोनोजेनिक) सिद्धात का प्रतिपादन हुआ और माना गया कि भारोपीय भाषाओ के बोलनेवालो के पूर्वज कही एक ही स्थान में रहते थे और वही से विभिन्न देशो में गए। भाषावैज्ञानिक साक्ष्यो की अपूर्णता और अनिश्चितता के कारण यह आदिभूमि कभी मध्य एशिया, कभी पामीर-काश्मीर, कभी आस्ट्रिया-हगरी, कभी जर्मनी, कभी स्वीडन-नार्वे और आज दक्षिण रूस के घास के मैदानो में ढूढी जाती है। भाषा और प्रजाति अनिवार्य रूप से अभिन्न नही। आज आर्यो की विविध शाखाओ के बहूद्भव (पॉलिजेनिक) होने का सिद्धात भी प्रचलित होता जा रहा है जिसके अनुसार यह आवश्यक नही कि आर्या-भाषा-परिवार की सभी जातियाँ एक ही मानववश की रही हो। भाषा का ग्रहण तो सपर्क और प्रभाव से भी होता आया है, कई जातियो ने तो अपनी मूल भाषा छोडकर विजातीय भाषा को पूर्णत अपना लिया है। जहाँ तक भारतीय आर्यो के उद्गम का प्रश्न है, भारतीय साहित्य में उनके बाहर से आने के सबध में एक भी उल्लेख नही है। कुछ लोगो ने परपरा और अनुश्रुति के अनुसार मध्यदेश (स्थूण) (स्थाण्वीश्वर) तथा कजगल (राजमहल की पहाडियाँ) और हिमालय तथा विंध्य के बीच का प्रदेश अथवा आर्यावर्त (उत्तर भारत) ही आर्यो की आदिभूमि माना है। पौराणिक परपरा से विच्छिन्न केवल ऋग्वेद के आधार पर कुछ विद्वानो ने सप्तसिंधु (सीमात एव पजाब) को आर्यो की आदिभूमि माना है। लोकमान्य बाल गगाधर तिलक ने ऋग्वेद में वर्णित दीर्घ अहोरात्र, प्रलबित उषा आदि के आधार पर आर्यो की मूलभूमि को ध्रुवप्रदेश में माना था। बहुत से यूरोपीय विद्वान् और उनके अनुयायी भारतीय विद्वान् अब भी भारतीय आर्यो को बाहर से आया हुआ मानते हैं।

स०ग्र०—गॉर्डन चाइल्ड दि एरियन्स (लदन, १९२६), एच० एच० बेंडर दि होम आव दि इडो-यूरोपियन्स (ऑक्सफोर्ड, १९२२), वेनुस एथनोग्राफी (स्ट्रैसबर्ग, १९१२), एफ० बोआज़ जेनरल ऐंथ्रोपालोजी (न्यूयार्क, १९३९), इ० सेपिर लैंग्वेज, रेस ऐंड कल्चर (न्यूयार्क, १९३१), सुनीतिकुमार चटर्जी भारतीय आर्य भाषा और हिंदी (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५४), अ० च० दास ऋग्वैदिक इडिया कैंब्रे ऐंड को० (कलकत्ता, १९२५), सपूर्णानद आर्यो का आदि देश, बी० एस० गुह ऐन आउटलाइन ऑव रेशल एथ्नोलॉजी ऑव इडिया, (कलकत्ता, १९३७), हिंदी विश्वकोश, भाग १, कलकत्ता १९१७, एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, भाग २, शिकागो—लडन—टोरटो। [रा० ब० पा०]

आर्य आष्टांगिक मार्ग भगवान् बुद्ध ने बताया कि तृष्णा ही सभी दु खो का मूल कारण है। तृष्णा के कारण ससार की विभिन्न वस्तुओ की ओर मनुष्य प्रवृत्त होता है, और जब वह उन्हें प्राप्त नही कर सकता अथवा जब वे प्राप्त होकर भी नष्ट हो जाती हैं तब उसे दु ख होता है। तृष्णा के साथ मृत्यु प्राप्त करनेवाला प्राणी उसकी प्रेरणा से फिर भी जन्म ग्रहण करता है और ससार के दु खचक्र में पिसता रहता है। अत तृष्णा का सर्वथा प्रहाण करने का जो मार्ग है वही मुक्ति का मार्ग है। इसे दु ख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा कहते हैं। भगवान् बुद्ध ने इस मार्ग के आठ अग बताये हैं सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इस मार्ग के प्रथम दो अग प्रज्ञा के और अतिम दो समाधि के हैं। बीच के चार शील के हैं। इस तरह शील, समाधि और प्रज्ञा इन्ही तीन में आठो अगो का सनिवेश हो जाता है। शील शुद्ध होने पर ही आध्यात्मिक जीवन मे कोई प्रवेश पा सकता है। शुद्ध शील के आधार पर मुमुक्षु ध्यानाभ्यास कर समाधि का लाभ करता है और समाधिस्थ अवस्था में ही उसे सत्य का साक्षात्कार होता है। इसे प्रज्ञा कहते हैं, जिसके उद्बुद्ध होते ही साधक को सत्ता मात्र के अनित्य, अनात्म और दु खस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। प्रज्ञा के आलोक में इसका अज्ञानाधकार नष्ट हो जाता है। इससे ससार की सारी तृष्णाएँ चली जाती हैं। वीततृष्ण हो वह कही भी अहकार ममकार नही करता और सुख दु ख के बधन से ऊपर उठ जाता है। इस जीवन के अनतर, तृष्णा के न होने के कारण, उसके फिर जन्म ग्रहण करने का कोई हेतु नही रहता। इस प्रकार, शील-समाधि-प्रज्ञावाला मार्ग आठ अगो में विभक्त हो आर्य आष्टागिक मार्ग कहा जाता है। [भि० ज० का०]

आर्यदेव लका के महाप्रज्ञ एकचक्षु भिक्षु जो अपनी ज्ञानपिपासा शात करने के लिये नालदा के आचार्य नागार्जुन के पास पहुँचे। आचार्य ने उनकी प्रतिभा की परीक्षा करने के लिये उनके पास

उपज चावल की दुगुनी तथा गेहूँ की तिगुनी है। भारतवर्ष मे आलू की खेती लगभग ७,१५,००० एकड में होती है, जिसमें लगभग ७,६५,००,००० मन आलू पैदा होता है। उत्तर प्रदेश मे लगभग ३,८०,००० एकड मे आलू की खेत होती है जिसमे ४,६०,००,००० मन आलू की उपज होती है। भारतवर्ष में आलू की औसत उपज १११ मन प्रति एकड है, जब कि यूरोपीय देशो मे २२५ मन प्रति एकड है।

आलू की खेती भिन्न भिन्न प्रकार की जलवायु मे की जा सकती है। समुद्रपृष्ठ से लेकर ९,००० फुट की ऊँचाई तक इसकी खेती हो सकती है परतु सफल खेती के लिये उपयुक्त जलवायु प्रधान है। इग्लैंड, आयरलैंड, स्काटलैंड तथा उत्तरी जर्मनी मे आलू की सर्वाधिक उपज का मुख्य कारण उन स्थानो में आलू की उचित वृद्धि के लिये ठढी ऋतु है। इसकी वृद्धि के लिये सर्वोत्तम ताप ६०°-७५° फा० है। अधिक वर्षावाले क्षेत्र मे भी इसकी उपज अच्छी नही होती। कम वर्षा, परतु सिंचाई के साधन से युक्त क्षेत्र अधिक उपयुक्त होते हैं। भारतवर्ष मे पहाडो पर ग्रीष्म ऋतु मे तथा मैदानो मे जाडे मे इसकी खेती होती है। आलू की सफल खेती के लिये जलवायु के बाद मिट्टी का महत्व है। आलू के लिये मिट्टी की उपयुक्तता की माप आलू की उपज, उसकी शीघ्र परिपक्वता, भोजनोचित गुण तथा सुरक्षित रहने की अवधि इत्यादि गुणो द्वारा ही होती है। इसके लिये वही मिट्टी सर्वोत्तम है जो उपजाऊ, मध्यम आकार के कणोवाली, भुरभुरी तथा गहरी हो और जो अधिक क्षारीय न हो। इन बातो का ध्यान रखते हुए आलू के लिये सबसे उत्तम मिट्टी पाँस (ह्यूमस) से परिपूर्ण हल्की दुमट है। मिट्टी मे अधिक आर्द्रता का आलू पर बहुत कुप्रभाव पडता है।

मिट्टी को कई बार जोतकर भली भाँति भुरभुरी तथा गहरी कर लेना चाहिए। मिट्टी जितनी ही अधिक गहरी, खुली तथा भुरभुरी होगी उतनी ही वह आलू की अच्छी उपज के लिये उपयुक्त होगी। मिट्टी की तैयारी का विशेष महत्व इसलिये है कि मिट्टी की रचना, आर्द्रता, ताप, वायुसचालन तथा प्राप्य खनिजो से भोज्य तत्वो का आलू के पौधो द्वारा ग्रहण प्रधानत मिट्टी की जोत पर ही निर्भर है। इन कारणो का प्रभाव आलू के आकार, गुण तथा उपज पर पडता है। अत ९-१० इच गहरी जुताई करना उत्तम है। एक ही खेत से लगातार आलू की फसल लेना दोषपूर्ण है। अधिक भोज्यग्राही फसल के बाद भी आलू बोना अनुचित है। आलू की जडे अधिक गहराई तक नही जाती और तीन चार महीने मे ही इतनी अधिक उपज देकर उन्हे जीवन समाप्त कर देना पडता है। इसलिये यह आवश्यक है कि खाद अधिक मात्रा मे ऊपर की मिट्टी मे ही मिश्रित की जाय जिससे पौधे सुगमतापूर्वक शीघ्र ही उसे प्राप्त कर सके। सडे गोबर की खाद प्रति एकड ४०० मन तथा १० मन अडी अथवा नीम की खली का चूर्ण आलू बोने के दो सप्ताह पहले मिट्टी मे भली भाँति मिलाना चाहिए। जिन मेडो में आलू बोना हो उनमे पूर्वोक्त खाद के अतिरिक्त अमोनियम सल्फेट तीन मन तथा सुपर फास्फेट ६ मन प्रति एकड के हिसाब से छिडककर मिट्टी में मिला दे। तत्पश्चात् उन्ही मेडो मे आलू बोया जाय। अन्य खाद देते समय यह ध्यान रहे कि कम से कम १५० पाउड नाइट्रोजन प्रति एकड मिट्टी मे प्रस्तुत हो जाय।

आलू की खेती भारतवर्ष के मैदानी तथा पहाडी दोनो भागो मे होती है। मैदान मे बोए जानेवाले आलू तीन वर्गो में विभाजित किये जाते हैं

(क) शीघ्र पकनेवाली किस्में थोडे समय (६०-९० दिनो) मे तैयार हो जाती है, परतु इनकी उपज अधिक नही होती। ये किस्मे निम्नलिखित हैं (१) साठा—छोटे आकार के ये आलू ६० से ७५ दिनो में तैयार हो जाते हैं, (२) गोला—यह एक मिश्रित किस्म है जिसमे दो अन्य किस्मे भी मिली रहती हैं। इनकी खेती अधिक नही होती, क्योकि मिश्रण होने से किसान इन्हे पसद नही करते। यह भी लगभग ९० दिनो में तैयार हो जाती है।

(ख) मध्यम किस्म का आलू जो तीन से चार महीने मे तैयार होता है (१) अपटडेट—यह अत्यत सुदर किस्म है। आलू सफेद तथा अच्छे आकार के होते हैं, (२) द्विजाति (हाइब्रिड)—हाइब्रिड ४५, २०८, २०९, २२३६ तथा हाइब्रिड ओ० एन० २१८६ इत्यादि। ये द्विजाति किस्मे केद्रीय आलू अनुसधान केद्र मे पैदा की जा रही है, जिनमे वहाँ से अन्य स्थानो मे खेती करने के लिये उनका वितरण हो सके।

(ग) अधिक समय मे तैयार होनेवाले आलू जो चार से पाँच महीने में तैयार होते है, इनकी उपज अधिक होती है (१) फुलवा—यह मैदानी भाग मे सर्वत्र बोया जाता है। पौधे फूलते हैं और आलू सफेद होता है, उपज अधिक होती है, (२) दार्जिलिंग लाल—यह फुलवा से कुछ पहले तैयार होता है। आलू लाल रग का होता हे, परतु फुलवा की तरह यह अधिक समय तक सुरक्षित नही रखा जा सकता। रखने के लिये फुलवा सबसे अच्छा है। पहाडी भाग मे पैदा होनेवाली किस्मे मार्च तथा अप्रैल में बोई जाती हैं (१) अपटुडेट, (२) क्रेग्स डिफायेंस, (३) हाइब्रिड ९ तथा २०९० और (४) ग्रेट स्टॉक।

आलू की सफल खेती के लिये बीज का चुनाव अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसमे त्रुटि होने से जो हानि होती है उसकी पूर्ति खाद देकर या अन्य किसी उपाय से नही हो सकती। कितना बीज और कितनी दूरी पर बोया जाय यह सब आलू की किस्म, आकार तथा मिट्टी की उर्वरता पर निर्भर है। एक पक्ति से दूसरी पक्ति की दूरी १½ फुट से २½ फुट तक तथा पक्ति मे बीज से बीज की दूरी ६ से १२ इच होनी चाहिए। बीज से तात्पर्य है आलू या उसके किसी टुकडे से, जो बोने के लिये प्रयुक्त हो। बडे आलू काटकर तथा छोटे बिना काटकर बोए जाने चाहिए, परतु प्रत्येक टुकडे मे आँख (अकुर) अवश्य रहे। प्रति एकड चार मन से १५ मन तक आलू बोया जाता है। बीज कितना बडा हो, यह आलू की किस्म पर निर्भर है। फुलवा, दार्जिलिंग और साठा के बीज एक इच तथा अन्य किस्मे १½ इच से १¾ इच व्यास की होनी चाहिए। मैदान मे सितबर, अक्टूबर तथा नवबर तक और पहाडो पर फरवरी से जून तक ये बोए जाते हैं। बीज को मेड पर या कूड मे बोते हैं, परतु प्रत्येक दशा मे तीन चार इच से अधिक गहराई पर बीज नही बोना चाहिए।

आलू पद्रह दिन मे जम जाता है। मेडो के बीच की नालियो मे पानी देते हैं। दस बारह दिन के अतर पर सिचाई करते रहना चाहिए। पौधे बढते जाते है तो उनकी शाखाओ को ढँकने के लिये मिट्टी चढाते रहना अत्यत आवश्यक है, क्योकि इन्ही ढँकी हुई शाखाओ के सिरो पर आलू बनते हैं। मिट्टी के बाहर, प्रकाश मे आ जाने से ये शाखाएँ हरी हो जाती है और उनपर आलू नही बनते। अस्तु, दो या तीन बार मिट्टी चढाई जाती है। जब पौधो की पत्तियाँ पीली होने लगे तो आलू की खुदाई करनी चाहिए। शीघ्र तैयार होनेवाली किस्मो की उपज ८० मन से १५० मन तथा देर से तैयार होनेवाली किस्मो की उपज १५० मन से ४०० मन प्रति एकड होती है।

आलू मे अनेक हानिकारक कीडे तथा रोग लगते हैं। (१) सफेद कीडा (ह्वाइट ग्रब)—यह आलू के गूदे को खाता है, जिससे आलू में सडन पैदा होने लगती है। इससे बचने के लिये खेत मे डी० डी० टी० छिडकना चाहिए। (२) पत्ती खानेवाला कीडा (एपीलैक्ना बीट्ल) पत्तियाँ खाता है। इसे ३-५ प्रति शत डी० डी० टी० छिडककर मारना चाहिए। (३) पोटैटो मॉथ (थॉर्मियाँ ओपरक्यूलेला) के कीडे आलू मे छेद करके गूदा खाते हैं। ये गोदाम में अधिक हानि पहुँचाते हैं। गोदाम मे आलुओ को बालू या लकडी के कोयले के चूर्ण से ढककर रखना चाहिए या ५ प्रति शत डी० डी० टी० का छिडकाव करना चाहिए। (४) पोटैटो ब्लाइट एक फफूँदी (फगस) की बीमारी है, जिससे पत्तियो तथा तनो पर काले धब्बे पड जाते हैं। बीमारी का सदेह होते ही बोर्डो मिक्स्चर अथवा बरगडी मिक्स्चर का एक प्रति शत घोल छिडकना चाहिए। (५) पोटैटो स्कब की बीमारी सूक्ष्म जीवो द्वारा फैलती है, जिससे आलू पर भूरे रग के धब्बे पड जाते हैं। (६) रिंग रॉट की बीमारी फैलाने के प्रधान कारण सूक्ष्म जीवाणु (बैक्टीरिया) हैं। इनसे आलू के भीतर भूरे या काले रग का वृत्ताकार चिह्न बन जाता है। (७) लीफ रोल मे आलू की पत्तियाँ किनारो की ओर मुड जाती है। यह एक वायरस का रोग है। (८) पोटैटो मोज़ैइक एक प्रकार का कोढ है जो वायरस का रोग है। अन्य रोग, जैसे स्टिपल-स्ट्रीक, क्रिंकल, ड्राइ रॉट ऑव पोटेटो तथा पोटैटो वार्ट इत्यादि भी आलू को अधिक हानि पहुँचा सकते हैं।

बीज के लिये आलू को सर्वदा शुष्क तथा ठढे स्थान में रखना चाहिए। उसे प्रशीतित घर (कोल्ड स्टोर) में रखना अति उत्तम है। [ज० ग० सि०]

परतु इसका अर्थ समझ मे नही आता। किसी टीकाकार ने इसकी सतोषजनक व्याख्या नही की है। दसवे श्लोक की चर्चा पहले ही आ चुकी है, जिसमें आर्यभट ने अपने जन्म का समय बताया है। इसके आगे बताया है कि चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से युग, वर्ष, मास और दिवस की गणना आरभ होती है। आगे के २० श्लोकों मे ग्रहो की मध्यम और स्पष्ट गति सबधी नियम है।

गोलपाद—यह आर्यभटीय का अतिम अध्याय है। इसमे ५० श्लोक हैं। पहले श्लोक से प्रकट होता हे कि क्रातिवृत्त के जिस विदु को आर्यभट ने मेषादि माना है वह वसत-सपात-विदु था, क्योकि वह कहते है कि मेष के आदि से कन्या के अत तक अपमडल (क्रातिवृत्त) उत्तर की ओर हटा रहता है और तुला के आदि से मीन के अत तक दक्षिण की ओर। आगे के दो श्लोको में बताया गया है कि ग्रहो के पात और पृथ्वी की छाया का भ्रमण क्रातिवृत्त पर होता है। चौथे श्लोक मे बताया गया है कि सूर्य से कितने अतर पर चद्रमा, मगल, वुध आदि दृश्य होते है। ५वाँ श्लोक बताता है कि पृथ्वी, ग्रहो और नक्षत्रो का आधा गोला अपनी ही छाया से अप्रकाशित है और आधा सूर्य के समुख होने से प्रकाशित है। नक्षत्रो के सबध मे यह बात ठीक नही है। श्लोक ६-७ में पृथ्वी की स्थिति, बनावट और आकार का निर्देश किया गया है। ८वे श्लोक मे यह विचित्र बात बताई गई है कि ब्रह्मा के दिन में पृथ्वी की त्रिज्या एक योजन बढ जाती है और ब्रह्मा की रात्रि में एक योजन घट जाती है। श्लोक ९ में बताया गया है कि जैसे चलती हुई नाव पर बैठा हुआ मनुष्य किनारे के स्थिर पेडो को विपरीत दिशा में चलता हुआ देखता है वैसे ही लका (पृथ्वी की विपुवत रेखा पर एक कल्पित स्थान) से स्थिर तारे पश्चिम की ओर घूमते हुए दिखाई पडते हैं। परतु १०वें श्लोक में बताया गया है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो उदय और अस्त करने के बहाने ग्रहयुक्त सपूर्ण नक्षत्रचक्र, प्रवह वायु से प्रेरित होकर, पश्चिम की ओर चल रहा हो। श्लोक ११ में सुमेरु पर्वत (उत्तरी ध्रुव पर स्थित पर्वत) का आकार और श्लोक १२ मे सुमेरु और बडवामुख (दक्षिण ध्रुव) की स्थिति बताई गई है। श्लोक १३ में विपुवत् रेखा पर नब्बे नब्बे अश की दूरी पर स्थित चार नगरियो का वर्णन है। श्लोक १४ में लका से उज्जैन का अतर बताया गया है। श्लोक १५ में बताया गया है कि भूगोल की मोटाई के कारण खगोल आधे भाग से कितना कम दिखाई पडता है। १६वें श्लोक में बताया गया है कि देवताओ और असुरो को खगोल कैसे घूमता हुआ दिखाई पडता है। श्लोक १७ में देवताओ, असुरो, पितरो और मनुष्यो के दिन रात का परिमाण है। श्लोक १८ से २३ तक खगोल का वर्णन है। श्लोक २४-३३ में त्रिप्रश्नाधिकार के प्रधान सूत्रो का कथन है, जिनसे लग्न, काल आदि जाने जाते हैं। श्लोक ३४ में लबन, ३५ में आक्षदृक्कर्म और ३६ में आयनदृक्कर्म का वर्णन है। श्लोक ३७ से ४७ तक सूर्य और चद्रमा के ग्रहणो की गणना करने की रीति है। श्लोक ४८ में बताया गया है कि पृथ्वी और सूर्य के योग से सूर्य के, सूर्य और चद्रमा के योग से चद्रमा के तथा चद्रमा और ग्रहो के योग से सब ग्रहो के मूलाक जाने गए है। श्लोक ४९ और ५० में आर्यभटीय की प्रशसा की गई है।

प्रचार—आर्यभटीय का प्रचार दक्षिण भारत में विशेष रूप से हुआ। इस ग्रथ का पठन पाठन १६वी १७वी शताब्दी तक होता रहा है, जो इसपर लिखी गई टीकाओ से स्पष्ट है। दक्षिण भारत में इसी के आधार पर बने हुए पचाग आज भी वैष्णव धर्मवालो को मान्य होते है। खेद है कि हिंदी में आर्यभटीय की कोई अच्छी टीका नही है। अगेजी मे इसके दो अनुवाद है, एक श्री प्रबोधचद्र सेनगुप्त का और दूसरा श्री डब्ल्यू० ई० क्लार्क का। पहला १९२७ ई० में कलकत्ते से और दूसरा १९३० ई० में शिकागो से प्रकाशित हुआ था।

आर्यभट के दूसरे ग्रथ का प्रचार उत्तर भारत में विशेष रूप से हुआ, जो इस बात से स्पष्ट है कि आर्यभट के तीव्र आलोचक ब्रह्मगुप्त को वृद्धावस्था मे अपने ग्रथ खडखाद्यक मे आर्यभट के ग्रथ का अनुकरण करना पडा। परतु अब खडखाद्यक का ही प्रचार काश्मीर और नेपाल तक दृष्टिगोचर होता है, आर्यभटीय का नही। ऐसा प्रतीत होता है कि खडखाद्यक के व्यापक प्रचार के सामने आर्यभट के ग्रथ का पठन पाठन कम हो गया और वह धीरे धीरे लुप्त हो गया।

आर्यभट द्वितीय

आर्यभट द्वितीय गणित और ज्योतिष दोनो विषयो के अच्छे आचार्य थे। इनका बनाया हुआ महासिद्धात ग्रथ ज्योतिषसिद्धात का अच्छा ग्रथ है। इन्होने भी अपना समय कही नही लिखा है। डाक्टर सिंह और दत्त का मत है (हिस्ट्री ऑव हिंदू मैथिमैटिक्स, भाग २, पृष्ठ ८९) कि ये ९५० ई० के लगभग थे, जो शककाल ८७२ होता है। दीक्षित लगभग ८७५ शक कहते है। आर्यभट द्वितीय ब्रह्मगुप्त के पीछे हुए है, क्योकि ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट की जिन बातो का खडन किया है वे आर्यभटीय से मिलती है, महासिद्धात से नही। महासिद्धात से तो प्रकट होता है कि ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट की जिन जिन बातो का खडन किया है वे इसमें सुधार दी गई है। कुट्टक की विधि में भी आर्यभट प्रथम, भास्कर प्रथम तथा ब्रह्मगुप्त की विधियों से कुछ उन्नति दिखाई पडती है। इसलिये इसमें सदेह नहीं कि आर्यभट द्वितीय ब्रह्मगुप्त के बाद हुए है।

ब्रह्मगुप्त और लल्ल ने अयनचलन के सबध में कोई चर्चा नही की है, परतु आर्यभट द्वितीय ने इसपर बहुत विचार किया है। अपने ग्रथ मध्यमाध्याय के श्लोक ११-१२ में इन्होने अयनबिंदु को एक ग्रह मानकर इसके कल्पभगण की सख्या ५,७८,१५९ लिखी है जिससे अयनबिंदु की वार्षिक गति १७३ विकला होती है जो बहुत ही अशुद्ध है। स्पष्टाधिकार में स्पष्ट अयनाश जानने के लिये जो रीति बताई गई है उससे प्रकट होता है कि इनके अनुसार अयनाश २४ अश से अधिक नही हो सकता और अयन की वार्षिक गति भी सदा एक सी नही रहती। कभी घटते घटते शून्य हो जाती है और कभी बढते बढते १७३ विकला हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यभट द्वितीय का समय वह था जब अयनगति के सबध में हमारे सिद्धातो में कोई निश्चय नही हुआ था। मुजाल के लघुमानस में अयनचलन के सबध में स्पष्ट उल्लेख है, जिसके अनुसार एक वर्ष में अयनचलन १,९९,६६९ होता है, जो वर्ष में ५९.९ विकला होता है। मुजाल का समय ८५४ शक या ९३२ ईस्वी है, इसलिये आर्यभट का समय इससे भी कुछ पहले होना चाहिए। इसलिये मेरे मत मे इनका समय ८०० शक के लगभग होना चाहिए।

महासिद्धात—इस ग्रथ में १८ अधिकार है और लगभग ६२५ आर्या छद है। पहले १३ अध्यायो के नाम वे ही है जो सूर्यसिद्धात या ब्राह्मस्फुट सिद्धात के ज्योतिष सबधी अध्यायो के है, केवल दूसरे अध्याय का नाम है पराशरमताध्याय। १४ वे अध्याय का नाम गोलाध्याय है जिसमें ११ श्लोक तक पाटीगणित या अकगणित के प्रश्न है। इसके आगे के तीन श्लोक भूगोल के प्रश्न है और शेष ८३ श्लोको में अहर्गण और ग्रहो की मध्यम गति के सबध में प्रश्न है। १५ वें अध्याय में १२० आर्या छद है, जिनमें पाटीगणित, क्षेत्रफल, घनफल आदि विषय है। १६ वें अध्याय का नाम भुवनकोश प्रश्नोत्तर है जिसमे खगोल, स्वर्गादि लोक, भूगोल आदि का वर्णन है। १७वाँ प्रश्नोत्तराध्याय है, जिसमें ग्रहो की मध्यमगति सबधी प्रश्न हैं। १८वें अध्याय का नाम कुट्टकाध्याय है, जिसमें कुट्टक सबधी प्रश्नो पर ब्राह्मस्फुट सिद्धात की अपेक्षा कही अधिक विचार किया गया है। इससे भी प्रकट होता है कि आर्यभट द्वितीय ब्रह्मगुप्त के पश्चात् हुए हैं।

[म० प्र० श्री०]

आर्यशूर

आर्यशूर सस्कृत के प्रख्यात बौद्ध कवि। साधारणत ये अश्वघोष से अभिन्न माने जाते है, परतु दोनो की रचनाओ की भिन्नता के कारण आर्यशूर को अश्वघोष से भिन्न तथा पश्चाद्वर्ती मानना ही युक्तिसगत है। इनके प्रसिद्ध ग्रथ 'जातकमाला' की प्रख्याति भारत की अपेक्षा भारत के बाहर बौद्धजगत् में कम न थी। इसका चीनी भाषा में अनुवाद १०वी शताब्दी में किया गया था। ईत्सिंग ने आर्यशूर की कविता की ख्याति का वर्णन अपने यात्राविवरण में किया है (८वी शताब्दी)। अजता की दीवारो पर 'जातकमाला' के क्षातिवादी, शिवि, मैत्रीबल आदि जातको के दृश्यो का अकन और परिचयात्मक पद्यो का उत्कीर्णन छठी शताब्दी मे इसकी प्रसिद्धि का पर्याप्त परिचायक है। अश्वघोष के द्वारा प्रभावित होने के कारण आर्यशूर का समय द्वितीय शताब्दी के अनतर तथा ५वी शताब्दी से पूर्व मानना न्यायसगत होगा। इनका मुख्य ग्रथ 'जातकमाला' चपूशैली में निर्मित है। इसमें सस्कृत के गद्य पद्य का मनोरम मिश्रण है। ३४ जातको का सुदर काव्यशैली तथा भव्य भाषा में वर्णन हुआ है। इसकी दो टीकाएँ सस्कृत मे अनुपलब्ध होने पर भी तिब्बती अनुवाद में सुरक्षित हैं। आर्यशूर की दूसरी काव्यरचना 'पारमितासमास' है जिसमे छहो पार-

आल्प्स का अधिकांतर भाग जलज शिलाओं द्वारा निर्मित है। ये शिलाएँ रक्ताश्म युग से लेकर मध्यनूतन युग तक की हैं। परंतु इनसे अधिक प्राचीन चट्टानें भी, विशेषकर पूर्वी आल्प्स में, पाई जाती हैं (जैसे गिरियुग, कार्बनप्रद युग, मत्स्ययुग, प्रवालादि युग और कब्रियन युग की चट्टानें)। मणिभीय नाइस और शिस्ट तथा आग्नेय शिलाएँ भी मिलती हैं। कुछ चट्टानों का महत्व केवल स्थानीय है, जैसे मोलास, नागलफ्लू और फिलश। ये सब नवकल्पीय हैं।

हिमनदियाँ—अनुमानत आल्प्स में हिमनदियों और नेवे (दानेदार हिम) क्षेत्रों की संख्या कुल मिलाकर १,२०० है। इसकी विशालतम हिमनदी आलेश है, जिसकी लंबाई १६ मील और नेवे सहित प्रवाहक्षेत्र का विस्तार ५० वर्ग मील है। हिमनदियों की समुद्रतल से निम्नतम ऊँचाई भिन्न भिन्न है। यह ग्रिंडेलवाल्ड पर समुद्रतल से केवल ३,२०० फुट की ऊँचाई पर है। हिमरेखा ८,००० से लेकर ६,५०० फुट के बीच स्थित है। प्रधान पर्वत पर हिमनदियों और नेवों की संख्या इसके अंतर्गत पर्वतमालाओं की तुलना में अधिक है। तथापि, आल्प्स की तीन विशालतम हिमनदियाँ, अर्थात् आलेच, ऊँटरार और वीशर (अंतिम दोनों दस मील लंबी) बर्नीज ओवरलैंड में स्थित हैं। प्रधान पर्वतमाला की विशालतम हिमनदियाँ मर डी ग्लेस और गोरनर हैं जिनमें से प्रत्येक ९½ मील लंबी है।

झीलें—आल्प्स की झीलें विभिन्न प्रकार की हैं। ज्यूरिख झील हिमनदियों द्वारा निक्षिप्त हिमोढ (ढोंके, रोड़े आदि) नदीघाटी के आरपार इकट्ठा हो जाने से बनी है। मैटमार्क झील भी एक पार्श्विक हिमोढ के बाँध का रूप धारण करने से बनी है। मार्जेलिन झील एक हिमानी द्वारा नदी का प्रवाह अवरुद्ध हो जाने से बनी है। भूपर्पटी की गतियों से बनी झीलों में जूस और फालेन झीलें उल्लेखनीय हैं। चूने के चट्टानी प्रदेश में पत्थर के घुल जाने से बनी झीलों में डौबन, मुटेन और सीवाली झीलें महत्वपूर्ण हैं। [रा० ना० मा०]

आल्फांसो प्रथम

(११०४-११३४) अरागान का राजा, लेऑन और कास्तिलो का ७वाँ राजा तथा एक विख्यात योद्धा। मूरों और ईसाइयों से इसने जीवन में २६ लड़ाइयाँ लड़ीं। दो राज्यों को मिलाने और उनको युद्ध में योग्य सेनानायक देने के विचार से आल्फांसो षष्ठ द्वारा बरगंडी की रेमोंड की विधवा ऊर्राका के साथ उसका विवाह किया गया। ऊर्राका कास्तिल की रानी थी। लेकिन उसके साध्वी न होने से आल्फांसो प्रथम के लिये यह विवाह सुखकर नहीं हुआ। पति पत्नी परस्पर खूब लड़ते थे। यह लड़ाई घर तक ही सीमित नहीं रही। दोनों की सेनाओं के मध्य भी लड़ाई हुई और इसमें आल्फांसो विजयी हुआ।

ऊर्राका आल्फांसो प्रथम की रिश्ते में चचेरी बहिन लगती थी। अंत पोप ने यह शादी रद्द कर दी। इससे राजा की चर्च से लड़ाई छिड़ गई। आर्च बिशप बर्नार्ड को इसने राज्य से निर्वासित कर दिया। पत्नी के राज्य के लोगों ने इसको राजा नहीं माना, इसलिये सेना से भी वह लड़ा। किंतु इसे अपनी पत्नी के पुत्र को पत्नी का राज्य देना पड़ा।

आल्फांसो जीवन भर लड़ता रहा। लड़ने में ही वह आनंद मानता था। १११८ में मूरों की सेना को सारागोसा में, पुन ११२५-२६ में वालोशिया और गावडा में हराया। लेकिन मृत्यु से पहले आगाम में मूरों से एक बार उसे हारना पड़ा। [अ० कु० वि०]

आल्फांसो प्रथम

(कैथोलिक) स्पेन का राजा (७३९-७५७)। आल्फांसो का पिता रिकार्दो के वंशज कातात्रिया का ड्यूक पेड्रो था। आल्फांसो ने १८ साल तक राज किया, जिस अवधि में पहले की अपेक्षा अधिक तेजी से ईसाइयों ने स्पेन की पुनर्विजय प्रारंभ की। आल्फांसो ने अपने अस्टूरियाज के राज्य में पूर्व में लेबना और बारडूलिया तथा पश्चिम में गैलिसिया जीतकर मिला लिया। संभवत उसी ने दक्षिण-पश्चिम में लेऑन शहर की भी विजय की। इसको बाद के ऐतिहासिकों ने 'कैथोलिक' लिखा है। [अ० कु० वि०]

आल्फांसो द्वादश

स्पेन का राजा, जन्म २८ नवंबर, १८५७, मृत्यु २४ नवंबर, १८८५। रानी इसाबेला का इकलौता पुत्र। विद्रोह के कारण रानी देश छोड़ने को विवश हुई तो यह भी अपनी माँ के साथ ही १८६८ में स्पेन छोड़ गया। दो साल बाद रानी इसाबेला ने इसके पक्ष में राजगद्दी का त्याग कर दिया। १८७४ में यह मारदिजे दी कपोज द्वारा स्पेन का राजा घोषित किया गया। १८७५ में इसने स्पेन की राजधानी माद्रिद में प्रवेश किया। मारदिज दी कपोज और कानोवास देल कास्तिलियो की सहायता से विद्रोह को शांत किया गया। [अ० कु० वि०]

आल्फांसो त्रयोदश

स्पेन का अंतिम राजा, जन्म माद्रिद में १७ मई, १८८६ को, मृत्यु रोम में २८ फरवरी, १९४१ ई० को। पिता की मृत्यु के बाद पैदा होते ही स्पेन का राजा हो गया। इसकी माँ इस समय रीजेंट (राजप्रतिनिधि) थी। १७ मई, १९०२ को यह राजसिंहासन पर बैठा।

१९०९ में फ्रांसिस्के फेरेरे को क्रांति करने का षड्यंत्र करने के आरोप में फाँसी दी गई। कैथोलिक धर्म का विरोधी राज्य स्थापित करने का भी इसपर आरोप था। इससे यह जनता की दृष्टि में काफी गिर गया। १९१३ में अनेक राजबंदियों को क्षमा प्रदान कर पुन जनप्रिय हो गया। १९१४-१८ के युद्ध में स्पेन को इसने तटस्थ रखा। इससे इसकी लोकप्रियता बढ़ गई। महायुद्ध के बाद स्पेन की आर्थिक तथा राजनीतिक स्थिति बहुत खराब हो गई जिसके कारण प्रीमो दी रिवेरा (१९२३-३०) वहाँ अधिनायक बन गया। इसमें राजा की भी सहमति है, यह विश्वास जनता में फैल जाने से यह बहुत अप्रिय हो गया। लाचार होकर १४ अप्रैल, १९३१ को यह राजकीय अधिकारों और सत्ता का परित्याग करने तथा देश छोड़ने को विवश हुआ। स्पेन में गणराज्य की स्थापना हुई। १९३६-३९ के लोमहर्षक गृहयुद्ध के बाद जनरल फ्रैंको ने घोषित कर दिया कि स्पेन को आल्फांसो की आवश्यकता नहीं। यह देश के लिये अवांछनीय है। [अ० कु० वि०]

आल्बी

दक्षिण-पश्चिमी फ्रांस में टूलोज़ नगर से ४२ मील उत्तर-पूर्व पठार एवं मैदानी भाग की संगमस्थली पर, टार्न नदी के तट पर स्थित, छोटा सा नगर तथा टार्न विभाग की राजधानी है। यहाँ गलो-रोमनवंशी राजाओं तथा टूलोज के जागीरदारों की राजधानी रहने के कारण मध्यकालीन गिरजे तथा भवन आदि हैं। यहाँ आटा, रंग, सिमेंट, शीशा, कृत्रिम रेशमी कपड़े, मोजा, बनियाइन आदि तथा कृषियंत्र बनाने के कारखाने और कई व्यापारिक संस्थान भी हैं। इसकी जनसंख्या १९४६ में ३०,२९३ थी। [का० ना० सिं०]

आल्बीनोवानस् पेदो

एक रोमन कवि जो संभवत सम्राट् तिबेरियुस् के समय में जीवित और सेनापति गेर्मानिकुस् की सेना में नौकर थे। सेनापति गेर्मानिकुस् के उत्तरीय सागर के अभियान के संबंध में इन्होंने एक महाकाव्य की रचना की थी जिसके खंडित अंश अब भी मिलते हैं। इनकी सूक्तियों की प्रशंसा मार्तियाल् तक ने की है। एक थेसेइस् नामक काव्य भी इन्होंने लिखा था। कहते हैं, ये अत्यंत रोचक कथाकार भी थे। उदाहरणस्वरूप इन्होंने अपने एक वाचाल पड़ोसी की हास्यपूर्ण कथा में कहा था कि वह अपने नाद से रात्रि को दिन में बदल देता था।

सं० ग्रं०—मैकेल लैटिन लिटरेचर, डफ दि राइटर्स ऑव रोम। [भो० ना० श०]

आल्बुकर्क, आल्फोंजोथ

(१४५५-१५१५ ई०) भारत में द्वितीय पुर्तगाली वाइसराय, शासक एवं पुर्तगाली साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक। पुर्तगाल से चलकर पूर्वी अफ्रीका के अरब नगरों पर आक्रमण कर एशिया के विख्यात व्यावसायिक केंद्र ओर्मुज को अधिकृत करता जब आल्बुकर्क वाइसराय का पद ग्रहण करने भारत पहुँचा तब तत्कालीन वाइसराय आल्मेईदा द्वारा बंदी बना लिया गया। बंदीगृह से विमुक्त होने पर उसने अपने आपको वाइसराय घोषित कर दिया। कठोर युद्ध के पश्चात् गोआ हस्तगत कर उसे अपना प्रमुख केंद्र बनाया। फिर उसने स्याम, चीन आदि से संपर्क स्थापित करने

सीमित है और जहाँ का परपरागत आचार सदाचार माना जाता है। आर्यावर्त की यही प्रामाणिक सीमा थी और इसके बाहर के देश म्लेच्छ देश माने जाते थे, जहाँ तीर्थयात्रा के अतिरिक्त जाने पर इष्टि या सस्कार करना आवश्यक होता था। बौधायनधर्मसूत्र (१।१।३१) मे अवति, अग, मगध, सुराष्ट्र, दक्षिणापथ, उपावृत्, सिंधु-सौवीर आदि देश म्लेच्छ देशो मे गिनाए गए हैं। परतु आर्यो की सस्कृति और सभ्यता ब्राह्मणो के धार्मिक उत्साह के कारण अन्य देशो मे भी फैली जिन्हे आर्यावर्त का अश न मानना सत्य का अपलाप होगा। मेधातिथि का इस विषय मे मत बडा ही युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। उनका कहना है कि "जिस देश में सदाचारी क्षत्रिय राजा म्लेच्छो को जीतकर चातुर्वर्ण्य की प्रतिष्ठा करे और म्लेच्छो को आर्यावर्त के चाडालो के समान व्यवस्थित करे, वह देश भी यज्ञ के लिये उचित स्थान है, क्योकि पृथ्वी स्वत अपवित्र नही होती, बल्कि अपवित्रो के ससर्ग से ही दूषित होती है" (मनु २।२३ पर मेधातिथिभाष्य)। ऐसे विजित म्लेच्छ देशो को भी मेधातिथि आर्यावर्त के अतर्गत मानने के पक्षपाती हैं। सस्कृति की प्रगति की यह माँग ठुकराई नही जा सकती। तभी तो महाभारत पजाब को, जो कभी आर्य सस्कृति का वैदिक कालीन केंद्र था, दो दिन भी ठहरने लायक नही मानता (कर्णपर्व ४३।५-८), क्योकि यवनो के प्रभाव के कारण शुद्धाचार की दृष्टि से उस युग मे यह नितात आचारहीन बन गया था। आर्यावर्त ही गुप्तकाल में कुमारी द्वीप के नाम से प्रसिद्ध था। पुराणो में आर्यावर्त 'भारतवर्ष' के नाम से ही विशेषत निर्दिष्ट है (विष्णुपुराण २।३।१, मार्कंडेयपुराण ५७।५९ आदि)। [वि० उ०]

आर्रेनियस स्वाटे आगस्ट आर्रेनियस (१८५९-१९२७) प्रसिद्ध रसायनज्ञ थे। इनकी शिक्षा अपसाला, स्टाकहोम तथा रीगा में हुई थी। इनकी बुद्धि बहुत ही प्रखर तथा कल्पनाशक्ति तीक्ष्ण थी। केवल २४ वर्ष की आयु मे ही इन्होंने वैद्युत विच्छेदन (इलेक्ट्रोलिटिक डिसोसिएशन) का सिद्धात उपस्थित किया। अपसाला विश्वविद्यालय मे इनकी डाक्टरेट की थीसिस का यही विषय था। इस नवीन सिद्धात की कडी आलोचना हुई तथा उस समय के बडे बडे वैज्ञानिको ने, जैसे लार्ड केल्विन इत्यादि ने, इसका बहुत विरोध किया। इसी समय एक दूसरे वैज्ञानिक वाट हॉफ ने पतले घोल के नियमो का अध्ययन कर गैस के नियमो से उसकी समानता पर जोर दिया। इस खोज से तथा ओस्टवाल्ट के समर्थन से आर्रेनियस के सिद्धात की मान्यता मे बहुत सहयोग मिला। ओस्टवाल्ट ने अपनी नई निकली हुई पत्रिका 'साइट्श्रिफ्ट फूर फिजिकलीशे केमी' में आर्रेनियस का लेख प्रकाशित किया और अपने भाषणो तथा लेखो मे भी इस सिद्धात का समर्थन किया। अत मे इस सिद्धात को वैज्ञानिक मान्यता प्राप्त हुई।

सन् १८९१ मे लेक्चरर तथा १८९५ मे प्रोफेसर के पद पर, स्टाकहोम मे, आर्रेनियस की नियुक्ति हुई। १९०२ में उन्हे डेवी मेडल तथा १९०३ में नोबेल पुरस्कार मिला। १९०५ से मृत्युपर्यत वे स्टाकहोम मे नोबेल इस्टिट्यूट के डाइरेक्टर रहे। बाद में उन्होंने दूसरे विषयो पर भी अपने विचार प्रकट किए। ये विचार उनकी पुस्तक 'वर्ल्ड्स इन दि मेकिंग' तथा 'लाइफ ऑन दि यूनिवर्स' मे व्यक्त हैं।

स०ग्र० —एच० एम० स्मिथ टॉर्च बेयरर्स ऑव केमिस्ट्री, जे० आर० पार्टिंगटन ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑव केमिस्ट्री (१९५१)। [वि० वा० प्र०]

आर्लबर्ग आस्ट्रिया की एक सुरग है जो आर्लबर्ग रेलवे का एक भाग है। इसका उद्घाटन १८८४ ई० में हुआ था। यह ६ मील लबी है तथा इसकी अधिकतम ऊँचाई ४,३०० फुट है। इसके बनाने मे १५,००,००० पाउड लगे थे। १९२३ ई० मे इसका विद्युतीकरण किया गया। [नृ० कु० सिं०]

आर्लिंगटन सयुक्त राज्य (अमरीका) के मैसाचुसेट्स राज्य का एक नगर है। यह बोस्टन से छ मील उत्तर-पश्चिम में बसा हुआ है। यह एक ऐतिहासिक भाग मे पडता है, जहाँ पर लेक्सिंगटन की लडाई हुई थी। यह राजकीय सडक पर है तथा रेल द्वारा बोस्टन और मेन से सबद्ध है। इसका क्षेत्रफल ५½ वर्ग मील है और जनसख्या १९५० में ४४,३५३ थी। यह फल और सब्जी की खेती, पियानो की काया और चित्रो के चौखटे बनाने के लिये प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम १६३० में यह कैंब्रिज (अमरीका) के एक भाग के रूप मे बसा था। पश्चिमी कैंब्रिज के रूप में १८०७ में यह नगरनियम बना। १८६८ मे इसका यह नया नाम पडा। [नृ० कु० सिं०]

आर्लिंग्टन, हेनरी बेनेट, अर्ल (१६१८-८५), गृहयुद्ध कालीन अग्रेज राजनीतिज्ञ। वह राजा की ओर से लडा था और राजा के शिरश्छेदन के बाद राजपरिवार के साथ ही विदेश चला गया था। चार्ल्स द्वितीय के स्वदेश लौटने और राज्यारोहण के बाद आर्लिंग्टन राजकीय धनसचिव हुआ और क्लेयरेंडन मत्रिमडल के पतन के बाद 'केबल' मत्रिमडल का सदस्य और वैदेशिक मत्री हुआ। फ्रास के लुई चतुर्दश के साथ जो चार्ल्स द्वितीय की डोवर की गुप्तसधि हुई उसका रहस्य राजा के अतिरिक्त बस दो व्यक्ति और जानते थे, क्लिफर्ड और आर्लिंग्टन। आर्लिंग्टन चार्ल्स के सभी घन सबधी कुकृत्यो का सहायक था जिसके लिये उसे राजा ने 'अर्ल', 'गार्टर के वीर' आदि की उपाधियाँ दी। आर्लिंग्टन नितात स्वार्थपर व्यक्ति था। उसे दल परिवर्तित करते देर नही लगती थी। फलत वह सभी दलो का विश्वास खो बैठा और उसके प्रबल शत्रु बकिंघम ने उसपर पार्लमेंट में मुकदमा चलाया। मुकदमा तो वह जीत गया, पर अपने पद से उसने इस्तीफा दे दिया। उसे पद बराबर मिलते गए, पर उसके प्रभाव का अत हो गया। देशप्रेम उसे छू तक न गया था और लाभ तथा सुख ही उसके उपास्य थे। उसे अपने देश के सविधान तक का ज्ञान न था, पर उसकी सफलता का रहस्य उसका समोहक व्यक्तित्व और आकर्षक वार्तालाप था। उसे यूरोप की अनेक भाषाओ का भी अच्छा ज्ञान था।

स०ग्र० —लाडरडेल पेपर्स, ओरिजिनल लेटर्स ऑव सर आर० फैन्शा, १७२५। [भ० श० उ०]

आर्सेनिक रसायन की आवर्तसारणी के पचम मुख्य समूह का एक तत्व है। इसकी स्थिति फासफोरस के नीचे तथा ऐटिमनी के ऊपर है। आर्सेनिक में अधातु के गुण अधिक और धातु के गुण कम विद्यमान हैं। इस धातु को उपधातु (मेटालॉयड) की श्रेणी में रखा जाता है। आर्सेनिक से नीचे ऐटिमनी मे धातुगुण अधिक है तथा उससे नीचे बिस्मथ पूर्णरूपेण धातु है। पचम मुख्य समूह मे नीचे उतरने पर धातुगुण मे वृद्धि होती है।

आर्सेनिक की कुछ विशेषताएँ निम्नाकित हैं —

सकेत आर (अग्रेजी मे As, सस्कृत मे इसका नाम नैपाली है)
परमाणु अक ३३
परमाणु भार ७४ ९६
$आर^{+++}$ आयतन का अर्द्धव्यास ० ६९ × $१०^{-८}$ सेटीमीटर
गलनाक ८२०° सेटीग्रेड (३६ वायुमडल दाब पर)
विद्युत्प्रतिरोधकता ३ ५ × $१०^{-५}$ (ओह्म-सेटीमीटर) २०° से० पर

आर्सेनिक सल्फाइड का पता बहुत पहले लग चुका था। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' मे इसका वर्णन किया है। उसमें इस अयस्क का नाम हरिताल है। प्राचीन काल में इसका उपयोग हस्तलिखित पुस्तको में अशुद्ध लेख को मिटाने के लिये किया जाता था। यूनानियो ने आर्सनिक सल्फाइड का अध्ययन ईसवी से चौथी शताब्दी पूर्व किया। १३वी शताब्दी में प्रसिद्ध कार्यकर्ता ऐलबर्ट्स मैगनस ने सलफाइड अयस्क को साबुन के साथ गर्म करके एक धातु से मिलता जुलता पदार्थ बनाया। सन् १७३३ ई० मे ब्रैट ने यह सिद्ध किया कि आर्सेनिक एक तत्व है। सन् १८१७ ई० मे स्वीडन देश के प्रसिद्ध वैज्ञानिक बर्जीलियस ने इसका परमाणुभार निकाला।

उपस्थिति—यौगिक अवस्था मे आर्सेनिक पृथ्वी पर अनेक स्थानो में पाया जाता है। ज्वालामुखी के वाष्पो में, समुद्र तथा अनेक खनिजीय जलो में यह मिश्रित रहता है। आर्सेनिक के मुख्य अयस्क आक्साइड तथा सल्फाइड हैं। कही कही यह तत्व अन्य धातुओ के साथ यौगिक रूप में मिलता है, मुख्यत रजत, ऐटिमनी, ताम्र, लौह और कोबाल्ट के साथ आर्सेनिक यौगिक बनाता है।

वश--बनाफर--की वीरता। इसीलिये यह काव्य तत्कालीन अन्य राजप्रशस्तियो से भिन्न है और इसकी अत्यधिक लोकप्रियता का कारण भी सभवत यही है कि इसमे किसी राजा का गुणगान न करके साधारण परिवार मे उत्पन्न होनेवाले लोकवीरो का चरित गाया गया है।

सपूर्ण आल्हखड 'वीरछद' मे है जो आल्हखड से सबद्ध हो जाने के वाद से लोक मे आल्हा छद कहलाता है। इस छद मे विपयानुरूप ओजपूर्ण गेयता है।

स० ग्र०--शभूनाथसिंह हिंदी महाकाव्य का स्वरूपविकास (१९५६ ई०), उदयनारायण तिवारी वीरकाव्य (१९४८ ई०)। [ना० सिं०]

आवर्त नियम

जब रासायनिक तत्वो को उनके परमाणुभारो के क्रम मे रखा जाता है तब देखा जाता है कि नियमित अतरो के वाद पडनेवाले तत्वो के गुणो मे विशेष समानता रहती है, अर्थात् तत्वो के गुण वहुत कुछ आवर्ती होते है। इसी को आवर्त नियम (पीरिऑडिक लॉ) कहते है।

इतिहास--भारत, अरव और यूनान के समान पुराने देशो मे चार या पाँच तत्व माने जाते थे--छिति-जल-पावक-गगन-समीरा (तुलसी), अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश। पर बॉयल (१६२७-९१) ने तत्वो की एक नई परिभाषा दी, जिससे रसायनज्ञो को रासायनिक परिवर्तनो और प्रतिक्रियाओ के समझने मे बडी सहायता मिली। साथ ही साथ बॉयल ने यह भी बताया कि तत्वो की सख्या सीमित नही मानी जा सकती। इसका फल यह हुआ कि शीघ्र ही नए नए तत्वो की खोज होने लगी और १८ वी सदी के अत तक तत्वो की सख्या ६० से अधिक पहुँच गई। इनमे से अधिकाश तत्व ठोस थे, ब्रोमीन और पारद के समान कुछ तत्व साधारण ताप पर द्रव भी पाए गए और हाइड्रोजन, आक्सिजन आदि तत्व गैस अवस्था मे थे। ये सभी तत्व धातु और अधातु दो वर्गो मे भी बाँटे जा सकते थे, पर कुछ तत्वो, जैसे बिसमथ और ऐटिमनी, के लिये यह कहना कठिन था कि ये धातु हैं या अधातु।

रसायनज्ञो ने इन तत्वो के सबध मे ज्यो ज्यो अधिक अध्ययन किया, उन्हे यह स्पष्ट होता गया कि कुछ तत्व गुणधर्मो मे एक दूसरे से वहुत मिलते जुलते हैं, और इन समानताओ के आधार पर उन्होने इनका वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया। डाल्टन का परमाणुवाद प्रतिपादित होने के अनतर ही इन तत्वो के परमाणुभार भी निकाले गए थे। सन् १८२० मे डोबेराइनर ने यह देखा कि समान गुणोवाले तत्व तीन तीन के समूहो मे पाए जाते है जिन्हे त्रिक (ट्रायड) कहा गया। ये त्रिक दो प्रकार के थे--पहले प्रकार के त्रिको मे तीनो तत्वो के परमाणभार लगभग परस्पर बरावर थे, जैसे लोह (५५ ८४), कोवल्ट (५८ ९४) और निकेल (५८ ६९) मे अथवा ऑसमियम (१९० २), इरीडियम (१९३ १) और प्लैटिनम (१९५ २५) मे। दूसरे प्रकार के त्रिको मे वीचवाले तत्व का परमाणुभार पहले और तीसरे तत्वो के परमाणुभारो का मध्यमान या औसत था, जैसे क्लोरीन (३५ ५), ब्रोमीन (८०) और आयोडीन (१२७) मे ब्रोमीन तत्व का परमाणुभार क्लोरीन और आयोडीन के परमाणुभारो के जोड के आधे के लगभग है।

तत्वो के वर्गीकरण का एक नया प्रयास न्यूलैड्स ने सन् १८६१ के लगभग किया। उसने तत्वो को परमाणुभार के क्रमो के अनुसार वर्गीकृत करना आरभ किया। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि परमाणुभार के क्रम से रखने पर तत्वो के गुणो मे क्रमश कुछ विषमताएँ बढती जाती हैं, पर सात तत्वो के वाद ८वाँ तत्व ऐसा आता है जिसके गुण पहले तत्व से बहुत कुछ मिलते जुलते है। इसे सप्तक का सिद्धात (लॉ ऑव ऑक्टेव्ज) कहा गया, जैसे मानो हारमोनियम के स रे ग म प ध नि स' रे' ग' म' प' ध' नि' आदि स्वर हो, जिसमे सात स्वरो के बाद स्वर की फिर आवृत्ति होती है। न्यूलैड्स के वर्गीकरण की तीन पक्तियाँ निम्नाकित प्रकार की थी

हा	लि	वे$_{ल}$	वो	का	ना	औ
१	७	९	११	१२	१४	१६
फ्लो	सो	मैग्नि	ऐ	सि	फा	ग
१९	२३	२४	२७	२८	३१	३२
क्लो	पो	कै	क्रो	टा$_{इ}$	मै	लो
३५ ५	३९	४०	५२	४८	५५	५६

जैसे जैसे सप्तक नियम और आगे चलाया गया, इसकी सफलता मे सदेह होने लगा और न्यूलैड्स के वर्गीकरण से रसायनज्ञो को सतोष नही हुआ। न्यूलैड्स के समय मे ही सन् १८६२ के लगभग डि-चैंकोर्टो ने भी परमाणुभार के क्रम से तत्वो को सर्पकुडली की भाँति सजाने का प्रयत्न किया था। यह प्रयत्न भी यह व्यक्त करता था कि परमाणुभार के क्रम और तत्वो के गुणो मे आवर्तन का सबध है।

सन् १८६९ मे रूसी रसायनज्ञ मेडलीफ (द्मित्री आइवेनोविच मेंडेलेएफ) ने पहली बार आवर्त नियम स्पष्ट शब्दो मे घोषित किया। उसने कहा कि तत्वो के भौतिक और रासायनिक गुण उनके परमाणुभारो के आवर्तफलन हैं। आवर्त अथवा आवृत्ति शब्द का अर्थ लौटना या वार वार आना है। अकगणित की आवर्त-सख्याओ से सभी को परिचय है, जैसे $\frac{1}{13}$ = ०७६९२३०७६-९२३ अथवा ०७६९२३, अर्थात् दशमलव वनाने मे ०७६९२३ ये छ अक वार वार आते हैं। इसी प्रकार यदि हम परमाणुभार के क्रम से तत्वो को सजाएँ तो बार बार एक से ही गुणधर्मवाले तत्व एक से ही स्थानो पर पाए जायँगे। इसी को गणित की भाषा

१ हाइ, २ होलि

३ लिथि, ४ बेरी, ५ बोर, ६ काब, ७ नाइ, ८ आक्सि, ९ फ्लोरी, १० नीआ

११ सोडि, १२ मैग्नी, १३ ऐल्यु, १४ सिलि, १५ फॉस्फो, १६ गध, १७ क्लोरी, १८ आग

१९ पोटै, २० कैलि, २१ स्कैंडि, २२ टाइ, २३ वैने, २४ क्रोमि, २५ मैंग, २६ लोह, २७ कोब, २८ निक, २९ ताम्र, ३० यश, ३१ गलि, ३२ जर्मे, ३३ आर्से, ३४ सिली, ३५ ब्रोमी, ३६ क्रिप्ट

३७ रुबी, ३८ स्ट्रोंशि, ३९ इट्रि, ४० जर्को, ४१ नायो, ४२ मोलि, ४३ टेक्नी, ४४ रुथे, ४५ रोडि, ४६ पैले, ४७ रज, ४८ कैड, ४९ इंडि, ५० वग, ५१ ऐंटि, ५२ टेल्यू, ५३ आयो, ५४ जीना

५५ सीजि, ५६ बेरि, ५७ लैथे, ५८ सीरि, ५९ प्रेजि, ६० न्योडि, ६१ प्रोमी, ६२ समे, ६३ यूरो, ६४ गडो, ६५ टर्बि, ६६ डिस्प्रो, ६७ होल, ६८ एर्बि, ६९ थूलि, ७० इट, ७१ ल्यूटी, ७२ हफ, ७३ टटे, ७४ टंग्स, ७५ रेनि, ७६ आसमि, ७७ इरी, ७८ प्लैटि, ७९ स्वर्ण, ८० पार, ८१ थैलि, ८२ सीस, ८३ विस, ८४ पोलो, ८५ ऐस्टै, ८६ रेड

८७ फ्रांसि, ८८ रेडि, ८९ ऐक्टि, ९० थोरि, ९१ प्रोटो, ९२ यूरे, ९३ नेप्च्यू, ९४ प्लूटो, ९५ अम, ९६ क्यूरि, ९७ बर्क, ९८ कलि

तत्वो की आवर्त सारणी

यह जूलियस टामसेन द्वारा निर्मित की गई थी और यहाँ कुछ सशोधित रूप मे दी गई है। प्रत्येक स्तभ एक आवर्त प्रदर्शित करता है। समान गुणधर्म के तत्वो को रेखाओ से सबधित किया गया है।

है जो भक्ति, ज्ञान, प्रेम, सौंदर्य तथा आनद से ओतप्रोत अध्यात्मज्ञान का दिव्य मानसरोवर है। पवित्रता तथा आध्यामिकता की दृष्टि से यह सग्रह 'तमिलवेद' की सज्ञा से अभिहित किया जाता है।

श्रीवैष्णव आचार्य पराशर भट्ट ने इन भक्तो के सस्कृत नामो का एकत्र निर्देश इस प्रख्यात पद्य मे किया है

भूत सरश्च महदाह्वय–भट्टनाथ-
श्रीभक्तिसार-कुलशेखर-योगिवाहान्।
भक्ताङ्घ्रिरेणु-परकाल-यतीन्द्रमिश्रान्
श्रीमत्पराकुशमुनि प्रणतोऽस्मि नित्यम्॥

आलवारो के दोनो प्रकार के नाम ये हैं—(१) सरोयोगी (पोयगै आलवार), (२) भूतयोगी (भूतत्तालवार), (३) महत्योगी (पेय आलवार), (४) भक्तिसार (तिरुमडिसै आलवार), (५) शठकोप या पराकुश मुनि (नम्म आलवार), (६) मधुर कवि, (७) कुलशेखर, (८) विष्णुचित्त (परि आलवार), (९) गोदा या रगनायकी (आडाल), (१०) विप्रनारायण या भक्तपदरेणु (तोडर डिप्पोलि), (११)योगवाह या मुनिवाहन (तिरुप्पन), (१२)परकाल या नीलन् (तिरुमगैयालवार)। इनमें प्रथम तीनो व्यक्ति अत्यत प्राचीन और समकालीन माने जाते हैं। इनके बनाए तीन सौ भजन मिलते हैं जिन्हे श्रीवैष्णव लोग ऋग्वेद का सार मानते हैं। आचार्य शठकोप अपनी विपुल रचना, पवित्र चरित्र तथा कठिन तपस्या के कारण आलवारो मे विशेष प्रख्यात हैं। इनकी ये चारो कृतियाँ श्रुतियो के समकक्ष अध्यात्ममयी तथा पावन मानी जाती हैं (क) **तिरुविरुत्तम्**, (ख) **तिरुवाशिरियम्**, (ग) **पेरिय तिरुवतादि** तथा (घ) **तिरुवायमोलि**। वेदातदेशिक (१२६९ ई०–१३६९ ई०) जैसे प्रख्यात आचार्य ने अतिम ग्रथ का उपनिषदो के समान गूढ तथा रहस्यमय होने से 'द्रविडोपनिषत्' नाम दिया है और उसका सस्कृत में अनुवाद भी किया है। तमिल के सर्वश्रेष्ठ कवि कबन् की रामायण रगनाथ जी को तभी स्वीकृत हुई, जब उन्होने शठकोप की स्तुति ग्रथ के आरभ मे की। इस लोक-प्रसिद्ध घटना से इनका माहात्म्य तथा गौरव आँका जा सकता है। कुल-शेखर केरल देश के राजा थे, जिन्होने राजपाट छोडकर अपना अतिम समय श्रीरगम् के आराध्यदेव श्रीरगनाथ जी की उपासना में विताया। इनका **मुकुदमाला** नामक सस्कृत स्तोत्र नितात प्रख्यात है। आडाल आलवार विष्णुचित्त की पोष्य पुत्री थी और जीवन भर कौमार्य धारण कर वह रग-नाथ को ही अपना प्रियतम मानती रही। उसे हम तमिल देश की 'मीरा' कह सकते हैं। दोनो के जीवन मे एक ही प्रकार की माधुर्यमयी निष्ठा तथा स्नेहमय जीवन इस समता का मुख्य आधार है।

आलवारो के पद भाषा की दृष्टि से भी ललित और भावपूर्ण माने जाते हैं। भक्ति से स्निग्ध हृदय के ये उद्गार तमिल भाषा की दिव्य सपत्ति हैं तथा भक्ति के नाना भावो मे मधुर रस की भी छटा इन पदो मे, विशेषत नम्म आलवार के पदो मे, कम नही है।

स०ग्र०—डूपर हिम्स ऑव दि अलवारस, कलकत्ता, १९२९, वलदेव उपाध्याय भागवत सप्रदाय, काशी, स० २०१०। [व० उ०]

आलारकालाम गृहत्याग करने के बाद सत्य की खोज मे घूमते हुए बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम विख्यात योगी आलार-कालाम के आश्रम मे पहुँचे। आलारकालाम रूपावचर भूमि से ऊपर उठ अपने समकालीन योगी उद्दक रामपुत्त की भाँति अरूपावचर भूमि की समा-पत्ति प्राप्त कर विहार करते थे। उस काल वह वैशाली मे विराज रहे थे। सिद्धार्थ गौतम ने उस योगप्रक्रिया मे शीघ्र ही सिद्धिलाभ कर लिया और उसके ऊपर की वाते जाननी चाही। जब वह और कुछ न वता सके तव सिद्धार्थ ने उनका साथ छोड दिया। बुद्धत्व लाभ करने के बाद भगवान् बुद्ध ने सर्वप्रथम उद्दक रामपुत्त और आलारकालाम को उपदेश देने का सकल्प किया, किंतु तब वे जीवित न थे। [भि० ज० का०]

आलिव पहाड़ी जेरूसलम नगर के पूर्व मे स्थित एक ऐतिहासिक पहाडी है और उस नगर से जेहोशफात की घाटी और किडरोन नदी द्वारा पृथक् है। इस पहाडी के शिखर की ऊँचाई समुद्रतल से २,७३७ फुट है। बाइबिल सबधी अनेक घटनाओ का स्थल होने के कारण यह पहाडी महत्वपूर्ण है। इस पहाडी की चार शाखाएँ हैं जिनके नाम उत्तर से दक्षिण की ओर क्रमानुसार गैलिली अथवा वारी गैलिली, असशन की पहाडी, प्राफेट्स और आफेंस की पहाडी हैं। इन चारो में सबसे अधिक महत्वपूर्ण असशन की पहाडी है। इसके निचले भाग में गेथसीमेन का उद्यान स्थित था। इस पहाडी का उल्लेख बाइबिल के पुराने भाग (ओल्ड टेस्टामेट) में चार स्थानो पर आया है। [रा० ना० मा०]

आलिवाल पूर्वी पजाब के लुधियाना जिले में सतलज नदी के तट पर स्थित एक ऐतिहासिक ग्राम है। प्रथम सिक्ख युद्ध (१८३५-४६) में अग्रेजो एव सिक्खो के मध्य यहाँ भीषण युद्ध हुआ था। यहाँ खालसा नायक रणजोर्वसिह मजीठिया ने २१ जनवरी, १८४६ को हेनरी स्मिथ नामक अग्रेजी सेनापति को हराया और फिर सतलज पार क्षेत्र मे अपनी स्थिति दृढ करने लगा। अत २८ जनवरी को हेनरी स्मिथ ने फिर आक्रमण किया और मुदरी तथा आलिवाल मे घमासान युद्ध हुआ। यद्यपि इस वार सिक्खो ने अग्रेजी फौज के छक्के छडा दिए, तो भी अत मे वे हार गए। इस युद्ध से अग्रेजो का क्षेत्रीय प्रभाव वढ गया। यह युद्ध सिक्खो का प्रथम स्वातत्र्य युद्ध था। [का० ना० सिं०]

आलू (अग्रेजी नाम पोटेटो, वानस्पतिक नाम सोलेनम ट्यूबरोसम, प्रजाति सोलेनम, जाति ट्यूबरोसम, कुल सोलेनेसी) की उत्पत्ति दक्षिणी अमरीका के पेरू तथा चिली प्रात से हुई है। इस कुल की प्रत्येक जाति में एक रासायनिक पदार्थ 'सोलेनिन' होता है। कुछ वैज्ञानिको का विश्वास है कि आलू की खेती अमरीका के आविष्कार के पहले से ही वहाँ के निवासी करते थे। मानव जाति के भोजन में आलू की प्रधानता इस सीमा तक है कि इसे तरकारियो का सम्राट् कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इसकी मसालेदार तरकारी, पकौडी, चाट, चॉप, पापड इत्यादि अनेक स्वादिष्ट पकवान बनाए जाते हैं। इससे डेक्स्ट्रीन, ग्लूकोज, ऐलकोहल इत्यादि
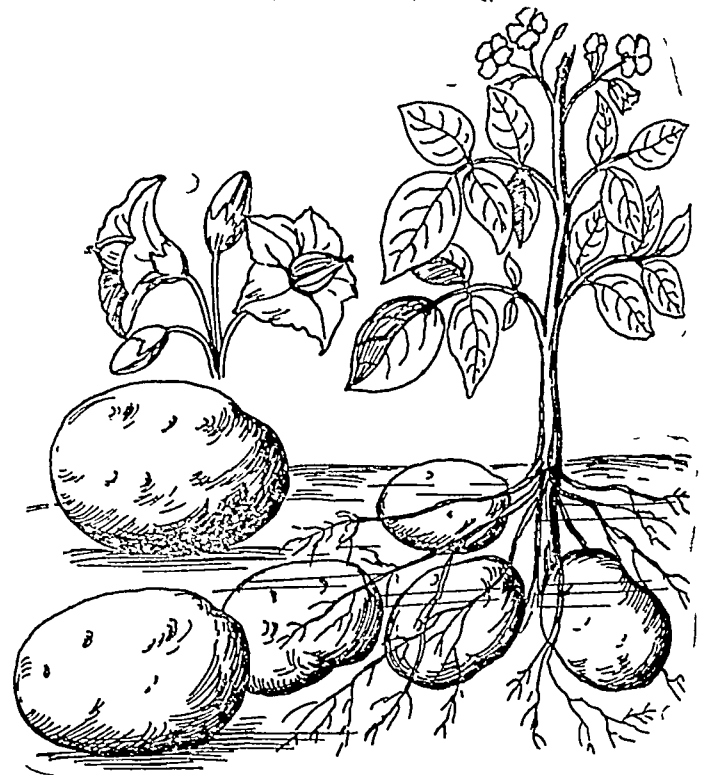
आलू
ऊपर बाएँ कोने मे आलू का फूल अलग दिखाया गया है।

पदार्थ तैयार किए जाते हैं। इसमे प्रोटीन उच्च कोटि की, परतु कम मात्रा मे होती है। स्टार्च, विटामिन 'सी' तथा 'बी' अधिक मात्रा मे होते हैं। भारतवर्ष में इसकी खेती १७वी शताब्दी के पहले नही होती थी, परतु वर्तमान समय मे यह प्रत्येक ग्राम मे प्रति दिन उपलब्ध है। ससार में इसकी

तत्वों की सूची

संकेत		तत्व का नाम	परमाणु-संख्या	परमाणु-भार	संकेत		तत्व का नाम	परमाणु-संख्या	परमाणु-भार	संकेत		तत्व का नाम	परमाणु-संख्या	परमाणु-भार
अ	Am	अमरीकियम	९५	—	ट_क	Tc	टेक्नीशियम	४३	—	मो	Mo	मोलिब्डीनम	४२	९६ ००
आ_इ	En	आइन्स्टियम	९९	—	टे_ल	Te	टेल्यूरियम	५२	१२७ ६१	य	Zn	यशद	३०	६५ ३८
ऑ	O	आक्सिजन	८	१६ ००	टै	Ta	टैंटेलम	७३	१८१ ५	यू	U	यूरेनियम	९२	२३८ २
आ	I	आयोडीन	५३	१२६ ९२	डि	Dy	डिस्प्रोशियम	६६	१६२ ५	यू_र	Eu	यूरोपियम	६३	१५२ ०
आ_ग	A	आर्गन	१८	३९ ९४	ता	Cu	ताम्र	२९	६३ ५७	र	Ag	रजत	४७	१०७ ८८
आ_र	As	आर्सेनिक	३३	७४ ९६	थू	Tm	थूलियम	६९	१६९ ४	रु_थ	Ru	रुथेनियम	४४	१०१ ७
आ_स	Os	आस्मियम	७६	१९० ९	थै	Tl	थैलियम	८१	२०४ ३९	रु_ब	Rb	रुबीडियम	३७	८५ ४४
इ_ं	In	इंडियम	४९	११४ ७६	थो	Th	थोरियम	९०	२३२ १२	रे_ड	Rn	रेडन	८६	—
इ_ट	Yb	इटर्बियम	७०	१७३ ५	ना	N	नाइट्रोजन	७	१४ ००८	रे	Ra	रेडियम	८८	२२६ ०
इ_ट्रि	Y	इट्रियम	३९	८८ ९२	ना_य	Nb	नायोबियम	४१	९३ ५	रे_न	Re	रेनियम	७५	१८७
इ	Ir	इरीडियम	७७	१९३ १	नि	Ni	निकल	२८	५८ ६९	रो	Rh	रोडियम	४५	१०२ ९
ऐं_ट	Sb	ऐंटिमनी	५१	१२१ ७६	नी	Ne	नीआन	१०	२० १८३	लि	Li	लिथियम	३	६ ९४
ए_र	Eb	एर्बियम	६८	१६७ २	ने_प	Np	नेप्च्यूनियम	९३	—	लै	La	लैंथेनम	५७	१३८·९२
ऐ_क	Ac	ऐक्टिनियम	८९	२२६ ०	न्यो	Nd	न्योडियम	६०	१४४ ३	लो	Fe	लोह	२६	५५ ८४
ऐ	Al	ऐल्यूमिनियम	१३	२६ ९७	पा	Hg	पारद	८०	२०० ६	ल्यू	Lu	ल्यूटीशियम	७१	१७४ ९९
ए_स	At	एस्टैटीन	८५	—	पै	Pd	पैलेडियम	४६	१०६ ७	व	Sn	वंग	५०	११८ ७
का	C	कार्बन	६	१२ ००	पो	K	पोटैसियम	१९	३९ १	वै	V	वैनेडियम	२३	५० ९५
कै_ड	Cd	कैडमियम	४८	११२ ४१	पो_ल	Po	पोलोनियम	८४	२१०	स	Sm	समेरियम	६२	१५० ४३
कै_फ	Cf	कैलिफोर्नियम	९८	—	प्रे	Pr	प्रेजीओडिमियम	५९	१४० ९२	सि	Si	सिलिकन	१४	२८ ०६
कै	Ca	कैल्सियम	२०	४० ०८	प्रो_ट	Pa	प्रोटोऐक्टिनियम	९१	—	सि_ल	Se	सिलीनियम	३४	७८ ९६
को	Co	कोबल्ट	२७	५८ ९४	प्रो_म	Pm	प्रोमीथियम	६१	—	सी_ज	Cs	सीजियम	५५	१३२ ९१
क्यू	Cm	क्यूरियम	९६	—	प्लू	Pu	प्लूटोनियम	९४	—	सी_र	Ce	सीरियम	५८	१४०·१३
क्रि	Kr	क्रिप्टान	३६	८३ ७	प्लै	Pt	प्लैटिनम	७८	१९५ २३	सी	Pb	सीस	८२	२०७ २१
क्रो	Cr	क्रोमियम	२४	५२ ०१	फा	P	फास्फोरस	१५	३० ९८	से	Ct	सेटियम	१००	—
क्लो	Cl	क्लोरीन	१७	३५ ४६	फ्रा	Fr	फ्रासियम	८७	—	सो	Na	सोडियम	११	२२ ९९७
ग	S	गंधक	१६	३२ ०७	फ्लो	F	फ्लोरीन	९	१९ ००	स्कै	Sc	स्कैंडियम	२१	४५ १०
गै_ड	Gd	गैडोलिनियम	६४	१५७ ३	ब	Bk	बर्केलियम	९७	—	स्ट्रो	Sr	स्ट्रोंशियम	३८	८७ ६३
गै	Ga	गैलियम	३१	६९ ७२	बि	Bi	बिसमथ	८३	२०९	स्व	Au	स्वर्ण	७९	१९७ २
ज_क	Zr	जर्कोनियम	४०	९१ २२	बे	Ba	बेरियम	५६	१३७ ३७	हा	H	हाइड्रोजन	१	१ ००८१
ज_म	Ge	जर्मेनियम	३२	७२ ६	बे_र	Be	बेरीलियम	४	९ ०२	ही	He	हीलियम	२	४ ००३
जी	Xe	जीनान	५४	१३१ ३	बो	B	बोरन	५	१० ८२	है	Hf	हैफनियम	७२	१७८ ६
ट	W	टङ्स्टन	७४	१८३ ९२	ब्रो	Br	ब्रोमीन	३५	७९ ९२	हो	Ho	होलमियम	६७	१६४ ९४
ट_र	Tb	टर्बियम	६५	१५९ २	मैं	Mn	मैंगनीज	२५	५४ ९३					
टा_इ	Ti	टाइटेनियम	२२	४८ १	मैं_ग	Mg	मैग्नीशियम	१२	२४ ३२					

आलूबुखारा यह आलूचा नामक वृक्ष का फल है, जो गढवाल, हिमाचल प्रदेश, काश्मीर, अफगानिस्तान इत्यादि मे होता है और वही से सुखाकर आता है। बुखारा प्रदेश का फल सबसे अच्छा होता है, इसीलिये इसका उपर्युक्त नाम है। फल नाप में आँवले के बराबर और आकार मे आड़ू जैसा तथा स्वाद में खटमीठा होता है।

आयुर्वेद के मतानुसार यह हृदय को बल देनेवाला, गरम, कफ-पित्त-नाशक, पाचक, मधुर तथा प्रमेह, गुल्म, बवासीर और रक्तवात में उपयोगी है, दस्तावर है तथा ज्वर को शात करता है। इसके वृक्ष का गोद खाँसी तथा फेफड़े और छाती की पीडा मे लाभदायक तथा गुर्दे और मूत्राशय की पथरी को तोडकर निकालनेवाली है। इसे भोजन के पहले खाने से पित्त-विकार मिटते है तथा मुँह मे रखने से प्यास कम लगती है। इसका चर्ण घाव पर भुरभुराने से या इसके पानी से घाव धोने से भी लाभ होता है। [भ० दा० व०]

आल्किबिआदिज़ (ल० ४५०-४०४ ई० पू०) एथेस के जेनरल और राजनीतिज्ञ। सभ्रात, सुदर्शन और धनाढ्य। विलासी और अमितव्ययी। सुकरात के प्रशसक, यद्यपि आचरण में उनके उपदेशो के विरोधी। राजनीति मे उन्होने एथेंस का दूसरे नगरो से सद्भाव कर स्पार्ता का विरोध किया, यद्यपि एथेंस ने उनकी नीति का पूर्णत निर्वाह नही किया। आल्किबिआदिज को नगर ने जेनरल नही बनाया और स्पार्ता ने एथेंस के साझेदार नगरो को सघयुद्ध मे छिन्न भिन्न कर दिया। सिसिली को जानेवाले पोतसमूह के वे आशिक अध्यक्ष भी बने पर स्वदेश लौटने पर उन्होने देखा कि उनके विरुद्ध शत्रुओ ने अभियोग खडा कर दिया है, अत वे अपनी जान बचाकर स्पार्ता भागे। उनकी सलाह से स्पार्ता ने एथेंस के विरुद्ध अपनी जो नई नीति अख्तियार की उससे एथेस प्राय नष्ट हो गया। तब आल्किबिआदिज लघु एशिया जा पहुँचे। पर शीघ्र वे स्पार्ता का विश्वास भी खो बैठे और उन्होने अब एथेस में प्रवेश करने के उपाय ढूँढ निकाले। एथेस की ओर से उन्होने स्पार्ता के जहाजी बेडे को बार बार पराजित किया। उनकी विजयो से प्रसन्न होकर एथेंस ने उन्हें स्वदेश लौटने की अनुमति दे दी। परतु उनकी विजय चिरस्थायी न रह सकी और जब उन्हें नोतियस के युद्ध में अपने मुँह की खानी पडी तब उन्होने फ्रीगिया में शरण ली, जहाँ स्पार्ता के कुचक्र से उनकी हत्या कर डाली गई। आल्किबिआदिज़ असाधारण आकर्षण और अनत गुणो के व्यक्ति थे, परतु उनके आचरण का कोई सिद्धात नही था। स्वार्थपर कारणो से कभी वे स्वदेश के हितो के अनुकूल मत देते, कभी विरुद्ध। फलत एथेस के नागरिक कभी उन पर विश्वास न कर सके। [ओ० ना० उ०]

आल्कीयस् गीतिकाव्यो की रचना करनेवाले अत्यत प्राचीन ग्रीक कवि। इनका जन्म लैस्बस् के मितीलेने नगर में लगभग ई० पू० ६२० मे हुआ था और यह सुविख्यात कवयित्री साप्फो के समकालीन थे। युवावस्था मे इन्होने युद्धो में भी भाग लिया था तथा एक युद्ध मे इनको भागना पडा था। अपने नगरराष्ट्र के तानाशाह पित्ताकस् से इनका कलह हुआ था जिसके परिणामस्वरूप इनको मिस्र में प्रवास करना पडा। आल्कीयस् के काव्य के विषय विविध प्रकार के थे। स्तोत्र, पानगीत, प्रेमगीत, सूक्तियाँ सभी इनकी रचनाओ में मिलती हैं। इनकी भाषा ग्रीक भाषा की उपभाषा इओलिक है। इनके नाम से आल्कीय छद का भी प्रचलन हुआ था। इस नाम के दो अन्य कवि भी ई० पू० ४०० और ई० पू० २०० में हुए हैं।

स० ग्र०—मरे ए हिस्ट्री ऑव ऐंशेंट ग्रीक लिटरेचर, १९३७। नौर्वुड दि राइटर्स ऑव ग्रीस, १९३५, बाउरा एशेंट ग्रीक लिटरेचर, १९४५। [भो० ना० श०]

आल्कोफोरादो मारियाना (१६४०-१७२३) भिक्षुणी के पत्र की विख्यात पुर्तगाली लेखिका, पुर्तगाल और स्पेन के परस्पर युद्ध के समय सुरक्षा और शिक्षा के विचार से मारियाना को विधुर पिता ने एक कानवेंट मे रख दिया। १६ साल की अवस्था में मारियाना भिक्षुणी हो गई। २५ साल की उम्र में फ्रास के मार्गन मार्क्विस दि कैमिली से मारियाना की भेट हुई जिससे वह प्रेम करने लगी। चर्चा फैली, अफवाह उडी। परिणाम से डरकर वह फ्रास भाग गया। इस समय भग्नहृदय मारियाना ने जो पाँच पत्र लिखे वे साहित्य की अक्षय निधि बन गए। वे मनोवैज्ञानिक आत्मविश्लेषण के अपूर्व उदाहरण हैं। इनमें प्रेमिका के विश्वास, निराशा और सदेह का अद्भुत वर्णन है। पत्रो के यथार्थ चित्रण, वेदना की गहरी अनुभूति, सहृदयता और पूर्ण आत्मसमर्पण की प्रशसा मदाम द सविन्य, ग्लेटस्टन, टेनर, मारिया जैसे उच्च कोटि के लेखको ने की है। अनेक भाषाओ में उनके अनुवाद भी हुए हैं। मारियाना का शेष जीवन कठोर तप और यत्रणा में बीता। रूसो जैसे कुछ लेखको का कहना था कि ये पत्र मूलत किसी पुरुष के लिखे हैं, पर अब लेखिका मारियाना की वास्तविकता सिद्ध हो चुकी है। [स० च०]

आल्गार्दी आलेसांद्रो (१६०२-१६५४) इतालियन शिल्पकार। अध्ययन करासी स्कूल में। १६४४ में पेनफिली वश के इन्नोसेंत १०वे का पोप का पद प्राप्त करना उनके भाग्योदय का कारण हुआ। पोप के भतीजे केमिलो पेनफिली ने विलादोरिया पेनफिली के निर्माण में उनकी नियुक्ति की जिसके सुदर निर्माण से उनकी ख्याति फैली। सबसे अधिक सफलता उन्हे वहाँ मूर्तियाँ और बालसमूह बनान में मिली। [स० च०]

आल्प्स यूरोप की एक विशाल पर्वतप्रणाली है जो पश्चिम में जेनोआ की खाडी से लेकर पूर्व में वियना तक फैली हुई है। यह प्रणाली उत्तर में दक्षिणी जर्मनी के मैदान और दक्षिण में उत्तरी इटली के मैदान से घिरी हुई है। प्रणाली लगातार ऊँचे पहाडो से नही बनी है, प्रत्युत बीच बीच में गहरी घाटियाँ हैं। पर्वत उत्तर की ओर उत्तल है। अधिकाश घाटियो की दिशा पूर्व-पश्चिम या उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर है। कुछ गहरी घाटियाँ पर्वतशृखलाओ को काटती है, जिससे इस पर्वत के दोनो ओर स्थित मनुष्यो, जतुओ और वनस्पतियो का आवागमन सभव हो सका है। आल्प्स शब्द की उत्पत्ति अनिश्चित है। इसका उच्चतम शिखर पश्चिमी आल्प्स में स्थित माट ब्लैक है (ऊँचाई १५,७८१ फुट)।

आल्प्स की सीमाएँ—उत्तर में यह पर्वत बेमिल से कॉन्स्टैंस झील तक राइन नदी द्वारा और सैल्जबग से वियना तक बवेरिया के मैदान तथा निचली पहाडियो द्वारा घिरा है। दक्षिण मे इसकी सीमा ट्चरिन से ट्रिएस्ट तक पीडमाट, लोबार्डी और वेनीशिया के विशाल मैदान द्वारा निर्धारित होती है। इसका पश्चिमी सिरा ट्यूरिन से आरभ होकर दक्षिण में काल डी टेडा तक और फिर पूर्व की ओर मुडकर काल डी आलटेयर तक चला गया है।

प्राकृतिक विभाग—आल्प्स के तीन मुख्य विभाग हैं पश्चिमी आल्प्स, काल डी टेडा से सिंपलन दर्रे तक, मध्य आल्प्स, सिंपलन दर्रे से रेशने शिडेक दर्रे तक और पूर्वी आल्प्स, रेशन शिडेक दर्रे से राड्स्टाडर टैवर्न मार्ग तक।

भूविज्ञान और सरचना—आल्प्स पर्वत उस विशाल भजित क्षेत्र का एक छोटा सा भाग है जो अनेक वक्राकार क्रमो मे मोरक्को के रिफ पर्वत से आरभ होकर हिमालय के आगे तक फैला हुआ है। आल्प्स एक भूद्रोणी (जिओसिनक्लाइन) में स्थित है। यह भूद्रोणी अतिम कार्बनप्रद युग से आरभ होकर सपूर्ण मध्यकल्प मे रहकर तृतीयक कल्प के मध्यनूतन युग तक विद्यमान थी। यह भूद्रोणी उत्तर में यूरेशियन और दक्षिण मे अफ्रीकी स्थलपिंडो से घिरी हुई थी। ज्युस और अन्य वैज्ञानिको ने इस द्रोणी में स्थित लुप्त सागर को टेथिस सागर की सज्ञा दी है। कार्बनप्रद युग से आरभ होकर इसमे अवसादो के मोटे स्तरो का निक्षेपण हुआ और साथ ही साथ भूद्रोणी नितल धँसता गया। इस प्रकार अवसादो का निक्षेपण लगातार समुद्रतल के नीचे लगभग एक ही गहराई पर होता रहा। इसके बाद विरोधी दिशाओ से दाब पडने के कारण द्रोणी के दोनो किनारे समीप आ गए, जिसके परिणामस्वरूप एकत्रित अवसादो मे भज पड गया। अनुमानत अफ्रीकी पृष्ठप्रदेश (हिंटरलैंड) उत्तर में यूरोपीय अग्रप्रदेश (फोरलैंड) की ओर गतिशील हुआ। आरगैंड तथा उसके सहयोगी अनुसधानकर्ता इस धारणा से सहमत हैं। इसके विपरीत, कोबर के मतानुसार आल्प्स का भजन दो अग्रप्रदेशो के एक दूसरे की ओर बढने से हुआ है।

उपज्ञा की यथातथ्य परिभाषा सभव नही है। आविष्कार और उपज्ञा में जो भेद प्राय किया जाता है वह तर्कसमत नही है, क्योकि अधिकाश उपज्ञाओ की प्रगति में उपज्ञा तथा आविष्कार दोनो के तत्व पाए जाते है।

अधिकाश देशो के एकस्व सबधी कानूनो के अतर्गत उपज्ञा की परिभाषा में तीन आधारभूत बातो का समावेश रहता है नवीनता, उपयोगिता और विधि का क्रियासाध्य होना।

पशुओ ने भी उपज्ञाएँ की है, उदाहरण के लिये, घोसलो का निर्माण, औजारो का अति अकुशल उपयोग और भाषा सबधी आरभिक प्रगति। मानव इतिहास मे अधिकाश आधारभूत उपज्ञाएँ लिखित इतिहास के पूर्व हुई है।

मनुष्य की सबसे अधिक महत्वपूर्ण उपज्ञा और आविष्कार बीज से पौधे उगाने की क्रिया का ज्ञान है जो कृषि का आधार बना। इसके पश्चात् आग पर नियत्रण तथा मिट्टी के बर्तनो का उपयोग आता है। चौथा स्थान लेखनकला का और पाँचवाँ नाप तौल, समय तथा धन सबधी प्रमापो का है।

अन्य दो महान् उपज्ञा-आविष्कार आधुनिक है। इनमें एक है रोग का कीटाणुसिद्धात, जिसकी कल्पना पास्तर ने की थी और दूसरा है डिब्बा-बद खाद्य का उपयोग। उपर्युक्त जितने भी उपज्ञा अथवा आविष्कार हुए है, उनमे रोगो के कीटाणुसिद्धात के उपज्ञाता पास्तर के सिवाय अन्य उपज्ञाता अज्ञात है।

अन्य महत्वपूर्ण उपज्ञाओ की सूची में है वाणी, पशुओ को पालतू बनाना, रोगोपचार, शस्त्रो की उपज्ञा, शासन के विभिन्न रुपो का विकास, भवन-निर्माण आदि।

इन उपर्युक्त उपज्ञाओ के अतिरिक्त प्रागैतिहासिक काल मे यात्रिकी, जलविज्ञान, धातुविज्ञान, नौपरिवहन, रसायन और साथ ही चित्रकला, वास्तुकला आदि अनेक कलाओ का प्रारभ हुआ। प्रागैतिहासिक काल के यत्रज्ञो को उत्तोलक (लीवर), स्फान (वेज), आरी और सभवत घिरनी और रस्सी की उपज्ञा का श्रेय प्राप्त है। ऐसा प्रतीत होता है कि चक्र की महत्वपूर्ण उपज्ञा प्रागैतिहासिक काल के उत्तराश में हुई।

जलविज्ञान का प्रथम व्यावहारिक उदाहरण बैबिलोनिया मे मिलता है, जहाँ सिंचाई के लिये नहरो का निर्माण हुआ। पर सभवत एशिया के लोगो को सिंचाई के लिये कुओ और नहरो का ज्ञान बहुत पहले से था। निस्सदेह जलप्राप्ति के लिये कुओ की खुदाई मनुष्य की एक महान् उपज्ञा थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य को सर्वप्रथम लोहा पृथ्वी पर गिरी उल्का से प्राप्त हुआ। सभवत धातुओ मे ताँबा ही सर्वप्रथम उसके अयस्क को अग्नि से तप्त करके प्राप्त हुआ। मिस्र और बैबिलोनिया, इन दोनो देशो के निवासी आज से छ हजार वर्ष पूर्व ताँबे के धातुविज्ञान से परिचित थे।

प्रागैतिहासिक काल की रसायन से प्राप्त वस्तुओ में मिट्टी के बर्तनो में दी जानेवाली लुक (चमक), सोने और अन्य धातुओ के लिये प्रयुक्त होनेवाले द्रावक और माला के मणियो (गुटिकाओ) के निर्माण मे काम आनेवाला अपारदर्शी काच हे।

नौवाहन के सबध मे ऐसा प्रतीत होता है कि इसका ज्ञान लकडी या लट्ठे को पानी मे बहता देखकर हुआ और इसका विकास सभवत विभिन्न स्थानो और कालो में विभिन्न प्रकार और स्वतत्र रूप से हुआ।

अत मे प्रागैतिहासिक काल की उपज्ञाओ मे दीपक और वस्त्र का उल्लेख भी आवश्यक है। इसका ज्ञान हो जाने के पश्चात् मनुष्य अपने को कुछ अश तक अँधेरे के बधन और ठढ के कष्ट से मुक्त करने मे सफल हुआ।

वर्तमान शताब्दी का स्वरूप प्रौद्योगिकीय है। इसे कभी कभी यत्रयुग भी कहा जाता है। यह आधुनिक सभ्यता पुरानी सभी सस्कृतियो से भिन्न है। यह भिन्नता पाँच मौलिक आविष्कारो या खोजो पर आधारित मानी जा सकती है। इनमे काल और महत्व दोनो के विचार से सर्वप्रथम स्थान कोयले का ईंधन के रूप मे प्रयोग किया जाना है। इसी का परिणाम था कि व्यवहारयोग्य वाष्प इजन का आविष्कार हुआ। वाष्प इजन के सिद्धात का ज्ञान सत्तर सौ वर्ष पूर्व हो गया था। जब कोयले का ईधन के रूप मे प्रयोग होने लगा तो इस सिद्धात को व्यावहारिक रूप देना सभव हो गया। ईंधन के रूप मे कोयले के प्रयोग के बाद लोहा तथा इस्पात सबधी धातुविज्ञान की उन्नति का स्थान है। तीसरा स्थान विद्युत् शक्ति की खोज और विकास का है, जिसका प्रारभ अर्स्टेड, अपियर, हेनरी और फैराडे द्वारा सपादित भौतिक गवेषणाओ से होता है और जिसके विकसित रूप मे हमारे समक्ष आधुनिक डायनमो, मोटरे, रेडियो और दूरवीक्षण यत्र (टेलीविजन) है। चौथा प्रधान आविष्कार अतर्दह इजन (इटर्नल कबस्चन इजन) है, जिसका उपयोग मोटरकारो, मोटर नौकाओ, विमानो और अन्य प्रकार के यानो में होता है। पाँचवाँ मुख्य आविष्कार सीमेट है। कुछ पर्यवेक्षक इस सूची मे कई अन्य आविष्कारो का नाम जोडना चाहेगे, जैसे टेलीफोन, सस्ता ऐल्यूमीनियम, विमान और छपाई, किंतु इस सबध में यह आपत्ति की जा सकती है कि ये आधुनिक प्रौद्योगिकी के उपासग तथा जीवन की सुखसुविधाओ मे उन्नति मात्र है। ये ऐसे आधारभूत आविष्कार नही है जो आधुनिक सभ्यता के मूल कहे जायँ। अब हमने अणु को तोडने की रीति का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इससे एक ओर तो ऐसे अणुबमो का निर्माण हुआ है जो जगत् का ध्वस करने की शक्ति रखते है और दूसरी ओर इस रीति का उपयोग मानव कल्याण के लिये होने की अत्यधिक सभावना हमारे समक्ष प्रस्तुत है।

आधुनिक जगत् की एक अन्य अत्यत मूलभूत और महत्वपूर्ण ऐसी उपज्ञा का उल्लेख करना उचित होगा जिसका सबध एक अन्य क्षेत्र से है। यह आविष्कार है सयुक्त पूंजी और सीमित देयतावाली (जॉएट-स्टॉक ऐंड लिमिटेड लायबिलिटी) कपनियो का, जिसका सामान्य रूप आधुनिक निगम (कॉरपोरेशन) है। मानव इतिहास की अन्य किसी सामाजिक युक्ति ने व्यापारिक नीतियो अथवा औद्योगिक उपक्रमो को मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के सभावी सकटो से इतनी सफलता के साथ पृथक् नही कर दिया है और न इसी कुशलता से एक पीढी से दूसरी पीढी तक जानकारी तथा अनुभव के हस्तातरण की सभावना ही उत्पन्न की है।

२०वी शताब्दी के प्रारभ से अमरीका के सयुक्त राष्ट्र मे और वर्तमान युग के सोवियत रूस मे आविष्कार और अनुसधान की एक ऐसी पद्धति का विकास हुआ है जिसमे क्रातिकारी परिणाम निहित है। इस पद्धति को 'सगठित गवेषणा' कहते है। अमरीका के बडे बडे निगमो (कॉरपोरेशनो) ने सुसज्जित प्रयोगशालाएँ स्थापित की है, जिनमे प्रामाणिक योग्यता के इजीनियर और वैज्ञानिक काम करते है। इसमे यह विचार काम करता है कि दरिद्र उपज्ञाताओ तथा परिमित उपकरण और अल्प पूंजीवाले एकाकी वैज्ञानिको की अपेक्षा सुसज्जित प्रयोगशालाओ मे काम करनेवाले विशेषज्ञो के दल के सगठित और सहकारी प्रयास से वैज्ञानिक गवेषणा और आविष्कार अथवा अनुसधान की प्रगति अधिक और तीव्र की जा सकती है।

अभी मनोवैज्ञानिक यह स्पष्ट नही कर सके है कि आविष्कारी बुद्धि के उपादान क्या है। आविष्कारक का मानसिक प्रक्रम दो विभिन्न रीतियो का होता है। इनमे से एक को प्रसिद्ध उपज्ञाता एडिसन के नाम पर एडिसन की रीति कहते है (देखे **एडिसन** शीर्षक लेख)। इसमे आविष्कारक सभी सभव विधियो का परीक्षण एक के बाद एक करता रहता है। दूसरे प्रक्रम को साधारणतया प्रतिभा की दमक कहा जाता है। इसमे सूझ एकाएक उत्पन्न होती है जिसमे उपज्ञा का बीज रहता है। ऊपर से देखने पर यह अप्रत्याशित प्रतीत होती है, किंतु इस सूझ के पीछे आविष्कारक का अभीष्ट उपज्ञा के सबध में किया गया लबा चिंतन और सपरीक्षण होता है। अत कदाचित् किसी भी उपज्ञा के प्रक्रम की सबसे आवश्यक वस्तु उपज्ञाता द्वारा उन तथ्यो को सयोजित करने की योग्यता है जिनके पारस्परिक सबध पहले सुस्पष्ट नही होते और जिनके सयोजन का काम उपज्ञाता व्यावहारिक स्तर अथवा कल्पना के स्तर पर करता है। [न० ला० गु०]

आवृत्तिदर्शी एक यत्र है जिससे चलते हुए किसी पिंड को स्थिर रूप मे देखा जा सकता है। इसकी क्रिया दृष्टिस्थापकत्व (पर सिस्टैंस ऑव विज्हन) पर निर्भर है। हमारी आँख के कृष्णपटल (रेटिना) पर किसी वस्तु का प्रतिबिंब वस्तु को हटा लेने के लगभग १/१६ सेकेंड से

का प्रयत्न किया। मलक्का पर तो उसने अधिकार स्थापित कर लिया, किंतु अदन को हस्तगत करने में वह असफल रहा। ओर्मुज़ पर पुनरधिकार उसकी अंतिम सफलता थी। वहाँ से लौटते समय जब मार्ग मे उसे अपने व्यक्तिगत शत्रु नोरीज के वाइसराय नियुक्त होने का समाचार मिला तो शोकावेग से उसकी मृत्यु हो गई। राजाज्ञा से वह गोआ में ही इस विचार से दफनाया गया कि जब तक उसकी कब्र भारतवासियो के समुख रहेगी, भारत मे पुर्तगाली शासन बना रहेगा।

मुसलमानो के प्रति कठोर रहते हुए भी आल्बुकर्क अपनी सहृदयता तथा न्यायप्रियता के लिये जनता में लोकप्रिय प्रमाणित हुआ। [रा० ना०]

आल्मक्विस्ट, कार्ल जोनास लुडविग (१७९३-१८६६)

स्वीडन के लेखक। पहला उपन्यास गुलाब का काँटा १८३२-३५ मे प्रकाशित हुआ जिससे ख्याति फैल गई। इन्होने कविता, उपन्यास, लेख, भाषण, मीमासा आदि अनेक विषयो पर लेखनी चलाई और सभी में सफल हुए। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा और उत्कृष्ट शैली के कारण ये स्वीडन के पहले लेखक कहे जाते है। इनका जीवन अस्थिर बीता, एक के बाद एक अनेक नौकरियाँ छोडी, बाद में लेखक हुए।

१८५१ में जालसाजी और हत्या के अभियोग से बचने के लिये स्वीडन से भाग गए। बहुत दिनो तक कुछ भी पता न लगा, पर लोगो का विश्वास है कि वह अमरीका चले गए और वही पर बस गए। [स० च०]

आल्मेइदा, थोम फ्रांसिस्कोथ (१४५०-१५१० ई०)

भारत में पुर्तगाली वाइसराय। उसके नेतृत्व मे किल्वा, मोजाबिक, आजेदिवा, कनानोर तथा कोचीन में पुर्तगाली दुर्गो का निर्माण हुआ। मलक्का और लका से प्रथम सपर्क स्थापित हुए। मिस्र तथा गुजरात के सयुक्त आक्रमण के फलस्वरूप पुर्तगालियो की पराजय हुई और आल्मेइदा के पुत्र तथा प्रमुख सहकारी लोरेंको को वीरगति प्राप्त हुई। तभी वाइसराय का स्थान ग्रहण करने आल्बुकर्क का भारत आगमन हुआ। किंतु पुत्र के प्रतिशोध के लिये आल्मेइदा ने राजाज्ञा का उल्लघन किया, शत्रु को भीषण दड दिया तथा दिव के निकट पूर्ण विजय प्राप्त की। अतत पदत्याग करने पर बाध्य होने पर वह स्वदेश लौटा। मार्ग मे साल्दान्हा की खाडी में उसकी हत्या हो गई। समुद्र पर पुर्तगाली शक्ति का एकाधिकार स्थापित करने तथा पुर्तगाली व्यवसाय को सगठित करने में उसे यथेष्ट सफलता मिली। [रा० ना०]

आल्वा, फेरनान्यो पतोलेयो (१५०७-८२)

स्पेनी सेनापति, राजनीतिज्ञ और ड्यूक। जन्म पीएद्राहिटा मे, मृत्यु थोमर मे। इसके दादा फ्रेड्रिक ने इसको शिक्षा दी। सात साल की आयु मे दादा के साथ नवर्रा की लडाई मे गया। १६ साल की आयु मे स्पेनी सेना में भरती हुआ। इसने फूएनतारिया जीता और उसका गवनर बनाया गया। १५२९-१५३२ में सम्राट् चार्ल्स पचम के साथ इटली में रहा। हगरी मे तुर्को से लडा और यश कमाया। १५३५ मे त्यूनीशिया की विजय को भेजी सेना का सेनापति बनाया गया और सफल हुआ। १५३६ में मार्सेई के घेरे में भाग लिया, पर विफल रहा। लेकिन दुर्दांत महत्वाकाक्षा के कारण ऊँचा ही उठता गया। अल्जीरिया विजय के लिये जा रही स्पेनी सेना का सेनापति बना, किंतु यहाँ इसको अपयश ही मिला। सेना का इसने पुनस्सगठन किया।

प्राय अजेय होकर भी वह अदूरदर्शी, अयोग्य और असहिष्णु शासक एव राजनीतिज्ञ था। फलत इसकी विजये व्यर्थ हो गईं। लूथरीय सेनाओ के साथ उसने जो बर्बरता बरती उससे जर्मनी और नेदरलैंड में स्पेनियो के प्रति घृणा हो गई।

रक्तपरिषद् (कौंसिल ऑव ब्लड) ने राजद्रोह के सदेह मात्र में और प्रोटेस्टेंटो मे सहानुभूति रखने के आरोप में ही पाँच सालो मे १८०० को फाँसी दी, १०,००० को देश से निर्वासित कर दिया। परतु कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट का भेद न कर सब पर समान रूप से 'एलक्यूबेला' (एक स्पेनी कर) लगाया। इससे हालैंड और ज़ीलैंड में असतोष की ज्वाला भडक उठी और स्पेनी शासन के प्रतिरोध की भावना उग्र हो गई। इसी समय स्पेनी बेडा भी नष्ट हो गया। इससे भी इसकी शक्ति कम हो गई। स्वास्थ्य नष्ट हो जाने के कारण स्पेन वापस बुलाने की माँग की, जो मान ली गई।

इटली मे पोप की राजनीतिक सत्ता का फ्रास की मदद के बावजूद अत करने का (१५५९) श्रेय आल्वा को ही है। फिलिप द्वितीय का यह आठ साल परराष्ट्रमत्री रहा। लेकिन राजा की इच्छा के प्रतिकूल अपने पुत्र के विवाह मे मदद देकर राजकोप भी भोगा और १५७९ में निर्वासित कर दिया गया। उजेदो के किले में जब वह दिन बिता रहा था, तब पुर्तगाल में विद्रोह हो गया। इसको दबाने के लिये १५८० में उसको बुलाना पडा। आठ सप्ताहो मे पुर्तगाल की उसने विजय कर ली। दो साल बाद १५८२ में मर गया। [अ० कु० वि०]

आल्हा

एक वीरतापूर्ण लोकमहाकाव्य है जो लगभग समस्त उत्तर भारत मे दिल्ली से बिहार तक पेशेवर अल्हैतो द्वारा जनता के बीच गाया जाता है। लोकप्रियता की दृष्टि से तुलसीदास के *रामचरितमानस के बाद आल्हा का ही नाम लिया जाता है।* इसमें बावन लडाइयो का वर्णन है और इन लडाइयो के वीर योद्धा आल्हा और ऊदल लोकजीवन में अपनी वीरता के लिये इतने प्रिय है कि उनका व्यक्तित्व बहुत कुछ अतिमानवीय बन गया है। साहित्य मे इस काव्य को आल्हखड कहा जाता है, परतु लोक मे आल्हा नाम ही प्रचलित है।

लोककाव्य होने के कारण आल्हखड के विविध रूपातर मिलते है— खडीबोली, कन्नौजी, बुदेली, बैसवाडी, अवधी, भोजपुरी और सभवत मगही आल्हखड मुख्य है। बोली के भेद के अलावा इनमे कथाखडो का भी यत्र तत्र अतर है। आधुनिक हिंदीवाला पाठ, जो आजकल विशेष प्रचलित है, पहले पहल चौधरी घासीराम द्वारा सपादित होकर मेरठ के ज्ञानसागर प्रेस से प्रकाशित हुआ था। कन्नौजी पाठ का सग्रह १८६५ ई० में पहली बार फर्रुखाबाद के कलक्टर चार्ल्स इलियट ने अल्हैतो से सुनकर करवाया था जो श्रीठाकुरदास द्वारा फतेहगढ से प्रकाशित हुआ। इसके कुछ अशो का अग्रेजी पद्यानुवाद डब्ल्यू० वाटरफील्ड ने कलकत्ता रिव्यू (१८७५-७६ ई०) में प्रकाशित करवाया था। आल्हखड के भोजपुरी रूपातर के अध्ययन का श्रेय ग्रियर्सन को है। उन्होने १८८५ ई० में इडियन ऐटिक्वेरी (खड १४) में इसके कुछ अशो का अग्रेजी गद्यानुवाद छपवाया था। बुदेली रूपातर के कुछ अश 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इडिया' (खड ९, भाग १) में है जिनका सग्रह विन्सेंट स्मिथ ने किया था।

आल्हखड के कुछ प्राचीन हस्तलिखित रूपातर भी मिलते है। एक तो स० १९२५ वि० में लिपिबद्ध 'महोबासमय' है जो चदकृत पृथ्वीराजरासो से सबद्ध है और दूसरा स० १८४९ वि० मे लिपिबद्ध 'महोबाखड' है जिसका सपादन डा० श्यामसुदरदास ने 'परमालरासो' (काशी नागरीप्रचारिणी सभा) नाम से किया है। वस्तुत ये दोनो ग्रथ लोकप्रचलित आल्हखड के साहित्यिक रूपातर है और आकार मे काफी छोटे है।

इस प्रकार आल्हखड के दो रूप प्राप्त है एक साहित्यिक काव्य और दूसरा लोककाव्य। साहित्यिक आल्हखड के रचयिता जगनिक नामक एक भाट माने जाते है जो कालिंजर के राजा परमर्दिदेव (परमाल) (१३वी सदी) के राजकवि थे। विद्वानो का अनुमान है कि आल्हखड मूलत १३वी सदी में रचित एक कवि की साहित्यिक रचना था जो आगे चलकर एक ओर अल्हैतो द्वारा लोककाव्य की मौखिक परपरा में परिवर्धित और विकसित होता रहा और दूसरी ओर चारणो और भाटो द्वारा साहित्य की लिखित परपरा में भी रूपातरित होता चला गया।

आल्हखड मध्ययुगीन सामती शौर्य का रोमास काव्य है जिसमें प्रेम और युद्ध के अनेक गाथाचक्र घटनासूत्र में जुडे हुए है। इसमें नैनागढ की लडाई सबसे रोचक और लोकप्रिय है तथा सोना के हरण की कथा सबसे प्रसिद्ध है। यो तो इसके नाम से आल्हा के ही कथानायक होने का आभास होता है, परतु इस काव्य का सबसे आकर्षक वीर ऊदल है जो आल्हा का छोटा भाई है। बडे भाई आल्हा का चरित्र महाभारत के युधिष्ठिर की तरह अधिक मर्यादापूर्ण है, जब कि छोटे भाई ऊदल के चरित्र में अर्जुन की तरह एक रोमास काव्य के चरितनायक के गुण अधिक है। परतु सपूर्ण आल्हखड में किसी एक वीर की वीरता इतनी प्रधान नही है जितनी उनके

एक बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिए। यदि प्रकाश की दमक एक सेकंड में १३ से कम कर दी जाय, तो प्रकाशित चकती च की सतह पर झिलमिलाहट या कँपकँपी (फ्लिकरिंग) दिखाई पड़ती है। यदि प्रकाश की दमकों की प्रति सेकंड संख्या चक्र ज के वेग को बढ़ाकर पर्याप्त अधिक कर दी जाय तो कँपकँपी दूर हो जाती है और सतह की दीप्ति स्थायी जान पड़ती है। ऐसा दीप्तिभास हमारी आँखों की दृष्टिचिरस्थिरता के कारण होता है, जैसा सिनेमा के पर्दे पर चित्रों को प्रति सेकंड १३ से अधिक बार डालकर पात्रों के नाच, दौड़ आदि, सभी गतिविधियों को स्वाभाविक रीति में देख पाते हैं। यदि चलचित्रों की संख्या प्रति सेकंड १३ से कम हो तो पर्दे पर कँपकँपी आने लगती है। आजकल बोलते चित्रों में २४ चित्र प्रति सेकंड पर्दे पर डाले जाते हैं, जिससे कँपकँपी बिलकुल नहीं आती। कँपकँपी पूर्णतया निर्मूल करने के लिये प्रति चित्र के मध्य में प्रकाश एक बार काट दिया जाता है, अर्थात् प्रति सेकंड २४ चित्र चलाते समय ४८ दमकें बराबर समयांतरों पर पड़ती हैं।

आजकल आवर्तदर्शी के साथ कार्य करनेवाले इतने अद्भुत फोटोग्राफी के कैमरे बनाए गए हैं कि उड़ती चिड़िया, तीव्रगामी हवाई जहाज तथा जेट प्लेन आदि के किसी भाग का फोटो उतारा जा सकता है। छोटे बड़े बमों के फटने के तुरत बाद, अर्थात् १/(१० लाख) सेकंड में तथा तदनंतर विस्फोटनक्रिया का फोटो लेकर अध्ययन किया जा सकता है। ऐसे आवृत्तिदर्शी में तापायन कपाट (थर्मआयोनिक वाल्व) के द्वारा दमक की आवृत्तिसंख्या लाख से भी अधिक प्रति सेकंड होती है और दमक की ज्योति सूर्य के प्रकाश से भी प्रबल होती है। इसका श्रेय प्रोफेसर एगर्टन को है। मैसाचूसेट्स इंस्टिट्यूट ऑव टेकनॉलोजी (अमरीका) में अपने साथियों के साथ प्रो० एगर्टन लगभग ३० वर्षों तक इस अनुसधान में सलग्न रहे। इस आवृत्तिदर्शी की क्रिया पूर्वोक्त आवृत्तिदर्शी के समान ही होती है, किंतु प्रकाश की तीव्रता बढ़ाने के लिये प्रबल इलेक्ट्रॉनिक परिपथ (सर्किट) की व्यवस्था रहती है और उसके खोलने और बद करने के लिये गैस से भरी एक नलिका होती है, जो विद्युत् परिपथ में सघनक (कडेंसर) का काम करती है। इसमें लगे वाल्व को ठीक साधने पर, विद्युत् दमक एक सेकंड के दस लाखवें भाग के समयांतर पर हो सकती है। दमक की दीप्ति इतनी प्रबल होती है कि ५-७ मील गहरे समुद्र की पेंदी का भी चित्र खींचा जा सकता है। ऐसे आवृत्तिदर्शी द्वारा ऐसी सूक्ष्म वस्तुओं तक का निरीक्षण सभव हो सका है जो हमें दिखाई भी नहीं पड़ती। [न० ला० मि०]

आवोगाड्रो, अमाडियो (१७७६-१८५६ ई०) इटैलियन वैज्ञानिक थे। प्रारभ में उन्होंने कानून तथा दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया और १७९६ में कानून में डाक्टरेट प्राप्त किया। बहुत समय पश्चात् उन्होंने भौतिक शास्त्र का अध्यापन प्रारभ किया। उन्हें ट्यूरिन विश्वविद्यालय में १८०२ में प्रोफेसर का पद मिला, जो राजनीतिक कारणों से १८२२ तक ही रहा। परतु कुछ वर्षों के बाद उसी पद पर पुनः उनकी नियुक्ति हुई। उनका महत्वपूर्ण लेख 'जर्नल दा फिजीक' (१८११) में छपा। उनकी विशेष वैज्ञानिक देन वह नियम है जो अब आवोगाड्रो की परिकल्पना (आवोगाड्रोज हाइपॉथेसिस) के नाम से प्रसिद्ध है।

लोगों को इस परिकल्पना का ठीक ज्ञान कैनी जारो के स्पष्टीकरण से बहुत बाद में हुआ। उसके पहले इस परिकल्पना तथा उसके सिद्धांत पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। १८१४ में फ्रांस के वैज्ञानिक ऐंपेअर ने वे ही विचार व्यक्त किए जो तीन वर्ष पहले आवोगाड्रो की परिकल्पना में थे। मोलिक्यूल (अणु) शब्द का वैज्ञानिक प्रयोग तथा उसके अर्थ का स्पष्टीकरण भी आवोगाड्रो ने ही किया था।

स०ग्र०—सर विलियम ए० टिल्डेन : फेमस केमिस्ट्स (१९३०), जे० आर० पार्टिंग्टन : ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑव केमिस्ट्री (१९५१)। [वि० वा० प्र०]

आश्खाबाद यह तुर्कमानिस्तान देश का एक जिला है। इसका क्षेत्रफल ५७,२८६ वर्ग मील तथा १९३८ में आबादी ३,३५,५७० थी। यह जिला ईरान तुर्कमानिस्तान के दक्षिणी भाग में है तथा इसमें कोपेट डाग की कई पहाड़ी नदियाँ बहती हैं। जलवायु विशेष गर्म नहीं है तथा कभी कभी बर्फ गिर जाती है। यहाँ अगूर पैदा होता है और मदिरा बनाई जाती है।

इसी जिले में तुर्कमानिस्तान नाम का शहर भी है। यहाँ सूती कपड़े की मिलें हैं। [नृ० कु० सि]

आश्रम प्राचीन भारत में सामाजिक व्यवस्था के दो स्तभ थे—वर्ण और आश्रम। मनुष्य की प्रकृति—गुण, कर्म और स्वभाव—के आधार पर मानवमात्र का वर्गीकरण चार वर्णों में हुआ था। व्यक्तिगत सस्कार के लिये उनके जीवन का विभाजन चार आश्रमों में किया गया था। ये चार आश्रम थे—(१) ब्रह्मचर्य, (२) गार्हस्थ्य, (३) वानप्रस्थ और (४) सन्यास। अमरकोश (७४) पर टीका करते हुए भानुजी दीक्षित ने 'आश्रम' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है : आश्राम्यन्त्यत्र। अनेन वा। श्रम् तपसि। घञ्। यद्वा आ समताछ्रमोऽत्र। स्वधर्मसाधनक्लेशात्। अर्थात् जिसमें सम्यक् प्रकार से श्रम किया जाय वह आश्रम है अथवा आश्रम जीवन की वह स्थिति है जिसमें कर्तव्यपालन के लिये पूर्ण परिश्रम किया जाय। आश्रम का अर्थ 'अवस्थाविशेष', 'विश्राम का स्थान', 'ऋषिमुनियों के रहने का पवित्र स्थान' आदि भी किया गया है।

आश्रमसस्था का प्रादुर्भाव वैदिक युग में हो चुका था, किंतु उसके विकसित और दृढ होने में काफी समय लगा। वैदिक साहित्य में ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य अथवा गार्हपत्य का स्वतत्र विकास हुआ, किंतु वानप्रस्थ और सन्यास, इन दो अंतिम आश्रमों के स्वतत्र विकास का उल्लेख नहीं मिलता। इन दोनों का सयुक्त अस्तित्व बहुत दिनों तक बना रहा और इनको वैखानस, परिव्राट्, यति, मुनि, श्रमण आदि से अभिहित किया जाता था। वैदिक काल में कर्म तथा कर्मकाड की प्रधानता होने के कारण निवृत्तिमार्ग अथवा सन्यास को विशेष प्रोत्साहन नहीं था। वैदिक साहित्य के अंतिम चरण उपनिषदों में निवृत्ति और सन्यास पर जोर दिया जाने लगा और यह स्वीकार कर लिया गया था कि जिस समय जीवन में उत्कट वैराग्य उत्पन्न हो उस समय से वैराग्य से प्रेरित होकर सन्यास ग्रहण किया जा सकता है। फिर भी सन्यास अथवा श्रमण धर्म के प्रति उपेक्षा और अनास्था का भाव था।

सूत्रयुग में चार आश्रमों की परिगणना होने लगी थी, यद्यपि उनके नामक्रम में अब भी मतभेद था। आपस्तंब धर्मसूत्र (२९२११) के अनुसार गार्हस्थ्य, आचार्यकुल (=ब्रह्मचर्य), मौन तथा वानप्रस्थ चार आश्रम थे। गौतमधर्मसूत्र (३२) में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस चार आश्रम बतलाए गए हैं। वसिष्ठधर्मसूत्र (७१२) में गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा परिव्राजक चार आश्रमों का वर्णन है। बौधायनधर्मसूत्र (२६१७) ने वसिष्ठ का अनुसरण किया है, किंतु आश्रम की उत्पत्ति के सबध में बतलाया है कि अंतिम दो आश्रमों का भेद प्रह्लाद के पुत्र कपिल नामक असुर ने इसलिये किया था कि देवताओं को यज्ञों से प्राप्य अश न मिले और वे दुर्बल हो जायँ (६२९-३१)। इसका सभवत यह अर्थ हो सकता है कि कायक्लेशप्रधान निवृत्तिमार्ग पहले असुरों में प्रचलित था और आर्यों ने उनसे इस मार्ग को अशत ग्रहण किया, परतु फिर भी ये आश्रम उनको पूरे पसद और ग्राह्य न थे।

बौद्ध तथा जैन सुधारणा ने आश्रम का विरोध नहीं किया, किंतु प्रथम दो आश्रमों—ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य—की अनिवार्यता नहीं स्वीकार की। इसके फलस्वरूप मुनि अथवा यतिवृत्ति को बड़ा प्रोत्साहन मिला और समाज में भिक्षुओं की अगणित वृद्धि हुई। इससे समाज तो दुर्बल हुआ ही, अपरिपक्व सन्यास अथवा त्याग से भ्रष्टाचार भी बढ़ा। इसकी प्रतिक्रिया और प्रतिसुधारणा ई० पू० दूसरी सदी अथवा शुगवश की स्थापना से हुई। मनु आदि स्मृतियों में आश्रमधर्म का पूर्ण आग्रह और सघटन दिखाई पड़ता है। पूरे आश्रमधर्म की प्रतिष्ठा और उसके क्रम की अनिवार्यता भी स्वीकार की गई। 'आश्रमात् आश्रमं गच्छेत्,' अर्थात् एक आश्रम से दूसरे आश्रम को जाना चाहिए, इस सिद्धांत को मनु ने दृढ कर दिया।

स्मृतियों में चारों आश्रमों के कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन मिलता है। मनु ने मानव आयु सामान्यतः सौ वर्ष की मानकर इसको चार बराबर भागों में बाँटा है। प्रथम चतुर्थांश ब्रह्मचर्य है। इस आश्रम में गुरु-

भारतीय दर्शन की दूसरी परपराओ मे भी आत्मा को मलिन करनेवाले तत्व आश्रव के नाम से पुकारे गए हैं। उनके स्वरूप के विस्तार मे भेद होते हुए भी यह समानता है कि आश्रव चित्त के मल हैं जिनका निराकरण आवश्यक है। [भि० ज० का०]

आश्वलायन ऋग्वेद की २१ शाखाओ मे से आश्वलायन अन्यतम शाखा है जिसका उल्लेख 'चरणव्यूह' मे किया गया है। इस शाखा के अनुसार न तो आज ऋक्सहिता ही उपलब्ध है और न कोई ब्राह्मण ही, परतु कवींद्राचार्य (१७वी शताब्दी) की ग्रथसूची मे उल्लिखित होने से इन ग्रथो के अस्तित्व का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। इस शाखा के समग्र कल्पसूत्र ही आज उपलब्ध हैं—आश्वलायन श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र। आश्वलायन श्रौतसूत्र मे वारह अध्याय हैं जिनमे होता के द्वारा प्रतिपाद्य विषयो की ओर विशेष लक्ष्य कर यागो का अनुष्ठान विहित है। इसमे पुरोऽनुवाक्या, याज्या तथा तत्तत् शास्त्रो के अनुष्ठान प्रकार, उनके देश, काल और कर्ता का विधान, स्वर-प्रतिगर-न्यूख-प्रायश्चित्त आदि का विधान विशेष रूप से वर्णित है। नरसिह के पुत्र गार्ग्य नारायण द्वारा की गई इस श्रौतसूत्र की व्याख्या नितात प्रख्यात है।

आश्वलायनगृह्यसूत्र मे गृह्य कर्म और षोडश सस्कारो का वर्णन किया गया है। ऋग्वेदियो की गृह्यविधि के लिये यही गृह्यसूत्र विशेष लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध है। इसकी व्यापकता का कुछ परिचय इसकी विपुल व्याख्यासपत्ति से भी लगता है। इसके प्रख्यात टीकाग्रथो मे मुख्य ये हैं (१) अनाविला (हरदत्त द्वारा रचित, रचनाकाल १२०० ई० के आसपास), (२) दिवाकर के पुत्र नैध्रुवगोत्रीय नारायण द्वारा रचित वृत्ति (११०० ई०), (३) देवस्वामी रचित गृह्यभाष्य (११वी सदी का पूर्वार्ध), (४) जयतस्वामीरचित विमलोदयमाला (८वी सदी का अत)। आश्वलायनगृह्य को अनेक ग्रथकारो ने कारिका के रूप मे निवद्ध किया है जो 'आश्वलायन-गृह्यकारिका' के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसे ग्रथकारो मे कुमारिल स्वामी (कुमारस्वामी ?), रघुनाथ दीक्षित तथा गोपाल मुख्य हैं। इस गृह्यसूत्र के प्रयोग, पद्धति तथा परिशिष्ट के विषय मे भी अनेक ग्रथो का समय समय पर निर्माण किया गया है। कुमारिल की गृह्यकारिका मे आश्वलायनगृह्य की नारायणवृत्ति तथा जयतस्वामी का निर्देश उपलब्ध होता है। 'आश्वलायनधर्मसूत्र' (२२ अध्यायो मे विभक्त) अभी तक अप्रकाशित है। 'आश्वलायनस्मृति' के भी अभी तक हस्तलेख ही उपलब्ध हैं। यह ११ अध्यायो मे विभक्त और लगभग दो सहस्र पद्योवाला ग्रथ है जिसके उद्धरण हेमाद्रि तथा माधवाचार्य ने अपने ग्रथो मे दिए है।

स०ग्र०—बलदेव उपाध्याय वैदिक साहित्य और सस्कृति (काशी), पी० वी० काणे हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, प्रथम खड (पूना)। [ब० उ०]

आसंदीवंत उत्तर वैदिककाल का एक प्रसिद्ध नगर जो पश्चात्कालीन कुरुओ की राजधानी था। प्रधान और प्रथम कुरुराज परीक्षित का उल्लेख अथर्ववेद मे अत्यत श्लाघनीय रूप मे हुआ है। परीक्षित की राजधानी आसदीवत बताया गया है। इस सबध मे विद्वानो का मतैक्य नही है कि पहली राजधानी आसदीवत था या हस्तिनापुर। एक परपरा के अनुसार कुरुओ की राजधानी पहले आसदीवत होना चाहिए। कुरु पचाल दो निकटवर्ती क्षत्रिय शाखाएँ थी जिनमे से पचाल गगा यमुना के द्वाब मे रहते थे और उनकी राजधानी कापिल्य या कपिला थी। [ओ०ना०उ०]

आसज्जा (रेडीनेस) 'आसज्जा' शब्द का प्रयोग साधारणतया सिद्धता के अर्थ मे किया जाता है। इसका अनुमान मनोवैज्ञानिको ने बुद्धिपरीक्षाओ के आधार पर किया है। किसी भी कार्य का आरभ करने के लिये यह आवश्यक माना गया है कि उसकी परीक्षा करके देख लिया जाय कि वह अमुक कार्य करने के लिये उपयुक्त है। इसके लिये यह आवश्यक है कि बौद्धिक स्तर मालूम किया जाय, उसके पिछले कार्यो का फल जान लिया जाय, स्वास्थ्य तथा उसका सामाजिक और भाषा सवधी ज्ञान नाप लिया जाय।

वालको के पढने की आसज्जा पर मनोवैज्ञानिको ने विशेष कार्य किया है। अमरीका मे गेट्स तथा वेड ने महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस अध्ययन का प्रयोग वालको की प्रारभिक शिक्षा तथा सामग्री को उचित रूप देने मे किया गया है। जो लडके पढने लिखने मे असफल रहे हैं उनकी शिक्षा दीक्षा मे इसके द्वारा विशेष लाभ हुआ है। 'पायग्नोरिस ऐड रेमेडिअल टीचिंग' के विषय मे इस देश मे भी कुछ कार्य हो रहा है तथा कई स्थानो पर विषयो के अध्ययन की आसज्जा से सबधित परीक्षाएँ प्रमाणित की जा रही हैं। इस प्रकार की एक परीक्षा राजकीय सेंट्रल पेडागाजिक इसटीट्यूट मे हिंदी के सबध मे चलाई गई है। [श० ना० उ०]

आसन (वैठना, वैठने का आधार, वैठने की विशेष प्रक्रिया) योगदर्शन मे आसन अष्टागयोग का तीसरा अग माना गया है। चित्त की एकाग्रता प्राप्त करने के लिये शरीर को 'प्रयत्नपूर्वक शिथिल' करके स्थिर होना अत्यत आवश्यक है। इस स्थिरता के विना समाधि की अवस्था तक पहुँचना असभव है। किंतु स्थिरता प्राप्त करने के वाद जव तक सुख का अनुभव नही होगा तब तक स्थिरता मे मन नही लगेगा। अत आसन स्थिरता तथा सुख से युक्त शरीर की अवस्था को कहते हैं। योगसूत्र मे विविध आसनो का वर्णन नही है, किंतु व्याख्याताओ ने अनेक आसनो का वर्णन किया है जिनमे पाँच मुख्य हैं १—पद्मासन, २ भद्रासन, ३—वज्रासन, ४—वीरासन तथा ५—स्वस्तिकासन। हठयोग मे आसनो की सख्या चौरासी तक पहुँच गई है।

कामशास्त्र के अनुसार रतिक्रिया मे प्रयुक्त आसनो का कामसिद्धि मे महत्व है। उनकी सख्या भी चौरासी है, किंतु इनके नामो तथा प्रकारो मे बहुत भेद मिलता है।

बैठने की प्रक्रिया के अलावा वैठने के आधार को भी आसन कहते हैं और इनका भी यौगिक साधना मे महत्व है। गीता मे 'चैलाजिनकुशोत्तरम्' आसन को ध्यान का साधक बतलाया गया है। तात्रिक साधना मे भी कामना के अनुसार आसनो का सिद्धि मे महत्व है। अर्थशास्त्र मे आसन शब्द पारिभाषिक है। जव दो राजा एक दूसरे का बल देखकर अपना वल वढाते हुए चुपचाप अवसर की ताक मे बैठे रहते हैं उस अवस्था को भी आसन कहा गया है। यह आसन राजा के षड्गुणो मे से एक गुण है।

स०ग्र०—योगसूत्र (व्यासभाष्य), हठयोगप्रदीपिका, रतिरहस्य, भंगवद्गीता, वरिवस्यारहस्य, शुक्रनीति। [रा० पा०]

आसनसोल पश्चिमी वगाल राज्य के बर्द्धमान जिले मे आसनसोल नाम का उपविभाग तथा इसी नाम का एक प्रमुख नगर है। (स्थिति २३°४१' उ० अक्षाश एव ८६° ५९' पूर्वी देशातर) कलकत्ता से १३२ मील उत्तर-पश्चिम मे स्थित यह नगर पूर्वी रेलवे की प्रमुख लाइन ग्रैंड कार्ड तथा आसनसोल-खडगपुर लाइन का बडा जक्शन है। बिहार बगाल के कोयले के क्षेत्र मे स्थित होने एव वडा जक्शन होने के कारण यह कोयले के व्यापार का सबसे बडा केंद्र हो गया है। जमशेदपुर-आसनसोल क्षेत्र लौह, इस्पात, प्रमुख रासायनिक उद्योगो एव अन्य सवद्ध उद्योगो के लिये भारत मे सर्वप्रमुख हो गया है। दामोदर द्रोणी (बेसिन) मे आसनसोल सबसे बडा नगर है। १९०१ मे इसकी जनसख्या केवल १४,९०६ थी, परतु १९५१ ई० मे बढकर ७६,२७७ हो गई। [का० ना० सि०]

आसफ़उद्दौला (शासनकाल १५७५-१५९८), अवध का नवाव वजीर शुजाउद्दौला और उम्मतुल जौहर का ज्येष्ठ पुत्र। पिता ने पुत्र को शिक्षित तथा सुसस्कृत बनाने मे सपूर्ण प्रयत्न किए, किंतु वह प्रकृति से विलासी और आमोदप्रिय निकल गया। गद्दीनशीन होते ही उसने अनुभवी पदाधिकारियो को पदच्युत कर अपने कृपापात्रो को पदासीन कर दिया, जिससे शासन की दुरवस्था प्रारभ हो गई। अपनी माता के अनुशासन से बचने के लिये उसने राजधानी फैजावाद से लखनऊ स्थानातरित कर दी, जिसे उसने पूरे मनोयोग से सँवारा, और शीघ्र ही लखनऊ अवध की कला और सस्कृति का प्रमुख केंद्र वन गया। किंतु दरवारी कुमत्रणाओ को और अधिक छूट मिलने लगी। उसने अपनी

में हम कहते हैं कि तत्वों के गुण परमाणुभारों के आवर्त-फलन हैं।

जिस समय रूस में मेंडलीफ तत्वों के इस प्रकार के वर्गीकरण का प्रयोग कर रहा था, लोथरमायर ने भी (१८७० में) आवर्त नियम की दूसरी तरह से अभिव्यक्ति की। उसने विभिन्न तत्वों के परमाणु-आयतन निकाले, अर्थात् तत्वों के परमाणुभारों को उनके घनत्वों से विभाजित करके जो गुणनफल प्राप्त को उन्हें उसने तत्वों का परमाणु-आयतन कहा। फिर उसने तत्वों के परमाणुभार और परमाणु-आयतन के हिसाब से एक वक्र खींचा। ऐसा करने पर उसे एक आवर्तवक्र प्राप्त हुआ और उसने देखा कि समान गुण धर्मवाले तत्व इस वक्र पर एक सी ही स्थिति पर है।

मेंडलीफ के समय तक सब तत्वों की खोज नहीं हो पाई थी, फिर भी अपनी आवर्त सारणी को मेंडलीफ ने इतनी सावधानी से रचा कि उसके आधार पर उसने कई अज्ञात तत्वों के गुणधर्मों की भविष्यवाणी की, जो अब स्कैंडियम, गैलियम और जर्मेनियम कहलाते हैं। उसने जिस संभावित तत्व का नाम एका-बोरान दिया उसका पता सन् १८७९ में चला और उसे स्कैंडियम कहा गया। उसने जिसे एका-ऐल्यूमिनियम कहा उसका नाम १८७६ में गैलियम पडा और मेंडलीफ का एका-सिलिकन १८७६ मे आविष्कृत होने पर जर्मेनियम नाम से विख्यात हुआ। मेंडलीफ ने अपने आवर्त नियम के आधार पर बहुत से तत्वों के प्रचलित परमाणुभारों को भी संशोधित किया और बाद के प्रयोगों ने मेंडलीफ के संशोधनों की पुष्टि की।

मेंडलीफ के समय के बाद से उसकी आवर्त सारणी में बहुत से परिवर्तन और सुधार हुए। सन् १९१३ मे मोसले ने यह बताया कि प्रत्येक तत्व की एक निश्चित परमाणुसख्या है। यह परमाणु-सख्या परमाणुभार से भी अधिक महत्व की है, क्योंकि एक ही तत्व कई अलग अलग परमाणुभारों का तो हो सकता है, पर तत्व की परमाणुसख्या स्थिर है, बदलती नहीं। मोसले के समय से आवर्त नियम परमाणुभार की अपेक्षा से नहीं, प्रत्युत परमाणुसख्या की अपेक्षा से व्यक्त किया जाने लगा। अब तत्वों को आवर्त सारणी में परमाणुसख्या के क्रम से सज्जित किया जाता है, न कि परमाणुभार के क्रम से। परमाणुभार के क्रम से सज्जित करने मे कभी कभी वर्गीकरण मे दोष आ जाते थे और मेंडलीफ भी इन दोषों से अवगत था। उसने अपनी सारणी मे परमाणुभारों के क्रम की कई स्थलों पर उपेक्षा की है, जैसे टेल्यूरियम को आयोडीन के पहले स्थान दिया है, यद्यपि टेल्यूरियम का परमाणुभार आयोडीन से अधिक है। इसी प्रकार परमाणु-भार के क्रम की अवहेलना करके निकेल को कोबल्ट के बाद स्थान दिया है। परमाणुसख्या का क्रम देने पर ये दोष मिट जाते हैं।

मेंडलीफ के समय में वायुमडल की हीलियम, नीआन, आर्गन, क्रिप्टन आदि गैसें ज्ञात न थीं। जब रैमजे ने इनका आविष्कार किया और रसायनज्ञों ने देखा कि इन तत्वों के यौगिक नहीं बनते और इस अर्थ मे ये अक्रिय है, तो इन्हे सारणी में एक अलग समूह मे रखा गया। इसका नाम शून्य- समूह पडा। विद्युदधनात्मक और विद्युदृणात्मक प्रवृत्तियों के तत्वों के समूहों को सयुक्त करनेवाला शून्य विद्युत्प्रवृत्ति का एक समूह होना ही चाहिए था।

मेंडलीफ की आवर्त सारणी—मेंडलीफ की आवर्त सारणी मे नौ समूह हैं जिन्हें क्रमश शून्य, प्रथम, द्वितीय ... अष्टम समूह कहते है। ये समूह उन तत्वों की सयोजकताओं के भी द्योतक हैं। प्रत्येक समूह मे दो उप-समूह हैं—क और ख। बाईं ओर से दाईं ओर को जानेवाली दस पक्तियाँ है, जिन्हें काल कहते हैं। वस्तुत काल सात हैं, पर चौथे, पाँचवें और छठे कालों में से प्रत्येक मे दो दो श्रेणियाँ हैं। इस प्रकार कुल पक्तियाँ दस हुई। लोथरमायर के वक्र में भी ये सातो काल स्पष्ट हैं।

जब तत्वों के परमाणुओं के इलेक्ट्रान-विन्यास का पता चला, तब आवर्त नियम का महत्व और भी अधिक स्पष्ट हो गया। तत्वों की परमाणु-सख्या यह भी बताती है कि उस तत्व में विभिन्न परिधियों पर चक्कर लगानेवाले कितने इलेक्ट्रान है (देखें परमाणु)। तत्वों के विन्यास में कई कक्षाएं या परिधियाँ हैं और इन कक्षाओं या परिधियों में कितने इले-क्ट्रान आ सकते है, यह सख्या भी निश्चित है। इन कक्षाओं अथवा परि-धियों पर अधिक से अधिक क्रमश २, ८, १८, ३२, ... इलेक्ट्रान रह सकते है। साथ ही साथ यह भी नियम है कि सबसे बाहरी परिधि पर ८ से अधिक नहीं रहेंगे और उससे पीछे वाली पर १८ इलेक्ट्रान से अधिक नहीं। इस नियम ने यह स्पष्ट कर दिया कि कुछ कालों में क्यों १८ और कुछ में क्यों ३२ तत्व हैं। इसने यह भी व्यक्त किया कि दुष्प्राप्य पार्थिव तत्व (लैंथेनम के बाद परमाणुसख्या ५८ से ७१ तक) क्यो १४ ही हो सकते हैं।

जूलियस टामसेन ने इलेक्ट्रान-विन्यास के हिसाब से जो आवर्त वर्गीकरण दिया, वह भी महत्वपूर्ण है। यह वर्गीकरण बताता है कि आवर्तन २, ८, १८, ३२, ... परमाणुसख्याओं पर होता है (चित्र देखें)।

यूरेनियम की परमाणुसख्या ९२ है। आवर्त वर्गीकरण में सबसे पहला तत्व अब हाइड्रोजन नहीं, बल्कि न्यूट्रान माना जाता है, जिसकी परमाणुसख्या शून्य (०) है। हाइड्रोजन से लेकर यूरेनियम तक के ९२ तत्व भूस्तर पर प्रकृति मे पाए जाते हैं, शेष नहीं, पर अब तो कृत्रिम विधि से यूरेनियम के बाद के भी सात आठ तत्व बनाए जा सके हैं—नेप्च्यूनियम (९३), प्लूटोनियम (९४), अमरीकियम (९५), क्यूरियम (९६), बर्केलियम (९७), कैलिफोर्नियम (९८), आइस्टियम (९९), शतम् (१००) आदि। इन्हे ऐक्टिनाइड कहा जाता है। जैसे लैंथेनम (५७) के बाद १४ विरल पार्थिव तत्व हैं, उसी प्रकार ऐक्टीनियम (८९) के बाद भी १४ तत्वों का होना, जिनका अभी पता नहीं है, असभव बात नहीं है। इन नए तत्वों का अस्तित्व आवर्त नियम के सर्वथा अनुकूल है।

तत्वसूची और परमाणुभार—पिछले पृष्ठ पर एक सारणी दी गई है जिसमें रासायनिक तत्वों की परमाणुसख्याएँ दी गई है। परमाणु-भार भी दिखाए गए है।

स०ग्र०—जे० डब्ल्यू० मेलर ए कॉम्प्रिहेंसिव ट्रीटिज ऑन इनॉर्गेनिक ऐंड थ्योरेटिकल केमिस्ट्री (१९२२), ई० रैबिनोविट्श और ई० थिलो पीरिओडिशेस सिस्टेम (स्टुटगार्ट, १९३०)। [स० प्र०]

आवर्न

पूर्वकाल मे फ्रास का एक प्रात था, परतु अब कैंटल, पुई-डी-डोम और हौट ल्वायर विभागों के अतर्गत है। इसकी प्राचीन और वर्तमान राजधानियाँ क्रमश क्लेरमाट और क्लेरमाट-फेरड हैं। 'आवर्न' शब्द की उत्पत्ति आवर्नी से हुई है। आवर्नी रोमन काल मे एक जातिसमुदाय था, जिसकी प्रभुता अक्वीटानिया के अधिकाश पर फली हुई थी। इस समुदाय ने जूलिएस सीजर के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया था। आवर्न १५३२ ई० मे स्थायी रूप से फ्रासीसी राजसत्ता के आधीन आ गया।

यहाँ स्थित पर्वत अधिकतर ज्वालामुखी हैं। महत्वपूर्ण पर्वतशिखर माट डोर (ऊँचाई ६,१८८ फुट), प्लब डी कैंटल (ऊँचाई ६,०९६ फुट) और पुई-डी-डोम (ऊँचाई ४,८०६ फुट) हैं। यहाँ के सुप्त ज्वालामुखियों की सख्या लगभग ३०० है। यहाँ विस्तृत चरागाह और ओषधीय सोते (धाराएँ) भी हैं। [रा० ना० मा०]

आवा

ब्रह्मा (बर्मा) राज्य की प्राचीन राजधानी है जो ईरावदी नदी पर सागैंग नगर के समुख विपरीत किनारे पर स्थित है। इसका प्राचीन नाम यदनपुर, अर्थात् 'बहुमूल्य पत्थरों का नगर' है। इस नगर की स्थापना ध्वस्त पगान नगर के उत्तराधिकारी नगर के रूप में १३६४ ई० में थाडोमिन पाया द्वारा हुई थी। यहाँ निर्मित अनेक धार्मिक भवन पगान स्थित धार्मिक भवनों के ही समान हैं। आवा नगर लगभग चार शताब्दियों तक राजकीय केंद्र था। इस काल में ३० शासकों द्वारा राजसिंहासन सुशोभित हुआ। १८३९ ई० के भूकप में नगर खडहर हो गया। परिषद्भवन और राजकीय भवन के कुछ भागों के अवशेष अब भी विद्यमान हैं। अधिकाश धार्मिक भवन (बौद्ध) ध्वस्त अवस्था मे है। [रा० ना० मा०]

आविष्कार एवं उपज्ञा

साधारणत किसी ऐसे नवीन यत्र आदि के बनाने को उपज्ञा (इनवेंशन) कहते हैं जिस प्रकार का यत्र पहले कभी नहीं बना था और आविष्कार (डिसकवरी) किसी पूर्वविद्यमान देश, नियम आदि का पता लगाने को कहते हैं, जिसका ज्ञान या पता पहले किसी को नहीं था। आविष्कार अथवा

निर्वात आसवन और भजक आसवन। **प्रभाजित आसवन** द्वारा विलयन, अर्थात् मिश्रण, में से उन द्रवों को पृथक् किया जा सकता है जिनके क्वथनांक पर्याप्त भिन्न हों। द्रवों का वाष्प प्रभाजित आसवन के संघनित्रों में इस प्रकार क्रमश ठंढा किया जा सकता है कि ग्राही में पहले वे द्रव ही चुएँ जो सापेक्षत अधिक वाष्पवान् हों। इस काम के लिये जिन भभकों का उपयोग किया जाता है उनमें ताप धीरे धीरे बढता है।

निर्वात आसवन के लिये ऐसा प्रबंध किया जाता है कि भभके और संघनित्र के भीतर की वायु पंप द्वारा बहुत कुछ निकल जाय। विलयन के ऊपर वायु की दाब कम होने पर विलायकों का क्वथनांक भी कम हो जाता है और वे सापेक्षत अति न्यून ताप पर ही आसवित किए जा सकते हैं।

प्रभंजक आसवन एक प्रकार का शुष्क आसवन होता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण कोयले का आसवन है। पत्थर के कोयले में पानी का अंश तो कम ही होता है, पर जब वह अधिक तप्त किया जाता है तो उसके प्रभंजन (टूटने) द्वारा अनेक पदार्थ बनते हैं जिन्हें भाप बनाकर उड़ाया और फिर ठंढा करके ठोस या द्रव किया जा सकता है। प्रभंजन में कुछ ऐसी भी गैसें बन सकती हैं जो ठंढी होने पर द्रव या ठोस तो न बनें, पर गैस रूप में ही जिनकी उपयोगिता हो, उदाहरणत, संभव है, इन गैसों का उपयोग हवा के साथ जलाकर प्रकाश अथवा उष्मा पैदा करने में किया जा सकता हो। पत्थर के कोयले से प्रभंजक आसवन से इस प्रकार की गैसों के अतिरिक्त क्रियोज़ोट, नैफ्थैलीन आदि पदार्थ प्राप्त किए जा सकते हैं। मिट्टी के तेल का भी प्रभंजक आसवन किया जा सकता है।

साधारण आसवन का उपयोग इत्र तैयार करने में भी किया जाता है। (इत्र, ऐल्कोहल आदि शीर्षक लेख भी इस संबंध में देखिए)। इत्र तैयार करने में भाप, आसवन का प्रयोग किया जाता है। पानी की भाप के साथ साथ इत्र उड़ाए जाते हैं और संघनित्र में ठंढा करके पानी और इत्र का मिश्रण ग्राही में प्राप्त किया जाता है।

सं०ग्रं० —थॉर्प की "डिक्शनरी ऑव एप्लाइड केमिस्ट्री", इंटर सायंस इन्साइक्लोपीडिया, न्यूयार्क, द्वारा प्रकाशित, "इन्साइक्लोपीडिया ऑव केमिकल टेक्नॉलोजी"।

[स० प्र०]

आसाम

आसाम अथवा असम, गणतंत्र भारत का एक राज्य है, जो देश के उत्तर-पूर्वी सिरे पर स्थित है। आसाम का कुल क्षेत्रफल, पहाड़ी और वनजातियों के प्रदेशों को लेकर, ८५,०१२ वर्गमील है। वनजाति प्रदेश को छोड़कर आसाम की जनसंख्या सन् १९५१ में ९०,४३,७०७ थी। अनुमानत वनजाति प्रदेश में ५,००,००० व्यक्ति रहते हैं। भौगोलिक दृष्टि से आसाम को तीन प्राकृतिक भागों में बाँटा जा सकता है (१) उत्तर में हिमालय पर्वत की पूर्वी श्रेणियाँ। यह भाग मुख्यत हिमालय की निचली श्रेणियों से बना हुआ है। इस भाग में १५,००० फुट से अधिक ऊँची कई चोटियाँ हैं। सबसे ऊँची चोटी नेमचाबेखा (ऊँचाई २५,४४५ फुट) है। (२) पूर्व तथा दक्षिण-पूर्व का पहाड़ी प्रदेश, जो मुख्यत गारो, खासी, जैंतिया और उत्तरी कछार आदि पहाड़ों से बना है, हिमालय और ब्रह्मा (बर्मा) की पर्वतश्रेणियों से बने कोण में स्थित है। इन पहाड़ों के नाम वहाँ की रहनेवाली जातियों के नाम पर रखे गए हैं। इन पहाड़ों में की सबसे ऊँची चोटी 'शिलांग चोटी' है जो ६,४५० फुट ऊँची है। इस भाग को मेघालय भी कहा जाता है, क्योंकि यहाँ संसार में सबसे अधिक वर्षा होती है। (३) ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी आसाम का मुख्य प्रदेश है और लगभग ६० मील चौड़ी है। इसके दोनों ओर ऊँचे पर्वत हैं। पूर्व और दक्षिण-पूर्व की पर्वतशृंखलाएँ आसाम और ब्रह्मा के बीच सीमा हैं। इन पर्वतों को वहाँ पर रहनेवाली नागा जाति के नाम पर नागा पर्वत कहते हैं। इन पर्वतों की सबसे ऊँची 'जाप्वो' चोटी लगभग १०,००० फुट ऊँची है।

नदियाँ—आसाम की प्रमुख नदी ब्रह्मपुत्र है। यह आसाम घाटी के उत्तरी भाग में कई सहायक नदियों का जल ग्रहण करती है, जिनमें दिबंग प्रमुख है, जो तिब्बत में सांग-पो कहलाती है। इसका उद्गम उच्च हिमालय के दूसरी ओर पश्चिम में है जहाँ यह हिमालय पर्वतश्रेणी के समांतर सैकड़ो मील बहती हुई एक खड्ड से होकर कई जलप्रपात और तीव्र धाराएँ बनाती हुई आसाम की घाटी में आती है। दूसरी सहायक नदियाँ सुबनसिरि, बूढी दिहिंग, दिसांग, धनश्री और कालांग हैं। धनश्री और कालांग की घाटियाँ मिकिर तथा रेंगमाँ पर्वतों को दक्षिणी पर्वतसमूह से अलग कर देती हैं। ब्रह्मपुत्र नदी हिमालय के खड्डों (गार्ज) से निकलकर मैदान में प्रवेश करती है तथा पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम दिशाओं में बहती है। यह गारो पहाड़ी के समीप आकर दक्षिण की ओर बहने लगती है। वर्षा ऋतु में ब्रह्मपुत्र का पाट कई मील चौड़ा हो जाता है तथा कई स्थानों पर तो सागर का सा रूप ले लेता है। उस समय इसकी विशालता देखने योग्य रहती है।

भूविज्ञान—भूविज्ञान की दृष्टि से आसाम के पर्वत की संरचना हिमालय और बर्मा दोनों की पर्वतश्रेणियों की संरचनाओं से भिन्न है। आसाम की पर्वतशृंखलाओं का अधिकतम भाग दलाश्म (नाइस) और सुभाजा (शिस्ट) से बना हुआ है। ये भाग खटी युग के स्तरों द्वारा, जो मुख्यत कोयला युक्त बलुआ पत्थर है, ढकी हुई हैं। ये संरचनाएँ उत्तर की ओर उसी प्रकार पतली होती गई हैं जैसे समुद्रतट की ओर जल की गहराई कम होती है। ये संरचनाएँ क्रमानुसार तृतीयक चट्टानों से ढकी हुई हैं जिनमें नाणकाश्म (न्यूम्युलाइट नामक जीवों के अवशेषों से बने न्यूम्युलिटिक) स्तर और कोयला युक्त चट्टानें भी हैं। इन चट्टानों में न तो हिमालयभंज है, न बर्माभंज। उत्तरी भाग में ये चट्टानें समतल हैं, परंतु दक्षिणी भाग में ये एकाएक दक्षिण की ओर नीचे झुक गई हैं।

आसाम में भूकंप बहुत आते हैं। इसका मुख्य कारण यहाँ की चट्टानों तथा स्तरों का नवीन और अस्थायी होना है। सबसे बड़ा भूकंप सन् १८९७ में आया था जिसकी नाभि खासी और गारो पर्वतों में थी। इसके कारण रेल की लाइनें नष्ट भ्रष्ट हो गईं, नदियों के बहाव बदल गए, अनेक स्थानों पर भूस्खलन हुए और लगभग १,५५० व्यक्तियों की मृत्यु हुई। दूसरे मुख्य भूकंप सन् १८६९, १८८८, १९३०, १९३४ और १९५० में आए थे।

खनिज पदार्थ—आसाम में मुख्य खनिज पदार्थ कोयला और मिट्टी का तेल है। सन् १९४६ में कोयले का उत्पादन लगभग ३,५०,००० टन था। माकुम और नाजिरा से कोयला निकाला जाता है, परंतु उत्पादन घटता जा रहा है। मिट्टी का तेल उत्पन्न करनेवाले प्रमुख स्थान डिगबोई, नाहरकोटिया तथा मोरान हैं जो शिवसागर तथा लखीमपुर जिले में हैं। यहाँ से ६५० लाख गैलन तेल वार्षिक निकाला जाता है। आसाम में कोरंडम (पत्थर), मकान बनाने का पत्थर, चिकनी मिट्टी, सोना, चूने का पत्थर, नमक और सिलिमेनाइट भी कुछ मात्रा में पाए जाते हैं।

जलवायु—आसाम की जलवायु मानसूनी है और जून से सितंबर तक सबसे अधिक वर्षा होती है। बसंत ऋतु में बिजली चमकने के साथ आँधियाँ आती हैं। साधारणत वार्षिक वर्षा ७५" होती है, यद्यपि इसमें घट बढ होती रहती है। खासी और जैंतिया पर्वतों की दक्षिणी ढालों पर स्थित चेरापूंजी में वर्षा का औसत ४००" से भी अधिक है। वर्ष भर सापेक्ष आर्द्रता अधिक रहती है। इसका औसत मार्च में ७६ प्रतिशत और दिसंबर में ९१ प्रतिशत रहता है। जाड़ों में पहाड़ों पर कोहरा पड़ता है। मैदान में निम्नतम ताप जनवरी में ५१° फा० और जुलाई में उच्चतम ताप ७७° फा० औसतन रहता है। इस काल में अन्य स्थानों में उच्च ताप का औसत ७४° से ८९° फा० के बीच रहता है।

जंगल—सन् १९४८-४९ में आसाम में २१,००० वर्ग मील जंगल था जिसमें ६,००० वर्गमील सरक्षित जंगल था। निचले भागों में साखू और बाँस प्रमुख हैं जिनमें साखू (साल) इन जंगलों की सबसे बहुमूल्य लकड़ी है। ऊँचे भागों में ओक और चीड़ (पाइन) बहुत हैं। लकड़ी, लाख, रबर तथा मसाले इत्यादि जंगल की मुख्य संपत्ति हैं।

जीवजंतु—आसाम की निचली पर्वतश्रेणियों और ब्रह्मपुत्र की घाटी में जंगली हाथी बहुतायत से पाए जाते हैं। सरकार द्वारा संचालित खेदा से हाथी पकड़े जाते हैं। साधारण व्यक्तियों को हाथी मारने या पकड़ने के लिये नीलाम द्वारा अधिकार दिए जाते हैं। ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे दलदली भाग में एक सींगवाले गैंडे भी पाए जाते हैं। बाघ, चीते और भालू

लेकर १/१० सेकेंड बाद तक बना रहता है। साधारण आवृत्तिदर्शी में एक वृत्ताकार पत्र या चक्र (डिस्क) होता है, जिसकी बारी के समीप बराबर दूरियो पर एक अथवा दो तीन वृत्ताकार पक्तियो में छिद्र बने रहते है। वृत्ताकार पत्र को एक चाल से घुमाया जाता है और छिद्रो के समीप आँख लगाकर गतिमान वस्तु का निरीक्षण किया जाता है। जब छिद्र वस्तु के सामने आता है तभी वस्तु दिखाई पडती है। यदि किसी आवृत्तिदर्शी को ऐसी गति से घुमाया जाय कि मशीन की प्रत्येक आवृत्ति में मशीन का वही भाग घूमते पत्र के एक छिद्र के सामने बराबर आता रहे तो दृष्टिस्थापकत्व के कारण चलती हुई मशीन हमे स्थिर, किंतु सामान्य प्रकाश में धुँधली, दिखाई पडेगी। स्पष्ट निरीक्षण के लिये मशीन को अत्यत तीव्र प्रकाश मे रहना चाहिए। यदि एकसमान तीव्र प्रकाश के बदले मशीन को प्रकाश की तीव्र दमको (फ्लैशेज) द्वारा प्रकाशित किया जाय और यदि दमको की आवृत्तिसख्या इतनी हो कि एक दमक मशीन पर इसके ठीक एक परिभ्रमण पर पडे तो मशीन स्थिर दिखाई पडेगी। इस आयोजन से मशीन के किसी भाग का फोटो लिया जा सकता है, उसका निरीक्षण किया जा सकता है और मशीन का कोणीय वेग ज्ञात किया जा सकता है। किसी दोलनीय वस्तु, जैसे कपित स्वरित्र (ट्यूनिंग फॉर्क) की भी आवृत्तिसख्या निकाली जा सकती है।

आवृत्तिदर्शी द्वारा ट्यूनिंग फॉर्क की आवृत्तिसख्या निकालना — आवृत्तिदर्शी आ (देखे चित्र १) को विद्युत् मोटर मो द्वारा घुमाया जाता है। मोटर की गति इच्छानुसार घटा बढाकर आवृत्तिदर्शी की परिभ्रमणसख्या ठीक की जा सकती है और परिभ्रमणसख्या का मान मोटर की धुरी पर लगे हुए गणक से ज्ञात किया जा सकता है। दूरदर्शी दू आवृत्तिदर्शी के छिद्र पर सधा रहता है। इस दूरदर्शी और आवृत्तिदर्शी के बीच विद्युत्स्वरित्र स्व क्षैतिज स्थिति मे रखा जाता है जिसमे स्वरित्र की दोनो भुजाओ के मध्य से आवृत्तिदर्शी के छिद्र दूरदर्शी मे दिखाई पडते रहे। स्वरित्र की दोनो भुजाओ मे ऐल्यूमीनियम की एक एक पत्ती लगा दी जाती है। इनमे से एक पत्ती मे एक छिद्र ऐसा बना रहता है कि वह दूसरी भुजा की पत्ती द्वारा स्वरित्र की स्थिरावस्था मे पूरा ढका रहे और दोलन करते समय जब भुजाएँ
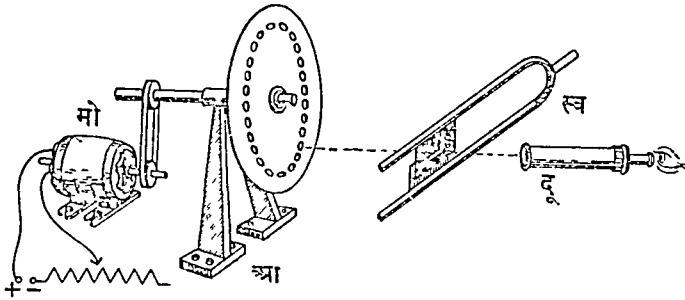
चित्र १ स्वरित्र की आवृत्तिसख्या ज्ञात करना।

फैल जायँ तो छिद्र खुल जाय। इस भाँति पत्तियो के बीच का छिद्र एक सेकड में उतनी बार खुलता और बद होता है जितनी स्वरित्र की आवृत्तिसख्या होती है। इसके बाद आवृत्तिदर्शी को चलाकर स्वरित्र को विद्युत् द्वारा दोलित करते है। विद्युत् के प्रभाव से स्वरित्र का दोलन स्थायी बना रहता है। दूरदर्शी मे आवृत्तिदर्शी के छिद्र पहले धुँधले, फिर मोटर की गति बढने के साथ फैलकर पूर्ण वृत्ताकार हो जाते है। गति अधिक बढने पर छिद्र अलग अलग स्पष्ट दिखाई पडते है। यह तभी सभव होता है जब स्वरित्र के दोलनकाल मे आवृत्तिदर्शी का एक छिद्र निकटवर्ती दूसरे छिद्र के स्थान पर घूमकर आ जाता है। यदि चक्र की गति तनिक कम कर दी जाती है तो छिद्र पीछे की ओर धीरे धीरे घूमते हुए जान पडते है और यदि गति तनिक बढाई जाती है तो छिद्र आगे की ओर धीरे धीरे बढते प्रतीत होते है। जब छिद्र स्पष्ट स्थिर दिखाई पडते है तो आवृत्तिदर्शी की भ्रमणसख्या देखकर स्वरित्र की आवृत्तिसख्या ज्ञात की जा सकती है। यदि चक्र के वृत्त पर स छिद्र है और चक्र एक सेकड मे म परिभ्रमण करता है तो स्वरित्र की आवृत्तिसख्या स × म होती है।

आवृत्तिदर्शी की गति इसकी ठीक दूनी अथवा तिगुनी, चौगुनी इत्यादि होने पर भी छिद्र इसी प्रकार स्थिर दिखाई पडते है। इस कारण प्रयोग में आवृत्तिदर्शी की गति प्रारभ मे कम रखकर धीरे धीरे बढाई जाती है।

आवृत्तिदर्शी प्रभाव—आजकल घरो मे और सडको पर रोशनी ट्यूबलाइट द्वारा की जाती है। इनमें प्रकाश उच्च आवृत्तिसख्या के प्रत्यावर्ती विद्युद्विसर्जन से उत्पन्न होता है। ऐसे प्रकाश में यदि मेज का पखा चलाया जाता है अथवा बिजली काटकर जब उसे बद किया जाता है, तो बढती अथवा घटती चाल मे पखे के ब्लेड कभी रुकते हुए, फिर उलटी दिशा मे चलते, फिर रुकते और सीधा चलते दिखाई पडते है, अर्थात् ब्लेड उलटा सीधा चलते और बीच बीच मे रुकते जान पडते है। यह आवृत्तिदर्शी प्रभाव ट्यूबलाइट के प्रकाशविसर्जन की आवृत्तिसख्या पर निर्भर रहता है। यदि पखे पर एकदिश धारा के बल्ब का प्रकाश पडता हो तो हमे ऐसा अनुभव नही होता। इसी भाँति चलचित्र (सिनेमा) मे चलता हुआ गाडी का डिब्बा जब रुकता हुआ दिखाया जाता है तो तीलीदार पहिया पहले कभी रुककर उलटी दिशा में घूमता और फिर रुककर सीधा घूमता जान पडता है। यह दृश्य भी चलचित्र के पर्दे पर खडित प्रकाश से उत्पन्न होता है।

आवृत्तिदर्शी प्रभाव का कारण निम्नलिखित प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है। बडे श्वेत वृत्ताकार पत्र च पर (देखे चित्र २) काले वृत्त और बिंदु
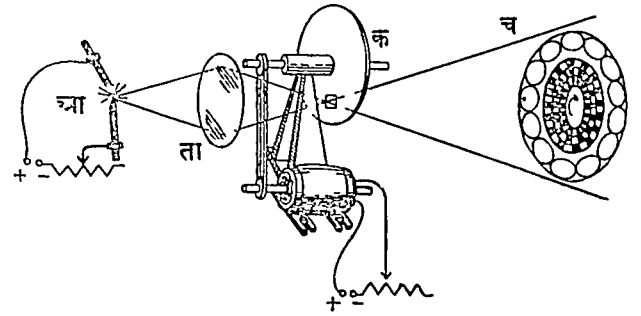
चित्र २ आवृत्तिदर्शी का सिद्धात

बनाए गए है। इसपर आर्क आ का प्रकाश ताल ता द्वारा पडता है। ताल और वृत्ताकार पत्र के बीच एक दूसरा वृत्ताकार पत्र क है, जिसमें एक लबा छेद बना हुआ है। वृत्ताकार पत्र भिन्न भिन्न गतियो से अलग अलग घुमाए जाते है। मान लीजिए वृत्ताकार पत्र क एक सेकड में १३ चक्कर लगाता है, तो इसके छिद्र से पत्र च का कोई भाग एक सेकड मे १३ बार प्रकाशित होता है। यदि च एक सेकड मे केवल एक ही चक्कर उसी दिशा मे लगाए और चित्र के अनुसार यदि पहली दमक वृत्त १ पर पडे तो इस वृत्त के दोनो बिंदु एक दूसरे के ठीक ऊपर नीचे दिखाई पडेगे। दूसरी दमक के पहुँचते ही वृत्त १ के स्थान पर वृत्त २ आ जायगा और बिंदु दक्षिणावर्त दिशामे मुडे जान पडेंगे। तीसरे स्फुरण के आते ही वृत्त ३ आकर वृत्त १ के स्थान पर पडेगा और बिंदु अधिक मुडे दिखाई पडेगे। वृत्त सब एक समान है और
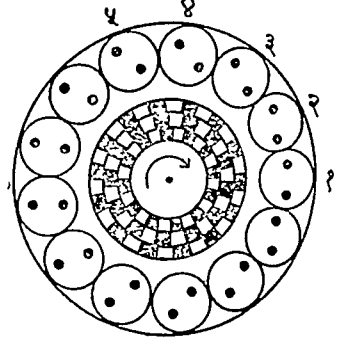
चित्र ३ पूर्वगामी चित्र का वृत्त च, बडे पैमाने पर

सब बारी बारी से स्थान १ पर आते है, जहाँ प्रकाश की दमकें पडती है। अत वृत्त स्थिर और उनके भीतर के बिंदु दक्षिणावर्त घमते दिखाई पडेगे। पत्र च के केंद्र के समीप तीन खानेदार वृत्त बनाए गए है, जिनमें एकातरक्रम से सफेद काले खाने बने हुए है। मध्यवर्ती वृत्त में १३ सफेद और १३ काले खाने है। भीतरी वृत्त में १२ सफेद और १२ काले खाने है और बाहरी वृत्त मे प्रत्येक प्रकार के १४ ऐसे खाने है। च और क इन दोनो पत्रो की आपेक्षिक गतियो के ऐसे सतुलन पर कि परिधि के वृत्त स्थिर जान पडे, इन तीनो केंद्रीय खानेदार वृत्तो मे बीचवाला वृत्त स्थिर, बाहरी दक्षिणावर्त और भीतरी वामावर्त घूमता दिखाई पडेगा।

को अपनाया। कुछ उत्साही वर्ग इसी को राजभाषा बनाने के पक्ष मे थे। साहित्य के इतिहास मे आसेन ही ऐसे व्यक्ति है जिन्होने एक ऐसी नवीन भाषा का निर्माण किया जो इतनी जनप्रिय भी हुई। [स० च०]

आस्टिन यह टेक्सास राज्य की राजधानी तथा प्रमुख नगर है। यह हाउहस्टन से ७६ मील उत्तर-पूर्व मे, ५०२ फुट से ७०० फुट तक की ऊँचाई पर, कोलरैडो नदी के किनारे बसा है। इसके पश्चिम मे ऊँची पहाडियाँ है जो पूरब की तरफ ढालुआँ है। यह राष्ट्रीय सडक पर पडता है तथा यहाँ से मोटरो, बसो और ट्रको से चारो ओर जाने के साधन है। यहाँ की जलवायु समशीतोष्ण है। यह कृषिक्षेत्र मे पडता है जहाँ अनाज, कपास, चारा, पशुओ को खिलाए जानेवाले अनाज, फल तथा सब्जी की खेती होती है और गाय, भेड, बकरी और कुक्कुट पाले जाते है।

आस्टिन थोक व्यापार तथा उद्योग धधो का एक प्रमुख व्यावसायिक केद्र है। यहाँ मास को डब्बे मे बद करना, चूना-पत्थर खोदना, मकानो के लिये बने पत्थर, ईट और खपडे, लकडी के सामान, कक्रीट के पाइप, डीजल इजन, खाने के तथा चमडे के सामान इत्यादि प्रमुख व्यवसाय है। यहाँ शिक्षा तथा आमोद प्रमोद की सुविधाएँ है। इस शताब्दी के शुरू से इस नगर ने बहुत प्रगति की है। इसकी जनसख्या १८५० मे ६२६, १६०० मे २२,२५० तथा १९५० मे १,३१,९६४ थी। [नृ० कु० सि०]

आस्टिन, जॉन एक अग्रेज न्यायज्ञ, जन्म ३ मार्च, सन् १७९० ई० को इग्लैड के इप्सविच नामक स्थान मे, माता-पिता के ज्येष्ठ पुत्र। जॉन सेना मे भरती हुए और सन् १८१२ ई० तक वहाँ रहे। फिर सन् १८१८ ई० मे वकील हुए और नारफोक सरकिट मे प्रवेश किया।

जॉन ने सन् १८२५ ई० मे वकालत छोड दी। उसके बाद लदन विश्वविद्यालय की स्थापना होने पर वह न्यायशास्त्र के शिक्षक नियुक्त हुए। विधिशिक्षा की जर्मन प्रणाली का अध्ययन करने के लिये वह जर्मनी गए। वह अपने समय के बडे बडे विचारको के सपर्क मे आए जिनमे सविग्नी, मिटरमायर एव श्लेगल भी थे। आस्टिन के विख्यात शिष्यो मे जॉन स्टुअर्ट मिल थे। सन् १८३२ ई० मे उन्होने अपनी पुस्तक 'प्राविस ऑव जूरिसप्रूडेन्स डिटरमिड' प्रकाशित की। सन् १८३४ ई० मे आस्टिन ने इनर टेपिल मे न्यायशास्त्र के साधारण सिद्धात एव अतर्राष्ट्रीय विधि पर व्याख्यान दिए। दिसबर, सन् १८५९ ई० में अपने निवासस्थान वेब्रिज मे मरे।

ऑस्टिन ने एक ऐसे सप्रदाय की स्थापना की जो बाद मे विश्लेषणीय सप्रदाय कहा जाने लगा। उनकी विधि सबधी धारणा को कोई भी नाम दिया जाय, वह निस्सदेह विशुद्ध विधि विधान के प्रवर्तक थे। आस्टिन का मत था कि राजनीतिक सत्ता कुलीन या सपत्तिमान् व्यक्तियो के हाथो मे पूर्णतया सुरक्षित रहती है। उन का विचार था कि सपत्ति के अभाव मे बुद्धि और ज्ञान अकेले राजनीतिक क्षमता नही दे सकते। आस्टिन के मूल प्रकाशित व्याख्यान प्राय भूले जा चुके थे जब सर हेनरी मेन ने, इनर टेपिल में न्यायशास्त्र पर दिए गए अपने व्याख्यानो से उनके प्रति पुन अभिरुचि पैदा की। मेन इस विचार के पोषक थे कि आस्टिन की देन के ही फलस्वरूप विधि का दार्शनिक रूप प्रकट हुआ, क्योकि आस्टिन ने विधि तथा नीति के भेद को पहचाना था और उन मनोभावो को समझाने का प्रयास किया था जिनपर कर्तव्य, अधिकार, स्वतत्रता, क्षति, दड और प्रतिकार की धारणाएँ आधारित थी। आस्टिन ने राजसत्ता के सिद्धात को भी जन्म दिया तथा वस्त्वधिकार और व्यक्तिगत अधिकार के अतर को समझाया। [वा० मु०]

आस्टिन, जेन अग्रेजी कथासाहित्य मे आस्टिन का विशिष्ट स्थान है। इनका जन्म सन् १७७५ ई० मे इग्लैड के स्टिवेंटन नामक छोटे से गाँव मे हुआ था। माँ बाप के सात बच्चो मे ये सबसे छोटी थी। इनका प्राय सारा जीवन ग्रामीण क्षेत्र के शात वातावरण मे ही बीता। सन् १८१७ मे इनकी मृत्यु हुई। प्राइड ऐंड प्रेजुडिस, सेस ऐंड सेसिबिलिटी, नार्देजर अबी, एमा, मैसफील्ड पार्क तथा परसुएशन इनके छ मुख्य उपन्यास है। कुछ छोटी मोटी रचनाएँ वाट्सस, लेडी सूसन, सडिशन और लव ऐंड फ्रेडशिप उनकी मृत्यु के सौ वर्ष बाद सन् १९२२ और १९२७ के बीच छपी।

जेन आस्टिन के उपन्यासो मे हमे १८वी शताब्दी की साहित्यिक परपरा की अतिम झलक मिलती है। विचार एव भावक्षेत्र मे सयम और नियत्रण, जिनपर हमारे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन का सतुलन निर्भर करता है, इस क्लासिकल परपरा की विशेषताएँ थी। ठीक इसी समय अग्रेजी साहित्य मे इस परपरा के विरुद्ध रोमानी प्रतिक्रिया बल पकड रही थी। लेकिन जेन आस्टिन के उपन्यासो मे उसका लेशमात्र भी सकेत नही मिलता। फ्रास की राज्यक्राति के प्रति भी, जिसका प्रभाव इस युग के अधिकाश लेखको की रचनाओ मे परिलक्षित होता है, ये सर्वथा उदासीन रही। इग्लैड के ग्रामीण क्षेत्र मे साधारण ढग से जीवनयापन करते हुए कुछ इने गिने परिवारो की दिनचर्या ही उनके लिये पर्याप्त थी। दैनिक जीवन के साधारण कार्यकलाप, जिन्हे हम कोई महत्व नही देते, उनके उपन्यासो की आधारभमि है। असाधारण या प्रभावोत्पादक घटनाओ का उनमे कतई समावेश नही।

जेन आस्टिन की रचनाएँ कोरी भावुकता पर मधुर व्यग्य से ओतप्रोत है। स्त्री-पुरुष-सबध उनके उपन्यासो का केद्रबिंदु है, लेकिन प्रेम का विस्फोटक रूप वे कही भी नही प्रदर्शित करती। उनके नारी पात्रो का दृष्टिकोण इस विषय मे पूर्णतया व्यावहारिक है। उनके अनुसार प्रेम की स्वाभाविक परिणति विवाह एव सुखी दापत्य जीवन मे ही है।

शिक्षा देने या समाजसुधार की प्रवृत्ति जेन आस्टिन मे बिलकुल नही थी। अपने आसपास के साधारण जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति ही उनका ध्येय थी। अन्य दृष्टिकोणो से भी उनका क्षेत्र सीमित था। फिर भी उनके उपन्यासो मे मानव जीवन की नैसर्गिक अनुभूतियो का व्यापक दिग्दर्शन मिलता है। कला एव रूपविधान की दृष्टि से भी उनके उपन्यास उच्च कोटि के है।

सं०ग्रं०—डेविड सेसिल, लॉर्ड जेन आस्टिन, कॉर्निश, फ्रासिस वारेन जेन आस्टिन (इग्लिश मेन ऑव लेटर्स सीरीज), स्मिथ, गोल्डविन : लाइफ ऑव जेन आस्टिन, सीमूर, बीट्रिस बीन जेन आस्टिन, स्टडी फार ए पोर्ट्रेट, लैसेल्स, मेरी जेन आस्टिन ऐड हर आर्ट। [तु० ना० सिं०]

आस्ट्राखाँ यूरोपीय रूस का एक नगर जो वोल्गा नदी के बाएँ किनारे, डेल्टा के सिरे पर, समुद्रतल से ५० फुट नीचे बसा है (४६° २२' उ० अ०, ४८° ६' पू० दे०)। साल मे तीन से लेकर चार महीने तक यहाँ का पानी जमकर वर्फ हो जाता है। यह कैस्पियन सागर पर स्थित बदरगाह तथा ताब्रीज से रेलवे द्वारा सबद्ध है। ताब्रीज यहाँ से दक्षिण-पश्चिम मे १४५ मील दूर है। आस्ट्राखाँ का मुख्य निर्यात मछली (कैवियर), तरबूजा तथा शराब है। अनाज, नमक, धातु, कपास तथा ऊनी सामान भी बाहर भेजा जाता है। भेडो के नवजात मेमनो के चमडे, जिन्हे इस नगर के नाम पर आस्ट्राखाँ कहते है, यहाँ से निर्यात किए जाते है। शहर तीन भागो मे विभाजित है (१) 'क्रेम्ल' या पहाडी किला, जहाँ ईटो का एक कथीड्रल (गिरजाघर) है, (२) 'ह्वाइट टाउन', जिसमे प्रशासकीय ऑफिस तथा बाजार है और (३) उपनगरी, जिसमे लकडी के मकान तथा टेढ मेढे रास्ते है। १९१९ ई० मे यहाँ विश्वविद्यालय की स्थापना की गई। यहाँ पर प्राविधिक विद्यालय, सग्रहालय, खुले स्थान तथा सर्वसाधारण के लिये उद्यान है। पहले यह नगर तातार राज्य की राजधानी था और वर्तमान स्थिति से ७ मील उत्तर मे स्थित था, परतु तैमूर द्वारा १३९५ मे नष्ट किए जाने पर आधुनिक स्थान पर बसा। ईवान चतुर्थ ने तातारो को १५५६ ई० मे निष्कासित कर दिया। १८वी शताब्दी मे यह नगर ईरानियो द्वारा लूटा गया था। कई बार इस नगर मे भीषण आग लगी, १८३६ ई० मे हैजे द्वारा बडी क्षति हुई और १९२१ मे भयकर दुर्भिक्ष पडा। इसकी आबादी १९५६ ई० मे २,७६,००० थी। [नृ० कु० सिं०]

आस्ट्रियन साहित्य जर्मन साहित्य से मूल का नाता होते हुए भी आस्ट्रियन साहित्य की निजी जातिगत विशेषताएँ है, जिनके निरूपण मे आस्ट्रिया की भौगोलिक तथा ऐतिहासिक परि-

कुल में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करना कर्तव्य है। इसका मुख्य उद्देश्य विद्या का उपार्जन और व्रत का अनुष्ठान है। मनु ने ब्रह्मचारी के जीवन और उसके कर्तव्यो का वर्णन विस्तार के साथ किया है (अध्याय २, श्लोक ४१–२४४)। ब्रह्मचर्य उपनयन सस्कार के साथ प्रारभ और समावर्तन के साथ समाप्त होता है। इसके पश्चात् विवाह करके मनुष्य दूसरे आश्रम गार्हस्थ्य मे प्रवेश करता है। गार्हस्थ्य समाज का आधारस्तभ है। "जिस प्रकार वायु के आश्रय से सभी प्राणी जीते है उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम के सहारे अन्य सभी आश्रम वर्तमान रहते हैं" (मनु० ३७७)। इस आश्रम में मनुष्य ऋषिऋण से वेद के स्वाध्याय द्वारा, देवऋण से यज्ञ द्वारा और पितृऋण से सतानोत्पत्ति द्वारा मुक्त होता है। इसी प्रकार नित्य पचमहायज्ञो—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ तथा भूतयज्ञ—के अनुष्ठान द्वारा वह समाज एव ससार के प्रति अपने कर्तव्यो का पालन करता है। मनुस्मृति के चतुर्थ एव पचम अध्याय मे गृहस्थ के कर्तव्यो का विवेचन पाया जाता है। आयु का दूसरा चतुर्थाश गार्हस्थ्य में विताकर मनुष्य जब देखता है कि उसके सिर के वाल सफेद हो रहे हैं और उसके शरीर पर झुर्रियाँ पड रही है तब वह जीवन के तीसरे आश्रम—वानप्रस्थ—में प्रवेश करता है (मनु० ५, १६९)। निवृत्ति मार्ग का यह प्रथम चरण है। इसमें त्याग का आशिक पालन होता है। मनुष्य सक्रिय जीवन से दूर हो जाता है, किंतु उसके गार्हस्थ्य का मूल पत्नी उसके साथ रहती है और वह यज्ञादि गृहस्थधर्म का अशत पालन भी करता है। परतु ससार का क्रमश त्याग और यतिधर्म का प्रारभ हो जाता है (मनु० ६,)। वानप्रस्थ के अनतर शातचित्त, परिपक्व वयवाले मनुष्य का पारिव्राज्य (सन्यास) प्रारभ होता है (मनु० ६, ३३)। जैसा पहले लिखा गया है, प्रथम तीन आश्रमो और उनके कर्तव्यो के पालन के पश्चात् ही मनु सन्यास की व्यवस्था करते हैं "एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाकर, जितेंद्रिय हो, भिक्षा (ब्रह्मचर्य), वलिवैश्वदेव (गार्हस्थ्य तथा वानप्रस्थ) आदि से विश्राम पाकर जो सन्यास ग्रहण करता है वह मृत्यु के उपरात मोक्ष प्राप्त कर अपनी (पारमार्थिक) परम उन्नति करता है (मनु० ६, ३४)। "जो सब प्राणियो को अभय देकर घर से प्रव्रजित होता है उस ब्रह्मवादी के तेज से सब लोक आलोकित होते हैं" (मनु० ६, ३९)। "एकाकी पुरुष को मुक्ति मिलती है, यह समझता हुआ सन्यासी सिद्धि की प्राप्ति के लिये नित्य विना किसी सहायक के अकेला ही विचरे, इस प्रकार न वह किसी को छोडता है और न किसी से छोडा जाता है" (मनु०६, ४२)। "कपाल (भग्न मिट्टी के वर्तन के टुकडे) खाने के लिये, वृक्षमूल रहने के लिये, कुचैल (फटे वस्त्र) पहनने के लिये, असहाय (अकेले) विचरने के लिये तथा सभी प्राणियो में समता व्यवहार के लिये मुक्त पुरुष (सन्यासी) के लक्षण हैं" (मनु० ६, ४४)।

आश्रमव्यवस्था का जहाँ शारीरिक और सामाजिक आधार है, वहाँ उसका आध्यात्मिक अथवा दार्शनिक आधार भी है। भारतीय मनीषियो ने मानव जीवन को केवल प्रवाह न मानकर उसको सोद्देश्य माना था और उसका ध्येय तथा गतव्य निश्चित किया था। जीवन को सार्थक वनाने के लिये उन्होने चार पुरुषार्थो—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—की कल्पना की थी। प्रथम तीन पुरुषार्थ साधनरूप से तथा अतिम साध्यरूप से व्यवस्थित था। मोक्ष परम पुरुषार्थ, अर्थात् जीवन का अतिम लक्ष्य था, किंतु वह अकस्मात् अथवा कल्पनामात्र से नही प्राप्त हो सकता है। उसके लिये साधना द्वारा क्रमश जीवन का विकास और परिपक्वता आवश्यक है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये भारतीय समाजशास्त्रियो ने आश्रम सस्था की व्यवस्था की। आश्रम वास्तव मे जीव का शिक्षणालय अथवा विद्यालय है। ब्रह्मचर्य आश्रम मे धर्म का एकात पालन होता है। ब्रह्मचारी पुष्टशरीर, वलिष्ठवुद्धि, शातमन, शील, श्रद्धा और विनय के साथ युगोसे उपार्जित ज्ञान, शास्त्र, विद्या तथा अनुभव को प्राप्त करता है। सुविनीत और पवित्रात्मा ही मोक्षमार्ग का पथिक हो सकता है। गार्हस्थ्य मे धर्मपूर्वक अर्थ का उपार्जन तथा काम का सेवन होता है। ससार में अर्थ तथा काम के अर्जन और उपभोग के अनुभव के पश्चात् ही त्याग और सन्यास की भूमिका प्रस्तुत होती है। सयमपूर्वक ग्रहण के विना त्याग का प्रश्न उठता ही नही। वानप्रस्थ आश्रम में अर्थ और काम के क्रमश त्याग के द्वारा मोक्ष की पृष्ठभूमि तैयार होती है। सन्यास मे ससार के सभी बधनो का त्याग कर पूर्णत मोक्षधर्म का पालन होता है। इस प्रकार आश्रम सस्था मे जीवन का पूर्ण उदार, किंतु सयमित नियोजन था।

शास्त्रो में आश्रम के सवध में कई दृष्टिकोण पाए जाते है जिनको तीन वर्गो मे विभक्त किया जा सकता है (१) समुच्चय, (२) विकल्प और वाध। समुच्चय का अर्थ है सभी आश्रमो का समुचित समाहार, अर्थात् चारो आश्रमो का क्रमश और समुचित पालन होना चाहिए। इसके अनुसार गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम सवधी नियमो का पालन उतना ही आवश्यक है जितना ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एव सन्यास मे धर्म और मोक्षसवधी धर्मो का पालन। इस सिद्धांत के सवसे वडे प्रवर्तक और समर्थक मनु (अ० ४ तथा ६) हैं। दूसरे सिद्धात विकल्प का अर्थ यह है कि ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् व्यक्ति को यह विकल्प करने की स्वतत्रता है कि वह गार्हस्थ्य आश्रम में प्रवेश करे अथवा सीधे सन्यास ग्रहण करे। समावर्तन के सदर्भ में ब्रह्मचारी दो प्रकार के वताए गए है (१) उपकुर्वाण, जो ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता था और (२) नैष्ठिक, जो आजीवन गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहता था। इसी प्रकार स्त्रियो में ब्रह्मचर्य के पश्चात् सद्योद्वाहा (तुरत विवाहयोग्य) और ब्रह्मवादिनी (आजीवन ब्रह्मोपासना मे लीन) होती थी। यह सिद्धात जावालोपनिषद् तथा कई धर्मसूत्रो (वसिष्ठ तथा आपस्तव) और कतिपय स्मृतियो (याज्ञ०, लघु, हारीत) में प्रतिपादित किया गया है। वाध का अर्थ है सभी आश्रमो के स्वतत्र अस्तित्व अथवा क्रमकोन मानना अथवा आश्रम सस्था को ही न स्वीकार करना। गौतम और वौधायनधर्मसूत्रो में यह कहा गया है कि वास्तव में एक ही आश्रम—गार्हस्थ्य है। ब्रह्मचर्य उसकी भूमिका है, वानप्रस्थ और सन्यास महत्व में गौण (और प्राय वैकल्पिक) हैं। मनु ने भी सवसे अधिक महत्व गार्हस्थ्य का ही स्वीकार किया है, जो सभी कर्मो और आश्रमो का उद्गम है। इस मत के समर्थक अपने पक्ष मे शतपथ ब्राह्मण का वाक्य (एतद्वै जरामर्यसत्र यदग्निहोत्रम्=जीवनपर्यत अग्निहोत्र आदि यज्ञ करना चाहिए। शत०१२, ४, १, १), ईशोपनिषद् का वाक्य (कुर्वन्नेवेहि कर्माणि जिजीविषेच्छत समा। ईश २) आदि उद्धृत करते है। गीता का कर्मयोग भी कर्म का सन्यास नही अपितु कर्म मे सन्यास को ही श्रेष्ठ समझता है। आश्रम सस्था को सवसे वडी वाधा परपराविरोधी वौद्ध एव जैन मतो से हुई जो आश्रमव्यवस्था के समुच्चय और सतुलन को ही नही मानते और जीवन का अनुभव प्राप्त किए विना अपरिपक्व सन्यास या यतिधर्म को अत्यधिक प्रश्रय देते है। मनु० (६, ३५) पर भाष्य करते हुए सर्वज्ञ नारायण ने उपर्युक्त तीनो मतो मे समन्वय करने की चेष्टा की है। सामान्यत तो उनको समुच्चय का सिद्धात मान्य है। विकल्प मे वे अधिकारभेद मानते है, अर्थात् जिसको उत्कट वैराग्य हो वह ब्रह्मचर्य के पश्चात् ही सन्यास ग्रहण कर सकता है। उनके विचार में वाध का सिद्धात उन व्यक्तियो के लिये ही है जो अपने पूर्वसस्कारो के कारण सासारिक कर्मो में आजीवन आसक्त रहते है और जिनमें विवेक और वैराग्य का यथासमय उदय नही होता।

सुसघटित आश्रम सस्था भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। किंतु इसका एक वहुत वडा सार्वभौम और शास्त्रीय महत्व है। यद्यपि ऐतिहासिक कारणो से इसके आदर्श और व्यवहार मे अतर रहा है, जो मानव स्वभाव को देखते हुए स्वाभाविक हे, तथापि इसकी कल्पना और आशिक व्यवहार अपने आप मे गुरुत्व रखते हैं। इस विषय पर डॉयसन (एनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स—'आश्रम' शब्द) का निम्नाकित मत उल्लेखनीय है "मनु तथा अन्य धर्मशास्त्रो मे प्रतिपादित आश्रम की प्रस्थापना से व्यवहार का कितना मेल था, यह कहना कठिन है, किंतु यह स्वीकार, करने में हम स्वतत्र हैं कि हमारे विचार मे ससार के मानव इतिहास में अन्यत्रकोई ऐसा (तत्व या सस्था) नही है जो इस सिद्धात की गरिमा की तुलना कर सके।"

स० ग्र०—मनुस्मृति (अध्याय ३, ४, ५ तथा ६), पी० वी० काणे हिस्ट्री ऑव धर्मशास्त्र, भाग २, खड १, पृ० ४१६-२६, भगवानदास सायस ऑव सोशल आर्गेनाइजेशन, भाग १, राजवली पाडेय हिंदू सस्कार, धार्मिक तथा सामाजिक अध्ययन, चौखभा भारती भवन, वाराणसी, हेस्टिग्ज एनसाइक्लोपीडिया ऑव रेलिजन ऐंड एथिक्स, 'आश्रम' शब्द। [रा० ब० पा०]

आश्रव वौद्ध अभिधर्म के अनुसार आश्रव चार होते हैं—कामाश्रव, भवाश्रव, दृष्ट्याश्रव और अविद्याश्रव। ये प्राणी के चित्त मे आ पडते हैं और उसे भवचक्र मे बाँधे रहते हैं। मुमुक्षु योगी इन आश्रवो से छूटकर अर्हत् पद का लाभ करता है।

प्रथम महायुद्ध तथा परवर्ती उपन्यासकार जीवन के प्रति क्लात उदासीनता, उत्तेजक नकारात्मकता अथवा प्राणशक्ति की प्रवल स्वीकारोक्ति आदि विविध परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो के पोषक है। धार्मिक, आध्यात्मिक तथा रहस्यवादी विषय पुन उपन्यास की कथावस्तु वन गए। आतक तथा वेल्सवाद (प्रसिद्ध आग्ल उपन्यासकार एच०जी०वेल्स की समस्त दु खदोषो से मुक्त अति आदर्श मानव समाज की परिकल्पना) से पूर्ण उपन्यास भी रचे जाने लगे। ओट्टो सोयका, फ्राज, स्पुडा, नाउल वूसोन आदि उपन्यासकार इसी वर्ग के है। किंतु इसी युग मे रुडॉल्फ क्रेउत्ज भी हुआ जिसने युद्ध के नितात विनाश तथा शाति का प्रतिपादन किया। इस दृष्टि से हम क्रेउत्ज को लियों ताल्स्ताय की परपरा का अति आधुनिक उपन्यासकार कह सकते है।

आस्ट्रियाई नाटक साहित्य मे दो दल स्पष्ट रहे। प्रथम तो स्वाभाविकतावादी श्नित्ज़लर का था, जिसके प्रधान उपकरण नवरोमासवाद अथवा हॉफमासठाल की नवालकृत शैली थे और जो उच्च तथा उच्च मध्यवर्गीय समाज की शृगारिक समस्याओ पर सुखद मनोरजक नाटक रचते थे। व्हार, साल्टिन, मूलर, वर्टहाइमर, साइगफ्राइड, ट्रेबित्श और कुर्त फ्राइब्यर्गर इसी दल के प्रतिष्ठित नाटककार हुए। दूसरा दल आदिम शक्तिमत्ता में आस्था रखता था और अति यथार्थवादी नाटको की रचना करता था। इसके नेता कार्ल शूनहेयर हुए।

हाफमासठाल के नाटक 'प्रत्येक व्यक्ति' (सन् १९१२ ई०) से प्रभावित होकर नाटककार म्यल और ग्योर्ग ने मध्ययुगीन 'नैतिकतावादी' नाटक को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया।

क्रूर स्वाभाविकातावाद के विरोधी वाइल्डगास के नाटक आनदित अभिव्यक्तिवाद के जनक थे और यद्यपि युद्धपूर्वकाल मे प्रारभ हुए थे, तथापि आस्ट्रियन साम्राज्यवादी व्यवस्था का ह्रास होने के बाद भी युद्धोत्तरकाल मे लोकप्रिय रहे। रचनाकार के अह को उच्चासीन करके वाइल्डगास ने आस्ट्रियाई नाटक को रूप-वस्तु-विषयक रूढियो की शृखला से मुक्त कर दिया। व्यर्फेल इस नवीन धारा के सबसे महान् मौलिक नाटककार स्वीकृत हुए। जिस 'वीन बुर्गथियाटर' ने जर्मन नाटकसाहित्य तथा मच कला का नेतृत्व किया, उसका प्रवल प्रतिद्वद्वी 'डेयर जोसफस्टाड' स्थित माक्स राइनहार्ड का थियेटर सिद्ध हुआ। राइनहार्ड के ही प्रयत्नो के फलस्वरूप आज साल्ज़बुर्ग मे वार्षिक नाटकोत्सव होता है जो आस्ट्रियाई साहित्य तथा सस्कृति का गौरव है। [का० च० सौ०]

आस्ट्रिया मध्य यूरोप के दक्षिणी-पूर्वी भाग मे एक छोटा गणतात्रिक राज्य है। स्थिति १०° १' पूर्वी से १६° ४०' पूर्वी देशातर तथा ४६° ३२' उ० से ४८° ५५' उत्तरी अक्षाश के बीच। क्षेत्रफल ३२,३६९ वर्ग मील (जिसमे ९२ ३ प्रति शत भूमि पर्वतीय है।) जनसख्या ६९,३३,९०५ (१९५१ ई०)।

देश के उत्तर मे जर्मनी तथा चेकोस्लोवाकिया, दक्षिण मे यूगोस्लाविया तथा इटली, पूर्व मे हगरी और पश्चिम मे स्विट्ज़रलैंड के देश है।

आस्ट्रिया मे पूर्वी आल्प्स की श्रेणियाँ फैली हुई है। इस पर्वतीय देश का पश्चिमी भाग विशेष पहाडी है जिसमे ओट्ज़लरस्टुवाई, जिलरतुल आल्प्स (१२४६ फुट) आदि पहाडियाँ है। पूर्वी भाग की पहाडियाँ अधिक ऊँची नही है। देश के उत्तर-पूर्वी भाग मे डैन्यूब नदी पश्चिम से पूर्व को (२१७ मील लबी) वहती है। ईन, द्रवा आदि देश की सारी नदियाँ डैन्यूब की सहायक है। उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर स्थित कास्टैस, दक्षिण-पूर्व मे स्थित न्यूडिलर तथा अतर अल्फ गैग, आसे आदि झीले देश की प्राकृतिक शोभा वढाती है।

आस्ट्रिया की जलवायु विषम है। यहाँ गर्मियो मे कुछ अधिक गर्मी तथा जाडो मे अधिक ठढक पडती है। यहाँ पछुआ तथा उत्तर-पश्चिमी हवाओ से वर्षा होती है। आल्प्स की ढालो पर पर्याप्त तथा मध्यवर्ती भागो मे कम पानी वरसता है।

यहाँ की वनस्पति तथा पशु मध्य यूरोपीय जाति के है। यहाँ देश के ३८ प्रति शत भाग मे जगल है जिनमे ७१ प्रति शत चीड जाति के, १९ प्रति शत पतझडवाले तथा १० प्रति शत मिश्रित जगल है। आल्प्स के भागो में
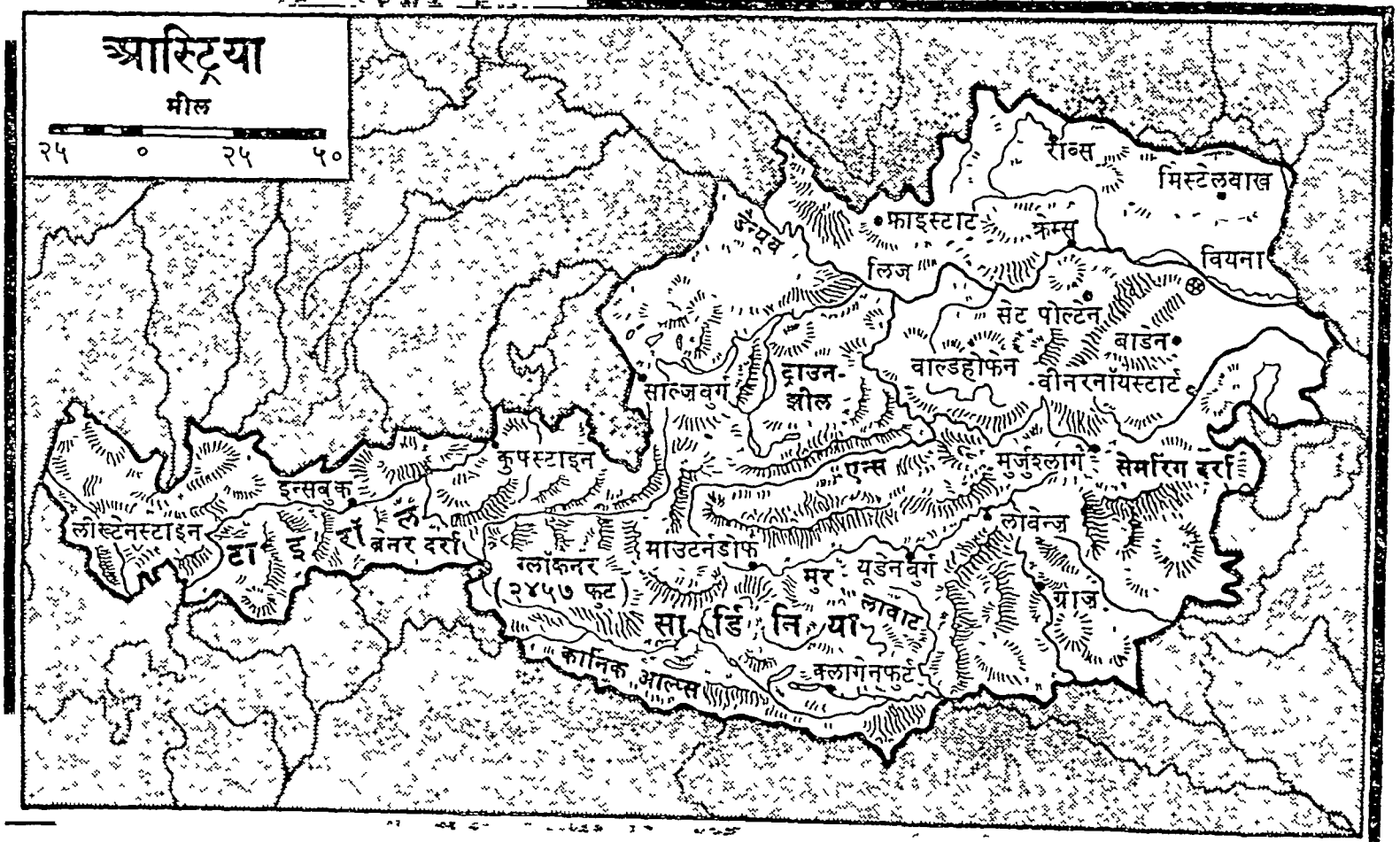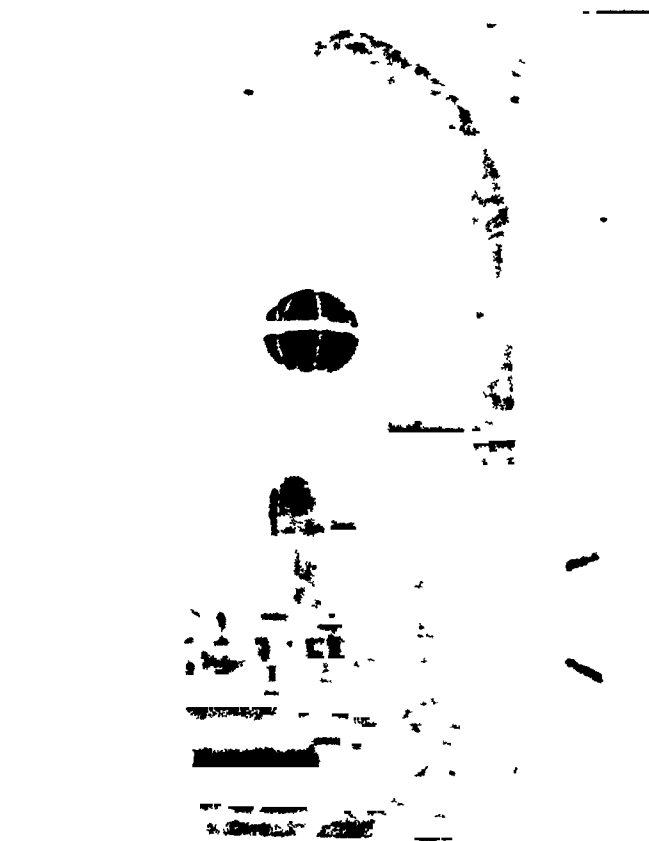
भी बहुतायत से मिलते है। एक दूसरा बलशाली जानवर जगली भैसा या गौर मिलता है, जो कद और शक्ति मे बहुत बडा और भयानक होता है। तरह तरह के जानवर और पक्षियो, जैसे तीतर, चकोर, पनडुब्बी आदि, ने शिकारियो के लिये आसाम को सुहावना क्रीडास्थल बना दिया है।

मिट्टी—मैदानी भाग मे मिट्टी प्राचीन और नवीन जलोढ मृदा (अल्यूवियम) से बनी है। यह साधारणत बलुआ प्रमृदा (लोम) है, यद्यपि चिकनी मिट्टी (क्ले) भी मिलती है। पर्वतीय मृदा में प्राणिज वस्तुएँ अधिक है। वयन (टेक्सचर) मे मिट्टी प्रमृदा से चिकनी तक बदलती रहती है। मैदानी और पहाडी दोनो मिट्टियो मे नाइट्रोजन और फौसफेट की पर्याप्त मात्रा रहती है, परतु पोटाश की मात्रा कम है। अम्लीयता प्राचीनतम जलोढ का गुण है। आसाम घाटी का अधिकतम भाग बाढ से सुरक्षित और कृषीय है, वहाँ चावल, पटसन तथा चाय की खेती होती है। ऊपरी आसाम में चाय के बडे बडे उद्यान (प्लैंटेशन, बागान) है। कई जगह विस्तृत रेत के मैदान है जो वर्षाकाल मे पानी मे डूब जाते है और इसलिये उनपर थोडी मिट्टी पड जाती है। तब वे चरागाह हो जाते है। कई जगह सीढीनुमा घाट (टेरेस) है, जो बाढ से ऊपर रहते है।

कृषि—आसाम कृषिप्रधान प्रात है और कृषि में स्वसपन्न है। सन् १९५१ की जनगणना के अनुसार ६० लाख एकड में फसले उगाई जाती है जिसमे ९१ ६ प्रति शत मैदानी, ८ ३ प्रति शत पहाडी होती है। १३ ३ प्रति शत मे एक से अधिक फसल पैदा की जानेवाली और केवल १ ६ प्रति शत सिचाईवाली भूमि है। प्रमुख फसलें (लाख एकडो मे) ये है चावल ४०, फल और तरकारी ६, चाय ४, सरसो ३, दूसरे अनाज २ ५ और पटसन (जूट) २। निचली ढालो पर रुई तथा तबाकू उगाया जाता है। अब फल और तरकारी का उत्पादन पर्याप्त बढ गया है और इनका निर्यात आसाम के ब्रह्मपुत्र तथा सुरमा की घाटी से कलकत्ता बदरगाह द्वारा किया जाता है।

चाय के उद्यान—आसाम चाय के उद्यानो के लिये, जिन्हें बागान भी कहते है, प्रख्यात है। चाय ही यहाँ की मुख्य व्यापारिक फसल है और यही आसाम की समृद्धि का मुख्य कारण है। सन् १९५६ में लगभग ८०० चाय के उद्यान थे जिनमे ५,००,००० से ऊपर व्यक्ति काम करते थे। १९५७ मे ६८,००,००० पाउड चाय तैयार की गई। इनमें से बडे बडे उद्यान यूरोपियनो के अधिकार मे है। कुछ चाय के उद्यान सुरमा की घाटी मे भी स्थित है। उद्यानो मे काम करने के लिये मजदूर अन्य प्रदेशो से लाए जाते है और उनकी रक्षा के लिये सरकारी नियम बने हुए है।

यातायात—लामडिंग आसाम का बडा रेलकेंद्र है और यहाँ से चारो ओर रेलें गई हैं। उ० पू० सीमात रेल प्रमुख लाइन है जो गोहाटी से लामडिंग होती हुई लीडो तक जाती है। यहाँ एक लाइन दक्षिण में चटगाँव से करीमगज होती हुई आकर मिलती है। सन् १९५१ में रेल की कुल लबाई १३०० मील थी। ये सब रेलें छोटी लाइन (मीटर गेज) की है। आसाम में एक प्रमुख सडक (आसाम ट्रक रोड) मैदानी भाग मे है और पहाडी भागो मे इसकी कुछ ही शाखाएँ जाती है। सन् १९५१ मे सडक की कुल लबाई ३८०० मील थी। ब्रह्मपुत्र नदी में डिब्रूगढ तक पानी के जहाज चलते हैं।

उद्योग व्यापार—यातायात की कठिनाइयो के कारण आसाम में उद्योग व्यापार का विकास पूर्ण रूप से नही हो सका है। चाय के अतिरिक्त दूसरे कल-कारखानो के उद्योग कम महत्वपूर्ण है। रुई और रेशम (मूगा) का सूत हाथ से कातना ही मुख्य कुटीर उद्योग है। आसाम का अधिकतम व्यापार वहाँ के जलमार्गो द्वारा किया जाता है, यद्यपि रेल यातायात भी धीरे धीरे बढ रहा है। किंतु आजकल हवाई यातायात द्वारा भी काफी माल मँगाया तथा भेजा जाता है। ७० प्रतिशत व्यापार कलकत्ता से होता है, क्योकि यह रेल, जल तथा हवाई जहाज यातायात से सबधित है। अत प्रातीय व्यापार सबसे अधिक बगाल से होता है।

निवासी—आसाम की जनसख्या अधिकतर ग्रामीण है (९८ ५ प्र० श०)। प्रमुख नगर शिलाग (जनसख्या ५३,७५६) है, जो राज्य की राजधानी तथा स्वास्थ्यवर्धक नगर है। दूसरे मुख्य नगर गौहाटी (४३,६१५), डिब्रूगढ (३७,९९१), सिलचर (३४,०५९), नौगाँव (२८,२५७) तथा जोरहाट (१६,१६४) है। आसाम के लोग कई जाति और धर्म के है और कई भाषाएँ बोलते है। सन् १९४१ में दो मुख्य धर्म, हिंदू (४० लाख) और मुसलमान (३५ लाख) थे। सन् १९४७ से मुसलमानो की सख्या मुसलमान प्रधान सिलहट जिले के पाकिस्तान में चले जाने से बहुत कम हो गई। कुछ भागो में सन् १९४९ से प्रारभिक शिक्षा अनिवार्य हो गई है। सन् १९५१ में प्राथमिक और माध्यमिक पाठशालाओ में ८,७५,००० विद्यार्थी थे और गोहाटी विश्वविद्यालय में ७,६०० विद्यार्थियो के नाम लिखे गए थे। आसाम की भाषा आसामी कहलाती है। यह सस्कृत से निकली भाषाओ मे से एक है और बँगला से बहुत मिलती है, परतु इसमें अनेक शब्द तिब्बती और बर्मी के भी हैं। यह भाषा बहुत प्राचीन है। १५वी शताब्दी में इस भाषा में बहुत साहित्य लिखा गया था जो बुरजी, अर्थात् इतिहास के नाम से प्रख्यात है। सन् १८७३ से आसामी आसाम की राज्यभाषा रही है। [रा० लो० सि०]

आसाम की जातियाँ—आसाम की आदिम जातियाँ सभवत भारत-चीनी जत्था के विभिन्न अश हैं। भारत-चीनी जत्थे की जातियाँ कई समूहो में विभाजित की जा सकती हैं। प्रथम खासी है जो आदिकाल में उत्तर-पूर्व से आए हुए निवासियो के अवशेष मानेहैं। दूसरे समूह के अतर्गत दिमासा (अथवा पहाडी कचारी), बोदो (या मैदानी कचारी), रामा, कारो, लालूग तथा पूर्वी उपहिमालय में दफला, मिरी, अबोर, अप्पाटानी तथा मिश्मी जातियाँ हैं। तीसरा समूह लुशाई तथा कुकी जातियो का है, जो दक्षिण से आकर बसी हैं तथा मनपुरी और नागा जातियो में मिल गई हैं। कचारी, रामा तथा बोदो हिमालय के ऊँचे घास के मैदानो में निवास करते है। कोच, जो मगोल जाति के हैं, आसाम के निचले भागो में रहते हैं। गोपालपारा में ये राजवशी के नाम से प्रसिद्ध हैं। सालोई कामरूप की प्रसिद्ध जाति है। नदियाल या डोम यहाँ की मछली मारनवाली जाति है। नवशाखा जाति के सदस्य तेली, ग्वाला, नापित (नाई), बरई, कुम्हार तथा कमार (लोहार) है। आधुनिक युग में यहाँ पर चाय के बाग में काम करनेवाले बगाल, बिहार, उडीसा तथा अन्य प्रातो से आए हुए कुलियो की सख्या प्रमुख हो गई है। [न० ला०]

आसीर

आसीर पश्चिमी अरब का एक प्रदेश है जो १७° ३१' से २१° ०' उत्तर अक्षाश तक तथा ४०° ३०' से ४५° ०' पूर्व देशातर तक फैला हुआ है। इसके उत्तर में हेजाज, पश्चिम में लाल समुद्र, दक्षिण में यमन तथा पूर्व में नेज्द प्रदेश है। इस प्रदेश के दो भाग किए जा सकते है। पहला तो समुद्रतटीय मैदान, जो लगभग २५ मील चौडा है। इसकी पूर्वी सीमा पर भूमि धीरे धीरे पहाडो में परिणत हो जाती है। दूसरा पठार, जो इन पहाडो से आरभ होकर नेज्द प्रदेश तक चला गया है। आसीर की लबाई लगभग २३० मील और चौडाई १८० मील है।

इस प्रदेश के मुख्य बदरगाह जिजान और मैदी हैं। जिजान समुद्रतटीय मैदान की, जिसे तिहामा कहते है, राजधानी है और पर्वतीय प्रदेश की राजधानी आभा है। पठार के पूर्वी भाग में बिशा, रान्या और तुराबा नामक घाटियाँ है जो घनी बसी हैं। पश्चिमी भाग की मुख्य घाटियो में खामिस मुशैत तथा वादी शहराँ है। पहाडो के निवासी स्वतत्रताप्रमी तथा कष्टसहिष्णु है। ये इस्लाम धर्म के वहाबी सप्रदाय के कट्टर अनुयायी हैं। पूर्वी भाग में कहतान नाम की जाति बसती है जिसका मुख्य निवास रान्या की घाटी है।

सन् १९१४ ई० के पूर्व यह प्रदेश तुर्की के अधिकार मे था, यद्यपि पहाडी भागो के लोग प्राय स्वतत्र थे। सन् १९२६ ई० में यह वहाबी सरक्षकता मे आ गया और अत मे १९३३ मे यह सऊदी अरब के राज्य में मिला लिया गया। एक वर्ष पश्चात् यमन और सऊदी अरब में युद्ध आरभ हो गया जिसका अत तैफ की सधि से हुआ। इस सधि के अनुसार नजरा के मरूद्यान सहित आसीर प्रदेश सऊदी अरब का एक भाग हो गया। [न० कि० प्र० सिं०]

आसेन ईवर

आसेन ईवर (१८१३-९६) नार्वे के भाषावैज्ञानिक, जन्म सैंडमोर (नार्वे) मे। वहाँ के लोकजीवन, साहित्य और गीतो का ईवर ने गहरा अध्ययन किया था। उसी लोकभाषा को कुछ हेरफेर कर एक नई लोकभाषा को इन्होने जन्म दिया जो अत्यत लोकप्रिय हुई। बाद के सभी लोकजीवन पर लिखनेवाले विद्वानो ने इसी

आस्ट्रिया और पुरुषा—आस्ट्रिया और पुरुषा का सयुक्त मोर्चा भी यूरोप के इतिहास मे वडी ही महत्ता रखता है। इन्होने मिलकर फ्रास पर आक्रमण किया। इनकी सेना की वागडोर ड्यूक आव व्रजविक के हाथो मे थी। फ्रास ने मार खाई और सरहद्दी इलाके इनके कब्जे मे आ गए, मगर विशेष रूप से कोई सफलता नही हुई। अभी वे आरगोस की पहाडियो के करीव ही थे कि ड्यूकमोरीज जिस सेना का नायकत्व कर रहे थे उससे वाल्मी के स्थान पर लडाई हुई। इस वीच व्रास्विक की सेना वीमार पड गई, उसने सुलह की वातचीत की और जर्मनी की सरहद से गुजरकर राइन पार कर ली। इस लडाई का कोई विशेष परिणाम नही हुआ, फिर भी नैपोलियन के लिये उसने रास्ते खोल दिए।

आस्ट्रिया और फ्रांस—धीरे धीरे ऐसा मालूम हुआ कि फ्रास के विरोध मे जो सयुक्त मोर्चा वना है, वह टूट गया। १७९४ ई० की फ्रासीसी सफलता ने पुरुषा की आँखे खोल दी और १७९५ मे वैसेल की सधि हुई जिसमे पुरुषा की शक्ति उत्तरीय जर्मनी मे मान ली गई। स्पेन भी अलग हो गया और अव केवल ब्रिटेन और आस्ट्रिया रह गए। अव फ्रासीसियो ने अपनी सारी शक्ति आस्ट्रिया की ओर लगा दी।

एक सेना वायना की ओर दानूव होती हुई वढी और दूसरी आस्ट्रिया के इटलीवाले हिस्से की तरफ चली। नैपोलियन ने अपनी सारी शक्ति खर्च कर दी। उसने सारदीनिया के राजा को मजवूर कर दिया कि वह आस्ट्रिया के दल से निकल आए। उसके पश्चात् उसने मिलान पर कब्जा कर लिया। इटली के लोगो ने उसका अभिनदन किया और आस्ट्रिया राज्य के विरोधी हो गए। इसके पश्चात् नैपोलियन ने मैंटुआ नगर पर भी कब्जा कर लिया जहाँ आस्ट्रिया का दुर्ग था। पाँच भिन्न भिन्न सेनाएँ दुर्ग का वचाने के लिये भेजी गईं, परतु सवकी हार हुई। रीवोली स्थान पर जनवरी, १७९७ की इस हार से आस्ट्रिया के पैर उखड गए। इस महीने फ्रासीसियो का अधिकार मैंटुआ पर भी हो गया। लेकिन नैपोलियन ने अपनी स्थिति सुरक्षित न देखकर एक सधि की जो अक्टूबर, १७८७ की ट्रीटी ऑव कैंप फारमिस के नाम से विख्यात है। इसमें आस्ट्रिया को वीनिस का राज्य दे दिया गया। फिर भी यह मित्रता वहुत दिनो तक न चल सकी क्योकि आस्ट्रियन और उनके साथी इटली के उत्तरी भाग पर अपना कब्जा किए हुए थे। नैपोलियन ने १७९९ मे इटली पर आक्रमण करने की सोची जिसमे जेनरल मोरिए दानूव की ओर से आस्ट्रिया पर आक्रमण करनेवाला था। अत मे नैपोलियन विजयी हुआ। उसन मिलान पर अधिकार जमा लिया और जेनोवा की ओर वढा। जून मे मेरेंज नामक स्थान पर लडाई छिडी। यह देखकर आस्ट्रिया ने सधि का सदेश भेजा। फरवरी, १८०१ मे ल्यूनेवाइक की सधि हुई और उसकी शर्त के अनुसार आस्ट्रिया अपने इटलीवाले इलाकों से हाथ धो वैठा।

इसके पश्चात् २ दिसवर, १८०५ को नैपोलियन ने फिर आस्ट्रेलिट्ज की लडाई मे आस्ट्रिया को हराया और वाइना उसके अधिकार मे आ गया। आस्ट्रिया दिसवर, १९०५ मे प्रेसवर्ग की सधि करने पर विवश हो गया। इस प्रकार आस्ट्रिया की लगातार हार से पवित्र रोम साम्राज्य का भी अत हो गया जो ओटो के काल, अर्थात् दसवी शताब्दी से चला आ रहा था। इसके वाद सारदीनिया के राजा चार्ल्स अल्वर्ट की लडाई आस्ट्रियन जेनरल रादेजकी से हुई। अत में वह हार गया। जुलाई, १८१८ मे उसकी हार कस्टोजा नामक स्थान पर हुई। इसीलिये आस्ट्रिया को अपने इटली के इलाके वापिस मिल गए।

आस्ट्रिया और हंगरी—आस्ट्रिया और हगरी की समस्या भी वडी महत्ता रखती है। इन दोनो के वीच यह वात हमेशा रही कि दोनो के बीच मतदान किस प्रकार हो। वहुत सोचने के वाद १९०७ मे एक विल पास हुआ जिससे आस्ट्रिया के रहनेवालो को, जिनकी आयु २४ वर्ष से अधिक थी, मताधिकार दिया गया। फलस्वरूप जर्मनो को अधिक सीटे मिली और चेक वहुत थोडी सख्या मे आए। इसीलिये चेको को वोहीमिया मे और पोलो को गैलीसिया मे यह अधिकार दिया गया। परतु राष्ट्रीय समस्या अपने स्थान पर न रही। हगरी की यही इच्छा थी कि मगयार राष्ट्र की महत्ता छोटी कौम पर वनी रहे, परतु यह भी न हो पाया।

आस्ट्रिया और तुर्की—आस्ट्रिया का सवध तुर्क राष्ट्र के साथ भी रहा है। राजनीतिज्ञो की दृष्टि मे वलकान की वडी महत्ता है। रूस और आस्ट्रिया इसके पडोसी होने के नाते इसमे दिलचस्पी रखते थे और विटेन अपने व्यापार के कारण रूम के महासागर मे दिलचस्पी रखता था। ये देश आपस मे मिले और १८७७ मे रूस ने तुर्की को चेतावनी दे दी। अत में लडाई हुई और तुर्की अपनी वीरता के वावजूद भी हार गया। फलस्वरूप सैंटिफनो की सधि हुई और रोमानिया, माटीनिगरो तथा सर्विया स्वतत्र देश हो गए और वास्नियाँ, हर्जीगोविना आदि आस्ट्रिया के अधीन हो गए।

प्रथम महायुद्ध की नींव भी आस्ट्रिया ने ही डाली। २८ जून, १९१४ मे आस्ट्रिया की राजगद्दी पर बैठनेवाला राजकुमार सेराजेवो मे मार डाला गया। रूस स्लोवानिक देशो का वलकान में निरीक्षक था। इसीलिए वह आस्ट्रिया को रोकने के लिये तैयार वैठा था। जर्मनी आस्ट्रिया की सहायता करने लगा। फ्रास रूस से मुलाहिजे मे वँधा था, इसीलिए अलग भी नही हो सकता था। यही कारण प्रथम महान् युद्ध का वना।

आस्ट्रिया और इटली—आस्ट्रिया का इतिहास इटली के इतिहास से भी सवधित है। १९१६ का काल इटली के इतिहास मे उसकी हार जीत की कहानी है। आस्ट्रिया ने पहले इटलीवालो को ट्रेनटीनो तक ढकेल दिया, परतु बाद मे स्वय ही पीछे हट गए। इसी वर्ष अगस्त मे जेनरल कोडर्ना ने वैंनिसेज के एक भाग पर अधिकार जमा लिया और वहुत से लोगो को वदी वना लिया। परतु इनका नुकसान अधिक हुआ। आस्ट्रिया न यह कमजोरी देखते हुए जनरल केंडोरना पर सेपारेट नामक स्थान पर हमला किया। इटली की हार हुई। आस्ट्रिया ने इस लडाई मे २,५०,००० आदमी वदी वनाए और वेनिस तक चढ आया। ब्रिटेन और फ्रास की समय पर सहायता पहुँच जाने से वेनिस हाथ से नही जाने पाया।

आस्ट्रिया का पतन—१८६६ से जर्मनी की जो महत्ता वनी चली आ रही थी, उसका पतन हो गया। जो नई सरकार बनी उसने ११ नववर, १९१८ मे सुलह के पैगाम भेजे। आस्ट्रिया की शक्ति उस समय तक खत्म हो गई थी। इटली अव फिर विजयी हो चुका था। अक्टूवर मे जेनरल डेज ने इस पर आक्रमण किया और आस्ट्रियन भाग खडे हुए। हजारो की सख्या मे वदी इटली के हाथ पडे। इस प्रकार इनका पतन हो गया।

आस्ट्रिया के महान् राष्ट्र का अंत—१९१८ के बाद इस बडे राज्य का विलकुल ही अत हो गया। इतना वडा राज्य ससार के नकशे पर से देखते देखते उड गया। हैप्सवर्ग परिवार, जो आस्ट्रिया, हगरी, यूगोस्लाविया, रोमानिया, पोलैड और चेकोस्लोवाकिया जैसे वडे राज्यो पर हुकूमत करता चला आ रहा था, समाप्त हो गया। [मु० अ० अ०]

आस्ट्री भाषाएँ श्मित आदि कुछ भाषाविज्ञानियो ने प्रशात महासागर के द्वीपो मे वोली जानेवाली कुछ भाषाओ को एक परिवार मे रखा है और उस परिवार को यह नाम दिया है। इसमे वे निम्नलिखित भाषाओ को समिलित मानते है मोन, ख्मेर, जावी, मलय और इनके पूर्व मे मलेनेशियाई और पॉलीनेशियाई परिवार, पश्चिम मे बर्मी का कुछ भाग, असम प्रदेश की कुछ भाषाएँ और मुडा भाषाएँ। [वा० रा० स०]

आस्ट्रेलिया ससार के महाद्वीपो मे सवसे छोटा महाद्वीप है। यूरोपियनो को इसका पता डचो द्वारा लगा। १७वी शताब्दी के आरभ में डच लोग इसके पश्चिमी तट पर पहुँचने लगे। उन्होने इसको 'न्यू हालैड' नाम दिया। सवसे महत्वपूर्ण यात्रा १६४२ ई० मे एविल टसमान ने की थी जो डच द्वीपसमूह के गवर्नर वान डी मैंन के आदेशानुसार इस महाद्वीप की जानकारी के लिये निकला था। उसकी यात्रा से लगभग यह निश्चित हो गया कि 'न्यू हालैड' एक द्वीप है। टसमान के न्यूजीलैंड पहुँच जाने के कारण उसे महाद्वीप के महत्वपूर्ण पूर्वी तट का पता नही लग सका। लगभग १३० वर्ष पश्चात् (१७७० ई०) अग्रेज यात्री जेम्स कुक कई वैज्ञानिको सहित महाद्वीप के पूर्वी तट का पता लगाने मे सफल हुआ। उसने ही हौवे अतरीप से टारेस जलडमरुमध्य तक के तट की खोज की। परतु महाद्वीप की पहली आवादी की नीव १७८८ ई० मे रखी गई, जव कप्तान फिलिप ७५० कैदियो को लेकर वाटनी खाडी पर उतरे। यह आवादी पोर्ट जैक्सन पर, जहाँ अव सिडनी है, वसाई गई थी। महाद्वीप की खोज करनेवाले यात्रियो मे फिलिंडर्स का कार्य महत्वपूर्ण है

स्थितियो के अतिरिक्त काउटर रिफर्मेशन (१६वी शताब्दी के प्रोटेस्टेट ईसाइयो के सुधारवादी आदोलन के विरुद्ध यूरोप में ईसाई धर्म के कैथॉलिक सम्प्रदाय के पुनरुत्थान के लिए हुआ आदोलन) और पडोसी देशो से घनिष्ठ, किंतु विद्वेषपूर्ण सबधो का भी हाथ रहा। इसके साथ साथ आस्ट्रिया पर इतालीय तथा स्पेनी सस्कृतियो का भी गहरा प्रभाव पडा। फलस्वरूप यह देश एक अति अलकृत साहित्य एव सस्कृति का केंद्र बन गया।

काउटर रिफर्मेशन काल मे वीनीज़ जनता का राष्ट्रीय स्वभाव एव मनोवृत्तियाँ सजग होकर निखर आई थी। इस नवचेतना ने आस्ट्रियाई साहित्य के जर्मन चोले को उतार फेका। भावुक, हास्यप्रिय एव सौदर्यप्रेमी वीनीज़ जनता प्रकृति, सगीत तथा सभी प्रकार की दर्शनीय भव्यता की पुजारी है। उसकी कलादृष्टि बहुत पैनी है। जीवन की दु खदायी परिस्थितियो से वह दूर भागती है। उसके आकर्षण और तन्मयता के केंद्र हैं जीवन के सुखद राग रग। आत्मा परमात्मा, जीवन मरण, लोक परलोक के गभीर दार्शनिक विवेचन से वह विरक्त है। फिर भी वह अतिशयोक्ति से दूर रहकर समन्वय और सतुलन में आस्था रखती है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व और उपरात जीवन के प्रति यह घोर आसक्ति आस्ट्रिया के साहित्य में प्रवाहित थी, किंतु द्वितीय महायुद्ध ने उसे बहुत कुछ चकित और कुठित कर दिया है। फिर भी आस्ट्रियाई साहित्य आज तक भी उदारमना और मानवतावादी है।

मध्ययुग मे आस्ट्रिया के कैरिंथिया और स्टायर प्रदेशो मे भजन और वीरकाव्य साहित्य मे प्रमुख रहे। वीरकाव्य को विएना के राजदरबार में प्रश्रय मिला। किंतु काव्य दरबारी नही हुआ। मध्यकालीन राष्ट्रीय महाकाव्यो के निर्माण मे आस्ट्रिया प्रमुख के साथ साथ स्टायर तथा टीरोल प्रदेशो ने भी विशेष योग दिया। वाल्तेयर फॉन डेयर फोगलवीड और नीथार्ट इस युग के महारथी महाकाव्यकार हुए। मध्ययुगीन महाकाव्य के काल को सम्राट् माक्सीमिलियन प्रथम (मृत्यु सन् १५१६ ई०) ने अनावश्यक रूप से विलबित किया, यद्यपि साहित्य में मानवतावाद की चेतना जगाने का श्रेय भी उसी को है। मध्ययुग का अत होते न होते आस्ट्रियाई साहित्य पर यथार्थवाद और व्यग्य का भी रग चढने लगा था।

निरतर धार्मिक सघर्षो, आतरिक तथा विदेशी राजनीतिक कठिनाइयो के कारण आस्ट्रियाई साहित्य में निष्क्रियता के एक दीर्घयुग का सूत्रपात हुआ। तत्पश्चात् अलकृत शैली के युग ने जन्म लिया जो दक्षिण जर्मनी की देन थी और जो साहित्य, स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, सगीत आदि सभी ललित कलाओ पर छा गई। धार्मिक क्षेत्र में यह जेसुइट्स की प्रभुता का युग था और राजनीतिक क्षेत्र मे सम्राटो के कट्टर स्वेच्छाचारी शासन का काल। यह स्थिति स्पेन के प्रभाव के परिणामस्वरूप हुई। नाटक पर इतालीय प्रभाव पडा जो १६वी शताब्दी तक रहा। इसी प्रभाव के कारण आस्ट्रियाई नाटक प्रथम बार अपने साहित्यिक रूप मे उभरकर आया।

१८वी शताब्दी के मध्य मे आफक्लेयरुग (ज्ञानोदय) आदोलन आस्ट्रिया मे प्रविष्ट हुआ, जिसने उत्तरी और दक्षिणी जर्मनी के काउटर रिफर्मेशन से चले आए साहित्यिक मतभेदो को कम किया। इस समन्वयवादी प्रवृत्ति का ऐतिहासिक प्रतिनिधि ज़ोननफैल्स (सन् १७३३-१८१७ ई०) है, जिसके साहित्य मे स्थायी तत्व का अभाव होते हुए भी उसकी सदाशयता महत्वपूर्ण है। इस आदोलन का एक अन्य महत्वपूर्ण परिणाम सन् १७७६ ई० मे 'बुर्ग थियेटर' की स्थापना है जिसका प्रसिद्ध नाटककार कॉलिन हुआ।

आस्ट्रियाई साहित्य का स्वर्ण युग 'फारम्येर्ज़' (रोमानी) आदोलन से प्रारभ हुआ जिसके प्रवर्तक श्लेगेल बधु है। यह रोमानी आदोलन अग्रेजी तथा अन्यान्य यूरोपीय साहित्यो मे बाद को शुरू हुआ। वानर्नफेल्ड, रैमड, नैस्ट्राय, ग्रुइन, लेनाफ, स्टल्जहामर आदि इस युग के अन्य मान्य लेखक हैं। स्टिफ्टर (सन् १८६८ ई०) और विश्वविख्यात ग्रिलपार्ज़र (सन् १८७२ ई०) रोमानी युग तथा आनेवाले स्वाभाविक उदारतावादी युग को मिलानेवाली कडी थे। आस्ट्रिया में प्रवसित जर्मन हैबल, लाउबे, विलब्राड तथा आस्ट्रियाई क्विन ब्यर्गर, शीडलर, हामर्रलिंग, एवनेयर, ऐशिनबाख, मार, रोज़ेग्येर, आज़िनग्रूबर आदि स्वाभाविक उदारतावादी प्रवृत्ति के प्रमुख लेखक हुए।

आधुनिक आस्ट्रियाई साहित्य का प्रादुर्भाव नवरोमानी प्रवृत्ति को लेकर सन् १८८० ई० मे हुआ। इस नवीन प्रवृत्ति का प्राबल्य सन् १६०० ई० तक ही रहा, किंतु इस युग ने सर्वतोमुखी प्रतिभासपन्न महान् लेखक हेयरमान ब्हार को जन्म दिया।

सन् १६०० से १६१६ ई० तक यथार्थवाद तथा रोमासवाद के समन्वय का युग रहा। सन् १६१६ ई० में अभिव्यक्तिवाद का प्रादुर्भाव हुआ। पूर्वोक्त तीनो प्रवृत्तियाँ समकालीन जर्मन साहित्य से प्रभावित थी। किंतु आस्ट्रियाई यथार्थवाद सहज और सौम्य था, जर्मन यथार्थवादी होल्ज तथा श्लाफ के साहित्य की भाँति उग्र नही।

आस्ट्रियाई गीतिकाव्य के 'प्रौढ आधुनिक' कवियो मे ह्यूगो हाफमासठाल सर्वश्रेष्ठ गीतिकार हुए। यह राइनलैंडर स्टीफन ग्यार्ग (सन् १८०६-१६०२ ई०) प्रणीत उग्र यथार्थवाद के विरोधी स्कूल के प्रमुख कवि थे। आग्ल कवि स्विनबर्न से इनकी तुलना की जा सकती है। दिन-प्रति-दिन के जीवन के प्रति आभिजात्यसुलभ उदासीनता, जटिल असामान्य आध्यात्मिक तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिये व्याकुल अधीरता और सूक्ष्म सौदर्य की खोज इनके काव्य की विशेषताएँ है। यह भव्य कल्पना एव सपन्न भाषा के धनी थे। अपनी शैली के यह राजा थे। सम्यक् दृष्टि से इनकी तुलना हिंदी के महान् कवि श्री सुमित्रानदन पत से की जा सकती है। इनसे प्रभावित गीतिकारो मे स्टीफेन ज्विग, ब्लाडीमीर हार्टलीब, हास फ्लूलर, अल्फ्रेड गुडवाल्ड, ओटोहासर, फेलिक्स ब्राउन, पाउल व्यर्टहाइमर, मार्क्स मैल और भावोन्मादी कवि आटोन वील्डगास सुप्रसिद्ध है।

अभिव्यक्तिवादी वर्ग के अल्बर्ट ऐहरेंस्टीन, फ्राज व्यर्फल, ग्योर्ग, ट्राक्ल, कार्ल शासलाइटनर, फ्रेड्रिख श्वेफोग्ल आदि कवियो ने जहाँ छदो के बधनो और तर्क की कारा को तोडा, वहाँ समस्त विश्व और मानवता के प्रति अपने काव्य मे असीम प्रेम भी अभिव्यक्त किया, वाल्ट ह्विटमैन तथा फ्रासीसी सर्वस्वीकृतिवादियो की भाँति प्रबल व्यग्यकार कवि कार्ल क्राउस, चित्रकार कवि यूरिल बिर्नबाउम, श्रमिक कवि आलफोन्ज़ पैट्शील्ड और पीटर आल्टेनब्यर्ग (जिसके लघु 'गीतगद्य' अनिर्वचनीय सौदर्य तथा बालसुलभ बुद्धिमत्ता से ओतप्रोत हैं और जो अपने जीवन और कला मे अत्यत मौलिक भी है—'युगवाणी' के गीतगद्यकार पत जी के समान ही) के काव्य वस्तुचिंतन मे पूर्वोक्त कविसमूह से बहुत समानता मिलती है।

पूर्वोक्त वादो से स्वतत्र अस्तित्व रखनेवाले, किंतु पुराने रोमासवादियो के अनुयायी कवियो मे रिचर्ड क्रालिक, कार्ल फॉन गिंजके, रिचर्ड शाकल, धार्मिक कवयित्री ऐनरिका हाडिल माजेटी, श्रीमती ऐरिका स्पान राइनिश और टिरोलीज कवि आर्थर वालपाख, कार्ल डोलागो तथा हाइनरिश शूलर्न महत्वपूर्ण है।

स्वाभाविकतावादी उपन्यासकारो में आर्थर शिनत्जलर (सन् १८६२-१६३१ ई०) तथा जैकब वासरमान (सन् १८७३-१६३४ ई०) अद्वितीय और अमर है। महानगरो का आधुनिक जीवन ही उनकी कथावस्तु है। किंतु जहाँ शिनत्जलर मात्र व्यक्तिगत समस्याओ का कलाकार था, वहाँ वासरमान सामाजिक प्रश्नो का भी चितेरा है।

आस्ट्रियाई उपन्यास का दूसरा चरण सन् १६०८ ई० में शिनज़लर के विरोध मे 'केलयार्ड' आदोलन के रूप में उठा। इस वर्ग के उपन्यासकारो ने नगरो से अपनी दृष्टि हटाकर कस्बो और ग्रामो मे रहनेवाले जनसाधारण पर केंद्रित की। स्टायर प्रात का निवासी रोडाल्फ हास वार्ट्श इस नवीन दल का महान् उपन्यासकार हुआ। कविश्रेष्ठ हाफमासठाल के समान ही वार्ट्श भी प्रचुर कल्पना और भव्य शैली का स्वामी था, प्राकृतिक दृश्यो के शब्दचित्राकन में तो यह उपन्यासकार आस्ट्रियाई साहित्य में अनुपम है।

घोर स्वाभाविकतावादियो के कारण आस्ट्रिया मे ऐतिहासिक उपन्यास अनाथ रहा। परतु प्रथम महायुद्ध से किंचित् पहले दार्शनिक लेखकद्वय, इर्विन कोलबनहेयर तथा ऐमिल लूका ने इस विषय पर अपनी अपनी लेखनी उठाई। विचारो की गहराई, जगमगाती चित्रात्मक शैली और कथावस्तु की कुशल सयोजना ने इसके ऐतिहासिक उपन्यासो को महान् साहित्य की कोटि में ला रखा है। जर्मन 'गाईस्ट' (राष्ट्रीय आत्मा) के ऐतिहासिक विकास पर एक सफल उपन्यासमाला होलबाउम ने लिखी।

स्प्रूस (एक प्रकार का चीड) तथा देवदारु के वृक्ष तथा निचले भागो मे चीड, देवदारु तथा महोगनी आदि जगली वृक्ष पाए जाते है। ऐसा कहा जाता है कि आस्ट्रिया का प्रत्येक दूसरा वृक्ष सरो है। इन जगलो मे हिरन, खरगोश, रीछ आदि जगली जानवर पाए जाते है।

देश की सपूर्ण भूमि के २८ प्रति शत पर कृपि होती है तथा ३० प्रति शत पर चरागाह है। जगल देश की बहुत बडी सपत्ति है, जो शेप भूमि को घेरे हुए है। १९५३ ई० मे लकडी निर्यात करनेवाले देशो मे आस्ट्रिया का छठा स्थान था और यहाँ से ससार के कुल काष्ठनिर्यात का ५ ३ प्रति शत निर्यात हुआ था।

इर्जबर्ग पहाड के आसपास लोहे तथा कोयले की खाने है। शक्ति के साधनो मे जलविद्युत् ही प्रधान है। खनिज तैल १९५२ ई० मे लगभग ३०,००,००० टन निकाला गया था। यहाँ नमक, ग्रैफाइट तथा मैगनेसाइट पर्याप्त मात्रा मे पाया जाता है। मैगनेसाइट तथा ग्रैफाइट के उत्पादन में आस्ट्रिया का ससार मे क्रमानुसार दूसरा तथा चौथा स्थान है। ताँबा जस्ता तथा सोना भी यहाँ पाया जाता है। इन खनिजो के अतिरिक्त अनुपम प्राकृतिक दृश्य भी देश की बहुत बडी सपत्ति है।

आस्ट्रिया की खेती सीमित है, क्योकि यहाँ केवल ४ ५ प्रति शत भूमि मैदानी है, शेप ९२ ३ प्रति शत पर्वतीय है। सबसे उपजाऊ क्षेत्र डैन्यूब की पार्श्ववर्ती भूमि (विना का दोआवा) तथा वर्जिनलैड है। यहाँ की मुख्य फसले राई, जई (ओट), गेहूँ, जौ तथा मक्का है। आलू तथा चुकदर यहाँ के मैदानो मे पर्याप्त पैदा होते है। नीचे भागो में तथा ढालो पर चारे-वाली फसले पैदा होती है। इनके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागो में तीसी, तेलहन, सन तथा तवाकू पैदा किया जाता है। पर्वतीय फल तथा अगूर भी यहाँ होता है। पहाडी क्षेत्रो मे पहाडो को काटकर सीढीनुमा खेत बने हुए है। उत्तरी तथा पूर्वी भागो मे पशुपालन होता है तथा यहाँ से वियना आदि शहरो को दूध, मक्खन तथा पनीर पर्याप्त मात्रा मे भेजा जाता है। जोरारलबर्ग देश का बहुत बडा सघीय पशुपालन केद्र है। यहाँ बकरियाँ, भेडे तथा सुअर पर्याप्त पाले जाते है जिनसे मास, दूध तथा ऊन प्राप्त होता है।

आस्ट्रिया की औद्योगिक उन्नति महत्वपूर्ण है। उद्योग धधो में, १९३७ ई० से १९५२ ई० तक देश मे १० गुना उन्नति हुई है। यहाँ लोहा, इस्पात तथा सूती कपडो के कारखाने देश मे फैले हुए है जिनमे ७,००० से अधिक लोग लगे हुए है। रासायनिक वस्तुएँ बनाने के बहुत से कारखाने है। यहाँ धातुओ के छोटे छोटे सामान, घडियाँ, सुई, कैंची, चाकू, साइकिल तथा मोटर साइकिल बनाने के कारखाने मुरमुज की घाटी मे है। वियना में विविध प्रकार की मशीने तथा कल पुर्जे बनाने के कारखाने है। लकडी के सामान, कागज की लुग्दी, कागज एव वाद्ययत्र बनाने के कारखाने यहाँ के अन्य बडे धधे है। जलविद्युत् का विकास खूब हुआ है। देश को पर्यटको से भी पर्याप्त लाभ होता है।

पहाडी देश होने पर भी यहाँ सडको (५५,२२७ मील) तथा रेलवे लाइनो (६,००६ मील) का जाल बिछा हुआ है। वियना यूरोप के प्राय सभी नगरो से सबद्ध है। यहाँ छ हवाई अड्डे है जो वियना, लिंज सैल्वर्ग, ग्रेज, क्लागेनफर्ट तथा इसब्रुक मे है। आस्ट्रिया का व्यापारिक सवध जर्मनी, इटली, ब्रिटिश द्वीपसमूह, स्विट्जरलैड, सयुक्त राज्य (अमरीका) ब्राज़ील, अर्जेटीना, तुर्की, भारत तथा आस्ट्रेलिया से है। यहाँ से निर्यात होनेवाली वस्तुओ मे इमारती लकडी का बना सामान, लोहा तथा इस्पात, रासायनिक वस्तुएँ और काच मुख्य है। देश में निरक्षरता नही है। प्रारभिक शिक्षा नि शुल्क तथा अनिवार्य है। विभिन्न विपयो की उच्चतम शिक्षा के लिये आस्ट्रिया का बहुत महत्व है। वियना, ग्रेज तथा इसब्रुक मे ससार-प्रसिद्ध विश्वविद्यालय है।

आस्ट्रिया मे गणतत्र राज्य है। यूरोप के ३६ राज्यो मे, विस्तार के अनुसार, आस्ट्रिया का स्थान १९वाँ है। यह ९ प्रातो मे विभक्त है। वियना प्रात मे स्थित वियना नगर देश की राजधानी है। आस्ट्रिया की सपूर्ण जन-सख्या का ⅕ भाग वियना मे रहता है जो ससार का २२वाँ सवसे वडा नगर है। यहाँ की जनसख्या १५,००,००० (१९४६ ई०) है। अन्य बडे नगर ग्रेज (२,२६,४५३), लिंज (१,८४,६८५), सैल्जवर्ग (१,०२,९२७) इसब्रुक (९५,०५५) तथा क्लाजेनफर्ट (६२,७८२) है।

अधिकाश आस्ट्रियावासी काकेशीय जाति के है। कुछ आलेमनो तथा ववेरियनो के वशज भी है। देश सदा से एक शासक देश रहा है, अत यहाँ के निवासी चरित्रवान् तथा मैत्रीपूर्ण व्यवहारवाले होते है। यहाँ की मुख्य भाषा जर्मन है जो, केवल २,००,००० लोगो के अतिरिक्त, सभी बोलते है।

आस्ट्रिया का इतिहास बहुत पुराना है। लौहयुग में यहाँ इलिरियन लोग रहते थे। सम्राट् आगस्टस के युग मे रोमन लोगो ने देश पर कब्जा कर लिया था। हूण आदि जातियो के बाद जर्मन लोगो ने देश पर कब्जा कर लिया था (४३५ ई०)। जर्मनो ने देश पर कई शताब्दियों तक शासन किया, फल-स्वरूप आस्ट्रिया मे जर्मन सभ्यता फैली जो आज भी वर्तमान है। १९१९ ई० मे आस्ट्रियावासियो की प्रथम सरकार हैप्सबर्ग राजसत्ता को समाप्त करके, समाजवादी नेता कार्ल रेनर के प्रतिनिधित्व में बनी। १९३८ ई० में हिटलर ने इसे महान् जर्मन राज्य का एक अग बना लिया। द्वितीय विश्वयुद्ध में इग्लैड आदि देशो ने आस्ट्रिया को स्वतत्र करने का निश्चय किया, किंतु देश को वास्तविक स्वतत्रता २७ जुलाई, १९५५ ई० को प्राप्त हुई।

[हि० ह० सि०]

आस्ट्रिया का इतिहास

प्रारभिक रूपरेखा आस्ट्रिया के इतिहास का वर्णन करते समय यूरोप के कई देशो का इतिहास सामने आ जाता है। मुख्य रूप से जिनका इस सबध में पूर्ण वर्णन होता है वे है इटली, चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड, हगरी, रोमानिया, यूगोस्लाविया और रूस आदि। कारण इसका यह है कि हैब्सबर्ग जैसे महान् परिवार ने एक लबे अरसे तक इनपर राज्य किया है।

आस्ट्रिया देश इतिहास के प्रारभकाल से ही मनुष्यो द्वारा आवाद रहा है। इसकी प्राचीन सभ्यता के चिह्न हालटाल में पाए जाते है। ईसा से चार सौ वर्प पूर्व आस्ट्रिया देश में कवीलो की बस्ती रही। इन कवीलो ने वोहिमिया, हगरी और आल्प्स की पहाडियो पर अपना अधिकार जमा लिया। पहली शताव्दी मे रोमनो ने आल्प्स की पहाडी पार की और इसको अपने पैरो से रौद डाला। ४८७ ई० में हूणो ने उसपर आक्रमण किया, इसके पश्चात् स्लाव तथा जर्मन कवीलो ने अधिकार जमाया। शार्लमान ने इसको फिर अपने राज्य में समिलित किया। यह काल ८११ ई० का था। इस प्रकार यह एक शताब्दी तक जर्मन राज्य मे रहा। ९७६ ई० मे यहाँ वैविनवर्ग परिवार का प्रभाव वढा। यही से आस्ट्रिया का राजनीतिक इतिहास जन्म लेता है। इस परिवार का राज्यकाल १२४६ तक रहा और छठे ल्यूपोल्ड के पुत्र द्वितीय फ्रेडरिक की मृत्यु के पश्चात् इस परिवार का अत हो गया।

१२७३ से आस्ट्रिया देश पर हैब्सवर्ग परिवार का प्रभाव पडा जो १९१८ तक बना रहा। इस बडे अर्से मे यह भिन्न भिन्न रूप धारण करता रहा, जिसके कारण इसका इतिहास बडा ही वैचित्र्यपूर्ण एव रोमाटिक हो गया है। आस्ट्रिया की महत्ता एक इसी बात से जानी जा सकती है कि जिस समय आस्ट्रिया के राजकुमार की हत्या हुई उस समय यूरोप मे तहलका मच गया और इसी कारण प्रथम महायुद्ध की नीव पडी।

राजगद्दी के लिये लडाई—१७४० ई० मे छठे चार्ल्स का देहात हो गया। प्रशा के फ्रेडरिक ने अवसर पाकर उसके उत्तरीय भाग पर आक्रमण कर दिया। चार्ल्स की इस बात से सबकी आँखे खुल गई। फ्रास ने यह देखा तो प्रशा के साथ मिल गया। ब्रिटेन ने मेरिया थेरेसा की सहायता करने का वायदा कर लिया। इधर प्रशा और फ्रास ने चार्ल्स के खूब कान भरे।

अत मे वही परिणाम हुआ और लडाई छिड गई। मेरिया थेरेसा के सैनिको ने बडी वीरता दिखाई, मगर साइलेशिया मे उनको मुंह की खानी पडी हगरी की भी सहायता उन्हे समय पर मिल गई, जिसके कारण वे आस्ट्रिया की ओर से लडे। फ्रासीसियो ने बडी मुश्किल से अपनी जान बचाई।

आस्ट्रिया और फ्रास की शत्रुता यूरोप भर में प्रसिद्ध रही। फिर भी यह शत्रुता समय की कठिनाई देखकर मित्रता में बदल गई। इधर फ्रास और आस्ट्रिया एक हुए और उधर ब्रिटेन और प्रशा के राजा फ्रेडरिक एक हो गए। इस प्रकार अलग अलग दल पदा हो गए। बडी बडी शक्तियोवाले इस बागी दल ने यूरोप भर मे हलचल मचा दी। इसने फिर एक सकट और सघर्ष का रूप धारण कर लिया जिसने यूरोप में तीस वर्षीय युद्ध को जन्म दिया।

देती। उष्ण कटिबंध में स्थित रहने के कारण उत्तरी भाग में ग्रीष्म ऋतु में मानसून हवाओं द्वारा वर्षा होती है। तट के निकटवर्ती भागों में 'विली-विलीज़' नामक चक्रवात हवाओं का भी प्रभाव पड़ता है। ३०° दक्षिणी अक्षांश के दक्षिण का भाग शीतकाल में पश्चिमी हवाओं के मार्ग में आ जाता है। इन हवाओं से वर्षा भी होती है। इस मेखला के दक्षिण-पश्चिमी भाग में रूमसागरीय जलवायु पाई जाती है। पूर्वी किनारे पर वर्षा लगभग साल भर होती रहती है, परंतु महाद्वीप का मध्य भाग अधिक उष्ण है और वर्षा भी १०'' से कम होती है। इस कारण यह भाग मरुस्थल बन गया है। संसार के किसी भी महाद्वीप में जल का इतना अभाव नहीं है जितना आस्ट्रेलिया में। दक्षिण-पश्चिमी भाग और आर्नहेमलैंड के अतिरिक्त पूर्वी आस्ट्रेलिया ही ऐसा भाग है जहाँ वर्षा २५'' या उससे भी अधिक होती है। बैलेंडनकेर हिल्स में, जो ५,००० फुट से अधिक ऊँची है, महाद्वीप की सर्वाधिक वर्षा होती है।

दक्षिणी गोलार्ध में स्थित होने के कारण आस्ट्रेलिया में जनवरी फरवरी गर्मी के महीने हैं। ताप का अधिकतम मान मार्बुलबार (पश्चिमी आस्ट्रेलिया) में १२१° फा० तक जनवरी में होता है, न्यूनतम मान होबार्ट नगर (तस्मानिया) में ४५.३° फा० तक जुलाई में जाता है।

प्राकृतिक वनस्पति—प्राकृतिक वनस्पति वर्षा पर निर्भर रहती है। आरंभ में महाद्वीप के दक्षिण-पूर्वी और दक्षिण-पश्चिमी भाग सदाबहार वनों से ढँके हुए थे, जहाँ अधिकांश नाना प्रकार के यूकलिप्टस के वृक्ष थे। पर्थ के दक्षिण में स्वार्नलैंड कार्री नामक वृक्ष संसार के विशेष लंबे वृक्षों में से हैं। महाद्वीप के भीतरी भागों में वर्षा बड़ी शीघ्रता के साथ कम होती जाती है, इस कारण वनों के बदले वहाँ घास के मैदान पाए जाते हैं। दक्षिण में जलाभाव के कारण ग्रेट आस्ट्रेलियन बाइट के तटीय प्रदेशों में माली नामक झाड़ियाँ पाई जाती हैं। मध्य भाग अधिकांश मरुस्थल है और काँटेदार झाड़ियों इत्यादि से भरा है।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप का अधिक समय तक अन्य भूभागों से संपर्क नहीं था, इस कारण वहाँ के पशु पक्षी भी अन्य महाद्वीपों से अधिक भिन्न हैं। इनमें मुख्य कंगारू और वालावी हैं। कंगारू घास के मैदानों में और वालावी पहाड़ी झाड़ियों में रहता है। डिंगो के अतिरिक्त, जो एक जंगली जानवर है, कोई जानवर मनुष्य का शत्रु नहीं है। खरगोश, जिसको आरंभ में महाद्वीप में बाहर से लाया गया, संख्या में अधिक बढ़ गए हैं और वनस्पति तथा कृषि को बड़ी हानि पहुँचाते हैं।

कृषि—महाद्वीप में केवल दो करोड़ तीस लाख एकड़ (लगभग १ प्रति शत) भूमि पर खेती बारी होती है। कृषि योग्य भूमि आवश्यकता पड़ने पर बढ़ाई जा सकती है और उसपर सघन खेती की जा सकती है। खेती-बारी में सबसे अधिक महत्व गेहूँ का है जिसकी खेती लगभग एक करोड़ तीस लाख एकड़ भूमि (जोतवाली भूमि के लगभग ६० प्रति शत) पर होती है। गेहूँ को अधिक वर्षा की आवश्यकता नहीं होती, इसी कारण महाद्वीप में इसकी उपज अधिकांशत दक्षिणी भागों में होती है, जहाँ वर्षा जाड़े की ऋतु में होती है। लाचलन एवं मरे का दोआब और स्वानलैंड गेहूँ की उपज के लिये विशेष महत्वपूर्ण है। उत्पादन का ऋतु से गहरा संबंध है। जब वर्षा उचित समयों पर होती है तो कृषक को पर्याप्त लाभ होता है, परंतु जब अनुकूल समयों पर वर्षा नहीं होती तब बड़ी हानि होती है। महाद्वीप में लगभग १५ करोड़ मन गेहूँ प्रति वर्ष पैदा होता है, परंतु १९४४-४५ ई० में ऋतु अनुकूल न होने के कारण केवल ५.३ करोड़ मन गेहूँ पैदा हुआ था। १९४७-४८ ई० में, जब ऋतु अनुकूल थी, गेहूँ की उत्पत्ति २२ करोड़ बुशेल हुई। खेती का कार्य बहुत कम व्यक्ति करते हैं। श्रमिकों का अभाव है और खेती में मशीनों का उपयोग अधिक होता है। गेहूँ के विशाल समतल खेत मशीनों के प्रयोग के लिये उपयुक्त हैं। १९४६ ई० में लगभग ५६,००० ट्रैक्टर कृषि में लगे हुए थे। महाद्वीप से लगभग ६ करोड़ मन गेहूँ और २ करोड़ टन आटा प्रति वर्ष अन्य देशों को निर्यात होता है। आटा तथा गेहूँ के निर्यात की दृष्टि से आस्ट्रेलिया का संसार के देशों में तृतीय स्थान है। आस्ट्रेलिया की विशेषता यह है कि उत्तरी गोलार्ध के देशों को ऐसे समय में वह गेहूँ निर्यात करता है जब उनकी अपनी फसल तैयार नहीं रहती।

अन्य खाद्य पदार्थों में जई एवं मक्का मुख्य हैं। जई ठंडे दक्षिणी भागों में होती है और मक्का मुख्य रूप से क्वींसलैंड और न्यू साउथ वेल्स के तटीय भागों में उपजाया जाता है। क्वींसलैंड के पूर्वी तट पर केअर्न्स एवं मैके नगरों के मध्य भाग में महाद्वीप का अधिकांश गन्ना उपजाया जाता है। इस प्रदेश को 'चीनी तट' कहते हैं। यहाँ की भूमि उपजाऊ है और वर्षा अधिक होती है। श्रमिक गोरी जाति के ही लोग हैं और सरकार इसकी खेती को प्रोत्साहित करती है। सरकार की नीति ऐसी है कि अन्य जातियों के लोग यहाँ नहीं बसने पाते। प्रति वर्ष लगभग २० करोड़ मन गन्ना तीन लाख एकड़ भूमि पर उपजाया जाता है। प्रत्येक खेत लगभग ५० एकड़ का होता है। इस गन्ने के क्षेत्र में उष्ण कटिबंधीय फल भी उपजाए जाते हैं, जैसे केला और अनन्नास। जलवायु की भिन्नता के कारण इस महाद्वीप में नाना प्रकार के फल होते हैं। तस्मानिया की नम तथा मृदु ऋतुवाली सुरक्षित घाटियों में निर्यात के लिये सेब उपजाए जाते हैं। न्यूयॉर्क के निकट और डर्वेंट की घाटी में नाशपाती, बेर, आड़ू, खूबानी और मुख्यत सेब पैदा होते हैं। विक्टोरिया, न्यू साउथ वेल्स और दक्षिणी आस्ट्रेलिया में भी, जहाँ सिंचाई की सुविधा है, नाशपाती, खूबानी और आड़ू उत्पन्न होते हैं तथा डिब्बों में बंद करके यूरोप को भेजे जाते हैं। रूमसागरीय जलवायुवाले दक्षिणी भागों में, मुख्य रूप से विक्टोरिया, न्यू साउथ वेल्स, दक्षिणी आस्ट्रेलिया और कुछ पश्चिमी आस्ट्रेलिया में, अंगूर की उपज होती है। दक्षिणी आस्ट्रेलिया शराब बनाने में बहुत प्रसिद्ध है। विक्टोरिया से सूखे फलों का निर्यात किया जाता है। संतरे सिडनी के निकट परामाटा भाग में अधिक उत्पन्न होते हैं।

मवेशी उद्योग—महाद्वीप की आर्थिक व्यवस्था पर पशुपालन का सर्वाधिक प्रभाव है। देश की निर्यातवाली वस्तुओं में ऊन सबसे महत्वपूर्ण है। देशवासियों का कथन है कि महाद्वीप के आर्थिक भार को भेड़ें ही अपने कंधों पर सँभाले हुए हैं। १९४८-४९ ई० में निर्यात की वस्तुओं के कुल मूल्य का ४२ प्रति शत से अधिक केवल ऊन ही था। यही नहीं, बल्कि आस्ट्रेलिया संसार में सबसे अधिक ऊन उत्पन्न करता है और यहाँ की भेड़ों की संख्या लगभग सारे संसार की भेड़ों का छठा भाग है। संसार का लगभग एक चौथाई ऊन यहाँ उत्पन्न होता है। महाद्वीप में लगभग १२ करोड़ भेड़ें हैं, परंतु यह संख्या सूखावाले वर्षों में बहुत कम हो जाती है। १९४८ ई० में केवल १०.२ करोड़ भेड़ें थीं। भेड़ें अधिकांश १५ इंच से २५ इंच वर्षावाले क्षेत्रों में पाली जाती हैं। अधिक ताप भी इनके लिये हानिकारक होता है। इसलिये भेड़ें मरे-डार्लिंग नदी के मैदानों में तथा आर्टीज़ियन द्रोणी में सबसे अधिक पाली जाती हैं। १९४८ में भेड़ों की संख्या (हजारों में) निम्नलिखित आँकड़ों के अनुसार थी।

न्यू साउथवेल्स	४६,०६५
विक्टोरिया	१७,६००
क्वींसलैंड	१६,७००
पश्चिमी आस्ट्रेलिया	१०,४००
दक्षिणी आस्ट्रेलिया	६,०००
तसमानिया	२,०००
उत्तरी टेरिटरी	१६
कैपिटल टेरिटरी	२१५
योग	१,०२,२६६ हजार

लगभग एक तिहाई भेड़ें गेहूँ के क्षेत्रों में पाई जाती हैं। भेड़ें मुख्य रूप से ऊन के लिये पाली जाती हैं और इसलिये ७० प्रति शत से अधिक भेड़ें मेरिनो नस्ल की हैं। ऊन का व्यापार अधिकांशत ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्त राज्य (अमरीका) इटली और बेल्जियम से होता है। ऊन के अतिरिक्त भेड़ों का मांस भी निर्यात किया जाता है, जो पूर्णत ब्रिटेन को भेजा जाता है।

पशु—महाद्वीप में भेड़ों के बाद गाय बैलों का दूसरा स्थान है। इन पशुओं की संख्या डेढ़ करोड़ से अधिक है, जिनमें से ४८ लाख दुग्धपशु हैं, शेष सब मांस के लिये पाले जाते हैं। मांस के पशुओं में से लगभग आधे क्वींसलैंड में हैं और न्यूसाउथ वेल्स में २० प्रति शत, उत्तरी टेरिटरी में १० प्रति शत और विक्टोरिया तथा पश्चिमी आस्ट्रेलिया, प्रत्येक में ७ प्रति शत। पशु अधिकतर वर्षावाले भागों में पाए जाते हैं। पूर्वीय तट के भागों में और विक्टोरिया में, जहाँ अच्छे प्रकार के चरागाह हैं और जहाँ दुग्धपशुओं की आवश्यकता भी अधिक है, वे विशेष रूप से पाले जाते हैं। नवाना घास के
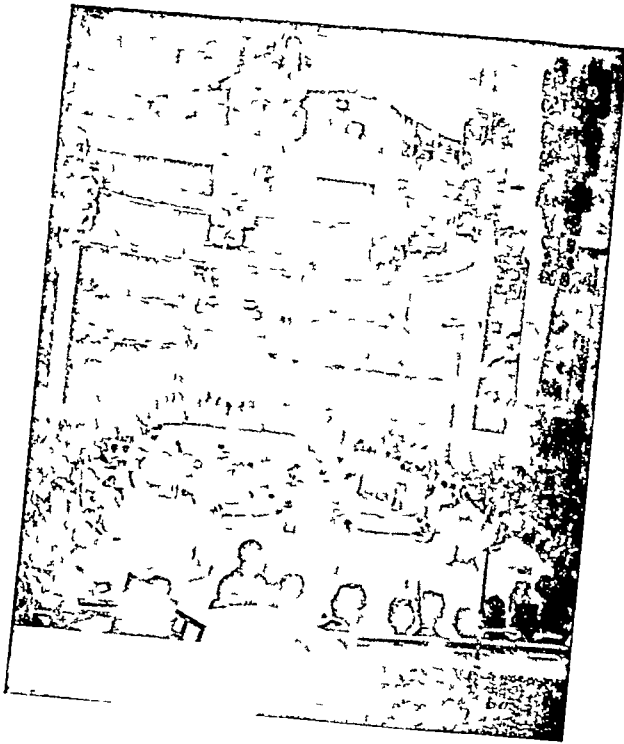
आस्ट्रिया के कुछ दृश्य

ऊपर वाई ओर वियना की राज्य-सगीत-नाट्यशाला, ऊपर दाहिनी ओर अपने राष्ट्रीय पहिनावे मे आस्ट्रिया के किसान, नीचे वाई ओर वियना की राज्य-सगीत-नाट्यशाला का गोष्ठी-कक्ष, नीचे दाहिनी ओर लीसन घाटी (आस्ट्रिया के दूतावास के सौजन्य से)
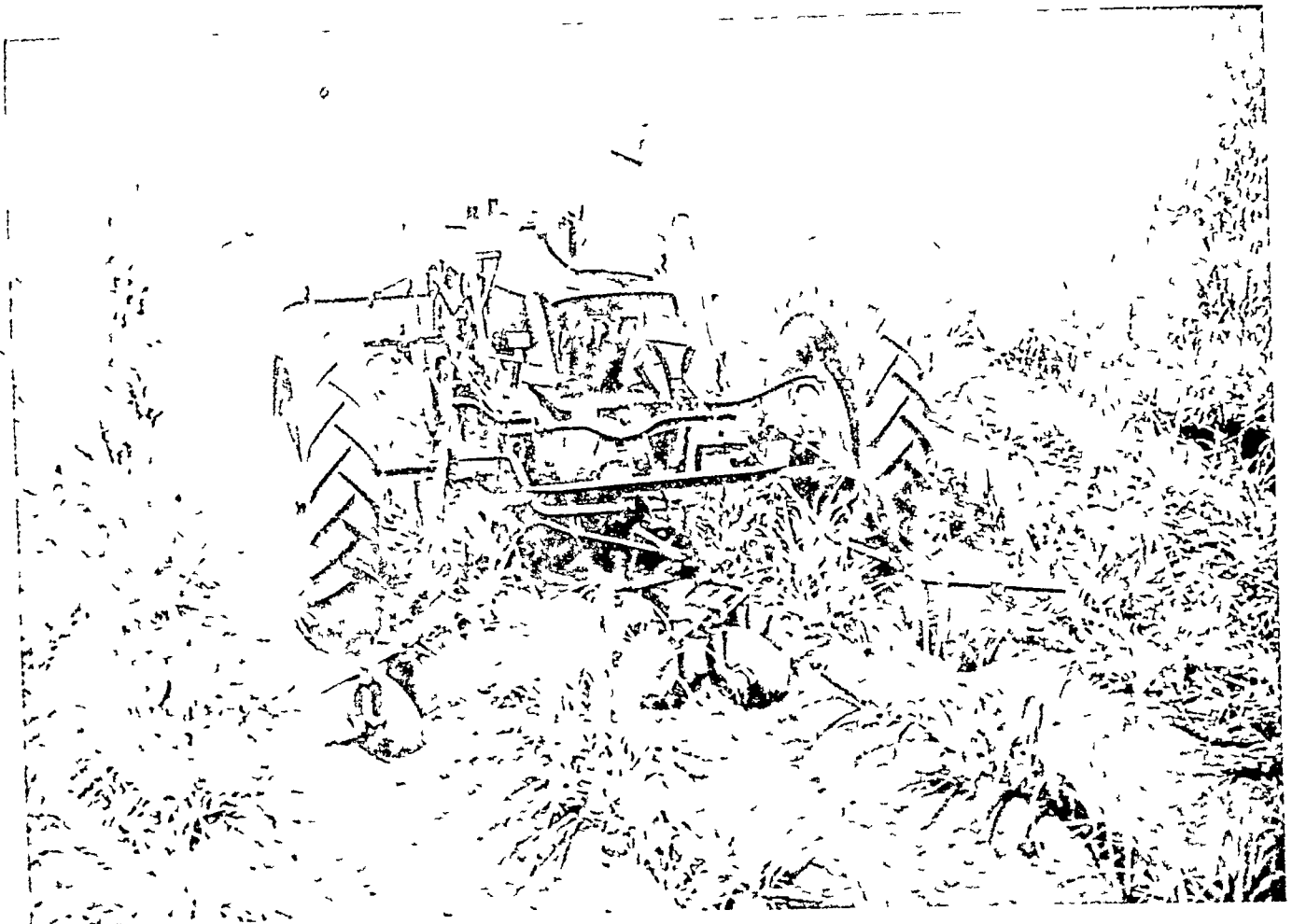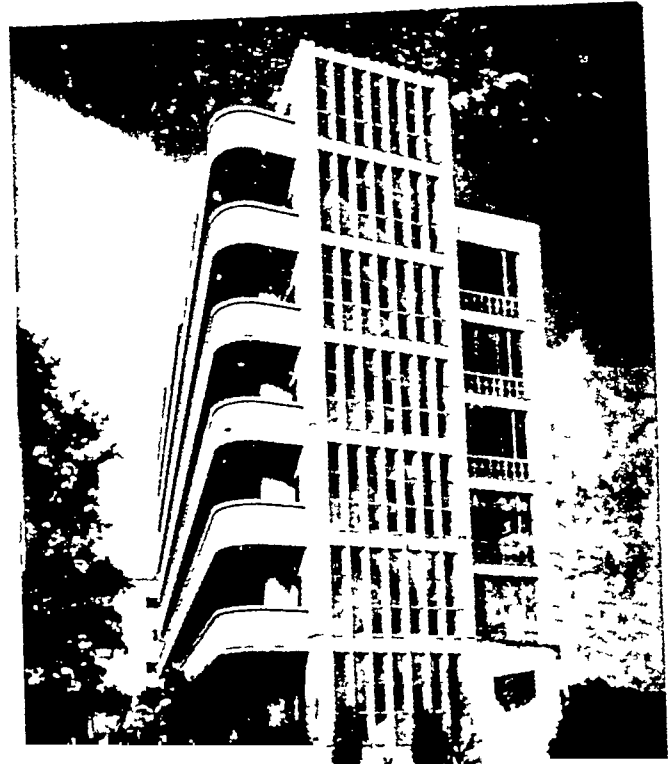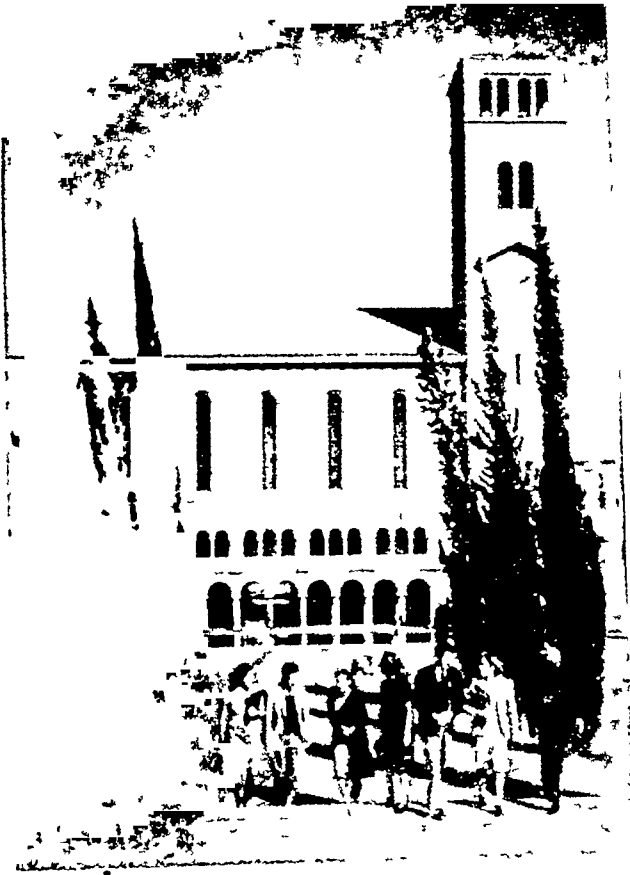
आस्ट्रेलिया के कुछ दृश्य

ऊपर, बाईं ओर पर्थ नगर में पश्चिमी आस्ट्रेलिया के विश्वविद्यालय का एक हॉल। ऊपर, दाहिनी ओर विक्टोरिया प्रांत की राजधानी मेलबर्न के उपनगर में छोटे किरायेदारों के लिये भवन। नीचे, ट्रैक्टर से गन्ने की खेती।

जिसने १८०२ ई० मे महाद्वीप के चारो ओर इनवेस्टिगटर नामक जहाज में चक्कर लगाया। जलवायु और धरातल की दृष्टि से पूर्वी तट के अतिरिक्त अन्य भाग गोरे लोगो के अनुकूल नही हैं। इस कारण बहुत समय तक कही और नई आबादी न बस सकी। पूर्वी पहाडी श्रेणियो को पार करने मे कठिनाई होने के कारण महाद्वीप के भीतरी भाग की भी विशेष जानकारी न हो सकी। १८१३ ई० मे लासन, ब्लैक्सलैंड और वेंटवर्थ नामक व्यक्तियो ने इन पर्वतश्रेणियो को पार कर पश्चिमी मैदानो की खोज की। १८२८ ई० में कप्तान स्टवार्ट ने डार्लिग नदी की खोज की। महाद्वीप की जनसख्या आरभ में बहुत ही धीरे धीरे बढी। १८५१ ई० में स्वर्ण मिलने के पूर्व महाद्वीप की जनसख्या लगभग ४,००,००० थी। आस्ट्रेलिया के राजनीतिक विभाग निम्नलिखित हैं

न्यूसाउथ वेल्स, विक्टोरिया, क्वीसलैंड, दक्षिणी आस्ट्रेलिया, पश्चिमी आस्ट्रेलिया एव तस्मानिया। इनके अतिरिक्त उत्तरी प्रदेश (नॉर्दर्न टेरिटरी) एक केंद्रशासित राजनीतिक विभाग है।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप ११३° ९′ पूर्व से १५३° ३९′ पूर्व देशातरो और १०° ४१ तथा ४३° ३९′ दक्षिण अक्षाश के मध्य स्थित है। इसके पूर्व में प्रशात महासागर, पश्चिम मे हिंद महासागर और दक्षिण में दक्षिण महासागर है। तस्मानिया द्वीप सहित महाद्वीप का क्षेत्रफल २९,७४,५८१ वर्ग मील है। पूर्व से पश्चिम इसकी अधिकतम लबाई २,४०० मील और उत्तर से दक्षिण की चौडाई २,००० मील है। इसका तट १२,२१० मील लबा है और विशेष कटा छँटा नही है। उत्तर-पूर्वी तट के निकट मूँगें की चट्टानें बडी दूर तक फैली हुई है जो 'ग्रेट बैरियर रीफ' के नाम से प्रसिद्ध है।

आस्ट्रेलिया महाद्वीप की प्राकृतिक सरचना अन्य महाद्वीपो से भिन्न है। यहाँ का अधिकतर भाग प्राचीन मणिभ (रवेदार) चट्टानो का बना हुआ है। तृतीयक काल की विशाल पर्वत-रचनात्मक-शक्तियो का आस्ट्रेलिया पर प्रभाव नही पडा है जिसके कारण महाद्वीप में कोई भी ऐसी पर्वतश्रेणी नही है जो दूसरे महाद्वीपो की हजारो फुट ऊँची श्रृ खलाओ की बराबरी कर सके। यहाँ का सर्वोच्च पर्वतशिखर केवल ७,३२८ फुट ऊँचा है। यही नही कि यहाँ के पर्वत अधिक ऊँचे नही है, यहाँ का मैदानी भाग भी सपूर्ण भमि का केवल एक चौथाई है।

महाद्वीप के तीन प्रमुख प्राकृतिक विभाग हैं

१ **पश्चिमी पठार**—यह महाद्वीप का लगभग ३/५ भाग घेरे हुए है। मुख्य रूप से इसमें १३५° पूर्वी देशातर के पश्चिम का भाग आता है। यहाँ की अधिकाश चट्टानें पुराकल्पिक तथा प्रारभिक काल की और बडी ही कठोर हैं। यद्यपि यहाँ की औसत ऊँचाई लगभग १,००० फुट है, तो भी कुछ पहाडियो, जैसे हैमर्सले रेज, माउट ऊड्राफ, मैक्डॉनेल एव जेम्स रेंज आदि ३,००० फट से अधिक ऊँची हैं। अधिक शुष्क होने के कारण इसका अधिकाश मरुस्थल है। तट के निकट पठार की ढाल अधिक है।

२. **मध्यवर्ती मैदान**—पश्चिमी पठार के पूर्व मध्यवर्ती मैदान स्थित है, जो दक्षिण की इकाउटर की खाडी के उत्तर कार्पेंट्रिया खाडी तक विस्तृत है। इसमें मोडार्लिग द्रोणी (बेसिन) या रीवरीना (आयर झील की द्रोणी और कार्पेंट्रिया के निम्न भूभाग) समिलित है। दक्षिण-पश्चिम के भाग सागरतल से भी नीचे है। आयर झील द्रोणी की नदियाँ सागर तक नही पहुँचती और उनमे पानी का सदैव अभाव रहा करता है। ग्रीष्मकाल मे तो वे सर्वथा शुष्क हो जाती हैं। मध्य उत्तरी भाग ग्रेट आर्टीजियन द्रोणी कहलाता है। वहाँ पातालतोड कुओ द्वारा पानी प्राप्त होता है। मरे डार्लिग द्रोणी विशेष उपजाऊ है।

३ **पूर्वी उच्च भाग**—यह पूर्वी तट के समातर यार्क अतरीप से विक्टोरिया प्रदेश तक विस्तृत है। यह तट से सीधे उठकर मध्यवर्ती निम्न भाग की ओर क्रमश ढालू होता गया है। यहाँ की श्रेणियाँ अधिक ऊँची नही है। यद्यपि इनको ग्रेट डिवाइडिंग रेंज कहते है, तो भी विभिन्न भागो मे इनके विभिन्न नाम हैं। न्यू साउथ वेल्स मे ये लगभग ३,०००-४,००० फुट ऊँची और ब्लू माउटेन के नाम से प्रसिद्ध हैं। दक्षिण-पूर्व मे महाद्वीप का सर्वोच्च शिखर कोसिओस्को है जो ७,३२८ फुट ऊँचा है। विक्टोरिया मे ये श्रेणियाँ पूर्व से पश्चिम की ओर फैली हुई हैं। ये पश्चिम की ओर नीची होती जाती हैं। महाद्वीप की अधिकाश नदियाँ इन्ही पर्वतो से निकलती है।

खनिज पदार्थ—धातुएँ अधिकतर प्राचीन कैंब्रियनपूर्व पुराकल्पिक (पैलियोज़ोइक) चट्टानो में मिलती हैं। ये चट्टानें महाद्वीप के अधिकाश भागो में या तो धरातल के ऊपर हैं अथवा उसके बहुत निकट आ गई हैं। बहुत से भागो में ये बालू और अन्य अवसादो से ढँकी हुई हैं। कैंब्रियनपूर्व चट्टानें यूक्ला बेसिन के पश्चिम, उत्तर और पूर्व मे मिलती हैं। पुराकल्पिक चट्टानें लगभग २९० मील चौडी एक मेखला के रूप में महाद्वीप के पूर्व में उत्तर से दक्षिण को फैली हुई हैं। तस्मानियाँ द्वीप में भी ये ही चट्टानें मिलती हैं। यद्यपि ताँबे का उत्पादन दक्षिणी आस्ट्रेलिया में १८४० ई० के लगभग कपुडा और बुरबुरा की खानो से आरभ हो गया था, तो भी मुख्य रूप से खनिज उत्पादन १८५१ ई० से आरभ हुआ जब एडवर्ड आरग्रीस ने बाथर्स्ट से २० मील उत्तर अपने खेत मे सोना पाया। उसके शीघ्र ही बाद मेलबोर्न, बाथर्स्ट एव बेंडिगो में भी सोना मिलना आरभ हो गया। पश्चिमी आस्ट्रेलिया मे सोना १८८६ ई० में मिला, परतु आजकल वही सोने का सर्वाधिक उत्पादन होता है। महाद्वीप के अधिकाश खनिज पदार्थ कुछ ही स्थानो से निकाले जाते हैं जिनमें मुख्यत कालगुर्ली आर क्यू (सोना) पश्चिमी आस्ट्रेलिया मे, बलारू, मुटा, कर्पूडा (ताँबा), आयरनाब (लोहा) दक्षिणी आस्ट्रेलिया मे, ब्रोकेन हिल (सीसा, जस्ता और चाँदी) न्यू साउथवेल्स में, माउट ईसा (सीसा, जस्ता और ताँबा) क्वीसलैंड में हैं।

इनके अतिरिक्त पुराकल्पिक चट्टानो में धातुएँ—हर्बर्टन में (ताँबा), चार्टर्स टावर में सोना, माउट मार्गन में ताँबा, कोबार में ताँबा, बाथर्स्ट में सोना और बेंडिगो, बलारेट तथा तस्मानिया के पश्चिमी भाग में स्थित माउट जीहन में सीसा और जस्ता, माउट लायल में ताँबा और माउट विस्चाफ मे राँगा—मुख्य रूप से मिलती हैं। १९४८ ई० में इस महाद्वीप के मुख्य खनिजो का उत्पादन और उनका मूल्य निम्नलिखित आँकडो से स्पष्ट है

खनिज		उत्पादन (हजार टनो में)	मूल्य (हजार पाउडो में)
कोयला	काला	१४,७८१	१७,४९८
	भूरा	६,६९२	१,१८८
ताँबा		१२	१,८५४
लोहा		२,०४२	२,३६६
सीसा		२०८	१,९९३
राँगा		३	१०२
जस्ता		१७७	४,७०८
चाँदी		४,४८,८६१ आउस	७०७
सोना		८,८८,५६० आउस	९,५६३

इस महाद्वीप के खनिजो मे सोने का महत्व बहुत गिर गया। १९४८ ई० मे सोने का उत्पादन १९०३ ई० की अपेक्षा, जिस वर्ष महाद्वीप में सर्वाधिक सोना प्राप्त हुआ, एक चौथाई से भी कम था। १९५१ ई० में इस महाद्वीप न ससार भर के सोने के उत्पादन का केवल ३ ६ प्रति शत उत्पादन किया। फिर भी ससार के देशो में इसका चौथा स्थान था। उसी वर्ष चाँदी मे इस महाद्वीप का स्थान ससार मे पाँचवाँ (६ २ प्रति शत) था, सीसा के उत्पादन में द्वितीय (१३ ५ प्रति शत) तथा जस्ता में चतुर्थ (८ ८ प्रति शत था)। इस महाद्वीप में कोयले का प्रचुर भाडार है और काला तथा भूरा दोनो प्रकार का कोयला विद्यमान है। काले कोयले का भाडार न्यू साउथ वेल्स और क्वीसलैंड मे तथा भूरे कोयले का सर्वाधिक भाडार विक्टोरिया मे है। सर्वाधिक उत्पादन न्यूकैसिल के कोयला क्षेत्र मे होता है। इसका क्षेत्रफल लगभग १६,५५० वर्गमील है। समुद्रतट के समीप होने के कारण यह क्षेत्र अधिक महत्वपूर्ण है।

जलवायु—मकर रेखा इस महाद्वीप के लगभग मध्य से होकर जाती है। इस कारण इसके उत्तर का भाग सदा उष्ण रहता है और दक्षिण का भाग ऊँचे क्षेत्रो के अतिरिक्त अन्य कही भी अधिक ठढा नही रहता। यद्यपि महाद्वीप चारो ओर समुद्र से घिरा हुआ है, फिर भी उसका प्रभाव वहाँ की जलवायु को समान रखने मे बहुत कम पडता है। इसका मुख्य कारण पूर्वी पहाडी श्रेणियाँ हैं जो समुद्र के प्रभाव को देश के भीतरी भागो मे नही पहुँचने

आस्ट्रेलिया के कुछ दृश्य

ऊपर बाईं ओर याग नदी के किनारे बसा मेलबर्न (जनसंख्या लगभग १७ लाख), ऊपर दाहिनी ओर न्यूकैसल में लोहे का कारखाना, जिसमें ५,००० मनुष्य काम करते हैं। नीचे बाईं ओर वायुयान से सिडनी (जनसंख्या २० लाख), नीचे दाहिनी ओर चिकित्सा सेवा (रोगी को वायुयान पर ले जा रहे हैं)।
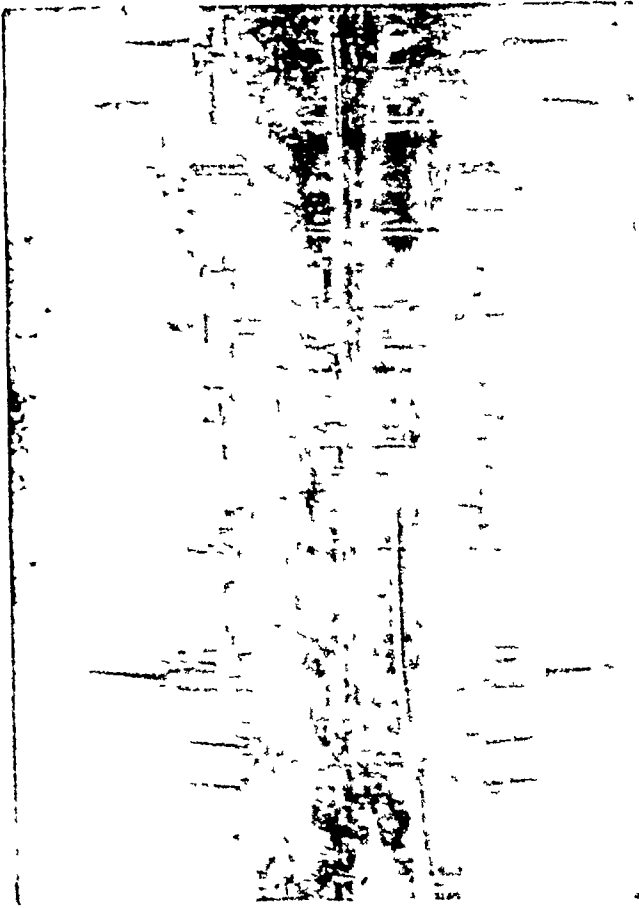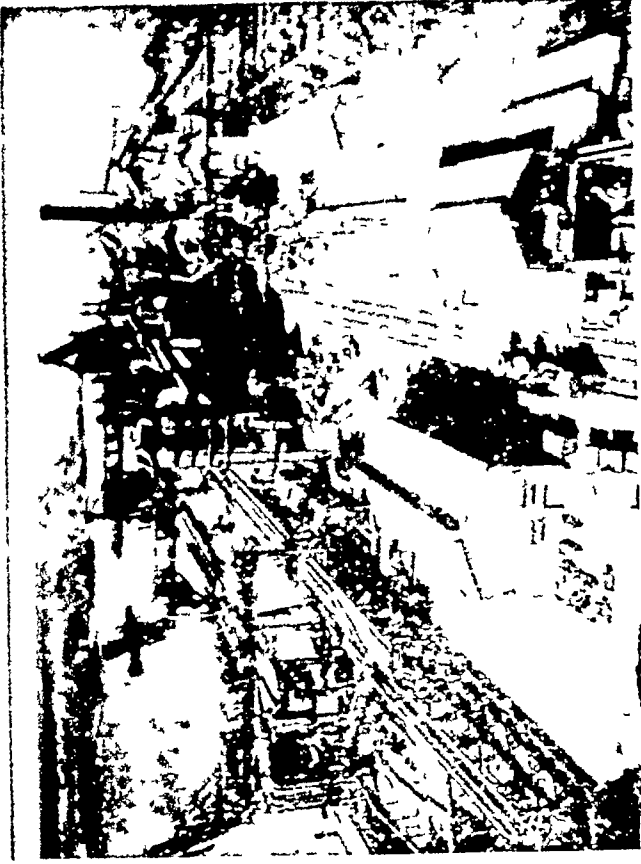
आधुनिक पाश्चात्य दर्शन मे आस्तिक उसे कहते है जो जीवन के उच्चतम मूल्यो, अर्थात् सत्य धर्म और सौंदर्य के अस्तित्व और प्राप्यत्व मे विश्वास करता हो। पाश्चात्य देशो में आजकल कुछ ऐसे मत चले है जो केवल दृष्ट (ज्ञात अथवा ज्ञातव्य) पदार्थों में ही विश्वास करते है और आत्मा, परलोक, ईश्वर और जीवन मे परे के मूल्यो मे नही करते। वे समझते है कि विज्ञान द्वारा ये सिद्ध नही किए जा सकते। ये केवल दार्शनिक कल्पनाएँ है और वास्तविक नही है, केवल मृगतृष्णा के समान मिथ्या विश्वास है। उनके अनुसार आस्तिक (पोजिटिविस्ट) वही है जो ऐहिक और लौकिक सत्ता में विश्वास रखता हो और दर्शन की मिथ्या कल्पनाओ से मुक्त हो। इस दृष्टि से तो भारत का केवल एक दर्शन—चार्वाक—ही आस्तिक है।
[भी० ला० आ०]

आस्तिकता (थीज्म)—भारतीय दर्शन मे ईश्वर, ईश्वराज्ञा, परलोक, आत्मा आदि अदृष्ट पदार्थों के अस्तित्व मे, विशेषत ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास का नाम आस्तिकता है। पाश्चात्य दर्शन मे ईश्वर के अस्तित्व मे, विश्वास का ही नाम थीज्म है। ससार के विश्वासो के इतिहास में ईश्वर की कल्पना अनेक रूपो मे की गई है और उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये अनेक युक्तियाँ दी गई हैं। उनमे मुख्य ये है

(१) **ईश्वर का स्वरूप**—मानवानुरूप व्यक्तित्वयुक्त ईश्वर (परसनल-गाड)। इस ससार का उत्पादक (स्रष्टा), सचालक और नियामक, मनुष्य के समान शरीरधारी, मनोवृत्तियो से युक्त परम शक्तिशाली परमात्मा है। वह किसी एक स्थान (धाम) पर रहता है और वही से सब ससार की देख-भाल करता है, लोगो को पाप पुण्य का फल देता है एव भक्ति और प्रार्थना करने पर लोगों के दु ख और विपत्ति मे सहायता करता है। अपने धाम से वह इस ससार मे सच्चा धार्मिक मार्ग सिखाने के लिये अपने बेटे पैगबरो, ऋषिमुनियों को समय समय पर भेजता है और कभी स्वय ही किसी न किसी रूप मे अवतार लेता है। दुष्टो का दमन और सज्जनो का उद्धार करता है। इस मत को पाश्चात्य दर्शन मे थीज्म कहते हैं।

(२) **सृष्टिकर्ता मात्र ईश्वरवाद**—(डीज्म) कुछ दार्शनिक यह मानते है कि ईश्वर तो सृष्टिकर्ता मात्र है और उसने ऐसी सृष्टि रच दी है कि वह स्वय अपने नियमों से चल रही है। उसको अब इससे कोई मतलब नही। जैसे घडी बनानेवाले को अपनी बनाई हुई घडी से, बनने के पश्चात्, कोई सबध नही रहता। वह चलती रहती है। इस मत की कुछ झलक वैष्णवो की इस कल्पना मे मिलती है कि भगवान् विष्णु क्षीरसागर मे सोते रहते है और शैवो की इस कल्पना मे कि भगवान् शकर कैलास पर्वत पर समाधि लगाए बैठे रहते है और ससारका कार्य चलता रहता है।

(३) **"सर्वं खलु इद ब्रह्म"**—यह समस्त ससार ब्रह्म ही है (पैंथीज्म), इस सिद्धात के अनुसार ससार और भगवान् कोई अलग अलग वस्तु नही है। भगवान् और ससार एक ही है। जगत् भगवान् का शरीर मात्र है जिसके कण कण मे वह व्याप्त है। ब्रह्म=जगत् और जगत्=ब्रह्म। इसको अद्वैत-वाद भी कहते है। पाश्चात्य देशो मे इस प्रकार के मत का नाम पैंथीज़्म है।

(४) **ब्रह्म जगत् से परे** भी है। इस मतवाले, जिनको पाश्चात्य देशो मे 'पैन एन थीस्ट' कहते है, यह मानते है कि जगत् मे भगवान् की परि-समाप्ति नही होती। जगत् तो उसके एक अश मात्र मे है। जगत् सात है, सीमित है और इसमे भगवान् के सभी गुणो का प्रकाश नही है। भगवान् अनादि, अनत और अचित्य हैं। जगत् में उनकी सत्ता और स्वरूप का बहुत थोडे अश मे प्राकट्य है। इस मत के अनुसार समस्त जगत् ब्रह्म है, पर समस्त ब्रह्म जगत् नही है।

(५) **अजातवाद, अजातिवाद अथवा जगद्रहित शुद्ध ब्रह्मवाद**—(अकास्मिज्म) इस मत के अनुसार ईश्वर के अतिरिक्त और कोई सत्ता ही नही है। सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है। जगत् नाम की वस्तु न कभी उत्पन्न हुई, न है और न होगी। जिसको हम जगत् के रूप मे देखते है वह कल्पना मात्र, मिथ्या भ्रम मात्र है जिसका ज्ञान द्वारा लोप हो जाता है। वास्तविक सत्ता केवल विकाररहित शुद्ध सच्चिदानद ब्रह्म की ही है जिसमे सृष्टि न कभी हुई, न होगी।

आस्तिकता के अतर्गत एक यह प्रश्न भी उठता है कि ईश्वर एक है। अथवा अनेक। कुछ लोग अनेक देवी देवताओ को मानते है। उनको बहुदेववादी (पोलीथीस्ट) कहते है। वे एक देव को नही जानते। कुछ लोग जगत् के नियामक दो देवो को मानते हैं—एक भगवान् और दूसरा शैतान। एक अच्छाइयो का स्रष्टा और दूसरा बुराइयो का। कुछ लोग यह मानते है कि बुराई भले भगवान् की छाया मात्र है। भगवान् एक ही है, शैतान उसकी मायाशक्ति का नाम है जिसके द्वारा ससार मे सब दोषो का प्रसार है, पर जो स्वय भगवान् के नियत्रण मे रहती है। कुछ लोग माया-रहित शुद्ध ब्रह्म की सत्ता मे विश्वास करते है। उनके अनुसार ससार शुद्ध ब्रह्म का प्रकाश है, उसमे स्वय कोई दोष नही है। हमारे अज्ञान के कारण ही हमको दोष दिखाई पडते है। पूर्ण ज्ञान हो जाने पर सबको मगलमय ही दिखाई पडेगा। इस मत को शुद्ध ब्रह्मवाद कहते है। इसी को अद्वैतवाद अथवा ऐक्यवाद (मोनिज़्म) कहते है।

आस्तिकता के पक्ष में युक्तियाँ—पाश्चात्य और भारतीय दर्शन मे आस्तिकता को सिद्ध करने मे जो अनेक युक्तियाँ दी जाती है उनमे से कुछ ये है

(१) मनुष्यमात्र के मन मे ईश्वर का विचार और उसमे विश्वास जन्मजात है। उसका निराकरण कठिन है, अतएव ईश्वर वास्तव मे होना चाहिए। इसको आटोलॉजिकल, अर्थात् प्रत्यय से सत्ता की सिद्धि करने-वाली युक्ति कहते है।

(२) ससारगत कार्य-कारण-नियम को जगत् पर लागू करके यह कहा जाता है कि जैसे यहाँ प्रत्येक कार्य के उपादान और निमित्त कारण होते है, उसी प्रकार समस्त जगत् का उपादान और निमित्त कारण भी होना चाहिए और वह ईश्वर है (कास्मोलॉजिकल, अर्थात् सृष्टिकारण युक्ति)।

(३) ससार की सभी क्रियाओ का कोई न कोई प्रयोजन या उद्देश्य होता है और इसकी सब क्रियाएँ नियमपूर्वक और सगठित रीति से चल रही है। अतएव इसका नियामक, योजक और प्रबधक कोई मगलकारी भगवान् होगा (टिलियोलोजिकल, अर्थात् उद्देश्यात्मक युक्ति)।

(४) जिस प्रकार मानव समाज मे सब लोगो को नियत्रण मे रखने के लिये और अपराधो का दड एव उपकारो और सेवाओ का पुरस्कार देने के लिये राजा अथवा राजव्यवस्था होती है उसी प्रकार समस्त सृष्टि को नियम पर चलाने और पाप पुण्य का फल देनेवाला कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-मान् और न्यायकारी परमात्मा अवश्य है। इसको मॉरल या नैतिक युक्ति कहते है।

(५) योगी और भक्त लोग अपने ध्यान और भजन मे निमग्न होकर भगवान् का किसी न किसी रूप मे दर्शन करके कृतार्थ और तृप्त होते दिखाई पडते है (यह युक्ति रहस्यवादी, अर्थात् मिस्टिक युक्ति कहलाती है)।

(६) ससार के सभी धर्मग्रथो मे ईश्वर के अस्तित्व का उपदेश मिलता है, अतएव सर्व-जन-साधारण का और धार्मिक लोगो का ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास है। इस युक्ति को शब्दप्रमाण कहते है।

नास्तिको ने इन सब युक्तियो को काटने का प्रयत्न किया है (दे० अनीश्वरवाद)।

सं०ग्रं०—बावने थीज्म, फ्लिट थीज्म, हाकिंग दि मीनिंग ऑव गॉड इन ह्यूमन एक्सपीरिएस, फ्रेजर फिलासफी ऑव थीज्म, विलियम जेम्स दि विल टु बिलीव, फिस्के थ्रू नेचर टु गॉड, उदयन न्यायकुसुमाजलि।
[भी० ला० आ०]

आस्मियम प्लैटिनम समूह की छ धातुओ मे से एक है और इन सबसे अधिक दुष्प्राप्य है। इसको सबसे पहले टेनाट ने १८०४ मे आस्मिइरीडियम से प्राप्त किया। आस्मिइरीडियम को सोडियम क्लोराइड के साथ क्लोरीन गैस की धारा में पिघलाने पर आस्मियम टेट्राक्लोराइड (आ$_2$क्लो$_4$)बनता है जो उडकर एक जगह एकत्र हो जाता है। उसकी

मैदानो में ग्रौर ग्रार्टीजियन कूपो की द्रोणी में विशेपकर मासवाले पशु ही पाले जाते हैं, जो तीन वर्ष के होने पर न्यू साउथ वेल्स ग्रौर विक्टोरिया में हृष्ट पुष्ट करने के लिये भेजे जाते हैं। वे वहीं काटे जाते हैं। क्वीसलैंड में टाउन्सवैल राक्हैंपटन, बॉवेन, ग्लैंड्स्टन ग्रौर ब्रिस्बेन नामक स्थानो में मास तैयार करने के कारखाने हैं। मास के निर्यात का ग्रधिकाश भाग ब्रिटेन को जाता है।

उद्योग धधे—यद्यपि ग्रास्ट्रेलिया सौ से ग्रधिक वर्पो तक किसानो ग्रौर सोना निकालनेवालो का प्रदेश रहा है, तथापि ग्रब खनिजो एव ग्रन्य कच्चे मालो पर निर्भर उद्योगो की उन्नति दिन प्रति दिन होती जा रही है। सबसे महत्वपूर्ण उद्योग लोहा तथा इस्पात एव उनसे सबधित भारी रासायनिक उद्योगो के हैं। ये मुख्य रूप से कोयले की खानो के निकट स्थित हैं। इस्पात का प्रथम कारखाना लियगो में, न्यूकैसिल नामक कोयला क्षेत्र पर, १६०७ में खोला गया, परतु ग्राधुनिक ढग का प्रथम कारखाना १६१५ में खुला। सबसे बडा कारखाना सन् १६३७-४१ में वायला मे खुला, जहाँ पर ग्रब पानी के जहाज बनाने का एक बडा कारखाना भी है। १६४१ में ग्रास्ट्रेलिया के कारखानो ने १५.४ लाख टन लोहा ग्रौर १६.२ लाख टन इस्पात पैदा किया। हटर घाटी ग्रास्ट्रेलिया का उद्योगकेंद्र है, जहाँ न्यूकैसिल का इस्पात कारखाना ग्रौर कोयला सबधी रासायनिक उद्योग धधे, जैसे कोलतार, बेंजोल एव सल्फ्यूरिक ऐसिड ग्रादि उद्योग चल रहे हैं।

महाद्वीप के ग्रन्य उद्योग धधे ग्रधिकतर प्रातो की राजधानियो में है, जिनमे ऊनी, सूती ग्रौर रेशम के कपड बुनने के उद्योग, हल्की कलें, मोटर, ट्रैक्टर, वायुयान, बिजली के सामान, खेती के ग्रौजार ग्रौर यत्र, रासायनिक वस्तुएँ, मदिरा ग्रौर ग्रन्य वस्तुएँ बनाने के उद्योग हैं। इनके ग्रतिरिक्त ग्राटा पीसने ग्रौर दुग्धपदार्थो के उद्योग गेहूँ ग्रौर पशुपालन क्षेत्रो में स्थापित हैं। क्वीसलैंड में मास ग्रौर शक्कर के ग्रधिकाश कारखाने हैं। वर्तमान समय में लगभग १० लाख व्यक्ति महाद्वीप के ३५ हजार कारखानो में कार्य करते हैं। ग्रधिकाश कारखाने छोटे ही हैं।

जनसख्या—मुख्यत जलवायु ग्रनुकूल न होने के कारण ग्रास्ट्रेलिया एक विशाल महाद्वीप होते हुए भी जनसख्या की दृष्टि से बहुत पिछडा हुग्रा है। इसमें लगभग उतने ही मनुष्य बसते हैं जितने केवल न्यूयार्क नगर में हैं। ग्रास्ट्रेलिया की ग्रौसत जनसख्या (तीन व्यक्ति प्रति वर्ग मील) ससार की ग्रौसत ग्राबादी (५० व्यक्ति प्रति वर्ग मील) से कही कम है। महाद्वीप की ग्रधिकाश जनसख्या समुद्रतट के निकट ही रहती है तथा केवल पूर्वी तट ग्रौर दक्षिण के ठडे स्थानो में घनी है। नगरवासियो की सख्या ग्रामवासियो की ग्रपेक्षा दिन प्रति दिन बढती जा रही है ग्रौर कुल जनसख्या के लगभग ७० प्रति शत लोग नगरो में निवास करते है। १६४६ ई० में प्रातो की राजधानियो की जनसख्या (हजारो में) निम्नलिखित थी

केनबेरा	१७
सिडनी	१,५५०
मेलबोर्न	१,२८८
ब्रिस्बेन	४३०
एडीलेड	४०७
पर्थ	२६४
होबार्ट	८१
डार्विन	८

महाद्वीप की वर्तमान ग्रनुमित जनसख्या लगभग ६० लाख है। ग्रास्ट्रेलिया में गोरी जाति के लोगो के पहुँचने के समय लगभग तीन लाख ग्रादिवासी थे, परतु ग्रब उनकी सख्या घटकर लगभग ५० हजार रह गई है। डारविन के पूर्व ग्रार्नहेमलैंड ग्रब ग्रादिवासियो का क्षेत्र घोपित कर दिया गया है।

परिवहन—१६वीं शताब्दी के मध्य के पूर्व से, जब रेलें नही थी, महाद्वीप में परिवहन के मुख्य साधन घोडे, ऊँट ग्रौर नावें थी। परतु ग्राज ऊँट ग्रौर नदियो का कोई स्थान नही है, रेलें ग्रौर मोटरें सबसे महत्वपूर्ण साधन हैं। ग्रास्ट्रेलिया के भीतरी भागो के विकास में उनका ग्रधिक महत्व है। महाद्वीप की पहली रेल की पटरी सिडनी ग्रौर पारामाटा के बीच १८५० ई० में बिछाई गई थी जो १५ मील लबी थी। १८८१ से रेलमार्गो में बडी शीघ्रता से वृद्धि हुई। महाद्वीप की ट्रास-कांटिनेंटल रेलवे, पोर्ट पीरी से कालगुर्ली तक, १६१७ में बिछाई गई थी। १६३१ तक रेलमार्गो की लबाई २७,७०० मील हो गई। ग्रनियमित वृद्धि के कारण रेलमार्ग तीन भिन्न माप के हैं, जिनके कारण ग्रत प्रदेशीय परिवहन में काफी कठिनाई होती है। ग्रधिकाश रेलमार्ग बदरगाहो को स्वतत्र रूप से भीतरी भागो से मिलाते हैं। वर्तमान समय में रेलो की ग्रपेक्षा मोटरकार, ट्रक ग्रौर वायुयान का महत्व ग्रधिक हो गया है। जनसख्या से मोटरकारो ग्रौर ट्रको का ग्रनुपात यहाँ लगभग वही है, जो सयुक्त राष्ट्र (ग्रमरीका) में है। साथ ही ग्रास्ट्रेलियानिवासी ससार मे वायुयान का सबसे ग्रधिक प्रयोग करते हैं।

व्यापार—ग्रास्ट्रेलिया एक बडा व्यापारी महाद्वीप है। यह कच्चा माल ग्रौर खाद्य पदार्थ बडी मात्रा में ग्रन्य देशो को निर्यात करता है। इनमें प्रमुख स्थान ऊन का है ग्रौर इन दिनो बढे हुए मूल्य के कारण ऊन का मूल्य सपूर्ण निर्यात वस्तुग्रो का लगभग ६० प्रति शत है। १६५०-५१ में सपूर्ण पशु पदार्थो का निर्यात कुल निर्यातमूल्य का लगभग ७० प्रतिशत था। खेती सबधी वस्तुएँ, जैसे गेहूँ, ग्राटा, शक्कर, जौ, फल, ग्रचार मुरब्बा एव शराब का द्वितीय स्थान था। इसके पश्चात् कारखानो मे बनी वस्तुएँ ग्रौर तत्पश्चात् मक्खन, पनीर, ग्रडे एव मुर्गी ग्रादि के निर्यात का स्थान है। ब्रिटेन से इसका सबसे घनिष्ठ व्यापारिक सबध है। [ग्रा० स्व० जौ०]

ग्रास्ट्रेलियाई भाषाएँ इस परिवार की भाषाएँ ग्रास्ट्रेलिया महाद्वीप के सभी प्रदेशो में मूलनिवासियो द्वारा बोली जाती है ग्रौर एक ही स्रोत से निकली है। ये ग्रत में प्रत्यय जोडनेवाली, योगात्मक, ग्रश्लिष्ट प्रकृति की हैं, इस कारण कुछ लोग इन्हे द्राविड भाषाग्रो से सबद्ध समझते थे। इस परिवार की टस्मेनिया भाषा ग्रब समाप्त हो चुकी है। ग्रन्य भाषाएँ भी जगली जातियो की हैं। समस्त ग्रास्ट्रेलिया महाद्वीप की जनसख्या ८०/–१ लाख है। इसमें ये मूलनिवासी केवल पचास साठ हजार रह गए हैं।

इन भाषाग्रो में महाप्राण व्यजनो को छोडकर कवर्ग, तवर्ग ग्रौर पवर्ग के तीन तीन व्यजन हैं। चारो ग्रतस्थ (य, र, ल, व) भी हैं। स्वरो में इ, ई, उ, ऊ, ए, ए, ग्रो, ग्रो विद्यमान हैं। एकवचन, द्विवचन ग्रौर बहुवचन का प्रयोग होता है। कही कही त्रिवचन भी है। क्रिया की प्रक्रिया जटिल है जिसमें सर्वनाम जुड जाता है। सज्ञा की कर्तृ, कर्म, सप्रदान, सबध, ग्रपादान ग्रादि विभक्तियाँ भी हैं। [बा० रा० स०]

ग्रास्तिक (दर्शनशास्त्र में) वह कहलाता है जो ईश्वर, परलोक ग्रौर धार्मिक ग्रथो के प्रामाण्य में विश्वास रखता हो। भारत में यह कहावत प्रचलित है "नास्तिको वेदनिन्दक," ग्रर्थात् वेद की निंदा करनेवाला नास्तिक है। इसलिये भारत के नौ दर्शनो में से वेद का प्रमाण माननेवाले छ दर्शन—न्याय, वैशेपिक, साख्य, योग, पूर्वमीमासा ग्रौर उत्तर-मीमासा, (वेदात)—ग्रास्तिक दर्शन कहलाते है ग्रौर शेप तीन दर्शन—बौद्ध, जैन ग्रौर चार्वाक—इसलिये नास्तिक कहलाते हैं कि वे वेदो को प्रमाण नही मानते। बौद्ध ग्रौर जैन दर्शन ग्रपने को ग्रास्तिक दर्शन इसलिये कहते हैं कि वे परलोक, स्वर्ग, नरक ग्रौर मृत्यूपरात जीवन में विश्वास करते हैं, यद्यपि वेदो ग्रौर ईश्वर में विश्वास नही करते। वेदो को प्रमाण मानने के कारण ग्रास्तिक कहलानेवाले सभी भारतीय दर्शन जगत् की सृष्टि करनेवाले ईश्वर की सत्ता में विश्वास नही करते। यदि ईश्वर के ग्रस्तित्व मे विश्वास करनेवाले दर्शनो को ही ग्रास्तिक कहा जाय तो केवल न्याय, वैशेपिक, योग ग्रौर वेदात ही ग्रास्तिक दर्शन कहे जा सकते हैं। पुराने वैशेपिक दर्शन (कणाद के सूत्रो) मे भी ईश्वर का कोई विशेप स्थान नही है। प्रशस्तपाद ने ग्रपने भाष्य मे ही ईश्वर के कार्य का सकेत किया है। योग का ईश्वर भी सृष्टिकर्ता ईश्वर नही है। साख्य ग्रौर पूर्वमीमासा सृष्टिकर्ता ईश्वर को नही मानते। यदि भौतिक ग्रौर नाशवान् शरीर के ग्रतिरिक्त तथा शरीर के गुण ग्रौर धर्मो के ग्रतिरिक्त ग्रौर भिन्न गुण ग्रौर धर्मवाले किसी प्रकार के ग्रात्मतत्व में विश्वास रखनेवाले को ग्रास्तिक कहा जाय तो केवल चार्वाक दर्शन को छोडकर भारत के प्राय सभी दर्शन ग्रास्तिक हैं, यद्यपि बौद्ध दर्शन में ग्रात्मतत्व को भी क्षणिक ग्रौर सघातात्मक माना गया है। बौद्ध लोग भी शरीर को ग्रात्मा नही मानते।

जैसे बादाम, अखरोट, काजू और मूँगफली आदि में। वसा का कार्य भी शरीर में ताप और शक्ति पैदा करना है। कारबोहाइड्रेट की अपेक्षा वसा में ढाई गुनी अधिक शक्ति होती है। वसा कुछ विशिष्ट अम्लों और ग्लिसरीन के संयोग से बनती है। कुछ वसा-अम्ल शारीरिक पोषण के लिये अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। वे 'नितांत आवश्यक वसा-अम्ल' कहलाते हैं।

४ **खनिज पदार्थ**—कुछ खनिज तो शरीर में प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं और कुछ अल्प मात्रा में। कैल्सियम और फासफोरस शरीर में प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं। इन्हीं से अस्थियाँ बनती हैं। इसी श्रेणी में लोह, सोडियम और पोटैसियम भी हैं। लोह रक्त का विशेष अंग है। सोडियम और पोटैसियम शरीर के ऊतकों की प्रक्रिया का नियंत्रण करते हैं जिसपर सारे शरीर का भरण पोषण निर्भर है। इनके असंतुलित होने से रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

दूसरी श्रेणी के खनिज, जो अल्प मात्रा में शरीर में पाए जाते हैं, ताँबा, कोबल्ट, आयोडीन, फ्लोरीन, मैंगनीज और यशद हैं। ये भी शरीर के लिये आवश्यक हैं। ऐल्यूमिनियम, आर्सेनिक, क्रोमियम, सिलीनियम, लीथियम, मॉलिब्डीनम, सिलिकन, रजत, स्ट्रौंशियम, टेल्यूरियम, टाइटेनियम और वैनेडियम भी जंतुओं के शरीर में पाए जाते हैं। किंतु शरीर में इनका कोई उपयोग है या नहीं, यह अभी तक निश्चित नहीं हो सका है।

५ **विटामिन**—ये कार्बनिक द्रव्य हैं जो खाद्य वस्तुओं में उपस्थित रहते हैं। इनकी भी शारीरिक प्रक्रियाओं के लिये आवश्यकता है, यद्यपि इनकी अल्प मात्रा ही पर्याप्त होती है। ये न तो शक्तिप्रदायक तत्व हैं और न ह्रासपूरक ही। ये पोषक पदार्थों के उपयोग में सहायता देते हैं। इनकी कार्यविधि उत्प्रेरक, प्रकिण्व (एनज़ाइम) और सहायक प्रकिण्वों के समान है। प्राय सभी विटामिन आजकल प्रयोगशालाओं में संश्लेषण से तैयार किए जाते हैं। इनके रासायनिक संघटन तथा सूत्र ज्ञात किए जा चुके हैं। इनके संबंध का ज्ञान हाल का ही है और बढ़ता जा रहा है। दो प्रकार के विटामिन पाए जाते हैं। एक प्रकार के जल में घुल जाते हैं और दूसरे वसा में घुलनेवाले होते हैं। वसा में घुलनेवाले विटामिन 'ए', 'डी', 'ई' और 'के' हैं। 'बी'-समुदाय के विटामिन और 'सी' तथा 'पी' विटामिन जल में घुलते हैं। बी समुदाय में बी$_1$, बी$_2$, बी$_{पी\ पं}$ (नियासिन), बी$_6$, पैंटाथोनिक अम्ल, फोलिक अम्ल और बी$_{12}$ हैं।

६ **जल**—आहार के ठोस और अर्धठोस पदार्थों में पानी का अंश ७० प्रति शत रहता है। शरीर में भी जल का अनुपात यही है। जल इन वस्तुओं में खनिजमिश्रित रूप में रहता है। मनुष्य प्रति दिन एक से तीन सेर तक ऊपर से भी जल पीता है। भोजन के बिना मनुष्य सप्ताहों तक जीवित रह सकता है, किंतु जल के बिना कुछ दिन भी जीना कठिन है। शरीर के ऊतकों और कोशिकाओं में पोषक तत्वों को ले जाने और उन विश्लेषण प्रक्रियाओं द्वारा उत्पन्न, जो इन कोशिकाओं में होती रहती हैं, विषैले अवयवों को शरीर से बाहर निकालने में जल का बहुत महत्व है। ये दूषित पदार्थ मूत्र, मल और स्वेद द्वारा ही शरीर का परित्याग करते हैं।

इन छः खाद्यांशों के अतिरिक्त मनुष्य न पचनेवाले पदार्थ, जैसे सेलुलोज (अर्थात् अनाज और तरकारियों का वह अक्रियाशील भाग जो लकड़ी की तरह होता है), मसाले और भिन्न भिन्न प्रकार के पेयों का भी अपने भोजन के संग प्रयोग करता है। सेलुलोज से कोष्ठबद्धता दूर होती है, क्योंकि यह पचता नहीं, ज्यों का त्यों मल में निकल जाता है। मसाला भोजन को स्वादिष्ट बनाता है और इसलिये एक सीमा तक पाचन में भी सहायता देता है। जल के अतिरिक्त अन्य पेयों का तो मनुष्य अपने स्वभाव से, अपनी प्रसन्नता या रसना के लिये, आहार के साथ प्रयोग करता है। आदिकाल से वह इन पदार्थों का व्यवहार करता आया है। निस्संदेह इनका रूप बदलता रहा है। आजकल चाय और कॉफी का विशेष व्यवहार किया जाता है। कुछ देशों में कुछ मात्रा में मदिरा का भी व्यवहार होता है। किसी समय भारत में सोमरस का व्यवहार होता था।

आहारविद्या—आहारविद्या बताती है कि मनुष्य का आहार क्या होना चाहिए और आहार के भिन्न भिन्न तत्वों को किस अवस्था में तथा किस मात्रा में लाया जाय, जिससे शारीरिक और मानसिक पोषण उत्तम हो। बाल्यकाल से लेकर १८ वर्ष तक की अवस्था वृद्धि की है। युवावस्था और प्रौढ़ावस्था में शारीरिक वृद्धि नहीं होती। शरीर सुदृढ़ और परिपक्व होता रहता है। वृद्धावस्था में ह्रास प्रारंभ होता है। इनमें से प्रत्येक अवस्था में शारीरिक और मानसिक क्रियाओं के लिये ईंधन की आवश्यकता होती है। ईंधन से केवल ताप और ऊर्जा उत्पन्न होती है। परंतु शारीरिक ऊतकों की टूट फूट भी होती रहती है। इसकी पूर्ति तथा शारीरिक वृद्धि के लिये प्रोटीन की आवश्यकता होती है। कार्य करने की शक्ति या ऊर्जा की उत्पत्ति कारबोहाइड्रेट और वसा से होती है। श्रेष्ठ प्रोटीन पाचनक्रियाओं के पश्चात् अंत में ऐमिनो-अम्लों में विभाजित हो जाते हैं, जो नितांत आवश्यक और सामान्य दो प्रकार के होते हैं। वृद्धि के लिये दोनों प्रकार के प्रोटीन आवश्यक हैं। अतएव भोजन में दोनों प्रकार के प्रोटीनों की उपस्थिति आवश्यक है। मनुष्य को प्रत्येक अवस्था में कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन और वसा इन तीनों अवयवों की आवश्यकता रहती है। गर्भस्थ शिशु की वृद्धि के लिये गर्भवती को इनकी अत्यंत अपेक्षा रहती है। शिशु को माता के दूध से प्रोटीन मिलता है जो उसके लिये अत्यंत आवश्यक है। बाल्यकाल में भी उत्तम ऐमिनो-अम्लोंवाले प्रोटीन बालक को दूध से मिलते हैं। इनकी कमी से शारीरिक और मानसिक विकास नहीं होते। युवावस्था में मनुष्य को शक्तिदायक द्रव्यों की आवश्यकता होती है। वृद्धावस्था में इन क्रियाओं में कमी हो जाती है। इसलिये इस अवस्था में उपर्युक्त दोनों प्रकार के द्रव्यों की कम मात्रा में आवश्यकता पड़ती है। इनके कम होने से आवश्यक विटामिन की मात्रा में कमी हो जाती है। अतएव वृद्धावस्था में इस न्यूनता को कृत्रिम विटामिन से पूरा किया जाता है।

२०वीं शताब्दी के गत वर्षों को आहारविद्या की दृष्टि से पाँच कालों में बाँटा जा सकता है (१) कैलोरीकाल, (२) विटामिनकाल, (३) प्रोटीनकाल, (४) संतुलित भोजनकाल और (५) जल और लवण-संतुलन-काल।

१ **कैलोरीकाल**—इस शताब्दी के प्रारंभ में उपयुक्त भोजन की माप कलोरियों से की जाती थी और इसपर विशेष बल दिया जाता था कि प्रत्येक को आवश्यक कैलोरियाँ अवश्य मिलें। एक कलोरी वह ऊष्मा है जो एक ग्राम जल के ताप को एक डिगरी सेंटीग्रेड बढ़ा देती है। शारीरिक कार्य के अनुसार एक प्रौढ़ व्यक्ति के भोजन में २,००० से ३,००० कैलोरियोंवाली सामग्री प्रति दिन मिलनी चाहिए। प्रोटीन अथवा कार्बोहाइड्रेट के एक ग्राम से ४ कलोरियाँ प्राप्त होती हैं और एक ग्राम वसा से ८ कैलोरी। किसी विशेष आहार से जितनी कैलोरियाँ प्राप्त हो सकती हैं उन्हीं पर आहार की गणना निर्भर है। (विशेष परिचय के लिये **पोषण** शीर्षक लेख देखें)।

२ **विटामिनकाल**—१९१२ से इस काल का आरंभ होता है। इस समय यह जानकारी होने लगी थी कि पूर्ण कैलोरियोंवाला आहार करने पर भी शारीरिक पोषण ठीक न होने की संभावना रहती है। पता चला *कि साथ साथ सब विटामिनों को आवश्यक मात्रा में विद्यमान रहना चाहिए।* विटामिन की हीनता से बरीबरी, वल्कचर्म (पेलाग्रा), बालवक्रास्थि (रिकेट्स) आदि रोग उत्पन्न होते हैं। विटामिनों की हीनता से शरीर में रोग के अनेक लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। अब यह निर्णय हो चुका है कि मनुष्य को कौन कौन से विटामिनों का और प्रति दिन कितनी कितनी मात्राओं में मिलना आवश्यक है और यह भी कि किन किन आहारों में ये कितनी कितनी मात्राओं में उपस्थित रहते हैं। प्रति दिन के संतुलित आहार से साधारणत ये यथेष्ट परिमाण में मिलते रहते हैं। भोजन संतुलित न होने से शरीर में विटामिन की कमी के चिह्न प्रकट होने लगते हैं। (विशेष परिचय के लिये **विटामिन** शीर्षक लेख देखें)।

३ **प्रोटीनकाल**—द्वितीय विश्वसंग्राम की अवधि में भिन्न भिन्न प्रकार के आहार की कमी के साथ साथ प्रोटीन की भी कमी हुई। इससे संसार के प्रत्येक देश में साधारण जनता को उत्तम प्रोटीनयुक्त भोजन मिलना दुर्लभ हो गया। उससे अनेक प्रकार के रोग होने लगे, क्योंकि शरीर की रक्षक शक्ति का ह्रास हो गया। इससे स्पष्ट हो गया कि भोजन में उत्तम प्रोटीनों का पर्याप्त मात्रा में रहना परमावश्यक है। इस कारण वैज्ञानिकों ने उत्तम प्रोटीनों की खोज आरंभ की। देखा गया कि दूध, मांस, मछली और अंडा के अतिरिक्त मूँगफली और सोयाबीन के प्रोटीन भी अति उत्तम हैं। इन दोनों में नितांत आवश्यक ऐमिनो-अम्ल भी वर्तमान रहते हैं। मांस के
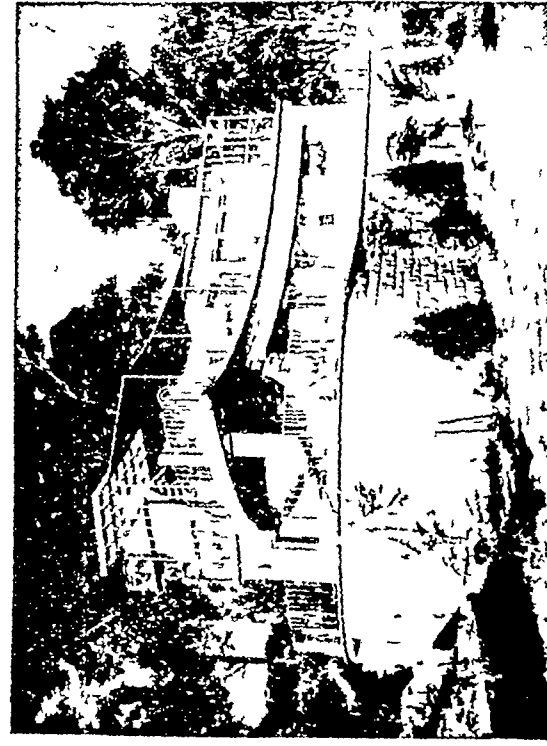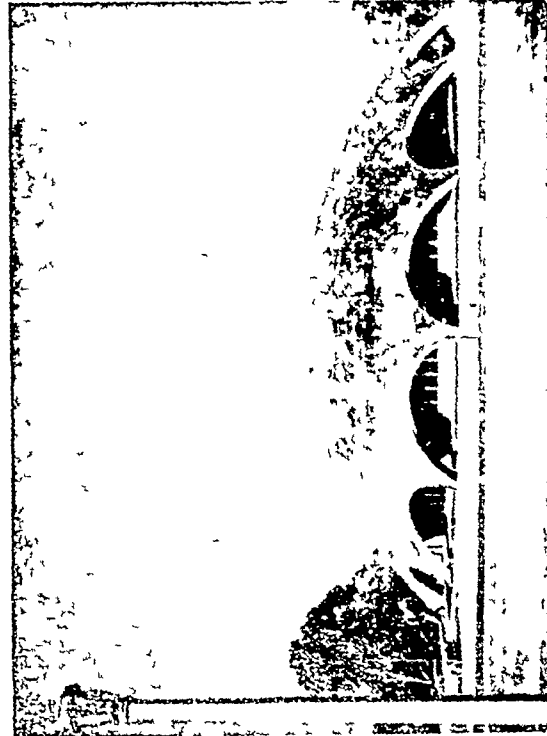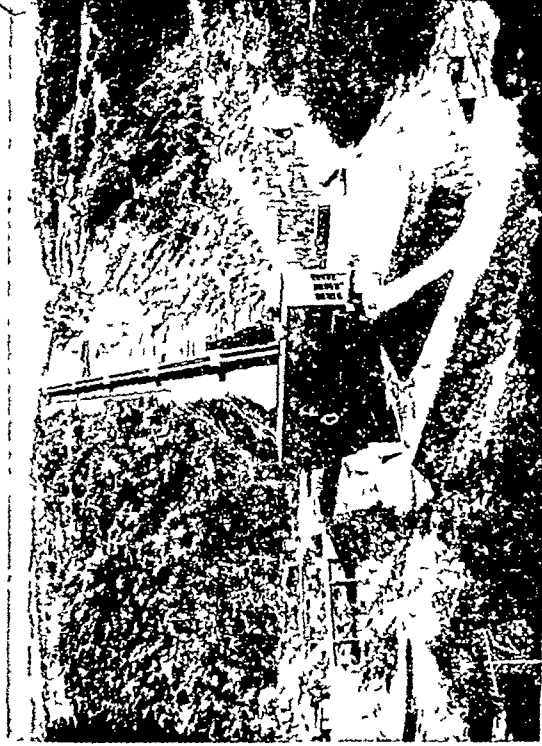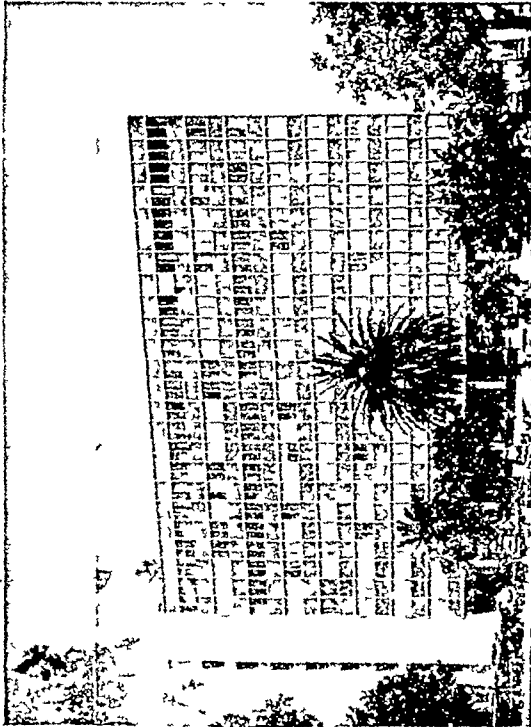
आस्ट्रेलिया के कुछ दृश्य

ऊपर, बाईं ओर सिडनी में इंपीरियल केमिकल इंडस्ट्रीज का ११ तल्ले का कार्यालय। ऊपर, दाहिनी ओर आस्ट्रेलिया की स्नोई नदी पर बना बिजलीघर। नीचे बाईं ओर कैनबेरा में विज्ञान अकादमी (व्यास १५६ फुट), नीचे दाहिनी ओर आधुनिक शैली का व्यक्तिगत भवन।

पार होकर निकला हुआ है। अटलांटिक महासागर से डोवर जलडमरूमध्य तक इसकी औसत लंबाई ३५० मील है, सेंट मालो (फ्रांस) तथा सिडमाउथ (इंग्लैंड) के बीच अधिकतम चौड़ाई १८० मील तथा डोवर जलडमरूमध्य में न्यूनतम चौड़ाई २० मील है। इसका कुल क्षेत्रफल लगभग ३०,००० वर्ग मील है। इसमें इंग्लैंड के ८,००० वर्ग मील तथा फ्रांस के ४१,००० वर्ग मील क्षेत्र का जल आ गिरता है। इसके पश्चिमी आधे भाग की औसत गहराई ३०० फुट तथा अधिकतम ५०० फुट है। इसके पूर्वी आधे भाग की गहराई केवल २०० फुट है तथा डोवर में ६ से १२० फुट तक ही है। इसके उत्तरी तट की लंबाई ३६० मील तथा दक्षिणी तट की लंबाई ५७० मील है। इसकी मुख्य खाड़ियाँ फालमाउथ, प्लाइमाउथ, लाइम, वेमाउथ, स्पिटहेड और सालवेंट (इंग्लैंड में) तथा सेन, सेंत ब्रीयें और देमांत सेंत माइकेल (फ्रांस में) हैं। इसके मुख्य द्वीप वाइट द्वीप, चैनेल द्वीप, सिली द्वीप तथा अशांत हैं। इसके मुख्य बंदरगाह फालमाउथ, प्लाइमाउथ, साउथैंप्टन, पोर्ट्समाउथ, ब्राइटन, फोकस्टोन तथा डोवर (इंग्लैंड के तट पर) और शरबुर्ग, हेवर, दीप, बोलोन तथा कैले (फ्रांस के तट पर) हैं।

इसके दोनों तटों की भौगर्भिक संरचना बहुत कुछ मिलती जुलती है जिससे ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि भूगर्भीय इतिहास में इंग्लिश चैनेल का अस्तित्व दीर्घकालीन नहीं है। विद्वानों का ऐसा मत है कि प्रातिनूतन (प्लाइस्टोसीन) युग में यूरोपीय महाद्वीप तथा इंग्लैंड के बीच स्थलीय संबंध विच्छिन्न हो गया और इंग्लिश चैनेल की उत्पत्ति हो गई।

यहाँ साल भर पश्चिमी सततवाहिनी हवाएँ चला करती हैं। अक्टूबर से जनवरी तक बहुधा आँधियाँ आती हैं जो ज्वार के साथ उग्र रूप धारण कर लेती हैं तथा नौपरिवहन में बाधा डालती हैं। बहुधा कुहरे के कारण परिस्थिति और भी गंभीर हो जाया करती है। इन्हीं कारणों से चैनेल में बहुत से प्रकाशस्तंभ (लाइट हाउस) हैं, जिनमें एड्डिस्टोन का प्रकाशस्तंभ सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

सहस्रों वर्ष पूर्व प्रकृति ने जिस स्थलीय संबंध का विच्छेद करके इंग्लैंड को यूरोपीय महाद्वीप से पृथक् कर दिया था, २०वीं शताब्दी के विज्ञानयुग में मनुष्य ने उसे पुन स्थापित करने का प्रयास किया। इस संबंध में अंग्रेज तथा फ्रांसीसी इंजीनियरों की प्रथम योजना यह थी कि डोवर जलडमरूमध्य के ऊपर २४ मील लंबे विशाल पुल का निर्माण किया जाय जिसमें १२० स्तंभ हों तथा उनके बीच से बड़े से बड़े जलयान सुगमतापूर्वक निकल जा सकें। द्वितीय योजना यह थी कि इंग्लैंड तथा फ्रांस को एक सुरंग द्वारा जोड़ दिया जाय। दूसरी योजना को ही मान्यता प्राप्त हुई, अत दोनों तटों पर खुदाई का कार्य आरंभ कर दिया गया। इंग्लैंड में शेक्सपियर नामक चट्टान के निकट १६४ फुट की गहराई में सात फुट व्यास वाली २३,००० गज लंबी सुरंग भी खुद गई, परंतु दोनों राष्ट्रों के मतैक्य के अभाव में विशेष प्रगति न हो सकी और कार्य अधूरा ही रह गया। अब ऐसी योजना की विशेष आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि द्रुतगामी जलयानों तथा वायुयानों से संतोषप्रद काम हो रहा है। [ले० रा० सिं० का०]

इंग्लिश बाजार पश्चिमी बंगाल के मालदा जिले में महानंदा नदी के दाहिने किनारे पर स्थित नगर है। (स्थिति २५°०' उ० अक्षांश, ८८° ६' पू० देशांतर।) जिले के प्रमुख कार्यालय यहीं पर हैं। नदी के तट पर, अच्छी ऊँचाई पर तथा शहतूत उत्पादक क्षेत्र में स्थित होने के कारण अंग्रेजों ने इसको रेशम उद्योग का केंद्र चुना। इसे अंग्रेजाबाद भी कहते हैं। ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा संचालित रेशम का कारखाना १८वीं शताब्दी के अंत तक पर्याप्त उन्नति कर गया था। १७७० ई० में अंग्रेजों ने इसे व्यापार की बहुत बड़ी मंडी बनाया। १८६९ ई० में यहाँ नगरपालिका का प्रशासन हो गया। अब भी यहाँ कपड़े तथा रेशम का काफी व्यापार होता है। यहाँ सरकारी इमारतों में कचहरी तथा [illegible] उल्लेखनीय हैं। नहर की सुरक्षा के लिये महानंदा पर बाँध बना दिया गया है। जनसंख्या १९०१ ई० में १३,६६९ थी, किंतु अब जनसंख्या स्थिर हो गई है। [रा० कृ० सिं०]

इंग्लैंड ग्रेट ब्रिटेन नामक टापू का दक्षिणी भाग है। (क्षेत्रफल ५०,८७०वर्ग मील, जनसंख्या १९५१ ई०में ४,११,५६,२१३) यह दक्षिण में ४९° ५७' ३०'' उ० अक्षांश (लिजार्ड प्वाइंट) से उत्तर में ५५° ४६' उत्तर अक्षांश (ट्वीड के मुहाने) तक तथा पूर्व में १° ४६' पूर्वी देशांतर (लोवेस्टाफ) से पश्चिम में ५° ४३' पश्चिमी देशांतर (लैंड्स एंड) तक फैला हुआ है।

भूविज्ञान—इंग्लैंड के धरातल की संरचना का इतिहास बड़ी ही उलझन का है। यहाँ मध्यनूतन (मायोसीन) युग को छोड़कर प्रत्येक युग की चट्टानें मिलती हैं जिनसे स्पष्ट है कि इस भाग ने बड़े भूवैज्ञानिक उथल पुथल देखे हैं। आयरलैंड का ग्रेट ब्रिटेन से अलग होना अपेक्षाकृत नवीन घटना है। इंग्लैंड का डोवर जलडमरूमध्य द्वारा महाद्वीप से अलग होना और भी नई बात है, जो मानव-जीवन-काल में घटित कही जाती है।

धरातल की विभिन्नता के विचार से इंग्लैंड को दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है (१) ऊँचे पठारी भाग, (२) मैदानी भाग। ऊँचे पठारी भाग इंग्लैंड के उत्तर-पश्चिमी भाग में मिलते हैं, जो प्राचीन चट्टानों द्वारा निर्मित हैं। हिमयुग में हिम से ढके रहने के फलस्वरूप यहाँ के पठार घिसकर चिकने हो गए हैं। दूसरी ओर मैदानी भाग नर्म चट्टानों, बलुआ पत्थर, चूना पत्थर तथा चिकनी मिट्टी (क्ले) के बने हैं। चूना पत्थर से नीची गोलाकार पहाड़ियाँ निर्मित हो गई हैं, खड़िया (चाक) से पर्वतीय ढाल। नीचे के मैदानी भाग प्राय 'क्ले' मिट्टी के बने हैं।

जलवायु—इंग्लैंड उत्तर-पश्चिमी यूरोपीय प्रदेश के समशीतोष्ण एवं आर्द्र जलवायु के क्षेत्र में पड़ता है। इस प्रदेश का वार्षिक औसत ताप ५०° फा० है, जो क्रमश दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व की ओर घटता जाता है। शीतकाल में इंग्लैंड के सभी भागों का औसत ताप ४०° फा० से ऊपर रहता है, पश्चिम से पूर्व की ओर क्रमश घटता जाता है। पश्चिमी भाग गल्फस्ट्रीम नामक गर्म जलधारा के प्रभाव से प्रत्येक ऋतु में पूर्वी भाग की अपेक्षा अधिक गर्म रहता है। वर्षा उत्तर-पश्चिमी भागों तथा ऊँचे पठारों पर ३०'' से ६०'' तथा पूर्वी मैदानी भागों में ३०'' से भी कम होती है। लंदन की औसत वार्षिक वर्षा २५.१'' है। वर्ष भर पछुवाँ हवा की पेटी में पड़ने के कारण वर्षा बारहों मास होती है। आकाश साधारणतया बादलों से छाया रहता है, जाड़े में बहुधा कुहरा पड़ता है तथा कभी कभी बर्फ भी पड़ती है।

भौगोलिक दृष्टि से इंग्लैंड को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है (१) उत्तरी इंग्लैंड, (२) मध्य के देश (३) दक्षिण-पूर्वी इंग्लैंड।

उत्तरी इंग्लैंड—पेनाइन तथा उसके आस पास के नीचे मैदान इस प्रदेश में सम्मिलित हैं। पेनाइन कटा फटा पठार है जो समुद्र के धरातल से २,००० से ३,००० फुट तक ऊँचा है। यह पठार इंग्लैंड के उत्तरी भाग के मध्य में रीढ़ की भाँति उत्तर से दक्षिण १५० मील लंबाई तथा ५० मील की चौड़ाई में फैला हुआ है। यह पठारी क्रम कार्बनप्रद (कार्बोनिफेरस) युग में चट्टानों के मुड़ने से निर्मित हुआ, परंतु इसकी ऊपरी चट्टानें घटकर बह गई हैं, जिसके फलस्वरूप कोयले की तहें भी जाती रहीं। अब कोयले की खदानें इसके पूर्वी तथा पश्चिमी सिरों पर ही मिलती हैं। कृषि एवं पशुपालन के विचार से यह भाग अधिक उपयोगी नहीं है।

पेनाइन के पूर्व नार्थबरलैंड तथा डरहम की कोयले की खदानें हैं। यहाँ दो प्रकार की खदानें पाई जाती हैं (१) प्रकट (छिछली) खदानें तथा (२) अप्रकट (गहरी) खदानें। प्रथम प्रकार की खदानें दक्षिण में टाइन नदी के मुहाने से उत्तर में कॉकेट नदी के मुहाने तक पेनाइन तथा समुद्रतट के बीच फैली हुई हैं। अप्रकट खदानें दक्षिण की ओर चूने के पत्थर के नीचे मिलती हैं। टीज नदी के निचले भाग में नमक की भी खदानें मिलती हैं। इनके दक्षिण लोहा प्राप्त होता है।

अत इन प्रदेशों में लोहे तथा रासायनिक वस्तुओं के निर्माण के बहुत से कारखाने बन गए हैं। यहाँ के बने लोहे एवं इस्पात के अधिकांश की खपत यहाँ के पोतनिर्माण (शिप बिल्डिंग) उद्योग में हो जाती है। टाइन तथा वियर नदियों की घाटियाँ पोतनिर्माण के लिये जगत्प्रसिद्ध हैं। टाइन के दोनों किनारों पर न्यूकैसिल से १८ मील की दूरी तक लगातार पोत-निर्माण-प्रांगण (शिप यार्ड) हैं। न्यूकैसिल यहाँ का मुख्य नगर

आस्ट्रेलिया के कुछ जतु

ऊपर कैगरू, उत्पन्न होने के समय मूगफली के बराबर, किंतु बडा होने पर ६ फुट ऊँचा। मध्य मे टाजमेनिया द्वीप का डेविल (शैतान) नामक भयानक जगली जतु जो लगभग १ गज लवा होता है, नीचे पास की एक जलमग्न प्रवाल-शैल-माला की लाल धारियो वाली मछली।

उत्तरी स्टैफर्डशायर की कोयले की खदानों तथा प्रादेशिक मिट्टी पर आश्रित चीनी मिट्टी के व्यवसाय लागटन, फेंटन तथा स्टोक मे स्थापित हैं। लंकाशायर के निचले मैदान हिमपर्वतों की रगड एव जमाव के कारण बने हुए हैं। अत वे कृषि की अपेक्षा गोपालन के लिये अधिक उपयुक्त हैं।

मध्य का मैदान—इग्लैंड के मध्य मे एक त्रिभुजाकार नीचा मैदान है जिसकी तीन भुजाओं के समातर तीन मुख्य नदियाँ, उत्तर मे ट्रेंट, पूर्व मे ऐवान तथा पश्चिम मे सेवर्न बहती हैं। भौतिक दृष्टि से यह मैदान लाल बलुए पत्थर तथा चिकनी मिट्टी (क्ले) का बना है। भूमि के अधिकतर भाग का यहाँ स्थायी चरागाह के रूप मे उपयोग किया जाता है, फलत गोपालन मुख्य उद्यम है। परतु यह प्रदेश उद्योग धधे के लिये अधिक प्रसिद्ध है। मध्यदेशीय कोयले की खदानो, पूर्वी शापशायर, दक्षिणी स्टैफर्डशायर तथा वारविकशायर की खदानो पर आश्रित अनेक उद्योग धधे इस प्रदेश मे होते हैं। दक्षिणी स्टैफर्डशायर की कोयले की खदानो के निकट व्यावसायिक नगरो का एक जाल सा बिछ गया है जिनकी समिलित जनसख्या ४० लाख से भी अधिक है। इस प्रदेश के मुख्य नगर बर्रामघम की जनसख्या ही १० लाख से अधिक (११,१२,६८५) है। कल कारखानो की अधिकता, कोयले के अधिक उपयोग, नगरो के लगातार क्रम तथा खुले स्थलो की न्यूनता के कारण इस प्रदेश को प्राय 'काला प्रदेश' की सज्ञा दी जाती है। प्रारभ मे इस प्रदेश मे लोहे का ही कार्य अधिक होता था, परतु अब यहाँ ताँबा, सीसा, जस्ता, ऐल्यूमिनियम तथा पीतल आदि की भी वस्तुएँ बनने लगी हैं। समुद्रतट से दूर स्थित होने के कारण इस प्रदेश ने उन वस्तुओ के निर्माण मे विशेष ध्यान दिया है जिनमे कच्चे माल की अपेक्षा कला की विशेष आवश्यकता पडती है, उदाहरणस्वरूप, घडियाँ, बदूके, सिलाई की मशीने, वैज्ञानिक यत्र आदि। मोटरकार के उद्योग के साथ साथ रबर का उद्योग भी यहाँ स्थापित हो गया है।

अन्य उद्योग धधो मे पशुपालन पर आश्रित चमडे का उद्योग, बिजली की वस्तुओ का निर्माण और काच उद्योग मुख्य हैं।

दक्षिण-पूर्वी इग्लैंड—मध्य के मैदान के पूर्व मे चूने पत्थर के पठार तथा फेन का मैदानी भाग है। पठारो पर पशुपालन तथा नदियो की घाटियो मे खेती होती है। परतु बिलिंगबरो की लोहे की खदान के कारण यहाँ पर कई नगर बस गए हैं। फेन के मैदान मे गेहूँ का उत्पादन मुख्य है, परतु कुछ समय से यहाँ आलू तथा चुकदर की खेती विशेष होने लगी है। फेन के दक्षिण 'चाक' प्रदेश में गोपालन मुख्य पेशा है और यह भाग लदन की दूध की माँग की पूर्ति करनेवाले प्रदेशो मे प्रधान है।

पूर्वी ऐंग्लिया इग्लैंड का मुख्य कृषिप्रधान क्षेत्र है। यहाँ गेहूँ, जौ, तथा चुकदर अधिक उत्पन्न होता है। यहाँ के उद्योग धधे यहाँ की उत्पन्न वस्तुओ पर आश्रित हैं। कैटले तथा ईप्सविक मे चुकदर की चीनी मिले, वारविक में कृषियत्र तथा शराब बनाने के कारखाने स्थापित हैं।

इस प्रदेश के दक्षिण-पश्चिम में टेम्स द्रोणी (बेसिन) है। टेम्स नदी काट्सवोल्ड की पहाडियो से निकलकर आक्सफोर्ड की घाटी को पार करती हुई समुद्र मे गिरती है। यह घाटी 'आक्सफोर्ड क्ले वेल' के नाम से प्रसिद्ध है जहाँ कृषि एव गोपालन उद्योग अधिक विकसित हैं। विश्वविख्यात प्राचीन आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय इस घाटी के मध्य मे स्थित है। आक्सफोर्ड नगर के बाहरी भागो मे मोटर निर्माण का कार्य होता है। लदन की महत्ता के कारण निचली आक्सफोर्ड द्रोणी को लदन द्रोणी नाम दिया गया है। लदन के आसपास की भूमि (केंट, सरे तथा ससेक्स) राजधानी की फल तरकारियो तथा दूध आदि की माँग की पूर्ति के लिये अधिक प्रयुक्त होती है। लदन नगर कदाचित् रोमन काल मे टेम्स नदी के किनारे उस स्थल पर बसाया गया था जहाँ नदी सरलतापूर्वक पार की जा सकती थी। बाद में उस स्थल पर पुल बन जाने से नगर का विकास होता गया। आज लदन ससार का सबसे बडा नगर (१९५१ ई० मे जनसख्या ८३,४८,०२३ थी) है। इसकी उन्नति के मुख्य कारण हैं टेम्स मे ज्वार के साथ बडे बडे जलयानो का नगर के भीतरी भाग तक प्रवेश करने की सुविधा, रेल एव सडको का जाल, यूरोपीय महाद्वीप के सम्मुख टेम्स के मुहाने की स्थिति, जिससे व्यापार मे अत्यधिक सुविधा होती हैं, लदन का अधिक काल तक देश एव साम्राज्य की राजधानी बना रहना तथा अनेक व्यवसायों और रोजगारो का यहाँ खुलना।

लदन द्रोणी के समान ही हैंपशायर द्रोणी है जिसमे साउथैंपटन तथा पोर्ट्स्माउथ नगर स्थित हैं। पहला यात्रियो का महत्वपूर्ण बदरगाह तथा दूसरा नौसेना का मुख्य केंद्र है।

इग्लैंड के दक्षिण-पूर्व मे 'आइल ऑव वाइट' नाम का एक छोटा सा द्वीप है (क्षेत्रफल १४७ वर्ग मील)। गर्मी की ऋतु मे यहाँ पर लोग स्वास्थ्य-लाभ और मनोरंजन के लिये आते हैं।

इग्लैंड का धर्म—देखे ऐंग्लिकन समुदाय। [उ० सिं०]

इंग्लैंड का इतिहास

पूर्वरोमनकालीन ब्रिटेन—सभ्यता के एक स्तर तक पहुँचे हुए इग्लैंड के प्राचीनतम निवासी केल्टिक जाति के थे जिनमे पश्चात् के देशातरवासी ब्रायथन या ब्रिट्न कहलाए, जिससे 'ब्रिटेन' सज्ञा निकली। केल्टिक अथवा उसके पूर्व की जातियो के आगमन के कोई लिखित प्रमाण नही मिलते। आयरलैंड के द्वीप मे, जो पहले आइरन और स्कोशिया नाम से विदित था, एक और जाति के लोग, स्कॉट्स थे। ये ५वी शताब्दी के उत्तरार्ध मे कैलेडोनिया अथवा उत्तरी ब्रिटेन मे बसे। यह उन्ही के नाम से स्काटलैंड कहलाया। प्राचीन ब्रिटेन अपने जातीय नियम, हस्तशिल्प, धातुशस्त्रास्त्र, कृषि, युद्धकला तथा धर्म (ड्रूइडवाद) से परिचित थे। गाल प्रदेश के केल्टी स्वजातियो से तथा ग्रीक से इनके व्यापारिक सबध थे। ३३० ई० पू० के आस पास पैथियास तथा, दो शताब्दी उपरात, पोसीदोनियस व्यापारोद्देश्य से निकले ग्रीक व्यक्तियो मे से थे।

रोमनक्षेत्र—५५ई०पू० मे रोमन सेनानी जूलियस सीजर के आक्रमणो ने ब्रिटेन को अशात कर दिया। ४३ ई० पू० मे सम्राट् क्लादियस के शासन मे ब्रिटेन पर विजय की नियमित योजना बनाई गई तथा आगामी चालीस वर्षो मे स्केपुला, पालिनियस और अग्रीकोला इत्यादि रोमन क्षत्रपो के अतर्गत उसे पूरा किया गया। ब्रिटेन का बृहत् क्षेत्र ४१० ई० तक रोमन प्रात रहा तथा इस युग मे इस प्रदेश की दीक्षा रोमन सस्कृति मे हुई। सडको का निर्माण हुआ। उनसे सबधित नगरो का उदय हुआ। रोमन विधिसहिता वहाँ प्रचलित हुई। खानो की खुदाई शुरू हुई। नियम और व्यवस्था लाई गई। ब्रिटेन को अनाज का निर्यातप्रधान देश बनाने के लिये कृषि को महत्व मिला और लदीनियम (आधुनिक लदन) प्रमुख व्यापारिक नगर बन गया। रोमन साम्राज्य मे, ईसाई सभ्यता के प्रसार के कारण, ब्रिटेन मे भी उसके प्रचारार्थ चौथी शताब्दी के प्रारभ मे एक मार्ग ढूंढा गया और कुछ कालोपरात इसका पौधा वहाँ भी लग गया। ब्रिटेन में रोमन सभ्यता फिर भी कृत्रिम और बाह्य ही रही। जनता उससे प्रभावित न हो सकी। उसके अवशेष विशेषत वास्तु से ही सबधित रहे। ५वी शताब्दी के आरभ मे रोम को विदेशी आक्रमणो के विरुद्ध घर मे सघर्ष करना पडा और ४१० ई० मे अपनी सेना इग्लैंड से खीच लेनी पडी।

इग्लिश विजय—रोमनो के चले जाने पर ब्रिटेन कुछ समय के लिये बर्बर आक्रमणो का लक्ष्य बना। उत्तर से पिक्ट, पश्चिम से स्काट तथा पूर्व से समुद्री लुटेरे सैक्सन और जूट आए। सैक्सन ट्यूतन जाति के थे जिसमें ऐंगल, जूट और शुद्ध सैक्सन भी समिलित थे। ब्रिटेन ने जूटो की सहायता माँगी। जटो ने ४४९ ई० मे ब्रिटेन मे प्रवेश कर, पिक्टो को परास्त कर, केंट प्रदेश मे अपनी सत्ता स्थापित की। इसके उपरात सैक्सन जत्यो ने ब्रिट्नो को जीत ससेक्स, वेसेक्स और एसेक्स के प्रदेश मे प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अत मे ऐंग्लो ने उत्तर और मध्य से देश पर आक्रमण किया और ऐंग्लीय व्यवस्था स्थापित की। ये तीनो विजेता जातियाँ सामान्यत इग्लिश नाम से प्रसिद्ध हुई। ऐंग्लोसैक्सन विजय की यह प्रक्रिया लगभग डेढ सौ वर्षो तक चली जिसमे अधिकाश ब्रिट्नो का दमन हुआ और एक नई सभ्यता आरोपित हुई।

ऐंग्लोसैक्सन विजयोपरात सात राज्यो का सप्तशासन, केंट्र, ससेक्स, वेसेक्स, एसेक्स, नार्थब्रिया, पूर्वीय ऐंग्लिया और मर्सिया पर स्थापित हुआ। ये राज्य सतत पारस्परिक युद्धो मे निरत रहे और तीन राज्य (मर्सिया, नार्थब्रिया तथा वेसेक्स) अपनी विजयो के कारण अधिक शक्तिशाली हुए। अत मे वेसेक्स ने सर्वोपरि शक्ति अर्जित की। सप्तशासन के प्रमुख राजाओ में केंट के एथेलबर्ट, नार्थब्रिया के एडविन, मर्सिया के पेडा तथा वेसेक्स के इतनी प्रसिद्ध हैं। यही वह समय है जब ऑगस्तीन के प्रयास ने (५९७ ई०)

अमोनियम क्लोराइड के साथ प्रतिक्रिया कराने पर (नाहा$_{४}$)$_{२}$आ$_{स}$क्लो$_{६}$ बन जाता है, जिसको वायु की अनपस्थिति मे तप्त करने पर आस्मियम धातु प्राप्त होती है (सकेत आ$_{स}$, परमाणुभार १९०, परमाणुसख्या ७६)।

इसके मुख्य प्राप्तिस्थान रूस, टैसमेनिया तथा दक्षिण अफ्रीका है। यह ज्ञात पदार्थो मे सबसे भारी है। इसका आपेक्षिक घनत्व २२ ५ है तथा यह २७००° से० पर पिघलती है। यह अत्यत कठोर धातु है और विकर की कठोरता की नाप के अनुसार इसकी कठोरता लगभग ४०० है। इसकी विद्युतीय विशिष्ट प्रतिरोधकता ८ ८ है। शुद्ध धातु न गर्म अवस्था में और न ठढी में व्यवहारयोग्य है। हवा में गर्म करने पर इसका उडनशील आक्साइड आ$_{स}$औ$_{४}$ बन जाता है। इस धातु पर किसी अवकारक अम्ल का कोई प्रभाव नही होता तथा अम्लराज भी साधारण ताप पर इसपर कोई प्रतिक्रिया नही करता। यह प्लैटिनम, इरीडियम तथा रुथेनियम धातुओ के साथ बडी सुगमता से मिश्रधातु बना लेती है जो अत्यधिक कठोर होती है। इसको प्लैटिनम मे ८ प्रति शत तक मिलाकर काम मे लाया जा सकता है। इन मिश्रणो से वस्तुएँ *चूर्ण-धातुकार्मिकी* (पाउडर मेटलर्जी) की रीतियो से निर्मित की जाती है। आस्मियम की सयोजकता २, ३, ४, ६, तथा ८ होती है। इसके यौगिक आ$_{स}$क्लो$_{३}$, आ$_{स}$क्लो$_{४}$, आ$_{स}$क्लो$_{६}$ तथा आ$_{स}$क्लो$_{८}$ बनाए जा सकते है। आ$_{स}$औ$_{४}$ बहुत ही उडनशील तथा विपाक्त पदार्थ है।

यह धातु सर्वप्रथम साधारण विद्युत् बल्बो (इनकैंडिसेंट इलेक्ट्रिक बल्बो) मे प्रयुक्त की गई, परतु यह बहुत ही मूल्यवान् थी और इससे एक वाष्प निकलती थी। इसलिये शीघ्र ही इसकी जगह सस्ती और अधिक लाभदायक धातुओ का उपयोग होने लगा। अति सूक्ष्म विभाजित धातु उत्प्रेरक का काम करती है। आ$_{स}$औ$_{४}$ इस धातु का सबसे महत्वपूर्ण यौगिक है। यह औतिक अभिरजक (हिस्टोलॉजिकल स्टेन) के तथा उँगली की छाप लेने के काम आता है। परक्लोरेट की उपस्थिति मे क्लोरेट को निकालने मे भी इसका प्रयोग होता है। इस धातु का उपयोग सबसे कठोर मिश्रधातुओ के बनाने मे होता है। ये मिश्रधातुएँ बहुमूल्य औजारो के धारु (बेयरिंग) बनाने मे और आस्मियम-इरीडियम मिश्रधातु फाउटेनपेन की निब बनाने में काम आती हे।

(आ$_{स}$=आस्मियम, औ=आक्सिजन, क्लो=क्लोरीन, ना=नाइट्रोजन, हा=हाइड्रोजन) [स० प्र०]

आहवमल्ल, सोमेश्वर प्रथम

प्रसिद्ध चालुक्यराज जयसिह द्वितीय जगदेकमल्ल का पुत्र जो १०४२ ई० मे सिंहासन पर बैठा। पिता का समृद्ध राज्य प्राप्त कर उसने दिग्विजय करने का निश्चय किया। चोल और परमार दोनो उसके शत्रु थ। पहल वह परमारो की ओर बढा। राजा भोज धारा और माडू छोड उज्जैन भागा और सोमेश्वर दोनो नगरो को लूटता उज्जैन पर जा चढा। उज्जैन की भी वही गति हुई, यद्यपि भोज सेना तैयार कर फिर लौटा और उसने खोए हुए प्रात लौटा लिए। कुछ दिनो बाद जब अन्हिलवाड के भीम और कलचुरी लक्ष्मीकर्ण से सघर्ष के बीच भोज मर गया तब उसके उत्तराधिकारी जयसिह ने सोमेश्वर से सहायता माँगी। सोमेश्वर ने उसे मालवा की गद्दी पर बैठा दिया और स्वय चोलो से जा भिडा। १०५२ ई० मे कृष्णा और पचगगा के सगम पर कोप्पम के प्रसिद्ध युद्ध मे चोलो को परास्त किया। बिल्हण के 'विक्रमाकदेवचरित' के अनुसार तो सोमेश्वर एक बार चोल शक्ति के केंद्र काची तक जा पहुँचा था। सोमेश्वर ने दक्षिण और निकट के राजकुलो से सफल लोहा लेकर अब अपना रुख उत्तर की ओर किया। मध्यभारत मे चदेलो और कछवाहो को रौदता वह गगा जमुना के द्वाब की ओर बढा और कन्नौजराज ने डरकर कदराओ की शरण ली। उसकी शक्ति इस प्रकार बढती देख लक्ष्मीकर्ण कलचुरी ने उसकी राह रोकी, पर उसे हारकर मैदान छोडना पडा। इसी बीच सोमेश्वर के बेटे विक्रमादित्य ने मिथिला, मगध, अग, वग और गौड को रौद डाला। तब कही कामरूप (आसाम) पहुँचने पर वहाँ के राजा रत्नपाल ने चालुक्यो की बाग रोकी और सोमेश्वर कोशल की राह घर लौटा। हैदराबाद में कल्याणी नाम का नगर उसी का बसाया हुआ प्राचीन कल्याण है जिसे उसने अपनी राजधानी बनाया था। १०२८ ई० में बीमार पडने पर जब सोमेश्वर ने अपने बचने की आशा न देखी तब वह तुगभद्रा में स्वेच्छा से डूबकर मर गया। [ओ० ना० उ०]

आहार और आहारविद्या

आहार जीवन का आधार है। प्रत्येक प्राणी के जीवन के लिये आहार आवश्यक है। अत्यत सूक्ष्म जीवाणु से लेकर वृहत्काय जतुओ, मनुष्यो, वृक्षो तथा अन्य वनस्पतियो को आहार ग्रहण करना पडता है। वनस्पतियाँ अपना आहार पृथ्वी और वायु से क्रमश अकार्बनिक लवण और कार्बन डाईआक्साइड के रूप में ग्रहण करती है। सूर्य के प्रकाश में पौधे इन्ही से अपने भीतर उपयुक्त कार्बोहाइड्रेट, वसा और अन्य पदार्थ तैयार कर लेते है।

मनुष्य तथा जतु अपना आहार वनस्पतियो तथा जातव शरीरो से प्राप्त करते है। इस प्रकार उनको बना बनाया आहार मिल जाता है, जिसके अवयव उन्ही अकार्बनिक मौलिक तत्वो से बने होते है जिनको वनस्पतियाँ *पृथ्वी तथा वायु से ग्रहण करती है। अतएव जातव वर्ग के लिये वृक्ष ही* भोजन तयार करते है। कुछ वनस्पतियो का ओषधियो के रूप में भी प्रयोग होता है।

आहार या भोजन के तीन उद्देश्य है (१) शरीर को अथवा उसके प्रत्येक अग को क्रिया करने की शक्ति देना, (२) दैनिक क्रियाओ में ऊतको के टूटने फूटने से नष्ट होनेवाली कोशिकाओ का पुनर्निर्माण और (३) शरीर को रोगो से अपनी रक्षा करने की शक्ति देना।

अतएव स्वास्थ्य के लिये वही आहार उपयुक्त है जो इन तीनो उद्देश्यो को पूरा करे।

मनुष्य के आहार में छ विशिष्ट अवयव पाए जाते है (१) प्रोटीन, (२) कार्बोहाइड्रेट, (३) स्नेह या वसा, (४) खनिज पदाय, (५) विटामिन और (६) जल। जतुओ और मनुष्यो के शरीर भी इन्ही पदार्थो से बने होते है। उनके रासायनिक विश्लेषण से ये ही अवयव उनमें उपस्थित मिलते है। अतएव आहार में इन अवयवो को यथोचित मात्रा में रहना चाहिए।

१ प्रोटीन—प्रोटीन विशेषकर अनाज, दूध, मास, मछली और अडे मे मिलते है। प्रोटीन पचने पर ऐमिनो-अम्ल में परिवर्तित हो जाते है। इन ऐमिनो-अम्लो का फिर से सश्लेषण करके शरीर अपने लिये अन्य उपयुक्त प्रोटीन तैयार करता है। मनुष्य का शरीर कुछ ऐमिनो-अम्ल तो आहार से बना लेता है, किंतु कतिपय अन्य ऐसे अम्लो को वह नही बना सकता। ये ऐमिनो-अम्ल मनुष्य वनस्पति और जतुओ के शरीर से प्राप्त करता है। कुछ प्रोटीन शरीर के लिये अत्यावश्यक होते है। उनको श्रेष्ठ या प्रथम श्रेणी का प्रोटीन कहा जाता है। ये प्रोटीन विशेषकर जतुओ से प्राप्त होते है। इनमे प्रथम स्थान दूध का है। अडा, मास, मछली मे भी प्रथम श्रेणी के प्रोटीन है। इनका काम शरीर के अवयवो को बनाना है। इनका कुछ भाग शरीर को शक्ति और गर्मी भी प्रदान करता है।

२ कार्बोहाइड्रेट—यह अवयव मुख्यत वनस्पति से प्राप्त होता है। चीनी या शर्करा शुद्ध कार्बोहाइड्रेट है। ग्लूकोज, लेव्युलोज, माल्टोज और लैक्टोज शर्करा के ही प्रकार है, अतएव ये भी शुद्ध कार्बोहाइड्रेट है। ग्लाइकोजेन तथा श्वेतसार (स्टार्च) भी सपूर्ण कार्बोहाइड्रेट हैं। सब प्रकार के कार्बोहाइड्रेट पाचनक्रिया द्वारा अत मे ग्लूकोज मे परिवर्तित हो जाते है। सेल्यूलोज पर पाचक रसो की क्रिया नही होती। ग्लूकोज शरीर में ईंधन का काम करता है। इसकी उसे प्रत्येक क्षण आवश्यकता रहती है, क्योकि पेशियो मे सदा ही सकोच तथा शिथिलता होती रहती है। जो ग्लूकोज बच जाता है, वह पेशियो और यकृत मे ग्लाइकोजेन के रूप मे सचित हो जाता है और पेशियो के काम करने के समय फिर से ग्लूकोज मे परिवर्तित होकर, भिन्न भिन्न प्रकिण्वो (एनजाइमो) और आक्सिजन *की सहायता से ताप उत्पन्न करता है और शक्ति* के रूप मे पेशियो को काम करने के योग्य बनाता है। शक्ति ताप ही का दूसरा रूप है।

३ वसा—तेल, घी, मक्खन इत्यादि शुद्ध वसा है। मास और अडे तथा वानस्पतिक पदार्थों मे भी वसा रहती है, विशेषकर शुष्क फलो मे,

हेनरी सप्तम के नाम से, यार्कवशीय राजकुमारी एलिजाबेथ को व्याह, इग्लैंड का राजमुकुट ले ट्यूडरवश की स्थापना की।

लकास्टर युग की कुछ युगातरकारी घटनाएँ ये थी ससदीय शक्तियो का विकास, लोकसभा की स्वातत्र्य विजय, गुलाबो के युद्धोके सामती घरानो के विध्वस के साथ राष्ट्रीय भावना का प्रोत्साहन तथा राजसत्ता की वृद्धि, पोप के अधिकारो का क्रमिक ह्रास और कैक्सटन के छापेखाने के आविष्कार से जनित साहित्य मे बढती हुई अनुरक्ति।

ट्यूडर युग—यद्यपि ट्यूडर युग का आविर्भाव मध्ययुग का अत और आधुनिक युग का प्रारभ करता है, फिर भी यह कई दृष्टियो से मध्ययुगीन प्रवृत्तियो के विस्तार को ही सिद्ध करता है। साथ ही यह अग्रेजी इतिहास के महान् परिवर्तनो एव रचनाओ का युग था, जब इग्लैंड ने वह स्थिति ग्रहण की जो आगामी इतिहास मे पूर्ववत् बनी रही। नए ज्ञान, भौगोलिक खोजो, आविष्कारो, नूतन राष्ट्रवाद, सुधार आदोलन तथा सामाजिक शक्तियो ने इग्लड के स्वरूप मे पूर्णत परिवर्तन कर दिया। हेनरी सप्तम (१४८५-१५०६) नूतन राजतत्र तथा छलपूर्ण निरकुशता का विधाता था। यह राजशक्ति किसी औपचारिक वैधानिक परिवर्तन के कारण नही, जनता के विश्वास, समय की आवश्यकताओ तथा राजाओ की दूरदर्शिता के परिणामस्वरूप पैदा हुई थी। ट्यूडर शासको ने सामतवादी सत्ता को दबाया तथा सार्वजनिक स्वीकृति पर आधारित सामतसत्ता के भग्नावशेष पर दृढ राजतत्र स्थापित किया। ट्यूडर शासको ने एक सहायक ससद के सहयोग से, जो राजेच्छा का साधन बन गई थी, शासन किया। किंतु ससद का अधिकार सिद्धातत भी समाप्त नही किया गया, वरन् ससद के कार्यो को प्रोत्साहन दिया गया जिसके फलस्वरूप युग के अत तक ससदीय शक्तियो की वृद्धि हुई। राजाओ की लिप्सा ने उन्हे आर्थिक दृष्टि से स्वाधीन कर दिया था।

धार्मिक व्यवस्था इन शासको की महान् सफलता थी। हेनरी अष्टम (१५०६-४७) के नतृत्व मे रोम से जो सवधविच्छेद एक विधानमाला के द्वारा हुआ, वह एडवर्ड षष्ठ के शासन मे (१५४७-५३) भी चला। यद्यपि कुछ समय के लिये मेरी ट्यूडर के शासन में (१५५३-५८) वह व्यवस्था भग हुई थी, फिर भी एलिजाबेथ प्रथम (१५५८-१६०३) के शासन मे उसकी पूर्णता की ओर प्रगति हुई और ऐग्लिकन धर्मव्यवस्था की स्थापना हुई। ट्यूडर शासको की वैदेशिक नीति, केवल एलिजाबेथ के युग को छोड, जब शासक को प्रतिरोध आदोलन के अनुयायियो के विरुद्ध सघर्ष तथा मेरी स्टुअर्ट की फाँसी के फलस्वरूप स्पेन से युद्ध करना पडता था, अधिकतर शाति और इग्लैंड को सुदृढ करने मे लगी थी। इस नीति की एक अभिव्यक्ति राजवशीय विवाहो मे हुई। इनके शासको के दृढ शासन मे आयरलैंड का विघटन कर स्कॉटलैंड को पहले वैवाहिक, फिर धार्मिकबधन मे इग्लैंड से बाँधकर ब्रिटेन की एकता को क्रियात्मक सज्ञा दी गई।

यह युग, जान तथा कैबेट की भौगोलिक खोजो, चासलर, विलगबी, फ्राबिशर, ड्रेक तथा हाकिन्स के व्यापारिक मार्गस्थापन, छापाखाना, बारूद और कुतुबनुमा के आविष्कार, व्यापारिक कपनियो की रचना (जिसमे ईस्ट इडिया कपनी भी थी) तथा अमरीकी प्रमुख स्थल पर वर्जीनिया ऐसे उपनिवेशो की स्थापना आदि के लिये महत्वपूर्ण है। ब्रिटेन की नाविककला की सर्वोच्चता भी तभी प्रतिष्ठित हुई जिससे वाणिज्य और कृषि का विकास हुआ। व्यापारिक परिवर्तनो ने मध्य वर्ग को जन्म दिया जो सामाजिक अधिनियमन की आवश्यकता का सकेतक सिद्ध हुआ। ट्यूडर शासक एक ऐसे स्वायत्त शासन के रचयिता थे जो १६वी शताब्दी तक प्रचलित रहा। निर्धनो को नियमित ढग से लाभान्वित करने का प्रयत्न १६०१ के निर्धन कानून से हुआ। सुख और सभ्यता का भौतिक स्तर भी ऊँचा उठा। नवजागृति को मजबूत आधार मिला और बुद्धि एव सस्कृति के क्षेत्र मे इसका प्रमाण मिला। एजिलाबेथ के शासन मे साहित्य को बडा प्रोत्साहन मिला। तब नाटको की परिणति शेक्सपियर तथा मार्लो ने, कविता का विकास स्पेन्सर ने और नूतन गद्य हूकर तथा बेकन ने किया।

प्रारभिक स्टुअर्ट शासक, गृहयुद्ध, राजतत्र का पुन स्थापन तथा क्रांति—१६०३ ई० मे जेम्स प्रथम के राज्यारोहण से इग्लैंड और स्काटलैंड के राजमुकुट एक हो गए तथा इग्लैंड मे वैदेशिक स्काट वश की स्थापना प्रारभ हुई। ट्यूडर निरकुश व्यवस्था तथा ससद से सामजस्य की आवश्यकता के समाप्त हो जाने से इग्लैंड की वाह्य और आतरिक स्थिति मे एक नए युग का आविर्भाव हुआ। स्टुअर्ट शासक विकासमान राष्ट्र की शक्तियो से सघर्ष कर बैठे जिसके परिणाम गृहयुद्ध, गणतत्रीय अनुभव, राजतत्र का पुन-स्थापन तथा क्रातिकारी व्यवस्था हुए। राष्ट्र का विकास, राजाओ का चरित्र, स्टुअर्ट शासको की दैवी अधिकारजन्य राजनीति मे रूढिवादी आस्था तथा उग्र प्यूरीटनवाद इत्यादि का सामूहिक परिणाम हुआ राजा और ससद के बीच एक महान् वैधानिक सघर्ष। यह सघर्ष जेम्स प्रथम (१६०३-२५) तथा चार्ल्स प्रथम (१६२५-४६) के शासन की प्रधान घटना है। राजा के विशेषाधिकारो की पृष्ठभूमि से उत्पन्न इस सघर्ष के प्रधान पक्ष धर्म, अर्थ तथा वैदेशिक नीति थे। १६२८ ई० मे लोकसभा अपने अधिकारो का परिपत्र प्राप्त करने मे सफल हुई। किंतु चार्ल्स फिर स्वेच्छापूर्ण शासन पर दृढ हो गया और ससद के दीर्घ अधिवेशन के उपरात घटनाचक्रो ने राजा तथा ससद के दलो के बीच गृहयुद्ध को द्रुतगामी कर दिया। १६४८ ई० तक राजा के पक्षपाती उखाड फेंके गए तथा दूसरे वर्ष चार्ल्स पर अभियोग लगाकर उसे फाँसी दे दी गई।

गणतत्रीय विष्कभक (१६४६-६०) मे इग्लैंड को गणतत्र घोषित किया गया और ओलिवर क्रामवेल ने महान् सरक्षकपद से १६५८ तक शासन किया। आतरिक दृष्टि से यह युग सैनिक शासनस्थापना, घोर प्यूरिटनवादी प्रयोग तथा कई वैधानिक योजनाओ के लिये उल्लेखनीय है। क्रामवेल की वैदेशिक नीति के परिणामस्वरूप डच और स्पेन से युद्ध हुए तथा इग्लैंड को जल और स्थल दोनो युद्धो मे यश मिला। उसका प्रधान उद्देश्य ब्रिटिश व्यापार तथा प्यूरिटन मत की वृद्धि करना था। उसे इग्लैंड, स्काटलैंड तथा आयरलैंड की एकता के प्रयत्न मे सफलता मिली। किंतु आतरिक शासन मे जनतत्र को समाप्त कर देने के कारण राजतत्र फिर से स्थापित करने के पक्ष मे एक राष्ट्रीय प्रतिक्रिया हुई और क्रामवेल की मृत्यु के उपरात उसके पुत्र रिचार्ड के शासनकाल मे सारे देश पर अराजकता छा गई। परिणामस्वरूप १६६० ई० मे स्टुअर्ट राजतत्र पुन स्थापित हुआ।

१६६० ई० की व्यवस्था ने राजतत्र तथा पार्लामेंट दोनो को पुन स्थापित किया। चार्ल्स द्वितीय के शासन (१६६०-८५) ने क्लैरेंडन सहिता के अतर्गत ऐग्लिन धर्मव्यवस्था स्थापित की, परतु चार्ल्स द्वितीय न कैथोलिको को भी धार्मिक सहिष्णुता देनी चाही। बहिष्कार-नियम-(एक्सक्ल्यूजन बिल) जन्य सघर्ष ने इग्लैंड मे दो दल, क्रमश पेटीशनर तथा अभोरर, पैदा किए जो आगे चलकर ह्विग और टोरी कहलाए। उस शासन की विशेषता वैधानिक प्रगति तथा नैतिक हीनता मे है। १६६५ ई० मे ताऊन का प्रकोप हुआ तथा १६६६ मे भीषण अग्निकाड। अपनी वैदेशिक नीति का आरभ चार्ल्स द्वितीय ने फ्रास से मैत्रीपूर्ण व्यवहार, स्पेन से शत्रुता तथा डचो से युद्ध से किया। उसके शासन (१६८५-८८) मे राजा और पार्लामेंट का सघर्ष फिर अपने प्रारभिक विंदु पर पहुँचा। उसने कथोलिक मत के प्रति सहिष्णुता, स्थायी सेना तथा फ्रेंच मैत्री पर आधारित स्टुअर्ट निरकुशता को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया। उसका रोमन मत का सार्वजनिक प्रतिपादन, राजशक्ति का प्रयोग, धर्म-स्वातत्र्य-घोषणा का प्रकाशन, तथा इसी से मिश्रित उसके पुत्र हो जाने के कारण कैथोलिक मत के भावी सुनहरे अवसर, सामूहिक रूप से १६८८ ई० की तथाकथित गौरवशाली क्राति मे परिलक्षित हुए। परिणामत विलियम तृतीय एव मेरी का राजतिलक हुआ।

क्रातिपरवर्ती युग—विलियम तृतीय और मेरी (१६८६-६४) के समिलित तथा विलियम तृतीय (१६६४-१७०२) के अकेले शासन मे १६८८ की क्राति द्वारा अर्जित सफलताओ का सम्यक् प्रतिपादन हुआ। १६८६ का अधिकारो का प्रस्ताव तथा उसके उपरात १७०२ ई० के व्यवस्था कानून ने अग्रेजी स्वाधीनता के क्षेत्र को और भी व्यापक कर दिया। तब भूमि मे ससदीय सरकार के बीज डाले गए, धार्मिक सहिष्णुता तथा प्रेस स्वातत्र्य प्राप्त हुआ और आर्थिक सुधारो को कार्यान्वित किया गया। वैदेशिक क्षेत्र में प्रमुख घटनाएँ लुई चतुर्दश के विरुद्ध इग्लिश उत्तराधिकार का युद्ध तथा स्पेन के उत्तराधिकार के प्रश्न को सरल कर देने के

प्रोटीन मे जो गुणकारी ऐमिनो-अम्ल होते है, वे सब इनमे भी है। इस काल मे अनुसधान से यह ज्ञात हुआ कि सब प्रकार के ऐमिनो-अम्ल की प्राप्ति के लिये मनुष्य के आहार में भिन्न भिन्न प्रकार के प्रोटीनो का रहना आवश्यक है, जो भिन्न भिन्न पदार्थो से मिलते है। इसका भी अन्वेषण किया गया कि यीस्ट और सोयाबीन को किस प्रकार बनाया जाय कि वे स्वादिष्ट हो जायँ। आजकल ऐमिनो-अम्ल मनुष्य के अन्य आहारो मे मिलाकर मिश्रण भी तयार किया जाता है। ऐसे मिश्रण की गध साधारणत बहुत बुरी होती है। इस गध को मारन और मिश्रित आहार को रुचिकर बनाने के लिये भी यथेष्ट प्रयत्न चल रहे है।

४ **सतुलित भोजन-काल**—इस काल मे यह पाया गया कि स्वास्थ्य या शरीरवृद्धि के लिये भोजन के सब अवयवो, प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, विटामिन, लवण आदि का उपयुक्त अनुपातो मे आहार में वर्तमान रहना आवश्यक है। अनुपातो मे थोडी बहुत विभिन्नता से हानि नही होती, परतु अधिक कमी बेशी रहने पर स्वास्थ्य ठीक नही रहता। भारतीय आहारो मे अच्छे प्रोटीन की विशेष कमी रहती है, क्योकि बहुत से लोग मास आदि नही खाते और महँगा होने के कारण दूध, दही का भी सेवन नही कर पाते। परतु कई प्रकार के अच्छे प्रोटीनो का खाद्य मे होना आवश्यक है। सभव हो तो इन्हे दूध, अडा, मासादि भिन्न भिन्न पदार्थों से प्राप्त करना चाहिए।

चावल ७½ छटाक

दूध ½ छ०

दाल ½ छ०

तरकारी विना पत्ती वाली ¾ छ०

साग १ तोला

तेल या घी २ तोला

अपर्याप्त और असतुलित भोजन

इस भोजन का अधिक भाग चावल है। इतने भोजन से कुल १,७५० कैलोरियाँ प्राप्त होती है, जो स्वस्थ मनुष्य के निमित्त एक दिन के लिये यथेष्ट नही है।

पर्याप्त और सतुलित भोजन

इस भोजन मे चावल की एक तिहाई के बदले बाजरा या गेहूँ रख दिया गया है। दूध, दाल, तरकारी, हरा शाक, वसा और फल की मात्राएँ बढा दी गई है। इससे सभी आवश्यक पदार्थ शरीर को पर्याप्त माना मे मिलते है। इतने भोजन से २,६०० कैलोरियाँ प्राप्त होती है जो एक दिन के लिये यथेष्ट है।

५ **जल और लवण-सतुलन-काल**—शारीरिक प्रक्रिया के लिये पानी और भिन्न भिन्न लवणो का भी बहुत अधिक महत्व है। पाचन के पश्चात् आहार के अवयव जल द्वारा ही शरीर के भिन्न भिन्न भागो मे पहुँचते है। लवण जल द्वारा ही कोशिकाओ तथा अत कोषीय स्थानो मे पहुँचते है। रक्त की द्रवता भी जल के ही कारण बनी रहती है। भिन्न भिन्न स्थानो मे लवणो की भिन्न भिन्न मात्रा उपस्थित रहती है। इस मात्रा की थोडी बहुत न्यूनता या अधिकता से शारीरिक प्रक्रियाओ मे कोई विकृति नही उत्पन्न होती, किंतु विशेष कमी होने से तरह तरह के विकार उत्पन्न हो जाते है। ये लवण भी शरीर के लिये बहुत महत्व के है। शरीर से विशेष मात्रा मे लवण निकल जाने से, जैसे पसीना द्वारा या पतले दस्तो द्वारा, हाथ पाँव की पेशियो में शिथिलता और ऐंठन आने लगती है। यदि इन लवणो की पूर्ति कुछ काल तक न की जाय तो मृत्यु तक हो सकती है।

स०ग्र०—चार्ल्स हर्बर्ट बेस्ट तथा नार्मन बर्क टेयलर दि फिज़िओलॉजिकल बेसिस ऑव मेडिकल प्रैक्टिस (नवीन सस्करण) (वलिअर टिंडाल ऐंड कॉक्स, लदन), सैमसन राइट ऐप्लाएड फिजिऑलोजी (ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लदन), एम० जी० बील डाएटोथरापी, (डब्ल्यू० बी० सॉण्डर्स कपनी, फिलाडेल्फिआ और लदन)। [व० ना० प्र०]

इंका दक्षिण अमरीका के रेड इडियन जाति की एक गौरवशाली उपजाति थी। सन् ११०० ई० तक इका लोग अपने पूर्वजो की भाँति अन्य पडोसियो जैसा ही जीवन व्यतीत करते थे, परतु लगभग सन् ११०० ई० मे कुछ परिवार कुज़को घाटी में पहुँचे जहाँ उन्होने आदिम निवासियो को परास्त करके कुज़को नामक नगर का शिलान्यास किया। यहाँ उन्होने लामा नामक पशु के पालन के साथ साथ कृषि भी आरभ की। कालातर में उन्होने टीटीकाका झील के दक्षिण-पश्चिम में अपने राज्य को प्रशस्त किया। सन् १५२८ ई० तक उन्होने पेरू, इक्वेडर, चिली तथा पश्चिमी अर्जेंटीना पर भी कब्जा कर लिया। परतु यातायात के साधनो के अभाव मे तथा गृहयुद्ध के कारण इका साम्राज्य छिन्न विच्छिन्न हो गया।

इका प्रशासन के सबध मे विद्वानो का ऐसा मत है कि उनके राज्य मे सच्चा राजकीय समाजवाद (स्टेट सोशियलिज्म) था तथा सरकारी कर्मचारियो का चरित्र अत्यत उज्वल था। इका लोग कुशल कृषक थे। इन्होने पहाडियो पर सीढीदार खेती का प्रादुर्भाव करके भूमि के उपयोग का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया था। आदान प्रदान का माध्यम द्रव्य नही था, अत सरकारी करो का भुगतान शिल्प की वस्तुओ तथा कृषीय उपजो में किया जाता था। ये लोग खानो से सोना निकालते थे, परतु उसका मदिरो आदि मे सजावट के लिये ही प्रयोग करते थे। ये लोग सूर्य के उपासक थे और ईश्वर में विश्वास करते थे। [लें० रा० सिं० क०]

इंग्लिश चैनल (रोमन नाम मारे ब्रिटैनिकम, फ्रेंच नाम ला मॉश) अटलाटिक महासागर की भुजा है, जो डोवर जलडमरुमध्य द्वारा उत्तरी सागर से मिली हुई है। यह इंग्लैंड और

२०वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्ष—एडवर्ड सप्तम का शासन (१९०१-१०) श्रम की कठिनाइयो से, जो बहुधा हडताल की जन्मदात्री थी, प्रारभ हुआ। १९०६ ई० में उदार दल के कार्यभार सँभालने से ऐसे कानूनो का जन्म हुआ जो साम्यवादी भावना से प्रेरित थे और जिनपर मजदूर दल के उत्थान की छाप थी। इन कानूनो में वृद्धावस्था की पेन्शन (१९०८) और स्वास्थ्य तथा बेरोजगारी की राष्ट्रीय बीमा योजना (१९०९) अपनी विशेषता रखती हैं। १९०९ ई० में दक्षिण अफ्रीका सघ कानून तथा भारतीय प्रतिनिधि नियम पास किए गए। वैदेशिक क्षेत्र मे जर्मनी की औपनिवेशिक तथा समुद्री महत्वाकाक्षाओ ने ब्रिटिश दृष्टिकोण सदेहास्पद कर दिया और ब्रिटेन तटस्थता का त्याग करने के लिये बाध्य हो गया। १९०२ की आग्ल जापानी, १९०४ की आग्ल फ्रानीसी, तथा १९०७ की आग्ल रूसी सधियाँ अतर्राष्ट्रीय राजनीति मे जर्मनी, आस्ट्रिया तथा इटली के गुट को प्रतिसतुलन देने लगी। जार्ज पचम के शासन (१९१०-३६) मे १९१२ का ससदीय कानून पास होकर उच्च सदन को आर्थिक शक्तियो से रहित करने में समर्थ हो सका। अब राजमुकुट के प्रति अग्रजी विधान मे अपार समान पैदा हुआ। आयरलैंड का प्रश्न सर्वोपरि था जिससे होमरूल कानून १९१५ ई० में पास हुआ। जर्मनी की महत्वाकाक्षाओ के कारण यूरोपीय स्थिति शकाकुल हो गई तथा मोरक्को की कठिनाइयो एव बाल्कन युद्धो ने विस्फोट की पृष्ठभूमि तैयार कर दी।१९१४ ई० में प्रथम विश्वव्यापी युद्ध छिडा और बेलजियम पर आक्रमण होने से लदन सधि की हत्या देखकर ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध युद्धघोषणा कर दी तथा १९१८ ई० तक ब्रिटेन स्थल और जलयुद्धो मे व्यस्त रहा।

विश्वव्यापी युद्धो के बीच ब्रिटेन—यद्यपि युद्ध से ब्रिटेन को औपनिवेशिक लाभ अधिक हुए, तथापि उसके उद्योग और व्यापार को भीषण आघात पहुँचा जिसमे उसकी समृद्धि और प्रभाव क्षीण हुए। युद्ध ने ब्रिटेन के सामाजिक स्वरूप को परिवर्तित कर दिया। ब्रिटेन में स्त्रियो का त्राण, बडे राज्यो का विघटन, नगरो के समीपवर्ती प्रदेशो की प्रगति तथा वैज्ञानिक एव कला सबधी विकास हुए। शातिपूर्ण युग की आर्थिक व्यवस्था की आवश्यकता ने ब्रिटेन को औद्योगिक विकास की ओर द्रुत गति से अग्रसर किया जिसके फलस्वरूप श्रम की समस्या की अभिव्यक्ति १९२६ की साधारण हडताल में हुई। इसके उपरात १९३१ ई० मे बाजारो मे वस्तुओ की दर गिर गई जिससे आर्थिक और औद्योगिक सकट उत्पन्न हो गया। उत्पादन-वृद्धि के उपाय ढूँढे जाने लगे और अनियत्रित व्यापार के सिद्धात का परित्याग कर दिया गया। व्यय मे कमी, श्रममूल्य की कटौती तथा करो की वृद्धि आदि से स्थिति में सुधार किया गया। समाजवादी सिद्धात तथा समाजवादी कार्यो को प्रोत्साहन मिला। १९३६ मे एडवर्ड अष्टम के राज्यत्याग की समस्या ने राष्ट्र का ध्यान कुछ समय के लिये केंद्रित कर रखा था और जार्ज षष्ठ के राजतिलक में सहायक हुआ।

साम्राज्यवादी इतिहास मे ब्रिटिश राष्ट्रसघ को जन्म देनेवाला १९३१ का वेस्टमिन्स्टर विधान, १९३७ के विधान से आयरलैंड का सार्वभौम जनतत्र राज्य, भारतीय राष्ट्रीय आदोलन की १९४७ के स्वाधीन राष्ट्र मे परिणति इत्यादि महत्वपूर्ण घटनाएँ है। वैदेशिक क्षेत्र मे ब्रिटिश नीति १९३६ ई० तक, जबतक शनैः शनैः पुन शस्त्रीकरण प्रारभ नही हुआ, अतर्राष्ट्र सघ से बँधी हुई थी। १९३७ ई० मे नेविल चेबरलेन की राष्ट्रीय सरकार की, जिसके जर्मनी को प्रसन्न करने के सारे प्रयत्न असफल रहे, रचना हुई। हिटलर की एक के बाद एक राष्ट्र हडप लेने की नीति पहली सितबर, १९३९ ई० को पोलैंड पर आक्रमण करने को बढी, तब ब्रिटेन भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध मे कूद पडा। मई, १९४० मे चेबरलेन को विन्सटन चर्चिल के लिये प्रधान मत्री का स्थान रिक्त करना पडा। चर्चिल के सतत प्रयत्न और रूस की असाधारण क्षमता तथा बलिदानो ने युद्ध को १९४५ ई० मे सफलता की सीमा पर पहुँचाया। उसी वर्ष साधारण निर्वाचन मे पार्लामेट में क्लेमेंट ऐटली समाजवादी बहुमख्यक दल के साथ, सामाजिक उत्थान, सुरक्षा एव अनिवार्य उद्योगो और सेवाओ के राष्ट्रीयकरण की व्यापक नीति लिए अपना मत्रिमडल बनाने मे सफल हुए।

सं०ग्रं०—एस० आर० गार्डिनर इग्लैंड का इतिहास, टी० एफ० टाउट ग्रेट ब्रिटेन का बृहत् इतिहास, रैम्सेक्योर ब्रिटिश कामनवेल्थ का सक्षिप्त इतिहास, ट्रेवेलियन इग्लैंड का इतिहास, एफ० जे० सी० हर्नशा ब्रिटिश प्रायद्वीपो के इतिहासो की रूपरेखा, जी० स्मिथ . इग्लैंड का इतिहास, हालबी इग्लिश जाति का इतिहास। [गि०श० मि०]

इंजील

एक यूनानी शब्द 'इवजेलियन का' विकृत रूप है। इसका अर्थ सुसमाचार (गॉस्पेल) है, जो बाइबिल का एक अग मात्र है। (दे० बाइबिल) [का०बु०]

इंटरलाकेन

स्विट्जरलैंड के बर्न प्रदेश (कैंटन) का एक नगर है जो आर नदी के बाएँ तट पर समुद्रतल से १८६४ फुट की ऊँचाई पर बसा हुआ है। यह बर्न से लगभग २६ मील दक्षिण-पूर्व मे स्थित है। यह थुन तथा ब्रीज झीलो के बीच मे स्थित होने के कारण ही इटरलाकेन कहलाता है। यहाँ एक प्राचीन दुर्ग भी है। इसकी होहेवेग (=ऊँची सडक) नामक सडक पर उच्च कोटि के होटलो की पक्तियाँ दर्शनीय हैं। निकटवर्ती युगफ्राउ (=कुमारी) शिखर (ऊँचाई १३,६६९ फुट) की दिव्य झाँकी के लिये ग्रीष्मकाल मे यहाँ बहुत चहल पहल हो जाती है। इसकी जनसख्या सन् १९०० ई० मे २,९३२ थी तथा अब लगभग ३,७५० है। [लें० रा० सिं०]

इंडियन, उत्तर अमरीकी

इडियन उत्तर और दक्षिण अमरीका के प्राचीनतम निवासी हैं। वे मगोलायड प्रजाति की एक शाखा माने जाते है। नृशास्त्रियो का अनुमान है कि वे इस भूखड पर प्राय २०,००० से १५,००० वर्ष पूर्व आए थे।

कोलबस की भूल के कारण बाह्य जगत् उन्हे 'इडियन' नाम से जानता है। भारत की खोज मे चले कोलबस ने अमरीका को ही भारत जान लिया था और १४९३ में लिखे गए अपने एक पत्र मे उसने यहाँ के निवासियो का उल्लेख 'इडियोस' के रूप में किया था। इस भूभाग पर गोरी जातियो की सत्ता का विस्तार इडियन समूहो की जनसख्या के एक बडे भाग के नाश का तथा सामान्य रूप से उनकी सस्कृतियो के ह्रास का कारण हुआ। उनके छोटे छोटे समूह इस विस्तृत भूभाग के विभिन्न क्षेत्रो मे अब भी पाए जाते हैं, यद्यपि उनकी सख्या बहुत कम रह गई है। उनमे सस्कृति के कई धरातल है और वे कई भिन्न परिवारो की भाषाएँ बोलते हैं। समवर्ती गोरी जातियो के व्यापक सास्कृतिक प्रभावो के कारण उनकी प्राचीन सस्कृति मे बडी तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हैं। उन्हे विनष्ट होने से बचाने के लिये पिछले कुछ दशको में शासन की ओर से विशेष प्रयत्न किए गए हैं।

अमरीकी इडियनो की उत्पत्ति के सबध मे समय समय पर अनेक सभावनाएँ, कल्पनाएँ और मान्यताएँ उपस्थित की गई हैं। कुछ लोगो का अनुमान था कि वे इजरायल की दस खोई हुई जातियो के वशज है और कुछ लोग उन्हे सिकदर की जलसेना के भटके हुए बेडो के नाविको की सतान मानते हैं। उनके सबध में यह धारणा भी थी कि वे किवदतियो मे वर्णित 'एटलाटिस महाद्वीप' अथवा प्रशात महासागर के 'मू' नामक काल्पनिक द्वीप के मूल निवासियो की सतान है। मध्य अमरीका की माया इडियन जाति और प्राचीन मिस्र की स्थापत्यकला मे समता दृष्टिगत होने के कारण यह अनुमान भी किया गया कि इडियन मिस्र अथवा मिस्र-सस्कृति से प्रभावित देशो से अमरीका आए। इस सदर्भ मे यह जानना आवश्यक है कि जिस काल मे माया इडियनो ने मदिरो का निर्माण आरभ किया उसके कई हजार वर्ष पहले ही मिस्र की प्राचीन स्थापत्यशैली का ह्रास हो चुका था। अमरीका मे प्राचीन मानव सबधी वैज्ञानिक खोजे होने के पहले यह सभावना भी थी कि इडियनो के पूर्वज इस भूमि पर मानव जाति की एक स्वतत्र शाखा के रूप मे विकसित हुए हो, परतु अब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अमरीकी महाद्वीपो पर मानव जाति की कोई शाखा स्वतत्र रूप से विकसित नही हुई। प्राणिजगत् की प्राइमेट शाखा के विकासक्रम मे इस भूभाग पर केवल लीमर, टारसियर और कतिपय जातियो के वदरो के प्रस्तरीकृत अवशेष ही मिले है। प्राचीन मानव जातियो के अध्येता परिश्रमपूर्वक खोज करने पर भी निकटमानव वानर अथवा प्राचीन मानव के कोई अवशेष

है। पोतनिर्माण के अतिरिक्त यहाँ पर काच, कागज, चीनी तथा अनेक रासायनिक वस्तुओं के कारखाने हैं।

उपर्युक्त प्रदेश के दक्षिण मे इग्लैंड की सबसे बडी कोयले की खदानें यार्क, डरबी एव नाटिंघम की खदानें हैं। ये उत्तर में आयर नदी की घाटी से दक्षिण में ट्रेंट की घाटी तक ७० मील की लबाई में तथा १० से २० मील की चौडाई में फैली हुई हैं। इस प्रदेश के निकट ही, लिकन तथा सभी पवर्ती भागो मे, लोहा भी निकलता है। अत यहाँ के कोयले के व्यवसाय पर आश्रित तीन व्यावसायिक प्रदेश है (१) कोयले की खदानो के उत्तर में पश्चिमी रेडिंग के ऊनी वस्त्रोद्योग के क्षेत्र, (२) मध्य मे लोहे तथा इस्पात के प्रदेश तथा (३) डरबी और नाटिंघम प्रदेश के विभिन्न व्यवसायवाले प्रदेश ऊनी वस्त्रोद्योग मुख्यतया आयर नदी की घाटी में विकसित हैं। लीड्स (जनसख्या ५,०५,२१६) यहाँ का मुख्य नगर है जो सिले हुए कपडो का मुख्य केंद्र है। ब्रैडफर्ड इस क्षेत्र का दूसरा महत्वपूर्ण नगर है। हैलीफैक्स कालीन बुनने का प्रधान केंद्र है। लोहे एव इस्पात के व्यवसाय शेफील्ड (जनसख्या ५,१२,८५०) मे प्राचीन काल से होते आ रहे हैं। चाकू, कैंची बनाना यहाँ का प्राचीन व्यवसाय है। आज शेफील्ड तथा डानकैस्टर के बीच की डान की घाटी इस्पात का मुख्य प्रदेश बन गई है। यार्क-डरबी एव नाटिंघम की कोयले की खदानो के दक्षिणी सिरे की ओर विभिन्न प्रकार के व्यवसाय होते है जिनमें सूती, ऊनी, रेशमी तथा नकली रेशम के उद्योग मुख्य है।

पेनाइन के पूर्व में उत्तरी सागर के तट तक नीचा मैदान है जिसमे यार्क, यार्कशायर एव लिकनशायर के पठार तथा घाटियाँ भी समिलित हैं। यार्कशायर घाटी इग्लैंड का एक बहुत उपजाऊ प्रदेश है जिसमें गेहूँ की अच्छी खेती होती है। यार्कशायर के पठारो एव घाटीवाले प्रदेशो में पशुपालन तथा खेती होती है। गेहूँ, जौ तथा चुकदर यहाँ की मुख्य फसले हैं। हल इस प्रदेश का महत्वपूर्ण नगर तथा इग्लैंड का तीसरा बडा बदरगाह है। यहाँ के आयात में दूध, मक्खन, तेलहन, बाल्टिक सागरी प्रदेशो से लकडी के लट्ठे और स्वीडन से लोहा मुख्य हैं। निर्यात की जानेवाली वस्तुओ में ऊनी वस्त्र और लोहे तथा इस्पात के सामान मुख्य हैं। लिकनशायर के पठारो पर भेड चराने का कार्य और घाटी में खेती तथा पशुपालन दोनो होते हैं। चुकदर की खेती पर आश्रित चीनी की कई मिले भी यहाँ स्थापित हो गई हैं। लिकन इस प्रदेश का मुख्य नगर है, जो कृषियत्रो के निर्माण का मुख्य केंद्र है।

दक्षिणी-पूर्वी लकाशायर की कोयले की खदानो पर आश्रित लकाशायर का विश्वविख्यात वस्त्रोद्योग है। यह व्यवसाय लकाशायर की सीमा पार कर डरबीशायर, चेशायर तथा यार्कशायर प्रदेशो तक फैला हुआ है। यहाँ पर सूती वस्त्रोद्योग के दो प्रकार के नगर हैं एक प्रेस्टन, ब्लैकबर्न, एक्रिंग्टन तथा बर्नले जैसे नगर है जिनमे अधिकतर कपडे बुनने का कार्य होता है और दूसरे बोल्टनबरी, राचडेल, ओल्डम, ऐश्टन, स्टैलीब्रिज, हाइड तथा स्टाकपोर्ट जैसे वे नगर है जिनमें सूत कातने का कार्य मुख्य रूप से होता है। सूती वस्त्रोद्योग के प्रधान केद्र मैचेस्टर (जनसख्या ७,०३,०८२) को ये नगर विभिन्न दिशाओ में घेरे हुए हैं। मैचेस्टर शिप-कनाल द्वारा लिवरपूल (जनसख्या ७,८८,६५९) बदरगाह से सबधित होने के कारण विदेशो से रुई मँगाकर अन्य नगरो को भेजता है तथा उनके तैयार माल का निर्यात करता है। लकाशायर के अन्य उद्योगो में कागज, रासायनिक पदार्थ तथा रबर की वस्तुओ का निर्माण मुख्य है।
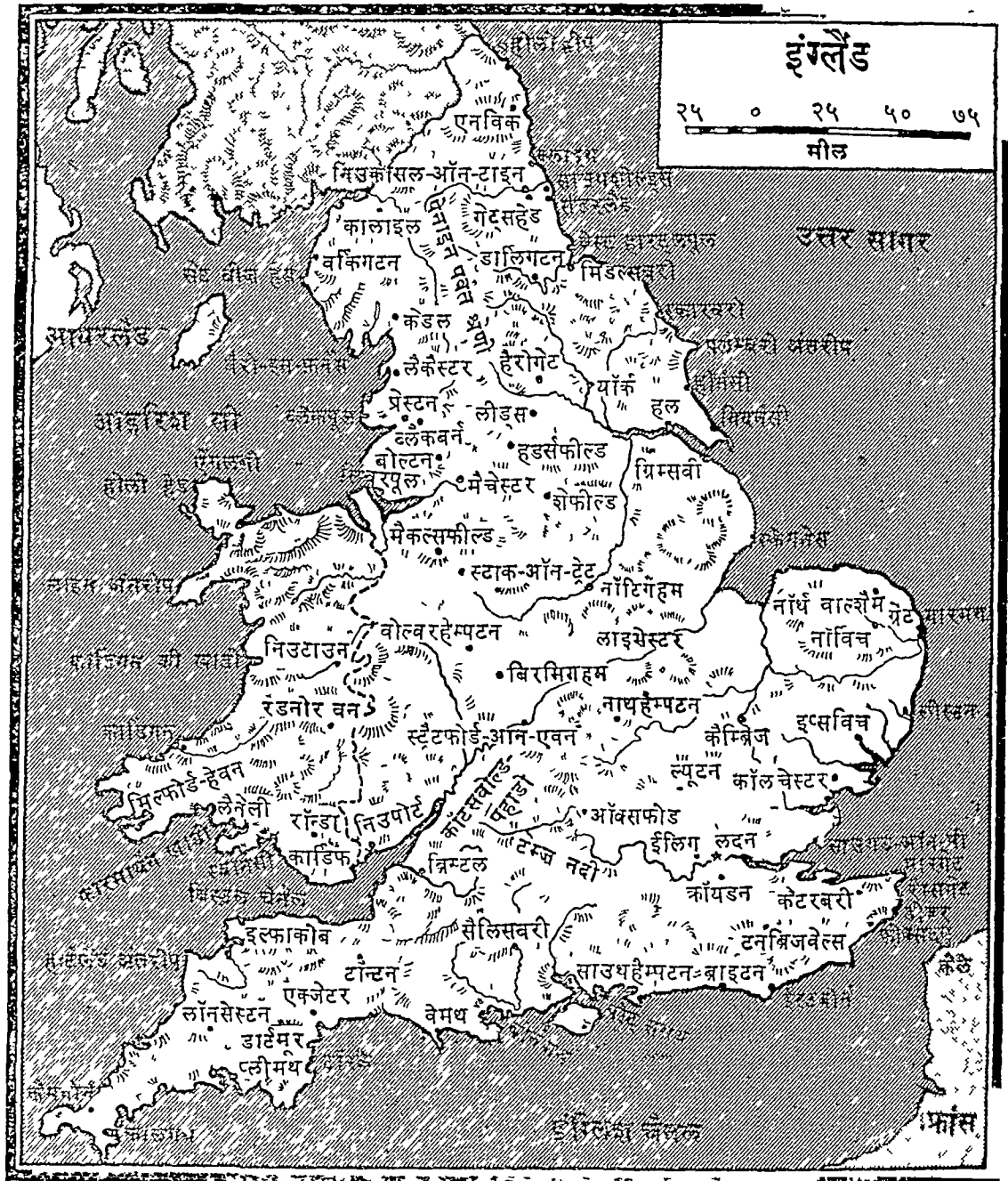
शिकार पर आश्रित है। पहले भाग मे वायु-अनुरोधक टट्टियो और प्यूवलो शैली के मकान बनाए जाते हैं। प्रागतिहासिक काल मे जमीन खोदकर रहने का स्थान बनाया जाता था। दूसरे भाग में भूमिगत घरो का प्राधान्य है। दोनो भागो से समाज अनेक उभयपक्षीय दलो में विभाजित है, जिनमें प्रत्येक दल का एक प्रधान होता है। राजकीय सगठन का इन समूहो मे अभाव है। धर्म शामन और दैवी रक्षक शक्तियो पर आश्रित रहता है। भौतिक सस्कृति का अल्प विकास और कला के किसी भी रूप का अभाव इन समूहो में दीख पडता है।

(६) **समतल क्षेत्र**—इस क्षेत्र के कुछ समूह, जैसे भडान, हिदास्ता, एरिकारा, पोंका, आयोवा, ओमाहा और पवनी स्थायी ग्रामो मे रहते हैं तथा ब्लैकफुड, ग्रोस वेंचर एसिनी बोइन, क्रो चेयिनी, डाकोटा, अरापाहो, कियोवा, कोमाचे आदि घुमक्कड जीवन व्यतीत करते है।

स्थायी ग्रामो मे रहनेवाले समूह वृक्षो के तनो से बने बडे मकानो मे रहते हैं। समाज गोत्र और गोत्रसमूहो में विभाजित है। इन समूहो के शक्तिशाली जातीय सगठन हैं। धार्मिक उत्सव ये बडे सुव्यवस्थित रूप से मनाते हैं। व्यक्तिगत रक्षक शक्तियो मे विश्वास के अतिरिक्त इनमे अनेक प्रकार से दैवी सकेत पाने के लिये यत्न किए जाते हैं। इन समूहो मे चर्मवस्त्रो का प्रचलन है। सिर पर तरह तरह के पख लगाए जाते हैं। मिट्टी के बर्तन, टोकरे आदि इनमे नही बनाए जाते। कला की दो सुनिश्चित शैलियाँ इनमे प्रचलित हैं। वे चमडे पर यथार्थवादी शैली मे चित्र अकित करते हैं और विभिन्न प्रकार की डिजाइने भी बनाते हैं।

घुमक्कड समूह चमडे के बने टिपी नामक तबुओ मे रहते हैं और शिकार से अपनी जीविका अर्जित करते हैं। उत्तर और पूर्व मे उनमे गोत्रविभाजन पाया जाता है, दक्षिण और पश्चिम मे नही। राजकीय सगठन प्रजातत्रीय प्रणाली का है। कोमाचे समूह के अतिरिक्त अन्य समूहो मे जातीय सगठन है। युद्ध और शाति के नेता अलग होते हैं। इन समूहो मे अनेक प्रकार की सैनिक तथा धार्मिक समितियाँ सगठित हैं। इनमे भी रक्षक शक्तियो मे विश्वास पाया जाता है। सूर्य नृत्य तथा सामूहिक धार्मिक कृत्य इन समूहो की दृष्टि से ये प्रथम भाग के समकक्ष हैं।

(७) **उत्तर-पश्चिम क्षेत्र**—यह भाग तीन उपसस्कृति क्षेत्रो मे विभाजित किया जा सकता है।

प्यूब्लो समूह मे ताओस, साटा क्लारा, कोचिटी, सेटो डोमिनगो, सेन फेलिपी, सिया, जेमेज, लागुत, एकोमा, जूनी और होपी जातियाँ मुख्य है। आर्थिक व्यवस्था कृपि और पशुपालन पर आश्रित है। प्यूब्लो समूह पत्थरो से बने अनेक मजिलोवाले सामुदायिक घरो मे रहते है। जातीय शासनव्यवस्था मे धार्मिक अधिकारियो की सत्ता होती है। समाज मे अनेक धार्मिक समितियाँ सगठित है। अनेक धार्मिक कृत्य सूर्य और पूर्वजो से सबधित है। सामूहिक नाट्य नृत्य इन समूहो के धार्मिक सगठन की एक प्रमुख विशेषता माने जा सकते हैं। भौतिक सस्कृति के क्षेत्र मे वे मिट्टी के बर्तन बनाने और कपडा बुनने में दक्ष है। टोकरे बनाने की कला अधिक विकसित नही है। कला के मुख्य रूप हें बर्तनो पर चित्रो का अकन और कबलो मे आकर्षक डिजाइने बुनना।

दूसरा भाग नवाहो और एपाचे आदि समूहो का है जो स्थायी रूप से एक स्थान पर नहीं रहते। ये अधिकाशत बाजरे की खेती करते हैं। आधुनिक काल मे इनमें भेड पालना भी आरभ किया गया है। नवाहो लकडी और मिट्टी के बने मकानो मे रहते है, एपाचे चमडे के तबुओ मे। दोनो समूहो मे केंद्रीय शासकीय व्यवस्था का अभाव है। समूह छोटे छोटे दलो मे विभाजित हैं। प्रत्येक दल का एक प्रधान होता है, पर उसकी शक्ति अधिक नही होती। धर्मव्यवस्था मे पुजारियो और धार्मिक गायको का स्थान महत्वपूर्ण होता है। रोगियो की चिकित्सा धार्मिक क्रियाओ और गायन से की जाती है। इन समूहो मे बुनाई का कौशल विकसित रूप मे दीख पडता है। भौतिक सस्कृति के अन्य पक्ष अधिक उन्नत नही हैं। दोनो समूहो मे कबलो मे तरह तरह की डिजाइनें बुनी जाती हैं और बालुकाचित्राकन किया जाता है। नवाहो चाँदी का काम करते हैं और एपाचे मनको का।

तीसरे भाग मे कोलोराडो-गिला क्षेत्र मे मोहावे, यूमा, पिमा, पपागो आदि समूह आते है। इनका सामाजिक सगठन बहुत कुछ नवाहो, एपाचे आदि के सगठनो से मिलता जुलता है। धर्म का सामूहिक पक्ष अविकसित है व्यक्ति और परिवार धार्मिक सगठन की स्वतत्र इकाइयाँ माने जा सकते हैं। इनकी भौतिक सस्कृति के मुख्य तत्व हैं टोकरे बनाना और कपडे बुनना। कला का विकास इनमे बहुत कम हुआ है।

(८) **उत्तर-पूर्व का वनक्षेत्र**—इस क्षेत्र के मुख्य समूह हैं क्री, ओजिवर्व, इरोक्वाई, मोहिकन, विनेवागो, फाक्स, साउक आदि। ये वनाच्छादित प्रदेश मे रहते हैं जहाँ कठिन शीत पडता है। ये समूह खेती के साथ बडे पैमाने पर शिकार भी करते हैं। झीलो मे मछलियाँ पकडी जाती हैं और जगली धान की खेती होती है। समाज का विभाजन गोत्रो मे होता है जिनके अपने गोत्रचिह्न (टोटेम) होते हैं। उत्तरी भाग को छोडकर शेप क्षेत्र में सशक्त तथा सुसगठित शासनव्यवस्था है। इरोक्वाई समूहो ने तो अपना स्वतत्र राज्यसघ बना लिया था जिसका विधान उल्लेखनीय था। इन समूहो मे व्यक्ति की दैवी रक्षक शक्तियो मे विश्वास किया जाता है। भौतिक सस्कृति के मुख्य तत्व हैं धनुप, युद्ध की गदाएँ, लकडी को खोदकर बनाई गई और वृक्षो की छाल की नावे, चमडे के वस्त्र, बरफ मे पहनने के जूते और मिट्टी के बर्तन। इन समूहो मे मनको का कलापूर्ण काम किया जाता है। इरोक्वाई लकडी के चेहरे भी बनाते हैं।

(९) **दक्षिण-पूर्व का वनक्षेत्र**—शावनी, चेरोकी, क्रीक, नावेज आदि समूह इस क्षेत्र मे निवास करते हैं। आर्थिक व्यवस्था मे कृपि और शिकार का समान महत्व है। वर्गाकार और वृत्ताकार, दोनो प्रकार के घर इन समूहो मे बनाए जाते हैं। समाज गोत्र और गोत्रसमूहो मे सगठित है। वर्गभेद के साथ सशक्त राजकीय सगठन भी इन समूहो मे विकसित हुआ है। सूर्य और अग्नि को केंद्र बनाकर अनेक धार्मिक क्रियाएँ की जाती हैं। ये समूह मदिरो का निर्माण भी करते हैं। पुजारी और शामन, दोनो शक्तिशाली होते हैं। चमडे और वृक्षो की छाल के वस्त्रो का उपयोग किया जाता है। विशेप प्रकार की चटाइयाँ और टोकरे बनाना तथा बेत का उपयोग इन समूहो की भौतिक सस्कृति की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। इनकी कला पर मध्य अमरीका के अनेक प्रभाव लक्षित होते हैं।

इडियन समूहो मे बडी तीव्र गति से सस्कृतिपरिवर्तन हो रहा है। उनके जीवन के प्रत्येक पक्ष मे अमरीका की नव सस्कृति के व्यापक प्रभाव सहज ही देखे जा सकते हैं।

सं०ग्रं०—कालिगर, जान द इडियन ऑव दि अमेरिकाज, न्यूयार्क, नार्टन ऐड कपनी, १९४७, वर्टेन, ई० (सपादक) द इडियन्स ऑव नार्थ अमेरिका, न्यूयार्क, हार्कोर्ट ब्रेस ऐड कपनी, १९२७, क्रोवर, ए० एल० कल्चरल ऐड नेचुरल एरियाल ऑव नेटिव नार्थ अमेरिका, वर्कले, युनिवसिटी ऑव केलिफोर्निया प्रेस, १९४९, लिंटन, राल्फ द ट्री ऑव कल्चरल न्यूयार्क, एल्फ्रेड ए० कनाफ, १९५५। [श्या० दु०]

इंडियन रोड्स कांग्रेस

दिसबर, १८३४ मे स्थापित हुई। इसका मुख्य उद्देश्य था सडको के निर्माण एव सुप्रबध के विज्ञान और कला की उन्नति तथा प्रोत्साहन और भारत की सडको के इजीनियरो की सडक सबधी समस्याओ पर सामूहिक विचाराभिव्यक्ति का उपयुक्त माध्यम होना। इस काग्रेस मे १९५८ मे प्राय १,६०० सदस्य थे जिनमें इग्लैड, आयरलैड, ब्रिटिश वेस्ट इडीज, कनाडा, पाकिस्तान, लका, बर्मा आदि देशो के निवासी भी समिलित थे।

यह काग्रेस प्रति वर्ष एक महाधिवेशन करती है जिसमे देश भर से २५० से अधिक प्रतिनिधि विचारार्थ आमत्रित किए जाते हैं। अपने २५ वर्षो के अब तक के जीवनकाल मे इस काग्रेस ने निम्नलिखित कार्य किए है

(१) अपने सामान्य अधिवेशनो मे टेकनिकल विपयो पर लिखे गए २०० से अधिक ऐसे निबधो पर विचारविमर्श किया जो भारतीय सडको के विकास सबधी विविध पहलुओ से सबध रखते हैं।

[illegible] ने [illegible] की दीक्षा ली और ऑगस्टीन कैंटरबरी के प्रथम आर्च विशप नियुक्त हुए। केंट, नार्थंब्रिया और मर्शिया ने क्रम से नया धर्म अंगीकार किया। उधर केल्ट पादरी तथा रोम के [illegible] समय आयरलैंड और स्काटलैंड से समान रूप में [illegible] थे। इंग्लैंड के इस धर्मपरिवर्तन ने राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त किया।

वेसेक्स का उत्कर्ष—प्राचीन १५ सैक्सन राजाओं की पंक्ति का प्रारंभ एगबर्ट (८०२-३९) से तथा अंत लौहपुरुष एडमंड (१०१७) के शासन से होता है। इन दो शताब्दियों में नार्समैनों अथवा डेनों के आक्रमण हुए और उनकी पराकाष्ठा अल्फ्रेड महान् के शासन (८७१-९०१) में हुई जिसने ८७८ ई० में [illegible] के युद्धक्षेत्र में इनको परास्त किया। अलफ्रेड का शासन युद्ध और शांति की सफलताओं से उल्लेखनीय है। उसने वेसेक्स को व्यवस्थित किया, सैनिक सुधार किए, जलसेना स्थापित की, नियमों में संशोधन किए और ज्ञान का प्रोत्साहन दिया। ऐंग्लोसैक्सन वृत्तांत का संग्रह इसी के शासन में हुआ। उस युग का एक और प्रसिद्ध व्यक्ति, कैंटरबरी का आर्च विशप, डन्स्टेन हुआ, जो अल्फ्रेड के उत्तराधिकारियों की छत्रछाया में राष्ट्रनायक और धर्मसुधारक के रूप में विख्यात हुआ। सैक्सन राजकुल लगभग चौथाई शताब्दी के लिये एथेलरेड की अदूरदर्शी नीति के कारण सत्ताहीन कर दिया गया। अंततः डेन अपना निरंकुश राजतंत्र कैन्यूट की अध्यक्षता में स्थापित करने में १०१७ ई० में सफल हुए।

डेन व्यवस्था तथा सैक्सन पुनरावृत्ति—१०१७ से १०४२ ई० तक इंग्लैंड तीन डेन राजाओं द्वारा शासित हुआ। कैन्यूट, जिसने १८ वर्ष शासन किया, इंग्लैंड, डेनमार्क तथा नारवे का राजा था। शासन का प्रारंभ बर्बरता से कर, उसने इंग्लैंड में नियमव्यवस्था पुनः स्थापित की, डेनों और स्थानीय जनता को समदृष्टि से देखा और रोम की तीर्थयात्रा की, जहाँ उसने इंग्लिश यात्रियों को सुविधाएँ दिलाईं। उसके अयोग्य पुत्रों के शासन में डेन साम्राज्य का अंत हो गया।

एडवर्ड (दोषस्वीकारक) के व्यक्तित्व में वेसेक्स का पुनरुद्धार हुआ। एडवर्ड विदेशी प्रभावों का दास हो गया था। वेसेक्स के अर्ल गाडविन के नेतृत्व में इस प्रभाव के विरुद्ध एक राष्ट्रीय आंदोलन हुआ। एडवर्ड का शासन (१०४२-६६) उसी आंदोलन या संघर्ष के लिये प्रसिद्ध है। उसकी मृत्यु पर गाडविन का पुत्र हैरोल्ड शासक चुना गया, किंतु गद्दी का दावेदार नार्मंडी का ड्यूक विलियम हो गया था जो १०६६ ई० में हेस्टिंग्ज के युद्धक्षेत्र में इंग्लैंड पर आक्रमण करने के उपरांत, हैरोल्ड को उखाड़ फेंक चुका था। सैक्सन राज्यतंत्र समाप्त हुआ और विलियम इंग्लिश सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

नार्मन पुनर्निर्माण—विलियम प्रथम (विजेता) का शासनकाल (१०६६-८७) पुनर्निर्माण तथा व्यवस्थानिरत था। उसने अपनी स्थिति नई शासननीति से इंग्लिश और नार्मन प्रजा को समान रीति से दबाकर तथा धार्मिक सुधारों से सुदृढ़ कर ली। लेन फ्रैंक की पोपविरोधी सहायता से उसने अपनी स्वाधीनता स्थापित की। भूमि का लेखा, डूम्स्डे बुक, तैयार किया। उसके पुत्र विलियम द्वितीय (रूफस) का शासन (१०८७-११००) शठता और कुव्यवस्था का परिचायक है। उसके शासनकाल की प्रमुख घटनाएँ हैं, कैंटरबरी के ऊपर राजा और एन्सेम का संघर्ष तथा प्रथम धर्मयुद्ध (क्रूसेड) जिसमें उसका भाई रबर्ट युद्धसंचालन के लिये नार्मंडी को गिरवी रखकर सम्मिलित हुआ था। ११०० ई० में विजेता का सबसे छोटा बेटा हेनरी प्रथम (११००-११३५) गद्दी पर बैठा और ११०६ ई० में नार्मंडी को, रबर्ट को हराकर, पुनः प्राप्त किया। उसके प्रशासकीय सुधार, जिनमें क्यूरिया रेजिस या राजा द्वारा न्यायालय की स्थापना भी सम्मिलित है, उसे न्याय का सिंह की पदवी दिलाने में सहायक हुए। हेनरी की पुत्री मैटिल्डा का वैवाहिक संबंध आंजू के काउंट ज्योफ्री प्लैंटेजनेट के साथ हो जाने के कारण प्लैंटेजनेट वंश की स्थापना हुई। आगामी वर्षों में स्टिफेन (११३५-११५४) के शासन में मैटिल्डा के नेतृत्व में एक उत्तराधिकार का युद्ध तब तक चलता रहा जब तक यह निर्णय न हो सका कि स्टिफेन के उपरांत मैटिल्डा का पुत्र सरयुवक हेनरी गद्दी का अधिकारी होगा। नार्मन शासकों ने इंग्लैंड की राजसत्ता को केंद्रित किया, सामंतवादी व्यवस्था का स्वरूप परिवर्तित कर उसे नई सामाजिक व्यवस्था तथा नूतन राजनीतिक प्रणाली दी।

प्लैंटेजनेट शासक—हेनरी द्वितीय का शासन (११५४-८९) इंग्लिश इतिहास में घोर गर्भस्थिति में था। इसके शासन की विशेषताओं में प्रधान थीं इंग्लैंड और स्काटलैंड के संबंधों में सामीप्य, राजकीय व्यवस्था का एक्सचेकर और न्याय पर आधारित दृढ़ीकरण, क्यूरिया रेजिस का उदय, सामान्य इंग्लिश नियम का आविर्भाव तथा स्वायत्त शासन एवं ज्ञान की परंपराओं का विकास। उसके क्लेरेंडन विधान (११६४) ने राजा और चर्च के संबंधों का निर्धारण किया। हेनरी तथा कैंटरबरी के आर्च विशप टामस बेकेट में चर्चनीति पर परस्पर संघर्ष तथा बेकेट के वध ने इस चर्चनीति को असफल कर दिया और चर्च के विरुद्ध राजा का पक्ष क्षतिग्रस्त हो गया। हेनरी का पुत्र रिचार्ड, जिसका शासन (११८९-१२१६) तृतीय धर्मयुद्ध के संचालन तथा सलादीन के विरुद्ध फिलिस्तीन की उसकी विजयों के लिये प्रसिद्ध है, सदैव ही अनुपस्थित शासक रहा। उसका शासनकाल राबिनहुड के कार्यों से संबंधित है। उसकी मृत्यु के उपरांत उसका भाई जान गद्दी पर बैठा, जिसका शासन नृशंस अत्याचार तथा विश्वासघात का प्रतीक है। फ्रांस के फिलिप द्वितीय से झगड़कर नार्मंडी तथा उसका सतत अधिकार उसने खो दिया और पोप से झगड़कर उसे घोर लज्जा का सामना करना पड़ा। उसके बैरनों से संघर्ष का अंत इंग्लिश स्वाधीनता की नींव महान् परिपत्र (मैग्नाकार्टा—१२१५) पर हस्ताक्षर के साथ हुआ।

हेनरी तृतीय (१२१६–७२) के दीर्घ शासन को साइमन डी माटफर्ट के नेतृत्व में बैरनों की अशांति तथा १२५८ की आक्सफोर्ड की धाराओं द्वारा राजा पर लादे गए नियंत्रण का सामना करना पड़ा। इसके उपरांत राजा और साइमन के नेतृत्व में सर्वप्रिय दल के बीच गृहयुद्ध छिड़ा जिसमें हेनरी की हार हुई। यह शासन अंग्रेजी संस्थाओं के विकास के लिये प्रसिद्ध है। १२६५ ई० में माटफोर्ट ने पार्लियामेंट में नगरों और बरों के प्रतिनिधि आमंत्रित कर हाउस ऑव कामंस का शिलान्यास किया। एडवर्ड प्रथम (१२७२-१३०७) की अध्यक्षता में वेल्स की विजय पूर्ण की गई। इसका शासन, अंग्रेजी कानून, न्याय और सेना में सुधार तथा १२९५ की माडल पार्लमेंट के द्वारा पार्लमेंट को राष्ट्रीय संस्था बना देने के प्रयत्न के लिये, महत्वपूर्ण है। अप्रिय तथा शिथिल एडवर्ड द्वितीय (१३०७-२७) की मृत्यु पर उसका पुत्र एडवर्ड तृतीय (१३२७-७७) जिसका शासन घटनापूर्ण था, गद्दी पर बैठा। स्काटलैंड से हुए एक युद्ध के उपरांत इंग्लैंड और फ्रांस के बीच शतवर्षीय युद्ध का सूत्रपात हुआ जो १४५३ ई० तक पाँच अंग्रेज शासकों को विक्षिप्त किए हुए था। उसके शासन की दूसरी घटनाएँ, पार्लमेंट का दो सदनों में विभाजन, १३४८ की 'काली मृत्यु' तथा वीक्लिफ के उपदेश आदि हैं। वीक्लिफ ने बाइबिल का अंग्रेजी में अनुवाद कर सुधार आंदोलन का आभास दे दिया था। रिचार्ड द्वितीय के शासन (१३७७-९९) में कृषक विद्रोह के रूप में सामाजिक क्रांति की प्रथम पीड़ा की अनुभूति इंग्लैंड ने की और अंग्रेजी साहित्य के आरंभयिता चासर ने कैंटरबरी टेल्स लिखी। प्लैंटेजनेट शासन की प्रमुख सफलताएँ पार्लमेंट का विकास, साधारण जनता का विद्रोह, चर्च अधिकार का पतन तथा राष्ट्रीय भावना का उदय है।

लंकास्टर तथा यार्क वंश गुलाबों का युद्ध—लंकास्टर वंश के तीनों हेनरियों (चतुर्थ से षष्ठ तक) का शासन १३९९ ई० से १४६१ ई० तक आंतरिक दृष्टि से, केवल लोलार्डो अथवा वीक्लिफ के अनुयायियों के दमन को छोड़, कोई घटनात्मक महत्व नहीं रखता। बाह्य दृष्टि से हेनरी पंचम के शासन में शतवर्षीय युद्ध की पुनरावृत्ति, अगिन कोर्ट की १४१५ की विजय, रोएन का बंदी होना तथा १४२० की ट्रायस की संधि सहायक हुई। हेनरी षष्ठ (१४२२-६१) के शासन में शतवर्षीय युद्ध सफलतापूर्वक चलता रहा, जब तक फ्रांस को कृषककुमारी उस आर्क की जोन के व्यक्तित्व में त्राणकर्ता नहीं मिला, जिसके जोशीले नेतृत्व के सामने अंग्रेज हतप्रभ हो गए और १४५३ ई० में एक कैले को छोड़ अपने सारे फ्रेंच प्रदेश गँवा बैठे। किंतु इस शासन में गृहयुद्ध—गुलाबों का युद्ध (१४५५-१४८५)—हुआ जो शासनसत्ता के हस्तांतरण के लिये लंकास्टर तथा यार्कवंश में लड़ा गया। पक्षों का नेतृत्व क्रमशः हेनरी षष्ठ तथा रिचार्ड ने किया। अंतिम विजयों ने राजमुकुट यार्कवंश के एडवर्ड को दिया जिसने संसद की स्वीकृति से १४६१ ई० में एडवर्ड चतुर्थ के नाम से राज्यारोहण किया। १४८५ ई० में यार्कवंशीय शासन रिचमाड के अर्ल हेनरी ने बासवर्थ के युद्ध में रिचार्ड को परास्त कर

'शची' इद्र के लिये प्रयुक्त वैदिक विशेषण 'शचीपति' शब्द (शची=बल, पति=स्वामी) के आधार पर कल्पित की गई है। इद्र सोमपान का इतना अभ्यासी है कि 'सोमप' में उसका विशिष्ट गुणावायक नाम निर्दिष्ट है और ऋग्वेद का एक पूरा सूक्त (१०।११९) सोमपान से उत्पन्न इद्र के आनदोल्लास का कवित्वमय उद्गार है। उसकी शक्ति अतुलनीय है और समस्त देवताओं मे वीर्य तथा बल से सपन्न होने के कारण शक्र, शचीवत, शचीपति तथा शतक्रतु (सौ शक्तियो से सपन्न या सौ यज्ञो का कर्ता) आदि विशेषणो का प्रयोग इद्र के लिये ही किया जाता है।

इद्र आर्यो का दस्युओ या दासो के ऊपर विजय प्राप्त करानेवाला प्रमुख देवता है। 'दास' अपार्थिव शत्रु के लिये भी प्रयुक्त है, परतु यह मुख्यत आर्यो के उन कृष्णकाय, चिपटी नाकवाले आदिवासी शत्रुओ के लिये आता है जो आर्यो का विस्तार रोकते थे तथा मिट्टी के बने किलो मे रहकर उनसे लडा करते थे। इन दस्युओ के अनेक नेता थे जिनमे शबर प्रमुख था। वह पर्वतो मे छिपकर भागा फिरता था और इद्र ने बडी दौड धूप के बाद चालीसवे वर्ष में (चत्वारिंश्या शरदि) उसे खोज निकाला और अपने विकट वज्र से छिन्न भिन्न कर दिया (ऋग्० २।१२।११)। ऋग्वेद कहता है कि इद्र की कृपा से ही आर्यो के विपुल पराक्रम के आगे दासो को पराजित होना और पर्वतो के भीतर छिपना पडा। (दास वर्णमधर गुहाक २।१२।४)। इद्र के अन्य महत्वशाली कार्यों में वृत्र की पराजय प्रमुख स्थान रखती है। वृत्र (आवरणकर्ता) से अभिप्राय उस अकाल और दुर्भिक्ष के दानव से है जो बादलो को घेरकर उन्हे पानी बरसाने से रोकता है। वृत्र अहि (=साँप) के रूप मे चित्रित किया गया है। इद्र उसे अपने वज्र से मार डालता है और छल से छिपाई गायो को गुफाओ से बाहर निकालता है। वृत्र के प्रभाव से नदियो की जो धारा रुक गई थी वह अब प्रवाहित होने लगती है। सप्तसिधु की सातो नदियो मे बाढ आ जाती है (यो हत्वाहिमरिणात् सप्तसिधून्) और देश मे सर्वत्र सौख्य विराजने लगता है।

इस प्रकार इद्र वृष्टि और तूफान का देवता है। परतु उसके वास्तविक भौतिक आधार के विषय मे प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानो के विविध मत हैं। (क) निरुक्त मे निर्दिष्ट ऐतिहासिको के मत मे इद्र-वृत्र-युद्ध एक वस्तुत ऐतिहासिक घटना है। (ख) लोकमान्य तिलक के मत मे वृत्र हिम का प्रतिनिधि है तथा इद्र सूर्य का। हिलेब्राट के मत में भी वृत्र उस हिमानी का सकेत है जो शीत के कारण जल को बर्फ बना डालती है। परतु दो पत्थरो (मेघो) के बीच अग्नि (विद्युत्) उत्पन्न करनेवाले इद्र को (अश्मनोरन्तरग्निं जजान, २।१२।३) वृष्टि का देवता मानना ही उचित है।

सप्तसिधु प्रदेश को ही अनेक विद्वानो ने इद्र का उदयस्थान माना है, परतु इनकी कल्पना प्राचीनतर प्रतीत होती है। बोगाजकोई शिलालेख के अनुसार मितन्नी जाति के देवताओ मे वरुण, मित्र एव नासत्यो (अश्विन्) के साथ इद्र का भी उल्लेख मिलता है (१४०० ई० पू०)। ईरानी धर्म मे इद्र का स्थान है, परतु देवतारूप मे नही, दानवरूप मे। वेरेथ्रघ्न वहाँ विजय का देवता है, जो वस्तुत 'वृत्रघ्न' (वृत्र को मारनेवाला) का ही रूपातर है। इस कारण डा० कीथ इद्र को भारत-पारसीक-एकता के युग मे वर्तमान मानते हैं।

स०ग्र०—मैक्डानेल वैदिक माइथॉलॉजी, स्ट्रासबुर्ग, १८९८, कीथ रेलीजन ऐंड फिलॉसफी ऑव दि वेद, लदन, १९२५, हिलेब्राट वेदिश माइथॉलॉजी (तीन खड), जर्मनी, १९१२। [ब० उ०]

इंद्रजाल

जादू का खेल। कहा जाता है कि इसमे दर्शको को मत्रमुग्ध करके उनमे भ्राति उत्पन्न की जाती है। फिर जो ऐंद्रजालिक चाहता है वही दर्शको को दिखाई देता है। अपनी मत्र-माया से वह दर्शको के वास्ते दूसरा ही समार खडा कर देता है। मदारी भी बहुधा ऐसा ही काम दिखाता है, परतु उसकी क्रियाएँ हाथ की सफाई पर निर्भर रहती हैं और उसका क्रियाक्षेत्र परिमित तथा सकुचित होता है। इद्रजाल के दर्शक हजारो होते हैं और दृश्य का आकार प्रकार बहुत बडा होता है।

वर्षा का वैभव इद्र का जाल मालूम होता है। ऐंद्रजालिक भी छोटे पमाने पर कुछ क्षण के लिये ऐसे या इनसे मिलते जुलते दृश्य उत्पन्न कर देता है। शायद इसीलिये उसका खेल इद्रजाल कहलाता है।

प्राचीन समय मे ऐसे खेल राजाओ के सामने किए जाते थे। पचास साठ वर्ष पहले तक कुछ लोग ऐसे खेल करना जानते थे, परतु अब यह विद्या नष्ट सी हो चुकी है। कुछ सस्कृत नाटको और गाथाओ में इन खेलो का रोचक वर्णन मिलता है। जादूगर दर्शको के मन और कल्पनाओ को अपने अभीष्ट दृश्य पर केंद्रीभूत कर देता है। अपनी चेष्टाओ और माया से उनको मुग्ध कर देता है। जब उनकी मनोदशा और कल्पना केंद्रित हो जाती है तब वह उपयुक्त ध्वनि करता है। दर्शक प्रतीक्षा करने लगते हैं कि अमुक दृश्य आनेवाला है या अमुक घटना घटनवाली है। इसी क्षण वह ध्वनिसकेत और चेष्टा के योग से सूचना देता है कि दृश्य आ गया या घटना घट रही है। कुछ क्षण लोगो को वैसा ही दीख पडता है। तदनतर इद्रजाल समाप्त हो जाता है।

स०ग्र०—इद्रजाल, रत्नावली। [म० ला० श०]

इंद्रजौ

या इद्रयव एक फली के बीज का नाम है। सस्कृत, बँगला तथा गुजराती मे भी बीज का यही नाम है। परतु इस फली के पौधे को हिंदी मे कोरैया या कुडची, सस्कृत मे कुटज या कलिंग, बँगला और अग्रेजी मे कुडची तथा लैटिन मे होलेरहेना एटिडिसेटेरिका कहते हैं।

इसके पौधे ४ फुट से १० फुट तक ऊँचे तथा छाल आध इच तक मोटी होती है। पत्ते ४ इच से ८ इच तक लबे, शाखा पर आमने सामने लगते हैं। फूल गुच्छेदार, श्वेत रग के तथा फलियाँ १ से २ फुट तक लबी और चौथाई इच मोटी, दो दो एक साथ जुडी, लाल रग की होती हैं। इनके भीतर बीज कच्चे रहने पर हरे और पकने पर जौ के रग के होते हैं। इनकी आकृति भी बहुत कुछ जौ की सी होती है, परतु ये जौ से लगभग ड्योढे बडे होते हैं।

इस पौधे की दो जातियाँ हैं—काली और श्वेत। ऊपर जिस पौधे का वर्णन किया गया है वह काली कोरैया और उसके बीज कडवा इद्रजौ कहलाते हैं। दूसरे प्रकार के पौधे को लैटिन मे राइटिया टिक्टोरिया तथा उसके बीज को हिंदी मे मीठा इद्रजौ कहते हैं। काला पौधा समस्त भारत मे पाया जाता है।

काले पौधे की छाल, जड और बीज प्राचीन काल से अति उपयोगी ओषधि माने जाते हैं। छाल विशेष लाभदायक होती है। आयुर्वेदिक मतानुसार यह कडवी, शुष्क, गरम और कृमिनाशक तथा रक्तातिसार, आमातिसार इत्यादि अतिसारो मे बडी लाभदायक है। मरोड के दस्त के रोग मे, जिसमे रक्त भी जाता है, इसे आशीर्वादस्वरूप कहा है। बवासीर के खून को भी बद करती है। जूडी (मलेरिया), अँतरिया तथा मीयादी बुखार मे इसका सत्व, प्रमेह और कामला मे शहद के साथ इसका स्वरस तथा प्रदर मे इसका चूर्ण लोहभस्म के साथ देने का विधान है।

रासायनिक विश्लेषण से इसकी छाल मे कोनेसीन, कुर्चीन और कुर्चिसीन नामक तीन उपक्षार (ऐल्कलॉएड) पाए गए है, जिनका प्रयोग ऐलोपैथिक उपचार मे भी होता है।

आयुर्वेद के अनुसार इस पौधे की जड और बीज, अर्थात् इद्रजौ मे भी पूर्वोक्त गुण होते है। ये ग्राही और शीतल तथा आँतो की ऐसी व्याधि में, जिसमे रक्त गिरने के साथ ज्वर भी रहता है, मठे के साथ अति लाभदायक कहे गए हैं। स्तभन के साथ इनमे आँव के पाचन का भी गुण होता है।

इस जाति के श्वेत पौधे के फूलो में एक प्रकार की सुगध होती है जो काले पौधे के फूलो मे नही होती। श्वेत पौधे की छाल लाल रग लिए बादामी तथा चिकनी होती है। फलियो के अत मे बालो का गुच्छा सा होता है। यह पौधा ओषधि के काम मे नही आता। [भ० दा० व०]

उद्देश्य से की गई विभाजनसधियाँ थी, जिन्होने इग्लैंड को फ्रास से द्वितीय युद्ध करने के लिय बाध्य किया। विलियम के उपरात रानी एन (१७०२-१४) के शासन मे मार्लबरो की विजयो के कारण प्रसिद्ध स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध तथा १७१३ की उट्रैक्ट की सधि हुई। देश की प्रमुख घटनाएँ राजनीतिक दलगत सरकार की रचना तथा १७०७ के एकता कानून के द्वारा इग्लैंड और स्काटलैंड का एक राष्ट्र मे विलयन है।

स्टुअर्ट कालीन इग्लैंड की विशेपता व्यापारिक प्रसार, वेस्ट इडीज तथा उत्तरी अमरीका के उपनिवेशीकरण और भारत तथा अमरीका में व्यापारिक केंद्रो की स्थापना थी। व्यापार से धन में वृद्धि हुई और समुद्र में डच और फ्रासीसियो को परास्त कर ब्रिटेन जल का स्वामी वन गया। इसी काल हुई इग्लैंड के वैंक की स्थापना विशेप महत्व रखती है। सास्कृतिक और वौद्धिक उन्नति भी पर्याप्त मात्रा मे हुई। विख्यात व्यक्तियो में अग्रेजी क्राति तथा गृहयुद्ध के लेखक क्लेरेंडेन, कविता मे जान मिल्टन, महान् आलकारिक लेखको मे जान वन्यन, व्यग्यलेखको मे जान ड्राइडेन, दार्शनिको में जान लाक तथा गणितज्ञो एव भौतिकी दार्शनिको में आइजक न्यूटन आदि उल्लेखनीय है।

प्रारभिक हैनोवर शासक—जार्ज प्रथम (१७१४-२७) ने एक शातिपूर्ण युग का आरभ किया जो केवल १७१५ के स्काटलैंड के जैकोवस सवधी विद्रोह के कारण कुछ समय के लिये भग हुआ था। वैधानिक दृष्टिकोण से राजा के मत्रियो की वैठक मे समिलित न होन के कारण मन्त्रिमडल-(कविनट) प्रणाली के विकास की दृष्टि से इस शासन का महत्व है। पहले कोई प्रधान मत्री नही होता था, किंतु जव १७२१ ई० में वालपोल ने मत्रिपद का कायभार सँभाला, उसने अपनी सर्वोच्चता कैविनट मे प्रतीत करा दी और व्यावहारिक रीति से प्रथम प्रधान मत्री वना। वालपोल तथा उसके उत्तराधिकारियो के शासन मे भी ह्विग मन्त्रिमडल कार्यभार सँभाले रहा। १७०२ ई० में दक्षिणी सागर की ववूला नाम की व्यापारिक वरवादी घटित हुई। जार्ज द्वितीय (१७२७-६०) के भी शासन मे १७३६ तक शाति रही तथा १७४२ तक वालपोल मत्रिमडल चलता रहा। वालपोल गृह-समृद्धि तथा वैदेशिक शाति में आस्था रखता था। उसकी आर्थिक नीति का लक्ष्य व्यापार का प्रसार था। १७३६ ई० में स्पेन के अमरीकी उपनिवेशो मे व्यापारिक अधिकार के प्रश्न पर ब्रिटेन का स्पेन से युद्ध हुआ, तदुपरात मारिया थेरिसा के पक्ष मे फ्रास और प्रशा के विरुद्ध इग्लैंड को आस्ट्रिया-उत्तराधिकार-युद्ध मे प्रवेश करना पडा। १७४५ ई० मे अतिम स्टुअर्ट विद्रोह हुआ जो तत्क्षण दवा दिया गया। १७५६ ई० मे सप्तवर्षीय युद्ध फ्रास और ब्रिटेन मे छिडा जिसका सचालन चैथम के अर्ल विलियम पिट ने वडी कुशलता से किया। वेसेली के नेतृत्व मे मेथोडिस्ट चर्च का उदय और विकास इग्लैंड के धार्मिक इतिहास मे महत्वपूर्ण घटना है।

जार्ज तृतीय (१७६०-१८२०)—इसका शासन इग्लैंड के इतिहास के अत्यधिक घटनापूर्ण युगो मे से है। इसके प्रथम भाग में सप्तवर्षीय युद्ध का पेरिस की सधि (१७६३) द्वारा अत हुआ। कनाडा परइग्लैंड का अधिकार भी इसी वीच हुआ और साथ ही इसी काल की वे घटनाएँ है जिनका अत अमरीका के युद्ध तथा १७८३ में उसकी स्वाधीनता में हुआ। ग्रेट ब्रिटेन के नेतृत्व मे आयरलैंड को अधिनियमन की स्वाधीनता (१७८२) मिल गई। भारत मे वारेन हेस्टिंग्ज की अध्यक्षता में ब्रिटिश सत्ता सुदृढ हुई तथा आस्ट्रेलिया का उपनिवेशीकरण प्रारभ हुआ। आतरिक दृष्टि से जार्ज तृतीय ने राजा के विलुप्त विशेपाधिकारो को पुन जीवित करना चाहा तथा लार्ड नार्थ (१७७०-८२) के मन्त्रित्वकाल मे उस लक्ष्य की सिद्धि हुई। औद्योगिक क्राति के प्रमुख आविष्कार, जिन्होने शारीरिक श्रम के स्थान पर मशीन तथा जलतरण के स्थान पर भाप का इजन दिया, इसी युग की देन है। १७८३ ई० से १८०१ ई० तक विलियम (पुत्र) पिट का मन्त्रिकाल है जिसके प्रथम दस वर्ष शाति, आर्थिक सुधार तथा फ्रास की राज्यक्राति के प्रति ब्रिटेन के सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण के लिये उल्लेखनीय है। क्राति के युद्धो के १७९३ ई० में प्रारभ हो जाने तथा प्रथम राष्ट्रमडल गुट के उद्घाटन के कारण ब्रिटेन का फ्रास से युद्ध हुआ। क्राति के सिद्धातो से गृहव्यवस्था के आतकित हो जाने के कारण पिट की प्रतिक्रियावादी नीति तथा टोरी दल प्रभावशाली हुए। १८०० ई० मे एकता का आयरीय विधान पास किया गया।

नैपोलियन के युद्ध, जो व्यापारिक सघर्प, द्वीपीय युद्ध तथा वाटरलू के १८१५ के निर्णय से सवधित थे, उस शासन के अतिम भाग के है। सयुक्त राष्ट्र (अमरीका) से १८१२ का युद्ध नैपोलियन से इग्लैंड के सघर्षो का परिणाम था। इसके उपरात यूरोप की पुनर्रचना तथा यूरोपीय सगठन का प्रादुर्भाव हुआ जो यूरोपीय कनसर्ट के नाम से विख्यात है और जिसमे इग्लैंड का प्रमुख भाग रहा। गृह की दृष्टि से यह व्यापारिक नाश, आर्थिक अशाति और तज्जन्य हिंसा का युग था। औद्योगिक क्राति ने लवे डग भरे थे तथा स्टीमर और रेलवे इजनो के आविष्कार किए थे। मानवतावादी प्रगति का अनुमान विलवर फोर्स के दासता-उन्मूलन-आदोलन, हावर्ड के जल सवधी सुधार तथा १८०२ के प्रथम कारखाना कानून से लगाया जा सकता है। जार्ज चतुर्थ (१८२०-३०) तथा विलियम चतुर्थ (१८३०-३७) के शासन में गृह की दुर्व्यवस्था जारी रही और अनेक दगो को उसने जन्म दिया। यह सुधारो का युग था, जिसमें १८२९ का आयरलैंड के कैथोलिको के त्राण का कानून, इसके व्यापारिक सुधार, पील के दडविधान के सुधार, १८३२ का प्रथम सुधार कानून, १८३३ के फैक्टरी तथा शिक्षासुधार तथा १८३५ का स्थानीय कारपोरेशन कानून उल्लेखनीय है। आक्सफोर्ड आदोलन का जन्म १८३३ ई० में हुआ। वैदेशिक क्षेत्र में, कैनिंग द्वारा मैटेर्निक की अनुदार नीति का विरोध, ग्रीक स्वाधीनता सग्राम, फ्रास की १८३० की क्राति तथा पामस्टन काल का उदय तव की विशेप घटनाएँ है।

विक्टोरिया काल—रानी विक्टोरिया का दीर्घ शासन (१८३७-१९०१) लार्ड मेलवोर्न के सरक्षण में प्रारभ हुआ। उसने उसे वैधानिक सिद्धातो की शिक्षा दी तथा उसका विवाह सैक्सकोवर्ग के अलवर्ट से करा दिया जो उसका सलाहकार वना। उसके प्रारभिक शासन की प्रमुख घटनाएँ चार्टिस्ट आदोलन, अनाज कानून का १८४६ ई० मे विघटन, १८४४ का वैंक चार्टर कानून तथा १८४७ का फैक्टरी कानून है। पील ने अनुदार दल का पुन सघटन किया और दल के दृष्टिकोण को और उदार किया। आयरलैंड में ओ' कानल के नेतृत्व मे विघटन आदोलन छिडा तथा नवयुवक आयरलैंड दल की रचना से इस आदोलन को और भी प्रश्रय मिला तथा १८४८ का विद्रोह हुआ। इसी युग में १८३७ का कनाडा विद्रोह तथा कनाडा उपनिवेश में उत्तरदायी शासन का जन्म हुआ। न्यूज़ीलैंड साम्राज्य में मिला लिया गया और आस्ट्रेलिया का विकास हुआ। चीनी युद्ध (१८४०-४२) के उपरात हागकाग की प्राप्ति हुई और भारतीय साम्राज्य का दृढीकरण हुआ। विक्टोरिया के शासन के मध्य १८६५ ई० तक गृहनीति में पामर्स्टन का व्यक्तित्व प्रधान रूप से कर्मण्य रहा। पश्चात् डिजरेली और ग्लड्स्टन की राजनीतिक प्रतिस्पर्धा का युग आया। गृहशासन की दिशा मे १८६७ का द्वितीय सुधार कानून, १८७० का शिक्षा कानून, १८७३ का न्यायविधान, १८६७ और ७८ के फैक्टरी कानून वने तथा ट्रेड यूनियन का विकास हुआ। आयरलैंड की धर्मव्यवस्था पुन स्थापित हुई तथा वहाँ की भूव्यवस्था का विधान पास हुआ। १८६७ ई० मे कनाडा को डोमिनियन तथा विक्टोरिया को भारत की सम्राज्ञी घोपित किया गया। वैदेशिक क्षेत्र में जो घटनाएँ घटी उनमे निम्नलिखित उल्लेखनीय है १८५४ ई० का रूस से क्रीमिया के लिये युद्ध, १८५७ का भारतीय विद्रोह, इटली की स्वतत्रताप्राप्ति, १८५७ का द्वितीय चीनी युद्ध, अमेरिका का गृहयुद्ध (१८६१–६५) तथा वे घटनाएँ जो १८७८ की वर्लिन काग्रेस की जन्मदात्री थी।

विक्टोरिया के शासन के अत मे तृतीय सुधार कानून (१८८४), पुनर्विभाजन कानून (१८८५) तथा स्वायत्त शासन कानून (१८८८) के निर्माण से जनतत्र मे प्रभूत प्रगति हुई। उदार दल के विघटन (१८८६) ने शत्रुओ को शासन की दीर्घ अवधि दे दी थी। १९०० ई० में श्रमदान की स्थापना हुई। आयरलैंड की समस्या का अतिम निदान ढूँढने के उद्देश्य से प्रस्तुत ग्लैड्स्टन के १८८६ और १८९३ ई० के होमरूल प्रस्ताव असफल रहे। १८७८ के वाद ब्रिटेन क्रमश द्वितीय अफगान युद्ध (१८७८-८०), प्रथम वोअर युद्ध (१८८१) तथा मिस्र पर अधिकार करने मे लगा रहा। आस्ट्रेलिया कामनवेल्थ की स्थापना १९०० ई० मे हुई। वैदेशिक मामले में यह गौरवशाली तटस्थता का युग था।

बनते है तथा तभी दिखाई पडते हैं जब सूर्य स्वय बादलो से छिपा रहता है। इद्रधनुष की क्रिया को सर्वप्रथम दे कार्ते नामक फ्रेच वैज्ञानिक ने उपर्युक्त सिद्धातो द्वारा समझाया था। इनके अतिरिक्त कभी कभी प्रथम इद्रधनुष के नीचे की ओर अनेक अन्य रगीन वृत्त भी दिखाई देते है। ये वास्तविक इद्रधनुष नही होते। ये जल की बूंदो से ही बनते है, किंतु इनका कारण विवर्तन (डिफ्रैक्शन) होता है। इनमे विभिन्न रगो के वृत्तो की चौडाई जल की बूंदो के बडी या छोटी होने पर निर्भर रहती है। [अ० मो०]

इंद्रप्रस्थ वर्तमान दिल्ली के समीप इदरपत गाँव का प्राचीन नाम। यह नगर शक्रप्रस्थ, शक्रपुरी, शतक्रतुप्रस्थ तथा खाडवप्रस्थ आदि अन्य नामो से भी अभिहित किया गया है। इसके उदय और अभ्युदय का रोचक वर्णन महाभारत (आदिपर्व, २०७ अ०) के अनेक स्थलो पर किया गया है। द्रौपदी को स्वयवर मे जीतकर जब पाडव हस्तिनापुर मे आने लगे तब धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रो के साथ उनके भावी वैमनस्य तथा विद्रोह की आशका से विदुर के हाथो युधिष्ठिर के पास यह प्रस्ताव भेजा कि वह इद्रवन या खाडववन को साफ कर वही अपनी राजधानी बनाएँ। युधिष्ठिर ने इस प्रस्ताव को मानकर इद्रवन को जलाकर यह नगर बसाया। महाभारत के अनुसार मय असुर ने चौदह महीनो तक परिश्रम कर यही पर उस विचित्र लबी चौडी सभा का निर्माण किया था जिसमे दुर्योधन को जल मे स्थल का और स्थल मे जल का भ्रम हुआ था। इस सभा के चारो ओर का घेरा दस सहस्र किस्कु (८,७५० गज) था। ऐसी रूपसपन्न सभा न तो देवो की सुधर्मा ही थी और न अधक वृष्णियो की सभा ही। इसमे आठ हजार किंकर या गुह्यक चारो ओर उत्कीर्ण थे जो अपने मस्तको पर उसे ऊपर उठाए हुए प्रतीत होते थे। राजा युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ का विधान इसी नगर मे किया (महाभारत, सभापर्व, ३०-४२ अध्याय) जिसमे कौरवो ने भी अपना सहयोग दिया था। एसी समृद्ध नगरी पर पाडवो को गर्व तथा प्रेम होना स्वाभाविक था और इसीलिये उन लोगो ने दुर्योधन से अपने लिये जिन पाँच गाँवो को माँगा उनमे इद्रप्रस्थ ही प्रथम नगर था

इद्रप्रस्थ वृकप्रस्थ जयत वारणावतम्।
देहि मे चतुरो ग्रामान् पचम किंचिदेव तु॥

आज इस महनीय नगरी की राजनीतिक गरिमा फिर से दिल्ली और नई दिल्ली की भारतीय राजधानी मे सचित हुई है। पद्मपुराण ने इद्रप्रस्थ मे यमुना को अतीव पवित्र तथा पुण्यवती माना है

यमुना सर्वसुलभा त्रिपु स्थानेषु दुर्लभा।
इद्रप्रस्थे प्रयागे च सागरस्य च सगमे॥

यहाँ यमुना के किनारे 'निगमोद्बोध' नामक तीर्थ विशेष प्रसिद्ध था। इस नगर की स्थिति दिल्ली से दो मील दक्षिण की ओर उस स्थान पर थी जहाँ आज हुमायूँ द्वारा बनवाया 'पुराना किला' खडा है।

स० ग्र०--पारसनीसकृत दिल्ली अथवा इद्रप्रस्थ (मराठी)। [ब० उ०]

इंद्राणी देवराज इद्र की पत्नी जिसके दूसरे नाम शची और पौलोमी भी हैं। ऋग्वेद की देवियो मे वह प्रधान है, इद्र को शक्ति प्रदान करनेवाली, स्वय अनेक ऋचाओ की ऋषि। शालीन पत्नी की वह मर्यादा और आदर्श है और गृह की सीमाओ मे उसकी अधिष्ठात्री। उस क्षेत्र मे वह विजयिनी और सर्वस्वामिनी है और अपनी शक्ति की घोषणा वह ऋग्वेद के मत्र (१०,१५९,२) मे इस प्रकार करती है--- अह केतुरह मूर्धा अहमुग्राविवाचिनी--मै ही विजयिनी ध्वजा हूँ, मै ही ऊँचाई की चोटी हूँ, मै ही अनुल्लघनीय शासन करनेवाली हूँ। ऋग्वेद के एक अत्यत सुदर और शक्तिम सूक्त (१०,१५९) मे वह कहती है कि 'मै असपत्ना हूँ, सपत्नियो का नाश करनेवाली हूँ, उनकी नश्यमान शालीनता के लिय ग्रहणस्वरूप हूँ--उन सपत्नियो के लिये जिन्होने मुझे कभी ग्रसना चाहा था' उसी सूक्त मे वह कहती है कि मेरे पुत्र शत्रुहता है और मेरी कन्या महती है--"मम पुत्रा शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्"। [भ० श० उ०]

इंद्रायन का नाम बँगला तथा गुजराती मे भी यही है। सस्कृत मे इसे चित्रफल, इद्रवारुणी, मराठी मे कडु इद्रावण, अग्रेजी मे कॉलोसिथ या बिटर ऐपल तथा लैटिन मे सिट्रलस कॉलोसिथस कहते है। अन्य दो वनस्पतियो को भी इद्रायन कहते है। उनका वर्णन भी नीचे किया गया है।

इद्रायन की बेल मध्य, दक्षिण तथा पश्चिमोत्तर भारत, अरब, पश्चिम एशिया, अफ्रीका के उच्च भागो तथा भूमध्यसागर के देशो मे भी पाई जाती है। इसके पत्ते तरबूज के पत्तो के समान, फूल नर और मादा दो प्रकार के तथा फल नारगी के समान २ इच से ३ इच तक व्यास के होते है। ये फल कच्ची अवस्था मे हरे, पश्चात् पीले हो जाते हैं और उनपर बहुत सी श्वेत-धारियाँ होती हैं। इसके बीज भूरे, चिकने, चमकदार, लबे, गोल तथा चिपटे होते हैं। इस बेल का प्रत्येक भाग कडवा होता है।

इसके फल के गूदे को सुखाकर ओषधि के काम मे लाते है। आयुर्वेद मे इसे शीतल, रेचक और गुल्म, पित्त, उदररोग, कफ, कुष्ठ तथा ज्वर को दूर करनेवाला कहा गया है। यह जलोदर, पीलिया और मूत्र सबधी व्याधियो मे विशेष लाभकारी तथा धवलरोग (श्वेतकुष्ठ), खाँसी, मदाग्नि, कोष्ठबद्धता, रक्ताल्पता और श्लीपद मे भी उपयोगी कहा गया है।

यूनानी मतानुसार यह सूजन को उतारनेवाला, वायुनाशक तथा स्नायु सबधी रोगो मे, जैसे लकवा, मिरगी, अधकपारी, विस्मृति इत्यादि मे लाभदायक है। यह तीव्र विरेचक तथा मरोड उत्पन्न करनेवाला है, इसलिये दुर्बल व्यक्ति को इसे न देना चाहिए। इसकी मात्रा डेढ से ढाई माशे तक की होती है। इसका चूर्ण तीन माशे तक बबूल की गोद, खुरासानी अजवायन के सत्व इत्यादि के साथ, जो इसकी तीव्रता को घटा देते है, गोलियो के रूप मे दिया जाता है।

रासायनिक विश्लेषण से इसमे कुछ उपक्षार (ऐल्कलॉइड) तथा कॉलोसिथिन नामक एक ग्लूकोसाइड, जो इस ओषधि का मुख्य तत्व है, पाए गए है।

इद्रायन की बेल

ब्रिटिश मटेरिया मेडिका के अनुसार इससे ज्वर उतरता है। इसका उपयोग तीव कोष्ठबद्धता, जलोदर, ऋतुस्राव तथा गर्भस्राव मे भी किया जा सकता है।

लाल इद्रायन का लैटिन नाम ट्रिकोसेथस पामाटा है। इसे सस्कृत तथा बँगला मे महाकाल कहते है। इसकी बेल बहुत लबी तथा पत्ते दो से छ इच के व्यास के, त्रिकोण से सप्तकोण तक होते है। फूल नर और मादा तथा श्वेत रग के, फल कच्ची अवस्था मे नारगी रग के, किंतु पकने पर लाल तथा १० नारगी धारियोवाले होते है। फल का गूदा हरापन लिए काला होता है तथा फल मे बहुत से बीज होते हैं। इस पौधे की जड बहुत गहराई तक जाती है और इसमे गाँठे होती है।

रासायनिक विश्लेषण से इसके फल के गूदे मे कॉलोसिथिन से मिलता जुलता ट्रिकोसैथिन नामक पदार्थ पाया गया है। लाल इद्रायन भी तीव्र विरेचक है। आयुर्वेद मे इसे श्वास और फुफ्फुस के रोगो मे लाभदायक कहा गया है।

जगली या छोटी इद्रायन को लैटिन मे क्यूक्युमिस ट्रिगोनस कहते है। इसकी बेल और फल पूर्वोक्त दोनो इद्रायनो से छोटे होते है।

इसके फल मे भी कॉलोसिथिन से मिलते जुलते तत्व होते है। इसका हरा फल स्वाद मे कडवा, अग्निवर्धक, स्वाद को सुधारनेवाला तथा कफ और पित्त के दोषो को दूर करनेवाला बताया गया है। [भ० दा० व०]

इंद्रायुध यह कन्नौज मे हर्ष और यशोवर्मन् के बाद होनेवाले आयुध-कुल का राजा था। जैन 'हरिवश' से प्रमाणित है कि इद्रायुध ७८३-८४ ई० मे राज कर रहा था। सभवत उसी के शासनकाल मे कश्मीर के राजा जयापीड विजयादित्य ने कन्नौज पर चढाई कर उसे जीता था। इद्रायुध को अनेक चोटे सहनी पडी और विजयादित्य के लौटते ही उसे ध्रुव राष्ट्रकूट का सामना करना पडा जिसने उसे परास्त कर अपने

यहाँ नही पा सके है। इस तरह यह कहा जा सकता है कि यहाँ मानव जाति की किसी शाखा के स्वतत्र विकास की सभावना नही थी और यहाँ के प्राचीनतम निवासियो के पूर्वज ससार के किसी अन्य भाग से आकर ही यहाँ वसे होगे।

विशेषज्ञो का मत है कि मानव इस भाग में वेरिंग स्ट्रेट के मार्ग से एशिया से आया। शारीरिक विशेषताओ की दृष्टि से इडियन असदिग्ध रूप से एशिया की मगोलायड प्रजाति की एक शाखा माने जा सकते है। एशिया से अलास्का के मार्ग द्वारा इडियनो के जो पूर्वज अमरीका आए थे निश्चित रूप से वे आधुनिक मानव अथवा 'होमो सेपियस' के स्तर तक विकसित हो चुके थे। वे अपने साथ अपनी मूल एशियाई सस्कृति के अनेक तत्व भी अवश्य लाए होगे। वे सभवत अग्नि के उपयोग से परिचित थे और उन्होने प्रस्तरयुगीन सस्कृति के अस्त्र शस्त्रो और उपकरणो का निर्माण और उपयोग भी सीख लिया था। मार्ग मे जिस कठिन शीत का सामना करते हुए वे इस भूमि पर आए उससे सहज ही यह अनुमान भी किया जा सकता है कि वे किसी न किसी प्रकार के परिधान से अपने शरीर को अवश्य ढकते होगे और सभवत अस्थायी गृह-निर्माण-कला से भी परिचित रहे होगे। यह भी कहा जा सकता है कि उन्होने उस समय तक भाषा का कोई प्राथमिक रूप विकसित कर लिया होगा।

एशिया से कई हजार वर्षो तक अलग अलग दलो मे मानवसमूह अमरीका की भूमि पर आते रहे। कई सौ वर्षो तक इन समूहो को बर्फ से ढके स्थलमार्ग से ही आना पडा, परतु यह सभव है कि वाद मे आनेवाले समूह आशिक रूप से नावो में भी यात्रा कर सके हो। प्राचीन इडियनो के प्राप्त अवशेषो के अध्ययन से यह धारणा निश्चित की गई है कि जो दल पहले यहाँ आए उनमें आस्ट्रेलायड-मगोल प्रजाति की शारीरिक विशेषताएँ अधिक थी और वाद मे आनेवाले समूहो मे मगोलायड प्रजाति के तत्वो की प्रधानता थी। कालातर मे इन समूहो के पारस्परिक मिश्रण से इडियनो मे मगोलायड प्रजाति की शारीरिक विशेषताएँ प्रमुख हो गई। ये आदि-इडियन अपने अपने साथ नव-प्रस्तर-युग के पहले की सस्कृतियो के कुछ तत्व इस भूमि पर लाए। क्रोवर ने उनकी मौलिक सस्कृति की पुनर्रचना का प्रयत्न करते हुए उन सस्कृति तत्वो की सूची बनाई है जो सभवत आदि-इडियनो के साथ अमरीका आए थे। दबाव द्वारा या घिसकर बनाए हुए पत्थर के औजार, पालिश किए हुए हड्डी और सीग के उपकरण, आग का उपयोग, जाल और टोकरे बनाने की कला, धनुप और भाला फेकने के यत्र और पालतू कुत्ते सभवत इडियनो की मूल सस्कृति के मुख्य तत्व माने जा सकते हैं।

एशिया से अमरीका आकर इडियनो के पूर्वज अपनी मूल एशियाई शाखा से एकदम अलग हो गए अथवा उन्होने उससे किसी प्रकार का सवध बनाए रखा, इस विषय पर विद्वानो मे मतभेद है। इस प्रकार के सवधो को बनाए रखने मे जो भौतिक कठिनाइयाँ थी उनके आधार पर सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि यदि इन भूभागो मे सवध था भी तो वह अपने विस्तार और प्रभाव मे अत्यत सीमित रहा होगा। कालातर मे सास्कृतिक विकास की जो दिशाएँ इन समूहो ने अपनाई वे वाह्य सस्कृतियो से प्रभावित नही हुई। नव-प्रस्तर-युग की सस्कृति का विकास इन समूहो ने स्वतत्र रूप से किया। उन्होने अल्पाका, लामा और टर्की आदि नए प्राणियो को पालतू बनाया। साथ ही, मक्का, कोको, मेनियोक या कसावा, तबाकू और कई प्रकार की सेमो आदि वनस्पतियो की खेती उन्होने पहले पहल आरभ की। यह आश्चर्य का विपय है कि नव-प्रस्तर-युगीन माया इडियनो ने ऐसे अनेक सस्कृतितत्वो का आविष्कार कर लिया जो यूरोप तथा ससार के अन्य भागो में ताम्र-कास्य-युग की अपेक्षाकृत विकसित सस्कृतियो मे आविष्कृत हुए। धातुयुग इस भाग में देर से आया, परतु काँसे का उपयोग करने के बहुत पहले ही इज़्टेक और माया इडियन सोने और चाँदी को गलाने की कला सीख चुके थे। लौह सस्कृति इन समूहो मे पश्चिम के प्रभाव से आई।

इडियन सस्कृतियो की समताओ और भिन्नताओ के आधार पर नृतत्ववेत्ताओ ने अमरीका को नौ सस्कृतिक्षेत्रो में विभाजित किया है। यहाँ इन सस्कृतिक्षेत्रो मे मुख्य समूहो की सास्कृतिक विशेषताओ की ओर सकेत मात्र ही दिया जायगा।

(१) **आर्कटिक क्षेत्र**--वरफ से ढके इस क्षेत्र मे एस्किमो रहते है। शीतकाल मे वे वरफ को काटकर विशेष रूप से बनाए गए घरो मे रहते हैं। इन घरो को इग्लू कहते है। गरमी की ऋतु मे वे थोडे समय के लिये चमडे के तवुओ मे रह सकते है। अधिकाशत वे समुद्री स्तनपायी प्राणियो और मछलियो का मास खाते है, ग्रीष्मकाल मे उन्हे ताजे पानी की मछलियाँ भी मिल जाती है। उनका सामाजिक सगठन सरल है। एस्किमो जाति अनेक छोटे छोटे स्वतत्र समूहो मे विभाजित है। प्रत्येक समूह का एक प्रधान होता है, किंतु वह अधिक शक्तिशाली नही होता। सरल सामाजिक सगठनवाले इन समूहो का धार्मिक सगठन वडा जटिल है। व्यक्तियो की अपनी दैवी रक्षक शक्तियाँ होती है। व्यक्ति और अदृश्य जगत् की शक्तियो में मध्यस्थता का काम शामन करते हैं। सामाजिक वर्जनाओ के उल्लघन के प्रायश्चित्त के लिये अपराध की सार्वजनिक स्वीकृति आवश्यक होती है। उनकी भौतिक सस्कृति के मुख्य तत्व है, चमडे की नावे, धनुप, हार्पून, कुत्तो द्वारा खीची जानेवाली स्लेज गाडियाँ, वरफ काटने के चाकू और चमडे के वस्त्र। वे हाथीदाँत को कोरकर छोटी छोटी मूर्तियाँ बनाते हैं।

(२) **उत्तर-पश्चिम तट**--इस क्षेत्र के मुख्य समूह है उत्तर में लिंजित, हैदा और सिमशियन, मध्य भाग मे क्वाकिउट्ल और बेल्ला-कूला तथा दक्षिण मे सालिश नूटका चिनूक। उनकी जीविका का अधिकाश समुद्रो से खाद्यप्राप्ति के विभिन्न साधनो द्वारा उपलब्ध किया जाता है। वनो में शिकार से और फलो के सकलन से भी उन्हे कुछ भोजन की प्राप्ति होती है। वे वर्गाकार मकानो मे रहते है जो लकडी के तख्तो से वनाए जाते है। उनके सामाजिक सगठन मे श्रेणीभेद का बडा महत्व हे। उनके तीन प्रमुख वर्ग हैं उच्च कुलीन श्रेणी, सामान्य श्रेणी और दास श्रेणी। उनमे पाटलेन नामक प्रथा प्रचलित है जिसमे सामाजिक समान बढाने के लिये सपत्ति का अपव्यय अथवा नाश सार्वजनिक रूप से किया जाता है। इन समूहो में परिवारो की अपनी दैवी रक्षक शक्तियाँ होती हैं। आवश्यक धार्मिक नृत्य के रूप मे पौराणिक कथाओ को वे नाट्य के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। लकडी की खुदाई का काम उनकी भौतिक सस्कृति की विशेषता है। वे मिट्टी के वर्तन नही वनाते।

(३) **केलिफोर्निया**--इस क्षेत्र में युरोक, करोक, हूपा, शास्ता, पोमो, मिवोक, मोनो, सेरेनो आदि समूह रहते हैं। उत्तर मे उनके मकान लकडी के तख्तो से वनाए जाते है, दक्षिण में घरो के रूप मे अधिक विविधता रहती है। खाद्य के लिये ये समूह अन्न पर अधिक अवलवित है, शिकार और मछली पर कम। उनमे आनुवशिक प्रधान होते है, परतु समूह की शासनव्यवस्था सशक्त नही होती। उत्तर में श्रेणी और स्थितिभेद की भावना प्रबल है, दक्षिण मे नही। उनमे उच्च देव की कल्पना पाई जाती है। उत्तरी भाग में लकडी पर खुदाई होती है और मध्य तथा दक्षिणी भाग मे टोकरे बनाए जाते हैं।

(४) **मेकेंजी-युकोन क्षेत्र**--यहाँ के मुख्य समूह है कोहोटाना, कुटचिन, यलोनाइफ डोगरिब, स्लेव, केरियर, सर्सी आदि। ये केरिबाऊ, जगल के छोटे जानवरो, ताजे पानी की मछलियो और जगली फलो का उपयोग खाद्य के रूप में करते है। इनके मकान वायु अवरोधक छडियो मात्र से लेकर तख्तो और वृक्षो के तनो तक से बने होते हैं। पश्चिमी भाग में उनका सामाजिक सगठन शक्तिहीन गोत्रविभाजन और सामाजिक श्रेणियो पर आश्रित रहता हे, पूर्व मे उभयपक्षीय परिवार पर। राजकीय सगठन अधिक शक्तिशाली नही है। धर्म के क्षेत्र मे व्यक्तिगत दैवी रक्षक शक्तियो मे विश्वास तथा शामन लोगो का अस्तित्व पाया जाता है। वृक्षो की छाल का उपयोग इन समूहो की सस्कृति मे मिलता है। इस सामग्री से छोटी छोटी नावे और वर्तन आदि वनाए जाते है। वे चर्मवस्त्रो का प्रयोग करते है। उनमें कला का कोई विशेष रूप विकसित नही हुआ।

(५) **वेसिन-प्लेटो क्षेत्र**--इस क्षेत्र की सस्कृतियो को दो मुख्य भागो में विभाजित किया जा सकता है। वेसिन क्षेत्र के मुख्य समूह हैं--शोशोन, गोशियूट, पाइयूट और पेविओस्टो। कोलविया पठार पर थामसन, शुरावेय, फ्लैटहेड, नेज़-पर्से और उत्तरी शोशान समूह रहते है। दोनो भागो में मरुस्थली सस्कृति के तत्वो का प्राधान्य है। अर्थव्यवस्था सेकलम और

गए। लखनऊ के जीवन मे भोग और विलास की जो भावनाएँ उत्पन्न हुई थी उनका प्रभाव उस समय की सारी कविताओ पर देखा जा सकता है।

जब इशा की ख्याति बहुत बढी तो उन्हे नवाब सआदत अली खाँ ने अपने यहाँ बुला लिया। पहले तो उनका बहुत आदर समान हुआ, परतु बाद में दरबारी जीवन की बाधाओ ने उन्हें परास्त कर दिया। नवाब उनसे और वह नवाब से घबराने लगे। इसी बीच इशा का जवान पुत्र मर गया। ऐसी बातो ने एकत्र होकर उनको पागल बना दिया। वह जीवन मे जितना हँसते हँसाते थे, अतिम अवस्था मे उतने ही दु खी रहे।

इशा ने उर्दू फारसी गद्य और पद्य मे बहुत सी रचनाएँ छोडी है जिनमे से निम्नलिखित प्रसिद्ध हैं और प्रकाशित हो चुकी हैं 'दरियाए लताफत', फारसी भाषा मे भाषाविज्ञान और उर्दू व्याकरण, अलकार और काव्यशास्त्र पर एक महत्वपूर्ण रचना जिसका उर्दू रूपातर प्रकाशित हो चुका है, 'रानी केतकी और कुँवर उदयभान की कहानी' (शुद्ध हिंदी मे गद्य रचना), 'सिलके गोहर' एक कथा गद्य मे है जिसमे उर्दू फारसी के उन अक्षरो का प्रयोग नही किया गया है जिनपर बिंदी होती है। ऐसी कई रचनाएँ पद्य में भी है। 'लतायफुस्सआदत' मे वे हास्यजनक चुटकुले है जो इशा ने सआदतअली खाँ के दरबार मे कहे। 'कुलयाते इशा' इशा की फारसी और उर्दू कविताओ का सग्रह।

स०ग्रं०—फरहतुल्लाह बेग इशा, मिर्जा मुहम्मद असकरी कलामे इशा, आमिना खातून तहकीकी नवादिर, आमिना खातून लतायफुस्सआदत, मुहम्मद हुसेन 'आजाद' आबेहयात, कुदरतुल्लाह कासिम मज़मूबे नस्र। [सै० ए० हु०]

इंसब्रुक

आस्ट्रिया के टिरोल प्रदेश का एक रमणीक नगर है जो ईन नदी की घाटी मे आर्लबुर्ग तथा ब्रेनर रेलवे मार्गो के सगम पर स्थित है। यह एक बडे पर्वतीय दर्रे के मुख पर विकसित होनेवाले नगर का श्रेष्ठतम उदाहरण है। यहाँ एक हवाई अड्डा भी है। इसब्रुक मे सौदर्य की एक अलौकिक झाँकी मिलती है। इसके उत्तर मे नार्ड केटिल नामक ७,००० फुट ऊँची चोटी है जिसकी पुष्पाच्छादित गोद मे नगर की छटा देखते ही बनती है। अतएव इसब्रुक बडा ही आकर्षक क्रीडाकेद्र बन गया है जहाँ देश देशातर के लोग आमोद प्रमोद के हेतु एकत्र होते हैं। भ्रमणकेंद्र होने के नाते यह एक सास्कृतिक तथा औद्योगिक केंद्र भी बन गया है। वियना की भाँति यहाँ भी विदेशी दूतावास हैं। आज यह आस्ट्रिया का चौथा बडा नगर है। सन् १९५१ मे इसकी जनसख्या ९५,०५५ थी। [लि० रा० सिं०]

इंस्टिट्यूशन ऑव इंजीनियर्स (इंडिया)

भारत मे इजीनियरी विज्ञान के विकास के लिये एक सस्था की आवश्यकता समझकर ३ जनवरी, १९१९ को प्रस्तावित 'भारतीय इजीनियर समाज' (इडियन सोसाइटी ऑव इजीनियर्स) के लिये सर टामस हालैड की अध्यक्षता मे कलकत्ते मे एक सघटन समिति बनाई गई। सन् १९१३ के भारतीय कपनी अधिनियम के अतर्गत १३ सितबर, १९२० को इस समाज का जन्म इस्टिटयूशन ऑव इजीनियर्स (इडिया) (भारतीय इजीनियर सस्था) के नए नाम से मद्रास मे हुआ। फिर २३ फरवरी, १९२१ को इसका उद्घाटन बडे समारोह से कलकत्ता नगर मे भारत के वाइसराय लॉर्ड चेम्सफोर्ड द्वारा किया गया। नवजात सस्था को सुदृढ बनाने का काम धीरे धीरे होता रहा।

तदनतर स्थानीय सस्थाओ का जन्म होने लगा। सन् १९२० मे जहाँ इस सस्था की सदस्यसख्या केवल १३८ थी वहाँ सन् १९२६ मे हजार पार कर गई। सन् १९२१ से सस्था ने एक त्रैमासिक पत्रिका निकालना आरभ किया और जून, १९२३ से एक त्रैमासिक बुलेटिन (विवरणपत्रिका) भी उसके साथ निकलने लगा। सन् १९२८ से इस सस्था ने अपनी ऐसोशिएट मेबरशिप (सहयोगी सदस्यता) के लिये परीक्षाएँ लेनी आरभ की, जिनका स्तर सरकार ने इजीनियरी कालेज की बी०एस-सी०डिग्री के बराबर माना।

१९ दिसबर, १९३० को तत्कालीन वाइसराय लार्ड इरविन ने इसके अपने निजी भवन का शिलान्यास ८, गोखले मार्ग, कलकत्ता मे किया। १ जनवरी, १९३२ को सस्था का कार्यालय नई इमारत मे चला आया। ९ सितबर, १९३५ को सम्राट् पचम जार्ज ने इसके सबध मे एक राजकीय घोषणापत्र स्वीकार किया। घोषणापत्र के द्वितीय अनुच्छेद मे इस सस्था के कर्तव्य सक्षेप मे इस प्रकार बताए गए है

"जिन लक्ष्यो और उद्देश्यो की पूर्ति के लिये भारतीय इजीनियर सस्था का सघटन किया जा रहा है, वे हैं इजीनियरी तथा इजीनियरी विज्ञान के सामान्य विकास को बढाना, भारत मे उनको कार्यान्वित करना तथा इस सस्था से सबद्ध व्यक्तियो एव सदस्यो को इजीनियरी सबधी विषयो पर सूचना प्राप्त करने एव विचारो का आदान प्रदान करने मे सुविधाएँ देना।"

इस सस्था की शाखाएँ धीरे धीरे देश भर मे फैलने लगी। समय समय पर मैसूर, हैदराबाद, लदन, पजाब और बबई मे इसके केंद्र खुले। मई, १९४३ से एसोशिएट मेबरशिप की परीक्षाएँ वर्ष मे दो बार ली जाने लगी। प्राविधिक कार्यो के लिये सन् १९४४ मे इसके चार बडे विभाग स्थापित किए गए। सिविल, मिकैनिकल (यात्रिक), इलेक्ट्रिकल (वैद्युत) और जेनरल (सामान्य) इजीनियरी। प्रत्येक विभाग के लिये अलग अलग अध्यक्ष तीन वर्ष की अवधि के लिये निर्वाचित किए जाने लगे।

सन् १९४५ मे कलकत्ते में इसकी रजत जयती मनाई गई। सन् १९४७ मे बिहार, मध्यप्रात, सिंध, बलूचिस्तान और तिरुवाकुर, इन चार स्थानो मे नए केंद्र खुले। भारत के राज्यपुनर्गठन के पश्चात् अब प्रत्येक राज्य मे एक केंद्र खोला जा रहा है।

प्रशासन—सस्था का प्रशासन एक परिषद् करती है, जिसका प्रधान सस्था का अध्यक्ष होता है। परिषद् की सहायता के लिये तीन मुख्य स्थायी समितियाँ हैं (क) वित्त समिति (इसी के साथ १९५२ मे प्रशासन समिति समिलित कर दी गई), (ख) आवेदनपत्र समिति और (ग) परीक्षा समिति। प्रधान कार्यालय का प्रशासन सचिव करता है। सचिव ही इस सस्था का वरिष्ठ अधिकारी होता है।

सदस्यता—सदस्य मुख्यत दो प्रकार के होते हैं (क) कॉर्पोरेट (आगिक) और (ख) नॉन-कॉर्पोरेट (निरागिक)। पहले मे सदस्यो एव सहयोगी सदस्यो की गणना की जाती है। द्वितीय प्रकार के सदस्यो मे आदरणीय सदस्य, बधु (कपनियन), स्नातक, छात्र, सबद्ध सदस्य और सहायक (सब्स्क्राइबर) की गणना होती है। प्रथम प्रकार के सदस्य राजकीय घोषणापत्र के अनुसार 'चार्टर्ड इजीनियर' सज्ञा के अधिकारी है। प्रथम प्रकार की सदस्यता के लिये आवेदक की योग्यता मुख्यत निम्नलिखित बातो पर स्थिर की जाती है समुचित सामान्य एव इजीनियरी शिक्षा का प्रमाण, इजीनियर रूप मे समुचित व्यावहारिक प्रशिक्षण, एक ऐसे पद पर होना जिसमे इजीनियर के रूप मे उत्तरदायित्व हो और साथ ही व्यक्तिगत ईमानदारी। सन् '५७-'५८ के अत तक सदस्यो की सख्या २० हजार से अधिक हो चुकी थी, जिसमे प्रथम प्रकार के सदस्यो की सख्या ६,७२३ और छात्रो की १२,८०७ थी।

परीक्षाएँ—इस सस्था की ओर से वर्ष मे दो बार परीक्षाएँ ली जाती है—एक मई महीने मे और दूसरी नवबर महीने मे। एक परीक्षा छात्रो के लिये होती है और दूसरी सहयोगी सदस्यता के लिये। सघीय लोकसेवा आयोग (यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन) ने सहयोगी सदस्यता परीक्षा को अच्छी इजीनियरी डिग्री परीक्षा के समकक्ष मान्यता दे रखी है। इतना ही नही, जिन विश्वविद्यालयो की उपाधियो तथा अन्यान्य डिप्लोमाओ को सस्था अपनी सहयोगी सदस्यता के लिये मान्यता प्रदान करती है उन्ही को सघीय लोकसेवा आयोग केंद्रीय सरकार की इजीनियरी सेवाओ के लिये उपयुक्त मानता है। अधिकतर राज्य सरकारें तथा अन्य सार्वजनिक सस्थाएँ भी ऐसा ही करती हैं। नई उपाधि अथवा डिप्लोमा को मान्यता प्रदान करने के लिये सस्था ने निम्नलिखित कार्यविधि स्थिर कर रखी है। पहले विश्वविद्यालय अथवा सस्था के अधिकारी की ओर से मान्यता के लिये आवेदनपत्र आता है। तदनतर परिषद् एक समिति नियुक्त करती है जो शिक्षास्थान पर जाकर पाठ्यक्रम का स्तर एव उसकी उपयुक्तता, परीक्षाएँ, अध्यापक, साधन एव अन्यान्य सुविधाओ की जाँच कर अपनी रिपोर्ट परिषद् को देती है। उसके बाद ही परिषद् मान्यता सबधी अपना निर्णय देती है।

प्रकाशन—'जर्नल' और 'बुलेटिन' सस्था के मुख्य प्रकाशन है, जो मई, १९५५ से मासिक हो गए है। जर्नल के पहले अक मे सिविल और सामान्य

(२) सडक निर्माण एव सडको की सुरक्षाविषयक ज्यामितीय तथा अन्य प्रकार की विशेषताओ के स्थिर प्रतिमान भी सुनिश्चित किए।

(३) सडको की प्राविधिक (टेकनिकल) तथा प्रशासन सबधी समस्याओ पर विवेचन करने के लिये उसने २२ वार्षिक अधिवेशन तथा ५२ साधारण सभाएँ की।

(४) प्राविधिक समस्याओ के विभिन्न पहलुओ के विस्तृत अध्ययनार्थ बहुत सी समितियाँ नियुक्त की।

इस काग्रेस का प्राविधिक कार्य मुख्यत इसकी समितियाँ एव उपसमितियाँ करती है। उनकी बैठके समान्य अधिवेशनो पर और यदि सभव हुआ तो अन्य अवसरो पर भी होती है।

मुख्य समितियाँ इस प्रकार है ब्योरा और प्रतिमान-निर्धारण-समिति, पुल समिति (इस समिति ने पुलो के लिये प्रतिमानो का ब्योरा एव रचना के नियम तयार किए), प्राविधिक समिति (जिसने कलकत्ता में परीक्षण के लिये बनी सडको की सभी प्रकार की जाँचो की व्यवस्था की थी और जो सामान्यत सडको के सबध में अनुसधान करती है) तथा मृत्तिका-अनुसधान-समिति। अन्य समितियो के कार्यक्षेत्र मे सडको के इजीनियरो का शिक्षण, व्यावसायिक इजीनियरिंग, सडको की वास्तुकला की दृष्टि से व्यवस्था, यातायात की समस्याएँ, सडक निर्माण के लिये यत्रो के कारखाने, सडक बनाने के कार्यों को यत्रो द्वारा कराना, विभिन्न प्रकार की सडको आदि का आर्थिक दृष्टि से अध्ययन इत्यादि कर्तव्य समाविष्ट है। काउसिल इस काग्रेस का मुख्य सचालक अग है। यह सामान्य अधिवेशनो में रखे गए एव समितियो द्वारा प्रस्तुत सुझावो पर विचार करती है तथा राज्य एव केंद्रीय सरकार को इस सबध मे उचित परामर्श देती है।

काग्रेस के दो नियिमित प्रकाशन चलते है 'जरनल' तथा 'ट्रासपोर्ट-कम्युनिकेशस मथली रिव्यू'। 'जरनल' त्रैमासिक प्रकाशन है जिसमे प्राविधिक निबध, विचारविमर्श, अनुसधानो के विवरण आदि रहते है। इनके अतिरिक्त इस काग्रेस द्वारा सडको से सबध रखनेवाली सामयिक विवरणिकाएँ (बुलेटिन्स) भी प्रकाशित की जाती है। काग्रेस द्वारा इजीनियरिग विषयक साहित्य के एक पुस्तकालय की भी व्यवस्था की गई है जिसमे सडक, पुल, यातायात आदि विषयो से सबद्ध पुस्तको को प्राप्त करने पर अधिक ध्यान दिया जाता है। सदस्यो तथा इजीनियरो द्वारा सडको के सबध मे पूछे गए प्रश्नो का उत्तर भी दिया जाता है।

यह काग्रेस सरकार के परिवहन एव सचरण मत्रालय के घनिष्ठ सहयोग से अपना कार्य सपन्न करती है। सडक-विकास सबधी भारत सरकार के परामर्शदाता इजीनियर इसके स्थायी कोषाध्यक्ष है। इसका सचिवालय जामनगर हाउस, शाहजहाँ रोड, नई दिल्ली मे स्थित है और इसका प्रबध इडियन रोड्स काग्रेस के एक सचिव के हाथ मे है।

इडियन (भारतीय) रोड्स काग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्षो के नाम निम्नलिखित है

डी० वी० मिच्ल्, सी० एस० आई०, सी० आई० ई०, आइ० सी० एस० (१९३४), रायबहादुर छुट्टनलाल (१९३५-३६), एम० जी० स्टब्स, सी० बी० ई०, आई० एस० ई० (१९३६-३८), सर केनेथ मिच्ल्, के० सी० आई० ई०, सी० आई० ई०, आई० एस० ई० (१९३९-४२), जे० बसुगर, आई० एस० ई० (१९४३-४५), सर आर्थर डीन, सी० आई० ई०, एम० सी०, ई० डी० (१९४५-४६), एल० ए० फ्रीक, आई० एस० ई० (१९४६), जे० चेवर्स, सी० आई० ई०, एम० सी०, ओ० बी० ई०, आई० एस० ई० (१९४६-४७), सी० जी० काले, सी० आई० ई०, आई० एस० ई० (१९४७-४८), एस० एन० चक्रवर्ती, आई० एस० ई० (१९४८-४९), रायबहादुर बृजमोहनलाल, आई० एस० ई० (१९४९-५०), रायबहादुर ए० सी० मुकर्जी, आई० एस० ई० (१९५०-५१), जी० एम० मैक्केल्वी, सी० आई० ई०, ओ० बी० ई०, आई० एस० ई० (१९५१-५२), टी० मित्र, आई० एस० ई० (१९५२-५३), आर० के० बात्रा, आई० एस० ई० (१९५३-५४), एच० पी० मथरानी, आई० एस० ई० (१९५४-५५), के० के० माबियार (१९५५-५६), पी० एल० वर्मा (१९५६-५७), एम० एस० विष्ट (१९५७-५८), डब्ल्यू० एक्स० मैस्कारेन्हास् (१९५८-५९)। [अ० जु० डि० को०]

इंडियानापोलिस सयुक्त राज्य (अमरीका) के इडियाना राज्य की राजधानी है तथा उसके हृदयस्थल मे ह्वाइट नदी के तट पर बसा हुआ है। इसे अमरीका का चौराहा कहते है, क्योकि यहाँ शिकागो, सेटलुई, लुईजविल, सिनसिनाटी, कोलबस, न्यूयार्क आदि को जानेवाले रेलवे मार्ग तथा कई पक्की सडके मिलती है। यहाँ एक बडा हवाई अड्डा भी है। केंद्रीय भौगोलिक स्थिति, प्रमुख कोयला क्षेत्रो के सामीप्य तथा यातायात के साधनो के बाहुल्य ने इसे बहुत बडा औद्योगिक केंद्र बना दिया है। इसके मुख्य उद्योग खाद्य पदार्थ तथा वस्त्र, हवाई जहाजो के इजिन, बैटरी, रेडियो, रेफ्रीजरेटर, कागज, चमडे का सामान आदि है। यह एक बडा सास्कृतिक केंद्र भी है। इसकी शिक्षासस्थाओ में बटलर विश्वविद्यालय का नाम उल्लेखनीय है। सन् १८२४ ई० मे यह इडियाना राज्य की राजधानी चुन लिया गया तथा कालातर मे इसे अमरीका के अन्य प्रमुख नगरो से सबद्ध कर दिया गया। इसकी जनसख्या सन् १९०० ई० में केवल, १,६९,१६४ थी, सन् १९५७ ई० में जनसख्या ४,५५,९७० हो गई। [श्या० सु० श०]

इंदुमती काकुत्स्थवशी अज की पत्नी एव विदर्भराज भोज की छोटी बहन। ऐसी पौराणिक आख्यायिका है कि तृणबिंदु का तप भग करने के लिये हरिणी नाम की एक अप्सरा भेजी गई थी जिसे शापवश क्रथकैशिक अथवा विदर्भ के राजकुल मे जन्म लेना पडा और जिसका विवाह अज के साथ हुआ। परतु वह दीर्घकाल तक उनके साथ न रह पाई। नारद की वीणा से गिरी माला की चोट से मूछित हो उसने प्राण त्याग दिए। [च० म०]

इंदौर भारत के मध्यप्रदेश राज्य में स्थित एक नगर है। इदौर नगर इसी नाम की विघटित रियासत की राजधानी था। यह नगर खान (शिप्रा की सहायक) तथा सरस्वती नदियो के सगम पर बबई से ४४० मील की दूरी पर उत्तरपूर्व मे स्थित है। (स्थिति अक्षाश २२° ४३' उत्तर और देशातर ७५° ५४' पूर्व)। नगर समुद्र की सतह से १,७३८ फुट की ऊँचाई पर है और ५ वर्ग मील में फैला हुआ है। यह नगर सन् १७१५ ई० मे कपाल (इदौर से १६ मील पूर्व) के एक जमीदार द्वारा एक ग्राम के रूप में बसाया गया था। सन् १७४१ ई० मे यहाँ इद्रेश्वर के मदिर की स्थापना की गई और इन्ही इद्रेश्वर से नगर का नाम इदौर पडा। यह मध्यप्रदेश राज्य का एक प्रमुख व्यापारिक नगर है तथा यहाँ कई प्रकार के उद्योग धधे है। यहाँ बहुत से रुई दबाने तथा कपडे के कारखाने है। नगर आसपास के प्रदेश का वितरणकेद्र भी है। यहाँ के सुदर राजमहल तथा उद्यान देखने योग्य है। नगर से तीन मील पूर्व की ओर एक विद्यालय डैली कालेज है जो सगमरमर का बना है। यहाँ पहले केवल राजकुमारो के लिये ही शिक्षा का प्रबध था। नगर की जनसख्या १९५१ मे ३,१०,८५९ थी। [लि० रा० सिं०]

इंद्र महत्वशाली प्रख्यात वैदिक देवता। ऋग्वेद मे २५० सूक्त स्वतत्र रूप से इद्र की स्तुति मे प्रयुक्त है और लगभग ५० सूक्तो में यह विष्णु, मरुत्, अग्नि आदि विभिन्न देवताओ के साथ निर्दिष्ट तथा प्रशसित है। इस प्रकार ऋग्वेद के लगभग चतुर्थाश मे इद्र की प्रशस्त स्तुति इसके विपुल महत्व, महनीय उत्कर्ष तथा व्यापक प्रभाव की द्योतक है। इद्र के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास ऋग्वेद के सूक्तो मे उपलब्ध होता है। उसके सिर, बाहु, हाथ तथा विस्तृत उदर है जिसको वह सोम पीकर भर देता है। उसके दीर्घ तथा बलिष्ठ हाथ मे 'वज्र' चमकता है। 'वज्री' इद्र का ही निजी पर्याय है। वह युद्ध करने के लिये रथ पर चढकर समरागण मे जाता है जिसे साधारणतया दो, लेकिन कभी कभी एक हजार या ग्यारह सौ घोडे खीचते है। इद्र का जन्म अन्य वीरो के समान ही रहस्यमय है। उसके पिता त्वष्टा या द्यौ है और उसकी माता शवसी कही जाती है, क्योकि इद्रबल का पुत्र है (शवस्=बल)। उसकी पत्नी का नाम इद्राणी है और पुराणो मे निर्दिष्ट

तथा पनामा हैट है। इस नगर की जनसख्या १९५७ ई० मे ५१,७३० थी। [लि० रा० सिं०]

इक्विटीज आरभ मे रोमन सेना का घुडसवार अग, वाद मे राजनीतिक दल। समूचे प्रजातत्र मे इस सेना का बोलबाला रहा और २२० ई० पू० के बाद तो रोम मे सबसे पहले मताधिकार उसी का होता था। इस सेना के सैनिको का चुनाव अत्यत अभिजात कुलो से होता था। धनी परिवारो के अभिजात कुमार बडे उत्साह से इस घुडसवार सेना मे भरती होते थे। एक समय तो रोमन विधान द्वारा विशेष आय के व्यक्तियो को इक्वीटीज मे भरती होना अनिवार्य कर दिया गया। धीरे धीरे इस सेना के तीन वर्ग हो गए पात्रीशियम, प्लेबेग्रन और मिश्रित। प्रजातत्र का अत हो जाने पर इनका भी अत हो गया, पर सम्राट् ओगुस्तस ने फिर एक बार इनका सगठन किया और ये साम्राज्य की सेना के विशिष्ट अग वन गए।

रोमन साम्राज्य के विस्तार के वाद इक्विटीज का सैनिक रूप नष्ट हो गया। वे रोम मे ही सभ्रात और समृद्ध नागरिक होकर रह गए और उनका स्थान साधारण घुडसवार सेना ने ले लिया। धीरे धीरे इनका दल धनवान् होने से रोम मे अत्यत सामर्थ्यवान् हो गया। इनके दल मे वे सभी लोग समिलित हो सकते थे जो चार लाख रोमन मुद्राओ के स्वामी थे। साम्राज्य के विस्तार के साथ इनके सैनिक वल का ह्रास तो निश्चय हुआ, पर उसकी राजधानी मे रहने के कारण और धनाढय होने से इनकी शक्ति रोम मे इतनी वढी कि ये वहाँ सकट वन गए। प्रातो की गवर्नरियो के क्रय विक्रय से लेकर सिनेटरो के पदो तक की वागडोर इनके हाथ मे रहने लगी। समूचे साम्राज्य की अर्थशक्ति और अर्थनीति इन्ही के हाथो मे थी और ये सम्राटो के उत्थान पतन के भी अनेक वार अभिभावक वन गए। प्रसिद्ध सम्राट् ओगुस्तस ने इनका घुडसवार सेना के रूप मे फिर से सगठन किया, परतु वह आशिक रूप मे ही सफल हो सका, क्योकि शक्ति की तृष्णा समृद्ध आभिजात्यो मे इतनी थी कि वे नए विधान को पूर्णतया स्वीकार न कर सके। इक्विटीज का अत साम्राज्य के साथ ही हुआ। [ओ० ना० उ०]

इक्वेडोर पश्चिमी दक्षिण अमरीका का एक देश है (क्षेत्रफल ९९,२३२ वर्ग मील, लगभग, जनसख्या ३२,०२,७५७ (१९५०), राजधानी कुइटो, जनसख्या २,०९,९३२)।

इसके उत्तर मे कोलविया, पूर्व तथा दक्षिण मे पेरू तथा पश्चिम में प्रशात महासागर स्थित है।

प्राकृतिक दशा—उत्तर-दक्षिण फैला हुआ ऐडीज इक्वेडोर को दो भागो मे विभाजित करता है। इस देश मे इसकी दो पर्वतश्रेणियाँ है जिनके मध्य में ऊँचे पठार हैं। भूतकाल एव वर्तमान काल मे सभवत यही भूभाग, अमरीका मे ज्वालामुखी से सर्वाधिक प्रभावित रहा है। इस समय यहाँ के चिंवोरजो (२०,५७५ फुट) तथा कोटोपैक्सी (१९,३३९ फुट) ससार के सर्वोच्च ज्वालामुखी पवतशिखर हैं। खनिज तथा उष्ण स्रोत देश के सपूर्ण ज्वालामुखी प्रदेश मे विखरे हुए हैं। यहाँ की नदियाँ नौकावहन के योग्य नही है।

जलवायु—इक्वेडोर का समुद्रतटीय प्रदेश उष्ण और आर्द्र है। यहाँ का औसत ताप ७५° फा० से ८०° फा० तक है। आतरिक प्रदेशो मे घाटियो का ताप लगभग ६०° फा० तथा उच्च पठारो का केवल ५०° फा० रहता है।

वनस्पति—ऐडीज़ के उच्च पठारो तथा प्रशात महासागर तट के शुष्क प्रदेश को छोडकर समस्त इक्वेडोर सघन वनो से ढका है। यहाँ के वनो मे डाईवुड (एक लकडी जिससे रग निकलता है), सिनकोना (जिससे क्वीनीन निकलती है) तथा वलसा उड (एक अत्यन्त हल्की लकडी) वहुतायत से मिलते है।

उत्पादन—पूँजी, यातायात के साधन तथा प्रशिक्षित श्रमिको की कमी के कारण कृषि ही यहाँ का मुख्य उद्यम है। यहाँ के लोग सागरतटीय प्रदेश तथा निम्न धरातल की नदीघाटियो मे उष्णप्रदेशीय वस्तुएँ और उच्च घाटियो तथा पर्वतीय ढालो पर अनाज, फल, तरकारी आदि शीतोष्ण प्रदेशीय वस्तुएँ उत्पन्न करने के साथ पशुपालन भी करते है। यहाँ की ४ ५ प्रति शत भूमि पर कृषि तथा ४ १ प्रति शत भूमि पर पशुपालन होता है। ७४ १ प्रति शत पर वन हैं। १५ ९ प्रति शत भूमि कृषि योग्य नही है। १ ४ प्रति शत को कार्ययोग्य वनाया जा सकता है।

कोको यहाँ का प्रधान कृषि उत्पादन है। कहवा, चावल, केला, चीनी, रुई, मक्का, आलू, सतरा, नीवू एव पशु यहाँ के अन्य मुख्य उत्पादन हैं।

यहाँ का महत्वपूर्ण खनिज पदार्थ पेट्रोलियम है जिसका वार्षिक उत्पादन २९,६७,००० वैरल है। सोना, ताँवा, चाँदी, गधक यहाँ के अन्य मुख्य खनिज है।

हाल मे यहाँ पर उद्योग धधो मे कुछ प्रगति हुई है। कताई वुनाई यहाँ का मुख्य उद्योग है। दवा, विस्कुट, रवर की वस्तुएँ, नकली रेशम, सिमेट आदि उद्योग यहाँ प्रगति पर है। यहाँ के अन्य उद्योग चीनी, जूता, लकडी, ऐल्कोहल, तवाकू, दियासलाई वनाना आदि हैं।

इक्वेडोर कच्चे मालो का निर्यात तथा पक्के मालो का आयात करता है। सपूर्ण निर्यात की हुई वस्तुओ की ९० प्रति शत खनिज एव कृपिज वस्तुएँ हैं। प्रमुखता के क्रमानुसार निर्यात की हुई वस्तुएँ कोको, कहवा, केला, चावल, कच्चा पेट्रोलियम तथा वलसा वुड है।

यहाँ की सरकार ससद (सिनेट) तथा मत्रिमडल द्वारा वनी है। राष्ट्रपति एव उपराष्ट्रपति चार वर्षो के लिये निर्वाचित होते है। यहाँ पर प्रारभिक शिक्षा नि शुल्क तथा अनिवार्य है। सन् १९५० मे इक्वेडोर की दस वर्ष से ऊपर आयुवाली जनसख्या का ४३ ७ प्रति शत निरक्षर था। [शि० म० सि०]

इक्ष्वाकु पौराणिक परपरा के अनुसार विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र वैवस्वत मनु के तनय। पौराणिक कथा इक्ष्वाकु को अमैथुनी सृष्टि द्वारा मनु की छींक से उत्पन्न वताती है। वे सूर्यवशी राजाओ मे पहले माने जाते है। राजधानी उनकी कोसल मे अयोध्या थी। उनके सौ पुत्र वताए जाते हैं जिनमे ज्येष्ठ विकुक्षि था। इक्ष्वाकु के एक दूसरे पुत्र निमि ने मिथिला राजकुल स्थापित किया। साधारणत वहुवचनातक इक्ष्वाकुओ का तात्पर्य इक्ष्वाकु से उत्पन्न सूर्यवशी राजाओ से होता है, परतु प्राचीन साहित्य मे उससे एक इक्ष्वाकु जाति का भी वोध होता है। इक्ष्वाकु का नाम, केवल एक वार, ऋग्वेद मे भी प्रयुक्त हुआ है जिसे मैक्समूलर ने राजा की नही। वल्कि जातिवाचक सज्ञा माना है। इक्ष्वाकुओ की जाति जनपद मे उत्तरी भागीरथी की घाटी मे सभवत कभी वसी थी। उत्तर-पश्चिम के जनपदो से भी कुछ विद्वानो के मत से उनका सवध था। सूर्यवश की शुद्ध अशुद्ध सभी प्रकार की वशावलियाँ देश के अनेक राजकुलो मे प्रचलित है। उनमे वयक्तिक राजाओ के नाम अथवा स्थान मे चाहे जितने भेद हो, उनका आदि राजा इक्ष्वाकु ही है। इससे कुछ अजव नही जो वह सुदूर पूर्वकाल मे कोई ऐतिहासिक व्यक्ति रहे हो। [ओ० ना० उ०]

इखनातून मिस्र का फराऊन। काल, ई० पू० १४वी सदी का प्रथम चरण। इखनातून धर्म चलानेवाले राजाओ मे पहला था। उसका नाम मेधावी सम्राटो—सुलेमान, अशोक, हारूँ अल् रशीद और शार्लमान—के साथ लिया जाता है।

इखनातून शालीन पिता आमेनहेतेप तृतीय और प्रसिद्ध माता तीई का पुत्र था। पिता की नसो मे सभवत सीरिया के मितन्नी आर्यो का रक्त वहता था और माता तीई की नसो मे वन्य जातियो का रुधिर प्रवाहित था। तीई के जोड की रानी शक्ति और शालीनता मे सभवत मानव राजनीति के इतिहास मे नही। ऐसे माता पिता के तनय की आत्मा की वेचैनी स्वाभाविक थी। इस प्रकार दो शक्तियाँ समन्वित होकर वालक मे जाग उठी और उसने अपने देश के धर्म की काया पलट दी। इखनातून जव पिता की गद्दी पर वैठा तव वह केवल सात आठ वर्ष का था। पद्रह वर्ष की आयु मे उसने अपना वह इतिहासप्रसिद्ध धर्म चलाया जो वाइविल के प्राचीन नवियो के लिये आश्चर्य वन गया। छब्वीस सत्ताईस वर्ष की छोटी आयु थी, जव उसके तूफानी जीवन का अत हो गया। कितु केवल तेरह वर्ष के इस लघु काल मे उसने वह किया जो आधी आधी सदी तक राज करनेवाले सम्राट् भी न कर सके।

इखनातून ने पहले मिस्र के प्राचीन इतिहास का ज्ञान प्राप्त किया और अपने पुरखे फराऊन के जीवन और शासन की घटनाओ पर विचार किया। देवताओ की भीड और उनके पुजारियो की शक्ति से दवे अपने पूर्वजो की दयनीय स्थिति से उसे वडी व्यथा हुई। जव जव वह अपने सपनो के सूत सुलझाता, देवताओ की भीड उसे वौखला देती और उनकी अनेकता की

इंद्रधनुष आकाश में सध्या समय पूर्व दिशा में तथा प्रात काल पश्चिम दिशा में, वर्षा के पश्चात् लाल, नारगी, पीला, हरा, आसमानी नीला तथा बैंगनी वर्णों का एक विशालकाय वृत्ताकार वक्र कभी कभी दिखाई देता है। यह इद्रधनुष कहलाता है। वर्षा अथवा बादल में पानी की सूक्ष्म बूंदो अथवा कणो पर पडनेवाली सूर्यकिरणो का विक्षेपण (डिस्पर्शन) ही इद्रधनुप के सुदर रगो का कारण है। इद्रधनुप सदा दर्शक की पीठ के पीछे सूर्य होने पर ही दिखाई पडता है। पानी के फुहारे पर दर्शक के पीछे से सूर्यकिरणो के पडने पर भी इद्रधनुप देखा जा सकता है।
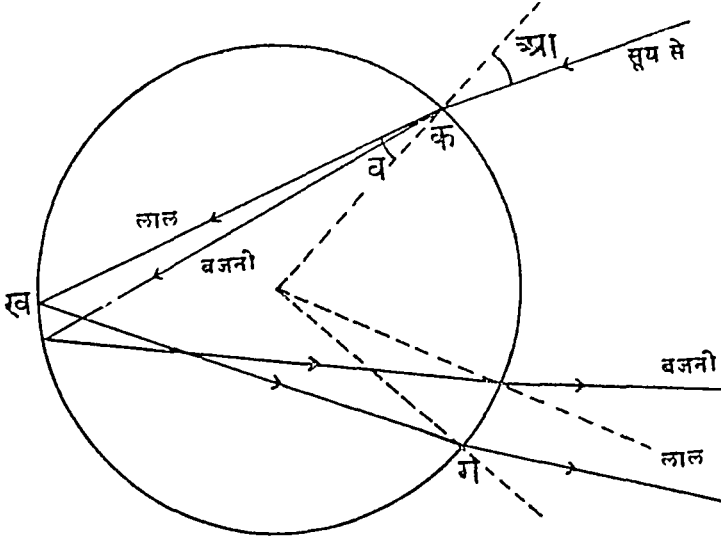
चित्र१ पानी की बूंदो द्वारा विक्षेपण ।

चित्र १ में स्पष्ट है कि सूर्यकिरणो का पानी की बूंदो के भीतर विदु क पर वर्तन (रिफ्रैक्शन), ख पर सपूर्ण परावर्तन (टोटल रिफ्लेक्शन) तथा पुन ग पर वर्तन होता है। प्रकाश के नियमानुसार क पर श्वेत सूर्यकिरणो में मिश्रित विभिन्न तरगदैर्घ्यो की प्रकाशतरगें विभिन्न दिशाओ मे बूंद के भीतर प्रवेश करती हैं।

चित्र मे स्पष्ट है कि लाल वर्ण की प्रकाशकिरणे कम तथा बैंगनी की अत्यधिक मुड जाती हैं।

यदि क पर किरण का आपात कोण आ तथा वर्तन कोण व हो तो गणित द्वारा सिद्ध किया जा सकता है कि जब विचलन कोण वि न्यूनतम होता है तव

$$\text{कोज्या आ} = \sqrt{\left(\frac{\mu^2 - 1}{3}\right)},$$

जहाँ μ वर्तनाक (इडेक्स ऑव रिफ्रैक्शन) है, अर्थात्

$$\mu = \frac{\text{ज्या आ}}{\text{ज्या व}}\text{।}$$

यदि उक्त समीकरण में μ का मान लाल वर्ण के लिये १ ३२९रख दें तो कोण आ का मान ५९ ६° तथा कोण व का मान ४० ५° प्राप्त होता है। यदि μ का मान बैंगनी रगो के लिये १ ३४३ लें तो आ=५८ ८° तथा व=३९ ६° है। इसके अतिरिक्त लाल तथा बैंगनी रगो का न्यूनतम विचलन (डीविऐशन) क्रमानुसार १३७ २° तथा १३९ २° होता है। अन्य वर्णो के विचलनो का मान इन दोनो के बीच रहता है। यह भी सिद्ध है कि आपात किरण के समातर प्रत्येक रग की समस्त किरणे, पानी की बूंद से वाहर आने पर भी, सनिकटत समातर वनी रहती हैं, क्योकि विचलन न्यूनतम होने के कारण आपात कोण में थोडा परिवर्तन होने पर भी विचलन कोण मे विशेष अतर नही होता।

चित्र २ में कल्पना करे कि दर्शक द पर खडा है तथा सूर्य की किरणे दिशा स द मे आ रही है। $प_1$, $प_2$, $प_3$ पानी की तीन बूंदें ऊर्ध्वाधर रेखा पर हैं। यदि किरणें बूंदो से निकलकर द पर पहुँचती है तो स्पष्ट है कि उनकी ओर देखने पर दर्शक को रग दिखाई पडेंगे। $प_1$ से वे लाल किरणे आयेंगी
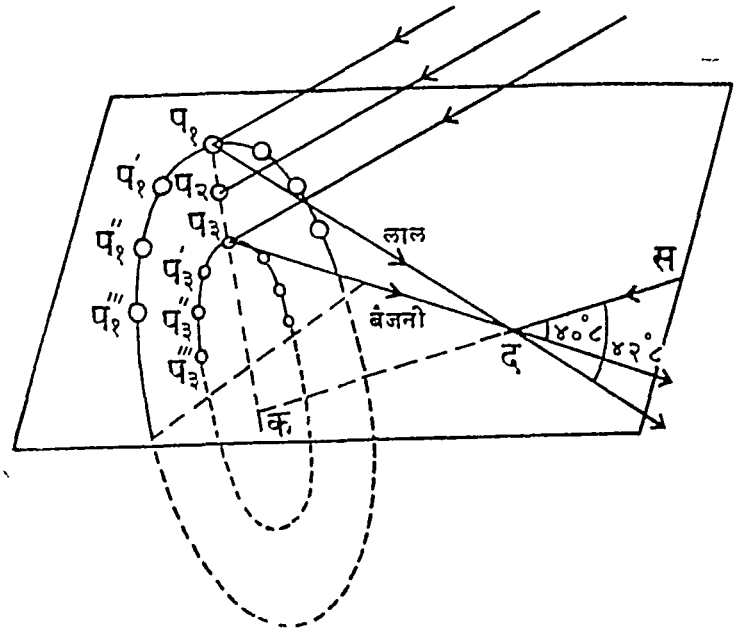
चित्र २. विभिन्न बूंदो से विक्षिप्त रंगीन प्रकाश के कारण द्रष्टा द को इद्रधनुष दिखाई पडता है।

जिनका विचलन कोण १३७° २ है तथा $प_3$ से वे बैंगनी किरणें आयेंगी जिनका विचलन कोण १३९° २ है। अत ऊपर की ओर लाल तथा नीचे की ओर बैंगनी रग दिखाई पडेगा। इस भाँति इद्रधनुप वनता है, जिसमें लाल तथा बैंगनी वृत्तो की कोणीय त्रिज्याएँ क्रमानुसार १८०°−१३७° २ =४२° ८ तथा १८०°−१३९° २=४०° ८ होती हैं।
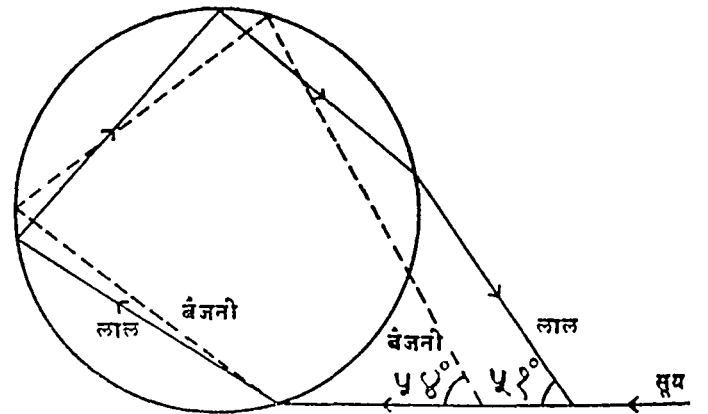
चित्र ३. द्वितीयक इद्रधनुष का सिद्धात।

यदि बूंद के भीतर किरणो का दो वार परावर्तन हो, जैसा चित्र ३ मे दिखाया गया है, तो लाल तथा बैंगनी किरणो का न्यूनतम विचलन क्रमानुसार २३१° तथा २३४° होता है। अत एक इद्रधनुष ऐसा भी वनना सभव है जिसमें वक्र का वाहरी वर्ण बैंगनी रहे तथा भीतरी लाल। इसको द्वितीयक (सेकडरी) इद्रधनुष कहते हैं।

जैसा चित्र २ से स्पष्ट है, दर्शक के नेत्र मे पहुँचनेवाली किरणो से ही इद्रधनुष के रग दिखाई देते हैं। अत दो व्यक्ति ठीक एक ही इद्रधनुष नही देख सकते—प्रत्येक द्रष्टा को एक पृथक् इद्रधनुप दृष्टिगोचर होता है।

तीन अथवा चार आतरिक परावर्तन से बने इद्रधनुप भी सभव हैं, परतु वे विरले अवसरो पर ही दिखाई देते हैं। वे सदैव सूर्य की दिशा में

नावें नील की धारा में चल पड़ती हैं, धारा के अनुकूल भी, विपरीत भी ।
सड़कें और पगडंडियाँ खुल पड़ती हैं, कि तू उग चुका है ।
तुम्हारी किरनों को परसने के लिये नदी की मछलियाँ उछल पड़ती हैं,
और तुम्हारी किरनें फैलें समुदर की छाती में कौंध जाती हैं ।
तू ही माँ के गर्भ में शिशु को सिरजता है,
आदमी में आदमी का बीज रखता है,
तू ही कोख में शिशु को प्यार से रखता है जिनसे वह रो न पड़े,
धाय सिरजता है तू ही कोख के बालक के लिये ।
और तू ही जिसे सिरजता है उसमें साँस डालता है,
और जब वह माँ की कोख से धरा पर गिरता है, (तू ही)
उसके कंठ में आवाज डालता है,
उसकी जरूरतें पूरी करता है ।

तेरे कामों को भला गिन कौन सकता है ?
और तेरे काम हमारी नजर से ओझल हैं, नजर से परे ।
ओ मेरे देवता, मेरे मात्र देवता, जिसकी शक्ति का कोई दावेदार नहीं,
तू ने ही यह जमीन सिरजी, अपने मन के मुताबिक ।

तू मेरे हिए में बसा है, मुझे कोई दूसरा जानता भी नहीं,
अकेला मैं, बस मैं तेरा बेटा इख़नातून, जान पाया हूँ तुझे ।
और तूने मुझे इस लायक बनाया है कि मैं तेरी हस्ती को जान लूँ ।
[भ० श० उ०]

इच्छलकरनजी बंबई राज्य के कोल्हापुर जिले में, पंचगंगा नदी के पास, कोल्हापुर नगर से १८ मील दूर, जिले का दूसरा बड़ा नगर है (स्थिति १६° ४१′ उ० अक्षांश तथा ७४° ३१′ पू० देशांतर)। १९०१ ई० में इस स्थान की जनसंख्या १२,९२० थी जो १९२१ ई० में क्रमश घटकर १०,२११ हो गई। पुन नगर का क्रमिक गति से विकास हुआ है और १९५१ की जनगणना के समय यहाँ की जनसंख्या २७,४२३ थी। यहाँ उद्योग धंधे बढ़ रहे हैं और संपूर्ण जनसंख्या के ४० प्रति शत से अधिक लोग उद्योग धंधों में लगे हैं। यहाँ की जलवायु स्वास्थ्यप्रद है, परन्तु कुओं का जल खारा है, अत पेय जल नल द्वारा पंचगंगा नदी से लाया जाता है। कोल्हापुर राज्य के आराध्य देव श्री वेंकटेश जी के उपलक्ष्य में यहाँ प्रति वर्ष एक बड़ा मेला लगता है। [का० ना० सिं०]

इज़रायल दक्षिण-पश्चिम एशिया का एक स्वतंत्र यहूदी राज्य है, जो १४ मई, १९४८ ई० को पैलेस्टाइन से ब्रिटिश सत्ता के समाप्त होने पर बना। यह राज्य रूम सागर के पूर्वी तट पर स्थित है। इसके उत्तर तथा उत्तर-पूर्व में लेबनान एवं सीरिया, पूर्व में जार्डन, दक्षिण में अकाबा की खाड़ी तथा दक्षिण-पश्चिम में मिस्र है (क्षेत्रफल २०,७०० वर्ग किलोमीटर, जनसंख्या १९५८ ई० में १९,७६,०००, जिसमें यहूदी १७,६०,०००, मुसलमान १,४४,५००, ईसाई ४५,००० तथा ड्रुज़ २०,०००)। जनसंख्या के ७१ प्रति शत लोग नगरों में रहते हैं तथा २१ प्रति शत उद्योग में लगे हैं। जेरूसलम, जिसकी जनसंख्या १,५४,००० है, इसकी राजधानी है तथा तेल अवीव (जनसंख्या ३,७१,०००) एवं हैफा (जनसंख्या १९,०००) इसके अन्य मुख्य नगर हैं। राजभाषा इब्रानी है।

इजरायल के तीन प्राकृतिक भाग हैं जो एक दूसरे के समांतर दक्षिण से उत्तर तक फैले हैं (१) रूमतटीय 'शैरों' तथा फिलिस्तिया का मैदान जो अत्यधिक उर्वर है तथा मक्का जो सब्जियों, संतरों, अंगूरों एवं केलों की उपज के लिये प्रसिद्ध है। (२) गैलिली, समारिया तथा जूडिया का पहाड़ी प्रदेश जो तटीय मैदान के पूर्व में २५ से लेकर ४० मील तक चौड़ा है। इजरायल का सर्वोच्च पर्वत अट्जमान (ऊँचाई ३,९६२ फुट) यहीं स्थित है। जज़रील घाटी गैलिली के पठार को समारिया तथा जूडिया से पृथक् करती है और तटीय मैदान को जार्डन की घाटी से मिलाती है। गैलिली का पठार एवं जजरील घाटी समृद्ध कृषिक्षेत्र हैं जहाँ गेहूँ, जौ, जैतून तथा तबाकू की खेती होती है। समारिया का क्षेत्र जैतून, अंगूर एवं अंजीर के लिये प्रसिद्ध है। (३) जार्डन रिफ्ट घाटी, जो केवल १०-१५ मील चौड़ी तथा अत्यधिक शुष्क है। इसके दक्षिण में 'मृत सागर' है जो समुद्रतल से १,२८६ फुट नीचा है। यह जगत् के स्थलखंड का सबसे नीचा भाग है। जार्डन नदी के मैदान में केले की खेती होती है।

इज़रायल के दक्षिणी भाग में नेजेव नामक मरुस्थल है, जिसके उत्तरी भाग में सिंचाई द्वारा कृषि का विकास किया जा रहा है। यहाँ जौ, सोरघम, गेहूँ, सूर्यमुखी, सब्जियाँ एवं फल होते हैं। सन् १९५५ ई० में नेजेव के हेलट्ज़ नामक स्थान पर इज़रायल में सर्वप्रथम खनिज तेल पाया गया। इस राज्य के अन्य खनिज पोटाश, नमक इत्यादि हैं।

प्राकृतिक साधनों के अभाव में इजरायल की आर्थिक स्थिति विशेषत कृषि तथा विशिष्ट एवं छोटे उद्योगों पर आश्रित है। सिंचाई के द्वारा सूखे क्षेत्रों को कृषियोग्य बनाया गया है। अत कृषि का क्षेत्रफल, जो सन् १९४८ ई० में केवल ४,१३,००० एकड़ था, सन् १९५४ ई० में बढ़कर ९,२५,००० एकड़ हो गया।

टेल-अवीव इजरायल का प्रमुख उद्योगकेंद्र है जहाँ कपड़ा, काष्ठ, ओषधि, पेय तथा प्लास्टिक आदि उद्योगों का विकास हुआ है। हैफा क्षेत्र में सिमेंट, मिट्टी का तेल, मशीन, रसायन, काच एवं विद्युत् वस्तुओं के कारखाने हैं। जेरूसलम हस्तशिल्प एवं मुद्रण उद्योग के लिये विख्यात है। नथन्या जिले में हीरा तराशने का काम होता है।

हैफा तथा टेल-अवीव रूम सागर तट के पत्तन (बंदरगाह) हैं। इलाथ अकाबा की खाड़ी का पत्तन है। मुख्य निर्यात सूखे एवं ताजे फल, हीरा, मोटरगाड़ी, कपड़ा, टायर एवं ट्यूब हैं। मुख्य आयात मशीन, अन्न, गाड़ियाँ, काठ एवं रासायनिक पदार्थ हैं।

अरब राज्यों से इजरायल की अनबन उसकी स्थापना के समय से ही है। इसके बीच प्रथम बार सन् १९४८-४९ ई० में युद्ध हुआ। सन् १९५७ ई० में इज़रायल ने पुन ब्रिटेन तथा फ्रांस से मिलकर स्वेज़ की लड़ाई में गाजा क्षेत्र पर अधिकार कर लिया, परंतु संयुक्त राष्ट्रसंघ के आज्ञानुसार उसे इस भाग को छोड़ना पड़ा। [न० कि० प्र० सिं०]

इज़रायल का इतिहास संसार के यहूदी धर्मावलंबियों के प्राचीन राष्ट्र का नया रूप। इजरायल का नया राष्ट्र १४ मई, सन् १९४८ को अस्तित्व में आया। इजरायल राष्ट्र प्राचीन फिलिस्तीन अथवा पैलेस्टाइन का ही एक बृहत् भाग है।

यहूदियों के धर्मग्रंथ 'पुराना अहदनामा' के अनुसार यहूदी जाति का निकास पैगंबर हज़रत अबराहम (इब्राहिम) से शुरू होता है। अबराहम का समय ईसा से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व है। अबराहम के एक बेटे का नाम इसहाक और पोते का याकूब था। याकूब का ही दूसरा नाम इज़रायल था। याकूब ने यहूदियों की १२ जातियों को मिलाकर एक किया। इन सब जातियों का यह सम्मिलित राष्ट्र इजरायल के नाम के कारण 'इज़रायल' कहलाने लगा। आगे चलकर इबरानी भाषा में इज़रायल का अर्थ हो गया— "ऐसा राष्ट्र जो ईश्वर का प्यारा हो"।

याकूब के एक बेटे का नाम यहूदा अथवा जूदा था। यहूदा के नाम पर ही उसके वंशज यहूदी (जूदा-ज्यूज) कहलाए और उनका धर्म यहूदी धर्म (जूदाइज्म) कहलाया। प्रारंभ की शताब्दियों में याकूब के दूसरे बेटों की औलाद इज़रायल या 'बनी इज़रायल' के नाम से प्रसिद्ध रही। फिलिस्तीन और अरब के उत्तर में याकूब की इन संततियों की 'इज़रायल' और 'जूदा' नाम की एक दूसरी से मिली हुई किंतु अलग अलग दो छोटी छोटी सल्तनतें थीं। दोनों में शताब्दियों तक गहरी शत्रुता रही। अंत में दोनों मिलकर एक हो गईं। इस सम्मिलन के परिणामस्वरूप देश का नाम इज़रायल पड़ा और जाति का यहूदी।

यहूदियों के प्रारंभिक इतिहास का पता अधिकतर उनके धर्मग्रंथों से मिलता है जिनमें मुख्य बाइबिल का वह पूर्वार्ध है जिसे 'पुराना अहदनामा' (ओल्ड टेस्टामेंट) कहते हैं। पुराने अहदनामे में तीन ग्रंथ शामिल हैं। सबसे प्रारंभ में 'तौरेत' (इबरानी थोरा) है। तौरेत का शाब्दिक अर्थ वही है जो 'धर्म' शब्द का है, अर्थात् धारण करने या बाँधनेवाला। दूसरा ग्रंथ 'यहूदी पैगंबरों का जीवनचरित' और तीसरा 'पवित्र लेख' है। इन तीनों ग्रंथों का संग्रह 'पुराना अहदनामा' है। पुराने अहदनामे में ३९ खंड या पुस्तकें

राजचिह्नों मे गगा और यमना की धाराएँ भी अकित कराई। पाल नरेश धर्मपाल उद्रायुध की यह दुर्बलता न सह सका और राष्ट्रकूट राजा के दक्षिण लौटने ही वह भी कन्नौज पर जा टूटा। इद्रायुध को उसने गद्दी से उतारकर उसकी जगह चक्रायुध को बठाया। [ओ० ना० उ०]

इंद्रिय के द्वारा हमें बाहरी विषयों—रूप, रस, गध, स्पर्श एव शब्द—का तथा आभ्यतर विषयों—सुख दुख आदि—का ज्ञान प्राप्त होता है। इद्रियो के अभाव में हम विषयो का ज्ञान किसी प्रकार प्राप्त नही कर सकते। इसलिये तर्कभाषा के अनुसार इद्रिय वह प्रमेय है जो शरीर से सयुक्त, अतींद्रिय (इद्रियो से ग्रहीत न होनेवाला) तथा ज्ञान का करण हो (शरीरसयुक्त ज्ञान करणमतींद्रियम्)। न्याय के अनुसार इद्रियाँ दो प्रकार की होती हैं (१) बहिरिंद्रिय—घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक् तथा श्रोत्र (पाँच) और (२) अतरिंद्रिय—केवल मन (एक)। इनमें बाह्य इद्रियाँ क्रमश गध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द की उपलब्धि की साधन होती हैं। सुख दुख आदि भीतरी विषय है। इनकी उपलब्धि मन के द्वारा होती है। मन हृदय के भीतर रहनेवाला तथा अणु परिमाण से युक्त माना जाता है। इद्रियों की सत्ता का बोध प्रमाण, अनुमान से होता है, प्रत्यक्ष से नही। साख्य के अनुसार इद्रियाँ सख्या में एकादश मानी जाती हैं जिनमें ज्ञानेंद्रियाँ तथा कर्मेंद्रियाँ पाँच पाँच मानी जाती है। ज्ञानेंद्रियाँ पूर्वोक्त पाँच है, कर्मेंद्रियाँ मुख, हाथ, पैर, मलद्वार तथा जननेंद्रिय है जो क्रमश बोलने, ग्रहण करने, चलने, मल त्यागने तथा सतानोत्पादन का कार्य करती है। सकल्प-विकल्पात्मक मन ग्यारहवी इद्रिय माना जाता है। [ब० उ०]

इंद्रोत शौनक महाभारतकाल के एक विशिष्ट शौनककुलोत्पन्न ऋषि। शतपथ ब्राह्मण (१३।५।३।५) के निर्देशानुसार इनका पूरा नाम इद्रोतदैवाप शौनक था जिन्होंने राजा जनमेजय का अश्वमेध यज्ञ कराया था। ऐतरेय ब्राह्मण (८।२१) तुरकावपेय नामक ऋषि को यह गौरव प्रदान करता है। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण में इद्रोत श्रुत के शिष्य बतलाए गए है। वश ब्राह्मण में भी इनका नाम निर्दिष्ट किया गया है। ऋग्वेद मे निर्दिष्ट देवापि के साथ इनका कोई सबध नही प्रतीत होता। महाभारत (शातिपर्व, अ० १५२) इनके विषय मे एक नूतन तथ्य का सकेत करता है, वह यह कि जनमेजय नामक एक राजा को ब्रह्महत्या लगी थी जिसके निवारण के लिये उसने अपने पुरोहित से प्रार्थना की। प्रार्थना को पुरोहित ने नही माना। तब राजा इस ऋषि की शरण आया। ऋषि ने राजा से अश्वमेध यज्ञ कराया तथा उसकी ब्रह्महत्या का पूर्णतया निवारण कर उसे स्वर्ग भेज दिया। [ब० उ०]

इंपोरिया सयुक्त राज्य (अमरीका) के कैंसास राज्य का एक नगर है जो समुद्रतल से १,१३३ फुट की ऊँचाई पर न्यूशो तथा काटनवुड नदियों के सगम पर कैंसास नगर से १२३ मील दक्षिण में स्थित है। अचिसन, टोपेका तथा सैंटा फी एव मिसौरी, कैंसास तथा टेक्सास के रेलमार्ग इपोरिया से गुजरते हैं। यहाँ नगरपालिका का हवाई अड्डा भी है। इपोरिया एक प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र है, जो पूर्वी बाजारो के मास, अडे तथा मुर्गियो की माँग की पूर्ति करता है तथा इन्ही से सबद्ध अन्य उद्योगो मे भी सलग्न है। यह शिक्षा का भी एक बडा केंद्र है जहाँ कालेज ऑव इपोरिया तथा कन्सास स्टेट टीचर्स कालेज जैसी प्रसिद्ध शिक्षासस्थाएँ हैं। यहाँ के पीटर पैन पार्क में एक प्राकृतिक रगभूमि है जहाँ ग्रीष्मकाल में प्रत्येक वर्ष नाटक खेले जाते हैं। इपोरिया टाउन कपनी ने इस नगर का शिलान्यास सन् १८५७ ई० मे किया था। सन् १९५० मे इसकी जनसख्या १५,६६९ थी। [लें० रा० सिं०]

इंफाल नगर मनीपुर राज्य के मध्य, इफाल घाटी में इफाल तथा नबूल नदियों के बीच, समुद्र की सतह से २,६०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। (२४° ५०' उ० अक्षाश तथा ९४° ०' पू० देशातर)। यह मनीपुर राज्य की राजधानी है। घनी ग्रामीण बस्तियो के मध्य स्थित इस स्थान की सर्वप्रथम ख्याति स्थानीय राजा के गढ के कारण थी, किंतु सन् १८९१ ई० में अग्रेजी राज्य स्थापित होने के पश्चात् इसको नगर का रूप मिला। सन् १९४१ के जनगणनानुसार इस नगर की जनसख्या १,२८,६०८ थी।

सैनिक दृष्टि से इसकी स्थिति इतनी महत्वपूर्ण है कि द्वितीय विश्वमहायुद्ध मे यह नगर जगद्विख्यात हो गया। नगर के मुख्य धधो मे कपडे बुनने का गृह-उद्योग तथा दस्तकारी है। अपनी विशिष्ट तथा कुशल कारीगरी के कारण यहाँ के बने हुए कपडो की माँग भारत मे ही नही, विदेशो मे भी है। शिक्षा के क्षेत्र मे भी यह नगर पर्याप्त उन्नतिशील है। यहाँ छ महाविद्यालय है, जिनमें से एक मे केवल मनीपुरी नृत्यकला की शिक्षा दी जाती है। नगर के गढ-प्रकोष्ठ मे सैनिक छावनी (चौथी आसाम राइफल्स) स्थित है। यह छावनी सुरक्षार्थ तीन ओर से खाई तथा एक ओर से इफाल नदी द्वारा आवृत है। यहाँ पोलो (चौगान) खेलने का एक सुदर मैदान है। यह नगर भारत के अन्य भागो तथा ब्रह्मा से पक्की सडक और वायुमार्ग द्वारा सबद्ध है। यहाँ से निकटतम रेलवे स्टेशन (मनीपुर रोड) १३४ मील पर है। यहाँ से कपडे, चावल, मिर्च, मसाले, मोम, हाथीदाँत तथा चूने के पत्थर का निर्यात होता है। यहाँ की जलवायु स्वास्थ्यवर्धक है। चारो ओर स्थित वनस्पतियुक्त पहाडियो से घिरे होने के कारण नगर अति मनोरम लगता है। इस नगर की गणना भारत के कतिपय स्वच्छतम नगरो मे की जा सकती है। *यहाँ की भाषा मनीपुरी है।* [*श्या० सु० श०*]

इंवरनेस स्काटलैंड के 'हाईलैंड्स' का मुख्य नगर तथा इवरनेसशायर काउटी की राजधानी है। यह ग्लेनमोर के सुदूर उत्तर-पूर्वी कोने मे नेस नदी के मुहाने पर स्थित है। यह हाईलैंड रेलवे का एक प्रसिद्ध स्टेशन है तथा अबर्डीन से १०९ मील दूर पश्चिमोत्तर-पश्चिम में बसा हुआ है। इवरनेस प्राचीन नगर है जो कभी पिकटिश लोगो की राजधानी था। विलियम दि लायन ने सन् १२१४ ई० मे इस नगर को प्रथम राजपत्र प्रदान किया था जिससे नगर को विशेष अधिकार मिले। सन् १४२७ ई० मे जेम्स प्रथम ने यहाँ पार्लियामेंट का अधिवेशन भी किया था। इतना प्राचीन नगर होते हुए भी इसकी चौडी गलियो, सुरम्य कुजो तथा सुदर उपनगरो में आधुनिकता का अद्भुत परिचय मिलता है। यह रॅनिंग्स स्कूल, रॉयल अकैडमी, कैथीड्रल, वेधशाला तथा विक्टोरिया पार्क आदि दर्शनीय स्थान हैं। यह हाईलैंड्स का मुख्य वितरणकेंद्र है। यहाँ के मुख्य उद्योग जहाज बनाना तथा लोहे की ढलाई का काम, चर्मकार्य, ऊनी वस्त्र, साबुन तथा काष्ठोद्योग आदि हैं। इसकी जनसख्या लगभग २१,००० है। [लें० रा० सिं०]

इंशा अल्लाह खाँ, सैयद (१७५६-१८१७ ई०), इशा के पिता हकीम माशा अल्लाह देहली से मुर्शिदाबाद चले गए थे। वही इशा का जन्म हुआ। अभी वह बच्चे ही थे कि बाप के सग फैजाबाद आ गए। एक विद्वान् कुल में पैदा होने के कारण शिक्षा अच्छी प्राप्त की। मुगल बादशाह शाहआलम के युग मे (१७५६-१८०६) इशा देहली चले आए और अपने ज्ञान, बुद्धि की तीव्रता तथा काव्यरचना के सहारे राजदरबार में आदर के पात्र बन गए। उस समय देहली में कविसमेलनो की बडी चर्चा थी। बादशाह से लेकर जनसाधारण तक उनमे समिलित होते थे। इशा भी उनमें जाते और अपने चचल स्वभाव के कारण दूसरे कवियो पर चोटे करते। इसके फलस्वरूप वहाँ के कई प्रमुख कवियो से उनकी अनबन हो गई। दिल्ली की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति अच्छी नही थी। शाहआलम अधे किए जा चुके थे। ईस्ट इडिया कपनी का दबाव बढ रहा था। अवध में नई रोशनी देख पडती थी, इशा भी १७९१ ई० में लखनऊ चले आए जहाँ कविता का एक नया केंद्र बन रहा था।

लखनऊ में शाहआलम के एक पुत्र सुलेमाँ शिकोह ने अपना एक राजदरबार अलग बना रखा था। वहाँ कवियो की बडी पूछ थी, इसलिये इशा भी वहाँ पहुँचे। वह कई भाषाएँ जानते थे और अपनी हास्यपूर्ण बातो मे सबको मुग्ध कर लेते थे। कविता राजदरबार के वातावरण में लडाई झगडे का विषय बन गई थी। उस समय लखनऊ में बहुत से कवि एकत्र हो गए *थे जो कविसमेलनो में एक दूसरे को नीचा दिखाकर दरबार में उच्च स्थान* प्राप्त करने की चेष्टा करते थे। उन कवियो में 'जुरअत' और 'मुसहफी' भी थे जिनके बहुत से चेले थे। इशा इनसे पीछे कैसे रहते। इनके आने से शेर ओ शायरी का रग चमक उठा, मुकाबिले और चोटे होने लगी। हास्य बढकर निंदा और व्यग्य में परिवर्तित हो गया। इशा भी इनमें पूर्णतया डूब

उसी समय के निकट हिंदू दर्शन के प्रभाव से इजरायल मे एक और विचारशैली ने जन्म लिया जिसे 'कव्वालह' कहते है। कव्वालह के थोडे से सिद्धात ये हैं—"ईश्वर अनादि, अनत, अपरिमित, अचित्य, अव्यक्त और अनिर्वचनीय है। वह अस्तित्व और चेतना से भी परे है। उस अव्यक्त से किसी प्रकार व्यक्त की उत्पत्ति हुई और अचित्य से चित्य की। मनुष्य परमेश्वर के केवल इस दूसरे रूप का ही मनन कर सकता है। इसी से सृष्टि सभव हुई।"

कव्वालह की पुस्तको मे योग की विविध श्रेणियो, शरीर के भीतर के चक्रो और अभ्यास के रहस्यो का वर्णन है।

यहूदियो की राजनीतिक स्वाधीनता का अत उस समय हुआ जब सन् ६६ ई० पू० में रोमी जनरल पापे ने तीन महीने के घेरे के पश्चात् जुरूसलम के साथ साथ सारे देश पर अधिकार कर लिया। इतिहासलेखको के अनुसार हजारो यहूदी लडाई मे मारे गए और वारह हजार यहूदी कत्ल कर दिए गए।

इसके बाद सन् १३५ ई० मे रोम के सम्राट् हाद्रियन ने जुरूसलम के यहूदियो से रुष्ट होकर एक एक यहूदी निवासी को कत्ल करवा दिया। वहाँ की एक एक ईट गिरवा दी और शहर की समस्त जमीन पर हल चलवाकर उसे वरावर करवा दिया। इसके पश्चात् अपने नाम एलियास हाद्रियानल पर ऐलिया काविटोलिना नामक नया रोमी नगर उसी जगह निर्माण कराया और आज्ञा दे दी कि कोई यहूदी इस नए नगर मे कदम न रखे। नगर के मुख्य द्वार पर रोम के प्रधान चिह्न सुअर की एक मूर्ति कायम कर दी गई। इस घटना के लगभग दो सौ वर्ष बाद रोम के पहले ईसाई सम्राट् कोस्तातीन ने नगर का जुरूसलम नाम फिर से प्रचलित किया।

छठी ई० तक इजरायल पर रोम और उसके पश्चात् पूर्वी रोमी साम्राज्य बीजोतीन का प्रभुत्व कायम रहा। खलीफा अबूबक्र और खलीफा उमर के समय अरब और रोमी सेनाओ मे टक्कर हुई। सन् ६३६ ई० मे खलीफा उमर की सेनाओ ने रोम की सेनाओ को पूरी तरह पराजित करके फिलिस्तीन पर, जिसमे इजरायल और यहूदा शामिल थे, अपना कब्जा कर लिया। खलीफा उमर जब यहूदी पैगवर दाऊद के प्रार्थनास्थल पर बने यहूदियो के प्राचीन मदिर मे गए तब उस स्थान को उन्होने कूडा कर्कट और गदगी से भरा हुआ पाया। उमर और उनके साथियो ने स्वय अपने हाथो से उस स्थान को साफ किया और उसे यहूदियो के सुपुर्द कर दिया।

इजरायल और उसकी राजधानी जुरूसलम पर अरबो की सत्ता सन् १०९९ ई० तक रही। सन् १०९९ ई० मे जुरूसलम पर ईसाई धर्म के जाँनिसारो ने अपना कब्जा कर लिया और वोलोन के गाडफ्रे को जुरूसलम का राजा बना दिया। ईसाइयो के इस धर्मयुद्ध मे ५,६०,००० सैनिक काम आए, किंतु ८८ वर्षो के शासन के बाद यह सत्ता समाप्त हो गई।

इसके पश्चात् सन् ११४७ ई० से लेकर सन् १२०४ तक ईसाइयो ने धर्मयुद्धो (क्रूसेडो) द्वारा इजरायल पर कब्जा करना चाहा, किंतु उन्हे सफलता नही मिली। सन् १२१२ ई० मे ईसाई महतो ने पचास हजार किशोरवयस्क बालक और बालिकाओ की एक सेना तैयार करके ५वे धर्मयुद्ध की घोषणा की। इनमे से अधिकाश वच्चे भूमध्यसागर मे डूवकर समाप्त हो गए। इसके बाद इस पवित्र भूमि पर आधिपत्य करने के लिये ईसाइयो ने चार असफल धर्मयुद्ध और किए।

१३वी और १४वी शताब्दी मे हुलाकू और उसके बाद तैमूर लग ने जुरूसलम पर आक्रमण करके उसे नेस्तनावूद कर दिया। इसके पश्चात् १६वी शताब्दी तक इजरायल पर कभी मिस्री आधिपत्य रहा और कभी तुर्क। सन् १९१४ मे जिस समय पहला विश्वयुद्ध हुआ, इजरायल तुर्की के कब्जे में था।

सन् १९१७ मे ब्रिटिश सेनाओ ने इसपर अधिकार कर लिया। २ नववर, सन् १९१७ को ब्रिटिश वैदेशिक मत्री लार्ड वालफोर ने यह घोषणा की कि इजरायल को ब्रिटिश सरकार यहूदियो का धर्मदेश बनाना चाहती है जिसमे सारे ससार के यहूदी यहाँ आकर बस सके। मित्रराष्ट्रो ने इस घोषणा की पुष्टि की। इस घोषणा के बाद से इजरायल मे यहूदियो की जनसख्या निरतर बढती गई। लगभग २१ वर्ष (दूसरे विश्वयुद्ध) के पश्चात् मित्रराष्ट्रो ने सन् १९४८ मे एक इजरायल नामक यहूदी राष्ट्र की विधिवत् स्थापना की।

५ जुलाई, सन् १९५० मे इज़रायल की पार्लामेंट ने एक नया कानून बनाया जिसके अनुसार ससार के किसी कोने से यहूदियो को इज़रायल मे आकर बसने की स्वतत्रता मिली। यह कानून बन जाने के ७ वर्षो के अदर इजरायल मे सात लाख यहूदी वाहर के देशो से आकर बसे। इजरायल मे जनतत्री शासन है। वहाँ एक ससदीय पार्लामेंट है जिसे 'सेनेट' कहते है। इसमे १२० सदस्य सानुपातिक प्रतिनिधान की चुनाव प्रणाली द्वारा प्रति चार वर्षो के लिये चुने जाते है। इजरायल का नया जनतत्र एक ओर आधुनिक वैज्ञानिक साधनो के द्वारा देश को उन्नत बनाने मे लगा हुआ है तो दूसरी ओर पुरानी परपराओ को भी उसने पुनर्जीवन दिया है, जिनमे से एक है—शनिवार को सारे कामकाज बद कर देना। इस प्राचीन नियम के अनुसार आधुनिक इजरायल मे शनिवार के पवित्र 'सैबथ' के दिन रेलगाडियाँ तक बद रहती है।

यहूदियो ने ही पश्चिमी धर्मो मे नबियो और पैगवरो तथा इलहामी शासनो का आरभ और प्रचार किया। उनके नबियो ने, विशेषकर छठी सदी ई० पू० के नबियो ने जिस साहस और निर्भीकता से श्रीमानो और असूरी सम्राटो को धिक्कारा है और जो वाइबिल की पुरानी पोथी मे आज भी सुरक्षित है, उसका ससार के इतिहास मे सानी नही। उन्होने ही नेबुखदनेज्जार की अपनी बाबुली कैद मे बाइबिल के पुराने पाँच खड (पेंतुतुख) प्रस्तुत किए। इसी से बाबुल के सबध से ही सभवत बाइबिल का यह नाम पडा।

सं०ग्रं०—बाइबिल (पुराना अहदनामा), एश्येंट कैंब्रिज हिस्ट्री ऑव इडिया, जिल्द २, ३, हेस्टिंग्ज एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एड एथिक्स, भाग ६, जूइश एनसाइक्लोपीडिया, जूइश क्रानिकल एड जूइश वर्ल्ड की जिल्दे, एच० बी० ट्रिस्ट्रेम लैंड ऑव इजरायल (१८६५), ई० आर० बेवन जुरूसलम अडर दि हाई प्रीस्ट (१९१२), सी० बेंजमैन ट्रायल एड एरर (१९४९), विश्वभरनाथ पाडेय विश्व का सास्कृतिक इतिहास (१९५५)। [वि० ना० पा०]

इजेकियल

५९८ ई० पू० मे बाबुल की सेना ने जुरूसलम नगर पर आक्रमण करके उसे लगभग नष्ट भ्रष्ट कर दिया। वहाँ के महल, सुलेमान के बनाए विशाल मदिर और प्राय समस्त सुदर भवनो मे आग लगा दी। शहर की चहारदीवारी को गिराकर जमीन से मिला दिया। प्रधान यहूदी पुरोहित और शहर के सब मुख्य व्यक्तियो को मौत के घाट उतार दिया और हजारो यहूदियो को निर्वासित बदी के रूप मे बाबुल पहुँचाकर बसा दिया। यहूदी जाति के दु ख भरे इतिहास मे यह घटना एक विशेष सीमाचिह्न समझी जाती है। निर्वासित यहूदी बदियो मे यहूदी जाति के पैगवर इजेकियल भी थे। इतिहास लेखको के अनुसार इजकियल न चबर नदी के किनारे तेल अबीव मे निर्वासित जीवन बिताया।

निर्वासित यहूदी इजेकियल को बहुत आदर और समान की दृष्टि से देखते थ और उनसे मार्गदर्शन की आशा रखते थ। पगवर इजकियल के ग्रथ 'इजेकियल' के अनुसार इजेकियल ने अपन निर्वासित धर्मावलबियो मे राष्ट्रीय और धार्मिक भावनाओ को निरतर जगाए रखा। अत्यत मर्मस्पर्शी शब्दो मे उन्होन एक एसे इजरायल राष्ट्र की कल्पना निर्वासितो के सामने रखी जिसका कभी अत नही हो सकता और जिसका भविष्य सदा उज्ज्वल और ऐश्वर्य से भरा होगा। इजेकियल के उपदेश गद्य और पद्य दोनो मे प्राप्त हैं।

इजेकियल की शिक्षा—मानव प्राणियो पर ईश्वर कठोर हाथो से शासन करता है। यह्वे, अर्थात् ईश्वर की सत्ता परम पवित्र और सार्वभौम है। यह्वे का कोई प्रतिस्पर्धी नही। यहूदियो को अभक्तिपूर्ण व्यवहार के लिये यह्वे दड देगा। अपनी प्रभुसत्ता को दृढ करने के लिये ही यह्वे दड और वरदान देता है।

बाबुली शासको ने जिन अन्यदेशीय लोगो को फिलिस्तीन ले जाकर बसाया था वे सब मनुष्यस्वभाव के अनुसार अपने अपने देवी देवताओ के साथ यह्वे की पूजा करने लगे थे और यहूदी जनसामान्य ने भी यह्वे के साथ साथ आगतुको के देवताओ की पूजा आरभ कर दी थी। फिलिस्तीन मे यहूदियो की इस वृत्ति से इजेकियल को बडी मानसिक पीडा पहुँची। अपने उपदेशो मे उन्होने उन्हे अभिशाप दिया। उनकी आशाएँ निर्वासित यहूदियो पर ही केंद्रित थी। इजेकियल के अनुसार उन्ही के ऊपर यहूदी धर्म का भविष्य निर्भर था।

इजीनियरी के लेख होते हैं और दूसरे में यांत्रिक और विद्युत् इजीनियरी के। ये लेख सबधित विभाग के अध्यक्ष की स्वीकृति पर छापे जाते हैं और इनसे देश में इजीनियरी की प्रत्येक शाखा की प्रगति का आभास मिलता है। सितबर, १९४६ मे जर्नल मे एक हिंदी विभाग भी खोला गया, जो अब सुदृढ हो गया है। इसका सपूर्ण श्रेय अवैतनिक सपादक श्री एन० एस० जोशी (सदस्य) और (मार्च, १९५४ मे) श्री ब्रजमोहनलाल (सदस्य) को है।

'बुलेटिन' का प्रकाशन १९३९ मे बद कर दिया गया था, किंतु १९५१ से वह फिर प्रकाशित हो रहा है। इस पत्रिका मे सामान्य लेख, सस्था की गतिविधियो का लेखा जोखा, सपादकीय टिप्पणियाँ आदि प्रकाशित होती हैं। इसके अलावा समय समय पर सस्था की ओर से विभिन्न विषयो पर पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित की जाती है। इस प्रकार प्रकाशन का कार्य नियमित रूप से चलता रहता है। प्रति वर्ष जर्नल मे प्रकाशित उत्कृष्ट लेखो के लेखको को पारितोषिक भी दिए जाते है।

अन्यान्य सस्थाओ में प्रतिनिधित्व--इस सस्था का एक लक्ष्य यह भी है कि यह उन विश्वविद्यालयों एव अन्यान्य शिक्षाधिकारियो से सहयोग करे जो इजीनियरी की शिक्षा को गति प्रदान करने मे सलग्न रहते हैं। विश्वविद्यालयो तथा अन्य शिक्षासस्थाओ की प्रबध समितियो मे भी इस सस्था का प्रतिनिधित्व रहता है। ५० से अधिक सरकारी समितियो मे इसका प्रतिनिधित्व है। यह सस्था 'कान्फरेस ऑव इजीनियरिंग इस्टिटयूशन्स ऑव दि कॉमनवेल्थ' से भी सबद्ध है।

वार्षिक अधिवेशन--प्रत्येक स्थानीय केंद्र का वार्षिक अधिवेशन दिसबर मास मे होता है। मुख्य सस्था का वार्षिक अधिवेशन बारी बारी से प्रत्येक केंद्र में, उसके निमत्रण पर, जनवरी या फरवरी मास मे होता है, जिसमे सारे देश के सब प्रकार के सदस्य सम्मिलित होते हैं और जर्नल मे प्रकाशित महत्वपूर्ण लेखो पर वाद विवाद होता है। सस्था प्राचीन सस्कृत वाङमय के वास्तुशास्त्र सबधी मुद्रित और हस्तलिखित ग्रथो और उनसे सबधित अर्वाचीन साहित्य का सग्रह भी नागपुर केंद्र मे कर रही है।

इस प्रकार यह सस्था देश के विविध इजीनियरी व्यवसायो मे लगे इजीनियरो को एक सामाजिक सगठन मे बाँधकर इजीनियरी विज्ञान के विकास का भरसक प्रयत्न करती है। [बा० कृ० शे०]

इंस्ट्रुमेंट ऑव गवर्नमेंट (१६५३) इग्लैड के उस सविधान का नाम जिसको राजतत्र की समाप्ति के चार वर्ष बाद कुछ प्रमुख सैनिक अधिकारियो ने प्रस्तुत किया था। इस सविधान मे विधिनिर्माण और प्रशासन के लिये दो पृथक् परिषदो--पार्लामेंट और कौसिल--तथा प्रमुख अधिकारी लार्ड प्रोटेक्टर की व्यवस्था थी। लार्ड प्रोटेक्टर और पार्लामेंट विधिनिर्माण के सर्वोच्च अधिकारी थे। प्रशासन का प्रमुख अधिकारी लार्ड प्रोटेक्टर था। प्रशासनकार्य मे उसकी सहायता के लिये १३ से लेकर २१ सदस्यो तक की कौसिल की व्यवस्था सविधान मे थी। लार्ड प्रोटेक्टर और पहली कौसिल के सदस्यो का नामोल्लेख भी सविधान मे था। इग्लैड और आयरलैड तीनो देशों के लिये वेस्टमिस्टर (लदन) मे ४६० सदस्यो की एक सदनात्मक पार्लामेंट की व्यवस्था थी। पार्लामेंट का कार्यकाल, सदस्यो और निर्वाचको की योग्यता, सेना का व्यय, आय के साधन, धर्मव्यवस्था, लार्ड प्रोटेक्टर के अधिकार, राज्य के मौलिक सिद्धात आदि का भी उल्लेख था। आरभ से ही इस सविधान का विरोध हुआ और पाँच वर्ष में ही इसका जीवन समाप्त हो गया। यह इग्लैड का प्रथम और एकमात्र लिखित सविधान है। [त्रि०प०]

इक़बाल, डाक्टर मुहम्मद इकबाल (१८७६-१९३८ ई०) के पूर्वज काश्मीरी ब्राह्मण थे जिन्होने सियालकोट मे बसकर कुछ पीढी पूर्व इसलाम धर्म स्वीकार कर लिया था। इकबाल के पिता फारसी, अरबी जानते थे और सूफी विचारो से प्रभावित थे। इकबाल ने पहले सियालकोट मे शिक्षा प्राप्त की और वहाँ के मौलवी सैयद मीर हसन से बहुत प्रभावित हुए। उसी समय से कविताएँ लिखना आरभ कर दिया था और दिल्ली के प्रसिद्ध कवि नवाब मिर्जा दाग को अपनी कविताएँ दिखाते थे। जब उच्च शिक्षा के लिये लाहौर पहुँचे तो यहाँ कविसम्मेलनों मे आने जाने लगे। गवर्नमेंट कालेज, लाहौर मे उस समय टामस आर्नल्ड दर्शनशास्त्र पढाते थे, वह इकबाल को बहुत पसद करने लगे और कुछ समय बाद इकबाल उन्ही की सहायता से उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये यूरोप गए। एम० ए० पास करके इकबाल कुछ समय के लिये ओरियटल कालेज और उसके पश्चात् गवर्नमेंट कालेज, लाहौर मे अध्यापक नियुक्त हो गए। १९०५ ई० मे इन्हे गवेषणापूर्ण अध्ययन के लिये इगलैड और जर्मनी जाने का अवसर प्राप्त हुआ। १९०८ ई० मे डाक्टरी और बैरिस्टरी पास करके लाहौर लौट आए। आते ही गवर्नमेंट कालेज मे फिर नियुक्त हो गए, परतु दो ही वर्ष बाद वहाँ से अलग होकर वकालत करने लगे। १९२२ ई० मे 'सर' हुए और १९२६ ई० मे कौसिल के मेबर। १९२८ ई० मे मद्रास, मैसूर, हैदराबाद मे रिकस्ट्रक्शन ऑव रेलिजस थाट इन इस्लाम पर भाषण दिए। १९३० मे प्रयाग मे मुस्लिम लीग के सभापति चुने गए, जहाँ उन्होने पाकिस्तान की प्रारभिक योजना प्रस्तुत की। १९३४ ई० से ही बीमार रहने लगे और अप्रैल १९३८ ई० को लाहौर में देहात हो गया।

उर्दू कवियो मे इकबाल का नाम १९वी शताब्दी के अत ही से लिया जाने लगा था और जब वह भारत से बाहर गए तो बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे। लदन मे इकबाल ने उर्दू छोडकर फारसी मे लिखना आरभ किया। कारण यह था कि इस भाषा के साधन से वह सभी मुसलमान देशो मे अपने विचारो का प्रचार करना चाहते थे। इसीलिये फारसी मे उर्दू से अधिक उनकी रचनाएँ प्राप्त होती हैं।

इकबाल की कविता मे दार्शनिक, नैतिक, धार्मिक और राजनीतिक धाराएँ बडे कलात्मक ढग से मिल गई हैं। उनकी विचारधारा कुछ धार्मिक नेताओ और कुछ दार्शनिको के गहरे ज्ञान से मिलकर बनी है। इकबाल ने जब लिखना आरभ किया तो उनके विचार राष्ट्रीय भावो से भरे हुए थे परतु धीरे धीरे वह एक प्रकार की दार्शनिक सकीर्णता की ओर बढते गए और अत मे उनका यह विश्वास हो गया कि मुसलमान भारतवर्ष मे अलग ही रहकर सुखी रह सकते हैं। वैसे उन्होने मनुष्य की आत्मशक्ति, मानव ज्ञान, सर्वगुणसपन्न अलौकिक पुरुष, प्रकृति पर मनुष्य की विजय, व्यक्ति और समाज, पूर्व और पश्चिम के सास्कृतिक सबधो पर बहुत सी कविताएँ लिखी है, किंतु उनके पढनेवाले को यह अनुभव अवश्य होता है कि वह खुले हृदय से समस्त जनजातियो को एक सूत्र मे बाँधने के लिये उत्सुक नही थे, वरन् ससार मे मुसलमानो का बोलबाला चाहते थे। इसलिये उनके दार्शनिक विचारो मे जटिल प्रतिकूलता मिलती है। उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ ये हैं

उर्दू मे 'बाँगेदरा', 'बाले जिबरील', 'जर्बेकलीम' और फारसी मे 'असरारे खुदी', 'रमूजे बेखुदी', 'पयामे मशरिक', 'जबूरे अजम', 'जावेदनामा', 'मुसाफिर', 'पस चे बायद कर्द'।

अग्रेजी मे लेक्चर्स ऑन रिकस्ट्रक्शस ऑव रेलिजस थॉट इन इस्लाम, डेवलपमेंट ऑव मेटाफिजिक्स इन पर्शियन।

स०ग्र०--सालिक जिक्रे इकबाल, यूसुफ हुसेन खाँ रूहे इकबाल, खलीफा अब्दुल हकीम फलसफए इकबाल, मुहम्मद ताहिर, सीरते इकबाल, खलीफा अब्दुल हकीम फिक्रे इक़बाल, के० जी० सय्यदेन इकबाल्स एजुकेशनल फिलॉसफी, ए० गनी ऐंड नूर इलाही बिब्लियोग्राफी ऑव इकबाल, मजहरुद्दीन इमेज ऑव वेस्ट इन इकबाल। [सै० ए० हु०]

इकीटोस (१) पेरू राज्य मे मारानोन नदी के बाएँ तट पर लोरेटो प्रदेश मे निवास करनेवाली दक्षिणी अमरीका की एक आदिम जाति है। यह प्रदेश 'रीओ नापा' के मुहाने से ७५ मील उत्तर है। ईसाई धर्मप्रचारको के अथक प्रयत्न करने पर भी ये असभ्य ही रह गए हैं। ये शिलाओ पर अकित पशु पक्षियो के चित्रो को पूजते है। ये कुछ व्यापार भी करते है और व्यापार मे आयात की मुख्य वस्तुएँ रबर से बदली जाती है। २०वी सदी के प्रारभ मे इनकी कुल सख्या १२,००० थी।

(२) इकीटोस पेरू राज्य मे ऊपरी अमेजन के बाएँ तट पर स्थित एक नगर तथा नदी-बदरगाह है। यह लोरेटो प्रदेश की राजधानी है। इकीटोस समुद्र की सतह से प्राय ४०० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यहाँ की जलवायु गरम तथा आर्द्र है। नगर सन् १८६३ ई० में बसाया गया था। यहाँ के घर प्राय फूस तथा खपरैलो से छाए हुए है। नगर की मुख्य व्यापारिक वस्तु रबर है। निर्यात के अन्य सामान तबाकू, रुई, मोम, कछुए का तेल, सोना

मध्य मे स्थित एक सँकरा समुद्रतटीय मैदान है। उत्तरी भाग मे पर्वतीय ढालो पर मूल्यवान् फल, जैसे जैतून, अगूर तथा नारगी बहुत पैदा होती है। उपजाऊ घाटी तथा मैदानो मे घनी बस्ती है। इनमे अनेक गाँव तथा शहर बसे हुए है। अधिक ऊँचाइयो पर जगल है।

मध्य इटली—मध्य इटली के बीच मे अपेनाइन पहाड उत्तर-उत्तर-पूर्व से दक्षिण-दक्षिण-पश्चिम की दिशा में एड्रियाटिक समुद्रतट के समातर फैला हुआ है। अपेनाइन का सबसे ऊँचा भाग ग्रैनसासोडी इटैलिया (९,५६० फुट) इसी भाग मे है। यहाँ पर्वतश्रेणियो का जाल बिछा हुआ है, जिनमे अधिकाश नवबर से मई तक बर्फ से ढकी रहती है। यहाँ पर कुछ विस्तृत, बहुत सुदर तथा उपजाऊ घाटियाँ है, जैसे एटरनो की घाटी (२,३८० फुट)। मध्य इटली की प्राकृतिक रचना के कारण यहाँ एक ओर अधिक ठंडा, उच्च पर्वतीय भाग है तथा दूसरी ओर गर्म तथा शीतोष्ण जलवायु-वाली ढाल तथा घाटियाँ है। पश्चिमी ढाल एक पहाडी ऊबड खाबड भाग है। दक्षिण मे टस्कनी तथा टाइबर के बीच का भाग ज्वालामुखी पहाडो की देन है, अत यहाँ गव्हाकार पहाडियाँ तथा झीलें हैं। इस पर्वतीय भाग तथा समुद्र के बीच मे काली मिट्टीवाला एक उपजाऊ मैदानी भाग है जिसे कापान्या कहते है। मध्य इटली के पूर्वी तट की तरफ पहाडी श्रेणियाँ समुद्र के बहुत निकट तक फैली हुई हैं, अत एड्रियाटिक सागर मे गिरनेवाली नदियो का महत्व बहुत कम है। यह विषम भाग फलो के उद्यानो के लिये बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ जैतून तथा अगूर की खेती होती है। यहाँ बडे शहरो तथा बडे गावो का अभाव है, अधिकाश लोग छोटे छोटे कस्बो तथा गावो में रहते है। खनिज सपत्ति के अभाव के कारण यह भाग औद्योगिक विकास की दृष्टि से पिछडा हुआ है। फुमिनस, ट्रेसिमेनो तथा चिउस्सी यहाँ की प्रसिद्ध झीले हैं। पश्चिमी भाग की झीले ज्वालामुखी पहाडो की देन है।

दक्षिणी इटली यह सपूर्ण भाग पहाडी है जिसके बीच मे अपेनाइस रीढ की भाँति फैला हुआ है तथा दोनो ओर नीची पहाडियाँ है। इस भाग की औसत चौडाई ५० मील से लेकर ६० मील तक है। पश्चिमी तट पर एक सँकरा 'तेरा डी लेवोरो' नाम का तथा पूर्व में आपूलिया का चौडा मैदान है। इन दो मैदानो के अतिरिक्त सारा भाग पहाडी है और अपेनाइस की ऊँची नीची शृखलाओ से ढका हुआ है। पोटेजा की पहाडी दक्षिणी इटली की अतिम सबसे ऊँची पहाडी (पोलिनो की पहाडी) से मिलती है। सुदूर दक्षिण मे ग्रेनाइट तथा चूने के पत्थर की, जगलो से ढकी हुई पहाडियाँ तट तक चली गई हैं। लीरी तथा गेटा आदि एड्रियाटिक सागर मे गिरनेवाली नदियाँ पश्चिमी ढाल पर बहनेवाली नदियो से अधिक लबी हैं। ड्रिनगो से दक्षिण की ओर गिरनेवाली विफरनो, फोरटोरे, सेरवारो, आटो तथा ब्रैडानो मुख्य नदियाँ हैं। दक्षिणी इटली में पहाडो के बीच में स्थित लैगोडेल-मोटेसी झील है।

इटली के समीप स्थित सिसली, सार्डीनिया तथा कॉर्सिका के अतिरिक्त एल्बा, कैप्रिया, गारगोना, पायनोसा, माटीक्रिस्टो, जिग्लिको आदि मुख्य मुख्य द्वीप है। इन द्वीपो मे इस्चिया, प्रोसिदा तथा पोजा, जो नेपुल्स की खाडी के पास है, ज्वालामुखी पहाडो की देन है। एड्रियाटिक तट पर केवल ड्रिमिटी द्वीप है।

जलवायु तथा वनस्पति देश की प्राकृतिक रचना, अक्षाशीय विस्तार (१०° २९')तथा भूमध्यसागरीय स्थिति ही जलवायु की प्रधान नियामक हैं। तीन ओर समुद्र से तथा उत्तर मे उच्च आल्प्स से घिरे होने के कारण यहाँ की जलवायु की विविधता पर्याप्त बढ जाती है। यूरोप के सबसे अधिक गर्म देश इटली मे जाडे में अपेक्षाकृत अधिक गर्मी तथा गर्मी में साधारण गर्मी पडती है। यह प्रभाव समुद्र से दूरी बढने पर घटता जाता है। आल्प्स के कारण यहाँ उत्तरी ठढी हवाओ का प्रभाव नही पडता है। किंतु पूर्वी भाग मे ठढी तथा तेज बोरा नामक हवाएँ चला करती है। अपेनाइस पहाड के कारण अध महासागर से आनेवाली हवाओ का प्रभाव तिर हीनियन समुद्रतट तक ही सीमित रहता है।

उत्तरी तथा दक्षिणी इटली के ताप मे पर्याप्त अतर पाया जाता है। ताप का उतार चढाव ५२° फा० से ६६° फा० तक होता है। दिसबर तथा जनवरी सबसे अधिक ठढे तथा जुलाई और अगस्त सबसे अधिक गर्म महीने है। पो नदी के मैदान का औसत ताप ५५° फा० तथा ५०० मील दूर स्थित सिसली का औसत ताप ६४° फा० है। उत्तर के आल्प्स के पहाड़ी क्षेत्र मे औसत वार्षिक वर्षा ८०'' होती है। अपेनाइस के ऊँचे पश्चिमी भाग मे भी पर्याप्त वर्षा होती है। पूर्वी लोबार्डी के दक्षिण-पश्चिमी भाग में वार्षिक वर्षा २४'' होती है, किंतु उत्तरी भाग मे उसका औसत ५०'' होता है तथा गर्मी शुष्क रहती है। आल्प्स के मध्यवर्ती भाग मे गर्मी मे वर्षा होती है तथा जाड़े मे बर्फ गिरती है। पो नदी की द्रोणी मे गर्मी मे अधिक वर्षा होती है। स्थानीय कारणो के अतिरिक्त इटली की जलवायु भूमध्यसागरीय है जहाँ जाडे मे वर्षा होती है तथा गर्मी शुष्क रहती है।

जलवायु की विषमता के कारण यहाँ की वनस्पतियाँ भी एक सी नही है। मनुष्य के सतत प्रयत्नो से प्राकृतिक वनस्पतियाँ केवल उच्च पहाडो पर ही देखने को मिलती है जहाँ नुकीली पत्तीवाले जगल पाए जाते हैं। इनमे सरो, देवदारु चीड तथा फर के वृक्ष मुख्य है। उत्तर के पर्वतीय ठढे भागो मे अधिक ठढक सहन करनेवाले पौधे पाए जाते हैं। तटीय तथा अन्य निचले मैदानो मे जैतून, नारगी, नीबू आदि फलो के उद्यान लगे हुए हैं। मध्य इटली मे अपेनाइस पर्वत की ऊँची श्रेणियो को छोडकर प्राकृतिक वनस्पति अन्यत्र नही है। यहाँ जतून तथा अगूर की खेती होती है। दक्षिणी इटली मे तिरहीनियन तटपर जैतून, नारगी, नीबू, शहतूत, अजीर आदि फलो के उद्यान है। इस भाग मे कदो से उगाए जानेवाले फूल भी होते हैं। यहाँ ऊँचाई पर तथा तटीय भूमि मे ओक के तथा सदाबहार जगल पाए जाते है। अत यह स्पष्ट है कि पूरे इटली को आधुनिक किसानो ने फलो, तरकारियो तथा अन्य फसलो से भर दिया है, केवल पहाडो पर ही जगली पेड तथा झाडियाँ पाई जाती हैं।

कृषि इटली-वासियो का सबसे बडा व्यवसाय खेती है। सपूर्ण जनसख्या का $\frac{1}{3}$ भाग खती से ही अपनी जीविका प्राप्त करता है। जलवायु तथा प्राकृतिक दशा की विभिन्नता के कारण इस छोटे से देश मे यूरोप मे पैदा होनेवाली सारी चीजे पर्याप्त मात्रा मे पैदा होती ह, अर्थात् राई से लेकर चावल तक, सेब से लेकर नारगी तक तथा अलसी से लेकर कपास तक। सपूर्ण देश मे लगभग ७,०५,००,००० एकड भूमि उपजाऊ है, जिसमे १,८३,७४,००० एकड मे अन्न २८,६२,००० एकड मे दाल आदि फसले, ७,७२,००० एकड मे औद्योगिक फसले,१४,९०,००० एकड मे तरकारियाँ, २३,८६,००० एकड मे अगूर, २०,३३,००० एकड मे जैतून, २,१६,००० एकड में चरागाह और चारे की फसले तथा १,४४,५८,००० एकड मे जगल पाए जाते है। यहाँ की खती प्राचीन ढग से ही होती है। पहाडी भूमि होने के कारण आधुनिक यत्रो का प्रयोग नही हो सका है।

जनसख्या पूर्व ऐतिहासिक काल मे यहाँ की जनसख्या बहुत कम थी। जनवृद्धि का अनुपात द्वितीय विश्वयुद्ध के पहल पर्याप्त ऊँचा था (१९३१ ई० मे वार्षिक वृद्धि ० ८७ प्रति शत थी), किंतु अब यह दर घट रही है।

पर्वतीय भूमि तथा सीमित औद्योगिक विकास के कारण जनसख्या का घनत्व अन्य यूरोपीय देशो की अपेक्षा बहुत कम है। अधिकाश लोग गाँवो मे रहते है। १९४६ ई० मे देश मे ५०,००० से ऊपर जनसख्यावाल नगरो की सख्या ७० थी जिनमे सारी जनसख्या का २७ ५ प्रति शत निवास करता था। यहाँ अधिकाश लोग रोमन कैथोलिक धर्म माननेवाले है। १९३१ ई० की जनगणना के अनुसार ९९ ६ प्रति शत लोग कैथोलिक थे, ० ३४ प्रति शत लोग दूसरे धर्म के थे तथा ०६ प्रति शत ऐसे लोग थे जिनका कोई विशेष धर्म नही था। शिक्षा तथा कला की दृष्टि से इटली प्राचीन काल से अग्रणी रहा है। रोम की सभ्यता तथा कला इतिहासकाल मे अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई थी (देखे **रोम**)। यहाँ के कलाकार और चित्रकार विश्वविख्यात थे। आज भी यहाँ शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा है। निरक्षरता नाम मात्र की भी नही है। देश मे १०५ दनिक पत्र प्रकाशित होते ह। छवि-गृहो की सख्या लगभग १३,२०० है (१९५६ ई०)।

खनिज तथा उद्योग धंधे—इटली में खनिज पदार्थ अपर्याप्त है, केवल पारा ही यहाँ से निर्यात किया जाता है। यहाँ सिसली (काल्टानिसेटा), टस्कनी (अरेजो, फ्लोरेस तथा ग्रासेटो), सार्डीनिया (कैगलिआरी, ससारी तथा इग्लेसियास), लोबार्डी (बर्गेमो तथा ब्रेसिया) एव पिडमाट क्षेत्रो में ही खनिज तथा औद्योगिक विकास भली भाँति हुआ है। १९५६ ई० मे कोयला १४,७९,५०९ मेट्रिक टन, खनिज तैल ५,६७,३०२ मे० टन, खनिज

अराजकता में, वह चाहता, एक व्यवस्था वन जाय। अपने पूर्वजो की राजनीति में उत्तरी अफ्रीका के स्वतत्र इलाको को, दूर पश्चिमी एशिया के चार राज्यो को उसने मिस्री फराऊनो की छाया मे सिकुडते और शासन के एक सूत्र मे बँधते देखा था और उससे उसने अपने मन मे एक नई व्यवस्था की नीव डाली। उसने कहा—जैसे नील नद के उद्गम से फिलिस्तीन और सीरिया तक एक फराऊन का साम्राज्य है, क्यो नही वैसे ही देवताओ की सख्यातीत भीड के वदले फराऊनी साम्राज्य की सीमाओ तक वस एक देवता का साम्राज्य व्यापे, मात्र एक की पूजा हो? और इस चितन के समय उसकी दृष्टि देवताओ की भीड पार कर सूर्य के बिंब से जा टकराई। उस दह्यशील प्रकाशमान वर्तुल अग्निपिंड ने उसके नेत्र चौंधिया दिए। दृष्टि फिर उस चमक के परे न जा सकी। इखनातून ने अपने चितन और प्रश्न का उत्तर पा लिया—उसने सूर्य को अपना इष्टदेव वनाया।

प्राचीन जातियो के विश्वास में सूरज के गोले ने वार वार एक कुतूहल पैदा किया था और उसे जानने का प्रयत्न सभी जातियो ने समय समय पर किया। ग्रीको का प्रोमेथियस् उसी की खोज मे उडा, हिंदू पुराणो में जटायु का भाई सपाती उसी अर्थ सूर्य की ओर उडा और अपने पखो को झुलसाकर पृथ्वी पर लौटा। और इन उडानो का परिणाम हुआ अग्नि का ज्ञान और उसका उपयोग। परतु यह किसी ने न जान पाया कि सूर्य के पीछे की शक्ति क्या है, यद्यपि लगा सवको ही कि शक्ति है कोई उसके पीछे, केवल वे उसे जानते भर नही। ऐसा ही भारतीय उपनिषदो के चिंतको को भी पीछे लगा और उन्होंने सूर्य के विंव को ब्रह्म का नेत्र कहा।

इखनातून को भी कुछ ऐसा ही लगा कि सूर्य के बिंव के पीछे कोई शक्ति है निश्चय, यद्यपि वह उसे जानता नही। फिर इखनातून ने निश्चय किया कि प्रकृति का सवसे महान्, सवसे सत्तावान्, सवसे सारवान् सत्य सूर्य के बिंब के पीछे की वह शक्ति है जिसे हम नही जानते। किंतु न जानना सत्ता के अभाव का प्रमाण नही है, अव्यक्त की पूजा तो हो ही सकती है, चाहे उसकी मूर्ति न वन सके। और सत्ता जितनी ही अमूर्त होती है, जितनी ही ज्ञान के घेरे में नही समा पाती, उतनी ही अधिक व्यापक होती है, उतनी ही महान्। और जिस अज्ञात और अज्ञेय शक्ति तक हमारी मेधा नही पहुँच पाती, उसका प्रकाश उस प्रज्वलित अग्निखड सूर्य के रूप में तो सदा हम तक पहुँचता रहता है, प्रकट ही है। वही सूर्यविव के पीछे की शक्ति इखनातून के विश्वास की दैवी शक्ति वनी। उसी को उसने पूजा।

परतु देवता या शक्ति का बोध हो जाना एक वात है, उसका विचार सर्वथा दूसरी वात। सत्य का जव दर्शन होता है तव प्रश्न उठता है कि उसकी सत्यता का ज्ञान अपने तक ही सीमित रखा जाय या अपने से भिन्न जनो को भी उसका साक्षात्कार कराया जाय। बुद्ध ने जव ज्ञान पाया तव यही प्रश्न उनके मन मे उठा और उन्होने अपना देखा सत्य दूसरो मे वाँटने का निश्चय किया। जो पाता है वह देकर ही रहता है। इखनातून ने पाया था और पाई वस्तु को अपने तक ही सीमित रखना उसे स्वार्थपर लगा और उसने तय किया कि वह देकर ही रहेगा। किंतु मिस्री साम्राज्य की सीमाओ तक सत्य को पहुँचाना कुछ सरल नही था। सामने अधविश्वासो की, परपराओ की, उनके शक्तिमान् पुजारियो की लौह दीवार खडी थी। पर वैसी ही अटूट आस्था इखनातून की भी थी, उतना ही दृढ उसका सकल्प भी था। और उसने अपने सत्य के प्रचार का दृढ निश्चय कर लिया। यह नवीन का प्राचीन के विरुद्ध विद्रोह था। नवीन और प्राचीन में घमासान छिड गया।

इस युद्ध मे इखनातून की सी ही महाप्राण उसकी भगिनी और पत्नी नेफ़्रेतेते के सहयोग से उसे वडा वल मिला। आत्माओ और नरक के देवता ओसिरिस और उसकी पत्नी ईसिस, प्तेह और सेत, रा और आमेन आदि देवताओ की लबी पक्ति को सूर्य के पीछे की शक्तिवाले व्यापक देवता के ज्ञान से इखनातून ने वेधना चाहा। वह कार्य और कठिन इस कारण हो गया कि रा और आमेन सूर्य के ही नाम थे जिनकी पूजा सदियो पहले से मिस्र मे होती आई थी और इसी कारण सूर्य के नए देवता 'अतोन' को पुराने रा और आमेन के भक्तो का समझ पाना तनिक कठिन था। यह वता पाना और कठिन था कि सूर्य का विंव अतोन स्वय वह विश्वव्यापी देवता नही है, उसके पीछे की शक्ति वह हस्ती हे जिसका सूचक सूर्य का विंव है, और जो स्वय ससार की हर वस्तु मे रम रहा है, जो अकेला है, मात्र अकेला और जिसके परे अन्य कुछ नही है, जो अपने ही प्रकाश से प्रकाशित है, जो चराचर का स्रष्टा है। शकराचार्य के अद्वैत ब्रह्म का निरूपण, वाइविल की पुरानी पोथी के नवियो के एकेश्वरवाद, मुहम्मद के एक अल्लाह के इलहाम होने के सदियो पहले इखनातून इन महात्माओ के विचारो के वीज का आदि रूप में प्रचार कर चुका था। और तव वह केवल पद्रह वर्ष का था। तीस वष की आयु मे सिकदर ने समकालीन ससार जीता, तीस वर्प की आयु मे आचार्य शकर ने अपने वेदात से भारत की दिग्विजय की, उनकी आधी आयु—पद्रह वर्प—मे इखनातून ने अपने अतोन के एकेश्वरवाद की महिमा गाई। एक भगवान् को समूचे चराचर के आदि और अत का कारण माननवाला इतिहास में यह पहला एकेश्वरवादी धर्म था जिसका इखनातून ने प्रचार किया।

प्राचीन देवताओ के पुरोहितो ने विद्रोह किया। प्राचीन राजाओ की राजधानी थीविज थी। इखनातून ने सूर्य के नाम पर अपनी नई राजधानी वसाई और उस राजधानी के वाहर वह कभी नही निकला। उस राजधानी का नाम आखेतातेन था। उसके लिये राजधानी के प्राचीरो के पीछे वने रहना इसलिये और भी सभव हो सका कि उसने अशोक से हजार साल पहले यह निश्चय कर लिया था कि वह देश जीतने और युद्ध करने के लिये अपनी नगरी से वाहर नही जायगा। वह गया भी नही वाहर। दूर के प्रातो ने करवट ली, पर वह नही हिला। अपने नए धर्म का प्रचार वही से करता रहा। प्राचीन देवताओ के पुरोहितो ने कुफ्र का फतवा दिया और उसने जवाव में उनकी माफी छीन ली, उनकी दौलत ले ली, उनके देवताओ की लोकोत्तर सपत्ति जब्त कर ली। इस सवध में इखनातून ने पर्याप्त कठोरता से कार्य किया। प्राचीन देवताओ की पूजा उसने साम्राज्य मे वद कर दी, उनके मदिर वीरान कर दिए। उसने अपने देवता अतोन के शत्रु देवता आमेन के अभिलेखो मे जहाँ जहाँ नाम लिखे थे, सर्वत्र मिटवा दिए। उसके पिता का नाम आमेनहेतेप था जिसका एकाश शब्द 'आमेन' निर्मित करता था। परिणाम यह हुआ कि जहाँ जहाँ पिता का नाम लिखा था उस प्राचीन देवता का नाम होने के कारण पिता का नामाश भी वहाँ वहाँ मिटा देना पडा।

पद्रह वर्प के उस वालक इखनातून का यह एकेश्वरवाद तो निश्चय तेरह वर्प के वाद, उसके मरने पर, उसके शत्रुओ ने मिटा दिया, पर धर्म और दर्शन के इतिहास मे दोनो अमर हो गए—इखनातून भी, उसके धर्म के सिद्धात भी। इखनातून के इस प्रचार के लिये उसे पागल की उपाधि मिली, उसके शत्रुओ ने उसे "आतोन का अपराधी" घोपित किया। परतु इखनातून न तो पागल था और न, जैसा प्राय हो जाया करता था, वह हत्यारे के छुरे से मरा। पर वह धर्म का दीवाना जरूर था और दीवाना ही शायद वह मरा भी।

इखनातून की मेधावी सूझ से वढकर अपने नए धर्म के प्रचार की क्राति की भावना थी, और उससे भी वढकर उस प्रचार के लिये प्रीति भरे शव्दो का उसने व्यवहार किया। वह कवि भी था और अपने देवता की शक्ति जिन पक्तियो मे उसने व्यक्त की है वे उपनिपद् के उद्गारो से कम चमत्कारी नही हैं। अशोक के शव्दो की ही भाँति उसके हृदय से निकलकर सुनने और पढनेवालो के हृदय मे वे वैठ जाती थी। तेल-एल-अमरना की चट्टानो पर खुदी इखनातून की सूर्यशक्ति की स्तुति मे वनाई कुछ पक्तियाँ इस प्रकार हैं

जव तू पच्छिमी आसमान के पीछे डूब जाता है,
जगत् अँधेरे में डूब जाता है, मृतको की तरह,
हर सिंह तव अपनी माँद से निकल पडता है,
साँप अपने विलो से निकल पडते है, डसने लगते हैं,
अधकार का राज फैल चलता है,
सन्नाटा दुनिया पर अपना साया डालता चला जाता है।

चमक उठती है धरा जव तू क्षितिज से निकल पडता है,
जव तू आसमान की चोटी पर अतोन की आँख से दिन मे देखता है,
अँधेरे का लोप हो जाता है।

जव तेरी किरने पसरने लगती है, इसान मुस्करा उठता है,
जाग पडता है, अपने पैरो पर खडा हो जाता है, तू ही उसे जगाता है।
अपने अगो को वह धो डालता है, लेवास को पहन लेता है,
फिर उगते हुए तुम्हारे लाल गोले को हाथ उठाकर पूजता है,
तुमको माथा टेकता है।

तक पर कब्जा कर रखा था। सन् ४७५ ई० में एक छोटा सा बलवा हुआ। अतिम रोमी सम्राट् जूलियस नेपो गद्दी से उतार दिया गया। उसकी जगह इटली में गौथो की हुकूमत कायम हो गई। लगभग सौ वर्षो के शासन के बाद सन् ५६५ ई० में गौथिक शासन समाप्त होकर इटली में लोबार्डियो का शासन प्रारभ हुआ।

सन् ७७४ ई० मे चार्ल्स महान् (शार्लमान) अपने श्वशुर अतिम लोबार्द नरेश देसीदरिअस को पदच्युत कर स्वय इटली का सम्राट् बन गया। चार्ल्स ने लोबार्दो की बडी बडी जमीदारियाँ समाप्त करके उन्हे छोटी छोटी जमीदारियोमें बाँट दिया और ईसाई धर्माध्यक्षो के अधिकारो को बढा दिया। इस चार्ल्स राजकुल के आठ नरेशो ने सन् ८८८ ई० तक इटली पर शासन किया। १०वी शताव्दी मे मगयार कबीले की सेनाओ ने उत्तरी इटली पर आक्रमण कर उसके उपजाऊ प्रदेशो को वीरान बना दिया। मगयारो के आक्रमणो के बाद इटली पर निरतर उत्तर से हूणो के और दक्षिण से अरबो के आक्रमण होते रहे। १०वी शताव्दी के अत में इटली के धर्माचार्यो के आग्रह पर जर्मनी के सैक्सन सम्राट् ओट्टो ने इटली पर विधिवत् जर्मन सत्ता की घोषणा कर दी। तब से १५वी शताब्दी के अत तक जर्मनी के बदलते हुए राजघरान इटली के सम्राट् बनते रहे।

१५वी शताव्दी के अत मे अल्प काल के लिये इटली विदेशी शासन से मुक्त हुआ, किंतु १६वी शताब्दी के आरभ मे वह फिर यूरोपीय राजनीति के शिकजे मे जकड गया। स्पेनी सत्ता अपने चरम उत्कर्ष पर थी। फ्रास के साथ उसके युद्ध चल रहे थे। स्पेन, फ्रास और आस्ट्रिया तीनो में रोम के प्रदेशो पर अधिकार करने के लिये प्रतिस्पर्धा चलने लगी। यह स्थिति नैपोलियन के आक्रमण के समय तक बनी रही।

१८ मई, सन् १८०४ ई० मे नैपोलियन ने इटली के ऊपर अपने आधिपत्य की घोषणा की और २६ मई, सन् १८०५ ई०को मिलान के गिरजाघर में नैपोलियन ने इटली के लोबार्द नरेशो का लौहमुकुट धारण किया।

इटली के ऊपर नैपोलियन का शासन यद्यपि क्षणिक रहा, फिर भी नैपोलियन के शासन ने इटलीवालो मे एक राष्ट्र की ऐसी भावना भर दी और उनमे ऐसा सगठन और अनुशासन पदा कर दिया जो उन्हे निरतर स्वाधीन होने की प्रेरणा देता रहा। नई सधि के अनुसार इटली के ऊपर आस्ट्रिया का सरक्षण लाद दिया गया। अदर ही अदर इस सरक्षण को हटाने के प्रयत्न होते रहे।

सन् १८३१ ई० मे इटली के प्रसिद्ध देशभक्त जोसफ मात्सीनी ने मार्सेई में निर्वासित इतालियाई देशभक्तो की एक 'जिओवाने इतालिआ' (नौजवाने इतालिआ) नामक सस्था का निर्माण किया जिसका उद्देश्य इटली को स्वाधीन करना था।

मात्सीनी की स्वाधीनता की घोषणा को अप्रैल, सन् १८४९ मे जनरल गारीबाल्दी ने मूर्त रूप दिया। गारीबाल्दी के नेतृत्व मे हजारो नौजवानो ने फ्रेच, स्पेनी, आस्ट्रियाई और नेपुल्सी सेनाओ का वीरता के साथ सामना किया। यद्यपि देशभक्तो की सेना चार चार विदेशी सेनाओ के सामने न ठहर सकी और गारीबाल्दी को मातृभूमि छोड अमरीका मे शरण लेनी पडी, फिर भी इस असफल स्वाधीनतासग्राम ने इतालियाई जनता की देशभक्ति की आकाक्षा अत्यधिक बढा दी।

१० वर्ष बाद ११ मई, सन् १८५९ को गारीबाल्दी चुने हुए देशभक्तो के साथ अमरीका से अपनी मातृभूमि लौटा। उसने जनता की सहायता से पहले सिसली पर अधिकार किया। सिसली विजय के बाद २० हजार सेना के साथ गारीबाल्दी ने दक्षिण इटली मे प्रवेश किया। १८ फरवरी, सन् सन् १८६० को इटली की नई पार्लामेंट की बैठक हुई और विधिवत् विक्टर इमानुअल को इटली का राजा घोषित कर दिया गया।

सन् १९१४-१८ के विश्वयुद्ध मे इटली मित्रराष्ट्रो के पक्ष मे अगस्त, सन् १९१६ मे युद्ध मे शरीक हुआ। उस पहले विश्वयुद्ध मे इटली के ६ लाख सनिक मैदान में काम आए और लगभग १० लाख बुरी तरह जख्मी हुए। महायुद्ध के बाद राजनीतिक परिस्थितियो ने ऐसा रूप धारण किया कि ३० अक्तूबर, सन् १९२२ को इटली मे मुसोलिनी के नेतृत्व मे फासिस्त सत्ता के मत्रिमडल की स्थापना हो गई।

दूसरे विश्वयुद्ध मे इटली ने धुरीराष्ट्रो का साथ दिया। मित्रराष्ट्रो की विजय के पश्चात् इटली से फासिस्त सत्ता का अत हुआ। सन् १९४८ के नए विधान के अनुसार इटली ने वैधानिक राजतत्र को समाप्त कर अपने को गणतत्र घोषित कर दिया है।

स०ग्र०—डब्ल्यू० डब्ल्यू० फाउलर रोम, जे० ट्रेवेलियन ए शार्ट हिस्ट्री ऑव दि इटलियन पीपुल (१९३६), जे० ए० साइमड रेनेसाँ इन इटैली (१८७५), डब्लू० आर० थेयर डान ऑव इटैलियन इडिपेडेस (१८९३), बोल्टन किंग हिस्ट्री ऑव इटैलियन यूनिटी (१८९९), एल० विलारी दि अवेकनिंग ऑव इटली (१९२४), एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (लेख—इटली) आदि। [वि० ना० पा०]

इटारसी मध्यप्रदेश के होशगाबाद जिले एव तहसील मे मध्य रेलवे की मुख्य लाइन (इलाहाबाद-बबई) पर बबई से ४६४ मील उत्तर-पूर्व में स्थित प्रगतिशील नगर है। (स्थिति २२° ३७' उ० अक्षाश एव ७७° ४७' पूर्वी देशातर)। यहाँ कानपुर और आगरा जानेवाली रेलवे लाइनो का भी जकशन है। यहाँ से दिल्ली-मद्रास ग्रैंड ट्रक रेलमार्ग गुजरता है। अत यह मध्य रेलवे का एक प्रसिद्ध जकशन है। १९०१ ई० मे इस स्थान की जनसख्या ५,७६९ थी, जो १९११ ई० मे घटकर ४,४३० रह गई। क्रमिक गति से विकसित होकर १९४१ ई० में यह पुन १४, २६९ हो गई तथा तीव्र गति से बढकर १९५१ ई० मे यह २४,७९५ तक पहुँच गई। कुल जनसख्या का लगभग ३० प्रति शत यातायात के धधे मे लगा है तथा २५ प्रति शत से भी अधिक लोग उद्योग धधो से जीविकोपार्जन करते है। इटारसी न केवल होशगाबाद जिले का ही,प्रत्युत बेतूल जिले का भी अधिकाश आयात, निर्यात एव वस्तुवितरण करता है। अत नगर का व्यापारिक एव औद्योगिक महत्व तीव्र गति से बढ रहा है। यहाँ प्रति सप्ताह पशुओ का बडा मेला लगता है। यहाँ काठ, कोयला, लकडी एव गल्ले के बडे बडे व्यापारी एव अढतिए रहते है। [का० ना० सि०]

इटावा उत्तर प्रदेश का एक जिला है, जो दक्षिण-पश्चिमी भाग मे है। इसके उत्तर मे फर्रुखाबाद तथा मैनपुरी, पश्चिम मे आगरा, पूर्व मे कानपुर तथा दक्षिण में जालौन और मध्य प्रदेश स्थित है। सन् १९५१ई० मे इसका क्षेत्रफल १६७० वर्ग मील तथा जनसख्या ९ ७ लाख (ग्रामीण ८७ लाख, नागरिक १ ०१ लाख) थी। इसमे चार तहसीले है विधुना (उ० पू०), औरैया (द०), भर्थना (केंद्र) तथा इटावा (प०)। यो तो यह जिला गगा यमुना के द्वाबे का ही एक भाग है, परतु इसे पाँच उपविभागो मे बाँटा जा सकता है (१) 'पछार'—यह सेगर नदी के पूर्वोत्तर का समतल मैदान है जो लगभग आधे जिले मे फैला हुआ है, (२) 'घार' सेगर तथा यमुना का द्वाबा है जो अपेक्षाकृत ऊँचा नीचा है, (३) 'खरका'—इसमे यमुना के पूर्वकालीन भागो तथा नालो के भूमिक्षरण के स्पष्ट चिह्न विद्यमान है,(४) यमुना-चबल-द्वाबा—एकमात्र बीहड प्रदेश है जो खेती के लिये सर्वथा अनुपयुक्त है, (५) चबल के दक्षिण की पेटी—यह एक पतली सी बीहड पेटी है जिसमें केवल कुछ ग्राम मिलते हैं; इसकी भूस्थिति यमुना-चबल के द्वाबे से भी कठिन है। 'पछार' तथा 'घार' मे दोमट और मटियार तथा 'भूड' और 'झाबर' मे 'चिक्का' मिट्टी पाई जाती है। अतिम तीनो भागो मे 'पाकड' नामक ककरीली मिट्टी भी मिलती है। दक्षिण मे यत्रतत्र लाल मिट्टी मिलती है। इसकी जलवायु गर्मियो मे गर्म तथा जाडो मे ठढी रहती है। वर्षा का वार्षिक औसत लगभग ३४ १५'' है।

इसकी कुल कृपीय भूमि ६० ३ प्रति शत है,वन केवल ३ ९ प्रति शत है। सिंचाई के मुख्य साधन नहरे, कुएँ, नदियाँ तथा तालाब आदि है जिनमे नहरें ८५ ३ प्रति शत, कुएँ १३ १ प्रति शत तथा अन्य साधन १ ६ प्रति शत है। खरीफ रबी से अधिक महत्वपूर्ण है, खरीफ की मुख्य फसल बाजरा तथा रबी की चना है।

इटावा नगर इटावा जिले का केंद्र है जो यमुना के बाएँ किनारे पर बसा हुआ है। यह उत्तरी रेलवे का एक बडा स्टेशन है और फर्रुखाबाद-ग्वालियर तथा आगरा-इलाहाबाद जानेवाली पक्की सडकें भी यहाँ मिलती है। यह आगरा से ७० मील पर दक्षिण-पूर्व में तथा इलाहाबाद से २०६ मील पर

है। इसका रचनाकाल ई० पू० ४४४ से लेकर ई० पू० १०० के बीच है। पुराने अहदनामे मे सृष्टि की रचना, मनुष्य का जन्म, यहूदी जाति का इतिहास, सदाचार के उच्च नियम, धार्मिक कर्मकाड, पौराणिक कथाएँ और यह्वे के प्रति प्रार्थनाएँ शामिल है।

यहूदी जाति के आदि सस्थापक अवराहम को अपने स्वतत्र विचारो के कारण दर दर की खाक छाननी पडी। अपने जन्मस्थान ऊर (सुमेर का प्राचीन नगर) से सैकडो मील दूर निर्वासन मे ही उनकी मृत्यु हुई। अवराहम के बाद यहूदी इतिहास में सबसे बडा नाम मूसा का है। मूसा ही यहूदी जाति के मुख्य व्यवस्थाकार या स्मृतिकार माने जाते है। मूसा के उपदेशो में दो बाते मुख्य है एक—अन्य देवी देवताओ की पूजा को छोडकर एक निराकार ईश्वर की उपासना और दूसरी—सदाचार के दस नियमो का पालन। मूसा ने अनेको कष्ट सहकर अपने ईश्वर के आज्ञानुसार जगह जगह बँटी हुई अत्याचारपीडित यहूदी जाति को मिलाकर एक किया और उन्हे फिलिस्तीन मे लाकर बसाया। यह समय ईसा से प्राय डेढ हजार वर्ष पूर्व का था। मूसा के समय से ही यहूदी जाति के बिखरे हुए समूह स्थायी तौर पर फिलिस्तीन में आकर बसे और उसे अपना देश समझने लगे। बाद मे अपने इस नए देश को उन्होने 'इजरायल' की सज्ञा दी।

अवराहम ने यहूदियो का उत्तरी अरब और ऊर से फिलिस्तीन की ओर सक्रमण कराया। यह उनका पहला सक्रमण था। दूसरी बार जब उन्हे मिस्र छोड फिलिस्तीन भागना पडा तब उनके नेता हजरत मूसा थे (प्राय १६वी सदी ई० पू०)। यह यहूदियो का दूसरा सक्रमण था जो 'महान् बहिरागमन' (ग्रेट एग्जोडस) के नाम से प्रसिद्ध है।

अवराहम और मूसा के बाद इजरायल मे जो दो नाम सबसे अधिक आदरणीय माने जाते है वे दाऊद और उसके बेटे सुलेमान के है। सुलेमान के समय दूसरे देशो के साथ इजरायल के व्यापार में खूब उन्नति हुई। सुलेमान ने समुद्रगामी जहाजो का एक बहुत बडा बेडा तैयार कराया और दूर दूर के देशो के साथ तिजारत शुरू की। अरब, एशिया कोचक, अफ्रीका, यूरोप के कुछ देशो तथा भारत के साथ इजरायल की तिजारत होती थी। सोना, चाँदी, हाथीदाँत और मोर भारत से ही इजरायल आते थे। सुलेमान उदार विचारो का था। सुलेमान के ही समय इबरानी यहूदियो की राष्ट्रभाषा बनी। सैंतीस वर्ष के योग्य शासन के बाद सन् ९३७ ई० पू० मे सुलेमान की मृत्यु हुई।

सुलेमान की मृत्यु से यहूदी एकता को बहुत बडा धक्का लगा। सुलेमान के मरते ही इजरायल और जूदा (यहूदा) दोनो फिर अलग अलग स्वाधीन रियासते बन गईं। सुलेमान की मृत्यु के बाद पचास वर्ष तक इजरायल और जूदा के आपसी झगडे चलते रहे। इसके बाद लगभग ८८४ ई० पू० में उमरी नामक एक राजा इजरायल की गद्दी पर बैठा। उसने फिर दोनो शाखो मे प्रेमसबध स्थापित किया। किंतु उमरी की मृत्यु के बाद यहूदियो की ये दोनो शाखे सर्वनाशी युद्धो मे उलझ गईं।

यहूदियो की इस स्थिति को देखकर असुरिया के राजा शुलमानु अशरिद पचम ने सन् ७२२ ई० पू० मे इजरायल की राजधानी समरिया पर चढाई की और उसपर अपना अधिकार कर लिया। अशरिद ने २७,२९० प्रमुख इजरायली सरदारो को कैद करके और उन्हे गुलाम बनाकर असुरिया भेज दिया और इज़रायल का शासनप्रबध असूरी अफसरो के सिपुर्द कर दिया। सन् ६१० ई० पू० में असुरिया पर जब खल्दियो ने आधिपत्य कर लिया तब इज़रायल भी खल्दी सत्ता के अधीन हो गया।

सन् ५५० ई० पू० मे ईरान के सुप्रसिद्ध हखामनी राजवश का समय आया। इस कुल के सम्राट् कुरु ने जब बाबुल की खल्दी सत्ता पर विजय प्राप्त की तब इजरायल और यहूदी राज्य भी ईरानी सत्ता के अतर्गत आ गए। आसपास के देशो मे उस समय ईरानी सबसे अधिक प्रबुद्ध, विचारवान् और उदार थे। अपने अधीन देशो के साथ ईरानी सम्राटो का व्यवहार न्याय और उदारता का होता था। प्रजा के उद्योगधधो को वे सरक्षा देते थे। समृद्धि उनके पीछे पीछे चलती थी। उनके धार्मिक विचार उदार थे। ईरानियो का शासनकाल यहूदी इतिहास का कदाचित् सबसे अधिक विकास और उत्कर्ष का काल था। जो हजारो यहूदी बाबुल में निर्वासित और दासता में पडे थे उन्हे ईरानी सम्राट् कुरु ने मुक्त कर अपने देश लौट जाने की अनुमति दी। कुरु ने जुरूसलम के मदिर के पुराने पुरोहित के एक पौत्र योशुना और यहूदी बादशाह दाऊद के एक निर्वासित वशज जेरुब्बाबल को जुरुसलम की वह सब सपत्ति देकर, जो लूटकर बाबुल लाई गई थी, वापस जुरुसलम भेजा और अपने खर्च पर जुरूसलम के मदिर को फिर से निर्माण कराने की आज्ञा दी। इजरायल और यहूदा के हजारो घरो मे खुशियाँ मनाई गई। शताब्दियो के पश्चात् इजरायलियो को साँस लेने का अवसर मिला।

यही वह समय था जब यहूदियो के धर्म ने अपना परिपक्व रूप धारण किया। इससे पूर्व उनके धर्मशास्त्र एक पीढी से दूसरी पीढी को जबानी प्राप्त होते रहते थे। अब कुछ स्मृति के सहारे, कुछ उल्लेखो के आधार पर धर्मग्रथो का सग्रह प्रारभ हुआ। इनमे से थोरा या तौरेत का सकलन ४४४ ई० पू० में समाप्त हुआ।

दोनो समय का हवन, जिसमें लोहबान जैसी सुगधित चीजे, खाद्य पदार्थ, तेल इत्यादि के अतिरिक्त किसी मेमने, बकरे, पक्षी या अन्य पशु की आहुति दी जाती थी, यहूदी ईश्वरोपासना का आवश्यक अग था। ऋग्वेद के 'आहिताग्नि' पुरोहितो के समान यहूदी पुरोहित इस बात का विशेष ध्यान रखते थे कि वेदी पर की आग चौबीस घटे किसी तरह बुझने न पाए।

इजरायली धर्मग्रथो मे शायद सबसे सुदर पुस्तक 'दाऊद के भजन' है। पुराने अहदनामे की यह सबसे अधिक प्रभावोत्पादक पुस्तक समझी जाती है। जिस प्रकार दाऊद के भजन भक्तिभावना के सुदर उदाहरण है उसी प्रकार सुलेमान की अधिकाश कहावते हर देश और हर काल के लिये कीमती है और सचाई से भरी है। एक तीसरा यहूदी धर्मग्रथ 'प्रचारक' (एक्लज़िएस्टेस) इन ग्रथो के बाद का लिखा हुआ है।

सन् ३३० ई० पू० मे सिकदर ने ईरान को जीतकर वहाँ के हखामनी साम्राज्य का अत कर दिया। सन् ३२० ई० पू० मे सिकदर के सेनापति तोलेमी प्रथम ने इज़रायल और यहूदा पर आक्रमण कर उसपर अपना अधिकार कर लिया। बाद में सन् १९८ ई० पू० में एक दूसरे यूनानी परिवार सेल्यूकस राजवश का इज़रायल पर अधिकार हो गया। सन् १७५ ई० पू० में सेल्यूकस वश का अतिओकस चतुर्थ यहूदियो के देश का अधिराज बना। जुरूसलम के बलवे से रुष्ट होकर अतिओकस ने उसके यहूदी मदिर को लूट लिया और हजारो यहूदियो का वध करवा दिया, शहर की चहारदीवारी को गिराकर जमीन से मिला दिया और शहर यूनानी सेना के सिपुर्द कर दिया।

अतिओकस ने यहूदी धर्म का पालन करना इज़रायल और यहूदा दोनों जगह कानूनी अपराध घोषित कर दिया। यहूदी मदिरो मे यूनानी मूर्तियाँ स्थापित कर दी गई और तौरेत की जो भी प्रतियाँ मिली आग के सिपुर्द कर दी गई।

यह स्थिति सन् १४२ ई० पू० तक चलती रही। सन् १४२ ई० पू० में एक यहूदी सेनापति साइमन ने यूनानियो को हराकर राज्य से बाहर निकाल दिया और यहूदा तथा इज़रायल की राजनीतिक स्वाधीनता की घोषणा कर दी। यहूदियो की यह स्वाधीनता १४१ ई० पू० से ६३ ई० पू० तक बराबर बनी रही।

यह वह समय था जब भारत से बौद्ध भिक्षु और भारतीय महात्मा अपने धर्म का प्रचार करते हुए पश्चिमी एशिया के देशो मे फैल गए। इन भारतीय प्रचारको ने यहूदी धर्म को भी प्रभावित किया। इसी प्रभाव के परिणामस्वरूप यहूदियो के अदर एक नए 'एस्सेनी' नामक सप्रदाय की स्थापना हुई। हर एस्सेनी ब्राह्म मुहूर्त मे उठता था और सूर्योदय से पहले प्रात क्रिया, स्नान, ध्यान, उपासना आदि से निवृत हो जाता था। सुबह के स्नान के अतिरिक्त दोनो समय भोजन से पहले स्नान करना हर एस्सेनी के लिये आवश्यक था। उनका सबसे मुख्य सिद्धात था—अहिंसा। एस्सेनी हर तरह की पशुबलि, मासभक्षण या मदिरापान के विरुद्ध थे। हर एस्सेनी को दीक्षा के समय प्रतिज्ञा करनी पडती थी

"मै यह्वे अर्थात् परमात्मा का भक्त रहूँगा। मै मनुष्य मात्र के साथ सदा न्याय का व्यवहार करूँगा। मै कभी किसी की हिसा न करूँगा और न किसी को हानि पहुँचाऊँगा। मनुष्यमात्र के साथ मै अपने वचनो का पालन करूँगा। मै सदा सत्य से प्रेम करूँगा।" आदि।

वादी—ह्यूमेनिस्ट) ने नवीन साहित्यिक भाषा बनाने की चेष्टा की, किंतु यह लातीनी प्राचीन लातीनी से भिन्न थी। इन प्रवृत्ति के फलस्वरूप साहित्यिक भाषा का रूप क्या हो, यह समस्या खड़ी हो गई। एक दल विभिन्न बोलियों के कुछ तत्व लेकर एक नई साहित्यिक भाषा गढ़ने के पक्ष में था, एक दल तोस्काना, विशेषकर फ्लोरेंस की बोली को यह स्थान देने के पक्ष मे था और एक दल जिसमे पिएत्रो बेंबो (१४७०-१५४७) प्रमुख था, चाहता था कि दांते, पेत्रार्का और बोकाच्चो की भाषा को ही आदर्श माना जाय। मैकियावेली ने भी फियोरेंतीनो का ही पक्ष लिया। तोस्काना की ही बोली साहित्यिक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हो गई। आगे सन् १६१२ में क्रूस्का अकादमी ने इतालवी भाषा का प्रथम शब्दकोश प्रकाशित किया जिसने साहित्यिक भाषा के रूप को स्थिर करने में सहायता प्रदान की। १८वीं सदी में एक नई स्थिति आई। इतालवी भाषा पर फ्रेंच का अत्यधिक प्रभाव पड़ना शुरू हुआ। फ्रेंच विचारधारा, शैली, शब्दावली तथा वाक्यांशों से और मुहावरों के अनुवादों से इतालवी भाषा की गति रुक गई। फ्रांसीसी बुद्धिवादी आंदोलन उसका प्रधान कारण था। इतालवी भाषा के अनेक लेखकों—आल्गारोत्ती, वेर्री, बेक्कारिया—ने निःसंकोच फ्रेंच का अनुसरण किया। शुद्ध इतालवी के पक्षपाती इससे बहुत दुःखित हुए। मिलान के निवासी अलेस्सांद्रो माज़ोनी (१७७५-१८७३) ने इस स्थिति को सुलझाया। राष्ट्र की एकता के लिये वे एक भाषा का होना आवश्यक मानते थे और फ्लोरेंस की भाषा को वे उस स्थान के उपयुक्त समझते थे। अपने उपन्यास 'ई प्रोमेस्सी स्पोसी' (सगाई हुई) में फ्लोरेंस की भाषा का साहित्यिक आदर्श रूप उन्होंने स्थापित किया और इस प्रकार तोस्काना की भाषा ही अंतिम रूप में साहित्यिक भाषा बन गई। इटली के राजनीतिक एकता प्राप्त कर लेने के बाद यह समस्या निश्चित रूप से हल हो गई।

सं०ग्रं०—भा० स्वायाफ्फीनी मोमेती दी स्तोरिया देल्ला लिंगुआ इतालियाना, बारी, १९५२, ज्याकोमो देवोतो-प्रोफीलो दी स्तोरिया लिंगुइस्तीका इतालियाना, फीरेंजे, १९५३, आंजेलो मोंतेवेरदी मानुआले दी आव्वियामेंतो आल्यी स्तूदी रोमाजी, मिलानो, १९५२, ना० सापेन्यो कांपेदिओ दी स्तोरिया देल्ला लेत्तेरातूरा इतालियाना, ३ भाग, फीरेंज, १९५२। [रा० सिं० तो०]

इतालीय साहित्य

इटली में मध्ययुग में जिस समय मोंतेकास्सीनो जैसे केंद्रों में लातीनी में अलंकृत शैली में पत्र लिखने, अलंकृत गद्य लिखने (आर्तेस दिक्तादी, अर्थात् रचना कला) की शिक्षा दी जा रही थी उस समय विशेष रूप से फ्रांस में तथा इटली में भी नवीन भाषा में कविता की रचना होने लगी थी। अलंकृत लययुक्त मध्ययुगीन लातीनी का प्रयोग धार्मिक क्षेत्र तथा राजदरबारों तक ही सीमित था, किंतु रोमांस बोलियों में रचित कविता लोक में प्रचलित थी। चार्ल्स मान्य तथा आर्थर की वीरगाथाओं को लेकर फ्रांस के दक्षिणी भाग (प्रोवेंसाल) में १२वीं सदी में प्रोवेंसाल बोली में पर्याप्त काव्यरचना हो चुकी थी। प्रोवेंसाल बोली में रचना करनेवाले दरबारी कवि (त्रोवातोरी) एक स्थान से दूसरे स्थान पर आश्रयदाताओं की खोज में घूमा करते थे और दरबारों में अन्य राजाओं का यश, यात्रा के अनुभव, युद्धों के वर्णन, प्रेम की कथाएँ आदि नाना विषयों पर कविताएँ रचकर यश, धन एवं सम्मान की आशा में राजा रईसों के यहाँ उन्हें सुनाया करते थे। इतालवी राजदरबार से संबंध रखनेवाला पहला दरबारी कवि (त्रोवातोरे) रामबाल्दो दे वाकेइरास कहा जा सकता है जो प्रोवेंस (फ्रांस) से आया था। इस प्रकार के कवियों के समान उसकी कविता में भी प्रेम, हर्ष, वसंत तथा हरे भरे खेतों और मैदानों का चित्रण है तथा भाषा मिश्रित है। सावोइया, मोंफेर्रातो, मालास्पीना, एस्ते और रावेन्ना के रईसों के दरबारों में ऐसे कवियों ने आकर आश्रय ग्रहण किया था। इटली के कवियों ने भी प्रोवेंसाल शैली में इस प्रकार की काव्यरचना की। सोरदेल्लो दी गोइतो (मृत्यु १२७० ई०), लांफ्रांको चीगाल्ला, पेर्चेवाल्ले दोरिया जैसे अनेक इतालीय त्रोवातोरी कवि हुए। दी गोइतो का तो दांते ने भी स्मरण किया है। इतालीय काव्य का आरंभिक रूप त्रोवातोरी कवियों की रचनाओं में मिलता है।

धार्मिक, नैतिक तथा हास्यप्रधान लोकगीत—इतालीय साहित्य के प्राचीनतम उदाहरण पद्यबद्ध ही मिलते हैं। १२वीं १३वीं सदी की धार्मिक पद्यबद्ध रचनाएँ तत्कालीन लोकरुचि की परिचायक हैं। धार्मिक आंदोलनों में आसीसी के संत फ्रांचेस्को (११८२-१२२६) के व्यक्तित्व ने जनसामान्य के हृदय का स्पर्श किया था। ऊंब्रिया की बोली में रचित उनका सरल भावुकतापूर्ण गीत इल-कांतीको दी फ्राते सोले (सूर्य का गीत) तथा उनके अनुयायी ज्याकोमीनो दा वेरोना की पद्यरचना दे जेरूसलेम चेलेस्ती (स्वर्गीय जेरूसलेम) तथा १३वीं सदी में रचित लाउदे (धार्मिक नाटकीय संवाद) इन सबमें लोकरुचि की धार्मिक भावना से युक्त कविता का स्वरूप मिलता है। उत्तरी इटली के ऊगोच्योने दा लोदी की धार्मिक नैतिक कृति लीब्रो (पुस्तक), गेरारदो पेतेग का सुभाषित संग्रह (नोइए), बोनवेसीन देल्ला रीवा (मृत्यु १३१३ ई० के लगभग) का नैतिक पद्यसंग्रह कोंनास्ती (विषमताएँ), त्रात्तातो देई मेसी (महीनों का परिचय—बारहमासा जैसा), लीब्रो देल्ले त्रे स्क्रीतूरे (तीन लेखों की पुस्तक) प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। इतालीय साहित्य को लययुक्त पद्य इसी धारा ने प्रदान किया। इस काल के लोकगीत तथा मसखरों की पद्यबद्ध हल्के हास्य से युक्त रचनाएँ भी इतालीय साहित्य के विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। विवाहादि विभिन्न अवसरों पर गाए जानेवाले लोकनृत्य-नाट्य का अच्छा उदाहरण बोलोन का अबाबील का गीत है। लोक में प्रचलित इस काव्यधारा ने शिष्ट कवियों के लिये काव्य के नमूने प्रस्तुत किए। इसी प्रकार का एक रूप ज्यूल्लारी (मसखरे, अंग्रेजी जोग्लर) लोगों की रचनाओं में मिलता है। ज्यूल्लारी राजा रईसों के दरबारों में घूमा करते थे और स्वरचित तथा दूसरों की हास्यप्रधान रचनाओं को सुनाकर मनोरंजन किया करते थे। ऐसी रचनाओं में तोस्काना का साल्वा लो वेस्कोवो सेनातो (१२वीं सदी, पीसा के आर्कबिशप की प्रशंसा) इतालीय साहित्य के प्राचीनतम उदाहरणों में से माना जाता है। सिएना के मसखरे (भाँड) रुज्येरी अपूलिएसे (१३वीं सदी का पूर्वार्ध) की रचनाएँ वांतो (अभिमान), व्यंग्यकविता पास्स्योने उल्लेखयोग्य हैं। लोककाव्य और शिष्ट साहित्यिक कविता के बीच की कड़ी मसखरों की कविताएँ तथा धार्मिक नैतिक पद्यबद्ध रचनाएँ प्रस्तुत करती हैं। किंतु इतालीय साहित्य का वास्तविक आरंभ सिसिली के सम्राट् फेदेरीको द्वितीय के राजदरबार के कवियों से हुआ।

सिचिलीय (सिसिलीय) और तोस्कन काव्यधारा—फेदेरीको द्वितीय (११९४-१२५०) तथा मानफ्रेदी (मृत्यु १२६६ई०) के राजदरबारों में कवियों तथा विद्वानों का अच्छा समागम था। उनके दरबारों में इटली के विभिन्न प्रांतों से आए हुए अनेक कवि, दार्शनिक, संगीतज्ञ तथा नाना शास्त्रविशारद थे। इन कवियों के सामने प्रोवेंसाल भाषा तथा त्रोवातोरी कवियों के नमूने थे। उन्हीं आदर्शों को सामने रखकर इन कवियों ने सिसिली की तत्कालीन भाषा में रचनाएँ कीं। विषय, व्यक्त करने का ढंग, प्रवृत्तियों आदि अनेक प्रकार की समानताएँ इन कवियों की कविताओं में मिलती हैं। इनमें से पिएर देल्ला विन्या, आरींगो तेस्ता (आरेज्जोनिवासी), याकोपो मोस्ताच्ची, गुइदो देल्ले कोलोन्ने, याकोपो द'अक्वीनो (जेनोवा निवासी), ज्याकोमो दा लेंतीनो तथा सम्राट् के पुत्र एंजो के नाम प्रसिद्ध हैं। इन्होंने साहित्यिक भाषा को एकरूपता दी। बेनवेंतो के युद्ध (१२६६) के पश्चात् सिसिली से साहित्यिक केंद्र उठकर तोस्काना पहुँचा। फ्लोरेंस का राजनीतिक महत्व भी इसके लिये उत्तरदायी था। वहाँ प्रेमपूर्ण विषयों के गीतिकाव्य की रचना पहले से ही प्रचलित थी। त्रोवातोरी कवियों का प्रभाव पड़ चुका था। फ्लोरेंस की काव्यधारा में सबसे प्रधान कवि गुइत्तोने द'आरेज्जो (१२२५-९४) हैं। इसने अनेक कवियों को प्रभावित किया। बोनाज्यूंता दा लूका, क्यारो दावांज़ाती आदि इस धारा के कवियों ने फ्लोरेंस में काव्य की ऐसी भूमि तैयार की जिसपर आगे चलकर सुंदर काव्यधारा प्रवाहित हुई। इस युग की रुचि पर प्रभाव डालनेवाला लेखक ब्रूनेत्तो लातीनी (१२२०-१२९३) था जिसका स्मरण दांते ने अपनी कृति में किया है। उसकी रूपक काव्यकृति तेसोरेत्तो (खजाना) में अनेक विषयों पर विचार किया गया है।

प्रेम की भावना से प्रेरित होकर कोमल पदावली में लिखनेवाले कवियों की काव्यधारा को दांते ने 'दोल्चे स्तील नुओवो' (मीठी नई शैली) नाम दिया। इस काव्यधारा का प्रभाव आगे की कई पीढ़ियों के कवियों पर पड़ता रहा। इस नई काव्यधारा के प्रवर्तक बोलोन के गुइदो गुइनीचेल्ली (१२३०-१२७६) माने जाते हैं। गुइदो कावाल्कांती (१२५२-

अध्येता अल्बेरतीनो मूस्सातो मानववाद की नीव डाल चुके थे। इनका मत था कि मानव आत्मा के सबसे अधिकारी अध्येता प्राचीन थे, उन प्राचीनो की कृतियो का अध्ययन मानववाद है। इस परपरा के कारण प्राचीन लातीनी रचनाओ, इतिहास आदि का अध्ययन, भाषाओ का अध्ययन तो हुआ, लेकिन इतालीय के स्थान पर लातीनी मे रचनाएँ होने लगी जिनमें मौलिकता बहुत कम रह गई। सभी लेखक प्राचीन मूल साहित्य की ओर मुड गए और उसकी शैली की नकल करने लगे। पेत्रार्का से प्रभावित कोलूच्यो सालूताती, ग्रीक और लातीनी रचनाओ के अध्येता, सग्रहकर्ता नीक्कोलो निक्कोली, दार्शनिक प्रबध और पत्रलेखक पोज्जो ब्राच्योलीनी भाषा, दर्शन, इतिहास पर लिखनेवाले लोरेंजो वाल्ला आदि प्रमुख लेखक है। इटली से यह नई धारा यूरोप के अन्य देशो मे भी पहुँची और देशानुकूल इसमे परिवर्तन भी हुए। साहित्य के नए आदर्शो का भी मानववादियो ने प्रचार किया। फ्राचेस्को फीलेल्फो (१३९८-१४८१) इस नए साहित्यिक समाज का १५वी सदी का अच्छा प्रतिनिधि कहा जा सकता है। मानववादी धारा के कवियो का आदर्श प्राचीन लातीनी कवियो की रचनाएँ ही थी, प्रकृति या समसामयिक समाज का इनके लिये कोई महत्व नहीं था, किंतु १५वी सदी के उत्तरार्ध में अनेक साहित्यिक व्यक्तित्व हुए जिनमे से जीरोलामो सावोनारोला (१४५२-१४९८) कवि, लूइजी पुलची (१४३२-१४८४) सामान्य श्रेणी के हैं। पुलची का नाम उनकी वीरगाथात्मक कृति मोर्गाते के कारण अमर है। पुलची की कृति के समान ही मातेओ मारिआ बोइ-यार्दो (१४४१-१४९४) की कृति ओरलादो इन्नामोरातो (आसक्त ओर-लादो) है। यद्यपि कृति मे प्राचीनता की जगह जगह छाप है, तथापि उसमे पर्याप्त प्रवाह और सजीवता है। अपनी सदी का यह सबसे उत्तम प्रेम-गीति-काव्य है। कार्लोमान्यो (चार्लीमैग्ना) से सबधित कथाप्रवादो से कृति का विषय लिया गया है। कृति अधूरी रह गई थी जिसे आरिओस्तो ने पूरा किया। ओरलादो और रिनाल्दो दो वीर योद्धा थे जो कार्लोमान्यो की सेना मे थे। वे दोनो आजेलिका नामक सुदरी पर अनुरक्त हो जाते है। यही प्रेमकथा नाना अन्य प्रसगो के साथ कृति का विषय है। फ्लोरेंस का रईस लोरेंजो दे' मेदीची उपनाम इल मान्यीफिको (भव्य) (१४४९-१४९२) इस आधी सदी का महत्वपूर्ण व्यक्तित्व है। राजनीति तथा साहित्यजगत् दोनो मे ही उसने सक्रिय भाग लिया। उसने स्वय अनेक कृतियाँ लिखी तथा अनेक साहित्यिको को आश्रय दिया। उनकी कृतियो मे गद्य मे लिखी प्रेमकथा कोमेतो, पद्यबद्ध प्रेमकथाएँ—सेल्वे द' अमोरे (प्रेम का वन), आम्ब्रा, आखेटविषयक कविता काच्चा कोल फाल्कोने (गीध के साथ शिकार), आमोरी दी वेनेरे ए दी मारते (वेनस तथा मार्स का प्रेम) तथा बेओनी काव्यप्रसिद्ध कृतियाँ हैं। मान्यीफिको की प्रतिभा बहुमुखी थी। आजेलो आम्ब्रोजीनी उपनाम पोलीत्सियानो (१४५४-१४९४) ने ग्रीक और लातीनी मे भी रचनाएँ की। इतालीय रचनाओ में स्ताजे पेर ला ज्योस्त्रा (फ्लोरेंस के ज्योस्त्रा उत्सव की कवि-ताएँ), सगीत-नाटच-कृति ओरफेओ तथा कुछ कविताएँ प्रधान है। पोलि-त्सियानो की सभी कृतियो का वातावरण प्राचीनता की याद दिलाता है। गद्यलेखको मे लेओन बातीस्ता आल्बेरती, लेओनारदो द' विंची (१४५२-१५१९), वेस्पासियानो द' विस्तीच्ची, मातेओ पाल्मिएरी तथा गद्यकाव्य के क्षेत्र मे याकोपो सान्नाज्जारो प्रधान है। उसकी कृति आर्कादिया की प्रसिद्धि सारे यूरोप मे फैल गई थी। इस सदी में बुद्धि-वादी आदोलन के फलस्वरूप इटली मे फ्लोरेंस, रोम, नेपल्स मे अकाद-मियो की स्थापना हुई। मानववादी धारा के ही फलस्वरूप वास्तव मे पुनर्जागरण (रिनेशाँ) का विकास इटली मे हुआ। अरस्तू के पोएटिक्स के अध्ययन के कारण साहित्य और कला के प्रति दृष्टिकोण कुछ कुछ बदला।

१६वी सदी मे इटली की स्वाधीनता चली गई, किंतु साहित्य और सस्कृति की दृष्टि से यह सदी पुनर्जागरण के नाम से विख्यात है। लातीनी और ग्रीक तथा प्राचीन साहित्य एव इतिहास की खोज और अध्ययन करनेवाले पिएर वेत्तोरी, विचेलो बोरघीनी, ओनोफ्रियो पानवीनियो जैसे अनेक विद्वान् विभिन्न केद्रो मे कार्य कर रहे थे। लातीनी मे साहित्यरचना भी इस सदी के पूर्वार्ध मे होती रही, किंतु उसका वेग कम हो गया था। भाषा का स्वरूप भी बेबो, कास्तील्योने, माक्यावेल्ली आदि ने फिर स्थिर कर दिया था। कविता, राजनीति, कला, इतिहास, विज्ञान सभी क्षेत्रो मे एक नवीन स्फूर्ति १६वी सदी मे मिलती है। सदी के उत्तरार्ध म कुछ ह्रास के चिह्न अवश्य दिखने लगते हैं। पुनर्जागरण की प्रवृत्तियो की सबसे अच्छी अभिव्यक्ति लुदोविको आरिओस्तो (१४७४-१५३३) की कृति ओरलादो फूरिओसो में हुई है। युद्धो और प्रणय का अद्भुत एव आकर्षक ढग से कृति मे निर्वाह किया गया है। ओरलादो का आजेलिका के लिये प्रेम, उसका पागलपन और फिर शाति का जैसा वर्णन इस कृति मे मिलता है वैसा शायद ही किसी अन्य इतालवी कवि ने किया हो। मध्ययुगीन वीरगाथाओसे कवि ने कथा-वस्तु ली होगी। कल्पना और कविता का बहुत ही सुदर समन्वय इस कृति मे मिलता है। सातीरे (व्यग्य) आदि छोटी कृतियाँ आरिओस्तो की कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण नही है। जिस प्रकार १६वी सदी के काव्य का प्रतिनिधि ओरलादो फूरिओसो है उसी प्रकार पुनर्जागरण युग की मौलिक, स्वतत्र, खुली तथा मानव प्रकृति के यथार्थ चित्रण से युक्त विचारधारा नीक्कोलो माक्यावेल्ली (१४६९-१५२७) की कृतियो मे मिलती है। नवीन राजनीतिविज्ञान की स्थापना माक्यावेल्ली ने 'प्रिंचीपे' (युवराज) तथा 'दिस्कोर्सी' (प्रवचन) कृतियो द्वारा की। बहुत ही स्पष्टतापूर्वक तार्किक पद्धति से इन कृतियो मे व्यवहारवादी राजनीतिक आदर्शो का विवेचन किया गया है। इन दो कृतियो में जिन सिद्धातो का माक्यावेल्ली ने प्रति-पादन किया है उन्ही की एक प्रकार से व्याख्या अन्य कृतियो मे की है। 'देल्लार्ते देल्ला ग्वेर्रा' (युद्ध की कला) मे प्राय उन्ही सामरिक सैनिक बातो की विस्तार से चर्चा है जिनका पहली दो कृतियो मे सकेत किया जा चुका है। 'ला वीता दी कास्त्रूच्यो (कास्त्रूच्यो का जीवन) भी ऐतिहासिक चरित्र है जैसा कि 'प्रिंचीपे' मे राजा का आदर्श बताया गया है। इस्तोरिए फियोरेतीने (फ्लोरेंस का इतिहास) मे इटली तथा फ्लोरेंस का इतिहास है। माक्यावेल्ली की विशुद्ध साहित्यिक कृतियो की भाषा तथा शैली भिन्न है। रूपक कविता असीनो द'ओरो (सोने का गधा), कहानी बेल्फागोर तथा प्रसिद्ध नाटच कृति माद्रागोला की शैली साहित्यिक है। माद्रागोला पाँच अको मे समाप्त १६वी सदी की प्रसिद्धतम (कोमेदी) नाटक कृति है और लेखक की महत्वपूर्ण रचना है। माक्यावेल्ली के सिद्धातो को सामने रखकर यूरोप मे बहुत चर्चा हुई। इतालिया मे इतिहास और राजनीति के उन सिद्धातो को आधार बनाकर इतिहास लिखनेवालो मे सर्वश्रेष्ठ फ्राचेस्को ग्विच्च्यार्दीनी (१४८३-१५४०) है। उन्होने तटस्थता और यथार्थ, सूक्ष्म पर्यवेक्षणदृष्टि का अपनी कृतियो—स्तोरिया द इतालिया तथा ई रिकोर्दी (सस्मरण)—मे ऐसा परिचय दिया है कि इस काल के वे श्रेष्ठतम इतिहास लेखक माने जाते है। ई रिकोर्दी मे उनके विस्तृत और गहन अनुभव का परिचय मिलता है। लेखक ने अनेक व्यक्तियो पर निर्णय तथा अनेक घटनाओ पर अपना मत दिया है। इसी तरह स्तोरिया द' इतालिया मे पुनर्जागरणकाल की इटली की विचारधारा की सबसे परिपक्व अभि-व्यक्ति मिलती है। ग्विच्यार्दीनी सक्रिय राजदूत, कूटनीतिज्ञ और शासक थे। अपने जीवन से सबधित दियारियो देल वियाज्जे इन स्पान्या (स्पेन यात्रा की डायरी), रेलात्सियोने दी स्पान्या (स्पेन का विवरण) जैसी अनेक कृतियाँ लिखी है। उल्लेखयोग्य इतिहास और राजनीति-विषयक अन्य साहित्यरचयिताओ मे इस्तोरिए फियोरेतीने (फ्लोरेंस का इतिहास) का लेखक बेनेदेत्तो सेग्नी, स्तोरिया द' एउरोपा (यूरोप का इतिहास) का लेखक ज्याबूल्लारी हैं। प्रसिद्ध कलाकारो की जीवनी लिखनेवालो मे ज्योर्ज्यो वासारी (१५११-१५७४) का स्थान महत्वपूर्ण है। अत्यत सुदर आत्मकथात्मक ग्रथ लिखनेवालो मे बेनवेनूतो चेल्लीनी का स्थान श्रेष्ठ है। इस सदी की प्रतिनिधि कृति बाल्दास्सार कास्तील्योने (१४७८-१५२९) की कोर्तेज्यानो (दरबारी) भी है जिसमे तत्कालीन आदर्श दरबारी जीवन तथा रईसी का चित्रण है। उच्च समाज में भद्रता-पूर्ण व्यवहार की शिक्षा देनेवाली ज्योवान्नी देल्ला कासा की कृति गाला-तेओ भी सुदर है। पिएतरो अरेतीनो (१४९२-१५५६) अपनी अश्लील शृगाररचना राजिओनामेनी के कारण इस सदी के बदनाम लेखक हैं। स्त्रियो के आदर्श सौदर्य का वर्णन आन्योलो फीरेंज़ओला (१४९३-१५४३) ने देल्ले बेल्लेज्जे देल्ले दोन्ने (स्त्रियो के सौदर्य के विषय मे) में किया है।

पुनर्जागरणकाल मे इस प्रकार सभी के आदर्श रूपो के प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ। काव्य, विशेषकर गीतिकाव्य का मौलिक रूप बहुत कम कवियो मे मिलता है। ज्योवान्नी देल्ला कासा, पिएतरो, प्रसिद्ध कलाकार

लौह १६,५४,७६६ मे० टन, मैगनीज ४६,०१५ मे० टन, राँगा ८१,८४ मे० टन और जस्ता २,४६,५६६ मे० टन उत्पन्न हुआ था।

देश का प्रमुख उद्योग कपडा बनाने का है। यहाँ १९५७ ई० में सूती कपडे बनाने के ८६१ कारखाने थे। रेशम का व्यवसाय पूरे इटली में होता है, किंतु लोबार्डी, पिडमाट तथा वेनेशिया मुख्य सिल्क उत्पादक क्षेत्र है। १९५७ में गृहउद्योग को छोडकर रेशमी कपडे बनाने के २४ तथा ऊनी कपडे बनाने के ३०४ कारखाने थे। रासायनिक वस्तु बनाने के तथा चीनी बनाने के भी पर्याप्त कारखाने है। देश में मोटर, मोटर साइकिल तथा साइकिलें बनाने का बहुत बडा उद्योग है। १९५६ ई० में २,८८,७८९ मोटरें बनाई गई थी जिनमें से ८८,१७६ मोटरे निर्यात की गई थी। अन्य मशीने तथा औजार बनान के भी बहुत से कारखाने है। जलविद्युत् पैदा करने का बहुत बडा धधा यहाँ होता है। यहाँ १५,८८,०३१ कारखाने है, जिनमे ६८,००,६७३ व्यक्ति काम करते है(१९५१)। इटली का व्यापारिक सबध यूरोप के सभी देशो से तथा अर्जेंटीना, सयुक्त राज्य (अमरीका) एव कैनाडा से है। मुख्य आयात की वस्तुएँ कपास, ऊन, कोयला और रासायनिक पदार्थ है तथा निर्यात की वस्तुएँ फल, सूत, कपडे, मशीने, मोटर, मोटरसाइकिले एव रासायनिक पदार्थ हैं। इटली का आयात निर्यात से अधिक होता है।

नगर सपूर्ण देश १९ क्षेत्रो तथा ९२ प्रातो में बँटा हुआ है। १९वी शताब्दी के मध्य से नगरो की सख्या काफी बढी है। अत प्रातीय राजधानियो का महत्व बढा तथा लोगो का झुकाव नगरो की तरफ हुआ। देश मे एक लाख के ऊपर जनसख्या के कुल २६ नगर है। ५,००,००० से अधिक जनसख्या के नगर रोम (इटली की राजधानी, जनसख्या १५,७३,९९४), मिलान (१२,६७,५५०), नेपुल्स (९,७७,९४६), तूरिन (७,१२,९८३) तथा जेनेवा (६,४६,३६७) हैं।

इटली यूनान के बाद यूरोप का दूसरा प्राचीनतम राष्ट्र है। रोम की सभ्यता तथा इटली का इतिहास देश के प्राचीन वैभव तथा विकास का प्रतीक है। आधुनिक इटली १८६१ ई० में राज्य के रूप में गठित हुआ था। देश की धीमी प्रगति, सामाजिक सगठन तथा राजनीतिक उथल पुथल इटली के २५०० वर्ष के इतिहास से सबद्ध है। देश में पूर्वकाल में राजतत्र था जिसका अतिम राजघराना सेवाय था। जून, सन् १९४६ से देश एक जनतात्रिक राज्य में परिवर्तित हो गया है। [ह० ह० सिं०]

इटली का इतिहास

सन् १९४६ में इटली की जनता ने मतदान द्वारा इटली को गणतत्र घोषित किया। सन् १९४७ मे इटली की असेंबली ने गणतत्र का एक नया विधान बनाया जो १ जनवरी, सन् १९४८ से लागू है। इस विधान में एक केंद्रीय सरकार, पार्लमेंट के दो सदन, एक राष्ट्रपति जिसकी पदावधि सात वर्ष है, और वयस्क मताधिकार की व्यवस्था है। १०९ एकड की वातिकन सिटी, अर्थात् पोप की नगरी सन् १९२९ से ही ससार का सबसे छोटा स्वाधीन राज्य है। उसके अपने सिक्के, अपने डाक टिकट है, पोप उसके प्रधान है।

इटली को मुख्य लाभ विदेशी यात्रियो से होता है। सन् १९५६ मे ७० लाख विदेशी यात्री सैर सपाटे के लिये इटली पहुँचे थे। इन यात्रियो से इटली को एक खरब, चौअन अरब लीरो का लाभ हुआ था।

इटली मे अनेको क्षेत्रीय बोलियाँ प्रचलित है। इन क्षेत्रीय बोलियो के अतिरिक्त वहाँ आदान प्रदान की मुख्य भाषा साहित्यिक इतालियाई है। मूल रूप से वह इटली के एक प्रात तुस्कानी की भाषा थी जिसे अनेक लेखको और कवियो ने सँवारकर उत्कृष्ट बनाया और जिसमें दाँते ने अपनी रचनाएँ लिखी।

सभ्यता का फूलना फलना कला की प्रगति से बहुत सबध रखता है और कला पर उस देश की जलवायु का बहुत गहरा असर पडता है। यूरोप के किसी दूसरे देश ने आज तक कला और विशेषकर चित्रकला में इतनी कीर्ति प्राप्त नही की जितनी इटली ने। इसका कारण यह है कि इटली मे सदा साफ नीले आसमान, खिली हुई धूप और छिटकी हुई चाँदनी के दर्शन होते है। इटलीवालो का रग वैसा ही होता है, जैसा जरा गोरे रग के भारतवासियो का। उनकी आँखे और बाल भारतीयो की ही तरह काले होते है।

प्राचीन इतिहास के अनुसार ९वी सदी ई० पू० में एशिया कोचक की एक रियासत लीदिया के राजा अत्ती का बेटा तिरहेन लीदिया की आधी जनसख्या के साथ जहाजो में बैठकर इटली के पश्चिमी किनारे पर उतरा। अपने सरदार के नाम पर ये आगतुक अपने को 'तिरहेनी' कहने लगे। इन लोगो ने समुद्र के किनारे किनारे कई बस्तियाँ बसाई। तिरहेनी उसी नस्ल के थे जिस नस्ल के वैदिक आर्य थे। तिरहेनियो की भाषा और सस्कृत भाषा में काफी साम्य पाया जाता है। तिरहेनी धीरे धीरे बढते हुए इटली के लातियम प्रात में, समुद्र से १६-१७ मील दूर, तीबेर नदी के किनारे तीन छोटी छोटी पहाडियो पर बसे हुए एक छोटे से गाँव रोमा या रोम में पहुँचे। तिरहेनियो के अधीन धीरे धीरे रोम इटली का एक बडा नगर बनने लगा। आगे चलकर इस शहर ने इतिहास मे वह नाम पाया जो आज तक यूरोप के और किसी दूसरे देश को नसीब नही हुआ। तिरहेनियो ने रोम में जूपितर (वैदिक—द्यौस्पितर) का एक विशाल मदिर बनाया।

इतिहास के लेखको के अनुसार तीसरी सदी ई० पू० में पहली बार पूरे देश का नाम इतालिया पडा। इतालिया से ही आजकल का इताली या इटली शब्द बना। इतालिया नाम एक इतालियाई शब्द के यूनानी रूप 'वाइतालिया से' लिया गया है जिसका अर्थ है 'चरागाह'। यूनानी इटली को 'इतालियम्' अर्थात् 'चरागाह' कहते थे।

इटली की जनसख्या मेंसे ९७ १२ प्रतिशत लोग ईसाई धर्म की रोमन कैथलिक शाखा के अनुयायी हैं। १९०१ की जनसख्या के अनुसार इटली में प्रोटेस्टेंट सप्रदाय के लोगो की सख्या केवल ६५,००० थी।

इटली में जूलियस सीजर की बहिन के पोते और रोमन साम्राज्य के पहले सम्राट् ओगुस्तस सीजर का शासनकाल स्वर्णयुग कहलाया। उससे कुछ कुछ पहले पीछे और समकालीन लातीनी के प्रमुख कवि लूक्रेती, वर्जिल, होरेस और ओविद हुए। लूक्रेती ने मृत्यु के बाद के जीवन को धोखा बताया है और धार्मिक रूढियो का उपहास उडाया है। वर्जिल का काव्य 'ईनिद' इटली का राष्ट्रीय महाकाव्य समझा जाता है। इटली की प्रशसा करते हुए वर्जिल अपने इस महाकाव्य की पक्तियो में लिखता है

'ईरान अपने सुदर और घने वनो सहित,
अथवा गगा अपनी जलप्लावित लहरो सहित,
अथवा हरमुश नदी, जिसके कणों में सोना मिलता है,
इनमें से कोई इटली की समता नही कर सकते,
इटली, जहाँ सदा बसत रहता है,
जहाँ भेंडें वर्ष में दो बार बच्चे देती है और
जहाँ वृक्ष वर्ष में दो बार फल देते हैं।

जूलियस सीजर के समय के इतालियाई गद्यलेखको में सिसरो का नाम बहुत प्रसिद्ध है। सिसरो की भाषा में यूनानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। सीजर की हत्या के बाद सिसरो की भी हत्या कर दी गई।

रोमन साम्राज्य का असर इटली पर पडना स्वाभाविक था। पहली सदी ई० के लगभग इटली में स्वतत्र नागरिको की अपेक्षा गुलामो की सख्या कई गुना बढ गई थी। दूसरी सदी मे मारकस औरीलियस के शासनप्रबध से इटली का राजनीतिक और सास्कृतिक ह्रास कुछ दिनो के लिये रुका, किंतु उसकी मृत्यु के बाद तीसरी सदी ई० का एक इतिहासकार लिखता है—"साम्राज्य भर में और स्वय इटली मे शाति और समृद्धि नाम की कोई चीज नही रह गई थी। लडाइयो, महामारियो और आए दिन के दुष्कालो ने इटली की जनसख्या को बेहद कम कर दिया था। जमीन की पैदावार घट गई थी। खेतियाँ वीरान पडी थी। शहर और कस्बे उजडते जा रहे थे। टैक्सो का बोझ दिन प्रति दिन बढता जा रहा था। मारकस औरीलियस की मृत्यु के २०० वर्ष के अदर न केवल रोमन साम्राज्य के बल्कि स्वय इटली के टुकडे टुकडे हो गए थे।" पर वह कहानी रोमन साम्राज्य की है।

रोमन साम्राज्य के पतन के बाद से आधुनिक समय तक राष्ट्र की हैसियत से इटली में न तो कभी राजनीतिक एकता रही, न स्वाधीनता और न सगठित राष्ट्र। सन् ४७६ ई० में इटली मे नया राजनीतिक परिवर्तन हुआ। गौथ और वडल कौमो के लोगो ने इटली की फौजो और रोम के दरबार

मे से कुछ रोमसुदा, ग्रीमेल्दा, गोदोलिएरे वेनेत्सियान्यो, वोनेगा देल काफ्फे, व्रूज्यार्दो, फामील्या देल्लातीश्चारियो, रुस्तेगी हैं। मेम्वायर्स (सस्मरण) में उन्होने रगमच आदि के सबध में अपने विचार प्रकट किए है।

ज्यूसेप्पे पारीनी (१७२९-१७९१) की रचनाओ मे नैतिक स्वर की प्रधानता है। अपने युग से वे बहुत प्रसन्न नही थे और उसकी आलोचना उन्होंने अत्यत साहसपूर्वक की है। अपने समय के रईसो की पतित अवस्था पर उन्होंने अपनी दो काव्यकृतियों—मात्तीनो (प्रभात) और मेज्जोज्योर्नो (दोपहर)—में कटु व्यग्य किया है। पारीनी ने प्रसिद्ध गीत भी लिखे है—ल'इपोस्तूरा, इल वीसोन्यो। उनके प्रसिद्ध ओदो (ओड्स) में से ला वीता रुस्तीका, इल दोनो, आसिल्विया आदि है। व्यग्यकाव्य का अच्छा उदाहरण इल ज्योर्नो (दिन) है जिसमे एक निठल्ले राजकुमार पर व्यग्य किया गया है। इस सदी का सबसे बडा कवि तथा नाटककार वीत्तोरियो आल्फिएरी (१७४९-१८०३) है। आल्फिएरी एक ओर तो फ्रासीसी बुद्धिवादियो से प्रभावित था, दूसरी ओर उसका हृदय स्वच्छदतावादी भावना से भरा हुआ था। उसके राजनीतिक विचारो का परिचय उसकी प्रारभिक कृति देल्लातीरान्नीदे से मिलता है। अन्य प्रारभिक कृतियो मे एत्रूरिया वेदीकाता, सातीरे, मीसोगाल्लो हैं। रीमे मे कवि की प्राय सभी विशेषताएँ मिलती है। आल्फिएरी की दु खात नाटक कृतियो मे उसके समय की विशेषताएँ तथा उसके व्यक्तिगत उत्साहभाव मिलते हैं। साउल, मीर्रा, आगामेम्नोने, ओत्ताविया, मेरोपे, अतीगोने, ओरेस्ते आदि प्रमुख रचनाएँ है। उसकी कृतियो मे कार्य मथर गति से बढता है तथा प्रगीति तत्व की प्रधानता मिलती है। वास्तव मे वह प्रधान रूप से कवि था और इसी रूप मे उसने आगे के कवियो को प्रभावित किया।

१९वी सदी के प्रारभ मे इतालीय साहित्य में राष्ट्रीय चेतना के लक्षरण दिखाई देने लगते है। प्राचीन कृतियो का प्रकाशन बिब्लियोतेका दे'क्लास्सीची इतालियानी (१८०४-१४) तथा इतालीय विचारधारा को समझने का प्रयास हो रहा था। इस कार्य का केंद्र मिलान था जो इटली के हर भाग के कवियो, लेखको तथा विचारको का कार्यकेंद्र था। माक्यावेल्ली, सार्पी, वीको की विचारधारा का मथन किया जा रहा था और साहित्यिक तथा राजनीतिक दृष्टि से स्वतत्र इटली की नीव डाली जा रही थी। इन विचारको मे फ्राचेस्को लोमोनाको (१७७२-१८१०), विचेसो कुओको (१७७०-१८२३), दोमेनीको रोमान्योसी (१७६१-१८३५) प्रमुख हैं। काव्यसमीक्षा के क्षेत्र मे अभिनव प्राचीन (नेओक्लासिक) रुचि स्थापित की जा रही थी जिसमे आसन्न स्वच्छदतावाद के बीज भी दिखते है। कविता के अतिरिक्त कलात्मक गद्य लिखने की परिपाटी का सूत्रपात आतोनियो चेसारी (१७६०-१८२८) कर रहा था जिसने प्राचीन इतालीय साहित्य से शब्द छाँट छाँटकर अपनी कृति बेल्लेज्जे दी दाते (दाते का सौंदर्य) रची, क्रूस्का के कोश का पुन सपादन किया तथा इसी शैली मे अनेक अन्य कृतियाँ लिखी। विचेसो मोती तथा उसके सहयोगियो ने तथा जूलियो पेरतीकारी (१७७९-१८३२) ने भी भाषा शैली को विशुद्ध रूप देने का प्रयास किया। शैलीकार के रूप मे पिएतरो ज्योर्दानी (१७७४-१८४८) का स्थान ऊँचा है। उसकी शैली मे ओज तथा राष्ट्रीय महानता की गूंज है। सारे जीवन वह गद्य का सरल तथा उत्कृष्ट रूप देने का प्रयास करता रहा। नेओक्लासिक पीढी का प्रतिनिधि कवि विचेसो मोती (१७५४-१८२८) है। मोती की विचारधारा बदलती रही, पोप के यहाँ रहते हुए उसने बास्वील्लीयाना नामक कृति लिखी जिसमे नरेशवाद की ओर झुकाव है। मिलान मे रहते हुए नेपोलियन की विजय से उत्साहित हो प्रोमेतेओ लिखी। मोती कल्पना और श्रुतिमधुर शब्दो का कवि है। हृदयपक्ष गौण है। होमर की कृति इलियड का मोती ने स्वतत्र अनुवाद भी किया था। इस धारा के अन्य छोटे कवियो मे चेसारे अरीची तथा फीलीपो पान्नाती का उल्लेख किया जा सकता है।

सारे यूरोप और विशेषकर इटली मे साहित्यिक क्षेत्र मे जब एक प्रकार की अनिश्चितता का वातावरण फैला था उस समय ऊगो फोस्कोलो (१७७८-१८२७) की प्रतिभा ने सभी महत्वपूर्ण और अच्छे पक्षो को ग्रहण करके भविष्य के लिये अच्छी परपरा तैयार की। इतालीय काव्य को फोस्कोलो ने नवीन स्फूर्ति, नई गीतिकविता तथा नई दृष्टि प्रदान की। कवि, पत्रकार, लेखक सभी रूपों मे फोस्कोलो ने अपनी छाप छोडी है। उसने यूरोपीय स्वच्छदतावाद की विशेषताओ को आत्मसात् किया तथा इतालीय सास्कृतिक परपरा से भी सबध बनाए रखा। सॉनेट, ओड, सेपोल्क्री, ग्राज़िए फोम्कोलो की काव्यकृतियाँ हैं। इतालीय काव्यसाहित्य मे सेपोल्क्री का नई भाषा, हृदय स्पर्श करने की शक्ति, व्यजना, प्रस्तुत अप्रस्तुत का स्वाभाविक सबध आदि अनेक दृष्टियो से ऊँचा स्थान है। गद्य रचनाओ मे कथाकृतियाँ आर्तीस और लाउरा प्रसिद्ध है।

स्वच्छदतावाद (रोमाटिसिज्म) के सिद्धातो का प्रवेश इटली मे उन्नीसवी सदी के दूसरे तीसरे दशको मे हुआ। इसका प्रधान केंद्र उत्तरी इटली, विशेष रूप से मिलान था। लुदोवीको दी ब्रेमे (१७८०-१८२०), वेरशेत, बोरसिएरी, माजोनी, मात्सीनी के लेखो द्वारा स्वच्छदतावाद का प्रारभ हुआ। काफ्फे, कोचिलियातोरे पत्रो मे अनेक लेख इस धारा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए निकले। ज्यूसेपे मात्सीनी (१८०५-१८७२) सबसे अधिक इस धारा से प्रभावित हुए। उनके व्यक्तित्व और विचारो का इटली के पुनरुत्थान आदोलन पर तथा कला के क्षेत्र मे भी बहुत प्रभाव पडा। उनके साहित्यिक लेखो—देल्ल' आमोर पात्रियो दी दाते (दाते का मातृभूमि-प्रेम), दी उना लेत्तेरात्तूरा इउरोपा (एक योरोपीय साहित्य पर)—से बहुत साहित्यिक प्रभावित हुए। इतिहास को राष्ट्रीय दृष्टि से लिखनेवालो ने भी इतालीय एकता की राष्ट्रीय भावना को जगाया। चेस्तरे बाल्दो जीनो काप्पोनी आदि इसी प्रकार के लेखक है। इतालीय साहित्य का नवीन दृष्टि से इतिहास लिखनेवाले फ्राचेस्को दे साक्टीस की कृति स्तोरिया देल्ला लेत्तेरातूरा इतालियाना महत्वपूर्ण है। साहित्य को समाज का प्रतिबिंब समझने का दृष्टिकोण तथा अनेक साहित्यिक समस्याओ को नए ढग से परखने का नवीन प्रयास दे साक्टीस की कृति मे मिलता है। इसी प्रकार का दृष्टिकोण लुइजी सेतेबरीनी की कृति लेत्सियोनी दी लेत्तेरात्तूरा इतालियाना मे भी मिलता है। पुनरुत्थानयुग की कृतियो मे सिल्वीको पेल्लीको (१७८९-१८५४) की कृति मिए प्रिज्योनी भी उल्लेखनीय है जिसमें उस युग की आशा निराशाओ का वर्णन है। मास्सीमो दाजेल्यो के सस्मरण इ मिएई रिकोर्दी भी रोचक है।

स्वच्छदतावादी धारा में अनेक भावुकताप्रधान गद्य पद्य कृतियाँ लिखी गई। इन साधारण कवियो मे अलेआरदो आलेआरदी (१८१२-१८७८) की कृतियाँ मोते चीरचेल्लो, ले प्रीमे स्तोरिए तथा ऐतिहासिक उपन्यासो मे तोमास्सो ग्रोसी का मार्को वीस्कोती, दाजेल्यो का एत्तोरे फिएरामोस्का तथा ज्योवान्नी वेरशेत (१७८३-१८५१) की गीतिकविताएँ सुदर हैं। नीकोलो तोम्मासेओ के शब्दकोश, दाते की कृति की टीका तथा आत्मकथात्मक दियारियो इतीमो, पद्यबद्ध कथा उना सेरवा तथा ग्रीक के अनुवाद उसे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते है। अन्य कवियो मे बोलियो मे रचना करनेवाले कार्लो पोर्ता तथा जी० जी० वेल्ली उल्लेखनीय है। इतालीय रोमाटिक सस्कृति युग के दो महान् साहित्यकार है माजोनी तथा लियोपार्दी। दोनो ही १७वी सदी के फ्रासीसी वातावरण से प्रभावित इलुमिनिस्टिक युग मे पलकर क्रमश रोमाटिक अर्थो मे भावुक तथा धार्मिक अनुभूतियो से प्रभावित होने गए। माजोनी उदार कैथोलिक धार्मिक प्रवृत्ति का था। लियोपार्दी मे सृष्टि के प्रति खिन्नता की प्रवृत्ति दिखती है। दोनो ही नवीन काव्यधारा मे प्रभावित थे और उसके आधारभूत सिद्धातो को स्वीकार करते हैं। माजोनी मे लोबार्द प्रात की सजीव उन्मुक्त प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। लियोपार्दी प्रतिक्रियावादी रूढिवादी वातावरण मे पले थे अत इसकी छाप उनमे मिलती है। माजोनी की कृतियो मे वर्णन की पूर्णता, वास्तविक कविता, नई उन्मुक्त भाषा तथा अधिक प्रेषणीयता मिलती है। लियोपार्दी अपनी अपार करुणा के लिये अकेले है। आलेसाद्रो माजोनी (१७७५-१८७३) ने अनेक ऐतिहासिक ग्रथ लिखे। काव्यशास्त्र पर भी उसकी कृतियाँ है। उसने गीति कविताएँ और नाटक लिखे। उसकी एक महत्वपूर्ण कृति उसका उपन्यास ई **प्रोमेस्सी स्पोस्सी** है जिसमे मिलान के जीवन का चित्रण है तथा जो इतालीय भाषा का बहुत ही सुदर आदर्श रूप प्रस्तुत करता है। ज्याकोमो लियोपार्दी (१७९८-१८३०) ने स्तोरिया देल्ल अस्त्रोनोमिया, पुराने लोगो की भ्रांतियो पर निबध, भारतीय गुरु तथा इजिप्ट मे पांपियो, दार्शनिक वार्ताएँ आदि नाना विषयो पर गद्य कृतियाँ लिखी जिनमे १८वीं सदी की रुचि दिखती है। किंतु धीरे धीरे उसका स्वभाव बदला और वह

उत्तर-पश्चिम में स्थित है। इस नगर मे नालो की सख्या अधिक है अत इसकी जल निकासी बहुत अच्छी है। यहाँ की जामा मस्जिद बहुत प्रसिद्ध है। कहा जाता है, पूर्वकाल में यह एक हिंदू मदिर था जिसे मुसलमानो ने मस्जिद में परिणत कर दिया। चौहान राजाओ के प्राचीन दुर्ग के भग्नावशेष भी इटावा की गौरवगाथा के परिचायक है। हिंदूकाल मे यह एक प्रसिद्ध नगर था, परतु महमूद गजनवी तथा शहाबुद्दीन की लूट मार ने इस नगर के वैभव को मिट्टी में मिला दिया। मुगलकाल मे इसका जीर्णोद्धार हुआ, परतु मल्हारराव होल्कर ने सन् १७५० ई० के लगभग इस नगर को फिर लूटा। आजकल यह गल्ले तथा घी की बडी मडी है और यहाँ का सूती उद्योग (विशेषकर दरी उद्योग) उन्नतिशील अवस्था मे है। [लें० रा० सि० क०]

इडाहो प्रपात

इडाहो प्रपात सयुक्त राज्य (अमरीका) के इडाहो राज्य का तीसरा बडा नगर तथा बानविल काउटी की राजधानी है। यह स्नेक नदी के किनारे समुद्रतल से ४,७०९ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। यह यूनियन पैसिफिक रेलवे का एक स्टेशन है। इसके अधिकाश उद्योग कृषि से सबधित है। यहाँ चुकदर की शक्कर के कारखाने, दुग्धशालाएँ तथा आलू के गोदाम है। इसकी जलविद्युत् मशीन बहुत बडी है। इसकी जनसख्या सन् १९५० ई० मे १९,२१८ थी। [लें० रा० सि० क०]

इतागाकी ताइसूके

इतागाकी ताइसूके (१८३७-१९१९) जापानी राजनीतिज्ञ। जन्म तोसा मे। प्रारभिक ख्याति राजनीतिक सिपाही के रूप मे जिसने सामतवाद का उन्मूलन कर प्राशासनिक शक्ति राजसत्ता के हाथ मे एकत्र करने मे योग दिया। नवीन विधान में उसे मत्री का पद मिला (१८७३)। सरकार की सामरिक नीति से मतभेद होने के कारण उसने त्यागपत्र दे दिया। अपने घर पर जनता को जनतत्र शासन की प्रशिक्षा देने के उद्देश्य से स्कूल खोले जो बहुत जनप्रिय हुए। देखादेखी ऐसे अनेक प्रशिक्षण केंद्र खोले गए। इतागाकी "जापान के रूसो" के नाम से विख्यात हुए।

१८८१ मे इतागाकी की अध्यक्षता मे जापान का जिऊ-तो नामक पहला राजनीतिक दल बना जिसने देश में ससदीय शासन के प्रचलन मे योग दिया। इतागाकी ने अपना सारा जीवन इस दल के सगठन मे लगा दिया। १८८२ में एक हत्यारे ने इतागाकी पर वार किया, पर वे बच गए और हत्यारे को सबोधित करके उन्होने कहा—"इतागाकी को मार सकते हो, स्वतत्रता अमर है।" १८८७ में उन्हें एक बार फिर से मत्रिपद और काउट की उपाधि मिली। [स० च०]

इतालवी भाषा, आधुनिक

इतालवी भाषा, आधुनिक इतालीय गणतत्र की भाषा इतालवी है, किंतु कोर्सिका (फ्रासीसी), त्रियेस्ते (यूगोस्लाविया) के कुछ भाग तथा सानमारीनो के छोटे से प्रजातत्र मे भी इतालवी बोली जाती है। इटली मे अनेक बोलियाँ बोली जाती है जिनमे से कुछ तो साहित्यिक इतालवी से बहुत भिन्न प्रतीत होती है। इन बोलियो में परस्पर इतना भेद है कि उत्तरी इटली के लोबार्द प्रात का निवासी दक्षिणी इटली के कालाब्रिया की बोली शायद ही समझ सकेगा या रोम में रहनेवाला केवल साहित्यिक इतालवी जाननेवाला विदेशी रोमानो बोली (रोम के त्राएतेवेरे मुहल्ले की बोली) को शायद ही समझ सकेगा। इतालवी बोलियो के नाम इतालवी प्रातो की सीमाओ से थोडे बहुत मिलते है। स्विट्जरलैंड से मिले हुए उत्तरी इटली के कुछ भागो मे लादीन वर्ग की बोलियाँ बोली जाती है—जो रोमास बोलियाँ है, स्विट्जरलैंड में भी लादीनी बोली जाती है। वेनेसियन बोलियाँ इटली के उत्तरी-पश्चिमी भाग मे बोली जाती है, वेनिस नगर इसका प्रतिनिधि केंद्र कहा जा सकता है। पीमोंते, लिगूरिया, लोबार्दिया तथा एमीलिया प्रातो में इन्ही नामो की बोलियाँ बोली जाती है जो कुछ कुछ फ्रासीसी बोलियो से मिलती है। लातीनी के गत्य स्वर का इनमे लोप हो जाता है—उदाहरणार्थ फात्तो (तोस्कानो), फेत (पीमोतेसे) ओत्तो, ओत (आठ)। तोस्काना प्रात मे तोस्काना वर्ग की बोलियाँ बोली जाती है। साहित्यिक इतालवी का आधार तोस्काना प्रात की, विशेषकर फ्लोरेंस की बोली (फियोरेंतीवो) रही है। यह लातीनी के अधिक समीप कही जा सकती है। कठ्य का महाप्राण उच्चारण इसकी प्रमुख विशेषता है—यथा कासा, कहासा (घर)। उत्तरी और दक्षिणी बोलियो के क्षेत्रो के बीच में होने के कारण भी इसमे दोनो वर्गों की विशेषताएँ कुछ कुछ समन्वित हो गई। उत्तरी कोर्सिका की बोली तोस्कानो से मिलती है। लात्सियो (रोम केंद्र), ऊम्ब्रिया (पेरूज्या केंद्र) तथा मार्के की बोलियो को एक वर्ग में रखा जा सकता है और दक्षिण की बोलियो मे अब्रूज्जी, कापानिया (नेपल्स प्रधान केंद्र), कालाब्रिया, पूल्या और सिसिली की बोलियाँ प्रमुख है—इनकी सबसे प्रमुख विशेषता लातीनी के सयुक्त व्यजन ण्ड के स्थान पर न्न, म्ब के स्थान पर म्म, ल्ल के स्थान पर ड्ड का हो जाना है। सार्देन्या की बोलियाँ इतालवी से भिन्न है।

एक ही मूल स्रोत से विकसित होते हुए भी इतनी भिन्नता इन बोलियो मे कदाचित् लातीनी के भिन्न प्रकार से उच्चारण करने से आ गई होगी। बाहरी आक्रमणो का भी प्रभाव पडा होगा। इटली की बोलियो मे सुदर ग्राम्य गीत है जिनका अब सग्रह हो रहा है और अध्ययन भी किया जा रहा है। बोलियो मे सजीवता और व्यजनाशक्ति पर्याप्त है। नापोलीतानो के लोकगीत तो काफी प्रसिद्ध है।

साहित्यिक भाषा—९वी सदी के आरभ की एक पहेली 'इदोवीनेल्लो वेरोनेसे' (वेरोना की पहेली) मिलती है जिसमे आधुनिक इतालवी भाषा के शब्दो का प्रयोग हुआ है। उसके पूर्व के भी लातीनी अपभ्रश (लातीनो वोल्गारे) के प्रयोग लातीनी मे लिखे गए हिसाब के कागजपत्रो में मिलते है जो आधुनिक भाषा के प्रारभ की सूचना देते है। ७वी और ८वी सदी मे लिखित पत्रो मे स्थानो के नाम तथा कुछ शब्दो के रूप मिलते है जो नवीन भाषा के द्योतक है। साहित्यिक लातीनी और जनसामान्य की बोली मे धीरे धीरे अतर बढता गया और बोली की लातीनी से ही आधुनिक इतालवी का विकास हुआ। इस बोली के अनेक नमूने मिलते है। सन् ९६० में मोतेकास्सीनो के मठ की सीमा की पचायत के प्रसग मे एक गवाही का बयान तत्कालीन बोली मे मिलता है, इसी प्रकार की बोली तथा लातीनी अपभ्रश मे लिखित लेख रोम के सत क्लेमेते के गिरजे में मिलता है। ऊम्ब्रिया तथा मार्के मे भी ११वी १२वी शदी की भाषा के नमूने धार्मिक स्वीकारोक्तियो के रूप मे मिलते है। १२वी सदी का तोस्कानो भाषा का नमूना मसखरे के गीत 'रीत्मो ज्यूल्लारेस्को तोस्कानो' मे मिलता है। ऐसे ही अन्य महत्वपूर्ण नमूने भी मिलते है, किंतु इतालवी भाषा की पद्यबद्ध रचनाओ के उदाहरण सिसिली के सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय (१३वी सदी) के दरबारी कवियो के मिलते है। ये कविताएँ सिसिली की बोली मे रची गई होगी। शृगार ही इन कविताओ का प्रधान विषय है। पिएर देल्ला विन्या, याकोपो द अक्वीनो आदि अनेक पद्यरचयिता फ्रेडरिक के दरबार मे थे। वह स्वय भी कवि था।

वेनेवेत्तो के युद्ध के पश्चात् साहित्यिक और सास्कृतिक केंद्र सिसिली के बजाय तोस्काना हो गया जहाँ शृगारविषयक गीतिकाव्य की रचना हुई, गुइत्तोने देल वीवा द आरेज्जो (मृत्यु १२९४ ई०) इस धारा का प्रधान कवि था। फ्लोरेस, पीसा, लूक्का तथा आरेज्जो मे इस काल में अनेक कवियो ने तत्कालीन बोली मे कविताएँ लिखी। बोलोन (इता० बोलोन्या) में साहित्यिक भाषा का रूप स्थिर करने का प्रयास किया गया। सिसिली और तोस्काना काव्यधाराओ ने साहित्यिक इतालवी का जो रूप प्रस्तुत किया उसे अतिम और स्थिर रूप दिया 'दोल्चे स्तील नोवो' (मीठी नवीन शैली) के कवियो ने। इन कवियो ने कलात्मक सयम, परिष्कृत रुचि तथा परिमार्जित समृद्ध भाषा का ऐसा रूप रखा कि आगे की कई सदियो के इतालवी लेखक उसको आदर्श मानकर इसी मे लिखते रहे। दाते अलीगिएरी (१२६५-१३२१) ने इसी नवीन शैली मे, तोस्काना की बोली मे, अपनी महान् कृति 'दिवीना कोमेदिया' लिखी। दाते ने 'कोन्वीविओ' में गद्य का भी परिष्कृत रूप प्रस्तुत किया और गूइदो फावा तथा गुइत्तोने द आरेज्जो की कृत्रिम तथा साधारण बोलचाल की भाषा से भिन्न स्वाभाविक गद्य का रूप उपस्थित किया। दाते तथा 'दोचे स्तील नोवो' के अन्य अनुयायियो मे अग्रगण्य है फ्रोचेस्को, पेत्रार्का और ज्योवान्नी बोक्काच्यो। पेत्रार्का ने फ्लोरेस की भाषा को परिमार्जित रूप प्रदान किया तथा उसे व्यवस्थित किया। पेत्रार्का की कविताओ और बोक्काच्यो की कथाओ ने इतालवी साहित्यिक भाषा का अत्यत सुव्यवस्थित रूप सामने रखा। पीछे के लेखको ने दाते, पेत्रार्का और बोक्काच्यो की कृतियो से सदियो तक प्रेरणा ग्रहण की। १५वी सदी मे लातीनी के प्राचीन साहित्य के प्रशसको ने लातीनी को चलाने की चेष्टा की और प्राचीन सभ्यता के अध्ययनवादियो (मानवता-

खिलौने तथा यातायात के साधनो आदि के द्वारा ऐतिहासिक ज्ञान का क्षेत्र और कोप बढता चला गया। उस सब सामग्री की जॉच पडताल की वैज्ञानिक कला का भी विकास होता गया। प्राप्त ज्ञान को सजीव भाषा मे गुफित करने की कला न आश्चर्यजनक उन्नति कर ली है, फिर भी अतीत के दर्शन के लिये कल्पना कुछ तो अभ्यास, किंतु अधिकतर व्यक्ति की नैसर्गिक क्षमता एव सूक्ष्म तथा ऋात दृष्टि पर आश्रित है। यद्यपि इतिहास का आरभ एशिया मे हुआ, तथापि उसका विकास यूरोप मे विशेष रूप से हुआ।

इतिहास न्यूनाधिक उसी प्रकार का सत्य है जैसा विज्ञान और दर्शनो का होता है। जिस प्रकार विज्ञान और दर्शनो मे हेरफेर होते है उसी प्रकार इतिहास के चित्रण मे भी होते रहते है। मनुष्य के बढते हुए ज्ञान और साधनो की सहायता से इतिहास के चित्रो का सस्कार, उनकी पुनरावृत्ति और सस्कृति होती रहती है। प्रत्येक युग अपने अपने प्रश्न उठाता है और इतिहास से उनका समाधान ढूँढता रहता है। इसीलिये प्रत्येक युग, समाज अथवा व्यक्ति इतिहास का दर्शन अपने प्रश्नो के दृष्टिबिदुओ से करता रहता है। यह सब होते हुए भी साधनो का वैज्ञानिक अन्वेषण तथा निरीक्षण, कालक्रम का विचार, परिस्थिति की आवश्यकताओ तथा घटनाओ के प्रवाह की बारीकी से छानबीन और उनसे परिणाम निकालने मे सतर्कता और सयम की अनिवार्यता अत्यत आवश्यक है। उनके बिना ऐतिहासिक कल्पना और कपोलकल्पना मे कोई भेद नही रहेगा।

इतिहास की रचना मे यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि उससे जो चित्र बनाया जाय वह निश्चित घटनाओ और परिस्थितियो पर दृढता से आधारित हो। मानसिक, काल्पनिक अथवा मनमाने स्वरूप को खडा कर ऐतिहासिक घटनाओ द्वारा उसके समर्थन का प्रयत्न करना अक्षम्य दोष होने के कारण सर्वथा वर्जित है। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि इतिहास का निर्माण बौद्धिक रचनात्मक कार्य है अतएव अस्वाभाविक और असभाव्य को प्रमाणकोटि मे स्थान नही दिया जा सकता। इसके सिवा इतिहास का ध्येयविशेष यथावत् ज्ञान प्राप्त करना है। किसी विशेष सिद्धात या मत की प्रतिष्ठा, प्रचार या निराकरण अथवा उसे किसी प्रकार का आदोलन चलाने का साधन बनाना इतिहास का दुरुपयोग करना है। ऐसा करने से इतिहास का महत्व ही नही नष्ट हो जाता, वरन् उपकार के बदले उससे अपकार होने लगता है जिसका परिणाम अततोगत्वा भयावह होता है।

इतिहास का क्षेत्र बडा व्यापक है। प्रत्येक व्यक्ति, विषय, अन्वेषण, आदोलन आदि का इतिहास होता है, यहाँ तक कि इतिहास का भी इतिहास होता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि दार्शनिक, वैज्ञानिक आदि अन्य दृष्टिकोणो की तरह ऐतिहासिक दृष्टिकोण की अपनी निजी विशेषता है। वह एक विचारशैली है जो प्रारभिक पुरातन काल से और विशेषत १७वी सदी से सभ्य ससार मे व्याप्त हो गई। १९वी सदी से प्राय प्रत्येक विषय के अध्ययन के लिये उसके विकास का ऐतिहासिक ज्ञान आवश्यक समझा जाता है। इतिहास के अध्ययन से मानव समाज के विविध क्षेत्रो का जो व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है उससे मनुष्य की परिस्थितियो को आँकने, व्यक्तियो के भावो और विचारो तथा जनसमूह की प्रवृत्तियो आदि को समझने के लिये बडी सुविधा और अच्छी खासी कसौटी मिल जाती है।

इतिहास प्राय नगरो, प्रातो तथा विशेष देशो के या युगो के लिखे जाते है। अब इस ओर चेष्टा और प्रयत्न होने लगे है कि यदि सभव हो तो सभ्य ससार ही नही, वरन् मनुष्य मात्र के सामूहिक विकास या विनाश का अध्ययन भूगोल के समान किया जाय। इस ध्येय की सिद्धि यद्यपि असभव नही, तथापि बडी दुस्तर है। इसके प्राथमिक मानचित्र से यह अनुमान होता है कि विश्व के सतोषजनक इतिहास के लिये बहुत लबे समय, प्रयास और सगठन की आवश्यकता है। कुछ विद्वानो का मत है कि यदि विश्व-इतिहास की तथा मानुषिक प्रवृत्तियो के अध्ययन से कुछ सर्वव्यापी सिद्धात निकालने की चेष्टा की गई तो इतिहास समाजशास्त्र मे बदलकर अपनी वैयक्तिक विशेषता खो बैठेगा। यह भय इतना चिंताजनक नही है, क्योकि समाजशास्त्र के लिये इतिहास की उतनी ही आवश्यकता है जितनी इतिहास को समाजशास्त्र की। वस्तुत. इतिहास पर ही समाजशास्त्र की रचना सभव है।

एशियाइयो मे चीनियो, किंतु उनसे भी अधिक इस्लामी लोगो को, जिनको कालक्रम का महत्व अच्छे प्रकार ज्ञात था, इतिहासरचना का विशेष श्रेय है। मुसलमानो के आने के पहले हिंदुओ की इतिहास के सबध मे अपनी अनोखी धारणा थी। कालक्रम के बदले वे सास्कृतिक और धार्मिक विकास या ह्रास के युगो के कुछ मूल तत्वो को एकत्रित कर और विचारो तथा भावनाओ के प्रवर्तको और प्रतीको का साकेतिक वर्णन करके तुष्ट हो जाते थे। उनका इतिहास प्राय काव्यरूप मे मिलता है जिसमे सब कच्ची पक्की सामग्री मिली जुली, उलझी और गुथी पडी है। उसके सुलझाने के कुछ कुछ प्रयत्न होने लगे है, किंतु कालक्रम के अभाव मे भयकर कठिनाइयाँ पड रही है।

वर्तमान सदी मे यूरोपीय शिक्षा मे दीक्षित हो जाने से ऐतिहासिक अनुसधान की हिंदुस्तान मे उत्तरोत्तर उन्नति होने लगी है। इतिहास की एक नही, सहस्रो धाराएँ है। स्थूल रूप से उनका प्रयोग राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रो मे अधिक हुआ है। इसके सिवा अब व्यक्तियो मे सीमित न रखकर जनता तथा उसके सबध का ज्ञान प्राप्त करने की ओर अधिक रुचि हो गई है। [रा० प्र० त्रि०]

इतो, हिरोबुमि, प्रिंस (१८४१-१९०९) जापानी राजनीतिज्ञ जो पहले प्रबल सामत छाशू का सैनिक था। आरभ मे जिस राजनीतिक कार्य मे स्वामी ने इतो को नियुक्त किया उससे स्वय इतो और जापान दोनो का बडा हित सधा। इतो ने देखा कि पाश्चात्य तोपो और बदूको के सामने जापानी तीरदाजो का टिक सकना असभव है, इससे उसने कुछ मित्रो के साथ यूरोप मे जाकर सैनिक साज सज्जा सीखने का निश्चय किया। पर तबके जापानी कानून के अनुसार विदेश जानेवालो को प्राणदड मिला करता था। सो इतो और उसके साथियो ने जानपर खेलकर यूरोप की राजधानियो की राह ली। जापान और पाश्चात्य देशो के बीच तनातनी के कारण उसे स्वदेश लौटना पडा।

कालातर मे प्रिंस इतो ह्योगो का शासक नियत हुआ, फिर वित्त का उपमत्री। १८७१ ई० मे वह इवाकुरा के साथ सैनिक सलाहकारो की खोज मे फिर यूरोप गया। उसी द्वारा प्रस्तुत यूरोपीय सविधानो के फलस्वरूप जापान का नया सविधान बना और जापान यूरोपीय राज्यो द्वारा समपदस्थ स्वीकृत हुआ। नई जापानी राज्यशक्ति के निर्माण मे इतो का बडा हाथ था। एक कोरियाई हत्यारे ने उसकी हत्या कर दी।

[ओ० ना० उ०]

इत्रुस्की जाति और भाषा। इत्रुस्की किस जाति के थे यह निश्चयपूर्वक आज नही कहा जा सकता। सभवत इनमे रासेना, तिरहेनियाई, लीदियाई आदि सभी जातियाँ शामिल थी। इटली की तुस्कानी के अधिकतर भाग मे इत्रुस्की बसे थे, इसी से वह प्रदेश इत्रूरिया कहलाने लगा। इत्रूरिया मे कालातर मे इत्रुस्कियो के १२ प्रधान नगरराज्य खडे हुए। इन नगरराज्यो के प्रधान 'लुकुमोनिज' कहलाते थे जो शाति के समय पुरोहित और युद्ध के समय सेनानी के कार्य भी सपन्न करते थे। देश के शासन के अर्थ ये वाल्तुम्ना के मदिर मे अपनी सयुक्त बैठके किया करते थे। नगरो की राजनीतिक व्यवस्था अभिजाततत्रीय थी।

ई० पू० ११वी सदी मे इत्रुस्की जाति की शक्ति इटली मे विशेष बढी और उसने रोम पर भी अधिकार कर लिया। छठी सदी ई०पू० मे इत्रुस्कियो ने अपनी शक्ति की चोटी छू ली, जब ग्रीको और फिनीकियो के साथ उनकी प्रभुता भी भूमध्यसागरवर्ती व्यापार मे स्थापित हुई। ई० पू० ५वी सदी के तीसरे चरण के अत मे सीराकूज के ग्रीकराज हिएरो प्रथम ने उनका समुद्री बेडा नष्ट कर उनकी शक्ति क्षीण कर दी और तब से इत्रुस्कियो का ह्रास शीघ्रगामी हो चला। उत्तरी इत्रुस्कियो पर गॉलो ने ई० पू० ३९६ मे चोट कर उन्हे नष्ट कर दिया और दक्षिणी शाखाओ ने ई० पू० ३५१ में रोमनो को आत्मसमर्पण कर दिया। राजसत्ता के रूप मे तीसरी सदी ई० पू० तक इत्रुस्की इतिहास से मिट गए थे, यद्यपि उनका सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक प्रभाव रोमनो पर फिर भी बना रहा।

इत्रुस्की जाति के देवी देवता अधिकतर उसी लातीनी-साबीनी देवपरिवार के थे जिस परिवार के रोमनो के देवी देवता थे। वेतिना (लातीनी

१३००) का गीत दोन्ना मे प्रेगा पेर्के इग्रो वोल्या दीरे (महिला मेरी प्रार्थना क्यो करती है, मैं कहना चाहता हूँ) इस काव्यधारा का उत्कृष्ट उदाहरण माना जाता है। कावालवाती वास्तव मे प्रेम-काव्य-धारा का दाते के पूर्व सबसे बडा प्रतिनिधि कवि है। लायो ज्यान्नी, ज्यान्नी ग्राल्फानी, चीनो दा पिस्तोइया (१२७०–१३३६),दीनो फ्रेस्कोबाल्दी (मृत्यु १३१६ ई०) इस धारा के अन्य कवि हैं।

१३वी सदी में कविता की प्रधानता रही। गद्य अपेक्षाकृत कम लिखा गया। सिएना के हिसाबखातो में प्रयुक्त गद्य के उदाहरण तथा कुछ व्यापारिक पत्रो के अतिरिक्त मार्को पोलो की यात्राग्रो का विवरण इल मिलियोवे, कहानीसग्रह नोवेल्लीनो तथा धार्मिक और नैतिक विषयो पर लिखे गए पत्रो–ले-लैत्तेरे–का सग्रह, कथासग्रह लीग्रोदेई सेत्ते सावी ग्रादि उल्लेखनीय गद्यरचनाएँ हैं। इन रचनाग्रो मे लोक में प्रचलित सहज गद्य तथा कृत्रिम गद्यशैली दोनो रूप मिलते हैं।

नई मीठी शैली काव्यधारा के साथ ही एक और धारा प्रवाहित हो रही थी जिसमें साधारण श्रेणी के लोगो के मनोरजन की विशेष सामग्री थी। खेलो, नृत्यो, साधारण रीति रिवाजो को ध्यान मे रखकर ये कविताएँ लिखी जाती थी। फोल्गोरे दा सान जिमीनियानो(दरबारी कवि)ने दिनो, महीनो, उत्सवो को लक्ष्य करके कई सॉनेट लिखे है। ऐसा ही कवि चेक्को ग्रॉर्जियोलिएरी है, इसका प्रसिद्ध सॉनेट है—स'इ' फोस्से फोको, ग्ररदेरेइ ल' मोदो (ग्रगर मैं ग्राग होता तो ससार को जला देता)। इसी धारा मे बुद्धिवादी उपदेशक कवि बोनवेसीन दा रीवा ग्रादि रखे जा सकते हैं। धार्मिक साहित्य की दृष्टि से याकोपोने दा तोदी भी स्मरणीय हैं।

दाते, पेत्रार्का, बोक्काच्यो—मीठी नई शैली का पूर्णतम विकास तथा इतालीय साहित्य का बहुमुखी विकास इन तीन महान् साहित्यकारो की कृतियो में मिलता है। इतालीय साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं दाते ग्रलिघिएरी (१२६५-१३२१)। दाते की प्रतिभा ग्रपने समकालीन साहित्यकारो मे ही नही, विश्वसाहित्य के सब समय के काव्यो में बहुत ऊँची है। समकालीन सस्कृति को ग्रात्मसात् करके उन्होने ऐसे मौलिक सार्वभौम रूप में रखा कि इतालीय साहित्य को उन्होंने एक नया मोड दिया। उनका जीवन काफी घटनापूर्ण रहा। उनकी कविता का प्रेरणास्रोत उनकी प्रेमिका बेग्रात्रीचे थी। वीता नोवा (नया जीवन) के ग्रनेक गीत प्रेमविषयक हैं। यह प्रेम ग्रादर्शवादी प्रेम है। बेग्रात्रीचे की मृत्यु के बाद दाते का प्रेम जैसे एक नवीन कल्पना और सौदर्य से युक्त हो गया था। वीता नोवा के गीतो में कल्पना, सगीत, ग्राश्चर्य सबका सुदर समन्वय है। इसी के समान ग्रप्रौढ कृति इल कोवीवियो (सहपान) है जिसमे इतालीय गद्य का प्रथम सुदर उदाहरण मिलता है। इस कृति मे दाते ने कुछ गीतो की व्याख्या की है, वे ग्रलग भी ले रीमे मे मिलते हैं। इतालीय भाषा पर लातीनी में दाते की कृति दे वुल्गारी एलोक्वेतिया है। दाते की राजनीतिक विचारधारा का परिचय उनकी लातीनी कृति मोनार्किया मे मिलता है। इन छोटी कृतियो के साथ ही उनके पत्रो–ले एपोस्तोले–ग्रादि का भी उल्लेख किया जा सकता है। किंतु दाते और इतालीय साहित्य की सबसे श्रेष्ठ कृति कोम्मेदिया (प्रहसन) है। कृति के इन्फेर्नो (नरक), पुरगातोरिग्रो (शुद्धिलोक) और पारादीसो (स्वर्ग), तीन खडो मे १०० कांती (गीत) है। कोम्मेदिया एक प्रकार से शाश्वत मानव भावो के इतिहास का महाकाव्य हे। दाते ने ग्रपना परिचित सारा ऐतिहासिक, धार्मिक, दार्शनिक जगत् उसमे रख दिया है। इतिहास, कल्पना, धर्म ग्रादि क्षेत्रो के व्यक्ति कोम्मेदिया में मिलते हैं। रसो और भावो की दृष्टि से उसमें मानव की सभी स्थितियाँ मिलती है। कोमल, परुष, करुण, नम्र, भयानक, गर्व, ग्रभिमान, दर्प, हास्य, हर्ष, विषाद ग्रादि सभी भाव कोम्मेदिया मे मिलते है और साथ ही ग्रत्यत उत्कृष्ट काव्य। मानव सस्कृति का यह एक ग्रत्यत उच्च शिखर है। इतालीय भाषा का इस कृति के द्वारा दाते ने रूप स्थिर कर दिया। कृति के प्रति श्रद्धा के कारण उसके साथ दिवीना (दिव्य) नाम जोड दिया गया। दिवीना कोम्मेदिया का प्रभाव इतालीय जीवन पर ग्रभी भी बहुत हे।

फ्राचेस्को पेत्रार्का (१३०४-१३७४) को इटली का पहला मानवतावादी तथा नवीन धारा का पहला गीतिकवि कहा जा सकता है। प्राचीन लातीनी साहित्य का उसने गभीर अध्ययन और यूरोप के ग्रनेक देशो का भ्रमण किया था। ग्रपने समय के ग्रनेक प्रसिद्ध व्यक्तियो से उसका परिचय था। साहित्य और सस्कृति के क्षेत्र मे जिस प्रकार पेत्रार्का प्राचीनता का पक्षपाती था, राजनीति के क्षेत्र में भी प्राचीन रोम के वैभव का वह प्रशसक था। प्राचीन लातीनी कवियो की शैली पर पेत्रार्का ने ग्रनेक ग्रथ लातीनी मे लिखे—ल'ग्राफ्रीका लातीनी में लिखा प्रधान काव्य है। लातीनी गद्य में भी पेत्रार्का ने प्रसिद्ध पुरुषो की जीवनियाँ—दे वीरीस इलुस्त्रीबुस, धार्मिक प्रवचन—इल सेक्रेतुम तथा ग्रन्य ग्रनेक ग्रथ लिखे। पेत्रार्का की इतालीय भाषा में लिखित गीति लेरीमे, कॉजोनिएरे तथा ई त्रियोफी है। लाउरा नामक एक युवती पेत्रार्का की प्रेयसी थी। इस प्रेम ने पेत्रार्का को ग्रनेक गीत लिखने की प्रेरणा प्रदान की। काजोनिएरे को पेत्रार्का के प्रेम का इतिहास कहा जा सकता है। रीमे मे प्रेम, राजनीति, मित्रो तथा प्रशसको के विषय मे कविताएँ हैं। त्रियोफी रूपक काव्य है जिसे पेत्रार्का ग्रतिम रूप नही दे सका। प्रेम, मृत्यु, यश, काल, शाश्वतता जैसे विषयो पर रचनाएँ की गई हैं। पेत्रार्का की रचनाग्रो में सतर्क कलाकार के दर्शन होते हैं। बाह्य रूप को सजाकर रखने मे वह ग्रद्वितीय कवि है। उसकी समस्त गीतिरचनाएँ ग्रपनी ग्रात्मा से ही जैसे बातचीत का रूप हो। वास्तविकता या वर्णनात्मकता का उनमे प्राय ग्रभाव है। भाषा का रूप ऐसा सजाकर रखा है कि उनकी भाषा ग्राधुनिक प्रतीत होती है।

ज्योवान्नी बोक्काच्यो (१३१३-१३७५) भी प्राचीनता का प्रशसक और लातीनी का ग्रच्छा ज्ञाता था। पेत्रार्का को बोक्काच्यो बडी श्रद्धा और प्रेम से देखता था। दोनो बडे मित्र थे किंतु पेत्रार्का के समान विद्वान् तथा गभीर विचारक बोक्काच्यो नही था। उसने गद्य पद्य दोनो में ग्रच्छी रचना की। इतालीय गद्य साहित्य को प्रथम गद्यकथा फीलोकोलो में स्पेन के राजकुमार फ्लोरिग्रो और ब्याचीफियोरे की प्रेमकथा है। फीलोस्त्रातो (प्रेम की विजय) पद्यबद्ध कथाकृति है। तेसेइदा पहली इतालीय पद्यबद्ध प्रेम-कथा है जिसमें प्रेम के साथ युद्धवर्णन भी है। निन्फाले द' ग्रमेतो गद्य काव्य है जिसमें बीच बीच मे पद्य भी हैं। इसमे पशुचारक ग्रमेतो की कल्पित प्रेम-कहानी है जिसे रूपक का रूप दे दिया गया है। इसे पहली इतालीय पशु-चारक प्रेमकथा कहा जा सकता है। फियामेत्ता भी एक छोटी प्रेमकथा है जिसमें नायिका उत्तम पुरुष में ग्रपनी प्रेमकथा कहती है। इस गद्यकृति में बोक्काच्यो ने प्रेम की वेदना का बडा सूक्ष्म चित्रण किया है। लघु कृतियो मे निन्फाले फिएसोलानो सुदर काव्यकृति है। बोक्काच्यो की सर्वप्रसिद्ध तथा प्रौढ कृति देकामेरोन (दस दिन) हैं। कृति मे सौ कहानियाँ हैं, जो दस दिनो मे कही गई हैं। फ्लोरेंस की महामारी के कारण सात युवतियाँ और तीन युवक शहर से दूर एक भग्न प्रासाद में ठहरते है और इन कहानियो को कहते सुनते हैं। ये कहानियाँ बडे ही कलात्मक ढग से एक दूसरी से जुडी हुई है। कृति में सुदर वर्णन है। प्रत्येक कहानी कला का सुदर नमूना कही जा सकती है। कुछ कहानियाँ बहुत श्रृगारपूर्ण हैं। भाषा, वर्णन, कला ग्रादि की दृष्टि से देकामेरोन् ग्रत्यत उत्कृष्ट कृति है। इतालीय साहित्य में बहुत दिनो तक दिवीना कोम्मेदिया तथा देकामेरोन् के ग्रनुकरण पर कृतियाँ लिखी जाती रही। बोक्काच्यो ने लातीनी मे भी ग्रनेक कृतियाँ लिखी हैं तथा वह इटली का पहला इतिहासलेखक कहा जा सकता है। दाते का वह बडा प्रशसक था, दाते की प्रशसा मे लिखी कृति त्रात्तातेल्लो इन लाउदे दी दाते (दाते की प्रशसा मे प्रबध) तथा इल कोमेंते (टीका) दाते को समझने के लिये ग्रच्छी कृतियाँ है।

१४वी सदी के ग्रन्य साहित्यकारो मे राजनीति से सबधित पद्यरचयिता तथा गीतिकार फाज्यो देल्यी ऊबेरती ग्रपने प्रबधात्मक काव्य दीत्तामोदो (ससारनिर्देश) के लिये प्रसिद्ध है। प्रेमादि भावो को लकर कविता करनेवाले ग्रतोनियो बेक्कारी, सीमोने सेरदीनी, सॉनेटो के रचयिता ग्रतोनियो पुच्ची तथा कवि और कहानीकार फ्राको साक्केत्ती (१३३०-१४००), धार्मिक धारा मे किसी ग्रज्ञात लेखक की कृति ई फियोरेत्ती दी सान फ्राचेस्को (सत फ्रासिस की पुष्पिकाएँ) तथा याकोपो पासावाती की कृतियाँ, साता कातेरीना दा सिएना (१३४७-१३८०) के धार्मिक पत्र उल्लेखनीय हैं। समसामयिक परिस्थिति पर प्रकाश डालनेवाले विवरणो के लेखको मे दीनो कापाग्री (१२५५-१३२४) तथा ज्योवान्नी विल्लानी (मृत्यु १३४८ई०) प्रसिद्ध है। विल्लानी ने ग्रपने समय की ग्रनेक रोचक सूचनाएँ दी हैं।

१५वी सदी मे मानववाद के प्रभाव के कारण इतालीय साहित्य के स्वच्छद विकास में बाधा पड गई। पेत्रार्का के पहले ही प्राचीन युग के

बाइबिल के गीज भाषा मे कुछ अगो के अतिरिक्त सन् १८९३ ई० से अब तक ४० से अधिक इथोपियाई साहित्य की पुस्तके यूरोप मे मुद्रित भी हो चुकी हैं (देखिए बिबलियोथिका इथोपियका, लेखक एल० गोल्डश्मिड्), किंतु प्रथम अथवा द्वितीय श्रेणी का एक भी साहित्यकार आज तक गीज भाषा ने उत्पन्न नही किया। [का० च० सौ०]

इदरिसी (पूरा नाम अबू अब्दुल्ला मुहम्मद इब्न मुहम्मद इब्न अब्दुल्ला इब्न इदरिसी, लगभग सन् १०९९-११५४ ई०) अरब भूगोलविद् था। उसके दादा उस शाही खानदान के थे जो उत्तर-पश्चिम अफ्रीका पर राज्य करता था। इदरिसी का जन्म सन् १०९९ ई० मे सेउटा (उत्तर-पश्चिम मोरक्को) मे हुआ। कारदोवा मे उसने शिक्षा पाई और दूर दूर देशो मे पर्यटन किया। सिसिली के राजा रोजर (रॉजर) द्वितीय ने उसे सन् ११२५ और ११५० ई० के बीच किसी समय आमत्रित किया और इदरिसी वहाँ जाकर राजभूगोलविद् हुआ। राजा की आज्ञा से कई व्यक्ति दूर दूर के देशो मे गए और उनकी लाई सूचनाओ के आधार पर इदरिसी ने नया भूगोल लिखा। यह पुस्तक सन् ११५४ ई० में पूर्ण हुई और इसका नाम इदरिसी ने अपने आश्रयदाता के नाम पर "अल रोजरी" रखा। इसमे उस समय तक लेखक को ज्ञात देशो का पूरा विवरण था। वह बहुत उदार विचारो का था, पृथ्वी को गोलाकार मानता था और अनेक देशो का तथा पहले के लेखको के ग्रथो का उसे विस्तृत ज्ञान था। उसने सारे ससार का मानचित्र भी तैयार किया। इसमे त्रुटियाँ अवश्य थी, परतु यह उस समय का सर्वोत्तम मानचित्र था। पूर्वोक्त ग्रथ के अतिरिक्त इदरिसी ने एक और ग्रथ लिखा था जिसका उल्लेख एक पीछे के लेखक ने किया है, परतु अब यह अप्राप्य है। इदरिसी की पुस्तक अल रोजरी की हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ आक्सफोर्ड और पेरिस के पुस्तकालयो मे हैं। कई नकशे भी हैं। १८३६-१८४० मे इदरिसी के पूरे भूगोल का फ्रेंच अनुवाद पेरिस की भूगोलपरिषद् ने छापा था। उसके विशिष्ट खडो का अनुवाद अन्य भाषाओ में भी छापा गया है।

इनफ्लुएंजा एक विशेष समूह के वायरस के कारण मानव समुदाय मे होनेवाला एक सक्रामक रोग है। इसमे ज्वर और अति दुर्बलता विशेष लक्षण हैं। फुपफुसो के उपद्रव की इसमे बहुत सभावना रहती है। यह रोग प्राय महामारी के रूप मे फैलता है। बीच बीच मे जहाँ तहाँ रोग होता रहता है।

यह रोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है। गत चार शताब्दियो मे कितनी ही बार इसकी महामारी फैली है, जो कभी कभी ससारव्यापी तक हो गई है। सन् १८८९-९२ और १९१८-२० मे ससारव्यापी इनफ्लुएजा फैला। १९५७ में यह एशिया भर मे फैला था।

सन् १९३३ मे स्मिथ, ऐंड्रू और लेडलो ने इनफ्लुएजा के वायरस-ए का पता पाया। फ्रासिस और मैगिल ने १९४० मे वायरस-बी का आविष्कार किया और सन् १९४८ मे टेलर ने वायरस-सी की खोज निकाला। इनमे से वायरस-ए ही इनफ्लुएजा के रोगियो मे सबसे अधिक पाया जाता है। ये वायरस गोलाकार होते हैं और इनका व्यास १०० म्यू के लगभग होता है (१ म्यू = $\frac{1}{1000}$ मिलीमीटर)। रोग की उग्रावस्था मे श्वसनतत्र के सब भागो में यह वायरस उपस्थित पाया जाता है। श्लेष्मा (बलगम) और नाक से निकलनेवाले स्राव मे तथा थूक मे यह सदा उपस्थित रहता है, किंतु शरीर के अन्य भागो मे नही। नाक और गले के प्रक्षालनजल मे प्रथम से पाँचवें और कभी कभी छठे दिन तक यह वायरस मिलता है। इन तीनो प्रकार के वायरसो मे उपजातियाँ भी पाई जाती हैं।

इनफ्लुएजा की प्राय महामारी फैलती है जो स्थानीय (एकदेशीय) अथवा अधिक व्यापक हो सकती है। कई स्थानो, प्रदेशो या देशो में रोग एक ही समय उभड सकता है। कई बार सारे ससार मे यह रोग एक ही समय फैला है। इसका विशेष कारण अभी तक नही ज्ञात हुआ है।

रोग की महामारी किसी भी समय फैल सकती है, यद्यपि जाडे मे या उसके कुछ आगे पीछे अधिक फैलती है। इसमे आवृत्तिचक्रो मे फैलने की प्रवृत्ति पाई गई है, अर्थात् रोग नियत कालो पर आता है। वायरस-ए की महामारी प्रति दो तीन वर्ष पर फैलती है। वायरस-बी की महामारी प्रति चौथे या पाँचवे वर्ष फैलती है। वायरस-एं की महामारी बी की अपेक्षा अधिक व्यापक होती है। भिन्न भिन्न महामारियो मे आक्रात रोगियो की सख्या १-५ प्रति शत से लेकर २०-३० प्रति शत तक रही है। स्थानो की तगी, गदगी, खाद्य और जाडे मे वस्त्रो की कमी, निर्धनता आदि दशाएँ रोग के फैलने और उसकी उग्रता बढाने मे विशेष सहायक होती हैं। सघन बस्तियो में रोग शीघ्रता से फैलता है और शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। दूर दूर बसी हुई बस्तियो मे दो से तीन मास तक बना रहता है। रोगी के गले और नासिका के स्राव मे वायरस रहता है और उसी से निकले छींटो द्वारा फैलता है (ड्रॉपलेट इनफेक्शन से रोग होता है)। इन्ही अगो मे रोग का वायरस घुसता भी है। रोगवाहक व्यक्ति नही पाए गए हैं, न रोग के आक्रमण से रोग-प्रतिरोध-क्षमता उत्पन्न होती है। छ से आठ महीने पश्चात् फिर उसी प्रकार का रोग हो सकता है।

रोग का उद्भवकाल एक से दो दिन तक का होता है। रोग के लक्षणो में कोई विशेषता नही पाई जाती। केवल ज्वर और अति दुर्बलता ही इस रोग के लक्षण हैं। इनका कारण वायरस से उत्पन्न हुए जैवविष (टॉक्सिन) जान पडते हैं। भिन्न भिन्न महामारियो मे इनकी तीव्रता विभिन्न पाई गई है। ज्वर और दुर्बलता के अतिरिक्त सिरदर्द, शरीर मे पीडा (विशेषकर पिंडलियो और पीठ मे), सूखी खाँसी, गला बैठ जाना, छीक आना, आँख और नाक से पानी बहना और गले मे क्षोभ मालूम होना, आदि लक्षण भी होते हैं। ज्वर १०१ से १०३ डिगरी तक निरतर दो या तीन दिन से लेकर छ दिन तक बना रह सकता है। नाडी ताप की तुलना मे द्रुत गतिवाली होती है। परीक्षा करने पर नेत्र लाल और मुख तमतमाया हुआ तथा चर्म उष्ण प्रतीत होता है। नाक और गले के भीतर की कला लाल शोथयुक्त दिखाई देती है। प्राय वक्ष या फुपफुस मे कुछ नही मिलता। रोग के तीव्र होने पर ज्वर १०५° से १०६° तक पहुँच सकता है।

इस रोग का साधारण उपद्रव ब्रोको न्यूमोनिया है जिसका प्रारभ होते ही ज्वर १०४° तक पहुँच जाता है। श्वास का वेग बढ जाता है, यह ५०-६० प्रति मिनट तक हो सकता है। नाडी ११० से १२० प्रति मिनट हो जाती है, किंतु श्वासकष्ट नही होता। सपूय श्वासनलिकार्ति (प्युरुलेट ब्रॉनकाइटिस) भी उत्पन्न हो सकती है। खाँसी कष्टदायक होती है। श्लेष्मा झागदार, श्वेत अथवा हरा और पूययुक्त तथा दुर्गंधयुक्त हो सकता है। रक्तमिश्रित होने से वह भूरा या लाल रग का हो सकता है। फुप्फुस की परीक्षा करने पर विशेष लक्षण नही मिलते। किंतु छाती ठोकने पर विशेष ध्वनि, जिसे अग्रेजी मे राल कहते है, मिल सकती है।

इस रोग का आत्रिक रूप भी पाया जाता है जिसमे रक्तयुक्त अतिसार, वमन, जी मिचलाना और ज्वर होते ह।

रोग के अन्य उपद्रव भी हो सकते हैं। स्वस्थ बालको और युवाओ में रोगमुक्ति की बहुत कुछ सभावना होती है। रोगी थोडे ही समय मे पूर्ण स्वास्थ्यलाभ कर लेता है। अस्वस्थ, अन्य रोगो से पीडित, दुर्बल तथा वृद्ध व्यक्तियो मे इतना पूर्ण और शीघ्र स्वास्थ्यलाभ नही होता। उनमे फुप्फुस सबधी अन्य रोग उत्पन्न हो सकते है।

रोगरोधक चिकित्सा—महामारी के समय मे अधिक मनुष्यो का एक स्थान पर एकत्र होना अनुचित है। ऐसे स्थान मे जाना रोग का आह्वान करना है। गले को पोटास परमैंगनेट के १ ४००० के घोल से प्रात साय दोनो समय गरारा करके स्वच्छ करते रहना आवश्यक है। इनफ्लुएजा वायरस की वैक्सीन का इजेक्शन लेना उत्तम है। इससे रोग की प्रवृत्ति कम हो जाती है। २ से १२ महीने तक यह क्षमता बनी रहती है। किंतु यह क्षमता निश्चित या विश्वसनीय नही है। वैक्सीन लिए हुए व्यक्तियो को भी रोग हो सकता है।

इस रोग की कोई विशेष चिकित्सा अभी नही ज्ञात हुई है। चिकित्सा लक्षणो के अनुसार होती है और उसका मुख्य उद्देश्य रोगी के बल का सरक्षण होता है। जब किसी अन्य सक्रमण का भी प्रवेश हो गया हो तभी सल्फा तथा जीवाणुद्वेषी (ऐंटिबायोटिक) ओषधियो का प्रयोग करना चाहिए। [शि० श० मि० तथा स० प्र० गु०]

इनास यूनान का एक प्राचीन नगर है जिसका स्पष्ट सकेत होमर के 'इलियड' मे भी मिलता है। इसका प्राचीन नाम ऐनोस था। यह मर्तिजा नदी के मुहाने पर एजियन तट पर बसा हुआ है। यह

मीकेनाजेनो ब्रुग्रोतारोंती (१४७५-१५६४), लुइजी लामीं'ल्लो (१५१०-१५६८) की गीतिरचनाग्रो में इस काल की विशेपताएँ मिलती हैं। व्यग्यपूर्ण तथा ग्रात्मपरिचयात्मक कविता के प्रसग में फाचेस्को बेरनी (१४६८-१५३५), कथा ग्रौर वर्णनकाव्यो के प्रसग में ग्रान्नीबाल कारो तथा नाटककारो में ज्यावातीस्ता जीराल्दी, पिएतरो ग्ररेतीनो तथा कथासाहित्य के क्षेत्र में ग्रायोलो फीरेंजुग्रोला, मातेग्रो बादेलो तथा बनावटी भापा में कविता लिखनेवाले तेग्रोफीलो फोलेन्गो (१४९१-१५४४) उल्लेखनीय साहित्यिक हैं। पुनर्जागरणकाल की ग्रतिम महान् साहित्यिक विभूति तोरक्वातो तास्सो (१५४४-१५९५) हैं। तास्सो की प्रारभिक कृतियो में १२ सर्गो का प्रेम-वीर-काव्य रिनाल्दो, चरवाहे ग्रमिता ग्रौर ग्रप्सरा सिल्विया की प्रेमकथा से सबधित काव्य ग्रमिता तथा विभिन्न विपयो से सबधित पद्य 'रीमे' हैं। तास्सो को महत्व प्रदान करनेवाली उनकी सबसे प्रसिद्ध कृति 'जेरुसलेम्मे लीबेराता' (मुक्त जेरुसलेम) है। कृति में गोफ्रेदो दी वूल्योने के सेनापतित्व मे ईसाई सेना द्वारा जेरुसलेम की विजय करने की कथा है। यह एक प्रकार का धार्मिक भावना लिए हुए वीरकाव्य है। तास्सो की लघुकृतियो 'दियाल्लोगी' (कथोपकथन) तथा लैत्तेरे (पत्र) मे से पहली में नाना विपयो पर तर्कपूर्ण शैली में विचार किया गया है तथा दूसरी में लगभग १७०० पत्रो में दार्शनिक ग्रौर साहित्यिक विपयो पर विचार किया गया है। ग्रतिम कृतियो में जेरुसलेमे कोक्विस्ताता, तोरिसमोदो (दुखात नाटक) तथा काव्यकृति मोदोक्रेग्रातो है।

इस काल के उत्तरार्ध मे प्रसिद्ध दार्शनिक लेखक ज्योर्दानो ब्रूनो (१५४८-१६००), तोमास्सो कापानेल्ला, प्रसिद्ध वैज्ञानिक गालीलेग्रो गालीलेई (१५६४-१६४२) वैज्ञानिक गद्य के लिये तथा राजनीति इतिहास को नया दृष्टिकोण प्रदान करने की दृष्टि से पाग्रोलो सारपी उल्लेखनीय है।

१७वी सदी इतालीय साहित्य का ह्रासकाल है। १६वी सदी के ग्रत में ही काव्य मे ह्रास के लक्षण दिखने लगे थे। नैतिक पतन तथा उत्साहहीनता ने उस सदी मे इटली को ग्राक्रात कर रखा था। इस काल को बारोक्को काल कहते है। तर्कशास्त्र मे प्रयुक्त यह शब्द साहित्य ग्रौर शिल्प के क्षेत्र में ग्रति सामान्य, भद्दी रुचि का प्रतीक है। इस युग में साहित्य के बाह्य रूप पर ही विशेप ध्यान दिया जाता था, ग्रीक रोमन कृतियो का भद्दा ग्रनुकरण हो रहा था, कविता में मस्तिष्क की प्रधानता हो गई थी, ग्रलकारो के भार से वह बोझिल हो गई थी, एक प्रकार का शब्दो का खिलवाड ही प्रधान ग्रग हो गया था एव कहने के ढग ने ही प्रधान स्थान ले लिया था। इस काल के कवियो पर सबसे ग्रधिक प्रभाव पडा ज्यावातीस्ता मारीनो (१५६९-१६२५) का, इसी कारण इस धारा के ग्रनेक कवियो को मारीनिस्ती तथा काव्यधारा को कभी कभी मारीनिज्म कहा जाता है। मारीनो ने प्राचीन काव्य से बिल्कुल सबध नही रखा, प्राचीन परपरा से सबध एकदम तोड दिया ग्रौर ग्वारीनी तथा तास्सो जैसे कवियो से प्रेरणा प्राप्त की। कविता को मारीनो बौद्धिक खेल समझता था। मारीनो की कृतियो में विविध विपयो से सबधित कविताग्रो का सग्रह लीरा तथा बारोक युग का प्रतिनिधि काव्य ग्रादोने है। यह कृति लबे लबे २० सर्गो में समाप्त हुई है। कृति में वेनेरे ग्रौर चीनीरो की ग्रलंकृत शैली में प्रेमकथा कही गई है। समसामयिको ने इसे ग्रदोने की कला का ग्रद्भुत नमूना कहकर स्वागत किया ग्रौर ग्रनेक कवियो को इस कृति ने प्रभावित किया। कवियो में गाब्रिएल्लो कयानरेरा (१५५२-१६३८), फुलियो तेस्ती, फाचेस्को ब्राच्योलीनी (१५६६-१६४५) तथा कथासाहित्य ग्रौर नाट्यसाहित्य के क्षेत्र मे फेदेरीको देल्ला वाल्ले (मृत्यु १६२८), ज्योवान्नी देल्फीनो (मृत्यु १६१९) ग्रादि मुख्य हैं। इस सदी में बोलियो मे भी काव्यरचना हुई। रोमानो में ज्यूसेपे बेरनेरी ग्रादि ने तथा हास्य-व्यग्य-काव्य की ज्यावातीस्ता वासीले (१५७५-१६३२) ने ग्रच्छी रचनाएँ की। १७वी सदी के ग्रतिम वर्षो तथा १८वी के ग्रारभिक वर्षो मे इटली की सास्कृतिक विचारधारा में परिवर्तन हुग्रा, उसपर यूरोप की विचारधारा का प्रभाव पडा। बेकन, देकार्त की विचारधारा का प्रभाव पडा। किंतु इस विचारधारा के साथ इतालीय विचारको की ग्रपनी मौलिकता भी साथ मे थी। १७वी सदी के साहित्यिक ह्रास के प्रति इटली के विचारक स्वय सतर्क थे। ग्रत नवीन विचारधारा को लेकर काफी वाद विवाद चला। काव्यरुचि को लेकर ज्यूसेफे ग्रोरसी, ग्रातोन मारिया साल्वीनी, एयूस्ताकियो माफ़ेदी ग्रादि ने नवीन रुचि की स्थापना का प्रयत्न किया। ज्यान विंचेसो ग्रावीना (१६६४-१७१८), लुदोविको ग्रातोनियो मूरातोरी, ग्रातोनियो कोती (१६७०-१७४९) ग्रादि ने काव्यसमीक्षा पर ग्रथ लिखकर नवीन मोड देने का प्रयत्न किया। इन्होने यूरोप की तत्कालीन विचारधारा को इतालीय प्राचीन परपरा के साथ समन्वित करने का यत्न किया। इसी प्रकार इतिहास का भी नवीन दृष्टि से ग्रध्ययन किया गया। साहित्य, इतिहास ग्रौर काव्यसमीक्षा को नया मोड देनेवालो मे इस सदी के सबसे प्रमुख विचारक ज्यावातीस्ता वीको (१६६८-१७४४) हैं। उनकी बेजोड कृति प्रिंचिपी दी शिएजा नोवा (नए विज्ञान के सिद्धात) मे उनके गूढ विचार ग्रौर गहन ग्रध्ययन, चिंतन के परिणाम व्यक्त हुए हैं। कविता के लिये कल्पना ग्रादि जिन ग्रावश्यक तत्वो की उन्होने चर्चा की उनका काव्यसमीक्षा तथा कवियो पर काफी प्रभाव पडा।

१७वी सदी की कुरुचि को दूर करने के लिये रोम मे कुछ लेखक ग्रौर विद्वानो ने मिलकर 'ग्रार्कादिया' (ग्रीस के रमणीय स्थान ग्रार्कादिया के नाम पर) नामक एक ग्रकादमी की सन् १६९० मे स्थापना की। ग्रार्कादिया धीरे धीरे इटली की बहुत प्रसिद्ध ग्रकादमी हो गई ग्रौर उस समय के सभी कवि ग्रौर लेखक उससे सपर्क रखते थे। परपरा के भार से लदी कविता को ग्रार्कादिया के कवियो ने एक नई चेतना प्रदान की। ग्रनेक छोटे बडे कवि ग्रार्कादिया ने बनाए जिनमे एयूस्ताकियो मानफ्रेदी (१६७४-१७३९), फेरनादो ग्रातोनियो गेदीनी (१६८४-१७६७), फाचेस्को मारिया जानोत्ती (१६९२-१७७७), ज्यावातीस्ता जापी (१६६७-१७१९), पाग्रोलो रोल्ली, लुदोविको सावियोली, याकोपो वीतोरेल्ली ग्रादि प्रमुख हैं। यद्यपि ग्रार्कादिया ने कोई महान् कवि उत्पन्न नही किया, किंतु फिर भी इस ग्रकादमी ने ऐतिहासिक महत्व का यह सबसे बडा कार्य किया कि १७वी सदी की काव्यसुरुचि को बदल दिया। ग्रार्कादिया काल के प्रसिद्धतम लेखक पिएतरो मेतास्तासियो (१६९८-१७८२) ने इटली के रगमच को ऐसी कृतियाँ दी जो कविता के बहुत समीप हैं। १८वी सदी इटली में नाटक साहित्य की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। मेतास्तासियो ने ग्रपने नाटको के विपय इतिहास, लोककथा एव ग्रीस रोम की धार्मिक ग्रनुश्रुतियो से चुने। प्रेम ग्रौर वीरता इसके नाटको के प्रिय भाव हैं। ग्रन्य लेखको में दुखात नाटको के रचयिता ज्याग्रावीना, पिएर याकोपो मारतेल्लो तथा सुखात नाटको के लिये याकोपो नेल्ली तथा साहित्य में ज्यावातीस्ता कास्ती, पिएतरो क्यारी तथा विविध विषयो की सूचना से समन्वित सस्मरण लिखनेवाले प्रसिद्ध ज्याकोमो कासानोवा (१७२५–१७९८) उल्लेखनीय है। कासानोवा ग्रपने **मेम्वायर्स** (सस्मरण) के लिये सारे यूरोप मे प्रसिद्ध हैं। बोलियो मे कविता लिखनेवालो मे ज्योवान्नी मेली (१७४०-१८१५) की बूकोलिका प्रसिद्ध कृति है।

१८वी सदी के उत्तरार्ध में इतालीय साहित्य पर यूरोपीय विचारधारा—विशेपकर फ्रासीसी—का प्रभाव पडा, इसको इलूमिनिस्तिक विचारधारा नाम दिया गया है। फ्रास से इलूमिनिस्म (बुद्धिवादी) धारा सारे यूरोप में फैली। इटली में नवीन भावधारा के दो प्रधान केंद्र नेपल्स ग्रौर मिलान थे। मिलान का केंद्र इटली की विशेप परिस्थितियो के समन्वय का भी पक्षपाती था। पिएतरो वेर्री (१७२८-१७९७) ने ग्रपनी ग्रनेक कृतियो द्वारा इस नवीन विचारधारा की व्याख्या की। इस विचारधारा की प्रवृत्तियो को लेकर काफ्फे नामक एक पत्र निकला जिसमे चेसारे बेस्कारिया (१७३८-१७९४) ग्रादि इलूमिनिस्म के सभी प्रसिद्ध साहित्यकारो ने सहयोग दिया। इस धारा के प्रसिद्ध लेखक व्याख्याता फ्राचेस्को ग्रालगारोत्ती (१७१२-१७६४), गास्पारे स्याकार्लो गोज्जी, सावेरियो बेत्तीनेल्ली (१७१८-१८०८) तथा जूसेप्पे बारेत्ती (१७१९-१७८९) हैं। नई काव्यधारा के विपय में इन सभी ने कृतियाँ लिखी। फ्रासीसी बुद्धिवाद के ग्रनुकरण का इतालीय भापा ग्रौर शैली पर भी बुरा प्रभाव पडा। फ्रासीसी शब्दो, मुहावरो, वाक्यगठन ग्रादि का ग्रधानुकरण होने के कारण इतालीय भापा का स्वाभाविक प्रवाह रुक गया जिसकी ग्रागे चलकर प्रसिद्ध कवि फोस्कोलो, लेग्रोपारदी, कारदूच्ची ग्रादि सभी ने भर्त्सना की। ग्रार्कादिया ग्रौर इलूमिनिस्तिक धारा को जोडनेवाले मध्यममार्गी सुप्रसिद्ध नाटककार कार्लो गोल्दोनी (१७०७-१७९३) हैं। मेतास्तिसियो के प्रहसनप्रधान नाटको से भिन्न गोल्दोनी की नाट्यकृतियाँ गभीर कलापूर्ण हैं तथा उनमे भी महत्वपूर्ण उनका सुधारवादी दृष्टिकोण है। उनकी ग्रनेक रचनाग्रो

द्रावण—कोमल इस्पात के ऊपर लगे प्रारभिक इनैमल-घोला की परत के सूखने के बाद वस्तु को बद भट्ठी मे, जिसका ताप प्राय ९००° से० होता है, कुछ मिनटो तक रखकर परत को द्रवित किया जाता है।

एक लोहे के ढाँचे पर बहुत सी नुकीली लोहे की कीले होती है और प्रत्येक वस्तु तीन कीलो की नोको पर आधारित रहती है। वस्तुओ समेत यह ढाँचा बद भट्ठी मे डाल दिया जाता है और ३-४ मिनट पश्चात् बाहर निकाल लिया जाता है। ठढा होते ही वस्तु की सतह पर इनैमल की कठोर चमकदार परत जम जाती है। प्रारभिक इनैमल परत जमाने के पश्चात् उसी परत पर सफेद या रगदार इनैमल का घोला लगाया जाता है और इस घोले के सूखने पर स्टेंसिलो का प्रयोग करके चित्र या अक्षर बनाए जाते है। अनावश्यक शुष्क घोला ब्रुश द्वारा सावधानी से पृथक् कर दिया जाता है। फिर वस्तु को भट्ठी मे डालकर सूखे घोले को द्रवित कर लिया जाता है।

इनैमल के सूत्रो के कुछ उदाहरण :

प्रारभिक इनैमल-काचिक			पात्रपेषणी के लिये घोला		
सुहागा	२८ ५	प्रति शत	काचिक	१००	भाग
फेल्स्पार	३१ २	„ „	सुघट्य मिट्टी	६	„
फ्लोरस्पार	६ ०	„ „	जल	४०	„
क्वार्ट्ज़	२० ०	„ „			
कोबल्ट आक्साइड	० ३५	„ „			
मैंगनीज डाइ-आक्साइड	० ९५	„ „			
सोडा	९ ०	„ „			
सोडियम नाइट्रेट	४ ०	„ „			
	१०० ०				

प्रयोग के एक घटे पूर्व घोला मे १ प्रति शत सुहागा मिलाया जाता है।

श्वेत इनैमल काचिक			पात्रपेषणी के लिये घोला		
सुहागा	२८ ३	प्रति शत	काचिक	१००	भाग
क्वार्ट्ज़	१५ ३	„	मिट्टी	६	„
फेल्स्पार	३४ ०	„	वग आक्साइड	५	„
क्रायोलाइट	१६ ३	„	मैगनीशियम आक्साइड	० २५	„
पोटैशियम नाइट्रेट (शोरा)	६ १	„	अमोनियम कार्बोनेट	० १२५	„
	१०० ०	„	जल	३००	„

श्वेत या दूधिया रग का इनैमल ऐंटिमनी आक्साइड अथवा जिरकोनियम से भी बनाया जाता है। कुछ इनमल सुहागा रहित भी होते ह और कुछ मे सिंदूर (रेड लड) का उपयोग होता है। इन इनैमलो का द्रवणाक प्रारभिक इनैमल के द्रवणाक से कम होता है।

ढलवाँ लोहा—इस प्रकार के लोहे के लिये इनैमल की सरचना मे कुछ भिन्नता होती है और ये कम ताप पर द्रावित होते है। इस लोहे की छोटी, चिपटी और साधारण वस्तुओ पर प्रारभिक इनैमल की परत की आवश्यकता नही होती है। इनकी सतहो को स्वच्छ करने के पश्चात् इनपर डुबाकर या छिडककर इनैमल लगा दिया जाता है। उच्च कोटि की वस्तुओ के लिये प्रारभिक इनैमल परत की आवश्यकता होती है। बडी और जटिल आकारवाली वस्तुओ पर इनैमल-घोला 'शुष्क रीति' (ड्राइ प्रोसेस) से लगाया जाता है। प्रारभिक इनैमल-काचिका मे कोबल्ट या निकेल के आक्साइड नही होते। प्रारभिक इनैमल-घोला की बहुत पतली परत कूर्च (ब्रुश) से या प्रक्षेपण द्वारा चढा दी जाती है और परत के सूखने पर वस्तु को बद भट्ठी मे तप्त किया जाता है जिससे प्रारभिक परत गलकर ढलवाँ लोहे के छिद्रो मे समा जाती है और लोहे की सतहो पर चिपचिपाहट आ जाती है। वस्तु को तब भट्ठी के बाहर निकाला जाता है और एक लबे बेंटवाली (दस्तादार) चलनी से सफेद या रगीन इनैमल घोला का शुष्क किया हुआ महीन चूर्ण चिपचिपी सतह पर समान रूप से छिडक दिया जाता है और वस्तु को पुन भट्ठी मे डाल दिया जाता है जिससे इनैमल द्रवित होकर वस्तु की सतह पर जम जाता है। इस क्रिया को दुहराया भी जा सकता है जिससे इनैमल की परत मोटी हो जाय।

प्रारभिक इनैमल काचिक			पात्रपेषणी के लिये घोला		
सुहागा	३२	प्रति शत	काचिक	१००	भाग
फेल्स्पार	६४	„	मिट्टी	१	भाग
सिंदूर (रेड लेड)	४	„	जल	३५	भाग
	१००	„			

प्रयोग के समय १ प्रति शत सुहागा मिला लेना चाहिए। रगीन या सफेद इनैमलो के सूत्र इस्पात इनैमलो के ही समान होते है।

स्वर्ण, रजत और ताम्र—जैसा ऊपर बताया गया है, इन धातुओ पर लगाए जानेवाले इनैमल को 'मीना' कहते है। यह अत्यत कम ताप पर गलनेवाला काच होता है और इसकी सरचना लौह इनैमल के समान ही होती है। इनैमल को कूटकर महीन चूर्ण कर लिया जाता है। स्वच्छ की हुई धातु को रुज (फेरिक आक्साइड) से पालिश किया जाता है। फिर इसको जल से धोकर इसकी सतह पर मोम की पतली परत लगाकर मीनाकारी का आकल्पन (नकशा) बनाया जाता है और तदुपरात कलाकार उपयुक्त हस्तयत्रो से उत्कीर्णन और नक्काशी करते है और महीन तारो को टाँके से जोडते है जिसमे आकलपन के अनुसार भिन्न भिन्न भागो मे भिन्न भिन्न प्रकार का मीना किया जा सके। मीनाकारी की कई विधियाँ है, जैसे चैंपलीव, क्लाइसोन, बासटेय, लिमोजेस, प्लाक ए जूर इत्यादि। सक्षेप मे, इनैमल का गाढा लेप रिक्त स्थान मे रख दिया जाता है और सुखाने के पश्चात् भट्ठी मे या फुँकनी द्वारा पिघला दिया जाता है। फिर वस्तु का अम्लशोधन कर और उसे खूब स्वच्छ करके, अतिरिक्त इनैमल को कुरड (कोरडम) से रगडकर निकाल दिया जाता है। अत मे प्यूमिस से पालिश करने पर मीना मे चमक आ जाती है।

स०ग्र०—लारेंस आर० मेरनाथ इनैमल्स (१९२८), जे० ई० हैंसन पोर्सलेन इनमलिंग (१९३७), लुई एफ० डे इनैमलिंग (१९०७), ग्रेटा पैक जूएलरी ऐंड इनैमलिंग (१९४५), जे० ग्रीनवाल्ड इनैमलिंग ऑन आयरन ऐंड स्टील (१९१९), जे० ई० हैंसन टेकनीक आँव विट्रिरयस इनैमलिंग (१९२७), ए० आई० ऐंड्रूज इनैमल लेबोरेटरी मैनुअल (१९४१)। [र० च०]

इपिकाकुआना

"सिफैलिस इपीकाकुआना" की सूखी जड का नाम है। इसमे मुख्यत एमेटीन तथा सिफैलीन ये दो ऐल्कलॉएड होते है। अशत पेट तथा अशत वामक केंद्र पर प्रभाव डालने के कारण यह बडी मात्रा मे शक्तिशाली वमनकारक है। एमेटीन एक शक्तिशाली अमीबा नाशक है। इपीकाकुआना का प्रयोग वमन कराने तथा कफ का उत्सारण बढाने के लिये होता है। सूखी खाँसी मे यह अधिक ढीला कफ उत्पन्न करके आराम पहुँचाती है। एमेटीन अमीबी आमातिसार के लिये अचूक ओषधि है। एमेटीन अत पेशीय इजेक्शन द्वारा दी जाती है तथा तीव्र आमातिसार अथवा यकृत्कोप मे आश्चर्यजनक लाभ दिखाती है। इसकी मात्रा एक ग्रेन प्रति दिन के हिसाब से १२ दिन तक है। इतने दिन रोगी को बिस्तर पर से उठना न चाहिए।

इपीकाकुआना का चूर्ण कफ बढाने के लिये १/२ से २ ग्रेन तक तथा वमन कराने के लिये १५ से ३० ग्रेन तक की मात्रा मे प्रयुक्त होता है।

[मो० ला० गु०]

इप्सविच

इग्लैंड के सफोक प्रदेश मे ओरवेल नदी के तट पर स्थित एक नगर तथा बदरगाह (नदी पर) है। यह नगर हारविच से १० मील और लदन से ६८ मील उत्तर-पूर्व मे है। सन् १९५१ ई० मे इस नगर का क्षेत्रफल ८,७४६ एकड था। नगर के प्राचीन भाग की सडके बहुत ही सँकरी तथा टेढी मेढी है। इस भाग के कुछ भवन विचित्र पच्चीकारियो से अलकृत है। यहाँ गिरिजाघरो का बाहुल्य है। रोमन काल मे यह रोमनो की एक बस्ती रहा है जिसके भग्नावशेष विद्यमान है। सन् ९९१ और १,००० ई० मे डेनो द्वारा यह नष्ट भ्रष्ट किया गया। आधुनिक नगर एक अच्छा औद्योगिक केंद्र है जहाँ रेलो के पुर्जे, कृषि के यत्र तथा औजार, बिजली के सामान, धातु, चीनी इत्यादि का उत्पादन होता है। नगर की जनसख्या सन् १९५१ ई० मे १,०४,७८८ थी। सन् १९५७ ई० मे अनुमानित जनसख्या १,११,९०० रही। [श्या० सु० श०]

काल्पनिक कविता छोड अनुभूतिप्रधान कविता करने लगा। आसिलिया (सिलिया मे), सेरा देल दी दि फेस्ता (उत्सव के दिन की सध्या), अला लूना (चद्र मे) उसकी सुदर कविताएँ है। जीवाल्दोने में उसकी अनेक प्रकार की गद्य कृतियाँ सगृहीत है। माजोनी और लियोपार्दी ने इतालीय भाषा को नवीन अभिव्यक्ति प्रदान की। दोनो ही लेखक यूरोपीय प्रसिद्धि के लेखक है। इन दोनो ने इतालीय साहित्य को समय के साथ पहुँचा दिया।

१६वी सदी के उत्तरार्ध में माजोनी और लियोपार्दी से प्रभावित होकर रचनाएँ होती रही तथा कुछ लोग स्वच्छदतावाद को हल्के अर्थ मे लेकर रचनाएँ करते रहे। स्वतत्र व्यक्तित्ववाले महत्वपूर्ण कवियो में जोसूए कारदूच्ची (१८३५-१६०६) का स्थान ऊँचा है, किंतु माजोनी की तुलना में उनका व्यक्तित्व भी प्रातीय जैसा लगता है। उनकी काव्य-कृतियो में से कुछ ज्याबी एद एपोदी, रीमे नुओवे, ओदी बारबारे, नोस्ता-ल्जिया, सान मारतीनो, सुई काम्पी दी मारेगो, आले फोती देल क्लितुन्नो है। कारदूच्ची की भाषा व्यक्तिगत छाप लिए हुए है। मृत्यु से कुछ समय पहले उन्हें नोबेल पुरस्कार मिला था। माजोनी का अनुसरण करते हुए गद्य पद्य लिखनेवालो में एदमोदो दे अमीचीस दी ओनेल्या (१८४६-१६०८), शिशुओ के लिये प्रसिद्ध कृति पिनोक्यो के लेखक कोल्लोदी फोगाज्जारो तथा स्वतत्र कथा साहित्य लिखनेवालो में ज्योवान्नी वेरगा (१८४०-'१६२२) प्रसिद्ध है। वेरगा की प्रसिद्ध कृतियाँ बीतादेई काम्पी, मालावोल्या, नोवेल्ले रूस्तीकाने तथा नाटक कावाल्लेरिया रूस्तीकाना है। सामान्य जनसमूह को लेकर वेरगा ने अपनी यथार्थवादी कृतियाँ लिखी है। अनेक उपन्यासो तथा काव्यग्रथो की रचना करनेवाली नोबेल पुरस्कार प्राप्त करनेवाली सारदेन्या की महिला ग्राज्जिया देलेद्दा (१८७१-१६३६) की रचनाओ में स्थानीय रग बहुत मिलता है।

२०वी सदी के प्रारभ में इतालीय सस्कृति के सामने एक सकट की स्थिति उपस्थित थी। अशाति, नवीन योजनाओ, अति आधुनिक यूरोपीय विचारधाराओ का उसे सामना करना पडा। वह अपनी सकीर्ण प्रातीयता से बाहर निकलने के लिये उत्सुक थी, उच्च मध्यवर्ग की रुचि से वह जैसे ऊबी हुई थी। काव्य के क्षेत्र में भी एक प्रकार की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्ति दिखती थी। किंतु एक दूसरी धारा आधुनिक सस्कृति के निकट भी थी। उस स्थिति को समझकर बेनेदेत्तो क्रोचे (१८६६-१६५२) ने अपनी एस्तेतीका कृति द्वारा पथप्रदर्शन किया। एस्तेतीका १६०२ मे प्रकाशित हुई, तब से लेकर १६४३ तक इतालीय दर्शन और साहित्य का वह पथप्रदर्शन करती रही। क्रोचे की साहित्यिक गवेषणाओ का सपूर्ण इतालीय साहित्य पर प्रभाव पडा—लेत्तेरात्तूरा देल्ला नुओवा इतालिया (नई इटली का साहित्य) जैसी महत्वपूर्ण कृति के फलस्वरूप सपूर्ण साहित्यकी नई दृष्टि से समीक्षा की गई। आज के साहित्यसमीक्षक काव्य के इतिहास की समीक्षा करते समय क्रोचे के सिद्धातो का सहारा लिए बिना नही रह सकते। इतिहास, दर्शन, साहित्य, तीनो के क्षेत्र मे उनके सिद्धात समान महत्व रखते है। इस सदी के अनेक लेखको में दोनो सदियो की विशेषताएँ मिलती है।

गाब्रिएले द' अनुंजियो (१८६३-१६३८) में अनेक विशेषताओ का समन्वय मिलता है। द' अनुन्जियो की प्रसिद्धि बहुत है, किंतु उसकी रचनाएँ उतनी प्रिय नही है। उसकी प्रसिद्धि का कारण उसके जीवन की साहसिक घटनाएँ भी है। वह बहादुर सिपाही तथा योद्धा था। उसकी कृतियो—कातो नोवो, तेर्रा वेरजीने—पर कारदुच्ची तथा वेरगा का प्रभाव लक्षित होता है। पोएमा पारादीस्याको पर यूरोप की काव्यधारा का प्रभाव तथा उपन्यास कृतियो—ज्योवान्नी एपीसकोपो आदि—पर रूसी कथा साहित्य का प्रभाव प्रतीत होता है। दानुजियो ने प्राय सभी साहित्यरूपो में रचनाएँ की है। उसकी शैली बहुत बोझिल है, बाह्य रूप पर वह बहुत ध्यान देता था।

सरल भाषाशैली, नवीन यथार्थ भावना से प्रेरित, सीधी, हृदयस्पर्शी कविता करनेवालो में आर्तूरो गाफ (१८४८-१६१३), एनरीको थोवेन (१८६६-१६२५), ज्योवान्नी पास्कोली (१८५५-१६१२) प्रधान है। पास्कोली की मिरीके मे सगृहीत कविताएँ इतालीय साहित्य में अपने ढग की मौलिक कविताएँ है। उसकी कविताओ में प्रकृतिचित्रण का नया रूप मिलता है। लूइजी पीरादेल्लो (१८६७-१६३८) का यश सारे यूरोप तथा ससार के साहित्यिक क्षेत्र में फैला। कहानी, उपन्यास लिखने के बाद पीरादेल्लो ने नाटकरचना प्रारभ की। विषयो की मौलिकता, दृश्यसगठन, टेकनीक, सभी दृष्टियो से पीरादेलो के नाटक उत्कृष्ट है। निम्न मध्यम वर्गके समाज से इसने विषय चुने। पीरादेल्लो की कहानियाँ और उपन्यास २४ जिल्दो में तथा नाटक कई बडी बडी जिल्दो मे प्रकाशित हुए है। पीरादेल्लो को नोबेल पुरस्कार भी मिला था। कथासाहित्य के क्षेत्र में इतालो स्वेत्ते (१८६१-१६२८) का नाम भी उल्लेखनीय है। अन्य आधुनिक कथा-साहित्य-लेखको में ज्योवान्नी पापीनी (१८८१-१६५७), रिक्वार्दी वाक्केल्ली, (१८६१-) आल्दो पाल्लाजेस्की (१८८५-), आल्वेरतो मारो-विया (१६०७-), इन्यात्सियो सीलोने (१६००-), कार्लो एमीलियो गाद्दा (१८६३-), ज्यानी स्तूपारिक (१८६१-), वास्को प्रातोलीनी (१६१३-), चेस्तरे पावेसे (१६०८-१६५०), आदि प्रमुख है। आधु-निक काल के कवियो में दीनो कापाना (१८८५-१६३२), आर्तूरो ओनो फ्री (१८८५-१६२८), उम्बेरतो सावा (१८८३-१६५८), ज्यूसेप्पे उँगारेत्ती (१८८८-), एऊजेनियो मोताले (१८६६-), साल्वातोरे क्वासी-मोदो (१६०१-) (१६५६ में नोबल पुरस्कार से सम्मानित), आलफोन्स गात्तो (१६०६-), दिएगो वालेरी (१८८७-) आदि प्रमुख है। अनेक साहित्यिक पत्रो ने भी इतालीय साहित्य मे अनेक नवीन काव्यधाराओ का प्रतिनिधित्व किया है। इसमे 'वोचे', 'रोदा', 'फिएरा लितेरारिया' आदि के नाम उल्लेखनीय है।

स०ग्र०—फ्राचेस्को दे साक्टीस कृत तथा बेनेदेत्तो क्रोचे द्वारा सपादित स्तोरिया देल्ला लेत्तेरात्तूरा इतालियाना, दो भाग, बारी १६४६, ना० सापेन्यो कापेदियो दी स्तोरिया देल्ला लेत्तेरात्तूरा इतालियाना, तीन भाग, फ्लोरेंस, १६५२, फ्राचेस्को फ्लोरा स्तोरिया देल्ला लेत्तेरात्तूरा इतालि-याना, पाँच भाग, मोदादोरी मिलान-रोम, १६५६, गूइदो सज्जोनी स्तोरिया लेत्तेरारिया द' इतालिया ओत्तोचेतो, दो भाग, मिलान, १६५६, आल्फ्रेदो गाल्लेत्ती स्तोरिया लेत्तेरारिया द' इतालिया—नोवेचेतो] मिलान, १६५७। [रा०सिं०तो०

इतिहास 'इतिहास' शब्द का प्रयोग विशेषत दो अर्थो में किया जाता है। एक है प्राचीन अथवा विगत काल की घटनाएँ और दूसरा उन घटनाओ के विषय मे धारणा। इतिहास शब्द (इति+ह+आस) का तात्पर्य है 'यह निश्चय था'। ग्रीस के लोग इतिहास के लिये 'हिस्तरी' शब्द का प्रयोग करते थे। 'हिस्तरी' का शाब्दिक अर्थ 'बुनना' था। अनुमान होता है कि ज्ञात घटनाओ को व्यवस्थित ढग से बुनकर ऐसा चित्र उपस्थित करने की कोशिश की जाती थी जो सार्थक और सुसबद्ध हो।

इतिहास के मुख्य आधार युगविशेष और घटनास्थल के वे अवशेष है जो किसी न किसी रूप मे प्राप्त होते है। जीवन की बहुमुखी व्यापकता के कारण स्वल्प सामग्री के सहारे विगत युग अथवा समाज का चित्रनिर्माण करना दु साध्य है। सामग्री जितनी ही अधिक होती जाती है उसी अनुपात से बीते युग तथा समाज की रूपरेखा प्रस्तुत करना साध्य होता जाता है। पर्याप्त साधनो के होते हुए भी यह नही कहा जा सकता कि कल्पनामिश्रित चित्र निश्चित रूप से शुद्ध या सत्य ही होगा। इसलिये उपयुक्त कमी का ध्यान रखकर कुछ विद्वान् कहते है कि इतिहास की सपूर्णता असाध्य सी है, फिर भी यदि हमारा अनुभव और ज्ञान प्रचुर हो, ऐतिहासिक सामग्री की जाँच पडताल की हमारी कला तर्कप्रतिष्ठित हो तथा कल्पना सयत और विकसित हो तो अतीत का हमारा चित्र अधिक माननीय और प्रामाणिक हो सकता है। साराश यह कि इतिहास की रचना मे पर्याप्त सामग्री, वैज्ञानिक ढग से उसकी जाँच, उससे प्राप्त ज्ञान का महत्व समझने के विवेक के साथ ही साथ ऐतिहासिक कल्पना की शक्ति तथा सजीव चित्रण की क्षमता की आव-श्यकता है। स्मरण रखना चाहिए कि इतिहास न तो साधारण परिभाषा के अनुसार विज्ञान है और न केवल काल्पनिक दर्शन अथवा साहित्यिक रचना है। इन सबके यथोचित समिश्रण से इतिहास का स्वरूप रचा जाता है।

लिखित इतिहास का आरभ पद्य अथवा गद्य मे वीरगाथा के रूप मे हुआ। फिर वीरो अथवा विशिष्ट घटनाओ के सबध मे अनुश्रुति अथवा लेखक की पूछताछ से गद्य में रचना आरभ हुई। इस प्रकार के लेख खपडो, पत्थरो, छालो और कपडो पर मिलते है। कागज का आविष्कार होने से लेखन और पठन पाठन का मार्ग प्रशस्त हो गया। लिखित सामग्री को अन्य प्रकार की सामग्री—जैसे खडहर, शव, बरतन, धातु, अन्न, सिक्के,

जेरूसलम के इब्रानी विश्वविद्यालय की ओर से एक सुविस्तृत इब्रानी विश्वकोश का संपादन सन् १९५० ई में प्रारंभ हुआ है। द्वितीय महायुद्ध के बाद इब्रानी साहित्यिक जीवन का केंद्र पूर्वी यूरोप से हटकर पश्चिमी यूरोप, अमरीका तथा इज़रायल में आ गया है।

इब्रानी भाषा के स्वरूप के वर्णन में यिद्दिश का ऊपर उल्लेख हो चुका है। अब्रामोविच के यिद्दिश उपन्यास प्रसिद्ध हैं। इधर शोलेम आश के बहुत से ऐतिहासिक उपन्यास अंग्रेजी में अनूदित हो चुके हैं। आइ० एल० पेरेज एक आधुनिक रहस्यवादी लेखक तथा मारिस रोसेनफेल्द एक लोकप्रिय कवि हैं। सन् १८६७ ई० में अब्राहम कहान ने अमरीका में यिद्दिश पत्रकारिता का प्रारंभ किया था।

सं०ग्रं०—एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका खंड ११, हिब्रू लैंग्वेज, लिटरेचर, जे० ब्रोकेलमैन कपरेटिव ग्रामर ऑव सेमेटिक लैंग्वेजेज़, बर्लिन १९१२, ज० हेंपेल आल्ट हेब्रेइचे लिटरेट्योर, पॉट्सडैम, १९३४, ए० लॉड्स इस्त्वार दे ला लिटरेट्यौर हेब्रेक ए जूई, पेरिस १९५०। [ऑ०वे०]

इब्सन, हेनरिक

जब नार्वे में नाटक का प्रचलन प्राय नहीं के बराबर था, इब्सन (१८२८-१९०६) ने अपने नाटकों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की और शॉ जैसे महान् नाटककारों तक को प्रभावित किया। पिता के दिवालिया हो जाने के कारण आपका प्रारंभिक जीवन गरीबी में बीता। शुरू से ही आप बड़े हठी और विद्रोही स्वभाव के थे। अपने युग के संकीर्ण विचारों का आपने आजीवन विरोध किया।

आपका पहला नाटक 'कैटीलाइन' १८५० में ओसलो में प्रकाशित हुआ जहाँ आप डाक्टरी पढ़ने गए हुए थे। कुछ समय बाद ही आपकी रुचि डाक्टरी से हटकर दर्शन और साहित्य की ओर हो गई। अगले ११ वर्षों तक रंगमंच से आपका घनिष्ठ संपर्क, पहले प्रबंधक और फिर निर्देशक के रूप में रहा। इस संपर्क के कारण आगे चलकर आपको नाट्यरचना में विशेष सहायता मिली।

अपने देश के प्रतिकूल साहित्यिक वातावरण से खिन्न होकर आप १८६४ में रोम चले गए जहाँ दो वर्ष पश्चात् आपने 'ब्रैंड' की रचना की जिसमें तत्कालीन समाज की आत्मसंतोष की भावना एवं आध्यात्मिक शून्यता पर प्रहार किया गया है। यह नाटक अत्यंत लोकप्रिय हुआ। परंतु आपका अगला नाटक 'पियर गिंट' (१८६७), जो चरित्रचित्रण तथा कवित्वपूर्ण कल्पना की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट है, इससे भी अधिक सफल रहा।

इसके बाद के यथार्थवादी नाटकों में आपने पद्य का बहिष्कार करके एक नई शैली को अपनाया। इन नाटकों में पात्रों के अंतर्द्वंद्व तथा बाह्य क्रियाकलाप दोनों का बोलचाल की भाषा में अत्यंत वास्तविक चित्रण किया गया है। 'पिलर्स ऑव सोसाइटी' (१८७७) में आपके आगामी अधिकांश नाटकों की विषयवस्तु का सूत्रपात हुआ। प्राय सभी नाटकों में आपका उद्देश्य यह दिखलाना रहा है कि आधुनिक समाज मूलत झूठा है और कुछ असत्य परंपराओं पर ही उसका जीवन निर्भर है। जिन बातों से उसका यह झूठ प्रकट होने का भय होता है उन्हें दबाने की वह सदैव चेष्टा किया करता है। 'ए डॉल्स हाउस' (१८७९) और 'गोस्ट्स' (१८८१) ने समाज में बड़ी हलचल मचा दी। 'ए डॉल्स हाउस' में, जिसका प्रभाव शॉ के 'केंडिडा' में स्पष्ट है, इब्सन ने नारीस्वातंत्र्य तथा जागृति का समर्थन किया। 'गोस्ट्स' में आपने यौन रोगों को अपना विषय बनाया। इन नाटकों की सर्वत्र निंदा हुई। इन आलोचनाओं के प्रत्युत्तर में 'एनिमीज ऑव दि पीपुल' (१८८२) की रचना हुई जिसमें विचारशून्य 'संगठित बहुमत' ('कंपैक्ट मेजॉरिटी') की कड़ी आलोचना की गई है। 'दि वाइल्ड डक' (१८८४) एक लाक्षणिक काव्यनाटिका है जिसमें आपने मानव भ्रांतियों एवं आदर्शों का विश्लेषण करके यह प्रतिपादित किया है कि सत्यवादिता साधारणतया मानव जाति के सौख्य की विधायक होती है। 'रोमरशाम' (१८८६) तथा 'हेडा गैब्लर' (१८९०) में आपने नारीस्वातंत्र्य का पुन प्रतिपादन किया। हेडा का चरित्रचित्रण इब्सन के नाटकों में सर्वश्रेष्ठ है। 'दि मास्टर बिल्डर' (१८९२) और 'ह्वेन वी डेड अवेकेन' (१८९९) आपके अंतिम नाटक हैं। लाक्षणिकता तथा आत्मचरित्रिक वस्तु के अत्यधिक प्रयोग के कारण इनका पूरा आनंद उठाना कठिन हो जाता है।

इब्सन की विशेषता है पुरानी रूढ़ियों का परित्याग और नई परंपराओं का विकास। आपने अपने नाटकों में ऐसे प्रश्नों पर विचार किया जिन्हें पहले कभी नाट्य साहित्य में स्थान नहीं प्राप्त हुआ था। अनंतकालीन तथा विश्वजनीन समस्याओं, अर्थात् व्यक्ति और समाज, तथ्य और भ्रम तथा सत्य और असत्य आदर्श की परस्पर विरोधी भावनाओं पर व्यक्त किए गए विचार ही विश्वसाहित्य को इब्सन की महानतम देन हैं। [प्र० कु० सं०]

इमर्सन, राल्फ वाल्डो

प्रसिद्ध निबंधकार, वक्ता तथा कवि इमर्सन (१८०३-१८८२) को अमरीकी नव जागरण का प्रवर्तक माना जाता है। आपने मेलविल, ह्विटमैन तथा हाथार्न जैसे अनेक लेखकों और विचारकों को प्रभावित किया। लोकोत्तरवाद के, जो एक सहृदय, धार्मिक, दार्शनिक एवं नैतिक आंदोलन था, आप नेता थे। आप व्यक्ति की अनंतता, अर्थात् दैवी कृपा से जाग्रत् उसकी आध्यात्मिक व्यापकता के पक्ष के पोषक थे। आपकी दार्शनिकता के मुख्य आधार पहले प्लेटो, प्लोटाइनस, बर्कले, फिर वर्ड्सवर्थ, कोलरिज, गेटे, कार्लाइल, हर्डर, स्वेडनबोर्ग, और अंत में चीन, ईरान और भारत के लेखक थे।

१८२६ में आप बोस्टन में पादरी नियुक्त हुए जहाँ आपने ऐसे धर्मोपदेश दिए जिनसे निबंधकार के आपके भावी जीवन का पूर्वाभास मिलता है। १८३२ में आपने इस कार्य से त्यागपत्र दे दिया, कुछ तो इस कारण कि आप बहुसंख्यक जनता तक अपने विचार पहुँचाना चाहते थे और कुछ इसलिए कि उस गिरजे में कुछ ऐसी पूजाविधियाँ प्रचलित थीं जिन्हें आप प्रगतिवादी, उदार ईसाइयत के विरुद्ध समझते थे। इसके उपरांत वर्ड्सवर्थ, कोलरिज तथा कार्लाइल से मिलने और लंदन देखने की इच्छा से आपने यूरोप की यात्रा की। वापस आकर बहुत दिनों तक आपने सार्वजनिक वक्ता का जीवन व्यतीत किया।

१८३४ में आप ककार्ड में बस गए जो आपके कारण साहित्यप्रेमियों के लिये तीर्थस्थान बन गया है। अपनी पहली पुस्तक 'नेचर' (१८३६) में आपने थोथी ईसाइयत तथा अमरीकी भौतिकवाद की कड़ी आलोचना की। इसमें उन सभी विचारों के अंकुर वर्तमान हैं जिनका विकास आगे चलकर आपके निबंधों और व्याख्यानों में हुआ। पुस्तक के अंतिम अध्याय में आपने मानव के उस उज्ज्वल भविष्य की ओर इंगित किया है जब उसकी अंतर्हित महत्ता धरती को स्वर्ग बना देगी। १८३७ में आपने हार्वर्ड विश्वविद्यालय की 'फाई-बीटा-काप्पा' सोसाइटी के समक्ष 'अमेरिकन स्कॉलर' नामक व्याख्यान दिया जिसमें आपने साहित्य में अनुकरण की प्रवृत्ति का विरोध किया और इंग्लैंड की साहित्यिक दासता के विरुद्ध अमरीकी साहित्य के स्वतंत्र अस्तित्व की घोषणा की। आपने बताया कि साहित्यिक व्यक्ति का प्रशिक्षण मूलत प्रकृति के अध्ययन पर आधारित होना चाहिए तथा उसके उपरांत जीवनसंघर्ष में भाग लेकर अनुभव द्वारा उसे परिपक्व बनाना चाहिए। १८३८ में दिए गए 'डिविनिटी स्कूल ऐड्रेस' के नवीन धार्मिक दृष्टिकोण ने हार्वर्ड में एक आंदोलन खड़ा कर दिया। इस व्याख्यान में आपने निर्भीकतापूर्वक रूढ़िवादी ईसाई धर्म तथा उसमें प्रतिपादित ईसा के ईश्वरत्व की कड़ी आलोचना की। इसमें आपने अपने उस अध्यात्मदर्शन का सार भी प्रस्तुत किया जिसकी विस्तृत व्याख्या 'नेचर' में पहले ही हो चुकी थी।

यद्यपि कुछ कट्टरपंथियों ने आपका विरोध किया, फिर भी आपके श्रोताओं की संख्या निरंतर बढ़ती रही और शीघ्र ही आप कुशल व्याख्याता के रूप में प्रसिद्ध हो गए। लगातार तीस वर्ष तक ककार्ड ही आपके कार्य का प्रधान केंद्र रहा। वहीं आपका परिचय हाथार्न और थोरो से हुआ। कुछ काल तक आपने वहाँ की प्रगतिवादी पत्रिका 'दि डायल' का संपादन भी किया। इसके उपरांत आपकी निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हुई :

'एसेज़, फर्स्ट सीरीज़' (१८४१), 'एसेज़, सेकंड सीरीज़' (१८४४), 'पोएम्स' (१८४७), 'नेचर, ऐड्रेसेज ऐंड लेक्चर्ज़' (१८४९), 'रिप्रेज़ेंटेटिव मेन' (१८५०), 'इंग्लिश ट्रेट्स' (१८५६), 'दि कांडक्ट ऑव लाइफ' (१८६०), 'सोसाइटी ऐंड सोलिट्यूड' (१८७०) तथा अंग्रेजी और अमरीकी कविताओं का संग्रह 'पर्नासस' (१८७४)। 'लेटर्स ऐंड सोशल एम्स' के संपादन में आपने जेम्स इलियट केबट की सहायता ली। आपकी मृत्यु के उपरांत 'लेक्चर्स ऐंड बायोग्राफिकल स्केचेज़', 'मिसलेनीज़' और

[illegible]), [illegible] (ग० [illegible]), मेनर्वा (मिनर्वा), सेथ्लान (वल्कन), [illegible] ([illegible]), [illegible] ([illegible]) आदि का पूजन थे। इन देवताओं के अपने [illegible] भी थे जिनमें उनकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित थीं। मूर्तिकला में [illegible] थी और उनकी अनेकानेक मूर्तियाँ आज [illegible] संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। मिट्टी के उनके [illegible] के लिये तो प्रसिद्ध हैं ही, धातुकार्य में भी उनकी [illegible]। उनके अभिजात श्रीमान् तो [illegible], भोजन, वसन आदि [illegible] के लिये प्राचीन काल में बदनाम थे।

[illegible] भाषा के संबंध में हमारी जानकारी बहुत ही कम है। जो [illegible] अभिलेख [illegible] समाधियों अथवा मृतावेष्टनों से प्राप्त हुए हैं [illegible] भाषा के परिवार का पता नहीं चलता। उनका संबंध ग्रीक, [illegible], [illegible], आदि भाषाओं से करने के जो प्रयत्न हुए हैं, सभी असफल सिद्ध हुए हैं। [illegible] की वर्णमाला निश्चय प्राचीन ग्रीक की एक शाखा है जो [illegible] ने स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त की है। कुछ आश्चर्य नहीं जो इन [illegible] ने ही सबसे पहले किसी जाति से उनसे [illegible] मूल लिपि सीखी हो, [illegible] भी सिखा दी हो। परंतु इस प्रसंग में कोई अंतिम निर्णय [illegible] अभी संभव नहीं है, विशेषत इस कारण कि इत्रुस्कियों के फिनीकी संबंध के [illegible] काल में ही प्राचीन ग्रीकों का संबंध भी फिनीकियों से स्थापित हो चुका था।

सं०ग्रं०—जी० डेनिस दि सिटीज ऐंड सिमेटरीज ऑव इट्रुरिया, [illegible] इट्रुस्कन् टूब पेंटिंग्स, टी० रेंडल-मैक्‌ईवर विलैनोवान् [illegible] इट्रुस्कन्, आर० ए० फेल इट्रूरिया ऐंड रोम।

[भ० श० उ०]

इत्सिंग ([illegible]) भारत में आनेवाले तीन बड़े चीनी यात्रियों में से एक, यह सबसे बाद में आया। इसका जन्म ६३५ में [illegible] के शासनकाल में हुआ। ताई पर्वत पर स्थित मंदिर में [illegible] और हुई-[illegible] से इसने ७ वर्ष की अवस्था से शिक्षा प्राप्त की। [illegible] की मृत्यु के पश्चात् सांसारिक विषयों को छोड़कर इसने बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन आरंभ किया। १४ वर्ष की आयु में इसे प्रव्रज्या मिल गई और १८ वर्ष की आयु में इसने भारतयात्रा का संकल्प किया जो लगभग २० वर्ष बाद ही पूरा हो सका। इसने विनयसूत्र का अध्ययन हुई-उसी की देख-रेख में किया और अभिधर्मपिटक से संबंधित असंग के दो शास्त्रों का अध्ययन करने के लिये वह पूर्व की ओर चला। फिर पश्चिमी राजधानी [illegible] पहुँच उसने वसुबंधुकृत 'अभिधर्मकोश' और [illegible] '[illegible]-निस्त्रिका' का गहरा अध्ययन किया। चेन-अन में [illegible] [illegible] के सम्मान और यश से प्रभावित होकर उसने अपनी [illegible] का पूर्ण [illegible] किया जिसका वर्णन इसने स्वयं किया है।

[illegible] है कि यह ६७० ई० में पश्चिमी राजधानी (यग-[illegible]) में [illegible] व्याख्यान सुन रहा था। उस समय इसके साथ चिंग-[illegible] निवासी [illegible] का उपाध्याय [illegible], लै-चोऊ निवासी शान्त का उपाध्याय [illegible] और [illegible] दो और भक्त थे। उन सबने गृध्रकूट जाने की इच्छा प्रकट की। [illegible] के [illegible] नामक एक युवा भिक्षु के साथ उसने भारत के लिये प्रस्थान किया। [illegible] में वह सहस्रों [illegible] से गुजरा। ६७१ ई० में [illegible] आया। यहाँ से दक्षिण की यात्रा के लिये एक ईरानी [illegible] से [illegible] की तिथि निश्चय की। छ मास की यात्रा के पश्चात् वह श्रीभोज (श्रीविजय) पहुँचा। यहाँ छ मास ठहरकर शब्द-विद्या [illegible]। [illegible] ने उसे [illegible] देकर [illegible] देश भेज दिया। वहाँ से वह [illegible] के लिये जहाज पर चला और ६७३ ई० के दूसरे मास में ताम्रलिप्ति पहुँचा। यहाँ [illegible] (ह्वेनत्सांग का शिष्य) मिला। [illegible] वह [illegible] ठहरा और संस्कृत सीखी तथा शब्द-विद्या का [illegible] किया। [illegible] कई सौ व्यापारियों के साथ यह मध्य-[illegible] के लिये [illegible] बोधगया, नालंदा, राजगृह, वैशाली, कुशी-[illegible], [illegible] ([illegible]), [illegible] की यात्रा की। वह अपने साथ पाँच [illegible] पुस्तकें ले गया। लगभग २५ वर्ष (६७१-६९५) के लंबे [illegible] देशों का पर्यटन किया और ६९५ में चीन वापस [illegible]। [illegible] ७०० से ७१२ ई० में [illegible] २३० भागों में ५६ [illegible] का

अनुवाद किया जिसका मूल सर्वास्तिवादी मत से संबद्ध है। ७१३ ई० में ७९ वर्ष की अवस्था में इसका देहांत हो गया।

सं०ग्रं०—ज तककुसू इत्सिंग, सतराम इत्सिंग की भारतयात्रा, इलाहाबाद, १९२५।

[बैं० पु०]

इथाका संयुक्त राज्य (अमरीका) के न्यूयार्क राज्य का नगर तथा टॉपकिंस काउंटी की राजधानी है। यह कायूगा भील के दक्षिणी तट पर इल्मीरा से २८ मील पूर्वोत्तर स्थित है। यों तो अधिकांश नगर समतल घाटी में है, परंतु दक्षिण-पूर्व तथा पश्चिम के भाग अपेक्षाकृत ऊँची भूमि पर हैं, अत समुद्रतल से इसकी ऊँचाई ३८९-८१० फुट है। यहाँ चारों ओर से रेलें तथा सड़कें आकर मिलती हैं और एक हवाई अड्डा भी है। कायूगा झील द्वारा यह न्यूयार्क स्टेट की नौका नहरों से भी संबद्ध है। इथाका के निकट ही कई प्रपात हैं जिनमें टौगनक फाल्स (२१५ फुट) सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इस प्रकार नगर का प्राकृतिक वातावरण बड़ा ही आकर्षक है, अत इथाका एक सुंदर पर्यटककेंद्र बन गया है। यहाँ कार्नेल विश्वविद्यालय तथा इथाका कालेज जैसी बड़ी शिक्षा संस्थाएँ भी हैं। इसके मुख्य उद्योग शक्तिसंचालन की चेनें, नमक, सिमेंट, चमड़े का सामान, कागज बनाने की मशीनें तथा वस्त्रादि बनाना है। इसका शिलान्यास सन् १७८७ ई० में हुआ था तथा सन् १८०६ ई० में साइमन डी विट ने इसका नाम इथाका रखा था। सन् १८८८ ई० में इसे नगर की श्रेणी प्राप्त हुई। इसकी जन-संख्या सन् १९५० में २९,२५७ थी।

[लें० रा० सिं०]

इथोपियाई साहित्य यह केवल धर्मग्रंथों का साहित्य है और बाइबिल के अनुवादों तक सीमित है। इसमें ४६ अनुवाद 'ओल्ड टेस्टामेंट' के और ३५ 'न्यू टेस्टामेंट' के हुए। सबसे पहले ईसा के जीवनचरित और उपदेशों के अनुवाद पश्चिमी आर्मीनियाई भाषा से सन् ५०० ई० में हुए थे। इथोपियाई भाषा को गीज कहते हैं। साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिये गीज़ का प्रयोग अबिसीनिया में ईसाई धर्म के आगमन से कुछ ही पहले प्रारंभ हुआ। जनभाषा के रूप में इसका प्रयोग कब बंद हो गया, यह अज्ञात है।

ईसाई धर्म के आगमन से पूर्व इथोपिया में प्रकृतिपूजा प्रचलित थी। प्राचीन इथोपियाई धर्म और संस्कृति प्राचीन मिस्र से आई प्रतीत होती है। तीन प्राचीन शाही शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। उनमें से दो डी० एच० म्यूलर द्वारा जे० टी० बेंट की पुस्तक 'इथोपियनों का पवित्र नगर' में सन् १८९३ ई० में प्रकाशित किए गए और तीसरा, जो मतरा में प्राप्त हुआ था, सी० सी० रोज़िनी की पुस्तक 'रेंडीकोंटी अकाद् लिनसी' में सन् १८९६ में प्रकाशित हुआ। ये शाही शिलालेख हाइरोग्लिफिक लिपि (जो प्राचीन मिस्र की चित्रमय पवित्र लिपि है) और मिस्री भाषा में उत्कीर्ण हैं। उर्गा-मेनिस काल के आसपास एक जनबोली भी शिलालेखों में प्रयुक्त होने लगी। इसकी लिपि में २३ संकेतों की विशिष्ट वर्णमाला थी, हाइरोग्लिफिक चित्र-संकेतों के समांतर धारावाहिक रूप में दाईं से बाईं ओर लिखी जाती थी, मिस्री पद्धति के विपरीत, जिसमें चित्रों के मुख की दिशा में लिखा जाता था। किंतु इन संकेतों के रूप और अर्थ अधिकांश में मिस्री भाषा के ही थे। इतना होते हुए हुए भी यह भाषा न तो आज तक पढ़ी जा सकी है और न यही कहा जा सकता है कि किस भाषापरिवार से इसका नाता है।

गीज भाषा में लिखित साहित्य को दो कालों में विभाजित किया जाता है (१) ५वीं शताब्दी के आसपास ईसाई धर्म के आगमन से सातवीं शताब्दी तक और (२) सन् १२६९ ई० में सलोमन वंशी राज की पुन स्थापना से लेकर अब तक। प्रथम काल में ग्रीक भाषा से अनुवाद हुए और दूसरे में अरबी भाषा से।

गीज साहित्य की अब तक उपलब्ध पांडुलिपियों की संख्या लगभग १२०० है जिनकी सूची रोज़िनी ने सन् १८९९ ई० में प्रकाशित की। इनमें से अधिकांश पांडुलिपियाँ ब्रिटिश म्यूज़ियम, लंदन में और शेष यूरोप के प्रमुख संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। अनेक पांडुलिपियाँ अबिसीनिया में और लोगों के निजी पुस्तकालयों में भी हैं। आर० ई० लिटमान ने अपनी पुस्तक '[illegible] फ्यूर असीरियोलॉजी' में कहा है कि दो बड़े संग्रह जेरूसलम में भी हैं, जिनमें से एक में २८३ पांडुलिपियाँ हैं। रोज़िनी के अनुसार ३५ [illegible] [illegible] वैटिकन [illegible] में सुरक्षित हैं।

अल मुतजर (इमाम मेहदी)। इन बारह में से अंतिम इमाम मेहदी अपने बाल्यकाल में ही एक गुफा में जाकर अदृश्य हो गए और शीया तथा सुन्नी दोनों ही वर्गों की मान्यता है कि वे वापस आएँगे। शीया मुसलमान अपने इमामों के तीन अधिकार मानते हैं—(अ) ये पैगंबर के राज्य के अधिकृत उत्तराधिकारी थे और इनको इस अधिकार से अनुचित रूप से वंचित कर दिया गया, (ब) इमामों ने अत्यंत पवित्र और पापरहित जीवन व्यतीत किया, तथा (स) उनको समस्त जाति को निर्देश देने का अधिकार है। निदेश का यह अधिकार मुजतहिदों को भी प्राप्त है। शीया मुजतहिद उस धार्मिक अध्यापक को कहते हैं जिसके पास मूलतः किसी इमाम द्वारा प्रदत्त प्रमाणपत्र हो।

(५) शीया मुसलमानों के इस्माइली दल के लोग इमाम को एक अवतार या ईश्वरीय व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार करते हैं। वह कुरान में प्रतिपादित आस्था को तो समाप्त नहीं कर सकता, किंतु वह कुरान के कानून को पूर्णतः या आंशिक रूप से समाप्त या परिवर्तित कर सकता है। इस अधिकार के पक्ष में दिया जानेवाला तर्क यह है कि कानून में देश और काल के अनुसार परिवर्तन आवश्यक है और इमाम, जो एक अवतार है, इस परिवर्तन को कार्यान्वित करने के लिये एकमात्र उपयुक्त व्यक्ति है। इस प्रकार इस्माइली लोग अपने इमाम को पैगंबर से भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। इस्माइली धार्मिक शीयाओं के केवल प्रथम छः इमामों को मानते हैं। छठे इमाम जाफर सादिक ने अपने पुत्र इस्माइल को उत्तराधिकार से वंचित कर दिया, किंतु इस्माइली लोग इसको उत्तराधिकार के ईश्वरीय नियमों में अवैधानिक हस्तक्षेप मानते हैं।

मध्ययुग में धर्मपरायण मुसलमानों ने इस्माइलियों का अत्यंत निर्दयता से विनाश किया। प्रत्युत्तर में इस्माइलियों ने गुप्त आदोलन प्रारंभ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि लोगों ने इस्माइलियों के अनेक सिद्धांतों को गलत समझा और व्यक्त किया। इस्माइली इमाम सर्वविदित (अलनी) भी हो सकता है, जैसे मिस्र के फातिमी खलीफा (९१०-११७१ ई०) तथा ईरान में अलमुत के इमाम (११६४-१२५६), और अप्रकट या गुह्य (मखफी) भी। गुह्य इमाम की स्थिति केवल उसके प्रतिनिधि (दाई) को ज्ञात होती है। यह प्रतिनिधि इमाम की ओर से कार्यसंचालन करता है, किंतु इसको इस्लामी संस्थाओं में परिवर्तन करने का अधिकार नहीं होता। इस्माइली मुसलमानों के अनेक दलों में, जैसे भारत के दाउदी और सुलेमानी बोहरे, शताब्दियों से केवल इमाम के प्रतिनिधि (दाई) ही अवतरित हुए हैं।

सं०ग्रं०—बेर्नर लीविस इस्माइलिज्म, इवोनोफ कलम-ए-पीर, (फारसी के मूल तथा अनुवाद सहित, बंबई), ओ लीयरी द फाटिमैट कलिफैट। [मु० ह०]

इमामबाड़ा का सामान्य अर्थ है वह पवित्र स्थान या भवन जो विशेष रूप से हजरत अली (हजरत मुहम्मद के दामाद) तथा उनके बेटों, हसन और हुसेन, के स्मारक के रूप में बनाया जाता है। इमामबाड़ों में शिया संप्रदाय के मुसलमानों की मजलिसें और अन्य धार्मिक समारोह होते हैं। 'इमाम' मुसलमानों के धार्मिक नेता को कहते हैं। मुस्लिम जनसाधारण का पथप्रदर्शन करना, मस्जिद में सामूहिक नमाज का अग्रणी होना, खुत्बा पढ़ना, धार्मिक नियमों के सिद्धांतों की अस्पष्ट समस्याओं को सुलझाना, व्यवस्था देना इत्यादि इमाम के कर्तव्य हैं। इस्लाम के दो मुख्य संप्रदायों में से 'शिया' के हजरत मुहम्मद के बाद परम वंदनीय इमाम उपर्युक्त हजरत अली और उनके दोनों बेटे हुए। वे विरोधी दल से अपने जन्मसिद्ध स्वत्वों के लिये संग्राम करते हुए बलिदान हुए थे। उनकी पुनीत स्मृति में शिया लोग हर वर्ष मुहर्रम के महीने में उनके घोड़े 'दुलदुल' के प्रतीक, एक विशेष घोड़े की पूजा करके और उन नेताओं की याद करके बड़ा शोक मनाते हैं तथा उनके प्रतीकस्वरूप ताजिए बनाकर उनका जुलूस निकालते हैं। ये ताजिए या तो कर्बला में गाड़ दिए जाते हैं या इमामबाड़ों में रख दिए जाते हैं। इसी अवसर पर इमामबाड़ों में उन शहीदों की स्मृति में उत्सव किए जाते हैं।

भारत में सबसे बड़े और हर दृष्टि से प्रसिद्ध इमामबाड़े १८वीं सदी में अवध के नवाबों ने बनवाए थे। इनमें सर्वोत्तम तथा विशाल इमामबाड़ा हुसेनाबाद का है जो अपनी भव्यता तथा विशालता में भारत में ही नहीं, शायद संसार भर में अद्वितीय है। इस इमामबाड़े को अवध के चौथे नवाब वजीर आसफुद्दौला ने १७८४ के घोर दुर्भिक्ष में दुःखी, दरिद्र जनता की रक्षा करने के हेतु बनवाया था। कहा जाता है कि बहुत से उच्च घरानों के लोगों ने भी वेश बदलकर इस भवन के बनानेवाले मजूरों में शामिल होकर अपने प्राणों की रक्षा की थी। आसफुद्दौला की मृत्यु होने पर उसे इसी इमामबाड़े में दफनाया गया था।

वास्तुशिल्प की दृष्टि से यह इमामबाड़ा अत्यंत उत्तम कोटि का है। तत्कालीन अवध के वास्तु पर, विशेषतया अवध के नवाबों के भवनों पर यूरोपीय अपभ्रंशकाल के वास्तु का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा था कि स्थापत्य के प्रकांड पंडित फर्गुसन महोदय ने प्रायः इन सब भवनों को सर्वथा निकृष्ट, भोंडा और कुरूप बतलाया है। किंतु 'इमामबाड़े' हुसेनाबाद को उन्होंने इन स्मारकों में अपवाद माना है और उसकी उत्कृष्ट तथा विलक्षण निर्माणविधि एवं दृढ़ता की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। आधुनिक भवनों की अपेक्षा इस इमामबाड़े की अखंडनीय दृढ़ता का प्रमाण उस समय मिला जब १८५७ के भारतीय स्वाधीनता संग्राम के दिनों में पाँच महीने तक इस भवन पर निरंतर गोलाबारी होती रही और उसकी दीवारें गोलियों से छिद गईं, फिर भी उस भवन को कोई हानि नहीं पहुँची। उसके समकालीन तथा पीछे के भवनों के बहुत से भाग धराशायी हो चुके हैं, पर इस महाकाय भवन की एक ईंट भी आज तक नहीं हिली है। १८५७ ई० के बाद विजयी अंग्रेजों ने अत्यंत निर्दयता तथा निर्लज्जता से इस इमामबाड़े को बहुत दिनों तक सैनिक गोलाबारूदघर के तौर पर प्रयुक्त किया, तो भी इसकी कोई हानि नहीं हुई।

यह इमामबाड़ा मच्छीभवन के अंदर स्थित है। इसका मुख्य अंग एक अति विशाल मंडप है जो १६२ फुट लंबा और ५३ फुट ५ इंच चौड़ा है। इसके दोनों ओर बरामदे हैं। इनमें एक २६ फुट ६ इंच और दूसरा २७ फुट, ३ इंच चौड़ा है। मंडप के दोनों टोकों पर अष्टकोण कमरे हैं जिनमें प्रत्येक का व्यास ५३ फुट है। इस प्रकार समूचे भवन की लंबाई २६८ फुट और चौड़ाई १०६ फुट ९ इंच है। परंतु इसकी सबसे बड़ी विशेषता है इस मंडप का एकछाज आच्छादन या छत।

यह अत्यंत स्थूल छत एक विचित्र युक्ति से बनाई गई है और अपनी दृढ़ता के कारण आज तक नई के समान विद्यमान है। ईंट गारे का एक भारी ढूला बनाकर उसके ऊपर छोटी मोटी रोड़ियों और चूने के मसाले का कई फुट मोटा लदाव कर एक बरस तक सूखने के लिये छोड़ दिया गया। जब सूखकर समूचा लदाव एकजान होकर एक शिला के समान हो गया, तब नीचे से ढूले को निकाल दिया गया। इस छत के विषय में फर्गुसन का कहना है कि समूची छत एक शिला के समान हो जाने से, वह बिना किसी बाहरी सहारे अथवा दोसाही (एबटमेंट) के, ठहरी हुई है और निस्संदेह यह योरोपीय गॉथिक छतों की अपेक्षा, जो वास्तु के नियमों पर बनी है, अधिक पायेदार है। इसकी विशेषता यह भी है कि गॉथिक छतों से इसका निर्माण बहुत सुगम एवं सस्ता होता है, और यह किसी भी आकार में ढाली जा सकती है। इस इमामबाड़े पर १० लाख रुपए व्यय हुए थे। इसके स्थपति किफायतुल्ला ने नवाब की इस शर्त को पूरा किया कि यह भवन संसार भर में अनुपम हो।

सं०ग्रं०—डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑव लखनऊ, जेम्स फर्गुसन ए हिस्ट्री ऑव इंडियन ऐंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, खंड २, एनसाइक्लोपीडिया ऑव इस्लाम। [प० श०]

इयंबिचस सीरिया के नव्य अफलातूनवाद का प्रमुख समर्थक। जन्म सीरिया के एक संपन्न परिवार में हुआ था। रोम में पोर्फेरी का शिष्य रहा, पश्चात् सीरिया में अध्यापन करता रहा। अफलातून और अरस्तू पर उसकी टीकाएँ अपने समग्र रूप में तो अप्राप्य हैं, पर कुछ खंड इधर उधर मिलते हैं।

यथार्थतः दर्शनशास्त्र को इयंबिचस की अपनी मौलिक देन नहीं के बराबर है। अपनी कृतियों में जिन दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन उसने किया है उनमें नवीन अफलातूनवाद का एक परिष्कृत रूप ही मिलता है। पूर्वसिद्धांतों में वर्णित आकारगत विभाजन के नियमों तथा पिथागोरस के संख्यात्मक प्रतीकवाद की बहुत ही सुव्यवस्थित व्याख्या उसकी कृतियों में मिलती है।

ऐड्रियानोपुल से, जो उत्तर-पूर्व में लगभग ७० मील की दूरी पर है, मरिताजा के ही प्राकृतिक जलमार्ग द्वारा संबद्ध है। पूर्वकाल में यह एक प्रसिद्ध पत्तन था, परतु कालातर में मरिताजा नदी का तल पट जाने, मुहाने पर दलदल हो जाने तथा परिणामस्वरूप जलवायु के बिगडने के कारण इसका आकर्षण घटने लगा। देदियागैच के निकटवर्ती पत्तन की प्रतिस्पर्धा से, जो ऐड्रियानोपुल से रेल द्वारा सबद्ध है, इसे बडा धक्का पहुँचा है। अत अब निर्यात में इसका स्थान नगण्य है। यहाँ अधिकाशत छोटे छोटे तटीय व्यापारिक जहाज तथा मछुए शरण लेते हैं। सन् १९०५ ई० मे इसकी जनसख्या ८,००० थी, परतु अब ७,००० से भी कम है।

[ले० रा० सिं०]

इनेसिदेमस एक यूनानी दार्शनिक जिसका जन्म शायद ई० पू० प्रथम शताब्दी में क्नोसस् मे हुआ था। इसका दृष्टिकोण संदेहवादी था। वह सत्य और कार्य-कारण-भाव मे विश्वास नही करता था। जीवधारियो के प्रत्यक्षो की सापेक्षिकता के कारण सत्य का स्वरूप निरपेक्ष नही हो सकता। यही बात कारण के सबध मे भी लागू होती है। फिर कार्य और कारण का सबध भी अचिंत्य है। इनेसिदेमस की युक्तियाँ आधुनिक सदेहवादियो की युक्तियो के साथ विलक्षण समानता रखती है। दियोगेनेस लीएर्तियस् की 'दार्शनिको के जीवनचरित' नामक पुस्तक में उसकी चार रचनाओ के नाम मिलते है। [भो० ना० श०]

इनैमल धातु पर पिघलाकर चढाई गई काच (अथवा काच के समान पदार्थ) की तह को इनैमल कहते है। धातुपदार्थो के ऊपर काचीय परत जमाने की कला बडी पुरानी है। परतु साधारण बोल-चाल मे किसी भी वस्तु के ऊपर की चमकदार तह को इनैमल कहा जाता है। साइकिल और मॉटरकार पर चढा सेलूलोज़ रग या दाँतो की ऊपरी प्राकृतिक परत प्राविधिक रूप से इनैमल नही है। प्राविधिक दृष्टिकोण से इनैमल अकार्बनिक काचीय परत है जो पिघलाकर किसी सतह पर जमाई जाती है। मुख्यत काच, चीनी मिट्टी के पात्र, धातु और खनिज पदार्थो की सतहो पर इनैमल किया जाता है। वस्तुत इनैमल कम ताप पर द्रवित होनेवाला काच है। सोने और चाँदी पर (कभी कभी ताँबे पर भी) किए काम को हिंदी में साधारणत मीना या मीनाकारी (इनैमल) कहते हैं।

इतिहास--इनैमल कला का कहाँ और कब आविष्कार हुआ, यह बताना अति कठिन है। अधिक सभावना यही है कि इनैमल कला का आविष्कार, काच कला के समान, पश्चिमी एशिया में हुआ। प्राचीन समय के इनैमल-सुसज्जित स्वर्ण, रजत, ताम्र और मिट्टी के पात्र उपलब्ध हुए हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि इनैमल कला का ज्ञान प्राचीन मिस्र, ग्रीस और बाइज़ैटाइन साम्राज्य के लोगो को भी था।

इग्लैंड की सभ्यता के पूर्व आयरलैंड निवासी भी यह कला जानते थे। मार्को पोलो के भ्रमण के पश्चात् चीन और जापान मे भी इस कला का प्रसार हुआ। मिस्र की प्राचीन समाधियो में मीनाकृत आभूषण प्राप्त हुए हैं। उस समय स्वर्ण, रजत और ताम्र धातुओ पर कई प्रकार की सुदर मीनाकारी की जाती थी। भारत मे लखनऊ तथा जयपुर की १७वी शताब्दी की मीनाकारी बहुत प्रसिद्ध थी जिसमे पारदर्शी मीना के पृष्ठ पर उत्कीर्णन (नक्काशी) रहता था। ऐसे काम को अग्रेजी में बासटेय (छिछला उत्कीर्णन) कहते हैं।

इनैमल मुख्यत दो प्रकार के होते हैं

(१) कठोर इनमल--यह नरम इस्पात और ढलवाँ लोहे पर सुरक्षा और सजावट के लिये चढाया जाता है।

(२) मृदु इनैमल--यह मद ताप पर द्रवित होता है और स्वर्ण, रजत तथा ताम्र पर सुदरता और सजावट के लिये लगाया जाता है। मीनाकारी इसी जाति का इनैमल है।

स्वच्छ करना--इनैमल करने के पहले वस्तुओ को पूर्णतया स्वच्छ करना आवश्यक है। इसकी रीति निम्नलिखित है

नरम इस्पात--इसकी सतह इनैमल करने के पूर्व पूर्ण रूप से स्वच्छ कर ली जाती है। वस्तुविशेष को बद भट्ठी (मफल फर्नेस) के भीतर ६००-७००° सेंटीग्रेड पर तप्त करने से मोरचा ढीला होकर झड जाता है और तेल, वसा इत्यादि अशुद्धियाँ जलकर नष्ट हो जाती हैं। अशुद्धियो को पूर्ण रूप से निकाल देने के लिये तापन के पश्चात् अम्लशोधन का सर्वदा प्रयोग किया जाता है। इस रीति में धातु की वस्तुओ को तनु (फीके) सलफ्युरिक या हाइड्रोक्लोरिक अम्ल मे डुबा दिया जाता है। साधारणत ६-१० प्रति शत तप्त सलफ्युरिक अम्ल का प्रयोग किया जाता है। १० प्रति शत हाइड्रोक्लोरिक अम्ल बिना गर्म किए ही प्रयुक्त हो सकता है। अम्लशोधन की क्रिया १५ मिनट से लेकर आधे घटे तक की जाती है। इससे लौह वस्तु पर मोरचा और अन्य सब अशुद्धियाँ पूर्णतया नष्ट हो जाती है। इसके पश्चात् वस्तु को स्वच्छ जल के हौज मे डुबोकर छोड दिया जाता है। फिर धुली वस्तुओ को सोडा के १ प्रति शत विलयन मे डुबाने के पश्चात् उन्हे निकालकर सुखा लिया जाता है। लौह वस्तुओ पर क्षार की पतली परत जम जाने से मोरचा नही लगता है।

ढलवाँ लोहा--इस प्रकार के लोहे की वस्तुओ का अम्लशोधन नही किया जाता है। ऐसे लोहे की सतहो को तापन और बालुकाप्रक्षेपण (सैंड-ब्लास्टिंग) द्वारा साफ किया जाता है। ८००° सें० तक तप्त करने से तेल, वसा, फासफोरस, गधक इत्यादि अशुद्धियाँ जलकर नष्ट हो जाती हैं। बालुकाप्रक्षेपण के लिये वायु की दाब ७० या ८० पाउड प्रति वर्ग इच रखी जाती है और करकराती, शुष्क और महीन बालू ढलवाँ लोहे की सतह को स्वच्छ करके चमका देती है।

स्वर्ण, चाँदी और ताम्र--इन धातुओ की सतहो को स्वच्छ करने के लिये इनको भी तप्त किया जाता है और तनु सल्फ्युरिक अम्ल में उबाला जाता है। जल से धोने के पश्चात् इनको सोडा विलयन में डुबाया जाता है और तदुपरात सुखा लिया जाता है।

इनैमल करना--विविध धातुओ पर इनैमल करने की रीति नीचे दी जाती है

इस्पात--इनैमल तैयार करने के लिये वे ही कच्चे पदार्थ प्रयुक्त होते है,जो काचनिर्माण मे काम आते हैं। इनैमल मे मुख्यत क्षार के लिये अल्युमिना के बोरोसिलिकेट प्रयुक्त होते हैं। कुछ इनैमलो मे सीसा (लेड) भी मिला रहता है। कुछ ऐसे रासायनिक पदार्थ भी मिलाए जाते हैं जिनसे इनैमल मे कुछ विशेष भौतिक गुण आ जायँ। उदाहरणत इनैमल में यदि कोबल्ट, निकल और मैंगनीज के आक्साइड उपस्थित रहते है तो प्रसरण-गुणाक मे भिन्नता होते हुए भी इस्पात पर यह इनैमल दृढता से जम जाता है। इस्पात की वस्तुओ पर पहले उपयुक्त आक्साइडोवाले इनैमल की परत चढा दी जाती है। इस परत को अस्तर (ग्राउड कोट इनैमल) कहा जाता है। चुने सूत्र के अनुसार आवश्यक पदार्थो को मिलाकर और उन्हे अग्निसह मिट्टी की घरिया या कुड मे रखकर भट्ठी मे तप्त करके द्रवित किया जाता है और द्रव को शीतल जल मे उडेल दिया जाता है। इस क्रिया से द्रव-मिश्रण भुरभुरे कणो मे परवर्तित हो जाता है। इन कणो को "काचिक" (फ्रिट) कहा जाता है। यह सुगमता से पीसकर चूर्ण किया जा सकता है। इसको पात्रपेषणी (पॉट मिल) मे बेटोनाइट जैसी सुघट्य मिट्टी और जल के साथ मिलाकर पीसा जाता है। मिट्टी के कारण काचिक जल में निलबित हो जाता है और इसको इनैमल घोला (स्लिप) कहा जाता है। इनैमल घोला लगाने के कुछ पूर्व सुहागा, अमोनियम कार्बोनेट, इपसम लवण, मैगनीशिया इत्यादि जैसे पदार्थ (१-५ प्रति शत) मिला देने से घोला गाढा हो जाता है।

इनैमल घोला लगाने की कई विधियाँ हैं जो वस्तु की आकृति, नाप, ढाँचे और भार पर निर्भर है

(१) खोखली वस्तुओ को घोला मे डुबाकर शीघ्र निकाल लिया जाता है। (२) साइनबोर्ड आदि में घोला एक ही तरफ तैराकर कूर्च (ब्रश) द्वारा लगाया जाता है। (३) भारी या छिद्रयुत वस्तुओ और कई रग में बननेवाले साइनबोर्डो या अन्य वस्तुओ पर घोला प्रक्षेपयत्र (वायु-कूर्च) द्वारा भी छिडका जा सकता है। इन यत्रो मे वायु की दाब ३०-४० पाउड प्रति वर्ग इच होती है। घोला लगाने के उपरात उसे सुखा लिया जाता है।

अक्तूबर, १९३२ ई० को ब्रिटेन की शासनावधि समाप्त होने पर यह राज्य पूर्णत स्वतत्र हो गया। हाल मे ही (जुलाई, १९५९ ई० मे) सैनिक क्राति के बाद यह एक गणतत्र घोषित किया गया है। सैनिक क्राति के पूर्व यह राज्य बगदाद-सैनिक-सधि द्वारा ब्रिटेन, सयुक्त राज्य (अमरीका), तुर्की, जॉर्डन, ईरान एव पाकिस्तान से सबद्ध था, किंतु क्राति के बाद यह स्वतत्र एव तटस्थ नीति का अनुसरण करने लगा है। इसके उत्तर मे तुर्की, उत्तर-पश्चिम मे सीरिया, पश्चिम मे जॉर्डन, दक्षिण-पश्चिम मे सऊदी अरब, दक्षिण मे फारस की खाडी एव कुवैत है। निनेवे एव बैबिलोन के भग्नावशेष आज भी इसके प्राचीन वैभव के प्रतीक है। क्षेत्रफल १,७१,६१६ वर्ग मील है और जनसख्या ३६,६५,००० । बगदाद (जनसख्या ७,३०,५४९) प्रमुख नगर एव राजधानी है। बसरा (जनसख्या १,५६,३५५), मोसूल (जनसख्या १,४०,२४५), किरकक (जनसख्या ८९,९१७) तथा नजफ (जनसख्या ७४,०००) अन्य मुख्य नगर है। जनसख्या के ९६ प्रति शत लोग इस्लाम धर्म को मानते है जिनमे शीया मतानुयायी आधे से कुछ अधिक है। राज्यभाषा अरबी है।

इराक तीन भौगोलिक खडो मे विभक्त है

(ज) कुर्दिस्तान (इराक के उत्तर-पूर्व का पर्वतीय भाग) जिसके शिखर इराक-ईरान सीमा पर लगभग १०,००० फुट ऊँचे है। इसके अतर्गत अल-सुलेमानियाँ का उर्वर एव ऊँचा मैदान है। यहाँ के निवासी कुर्द लोग बडे उपद्रवी है।

(२) मेसोपोटेमिया का उर्वर मैदान मेसोपोटेमिया फरात एव दजला नदियो की देन है। ये नदियाँ आर्मीनिया के पठार से निकलती है तथा क्रमश १४६० एव ११५० मील तक प्रवाहित हो शत-अल-अरब के नाम से फारस की खाडी मे गिरती है। १०,०००-५,००० ई० पूर्व मे ये नदियाँ अलग अलग फारस की खाडी मे गिरती थी। इसका दक्षिणी भाग, बगदाद से बसरा तक, जो लगभग ३०० मील लबा है, ऐतिहासिक काल मे प्राकृतिक कारणो से निर्मित हुआ है। यह भाग दलदली है। यहाँ की मुख्य उपज चावल एव खजूर है। शत-अल-अरब के दोनो तटो पर एक से दो मील चौडे क्षेत्र मे खजूर के सघन वन मिलते हैं। मेसोपोटेमिया के उत्तरी भाग मे गेहूँ, जौ एव फल की खेती होती है।

(३) स्टेप्स एव मरुस्थली खड, जो दक्षिण-पश्चिम मे ५० से १०० फुट के तीव्र ढाल द्वारा मेसोपोटेमिया के मैदान से पृथक् है।

इराक की जलवायु शुष्क है। यहाँ का दैनिक एव वार्षिक तापातर अधिक तथा औसत वर्षा केवल १०" है। कुर्दिस्तान के पर्वतीय भाग मे अल्पाइन जलवायु मिलती है जहाँ वर्षा २५" से ३०" तक होती है। फरात एव दजला की घाटी मे रूमसागरीय जलवायु मिलती है तथा फारस की खाडी के समीप दुनिया का एक बहुत ही उष्ण भाग स्थित है। इसके दक्षिण-पश्चिम मे उष्ण मरुस्थलीय जलवायु है। बगदाद का उच्चतम ताप १२३° फा० तथा न्यूनतम ताप १९° फा० तक पाया गया है। यहाँ वर्षा केवल ६" होती है। उत्तरी मेसोपोटेमिया मे वर्षा १५" तथा दक्षिण-पश्चिम के मरुस्थल मे ५" से भी कम होती है।

उत्तरी इराक मे रूमसागरीय वनस्पति मिलती है। इसके अधिक भाग वृक्षविहीन है। यहाँ चिनार, अखरोट एव मनुष्यो द्वारा लगाए गए अन्य फलो के पेड मिलते है। दक्षिणी इराक के कम वर्षावाले भाग मे केवल कँटीली झाडियाँ मिलती है। नदियो की घाटियो एव सिंचित क्षेत्र मे ताड, खजूर एव चिनार के पेड मिलते है।

इराक कृषिप्रधान एव पशुपालक देश है जिसके ९० प्रति शत निवासी अपनी जीविका के लिये भूमि पर आश्रित है। फिर भी इसके केवल ३ प्रति शत भाग मे कृषि की जाती है। इसकी मिट्टी अत्यधिक उर्वरा है, किंतु अधि-काश क्षेत्र ऐसे है जहाँ सिंचाई के विना कृषि सभव नही है। सिंचाई नहर, डीजल इजन द्वारा चालित पप आदि साधनो द्वारा की जाती है। लगभग ७४,५०,००० एकड भूमि सिंचित है। जाडे मे जौ एव गेहूँ तथा गर्मी मे धान, मक्का एव ज्वार, बाजरा की खेती होती है। मक्का एव ज्वार बाजरा मध्य इराक की मुख्य उपज है। अजीर, अखरोट, नाशपाती, खरबूजे आदि फल विशेष रूप से शत-अल-अरब के क्षेत्र मे होते है। इराक ससार का ९० प्रति शत खजूर उत्पन्न करता है। यहाँ लगभग ६४० लाख खजूर के पेड है जिनसे लगभग ३,५०,००० टन खजूर प्रति वर्ष प्राप्त होता है। कुछ रूई नदियो की घाटियो मे तथा तबाकू एव अगूर कुर्दिस्तान की तलहटी मे होता है।

यहाँ की खानाबदोश एव अर्ध खानाबदोश जातियाँ ऊँट, भेड तथा बकरे चराती है। दुग्धपशु फरात एव दजला के मैदान मे, भेड जजीरा एव कुर्दि-स्तान मे, बकरे उत्तर-पूर्व की पहाडियो मे तथा ऊँट दक्षिण-पश्चिम के मरु-स्थल मे पाले जाते है।

खनिज तेल के लिये इराक जगत्प्रसिद्ध है। सन् १९५६ मे खनिज तेल का उत्पादन ३०६ लाख टन था। यहाँ तेल के तीन क्षेत्र है (१) बाबा-गुजर, किरकक के निकट, जो तेल का अत्यधिक धनी क्षेत्र है, (२) नल्फ-खाना, ईरान की सीमा के निकट, खानकिन से ३० मील दक्षिण, (३) ऐन जलेह, मसूल के उत्तर। बगदाद के निकट दौरा तथा मसूल जिले मे गय्याराह नामक स्थानो मे तेल साफ करने के कारखाने है। सन् १९५५ ई० मे इराक को तेल कपनियो द्वारा ७,३७,४०,००० इराकी डालर राज्यकर के रूप मे मिला। खनिज तेल के अतिरिक्त भूरा कोयला (लिग्नाइट) किफ्री मे तथा नमक एव जिप्सम अन्य स्थानो मे प्राप्त होता है।

इराक मे केवल छोटे उद्योगो का विकास हुआ है। १९५४ ई० मे औद्यो-गिक श्रमिको की जनसख्या ९०,००० थी। बगदाद मे ऊनी कपडे एव दरी बुनने के अतिरिक्त दियासलाई, सिगरेट, साबुन तथा वनस्पति घी के उद्योग है। मोसूल मे कृत्रिम रेशम एव मद्य के कारखाने है। इराक के मुख्य निर्यात खनिज तेल, खजूर, जौ, कच्चा चमडा, ऊन एव रूई है तथा आयात कपडा, मशीन, मोटरगाडियाँ, लोहा, चीनी एव चाय है। [न० किं० प्र० सिं०]

इराक का इतिहास

इराक अथवा मेसोपोतामिया को ससार की अनेक प्राचीन सभ्यताओ को जन्म देने का सौभाग्य प्राप्त है। परपराओ के अनुसार इराक मे वह प्रसिद्ध नदन वन था जिसे इजील मे 'ईदन का बाग' की सज्ञा दी गई है और जहाँ मानव जाति के पूर्वज हजरत आदम और आदिमाता हव्वा विचरण करते थे। इराक को 'साम्राज्यो का खडहर' भी कहा जाता है क्योकि अनेक साम्राज्य यहाँ जन्म लेकर, फूल फलकर धूल मे मिल गए। ससार की दो महान् नदियाँ दजला और फरात इराक को सरसब्ज बनाती है। ईरान की खाडी से सौ मील ऊपर इनका सगम होता है और इनकी समिलित धारा 'शत्तल अरब' कहलाती है।

इराक की प्राचीन सभ्यताओ मे सुमेरी, बाबुली, असूरी और खल्दी सभ्यताएँ दो हजार वर्ष से ऊपर तक विद्यावृद्धि, कलाकौशल, उद्योग व्या-पार और सस्कृति की केंद्र बनी रही। सुमेरी सभ्यता इराक की सबसे प्राचीन सभ्यता थी। इसका समय ईसा से ३५०० वर्ष पूर्व माना जाता है। लैगडन के अनुसार मोहनजोदडो की लिपि और मुहरे सुमेरी लिपि और मोहरो से मिलती है। सुमेर के प्राचीन नगर ऊर मे भारत के चूने मिट्टी के बने बर्तन मिले है। हाथी और गैंडे की उभरी आकृतिधारी सिंध सभ्यता की एक गोल मुहर इराक के प्राचीन नगर एश्नुन्ना (तेल अस्मर) मे मिली है। मोहनजोदडो की उत्कीर्ण वृषभ की एक मूर्ति सुमेरियो के पवित्र वृषभ से मिलती है। हडप्पा मे प्राप्त सिगारदान की बनावट ऊर मे प्राप्त सिगार-दान से बिल्कुल मिलती जुलती है। इस प्रकार की मिलती जुलती वस्तुएँ यह प्रमाणित करती है कि इस अत्यत प्राचीन काल मे सुमेर और भारत मे घनिष्ट सबध था।

प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता लिओनर्ड वूली के अनुसार—"वह समय बीत चुका जब समझा जाता था कि यूनान ने ससार को ज्ञान सिखाया। ऐति-हासिक खोजो ने यह स्पष्ट कर दिया है कि यूनान के जिज्ञासु हृदय ने लीदिया से, खत्तियो से, फीनीकिया से, क्रीत से, बाबुल और मिस्र से अपनी ज्ञान की प्यास बुझाई, किंतु इस ज्ञान की जडे कही अधिक गहरी जाती है। इस ज्ञान के मूल मे हमे सुमेर की सभ्यता दिखाई देती है।"

२१७० ई० पू० मे ऊर के तीसरे राजकुल की समाप्ति के साथ सुमेरी सभ्यता भी समाप्त हो गई और उसी के खडहर से बाबुली सभ्यता का उभार हुआ। बाबुल के राजकुलो ने ईसा से १००० वर्ष पूर्व तक देश पर शासन किया तथा ज्ञान और विज्ञान की उन्नति की। इन्ही मे सम्राट् हम्मुराबी था जिसका स्तभ पर लिखा विधान ससार का सबसे प्राचीन विधान माना जाता है।

इप्सस का युद्ध यह युद्ध 'राजाओं का युद्ध' कहलाता है जो सिकदर के मरने के बाद उसके उत्तराधिकारियो मे ३०१ ई० पू० में हुआ था। सिकदर के कोई सतान न थी इसलिये उसका विशाल साम्राज्य बाबुल में उसके मरते ही उसके सेनापतियो मे बँट गया और उनमे युद्ध तब तक बराबर चलता रहा जब तक अतिगोनस का नाश नही हो गया। इसी बीच सीरिया के सेल्यूकस ने भारत के चद्रगुप्त से हारकर सधि में उससे अपने चार प्रातो के बदले ५०० हाथी पाए थे। उन्ही हाथियो का इस युद्ध में उसने उपयोग किया। अतिगोनस के बेटे देमेत्रियस ने जब थेसाली में कसादर को जा घेरा तब कसादर ने अपनी प्रतिभा का एक अद्‌भुत् चमत्कार दिखाया। अपने पास बहुत थोडी सख्या मे सेना रख उसने अपने मित्र राजा लेसीमाखस को लघु एशिया पर हमला करने को भेजा और सेल्यूकस को बाबुल की ओर से अतिगोनस पर पीछे से हमला करने के लिये सवाद भेजा। उसकी चाल चल गई। देमेत्रियस को ग्रीस छोड पिता की मदद को दौडना पडा और पिता पुत्र की सेनाएँ लेसीमाखस और सेल्यूकस की सेनाओ से फ्रीगिया मे इप्सस के मैदान मे गुथ गईं। अतिगोनस के पास ७० हजार पैदल, १० हजार घुडसवार और ७५ हाथी थे। उधर सेल्यूकस के पास ६४ हजार पैदल, १० हजार ५ सौ घुडसवार और ४८० हाथी थे। इस युद्ध में हाथियो ने जीत का पासा पलट दिया वरना देमेत्रियस का हमला शत्रुओ की सँभाल का न था। पहली और आखिरी बार पश्चिमी एशिया की लडाई मे हाथियो का इस्तेमाल इतना लाभकर सिद्ध हुआ। परिणाम यह हुआ कि साम्राज्य टुकडो मे बँट गया और पूव का भाग सेल्यूकस के हाथ आया। ग्रीक साम्राज्य का केंद्रीकरण न हो सका। उस केंद्रीकरण का स्वप्न देखनेवाला अतिगोनस इप्सस के युद्ध मे ही मारा गया। [ओ० ना० उ०]

इफ़ोद (इब्रानी शब्द जिसका अर्थ अनिश्चित है।) यहूदी पुरोहितो द्वारा पूजा के समय व्यवहार मे लाया जानेवाला जडाऊ वस्त्र था। इसी वस्त्र पर पुरोहित के धार्मिक चिह्न लटकते रहते थे। एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि इफोद पवित्र पूजा के समय ही पहना जाता था और मख्य पुरोहित ही इसे पहनते थे। कुछ यहूदी पैगबरो ने इसके पहने जाने का वि ोध किया। वे इसे या ह्वे की सच्ची पूजा के विरुद्ध समझते थे, किंतु इस विरोध के होते हुए भी यहूदी पुरोहितो मे इसके पहनने का चलन जारी रहा। बाइबिल की 'साम' पुस्तक में इस बात का उल्लेख आता है कि नाव के पुरोहित की हत्या करने के बाद पुरोहित अबी अथर ने उसका इफोद लाकर दाऊद को भेट किया। इसका अर्थ यह है कि यहूदी इतिहास के उस काल मे पुरोहित वर्ग के लिये इफोद का वही महत्व था जो राजकुलो के लिये मुकुट का होता है। बाइबिल के एक दूसरे उल्लेख के अनुसार गिदियन ने सोने का इफोद बनाकर ओफरा मे रखा। इन्ही उल्लेखो से यह भी स्पष्ट है कि यहूदी जाति के निर्वासनकाल के पूर्व और पश्चात्, दोनो ही समय इफोद उपयोग मे आता था। बाइबिल की साम पुस्तक में इस बात का भी उल्लेख है कि जब पैगबर नूह की नौका ने जेरूसलम मे प्रवेश किया तो दाऊद ने सूती इफोद पहनकर खुशी मे उसके आगे नृत्य किया। कुछ लोगो के अनुसार इफोद एक छोटी धोती या लँगोटी की तरह होता था जो पूजागृह मे प्रवेश के समय पहना जाता था। [वि० ना० पा०]

इबादान पश्चिमी अफ्रीका के नाइजीरिया राज्य का सबसे बडा नगर है। यह लागोस से रेल द्वारा १२५ मील पर पूर्वोत्तर मे स्थित है। यह नगर एक पहाडी की ढाल पर बसा हुआ तथा नीचे ओना नदी की घाटी तक फैला हुआ है। इबादान एक मिट्टी की चहारदीवारी से घिरा हुआ है जिसकी परिधि लगभग १८ मील है। यहाँ बहुत सी मस्जिदे हैं तथा यूरोपीय ढग की इमारते बहुत कम है। नगर की अधिकाश जनसख्या का भरण पोषण कृषि से होता है, परतु यहाँ बहुत से कुटीर धधे भी हैं। इबादान पश्चिम प्रातीय सरकार की राजधानी है, अत इसका आर्थिक सगठन बहुत कुछ ठीक है। यहाँ सन् १९४७ ई० मे एक युनिवर्सिटी कालेज की स्थापना की गई जो सघीय राज्य के अतर्गत है। इसके स्नातको को लदन विश्वविद्यालय से कला, विज्ञान, चिकित्सा तथा कृषि में उपाधियाँ मिलती है। सन् १९५३ ई० मे इसकी जनसख्या ४,५९,००० थी। [लि० रा० सिं०]

इब्न बत्तूता अरब यात्री, विद्वान् तथा लेखक। उत्तर अफ्रीका के मोरक्को प्रदेश के प्रसिद्ध नगर ताजियर मे १४ रजब, ७०३ हि० (२४ फरवरी, १३०४ ई०) को इसका जन्म हुआ था। इसका पूरा नाम था—मुहम्मद बिन अब्दुल्ला इब्न बत्तूता। इसके पूर्वजो का व्यवसाय काजियो का था। इब्न बत्तूता आरभ से ही बडा धर्मानुरागी था। उसे मक्के की यात्रा (हज) तथा प्रसिद्ध मुसलमानो का दर्शन करने की बडी अभिलाषा थी। इस आकाक्षा को पूरा करने के उद्देश्य से वह केवल २१ बरस की आयु में यात्रा करने निकल पडा। चलते समय उसने यह कभी न सोचा था कि उसे इतनी लबी देशदेशातरो की यात्रा करने का अवसर मिलेगा। मक्के आदि तीर्थस्थानो की यात्रा करना प्रत्येक मुसलमान का एक आवश्यक कर्तव्य है। इसी से सैकडो मुसलमान विभिन्न देशो से मक्का आते रहते थे। इन यात्रियो की लबी यात्राओ को सुलभ बनाने मे कई सस्थाएँ उस समय मुस्लिम जगत् मे उत्पन्न हो गई थी जिनके द्वारा इन सबको हर प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती थी और उनका पर्यटन बडा रोचक तथा आनददायक बन जाता था। इन्ही सस्थाओ के कारण दरिद्र से दरिद्र 'हाजी' भी दूर दूर देशो से आकर हज करने मे समर्थ होते थे।

इब्न बत्तूता ने इन सस्थाओ की बार बार प्रशसा की है। वह उनके प्रति अत्यत कृतज्ञ है। इनमे सर्वोत्तम वह सगठन था जिसके द्वारा बडे से बडे यात्री दलो की हर प्रकार की सुविधा के लिये हर स्थान पर आगे से ही पूरी पूरी व्यवस्था कर दी जाती थी एव मार्ग में उनकी सुरक्षा का भी प्रबध किया जाता था। प्रत्येक गाँव तथा नगर में खानकाहे (मठ) तथा सराएँ उनके ठहरने, खाने पीने आदि के लिये होती थी। धार्मिक नेताओ की तो विशेष आवभगत होती थी। हर जगह शेख, काजी आदि उनका विशेष सत्कार करते थे। इस्लाम के भ्रातृत्व के सिद्धात का यह सस्था एक ज्वलत उदाहरण थी। इसी के कारण देशदेशातरो के मुसलमान बेखटके तथा बडे आराम से लबी लबी यात्राएँ कर सकते थे। दूसरी सुविधा मध्यकाल के मुसलमानो को यह प्राप्त थी कि अफ्रीका और भारतीय समुद्रमार्गों का समूचा व्यापार अरब सौदागरो के हाथो मे था। ये सौदागर भी मुसलमान यात्रियो का उतना ही आदर करते थे।

भ्रमणवृत्तात इब्न बत्तूता दमिश्क और फिलिस्तीन होता एक कारवाँ के साथ मक्का पहुँचा। यात्रा के दिनो मे दो साधुओ से उसकी भेंट हुई थी जिन्होने उससे पूर्वी देशो की यात्रा के सुख सौदर्य का वर्णन किया था। इसी समय उसने उन देशो की यात्रा का सकल्प कर लिया। मक्के से इब्न बत्तूता इराक, ईरान, मोसुल आदि स्थानो में घूमकर १३२९ (७२९ हि०) मे दुबारा मक्का लौटा और वहाँ तीन बरस ठहरकर अध्ययन तथा भगवद्भक्ति में लगा रहा। बाद उसने फिर यात्रा आरभ की और दक्षिण अरब, पूर्वी अफ्रीका तथा फारस के बदरगाह हुर्मुज से तीसरी बार फिर मक्का गया। वहाँ से वह क्रीमिया, खीवा, बुखारा होता हुआ अफगानिस्तान के मार्ग से भारत आया। भारत पहुँचने तक इब्न बत्तूता बडा वैभवशाली एव सपन्न हो गया था।

भारतप्रवेश भारत के उत्तर-पश्चिमी द्वार से प्रवेश करके वह सीधा दिल्ली पहुँचा, जहाँ तुगलक सुल्तान मुहम्मद ने उसका बडा आदर सत्कार किया और उसे राजधानी का काजी नियुक्त किया। इस पद पर पूरे सात बरस रहकर, जिसमे उसे सुल्तान को अत्यत निकट से देखने का अवसर मिला, इब्न बत्तूता न हर घटना को बडे ध्यान से देखा सुना। १३४२ मे मुहम्मद तुगलक ने उसे चीन के बादशाह के पास अपना राजदूत बनाकर भेजा, परतु दिल्ली से प्रस्थान करने के थोडे दिन बाद ही वह बडी विपत्ति मे पड गया और बडी कठिनाई से अपनी जान बचाकर अनेक आपत्तियाँ सहता वह कालीकट पहुँचा। ऐसी परिस्थिति में सागर की राह चीन जाना व्यर्थ समझकर वह भूमार्ग से यात्रा करने निकल पडा और लका, बगाल आदि प्रदेशो में घूमता चीन जा पहुँचा, किंतु शायद वह मगोल खान के दरबार तक नही गया। इसके बाद उसने पश्चिम एशिया, उत्तर अफ्रीका तथा स्पेन के मुस्लिम स्थानो का भ्रमण किया और अत मे टिंबकटू आदि होता हुआ वह १३५४ के आरभ में मोरक्को की राजधानी 'फेज' लौट गया।

इब्न बत्तूता मुसलमान यात्रियो में सबसे महान् था। अनुमानत उसने लगभग ७५००० मील की यात्रा की थी। इतना लबा भ्रमण उस युग के शायद ही किसी अन्य यात्री ने किया हो। 'फेज' लौटकर उसने अपना भ्रमणवृत्तात सुलतान को सुनाया। सुलतान के आदेशानुसार उसके सचिव मुहम्मद
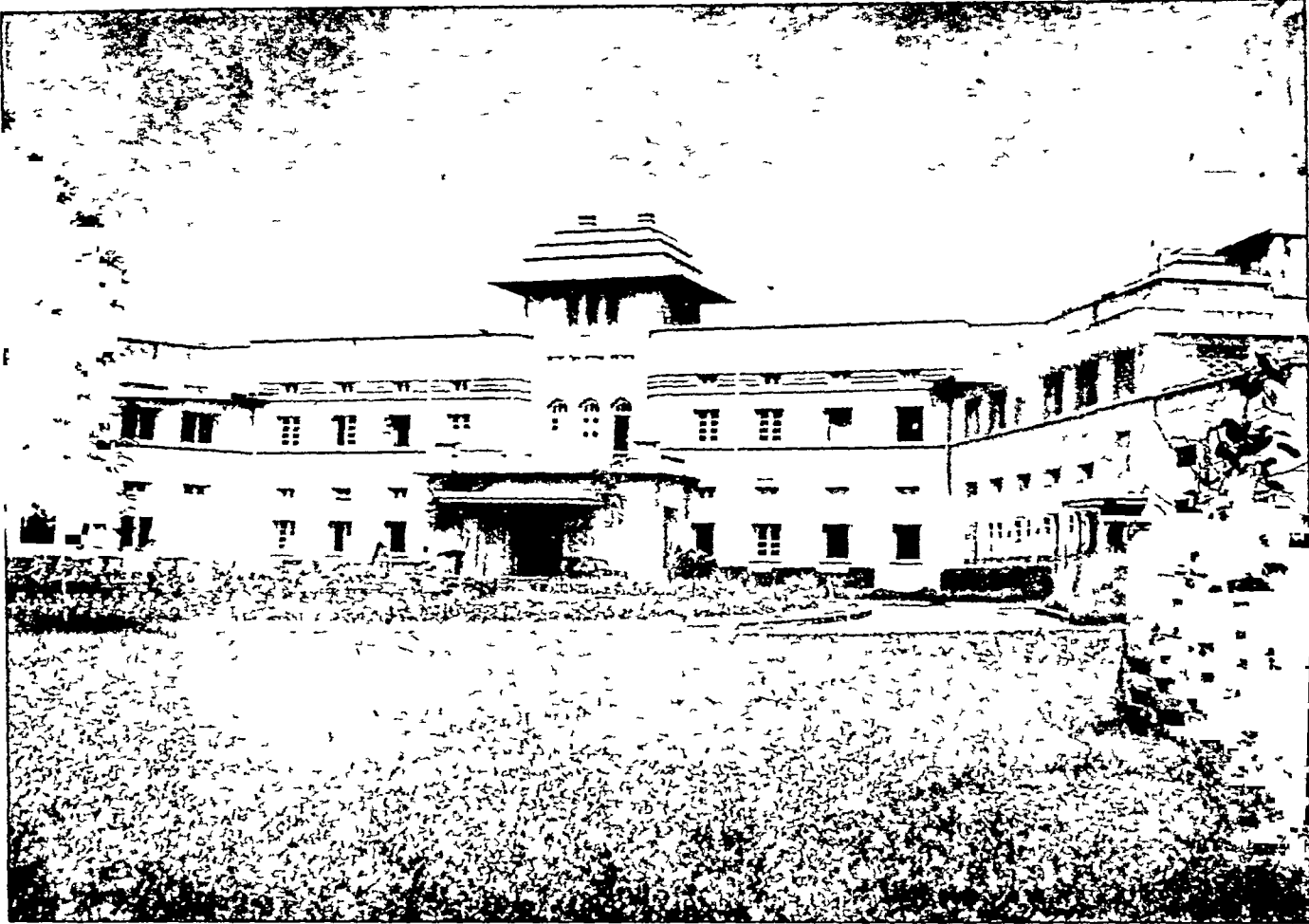
कमला नेहरू अस्पताल, इलाहाबाद
यह प्रसूति-कल्याण-चिकित्सालय है।

बच्चो की शुश्रुषा

का पूर्वार्ध) लिखा हुआ है, अत इब्रानी का ज्ञान मुख्यतया वाइविल पर निर्भर है।

'सामी' शब्द, व्युत्पत्ति की दृष्टि से, नौह के पुत्र सेम से सवध रखता है। सामी भाषाश्रो की पूर्वी उपशाखा का क्षेत्र मेसोपोटेमिया था। वहाँ पहले सुमेरियन भाषा वोली जाती थी, फलस्वरूप सुमेर की भाषा ने पूर्वी सामी भाषाश्रो को वहुत कुछ प्रभावित किया है। प्राचीनतम सामी भाषा श्रक्कादीय की दो उपशाखाएँ है, अर्थात् असूरी श्रौर वावुली। सामी परिवार की दक्षिणी उपशाखा मे अरवी, हव्शी (इथोपियाई) तथा सावा की भाषाएँ प्रधान है। सामी वर्ग की पश्चिमी उपशाखा की मुख्य भाषाएँ इस प्रकार है उगारितीय, कनानीय, श्रारमीय श्रौर इब्रानी। इनमें से उगारितीय भाषा (१५०० ई० पू०) सवसे प्राचीन है, इसका तथा कनानीय भाषा का गहरा सवध है। जब यहूदी लोग पहले पहल कनान देश मे श्राकर वसने लगे तव वे कनानीय मे मिलती जुलती एक श्रारमीय उपभाषा वोलते थे, उससे उनकी अपनी इब्रानी भाषा का विकास हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'इब्रानी' शब्द हविरु से निकला है, हविरु (शब्दार्थ 'विदेशी') उत्तरी अरवी मरुभूमि की एक यायावर जाति थी, जिसके साथ यहूदियो का सवध माना जाता था। वावीलोन के निर्वासन के वाद (५३६ ई० पू०) यहूदी लोग दैनिक जीवन मे इब्रानी छोडकर श्रारमीय भाषा वोलने लगे। इस भाषा की कई वोलियाँ प्रचलित थी। ईसा भी श्रारमीय भाषा वोलते थे, किंतु इस मूल भाषा के वहुत कम शब्द सुरक्षित रह सके।

अन्य सामी भाषाश्रो की तरह इब्रानी की निम्नलिखित विशेषताएँ है। धातुएँ प्राय त्रिव्यजनात्मक होती हैं। धातुश्रो में स्वर होते ही नही श्रौर साधारण शब्दो के स्वर भी प्राय नहीं लिखे जाते। धातुश्रो के सामने, वीचोबीच श्रौर अत मे वर्ण जोडकर पद वनाए जाते हैं। प्रत्यय श्रौर उपसर्ग द्वारा पुरुष तथा वचन का वोध कराया जाता है। क्रियाश्रो के रूपातर अपेक्षाकृत कम है। साधारण अर्थ में काल नही होते, केवल वाच्य होते है। वाक्यविन्यास अत्यत सरल है, वाक्याश प्राय 'श्रौर' शब्द के सहारे जोडे जाते है। इब्रानी में अर्थ के सूक्ष्म भेद व्यक्त करना दु साध्य है। वास्तव मे इब्रानी भाषा दार्शनिक विवेचना की अपेक्षा कथासाहित्य तथा काव्य के लिये कही अधिक उपयुक्त है।

प्रथम शताव्दी ई० में यहूदी शास्त्रियो ने इब्रानी भाषा को लिपिवद्ध करने की एक नई प्रणाली चलाई जिसके द्वारा वोलचाल में शताव्दियो से अप्रयुक्त इब्रानी भाषा का स्वरूप तथा उसका उच्चारण भी निश्चित किया गया। ८वीं १०वीं सदी में उन्होंने समस्त इब्रानी वाइविल का इसी प्रणाली के अनुसार सपादन किया है। यह मसोरा का परपरागत पाठ वतलाया जाता है श्रौर पिछली दस शताव्दियो से इब्रानी वाइविल का यह सवसे प्रचलित पाठ है। इसका सर्वाधिक प्रसिद्ध सस्करण वेन ह्यीम का है जो १५२४ ई० में वेनिस में प्रकाशित हुआ था। सन् १९४७ ई० में फिलिस्तीन के कुमराम नामक स्थान पर इब्रानी वाइविल तथा अन्य साहित्य की अत्यत प्राचीन हस्तलिपियाँ मिल गई। इनका लिपिकाल प्राय दूसरी शताव्दी ई० पू० माना जाता है। विद्वानो को यह देखकर श्राश्चर्य हुआ कि वाइविल की ये प्राचीन पोथियाँ मसोरा के पाठ से अधिक भिन्न नही है। पश्चिम के विश्वविद्यालयो में श्राजकल इब्रानी का अध्ययन अपेक्षाकृत लोकप्रिय है।

मध्यकाल में एक विशेष इब्रानी वोली की उत्पत्ति हुई थी जिसे जर्मनी के वे यहूदी वोलते थे जो पोलैंड श्रौर रूस में जाकर वस गए थे। इस वोली को 'यहूदी जर्मन' अथवा 'यिद्दिश' कहकर पुकारा जाता है। वास्तव में यह एक जर्मनी वोली है जो इब्रानी लिपि में लिखी जाती है श्रौर जिसमें वहुत से श्रारमीय, पोलिश तथा रूसी शब्द भी समिलित है। इसका व्याकरण अस्थिर है, किंतु इसका साहित्य समृद्ध है।

प्रथम महायुद्ध के वाद फिलिस्तीन की जो यहूदियो का इज्रायल नामक नया राज्य है राजभाषा श्राधुनिक इब्रानी है। सन् १९२५ ई० मे जेरुसलम का इब्रानी विश्वविद्यालय स्थापित हुआ जिसके सभी विभागो में इब्रानी ही शिक्षा का माध्यम है। इज्रायल राज्य में कई दैनिक पत्र भी इब्रानी में निकलते है।

साहित्य

(१) **वाइविल**—रचनाकाल की दृष्टि से वाइविल का प्रामाणिक रूप इब्रानी भाषा का प्राचीनतम साहित्य है। इसका दृष्टिकोण मुख्यतया साहित्यिक न होकर धार्मिक ही है, कलात्मक अभिव्यजना की अपेक्षा शिक्षा का प्रतिपादन या उपदेश इसका प्रधान उद्देश्य है (दे० **वाइविल**)।

(२) **अप्रामाणिक धार्मिक साहित्य**—दूसरी शताव्दी ई०पू० से लेकर दूसरी शताव्दी ई० तक वहुत से ऐसे ग्रथो की रचना हुई थी जिनका उद्देश्य है वाइविल मे प्रतिपादित विषयो की व्याख्या अथवा उनका विस्तार। इनमें प्राय वाइविल के प्रमुख पात्रो की भविष्य सवधी उक्तियो का समावेश है। उदाहरणार्थ, श्रादम श्रौर हौवा की जीवनी। इन रचनाश्रो को वाइविल में स्थान नही मिला। इन्हे अप्रामाणिक साहित्य कहा जाता है। इस प्रकार के साहित्य की मूल भाषा प्राय इब्रानी थी, किंतु श्राजकल यह केवल श्रारमीय अथवा परवर्ती अनुवादो मे ही मिलता है।

(३) **शास्त्रीय साहित्य**—ईसाई धर्म के प्रवर्तन के पश्चात् यहूदी शास्त्री (इब्रानी में इनका नाम रव्वी हे), जो ईसाई धर्म स्वीकार करते थे, एक अत्यत विस्तृत साहित्य की रचना करने लगे। यह शास्त्रीय साहित्य के नाम से विख्यात है। इसका तीन वर्गो में विभाजन किया जा सकता है

(अ) **मिश्ना**—यह पर्व, सस्कार, पूजा, कानून श्रादि के विषय में यहूदियो के यहाँ प्रचलित मौखिक परपराश्रो का सग्रह है जिसे दूसरी शताव्दी ई० मे यूदाह हनासी ने सकलित किया था। 'तोसेफ्ता' इसका अर्वाचीन परिशिष्ट है।

(श्रा) **तलमूद**—यह मिश्ना की व्याख्या है जो स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार विभिन्न रूप धारण कर लेती है। जेरूसलम के शास्त्रियो ने अपना जेरूसलमी तलमूद तीसरी चौथी शताव्दी ईसवी मे लिखा है। वावीलोनिया के तलमूद का नाम वव्ली अथवा गेमारा है, इसका रचनाकाल चौथी छठी शताव्दी ईसवी है। वव्ली तलमूद सवसे विस्तृत (१०,००० पृ०) तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण हे। तलमूद की भाषा इब्रानी तथा श्रारमीय है।

(इ) **मिद्रशीम**—ये मूसा के नियम की व्यावहारिक तथा उपदेशात्मक व्याख्याएँ हैं। गौण मिद्रशीम सन् ५०० ई० के है, उनमे से मेखिलता सिफ्रा तथा सिफ्रे उल्लेखनीय हैं। परवर्ती मिद्रशीम (रव्वोत) अपेक्षाकृत विस्तृत है। उनकी रचना छठी शताव्दी से लेकर १२वी शताव्दी तक होती रही।

(४) **मध्यकालीन साहित्य**—विभिन्न देशो में वसनेवाले यहूदियो में कई सप्रदाय उत्पन्न हुए जिनका इब्रानी साहित्य अव तक सुरक्षित है। वाविलोनिया के सूरा नामक स्थान पर ६०० ई० से लेकर गेश्रोनीम सप्रदाय है जिसका कानून, मिना तथा वाइविल विषयक साहित्य विस्तृत है। इसके प्रमुख विद्वान् सदियाह ९४२ ई० मे चल वसे। करा-वादी ८वी शताव्दी ई० का यहूदी शास्त्रियो का एक सप्रदाय है जिसका साहित्य मुख्यतया वाइविल की व्याख्या है।

९वी शताव्दी ई० में स्पेन मुसलमानी श्रौर यहूदी सस्कृति का केंद्र वना, वहाँ विशेषकर व्याकरण, वाइविल की व्याख्या तथा अरस्तू के दर्शन पर साहित्य की सृष्टि हुई। इस सवध मे मूसा इव्न एज्रा (११४० ई०) तथा जूदाह हल्लेवी (११४० ई०) उल्लेखनीय है, किंतु उस समय के सवसे महान् यहूदी दार्शनिक मैमोनीदेस (११३५-१२०४ ई०) है। मैमोनीदेस ने अरस्तू की कुछ रचनाश्रो के अरवी अनुवाद का विशेष अध्ययन करने के वाद धार्मिक विश्वास तथा वुद्धि के समन्वय की श्रावश्यकता दिखलाने का प्रयत्न किया। यहूदियो ने इव्नसिना (१०३७ ई०) तथा इव्न रुस (११९८ ई०) जैसे अरवी विद्वानो की रचनाएँ मध्यकालीन यूरोप तक पहुँचाकर अरवी तथा यूनानी ज्ञान विज्ञान के प्रचार में महत्वपूर्ण योग दिया है।

(५) **श्राधुनिक साहित्य**—मूसा मेंदेलसोन (१७२९-१७८६) के वुद्धिवाद से प्रभावित होकर इब्रानी साहित्य का दृष्टिकोण उत्तरोत्तर उदार तथा साहित्यिक होता जाता रहा है। १९वीं शताव्दी में एक नवीन राष्ट्रवादी धारा उत्पन्न हुई जो वाद में सिश्रोनवादी (जिश्रोनिस्ट) श्रादोलन में परिणत हुई। यह फिलिस्तीन देश को पुन यहूदी जाति का सास्कृतिक केंद्र वनाना चाहती है। श्राधुनिकतम इब्रानी साहित्य में प्रतिभा, कलात्मकता तथा विद्वत्ता का भाडार है, उसका विश्वसाहित्य तथा विश्वव्यापी श्रादोलनो के साथ गहरा सवध है। एलिएजेरवन यहूदाह (१९२३) अपना 'इब्रानी भाषा का कोश' (१० खड) लिखकर विश्वविख्यात वन गए

इला ऋग्वेद में 'अन्न की अधिष्ठातृ' मानी गई हैं, यद्यपि सायण के अनुसार उन्हे पृथिवी की अधिष्ठातृ मानना अधिक उपयुक्त है। वैदिक वाङ्मय मे इला को मनु को मार्ग दिखलानेवाली एव पृथिवी पर यज्ञ का विधिवत् नियमन करनेवाली कहा गया है। इला के नाम पर ही जवूद्वीप के नवखडो मे एक खड 'इलावृत वर्ष' कहलाता है। महाभारत तथा पुराणो की परपरा मे इला को वुध की पत्नी एव पुरूरवा की माता कहा गया है। [च० म०]

इलायची, छोटी को सस्कृत मे एला, तीक्ष्णगधा इत्यादि और लैटिन मे एलेटेरिआ कार्डामोमम कहते हैं।

इसका पौधा सदा हरा तथा ५ फुट से १० फुट तक ऊँचा होता है। इसके पत्ते वर्छे की आकृति के तथा २ फुट तक लवे होते हैं। यह वीज और जड दोनो से उगता है। ३,४ वर्ष मे फसल तैयार होती है तथा इतने ही काल तक इसमें गुच्छो के रूप मे फल लगते हैं। सूखे फल ही वाजार मे छोटी इलायची के नाम से विकते हैं। पौधे का जीवनकाल १० से लेकर १२ वर्ष तक का होता है। समुद्र की हवा और छायादार भूमि इसके लिये आवश्यक हैं। इसके वीज छोटे और कोनेदार होते हैं। मैसूर, मगलोर, मालावार तथा लका मे इलायची वहुतायत से होती है।

भारत मे इसके वीजो का उपयोग अतिथिसत्कार, मुखशुद्धि तथा पकवानो को सुगधित करने के लिये होता है। ये पाचनवर्धक तथा रुचिवर्धक होते हैं।

आयुर्वेदिक मतानुसार इलायची शीतल, तीक्ष्ण, मुख को शुद्ध करनेवाली, पित्तजनक तथा वात, श्वास, खाँसी, ववासीर, क्षय, वस्तिरोग, सुजाक, पथरी, खुजली, मूत्रकृच्छ्र तथा हृदयरोग मे लाभदायक है।

इन वीजो मे एक प्रकार का उडनशील तैल (एसेशियल ऑएल) होता है।

वड़ी इलायची का नाम सस्कृत मे एला, काता इत्यादि, मराठी मे वेलदोडे, गुजराती मे मोटी एलची तथा लैटिन मे ऐमोमम कार्डामोमम है।

इसके वृक्ष ३ से ५ फुट तक ऊँचे भारत तथा नेपाल के पहाडी प्रदेशो मे होते हैं। फल तिकोने, गहरे कत्थई रग के और लगभग आधा इच लवे तथा वीज छोटी इलायची से कुछ वडे होते हैं।

आयुर्वेद तथा यूनानी उपचार मे इसके वीजो के लगभग वेही गुण कहे गए है जो छोटी इलायची के वीजो के। परतु वडी इलायची छोटी से कम स्वादिष्ट होती है। [भ० दा० व०]

इलावारा आस्ट्रेलिया के न्यू-साउथ-वेल्स का एक उपजाऊ जिला है। यह सिडनी के ३३ मील दक्षिण से आरभ होकर, समुद्रतट के साथ साथ दक्षिण की ओर ४० मील सोआल हेवन तक फैला हुआ है तथा भीतरी पठार से खडी एव १,००० फुट ऊँची चट्टानो द्वारा अलग है। यह एक अल्पजनसख्यक क्षेत्र है एव सिडनी की दूध सवधी आवश्यकताएँ पूरी करता है। यहाँ कोयले की वहुत सी खदाने है। वैसाल्ट, अग्निरोधक मिट्टी एव पत्थर यहाँ अत्यधिक मात्रा मे विद्यमान हैं। जिले के मुख्य नगर वुली, वोलनमाग, पोर्ट केमव्ला, कियामा तथा गेरिंगगोड हैं।

इसी जिले मे ईलावारा नामक एक खारी झील भी है जो ९ मील लवी तथा ३ मील चौडी है। यह पहाडो से घिरी हुई तथा समुद्र से एक धारा द्वारा सवधित है। इसमे काफी मात्रा मे मछलियाँ तथा जगली चिडियाँ पकड़ी जाती है। [श्या० सु० श०]

इलाहाबाद प्राचीन प्रयाग, (अक्षाश २५° २५,' देशातर ८२° पूर्व, १९५१ ई० में जनसख्या ३,३२,२९५) गगा और यमुना के सगम पर दोनो नदियो के वीच मे वसा हुआ है। एक तीसरी नदी सरस्वती के भी यहाँ मिलने की कल्पना की जाती है, यद्यपि इसका कोई चिह्न यहाँ नही प्रकट होता। प्रयाग की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान हमे युवान् च्वाड (६४४ ई०) के वर्णन मे भी मिलता है। उस समय नगर कदाचित् सगम के अति निकट वसा हुआ था। इसके पश्चात् लगभग ८वी शताब्दी तक प्रयाग का इतिहास अधकार मे है।

अकवरनामा, आईने अकवरी तथा अन्य मुगलकालीन ऐतिहासिक पुस्तको से ज्ञात होता है कि अकवर ने सन् १५८४ ई० के लगभग यहाँ पर किले की नीव डाली तथा एक नया नगर वसाया जिसका नाम उसने 'इलाहावाद' रखा। इससे वरवस ही यह प्रश्न उठ खडा होता है कि यदि यहाँ अकवर द्वारा नए नगर की स्थापना हुई तो प्राचीन प्रयाग का क्या हुआ। कदाचित् किले के निर्माण के पूर्व ही प्रयाग गगा की वाढ के कारण नष्ट अथवा वहुत छोटा हो गया होगा। इस वात की पुष्टि वर्तमान भूमि के अध्ययन से भी होती है। वर्तमान प्रयाग रेलवे स्टेशन से भारद्वाज आश्रम, गवर्नमेट हाउस, गवर्नमेट कालेज तक का ऊँचा स्थल अवश्य ही गगा का एक प्राचीन तट ज्ञात होता है, जिसके पूरव की नीची भूमि गगा का पुराना कछार रही होगी जो सदैव नही तो वाढ के दिनो मे अवश्य जलमग्न हो जाती रही होगी। सगम पर वने किले की रक्षा के हेतु वेनी तथा वक्सी नामक वाँधो को वनाना भी अकवर के लिये आवश्यक रहा होगा। इन वाँधो द्वारा कछार का अधिकाश भाग सुरक्षित हो गया। वर्तमान खुसरो वाग तथा उसमे स्थित मकवरे जहाँगीर के काल के वने वताए जाते हैं। मुसलमानी शासन के अतिम काल में नगर की दशा कदाचित् अच्छी नही थी और उसका विस्तार (ग्रैंड ट्रक रोड के दोनो ओर) वाढ से रक्षित भूमि तक ही सीमित था। सन् १८०१ ई० मे नगर अग्रेजो के हाथ आया, तव उन्होंने यमुनातट पर किले के पश्चिम अपनी छावनियाँ वनाई। फिर वाद मे, वर्तमान ट्रिनिटी चर्च के आसपास भी इनके वँगले तथा छावनियाँ वनी।

सन् १८५७ ई० के गदर मे ये छावनियाँ नष्ट कर दी गई तथा नगर को वहुत क्षति पहुँची। गदर के पश्चात् १८५८ ई० मे इलाहावाद को उत्तरी पश्चिमी प्रातो (नार्थ वेस्टर्न प्राविसेज) की राजधानी वनाया गया। वर्तमान सिविल लाइस की योजना १८६० ई० मे वनी और १८७५ तक वह पर्याप्त वस गई। यद्यपि इलाहावाद और कानपुर तक की रेलवे लाइन गदर के पूर्व वन चुकी थी, तो भी नगर का व्यापारिक महत्व १८६५ ई० मे यमुना पर पुल वनने के पश्चात् वढा। गत शताब्दी के अत तक नगर मे कई महत्वपूर्ण इमारते तथा सस्थाएँ निर्मित हुई जिनमे मेयो हाल, म्योर कालेज, गवर्नमेट प्रेस तथा हाईकोर्ट मुख्य हैं। चौक के चुगीघर तथा पास के वाजार का निर्माण भी इसी समय हुआ।

गत ५० वर्षो मे नगर का विस्तार अधिक हुआ है। जार्ज टाउन, लूकरगज तथा अन्य नए महल्ले वसाए गए। इलाहावाद-फैजावाद रेलवे लाइन १९०५ ई० मे तथा झूसी से सिटी (रामवाग) स्टेशन तक की रेलवे लाइन १९१२ में वनी। इलाहावाद इम्प्रूवमेट ट्रस्ट द्वारा नगर के वहुत से भागो मे कई छोटी छोटी वस्तियाँ भी वसाई गईं तथा नई सडको का निर्माण हुआ। परतु उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ चली जाने से इस नगर की उन्नति रुक गई। अव यहाँ यूनिवर्सिटी और हाईकोर्ट होने के कारण तथा इसके तीर्थस्थान होने के कारण ही नगर का महत्व है। यमुना के उस पार नैनी मे एक व्यावसायिक उपनगर वसाने का प्रयत्न हो रहा है। [उ० सि०]

इलियट, जार्ज जार्ज इलियट (१८१९–८०) की गणना अग्रेजी के महान् उपन्यासकारो मे की जाती है। आपका वास्तविक नाम मेरी ऐन ईवेन्स था। आपका पालन पोषण तो एक कट्टर 'मेथोडिस्ट' परिवार मे हुआ किंतु २२ वर्ष की आयु मे ब्रे व हेनेल के प्रभाव ने आपके दृष्टिकोण मे क्रातिकारी परिवर्तन कर दिया। धार्मिक प्रश्नो मे तर्कपूर्ण एव निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनानेवालो मे आपका स्थान अपने युग में सर्वप्रथम है। परतु आपकी सभी रचनाओ मे एक दृढ नैतिक भावना विद्यमान है जिसके कारण आपने कर्तव्यपालन और कर्मफल के सिद्धातो को सर्वोपरि स्थान दिया हैं।

आपका प्रथम साहित्यिक प्रयास स्ट्रॉस की 'लाइफ ऑव जीसस' का अनुवाद (१८४८) था। १८५१ मे आप 'वेस्टमिन्स्टर रिव्यू' की सहाय सपादिका नियुक्त हुईं, जिससे आपको फ्राउड, मिल, कार्लाइल, हरवर्ट स्पेन्स तथा 'दि लीडर' के सपादक जी०एच०लिविस जैसे सुविख्यात व्यक्तियो सपर्क मे आने का अवसर प्राप्त हुआ। लिविस की ओर आप विशेप आक र्पित हुई, जो उस समय अपनी पत्नी से अलग रह रहे थे। समाज की ५८

'नेचुरल हिस्ट्री ऑव दि इटलेक्ट' का प्रकाशन भी केबट की देखरेख मे ही हुआ।

१८५७ में प्रकाशित आपकी 'ब्रह्म' नामक कविता भारतीय पाठको के लिये विशेष महत्व रखती है। इसमे तथा अन्य रचनाओ मे आपके गीता, उपनिषद् एव पूर्वी देशो के अन्य धर्मग्रथो के अध्ययन की छाप स्पष्ट दिखाई देती है। परतु आपका जीवनदर्शन शृखलित नही है, वरन् वह आत्मानुभूत सत्यो का एक वैयक्तिक स्वप्न सा है जिसे पूर्व के श्रेष्ठतम ज्ञान ने और भी दृढ कर दिया है। इमर्सन के विचारो का केद्रबिंदु तथा आधार उन्ही का गढा हुआ शब्द 'ओवरसोल' है। 'ओवरसोल' विश्वव्यापी तथ्य है और केवल 'एक' है, यह सारा ससार उसी 'एक' का अशमात्र है। इसी को आगे चलकर आपने 'चराचर की आत्मा', 'मौन चेतना' तथा ऐसा 'विश्वसौदर्य' बताया है जिससे जगत् का प्रत्यक अणु परमाणु समान रूप से सबधित है। वह विश्वात्मा न केवल आत्मनिर्भर तथा पूर्ण है, अपितु स्वय ही चाक्षुप कृत्य, दृश्य वस्तु, दर्शक तथा दृश्यमान है। इन विचारो का गीता तथा उपनिषदो के विचारो के साथ सादृश्य स्पष्ट ही है। [प्र० कु० स०]

इमली वनस्पति, शमीधान्यकुल (लेग्युमीनोसी), प्रजाति टैमेरिंडस इडिका लिन्न। भारत का यह सर्वप्रिय पेड उष्ण भागो के वनो में स्वय उत्पन्न होने के अतिरिक्त गाँवो और नगरो मे बागो और कुजो को वृक्षाच्छादित और शोभायमान बनाने के लिये बोया भी जाता है। बहुत सूखे और अत्यत गरम स्थानो को छोडकर अन्यत्र यह पेड सदा हरा रहनेवाला, ३० मीटर तक ऊँचा, ४.५ मीटर से भी अधिक गोलाईवाला और फैलावदार, घना शिखरयुक्त होता है। इसकी पत्तियाँ छोटी, १ सेटीमीटर के लगभग लबी और ५-१२.५ सेंटीमीटर लबी डठी के दोनो ओर १० से २० तक जुडी होती हैं। फूल छोटे, पीले और लाल धारियो के होते हैं। फली ७.५-२० सेटीमीटर लबी, १ सेंटीमीटर मोटी, २.५ सेंटीमीटर चौडी, कुरकुरे छिलके से ढकी होती है। पकी फलियो के भीतर कत्थई रग का रेशेदार, खट्टा गूदा रहता है। नई पत्तियाँ मार्च अप्रैल मे, फूल अप्रैल जून मे और गुद्देदार फल फरवरी अप्रैल मे निकल आते हैं। वृक्ष की छाल गहरा भूरा रग लिए मोटी और बहुत फटी सी होती है। लकडी ठस और कडी होने के कारण धान की ओखली, तिलहन और ऊख पेरन के यत्र, साजसज्जा का सामान तथा औजारो के दस्ते बनाने और खरादने के काम में विशेषतया उपयुक्त होती है। फलियो के भीतर चमकदार खोलीवाल, चपटे और कडे ३-१० बीज रहते हैं। बदर इन फलियो को बहुत शौक से खाकर बीजो को इधर उधर वनो में फेककर इन पेडो के सवर्धन में सहायक होते हैं। इस पेड की पत्ती, फूल, फली की खोली, बीज, छाल, लकडी और जड का भारतीय ओषधो मे उपयोग होता है। स्तभक, रेचक, स्वादिष्ट, पाचक और टारटरिक अम्लप्रधान होने से इसकी फलियाँ सबसे अधिक आर्थिक महत्व की हैं। इन फलियो के गुद्दे का निरतर उपयोग भारतीय खाद्य पदार्थों में विविध प्रकार से किया जाता है। वन अनुसधानशाला, देहरादून, के रसायनज्ञो ने इमली के बीजो में से टी० के० पी० (टैमैरिंड सीड करनल पाउडर) नामक माडी बनाकर कपडा, सूत और पटसन के उद्योग की प्रशसनीय सहायता की है [देखिए भारतीय मानक १८९ (१९५६) और भारतीय मानक ५११ (१९५४)]। आज देश मे २०,००० टन के लगभग इस माडी का प्रति वर्ष प्रयोग हो रहा है।

स०ग्र०—आर० एस० ट्रूप दि सिलवीकल्चर ऑव इडियन ट्रीज, आक्सफोर्ड भाग २, पृ० ३६२-६६, १९२१, के० आर० कीर्तिकर और बी० डी० बसु इडियन मेडिसिनल प्लाट्स, प्रयाग, भाग २, पृ० ८८७-९०। [स०]

आयुर्वेद में इमली—इमली को सस्कृत मे अम्ल, तित्राणि, चिचा इत्यादि, बँगला में तेंतुल, मराठी मे चिंच, गुजराती मे आमली, अंग्रेजी मे टैमैरिंड तथा लैटिन मे टैमैरिंडस इडिका कहते है। आयुर्वेद के अनुसार इमली की पत्ती कर्ण, नेत्र और रक्त के रोग, सर्पदश तथा शीतला (चेचक) में उपयोगी है। शीतला मे पत्तियो और हल्दी से तैयार किया पेय दिया जाता है। पत्तियो के क्वाथ से पुराने नासूरो को धोने से लाभ होता है। इसके फूल कसैले, खट्टे और अग्निदीपक होते है तथा वात, कफ, और प्रमेह का नाश करते है। कच्ची इमली खट्टी, अग्निदीपक, मलरोधक, वातनाशक तथा गरम होती है, किंतु साथ ही साथ यह पित्तजनक, कफकारक तथा रक्त और रक्तपित्त को कुपित करनेवाली है।
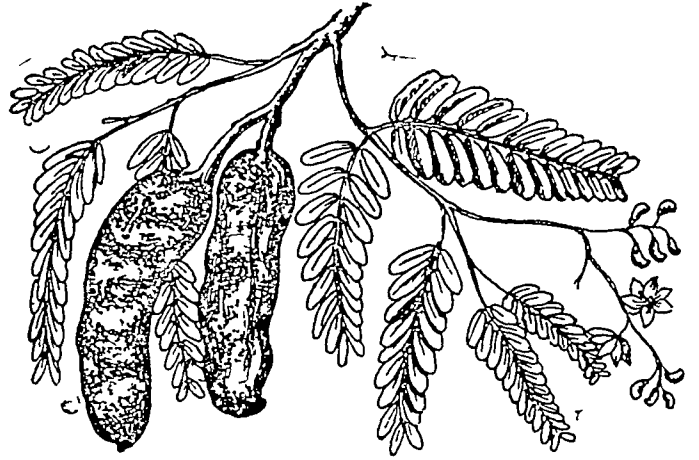
इमली
फली, फूल और पत्तियाँ
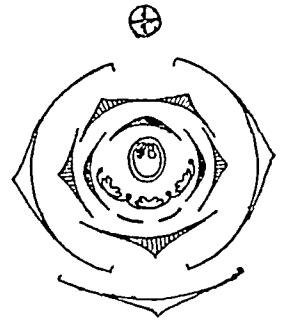
इमली का फूल
बाईं ओर फूल और दाहिनी ओर फूल का काट दिखाया गया है।

पक्की इमली मधुर, हृदय को शक्तिदायक, दीपक, बस्तिशोधक तथा कृमिनाशक बताई गई है। इमली स्कर्वी को रोकने और दूर करने की मूल्यवान् ओषधि है। इमली के बीजो के ऊपर का लाल छिलका अतिसार, रक्तातिसार तथा पेचिश की उत्तम ओषधि है। बीजो को उबाल और पीसकर बनाई गई पुल्टिस फोडो तथा प्रादाहिक सूजन में विशेष उपयोगी है। [भ० दा० व०]

इमाम शब्द का अरबी अर्थ है नेता या निर्देशक। इस्लामी सप्रदायो की शब्दावली मे इमाम शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है

(१) सुन्नी मुसलमान इमाम या पेश इमाम शब्द का प्रयोग सामूहिक प्रार्थनाओ के नेता के लिये करते हैं।

(२) सुन्नी कानून की पुस्तको में इमाम शब्द का प्रयोग राज्य के स्वामी के लिये हुआ है।

(३) सुन्नी मुसलमान इमाम शब्द का प्रयोग अपनी न्यायपद्धति के महान् अधिष्ठाताओ के लिये भी करते है। ये प्रमुख न्यायशास्त्री महान् अब्बासी खलीफाओ के समय (७५०-८४२ ई०) मे अवतरित हुए थे, तथापि शिष्टाचारवश इमाम की पदवी से कभी कभी इन लोगो के बाद के प्रमुख न्यायवेत्ताओ को भी विभूषित कर दिया जाता है।

(४) अस्ना अशरी शीया इमाम शब्द का प्रयोग अपने बारह पवित्र इमामो के लिये करते है जिनके नाम ये है (१) हजरत अली, (२) हसन, (३) हुसैन, (४) अली जैनुल आब्दीन, (५) मुहम्मद बाकर, (६) जाफर सादिक, (७) मूसा काजिम, (८) अलीरजा, (९) मुहम्मद तकी, (१०) अली नकी, (११) हसन असकरी और (१२) मुहम्मद

आवेश आदि—यदि हम दो विद्युदग्रो (इलेक्ट्रोडो) को एक ऐसी वद नली मे रखे जिसमे से हवा निकाल दी गई हो (दाव पारे का $१०^{-६}$ मि०मी०) तो, विभव (पोटेंशियल) लगाने पर, ऋणाग्र में से प्राय एक नीली सी धारा निकलती दिखाई पडती है। यदि नली को चुवकीय अथवा वैद्युत क्षेत्र में रखे तो यह धारा इधर उधर मोडी जा सकती है। मोड की दिशा से पता चलता है कि यह धारा ऋण आवेश (नेगेटिव चार्ज) के कणो की वनी हुई है। जैसा ऊपर वताया गया है, इन कणो को इलेक्ट्रान कहते है। वास्तव मे, यदि इन क्षेत्रो का परिमाण ज्ञात हो तो, धारा का विक्षेप नापने से इन कणो के आवेश तथा द्रव्यमान ज्ञात हो सकते है। इन प्रयोगो का परिणाम यह है कि इलेक्ट्रान के आवेश आदि निम्नलिखित के अनुसार है

आवेश (आ) $=(१ ६०२०३_{३}\pm० ०००३४)\times १०^{-२०}$
निरपेक्ष वैद्युत चुवकीय एकक,
$=(४ ८०२५_{१}\pm० ००१०)\times १०^{-१०}$
निरपेक्ष स्थिर वैद्युत एकक,
विशिष्टावेश (आ/द्र) $=(१ ७५९२\pm० ००५)\times १०^{७}$ नि० वैचु०/ग्रा,
$=(५ २७६६\pm० ००१५)\times १०^{१७}$ नि०स्थि०/ग्रा,
द्रव्यमान (द्र) $=(९ १०६६_{०}\pm० ००३२)\times १०^{-२८}$ ग्रा,
जहाँ ग्रा=ग्राम।

क्वाटम यात्रिकी के विख्यात सिद्धातो के अनुसार इलेक्ट्रान के साथ हम एक तरग का भी अनुमान कर सकते है। यदि इलेक्ट्रान का सवेग स है तो उसका तरगदैर्घ्य दै=प्ल/सं होगा (**क्वाटम यांत्रिकी** देखे), जहाँ प्ल प्लाक का नियताक है। अत प्रकाश अथवा एक्सरश्मि की जगह हम इलेक्ट्रान का भी प्रयोग कर सकते है। इस आधार पर इलक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी वने है, जो वैज्ञानिक अन्वेपणो मे वहुत लाभकारी सिद्ध हुए है (देखे **इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी**)। साधारण तालो की जगह इनमे वैद्युत तथा चुवकीय क्षेत्रो का प्रयोग होता है।

वर्तमान शताब्दी के वैज्ञानिक तथा औद्योगिक विकास में इलेक्ट्रान का अत्यत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। पिछले वर्षो मे और भी वहुत से कण मिले है, पर वे अस्थायी है।

डिरैक समीकरण—इलेक्ट्रान के विवरण के लिये डिरैक समीकरण का उपयोग आवश्यक है (देखे **डिरैक**)। जैसा क्वाटम यात्रिकी मे कहा गया है, आपेक्षिकतानुकूल समीकरणो मे सवसे सरल समीकरण निम्नलिखित है·

$$\left(\frac{१}{\text{प्र}^{२}}\ \frac{\text{त}^{२}}{\text{तस}^{२}}-\nabla^{२}+\frac{\text{द्र}^{२}\text{प्र}^{२}}{\text{हे}^{२}}\right)\text{सा}=०,$$

जहाँ प्र=प्रकाश का वेग, स=समय, त/तय$\equiv\partial/\partial x$, हे=एक नियताक, सा=$\psi$=इलेक्ट्रान का तरगफलन (वेव फक्शन)।

यदि इस समीकरण को कारक त/तस और $\text{त}/\overrightarrow{\text{तय}}$ मे एकघातीय (लीनियर) वनाएँ तो इसका रूप निम्नलिखित हो जायगा

$$\left(\frac{१}{\text{प्र}}\ \frac{\text{त}}{\text{तस}}+\text{क}_{\text{य}}\frac{\text{त}}{\text{तय}}+\text{क}_{\text{र}}\frac{\text{त}}{\text{तर}}+\text{क}_{\text{ल}}\frac{\text{त}}{\text{तल}}-\text{श्र}\ \frac{\text{द्रप्र}}{\text{हे}}\text{ख}\right)\text{सा}=०,$$

जहाँ श्र=$\sqrt{(-१)}$।

समीकरण (२) से पुन (१) पाने के लिये यह आवश्यक है कि $\text{क}_{\text{य}}$, $\text{क}_{\text{र}}$, $\text{क}_{\text{ल}}$, ख साधारण सख्याएँ नही, किंतु प्रवधिनिया (मैट्रिसे) हो जो निम्नलिखित दिक्परिवर्तन (कम्युटेशन) नियम का प्रतिपालन करे

$$\left.\begin{array}{l}\text{क}_{\text{य}}^{२}=\text{क}_{\text{र}}^{२}=\text{क}_{\text{ल}}^{२}=\text{ख}^{२}=१,\\ \text{क}_{\text{य}}\text{क}_{\text{र}}+\text{क}_{\text{र}}\text{क}_{\text{य}}=\text{क}_{\text{र}}\text{क}_{\text{ल}}+\text{क}_{\text{ल}}\text{क}_{\text{र}}=\text{क}_{\text{ल}}\text{क}_{\text{य}}+\text{क}_{\text{य}}\text{क}_{\text{ल}}=०\end{array}\right\}\ (३)$$

तव सा को भी स्तभ-प्रवधिनी (कॉलम मैट्रिक्स) लेना होगा

$$\text{सा}=\begin{pmatrix}\text{सा}_{१}\\ \text{सा}_{२}\\ \text{सा}_{३}\\ \text{सा}_{४}\end{pmatrix}\qquad . \ . \ (४)$$

रेखात्मक समीकरण (२) का समावेश करते समय डिरैक ने जो तर्क दिए थे वे अव पूर्णतया न्यायसगत नही माने जाते, परतु इसमे सदेह नही कि इलेक्ट्रान के लिये (२) ही उचित समीकरण है। भौतिकज्ञो को आजकल इसकी सत्यता में इतना ही गभीर विश्वास है जितना मैक्सवेल के विद्युच्चुवकीय समीकरणो की सत्यता मे।

प्रवधिनियाँ $\text{क}_{\text{य}}$, $\text{क}_{\text{र}}$, $\text{क}_{\text{ल}}$, ख प्रकट रूप से इस प्रकार लिखी जा सकती है·

$$\text{क}_{\text{य}}=\begin{pmatrix}० & ० & ० & १\\ ० & ० & १ & ०\\ ० & १ & ० & ०\\ १ & ० & ० & ०\end{pmatrix},\ \text{क}_{\text{र}}=\begin{pmatrix}० & ० & ० & -\text{श्र}\\ ० & ० & \text{श्र} & ०\\ ० & -\text{श्र} & ० & ०\\ \text{श्र} & ० & ० & ०\end{pmatrix},$$

$$\text{क}_{\text{ल}}=\begin{pmatrix}० & ० & १ & ०\\ ० & ० & ० & -१\\ १ & ० & ० & ०\\ ० & -१ & ० & ०\end{pmatrix},\ \text{ख}=\begin{pmatrix}१ & ० & ० & ०\\ ० & १ & ० & ०\\ ० & ० & -१ & ०\\ ० & ० & ० & -१\end{pmatrix}\ (५)$$

प्रत्यक्ष है कि समीकरण (२) वास्तव मे चार युगपत (साइमल्टेनियस) समीकरणो के तुल्य है। सा के घटक (कपोनेंट) परावर्तन (रिफ्लेक्शन) तथा घूर्णन (रोटेशन) रूपातरो के प्रति किसी वहुदिष्ट (टेंसर) की तरह आचरण नही करते, किंतु आवतको (स्पिनरो) की तरह करते है।

ग:-प्रवधिनियाँ और सकेतन (लेखनपद्धति)—यदि $\text{क}_{\text{य}}$, $\text{क}_{\text{र}}$, $\text{क}_{\text{ल}}$, ख की जगह हम $\text{ग}^{\text{म}}$ (म=१, २, ३) का समावेश करे, जहाँ

$$\text{ग}^{०}=\text{ख},\ \text{ग}^{१}=\text{ख}\,\text{क}_{\text{य}},\ \text{ग}^{२}=\text{ख}\,\text{क}_{\text{र}},\ \text{ग}^{३}=\text{ख}\,\text{य}_{\text{ल}},\qquad (६)$$

तो (२) को श्रख से गुणा करने पर उसे इस प्रकार लिख सकते है

$$\text{श्रग}^{\text{न}}\frac{\text{तस}}{\text{तय}^{\text{न}}}+\frac{\text{द्रप्र}}{\text{हे}}\text{सा}=०।\quad . \ . \ (७)$$

यहाँ अनुवधनो (सफिक्सो) पर योग का प्रचलित नियम (समेशन कनवेंशन) वरता गया है यदि कोई अनुवध एक वार नीचे आए और एक वार ऊपर तो उसपर योग होगा। हम विसर्गयुक्त अनुवधो का ० से ३ तक मान देने के लिये प्रयोग करेंगे और साधारण अनुवधो को १ से ३ तक मान देने के लिये। (७) मे

$$\text{य}^{०}=\text{प्रस},\ \text{य}^{१}=\text{य},\ \text{य}^{२}=\text{र},\ \text{य}^{३}=\text{ल}।\qquad (८)$$

अनुवधो को ऊपर नीचे मापनी (मेट्रिक) $\text{ज}_{\text{मन}}$ की सहायता से करेंगे

$$\text{ज}_{००}=१,\ \text{ज}_{११}=\text{ज}_{२२}=\text{ज}_{३३}=-१,\ \text{ज}_{\text{मन}}=०\ (\text{म}\neq\text{न})।\qquad (९)$$

समीकरणो को सरल वनाने के लिये हम हे और प्र दोनो को इकाई के वरावर मान लेगे। तव (७) हो जायगा·

$$\text{श्रग}^{\text{न}}\frac{\text{तसा}}{\text{तय}^{\text{न}}}+\text{द्रसा}=०।\quad . \ . \ (१०)$$

निरूपण (५) से स्पष्ट है कि ख, $\text{क}_{\text{य}}$ इत्यादि हर्मीटियन प्रवधिनियाँ है (**क्वाटम यान्त्रिकी** देख)·

$$\text{ख}^{\times}=\text{ख},\ \text{क}_{\text{य}}^{\times}=\text{क}_{\text{य}},\ \text{क}_{\text{र}}^{\times}=\text{क}_{\text{र}},\ \text{क}_{\text{ल}}^{\times}=\text{क}_{\text{ल}}।\qquad (११)$$

(६) से परिभाषित ग-प्रवधिनियो मे ग. हर्मीटियन है, किंतु $\text{ग:}^{१}$, $\text{ग.}^{२}$, $\text{ग.}^{३}$ विपरीत हर्मीटियन (ऐंटी-हर्मीटियन) है

$$\text{ग:}^{०\times}=\text{ग.}^{०},\ \text{ग.}^{१\times}=-\text{ग.}^{१},\ \text{ग:}^{२\times}=-\text{ग.}^{२},\ \text{ग:}^{३\times}=-\text{ग:}^{३}।\qquad (१२)$$

$\text{ग:}^{\text{न}}$ के दिक्परिवर्तन नियम है

$$\text{ग:}^{\text{म}}\text{ग.}^{\text{न}}+\text{ग}^{\text{न}}\text{ग:}^{\text{म}}=२\text{ज}^{\text{मन}},\quad . \ . \ . \ (१३)$$

जहाँ $\text{ज}^{\text{मन}}$ प्रवधिनी $\text{ज}_{\text{मन}}$ की प्रतिलोम (इनवर्स) है।

यदि हम (१०) पर वाईं ओर से कारक

$$-\text{श्रग:}^{\text{म}}\frac{\text{त}}{\text{तय}^{\text{म}}}+\text{द्र}$$

द्वारा क्रिया करे और (१३) वरते तो हम पाएँगे कि सा के सव घटक दूसरे घात (आर्डर) के समीकरण (१) को मानते है।

आपेक्षिकतानुकूल प्रचरता (रिलेटिविस्टिक इनवेरियेस)—समीकरण (१०) को आपेक्षिकतानुकूल सिद्ध करने के लिये हम दिखाएँगे कि यदि हम $\text{य}^{\text{न}}$ का रूपातर

में उत्तीर्ण होकर ईश्वर से अपना पूर्व वैभव प्राप्त कर लेते हैं। प्रस्तुत समस्या पर ईसा आगे चलकर नया प्रकाश डालकर सिद्ध करेंगे कि दूसरों के पापों के लिये प्रायश्चित्त करने के उद्देश्य से भी दुःख भोगा जा सकता है।

सं०ग्रं०—ई० जे० किस्साने दि बुक ऑव जॉव, डबलिन, १६२६, जी० होल्शर दास बुख हियोब, तुबिंगेन, १६३७, लार्शेर लि लिवरे दी जॉव, पेरिस, १६५०। [का० बु०]

इरकूटस्क रूस के साइबेरिया प्रदेश मे अक्षांश ५२° ३६′ उत्तर तथा देशांतर १०४° १०′ पूर्व मे स्थित एक नगर है। यह येनीसी की सहायक अंगारा नदी के दाहिने किनारे पर, समुद्र से १,४६० फुट की ऊँचाई पर स्थित है। इसका उपनगर ग्लाजकोवस्की नदी के बाएँ तट पर है तथा इन दोनों के बीच ६३० गज लंबा पुल है। इरकूटस्क नगर का नामकरण इरकूट नदी के आधार पर हुआ है जो अंगारा में बाईं ओर से मिलती है। उचित भौगोलिक स्थिति के कारण ही नगर चीन, अमूर प्रदेश, लीना की स्वर्णखदानों तथा समूर क्षेत्रों मे होनेवाले व्यापार का केंद्र बना हुआ है। इसी कारण यह साइबेरिया प्रदेश का प्रमुख नगर है। इसकी जनसंख्या सन् १६५६ ई० में ३,१४,००० थी। यहाँ का औसत ताप जनवरी में ५ ४° फा०, जुलाई में ६५ १° फा० तथा औसत वार्षिक वर्षा १४ ५ इंच है। यहाँ के मुख्य उद्योग धंधे लकडीचिराई, आटा, चमडा, ऊर्णाजिन (फर) तैयार करना, भेड की खाल के कोट तथा मद्य बनाना आदि हैं। नगर सुंदर ढंग से बसा हुआ है। [श्या० सु० श०]

इराक दक्षिण-पश्चिम एशिया का एक स्वतंत्र राज्य है जो प्रथम महायुद्ध के बाद मोसुल, बगदाद एवं बसरा नामक आटोमन् साम्राज्य के तीन प्रांतों को मिलाकर १६१६ ई० में वरसाई की संधि द्वारा स्थापित हुआ तथा अंतर्राष्ट्रीय परिषद् द्वारा ब्रिटेन को शासनार्थ सौंपा गया। सन् १६२१ ई० में हेजाज के राजा हुसेन का तृतीय पुत्र फैजल जब इराक का राजा घोषित किया गया तब यह एक सांवैधानिक राजतंत्र बन गया।

$$-\text{अआ}\left(\text{ज}^{\text{नन}}+\text{ग}^{[\text{मन}]}\right)\frac{\text{तका}_{\text{न}}}{\text{तय}^{\text{न}}}\text{सा}\ [\text{देखे (३०)}]$$

$$=-\text{२ अआक}^{\text{न}}\frac{\text{तसा}}{\text{तय}^{\text{न}}}+\text{आका}_{\text{न}}\text{ग}^{\text{न}}\left(\text{अग}^{\text{न}}\frac{\text{तसा}}{\text{तय}^{\text{न}}}+\text{द्रसा}\right)$$

$$-\text{अआ}\frac{\text{तका}_{\text{न}}}{\text{तय}_{\text{न}}}\text{सा}-\tfrac{1}{2}\,\text{अआग}^{[\text{नन}]}\,\text{फा}_{\text{नन}}\,\text{सा}$$

$$=-\text{२अआका}^{\text{न}}\frac{\text{तसा}}{\text{तय}^{\text{न}}}+\text{आ}^{2}\text{का}_{\text{न}}\text{ग}^{\text{न}}\text{का}_{\text{न}}\text{ग}^{\text{न}}\text{सा}-\text{अआ}\frac{\text{तका}_{\text{न}}}{\text{तय}_{\text{न}}}$$

$$+\tfrac{1}{2}\,\text{अआग}^{[\text{नन}]}\,\text{फा}_{\text{नन}}\,\text{सा}\qquad[\text{देखे (३३)}]$$

$$=-\text{२ अआका}^{\text{न}}\frac{\text{तसा}}{\text{तय}^{\text{न}}}+\text{आ}^{2}\text{का}_{\text{न}}\text{का}^{\text{न}}\text{सा}-\text{अआ}\frac{\text{तका}_{\text{न}}}{\text{तय}_{\text{न}}}\text{स}$$

$$+\tfrac{1}{2}\,\text{ग}^{[\text{मन}]}\,\text{फा}_{\text{नन}}\,\text{सा}\qquad(\text{३५})$$

(३५) मे दाईं ओर पहले तीन पद ऐसे है जो आपेक्षिकतानुकूल समीकरण

$$\left(\frac{\text{त}}{\text{तय}_{\text{न}}}+\text{अआका}_{\text{न}}\right)'\left(\frac{\text{त}}{\text{तय}_{\text{न}}}+\text{अआका}^{\text{न}}\right)\text{सा}+\text{द्र}^{2}\text{सा}=0\qquad(\text{३६})$$

से भी प्राप्त हो सकते है। (३५) के प्रथम पद को हम आवेश अत प्रभाव कह सकते है। द्वितीय पद दूसरे घात का है। यदि हम प्रतिबिब

$$\frac{\text{तका}_{\text{न}}}{\text{तय}_{\text{न}}}=0$$

लगाएँ तो तृतीय पद शून्य हो जायगा। चतुर्थ पद एक नया प्रभाव निर्दिष्ट करता है जो (३६) से नही आ सकता। यह विद्युच्चुबकीय क्षेत्र की तीव्रता, $\text{फा}_{\text{नन}}$, का समानुपाती है। अत हम इसको इलेक्ट्रान के चुबकीय घूर्ण (मैगनेटिक मोमेट) के साथ अत प्रभाव का अर्थ दे सकते है। यह सच है कि इस पद मे न केवल चुबकीय, किंतु वैद्युत क्षेत्र भी समिलित हैं। चुबकीय और वैद्युत क्षेत्रो का साथ साथ आना आपेक्षिकतानुकूल सिद्धात का अनिवार्य फल है। डिरैक समीकरण मे यह गुण है कि उससे स्वय ही इलेक्ट्रान का चुबकीय घूर्ण भी निकल आता है।

समाप्ति—इलेक्ट्रान के गुण-धर्म-वर्णन के लिये डिरैक समीकरण का उपयोग अनिवार्य है। आजकल जितने परीक्षण हुए है सबके परिणाम इस समीकरण के अनुकूल है। दुबारा क्वाटीकरण पर (**क्वांटम यांत्रिकी** देखें) यह समीकरण अत्यत शक्तिशाली हो जाता है।

स०ग्र०—इसी विश्वकोश मे क्वाटम यात्रिकी शीर्षक लेख, डब्ल्यू० पाउली तथा जीमन, फरहाडलिंगन मार्टिनस नाइहोफ, पृ० ३१-४३ (१९३५), हाडबुख डर फिजीक, द्वितीय श्रेणी, खड २४, पृ० २५१-२७२ (एडवर्ड ब्रदर्स, मिशिगन, द्वारा पुनर्मुद्रित, १९४७)। [वा०]

इलेक्ट्रान नली एक ऐसी युक्ति है जो पूर्ण अथवा आशिक शून्य मे इलेक्ट्रान धारा का नियत्रण करती है। इस प्रकार की नलियो का उपयोग रेडियो-आवृत्ति-शक्ति (रेडियो फ्रीक्वेसी पावर) उत्पन्न करने मे किया जाता है जिसका उपयोग रेडियो सग्राही (रिसीवर) तथा रेडियो प्रेषी (ट्रैसमिटर) मे किया जाता है। इन नलियो का उपयोग क्षीण सकेतो के प्रवर्धन (ऐम्प्लिफिकेशन), ऋजुकरण (रेक्टिफिकेशन) तथा परिचयप्राप्तकरण (डिटेक्शन) मे होता है। यह कहा जा सकता है कि साधारण इलेक्ट्रान नली की खोज ने ही रेडियो टेलीफोन, ध्वनिचित्र (बोलता सिनेमा), दूरवीक्षण (टेलिविज्हन), रेडियो आदि को जन्म दिया है।

इलेक्ट्रान नलियाँ कई प्रकार की होती है। सरलतम नली द्विध्रुवी (डाइओड) है, फिर त्रिध्रुवी (ट्राइओड), चतुर्ध्रुवी (टेट्रोड), पुजशक्ति-नली (बीम पावर ट्यूब), पचध्रुवी (पेटोड), षड्ध्रुवी इत्यादि है। इनके अतिरिक्त क्लाइस्ट्रान, मैगनाट्रान, प्रगामी तरग नली (ट्रैवेलिंग वेव ट्यूब) इत्यादि विशेष प्रकार की नलियाँ भी है जिनका प्रयोग उच्च आवृत्ति पर होता है। ऋणाग्र किरण नलियो (कैथोड रे ट्यूब्स) मे इलेक्ट्रान पुज का प्रयोग प्रकाश उत्पन्न करने मे होता है और इस प्रकार वैद्युत शक्ति से दृष्टि सबधी (विज्हुअल) परिणाम प्राप्त हो सकते है। साधारण ऋणाग्र किरण नली का विशेष रूप ओर्थिकान नली है जिसका प्रयोग दूरवीक्षण मे किया जाता है। प्रकाशविद्युत् नलियो (फोटो इलेक्ट्रिक ट्यूब) में प्रकाश का प्रयोग वैद्युत प्रभाव उत्पन्न करने मे किया जाता है। कभी कभी निर्वात नलियो मे थोडी सी गैस छोड दी जाती है जिससे उनके लाक्षणिक (कैरैक्टरिस्टिक) वक्रो में परिवर्तन हो जाय और वे कुछ विशिष्ट कार्यों मे लाई जा सके।

साधारणतया इलेक्ट्रान नली धातु के दो अथवा अधिक विद्युदग्रो (इलेक्ट्रोड्स) की बनी होती है जो काच अथवा धातु के बने निर्वात कक्ष में बद रहते है। ध्रुव एक दूसरे से पृथक्कृत होते है। एक ध्रुव को ऋणाग्र (कैथोड) कहते है जिसका कार्य इलक्ट्रानो का उत्पादन है। दूसरे ध्रुव को धनाग्र (ऐनोड) अथवा पट्टिका (प्लेट) कहते है जो ऋणाग्र की अपेक्षा धन विभव पर रखा जाता है। इस प्रकार इलेक्ट्रान नली मे स्थापित विद्युत्क्षेत्र मे इलेक्ट्रान ऋणात्मक ध्रुव से धनात्मक ध्रुव की ओर चलते है और ध्रुवो के अतर्गत एक इलेक्ट्रान धारा बहने लगती है। एक साधारण परिपथ (सर्किट), जिसमे ऐसी नली का उपयोग किया गया है, आकृति १ मे दिखाया गया है। वाह्य परिपथ मे इलेक्ट्रान धनाग्र से विभवस्रोत (वोल्टेज सोर्स) से होकर ऋणाग्र मे जाते है।
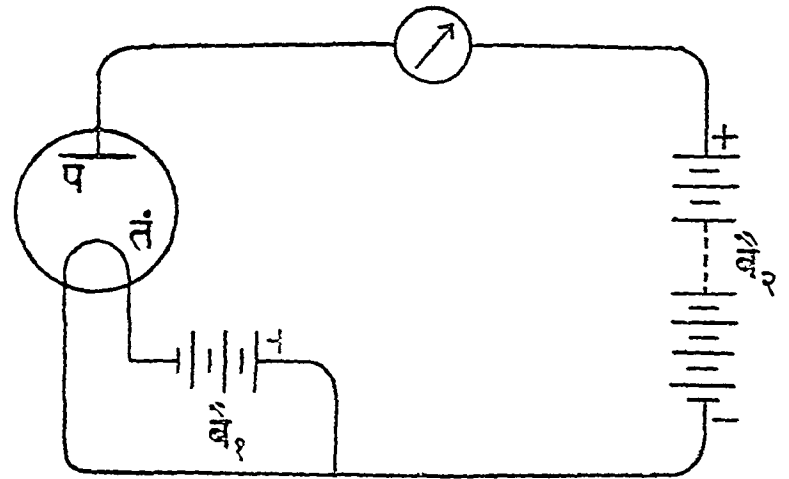
चित्र १

ऐसी समान विशिष्टतावाली नली, जिसमे दो ध्रुव होते है, द्विध्रुवी कहलाती है। कुछ नलियो मे एक और ध्रुव लगा देते है जिसे ग्रिड कहते है। ग्रिड-विभव का उचित नियत्रण करने पर नली मे विद्युद्धारा का नियत्रण एव विशेष परिवर्तन किया जा सकता है। पहले पहल प्रयोग मे लाई जानेवाली नलियो मे इस ध्रुव की अपनी एक विशेष बनावट थी और इसी बनावट के कारण इसे ग्रिड कहते हैं। आजकल प्रयोग में लाई जानेवाली नलियो मे इस प्रकार के अनेक ध्रुव होते है और इन नलियो का नाम इन ध्रुवो की सख्या पर पड जाता है, जैसे त्रिध्रुवी जिसमे तीन ध्रुव होते है, चतुर्ध्रुवी जिसमे चार ध्रुव होते है, पचध्रुवी जिसमे पाँच ध्रुव होते है, इत्यादि।

अधिकतर इलेक्ट्रान प्राप्त करने के लिये ऋणाग्र को तप्त किया जाता है। इस प्रकार की नलियो को ऊष्मायनिक नलियाँ (थर्मिआयोनिक ट्यूब) (देखें **उष्मायन**) कहते है। परतु कुछ विशेष प्रकार की ऐसी नलियाँ होती है जिनको तप्त करने की आवश्यकता नही होती। उनको शीत ऋणाग्र नलियाँ (कोल्ड कैथोड ट्यूब) कहते है, उदाहरण के लिये गैस फोटो नली (गैस फोटो ट्यूब), विभव नियत्रक नली (वोल्टेज रेग्युलेटर ट्यूब) इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है।

द्विध्रुवी—प्रथम ऊष्मायनिक नली को फ्लेमिंग ने सन् १९०४ मे बनाया था जिसे द्विध्रुवी कहते हैं। जैसा पहले ही लिखा जा चुका है, द्विध्रुवी मे दो ध्रुव होते है। एक ध्रुव इलेक्ट्रान का निस्सारण करता है और दूसरा पहले ध्रुव की अपेक्षा धन विभव पर रखा जाता है, तब विद्युद्धारा प्रवाहित होती है। परतु यह धारा एकदिश (यूनि-डाइरेक्शनल) होती है।

यदि पट्टिका को ऋणाग्र की अपेक्षा धन विभव पर रखा जाय तो, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, इलेक्ट्रान धारा प्रवाहित हो जाती है। परतु यदि विभव को दूसरी दिशा में लगाया जाय अर्थात् यदि पट्टिका ऋणाग्र की अपेक्षा ऋण विभवपर हो, तो इलेक्ट्रान धारा एकदम नही प्रवाहित होगी,

खातुनी सत्ता की समाप्ति के बाद उसी जाति की एक दूसरी शाखा ने असूरी सभ्यता की बुनियाद डाली। असूरिया की राजधानी निनेवे पर अनेक प्रतापी असूरी सम्राटों ने राज किया। ६०० ई० पू० तक असूरी सभ्यता फली फूली। उनके बाद खल्दी नरेशों ने फिर एक बार बाबुल को देश का राजनीतिक और सांस्कृतिक केंद्र बना दिया। नगरनिर्माण, शिल्प कला और उद्योग धंधों की दृष्टि से खल्दी सभ्यता अपने समय की ससार की सबसे उन्नत सभ्यता मानी जाती थी। खल्दियो के समय निर्मित 'आकाशी उद्यान' संसार के सात आश्चर्यों में गिना जाता है। खल्दियो के समय नक्षत्र विज्ञान ने भी आश्चर्यजनक उन्नति की।

६०० ई० पू० में खल्दियों के पतन के बाद इराकी रगमच पर ईरानियो का प्रवेश होता है किंतु तीसरी शताब्दी ई० पू० में सिकदर की यूनानी सेनाएँ ईरानियो को पराजित कर इराक पर अधिकार कर लेती हैं। इसके बाद तेजी के साथ इराक में राजनीतिक परिवर्तन होते हैं। यूनानियो के बाद पार्थव, पार्थवो के बाद रोमन और रोमनो के बाद फिर सासानी ईरानी इराक पर शासनारूढ होते हैं।

सातवीं स० ई० में इसलाम की स्थापना के बाद ईरानियो और अरबो की टक्करों के फलस्वरूप इराक पर अरब के खलीफाओ की हुकूमत कायम हो जाती है। इराक के पुराने नगर नष्ट हो चुके थे। अरबो ने जिन कई नए शहरों की दागबेल डाली उनमें कूफा (६३८ ई०), बसरा और दजला के तट पर बगदाद (सन् ७६२ ई०) मुख्य हैं। हजरत अली जब इसलाम के खलीफा थे, उन्होंने कूफा को अपनी राजधानी बनाया। अब्बासी खलीफाओं के जमाने में बगदाद अरब साम्राज्य की राजधानी बना। खलीफा हारूँ रशीद के समय बगदाद ज्ञान विज्ञान, कला कौशल, सभ्यता और सस्कृति का एक महान् केंद्र बन गया। ज्ञानी और पडित, दार्शनिक और कवि, साहित्यिक और कलाकार एशिया, यूरोप और अफ्रीका से आ आकर बगदाद में जमा होने लगे।

अतिम अब्बासी खलीफा मुतास्सिम के समय, सन् १२५८ ई० मे, चगेज़ खाँ के पौत्र हलाकू खाँ के नेतृत्व में मगोलो ने बगदाद पर आक्रमण किया तथा सभ्यता और सस्कृति के उस महान् केंद्र को नष्ट कर दिया। हलाकू के इस आक्रमण ने अब्बासियों के शासन का सदा के लिये अत कर दिया।

इराक में ही करबला का प्रसिद्ध मैदान है जहाँ सन् ६८० ई० मे पैगंबर के नवासे हुसैन का ओमइया खलीफाओ के शासको द्वारा सपरिवार वध कर दिया गया था। करबला में आज भी हर साल हजारो शिया मुसलमान ससार के कोने कोने से आकर हजरत हुसैन की स्मृति में आँसू बहाते हैं। इराक मे शिया सप्रदाय का दूसरा तीर्थस्थान नजफ है। इराक की अधिकांश जनसख्या शिया मुसलमानो की है। सांस्कृतिक दृष्टि से इराक अरब और ईरान का मिलन-केंद्र रहा है किंतु नस्ल की दृष्टि से इराक निवासी अधिकांशत अरब हैं।

अब्बासियो के पतन के बाद इराक मगोलो, तातारियो, ईरानियो, कुर्दो और तुर्कों की आपसी प्रतिस्पर्धा का शिकारगाह बना रहा। इराक पर तुर्कों का विधिवत् शासन सन् १८३१ ई० में प्रारभ हुआ। इराक को तुर्कों ने तीन विलायतो अथवा प्रातो मे बाँट दिया था। ये प्रात थे— मोसल विलायत, बगदाद विलायत और बसरा विलायत। यही तीनो विलायतें आधुनिक इराक मे १४ लिवो या कमिश्नरियो में बाँट दी गई हैं।

सन् १९१४ ई० में तुर्की जब प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी के पक्ष में शामिल हुआ तब अग्रेजी सेनाओ ने इराक में प्रवेश कर २२ नवबर, सन् १९१४ को बसरा पर और ११ मार्च, सन् १९१७ को बगदाद पर अधिकार कर लिया। इस आक्रमण मे अग्रेजो का उद्देश्य एक ओर अबादान मे स्थित ऐंग्लो-पर्शियन आयल कपनी की रक्षा करना और दूसरी ओर मोसल में तेल के अटूट भडार पर अधिकार करना था। युद्ध की समाप्ति के बाद इराक अंग्रेजों का प्रभावक्षेत्र बन गया। अग्रेजो ने २३ अगस्त, सन् १९२१ को अपनी ओर से एक कठपुतली अमीर फैज़ल को इराक का राजा घोषित कर दिया।

सन् १९३० में इराक और ग्रेट ब्रिटेन के बीच एक विधिवत् पच्चीस वर्षीय सधि हुई जिसकी एक शर्त यह भी थी कि यथासभव शीघ्र ही ग्रेट ब्रिटेन इराक को राष्ट्रसघ मे शामिल किए जाने की सिफारिश करेगा। सधि की इस धारा के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन की सिफारिश पर इराक के ऊपर से उसका मैंडेट ४ अक्टूबर, सन् १९३२ को समाप्त हो गया और एक स्वतत्र राष्ट्र की हैसियत से इराक राष्ट्रसघ का सदस्य बना लिया गया। इराक के आग्रह पर ऐंग्लो-इराकी सधि की अवधि अक्टूबर, सन् १९५७ तक बढा दी गई। २६ जून, सन् १९५४ को इराक सयुक्त राष्ट्रसघ का सदस्य बन गया और अरब राष्ट्र के सघ की स्थापना मे उसने महत्वपूर्ण भाग लिया।

इराक मध्यपूर्व सुरक्षायोजना के बगदाद पैक्ट गुट का प्रमुख सदस्य था किंतु हाल की राजनीतिक क्राति के परिणाम स्वरूप वहाँ से राजतत्र समाप्त हो गया है। इराक ने बगदाद पैक्ट गुट के देशो से भी अपने को पृथक् कर लिया है।

स० ग्र०—एस० लैंगडन सुमेरियन लाज (१८९६), जे० डेलापोर्ट मेसोपोटामियन सिविलिजेशन (१९१०), सर लिओनार्ड वूली डिगिंग अप दी पास्ट (१९३८), रिचर्ड कोक दि हार्ट ऑव दि मिडिल ईस्ट (१९२५), एस० एच० लागरिज फोर सेंचुरीज ऑव माडर्न इराक (१९२५), एस० लायड फाउडेशन इन दि डस्ट (१९३१), एच० आर० हाल मेसोपोटामिया (१९२५)। [वि० ना० पा०]

इरीडियम

(सकेत इ, परमाणुभार १९३.१, परमाणु सख्या ७७) धातुओ के प्लैटिनम समूह का एक सदस्य है। सबसे पहले तेना ने १८०४ मे ऑस्मीइरीडियम नामक मिश्रण से इसको प्राप्त किया। यह बहुत ही कठोर धातु है, लगभग २,४५०° सेंटीग्रेड पर पिघलती है और इसका आपेक्षिक घनत्व २२.४ है। इसका विशिष्ट विद्युतीय प्रतिरोध ४.९ है जो प्लैटिनम का लगभग आधा है। इससे तार, चादर इत्यादि बनाना बडा ही कठिन है। रासायनिक प्रतिक्रिया मे यह धातुओ मे सबसे अधिक अक्रियाशील है, यहाँ तक कि अम्लराज भी साधारण ताप पर इसपर क्रिया करने मे असफल रहता है।

इरीडियम फाउटेनपेन की निबो की नोक, आभूषण, चुबकीय सपर्क स्थापित करनेवाले यत्र, पोली सुई (इजेक्शन लगाने की सुई) तथा बहुत ही बारीक फ्यूज तार बनाने में काम आता है।

इरीडियम बहुत से यौगिक बनाता है, जिनमे १,२,३,४ तथा ६ तक सयोजकता होती है। इसके मुख्य यौगिक इक्लो$_2$, इक्लो$_3$, इक्लो$_4$, इब्रो$_3$, इऔ$_3$, इऔ$_4$, हा$_2$इक्लो$_6$, इ$_2$औ$_3$, इऔ$_2$, इग, इ$_2$ग$_3$ इत्यादि हैं। इसमें जटिल यौगिक बनाने की भी प्रवृत्ति पाई जाती है, जैसे सो$_3$इ(नाऔ$_2$)$_6$ और साथ ही यह दूसरी धातुओ से मिलकर, विशेषकर प्लैटिनम के साथ, बडी सुगमता से मिश्रधातु बनाता है। ये मिश्रधातुएँ बडी कठोर होती हैं।

(यहाँ इ=इरीडियम, क्लो=क्लोरीन, ब्रो=ब्रोमीन, आ=आयोडीन, हा=हाइड्रोजन, औ=आक्सिजन, सो=सोडियम तथा ग=गधक है।) [स०प्र०]

इरोद

मद्रास राज्य के कोयबटूर जिले का एक नगर है जो मद्रास से २४३ मील दूर, कावेरी नदी के दाहिने तट पर स्थित है। (स्थिति ११° २१' उ० अक्षांश तथा ७७° ४३' पू० देशांतर)। यह नगर दक्षिण रेलवे का एक जकशन है। १७वी शताब्दी के प्रारभ में यह छोटा सा कस्बा था, परतु हैदरअली के समय में नगर की पर्याप्त उन्नति हुई तथा यहाँ की जनसख्या १५,००० हो गई। समय के फेर तथा राजनीतिक उथल पुथल के कारण १८वी शताब्दी के अत मे यह नगर मराठा, मैसूर राज्य तथा अंग्रेजो की विभिन्न चढाइयो के कारण पूर्ण रूप से ध्वस्त हो गया। १७९२ ई० मे टीपू सुल्तान तथा अग्रेजो में सधि हुई, फलस्वरूप लोग फिर आकर यहाँ बसे तथा एक ही वर्ष में यहाँ की जनसख्या २०,००० हो गई।

इरोद अब मद्रास का एक बहुत अच्छा नगर हो गया है। १८७१ ई० मे यहाँ की व्यवस्था नगरपालिका द्वारा हो रही है। नगर पूर्ण रूप से विकसित तथा सभी सुविधाओ से सपन्न है। यहाँ दो बहुत प्राचीन मदिर हैं जिनपर तमिल भाषा में लिखे हुए ऐतिहासिक महत्व के भित्तिलेख हैं। इरोद अपने क्षेत्र का प्रसिद्ध व्यापारिक केंद्र है। यहाँ कपास का व्यवसाय मुख्य रूप से होता है। १९२१ मे यहाँ की जनसख्या ५७,५७६ थी। यहाँ व्यापार में लगभग १६,००० लोग लगे हुए हैं। [हु० ह० सिं०]

मे परिवर्तित करने मे। इसका उदाहरण एक पचग्रिड मिश्रक (पेंटा-ग्रिड मिक्सर) है।

इसके अतिरिक्त वहुध्रुवी नलियो का उपयोग विशेषतया स्वत चालित उद्घोषतानियत्रण तथा उद्घोषताप्रसारक (वॉल्यूम एक्सपैंडर) मे किया जा रहा है जिसमे एक नियत्रक ग्रिड मे लगाई वोल्टता का नियत्रण दूसरे नियत्रक ग्रिड में लगाई गई वोल्टता के द्वारा होता है।

गैसनलियाँ, गैसद्विध्रुवी नली—इन नलियो मे थोडी सी गैस डाल दी जाती है। अधिकतर जो गसे प्रयोग में लाई जाती है, वे है पारदवाष्प, आरगन, नियन आदि। गसनली मे ये १ से ३०×१०$^{-3}$ मिलीमीटर दवाव पर रहती है।

जैसे जैसे धनाग्र की वोल्टता शून्य से वढाई जाती है, पट्टिक धारा निर्वात नलियो के समान इन नलियो में भी वढने लगती है। तथापि जब वोल्टता गस के आयनीकरण विभव पर (जो १० से १५ वोल्ट तक होता है) पहुँच जाती है, तो मुठभेड के द्वारा आयनीकरण हो जाता है। पट्टिक धारा अपने पूर्ण मान पर पहुँच जाती है और फिर पट्टिक वोल्टता को अधिक वढाने का उसपर कोई प्रभाव नही पडता। इस परिणाम को चित्र ९ मे दिखाया गया है। ऐसा इस कारण होता है कि मुठभेड के द्वारा जो धनात्मक आयन पैदा हो जाते है, वे पूर्ण रूप से अतरण-आवेश के प्रभाव को हटा देते है, तभी इलेक्ट्रान धारा पर इसका नियत्रण समाप्त हो जाता है और पूर्ण इलेक्ट्रान धारा प्रवाहित होने लगती है।

चित्र ९

जैसा पहले ही वताया जा चुका है, इन गैस-द्विध्रुवी का उपयोग ऋजुकरण में किया जाता है, जहाँ अधिक शक्ति की आवश्यकता होती है, उदाहरणत प्रेपी के शक्तिस्रोत (पावर सप्लाई) मे।

ग्रिडनियत्रित गैस त्रिध्रुवी (थाइरेट्रान)—ये वे गैस द्विध्रुवी है जिनमे पट्टिक और ऋणाग्र के बीच एक नियत्रक ग्रिड लगा दिया जाता है। इस नियत्रक ग्रिड का कार्य भी लगभग निर्वात नली के ग्रिड-नियत्रण सा ही है, परतु एक वहुत वडी विभिन्नता दोनो के नियत्रण मे है। यदि इस ग्रिड के विभव को ऋणात्मक मान से धीरे धीरे वढाया जाय तो यह देखा जायगा कि जसे ही उसका मान उस विंदु तक आ जाता है जिसपर धारा प्रवाहन आरभ हो जाता है, तैसे ही धारा एकदम न्यून से अपने पूर्ण मान पर प्रवाहित होने लगती है। जैसे ही पूर्ण धारा प्रवाहित होने लगती है, नियत्रक ग्रिड पर धारा का किसी प्रकार का प्रभाव नही रह जाता। उसके वाद चाहे ग्रिड मे कितना ही ऋणात्मक विभव लगा दिया जाय, पट्टिक धारा का प्रवाहन नही रुक सकता। केवल पट्टिक वोल्टता को आयनीकरण-विभव से कम करके पट्टिक धारा के प्रवाहन को रोका जा सकता है। इसका कारण यह है कि जैसे ही विद्युद्धारा प्रवाहित होती है, धन आयन ऋणात्मक ग्रिड को ढक लेते है और ग्रिड के विभव का कोई प्रभाव धाराप्रवाहन मे नही रह जाता।
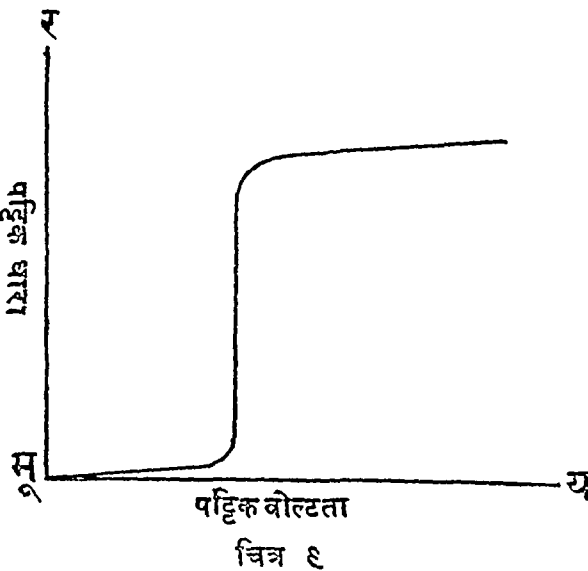
इस प्रकार की नलियो का उपयोग योजना तथा 'ट्रिगर' के रूपो मे किया जाता है जिसका वहुत ही महत्वपूर्ण उपयोग आजकल के इलेक्ट्रानिक उपकरणो मे किया जा रहा है।

ऋणाग्र-किरण-नली (कैथोड रे ट्यूब) का वर्णन **ऋणाग्र किरण** शीर्षक लेख मे मिलेगा।

सूक्ष्म तरग नली (माइक्रोवेव ट्यूब), क्लाइस्ट्रान, मैगनिट्रान तथा प्रगामी तरग नली (ट्रैवेलिंग वेव ट्यूब)—इन नलियो मे सवसे अधिक उपयोगी क्लाइस्ट्रान है, जो अति सूक्ष्म तरग के लिये दोलक तथा प्रवर्धक के रूप मे काम में लाई जाती है। मैगनिट्रान अधिक शक्तिशाली, अति सूक्ष्म तरग के उत्पादन कार्य मे लाई जाती है, जिसका उपयोग राडार मे किया जाता है। प्रगामी तरग नली अति उच्च आवृत्ति पर विस्तीर्ण-पट्ट-प्रवर्धक (वाइड वैंड ऐंप्लिफायर) के रूप मे वहुत ही अधिक उपयोगी है। इन नलियो मे उच्च-आवृत्ति-विद्युत-क्षेत्र की प्रतिक्रिया इलेक्ट्रानो के साथ होती है। इस प्रतिक्रिया मे इलेक्ट्रान कुछ ऊर्जा उच्च आवृत्ति दोलन के रूप मे दे देते है। इस प्रकार उच्च आवृत्ति दोलक की ऊर्जा वढ जाती है। यह ऊर्जा प्रवर्धक के रूप मे कार्य करती है। [ग० प्र० श्री०]

इलेक्ट्रान व्याभंग

(इलेक्ट्रान-डिफ्रैक्शन)। जब एक विंदु से चला प्रकाश किसी अपारदर्शक वस्तु की कोर को प्राय छता हुआ जाता है तो एक प्रकार से वह टूट जाता है जिससे छाया तीक्ष्ण नही होती, उसमे समातर धारियाँ दिखाई पडती है। इस घटना को व्याभग कहते हैं।

जव इलेक्ट्रानो की सकीर्ण किरणावलि को किसी मणिभ (क्रिस्टल) के पृष्ठ से टकराने दिया जाता है तव उन इलेक्ट्रानो का व्याभग ठीक उसी प्रकार से होता है जैसे एक्स-किरणो (एक्स-रेज) की किरणावलि का। इस घटना को इलेक्ट्रान व्याभग कहते है और यह मणिभ विश्लेषण, अर्थात् मणिभ की सरचना के अध्ययन की एक शक्तिशाली रीति है।

१९२७ई०मे डेविसन और जरमर ने इलेक्ट्रान वदूक द्वारा उत्पादित इलेक्ट्रान किरणावलि को निकल के एक वडे तथा एकल मणिभ से टकराने दिया तो उन्होने देखा कि भिन्न भिन्न विभवो (पोटेंशियलो) द्वारा त्वरित इलक्ट्रान किरणावलियो का व्याभग भिन्न भिन्न दिशाओ मे हुआ (इलेक्ट्रान वदूक इलेक्ट्रानो की प्रवल और फोकस की हुई किरणावलि उत्पन्न करने की एक युक्ति है)। एक्स-किरणो की तरह जव उन्होने इन इलक्ट्रानो के तरगदर्घ्यो को समीकरण २ **दू** ज्या **थ**=**ऋ दै** के आधार पर निकाला (जहाँ **दू**=मणिभ मे परमाणुओ की क्रमागत परतो के बीच की दूरी, **थ**=रश्मियो का आपात-कोण, अर्थात् वह कोण जो आनेवाली रश्मियाँ मणिभ के तल से बनाती है, **ऋ**=वर्णक्रम का क्रम (ऑर्डर), **दै**=तरगदैर्घ्य), तव उन्हे ज्ञात हुआ कि इन तरगदैर्घ्यो **दै** के मूल्य ठीक उतने ही निकलते है जितने कि डी ब्रोगली का समीकरण **दै**=**प्ल**/**द्रवे** देता है। यहाँ **प्ल** प्लैक का नियताक है, **द्र** इलेक्ट्रान का द्रव्यमान (मास) और **वे** इसका वेग। यह प्रथम प्रयोग था जिसने इलेक्ट्रानो के उन तरगीय गुणो को सिद्ध किया जिनकी भविष्यवाणी एल० डी० ब्रोगली न १९२४ ई० मे गणित के सिद्धातो के आधार पर की थी और जिनके अनुसार एक इलेक्ट्रान का तरगदैर्घ्य

$$दै = \frac{प्ल}{द्रवे} = \sqrt{\left(\frac{१५०}{वो}\right)} \text{ ऐंग्स्ट्रॉम} = \frac{१२ २७}{\sqrt{वो}} \times १०^{-८} \text{ सें०मी०},$$

जहाँ **वो** वह विभव है जिसके द्वारा इलेक्ट्रान को त्वरित किया गया हो

डेविसन और जरमर के प्रयोग लगभग ५० वोल्ट द्वारा त्वरित मद्ग इलेक्ट्रानो से किए गए थे। १९२८ ई० मे जी० पी० टामसन ने इस समस्य का अन्वेषण दूसरी ही रीति से किया। उसने अपने अनुसधान मे १० हजा से लेकर ५० हजार वोल्ट तक से त्वरित अत्यत वेगवान् इलेक्ट्रानो का प्रयो एक दूसरी रीति से किया। यह रीति डेवाई और शेरर की चूर्ण रीति जिसका प्रयोग उन्होने एक्स-किरणो द्वारा मणिभ के विश्लेषण मे किया थ मिलती जुलती थी। उसके उपकरण का वर्णन नीचे किया जाता है

ऋणाग्र किरणो की एक आवलि को ५० हजार वोल्ट तक त्वरित कि जाता है और फिर उसको एक तनुपट नलिका (डायाफ्राम ट्यूव) मे निकालकर इलेक्ट्रानो की एक सकीर्ण किरणावलि से परिवर्तित कि जाता है। इलेक्ट्रान की इस किरणावलि को सोने की एक वहुत ही पत पन्नी पर गिराते है, जिसकी मोटाई लगभग १०$^{-6}$ सें०मी० होती है। स उपकरण के भीतर अतिनिर्वात (हाई वैक्युअम) रखा जाता हे और प्रकीर्ण (स्कैटर्ड) इलेक्ट्रानो को एक प्रतिदीप्त (फ्लुओरेसेंट) परदे अथवा फो पट्टिका पर पडने दिया जाता है। पट्टिका को डिवेलप करने पर एक सम अभिलेख मिला, जिसमें स्पष्ट, तीक्ष्ण और एककेंद्रीय (कॉनसेंट्रिक) वलय
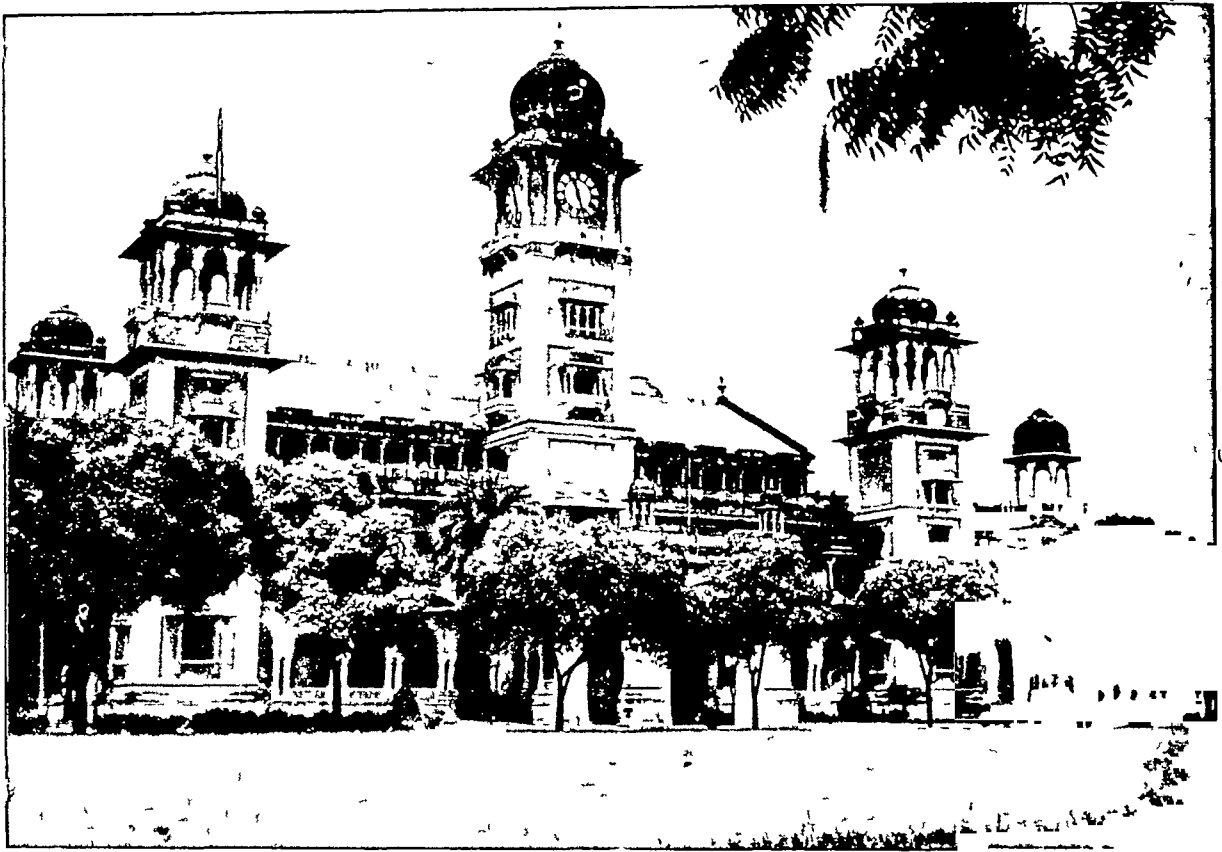
सिनेट हाल (प्रयाग विश्वविद्यालय), इलाहाबाद

आनंद भवन, इलाहाबाद
पंडित जवाहरलाल नेहरू का निजगृह ।

गया कि तीव्रगामी इलेक्ट्रान लघुतम तरंगदैर्घ्यवाले प्रकाश-किरण-पुंज के सदृश ही आचरण करते हैं, जिसके फलस्वरूप वे वैद्युत अथवा चुंबकीय बलक्षेत्रों द्वारा सुगमता से फोकस किए जा सकते हैं (इन बलक्षेत्र-उत्पादकों को इलेक्ट्रान-लेंज कहते हैं)। इस प्रकार १९३२ ई० में इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी के प्रायोगिक रूप का विकास हुआ।

विभेदनक्षमता—किसी सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता की माप वस्तु पर उन दो निकटतम बिंदुओं की दूरी है, जो इसके द्वारा प्राप्त प्रतिबिंब में पृथक् पृथक् दिखाई दें। प्रकाशसूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता **क्ष** निम्नलिखित सुविख्यात समीकरण से मिलती है

क्ष=**दै**/२**व** ज्या **दृ**,

जिसमें **दै** प्रयोग में लाए गए प्रकाश का तरंगदैर्घ्य है, **व** उस माध्यम (बहुधा वायु) का, जिसमें सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखी जानेवाली वस्तु स्थित है, वर्तनांक है और **दृ** अभिदृश्य ताल के अपर्चर का अर्धकोण है। वस्तु को अभिदृश्य ताल के अत्यंत निकट रखकर **दृ** को लगभग एक समकोण के बराबर और तेल या किसी दूसरे उपयुक्त द्रव में वस्तु को डुबाकर वर्तनांक **व** को लगभग १.६ के बराबर किया जा सकता है। अत: प्रकाशसूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता का अधिकतम मान प्रयोग में लाए हुए प्रकाश के तरंगदैर्घ्य के लगभग एक तिहाई के बराबर निकलता है। दृष्टिगोचर वर्णक्रम के मध्य के लिये, जिसका **दै**=५००० ऐंग्स्ट्रम (अर्थात् ५×१०^{-११} सें०मी०), विभेदनक्षमता **क्ष**=१.६×१०^{-५} सें०मी० और पारजंबु प्रकाश के लिये (जिसका **दै**=३×१०^{-११} सें०मी०) **क्ष**=$१०^{-५}$ सें०मी० के लगभग। यह वह न्यूनतम दूरी है जिसका विभेदन उत्तम प्रकाशसूक्ष्मदर्शी कर सकता है। अत: कोई भी प्रकाशसूक्ष्मदर्शी वस्तु पर के ऐसे दो बिंदुओं को, जिनके बीच की दूरी प्रयोग में लाए गए प्रकाश के तरंगदैर्घ्य के एक तिहाई से कम हो, प्रतिबिंब में पृथक् नहीं दिखा सकता। परंतु जब प्रकाशकिरणों के स्थान पर इलेक्ट्रानों का प्रयोग किया जाता है, तब डी ब्रागलीवाले तरंगदैर्घ्य का मान घटाकर विभेदनक्षमता को, यदि इलेक्ट्रानों का वेग अधिक कर दिया जाय, अत्यधिक बढ़ाया जा सकता है। ऐसा उस वोल्टता को, जिसके द्वारा इलेक्ट्रान को त्वरित किया जाता है, बढ़ाकर सुगमता से किया जा सकता है। यह निम्नांकित समीकरण से प्रकट है

दै=प्लं/द्रवे=१२.२७/$\sqrt{}$**वो** ऐंग्स्ट्रम=$१०^{-७}$/$\sqrt{}$**वो** सें०मी०,

जहाँ **वो** त्वरक वोल्टता का मूल्य है। यदि हम मान लें कि इलेक्ट्रान-सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता भी प्रकाशसूक्ष्मदर्शी के समान **दै**/२ **व** ज्या **दृ** के बराबर होती है तो हम **वो** का उपयुक्त मूल्य लेकर, **दै** को जितना छोटा करना चाहें, कर सकते हैं और इस प्रकार विभेदनक्षमता को चाहे जितना अधिक बढ़ाया जा सकता है। हाइसेनबर्ग के अनिर्धार्यता के सिद्धांत पर (उसे देखें) निर्धारित समीकरण का उपयोग करके सुगमता से दिखाया जा सकता है कि पूर्वोक्त कल्पना सत्य है।

यदि हम तप्त ऋणाग्र में उत्पन्न किए गए इलेक्ट्रानों का प्रयोग करें और उनको ६०,००० वोल्ट से त्वरित करें तो उनका तरंगदैर्घ्य लगभग ०.०५×१०^{-८} सें०मी० होगा, जो दृष्टिगोचर वर्णक्रम के मध्य के तरंगदैर्घ्य (५×१०^{-११} सें०मी०) का $१०^{-५}$ वाँ भाग है। तरंगदैर्घ्य के इतना कम होने के कारण विभेदनक्षमता लगभग $१०^{५}$ गुनी हो जानी चाहिए। परंतु वास्तव में विभेदनक्षमता का इतना अधिक बढ़ना संभव नहीं है, क्योंकि अपर्चर बहुधा छोटा होता है, तब भी यह १०० गुना तो अवश्य ही बढ़ जाती है। इस तरह इलेक्ट्रान-सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता साधारण सूक्ष्मदर्शी की अपेक्षा कहीं अधिक होती है (कम से कम १०० गुनी)।

चित्र १

आवर्धनक्षमता—नेत्र की विभेदनक्षमता लगभग ०.०१ सें०मी० (=१/२५० इंच) की होती है, अर्थात् नेत्र उन दो चिह्नों को, जिनके बीच की दूरी लगभग ०.०१ सें०मी० हो, पृथक् पृथक् देख सकता है। किसी वस्तु के आकार में न्यूनतम अंशों को देखने के लिये हमें उन्हें ०.०१ सें०मी० तक आवर्धित करना पड़ेगा। जैसा हम अभी ऊपर देख चुके हैं, वह न्यूनतम दूरी जिसका विभेदन सूक्ष्मदर्शी कर सकता है, $१०^{-५}$ सें०मी० है और इसका आवर्धन $१०^{-२}$ सें०मी० तक आवश्यक है। ऐसा करने के लिये १००० का आवर्धन होना चाहिए और जब पारजंबु प्रकाश का प्रयोग किया जाय, यह उपयोगी आवर्धन की सीमा है। दृष्टिगोचर वर्णक्रम के मध्य के लिये सूक्ष्मदर्शी की विभेदनसीमा १.६×१०^{-५} सें०मी० है। अत: जब ५×१०^{-११} सें०मी० के तरंगदैर्घ्यवाले प्रकाश का प्रयोग किया जाय, तो हमें ६२५ गुना आवर्धन करना चाहिए जो उपयोगी आवर्धन की सीमा होगी।

नेत्रों पर अधिक बल पड़ने से बचने के लिये यह उचित होगा कि आवर्धन को ५ गुना और बढ़ाया जाय और तब पारजंबु तथा दृष्टिगोचर प्रकाश के लिये आवर्धन क्रमानुसार लगभग ५००० और ३००० होगा। किसी सूक्ष्मदर्शी के उपयोगी आवर्धन को निकालने का सुविधाजनक नियम यह है—
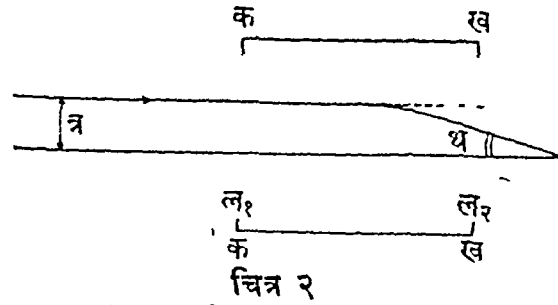
चित्र २

सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता **क्ष** और उसके उपयोगी आवर्धन का गुणनफल नेत्र की विभेदनक्षमता के, अर्थात् ०.०१ सें०मी० के, बराबर होता है।

सिद्धांत की दृष्टि से आवर्धन को हम कई पदों में जितना चाहें उतना बढ़ा सकते हैं। परंतु पूर्वोक्त नियम से अधिक बढ़ाने से कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि बिना पर्याप्त विभेदन के उच्च आवर्धन वैसा ही व्यर्थ है जैसा इस आशा से कि चित्र के आंशिक विवरण और अधिक स्पष्ट हो जायँगे, अस्पष्ट फोटो का आवर्धन करना। जिस प्रकार इलेक्ट्रान-सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता प्रकाशसूक्ष्मदर्शी की अपेक्षा बहुत अधिक है उसी प्रकार इसका वास्तविक आवर्धन भी बहुत अधिक है। १,००,००० के स्पष्ट आवर्धन प्राप्त किए जा चुके हैं।

फोकस की गहराई—किसी सूक्ष्मदर्शी के फोकस की गहराई उस दूरी से नापी जाती है जिसके भीतर फोटो-पट्टिका (अथवा प्रतिदीप्त परदे) को अक्ष के अनुदिश आगे पीछे, बिना उसपर प्राप्त प्रतिबिंब को धुँधला किए, हटाया जा सकता है। यह फोकस की गहराई ग=**दै**/(१–कोज्या **दृ**), जिसमें **दृ** अभिदृश्य ताल के अपर्चर का अर्धकोण है। इस कोण को इलेक्ट्रान-सूक्ष्मदर्शी में इसलिये बहुत कम रखा जाता है कि गोलीय एवं वार्णिक (क्रोमैटिक) त्रुटियों का प्रभाव कम हो। अत: इस यंत्र की फोकस की गहराई प्रकाशसूक्ष्मदर्शी की अपेक्षा कहीं अधिक होती है।

चित्र ३
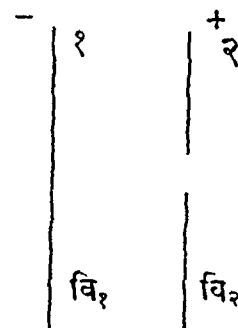
इलेक्ट्रान ताल—उपयुक्त स्थिर-विद्युत् अथवा चुंबक-बलक्षेत्र से प्रभावित कर इलेक्ट्रान किरणावलि को परदे पर उसी प्रकार फोकस किया जा सकता है जैसे ऋणाग्र-किरण-दोलन-लेखी (कथोड-रे ऑसिलोग्राफ) में। वैद्युत तथा चुंबकीय बलक्षेत्रों को इस प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता है कि वे इलेक्ट्रान किरणावलि के लिये ताल के सदृश ठीक उसी प्रकार व्यवहार करें जैसा काच का ताल प्रकाश की किरणों के लिये करता है। इस प्रकार के वैद्युत अथवा चुंबकीय क्षेत्रों की व्यवस्था को इलेक्ट्रान ताल कहते हैं।

स्थिर-विद्युत्-ताल समांतर धातुपट्टिकाओं का क्रम, जिनके समरेख केंद्रों पर गोल छेद हों और जिन्हें उपयुक्त विभवों पर स्थिर किया गया हो, अपने भीतर से जानेवाले इलेक्ट्रानों के लिये स्थिर-विद्युत्-ताल का काम करता है। ऐसे ताल के समांतर के लिये व्यंजक सुगमता से प्राप्त किया जा सकता है।

पत्रहेलना करके वे दोनो पति पत्नी की भाँति रहने लगे। यह सबध लिविस के मृत्युपर्यत कायम रहा।

लिविस की प्रेरणा से ही आप दर्शन छोडकर उपन्यासरचना की ओर आकर्षित हुई। आपकी पहली तीन कथाएँ 'सीन्स फ्रॉम क्लेरिकल लाइफ' के नाम से १८५८ में प्रकाशित हुई। इसके उपरात 'ऐडम बीड' (१८५९), 'दि मिल ऑन दि फ्लॉस' (१८६०) और 'साइलस मारनर' (१८६१) लिखे गए। ये तीनो रचनाएँ ग्राम्य जीवन पर आधारित हैं जिससे वे भली भाँति परिचित थी। इनमें हमे दीनहीनो के प्रति आपकी गहरी समवेदना के दर्शन होते हैं। 'रोमोला' (१८६३) को लिखने में आपने सर्वाधिक परिश्रम किया, परतु उसे सजीवता प्रदान करने मे आप पूर्णत सफल न हो सकी। फिर भी इस उपन्यास में टीटो मिलीमा का चरित्रचित्रण विशेष उल्लेखनीय है। 'फेलिक्स होल्ट' (१८६६) की कथा १८३२ के सुधारवादी आदोलन पर आधारित है। 'मिडिल मार्च' (१८७२) में, जो आपका सर्वोत्तम उपन्यास है, प्रातीय जीवन का पूर्ण और सफल चित्रण मिलता है। व्यापकता की दृष्टि से इसकी तुलना बालजाक और टालस्टाय की रचनाओ से की जाती है। आपकी अतिम रचना 'डेनियल डेरोडा' (१८७६) यहूदी जीवन पर आधारित है।

दीर्घकालीन उपेक्षा के अनतर जार्ज इलियट की रचनाएँ पाठको तथा आलोचको दोनो का ध्यान पुन आकृष्ट करने लगी है। [प्र०कु०स०]

इलियट, टी०एस० १९४८ के नोबेल-पुरस्कार-विजेता टी०एस० इलियट (१८८८—) आधुनिक युग की महानतम साहित्यिक विभूतियो में से है। २६ वर्ष की आयु मे आप अपनी मातृभूमि अमरीका छोडकर इग्लैंड मे बस गए और १९२७ में ब्रिटिश नागरिक बन गए। आपन नाटक, कविता और आलोचना तीनो क्षेत्रो में महान् ख्याति प्राप्त की है तथा आधुनिक युग के प्राय सभी प्रसिद्ध लेखको को प्रभावित किया है। वह स्वय डन, एज़रा पाउड तथा फ्रासीसी प्रतीकवादी कवि लॉफोर्ज द्वारा सबसे अधिक प्रभावित हुए हैं।

यद्यपि आपका पहला काव्यसग्रह 'प्रूफ्रॉक ऐड अदर ऑब्जरवेशस' १९१७ में प्रकाशित हुआ, तथापि आपको वास्तविक ख्याति 'दि वेस्टलैड' (१९२२) द्वारा प्राप्त हुई। मुक्त छद मे लिखे तथा विभिन्न साहित्यिक सदर्भो एव उद्धरणो से पूर्ण इस काव्य मे समाज की तत्कालीन परिस्थिति का अत्यत नैराश्यपूर्ण चित्र खीचा गया है। इसमे कवि ने जान बूझकर अनाकर्षक एव कुरूप उपमानो का प्रयोग किया हे जिससे वह पाठको की भावना को ठेस पहुँचाकर उन्हें समाज की वास्तविक दशा का ज्ञान करा सके। उसके मत में ससार एक 'मरुभूमि' है——आध्यात्मिक दृष्टि से अनुर्वर तथा भौतिक दृष्टि से ग्रस्त व्यस्त। इसके बाद की रचनाओ मे हमे एक दूसरा ही दृष्टिकोण मिलता है जो धार्मिकता की भावना से पूर्ण है और जिसका चरम विकास 'ऐश वेन्सडे' (१९३०) और 'फोर क्वार्टेट्स' (१९४४) मे हुआ।

आलोचना के क्षेत्र में आपका सबसे महत्वपूर्ण कार्य १७वी शताब्दी के लेखको, विशेषकर डन तथा ड्राइडेन की खोई हुई प्रतिष्ठा का पुन सस्थापन तथा मिल्टन एव शेली की भर्त्सना करना रहा है। दाते की भी आपने नई व्याख्या की है। वैसे तो आपने कई सौ आलोचनाएँ लिखी हैं, परतु 'दि सैक्रेड वुड' (१९२०), 'दि यूस ऑव पोएट्री ऐड दि यूस ऑव क्रिटिसिज्म' (१९३३) तथा 'ग्रान पोएट्री ऐंड पोएट्स' (१९५७) विशेष उल्लेखनीय है।

आपने अभी तक निम्नलिखित पाँच नाटको की रचना की है 'मर्डर इन दि कैथीड्रल' (१९३५), 'फैमिली रियूनियन' (१९३९), 'दि काकटेल पार्टी' (१९५०), 'दि कान्फिडेन्शल क्लार्क' (१९५५), 'दि एल्डर स्टेट्समैन' (१९५८)। ये सभी पद्य मे लिखे गए है एव रगमच पर लोकप्रिय हुए हैं। 'मर्डर इन दि कैथीड्रल' की फिल्म भी बन चुकी है। [प्र० कु० स०]

इलियट, सर हेनरी मेयर्स प्रसिद्ध इतिहासज्ञ तथा लेखक। जन्म १८०८ पिता जॉन इलियट, कमाडेंट, वेस्ट-मिन्स्टर। १८२६ में भारत आगमन। कई जिलो के कलेक्टर आदि रहकर १८४७ में कपनी सरकार के वैदेशिक सचिव। अत्यत तीव्रबुद्धि तथा अध्ययनशील। बहुमूल्य राजकीय सेवाओ के लिये के० सी० बी० की उपाधि प्राप्त। २३१ फारसी और अरबी के इतिहासग्रथो का सकलन एव सपादन किया, किंतु केवल एक खड प्रकाशित हो पाया। १८५३ मे मृत्यु हुई। उनकी एकत्रित सामग्री का प्रोफेसर जॉन डाउसन ने सपादन किया जो आठ खडो में 'ए हिस्ट्री ऑव इडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स्' के नाम से १८६६ से १८७७ तक प्रकाशित हुई। अन्य कृतियाँ 'ग्लौसरी ऑव इडियन जुडीशल ऐंड रेवेन्यु टर्म्स' (१८४५, द्वि० स० १८६०), 'मेमॉयर्स ऑव दी हिस्ट्री, फोकलोर ऐंड डिस्ट्रिब्यूशन ऑव दी रेसेज ऑव नार्थवेस्टर्न प्रोविन्सेज' जिसे जॉन बीम्स ने सपादित करके १८६९ में प्रकाशित किया।

स०ग्र०——इलियट ऐड डाउसन के प्रथम खड, बाल्स डिक्शनरी ऑव यूनीवर्सल बायोग्रफी, , डिक्शनरी ऑव नेशनल बायोग्रैफी।

[प० श०]

इलीरिया सयुक्त राज्य (अमरीका) के ओहायो राज्य का एक प्रमुख नगर है। यह ब्लैक नदी के तट पर समुद्रतल से ७३० फुट की ऊँचाई पर बसा हुआ है। यह न्यूयार्क सेंट्रल रेलवे का एक प्रसिद्ध स्टेशन है तथा ईरी झील से आठ मील दक्षिण स्थित है। यहाँ एक हवाई अड्डा भी है। इलीरिया कृषीय प्रदेश के हृदयस्थल मे स्थित होने के कारण खाद्यान्नो तथा फलो की बडी मडी रहा हे, परतु आज यह बडा औद्योगिक केद्र भी है जहाँ कृषीय मशीनें, भट्ठियाँ, नल, रासायनिक द्रव्य, चमड के सामान, मोज, बनियाइनें तथा खिलौने आदि बनाए जाते है। यहाँ बहुत सी सास्कृतिक सस्थाएँ है जो शिक्षा, समाजसेवा तथा मनोरजन के कार्यो मे सलग्न हैं। इनमे गेट्स मेमोरियल अस्पताल का नाम उल्लेखनीय है। यहाँ का कासकेड पार्क अपनी प्राकृतिक सुषमा के लिये प्रसिद्ध है। इसे सन् १८१७ ई० मे हेमान इली ने बसाया था, अत उन्ही के नाम पर नगर का नाम इलीरिया पड गया। सन् १८९२ ई० मे इसे नगर की श्रेणी प्राप्त हो गई थी। सन् १९५६ में इसकी जनसख्या ३६,५१० थी। [लि० रा० सि० क०]

इलेक्ट्रान परमाणु का एक अग है। पदार्थ अणुओ (मालेक्यूलो) से बने हैं और अणु को टुकड टुकडे करने से उन टुकडो में पदार्थ के गुण न रहेंगे (देखें **अणु**)। यह भी निश्चित है कि अणु स्वय परमाणुओ (ऐटमो) से बने रहते हैं, उदाहरणत, पानी के अणु में दो परमाणु हाइड्रोजन के और एक परमाणु आक्सिजन का रहता है। पहल विश्वास था कि परमाणु के टुकडे नही किए जा सकते, परतु २०वी शताब्दी के आरभ मे पक्का प्रमाण मिला कि परमाणु मे भी कई प्रकार के कण होते हैं, जिनमें सबसे छोटा कण इलेक्ट्रान है। आधुनिक विचार के अनुसार प्रत्येक परमाणु मे एक नाभिक (न्यूक्लियस) होता है और उसके चारो ओर एक या अधिक इलेक्ट्रान चक्कर लगाते रहते हैं। नाभिक मे एक या अधिक प्रोटान रहते हैं, उसमें न्यूट्रान भी रहते हैं, जिनकी सख्या प्राय प्रोटान के बराबर ही होती है। परमाणु के विविध अगो मे से इलेक्ट्रान का ही पता सर्वप्रथम चला।

ऋणाग्र किरणो के अध्ययन से सकेत मिला कि परमाणु से भी छोटे कण होते हैं (देखें **ऋणाग्र किरण**)। १९वी शताब्दी के अतिम भाग में इसपर बडा विवाद छिडा था कि ऋणाग्र किरणें वस्तुत कणो की बौछार हैं अथवा तरग। तब जे० जे० टामसन तथा अन्य वैज्ञानिको के कार्य ने सिद्ध कर दिया कि ये ऐसे कणो की बौछार हैं जिनका द्रव्यमान हाइड्रोजन परमाणु के द्रव्यमान का कुल १/१,८३७ होता है। इन्ही कणो को इलेक्ट्रान कहा गया। देखा गया कि ये अनेक पदार्थो से निकल सकते हैं और सब पदार्थो से निकले इलेक्ट्रान एक ही प्रकार के होते हैं।

सन् १९२७ तक सब प्रेक्षण इस कल्पना के अनुकूल थे कि इलेक्ट्रान नन्हें नन्हे कण हैं जिनपर वैद्युत आवेश रहता है। उनकी नाप का भी आभास मिल गया, परतु १९२७ मे पता चला कि इलेक्ट्रान किरणावलियो का मणियो के पृष्ठ पर व्याभग (डिफ्रैक्शन) होता है, जो तभी समझाया जा सकता है जब इलेक्ट्रान-किरणावलि तरगजनित हो (देखें **इलेक्ट्रान व्याभग**)। इस समस्या का हल क्वाटम-यात्रिकी से प्राप्त हुआ। मोटे हिसाब से परिणाम यह है कि किसी भी पदार्थ के वर्णन के लिये उसमें कण तथा तरग दोनो के गुणो का समावेश करना आवश्यक है। इलेक्ट्रान मे आवेश भी है, द्रव्यमान भी, तरगदैर्घ्य भी और घूर्णन (स्पिन) भी।

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी और उससे लिए गए कुछ चित्र
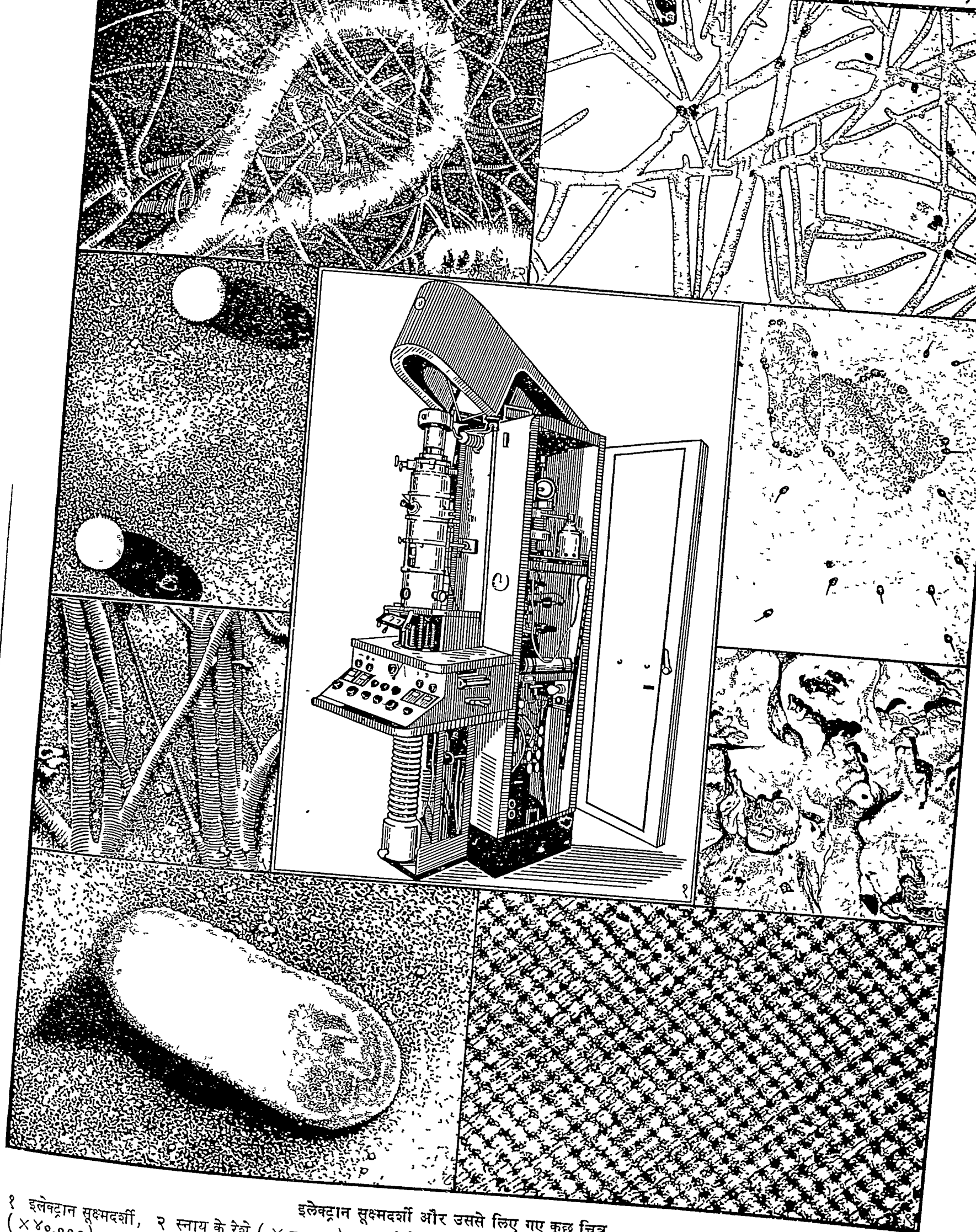
१ इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी, २ स्नायु के रेशे (×८,०००), ३ टोमैटो के पत्तों मे रोगोत्पादक विषाणु (×५०,०००), ४ कृत्रिम रबर के कण (×४०,०००), ५ शारीरिक संयोजी ऊतक के रेशे (×६,०००), ६ जीवाणुभक्षकों का जीवाणुओं पर आक्रमण (×१०,०००), ७ टूटे

$$य^{म'} = क^{म}_{न} य^{न} \qquad (१४)$$

$$ग_{ल र} क^{ल}_{म} क^{र}_{न} = ज_{म न} \qquad (१५)$$

ऐसे तो मान ही हम एक ऐसी प्रवर्तिनी, ला, भी ज्ञात कर सकते हैं जो नए अक्षों के तरंगफलन सा' को पुराने फलन से समीकरण

$$सा' = ला\ सा \qquad (१६)$$

द्वारा संबंधित करे और सा' वैसा ही समीकरण संतुष्ट करे जैसा सा,

अर्थात् $$श्रग^{म} \frac{तसा'}{तय^{म'}} + द्रसा' = ० । \qquad (१७)$$

यदि (१०) में हम रूपांतरण (१४) और (१६) करें तो वह

$$श्रक^{न}_{म} ग^{म} \frac{त}{तय^{न'}} (ला^{-१} सा') + द्रला^{-१} सा' = ०$$

हो जायगा। या

$$श्रक^{न}_{म} (ला\ ग^{म}\ ला^{-१}) \frac{तसा'}{तय^{न'}} + द्रसा' = ०$$

(ला द्वारा बाई ओर को गुणा करने पर)।

यहाँ हमने यह माना है कि ला निर्देशांक $य^{म'}$ पर निर्भर नहीं है। यह समीकरण (१७) के समान तब होगा जब

$$क^{न}_{म}\ ला\ ग^{म}\ ला^{-१} = ग^{न} । \qquad (१८)$$

$क_{र}^{न}$ से गुणा और (१५) का उपयोग करने पर यह हो जायगा

$$ला\ ग^{म}\ ला^{-१} = ग^{र}\ क_{र}^{म} । \qquad (१९)$$

यदि (१८) की जगह सूक्ष्म रूपांतर (इनफिनिटेसिमल रूपांतर)

$$क^{म}_{न} = उ^{म}_{न} + ड^{म}_{न},$$ (२०)

$$ड^{मन} = -ड^{नम},$$

करें तो ला को तुरंत ही ज्ञात कर सकते हैं। ऐसे रूपांतरों के लिये हम ला को यों लिख सकते हैं

$$ला = १ + \tfrac{१}{४} ड_{मन} टा^{मन}, \qquad (२१)$$

$$टा^{मन} = -टा^{नम} ।$$

तब (१९) से

$$\tfrac{१}{४} ड_{रन} (टा^{रन} ग^{म} - ग^{म} टा^{रन}) = ग^{न} ड_{न}^{म},$$

अर्थात् $\tfrac{१}{४} ड_{रन} (टा^{रन} ग^{म} - ग^{म} टा^{रन} - ज^{रम} ग^{न} + ज^{नम} ग^{र}) = ०,$

अर्थात् $$टा^{रन} ग^{म} - ग^{म} टा^{रन} = ज^{रम} ग^{न} - ज^{नम} ग^{र} \qquad (२२)$$

यदि हम $$टा^{रन} = \tfrac{१}{२}(ग^{र} ग^{न} - ग^{न} ग^{र}) = \tfrac{१}{२} ग^{[रन]} \qquad (२३)$$

रख दें तो (२२) संतुष्ट हो जायगा। क्योंकि सतत रूपांतर बहुत से सूक्ष्म रूपांतरों के जोड़कर बनाए जा सकते हैं, इसलिये स्पष्ट है कि डिरैक समीकरण (१०) आपेक्षिकतानुकूल रूपांतर (१४) के प्रति अचर है। यह भी स्पष्ट है कि सा का रूपांतर (१६) बहुदिष्टों के रूपांतर से भिन्न है।

बहुदिष्ट (टेंसर)—समीकरण (१०) से हम सा के हर्मीटियन संवध, सा*, के लिये समीकरण ज्ञात कर सकते हैं। (१२) का उपयोग करने पर

$$-श्र \frac{तसा^{*}}{तय^{४}} ग^{४} + श्र \sum_{न=१}^{३} \frac{तसा^{*}}{तय^{न}} ग^{न} + द्रसा^{*} = ०$$

यह होगा। यदि दाई ओर ग⁴ से गुणा करें और सा* की जगह

$$सा^{।} = सा^{*} ग^{४} \qquad (२४)$$

काम में लाएँ, तो सा। यह समीकरण संतुष्ट करेगा

$$-श्र \frac{तसा^{।}}{तय^{म}} ग^{म} + द्रसा^{।} = ० । \qquad (२५)$$

यदि रूपांतर (१४) और (१६) करने पर सा।

$$सा^{।}{}' = सा^{।}\ ला^{-१} \qquad (२६)$$

हो जाय, तो समीकरण (२५) अचर रहेगा।

(१६) और (२६) को गुणा करने पर हम देखते है कि

$$सा^{।}{}'\ सा' = सा^{।}\ सा । \qquad (२७)$$

अत सा।सा अचर है।

यदि (१८) की बाई ओर को सा।' द्वारा और दाई ओर को सा' द्वारा गुणा करें तथा (१६) और (२६) के अनुसार $ला^{-१}सा'$ की जगह सा और सा।' ला की जगह सा। रख दे तो हमें मिलेगा

$$क^{न}_{म}\ सा^{।}\ ग^{म}\ सा = सा^{।}{}' ग^{न}\ सा' ।$$

इससे स्पष्ट है कि सा। ग^म सा एकदिष्ट है।

ग^न के लिये वैसे ही संबंध (१८) को

$$क^{र}_{स}\ ला\ ग^{स}\ ला^{-१} = ग^{र}$$

से गुणा करने पर हमें मिलेंगे

$$क^{र}_{स}\ क^{न}_{म}\ ला\ ग^{म}\ ग^{स}\ ला^{-१} = ग^{र}\ ग^{न} ।$$

इससे विदित है कि (२८) की तरह फिर

$$क^{र}_{स}\ क^{न}_{म}\ सा^{।} ग^{म}\ ग^{स}\ सा = सा^{।}{}' ग^{र}\ ग^{न} सा' \qquad (२९)$$

अत सा। ग^म ग^स सा दूसरी श्रेणी (रैंक) का बहुदिष्ट है। उसे हम एक सममित (सिमेट्रिकल) और एक असममित (ऐंटीसिमेट्रिकल) भागों में विभाजित कर सकते है

$$ग^{म} ग^{न} = \tfrac{१}{२}(ग^{म} ग^{न} + ग^{न} ग^{म}) + \tfrac{१}{२}(ग^{म} ग^{न} - ग^{न} ग^{म})$$

$$= ज^{मन} + ग^{[मन]} \qquad (३०)$$

[देखिए (१३) और (२३)]। इनमे $ज^{मन}$ तुच्छ है, अत $सा^{।} ग^{[मन]} सा$ ही महत्वपूर्ण असममित बहुदिष्ट है।

भौतिकी में ये बहुदिष्ट अत्यत महत्वपूर्ण हैं। इसलिये हम इस प्रकार की सब संभावनाओं को यहाँ लिखे देते है

अदिष्ट शा = सा।सा,

एकदिष्ट $भ^{म} = सा^{।} ग^{म} सा,$

दूसरी श्रेणी का बहुदिष्ट $मा^{मन} = श्रसा^{।} ग^{[मन]} सा,$

तीसरी श्रेणी का बहुदिष्ट (या मिथ्या एकदिष्ट) $वा^{मनप} = सा^{।} ग^{[मनप]} सा$

चौथी श्रेणी का बहुदिष्ट (या मिथ्यादिष्ट)

$$पा^{मनपफ} = श्रसा^{।} ग^{[मनपफ]} सा । \qquad (३१)$$

$$ग^{[मनप]} = \tfrac{१}{६}(ग^{म}ग^{न}ग^{प} - ग^{न}ग^{म}ग^{प} + ग^{न}ग^{प}ग^{म} - ग^{म}ग^{प}ग^{न} + ग^{प}ग^{म}ग^{न} - ग^{प}ग^{न}ग^{म}),$$

$$ग^{[मनपफ]} = \tfrac{१}{२४}(ग^{म}ग^{न}ग^{प}ग^{फ} - ग^{म}ग^{न}ग^{फ}ग^{प} + इत्यादि)$$

$$\sim ग^{(५)} ।$$

विद्युच्चुबकीय अत प्रभाव—यदि इलेक्ट्रान और विद्युच्चुबकीय क्षेत्र के बीच अत प्रभाव भी (१०) में संमिलित करें तो वह

$$श्रग^{म} \left(\frac{त}{तय^{म}} + श्रआका_{म}\right) सा + द्रसा = ०, \qquad (३२)$$

अर्थात् $$श्रग^{म} \frac{तसा}{तय^{म}} + द्रसा = आग^{म}का_{म}सा \qquad (३३)$$

हो जायगा। यहाँ $का_{म}$ विद्युच्चुबकीय क्षेत्र के विभव है

$$फा_{मन} = \frac{तका_{न}}{तय^{म}} - \frac{तका_{म}}{तय^{न}} । \qquad (३४)$$

यदि (३३) पर बाईं ओर से $\left(-श्रग^{न}\frac{त}{तय^{न}} + द्र\right)$ द्वारा क्रिया करें तो वह हो जायगा

$$(\Box^{२} + द्र^{२})\ सा = आ\left(-श्रग^{न}\frac{त}{तय^{न}} + द्र\right) ग^{म} का_{म}\ सा$$

$$= आ\left[-श्रग^{न} ग^{म}\left(\frac{तका_{म}}{तय^{न}} सा + का_{म}\frac{तसा}{तय^{न}}\right) + द्रग^{म} का_{म}\ सा\right]$$

$$= आका_{म}\left[-श्र\left(२ज^{मन} - ग^{म} ग^{न}\right)\frac{तसा}{तय^{न}} + द्रग^{म}\ सा\right]$$

ल=क स थ रखकर सकलन करने पर,

$$\int \text{क्षे}_{\text{त}}^{2}\ \text{ताल} = 2\pi^{2}(\text{मधा})^{2}/200\ \text{क}$$

और $$\text{अं} = 800\ \text{क}(\text{सं}_{\circ}/\text{मधा})^{2}/3\pi^{2}$$

जिनमें $$\text{सं}_{\circ} = \text{ग्रोष}/\text{ई}\ ।$$

अं के लिये पूर्वोक्त व्यजक स्पष्टतया प्रकट करते हैं कि चुवकीय ताल का सगमातर ऋण है, अत यह उत्तल ताल के सदृश काम करता है।

यह रुचिकर होगा कि अं के अतिम व्यजक की तुलना उससे की जाय जो एक लवी परिनालिका (सॉलेनॉएड) को कुंतल-सगमित-करण (हेलिक्ल फोकसिंग) मे आवश्यक होती है। जब इलेक्ट्रान ऐसी परिनालिका में से होकर जाते हैं तो वे अक्ष के इधर उधर सर्पिल वक्र में चलते हैं (चित्र ५)।
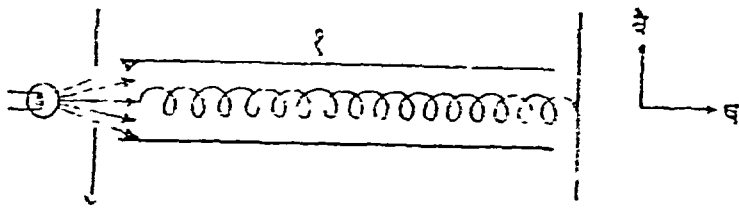
चित्र ५

इलेक्ट्रान द्वारा वनाए गए पथ की वक्रता-त्रिज्या क्र देनेवाला समीकरण यह है:

$$\text{द्रवे}^{2}/\text{क्र} = \text{क्षेईवे}/\text{ग},$$

और एक वृत्त चलने मे लगनेवाला समय स

$$= 2\pi\text{क्र}/\text{वे} = 2\pi\text{द्रग}/\text{क्षेई}\ ।$$

इस प्रकार इलेक्ट्रान जो दूरी अक्ष के अनुदिश चलेगा वह

$$\text{पस} = 2\pi\text{सं}_{\circ}/\text{क्षे}$$

होगी। यदि इस दूरी को हम अ से प्रकट करें तो

$$\text{अ} = 5\ \text{सं}_{\circ}\ \text{वा}/\text{मधा},$$

जिसमें वा परिनालिका की लवाई है और म उसके कुल चक्रो की सख्या है, धा धारा अपियरो में है और परिनालिका के भीतर का चुवकीय वलक्षेत्र क्ष है, जो इस प्रकार प्राप्त होता है:

$$\text{क्षे} = 4\pi\ \text{मधा}/10\ \text{वा}\ ।$$

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की संरचना एवं प्रयोग—इस यंत्र में इलेक्ट्रानो का स्रोत धातु का एक तप्त ततु होता है (चित्र ६)। यही ऋणाग्र है। इन इलेक्ट्रानो को एक उच्च विभव द्वारा त्वरित कर धनाग्र (ऐनोड) के बीच में के एक छोटे छिद्र में से निकाला जाता है—यह धनाग्र एक पट्टिका अथवा वेलन (सिलिंडर) होता है जिसे एक उपयुक्त विभव पर रखा जाता है। एक उत्तल ताल ता₁, जो वैद्युत धारा धारण किए चुंबकीय वलक्षेत्र उत्पन्न करनेवाली कुडली होती है, इन इलेक्ट्रानो की लगभग समानातर सकीर्ण किरणावलि वना देती है जिसे निरीक्षण की जानेवाली वस्तु कख से टकराने दिया जाता है। यह वस्तु इन इलेक्ट्रानो का प्रकीर्णन (विखरना) अपनी सरचना के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार से करती है। जिन वस्तुओ का मावग्रणत निरीक्षण किया जाता है वे हैं कीटाणु तथा उनका आतरिक ढाँचा, बड़े कलिल (कलॉयड) आदि। वस्तु एक वहुत महीन झिल्ली के रूप में होती है और उसे एक सूक्ष्म आवरण में रखा जाता है जिसमें उसे वद करने की व्यवस्था होती है। तब आती है अभिदृश्य ताल कुडली ता₂ जो वस्तु द्वारा विकीर्ण इलेक्ट्रानो को फोकस करती है और वस्तु के वास्तविक प्रतिविंव प्र₁ का प्रक्षेप करती है; यही आवर्धन का प्रथम चरण है। प्रक्षेपी ताल कुडली ता₃ द्वारा अंतिम से पहल वना प्रतिविंव का एक भाग क₁ख₁ का और आवर्धन किया जाता है और यह अतिम प्रतिविंव के रूप मे प्रतिदीप्त (फ्लुओरेसेंट) परदे अथवा फोटो पट्टिका पर पडता है। सारे उपकरण को निर्वात अवस्था मे रखा जाता है और ऐसी व्यवस्था होती है कि निर्वात में विना विघ्न डाले वस्तु एव कैमरा यत्र में रखा जा सके। प्रकाशदर्शन (एक्सपोज़र) के समय चुवकीय तालो ता₁, ता₂, ता₃ में धारा को पूर्णतया स्थिर रखा जाता है, अन्यथा सगमातर में परिवर्तन के कारण प्रतिविंव में धुंधलापन आ जायगा।

प्रकाशसूक्ष्मदर्शी से तुलना—इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी एक प्रकार से प्रकाशसूक्ष्मदर्शी का ही प्रतिरूप है जिसकी तुलना के हेतु चित्र ७ द्रष्टव्य है। इस (प्रकाश) सूक्ष्मदर्शी में एक पर्याप्त शक्तिशाली प्रकाशस्रोत से आनेवाली किरणें उत्तल ताल ता₁ द्वारा वस्तु कख पर फोकस की जाती हैं। वस्तु से निकली किरणों को अभिदृश्य ताल ता₂ द्वारा प्रतिविंव प्र₁ के रूप में फोकस की जाती हैं, जो आवर्धन का प्रथम चरण है। इस बीच के प्रतिविंव के एक भाग क₁ख₁ का प्रक्षेपी ताल ता₃ द्वारा और आवर्धन कर उसे वास्तविक और आवर्धित प्रतिविंव के रूप में एक प्रतिदीप्त परदे अथवा फोटो पट्टिका पर फोकस किया जाता है। साधारण सूक्ष्मदर्शी में अभिनेत्र ताल ता₃ दृष्टिगोचर वर्णक्रम के प्रकाश से प्रभासित वस्तु का प्रतीयमान (वर्चुअल) एव आवर्धित प्रतिविंव वनाता है। किंतु जब वस्तु को दृष्टिगोचर के वदले पारजंबु प्रकाश मे रखा जाता है तो प्रक्षेपी ताल ता₃ को ऐसे स्थान पर रखा जाता है कि वह वास्तविक एव आवर्धित प्रतिविंव प्रदीप्त परदे अथवा फोटो पट्टिका पर वनाए।

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की जातियाँ—जैसा ऊपर वर्णन किया गया है, इलेक्ट्रान किरणावलियो को फोकस करने के लिये स्थिर वैद्युत ताल अथवा चुवकीय ताल प्रयोग में लाए जा सकते हैं। जिन यंत्रो मे स्थिर वैद्युत तालो का प्रयोग होता है उन्हे स्थिर वैद्युत इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी कहते हैं और जिनमें चुवकीय तालो का प्रयोग होता है उन्हें चुवकीय इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी कहते हैं। इन दो प्रकार के इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शियो की भी दो श्रेणियाँ हैं (१) उत्सर्जन (एमिशन) जाति की और (२) पारगमन (ट्रैंसमिशन) जाति की। उत्सर्जन जाति के इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की रचना सवसे पहले की गई थी। इस सूक्ष्मदर्शी मे आवर्धन की जानेवाली वस्तु ही इलेक्ट्रानो का स्रोत होती है जिनको वहुधा वैद्युत विकिरण द्वारा प्राप्त किया जाता है। पारगमन जाति के इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी सवसे अधिक सफल एव सवसे अधिक उपयोगी इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी हैं। इनसे जिन वस्तुओ की जाँच की जाती हैं उन्हें महीन झिल्लियो के रूप में लेकर उनके पार इलेक्ट्रान भेजे जाते हैं

चित्र ६

क्योंकि विना पट्टिका को गरम किए पट्टिका से इलेक्ट्रान नही निकलेंगे। इस कारण नली में इलेक्ट्रान धारा केवल एक ही दिशा मे प्रवाहित की जा सकती है। यदि प्रत्यावर्ती (ऑल्टरनेटिंग) धारा के स्रोत को एक द्विध्रुवी और विद्युतीय भार (इलेक्ट्रिकल लोड) के, जैसे किसी प्रतिरोधक (रेजिस्टर) के, श्रेणीसबध (कबिनेशन) के आर पार लगाया जाय तो धारा केवल एक ही दिशा मे वहेगी और प्रत्यावर्ती के आधे चक्र मे कोई धारा नही प्रवाहित होगी। इन दशाओ मे नली प्रत्यावर्ती धारा के बदले विद्युत् को भार में केवल एक दिशा में चलने देती है।

चित्र २ मे पट्टिक धारा तथा पट्टिक वोल्टता का सबध दिखाया गया है। पहले पट्टिक धारा धीरे धीरे वढती है, फिर कुछ शीघ्रता से और
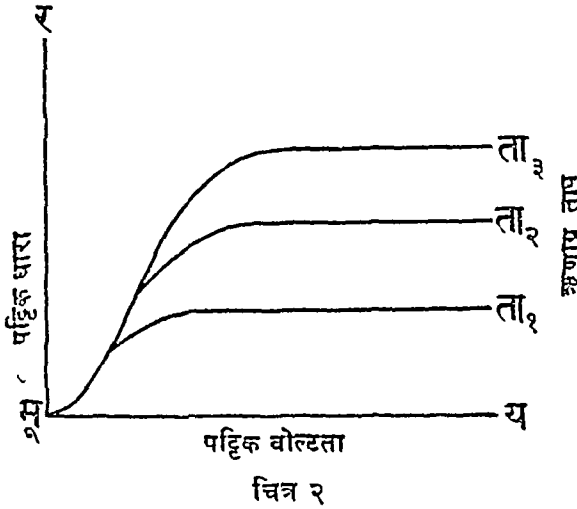
चित्र २

अत मे स्थिर हो जाती है, जिसे सतृप्त धारा (सैचुरेटेड करेट) कहते हैं। यह सतृप्ति अतरण-आवेश (स्पेस चार्ज) के कारण हो जाती है, जो भटके हुए इलेक्ट्रानो के कारण ऋणाग्र के निकट प्रकट हो जाता हे।

द्विध्रुवी में पट्टिक धारा निम्नलिखित समीकरण द्वारा प्रदर्शित की जा सकती है

$$धा_{द} = क\, वो_{द}^{\frac{3}{2}} \qquad (१)$$

इसमे $धा_{द}$=द्विध्रुवी मे पट्टिक धारा, क=वह नियताक जो नली की ज्यामिति (आकृति) पर निर्भर रहता है, $वो_{द}$=द्विध्रुवी की पट्टिक वोल्टता।

द्विध्रुवी के उपयोग—जैसा ऊपर वताया जा चुका है, द्विध्रुवी में विद्युद्धारा केवल एक ही दिशा मे प्रवाहित होती है। इस कारण इस नली का उपयोग प्रत्यावर्ती धारा के ऋजुकरण मे किया जाता है। इससे प्रत्यावर्ती धारा दिष्ट धारा (डाइरेक्ट करेंट) मे परिवर्तित हो जाती हे। इसको 'अर्ध तरग ऋजुकरण' (हाफ वेव रेक्टिफिकेशन) कहते है। उन द्विध्रुवियो को, जो उच्च विभव-प्रत्यावर्ती धारा के ऋजुकरण मे प्रयुक्त होते है, केनाट्रान कहते है।

गैसयुक्त द्विध्रुवी का उपयोग शक्तिशाली धारा के ऋजुकरण में किया जाता है, उदाहरणत सचायक वैटरियो (ऐक्युम्युलेटर्स) को आवेष्टित (चार्ज) करने में "टगर" ऋजुकारी एक गैसयुक्त ऋजुकारी है।

त्रिध्रुवी—लीवेन ने जर्मनी मे और ली द फॉरेस्ट ने अमरीका में एक महत्वपूर्ण खोज की। उन्होने द्विध्रुवी के दोनो ध्रुवो के मध्य एक अतिरिक्त ध्रुव लगा दिया और यह पाया कि इस प्रकार की नली, जिसे त्रिध्रुवी कहते हैं, वहुत ही लाभकारी है।

इस तृतीय ध्रुव की अनुपस्थिति में, जैसा पहले वताया जा चुका है, नली में उष्मायनिक धारा तभी प्रवाहित होती हे जब धनाग्र ऋणाग्र की अपेक्षा धन विभव पर होता है। इसको पट्टिक धारा कहते है। यह पट्टिक वोल्टता के साथ साथ तव तक वढती है जब तक अतरण-आवेश प्रकट नही होता। उसके प्रकट हो जाने पर यह स्थिर हो जाती है, अर्थात् पट्टिक धारा पट्टिक वोल्टता के वढने पर नही वढती। जब तीसरे ध्रुव को नली के दो ध्रुवो के बीच मे लगा दिया जाता है तो वह इस "अतरण-आवेश" का नियत्रण करने लग जाता है। इस कारण ग्रिड को अतरण-आवेश-नियत्रक कह सकते है। यदि ग्रिड विभव ऋणाग्र विभव से कम रहता है तो ग्रिड इलेक्ट्रानो को पीछे की ओर फेंक देती है और पट्टिक धारा कम हो जाती हे। यदि ग्रिड विभव ऋणाग्र विभव से अधिक रहता है तो पट्टिक धारा वढ जाती है। फिर, पट्टिक धारा मे ग्रिड धारा अथवा ग्रिड वोल्टता के साथ का परिवर्तन एक अन्य लाभकारी गुण है। ग्रिड धारा अथवा ग्रिड वोल्टता मे थोडा ही परिवर्तन पट्टिक धारा में पर्याप्त परिवर्तन ला सकता है। इस युक्ति का उपयोग प्रवर्धको में करते है।

पट्टिक धारा तीन स्वतत्र चरो (इडिपेंडेंट वेरियेबुल्स) पर निर्भर रहती है। वे हैं पट्टिक वोल्टता, ग्रिड वोल्टता तथा ऋणाग्र को गरम करने के लिये प्रयुक्त वोल्टता। जब उष्मा वोल्टता को इतना अधिक वढा दिया
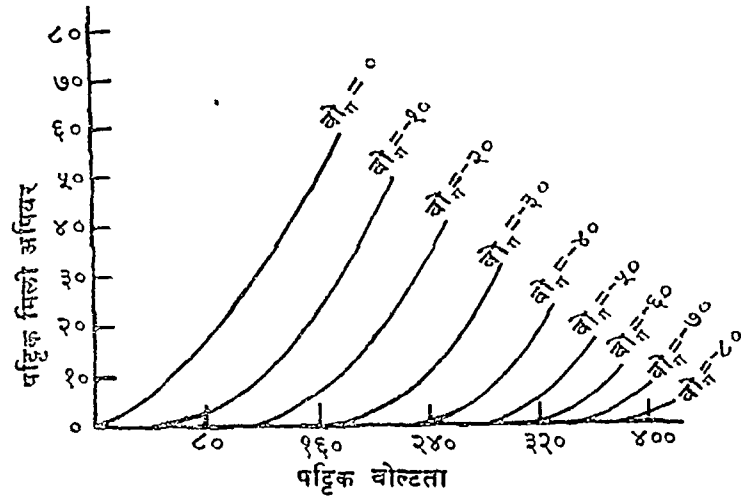
चित्र ३

जाता है कि पर्याप्त उत्सर्जन होने लगे, तो धारा केवल अतरण-आवेश से नियत्रित होती है। तब पट्टिक वोल्टता केवल दो स्वतत्र चरो का फलन (फकशन) रह जाती हैं। वे ह $वो_{द}$ और $वो_{ग}$ (ग्रिड वोल्टता)। इस फलन को एक समतल में किसी वक्र से प्रदर्शित नही कर सकते। यह त्रि-आयमिक (थ्री-डाइमेशनल) सतह मे ही प्रदर्शित किया जा सकता है। यद्यपि इस
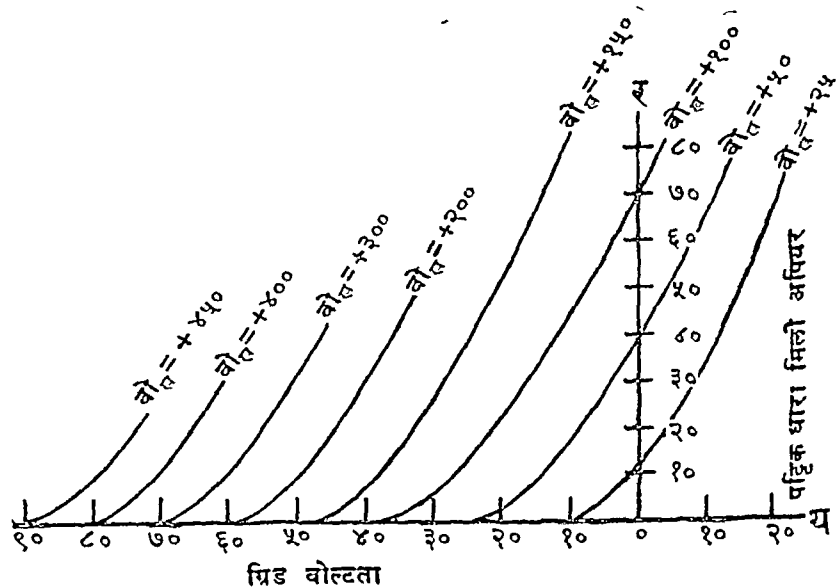
चित्र ४

प्रकार की वक्र रेखा मे विशेष सूचना प्राप्त की जा सकती है, तो भी इसको प्रदर्शित करने में वहुत असुविधा है। इस कारण इसको तीन प्रकार की

निम्नाकित पट्टिक वोल्टता खड में एक ऐसी विशेषता है जो इस नली को कुछ कार्यो के लिये उपयोगी बना देती है। चित्र ६ में अकित किए गए वक्रों में विंदु क तथा ख के बीच पट्टिक-लाक्षणिक-वक्र की प्रवणता ऋणात्मक है। इस खड में पट्टिक वोल्टता के वढने पर पट्टिक धारा कम हो जाती है। दूसरे शब्दो में इसका तात्पर्य यह है कि नली का पट्टिक प्रतिरोध ऋणात्मक है। इसलिये जब चतुर्ध्रुवी को समस्वरित परिपथ (ट्यूड सरकिट) से युग्मित किया जाता है तो यह समस्वरित परिपथ के दोलन का सहायक हो जाता है। इस प्रकार के चतुर्ध्रुवी के उपयोग में नली को डाइनाट्रान कहते हैं।
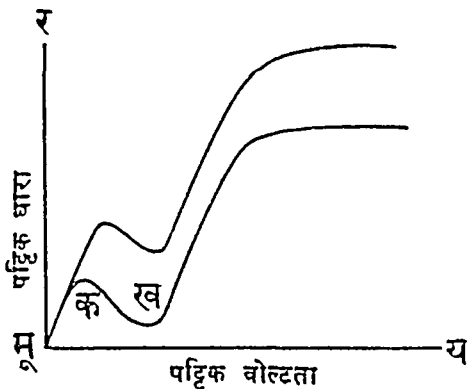
चित्र ६

इसके अतिरिक्त चतुर्ध्रुवी नलियो का विशेष उपयोग उच्च शक्ति-प्रवर्धक मे होता है।

पचध्रुवी—चतुर्ध्रुवी के उपयोग में एक दोप है। यह है पट्टिक का गौण उत्सर्जन। पट्टिक से जब अत्यत वेगगामी उष्मायनिक इलेक्ट्रान टकराते हैं तो पट्टिक से गौण उत्सर्जन होने लगता है। इस क्रिया का पूर्ण विवेचन उष्मायन शीर्षक के अतर्गत किया गया है।

पट्टिक से गौण इलेक्ट्रानो के उत्सर्जन द्वारा और उनके आवरण की ओर आकर्षित हो जान के कारण धनाग्र लाक्षणिक में एक ऐंठन आ जाती है। इस ऐंठन के कारण नली में विकृति तथा अस्थिरता आ जाती है। इसको दूर करने के लिये एक तृतीय ग्रिड, आवरण ग्रिड तथा धनाग्र के बीच में, लगा देते हैं। इस ग्रिड को दमनकारी ग्रिड (सप्रेसर ग्रिड) कहते हैं तथा इस नली को, जिसमें पाँच ध्रुव होते हैं, पचध्रुवी कहते हैं। दमनकारी ग्रिड ऋणाग्र से प्राय अत सवधित रहता है। इसका कार्य गौण उत्सर्जन-इलेक्ट्रान को दवाना है। मुख्य इलेक्ट्रान धारा पर दमनकारी ग्रिड की उपस्थिति का कोई विशेष प्रभाव नही पडता। यह केवल गौण उत्सर्जन का अवरोध करता हे। इस दमनकारी ग्रिड की उपस्थिति के कारण जो प्रभाव पट्टिक लाक्षणिक पर होता है उसे चित्र ७ में अकित किया गया है।

पचध्रुवी का उपयोग अधिकतर उच्च आवृत्ति पर विकृतिरहित प्रवर्धन में होता है। इस नली ने प्राय रेडियो-आवृत्ति-विभव-प्रवर्धक में चतुर्ध्रुवी के उपयोग को विस्थापित कर दिया है। इसका कारण यह है कि पचध्रुवी के उपयोग से मध्यम-पट्टिक-विभव पर उच्च विभवप्रवर्धन होता है।

पचध्रुवी तथा चतुर्ध्रुवी मे कभी कभी नियत्रक ग्रिड को एक विशेष अभिप्राय से एक समान नही वनाते। दोनो सिरो पर ग्रिड-तारो के अतराल को कम कर देते हैं। इस प्रकार की नली वहुत सी नलियो के समातर समूह के रूप में कार्य करती है और इन नलियो के भिन्न भिन्न प्रवर्धन गुणन खड होते हैं। जैसे ही ग्रिड वोल्टता को ऋणात्मक कर देते है, वैसे ही ग्रिड के उच्च प्रवर्धन-गुणनखड के भाग कट जाते हैं और
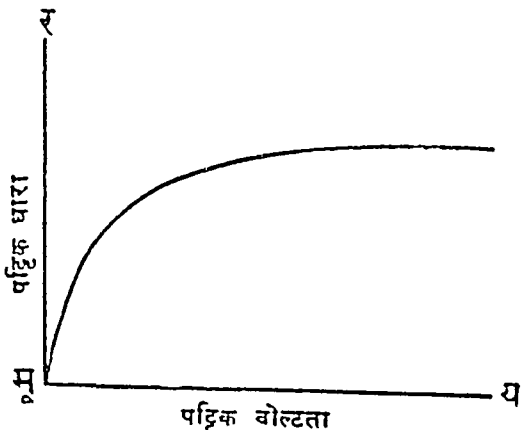
चित्र ७

उनमें इलेक्ट्रान धारा नही वाहित होती, किंतु अन्य भागो पर कोई प्रभाव नही पडता। यदि ग्रिड ऋणात्मक है तो इस भाग से भी इलेक्ट्रान धारा वह सकती है। इसलिये इलेक्ट्रान धारा प्राय स्थिर रहती है और प्रवर्धन गुणनखड मे परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार की नली को चर प्र-नली (वेरियेवुल म्यू ट्यूव) कहते हैं। इसका उपयोग अधिकतर स्वत चालित उद्घोषतानियत्रक (आटोमैटिक वॉल्यूम कट्रोल) के परिपथो मे होता है।

पुजशक्ति नली चतुर्ध्रुवी तथा पचध्रुवी बनाने के उपरात यह बोध हुआ कि आवरण ग्रिड तथा पट्टिक के वीच के अतरण-आवेश (स्पेस चार्ज) का उपयोग गौण उत्सर्जन के बाधक के रूप मे किया जा सकता हैं। पुजशक्ति नली मे अतरण-आवेश का उपयोग इसीलिये करते है।

हेलिकल नियत्रक ग्रिड तथा आवरण ग्रिड के तारत्व को समान रखा जाता है और उनके तारो को इस प्रकार लगाया जाता है कि उन इलक्ट्रानो को एक वेलनाकार सतह मे एकत्र कर दे जो पट्टिक तथा आवरण ग्रिड के वीच मे हो। इस कारण यह वेलनाकार सतह ऋणाग्र के विभव पर होती है और पट्टिक से उत्सर्जित इलेक्ट्रानो को पीछे की ओर फेंक देती है। इस प्रकार यह गौण उत्सर्जन को रोकने में सफल होती है। कभी कभी कुछ विशष पुजशक्ति नलियो मे एक और दमनकारी ग्रिड लगा देते है, परतु अतरण-आवेश द्वारा बनाई गई वेलनाकार सतह गौण उत्सर्जन को रोकने मे विशेष प्रभावशाली होती है। एक पुजशक्ति नली का पट्टिक लाक्षणिक चित्र ८ मे दिखाया गया है।

चित्र ८ मे अकित वक्र रेखा मे यह विशेषता है कि वह अधिक तीक्ष्णता से मुडती है। इस कारण पुजशक्ति नली एक पचध्रुवी से उत्तम है। वक्ररेखा का मोड वहुत ही तीक्ष्ण है और इसके पश्चात् वह प्राय सीधी है। वक्ररेखा का क्षैतिज भाग पट्टिक वोल्टता के परिवर्तन के यथेष्ट भाग के साथ है। इस कारण इस नली का उपयोग करने से अधिक शक्ति मिलती है। तारो को इस विशेष प्रकार से लगाने के कारण पुजशक्ति नलियो में पचध्रुवी की अपेक्षा आवरण-ग्रिड-धारा पट्टिक धारा से कम होती है।

चित्र ८
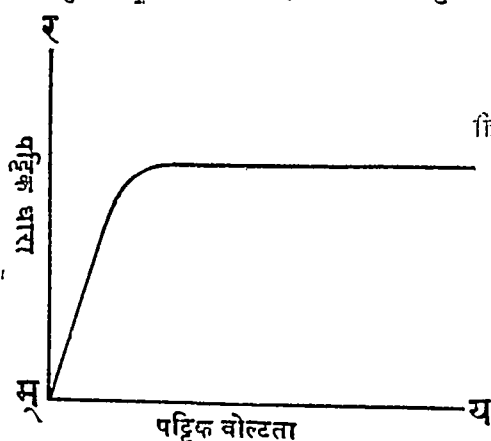
अन्य बहुध्रुवी-इलेक्ट्रॉन-नलियाँ—द्विध्रुवी, त्रिध्रुवी, चतुर्ध्रुवी तथा पचध्रुवी के विभिन्न मेल जव एक ही कक्ष में बनाए जाते हैं तो उन्हे वहु-इकाई नली कहते हैं। इस प्रकार की वहुध्रुवी अथवा वहु-इकाई नलियो के लाक्षणिक उन लाक्षणिको से वहुत भिन्न नही हैं जिनका अध्ययन अभी किया गया है। तथापि ऐसी भी वहुध्रुवी नलियाँ हैं जिनमें केवल एक ही ऋणाग्र तथा केवल एक ही धनाग्र रहता है, परतु ग्रिड तीन से अधिक रहते है। ऐसी नलियो मे दो नियत्रक ग्रिड होते हैं और पट्टिक धारा का नियत्रण दोनो ही वोल्टता के मेल से होता है। दूसरे ग्रिडो का कार्य या तो आवरण का होता है या पट्टिक से गौण उत्सर्जन को दवाने का होता है, जैसा चतुर्ध्रुवी तथा पचध्रुवी में होता है। कभी कभी एक ग्रिड का कार्य, जो धन विभव पर रहता है, सहायक पट्टिक के रूप में होता है। इस पट्टिक की धारा किसी एक नियत्रक ग्रिड की वोल्टता पर निर्भर रहती है।

यदि इस प्रकार की नली में दो नियत्रक ग्रिड हो और दोनो की ही वोल्टताएँ वदलती हो तो पट्टिक धारा का परिवर्तन दोनो ग्रिडो की वोल्टता के परिवर्तन के उभयनिष्ठ गुणनखड के समानुपात में होता है। इस गुणनक्रिया ने इस प्रकार की नलियो को उन परिपथो में उपयोगी वना दिया है जहाँ विशेष प्रकार के मूर्च्छक की आवश्यकता होती है।

वहुध्रुवी इलेक्ट्रान नलियो का मुख्य उपयोग आवृत्तिपरिवर्तन में होता है, अर्थात् एक आवृत्ति की वोल्टता को दूसरी आवृत्ति की वोल्टता

और उनके केंद्र पर एक चित्ती (विंदु) थी। यह सब बहुत कुछ उस तरह का था जैसा चूर्णित मणिभ रीति में एक्स-रश्मियो में उत्पन्न होता है और कारण भी वही था। महीन पत्नी में धातु के सूक्ष्म मणिभ होते है, जिनमें से वे, जो उपयुक्त कोण पर होते है, इलेक्ट्रानो का प्रकीर्णन करते है।
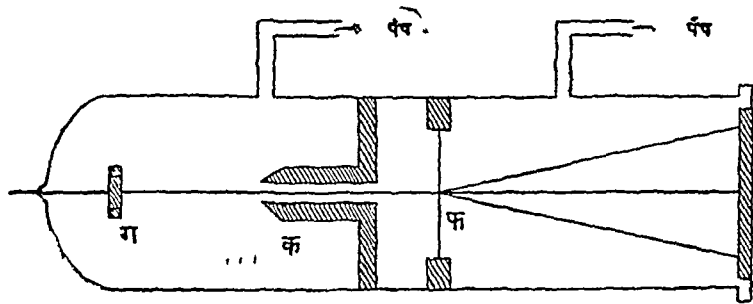
इलेक्ट्रान व्याभग चित्राकन
ग=इलेक्ट्रानो का उद्गम, क=तनुपट नलिका, फ=सोने की पत्नी, प=फोटो पट्टिका।

ब्रैग के नियमानुसार २द् ज्या थ=क्रदे। पूर्वोक्त वृत्त व्याभग शकुओ की पट्टिका अथवा परदे पर प्रतिच्छेद (इटरसेक्शन) है। यह भी देखा गया कि ज्यो ज्यो इलेक्ट्रानो का वेग बढता है त्यो त्यो इन वृत्तो का व्यासार्ध घटता है, जिससे स्पष्ट है कि इलेक्ट्रान का तरगदैर्घ्य वेग के बढने से घटता है, क्योकि ऐसी व्याभग आकृतियाँ केवल तरगो द्वारा ही बन सकती है, न कि किरणो द्वारा, अत यह प्रयोग पूर्णतया सिद्ध करता है कि इलेक्ट्रान तरगो के सदृश व्यवहार करते है।

१९२८ ई० में किकुची ने जापान में उच्च वोल्टवाले इलेक्ट्रानो को पतले अभ्रक की पत्नियो से टकराने देकर सुदर व्याभग आकृतियाँ प्राप्त की। पूर्वोक्त प्रयोगो ने इलेक्ट्रान के तरगीय गुण को निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया है और अब हमारे पास इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण है कि इलेक्ट्रान अपने कुछ गुणो में तरग की तरह और कुछ में द्रव्यकणो की तरह व्यवहार करते है।

ठोस पदार्थो के परीक्षणो में $१०^{-६}$ सें०मी०वाली पतली पत्नियो को इलेक्ट्रान किरणावलि के मार्ग में इस प्रकार रखा जाता है कि इलेक्ट्रान उनको पार कर दूसरी ओर निकल जायें और जो अधिक मोटी होती है उनको इस प्रकार स्थापित किया जाता है कि इलेक्ट्रान उनकी सतह से टकराकर बहुत छोटे कोण (लगभग २ अश) पर परावर्तित (रिफ्लेक्टेड) हो जायें। इन परीक्षणो ने मणिभ के अदर परमाणुओ के क्रम पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। लोह, ताम्र, वग जैसी धातुओ की चमकीली सतहो से प्राप्त इलेक्ट्रान-व्याभग-आकृतियो के अध्ययन से यह महत्वपूर्ण तथ्य निकलता है कि इनके पृष्ठ पर अमणिभ धातु या उनके आक्साइड की महीन तह होती है। इलेक्ट्रान-व्याभग-वृत्तो का अत्यत धुंधलापन यह प्रकट करता है कि वे परावर्तन द्वारा ऐसे पृष्ठ से प्राप्त हुए है जो अमणिभ या लगभग अमणिभ था। इलेक्ट्रान-व्याभग-विधि बहुत से गैसीय अवस्था में रहनेवाले पदार्थों के अध्ययन में भी बहुत लाभप्रद हुई है। इसम जो रीति अपनाई गई है वह इस प्रकार है गैस अथवा वाष्प को प्रधार (जेट) के रूप में इलेक्ट्रान किरणावलि के मार्ग मे छोडा जाता है, जिसमें इलेक्ट्रान उससे टकराने के बाद ही फोटो-पट्टिका पर गिरें। इस पट्टिका पर इलेक्ट्रानो का वैसा ही प्रभाव पडता है जैसा प्रकाश का। इन पदार्थों की विशेष व्याभग-आकृतियाँ फोटो-पट्टिका पर कुछ ही सेकेडो मे अकित हो जाती है, जब कि एक्स-किरणो को बहुधा कई घटो की आवश्यकता पडती है। व्याभग-आकृतियो से कार्बन-क्लोरीन के बधन में परमाणुओ के बीच की दूरी $१ ७६ \times १०^{-८}$ सें०मी० के बराबर निकली है। यह मान उस मान के पर्याप्त अनुकूल है जो अधिकाश सतृप्त कार्बनिक क्लोराइडो में कार्बन-क्लोरीन के बधन में देखा गया है।

व्यवहारिक प्रयोग—इलेक्ट्रान व्याभग की क्रिया का प्रयोग पदार्थों के, विशेष कर महीन झिल्लिकाओ एव जटिल अणुओ के, आतरिक ढाँचे के अध्ययन में किया जाता है। इसका प्रयोग चर्वी, तैल, ग्रैफाइट आदि द्वारा घर्षण कम करने की जाँच में किया गया है। सक्षारण, विद्युल्लेपन, सधान (वेल्डिग) आदि क्षेत्रो में यह अत्यत महत्वपूर्ण हो गया है। इन विभिन्न उपयोगो के कारण इलेक्ट्रान-व्याभग उपकरण आधुनिक इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी के साथ अधिकतर जोड दिए जाते है।

स०ग्र०—जी० पी० टामसन और डब्ल्यू० काकरेन थ्योरी ऐड प्रैक्टिस ऑव इलेक्ट्रान डिफ्रैक्शन, १९३९, आर० वीचिग इलेक्ट्रान डिफ्रैक्शन, १९५०, जी० पिस्कर इलेक्ट्रान डिफ्रैक्शन, १९५३, जे० वी० राजम ऐटोमिक फिजिक्स, १९५८। [दा० वि० गो०]

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी सूक्ष्मदर्शी उस यत्र को कहते है जिसके द्वारा सूक्ष्म वस्तुओ के उच्च आवर्धनवाले प्रतिविब प्राप्त किए जाते है। इसमें तथा साधारण (प्रकाशवाले) सूक्ष्मदर्शी में दो मुख्य अतर है (१) प्रकाशकिरणो के स्थान में, जिनका प्रयोग साधारण सूक्ष्मदर्शी में होता है, इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी में इलेक्ट्रान प्रयोग मे लाए जाते है। ये लघुतम तरग के सदृश काम करते है, (२) साधारण सूक्ष्मदर्शी में काच के ताल प्रकाश की किरणो को फोकस करते है। इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी में इलक्ट्रान किरणावलि को फोकस करने के लिये विद्युत् एव चुवकीय तालो का प्रयोग किया जाता है।

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की विभेदनक्षमता तथा आवर्धनक्षमता अच्छे से अच्छे साधारण सूक्ष्मदर्शी से कही अधिक है। इसका प्रयोग अब गवेषणा के लिये भौतिकी, रसायन, जीवशास्त्र एव सवधित क्षेत्रो में होता है, क्योकि इसके द्वारा उन सूक्ष्म कणो और आकारो के ब्योरो का निरीक्षण करना तथा फोटो लेना सभव हो गया है जो इतने छोटे होते है कि अन्य किसी प्रकार से देखे ही नही जा सकते।

सक्षिप्त इतिहास—मानवनेत्र स्वय विना किसी यत्र की सहायता के ३० सें०मी० की दूरी पर एक दूसरे से ० ०१ सें०मी० की दूरी पर स्थित दो विंदुओ को पृथक् पृथक् देख सकता है। यह कोरी आँख की (विना किसी उपकरण की सहायता लिए) विभेदनक्षमता (रिज़ॉल्विग पावर) है। आवर्धक ताल (सरल सूक्ष्मदर्शी) ने, जिसका आविष्कार सन् १००० ई० में हुआ था, इस विभेदनक्षमता को ० ००१ से०मी० तक वढा दिया। इसके वाद १६५० ई० में साधारण (यौगिक) सूक्ष्मदर्शी ने विभेदनक्षमता को ० ००००२५ सें०मी०, अर्थात् ० २५ माइक्रॉन तक पहुँचा दिया, जिसके फलस्वरूप एक दूसरी से ० ००००२५ सें०मी० पर रखी दो वस्तुएँ पृथक् पृथक् देखी जा सकती है। विभेदनक्षमता उस प्रकाश के तरगदैर्घ्य पर निर्भर है जो देखी जानेवाली वस्तु पर पडे। अत यदि हम दृष्टिगोचर, अर्थात् साधारण प्रकाश से अधिक छोटे तरगदैर्घ्यवाले विकिरण का उपयोग करें, उदाहरणात पारजबु (अल्ट्रा-वॉयलेट) किरणो से फोटो लें, तो इतने समीप रखी वस्तुओ को भी पृथक् पृथक् देखा जा सकता है जिनके बीच की दूरी केवल ० १ माइक्रान अथवा $१०^{-५}$ सें०मी० हो। इस पारजबु सूक्ष्मदर्शी का, जिसका निर्माण १९०४ ई० में हुआ था, प्रयोग करके ५×१०^{-७} सें०मी० के आकार के कणो तक को दीप्त विवर्तनमडलको (ल्यूमिनस डिफ्रैक्शन डिस्क) के रूप में देखा जा सका है।

१९२४ ई० में लुई डी ब्रोगली ने इलेक्ट्रानो के तरगीय गुणधर्म की भविष्यवाणी की और दिखाया कि इलेक्ट्रान का तरगदैर्घ्य=प्ल/द्रवे, जिसमें प्ल प्लाक नियताक है, द्र इलेक्ट्रान द्रव्यमान (मास) और वे उसका वेग।

डी ब्रोगली के इस प्रस्तावित समीकरण का आधार वह सिद्धात था जिसको डेवीसन और जरमर ने १९२७ ई० मे और जी० पी० टामसन ने १९२८ ई० में प्रयोग द्वारा स्थापित किया। तदनुसार $१०^{४}$ इलेक्ट्रान वोल्ट ऊर्जावाले इलेक्ट्रानो का तरगदैर्घ्य ० १२२७ ऐंस्ट्रम अथवा $० १२२७ \times १०^{-८}$ सें०मी० होगा जो वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) के दृष्टिगोचर रक्त भाग के तरगदैर्घ्य का ५०,०००वॉ भाग है। आशा हुई कि यदि इतने तीव्रगामी इलेक्ट्रानो के पुज का प्रयोग सूक्ष्मदर्शी में साधारण प्रकाश के स्थान में किया जाय तो वहुत ही अधिक विभेदनक्षमता प्राप्त की जा सकती है। १९२७ ई० के लगभग बुश ने इलेक्ट्रान ताल (लेंज) का सिद्धात वताया। तव स्थिर विद्युत्-बलक्षेत्रो एव चुवकीय कुडलियो के फोकस करने के गुणधर्मों के अनेक परीक्षण १९३० ई० तक किए गए और सफलता प्राप्त की गई। इस प्रकार १९३० ई० तक यह निश्चित रूप से सिद्ध हो

एक इलेक्ट्रान किरणावलि पर विचार करें जो एक वेलन (सिलिंडर) (चित्र १) के अक्ष की दिशा मे जा रही है और एक स्थिर-विद्युत्-बल-क्षेत्र द्वारा प्रभावित की जाती है। यदि वेलन की लबाई $\triangle$ल तथा उसके अनुप्रस्थ काट की त्रिज्या त्रि है और बलक्षेत्र उसके अक्ष के सममित है (इलेक्ट्रान-सूक्ष्मदर्शियो में स्थिर-विद्युत् और चुबक-बल-क्षेत्र अक्ष के सममित ही रखे जाते है) और यदि $वि_{त्र}$ तथा $वि_{ल}$ विद्युत्-बल-क्षेत्र के क्रमानुसार त्रिज्य और अक्षीय घटक हो और यह मान लिया जाय कि $वि_{त्र}$ का ल के साथ परिवर्तन बहुत कम होता है, तो गाउस के प्रमेयानुसार

$$\pi त्र^2 [वि_{ल} + (तवि_{ल}/तल) \triangle ल - वि_{ल}] + 2\pi त्र \triangle ल\; वि_{त्र}$$

अथवा, $$वि_{त्र} = -\tfrac{1}{2} त्र (तवि_{ल}/तल),$$

इसी प्रकार $$क्षे_{त्र} = -\tfrac{1}{2} त्र (तक्षे_{ल}/तल)\ ।$$

मान लें कि बलक्षेत्र ल्ल के आसपास है (चित्र २)। त्रिज्य सवेग (रेडियल मोमेंटम) $स_{त्र}$, जिसे बलक्षेत्र मे होकर जाने से इलेक्ट्रान प्राप्त करता है, इस प्रकार मिलता है

$$स_{त्र} = \int - ई\, वि_{त्र}\, ताम = \tfrac{1}{2} ई त्र \int_{ल_1}^{ल_2} \frac{तवि_{ल}}{तल} \frac{ताल}{ल'},$$

जिसमे ल′=ल-अक्ष के अनुदिश वेग

$$= \sqrt{\left(\frac{2ईवो}{द्र}\right)},\ \text{क्योकि}\ \tfrac{1}{2} द्रल'^2 = ईवो,$$

अर्थात् $$स_{त्र} = -\tfrac{1}{2} ईत्र \left(\frac{द्र}{2ई}\right)^{1/2} \int_{ल_1}^{ल_2} \frac{वो''}{\sqrt{वो}} ताल ।$$

अब, थ=त्र/अ=$स_{त्र}/स_{ल}$, जिसमे अ सगमातर है और $स_{ल}$ उस समय का सवेग ल-अक्ष की दिशा मे है जब इलेक्ट्रान बलक्षेत्र के बाहर निकलने लगता है।

$$स_{ल} = द्रल' = (2ईद्रवो_{ल})^{1/2}$$

और $$1/अ = थ/त्र = स_{त्र}/(2ईद्रवो_{ल})^{1/2}\, त्र,$$

जब $स_{त्र}$ धन होता है तो अ धन होता है और स्थिर विद्युत्-बल-क्षेत्र अवतल (कॉनकेव) ताल के सदृश व्यवहार करता है। जब $स_{त्र}$ ऋण होता है तब अ ऋण हो जाता है और बलक्षेत्र उत्तल (कॉनवेक्स) ताल के सदृश व्यवहार करता हे।

ऊपर के समीकरण मे $स_{त्र}$ का मूल्य रखने पर हमें

$$\frac{1}{अ} = -\frac{1}{4\, वो_{ल}^{1/2}} \int_{ल_1}^{ल_2} \frac{वो''}{\sqrt{वो}} ताल$$

प्राप्त होता है।

सूचीछिद्र ताल (पिन-होल ताल)—यदि ऋणाग्र से निकले हुए इलेक्ट्रानो को एक निश्चित विभव पर रखी पट्टिका (चित्र ३) के सूचीछिद्र मे से होकर जाने दिया जाय तो यह मानते हुए कि सूचीछिद्र में से निकलने के पहले और बाद विभव लगभग एक समान रहा, हमे ज्ञात होता है कि

$$\frac{1}{अ} = -\frac{1}{4वो} \int_{ल_1}^{ल_2} वो''ताल = -\frac{1}{4वो}\left[वो_2' - वो_1'\right]$$

$$= -\frac{1}{4वो}\left[वि_1 - वि_2\right] = \frac{1}{4वो}\left[वि_2 - वि_1\right] ।$$

चित्र ३ (क) तथा ३ (ख) के अनुसार पट्टिकाओ को रखकर $वि_2$=० अथवा $वि_1$=० कर देने से, हम अवतल अथवा उत्तल ताल बना सकते है।

वि₁ वि₂ ०

चित्र ३ (क)

वि₁ ० वि₂
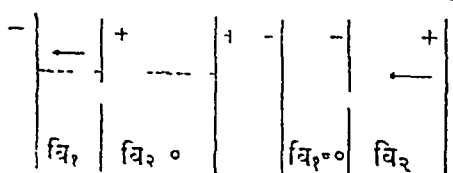
चित्र ३ (ख)
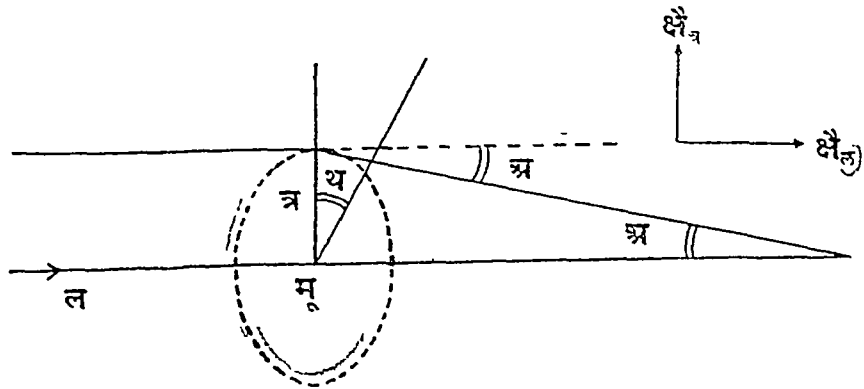
चित्र ४

चुबकीय ताल—तार की ऐसी कुडली, जिसमे विद्युद्धारा प्रवाहित होती है, चुबकीय बलक्षेत्र उत्पन्न करती है और इस प्रकार अपने भीतर से जानेवाले इलेक्ट्रानो के लिये चुबकीय ताल का काम करती है। ऐसे चुबकीय ताल का फोकस कुडली की विद्युद्धारा को बदलकर बदला जा सकता है। अत केवल कुडलीताल की धारा को बदलकर प्रतिबिंब को सरलता से फोकस किया जा सकता है। चुबकीय ताल को आगे पीछे नही करना पडता, जैसा काच के तालो मे किया जाता है। चुबकीय ताल का सगमातर इस प्रकार निकाला जा सकता है

यदि धारा धा को धारण किए तार की वृत्ताकार कुडली मे से इलेक्ट्रान होकर जा रहे हो और $क्षे_{त्र}$ और $क्षे_{ल}$ चुबकीय बलक्षेत्र के क्रमानुसार त्रिज्य और अक्षीय घटक हो तो इलेक्ट्रान की गति के समीकरण इस प्रकार होगे

$$द्र(त्र'' - त्र थ'^2) = -(ई/गे)\, त्रथ'क्षे_{ल}$$
$$द्र(त्रथ'' + 2त्र'थ') = -(-ई/गे)त्र'\, क्षे_{ल} + (-ई/गे)ल'क्षे_{त्र}\ ।$$

क्योकि ल′ की अपेक्षा त्र′ बहुत छोटा है, इसलिये

$$द्रथ'' = \tfrac{1}{2}(ई/गे)ल'(ताक्षे_{ल}/ताल),$$

जो सकलन कर नेपर निम्नलिखित सबध देता है

$$द्रथ' = \frac{ई}{2गे}\int_0^{स} \frac{ताक्षे_{ल}}{ताल}\, \frac{ताल}{तास} तास,$$

अर्थात् $$थ' = ई\, क्षे_{ल}/2द्रगे ।$$

फिर $$त्र'' = -(ई/गेद्र)त्रथ'क्षे_{ल} + त्रथ'^2$$
$$= त्रथ'\{-(ई/गेद्र)क्षे_{ल} + (ई/2गेद्र)क्षे_{ल}\}$$
$$= -\tfrac{1}{4}त्र(ई^2/द्र^2गे^2)(क्षे_{ल}^2/ष)(ताल/तास),$$

जिसमें $$ष = ताल/तास$$

इसका सकलन करने पर,

$$त्र' = -\tfrac{1}{4}(त्रई^2/द्र^2गे^2ष) \int क्षे_{ल}^2\, ताल,$$

अर्थात् $$त्र'/ष = दृ = त्र/अ = -\frac{त्रई^2}{4द्र^2गे^2ष^2}\int क्षे_{ल}^2\, ताल ।$$

अत सगमातर अ

$$= -4\left(\frac{द्रगे}{ई}\right)^2 ष^2 - \int क्षे_{ल}^2\, ताल ।$$

धारा धा अपिअर को धारण किए तार की व्यासार्ध क की एकवृत्तीय कुडली के लिये

$$क्षे_{ल} = 2\pi मधाक^2/10(क^2+ल^2)^{3/2}$$

और $$\int क्षे_{ल}^2\, ताल = \frac{4\pi^2(मधा)^2}{10^2}\int_{-\infty}^{+\infty} \frac{क^4\, ताल}{(क^2+ल^2)^3}$$
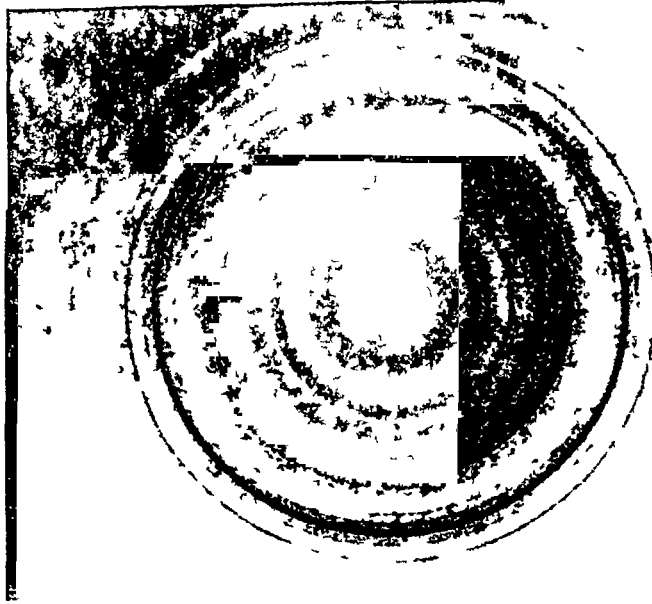
भारतीय राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला

इलेक्ट्रान व्याभग

इलेक्ट्रान धाराओं में भी उसी प्रकार का व्याभग होता है जैसा प्रकाश में (देखें पृष्ठ ४९९)।

भगवान दास वर्मा
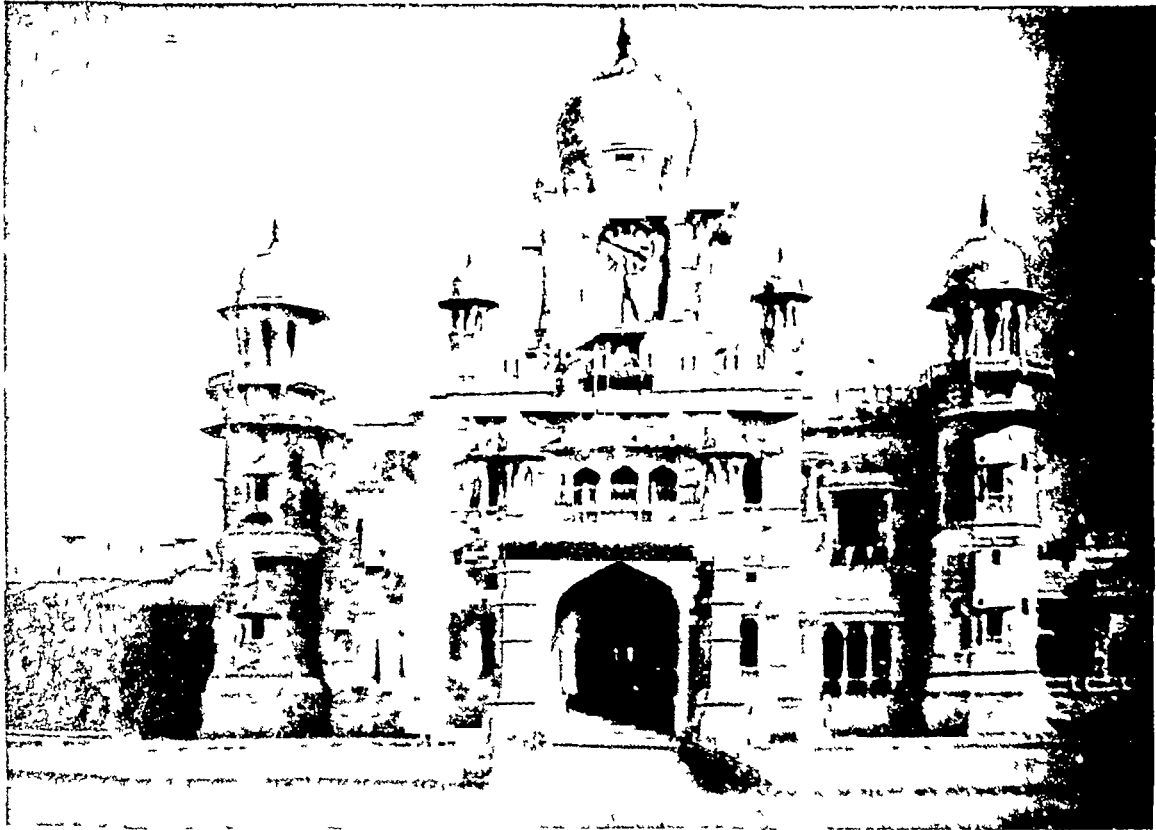
डेली कालेज, इंदौर

यह उक्त कालेज का सिंहद्वार है।

और इस सूक्ष्मदर्शी मे आर्वाधत प्रतिबिंव उस वस्तु की प्रतिलिपि होती है जिसको ऋणाग्र और फोटो पट्टिका अथवा पर्दे के बीच रखा जाता है।

इसके अतिरिक्त इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी की दो और जातियाँ हैं विंदु-प्रेक्षी (स्कैनिंग) इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी और प्रतिच्छाया (शैडो) इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी। किंतु विभिन्न कारणो से ये साधारणतया प्रयोग में नही लाए जाते।

चित्र ७

आधुनिक इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी अधिकतर चुवक-पारगमन जाति का होता है, क्योकि इसके द्वारा बहुत छोटे सगमातर के चुवकीय तालो का प्रयोग करके उत्सर्जन जाति के सूक्ष्मदर्शियो की अपेक्षा कही अधिक आवर्धन प्राप्त हो सकता है।

व्यावहारिक प्रयोग—इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी का व्यावहारिक प्रयोग विभिन्न क्षेत्रो मे होता है। प्रकाशसूक्ष्मदर्शी की अपेक्षा अति उच्च विभेदनक्षमता तथा आवर्धनक्षमता एव कही अधिक फोकस की गहराई के कारण यह अधिक उपयोगी और महत्वपूर्ण यत्र वनता जा रहा है। आधुनिक अन्वेषणक्षेत्रो मे, जैसे धातुविज्ञान, चिकित्साशास्त्र, शरीरविज्ञान, पारमाणविक सरचना आदि मे इसके बिना काम नही चलता। औद्योगिक क्षेत्र में इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी के आने से अनेकानेक सूचनाएँ प्राप्त करना अत्यत सुलभ हो गया है, जैसे अयस्को (ओर्स) का चयन और निष्कर्षण, अज्ञात पदार्थो एव अपद्रव्यो का विश्लेषण, अदह (ऐस्वेस्टस) तथा कपडा वुनने के ततुओ की जाँच, कागज, तैलरग और प्लैस्टिक की वनावट का अध्ययन इत्यादि। रुई के रेशे के सूक्ष्म भाग के अति आर्वाधत चित्र से यह पता लग सकता है कि उसमें किस प्रकार की तहो का सग्रह है। प्रकाशसूक्ष्मदर्शी में अपेक्षाकृत वडे कीटाणु भी विंदु या तिनके जैसे दिखाई देते हैं जब कि इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी से उनका वास्तविक आकार और वहुधा उनकी वनावट का व्योरा भी दिखाई देता है।
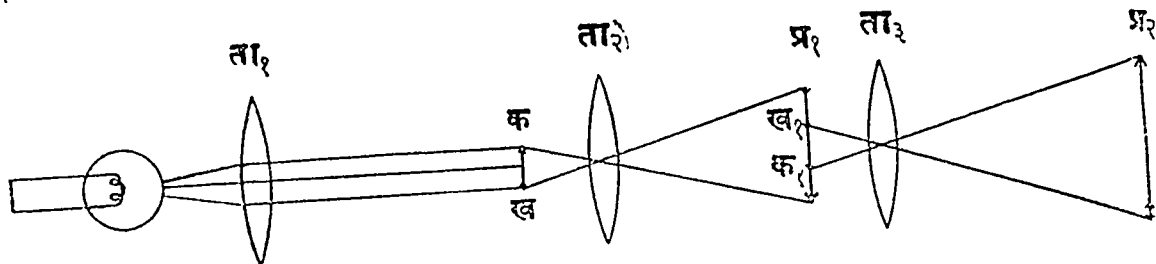
अवगुण—इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी के कुछ अवगुण निम्नलिखित हैं

(१) इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी में इलेक्ट्रानो की तीव्र वौछार के कारण निरीक्षण की जानेवाली वस्तु के वहुधा नष्ट हो जाने की सभावना रहती है।

(२) सूक्ष्मदर्शी के लिये आवश्यक अतिनिर्वात (हाई वैकुअम) में सूखने एव वाष्पन के कारण निरीक्षण की जानेवाली वस्तु में परिवर्तन होने की सभावना रहती है।

स०ग्र०—सी० ई० हॉल इट्रोडक्शन टु इलेक्ट्रान माइक्रॉस्कोपी (१९५३), जे० वी० राजम ऐटोमिक फिज़िक्स (१९५८), आइ० एम० मेग्रर इलेक्ट्रान ऑप्टिक्स। [दा० वि० गो०]